श्रीहरिः

महर्षिवेदव्यासप्रणीतम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

विविधव्याख्यासमलङ्कृतम्

श्रीदशमस्कन्धे पूर्वार्द्धः

तामसप्रकरणे प्रमाणप्रमेयप्रकरणे

द्वादशाध्यायतः अष्टविंशाध्यायपर्यन्तो

द्वितीयो विभागः

द्वादशं फलम्

संकलनकर्त्ता कर्दमात्मजो भागवत ऋषिः

सम्पादक : परिवेषक कृष्णशंकरः शास्त्री

प्रकाशक : श्रीकृष्णजन्मस्थानसंस्थानम्

वि. सं. : २०४७

श्रीकृष्णः शरणं मम

श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणा विजयन्तेतमाम्

श्रीकृष्णद्वैपायन-वेदव्यास-महर्षिप्रणीतमनेकव्याख्यासमलङ्कृतं

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

सात्वतसंहिता

दशमस्कन्धः—पूर्वार्द्धः



निरोधलीलायां द्वादशाध्यायतोऽष्टाविंशत्यध्यायपर्यन्तं तामसप्रकरणस्य

कल्पान्तरकथाऽध्यायत्रय प्रमेयसाधनप्रकरणद्वय समेतं

द्वादशं फलम्

आचार्यवर्याणां-प्राचेतसाञ्च विविधाष्टीकाः

कर्दमक्षमा (अन्वयः), श्रीधरस्वामिविरचिता—भावार्थदीपिका, श्रीवंशीधरकृतः—भावार्थदीपिकाप्रकाशः, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता—वैष्णवतोषिणी, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता—वृहद्वैष्णवतोषिणी, श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्, श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता—भागवतचन्द्रचन्द्रिका, श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता—पदरत्नावली, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः—क्रमसन्दर्भः, श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः—वृहत्क्रमसन्दर्भः, श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता—चैतन्यमतमञ्जूषा, श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता—सारार्थदर्शिनी, श्रीमच्छुकदेवकृतः—सिद्धान्तप्रदीपः, श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता—वैष्णवानन्दिनी, श्रीसत्यधर्मकृता—श्रीभागवतटिप्पणी, श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिता—श्रीसुबोधिनी, (१) श्रीप्रभुचरणविरचिता—श्रीटिप्पणी, (२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः—श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः, (३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः—श्रीसुबोधिनीलेखः, (४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता—श्रीसुबोधिनीयोजना, (५) भगवदीयनिर्भयरामभट्टनिर्मिता,—श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या, गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता—बालप्रबोधिनी, श्रीगङ्गासहायप्रणीता—अन्वितार्थप्रकाशिका, श्रीगोपालानन्दमुनिविरचित—निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्, श्रीभगवत्प्रसादाचार्यविरचिता—भक्तमनोरञ्जनी, श्रीहरिसूरिविरचितम्—श्रीभक्तिरसायनम्, इत्येताभिर्व्याख्याभिः, कृष्णशङ्करशास्त्रिनिवर्तित-कृष्णप्रियाभाषानुवादेन—च समलङ्कृतम् ।

संकलनकर्त्ता—	प्रकाशकः	सम्पादकः परिवेषकश्च
कर्दमऋषितनुजो भागवतः ऋषिः	"श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंस्थान"	कृष्णशङ्कर शास्त्री
विक्रम संवत्सरः २०४७	मथुरा—२८१००१,	शालिवाहनः १९१२

भारत सरकार के मानव संशोधन विकास मंत्रालय के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित

सम्पादकः
कृष्णशङ्करः शास्त्री । श्रीभागवतविद्यापीठः । कृष्णधाम सोला । कर्णावती–३८००५४

प्राप्तिस्थानानि

श्रीभागतविद्यापीठ : कृष्णधाम : सोला : कर्णावती अ. ५४ दूरध्वनि ४७३८३९
श्रीमती वीणावहिन मनहरलाल ५ आनंद, ५ वाँ रोड नवयुग सोसायटी वीले पारले मुम्बई ५६ टे. नं. ६१४२६५३
सरला दलाल ३५–न्युनवरंग ३ भजला पेडररोड मुम्बई–२६ दूर० ३८२४३३
श्री वल्लभनिधि कार्यालय : ३०२ रीलीफ शोपींगसेन्टर जी. पी. ओ. पास कर्णावती अ. १ दूर २२१४५

मुद्रकः—प्राणलाल भाईशंकर आचार्य, आचार्य मुद्रणालय ए १/१२ गायघाट, बाराणसी ।

समुपायनम्

पूज्यवर श्री चिम्मनलालजी गोस्वामी

वातावरण में परिव्याप्त थी एक विचित्र सरसता, स्निग्धता, एवं स्तब्धता थिरक रही थी अति मधुर कण्ठ से प्राणोन्मादी ललित स्वरलहरी :—

सौंप दिये मन–प्राण तुम्हींको, सौंप दिये ममता–अभिमान ।
जब जैसे जी चाहे वरतो, अपनी वस्तु सर्वथा जान ॥
मत सकुचाओ मनकी करते, सोचो नहीं दूसरी बात ।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो, तुमको सब कुछ पूरा ज्ञात ॥
मान–अमान, दुःख–सुखसे अब मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध ।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो, तुम ही, केवल मेरे बन्ध ॥
रहूँ कहीं, कैसे भी रहती बसी तुम्हारे अन्दर नित्य ।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब, मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य ॥
एक तुम्हारे चरण–कमलमें हुआ, विसर्जित सब संसार ।
रहे एक स्वामी, बस, तुम्हीं, करो सदा स्वच्छन्द विहार ॥

पदके गायक थे इस पदमें वर्णित भावोंके चलते–फिरते साकारविग्रह–श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी एवं श्रोताओं तथा दर्शकों में उपस्थित थे पद के रचयिता श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, जिन्हें श्रीगोस्वामीजी ने अपने मन, प्राण तथा सम्पूर्ण जीवन की बागडोर सौंप रखी थी । पदमें वर्णित भावोंके अनुरूप स्वरके आरोह-अवरोहके साथ दोनों महापुरुषों की मुखाकृतिपर अठखेलियाँ करती हुई भाव तरंगोंका नर्तन देख–देखकर सभी दर्शक तथा श्रोता मंत्रमुग्ध हो रहे थे, सर्वत्र छा गयी थी एक विलक्षण मादकता । क्यों न हो, इस पदके मिससे श्रीगोशवमीजीके जीवन संगीतका मूल स्वर "सर्वात्म "समर्पण" मुखर होकर सम्पूर्ण वायुमण्डलको रससिक्त एवं भावप्रवण बना रहा था ।

पूज्य श्रीगोस्वामीजी का आविर्भाव आचार्य वल्लभकी शिष्य परम्पराके सुसंस्कृत एवं उच्च परिवार बीकानेरमें हुआ था । इस सम्प्रदायमें अपने सुसेव्यको भगवद्रूपमें मानना इसका वैशिष्ट्य है यही हेतु है कि इस सम्प्रदायके ऊँचे से-ऊँचे भक्तांकी निष्ठा इस रूप में व्यक्त हुई है :—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो ॥
साधन और नहीं या कलिमें जासों होय निबेरो ।
सूर कहा कहि दुविध आँधरो बिना मोलको चेरो ॥

पूज्य गोस्वामीजी में भी यह निष्ठा नैसर्गिक थी, और इसी कारण जब परमश्रद्धेय श्रीभाईजीके साथ उनका सम्पर्क हुआ तबसे "तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्" पर दृढ़ आस्थावान गोस्वमीजी महाराजने परम श्रद्धेय श्रीभाईजीको ही अपने जीवनकी बागडोर सौंप दी—अपने आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया । उनका समर्पण उस उच्च भूमिका तक पहुँचा कि उसके समकक्ष कोई उदाहरण आजके तर्कप्रधान भौतिक युगमें खोजनेपर विरल ही मिलेगा ।

श्रीगोस्वमीजी महाराजके पूर्वज तो थे आन्ध्रप्रदेशके, परन्तु बहुत वर्षों से वे बीकानेर राजस्थान में आकर बस गये थे । उनका जन्म हुआ था आषाढ़ कृष्ण ९ संवत् १९५७, तदनुसार सन् १९०० में । गोस्वामी श्रीव्रजलालजी तथा श्रीमती चन्द्रकलादेवीको इनके माता-पिता होने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ । १६ वर्ष की आयुमें वहींसे हाईस्कूलकी परीक्षा पास करके १९०६ में वे वाराणसी चले आये थे, जहाँ क्वींस कालेजमें महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथजी कविराजके अन्तेवासी

रहकर अंग्रेजी, दर्शनशास्त्र व संस्कृत की स्नातक परीक्षामें वे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए । तत्पश्चात् । उन्होंने "काशी हिन्दू विश्वविद्यालय" से सन् १९२२ में संस्कृत की एम० ए० को परीक्षा भी प्रथम श्रेणीमें पास की । विश्वविद्यालयसे निकलनेपर उन्हें कुछ दिनों तक महामना मालवीयजीके निजी सचिवके रूपमें कार्य करनेका सुअवसर भी प्राप्त हुआ ।

काशीमें अपना अध्ययन समाप्त करनेके पश्चात् राजस्थानमें लगभग चार वर्ष तक प्रधानाध्यापकके रूपमें पठन-पाठनका कार्य करते रहे, साथ ही इसी समय उन्होंने जयपुर विश्वविद्यालयसे संस्कृतकी शास्त्री परीक्षा भी पास कर ली । वे लगभग छः वर्षोंतक बीकानेर राज्यके राजनीतिक विभाग (Political Department) के निरीक्षक (Superintendent) थे एवं दीवानके सचिवका भी कार्य उन्होंने किया । परन्तु राजनीति-पटु, श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न, अत्यन्त मेधावी श्रीगोस्वामीजीके हृदयको १९२८ में स्कूली शिक्षा विहीन, अत्यन्त सरल एवं विनम्र वणिकपुत्र श्रीपोद्दारजीकी किसी भाव-भंगिमाने मोह ही तो लिया । न जाने किस सरस हास्य अथवा हृदयके उच्छ्वाससे, वक्तृत्व या व्यक्तित्वसे अथवा नयनकी कोर या सिकी भावकी हिलोरसे प्रथम परिचयमें ही वे उनके हाथों बिक गये । श्रीभाईजीकी सन्निधिमें ही अपना शेष जीवन व्यतीत करनेका लोभ वे किसी भी मूल्यपर संवरण नहीं कर पाये । अतः सन् १९३४ में स्थायी रूपसे गोरखपुर आ गये । अत्यन्त सादगीके साथ अपना जीवन निर्वाह करके किसी भी स्थितिमें श्रीपोद्दारजीको आँखोंसे ओझल न करनेकी अदम्य लालसा जिस गरिमाके साथ, उनके जीवनमें मूर्त हुई है वह आदर्श है, स्पृहणीय है । तबसे लेकर अपने जीवनके अन्त तक वे श्रीभाईजीके आजीवन साथी निकटतम सहयोगी एवं आदर्श अनुयायी बने ही रहे ।

उन्होंने जिस अनुपम ढंग से अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व, इच्छा, आकांक्षा, देह-गेह, लोक-परलोक, व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन, आचार-विचार और अभिरुचिको श्रीपोद्दारजीकी रुचिके सांचेमें ढाल दिया था, उसे देखकर सभी आश्चर्यचकित थे । स्वतंत्र व्यक्तित्व अथवा स्वतंत्र जीवन की कल्पनालेश तकका भी आभास उनके जीवनमें कहीं दिखाई नहीं दिया । मातृहृदय श्रीभाईजी पर सर्वथा आश्रित, अवलम्बित, किसी अबोध, सरल, निर्द्वन्द्व एवं चिन्ताशून्य शिशुकी भांति ही उनका जीवन था ।

सन् १९३४ ई० में गोरखपुर आ जाने पर श्रीभाईजी के साथ-साथ धार्मिक जगत् की सिरमौर पत्रिका "कल्याण" के सह-सम्पादकका कार्य तो उन्होंने आरम्भ कर ही दिया, साथ ही उनके आगमनके फलस्वरूप "कल्याण" के महत् सुद्देश्यके पूरक रूपमें अंग्रेजी मासिक पत्रिका "कल्याण कल्पतरु" का प्रकाशन सम्भव हो सका । अंग्रेजी पत्रिकाके प्रधान सम्पादक का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व वहन करते हुए भी वे श्रीभाईजी को "कल्याण" के कार्यमें भी बराबर सहयोग देते ही रहते थे । इसके अतिरिक्त श्रीगोस्वामीजीने हिन्दू धर्मके आधारभूत धर्मशास्त्रों यथा वाल्मीकीय रामायण", "श्रीमद्भागवत महापुराण", श्रीरामचरितमानस तथा ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दाकी अनुपम देन "गीतातत्वविवेचनी टीका" जैसे बृहदाकार, गूढ़ तत्व रहस्य एवं भावके आगार, ग्रन्थोंका अत्यन्त ललित शैलीमें प्रमाणिक अंग्रेजी अनुवाद करके सम्पूर्ण विश्वकी तो अप्रतिम सेवा की ही है साथही पाश्चात्य परिपार्श्वमें पली-बढ़ी हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ आर्य संतानोंकी अपनी अतुल अलौकिक आध्यात्मिक एवं धार्मिक सम्पत्ति, दिव्य सांस्कृतिक गरिमा, विश्वविमुग्धकारी चिन्तनधारा एवं धार्मिक आचार-विचारसे अवगत कराकर हिन्दू समाजकी जो महती सेवा की है, उसका ऋण चुका पाना सहज नहीं सम्भव नहीं ।

गीताप्रेससे आंग्ल भाषामें प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्यमें उनका हाथ प्रमुख रूपसे रहा ही है । भारतीय वाङ्मयके बहुमूल्य रत्नोंका प्रमाणिक अँगरेजी अनुवाद सरल, परिमार्जित एवं सुस्पष्ट भाषामें करनेके अतिरिक्त हिन्दी भाषाके सत्साहित्यको समृद्ध बनानेमें भी उनका योगदान कुछ कम नहीं है । पूज्य श्रीगोस्वामीजी महाराजकी अनुवाद शैलीकी एक प्रमुख मौलिकता विशेष रूपसे उल्लेखनीय है । भारतीय धर्म-ग्रन्थोंके अद्यावधि जितने भी आंग्ल भाषा विदेशी अथवा भारतीय अनुवादक हुए हैं, उन्होंने इस सत्यकी उपेक्षा की है कि ऋषि-वाणी का एक-एक शब्द ही नहीं, एक-एक अक्षर सार्थक और महत्त्वपूर्ण है । इन धर्म-ग्रन्थोंमें 'तु', 'च', आदि जैसे शब्दोंका प्रयोग भी साहित्यिक ग्रन्थोंकी तरह केवल पाद-पूर्णार्थक दृष्टिसे नहीं किया गया है, अपितु उनका भी विशिष्ट अभिप्राय है, अतः उनका भी अनुवाद होना चाहिये ! इसे दृष्टिगत रखकर ही श्रीगोस्वामीजीने सम्पूर्ण ग्रन्थोंका अनुवाद किया है । ऐसे अनुवाद अँगरेजी भाषामें तो हुए ही नहीं, हिन्दी आदि भारतीय भाषाओंमें भी अनुपलब्ध हैं ।

सम्माननीय श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयीके सहयोगसे रामचरितमानसके उपलब्ध सभी प्रधान संस्करणोंका तुलनात्मक अध्ययन करके एक संशोधित पाठ तैयार करनेके कार्यमें उन्होंने विशेष भूमिका निभायी, जो आगे चलकर मानसांकके नामसे कल्याणके तेरहवें वर्षके विशेषांकके रूपमें प्रकाशित हुई । श्रीपोद्दारजी एवं श्रीगोस्वामीजीके सम्मिलित सत्प्रयासने संत तुलसीदासजीकी स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथाको सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय बना दिया । मानसकी लाखों-लाखों प्रतियाँ

जन-जनके हाथोंमें पहूँच गयीं और यही आगे चलकर मानस चतुःशतीकी भूमिका प्रशस्त करनेका आधार बन गया। रामचरित-मानसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतकी हिन्दी टीका तैयार करनेमें भी उनका उल्लेखनीय योगदान था ही।

कल्याणके आद्य सम्पादक श्रीपोद्दारजीके निधनके अनन्तर अंग्रेजी मासिक "कल्याण कल्पतरु" के साथ-साथ हिन्दी मासिक कल्याणके सम्पादनका सम्पूर्ण भार भी श्रीगोस्वामीजीपर आ पड़ा था, जिसे उन्होंने अपने अंतिम श्वास तक पूर्ण निष्ठाके साथ निभाया। उनके सम्पादकत्वमें कल्याणके रामांक, विष्णु अंक और गणेशांक तीन विशेषांक प्रकाशित हुए, जो सर्वथा कल्याणके पिछले विशेषांकोंकी परम्पराके अनुरूप ही थे। पू० श्रीभाईजीके अभावमें कल्याणके बहुतसे पाठकोंको उसके स्तरके गिरनेकी जो चिंता थी, वह निर्मूल सिद्ध हुई। श्रीगोस्मीजीने अपने अथक परिश्रम, अनवरत लगन और भक्ति भावपूर्ण विवेक बुद्धिसे "कल्याण" के स्तरको गिरने नहीं दिया। वह कल्याणको श्रीभाईजीका यशः शरीर तथा श्रीपोद्दारजी द्वारा उन्हें सौंपी गयी पवित्र धरोहर मानकर उसकी सर्वतोभावेन सुरक्षा हेतु सतत सचेष्ट थे।

सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी शील, सदाचार एवं दैन्यके मूर्त विग्रह श्रीगोस्वामीजीने लगभग ४० वर्षो तक अपने अनवरत अध्यवसाय से इतनी विपुल सेवा करके उसका श्रेयः स्वयं कभी भी नहीं लिया।

"विद्या ददाति विनयम्" के वे ज्वलन्त उदाहरण थे। श्रीभाईजीके विदा होने पर "कल्याण" के सम्पादनका भार सम्भाले हुए उन्होंने जो निवेदन लिखा था, उनके हृदयका वह एक अत्यन्त उज्ज्वल रूप हमारे सामने रखता है:—

"परम भागवत श्रीपोद्दारजीके पार्थिव देह त्यागकर नित्यलीलालीन हो जानेसे "कल्याण" के सम्पादनका भार मेरे दुर्बल कंधों पर आ पड़ा है, जिसे वहन करनेमें मैं अपनेको सर्वथा अक्षम अनुभव करता हूँ। अब तक तो "कल्याण" का सारा भार श्रीपोद्दारजी अकेले ही वहन करते थे। मेरा नाम तो उन्होंने शीलवश मुझे प्रोत्साहन देने और मेरी सम्मानकी वासना को पूर्ण करने के लिये ही अपने गौरवशाली नामके साथ जोड़ दिया था। मेरे अन्दर न तो साधनका बल है, न आध्यात्मिक अनुभव, न त्याग है। न तप है, न दैवी सम्पदा है, न प्रौढ विचार है, न वैसा शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन है, न मेरी लेखनी में ही शक्ति है। ऐसी दशामें "कल्याण" जैसे पत्रके सम्पादकमें जैसे और जितनी योग्यता होनी चाहिये, उसका मैं अपने अन्दर सर्वथा अभाव देखता हूँ।"

इतना ही नहीं, वे अपने इस मनोभावको बराबर विभिन्न रूपोंमें व्यक्त करते रहे—

"कल्याणकी सेवाका मैं अपनेको सर्वथा अनधिकारी मानता हूँ। पर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी जैसे परम स्वजनके प्रति अपने कर्तव्य-निर्वाहकी भावनासे "कल्याण" के कार्यको किसी रूपमें संभाल रहा हूँ। वास्तवमें "कल्याण" के कार्यको मैं श्रीभाईजी द्वारा ही हुआ अनुभव करता हूँ। पद-पद पर वे अपने चिन्मय रूपसे इसकी संभाल करते है, अन्यथा मुझ जैसे अयोग्य, अल्पज्ञ, साधन हीन, तुच्छ व्यक्ति द्वारा यह महान कार्य सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। मैं स्वयं आश्चर्य चकित हूँ कि कैसे क्या कार्य हो जाता है। उनकी पद-पदपर प्राप्त संभालको देखते हुए मनको यह विश्वास नहीं होता कि श्रीभाईजी "कल्यांण" से पृथक् हो गये हैं मैं तो यह मानता हूँ "कल्याण" उनका है, वे कल्याण के हैं या यों कहें वे "कल्याण-स्वरूप" ही हो गये हैं। पर फिर भी चर्मचक्षुओं द्वारा उनका दर्शन न होनेसे मन-प्राण व्यथित हो जाते हैं। विधि की यह विडम्बना है। अस्तु।

"हमारा विश्वास ही नहीं, अनुभव है कि श्रीभाईजी परोक्ष रूपमें आज भी "कल्याण" को संभाल रहे हैं और इसीसे इसका कार्य सुचारु रूपसे चल रहा है, अन्यथा मुझ जैसे पारमार्थिक-शक्ति साधनसे हीन व्यक्तिसे इस महान् दायित्वका निर्वाह होना सम्भव नहीं है। विश्वास है, आगे भी श्रीभाईजी इस बराबर संभालते रहेंगे और अध्यात्मकी यह प्रवाहिनी सबको रसप्लावित करती हुई बहती रहेगी।" समर्पण का जैसा आदर्श श्रीगोस्वामी जी महाराज ने उपस्थित किया है, वह सर्वथा अनुपम है, अनूठा है।

कितने हृदय-स्पर्शी थे वे क्षण, जब इस सत् शिष्यके काशी हिन्दू विश्वविद्यलियके विद्यागुरु पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिकने अपने प्रवासमें बीकानेर जानेपर श्रीगोस्वामीजीके पैतृक आवासके मुख्य द्वारके सन्मुख साष्टांग दण्डवत प्रणाम करते हुए रुद्ध कण्ठसे यह कहा था —"ऐसे सत्पुत्रको विद्यादान करके मेरी विद्या सफल हो गयी और ऐसे सुपात्र शिष्यको पाकर मैं कृतार्थ हो गया। धन्य हो गया।"

श्रीगोस्वामीजीकी दिव्य, अलौकिक प्रज्ञा सद्‌गुण-राशि, भारतीय वाङ्मय, एवं चिन्तन धाराका घनिष्ठ परिचय, सदाचार पूर्ण जीवन, मृदु स्वभाव एवं आत्यन्तिक विनयशीलता पर श्रीगोवर्धनपीठ, पुरीके श्रीमद्‌शंकराचार्यजी श्रीभारतीकृष्ण-तीर्थजी महाराज रीझ गये थे। अतः उस पीठके अपने उतराधिकारीके रूपमें श्रीगोस्वामीजीका भी नाम उन्होंने प्रस्तावित किया था। परन्तु श्रीपोद्दारजीका साहचर्य जीवनमें कभी भी नहीं छोड़नेकी गोस्वामीजीकी प्रगाढ़ भावना अत्यन्त प्रबल थी।

पू० श्रीशंकराचार्यजीकी अभिलाषाको शिरोधार्य करनेमें उनकी असमर्थता, आन्तरिक व्यथा, तथा 'कल्याण' के कार्यमें सच्ची निष्ठा और लगन देखकर उन्होंने भी पुनः विशेष आग्रह नहीं किया ।

सुप्रसिद्ध संत पूज्य श्रीसीताराम ओंकारनाथ महाराज द्वारा रामचरितमानसके वंग अनुवादकी समर्पण भूमिकामें लिखित निम्न पंक्तियां कितनी मार्मिक हैं, कितनी सार्थक हैं :—

"अनन्त करुणापारावार श्रीभगवान, दो अलौकिक, अनुपम यंत्रोंको लेकर इस दारुण कलियुगमें सर्वत्र जो धर्म प्रचार, श्रीनामप्रचार और शास्त्र प्रचार कर रहे, इस प्रकारके प्रचार की बात मैंने किसी इतिहासमें, पुराणमें नहीं देखी, अथवा किसी धर्म प्रचारकने इस प्रकार विश्वव्यापी धर्म प्रचार किया हो, यह नहीं सुना । श्रीभगवानके सुन्दर उदित दो रमणीय चन्द्र-परम प्रेम-भाजन, अशेष श्रद्धास्पद 'कल्याण' सम्पदक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार महाशय और श्रीयुत श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके पवित्र नामपर उनके प्रति अति प्रियतम श्रीरामचरितमानसका वंगानुवाद उत्सर्ग किया ।"

परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके द्वारा गीता प्रेस प्रतिष्ठान रूपी वोधी वृक्षका वपन हुआ और इसे प्राणोंके रससे सींच-सींचकर श्रीपोद्दारजी एवं श्रीगोस्वस्मीजीने पल्लवित तथा पुष्पित करके त्रिताप तप्त असंख्य लोगोंको शीतल छाया प्रदान की है । चार दशकोंसे भी अधिक समय तक तिलतिल करके अपने जीवनकी आहुति डालकर उन्होंने ज्ञान वितरण यज्ञको सफल बनाया है । इन्होंने हमारे प्रचीन ऋषियोंकी धरोहर अक्षय ज्ञानकोषको अत्यन्त समृद्ध बनाकर लोक भाषामें जिस प्रकार यह रत्न राशि उन्मुक्त हस्त से लुटायी है एवं इने-गिने हाथोंमें अवरुद्ध एवं आबद्ध पड़ी हुई भारतीय चिंतनधारा रूपी ज्ञान गंगाको अपने भगीरथ प्रयाससे भूतलपर उतारकर जन-जनको अभिषिक्त होनेका जो अवसर प्रदान किया है, उसका वर्णन भारतीय इतिहासका वह स्वर्णिम पृष्ठ है जिसपर भावी पीढ़ियाँ गर्व करेंगी । पू० श्रीपोद्दारजी एवं गोस्वामीजीकी उपलब्धियोंका साक्षी है गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित साहित्यका १९८२ तक का यह विवरण जिसके अनुसार बिविध श्रेणी एवं स्तरके व्यक्तियोंके हितार्थ ६५ संस्करणोंमें गीताकी लगभग तीन करोड़, रामचरितमानसकी एक करोड़, श्रीकृष्णलीलाओंके सागर श्रीमद्भागवतपुराणकी छः लाख, वेदों के सारभाग उपनिषदोंकी लगभग पैंसठ लाख, आदि कवि वाल्मीकि प्रणीत रामायणकी दो लाख, महाभारतकी लगभग ढाई लाख और अपने-अपने विषयके संदर्भ कोश 'कल्याण' की लाखों-लाखों प्रतियाँ हाथों हाथ बंट गयी । इसके अतिरिक्त विविध पुराण, छोटे-बड़े आकारमें संत-भक्त-चरित, उपदेश साधना-साहित्य, भजन संग्रह नैतिक सदाचार तथा बाल उपयोगी छोटी-बडी, मोटी-पतली १२ करोड पुस्तकें, भी देश विदेशके जन-जनके हाथोंमें पहूँच चुकी है । परिणामतः गीता, रामयणके सस्वर सामूहिक पाठ पारायण एवं सामूहिक आयोजनों से नभोमण्डल गुँजित हो उठा है ।"

भगवदीय विभूति श्रीपोद्दारजीका आविर्भाव कल्याणके द्वारा लोकमानसको अध्यात्मोन्मुख करने जैसे महान कार्यके निमित्त हुआ था । उसकी पूर्तिमें लल्याणको भौतिकता प्रधान युगमें सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रके रसमें प्रतिष्ठित करने में पोद्दारजी को मनसा-वाचा-कर्मणा जो सहयोग दिव्य आत्मा श्रीगोस्वामीजीने दिया, उसका महत्व थोड़ा-बहुत तुलसीदासजी के इन शब्दोंके माध्यमसे समझा जा सकता है ।

रघुपति कीरति विमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥

इन विभूति द्वयके अदृश्य हो जाने पर भी उनके हृदयकी "कल्याण" कामना और अंतरिक्षमें गूँजने वाली उस विमल पताकाकी फरफराहटकी प्रतिध्वनि आज भी ज्योति बनकर "कल्यण" के लक्ष-लक्ष पाठकों और हिन्दू संस्कृतिके चिरंतन तत्वोंके उपसाकोंको मार्ग दर्शन कर रही है और भविष्यमें भी करती रहेगी ।

अनेक चरित्रगत विशेषताओंके धनी श्रीगोस्वामीर्जीसे मिलने और वार्तालाप करनेपर उनके निश्छल और निष्कपट व्यक्तित्वसे सभी प्रभावित हो जाते थे । धोती कुर्तेकी सादी पोशाकमें मन्द हास्य युक्त उनकी मधुर मुखाकृति भुलाये नहीं भूलती । पुस्तकोंका भारी बोझा उठाये मदमाते डगमगाते, डग भरते हुए जब वे अपने आवास से वाटिका स्थित अपने कार्यालय अथवा पूज्य बाबाकी कुटियाकी ओर बढ़ते थे तो उन्हे प्रणाम करने वालोंका ताँताँ सा लग जाता था और उनके वर हस्त भी आशीर्वाद देने के लिये सदा प्रस्तुत रहते थे बाल सुलभ सरलता, और निरभिमानिता तो उनके रोम रोमसे झरती रहती थी ।

महत्वाकांक्षा तथा आत्मप्रशंसा जैसी दुर्निवार्य मानवीय दुर्बलतायें उनके चट्टानी व्यक्तित्वसे टकरा कर चूरचूर हो जाती थीं । यशोलिप्सासे वे कोसों दूर थे । पर-निन्दा, अथवा परचर्चा करते उन्हें कभी नहीं देखा गया । न जगतका विशेष परिचय प्राप्त करना और न जगतको अपना परिचय देना, यह उनका सहज स्वभाव था । उनका पत्रका जीवन, प्रचार, प्रसिद्धि और प्रभाव विस्तारके वर्तमान हथकण्डोंसे सर्वथा अछूता रहा । वस्तुतः उनका सम्पूर्ण जीवन ही साधना तथा सावधानीकी

वह कसौटी था जिसमें सेवा और समर्पणके सिवा अन्य किसी बातको कोई स्थान नहीं रह गया था। अनासक्ति और मृदुता की तो वे जीवन्तप्रतिमा ही थे।

श्रीभाईजीकी मान्यता थी कि "विशुद्ध आध्यात्मिक पत्र होनेके कारण "कल्याण" के सम्पादकको अध्यात्मनिष्ठ होना चाहिये, उसके जीवनमें समस्त गुण अनायास उपलब्ध थे।

गीता के तत्ववादपर उन्होंने भले ही कोई ग्रन्थरचना नहीं की, किन्तु उसे उन्होंने अपने जीवन में उतारा था उसका स्वारस्य चिन्तनके स्तरसे ऊपर उठकर उनकी जींवनचर्यामें व्याप्त हो गया था।

उनके साथ पुरानी पीढ़ीकी साधनानिष्ठ पत्रकारिताका युग समाप्त हो गया। वस्तुतः श्रीगोस्वामीजी श्रीभाईजी द्वारा स्थापित मर्यादा क्षेत्रकी मेढ़ थे।

पुष्टिमार्गीय कुलोद्भव होनेसे श्रीकृष्णभक्ति पूर्वजोंसे दायके रूपमें श्रीगोस्वामीजीको मिली थी। महामहोपाध्याय पण्डित श्रीगोपीनाथ कविराजके प्रिय शिष्य होने पर शास्त्र ज्ञानका प्रसाद पाकर वह पुष्ट हुई। श्रीभाईजीके सम्पर्क एवं प्रभावमें आनेके बाद श्रीराधाकृष्णके दिव्य भगवदीय गुणोंमें उनकी विशेष आसक्ति हो गयी। युगलोपासना उनकी जीवन-चर्याका अभिन्न अंग बन गयी। प्रियाप्रियतम श्रीराधामाधवकी दिव्य केलिकी भाव-साधना उनके कार्यव्यस्त जीवनमें भी चलती रहती। छके नेत्र और मंद मुस्कान उनकी गूढ़ प्रेम भक्तिका परिचय देते रहते।

दिव्य-युगलकी रस-माधुरी एवं व्रजगोपियोंके मधुर प्रेमके पदोंका गान करते-करते एवं सुनते-सुनते उनकी आँखों से अविरल अश्रु प्रवाह चल पड़ता था। वे स्वयं ही एक कुशल संगीतज्ञ थे और गीतावाटिका, गोरखपुर में आयोजित श्रीराधाष्टमी महोत्सव एवं अन्यान्य धार्मिक आयोजन पूज्य गोस्वामीजीके रसमय पदगान एवं सस्वर श्लोकपाठकी मधुरिमासे अभिषिक्त रहते थे। ढलती आयुमें भी उनके कण्ठसे झंकृत मधुर स्वर-लहरी सम्पूर्ण वायुमण्डलको एक अभिनव मादकता एवं स्निग्धता से भर देती थी।

विनय पत्रिकाके सुप्रसिद्ध पद "कबहुँ अम्ब अवसर पाइ" को भाव प्रवण हृदयके साथ अपने सुरीले कण्ठसे गाते समय उनकी दशा कुछ और ही हो जाती थी। वे सत्संग गोष्ठियों एवं संकीर्तन समारोहोंमें जिन सरस पदोंको बहुत बार गाया करते, उनमें से एक प्रिय पद है—

टेर —सुनो व्रजराज-दुलारे।
अब तो एक बार कहो हँसि के —"आजहिं ते तुम भये हमारे"।
याहि कृपाते नारायन कीं; बेगि लगेगी नाव किनारे॥

श्रीभाईजीके अभिन्न स्वरूप, उनके ही दिव्य भगवदीय प्यार एवं अपार करुणाकी सजीव, सचल, साकार मूर्ति पूज्य बाबा (स्वामी चक्रधरजी महाराज) को रुचि एवं आज्ञाको श्रीभाईजीकी ही रुचि मानकर उनकी प्रत्येक आज्ञाको शिरोधार्य करना उनका जीवन भरका स्वभाव रहा है। श्रीभाईजीके जीवनकालमें एवं उसके पश्चात् भी उन्होंने कभी भी किसी भी प्रकारका भेदभाव इन दोनों विभूतियोंके बीचमें नहीं किया था। वे इन्हें दो देहोंके अन्तराल एक ही स्वरूपतत्व, एक ही प्राण सदैव मानते थे। एककी रुचिमें ही दूसरेकी रुचि और एक की प्रसन्नतामें ही दूसरेकी प्रसन्नता थी और थी उनके अन्तर्हृदयमें बहुत गहराई तक बद्धमूल हो चुकी थी। दोनोंकी नित्य अभेद स्वरूप-स्थिति पर उनका अटल, अडिग, दृढ़ विश्वास था।

किसी अत्यन्त देदीप्यमान ग्रहके दिव्य तेजमें अपनी सम्पूर्ण सत्ताको विलीन करके उस नक्षत्रके आकर्षणसे, उसके चारों ओर निर्धारित पथ पर अविराम, अबाध घूमते चले जाना ही जिस ग्रह उपग्रहका जीवन हो, जिसने अपने मनःप्राण के साथ संगमित कर दिये हों और जो उस महाप्राणसे अनुप्राणित होकर उसकी इच्छा एवं अभिरुचिकर सर्वथा निछावर हो चुका हो, जगत्‌को पीठ देकर और केवल उसी बिम्बपर आँख टिकाकर सतत् गतिमान हो, अत्यन्त पवित्र आभा एवं दिव्य, स्निग्ध सुषमासे सम्पन्न होने पर भी अत्यधिक ऊँचाईपर स्थित वह शान्त, सौम्य एवं शीतल तारा सबके दृष्टिपथमें आ ही जाये, यह सहज नहीं जगत् की दृष्टिमें अलक्षित रहकर अपने प्रधान ग्रहके दिव्य तेजमें अपनी जीवन-ज्योति विलीन करने

की आन्तरिक साध, दिव्य स्वप्न अथवा सत्य संकल्प जिस रूपमें हमारे परम श्रद्धेय श्रीचिम्मनलालजी श्रीगोस्वामीजी महाराज के जीवनमें मूर्त हुआ है, वह अप्रतिम है। उन जैसे समर्पित जीवन दैन्य विभूति, सच्चे अर्थमें मानवशून्य भक्त वैष्णवके लिये अत्यन्त शोभा की वस्तु है।

जीवनके अन्तिम दिनोंमें उनकी शारीरिक तथा मानसिक स्थिति इस विलक्षण प्रेमी, दृढ़ आस्तिक एवं समर्पित जीवन भक्त की चरम परीक्षा की घड़ियाँ थीं। श्रीगोस्वामीजी एवं उनके अग्रपुरुष, जीवनादर्श, श्रीपोद्दारजीने "कल्याण" तथा "कल्याण कल्पतरु" के माध्यमसे आजीवन प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति, भीषण रोग, शोक, पीड़ा, दुःख एवं मृत्युमें भी भगवान्के मंगलमय विधान देखने तथा उनकी कृपाके सतत दर्शन करनेका जो उपदेश जिस दृढ़ आस्था एवं आग्रहके साथ किया था, वह स्वयं उनके जीवनमें किस अनुपात एवं रूपमें मूर्त हुआ था, उसे कसौटी पर कसकर देखनेका समय आ पहुँचा था।

अत्यधिक शारीरिक कष्ट एवं असह्य यंत्रणाके रूपमें आये हुए भगवान्का अत्यन्त उत्फुल्ल हृदयसे वे स्वागत कर रहे थे। उन्होंने अन्तर्मनसे अपने आपको सर्वथा भगवान्की मंगलमयी इच्छापर छोड़ दिया था। असह्य वेदनामें भी उन्होंने कभी नहीं कहा कि उन्हें किसी औषधि आहार अथवा जलकी आवश्यकता है अथवा मुझे कोई कष्ट है।

सम्भव रहने तक अपने नित्यकर्म एवं जपमें इन्होंने कभी कोई व्यवधान आने नहीं दिया! उनके मनमें अपने कर्णपुटोंको सतत भगवन्नामकी पवित्र ध्वनि, श्रीमद्भागवत तथा भगवान्की मधुर लीलाओंके गुण-कथन एवं गानसे आपूरित रखनेकी उत्कट अभिलाषा सतत बनी रहती थी। इसीलिये प्रायः उनके कक्षमें इस दृष्टिसे कुछ न कुछ, कोई-न-कोईआयोजन होता रहता था।

ऐसे ही एक अवसर पर कीर्तनकी लय पर रस छके नेत्रोंसे हाथ उठाकर नृत्य करनेकी चेष्टामें पूज्य श्रीगोस्वामीजी की भावभंगिमा एवं मुखमुद्रा तथा प्रियतमके घर जानेका वह अनुपम अतुल आह्लाद कोई कैसे भूल सकता है।

स्वजनों तथा आगन्तुकोंको यह देखकर आश्चर्य होता था कि पीड़ासे छटपटाते समय भी उनके होठोंपर स्मितकी एक क्षीण रेखा कौंध जाती थी। प्रारब्धवशात शरीर व्याधि भोगते हुए मृत्युके स्वागतके लिये तैयार बैठा था, किन्तु आत्मा आपने आराध्य दिव्ययुगलके लीलारस भोगमें लीन थी। जब कभी उनसे पूछा था कि आपको भगवान् की स्मृति तो है, तभी तत्काल बोलकर इंगितसे सिर हिलाकर अथवा आँखोंके इशारेसे स्वीकृति सूचक उत्तर ही प्राप्त होता था। हाथोंकी सतत हिलती हुई उंगलियाँ एवं अधरपुट उनके निरन्तर नाम जपके साक्षी थे।

श्रीगोस्वामीकीके अन्तर्हृदयमें अपने जीवनादर्श श्रीपोद्दारजीकी तपोभूमिमें अपने प्राण-विसर्जन करनेकी आन्तरिक साध घर किये बैठी थी, अतः किसी अलक्षित प्रेरणासे उन्हें आग्रहपूर्वक गीतावाटिका स्थित श्रीभाईजीके आवास में लाकर सेवा संभाल करनेका निश्चय कर लिया गया। उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि शरीरसे प्राण निकलते समय पूज्य बाबा पर उनकी एवं उनके पार्थिव कलेवर पर पूज्य बाबाकी आँखें टिकी रहें—हटें नहीं। उनमें उसी प्रकार सामनेकी दीवार पर टँगे हुए पूज्य श्रीभाईजीके चित्र पर उसी छविमें समा जानेकी भावनासे, उनकी आँखें बार-बार केन्द्रित हो जाती थीं।

चेतना रहने तक अपनी शैयासे ही प्रतिदिन गवाक्ष रन्ध्रसे श्रीपोद्दारजीकी समाधिके दर्शन किये विना उन्हें चैन नहीं पड़ती थी, जीवन निरर्थक प्रतीत होता था। उनकी भावना थी कि कदाचित मैं अपनी अशक्त, धूमिल आँखों अथवा असहाय शारीरिक स्थिति के कारण श्रीभाईजीकी समाधिके दर्शन न कर सकूँ तो भी करुणामूर्ति श्रीभाईजी मुझ अकिंचनको कभी विस्मृत कर नहीं सकते, वे वहीं से अपनी प्यार भरी दृष्टि मेरे इस अशक्त कलेवर पर डाल ही देंगे।

अपनी इसलीला समाप्त करनेके कई दिन पूर्व उन्होंने यह अनूठी अन्तिम इच्छा व्यक्त की थी कि "मेरे शवका अन्तिम स्नान, उस पवित्र पीली मिट्टी को धोकर एकत्रित किये गये जल से ही किया जाय, जो मेरे जीवन—धन श्रीभाईजी की पावन समाधि पर पुती हुई मेरे प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति दुकूलकी प्रतीक है, तथा मेरे प्राण वल्लभकी पावन स्मृतिको सतत सजीव बनाये रहती है।" जीवन भर अत्यन्त निष्ठापूर्वक पालन किये गये वैष्णव सदाचार कुल परम्परा, सम्प्रदाय गत रीति-रिवाज एवं लोकाचार सभीको एक किनारे रखकर अपने निष्प्राण पार्थिव कलेवर तकको अपने प्राणधनकी प्रसादी रजसे अभिषिक्त करनेका यह उदाहरण जगत्में विरल ही है।

प्रेम गरिमा एवं सम्पूर्ण आत्मसमर्पणकी महिमा तथा स्वरूपकी सुप्रतिष्ठा कहीं अधिक उन्हें प्रिय थी, अभिप्रेत थी, तभी तो गंगा जल द्वारा अंतिम शव स्नान हो जानेके पश्चात् अपने जीव—सर्वस्वकी समाधि पर पुती हुई मिट्टीसे अभिषिक्त होने में उन्हें कहीं अधिक गौरवकी अनुभूति हुई।

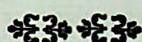
विदाईके क्षक्ष निकट आ जाने पर उन्होंने सभीको बुलवाया और प्रत्येकसे अपने जीवनमें जाने अनजाने हुई भूलों, इच्छा-अनिच्छासे किये गये किसी कष्टदायक व्यवहार अथवा किसी भी प्रकारकी कटु उक्तिसे उत्पन्न उद्वेगके लिये क्षमा याचना की।

रुद्धकण्ठ एवं अश्रूपूरित नेत्रोंसे उनकी सेवामें दत्तचित्तसे लगे सेवकोंको कुछ भी न दे सकनेकी आत्मग्लानि व्यक्त करते हुए उन्मुक्त हृदयसे उन्होंने यह आशीर्वाद दिया था—"मैं तो सर्वथा अकिंचन हूँ, मेरे पास इस सेवाके बदले में दे सकने योग्य कुछ भी महीं है, परन्तु, मेरे भगवान इस एक-एक सेवाका अनन्त गुणा पुरस्कार तुम सबको-अवश्य-अवश्य देंगे, यह मेरे अन्तराल की अन्तिम आशीष है।"

किसीके मनमें भी शरीर रहने का विश्वास नहीं रह गया था। जब सभी उन्हें घड़ी आध घड़ीका मेहमान समझ रहे थे, पूज्य बाबा एकटक उनकी आँखोंकी ओर निहारे रहे थे। उस उसय उनके कानके पास मुँह ले जाकर उच्च स्वरमें पूछा गया था—"गोस्वामीजी महाराज! कुछ कहना चाहते हैं क्या?" तत्काल न जाने किस अदृश्य शक्तिकी प्रेरणा या बल झे सभी को स्पष्ट सुनाई दे सकने वाले स्वरमें हाँफते हुए, हृदयोद्‌गार फूट पड़े थे—"नाथ! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो॥"

पुनः यह भान होने-पर कि कदाचित वे कुछ बोलना अथवा करवट बदलना चाहते हैं, उनसे पुनः पूछा-गया "आप क्या चाहते हैं?" उसका उत्तर देते हुए वे बोल पड़े थे—"मैं कुछ न चाहूँ, केवल यही चाहता हूँ"। अन्तश्चेतनामें भगवान की मंगलमयता को दृढ़ आस्था के प्रतीक ये शब्द अपने-आपमें अत्यन्त मुखर हैं।

अंततः कल्याण तथा कल्याण कल्पतरु के प्रधान सम्पादक परम अकिंचन एवं निरीह श्रीगोस्वामीजी महाराजने अपने प्राणाधार, जीवन सर्वस्व श्रीभाईजीसे महामिलनके लिये पाँच मई १९७४ के दिन अपनी गोलोकधामकी यात्रा आरंभ कर ही तो दी। प्रातवेला में उड़ गया वह हंस, अपनी अनन्तकी यात्रा पर चल गया वह सन्त, जिसकी कथनी, करनी और रहनी थी एक, दो नहीं। प्रेम पंथके पथिकोंके लिये छोड़ गया पदचिह्न, जिस पर कोई चलना चाहे, तो चल ले। और टूट गया वह तारा, जो प्रीतिसूर्य श्रीभाईजीके अस्त हो जानेके पश्चात आस्तिक जगत्‌का था एक दृढ आधार, आशाका केन्द्र और एक सशक्त सम्बल, फिर भी धीर बंधा रहा है इस विलक्ष प्रेमीकी पावन उत्सर्ग गाथा से छिटकने वाला निर्मल प्रकाश, जिसके आलोक में पढ़े जा सकते हैं समर्पण तथा आस्तिकताके पाठ और देखी जा सकती है प्रीतम के देश की डगर।



श्रीहरिः

सुमनसामञ्जलौ सुमनांसि

विजयतेतमाम् श्रीयशोदोत्सङ्गलालितः। पुनस्तस्मै नमोवाचं प्रशास्महे। किन्तु वक्ष्यामहे केवलं वयं वाग्विलासमेव कुर्महे। करुणावरणीयेन वंशीरसा नन्दास्वादनव्यसनिना, व्रजवनितालालितानन्ववारिजामृतजुषमाणपरायणालिना, वंशीरवाकारितकुमारिकावृन्दशालिना, पुरंदरामन्दाखर्वगर्वपर्वतविदारिणाऽघ्रहारिणा, मनोहारिणा, श्रीवृन्दावनाह्लाददायिना पुरन्दरेणाविगीतकीर्तिश्रीकीर्तिकुमारीप्रियसुकुमारीमकुमारसुखाकरमुखाम्बुजसुधाकराधरसुधारसासवपानव्रतरतेन, नतेन, बहुमतेन, प्रणयरसपरिपूरितस्मितावलोकनलोललोचनेन, गोरोचनागरु-परिमलपरिविलसित-सुललितकस्तूरिकातिलकाङ्कितललाटपटलेनातिपेशलेन, श्रीवृन्दावनतिलकेनालसविलासविलसितसुललितगतिना, मधुपतिना, मधुरस्मेरस्मितजनितश्वासचलितनासापुटगतमुक्ताफलावलोकनासक्तानामनुपदं मुक्तिफलदायिना, मुदादरेण गृहीत-दरारिपानीयजगदापाणिना, शार्ङ्गपाणिना, केनोमेशनाकेशालकेशपाशपाणिप्रभृतित्रिदशसंसेवितपरमासुषमाचारुरमासंलालितपदसरोजयुगलेन देवकीवसुदेवहृदयारविन्दाह्लादकारिणा भगवता यदुनन्दनेन श्रीनन्दयशोदारुचिरोत्सङ्गपेशलप्रेङ्खपर्यङ्कसुलालितपालितपोषितप्रसादितविविधविधिवात्सल्यभावसुतोषितदयितदामोदरेण, श्रीनन्दनन्दनेन, कालयवनदहनमिषेण परमोदाराय, सुखरपटलीहितपराय समरश्रान्ताय भक्तवराय मुचुकुन्दाय मुक्तिदायिना मुकुन्देन, भीष्मकसुतादिमहिषीयुतषोडशस्त्रीसहस्रेण, सहर्षमनिशं विविधैर्लौल्यैः सेव्यमानेन, गतमानेनापि मानिना, चक्रपाणिना, श्रीद्वारावतीनाथेनानाथान् सनाथीकर्तुं प्रीतिं पुरस्कर्तुं संसारानलसंतप्तविषयाशीविषविषसेवनसंमूर्च्छितजनानुज्जीवयता, करुणाप्रणयजीवातुना, व्रजाङ्गनाङ्गणविहारिणा, दुकूलहारिणा, कुमारिकाकामकलावितारिणा, हैयङ्गवीनचौर्यचपलिनाऽघबकवकीतृणावर्ताद्यरिचयक्षयकारिणा, रासविहारिणा, श्रीरसराजेन, संसारार्णवमग्नजन्तुनिकरान्निजजानानुद्धर्तुं स्वस्वरूपेऽनायासेन स्नेहेन सन्निरोद्धुं निरानन्दाज्जगतो निवर्तयितुं चर्षणं नां गुप्तानन्दं प्रकटयितुं निरूपमे भजनानन्दे नियोजयितुं स्वरूपानन्दमास्वादयितुं स्वयमवतीर्य स्वकीयाऽनुपमा रमारमणीया कमनीया ब्रह्मविन्मननीया योगिवृन्दवरेण्या त्रिविधान्विविधान्वाऽनेकविधान् जीवानानन्दयितुं तेषां गुणस्वभावानुकूलातामसराजससात्विकगुणा, गुणातीता निर्गुणा निरोध-लीला सुधानिःस्यन्दिनी वसुधायामभिस्यन्दिताभिनन्दिता हृदिधृत्वा तमालनीलविग्रहानुरागिणा नीलकण्ठेनाकण्ठमासेविता नीलकण्ठावतारिणा, सर्वोपकारिणा, गोविहारिणाऽवधूतवेषिणाऽव्यवहितसात्वतसंहितागायिना भगवता बादरायणिना वसुधातलेऽभिवर्षिता निरोधलीलासुधा न कं वा निरोधयति श्रीकृष्णचन्द्रचरणसरोजसेवायां च कथायां न कं वा प्रतोषयति।

किं बहुना सात्वतसंहिताथ निरोधलीला कैर्वा नावगाहिता न पीता ध्याता वा न सेविता ? विषयानुरागिभिर्वा हरिचरणानुरागिभिर्विवैरागिभिर्वोपरागिभिर्योगिभिर्वा वियोगिभी, रोगिभिर्वा नीरोगिभिर्नाकिभिर्वा पिनाकिभिः, रसासेविभिर्वा रसातलसेविभिः परमेष्ठिभिर्वा श्रेष्ठिभिः सर्वैरेवासेविता स्नेहेनेयं निरोधलीला।

जाग्रति किल जगत्यां चतस्रः सन्धानिकाः शक्तयस्तत्रैकालसच्छ्री-तुलसीविमिश्रा श्रीकृष्णपदपङ्कजपरागपुञ्जरञ्जिता हंसजामण्डिता श्रीचरणपद्मजा ततो द्वितीया पानेनावगाहेन सेवया तनुनवत्वदायिनी भानुसुता ततस्तृतीया सततसंयुता परमाह्लाददायिनी श्रीवृषभानुसुता तुरीया चेयं षडैश्वर्यसम्पन्ना सच्चिदानन्दमयी श्रीनिरोधलीला साक्षात् भगवत्स्वरूपा। चतस्रश्चतुराः पूर्णास्तथापि सुतरां सुलभा निरोधलीला सा पञ्चधा विभज्यते तत्र चतुर्भिरध्यायैर्जन्मप्रकरणसंज्ञया प्रथिता प्रथमा।

द्वितीयाऽष्टाविंशतिभिरध्यायैस्तामसप्रकरणसंज्ञया व्यवह्रियते। अत्रायं तामसशब्दः प्रकृतेस्तामसगुण-विषयको न विज्ञेयः किन्तु भगवतोऽपि स्वतंत्राश्रयो गुणा विलसन्ति। अनन्यस्नेहमृते ज्ञानादीनि साधनानि यैर्नाद्रीयन्ते वा ध्रियन्ते तेषामानन्दाय निरोधाय व्रजनन्दनेन तदनुकूलालीला विस्तारितास्ताभिश्च ते जीवा निजीकृतास्ते तामसभक्ता, लीला अपि तामसलीलाः। तस्याः तामसलीलायाः प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलानीति विभेदेन चत्वारि प्रकरणानि। प्रत्येकस्मिन्प्रकरणे सप्ताऽध्यायाः। कस्यचित्पदार्थस्य स्वरूपप्रतिपत्तये प्रमाण-प्रमेय-साधन-फलानीति-चत्वारि साधनानि दृश्यन्ते। यथेकोघटो निर्णेतव्यस्तदा स प्रमेयो भवति। तत्र चक्षुः प्रत्यक्षादि प्रमाणं, विषयः प्रमेयः, सूर्यादितेजः साधनं, तस्य च प्रतिपत्तिः फलमित्थं करणगोचरेषु पदार्थेषु सर्वत्र व्यवस्था दृष्टा किन्तु यत्र भगवान् निश्चेतव्यः तत्र भगवल्लीला एव प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपतां भजन्त इति हेतोस्तामसप्रकरणे सप्ताध्यायानां चत्वारि प्रकरणानि सन्ति। भगवत्कृपया प्रथनां मो भागो जन्मप्रकरणेन तामस प्रकरणस्य साधन प्रकरेण साकमेकादशाध्याय पर्यन्तस्तु प्रकाशितः। साम्प्रतं प्रमाणप्रकरणस्य एवं कल्पान्तरकथाया द्वादशादित्रयाणामध्यायानां तं पञ्चदशाध्यायादारभ्याष्टाविंशत्यध्यायपर्यन्तानां चतुर्दशाध्यायानां प्रमेयसाधनप्रकरणयोश्चेदानीं श्रीनाथस्य भगवतः कृपया प्रकटनं संभवति। दशमस्कन्धस्य प्रस्तुतोद्वितीयो विभागः सतां विदुषां भगवताञ्च साम्मुख्यमुपतिष्ठते।

लीलाविग्रहस्य श्रीव्रजराजस्य लीलाभिधस्य रसविग्रहस्य श्रीमद्भागवतस्य द्वितीयभागस्य साम्प्रतं सत्समर्पणप्रस्तावः प्रस्तूयते परमकारुणिककविविद्वद्वरवल्लभकुलकौस्तुभवाग्मिवदान्यवरश्रीद्वारकानाथचरणानुवृत्तिनिरतकांकरोलीनरेशतृतीयपीठाधीश्वरगोस्वामिकुलतिलकाचार्यवर्य १०८ श्रीव्रजेशकुमाराणां वरदैर्विजयिभिः करकमलैरिति श्रीगोवर्धननाथपादानामहैतुक्यनुकम्पैव केवलं निदानम्। श्रीमतामाचार्यधुरीणानामानन्दसिन्धूनां श्रीभागवतविद्यापीठ कुलपतीनां गोस्वामिवंशावतंसानां भक्तिहंसानां १०८ श्रीव्रजरायजीमहाराजानां अध्यक्षपदे सम्पद्यमानोऽयमनावरणसमुत्सवो न कस्मै मोदाय भविष्यति।

श्रीकल्याणमासिकप्राणानां भक्तवरभाईजी श्रीहनुमत्प्रसादानामथ च परमभागवतश्रेष्ठिश्रीजयदयालजीगोयन्दकानामात्मस्वरूपाणां विदुषामुद्यमिनां तपस्विनां समर्पणमूर्तीनां विनयिनां गोस्वामिकुलराजहंसानां श्रीमतां श्री चीम्नलालगोस्वामिमहाराजानां पुष्टि भक्तिविलसिते सिते सुकोमले हृदयसरोजे सानुनयं सप्रश्रयं समुपायनीकृतोऽयं द्वितीयो विभागः सततं विराजताम्। आनन्दातिरेकस्यत्वयं हेतुयद्वंश परस्परया पुष्टिभक्ति परिपुष्टेभ्यः श्रीचिम्नलाल गोस्वामिवर्येभ्योऽस्मत्सर्वस्वानां तृतीयपीठाधीशानां पुष्टिसम्प्रदायाचार्याणां श्रीकांकरो लीनरेशानां वरदैकरसरोजवरैः ते समुपयनीक्रियते।

प्रथमस्कन्धत आरभ्येदानीं यावन्मुद्रितस्य श्रीमद्भागवतस्य मुद्रणयशो मदीयस्यापरहृदयस्य परमसुहृदस्तपस्विन ऋषिकल्पस्य श्रीमतः प्राणलालस्याचार्यस्योज्ज्वले सौभाग्ये विलसते। भगवता लीला सर्वथाऽगम्या वरीवर्ति। आचार्याः प्राणलाला-द्वितीयभागं सर्वथामुद्राप्य नित्यायां श्रीगोवर्धननाथलीलायां निरोधलीलामेव पिबन्तश्चिन्तयन्तो निविष्टा स्तद्विरहदुःखं नाहं वक्तुं सोढुं वा पारये। विश्वसिमि श्रीनाथचरणेपु ते एवावशिष्टं कार्यं पूरयिष्यन्ति। सदा भगवत्कार्ये सहयोगिनी मदीयामर्धाङ्गिनीं तारादेवीं स्मरामि दुर्लभेदृशी परमसाध्वी पतिव्रता सरला धर्मपत्नी केनचित्कारणेनावरुद्धस्यास्यात्यावश्यकस्य श्रीकृष्णहृदय वरूपस्य दशमस्कन्धस्य प्राकट्यं प्रारम्भि तत्रान्वर्थनाम्नां सहृदयानां भक्तवराणां वदान्यानां श्रेष्ठिनां श्रीजयदयालडालमियाभिधानां परमवैष्णवानां प्रेरणोत्साहानुरागा एव निदानमतस्तान् भूयोभूयः स्मरामि। स्मरामि च नमामि ममतातपादान्यैः परमभक्तैः कारुणिकैः श्रीदलसुखरामाभिधैरहं केवलं श्रीमद्भागवतसेवायै एव संस्कृतं पाठितस्तेषामेवपुण्योदयेन, पुन मम तातश्च परमभक्ताया मन्मातृचरणाया डाहीबादेव्या भक्तिमयेनस्तन्येन पोषितस्य मेऽनुरागो भगवति श्रीकृष्णे श्रीमद्भागवते च समजनि तौ मातापितरौ वारंवारं स्मरामि तयोरेव तनुजो भवामि तेन भवे भवे भवेन्मे भागवते भगवति च भक्तिः स्यादित्यहमहर्निशमर्थये। पुनश्च नित्यं मदीयाखिलभगवत्कार्यसहायकस्य मदात्मजस्य कर्दमर्षेरवशिष्टमखिलं कार्यजातं सुजातश्चिरंजीवी भागवतऋषिः पारयत्विति भक्तमनोरथपरिपूरकं भगवन्तं श्रीनाथं निवेदयामि।

भारते भुवि वा सर्वोपरि वरीवर्ति किलैकं स्थानं "श्रीकृष्णजन्मस्थान-सेवासंस्थान" नाम येन भगवतः श्रीकृष्णप्राकट्यक्षेत्रस्य स्वरूपमरक्षि क्षितिः संतोषिता सन्तोऽपि तोषिताः। अस्यैवानुग्रहेण प्रसूयते द्वितीयं पुष्पम् तस्मै संस्थानाय नमो नम इत्येव कर्तुं प्रभवति भागवतविद्यापीठः विशेषत आनन्दस्तु द्वितीयोविभागः श्रीभागवतविद्यापीठस्य पञ्चविंशतितमेवर्षप्रवेशपर्वणि विश्वमङ्गलकामनयाऽष्टोत्तरसहस्रदिनानियावद् विधीयमाने विश्वमङ्गलानुष्ठानसत्रे भगवतः श्रीगोवर्धननाथस्य चरणसरोजयोः श्रद्धया भक्त्या प्रीत्या समर्प्यते।

श्रीभागवतविद्यापीठ पाटोत्सवः | विदुषां वशंवदः किंकरः
फाल्गुन शुक्ल द्वितीया शनिः वि. सं. २०४७। ता० १६-२-९१ | कृष्णशङ्करः

दशमस्कन्धः पूर्वार्द्धः

अध्यायसूची



श्री हरिः

❀ श्री गणेशाय नमः ❀

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्

दशमः स्कन्धः पूर्वार्धः

(अथ अध्यायत्रयात्मिका कौतुकलीला पद्मपुराणप्रसिद्धा)

[1]अथ द्वादशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	इ. वं.	इ. व.	वंश.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
४४	२१	३	२	१	१७	४	१७५४	२१	५४	१८२९	५७	५

श्रीशुक उवाच

क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।
प्रबोधयञ्छृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरो हरिः ॥ १ ॥
तेनैव साधं[2] पृथुकाः सहस्रशः [3]स्निग्धाः सुशिग्वेत्रविषाणवेणवः ।
[4]स्वान् स्वान् सहस्रोपरिसंख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥
[5]कृष्णवत्सैरसंख्यातैर्यूथीकृत्य [6]स्ववत्सकान् । [7]चारयन्तोऽर्भलीलाभिर्विजह्रुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥
फलप्रवालस्तवकसुमनःपिच्छधातुभिः । [8]काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कवचित् वनाशाय मनः दधत् हरिः प्रातः समुत्थाय चारुणा शृङ्गरवेण वयस्यवत्सपान् प्रबोधयन् वत्सपुरः व्रजात् विनिर्गतः ॥ १ ॥ स्निग्धाः सुशिग्-वेत्र-विषाण-वेणवः सहस्रशः पृथुकाः सहस्रोपरि संख्ययान्वितान् स्वान् स्वान् वत्सान् पुरस्कृत्य तेन एव सार्धं मुदा ययुः ॥ २ ॥ असंख्यातैः कृष्णवत्सैः स्ववत्सान् यूथीकृत्य अर्भलीलाभिः चारयन्तः तत्र तत्र ह विजह्रुः ॥ ३ ॥ काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिताः अपि फल-प्रवाल-स्तबक-सुमनः-पिच्छधातुभिः अभूषयन् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वादशे तु महासर्पवपुर्धरमघासुरम् । वत्सपालगिलं क्रुद्धो गलेऽहन्निति वर्ण्यते ॥ १ ॥
महाबकगलक्रीडा केवलस्य न कौतुकम् ॥ इतीवाघासुरमुखे ससखः प्राविशद्धरिः ॥ २ ॥

क्वचित्कदाचिद्वनाशाय वने एव प्रथमं भोजनं कर्तुम् ॥ १ ॥ तेनैव शृङ्गरवेण श्रीकृष्णेन वा सह पृथुकाः बालाः । स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः । रम्याः शिग्वेत्रादयो येषां ते शिक् शिक्यम् । सहस्राधिकसंख्यया युक्तान्वत्सान् ॥ २–३ ॥ काचादिभिः पूर्वं मातृभिर्भूषिता अपि पुनः स्वयं फलप्रवालादिभिरात्मानमभूषयन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

वत्सान्पालांश्च गिलति निगिरतीति तथा तं गले प्रविश्याहन्निति (१) । न कौतुकं न कुतूहलम् । इति हेतोः (२) । शृंगरवेण प्रबोधयन् । वत्साः पुरस्सरा यस्य सः ॥ १ ॥ शृंगरवेण साहित्यासंभवादर्थांतरमाह–श्रीकृष्णेनेति । रामस्तु जन्मर्क्षकशांतिस्नानार्थं मात्रा गृह एव रक्षित इति विश्वनाथः । 'पृथुकौ बालचिपिटौ' इति कोशः । श्रंसतेश्शिरादेशः कुडागमः प्रत्ययलोपश्चार्षः ॥ २ ॥ तत्र तत्र यमुनातटगोवर्द्धनादिषु सहस्रस्योपरि संख्याऽयुतादिस्तयाऽन्वितान् । एवं वत्सानां बालानाञ्चासंख्येयत्व-

---

१. इत आरभ्य त्रयोदशोऽध्यायाः–विज. पाठे न सन्ति । २. साकं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । ३. स्निग्धास्र–च. पु. टी. । ४. स्वकान्–श्रीधर. टी. । ५. रसङ्ख्येयै–वीर. । ६. स्वकान् स्वकान्–इति कस्यचित् । ७. गुञ्जामणिस्वर्णभूमि–च पु. टी. । ८. मुक्तामणि–रिति कस्यचित् ।

मुक्तम् । इत्थं वने बालैः पाल्यमानानामपि वत्सानां यदिव्यत्ता नाऽभूत्तर्हि व्रजे रुद्धानां तर्णकानां तथा गोसंगतानां तथा तत्तन्मातृणा-मन्यासां च गवां तथा वत्सतरीणां वत्सतराणां वृषाणां च श्रीगोपालदेवप्रभावेण नित्यं विवर्द्धमानानामियत्ता कथमस्तु । महिष्यादयः पशवश्च केन वा गण्यास्तदनुसारेण गोप्यो गोपादयश्चानंता ज्ञेयास्तथा चागमे रासध्यानम् 'प्रमदाशतकोटिभिराकलितः' इति तत्तत्समावेशादिकं त्वचिंत्यैश्वर्यादिव । कृष्णस्य तु वत्सैरसंख्यातैरसंख्यसंख्यातैरित्यर्थः । असंख्यसंज्ञसंख्या क्षीरस्वामिदृष्ट्या ज्ञेया । यथा "एकं दशशतसहस्राण्ययुतं प्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम् । अर्बुदकोटिर्न्यर्बुदपद्मे खर्वः निखर्वमिति दशभिः ॥ गणनान्महाब्जशंख-समुद्रमध्यांतं परार्द्धञ्च । स्वहृतं परार्द्धसमितं तत्स्वहृतं भूर्यतोऽसंख्यम् ॥ " इति प्रयुतसंज्ञं लक्षम् । अर्बुदसंज्ञा कोटिरित्यर्थः । परार्द्धपर्यंताष्टादशसंख्या दशदशगुणिता ज्ञेयाः । तत्र च द्वंद्वैक्यं महाब्जादिकं संख्यापंचकं ज्ञेयम् । स्वहृतं स्वेन गुणितमित्यर्थः । परार्द्धेन गुणितं परार्द्धं भूरिसंज्ञं भूरिणा गुणितं भूरि चासंख्यसंज्ञमिति सिद्धम् । ततश्च कृष्णवत्सैर्महायूथैः सह स्वकान्स्वकान् परार्द्धादिसंख्यान्वत्सान्पृथक्पृथग्यूथीकृत्येत्यर्थः । न च षोडशक्रोशीमात्रस्य वृंदावनस्य प्रदेशे तावंतो वत्सा नैव मांतीति वाच्यं भगवद्विग्रहस्येव धाम्नश्चास्य तथापरिमितत्वेऽप्यचिंत्यशक्त्या विभुत्वात् । तत्प्रदेशैकदेशेऽपि पंचाशत्कोटिपरिमाणब्रह्मांडार्बुदानां भगवतैव ब्रह्मणे एतदुत्तराध्याये दर्शयिष्यमाणत्वात् । अत एवोक्तं भागवतामृते—"एवं प्रभोः प्रियाणाञ्च धाम्नश्च समयस्य च । अविचिंत्यप्रभावत्वादत्र किंचिन्न दुर्घटम् ॥" इति तोषिणीचक्रवर्त्तिकारौ ॥ ३ ॥ काचो मृद्विकारविशेषः । गुंजा कृष्णाग्राखिलरक्त-बीज औषधिविशेषः । मणयो विद्रुमादयः । इत्यर्थ इति । बालत्वादेव पूर्वं भूषणान्याच्छादयामासुरिति तात्पर्यम् । स्वस्वगृह-समृद्धयपेक्षया काचादयो ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषणी

भाति रूपगुणक्रीडानामभिर्नित्यनूतनः । आश्चर्य्यश्च सदाश्चर्य्याद्यः प्रभुः सः प्रसीदतु ॥

पुनर्यथाक्रममध्यायत्रयेण कौमारीमेव लीलां वदन् तत्रादावेकेनाघासुरवधमाह—क्वचिदित्यादिना । यदेतच्चाध्यायत्रयं पूतना लोकबालघ्नीत्यादिश्लोकषट्कं य एतत्पूतनामोक्षमित्यादिश्लोकं च कश्चिन्न मन्यते तत्र कारणं न पश्यामः सर्वत्रापि देशेष्विति ह्यप्राप्तत्वात् वासनाभाष्यसम्बन्धोक्तिविद्वत्कामधेनुशुकमनोहरापरमहंसप्रियादिषु प्राचीनाधुनिकटीकासु व्याख्यातत्वात् तदीयस्वसम्प्रदायानङ्गीकारप्रामाण्येन तस्याप्रामाण्यं चेत अन्यसम्प्रदायाङ्गीकारप्रामाण्येन विपरीतं कथं न स्यात्? न च मुरभिदादिनामवदघभिदादिनाम्नां तत्र प्रयोगो न दृश्यतेति वाच्यं "यन्न व्रजन्त्यघभिदोरचनानुवादांच्छृण्वन्ति येऽन्यविषयाः कुकथामतिघ्नी" इति तृतीयात् पापभिदादिनाम्नां तत्र प्रयोगात् न च तत्र तत्र लीलानुवादे सा लीला नास्ति स्वामिपादैस्तत्र तत्र तस्या अपि दर्शितत्वात् अत एव द्वात्रिंशत् त्रिशतञ्च यस्य विलसच्छाखा इति तदीयपद्ये खण्डितमध्यायत्रयं यत्तदिदमेवेति न तन्मतं न च तत्र यमन्यत्र कुत्रापि खण्डयितव्यं सर्वत्राध्यायसङ्ख्याश्लोकसहितटीकासद्भावात् ततो द्वात्रिंशश्च त्रयश्च शतानि' चेति द्वन्द्वैक्यमेव तद्विवक्षितम् अनिर्णीतवहुत्वस्यानवस्थाभिया त्रित्व एव पर्यवसानात् कपिञ्जलालभनन्यायेन अन्यथा त्रिशतीत्येव स्यात् न चासुरमुक्तेः सिद्धान्तविरुद्धत्वान्नतदार्षं श्रीकृष्णमारितेषु सर्वेषु तेषु दृष्टत्वात्—

"आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्" ॥

इत्यादिष्वपि मां श्रीकृष्णलक्षणमप्राप्यैव न तु प्राप्येत्याद्यङ्गीकारात् तथा चोक्तं "ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्ट-मल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः । अन्ये च साल्वकपिवल्वलदन्तवक्त्रसप्तोक्षशम्बरविदूरथरुक्मिमुख्याः ॥ ये वा मृधे समिति-शालिन आत्तचापाः काम्बोजमत्स्यकुरुकैकयसृञ्जयाद्याः । यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्' इति न च पुराणान्तराप्रसिद्धत्वेन सा लीला न सम्भावनीया पाद्मोत्तरब्रह्माण्डपुराणयोः स्पष्टत्वात् श्रीवृन्दावने तल्लीलास्थानानि च प्रसिद्धानि न च भक्तगतिसादृश्येन तेषां तत्प्राप्तिरसमञ्जसा शुद्धभक्तैस्तादृशाप्तेरनुपादेयत्वात् "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" इत्यादिवचनशतेभ्यः न च पूतनाया जननीसाम्यं जननीमाहात्म्यविद्धिर्द्वेष्यं सद्वेषादिव पूतनापीति वाक्येन जननीवेष-मात्रतः तत्प्राप्त्या तस्या एव महिमाधिक्यव्यञ्जनात् तत्र तत्र तेनापि द्विजीवतासिद्धान्तेन दोषः परिह्रियते किं त्वत्रापि "तत्संसर्गी च पञ्चमः" इति न्यायेन दोषस्तदवस्थ एव तस्मान्न कश्चिद्विरोधः प्रत्युत भगवत्तद्भक्ततद्भक्तीनां परममाहात्म्यमेवात्र सेत्स्यति अतस्तदनुभवः श्रीभगवदनुग्रहविशेषेणैव सम्पद्यत इति तत्सुगोप्यमेवेत्येवं तस्य तादृशं वचनमप्युपपद्यते, अलमति-विस्तरेण । प्रकृतं व्याख्यास्यामः, मनो दधत् दृढेच्छां कुर्वन् इति ह्यकृतसम्मन्त्रणैर्वयस्यैः गृहे प्रातर्भोज्यानां वन एव नयनं बोधयति तन्नयनेच्छा चेयं प्राथमिकेव लभ्यते सप्रातराशावित्युक्त्वा क्वचिद्वनाशायेत्युक्तत्वात् सम्यक् रात्रिवस्त्रपरित्यागश्रीमुखादिप्रक्षालन-चारुवस्त्रभूषणधारणादिपूर्वकं त्वरयोत्थाय निष्क्रम्य प्रबोधयन्निति सखिभिः सह सुखजिगमिषया व्रजाच्छनैर्निर्गमनं बोधयति अत एव वयस्येति विशेषणं चारुणेति स्वरूपनिर्देशो निद्रितानां सुखेनैव निद्राभङ्गं बोधयति वत्साः पुरस्सराः यस्य सः तेन तेनैव तेषां चित्ताहरणाद्धरिः स एव स्वयं व्रजात् विशेषेण निर्गतः न त्वन्यदिनवत् श्रीरामेण सहितः तत्र कारणं तच्छृङ्गरवेण चलितु-मुद्यतस्य श्रीकृष्णेनापि कृतचलननिर्णयस्य नूनं जनन्या दैवज्ञाद्युपदेशेनारब्धशान्तिकादिकर्मत्वमेव मुख्यं भवेत् तत्रैव लीलाशक्ति-

घटिततदगोचरताहेतुकवक्ष्यमाणलीलासम्पादनार्थत्वं तु गौणं क्वचिद्वनाशाय मनोदधदित्यनेन वनभोजनस्यैवोद्देश्यत्वात् अघासुरवधादीनां त्वागन्तुकत्वात् अत्र प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिश्लोकं प्रतिप्रकरणं च पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्मात् पूर्वपूर्वमाश्चर्यमूह्यं तच्च भक्तजनहृदयैकवेद्यमतिविस्तरभिया न विव्रियते ॥ १ ॥ तेनैव साकमिति महावेगेन धावनात् यतः स्निग्धाः अतः सर्वेषामेव युगपन्निर्गमोऽपि सूचितः सहस्रस्य उपरिसङ्ख्या—

"एकं दशशतं चैव सहस्रमयुतं तथा। लक्षं च नियुतं चैव कोटिन्यर्बुदमेव च" ॥

इत्यादिवचनादयुतादिस्तथान्वितान् एवं वत्सानां बालानां चासङ्ख्येयत्वमुक्तम् इत्थं वने बालैः पाल्यमानानामपि वत्सानां यदीयत्ता नाभूत् तर्हि व्रजरुद्धानां तर्णकानां तथा गोसङ्गतानां भुक्तस्तन्यानां वत्सानां तथा तन्मातृणामन्यासां च गवां तथा वत्सतरीणां वत्सतराणां वृषाणां च श्रीगोपालदेवप्रभावेण नित्यमेव विवर्द्धमानानामियत्ता कथमस्तु महिष्यादयश्च केन वा गण्याः पशवस्तदनुसारेण गोपगोप्यादयश्चानन्ता ज्ञेयाः तथा चाऽऽगमे रासध्यानं प्रमदाशतकोटिभिराकुलित इति तत्तत्समावेशादिकं चाचिन्त्यैश्वर्यादेवेति मुदेति स्वयं श्रीकृष्णेन प्रबोधनात् अत एव विशेषेण अन्यदिनतोऽसाधारणतया निर्ययुः श्रीकृष्णस्य तु वत्सैरपि तावदसङ्ख्यातैः असङ्ख्यसंज्ञसङ्ख्यैरित्यर्थः। तत्संज्ञा च दर्शिता क्षीरस्वामिना "एकं दशशतसहस्राण्ययुतं प्रयुताख्यलक्षमथ नियुतम्। अर्बुदकोटिन्यर्बुदपद्मं खर्वं निखर्वमिति दशभिः। गणनान् महाब्ज-शङ्खसमुद्र-मध्यान्तमथ परार्द्धं च। स्वहृतं परार्द्धममितं तत्स्वहृतं भूय्यतासङ्ख्यमिति ॥ प्रयुतसंज्ञं लक्षम् अर्बुदसंज्ञा कोटिरित्यर्थः। परार्द्धपर्यन्ताद्यादशसङ्ख्यादशगुणिता ज्ञेयाः तत्र च द्वन्द्वैक्यान्महाब्जादिकं सङ्ख्यापञ्चकं ज्ञेयं स्वहृतामिति स्वेन गुणितमित्यर्थ इति ज्ञेयं स्वकान् स्वकान् स्वस्ववत्सानित्यर्थः। स्ववत्सकानिति पाठः स्पष्टः तत्र तत्र वत्सप्रचारदेशे हृ हृष्टे ॥ २–३ ॥ अर्भलीलामेवाह—फलेति सप्तभिः। स्तबकाः पुष्पगुच्छाः सुमनसः पुष्पाणि काचा महार्घलभ्या विवेक्तुमशक्यरूपत्वात् कौतुकविशेषकारिणः गुञ्जा अपि वृन्दावनीयत्वेन तथाभूतत्वात् बलैरेव कौतुकेनाहृत्य मातृभिः साग्रहं हारादौ ग्रथिताः मुक्तेति पाठः क्वचित् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भाति रूपगुणक्रीडानामभिर्नित्यनूतनः। आश्चर्यश्च सदाश्चर्यादियः प्रभुः स प्रसीदतु ॥

अथ यथाक्रममध्यायत्रयेण कौमारलीलामेव वदन् तत्रादावेकेनाघासुरवधमाह—क्वचिदित्यादिना। एतच्चाध्यायत्रयं केचित्तत्त्ववादिनो वैष्णवा मुक्तेरेव परमपुरुषार्थतां मन्यमाना ऋजुबुद्धयोऽत्रासुरमुक्तिगोपीस्तन्यपानादिकञ्चासहमानाः पूतनासद्गतिप्रतिपादकं (भा० १०।६।३५) 'पूतना लोकबालघ्नी' इत्यादि श्लोकषट्कमिव (भा० १०।६।४४) 'य एतत् पूतनामोक्षम्' इति श्लोकमिव च विगीतमित्याहुः, तच्चासंगतम्—बहुपुस्तकेषु दृश्यमानत्वात् तथा प्राक्तनैराधुनिकैश्च सत्साम्प्रदायिकैः श्रीधरस्वामिपाद-प्रभृतिभिर्महद्भिराहतत्वात्, तथा श्रीवृन्दावने अघासुरवध-शाद्वलजेमन-ब्रह्मस्तुत्यादिस्थानप्रसिद्धेश्च; किञ्च, पद्मपुराणादौ तदाख्यानं व्यक्तं वर्तत एव, तथा वैष्णवप्रवरगण-सिद्धान्तेनापि न विरुध्यत एव,—भक्तिनिष्ठानां मुक्तेरनुपादेयत्वात्। तच्च श्रीभागवतेऽस्मिन् सर्वत्रैव सुव्यक्तम्। पीतस्तन्याश्च गोप्यः प्रायः श्रीयशोदातुल्या मान्या एव; तत्प्रियतमास्तु परा नवतरुण्यः सहस्रशः सन्ति। तच्चाग्रेऽभिव्यक्तं भावि। अतः कोऽपि विरोधो न स्यादेव। विशेषतश्चाध्यायत्रयेऽस्मिन् भक्तैर्भक्तानां श्रीभगवतश्च सर्वतोऽसाधारणं माहात्म्यमतत्तदनुभवः श्रीभगवदनुग्रहविशेषेणैव सम्पद्यत इति तत् सुगोप्यमेवेत्येवं तेषां वचनमभ्युपपद्यत इत्यलं विस्तरेण। क्वचित् कदाचित् पञ्चमाब्दागमे शरदि कस्मिंश्चिद्दिन इत्यर्थः। मनो दधत् दृढेच्छां कुर्वन्निति तस्य वयस्यैर्गृहे प्रातर्भोज्यानामपि सर्वभोगसामग्रीणां वन एव नयनं बोधयति। मन इति सच्चिदानन्दघनस्वरूपस्य श्रीविग्रहस्य श्रीमुखाद्यवयववद्भगवतो मन-आद्यन्तःकरणस्यापि वस्तुतो भेदाभावेऽपि भेदसिद्धेः। एतच्च यथास्थानमग्रे विस्तार्य्यम्। सम्यग् रात्रिवस्त्रपरित्याग-श्रीमुखादिप्रक्षालन-शुद्धवस्त्र-भूषणपरिधानादि-पूर्वकं स्वयमेव शयनगृहादुत्थाय निष्क्रम्य, प्रबोधयन्निति सखिभिः सह सुख-जिगमिषया शनैर्विनिर्गमं बोधयति; अत एव वयस्येति विशेषणम्। चारुणेति निद्रितानां सुखेन निद्रा—भंगार्थम्; यद्वा, पूर्वदिने वन्यभोजनार्थ-गमनाय शृंगरवस्य संकेतितत्वात्तेषां मनोरमेण स्वरूपमात्रनिर्देशो वा, तस्य सदैव चारुत्वात्। वत्साः पुरःसरा यस्य सः, तन तेनैव तेषां चित्ताकर्षणाद्धरिः, व्रजाद्विशेषेणैकाकितया निर्गतो न त्वन्यदिनवत् श्रीरामेण सहितः। तत्कारणमग्रे व्यक्तं भावि। अत्राद्यमाश्चर्य्यं वने प्रातर्भोजनार्थं मनोधारणम्; ततोऽपि मातृप्रेरणादिकं विनैव स्वयमतिबाल्ये समुत्थानम्; ततोऽपि स्वयमेवानन्त-वत्सपवर्ग-प्रबोधनम्; तत्र च चारुशृङ्गरवेण, ततोऽप्यग्रजं विना विनिर्गमस्तत्रापि वत्सपुरःसरत्वमित्येवं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिश्लोकं प्रतिप्रकरणञ्च पूर्वपूर्वस्मादुत्तरोत्तरमाश्चर्य्यमुह्यम्, तच्च भक्तजनहृदयैक-वेद्यमतिविस्तरभयान्न विव्रियत इति ॥ १ ॥ तेनैव सार्द्धमिति महावेगेन धावनात्; यतः स्निग्धाः, अतः सर्वेषामेव युगपन्निर्गमोऽपि सूचितः सहस्रस्योपरि संख्या 'एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा। लक्षञ्च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥' इत्यादि-वचनादयुतादिस्तयान्वितान्। एवं वत्सानां बालानाञ्चानन्त्यमुक्तम्। इत्थं वने बालैः पाल्यमानानामपि वत्सानां यदीयत्ता नाभूत्, तर्हि व्रजे रुद्धानामभिनवानामतृण-चराणाम्, तथा गो-संगे गतानाञ्च भुक्तस्तन्यानां वत्सानाम्, तथा तत्तन्मातृणामन्यासाञ्च गवाम्, तथा वत्सतरीणां

वृषाणाञ्च श्रीगोपालदेव-प्रभावेण नित्यं विवर्द्धमानानामियत्ता कथमास्ताम्? महिष्यादयश्च केन वा गण्या इत्येवमसंख्येयाः पशवस्तदनुसारेण गोप-गोप्यादयश्चानन्ता ज्ञेयाः। मुदेति निद्राभंगादिदुःखं निरस्तम्; यद्वा, स्वयं श्रीकृष्णेन प्रबोधनात्; किं वाद्यं प्रातरारभ्य तेन सह क्रीडिष्याम इति विचारः। अत एव विशेषेणान्यदिनतोऽसाधारणतया निर्ययुः, स्व-स्व-गृहाद्-व्रजादेव वा; वि-शब्दार्थः सुशिगित्यादिना व्यञ्जित एव॥ २॥ कृष्णस्य परमाकर्षकस्य भगवतो वत्सैः सह युथीकृत्य संगमय्येति स्वस्व-वत्सानामपि कृष्णवत्स-संग-सुखैकापेक्षया स्वकान् स्वकान् स्वस्ववत्सानित्यर्थः स्ववत्सकानिति पाठः स्पष्टः। अर्भलीलाभिरिति तेषां बाल्यलीलानैपुण्यं बोधयति। तत्र तत्र स्थाने स्थाने। हृ हर्षे॥ ३॥ अर्भलीला एवाह—फलेति सप्तभिः। स्तबकाः पुष्पगुच्छाः, सुमनसः केवलपुष्पाणि, गुञ्जानां वन्यत्वेऽपि काचादि-गृहभूषणान्तरुक्तिः—सौन्दर्य्येण स्थास्नुत्वेन च मातृभिर्गृहे ताभिर्भूषितत्वात्। मुक्तेति क्वचित् पाठः॥ ४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

श्रीरामानुजपादाब्जकृपासमनुरञ्जितैः। पूर्वैः प्रक्षिप्तमध्यायत्रयमन्वर्थ्युच्यते॥

वनाशाय वने प्रातर्भोजनाय॥ १॥ शिक् भोज्यवस्त्वाधारभूतं शिक्यं वेत्रं गोवेषयितृविषाणवेणुवाद्ये॥ २॥ तत्र तत्र वृन्दावनप्रदेशेषु॥ ३॥ काचानां हाराः गुञ्जानां च मणिस्वर्णादीनामाभरणैर्भूषिता अपि पिच्छं मायूरं फलादिभिरभूषयन्॥ ४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत आरभ्य अध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति व्यासाचार्यैरुपेक्षितम्, अथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैश्चिद्व्याख्यातत्वाच्च व्याख्यायते अत्राद्येनाघासुरवधात्मकं चरित्रमनुवर्ण्यते—क्वचिदित्यादिना। कदाचिद्भगवान् प्रातरुत्थाय समानवयस्कान् वत्सपान् प्रबोधयन् वन एव प्रथमभोजनाय मनः कुर्वन् वत्साः पुरस्सराः यस्मात् तथाभूतः चारुणा विषाणानां रवेण व्रजान्निर्जगाम॥ १॥ तथा शिक् शिक्यं भोजनाः शिक्यादयो येषां ते स्निग्धाः परस्परानुरागयुक्ताः पृथुकाः बालकाः सहस्रशस्तेनैव कृष्णेनैव सह सहस्राद्युपरिसंख्यया अन्वितान् परिच्छन्नान् स्वस्ववत्सान् पुरस्कृत्य मुदा विनिर्ययुः॥ २॥ ततः स्वस्ववत्सानसङ्ख्यातैः कृष्णस्य वत्सैः सह सङ्गीकृत्य चारयन्तः तत्रतत्रार्भकलीलाभिर्विहृतवन्तः॥ ३॥ तदेव प्रपञ्चयति—फलेति सप्तभिः। पूर्वं मातृभिः काचादिभिर्भूषणैर्भूषिता अपि फलादिभिरात्मानमभूषयन् तत्र प्रवालाः पल्लवास्तेषां स्तबकैः पुष्पस्तबकैश्च युक्तैर्दामभिः मालाभिः॥४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

(अत्राध्यायत्रयं न दृश्यते)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अध्यायत्रयमिदं केनचिदसम्मतमपि वासनाभाष्यादिप्राचीनटीकाकारैर्बहुभिः सम्मतत्वात् सर्वदेशपुस्तकप्रसिद्धत्वाच्च लिख्यते [१–७]

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

द्वादशे सखिभिः केलिस्तन्मध्येऽघस्य वर्णनम्। वक्त्रेऽविशंस्ते कृष्णो नु प्रविश्यार्हस्तमेधितः॥

क्वचिद्दिवसे वनाशाय वन एव प्रातर्भोजनं कर्तुं हरिरिति बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानाद्यर्थं गृह एव बलाद्रक्षित इति ज्ञेयम्॥ १॥ पृथुका बालाः शिक् शिक्यं सहस्रस्योपरिसंङ्ख्या अयुतादिस्तयाऽन्वितान्॥ २॥ कृष्णस्य तु वत्सैरसङ्ख्यातैः असङ्ख्यसंज्ञसंख्यैरित्यर्थः। असंख्यसंज्ञा च क्षीरस्वामिदृष्ट्या ज्ञेया यथा "एकं दशशतसहस्राण्ययुतं प्रायुताख्यलक्षमथ नियुतम्। अर्बुदकोटिन्यर्बुदपद्मं खर्वं निखर्वमिति दशभिः। गणनान्महाब्जशङ्खसमुद्रमध्यान्तमथ परपरार्द्धम्। स्वहतं परार्द्धममितं तत्स्वहतं भूय्यतोऽसङ्ख्यम् इति" प्रयुतसंज्ञं लक्षम् अर्बुदसंज्ञा कोटिरित्यर्थः। परार्द्धपर्यताधादशसङ्ख्यादशशतगुणिता ज्ञेयाः ततश्च द्वन्द्वैक्यान्महाब्जादिकं सङ्ख्यापञ्चकं ज्ञेयं स्वहतमिति स्वेन गुणितमित्यर्थ इति ज्ञेयम्। ततश्च कृष्णवत्सैर्महायूथैः सह स्वकान् स्वकान् परार्द्धादिसङ्ख्यान् वत्सान् पृथक् पृथक् यूथीकृत्येत्यर्थः। न च षोडशक्रोशीमात्रस्य वृन्दावनस्य प्रदेशे तावन्तो वत्साः नैव भान्तीति वाच्यं भगवद्विग्रहस्यैव धाम्नश्चास्य तथापरिमितत्वेप्यचिन्त्यशक्त्या विभुत्वात् तत्प्रदेशैकदेशेपि पञ्चाशत्कोटियोजनप्रमाणब्रह्माण्डार्बुदानां भगवतैव ब्रह्मणे एतदुत्तराध्याये दर्शयिष्यमाणत्वादत एवोक्तं भागवतामृते "एवं प्रभोः प्रियाणां च धाम्नश्च समयस्य च। अविचिन्त्यप्रभावत्वादत्र किञ्चिन्न दुर्घटम्" इति॥ ३॥ काचादिभिः पूर्वं मातृभिर्भूषिता अपि फलादिभिरात्मानमभूषयन्नित्यर्थः। तत्र काचगुञ्जे बालानामाग्रहात् मणिस्वर्णे मातॄणामाग्रहाद्भूषणे ज्ञेये॥ ४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

द्वादशेऽध्याये व्रजौकसां भाग्यातिशयम् अघासुरमोक्षञ्च वर्णयति—क्वचिदिति। क्वचिद्धरिः स्वभक्तक्लेशहरः वनाशाय वने एव प्रथमं भोजनं कर्तुं मनो दधत् वयस्याः समानवयस्का ये वत्सपास्तान्॥ १॥ तेनैव श्रृङ्गरवेण सत्यसङ्कल्पवता कृतेन साकं

प्रबुद्धा इति शेषः। सहस्रशः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः शोभनाः शिग्वेत्रादयो येषां ते शिक् शिक्ये पृथुकाः बालकाः सहस्राधिकसङ्ख्यायुतान् स्वकान् वत्सान् पुरस्कृत्य मुदा विनिर्ययुः॥२–३॥ पूर्वं काचादिभिर्भूषिता अपि फलादिभिरभूषयन् आत्मानमिति शेषः॥४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

द्वादशे शिशुभिः केलिरघास्ये विशतो नुतान्। प्रविश्यानन्दयत् कृष्णो हत्वाघं तममोचयत्।

एवमिति पद्येन कौमारीं लीलां समाप्यापि श्रीतुरभीष्टामपूर्वां तामनुस्मृत्य मुनिरध्यायत्रयेण वक्तुं प्रवर्तते क्वचिदित्यादिना। क्वचिद्वासरे वनाशाय वन एव प्रातर्भोक्तुं मनो दधत् हरिरिति बलदेवस्तु न गतस्तन्मात्रा तज्जन्मर्क्षस्नानदानार्थं गृहे एव रक्षितत्वात्॥ १॥ पृथुकाः शिशवः, शिक् भोज्यधारकं शिक्यं, सहस्रोपरिसंख्ययाऽयुतामिकया॥ २॥ असङ्ख्यातैः संख्यातो निर्गतैः, कृष्णवत्सैर्महायूथैः सार्द्धं स्वकान् वत्सानेकीकृत्य मेलयित्वा चारयन्तः, ननु परिमिते वृन्दावने अपरिमितानां वत्सानां समावेशः कथमिति चेद्भगवद्विग्रहस्येव तस्याचिन्त्यशक्त्या विभुत्वेन तत्सम्भवादित्युक्तम्॥ ३॥ मातृभिः काचादिभिर्भूषिता अपि ते बालाः फलादिभिरात्मानमभूषयन्; तत्र काचगुञ्जयोर्धारणं बालानामाग्रहात् मणिस्वर्णयोस्तु तन्मातॄणामिति बोध्यम्॥ ४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ॥ क्वचिद्विनाशायेत्यारभ्यैतत्सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरित्यन्तो ग्रन्थः प्रक्षित इति प्रेक्षावन्तोऽतो न व्याख्यातोऽस्माभिः।

श्रीसुबोधिनी

कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन। कथां वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धामलौकिकीम्॥ १॥
योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः। शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पर्धा तत्र विरुद्धता॥ २॥
लोकप्रसिद्धेस्तच्चापि कथञ्चिद् रूप्यते स्फुटम्॥ २–३॥

पूर्वाध्यायान्ते "कौमारं जहतुर्व्रज" इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ" वित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्साहरणं पद्मपुराणे प्रसिद्धमिति तां कथामाश्रित्याघासुरवधं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोर्निवेश्य कौतुकलीला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति,

तत्र तु प्रथमेऽध्याये लीलामाह सुविस्तराम्। अघासुरस्य च वधं मुक्तिश्चापि स्वयुक्तितः॥ १॥

प्रथमं भगवतो दशभिः श्लोकैर्लीलामाह, **क्वचित्** कदाचित्, **वनाशायाशनमाशो** वनेशनं कर्तुं **मनो दधद्** बिभ्रत् **प्रातःकाले व्रजादुत्थाय विनिर्गत** इतिसम्बन्धः, **वयस्याश्च** ते **वत्सपाश्च**, **श्रृङ्गरवेणैव** तेषामुत्थापनं, कृष्णस्यैवायं रव इतिज्ञापनार्थं **चारुणेति**, दोहानन्तरं **वत्सान्** गृहीत्वा **निर्गतः**॥ १॥ तदा सर्वेपि निर्गता इत्याह **तेनैवेति**, **तेनैव** भगवता **सार्धं पृथुका** बालाः **सहस्रशो** निर्गताः **स्निग्धाः** प्रेमला भगवति, शोभना शिक् शिक्यमोदनसहितं **वेत्रं** वत्सचारणार्थं **विषाणं** वादनार्थं वेणुश्च ते येषां सन्ति **स्वकीयान् वत्सान् पुरस्कृत्य** तेपि **मुदा** गृहेभ्यो **ययुः**, एकैकस्य सहस्रसङ्ख्यात **उपरि** सङ्ख्याऽयुतमित्यादितया **सङ्ख्ययान्वितान्**॥ २॥ तान् सर्वानेव **स्ववत्सकान्** कृष्णवत्सेषु योजितवन्त इत्याह **कृष्णवत्सैरिति**, भगवद्वत्सैः सह **स्ववत्सान् यूथीकृत्य**, अन्यथा स्वच्छन्दलीला न भवति, ततोपि पृथग्भूतान् कदाचिन्निर्गच्छन्तोर्भलीलाभिरेव तांश्चारयन्तो **विजह्रुस्तत्रतत्र** क्रीडितवन्तः॥ ३॥ फलादिभिश्च स्वशरीरं भूषितवन्त इत्याह **फलेति**, पूर्वं **काचादिभिर्भूषिता** अपि पुनर्वन्यैर**भूषयन्**, **स्तबकाः** पुष्पगुच्छानि, **सुमनसः** केवलपुष्पाणि, **पिच्छानि** मयूरपिच्छानि, **गैरिकादिधातवः**, **गुञ्जाफलानि** वन्यान्यपि नित्यं तिष्ठन्तीति **काचादिषु** गणितानि॥ ४॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अग्रेऽध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्युक्तम्। तत्र 'कौमारं जहतुः' 'ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'विति युक्तः सन्दर्भ इति। मध्येऽन्यकथा 'त्वेवं विहारै'रित्यस्य 'ततश्च पौगण्डवय' इत्यस्य च वक्त्रा नोक्तेति ज्ञायते। अन्यथैतदध्यायत्रयानन्तरमेव कौमारत्यागं वदेत्। किञ्च, 'पौगण्डे परिकीर्तित'मिति वाक्यात् पूर्वाध्याय एव तत्प्राप्तेः'स्ततश्च पौगण्डवयःश्रिता'विति वाक्यं विरुद्धं स्यात्, तदनर्थकं च। तृतीयाध्यायान्तेप्येवं विहारै'रिति श्लोकोधुना कैश्चित्पुस्तकेषु लिख्यते, तदप्रामाणिकमितीतोपि तथात्वं तेषां ज्ञेयम्। भगवत्प्रियाकृतलीलानुकृतिष्वेतदनुकृत्यभावात्। तृतीयस्कन्धे श्रीमदुद्धववैर्द्वादशे स्कन्धे सूतेन चैतत्कथाया अकथनाच्च। 'न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते', 'न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः', 'न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे' इति ब्रह्मवाक्यविरोधश्च। ईश्वरे तत्त्वेन ज्ञानवतस्तत्परीक्षाकृतेर्महानर्थरूपत्वाद्, 'भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचि'दिति भगवद्वाक्यविरोधश्च। तोकेन जीवहरणमित्यादिनिरूपकस्य सदेश्वरत्वेन ज्ञानवतस्ताद्दग्धार्ष्ट्यस्यासम्भवाच्च। **आचार्यैः** प्रसिद्धिमात्रेण विवृतमिदम**स्माभिरुपेक्षितम्।**

इति श्रीप्रमाणप्रकरणम्।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

प्रक्षिप्ताध्यायाः १-३।

श्रीगोवर्धनधारी करोतु कुशलानि। अतः परमग्रेवासुरवधवत्सहरणब्रह्मस्तुतिनिरूपकास्त्रयोऽध्यायाः केनचित् प्रक्षिप्ता सन्ति न तु वेदव्यासविरचिताः, अतः श्रीभागवतबहिर्भूता इति सुबोधिन्यां साधितं, अध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तत्वे प्रमाणानि बहून्येव टिप्पण्या गुम्फ्यस्तानि, तानि पुनर्न लिख्यन्ते किन्त्वेतेऽध्यायाः प्रक्षिप्ता इतिश्रीधरस्वामिभिरप्युक्तं तदुपपाद्यते, तथा हि "द्वात्रिंशत्त्रिशतं च यस्य विलसच्छाखा" इति गणना श्रीधरेण कृता, ततश्च द्वात्रिंशदधिकत्रिशतमध्यायाः श्रीभागवतस्येत्येतदध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तत्वमेवाभिप्रेतं स्वामिनामपि, त्रयाणां शतानां समाहारास्त्रिशतं, पात्राद्यन्तस्य नेतिनिषेधात् न स्त्रीत्वं पात्रादिराकृतिगण इतितत्त्वबोधिन्या युक्तं, द्वात्रिंशच्च त्रिशतं च द्वात्रिंशदत्रिशतं सङ्ख्याया अल्पीयस्या इत्यनुशासनेन द्वात्रिंशत्शब्दस्य पूर्वनिपातः, केचित् तु द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि चेतिविगृह्य शतानि चेतिबहुवचनेन शतत्रयमेव ग्राह्यं प्रसिद्धत्वादित्याहुः, तन्न, प्रसिद्धिवशाच्छतत्रयलाभे तु प्रसिद्धेरेव पञ्चत्रिंशल्लाभसिद्धौ सङ्ख्याकरणस्यैव वैयर्थ्यापातात्, सङ्ख्या करणं हि शिष्यबोधाय, तत्र शिष्याणां शतत्रयसङ्ख्याज्ञाने प्रसिद्धिपरतन्त्रत्वं चेत् तदा गणना मुधैव स्यात्, द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि चेतिविग्रहे सङ्ख्याया अल्पीयस्या इतिवाक्यात् त्रिद्वात्रिंशत्शतमितिरूपं स्यात्, अपरं च गणनाकृतिर्हि बोधसौकर्याय, तत् तु द्वात्रिंशच्च त्रिशतं चेति विग्रहे भवति, द्वात्रिंशच्च त्रयश्च शतानि चेतिविग्रहे त्वत्यन्तं दौर्लभ्यं बोधस्येत्येतादृशी क्लिष्टगणना श्रीधरैः कथं क्रियेत, तस्मात् द्वात्रिंशत् त्रिशतं चेत्येव विग्रहः, ततश्चैतेऽध्यायाः श्रीधरमतेपि प्रक्षिप्ता इतिदिक्, माध्वैस्त्वेतेऽध्यायाः श्रीभागवतपुस्तकेपि प्रायो न लिख्यन्त इत्यलं विस्तरेण।

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

प्रक्षिप्ताध्यायेषु प्रथमाध्याये प्रक्षिप्तत्वं समर्थयितुं मतान्तरमाहुः **कथामात्र**मित्यादि का० ११८३-३। **क्वचित्** पद्मपुराणादौ प्रसिद्धां, एवं मतान्तरमनूद्य दूषयन्ति **शब्दार्थे**ति ११९३। सङ्गतिविरोधस्तु सुबोधिन्यां टिप्पण्यां विशेषतः **श्रीगोपेश्वरै**श्च उपपादितः, विजयध्वजनाम्ना माध्वेनापि स्वीकृतः श्रीभागवतविवरण एतदध्यायत्रयं न व्याख्यातं, एवं प्रक्षिप्तत्वे सत्यप्येतद्व्याख्याने प्रयोजनमाहुः **लोकेति** का० ११९३। तत्र प्रथमाध्यायार्थमाहुः **तत्रे**ति का० १२०३। **स्वयक्तित** इति "पीनाहिभोगोत्थित"मितिश्लोकोक्ताघासुरस्य मुक्ति"नैतद्विचित्र"मित्यादि श्लोकद्वयेन युक्त्या समर्थितेत्यर्थः। द्वितीयाध्याये **द्वितीय** इति का० १२१३। बालैः सह वत्सहरणम्।

तृतीयेऽध्याये **स्तुति**रिति का० १२२३। **स्नेहोपपत्ति**रिति "ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्ण इयान् प्रेमा कथं भवे"दित्यादिना राजप्रश्ने "सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभ" इत्युत्तरेण भगवति व्रजस्थानां स्नेहोपपत्तिरित्यर्थः, "एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारे"रित्यनेन श्रवणस्य फलं च। **नौमीड्य ते** इत्यत्र **लौकिके** इति का० १२३३। ननु "गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाये"त्याद्युक्तप्रकारेण लौकिकव्यवहारविषय एव भगवान् किमर्थं प्रार्थ्यते श्रुतिसिद्धमेव रूपं कुतो न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहुर्लौकिके इति, **लौकिके** लोकप्रसिद्धे **प्राकृते** गुञ्जावतंसेत्याद्युक्तप्रकारेण प्राकृतसदृशे **भावे यस्य भावः स एव भक्तिमान्**, तं प्राकृतं **भावं हीनं विदित्वा योऽन्यथा वेद स अधर्म** इत्यर्थः, किञ्च **यद् गृह्णातीति** का० १२४३। अयं भगवान् लोके **यत्** यादृशं रूपं **गृह्णाति यथैव** बोधयति येन प्रकारेणानुभावयति **तदेवास्माकं प्रमाणं**, इहेति भक्तिमार्ग इत्यर्थः, **नान्य**दिति जगत्कर्तृत्वव्यापकत्वादिविशिष्टं वेदप्रसिद्धं रूपं नास्माकं फलत्वेन प्रार्थनीयमित्यर्थः, तत्र हेतुर्**भिन्नाधिकारत** इति, भक्तभिन्नाधिकारत्वादित्यर्थः, तादृशे वेदप्रसिद्धे रूपे ज्ञानमार्गीयाणामेवाधिकारो न तु भक्तानामित्यर्थः, एतदेवोक्तमेतद्व्याख्याने सुबोधिन्यां "नास्माकं फलं शब्दविषयं ब्रह्म किन्त्वेतदेव प्रत्यक्षतो दृश्यं, तदपि प्राकृतचक्षुषैव, तत्रापि सर्वाभरणभूषितं, तत्रापि प्राकृतालङ्कारसहितं, तत्राप्येतदवस्थापन्न"मिति। इति प्रक्षिप्ताध्यायाः ॥ १-३ ॥

इति तामसप्रकरणे प्रमाणप्रकरणम्।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अत्र यद्यपि श्रीमदाचार्याः 'क्वचिद्वनाशाय मनो दधत्' इत्यारभ्याध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमित्याहुः, तथात्रान्येषामपि केषां विप्रतिपत्तिः, केषां च सम्मतिरस्ति तथापि व्याख्यातत्वाद्यथामति व्याख्यायन्ते ॥

द्वादशे वनक्रीडायामहेर्वत्सादिमोचनम् ॥ अहेः संसारमोक्षश्च कृष्णेन विनिरूप्यते ॥ १ ॥

क्वचित् कदाचिद्वनाशाय वन एव प्रथमं भोजनं कर्तुं मनो दधत्। प्रातः समुत्थाय चारुणा मनोहरेण शृङ्गरवेण वयस्यांश्च तै वत्सपांश्च तान् स्वसखीन् प्रबोधयन् "अहं वनं गच्छामि, यूयं सर्वे आगच्छत" इति ज्ञापयन् वत्साः पुरःसरा यस्य स हरिर्व्रजाद्विनिर्गत इत्यन्वयः ॥ १ ॥ तदा तेन श्रीकृष्णेन साकमेव सहस्रशः पृथुकाः गोपबालाः सहस्रसङ्ख्याताः उपरि या

सङ्ख्या तयाऽन्विताः स्वकान् स्वकान् वत्सान् पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा मुदा हर्षेण विनिर्ययुर्विनिःसृताः। तत्र हेतुमाह—कृष्णे स्निग्धा इति। 'भगवत इव तेषामपि वनभोजनमनोरथ' इत्याह—सुशिगिति। सुष्ठु रम्याः शिग्वेत्रादयो येषां ते। शिक् शिक्यं दध्यादिपूर्णं भोजनार्थम्, वेत्रं गोचारणार्थम्, विषाणवेणू वादनार्थौ॥ २॥ 'पृथक्त्वे स्वच्छन्दलीला न स्यात्' इत्यसङ्ख्यातैः कृष्णवत्सैः सह स्ववत्सकान् यूथीकृत्य एकीकृत्य चारयन्तोऽर्भलीलाभिस्तत्र तत्र वने हर्षेण विजह्रुरित्यन्वयः॥ ३॥ मातृभिः पूर्वं काचादिभिर्भूषिता अपि अत्यौत्सुक्येन पुनः फलादिभिरात्मानमभूषयन्नित्यन्वयः। प्रवालानि पत्राणि, स्तबकाः पुष्पगुच्छानि, सुमनसः केवलपुष्पाणि, पिच्छानि मयूरस्य, धातवो गैरिकादयस्तैः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

द्वादशेऽघं महासर्पं वत्सपालगिलं गले। प्रविश्याहन्हरिस्तत्र श्लोका वेदपयोधयः (४४)॥
चत्वार्युवाचेत्यङ्क्त्र्यूनाः (४) पञ्चबाणा (५४॥) अनुष्टुभः॥ १२॥

केचित् द्वादशादिकमध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमाहुस्तत्खण्डनं टीकाशेषभागे ज्ञेयम्। क्वचिदिति॥ क्वचित्कदाचित् वनाशाय वन एव प्रथमं भोजनं कर्तुं मनः दधत् दृढेच्छां कुर्वन् प्रातः समुत्थाय चारुणा मनोहरेण शृङ्गरवेण सुखेन निद्राभङ्गसाधनेन वयस्यांश्च तं वत्सपांश्च तान् स्वसखीन् प्रबोधयन् अहं वनं गच्छामि यूयं सर्वे आगच्छतेति ज्ञापयन् वत्साः पुरःसरा यस्य स हरिर्व्रजाद्विनिर्गतः। बलदेवस्तु मात्रा जन्मर्क्षशान्तिकस्नानार्थं गृह एव रक्षित इति ज्ञेयम्॥ १॥ तेनैवेति॥ तदा तेन श्रीकृष्णेन साकमेव स्निग्धाः श्रीकृष्णे प्रेमयुक्ताः सुष्ठु रम्याः शिक्शिक्यं दध्यादिपूर्णं भोजनार्थं वेत्रं गोचारणार्थं विषाणवेणू वादनार्थौ येषां ते सहस्रशः पृथुकाः गोपबालाः सहस्रसंख्याताः उपरि या संख्या लक्षकोट्यादिः तयान्वितान् स्वकान् स्वकान् वत्सान् पुरस्कृत्य अग्रतः कृत्वा मुदा हर्षेण विनिर्ययुर्विनिःसृताः॥ २॥ कृष्णवत्सैरिति॥ असंख्यातैः कृष्णवत्सैः सह स्ववत्सकान् यूथीकृत्य एकीकृत्य चारयन्तोऽर्भलीलाभिस्तत्र तत्र वने ह हर्षेण विजह्रुः। अत्र तोषिण्याम् असंख्यातैः असंख्यसंज्ञसंख्यैरित्यर्थः। असंख्यसंज्ञा च क्षीरस्वामिना परार्धपर्यन्ताद्वादशसंख्या दशगुणोत्तरा उक्त्वा दर्शिता। स्वहतं परार्धममितं तत्स्वहतं भूर्यतोऽसंख्यमिति स्वहतं स्वेन गुणितमित्यर्थः। अत्र बालैः पाल्यमानानां वत्सानामसंख्यत्वं किं पुनर्व्रजस्थतर्पणका गोसङ्गतवत्सा वत्सतर्यो वत्सतरा वृषाश्च गोपालदेवदृशा वर्धमाना असंख्येया इति महिष्यादयश्च पशवः केन गण्याः। एवं गोपा गोप्यश्चानन्ता इत्युक्तम्। अत्रैव तेषां व्रजमण्डलेऽपि मातुमशक्यत्वं किं पुनर्वृन्दावनादिसीमामात्रमध्ये इति तु न शङ्क्यम्। भगवच्छक्त्यैव मातुं शक्यत्वात्। एवमग्रे यादवादीनां विषयेऽपि बोध्यम्॥ ३॥ फलेति॥ पूर्वं मातृभिः काचगुञ्जामणिस्वर्णैर्भूषिता अपि फलैः प्रवालैर्नवपल्लवैः स्तबकैः पुष्पादिगुच्छैः सुमनोभिः पुष्पैः पिच्छैर्बर्हैः धातुभिर्गैरिकाद्यैः पुनरपि आत्मानमभूषयन्। तत्र काचगुञ्जे बालानामाग्रहात् मणिस्वर्णे मातृणामाग्रहात् भूषणे ज्ञेये। यद्वा। काचगुञ्जासदृशैर्मणिस्वर्णैः॥ ४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अथेदानीं द्वादशे कौमारक्रीडनमघासुरहननं च निरूपयति तत्रादौ कौमारलीलां निरूपयन्नाह क्वचिदिति। कदाचिद्वनेऽशनं कर्तुं मनो दधत् सन् वयसा समानाः वयस्यास्ते च ते वत्सपाश्च तान् वत्साः पुरःसराः अग्रगा यस्य॥ १॥ तेन श्रीकृष्णेन शृङ्गशब्देन वा साकं तच्छ्रवणसमकालमेवेत्यर्थः। स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः सुशोभमानाः शिक् शिक्यं च वेत्रं यष्टिश्च विषाणः शृगं च वेणुश्च संति येषां ते पृथुकाः बालाः सहस्राधिकगणनायुक्तान् स्वकीयान्॥ २॥ असंख्यातैः सह यूथीकृत एकीकृत्वा॥ ३॥ काचादिभिर्भूषिता अपि स्वमातृभिः पूर्वमलंकृता अपि फलादिभिः आत्मानमभूषयन् स्तबकः पुष्पः गुच्छः मयूराणां पिच्छानि धातवो गैरिकादयः॥४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अघासुरं महासर्पवपुर्धरमहन् गले। द्वादशे वर्ण्यते क्रुद्धो वत्सपालगिलं हरिः॥ १॥

इत आरभ्याध्यायत्रयं कैश्चिद्भागवतटीकाकारैः प्रक्षिप्तमिति मत्वोपेक्षितमस्त्यथापि प्रायशो व्यवह्रियमाणत्वात् कैश्चिद्व्याख्यातत्वाच्च व्याख्यायते। तत्राद्येनानेनाध्यायेनासुरवधात्मकं श्रीहरिचरित्रमनुवर्ण्यते॥ क्वचिदिति॥ क्वचित् कदाचित्, हरिः श्रीकृष्णः, प्रातः समुत्थाय, वयस्याः समानवयस्काश्च ते वत्सपा वत्सपालाश्च तान्, चारुणाऽतिसुन्दरेण, शृङ्गरवेण, प्रबोधयन्, वनाशाय वन एव प्रथमभोजनाय, वन एव प्रथमं भोजनं कर्तुमित्यर्थः। मनः, दधत्, वत्साः पुरः सराः यस्य सः एवंभूतः सन्, व्रजात् विनिर्गतः॥ १॥ तेनेति॥ सु शोभनाः शिञ्चि शिक्यानि च वेत्राणि यष्टयश्च विषाणानि शृङ्गाणि च वेणवो वंश्यश्च येषां ते स्निग्धाः परस्परानुरागयुक्ताः, सहस्रशः, पृथुका बालाः, सहस्रोपरि सहस्रादुपरि या संख्या तया, अन्वितान् स्वान्स्वान् वत्सान् स्वकीयान् स्वकीयान् वत्सानित्यर्थः। पुरस्कृत्य, तेन कृष्णेन, साकं सहैव, मुदा विनिर्ययुः वजादिति शेषः॥ २॥ कृष्णवत्सैरिति॥ ततः स्ववत्सकान् स्वस्ववत्सकानित्यर्थः। असंख्यातैः संख्याविहीनैः, कृष्णवत्सैः सह, यूथीकृत्य संघीकृत्य, चारयन्तः सन्तः, तत्र तत्र तेषु तेषु रमणीयस्थानेषु इत्यर्थः। ह स्फुटाभिः बाललीलाभिः, विजह्रुः विहृतवन्तः॥ ३॥ तत्तद्विहरणमेव प्रपञ्चयति सप्तभिः॥

फलेति ॥ पूर्वं मातृभिरिति शेषः । काचाः काचशकलाश्च गुञ्जा रक्तिकाश्च मणयश्च स्वर्णानि स्वर्णालंकाराश्च तैर्भूषिता अलंकृताः सन्तः अपि, बालाः, फलानि च प्रवालाश्च स्तबकाश्च सुमनांसि च पिच्छानि च धातवश्च तैः, स्वस्वदेहमिति शेषः । अभूषयन् । तत्र फलानि शोभोपयोगिसस्यानि, प्रवालाः पल्लवाः, स्तबकाः पुष्पगुच्छाः, सुमनांसि पुष्पाणि, पिच्छानि मयूरबर्हादीनि धातवो गैरिकादयः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवं विहारैरिति चेह पद्यद्विवारपाठादिदमत्र भाति । ऽध्यायाद्युपात्तं चरितं विभिन्नं तद्बोधितोऽर्थोऽप्यतिगूढतत्त्वः ॥ १ ॥

सृष्ट्यारम्भविधिस्ततः सदसतां प्रोद्बुद्धता प्राणिनां तद्योग्याचरणं ततो भववने तेषामभग्नस्तता ।
नाशोऽघस्य ततोऽच्युतेन विहितं तस्मिन् विहारादिकं जीवन्मुक्तवदित्यवोधि प्रथमाध्यायेऽथतः कथ्यते॥ २ ॥

क्वचिदिति । १०.१२.१.

यत्कल्पे सुमनोज्ञसंसृतिवनानन्तोपभोगेहया सम्बन्धं मनसो दधद्विभुरनुद्भूतेन नादेन सः ।
सुप्तं जीवचयं सहैव युगपत् सम्बोधयंस्तद्वनं श्रुत्युद्बोधितपद्धतिः प्रविशतीत्येषाऽप्यपद्यार्थिता ॥ ३ ॥
मूलस्य प्रतिपद्योक्तसदसज्जीववर्तनम् । पद्यद्वयेनात्र सुज्ञैः क्रमाद्विज्ञेयमार्थिकात् ॥ ४ ॥

तेनैवेति ः १०.१२.२

चिद्रूपेण सहैव तेन विभुना जीवास्ततः कोटिशो भिन्नास्वादमनन्तसद्रुचिकरं प्रादाय भोग्यं निजम् ।
प्रारब्धप्रकटप्रचोदितगतीन् कृत्वाऽग्रतो गोगणान् निर्गच्छन्ति ततः प्रपञ्चविपिने प्रारब्धभोग्याश्रिताः ॥ ५ ॥

कृष्णवत्सैरिति ः १०.१२.३.

केचिच्चिदेकश्रुतिषु प्रकामं नियोज्य बुद्ध्याऽक्षिगणं स्वकीयम् ।
साकं चिताऽस्मिन् विपिने चरन्ति सुखेन बाला इव साधुजीवाः ॥ ६ ॥
केचित्तु सद्वेदगणेन चैकीकृत्य स्वकीयान् विधिकाण्डवादान् ।
बाल्याद्यवस्थाभिरितस्ततस्ते चरन्ति च स्वाभिमतेन जीवाः ॥ ७ ॥

फलप्रवालेति ः १०.१२.४.

एके गुणत्रयातीताः समलोष्ठाश्मकाञ्चनाः । अप्यात्मानमलङ्कुर्वन्त्यलं तूष्णीं फलादिभिः ॥ ८ ॥
रजस्तमःसत्त्वगुणाश्रिता अपि भवन्ति तत्तत्सुफलाभिसन्धिभिः ।
श्रिताः पुनस्ते रुचिरां निजात्मनां कृतार्थतां च भूरि मन्वते ॥ ९ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन् परीक्षित् ! किसी एक दिन नन्दकुमार श्रीहरि ने मनोरथ किया कि आज चलो वन में ही कलेवा करेंगे । अतः बड़े सवेरे तड़के उठ गये और सिंगा बजा कर उसकी मनोहर ध्वनि से अपने साथियों को मन की बात जनाते हुए उन्हें जगाया और बछड़ों को भी जगा दिया पुनः बछड़ों को आगे कर वन की ओर व्रज से चल दिये ॥ १ ॥ श्याम सुन्दर से स्नेह रखने वाले हजारों ग्वाल बाल, छींके, बेंत, सींग, और वंशी लेकर और अपने हजारों से ज्यादातर संख्यावाले अपने अपने बछड़ों को आगे कर बड़े आनन्द के साथ निकले ॥ २ ॥ वहाँ जाकर ग्वालबाल भगवान् कृष्ण के असंख्य बछड़ों में अपने-अपने बछड़े मिलाकर उन्हें चराने लगे और इधर-उधर भिन्न भिन्न प्रकार के बालोचित खेल खेलने लगे ॥ ३ ॥ ग्वालबालों की माताओं ने यद्यपि बालकों को काँच, गुञ्जा, विद्रुम, मणि-सुवर्ण आदि अनेक आभूषणों से सजा दिया था, फिर भी उन्होंने फल-पल्लव पुष्प के गुच्छे एवं मयूर पंख से अपने को खूब अलंकृत किये ॥ ४ ॥

मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन् ज्ञातानाराच्च चिक्षिपुः । तत्रत्याश्च [1]ततो दूराद्धसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥
यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् । अहं पूर्वमहं पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥
केचिद् वेणून् [3]वादयन्तो ध्मान्तः शृङ्गाणि केन च । केचिद् भृङ्गैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥७॥
विच्छायाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः । बकैरुपविशन्तश्च[4] नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः–अन्योऽन्यशिक्यादीन् मुष्णन्तः च ज्ञातान् आरात् चिक्षिपुः च तत्रत्याः हसन्तः च पुनः दूरात् ददुः ॥ ५ ॥ यदि कृष्णः वनशोभेक्षणाय दूरं गतः तं अहं पूर्वं अहं पूर्वं इति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥ केचित् वेणून् वादयन्तः, केचन शृङ्गाणि ध्मान्तः केचित् भृङ्गैः प्रगायन्तः परे कोकिलैः कूजन्तः ॥ ७ ॥ विच्छायाभिः प्रधावन्तः हंसैः साधु गच्छन्तः च बकैः उपविशन्तः च कलापिभिः नृत्यन्तः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

मुष्णंतश्चोरयंतः ॥ ५ ॥ यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तर्हि ॥ ६ ॥ ध्मांतो वादयंतः । भृंगैः सह ॥ ७ ॥ विच्छायाभिः पक्षिच्छायाभिः । कलापिभिर्मयूरैः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

आरात् दूरम् । तत्रत्या दूरस्थाः शिक्यादीनिति । शिक्येभ्य उत्तार्य प्रथममेवान्नादिपात्राणि मुद्रितमुखत्वात्पिपीलिकादि-दुःप्रवेशानि क्वचित्तरुतले कंटकादिभिरावृत्य स्थापितानीति ज्ञेयम् । तानेव ज्ञातान्सतः आराद्दूरे चिक्षिपुः । तत्रैव विद्रुत्य न तु प्रापिते सति तत्रत्या बालास्ततोपि दूरं चिक्षिपुरेवमनवस्थया स्वस्वद्रव्यमप्राप्नुवतो बालान्रुदन्मुखानालोक्य त एव हसंतो ददुः ॥ ५ ॥ पूर्वमहं कृष्णं स्पृशामि त्वत्तोऽपि पूर्वमहं स्पृशामीत्युक्त्या तं संस्पृश्य ॥ ६ ॥ वेणून् त्रिविधान् । तदुक्तम् "एष त्रिधा भवेद्वेणुर्मुरलीवंशिकेति च । पावकाख्यो भवेद्वेणुर्द्वादशांगुलदैर्घ्यभाक् ॥ स्थौल्येंगुष्ठमितः षड्भिरेष रंध्रैः समन्वितः" पावकं पावक-वदुद्दीपकम् । कामबीजमाख्याति वक्तीति पावकाख्यः । अत एवोक्तम् । "वे ब्रह्मसुखमित्युक्तं णुः कामसुखवाचकः । त उभे यत्र सततं वेणुः स इह कथ्यते ॥" इति । "सप्तच्छिद्रा स्वरैर्युक्ता मुरली चारुनादिनी । शरचंद्रांगुला दैर्घ्ये स्थौल्ये वेणुसमा स्मृता ॥ ततांगुलेंतरे यत्र मुखरंध्रं तथांगुलम् । शिरो वेदांगुलं पुच्छं त्र्यंगुलं सा तु वंशिका ॥ नवरंध्रा स्मृता सप्तदशांगुलमिता बुधैः" इति भक्तिरसामृतात् । कूजंतः शब्दं कुर्वंतः ॥ ७ ॥ कलापो बर्हंति येषां ते कलापिनः "कलापः संहते बर्हे काञ्च्यां भूषणतूणयोः ॥" इति मेदिनी ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

शिक्यान्यादिर्येषां यष्ट्यादीनां तान् न तु शिक्यानि तेषाम् अन्नाधारत्वेनान्ननाशे सति हसन्त इत्यादेरयुक्तत्वात् ज्ञातान् सतः केषु चातिमुग्धेषु रुदत्सु सत्सु हसन्त इत्यादि ॥ ५ ॥ ईदृशबाल्यक्रीडास्वपि तदेकपरतां प्रणयविशेषं च दर्शयति—यदीति पञ्चकेन । कृष्णोऽपि तान् विहाय दूरं न यात्येव यदि कदाचित् द्वित्रैः सखिभिर्दूरं गतो भवतीत्यर्थः । किमर्थं वनशोभाया ईक्षणाय अनेन श्रीवृन्दावनस्य परममनोहरत्वं सूचितम् । सम्यक् परिरम्भणादिना स्पृष्ट्वा रेमिरे सुखं प्रापुः ॥ ६ ॥ कदेत्यपेक्षायामाह—केचिदिति चतुर्भिः । वेणून् वादयंतः वेणुवादनस्य मध्ये मध्ये इत्यर्थः । वेणुमिति क्वचित् पाठः एवं ध्मान्त इत्यादि तदावेशात् तत्सङ्गमनासिद्धेर्झटिति पुनरनुसन्धानाच्चेति भावः । यद्वा, संस्पर्शानन्तरं परमानन्देन तदानन्दनेच्छया च पृथक् पृथक् क्रीडां चक्रुरित्यर्थः । तामेवाह—केचिदित्यादिभिः ॥ ७ ॥ वीनां जात्येकवचनविवक्षया छायायाः क्लीबत्वाभावः साध्विति क्रियाविशेषणं पूर्वत्र परत्र च सर्वत्र योज्यं ततस्ततोप्युत्तमं यथा स्यात् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

आदिशब्देन पूर्वोक्तवेत्रादीन् ज्ञातान् सतस्तत्रत्या यत्र चिक्षिपुस्तत्र वर्त्तमाना बालाः ॥ ५ ॥ ईदृशबाल्यक्रीडास्वपि तेषां श्रीभगवदेकपरतामाह–यदीति । कृष्णोऽपि तान् विहाय न यात्येव; यदि कदाचिद्दूरं गतो भवतीत्यर्थः । किमर्थम् ? वन-शोभाया ईक्षणाय, अनेन श्रीवृन्दावनस्य परम-मनोहरत्वं सूचितम् । सम्यक्परिरम्भणादिना स्पृष्ट्वा रेमिरे स्पर्शनरूपां क्रीडां चक्रुरित्यर्थः, यद्वा, तत्तत्क्रीडां कुर्वन्तोऽपि तं संस्पृश्यैव रेमिरे, सुखिनो बभूवुरित्यग्रेऽपि सर्वत्रापि शब्दमवतार्य्य व्याख्येयम्, यद्वा,

१. पुनर्दूरा–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. ; ततो दूरा–विश्व. । २. द्धसन्तः पुनराददुः–वीर. । ३. नादयन्तो–वीर. । ४. विशन्तोऽन्ये–वीर. ।

संस्पृश्य पश्चाद्रेमिरे क्रीडां चक्रुः ॥ ६ ॥ तामेवाह—केचिदिति चतुर्भिः । कदा दूरं गत इत्यपेक्षायां तेषां वर्गशः पृथक् क्रीडामाह—केचिदिति चतुर्भिः । वादयन्तो भवन्ति, एवमग्रेऽपि सर्वत्र रेमिर इत्यनेनैवान्वयः । ततश्च सर्वत्र शतृङ्प्रत्ययैस्ततत्क्रीडान्तरेव संस्पर्शनं बोध्यते । साध्विति क्रियाविशेषणं पूर्वैः परैश्च सर्वैरपि योज्यम् । ततो वादनादावुक्तमत्वं यथायथमूह्यम् । तेन च भृंगादिभ्योऽपि गानादौ साधुत्वमुक्तम् ॥ ७–८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आराद् दूरे चिक्षिपुः ॥ ५–७ ॥ वीनां पक्षिणां छायाभिः यत्र पक्षिण उड्डीय गच्छन्ति तत्तच्छायाभिः स्वयमपि धावन्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अन्योऽन्येषां शिक्यादीन् आदिशब्देन वेत्रविषाणवेणूनां संग्रहः मुष्णन्तः चोरयन्तः ज्ञातान् शिक्यादीनाराद्दूरे चिक्षिपुः तत्रत्यान् तान् पुनः तत आरात् क्षिपन्तः हसन्तः सन्तः पुनराददुः ॥ ५ ॥ वनशोभादर्शनार्थं यहि कृष्णो दूरं गतो भवति तदा तं श्रीकृष्णमहमेव पूर्वं स्पृशामीत्येवं वदन्तः तं संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥ केचिच्छृङ्गाणि ध्मान्तः मुखवायुभिः पूरयन्तः भृङ्गैः सह प्रगायन्तः कोकिलैः सह कूजन्तः ॥ ७ ॥ विच्छायाभिः सह प्रधावन्तः कलापिभिर्बर्हिभिः सह नृत्यन्तः साधु यथा तथा गच्छन्तः ॥८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मुष्णन्तः चोरयन्तः शिक्यादीनिति शिक्येभ्य उत्तार्य्य प्रथममेवान्नादिपात्राणि मुद्रितमुखत्वात् पिपीलिकादिदुष्प्रवेशानि क्वचित्तरुतले कण्टकादिभिरावृत्य स्थापितानीति ज्ञेयं तानेव ज्ञातान् सतः आराद्दूरे चिक्षुपुः तत्रैव विद्रुत्य नेतुं प्रस्थिते सति तत्रत्या बालास्ततोपि दूराच्चिक्षिपुः एवमनवस्थया स्वस्वद्रव्यमप्राप्नुवतो बालान् रुदन्मुखानवलोक्य ते एव हसन्तो ददुः ॥ ५ ॥ तं कृष्णं संस्पृश्येति अयमहमितिविद्रुत्य प्रथमं कृष्णमस्पृशं न त्वं न त्वमिति कोलाहलं कुर्वन्तः ॥ ६ ॥ ध्मान्तः वादयन्तः ॥ ७ ॥ वीनां पक्षिणां छायाभिः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

शिक्यादीन् शिक्यवेणुविषाणादीन् मुष्णन्तश्चोरयन्तः तान् शिक्यादीन् आरात् दूरे चिक्षिपुस्तत्रत्या दूरस्थाः पुनश्चिक्षिपुः पुनस्तत्रत्या हसन्तः दूराद्ददुः ॥ ५ ॥ वनशोभेक्षणाय वृन्दावनसौन्दर्यदर्शनार्थं दूरङ्गतो भवति तदा तं कृष्णम् ॥ ६ ॥ ध्मान्तः वादयन्तः भृङ्गैः सह प्रगायन्तः ॥ ७ ॥ विच्छायाभिः पक्षिछायाभिः सह प्रधावन्तः कलापिभिर्मयूरैः सह नृत्यन्तः ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

विहारमाह—अन्योऽन्यं शिक्यादीनर्थान्मुञ्चन्तस्तान् क्वचिल्लताभिरावृत्य स्थापितान् ज्ञातान् सत आराद्दूरे चिक्षिपुर्दध्रुः, धावित्वा ततो नेतुं प्रवृत्तेषु तत्रत्या बालास्ततोऽपि दूराच्चिक्षिपुः ततस्तान् विमनस्कान् वीक्ष्य त एव हसन्तः पुनर्ददुः ॥५॥ कृष्णो यदि दूरं गतो भवति तदा तमहमेव पूर्वमस्पृशं ननु त्वमिति कोलाहलिनः संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥ रमणमाह केचिदिति चतुर्भिः । ध्मान्तो वादयन्तः मृगैः कोकिलैश्च सह ॥ ७ ॥ वीणां पक्षिणां छायाभिः कलापिभिर्मयूरैः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

वालकानामन्योन्यं क्रीडामाह **मुष्णन्त** इति, **अन्योन्यस्य शिक्यादीन् मुष्णन्ति**, ततोनेन मदीयं नीतमिति **ज्ञात आराद्** दूरादेव **चिक्षिपुः** प्रक्षिप्तवन्तः, ततोपि येषु ते शिक्यादयः पतितास्तेपि तात्र् छिक्यानन्यांश्च **दूराच्चिक्षिपुः, ततो हसन्तश्च पुनर्ददुस्तेभ्य एव** ॥ ५ ॥ **यदि दूरं गतः कृष्णो** भवति तदा तस्मिन् दूरं गते **वनशोभाया** दर्शनार्थं**महं पूर्वं** स्प्रक्ष्यामीत्यहमिकया भगवन्तं **संस्पृश्य रेमिरे** ॥ ६ ॥ तत्र **केचिद्** बाला **वेणून् वादयन्तो** जाताः **केचन शृङ्गाणि ध्मान्तो** वादयन्तो जाताः, **केचित् पुनर्भृङ्गैः** सह तथैव **गायन्तस्तथैव कोकिलैः** सह **कूजन्तः** ॥ ७ ॥ केचित् पुनरुपरि गच्छतां वयसां **छायाभिर्मण्डलाकृतिभिः प्रकर्षेण धावन्तो** जाता **हंसैः** सह **साधु गच्छन्तश्च बकैः** सह तथैवोपविशन्तः **कलापिभिर्मयूरैः** सह **नृत्यन्तश्च** जाताः ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्योन्यस्य शिक्यादीन् मुष्णन्तश्चोरयन्तः । ततः 'अनेन मदीयमपहृतम्' इति स्वामिना ज्ञातान् आराद्दूरादेव चिक्षिपुः प्रक्षिप्तवन्तः, तत्रत्या येषु शिक्यादयः पतितास्ते पुनस्तान् ततोऽपि दूराच्चिक्षिपुः । एवमनवस्थया स्वस्वस्त्वनुप्राप्नुवतो बालान् रुदन्मुखानवलोक्य हसन्तः पुनर्ददुः ॥ ५ ॥ यदि वनशोभादर्शनार्थं कृष्णो दूरंगतो भवति, तर्हि ते बाला 'अहं पूर्वं स्प्रक्ष्यामि अहं पूर्वं स्प्रक्ष्यामि' इति वदन्तोऽनुद्रुत्य तं संस्पृश्य आश्लिष्य रेमिरे ॥६॥ केचित् 'विजह्रुः' इति पञ्चमेनान्वयः । शृङ्गाणि ध्मान्तः मुखवायुपूरणेन वादयन्तः, भृङ्गैर्भ्रमरैः सह प्रगायन्तः ॥ ७ ॥ उपरि गच्छतां वीनां पक्षिणां छायाभिः सह प्रधावन्तः, हंसैः सह साधु यथा स्यात्तथा गच्छन्तः, बकैः सह तद्वज्जलतीरे उपविशन्तश्च, कलापिभिर्मयूरैः सह नृत्यन्तः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मुष्णन्त इति ॥ अन्योन्यस्य शिक्यादीन् मुष्णन्तश्चोरयन्तः ततोऽनेन मदीयमपहृतमिति स्वामिना ज्ञातान् आराद्दूरादेव चिक्षिपुः प्रक्षिप्तवन्तः । ततः शिक्यादि स्वामिनि तत्रैव विद्रुत्य नेतुं प्रस्थिते तत्रत्या बाला येषु शिक्यादयः पतितास्ते पुनस्तांस्ततोऽपि दूराच्चिक्षिपुः । एवमनवस्थया स्ववस्त्वप्राप्नुवतो बालान् रुदन् मुखानवलोक्य हसन्तः पुनर्ददुः ॥ ५ ॥ यदीति ॥ यदि वनशोभाया ईक्षणाय कृष्णो दूरं गतो भवति तर्हि ते बाला अहं पूर्वं स्प्रक्ष्याम्यहं पूर्वं स्प्रक्ष्यामीति वदन्तोऽनुद्रुत्य तं संस्पृश्य आश्लिष्य रेमिरे ॥ ६ ॥ केचिदिति ॥ केचिद्वेणून् वादयन्तो रेमिरे इति चतुःश्लोक्यामनुषङ्गः । केचन शृङ्गाणि ध्मान्तः मुखवायुपूरणेन वादयन्तः । धमाभाव आर्षः । केचिद्भृङ्गैः सह प्रगायन्तोऽपरेऽन्ये कोकिलैः सह कूजन्तो रेमिरे ॥ ७ ॥ विच्छायाभिरिति ॥ उपरि गच्छतां वीनां पक्षिणां छायाभिः सह प्रधावन्तो रेमिरे । "छायाबाहुल्ये" इति क्लीबत्वाभाव आर्षः । वेरिति जात्येकवचनान्तेन समासो वा । हंसकैः ह्रस्वहंसैः सह साधु यथा स्यात्तथा गच्छन्तः रेमिरे । बकैः सह तद्वज्जलतीरे उपविशन्तश्च रेमिरे । कलापिभिर्मयूरैः सह नृत्यन्तश्च रेमिरे ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

शिक्यादीन् मुष्णंतश्चोरयंतः तत्रत्या बालाः तान् ज्ञातान् शिक्यादीन् आरात् समीपे पुनः चिक्षिपुर्न्यस्तवंन्तः न ज्ञातान् शिक्यादीनपि दूरे स्थित्वा युष्माकं शिक्यादयः कुत्र गता इति हसंतश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥ यदीति वनशोभायाः ईक्षणाय दर्शनार्थेदूरं गतोऽस्ति यदि तर्हि ते गोपाः धावनेन तं संस्पृश्य स्पृष्ट्वा पूर्वमहं स्पृष्टः पूर्वमहं स्पृष्ट इति विवदंतो रेमिरे ॥६॥ ध्मांतः शब्दयंतः भृंगैः समं भृंगगानेन सममित्यर्थः ॥ ७ ॥ विछायाभिर्वीनां गगने उड्डीयमानानां पक्षिणां छायाभिः सहहंसकैः हंसगमनेन तुल्यं साधु यथा तथा बकैः सहतडागादि समीपे उपविश्यंतस्तिष्ठंतः रेमिरे इति प्रतिवाक्यं संबंधः कलापिभिर्मयूरैः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मुष्णन्त इति ॥ अन्योन्येषां ये शिक्यादयस्तान्, आदिशब्देन वेत्रविषाणवेणूनां संग्रहः । मुष्णन्तश्चोरयन्तः सन्तोऽपि, ज्ञातान् शिक्यादीन्, आराद्दूरे, चिक्षिपुः । तत्रत्याश्च पुनः, तान् शिक्यादीन्, चोरयन्तः, ततः दूरात् क्षिपन्तः हसन्तः च सन्तः, पुनः दद्युः ॥ ५ ॥ यदीति ॥ वनशोभेक्षणाय वनशोभादर्शनार्थं, यदि यर्हि, कृष्णः दूरं गतः भवति, तदा तं श्रीकृष्णं, अहमेव पूर्वं स्पृशामीत्युक्त्वा, अधावत् । ततः, तं कृष्णं, संस्पृश्य, अहं पूर्वं, अस्पृशं, न त्वं, अन्यः, अहं पूर्वमस्पृशं इत्युक्तवन्तः, रेमिरे ॥ ६ ॥ केचिदिति ॥ केचित्, वेणून् वादयन्तः, केचन शृङ्गाणि, ध्मान्तः मुखवायुभिः पूरयन्तः, केचित् भृङ्गैर्भ्रमरैः सह, प्रगायन्तः, परेऽन्ये, कोकिलैः कूजन्तश्च सन्तः, रेमिरे इति पूर्वगतेनान्वयः ॥ ७ ॥ विच्छायाभिरिति ॥ केचित् विच्छायाभिरुड्डीयमानपक्षिच्छायाभिः सह, प्रधावन्तः, केचित्, साधु यथा तथा, हंसकैः हंसैः सह, गच्छन्तः, केचित् च बकैः सह, उपविशन्तः बकवत् ध्यानमुद्रयोपवेशं कुर्वन्तः, केचित् च कलापिभिर्मयूरैः सह, नृत्यन्तः सन्तः रेमिरे ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मुष्णन्त इति : १०.१२.५.

एकेऽन्योन्यं भोज्यजातं हरन्तो दर्शनादिभिः । ज्ञानवत्तां तु संपाद्य कौतुकार्थं पुनर्ददुः ॥ १० ॥
अन्योन्यभोग्यजातेभ्यः स्पृहयन्तः परस्परम् । अलब्धतद्रसास्वादा अप्यमन्यन्त धन्यताम् ॥ ११ ॥

यदि दूरमिति : १०.१२.६.

ज्ञानन्तोऽपि वसन्तमान्तरगृहे नित्योल्लसन्तं परं कान्तारे विहरन्तमात्मकुतुकात् कान्तं नितान्तं श्रियः ।
बुद्ध्या भक्तिरसाप्तये परभिदां स्वीकृत्य सज्जीविताः सेवन्ते भगवन्तमन्तिकगतं नानाविहारैर्मुदा ॥ १२ ॥
एवं सत्त्वरजस्तमोगुणरुचो भोग्यैकबद्धस्पृहाः रज्यन्ते विवशाः प्रपञ्चविपिने विस्मृत्य सर्वेश्वरम् ।
तेषां दूरतरश्चिरेण भवति श्रीजानिरेतद् ध्रुवं युक्तं तत्र तमाप्तुमेव कतिचिद् धावन्त्यहंमानतः ॥ १३ ॥

केचिदिति : १०.१२.७.

एके प्राप्तानन्दा अपि किल कुतुकाज्जनानुकृतिहेतोः । नानाभिधानकरणै रमयन्तीशं रमन्ते च ॥ १४ ॥
भृङ्गाः केऽपि बकाः पिकाः कति परे भेकास्तथा केकिनो हंसाः केऽपि चकोरकाः कति शुकाः कामात्तथा दिक्षतः ।
भूत्वा संसृतिकानने स्वचरितैर्नन्दन्त्यमन्दं तथा गोविन्दं रमयन्ति चैवमखिलोऽन्येयो भयात्मस्थितिः ॥ १५ ॥
तेऽहं पूर्वतया ततश्च सकला जीवा वनान्तर्गता मत्वा दूरतरं हृदि स्थितमपि श्रीशं वचोऽगोचरम् ।
प्रारब्धोदितवासनानुगतितः प्राप्तप्रयत्नास्ततस्तां तां योनिमवाप्य तत्र विहृतिं कुर्वन्त्यथानन्दतः ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

तदनन्तर एक दूसरे का छींका चुरा लेते तो कोई किसी की बेत या तो किसी की बाँसुरी ले जाते, छीके वाले का जान जाने पर कि मेरा छींका इसके पास है तब उस लड़के ने उस छींके को दूसरे के पास फेंक दिया। फिर जब छींका वाला ग्वालबाल वहाँ पहुँचा तब उसने और दूर बढ़ा दिया बाद में हँसकर उसने छींका लौटा दिया ॥ ५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण वन सौन्दर्य देखने के लिये दूर निकल जाते, तब ग्वाल सखा मैं पहले पकड़ लूँ–मैं पहले इस प्रकार आपस में होड़ लगाते और कृष्ण की ओर दौड़ जाते और श्रीकृष्ण को पकड़ लेते और आनन्द से खेलते थे ॥ ६ ॥ कुछ बालक बाँसुरी बजाते, कुछ सिंगा फूँकते, कुछ बालक तो भौंरों के साथ गुनगुनाते और कुछ ग्वालबाल तो कोयल के "कूहू–कूहू" कूजन की नकल करते खेलते हैं ॥ ७ ॥ कितनेक ग्वालबाल आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की छाया के साथ साथ दौड़ते, कुछ तो हंसों की चाल से चलने से हंसो की साथ हंस सी गति से चलते थे, कुछ बगुले की नांई आँख मुदकर बगुले के पास बैठते, तब कितनेक बालक मयूरों के साथ मयूरों के समान नृत्य करते विहार करने लगे ॥ ८ ॥

विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्द्रुमान् । विकुर्वन्तश्च तैः साकं [1]प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥
साकं भेकैर्विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः । विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनान् ॥ १० ॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां [3]नरबालकेन [4]सार्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥
यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो[5] धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः[6] ।
स[7] एव यद्दृग्विषयः[8] स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो[9] व्रजौकसाम् ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कीशबालान् विकर्षन्तः तैः द्रुमान् आरोहन्तः च तैः साकं विकुर्वन्तः च पलाशिषु प्लवन्तः ॥ ९ ॥ भेकैः साकं विलङ्घन्तः सरित्प्रस्रवसम्प्लुताः प्रतिच्छायाः विहसन्तः च प्रतिस्वनान् स्वपन्तः रेमिरे ॥ १० ॥ इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन मायाश्रितानां नरदारकेण सार्धं कृतपुण्यपुञ्जाः विजह्रुः ॥ ११ ॥ धृतात्मभिः योगिभिः बहुजन्मकृच्छ्रतः अपि यत्पादपांसुः अलभ्यः स एव स्वयं यद् दृग्विषयः अतः व्रजौकसां किं दिष्टं वर्ण्यते ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कीशबालान् वृक्षशाखासु लंबमानानि वानरलांगूलान्याकर्षतो लांगूलममुंचतस्तैः सह द्रुमानारोहंतः । तैः सह विकुर्वंतो दंतदर्शनभ्रूविजृंभादिभिस्तैः सह विकारान्कुर्वंतः । पलाशिषु वृक्षेषु प्लवंतः शाखायाः शाखांतरमुद्गच्छंतः ॥ ९ ॥ प्रतिच्छायाः प्रतिबिंबानि ॥ १० ॥ तानतिविस्मयेन श्लोकद्वयेनाभिनंदति । इत्थमिति । सतां विदुषां ब्रह्म च तत्सुखं चानुभूतिश्च तया । स्वप्रकाशपरमसुखेनेत्यर्थः । भक्तानां परदैवतेनात्मप्रदेन नाथेन मायाश्रितानां तु नरदारकतया प्रतीयमानेन सह विजह्रुः, कृतानां पुण्यानां पुंजा राशयो येषां ते । ब्रह्मविदां तदनुभव एव भक्तानामतिगौरवेणैव भजनम् एते तु तेन सह सख्येन विजह्रुः । अहो भाग्यमिति भावः ॥ ११ ॥ बहुजन्मभिः कृच्छ्रेण धृत आत्मा मनो यैस्तैरपि ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कीशो वानरः । 'मर्कटो वानरः कीशः' इत्यमरः ॥ ९ ॥ भेकैर्मंडूकैः । विलंघंतः प्लवंतः । शपंतः गालीप्रदानादिपूर्वकमाक्रोशंतः ॥ १० ॥ तान् गोपान् । श्रीशुकोऽभिनंदति श्लाघते इत्यर्थ इति । ज्ञानिभिर्यत्स्वप्रकाशसुखरूपं मन्यते तेनेति भावः । मायाश्रितानां साधारणपुंसाम् । इति भाव इति । ज्ञानिभक्तान्यपुरुषेभ्यो गोपा एव महद्भाग्या भगवतस्तदनुवर्तित्वादिति तात्पर्यम् । एवं तेषां क्रीडां निर्वर्ण्य व्रजौकसामित्युत्तरश्लोकोक्त्या तदादिव्रजवासिमात्राणां सर्वेभ्योऽधिकं सौभाग्यं स्तौति–इत्थमिति । अत्र जगति प्रायस्त्रिविधा जना गण्यंते ज्ञानिनो भक्ताः कर्मिणश्च । तत्र सतां भक्तिमत्त्वेन सच्छब्देनोच्यमानानां ज्ञानिनां ब्रह्म च तत्सुखं चानुभूतिश्च तया सह कृष्णशरीरस्यैव ब्रह्मसुखानुभूतित्वं तेनैव सह तेषां विहारात् । तस्मात्तदाकारस्य प्राकृतत्वमाचक्षाणा ज्ञानि-

---

१. वलान्तश्च–वीर. । २. सरित्तोयपरिप्लुताः–वीर. । ३. नरदारकेण–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. ; नरबालकेन–सुदर्शन. । ४. साकं–श्रीधर. वंशी. ; सार्धं–वीर. विज. जीव. शुक. । ५. कृच्छ्रधौतात्मनि–वीर. । ६. प्यगम्यः–त. पु. श्रीधर. वंशी. विज. ; प्यलभ्यः–वीर. जीव. शुक. । ७. स एषः–इति कस्यचित् । ८. विषये–वीर. । ९. महो–वीर. ।

मानिनोऽन्ये सच्छब्देनैवोच्यंते इति ज्ञेयम्। दास्यं गतानां केवलभक्तिमतां सतां परदैवतेनेष्टदेवेनेति तदानीतना व्रजस्थजनभिन्नाः प्रायो दासभक्ता एवेति त एव निर्दिष्टाः मायां वैषयिकं सुखमाश्रितानां कर्मिणां नरदारकेण प्राकृतमनुष्यबालतया प्रतीयमानेन कृष्णेन सह विजह्रु रिति ज्ञानिनां तदनुभव एव न तु तेन सह विहारस्संभवेत् भक्तानां गौरवेण तद्भजनमेव न तु विहारयोग्यता कर्मिणां तु न तदनुभवः प्रीत्यभावान्न तत्तद्भजनमपि कुतस्तेन विहार इत्येते तु विजह्रुः विहारैस्तमानंदपरिपूर्णमपि प्रेमविलासमयमानंदविशेषं प्रापय्यैव स्वयमपि सर्वतो विलक्षणमानन्दुरित्यर्थः। अतः सर्वेभ्यः सकाशादेत एव कृतपुण्या इति किं वक्तव्यं कृतपुण्यपुंजा एवेति लोकप्रतीत्यैवोक्तिर्न तु नित्यसिद्धानां तेषां निखिलेभ्यो ज्ञानिभ्यो भक्तेभ्यश्चोत्कृष्टानां न तत्र प्राचीनपुण्यवत्त्वं वस्तुतो हेतुरिति ज्ञेयम्। पुण्यशब्देन भगवत्प्रियाचरणं वा लक्षणीयं तद्वशीकारातिशयरूपप्रयोजनलाभाय ॥ ११ ॥ तेन साद्धं विहारवार्त्ता दूरे तावदास्तां तत्संबंधिवस्तुमात्रमपि दुर्लभमित्याह—यस्य पादपांसुरेकोऽपि धूलिकणः। यद्वा—यस्य पादपानां विहारास्पदवृंदावनीयवृक्षाणामंशुरेकः किरणोऽपि। यद्वा—यत्पादौ पिबंति सप्रेम निरीक्षंते ये भक्तविशेषास्ते मंशुर्दूरतः किरणच्छटापि धृतात्मभिरेकाग्रीकृतचित्तैर्लब्धुमनर्हः। 'नायं सुखापो भगवान्' इतिपूर्वोक्तेः। स्वयं स्थित इति। स्वदर्शनसाधनमनपेक्ष्येत्यर्थः। दिष्टं भाग्यम्। यद्वा—दिष्टमहः दिष्टस्य तेज उत्सवो वेति विश्वनाथः। संमुखस्थितमिवावलोक्याह—स एष इति। येषां नेत्रगोचरः। स्वयं कृष्णः। अहो इत्यानंदे। दिष्टं दैवम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तैः कीशैः अन्यतैः यद्वा कीशबालान् वानरशिशून् वृक्षशाखालम्बमानलाङ्गूलग्रहणेनाकर्षन्तः सममन्यत् ॥ ९ ॥ स्रवेण गिर्य्यादिनिर्झरेण सम्प्लुताः पूरिताः इति तासां क्षुद्रत्वमुक्तं विहसन्तः उपहसन्तः प्रातस्तासु महादैर्घ्यदर्शनात् किंवा विशेषेण हसन्तः भुजाद्युत्क्षेपणादिना विविक्तत्वप्राप्तेः। यद्वा, प्रतिविम्बानि मुखवैकृत्यादिपूर्वकम् अनुकुर्वन्तः ॥ १० ॥ सतां परमस्वरूपसत्ताविर्भाववतां यद्वा ब्रह्मपदसान्निध्यात् सद्विशेषाणाम् उभयथा ज्ञानिनामित्येव अनुभूतिः जडप्रतियोगिस्वप्रकाशवस्तु सैव सुखम् आत्मत्वेन पर्य्यवसिततया निरुपाधिपरमप्रेमास्पदत्वात् सैव बृहत्तमपर्यायब्रह्माख्या सर्वेषां परमस्वरूपत्वात् तेषां केवलतद्रूपेण स्फुरता दास्यं गतानां दास्यभक्तिमताम् ऐश्वर्यादिपूर्णतया ततोऽपि परेण दैवतेन सर्वाराध्येन रूपेण स्फुरता महिमदर्शनार्थं तत्स्फूर्तिद्वयस्य विरलतामाह, मायाधिकारपतितानां तु यत्किञ्चित् नरदारकरूपेण ज्ञानभक्त्योरभावान्न तु तत्तद्रूपेणापि तेन साद्धं विजह्रुः सहार्थतृतीयया स्वप्रेम्णा वशीकृत्याऽऽत्मसाङ्गतामापादितेन तेन विहारमपि कृतवन्त इत्यर्थः। अतस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कृतपुण्यपुञ्जा इति लोकोक्तिः वस्तुतस्तु कृतानां चरितानां भगवतः परमप्रसादहेतुत्वेन पुण्याश्चारवः पुञ्जा येषां त इत्यर्थः "पुण्यं तु चार्वपि" इत्यमरः। अत्र श्रीमन्मुनीन्द्रचरणानामिदं विवक्षितं भगवांस्तावदसाधारणस्वरूपैश्वर्यमाधुर्यस्तत्त्वविशेषः तत्र स्वरूपं परमानन्दः ऐश्वर्यमसमोर्द्धानन्तस्वाभाविकप्रभुता माधुर्य्यमसमोर्द्धतया सर्वमनोहरं स्वाभाविकरूपगुणलीलादिसौष्ठवं तत्तदनुभवसाधनं च क्रमेण ज्ञानं ज्ञेयं भक्त्याख्यगौरवमिश्रा प्रीतिः शुद्धप्रीतिश्च एतत्त्रिविधसाध्यसाधनाभावेन मायाश्रितानां स्फूर्त्याभास एव केनाप्यंशेन वस्तुस्पर्शात् "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति न्यायेन "तं ब्रह्म परमं साक्षात् भगवन्तमधोक्षजम्। मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे" इत्यादिवत् अत्र ब्रह्मादित्रयक्रमश्च पूर्ववदेव तत्र भक्त्येश्वरतया स्फूर्तिस्तु तत्पूर्वतः पूर्णा "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः" इति "भक्त्या मामभिजानाति" इत्यन्तर्भूतसर्वज्ञानवृत्तित्वात् शुद्धप्रीतिस्तु ततोऽपि श्लाघिष्यते "अहो भाग्यमहो भाग्यम्" इत्यादिना ततश्च निर्विशेषज्ञानेन स्वरूपानुभवः गौरवमयज्ञानेन ऐश्वर्यानुभवः प्रीतिमयज्ञानेन माधुर्यानुभव इति शुद्धपरममधुरतास्फूर्तिस्तु निर्विशेषः ज्ञानिषु न विद्यत एव दासेष्वपि गौरवेण सङ्कुचितचित्ततया यथेष्टग्रहणाशक्तेर्नातीवोत्पद्यते वस्तुविचारं तु सैव सर्वतः स्वाद्वी "आत्मारामश्च मनुजः" इत्यादिपरिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य इत्यादिभ्यः तथा "ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलया" इत्याद्यैश्वर्यज्ञानवारिधेरपि श्रीसङ्कर्षणस्य भ्रातृस्नेहपरिप्लुत इत्यादि "वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम्" इत्यादिभावेभ्यः तदेवं स्थिते सखिचेतसो गौरवासङ्कुचिततया तत्प्रीतेश्च तदसङ्कीर्णत्वेन पूर्णतया स्वभावविशेषेण च प्रतिक्षणमपि विकासितया तेन तच्चेतसापि पुनस्ताद्दृश्यतया श्रीकृष्णचेत आदरपि तद्वदेव तथाविधतया सखीनामेव रूपगुणसमुद्भूतलीलामाधुर्यानामसाधारणीस्फूर्तिरित्येव किं वक्तव्यं वारिधाविव तत्र निर्मथ्यमाधुर्य्यामृतसमुद्भवकर्तृत्वं च स्वप्रीतिमाधुर्यकृततद्वशीभावत्वं च दृश्यते तत्तच्च न तत्र तत्र दृश्यत इति सर्वेभ्यः कृतपुण्यपुञ्जत्वमस्मांश्चमत्कारयतीति, अन्यत्तैः। यद्वा, पूर्वार्धं पूर्ववद्व्याख्याय तदानीं तदवतारे मायाश्रितानां प्रापञ्चिकानामपि कृपयाश्रितानां मधुरनराकारेण स्फुरता स्वयं भगवतेत्यादिव्याख्येयं यद्वा मायाश्रितानां तत्कृपाविशेषमवलम्बमानानामिति परममधुरतया स्फुरता तु साद्धं विजह्रुरित्यादि योज्यम् ॥ ११ ॥ अहो दूरे तावदास्तामेषां तेन सह निरन्तरविचित्रविहारसौभाग्यमहिमा व्रजवासिमात्राणामपि तद्दर्शनमात्रसौभाग्यमपि परममहर्द्धिरप्यन्यैरलभ्यमित्याह—यदिति। यस्य पादसम्बन्धी कुत्रापि पतितः पांसुरेकोऽपि साक्षात् स एव किं वा पादपांसुरिति कथञ्चित् कश्चिदपि सम्बन्धोऽपीत्यर्थः। किं वा यस्य पादपः श्रीवृन्दावनकदम्बादिवृक्षः यद्वा यस्य पादौ पिबन्ति सप्रेम निरीक्ष्यन्त इति भक्तविशेषास्तेषां अंशुः दूरतः किरणच्छटापि बहुभिर्जन्मभिस्तत्र यमनियमप्रत्याहारादिक्लेशैर्धृतः स्थिरीकृत आत्मा मनो यैः अतो योगिभिः समाधियुक्तैरपि अलभ्यः लब्धुमशक्यः स एव स्वयं भगवान् श्रीकृष्णः येषां दृशोविषयः चक्षुर्भ्या

साक्षात् दृश्यः स्वयं स्वभावतः स्वरूपतो वा स्थितः स्थिरतया नित्यमस्ति "यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इतिवद् अहो आश्चर्य्ये तेषां दिष्टं भाग्यं यद्वा दिष्टस्य महः प्रभाव इत्यर्थः। यद्वा, दिष्टेन महः विचित्रोत्सवः किं वर्ण्यते वर्णयिष्यते अपि तु वर्णयितुं न शक्यते इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अत एव क्वचित् प्र-शब्दश्च। तैः कीशैः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, कीशबालान् वानरशिशून् वृक्षशाखालम्बमान-लांगूलग्रहणेनाकर्षन्तः; सममन्यत्। स्रवेण पर्वतादिनिर्गत-निर्झरेण संप्लुताः पूरिता इति सरितां तासां क्षुद्रत्वं ज्ञेयम्। विहसन्त उपहसन्तः प्रातः स्वदेहच्छायास्वंगानां महास्थौल्यदैर्घ्यादिदर्शनात्; किंवा विशेषेण हसन्तो बाह्वाद्यंगोत्क्षेपणादिना विविधत्व-प्राप्तेः, यद्वा, तेनैव विविधाः सतीर्विशेषेण हसन्तोऽनुकुर्वन्तः प्रतिच्छायाकर्त्तृकोऽप्यनुकारस्तेषूपचरितः ॥ ९–१० ॥ सतां सत्ता-मात्रेण वर्त्तमानानां मुक्तानामित्यर्थः, ब्रह्म आत्मतत्त्वम्, तस्य सुखेनानायासेनानुभूतिः साक्षात् परिस्फूर्त्तिस्तथा तद्रूपेणेत्यर्थः, तेषां सैव परम-पुरुषार्थरूपेति मननेन श्रीभगवत्येव तथा बुद्धैर्भक्तानां परमभजनीयेन प्रेमभक्तिसुखस्वरूपेणेत्यर्थः मायाश्रितानामज्ञानां नरदारकेण नरत्वविदारकेण जीवत्वनाशकेन मुक्तिप्रदेनेत्यर्थः। यद्वा, मायां दुर्गामपि आ सम्यक् (भा० १०।२२।४) 'कात्यायनि महामाये' इति मन्त्रजपादिना श्रीकृष्णप्राप्तये परमश्रद्धया श्रितानां सेवितवतीनां श्रीगोपीनां भगवत्–प्रियतमानां भाविनोऽपि तद्व्रतस्य श्रीशुक परीक्षित् संवादात् प्राक्तन तयात्रोक्तिरविरुद्धा, नरदारको लौकिकसुन्दरकुमारस्तत्तया प्रतीयमानेनेत्यर्थः, प्रेमभरस्वभावेन तासु तथैव तत्परिस्फूर्त्तेः। यद्वा, नराणां दाराः कलत्राणि. तेषां केन सुखस्वरूपेण। एवं सदादीनां यथोत्तरं श्रेष्ठ्यसिद्ध्या वाचोयुक्तिक्रमोऽपि संगच्छेत। पुण्यान्यत्र (भा० ११।१९।२७) 'धर्म्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः' इति श्रीभगवद्भक्त्या प्रेमलक्षणाया भक्तेः साधनानि श्रवणादीनि, कृतास्तेषां पुञ्जा यैस्ते, यद्वा, कृते सत्ययुगे यदेकं श्रीभगवद्ध्यानलक्षणं पुण्यम्, तस्य पुञ्जा येषु तद्रूपा वा, यद्वा, साधितानुरागपुञ्जाः श्रीगोपीनां प्रायोदिवाविरहो रात्रावपि स्वच्छन्दं रतिर्न सिध्येत्, एते त्वित्थं पूर्वोक्तस्वाच्छन्द्यादिप्रकारेण श्रीबादरायणेर्वनान्तर्विहारलोभात्तासामेव (भा० १०।२१।७) 'अक्षण्वतां फलम्' इत्याद्युक्तिवत् ॥ ११ ॥ अहो दूरे तावदास्तामेषां तेन सह निरन्तरविचित्रविहारसौभाग्यमहिमा, तत्सन्दर्शनमात्र भाग्यमाहात्म्यमपि केन निर्वक्तुं शक्यते ? यद्वा, आस्तां सहचराणां तेन सह तथा तथा विहरतां सौभाग्यमाहात्म्यम्, व्रजवासिनामपि सर्वेषां तत् केन वर्ण्यमित्याह यदिति। यस्य पादसम्बन्धी कुत्रापि पतितः पांशुरेकोऽपि साक्षात् स एव, किंवा कथञ्चित् कश्चिदपि सम्बन्ध इत्यर्थः। यद्वा, यस्य पादपः श्रीवृन्दावनकदम्बादिवृक्षस्तस्यांशुर्दूरतः किरणच्छटापि, बहुभिर्जन्मभिस्तत्र च यम-नियम-प्रत्याहारादि-क्लेशैर्धृतः स्थिरीकृत आत्मा मनो यैः, यतो योगिभिः समाधियुक्तैरप्यलभ्यो लब्धुमशक्यः, स एव स्वयमवतारी श्रीकृष्णो येषां दृशोर्विषयश्च क्षुर्भ्यां साक्षाद्दृश्यः, स्थितः स्थिरतया नित्यं बभूव, यद्वा, स एव दृगिन्द्रियस्य विषयः, स्वयं स्वभावतः स्थितो भक्तिविशेषेण चित्तान्तःसंलग्नत्वात् सर्वत्र श्यामसुन्दरः श्रीवल्लवेन्द्रनन्दनो यैः सदा दृश्यत इत्यर्थः। एवं सत्यपि यत्तेषां कदाचिदन्यदर्शनम्, तत् केवलं क्रीडार्थं श्रीभगवत्सुखपरिपोषायेति ज्ञेयम्। अहो आश्चर्य्ये, तेषां दिष्टं भाग्यम्, यद्वा दिष्टस्य महः प्रभाव इत्यर्थः, यद्वा, दिष्टेन महो विचित्रोत्सवः किं वर्ण्यते वर्णयिष्यते, अपि तु वर्णयितुं न शक्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

कीशा वानराः तेषां बालान् तोकान् तद्विकर्षणेन तैर्युद्धादिकौतुकं सम्पादयन्तः बालान् पुच्छान्वा विकुर्वन्तः नेत्रभ्रूकुट्या-द्यारोपणेन युद्ध्यन्तः ॥ ९ ॥ भेकैर्मण्डूकैः प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बान् प्रतिस्वनान् शून्यमहादिनिष्ठध्वनीन् ॥ १० ॥ दास्यङ्गतानां सतां प्रपन्नानां ब्रह्मसुखानुभूत्या करणभूतया परदैवतेन भासमानेन अन्येषां मायाश्रितानां दुर्गादेव्याद्याश्रितानां नरबालकत्वेन प्रतीयमानेन सह विजह्रुः ॥ ११ ॥ श्रीकृष्णे योगिध्यानविषये श्रीनारायणस्वरूपेण दृग्विषयत्वेन प्रत्यक्त्वं वदतां निरासोऽनेन विधीयते यत्पादपांसुरिति वशीकृतमनस्कैः यत्पादपांसुरपि अप्राप्यः योगिभिः नित्यात्मज्ञानपूर्वकमसङ्गकर्मफलभूतस्थितप्रज्ञता-लक्षणयोगनिष्ठैः स एव भक्तियोगविरूपैः शुभाश्रयविग्रहो नारायणः न त्वन्यः न त्विन्द्रजालवन्मायाधृतरूपः स्वयं श्रीमन्नारायणः परब्रह्म परमात्मादिशब्दवाच्यः अहो महदिदमाश्चर्य्यं व्रजौकसाम् इति स्वीयदेशवासित्वमात्रं दर्शनहेतुरित्युच्यते दिष्टं दैवं श्रीभग-वदानुकूल्यम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कीशबालान् वृक्षशाखास्वधो लम्बमानानि वानराणां लाङ्गूलानि आकर्षन्तः तैर्वानरैः सह पुनर्द्रुमानारोहद्भिरोहन्तः तैर्वानरैः सह दन्तवदनभ्रूविजृम्भादिभिर्विकारान् कुर्वन्तः पलाशिषु वृक्षेषु वल्गन्तः प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरं गच्छन्त इति यावत् ॥ ९ ॥ भेकैर्मण्डूकैः सह विलङ्घन्तः लङ्घमानाः सरितो यमुनायाः तोयेन परिप्लुताः आर्द्रास्सन्तो अन्योन्यप्रतिबिम्बानि हसन्तः प्रतिस्वनान् शपन्तः दूषयन्तश्च ॥ १० ॥ तद्विहारमभिनन्दन्नाह–इत्थमिति द्वयेन। ब्रह्मानन्दानुभवेन तद्दास्यं गतानां ब्रह्मानन्दानुभवसम्भूतप्रीतिकारितदास्यं गतानामित्यर्थः। सतां साधूनां परदैवतेनापि मायाश्रितानां प्रकृतिबद्धानां मनुजबालभूतेन

श्रीकृष्णेन सहेत्थं विजह्रुर्विहृतवन्तः तत्र हेतुं वदन् गोपान् विशिनष्टि—कृताः पुण्यानां पुञ्जा राशयो यैस्तथाभूताः पूर्वजन्मनीति शेषः ॥ ११ ॥ कृतपुण्यपुञ्जत्वमेव प्रपञ्चयन् विस्मयते—यत्पादेति। बहुषु जन्मसु कृच्छ्रं कायशोषणात्मकं येषां धौतः विशुद्धः आत्मा मनो येषां तैश्च योगिभिरपि यस्य पादपांसुरप्यलभ्यः स एव भगवान् स्वयमेव येषां व्रजौकसां दृग्विषये स्थितः दृग्विषयतां प्राप्तस्तेषां दिष्टमदृष्टं किं कियदिति वर्ण्यते अहो आश्चर्य्यमेतत् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कीशबालान् तच्छिशून् ॥ ९ ॥ स्रवा निर्झराः प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि मुखवैकृत्यादिपूर्वकमनुकुर्वन्तः ॥१०॥ इत्थमिति द्वयम् ॥ ११—२६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ महावनलीलासमाप्तौ वृन्दावनलीलामाह—विकर्षन्तः कीशबालानित्यादि। बहुभिः कीशबालान् कीशशिशून् तन्मातृभिः क्रोडे कृत्वा नीयमानान् विकर्षन्तः। तेषां विकर्षणमालोक्य वृक्षानारोहन्तीभिस्ताभिः समं वृक्षांश्चारुरुहुः। एवमेतत् सर्वं सुगमं स्वमतञ्च ॥ ९–१० ॥ एवं भगवता सह क्रीडतो व्रजबालान् प्रशंसन्नाह—इत्थं सतामित्यादि। मायाश्रितानां मायया कैतवेनाश्रितानां निष्कैतवानां सतामुत्तमानां दास्यं गतानां भक्तानां मध्ये कृतपुण्यपुञ्जाः कृतं कारितं पुण्यपुञ्जं यैः, अर्थविद्द्रष्टॄणां श्रोतॄणाञ्च, ते गोपबाला नरदारकेण नरदारकाकारेण तेन कृष्णेन सममित्थं विजह्रुः। कीदृशेन ? ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्मसुखानुस्वरूपेण, अथवा, एकदेशग्रीत्वात् स्वमत्यै पुरुषायेतिवत् पुंलिङ्गेऽपि स्त्रीवद्रूपम्, नरदारकाकृतिना ब्रह्मानन्दज्ञानेन (भा. ७।१०।४८, ७।१५।७५) गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्याद्युक्तेः। पुनः कीदृशेन परदैवतेन देवतानां परोपदेवताधिदेवेन, अथवा परदैवतेन सार्द्धं विजह्रुः। ब्रह्मसुखानुभूत्येति करणे तृतीया। तत्र विहारे तेषां य आनन्द आसीत्, सैव ब्रह्मसुखानुभूतिस्तया। विशेषणे वा तृतीया। कीदृशेन नरदारकेण ? 'नृ विक्षेपे', नरो विक्षेपः, तस्य दारकेण खण्डकेन। अथवा, सतां ज्ञानिनां ब्रह्मसुखानुभूत्या, तेऽपि तदतिरिक्तमन्यद्ब्रह्मेति न जानन्तीत्यर्थः। दास्यं गतानां परदैवतेन परमेश्वरेण, पूर्ववन्मायाश्रितानां रागिणां नरदारकेण विक्षेपखण्डकेन परमनिर्वृत्तिकारिणां नरबालकपक्षेऽनुत्कर्षादिचमत्कारः ॥ ११ ॥ इदानीं वयस्यबालकानां सौभाग्यं तावदतिदुर्लभमेव; तदास्तां दूरे व्रजवासिमात्रस्यैव सौभाग्यं वर्णनीयं न भवतीत्याह—यत्पादपांशुरित्यादि। बहुजन्मकृच्छ्रतो बहुजन्मकृततपस्यातो हेतोर्बहुजन्मकृच्छ्रेण वा, धृतो निगृहीत आत्मा मनो यैस्तथाभूतैरपि योगिभिर्यत्पादपांशुरप्यलभ्यः, स एष येषां दृग् विषयः सन् स्थितः, वर्त्तमाने क्तः, स वर्त्तमानो नित्यप्रवृत्तः। एतेन व्रजस्थत्वस्य नित्यत्वम्, अन्यथा दृग्विषय इत्यनेनैव सिद्धेः, स्थित इत्यधिकपदं स्यात्। तत्र कारणान्तरं नानुसन्धेयमित्याह—स्वयं स्वेच्छयैव, अथवा, स्वयं स्वरूपेणैव। अहो विस्मये, व्रजौकसां दिष्टं भागधेयं किं वर्ण्यते ? वर्णनीयं न भवतीति शेषः ॥ १२–३८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

विकर्षन्तः कीशबालानित्यादि। कीशबालान् क्रोड़े कृत्वा तन्मातृभिर्नीयमानान् बालान् विकर्षयन्तस्तेषां विकर्षणमालोक्य द्रुमानारोहद्भिस्तैः कीशैः सह द्रुमानारुरुहुः। कीशबालान् कीशलाङ्गूलानीति वा ॥ ९–१० ॥ इत्थं सतामित्यादि। इत्थमनेन प्रकारेण ते तेन सह विजह्रुरित्युभयत्र विशेष्यपदाकरणं हर्षोत्कर्ष-प्रतिपादकम्, ततो न्यूनपदमत्र गुणः। ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्मसुखानुभवस्य 'ह्रस्वश्चङ् भवति' इत्यनेन वैकल्पिकं नदीत्वम्, तेन ङस आस 'अनादरे षष्ठी' ब्रह्मसुखानुभूतिमनादृत्य सतां वर्त्तमानानाम्, अतो दास्यं गतानामेकान्तभक्तानां परदेवतेनाभीष्टदेवेन माययाश्रितानां माययाऽस्पृष्टानाम्। अथवा, एवम्भूतानां मध्ये कृतपुण्यपुञ्जाः। तेन कीदृशेन ? नरदारकेण नरदारा नरस्त्रियः, (भा. ११।१०।३) "प्रत्याकृष्टुं नयनमबलाः" इत्यादि वक्ष्यमाणत्वात् तासां कं सुखं यस्मात्, कः कामो वा। यद्वा, ब्रह्मसुखादप्यनुगता या भूतिः सम्पत् तया दास्यं गतानां गोपीनां गोपानां वा परदैवतेन, मायाश्रितानां मायया आश्रितानामसुराणां नरदारकेण मनुष्यबालकवत् प्रतीयमानेन। यद्वा, मायाया आश्रितं मायाश्रयो येषु ते परम-मायिनो भवादयस्तेषां नरो नयः, 'नृनये' इत्यतोऽनि सिद्धेः, तस्यापि दारकः खण्डकः, मायिनामपि परम-मोहनेन, 'नॄ विक्षेपे' नरो विक्षेपो वा तस्य दारको मायाश्रितानां विक्षेप-खण्डनेन ॥ ११ ॥ यत्पादपांशुरित्यादि। यस्य पादरजो बहुजन्मभिर्यत् कृच्छ्रं तपस्ततो हेतोर्धृतो वशीकृतो आत्मा यैस्तैरात्मारामैरप्यलभ्यम्, स एव न तु रूपान्तरेण; अतः श्रीनन्दकिशोर-रूपमनादीति ज्ञेयम्। तर्हि कथं नन्दगृहे ? तत्राह—स्वयं स्थितो व्रजे स्वस्वरूपेणैव स्थितः, स एव स्वयं दृग्विषय इत्यनेनैव सिद्धे स्थित इति करणं व्रजलीलाया नित्यत्व-सूचनार्थम् ॥ १२–३८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कीदृशान् बालान् ? वृक्षशाखासु लम्बमानानि बानरलाङ्गूलानि तैरमुच्यमानैश्च लाङ्गूलैर्दृढं धृतैर्द्रुमानारोहन्तः विकुर्वन्तः भ्रूविजृम्भादिमुखविकारान् कुर्वन्तः तथा तैस्सह पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरं गच्छन्तः ॥ ९ ॥ स्रवेण

नद्यादितटेभ्यः परिस्रुतजलेन सम्प्लुताः पूरिताः सन्ति सरित् क्षुद्रधाराः प्रतिच्छायाः स्वप्रतिबिम्बान् भुजोत्क्षेपादिभिर्विहसन्तः प्रतिस्वनान् प्रतिध्वनीन् शपन्तः रे रे कस्त्वं ब्रूषे इति स्वप्रतिध्वनिं श्रुत्वा कुपिताः किमरे मामेव रेरेकारेणाक्षिपसि तत्त्वमद्यैव शीघ्रं म्रियस्वेति पुनः पुनरनवस्थया आक्रोशन्तः ॥ १० ॥ एवं तेषां क्रीडां निर्वर्ण्य व्रजौकसामित्युत्तरश्लोकोक्त्या तदादिव्रजवासिमात्राणामेव सौभाग्यं सर्वेभ्यः एव सकाशादधिकत्वेन स्तौति—इत्थमिति । अत्र जगति प्रायस्त्रिविधा एव जना गण्यन्ते; ज्ञानिनो भक्ताः कर्मिणश्च, तत्र सतां भक्तिमत्त्वेन सच्छब्देनोच्यमानानां ज्ञानिनां ब्रह्म च तत् सुखं च अनुभूतिश्च तया सहेति कृष्णशरीरस्यैव ब्रह्मसुखानुभूतित्वं तेनैव सह तेषां विहारात् तस्मात्तदाकारस्य प्राकृतत्वेमाचक्षाणाः ज्ञानिमानिनोऽन्ये सच्छब्देन नैवोच्यन्ते इति ज्ञेयं दास्यङ्गतानां केवलभक्तिमतां सतां परदैवतेनेष्टदेवेनेति तदानीतना व्रजस्थजनभिन्नाः प्रायो दासभक्ता एवेति त एव निर्दिष्टा मायां वैषयिकं सुखमाश्रितानां कर्मिणां नरदारकेण प्राकृतमनुष्यबालतया प्रतीयमानेन कृष्णेन सहैते विजह्रुरिति ज्ञानिनां तदनुभव एव नतु तेन सह विहारः सम्भवेत् भक्तानां गौरवेण तद्भजनमेव नतु विहारयोग्यता कर्मिणां तु न तदनुभवः प्रीत्यभावान्न तद्भजनमपि कुतस्तेन सह विहार इत्येते तु विजह्रुः विहारैस्तं स्वानन्दपरिपूर्णमपि प्रेमविलासमयमानन्दविशेषं प्रापय्यैव स्वयमपि सर्वतो विलक्षणमाननन्दुरित्यर्थः अतः सर्वेभ्यः सकाशादेते एव कृतपुण्या इति किं वक्तव्यं कृतपुण्यपुञ्जा एवेति लोकप्रतीत्यैवोक्तिर्न तु नित्यसिद्धानां तेषां निखिलेभ्यो ज्ञानिभ्यो भक्तेभ्यश्चोत्कृष्टतमानां तत्र न प्राचीनपुण्यवत्त्वं वस्तुतो हेतुरिति ज्ञेयं पुण्यशब्देन भगवत्प्रियाचरणं वा लक्षणीयं तद्वशीकारातिशयरूपप्रयोजनलाभाय ॥ ११ ॥ तेन सार्द्धं विहारवार्त्ता दूरे तावदास्तां तत्सम्बन्धिवस्तुमात्रमपि दुर्लभमित्याह यदिति । पांसुरेकोपि धूलिकणः यद्वा यस्य पादपानां विहारास्पदं वृन्दावनीयवृक्षाणाम् अंमुरेकः किरणोपि धृतात्मभिरेकाग्रीकृतचित्तैर्लब्धुमनर्हः "नायं सुखापो भगवान्" इति पूर्वोक्तेः स्वयं स्थित इति स्वदर्शनसाधनमनपेक्ष्य वेत्यर्थः । दिष्टं भाग्यं यद्वा दिष्टमहः दिष्टस्य तेज उत्सवो वा ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कीशबालान् वृक्षस्थवानरलाङ्गूलानि निकर्षन्तः तैः गृहीतलाङ्गूलैः सह द्रुमानारोहन्तः तैरेव साकं विकुर्वन्तः तद्धर्षणार्थं वाग्वदनादिविकारान् कुर्वन्तः पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः वानरवत् शाखायाः शाखान्तरमुद्गच्छन्तः ॥ ९ ॥ भेकैर्मण्डूकैः प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि प्रतिस्वनान् गम्भीरवनप्रदेशाद्युद्भवानि तद्वचनानां प्रतिवचनानि ॥ १० ॥ तानभिनन्दति । इत्थमिति द्वाभ्याम् । सतां परभक्तिसाधनभूतज्ञानेच्छूनां ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्म बृहत्स्वरूपगुणशक्तिवस्तु च तत्सुखं च अनुभूतिर्ज्ञानस्वरूपं च तथा ज्ञेयेनेत्यर्थः । दास्यं गतानां ज्ञानभक्तिसंपन्नानां भगवत्प्राप्त्यर्थं यतमानानां परदैवतेन भजनीयेनेत्यर्थः । माययाश्रितानां मायामोहितानां नरदारकेण सार्द्धं सह कृतः पुण्यपुञ्जो यैस्ते विजह्रुः विहृतवन्तः अत्याश्चर्यरूपं तेषां भगवत्कृपापात्रत्वमिति भावः ॥ ११ ॥ बहुजन्मभिः कृच्छ्रेण धृत आत्मा मनो यैस्तैर्योगिभिः भगवद्भाववर्जितकर्मादिपरैर्यत्पादपांसुरलभ्यः ज्ञानभक्तिसिद्धये कर्मादिपरैस्तु स लभ्य एवेत्यपिशब्दाद्बोध्यम्—

"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोदानसमाधिभिः । नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ॥

इति वचनात् ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कीशानां कपीनां बालान् वृक्षशाखासु लम्बितानि तेषां लाङ्गूलान्यकर्षन्तः दृढं धृतैस्तैर्लाङ्गूलैर्द्रुमानारोहन्त विकुर्वन्तस्तैः सह भ्रूविजृम्भादिमुखविकारान् कुर्वन्तः पलाशिषु तरुषु प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरमुद्गच्छन्तः ॥ ९ ॥ स्रवेण गिरिनिर्झरेण सम्प्लुताः पूरिताः सरितः क्षुद्रप्रवाहाः भेकैः साकं विलङ्घ्यन्तः प्रतिच्छायाः स्वप्रतिबिम्बान् हसन्तः प्रतिस्ववान् स्वप्रतिध्वनीन् शपन्तः कस्त्वं रे मामनुकुरुषे म्रियस्वेत्याक्रोशन्तः ॥ १० ॥ एवं तेषां विहारं निर्वर्ण्य तान् सरोमाश्चमभिनन्दति इत्थमिति । ते बाला हरिणा सार्द्धमित्थं विजह्रुः । कीदृशेनेत्याह—सतां ज्ञानिनां ब्रह्मसुखानुभूत्या सुखानुभूतिरूपेण ब्रह्मणा दास्यं गतानां दास्यभक्तिमतां विरिञ्चाद्यधिकृतां परदैवतेन पूर्णैश्वर्येण प्रभुणा मायाश्रितानां वैषयिकानन्दसेविनां कर्मिणान्तु नरदारकेन मायिकमनुष्यबालकतया प्रतीतेनेत्यर्थः । सतां निस्तरङ्गार्णववद्विज्ञानानन्दबृहद्वस्तुतया समाधौ विज्ञानं दास्यभाजान्तु गौरवेणैव भजनं ज्ञानभक्त्यास्तु निर्निमेषवीक्षणकटाक्षवीक्षणवदन्तरं मन्यन्ते, मायाश्रितानान्तु समाधिदास्यभक्त्योरभावान्न तद्द्वयं तेनातिदुर्लभेन परमपुमर्थेन सर्वेश्वरेण सह तेषां विहारोऽपि सख्यमयोऽभूदिति तत् सौभाग्यं कः शक्नुयाद्वक्तुमित्यर्थः । सहार्थतृतीयया स्व प्रेम्णा वशीकृतेन तेन विहारे तेषां प्राधान्यं बोध्यते कीदृशास्ते कृताः सम्पादिताः पुण्यानां तदनुवृत्तिलक्षणानां चारूणामर्थानां पुञ्जाः यैस्ते "पुण्यन्तु चार्वपी"त्यमरः ॥ ११ ॥ तेषां तत्सखानां सौभाग्यवार्त्ता तावद्दूरे तिष्ठतु व्रजवासि-मात्राणामपि तदशक्यं वक्तुमित्याह—यदिति । यस्य कृष्णस्य पादपांशुरेकमप्यङ्घ्रिरजः यद्वामतरूणामंशुः किरणोऽप्येकः धृतात्मभिरेकाग्रचित्तैर्योगिभिरप्यलभ्यो लब्धुमशक्यः "नायं सुखापो भगवा"नित्यादि पूर्वोक्तेः स एव स्वयं स्थित इति स्वदर्शनोपायमनपेक्ष्यैवेत्यर्थः । अहो परीक्षिन्नृपते ! तेषां व्रजौकसां दिष्टं भाग्यं किं वर्ण्यते इति तन्नित्यपरिकरास्ते इति भावः । तथा च "नन्दः किमकरो"दिति प्रश्नजन्यस्योष्ण्यस्यात्र निर्गमो दर्शितः ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

कीशा लम्बपुच्छा वानरास्तेषां **बालान्** पुच्छानि विशेषेण **कर्षन्तो बालानेव च** धृत्वा तैः सह **द्रुमानारोहन्तो** मुखविकारांश्च **कुर्वन्तो** मर्कटवदेव **पलाशिषु** वृक्षेषु **प्लवन्तः** उत्प्लुत्य गच्छन्तो भूमौ **च**॥९॥ **भेकै**र्मण्डूकैः सह, **सरितो** नद्यः, **प्रस्रवा** झरणाः, **सम्प्लुता**स्तैरेव, गर्ता वा, स्त्रीलिङ्गपाठश्चिन्त्यः, **प्रतिच्छाया** दर्पणादिप्रतिबिम्बानि **प्रतिस्वनां**स्तटादिषु निर्गताञ् छब्दान् स्वशब्दानुरूपाञ् **छपन्त**श्च भवन्ति ॥ १० ॥ तेषां भाग्यमभिनन्दतीत्थमितिद्वाभ्यां, लोका त्रिविधा ज्ञानिनो भक्ताः प्राकृताश्च, तत्र भगवान् सर्वेषां तत्तद्बुद्ध्यनुसारेण स्फुरति "तं यथायथोपासते तथैव भवती"तिश्रुतेः, तत्र **सतां** ज्ञानिनां ब्रह्मरूपः सद्रूपः **सुख**रूप आनन्दरूपोनुभुतिरूपो ज्ञानरूपस्तादृशेन सह ते **विजह्रु**रिति बालकानां भाग्यं **दास्यं गतानां** भक्तानां **परो** नियन्ता स्वामी **दैवत**माराध्यो **मायाश्रितानां** प्राकृतानां केवलं **नरबालकः**, एवं **सर्वैः** सर्वप्रकारेणापि विभाव्येन **साधं कृतः पुण्यपुञ्जो यैस्ते विजह्रुः** ॥ ११ ॥ महच्च तेषां भाग्यं यत् तेषां दृष्ट्यग्रे भगवांस्तिष्ठतीत्याह **यत्पादपांसु**रिति **बहुजन्म**तपसा जितेन्द्रियै**र्योगि**भिरपि शरीरेन्द्रियान्तःकरणशुद्धियुक्तैरपि **यत्पादपांसुरलभ्यः स** एवैष कृष्णो येषां बालकानां सर्वेषामेव व्रजस्थितानां वा **स्वय**मेव **स्थितो** न तु तैः प्रार्थितोपि, अतो **व्रजौकसां** भाग्यमवाङ्मनोगोचरं **किं वर्ण्यते** ? ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

कीशानां वानराणां बालान् 'शाखासु लम्बमानानि लाङ्गूलानि' आकर्षयन्तः लाङ्गूलममुञ्चन्त एव तैः सह द्रुमान् आरोहन्तश्च तैर्वानरैः सह विकुर्वन्तो दन्तप्रदर्शनभ्रूविजृम्भादिविकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः, शाखायाः शाखान्तरमुद्गच्छन्तः ॥ ९ ॥ सरित्प्रस्रवे नदीतटात् परिस्रुतजले सम्प्लुता निमग्नाः सन्तो भेकैः मण्डूकैः साकं विलङ्घन्तः, प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि हसन्तः, प्रतिस्वनान् सरोवरकूपादितरेषु स्वकृतशब्दसदृशान् शब्दान् शपन्तश्च ॥ १० ॥ अतिविस्मितः संस्तेषां भाग्यमभिनन्दति—इत्थमिति द्वाभ्याम् । सतां तत्त्वज्ञानां ब्रह्म तद्रूपेण व्यापकं तत्सुखमानन्दश्च अनुभूतिः चिच्चतया सच्चिदानन्दरूपेण प्रकाशमानेन । एवं तेषानुभवमात्रमेव, न त्वेवं विहार इति सूचितम् ! तथा दास्यं गतानां केवलं मर्यादाभक्तिमतां परदैवतेन इष्टदेवतया प्रकाशमानेन इति तेषामपि गौरवेणैव तद्भजनम्, नत्वेवं विहारः । मायाश्रितानां भगवन्मायामोहितानां विषयसुखमिच्छतां कर्मनिष्ठानां तु नरदारकेण प्राकृतमनुष्यबालवत् प्रतीयमानेन इति तेषां तु तत्सम्बन्धलेश एव नास्ति, कुतस्तेन सह व्यवहारः ? । एवंभूतेन भगवता साकं ये विजन्हुस्ते कृतानां स्वस्वनुष्ठितानां पुण्यानां सत्कर्मोपासनादीनां पुञ्जाः समूहाः येषां तथाभूता एव ॥ ११ ॥ 'तर्हि तैः कृताः पुण्यपुञ्जा वक्तव्या' इत्यपेक्षायामाह—यत्पादेति । यस्य भगवतः पादपांसुः पादसम्बन्धिरजो बहुजन्मस्वनुष्ठितेन कृच्छ्रतस्तपःसमाध्यादिकष्टेन धृतो वशीकृत आत्मा इन्द्रियान्तःकरणसङ्घातो यैस्तैर्योगिभिरप्यलभ्यः । स एष येषां व्रजवासिनां स्वयं साक्षादेव दृग्विषयः सर्वेन्द्रियविषयः सन् स्थितस्तेषां दिष्टमहः पुरा महत्त्वं किं वर्ण्यते ? तत्तु वाङ्मनसोरगोचरमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विकर्षन्त इति ॥ कीशानां वानराणां बालान् शाखासु लम्बमानानि लाङ्गूलानि । यद्वा । वानरबालकान् कर्षन्तः लाङ्गूलममुञ्चन्त एव तैः सह द्रुमान् आरोहन्तश्च तैर्वानरैः साकं विकुर्वन्तो दन्तप्रदर्शनभ्रूविजृम्भादिविकारान् कुर्वन्तः । शता आर्षः । पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तः शाखायाः शाखान्तरमुद्गच्छन्तश्च । शता आर्षः । रेमिरे ॥ ९ ॥ साकमिति ॥ सरित्प्रसवे नदीतटात् परिस्रुतजले संप्लुताः निमग्नाः सन्तो भेकैः मण्डूकैः साकं विलङ्घन्तः । आर्षः शता । सरितः स्रवेति पाठे स्रवेण नद्यादिघट्टेभ्यः परिस्रुतजलेन संप्लुताः पूरिताः सरितः सरित्क्षद्रधारा विलङ्घन्तः प्रतिच्छायाः प्रतिबिम्बानि हसन्तः प्रतिस्वनान् सरोवरकूपादिषु स्वकृतशब्दसदृशान् शब्दाञ्छपन्तश्च रेमिरे । रे कस्त्वं ब्रूषे इति स्वेनोक्ते तत्प्रतिध्वनिं तथैव श्रुत्वा किमरे रेकारेणाक्षिपसि इति अनवस्थया शपन्तो रेमिरे ॥ १० ॥ इत्थमिति ॥ सतां तत्त्वज्ञानां ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्म च तत्सुखं च सानुभूतिश्चेति कर्मधारयः सदानन्दचिद्रूपेण स्फुरतेत्यर्थः । दास्यं गतानां तु परदैवतरूपेण स्फुरता मायाश्रितानां विषयिणां तु नरदारकरूपेण स्फुरता भगवता साकं कृतः पुण्यानां पुञ्जो यैस्ते गोपबालाः विजह्रुः । अयं भावः । ज्ञानिनां सच्चिदानन्दत्वेनानुभवमात्रं नत्वेवं विहारः भक्तिमतां देवतारूपेण भजनमात्रं विषयिणां तत्संबन्ध एव नास्ति कुतो विहारः अतो भगवता सहैवं विहारो ज्ञानिप्रभृत्यपेक्षयाऽधिकपुण्यपुञ्जवतां प्रेमवतामेव पुण्येत्यपि लोकदृष्ट्या पुण्यशब्देन वा भगवत्प्रीतिकरमाचरणं लक्षणीयम् ॥ ११ ॥ यदिति ॥ यस्य भगवतः पादपांशुः पादसंबन्धि रजः । यद्वा । यस्य पादपानां विहारास्पदवृन्दावनवृक्षाणामेकः अंशुः शोभाकणः पत्रादिः बहुजन्मस्वनुष्ठितेन कृच्छ्रतस्तपःसमाध्यादिकष्टेन धृतो वशीकृत आत्मा मनो यैस्तैर्योगिभिरप्यलभ्यः । अगम्य इत्यपि पाठः । अहो आश्चर्ये । अत इति च पाठः । स एव येषां व्रजवासिनां स्वयं साक्षादेव दृग्विषयः सन् स्थितस्तेषां दिष्टं भाग्यं किं वर्ण्यते । तत्तु वाङ्मनसयोरगोचर इति भावः । दिष्टस्य भाग्यस्य महस्तेजो महत्त्वम् इति वा ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कीशबालान् द्रुमस्कंधेषु लंबमानानि वानरपुच्छानि विकर्षंतः पुच्छमत्यजंतस्तैर्वानरैः सह द्रुमान् आरोहंतः तैः सह विकुर्वंतोदंतदर्शनादिविकारान् कुर्वंतः पलाशिषु तरुषु प्लवंतः स्कंधात् स्कंधांतरं उत्पतंतः ॥ ९ ॥ भेकैः दर्दुरैर्विलंघंत उत्प्लवंतः सरितो नद्याः प्रस्रवेषु प्रवाहेषु संप्लुताः स्नाताः प्रतिछायाः जले प्रतिबिंबानि गुहाकुपादिषु प्रतिस्वनान् शपंतः स्वशब्दैः प्रतिशब्दान् तिरस्कुर्वंतो रेमिरे ॥ १० ॥ एवं चरित्रवर्णनेन प्राप्ताश्चर्यः सन् तन्माहात्म्यसूचकश्लोकद्वयमाह इत्थमिति सतां ब्रह्मसुखस्य अनुभूतिरनुभवो यस्मात् तेन परमेश्वरेण स्त्रीत्वमार्षं दासानां परदैवतेन सर्वोत्कृष्टेन नरदारकेण नरबालकेन एवं तेषां यथायोग्यं प्रतीतेन श्रीकृष्णेन साकं इत्थं ये विजह्रुस्ते कृताः पुण्यानां पुंजाः समूहाः यैस्ते भवंति ॥ ११ ॥ बहुजन्मभिः कृतेन कृच्छ्रेण तपसा धृतोवशीकृत आत्मा मनो यैः यद्वा धृतो ध्यात आत्मा आत्मस्वरूपं यैस्तैरपि यत्पादपांसुः कृष्णपादरजः अलभ्यः येषां दृग्विषयोदृग्गोचरः । दिष्टं भाग्यम् ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विकर्षन्त इति ॥ केचित् कीशबालान् वृक्षशाखास्वधोलम्बमानान् वानराणां लाङ्गूलबालान्, विकर्षन्तः समाकर्षन्तः, तैर्वानरैः सह, चैव द्रुमान् तरून्, आरोहन्तः । केचित्तु तैर्गृहीतवानरपुच्छैर्द्रुमानारोहन्त इत्यपि आहुः । तैर्वानरैः, साकं च सहैव, विकुर्वन्तः दन्तवदनभ्रूविजृम्भादिभिर्विकारान् कुर्वन्तः, पलाशिषु वृक्षेषु प्लवन्तश्च शाखायाः शाखान्तरं गच्छन्तः, एवंभूताः सन्तः, रेमिरे ॥ ९ ॥ साकमिति ॥ सरित्प्रस्रवसंप्लुता यमुनातोयेनार्द्राः सन्तोऽपि, भेकैर्मण्डूकैः साकं, विलङ्घन्तस्तद्वत् प्लवनमाचरन्तः, प्रतिच्छायाः स्वस्वप्रतिबिम्बानि, विहसन्तः, प्रतिस्वनान् शपन्तः सन्तश्च, रेमिरे ॥ १० ॥ तद्विहारमभिनन्दन्नाहेत्थमित्यादिश्लोकद्वयेन ॥ इत्थमिति ॥ इत्थं ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्मानन्दानुभवेन, दास्यं तद्दासभावं, गतानां ब्रह्मानन्दानुभवसंभूतप्रीतिकारिततद्दास्यं गतानामित्यर्थः । सतां तदेकान्तिकसाधूनां, परदैवतेनापि, मायाश्रितानां प्रकृतिबद्धानां, नरदारकेण मनुजबालतया प्रतीयमानेन श्रीकृष्णेन साकं, कृता जन्मान्तरे विहिताः पुण्यपुञ्जाः सुकृतानां राशयो यैस्ते तथाभूताः, गोपा इति शेषः । विजह्रुर्नानाविधक्रीडाप्रकारैर्विहृतवन्तः ॥ ११ ॥ तत्कृतपुण्यपुञ्जत्वमेव प्रपञ्चयन् विस्मयते ॥ यत्पादेति ॥ बहूनि यानि जन्मानि तेषु कृच्छ्राणि कायशोषणात्मकानि कृच्छ्रव्रताचरणानि तैः धौत आत्मा मनो येषां तैः, पाठान्तरे बहुजन्मभिः कृच्छ्रेण धृतो वशीकृत आत्मा मनो यैस्तैः, योगिभिः अपि, यत्पादपांशुः यदीयचरणकमलरेणुरपि, अलभ्यः दुष्प्रापः । स एव भगवान्, स्वयमेव यद्दृग्विषयः येषां व्रजौकसां नयनगोचरः, स्थितः । अहो इत्याश्चर्ये । तेषां व्रजौकसां, दिष्टं सर्वोत्तममदृष्टं, किं वर्ण्यते । वर्णयितुं न शक्नुम इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

साकं भेकैरिति : १०.१२.१०.

परे त्वनाकाङ्क्षितकामकृत्या विधिं निषेधं च परित्यजन्तः ।
यथाकथञ्चिद् व्यवहार्यमस्मिन्निति प्लवङ्गा इव सञ्चरन्ति ॥ १७ ॥

नहि बिम्बादतिरिक्तं प्रतिबिम्बं वस्तु किमपि वास्तविकम् । ज्ञात्वैवं प्रतिबिम्बं हसन्ति दृष्ट्वा विभिन्नमिव सन्तः ॥ १८ ॥

केचित् प्राक्चरितैर्नृहेहजनुषः कीशा इवाहर्निशं मर्यादागमलङ्घिनोऽल्पमतयश्चाञ्चल्यसीमाभुवः ।
अन्ये च प्रतिबिम्बमुग्धहृदया भ्राम्यन्त्यसद्वस्तुनीत्येतत्सृष्ट्युपलक्षणं स्फुटमभूत् तद्बाललीलाच्छलात् ॥ १९ ॥

इत्थं सतामिति : १०.१२.११.

यत्सृष्टेः क्रमसूचनं भववने यज्जीववृत्तिस्फुटीकारोऽकारि बकारिणाऽतिकुतुकाद् देवेन वृन्दावने ।
यानालम्ब्य विचित्रचेष्टितपुषस्तेषामशेषेण सद्भाग्यं घोषजुषां प्रवक्तुमपटुः शेषोऽपि के मानुषाः ॥ २० ॥

निर्द्वन्द्वो गतविक्रियः परतरो निर्नामरूपोऽक्रियः पूर्णानन्दघनोऽगुणः श्रुतिगणाऽज्ञेयस्वरूपस्थितिः ।
येषामिन्द्रियगोचरो व्रजभुवां सोऽपीन्दिरेशोऽभवत् क्रीडायामिति भाग्यवर्णनविधौ शक्तो न तेषां विधिः ॥ २१ ॥

विद्वज्ज्ञप्त्यर्थमेवायमर्थोऽदर्शि समासतः । इतः पूर्वक्रमेणैव विज्ञेयाऽध्यायसङ्गतिः ॥ २२ ॥

क्वचिदिति : १०.१२.१.

सदोद्धर्तुं सतः क्लेशादवनाशावलम्बनम् । तदन्यत्त्वघनाशायेत्युक्तं क्वचित्पदात् ॥ २३ ॥

गुर्वन्नं सपयोदधि प्रतिदिनं साज्यं मया भुज्यते मन्मित्रैरखिलैः सहाद्य तु वने भक्ताघनाशे मम ।
प्रीतिर्भूयुतितेत्यसूचयदसावग्रेऽघनाशं हरिः कर्तव्यं निखिलानपि व्रजजनान् वन्याशनव्याजतः ॥ २४ ॥

प्राचीनपापक्षपणाय पुंसां धृतावतारो भगवान् सदैव। मुदा वनाशोऽनवनाशनाय मनो दधे तत्; किल साधु मन्ये॥ २५॥
सुप्तानां जीवजानामक्रिये च मयि स्थिते। नाघनाशो भवेदीशस्तद्दिने किं तथाऽकरोत्॥ २६॥

विजह्रुरिति : १०.१२.३.

यदाऽघनाशं सर्वेषां सतां श्रीशः समीहते। तदा स्वयं विहरति विहारयति तानपि॥ २७॥

कृष्णप्रिया

कुछ बालक बन्दरों की पूँछ खींचते और उनके साथ पेड़ पर चढ़ते और पेड़ से दूसरे पेड़ पर जाते थे, जब वे दाँत दिखलाते, किल्किलाते तो बालक भी उसका अनुकरण करते जब बानर एक डाल से दूसरी डाल पर जाते तब वे भी वैसा ही करते हुए खेलने लगे॥ ९॥ कितने ग्वालबाल श्रीयमुनाजी के झरना में छपका खेल रहे हैं और उसमें फुदकते हुए मेढकों के साथ फुदकते थे। कोई तो जल में अपनी परछाइँ देख हंसते कोई प्रतिध्वनि सुन के उसे गाली देते हुए आनन्द से खेलने लगे॥ १०॥ **श्री शुकाचार्यजी ने कहा**—राजन्, इस प्रकार ज्ञानी संतो को स्वयं प्रकाश मूर्तिमान् परब्रह्मस्वरूप, दास्यभाव से युक्त परम भागवतों को परम आराध्य इष्टदेव स्वरूप, प्राकृत मनुष्यों का जो मनुष्य बालक रूप से प्रतीयमान हैं, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बड़े पुण्यशाली ग्वालबाल मित्र भाव से विहार कर रहे हैं सचमुच उनके पुण्य पुञ्ज की कोई सीमा न थी॥ ११॥ जिस परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र के चरणकमलो की रज हजारों वर्ष पर्यन्त भूरिपरिश्रम और कठिन तपश्चर्या करने पर भी इन्द्रियमन-अन्तःकरण पर विजय पाने वाली योगी गण के लिये भी सुलभ नहीं वही कृपासिन्धु कृष्ण जिन व्रजवासी ग्वाल बालकों के सामने स्वयं स्थित रहे और खेल खेले, भला उन व्रजबालकों के भाग्य का क्या वर्णन किया जाय॥ १२॥

अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः।
नित्यं [1]यदन्तर्निजजीवितेप्सुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते॥ १३॥
दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः।
अयं [2]तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोरथैनं[3] सबलं हनिष्ये॥ १४॥
एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा व्रजौकसः।
प्राणे गते वर्ष्मसु का नु चिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते[4]॥ १५॥
इति व्यवस्याजगरं बृहद् वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरम्।
[5]धृत्वाद्भुतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशयः[6] खलः॥ १६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पीतामृतैः अपि निजजीवितेप्सुभिः अमरैः यद् अन्तः नित्यं प्रतीक्ष्यते (सः) तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः अघनामा महासुरः अथ अभ्यपतत्॥ १३॥ कंसानुशिष्टः बकीबकानुजः सः अघासुरः कृष्णमुखान् अर्भकान्। दृष्ट्वा अयं तु मे तयोः द्वयोः सोदरनाशकृत् अथ एनं सबलं हनिष्ये॥ १४॥ एते मत्सुहृदोस्तिलापः यदा कृताः तदा व्रजौकसः नष्टसमाः प्राणे गते नु वर्ष्मसु का चिन्ता ? हि ये प्राणभृतः ते प्रजासवः भवन्ति॥ १५॥ इति व्यवस्य योजनायाममहाद्रिपीवरं व्यस्तगुहाननं अद्भुतं आजगरं बृहद् वपुः धृत्वा ग्रसनाशयः॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सुखक्रीडनवीक्षणे नास्ति क्षमा यस्य सः। कथंभूतः। यस्यांतरं छिद्रं पीतामृतैरपि ततो मृत्युभीतैरमरैः प्रतीक्ष्यते कथं मरिष्यति कदा वेति। यद्वा कथंभूतं सुखक्रीडनम्। यदंतर्हृदये अमरैः प्रतीक्ष्यते विचित्यते पीतामृतैरपि पुनर्निजजीवितेप्सुभिः। अयं भावः। नामृतपानमात्रेण जीवनं सफलं भवति किं तु भगवल्लीलानुस्मरणेनेति तदेव नित्यमंतश्चिन्त्यत इति॥ १३॥ कृष्णप्रमुखानर्भकान् दृष्ट्वा स इति व्यवस्य निश्चित्याऽऽजगरं वपुर्धृत्वा तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेतेति तृतीयेनान्वयः। कंसेनानु शिष्टः प्रहितः बकी पूतना। कथं व्यवस्य तदाह अयं त्विति सार्धेन। मम तयोर्द्वयोः सोदरयोः स्थाने एनं कृष्णं सबलं ससैन्यं वत्सतत्पाल-सहितं हनिष्यामि॥ १४॥ ननु तथापि व्रजस्थास्त्ववशिष्येरन्नित्याह। एत इति। तिलापः कृतास्तिलोदकतया कल्पिताः। वर्ष्मसु

१. यदन्तो निजजीवितेच्छुभिः—वीर.। २. अयं तु सोदर्यविनाश—वीर.। ३. र्ममैनं—श्रीधर. वशी. सुदर्शन. वीर. विज. जीव.। ४. लोके—वीर.। ५. कृत्वा—वीर.। ६. नाशया—श्रीधर. वशी. वीर. विज. शुक.।

देहेषु। प्रजा एवासयो येषां ते तथा ॥ १५ ॥ सहयोजनायामं योजनप्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं च तन्महाद्रिवत्पीवरं च। व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्यमाननं यस्मिंस्तत् ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पीतामृतानां यदि मृतिभयं तदाऽमृतस्यामृतत्वव्याघातः स्यादतोऽर्थांतरमाह—यद्वेति। अयं भाव इति। 'निजं स्वीये च नित्ये च' इति कोशान्निजं नित्यमर्थात्सफलं यज्जीवितं तदिच्छुभिरिति। न ह्यमृतपानेन नित्यजीवनमपि तु मादकत्वात्तस्य भगवद्वैमुख्यापादकत्वेनानित्यजीवनं भवति। किन्तु हरेरंतश्चिंतनमेव नित्यजीवनमिति तात्पर्यम् ॥ १३ ॥ अयं कृष्णः। तयोर्बकीबकयोः। पिण्डदानार्थमिति शेषः। उत्तरश्लोकदृष्टचा कल्प्याः। बलशब्देनात्र बलदेवो न ग्राह्यस्तस्य वत्सपालावगूहनलीलायामनगतत्वात्। अत एव स वक्ष्यति 'केयं वा कुत आयाता दैवी वा' इत्यादिना ॥ १४ ॥ एतेषां हनने तत्पितरोऽन्यानेताद्दशानुत्पदयिष्यंतीति चेत्तेषां तत्र सामर्थ्यमेव नंक्ष्यत्येतच्छोकाकुलत्वादित्याह—नन्विति। तथापि एतेषां हननेपि। 'वर्ष्म संहननं वपुः' इति कोशात् ॥ १५ ॥ आजगरमजगरसंबंधि। तदा तेषां क्रीडाकाले ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषणी

अथेति भिन्नोपक्रमे प्रस्तुतरसोपघातकत्वात् अभ्यपतत्सहसाभिमुखमाजगाम ततश्च तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमोऽभूदिति शेषः। अन्यत्तैः यद्वा पीतं सुखेनात्मसात्कृतम् अमृतं मोक्षो यैः मुक्तैरपीत्यर्थः। कथम्भूतैः श्रीभगवल्लीलादर्शनार्थं निजजीवितेप्सुभिश्चिरं जिजीविषुभिः अत एवाऽमरैः स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयनाशरहितैः लीलाविग्रहतया मृत्युशून्यैरिति वा मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते प्रतीक्ष्यते अन्यत्समानम् ॥ १३ ॥ दृष्ट्वेति त्रिकम्। अथास्मत्सोदरनाशाद्धेतोः अत्र ममेति पाठः सर्वसम्मतः चिच्छुखसम्मतश्च तेषां वाक्यभेदाद् पौनरुक्त्यम् ॥ १४ ॥ यद्वा तयोर्द्वयोर्निमित्तयोः तद्वैरग्रहणार्थमित्यर्थः। नष्टसमाः मृतप्रायाः ॥ १५ ॥ हि यतः व्यवस्य व्यवसायविशेषेण अस्पन्दत्वादिना व्यशेत यतः खलः वञ्चनापूर्वकहिंसकः ताद्दशबालानां ग्रसने प्रवृत्तः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथेति भिन्नोपक्रमे, प्रस्तुतमहारसोपघातकत्वात्। अभ्यपतत् सहसाभिमुखमाजगाम। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, पीतं मुखेनात्मसात् कृतममृतं मोक्षो यैर्मुक्तैरपीत्यर्थः। कथम्भूतैः ? श्रीभगवल्लीलादर्शनार्थ निजजीवितेप्सुभिश्चिरं जिजीविषुभिरतएवामरैः स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयनाशरहितैश्चिद्रूपदेहतया मृत्युशून्यैरिति वा प्रतीक्ष्यते अपेक्ष्यते। अन्यत् समानम् ॥ १४ ॥ कृष्णमुखान् कृष्णप्रधानानान् योऽभ्यपतत् सः, किंवा महादुष्टत्वादिना प्रसिद्धः। अथास्मात् सोदरनाशनाद्धेतोः। अत्र ममेति पाठः सर्वसम्मतः। वाच्यभेदादपौनरुक्त्यम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, तयोर्द्वयोर्निमित्तयोस्तद्वैरग्रहणार्थमित्यर्थः ॥ १४ ॥ नष्टसमा मृतप्रायाः ॥ १५ ॥ व्यवस्य व्यवसायविशेषेणास्पन्दत्वादिनाऽशेत। तदा तस्मिन्नेव क्षणे; आजगरत्वादिकं सर्वेषामेव तेषां युगपद्ग्रसनार्थम्, यतः खलो धूर्तोऽप्रयासेन सर्वेषामेकदैव ग्रसनोपायसाधनात्; यद्वा, खलोऽधमः क्रूरो वा, ताद्दशबालानां ग्रसने प्रवृत्तः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तेषां गोपानां भगवता सह सुखेन क्रीडनस्य वीक्षणेऽक्षमः क्षमारहितः यदन्तं यस्याघासुरस्यान्तः मरणं अन्तःकरणेन ॥१३॥ मम तयोर्द्वयोर्बकीबकयोः अर्थे इति शेषः। सबलं वत्सबालसहितं बलदेवस्य तद्दिने वनमध्ये अगमनात् ॥ १४-१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं विहरत्सु अघाख्यो महानसुरस्तेषां सुखेन यत् क्रीडनं तस्य वीक्षणेन विद्यते क्षमा यस्य तथाभूतोऽभ्यपतत् अभिमुखमाजगाम, तदेव प्रपञ्चयन्नघासुरस्य देवानामपि मृत्युशङ्कावहत्वमभिसन्धिविशेषञ्चाह—नित्यमिति सार्द्धद्वयेन। पीतममृतं यैस्तैर्मरणभयरहितैरपीति भावः। अमरैर्निजजीवितेच्छुभिः मृत्युभयरहितानप्यस्मान् हन्तुं समर्थमघासुरं हत्वा अस्मज्जीवितं कदा सुप्रतिष्ठितं कुर्यादित्येवं स्वजीवितमिच्छद्भिर्नित्यं यदन्तः यस्याघासुरस्यान्तो नाशः कदा वा स्यादिति प्रतीक्ष्यते ॥ १३ ॥ स बकीबकयोरनुजोऽघासुरः कंसेन अनुशिष्टः आदिष्टः कृष्णो मुखं प्रधानो येषां तानर्भकान् दृष्ट्वेति व्यवस्य निश्चित्य आजगरं बृहद्वपुर्धृत्वा तेषां ग्रसनाय पथि व्यशेत इति तृतीयेनान्वयः कथं व्यवस्य ? इत्यत आह—अयन्त्विति सार्द्धेन। द्वयोस्तयोः रामकृष्णयोर्मध्येऽयं कृष्णस्तु मम सोदरयोः पूतनाबकयोर्नाशं कृतवानिति तथाऽस्त एनं बलरामेण सहितं हनिष्यामि बलशब्दोत्रेतरगोपबालानामप्युपलक्षणार्थः। एते इत्युत्तरानुगुण्यात् ॥ १४ ॥ यदेते कृष्णादयः मत्सुहृदोर्मत्सोदरयोस्तिलापः कृताः तिलोदकवत्तृप्तिहेतुत्वेन एतेषां हननमेव मत्सुहृदोस्तिलाप इति भावः। तदा सर्वे व्रजौकसो नष्टप्रायाः तथा हि प्राणे गते निर्गते सति वर्ष्मसु शरीरेषु का वानुचिन्ता न हि प्राणे गते शरीरं क्षणमपि स्थातुं शक्नोति किन्तु नश्यत्येव प्राणभृतः प्रजाः पुत्रा एवासवः प्राणा

येषां तथाभूता हि प्राणस्थानीयेषु पुत्रेषु मया हतेषु व्रजौकसः सर्वे स्वयमेव नक्ष्यन्तीति तदर्थं न मया यत्नः कार्य इति भावः ॥१५॥ इतीत्थं निश्चित्य स दुरात्मा अघासुरः रामकृष्णादीन् ग्रसितुमिच्छया आजगरं वपुर्धृत्वा पथि व्यशेत शयितवान् वपुः कथम्भूतम् ? बृहद्विपुलम्, तदेवाह–योजनप्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं च तन्महाद्रिवत्स्थूलं च व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्यमाननं यस्मिन् ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवं तद्विहारस्य प्रतिक्षणपरमानन्दवर्द्धकत्वात् स्वतः समाप्त्यसम्भवमाकलय्य समाश्रिञ्च विना भोजनपानादिकं न सिद्ध्येदिति प्रात्यहिकभोजनसमयात्ययं चावधार्य लीलाशक्त्यैव तद्विच्छेदार्थं दुष्टसंहारस्याप्यवश्यकर्त्तव्यतया तदानीमेवान्तर्यामि प्रेरणवशात् कश्चिदघासुरो नाम तेषामभिमुखमानिन्य इत्याह अथेति। सुखक्रीडनस्य वीक्ष्यणमपि न क्षमत इति सर्वसुखदमपि तेषां क्रीडनं तस्य दुःखदमभूदिति भावः। यदन्तः यस्याघासुरस्यान्तरं मरणसाधकच्छिद्रं पीतामृतैरपि ततो मृत्युभीतैरमरैः कथ मरिष्यतीति प्रतीक्ष्यते। यद्वा, यत्सुखक्रीडनम् अन्तर्हृदये प्रतीक्ष्यते प्रतिक्षणमीक्ष्यते चिन्त्यते इत्यर्थः। पीतामृतैरपि कृष्णलीला-मृतपानं विना जीवितं वस्तुतो जीवितं न भवति यतस्तस्मान्निजजीवितेप्सुभिरित्यर्थः ॥ १३ ॥ कृष्णमुखान् कृष्णादीन् दृष्ट्वा सः अघासुरः इति व्यवस्य निश्चित्य तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेतेति तृतीयेनान्वयः। बकीपूतना व्यवसायमाह–अयन्त्विति सार्द्धेन। अयं कृष्णः मम सोदरयोर्नाशकृत् अथ अत एव तयोर्द्वयोः पिण्डदानार्थमिति शेषः। उत्तरश्लोकार्थदृष्ट्या कल्प्यः सबलं ससैन्यं हनिष्यामि ॥ १४ ॥ एते कृष्णादयो बाला मत्सुहृदोर्वकीवकयोर्यदि तिलापः प्रेततर्पणार्थकतिलोदकरूपाः तदा व्रजौकसो दन्दादयः वर्ष्मसु देहेषु अनष्टेष्वपि का चिन्ता न कापीत्यर्थः। ये प्राणिनस्ते प्रजा अपत्यान्येव असवः प्राणा येषां ते अतः स्वत एव मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥ योजनायामं योजनप्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं महाद्रिवत् पीवरं व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्यमाननं यस्मिन् तत् ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ पीतामृतैरपि निजजीवितेप्सुभिर्निजजीवितसाफल्येप्सुभिः अमरैः यदन्तर्हृदि नित्यं प्रतीक्षते तस्य तेषां सुखक्रीडनस्य वीक्षणे नास्ति क्षमा यस्य सः अघनामा असुरः अभ्यपतत् अभिमुखमपतत् ॥ १३ ॥ तस्य तत्सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमत्वे हेतुमभिमुख-पतने प्रयोजनं चाह–दृष्ट्वेति त्रिभिः। अथानन्तरं स अघासुरो बालान् दृष्ट्वा अयं मे सोदरनाशकृदेनं हनिष्ये इत्यादि व्यवस्य बृहद्वपुः धृत्वा पथि व्यशेतेति त्रयाणामान्वयः। कंसानुशिष्टः कंसेन प्रवर्तितः बकीबकयोः पूतनाबकयोः अनुजः अयं कृष्णः मे सोदर-नाशकृत् अतो द्वयोस्तयोः सोदरयोः स्थाने एनं हनिष्ये नन्ववशिष्टेभ्यो रामादिभ्यो भयं भविष्यतीत्यत आह, स बलं ससैन्य-मिति ॥ १४ ॥ ननु तथापि व्रजौकसोऽवशिष्येरन्नेत्याह–एते इति। यदा एते कृष्णप्रभृतयो बाला मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा व्रजौकसां नन्दाद्याः नष्टसमाः मृततुल्याः अथवा नष्टा समा संवत्सरा येषां ते मृता एव भविष्यन्तीत्यर्थः। प्राणे गते वर्ष्मसु नष्टत्वे कानु चिन्ता हि यतो प्राणभृतस्ते प्रजासवः प्रजा एव असवो येषां ते तथाभूताः अतः तेपि मत्सुहृदोर्मम भगिनीभ्रात्रोस्तिलापः कृताः तिलोदकत्वेन कल्पिताः ॥ १५ ॥ स अघासुरः इति व्यवस्य निश्चित्य योजनायामं योजनप्रमाणेन दैर्घ्येण युक्तं च तन्महाद्रिरिव पीवरं स्थूलं च व्यात्तं प्रसारितं गुहावदाननं यस्मिन् तत् बृहद्विपुलं वपुः धृत्वा सबलकृष्णग्रहणाशया पथि व्यशेत शयितवान् ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चरितान्तरमाह अथेति भिन्नक्रमे, अघनामा महासुरस्तेषामभिमुखमापतत् अभिपत्य तेषां सुखक्रीडनस्य वीक्षणे अक्षमो बभूव यस्याघस्यान्तर्मरणसाधनं छिद्रमपरैः कथमयं मरिष्यतीति प्रतीक्ष्यते कीदृशैः ? पीतामृतैरपि निजजीवितेच्छुभिर्यतो मृत्युभीतै-रित्यर्थः। यद्वा यत् सुखक्रीडनकम् अमरैः प्रतीक्ष्यते प्रतिक्षणं ध्यायत इत्यर्थः। पीतामृतैरिति तत् क्रीडनामृतपानं विनामृतेन जीवन-मतस्तस्मान्निजजीवितेप्सुभिरित्यर्थः ॥ १३ ॥ सोऽघासुरः कृष्णमुखानर्भकान् दृष्ट्वा इति व्यवस्य तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेतेति तृतीयश्लोकस्थेनान्वयः। बकी पूतना। व्यवसायमाह अयन्त्विति सार्द्धकेन, अयं कृष्णः मे सोदरयोर्बकीबकयोर्नाशकृत् अथ अतस्तयो द्वयोस्तिलोदकार्थमेनं अबलं ससैन्यं हनिष्ये ॥ १४ ॥ ननु व्रजौकःसु नन्दादिषु जीवत्सु किमेषां मारणेन तत्राहैत इति। यदेति मत्सुहृदो वकीवकयोस्तिलापः प्रेततर्पणार्थास्तिलोदकरूपाः कृतास्तदेति स्फुटार्थं, प्राणे गते नष्टे सति वर्ष्मसु देहेषु स्थितेष्वपि का चिन्ता न कापीत्यर्थः। कथमेतदुपपद्यते, तत्राह ये प्राणभृतः प्राणिनस्ते प्रजासवः पुत्रप्राणा हि यतो भवन्तीति ॥ १५ ॥ इति व्यवस्य निश्चित्य आजगरं बृहद्वपुर्धृत्वा, कीदृशं वपुः योजनायामेन सहितं महाद्रिवत् पीवरं स्थूलं व्याप्तं प्रसारितं गुहातुल्य-माननं यत्र तत् ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं क्रीडायां मध्येघासुरः समागत इत्याहाथेत्येकविंशतिभिस्तस्य मुक्त्यन्ता कथा निरूप्यते, **अघोन्वर्थनामा तेषां बालकानां सुखक्रीडनस्य वीक्षणेप्यक्षमा यस्य, नित्यं** सर्वदा **यदन्तरघासुरनाशोमरैः प्रतीक्ष्यते,** तत्र हेतुर्**निजजीवितेप्सुभिरिति** यद्यपि ते **पीतामृताः,** अतोयमत्यन्तं दुष्टोमृतादीनामपि वस्तुसामर्थ्यनाशकः ॥ १३ ॥ **अर्भकान्** बालकान् **कृष्ण एव प्रमुखो येषां**

कंसेन प्रेषितः **स** प्रसिद्धो **बकी** पूतना **बकश्च** तयोर**नुजः**, तस्य सङ्कल्पमाहायं **त्विति**, **त्विति** पक्षान्तराणि व्यावर्तयति, **अयं तु** भगवान् **मे सोदरयोर्भ्रात्रोर्नाश**कर्ता न कर्मकालादि, अत**स्तयोर्द्वयोरर्थे** उपद्रवं करिष्यामीति ॥ १४ ॥ ततो बालकानामप्युपद्रवो भविष्यतीत्याहैत इति, **मत्सुहृदोर्मद्भ्रात्रोस्तिलापः** कृतास्तिलोकप्राया मृतानां तृप्तिहेतवः, **तदा व्रजौकसो** गावःस्त्रीपुरुषाश्च **नष्टसमा** नष्टप्रायाः, यथा **प्राणे गते वर्ष्मसु** देहेषु गमनार्थं **का चिन्ता ?** बालकाश्च व्रजवासिनां प्राणरूपाः, यतः **प्राणभृतः प्रजासवः प्रजैवासवः** प्राणा येषाम् ॥१५॥ **इत्यध्यवसायं** कृत्वाजगरमजगरवत् स्थूलं **वपुर्धृत्वा पथि व्यशेत योजन**मात्र**मायामो** विस्तारो यस्य **वपुषः, महाद्रिवत्** पर्वतवत् स्थूलं भ्रमार्थमत्यद्भुतं **व्यात्तं गुहावदाननं** यत्र, **ग्रसनार्थमेव शयनं** कृतवान्, दया तु नास्ति यतः **खलः** ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं क्रीडायां मध्ये अघासुर आगतः, तस्य मुक्त्यन्तां कथामाह–अथेति एकविंशतीभिः । अथेत्यर्थान्तरे । वृन्दावनलीलायां लीलान्तरं शृण्वित्यर्थः । अघनामा महासुरोऽभ्यपतत् अकस्मादेवाजगाम । 'किमथ' इत्याकाङ्क्षायां 'तेषां जिघांसया' इति सूचयन्नाह—तेषामिति । तेषां रामकृष्णादीनां यत् सुखेन क्रीडनं तस्य वीक्षणे नास्ति क्षमा सहनं यस्य सः । तस्य दुष्टत्वं सूचयंश्चरितं विशिनष्टि—नित्यमिति । यत्तेषां क्रीडनं पीतामृतैरपि निजजीवितेच्छुभिः 'न अमृतपानमात्रेण जीवनं सफलं भवति, किन्तु भगवल्लीलानुस्मरणेन इति कृत्वा स्वजीवसफलत्वेच्छुभिरमरैरन्तर्मनसि नित्यं प्रतीक्ष्यते चिन्त्यते तद्दृष्ट्वाऽसहमान इत्यर्थः । यद्वा तस्य तुच्छत्वमाशङ्क्य प्रबलत्वमाह —नित्यमिति । यस्याघासुरस्यान्तः नाशः 'कथ कदाऽयं दुरात्मा मरिष्यति' इति पीतामृतैर्देवैरपि निजजीवितेच्छुभिस्ततः स्वमरणमाशङ्क्य तत्प्रतिहारार्थं प्रतीक्ष्यते चिन्त्यते इत्यर्थः ॥१३॥ तेन रचितं तद्धननोपायं दर्शयति–दृष्ट्वेति त्रिभिः । सः अघासुरस्तदा कृष्णो मुखं प्रधानो येषां तानर्भकान् दृष्ट्वा इत्येव व्यवस्य निश्चित्याजगरं वपुर्धृत्वा तेषां ग्रसनाशया पथि व्यशेतेति तृतीयश्लोकेनान्वयः । तेषां क्रीडादर्शनासहने कंसवैरं हेतुमाह—कंसानुशिष्ट इति । कंसेन कृष्णादिहननार्थं प्रेषित इत्यर्थः । तत्रैव स्ववैरमपि हेत्वन्तरमाह—बकीबकानुज इति । बकी पूतना । वैरमेव स्पष्टयंस्तद्व्यवसायमाह—अयं त्विति सार्धेन तुशब्द एवकारार्थः, तेन कालकर्मादिव्यावृत्तिः । अयं कृष्ण एव मे सोदरयोर्भ्रातृभगिन्योर्नाशकृत्, अतो मम तयोर्द्वयोः सन्तोषार्थं सबलं ससैन्यं वत्सपालसहितमेनं हनिष्यामि ॥ १४ ॥ ननु 'एतेषां मारणेऽपि व्रजस्थास्तु तावत् अवशिष्येरन्' इत्याशङ्क्याह—एते इति । एते बालवत्सा यदा मम सुहृदोः भ्रातृभगिन्योस्तिलापः कृता मृतयोस्तिलोदकवत्तृप्तिहेतवः कृतास्तदा व्रजौकसो नन्दादयः सर्वे नष्टसमा मृतप्राया एव । तत्र दृष्टान्तमाह—प्राणे इति । यथा प्राणे निर्गते वर्ष्मसु देहेषु चिन्ता नास्ति, देहा विनष्टप्राया एव, तद्विनाशार्थमुपायान्तरं न चिन्त्यते, तद्वदेतेषां विनाशोपायो न चिन्त्य इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह–हि यस्मात् ये प्राणभृतस्ते सर्वेऽपि प्रजा अपत्यानि असवः प्राणा प्राणतुल्या येषां तथाभूता इति ॥ १५ ॥ तद्वपुरेव विशिनष्टि–बृहदिति । एतदेव स्पष्टयति–स योजनायामेति । योजनप्रमाणेन आयामेन दैर्घ्येण युक्तं च तन्महाद्रिवत् पीवरं च तदित्यर्थः । व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्यमाननं यस्मिंस्तत् । ननु "परमसुकुमारं बालं क्रीडन्तं दृष्ट्वाप्येनं कृष्णमुद्दिश्य कथं तन्मारणे सङ्कल्पं कृतवान् ?" तत्राह–खल इति । तस्यासुरत्वेन क्रूरस्वभाववत्त्वाद्दयाभावेनैवं सङ्कल्पितवानित्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अथेति ॥ अथ तेषां रामकृष्णादीनां यत्सुखेन क्रीडनं तस्य वीक्षणे नास्ति क्षमा सहनं यस्य सः अघनामा महासुरोऽभ्यपतत् अकस्मादेवाजगाम । यद्वा । अघनामा महासुरोऽभ्यपतत् तेषां । स सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमश्च आसीत् इत्यन्वयः । यत्तेषां क्रीडनं पीतामृतैरपि निजजीवितेप्सुभिः भगवल्लीलास्मरणेन स्वजीवनमसफलत्वेच्छुभिरमरैरन्तर्मनसि नित्यं प्रतीक्ष्यते चिन्त्यते न ह्यमृतपानेन जीवनसाफल्यमपि तु भगवत्स्मरणेनेत्याशयः । यद्वा । यस्याघासुरस्यान्तः छिद्रं मरणोपायः पीतामृतैर्देवैरपि निजजीवितप्सुभिः नित्यं प्रतीक्ष्यते कथं कदा वा स मरिष्यतीति ॥ १३ ॥ दृष्ट्वेति ॥ कंसेन कृष्णादिहननार्थमनुशिष्टः प्रेरितः बकी पूतना बकश्च तयोरनुजः । एकशेषाभाव आर्षः । स्पष्टार्थो वा । खलो दुष्टः सः अघासुरः तदा कृष्णे मुखं प्रधानं येषां तानर्भकान् दृष्ट्वा अचिन्तयत् । अयं तु अयं कृष्ण एव मे सोदरयोर्भ्रातृभगिन्योर्नाशकृत् अतः मम तयोर्द्वयोः स्थाने तद्वैरनिमित्तं वा तत्पिण्डदानार्थं वा सबलं ससैन्यं वत्सपालसहितमेनं हनिष्ये हनिष्यामि । तदार्षः ममेति वाक्याभेदान्न पौनरुक्त्यदोषः । अथैनमित्यपि पाठः ॥१४॥ एते इति ॥ एते बालवत्साः यदा मम सुहृदोः भ्रातृभगिन्योस्तिलापः कृताः मृतयोस्तिलोदकवत्तृप्तिहेतवः कृता हता इत्यर्थः । तदा व्रजौकसः एतेभ्योऽतिरिक्ता व्रजगता अपि नन्दादयः सर्वे नष्टसमाः मृतप्राया एव । यतः प्राणे निर्गते सति वर्ष्मसु देहेषु का नु चिन्ताऽस्ति स्वत एव ते हस्यन्तीत्यर्थः यस्मात् ये प्राणभृतस्ते सर्वेऽपि प्रजा अपत्यानि असवः प्राणतुल्या येषां तथाभूताः भवन्ति॥१५॥ इतीति ॥ स खलः अघासुरः इत्येवं व्यवस्य निश्चित्य । व्यवसायेति वाच्य आलोप आर्षः । तदा योजनप्रमाणेन आयामेन दैर्घ्येण युक्तं च तन्महाद्रिरिव पीवरं च तदित्यर्थः व्यात्तं प्रसारितं गुहातुल्यमाननं यस्मिंस्तत् बृहत् अद्भुतम् आजगरं वपुर्धृत्वा तेषां बालानां ग्रसनाशया पथि व्यशेत शयान इवातिष्ठत् ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सुखेन यत्क्रीडनं तस्य वीक्षणे अक्षमः क्षमाविधुरः पीतामृतैरपि निजजीवितेप्सुभिः अघासुरात् मरणभीतैर्देवैः यदंतः यस्य अघस्य अंतः नाशः नित्यं प्रतीक्ष्यते कदा भविष्यतीति चित्यते ॥ १३ ॥ कृष्णमुखानर्भकान् दृष्ट्वा सोऽघः इति व्यवस्य निश्चित्याजगरं वपुर्धृत्वा तेषां ग्रसनाशया पथिव्यशेतेति तृतीयश्लोकेनान्वयः स कथंभूतः कंसेन अनुशिष्टः प्रेपितः बकी पूतना तस्य व्यवसायमाह सार्द्धेन अयं श्रीकृष्णः मे सोदरयोर्बकीवकयोः भ्रात्रोः नाशकृदस्ति अतस्तयोर्द्वयोः स्थाने सबलं सानीकं वत्सतत्पालसहितमिति यावत् एनं कृष्णं हनिष्यामि ॥ १४ ॥ ननु एवं कृते सत्यन्निव्रजस्था अवशिष्टा इत्याशंक्याह एत इति एते गोपबालाः यदा मत्सुहृदः मम मित्रस्य बकस्य तिलापः कृताः तिलोदकांजलितया कल्पिताः तदा अन्येनष्टसमाः संति प्राणेगते सति वर्ष्मसु देहेषु कानुचितास्ति किमपि नास्ति तथा हि एते व्रजस्था गोपाः प्रजा एव असवः प्राणा येषां ते ॥ १५ ॥ तद्वपुर्विशिनष्टि योजनायामेन चतुःक्रोशपर्यंतदैर्घ्येण सहितंच तन्महापर्वतवत् पीवरं स्थूलं च व्यात्तं उद्घाटितं गुहातुल्यं मुखं यस्मिस्तत् एवंभूतं आजगरं शरीरं धृत्वा खलः ग्रसनाशया पथि व्यशेत ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथेति ॥ गोपबालानामित्थं विहरतां सतामिति शेषः। अथानन्तरं, तेषां सकृष्णानां गोपबालकानां, सुखेन यत् क्रीडनं तस्य वीक्षणेन विद्यते क्षमा यस्य सः, पीतममृतं यैस्तैः मरणभयरहितैरपीति भावः। निजजीवितेप्सुभिः मृत्युभयरहितानप्यस्मान् हन्तुं समर्थमेनमघासुरं हत्वाऽस्मज्जीवितं कदा सुप्रतिष्ठितं कुर्यादित्येवं स्वजीवितमिच्छद्भिरित्यर्थः। अमरैर्देवैः, नित्यं यदन्तो यस्याघासुरस्य विनाशः, प्रतीक्ष्यते, कदा भविष्यतीति प्रतीक्षां क्रियते, एवंभूतः अघनामा अघेतिसंज्ञया विख्यातः, महासुरः अतिमहान् दैत्यः, अभ्यपतत् अभिमुखमाजगाम ॥ १३ ॥ दृष्ट्वेति ॥ कंसानुशिष्टः कंसेनादिष्टः, बकी पूतना च बको बकासुरश्च तयोरनुजः बन्धुः, सः पूर्वोक्तप्रकारः, अघासुरः, कृष्णमुखान् श्रीकृष्णप्रभृतीन्, अर्भकान् दृष्ट्वा, इति व्यवस्याजगरं वृहद्वपुर्धृत्वा तेषां ग्रसनाशया, पथि व्यशेत, इति तृतीयश्लोकगतेनान्वयः। कथं व्यवस्य तदाहायमिति सार्द्धेन। द्वयोः तयोः रामकृष्णयोर्मध्ये, अयं कृष्णः तु अयं श्रीकृष्ण एव, मे मम, सोदरनाशकृत् मत्सोदरयोः पूतनाबकयोर्विनाशं कृतवान्। अथातो हेतोः, सबलं बलेन सहितं, एनं कृष्णं, हनिष्ये। बलशब्दोऽत्रेतरगोपबालानामप्युपलक्षणार्थः। उत्तरश्लोकगत—एते इति बहुवचनानुगुण्यात् ॥१४॥ एते इति ॥ यदा, एते श्रीकृष्णादयः, मत्सुहृदोर्मत्सोदरयोः, तिलापः कृताः, तिलोदकवत्तृप्तिहेतुत्वेन कृता इत्यर्थः। एतेषां हननमेव मत्सुहृदोस्तिलापाञ्जलय इति भावः। तदा व्रजौकसः सर्वे व्रजवासिनो जनाः, नष्टसमाः नष्टप्रायाः, ननु तेषां सासुत्वे कथं नष्टसमत्वं तत्राह। प्राणे गते, वर्ष्मसु शरीरेषु, का नु का वा चिन्ता। हि यतः, ये प्राणभृतः, ते प्रजा एवासवो येषां तथाभूताः, भवन्ति। अयं भावः। प्राणे गते शरीरं क्षणमपि स्थातुं न शक्नोति, किं तु नश्यत्येव, प्राणभृतां प्रजासुत्वात् प्राणसमेषु तत्पुत्रेषु मया हतेषु, सर्वेऽपि व्रजौकसः स्वयमेव नङ्क्ष्यन्तीति तदर्थं न मया यत्नः कार्य इति ॥ १५ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, व्यवस्य निश्चित्य, खलः दुरात्मा, सोऽघासुरः, तदा ग्रसनाशया श्रीरामकृष्णादीन् ग्रसितुमिच्छया, योजनं योजनप्रमाणो य आयामो दैर्घ्यं तेन युक्तं च तन्महाद्रिवत्पीवरं स्थूलं च तत्, व्यात्तं गुहातुल्यमाननं यस्मिस्तत्, अद्भुतं प्रेक्षकाश्चर्यकरं, आजगरमजगरसम्बन्धि, बृहत् विपुलं, वपुः शरीरं धृत्वा, पथि मार्गे, व्यशेत शयितवान् ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अथाघनामेति : १०.१२.१३.

प्राचीनपुण्यपरिपाकफलानुरूपं तेषां विहारजसुखं हरिणा सहाभूत्।
तत्रावमानजनिताऽप्यतिसन्निकर्षादासीदघावगतिरित्यतिभाति युक्तम् ॥ २८ ॥
गोजातेन सहान्तरङ्गकलितं श्रीशं यदैषीदघः कर्तुं तत्र हि तन्मिषेण चकमे प्रायोऽस्य हार्दोदयम्।
योऽन्ते ब्रह्मणि चित्सुखे गतिमगात् सज्योतिरेवं मुनिः पश्यन् दीर्घदृशा यतः स तमघं नाम्नाऽघ इत्यब्रवीत् ॥ २९ ॥
साधुवृन्दावनक्रीडा सतामेव सुखावहा। असदग्र्यो ह्यघो युक्तमासीत् तद्वीक्षणाक्षमः ॥ ३० ॥
वत्सार्भकाणामकृतागसामप्यसौ यदासीत् सुखकेल्यसोढा। चित्रं न चाद्यस्य भुजङ्गवृत्तेः स्वभाव एवान्यसुखासहिष्णुः ॥ ३१ ॥
प्रपञ्चदुर्गे नियमादघोदयो ह्यमृष्यमाणो विषयोपभोगम्। सतोऽसतो वा ग्रसितुं धृतव्रतः प्रतीक्षते काण्डमितीह युक्तम् ॥ ३२ ॥
सुखस्थितैरप्यमृतान्तरङ्गैरघप्रणाशो यदिह प्रतीक्ष्यते। निर्णीतमस्मादघसत्वमस्मिन् स्वस्मिन् परस्मिन्नपि वाऽतिगर्ह्यम् ॥३३॥
न पापभीतिर्मनुजेषु केवला प्रपातनादस्त्यमृतान्धसामपि। समञ्जसं तद्यदघासुरात्तदा सुधाभुजोऽप्यापुरतीव साध्वसम् ॥ ३४ ॥
सन्नाशचिन्तनतथाचरणप्रवृत्तिर्वृत्तिःस्वभावकलिता भुवि याऽघवृत्तेः।
स्वस्य स्वभावफलमेव हि सा प्रसूते नान्यस्य तत्स्फुटमभूदघचिन्तितार्थात् ॥ ३५ ॥

सोदरनाशकृदिति ः १०.१२.१४.

आर्यं रक्षसारं च हरान्तमस्युतं सञ्छिन्नस्य वेगाद् यदगादघासुरः तद्‌वत्तमेवात्र जनः सहेतकः प्राणप्रियेष्टार्थवियोगमार्तिदम् ॥ ३६ ॥

श्रुतिग्राह्यस्तु भगवाञ्छ्रुतयस्त्वास्यगा विधेः। इत्यघस्तज्जिघृक्षुः किं काननान्तर्गतोऽभवत् ॥ ३७ ॥

सवनाशारब्धयत्न-कंसाद्यसुरपथ्यदृक्। युक्तमासीदघस्तत्र सवनाशः स्ववृत्तये ॥ ३८ ॥

इति व्यवस्येति ः १०.१२.१६.

यन्मूलभूतपुरुषाक्रम-सिद्धशक्तेः के नाम ते मम पुरो भुवि बाहुजाताः।
तत्राबलो लघुरलं त्वयमित्यघोऽसावासीत् स्मयाद्धजगवेषधरो दुरात्मा ॥ ३९ ॥

श्रुत्यङ्गहीनत्वमहेरघस्याप्यस्मिन् जने तुल्यमतोऽभियुक्तम्। स तद्वपुर्भागभवत् पृथिव्यां तादृक् भवतीत्यगूढम् ॥ ४० ॥

इतरेष्वरिता च मित्रता भवतीशस्य तथा तथा स्वकृत्यात्। दुरि तंतु निसर्गशत्रुरित्यभवत् स्पष्टमघेऽहिरूपभाजि ॥ ४१ ॥

यो द्वेष्टि साधूनथ साधुनाथं निर्मन्तुवृत्तीन् सदयाद्यभूमिम्। सद्यौऽघरूपोऽहितमोमयात्मा भूत्वा विपद्भावमिहैति युक्तम् ॥ ४२ ॥

अजो गले मे भविता यथा तथा वपुर्मयाऽङ्गीकरणीयमित्यघः। स चिन्तयन्नेव निजेष्टयोजनोत्सुको बभूवाजगरः पुरैव किम् ॥४३॥

तत्प्राणपवनपानं चिकीर्षुरासीत् तदाहिरूपोऽघः। युक्तं परन्तु मूर्खो न वेद तं श्रीधरं स शेषेड्यम् ॥ ४४ ॥

मदग्रजनुषावुभौ वरतमश्रियावप्यलं गतौ लघुगरत्वतो भृशमनेन नाशं लघु।
विचिन्त्य स बृहद्गला मजगरस्थितिं तामघो दधारं किमु यत्पुरा विकसितास्य एवाभवत् ॥ ४५ ॥

यो यो भवेऽस्मिन् जनिमान् हि जन्तुस्तमत्तुमिच्छत्यघकालसर्पः।
अजस्रमेवं मतिमान् विभाव्य कुर्यादभीत्यै यदुनाथसख्यम् ॥ ४६ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् परीक्षित् बड़े आनन्द से जब कि ग्वालबाल खेल में संलग्न हैं उसी समय अघासुर नाम का महान् असुर वहाँ आ धमका। वह खल श्री बलभद्र, श्रीकृष्ण आदि बालकों की हंसी-खुशी को देख न सकता था केवल ईर्ष्या से जल रहा था। वह इतना खतर नाक दुष्ट रहा कि अमृत पान करके अगर हुए देवता गण भी, जो अमृत पान करने पर भी भगवान् श्री कृष्ण की बाल लीला का पान करने के अपने जीवन की चाह कर रहे हैं वे उस से घबड़ाते थे और चाहते थे कि इस दुष्ट की मृत्यु हो ॥ १३ ॥ राजन्! वह अघासुर पूतना और बक का छोटा भाई था और कंस से भेजा गया था। उसने उन बालकों को, जिनमें श्रीकृष्ण ही मुख्य थे, देखकर निश्चय किया कि यह कृष्ण ही मेरे सगे भाई बहिन को मारने वाला है अतः आज दल बल सहित इसे मार डालूँगा ॥ १४ ॥ जब ये बालक और बछड़े मार दिये जायँगे तब मेरे भाई बहिन तृप्ति और तिलाञ्जलि बन जायँगे तब ये सारे व्रजवासी अपने आप मरे जैसे ही हो जायँगे। जब प्राण चला जाता है तब देह की क्या चिन्ता? माता-पिता के सन्तान ही प्राण होते हैं, जब ये "ही" न रह जायँगे तो बूढे ग्वाले स्वयं मर मिटेंगे ॥ १५ ॥ ऐसा निश्चय कर वह खल अघासुर चार कोस का लम्बा-चौडा दीर्घकाय अद्भुत अजगर बन कर सब को खा जाने की लालसा से मार्ग में लेट गया, वह पर्वत-सा बड़ा मालूम पड़ता था, उसका खुला मुँह गुफा जैसा जान पड़ता था ॥ १६ ॥

धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्याननान्तो गिरिशृङ्गदंष्ट्रः।
ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्वः परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥

तं दृष्ट्वा[1] तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम्। व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥

[2]अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरः स्थितम्। अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥

सत्यमर्ककरारक्तमुत्तराहनुवद् घनम्। अधराहनुवद् रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २० ॥

प्रतिस्पर्धेते [3]सृक्किभ्यां सव्यासव्ये[4] नगोदरे। तुङ्गशृङ्गालयोऽप्येते[5] तास्तद्दंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥

आस्तृतायाममार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति। एषामन्तर्गतं[6] ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥ २२ ॥

दावोष्णखरवातोऽयं श्वासवद् भाति पश्यत। तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धोऽप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥ २३ ॥

[7]अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति।
क्षणादनेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥ २४ ॥

---

१. दृष्ट्वा तं–श्रीधर, वंशी,। २. अहो विचित्रं मित्राणि सत्त्व–वीर,। ३. सृक्वभ्यां–वीर। ४. सव्यो नगोदरो–वीर,। ५. ह्येता–वीर,। ६. गंतध्वान्तं–वीर,। ७. विशन्तु सर्वे ग्रसिता किमस्मानयं तथा–वीर,।

कर्वमक्षमा

अन्वयः—धराधरोष्ठः जलदोत्तरोष्ठः दर्याननान्तः गिरिश्रृङ्गदंष्ट्रः ध्वान्तान्तरास्यविततताध्वजिह्वः परुषानिलश्वासद-वेक्षणोष्णः सः खलः तदा पथि व्यशेत ॥ १६-१७ ॥ सर्वे तादृशं तं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रियं मत्वा व्यात्ताजगरतुण्डेन लीलया हि उत्प्रेक्षन्ते स्म ॥ १८ ॥ अहो मित्राणि गदत! पुरःस्थितं सत्वकूटं अस्मत् संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा? ॥ १९ ॥ सत्यं अर्ककरारक्तं उत्तराहनुवद् घनम् तत्प्रतिच्छायया अरुणं अधराहनुवत् रोधः ॥ २० ॥ सव्यासव्ये नगोदरे सृक्किभ्यां प्रतिस्पर्धेते च एताः तुङ्गश्रृङ्गालयः तद् दंष्ट्राभिः (प्रतिस्पर्धन्ते) पश्यत ॥ २१ ॥ अयं आस्तृतायाममार्गः रसनां प्रति गर्जति एषाम् अन्तर्गतं ध्वान्तं अपि एतद् अन्तराननं (भाति) अयं दावोष्णखरवातः श्वासवद् भाति तद्दग्धसत्वदुर्गन्धः अपि अन्तरा आमिषगन्धवत् भाति पश्यत ॥ २२-२३ ॥ अत्र निविष्टान् अस्मान् अयं किम् ग्रसिता? चेत् अनेन क्षणात् तथा बकवत् विनङ्क्ष्यति इति बकार्युं-शन्मुखं वीक्ष्यः हसन्तः करताडनैः ययुः ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अद्भुतमिति यदुक्तं तद्दर्शयितुं विशिनष्टि। धराधरोष्ठ इति। धरायामधरोष्ठो यस्य सः। जलदेषूत्तरोष्ठो यस्य सः। दर्याविवाननस्यांतौ सृक्किणी यस्य सः। गिरेः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः। ध्वांतवदंतरास्यं यस्य सः। विततताध्ववज्जिह्वा यस्य सः। परुषानिलवच्छ्वासो यस्य सः। दववदीक्षणयोरुष्णः दावववद्दृष्टिरित्यर्थः। परुषानिलश्वासश्चासौ दवेक्षणोष्णश्च तथा ॥१७॥ वस्तुतोऽजगरमेव व्यात्ततुंडं दृष्ट्वा वृंदावनस्य श्रीः संपदेवैषेति भ्रांत्या मत्वा विपरीतं व्यात्ताजगरास्यसादृश्येनोत्प्रेक्षितवंतः ॥ १८ ॥ उत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्याञ्चाहुः। अहो इति। सत्त्वकूटं सत्त्वाभासमिदं वा न वा तत्राप्यस्मत्संग्रसनाय व्यात्तं यद्व्या-लतुण्डं तद्वदाचरति न वा ॥१९॥ निश्चितं तथैवेत्याहुः। सत्यमिति। अर्ककरैरारक्तं घनमुत्तरोष्ठवत्पश्यत। तस्य घनस्य प्रतिच्छाय-यारुणं रोधः स्थलमधरोष्ठवत्पश्यत। पश्यतेति सर्वत्रान्वेति ॥ २० ॥ सृक्किभ्यामोष्ठप्रांताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते तत्तुल्यतया वर्तेते। नगोदरे गिरिदर्यौ। एतास्तुंगश्रृङ्गालयस्तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धमानाः ॥ २१ ॥ आस्तृतायाममार्गे विस्तृतो दैर्घ्यवान्मार्गः। प्रतिगर्जंति प्रतिस्पर्धते। एषां श्रृङ्गाणामंतर्गतं मध्यगतं ध्वांतमन्धकारमेतदंतराननमाननस्य मध्यं प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ दावेनोष्णः खरो वातोऽस्यम्। तेन दावेनाग्निदग्धानां सत्त्वानां यो दुर्गन्धः। स एव सर्पांतर्गतामिषगंधवद्भाति ॥ २३ ॥ एवं सत्यमप्यजगरमन्यथो-त्प्रेक्ष्य निर्भया ययुः। किं ग्रसिता ग्रसिष्यति। अनेन श्रीकृष्णेन हंत्रा। बकारेरुशत्कमनीयं मुखम् ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

धरायां भूमौ। दर्यौ गुहे। 'प्रांतावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः। ध्वांतवत्तमोयुक्तम्। अंतरास्यं मुखमध्यम्। विततताध्वव-द्विस्तृतमार्गवत्। परुषानिलवत्कठोरवातवत्। 'निष्ठुरे परुषम्' इत्यमरः। दववत् वनाग्निवत्। 'दवदावौ वनानलौ' इत्यमरः। इत्यर्थ इति। दाववद्दावाग्निवदिति तात्पर्यम् ॥ १७ ॥ तम् अघम्। तादृशं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टम्। तमघासुरं दृष्ट्वा महासर्पबुद्ध्या कांश्चित्पलायमानान्दृष्ट्वाऽन्ये तानाहुः रे मूढा एतावत्प्रमाणः सर्पो न संभवतीत्यतो वृंदावनशोभातिशयाधायको जंतुविशेषो विधात्रैव रचितः। किं—तु महासर्पप्रसारिततुंडाकार इति निश्चिताः उत्प्रेक्षितवंत उत्प्रेक्षां कुर्वंतः ॥ १८ ॥ कांश्चिन्मुख्यसखीन्सम्बोध्य स्वनिश्चयस्य प्रामाण्यार्थं पृच्छंति—अहो इति। 'उत्प्रेक्षोन्नीयते यत्र हेत्वादिर्निह्नवं विना' इति चन्द्रालोकोक्तेः। सत्त्वकूटं निश्चलः प्राणिविशेषः कूटशब्दस्य पूर्वनिपाताभावस्त्वार्षः। यद्वा—सत्त्वं कूटमिवेति समासः। अत्र कूटपदं गिरिश्रृङ्गवाचकं ज्ञेयम्। "कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ लोहमुद्गरदंभयोः। मायाद्रिश्रृङ्गयोस्तुच्छे सीरावयवयंत्रयोः॥ अनृते च" इति मेदिनी। अस्मत्संग्रसना-यास्माकं भक्षणाय। व्यात्तं प्रसृतम्। 'व्यालो दुष्टगजे सर्पे' इति मेदिनी। संशयोत्प्रेक्षयोरत्र संसृष्टिः। मित्राणीति क्लीबत्वम् 'मित्रं सुहृदि न द्वयोः' इत्युक्तेः ॥ १९ ॥ तथैव उक्तानुसारेण यथा यूयं मन्यध्वे तथैवेति। 'सत्यं निश्चितसत्ययोः' इति यादवः। उत्तरोष्ठव-दुपरितनोष्ठवत्। प्रतिच्छायया प्रतिबिंबेन अरुणं रक्तम्। अधरोष्ठवदधस्तनोष्ठवत् ॥ २० ॥ तुंगश्रृङ्गालय उच्चश्रृङ्गपंक्तयः ॥२१॥ 'अंधकारोऽस्त्रियां ध्वांतम्' इत्यमरः ॥ २२ ॥ खरस्तीक्ष्णः 'तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्वत्' इत्यमरः। सत्त्वानां जीवानाम्। आमिषं मांसम् ॥ २३ ॥ एवमुक्तप्रकारेण। संतं सत्यम्। अन्यथाऽसत्यम्। अयमजगरवत्प्रतीयमानो जीवविशेषः। तथा चेत् ग्रसने कृते सति दूरस्थस्य मुखं दृष्ट्वाऽस्मद्दृष्टिगोचर एव कृष्ण आस्ते का चिंतेति। लब्धविश्वासाः एतद्बिलमध्ये किमप्यस्ति भोः सखाय-स्तदवश्यं पश्याम इति बाल्यचापलकौतुकोल्लासात्करताडनैर्निजनिर्भयत्वद्योतनाय करताडनं हास्यांगं सति सर्पे तत्पलायनं वाभिप्रेतम् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पर्षेति पुरुषेति वा पाठः परुषानिलवत् श्वसाभ्यां दववदीक्षणाभ्यां च तेषु वा उष्णः ॥ १७ ॥ हि निश्चितं लीलयैवेति तथोत्प्रेक्षणमपि तेषामेका क्रीडैवेत्यर्थः ॥ १८ ॥ गदितव्यमेवाहुः—सत्त्वेत्यादिना। अस्मादित्यादौ यदग्रभाग इति शेषः ॥ १९ ॥

गदतेति केषाञ्चित्प्रश्नं केचिदनुमोदमाना आहुः—सत्यमिति युग्मकेन । यथार्थ वदथेत्यर्थः । तदेवाहुः-अर्केत्यादिना गन्धवदित्यन्तेन । अर्ककरा रक्तमिति एषां पश्चिमाभिमुखा गतिस्तस्य पूर्वाभिमुखा स्थितिरिति गम्यते प्रातस्त्यत्वात् उत्तरेत्यत्र पुंवद्भाव आर्षः ॥ २० ॥ एताः साक्षाद्वर्त्तमानाः एवमग्रपि तस्य व्यालतुण्डस्य दंष्ट्राभिस्तु स्पर्द्धन्ते इति लेख्ये टीकायां स्पर्द्धमान इति लेखकभ्रमात् ॥ २१ ॥ आयामयुक्तो मार्गः आयाममार्गः स चास्तृत इति ध्वान्तं छायात्मकं ध्वान्ताननमध्ययोः कालवर्णत्वात् साम्यम् ॥ २२ ॥ भातीति पश्यत इति मध्ये मध्ये विस्मयाय ॥ २३ ॥ इति एतद्वदन्तः उद्धसन्तः तस्य खलत्वारोपणेन किं वा स्वयं हसत एव विशेषतश्च श्रीकृष्णमुखं निरीक्ष्योच्चैर्हसन्त इत्यर्थः । किं वा भवतात्रावहितेन भाव्यमिति नर्मणा विज्ञापनार्थमिव करताडनैरिति करतालीः कृत्वेत्यर्थः । तच्च लोकरीत्या सर्पापसारणार्थमिव निर्भयत्वेन निजवीरदर्पप्रकटनार्थमिव च ययुः अग्रतोऽधावन्नित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

दवाविव ईक्षणे यस्य सः । अतस्तयोस्ताभ्यां वा उष्णश्चात एव चक्षुषी दावौ मत्वा तत एवोष्णः खरवातोऽयमित्यग्रे वक्ष्यति ॥ १७ ॥ हि निश्चितम् लीलयेति तथोत्प्रेक्षणमपि तेषामेका क्रीड़ैवेत्यर्थः, तथैव सम्यक् सर्वसंगत्यापादनात् ॥ १८ ॥ गदितव्यमेवाहुः सत्त्वेत्यादिना । अस्मदित्यादौ यदग्रभाग इति शेषः ॥१९॥ गदतेति केषाञ्चित् प्रश्नं केचिदनुमोदमाना आहुः—सत्यमिति; यथार्थं वदथेत्यर्थः । तदेवाहुः—अर्केत्यादिना गन्धवदित्यन्तेन ॥ २० ॥ एताः साक्षादवर्त्तमानाः । एवमग्रेऽपि । च तु तस्य व्यालतुण्डस्य दंष्ट्राभिस्तु, 'स्पर्द्धन्ते' इति लेख्य स्पर्द्धमाना इति लेखक-भ्रमात् ॥ २१ ॥ आस्तृतायाम-मार्ग इति श्रीवृन्दावनेऽनन्त-पशुवर्गचरणात् सर्वत्र स्वत एव महावर्त्मवृत्तेः ॥ २२ ॥ भातीति पश्यत; एवमस्य पूर्वाभ्यां वाक्याभ्यां परेण वान्वयः ॥ २३ ॥ इत्येतद्वदन्त उद्धसन्तस्तस्य खलत्वानुसन्धानेन; किंवा ज्ञात्वापि तथोत्प्रेक्षणेन स्वयं हसन्त एव, विशेषतश्च श्रीकृष्णस्य सुन्दरं मुखं निरीक्ष्योच्चैर्हसन्त इत्यर्थः । यद्वा, तन्मुखं वीक्ष्येति तदनुमत्यर्थमिव, किंवा भवतात्रावहितेन भाव्यमिति विज्ञापनार्थमिव । किंवा, परमप्रियत्वेन स्वभावत एव करताडनैरिति करतालीः (दत्त्वा) कृत्वेत्यर्थः । तच्च लोकरीत्या सर्पपसारणार्थमिव, वस्तुतस्तु निर्भयत्वेन निज-वीरदर्पप्रकटनात्, वाल्यक्रीडा-स्वभावादेव वा ययुरग्रतोऽधावन्नित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

रुषा क्रोधेन अनिल इव श्वासः दवौ इव ईक्षणी चोष्णे यस्य सः ॥ १७ ॥ वृन्दावनशोभां तद्विशिष्टं कुञ्जं मत्वा इत्यपह्नुतिः व्यात्ता जगरतुण्डेन दृष्टान्तेन उत्प्रेक्षन्ते उत्प्रेक्षीकुर्वन्ति लीलया कौतुकेनेत्यर्थः ॥ १८ ॥ सत्त्वकूटम् अस्मत्सङ्ग्रसनाय व्यात्तं प्रसारितं यद्व्यालतुण्डं तद्वदाचरति नचेति गदत कथयत उपमासंशयश्च ॥ १९ ॥ अर्ककरैः आरक्तं घनं मेघं उत्तराहनुवत् उत्तरोष्ठवत् तत्प्रतिच्छायया उत्तरोष्ठायमानघनप्रतिबिम्बेनारुणं रोधः अधराहनुवत् अधरोष्ठवत् वर्त्तते तद्द्वयं सत्यं वा नवेति गदत इत्यन्वयः । हनुशब्दस्य स्त्रीत्वमार्षम् उपमा हेतुसंसृष्टिः ॥ २० ॥ वामदक्षिणे पर्वतमध्ये सृक्किभ्याम् ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धते इति पश्यत तुङ्गा उच्चा श्रृङ्गपङ्क्तयः तद्दंष्ट्राभिः सर्पदंष्ट्राभिः प्रतिस्पर्द्धन्त इति पश्यत ॥ २१ ॥ मार्गोऽयं रसनां प्रतिगर्जति रसनां व्यपदिशति अन्तर्गतध्वान्तम् एषामिति मुखरसनादीनाम् एतत्पुरोवर्त्ति अपह्नुत्युपमे ॥ २२ ॥ दावोष्णेति अत्रोपमैवापह्नुत्युत्तरा स्पष्टम् अहो मित्राणि इत्यादि पञ्चसु अपह्नुतिप्राणिते उत्प्रेक्षोपमे ज्ञेये सत्यं किम् एवमादिभिः ॥२३॥ वकारैः श्रीकृष्णस्य उशत् कमनीयम् ॥ २४–२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुमसुरं विशिनष्टि-धरायामधरोष्ठो यस्य जलदेषूत्तरोष्ठो यस्य दर्यौ गिरिकन्दराविव आननस्यान्तौ सृक्किणी यस्य गिरेः श्रृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य ध्वान्तोऽन्धकारो यस्मिन् अस्तीति ध्वान्तवत्तदन्तरास्यं यस्य दीर्घीभूतमहाध्वविजिह्वा यस्य परुषानिलवच्छ्वासो यस्य सः दावाग्निरिवेक्षणयोरुष्णः दाहकदृष्टिरित्यर्थः । परुषानिलश्वासशब्दोत्तरस्य सोरुत्वे "हशि च" इति यत्व तस्य "लोपः शाकल्यस्य" इति लोपः दवेक्षणोष्णपदे कर्मधारयो वा ॥ १७ ॥ वस्तुतोऽजगरमेव व्यात्ततुण्डं वृन्दावनस्य श्रीः सम्पत् एषेति भ्रान्त्या मत्वा विपरीतं व्यात्ताजगरतुण्डसादृश्येन उत्प्रेक्षितवन्तः ॥ १८ ॥ तेषामुत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्यामाह-अहो इति पञ्चभिः । अहो मित्राणि सुहृदः पुरः स्थितमिदं वस्तु सत्त्वकूटं सत्त्ववद्भासमानं न वा तत्राप्यस्मान् संग्रसितुं व्यात्तव्यालतुण्डवदाचरति न वा ॥ १९ ॥ एवमुक्ताः केचित्तथैवेत्याहुः-सत्यमिति । अर्ककरैरारक्तं घनं मेघमन्तरोष्ठवत्पश्यत, तस्य घनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधः कूलमधरोष्ठवत्पश्यतेति सर्वत्रान्वेति ॥ २० ॥ सव्यासव्यनगयोर्वामदक्षि गिर्योरुदरे दर्य्यौ सृक्किभ्यामोष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धते तुल्यतया वर्त्तेते सव्यासव्यगिर्योस्तुङ्गश्रृङ्गाणामालयः पंक्तयस्तस्य दंष्ट्राभिः स्पर्द्धन्ते इति वचनविपरिणामे वान्वयः ॥ २१ ॥ आस्तृतो विस्तृतश्चासावायाममार्गदैर्घ्यवान्मार्गः स तस्य रसानां जिह्वां प्रतिगर्जति प्रतिस्पर्द्धते एषां श्रृङ्गाणामन्तर्गतमेव ध्वान्तमप्यन्तराननमास्यमध्यं प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ दावाग्निनोष्णः खरः कठिनश्च वातः श्वासवत्

भाति तेन दावाग्निना दग्धानां सत्त्वानां जन्तूनां दुर्गन्धः सत्त्वान्तर्गतामिषगन्धवत् भाति ॥ २३ ॥ एवं सत्यमेवाजगरसत्त्वमेवोत्प्रेक्ष्य निर्भया ययुरित्याह मुनिः विशन्त्विति । सर्वे वत्सा वत्सपाश्चात्र विशन्त्वस्मान् ग्रसिता किं ग्रसिष्यति किम् ? तथा चेद्ग्रसिष्यति बकवत् बकासुरवदयमप्यनेन श्रीकृष्णेन क्षणाद्विनङ्क्ष्यति नाशं गमिष्यति इतीत्थं बकारेरुशत्कमनीयं मुखं विलोक्य उच्चैर्हसन्तः करताडनैरुपलक्षिता ययुः करताडनानि कुर्वन्तो ययुरित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

धरायामधरोष्ठो यस्य सः जलदे उत्तरोष्ठो यस्य सः दर्य्यौ कन्दराविवाननस्यान्तौ सृक्किणी यस्य सः ध्वान्तमन्तरास्ये मुखमध्ये यस्य सः विस्तृतः पन्था इव जिह्वा यस्य सः परुषानिलवत् श्वासो यस्य सः दवाग्निवदीक्षणयोरुष्णो यस्य स च स च सः ॥ १७ ॥ तमघासुरं दृष्ट्वा महासर्पबुद्ध्या कांश्चित् पलायमानानाश्वासयन्तः सर्वेऽन्ये मत्वेति । ननु, रे मूढाः ! एतावत्प्रमाणः सर्पो न सम्भवतीत्यतो वृन्दावनशोभाविशेषाधायको जन्तुविशेषो विधात्रैव रचितः किन्तु महासर्पप्रसारिततुण्डाकार इति निश्चित्य व्यात्तं प्रसृतं यदाजगरतुण्डं तेन सह उत्प्रेक्षन्ते उपमियते लीलयेति भयाभावः सूचितः ॥ १८ ॥ कांश्चिन्मुख्यान् सखीन् सम्बोध्य स्वनिश्चयस्य प्रामाण्यार्थं पृच्छन्ति–अहो इति । सत्त्वकूटं निश्चलः प्राणिविशेषः "कूटोऽस्त्रीनिश्चले राशौ" इति । मेदिनी पूर्वनिपाताभाव आर्षः । यद्वा गिरिश्रृङ्गवाचककूटशब्देनोपमितं व्याघ्रादिभिरित्यनेन समासः अस्माकं संग्रसनार्थमिव व्यात्तसर्पतुण्डवदाचरति न वा ॥ १९ ॥ सत्यमिति यथा यूयं मन्यध्वे तथैवेति ते प्रत्याहुः-अर्ककरैरारक्तं घनमेतस्योत्तरोष्ठवत्पश्यत तस्य घनस्य प्रतिच्छाययया अरुणं रोधःस्थलमधरोष्ठवत् पश्यत हन्वोरुत्तराधरत्वासम्भवत्वादत्र हनुशब्देनोष्ठद्वयं लक्ष्यते ॥ २० ॥ सृक्किभ्यामस्य ओष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते तुल्यतया वर्तेते नगोदरे गिरिदर्य्यौ एता इति तर्जन्या दर्शयन्ति तस्य सर्पतुण्डस्य दंष्ट्राभिः स्पर्द्धन्ते ॥ २१ ॥ आस्तृतायामः विस्तृतदैर्घ्यः मार्गः पन्थाः रसनां जिह्वां प्रतिरसनया सह गर्जति स्पर्द्धते एषां श्रृङ्गाणां मध्यगतमन्धकारं कर्तृ एतदपि अन्तरानन एतस्य आननमध्यं प्रतिगर्जति स्पर्द्धते ॥ २२ ॥ तेन दावाग्निना दग्धानां सत्त्वानां यो दुर्गन्धः स एव सर्पान्तर्गत दुर्गन्धवद्भाति ॥ २३ ॥ मिलिताः सर्वे किञ्चित्सभयमाहुः –अस्मानिति । अयं यदि सत्य एव सर्पः स्यादिति भावः । तन्मध्य एव केचिदाश्वासयन्त आहुः तथा चेत् क्षणमात्रादेव अनेन कृष्णेन हन्त्रा बक इव नाशं प्राप्स्यति इत्युक्त्वा बकारेदूरस्थितस्य कृष्णस्य मुखं वीक्ष्येति अस्मदृष्टिगोचर एव कृष्ण आस्ते का चिन्तेति लब्धविश्वासाः उद्धसन्त इति एतद्बिलध्ये किमप्यस्ति भोः सखायः ! तदवश्यं पश्याम इति बाल्यचापल्यतः कौतुकोल्लासात् करताडनैरिति निजनिर्भयत्ववीरत्वद्योतनाय सर्पापसारणार्थं वा ययुरधावन् वत्सा अपि पुच्छानुद्यम्य तानन्वधावन्निति ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अद्भुतत्वं दर्शयितुं विशिनष्टि–धरेति । धरायामधरोष्ठो यस्य सः जलदेषूत्तरोष्ठो यस्य सः दर्य्याविद्रिकन्दरे इवाननान्तौ सृक्किणी यस्य सः गिरिश्रृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः ध्वान्तयुक्तमन्तरास्यं यस्य सः विततात्ध्ववज्जिह्वा यस्य सः परुषानिलवत् श्वासो यस्य सः दववदीक्षणयोरुष्णः दाहकदृष्टिरित्यर्थः । परुषानिलश्वासेन सह कर्मधारयः ॥ १७ ॥ तादृशं गिरिसदृशाजगररूपिणं तमघासुरं दृष्ट्वापि वृन्दावनस्य श्रियं गिर्य्यात्मिकां सम्पदं मत्वा विपरीतमजगरतुण्डेन महाव्यालास्यसादृश्येनोत्प्रेक्ष्यन्ते स्म उत्प्रेक्षन्तः लीलया अन्योऽन्यभयाभावसूचिन्या चेष्टया ॥ १८ ॥ तेषामुत्प्रेक्षां तत्प्रश्नोत्तराभ्यामाह–अहो इति पञ्चभिः । तत्र केचिदाहुः अहो इत्याश्चर्ये हे मित्राणि ! पुरःस्थितं सत्त्वकूटम् असत्त्वमपि सत्त्वमिव न वा इति गदत ब्रूत तदपि अस्मत्सङ्ग्रसनाय व्यात्तं प्रसारितं यद्व्यालतुण्डं दुष्टसर्पास्यं तद्वदाचरति न वा ॥ १९ ॥ अन्ये आहुः-सत्यमिति । अर्ककरैः सूर्य्यरश्मिभिः आरक्तं घनमुत्तराहनुवत् अधराहनुवच्च तस्य घनस्य प्रतिच्छाययाऽरुणं रोधः भूसंलग्नं गिरिस्थलं पश्यतेति उत्तरेणान्वयः ॥ २० ॥ सव्यासव्ये नगोदरे गिरिदर्य्यौ सृक्किभ्यामोष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते तत्सादृश्यं प्रपद्येते तुङ्गश्रृङ्गाणामुच्चश्रृङ्गाणामालयः पङ्क्तयस्तद्दंष्ट्राभिश्च प्रतिस्पर्द्धन्ते इति च पश्यत ॥ २१ ॥ आस्तृता विस्तृतश्चासौ आयाममार्गो दैर्घ्यवान्मार्गः रसनां जिह्वां प्रतिगर्जति प्रतिस्पर्द्धते एषामुच्चश्रृङ्गाणामन्तर्गतं मध्यगतं ध्वान्तमन्धकारम् अन्तराननमाननस्य मध्ये प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ दावेन वनाग्निना उष्णश्चासौ खरवातो दुःसहपवनः तद्दग्धसत्त्वदुर्गन्धः वनाग्निना दग्धप्राणिदुर्गन्धः अन्तरामिषगन्धवत् अजगरान्तर्गतामिषगन्धवत् भाति ॥२३॥ अत्र गिरेरजगरास्यवदाभासमाने मुखे निविशाम् अयमजगराकारा गिरिः किं ग्रसिता ग्रसिष्यति तथा चेत् अनेन बकारिणा क्षणाद्बकवद्विनङ्क्ष्यति इत्येवं बकारेः उशदतिकमनीयं मुखं वीक्ष्य उद्धसन्तः परस्परं प्रोत्साहनार्थं करताडनैर्ययुः ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

धरायामधरोष्ठो यस्य जलदे उत्तरोष्ठो यस्य दर्यौ कन्दराविवाननस्यान्तौ सृक्कणी यस्य, ध्वान्तमन्तरास्ये मुखमध्ये यस्य विततात्ध्ववत् जिह्वा यस्य परुषानिलवत् श्वासो यस्य दववदीक्षणयोरुष्णः दावाग्नितुल्यदृष्टिरित्यर्थः । पश्चात् कर्मधारयः ॥१७॥ तं तादृशमघं सर्वे दृष्ट्वा महासर्पधिया विद्रुतात् कांश्चिदाश्वासयन्तो अन्ये वृन्दावनश्रियं मत्वा भो मुग्धाः ! नेदृशः सर्पः सम्भवेदत

एतद्वनशोभार्थः कश्चित् पदार्थः परेशेन निर्मितोऽस्तीति मन्वानास्तं व्यात्तेनाजगरतुण्डेन सहोत्प्रेक्षन्ते लीलयेति भयाभावः ॥ १८ ॥ तत्र केचित् स्वमतप्रामाण्यायान्यान् पृच्छन्ति अहो इति हे मित्राणि ! सखायः यूयं गदत अस्मत्पुरःस्थितं सत्वकूटं निश्चलः प्राणिविशेषः "कूटोऽस्त्री निश्चलं राशा"विति मेदिनी। पूर्वनिपाताभाव आर्षः। अस्मत्संग्रसनार्थमिव व्यात्तसर्पतुण्डवदाचरति न वा ॥ १९ ॥ तन्मतं स्वीकृत्याहुः सत्यमिति हन्वोरुत्तराधरभावासम्भवादत्र हनुशब्देनोष्ठद्वयं लक्ष्य अर्ककैरारक्तं घनमेव अस्योत्तरोष्ठवत् पश्यत तस्य घनस्य प्रतिछायया अरुणं रोधोऽपरोष्ठवत् पश्यत ॥ २० ॥ सव्यासव्ये वामदक्षिणे नगोदरे गिरिदर्यावस्य सृक्कभ्यां मुखप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते सदृशतया वर्त्तेते, तुङ्गाः शृङ्गालयो नगशिखराणि, तस्याजगरस्य दंष्ट्राभिः स्पर्द्धमानाः पश्यत ॥ २१ ॥ आस्तृतायाममार्गो विस्तृतदैर्घ्यः पन्थाः अस्य रसनां जिह्वां प्रतिगर्जति त्वत्समोऽहमिति वदतीत्यर्थः। एषां शृङ्गाणामन्तर्गतं ध्वान्तं कर्त्तृ एतदप्यन्तराननमध्यं प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ अयं दावोष्णखरवातोऽस्य श्वासवद्भाति, तेन दावाग्निना दग्धानां सत्वानां यो दुर्गन्धः स एव सर्पान्तर्गतामिषदुर्गन्धवद्भाति ॥ २३ ॥ मिलिताः सर्वे किञ्चिद्भीता आहुरस्मानिति। वस्तुतश्चेदयं सर्प एव स्यादिति भावः। तत्रैव केचिदाहुः तथा चेदनेन कृष्णेन क्षणादेव बकवद्विनक्ष्यतीति गदित्वा दूरस्थस्य वकारेरुशन्मनोज्ञं मुखं वीक्ष्येति तद्दृष्टिविषयेन का चिन्तेति भावः। एतद्विलमध्ये किमस्ति तत् किं न द्रष्टव्यमित्युद्धसन्तः, करताडनैरिति निर्भयत्वं वीरत्वञ्च द्योतयन्तस्तदयंयुस्तानन् वत्साश्चोत्पुच्छादधावन् ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

तस्य रूपमनुवर्णयति **धरेति**, **धरायां** भूमावधरोष्ठं यस्य, **जलदेषु** मेघेषूत्तरोष्ठं यस्य, **दरीवत्** कन्दरव**दाननान्तो** मुखमध्यं यस्य, **गिरेः शृङ्गवद् दंष्ट्रा** यस्य ध्वान्तयुक्त**मन्तरास्यं**, वितताध्ववन् मार्गवज् **जिह्वा** यस्य, **परुषः** स्पर्शदुःसहो **योनिलस्तद्वच् छ्वासः**, दववद् दवानलव**दीक्षणरुष्णः** स्पर्शो यस्य, **श्वासेन** सहित **ईक्षण** उष्णो वा, तादृशमपि दृष्ट्वा बालका न भीताः किन्तु स्वेष्टत्वेनैव कल्पितवन्तः ॥ १७ ॥ अत एव तेषां न भयं जातमसद्भावाभावादित्याशयेनाह **तं दृष्ट्वेति, तं तादृशं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रीरेवैषेति मत्वा** क्षणं ध्यात्वा भवति न वेत्य**जगरतुण्ड**तुल्यत्वेन श्रियमेवोत्प्रेक्षितवन्तः, श्रीरेषा परमजगरतुण्डवद् दृश्यत इति, **स्मेतिप्रसिद्धिः**, स्वस्य भयाभावाल्लीलया यत्किञ्चित् कल्पयन्ति स्म ॥ १८ ॥ कल्पनामेवाह पञ्चभिः, **अहो** इत्याश्चर्यं, **मित्राणि** सर्वाणि **गदत** इति सम्बोधनं वा, **सत्त्वकूटं** कपटसत्त्वं **पुरःस्थित**मग्रे वर्तमानमस्म**त्सङ्ग्रसनार्थमेव व्यात्तं** प्रसारितं **व्यालतुण्डमिवाचरति न वेति** निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥ तत्र नवापक्षं दूरीकृत्योत्प्रेक्षार्थं व्यालतुण्डत्वमेव सम्पादयन्ति सत्यमिति, **अर्ककरैरारक्तमुत्तराहनुवद् घनं पश्यत, अधराहनुवद् रोध**श्च तस्यैवारक्तमेघस्य **प्रतिच्छायया**रुणवर्णम् ॥२०॥ सृक्किणीभ्यां कृत्वा **सव्यासव्ये** पर्वतकन्दरे **प्रतिस्पर्धते**, वस्तुतः कन्दरैव सृक्किणीव दृश्यते, तुङ्गानां **शृङ्गाणामालयः** पङ्क्तयोपि **तद्दंष्ट्राभिः प्रतिस्पर्धन्ते**, नात्र सन्देहः, **पश्यत** ॥ २१ ॥ **आस्तृत** आसमन्तादायाममार्गो योजनपरिमितो **रसनां प्रति गर्जति** रसनावद् भासते, गर्जनादिकं तुल्यत्वाय, येषां शृङ्गाणां दंष्ट्राणामन्तर्गतमपि **ध्वान्तमन्तराननं प्रति गर्जति** ॥ २२ ॥ दाववद् दावानलवदुष्णः खरश्च **वातोयं, दावानल**ेन वोष्णः, **श्वासवद् भाति पश्यत** विचारयत, तत्र दावानले दग्धानां **सत्त्वानां दुर्गन्धोन्तरोदरे यदामिषम**पक्वमांसं यत् तेन भक्षितं तस्य **गन्धवद् भाति** ॥ २३ ॥ तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य गन्तव्यमेवेति निर्धार्य बाधकं दूरीकुर्वन्त्यस्मानिति, **अत्र** प्रविष्टानस्मान् **किमयं ग्रसिष्यति ? तथा चेद् वकवदेव क्षणादेव** नाशं यास्यत्यनेनैव कृष्णेनैवैषोघ **इति** निश्चित्य **बकारेर्भगवत उशत्** कमनीयं **मुखं वीक्ष्योर्ध्वं हसन्तः करताडनैः** सहिताः **प्रवेष्टुं ययुः** ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अद्भुतमिति यदुक्तं तत्तदेव दर्शयन्नसुरं विशिनष्टि—धरायामधरोष्ठो यस्य सः। जलदेषु उत्तरोष्ठो यस्य सः। दर्याविवाननस्यान्तौ सृक्किणी यस्य सः। गिरेः शृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः। ध्वान्तोऽन्धकारः, तद्युक्तमन्तरास्यं मुखमध्यं यस्य सः। वितताध्ववत् विस्तृतमार्गवत् जिह्वा यस्य सः। परुषानिलवच्छ्वासो यस्य सः। दववदीक्षणयोरुष्णः, दाहकदृष्टिरित्यर्थः। परुषानिलश्वासश्चासौ दवेक्षणोष्णश्च स तथा ॥ १७ ॥ तं वस्तुतोऽसुरं तादृशं धृताजगरशरीरमेव ते सर्वे गोपा दृष्ट्वाऽपि भ्रान्त्या 'वृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेव एषा' इति मत्वा व्यात्ताजगरतुण्डेन प्रसारितसर्पमुखसादृश्येन विशेषत उत्प्रेक्षितवन्तः। तत्र हेतुमाह—लीलयेति। लीलाविष्टचित्तत्वेनेत्याशयः ॥ १८ ॥ उत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्यामाहुः—अहो इति। सम्मत्यर्थं सम्बोधयन्ति—मित्राणीति। अहो आश्चर्यं पुरःस्थितमिदं सत्त्वकूटं प्राण्याभासमिवास्ति, न वा तत्राप्यस्मत्सङ्ग्रसनाय व्यात्तं विदारितं यद्व्यालतुण्डं सर्पमुखं तद्वदाचरति न वा तद्गदत ॥ १९ ॥ एवं पृष्टाः केचिदाहुः –सत्यमिति। निश्चितं तथैवेत्यर्थः। एवमग्रेऽप्युत्तरं बोध्यम्। अर्ककरैः सूर्यकिरणैः आरक्तं घनमुत्तराहनुवदुपरितनोष्ठवत् पश्यत। तस्य रक्तघनस्य च्छायया अरुणं रोधो नदीकूलमधरोष्ठवत् पश्यत। 'पश्यत' इति क्रियापदमपि सर्वत्रान्वेति ॥ २० ॥ सव्यासव्ये वामदक्षिणयोर्मध्ये वर्तमाने नगोदरे गिरिदर्यौ सृक्किभ्यामोष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते तुल्यतया वर्तेते इति पश्यत। एतास्तुङ्गाः शृङ्गाल्योऽपि तस्याजगरस्य दंष्ट्राभिः स्पर्धमानाः

पश्यत ॥ २१ ॥ अयमास्तृतायाममार्गः विस्तृतो दैर्घ्यवान् मार्गस्तस्य रसनां प्रति गर्जति स्पर्धते । एषां श्रृङ्गाणामन्तर्गतमेतद्ध्वान्तमन्धकारमपि अन्तराननमाननमध्यं प्रति गर्जति पश्यत ॥ २२ ॥ दावाग्निनोष्णः खरोऽयं वातः श्वासवद्भाति पश्यत । तेन दावाग्निना दग्धानां सत्त्वानां योन्तर्गन्धः सोऽपि सर्पस्यान्तर्गतामिषगन्धवद्भाति पश्यत ॥ २३ ॥ एवमुक्तास्तेषु एव केचिद्विश्वस्ता आहुः—सत्यमयं सर्पस्तथापि किमत्र निविघ्नानस्मान् ग्रसिता ग्रसिष्यति चेत्तदा तेन श्रीकृष्णेन हन्त्रा 'अयमपि बकवत् क्षणादेव विनङ्क्ष्यति' इति परस्परमुक्त्वा बकारेः श्रीकृष्णस्य उशत् अतिकमनीयं मुखं वीक्ष्योच्चैर्हसन्तः करताडनैः सह निजनिर्भयत्ववीरत्वादिप्रकाशनाय बाहुस्फोटं कुर्वन्तः तत्रत्याश्चर्यं द्रष्टुं ययुरित्यन्वयः । तान् धावतो वत्सा अपि पुच्छानुद्यम्यानुययुरित्यपि ज्ञातव्यम् ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अद्भुतत्वमाह—धरेति । स च धरायामधरोष्ठो यस्य सः जलदेषु उत्तरोष्ठो यस्य सः दर्याविवाननस्यान्तौ सृक्किणी यस्य सः गिरेः श्रृङ्गाणीव दंष्ट्रा यस्य सः ध्वान्तोऽन्धकारस्तद्युक्तमन्तरास्यं मुखमध्यं यस्य सः वितताध्ववत् विस्तृतमार्गवत् जिह्वा यस्य सः परुषानिलवच्छ्वासो यस्य सः दववदीक्षणयोरुष्णः दावतुल्यदृष्टिरित्यर्थः । परुषानिलश्वासश्वासी दवेक्षणोष्णः स तथा अभूत् ॥ १७ ॥ दृष्ट्वेति । तादृशं तमसुरं ते सर्वे गोपाः दृष्ट्वाऽपि भ्रान्त्या वृन्दावनस्य श्रीः सम्पदेवैषा नतु महासर्पः इति मत्त्वा व्यात्ताजगरतुण्डेन प्रसारिताजगरमुखसादृश्येन लीलया विशेषत उत्प्रेक्षन्ते स्म उत्प्रेक्षितवन्तः ॥१८॥ तत्र केचित्स्वोत्प्रेक्षां स्वसखान् पृच्छन्ति—अहो इति । अहो आश्चर्यं हे मित्राणि ! पुरः स्थितमिदं सत्त्वकूटं प्राण्याभासमिवास्ति न वा यद्वा सत्त्वकूटं निश्चलः प्राणिविशेषः "कूटोऽस्त्री निश्चले राशौ" इति मेदिनी । यद्वा । सत्त्वं कूटं गिरिश्रृङ्गमिवेति समासः । तत्राप्यस्मत्संग्रसनाय व्यात्तं विदारितं यद् व्यालतुण्डं सर्पमुखं तद्वदाचरति न वा तद्गदत ॥ १९ ॥ तान्सखायः प्रत्याहुः स्म—सत्यमिति ॥ सत्यं निश्चितमर्ककरैः सूर्यकिरणैः आरक्तं घनमुत्तराहनुवत् लक्षणया उपरितनोष्ठवत् पश्यत । पुंवद्भावाभाव आर्षः । एतेन तस्य पूर्वमुखस्थितिः सूच्यते । तस्य रक्तघनस्य प्रतिच्छायया अरुणं रोधो नदीकूलमधराहनुवदधरोष्ठवत् पश्यत ॥ २० ॥ प्रतिस्पर्द्धेते इति । सव्यासव्ये वामदक्षिणयोर्मध्ये वर्तमाने नगोदरे गिरिदर्यौ सृक्किभ्यामोष्ठप्रान्ताभ्यां प्रतिस्पर्द्धेते तुल्यतया वर्तेते इति पश्यत । एतास्तुङ्गाः श्रृङ्गाणामालयः पङ्क्तयोऽपि तस्याजगरस्य दंष्ट्राभिः स्पर्द्धमानाः पश्यत ॥ २१ ॥ आस्तृतेति । अयमास्तृतायाममार्ग विस्तृतो दैर्घ्यवान् मार्गस्तस्य रसनां प्रतिगर्जति स्पर्धते । एषां श्रृङ्गाणामन्तर्गतमेतद्ध्वान्तमन्धकारमपि कर्तृ अन्तराननमाननमध्यं प्रतिगर्जति पश्यत नीलत्वसाम्यात् ॥ २२ ॥ दावोष्णेति । दावाग्निनोष्णः खरोऽयं वातः श्वासवद् भाति पश्यत । तेन दावाग्निना दग्धानां सत्त्वानां यो दुर्गन्धः सोऽपि सर्पस्यान्तर्गतामिषगन्धवद् भाति पश्यत । इदं दृश्यमानं महासर्पवत्प्रतीयते नतु महासर्प इति प्रकरणार्थः ॥ २३ ॥ मिलिताः सर्वे किञ्चित्सभयमाहुः—अस्मानिति । यदि वा सत्यमयं सर्पोऽस्तु तथापि किमत्र निविघ्नानस्मान् ग्रसिता ग्रसिष्यते तथा चेद् ग्रसिष्यते चेत्तदा तेन श्रीकृष्णेन हन्त्रा हेतुनाऽयमपि बकवत् क्षणादेव विनङ्क्ष्यति । इति परस्परमुक्त्वा बकारेः श्रीकृष्णस्य उशत् अतिकमनीयं मुखं वीक्ष्य अस्मदृग्गोचर एव कृष्ण आस्ते काऽत्र चिन्ता इति लब्धविश्वासा उच्चैर्हसन्तः करताडनैः सह वीरत्वादिप्रकाशकैर्बाहुस्फोटादिभिः सर्पापसारणाय वा कृतैः सह ययुः । वत्सा अपि अनुययुरित्यपि ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अद्भुतत्वं दर्शयन्नजगरविशेषणान्याह धरेति—धरायां भूम्यां संलग्नः अधरोष्ठो यस्य जलदेषु मेघेषु संलग्न उत्तरोष्ठो यस्य दरीगुहातद्वदाननस्य अंतौ सृक्किणी यस्य गिरेः श्रृंगाणि शिखराणीव दंष्ट्रा यस्य ध्वांतेन तमसा युक्तं अंतरास्यं अंतराननं यस्य वितता प्रसृता अध्वतुल्या जिह्वा यस्य परुषानिलः कठिनवायुस्तद्वत्श्वासो यस्य दव इव ईक्षणयोर्नेत्रयोरुष्णः दावानलतुल्यदृष्टिरित्यर्थः । परुषानिलश्वासश्वासौ दवेक्षणोष्णश्च ॥ १७ ॥ तं तादृशं दृष्ट्वा भ्रांत्या तं वृंदावनस्य श्रियं शोभां मत्वा तां व्यात्तेन अजगरमुखेन सह लीलया क्रीडया उत्प्रेक्षंतेस्म तत्सदृशत्वेन निरूपयति स्मेत्यर्थः ॥१८॥ उत्प्रेक्षां प्रपंचयति अहो इति हे मित्राणि पुरःस्थितं अग्रे वर्त्तमानं सत्वकूटं सत्वेन महाजगररूपेण दृष्टं कूटं श्रृंगवान् पर्वतोस्ति न वा गदत ब्रूत अस्मत्संग्रसनाय व्यात्तं प्रसारितं च तद्व्यालतुंडं सर्पमुखं च तदिव आचरति न वा ॥ १९ ॥ स्वनिश्चितमाहुः सत्यमिति अर्ककरैः सूर्यकिरणैः आरक्तं सत्यं घनं मेघं व्यालस्योत्तराहनुवत् उत्तरोष्ठवत् पश्यत तस्य रक्तघनस्य प्रतिच्छायया प्रतिबिंबेन अरुणं रक्तं रोधः अधः स्थलं अधरोष्ठवत् पश्यतेति प्रतिवाक्यं योज्य ॥ २० ॥ सव्यासव्ये वामदक्षिणे नगोदरे गिरिगुहे सृक्किभ्यामोष्ठप्रांताभ्यां सह प्रतिस्पर्द्धेते सादृश्येन भातः एताः तुंगश्रृंगालयोऽपि उच्चशिखरपंक्तीरपि तस्य अघासुरस्य दंष्ट्राभिः समं पश्यत ॥२१॥ आस्तृतो विस्तृतः आयामो दीर्घो मार्गः सोयं रसनां प्रतिगर्ज्जति जिह्वां स्पर्द्धते एषां शिखराणामंतर्गतं मध्यप्राप्तं ध्वांतमस्ति एतदपि अंतराननं मुखस्य मध्यभागं प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ दावेति दावेन वनाग्निना उष्णः खरः परुषस्पर्शो यो वातः सोयं श्वासवद्भातितं युयं पश्यत तेन दावाऽनलेन दग्धानि यानि सत्वानि जंतुवृंदानि तेषां दुर्गंधोऽपि अंतरामिषगंधवत् अजगरोदरवर्त्तिमांसगंधतुल्यो भातितमपि पश्यत ॥ २३ ॥ एवमजगरमन्यथोत्प्रेक्ष्य अभया जग्मुरित्याह अस्मानिति । अयं पर्वतोऽजगरश्चेत्तर्हि अत्र निविघ्नान् प्रविष्टान् अस्मान् ग्रसिता सः

ग्रसिष्यति तर्हि किं भविष्यति तथा चेत् यर्हि ग्रसिता चेत् तर्हि अनेन श्रीकृष्णेन कृत्वा सः क्षणात् बकवद्विनंक्ष्चति क्षयिष्यति बकारेः उशत्सुंदरं मुखं वीक्ष्य उद्धसंतः अत्यंतहास्यं कुर्वंतोऽन्योऽन्यं करताडनैः सह ययुः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अद्भुतत्वमेव दर्शयितुमसुरं विशिनष्टि ॥ धरेति ॥ धरायां पृथिव्यामधरोष्ठो यस्य सः, जलदेषु मेघेषूत्तरोष्ठो यस्य सः, दर्यौ गिरिकन्दराविवाननस्यान्तौ सृक्किणी यस्य सः, गिरेः पर्वतस्य शृङ्गाणि शिखराणीव दंष्ट्रा यस्य सः, ध्वान्तोऽन्धकारोऽस्मिन्नस्तीति ध्वान्तवत् अन्तरास्यमन्तर्गतास्यं यस्य सः, आर्षो मतुपो लुक् । वितता दीर्घीभूता अध्ववन्महामार्गसदृशी जिह्वा रसना यस्य सः, परुषस्तीक्ष्णश्वासावनिलश्च तद्वच्छ्वासो यस्य स चासौ, दवः दावाग्निरिवेक्षणयोरुष्णः उष्णगुणो यस्य सः, दाहकदृष्टिरित्यर्थः । परुषानिलश्वासशब्दस्य दवेक्षणोष्णपदेन कर्मधारयः ॥ १७ ॥ वस्तुतोऽजगरमेव व्यात्ततुण्डत्वादियुनमपि वृन्दावनश्रियं भ्रान्त्या मत्वोत्प्रेक्षन्त इत्याह ॥ दृष्ट्वेति ॥ सर्वे गोपालबालाः, तादृशं तं दृष्ट्वा, वृन्दावनश्रियं मत्वा, लीलया, व्यात्ताजगरतुण्डेन, उत्प्रेक्षन्ते स्म हि । अयं भावः । वास्तविकाजगरमेव व्यात्ततुण्डं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रीरेखेति भ्रान्त्या मत्वा विपरीतं यथा तथा, लीलया व्यात्ताजगरतुण्डसादृश्येनोत्प्रेक्षितवन्त इति ॥ १८ ॥ तेषामुत्प्रेक्षामेव प्रश्नोत्तराभ्यामाह पञ्चभिः ॥ अहो इति ॥ अहो मित्राणि, हे सुहृद इत्यर्थः । पुरःस्थितं, इदं वस्तु इति शेषः । सत्त्वकूटं सत्त्ववद्ग्रासमानं, जायते न वा । तत्रापि, अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा अस्मान् संग्रसितुं व्यात्तव्यालतुण्डवदाचरति न वा, एतत् यूयं, गदत ब्रूत ॥ १९ ॥ कैश्चिदेवमुक्ताः केचित्तथैवेत्याहुः ॥ सत्यमिति ॥ सत्यं भवदुक्तमृतमेव, यतः अर्ककराः सूर्यकिरणास्तैरारक्त उपरञ्जितः, घनं मेघं, उत्तराहनुवदुत्तरोष्ठवत्, पश्यतेत्युत्तरश्लोकीयं सर्वात्रान्वेतव्यम् । तस्य घनस्य या प्रतिच्छाया तया, अरुणं रोधः कूलं अधराहनुवदधरोष्ठवत्, पश्यत ॥२०॥ प्रतीति ॥ सव्यासव्ये वामदक्षिणे, नगोदरे गिरिदर्यौ, सृक्किभ्यामोष्ठप्रान्ताभ्यां, प्रतिस्पर्द्धेते तुल्यतया वर्त्तेते । सव्यापसव्यगिर्योः, एताः तुङ्गशृङ्गाणामालयः पङ्क्तयः अपि, उन्नतशिखरपङ्क्तीरपि इत्यर्थः । तद्दंष्ट्राभिः च तस्य दाढाभिः स्पर्द्धमाना अपि, पश्यत ॥ २१ ॥ आस्तृतेति ॥ अयं आस्तृतो विस्तृतश्चासावायाममार्गो दैर्घ्यवान् मार्गः, तस्य रसनां जिह्वां, प्रतिगर्जति प्रतिस्पर्द्धते, एषां शृङ्गाणां, अन्तर्गतं, यत् ध्वान्तं एतदपि अन्तराननमाननस्य मध्यं, प्रतिगर्जति ॥ २२ ॥ दावेति ॥ अयं दावेनोष्णः खरः कठिनश्च वातः दावोष्णखरवातः, श्वासवत् भाति । तेन दवाग्निना दग्धा ये सत्त्वा जन्तवस्तेषां दुर्गन्धः अपि, अन्तरामिषगन्धवत् सत्त्वान्तर्गतामिषगन्धवत् भाति । पश्यत । वाक्यार्थः कर्म ॥ २३ ॥ एवं सत्यमेवाजगरं सत्त्वत्वेनोत्प्रेक्ष्य निर्भया ययुरित्याह मुनिः । अस्मानिति ॥ अयं व्यालाभासः, अत्रास्मिन्, निविष्टान्, प्रविष्टान्, अस्मान्, ग्रसिता किं ग्रसिष्यति किम् । इति केचनाहुः । तथा चेत्, ग्रसिष्यति चेत् क्षणात् अनेन श्रीकृष्णेन हन्त्रा, बकवत् विनङ्क्ष्यति विनाशं यास्यति । इति निश्चित्य, बकारेः श्रीकृष्णस्य उषत् कमनीयं मुखं वीक्ष्य, करताडनैर्हस्ततालिभिः उपलक्षिताः, उदुच्चैः हसन्तः सन्तश्च, ययुः तदास्यान्तरे प्रविविशुरित्यर्थः ॥२४॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दृष्ट्वा तमिति : १०.१२.१८.

विक्रीडद्गोपबालैरघभुजगमुखं प्रेक्षणोत्प्रेक्षितं यत् तन्मन्ये व्यासपादैर्भवभुजगमुखं वर्णितं तन्मिषेण ।
यस्मात्तत्रैवमेव भ्रमितमतिजनाः संविशन्ति प्रयत्नात् श्रीशस्तस्मात् कृतान्तान् निजभजकजनान् मोचयत्यस्ततन्द्रः ॥ ४७ ॥

यदघेत्यभिधाभाजोऽप्यस्यासीद्रूपमीदृशं भयदम् ।
किं पुनरद्धाऽघस्येत्यालोच्याच्युतमुपाश्रयेत पुमान् ॥ ४८ ॥
नादर्शि नाश्रावि च यत्कदापि तच्चेत्क्वचिद् दृग्विषयेऽभ्युपेतम् ।
दृष्ट्वा न तज्ज्ञातुमलं हि युक्तं नाघं विदुस्ते ह्यनुभूतपुण्याः ॥ ४९ ॥

उद्धसन्त इति : १०.१२.२४.

अघोऽस्माकं पुरस्तिष्ठत्यघभिद्धरिचेतसाम् । उदवृध्दताऽद्भुतैवास्येत्युद्धसन्तो मिथस्तदा ॥ ५० ॥
अघभिदि सति सन्निधौ कथं रे त्वमुदित इत्यघमेतमुद्धसन्तः ।
अघभिदि सति सन्निधावपीश त्वयि कथमेतदितीन्दिराधिपं वा ॥ ५१ ॥
यदाऽघोदयः स्यात्तदा दूरमीशो यदैवेशलाभस्तदा नाघवार्ता ।
प्रसङ्गोऽधुनास्ति द्वयोरत्र विस्मश्चमत्कारमित्याददुर्हस्ततालम् ॥ ५२ ॥
दुरन्तात्कृतान्तादपि श्रीशपादजुषां नैव भीतिर्न तेऽपि त्रसन्ति ।
इति स्पष्टमाबोधि गोपालबालैरशङ्कं विशद्भिस्तदाऽघाहिवक्त्रम् ॥ ५३ ॥
अहो विचित्रा जगतः प्रवृत्तिर्यत्साहसं नाम तदस्य धर्मः ।
न रक्षिता चेद्भगवान् प्रतिक्षणं न वेद्मि किं वा कथमस्य वा भवेत् ॥ ५४ ॥

कृष्णप्रिया

उसका नीचला ओष्ठ पृथ्वी से और ऊपर का ओष्ठ मेघ में लगा हुआ था, उसके जड़वे गिरि कन्दरा के समान थे और दाढे-दाँत पर्वत शिखर-से दीखते थे। मुख के अन्तर भाग में तिमिर छा गया था, फैली हुई अघासुर की जीभ बड़ी गेरु सड़क-सी मालूम पड़ती थी, आंधी सरीखी साँसे और दावानल जैंसी आँखे दहक रही थी ।। १७ ।। बालकों ने देखकर अघासुर के स्वरूप को वृन्दावन की शोभा बढ़ाने वाली कोई निरुपम वस्तु माना, और कौतूहल वश खेल ही खेल में उत्प्रेक्षा करने लगे कि यह मुँह फैलाये कोई अजगर मालुम हो रहा है ।। १८ ।। आपस में कहने लगे कि मित्रो कहो न, यह सन्मुख स्थित पर्वत-शिखर सा जो प्राणी दिख पड़ता है न ! वह हम लोगों को निगल जाने के लिये मुँह बाये बैठा हुआ कोई अजगर के मुँह जैसा तो नहीं है ! ।। १९ ।। देखो न, इस बात में तनिक भी शंका नहीं कि सूर्य की किरणों से लाल मेघ इसके ऊपर के ओठ से एवं इसकी छाया पड़ने से लाल बनी पृथ्वी इसके नीचे के ओठ से मालुम पड़ते है ।। २० ।। तब किसी ग्वाल बालक बोला हाँ देखों न, दायें-बायें दोनों के बीच में वर्तमान दो-गुफा यें इसके दोनों जबड़ों से अपनी तुलना कर रही है, और देखो तो सही पर्वत की ऊचीं चोटियाँ इसकी दाँतों से स्पर्धा कर रही है ।। २१ ।। लम्बा चौड़ा दूर पर्यन्त फैला हुआ मार्ग देखिये इस की जिह्वा की स्पर्धा करता मालुम पड़ता है और भी देखो न, इन गिरिवरों के भीतर रहने वाले अन्धकार इस के मुख के अन्दर के भाग की स्पर्धा कर रहा है ।। २२ ।। देखा भैया; वन के भीतर आग जल जाने से ताती-ताती जो हवा आ रही है वही इसके श्वासोच्छ्वास से मालुम पड़ते है, और भी देखो दावानल के अग्नि से जले हुये बनैले प्राणियों की दुर्वास भीतर के मांस की दुर्गन्ध की प्रतीति करा रही है ।। २३ ।। तब और बालकों ने कहा देखो भाई ! है तो यह अजगर ही किन्तु इस की क्या परवाह ! यदि हमें वो निगल गया तो क्षण में यह बगुले की नाई प्यारे श्रीकृष्ण के हाथों से विना विलम्ब स्वयं ही मारा जायगा, इस प्रकार की परस्पर वार्ता करते हुए सारे ग्वाल बालक बकसूदन भगवान् श्रीकृष्ण के कमनीय मुखसरोज देखते और ताली बजाते, हँसते-हँसते अघासुर के मुँह में घुस गये ।। २४ ।।

इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा [1]मृषायते ।
रक्षो विदित्वाखिलभूतहृत्स्थितः स्वानां [2]निषेद्धुं भगवान् मनो दधे ।। २५ ।।
तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं[3] परं न [4]जीर्णाः शिशवः [5]सवत्साः ।
प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ।। २६ ।।
तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् ।
दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ।। २७ ।।
कृत्यं किमत्रास्य खलस्य [6]जीवितं न वा अमीषां च सतां [7]विनाशनम् ।
द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः ।। २८ ।।
तदा घनच्छदा देवा भयाद्धाहेति चुक्रुशुः । जहृषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वघबान्धवाः ।। २९ ।।
तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्भवत्सकम् । चूर्णीचिकीर्षोरात्मानं तरसा ववृधे गले ।। ३० ।।
ततोऽतिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टेर्भ्रमतस्त्वितस्ततः ।
पूर्णोऽन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् [8]विनिष्पाट्य विनिर्गतो [9]बहिः ।। ३१ ।।
तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।
दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वक्त्रान्मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ।। ३२ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः--इत्थं स्वानां मिथः अतथ्यम् अतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा अमृषा रक्षः मृषायते इति विदित्वा अखिलभूतहृतस्थितः भगवान् (स्वानां) निषेद्धुं मनः दधे तावत् सवत्साः शिशवः असुरोदरान्तं प्रविष्टाः परं हृतस्वकान्तस्मरणेन प्रतीक्षमाणेन रक्षसा न जीर्णाः ।। २५–२६ ।। सकलाभयप्रदः घृणार्दितः कृष्णः हि अनन्यनाथान् स्वकरात् अवच्युतान् मृत्योः जठराग्निवासान् च दीनान्

१. मृषायितं–वीर. । २. निरोद्धुं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. । ३. स्वसुरान्तरोदरं–वीर. । ४. गीर्णा.–श्रीधर. वशी. विज. जीव. विश्व. शुक. ; जीर्णाः–वीर. । ५. सवत्सपः–वीर. । ६. जीवनं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ७. विहिंसनम्–श्रीधर. वंशी. विज. विश्व. शुक. ; विनाशनम्–वीर. । ८. विनिर्भिद्य वीर. विश्व. । ९. विनिर्गतोऽहिः–इति कस्यचित् ।

तान् वीक्ष्य दिष्टकृतेन विस्मितः ॥ २७ ॥ अशेषदृग् हरिः अस्य खलस्य जीवितं न वा अमीषां सतां च विनाशनं न स्यात् इति द्वयं किम् ? कृत्यं स्यात् इति संविचिन्त्य तत् ज्ञात्वा तुण्डम् आविशत् ॥ २८ ॥ तदा घनच्छदा देवाः भयात् हा. हा. इति चुक्रुशुः च ये अघबान्धवाः कंसाद्याः कुणपाः जहृषुः ॥२९॥ अव्ययः भगवान् कृष्णः तत् श्रुत्वा सार्भवत्सकम् आत्मानं चूर्णीचिकीर्षोः गले तरसा ववृधे ॥ ३० ॥ ततः निरुद्धमार्गिणः अतिकायस्य उद्गीर्णदृष्टेः इतः ततः भ्रमतः अन्तरङ्गे पूर्णः निरुद्धः पवनः मूर्धन् विनिष्पाट्य ततः बहिः विनिर्गतः ॥ ३१ ॥ भगवान् मुकुन्दः सर्वेषु प्राणेषु तेन एव बहिर्गतेषु स्वया दृष्ट्या परेतान् सुहृदः वत्सान् उत्थाप्य पुनः तदन्वितः वक्त्रात् विनिर्ययौ ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अमृषा वस्तुतः सर्पवपुरसुर एव मृषायते स्वानां सर्पसादृश्यगोचरत्वेन प्रतीयते इति तान्निरोद्धुं वारयितुं यावन्मनो दधे तावत्प्रविष्टा इत्युत्तरेणान्वयः ॥ २५ ॥ तावत्प्रविष्टा एव केवलं न तु तेन गीर्णा गिलिताः । जीर्णा इति पाठेऽपि स एवार्थः । कथंभूतेन । हतयोः स्वकयोरंतं स्मरत्यनुध्यायतीति तथा तेन । अत एव बकारेः श्रीकृष्णस्य प्रवेशं प्रतीक्षमाणेन ॥ २६ ॥ स्वकरादवच्युतान्विनिःसृतान् । विस्मितः सन्कृत्यं किमत्रेत्यादि विचिंत्य तत्रोपायं ज्ञात्वा स्वयमप्यविशदित्युरेणान्वयः ॥ २७ ॥ कथं विचिंत्य । अस्य जीवनममीषां च विहिंसनमिति द्वयं वै निश्चितं कथं न स्यादिति ॥ २८ ॥ घनच्छदा मेघांतरिताः । कौणपाः कुणपाशिनो राक्षसाः । कोणपो निर्ऋतिः तदीया इति वा ॥ ॥ चूर्णीकर्तुमिच्छोस्तस्य गले आदावेव तरसा ववृधे अवर्धत ॥३०॥ निरुद्धो मुखादीनां मार्गभूतः कंठो यस्यास्ति तस्योद्गीर्णदृष्टेर्बहिर्निर्गतलोचनस्यांतरंगे देहमध्ये । पूर्णः परिभृतः । मूर्धन् मूर्धनि ब्रह्मरंध्रं निर्भिद्य बहिर्विनिर्गतः ॥ ३१ ॥ प्राणेष्विंद्रियेषु । स्वयाऽमृतवर्षिण्या दृष्ट्यैव ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अतथ्यम् असत्यम् । न तं जानंतीत्यतज्ज्ञास्तेषां भाषितम् ॥२५॥ स्वकयोः बकीबकयोः । प्रतीक्षमाणेन कदा प्रवेक्ष्यतीति विचार्यमाणेन । न चात्र भगवतः सत्यसंकल्पता व्यभिचरतीति शंकनीयम् । अस्मान्किमत्र ग्रसिता निर्विघ्नानयं तथा चेद्बकवद्विनंक्ष्यति इति तद्भक्तसंकल्पस्याप्यत्र वर्तमानत्वात् । मत्संकल्पमद्भक्तसंकल्पयोर्मध्ये मद्भक्तसंकल्पस्यैव गरीयस्त्वमिति भक्तवश्येन भगवतैव प्राक्कृताया मर्यादायास्तथा लीलाशक्तेश्च सर्वोपमर्दिन्याः । सर्वदा जागरूकत्वात् ॥ २६ ॥ घृणार्दितो दयायुक्तः । 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति मेदिनी । दिष्टकृतेन लीलाशक्त्यनुकूलकालकृतेन तत्प्रदेशकर्मणा विस्मितः । 'कालो दिष्टोऽप्यनेहापि' इत्यमरः । अहो न तावदेषां प्रारब्धकर्म सम्भवति । न च तद्विनाप्यत्र कर्मणि अंतर्यामी प्रवर्त्तये तस्य मत्स्वरूपत्वेन मत्प्रातिकूल्यानर्हत्वाच्च । तस्मान्मत्सहचारानप्येतादृशीर्दुरवस्था दर्शयंत्या मत्प्रातिकूल्येप्यशंकमानायाः प्रेमपूर्णं मां करुणरसनिमग्नीकर्त्तुकामाया मदीयलीलाशक्तेरेवेदं कर्म मयि पुरुषोत्तमे रसमयमूर्त्तौ तस्या एवैतावत्प्रभविष्णुत्वमिति बंधुविच्छेदशोकार्तत्वेपि विस्मयेनैषत् विस्मितोभूदिति ॥ २७ ॥ अस्याघस्य । अमीषां गोपानाम् । तत् द्वयम् । अशेषदृक् सर्ववित् ॥ २८ ॥ कुणपाशिनः शवभक्षका येघबांधवास्तेषां भक्ष्यप्राप्तेर्हर्ष उचित एव तत्कर्मनिरीक्षणाय कंसप्रेषिता अन्ये दैत्याः कंसायापि तत्कर्म शशंसुरिति कंसादीनामपि हर्षः । कंसाघयोर्भयान्मेघांतरिता देवा भगवत्यनिष्टशंकया हाहेति चुक्रुशुः । देवानामैश्वर्यज्ञानेपि भक्तत्वाद्भक्तेश्च प्रीत्यात्मकत्वात्प्रीतेश्च विवेकहरस्वभावत्वान्न देवसार्वज्ञहानिः । यद्यपि 'नैर्ऋतो यातुरक्षसी, इत्यमरोक्तेर्नैर्ऋतीया अपि राक्षसा एव यथापि तदीयानामघबांधवेभ्यो भेदविवक्षया स्वामिचरणैर्विकल्पः कृत इति प्रतीयते ॥ २९ ॥ ननु शकटतृणावर्तवधदामबंधनादिलीलायां स्तोकेनैव बालवपुषा किञ्चिदप्यवर्द्धमानेन तत्तद्व्याप्ति च चोः स्वयं भगवतो विभोरस्य किमघासुरकंठव्याप्तिरशक्या यतो ववृध इत्युच्यते सत्यं तत्रतत्र नरबाललीलत्वलक्षणमाधुर्यस्य भक्तजनलोचनास्वाद्यत्वावलौकिकं तादृशत्वमेवोचितम् । अत्र तु तादृशमाधुर्यग्राहकदृष्टृजनाभावात्स्वयं भगवतापि तेन लौकिक्येव रीतिरालंब इति तत्त्वम् । तद्देवाक्रंदमसुराह्लादम् । तरसा वेगेन । सार्भवत्सकमात्मानमिति संबंधः ॥ ३० ॥ अतिकायस्य योजनविस्तृतदेहस्य ॥ ३१ ॥ परेतान् स्वविरहात्जाठरानलज्वालया मूर्च्छितान् न तु मृतान् चिच्छक्त्यालिंगितत्वात् । तदन्वितः । वत्सगोपयुतः मुकुंद इति तन्मोक्षसूचनार्थम् ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

इत्थमुक्तप्रकारं स्वानां स्वीयानामपि मिथो अतज्ज्ञानामिव भाषितम् अत एवातथ्यम् अयथार्थं श्रुत्वा यतः अमृषा सत्यं व्यात्ताजगरतुण्डमपि मृषायते वृन्दावनश्रीत्वेन भासते अहो आश्चर्यमिति किं च नत्वयं केवलमजगरोपि किं तु अघनामराक्षस इति विदित्वा कुतः अखिलभूतहृदि स्थितः परमात्मत्वात् एवं सर्वप्रवर्त्तकोऽपि भगवान् सर्वैश्वर्ययुक्तोऽपि तान् निरोद्धुं मनो दधे इच्छामकरोत् ॥ २५ ॥ यावन्मनो दधे तावत् सवत्साः शिशवः प्रविष्टा इत्यादिकं तस्य बाह्यलीलावदवान्तरलीला सा च प्रियजनप्रेमरसावेशमयीति पूर्ववत् सिद्धान्तपद्धतिः अन्यथा सत्यसङ्कल्पस्य ज्ञानघनमूर्त्तेस्तस्य तत्तदसम्भवात् वत्सानां प्रवेशश्चात्र पश्चात् स्थितानां बालानां करताडनेन धावनेन च विद्रवणात् अत एव तत्प्रसङ्गेन बालानां तद्भयानकतमो दावाग्निमयत्वेन अत्यन्तप्रवेशमनिच्छतामपि तदुदरमध्यपर्यन्तगमनं तेषामसङ्ख्यानां तत्र समावेशस्तु लीलाशक्तिप्रभावादेव ज्ञेयः न गीर्णा मुखसङ्कोच-

नादिना न निरुद्धा इत्यर्थः । न जीर्णा इति पाठे मारयितुं नेष्टा इत्यर्थः । अन्यत्तैः तत्र स एवार्थ इति मुखसङ्कोचनाङ्गमोटनादे-जारणेच्छामयत्वात् ॥ २६ ॥ स्वत एव विश्वस्याभयप्रदाता विशेषतश्च तान् अनन्यनाथान् स्वकरादवच्युतान् निजाभयहस्ततो दूरगतान् अत एव दीनान् मरणेन निजविच्छेदशङ्कयाऽऽर्त्तान् किञ्च मृत्युतुल्यस्याघासुरस्य जठराग्नेर्घासान् बाह्याग्नेस्तृणवदत्यन्त-दाह्यतामिव गतान् वीक्ष्य दिष्टस्य प्रारब्धस्य कृतेन फलेनेत्यर्थः । एतच्च लोकवल्लीलारसमयश्रीभगवद्भावनानुसारेणैव वस्तु-तस्तु दिष्टः स्वावतारे नियतलीलावसरशक्तिः. यद्वा । दिष्टं तैस्स्वयमुद्दिष्टम् अस्माकमित्यादिलक्षणं तदेव कृतं जातं यद्वा दिष्टं प्रमाणानुगामतिः "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः (४।४।६०) इति पाणिनिसूत्रे तथा व्याख्यातत्वात् तच्चस्मिन् किमत्र ग्रसितेत्यादि-लक्षणमेव तेन यत्कृतं तेन विस्मितः अहो बत मदग्रे मदीयानां निरुध्यमानानामेषामप्येवं फलतीति विस्मयं प्राप्तः अथवा "सदा स्मेरमुखाब्जोऽपि दुःखेन विगतस्मितः" विषण्णमुखो बभूवेत्यर्थः । ननु, तत्र सति कथं तेषां दिष्टवशत्वं तत्राह, घृणार्दित इति । स्नेहपरवशतया विचारान्तर्द्धानादित्यर्थः । यतः कृष्णः कृपाकृष्टस्वभाव इत्यर्थः । अथवा तत्त्वतोऽतथाभूतानपि घृणार्दितत्वेन स्वकरात् दूरे निपतितान् दुःखितान् मृतप्रायांश्च वीक्ष्य मत्वा अनन्यनाथानिति घृणार्दितत्वे हेतुः अन्यत्समानम् ॥ २७ ॥ तुण्डं खलस्यैव तस्य अशेषं खलमरणसद्रक्षणयोस्तथा तन्मुक्तेर्निजविहारादेश्च प्रकारं पश्यतीति तथा सः यद्वा अशेषान् वत्सबालकान् पश्यन् सन् तेषां तादृगवस्थया स्नेहाकुलत्वादविशदित्यर्थः । एवं तेषां दुःखहरणात् मनोहरणाच्च हरिः ॥ २८ ॥ घनच्छदाः कंसादघाच्च भयात् चकारादन्ये च दुष्टाः कंसस्य दैत्यत्वेपि कौणपत्वम् अतिदुष्टत्वेनाभेदविवक्षया यद्वा ये कंसादयो दैत्यास्ते च तेषां सर्वेषां हर्षः भगवद्द्वेषिस्वभावेनैव दुर्मानसोल्लासोत्पत्तेः किं वा तत्रैव तेषामागमनात् कंसस्य च सद्य एव चरमुखेन श्रवणा-दिति ज्ञेयम् ॥ २९ ॥ तत् हा हेत्याक्रोशनं चूर्णीचिकीर्षोर्मुखसंवरणगात्रमोटनादिनेति शेषः । ववृधे तस्य मुखासम्वरणाय वधोपायाय च गलविवरमावृण्वन् कीलतया महास्थूलो बभूवेत्यर्थः । यतो भगवान् सर्वैश्वर्यपूर्णः अतः कथमपि न व्येति हीयत इति अनिष्टशङ्कापि सर्वा निरस्ता । यद्वा, किमर्थं ववृधे ? तत्राह, न व्ययः कोप्यपचयो भक्तानां यस्मात् बालकादीनां रक्षार्थ-मित्यर्थः । तत्र हेतुः कृष्णः भक्ताकृष्टचित्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥ हि एव ततस्तस्माद्वर्द्धनादेव तु च इतस्ततो भ्रमतश्च भ्रमरिकावत् वर्त्तमानस्य किं वा कुत्र स्थास्यामि यास्यामि वेति व्यग्रं विचारयतश्चेत्यर्थः । पूर्णत्वे हेतुः निरुद्ध इति । पवनः प्राण वायुः अति-कायस्येति पवनस्य बृहत्तरत्वं तेन मूर्द्धभेदस्यापि तदभिप्रेतत्वम् अत एव विशब्दद्वयं मूर्द्धन् मूर्द्धनि स्थितं ब्रह्मरन्ध्रमित्यर्थः ॥३१॥ तेन पवनेनैव सह ब्रह्मरन्ध्रद्वारेण वा भगवन्नरलीलानुकरणेन परेतानिव क्षणं तदहृष्टचा मृततुल्यान् वा निजमधुरस्निग्धदृष्टचा उत्थाप्य चेष्टयित्वा मुकुन्दः अघासुरस्य संसारात् मुक्तिं सुहृदाञ्चाघान्मुक्तिं ददादित्यर्थः । यतो भगवान् जगद्धितार्थं स्वयमवतीर्णः परमेश्वरः तदनु तानु तत्पश्चादितो वक्त्रात् विनोदेन निर्ययौ ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्यमुक्तप्रकारं स्वानां स्वकीयानामपि मिथोऽतज्ज्ञस्येव भाषितमत एवातथ्यमयथार्थं श्रुत्वा, यतोऽमृषा सत्यं व्यात्ता-जगरतुण्डमपि मृषायते वृन्दावनश्रीत्वेन भासते—अहो कौतुकमिति । यद्वा, अतथ्यं मिथ्याभूतमपि वृन्दावनश्रीत्वममृषा सत्यमेवा-मृषायते । एषां भाषित–परिपाट्या सत्यवद्भासते—अहो एषां महाकविवद्वुद्धिवैभवमिति विचिन्त्य, किञ्च, न त्वयमजगरोऽपि किन्त्वघनामा राक्षस इति विदित्वातोऽखिलभूतहृदि स्थितः परमात्मत्वात् । यद्वा, सर्वप्रवर्त्तकोऽपि तान् निरोद्धुं मनो दधे, इच्छामकरोत्, यतो भगवान् भक्तवत्सलः ॥ २५ ॥ यावन्मनो दधे तावत् सवत्साः शिशवः प्रविष्टा इत्यादिकं तस्य बाह्यलीला-वदान्तरलीला तदीयान्तरवृत्तदर्शिभक्तविनोदार्था; अन्यथा सत्यसंकल्पस्य ज्ञानघनमूर्त्तेस्तस्य तत्तदसम्भवः । न च वक्तव्यम्—लोकहितार्था तस्य बाह्यचेष्टा कथञ्चिद्विज्ञेया स्यात्, समुद्रकोटिगम्भीराशयस्यान्तर-चेष्टा केन ज्ञातुं शक्येति; यतः प्रियजनेषु तस्य किञ्चिद्गुह्यं नास्ति, तथा चोक्तं श्रीवैष्णवप्रवरेण–उल्लङ्घित–त्रिविधसीम समातिशायि, सम्भावनं तव परिव्रीढम् स्वभावम् मायाबलेन भवतापि निगुह्यमानं, पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः।' इति, अन्यथा श्रीवादरायणेर्विचिन्त्येत्याद्युक्त्यनुपपत्तिः । यद्वा, यावन्मधनो दधे तावदिति तदिच्छाप्रवृत्तेः प्रागेवेत्यर्थः । यद्वा, रक्ष एव निरोद्धुं संहर्त्तुं स्वानामित्यस्य पूर्वार्द्धेनैवान्वयः । एवमत्र किञ्चित् समाधानं स्यादन्यत्र तु तथैव बोद्धव्यम् । न गीर्णा मुखसम्बरणादिना न गिलिता इत्यर्थः । तत्र हेतुः—प्रतीक्ष-माणेनेति ॥ २६ ॥ स्वत एव विश्वस्याभयप्रदाता विशेषतश्चताननन्यनाथानेकान्तिनः स्वकरादपच्युतान् निजाभयहस्ततो दूर-गतानत एव दीनान् मरणेन निजविच्छेद–शंकयार्त्तान्, किञ्च, मृत्युतुल्याघासुरस्य जठराग्नेर्घासान् बाह्याग्नेस्तृणवदत्यन्तदाह्य-तामिव गतान् वीक्ष्य दिष्टस्य प्रारब्धस्य कृतेन फलेनेत्यर्थः । एतच्च श्रीभगवद्भावनानुसारेण विस्मितोऽहो बत मदग्रे मदीयाना-मेषामप्येवं फलतीति विस्मयं प्राप्तः, यद्वा, सदा स्मेरमुखाब्जोऽपि दुःखेन विगतस्मितो विषण्णमुखो बभूवेत्यर्थः । ननु स एव फलदः, तेऽपि कर्म्मवश्या न भवन्ति, तत् कथं तेन तस्य विस्मयः ? तत्राह—घृणार्दित इति स्नेहपरवशतया विचारान्तर्द्धानादित्यर्थः, यतः कृष्णः कृपाकृष्टस्वभाव इत्यर्थः, यद्वा, तत्त्वतोऽतथाभूतामपि घृणार्दितत्वेनैव स्वकराद्दूरे निपतितान् मृतप्रायांश्च वीक्ष्य, अनन्य-नाथानिति घृणार्दितत्वे हेतुः । अन्यत् समानम् ॥ २७ ॥ विचिन्त्येति पूर्वोक्तन्यायेन घृणार्दितत्वनेव वा तुण्डं खलस्यैव तस्याशेषं खलमरण-सद्रक्षणयोस्तथा तन्मुक्तेर्निजविहारादेश्च प्रकारं पश्यतीति तथा सः, यद्वा, अशेषान् वत्सबालकान् पश्यन् सन् तेषां

तादृगवस्थया स्नेहाकुलत्वादविशदित्यर्थः। एवं दुःखहरणान्मनोहरणाच्च हरिः। अहेरशेषदृगिति क्वचित् पाठः, ततश्च विशेष्यः पूर्वोक्तः कृष्ण एव ॥ २८ ॥ घनच्छदाः कंसस्याघस्य च भयात्; च कारादन्ये च दुष्टाः। कंसस्य दैत्यत्वेऽपि कौणपत्वं प्रायो दैत्यराक्षसयोरभेदात्, यद्वा, ये कंसादयो दैत्यास्ते च। तेषां सर्वेषां हर्षो भगवद्द्वेषस्वभावेन स्वत एव, तदा दुर्मानसोल्लासोदयात्, किंवा तत्रैव सर्वेषामद्यबान्धवानामागमनेन साक्षाद्भगवत्प्रवेशदर्शनात्, कंसस्य च सद्य एव चर-मुखेन श्रवणादिति ज्ञेयम्, यद्वा, कंस आद्यः श्रेष्ठो येषां ते कंसानुवर्तिन इत्यर्थः। अयं हर्षे हेतुः। एवमग्रे पदद्वयमपि ॥ २९ ॥ तत् हाहेत्याक्रोशनम्। ववृधे तस्य मुखासम्वरणाय वधोपायाय च गलविवरमावृण्वन् कीलतया महास्थूलो बभूवेत्यर्थः, यतो भगवान् सर्वैश्वर्य्यपूर्णः। अथ कथमपि न व्येति हीयत इत्यनिष्टाशंकापि सर्वा निरस्ता, यद्वा, किमर्थं ववृधे? तत्राह— न व्ययः कोऽप्यपचयो भक्तानां यस्मात्, बालकादीनां रक्षार्थमित्यर्थः ॥ ३० ॥ हि एव, ततस्तस्माद्वर्द्धनादेव। तु च, भ्रमतश्च भ्रमरिकावदावर्त्तमानस्य। पूर्णत्वे हेतुः—निरुद्ध इति, पुनरुक्तिर्निरुद्धमार्गिण इत्युक्तत्वादत्यन्तपूर्णता विवक्षया पवनः प्राणवायुः। अतिकायस्येति पवनस्य बृहत्तरत्वम्, तेन मूर्द्धभेदस्यापि तदभिप्रेतमतएव वि-शब्दद्वयम् ॥ ३१ ॥ तेन पवनेनैव सह ब्रह्मरन्ध्रेण वा परेतान् परेतानिव तदुदरान्तःप्रवेशेन, किंवा, परमविस्मयेन स्तब्धतया क्षणं तद्दृष्ट्या वा, मृततुल्यान् निजमधुरस्निग्धदृष्ट्योत्थाप्य चेष्टयित्वा। यद्वा, पलायितान् स्वपरित्यागेनाग्रतो जवेन गमनात्, स्वया सस्मितभ्रूक्षेपादिसंकेतपूर्विकया मनोहरया दृष्ट्या ब्रह्मरन्ध्रेण निर्गमाय तत्रोत्थाप्य। मुकुन्दोऽघासुरस्य मुक्ति सुहृदाञ्च परमानन्दं ददादित्यर्थः, यतो भगवान् जगद्धितार्थं स्वयमवतीर्णः परमेश्वरस्तदनु तत्पश्चादितो वक्त्राद्विनोदेन निर्ययौ ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

श्रीकृष्णप्रवेशं प्रतीक्षमाणेन तत्र हेतुः हतानां स्वकानां पूतनादीनाम् अन्तः अन्तःकरणे स्मरणं यस्येति ॥ २६ ॥ दिष्टं दैवं वत्सबालाद्यानां परस्परं मार्यमारकत्वप्रयोजकेन स्वसङ्कल्परूपेण देवेन तत्कर्मणा यत्कृतं तेन विस्मितम् अनेन पूर्वकर्मानुगुणजातभगवत्सङ्कल्पानां साम्प्रतिकतत्तत्कर्मानुगुणसङ्कल्पानाञ्च श्रीभगवदेकत्वमुक्तम् ॥ २७–२८ ॥ कंस आदिर्येषां ते अतद्गुणसंविज्ञानः। ननु कंस इति कौणपा दैत्याः ॥ २९ ॥ गले ववृधे इत्यनेन पापमारणार्थं श्रीकृष्णवृद्धया स्वमूर्तिभूतश्रीप्रणवादिनाममन्त्रोच्चारणेनाघमरणं व्यज्यते ॥ ३०–३१ ॥ स्वकृपाकटाक्षेण स्वभक्तानां जीवयितृत्वं श्रीभगवतो गुणमाह—तेनैवेति। अत्राघस्यापि मुक्तिदानेन मुकुन्दः अतो विचित्रैश्वर्यवानिति भगवत्पदव्यङ्ग्यम् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मिथोऽन्योन्यमतज्ज्ञानां यथार्थाजगरमजानतां भाषितमतथ्यमसत्यं श्रुत्वा भगवानमृषापि सत्यमप्येतैर्मृषापि तमयथार्थीकृतमित्येवं विचिन्त्याखिलभूतहृत्स्थितः हेतुगर्भमिदं तत्त्वाद्रक्षो विदित्वा राक्षस इति ज्ञात्वा स्वानां स्वान् वत्सान् वत्सपांश्च निरोद्धुं निवारयितुं यावन्मनो दधे चकार ॥ २५ ॥ तावत्ततः पूर्वमेव शिशवो वत्सपा वत्सैः सहिता असुरस्यान्तरोदरमुदरमध्यं प्रविष्टा एव केवलं न तु रक्षसा जीर्णा जीर्णतां प्रापिताः, तत्र हेतुं वदन् रक्षो विशिनष्टि—यावत्स्वस्य कान्तः सुहृत् भ्राता तस्य स्मरणेन हेतुना बकारेः श्रीकृष्णस्य वेशनं प्रवेशं प्रतीक्षमाणेन ॥ २६ ॥ सर्वेषामभयप्रदो भगवान् श्रीकृष्णस्तान् प्रविष्टानवलोक्य विस्मितः करुणयार्दितो व्याप्तश्चास्य खलस्य विनाशनम् अमीषां सतां साधूनां जीवनं चेत्येतद्द्वयं युगपत् कथं स्यात् ॥ २७ ॥ अत्रोभयनिमित्ते कृत्यं किमिति विचिन्त्याशेषदृक् हेतुगर्भमिदं तत्त्वात्तत्कृत्यं ज्ञात्वा हरिराश्रितार्तिहरः स्वयमप्यस्य तुण्डमविशदित्यन्वयः। कथम्भूतांस्तान्न विद्यते स्वव्यतिरिक्तो नाथो रक्षिता येषां स्वकरात्स्वभुजाश्रयाद्धृष्टान् दिष्टबलेन प्रारब्धबलेन हेतुना मृत्योर्जठराग्नेर्घासस्थानीयान् ॥ २८ ॥ तदा मेघच्छन्ना देवा भयाद्धा हेति चुक्रुशुः अघासुरस्य बान्धवाः कंसादयः कौणपाः कुणपं शरीरं तदशिनो राक्षसास्तु हृष्टवन्तः ॥ २९ ॥ तद्देवानां हाहेत्याक्रोशनं श्रुत्वा भगवान् श्रीकृष्णः स्वयमव्ययोऽक्षत एव सन्नात्मानं चूर्णीकर्तुमिच्छोरसुरस्य गले तरसा आशु ववृधे एधाम्बभूव ॥ ३० ॥ ततस्तस्याघासुरस्यान्तरङ्गे देहाभ्यन्तरे पूरितो निरुद्धः पवनः प्राणवायुरत एव पूर्णोऽत एव मूर्द्धनि ब्रह्मरन्ध्रं भित्वा वहिर्निगतः, कथम्भूतस्य? विपुलकायस्य निरुद्धौ मार्गौ नासारन्ध्रावस्य स्त इति यथाभूतस्यात एव उद्गते दृष्टी लोचने यस्य इतस्ततो भ्रमतश्च ॥ ३१ ॥ तेन बहिर्गतेन पवनेन सहैव सर्वेषु प्राणेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेषां परलोकगतप्रायान् वत्सान् सुहृदो वत्सपांश्च स्वयाऽमृतवर्षिण्या दृष्ट्योत्थाप्य तैरन्वितो भगवान् मुकुन्दः तस्य वक्त्रात्पुनर्विनिर्गतोऽभूत् ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

दिष्टमिति मानुषलीलानुसारोक्तिः ॥ २७–३१ ॥ परेतानिति नरलीलानुसारेण वस्तुतस्तु श्रीकृष्णवियोगदुःखेनैव मूर्च्छितान् चिच्छक्त्यालिङ्गितत्वात् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मिथः परस्परम् अतज्ज्ञानां भाषितं तथ्यमयथार्थं श्रुत्वा अमृषा सत्यमेव सर्पतुण्डं हन्त हन्तैषां मृषायते नेदं सर्पतुण्डं किन्नु वृन्दावनश्रीरिति प्रतीतिर्भवतीति विचिन्त्य किञ्च न केवलं सर्पोऽपि किन्त्वघनामकं रक्ष इति विदित्वा कुतः अखिलभूतहृदि स्थितः

परमात्मत्वेन सर्वज्ञत्वात् स्वानां स्वांस्तान् निरोद्धूं वारयितुं मनो दधे ॥ २५ ॥ यावन्मनो दधे तावत् असुरस्योदरमध्यं प्रविष्टाः किन्तु न गीर्णा रक्षसा न गिलिता जीर्णा इति पाठोऽपि स एवायं इति स्वामिचरणाः कीदृशेन हतौ स्वकौ बकीबकौ अन्तरन्तःकरणेन स्मरतीति तथा तेन अत एव बकारेः कृष्णस्य प्रवेशं प्रतीक्षिमाणेन न चात्र भगवतः सत्यसङ्कल्पता व्यभिचरति स्मेत्याशङ्कनीयम् अस्मान् किमत्र ग्रसिता निर्विघ्नायं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति इति भक्तसङ्कल्पस्याप्यत्र वर्तमानत्वात् मत्सङ्कल्पमद्भक्तसङ्कल्पयोर्मध्ये मद्भक्तसङ्कल्पस्यैव गरीयस्त्वमिति भक्तवश्येन भगवतैव प्राक् कृताया मर्य्यादायास्तथा लीलाशक्तेश्च सर्वोपमर्द्दित्वाः सर्वदा जागरूकत्वात् ।। २६ ॥ स्वकरादिव महामणीनिव अपच्युतान् मृत्योरघासुरस्य जठराग्नौ घासान् तृणवत्पतनोन्मुखान् वीक्ष्य घृणया कृपया अर्दितः पीडितः दिष्टकृतेन लीलाशक्त्यनुकूलकालकृतेन तत्प्रवेशकर्मणा विस्मितः "कालादिष्टोप्यनेहापि" इत्यमरः । अहो न तावदेषां प्रारब्धकर्म न सम्भवति न च तद्विनाप्यत्र कर्मण्यन्तर्य्यामी प्रवर्तयेत् तस्य मत्स्वरूपत्वेन मत्प्रातिकूल्यानर्हत्वाच्च तस्मात् मत्सहचरानप्येतादृशीं दुरवस्थां दर्शयन्त्या मत्प्रातिकूल्येऽप्यशङ्कमानायाः प्रेमपूर्णं मां करुणरसनिमग्नीकर्तुंकामाया मदीयलीलाशक्तेरेवेदं कर्ममयी लीला पुरुषोत्तमे रसमयमूर्तौ तस्या एवैतावत्प्रभुगुत्वमिति बन्धुविच्छेदशोकार्तत्वेपि विस्मयेनेषत् स्तिमितोऽभूदित्यर्थः ॥ २७ ।। अत्र सङ्कटे किं कृत्यम् ? अस्य खलस्य जीवनं न स्यात् वै निश्चितम् अमीषां विहिंसनं च न स्यात् इति द्वयं कथं स्यादिति विचिन्त्य तत्र सहसैवोपायं ज्ञात्वा तुण्डमविशत् यतोऽशेषदृक् एवं कृते सत्येवं भविष्यतीनि भावि सर्वं पश्यतीति सः स्वभक्तविपदः खलजीवनसंसारयोश्च हरणाद्धरिः ।। २८ ॥ घनच्छदा मेघान्तरिताः कंसस्याघस्य च भयात् हाहेति भगवत्यनिष्टाशङ्कया देवानामैश्वर्य्यज्ञानेऽपि भक्तत्वात् भक्तेश्च प्रोत्यात्मकत्वात् प्रीतेश्च विवेकहरस्वभावत्वात् कंसाद्या जहृषुरिति चरद्वारा सद्य एव वार्ताज्ञानात् कौणपाः राक्षसाः अघासुरभ्रातुः पुत्रादयः ॥ २९ ।। तत् साधूनां शोकजल्पनमसाधूनां हर्षजल्पनं च च श्रुत्वा अर्भवत्सैश्च सहितमात्मानं श्यामसुन्दरस्वरूपम् ऊदरस्थीकृत्य चूर्णीचिकीर्षोरस्य गले ववृधे तावेव शोकहर्षौ वैपरीत्येन श्रोतुरिति भावः । ननु, शकटतृणावर्तवधदामबन्धनादिलीलायां स्तोकेनैव बालवपुषा किञ्चिदप्यवर्द्धमानेन तत्तद्व्यातिचर्ब्यो स्वयं भगवतो विभोरस्य किमघासुरकण्ठरन्ध्रव्यातिरशक्त्या यतो ववृधे इत्युच्यते सत्यं तत्र तत्र नरबाललीलत्वलक्षणमाधुर्यस्य विस्मयरसाधायकस्य भक्तजनलोचतास्वाद्यत्वादलौकिकं तादृशत्वमेव समुचितम् अत्रतु तादृशमाधुर्यग्राहकद्रष्टृजनाभावात् स्वयं भगवतापि तेन लौकिक्ये रीतिरालम्बे इति जानीमः ।। ३० ।। निरुद्धा मुखादीनां मार्गभूतः कण्ठे यस्यास्ति तस्य उद्गीर्णदृष्टेर्बहिर्निर्गतलोचनस्य अन्तरङ्गे देहमध्ये निरुद्धः पवनः प्राणवायुः निर्गमनाभावात् पूर्णः मूर्द्धन् मूर्ध्नि स्थितं ब्रह्मरन्ध्रं निर्भिद्य बहिर्गतः ।।३१।। परेतान् स्वविरहतज्जाठरानलयोर्ज्वालया मूर्च्छितान् दृष्ट्वा अमृतवर्षिण्या ।। ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अतथ्यमसत्यं श्रुत्वा अतथ्यत्वे कारणमित्थं मिथोऽतज्जानां भावितमिति अतज्ज्ञत्वे कारणे च अमृषा सर्परूप्यपि मृषायते सर्पाभाववदाचरतीति विचिन्त्य तत्रापि रक्षो विदित्वा तान् निराद्धुं वारयितुं यावन्मनो दधे ।। २६ ।। तावदसुरोदरस्यान्तरं मध्यं प्रविष्टा एव परं केवलं न तु असुरेण गीर्णा गिलिताः तत्र हतुगर्भमसुरविशेषणं बकारिवेशनं प्रतीक्ष्यमाणेन तत्प्रवेशप्रतीक्षायां हेतुं बकारिशब्देनोक्तं विवृत्य दर्शयति हतयाः स्वकयाबकीबकयारन्तः स्मरतीति तथा तेन ।। २६ ।। दिष्टकृतेन स्वसमीपेऽपि प्रवृतेन तत्कर्मफलहेतुना विस्मितः तान् दीनांश्च वीक्ष्य घृणार्दितोऽभूदित्यन्वयः । ननु, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" इति शास्त्रादावश्यके कर्मफले प्राप्ते तत्र घृणा न युक्तेत्यत आह, अनन्यनाथानिति ।। २७ ।। अस्य खलस्य जीवनममीषां सतां च विहिंसनमिति द्वयं वै निश्चितं कथं न स्यादत्र कृत्यं किमिति सम्विचिन्त्य तत् कृत्यं ज्ञात्वा तुण्डमघासुरास्यमविशदित्यन्वयः ।। २८ ।। तदा श्रीकृष्णे अघमुखे प्रविष्टे घनच्छदाः मेघान्तरिताः भयादज्ञानजात् अथवा अदितेर्गर्भे प्रविश्येन्द्रा यथा तत्पुत्रोऽभूदेवमस्य पुत्रो भूत्वा वधं न करिष्यतीति भयात् कौणपाः कुणपाशिनः ।। २९ ।। चूर्णीकर्तुमिच्छार्गले ततः प्रागेव ववृधे अवर्धत भगवानित्यनेन बहिः स्थितोपि कार्यद्वयं कर्तुं तं च दृष्टमात्रापि संसाराद्विमोचयितुं शक्त इति अध्यय इत्येनन तन्मुखे प्रविष्टस्यापि भयाभावाल्लीलाविशेषार्थं तन्मुखे प्रविष्ट इति च गम्यते ।। ३० ।। ततः मुखे प्रवृद्धात् श्रीकृष्णात् हेतुभूतात् निरुद्धमार्गिणः निरुद्धो मार्गः पवनमार्गः कण्ठो यस्यास्ति तस्य अतिकायस्य अजगररूपिणः पवनः प्राणवायुर्निरुद्धः अतः एवान्तरङ्गे शरीरमध्ये पूर्णः परिभृतः अत एव मूर्द्धन् मूर्द्धानं ब्रह्मरन्ध्रं विनिष्पाट्य बहिर्गतोऽभूत् ।। ३१ ।। तेन पवनेन सह प्राणेषु इन्द्रियेषु बहिर्गतेषु परेतान् मृतान् यतः भगवान् अतः दृष्ट्यैवोत्थाप्य तद्वक्त्रात् विनिर्ययौ विनिर्गतोऽभूत् । ननु, पूतना बलात् गृहे प्रविश्य कालकूटं स्तनं दत्वा मातृगतिं गता तस्य दूरस्थस्य मुखे प्रविश्य तस्मै किं दत्तवानित्यत आह-मुकुन्द इति । गोक्षं दत्तवानित्यर्थः ।। ३२ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

मिथ इत्थमतज्ज्ञानां बालानां भाषितमतथ्यमयथार्थं श्रुत्वा भगवान् अमृषा सत्यं सर्पवपुरेषां मृषायते नेदं सर्पवपुः किन्तु वृन्दावनश्रीरिति वस्त्वन्तरतया प्रतीयते इति विचिन्त्य न त्वेतावदेव रक्षो राक्षसोऽयमिति विदित्वा यतोऽखिलेति सर्वज्ञ इत्यर्थः । स्वानामिति कर्मणि षष्ठी स्वान् बालान् निराद्धुं निवारयितुं यावन्मनो दधे तावत् प्रविष्टा इत्युत्तरेणान्वयः ।। २५ ।। प्रविष्टा एव

किन्तु रक्षसा तेन न गीर्णा न गिलिताः कीदृशेन ? बकारेः कृष्णस्य प्रवेशनं प्रतीक्षमाणेन तत्प्रतीक्षां कुतस्तत्राह तेन हतौ स्वकौ बकीबकावन्तः स्मरतीति तेन यद्यप्येते शिशवोऽपि तत्पार्षदत्वात् सर्वज्ञा एव तथापि लीलासिद्धये तल्लीलाशक्तिरेव तत्सार्वज्ञ्यमावृणोतीत्युक्तमेव अत्र "अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टा" नित्यादिविदितेन भक्तसङ्कल्पेन स्वानां निरोद्धुं भगवान् मनोदधे इति भगवत्सङ्कल्पः स्तभ्यते तस्यैव बलीयस्त्वात् ॥ २६ ॥ स कृष्णस्तान् शिशून् स्वकरान्महामणीनिवापच्युतात् मृत्योरघस्य जठराग्नौ घासान् तृणगुच्छीनिव पतनाभिमुखान् वीक्ष्य घृणया कृपयार्दितः पीड़ितः दिष्टकृतेन तत्प्रवेशकर्मणा विस्मितः "कालो दिष्टोऽप्यनेहापी"त्यमरोक्तेः दिष्टो लीलानुरूपः कालस्तद्रचितेनेत्यर्थः । अहो मे लीलाशक्तेर्महिमा या रसमूर्तिं मां करुणरसमनुभावयन्ती मत्सखानपि सर्पोदरे नयन्ती मत्सङ्कल्पमप्यन्यथायतीति जातविस्मयाऽभवदित्यर्थः । न च तेषां तदुदरे प्रविष्टानां क्लेशः बकार्युशन्मुखं वीक्ष्येति तद्वीक्षणानन्दवत्त्वात् दीनांश्चेति तु प्रातीनिकम् ॥ २७ ॥ अत्र सङ्कटे किं कृत्यम् अस्य खलस्य जीवनं न स्यात् अमीषां सतां मत्सखानां विहिंसनं न स्यादिति द्वयं कथं स्यादिति विचिन्त्य तत्रापायं ज्ञात्वा तत्तुण्डं स्वयमविशत् यतोऽशेषदृक् एवं कृते सत्येवं स्यादिति भावि सर्वं पश्यतीति सः स्वभक्तविपत्तेः खलजीवनाविषयोश्च हरणाद्धरिः सर्वज्ञस्यापि हरेरुपायविचिन्तनं लोकवल्लीलत्वादसुरविमोहनपर्यवसायि ॥ २८ ॥ तदा देवास्तदैश्वर्यज्ञा अपि हरौ लब्धप्रीतयः प्रीतिस्वभावोद्भूतानिष्टशङ्कया हा हेति चुक्रुशुः कीदृशास्ते घनच्छेदाः कंसाद्यभयादभ्रान्तरिता इत्यर्थः । ये कंसाद्या ये चाघबान्धवाः कौणपाः राक्षसास्ते जहृषुश्चारेण वार्त्तोपलम्भात् ॥ २९ ॥ तद्देवानां शोकजल्पनं कंसादीनां हर्षजल्पनञ्च श्रुत्वा अर्भैर्वत्सैश्च सहितमात्मानं स्वं नन्दसुतं चूर्णीचिकीर्षोरघस्य गले तरसा वेगेन ववृधे तज्जल्पनद्वयवैपरीत्येन श्रोतुमिति भावः, तद्गले हरिमूर्तेर्वर्द्धनं तन्माधुर्यचेष्टाद्रष्टुस्तस्मिन्नभावादिति बोध्यम् ॥ ३० ॥ निरुद्धो मुखादिमार्गभूतः कण्ठो यस्यास्ति तस्योद्गीर्णदृष्टेः बहिर्निर्गतनेत्रस्यान्तरङ्गे कायमध्ये पवनः प्राणवायुर्निरुद्धो निर्गमाभावात् पूर्णः मूर्द्धानं विनिष्पाट्य निर्भिद्य बहिर्गतः ॥ ३१ ॥ तेनैव पवनेन सह प्राणेषु तदिन्द्रियेषु बहिर्गतेषु सत्सु तदुदरगतान् वत्सान् सुहृदः सखींश्च परेतान् तद्विरहतज्जठरानलज्वालया मूर्च्छितप्रायान् स्वया पीयूषवर्षिण्या दृष्ट्या स्वस्थानुत्थाप्य अन्यदद्व्यक्तार्थम् ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवान् पुनर्मा प्रविशन्तु सर्पोयं भक्षणार्थं स्थित इति यावद् वदति तदर्थं च यावन् मनसि विचारयति तावदेव प्रविष्टा इति श्लोकद्वयसम्बन्धः, **इत्थं** पूर्वोक्तप्रकारेण **मिथो** बालकैस्तथ्यमे**वातथ्यवद् भाषितं** तेषां वाक्यं **श्रुत्वा विचिन्त्य** सत्यमयमजगर एवेति निश्चित्यामृषैव राक्षसो **मृषायते** जगरवत् तिष्ठति श्रीरिव वा बुद्धिमुत्पादयति, अतोयं राक्षस एवेति **विदित्वा स्वानां** निषेधार्थं स्वान् **निषेद्धुं** सर्वज्ञो **भगवान् मनो दधे** विचारितवांस्तावदेव बालका **अघोदरान्तरं प्रविष्टाः सवत्सा** गतप्राणा अपि तदुदराग्निना **न जीर्णाः**, जरणे तेषामुपमर्दपेक्ष्यते, स तु न जात इत्याह, **बकारिप्रवेशं प्रतीक्षमाणेन** हतयोर्बकीबकयो**रन्तस्मरणं** मृत्युस्मरणं यस्य तेन **रक्षसा** दृढवैरानुबन्धेन जातिदुष्टेनापि भगवत्प्रतीक्षया न जीर्णाः ॥ २५–२६ ॥ भगवतो **तान्** वाक्ष्येति, **कृष्णः** सर्वेषामभयदाता तेषां गोकुलवासिनां च, **सर्वे एवानन्यनाथाः, न** विद्यतेन्यो **नाथो** येषां, इदानीं च **स्वकरादवच्युता** अकस्मात् तन्मुखे पतिताः, नाप्युपेक्षणीया **दीनाः, मृत्योरघस्यैव जठराग्नेर्घासाः** कवलरूपाः, **दिष्टकृतेन** तथाभूतांस्तान् **दृष्ट्वा भगवान् विस्मितो** जातः ॥ २७ ॥ विचारयति **कृत्यं किमत्रेति,** यद्ययं मार्यते बालका अपि गमिष्यन्ति, अन्यान् कृत्वा गृहनयनं कर्तव्येति नष्टा एव, अतो बालका रक्षणीया अयं च मारणीयः, एतदुभयं मत्प्रवेशेनैव भवतीति **तुण्डमविशत्,** यतोयमशेषदृग्घरिश्च सर्वदुःखहर्ता, **अस्य खलस्य जीवितं** यथा **न स्यादमीषां वा सतां विनाशनं** यथा न स्यादेतद् **द्वयं कथं स्यादिति** फलद्वयमेकं साधनं च **सञ्चिन्त्य** तादृशमुपायं ज्ञात्वा प्रविष्टः ॥ २८ ॥ **तदा देवाः** कंसादयश्चाकाशमार्गेण द्रष्टुमागताः, तत्र **देवा घनच्छदा** मेघान्तरिताः पश्यन्ति ते **हाहेति चुक्रुशुः कंसाद्या जहृषुर्हर्षं** प्राप्तवन्तः कंसाद्याः सर्वे एव **ये** केचनाघस्य **बान्धवाः कौणपा** राक्षसाः ॥ २९ ॥ उभयेषां हर्षविषादौ **श्रुत्वा भगवान् कृष्णोऽव्ययः** स्वतो भयरहितः **सार्भवत्सकं** बालकवत्ससहितमात्मानं **चूर्णीचिकीर्षोरस्य गले ववृधे** स्थूलो जातः ॥ ३० ॥ **ततोतिकायस्य** स्थूलस्य सर्पस्य **निरुद्धमुखमार्गवत उद्गीर्णे** निर्गते **दृष्टी** चक्षुषी यस्य, **इतस्ततश्च भ्रमतो** देहं विक्षिपतान्त**रङ्गे** शरीरमध्ये **पूर्णः पवनो निरुद्धः** सन् **मूर्धानं विनिष्पाट्य बहिर्निर्गतो** मुख्यप्राणो ब्रह्मरन्ध्रेण **विनिर्गतः** ॥ ३१ ॥ **तेनैव** च मार्गेण **सर्व एव प्राणा** इन्द्रियाण्यात्मा च बहिर्निर्गतास्तदा **परेतान्** वत्सान् **सुहृदो** बालकान् **स्वयामृतदृष्ट्योत्थाप्य** सजीवान् कृत्वा तैः सह **मुकुन्दो भगवान् वक्त्राद् विनिर्ययौ** मुखमार्गेणैव निर्गतः, प्राणगमनानन्तरं सूक्ष्मो भूत्वा तथा कृतवान् ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अतज्ज्ञानाम् 'अजगररूपराक्षसोऽयम्' इति अजानतां बालानामित्यमतथ्यमसत्यं मिथो भाषितं श्रुत्वा यतोऽखिलभूतहृत्स्थितः सर्वप्राणिनां हृदये स्थितः साक्षी, अतस्तद्रक्षो विदित्वा अमृषा वस्तुतोऽजगररूपधृगसुर एवैषां मृषायते 'अजगरसदृशवृन्दावनश्रीयया प्रतीयते' इति विचिन्त्य भगवान् यावत् स्वानां स्वकीयांस्तान् निरोद्धुं निवारयितुं मनो दधे ॥ २५ ॥ तावत्ते सवत्सा

शिशवः असुरोदरस्य अन्तरे मध्ये परं केवलं प्रविष्टा, नतु तेन रक्षसा गीर्णाः मुखसङ्कोचेन न गिलिता न निरुद्धा इति द्वयोरन्वयः। 'जीर्णा' इति पाठेऽपि स एवार्थः। अगिलने हेतुगर्भविशेषणमाह-प्रतीक्षमाणेनेति। बकारेः श्रीकृष्णस्य वेशनं प्रवेशनं प्रतीक्षमाणेन। तत्प्रवेशप्रतीक्षायामपि हेतुं सूचयन् विशेषणान्तरमाह-हतेति। हतयोः स्वकीययोर्बकीबकयोरन्तं स्मरतीति तथा तेन ॥२६॥ श्रीकृष्णस्तान् वत्सान् बालकांश्च दिष्टकृतेन प्रारब्धकृतेन अघासुरमुखप्रवेशेन दीनान् दुःखितान् वीक्ष्य विस्मितः 'मया निरुद्ध्यमानानामपि प्रारब्धवशेनैवं प्रवेश' इत्याश्चर्ययुक्तः सन् 'अस्य खलस्य दुष्टस्याघस्य जीवनममीषां सतां तद्भक्तानां विहिंसनं मरणं च' इति द्वयं वै निश्चितं कथं न स्यात् मया चात्र किं कृत्यं किं कर्तव्यमिति संविचिन्त्य तत् तदुपायं ज्ञात्वा तस्य तुण्डं मुखमविशदिति द्वयोरन्वयः। एवं प्रवेशे हेतुमाह-घृणार्दित इति। कृपया पीडित इत्यर्थः। कृपापात्रत्वेन तान् विशिनष्टि—अनन्यनाथानिति। नान्यः स्वव्यतिरिक्तो नाथो रक्षको येषां तान्। स्वकरात् अवच्युतान् विनिःसृतान्। तत्र हेतुः—मृत्योरघस्य जठराग्नेर्घासान् तृणतुल्यान्। तेषु कृपायां कैमुत्यन्यायमाह -हीति। हि यस्मात् सकलस्य सदाचारनिष्ठस्याभयप्रदः, अतो निजभक्तकृपायां किं वक्तव्यम्?। तत्र हेतुमाह—हरिरिति। आश्रितार्तिहरणशील इत्यर्थः। उपायज्ञाने हेतुमाह -अशेषदृगिति। सर्वज्ञ इत्यर्थः। यदि बहिस्स्थित एवाघासुरं हन्यात्तदा बाला अपि तेन सह मृताः स्युः तथा च व्रजे महद्दुःखमापतेत्। बालान्तरनिर्माणं कृत्वा व्रजे नयने कृतेऽपि पूर्वे तु मृता एव, अतस्तद्रक्षार्थं तन्मुखमेव प्राविशदिति भावः॥ २७-२८॥ तदा भगवतोऽघमुखप्रवेशकाले तद्भयात् घनच्छदा मेघान्तरिता देवास्तस्यापि मुखप्रवेशं दृष्ट्वा मोहेन विस्मृततत्प्रभावास्तस्यापि ततो मरणमाशङ्क्य, अघस्य मरणे निराशाः सन्तो हाहेति चुक्रुशुः। कंस आदिर्मुख्यो नियन्ता येषां ते कौणपाः कुणपाशिना राक्षसास्तु जहृषुरित्यन्वयः। हर्षे हेत्वन्तरमपि सूचयन्नाह -अघबान्धवा इति। चारैः सद्य एव गत्वा कथनात् कंसादीनामपि तज्ज्ञानमिति ज्ञेयम्॥ २९॥ तत् 'हाहा' इत्याक्रोशं श्रुत्वा तु श्रीकृष्णः सार्भकवत्सकं बालवत्ससहितं आत्मानां मुखसंवरणमात्रपरिवर्तनादिना चूर्णीचिकीर्षोस्तस्य गले आदावेव तरसा वेगेन झटिति ववृधे इत्यन्वयः। 'तस्य तु मरणभयं नास्त्येव' इत्याह-अव्यय इति। अपक्षयशून्य इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह-भगवानिति। ऐश्वर्यादिषड्गुणपूर्ण इत्यर्थः। तस्य स्वरूपतो गुणतो वा क्षये भगवत्त्वमेव न स्यादिति भावः॥ ३०॥ ततो हि तस्माद्वर्धनादेव निरुद्धमार्गिणो निरुद्धः प्राणमार्गः कण्ठो यस्यास्ति तस्य अत एव उद्गीर्णदृष्टेर्बहिर्निर्गतलोचनस्य। तस्य व्याकुलतां सूचयन्नाह -इतस्ततो भ्रमतो देहं चालयतः। तत्प्राणस्य महत्त्वं सूचयन्नाह -अतिकायस्येति। स्थूलशरीरस्याघस्यान्तरङ्गे देहमध्ये निरुद्धः, अतएव पूर्णः पवनः प्राणवायुर्मूर्धन् मूर्धनि स्थितं ब्रह्मरन्ध्रं विनिष्पाट्य विनिर्भिद्य बहिर्विनिर्गतः। तुशब्दः सन्देहनिरासार्थः॥ ३१॥ तेनैव मार्गेण सर्वेषु प्राणेषु इन्द्रियेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेतान् स्ववियोगात् तज्जाठराग्निज्वालातश्च मूर्च्छितान् वत्सान् सुहृदो बालांश्च स्वयाऽमृतवर्षिण्या दृष्ट्या चेतनान् कृत्वोत्थाप्य तदन्वितस्तैः सहितो मुकुन्दो वत्सादीनामघात्, तस्य च संसारात् मोचको भगवान् पुनस्तस्य वक्त्राद्विनिर्ययौ॥ ३२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इत्थमिति॥ इत्थम् अतज्ज्ञानामजगररूपा राक्षसाऽयमित्यजानतां बालानामित्थमतथ्यमसत्यं मिथो भाषितं श्रुत्वा अमृषा वस्तुतोऽजगररूपाघासुर एवैषां मृषायते अजगरसदृशवृन्दावनश्रीयया प्रतीयते इति विचिन्त्य यतो भगवान् अखिलभूतहृत्स्थितः सर्वप्राणिनां हृदये स्थितः साक्षी अतस्तत् न सर्पमात्रं किन्तु अघनामकं रक्ष इति विदित्वा स्वानां स्वीयान्। शेषे षष्ठी। निरोद्धुं निवारयितुं मनो दधे॥ २५॥ तावदिति॥ यावद्भगवान् बालान्निवारयितुमियेष तावत् ते सवत्साः शिशवः असुरोदरस्य अन्तरे मध्ये परं केवलं प्रविष्टाः बकारेः श्रीकृष्णस्य वेशनं प्रवेशनं प्रतीक्षमाणेन हतयोः स्वकीययोः पूतनाबकयोरन्तं स्मरतीति तथा तेन रक्षसा न तु गीर्णाः मुखसङ्कोचनेन न गिलिताः। जीर्णा इति पाठेऽप्ययमेवार्थः॥ २६॥ तानिति॥ सकललोकस्याभयप्रदः घृणया दयया अर्दितः कृष्णः अनन्यनाथान् नान्यः स्वव्यतिरिक्तो नाथो रक्षको येषां तान् स्वकरात् महामणीनिवावच्युतान् मृत्योरघस्य जठराग्नेर्घासान् ग्रासभूतान् तृणतुल्यान् वा तत्र पतनोन्मुखान् दीनान् तान् वत्सान् बालकांश्च वीक्ष्य दिष्टकृतेन प्रारब्धकृतेन अघासुरमुखप्रवेशेन विस्मित इवाभूत्॥ २७॥ कृत्यमिति॥ अत्र विषये किं कृत्यं किं करणीयं यतः अस्य खलस्य दुष्टस्याघस्य जीवनं न स्यात् तथाऽमीषां सतां मद्भक्तानां विहिंसनं मरणं च न स्यात् इति द्वयं वै निश्चितं कथं स्यात् इति संविचिन्त्य तत् तदुपायं ज्ञात्वा अशेषदृक् सर्वज्ञः हरिः तस्य तुण्डं मुखमविशत्॥ २८॥ तदेति॥ तदा भगवतो मुखप्रवेशकाले कंससखाघासुरस्य च भयात् घनच्छदा मेघान्तरिताः देवाः भगवतोऽपि मरणमाशङ्क्य भयात् हा हा इति चुक्रुशुः। ये च चारचक्षुः कंस आद्यो मुख्यो नियन्ता येषां ते अघस्य बान्धवाः तद्भ्रातृपुत्रादयः कौणपा राक्षसास्ते तु जहृषुः॥ २९॥ तच्छ्रुत्वेति॥ तत् हा हेत्याक्रोशं श्रुत्वा अव्ययो भगवान् कृष्णः सार्भकवत्सकं बालवत्ससहितम् आत्मानं मुखसंवरणमात्रपरिवर्तनादिना चूर्णीचिकीर्षोस्तस्य गले आदावेव तरसा वेगेन झटिति ववृधे॥ ३०॥ तत इति॥ ततः तस्माद्वर्धनादेव निरुद्धमार्गिणो निरुद्धः प्राणमार्गः कण्ठो यस्यास्ति तस्य अत एव उद्गीर्णदृष्टेर्बहिर्निर्गतलोचनस्य इतस्ततो भ्रमतो देहं चालयतः अतिकायस्य स्थूलशरीरस्याघस्यान्तरङ्गे देहमध्ये निरुद्धः अत एव पूर्णः पवनः प्राणवायुः मूर्धन् मूर्धनि स्थितं ब्रह्मरन्ध्रं विनिष्पाट्य विनिर्भिद्य बहिर्निर्गतः। मूर्द्धन्निति ङिलुक्

छान्दसः ॥ ३१ ॥ तेनैवेति तेनैव मार्गेण सर्वेषु प्राणेषु इन्द्रियेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेतान् रक्षोजठराग्नेर्मूर्च्छितान् वत्सान् सुहृदो बालांश्च स्वयाऽमृतवर्षिण्या दृष्ट्या चेतनान् कृत्वोत्थाप्य तदन्वितस्तैः सहितो मुकुन्दो भगवान् पुनस्तस्य वक्त्राद्विनिर्ययौ ॥३२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इत्थंमिति अतथ्यम् असत्यं मिथः परस्परं अतज्ज्ञानां ग्रसनायावस्थितं सर्पमविदां भाषितमित्थं श्रुत्वा अमृषासत्योऽजगरः बालानां मृषायते मिथ्यावदाचरतीति श्रीकृष्णो विचित्य अखिलभूतहृत्स्थितत्वात् सः भगवान् रक्षः ग्रसनार्थमागतं राक्षसं विदित्वा यावत्स्वानां स्वकीयान् निरोद्धुं मनो दधे ॥ २५ ॥ तावदसुरादरांतरं दैत्योदरमध्ये प्रविष्टाः बकारेः श्रीकृष्णस्य वेशनं प्रवेशं प्रतीक्ष्यमाणेन स्पृहयता रक्षसा सवत्साः शिशव परं केवलं न गीर्णाः मुखपिधानेन न गिलिताः किंतु हतयोः स्वकयोर्बकीबकयोर्यौ तौ नाशस्तस्य स्मरणं यस्य तेन रक्षसा कृष्णप्रतीक्षया तथैव स्थितमिति संबंधः ॥ २६ ॥ स्वकरादवच्युतान् स्वविधेयनिषेधायोग्या-नित्यर्थः । मृत्यारघासुरस्य योजवराऽग्निस्तस्य घासान् कवलरूपान् तान् वीक्ष्य घृणयादययाऽर्दितः पीडितः सन् दिष्टकृतेन दैवकृतेन विस्मितः अभवत् ॥ २७ ॥ अत्र किं कृत्यं करणीयमस्ति अस्य जीवनं न स्यात् सतां च विनाशो न स्यात् तत्कार्यद्वयसाधनं ज्ञात्वा अशेषदृक् सर्वद्रष्टृत्वात् तुंडं आसुरमुखमाविशत् ॥२८॥ घनछदाः जीमूतांतरिताः कौणपाः कुणपभक्षकाः असुराः कुणपो देहः ॥२९॥ अर्भकैः वत्सैः सहितम् आत्मानं स्वं चूर्णीकर्त्तुमिच्छोः तस्य गले ॥३०॥ निरुद्धश्वासो मार्गः श्वासनिर्गमनवर्त्म च सोऽस्ति अस्य तस्य महादेहस्य उद्गीर्णदृष्टेः बहिर्निर्यात नेत्रस्य इतस्ततो भ्रमतस्तस्य अंतरंगे शरीरमध्ये निरुद्धः अतएव पूर्णः पवनः मूर्धन्मस्तकं विनिष्पाट्य भित्त्वा बहिर्निर्गतः ॥३१॥ तेन असुरप्राणेन सहैव गोपवत्सानां सर्वेषु प्राणेषु बहिर्गतेषु सत्सु परेतान् मृतान् स्वया सुधा रूपया दृष्ट्या उत्थाप्य तदन्वितः वत्सबालयुक्तः वक्त्रात् विनिर्ययौ ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इत्थमिति ॥ इत्थं मिथः अन्योन्यं, अतथ्यमसत्यमेव, अतज्ज्ञभाषितं यथार्थतयाऽजगरमजानतां भाषितं, श्रुत्वा, भगवान् अमृषाणि सत्यमपि, एतैः मृषायितमयथार्थीकृतं, इत्येवं विचिन्त्य, अखिलभूतहृत्स्थितः, हेतुगर्भमिदम् । तत्त्वात् रक्षः विदित्वा अयं राक्षसोऽस्तीति ज्ञात्वा, स्वानां स्वान् वत्सान् वत्सपांश्चेत्यर्थः । निरोद्धुं निवारयितुं, यावत् मनः दधे चकार ॥ २५ ॥ तावदिति ॥ तावत्ततः पूर्वमेवेत्यर्थः । शिशवो वत्सपाः, सवत्सा वत्सैः सहिता इत्यर्थः । असुरोदरान्तरमसुरस्योदरमध्यं, प्रविष्टाः तु एव । परं केवलं, हतः श्रीकृष्णेन मारितो यः स्वस्य कान्तः प्रियः सुहृत्तस्य स्मरणं तेन हेतुना, यद्वा । हतौ श्रीकृष्णेन विनाशितौ स्वकावात्मीयौ स्वकावात्मीयौ पूतनाबकौ तयोरन्तं मरणं स्मरतीति तेन, बकारि श्रीकृष्णस्तस्य वेशनं प्रवेशं, प्रतीक्षमाणेन, रक्षसा, न जीर्णाः जीर्णतां न प्रापिताः । पाठान्तरे न गिलिताः । इति द्वयोरेकसम्बन्धः ॥ २६ ॥ तानिति ॥ सकलाभयप्रदः सर्वेषामभयप्रदाता, कृष्णः भगवान्, न विद्यते अन्यः स्वव्यतिरिक्तो नाथो येषां तान्, स्वकरात् स्वभुजाश्रयात्, अवच्युतान् भ्रष्टान्, पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः । दिष्टकृतेन दैवकर्त्तव्येन, मृत्योर्मृत्युरूपस्यासुरस्य, जठराग्निघासान् जठराग्नेस्तृणभावं प्राप्तान्, अत एव दीनान्, तान् सवत्सबालान्, वीक्ष्य प्रविष्टानालक्ष्य, विस्मितः, घृणार्दितश्च करुणया व्याप्तः सन् ॥ २७ ॥ कृत्यमिति ॥ अस्य खलस्य, जीवनं न स्यात्, सतां साधूनां, अमीषां विनाशनं च, न स्यात्, इत्येतत् द्वयं, युगपत् कथं स्यात् । अत्रोभयनिमित्ते, कृत्यं कर्त्तुं योग्यं, किम् । इत्येवं, संविचिन्त्य, अशेषदृक् हेतुगर्भमिदम् । तत्कृत्यं ज्ञात्वा अशेषदृक्त्वात् कर्त्तव्यार्थं विबुध्येत्यर्थः । हरि-राश्रितार्त्तिहरः, स्वयमपि, तुण्डं तदास्यं, अविशत् वै । इति द्वयोरेकसम्बन्धः ॥ २८ ॥ तदेति ॥ तदा घनच्छदा मेघमण्डलं प्रविश्यावस्थिताः, देवाः, भयात् हाहा इति, चुक्रुशुः । ये च अघवान्धवा अघासुरस्य बन्धुभावभाजः, कंसाद्याः, कौणपा राक्षसास्तु, जहृषुर्हृष्टवन्तः । अनृमांसाशा दैत्याः, नृमांसाशाः कौणपा इत्येतावाननयोर्भेदः ॥ २९ ॥ तदिति ॥ तद्देवानां हाहेत्याक्रोशनं, श्रुत्वा तु, आकर्ण्येवेत्यर्थः । अव्ययोऽविनाशी, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः, कृष्णः, सार्भवत्सकं वत्सतद्बालकसहितं, आत्मानं स्वं, चूर्णीचिकीर्षोश्चूर्णीकर्त्तुमिच्छोरसुरस्य, गले तरसा आशु, ववृधे एधांबभूव ॥ ३० ॥ तत इति ॥ ततः, अतिकायस्य विपुलदेहस्य, निरुद्धो मार्गो नासारन्ध्रं अस्य स्त इति निरुद्धमार्गी तस्य, अत एव, उद्गीर्णे उद्गते दृष्टी लोचने यस्य तस्य, इतस्ततः, भ्रमतोऽघासुरस्य तु, अन्तरङ्गे देहाभ्यन्तरे, निरुद्धः परितो निराधं प्राणः, पवनः प्राणवायुः, पूर्णः सन् मूर्द्धन् मूर्ध्नि वर्तमानं ब्रह्मरन्ध्रं, विनिष्पाठ्य निर्भिद्य, बहिः विनिर्गतः हि ॥ ३१ ॥ तेनेति ॥ तेन ब्रह्मरन्ध्रं विपाट्य निर्गतवायुकृतमार्गेण एव, सर्वेषु प्राणेषु तदीयसर्वेन्द्रियेष्वित्यर्थः । विनिर्गतेषु बहिर्गतेषु सत्सु, परेतान् परलोकगतप्रायान्, वत्सान् सुहृदो वत्सपांश्च, स्वया अमृतवर्षिण्या, दृष्ट्या उत्थाप्य, मुकुन्दो मुक्तिप्रदः भगवान्, पुनस्त्वर्थे । वक्त्रादघासुरमुखात्, तदन्वितो वत्सपालैः सहितः, विनिर्ययौ विनिर्गतोऽभूत् ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अतज्ज्ञेति : १०. १२. २५.

या दुर्धर्षभवोरगेऽनुरगधीर्यो रम्यभावग्रहो यत्तस्यै पुनः सलीलमुरगोत्प्रेक्षाभिरालोकनम् ।
यत्तस्मिंश्च तताऽवगाहनमतिस्तूर्णप्रवेशोऽपि चेत्येतत् सर्वमतज्ज्ञकल्पितमिति स्पष्टं बभाषे हरिः ॥ ५५ ॥

दिष्टकृतेनेति : १०. १२. २७.

किशोरसङ्घोऽयमशेषदर्शनः सुरक्ष्यमाणोऽपि मया प्रतिक्षणम् ।
अघावृतोऽभूद्विधिनेत्यघापहस्तदास युक्तं खलु दैवविस्मितः ॥ ५६ ॥

यदाऽहिनाऽघरूपेण ग्रस्ता एव न भक्षिताः । तदैव घृणया ग्रस्तोऽस्मीति दिष्टेन विस्मितः ॥ ५७ ॥

अशेषदृगिति: १०. १२. २८.

भगवान् सजातिरयमिति हन्तव्यः कीदृशोऽपि नहि भवता । इति शेषोक्त्यश्रुतये तदास किमशेषदृष्टिरघहर्ता ॥ ५८ ॥

शेषावतारिणि बले सति कृत्रिमैतत् सर्पाकृतिर्न भविता भ्रमदा शिशूनाम् ।
तस्मान्न तद्ग्रसनमोचनकं चरित्रं स्यादित्यगाद्विवल एव तदह्नि कृष्णः ॥ ५९ ॥

अशेषानसौ वत्ससङ्घानघाहेर्मुखान्तर्गतानाविभाप्यघारिः ।
भुजङ्गप्रयातस्यितिज्ञोऽपि तूष्णीं वभूवास्यवीजं विशेषानुचिन्ता ॥ ६० ॥

यन्नामाखिलदुःखहारि नितरां यो दुष्टविध्वंसकः शक्तिः कर्तुमकर्तुमन्यथयितुं जागर्ति यस्मिन् सदा ।
स श्रीशोऽघमुखप्रविष्टपृथुकत्राणैकचिन्ताकुलो यज्जातस्तदवैमि तेन निजसद्वात्सल्यमाविष्कृतम् ॥ ६१ ॥

सर्वत्र सर्वदा भक्तान् रक्षत्येव दयानिधिः । तत्रापि चेदघग्रस्तास्तांस्तु धावत्यतित्वरम् ॥ ६२ ॥

भवगह्वरे विहारं करोति यो लालयन् स्वगोजातम् । अघसंस्पर्शस्तस्यावश्यमिति व्यक्तमभवदघगिलनात् ॥ ६३ ॥

लोकेऽजस्रमतन्द्रितेन मनसा मां ध्यायतो हृत्स्थितो न द्राक् पूर्वमहं भवामि यदि सञ्जातोऽपि विद्युत्समः ।
संधत्ते हृदि यस्तु मामकजनांस्तत्राघजरूपेऽप्यरं स्थाता स्यां ननु मूर्तिमानिति विभुश्चास्यौ तदाऽवं विशन् ॥ ६४ ॥

तदा घनच्छदा इति : १०. १२. २९.

यत्सृष्ट्यणुकोऽमघस्तमचलमग्रसत नैकजगदुदरम् दृष्ट्वादिवौकसामपि कथं न भीर्विस्मयोऽपि वा भविता ॥ ६५ ॥

यत्सङ्गीत्यैवाहिचित्तस्य मोहो निर्वीर्यत्वं तद्वशीकारिता च ।
जानन्नेवं तत्कृते देवसङ्घो हाहाशब्दाद् गायकाह्वानमाधात् ॥ ६६ ॥

जहृषुरिति :

आभासरूपेऽपि कदाचिदैशवीर्यापकर्षे प्रतिभासमाने ।
सौख्यावभासो द्विषतां तदा तु युक्तं प्रमोदोऽघसुहृज्जनानाम् ॥ ६७ ॥
भगवतः क्रियते ह्यहिनाऽशनं भगवता क्रियते ह्यहिनाशनम् ।
प्रथमवाचमवोचदघाश्रितः सुरचयश्चरमां गिरमूचिवान् ॥ ६८ ॥

ते स्युः पापाश्रिता ये तु वर्तमानैकदृष्टयः । भवन्तीति स्फुटमभूत्तदा त्वेक्षा प्रमोदतः ॥ ६९ ॥

ववृधे गल इति : १०. १२. ३०.

यदंशतो यस्य मनस्युदीतो दुरात्मनोऽस्मिन् भुवनेऽभिमानः ।
तमंशमामूलमहं छिनद्मीत्यासीत् स वृद्धोऽघबृहद्गरे किम् ॥ ७० ॥

यो मां द्वेष्टि च मामकानपि जनांस्तस्याहमद्धाऽखिलं कुर्यां प्राणनिरोधमाशु न भवेन्नामापि शिष्टं यथा ।
एवं बोधयितुं निजावनचणश्चक्रेऽघकण्ठाध्वनो रोधं नाम स शब्दशास्त्रनिपुणः सर्वेश्वरः श्रीधीरः ॥ ७१ ॥

तेनैवेति : १०. १२. ३२.

अस्मद्द्वारमनेनेदं यत्संरुद्धमतो वयम् । यामस्तन्निर्मितद्वारेत्याशयात्ते ततो ययुः ॥ ७२ ॥
किमस्माभिस्तवाकारि किमस्मद्रोधनं प्रभो । अघस्थितिश्चेत्त्यक्ता तत्प्राणैरुक्तः स निर्ययौ ॥ ७३ ॥

यस्यामलेशहृदयस्य निरुद्धवायोः प्राणाः प्रयान्ति सहसैव शिरोऽध्वनाऽस्मिन् ।
अत्रैव सोऽमृतमयो भवति प्रमातेत्यर्थः श्रुतेः स्फुटरोऽजनि तच्चरित्र ॥ ७४ ॥
सुधारसमुचा दृष्ट्या सुधाकरनिवासया । बालान् सञ्जीवयामास तानिति क्षममच्युतः ॥ ७५ ॥
अन्वर्थयञ्जने वां सद्वृन्दावनविहारिताम् । अमोचयदघाद्बालान् सवत्सान् युगपत्प्रभुः ॥ ७६ ॥
अन्वर्थकान्येव ममाखिलानि नामानि भूमाविति बोधयन्सः ।
मुक्तिं वितीर्याशु निजेष्वघे च मुकुन्दनाम प्रकटीचकार ॥ ७७ ॥
मन्मात्राश्रयिणो न जातुचिदघग्रस्ता भवेयुः क्वचिज्जाताश्चेत् स्वयमुद्धराम्यहमसावज्ञातदुःखं क्षणात् ।
इत्थं स्वीयजनावनानलसतां सार्वाशिकीं दर्शयन् श्रीमानुद्धृतवानघोदरगतान् बालान् सवत्सान् प्रभुः ॥ ७८ ॥
असाध्यं तं ज्ञात्वा सुभगबकवृत्त्या प्रभुमसावघोराः सद्योऽघस्तदजगरवृत्त्याऽऽश्रिततनुः ।
तथाप्यासीद् यत्नो बकवदफलोऽस्यापि तदिदं स्फुटं यत्सत्येन स्फुरति स न वै कृत्रिमतया ॥ ७९ ॥
ध्वान्तारावुदिते ध्वान्तं नाशमायात्ययत्नतः । हरेरतथाऽखिलाधारे-रुदयादघनाशनम् ॥ ८० ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! इन निष्कपट-निष्पाप बालकों की परस्पर में हो रही भ्रान्त-गलत बातें सुनकर अखिल प्राणियों के हृदय में विराजमान करुणासिंधु भगवान् श्रीकृष्ण यह सोच रहे थे कि ये निर्दोष बालक, "अघासुर को ही अजगर समान पर्वत मान रहे हैं" यह ठीक नहीं है इन भोले-भाले बालकों को उसके भीतर जाने से मना करने जा ही रहे थे इतने में तो वे भीतर चले गये ॥ २५ ॥ राजन् ! अघासुर अजगर के उदर में यद्यपि ग्वाल बाल वत्सों सहित पैंठ तो गये लेकिन अघासुर ने उन सब बालकों को निगला नहीं था, क्योंकि, अघासुर अपने भाई बकासुर और बहिन पूतना के वध का स्मरण करके इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि अपने सोदर को मारने वाले कृष्ण उदर में आ जाय पुनः इन सबको एक ही साथ निगल जाऊँ ॥ २६ ॥ सकल विश्व को अभय दान देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने देखा कि बछड़ें सहित सारे ग्वाल बाल जो मेरे अनन्य और जिनका मैं ही शरण्य हूँ वैसे बछड़े और बालक देखते ही मेरे हाथों से सरक गय और मृत्यु के पेट में जा पहुँचे तब देव की इस विचित्र घटना पर भगवान् को बड़ा आश्चर्य हुआ हृदय में भारी दया उमड़ आयी ॥ २७ ॥ अब भगवान् विचार करने लगे कि ऐसे अवसर पर मुझे कौन सा कार्य करना चाहिये, कि जिस उपाय से इस खल अघासुर जीवित न रहे और संत हृदय ये सब भक्त बालक सुरक्षित रहे इनकी हत्या न हो, ये दोनों विरुद्ध कार्य एक ही साथ कैसे हो सकते है यों विचार कर सर्वविध सर्वज्ञ और दयानिधान भगवान् श्रीहरि निज कर्तव्य का निश्चय कर विरुद्ध धर्म समाश्रयी अघासुर के मुँह में प्रविष्ट हुए ॥ २८ ॥ इस अवसर पर देवता मेघ में छिपकर सारी घटना को देख रहे थे वे भगवान् श्रीकृष्ण को अघासुर के मुँह में प्रविष्ट देखकर हाहाकार कर उठे तब अघासुर बन्धु कंस आदि राक्षसो की खुशी की कोई सीमा न रही ॥ २९ ॥ यहाँ पर अघासुर बछड़ों एवं बालकों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी डाढों से चबाकर चूर्ण कर डालना चाहता था । तब इधर देवताओं का भगवान् ने हाहाकार शब्द सुना तब अविनाशी प्रभु ने अपने श्री अङ्ग को बड़े वेग से बढ़ा दिया ॥ ३० ॥ जब भगवान् ने श्री विग्रह बढाया जब विशाल काय अघासुर का गला रुंध गया, आँखें बहार निकल आयीं वह इधर उधर छपटाने लगा । इसके बाद उसकी देह के भीतर रुकी हुई प्राण वायु निकलने का मार्ग न पा उसके ब्रह्म रन्ध्र को फाड़कर बहार निकल गयी ॥ ३१ ॥ जिस मार्ग से अघासुर की साँस बहार निकली उसी मार्ग से अघासुर के प्राणों के साथ सारी इन्द्रियाँ भी देह से बाहर हो गयी, इस अवसर पर भगवान् मुकुन्द ने अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि से, मूर्च्छित बछड़ों को और ग्वालबालकों को जिला दिया पुनः सब बछड़ों और बालकों को लेकर प्रभु बाहर पधारे ॥ ३२ ॥

पीनाहिभोगोत्थित[1] मद्भुतं[2] महज्ज्योतिः[3] स्वधाम्नो ज्वलयद् दिशो दश ।
प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितमीश निर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥
ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृतार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ।
गीतैः सुगा[4] वाद्यघनाश्च वाद्यकैः स्तवैस्तु[5] विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः ॥ ३४ ॥
तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतक[6]जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद् दृष्ट्वा[7] महेशस्य जगाम विस्मयम् ॥ ३५ ॥
राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम् । व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥
[8]एतत् कौमारजं कर्म [9]हरेरात्माहिमोक्षणम् । मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ ३७ ॥
नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधूतपातकः[10] प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥
सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्या[11] व्युदस्तमायः परमोऽङ्ग किं पुनः[12] ॥ ३९ ॥

सूत उवाच

[13]इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा [14]स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।
पप्रच्छ भूयोऽपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः–पीनाहिभोगोत्थितं ईश निर्गमं प्रतीक्ष्य खे अवस्थितं स्वधाम्नः दश दिशः ज्वलयत् अद्भुतं महः ज्योतिः दिवौकसां मिषतां तस्मिन् विवेश ॥ ३३ ॥ ततः अतिहृष्टाः सुराः स्वकृतः अकृतार्हणं पुष्पैः सुराः च अप्सरसः नर्तनैः सुगाः गीतैः वाद्यघनाः वाद्यकैः च विप्राः तु स्तवैः गणाः जयनिःस्वनैः स्वकृतः अर्हणं अकृत ॥ ३४ ॥ अजः महेशस्य तद् अद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतकजयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् स्वधाम्नः अन्ति श्रुत्वा अचिरात् आगतः दृष्ट्वा विस्मयं जगाम ॥ ३५ ॥ राजन्! आजगरं शुष्कं चर्म वृन्दावने व्रजौकसां बहुतिथं अद्भुतं आक्रीडगह्वरं बभूव ॥ ३६ ॥ हरेः एतत् कौमारजं मृत्योः आत्माहिमोक्षणं कर्म दृष्ट्वा विस्मिताः बालाः व्रजे पौगण्डके ऊचुः ॥ ३७ ॥ यत् स्पर्शनधूतपातकः अघः अपि असतां तु सुदुर्लभं आत्मसाम्यं प्राप एतत् मनुजार्भमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः एतत् विचित्रं न ॥ ३८ ॥ अङ्ग मनोमयी यदङ्ग प्रतिमा सकृत् अन्तः आहिता भागवतीं गतिं ददौ तदा नित्यात्मसुखानुभूत्या व्युदस्तमायः स एव परमः (अन्तराहितः) किं पुनः! ॥ ३९ ॥ द्विजाः इत्थं स्वरातुः विचित्रं चरित्रं श्रुत्वा यन्निगृहीतचेताः भूयः अपि वैयासकिं तदेव पुण्यं चरितं पप्रच्छ ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अहिदेहोत्थितं शुद्धसत्त्वमयं ज्योतिर्निर्गत्य खेऽवस्थितं तस्मिन्नीशे विवेश ॥ ३३ ॥ स्वकृतः स्वकार्यकृतः श्रीकृष्णस्यार्हणमकृताकुर्वत पूजामकुर्वन् । सुगाः सुष्ठु गायंतीति सुगाः गंधर्वादयः ॥ ३४ ॥ किं च तेषां यान्यद्भुतस्तोत्रादीनि तेषां नैकोत्सवा ये मंगलस्वनास्तान्स्वधाम्नोंऽति समीपे श्रुत्वाऽजो ब्रह्माऽचिरादागत ईशस्य श्रीकृष्णस्य महि महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं प्रापेति ॥ ३५ ॥ बहुतिथं बहुकालम् । आक्रीडगह्वरं क्रीडार्थं महाबिलम् ॥ ३६ ॥ अन्यच्चातिचित्रं वृत्तमित्याह । एतदिति । "कौमारं पंचमाब्दांतं पौगंडं दशमावधि ॥ कैशोरमापंचदशाद्यावनं तु ततः परम् ॥" हरेः कौमारजं पंचमाब्दकृतं कर्म तदेव

१. भोगस्थितं–इति कस्यचित् । २. महज्ज्योतिः–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । ३. धाम्ना–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । ४. वाद्यधराश्च–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व.; वारिधराश्च–इति कस्यचित् । ५. स्तवैश्च–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । ६. गीतिका–श्रीधर वंशी. वीर. विज. विश्व. । ७. मही–श्रीधर. वंशी सुदर्शन. वीर. विज. जीव. शुक. । ८. अयं श्लोकः श्लोकद्वयादन्तरं वर्तते–वीर. । ९. चास्याहेरात्ममोक्षणं–इति कस्यचित् । १०. धौत–श्रीधर. वंशी. वीर. विज.; धूत–सुदर्शन. जीव. विश्व. । ११. भूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो–श्रीधर वंशी. विज.; भूतिव्युदस्तमायः परमोऽङ्ग किं पुनः–वीर । १२. अत्र द्वादशोऽध्यायः–वीर. । १३. द्विजाग्र्यादथ–इति कस्यचित् । १४. स्वभर्तु–इति कस्यचित् ।

दृष्ट्वा पौगंडके षष्ठेऽब्दे बाला अद्यैवैतद्वृत्तमित्यूचुः। किं तत्कर्म। मृत्योः सकाशादात्मनामहेश्च मोक्षणम्। तत्रात्मनां प्रसिद्धान्मृत्योरहेस्तु संसारलक्षणात्। अघासुरज्योतिषः श्रीकृष्णे प्रवेशमपि तदा दृष्टं कथितवंत इत्यर्थः॥ ३७॥ नैतद्विचित्रमिति। किं तदित्यपेक्षायामाह। अघोऽपीति। आत्मसात्म्यं स्वसमानरूपताम्॥ ३८॥ यस्यांगं मूर्तिस्तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिस्तत्रापि केवलं मनोमयी साऽपि बलादंतराहिता सती भागवतीं गतिं ददौ प्रह्लादादिभ्यः स एव साक्षात्स्वयमंतर्गतः किं पुनः नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च तयाऽभितो व्युदस्ता माया येन सः॥ ३९॥ येन श्रवणेन निगृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः॥ ४०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्वतेजसा दश दिशो ज्वलयत् ईशनिर्गमं प्रतीक्ष्य कंचित्कालं दृष्ट्वा। जीवस्य निराकारत्वेपि तत्कालप्राप्तभगवच्छक्त्यालिंगितत्वात्तथा। दृश्यत्वमिति तोषिण्याम्। परब्रह्मणो व्यापकमहाज्योतिःस्वरूपमिव जीवस्यापि ज्योतिःस्वरूपं मायिकलोचनागम्यमपि तदानीं भगवता स्वेच्छयैव स्वस्यासुरमुक्तिप्रदगुणस्य सर्वलोकप्रत्यक्षीकरणार्थं प्रदर्शनम् इत्यर्थः। भागवतीं गतिमित्युपरिष्टादुक्तेरघासुरः सारूप्यमुक्तिं प्राप्य न तु सायुज्यं भगवति प्रवेशस्तु शिशुपालादिवज्ज्ञेय इति॥ ३३॥ ततो भगवद्देहे तत्प्रवेशानंतरम्। अर्हणं पूजाम्॥ ३४॥ अन्यदप्याह–किं च इति तेषां सुरादीनाम्। स्वधाम्नः सत्यलोकस्य॥ ३५॥ अन्यदद्भुतमाह—राजन्निति कथाश्रुतौ देदीप्यमानमित्यर्थः। आक्रीडगह्वरत्वमपि वत्सरांतरवज्ज्ञेयम्॥ ३६॥ इतोप्यद्भुततरमाह—अन्यच्चेत्यादिना। वृत्तं जातम्। दशमावधि दशमवर्षपर्यन्तम्। आपंचदशात्पंचदशवर्षपर्यंतम्। ततः पंचदशवर्षात्। आत्मनां सगोपवत्सानाम्। इत्यर्थ इति। अहो अद्यास्माभिर्महदाश्चर्यं दैत्यदेहनिर्गतं तेजः कृष्णे प्रविष्टं दृष्टमिति भावः॥ ३७॥ मनुजार्भस्य मायाछलमस्यास्तीति मनुजार्भमायी तस्य ब्रह्मादिमनुष्यांतानां स्रष्टुः परमस्यात्मसाम्यम्। यस्य कृष्णस्य स्पर्शनेन धौतं निवृत्तं पातकमसुरतापादकं प्राक् कृतं कर्म यस्य सः। असतां पापिनाम्॥ ३८॥ प्रतिकृतिः प्रतिनिधिविग्रहः। तत्रापि प्रतिकृतित्वे। अन्तराहिता ध्याता। स एव यस्य प्रतिकृतिर्मोक्षं ददाति। आत्मसुखानुभूतिरात्मानंदानुभवः। व्युदस्तापाकृता। माया कारणाज्ञानम्। किं पुनर्वक्तव्यमिति शेषः। यस्य प्रतिकृतिर्जगन्नाथमदनगोपालगोविंदादिरूपा मनसैव ध्याता तत्रापि सकृदेव खट्वांगादिभ्यो भागवतीं गतिं ददौ। ननु खट्वांगादीनां तत्प्राप्तौ भक्तिरेव कारणमघासुरादीनां प्रातिकूल्याद्भक्त्यभाव एव तत्प्राप्तिप्रतिबन्धी भक्त्याहमेकया ग्राह्य इति भगवत्कृतनियमात्। सत्यम्। स च नियमोऽन्यस्मिन्नेव समये। कृष्णावतारसमये तु पूर्णायाः कृपाशक्तेरुदयोद्रेकात्तत्सम्बन्धमात्रेणैव तत्प्राप्तिः। तद्वक्ष्यते–"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा। नित्यं हरौ विदधतो यांति तन्मयतां हि ते॥ न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे। योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥" इति कृष्णस्य पूर्णत्वे लक्षणमिदमसाधारणं यद्वैरिभ्योपि मोक्षं ददातीति विश्वनाथः॥ ३९॥ यादवदेवेन श्रीकृष्णेन दत्तः परीक्षित्। स्वरातुः कृष्णस्य तदेव श्रीकृष्णचरितमेव। हे द्विजा इति। हरिलीलामृतपानमेव द्विजातिधर्म इति संबुद्ध्यभिप्रायः॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पीनाहिभोगोत्थितमिति तु पाठो मूलेषु दृश्यते भोगस्थितमिति तु टीकायामेव अद्भुतमनिर्वचनीयं महत्प्रकाशबाहुल्यात् दिवौकसामित्यनादरे षष्ठी। यद्वा, परमाश्चर्येण तेषु पश्यत्सु सत्सु इत्यर्थः। तादृशदुष्टस्यापि मुक्तेः अतीन्द्रियाया मुक्तिप्राप्तेर्दर्शनाच्च तथा तद्दर्शनं च ब्रह्मादीनामसन्देहाय स च विस्मयार्थं तच्च ज्योतिस्तत्कालप्राप्तभगवच्छक्तिमयमेव ज्ञेयं जीवस्य निराकारत्वात्॥ ३३॥ ततः सपरिकरेशनिर्गमात् वाद्यधराः विद्याधरादयः वारिधरा इति वा पाठः। विप्राः श्रीनारदादयः गणाः श्रीगरुडादयः॥ ३४॥ अद्भुतश्रोत्रादीन् श्रुत्वा स्वधाम्नः सकाशादन्ति कृष्णस्य समीपे अचिरात् शीघ्रमागतोऽज ईशस्य महि माहात्म्यं तन्मुक्तिप्रदानलक्षणं कुत्राप्यन्यत्र तादृशस्यादृष्टं दृष्ट्वेत्यादियोज्यम्॥ ३५॥ श्रीभगवत्स्पर्शप्रभावेण स कृतार्थोऽभूदिति किं वक्तव्यं तस्य पाञ्चभौतिकमृतदेहोऽपि पूतनावत्सौरभ्यादिप्राप्त्या सर्वमनोरमतां प्रापेत्याह—राजन्निति। परमाश्चर्येण॥ ३६॥ अस्य हरेः पौगण्डे तस्यारम्भमात्रत्वेनाल्पत्वात् कन् प्रत्ययः च शब्दात् देवादिकृतमहोत्सवश्च, अन्यत्तैः। यद्वा, प्रश्नबीजत्वाय प्रहेलिकावदाह–कौमारजं कर्म पौगण्डके च दृष्ट्वोचुरिति किं तत्? अहेर्मृत्योर्हेतोः आत्मनामहेः सकाशान्मोक्षणं सर्वे मिथो दर्शयन्त इत्यादावैश्वर्यज्ञानास्पर्शात् अद्यानेनेत्यादिमात्रतद्वक्ष्यमाणात्॥ ३७॥ महादुष्टस्यापि तादृश्या मुक्त्या केषाञ्चिदद्भुतबुद्धिं दृष्ट्वा श्रीभगवत्प्रभावमाह–नेति द्वाभ्याम्। परावराणां सर्वेषामंशिनामंशानां च परमस्य श्रेष्ठस्य यतस्तेषां वेधसः प्रादुर्भावकर्तुश्च इति परमस्वातन्त्र्यमुक्तं तत्र च मनुजार्भः श्रीनन्दकुमारश्चासी मायी च दयावान् अमर्यादलीलत्वेन तादृशदयालुत्वेन च यः प्रसिद्धस्तस्य परमविलक्षणस्वभावस्येत्यर्थः। अतो विचित्रम् अद्भुतं न भवति सात्म्यं साम्यमिति पाठद्वयेऽपि समानस्वरूपत्वमेवार्थः। अतद्रूपस्य समानस्वरूपस्य तत्र प्रवेशासंभवात् असतां दुष्टानां परमदुर्लभमपि प्राप। ननु, श्रीगोकुलबालकादिषु महत्सु महापराधिनस्तस्यासुरस्य तदपि कथं संभवेत्? तत्राह–यदिति, यस्य तत्पर्यन्तदुर्गतजीवेषु तमःकृतदुर्गतिमात्रसमवधानमात्रजातया सदसद्विचारशून्यत्वेन स्वतन्त्रया कृपयाऽवतीर्णस्य सर्वविलक्षणस्य स्पर्शविशेषप्रभावेणैव सोयमघमयोपि धूतपातकः खण्डिताघमयभाव इत्यर्थः। आत्मा नासुरः किन्तूपाधिरेव स च नाशित एव निर्दोषो निजांशस्त्वनुगृहीत इति नात्र दोषश्च प्रत्युत तस्यासुरभावापगमनं परमकृपा

सूचकत्वादुपादेयमेवेति भावः ।। ३८ ।। नित्यात्मेति तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, नित्यम् आत्मनां सर्वजीवानां सुखानुभूतिर्यस्मात् यतोऽभितो विशेषेणोदस्तमायः तथा च वक्ष्यति श्रीब्रह्मा 'अत्रैव मायाधमनावतारे' इति, स चासौ स च यतः परमः सर्वतः श्रेष्ठः निजाशेषभगवत्ताप्रकटनात् यत् यस्य अङ्गेति सन्न्यायहर्षसम्बोधने ।। ३९ ।। अत्राकस्मात् सूत उवाचेति तत्प्रसङ्गे परमानन्दस्य वैशिष्ट्यात् सोपि तत्र तौ तुष्टावेत्यर्थः । येन चरितेन निगृहीतं तद्वियोगमयप्रेमाविर्भावेन पीडितं चेतो यस्य सः तथापि प्रश्ने हेतुः पुण्यं शुभावहमिति तत्पीडायास्तदेकौषधत्वादिति भावः ।। ४० ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अद्भुतमनिर्वचनीयम्; महत् प्रकाशबाहुल्यात् दिवौकसामित्यनादरे षष्ठी, यद्वा, परमाश्चर्य्येण तेषु पश्यत्सु सत्स्वित्यर्थः, तादृश-दुष्टस्यापि मुक्तेस्तथात्मतत्त्वानुभव-लक्षणाया अतीन्द्रियायास्तत्प्रकारासम्भवाच्च । तेन प्रकारेण मुक्तिस्तस्यामसन्देहाय । स च श्रीब्रह्मादीनां विस्मयार्थम् । कृष्णप्रवेशदर्शनन्तु प्रतीतिमात्रमेव, वस्तुतस्तु ब्रह्मण्येव लयोऽस्तत्तत्त्वविचारेणाभाव एव पर्य्यवस्यन्ती मुक्तिरियं परमपुरुषार्थतायां न प्रविशति, विशेषतश्च भक्तिरस-विराधितया भक्तानां वर्ज्ज्यैव, अतो दैत्यानां सोचितैवेत्येष वैष्णवसिद्धान्तः श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतोऽस्त्येव ।। ३३ ।। ततो महादुष्टस्य वधात्तत्राप्यपुनरावृत्ति-मोक्षाद्वाद्यधराः, विद्याधरा इति वा पाठः विप्राः श्रीनारदादयः, आद्य चकारद्वय-स्थाने सुशब्दद्वयपाठः क्वचित्, अतिहृद्यत्वेन तत्तच्छोभनत्वात्, सुशोभनं रान्ति ददतीति सुरा इति पुष्पाणामपि शोभनत्वमायातमेव । सुगा इति गीतानां शोभनत्वं सिद्धम् । स्तवानां स्वत एव शोभनत्वमन्यथा स्तुतित्वासिद्धिः । गणाः श्रीभगवत्पार्षदाः सर्व्वे वा भगवदीया गोपबालका वा, अतो जयशब्दानामपि शोभनत्वमूह्यम् ।। ३४ ।। अत एवाग्रे सर्वेषां विशेषणतयाद्भुतेति तु-शब्दश्च । आदि-शब्देनाप्सरो-नुपुरशब्द-करतालिकादयश्च, मंगलस्वनाश्च नमो नमस्त इत्यादयः । महि माहात्म्यं तन्मुक्ति प्रदानविचित्रवृन्दावन-विहार-वेशादि-सौन्दर्य्यम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, ते च ते अद्भुतस्तोत्रादि-रूपाश्चाद्भुतस्तोत्रादिना वा; नैकोत्सवा नैकः अनेक उत्सवो येभ्यस्तद्रूपा वा मंगलस्वनास्तान्, कर्म्मणि षष्ठी । महीशं पृथिव्यामवतीर्णं निजाशेषभगवता-विस्तारणेन पृथ्वीपालनपरं दृष्ट्वेत्यर्थः ।। ३५ ।। श्रीभगवत्स्पर्शप्रभावेण तस्यात्मा कृतार्थोऽभूदिति किं वक्तव्यम्, पाञ्चभौतिक-मृतदेहोऽपि परमकृतार्थतां प्रापेत्याह—राजन्निति, परमाश्चर्य्येण हर्षभरेण वा सम्बोधनम् । शुष्कं सदिति वाद्यादिना क्रीडायोग्यत्वमुक्तम्, चिरस्थायित्वञ्चाभिप्रेतम् । आ सम्यक् क्रीड्यतेऽस्मिन्नित्याक्रीडञ्च तद्गह्वरं गुप्तस्थानञ्च ।। ३६ ।। कौमारे जायत इति तथा तत्, अस्य हरेः पौगण्डे तस्यारम्भमात्रत्वेनाल्पत्वात् कप्रत्ययः । हरेरिति मृत्युहरणात् । चशब्दाद्—देवादिकृतमहोत्सवञ्च दृष्ट्वा विस्मिताः सन्तः ।। ३७ ।। महादुष्टस्यापि तादृश्या मुक्त्या केषाञ्चिदद्भुतबुद्धिं दृष्ट्वा श्रीभगवत्प्रभावमाह —नेति द्वाभ्याम् । परावराणां कारण-कार्याणामुत्तमनीचानां वा पूर्वापराणां वा सर्वेषां परमस्य वेधसः श्रेष्ठविधातुर्ब्रह्मणोऽपि जनकत्वात् सृष्ट्यादिकारणत्वाच्च । यद्वा, परावराणां परमस्य श्रेष्ठस्य, यतस्तेषां वेधसः स्रष्टुरिति परमेश्वरत्वेन परम-स्वातन्त्र्यमुक्तम् । तत्र च मनुजार्भः श्रीनन्दकुमारश्चासावत एव मायी च दयावान् । यद्वा, मा लक्ष्मीः शोभा सम्पद्वा, तामेतुं प्राप्तुं शीलमस्येति, तथा तस्य निजाशेषभगवत्ता सम्पत्ति प्रकटनपरस्येत्यर्थः । यद्वा, मनुजार्भेषु गोपबालकेषु मायिनो दयावत इति बालगोपालरूपेण भगवत्त्वप्रकटनमेवाभिप्रेतम् अतो विचित्रमद्भुतं न भवति । आत्मा व्यापकं ब्रह्म, तस्य सात्म्यं स्वरूपतां निर्वाणमित्यर्थः । साम्यमिति पाठे अविद्यानिवृत्त्या स्व० स्वरूपेणावस्थानमित्यर्थः, तथा चोक्तं मुक्तिलक्षणं द्वितीये (भा० २।१०।६)—'मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' इति । असतां दुष्टानां परमदुर्ल्लभमपि प्राप । ननु श्रीगोकुलबालकादिमहत्सु महापराधिनस्तस्य तदपि कथं सम्भवेत् ? तत्राह—यदिति । महदपराधलक्षणमपि पातकं श्रीभगवत्स्पर्शविशेषप्रभावेणैव क्षीणमित्यर्थः ।। ३८ ।। मनोमयीति मनसः सहजास्थैर्य्येण सदा सर्वसौन्दर्य्याद्यपरिस्फूर्त्या शैल्यादि-प्रतिमाभ्यो मनोमय्याः प्रतिमाया न्यूनताभिप्रेता । नित्यमात्मनां सर्वजीवानां सुखानुभूतिर्यस्मात्, यतोऽभितो विशेषेणोदस्तमायस्तथा च वक्ष्यति श्रीब्रह्मा (भा० १०।१४।१६) 'अत्रैव मायाधमनावतारे' इति स चासौ स च, यतः परमः सर्वतः श्रेष्ठः, निजाशेषभगवत्ताप्रकटनात् । अंगेति सन्न्यायहर्ष-सम्बोधने ।। ३९ ।। इत्थं स्वयमेव श्रीबादरायणिना कथयितुमारभ्यमाणाया अपि कथाया मध्ये परमौत्सुक्येन महाराजोऽपृच्छदित्याह—इत्थमिति । यादव-देवेन श्रीभगवता दत्तो ब्रह्मास्त्रतो रक्षित्वा पाण्डवेभ्योऽर्पितः । यादव-देवेति पाण्डवैः सह सम्बन्धञ्च सूचयति । इत्यादयो भूयः प्रश्ने हेतवः । विचित्रं परमाद्भुतं वैयासकिं श्रीव्यास-नन्दनमिति सर्व-वेदार्थतत्त्वाभिज्ञतोक्ता । यदिति तैर्व्याख्यातम् । तत्र येन श्रवणेनेति श्रुत्वेत्यस्य परामर्शादिति, यद्वा, येन चरितेन नितरां गृहीतं प्रेमविशेषाविर्भावनेन परमोत्कण्ठया पीडितं चेतो यस्य सः । तथापि प्रश्ने हेतुः—पुण्यं शुभावहमिति तत्पीडायास्तदेकौषधत्वादिति भावः ।। ४० ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अत्र देवसाक्षिको ऽघस्य तस्मिन् प्रवेश उक्तः अनेन न तत्सेविनाम् अघप्राप्तिशङ्केति व्यज्यते तथापि न निश्शङ्कैः भगवद्भक्तैर्भाव्यम् ।। ३३ ।। स्वहितमिति शेषः । स्वहितकृत इत्यर्थः । अकृत अकुर्वत इत्यन्वयः ।। ३४ ।। स्वधाम्नः अन्ति निकटे

ईशस्य महि माहात्म्यम् अजो ब्रह्मा ॥ ३५ ॥ शुष्कं सम्वत्सरानन्तरम् आक्रीडगह्वरं बभूव अक्षिनिमीलनान्तर्धानाख्यक्रीडागह्वरं दर्शयंश्चर्मजिगरम् इति सम्वत्सरानन्तरं स्ववचनात् ॥ ३६ ॥ मृत्योः प्राणा वियोगात् संसाराच्च आत्मनां अहेरघस्य मोक्षणम् अस्य हरेः कर्म कौमारजम् एतद्दृष्ट्वा ते च गोराः विस्मिताः सन्तो ऽस्य पौगण्डके सम्वत्सरानन्तरम् ऊचुः इत्यन्वयः ॥ ३७ ॥ परावराणां बद्धमुक्तजीवानां परमस्य वेवसः असहायस्य स्रष्टुः "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" इत्यादिवाक्यात् मनुजार्भमायिनः मनुष्यबालकलेच्छावतः यत्स्पर्शनेन धूतपातकः आत्मसात्म्यं सायुज्यम् आत्मना परमात्मना समानात्मतत्त्वम् एतद्विगतचित्रं न किन्त्वाश्चर्यमेवेति ॥ ३८ ॥ तदेवाह—अङ्ग ! प्रतिमाऽर्चामूर्त्तिः "मनामयी तां ध्यायेत्" इत्यादि प्रामाण्यात् भागवतीं गतिं ददातीत्यर्थः। स एव यस्य मूर्तिः स कृष्ण एव साक्षाद्यन्तः प्रविशेत्तर्हि किं पुनर्वक्तव्यम् इति तात्पर्यम् सरोमाञ्चमुक्तम् ॥ ३९ ॥ यादवदेवदत्तः श्रीकृष्णेन दत्तजीवितः विष्णुरातः इति सम्बन्धः येनैव गृहीतं निष्ठं कृतं "यमेवैष वृणुते" इत्यादेः ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततोसुरो मुक्तः श्रीकृष्णमेव विवेशेत्याह—पीनेति। पीनात्सर्पदेहादुत्थितमद्भुतं महद्धर्मभूतज्ञानेन बृहज्ज्योतिः स्वयं प्रकाशं जीवस्वरूपं स्वधाम्ना दश दिशा ज्वलयित्वा तावत् खे अन्तरिक्षे अवस्थितं सर्वेशस्य श्रीकृष्णस्य भगवतो निर्गमं प्रतीक्ष्य तदा आश्चर्यं देवानां पश्यतां सतां ततस्तस्मिन्निर्गते कृष्णे प्रविवेश ॥ ३३ ॥ ततोऽतीव हृष्टाः देवाः स्वकृतः स्वकार्यकर्तुः श्रीकृष्णस्यार्हणं पूजां पुष्पैरकृताकुर्वन् व्यत्ययेनैकवचनं सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयः गीतैः पूजयामासुः विप्रास्तु स्तवैः स्तोत्रैर्गणाः भृत्यगणा जयशब्दैः ॥ ३४ ॥ किञ्च अजो ब्रह्मा स्वधाम्नः स्वस्थानस्यान्ति समीपे तेषां गन्धर्वादीनामद्भुतानि स्तोत्राणि सुवाद्यानि वाद्यादीन् गीतिकाः गीतानि च जयशब्दा आदिर्येषांताननेकानुत्सवान् मङ्गलाशासनध्वनींश्च श्रुत्वा अचिरादागतः ईशस्य कृष्णस्य महिम महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं जगाम ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! आजगरं चर्म शुष्कं सत् बहुकालं वृन्दावने स्थितानां व्रजौकसां क्रीडास्थानां बभूव क्रीडार्थं महाबिलमासीदित्यर्थः ॥ ३६ ॥ अन्यदप्यतिचित्रं वृत्तमित्याह—एतदिति।

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम् ॥

इति तदभिज्ञवचनं हरेरेतत्कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म तदेव दृष्ट्वा बालाः पौगण्डके षष्ठेऽब्दे व्रजे ऊचुरद्यैव तद्वृत्तमित्यूचुरित्यर्थः। अयमहो भगवन्महिमातिशयः यदन्यकालिककर्मणस्तादात्विकानुसन्धानं गोपानामिति भावः ॥३७॥ अन्यदप्यतिचित्रं वृत्तमित्याह–नेति। एतदेव न चित्रम् अपितु परे देवऋष्यादयाऽपरे अपकृष्टाः येषां ब्रह्मरुद्रादीनां तेषामपि परमस्य वेधसः सर्वस्रष्टुरपि लीलया कपटमनुजबालकस्य स्पर्शनमात्रेण विधूतं पातकं यस्य तथाभूतः अघासुरोप्यसतां दुष्प्रापमात्मसाम्यं भगवत्साम्यं प्राप लेभे इति यत् तदेवातिचित्रमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ एतदेव किं पुनर्न्यायेन द्रढयति–सकृदिति। यस्य भगवतः अङ्गप्रतिमा अङ्गप्रतिकृतिरर्चा मूर्तिर्मनामयी मनःप्रचुरा तत् प्राचुर्यं चात्र तन्निधापितभगवच्छक्तिकत्वम् अन्तराहिताध्यानेनान्तर्हृदये निधापिता सती भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ अङ्ग हे राजन् ! नित्यनिरतिशयानन्दज्ञानरूपः प्राकृतगुणरहितो निस्समाभ्यधिकः स एव भगवान् साक्षादन्तराहितो भागवतीं गतिं मुक्तिं ददातीति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३९ ॥ कौमारकं कर्म पौगण्डके प्रोचुरित्युक्तं तत्र कारणबुभुत्सया ऽपृच्छद्राजेत्याह सूतः—इत्थमिति। हे द्विजाः ! यादवदेवः श्रीकृष्णस्तेन दत्तः परीक्षिदित्थं विचित्रं स्वभर्तुश्चरित्रं श्रुत्वा पुनः पुण्यावहं तदेव पौगण्डके कौमारजं प्राचुरित्येतदेव वैयासकिं शुकं पप्रच्छ, प्रश्नहेतुं वदन् राजानं विशिनष्टि, येन भगवता नितरां गृहीतं चेतो यस्य तथाभूतः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ज्योतीरूपं तथा दर्शनञ्च स्वमहिमव्यक्त्यर्थम् ॥ ३३–३५ ॥ पूतनावद्देहस्यापि सौगन्ध्यादिमयपुण्यरूपत्वप्राप्तिमाह राजन्निति। आक्रीडगह्वरत्वं वत्सरान्तरे ज्ञेयम् ॥ ३६–३७ ॥ अद्यानेन इत्यादि वक्ष्यमाणात् अत एव तावत्कालं मायावृतत्वात् ॥ परावराणामंशिनामंशानाञ्च सर्वेषां परमस्य स्वयं भगवतः वेधसस्तत्तदाविर्भावकर्त्तुर्मनुजार्भस्य मनुष्यलीलस्य श्रीनन्दस्यार्भस्तल्लीलश्च स मायी परमदयालुश्च सः तस्येति परमशक्तित्वं सर्वकारणत्वं स्वतन्त्रलीलत्वं तादृशपतितोद्धारित्वञ्च दर्शितम् आत्मसात्म्यं आत्मसाम्यमित्यनेन प्रवेशवचनेन च तत्सायुज्यमुक्तम् ॥ ३८–४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथाघासुरस्य भगवति लयेन विस्मयमानं राजानं प्रति श्रीशुकदेवोक्तिः—सकृद्यदङ्गेत्यादि। यस्याङ्गप्रतिमा अवयवप्रतिकृतिरन्तर्मनस्याहितापिता सती मनोमयी भूत्वा भागवतीं गतिं ददौ ददाति, हे अङ्ग ! स पुनः परमः श्रीकृष्णोऽन्तर्गतः सन् भागवतीं गतिं यद्दास्यति तत् किं पुनः ? यद्वा मनोमयी अङ्गप्रतिमा सकृदेकवारमपि अन्तराहिता सतीति (भा० ११।२७।१२) "मनोमयी मणिमयी" इत्यादौ प्रतिमाया अष्टविधत्वं वक्ष्यति। मनोमयी प्रतिमेति सिद्धेरङ्गशब्दोपादानं मनोमय्या मूर्त्तेरेकमप्यङ्गमित्यर्थः। इति स्वयमयं यदन्तर्गतस्तस्याघासुरस्य तथात्वे किं वैचित्र्यमिति शेषः ॥ ३९–४४ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

सकृद् यदङ्गप्रतिमेत्यादि । अङ्गस्य प्रतिमा शैलीप्रभृतिः, सापि सकृत् एकवारमप्यन्तर्मनस्याहिता अर्पिता सती भागवतीं गतिं ददौ ददाति, मनोमयी वा यदङ्गप्रतिमा; (भा० ११।२७।१२) "मनोमयी" इत्यादीनां वक्ष्यमाणत्वात् । अङ्गस्य प्रतिमेति यस्य कस्यचिदेवाङ्गस्य, अस्तु दूरे सर्वाङ्गप्रतिमा । तत्र मनोमयी बोद्धव्या; मनसि कदाचिदेव किञ्चिदङ्गं स्फुरति, सर्वाङ्गस्फूर्तिस्तु परमभाग्यभाजामेव भवति, अथवा, (भा० २।२।१३) "पादादि यावद्धसितं गदाभृतः" इति ध्यानक्रमस्योक्तत्वात्, अङ्ग ति सम्बोधनं वा ॥ ३९-४४ ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ज्योतिरहिदेहे स्थितं शुद्धसत्त्वमयमिति श्रीस्वामिचरणाः तादृशदुष्टस्यापि तस्य मुक्तेः सर्वलोकप्रत्यायनार्थं जीवस्य निराकारत्वेऽपि तत्कालप्राप्तभगवच्छक्त्यालिङ्गितत्वात्तथा दृश्यत्वमिति ैष्णवतोषिण्यादयः परब्रह्मणो व्यापकमहाज्योतिः स्वरूपमिव जीवस्यापि ज्योतिस्वरूपं मायिकलोचनागम्यमपि तदानीं भगवता स्वेच्छयैव स्वस्वरूपमिव स्वस्यासुरमुक्तिप्रदायकत्वलक्षणगुणस्य सर्वलोकप्रत्यक्षीकरणार्थं दर्शितमित्येके प्रत्यात्मसाम्यमिति भागवतीङ्गतिमित्युपरिष्ठादुक्तेरघासुरः सारूप्यमुक्तिं प्राप । ननु सायुज्यमित्यतस्तत्क्षणप्राप्ततदीयचिन्मयदेहज्योतिरेव तत् देहस्तु ज्योतिर्भूयस्त्वात् द्रष्टुं शक्यो नाभूत् भगवति प्रवेशस्तु सायुज्यप्रथावतोः शिशुपालदन्तवक्रयोरिव ज्ञेय इत्यपरे मिषतां मिषत्सु सत्स्वपि अनादरे वा षष्ठी ॥ ३३ ॥ स्वकृतः स्वस्रष्टुः श्रीकृष्णस्य अर्हणं पूजाम् अकृत अकुर्वत सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयः वाद्यधरा विद्याधरादयः विप्रा वसिष्ठादयः गणाः गरुडादयः ॥ ३४ ॥ अद्भुतस्तोत्राणि च सुवाद्यानि च गीतिकाः सुकुमारा गीतयश्च जयशब्दादयश्च नैकोत्सवा अनेकोत्सवा मङ्गलस्वनाश्च तान् स्वधाम्नः सत्यलोकस्य अन्ति निकट एव श्रुत्वेति महर्जनस्तपोलोकस्था अपि परम्परयैव श्रुत्वा गीतादिकं चक्रुरिति ज्ञेयं श्रुत्वा अजो ब्रह्मैव अचिरात् सद्य एव अघासुरस्य ज्योतिर्वैकुण्ठं प्रति गच्छदेव ईशस्य महि महिमानं दृष्ट्वा आगतोऽन्यैरलक्ष्यमाणो वृन्दावनमेव तत्र च ईशस्य महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं प्राप ॥ ३५ ॥ बहुतिथं बहुकालं आ सम्यक् क्रीडार्थकगह्वरं बभूव ॥ ३६ ॥ अन्यदप्याश्चर्यमेकं शृण्वित्याह—एतत् हरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म दृष्ट्वा अस्य हरेः पौगण्डके वयसि षष्ठेऽब्दे बाला अद्यैतद्वृत्तमित्यूचुः किं तत्, आत्मनाम् अहेः सकाशान्मोक्षणं कुतः मृत्योः अहिमरणाद्धेतोरित्यर्थः ॥ ३७ ॥ मनुजाभं एव माया तदीयस्वरूपं तद्वत् श्रुतिप्रसिद्धान्मायाशब्दस्य स्वरूपवाचकत्वात् परावराणां सर्वेषामंशानामंशिनामपि परमस्य वेधसः स्वेच्छाभिमतमेव कर्तुः एतत् विचित्रं न, किं तदित्यत आह—अघापीति । धूतपातक इति पातकमित्युपलक्षणं शरीरदौर्गन्ध्यादेरप्यपगम इति किं वक्तव्यं पूतनादृष्ट्या शरीरसौगन्ध्यमेव व्याख्येयं सप्रियसखस्य कृष्णस्य क्रीडास्पदीभावित्वात् आत्मसाम्यं स्वसमानरूपत्वम् असतामसुराणां सायुज्यं दुर्लभं सारूप्यं तु भक्तसम्प्रदानीयत्वात्सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥ तत्प्राप्तौ कारणमाह—यस्य अङ्गं मूर्तिस्तस्य च प्रतिमा प्रतिकृतिर्जगन्नाथमदनगोपालगोविन्दादिरूपा सापि मनोमयो मनसैव ध्याता तत्रापि सकृदेव अन्तराहिता सती भागवतीं गतिं ददौ खट्वाङ्गादिभ्यः स एव साक्षात् नित्यात्मा नित्यशरीरश्चासौ सुखानुभूतिरूपश्च अभिव्युदस्तमायश्चेति सः परमः स्वयमवतारी स्वयमेवान्तर्गतः किं पुनः दद्यादेवेत्यर्थः । ननु, खट्वाङ्गादीनां तत्प्राप्तौ भक्तिरेव कारणम् अघादीनां तु प्रातिकूल्यात् भक्त्यभाव एव तत्प्राप्तिप्रतिबन्धी "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति भगवत्कृतनियमात् सत्यं स च नियमोऽन्यस्मिन्नेव समये कृष्णस्यावतारसमये तु पूर्णाया एव कृपाशक्तेरुदयोद्रेकात् तत्सम्बन्धमात्रेणैव तत्प्राप्तिर्यद्वक्ष्यते -

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे । योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते" ॥

इति कृष्णस्य पूर्णत्वे लक्षणमिदमसाधारणं यद्वैरिभ्योपि मोक्षं ददातीति तेषामपि मध्ये "व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्" इत्युक्तेरघासुरदेहस्य स्वक्रीडासुखप्रदीभावित्वात् तात्कालिकतत्प्रातिकूल्यस्यानुकूल्यमयभक्तित्वमननात् तस्मै सारूप्यमोक्षं वैकुण्ठे एव ददौ न तु स्वधाम्नि वृन्दावने तद्भक्तेस्तादृशवैशिष्ट्याभावात् इति ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥ हे द्विजाः ! यादवदेवेन उत्तरायै युधिष्ठिराय वा दत्तः परीक्षित् स्वस्य रातो गृहीतो यः श्रीकृष्णस्तस्य येन श्रवणेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदेवाह पीनाहिभोगोत्थितमिति । पीनादहिभोगादजगरदेहादुत्थितम् अद्भुतमाश्चर्यरूपं महद्बृहज्ज्ञानगुणं ज्योतिः ज्ञानरूपं जीवतत्त्वं स्वधाम्ना दश दिशो ज्वलयत् ईशस्य श्रीकृष्णस्य निर्गमं प्रतीक्ष्य खे अवस्थितं तत्तस्मिन् निर्गते ईशे दिवौकसां कर्मफलाशक्तानां देवानां मिषतामनादरे षष्ठी कर्मफलभोगस्थानं तदाशक्तांश्चानादृत्य विवेश ॥ ३३ ॥ ततस्तदनन्तरं सुराः देवाः स्वकृतः यत्र तत्रापि तं स्वकर्मवशगं जीवं केनापि भक्तिलेशेन स्वं स्वकीयं करोतीति स्वकृतस्य भक्तपक्षपातिनो भगवतः पुष्पैः

अर्हणमकृत पूजामकुर्वन् सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गणाः उक्ता अनुक्ताश्च सर्वे जयनिस्वनैः ॥ ३४ ॥ किं बहुना अजो ब्रह्मापि स्वधाम्नोऽन्ति समीपे तेषां यान्यद्भुतानि स्तोत्रादीनि नैकोत्सवा अनेकोत्सवा ये मङ्गलस्वनास्तान् श्रुत्वा अचिरादागतः ईशस्य श्रीकृष्णस्य महि महिमानं दृष्ट्वा विस्मयं जगाम ॥ ३५ ॥ बहुतिथं बहुकालम् आक्रीडगह्वरं क्रीडार्थं गभीरं स्थानम् ॥ ३६ ॥ हरेः कौमार्यजम् पञ्चमाब्दकृतम् आत्मनां बालादीनां अहेश्च मृत्योर्मोक्षणं तत्र बालादीनां प्रसिद्धात् अहेश्च हरेः संसाररूपान्मृत्योर्मोक्षणम् एतत्कर्म तदानीमेव दृष्ट्वा पौगण्डके षष्ठेऽब्दे बाला अद्यैतद्वृत्तमित्यूचुः—

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि । कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं च ततः परम् ॥ इति ॥ ३७ ॥

मनुजार्भे मनुष्यतया वर्तमानस्य वसुदेवस्य वा पुत्रभावे मायासङ्कल्पोऽस्यास्तीति स तथा तस्य अथोपि यदात्मसाम्यं स्वसमानरूपतां प्राप तन्न विचित्रम् ॥ ३८ ॥ अङ्ग हे राजन् ! यत् यस्य मनोमयीप्रतिमा अन्तर्हृत्पद्मे सकृदपि ध्यानेनाहिता भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ तदा स स्वयं व्युदयमायः निरस्तकपटः परमः अन्तर्गतः आत्मसाम्यं ददौ इति किं पुनर्वक्तव्यम् ॥ ३९ ॥ यत् येन श्रवणेन ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अघस्य मुक्तिरभूदित्याह—पोनादहेर्भोगाद्देहादुत्थितं महत्ज्योतिः ईशस्य नन्दसूनोर्निर्गमं प्रतीक्ष्य खेऽवस्थितं निर्गते तस्मिन्नीशे विवेश तत् सारूप्यनुपलभ्य तत्सन्निधावतिष्ठत् "प्रापात्मसाम्य"मित्यादिवक्ष्यमाणात् तस्य तदुपलम्भे हेतुस्तु तदुदरं प्रविश्य कृष्णेन निहतत्वं बोध्यम् । ज्योतिषश्चिद्घनविग्रहस्य तस्य दर्शनन्नु हतारिगतिदायकत्वलक्षणस्य निर्गुणस्य लोके विख्यातये तच्छ्रीविग्रहस्यैव तदिच्छयैव जातमन्यथा तस्यापि दर्शनं न स्यात् मिषतां पश्यतां षष्ठीयमनादरे ॥ ३३ ॥ ततः सुरा देवा अतिहृष्टा सन्तः स्वकृतः स्वस्रष्टुर्नन्दसूनोरर्हणमकृत अकुर्वत । सुगा गन्धर्वादयः वाद्यधरा विद्याधरादयः विप्राः सनर्षयः गणा गरुडादयः ॥३४॥ अद्भुतस्तोत्राणि च सुवाद्यानि च गीतिकाः सुकोमलगीतयश्च जयादयश्चानेकोत्सवा मङ्गलस्वनाश्च तान् स्वधाम्नः सत्यलोकस्यान्ति सन्निधौ श्रुत्वेति महरादयश्च लोकास्तत् स्तोत्रादिशब्दैः पूरिता इति सूच्यते अतो विरञ्चिरघस्यापि स्वसारूप्यदानलक्षणमीशस्य महि महिमानं दृष्ट्वा विज्ञाय वृन्दाटवीमचिराच्छीघ्रमागतः विस्मयं जगाम ॥ ३५ ॥ बहुतिथं चिरकालं आ सम्यक् क्रीड़ागह्वरं बभूवेति भगवदङ्गस्पर्शेन तस्य रजतगिरिभूतत्वादिति भावः ॥ ३६ ॥ अन्यच्चाश्चर्यं शृण्वित्याह एतद्धरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्मास्य पौगण्डे षष्ठेऽब्दैव तदभूदिति बाला व्रजे ऊचुः एतत् किं ? आत्मनामहेः सकाशान्मोक्षणं कुतः मृत्योः अहेर्मरणाद्धेतोः -

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि । आषोड़शाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परमिति ॥ ३७ ॥

मनुजार्भो नराकृतिबालकश्चासौ मायी च कृपावान् तस्य कृष्णस्यैतद्विचित्रं न परावराणां परमस्य स्वयं प्रभोः वेधसः स्वेच्छाभिमतकर्त्तुः किमेतत्तत्राह अघाऽपीति । यत्संस्पर्शेन धूतं पातकं लिङ्गपर्यन्तं यस्य सः आत्मसात्म्यं समानरूपतां असतामसुराणां सुदुर्ल्लभं तेषां तु लिङ्गभंदलक्षणा मोक्षा भवेदित्यर्थः ॥ ३८ ॥ सारूप्यप्राप्तौ हेतुमाह —यस्य कृष्णस्याङ्गं श्रीमूर्तिस्तस्य प्रतिमा प्रतिकृतिः श्रीरङ्गजगन्नाथादिरूपा सापि मनोमयी मनसा भाविता तत्रापि सकृदेकवारमेवान्तराहिता सती भागवतीं गतिं ददौ निरपराधेभ्यः खट्वाङ्गादिभ्यः स एव नित्यात्मा नित्यमूर्तिश्चासौ सुखानुभूतिश्चाभिव्युदस्तमायश्चेति परमः स्वयं प्रभुः स्वयमेव तदन्तः प्रविष्टः किं पुनः दद्यादेवेत्यर्थः । धात्रीवेशमात्रेण पूतनाया धात्रीपदमिवोदरप्रवेशमात्रेणाघस्यापि सारूप्यं स्वयं प्रभुत्वे लिङ्गं बोध्यम् ॥ ३९ ॥ हे द्विजाः ! यादवदेवेन कृष्णेनात्तरायै दत्तः परीक्षित् स्वरातुरात्मपदस्य तस्य विचित्रं चरितं श्रुत्वा तदेव भूयोऽपि पप्रच्छुः यच्छ्रवणेन निगृहीतं वशीकृतं चेता यस्य सः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवति बहिर्निर्गतेघस्य सायुज्यमाह, **पोनो** योयमहिः सर्पस्तस्य **भोगाच्** छरीरा**दुत्थितमद्भुतं महस्तेजोरूपं ज्योतिः** प्रकाशमानं **स्वधाम्ना** स्वतेजसा **दश दिश उज्वलयद्** बहिः स्थितं सद् भगवन् निर्गमनं **प्रतीक्ष्य** निर्गते **तस्मिन्** विवेश पश्यतां **दिवौकसां** सतां, तेजोरूपं लिङ्गशरीरं प्रविष्टमिति मायावादिनः ॥ ३३ ॥ ततो देवानां सुखं जातमित्याह **ततोतिहृष्टा** इति, स्वार्थं देवार्थमेव करोतीति **स्वकृत्** तस्य भगवतो**र्हणं** पूजामकृत कृतवन्तः **पुष्पैः, अप्सरसश्च नर्तनैः**, पूजामकृतेति सर्वत्रसम्बन्धः, सुष्ठु गायन्तीति **सुगास्ते गीतंर्वाद्यं घनो** येषां ते **वाद्यघना विप्रास्तु** स्तवैर्वैष्णवगणा **जयनिःस्वनैरर्हणमकृत** ॥ ३४ ॥ तदा ब्रह्मणोप्याश्चर्यं जातमित्याह **तदद्भुतेति** तेषामद्भुतस्तोत्रादिकं **श्रुत्वा स्वधाम्नोन्ति** स्वगृहसमीपेजो ब्रह्मा तत **आगतोचिराच्छीघ्रमेव दृष्ट्वा** भगवन्तं **महेशस्य** भगवतः सामर्थ्यं च **दृष्ट्वा विस्मयं जगाम स्तोत्रं सुवाद्यं** गीतं **जय**शब्दाश्च तैर्योय**मनेकोत्सवस्तत्सहितान् मङ्गलस्वनान्**, ते शब्दा ब्रह्मलोकपर्यन्तं गताः, **तच्छ्रुत्वा** ब्रह्मा **समागतो विस्मय**माप ॥ ३५॥ मुक्तस्य देहो भगवद्भक्तानां क्रीडार्थं जात इत्याह **राजन्निति, वृन्दावने शुष्कं** गन्धरहितं **व्रजौकसां बहुकालमाक्रीडार्थं गहवरं** गुप्तस्थानं **बभूव** ॥ ३६ ॥ आश्चर्यान्तरमाह**ैतदिति**, भगवतः **कौमारावस्थायां** जातमेतत् **कर्मात्मनोहेः** सकाशात् **मोक्षणरूपं मृत्योरेव**

मोक्षणरूपं हरेः पौगण्डावस्थायां जातस्य शरीरं शुष्कं **दृष्ट्वा विस्मिताः** सन्तो **व्रजे समागत्योचुः**, "**अद्यानेन महाव्याल**" इति वक्ष्यति ॥ ३७ ॥ अघासुरस्य मुक्तिं युक्त्या समर्थयति **नैतद् विचित्रमि**तिद्वाभ्यां, **मनुजार्भो** मनुष्यबालः **स एव माया** तद्वतो भगवत **एतद्** बालमोक्षणमघासुरमोक्षो वा **न विचित्रं**, वस्तुतोयं **परावराणां परमो** ब्रह्मादीनामस्मदादीनां च नियन्ता कर्ता च, **अघोपि** पापरूपो **यत्स्पर्शपातकः** प्रक्षालितपाप **आत्मसाम्यं** भगवत्समतामसतां दुष्टानां **सुदुर्लभं प्रापेति** यत् तत्र हेतुः ॥ ३८ ॥ **सकृद्** यस्य भगवतो**ङ्गप्रतिमा** शरीरसमाना मानसी मूर्ति**रन्तराहिता हृदये** स्थापितापि **भागवतीं गतिं ददौ** ददाति तत्र **स एव नित्यात्मसुखानुभूतिः** सच्चिदानन्दरूप आत्मा **व्युदस्तमायः** पूर्णज्ञानेनैव गतमायः **परमकाष्ठां** प्राप्तोन्तराहितः सन् मुक्तिं ददातीति **किं पुनर्वक्तव्यम्** ॥ ३९ ॥ एतावदुक्त्वा शुकः परमनिर्वृतः तूष्णीमास तदा राजा पृच्छतीत्याह **सूतः**, हे **द्विजाः** शौनकादयः, **यादवदेवेन** कृष्णेन **दत्तो** विष्णुरातः **स्वरातुः** स्वरक्षितुश्**चरितं श्रुत्वा भूयोपि तदेव पप्रच्छ** यतो **विचित्रं पुण्यं च, वैयासकिं शुकं, येन चरित्रेण निगृहीतं चेतो** यस्य ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा च पीनः स्थूलो योऽहेर्भोगो देहस्तस्मादुत्थितं निःसृतं महत् प्रकाशबहुलं ज्योतिः स्वधाम्ना स्वप्रकाशेन दश दिशः ज्वलयत् प्रकाशयत् खेऽवस्थितं सत् ईशस्य श्रीकृष्णस्य ततो निर्गमं प्रतीक्ष्य निर्गते तस्मिन् विवेश । 'अद्भुतं ज्योतिर्दिवौकसां पश्यताम्' इति पदैर्लोके तन्मुक्तिप्रसिद्धयर्थं भगवदिच्छया तद्दर्शनं जातमिति ज्ञेयम्, अन्यथा जीवस्यादृश्यत्वात् ।। ३३ ।। ततोऽघासुरवधादतिहृष्टाः सुरादयः स्वकृतः 'तत्कार्यं कृतवतः' श्रीकृष्णस्यार्हणं सत्कारमकृत अकुर्वन् । तत्र सुरा देवाः पुष्पैरर्हणम् 'अकृत' इति सर्वत्रान्वयः । अप्सरसश्च नर्तनैः । सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयो गीतैः । वाद्यधरा विद्याधरादयो वाद्यकैः । विप्रा वसिष्ठादयो ऋषयः स्तवैः । गणाः पार्षदाः भक्तजनाश्च जयशब्दैः ।। ३४ ।। किञ्च येषां देवादीनामद्भुतस्तोत्राणि च सुवाद्यानि च गीतिकाः सुकुमारा गीतयश्च जयो जयशब्द आदिर्येषां ते, तान् येनैकोत्सवान् नृत्याद्यनेकोत्सवेन जातान् मङ्गलस्वनान् हस्तकिङ्किण्यादिशब्दान् स्वधाम्नः सत्यलोकस्यान्ति समीपे श्रुत्वा अजो ब्रह्मा अलक्षित एवाचिरात् शीघ्रमागतः सन् ईश्वरस्य श्रीकृष्णस्य महिमानमघासुरस्यापि मोक्षप्रदानं, मुखप्रवेशेन ततो बालादीनां विमोचनं च दृष्ट्वा विस्मयं जगामेत्यन्वयः । नच ब्रह्मलोकपर्यन्तशब्दगमनासम्भवो आशङ्कनीयः, स्वमाहात्म्यप्रदर्शनार्थं भगवदिच्छया तत्सम्भवात् ।। ३५ ।। 'आश्चर्यान्तिरं श्रृणु' इत्याशयेन सम्बोधयति—राजन्निति । तदद्भुतमाजगरं चर्म वृन्दावने शुष्कं सत् व्रजौकसां बहुतिथं बहुकालमाक्रीडगह्वरं क्रीडार्थे महाबिलं बभूवेत्यन्वयः ।। ३६ ।। अग्रिमकथाप्रश्नमुत्थापयन् अन्यदप्याश्चर्यमाह—एतदिति । "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि । कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम्' इति वचनात् एतत् मृत्योरात्माहिमोक्षणं तत्रात्मनां बालादीनां प्रसिद्धात् मृत्योर्मोक्षणमहेरघासुरस्य ज्योतिषः कृष्णे प्रवेशस्य दृष्टत्वात् संसारलक्षणात् मृत्योर्मोक्षणं हरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म तदेव दृष्ट्वा पौगण्डके षष्ठेऽब्देऽद्यैव तत् वृत्तम् इति विस्मिताः सन्तो बाला व्रजे ऊचुः ॥ ३७ ।। 'अहो ! दुष्टस्याप्येवं मुक्तिः' इत्याश्चर्यं कुर्वन्तं प्रत्याह—नैतद्विचित्रमिति द्वाभ्याम् । मनुजार्भमायिनः स्वेच्छया स्वीकृतमनुष्यबालभावस्य, वस्तुतस्तु परमस्य परमेश्वरस्य । तत्र हेतुमाह—परे ब्रह्मादयः, अवरे स्थावरादयः । तेषां वेधसः स्रष्टुर्भगवतः स्पर्शनेन धौतपातको निवृत्तकर्मबन्धनः सन् अघोऽप्यसतां विषयाविष्टचित्तानां भगवद्विमुखानां सुदुर्लभमपि आत्मसात्म्यं भगवत्समानरूपतां यत् प्राप तदेतच्चित्रमाश्चर्यं न भवति । अनेन प्रथमं लोके मुक्तिख्यापनाय भगवदिच्छया सायुज्यं प्राप्तस्यापि शिशुपालादिवत् पुनः सारूप्यप्राप्तिर्बोध्या ।।३८।। एतदेव कैमुत्यन्यायेन द्रढयति—सकृदिति । 'अङ्ग' इति सम्बोधनं स्नेहसूचकम् । यस्याङ्गं मूर्तिस्तस्य प्रतिकृतिः साऽपि मनोमयी मनसा चिन्तिता, तत्रापि बलादन्तर्हिता हृदये स्थापिता सती प्रह्लादादिभक्तेभ्यो भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ, स एव परमो भगवान् स्वयं साक्षादेव यस्यान्तर्गतस्तस्य मुक्तौ किं पुनः ? किमाश्चर्यमित्यर्थः । तस्य परमेश्वरत्वमेव स्पष्टयति—नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च तया, नित्यस्वानन्दानुभवेनाभिव्युदस्ता दूरतोऽपसारिता माया येन इति ।। ३९ ।। हे द्विजाः यादवदेवेन श्रीकृष्णेन दत्तः 'रातो वोऽनुग्रहार्थाय' इति प्रथमोक्तेः गर्भे रक्षां कृत्वा युधिष्ठिरादिभ्यो दत्तः परीक्षित् स्वरातुः स्वदातुः स्वरक्षकस्य विचित्रमघमोक्षादिचरितमित्थं श्रुत्वा भूयः पुनरपि तदेव श्रीकृष्णचरितं वैयासकिं शुकं प्रति पप्रच्छेत्यन्वयः । प्रश्ने हेतुमाह—यदिति । येन श्रीकृष्णचरितेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः । वशीकारेऽपि हेतुमाह—पुण्यमिति । परमपुण्यजनकं सर्वदुरितनिवर्तकम्।। ४० ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

पीनेति ॥ तदा च पीनः स्थूलो योऽहेर्भोगो देहस्तस्मादुत्थितं निःसृतम् । पीनाहिभोगे स्थितमिति स्वामिसम्मतः पाठः । अद्भुतं महत्प्रकाशबहुलं शुद्धसत्त्वमयं ज्योतिः स्वधाम्ना स्वप्रकाशेन दश दिशः ज्वलयत् प्रकाशयत् खेऽवस्थितं सत् ईशस्य श्रीकृष्णस्य ततो निर्गमं प्रतीक्ष्य निर्गते तस्मिन् भगवति दिवौकसां मिषतां पश्यतामेव विवेश ॥ ३३ ।। तत इति ॥ ततोऽघासुरवधादतिहृष्टाः सुरादयः स्वकृतः स्वस्य देवसमूहस्य तत्कार्यं कृतवतः स्वस्रष्टुर्वा । श्रीकृष्णस्यार्हणं सत्कारमकृत अकुर्वन् । एकत्वमार्षम् । तत्र सुरा देवाः पुष्पैरर्हणमकृतेति सर्वत्रान्वयः । अप्सरसश्च नर्तनैः सुष्ठु गायन्तीति सुगाः गन्धर्वादयो गीतैः वाद्यधरा

विद्याधरादयो वाद्यकैः विप्रा वसिष्ठादय ऋषयः स्तवैः गणाः पार्षदाः भक्तजनाश्च जयेति निस्वनैः शब्दैरर्हणमकृत ।। ३४ ।। तदद्भुतेति ।। तेषां देवादीनामद्भुतस्तोत्राणि च सुवाद्यानि च गीतिकाः सुकुमारा गीतयश्च जयो जयशब्द आदिर्येषां ते तान् नैकोत्सवान् नृत्याद्यनेकोत्सवेन जातान्मङ्गलस्वनान् हस्तकिङ्किण्यादिशब्दान् स्वधाम्नः सत्यलोकस्यान्ति समीपे भगवदिच्छाबलात् दूरतोऽपि श्रुत्वा अजो ब्रह्मा अलक्षित एवाचिरात् शीघ्रमागतः सन् ईश्वरस्य महि महिमानमघासुरस्यापि मोक्षप्रदानं मुखप्रवेशेन ततो बालादीनां विमोचनं च दृष्ट्वा विस्मयं जगाम ।। ३५ ।। राजन्निति ।। हे राजन् ! तदद्भुतमाजगरं चर्म वृन्दावने शुष्कं सत् व्रजौकसां बहुतिथं बहुकालमाक्रीडगह्वरं क्रीडार्थे महाबिलं बभूव ।। ३६ ।। एतदिति ।। "कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि ।। कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परम् ॥" इति वचनात् एतन्मृत्योरात्मनाम् अहेश्च मोक्षणं तत्रात्मनां बालादीनां प्रसिद्धान्मृत्योर्मोक्षणम् अहेरघासुरस्य ज्योतिषः कृष्णे प्रवेशस्य दृष्टत्वात्संसारलक्षणान्मृत्योर्मोक्षणम् । यद्वा । मृत्योः अहिमरणादृद्धेतोः आत्मनाम् अहेः सकाशात् मोक्षणं हरेः कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं कर्म तदैव दृष्ट्वा पौगण्डके षष्ठेऽब्देऽद्यैव तत् वृत्तमिति विस्मिताः सन्तो बाला व्रजे ऊचुः । अन्ये तु श्रीकृष्णे कालेनाल्पेनोक्तदिशा पञ्चमाब्दारम्भे पौगण्डप्रवेशः तथा च चतुर्थाब्दकृतं पञ्चमेऽब्दे कृतं प्रोचुरित्याहुः ।। ३७ ।। नैतदिति ।। मनुजार्भमायिनः धृतमनुष्यबालभावस्य वस्तुतस्तु परमस्य परमेश्वरस्य परे ब्रह्मादयः अवरे स्थावरादयस्तेषां वेधसः स्रष्टुर्भगवतः स्पर्शनेन धौतपातको निवृत्तकर्मबन्धनः सन्नघोऽप्यसतां विषयाविष्टचित्तानां भगवद्विमुखानां सुदुर्लभमपि आत्मसाम्यं भगवत्समानरूपतां यत्प्राप तदेतच्चित्रमाश्चर्यं न भवति ।।३८।। सकृदिति । अङ्ग हे राजन् ! यस्याङ्गं मूर्तिस्तस्या अपि प्रतिमा प्रतिकृतिः सापि मनोमयी मनसा चिन्तिता तत्रापि बलादन्तर्हिता हृदये स्थापिता सती खट्वाङ्गादिभ्यो भागवतीं गतिं मुक्तिं ददौ । स एव नित्या चासावात्मसुखानुभूतिश्च तया नित्यस्वानन्दानुभवेनाभिव्युदस्ता दूरतोऽपसारिता माया येन स परमो भगवान् स्वयं साक्षादेव यस्यान्तर्गतः सः तस्मै किं पुनर्न दद्यात् सर्वमपि श्रेयो दद्यादेव ।। ३९ ।। इत्थमिति ।। हे द्विजाः ! यादवदेवेन श्रीकृष्णेन युधिष्ठिरादिभ्यो दत्तः परीक्षित् राजा स्वरातुः स्वदातुः स्वरक्षकस्य विचित्रमघमोक्षादिचरितमित्थं श्रुत्वा येन श्रीकृष्णचरितेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य सः परीक्षित् भूयः पुनरपि तदेव पुण्यं पवित्रं श्रीकृष्णचरितं वैयासकिं शुकं प्रति पप्रच्छ ।। ४० ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पीनात् स्थूलात् अहिभोगात् सर्पदेहात् उत्थितं निःसृतं स्वधाम्ना स्वप्रकाशेन दशदिशः ज्वलयत् प्रकाशयत् ईशस्य निर्गमं बहिर्निर्गमनं प्रतीक्ष्य खे गगनेऽवस्थितं देवानां मिषतां सतां तस्मिन् हरौ विवेश ।। ३३ ।। तत इति ततस्तदनंतरमतिहृष्टाः सुराः स्वकृतः स्वस्य सहायकृतो हरेः पुष्पैरर्हणमकृत अकुषत सुगाः गंधर्वादिसुष्टु गायकाः गीतैः पूजामकृत वारिधरा मेघाः वाद्यकैर्गर्जनैः वाद्यधरा इति पाठवाद्यकैर्वादित्रैः स्तवैः स्तोत्रैः गणाः सिद्धचारणगणाः जयशब्दैरर्हणम् ।। ३४ ।। तेषां यानि अद्भुतानि स्तोत्रसुवाद्यादीनि ये च नैकोत्सवाः ये च मंगलस्वनाः तान् श्रुत्वा स्वधाम्नः स्वस्थानात् अजोविधिः अंति श्रीकृष्णसमीपे अचिरादागतः सन् ईशस्य स्वनियामकस्य महि महिमानं दृष्ट्वा ।।३५।। आजगरं अजगरस्य इदं वृंदावने स्थितं आक्रीडगह्वरं महादरीसदृशं बहुतिथं बहुदिनं बभूव ।। ३६ ।। तत्राप्यन्यदाश्चर्यमाह एतदिति कौमारं पंचमाब्दांतं पौगंडं दशमावधि कैशोरमापञ्चदशाद्यौवनं तु ततः परमित्युक्तलक्षणं हरेरेतत्कौमारजं पंचमवत्सरकृतं कर्मबालाः तस्मिन्नेव काले दृष्ट्वा पौगंडके षष्ठे वर्षे अद्यैवैतत्कृतमिति व्रजे ऊचुः किं तत् कर्म मृत्योः सकाशात् आत्मा हि मोक्षणं आत्मनां स्वकीयानां प्रसिद्धमरणात् मोक्षणं अहेः अघासुरस्य च संसाररूपान्मृत्योर्मोक्षणम् ।।३७।। इदानीं भगवन्माहात्म्यं निरूपयन्नाह द्वाभ्यां नैतदिति मनुजस्य अर्भकत्वरूपामायाकपटं विद्यतेऽस्य तस्य मनुजार्भमायिनः पराणां अक्षरपुरुषाणां अवराणां क्षरभावासक्तानां बद्धजीवानां च परमस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन माननीयस्य वेधसः सर्वकर्त्तुः एतन्न चित्रं आत्मसाम्यं शुद्धजीवात्मसमानरूपत्वं प्राप ।। ३८ ।। पुनः किंच सकृदिति श्रीकृष्णस्य यदंगं अवतारस्तस्य प्रतिमा अर्च्चास्यास्ति साऽपि मनोमयी मनःसंकल्परूपा सकृदेककृत्वः अंतराहिता अंतःकरणे धृता सती भागवतीं गतिं ददौ स एव स्वयं यस्यांऽतर्गतस्तस्य पुनः किं वक्तव्यं स किंलक्षणः नित्या या आत्मसुखाऽनुभूतिः स्वानंदानुभवस्तथा अभितो व्युदस्ता हता माया जीवा विद्या येन सः परमः सर्वश्रेष्ठः ।। ३९ ।। इत्थमिति हे द्विजाः यादवदेवेन श्रीकृष्णेन दत्तः द्रौण्यस्त्राद्रक्षितः स्वरातुः स्वदातुर्हरेश्चरितं श्रुत्वा स कथंभूतः येन चरित्रश्रवणेन नितरां गृहीतं स्वाधीनीकृतं चेतो यस्य सः ।। ४० ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ततोऽसुरोऽमुं श्रीकृष्णमेव विवेशेत्याह ।। पीनाहीति ।। तद्गलाद्भगवद्विनिर्गमात्पूर्वमेवेति शेषः । पीनः पुष्टश्चासावहिरजगराकृतिघासुरस्तस्य भोगो देहस्तस्मादुत्थितं अद्भुतमाश्चर्यकारि, महत् धर्मभूतज्ञानविकासाप्त्या बृहद्भावं प्राप्तं, ज्योतिः स्वयंप्रकाशं ज्ञानात्मकजीवस्वरूपं, स्वधाम्ना स्वकीयदीप्त्या, दश दिशः, ज्वलयत् संप्रकाशयत् सत्, ईशनिर्गमं भगवतो बहिर्निर्गमनं, प्रतीक्ष्य, खेऽन्तरिक्षे, अवस्थितं अभूत् । तच्च भगवति बहिर्यति सतीति शेषः । दिवौकसां देवानां, मिषतां पश्यतां सतां तस्मिन् श्रीकृष्णे, विवेश ।। ३३ ।। तत इति ।। ततः अतिहृष्टा अतीवानन्दं प्राप्ताः, सुरा देवाः, स्वकृतः स्वकार्यकर्त्तुः श्रीकृष्णस्य, अर्हणं

पूजनं, पुष्पैः नन्दनानीतकुसुमैः, अकृताकुर्वन् । व्यत्ययेनैकवचनम् । सुष्ठु गायन्तीति सुगा गन्धर्वादयश्च गीतैर्गीतगायनैः, अप्सरसः स्वर्गस्त्रियश्च, नर्त्तनैर्नित्यविधानैः, वाद्यधराः चतुर्विधवाद्यवादकाश्च, वाद्यकैर्नानाविधवाद्यवादनैः, विप्रा ब्राह्मणाः, स्तवैः स्तोत्रोच्चारणैः, गणाः भृत्यगणाः, जयनिस्वनैर्जयशब्दोच्चारणैः, अर्हणं अकृत ॥ ३४ ॥ तदिति ॥ किं च अजो ब्रह्मा, स्वधाम्नः स्वस्थानस्य, अन्ति समीपे, तेषां गन्धर्वादीनां, यान्यद्भुतस्तोत्राणि आश्चर्यकारिणः स्तवाः सुवाद्यगीतिकाः, सवाद्यगीतानि च जया जयशब्दा आद्या येषां ते ये अनेकोत्सवा अनेकोत्सवसंयुता मङ्गलस्वनास्तान्, श्रुत्वा, अचिरात् सद्यः, आगतः समागतः सन्, ईशस्य श्रीकृष्णस्य, महि महिमानं दृष्ट्वा, विस्मयं जगाम । राजन्निति । हे राजन्, वृन्दावने, आजगरमजगरसंबन्धि, चर्म शुष्कं सत्, बहुतिथं बहुकालं, व्रजौकसां व्रजवास्यर्भकाणां, अद्भुतं आक्रीडगह्वरं क्रीडार्थकं महाबिलं, बभूवासीत् ॥३६॥ अन्यदप्यतिचित्रं वृत्तमित्याह ॥ नेति ॥ परे देवमनुष्यादयः अवरेऽपकृष्टा येषां ब्रह्मरुद्रादीनां तेषां अपि, परमस्य, वेधसः सर्वस्रष्टुरपि, मनुजार्भमायिनः कपटस्वीकृतमनुज-बालकत्वस्य भगवतः, एतदलौकिकचरित्रविधानं एव, विचित्रं न । किं तु यत् यस्य भगवतः स्पर्शनं स्पर्शमात्रं तेन धूतं पातकं यस्य स तथाभूतः, अघोऽघासुरोऽपि, असतां सुदुर्लभं सुतरां दुष्प्रापं, आत्मसाम्यं भगवत्समानरूपतां, प्रापालभत । इत्येतदेवाप्यति-चित्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ एतदेव किं पुनर्न्यायेन द्रढयति ॥ यस्य भगवतोऽङ्गं तस्य प्रतिमा अर्चा मूर्त्तिः, सा च मनोमयी मनसा भगवत्त्वेन मानिता सापि, सकृदेकवारमपि, अन्तराहिता अन्तर्हृदये ध्यानेन निधापिता सती, भागवतीं गतिं ददौ । प्रह्लादादिभ्य इति शेषः । अङ्ग हे राजन्, नित्यमात्मनि साहजिकं यदात्मसुखं निरतिशयानन्दरूपं तस्यानुभूतिः सर्वकालमनुभवनं तया, व्युदस्ता माया यस्य सः प्राकृतगुणरहितः, परमः असमाभ्यधिकश्रेष्ठ इत्यर्थः । एवंभूतः स एव भगवान्, साक्षादन्तः प्रविष्टः सन्निति शेषः । किं पुनः भागवतीं गतिं ददाविति किं पुनर्वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अन्यदप्यतिचित्रं वृत्तमित्याह ॥ एतदिति ॥ हरेः एतत् कौमारजं पञ्चमाब्दकृतं, मृत्योः आत्माहिमोक्षणं, आत्मनां स्वेषां प्रसिद्धमृत्योः अहेः संसाररूपान्मृत्योश्च विमोक्षणरूपमित्यर्थः । कर्म, तदेव दृष्ट्वा, बालाः विस्मिताः, व्रजे, पौगण्डके हरेः षष्ठेऽब्दे, ऊचुः । अद्यैतद्वृत्तमिति कथयांचक्रुरित्यर्थः । अयमहो भगवन्महिमातिशयो. यदन्यकालिकस्याद्यत्वानुसंधानं गोपानामिति भावः ॥ ३९ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थाव-बोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

महज्ज्योतिरिति ः १०.१२.३३.

प्रभुणाऽघात्मा निरघः कृतस्तदन्तः प्रविश्य योग्यमतः । तेजोमयः स समभूदनामरूपः सुरेशविस्मयभुः ॥ ८१ ॥

खेऽवस्थितमिति ः

दुष्टानामपि मुक्तिदो निजजन-त्राणव्रत-श्चाप्ययं सत्योऽहं शपथं करोमि न मनाङ् मन्यध्वमत्रानृतम् ।
सम्बोध्यैवमघासुरोऽखिलजनात् ज्योतिः स्वरूपेण तत् स्पृष्ट्वा विष्णुपदं विवेश भगवत्यानन्दरूपे हरौ ॥ ८२ ॥

बकः शुद्धसत्त्वोऽपि नाऽऽप स्वरूपं तमोभूरहं ज्योतिरात्माऽप्यभूवम् ।
ततो मे जघन्यं तमोऽप्यत्र धन्यं विचिन्त्यैव लीनो घनश्यामलेऽभूत् ॥ ८३ ॥

प्रभौ मेघस्वरूपेऽस्मिन् सङ्गता मेऽघरूपता । ताद्रूप्यमाप्नुयादस्मात् कृष्ण एव विवेश सः ॥ ८४ ॥

कथमपि हृदये यश्चिन्तयत्यब्जनाभप्रतिकृतिमिह तस्योच्चैर्गतिर्जायते यत् ।
हृदयमविशदीशो यस्य साक्षादघस्य तदिह किमु विचित्रं तस्य जातं तथेति ॥ ८५ ॥

क्षणमपि सज्जनसङ्गश्चिन्तनमीशस्य सौति फलममलम् । योगाधिकमिति यदसावघो गतिं प्राप योगिदुरवापाम् ॥ ८६ ॥

ततोऽतिहृष्टा इति ः १०.१२.३४.

सर्वेषामविशेषतोऽभिलषिते श्रीशेन सम्पादिते तत्तोषे नहि हेतुरत्र निखिलारब्धैकरूपा स्तुतिः ।
किं त्वेतस्य समर्हणं मुहुरहो स्वस्वाधिकारोचितमेवेति स्फुटमास भूर्यघहतौ भिन्नार्हणोल्लेखनात् ॥ ८७ ॥

तदद्भुतेति ः १०.१२.३५.

सानन्दमद्भुतश्रीश-प्रसाद-फलभोगिनाम् । श्रुत्वोदन्तं सतां कस्य न स्याच्चेतसि विस्मयः ॥ ८८ ॥

कृतान्तस्य कृतान्तोऽहममृतानां तथाऽमृतम् । अघहत्याऽर्भकोद्धृत्या द्वयमेतत् स्फुटीकृतम् ॥ ८९ ॥

भवाद्यन्तः सन्तो विषयविषसंपर्करहिता ध्रुवं जीवन्मुक्ता रचितकुतुकास्तत्र नितराम् ।
भवेयुस्ते यैस्तु प्रतिपदमचिन्त्याच्युतपदं यदस्मिन् स्पष्टोदाहृतिरहिगता गोपशिशवः ॥ ९० ॥

राजन्नाजगरमिति ः १०.१२.३६.

संपाद्याश्वनघत्वमच्युतपदाध्यक्षो भवेद् यो भुवि जीवन्मुक्तिमुपागतोऽस्य हि भवः शिष्टोऽपि नार्तिप्रदः ।
किं चास्मिन् रचिताऽपि केलिरफला दग्धाङ्कुरन्यायतः स्यादेवेति विविक्तमार्षवचनं तच्चर्मकेल्युक्तितः ॥ ९१ ॥

यो जीवन्नपि मुक्ततामुपगतः सोऽघेन पुण्येन वा नो लिप्तो भवतीह लोकवदलं कर्मादितोऽपि स्वयम् ।
श्रुत्यर्थोऽयमभूत् स्फुटो जगति यद् वृन्दावने क्रीडनं बालानामघभोगयोगि च तथा श्रीनायकप्रीतिदम् ॥ ९२ ॥
यत्रातः शिशुबोधनादिमिषतः कल्पादिसृष्टिक्रमो यत्तत्क्रीडनकैतवेन सदसज्जीवप्रवृत्तिस्तथा ।
यच्चाघ-ग्रसनाघनिर्दलन-तत्सम्मोचनव्याजतः पापध्वंसनमृत्युहिंसनमथो तच्चर्मकेलिच्छलात् ॥ ९३ ॥
जीवन्मुक्तिदशेति चेत्यविकलं मायार्भकक्रीडया श्रीनाथेन दयारसार्द्रमनसा व्यक्तीकृतं स्वाशयम् ।
ज्ञात्वा विस्मितमानसः शुकमुखाच्छंसन् स्विकां धन्यतां युक्तं तत्पुनरप्यपृच्छदभयां योगस्थितिं तत्क्रमात् ॥ ९४ ॥
(युग्मम्)

ये जाताः श्रीशकृपया सानन्दा निरघावने । तेषां तदुत्तरं योगक्षेमार्थविधिरुच्यताम् ॥ ९५ ॥

कृष्णप्रिया

अघासुर के मरने के बाद उसके स्थूल अजगर शरीर से एक सत्त्वगुण सम्पन्न अद्‌भुत महान् तेज निकला जिस तेज से सारी दिशाएँ जगमगा उठीं । वह दिव्य तेज अन्तरिक्ष में जाकर भगवान् की प्रतीक्षा कर रहा था । भगवान् ज्यों ही अघासुर के मुख से बाहर निकल आये त्यों ही वह तेज देवताओं के देखते देखते श्रीकृष्ण में प्रविष्ट हो गया ॥ ३३ ॥ अघासुर का नाशकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सर्वका सर्वश्रेष्ठ कार्य किया, तब देववरों ने कुसुम वर्षा कर, अप्सराओं ने नृत्य कर, गन्धर्वों ने गान कर, विद्याधरों ने वाजित्र नाद कर, विप्रवरों ने स्तोत्र पढ़कर, भगवान् के पार्षदों ने जय-जय ध्वनि करके भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी का उत्तम अर्चन किया ॥ ३४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण जी की विविध प्रकार की स्तुति, वाजित्र, ध्वनि, गीत नाद, जय जयकार ध्वनि और विविध उत्सव मुक्त मङ्गल सूचक ध्वनियों को सुनकर ब्रह्माजी त्वरित गति से गोकुल आ पहुँचे, वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा देखकर उन्हें अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ । राजन् परीक्षित् ! जब अघासुर का वह चाम सुख गया तब ब्रज निवासियों के लिये ॥ ३५ ॥ वृन्दावन में लिये बहुत दिन पर्यन्त खेलने की एव लोकोत्तर गुफा-सी बना रहा ॥ ३६ ॥ राजन् ! अघासुर के मुँह से ग्वाल बालकों की रक्षा और अघासुर का मोक्ष की लीला श्रीकृष्ण भगवान् ने अपनी पांच वर्ष की कुमारावस्था में ही की थी, और ग्वाल्बालों ने उसे उसी समय देखा भी था किन्तु छठे वर्ष की पौगण्डावस्था में ही अतिशय आश्चर्यान्वित होकर ब्रज में उसका वर्णन किया ॥ ३७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण, जो कि माया से मानव बालक बने हुए हैं और जो ब्रह्मादि देवों का और हमारे नियन्ता और निर्माता परमेश्वर है इसके लिये यह बात अद्‌भुत नहीं है । तभी तो महापातकी अघासुर केवल भगवत्स्पर्श से ही सर्वपातक मुक्त हो गया और सायुज्य मुक्ति पायीं जिस मुक्ति को कभी नहीं पा सकता था ॥३८॥ राजन् ! जिस भगवान् के श्री अङ्ग की मानसी केवल प्रतिमा बलात् एक बार अन्तः करण में स्थित हो जाय तो वह सालोक्य सामीप्य आदि गति का दान करती है तो भला जो नित्य आत्म सुखानुभूति से अपनी माया नष्ट कर देने वाले साक्षात् स्वयं भगवान् ही जिसके भीतर प्रविष्ट हो चुके है उसके विषय में क्या आश्चर्य करना है ॥ ३९ ॥ श्रीसूत जी ने कहा, हे महर्षियों ! यदुवंश नाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने ही श्री परीक्षित जी को जीवन दान दिया था ऐसे अपने रक्षक भगवान् का यह अद्‌भुत चरित्र सुना तब राजा परीक्षित ने पुनः श्री शुकाचार्य महाराज से भगवान् की पवित्र लीला के सम्बन्ध में प्रश्न किया कारण कि भगवान् की अमृतमयी लीलाओं में परीक्षित राजा का चित्त लीन हो चुका था ॥ ४० ॥

राजोवाच

ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् । यत् कौमारे हरिकृतं 'विदुः पौगण्डकेऽर्भकाः ॥ ४१ ॥
तद् ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो । नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥ ४२ ॥
वयं धन्यतमा लोके गुरोऽपि क्षत्रबन्धवः । यत् पिबामो मुहुस्त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥ ४३ ॥

सूत उवाच

इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिः[२] संस्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।
कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

प्रक्षिप्तेषु कौतुकलीलायाम्प्रथमोऽध्यायः

---

१. जगुः–श्रीधर. वंशी. विज. शुक. ; विदुः–वीर. । २. बादरायणिस्तत्स्मारिता–श्रीधर. श्रीधर. वंशी. विज. जीव. बादरायणिः संस्मारिता–वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ब्रह्मन् ! कालान्तरकृतं तत् कालीनं भवेत् यत् कौमारे हरिकृतं (तद्) अर्भकाः पौगण्डके विदुः ॥ ४१ ॥ गुरो ! वयं क्षत्रबन्धवः अपि लोके धन्यतमाः यत् त्वत्तः पुण्यं कृष्णकथामृतं मुहुः पिबामः ॥ ४३ ॥ इत्थं सः बादरायणिः पृष्टः संस्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः कृच्छ्रात् शनैः पुनः लब्धबहिर्दृशिः भागवतोत्तमोत्तमम् तं प्रत्याह ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कालांतरे कौमारे कृतं पौगंडके कथं ज्ञात्वोचुरित्यर्थः ॥ ४१–४३ ॥ तेन यः स्मारितोऽनंतस्तेन हृतान्यखिलेंद्रियाणि यस्य सः तथाभूतोऽपि कथंचिल्लब्धबहिर्दृष्टिः । हे भागवतोत्तमोत्तम हे शौनक ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

इत्यर्थ इति । पूर्वकालिकस्य परकालिकत्वसंभवादिति भावः । ब्रह्मन्निति सर्वज्ञतामाह ॥ ४१ ॥ "अनागतमतीतं च सम्यक्पश्यंति योगिनः" इत्युक्तेः । सर्वं वर्णयितुं भवान् समर्थोस्तीत्याह—हे महायोगिन्निति । तत्तस्माद्ब्रूहि यतः परं कौतूहलमाश्चर्यम् । एतत् पूर्वकालिकस्य परकालिकत्वम् । अन्यथा मायां दुर्घटघटनाशक्तिं विना ॥ ४२ ॥ क्षत्रबंधवोपीति संबंधः । यत् यतः । श्रवणार्थमत्यौत्सुक्येन गुरुं प्रोत्साहयति—वयमिति । बहुत्वं बंधुवर्गापेक्षया क्षत्रबंधवः क्षत्रियाधमा अपि एतच्चात्यंतविनयात् तत्र गुणविशेषं दर्शयति—त्वत्त इति । हे गुरो त्वच्छिष्यत्वेनैव धन्याः कृतार्थाः विशेषतश्च त्वत्तः कृष्णकथामृतपानेन धन्यतराः मुहुः पानेन च धन्यतमा इत्यर्थः । विश्वनाथस्तु हे गुरो इति मम त्वच्छिष्यत्वात् "ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत" इति विधेरवश्यवक्तव्यत्वं व्यंजितं पिबाम इति स्वशक्तिव्यंजनया स्वस्य स्निग्धत्वञ्च ॥ ४३ ॥ हृतान्यंतर्मुखीकृतानि । तथाभूतोपि हरिस्मृत्यंतर्मुखेंद्रियोपि । कथंचिन्महता यत्नेन कृच्छ्रादुच्चैः करतालशंखभेरीदुदुंभिनिशानादिवाद्ययुक्तकीर्त्तनोद्घोषैर्बहुलप्रयासेन लब्धबहिर्दृशिर्जातेंद्रियबहिर्वृत्तिरित्यर्थः । पुनरित्यनेन पूर्वमपि वारंवारमीदृशो जातोस्ति इति बोध्यते । तत्र तत्रैव तातेति वारंवारं संबोधनमित्यभिज्ञा आहुः । तदर्थे श्रीपरीक्षिता महाव्यग्रेण सता निजांतिके तत्तद्वाक्यादिश्रीकृष्णकीर्त्तनसामग्रीश्रीजनमेजयतो रक्षितास्तीति आख्यायिका प्रसिद्धा । शनैरिति । तदानीमनुवर्त्तमानेन प्रेमभरेणाक्रांतत्वात् हे भागवतोत्तमोत्तमेति । परमगुह्यमपि श्रोतुमर्हतीति भावः । भागवताः साधारण्येन हरिभक्तास्तदुत्तमास्तच्चरिताकर्णनपरास्तदुत्तमाः पौनःपुन्येन तद्विषयकानुयोगेन श्रवणेऽलंबुद्धिशून्याः । "सामान्येन हरौ भक्तः प्रोक्तो भागवतो बुधैः । तदीहा श्रुतिसंयुक्ता विप्रा भागवतोत्तमाः । मुहुर्मुहुः पृच्छति यो मुरारेर्लीलां समस्ताघहरी प्रसक्तः । सदा ह्यलं धीरहितोऽत्र वाच्यः स ब्राह्मणो भागवतोत्तमोत्तमः ।' इति ब्रह्मसंहितोक्तेः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कालान्तरकृतं पूर्वकालीनं कर्म तत्कालीनं सद्यः कालदृष्टं कथं सम्भवेत् ? तदेवाह—यदिति । यत्कौमारके हरिणा कृतं तत्पौगण्डकृतमिति कथमूचुः ? टीकायां च पौगण्डके कृतमिति कथं ज्ञात्वोचुरित्यन्वयः ॥ ४१ ॥ तदिति कथं सम्भवेत् तत्प्रकारमित्यर्थः । कौतूहलं कौतुकजनकम् इत्यर्थः । महायोगिन् ! परमभक्तियुक्तेति श्रीभगवद्वृत्तं तया ज्ञातं न किञ्चिदस्तीति भावः । ननु, परमगुह्यमेतत्तत्राह—हे गुरो ! उपदेष्टुः किञ्चिद्गोप्यं शिष्ये नास्तीति भावः स्वयमेव सिद्धान्तं तर्कयति एतत्तेषां तादृशं दर्शनभानं मायादुर्घटघटनी शक्तिः हरेरिति मायया सर्वविचारहरणाभिप्रायेण एवेत्यन्यमाया निरस्ता, तदेव द्रढयति—नान्यथा तन्मायां विना न सम्भवेदित्यर्थः । गोपकुमाराणां तेषामन्यतो भ्रमाद्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥ श्रवणार्थमत्यौत्सुक्येन गुरुं प्रोत्साहयति—वयमिति बहुत्वं बन्धुवर्गापेक्षया अपि किं वा तच्छिष्यादिनात्मनो बहुत्वमानात् क्षत्रबन्धवः क्षत्रियाधमा अपि एतच्चात्यन्तविनयात् पुण्यं मनोज्ञं तत्र गुणविशेषं बोधयति—त्वत्त इति । हे गुरो ! त्वच्छिष्यत्वेनैव धन्याः कृतार्थाः विशेषतश्च त्वत्तः श्रीकृष्णकथामृतपानेन धन्यतराः मुहुः पानेन च धन्यतमा इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ बादरायणिरिति पितृनाम्नोल्लेखात् तस्यापि नन्दनत्वेन माहात्म्यविशेषः सूचितः । अत एव तेन तदीयप्रश्नविशेषेण स्मारितस्तत्तद्विशेषेण हृदयं प्रापितोऽनन्तः शाद्वलजेमनादिब्रह्मस्तूयमानतापर्यन्तानन्तैश्वर्यमाधुरीकः कृष्णः तेन हृताखिलेन्द्रियः प्रेमभरेण तदेकपरिस्फूर्त्या लीनसर्वेन्द्रियवृत्तिरित्यर्थः । अयं प्रमोदमोहानुभावः प्रलयाख्यः कम्पपुलकादिवत् प्रेमविकारविशेषो ज्ञेयः संस्मारित इति क्वचित्पाठः तथापि स एवार्थः स च स्वाम्यसम्मतः चित्सुखस्य तु सम्मतः कृच्छ्रात् उच्चैः करतालशङ्खभेरीदुन्दुभिनिःशाणादिवाद्ययुक्तकीर्तनोद्घोषणैर्बहुलप्रयासेन लब्धबहिर्दृशिः जातेन्द्रियबहिर्वृत्तिरित्यर्थः । पुनरित्यनेन पूर्वमपि वारम्वारमीदृशो जातो ऽस्तीति बोध्यते तत्र तत्रैव तातेति वारं वारं सम्बोधनमित्यभिज्ञाः आहुः तदर्थं श्रीपरीक्षिता महाव्यग्रेण सता निजान्तिके तत्तद्वाद्यादि श्रीकृष्णकीर्तनसामग्री श्रीजनमेजयतो रक्षिता ऽस्तीत्याख्यायिका प्रसिद्धा

शनैरिति तदानीमप्यनुवर्त्तमानेन प्रेमभरेणाक्रान्तत्वात् हे भागवतोत्तमोत्तमेति तत्परमगुह्यमपि श्रोतुमर्हसीति भावः। क्वचित्स्वाम्य-
सम्मतो द्वितीयान्तपाठश्चित्सुखसमन्तः ततश्च प्रतिवचने हेतुर्ज्ञेयः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एतच्च दुर्घटमिति भवतावगम्यत एवेति
कालान्तरकृतं पूर्वकालीनं सद्यस्तनं कथं सम्भवेत् ? तदेवाह,—यदिति। कथं सम्भवेत् ? तत्—तत्प्रकारमित्यर्थः। यतः परमं कौतुहलमात्रास्माकं श्रवणौ-
सम्बोधयति—ब्रह्मन् साक्षाद्वेदरूपेति ॥ ४१ ॥ त्सुक्यं सन्देहो वा, यद्वा, तत्कौतुहलमाश्चर्य्यं ब्रूहि व्युत्पादयेत्यर्थः। महायोगिन्। परमभक्तियुक्तेति श्रीभगवद्वृत्तं तवाज्ञातं न किञ्चिदस्तीति भावः। ननु, परमगुह्यमेतत् ? तत्राह—हे गुरो ! उपदेष्टुः किञ्चिद्गोप्यं शिष्ये नास्तीति भावः। नूनं वितर्के निश्चये वा। एतत् कौतुहलं तेषां तादृशवचनं वा। मायेत्यभेदोक्तिरत्यन्तमायिकत्व-विवक्षया। हरेरिति मायया सर्व्वविचार-हरणाभि-प्रायेणैवेत्यन्यमाया निरस्ता। तदेव द्रढयति—नान्यथेति, तन्मायां विना न सम्भवेदित्यर्थः, गोपकुमाराणां तेषां भ्रमाद्य-सम्भवात् ॥ ४२ ॥ श्रवणार्थमत्यौत्सुक्येन गुरुं प्रोत्साहयति—वयमिति, बहुत्वं बन्धुवर्गापेक्षया, किंवा तच्छिष्यत्वादिनात्मनो बहुमानादपि क्षत्रबन्धवः क्षत्रियाधमा अप्येतच्चात्यन्तविनयात् पुण्यं मनोज्ञं तत्र गुणविशेषं बोधयति। त्वत्त इति हे गुरो! त्वच्छिष्यत्वेनैव धन्याः कृतार्थां विशेषतश्च त्वत्तः कृष्णकथामृतपानेन धन्यतराः, मुहुर्मुहुः पानेन च धन्यतमा इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ बादरायणिः बदरिकाश्रमे महातपसा श्रीव्यासाज्जात इति माहात्म्यविशेषः सूचितः, अतएव तेन श्रीकृष्णकथारसिकेन श्रीपरी-क्षिता तदीयप्रश्नविशेषेण वा स्मारितो विशेषतो हृदयं प्रापितोऽनन्तोऽपरिच्छिन्नसुखरूपः कृष्णः, यद्वा, वक्ष्यमाणवत्सबालादि-रूपधारणादिनानन्तः, यद्वा, स शाद्बलजेमनाद्यनिर्वचनीयलीलारससिन्धुश्चासौ स्मारितश्च योऽनन्तोऽपरिच्छिन्नमाहात्म्यः श्रीकृष्णस्तेन हृताखिलेन्द्रियः प्रेमभरेण तदेकपरिस्फूर्त्या लीनः सर्वेन्द्रियबहिर्वृत्तिरित्यर्थः। अयं प्रलयाख्यः कम्पपुलकादिवत् प्रेमविकारविशेषो ज्ञेयः। संस्मारित इति क्वचित् पाठस्तत्रापि स एवार्थः। कृच्छ्रादुच्चैः करतालशङ्खभेरीदुन्दुभिनिशानादि-वाद्ययुक्तकीर्त्तनोद्घोषणैर्बहुप्रयासेन लब्धबहिर्दृशिर्जातेन्द्रियबहिर्वृत्तिरित्यर्थः। पुनरित्यनेन पूर्वमपि बारम्बारमीदृशो जातो-स्तीति बोध्यते। तत्र तत्रैव तातेति तथा बारम्बारञ्च सम्बोधनमित्यभिज्ञा आहुस्तदर्थञ्च श्रीपरीक्षिता महाव्यग्रेण सता निजान्तिके तत्तद्वाद्यादिश्रीकृष्णकीर्त्तनसामग्रीश्रीजनमेजयतो रक्षितास्तीत्याख्यायिका प्रसिद्धा। शनैरिति तदानीमप्यनुवर्त्तमानेन प्रेम-भरेणाक्रान्तत्वात्। हे भागवतोत्तमोत्तमेति तत् परमगुह्यं श्रोतुमर्हसीति भावः। क्वचिद् द्वितीयान्तपाठस्ततश्च प्रतिवचने हेतुर्ज्ञेयः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रील सनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णव-
तोषण्यात् श्रीदशमटिप्पण्यां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

कौमारे हरिकृतं कालान्तरकृतं कथं तत्कालीनं भवेत्तच्च अर्भकाः पौगण्डके तत्कालीनमिव कथं जगुरित्यन्वयः ॥ ४१ ॥ श्रीहरेः माया सङ्कल्परूपं ज्ञानं क्रीडेच्छेति यावत् अन्यथा नेति मम भासते इति प्रश्नः ॥ ४२ ॥ पिबामः सादरं शृणुमः ॥ ४३ ॥ तत्स्मारितः परीक्षित्प्रश्नेन स्मारितो योऽनन्तगुणविशिष्टोऽनन्तः कृष्णः तेन हृतमखिलेन्द्रियं मनो यस्य सः ततः मनसो लये सति पुनः कृच्छ्राल्लब्धबहिर्ज्ञानः सन् शनैः तं प्रणम्याह—भागवताः कीर्त्तनादिनिष्ठाः तेषूत्तमाः श्रवणनिष्ठत्वात् श्रवणे ऽज्ञतया प्रश्नादि करणेऽहन्तानिवृत्तिः श्रीभगवच्छ्रवणस्यैव ममता विषयतया आत्मीये ममतानिवृत्तिः एवं विरोधिनिवृत्तौ सति अनन्तराङ्गानाम् अपि श्रवणे एवान्तर्भावः सुधीभिरनुभाव्यः स्मृतिसन्ततेरेव भाष्यकारैर्भक्तिरूपत्वप्रख्यापनात् इतिभावः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये द्वादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

प्रश्नप्रकारमेवाह—ब्रह्मन्निति। हे ब्रह्मन् ! कालान्तरे कौमारकाले कृतं कर्म तत्कालीनं पौगण्डकालीनं कथं भवेत्पौग... कथं ज्ञात्वोचुरित्यर्थः। तदाह—यदिति। यद्वा, तत्कालीनं पौगण्डकाले वाच्यं कथं भवेत् यत्कालावच्छेदेन कृतं तत्तत्काले विस्मृ... सत् कालान्तरे च स्मृतं सद्वाच्यं स्यादेवेत्यत्राह—यदिति। यद्यस्मात्कारणात्कौमारकृतं पौगण्डके विदुः सन्निकृष्टकाले स्मरणाभा... कालान्तरे स्मरणं च न विना कारणेन भवतीति तत्कारणं वदेति प्रश्नार्थः ॥ ४१ ॥ तदेतत्कारणं ब्रूहि हे महायोगिन् ! मे मम... त्कारणं श्रोतुं परमधिकं कौतूहलं वर्त्तते मम त्वेवं प्रतिभातीत्यभिप्रायेणाह—एतत्कारणं हरेर्माया आश्चर्यशक्तिरेव नूनं ध्रुवं अन्यथा त्वेवं न घटते ॥ ४२ ॥ आत्मनः कृतार्थतामाविष्कुर्वन् भगवत्कथां स्तौति—वयमिति। हे गुरो ! क्षत्रबन्धवोऽपि वयं लोके धन्यतमाः कृतार्था एव कुतः ? यतः श्रीकृष्णस्य कथामृतं मुहुर्मुहुस्त्वत्तः पिबामः अधन्यानां नैवं घटेतेति भावः ॥ ४३ ॥ इत्थमापृ... भगवान् बादरायणिस्तदाहेत्याह सूतः—इतीति। स तु बादरायणिरित्थं पृष्टोऽत्र एव तावत् संस्मारितेनापरिच्छिन्नवैभवेन भगवता...

हृतान्यखिलानीन्द्रियाणि यस्य तथाभूतोऽपि पुनः शनैः कृच्छ्रात्कथञ्चिल्लब्ध्वा बहिर्दृशियेन तथाभूतस्तं भागवतोत्तमोत्तमं राजानं प्रत्याह—भागवतोत्तमोत्तमेतिपाठे हे शौनक ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कालान्तरकृतं कौमारकृतं पौगण्डकाले कथं स्यात् ? तत्र हेतुः यत्कर्म कौमारे हरिणा कृतमपि पौगण्डे कृतमित्यूचुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ हरेरेव माया दुर्घटघटना शक्तिः नान्यस्य तत्र तदशक्तेः अनन्तः शाद्वलजेमानादिकमारभ्य ब्रह्मणस्तुयमानतात्पर्य्यं प्रकाशिते अनन्तैश्वर्य्यमाधुरीकः ॥ ४२–४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कालान्तरकृतं पूर्वकालनिष्पादितं कर्म तत्कालीनं सद्यः कालदृष्टं कथं भवेत् ? तदेवाह—यदिति । पौगण्डके अद्यैव हरिकृतमिदं कर्मेति कथमूचुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ माया दुर्घटघटनापटीयसी शक्तिः हरेरित्यन्यमायानिरस्ता योगमायेत्यर्थः । तयैव भगवन्नित्यपरिजनानां मोहनसम्भवात् ॥ ४२ ॥ हे गुरो इति मम त्वच्छिष्यत्वात् "ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत" इति विधेरवश्यवक्तव्यत्वं व्यञ्जितं पिबाम इति स्वासक्तिव्यञ्जनया स्वस्य स्निग्धत्वं च ॥ ४३ ॥ कृच्छ्रात् उच्चैर्भगवन्नामकीर्तनोद्घोषैः तत्रत्यनारदव्यासादिमुनिकृतैरतियत्नभरादित्यर्थः । हे भागवतोत्तमोत्तम ! शौनक ॥ ४४ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमे द्वादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कालान्तरकृतं कौमारे कृतम् तत्कालीनं पौगण्डकालिकं कथं केन कारणेन भवेत् ? यस्मात्कारणात् अर्भकाः हरिणा कौमारे कृतं पौगण्डके जगुः ॥ ४१ ॥ माया विचित्रा शक्तिः ॥ ४२–४३ ॥ तेन राज्ञा यः स्मारितोऽनन्तो हरिस्तेन हृतान्यखिलानीन्द्रियाणि यस्य सः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे द्वादशाध्यायार्थप्रकाशः ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कालान्तरे पूर्वकृतं कर्म तत्कालीनं सद्यः कालदृष्टं कथं भवेत् तदेवाह यदिति ॥ ४१ ॥ एतद्धरेर्माया परांशरूपा योगो शक्तिर्भवति तयैव तत्पार्षदानां मोहसम्भवात् ॥ ४२ ॥ हे गुरो ! क्षत्रबन्धवोऽपि वयं धन्यतमाः ॥ ४३ ॥ तेन तत्प्रश्नेन स्मारितः स्मृतिपथं प्रापितो अनन्तः शाद्बलजेमनादिब्रह्मस्तूयमानतात्पर्यन्तानन्वमाधुर्यैश्वर्यः कृष्णस्नेहेन हृताखिलेन्द्रियः प्रेम्णा तदेकस्फूर्त्या विलीनसर्वेन्द्रियवृत्तिरिति ज्ञानरूपः प्रेममोहोऽभूदिति बोध्यम् । कृच्छ्रादुच्चैर्भगवन्नाम-कीर्तन-शङ्ख-दुन्दुभिनादरूपात् प्रयत्नादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

प्रश्नमेवाह त्रिभिर्ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानार्थं, यदुक्तं "कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तितं"मिति तत्र शङ्का **कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेदिति**, तदेवाह **यत् कौमारे हरिकृतं** बालकाः **पौगण्डके विदुरिति** ॥ ४१ ॥ यद्यपि भविष्यति किञ्चित् कारणं तथापि **तन् मे मह्यं ब्रूहि**, अज्ञानं तु तव नास्तीत्याह हे **महायोगिन्निति**, किञ्चैतत् **परं कौतूहलं**, एतावज् ज्ञायते **नूनमेतद्धरेरेव माया भवति, अन्यथा** तेषां भ्रमो **न** स्यात्, अतो भगवच्चरित्रमिति वक्तव्यम् ॥४२॥ कथनार्थं स्वश्लाघां करोति **वयं धन्यतमा** इति, क्षत्रियाधमा अपि **वयं धन्यतमा** यतो भवान् **गुरुः**, किञ्च **त्वत्तः कृष्णकथामृतं** यतो **मुहुः पिबामः** ॥ ४३ ॥ एवं पृष्टो जातसमाधिरपि शुकः पुनराहेत्याह **सूतः, इत्थं पृष्टो बादरायणिः सम्यक् स्मारितो** योय**मनन्तस्तेन हृतान्यखलेन्द्रियाणि** यस्य, तादृशोपि **कृच्छ्रात् पुनर्लब्धबहिर्दृष्टिः शनैः प्रत्याह समाधे**र्विरतस्यौच्चैर्भाषणं न सम्भवतीति, **भागवतोत्तमानां मध्य उत्तमं प्रती**तिकथने हेतुः ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रक्षिप्ताध्यायत्रये प्रथमाध्यायविवरणम् ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

शास्त्ररहस्यज्ञत्वं सूचयन् सम्बोधयति–ब्रह्मन्निति । 'यत् आत्माहिमोक्षलक्षणं कर्म कौमारावस्थायां हरिणा कृतं, तत् अर्भका बालाः पौगण्डावस्थायां व्रजे जगुः' इति यद्भवतोक्तं तत् कालान्तरे कौमारे कृतं तत्कालीनं पौगण्डकालीनं कथं भवेत् ॥४१॥ 'उत्तरदाने त्वं योग्योऽसि' इति सूचयन् सम्बोधयति—गुरो इति । तत्र सर्वज्ञत्वहेतुं सूचयन् पुनः सम्बोधयति—महायोगिन्निति । नूनं निश्चितमेवं वैपरीत्यकथनस्य कारणं हरेर्मायैव भवति, अन्यथा प्रकारान्तरेण तु न घटते, इति यद्यपि सामान्यतो जानामि, तथापि विशेषतस्तत्कारणं ब्रूहीत्यन्वयः । एतच्छ्रोतुं मम परं कौतूहलं महानुत्साहो वर्तते इति ॥ ४२ ॥ महतां कृपापात्रत्वेन भगवत्कथामृतपानेन च आत्मनः कृतार्थतामाविष्करोति—वयमिति । महत्त्वं सूचयन् सम्बोधयति—हे गुरो इति । 'राज्ञां कुलं ब्रह्मणा पादशौचादरात्

विसृष्टम्' इति यत् हीनत्वमुक्तं तदेव पुनः सूचयन् आह – क्षत्रबन्धवोऽपि वयं लोके धन्यतमाः कृतार्थाः, यद्यस्मात् पुण्यं मोक्षप्रति-बन्धकदुरितनिवर्तकं श्रीकृष्णस्य सदानन्दस्वरूपस्य कथारूपममृतं जन्ममरणादिनिवर्तकं त्वत्तः परमकृपालोर्मुहुः वारं वारं पिबामः ॥ ४३ ॥ 'स्म' इत्यवधारणे। इत्थमेवं पृष्टः, अतस्तेन प्रश्नेन स्मारितो योऽनन्तः कृष्णस्तेन हृतान्यखिलानि इन्द्रियाणि यस्य सः तदेकाकारचित्तत्वेन निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्ति कृच्छ्रात् करतालदुन्दुभिशङ्खादिवाद्ययुतस्तोत्रादिप्रयासात् पुनः शनैर्लब्धा बहिर्दृशिः दृष्टिः येन स तु बादरायणिः शुकः हे भागवतोत्तमोत्तम शौनक ! तं राजानं प्रति भगवच्चरितमाह। द्वितीयान्तपाठे तु तं भागवतानां मध्ये ये उत्तमास्तेष्वप्युत्तमं राजानं प्रत्याह ॥ ४४ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य—वंश्यगोपालसूनुना ॥ श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ॥ श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने ॥ विवृतो द्वादशोऽध्यायो ह्यघमोक्षनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ब्रह्मन्निति ॥ हे ब्रह्मन् ! यत् आत्माहिमोक्षलक्षणं कर्म कौमारावस्थायां हरिणा कृतं तत् अर्भका बालाः पौगण्डावस्थायां व्रजे जगुरिति यद् भवतोक्तं तत्कालान्तरे कौमारे कृतं तत्कालीनं पौगण्डकालीनं कथं भवेत् ॥ ४१ ॥ तद्ब्रूहीति ॥ हे महायोगिन् गुरो ! नूनं निश्चितमेवं वैपरीत्यकथनस्य कारणं हरेर्माययैव भवति। अन्यथा प्रकारान्तरेण तु न घटत इति तथापि विशेषतस्तद्धेतुं ब्रूहि। तच्छ्रोतुं मम परं कौतूहलं महानुत्साहो वर्तत इति ॥ ४२ ॥ वयमिति ॥ हे गुरो ! क्षत्रबन्धवोऽपि वयं लोके धन्यतमाः कृतार्थाः स्मः। यद्यस्मात्पुण्यं श्रीकृष्णस्य कथारूपममृतं त्वत्तः मुहुः पिबामः ॥ ४३ ॥ इत्थमिति ॥ हे भागवतोत्तमोत्तम शौनक ! स्मेत्यवधारणे। स बादरायणिः शुकः इत्थमेव पृष्टः अतस्तेन प्रश्नेन स्मारितो योऽनन्तः कृष्णस्तेन हृतान्यखिलानि इन्द्रियाणि यस्य सः तदेकाकारचित्तत्वेन निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिः अयं प्रलयाख्यसात्त्विकभावः कृच्छ्रात् व्यासादिकृतात् शङ्खादिवाद्ययुत-स्तोत्रादिप्रयासात् पुनः शनैः लब्धा बहिर्दृशिः जगदनुसन्धानं येन सः शुकः तं राजानं प्रति भगवच्चरितमाह स्म ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पुनः राजा पृच्छति ब्रह्मन्निति। हे ब्रह्मन् कालांतरे कुमारावस्थायां कृतं अघार्दनं तत्कालीनं तत्कालिकं तस्मिन् काले पौगंडावस्थायां भवं कथं भवेत् तथाहि यदिति ॥ ४१ ॥ तत्परं कौतूहलं परमाश्चर्यं मे ब्रूहि ॥४२॥ क्षत्रबंधवः क्षत्रिया अपि ॥४३॥ इत्थमिति बादरायणो व्यासस्तस्यापत्यं बादरायणिः शुकः। तेन राज्ञास्मारितेऽनंते हरौ हृतानि प्रतिलोमतया संलग्नानि अखिलेंद्रियाणि यस्य सः जातसमाधिरित्यर्थः। कृच्छ्रात् परमानंदस्वरूपनिमग्नत्ववियोगात् कष्टात् पुनः शनैः लब्धा बहिर्दृशिः दृष्टिर्येन तथाभूतः शुकः उत्तमं तं परोक्षितं प्रत्याह भागवतोत्तमेति शौनकसंबोधनम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्र श्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य-दशमस्कंधव्याख्याने अघासुरवधो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इत्थं स्मेति : १०.१२.४४.

तत्प्रश्नस्मारितप्राप्त-योगयुक् शुकबोध्यया। सूतोक्त्यापि स्फुटं भाति स प्रश्नो योगगोचरः ॥ ९६ ॥
श्रीशाकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

परीक्षित राजा ने कहा– महाराज ! आपने अभी कहा कि श्रीकृष्ण भगवान ने जो लीला पाँचवें वर्ष में की थी उस लीला को बालकों ने व्रज में छठे वर्ष में अपने घर जाकर कही, तो महाराज यह बात समझाईए कि पाँचवें वर्ष का प्रसङ्ग छठे वर्ष के कालान्तर में कैसे कहा जा सकता है ॥४१॥ हे महायोगिन् ! हे गुरो ! मुझे तो इस विषय में भारी कुतूहल है, आप कृपया इसका समाधान कीजिए। मुझे तो निश्चित रूप से यह भगवान की माया ही प्रतीत हो रही है ॥ ४२ ॥ हे गुरो ! क्षात्र कर्म विप्र सेवा से विमुख होने के कारण हम अपराधी नाम मात्र के क्षत्रिय हैं फिर भी हमारा महद् भाग्य है कि आप के श्रीमुख से निकले पुण्यमय मधुर श्रीकृष्णलीलामृत का पुनः पुनः पान कर रहे हैं ॥ ४३ ॥ श्री सूतजी ने कहा—हे मुनि वरो ! महाराज परीक्षित् ने जब ऐसा प्रश्न किया तब श्रीशुकाचार्य महाराजजी को भगवान के दिव्य गुणों का स्मरण हो आया और समाधिस्थ हो गये, उनका मन और इन्द्रियाँ रसराज नित्य लीला में लीन हो गयी। मुश्किल से फिर धीरे-धीरे अपने को बाह्याचरण में ला सके और परमभागवत परीक्षित राजा को कहने लगे ॥ ४४ ॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥

—※※※—

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	इ. वं.	वंश.	व.	मन्दा.	शार्दूल.	शिखरिणी	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.
६४	४८	८	१	१	२	१	२	१	२	२४०२	१३

अ. अ.	सं. श्लो.	सं. श्लो. अ.	अक्ष.
५०	२४६५	७७	१

श्रीशुक उवाच

साधु पृष्टं महाभाग त्वया [1]भागवतोत्तम। यन्नूतनयसीशस्य शृण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

सतामयं [2]सारभृतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि।

प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य [3]यत् स्त्रिया विटानामिव साधु वार्ता ॥ २ ॥

शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥

[4]तथाघवदनान्मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान्। [5]सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—महाभाग ? भागवतोत्तम ? त्वया साधु पृष्टं यत् ईशस्य कथां मुहुः शृण्वन् अपि नूतनयसि ॥ १ ॥ अपि यदर्थवाणीश्रुतिचेतसां सारभृतां सतां अयं निसर्गः यत् विटानां स्त्रियाः अच्युतस्य साधुवार्ता प्रतिक्षणं नव्यवत् (भाति) ॥ २ ॥ राजन् अवहितः शृणुष्व गुह्यम् अपि ते वदामि स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरव उत गुह्यम् अपि ब्रूयुः ॥ ३ ॥ भगवान् वत्सपालकान् अघवदनात् मृत्योः रक्षित्वा तथा सरित्पुलिनम् आदाय इदम् अब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोदशेऽहरद्ब्रह्मा वत्सान्पालांश्च मायया। तदा तत्सर्वरूपोऽब्दं कृष्णः पूर्ववदाचरत् ॥ १ ॥

नूतनयसि नव्यवत्करोषि ॥ १ ॥ तथाहि सारभृतां सारग्रहिणामयं निसर्गः स्वभावः। कोऽसौ। अच्युतस्य वार्ता श्रुता सती प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति यत्सः। विटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्या वार्तेव। कथंभूतानामपि सताम्। या अच्युतवार्ता सैवार्थो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि ॥ २-४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पालान् गोपान्। तदा हरणोत्तरकाले। तेषां सर्वेषां गोपवत्सानां रूपमिव रूपं यस्य सः। अब्दमिति। "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया। यावद्वर्षमित्यर्थः। पूर्ववत् यथापूर्वं लीलां करोति तद्वदित्यर्थः (१)। महाभाग्यं विना हरिकथायाः प्रश्नो न संभवतीति भावः। अस्यैव विवरणरूपं भागवतोत्तमेति कथं मे भागवतोत्तमत्वं तत्राह—यदिति। यत् यतः। नूतनं करोषि नूतनयसि तत्करोतीति णिजन्ताच्छतरि ॥ १ ॥ "विटोऽद्रौ लवणे खिंगे मूषिके खदिरेऽपि च" इति मेदिनी। स्त्रिया इति। परमघृणास्पदस्यापि स्त्रीपदार्थम्। नवनवमधुरतास्फूर्त्तावनुराग एव कारणं चेन्नित्यनूतनायमानस्य परमानंदैकरसस्य श्रीभगवतः किमुतेति भावः ॥ २ ॥ राजन्निति। हे बुद्ध्यादिना प्रकाशमान। एजत्कथानकं वक्ष्यमाणं बोद्धुं त्वमर्हसीति भावः ॥ ३ ॥ तथा पूर्वोक्तप्रकारेण भो वयस्या मम सखीनां भवतामेव भोजनयोग्यमेतदिति भावः। पुलिनं तोयात्सद्यो निर्गतं तटम् "तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्" इत्यमरः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

हे महाभागेति गर्भेऽपि तेन श्रीभगवतो दर्शनात् हे भागवतोत्तमेति तत्कथैकरसिकत्वात् तथा द्विः सम्बोधनं च श्रीकृष्णाविष्टचित्तत्वात् प्रेम्णैव यद्यस्मात् ईशस्य स्वप्रभोः ॥ १ ॥ अश्रुतं च नूतनयसीति किं वक्तव्यं यतो मुहुर्मुहुः श्रुतमपि नूतनय-

१. मोत्तम—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व.। २. सारदृशां—वीर.। ३. तनु—गो. प्रे. पु.; यद्—श्रीधर. वंशी. वीर. विज.जीव.। ४. यथा—वीर.। ५. सदः पुलिन—वीर.।

सीत्येतदप्युचितमेवेत्याह—सतामिति । कदाचिन् कथञ्चित् कस्माऽच्चिदपि च रसान्न च्यवत इति अच्युतः तस्येति तद्वार्त्तया अपि
ताद्दशत्वमभिप्रेतम् अत एव साधु यथा स्यात्तथा प्रतिक्षणं नव्यवद्भवति स्वादुवैशिष्ट्येनापूर्ववज्जायते तदेकलाम्पट्यांशं दृष्टान्तः
स्त्रिया इति तदेवं परमघृणास्पदस्यापि स्त्रीपदार्थस्य नवनवमधुरतास्फूर्तौ अनुराग एव कारणं चेन्नित्यनूतनायमानपरमानन्दैकरसस्य
श्रीभगवतः किमुतेति भावः ॥ २ ॥ अवहितः सन्निति वक्ष्यमाणस्य परमदुरवगाहत्वात् राजन् हे बुद्ध्यादिना प्रकाशमानेत्यर्थः ।
उतेति वितर्के वयमिदं विचारयाम इत्यर्थः । अत्र श्रीभगवति ब्रह्मणि च यदसम्भवं बहुविधमेवाश्चर्यमायास्यति तत् खलु न सर्वेषां
सुबोधमिति गुह्यमित्युक्तम् ॥ ३ ॥ तथा तेन प्रकारेण अघासुरवदनरूपान् मृत्योर्वत्सान् पालकांश्च भगवानपि ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

हे महाभागेति गर्भेऽपि तेन भगवतो दर्शनात्, जन्मानन्तरञ्च सर्वत्र तत्परीक्षणादिना । हे भागवतोत्तमेति तत्कथैक-रसिकत्वात्, वस्तुतस्तु श्रीकृष्णाविष्टत्वात् प्रेम्णा तथा द्विःसम्बोधनम्; यद्यस्मात्, ईशस्य स्व-प्रभोः ॥ १ ॥ अश्रुतञ्च नूतनयसीति किं वक्तव्यम् ? यतो मुहुर्मुहुः श्रुतमपि नूतनयसीत्येतदुचितमेवेत्याह,—सतामिति । कदाचित् कथञ्चिदपि रसान्न च्यवत इत्यच्युतस्तस्येति तद्वार्त्तया अपि ताद्दशत्वमभिप्रेतम्; अतएव साधु यथा स्यात्तथा नव्यवद्भवति; यद्यपि नव्यैव भवति, तथापि पूर्व्वसेवितत्वाद् वतिप्रत्ययः । तदेक-लाम्पट्यमात्रापेक्षया दृष्टान्तः —स्त्रिया इति ॥ २ ॥ अवहितः सन्निति वक्ष्यमाणस्य परम-दुरवगाहत्वात् राजन् हे बुद्ध्यादिना प्रकाशमानेत्यर्थः । उतेति प्रसिद्धौ हतौ वा ॥ ३ ॥ तथा तेनोक्तप्रकारेणाघासुर-वदनरूपान्मृत्योः वत्सान् पालकांश्च । भगवानिति निजैश्वर्य्यविशेषप्रकटनार्थमिति भावः; तच्चाग्रे व्यक्तं भावि ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

हे भागवतोत्तम ! ईशस्य कथानूतनतां मत्वा पृच्छतीत्यर्थः ॥ १ ॥ इयन्तु पुरातननित्यसिद्ध्यैव क्षणे यन्नवतां याति तद्वस्तु सुन्दरमिति कविवचनात् सारभृतां सारं श्रीभगवत्पादारविन्दध्यानं ये बिभ्रति तेषां सताम् अच्युतस्य साधुवार्त्ता शोभनवार्त्ता नव्यवत् भासेत अयं निसर्गः स्वभावः विटानां विषयिणां स्त्रिया असाधुवार्तेव इति ॥ २ ॥ गुह्यत्वम् अन्यमुनीनाम् अस्यार्थस्याज्ञानात् ब्रूयुस्त्रियादि ॥ ३–४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

प्रश्नस्योत्तरं विवक्षुस्तावत्प्रश्नमभिनन्दति—साध्विति । त्वया साधु यथा तथा पृष्टं कुतो यत् यस्मात् कथामृतं शृण्वन्नपि नूतनयसि नवीनं करोषि ॥ १ ॥ युक्तमेवैतदित्याह - सतामिति । सारग्राहिणां साधूनामयं निसर्गः स्वभाव एव, कोसौ ? अच्युतस्य वार्त्ता प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति यदेषः कथं स्त्रैणानां स्त्रियाः कामिन्याः वार्त्तेव कथम्भूतानामपि सतां यः अच्युत एवार्थो विषयो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि ॥ २ ॥ शृणुष्वेत्यभिमुखीकरणम् अवहित इति श्रवणोपयुक्त-चित्तसमाधानगुह्यं गोप्यमपीति ॥ ३ ॥ विवक्षितं वृत्तेन सङ्गमयति–अथेति । मृत्युतुल्यादघासुरस्य मुखाद्वत्सांस्तत्पालकांश्च रक्षित्वा इदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

सतामित्यत्र नव्यवदिति प्रत्ययेनानुरागतुल्यत्वमेव दर्शितं साक्षादनुरागे तु नव्यमेव भातीत्यर्थः । तथापि तस्याङ्घ्रियुगं नवनवमितिवदिति भावः उत वितर्के इदं विचारयाम इत्यर्थः ॥ २–७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ भगवत्कथायाः सततश्रवणश्रद्धालुतया राजानमभिनन्दन्नाह–सतामयमित्यादि सारभूतां सारग्राहिणां सतां साधूनामयमेव विसर्गः स्वभावः । कोऽसावित्याह–अच्युतस्य प्रतिक्षणं नव्यवद् या साधुवार्ता । प्रतिक्षणनव्यत्वे दृष्टान्तः । स्त्रिया विटानामिव विटानां स्त्रैणानां स्त्रिया वार्ता यथा नव्या भवति, तथेत्यर्थः, अत्यन्तसरागत्वे दृष्टान्तः । कीदृशानां सतां विटानां वा ? यदर्थानि यत्प्रयोजनानि वाणी-श्रुतिचेतांसि येषाम् तथाभूतानामपि निरन्तर-गुणकथन-श्रवण-चिन्तन-तत्पराणामपि प्रतिक्षणं नव्यवदित्यति चित्रम् । एतेन दृष्टान्तेन भगवद्विषयरागाधिक्यं हि सारभृतां सतां साहजिकम् ॥ १–२ ॥ इत्यभिनन्द्य सच्छिष्यं प्रति वात्सल्याधिक्यादतिरहस्यमपि कथयति–शृणुष्वावहित इत्यादि । हे राजन् ! शृणुष्व किं तदित्याह–अपि गुह्यं गुह्यमपि यद्वदामि । अपि गुह्यमित्यस्यायं भावः । इदं क्वापि पुराणादौ नास्ति, पित्रापि न कथितम् भगवदनुग्रहान्मयैवेदं ज्ञायत इति वदामीत्युत्तमपुरुषप्रयोगः । ननु तर्हि कथमतिगुह्यं प्रकाशयसीत्याह–"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत" इत्यध्यायद्वये (१३ श–१४ श) ब्रह्ममोहनरूपलीला श्रीशुकदेवस्यैवानुभूता ॥ ४–७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

स्त्रिया विटानामिव साधुवार्त्तेत्यादि। अच्युतवार्त्तेत्यायाते तच्चरिते साध्विति व्रजविहारपरम्, साध्वी असाधारणा-द्भूता प्रतिक्षणं नव्यवद् येषां तेषां सतामयमेव निसर्गः स्वभावः। तत्र दृष्टान्तः—स्त्रिया विटानिव स्त्रिया वार्त्ता यथा विटानाम्, विटानाम् वा यथा स्त्रियाः। अतः श्रीकृष्णे तथैवासक्तिः कार्या, सा गोपीनामेव ॥ १–२ ॥ शृणुष्वेत्यादि। अपि गुह्यम्, अयमर्थः इदमतिगुह्यम्, कुत्रापि पुराणादौ नास्ति, वदामीति न च मे पित्राप्युक्तम्, यतोऽनुक्रमणिकाध्यायेऽपि न लिखितम्, मयैवेदं ज्ञायते, तेन ते वदामि। अतिगुह्यं चेत्तदा कथं वदसि ? तत्राह—ब्रूयुरित्यादि ॥ ४–७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

जेमनं वत्सतत्पालहरणं ब्रह्ममोहनम्। स्वभूतवत्सवैष्णवादिप्रादुर्भावस्त्रयोदशे ॥

विश्वस्य सृष्ट्यादिविमोहनाद्यैश्वर्यं यदंशांशभवं स कृष्णः। विश्वादिसृष्टिं बलदेवमोहं स्वैश्वर्य्यमत्रैक्षयतात्मयोनिम् ॥

हे भागवतेषूत्तम ! कथं मे भागवतोत्तमत्वम् ? तत्राह—यदिति। नूतनयसि नूतनीकरोषि श्रुतां मुहुरास्वादितामपि कथामश्रुतचरीमिव करोषीति कथायामनुरागो व्यञ्जितः ॥ १ ॥ सारभृतां सारग्राहिणामयं निसर्गः यद्यतः अच्युतस्य वार्त्ता प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे साधु यथास्यात्तथा नव्यवद्भवति तृष्णाधिक्यादपूर्ववज्जायते यदर्थानि अच्युतवार्ताप्रयोजनानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथा भूतानामपि तदेकलांपटांशे दृष्टान्तः विटानां कामुकानां स्त्रिया वार्त्तेव कामिनीकथेव ॥ २–४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

त्रयोदशेऽस्मिन्नध्याये यस्मात्कारणात्कौमारे हरिकृतं पौगण्डकेऽर्भका व्रजे जगुस्तत्कारणं बालवत्सहरणादिकं वक्तुं राजप्रश्नमभिनन्दति—साध्विति। यद्यतः ईशस्य भगवतः कथां मुहुः शृण्वन्नपि नूतनयसि नव्यवत्करोषि अतः साधुपृष्टम् ॥ १ ॥ भवद्विधानामेवंविधः स्वभाव एवेत्याह—सतामिति। सारभृतां सारग्राहिणाम् यत् यः अच्युतः एवार्थो विषयो येषां तानि वाणि-श्रुतिचेतांसि येषां तेषां सताम् अयमेव निसर्गः स्वभावः, कः ? अच्युतस्य वार्ता अपि निश्चयं प्रतिक्षणं साधु नव्यवद्भवतीति यस्य सः विटानां स्त्रैणानां स्त्रियाः वार्तेव ॥ २ ॥ प्रस्तुतमाह—शृणुष्वेत्यादिना ॥ ३ ॥ तथोक्तप्रकारेण ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

स जग्धिर्वत्सतत्पाल हृतिर्ब्रह्मविमोहनम्। स्वभूताद्भुतवत्सादि प्राकट्यञ्च त्रयोदशे ॥

भागवतोत्तमत्वे हेतुर्यदिति असकृच्छ्रुतामपि नूतनां मन्यस इत्यर्थः ॥ १ ॥ सारग्राहिणां सतामयं निसर्गः स्वभावः यद्यस्मादच्युतस्य वार्ता प्रतिक्षणं नव्यवद्भवति। साररूपायां तस्यां तृष्णातिशयादपूर्ववज्जायते यदर्थानि यद्वार्त्ता फलकानि वाणीश्रुतिचेतांसि वाक्कर्णमनांसि येषां तादृशानामपि तदेकलाम्पट्यांशे दृष्टान्तः विटानां कामिनां स्त्रियास्तरुण्या वार्त्तेव ॥ २–४ ॥

श्रीसुबोधिनी

द्वितीये वत्सहरणं बालैर्ब्रह्मभ्रमस्ततः। स्तोत्रस्योपक्रमश्चैव भोजनादि निरूप्यते ॥ १ ॥

अभिनन्दति द्वाभ्यां साधु पृष्टमिति, भगवच्चरित्र एव स्थिरा बुद्धिरिति महाभागत्वं, भागवतोत्तमेति सहजोत्तमता, सर्वदैवेशकथां शृण्वन्नपि यन् नूतनमिव करोषीति ॥ १ ॥ किञ्चोचितमेव तव यतः सतां सारभृतां भक्तिमतां निसर्गः स्वभावोयं, तमेव स्वभावमाहार्थवाणीश्रुतिचेतसामपि यस्मादयं स्वभावः, अर्थो धनं वाणी वाक् श्रुतिः श्रोत्रं चेतोन्तःकरणं, एतान्यपि स्वभावत एव भगवत्प्रवणानि, तदाह प्रतिक्षणं नव्यवन् नूतनवदच्यतस्य वार्तेति यद् रस आविष्टे स्वभाव एव तथा भवतीति, दृष्टान्तमाह यथा स्त्रिया वार्ता विटानां श्रुता कीर्तिता भाविता वा सुखदा परमसाधुवार्ता सा भवति, इयं तु साधु-वार्तेतिविशेषः ॥ २ ॥ महदद्भुतमस्ति सावधानतया श्रोतव्यमित्याह शृणुष्वेति, अवहितः सावधानः, गुह्यमप्येतत् तुभ्यं वदामि यतः स्निग्धस्य प्रेमवतः शिष्यस्य गुरवो गुह्यमपि वदन्ति ॥ ३ ॥ वत्सापाहरणार्थमघमुखान् मोचितानां बालकानामुत्तरवृत्तान्त-माह तथेत्येकादशभिः, अघस्य वदनान् मृत्योरेव रक्षित्वा वत्सपालकान् सरित्पुलिनं यमुनातीरमानीय भगवानिदं वक्ष्यमाणम-ब्रवीत् ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

त्रयोदशे सरित्तीरे भोजनादि हरेस्तथा। वत्सादिहरणं ब्रह्ममोहनादि निरूप्यते ॥ १ ॥

राज्ञो भगवत्कथाश्रवणादरातिशयं दृष्ट्वा तस्य भाग्यादिकमभिनन्दति—साध्विति द्वाभ्याम्। हे महाभाग ! हे भागव-तोत्तम ! त्वया साधु पृष्टम्। तत्र महाभागवत्त्वे ज्ञापकं भागवतोत्तमत्वम्। अनेकजन्मसञ्चितपुण्यं विना भक्तेरसम्भवात् भक्तेर्ज्ञापकः

साधुप्रश्नः, भक्तिविना तदनुपपत्तेः । प्रश्नस्य साधुत्वे हेतुमाह—यदिति । यत् यस्मात् त्वमीशस्य कथां मुहुः शृण्वन्नपि नूतनयसि प्रश्नेन नव्यामिव करोषि ॥ १ ॥ 'न वै तच्चित्रम्, भागवतानां स्वभावसिद्धत्वात्' इत्याह—सतामिति । अपिशब्दोऽवधारणे । सतामयमेव निसर्गः स्वतःसिद्धस्वभावः । 'कोऽसौ' इत्यपेक्षायामाह—तेषां समाजे अच्युतस्य अप्रच्युतैश्वर्यादिगुणस्य भगवतो वार्ता प्रतिक्षणं साधु सम्यक् नव्यवद्भवतीति यत् सः । 'कुतस्तेषां भगवत्कथानूतनकर्तृत्वम् ?' इत्यपेक्षायां 'तदेकपरत्वात्' इत्यभिप्रेत्य विशिनष्टि—यदर्थेति । या अच्युतवार्तैव अर्थो विषयो येषां तानि वाणी वाक्, श्रुती श्रोत्रे, चेतोऽन्तःकरणमेतानि येषां तथाभूतानामित्यर्थः । 'के ते सन्त' इत्यपेक्षायामाह—सारभृतामिति । सारग्राहिणाम् । भगवदासक्त्या तत्कथाप्रवर्तकत्वे दृष्टान्तमाह—स्त्रिया इति । विटानां कामुकानां समाजे यथा स्त्रियाः कामिन्या वार्ता नव्यवद्भवति तथेत्यर्थः ॥ २ ॥ एवं प्रश्नादिकं प्रतिनन्द्य तं श्रवणे सावधानीकुर्वन् कथनं प्रतिजानीते—शृणुष्वेति । हे राजन् ! अवहितः सावधानः सन् त्वं शृणुष्व, गुह्यमतिरहस्यमपि ते त्वदर्थं वदामि । तत्कथने तस्य भक्त्यादिहेतुं सूचयन् शिष्टाचारमाह—ब्रूयुरिति । 'उत' इति एवकारार्थः । स्निग्धस्य स्वस्मिन् भगवति च स्नेहवतः शिष्यस्य गुरवो गुह्यमपि ब्रूयुर्वदन्ति ॥ ३ ॥ तथोक्तप्रकारेणाघवदनरूपात् मृत्योः सकाशात् भगवान् वत्सान् बालकांश्च रक्षित्वा सरित्पुलिनं यमुनातीरमानीयाब्रवीदित्यन्वयः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्रयोदशेऽहरद्ब्रह्मा वत्सादीनथ तद्वपुः ॥ भूत्वाऽब्दं चिक्रीड हरिः श्लोकास्तत्राब्धिषण्मिताः (६४) ।
उवाचेत्येकं (१) सपादा पञ्चशैला (७५।) अनुष्टुभः ॥ १३ ॥

साध्विति ॥ हे महाभाग ! हे भागवतोत्तम ! त्वया साधु पृष्टं यद्यस्मात् त्वमीशस्य कथां मुहुः शृण्वन्नपि नूतनयसि श्रुतामप्यश्रुतचरीमिव प्रश्नेन नव्यामिव करोषि । नूतनशब्दात् "तत्करोति०" इति णिच् ॥ १ ॥ सतामिति ॥ विटानां कामुकानां समाजे यथा स्त्रियाः कामिन्या वार्ता नव्यवद् भवति तृष्णाधिक्यादपूर्ववज्ज्ञायते इति तदेकलाम्पट्ये दृष्टान्तः । तथा या अच्युतवार्तैव अर्थो विषयो येषां तानि वाणी वाक् श्रुती श्रोत्रे चेतोन्तःकरणमेतानि येषां तथाभूतानामपि सारभृतां सारग्राहिणां सतां समाजे यत् अच्युतस्य वार्ता साधु सम्यक् प्रतिक्षणं नव्यवद् भवति सोऽयं तेषां सतां निसर्गः स्वभाव एव ॥ २ ॥ शृणुष्वेति । हे राजन् ! अवहितः सावधानः संस्त्वं शृणुष्व । तङार्षः । गुह्यमतिरहस्यमपि ते त्वदर्थं वदामि । उत यस्मात् स्निग्धस्य स्वस्मिन्भगवति च स्नेहवतः शिष्यस्य गुरवो गुह्यमपि ब्रूयुर्वदन्ति ॥ ३ ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेणाघवदनरूपान्मृत्योः सकाशात् भगवान् वत्सान् बालकांश्च रक्षित्वा सरित्पुलिनं यमुनान्तस्तटमानीयाब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अधुना त्रयोदशेऽध्यायेविधिकृतवत्सवत्सपहरणं आब्दं कृष्णेन तावत्तादृशवत्सपादिरूपधारणं चोच्यते यद्यस्मात् नूतनयसि प्रश्नेन नवीनामिवकरोषि ॥ १ ॥ तथाहि सतामिति यदर्थं कृष्णार्थं वाण्यादि येषां तेषां सारग्राहिणां सतां अयमेव निसर्गः स्वभावोऽस्ति तं स्वभावमाह अच्युतस्य साधुवार्त्ता क्षणं क्षणं प्रतिनव्यवत् नवीना भवति अत्र दृष्टांतः विटानांकामिनिप्रसक्तानां स्त्रियाः वार्त्तायथा तद्वत् ॥ २ ॥ अवहितः सावधानः सन् स्निग्धस्य गुरौ स्नेहयुक्तस्य ॥ ३ ॥ मृत्युरूपात् अघमुखात् सरित्पुलिनं यमुनातटम् ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

त्रयोदशेऽहरद्ब्रह्मा वत्सान् पालान् यदा हरिः । मायया सर्वरूपोऽब्दं तदा पूर्ववदाचरत् ॥ १ ॥

हरेः कौमारजं कर्म बालास्तत्पौगण्डके व्रजे प्रोचुरिति यदुक्तं तत्र कारणबुभुत्सया भूयोऽपि राजा तदेवापृच्छदित्याह सूतः । इत्थमिति । हे द्विजाः, यादवदेवः श्रीकृष्णस्तेन दत्तः परीक्षित्, इत्थं विचित्रं, स्वरातुः स्वपरित्रातुः कृष्णस्य, स्वभर्तुरिति पाठे स्वप्राणधारकस्येत्यर्थः । चरितं श्रुत्वा, येन श्रवणेन नितरां गृहीतं वशीकृतं चेतो यस्य तथाभूतः सन्, भूयः पुनः अपि, पुण्यं पुण्यावहं, तदेव कौमारजं पौगण्डके प्रोचुरित्येतदेव, वैयासकिं व्यासात्मजं शुकं, पप्रच्छ ॥ १ ॥ प्रश्नप्रकारमेवाह । ब्रह्मन्निति । हे ब्रह्मन्, कालान्तरे कृतं कौमारावस्थायां विहितं कर्म, तत्कालीनं पौगण्डकालीनं, कथं भवेत् । पौगण्डे ज्ञात्वा कथमूचुरित्यर्थः । एवं सामान्यतयोक्त्वा किं तदित्याकाङ्क्षायां विशेषतः स्पष्टमाह । कौमारे, हरिकृतं यच्चरित्रं, तत् अर्भकाः, पौगण्डके जगुः, एतत् इति संबन्धः । तत्कारणं वदेति प्रश्नार्थः ॥ २ ॥ तदिति ॥ हे गुरो, हे महायोगिन्, तत्तत्कारणं, मे मम, मह्यमित्यर्थः, ब्रूहि । कुतः, एतच्छ्रोतुं परं कौतूहलं मम महानुत्साहो भवतीत्यर्थः । अत्र मम त्वेवं प्रतिभातीत्यभिप्रायेणाह । एतत् कारणं, हरेः माया आश्चर्यशक्तिः एव, नूनं भवति । अन्यथा न, प्रकारान्तरेण न घटते इत्यर्थः ॥ ३ ॥ आत्मनः कृतार्थतामाविष्कुर्वन् भगवत्कथां स्तौति । वयमिति । हे गुरो, क्षत्रबन्धवः अपि, वयं लोके, धन्यतमाः कृतार्थाः एव । कुतः यद्यतः, पुण्यं पवित्रतायाः सुकृतस्य वाऽऽपादकं, कृष्णकथामृतं,मुहुः त्वत्तः, पिबामः । अधन्यानां नैवं घटतेति भावः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पूर्वं सृष्टिक्रमोल्लेखाज्जीवन्मुक्तिर्निरूपिता । अध्यायेऽस्मिन् योगविधिरुक्तः सोंऽशेन दर्श्यते ॥ १ ॥

सतामयमिति : १०.१३.२.

परस्य पुंसश्चरितं परस्याः संसर्गतो यत्प्रकृतेरुपात्तम् । अतोऽत्र युक्तो मुनिना प्रदिष्टा स्त्रिया विटानामिति योपमा सा ॥ २॥

शृणुष्वेति : १०.१३.३.

यद्यप्यस्ति निगूढदुर्घटपथो योगप्रकारस्तथाप्याख्येयो मतिमद्भिरत्र सततं शिष्याय जिज्ञासवे ।
शास्त्रार्थं यदुवाच भूपतिमृषिः प्रोत्साहनापूर्वकं तत्रापि प्रतिभाति यो नृपकृतः प्रश्नः स योगार्थकः ॥ ३ ॥

नैवं चेद्राजसाधारणकृतविविधप्रश्नकुक्षिस्थितैकप्रश्नोऽसावप्यलं तच्छ्रवणसमसमाधिः कुतोऽभूच्छुकस्य ।
गुह्यत्वं चात्र किं वाऽद्भुततरभगवच्चेष्टितान्तर्गतेऽस्मिन्नेवं विपर्ययत्तथोक्त्याऽवददिति सुधियः साधु पश्यन्त्वनीर्ष्यम् ॥ ४ ॥
(युग्मम्)

आदौ योगविधिस्ततोऽद्भुतकृतिः सिद्धिस्ततस्तद्बलात् कार्यं गोकुलरञ्जनं बहुविधान्यादाय रूपाण्यलम् ।
स्वार्थं तत्र च योगसूत्रमननं कर्तव्यमेवं सति प्राप्तेशाद्यपदः श्रुतीडितगतिः साक्षी स एकस्ततः ॥ ५ ॥

ईदृगर्थक्रमोऽध्याये द्वितीये भाति दृश्यताम् । अविस्तरं तदुद्बोधि किञ्चिन् किञ्चित् प्रकाश्यते ॥ ६ ॥
(युग्मम्)

लब्ध्वा श्रीशप्रसादं निरुपमसुखदं भर्त्सयित्वाऽन्तकाहिं वाह्यान्तर्ध्वंसिताघा भवभुवि विहरन्त्येव ये पुण्यपूर्णाः ।
तेषां श्रीशेन साकं विहरणमुचितं भोग्यभोगोऽपि सौख्यादेतद् व्याख्यातमत्र व्रजजनशिशुभिः साच्युतारब्धभोज्यैः ॥ ७ ॥

अन्तकाहिहतितार्क्ष्यसदृशैर्योगवद्भिरमृतादनकामैः । हृत्सरः पुलिनमाश्रयणीयं शुद्धसत्त्वलसितं मृदुनादम् ॥ ८ ॥

गोजातानि प्राणसञ्ज्ञीनि कृत्वा कामं रुद्ध्वा शाद्वले सुप्रदेशे ।
ग्रन्थिं मुक्त्वा यत्ततो योगिभोग्यं भोक्तव्यं तद्भावितात्मेशरूपैः ॥ ९ ॥

तत्रोत्फुल्ल-हृदब्जकोश-विलसज्ज्योतिर्विलोक्याचिराल्लब्धस्वच्छनिजात्मदृग्भिरमलै—रानन्दमग्नैरिह ।
स्वैरं योगिभिराप्तकामितफलैः स्वस्वाधिकारानुगं तत्तादात्म्यधियैव तद्रससमास्वादो विधेयो मुदा ॥ १० ॥

तदीयहृदयोल्लसज्जलजमध्यवर्ती परो रमापतिरसावपि प्रकटितात्मलीलाविधिः ।
सहैव गतपातकैर्निजसमानतामागतैर्भुनक्त्यमृतमादरा—दमलयोगविद्भृत्प्रियः ॥ ११ ॥

चिरतरसमाधिमग्ना भवन्ति ये ह्येवमत्र गोजातम् । तेषामन्तर्वनसुखलुब्धं भवतीति योगयुङ्मार्गः ॥ १२ ॥

अन्तर्दुश्चरगह्वरे किल परा या धीगुहा तत्परास्तस्मिन्नं च्छिकपद्धतिप्रचलिता गोजा महावृत्तयः ।
जाताश्चेत् तदवश्यमेव भवति ज्योतिः सदा गोचरस्तत्रैवेत्यखिलेश्वरोऽपि भगवांस्तत्कर्तुमुत्कण्ठते ॥ १३ ॥

अन्तर्वने बुद्धिगुहाश्रिताया या विस्मृताश्चाखिलपूर्वभावम् । ब्रह्मानुसंधानमितीह युक्तं तासां गवां चानुसमाधिभाजाम् ॥ १४ ॥

ग्रन्थेनैतावता प्रोक्तः समाधिः सविकल्पकः । अम्भोजन्मेति ग्रन्थेन निर्विकल्पोऽल्पमीर्यते ॥ १५ ॥

उत्फुल्लामलहृत्सरोज समनुप्राप्तोदयस्तद्गतो गोजानामवतां च ताः सुखभृतां ब्रह्मानुसंधानकृत् ।
यस्तस्मादमलस्थितेर्विगलिता दृग्दृश्यधीरर्थतः सिद्धं वेति समञ्जसा तदुभयान्तर्धानतः स्वस्थितिः ॥ १६ ॥

दृग्दृश्यत्वधियं विहाय सहसा यो ब्रह्मसंस्थाश्रयो मार्गोऽसौ विधिपूर्वको निगदितः सोऽनुष्ठितो येन सः ।
सर्वात्माऽखिलगोकुलामलक-सद्रूपप्रपञ्चोऽनिशं सर्वैश्वर्ययुतोऽखिलर्धियुगपीत्येतत् स्फुटार्थं तदा ॥ १७ ॥

नान्दनमवगत्य विधिं नान्दनवासं तथा चिदाकाशे । युक्तं युक्त इवेशो दधार सर्वात्मकं रूपम् ॥ १८ ॥

पूर्वं ब्रह्मानुसन्धान-लीनवृत्तिर्यदा तदा । भवत्युपासको-पास्यो-पासनाना-मभिन्नता ॥ १९ ॥
लोके द्रष्टा च दृश्यं चाप्येक एव विभुः सदा । उभयायितमात्मानं कृत्वा व्यक्तीकृता श्रुतिः ॥ २० ॥

सिद्धे योगविधौ भवन्ति सुलभास्ताश्चाखिलाः सिद्धयस्तद्योगान्नहि दुर्घटं किमपि यत्सङ्कल्पमात्रार्थदाः ।
स्वं साक्षित्वमलोपि गोकुलरतौ सत्यामपीति प्रभुर्नानारूपधरश्च गोकुलरतिर्भूत्वा चकार स्फुटम् ॥ २१ ॥

स्वसिद्धिबलनिर्मितं विविधकार्यजातं मयेत्यहर्निशमसङ्गितां हृदि निधाय चालोकयेत् ।
कदाचिदुदितो भ्रमस्तदुपनुत्तये चिन्तयेत् पतञ्जलिमतं त्विदं बलनिरीक्षणादध्वनि ॥ २२ ॥

लसत्सिद्ध्युत्कर्षोऽप्यखिलजनवद्गोकुलरतोऽप्यसङ्गः सन्नेव व्यवहरति योऽद्धा स हि विभुः ।
स विष्णुः स ब्रह्माद्यनुलसित-मास्तम्बमखिलं विभूतिस्तस्यैवेत्यल-मभवदेतत् स्फुटमिह ॥ २३ ॥

एवं नाट्यं नाटयन् योगदृष्ट्याऽप्यन्तर्दृष्ट्यालोकिते त्वेक एव ।
नित्यानन्दी नित्यतृप्तः परात्मेत्येतत् स्पष्टं ब्रह्मदृष्ट्या बभूव ॥ २४ ॥

अभ्यस्ताखिलसृष्टिचिन्तनबलात् सत्तत्त्वमस्यादिभिर्वाक्यैश्चोपनिषद्गतै-रविकला-ऽद्वैतस्थिति-र्लभ्यते ।
योगे यद्यपि सैव किन्विह ततः सिद्धिप्रभावोऽधिकस्तत्तेऽव्याय्यखिलं सुगूढमपि यदृष्टं त्वया सादरम् ॥ २५ ॥

कालान्तरकृतं कर्म तत्कालिकमिति स्थितिः । योग एवेति विज्ञेयः प्रश्नोत्तरसमन्वयः ॥ २६ ॥
एवं योगोऽत्र बोद्धव्यो दिक्प्रदर्शनदर्शितः । प्राप्तक्रमानुरोधेन बीजव्यक्तिर्विभाव्यताम् ॥ २७ ॥

तथाऽघवदनादिति : १०.१३.४.

योऽघोन्मुक्ततनुः प्रलब्धविमलावस्थः स्वभोग्यं ततस्तेनात्राभ्यवहार्यमुज्ज्वलरसं श्रीशोक्तिसच्चेतसा ।
तीर्थे एव सदागमे श्रुतिसुख-प्रोद्यद्द्विजाल्या रवे स्यात्सौख्यं तु ततोऽस्य यौगिकमिति प्रोचेऽच्युतस्तत्स्थलम् ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकाचार्य जी ने कहा—राजन् परीक्षित् ! आपने अत्युत्तम प्रश्न किया । सचमुच राजन् आप परमभागवत पुरुष हो । राजन्, बड़भागी हो क्योंकि आपने बार-बार हरिकथा-लीलामृत का पान किया फिर भी भगवल्लीला विषयक प्रश्न पूछकर भगवल्लीला को नूतन बना रहे हैं ॥ १ ॥ भैया परीक्षित् ! जिन भगवदीयों के श्रवण-मनन-वाणी का व्यसन केवल भगवान् अच्युत की वार्ता ही रहती है ऐसे रसग्राही सज्जन स्वभाव से सदा ही श्री अच्युत प्रभु की गुणगाथा गाते रहते हैं तो भी भगवदीयों को प्रतिक्षण अच्युत कथा नयी सी ही मालुम पड़ती है, जब जब सुने तब उनका ठीक वैसा ही अनुराग खूब बढ़ता जाता है जैसे किसी लम्पट व्यक्ति को बार-बार सुनने और चर्चा करने पर स्त्रियों की चर्चा में नया-नया स्वाद मिलता है ॥ २ ॥ राजन् ! आप सावधानता से श्रवण करे । प्रभु श्रीकृष्ण की यह गुह्य गाथा है आप तो परम भागवत है आप को यह लीला सुनाता हूँ सुपात्र शिष्य को कृपालु गुरुजन गोपनीय बात भी कह देते हैं ॥ ३ ॥ राजन् ! अब सुनिये, भगवान् श्रीकृष्ण ने अघासुर के मुँहरूप मृत्यु से ग्वालवालकों को बचा लिया, पुनः सब बालकों को यमुना तट पर ले आये और कृष्ण कहने लगे ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच[१]

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम्[२] ।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसद् द्रुमाकुलम् ॥ ५ ॥

अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवा रूढं क्षुधार्दिताः[३] । वत्साः समीपेऽपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥
तथेति पाययित्वार्भा वत्सानारुध्य शाद्वले । मुक्त्वा शिक्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैरभ्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्भकाः ।
सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्छदा [४]यथाम्भोरुहकर्णिकायाः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अहो वयस्याः स्वकेलिसम्पत् मृदुल-अच्छ-वालुकं स्फुटत्-सरोगन्धहृतालिपत्रिक-ध्वनिप्रतिध्वान-लसत् द्रुमाकुलं पुलिनं अतिरम्यम् ॥ ५ ॥ दिवा रूढं क्षुधा अर्दिताः अस्माभिः अत्र एव भोक्तव्यं वत्साः अपः पीत्वा समीपे शनकैः तृणम् चरन्तु ॥ ६ ॥ अर्भाः "तथा इति" वत्सान् पाययित्वा शाद्वले आरुध्य शिक्यानि मुक्त्वा भगवता समं मुदा बुभुजुः ॥७॥ रम्याननाः फुल्लदृशः व्रजार्भकाः कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैः सह उपविष्टाः अम्भोरुहकर्णिकायाः छदाः यथा विरेजुः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

भोजनविधानाय पुलिनं स्तोति । अहो इति । स्वीयानां केलीनां संपदो विद्यंते यस्मिंस्तत् । मृदुला अच्छा वालुका यस्मिंस्तत् । किं च स्फुटद्विकसत्सरः । सरोजबाहुल्येनोपचारतः सर एव विकसदित्युक्तम् । तस्य गंधस्तेन हृता आकृष्टा अलयः

१. अन्यप्रत्यां "श्री भगवानुवाच" पाठो न दृश्यते । २. वालु—इति कस्यचित् । ३. क्षुधार्दितैः—वंशी. । ४. इवां—वीर. ।

पत्त्रिणश्च ये तेषां के उदके ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वानास्तैर्लसंतो द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तम् ॥५॥ दिवारूढं वेलातीतेत्यर्थः ॥ ६ ॥ आरुद्ध्य संरुद्ध्य। शाद्वले हरिततृणे देशे ॥ ७ ॥ तदा ते विरेजुः। कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजिमंडलैर्बहुभिः पंक्तिमंडलैः सह नैरंतर्येणोपविष्टाः। श्रीकृष्णाभिमुखान्याननानि येषां ते। फुल्लदृशो विकसितनयनाः। कमलकर्णिकायाः परितः पत्राणि यथा तथेति ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विधानं करणम्। संपदोऽत्र तृणकंटकशर्करारराहित्यरूपा ज्ञेयाः। केलीनां क्रीडानाम्। अन्यदाह—पत्त्रिणः पक्षिणः। 'कं शिरोम्बुनोः' इति विश्वः ॥ ५ ॥ अत्र पुलिने। दिवाऽव्ययं दिवसे। तेन समासः। दिनमारूढम्। एतदर्थस्वामिचरणैः स्फुटितार्थांतरोक्त्या। हे क्षुधार्दिताः चरंतु भक्षयंतु तृणमित्येकत्वं सामान्याभिप्रायेण ॥ ६ ॥ यच्छ्रीमतोक्तं तत्तथास्त्वित्युक्त्वा अर्भा बालाः ॥ ७ ॥ यदा बुभुजुस्तदेत्यर्थः। परितः सर्वतः। अभ्याननाः प्रेम्णा सर्वसांमुख्यस्पृहावतो भगवतः सत्यसंकल्पता शक्त्यैवोद्गारितेनाचित्यवैभवेन निष्पादितानां मुखाद्यंगानां प्रतिदिक्षु प्रकाशात्कृष्णस्याभिमुखे सन्निहितपंक्तौ वयमेव वर्त्तामहेऽन्ये तु व्यवहितपंक्तिषु पार्श्वतः पृष्ठतश्चोपविष्टा इति सर्व एवाभिमानवंत इत्यर्थः। तेन च "सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम्" इति श्रुत्यर्थो दर्शितः। छदाः पत्राणि। यथा कंजकर्णिकायाः परितो मिलितीभूय तिष्ठंति तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

हे वयस्या इति मम सखीनां भवतामेव भोजनयोग्यमेतदिति भावः। तदेव दर्शयति स्वेषां केलेः पङ्क्तिभोजननियुद्धादिक्रीडायाः सम्पत् सम्पत्तिर्याभ्यस्तथाभूता मृदुलाच्छवालुका यस्मिन्निति उपवेशसुखं स्फुटत्सरोजगन्धेति भोजनापेक्ष्यं धूपवत्सौगंध्यम् एतेन शरत्कालो लक्ष्यते तथा गीतमिव भ्रमरादिध्वनिविलासः भोजनपात्रं च पद्मपत्रादिकं सुवासितशीतलाच्छजलं च शरत्तापनिवारणार्थघनवृक्षच्छाया चेति सुखभोजनसामग्री दर्शिता तत्र प्रतिध्वानेति पर्यन्तः सप्तम्यन्यपदार्थो बहुव्रीहिः लसद्द्रुमाकुलमिति तत्पुरुषः तयोः कर्मधारयो ज्ञेयः ॥ ५ ॥ हे क्षुधार्दिताः यद्वा यतः क्षुधार्दिता वयं तत्र हेतुः दिवारूढं अघतुण्डान्तःप्रवेशादिना विलम्बापत्तेः यद्वा क्षुधेतिवत्सानां विशेषणम् अतो न निजभोजनसुखार्थमत्र निरुध्य रक्ष्याः किं तु चरन्त्वित्यर्थः। शनकैरिति जलपानेनाप्यायितत्वात् यद्वा अस्मत्सुखभोजनसिद्ध्यर्थमधुना समीपे शनकैश्चरन्तु पश्चाद्यथेष्टं चरिष्यन्त्येव अतोऽत्रैवान्तिके निरुध्यन्तामिति भावः ॥ ६ ॥ तथा एवमेवेति तदुक्तं संश्लाघ्य इत्यर्थः। शाद्वल इत्यग्रेप्यनुवर्त्तनीयं शाद्वलजेमनं चेति वक्ष्यमाणात्वात् शाद्वलं चात्र सूक्ष्मदूर्वामयत्वमेव ज्ञेयं शिक्यानि स्वस्वगृहात् प्रातरानीतानि मुक्त्वेति अघोदरोन्तःप्रवेशतः पुरस्तादेव तानि क्रीडासौकर्याय वृक्षाग्रे धृतानीति ज्ञेयं किम्वा अघोदरान्तः प्रवेशेऽपि श्रीभगवत्प्रभावेण बालकानामिव तेषामवैकल्यं ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ अभ्याननाः अभि श्रीकृष्णस्य संमुख आननं येषां ते अत एव फुल्लदृशः तच्च तत्प्रीत्यर्थमचिन्त्यशक्त्यैव विपिने श्रीवृन्दावने इति विशेषशोभा योग्यतोक्ता ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

हे वयस्या इति शीघ्रभोजनार्थं स्नेहं जनयति यद्वा, मम सखीनां भवतामेव भोजनयोग्यमेतदिति भावः तदेव दर्शयति—स्वेषां केलेः पङ्क्तिभोजन-नृत्य-नियुद्धादि-क्रीडायाः सम्पत् सम्पत्तिर्याभ्यस्तथाभूता मृदुलाच्छवालुका यस्मिन्नित्युपवेशसुखं स्फुटत्सरोगन्धेति भोजनेऽपेक्षं धूपवत् सौगन्ध्यम्; एतेन शरत्कालो लक्ष्यते। तथा गीतमिव भ्रमरादिध्वनिविलासो भोजनपात्रञ्च पद्मपत्रादिकम्। शरत्तापनिवारणार्थं घनवृक्षच्छाया चेति सुखभोजनसामग्री दर्शिता ॥ ५ ॥ हे क्षुधार्द्दिताः! यद्वा, यतः क्षुधार्द्दिता वयम्; तत्र हेतुः—दिवारूढमघतुण्डान्तःप्रवेशादिना विलम्बापत्तेः। यद्वा, वत्सानां विशेषणम्, अतो न निजभोजनसुखार्थमत्र निरुध्यरक्ष्याः, किन्तु चरन्त्वित्यर्थः। शनकैरिति जलपानेनाप्यायितत्वात्। यद्वा, अस्मत्सुखभोजनसिद्ध्यर्थमधुना समीपे शनकैश्चरन्तु, पश्चाद्यथेष्टं चरिष्यन्त्येव, अतोऽत्रैवान्तिके निरुध्यन्तामिति भावः ॥ ६ ॥ तथा एवमेवेति तदुक्तं संश्लाघ्येत्यर्थः। शाद्वले—शरत्कालीन-श्रीवृन्दावन-स्वभाव-सम्पत्तेर्हरिते तृण-प्रदेशे, आरुध्य सम्यक् रुद्धा। शाद्वल इत्यग्रेप्यनुवर्त्तनीयम्, (भा० १०।१४।६०) 'शाद्वलजेमनञ्च' इति वक्ष्यमाणत्वात्, यद्वा, शाद्वलान्तिके जेमनं शाद्वलजेमनमिति मध्यपदलोपः। प्रायो वालुकामयप्रदेश एव वक्ष्यमाणतद्भोजनपात्रापेक्षणात्। एवं सति शाद्वल इत्यस्य पूर्व्वेनैवान्वयः। शिक्यानि स्वस्वगृहात् प्रातरानीतानि। मुक्त्वेत्यघोदरान्तःप्रवेशेऽपि श्रीभगवत्प्रभावेण बालकादीनामिव तेषामप्यवैकल्यात्; यद्वा, शिक्यानि वृक्षादौ न्यस्य स्वयमेव तदुदरे ययुः, (भा० १०। १२।२४) 'करताडनैर्ययुः इत्युक्तत्वात् ॥७॥ अभ्यानना श्रीकृष्णाभिमुखा अतएव फुल्लदृश इति सर्व्वेषामेव श्रीभगवन्मुखावलोकनं तथा तेषां प्रीत्यर्थं सर्व्वाभिमुखत्वेन श्रीभगवतोऽपि निजैश्वर्यविशेषप्रकटनं ज्ञेयम्। विपिनेऽपि विशेषतो रेजुरशोभन्त, यद्वा, विपिने श्रीवृन्दावन इति विशेषशोभा योग्यतोक्ता ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वसङ्कल्पैः सम्पद्यस्येति पृथक् पदम् एकपद्येति स्वकेलिसम्पत्त्यर्थं मृदुला अच्छा वालुका यस्य तत्स्फुटन्ति यानि सरांसि कमलानि तेषां गन्धेन हृता येऽलयः पत्रिकाः तेषां ध्वनिना लसन्तो ये द्रुमाः तैर्व्याप्तं द्रुमाकुलम् इति पृथक् पदं पुलिनविशेषणं द्वयं

ज्ञेयम् ।। ५ ।। दिवा इत्यव्ययम् दिनमारूढमित्यर्थः ।। ६ ।। आरुध्यैकीकृत्य ।। ७ ।। कृष्णस्य विष्वक् सर्वतः पुरुराजीनि मण्डलानि तैः सह उपविष्टाः व्रजार्भकाः विपिने विरेजुः छदाः पात्राणि वेति ।। ८ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पुलिन एवाशिशिषामुत्पादयितुं तत्स्तौति–अहो इति । हे वयस्याः ! स्वीयानां केलीनां सम्पदो यस्मिन् मृदुला अच्छा वालुका यस्मिन् स्वकेलिसमृद्ध्यर्थं मृदुला वालुका यस्मिन्निति वा स्फुटद्विकसत्सरः सरोरुहबाहुल्यादुपचारात्सर एव विकसदित्युक्तं तस्य गन्धेन हृता आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च तेषां के उदके ध्वनयः तेषां प्रतिध्वानास्तैर्लसन्तो द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तम् ॥ ५ ॥ अत्र अत्रैव दिवा दिनं रूढं प्रवृद्धं भोजनवेलातीतेत्यर्थः । क्षुधार्दिता वत्सा अपः पीत्वा अत्र समीप एव शनकैस्तृणं चरन्तु अदन्तु ॥ ६ ॥ तथैवास्त्वित्युक्त्वा अर्भा बालाः वत्सानपः पाययित्वा शाद्वले तृणहरितदेशे वत्सान् संरुध्य भगवता सह शिक्यानि पर्य्युषितान्नग्रन्थीन् मुक्त्वा बुभुजुः ।। ७ ।। तदा ते रेजुः, कथम्भूताः ? कृष्णस्य विष्वक् परितः बहुभिः पङ्क्तिमण्डलैः सह नैरन्तर्य्येण उपविष्टाः कृष्णाभिमुखान्याननानि येषां ते फुल्लदृशो विकसितनयना यथा कमलकर्णिकायाः परितः स्थितानि दलानि तद्वत् ।। ८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अभ्याननाः श्रीकृष्णसम्मुखमुखा इत्यर्थः । अन्यथा फुल्लदृक्त्वं न स्यात् अचिन्त्या शक्तिश्चेयम् ।। ८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ ब्रह्ममोहनलीला-कथनोपक्रमप्राप्तभगवद्वन्यभोजनलीलां दर्शयति—कृष्णस्य विष्वगित्यादि। विष्वक् सर्वतः कृष्णस्याभ्यानना अभिमुखमाननं येषां तथाभूताः सन्तः पुरुराजिमण्डलैः पुरवो बहव्यो या राजयः श्रेणयस्तासां मण्डलैर्मण्डलाकार-नानापङ्क्तिभिरुपविश्य व्रजार्भका रेजुरित्यन्वयः । अन्तर्मण्डलमेकम्, तद्बहिरन्यत्तद्बहिरन्यदिति क्रमेण बहूनि राजिमण्डलानीति मन्तव्यम् । फुल्लदृशः – ममैवायं सन्मुख इति मन्यमानाः सर्व एव हर्षोत्कर्षेण प्रफुल्लनयनाः, एतेन भगवतः श्रीकृष्णस्य वस्तुस्व-भावादव्यवहितत्वमनावृतत्वं सर्वाभिमुखत्वञ्च, व्यापकत्वात् सहोपविष्टा इति च सर्वेषां निकट एवोपविष्टत्वात्तथात्वम् ॥८-१०॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कृष्णस्येत्यादि । अभ्यानना अभिमुखमाननं येषाम्, वस्तुमहिम्ना श्रीकृष्ण एवाभिमुखः सर्वेषाम्, ते तु तथा न जानन्ति, तेषां मते ममैवायमभिमुख एष इति । वस्तुमहिमा तु (गी० १३-१४) "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" इति प्रत्यङ्गस्यैव व्यापकत्वरूपः ।। ८-१० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भोजनार्थं तदुचितं स्थलं स्तौति – अहो इति । स्वकेलीनां बहुपंक्तिमद्भोजनक्रीडानां सम्पदो यत्र तदिति स्थानवि-स्तीर्णत्वं मृदुला अच्छा वालुका यत्र तदित्युपवेशसुखं प्रफुल्लबहुलसरोजवत्वात् स्फुटतः सरसः एव गन्धेन हृता आकृष्टा अलयः पत्रिणश्च येषां के उदके ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वनास्तैर्लसन्तो द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तमिति भोजनापेक्षणीयधूपादिसौरभ्यवीणादिवाद्य-सुवासितशीतलजलस्निग्धच्छायादिसामग्री दर्शिता ।। ५ ।। दिवारूढं दिवाकर ऊर्ध्वाकाशमारूढ इत्यर्थः ।। ६ ।। शाद्वले हरिततृण-बहुलदेशे आरुद्ध्येति तेषां तत्तृणलोभादेवान्यत्र गमनासार्थ्यमननात् ।।७।। तेषां भोजनोपवेशपरिपाटीमाह–कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजमण्डलैः "सुपां सुप" इति तृतीया बहुषु पङ्क्तिमण्डलेष्वित्यर्थः । अभ्याननाः प्रेम्णा सर्वसाम्मुख्यस्पृहावतो भगवतः सत्य-सङ्कल्पता शक्त्यैवोद्भावितेन अचिन्त्यवैभवेन निष्पादिता मुखाद्यङ्गानां सर्वदिक्षु प्रकाशात् कृष्णस्याभिमुखे सन्निहितपङ्क्तौ वयमेव वर्त्तामहे अन्ये तु व्यवहितपङ्क्तिषु पार्श्वतः पृष्ठतश्चोपविष्टा इति सर्व एवाभिमानवन्त इत्यर्थः । तेन च "सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" इत्यर्थो दर्शितः सह नैरन्तर्य्येणोपविष्टाः छदाः पत्राणि यथा कमलकर्णिकायाः परितो मिलतीभूय बहुपङ्क्तिषु तिष्ठन्ति तथेत्यर्थः ।। ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ससखः भोजनं कर्त्तुं पुलिनं स्तौति–अहो इति । भो वयस्याः ! स्वीयानां बाल्ययोग्यानां केलीनां सम्पदो विद्यन्ते यस्मिन् तत् मृदुला अच्छा वालुका यस्मिन् तत् स्फुटत् स्वगतसरोरुहद्वारा विकसत् यत् सरस्तद्गन्धेन हृतानामलीनां भ्रमराणां पत्रिणां पक्षिणां च के उदके ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वानस्तैर्लसन्तो ये द्रुमास्तैराकुलम् व्याप्तम् ॥५॥ भोजनवेलातिक्रममालक्ष्याह–दिवारूढमिति । अहो दिवारूढं वेलातीताऽस्तस्तस्मादस्माभिरत्रोक्तगुणयुक्ते पुलिने भोक्तव्यम् वत्सा अपि क्षुधार्दिताः इति योज्यम् ॥ ६ ॥ अर्भाः बालाः तथेति श्रीकृष्णाज्ञां स्वीकृत्य शाद्वले हरिततृणदेशे आरुध्य संरुध्य भगवता समं सह बुभुजुः ॥ ७ ॥ तदा विपिने वने मातृ-

पित्रादिनिरपेक्षस्वेच्छकबालविहारस्थाने कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजिमण्डलैः पङ्क्तिमण्डलैः सह नैरन्तर्येणोपविष्टाः अभ्याननाः श्रीकृष्णाभिमुखाः फुल्लदृशः विकसितनेत्राः विरेजुः यथाम्भोरुहकर्णिकायाः परितश्छदाः दलानि तद्वत् ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सजग्धियोग्यं स्थलं स्तौति अहो इति। स्वकेलीनां बहुपङ्क्तिकभोजनक्रीडानां सम्पदो यत्र तदिति स्थलस्य विस्तीर्णत्वमुक्तं, मृदुलेत्युपवेशसौख्यं विकचबहुपद्मशालित्वात् स्फुटतो विकशतः सरसो गन्धेनाहृता आकृष्टा अलिनः पत्रिणश्च तेषां के जले ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वानास्तैर्लसन्तो द्रुमास्तैराकूलमिति सजग्ध्यवेक्ष्य धूपादिसौरभ्यवीणादिवादित्रशीतलछायादिसम्पत्तिर्दर्शिता ॥ ५ ॥ दिवारूढमिति मध्याह्नमभूदित्यर्थः ।६॥ शाद्वले हरिततृणप्रचुरे देशे आरुध्येति तत्तृणलोभेन ततोऽन्यत्र गमनामननात् ॥ ७ ॥ तेषां सजग्ध्युपवेशपरिपाटीमाह– कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजिमण्डलैर्बहुषु पङ्क्तिमण्डलेषु व्यत्ययाबहुलमिति तृतीया। तस्याभ्याननाः व्रजार्भकाः सह नैरस्तर्येणोपविष्टा विरेजुः, अभ्यानना इति तत्प्रेमवश्यतया सर्वसाम्मुख्यमिच्छति कृष्णे तदिच्छानुगतया सत्यसङ्कल्पतया तन्मुखाद्यङ्गानां सर्वदिक्षु प्रकाशात् तेन च—

"सर्वतः पाणिपादस्तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः शक्तिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठती"ति ॥

श्रुत्यर्थः प्रत्यक्षोऽभूत्, तत्र दृष्टान्तः यथाम्भोरुहकर्णिकायाश्छदाः पत्राणि परितो मिलितानि भूत्वा तदाभिमुख्येन बहुषु पङ्क्तिमण्डलेषु तिष्ठन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

अहोतिरम्यमिदं पुलिनमतोत्रास्माभिर्भोक्तव्यमिति, वयस्या इति स्नेहेन सम्बोधनं, **स्वस्य केलः** क्रीडा तत्र या **सम्पन् मृदुलाच्छवालुका**रूपता सा वर्तते यत्र तस्मादत्र क्रीडापि कर्तुं शक्यते भोक्तुं च, अन्येप्यस्मिन् पुलिने गुणाः सन्तीत्याह **स्फुटन्ति** यानि **सरोरुहा**ण्यत्यन्तं निबिडतया स्थितानि **सरः**शब्देनैवोच्यन्ते, अतः **स्फुटद्** यत् **सरस्तस्य गन्धेन हृता** वशीकृता **अलयो** भ्रमराः **पत्रिणः** पक्षिणश्च तेषां ध्वनिस्तस्य यत् **प्रतिध्वानं** प्रतिशब्दस्तेन **लसन्तो** ये **द्रुमास्तैराकुलं** व्याप्तं, तत्रत्यानि पुष्पाणि फलानि च पुलिने पतन्तीति ॥ ५ ॥ अत्रैव भोजने हेतुर्दिवारूढमिति, महद् दिनं जातं क्षुधा च सर्वे पीडिताः, अत एव **वत्साः समीपेपः पीत्वा शनकैस्तृणं चरन्तु** ॥६॥ एवं भगवतोक्ता बालास्तथैव कृतवन्त इत्याह **तथेति, अर्भा वत्सान् पाययित्वा शाड्वल** उत्तमतृणवति देश **आरुह्या**रोहं कारयित्वा स्वयं **शिक्यानि मुक्त्वा भगवता समं बुभुजुः** ॥ ७ ॥ तेषां भोजनार्थमुपविष्टानां प्रकारमाह **कृष्णस्येति, विष्वक** परित आवरणवत् स्थिताः **पुरूणि पङ्क्तिमण्डलानि** मण्डलत्वाकारेण पौर्वापर्येणोपविष्टाः सर्व एव भगवत्सम्मुखा अत एव **फुल्लदृशो व्रजबालकाः सहैकदैवोपविष्टा विपिनेरण्ये** तत्रान्यो लौकिको न पश्यतीति विशेषेण **रेजुर्यथा छदाः** पत्राण्य**म्भोरुहकर्णिकायाः** परितो राजन्ते ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भोजनविधानार्थं तद्योग्यस्थलं स्तौति—अहो इति। तेषामपि सम्मतिं सूचयन् सम्बोधयति—वयस्या इति। इदं पुलिनमतिरम्यमतिमनोहरम्, तत्रापि अहो आश्चर्यजनकम्। मनोहरत्वे हेतूनाह—स्वेत्यादि। स्वीयानां केलीनां बहुपङ्क्तिमद्भोजननियुद्धादिक्रीडानां सम्पदो विद्यन्ते यत्र तत्। मृदुला अच्छाः स्वच्छा वालुका यस्मिन् तत्। स्फुटत् विकसत् सरः सरोजबाहुल्येनोपचारतः सर एव विकसदित्युक्तम्, तस्य गन्धेन हृता आकृष्टा ये अलयः पत्रिणः पक्षिणश्च तेषां के उदके ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वानास्तैर्लसन्तो ये द्रुमाः तैराकुलं व्याप्तम् ॥५॥ क्षुधार्दितैः पीडितैरस्माभिरत्रैव भोक्तव्यम्। क्षुधापीडायां हेतुमाह—दिवारूढमिति। भोजनवेलातीतेत्यर्थः। वत्साः अपः जलं पीत्वा समीपे शनकैस्तृणं चरन्तु ॥ ६ ॥ 'तथास्तु' इत्युक्त्वा अर्भा गोपबालाः वत्सान् जलं पाययित्वा शाद्वले हरिततृणप्रदेशे आरुध्य संरुध्य शिक्यानि मुक्त्वा मुदा हर्षेण भगवता समं सह बुभुजुरित्यन्वयः ॥ ७ ॥ कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजिमण्डलैः बहुपङ्क्तिमण्डलैः सह नैरन्तर्येण विपिने उपविष्टा व्रजार्भका रेजुरित्यन्वयः। अभ्यानना भगवतोऽभिमुखान्याननानि येषां ते 'सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' इति श्रुत्यनुसारेण भगवतैव तेषां कृपया सर्वतोमुखं प्रदर्शितमिति ज्ञेयम्। अत एव भगवन्मुखदर्शनेन फुल्लदृशः विकसितनयनाः। 'बालान्तरपृष्ठत उपविष्टानां भगवत्सम्मुखता न स्यात्' इत्याशङ्क्य तदुपवेशनप्रकारं सदृष्टान्तमाह यथाऽम्भोरुहकर्णिकायाः सर्वतश्छदाः पत्राणि तिष्ठन्तीति तथेति ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अहो इति ॥ हे वयस्याः! अहो इदं पुलिनमतिरम्यमतिमनोहरं सन्धिरार्षः। यतः स्वीयानां केलीनां बहुपङ्क्तिमद्भोजनानि युद्धादिक्रीडानां सम्पदो विद्यन्ते यत्र तत् इति स्थानविस्तीर्णत्वं मृदुला अच्छाः स्वच्छा वालुका यस्मिन् तत् इत्युपवेशनसुखम्। स्फुटत् विकसत्सरः सरोजबाहुल्येनोपचारतः सर एव विकसदित्युक्तम्। तस्य गन्धेन हृता आकृष्टाः ये अलयः पत्रिणः

पक्षिणश्च तेषां के उदके ध्वनयस्तेषां प्रतिध्वानास्तैर्लसन्तो ये द्रुमाः तैराकुलं व्याप्तम् इति भोजनसमयापेक्षणीयविषयसम्पत्तिः ॥५॥ अत्रेति ॥ क्षुधार्दितैः पीडितैरस्माभिरत्रैव भोक्तव्यम् । यतः दिवा दिनमपि आरूढम् अधिकं व्यतीतं भोजनवेलातीतेत्यर्थः । क्षुधार्दिता इति पाठे यतो वयं क्षुधार्दिताः दिवा चारूढम् अतोऽस्माभिरत्रैव भोक्तव्यम् । वत्साः अपः जलं पीत्वा समीपे शनकैस्तृणं चरन्तु ॥६॥ तथेति ॥ तथाऽस्त्वित्युक्त्वा अर्भा गोपबालाः वत्सान् जलं पायपित्वा शाद्वले हरिततृणप्रदेशे आरुध्य संरुध्य शिक्यानि मुक्त्वा मुदा हर्षेण भगवता समं सह बुभुजुः बुभुजिरे । तङभाव आर्षः । शिक्यानि अग्रोदरे प्रवेशात्पूर्वमेव वृक्षेपु स्थापितानि क्रीडासौकर्यार्थमिति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ कृष्णस्येति ॥ कृष्णस्य विष्वक् परितः पुरुराजिमण्डलैर्बहुपङ्क्तिमण्डलैः सह नैरन्तर्येण विपिने उपविष्टाः अभ्यानना भगवतोऽभिमुखान्याननानि येषां ते भगवतैव सर्वतोमुखप्रदर्शनं ज्ञेयम् । तत्प्रभावादेव बालाः स्वं स्वमात्मानं श्रीकृष्णनिकटस्थं मेनिरे । अतश्च "सर्वतः पाणिपादं तत्" इति श्रुत्यर्थो दर्शितः । अत एव फुल्लदृशः विकसितनयना व्रजार्भकाः यथाऽम्भोरुह-कर्णिकायाः सर्वतश्छदाः पत्राणि तिष्ठन्ति तथा रेजुः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

भोक्तुकामः पुलिनं प्रशंसन्नाह अहो इति अहो हे वयस्याः इदं पुलिनम् अतिरमणीयं वर्त्तते कथंभूतं तत् स्वकोया अस्म-दीयायाः केलयस्तासाम् उपयोग्याः संपदो यस्मिंस्तत् मृदुला अछा स्वच्छा वालुका यस्मिंस्तत् स्फुटत्प्रफुल्लैः पद्मैर्विकसितं सरस्तडाग-निकरस्तस्य गंधेन हृता आकृष्टा अलयो भ्रमराः पत्त्रिणः पक्षिणश्च तेषां के जले ये ध्वनयः शब्दास्तेषां प्रतिध्वनैः प्रतिशब्दैर्लसंतो ये द्रुमास्तैराकुलं व्याप्तम् ॥ ५ ॥ अतः अत्र पुलिने दिवारूढं वेलागता अस्माकं भोजनसमयोगत इत्यर्थः अपो जलानि ॥ ६ ॥ अर्भाः बालाः शाद्वले हरिततृणवति स्थले आरुध्य सम्यक्रुद्ध्वा ॥ ७ ॥ हरेर्भोजनसमयशोभां वर्णयति कृष्णस्य विष्वक् सर्वतः पुरूणि बहूनि राजीनां पक्तीनां यानि मंडलानि तैः कृत्वा सहोपविष्टाः एकत्रासीनाः हरेरभिमुखानि आननानि मुखानि येषां फुल्लदृशः विकसितनेत्राः यथा पद्मकर्णिकायाः परितः छदाः पत्राणि तथा विपिने वने विरेजुः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इत्थमपृष्टो भगवान् वादरायणिस्तं प्रत्याहेत्याह सूतः ॥ इत्थमिति ॥ सः वादरायणिः तु, इत्थं पृष्टः, राज्ञेति शेषः । अत एव, तेन राज्ञा संस्मारितश्चासावनन्तोऽपरिच्छिन्नवैभवो भगवांस्तेन हृतान्यखिलानीन्द्रियाणि यस्य सः, तथाभूतोऽपि, पुनः शनैः, कृच्छ्रात् कथंचित्, लब्ध्वा बहिर्दृशिर्वाह्यदृष्टियेन तथाभूतः सन्, भागवतोत्तमोत्तमं, तं राजानं प्रति, आह स्म । पाठान्तरे हे शौनक ॥ ५ ॥ प्रश्नोत्तरं विवक्षुस्तावत् प्रश्नमभिनन्दति ॥ साध्विति ॥ हे भागवतोत्तम, हे महाभाग, त्वया साधु यथा तथा, पृष्टं. कुतः । यद्यस्मात्, ईशस्य कथां, मुहुः शृण्वन्नपि, नूतनयसि नवीनां करोषि ॥ ६ ॥ युक्तमेवैतदित्याह ॥ सतामिति ॥ योऽच्युत एवार्थो विषयो येषां तानि वाणीश्रुतिचेतांसि येषां तथाभूतानामपि, सारभृतां सारग्राहिणां, सतां साधूनां, अयं निसर्गः स्वभाव एव । कोऽसावित्यत आह । विटानां स्त्रैणानां, स्त्रियाः कामिन्या वार्त्ता इव, प्रतिक्षणम् अच्युतस्य वार्त्ता, साधु यथा तथा, नव्यवत् नवीनेव सर्वदा भवतीति यत्, एष निसर्गः ॥ ७ ॥ शृणुष्वेति ॥ हे राजन्, गुह्यम् अपि, यद्यपीदं गोप्यमस्ति तथापीत्यर्थः । ते तुभ्यं वदामि, तत् अवहितः सन्, शृणुष्व शृणुष्वेत्यभिमुखीकरणम् । स्निग्धस्य स्वस्मिन्नतिशयितप्रीतिमतः, शिष्यस्य गुरवः, गुह्यम् अपि, ब्रूयुः उत, कथयेयुरेवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अत्र भोक्तव्यमिति : १०.१३.६.

नित्यतृप्तोऽप्यहं कुर्वे भक्तानां तृप्तिहेतवे । सदाचारोपमाचारमितीशः क्षुद्वचोऽब्रवीत् ॥ २९ ॥

तथेतीति : १०.१३.७.

कृत्वैव सर्वगोजाना-मन्नोदकसुखासिकाम् । ततः स्वयमहं भोक्ष्ये भोज्यमेतदधात्स्फुटम् ॥ ३० ॥

कृष्णस्येति : १०.१३.८.

ध्यात्वा स्वाभिमुखं रमेशमनिशं पूर्वं ततश्चार्पितं कृत्वान्नं सखिभिर्भुनक्ति बहुभिर्योऽस्मिन् स्तुतो बुद्धिमान् ।
भुक्तिः सैव परागमाश्रितपदा नित्याद्यनुक्तोऽप्यसावेवान्यस्त्वघ एव केवलमुगित्याबोधि भुक्तिक्रमात् ॥ ३१ ॥

कृष्णप्रिया

नन्दनन्दन कहने लगे ! अरे प्यारे मित्रो ! देखिये श्रीयमुना जी का यह पुलिन परम रमणीय है । देखो देखो बाबा । यहाँ की बालू कितनी स्वच्छ और मृदु है । हमारे खेलने की तो यहाँ सारी सामग्री सुलभ है । यहाँ खिले हुए कमलों के सौरभ से मतवाले बने भ्रमर गुञ्जन कर रहे हैं और यहाँ मनोहर पक्षियों के मधुर कलरव से सारे तरुवर प्रतिध्वनित हो उठे हैं इन

शोभा भरे वृक्षों से यह तट-यह वन शोभायमान बन गया है ॥ ५ ॥ देखो भैया दोपहर हो रहा है, अब हम लोगों को यहाँ भोजन कर लेना चाहिये क्योंकि हम सब लोग क्षुधार्त हो गये है। बछड़े जल-पी पीकर समीप ही धीरे-धीरे कोमल तृण चरते रहे ॥ ६ ॥ बालकों ने भगवान् का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, बछड़ों को जल पिला घास चरने के लिये गोचर भूमि में कर दिया और अपने-अपने छींके खोल भगवान् के साथ सानन्द भोजन करने लगे ॥ ७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने मध्य में आसन लिया। सब ग्वाल बाल कृष्ण के बायें दाहिने हाथ से वर्तुलाकार में बहुत सी पंक्तियाँ बना ली और एक-से-एक सटकर सब बैठ गये। ग्वाल इस प्रकार भगवान को घेरा लगाकर इस प्रकार बैठे जिससे सबके मुँह कृष्ण के सन्मुख रहे, सब व्रज बालकों के नयन खिल उठे थे। वन भोजन के अवसर पर भगवान् कृष्ण के साथ बैठे ग्वालबाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों कमल की कर्णिका के चारों ओर उसके दल लगे हो ॥ ८ ॥

केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्कुरैः फलैः। शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥
सर्वे मिथो दर्शयन्तः [१]स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक्। हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः सहेश्वराः ॥ १० ॥
बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥ ११ ॥
भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु। वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२ ॥
[२]तान् दृष्ट्वा भयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्। मित्राण्याशान्मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम्॥ १३ ॥
इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान्। विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥ १४ ॥
अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान्।
नीत्वान्यत्र कुरूद्वहान्तरदधात् खेऽवस्थितो यः पुरा दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम्॥१५॥
ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्। उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—केचित् पुष्पैः, केचित् दलैः, केचित् पल्लवैः फलैः अङ्कुरैः शिग्भिः त्वग्भिः च दृषद्भिः कृतभाजनाः बुभुजुः ॥९॥ सर्वे मिथः पृथक् स्वस्वभोज्यरुचिं दर्शयन्तः हसन्तः च हासयन्तः सहेश्वराः अभ्यवजह्रुः ॥ १० ॥ यज्ञभुक् बालकेलिः जठरपटयोः वेणुं च कक्षे शृङ्गवेत्रे, वामे पाणौ मसृणकवलं अङ्गुलीषु तत्फलानि बिभ्रत् स्वपरिसुहृदः मध्ये तिष्ठन् नर्मभिः हासयन् स्वर्गे लोके मिषति स्वैः बुभुजे ॥११॥ भारत अच्युतात्मसु वत्सपेषु एवं भुञ्जानेषु तृणलोभिताः वत्साः अन्तर्वने अन्तः दूरं विविशुः ॥१२॥ भयसंत्रस्तान् तान् दृष्ट्वा भीभयं अस्य कृष्णः ऊचे मित्राणि ! आशात् मा विरमत अहं वत्सकान् इह आनेष्ये ॥ १३ ॥ भगवान् कृष्णः इति उक्त्वा अद्रिदरीकुञ्जगह्वरेषु आत्मवत्सकान् विचिन्वन् सपाणिकवलः ययौ ॥ १४ ॥ हे कुरूद्वह ? यः पुरा खे अवस्थितः प्रभवतः अघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा अम्भोजन्मजनिः परं विस्मयं प्राप्तः मायार्भकस्य ईशितुः मञ्जु अन्यत् अपि महित्वं द्रष्टुं तदन्तरगतः तद्वत्सान् इतः च वत्सपान् अन्यत्र नीत्वा अन्तरदधात् ॥ १५ ॥ कृष्णः वत्सान् अदृष्ट्वा ततः एत्य च पुलिने अपि वत्सपान् अदृष्ट्वा समन्ततः वने उभौ अपि विचिकाय ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पुष्पैस्तद्दलैः अन्यैश्च पत्रैः कृतानि भाजनानि यैस्ते ॥ ९ ॥ रुचिं स्वादविशेषम्। अभ्यवजह्रुर्बुभुजिरे। सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः ॥ १० ॥ यज्ञभुगपि तेषु बुभुजे। बालानामिव केलिर्यस्य सः। तदाह। उदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रद्दधदिति सर्वत्र संबध्यते वाम इति कक्षपाण्योर्विशेषणम्। मसृणं स्निग्धं दध्योदनकवलम्। तदुचितानि बिल्वामलकादिफलान्यंगुलिसंधिषु। कर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परित उपविष्टान् सुहृदः स्वैर्नर्मभिः परिहासवाक्यैः। स्वर्गे स्वर्गनिवासिनि जनेमिषत्याश्चर्येण पश्यति सति लोके जनमध्ये बुभुजे ॥ ११–१२ ॥ भीभयं भयहेतुभ्यो भयमस्यापास्य। यद्वा अस्य विश्वस्य भियोऽपि भयं यः श्रीकृष्णः। आशाद्भोजनात्। अस्मिन्पादे अक्षराधिक्यमार्षम् ॥ १३ ॥ अद्रिषु तेषां दरीषु। कुंजेषु लतादिपिहितोदरविवरेषु। गह्वरेषु च ॥ १४ ॥ अंभो जन्मनः पद्माज्जनिर्यस्य स ब्रह्मा तदंतरे तस्मिन्नवसरे गत आगतस्तच्छिद्रं प्राप्तो वा। मंजु मनोहरमन्यदपि महित्वं महिमानं द्रष्टुं तस्य वत्सानितः स्थानात्पुलिनाद्वत्सपांश्चान्यत्र नीत्वा स्वयं तिरोबभूव। प्रभवतः श्रीकृष्णस्य।१५। उभावपि वत्सान्वत्सपांश्चेत्यर्थः। विचिकायान्वीक्षितवान् ॥ १६ ॥

१. स्वां स्वां—इति कस्यचित्। २. तानदृष्ट्वा भयत्रस्ता—वीर.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अंकुरैर्दूर्वादिभिः। फलैः कारीरादिभिः पत्रादिभिर्भाजननिर्माणं बालानां प्रत्येकापूर्वरचना कौतुकेच्छयेवेति ज्ञेयम् ॥९॥ सहेश्वराः सकृष्णा एव सर्वे स्वस्वभोज्यस्य स्वस्वगृहानीतान्नव्यंजनादेः स्वादं दर्शयंतः स्वीयवटिकशाकरसालादिकं स्वयं किंचिद्भुक्त्वा स्वादनमनुभूय भो सखे कृष्ण भोः श्रीदामन् भोः सुवल पश्यत मदीयवटिकादिकं कीदृशं स्वाद्विति स्वभक्ष्यपात्रादुद्धृत्य कृष्णादीनां हस्तेषु ददानास्तांस्तदास्वादमनुभावयंत इत्यर्थः। हसंतो हासयंत इति जातीमालत्यादिपुष्पाणि वटिकांतरे लक्षितान्यर्पयित्वा भो सखाय एता अतिस्वादुत्तमा वटिका आस्वादयतेत्युक्तिविश्वासात्सस्पृहं गृहीत्वा तान्मुंजानान्कटूकृतमुखान् दृष्ट्वा हसंतो हासयंतः चकारात्तैः सहर्षकौतुकं ताड्यमानाश्च ॥ १० ॥ अहो गोपभाग्यं यतो यज्ञेऽतिपवित्रतासंपादितान्नं यो भुंक्ते स तेषु बुभुजे इति भावः। 'चिक्कणं मसृणं स्निग्धम्' इत्यमरः। तदुचितानि गोपयोग्यानि। अगुलिविंधनार्हाण्यल्पानीत्यर्थः। विश्वनाथस्तु वामे पाणौ बृहद्दध्योदनग्रासं बिभ्रत् तत्फलानि तत्प्रयोजनीभूतान् क्षुद्रग्रासान्दक्षिणपाण्यंगुलिषु बिभ्रत् मुखप्रवेशयोग्यान्बहून् ग्रासांस्ततः पृथक्कृत्य ग्रहीतुमेव वामे पाणौ बृहत्कवलग्रहणमिति भो भंगाः किं मन्मुखाभिमुखं धावथ सुकुमारं मधु मंगलं पिवत भो वयस्य ब्राह्मणबाल मां किं भृंगैः खादयसि मन्ये ब्रह्महत्यायामपि ते न भयमिति। भो एतद्वनस्थवानरा युष्मासु बुभुक्षुषु जाग्रत्स्वपि मत्प्रियसखानिर्विघ्नं भुंजतेऽस्तोऽलक्षितमागच्छतेति। तस्य नर्म सत्यसंकल्पताशक्तिलीलाशक्तिभ्यामपि—भोः। स्वामिन्कौतुकार्थं यदि भोजनविघ्नमीहसे तर्ह्यावाभ्यां ब्रह्मा संप्रत्येवानीयत इत्यलक्षितमनुमोदितमिति ज्ञेयम्। बालैः केलिर्मिथोभुक्त्यन्नादानप्रदानभोजनश्लाघनानंदनमयी यस्य स तथा ॥ ११ ॥ कृष्णलीला रूपभायां कांत्यां रतोऽसि यतस्तत एव तुभ्यमिदं गुह्यं वच्मीति 'वाच्यं श्रद्धालवे तत्त्वम्' इत्यभिप्रायेणाह—हे भारतेति। अच्युतात्मस्वित्युक्तेर्न तेषां चेतोवत्सविनिवर्तनादिष्वस्तीति ध्वनिः। अंतर्वने वनमध्ये॥ १२ ॥ भयहेतुभ्यो व्याघ्रादिभ्यः। समास एव ल्यब्विधिरत्र ल्यबनौचित्यं मन्वानोऽर्थांतरमाह—यद्वेति ॥ १३ ॥ पाणौ कवलं पाणिकवलं तेन सह वर्तत इति सपाणिकवलो हस्तगृहीतग्रासः। विचिन्वन् अन्विष्यन् ॥ १४ ॥ अंभोजन्मजनिरिति जडवंश्यत्वात्सचेतनोऽपि जड एव यद्भगवत्यपि स्वमायां ततानेति। ततः पूर्वमेव ब्रह्मण आगतत्वाद्गतशब्दप्रसिद्धार्थत्यागानौचित्याद्वार्थांतरमाह—प्राप्तो वेति। 'अंतरोऽवसरे छिद्रे' इति हलायुधः। श्रीकृष्णस्य सकाशात् ॥ १५ ॥ ततस्तत्र वनादिष्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

केचिदिति पुनरुक्त्या पुष्पैरित्यादिभिः प्रत्येकमन्वयं बोधयति अन्यथा समुच्चयोऽपि बुध्येत पुष्पादिभोजनपात्राणां वैचित्रीबालकानां प्रत्येकापूर्वरचनाकौतुकेच्छया स्वस्वरोटिकोदनादियोगवैचित्र्यापेक्षया वा ॥ ९ ॥ पृथक् भोज्यभेदेन रसगन्धादिभेदेन च नानाप्रकारिकां स्वस्वभोज्यस्य रुचिं स्वादुताविशेषं दर्शयन्तः मुखभङ्ग्यादिना साक्षात् कारयन्त इव अतः स्वयं हसन्तः अन्यांश्च हासयन्तः यद्यपि स्वस्वगृहादानीतानि भोज्यादि परीक्षार्थं सर्वेषां सर्वेष्वेव परिवेषितानि तथाऽपि स्वस्वगृहानीतभोज्यानामेव स्वाद्वतिरिक्तं पृथक् पृथक् ज्ञापयामासुर्यदर्थमेव पूर्वदिने मिलित्वा वन्यभोजनाय सङ्कल्पितवन्त इति भावः। रुचिदर्शनं च प्रायः श्रीभगवत्स्वीकारार्थमेव अत एव सहेश्वरा इति श्रीभगवानपि तैरेवमिष्टमिष्टं परीक्ष्य किञ्चित् किञ्चित् क्रमशो युगपद्वा समर्प्यमाणं बुभुज इत्यर्थः ॥ १० ॥ अथ बालकैः सह श्रीभगवतो भोजनक्रीडामुक्त्वा तेभ्यो विशेषेण तस्य तामाह—बिभ्रदिति। तत्फलानि मसृणकवलोचितोपकरणानि निम्बुसन्धितलवलीकरीरफलप्रभृतीनि स्वैः असाधारणैः स्वर्गे लोके सर्वेषु स्वर्लोकवासिषु यज्ञभुक् उद्देशमात्रेण समर्पितस्य हविषः कथञ्चित् स्वीकारमात्रेण तद्भुक्तेनोपचर्यमाणोऽपि लौकिकबालवत्केलिर्यस्येति परमाश्चर्येण मिषति पश्यति सति यद्वा अयज्ञभुक् विविधप्रयत्नतो यज्ञभागमपि यो न भुङ्क्ते स बालेषु केलिभोजनमध्ये एव तैरेकैकशः सहसैव वा परीक्ष्यमाणस्य भोज्यस्य स नर्मग्रहणश्लाघननिन्दनभोजनमुखभङ्गीहासनादिक्रीडा यस्य स एवं भोजने सर्वाभिमुखतैश्वर्यविशेषेण तथा वेण्वादिधारणपरिपाटीसहितोर्ध्वावस्थानानि बाल्यलीलाविशेषेण च भगवता विशेषप्रकटनं पूर्ववदूह्यम् ॥ ११ ॥ एवमुक्तप्रकारेण अच्युते भगवति आत्मा मनो येषां तेषु तृणैर्लोभिताः। यद्वा, ब्रह्मणा तृणैर्लोभिताः सन्तः श्रीभगवत्साक्षान्नयनाशक्तेः हे भारतेति दुःखेन सम्बोधनम् ॥ १२ ॥ तान् वत्सपान् भयेन वत्सादर्शनजया शङ्कया सन्त्रस्तानुद्विग्नान् अस्य विश्वस्यापि या भीस्तस्या अपि भयं स्वभावत एव सर्वाभयप्रद इत्यर्थः। अतस्तद्वाक्येनैव तेषां भयमपगतमिति भावः। अहमेवैकाकी वत्सान् सर्वानिवेहैवानेष्ये हे मित्राणीति स्नेहं व्यञ्जयन्नाश्वासयति, तस्माद्युष्माकं भोजनादुपरत्या मम महादुःखं स्यादिति बोधयति। अत एव वत्सानां निकटस्थितिभावनाच्च न कोपि तत्सङ्गे गत इति ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ आत्मनो वत्सकानिति गोपराजकुमारत्वेन स्नेहविशेषेण चान्यवत्सानामपि तदीयत्वात् विचिन्वन् अन्वेष्टुमित्यर्थः। यद्वा अद्र्यादिषु विचिन्वन् सन् ययौ तत्र तत्र बभ्रामेत्यर्थः। तत्रापि सपाणिकवल एव स्वयं कथम्भूतोपि भगवान् कृष्णः स्वयं भगवानपीत्यर्थः। अहो पश्यत निजजनदयालुतामिति भावः ॥ १४ ॥ प्रभवत इति कर्त्तरि षष्ठी प्रभुणेत्यर्थः। अम्भोजन्मजनिः महापुरुषनाभिकमलाज्जातत्वेन स्वतः सर्वज्ञोपि प्रभुणा तादृशानन्तशक्तियुक्तेन कर्त्रा अघासुरस्यापि मोक्षणं दृष्ट्वा यः परं विस्मयं प्राप्तः सोपि ईशितुस्तच्छब्दप्रथमव्यप-

देशास्पदस्यापि अन्यदपि तत् तादृशं मञ्जु महित्वं द्रष्टुम् अन्विष्टतच्छिद्रः सन्नितः स्थानाद्वत्सान् वत्सपांश्चान्यत्र नीत्वा श्रीभगवदन्वेषणपर्यन्तश्रीवृन्दावनप्रदेशान्तरे स्थापयित्वा स्वयमन्तरधात् चोर इव वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथा पूर्वसखं स्वकमिति मायाशये शयाना मे इत्यादिवक्ष्यमाणेभ्यस्तु पुनस्तत्र तत्रैवानीय रक्षितवानिति ज्ञेयं तेषां श्रीकृष्णतुल्यगुणानामपि ब्रह्ममायापरिभवप्रायत्वं भगवद्वन्नरलीलात्वेनैव सम्भवतीति ज्ञेयम् अन्यथा नरलीलत्वासिद्धेः। ननु, यद्येवं प्रकटमाहात्म्यो भगवान् ब्रह्मा च सर्वज्ञः तर्हि कथं विस्मयं प्राप्तः कथं वा पुनः कदर्थनप्रायां परीक्षामिव कृतवान् तत्राह मायामोहनता तद्युक्तस्यार्भकस्य सर्वमोहनार्भकलीलस्येत्यर्थः। तन्मोहनतया मुहुरैश्वर्यज्ञानाच्छादनादिति भावः। प्राक्तनतत्तद्वाल्यलीलामोहनतावदधुनापि वन्यभोजनलीलामोहनतयैव विगतसाध्वसीकृत्य विस्मितीकृत्य च तादृशतदैश्वर्यान्तरान्वेषणाय तथा प्रवर्तितोऽसाविति विवक्षितं कुरूद्वहेति पश्यैतादृशी तद्वाल्यलीलामोहनताया परमज्ञानदृढचित्तं ब्रह्माणमपीत्थं मोहयतीति व्यज्यते ॥ १५ ॥ ततस्तत्पश्चात् चकाराच्छिक्यादीनि च उभावपीति क्वचित् मम विलम्बेनातिदुःखिताः सन्तो मदन्वेषणार्थमेव सखायस्ते भोजनसामग्रीसहिताः कुत्रापि गता इति वत्सपान् अन्यत्रैव गता इति वत्सकानपि अदर्शनमात्रेणैव स्नेहभराक्रान्त्या पूर्णज्ञानात्मनोऽपि विचारतिरोधानादेवमुक्तम् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

केचिदिति सर्वैरप्यन्वेति। अत एव पुनरुक्तम् पुष्पादि-भोजनपात्राणां वैचित्री बालकानां कौतुक-स्वभावेन स्व-स्व-रोढिकौदनादि-भोज्य-वैचित्र्यपेक्षया वा ॥ ९ ॥ पृथक् भोज्यभेदेन रसगन्धादिभेदेन च नानाप्रकारकां स्व-स्व-भोज्यस्य रुचिं स्वादुताविशेषं तस्मिन् प्रीतिं वा दर्शयन्तो मुखभंग्यादिना साक्षात्कारयन्त इव, अतः स्वयं हसन्तोऽन्यांश्च हासयन्तः रुचिदर्शनञ्च प्रायः श्रीभगवत् स्वीकारार्थमेव। अत एव सहेश्वरा इति श्रीभगवानपि तैरेव मिष्टमिष्टं परीक्ष्य किञ्चित् क्रमशो युगपद्वा समर्प्यमाणं तथैव बुभुज इत्यर्थः ॥ १० ॥ अथ बालकैः सह श्रीभगवतो (भोजनक्रीडामुक्त्वा विशेषेण तस्य तामाह—बिभ्रदिति। तत्फलानि मसृणानि लवलीशुष्ठिशाकविद्वादीनि। स्वस्य परितो वर्त्तमानानिति सर्वेषामभिमुखतामेव सुसाधयति। स्वैरसाधारणैरिति भोजनविधिविशेषः सर्वः श्रीब्रह्मणः कौतुकाय निजवाल्यकेलिमाधुरीस्वभावादेव वा। स्वर्गे लोके सर्वेषु स्वर्गलोकवासिषु। यज्ञभुगपि लौकिकवालवत् केलिर्यस्येति, परमाश्चर्य्येण मिषति पश्यति सति, यद्वा, अयज्ञभुक् विविधप्रयत्नतो यज्ञभागमपि यो न भुङ्क्ते सः। बालेषु केलिर्भोजनमध्य एष तैरेकैकशः सहैव वा परीक्ष्य समर्प्यमाणस्य भोज्यस्य सनर्म्मग्रहणश्लाघननिन्दनभोजनमुखभंगी हासनादिक्रीडा यस्य सः। एवं भोजने सर्वाभिमुखतैश्वर्य्यविशेषेण तथा वेण्वादिधारणपरिपाट्यूर्द्धावस्थादि वाल्यलीलाविशेषेण च भगवत्ता विशेषप्रकटनं पूर्ववदूह्यम् ॥ ११ ॥ एवमुक्तप्रकारेणाच्युतो भोजनादस्खलितः, यद्वा, अच्युते भगवत्यात्मा मनो येषां तयाभूतेषु भुञ्जानेषु तृणैरग्रेऽग्रे ये वर्त्तमानैर्मृदुलमधुरैर्लोभिताः, यद्वा, यत्र शाद्वले संरुद्धा वत्सानामानन्त्यात्तद्भक्षणे जातेऽपि वत्सपेषु भोजनादनिवर्त्तमानेषु सत्सु क्षुधया तृणैर्लोभिताः, यद्वा, ब्रह्मणा तृणैर्लोभिताः सन्तः—श्रीभगवत् साक्षान्नयनाशक्तेः। हे भारतेति महानन्दसमये महाशोकापातादुदुःखेन सम्बोधनम्, यथा भरतवंश्यानां तत्पितामहानां श्रीयुधिष्ठिरादीनां तादृशराजसूयोत्सवराज्यभोगादिसुखे वनवासादिदुःखमापतितं तथा। इति श्रीकृष्णैकरसिकेषु रसविशेषाविर्भावाय तदिच्छया प्रायस्तथैव भवतीति भावः ॥ १२ ॥ तान् वत्सपान्, भयेन वत्सादर्शनजेन, यद्वा, वत्साभावेन पित्रादिभ्यो भयेन संत्रस्तान् कम्पमानान् इत्यर्थः, यद्वा, अकारप्रश्लेषेणाभयान् स्वभावतो भय-रहितानपि तदानीं सम्यक्त्रस्तान् दृष्ट्वा, यद्वा, हे अभयेति तेषां भयाभावं सूचयन् श्रीपरीक्षितमाश्वासयति। अस्य विश्वस्यापि या भीस्तस्या अपि भयम्, स्वत एव सर्वाभयप्रद इत्यर्थः। अतस्तद्वाक्येनैव सद्यस्तेषां भयमपगतमिति भावः। अहमेवैकाकी वत्सकान् सर्वानिवानेष्ये। हे मित्राणीति स्नेहं व्यञ्जयन्नाश्वासयति, तथा युष्माकं भोजनादुपरत्या मम महादुःखं स्यादिति बोधयति, अत एव न कोऽपि तत्संगे गत इति ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ आत्मनो वत्सकानिति गोपराजकुमारत्वेन स्नेहविशेषेण चान्यवत्सानामपि तदीयत्वाद विचिन्वन् हेतौ शतृङ्, अन्वेष्टुमित्यर्थः। यद्वा, अद्र्यादिषु विचिन्वन् सन् ययौ—तत्र तत्र बभ्रामेत्यर्थः। ननु कथमेवमेकाकित्वेन गमनादिकं सम्भवेत्? तत्राह—भगवान् परमदयालुः, किञ्च, कृष्णः सर्वचित्ताकर्षकमधुरलील इति सपाणिकवलत्वं कर्त्तव्यं श्रीब्रह्ममोदविशेषार्थं वयस्यवर्गसन्तोषार्थं वा ज्ञेयम् ॥ १४ ॥ अम्भोजन्मजनिरिति नाभिकमलजत्वात् परमाणुग्राह्यत्वं सूचयति। ईशितुर्जगदीशस्य, यद्वा, पितृत्वगुरुत्वादिना निजेश्वरस्य, तथा माया कौतुककापट्यम्, तद्युक्तार्भकस्य, यद्वा, मायया कृपयार्भकस्य सतः, यद्वा, अकारप्रश्लेषेण न विद्यते माया भक्तेषु यस्य, किं वा न तिष्ठति माया तेषु यस्मात् स चासावर्भकश्च, यद्वा, अमायं विशुद्धमर्भाणां तेषां कं सुखं यस्मात्, यद्वा, मायात्र चिच्छक्तिः, अत एवेशितुर्निजैश्वर्य्यं प्रकटन परस्येत्यर्थः। अन्यदघासुर मोक्षणादुक्तभोजनाद्वा परमपि द्रष्टुमिति परीक्षणादि निरस्तम्, भक्तावेव च पर्य्यवसायितुम्। तस्य वत्सानित एकस्थानादत्र स्थितान् वा, अन्यत्र अन्यतः, अन्यत्र स्थितान् वा, एतच्च श्रीभगवतः परोक्षाय। तच्च मोहं प्राप्स्यतः श्रीब्रह्मणो बहिर्द्रष्ट्यैवेत्यूह्यम्। नीत्वेव नीत्वा मायया मोहयित्वान्तर्द्धाप्य चेत्यर्थः। (भा० १०।१३।४१) मायाशये शयाना मे इति, (भा० १०।१३।४२) 'मन्माया मोहितेतरे' इति, स्तुतौ च (भा० १०।१४।१९) मायां वितत्य इत्यादि श्रीब्रह्मोक्तेस्तथा (भा० १०।१३।४४) 'स्वयैव माययाजोऽपि' इत्यादि श्रीशुकोक्तेश्च। यद्यपि तन्मायाशक्त्या श्रीभगवत्प्रियतमानां तेषां

मोहनमाच्छादनञ्च न घटते, तथापि श्रीब्रह्ममुदे तन्माया श्रीभगवतानुमोदिता सती सर्वं कर्त्तुं शक्ताभूदित्युह्यम्, अत एव श्रीबल-देवेनापि । एतच्चाग्रे सम्यगभिव्यक्तं भावि कुरुद्वह हे सद्राजकुलोद्भव ! इति सत्तमस्य ब्रह्मणोऽपराधोऽभवदिति विचारेण न मन्तव्यमिति भावः । अन्तरदधात् कुत्राप्याच्छन्नो भूत्वा स्थितः, किंवा सुनिभृतमात्मलोकं गतो भयादिना श्रीभगवद्दर्शनाशक्तेः, कौतुकेन चोरवल्लीनतोपपत्तेर्वा, प्रभवतो नित्याभिनवतया प्रभावं वितन्वतः श्रीकृष्णस्य, तेन कृतमित्यर्थः यद्वा, पञ्चमीयम्, श्रीकृष्णादघासुरमोक्षणम्, यद्वा, प्रभवो जन्म तस्मादारभ्याघासुरस्य पापस्वरूपस्य दैत्यस्य मोक्षणमपुनरावृत्तिलक्षणां मुक्तिमित्यर्थः । अत एव परमं विस्मयं प्राप्तः ॥ १५ ॥ ततो रक्षणानयनाद्धेतोस्तत्पश्चादिति वा पुलिने एत्य आगत्य वत्सपानप्यदृष्ट्वा च काराच्छि-क्यादीनि चोभावपीति कदाचिन्मम विलम्बेनातिदुःखिताः सन्तो मदन्वेषणार्थमेव सखायस्ते भोजनसामग्रीसहिताः कुत्रापि गता इति वत्सपान् वत्सकानपि समन्ततः सर्वत्र सम्यक्तया विचिकाय मृगयाञ्चक्रेऽदर्शनमात्रेणैव स्नेहभराक्रान्त्या ज्ञानघन-मूर्त्तेरपि विचारतिरोधानात्, यतः कृष्णो व्रजजन स्नेह विशेषाकुल इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पुष्पैः फलैरङ्कुरैरिति भक्षणपात्रत्वमसम्भावितमपि श्रीभगवल्लीलानुकूल्येन सर्वं सम्भाव्यत एवेति ॥९॥ अभ्यवजह्रुः भुञ्जन् ॥ १० ॥ मसृणं स्निग्धं स्वस्य परितो वर्त्तमानान् सुहृदः नर्मभिः परिहासवाक्यैः स्वर्गे लोके इति स्वर्गस्य देवेषु लक्षणा देवेषु पश्यत्स्विति ॥ ११–१२ ॥ अस्य विश्वस्य या भीः संसारभयं तस्या अपि भयं कृष्ण इति भीसम्बन्धि भयं वत्सानां सिंहादि-सम्बन्धि भयं अस्य अपास्येति वा ॥ १३–१४ ॥ अम्भोजन्मजनिः अम्भः जलं तज्जं पद्मं तज्ज इत्यनेन प्रकृतिसम्बन्धस्य शबल्यमुक्तं कमलजः ब्रह्मा मायार्भकस्य स्वेच्छिकगोपालवेषस्य मञ्जु सुन्दरसहित्वम् अन्यदपि अघमोक्षं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः तस्मादन्य-दप्यैश्वर्यं द्रष्टुं चौर्यमारब्धवान् तद्वत्सान् हरिततृणं चरानन्यतः इतः पुलिनस्थवत्सपान् अन्यत्र नीत्वा अन्तरदधात् अन्तर्धानं प्राप्तानकरोत् तत्रैवान्तर्धानकरणेऽस्य कृष्णस्य भ्रमो न स्यादिति भावः इदं तस्य कर्मजाड्यपर्यवसायीति कमलभूपदव्यङ्ग्यम् ॥१५॥ अदृष्ट्वा एत्य उभावपि वने समन्ततः विचिकाय अन्तर्विपिने क्वापि अदृष्ट्वा इत्येभिः पदैः बहुकालसाध्यं क्रियाणामानन्तर्यं लीलानु-करणं बोध्यम् अन्यथा विभोरपि सर्वज्ञस्यापि कृष्णस्याकर्षकस्यावित्रितयमपीदं न सम्भवेदेव ॥ १६–१७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पुष्पैर्दलैः पुष्पदलादिभिः कृतानि भाजनानि पात्राणि यैस्तथाभूताः बुभुजुः यद्वा पुष्पैः सङ्कुटितपुष्पदलैः पत्रैः पद्मिनीदलैः अन्यैर्वा पत्रैः पल्लवैः प्रवृद्धारुणकोमलपत्रैरङ्कुरैस्ततोपि पूर्वावस्थाविशिष्टैरुभयत्रापि भूमौ नीरन्ध्रमास्तीर्णैः फलैरपि तथाभूतैः स्त्वग्भिर्भूर्जादित्वग्भिः ॥ ९ ॥ मिथ इति । सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः अभ्यवजह्रुः बुभुजुः ॥ १० ॥ यज्ञभुगपि भगवान् लीलया बाल्स्येव केलिर्यस्य सः स्वर्गे स्वर्गस्थे लोके देवजने मिषति पश्यति सति बुभुजे, कथम्भूतः ? उदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं बिभ्राणः इदमुत्तरत्राप्यन्वेति वाम इति काकाक्षिन्यायात्कक्षपाण्योर्विशेषणम् वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे बिभ्रत् पाणौ मसृणकवलं स्निग्धदध्यन्न-कवलं तदुचितानि बिल्वाम्रादि फलान्यङ्गुलिसन्धिषु बिभ्रत् बालानां मध्ये तिष्ठत् स्वस्य परित उपविष्टान् सुहृदो मित्राणि नर्मभिः परिहासवाक्यैः हासयन् ॥ ११ ॥ हे भारत ! अच्युते श्रीकृष्णे एवात्मा चित्तं येषां तेषु भुञ्जानेषु सत्सु वत्सास्तृणलोभिताः दूरमन्तर्वने वनमध्ये प्रविविशुः ॥ १२ ॥ तान् वत्सानदृष्ट्वा अत एव भयत्रस्तानि मित्राणि सखीन् हे मित्राणि इति संबोधनं वा भी भयं भयहेतुभ्यो भयमस्य निरस्य ऊचे तदेवाह आशात् भोजनान्मा विरमत विरामं न कुरुत हि यस्मादहं वत्सकानानेष्ये ॥१३॥ इत्यमुक्त्वा पाणौ कवलेन युक्तः अद्रिषु तद्दरीषु कुञ्जेषु च गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु वत्सान्विचिन्वन् ययौ ॥ १४ ॥ ततोऽम्भोजन्मनः पद्माज्जनिर्जननं यस्य सः चतुर्मुखस्तस्मिन्नन्तरे अवसरे आगतः तदेव छिद्रं प्राप्तो वा यो ब्रह्मा पुरा भगवतो ऽघासुरस्य मोक्षणरूपं कर्म्म खेऽवस्थितो दृष्ट्वा विस्मयं प्राप्तः सोऽस्येशितुरन्यदपि रमणीयं महित्वं महत्त्वं द्रष्टुं तद्वत्ससान् वत्सपांश्च इतो ऽन्यत्र नीत्वा अन्तरधात्तिरोहितो बभूव ॥ १५ ॥ ततो वत्सानदृष्ट्वा अगतः पुलिने वत्सपांश्चादृष्ट्वा पुनरुभावपि वत्सवत्सपसमुदायो विचिकाय अन्वेषितवान् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

केचिद्द्वयं सर्वत्र पृथगन्वयार्थम् ॥ ९–१० ॥ तत्र तदुचितानि फलानि सन्धितलवलीधात्रीप्रभृतीनि स्वर्गे लोक इति समस्ततत्स्थजनापेक्षया अन्यत्र यज्ञभुक् दृष्ट्या तदनुमोदिता अत्र तु बालकेलिः सन् बुभुजे इति महान् विशेषः ॥ ११–१२ ॥ भयसन्त्रस्तान् भयेनोद्विग्नान् अत्र तदाग्रहेणैव न कोऽपि तत्सङ्गे गत इति ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ आत्मवत्सकानिति सर्वत्र स्वीयताबुद्ध्या भगवानपि तथा ययौ ॥ १४ ॥ मायामोहवता तद्युक्तार्भकस्य सर्वमोहनार्भकलीलस्येत्यर्थः । पुनः पुनः ब्रह्मणोऽपि मोहे सिद्धान्तोऽयम् ॥ १५–१६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ वन्यभोजनलीलायामस्यां तस्य यथा वेश आसीत्तं प्रपञ्चयन्नाह—बिभ्रद्वेणुमित्यादि । मसृणकवलं दधिमसृणग्रासम्, तत्फलानि मसृणकवलसम्बन्धीनि सन्धितकरीरफलादीनि अङ्गुलिषु अङ्गुलिविवरेषु स्वैर्नर्मभिः स्वयंकृतैः परिहासभाषितैः सुहृदा हासयन् । स्वैरिति लोकेऽप्रसिद्धैरित्यर्थः । यज्ञभुक् सुयज्ञपुरुषप्रायेषु बालकेषु तैः सह वा केलिर्यस्य ।। १२–१८ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तत्फलान्यङ्गुलीष्वित्यादि । कृतसंधानोपदंशरूपफलानि ।। १२–१८ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

केचिदिति पुष्पादिभिः स्वस्वभाजननिर्माणं बालकानां प्रत्येकापूर्वरचनाकौतुकेच्छयैवेति ज्ञेयम् ।।९।। सहेश्वराः सकृष्णा एव सर्वे स्वस्वभोज्यस्य स्वस्वगृहानीतस्य भक्ष्यस्यान्नव्यञ्जनादेः रुचिं रोचकतां दर्शयन्तः स्वीयवटकशाकरसालादिकं स्वयं किञ्चिद्भुक्त्वा आस्वादविशेषमनुभूय भो सखे, भो कृष्ण, भो श्रीदामन्, भो सुबल ! पश्यत पश्यत मदीयवटकादिकं कीदृशं स्वाद्विति स्वभक्ष्यपात्रात्तद्गृहीत्वा कृष्णादीनां हस्तेषु ददानास्तांस्तदास्वादमनुभावयन्त इत्यर्थः । हसन्तो हासयन्त इति जातीमालत्यादि-पुष्पाणि वटकान्तरे वा अलक्षितमर्पयित्वा भोः सखायः ! एतानतिस्वादुतमान् वटकानास्वादयतेत्युक्तिविश्वासात् सस्पृहं गृहीत्वा तान् भुञ्जानान् कटुकृतमुखान् दृष्ट्वा हसन्तो हासयन्तश्चकारात्तैः सहर्षकौतुकं ताड्यमानाः पलायमानाश्च ।। १० ।। तेष्वपि मध्ये कृष्णस्य भोजनलीलां सर्वविलक्षणमाह—बिभ्रदिति । जठरपटयोरुदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रत् दधत् दक्षिणकुक्षादेवेति शोभौचि-त्यादिति ज्ञेयं वामकक्षे शृङ्गवेत्रे बिभ्रत् वामे पाणौ मसृणं स्निग्धं बृहत् दध्योदनकवलं बिभ्रत्तत्फलानि तदुचितानि सन्धितकरीर-लवल्यादीनि अङ्गुलीषु वामपाण्यङ्गुलिसन्धिषु पार्णेविस्तारार्थमिति भावः । यद्वा, तत्फलानि तत्प्रयोजनीभूतान् क्षुद्रग्रासान् दक्षिणपाण्यङ्गुलीषु बिभ्रत् मुखप्रवेशयोग्यान् बहुतरग्रासान् ततः पृथक्कृत्य गृहीतुमेव वामे पाणौ बृहत् कवलग्रहणं ज्ञेयम् ।। ११ ।। कर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वैर्नर्मभिरिति भो भृङ्गाः ! किं मन्मुखाभिमुखं धावत सुकुमारं मधुमङ्गलम् पुरः स्थितं पिबत भो वयस्य ! ब्राह्मणकुमारं मां किं भृङ्गैः खादयसि मन्ये ब्रह्महत्यायामपि तेन भयमिति भो एतद्वनस्था वानरा ! युष्मासु बुभुक्षुषु जाग्रत्स्वपि मत्प्रियसखाः निर्विघ्नं भुञ्जते तदलक्षितमागच्छतेति तस्य नर्म सत्यसङ्कल्पताशक्तिलीलाशक्तिभ्यामपि स्वामिन्, प्रभो ! कौतुकार्थं यदि भोजने विघ्नमीहसे तर्ह्यावाभ्यां तदर्थं ब्रह्मा सम्प्रत्येवानीयत इत्यलक्षितमनुमोदितमिति ज्ञेयं स्वर्गे लोके तद्वासिजनवृन्दे मिषति आश्चर्येण पश्यति सति यज्ञभुक् यज्ञे पूद्देशमात्रेण समर्पितमनुपहृतं मन्त्रपूतमेव हविःस्वीकारमात्रेणैव भुञ्जानोऽपि बालैः सह केलिर्मिथो भुक्तान्नादानप्रदानभोजनश्लाघननिन्दनादिमयी यस्य सः ।। १२ ।। अस्य विश्वस्य या भीस्तस्या अपि भयं भयप्रद इत्यर्थः । हे मित्राणीति स्नेहं सूचयति—आशात् भोजनात् श्लोकोऽयं नवाक्षरैकपादोऽनुष्टुब्भेद इति प्राञ्चः ।।१३।। सपाणिकवल इति वत्सान्वेषणसमयेऽपि किञ्चिद्भोक्तुमिति भावः ।। १४ ।। अम्भोजन्मनः कमलाज्जनिर्यस्येति जडवंशत्वात् स चेतनोपि ब्रह्मा जड एव यदयं भगवन्तं परीक्षितुं महामायाविन्यपि तस्मिन्मायां विततानेत्याक्षेपो ध्वनितः अत्र वत्सान् पुलिन-मानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकमित्युत्तरग्रन्थविरोधात् नित्यविज्ञानानन्दस्वरूपस्य भगवतस्तत्प्रियसखानां बालकानां च चतुर्मुखमायया मोहनमनौचित्यान्न व्याख्येयं यत्तु पूतनादीनामपि मायया भगवन्मात्रादीनामपि मोहनं तत्खलु विस्मयरसाधायकतत्तल्लीलासिद्ध्यर्थं लीलाशक्त्याऽनुमोदनादेव नतु स्वतः अत्र तु ब्रह्ममायया कृष्णसखानां केवलस्वापनेन का लीलासिद्धिरत एषां योगमाययैव मोहनं कृष्णमायाहृतात्मनामित्यग्रिमवाक्याच्च ज्ञेयं नच कृष्णमायामोहितानामेव तेषां ब्रह्मकर्तृकमन्यत्र नयनं व्याख्येयम् उपरिष्टादित एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे इति ब्रह्मवाक्यानन्तरं सत्याः के कतरेनेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चनेति श्रीशुकोक्तेः नहि कृष्णसखा-नामसत्यत्वं तेन वक्तुमुचितमतो मायिकानामेव बालवत्सानां हरणं ब्रह्मणा कृतमित्येवमत्र व्याख्येयं ब्रह्मा तदन्तरे तस्मिन्नवसरे गत आगतस्सन् अन्यदपि महित्वं महिमानं द्रष्टुम् अर्भकस्य ईशितुः श्रीकृष्णस्य वत्सान् इतः पुलिनात् वत्सपांश्च अन्यत्र नीत्वा अन्तरधात् तिरोबभूव यत् तन्मायाभगवन्मायाकारणकमेव तत्सर्वं मायया मोहित एव ब्रह्मा महित्वं द्रष्टुं मायाकल्पितानेव वत्सान् वत्सपानन्यत्रानयदित्यर्थः । अद्य मया मायया मोहयित्वा चोरितेषु वत्सवत्सपेषु किमयमैश्वर्यं किमप्यद्भुतं करोति ज्ञात्वा किं स्वयं तानेवानेष्यति मह्यं प्रार्थयिष्यते वा न किमपि ज्ञास्यतीति वेति विचारो मायया मोहनं विना तस्य न सम्भवेत् अतस्तस्मिन् चोरयितुमुद्यते सति योगमाययैव सत्यान् वत्सपालकान् आच्छाद्य बहिरङ्गमायाद्वारा सद्यः कल्पितानेव तांस्तमदर्शयदिति ज्ञेयं प्रभवतः प्रभोः कृष्णात् अघासुरस्य मोक्षणं दृष्ट्वा यो विस्मयं प्रातः ।।१५।। अदृष्ट्वेत्य नतु अप्राप्येत्युक्तम् अतस्तत्र स्थितान् ज्ञातानपि अदृष्ट्वा अदर्शनमभिनीयेत्यर्थः । मन्मायया मोहित एवायमिति ब्रह्माणं मिथ्याभिमानं ग्राहयितुमिति भावः । ततश्चोभावपि वत्सान् बालांश्च विचिकाय विस्मयविषादाद्यभिनयपूर्वकं नटवत्तदन्वेषणमभिनिनायेत्यर्थः । "तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यम्" इत्यग्रेतनोक्तेः ।। १६ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुष्पादिभिः कृतानि भाजनानि यैस्ते बुभुजुः त्वग्भिर्भूर्जकदल्यादिवल्कलैः ॥ ९ ॥ सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः भोज्यरुचिं दध्योदनादि स्वादुविशेषं मिथोऽन्योन्यं दर्शयन्तोऽभ्यवजह्रुः बुभुजिरे ॥ १० ॥ यज्ञभुगपि बालेषु केलिर्यस्य स हरिः तेषां छदस्थानीयानां मध्ये कर्णिकास्थानीयः सर्वाभिमुखस्तिष्ठन् स्वपरि स्वस्य परितः स्थितान् सुहृदो मित्राणि नर्मभिः परिहासवाक्यैः हासयन् स्वर्गे लोके स्वर्गवासिनि जने मिषति बुभुजे कथम्भूतः ? जठरपट्योः उदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं मुरलिकां वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे च वामे पाणौ मसृणं स्निग्धं दध्योदनकवलं च अङ्गुलीषु तत्फलानि मसृणकवलोचितानि फलमयानि व्यञ्जनानि च बिभ्रत् दधन् ॥११॥ अच्युते श्रीकृष्णे आत्मा चित्तं येषां तेषु सत्सु ॥ १२ ॥ तदा अस्य विश्वस्य भियो भयहेतोरपि भयं भयहेतुः कृष्णः "ज्ञः कालकालः" इति श्रुतेः । आशात् भोजनात् अक्षराधिक्यमार्षम् ॥ १३ ॥ वत्सकान् इहानेष्ये इत्युक्त्वा अद्रिषु तद्दरीषु कुञ्जेषु लतादिपिहितोदरविवरेषु दुर्गमस्थानेषु वत्सान्विचिन्वत् कृष्णः सपाणिकवल एव ययौ ॥ १४ ॥ यः पुरा खेऽवस्थितो ऽघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा विस्मितोऽभूत् स ब्रह्मा अम्भोजन्मनः पद्माज्जनिरुत्पत्तिर्यस्य सः तदन्तर्गतस्तच्छिद्रं प्रातः प्रभवतः श्रीकृष्णस्य मायार्भकस्य स्वसङ्कल्पतोऽर्भकस्य अन्यदपि मञ्जु रमणीयं महित्वं महिमानं द्रष्टुं तत्तस्य वत्सानितः स्थानाद्वत्सपांश्चान्यत्र नीत्वा अन्तर्दधात् तिरोबभूव ।१५। ततस्तदनन्तरं कृष्णो वत्सान् अदृष्ट्वा एत्य पुलिने वत्सपानपि अदृष्ट्वा पुनरुभावपि वत्सान् वत्सपांश्च वने समन्ततः विचिकाय अन्वीक्षितवान् ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पुष्पादिभिः कृतभाजना इति प्रत्येकापूर्वभाजनरचना चातुर्यातिशयात् ॥ ९ ॥ सख्यातिशयात् सर्वेषामेकभावतामाह सर्वे इति सहेश्वराः सकृष्णा एव सर्वे स्वस्वभोज्यानां रुचिं रोचकतां दर्शयन्तः स्वयं किञ्चिद्भुक्त्वाति स्वादुतामनुभूय तत्तत् कृष्णादिभ्यः प्रदायतामनुभावयन्त इत्यर्थः । हसन्तो हासयन्तश्चेति वटकाकारान् पुष्पकन्दुकानलक्षितं ददाना हासयन्तः पश्चात् सहर्षकौतुकं तैस्ताभ्यमानाश्चेत्यर्थः । अत्रेश्वरस्य हरेर्भोज्यानि तन्मात्राप्रेषितानि चित्रविहङ्गिकाभिर्निबद्धपदशिक्याभिरनुगैरानीतानि भूरीणीति बोध्यमौचित्यात् । तस्य तत्परिकराणाञ्च तानि भोज्यानि रसरूपाण्येव "गन्धरूपं स्वादुरूपं द्रव्यं पुष्पादिकञ्च यत् । हेयांशानाममानाच्च रसरूपं भवेच्च त"दिति हयशीर्षपञ्चरात्रात् । "चिदानन्दं ज्योति परमपि तदा खाद्यमपि चे"ति ब्रह्मसंहितोक्तेश्च तथा च पराख्यशक्तिसिद्धानि तानि रूपादिवद्भोज्यानीत्यसारांशशङ्काव्युदासः ॥ १० ॥ तेषु सर्वविलक्षणां नन्दसूनोर्भोजनरीतिमाह बिभ्रदिति । कर्णिकावत् सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् कृष्णो बुभुजे, कीदृशः सन् ? चौर्यशङ्कया जठरपट्योर्मध्ये वेणुं बिभ्रत् शोभातिशयादक्षिणकुक्षावेवेति बोध्यं, वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे बिभ्रत्, वामे पाणौ मसृणं स्निग्धं दध्योदनकवलं बिभ्रत्, स्वकीयान् परमहंसान् पाणिपात्रतां शिक्षयन्निवेति भावः, तदुचितानि फलानि करीरामलक्यादीनि सन्धितानि वामपाण्यङ्गुलीषु तत्सन्धिषु बिभ्रदिति तुल्ययोगितालङ्कारः, स्वपरि स्वस्य परितः स्थितान् भुञ्जानान् सुहृदः सखीन् स्वैर्नर्मभिर्हासयन् स्वर्गे लोके भुवने मिषति सति स्वर्गवासिषु शक्रादिषु साश्चर्यं पश्यत्सु सत्सु कथं यो यज्ञभुक् यज्ञे पूतं शमात्रेणार्पितमनुपहृतं मन्त्रपूतं हरिः स्वीकारमात्रेणैव भुङ्क्ते स बालकेलिर्बालैः सह केलिर्मिथो भुक्तान्नादानप्रदानश्लाघन निन्दन् लक्षणा यस्य सः ॥ ११-१२ ॥ अस्य विश्वस्य या भीस्तस्या भयं बिभेत्यस्मादिति व्युत्पत्तेर्भयदं "यः कालकाल" इति मन्त्रवर्णात्, हे मित्राणि सखायः ! आशाद्भोजनात् पङ्क्तिभङ्गो मा भूदिति स्वयमेवोप्लुत्य गत इत्यर्थः ॥ १३ ॥ विचिन्वन् अन्वेष्टुं सपाणीति वत्सान्वेषणेऽपि किञ्चिन्नोक्तुमित्यर्थः ॥ १४ ॥ एवं सजग्धिसभां विहाय वत्सानन्वेष्टुं भगवति गतेः विरिञ्चिः क्षीरधिनाथोक्तत्प्रभावोऽपि स्तुततन्मातृगर्भोऽपि दृष्टाघमोक्षणतन्मञ्जुमहिमापि पुनर्मोहयन्नस्यैश्वर्यं परीक्षिष्ये इति हृदि निधाय स्वामिनि तस्मिन्मायां व्यतानीत् तद्वितानलक्षणेनापराधेन हेतुना स्वामिमाया तं व्यमोहयदित्याह—अम्भोजन्मेति अम्भोजन्मनः पद्माज्जनिर्यस्य स पद्मभूर्जडजातत्वादेव स्वामिपरीक्षणलक्षणधीजाड्यभागिति भावः । तदन्तरेऽघमोक्षणावसरे वृन्दाटवीं गतः अर्भकस्य नन्दबालस्येशितुः सर्वेश्वरस्याघमोक्षणमञ्जुमहिम्नोऽन्यदपि मञ्जुमहित्वं द्रष्टुं तस्य वत्सानितः पुलिनाद्वत्सपांश्च अन्यत्र नीत्वा चौरवदन्तरदधादिति यत्तु तस्यैव माया प्रकृतान् वत्सतत्पालान् चोरयितुमिच्छति तस्मिन् योगमाया तांस्तत्र तत्रैवाच्छाद्य स्वामासभूतया त्रिगुणया तत्तुल्यान् अन्यान् सृष्ट्वा तमदर्शयत् । तया विमोहितः स तानन्यत्रानयदित्यर्थः । मद्विमुग्धवत्सादिकोऽयं किं कुर्यात् किमैश्वर्यं प्रकाशयेद्विज्ञाय वा तानेवानयेन्मामेव वा प्रार्थयेतेति विमर्शो मायाविमोहेन विना न सम्भवेत्, न च हरिसखानां पद्मभूमायया विमोहः शक्यो वक्तुं हरितुल्येषु तेषु तन्मायायाः असामर्थ्यात् "कृष्णमायाहतात्मना" मित्यग्रिमवाक्याच्च प्रकृतास्ते तत्र तत्र वाच्छन्नास्तस्थुः "वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वक"मित्युत्तराध्यायवाक्यात्, कीदृशः स इत्याह—यः पुरा प्रभवतो नन्दार्भकादघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः ॥ १५ ॥ वत्सान् स्थितानेवादृष्ट्वा अप्राप्येत्यनुक्तेस्तेषामदर्शनमभिनीयेत्यर्थः । ततः शाद्वलादेत्य पुलिनेऽपि वत्सपानदृष्ट्वा उभावपि वत्सान् वत्सपांश्च समन्ततो वने विचिकाय पद्मभुवो मिथ्याभूतमोहकताभिमानग्रहणाय विषदाभिनये नटवत्तदन्वेषणमभ्यनैषीत् "तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्य"मिति वक्ष्यमाणात् ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

तेषां भोजनपात्राण्याह **केचिदिति**, पुष्पादीनि प्रसार्य तैरेव **कृतभाजनाः** सन्तस्तदुपर्योदनं स्थापयित्वा **बुभुजुः** ॥ ९ ॥ बालकानां लौकिकत्वाद् भोजने प्रकारमाह **सर्व** इति, **स्वस्वभोज्यस्यौदनादे रुचिमन्यस्मै दर्शयन्तः, पृथगिति भोज्यप्रकार**-विशेषाणां लड्डुकादीनां, ततः स्तोत्रनिन्दाभ्यां **हसन्तो हासयन्तश्चेश्वरसहिता अभ्यवजह्रु** र्भोजनं कृतवन्तः, एवमानन्दभोजन ईश्वरसाहित्यमेव हेतुः, सर्वैरानीतान्यन्नान्येकीकृत्याग्रभागं भगवतो दत्वा भगवत्कृपयाक्षय्यान्ना **बुभुजुः** ॥१०॥ भगवानपि भुक्तवानिति वदन् ध्यानार्थं तादृशं रूपमनुवर्णयति **बिभ्रद वेणुमिति**, मल्लवत् कटितटे पीताम्बरमस्ति तत्र हस्ते स्थितानां वेण्वादीनां मध्ये **वेणुं जठरपटयोर्म**ध्ये स्थापितवान् **शृङ्गं वेत्रं** च **कक्षयोः, वामे पाणौ मसृणं** चिक्कणं घृतदध्यादिवेष्टितं **कवलमोदनं**, सर्वत्र **बिभ्रदिति**सम्बन्धः, तत्र दध्योदन उचितानि **फलानि** जम्बीरकादीन्य**ङ्गुलीषु** सन्धिषु वा बालकानां **मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितो** वर्तमानान् **सुहृदो** बालकान् **स्वै**रसाधारणै**र्नर्मभिः स्वर्गे लोके** तत्र स्थितदेवेषु **मिषत्सु** सत्सु सर्वयज्ञभोक्ता **बुभुजे, बालस्येव केलिर्विनोदो यस्य** ॥११॥ एवं सर्वेषां भोजने जायमाने किञ्चिदद्भुतमिव जातं तदाह **भारतेति, वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु** विस्मृतदेहेषु सत्सु **वत्साः** स्वयमेवा**न्तर्वने** वनमध्ये **तृणेन लोभिता दूरं** गताः ॥ १२ ॥ ततो बालका **भयसन्त्रस्ता** जातास्तां**स्तथा**-विधान् **दृष्ट्वा कृष्णो** भगवा**नूचे** यतोऽयं निर्भयः, तत्र हेतु**रस्य भीभयमिति, अस्य** जगतो या **भीर्मृ**त्युस्तस्यापि **भयरूपो** "भीषास्माद् वातः पवत" इतिश्रुतेः, भगवतो वाक्यमाह **मित्राणीति**, हे **मित्राण्याशाद्** भोजनान् **मा विरमताहमिहैव वत्सका-नानेष्ये** ॥ १३ ॥ **इत्युक्त्वा भगवां**स्ततो गत आदौ स्व**वत्सकान् विचिन्वन् स पाणिकवल**सहित एवाद्रिदरीकुञ्जगह्वरे**षु ययौ**, आदौ कियद् दूरे गतस्तत्र वत्सानदृष्ट्वाद्रेः पर्वतस्य गोवर्धनादेर्दरीषु कन्दरासु **कुञ्जेषु** द्रोणीषु **गह्वरेषु** भयानकस्थानेषु सर्वत्रैव गतः ॥ १४ ॥ ननु निकट एव वत्साः सम्भवन्ति कथं दूरे गत इत्याशङ्क्य मध्ये ब्रह्मणा वत्सा हृता इत्याहा**म्भोजन्मजनि**रिति, **अम्भोजन्म** कमलं तत्र **जनि**र्जन्म यस्य, नाभिकमल एवोत्पन्नस्तदन्तस्तन्मध्य **एवागतः** सन् **मायार्भकस्य** मायाबालकस्येशितु-**र्भ**गवतो **मञ्जुमहित्वं दृष्ट्वा**घसायुज्यलक्षण**मन्यदपि द्रष्टुमरण्याद्** वत्सान् पुलिनाद् **वत्सपांश्च नीत्वान्यत्र** स्थापयित्वा, हे **कुरूद्वहे**तिविश्वासार्थं, स्वय**मन्तर्धा**नं कृतवान्, **नीत्वे**त्युभयत्र सम्बन्धः, ननु किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह **यः पुरा ख** आकाशे-**वस्थितः सन्नघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः**, ननु किमाश्चर्यं भगवतः सकाशान् मुच्यत एवेति तत्राह **प्रभवत** इति, **प्रकर्षेण भवत्यस्माज्** जगदिति **प्रभवो** भगवान्, ततस्तस्मादुत्पत्तिरेवोचिता स्वदृष्टान्तेन न तु मुक्तिरिति**विस्मयः**, अन्यथा स्वस्यापि मुक्तिः स्यात् ॥ १५ ॥ ततो भगवान् **वनाददृष्ट्वैवैत्य पुलिनेपि वत्सपानदृष्ट्वा** प्रायेणैते वत्सपाः स्वयमपि **वत्सा-**न्वेष्टुं गता इत्यु**भाव**प्युभयविधानपि वने भगवान् **समन्ततो विचिकाय** ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तद्भोजनभाजनानि निरूपयति—'केचित्' इत्यस्य सर्वत्र तृतीयान्तेन सह प्रत्येकं सम्बन्धः। पुष्पादिभिः कृतानि भाजनानि पात्राणि यैस्ते बुभुजुः। दलैस्तुलसीदलादिभिः, पल्लवैः आम्रादिपत्रैः, यवाद्यङ्कुरैः, त्वग्भिर्भूर्जादिभिः, दृषद्भिः पाषाणैः ॥ ९ ॥ सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः सर्वे स्वस्वगृहादानीतस्यान्नव्यञ्जनादे रुचिं स्वादुविशेषं पृथक् दर्शयन्तः 'त्वद्गृहे त्वन्मात्रादयो मूर्खाः, व्यञ्जनादि सम्यक् कर्तुं न जानन्ति' इत्याद्यनेकविधैर्नर्मवाक्यैर्हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः बुभुजिरे ॥१०॥ ध्यानार्थं तत्कालिकं भगवद्रूपं विशेषतो वर्णयति—बिभ्रद्वेणुमिति। जठरपटयोः उदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रत् दधत्, वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे च बिभ्रत्, वामे पाणौ मसृणं स्निग्धं दध्योदनकवलं बिभ्रत्, अङ्गुलीषु अङ्गुलिसन्धिषु तत्फलानि भोजनयोग्यानि फलानि बिभ्रत्, अम्भोरुहकर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वपरित उपविष्टान् सुहृदो वयस्यान् बालान् स्वैर्नर्मभिः परिहासवाक्यै-र्हासयन्, स्वर्गे लोके स्वर्गवासिनि जने मिषति आश्चर्येण पश्यति सति बालानामिव केलिर्लीलामात्रं यस्य सः, वस्तुतस्तु यज्ञभुक् यज्ञैराराध्यो भगवान् बुभुजे ॥११॥ हे भारत ! एवं अच्युते श्रीकृष्ण एवात्मा मनो येषां तेषु वत्सपेषु भुञ्जानेषु सत्सु तृणेन लोभिता वत्सास्त्वन्तरवने वनमध्ये दूरं विविशुः ॥ १२ ॥ वत्सादर्शनजेन भयेन सन्त्रस्तान् तान् बालान् दृष्ट्वा भीभयमस्य 'भयहेतुभ्योऽपि भयं त्यक्त्वा' यद्वाऽस्य विश्वस्य या भीः मृत्युस्तस्यापि भयरूपः 'भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्यु-र्धावति पञ्चम' इति श्रुतेः। कृष्णः 'हे मित्राणि ! आशाद्भोजनात् मा विरमत भोजनविरामं मा कुरुत, तानहं वत्सकानिहानेष्ये' इत्यूचे उक्तवान्। अत्र तृतीये पादेऽक्षराधिक्यमार्षम् ॥ १३ ॥ इत्युक्त्वा अद्रिषु तद्दरीषु कुञ्जेषु लतापिहितोदरविवरेषु गह्वरेषु सङ्कटस्थानेषु आत्मनो वत्सकान् विचिन्वन् अन्वेषितुं सपाणिकवलः पाणौ स्थापितकवलसहित एव भगवान् विष्णुर्ययौ। आत्मपदेन तस्य गोपराजकुमारनाट्येन अन्यवत्सेष्वप्यात्मीयत्वाभिमाननाट्यमपि सूचयति। 'सपाणिकवल' इत्यनेन शैघ्र्यं स्नेहादिकं च सूचितम् ॥ १४ ॥ अम्भसो जन्म यस्य तदम्भोजन्म पद्मम्, तस्माज्जनिर्यस्य स ब्रह्मा, तदन्तरगतः तदा अन्तरं तान् हर्तुं छिद्रं अवसरं प्राप्तः सन् तस्य भगवतो वत्सान् वत्सपांश्चेतः स्थानादन्यत्र नीत्वा स्वयमन्तरदधात् तिरोबभूव। 'हे कुरूद्वह !' इति सम्बोधयन् यथा 'त्वं मोहेन ब्राह्मणपरीक्षायां प्रवृत्तस्तथा सोऽपि' इति सूचयति। ननु 'किमर्थमेवं कृतवान् ?' तत्राह—मायार्भ-

कस्येति । स्वेच्छया स्वीकृतबालनाट्यस्य, वस्तुतस्तु ईशितुरन्यदपि मञ्जुमहित्वं भक्तजनाह्लादकमहिमानं द्रष्टुमित्यर्थः ॥ 'अन्यदपि' इत्युक्तसूचितं पूर्ववृत्तमाह—य इति । यो ब्रह्मा पुरा प्रथमं खे आकाशेऽवस्थितः सन् प्रभवतः श्रीकृष्णात् अघासुरस्यात्यघमस्यापि मोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः ॥ १५ ॥ ततोऽद्रिकुञ्जादिषु वत्सानदृष्ट्वा पुलिनमेत्य आगत्य तत्र च वत्सपानप्यदृष्ट्वा पुनः श्रीकृष्णः समन्ततः सर्वतो विपिने उभौ वत्सान् वत्सपालांश्च विचिकाय अन्वीक्षितवान् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

केचिदिति ॥ केचित्पुष्पैः कृतभाजना बुभुजुरित्याद्यन्वयः । केचिद्दलैः पत्रैः पल्लवैः नवपत्रैः अङ्कुरैः फलैः शिग्भिः शिक्यैः वृक्षाणां त्वग्भिः दृषद्भिः पाषाणैश्च कृतभाजनाः सन्तो बुभुजुः । तङभाव आर्षः ॥ ९ ॥ सर्व इति ॥ सहेश्वराः श्रीकृष्णसहिताः सर्वे स्वस्वभोज्यस्य व्यञ्जनादेः रुचिं स्वादुविशेषं पृथक् दर्शयन्तः मम शाकं स्वादु नतु त्वदीयमिति वाक्यैर्हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजह्रुः बुभुजिरे ॥ १० ॥ ध्यानार्थं तत्कालिकं भगवद्रूपं विशेषतो वर्णयति –बिभ्रद्वेणुमिति ॥ जठरपटयोः उदरवस्त्रयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रत् दधत् एतच्च दक्षिणकुक्षाववेति वामे कक्षे शृङ्गवेत्रे च बिभ्रत् वामे पाणौ मसृणं स्निग्धं दध्योदनकवलं बिभ्रत् अङ्गुलीषु अङ्गुलीसन्धिषु तत्फलानि संधानीकृतकरीरलवलीप्रभृतिफलानि बिभ्रत् अम्भोरुहकर्णिकेव सर्वाभिमुखो मध्ये तिष्ठन् स्वपरित उपविष्टान् सुहृदो वयस्यान्बालान्स्वैर्नर्मभिः परिहासवाक्यैर्हासयन् स्वर्गे लोके स्वर्गवासिनि जने मिषति आश्चर्येण पश्यति सति बालानामिव केलिः लीलामात्रं यस्य सः वस्तुतस्तु यज्ञभुक् यज्ञैराराध्यो भगवान् बुभुजे ॥११॥ भारतेति ॥ हे भारत ! एवम् अच्युते श्रीकृष्ण एवात्मा मनो येषां तेषु वत्सपेषु भुञ्जानेषु सत्सु ब्रह्मणा नेतुं तृणेन लोभिता वत्सास्त्वन्तर्वने वनमध्ये दूरं विविशुः ॥ १२ ॥ तानिति ॥ अस्य विश्वस्य या भीः मृत्युस्तस्यापि भयरूपः कृष्णः यद्वा भीभयं भयहेतुभ्यो भयम् अस्य अपास्य । ल्यबार्षः । वत्सादर्शनजेन भयेन संत्रस्तान् बालान् दृष्ट्वा ऊचे उक्तवान् । हे मित्राणि ! आशाद् भोजनान्मा विरमत भोजनविरामं मा कुरुत । तान् वत्सकान् अहम् इहानेष्ये । भक्तास्त्वाहुः । वस्तुतो वत्सकान् योगमायाद्वारा ब्रह्मद्वारा वा अहमेव नेष्ये इति । इ संबुद्धौ हा खेदे इति । श्लोकोऽयं नवाक्षरैकपादोऽनुष्टुब्भेद इति प्राञ्चः ॥ १३ ॥ इत्युक्त्वेति ॥ इत्युक्त्वा अद्रिषु तद्दरीषु कुञ्जेषु लतापिहितोदरविवरेषु गह्वरेषु संकटस्थानेषु आत्मनो वत्सकान् विचिन्वन् अन्वेषितुं सपाणिकवलः पाणौ स्थापितकवल एव भगवान् कृष्णः ययौ । आत्मपदेन सर्वेषां वत्सेषु आत्मीयत्वं द्योतयति ॥ १४ ॥ अम्भोजन्मेति ॥ हे कुरूद्वह ! यो ब्रह्मा पुरा प्रथमं खे आकाशेऽवस्थितः सन् प्रभवतः श्रीकृष्णात् अघासुरस्यात्यघमस्यापि मोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः । स अम्भोजन्म पद्मं तस्माज्जनिर्यस्य स ब्रह्मा जडवंशभवत्वादिव भगवन्मोहनरूपं जाड्यं कर्त्तुमुद्यत इत्यर्थः । तदन्तरे तस्मिन् अवसरे गतः आगतः संस्तस्य मायाऽर्भकस्य स्वेच्छया स्वीकृतबालनाट्यस्य वस्तुतस्तु ईशितुः भगवतः अन्यदपि मञ्जु महित्वं भक्तजनाह्लादकमहिमानं द्रष्टुं वत्सान् वत्सपांश्चेतः स्थानादन्यत्र नीत्वा स्वयमन्तरदधात् तिरोबभूव । अत्र भक्ताः । नित्यज्ञानानन्दस्य भगवतः सखीनां ब्रह्ममायामोहनमसमञ्जसमतो यावद्ब्रह्मा बालान् वत्सांश्च चोरयितुमुद्यतस्तावदेव भगवान् स्वयोगमायया सत्यान् बालान् वत्सांश्च योगमायया्ऽऽच्छाद्य बहिरङ्गमायया बालादीन् सद्यः कल्पयित्वा ब्रह्माणमदर्शयत् । तानेव ब्रह्मा नीतवानिति प्राहुः ॥ १५ ॥ तत इति ॥ ततोऽद्रिकुञ्जादिषु वत्सानदृष्ट्वा ब्रह्ममोहार्थम् अदर्शनमभिनीय पुलिनमेत्य आगत्य तत्र च वत्सपानप्यदृष्ट्वा तद्वददर्शनमभिनीय पुनः श्रीकृष्णः समन्ततः सर्वतोऽपि वने उभौ वत्सान् वत्सपालांश्च विचिकाय अन्वेषणमभिनीतवान् ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पुष्पादिभिः पृथक्पृथक्कृतानि भाजनानि भोजनपात्राणि यैस्ते वृक्षाणां त्वग्भिः दृषद्भिः पाषाणशकलैः ॥९॥ पृथक्पृथक स्वकीय स्वकीय भोज्यस्यान्नस्य रुचिं स्वादं परस्परं दर्शयंतः अभ्यवजह्रुः बुभुजुः ॥१०॥ बिभ्रदिति जठरमुदरं च पटः कटिबंधनवस्त्रं च तयोर्मध्ये वेणुं बिभ्रत् वामे कक्षे यष्टिं विषाणे बिभ्रत् वामे पाणौ हस्तेमसृणकवलं घृतदधिशर्करामिश्रोदनकवलं च अंगुलीषु अंगुलिसंधिषु तत्फलानि तदुपयोग्यानि आम्रादीनां फलानि बिभ्रत् मध्ये पत्रसदृशानां वत्सपानां मध्यभागे कर्णिकातुल्यतया तिष्ठन् स्वपरिसुहृदः स्वस्य परित आसीनान् सुहृदो मित्राणि स्वैः स्वकीयैर्नर्मभिः परिहासवचनैः हासयन् सन् बालसदृशविहारः यज्ञभुग्हरिः स्वर्गे लोके स्वर्गनिवासिजनसमूहे मिषति पश्यति बुभुजे ॥ ११ ॥ अच्युते आत्मा मनो येषां तेषु ॥ १२ ॥ वत्सानदृष्ट्वा भीतानां भयं निवर्त्तयन्नाह भयेन संत्रस्तान् भीतान् अस्य जगतो भीभयं भियः कालस्य भयंकालः कृष्णः ऊचे हे मित्राणि आशात् अशनात् मा विरमत विराममा प्राप्नुत वत्सानिह आनेष्ये ॥ १३ ॥ अद्रिषु तद्गुहासु कुंजेषु लताग्रहेषु गह्वरेषु अगम्यस्थानेषु पाणौ कवलेन सहितो विचिन्वन् मृगयन् ॥ १४ ॥ अंभोजेति पुरापूर्वं यः खेऽवस्थितः अघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः सः अंभोजन्मनः कमलाज्जनिर्यस्य सः विधिः तदंतरगतः तस्मिन्नंतरे समये गतः आयातः यद्वातदंतरं छिद्रं प्राप्तः सन् माययाजीवोपरि परमदयया स्वेच्छया वा अर्भकस्य गोपबालस्य ईशितुः अन्यदपि मंजुं सुदरं महित्वं महिमानं द्रष्टुं प्रभवतः श्रीकृष्णस्य वत्सान् ईतः स्थलात् वत्सपांश्चान्यत्र नीत्वा प्रापय्य हे कुरूद्वह कुरुकुलधर्मपरं परावाहक अंतरदधात् तिरोबभूव ॥१५॥ ततः पुलिने तटे एत्य वत्सपानपि अदृष्ट्वा अविलोक्य उभावपि वत्सान् वत्सपांश्चापि वने सः समंततो विचिकाय मृगयामास ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वृत्तेन संगमयति । अथेति । अथ भगवान् श्रीकृष्णः, मृत्योः मृत्युतुल्यात्, अघवदनादघासुरस्य मुखात्, वत्सपालकान् वत्सान् पालांश्चेत्यर्थः । रक्षित्वा, सरित्पुलिनं यमुनायास्तोयोज्झितस्थानं, आनीय, इदं वक्ष्यमाणं अब्रवीत् उवाच ॥ ९ ॥ पुलिन एवाशिशिषां संपादयितुं तत् प्रस्तौति । अहो इति । अहो हे वयस्याः, स्वानां स्वीयानां केलीनां संपद्वो यस्मिस्तत्, मृदुलाः अच्छाः बालुकाः यस्मिस्तत्, स्वकेलिसंपदर्थं मृदुला बालुका यस्मिन्निति वा । स्फुरत् विकसत् यत् सरः—स्फुरत्सरोरुहमिति वक्तव्ये सरोरुहबाहुल्यात् तेषां विकसनं उपचारात्सरस्येवोक्तम्—तस्य गन्धेन हृता आकृष्टाः ये अलयो भ्रमराः पत्रिणः पतत्रिणश्च तेषां के उदके ये ध्वनयस्तेषां ये प्रतिध्वानाः प्रतिस्वनास्तैर्लसन्तश्च ते द्रुमाश्च तैराकुलं व्याप्तं, क्वचित्स्फुटत्सरोगन्ध इत्यपि पाठः । इत्थंभूतं, एतत् पुलिनमतिरम्यं, भवति ॥ १० ॥ अत्रेति । हे वयस्याः, दिवा दिनं, रूढं प्रवृद्धं, अस्माकं भोजनवेला अतीतेत्यर्थः । क्षुधार्दिताः वयं क्षत्पीडाभाजोऽपि भवाम एव । अतः, अस्माभिः, अत्र भोक्तव्यम् । वत्साः अपि, अपः पीत्वा, समीपे शनकैः, तृणं तृणानीत्यर्थः । चरन्तु भक्षयन्तु ॥ ११ ॥ तथेति । तथेति तथास्त्विति उक्त्वा, अर्भाः अर्भकाः, वत्सान् पाययित्वा, आर इति शेषः । शाद्वले हरिततृणप्रदेशे, आरुद्ध्य, शिक्यानि मुक्त्वा, मुदा भगवता समं, बुभुजुः । केचित्तु शिक्यान् पर्युषितान्नग्रन्थीनित्याहुः । तदक्षे शिक्याश्चेति पाठः ॥ १२ ॥ कृष्णस्येति ॥ कृष्णस्य श्रीकृष्णभगवतः, विष्वक् परितः, पुरूणि च तानि राजिमण्डलानि च तैः, बहुभिः पङ्क्तिमण्डलैरित्यर्थः । सहोपविष्टाः नैरन्तर्येणोपविष्टा इत्यर्थः । अभ्याननाः श्रीकृष्णस्याभिमुखमुखाः, फुल्लदृशः विकसितनयनाः, व्रजौकसो व्रजवासिजनकुमाराः, विशेषेण पियन्ति गच्छन्ति जलान्यत्रेति विपिनं पुलिनं तस्मिन्, 'पि गतौ' बाहुलकात् नक् । अम्भोरुहकर्णिकायाः कमलबीजकोशस्य, छदाः परितः स्थितानि दलानि इव, तदा विरेजुः ॥ १३ ॥ केचिदिति ॥ केचित् पुष्पैः, केचित् दलैः पत्रैः, केचित् पल्लवैः, अङ्कुरैः, केचित् फलैः, केचित् शिग्भिः, केचित् त्वग्भिः, केचित् दृषद्भिश्च । कृतभाजनाः सन्तः, बुभुजुः ॥ १४ ॥ मिथ इति ॥ सर्वे, मिथः परस्परं, स्वस्वभोज्यरुचिं स्वकीयस्वकीयान्नस्वादविशेषं पृथक् दर्शयन्तः, हसन्तः, हासयन्तः सन्तश्च, सहेश्वरा परमेश्वरेण सहिताः, एव, अभ्यवजह्रनुर्बुभुजिरे ॥ १५ ॥ तदानींतनां भगवतः शोभां वर्णयन्नाह ॥ बिभ्रदिति ॥ जठरपटयोः उदरपरिहितवस्त्रयोः, मध्ये वेणुं वंशीं, बिभ्रत् दधत्, इदमुत्तरत्राप्यन्वेति । वामे कक्षे बाहुमूले, शृङ्गवेत्रे, वासे पाणौ, मसृणकवलं स्निग्धदध्यन्नग्रासं तत्फलानि तदुचितानि बिल्वफलारनालादीनि, अङ्गुलीषु च बिभ्रत्, मध्ये बालानां मध्यप्रदेशे, तिष्ठन्, स्वपरि स्वस्य परित उपविष्टान्, सुहृदो मित्राणि, स्वैरात्मीयैः, नर्मभिः परिहासवाक्यैः, हासयन् हासं कारयन्, यज्ञभुक् स्वयं यज्ञभोक्ता सन्नपि, बालस्येव केलिः क्रीडा यस्य तथाभूतो भगवान्, स्वर्गे स्वर्गस्थे, लोके देवजने, मिषति पश्यति सति, बुभुजे ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

केचित् पुष्पैरिति : १०.१३.९.

यं कश्चिदत्रागमजातमंशं पुमान् गृहीत्वैव सुपुण्यभूमौ । भुञ्जीत भोग्यानि सुखेन नानाविधान्यपीत्यध्वनि भुक्तिकेल्या ॥३२॥

बिभ्रद्वेणुमिति : १०.१३.११.

सवेणुसुरसादरो न मम न प्रधानग्रहो न शासनदशास्त्रघोरपि तदा यदा मत्प्रियाः ।
मदर्पितनिजोज्ज्वलाखिलरसा भवन्त्यादराद् भवामि भुवि किं च तद्रसभुगित्यबोधि स्थितेः॥ ३३ ॥
हविर्भागादपि प्रीत्यै स्वल्पमप्यन्नमादराद् । भक्तैरर्पितमित्यासीद् यज्ञभुग्बालकेलिधीः ॥ ३४ ॥

भारतैवमिति : १०.१३.१२.

ये मद्भक्तिरसैकलुब्धमनसस्तेषां कदाचित् सतामक्षाणि भ्रमतो दुरन्तविषये मग्नानि जातानि चेत् ।
त्यक्त्वा भोज्यमहं स्वमप्यतिजवात्संशोधयामि स्वतः तद्भोति च निवारयन्निति तथा कृत्वाऽच्युतो दर्शयत् ॥ ३५ ॥

सपाणिकवल इति : १०.१३.१४.

यस्याङ्गुल्योऽखिलाभीष्ट-फलभाजस्तथाशयः । भक्ताधिककवलः सोऽहं तद्वशोऽस्मीत्यबोधयत् ॥ ३६ ॥

अस्मत्सुतावनमयं कुरुते सदैवेत्यालोच्य गोभिरमृतं स्वमदायि याभिः ।
स्याच्चेदहं तदवनालसधीरिदानीं कः स्यात्कृतघ्न इह मत्पर इत्यगात् किम् ॥ ३७ ॥

रसनैकतर्पणपरा ये स्युस्तदखिलगवां विषयतृष्णा । भ्रमणमपि युक्तमेंशो परोक्षता चेत्यभूत्स्फुटं तत्र ॥ ३८ ॥
भक्त्याशयेन सद्भक्तभावार्पणमकारि यैः । कथं न तेषां गोरक्षादीक्षितः स्यामतो ययौ ॥ ३९ ॥

मयि परोक्षपदे विधिवैभवं स्फुरति दर्शितशक्ति न चान्यथा । सततमत्र यतध्वमतो जना मदपरोक्षकृताविति वेरितम् ॥ ४० ॥

गोजातरक्षणोपेक्षो यदि स्यामवनौ स्थिरम्। गोकुलत्राणकारीति स्याद्यशः कथमित्यगात् ॥ ४१ ॥

धीरः स एव भुवि शस्यतरः सदैव गोजातरक्षणचणो विषयेषु यः स्यात्।
आलोचयन्निति स धीरवरार्चिताङ्घ्रिरद्धा ययौ विशदयन् हितमार्गमीशः ॥ ४२ ॥

आस्वाद्यापि मदेकभोग्यममृतं दत्तं मया ये पुनर्गोजाताकलिताल्पमुग्धविषया जाता यदि प्राणिनः।
तेभ्यो दूरतरो भवाम्यहमिति प्राबोधि गत्वा ततस्तद्वत्सानयनच्छलाद्भगवता सत्कौतुकं तन्वता ॥ ४३ ॥

योग्यत्वं स्वमलक्षयन्नगणयंस्तत्क्लेशमेते मम दासा इत्यविभावयन्नपि तिरस्कुर्वन् स्वभोज्यं जवात्।
उक्त्वा यद्गतवानुपारमत मा यूयं स्वभोज्यादिहानेष्येतानिति सत्सुखच्युतिरसह्या मे इति व्यञ्जितम् ॥ ४४ ॥

विषयासक्तगोजातवशीकरणहेतवे। किमागादच्युतो धृत्वा करे कवलमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

कथमेकः प्रयातीति तच्छङ्कानुदयाय सः। सदाशयाधिकवलः सन्नेव किमगात्प्रभुः ॥ ४६ ॥

सर्वं त्यजामि समये बहुना किं प्रियामपि। सदाशयगतं भक्तं न कदापीत्यगात्तथा ॥ ४७ ॥

अम्भोजन्मजनिरिति : १०.१३.१५.

दुष्टोऽयं बहुपातकी सुररिपुर्नीचस्तमोमात्रभूरग्रे जन्मनि दुर्भवो निरयभाग् यस्तं ततो मोचितम्।
दृष्ट्वा क्रुद्धमनाः सनातनगुरौ तत्गोपवत्साहृतिं चक्रे तद्वितथीकृतां निजलिपिं मन्येऽसहिष्णुर्विधिः ॥ ४८ ॥

त्वया गोगोपानामवनमिह कार्यं यदुपते मया तद्वत्सानामिति समुचितोऽध्वाऽखिलमतः।
इति स्वाभिप्रायं विशदयितुमेवेश भवते ध्रुवं वत्सानामाहृतिमकृत वेधास्तव सुतः ॥ ४९ ॥

येनाभवत् सपदि मुक्तिरघस्य तस्य तच्चिन्तितं नु किमु तेन तदा निजान्तः।
सम्प्रष्टुमाहरदसावति-मुग्धबुद्धीन् बालांस्तदन्तरकृतावसतीन् विरिञ्चिः ॥ ५० ॥

मन्मुख्यगोजातपरिग्रहस्ते कार्यो विधे यच्चतुराननोऽसि। इतीशवेदार्पणवाचमन्तः स्मरन् स युक्तं तदपाजहार ॥ ५१ ॥

कृष्णप्रिया

भोजन के अवसर कुछ बालकों ने कुसुमों के, कुछ ने पत्तों के, कुछ ने पल्लवों के, तब कोई ने अंकुरों के, कुछ ने फलों के, कुछ ने छींके के, कुछ ने वृक्षों की छाल के, कुछ ने पत्थरों के पात्र बना-बनाकर उसमें भोजन रखकर खाने लगे ।।९।। भोजन करते करते सर्व बालक एवं भगवान् बालकृष्ण अपने अपने भोजन के पदार्थों का स्वाद रुचि का परस्पर वर्णन करते इस तरह स्वयं हसते औरों को हंसाते लोट-पोट बन जाते सब आनन्द से एक साथ भोजन करने लगे ।। १० ।। दर्शनीय श्याम मनोहर ने भोजन के समय अपने वेगु को कमर की फेंट में खोस ली थी। छड़ी और सींग तो बगल में दबा लिये थे। बायें कर कमल में हथेली में दधि मिश्रित घृतस्निग्ध भातका कौर और अंगूलियों में नींबू-टेंटी-आदि के फल के अचार व्यंजन दबा लिये थे, स्वयं मध्यमणि न्याय से विराजमान थे। इधर सारे सुहृद कृष्ण को मालाकार से वेष्टित, बन बैठे थे, तब प्यारे लालन् अपनी चुटीली एवं रसीली बातों से सब मित्रों के मन बहलाते भोजन कर रहे थे कि जो भगवान् एक यज्ञों के भोक्ता है उन भगवान् की बाल सुलभ लीलाओं को देख के स्वर्गवासी देव लोग चक्कर में आ गये कि क्या यह परब्रह्म है या केवल गोपाल बाल है ॥ ११ ।। अये भरत कुल दीपक परीक्षित् ? इस प्रकार आनन्द-प्रमोद से भोजन कर रहे वत्सपालक बालक तो अच्युत भगवन्मय हो चुके थे फिर बछड़े का ख्याल कैसे रहे तब उधर बछड़े हरी-हरी घास के लालच से वन के भीतर दूर दूर जंगल में जा घुसे ॥ १२ ॥ जब वत्स पालक बालकों का ध्यान बछड़ों की ओर गया औ उन्हें न देखे तब वे सब घबड़ा गये तब भयग्रस्त सखाओं को भगवान् ने कहा—मित्रो ! घबड़ाना मत भोजन भी मत छोड़ों मैं अभी ही सारे बछड़ों को हाँक लाता हूँ ।। १३ ।। मित्रों को इस प्रकार आश्वासन देकर भगवान् श्रीकृष्ण कर कमल में कौर लिये हुए अपने और सखाओं के बछड़ों को खोजने के लिये पर्वतो, गुफाओं, जंगलों, झाड़ियों में चल पड़े ॥ १४ ॥ कुरुकुलोत्पन्न राजन् ! ब्रह्माजी जो प्रथम अन्तरिक्ष में रहे हुए अघासुर मोक्ष की लीला देखकर अत्यंत आश्चर्य चकित हो उठे थे। उन्होंने मनोरथ किया कि लीला से मनुष्य विग्रह ग्रहण किये हुए भगवान् श्रीकृष्णजी की और भी मनोहर महिमा भरी कोई लीला की झांकी करे। ऐसा मन में विचार कर पहले बछड़ों को पुनः बछड़ों को खोजने के लिये भगवान् के पधारने पर बालकों को भी अन्यत्र ले जाकर रख दिया और स्वयं अन्तर्हित हो गये। ब्रह्माजी ने ऐसा क्यों किया ? ऐसा आश्चर्य न करना, कारण कि जल से जड से उत्पन्न जड़ कमल से उत्पन्न ब्रह्मा आखिर तो उस जड़ प्रकृति में ही चले गये ।। १५ ॥ इधर भगवान् श्रीकृष्ण ने बछड़ों को न देखा तब प्रभु श्री यमुना पुलिन पर पधारे परन्तु वहाँ पर बालकों को न पाया तब वन से दूर दूर घूम-घूम कर चारों ओर उन दोनों को खोजा ॥ १६ ॥

क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च [1]विश्ववित् । सर्वं विधिकृतं [2]कृष्णः सहसावजगाम ह ॥१७॥
ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातॄणां च कस्य च । उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥
यावद्वत्स[3]कवत्स[4]पाल्वकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकं यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिग् यावद् विभूषाम्बरम् ।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥१९॥
स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् [5]परिवार्यात्मवत्सपैः । क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥२०॥
तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः । तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत्सद्म प्रविष्टवान् ॥२१॥
तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य [6]निर्वृताः ।
[7]स्नेहस्नुतस्तन्यपयः सुधासवं मत्वा [8]परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥ २२ ॥
ततो नृपोन्मर्दनमज्ज[9]लेपनालङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः[10] ।
संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् सायं गतो यामयमेन माधवः ॥ २३ ॥
गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहूतसङ्गतान् ।
स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विश्वजित् कृष्णः विपिने अन्तः क्व अपि वत्सान् च पालान् अदृष्ट्वा सर्वं विधिकृतं ह सहसा अवजगाम ॥ १७ ॥ विश्वकृत् ईश्वरः कृष्णः ततः तन्मातॄणां च, च कस्य मुदं कर्तुं आत्मानं उभयायितं चक्रे ॥ १८ ॥ सर्वं विष्णुमयं गिरः अङ्गवत् (अजः) यावद् वत्सकपालकवपुः यावत् कराङ्घ्र्यादिकं यावद् यष्टिविषाणवेणुदलशिक् यावत् विभूषाम्बरं यावत् शीलगुणाभिधाकृतिवयः यावत् विहारादिकं सर्वस्वरूपः अजः कृष्णः बभौ ॥ १९ ॥ सर्वात्मा आत्मा स्वयं आत्मवत्सपैः आत्मगोवत्सान् परिवार्य आत्मविहारैः क्रीडन् व्रजं प्राविशत् ॥ २० ॥ राजन् तत् तत् वत्सान् पृथक् नीत्वा तत् तत् गोष्ठे निवेश्य तत् तत् आत्माभवत् तत् तत् सद्म प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥ वेणुरवत्वरोत्थिताः तन्मातरः दोर्भिः उत्थाप्य परिरभ्य निर्वृताः सुधासवं स्नेहस्नुतस्तन्यपयः परं ब्रह्म सुतान् मत्वा अपाययत् ॥ २२ ॥ ततः नृपोन्मर्दनमज्जलेपनालङ्कारक्षातिलकाशयनादिभिः संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् माधवः यामयमेन सायं गतः ॥ २३ ॥ ततः गावः सत्वरं गोष्ठं उपेत्य हुंकारघोषैः परिहूतसङ्गतान् स्वकान् स्वकान् वत्सतरान् मुहुः लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयः अपाययन् ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विधिकृतं ब्रह्मणा कृतम् ॥ १७ ॥ उभयायितं वत्सतत्पालरूपेण वर्तमानमित्यर्थः । तस्य ब्रह्मणः । अयं भावः । यदि तूष्णीमासे तर्हि तन्मातॄणां विषादः स्याद्यदि च तानेवानयिष्यामि तर्हि ब्रह्मणो मोहो न स्यादिति तदुभयप्रीतये परमदयालुस्तथा चक्र इति ॥ १८ ॥ तदेव दर्शयति । यावदिति । वत्सपानां वत्सकानां चाल्पकं वपुः यत्प्रमाणकं प्रमाणमनतिक्रम्येत्यर्थः । एवमुपर्यपि योज्यम् । तत्र दलं पर्णरूपो वाद्यविशेषः । यद्वात्र वेणुदलं वेणुखण्डम् । शिक् शिक्यम् । यद्वा यावद्वत्सपादिवपुस्तावन्मात्रमपि सर्वस्वरूपोऽजः कृष्णो बभावित्यर्थः । उत्तरत्राप्येवम् । कथम् । 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इत्यत्र प्रसिद्धा या गीस्तस्या अंगवत्सा गीरेवार्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा तथा बभूवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवं सर्वात्मा सन्व्रजं प्राविशत् । कथं स्वयमात्मैव प्रयोजकः । आत्मरूपान् गोवत्सानिति कर्मापि स्वयमेवेत्युक्तम् । आत्मरूपैर्वत्सपैः प्रतिवार्यं प्रयोज्यकर्तापि स्वयमेव आत्मविहारैः क्रीडन्निति क्रियाऽपि कारकाण्यपि स्वयमेवेत्यर्थः ॥ २० ॥ तत्तदात्मा तत्तद्गोपबालरूपोऽभवत् । ततस्तत्तत्सद्म प्रविष्टः ॥ २१ ॥ गोपिकामोहनमाह । तन्मातर इति । तदा तन्मातरो वेणुरवेण त्वरयोत्थिताः सत्यः सुतान्मत्वा परं ब्रह्मेव दोर्भिरुत्थाप्योद्धृत्य पयःसुधासवं पय एव सुधावत्स्वादु आसववन्मादकं स्नेहस्नुतं स्तन्यं पयः पाययामासुरित्यर्थः ॥ २२ ॥ एवं यामयमेन तत्तत्कालक्रीडानियमेन सायं गतः प्राप्तः स्वाचरितैः स्वस्याचरितैः शोभनैराचरितैर्वा ॥ मातॄः प्रहर्षयंस्ततस्ताभिरुन्मर्दनादिभिरुपलालित इति ॥ २३ ॥ गवां मोहनमाह । गाव इति । परिहूता आहूताश्च ते संगताश्च प्राप्तास्तान् ॥ २४ ॥

---

१. विश्वदृक्—वीर. । २. ज्ञात्वा—इति कस्यचित् । ३. वत्सप—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ४. वत्सका—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. प्रतिवार्यात्म—श्रीधर. वंशी. विज. जीव. विश्व. शुक. ; प्रतिपाल्यात्म—वीर. । ६. निर्भरम—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ७. स्नुत—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ८. सुतं ब्रह्मसुता—वीर. । ९. गन्ध—च. पु. टी. । १०. काञ्चनादिभि—वीर. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विश्ववित्सर्वज्ञः ॥ १७ ॥ ततो विधिकृतकर्मज्ञानानंतरम्। उभय इवाचरतीति उभयायते ततोऽकर्मकत्वात्कर्तरि क्तः। उभयायितमिति। इत्यर्थं इति निष्कर्षः। किमर्थमुभयायितमिति चेत्तत्राह—अयं भाव इति। तूष्णीं स्थितौ तत्तन्मातॄणां तत्तद्वियोगजः क्लेशस्तेषामानयने विधिमोहश्च न भावीत्येतदर्थं तथा चक्र इति तात्पर्यम्। विश्वकृदिति तत्र परिश्रमाभावमाह ॥ १८ ॥ अल्पमेवाल्पकं तच्च वपुरल्पकवपुः वत्सपवत्सकानामल्पकवपुर्वत्सपवत्सकाल्पकवपुः। यावत् प्रमाणमनतिक्रम्य वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुः "यावदवधारणे" इत्यव्ययीभावः। समासे श्रमदर्शनात्प्रकारांतरमाह—यद्वेति। यावत्तावतोर्नित्यसंबंधात्। उपर्युत्तरत्रशब्दावग्रपरौ ज्ञेयौ। सर्वं विष्णुमयमेतदग्र इति शब्दं प्रक्षिप्यान्वयो विधेयः। 'मुख्यार्थप्रतिपत्तये पदांतराध्याहारः' इति न्यायात्। अंगवत् शरीरवत्। इत्यर्थं इति। सर्वं विष्णुमयमिति वाक् साक्षाच्छरीरिणीवार्थतः प्रत्यक्षा जातेति तात्पर्यम्। यद्वा—तस्या वाचोंगवदेकदेशवत्। नहि सर्वं जगद्विष्णुमयं तदा जातं किन्तु नंदव्रजस्यैव वत्सपवत्साश्चेति कृत्वैकदेशवदित्युक्तम्। यद्वा—सर्वस्वरूपोऽजो बभौ। कथं सर्वं विष्णुमयमिति गिरोंगवत् यथाऽज ओंकारोंगवत् अंगावयवसकलवर्णस्वरूपेण भातीत्यर्थः। तद्यथा शकुनैः सर्वाणि पर्णानि संतृणानि एवमोंकारेण सर्वा वाक्संधिता "ओंकार एवेदं सर्वम्" इति श्रुतेः। अथ वा सर्वं विष्णुमयं मत्वेति शेषः। अजः कृष्णः। सर्वस्वरूपो बभौ। कथं गिरोंगवत् यथा सकलशब्दजातं मात्रात्रयेण व्याप्योंकारो भाति तदुच्चारणाद्दते वेदाध्ययनादेरसंभवाच्च तस्य गिरोंगवत्त्वं वर्णसमूहरूपत्वाद्वा 'ओंकाराद्यंजितस्पर्शस्वरोष्मांतस्थभूषिताम्' इत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् ॥१९॥ एवमुक्तरीत्या। प्रयोजकः प्रेरकः। इत्यर्थं इति। क्रियाकारकरूपेण स एव तदासोदिति भावः ॥२०॥ तत्तदात्मा श्रीदामसुदामसुबलमंगलमधुमंगलादिस्वरूपः गोष्ठे गोवंधनादिस्थले। स कृष्णः ॥ २१ ॥ तदा गोपीनामतिस्नेहः प्रादुरासीदित्याह—तन्मातर इति। इत्यर्थं इति। पयस्यपि तदा वैलक्षण्यमभूदिति भावः। निर्भरमतिशयेन स्नेहस्नुतत्वेन स्नेहमयम्। तत्प्रेमास्वादमहारसिकः कृष्णः सुधामिव स्वादु आसवमिव मादकं पिबन् पिबन्ननुबभूव तल्लोभेन तस्यापि तत्पुत्री भाववासना प्रागासीत्सापि ब्रह्ममोहनप्रसंगे एव सिद्धेति। अत एव स्वसखीनपि वर्षपर्यन्तं मोहयामासेति ज्ञेयम्। अत एव स्तन्यामृतं 'पीतम्' इति ब्रह्मोक्तिश्च संगंस्यते ॥ २२ ॥ स्वस्याऽऽचरितैः नित्यं क्रियमाणैः स्वविहारैरिति। नित्यविहाराणां हर्षजनकत्वासंभवं मत्वाऽर्थांतरमाह—शोभनैरिति। शोभना एव हर्षजनका भवंति नित्यविहारापेक्षया विलक्षणत्वादिति भावः। ततः पयःपायनानंतरम्। ताभिर्गोपीभिः ॥ २३ ॥ तथैव गवामपि स्नेहाधिक्यमाह गाव इति। परिहूतेनाह्वानेन संगतान्प्राप्तान्। मुहुर्लिहंत्य इति स्नेहाधिक्यमाह। ऊधः स्तनाधिकरणं गवामवयवस्तत्र भवमौधसम् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अन्तर्विपिने वनमध्य एवेति मध्याह्ने तेषामात्मानं विना व्रजगमनाऽसम्भवात् सर्वबालकादोनां मोहनान्तर्द्धापने तदन्तर्द्धानं निजमञ्जुमहिमदर्शनाभिलाषादिकं चाशेष सद्य एव ज्ञातवान् ह स्फुटं यतो विश्ववित् सर्वज्ञः तत्कुतः यतः कृष्णः स्वयं भगवान् एतावन्तं कालं तस्य वहिरन्वेषणलीलाद्यभिनिवेशं दृष्ट्वैव ज्ञानशक्तिस्तटस्थाऽऽसीत् सम्प्रति तु मनस्येव तदनुसन्धित्सायान्तु जातायां स्वस्यैवावसरे समुपस्थितेति भावः। ईशितुरिच्छाशक्तिपराधीनत्वात् सर्वशक्तेः ॥१७॥ तन्मातॄणां सर्वदा स्वं पुत्रीयन्तीनां मुदं कर्त्तुं चकारात् विना स्वसङ्गं क्षणमपि स्थातुमपारयतां मित्राणामप्यजगरोदरप्रवेशवदात्मनो लीलावेशादन्योत्पातशङ्कया तान् कतिचिद्दिनान्येकान्ते रक्षितुञ्च द्वारकायां यादवानिवेति ज्ञेयम्। एवं तेषां मायाशये शयानत्वात् न तद्विरहदुःखं भगवतश्च तद्दर्शनेन तैः सहातिविच्छेद इति नासमञ्जसं च, आनुषङ्गिकं प्रयोजनमाह—कम्य चेति। तस्याष्टादशाक्षरतदीयमहामन्त्रोपासकत्वात् एवं कृष्णेच्छयैव तेषां मोहो न ब्रह्ममायासामर्थ्येनेति लभ्यते तत्तच्चात्मलीला च साधारणदृष्ट्या न सिद्ध्यतीति आत्मानमेवोभयायितम् उभयं वत्सा बालाश्चेत्येवं किं वा स्वयं भगवान् वत्सवत्सपाश्चेत्येवं द्वयं तद्वदाचरन्तं चक्रे नातोव भेदादुभयमिव चक्र इत्यर्थः। शीघ्रतत्तदवतारसामर्थ्यं द्योतयति—विश्वकृतां महापुरुषादीनामपीश्वरः स्वयमवतारीति ॥ १८ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—यावदिति। यावच्छब्देनात्र यथा स्थानसङ्ख्याप्रमाणादिकं वाचनीयं ततश्च यावत्संख्यानि वत्सपानां वत्सकानां च तथा तेष्वल्पकानां वत्सपानुचरबालानां वत्सकानुचरक्रीडनमेषां वपूंषि तावदित्यर्थः। एवं यावन्ति यत्प्रमाणानि कराङ्घ्र्यादीनि तावदित्यर्थः। यावद्यष्टीत्यत्र यत्प्रकाराणीति ज्ञेयम् यावच्छीलगुणेत्यत्र यावन्ति यादृशानीत्यर्थः। तत्र शीलं सुस्वभावः गुणास्तूत्कर्षहेतवः शिक्षाविशेषा अभिधा वाणी तत्तन्नामाभिनिवेशो वा आकृतिराकारः द्वितीयादिशब्दात् पितृमात्रादिषु व्यवहरणं पूर्वाचरितस्मरणादिकं च तावत्तत्तत्सर्वम् अज एव बभौ यतः सर्वं तच्चान्यच्च प्राकृताप्राकृतं वस्तु स्वरूपं एवात्मकं यस्य सः तत्तु सर्वं कीदृशं विष्णुमयं श्रीभगवदात्मकं न तु जीवात्मकम् "आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः" इत्यत्र स्वरूपेऽपि मयट्दर्शनात् व्यापकत्वापेक्षया विष्णुशब्दः अतो "यद्गतं भवच्च भविष्यच्च" इत्यादिश्रुतेश्चानन्तेत्याख्यानाच्च सर्वं तत्र प्रवर्तत एव व्यक्त्यपेक्षयैव तत्तज्जन्मादिव्यपदेश इति भावः। तदेवाह—अज इति। एवमेकस्यैव वत्सवत्सपादिरूपत्वेन ततः पृथक्त्वेन चाचिन्त्यशक्त्याऽभिन्नत्वमप्युक्तं तत्रोपयुक्तो दृष्टान्तः गिरो वाक्यस्य तिङ्सुबन्तचयलक्षणस्य अङ्गं कर्तृकर्मादिपदं यथा तद्वदिति तिङ्सुबन्तचयस्य तदभिन्नत्वे श्रीभगवतस्तु

तद्भिन्नत्वेनापि स्थितत्वे दृष्टान्तो ऽप्युपचारात् ॥ १९ ॥ गोवत्सानिति स्वभावतोऽतिवत्सलानां गवां वत्सेषु परमापेक्षत्वं सूचितम् अत एव प्रतिवार्य वलान्निवर्त्य सर्वत्रात्मशब्दप्रयोगेन पुर्ववत्सादिभ्यो भेदो दर्शितः तेन च भगवत्स्नेहपात्रत्वे तेभ्यो न्युनमेषामभिप्रेतं तच्च "नाहमात्मानमाशासे" इत्यादि भगवद्वचनं व्यक्तमेव ॥ २० ॥ तत्तदात्मा तत्तत्स्वरूपः प्रविष्टवानभवत्प्रविश्यासीदित्यर्थः यद्वा, अर्थात्तत्तद्रूपेण स्वस्वगेहं प्रविष्टवान् सन् तत्तदात्मा तत्तत्प्रयत्नवानभवत् वत्सद्वारनिरोधगोगाह्वानसङ्केतितवेगुवादनादिकं च कृतवान् इत्यर्थः । "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म" इत्यमरः ॥ २१ ॥ तन्मातॄणां चमत्कारं प्रपञ्चयन् पूर्वतः स्नेहविशेषं वक्तुं तल्लक्षणं दर्शयति —तन्मातर इति । उत्थाप्य अङ्के गृहीत्वेत्यर्थः यद्वा प्रणतानुत्थाप्य उदूह्येति क्वचित्पाठः । किं त्वत्र उदूह्य उत्थाप्येति टीकावैपरीत्यं ज्ञेयम् अत्रैव टीकायाः साफल्यं स्यादिति च परं ब्रह्मेति श्रीशुकस्तत्पारमैश्वर्यस्फूर्त्या तासां भाग्यं श्लाघते अहो भाग्यमित्यादित्याह त्वरेति निर्भरमिति । सुधासवमत्यादिकं च पूर्वतो विशेषद्योतनाय ॥२२॥ तत्तद्बालक-रूपोऽसौ तत्तद्गृहेषु सर्वेष्वेव सुखमवसदित्याह —तत इति । यामो दिनान्त्यप्रहरः तस्मिन् यमः गृहागमननियमः सर्वर्त्तु-वत्तुणसम्पत्त्या तृप्तानां गवां तदानीमागमनतः पूर्वमेव वत्सानामागमावश्यकत्वात् तेन गृहं गतः सायं दिनान्त्यदण्डषट्कं व्याप्य उन्मर्दनादिभिः सम्यक् लालितो मातृभिः हे नृपेति पूर्वपूर्ववत् सर्वत्र ज्ञेयम् उन्मर्दनं तैलादिना मज्जः स्नपनं लेपनं चन्दनादिना आदिशब्दाद्वन्यवार्ता शयनादीनि माधवः श्रीकान्तः इति तद्गृहसम्पत्तिवृद्धिरपि सूचिता ज्ञ २३ ॥ गवां च तथैव स्नेहविशेषमाह— गाव इति । स्वकत्न् स्वकानिति स्वेषामेव निकटप्राप्तत्वात् ममतासम्बन्धेनातिशयाच्च वत्सतरान् वृद्धिं गतानपि वत्सान् औधसमा-ऽऽपीनभरमिति तदीयसर्वपयः श्रवणारम्भाभिप्रयोण तत्रापि सत्वरमिति मुहुरिति स्रवदित्यादिकं पूर्वतो विशेषज्ञापकम् ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अन्तर्विपिने वनमध्ये एवेति मध्याह्ने तेषामात्मानं विना व्रजगमनासम्भवात् सर्वं मायया बालकानां मोहनमन्तर्द्धा-पनञ्च तथा तस्यान्तर्द्धानं निजमञ्जुमहिम-दर्शनाभिलाषादिकञ्चाशेषं सहसा सद्य एव ज्ञातवान् । ह स्फुटम् । यतो विश्ववित् सर्वज्ञः, अतः कृष्णः साक्षाद्भगवान् ॥ १७ ॥ वत्स-वत्सपाश्चेत्येवं द्वयं तत्स्वरूपं चक्रे, यतः कृष्णो भक्तवात्सल्याकृष्ट-चित्त इत्यर्थः, अनेन सच्चिदानन्दघनरूपता तेषां सूचिता । ननु मायातीता दृष्टिः कथं सम्भवेत्तत्राह—विश्वकृतां ब्रह्मादीनामपीश्वरः सर्वशक्तिप्रदः प्रभुर्न तस्याशक्यं किञ्चिदस्तीति भावः । अन्यथा मायिकसृष्ट्या ब्रह्मादिभिः सह साम्यापत्तिः ॥ १८ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—यावदिति यादृगित्यर्थः । अल्पकेति क-प्रत्ययो बाल्येनात्यल्पप्रमाणापेक्षया, यद्वा, सच्चिदानन्दरूपत्वेन परममहत्त्वेऽपि लौकिकत्वापेक्षया, यद्वा, अल्पमाहात्म्येन न्यूनः को ब्रह्मापि यस्मात्तादृशं वपुरिति चिद्रूपसच्चिदानन्दघन-श्रीब्रह्मविग्रहादपि तेषां वपुषो विशेषोऽभि-प्रेतः, पूर्वमपि स्वत एव तथां तादृशत्वात् । आदि-शब्देन मस्तकाद्यंगानि रोम नख गन्ध स्वर वर्णादीनि च शरीरं तद्भूषणादि-परिच्छदं चोक्त्वान्तर बाह्य करणादिकञ्च तत्तच्चेष्टादिद्वाराह —यावच्छीलेत्यादिना, शीलं स्वभावः शान्तत्ववाग्मित्व दक्षत्वादि, गुणः करुणादिः, अभिधा नाम वाक्यं वा, कृतिः कर्म्म । द्वितीयादिशब्दात् पितृमात्रादिषु व्यवहरणं पूर्वाचरितस्मरणादि-कञ्चात्मनश्च स्वत एव तस्यांशत्वेन पुराप्यभेदात्, यद्वा, नित्यप्रियत्वात् सच्चिदानन्दविग्रहत्वेन प्रायः पृथक्त्वासम्भवादनुक्तिः, यद्वा, आदिशब्देन सोऽपि यद्वा गृहीतः, स्वयमात्मेति वक्ष्यमाणेन स एवोक्तः । तावत्तत् सर्वं विष्णुमयं श्रीभगवदात्मकं बभूव, स्वरूपे मयट् । व्यापकत्वापेक्षया विष्णु-शब्दः । एवमेकस्यैव वत्सपादिरूपत्वेन ततः पृथक्त्वेन चाभिन्नत्वं भिन्नत्वमप्युक्तम् । तत्रोपयुक्तो दृष्टान्तः—गिरो वाक्यस्य तिङ्सुबन्तचयलक्षणस्यांगं कर्त्तृ कर्म्मादि पदं यथा तद्वदिति भेदाख्यो वैष्णवसिद्धान्तो दर्शितः । ततश्च न जायते योगादिना कथमपि चेतस्यपि नाविर्भवतीत्यजः, सोऽप्येवं तत्तत्स्वरूपः सन् बभावशोभत, भक्तवर्गैरिव वेष्टितत्वात्, यद्वा, बभावित्येक एव निज-शक्ति-विशेषतस्तत्तद्रूपेण प्रकाशते, न तु पृथक् तत्तद्रूपधारणत्यर्थः । अत एवोभयायित-मित्यादित्ययात्तदुभयवदाचरितमित्यर्थस्तत्त्वत उभयत्वाभावादेव इह सद्वैष्णवसिद्धान्तविशेषः श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतोऽस्ति । अत्रापि स एव दृष्टान्तो द्रष्टव्यः । कर्णमय्या गिरो वाण्या एकस्या अंगं वर्णो यथा शब्दादिरूपत्वेन नानाविधो भाति तद्वदिति । इत्थं श्रीभगवद्रूपत्वेन च सिद्धे सच्चिदानन्दघनमूर्त्तित्वेऽपि स्वनुखाद्यगभेदवदिन्द्रियादि-भेदोऽपि सिद्धः, एवमविशेषेऽपि बहुविशेषो वैष्णवसिद्धान्तस्य परमानुकुल एवाद्वैतप्रातिकल्यापत्तेः । श्री वैष्णवैस्तु विग्रहविग्रहिभावो भगवतो मन्यते ॥ १९ ॥ गोवत्सानिति स्वभावतोऽतिवत्सलानां गवां वत्सेषु परमापेक्ष्यत्वं सूचितम् । अत एव प्रतिवार्य्य वनान्निवर्त्य सर्वात्मशब्दप्रयोगेण पूर्ववत्सादिभ्यो भेदो दर्शितः, तेन च भगवत्स्नेहपात्रत्वे तेभ्यो न्यूनत्वमेषामभिप्रेतम् । तच्च (भा० ९।४।६४)—'नाहमात्मान-माशासे' इत्यादि भगवद्वचनतो व्यक्तमेव, तथापि तेषां वने परित्यागो मायमोहितत्वात्तेषां किञ्चिद्दुःखादर्शनात् । एतदग्रेऽभि-व्यक्तं भावि । ननु मा भवतु मोहेन तेषां दुःखम्, श्रीकृष्णस्य तु प्रियजनवियोगदुःखमाशंक्यते ? तत्राह सर्वात्मा तान् सर्वानपि निजशक्तिविशेषेण सदा व्याप्य वर्त्तत एवेत्यर्थः । दिवादर्शनं स्वतो भवत्येव, अन्येद्यपि न विच्छेद इति भावः, यद्वा, सर्वात्मा सर्ववयस्यादि रूपत्वेनैव जानन्, न तु स्व-स्वरूपेणेत्यर्थः ॥ २० ॥ तत्तदात्मा तत्तद्वत्सपरूपः प्रविष्टवानभवत् प्रविश्यासीदित्यर्थः, यद्वा, वत्सरूपत्वमर्थादयानुगतं तं तमेव स्व-स्व-गेहं प्रविष्टवान् सन् तत्तदात्मा तत्तत्स्वभावोऽभवत् स्तन्यपानार्थं नीचेहम्बाराव हरितादिकं वेगुवादनवत्साह्वानादिकञ्च स्वभावं प्राप इत्यर्थः । हे राजन्नित्याश्चर्य्येण सम्बोधनम्; यद्वा, हे भक्त्या राजमानेति

भवतैवैतद्बोद्धुं शक्यत इति भावः, यद्वा, राजन्मातृस्नेहविशेषार्थं राजमानः सन् ॥ २१ ॥ तन्मातॄणाञ्च मुद्प्रकारं प्रपञ्चयन् पूर्वतः स्नेहविशेष वक्तुं तल्लक्षणं दर्शयति—तन्मातर इति । उत्थाप्यांकेषु गृहीत्वेत्यर्थः, यद्वा, प्रणामाय भूमौ पतितान् तत उत्थाप्य परं ब्रह्म श्रीकृष्णम्, तथोक्तिः परमैश्वर्य्यप्रकटनात् । त्वरेति निर्भरमिति सुधासवमित्यादिकञ्च पूर्वतो विशेषस्तत्तत्सम्बन्धादेव ज्ञेयः ॥ २२ ॥ तत्तद्बालकरूपोऽसौ तत्तद्गृहेषु सर्वेष्वेव सुखमवसदित्याह -तत इति । यामो दिनान्त्यप्रहरस्तस्मिन् यमो गृहागमननियमः सदा वर्षाकालवत्तृणसम्पत्त्या तृप्तानां गवां व्रजे तदानीमागमनतः पूर्वमेव वत्सानामागमनावश्यकत्वात्तेन गृहं गतः सायमुन्मर्द्दनादिभिः सम्यग्लालितो मातृभिः । हे नृपेति यथा भवादृशो महाराजस्य पुत्राणां मातृभिरुन्मर्द्दनादिकं क्रियते, तद्वदिति भावः, यद्वा, नृपस्येवोन्मर्द्दनादिभिरुन्मर्द्दनं तैलादिना, मज्जः (मज्जनं) स्नपनं, लेपनं चन्दनादिना । आदि-शब्दाद्भव्यवार्ताप्रश्नशयनादीनि माधवः श्रीकान्त इति लक्ष्मीरूपाणां श्रीराधादीनामपि सन्तोषणं स्वेन रूपेणाभिप्रैति, यद्वा, मा विद्या विच्छक्तिरिति यावत्, तस्याः पतिः । तथा च श्रीहरिवंशे (भविष्य प० ८८।४९)-'मा विद्या च यतः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवान् । तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति शब्दितः ।' इति, तत्तद्रूपेण तत्र वर्त्तमानत्वात् ॥ २३ ॥ गवाञ्च तथैव स्नेहविशेषमाह—गाव इति । स्वकान् स्वकानिति गवां वात्सल्यातिशयेन स्वभावतः स्वपुत्रस्यैव पायनात् वत्सतरान् वृद्धिं गतानपि वत्सानोधसमापीनसम्बन्धि, सत्वरमिति मुहुरिति स्रवदित्यादिकञ्चात्रापि पूर्वतो विशेषो ज्ञेयः ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

आत्मानं सङ्कल्पं उभयायितम् उभयोर्वत्सबालयोः तत्तत्सात्त्विकाङ्क्षिकवैषयिकादिषु सन्निवेशेषु यायः गमनं सञ्जातं यस्य तथा चक्रे यतः ईश्वरः सः विश्वकृत् स्वासाधारणलक्षणावशिष्टः तथा च स्वस्व विभुस्वरूपं ब्रह्मतिरोहितवत्सबाल जीवस्य सात्त्विकाङ्क्षिक वैषिक सन्निवेशविशिष्टस्वसङ्कल्पविशिष्टं चक्रे इति भावः । कृष्णरूपाण्यसङ्ख्यानीत्युक्तेः "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति प्रदर्श्यमानत्वात् स्वसङ्कल्पविलास एवायमिति भावः ॥ १८ ॥ वत्सबालसूक्ष्मवपुः यावत्सङ्ख्याकं वपुषः जात्येकत्वं सङ्ख्येत्युपलक्षणं परिमाणादिवैचित्र्यं यत्कराङ्घ्र्यादिकं यावत् ज्ञानकर्मेन्द्रियोपलक्षणं यष्टिविषाणवेणुदलशिक् यावत् इति तत्तत्पुरादेरुपलक्षणं विभूषाम्बरं यावत् तन्निवेशादीनामुपलक्षणं शीलगुणाभिधाकृति यावदिति एतद्वैचित्र्योपलक्षकं विहारादिकं वयश्च यावत् आदिपदेन स्वरबलादिवैचित्र्यं सर्वं विष्णुमयं जगत् इति गिर अङ्गवत् मूर्त्तिवत् अज आरणित एव स्वरूपेण श्रीकृष्णः स्वसङ्कल्पेन सर्वस्वरूपः स्वावतारवद्बभौ ॥ १९ ॥ स्वयमात्मा बालकरूप आत्मरूपान् गोवत्सान् आत्मरूपैर्वत्सपैरात्मरूपैर्विहारैश्च क्रीडन् एवं सर्वात्मा स्वसङ्कल्पेन सर्वरूपः व्रजं प्रविवेश ॥ २० ॥ तत्तदात्मा तेषां तेषां सर्वपदार्थानां रज्ज्वादिपर्यन्तानामपि आत्मा सङ्कल्पेन सर्वस्य सर्वसामग्रीसम्पादक इति यावत् ॥ २१ ॥ गोपीनां विमोहनसङ्कल्पकार्यमाह—द्वाभ्यां तन्मातर इति । परं ब्रह्म श्रीमन्नारायणं श्रीकृष्णं जगदुपकृतिपरतया श्रीकृष्णरूपेणाविर्भूतं सुतरूपं मत्वा स्नेहस्नुतं यत्स्तन्यं पयः तदेव सुधातुल्यम् आसवतुल्यं च ताभिः स्नेहार्पितत्वात् अपाययन् इति ॥ २२ ॥ यामयमेन प्रहरे प्रहरे या याः क्रीडाः तासां नियमेन वर्त्तमानः स्वाचरितैः गोपगोपीः प्रीणयन् सायं प्रातरागतो गतश्चेति वर्ष क्रीडां चकारेति अनेन गोपीनां रोहिणीयशोदावत् सर्वविधकैङ्कर्यकरणभावना प्रत्यनुसारिणी श्रीभगवत्क्रीडा सञ्जातेति व्यङ्ग्यं रहस्यम् "इच्छागृहीताभिमतोरुदेह" इति वाक्यात् ॥ २३ ॥ वैकल्यं चाह—वत्सवत्योऽप्यपाययन् इति । वक्ष्यमाणत्वात् स्वकान् पूर्वं स्वीयानित्यनेन एष्वेव स्नेहो व्यञ्जितः न त्वद्यतनेषु इति तेषां परब्रह्मरूपत्वञ्च व्यज्यते ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अन्तर्विपिने वनमध्ये क्वाप्यदृष्ट्वा विश्वदृक् हेतुगर्भमिदं तत्त्वात् सर्वं वत्सवत्सपाहरणरूपं कर्म चतुर्मुखकृतमाशु अवगतवान् ॥ १७ ॥ तेषां वत्सानां वत्सपानां च मातॄणां कस्य च ब्रह्मणश्च प्रीतिं कर्तुं विश्वदृगीश्वरश्चेति हेतुगर्भमिदं विश्वदृक्त्वाद्यथेष्टपरिणामोपयुक्तसार्वज्ञादिगुणयुक्तत्वादीश्वरत्वात्प्रभुत्वात् सर्वशक्तित्वाच्च आत्मानमेव उभयायितं वत्सवत्सपायितं तदुभयवदाचरन्तं चक्रे ॥ १८ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—यावदिति । यावच्छब्दः साकल्यार्थः अजः श्रीकृष्णः यावद्वत्सानां वत्सपानां चाल्पवपुरादिकं तावत्स्वरूपो बभौ कथम् "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इति या प्रसिद्धा वाणी तस्या अङ्गवत्तदर्थमूर्तिवत् सा गीरेवार्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा भवति तथा बभावित्यर्थः । दलानि भूषार्थं शिरस्सु निहितानि किसलयदलानि शिक् शिक्यानि शीलानि स्वभावाः अभिधा नामानि आकृतिरवयवसंस्थानं गिरोऽर्थवदिति पाठे प्रत्यक्षस्तदर्थं इवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवं स्वयमेव सर्वात्मा सन्नात्माभिन्नैर्वत्सपैरात्माभिन्नान् गवां वत्सान् स्वयमात्मैव प्रयोजकः परिपाल्यात्मविहारैः क्रीडन् व्रजं प्राविशत् ॥२०॥ पृथङ्नीत्वा पृथक्कृत्य तत्तद्गोष्ठे प्रवेश्य तत्तदात्मा तत्ताद्बालप्रतिरूपो भूत्वा तत्तद्बालगृहं प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥ अथ गोपिकामोहनप्रकारमाह—तन्मातर इति । वेणुरवेण वेणुलिङ्गेन त्वरयोत्थितास्तत्तद्वत्सपमातरः सुतान् मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भ्यां निर्भरं पूर्णानन्दं यथा तथोत्थाप्य उपगुह्य स्नेहस्नुतः स्नेहेन स्नुतपयोधराः । यद्वा स्नेहेन स्नुतं स्तन्यं पय एव सुधावत्स्वादु आसववन्मादकं पाययामासुः ॥ २२ ॥ एवं माधवः यामयमेन तत्तत्कालनियमेन सायं गतः प्राप्तः ततः शोभनैराचरितैश्चेष्टितैः प्रहर्षयन् हे नृप ! उन्मर्दनादिभिः संस्कारितो

बभूव ॥ २३ ॥ अथ गवां मोहनप्रकारमाह—गाव इति। हुङ्कारघोषैः परिहूतांश्च सङ्गतांश्च तान् वत्सान्मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसमापीनोद्धवं पयः क्षीरमपाययन् ॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

लीलावेशं दर्शयति—क्वापीत्यनेन। ज्ञानाद्याः शक्तयः स्वानवसरे समयमिव तटस्थास्तिष्ठन्ति स्वावसरे स्वसेवार्थं तमुपतिष्ठन्तीति ज्ञापितम् ॥ १७-२०॥ स्वं पुत्रीयन्तीनां तन्मातॄणां चकारात् विना स्वसङ्गमतिष्ठतां तेषां स्वीयेन लीलावेशेनाघोदरप्रवेशवदुत्पातान्तरशङ्कया कतिचिद्दिनानि च एकान्ते तान् रक्षितश्च द्वारकायां यदूनिवेति ज्ञेयं तत्तदात्मेति बहुव्रीहिणा तत्तद्यत्नवान् भवेदित्यर्थः। "आत्मायत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" इत्यमरनानार्थवर्गात्। प्रासङ्गिकं प्रयोजनमाह—कस्य चेति। एकस्वरूपत्वादुभयायितमेव न तूभय विश्वकृतां पुरुषाद्यवताराणामीश्वरोऽवतारी विष्णुमयमित्यौपचारिकविकारार्थे मयट् ॥ २१-२४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवमारब्धे भोजने ब्रह्मणापहृतान् वत्सान् स्वयं विचिन्त्य पुनस्तत्रैवागत्य तथैव तेनापहृतान् बालकांश्च वीक्ष्य यदकार्षीत्तदाह—यावद् वत्सपेत्यादि। सर्वः स्वरूपः सन् स बभौ। तद्रूपया ऐच्छिक्या प्रकाशिकया मायया सर्वेषां वत्सपानां वत्सकानाञ्च तत्तद्वपुर्वयःस्वभावानाञ्च वेणु विषाणभूषाम्बराणाञ्च स्वरूप इत्यर्थः। यावच्छब्दः साकल्यार्थः प्रमाणार्थश्च। यावदादि सर्वं पदं क्रियाविशेषणम्। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति वचसोऽङ्गवच्छरीरवत् पूर्वं तद्वचो वचस्त्वेनैव स्थितम्, सम्प्रति तद्वचः शरीरीव जातमित्यर्थः। तत्र विष्णुत्वेनारोपः, एतत् सर्वं विष्णुरेवेति अङ्गवच्छब्द-तात्पर्यम् चेतनाचेतनयोरेव चिदानन्दरूपत्वमिति वेणुविषाणदलशिक्यादीनामुपपादनम्। एवममूर्त्तानां गुणशीलाभिधादीनाञ्च ॥ २०-२६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पुनः किं कृत्वा विचिकायेत्यत आह क्वेति। विश्वविदपि क्वापि शाद्वलादन्यत्रापि वत्सान् पुलिनादन्यत्रापि पालान् अदृष्ट्वा विचिकायेति पूर्वेणैवान्वयः। ननु, कृष्णः किं वत्सादिचौर्य्यक्षण एव विवेद तत्क्षणानन्तरं वा किञ्चिदन्विष्य वा विवेदेत्यत आह, सर्वमिति। सहसा चौर्य्यक्षण एव ब्रह्मणा अतर्कितमेवेत्यर्थः "अतर्किते तु सहसा" इत्यमरः ॥ १७ ॥ ततश्च भगवन्मायया मोहिते ब्रह्मणि मोहकम्मन्ये स्वभवनं गते सति स्वस्य ब्रह्ममायामोहनाभावमात्रव्यञ्जकः पूर्ववत्स्वीयैर्वत्सबालकैः सह भोजनादिलीलाभिर्विहारो नातिचित्रमित्यतो मायातीतान् बलदेवपर्य्यन्तानपि स्वपरीवारान् मोहयित्वा लोके स्वमायाबलं दर्शयितुं परमवत्सलानां गोगोपीनां स्वस्मिन्पुत्रभावमभिलषन्तीनां मनोरथं पूरयितुं ब्रह्माणं मोहयित्वापि पुनर्महाविस्मयसमुद्रे प्रक्षेप्तुम् एकस्मिन्नेव स्वाभीष्टदेवे श्रीभागवतोपदेष्टरि वासुदेवे भक्तिमन्तं खलु तं च परःसहस्रान् वासुदेवान् दर्शयितुं स्वयमेव वत्सबालकाद्याकारो बभूवेत्याह, तत इति। कस्य ब्रह्मः आत्मानं स्वयमेव उभयायितं उभयं वत्सत्वं बालकत्वं च अयितं प्राप्तं वत्सबालरूपिणमित्यर्थः। विश्वकृतां महत् स्रष्टादीनामपीश्वर इति तत्र सामर्थ्यं द्योतितम् ॥ १८ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—यावत् यत्परिमाणकं वत्सपानां वत्सकानां च अल्पकं वपुः जात्यपेक्षया एकवचनम् अत्यल्पानि कोमलानि वपूंषीत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि विहारादिकमित्यत्रादिशब्दात् पितृमात्रादिषु व्यवहरणं पूर्वाचरितन्मरणादिकं च अजः अजन्यतयैव भीत एव कृष्णः सर्वस्वरूपः तावद्वपुरादिरूपः सन् बभौ सर्वं विष्णुमयं जगदिति प्रसिद्धा या गीरतस्या अङ्गवत् सा गीरेव मूर्त्ता प्रत्यक्षा यथा बभूवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ ततश्च मध्याह्नापराह्णयोः पूर्ववदेव क्रीडितवतस्तस्य सायं गोष्ठप्रवेशमाह—स्वयमिति पञ्चभिः। एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत् कथं स्वयमात्मैव प्रयोजक आत्मरूपान् गोवत्सानिति कर्मापि स्वयमेव आत्मरूपैर्वत्सपैः प्रतिवार्य्येति प्रयोज्यकर्त्तापि स्वयमेव आत्मविहारैः आत्मभिरातमभूतैर्बालकैः सह ये विहारा वेणुवादनादयस्तैः क्रीडन्निति क्रियाकारकाण्यपि स्वयमेव इत्यर्थः, अत्र पुलिने वत्सपाला उपविश्य भुञ्जत एव शाद्वलेषु वत्सास्तृणं चरन्त्येव तानन्वेष्टुं कृष्णो विपिने पर्य्यटत्येव क्षणमात्रायमाण वर्षं व्याप्येत्येतत्त्रिकं सर्वैरदृष्टं तत्तत्स्थलेषु प्रतिदिनं भ्रमद्भिरन्यैर्लीलापरिकरैः कृष्णस्वरूपवत्सबालैर्बलदेवेनापि वर्षवातातिपाद्यैरप्यस्पृष्टमेवाचिन्त्यशक्त्या योगमायया व्यराजीदेव यस्यैक एव कृष्णो ब्रह्मणा कवलवेत्रादिलक्ष्मलक्षितो मोहान्ते ददृशे तुष्टुवे चेति ज्ञेयम् ॥ २० ॥ तत्तदात्मा श्रीदामसुदामसुबलादिबालकस्वरूपः कृष्णस्तत्तत्सद्मप्रविष्टवानित्यन्वयः ॥ २१ ॥ हन्त हन्त यशोदाया इवास्माकमपि कृष्णः किं पुत्रो भवेत् इति गोपीनां मनोरथस्य सिद्धिं बहिरलक्षितां वदन्नेव तासां मोहनमाह तन्मातरस्तत्तन्मातरः सुतान्मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भिरुत्थाप्य अङ्के कृत्वा स्तन्यं पयोऽपाययन् उद्धृह्येति क्वाचित्कः पाठश्च निर्भरं परिरभ्येति निर्भरं स्नुतेति पूर्वतः स्नेहाधिक्यसूचकं परं ब्रह्मापि सुधासवं मत्वा तासां स्तन्यं पयोऽपिबदित्याह -सुधासवमिति। स्नेहस्नुतत्वेन स्नेहमयं तत् प्रेमास्वादमहारसिकः कृष्णः सुधामिव स्वादु आसवमिव मादकं पिबन्ननुबभूवेति तल्लोभादेव तस्यापि तत्तत्पुत्रीभाववासनाप्रागासीत्सापि ब्रह्ममोहनप्रसङ्गे एव सिद्धेत्यत एव स्वस्य सखीनपि वर्षपर्य्यन्तं योगमायया मोहयामासेति ज्ञेयम् "स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा"

इति ब्रह्मणापि वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २२ ॥ यामानां यमेन उपरमेण "यमु उपरमे" तस्मिन् सतीत्यर्थः माधवः कृष्णस्तत्स्वरूपभूतबालकगणश्च गतः स्वस्वगृहमिति शेषः ततश्च उन्मर्दनं सुगन्धतैलाभ्यञ्जनं तदनन्तरं मज्जः स्नपनं मातृभिः सायं संलालितः ॥२३॥ गोपीनामिव ततो गवामपि मोहमाह—गाव इति । परिहूतास्ततः आदावाहूतास्ततः सङ्गताश्च तान् अत्रापि सत्वरमिति मुहुर्लिहन्त्य इति मुहुः स्रवदिति स्नेहाधिक्यसूचकम् ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सर्वं वत्सवत्सपहरणं विधिकृतं ब्रह्मणा कृतं सहसा आशु ह स्फुटमवजगाम अवगतवान् यतो विश्ववित् सर्ववित् ॥ १७ ॥ तन्मातॄणां मुदं कर्तुं पुत्ररूपेणापूर्वमानन्द दातुं कस्य च मञ्जु महित्वप्रकाशनेन मुदं कर्तुं चकारात्तं विमोहितं कर्तुम् आत्मानमुभयायितं वत्सवत्सपरूपेण वर्त्तमानं चक्रे न तु तानानीतवान् यतो विश्वकृत् ईश्वरः ॥ १८ ॥ तत्प्रपञ्चयति—यावदिति । अजः श्रीकृष्णः यावत् वत्सपानां वत्सकानां चाल्पकवपुरादिकं तावत्सर्वस्वरूपो बभौ सर्वं विष्णुमयं जगदिति या गीस्तस्या अङ्गवत् अर्थवत् यथा अस्याः अर्थः प्रतीयते तथा बभौ इत्यर्थः ॥ १९ ॥ स्वयमात्मा प्रयोजकः आत्मरूपान् गोवत्सान् कर्मभूतान् आत्मरूपैः वत्सपैः प्रयोज्यकर्तृभिः प्रतिवार्य इत्थं सर्वात्मा सर्वरूपः आत्मविहारैः क्रीडन्निति सर्वक्रियारूपश्च व्रजं प्राविशदित्यन्वयः ॥ २० ॥ स श्रीकृष्णः तत्तदात्मा तत्तत्प्रतिरूपो व्रजं प्राप्तोऽभूत् तत्र च तद्वत्सान् पृथक् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य तत्तत्सद्म प्रविष्टवानित्यन्वयः ॥ २१ ॥ गोपिकानां पुत्ररूपेण प्राप्तात्परमपुरुषात्सुखमाह -तन्मातर इति, द्वाभ्याम् । वेणुरवैस्त्वरयोत्थिताः सत्यः सुतान्मत्वा निर्भरं स्वानन्दपूर्णं परं ब्रह्म दोर्भिरुत्थाप्य उदूह्य परिरभ्य आलिङ्ग्य परमानन्दमूर्तिस्पर्शसुखं प्राप्य सुधा-वं सुधावत्स्वादु आसववन्मादकं स्नेहस्नुतस्तन्यपयः अपाययन् पाययामासुः ॥ २२ ॥ हे नृप ! इत्थं माधवः श्रीपतिः यामयमेन तत्तत्प्रहरबालचरितनियमेन बाललीलानामतिरुचिरत्वात्प्रहरनिर्वर्त्यत्वमुक्तं सायं गतः प्राप्तः स्वाचरितैः स्वस्यासाधारणैरन्येषां दुरनुष्ठेयराचरितैरित्यर्थः । मातॄः प्रहर्षयन् परमानन्दं प्रापयन् ततो मातृभिरुन्मर्द्दनादिभिर्लालितोऽभूदित्यर्थः ॥ २३ ॥ गवां वत्सरूपिभगवतः सकाशात्सुखमाह–गाव इति । हुङ्कारघोषैः परिहूतः आहूताश्च ते सङ्गताश्च तान् ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पुनः कथं विचिकायेत्यत्राह क्वापि शाद्वलादन्यत्रापि वत्सान् पुलिनादन्यत्रापि पालान् अदृष्ट्वेति प्राग्वत् विचिकायेति पूर्वेणैवानुषङ्गः । ननु चौर्यक्षण एवावजगाय तदनन्तरं किञ्चिदन्विष्य वेति चेत्तत्राह विश्वविदिति सर्वज्ञोऽसौ सर्वमिदं विधिकृतं तद्धेतुकमिति सहसा चौर्यक्षण एव पद्मभुवातर्कितमेवावजगाय "अतर्किते तु सहसे" त्यमरः ॥ १७ ॥ अथ विरिञ्चस्य मोहकरं परमैश्वर्यं भगवता प्रकाशितमित्याह–तत इति । मोहकम्मन्ये विरिञ्चे स्वलोकं गते सति ईश्वरो नन्दार्भक आत्मानं स्वमुभयायितं चक्रे उभयं वत्सत्वं वत्सपालकत्वञ्चायितं प्राप्तं वत्सं तत्पालकरूपिणं व्यञ्जयदित्यर्थः । किमर्थमित्यत्राह स्वस्मिन् पुत्रभावं वाञ्छन्तीनां सखिमातॄणां तत्तत्पुत्रतया मुदं कर्त्तुं कस्य च विरिञ्चस्य विज्ञस्याप्यज्ञतया स्वामिपरीक्षायां प्रवृत्तस्यापि पुत्रत्वाद्भृत्यत्वाच्चानुग्राह्यस्य परः सहस्रवासुदेवरूपदर्शनेन महाविस्मयरसानुभावनलक्षणां मुदं कर्त्तुमित्यर्थः । यतो विश्वकृतः तत्तद्व्यञ्जने समर्थ इत्यर्थः ॥ १८ ॥ तदेव प्रपञ्चयति यावदिति । वत्सपानां वत्सकानां चाल्पकं वपुर्यावत् यत्परिमाणकं तदनतिक्रम्येत्यर्थः । जात्यपेक्षयैकवचनं अल्पानि कोमलानि वपुंषीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् यावद्विहारादिकमित्यत्रादिशब्दात् पित्रादिव्यवहारो ग्राह्यः । अजोऽपूर्वदेहयोगाशून्यः कृष्णः पूर्वोक्तं सर्वविष्णुमयं स्वात्मकं प्रकाश्य तत्सर्वस्वरूपो बभौ "अजायमानो वहुधा विजायते" इति वेदवाचोऽङ्गवत सा गीरेव मूर्त्ता यथा प्रत्यक्षाभूदित्यर्थः । गिरः प्रणवलक्षणस्य महावाक्यस्याङ्गवत् सा यथा ऋगाद्यङ्गतया वहुरूपा तद्वदित्येके ॥ १९ ॥ ततश्च मध्याह्नापराह्णयोः पूर्ववदेव कृतविहारस्य तस्य सायं व्रजे प्रवेशमाह स्वयमिति पञ्चभिः । एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत् कथं स्वयमात्मैव प्रयोजकः आत्मभूतान् गोवत्सान् इति कर्मापि स्वयमेव आत्मभूतैर्वत्सपैः प्रतिवार्येति प्रयोज्यकर्त्तापि स्वयमेव आत्मविहारैरात्मभूतैर्बालकैर्ये विहारा वेणुवादनादयस्तैः क्रीडन्निति क्रियाकारकाराद्यपि स्वयमेवेत्यर्थः ॥ २० ॥ तत्तदात्मा श्रीदामसुदाम सुवलादिबालस्वरूपः ॥ २१ ॥ वाञ्छिततत्पुत्रभावानां गोपीनां वाञ्छां पूरितवानिति ब्रुवंस्तासां मोहनमाह–तदिति । तत्तन्मातरः सुतान् मत्वा परं ब्रह्मैव दोर्भिरुत्थाप्योत्सङ्गीकृत्वा स्नेहेन स्नुतं स्तन्यपयोऽपाययन् निर्भरमिति पूर्वतः स्नेहाधिक्यं सूच्यते, कीदृशं तत्पयः सुधामिव स्वादु आसवमिव मादकमित्यर्थः । परब्रह्मापि तादृशं विज्ञाय तदपिवदिति भावः "स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदे"ति ब्रह्मोक्तेः "ये यथा मा"मिति तद्वाक्यात्तत्तद्भावानुसारेण तत्तत् पुत्रभावाय हरेः स्पृहाऽभूदेव यदर्थं स्वसखानां वत्सरमेकं योगमाया मोहनम् ॥ २२ ॥ यामो वासरान्त्यः प्रहरस्तस्य यमेन उपरमेण हेतुना माधवस्तत्तद्बालकवपुस्तत्तत् स्वगृहं गतस्तन्मातृगणैरुन्मर्द्दनादिभिः सायं संलालितोऽभूदिति शेषः । उन्मर्दनं सुगन्धितैलाभ्यञ्जनं ततो मज्जः स्नपनं शोभनैराचरितैर्मातॄः प्रहर्षयन् ॥ २३ ॥ अथ गवां मोहनमाह परिहूता परिहूतास्ततः सङ्गताश्च तान् इहापि सत्वरमिति मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदिति पूर्वतः स्नेहाधिक्यं सूच्यते ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततोऽन्तर्विपिने क्वापि वत्सान् वत्सपांश्चादृष्ट्वा विचारे क्रियमाणे **विश्ववित्** सर्वज्ञो **विधिकृतं सर्वमिति सहसा** शीघ्रमेवावजगाम ज्ञातवान् हेत्याश्चर्यम् ॥ १७ ॥ **ततो** भगवान् ब्रह्मणो **मुदं कर्तुं** बालकान् नानीतवान्, तथा सति तस्य स्वप्रयास-वैयर्थ्यात् खेद एव भवेत्, तूष्णीं गृहगमने तु **तन्मातॄणां** खेदो भवेत्, अत उभयेषां **मुदं कर्तुमात्मानमुभयायितं चक्रे** यतोयं **विश्वकृत्**, कोयं प्रयासः ? ननु तज्जनकानां कालकर्मस्वभावानामभावात् कथं कृतवानित्याशङ्क्याहेश्वर इति ॥ १८ ॥ इयं सृष्टिरात्मसृष्टिरेव जातेत्याह **यावदिति**, **यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च** सङ्ख्यया तावान् भगवानेव जातोऽल्पकानि वपूंषि जातः, **यावदिति** पदार्थानतिवृत्तौ, **वत्सकवत्सपालकवपुर्यावत्** तावद्रूपो जात इत्यवधारणे वा, **कराङ्घ्र्यादिकं यावत्** तावदपि जातो **यष्टिविषाणवेणुदलशिग यावद् विभूषाम्बरं च यावत्** तावदपि जातः, **शीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं च यावत्** तावद्रूपः सन् **बभावि**तिसम्बन्धः, ननु कथमेवं जात इत्याशङ्क्याह **सर्वस्वरूप** इति, नन्वेकस्य कथं सर्वभावस्तत्राह "सर्वं विष्णुमयं जग"दित्यत्रवाक्ये "सर्वं विष्णुमय"मितिप्रतीकग्रहणं, "सर्वं विष्णुमय"मित्येवम्रूपा या गीस्तस्याअङ्गवदर्थवत् 'सर्वं विष्णुमयं जग'दिति वाक्यार्थो यथाश्रुतो यथोपपद्यत आत्मसृष्ट्याधिदैविकसृष्ट्या वा यथैवोपपद्यते तथैवेदपि जातमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥ एवं सर्वरूपो भूत्वा रूपाणां विनियोगमाह **स्वयमिति**, **स्वयमेव** भगवानात्मना स्वेनैवात्मरूपान् **गोवत्सान् परिवार्यात्मरूपैरेव वत्सपैस्तत्तद्वत्सान् परिवार्य** सह **वात्मरूपैरेव विहारैः क्रीडन् स्वयमेव** धर्मिधर्मभावं प्राप्तः **सर्वात्मा व्रजं प्राविशत्** ॥ २० ॥ ततस्तत्तद्वत्सान् पूर्ववदेव यावता मार्गेण यत्र गम्यते तावद् दूर एव ततस्ततः पृथङ् **नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य** स्थापयित्वा **स** एव भगवान् **तत्तदात्माभवत्** तत्र स्थित्यर्थं तत्तद्भावं प्राप्तवान् बन्धनादिभावं ततो वत्सरूपेण **तत्तत् सद्म** गृहं तेन तेन प्रकारेण **प्रविष्टवान्** ॥२१॥ एवं तेषां कार्यमुक्त्वा गोपिकानां पूर्ववदेव तेषु वृत्तिमाह **तन्मातर** इति द्वाभ्यां, **वेणुरवे** श्रुते **त्वरोत्थिता** जाताः, उपविष्टानपि बालकान् **दोर्भिरुत्थाप्य परिरभ्य निर्वृता** जाता देहस्वभावोपि तदधिष्ठातृकृतस्तथैव जात इत्यत्यन्तस्नेहेन स्नुतं तनूद्भवं यत् **पयस्त**देव **सुधारूपमासवं** मादकं च जातं तादृशं **पयः परं ब्रह्म** सुतान् मत्वा **पाययन्**, वस्तुतस्त्वेते मुक्तस्तना भवन्ति ॥ २२ ॥ **ततो** बहिरपि सेवां कृतवत्य इत्याह हे **नृप**, **प्रथममुन्मर्दनं** तैलपिष्टेनोद्वर्तनं, ततो **मज्जो** मज्जनं, स्नानमितियावत्, ततो **लेपनं** गन्धादिना, ततो**लङ्काराः**, ततो **रक्षा**, तत**स्तिलकादि**, ततो**शनं** भोजनं, ततो वार्तासुख-शयनादि, तैः **सर्वैरेव संलालितः** सन् **स्वाचरितैर्यथापूर्वं** बालका आचरन्ति तादृशचरित्रैः **प्रकर्षेण हर्षयन्** जातः, नन्वेतावता भूयान् कालो लगति तत् संसारव्यापृतानां प्रत्यहं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याह **सायं गत** इति, **सायङ्का**लेति **गत**स्तावद्भावं प्राप्नोति, तत्र हेतु**र्यामयमेनेति**, **याम**स्य कालस्य प्रहरात्मकस्य **यमेन** नियमेन, यावतैतावान् कालो भवति तावत् सूर्यंगतिः कुण्ठिता भवतीत्यर्थः, कथमेवमत आह **माधव** इति, लक्ष्मीपतिरयमतः सर्वसम्पत्तिः, कालस्य च नियन्तातो न कालकृतानुपपत्तिरिति ॥२३॥ एवं मातॄणां बालेषु वृत्तिमुक्त्वा गवां वत्सेषु वृत्तिमाह **गाव** इति, **ततो** वत्सप्रीत्यनन्तरं **गावोपि गोष्ठमुपेत्य सत्वरं** त्वरया **हुङ्कारघोषैः** स्वकृतैर्हुङ्कारशब्दैः **परिहूता** आहूताश्च ते **सङ्गताश्च**, ततस्तादृशान् **स्वकान् स्वकान् वत्सतरान्** स्थूलवत्सानप्य-**पाययन्** स्नेहान् **मुहुर्लिहन्त्यः**, न चाग्रे दोहः कथं भविष्यतीत्याशङ्कनीयं, यतः **स्रवदेवौधसमोधः** सम्बन्धि **पयो न** त्वन्तःस्थितम् ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्तर्विपिने वनमध्ये क्वापि वत्सान् वत्सपालांश्चादृष्ट्वा सहसा झटिति सर्वं वत्सादिहरणं विधिकृतं ब्रह्मणा कृतमवजगाम ज्ञातवान् । ज्ञाने हेतुगर्भविशेषणमाह—विश्वविदिति । 'ह' इत्याश्चर्ये । 'सर्वज्ञोऽपि कथं पूर्वमज्ञवद्विचिकाय' इत्याश्चर्यम् ॥ १७ ॥ यदि तानेव वत्सबालान् स्वशक्त्या आनयेत्तदा हरणप्रयासवैय्यर्थ्यात् कस्य ब्रह्मणो दुर्मनस्कता स्यात्, यदि तु तूष्णीमेवासीत्तदा तन्मातॄणामत्यन्तक्लेशः स्यात्, तत उभयेषां मुदं कर्तुं कृष्णः आत्मानमुभयायितं वत्सरूपेण वत्सपरूपेण च वर्तमानं चक्रे । 'कथमेवं कर्तुं शक्तः ?' तत्राह—विश्वकृदिति । नहि विश्वकर्तुरेतदनुपपन्नमित्याशयः । तत्र सामर्थ्यमाह—ईश्वर इति ॥१८॥ तदेव दर्शयति—यावदिति । जात्यभिप्रायमेकवचनम् । यावत्सङ्ख्याकानि वत्सपानां वत्सानां च अल्पकानि अल्पप्रमाणानि कोमलानि वपूंषि, यावत्प्रमाणानि तेषां कराङ्घ्र्यादीनि देहावयवाः, यावन्ति यत्प्रकारकाणि यष्ट्यादीनि, यावन्ति यत्प्रकारकाणि शीलादीनि, तावत्सर्वस्वरूपः सन् अजः श्रीकृष्ण एव बभावित्यन्वयः । 'कथम् ?' इत्यपेक्षायामाह—'सर्वं विष्णुमयम्' इति श्रुतिप्रतीकग्रहणम् । 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति या गीः श्रुतिवाक्यं तस्या अङ्गवत्, सा गीरेवार्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा भवति तथा बभावित्यर्थः । दलानि पुष्पपत्राणि शोभार्थं शिरआदिषु धृतानि, विभूषा भूषणानि, अम्बराणि वस्त्राणि, शीलानि स्वतःसिद्धस्वभावाः, गुणाः शिक्षिताः विनयादयः, अभिधा वाणी तत्तन्नामाभिनिवेशो वा, आकृतिराकारः, विहारादिकमित्यादिपदेन मात्रादिषु व्यवहरणं पूर्वाचरितस्मरणादिकं च १९ ॥ एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत् । प्रवेशप्रकारमाह—स्वयमेवात्मा प्रयोजकः । आत्मरूपान् गोव-त्सानिति कर्म कारकमपि स्वयमेवेत्युक्तम् । आत्मस्वरूपैर्वयस्यैर्वत्सपैः प्रतिवार्येति प्रयोज्यकर्ताऽपि स्वयमेवेत्युक्तम् । आत्मविहारैः

क्रीडन्निति क्रीडनरूपा क्रिया तत्साधनानि च स्वयमेवेत्यर्थः ॥ २० ॥ हे राजन् ! यत्र यत्र यस्य यस्य गोपबालस्य गृहमार्गो भिन्न-स्तत्र तत्र तेन तेन गोपरूपेण तस्य तस्य वत्सान् पृथक् नीत्वा कृत्वा तेषां तेषां गोष्ठे निवेश्य स्वयमपि तेषां तेषां सद्म गृहं प्रविष्टवान् । श्रीकृष्णस्तत्तदात्माऽभवत् ॥ २१ ॥ गोपीनां मोहमाह —तन्मातर इति । तेषां बालानां मातरो वेणुरवेण वेणुशब्दश्रवणेन त्वरया उत्थिताः सत्यः परं ब्रह्म श्रीकृष्णमेव स्वीकृततत्तद्बालकरूपं स्वसुतात्मकत्वाद्दोर्भिर्भुजैरुत्थाप्य निर्भरं स्नेहातिशयं यथा भवति तथा परिरभ्य आलिङ्ग्य स्नेहेन स्नुतं स्तन्यं पयः अपाययन् । तासां भाग्यातिशयं द्योतयन् भगवत्पीतं पयो विशिनष्टि— सुधावत् स्वादु, आसवस्तालादिरसस्तद्वत् मादकं च । वत्सचारणार्थं मुक्तस्तना एव बाला गच्छन्ति, स्तनन्धयानां तदर्थं वनगमना-सम्भवात् 'मुक्तस्तनेष्वपेतेषु' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च तथाच मुक्तस्तनेष्वपि बालेषु मातृणामेवं स्नेहाधिक्यं भगवत्स्वरूपत्वादेव" इति ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ ततो मातृभिः कृतां भगवत्सेवां दर्शयति—तत इति । 'भगवत्येवं भक्तिः, तस्यैव कृपा चाति दुर्लभा एव' इति सूचयन् सम्बोधयति—नृपेति । यामानां दिवसप्रहाराणां यमेन तत्तत्क्रीडया उपरमेण सायंकाले स्वाचरितैः स्वस्याचरितैर्वेणुवादना-दिभिर्मातॄः प्रहर्षयन् माधवः स्वीकृततत्तद्बालरूपः श्रीकृष्णः स्वगृहं गतः, ततश्च ताभिरुन्मर्दनादिभिरुपलालितः सत्कृतो बभूवे-त्यर्थः । तत्र प्रथममुन्मर्दनं तैलपिष्टादिनोद्वर्तनम्, ततो मज्जः स्नपनम्, ततश्चन्दनादिना लेपनम्, अलङ्कारः भूषणवस्त्रादिना, रक्षा गोपुच्छभ्रामणादिना, तिलकं गोरोचनादिना, अशनं भोजनम्, आदिपदेन शयनम् ॥ २३ ॥ गवां मोहमाह – गाव इति । या गावश्चारणार्थं वनं गतास्तास्ततः सत्वरं गोष्ठमुपेत्य आगत्य हुङ्कारघोषैः परिहूतान् आहूतान् सङ्गतांश्च स्वकान् स्वकान् वत्सतरान् नवप्रसूतानां स्तनन्धयानां चारणार्थं वनगमनासम्भवात् 'वत्सवत्योऽप्यपाययन्' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च मुक्तस्तनानपि वत्सान् मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौधसं पयोऽपाययन् इत्यन्वयः ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

क्वापीति ॥ विश्ववित् सर्वज्ञः कृष्णः । हेत्याश्चर्ये । अन्तर्विपिने वनमध्ये क्वापि वत्सान् वत्सपालांश्चादृष्ट्वा इव स्थितः नतु अदृष्ट्वा । यतः सहसा चोरणसमय एव ब्रह्मणाऽप्यतर्कितं यथा स्यात्तथा सर्वं वत्सादिहरणं विधिकृतं ब्रह्मणा कृतमवजगाम ज्ञातवान् । अतः वत्साद्यदर्शनमभिनय एव । "अतर्किते तु सहसा" इत्यमरः ॥ १७ ॥ तत इति ॥ ततो विश्वकृदीश्वरः कृष्णः तन्मातॄणां वत्सवत्सपमातॄणां कस्य ब्रह्मणश्च मुदं कर्तुम् आत्मानम् उभयायितं बालरूपेण वत्सरूपेण च वर्तमानम् । उभयशब्दादाचारे क्यङ् ततः क्तः । चक्रे । यद्वा उभयं वत्सत्वं बालकत्वं च अयितं प्राप्तम् । अयं भावः । तूष्णींभावे बालवत्समातॄणां विषादः स्यात् । ब्रह्महृतानामानयने ब्रह्मणो मोहो न स्यादित्युभयप्रीतये तथा कृतवान् ॥ १८ ॥ यावदिति ॥ यावत्संख्याकानि वत्सपानां वत्साना-मल्पकानि अल्पप्रमाणानि कोमलानि वपूंषि इति सर्वत्र "यावदवधारणे" इति समासः । यावत्प्रमाणानि तेषां कराङ्घ्र्यादीनि देहावयवाः यावन्ति यत्प्रकारकाणि यष्टयः विषाणानि वेणवः दलानि पुष्पपत्राणि शोभार्थं शिर आदिषु धृतानि । स्वामिनस्तु दलं पर्णरूपो वाद्यविशेषो वेणुखण्डं वेत्याहुः । शिचः शिक्यानि च यावन्ति यत्प्रकारकाणि विभूषाः भूषणानि अम्बराणि च यावन्ति यत्प्रकाराणि शीलानि स्वतःसिद्धस्वभावाः गुणाः शिक्षिताः विनयादयः अभिधा वाणी तत्तन्नामाभिनिवेशो वा आकृतिराकारः वयोऽवस्था च यावन्ति विहारादीनि आदिना मात्रादिषु व्यवहरणं पूर्वाचरितस्मरणादिकं च तावत्सर्वस्वरूपः सन्नजः श्रीकृष्ण एव । "सर्वं विष्णुमयं जगत्" इति या गीः श्रुतिवाक्यं तस्या अङ्गवत् सा गीरेवार्थस्वरूपेण प्रत्यक्षा यथा भवति तथा बभावित्यर्थः । यद्वा । यावद्वत्सकेत्यादिकं तावत्सर्वं सर्वस्वरूपभूतः अजो भगवानेव बभौ । यतः सर्वं जगत् गिरः अङ्गवत् विष्णुमयमेवास्ति । यथा पदरूपाया वाक्यरूपाया वा गिरः अङ्गं वर्णपदरूपं पदात् वाक्याद्वा न भिद्यते तथा जगद्विष्णुतो न भिन्नम् । तथा च शाब्दिकाः—"पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ॥ वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविभागो न कश्चन ॥ अखण्डं वाचकं वाक्यं विभज्य पदकल्पना ।" इत्यादि ॥ १९ ॥ स्वयमिति ॥ एवं स्वयमेवात्मा प्रयोजकः कर्ता आत्मरूपान् गोवत्सान् कर्माणि आत्मस्वरूपैर्वयस्यै-र्वत्सपैः प्रयोज्य कर्तृभिः प्रतिवार्य वनान्निवर्त्य आत्मरूपैर्विहारैः क्रीडनक्रियातत्साधनैः क्रीडन् एवं सर्वात्मा सन् व्रजं प्राविशत् । अत्र भगवतः प्रयोजकप्रयोज्योभयकर्तृकर्मकारकक्रियारूपता दर्शिता ॥ २० ॥ तत्तदिति ॥ हे राजन् ! स भगवान् येषां येषां गोपानां ये ये वत्साः यद्यद् गोष्ठं यद्यच्च सद्म तेषां तेषां गोपानां रूपेण तेषां तेषां वत्सान् पृथक् नीत्वा कृत्वा तेषां तेषां गोष्ठे निवेश्य स्वयमपि तेषां तेषां सद्म गृहं प्रविष्टवान् । एवं श्रीकृष्णस्तत्तदात्माऽभवत् ॥ २१ ॥ गोपिकामोहमाह—तन्मातर इति ॥ तेषां बालानां मातरो वेणुरवेण वेणुशब्दश्रवणेन त्वरया उत्थिताः सत्यः परं ब्रह्म श्रीकृष्णमेव स्वीकृततत्तद्बालकरूपं स्वसुतान्मत्वा दोर्भिर्भुजैरुत्थाप्य । उदूह्येति क्वाचित्कः । पाठः । निर्भरं स्नेहातिशयं यथा भवति तथा परिरभ्य आलिङ्ग्य सुधावत्स्वादु आसवस्तालादिरसस्तद्वत् मादकं च स्नेहेन स्नुतं स्तन्यं पयः अपाययन् । मुक्तस्तना एवैते भगवद्रूपभूता बालास्तेभ्य एव स्तन-पानम् ॥ २२ ॥ तत इति ॥ हे नृप ! यामानां दिवसप्रहराणां यमेन तत्तत्क्रीडया उपरमेण तत्क्रीडानियमेन वा यामोऽन्त्यप्रहरस्तत्र यो गृहागमननियमस्तेन वा सायं काले स्वाचरितैर्वेणुवादनादिभिर्मातॄः प्रहर्षयन् माधवः स्वीकृततत्तद्बालरूपः श्रीकृष्णः स्वगृहं गतस्ततश्च ताभिरुन्मर्दनादिभिरुपलालितः सत्कृतो बभूवेत्यर्थः । तत्र प्रथमनुन्मर्दनं तैलपिष्टादिनोद्वर्त्तनं ततो मज्जः स्नपनं ततश्चन्द-नादिलेपनम् अलङ्कारः भूषणवस्त्रादिना रक्षा गोपुच्छभ्रमणादिना तिलकं गोरोचनादि अशनं भोजनं आदिपदेन शयनम् ॥ २३ ॥

गवां मोहमाह–गाव इति ॥ या गावश्चरणार्थं वनं गतास्तास्ततः सत्वरं गोष्ठमुपेत्य आगत्य हुंकारघोषैः परिहूतान् सङ्गतांश्च स्वकान्स्वकान्वत्सतरान् मुक्तस्तनान् त्रिवर्षवत्सान् मुहुर्लिहन्त्यः । नुमार्षः । स्रवत् औधसम् ऊधसो जातं पयः अपाययन् ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

विश्ववित्सर्वज्ञः अवजगामज्ञातवान् ॥ १७ ॥ कस्य ब्रह्मणः उभाभ्यां वत्सवत्सपाभ्यामाचरितं उभयायितं वत्सवत्सपरूपेण जातमित्यर्थः आत्मानं चक्रे ॥ १८ ॥ तदेवाह यावदिति यावंति यत्परिमाणानि वत्सपानां वत्सकानां च अल्पकानि स्थूलसूक्ष्माणि वपूंषीति यावद्वत्सपवत्सकाल्यकवपुः तावंति तत्परिमाणानि सर्वाणि स्वरूपाणि यस्य तथाभूतोऽजः श्रीकृष्णो बभाविति सर्वत्र योजनीयं सर्वं विष्णुमयं जगदिति वेदेतिहासपुराणानां या गिरो वाण्यः संति ता अपि एतद्वत्सपादिष्वेव अंगवत् मूर्त्तिमत्यः सत्याः बभूवुः अतोन्यत्र तु ताः जनानामीर्ष्यामान हिंसानिवृत्त्यर्थं प्रोक्ता न तु वस्तुतः सत्या इति भावः ॥१९॥ स्वयमात्मा श्रीकृष्णः आत्मवत्सपैः स्वस्वरूपैर्वत्सपैः आत्मगोवत्सान् स्वस्वरूपभूतान् गोवत्सान् प्रतिवार्यवनान्निवर्त्य आत्मविहारैः स्वरमणैः क्रीडन् सर्वे वत्सपादयः आत्मभूता यस्य सः हरिर्व्रजं प्राविशत् ॥ २० ॥ तत्तदात्मा तत्तद्गोपगोपीबालरूपोऽभवत् सः तत्तद्वत्सान् तत्तद्गोवत्सान् पृथक्नीत्वा तत्तद्गोष्ठे तत्तद्गोस्थाने निवेश्य वत्सपरूपः स्वयं तत्तत्सद्म तत्तद्गोपगोपीगृहं प्रविष्टवान् ॥२१॥ गोपीकानां परब्रह्मणि स्वाभाविकं प्रेमाह तन्मातर इति वेगुरवश्रवणोत्पन्नया त्वरयोत्थिताः परंब्रह्मैव सुतान्मत्वा दोर्भिः करैः उत्थाप्य निर्भरं अत्यंतप्रेम्णा आलिंग्य सुधावत्स्वादु आसववन्मादकम् ॥ २२ ॥ हे नृप एवं यामयमेन सार्द्धत्रिप्रहरनियमेन सायंगतः सायंकाले आगतः तत उन्मर्द्दनादिभिः कृत्वा मातृभिः संलालितः स्वाचरितैः स्वचरित्रैः सुष्टुचरित्रैर्वा स्वस्वमातॄः प्रहर्षयन्नास्ते उन्मर्द्दनं सुगंधितैलाभ्यंगः मज्जः स्नपनं रक्षाहनुमन्मंत्रेण रक्षणम् ॥२३॥ गवां वत्सीभूते हरौ प्रेमातिशयं प्रदर्शयति गाव इति ततो वनात् हुंकारघोषैः परिहूताः स बोधिताश्च ते संगता मिलिताश्च तान् ऊधस्सूत्पन्नं स्रवत्पयः अपाययत् ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

भारतेति ॥ हे भारत परीक्षित्, अच्युते श्रीकृष्णे एवात्मा चित्तं येषां तेषु, वत्सपेषु, एवं भुञ्जानेषु सत्सु, वत्साः तु, तृणलोभिताः सन्तः, दूरं अन्तर्वने वनमध्ये, विविशुः ॥ १७ ॥ तानिति ॥ अस्य विश्वस्य, भीभयं भियोऽपि भयरूपः, कृष्णः, तान् वत्सान्, अदृष्ट्वा भयत्रस्तान् भयोद्विग्नान् सखीन्, ऊचे । हे मित्राणि, आशाद्भोजनात्, मा विरमत विरामं न कुरुत । वत्सकान्, इह अहं आनेष्ये । तान् दृष्ट्वा, भयसंत्रस्तानिति पाठे, तदा वत्सादर्शनात् इति शेषः । भयसंत्रस्तान् तान् वत्सपान्, दृष्ट्वा, तेषां भीर्भयं भयहेतुसिंहादिभ्यः यद्भयं तदित्यर्थः । अस्य अपास्य, वत्सभयचिन्ता भवद्भिर्न कार्या, मम सर्वरक्षकत्वादित्युक्त्या तदपनोद्येति भावः । ऊचे । हे मित्राणीत्यादि पूर्ववदेव ॥ १८ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं उक्त्वा, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः, कृष्णः स्वाश्रितजनचित्तानां स्वस्मिन्नेवाकर्षणकृच्छ्रीहरिः, सपाणिकवलः सपाणिस्थमसृणकवलेन संयुक्तः सन्नेव, अद्रेर्गोवर्द्धनाद्रिसंबन्धीनि यानि दरीकुञ्जगह्वराणि तेषु, तत्र दर्यो गुहाः, कुञ्जा लतापिहितप्रदेशा, गह्वराणि संकटस्थानानि, आत्मवत्सकान् आत्मीयवत्सान्, विचिन्वन्, ययौ । 'यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः' इति श्रुत्युक्तमहिम्नः सर्वकालं सर्ववित्त्वेऽपि ब्रह्मादिसंमोहकमिदं नृनाट्यानुकरणमात्रमेवेति भावः ॥ १९ ॥ अम्भ इति ॥ तदा, अम्भोजन्मनो जलजाज्जनिः प्रादुर्भावो यस्य स ब्रह्मा, तदन्तरगतः तस्मिन्नवसरे आगतः, वत्सवत्सपहरणविधानाय तदेव छिद्रं प्राप्तो वा, यश्च, पुरा प्रभवतो भगवतः, अघासुरमोक्षणमघासुरमोक्षविधानरूपं कर्म, खे आकाशे, अवस्थितः सन्, दृष्ट्वा परं परमं विस्मयं प्राप्तः, सः ईशितुः सर्वशास्तुरपि, मायार्भकस्य मायया पुत्रभावं प्राप्तस्य भगवतः, मञ्जु रमणीयं, अन्यत् इतरदपि, महित्वं महिमानं, द्रष्टुं तत्तस्येत्यर्थः । वत्सान्, वत्सपान् वत्सपालांश्च, इतोऽस्मात् स्थानात्, अन्यत्र यत्र भोक्तुमुपविष्टास्ततोऽन्यस्मिंस्थाने इत्यर्थः । नीत्वा, हे कुरूद्वह, अन्तरदधात् तिरोबभूव ॥ २० ॥ तत इति ॥ ततः, कृष्णः, वत्सान् अदृष्ट्वा, तच्चरणस्थाने वत्साननवलोक्य, एत्य प्रत्यागत्येत्यर्थः । पुलिने यत्र ते प्राग्भोक्तुमुपविष्टास्तस्मिन् पुलिने, वत्सपांश्चापि वत्सपालानपि अदृष्ट्वा, उभावपि, वत्सान् वत्सपालांश्चापीत्यर्थः । वने भूयोऽपीति शेषः । समन्ततः सर्वतः, विचिकायाऽन्विष्टवान् ॥ २१ ॥ क्वापीति ॥ अन्तर्विपिने वनमध्ये, वत्सान् पालांस्तत्पालकगोपबालांश्च, क्वापि कुत्रचिदपि, अदृष्ट्वा, विश्वविद्विश्वदृक्, हेतुगर्भमिदम् । विश्ववित्त्वादित्यर्थः । कृष्णः, सहसा तत्क्षणमेव, सर्वं वत्सवत्सपापहरणरूपं सर्वं कर्म, विधिकृतं चतुर्मुखकृतं, ह स्फुटं यथा तथैव, अवजगामावगतवान् ॥२२॥ तत इति ॥ ततः, तन्मातॄणां तेषां वत्सानां वत्सपानां च मातॄणां, कस्य ब्रह्मणश्च, मुदं प्रीतिं, कर्तुं संपादयितुं, विश्वदृक् ईश्वरश्च, हेतुगर्भे इमे विशेषणे । विश्वदृक्त्वात् यथेष्टपरिणामोपयुक्तसार्वज्ञ्यादिगुणयुक्तत्वात्, ईश्वरत्वात् प्रभुत्वात् सर्वशक्तित्वाच्चेत्यर्थः । कृष्णः आत्मानमेव, उभयायितं वत्सवत्सपायितं, तदुभयवदाचरन्तमित्यर्थः । चक्रे । अयं भावः । यदि तूष्णीमासे तर्हि तन्मातॄणां विषादः स्यात्, यदि च तानेवानयिष्यामि, तर्हि ब्रह्मणो मोहो न स्यादिति तदुभयप्रीतये तथा चक्रे इति ॥ २३ ॥ एतदेव प्रपञ्चयति ॥ यावदिति ॥ अजः श्रीकृष्णः, यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुः । यावत् वत्सपानां वत्सानां च अल्पकं वपुः प्रमाणमस्ति तदनतिक्रम्येत्यर्थः । यावत्कराङ्घ्र्यादि येषां यथाविधं कराङ्घ्र्यादिकं, तत्तदप्यनतिक्रम्य, यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिक् येषां यथाविधा यष्टिः विषाणं वेणुः दलं शिक् तत्तदप्यनतिक्रम्य, तत्र यष्टिर्वेत्रं, विषाणं शृङ्गं,

वेणुवंशी, दलं पत्रं, शिक् शिक्यं, यावद्विभूषाम्बरं यत्प्रमाणानि यथाविधानि येषां विभूषणान्यम्बराणि तानि तान्यप्यनतिक्रम्य यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयः, येषां यथाविधशीलगुणाभिधाकृतिवयांसि तान्यप्यनतिक्रम्य, तत्र शीलं स्वभावः, गुणाः सौमनस्यौदार्यादयः, अभिधा अर्जुनयोधबीजलादीनि नामानि, आकृतिः रूपं, वयःकौमारादिकं, यावद्विहारादिकं येषां यथाविधक्रीडनचक्षुर्निरीक्षणादिकं तत्तदप्यनतिक्रम्य, 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' इति या गीः जगत्प्रसिद्धा वाक् तस्याः, अङ्गवत् तदर्थमूर्त्तिरिव, अस्य वाचोऽन्वर्थतामापादयितुमिवेत्यर्थः । सर्वस्वरूपः सन्, बभौ । अर्थवदिति पाठे प्रत्यक्षस्तदर्थ इवेत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विधिकृतमिति : १०.१३.१७.

विधिरयमिति यः पुरा मयोक्तस्तमिह निषेधपदं कथं नयामि । यदुपतिरिति तत्र धातृकृत्यविदपि ततो विदधे न तन्निषेधम् ॥ ५२ ॥

जाता अमी येऽनघवृत्तयस्ते साधाः पुनः स्युर्विधिलङ्घनेन । एवं न वै भाव्यमतो दयालुर्मन्येऽन्वगाद्वत्सविधिं रिरक्षुः ॥ ५३ ॥

प्रभोरकारि पारोक्ष्यं येनैकः स विधिर्बली । भाविकृत्येऽखिले तत्र निमित्तं पद्मभूरभूत् ॥ ५४ ॥

चिन्वन्ति यं सुमनसः सुमनोभिरन्तः सोऽहं चिनोमि विपिने प्रकृतेऽल्पवत्सान् ।
इत्यद्भुताकुलमनाः स सनातनस्तद्युक्तं तदा विधिकृतं सममित्यवेदीत् ॥ ५५ ॥

यः पाटच्चरवत् प्रसार्य सहसा मायां त्वदीयानपि यद्वत्सानहरद्रमेश तदिदं गर्ह्यं सुहृत्संसदि ।
त्वं तद्वक्षि विचक्षणो विधिकृतं तत्किं वदामीऽपरं प्रोक्तो यो महता विधिः स हि विधिर्योऽन्यो निषेधश्च सः ॥ ५६ ॥

ततः कृष्ण इति : १०.१३.१८.

तन्मातृपद्मभवचित्तविमोहनं स्याद् येनाधुना कुतुकिना तु तथा विधेयम् ।
रूपं मयेति समयोचितधीर्विवेकादेकोऽप्यभूदुभयरूपधरः परात्मा ॥ ५७ ॥

अत्रत्यानां स्वपित्रर्जितसुकृतमिवाक्षुण्णमस्त्येव पुण्यं भाव्यं पुत्रात्मनैषामपि सुकृतपरीपाकिनां तन्मयाऽत्र ।
इत्यालोच्यैव जातः सकलसुतमयः श्रीश इत्येव मन्ये नैवं चेद् धातृनीतानयनमपि कृतं स्वीयशक्त्या न कस्मात् ॥ ५८ ॥

कर्तव्यो व्रजबालिकाभिरखिलाभिश्चारु रासः पुरो मा भूत्तत्र जघन्यमन्यवनितासम्भोगरूपं क्वचित् ।
सञ्चिन्त्यैवमचिन्त्यशक्तिरभवन् मन्येऽब्धिकन्याप्रियस्तत्तन्मन्दिरमुग्धतत्तदबलासङ्केतभर्त्रात्मकः ॥ ५९ ॥

लक्ष्मीकान्तः शेषशाय्यब्धिवासी कस्मादस्मान्संस्मरेद् दीनदीनान् । नैवं वाच्यं कैरपीति प्रकामं रूपं चक्रे गोपवत्सानुरूपम् ॥ ६० ॥

यावद्वत्सपेति । १०.१३.१९.

अनेत्रोऽपवित्रोऽपि गात्रेण हीनोऽप्यलं योऽनुरक्तो मदीयाङ्घ्रिभक्तौ । स मद्रूप एवेति लोकावगत्यै ध्रुवं तत्तदाकाररूपोऽभवत् सः ॥ ६१ ॥

नहि विश्वमेव केवलमीशे मयि वर्ततेऽपि तु प्रकटम् । सर्वात्माऽप्यस्मीति प्राबोधीशेन तत्तथा कृततः ॥ ६२ ॥

चिज्जडरूपोऽप्यहमिह लोकेष्वेको न वस्तु परमस्ति । आतृणरूपाकलितान्मन्ये विभुना व्यबोधि निजरूपात् ॥ ६३ ॥

तत्तदात्मेति : १०.१३.२१.

आत्मैक एव सुकृतस्य हि तारतम्यान्नानाशरीरमनुविश्य कृताभिमानः ।
पार्थक्यमेत्य लघुलोकदृशेत्यनेन तत्तद्गृहाभिमतवृत्तितयाऽन्वबोधि ॥ ६४ ॥

तन्मातर इति : १०.१३.२२.

एतत्पुण्यफलं प्रदातुमधुना यः पुत्रभावो मयाऽऽलम्ब्येषोऽपरिपूर्ण एव भविता तत्स्तन्यपानं विना ।
आलोच्याखिलविश्वकृत्प्रभुरसावुत्पादयामास ततस्तन्यं नूलमिहाऽन्यथा नहि पयोभूतिप्रसक्तिस्तदा ॥ ६५ ॥

योऽत्रामृतं दिशति योगिमुनीश्वरेभ्यो यः सद्रसो रसमयः सुरसालमान्यः ।
तं चात्मवत्समयमीशमपाययन् यास्तत्साधुभाग्यगरिमा भुवने हि तासाम् ॥ ६६ ॥

सायं गत इति : १०.१३.२३.

सर्वोऽप्ययं कुतुकनिर्मितमद्विलासो मायाकृतोऽस्ति यदतः सुषमाकृदेषः ।
मायाविमोहितधियां भविता न तत्त्वज्ञामिति प्रभुरगान्नियमेन रात्रौ ॥ ६७ ॥

तादृग्रूपेशमुद्दिश्य यावत्कृत्यकृतो जनान् । अन्वगच्छच्छ्रीघ्र इव यत्करोषीति तत्स्मृतिः ॥ ६८ ॥

कृष्णप्रिया

उस जंगल के भीतर कहीं भी वछड़ों और वालकों को खोजने पर नहीं पाया, तव भगवान ने क्षण में ही जान लिया कि यह सव ब्रह्मा की ही करतूत है, विश्ववित् सर्वज्ञ भगवान के लिये क्या अज्ञेय है ॥ १७ ॥ ब्रह्माजी की करतूत जानकर विश्व के निर्माता, सर्वसमर्थ, भगवान् श्रीकृष्ण ने, ब्रह्माजी को वछड़ों की माताओं को और वालकों की माताओं को भी आनन्द देने के लिये अपने को वालक और वछड़ों के रूप में विभक्त कर लिया ॥ १८ ॥ राजन् ! भगवान की यह आत्मसृष्टि थी—वछड़े और वालक जितने छोटे-वड़े थे, संख्या में जितने थे उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग हस्तपाद अङ्गुली आदि जैसे-जितने थे उनकी यष्टि, सींग, वेणु, छींके अलङ्कार, वस्त्र, वगैरह जैसे और जितने थे, वछड़ों और वालकों का जैसा स्वभाव, शील, गुण, संज्ञा, आकार, अवस्था और आहार, विहार ठीक जैसा था वैसा ही अजन्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने वना लिया यों सर्वस्वरूप होकर भगवान ने "सर्वं विष्णुमय जगत्"–"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस भगवती श्रुति वचन को सार्थक कर दिया ॥१९॥ उस अवसर पर ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान् स्वयं कर्म-क्रिया-कारक-कर्त्ता और प्रयोज्यकर्ता वन गये। खूद ही वछड़े वने, वालक वने और उनकी सर्वप्रकार की चेष्टाएँ वन गये थे। अपने आत्मस्वरूप वछड़ों को अपने आत्मस्वरूप वालकों से घेरकर अपने ही साथ विविध क्रीडाएँ करते हुए सर्वात्मा श्रीकृष्ण ने व्रज में प्रवेश किया ॥ २० ॥ राजन् परीक्षित् ! जिस जिस वालक के जो जो वछड़े थे उन्हें उसी वालक के स्वरूप से भिन्न भिन्न ले जाकर उसकी वाखल–गमान में प्रवेश कराया और वालकों के स्वरूप से उनके घरों में प्रवेश किया ।२१। राजन् ! उन वालकों की माताओं ने वंशी की तान सुनी तो त्वरित दौड़ आयी, पुनः पूर्णानन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण को निज सुत समझकर अपने दोनों हस्तों से उठाकर हृदय से आलिङ्गन किया। राजन्, उस अवसर माताओं के स्तनों में वात्सल्यातिशय से दूध टपक रहा था, जो सुधा अमृत से अधिक मधुर एवं आसव से विशेष मोदकर या उस दूध को भगवान को पिलाने लगी ।।२२।। परीक्षित् राजन् ! इस प्रकार प्रतिदिन भगवान् श्रीकृष्ण विविध प्रकार के खेल खेलकरके वालकोंके स्वरूप में घर लौटते और माताओं को वाल लीलाओं से आनन्द देते थे। उनकी माताएँ उन्हें उवटन लगातीं, नहलातीं, चन्दन लगातीं, आभूषण पहनाती, रक्षा सूत्र बांधती अथवा वालक को डीठ से बचाने के कारण भ्रूकुटि के मध्य डिठौना काजल लगातीं तिलक लगाती खिलाती–पिलाती वार्ता सुनाती और श्यामसुन्दर को सोलाती इस तरह लाड से लालन करती थी ।।२३।। राजन्, जैसा आनन्द माताओं ने पाया वैसा गौओं ने पाया। सायंकाल गौए जव चरकर घर आ जाती तब हुंकार हुंकार मचा अपने अपने बछड़ों को बुलाती और हुंकार सुनकर जल्दी से दौड़ आये अपने अपने बछड़ों को चाटती और दूध पिलाती अपने बछड़ों को देखते ही स्नेह बढ़ जाने से गौओं के थन से दूध चूने लगता था ।। २४ ॥

गोगोपीनां मातृतास्मिन् [1]सर्वाः स्नेहर्द्धिकां विना। [2]पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५ ॥
व्रजौकसां स्वतोकेषु [3]स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्। शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे [4]त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥
इत्थमात्माऽऽत्मनाऽऽत्मानं वत्सपालमिषेण सः। पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥
एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत्। [5]पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥
ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम्। गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥ २९ ॥
दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशोऽस्मृतात्मा स गोव्रजोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः।
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोऽगाद्धुङ्कृतैरास्नु पया जवेन ॥ ३० ॥
समेत्य गावोऽधो वत्सान् वत्सवत्योऽप्यपाययन्। गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौधसं पयः ॥३१॥
गोपास्तद्रोधनायासमौढ्य[6]लज्जोरुमन्युना। दुर्गाध्व कृच्छ्रतोऽभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अस्मिन् गोगोपीनां मातृता स्नेहर्द्धिकां विना मातृता पुरोवद् हरेः आसु स्तोकता अपि मायया विना ॥२५॥ व्रजौकसां स्वतोकेषु अब्दं अन्वहं स्नेहवल्ली शनैः निःसीम अपूर्ववत् ववृधे कृष्णे तु यथापूर्वं ववृद्धे ।। २६ ॥ इत्थं आत्मा (कृष्णः) वत्सपः सः वत्सपालमिषेण आत्मानं आत्मना पालयन् वनगोष्ठयोः वर्षं चिक्रीडे ॥ २७ ॥ हायनापूरणीषु त्रियामासु पञ्चषासु एकदा अजः (कृष्णः) वत्सान् चारयन् सरामः व्रजं आविशत् ॥ २८ ॥ गोवर्धनाद्रिषु तृणं चरन्त्यः गावः ततः विदूरात् उपव्रजं

१. सर्वा–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. । २. पुरा–वीर. । ३. वल्लया–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ४. कृष्णे तु पूर्ववत्–विज. । ५. पञ्चषट्सु–वीर. । ६. मौध्य–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. ।

चरतः वत्सान् ददृशुः ॥ २९ ॥ अथ दृष्ट्वा तत्स्नेहवशः अस्मृतात्मा अति आत्मपदुर्गमार्गः द्विपात् ककुद्ग्रीवः उदास्यपुच्छः आस्नुपयाः सः गोव्रजः हुंकृतैः जवेन अगात् ॥ ३० ॥ वत्सवत्यः अपि गावः वत्सान् दृष्ट्वा अधः समेत्य अङ्गानि गिलन्त्यः च लिहन्त्यः इव स्यौधसं पयः अपाययन् ॥ ३१ ॥ तद्रोधनायासमौढ्यलज्जोरुमन्युना गोपाः दुर्गाध्वकृच्छ्रतः अभ्येत्य गोवत्सैः सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एतावत्तु वैषम्यं कृष्णस्यापि दुर्निवारमासीदित्याह । गोगोपीनामिति । गवां गोपीनां चास्मिन्वत्सपालरूपे कृष्णे मातृता उपलालनादिरूपा पुरोवदेवासीत्किं तु स्नेहर्द्धिकां विना । स्नेहाधिक्यं त्विदानीं विशेष इत्यर्थः । आसु गोगोपीषु हरेस्तोकता च बालभावनादि पूर्ववदेवासीत्किं तु मायया विना । ममेयं माताऽहमस्याः पुत्र इति पूर्वं मोह आसीत्तं विनेत्यर्थः ॥ २५ ॥ स्नेहाधिक्यमेव दर्शयति । व्रजौकसामिति । यथा कृष्णे यशोदानंदने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहाधिक्यं यथा पूर्वमासीत् तथेदानीं स्वतोकेष्वपि तथैवावर्धतेत्यर्थः । आ अब्दं यावत्संवत्सरम् । निःसीम यथा भवति ॥ २६ ॥ एवमात्मा श्रीकृष्णो वत्सपो भूत्वा तत्रापि वत्सानां पालानां च मिषेणात्मानमात्मना पालयन् क्रीडितवानित्यर्थः ॥ २७ ॥ एतावत्पर्यंतं रामस्यापि मोह एवासीत्संवत्सरांते तु स कथंचिज्ज्ञातवानिति दर्शयन्नाह । एकदेति । पंचषासु पंचसु वा षट्सु वा रात्रिषु हायनस्यापूरणीषु पूरकतयाऽवशिष्टास्वित्यर्थः ॥२८॥ ततो दूरत एव गोवर्धनशिखरे चरंत्यो गावो व्रजसमीपे तृणं चरतो वत्सान्ददृशुः ॥ २९ ॥ तदैव स गोव्रजो गवां कलापस्तत्स्नेहवशस्तेषां वत्सानां स्नेहेनाकृष्टोऽत एव न स्मृत आत्मा देहो येन स जवेनोपव्रजमगात् । कथंभूतः । अत्यात्मपदुर्गमार्गः अतिक्रांत आत्मपान् गोपालान्यः सोऽत्यात्मपः तथा दुर्गो दुर्गमो मार्गो यस्य सः स च स च । तया परस्परयुक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपादिव प्रतीयमानः । ककुद्याकुंचिता ग्रीवा यस्य सः । उदास्यपुच्छः उन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन सः । आस्नुपयाः सर्वतः स्रवंति पयांसि यस्य सः । आस्नुपयाः इत्यपि पाठे स एवार्थः । गोव्रज इत्यनेन वृषभादयोऽप्यगुरित्युक्तम् ॥ ३० ॥ तत्र विशेषतो धेनूनां चेष्टितमाह । समेत्येति । गोवर्धनस्याधः । वत्सवत्यः पुनः प्रसूता अपि ॥ ३१ ॥ रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशयमुक्त्वा गोपानामपि दर्शयितुमाह । गोपा इति । तासां गवां रोधने य आयासस्तस्य मौघ्येन मोघत्वेन लज्जया सहोरुमन्युना दुर्गमार्गजनितक्लेशेन चाभ्येत्य गोवत्सैः सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एतावद्वक्ष्यमाणम् । वैषम्यमाह—किन्त्वेति । इत्यर्थ इति । स्नेहाधिक्यमेव वैषम्यमिति भावः । इत्यर्थ इति । मायायाः स्वाश्रयमोहकत्वाभावादिति भावः । ननु श्रीदामादिषु तन्मातॄणां यावान्स्नेहस्तावानेव पुत्रीभूते श्रीकृष्णेऽपि भवितुमर्हति । 'यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयः' इत्याद्युक्तेः । अत्रोच्यते—कृष्णो महामहेश्वरत्वात्स्वाधीनीकृतब्रह्मादिपर्यंतोऽपि प्रेम्णः खल्वधीन एव । प्रेमा तु न तस्याधीन इति प्रेम्णि तस्य प्रभुत्वाभावात्तेन प्रेमा संकुचितीकर्त्तुमशक्यमत एव स्वामिचरणैरप्युक्तम् । एतावत्तु वैषम्यं कृष्णस्यापि दुर्निवारमिति । स च प्रेमा वात्सल्यादिरूपस्तन्मातृषु विराजत एव इति कृष्णः स्वमात्रादिसमीपे स्वैश्वर्यमनुसंदधानोऽधीनीभूत एव सदा तिष्ठति यथा चक्रवर्त्तिनः पार्श्वे मंडलेश्वरः । न च तस्यैवं पारतंत्र्यं दूषणमिति वाच्यम् प्रत्युत भूषणमेव । यथा जीवस्य मायापारतंत्र्यं दुःखार्थकं तथैवेश्वरस्यानंदरसमयस्यापि प्रेमपारतंत्र्यं प्रतिक्षणवर्द्धमाननिरतिशयानंदार्थकमेवेति महानुभावैरनुभूतम् । श्रीयशोदायां तु श्रीकृष्णोऽहमिति प्रतिपादनेऽप्यासु श्रीदामाहमित्यादिच्छद्मप्रतिपादनान्मायाधिक्यमेवेति ज्ञेयम् ॥ २५ ॥ इत्यर्थ इति । स्वतोकत्वेन प्रतीयमानस्यापि यशोदानंदनत्वादिति तात्पर्यम् । निर्गता सीमा मर्यादा यत्र कर्मणि तत्तथेति ॥ २६ ॥ इत्थं पूर्वोक्तरीत्या । तत्रापि वत्सपत्वेपि । मिषेण छद्मना । इत्यर्थ इति । क्रीडां चक्र इत्येवार्थः ॥ २७ ॥ एतावत्पर्यंतं किञ्चिन्न्यूनाब्दपर्यंतम् । कथंचित् भगवत्सूचनेन । अजः कृष्णः । हायनस्य वर्षस्य । 'हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः । इत्यर्थ इति । अब्दपूर्त्तेः पञ्चषारात्रिभ्यः प्रागिति तात्पर्यम् ॥ २८ ॥ ततस्तदा उपव्रजमिति । गोवर्द्धनेशानकोणकोटिस्थारिष्टमर्दनकुंडसमीपप्रायप्रदेशे । तदंतिके व्रजस्य व्याप्तेः सट्टीकराख्यप्रदेशादृजुमार्गेण चतुःक्रोशमयत्वात् । "अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः" इति वक्ष्यमाणाच्च ॥ २९ ॥ स गोवर्द्धनमूर्द्धगः । उपव्रजमिति पूर्वानुषंगः । ककुदि किञ्चिदुन्नतवृषस्कंधावयवे "ककुदस्त्री ककुदश्च वृषांगे राड्ध्वजेवरे" इति मेदिनी । वृष उपलक्षणं गोरपि । आकुंचिता संकोचिता । उन्नमितान्यूर्ध्वं कृतानि । प्रथमे पाठे 'स्रु—गतौ' द्वितीये 'ष्णु—प्रस्रवणे' ॥ ३० ॥ तत्र गोव्रजे लिहंत्य आस्वादयंत्यः ॥ ३१ ॥ रामाय गोस्नेहतोऽपि गोपस्नेहाधिक्यं सूचयन्नाह—गोपा इति ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं पूर्वेभ्यो वत्सपालेभ्यस्तदंशानां वैलक्षण्यं दर्शयंस्तत्तद्भाग्येन श्लाघ्यमानाभ्योऽपि तत्तद्रूपमातृभ्योऽपि तन्निजरूपमातुर्वैलक्षण्यमाह—गोगोपीनामिति । पुरोवदित्युभयत्राप्यन्वयः । पूर्वत्र प्राक्तनबालकेष्विव अस्मिन् बालवत्सरूपे श्रीकृष्णे मातृतामातृभाव आसीत् किं तु स्नेहर्द्धिकां विना पूर्वेषु स्नेह एव अस्मिंस्तु तत्समृद्धिवृद्धिरित्यर्थः । आच्छन्नेऽपि रूपे वस्तुस्वभाव-

स्थानाच्छाद्यत्वात् अग्निवत् उत्तरत्र पुरोवत् श्रीयशोदायामिवास्वपि शुद्धमातृभावासु हरेस्तोकता बालभाव एवासीन्नान्यभाव इत्यर्थः किं तु मायया विना तस्यां श्रीकृष्णोऽहमिति सत्यप्रतिपादनं तदुचितसाक्षात्कृष्णरूपप्रकाशनं च आसु तु स श्रीदामाहं सुदामाहमिति छद्मप्रतिपादनं तदुचितरूपान्तरप्रकाशनं चेत्यर्थः। वक्ष्यते च वत्सपालमिषेण स इति। सर्वविलक्षणस्य प्राप्तेऽपि साम्ये सर्वविलक्षणताहेतुस्वभावविशेषप्राप्त्यसम्भवात् ईश्वरवत् अत्रोभयत्रापि समान एव विना शब्दः ततश्चार्थोऽपि समान एव युज्यते मायाशब्दस्य च स्वार्थ एव स्थितिः स्यात् "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वप्रकाशात् मोहवाचित्वं तु लक्षणयैवेति आस्वपीति तत्राप्यपिशब्देन समानकोटिनिविष्टायाः श्रीयशोदायाः प्राप्तिः समञ्जसा स्यात् अन्यथा हरेरपीत्यवक्ष्यदिति विवेचनीयम्॥ २५॥ तद्वच्छ्रीयशोदानन्दनेऽपि वैलक्षण्यमाह—व्रजौकसामिति। स्वशब्देन स्वापत्यत्वेनैव ज्ञातेष्वपि न तु श्रीकृष्णत्वेनेत्यर्थः। स्नेह एव वल्ली शनैर्वर्द्धमानत्वादिना शनैरिति संलालनक्रमापेक्षया तदंशत्वात्तेषां कृष्ण इत्युभयत्राप्यन्वेति यथा कृष्णे तथा तेषु ववृधे कृष्णे तु अपूर्ववत् पूर्वं यथा नासीत् तथा ववृध इत्यर्थः। यद्वा यथा यथावत् तेषु कृष्णस्य तत्तदंशेषु बालादिशिक्यपर्यन्तेषु तत्तद्योग्यं ववृधे कृष्णे त्वपूर्ववदाश्चर्ययुक्तं ववृध इत्यर्थः। पूर्वमपि "यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयः" इत्यनेन सहजश्रीदामादिवदेव शीलाद्याविर्भावस्तेपूक्तः, न तु श्रीकृष्णवदपि ततः स्वरूपाधिक्यमेव तत्र प्रेमाधिक्ये कारणं जातं न तु शीलाद्याधिक्यमपीत्युत्तरेण श्रीकृष्णे प्रेमाधिक्यं तु दुर्निवारमिति भावः॥ २६॥ स वत्सवत्सपरूपधरः वनगोष्ठयोरिति तत्र कुत्रापि केनचिदपि तदूहितं नाभूदिति भावः, अन्यत्तैः। यद्वा स श्रीकृष्ण आत्मा द्वितीय एव स चिक्रीडे॥ २७॥ पञ्चषास्वित्यनिश्चितोक्तिः प्रेममोहेन रमयति—श्रीकृष्णादीनिति रामः अतः प्रायो यद्यपि तेन सहैव प्रवेशस्तथाप्येकदा स राम इति वृत्तान्तविशेषोद्देशाय निर्देशः तच्च तं प्रति तल्लीला तत्त्वबोधनं स्नेहविशेषेण अन्यथा अब्दान्ते श्रीब्रह्मगने सति तत्तत्सम्वत्सरेण तस्य तत्कौतुकानुभवसिद्धेः अतः पूर्वमबोधने कारणं तु वक्ष्यते– अज इति, यो विनाऽपि जन्म तत्तत्पुत्रतां प्राप्तः स इत्यर्थः। तत्त्वधुना व्यक्तीभविष्यतीति भावः॥ २८॥ ततस्तदनंतरम् उपव्रजमिति गोवर्द्धनेशानकोणकोटिस्थारिष्टमर्द्दनकुण्डसमीपप्रायप्रदेशे तदन्तिके व्रजस्य व्याप्तेः सटीकराख्यप्रदेशादृजुमार्गेण चतुःक्रोशमयत्वात् अथ "तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुर" इति वक्ष्यमाणाच्च तृणमिति तत्प्राशस्त्यविवक्षया तदावेशेऽपि सतीत्यर्थः। अधुना श्रीकृष्णेन वत्सतराणां चारणं किञ्चिद्वयोवृद्धयायोग्यत्वादिति ज्ञेयम्॥ २९॥ तदेवाभिव्यञ्जयति–दृष्ट्वेति द्वाभ्याम्। त्वर्थे चकारः पूर्वतो विशेषाय स चाकाण्डे प्रियसन्दर्शनस्वभावतः अथेति पाठेऽपि स एवार्थः। स्नेहविशेषत्वमेव दर्शयति–अस्मृतात्मेत्यादिभिः। आत्मपान् दुर्गमार्गं चातिक्रान्तो अत्यात्मपदुर्गमार्गः अस्त्वित्यादिपाठद्वयमपि क्विबन्तं तुगभाव आर्षः॥ ३०॥ स्वीयं माधुर्यादिभिरसाधारणं सुशोभनं वा ओधसम् ऊधोभ्यः स्रवदित्यर्थः॥ ३१॥ अभ्येत्य अभिमुखमेत्य अन्वेत्य इति क्वचित्पाठः॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्तत्कारणं तासां स्नेहविशेषम्। तत्कारणञ्च तासु श्रीभगवत्स्नेहविशेषमाह—गो–गोपीनामिति। स्नेहस्य ऋद्धिकां वृद्धिम्। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। तत्र च तोकता। पूर्वबालकवद्बालभावो विचित्र भोज्यभूषणाक्रीडनकप्रार्थनादिरूपो मायया तासु ममता विशेषात्मिकया विना पूर्वं तस्य पुत्रत्वाभावेन तासु ममताविशेषो नासीत्। इदानीञ्च पुत्रत्वापत्त्या स जात इत्यर्थः। एवं श्रीभगवति तासां स्नेहवृद्धिस्तासु च तस्य पुत्रत्वेन ममताविशेषो भगवतोऽपि दुर्निवार इति तात्पर्य्येण श्रीभगवतो माहात्म्यविशेष एव सम्पद्येतेति, अथवा कापट्यं विना पूर्वं तासु किञ्चिद्वञ्चनमासीदधुना च श्रीयशोदायामिव निजाशेषरहस्य प्रकाशनात्तन्नासीदित्यर्थः; यद्वा, माया दया, तया विनेत्यधुना तत्तद्वत्सरूपस्य श्रीभगवतस्तासु स्नेहो विशेषतो जात इत्यर्थः, यद्वा, अकार प्रश्लेषेणामाया कापट्याभावस्तया विनेति पूर्वपुत्राणां तासु कापट्यं नासीदिदानीञ्च रसिकशिरोमणेस्तस्य विचित्रधूर्त्तता स्वभावेन तासां सुखार्थमिव तदभूदित्यर्थः॥ २५॥ अत एव सर्वेषां पितृमात्रादीनां बालरूपे तस्मिन्नेकाब्दं नित्यमुत्तरोत्तरमधिकं स्नेहभरो व्यवर्द्धतेत्याह–व्रजौकसामिति। स्नेह एव वल्ली लता, शनैर्नित्यवर्द्धमानत्वादिना, स्वशब्देन नित्य तादृशस्नेहपरम्पराविवृद्धिवैलक्षण्येनापि तेषु तेषां भगवद्बुद्धिर्नाभूदिति दृढीक्रियते। शनैरिति स्नेहसंलालन क्रमापेक्षया; यद्वा, आच्छादनार्थमन्यथा परमवैलक्षण्येन वितर्क्यत्वादपूर्ववदित्यस्यान्वहमित्यनेनान्वयः, वतिप्रत्ययस्य लौकिकोक्तिरीत्यानधिकार्थता नित्यनूतनतयेत्यर्थः, किंवानुपमेत्यर्थः, यद्वा, अपूर्वमाश्चर्यं तद्वत् वतिप्रत्ययस्तत्त्वतः श्रीकृष्णे तस्याः स्वाभाविकत्वेनाश्चर्यत्वाभावान्निःसीम यथा स्यात्तथा ववृधे इत्यपरिच्छिन्नता, अन्वहमिति नित्यवृद्धिरप्युक्ता। एवमपरिच्छिन्नस्यापि नित्यनूतनत्वेन वृद्धया प्रेमानन्दस्य ब्रह्मानन्दतोऽप्युत्कर्षः सूचितः। एष वैष्णवसिद्धान्तः श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतोऽस्ति॥ २६॥ स वत्सवत्सपरूपधरो वनगोष्ठयोः श्रीवृन्दावने व्रजे चेति तत्र तत्र कुत्रापि केनचिदपि तदूहितं नाभूदिति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, स कृष्ण आत्मा स्वयमेवैकाकी चिक्रीडे स्वस्यैव तत्तद्रूपत्वेनान्याभावात्॥ २७॥ रमयति श्रीकृष्णादीनिति रामः, अतो यद्यपि तेन सह प्रायो नित्यं वने प्रवेशस्तथाप्येकदा स राम इति स्नेहविशेषेण तं प्रति तदा तत्तद्रूपधारणं तत्त्वबोधनापेक्षयान्यथा अब्दान्ते श्रीब्रह्मागमने सति तत्तत्सञ्चरणेन तस्य तत्कौतुकानुभवासिद्धिः। यद्वा, संगोपनार्थं तदब्दे प्रायो वने तस्यानयनात्। वनमाविशत् श्रीगोवर्द्धनान्तिक घनवनं प्रविवेशेत्यर्थः, वने स्वप्रभावस्य स्वत एव विशेषतः प्राकट्येन तत्रैव तेन तदयुक्तत्वात्। लौकिकगर्भवन्न जायते,

किन्तु स्वयमेवाविर्भवतीत्यजः, अतो गर्भादनुत्पन्नत्वेऽपि तस्य पुत्रता सम्भवेदिति भावः। यद्वा, न जायते, न प्रकटो भवतीत्यज इति तल्लीलाच्छादनाभिप्रायेण ॥ २८ ॥ उपव्रजमिति श्रीराधादेवीकुण्डान्तिके व्रजस्य व्याप्तेस्ततस्तदा, किंवा तेभ्यो वत्सेभ्यो विदुरादतिदूरे। यद्वा, गोवर्द्धनाद्रे र्विदुरादुपव्रजं चरतो वत्सान् तृणं चरन्त्योऽपि ददृशुरिति स्नेहाधिक्यं बोधितम् ॥ २९ ॥ तदेवाभिव्यञ्जयति–दृष्ट्वेति द्वाभ्याम्। त्वर्थे चकार पूर्वतो विशेषाय। स चाकस्मादकाण्डे प्रियसन्दर्शनस्वभावतः, किंवा तद्दिनेऽग्रजं प्रति तल्लीला बोधनाय अथेति पाठेऽपि स एवार्थः। स्नेहवशत्वमेव दर्शयति अस्मृतात्मेत्यादि विशेषणैः। आत्मपान् दुर्गमार्गंश्चातिक्रान्तोऽत्यात्मपदुर्गमार्गः ॥ ३० ॥ स्वकीयं महामधुरत्वादिनासाधारणं सुशोभनं वा, औधसमुधोभ्यः स्रवदित्यर्थः॥३१॥ अन्वत्य पश्चादागत्य पाठान्तरेऽभिमुखमेत्य ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

श्रीकृष्णे स्नेहर्द्धिकाम् अल्पामपि स्नेहर्द्धि विनैवासीत् अनेन स्नेह एवासीत् पूर्वं नत्वल्पापि स्नेहवृद्धिरिति, पूर्वंमासुगोगोपीष्वस्य हरेस्तोकता मायया सङ्कल्पं विनैवासीत् तासु मातृता मननं भगवतः तासां वा स्वपुत्रत्वभावना कृष्णे एतद्द्वयं श्रीभगवत्सङ्कल्पकृतमेव ततः कृष्णो मुदं कर्त्तुं तन्मातॄणां चेति प्रक्रमात् ॥ २५ ॥ एतदेवाह—आ अब्दम् अन्वहं दिने स्नेहवल्ली शनैरलक्षिता निःसीम यथा भवति तथा अपूर्ववत् ववृधे वत्प्रत्ययेन वृद्धावेवापूर्वत्वं तत्सङ्कल्पकृतम् ॥ २६ ॥ आत्मा श्रीकृष्णः आत्मना स्वसङ्कल्पेन आत्मानं विभुरूपमात्मानं स्वरूपं वत्सपालमिषेण इत्युपलक्षणं सर्वेषाम् ॥ २७ ॥ पञ्चषासु हायनापूरणीषु त्रियामासु अवशिष्टासु स रामोऽजः कृष्णः व्रजमाविशत् ॥ २८ ॥ उपव्रजं व्रजसमीपं चरतः वत्सान् ददृशुरित्यन्वयः ॥ २९ ॥ गोव्रजः समूहः उदास्यपुच्छः ऊर्द्ध्वमुखः ऊर्द्ध्वपुच्छः आस्नुपयाः आस्रवत्पयो यस्य सः ॥ ३० ॥ गावः वत्सान्समेत्याधः पतदिति शेषः। स्वौधसं पयः अपाययन् ॥ ३१ ॥ गोपास्तद्रोधनायासे मौघ्यं वैफल्यन्तेन लज्जा उरुर्मन्युश्च ताभ्यामुपलक्षिता गोवत्सैः सहितान्सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एतावत्तु वैषम्यं कृष्णस्याऽपि दुर्निवार्यमासीदित्याह—गोगोपीनामिति। गवां गोपीनां च तस्मिन्वत्सवत्सपात्मकतामापन्ने श्रीकृष्णे स्नेहर्द्धिकां स्नेहसमृद्धि स्नेहाधिक्यं विनेति यावत् मातृता उपलालनादिरूपा सर्वा पूर्ववदेवासीत् तथा आसु गोपीषु हरेस्तोकता बालभावः पूर्ववदेवासीत् किन्तु मायया विना ममेयं माता अहमस्याः पुत्र इति मोहं विनेत्यर्थः ॥ २५ ॥ स्नेहर्द्धिकामेव दर्शयति–व्रजौकसामिति। व्रजौकसां श्रीकृष्णे यशोदानन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहवल्ली स्नेहसन्ततिः पूर्ववदेव ववृधे इदानीं स्वतोकेषु स्वापत्येष्वप्याऽब्दं सम्वत्सरपर्यन्तमन्वहं निःसीम निरवधिकं यथा तथैवावर्द्धतेत्यर्थः ॥ २६ ॥ इत्थं वत्सतत्पालव्याजेनात्मनैवात्मानं पालयन्वनगोष्ठयोर्वर्षं संवत्सरं चिक्रीडे विहृतवान् ॥ २७ ॥ तावत्पर्यन्तं रामस्यापि मोह एवासीत् सम्वत्सरान्ते तु कथंचिज्ज्ञातवानिति दर्शयन् आह—एकदेति। पञ्चसु षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनापूरणीषु सम्वत्सरपूरकतयाऽवशिष्टास्वित्यर्थः। वत्सांश्चारयन् स रामो वनमाविशत् ॥ २८ ॥ तदा गोवर्द्धनाद्रेः शिखरे विदूरमेव तृणं चरन्त्यो गावोऽनुव्रजं व्रजस्योपान्ते चरतो वत्सान् ददृशुः ॥ २९ ॥ स दृष्टवान् गवां व्रजः सद्यस्तेषां वत्सानां स्नेहेनाकृष्टः अत एव विस्मृत आत्मा येन स व्रजसमीपमगात् कथम्भूतः अतिक्रान्ता आत्मपा गोपा येन तथा दुर्गो मार्गो यस्य स च तथा द्विपादत्यन्तधावनेन पाश्चात्यपादयोः पूर्वपादाभ्यां सङ्घट्टनात्तथा प्रतीयमान इत्यर्थः। ककुदि ग्रीवा यस्य स उदञ्चितग्रीव इत्यर्थः। उन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन स आस्नसर्वतः स्रवत्पयो यस्य स हुङ्कृतैरुपलक्षितः गोव्रज इत्यनेन वृषभादयोऽप्यगुरिति सूचितम् ॥३०॥ तत्र विशेषतो धेनूनां चेष्टितमाह–समेत्येति। वत्सवत्योऽपि पुनः प्रसूता अपि गावः पूर्ववत्सान् स्वौधसं स्वापीनोद्भवं पयोऽपाययन् कथम्भूताः? वत्सानामङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः ॥ ३१ ॥ एवं रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशयमुक्त्वाऽथ गोपानामपि दर्शयितुमाह–गोपा इति। तासां गवां रोधनेन यश्चायासस्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन या लज्जा तत्सहितेनोरुणा मन्युना दुर्गमार्गजनितक्लेशेन चाभ्येत्यागत्य गोवत्सैः सहितान् सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एवं पूर्वेभ्यो वत्सबालेभ्यस्तदंशानां वैलक्षण्यं दर्शयन् तत्तद्भाग्येन श्लाध्यमानाभ्योऽपि तत्तद्रूपमातृभ्यः स्वरूपमातुर्वैलक्षण्यमाह–गोगोपीनामिति। पुरोवदित्युभयत्राप्यन्वेति पूर्वत्र पूर्ववालकेष्वपि उत्तरत्र श्रीयशोदायामिवेत्यर्थः। तस्यामिवास्वपि शुद्धमातुभावाभावासु हरेस्तोकता तोकभाव एवासीत् नान्यभावः इत्यर्थः। किन्तु मायया विना तस्यां श्रीकृष्ण एवाहम् इति सत्यप्रतिपादने तदुचितसाक्षात्कृष्णरूपप्रकाशनञ्च आसु तु स श्रीदामाहं सुदामाहमिति छद्मप्रतिपादनं तदुचितरूपान्तरप्रकाशनञ्चेत्यर्थः। वक्ष्यते च वत्सपालमिषेण स इति ॥ २५ ॥ तद्वत् श्रीयशोदानन्दनेऽपि वैलक्षण्यमाह– व्रजौकसामिति कृष्णे इत्युभयत्राप्यन्वेति यथा कृष्णे तथा तेषु ववृधे कृष्ण तु अपूर्ववन् पूर्वं यथा नासीत्तथा इत्यर्थः। यद्वा यथा यथावत् तेषु कृष्णस्य तत्तदंशेषु बालादिशिक्यपर्यन्तेषु तत्तद्योग्यं ववृधे कृष्णे त्वपूर्ववदाश्चर्ययुक्तं ववृध इत्यर्थः ॥ २६—३१ ॥ मन्युर्गाः प्रत्येव क्षेयं न तु बालान् प्रति गवामिव तेषां सबालेषु दर्शनसम्भवाददर्शनेऽपि वत्सचारिणां तेषां माधुर्यस्फूर्त्तेश्च कोपासम्भवात् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किन्च गवां गोपीनां अस्मिन् श्रीयशोदानन्दने कृष्णे मातृता सर्वा उपलालनादिमयः सर्व एव मातृभाव इत्यर्थः। पुरोवत् पूर्ववदेवासीत् किन्तु स्नेहर्द्धिकां स्नेहाधिक्यं विना पूर्वं श्रीदामसुदामादिभ्यः स्वपुत्रेभ्योऽपि सकाशात् यशोदापुत्रे श्रीकृष्णे स्नेहर्द्धिरासीत् तस्यैव स्वपुत्रीभूतत्वे जाते सति तदा स्वपुत्रेष्वपि तथैव स्नेहर्द्धिरिति यशोदापुत्रे स्वपुत्रे च तुल्य एव स्नेहोऽभूदित्यर्थः। आसु गोगोपीषु हरेरपि तोकता बालभावः पूर्ववदेवासीत् किन्तु मायया उपचारेणैव पुत्रतुल्यत्वात् पुत्रत्वमासीत् ब्रह्ममोहनदिनमारभ्य तु कृष्णे एव श्रीदामसुदामादिरूपस्तासां पुत्रोऽभूदिति कृष्णस्य पुत्रभावो यथार्थ एवेत्यर्थः। ननु श्रीदामादिषु तन्मातॄणां यावान् स्नेहस्तावानेव पुत्रीभूते कृष्णेऽपि भवितुमर्हति "यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयोयावद्विहारादिकम्" इति पूर्वोक्तेः उच्यते कृष्णो हि महामहेश्वरत्वात् स्वाधीनीकृतब्रह्मादिस्वांशपर्य्यन्तोऽपि प्रेम्णः खल्वधीन एव प्रेमा तु न तस्याधीनः इति प्रेम्णि तस्य प्रभुत्वाभावात् तेन प्रेमा संकुचितीकर्तुमशक्यः अत एव स्वामिचरणैरप्युक्तं एतावत्तु वैषम्यं कृष्णेनापि दुर्निवारमिति स च प्रेमा वात्सल्यादिरूपस्तन्मात्रादिषु विराजते इति कृष्णः स्वमात्रादिसमीपे स्वैश्वर्य्यमननुसन्धानोऽधीनीभूत एव सदा तिष्ठति यथा महाराजचक्रवर्त्तिनः समीपे मण्डलेश्वर इति न च महामहेश्वरस्य तस्यैवं पारतन्त्र्यं दूषणमिति वाच्यं प्रत्युत भूषणमेव यथा जीवस्य मायापारतन्त्र्यं दुःखार्थकं तथैवेश्वरस्यानन्दरसमयस्यापि प्रेमपारतन्त्र्यं प्रतिक्षणवर्द्धमाननिरतिशयानन्दार्थकमेवेति महानुभावैरनुभूतम्॥ २५॥ तदेवं यशोदानन्दनकृष्णपुत्रीभूतकृष्णयोः स्वरूपत ऐकरूप्यात् स्नेहाधिक्यं तुल्यमुक्तमपि पुनः स्पष्टीकुर्वन् यशोदानन्दनकृष्णे तु गुणोत्कर्षहेतुकं स्नेहाधिक्यमाह-व्रजौकसामिति। आब्दं वर्षं व्याप्य अन्वहं स्नेहवल्लीति वल्ली यथा प्रतिदिनमेव वर्द्धते तथैवेत्यर्थः। यथा कृष्णे यशोदानन्दने पूर्वं स्वपुत्रेभ्योऽपि वर्द्धमाना सा आसीत् इदानीं स्वतोकेष्वपि तथैव ववृधे इति स्वतोकानामपि कृष्णत्वात् स्नेहर्द्धिरुभयत्र तुल्यैवेत्यर्थः। किं च तु शब्दबलात् कृष्णं इत्यस्यावृत्त्या स्नेहर्द्धेस्तुल्यत्वेऽपि कृष्णे यशोदानन्दने तु तथापि अपूर्ववत् नित्यनवायमानैव तस्य सर्वशक्तिसौन्दर्य्यवैदग्ध्यादिगुणवत्त्वादंशित्वाच्च तासां पुत्रीभूतकृष्णस्वरूपाणां तु श्रीदामाद्युचितसौन्दर्यादिमत्त्वादंशत्वाच्चेति भावः। यद्वा, यथेति यथावदेव स्नेहवल्ली ववृधे कृष्णे तु अपूर्ववदेव ववृधे इत्यावृत्त्या विनैव व्याख्येयम्॥ २६॥ एवमात्मा कृष्णो वत्सपो भूत्वा वत्सानां पालानां च मिषेण आत्मानमात्मना पालयन् क्रीडितवानित्यर्थः॥ २७॥ ब्रह्ममोहनप्रसङ्ग एव बलदेवमोहनमपि व्यक्तीकर्तुं कथामाह—एकदेति। पञ्चसु षट्सु वा रात्रिषु हायनस्य वर्षस्य अपूरणीषु पूरकतया अवशिष्टास्वित्यर्थः॥२८॥ गोवर्द्धनशृङ्गे तृणं चरन्त्यो गावः तस्मादविदूरात् व्रजस्य निकटे चरतो वत्सान् ददृशुः॥ २९॥ अस्मृतात्मा आत्मानमपि विस्मृत्य स गोसमूहः अगात् अतिक्रान्ता आत्मपा गोपा दुर्गा मार्गाश्च येन सः, परस्परं युक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपादिव प्रतीयमानः उन्मुखत्वात् ककुदि ग्रीवा यस्य स उद्गतान्यास्यानि पुच्छानि च यस्य स आ सम्यगेव क्षरन्ति अस्रूणि पयांसि च यस्य सः॥ ३०॥ गोवर्द्धनस्याधः समेत्य द्व्याह्रिकत्र्याह्रिकादिवत्सवत्योऽपि औधसं ऊधोभ्यः स्वयमेव स्रवत् पयः अपाययन् गिलन्त्य इवेति गवां लेहनाधिक्यं स्नेहाधिक्यसूचकम्॥ ३१॥ तासां गवां रोधने य आयासो लकुटोत्क्षेपादिभिस्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन हेतुना लज्जा च मन्युश्च तल्लज्जामन्यु तेन दुर्गमार्गजनितक्लेशेन चाभ्येत्य गोवत्सैः सह॥ ३२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अस्मिन् श्रीकृष्णे गवां गोपीनां च मातृता मातृभावः पुरोवदेवासीत् किन्तु स्नेहर्द्धिकां स्नेहाधिक्यं विना परमानन्दस्वरूपत्वात् आसु गोषु गोपीषु च हरेस्तोकता बालभावोऽपि पुरोवदेवासीत्, किन्तु मायया प्राकृतनवत्सादिदेहोपादानरूपया प्रकृत्या विना अप्राकृतशरीरित्वात्॥ २५॥ आअब्दं यावत्संवत्सरम् अन्वहमनुदिनम् स्वतोकेषु निःसीमं निरवधिकं यथा भवति तथा व्रजौकसां स्नेहवल्लीप्रेमलता ववृधे यथा पूर्वं कृष्णे तद्वत् देहलीदीपन्यायेन कृष्णे इत्युभयान्वयिपदम्। ननु, श्रीकृष्णे तदानीं स्वतोकेषु यथा तथैव स्नेहवल्ली आसीदधिकावेत्यत्राह-कृष्णे त्वपूर्ववदिति। कृष्णे तु श्रीयशोदानन्दने तु तदानीमप्यपूर्ववत् स्वतोकेभ्यः अधिकैवेत्यर्थः। तत्तोकानामंशत्वाद्यशोदानन्दनस्यांशित्वादिति भावः॥२६॥ आत्मा 'एष ते आत्मान्तर्य्यामी' "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धः सर्ववेदैकवेद्यो वत्सपो भूत्वा तत्रापि इत्थमुक्तप्रकारेण वत्सपालमिषेण आत्मानं वत्समिषेण सन्तम् आत्मना वत्सपमिषेण सता पालयन् वने गोष्ठे च चिक्रीडे क्रीडितवान्॥ २७॥ अन्यस्य तु का कथैतावत्पर्य्यन्तं वत्सवत्सपालमिषेण श्रीकृष्ण एव विहरतीति रामेणापि न ज्ञातं संवत्सरान्ते तु कथञ्चित् ज्ञातमिति दर्शयन्नाह—एकदेति। अजः "अजायमानो बहुधा व्यजायते" इति श्रुतिप्रसिद्धः परमावतारी भक्तेच्छयाविर्भूतः श्रीकृष्णः एकदा पञ्चषासु पञ्चसु षट्सु वा रात्रिषु हायनापूरणीषु हायनस्य सम्वत्सरस्यापूरकतयाऽवशिष्टासु सरामो वनमाविशत्॥२८॥ तदा गोवर्द्धनाद्रेः शिरसि शिखरे चरन्त्यो गावः तत एव विदूरात् उपव्रजं व्रजसमीपे चरतो वत्सान् ददृशुः॥२९॥ अविदूरतो वत्सं दृष्ट्वा गौर्धावत्येव तदा तु विदूरात् दृष्ट्वा तत्रापि स गोवर्द्धनशिखरस्थो गोव्रजः धेनुवृषस्तवत्सतरादिगवां कलापः तत्स्नेहवशः वत्सस्नेहवशः अत एव अस्मृतात्मा न स्मृत आत्मा येन सः अत्यात्मपदुर्गमार्गः अतिक्रान्तः आत्मपान् अत्यात्मपः दुर्गो मार्गो यस्य स दुर्गमार्गः स चासौ

सच द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् द्वौ पादौ संयोज्य धावमानो द्विपादिव प्रतीयते इत्यर्थः। ककुदि आकुञ्चिता ग्रीवा यस्य स तथा उन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन स तथा आस्नु पयः आसर्वतः स्रवन्ति पयांसि यस्य स तथा हुंकृतैरुपलक्षितो जवेनोपव मगात् ॥ ३० ॥ तत्र धेनूनां श्रीकृष्णरूपेषु वत्सेषु रामेण दृष्टं प्रीत्यतिशयं दर्शयति—समेत्येति। वत्सवत्योऽपि पुनः प्रसूता अ वत्सान् श्रीकृष्णरूपान् गिलन्त्य इव लिहन्त्यः स्वौघसं पयः अपाययन् ॥३१॥ अथ गोपानां कृष्णरूपेषु वत्सपेषु रामेण दृष्टं प्रीत्य शयं दर्शयति—गोपा इति त्रिभिः। तस्य गोव्रजस्य रोधने य आयासस्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन यो लज्जोरुमन्युः लज्जया बहुक्रोधस्तेन दुर्गाध्वकृच्छ्रतो दुर्गममार्गक्लेशेन च अभ्येत्य गोवत्सैः सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पूर्ववृत्ताद् गोपीनां मातृभावात् हरेः पुत्रभावाच्चाधुनिकस्य तस्य तस्य च विशेषमाह गोगोपीनामिति, गवां गोपी चास्मिन् यशोदासुते हरौ सर्वा मातृता उपपालनादिमयो निखिलो मातृभावः पुरोवत् पूर्ववदेवासीत् किन्तु स्नेहर्द्धिकां विनेति श्रीदामसुवलादिषु स्वसुतेषु स्नेह एव यशोदासुते हरौ तु स्नेहर्द्धिरिदानीन्तु तस्यैव श्रीदामादित्वेनैकवस्तुतत्त्वादुभयत्र प्रेमर्द्धिरित्य आसु गोपीष्वपि हरेस्तोकता बालभावः पूर्ववदेवासीत् किन्तु मायया विनेति "माया स्याच्छान्वरी बुद्ध्यो"रिति मेदिनी। मासां च सुतोऽहमिति बुद्धिरचित एव तद्भावो नतु साक्षादिदानीन्तु यशोदासुतस्यैव श्रीदामादिरूपत्वात् साक्षाच्च स इत्यर्थः॥२ उभयत्र समानामेव स्नेहर्द्धिमुक्तां स्फुटयन्ननाच्छन्नरूपे यशोदासुते विशेषमाह व्रजौकसामिति। आब्दं वर्षं व्याप्यान्वहं प्रति स्वतोकेषु कृष्णाविभविषु श्रीदामादिषु स्नेहवल्ली ववृधे यथा कृष्णे यशोदासुते शनैरुपलालनादिक्रमेण तु शब्दादावृत्या व्याख्या कृष्णेत्वपूर्ववन्नित्यनवायमानैव ववृधे तस्यांशित्वादनाच्छन्नरूपगुणत्वाच्च परे त्वाहुस्त्वावृत्तिः यथा यथावदेव स्नेहवल्ली व कृष्णे त्वपूर्ववदिति ॥ २६ ॥ इत्थमेव स वत्सप आत्मा विभुर्विज्ञानानन्दमूर्त्तिः कृष्णः वत्सानां पालानाञ्चं मिषेनात्मानं पाल चिक्रीड़े इति केनचिदूहितो नाभूदित्यर्थः ॥ २७ ॥ विरिञ्चविमोहनप्रसङ्गे बलभद्रस्यापि मोहनं वक्तुं कथामाह—एकदे पञ्चसु षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनस्य संवत्सरस्यापूरणीषु पूरकतयावशिष्टास्वित्यर्थः ॥ २८ ॥ गोवर्द्धनस्याद्रेः शि शिखरे तृणं चरन्त्यो गावस्ततोहरिदूराद्व्रजस्यान्तिके चरतो वत्सान् ददृशुः ॥ २९ ॥ स गो व्रजो वत्सान् दृष्ट्वा अगात्तानग कीदृशः ? अमृतात्मा स्वमपि विस्मृत्येत्यर्थः। अतिक्रान्तो आत्मपाः स्वरक्षका गोपा दुर्गा मार्गाश्च येन सः, मिथो युक्ताभ्यां पद धावन् द्विपादिव प्रतीयमानः ककुदि आकुञ्चिता ग्रीवा यस्य सः उन्नतान्यास्यानि पुच्छानि च यस्य सः, आ सम्यक् स्रव पयांसि नेत्रजलानि दुग्धानि च यस्य सः ॥ ३० ॥ गावो गोवर्द्धनाद्रेरधः समेत्य औधसमूधोभ्यः स्रवत् पयो वत्सानपाययन् वत्सव पुनः प्रसूता आपे लिहन्त्य इति गवां लेहनाधिक्यं स्नेहाधिक्यं द्योतयति ॥ ३१ ॥ तासां गवां रोधने य आयासो यष्टिक्षेपादिस मौघ्येन वैफल्येन हेतुना जातो यो लज्जायुक्तो मन्युस्तेन दुर्गाध्वजनितेन कृच्छ्रेण चाभ्येत्य गोवत्सैः सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमुभयविधानां पूर्ववत् स्थितिमुक्त्वा विशेषमाह **गोगोपीनामिति, गवां गोपीनां च मातृता** मातृभावः सेवादि **सर्वोप्यस्मिन्** नूतनपुत्रेपि पूर्ववदेवासीत्, परं स्नेहर्द्धिकां विना स्नेहर्द्धिस्त्वधिका जाता, **आस्वपि गोगोपीषु हरेस्तोकता** पू देवासीत्, स्तोकेषु यादृशो भावः सा **स्तोकता** मातृविषयिणी स्तोकनिष्ठा हरेरप्यासीद् यथापूर्वं, स्तोकानां परमिदानीं भग स धर्मो मायया जातः, अतो **मायया विना** मायां परित्यज्य स्वरूपतः पूर्ववदेवासीदित्यर्थः ॥ २५ ॥ एवमारम्भ एव स्नेहा मुक्त्वा तस्य वृद्धिमाह **व्रजौकसामिति, स्वतोकेषु** स्वस्वबालकेषु **स्नेहवल्ली** शीघ्रमेव वर्धमानान्वहं **ववृधे, शनैरिति** वैल ज्ञानार्थं, ततो **निःसीम ववृधे, यथा कृष्णे** तु पूर्ववत्, **कृष्णे त्वपूर्ववदेव, कृष्णशब्दः** सप्तम्यन्तो वारद्वयमावर्तते ॥ २६ ॥ भगवच्चरित्रं नूतनमुक्त्वोपसंहरतीत्थमिति, **आत्मा कृष्ण आत्मना** वत्सरूपेणा**त्मानं** वत्सरूपं वस्तुतः स्वयमेव **वत्सः** पाल **मिष**मात्रं व्याजमात्रं, तेन **स एव वत्सपो** भूत्वात्मानं **पालयन् वनगोष्ठयो**र्वने गोष्ठे च **चिक्रीडे** क्रीडां कृतवान् ॥ २७ ॥ गोकुलवासिनां सर्वेषां मध्ये बलभद्रस्य भगवत एवं लीलया ज्ञानं ज्ञातमिति वक्तुमुपाख्यानमारभत **एकदेति,** यदा भगवत **वत्सान्** पालयन् बलभद्रसहितो **वनमाविशत्,** यत्र गह्वरे वने गावश्चरन्ति तत्र गतः **पञ्चषासु** रात्रिषु **हायनापूरणीषु** वत्सापहरणे वर्षमात्रं जातं पञ्च वा षड् वा रात्रयो न्यूनाः, **त्रियामा** इत्यल्पत्वं, अज इति वत्सपालरूपेण तन्मातृभ्यो न केवलं स्वयमेव तथा वर्तत इति ज्ञापनार्थमुक्तम् ॥ २८ ॥ ततो यदासीत् तदाह विशेषेण **दूराद् दूरे चरतो वत्सानुपव्रजं** व्रज एव स्थितान् व्रजसमीपारण्ये स्थितानित्यर्थः, **गोवर्धनाद्रिशिरसि चरन्त्यो गावो ददृशुः** ॥ २९ ॥ यद्यपि गवां तृणमत्य तथापि तत् परित्यज्य वत्सस्नेहाद् वत्ससमीपमागता इत्याह दृष्ट्वेति, पूर्वमपि पश्यन्ति कदाचित् तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रम थेति, तत्स्नेहेन वत्सस्नेहेन वशीकृतस्तत्स्नेहवशोत एवास्मृत **आत्मा** देहो येन स प्रसिद्धोपि **गोव्रजः** सर्वा एव गावोत्या **दुर्गमार्गो** जातः, अतिक्रान्ता **आत्मपा** गोपाला **दुर्गश्च मार्गो** येन, रक्षकानतिक्रम्य कण्टकादिभूयिष्ठमपि प्रदेशं मार्गव्यति वातिक्रम्यागत इत्यर्थः, किञ्च **द्विपाज्** जातो योजितपादद्वयेनैवोत्प्लवनेनैव धावति, **ककुदि ग्रीवा** यस्य, उद्ध्र्वमास्यै

यस्यैतादृशः सन्नगाद् वत्ससमीपे समागतो हुङ्कृतैः सह, आसमन्तात् स्रवतीत्यास्त्रु, आस्त्रु पयो यस्य स आस्त्रुपया जवेनागतः ॥ ३० ॥ ततः समेत्य वत्सवत्योप्यधोवत्सांस्त्यक्तवत्सानप्यपाययन्, तत्राप्यङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः स्नेहमुद्गिरन्त्यस्तथा कुर्वन्ति, नात्र तासां कश्चन दोषो यतः स्वौधसं स्वस्यैवौधसि स्थितं पयः ॥ ३१ ॥ एवं गवां स्नेहाधिक्यमुक्त्वा गोपानां स्नेहाधिक्यमाह गोपा इति त्रिभिः, प्रथमत तस्य गोव्रजस्य रोधनार्थं योयमायासस्तस्मिन् विफले जाते यत् मौढ्यमितिकर्तव्यताज्ञानाभावो जातस्तस्मिन् जाते पश्चाल्लज्जा जाता, एवं दोषत्रयेणोरुमन्युर्जातः, तेन मन्युनाविचारितक्लेशा एव दुर्गाध्वनि यः कृच्छ्रः क्लेशस्ततोपि समेत्य क्लेशं प्राप्यापि मिलित्वा गोवत्सैः सह मिलितान् सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'एतावत्तु वैषम्यं श्रीकृष्णस्यापि दुर्वारमासीद्' इत्याह—गोगोपीनामिति। गवां गोपीनां चास्मिन् पुत्रीभूते कृष्णे मातृता उपलालनादिरूपा पूरावत् पूर्वंपुत्रेष्विवैवासीत्, किन्तु स्नेहर्द्धिकां विना। स्नेहाधिक्यं त्विदानीमस्मिन् विशेषमित्यर्थः। तथा आसु गोगोपीषु हरेस्तोकता बालभावनाऽपि पूर्ववदेवासीत्, किन्तु मायया विना। 'ममेयं माता, अहमस्याः पुत्र' इति मोहं विनेत्यर्थः॥ २५॥ स्नेहाधिक्यमेव दर्शयति—व्रजौकसामिति। व्रजौकसां कृष्णे यशोदानन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि स्नेहाधिक्यं पूर्वमासीत्तथेदानीं स्वतोकेषु स्वपुत्रेष्वपि अपूर्ववत् पूर्वतो विलक्षणं निःसीमं निरवधिकं यथा भवति तथा स्नेहवल्ली स्नेहसन्ततिः अन्वहं प्रतिदिनं शनैः आब्दं संवत्सरपर्यन्तं ववृधे। 'वल्ली यथा शनैरनुदिनं वर्धते तथा' इति सूचयितुं वल्लीपदम्॥ २६॥ इत्थमेवमात्मा सर्वात्मा स श्रीकृष्ण एव वत्सानां पालानां च मिषेण व्याजमात्रेण वत्सपो भूत्वा आत्मना बालरूपेण आत्मानं वत्सरूपिणं पालयन् वर्षं संवत्सरपर्यन्तं वनगोष्ठयोश्चिक्रीडे॥ २७॥ एतावत्पर्यन्तं रामस्यापि मोह एवासीत्, संवत्सरान्ते तु कथञ्चिज्ज्ञातवान्। तद्दर्शयति—एकदेति। एकदा सरामो रामेण सहितोऽजः श्रीकृष्णः वत्सान् चारयन् वनमाविशत्। अजपदेनैवं सर्वस्वरूपत्वेऽपि तस्याविकारित्वं सूचयति। एकदेति। 'कदा' इत्यपेक्षायामाह—पञ्चषासु पञ्चसु वा षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनापूरणीषु हायनस्य संवत्सरस्यापूरकतयाऽवशिष्टासु सतीष्वित्यर्थः॥ २८॥ तत्र रामेण दृष्टमाश्चर्यमाह—तत इति सप्तभिः। गोवर्धनपर्वतस्य शिखरे चरन्त्यो गावस्ततो विदूरादेव उपव्रजं व्रजसमीपे तृणं चरतो वत्सान् ददृशुरित्यन्वयः॥ २९॥ दृष्ट्वा च अथानन्तरमेव स गोव्रजो गवां समूहस्तत्स्नेहवशस्तेषां वत्सानां स्नेहेनाकृष्टः, अत एवास्मृतः विस्मृतः आत्मा देहो येन सः, अत एव अत्यात्मपदुर्गमार्गः अतिक्रान्ता अगणिताः आत्मपाः गोपा दुर्गमार्गः कष्टकादिभ्योऽगम्यप्रदेशश्च येन सः, तथा मुक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपवत् प्रतीयमानः, ककुदि आकुञ्चिता ग्रीवा यस्य, उदास्यपुच्छः उन्नमितानि आस्यानि मुखानि पुच्छानि च येन सः, आस्नुपयाः आ सर्वतः स्नुवंति पयांसि यस्य सः, 'आस्त्रुपया' इति पाठोऽप्ययमेवार्थः। हुंकृतैः हुङ्काराख्शब्दान् कुर्वन् जवेन वेगेनागात् वत्ससमीपं जगामेति॥ ३०॥ गोवर्धनस्याधोदेशे चरतो वत्सान् समेत्य तेषामङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यो वत्सवत्यः पुनःप्रसूता अपि गावः स्वौधसं पयः अपाययन्॥ ३१॥ एवं रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशयमुक्त्वा, तेनैव दृष्टं गोपानामप्यमीषु स्नेहातिशयमाह—गोपा इति। तासां गवां रोधने य आयासः श्रमस्तस्य मौग्ध्यं निष्फलत्वं तेन जातया लज्जया सह य उरुमन्युस्तेन दुर्गमार्गजनितक्लेशेन च युक्ता गोपा अभ्येत्य आगत्य गोवत्सैः सह सुतान् ददृशुः॥ ३२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एतावत्तु वैषम्यं श्रीकृष्णस्यापि दुर्वारमासीदित्याह—गोगोपीनामिति॥ गवां गोपीनां चास्मिन्पुत्रीभूते कृष्णे मातृता उपलालनादिरूपा सर्वापि पुरोवत् पूर्वंपुत्रेष्विवैवासीद्। पुरावदिति च पाठः। किंतु स्नेहर्द्धिकां विना स्नेहाधिक्यं त्विदानीमस्मिन्विशेष इत्यर्थः। तथा आसु गोगोपीषु हरेस्तोकता बालभावनाऽपि पूर्ववदेवासीत् किंतु मायया विना ममेयं माता अहमस्याः पुत्र इति मोहं विनेत्यर्थः। अत्रोत्तरार्द्धे तोषणी। पुरोवत् पूर्वंमातरि यशोदायामिव आस्वपि तोकता बालभाव एवासीत् किंतु मायया यशोदायां कृष्णेऽहमिति सत्योक्तिः। तद्रूपतया प्रकाशनं चेति न माया। आसु तु श्रीदामाहमिति छद्मोक्तिस्तद्वत्प्रकाशनं मायेत्वेतावद्वैलक्षण्यमित्यर्थः। यद्वा। मायया विना पूर्वं मायया उपचारेणैव पुत्रतुल्यत्वात् पुत्रत्वमासीत्। इदानीं तु कृष्ण एव सुदामादिरूपस्तासां पुत्रोऽभूत् इति॥ २५॥ व्रजौकसामिति॥ व्रजौकसां कृष्णे यशोदानन्दने स्वपुत्रेभ्योऽपि यथा स्नेहाधिक्यं पूर्वमासीत्तथेदानीं स्वतोकेषु स्वपुत्रेष्वप्यपूर्ववत् पूर्वतो विलक्षणं निःसीम निरवधिकं यथा भवति तथा स्नेहवल्ली स्नेहसंततिः अन्वहं प्रतिदिनं शनैः आब्दं संवत्सरपर्यन्तं ववृधे। यद्वा। स्वापत्यतया ज्ञातेष्वपि तोकेषु अब्दपर्यन्तं स्नेहवल्ली शनैः लालनक्रमेण यथा कृष्णे तथैव तेषु ववृधे। कृष्णे तु अपूर्ववत् पूर्वविलक्षणानिःसीम ववृधे॥२६॥ इत्थमिति॥ इत्थमेवात्मा सर्वात्मा स श्रीकृष्ण एव वत्सानां पालानां च मिषेण वत्सपो भूत्वा आत्मना बालरूपेण आत्मानं वत्सरूपिणं पालयन् वर्षं संवत्सरपर्यन्तं वनगोष्ठयोश्चिक्रीडे। कर्मव्यतिहारे तङ्॥ २७॥ एकदेति॥ एकदा पञ्चषासु पञ्चसु वा षट्सु वा त्रियामासु रात्रिषु हायनापूरणीषु हायनस्य संवत्सरस्यापूरकतयाऽवशिष्टासु सतीष्वित्यर्थः। सरामो रामेण सहितोऽजः श्रीकृष्णः वत्सान् चारयन् वनमाविशत्॥ २८॥ तत इति॥ गोवर्द्धनपर्वतस्य शिखरे चरन्त्यो गावस्ततः विदूरादेव उपव्रजं व्रजसमीपे गोवर्द्धनेशानकोणस्यारिष्टासुरमर्दनकुण्डसमीपे तृणं

चरतो वत्सान्ददृशुः ॥ २९ ॥ दृष्ट्वेति ॥ दृष्ट्वा चाथानन्तरमेव स गोव्रजो गवां समूहस्तत्स्नेहवशस्तेषां वत्सानां स्नेहेनाकृष्ट एवाऽस्मृतः विस्मृतः आत्मा देहो येन सः अत एवात्यात्मपदुर्गमार्गः अतिक्रान्ता अगणिताः आत्मपाः गोपा दुर्गमार्गाः कण्टका भ्योऽगम्यप्रदेशश्च येन सः तथा युक्ताभ्यां पद्भ्यां धावन् द्विपादिवत् प्रतीयमानः ककुदि आकुञ्चिता ग्रीवा यस्य उदास्यपुच्छ मितानि आस्यानि मुखानि पुच्छानि च येन सः आस्नुपयाः आसवंतः स्नुवन्ति पयांसि यस्य सः आस्नुपया इति पाठेऽप्ययमेवा उभयत्र धातोः क्विपि तुगभाव आर्षः । आसमन्तात् स्नौ पर्वतसानौ पतत् पयो यस्येति वा । अत्र आसमंतात् क्षरन्ति स्नेहा पयांसि च यस्येति चक्रवर्ती तालव्यशकारमप्यभिप्रैति । हुंकारशब्दान् कुर्वन् जवेन वेगेनागात् वत्ससमीपं जगामेति । इत्यनेन वृषादयोऽप्यगुरित्युक्तम् ॥ ३० ॥ समेत्येति ॥ गोवर्द्धनस्याधोदेशे चरतो वत्सान्समेत्य तेषामङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः नुमार्षः । वत्सवत्यः पुनः प्रसूता अपि गावः स्वौधसं पयः अपाययन् ॥३१॥ गोपा इति ॥ तासां गवां रोधने य आयासः श्रमस्तस्य मौघ्यं निष्फलत्वं तेन जातया लज्जया सह य उरुर्मन्युस्तेन दुर्गविभ्वक्कृच्छ्रतः दुर्गमार्गजनितक्लेशेन च युक्ता गोपा अभ्येत्य आग गोवत्सैः सह सुतान्ददृशुः ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

गवां गोपीनां च अस्मिन् प्रत्येकं पुत्रीभूते श्रीकृष्णे स्नेहर्द्धिकां प्रेमाधिक्यं विना सर्वालालनपोषणरक्षणादिरूपा सम मातृता मातृभावः पुरोवत्पूर्ववदभून् स्नेहाधिक्यं तु इदानीमेवातितरामाभूदित्यर्थः । हरेः पुत्रीभूतस्य कृष्णस्य आसु गोपीष्वपि तोका पुत्रभावः मायाविनाऽभूत् अहमस्याः सुतः इयं च मदीया जननीति मोहं विनेत्यर्थः ॥२५॥ स्नेहवल्ली प्रेमलता आब्दं संवत्सरपर्य निःसीम अत्यंतं यथा तथा ववृधे कृष्णे यशोदानंदने स्वसुतेभ्योऽपि अधिकं प्रेम यथाभूत् तथा कृष्णरूपेषु स्वपुत्रेषु अपूर्ववत् पूर्व पुनर्भवतीत्यपूर्वः स इव अधिकोऽधिकोऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥ आत्मा सर्वात्मा सः श्रीकृष्णः वत्सपो भूत्वा वत्सपमिषेण आत्मना स्वे कृत्वा आत्मानं वत्सार्पितं स्वं पालयन् सन् वनगोष्ठयोः वर्षं चिक्रीडे ॥ २७ ॥ एतच्चरितं रामस्यापि संमोहजनकमित्याह एक देत्यादिदशभिः पंच वा षड्वेति पंचषास्तासु पंचमासु बहुव्रीहौ संख्येय इति डच्प्रत्ययः पंचसु वा षट्सु वा त्रियामासु रात्रिया रात्रिषु हायनस्य एकवर्षस्य आपूरणीषु अपूर्णतया स्थितासु सतीषु ॥ २८ ॥ ततो वत्सस्थानात् दूरे अद्रिशिखरे तृणं चरंत्यो गा उपव्रजं व्रजनिकटे चरतो वत्सान् ददृशुः ॥ २९ ॥ दृष्ट्वेति तान्दृष्ट्वा तेषु वत्सेषु स्नेहेन वशस्तदधीनः अतएव न स्मृत आत्मा दे येन सः आस्नुपयाः स्रवद्दुग्धः सः शिखरस्थो गोव्रजः धेनुसमूहः जवेन वेगेन वत्ससमीपे हुंकृतैः गोजातीयशब्दैः सहागात् गोक वेगचिह्नत्याह अत्यात्मपाः अतिक्रांता आत्मपागोपायेन सः दुर्गः दुर्गमो मार्गो यस्य स चासौ स च धावन्सन् द्विपादिव दृश्यमा ककुदि आकृष्टाग्नी वा यस्य सः उदास्यपुच्छः उच्चैः कृतानि आस्यानि मुखानि पुच्छानि च येन सः ॥ ३० ॥ अधः स्थितान् वत्सा स्वौधसं स्वोधसि भवं क्षीरं अपाययन् ॥ ३१ ॥ गवां गोपीनां च वत्सपेषु स्नेहाधिक्यमुक्त्वा इदानीं गोपानां स्नेहाधिक्यमाह गो इति तासां गवां रोधनेन आवरणेन यः आयासः श्रमस्तस्य मौघ्येन मिथ्यात्वेन उत्पन्ना या लज्जा तया सह उरुमन्युना दुर्गा दुर्गममार्गात् उत्पन्नेन कृच्छ्रेण कष्टेन चाभ्येत्य प्राप्य गोवत्सैः सह सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्वयमिति ॥ एवं सर्वात्मा स्वयमेव कृष्णः, आत्मा प्रयोजकः सन्, आत्मवत्सपैरात्माभिन्नैर्वत्सपैः, प्रयोज्यैः आत्मगोवत्स आत्माभिन्नान् गवां वत्सान्, इति कर्म, प्रतिवार्य, आत्मविहारैः आत्मरूपैरेव क्रीडनैः, क्रीडन् क्रीडामाचरन् सन्, इति क्रिया व्रजं प्राविशत् । एवं सर्वकारकाण्यपि स्वयमेवेत्यर्थः ॥ २५ ॥ तत्तदिति ॥ तत्तद्वत्सान् तेषां तेषां वत्सपानां वत्सान्, पृथक् नीत पृथक्कृत्येत्यर्थः । सः श्रीकृष्णः, तत्तद्गोष्ठे, तेषां तेषां गोष्ठे, निवेश्य प्रवेश्य, हे राजन्, तत्तदात्मा तत्तद्बालप्रतिरूपः अभव तत्तत्सद्म तत्तद्बालगृहं च प्रविष्टवान् ॥२६॥ अथ गोपिकामोहनप्रकारमाह ॥ तन्मातर इति ॥ वेणुरवेण तत्तद्वेणुनादरूपेण त्वरयोत्थिताः तन्मातरस्तत्तद्वत्सपजनन्यः, यत् परं ब्रह्म, तदेव, सुतान् मत्वा, सुतात्मकं तत्परं ब्रह्मैव, दोर्भिः स्वस्वबाहुद्वयेनेत्य उद्धृह्य उत्थाप्य, निर्भरं पूर्णानन्दं यथा तथा, परिरभ्य गाढमालिङ्ग्य, सुधासवं सुधावत् स्वादु आसववत् मादकं च, स्नेहस्नुत पयः प्रीत्यतिशयप्रसूतपयोधरभवं दुग्धं, अपाययन् ॥ २७ ॥ तत इति ॥ हे नृप, माधवः कृष्णः, एवं यामयमेन तत्तत्कालनिय सायं सायंसमये, गतः गृहं प्राप्तः । ततः, स्वाचरितैः शोभनैः स्वचेष्टितैः, प्रहर्षयन् स्वमात्रादीनानन्दयन्, स कृष्णः, मात्रादि उन्मर्दनं च मज्जो मज्जनं च लेपनं च अलंकारश्च रक्षा च तिलकं च अञ्जनं च तान्यादयो येषां तैः, संकारितः बभूव । तत्रोन्मर्दनं तैलेनामर्द्दनं, मज्ज उष्णोदकेन संस्नापनं, लेपनं चन्दनादिनाङ्गरागः, अलंकारः आभूषणधारणं, रक्षा बीजन्यासकवचधारणादि रक्षाविधानं, तिलकं ललाटादावूर्द्ध्वपुण्ड्रधारणं, अञ्जनं कज्जलेन नयनयोर्म्रक्षणं, संलालित इति पाठेऽपि एक एवार्थः ॥ २८ अथ गवां मोहनप्रकारमाह ॥ गाव इति ॥ गावो धेनवः, ततः स्वचरणवनात्, गोष्ठं उपेत्य, सत्वरं हुंकारघोषैः हुंकारात्मक जातिशब्दैः परिहूताश्च ते संगताश्च तान्, स्वकान्, स्वकान्, वत्सतरान्, मुहुः लिहन्त्यः सत्यः, स्रवदौधसं प्रस्रवदापीनोद्भवं, पयो अपाययन् ॥ २९ ॥ एतावत्त वैषम्यं श्रीकृष्णस्यापि दुर्निवार्यमासीदित्याह ॥ गोगोपीनामिति ॥ गोगोपीनां गवां गोपीनां चेत्य

अस्मिन् वत्सवत्सपात्मकतामापन्ने श्रीकृष्णे, स्नेहर्द्धिकां स्नेहसमृद्धिं, स्नेहाधिक्यमिति यावत्। विना तामृते इत्यर्थः मातृता उपलालनादिरूपो मातृभावः, सर्वा, पुरोवत् पूर्ववदेव, आसीत्। तासां स्नेहाधिक्यं तु सर्वथेदानीमेव विशेषत आसीदित्यर्थः। तथा, आसु गोगोपीषु अपि, हरेः तोकता बालभावः, पूर्ववदेव, आसीत्। किं तु। मायया विना, ममेयं माताऽहमस्याः पुत्र इति मोहं विनेत्यर्थः। अयं भावः। स्वयं भगवति सर्वपुत्रभावं प्राप्ते सति गोपीनां स्वसुतोपलालनादिरूपो मातृभावः पूर्ववदेवासीत्परं तु तासां स्वसुतेषु स्नेहाधिक्यं त्विदानीमपूर्वमेव संजातं, हरेरपि तासु बालभावप्रदर्शनमपि पूर्ववदेवासीत्तथापि पूर्वसुतानां बालभावो मायाकृतमोहयुतो हरेस्तु मायाकृतमोहभाववर्जित एवेति महान्विशेष इति ॥ ३० ॥ स्नेहर्द्धिकतामेव दर्शयति ॥ व्रजौकसामिति व्रजौकसां व्रजवासिनां, स्वतोकेषु भगवद्रूपस्वबालकेषु अपि, स्नेहवल्ली स्नेहसंततिः, आब्दं संवत्सरपर्यन्तं, अन्वहं प्रतिदिनं कृष्णे नन्दनन्दने, यथा तथा, अपूर्ववत् शनैः निःसीम यथा तथा, ववृधे। अयं भावः। पूर्वं तु व्रजवासिजनानां यशोदानन्दने श्रीकृष्णे एवानिशं निरवधिकातिशयं प्रेमावर्त्तत, सांप्रतं तु स एव स्वतोकताभाक् जातस्ततः स एवायमिति ज्ञानाभावेऽपि वस्तुस्वभावादेव स्वापत्यतापन्ने तत्र तदवर्द्धतेति ॥ ३१ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थं आत्मा परमात्मा, सः श्रीकृष्णः, वत्सपः भूत्वा वत्सपालमिषेण, आत्मनैव, आत्मानं पालयन् सन्, वनगोष्ठयोः, वर्षं संवत्सरपर्यन्तं, चिक्रीडे विहृतवान् ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वर्षमिति ः १०.१३.२७

यावत्क्रीडासुखं ग्राह्यं मया गोकुलवासिना। इति सङ्कल्पसिद्धार्थश्चिक्रीडाब्दमसौ मुदा ॥ ६९ ॥

स राम इति ः १०.१३.२८.

विना योगं न तादृक् स्याद् ब्रह्माज्ञाननिराकृतिः। संयोगः शिशुवत्सानामपीत्यासीत् स रामयुक् ॥ ७० ॥

तत इति ः १०.१३.२९.

यत्रेशमय्यो गोजातवृत्तयस्तत्र तद्गवाम्। आसक्तिरर्थतः सिद्धेत्यासीद् गोद्वारतः स्फुटम् ॥ ७१ ॥

गोपा इति ः १०.१३.३२.

निःसीमप्रेमभूरात्मा तत्प्रीत्या त्वपरं प्रियम्। दुर्गमुलङ्घ्य यास्यद्भिर्गोगोपैरिति दर्शितम् ॥ ७२ ॥

कृष्णप्रिया

गौओं और गोपियों का मातृभाव तो पहले जैसा ही था लेकिन पुत्रस्वरूप लेकर भगवान् के पधारने पर स्नेह की समृद्धि बढ़ गयी थी जब भगवान् उनके पहले संतानों के समान पुत्र भाव दिखलाते थे लेकिन उसमें माया न थी ॥ २५ ॥ अब तो सब व्रजवासियों का श्रीयशोदोत्संग लालित श्रीकृष्ण में अधिक बढ़ा-चढ़ा अनुराग-प्रेम था वैसे ही इस समय भी अपने पुत्रों में पूर्व वात्सल्य से कोई विलक्षण निःसीम स्नेह हो गया और उन लोगों की स्नेहवल्ली उत्तरोत्तर प्रतिक्षण धीरे-धीरे एक वर्ष पर्यन्त बढ़ती ही रही ॥ २६ ॥ राजन् ! इस प्रकार सर्वात्मा श्रीकृष्ण वत्स और पालक बालकों के बहाने स्वयं वत्सपाल बनकर अपने बालक रूप से एक वर्ष पर्यन्त वत्सरूप का पालन करते हुए वन से बाखल और बाखल से वन तक खेलते रहे ॥ २७ ॥ वर्ष पूर्ण होने में अब पाँच-छ रात ही शेष रही तब एक दिन श्रीबलभद्रजी के साथ भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ों को चराते हुए वन में पधारें ॥ २८ ॥ उस समय श्री गोवर्धन गिरि के चोटी प्रदेश में घास चरती हुई गौओं की दृष्टि, अत्यंत दूर व्रज के समीप हरे-हरे घास चरते हुए बछड़ों पर जा पड़ी ॥ २८ ॥ बछड़ों को देखते ही गौओं का वात्सल्य स्नेह उमड़ आया, गौओं अपना स्वरूप भान विसर गई, ग्वालों के भरसक रोकने के उपाय करने पर भी उनके घेरे से निकल भागी और कष्टकादि से जहाँ जाना कठिन था ऐसे क्लिष्ट मार्ग से हुंकार करती हुई इतने जोर से दौड़ी कि देखने पर दो पैर वाली सी प्रतीत हो रही थी। ककुद की ओर उनकी गरदने घुम गई थी, पूँछ और मुँह उपर कर डकार मारती हुई गौंए बछड़ों के पास चली आई, उस समय उनके थन से दूध चू रहा था ॥ ३० ॥ श्री गोवर्धन जी के नोचे चर रहे बछड़ों के समीप जाकर गौंए वड़े बछडों को दूध पिलाने लगी यद्यपि छोटे बछड़े भी वहाँ खड़े थे उनका वात्सल्य उनमें ही उमड़ आया था, वे उनके अङ्ग प्रत्यङ्गों को ऐसे प्यार से चाट रही थी यों मानों कि मारे पेट में रख लेती थी ॥ ३१ ॥ गोप लोग उन्हे रोकने में विफलता पाने पर किंकर्तव्य मूढ बन गये उन्हें लज्जा और भारी क्रोध आया। वे कंटकादि से क्लिष्ट मार्ग को पार कर वहाँ जा पहुँचे तो अपने बालकों को गौओं और बछड़ों के साथ देखा ॥ ३२ ॥

[1]तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोऽर्भकान् ।
उदुह्य दोर्भिः परिरभ्य [2]मूर्ध्नि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥ ३३ ॥
[3]ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः । कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४ ॥
व्रजस्य रामः [4]प्रेमर्द्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् । [5]मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५ ॥
किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेऽखिलात्मनि । व्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥
केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युताासुरी । प्रायो [6]मायास्तु मे भर्तु[7]र्नान्या मेऽपि विमोहिनी ॥ ३७ ॥
इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि । [8]सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥ ३८ ॥
नैते सुरेशा ऋषयो न [9]चैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि ।
सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलोऽवैत् ॥ ३९ ॥
[10]तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा । [11]पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे [12]सकलं हरिम् ॥ ४० ॥

कवंमक्षमा

अन्वयः—तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशयाः जातानुरागाः गतमन्यवः ते अर्भकान् दोर्भिः उदुह्य परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राणैः परमां मुदं अवापुः ॥ ३३ ॥ तोकाश्लेषसुनिर्वृताः प्रवयसः गोपाः तदनुस्मृत्युदश्रवः शनैः कृच्छ्रात् अपगताः ॥ ३४ ॥ रामः मुक्तस्तनेषु अपि अपत्येषु व्रजस्य प्रेमर्द्धेः अनुक्षणं औत्कौण्ठ्यं वीक्ष्य अहेतुविद् अचिन्तयत् ॥ ३५ ॥ अखिलात्मनि वासुदेवे सात्मनः स्तोकेषु व्रजस्य अपूर्वं प्रेम वर्धते एतत् अद्भुतं किम् इव ॥ ३६ ॥ मे अपि विमोहिनी दैवी ? वा नारी वा उत आसुरी इयं माया का कुतः आयाता ? प्रायः मे भर्तुः अस्तु अन्या न ॥ ३७ ॥ इति सञ्चिन्त्य सः दाशार्हः वयुनेन चक्षुषा स वयसान् वत्सान् सर्वान् अपि वैकुण्ठं अचष्ट ॥ ३८ ॥ ईश ? न एते ऋषयः वा एते सुरेशाः न भिदाश्रये अपि त्वम् एव भासि पृथक् सर्वं त्वं कथं निगमात् वद ? इति उक्तेन प्रभुणा बलः अवैत् ॥ ३९ ॥ आत्मभूः आत्ममानेन त्रुट्यनेहसा तावत् एत्य पुरोवत् अब्दं क्रीडन्तं सकलं हरिं ददृशे ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततश्च तेषामीक्षणेनोद्गतो यः प्रेमरसस्तस्मिन्नाप्लुता निमग्ना आशया येषां ते । लज्जामन्युकृच्छ्रैस्तानपि ताडयितुमागताः संतोऽपि गतमन्यवः प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां ते मूर्धनि घ्राणैरवघ्राणैः परमां मुदमवापुः ॥ ३३ ॥ कृच्छ्रात्ततोऽपगता निवृत्ताः । तेषां सुतानामनुस्मृत्योद्गच्छन्त्यश्रूणि येषां ते ॥ ३४ ॥ प्रेमर्द्धेरौत्कण्ठ्यमतिशयम् । मुक्तस्तनेष्वपत्येषु वीक्ष्य हेतुमजानन्नचिंतयत् ॥ ३५ ॥ चिंतामेवाह किमेतदिति द्वाभ्याम् । वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा स्वतोकेष्वपि व्रजस्यापूर्वं प्रेम वर्द्धते किमेतदद्भुतमिति । किं च सात्मनो मत्सहितस्य व्रजस्य ममाप्येतेषु प्रेमातिशयस्तत्र कारणं किमिति भावः ॥ ३६ ॥ केयं माया देवानां वा नराणां वा असुराणां वा कुतो वा कस्मात्प्रयुक्ता । तत्रान्यमाया न संभवति यतो ममापि मोहो वर्ततेऽतः प्रायशो मत्स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैव मायेयमस्त्विति संभावयति ॥ ३७ ॥ सवयसान्सखीनपि वयुनेन ज्ञानमयेन चक्षुषा वैकुंठं श्रीकृष्णमेवापश्यत् ॥ ३८ ॥ एवं कृष्णरूपान्सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं पृष्ट्वा कृष्णोपदेशेन विशेषतो ज्ञातवानित्याह । नैत इति । अयमर्थः । पाल्यमानास्तावद्वत्सा ऋषीणामंशाः पालाश्च देवानामंशा इति तावदहं वेद्मि । इदानीं तु न तथा किं त्वस्मिन् भिदाश्रयेऽपि त्वमेवाद्वितीयो भासि अतस्त्वं सर्वं कथं वृत्तं तत् पृथक् वद विविच्य ब्रूहीत्युक्तेन प्रभुणा वक्रान्निगमात्संक्षेपत एवोक्तं वृत्तं बलोऽवैद्विदितवानित्यर्थः ॥ ३९ ॥ ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह । तावदिति । वर्षे जातेऽपि आत्मनो मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रेण कालेन । सकलं कलाभिः सहितं सानुचरं हरिं ददर्श ॥ ४० ॥

---

१. दीक्ष—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. । २. मूर्धनि—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ३. ततस्संपशवो—वीर. । ४. प्रेमर्द्धि—वीर. । ५. मुक्तस्तन्येष्वप—वीर. । ६. र्मायातु—वीर. । ७. ना—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । ८. मदंशा—च. पु. टी. । ९. चैते—श्रीधर वंशी. वीर. विज. शुक. ।

१०. ब्रह्मापि स्वासनस्थेन चतुरास्येन शौरिणा । मोहितैर्द्वारपालैश्च परिभूतो न्यवर्तत ॥
अयं श्लोकोधिकः वीर. ।
ब्रह्मापि यातः स्वस्थानं तत्र स्थेन हि शौरिणा । मोहितैर्द्वारपालैश्च परिभूतो न्यवर्तत ॥
वंशी. पाठे अयं श्लोकोधिकः ।

११. वदाब्दं—वीर. । १२. सबलं—वीर. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः सुतदर्शनानंतरम्। गतमन्यवो विगतक्रोधाः ॥ ३३ ॥ ततस्तेभ्यः प्रवयसो वृद्धाः ॥ ३४ ॥ अनुक्षणं प्रतिक्षणम्। अतिशयमाधिक्यम् ॥ ३५ ॥ अत्यद्भुतमाह–किन्वेति। इति भाव इति। शुद्धसत्त्वस्वरूपे मयि मोहः कथं जात इत्यहं न जाने इति तात्पर्यम् ॥ ३६ ॥ संभावयति—कल्पयति। यद्यपि श्रीवलदेवस्य कारणार्णवशायित्वेन परमांशित्वेन तात्कालिकज्येष्ठत्वेन वञ्चनानौचित्यं तथापि यावदब्दं श्रीदामादिप्रियसुखविच्छेददुःखदानमनुचितं मत्वा पञ्चषरात्रशेषे एव तत्तस्मै प्राबोधयत्। तदैव मायापि शनैरंशांशेनोपरराम। प्रथमांशोपरमे किमेतदित्यचिंतयत्सः द्वितीयांशोपरमे मायेयं पुनराह—देवीति। देवा ब्रह्माद्या ऐश्वर्यपरीक्षणार्थं किं वत्सपाला भूत्वाऽस्माकं चित्तं स्वेषु स्नेहयंति नैते श्रीदामाद्याः नरा ऋष्यादयः किमस्मज्ज्ञानपरीक्षणार्थं वत्साद्या अभूवन्। किं वा सुराः कंसाद्या एव वलेनापारयंतः छलेनास्माकं हिंसनार्थमेतेऽभूवन्। ततस्तृतीयमायांशोपरमे सति प्राय इत्याद्याह। श्रीकृष्णस्यैवेयं योगमायास्त्विति चतुर्थांशस्याप्युपरमे सति कृष्णरूपानेव तानपश्यदित्याह। वयुनेन समाहितज्ञानेनेति विश्वनाथः। यद्वा—प्रायो दैवी नार्यासुरी वान्या वा मायास्तु भर्तुः सर्वपालकस्य मे केयं विमोहिनी अपि तु नेति योज्यम् ॥ ३७ ॥ स रामः ॥ ३८ ॥ ज्ञात्वापि सिद्धांतं कर्तुं श्रीकृष्णं प्रत्याह—नैते इति। अयमर्थं इति। अस्यायं भाव इत्यर्थः। "वत्साः सर्वे गोकुलेऽत्र ऋषे ऋषय एव हि। गोपाः सर्वे देवरूपा जाता ब्रह्माज्ञया ध्रुवम्॥" इत्यादिपुराणात्। तावत्सकलम् 'यावत्तावच्च साकल्ये' इत्युक्तेः। इह त्वन्यथैव भातीत्याह–किंत्विति। भिदाश्रये गोपवत्सदेहे। यतस्त्वमेव भासि अतो हेतोः। कथं वृत्तमेतत्कथं जातमिति इत्युक्ते वलदेवेनेत्यमुक्तेन। प्रभुणा कृष्णेन। इत्यर्थं इति। वेत्तेर्वं ह्वर्थत्वादत्र ज्ञानार्थता ज्ञेयेति भावः। यद्वा – निगमाद्वेदात्। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्येवंरूपात् विविच्य विचार्य सर्वं दृश्यादृश्यं पृथक् कथमिति त्वं वदेत्युक्तेनेत्यमुक्तवता सता प्रभुणा बलो वृत्तं तात्कालिकं ब्रह्मणे निजवैभवदर्शनरूपमवेदिति। ततश्च कृष्णस्यैवं वत्सवालकीभावे किं कारणं प्रयोजनञ्च ते वत्सपाला वा क्व गता इति बहुतरसमाधिनापि यत्स्वयं ज्ञातुं नेष्टे तत्र माया न कारणं किं तु स्वयं भगवतः कृष्णस्य खल्वैश्वर्यमसाधारणमित्यंस्वरूपमेव सर्वत्र सर्वज्ञा अपि नारायणादयः परमेश्वराः स्वांशा अपि यद्विषयकमल्पज्ञत्वमेव बिभ्रति न तु सर्वज्ञत्वं स्वत इत्यत्र प्रमाणं द्वारकावासिब्राह्मणवालहर्त्ता भूमा महापुरुषोऽप्यग्रे आख्यास्यते तस्माच्छ्रीवलदेवः कृष्णं दृष्ट्वैव सर्वं तत्त्वमवगतवानित्याह–नैते इति। सुरेशा ब्रह्माद्या एव मायया वत्सवालाकारा एते न संभवंति नापि ऋषयः चान्नाप्यसुराः किन्तु भिदाश्रयेऽपि विविधभेदास्पदेपि वत्सबालादिसमूहत्वमेवैका भास्ति एकस्यापि तव पृथक्त्वं वत्सपालादिरूपत्वं कथं तन्निगमात्संक्षेपतो वदेत्युक्तेन पृष्टेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन हेतुना बलोऽवैद्ब्रह्ममोहनादिवृत्तं ज्ञातवान् ॥ ३९ ॥ पुनरुत्सुकः पृच्छति—तत इति। ततो बलबोधनानंतरम्। वर्षे संवत्सरे। आत्मनो ब्रह्मणः। मानेन प्रमाणेन। त्रुट्नेहसा "त्रसरेणुत्रयं भुंक्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः" इत्युक्तलक्षणकालेन। आत्मभूर्ब्रह्मा। पुरोवत्पूर्ववत्। अब्दं यावद्वर्षम्। सानुचरं गोपगोवत्ससहितं हरिं श्रीकृष्णमेव। अत्रापि बलदेवो मात्रा जन्मर्क्षशांत्यर्थं रक्षित इति पूर्ववज्ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यद्यपि आयासादयः प्रेमरसोदयान्तराया उक्ताः तथा गवां वत्सैः सहितानिति वत्ससङ्गे स्थितैरपि स्वस्वसुतैः परमवत्सलानां तासां दृष्टिपथे वत्सानामानयनादनपसारणाच्च तेषामपराधः सूचितः। तथाऽपि तेषां सुतानामीक्षणेन य उत्कृष्टः प्रेमरसस्तस्मिन् आप्लुताशया उद्गृह्य उच्चरंके गृहीत्वा उद्रूह्येति पाठे दीर्घत्वमार्षम्। अर्थः स एव प्रेमरसानुरागयोः सुखातिशयतृष्णातिशयाभ्यां विशेषणाभ्यां भेदः कल्प्यः। यदि च गवामिव तेषामपि दूरतोऽपि स्वसुतदर्शनसम्भवात् कथञ्चिद्दर्शनाभावे ऽपि वत्ससङ्गिनां स्वसुतानां स्फुरणात् तेषु क्रोधोत्पत्तिर्न सम्भवतीति शङ्क्यते, तत्तदास्वानतिक्रामन्तीर्गाः प्रत्येव तेषां मन्युर्मन्तव्यः स्वसुतानामतिसन्निहिततया सुष्ठु माधुर्यानुभवेषु तच्छान्तिपूर्वकप्रेमोदयश्चेति ॥३३॥ प्रवयसो वृद्धाः इति तेषां प्रायो विवेकित्वादिना तादृगल्पवियोगेन मोहो न सम्भवति तथापीत्यर्थः। एवं पूर्वं वृद्धा एव गोपाला आसन्निति बोधयति तच्च गोपजातेस्तत्स्वधर्मत्वात् श्रीव्रजेशस्य च बालपुत्रत्वेन स्वप्रतिनिधेरभावेन स्वयमेव गाः पालयतः सङ्कौचित्यात् अनुस्मृतिः निरन्तरस्मरणम् ॥ ३४ ॥ प्रेमर्द्धेर्हेतोरौत्कण्ठ्यमुत्कण्ठेत्युपचारात् तत्रातिशय एव पर्यवस्यति टीकायामौत्कठ्यमिति क्वचित्पाठः ॥ ३५ ॥ अद्भुतं युक्त्यतीतम् अखिलस्य आत्मनि परमात्मनि अतो वासुदेवे सर्वाश्रये किं वा तत्रापि श्रीवसुदेवापत्ये पूर्णभगवत्तया प्रकट इत्यर्थः। एवं सर्वथा तस्मिन्नेव तदुचिततादृशप्रेमवृद्धेर्योग्यतोक्ता तथापि तस्मिन्निव व्रजस्य गोगोपात्मकस्य तोकेषु स्वापत्येषु ॥ ३६ ॥ अथात्र कापि कस्यापि मायैव हेतुर्भवेदिति तर्कयति–केयमिति। इयं तेषु प्रेमवर्द्धिनी माया दुर्घटघटनी शक्तिः का किंलक्षणा वाशब्दः समुच्चये कुत आयाता कस्मात् समुद्भूता केन च कृतेत्यर्थः। कुत इत्येव विचारयति वाशब्दो वितर्के तत्तत्पित्राद्युपासितैर्देवैः कैरपि महाप्रभावैः कृता किं ? तेभ्यो ऽपि मुनीनां प्रभावं पर्यालोच्य तथैव पक्षान्तरं कल्पयति–नारीति। अत्रापि वा शब्दो योज्यः। नन्वेवं श्रीकृष्णवन्निजपुत्रादिषु व्रजजनानां प्रेमवर्द्धनस्पर्द्धा च न सम्भवति इत्याशङ्क्य पुनर्विकल्पयति। उत पक्षान्तरे आसुरी स्वस्वापत्येष्वपि श्रीकृष्णसदृशस्नेहविवर्द्धनेन व्रजस्य श्रीकृष्णविषयकभावविशेषहान्या तन्माहात्म्यसङ्कोचाद्यर्थं कंसादिभिः कृता

किं ? पूतनादीनां तन्मोहनता दर्शनात्। यद्वा, मायेयं देवानां मुनीनां च तल्लीलालोभेन प्राचीनानन्तर्धाप्य स्वयमाविर्भावमयी सा तु तेषां साधूनां न सम्भवतीति तर्कान्तरे असुराणां तु पूतनावत्सासुरादिवद्दुष्टभावमयीति ज्ञेयम्। तथा तु श्रीकृष्ण इव तेषु मम स्नेहवृद्धिर्न सम्भवतीत्याह-प्राय इति। तस्य स्वविषयकवञ्चनासम्भावनाया हेत्वनालोचनया तादृशप्रेम्णस्तत्स्वरूपैकानुवध्यतालोचनया च प्राय इत्युक्तम्। अस्तु स्यात् अनिर्द्धारणे सम्भावना। यद्वा, अस्तु भवत्विति प्रार्थना अन्यथा मायया मन्मोहनेन मल्लज्जाद्युत्पत्तेः विमोहिनी निरनुसन्धानप्रेमवर्द्धिनी विशब्दो दीर्घकालत्वाद्यपेक्षया इति लक्षणमप्यस्याः दर्शितम्॥ ३७॥ सवयसानिति समासान्त आर्षः। वैकुण्ठं स्वार्थेऽण् सर्वथा कुण्ठता रहितमिति तद्रूपत्वे लिङ्गं वयुनेनानुसन्धानात्मकज्ञानमयेन तस्य वयुनस्य प्रेमविशेषमयत्वेन सामर्थ्यविशेषं द्योतयति, दाशार्हः श्रीयदुकुलोद्भवः भ्रातृत्वं गत इत्यर्थः॥ ३८॥ सुरेशा देवश्रेष्ठाः श्रीगरुडादयः ऋषयः श्रीनारदाद्याः भिदाश्रयेऽपि वालवत्सादिसमूहोऽयं यद्यपि विविधभेदस्याश्रयस्तथापि तस्मिन्नित्यर्थः। त्वमेवमासीति स्वरूपानन्दादिनैक्यानुभवात् अन्यत्तैः। यद्वा, दैवी वा नार्य्युतासुरीतिवद्वितर्कं परिहरति-नैत इति। एते वत्सादयो न सुरेशा न च ऋषयः ते तत्तत्क्रीडालोभेन तानन्तर्धाप्य वत्सादिरूपाः सन्तीति नेत्यर्थः। तेषामीदृशप्रेमास्पदत्वाभावात् "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिरीत्या तादृक् कृतपुण्यपुञ्जत्वाभावाच्च आसुरीत्यस्योत्तरपक्षे तदुल्लेखस्तु सङ्कोचान्न कृतः अत एकोऽपित्वं पृथग्विविधभेदेन वर्त्तमानं सर्वमिदं वत्सादिरूपं कुतोऽभूरिति निगमाद्वद इति स्नेहेन वाक्श्रमोनिरस्तः प्रभुणा मादृशान्तस्यैव चेश्वरेण हेतुना वृत्तं तदज्ञासीत् यतो वलः सर्वसामर्थ्याधिक्यवान् वलाधिक्याद्वलं विदुरित्युक्तेः। एवं श्रीकृष्णस्यानुग्रहेणैव तद्विज्ञानम् बोधितं अन्यत्समानम् एतावन्तं कालं तस्य तत्तत्त्वाज्ञानं तल्लीलानिर्वाहाय श्रीभगवदिच्छयैव, सा च दयालुसरलस्वभावस्य मदग्रजस्य तेषां तादृशावस्थासहनं न स्यादित्या शङ्क्यैव॥ ३९॥ अथ ब्रह्मापि तत्तत्त्वं श्रीभगवत्कृपयैव ज्ञातवान् इति तत्प्रसङ्ग आरभ्यते-तावदित्यादिना। तावदिति गतेऽपि वर्षे इत्यर्थः। अतिशीघ्रागमनं महाभयादितिज्ञेयम् यत आत्मनो हरेरेव भवतीति तथा सः आव्दमेकाब्दपर्यन्तं सकलमिति कलाः वाला वत्साश्च न तु श्रीवलदेवः तद्दिनक्रीडानिर्वाहाय रहस्यं कथयित्वा वनेतदनयनात्॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यप्यायासाद्यः प्रेमरसोदयान्तराया उक्तास्तथा गवां वत्सैः सहितानिति वत्ससंगे स्थितैरपि स्व स्व पुत्रैः परमवत्सालानां तासां दृष्टिपथे वत्सानामानयनादनपसारणाच्च तेषामपराग्रः सूचितः, तथापि तेषां सुतानामीक्षणेन य उत् उच्च उत्कृष्टो वा प्रेमरसस्तस्मिन्नप्लुताशया उद्गृह्योच्चैरंके गृहीत्वा; उदुह्य ेति-पाठे दीर्घमार्षम्, अर्थः स एव। प्रेमरसानुरागयोः सहजत्वसोपधित्वादिना ह्रासरहितत्व-रञ्जनत्वादिना वा भेदः कल्प्यः, यद्वा, पूर्वमेव जातानुरागा अधुना च तदीक्षणेनेति, यद्वा, उद्ग्रहणादिना जातोऽनुराग आसक्तिर्येषां तथाभूताः सन्तो मुदं प्राप्ताः, परमामिति मुदः पराकाष्ठोक्ता॥ ३३॥ प्रवयसो वृद्धा इति तेषां प्रायो विवेकित्वादिना स्नेहरसहानिः सूचिता, तथापीति पूर्वं वृद्धा अपि कदाचिद्गोपाला आसन्निति बोधयति, अत एवोक्तं प्रवयस इति वयोबाहुल्येन वृद्धा न तु जराद्यभिभूता इत्यर्थः, यद्वा, प्रकृष्टं वयो येषां नित्यनवयुवान इत्यर्थः। अनुस्मृतिर्निरन्तरस्मरणम्॥ ३४॥ प्रेमर्द्धेर्हेतोरनुक्षणमौत्कण्ठ्यमासक्तिम्, औत्कट्यमिति वा पाठः, प्रेमर्द्धे राधिक्यम्॥ ३५॥ अद्भुतं युक्त्यतीतमखिलस्य जगत आत्मनि परमात्मनि यत्तो वासुदेवे चित्ताधिष्ठातरि चतुर्व्यूहश्रेष्ठे, यद्वा, खिलो न्यून आत्मापि प्रियतया यस्मात्तोऽप्यधिकतरः प्रिय इत्यर्थः। किञ्च, वासुदेवे निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनार्थं श्रीवसुदेवपुत्रतां प्राप्ते, एवं सर्वथा तस्मिन्नेव प्रेमवृद्धेर्योग्यतोक्ता, तथापि तस्मिन्निव तोकेषु वालकेषु। यद्यपि गवां तादृश एव स्नेहो वत्सेषूक्तः, तथापि तोकेष्विति मनुष्याणामेव विचित्रप्रेमवैभवलक्षणानां साक्षादनुभवात्, यद्वा, तोकशब्देनापत्यशब्देन च वत्सा अप्युक्ताः, अत एवोक्तं व्रजस्य व्रजवासिनां सर्वेषामेवेत्यर्थः॥ ३६॥ देवी देवैर्जगत्पूज्यैः श्रीगरुडादिभिर्वालकानां तत्तदवतारत्वेन तेषु स्नेहविशेषापेक्षया कृता श्रीकृष्णैकपराणां तेषां सा न सम्भवतीति पक्षान्तरं कल्पयति -नारीति, श्रीवसुदेवादिभिः श्रीनन्दादिभिर्वा कृता, अन्यथा सर्वेषां वालानां श्रीकृष्णविषयकेर्ष्योत्पत्तिः, वालानां स्वाभाविक-श्रीकृष्णविषयक-स्नेहभरमालोच्येर्ष्यासम्भवात्। पक्षान्तरं कल्पयति-उत वा, आसुरी वा, स्व-स्वापत्येष्वपि श्रीकृष्णसदृशस्नेहविवर्द्धनेन व्रजस्य श्रीकृष्णविषयकभावविशेषहान्या तन्माहात्म्यसंकोचार्थं कंसादिभिः कृतेति तया तु श्रीकृष्ण इव तेषु मम स्नेहवृद्धिर्न सम्भवतीत्याह -प्राय इति, तस्य स्व-विषयकवञ्चनासम्भावनाया हेत्वनालोचनया वा। अस्तु स्यादनिर्द्धारेण सम्भावना, यद्वा, अस्तु भवत्वन्यथा मायया मन्मोहनेन मल्लज्जाद्युत्पत्तिः। विशब्देन दीर्घकालत्वाद्यपेक्षया॥ ३७॥ वैकुण्ठं सर्वथा कुण्ठता रहितमिति तत्तद्रूपसम्यक्ताभिप्रेता। वयुनेन चक्षुषान्तर्दृष्ट्येत्यर्थः। तथाप्यसम्भवमाशंक्य परिहरति। दाशार्हः श्रीयदुकुलोद्भवो भ्रातृत्वं गत इत्यर्थः॥ ३८॥ सुरेशा देवश्रेष्ठाः श्रीगरुडादयः, ऋषयः श्रीवशिष्ठाद्याः। विचित्रश्रीमत्स्यादि रूपेऽष्वतारत्वेनाभेदविषये त्वं भास्येवभिदाश्रये वत्सवालकादिरूपविविधभेदस्याश्रयेऽपि वस्तुनीत्यपि शब्दार्थः। एवकारेण तदेकरूपतया सुरेशत्वादिकं निरस्तम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, एते वत्सादयो न सुरेशास्तत्तत्क्रीडालोभेन श्रीब्रह्मादयो वत्सादिरूपाः सन्तीति नेत्यर्थः। स्वत एव तेषां तत्रासामर्थ्येन पक्षान्तरमाह-न वै एते ऋषय इति श्रीनारदाद्याः, किन्तु त्वमेव वत्सादिरूपेण भासि, अत एकोऽपि त्वं पृथग् विविधभेदेन वर्त्तमानं सर्वमिदं वत्सादिरूपं कुतोऽभूरिति निगमाद्वदेति

स्नेहेन वाक्श्रमो निरस्तः। यद्वा, निगमात् पृथक् वेदातीतमित्यर्थः। सर्वेषामपि सच्चिदानन्दघनरूपत्वात्तत्र च विविधभेदेऽप्यभेदात् प्रभुणा मादृशाम्, तस्यैव वेश्वरेण हेतुना वृत्तं तदज्ञासीत्, यतो बलः सर्वसामर्थ्याधिक्यवान् (भा० १०।८।१२)–'बलाधिक्यादवलं विदुः' इत्युक्तेः। एवं श्रीकृष्णानुग्रहेणैव तद्विज्ञानं बोधितम्। अन्यत् समानम्। एतावन्तं कालं तस्य तत्त्वज्ञानं तल्लीलानिर्वाहाय श्रीभगवदिच्छयैव, अन्यथा दयालुसरलस्वभावस्य तस्य प्रियतमानां तादृशावस्थासहनाशक्तिः, किं वा सहजभक्त्या नवीनेषु तेषु श्रीकृष्ण इव व्यवहारेण सर्वेषां तत्तत्त्ववितर्क्यत्वापत्तिरिति दिक्॥ ३९॥ अथ श्रीब्रह्मापि तत्तत्त्वं श्रीभगवत्कृपयैव ज्ञातवानिति तत्प्रसंगमारभते, तावदित्यादिना। तावदित्यविलम्बं बोधयति। तदेवाह – त्रुट्यनेहसेत्यतिशीघ्रं गमनं महाभयादिति ज्ञेयम्, यत आत्मनो हरेरेव भवतीति तथा स तत्पुत्र इत्यर्थः। पुरोवत् मायया स्वयं वत्सादिहरणात् पूर्ववदाब्दमेकाब्दपर्य्यन्तम्। अब्दमिति वा पाठः। हरिमिति वक्ष्यमाणश्रीब्रह्मचित्तहरणाद्यभिप्रायेण, सकला बाला वत्साश्च, न तु श्रीबलदेवः, तद्दिनेऽपि पूर्ववत् क्रीड़ानिर्वाहाय वने तदनानयनात्॥ ४०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

परमानन्दस्वरूपरूपस्य दर्शनालिङ्गनादेः परममोदावहत्वमुच्यते, तदीक्षणेति ॥ ३३॥ प्रवयसो वृद्धास्तोकानां श्रीकृष्णस्वरूपरूपाणामेवाश्लेषेण सुतरां निर्वृताः अनन्तरं कृच्छ्रात् शनैरुपक्रम्य गता इत्यनेन श्रीभगवत्संयोगवियोगैकसुखदुःखित्वं तेषां गोपानामुक्तम्॥ ३४॥ औत्कण्ठ्यपुरस्करम्॥ ३५॥ वासुदेवे परवासुदेवे श्रीमन्नारायणे श्रीकृष्णेऽखिलात्मान सर्वचिदचिन्नियन्तरि मत्सहितस्य व्रजस्य गोगोपात्मकस्य तोकेष्विति उपलक्षणं वत्सबालकपरिकरपरिच्छदादेः अपूर्वं पूर्वमननुभूतं प्रेम स्नेहो वर्द्धते इति किमेतत्॥ ३६॥ त्रिविधा मायेयमिति वितर्कः तन्निरासायाह—मे भर्तुः मत्स्वामिनः श्रीमन्नारायणस्य स्वस्य शेषत्वात् श्रीरामस्य इदानीं श्रीकृष्णस्यैवेति अन्या मे मोहिनी न स्यात् इति स्वस्य पूर्वतनलक्ष्मणत्वं शेषत्वं वाऽभिप्रैति तस्य च परवासुदेवत्वं चेति भावः॥३७॥ वैकुण्ठं श्रीमन्तं पूर्णपुरुषोत्तमं वैकुण्ठं वयुनेन ज्ञानेन "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टुपाठात् सवयसान् सखीन्॥ ३८॥ हे ईश! तव भिदाश्रये चिदचिद्भेदाश्रये स्वरूपेपि निरवयवेऽखण्डे सर्वं बालवत्सपरिच्छदादिरूपात् पृथक्त्वं कथम् इति वदेत्युक्तेन प्रभुणा पूर्वोक्तभावेन श्रीकृष्णेन निगमात् वृत्तमित्युक्तः बलदेवोऽवैत्। अत्रायमभिप्रायः स्वरूपभेदः कथमिति पृष्टः निगमात् वेदप्रमाणकात् मत्सङ्कल्पाज्जात इत्युक्तो बलोऽज्ञासीत् तथा च श्रुतिः "विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" इति तत्र चात्र चेयान् भेदः तत्र चिदचितोः स्वरूपसतोः साङ्कल्पिकः प्रवेशः अत्र तु विभुस्वरूपे स्वस्मिन् स्वसङ्कल्पेनावतारविग्रहवत् सर्वस्वरूपभवनं "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः कृष्णरूपाण्यसङ्ख्यानीत्युक्तेश्च॥ ३९॥ त्रुट्यनेहसा त्रुटिकालरूपेणात्मप्रमाणेन एत्य त्रसरेणुत्रिकपरिमिता त्रुटिरित्यर्थः॥ ४०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततश्च तेषामीक्षणेन उद्गतो यः प्रेमरसस्तस्मिन्नाप्लुतो निमग्न आशयो येषां ते लज्जामन्युकृच्छ्रं स्तानपि ताडयितुमागताः सन्तः ततो गतमन्यवः प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां ते गोपाः दोर्भिरुद्वह्य परिरभ्य च मूद्ध्नर्चवघ्राणैः परमामदृष्टपूर्वां मुदं प्रापुः॥ ३३॥ एवं पशुभिः गोभिः सहिताः गोपास्तोकानामपत्यानामालिङ्गनेन सुखितास्तेषां तोकानामनुस्मृत्या उद्गच्छन्त्यश्रूणि येषां तथाभूताः सन्तः कृच्छ्रात्कथंचिच्छनैस्ततोऽपगता विश्लिष्य वनं प्रति गता इत्यर्थः॥ ३४॥ रामः व्रजस्य गोपसमूहस्य प्रेमर्द्धेः प्रेमाधिक्यस्य औत्कट्यमतिशयं मुक्तं स्तन्यं यैस्तेष्वपत्येष्वनुक्षणं दृष्ट्वा तथाविधस्यादृष्टपूर्वस्य स्नेहस्य कारणं चिन्तितवान्॥ ३५॥ चिन्तामेवाह, द्वाभ्याम् किमेतदिति। वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा व्रजस्य स्तोतोकेष्वप्यपूर्वं प्रेम वर्द्धत इत्येतदद्भुतम् इवशब्दोऽनतिरिक्तार्थकः किं? किमत्र कारणमित्यर्थः। किञ्च, सात्मन आत्मसहितस्य व्रजस्य मम तेषु प्रेमकारणं किमिति भावः॥ वासुदेवे तु युक्तमेवेत्यभिप्रायेण तं विशिनष्टि – अखिलात्मनि, आत्मा हि निरतिशयप्रीतिविषयः तत्त्वात्तद्युक्तमिति भावः॥ ३६॥ केयं माया? दैवी देवप्रयुक्ता अथवा नारी नरप्रयुक्ता। यद्वा, आसुरी मम त्वेवं भातीत्याह—प्रायशो मद्भर्तुः श्रीकृष्णस्यैव तु माया अन्या तु सकलजनविमोहिनी न स्यादिति मायाशब्दोऽत्राश्चर्यशक्तिपरः॥ ३७॥ एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो रामः वयुनेव दिव्यज्ञानमयेन चक्षुषा सर्वान्वत्सान्वत्सपांश्च वैकुण्ठं ददर्श कृष्णमेवापश्यदित्यर्थः॥ ३८॥ एवं श्रीकृष्णरूपेण सामान्यतो ज्ञात्वा कृष्णं दृष्ट्वा तदुपदेशेन विशेषतो ज्ञातवान् इत्याह—नैतदिति वदेत्यन्तं रामस्य प्रश्नप्रकारपरम्, अयमर्थः पाल्यमाना वत्सा ऋषीणामंशा वत्सपाश्च देवानामंशा इति तावदहं वेद्मीदानीं तु न तथा किन्त्वस्मिन्भिदाश्रये वत्सवत्सपादिभेदविषयके ज्ञानेऽपि त्वमेव विषयतयाऽवभासि अतस्त्वं सर्वं पृथग्विविच्य कथं वृत्तमिति वदेत्युक्तेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन वक्त्रा निगमात्सङ्क्षेपतः एवोक्तं बलो रामोऽवैत् विदितवान्॥ ३९॥ ततः किं? वृत्तमित्यपेक्षायामाह—ब्रह्मापीति। वत्सान् वत्सपांश्च तिरोधापयित्वा ब्रह्मापि स्वस्थानं गतः तत्र स्वस्यासने स्थितेन चतुर्मुखरूपेण शौरिणा मोहितैर्द्वारपालैः परिभूतः परमेष्ठी स्वासनमधितिष्ठत्येव कस्त्वमागतोऽसीत्येवं परिभवं प्रापितस्ततो न्यवर्त्तत तावद् वर्षे जाते सतीत्यर्थः। आत्मभूर्ब्रह्मा स्वमानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिकालेनागत्य पूर्ववदब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं सरामं कृष्णं ददर्श॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तदीक्षणेति प्रेमानुरागयोरुल्लासातिशयतृष्णातिशयाभ्यां विशेषणाभ्यां भेदः ॥ ३३ ॥ प्रवयसो विवेकिनोऽपि ॥३४॥ व्रजस्य गोव्रजस्य अपत्येषु वत्सेषु तदुपलक्षणत्वेन गोपानां बालकेष्वपि ज्ञेयम् । एषु मुक्तस्तन्यत्वविशेषणानुपयोगात् प्रेमर्द्धेर्हेतोरौत्क कठ्यम् ॥ ३५ ॥ अखिलस्यात्मनि परमात्मनि अतो वासुदेवे सर्वाश्रय इति तत्रैव तादृशप्रेमयोग्यतोक्ता ॥३६॥ केयमिति अस्त्विति सम्भावना प्राय इति तादृशप्रेम्णस्तत्स्वरूपैकानुबन्ध्यत्वात्तन्मायाया अप्यसम्भावना ॥ ३७ ॥ सवयसानिति समासान्त आर्ष दैवीत्यादिवत् स्वयं सम्भाव्य निरस्यति ॥ ३८ ॥ नैत इति इत्थं सतामित्यादिरीत्या तेषां तादृशकृतपुण्यपुञ्जत्वाभावात् भिदाश्र येऽपि यद्यपि भिदाश्रयेऽयं वत्सादिसमूहस्तथापीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ सकलं कलाभिर्वत्सादिभिः सहितम् ॥ ४०-४१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवं तस्य सर्वमयत्वे वत्सपवत्सकानां मात्रादेः स्वस्वतनयं प्रति तत्समाना प्रीतिरेवाभूत् न तु तद्धेतु ज्ञानम्। श्री बलदेवस्य तु चिरेणैवाभूदिति तदुक्तिमाह—"प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुः" इत्यादि । मे मम भर्त्तुरीश्वरस्येयं माया। प्राय शब्दोऽनुमिति परम् । तत्राह मेऽपि ममापि विमोहिनी । अतो नान्या नान्यस्य माया ययाहमेवमेतावन्तं कालं मोहित एवासम्। तस्मान्मद्भर्त्तुरेवेति स्वस्यांशत्वं स्वयमेव प्रकटितम् ॥ ३८-४३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गतमन्यव इति अरे अनभिज्ञाः ! अत्र परमवत्सलगवां गणदृष्टिपथे कथं वत्सा आनीताः ? इति तांस्ताडयितुमनसोऽपि तेषां बालानामीक्षणोद्भूतेन प्रेमरसेन आप्लुताशयास्ततश्च जातानुरागाः प्रेम्णामेव पञ्चमीं कक्षामनुरागाभ्यां तृष्णातिशयमयीं प्राप्ताः गतमन्यवः विस्मृतक्रोधाः ॥ ३३ ॥ प्रवयसो वृद्धाः कृच्छ्रादेव शनैरेव गोचारणानुरोधादेव अपगता तस्मादाश्लेषाद्वियुज्य गतास्ततश्च विच्छेदोत्थया तेषामनुस्मृत्या उद्गताश्रवः ॥ ३४ ॥ प्रेमर्द्धेर्हेतोरौत्कण्ठ्यं मुक्तस्तनोष्वपि वत्सेषु नवप्रसूतवत्सतराणा मपि गवाम् अहेतुवित् हेतुमजानन् अचिन्तयदिति एतावत् कालेषु प्रतिदिनमेव गोदोहनादिसमयेषु नवप्रसूतानपि वत्सान् विहाय प्राचीनानेव वत्सान् स्तनं पाययन्तीः सर्वा एव गाः पश्यतोऽपि तस्य तस्मिन्नेव दिने यच्चिन्ता प्रादुरभूत् तस्मिन्नपि दिने यदन्येषां प्रवयसां विवेकिनामपि गोपानां तथा चिन्तनं नाभूत् तत्रकारणं योगमायैव ब्रह्मामोहनादिनमारभ्यैव गोगोपीगोपानां बलदेव सहितानां सर्वेषामेव भगवता स्वयोगमायया मोहितत्वात् प्रतिदिनविरोधदर्शनेऽपि विरोधानुसन्धानं न कस्याप्यभूत् किं तु सर्व जगत्कारणस्य कारणार्णवशायिनोऽपि परमांशित्वेन स्वाग्रजत्वेन स्वप्रियसखत्वेन च वञ्चनानौचित्यादेतल्लीलाजिज्ञापयिषा श्रीबलदेवे समुचितापि पूर्वं नाभूत् वर्षपर्य्यन्तं तत्तच्छ्रीदामादिप्रियसखविच्छेददुःखस्य तस्मै दातुमनौचित्यात् स्वस्य तु तद्दुःखं नास्त्येव वत्सकुलान्वेषकेणैकप्रकाशेन तन्निकट एव स्थितत्वात् अतो वर्षावसान एव भगवतः सा तत्र यदाभूत् तदा मायापि शनैः शनैरंशे नांशेनैव तस्मादुपरराम न तु युगपत्सामस्त्येन भगवदैश्वर्य्यसिद्धौ तमपि भक्ताभिमानास्पदीकृत्य निमज्जयितुमित्यवसीयते ॥३५॥ प्रथमं मायांशोपरमे सति विरोधदर्शनोत्थं तस्य चिन्तनमाह—किमेतदिति । वासुदेव इवेति वासुदेवे यथा पुरा प्रेम तथा स्वतो केष्वपि व्रजस्य प्रेम वर्द्धते किमेतदद्भूतं किं च सात्मनः मत्सहितस्य ममापि तेषु कृष्णवत् प्रेम किमित्यर्थः ॥ ३६ ॥ भवतु सर्वज्ञतयैव कारणमस्य ज्ञास्यामीति क्षणं परामृश्य द्वितीयमायांशोपरमे सति माययेमिति निश्चित्य सा कीदृशी कुतस्त्या किं सम्बन्धिनीति पुनर्वितर्कयति केयं माया कुतो हेतोः कुतो देशाद्वा दैवीति देवा ब्रह्माद्या एव किमैश्वर्य्यपरीक्षणार्थं वत्सबालका भूत्वा अस्माकं चित्तं स्वेषु स्नेहयन्ति नैते श्रीदामाद्याः नारीति नरा ऋष्यादय एव किं ज्ञानपरीक्षार्थमेते वत्साद्या अभूवन् आसुरीति असुरा कंसादय एव किं बलेनापारयन्तश्छलेनास्माकं हिंसार्थमेतेऽभूवन्निति बहुधा विकल्प्य तृतीयमायांशोपरमे सति पुनः सम्भाव यति, प्राय इति । मे भर्त्तुः श्रीकृष्णस्यैव माया इयं महायोगमायाख्या शक्तिरसाधारणी यस्याः खलु मायानियन्तृत्वस्मासु विशुद्ध घनचित्स्वप्यधिकारः अस्त्विति सम्भावनायां लोट् नान्येति का नाम सा माया ममापि मोहिनी यतो मदंशस्य महत्स्रष्टुः पुरुषस्यापि मायया ब्रह्मादिकं सर्वंजगन्मोहितमिति भावः ॥ ३७ ॥ भवतु समाधाय ज्ञानदृष्ट्या पुनरप्येतान् निभाल्यामीति विचारे सति चतुर्थ मायांशस्यापि श्रीकृष्णस्येच्छयैवोपरमे सति तान् यथार्थान् कृष्णस्वरूपानेतान् अपश्यदित्याह—सवयसानिति समासान्त आर्ष वयुनेन समाहितज्ञानमयेन चक्षुषा वैकुण्ठं श्रीकृष्णमेवाऽपश्यत् ॥ ३८ ॥ ततश्च कृष्णस्यैवं वत्सबालकीभावे किं कारणं ? किं वा प्रयोजनं ? ते वत्सबालका वा क्व स्थापिता इति बहुतरसमाधिनापि यत् स्वयं ज्ञातुं नेष्टे तत्र माया न कारणं किं तु स्वयं भगवतः कृष्णस्य खल्वैश्वर्यमसाधारणमित्थं स्वरूपमेव सर्वत्र सर्वज्ञा अपि नारायणादयः परमेश्वराः स्वांशा अपि यद्विषयकमल्पज्ञत्वमेव बिभ्रति न तु सर्वज्ञत्वं स्वत इत्यत्र प्रमाणं द्वारकावासिविप्रबालकहर्त्ता भूमा महापुरुषोऽप्यग्रत आख्यास्यते तस्मात् श्रीबलदेवः कृष्ण दृष्ट्वैव सर्वं तत्त्वमवगतवानित्याह, नैते इति । सुरेशा ब्रह्माद्या एव मायया वत्सबालकाकारा एते न भवन्ति नापि ऋषय चकारात् प्यसुराः किं तु भिदाश्रयेऽपि विविधभेदास्पदेपि वत्सबालादिसमूहे त्वमेवैको भासि एकस्यापि तव पृथक्त्वं वत्सपालादिरूपत्वं सं

कथं तत् निगमात् सङ्क्षेपात् वदेत्युक्तेन पृष्टेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन हेतुना बलः अवैत् ब्रह्ममोहनादिवृत्तं ज्ञातवान् ॥ ३९ ॥ ब्रह्ममोहन-प्रसङ्ग एव गोप्यादीनां मोहनादिकं विवृत्य पुनर्ब्रह्मणोऽपि विशेषतो मोहनादिकं विवरीतुमारभते—तावदिति वर्षे यातेऽपि आत्मनो मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रकालेन अति शीघ्रागमनं महाभयेनैव यत आत्मनो हरेः सकाशादेव भवतीति सः आब्दमेकाब्दपर्य्यन्तं सकलं वत्सबालादिकं हरिं कृष्णं च वस्तुतस्तु कलास्तत्स्वरूपभूता वत्सबालाद्यास्तत्सहितं ददृशे ददर्श बलदेवस्तु पूर्ववर्षवत्तस्मिन्नेव तन्मर्क्षदिने शान्तिकस्नानाद्यर्थं मात्रा रक्षित इति पूर्ववज् ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदीक्षणेनोद्गतप्रेमरसे आप्लुताशयः मग्नान्तःकरणाः अत एव गतमन्यवः जातः अनुरागो येषां ते दोर्भिरुद्गृह्य अङ्केषु आरोप्य परिरभ्य मूर्द्धिन घ्राणैः अवघ्राणैः परमां मुदं मुमुक्षवस्तत्प्राप्तौ यां प्राप्नुवन्ति तामवापुः ॥३३॥ तोकानामाश्लेषेण निर्वृताः सुखिताः कृच्छ्रात्ततोऽपगताः निर्वृताः तदनुस्मृत्या तोकानुस्मरणेन उद्गच्छन्त्यश्रूणि येषां ते तथाभूता बभूवुः ॥ ३४ ॥ व्रजस्य गोपादिसमूहस्य प्रेमर्द्धेरौत्कण्ठ्यं मुक्तानि मातृणां पुनः प्रसूतत्वात्स्तनानि यैस्तेषु अपत्येष्वपि वीक्ष्य अहेतुवित् तत्र हेतुमजानन् अचिन्तयत् ॥ ३५ ॥ चिन्तामेव प्रपञ्चयति—किमेतदिति द्वाभ्याम्। सात्मनो मत्सहितस्य व्रजस्य अखिलस्य विश्वस्य आत्मनि मूले वासुदेवे इव तोकेष्वपि अपूर्वं प्रेम वर्द्धते किमेतदद्भुतम् अहेतुविदित्यनेन भगवदवताराणां सर्वत्र सर्वज्ञत्वं भगवद्विषये तु भगवदिच्छानुसारेणैवेति गम्यते ॥ ३६ ॥ एतदेवाह—केयमिति। केयं माया नराणां वासुराणां वोत देवानां कुत आयाता ? प्रायो मे भर्तुः श्रीकृष्णस्येयं मायासङ्कल्परूपा यतो मे ममापि विमोहिनी अतो नान्येत्यन्वयः ॥३७॥ सवयसान् ससखीन् वयुनेन ज्ञानरूपेण चक्षुषा वैकुण्ठं श्रीकृष्णमेवाचष्टापश्यत् ॥ ३८ ॥ इत्थं स्वयं तोकेषु स्नेहवृद्धिकारणं बुद्ध्वापि निःसन्दिग्धं तु श्रीकृष्णाज्ज्ञातवानि-त्याह—हे ईश, कृष्ण ! ये सुरेशाः वत्सपाः भवत्प्रियार्थं व्रजे आसन् ते एते न ये ऋषयो वत्साः आसन् ते चैते न किन्तु अस्मिन् भिदाश्रये किञ्चित्प्रयोजनार्थं वत्सतत्पालभेदविषयेऽपि त्वमेव भासि तत्सर्वं कथं वृत्तमिति पृथक् विविच्य त्वं वदेत्युक्तेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन निगमात्संक्षेपादेव वर्णितं बलोऽवैत् विदितवान् ॥ ३९ ॥ अथ स्वाधिकारेण द्वितीयस्कन्धोक्तेन भगवद्दत्तेन वरेण निर्मोह-स्यापि चतुराननस्य भगवल्लीलाविषये तु भगवदिच्छां विना कस्यापि निर्मोहत्वासंभवान्मोहप्रकारमाह—तावदित्यादिना। इह वर्षे समाप्तेऽपि आत्मनो मानेन तु त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रेणैव कालेन आगत्य सकलं वत्सवत्सपसमूहसहितं हरिं ददर्श ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तेषां वीक्षणेनादितो यः प्रेमरसस्तेनाप्लुताशयास्ततो जातानुरागाः प्रेम्णः परावस्थामनुरागं लब्ध्वा गतमन्यवो विस्मृत-क्रोधाः सन्तः ॥ ३३ ॥ प्रवयसो बह्वपत्या अपि ते गोपास्तोकानां तेषामाश्लेषेण सुनिर्वृताः कृच्छ्रादेव शनैरेव गोचारणानुरोधेना-पगतास्तदाश्लेषाद्वियुज्य गाः प्रतिगतास्तेषामनुस्मृत्या उद्गताश्रवोऽभूवन् ॥ ३४ ॥ एवं गवां गोपानां स्वतोकेषु च चेष्टां वीक्ष्य बलभद्रस्य विमर्शमाह व्रजस्येति। गोपीनां गवां गोपानाञ्च मुक्तस्तनेष्वप्यपत्येषु प्रेमर्द्धेर्हेतोरौत्कण्ठ्यं वीक्ष्याहेतुवित्तत्कारणमजा-नन्निदमचिन्तयत्, यद्यपि विरञ्चिमोहनदिनमारभ्यैवंविरोधो बलभद्रेण दृश्यत एव तथापि तद्दिने तदनुसन्धानं तस्मिन् तल्लीला विजिज्ञापयिषायास्तदैव जातत्वेन स्वयोगमायायाः शनैरपसारणादुक्ताभिमानिनस्तस्य स्वैश्वर्यसिद्धावकस्मादेव निमज्जनीयत्वादिति बोध्यम् ॥ ३५ ॥ योगमायायाः प्रथमांशापसरणे सति विरोधदर्शनजं तस्य चिन्तनमाह व्रजस्य सात्मनो मत्सहितस्यापि यथा वासुदेवे कृष्णे प्रेमासीत्तथा तोकेष्वपि तद्वर्द्धते एतदद्भुतमाश्चर्यं किं मम तोकेषु प्रेमा कृष्णे तु तदतिशयो योग्य इति भावः ॥ ३६ ॥ अस्तु सार्वज्ञ्येनेतत्कारणं ज्ञास्यामीति क्षणं विमृश्य द्वितीयांशापसरणे सति मायेयमिति निर्द्धार्य सा च किं लक्षणा कुतस्त्यो किं सम्बन्धिनीति पुनर्वितर्कयति केयं माया कुतो हेतोरायाता दैवी देवानां वेयं विरिञ्चादयोऽस्मदैश्वर्यपरीक्षार्थं वत्स वत्सपा भूत्वा स्वेष्वस्मच्चित्तं स्नेहयन्तीत्यर्थः। नारी नराणां वेयं ऋषयो वास्मज्ज्ञानपरीक्षार्थं वत्सपा अभूवन्नित्यर्थः। उतासुरी असुराणां वेयं कंसादय एव बलेनास्मान् जेतुमसमर्थाश्छलेन हिंसितुं तथा भवन्निति बहुधा विकल्प्य तृतीयांशापसरणे सति पुनः सम्भावयति प्राय इति, मे भर्त्तुः स्वामिनः कृष्णस्यैवेयं योगाख्या माया भवति अन्या त्रिगुणा माया कृष्णवैमुख्यादेव हेतोरायाता सा ममापि विमोहिनी नः भवति। मदंशस्य कारणोदशयस्य महत्स्रष्टुर्मायया विरिञ्चादिप्रमुखं जगद्विमोहितमस्तीति देवी नार्यासुरी च माया मद्विमोहने कुतः प्रभवेत् तस्मान्मद्भर्त्तुरेव साऽस्त्विति सम्भावनायां लोट् ॥ ३७ ॥ अस्त्येवं पुनरपि समाधिना यथावन्निभा-लयामीति विमर्शे सति चतुर्थांशस्यापसरणे स्वभर्तुःस्वरूपानेव तान् वत्सान् वत्सपांश्चापश्यदित्याह – इति सञ्चिन्त्येति। वयुनेन चक्षुषा समाहितज्ञानमयेन नेत्रेण सर्वान् वैकुण्ठं कृष्णमाचष्ट दृष्टवान् सवयसानित्यार्षः समासान्तः बलभद्रस्येश्वरस्यापि कृष्णस्वां-शत्वात्तदिच्छाज्ञानादीनां तदंशिकृष्णनियम्यत्वादिदं सर्वं सङ्गतमिदति तत्त्वविदः ॥ ३८ ॥ एवं प्रत्यक्षीकृत्यापि स्वामिनस्तस्य वत्सतत्पालकरूपतायां कारणं प्रयोजनञ्च तमेवापृच्छदित्याह —नैते इति। सुरेशा विरिञ्चादयो मायया वत्सतत्पाला न भवन्ति नाप्यृषयः चादसुराश्च न किन्तु भिदाश्रयेऽपि विविधभेदकार्यवत्यस्मिन् वत्सतत्पालवृन्दे त्वमेवैको भासि एकस्यैव तव पृथक्त्वं भेदकार्यभाक् त्वं सर्वमिदं कथं किङ्कारणकं किं फलकमिति निगमात् संक्षेपेण वदेत्युक्तेन पृष्टेन प्रभुणा स्वामिना हेतुना बलोऽवैत्

ब्रह्ममोहनादिवृत्तं ज्ञातवानित्यर्थः ॥ ३९ ॥ ततः किमभूदित्यत्राह—तावदिति । वर्षे जाते आत्मभूर्हरिपुत्रो विरिञ्च आत्मनो मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रेण कालेन एत्यागत्य आब्दं वर्षमेकं व्याप्य पूर्ववत् क्रीडन्तं हरिं ददर्श सकलं कला वत्सतत्पालास्तत्सहितं, तस्मिन् दिवसे जन्मर्क्षयोगाद्बलभद्रस्तन्मात्रा गृह एव शान्तिस्नानाद्यर्थं रक्षित इति बोध्यम् ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

क्लेशः कोपो लज्जा मौढ्यमायासश्चेतिपञ्चदोषयुता अपि वस्तुनाशमपि दृष्ट्वा पश्चात् पुत्रदर्शने सर्वं विस्मृतवन्त इत्याह तद्वीक्षणेति, तेषां पुत्राणां वीक्षणेन यत् **प्रेम** जातं तस्य **रसेनाप्लुताशया** व्याप्तान्तःकरणाः प्रथमतोपि **जातानुरागा** अतो **गतमन्यवो** जाताः, ततोर्भकान् बालकानुद्**दुह्योर्ध्वं**मुत्थाप्य **दोर्भिः परिरभ्य**, बहुवचनं समुदायाभिप्रायं, **मूर्ध्नि घ्राणै**राघ्राणनैः कृत्वा **ते परमां मुदमवापुः** ॥ ३३ ॥ ततो निर्गमनेप्यशक्ता जाता इत्याह तत इति, **प्रवयसो** वृद्धा अपि **गोपास्तोकानां** बालानामाश्लेषेण सुष्ठु **निर्वृता** जाता कृच्छ्रादेव **शनैस्ततोपगतास्तेषां** बालकानामनुस्मृत्योदश्रवोपि जाताः ॥ ३४ ॥ एवं दृष्ट्वा रामस्य शङ्का जातेत्याह व्रजस्येति, **व्रजस्य प्रेमर्द्धि** दृष्ट्वा **मुक्तस्तनेष्वप्यपत्येष्वौत्कण्ठ्यमनुक्षणं** लालसतां **दृष्ट्वा हेतुवित्** सन् हेतुमज्ञात्वाचिन्तयत् ॥ ३५ ॥ चिन्तामाह **किमेतदिति**, एतद् गवां गोपानां च **स्वतोकेषु** भावलक्षणं **किमेतद्** यल्लोकयुक्तिप्रमाणैर्विरुध्यते ? अत एवाद्भुतं भवितुमर्हति, तदपि न भवति, **वासुदेवेऽखिलात्मनि** सति किं भगवत्सान्निध्यादेवाहोस्वित् निमित्तान्तरमस्तीतिसन्देहः, **व्रजस्य सात्मन** इति, स्वसहितस्य सर्वस्यैव **व्रजस्य स्तोकेषु बालकेष्वपूर्वम**भूतपूर्वं **प्रेम वर्धत** इति **यदेतदद्भुत**मिवेतिसम्बन्धः ॥ ३६ ॥ तर्हि काचिन् माया भविष्यतीत्याशङ्क्याह **केयं** वेति, इयं वेति, इयं **का वा माया ? कुतो वायाता ?** तत्र स्वरूपे सम्बन्धिभेदेन भेदान् निर्दिशति, **दैवी** देवसम्बन्धिनी **नारी** नरसम्बन्धिन्यासुर्यसुरसम्बन्धिनी वा ? एते पूर्वपक्षाः, प्रायेण मम **भर्तु**रेव मायास्तु, सिद्धान्तोयं भविष्यति, तत्र हेतुर्यतो **मे ममापि विमोहिनी**, अतो **नान्या** ॥ ३७ ॥ एवं **सञ्चिन्त्य दाशार्हो** बलभद्रो निदिध्यासनेन **वत्सान्** वयस्यसहितान् **सर्वानपि** स्वव्यतिरिक्तान् **वैकुण्ठमचष्ट**, अयं सर्वोपि गणः केवलं भगवानिति, तत्र प्रमाणं **वयुनेन चक्षुषा** ॥ ३८ ॥ एवं दृष्ट्वा सन्दिहानो भगवन्तं पृच्छति **नैते सुरेशा** इति, हे भगवन् पूर्वमेमाभिर्ज्ञायत एते वत्सपाः **सुरेशा** इन्द्रादय एते च वत्सा **ऋषयः** इति वेदार्थद्रष्टारः स्तन्यपातारः, इदानीं तु पुनर्**नैते सुरेशा** न **वैत ऋषयः** किन्तु **त्वमेव** तत्तद्रूपेण **भासि**, ननु सत्यमेव ब्रह्मवादस्तथैवेतिचेत् तत्राह **भिदाश्रयेपीति**, अभेदाश्रये सर्वं भगवानेव नात्र सन्देहः, भेदाश्रयेपि स एवेत्याश्चर्यं, अतोत्र वेदानामभावात् **सर्वं पृथकत्वं कथं ? तन् निगमाद् वद** वेदवाक्याद् बोधय भेदपक्षे श्रुतिः कथं सर्वब्रह्मतां वदतीति, तदा भगवतोक्तोर्थात् पूर्ववृत्तान्तं **बलो** बलभद्रोवैत् ॥ ३९ ॥ एवं बलभद्रं ज्ञापयित्वा ब्रह्माणमपि ज्ञापितवानिति च ब्रह्मणः समागमनमाह **तावदेत्येति**, **आत्मभूरयं** ब्रह्मा, अन्यथा सापराधो नष्टो भवेदेव **तावदेव** शीघ्रमेवेत्यागत्य **पुरोवदेवाब्दयब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं सकलं** पालकत्वत्ससहितं **हरिं ददृशे**, ननु ब्रह्मा कथमेतावद्विलम्बं कृतवान् ? तत्राहात्ममानेन **त्रुट्यनेहसेति**, **अनेहा** काल **आत्मनो** ब्रह्मणो **मानेन**, **त्रुटि**स्त्राङ्गुलिस्फोटमात्रं विवक्षितं न तु तृतीयस्कन्धगणितत्रुटिकालः, अतः शीघ्रमेवागतोपि स्वकालवशाद् वर्षानन्तरमागतः ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततश्च तेषामीक्षणेनोद्भूतो यः प्रेमरसस्तस्मिन्नाप्लुता निमग्नाः आशयाः अन्तःकरणानि येषां ते यद्यपि लज्जामन्युकृच्छ्रेस्तान् बालकान् 'कुतो वत्सान् गवां समक्षमानयन्ति ; येन ता एवमुपद्रवं कुर्वन्ति' इत्यभिप्रायेण ताडयितुमागतास्तथापि गतमन्यवः, प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां तथाभूताः सन्तस्तानर्भकान् दोर्भिरुद्वुह्य उत्थाप्य परिरभ्य आश्लिष्य तेषां मूर्ध्नि घ्राणैरवघ्राणैः परमां मुदमवापुरित्यन्वयः ॥ ३३ ॥ ततश्च ते गोपाः कृच्छ्रात् मनोनिरोधकष्टात् ततः शनैरपगताः । कष्टे हेतुमाह—तोकानां बालानामाश्लेषेण सुनिर्वृता इति । तत्र चिह्नमाह—तेषां सुतानामनुस्मृत्या उद्गच्छन्ति अश्रूणि येषां ते इति । 'यद्यपि वृद्धानां विवेकित्वेन एवमत्यन्तमोहो न सम्भवति, तथापि भगवद्रूपत्वाद्वस्तुमहिम्ना तेषामपि स जात' इत्याशयेनाह—प्रवयस इति ॥ ३४ ॥ मुक्तस्तनेषु अपि अपत्येषु बालवत्सेषु व्रजस्य गोपीगवादेरनुक्षणं प्रेमर्द्धेः औत्कण्ठ्यं वीक्ष्य अहेतुविद् तत्र हेतुमजानन् रामोऽचिन्तयत् ॥ ३५ ॥ चिन्तामेवाह—किमेतदिति द्वाभ्याम् । वासुदेवे श्रीकृष्णे यथा सर्वस्य प्रेमासीत्तथा सात्मनो मत्सहितस्य व्रजस्य गोपीगवादेस्तोकेषु स्वापत्येषु अपूर्वं पूर्वमविद्यमानं प्रेम वर्द्धते, तदेतदद्भुतमाश्चर्यं किमित्यन्वयः । भगवतः सर्वप्रेमविषयले सर्वात्मत्वे हेतुमाह—अखिलात्मनीति ॥ ३६ ॥ इयं माया का कुतो वा आयाता ? । किंशब्दार्थमेव स्पष्टयन् विकल्पयति—किं दैवी देवप्रयुक्ता ? अथवा नारी नरैः प्रयुक्ता ? उत अथवा आसुरी असुरैः प्रयुक्ता ? प्रायशः इयं माया मम भर्तुः स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैवास्तु । एवमेव सम्भवति । सम्भावनायां लोट् । अन्या माया न सम्भवति, यतो मे ममापि विमोहिनी ॥ ३७ ॥ स दाशार्हो बलभद्र इति सञ्चिन्त्य वयुनेन ज्ञानमयेन चक्षुषा सर्वान् वत्सान् सवयसानपि समानवयस्कान् गोपांश्च वैकुण्ठं श्रीकृष्णमेवाचष्ट अपश्यत् ॥ ३८ ॥ 'एवं सर्वान् श्रीकृष्णरूपान् दृष्ट्वा तत्कारणं जिज्ञासुः श्रीकृष्णमेव पृष्ट्वा तदुपदेशेन सर्वं ज्ञातवान्' इत्याह—नैते इति । वत्सपाः देवांशास्तत्पाल्यमाना वत्साश्च ऋषीणामंशा इत्यहं जानामि । तत्रैवं भिदाश्रयेऽपि भेदविषयेऽपि इदानीमेते सुरेशा

ऋषयश्च न भवन्ति, किन्तु त्वमेव सर्वमसि। 'तत्र तव सामर्थ्ये तु न सन्देहः' इत्याशयेन सम्बोधयति—ईशेति। 'परन्तु कथमेतद्वृत्तं तत् पृथक् विविच्य त्वं वद' इत्युक्तेन बलभद्रपृष्टेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन निगमात् सङ्क्षेपात् उक्तं वृत्तं ब्रह्ममोहनाद्युक्तं सर्वमुपधारणं बलः अवैत् ज्ञातवान् इत्यर्थः॥ ३९॥ इदानीं ब्रह्मणो मोहप्रकारमाह—तावदिति। तावत् वर्षे जातेऽप्यात्मनः स्वस्य मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रकालेन शीघ्रमेत्य आगत्य स्वयम्भूर्ब्रह्मा सकलं वत्सपालादिसर्वरूपं हरिं पुरोवत् हरणात् प्राग्वत् प्रथमवत् अब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं ददृशे॥ ४०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदीक्षणेति॥ ततश्च तेषामीक्षणेनोद्भूतो यः प्रेमरसस्तस्मिन्नाप्लुताः निमग्नाः आशयाः अन्तःकरणानि येषां ते अरे अनभिज्ञाः अत्र परमवत्सलगवीगणदृष्टिपथे वत्साः किमित्यानीता इति तानपि ताडयितुमागतास्तथापि गतमन्यवः प्रत्युत जातोऽनुरागो येषां तथाभूताः सन्तस्तानर्भकान्दोर्भिरुद्धुह्य उत्थाप्य। दीर्घपाठ आर्षः। परिरभ्य आश्लिष्य तेषां मूर्ध्नि घ्राणैरवघ्राणैः परमां मुदमवापुः॥ ३३॥ तत इति॥ ततश्च तोकानां बालानामाश्लेषेण सुनिर्वृताः तेषां सुतानां अनुस्मृत्या उद्गच्छन्ति अश्रूणि येषां ते प्रवयसः वृद्धाः गोपाः कृच्छ्रात् मनोनिरोधकष्टात् ततः शनैरपगताः॥ ३४॥ व्रजस्येति॥ मुक्तस्तनेष्वप्यपत्येषु बालवत्सेषु व्रजस्य गोपीगवादेरनुक्षणं प्रेमर्द्धैः औत्कण्ठ्यमाधिक्यम् औत्कण्ठ्यमिति पाठे प्रेमर्द्धेः हेतोः औत्कण्ठ्यं वीक्ष्य अहेतुवित् तत्र हेतुमजानन् रामोऽचिन्तयत्। एतावत्पर्यन्तं रामस्यापि मोह एवाभवदिति भावः। अन्येऽपि तत्रत्या विवेकिनोऽपि मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वपि विपुलतमस्नेहं दृष्ट्वाऽपि नातर्कयन्निति भगवदिच्छैव हेतुः॥ ३५॥ किमेतदिति॥ अखिलस्यात्मनि वासुदेवे श्रीकृष्णे यथा सर्वस्य प्रेमासीत्तथा सात्मनो मत्सहितस्य व्रजस्य गोपीगवादेस्तोकेषु स्वापत्येष्वपूर्वं पूर्वमविद्यमानं प्रेम वर्द्धते तदद्भुताश्चर्यं किम्। तत्रापि मम तेषु कृष्णवत् प्रेमकारणं किम् इति भावः॥ ३६॥ केयमिति॥ इयं माया का कुतो वा आयाता किं दैवी अस्मत्परीक्षार्थं देवैः प्रयुक्ता अथवा नारी नरैः ऋष्यादिभिः प्रयुक्ता उत अथवा आसुरी असुरैः कंसाद्यैः प्रयुक्ता प्रायशः इयं माया मम भर्तुः स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैवास्तु एवमेव संभवति। संभावनायां लोट्। अन्या माया न संभवति। यतो मे ममापि विमोहिनी॥ ३७॥ इति संचिन्त्येति॥ स दाशार्हो बलभद्र इति संचिन्त्य वयुनेन ज्ञानमयेन चक्षुषा सर्वान् वत्सान् सवयसानपि समानवयस्कान्। अदन्तत्वमार्षम्। गोपांश्च वैकुण्ठं श्रीकृष्णमेवाचष्ट अपश्यत्॥ ३८॥ नैत इति॥ हे ईश! वत्सपाः देवांशास्तत्पाल्यमाना वत्साश्च ऋषीणामंशा इत्यहं जानामि तत्रैवं भिदाश्रयेऽपि भेदविषयेऽपि इदानीमेते सुरेशा ऋषयश्च न भवन्ति। किंतु त्वमेव सर्वं भासि परन्तु कथमेतद्वृत्तं तत् पृथक् विविच्य त्वं वदेत्युक्तेन बलभद्रपृष्टेन प्रभुणा श्रीकृष्णेन निगमात्संक्षेपात् उक्तं वृत्तं ब्रह्ममोहनाद्युक्तसर्वरूपधारणान्तं बलः अवैत् ज्ञातवान्। अवपूर्वादिणो लङ्॥ ३९॥ तावदिति॥ तावत् वर्षे गतेऽप्यात्मनः स्वस्य ब्रह्मणः मानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिमात्रकालेन शीघ्रमेत्य आगत्य आत्मभूः ब्रह्मा सकलं वत्सपालादिसर्वरूपं हरिं पुरोवत् हरणात्प्राग्वत् प्रथमवत् अब्दपर्यन्तं क्रीडन्तं ददृशे ददर्श। तङ् आर्षः। रामस्तु तत्र दिने भगवदाज्ञया गृह एवाभूदिति ज्ञेयम्॥ ४०॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

लज्जया मन्युनाऽप्यकृच्छ्रेण च सुतान् ताडयितुमागता अपि तद्दर्शनप्राप्तप्रेमाधिक्यात्किमपि नोचरित्याह तदीक्षणेति तेषां वीक्षणेन दर्शनेनोत्पन्नो यः प्रेमरसस्तस्मिन्नाप्लुताआनंदिता आशयाः अंतःकरणानि येषां ते अतः गतो नष्टो मन्युस्ताडनेच्छारूपः क्रोधो येषां ते गोपाः जातानुरागाः संतः अर्भकान् दोर्भिः उदुह्य करैरुत्थाप्य परिरभ्य आलिंग्य मूर्द्धिन शिरसि घ्राणैः मुदमवापुः॥ ३३॥ प्रवयसो वृद्धाः स्तोकानां बालानामाश्लेषेण आलिंगनेन सुतरां निर्वृताः तेषां पुत्राणामनुस्मृत्या उत्स्रवंति अश्रूणि प्रेमबिंदवो येषां ते गोपाः ततः सुतप्राप्तिस्थानात् शनैः कृच्छ्रादपगताः स्थानांतरं गच्छंति स्म॥ ३४॥ मुक्तस्तनेषु त्यक्तस्तनक्षीरेषु अपत्येष्वपि व्रजस्य गोगोपगोपीकलापस्य प्रेमर्द्धेः स्नेहवृद्धेः औत्कंठ्यं अत्याधिक्यं वीक्ष्य अहेतुवित् तस्य कारणमजानन् चिंतयामास॥ ३५॥ तदेव चिंतनमाह किमिति वासुदेवे इव यथापूर्वं स्नेहः अभूत् तथा सात्मनः आत्मना मया सहितस्य व्रजस्य गोपादिवृंदस्य स्तोकेषु वत्सपेषु अपूर्वं निःसीम प्रेम वर्द्धते एतत्किमद्भुतमस्ति॥ ३६॥ इयं का माया वा कुत्र आगता देवानां इयं वानराणां इयं उत वा आसुराणां इयमस्तीति संदेहं कृत्वा निश्चयं प्राप तथाहि प्रियो मे भर्तुः स्वामिनः श्रीकृष्णस्यैवेयं मायाऽस्तु अन्येषां मास्तु यतः अन्या अन्यदीया माया मे विमोहिनी न इयं तु ममापि मोहजनिकाभवत्यतः श्रीकृष्णस्यैव सेति वितर्कते॥३७॥ सवयसान् वत्सपान् वयुनेन ज्ञानरूपेण वैकुंठं श्रीकृष्णमाचष्ट ऐक्षत॥ ३८॥ इत्थं सामान्यतो ज्ञात्वा विशेषं तु श्रीकृष्णाज्ज्ञातवानित्याह नैत इति हे ईश भिदाश्रये वत्सवत्सपरूपभेदेऽपि तद्रूपेण त्वं मे भासि अत इदं सर्वं वत्सवत्सपादिरूपेण तव पृथक्त्वं कथं वृत्तं जातं त्वं वद इत्युक्तेन प्रभुणावक्त्रानिगमात्संक्षेपाद्गदितं विधिकृत्यं बलोवेत् ज्ञातवान्॥ ३९॥ आत्मभूर्ब्रह्मा स्वमानेन त्रुट्यनेहसा त्रुटिप्रमाणकालेन एत्य पूर्ववदब्दपर्यंतं सकलं वत्सपादिसमग्रम्॥ ४०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तावत्पर्यन्तं रामस्यापि मोह एवासीत् संवत्सरान्ते तु कथंचित् ज्ञातवानिति दर्शयन्नाह ॥ एकदेति ॥ एकदा कदाचित्, पञ्च च षट् च पञ्चषास्तासु, पञ्चसु षट्सु वेत्यर्थः । त्रियामासु रात्रिषु, हायनापूरणीषु संवत्सरपूरकतयावशिष्टासु सतीष्वित्यर्थः। सरामः बलभद्रसहितः, अजः श्रीकृष्णः, वत्सान् चारयन्, वनं आविशत् ॥ ३३ ॥ तत इति ॥ ततस्तदा, गोवर्द्धनाद्रिशिरसि गोवर्द्धनाचलस्य शिखरे, तृणं तृणानीत्यर्थः । चरन्त्यः, गावः, उपव्रजं व्रजस्य समीपप्रदेशे, चरतः वत्सान् विदूरात्, ददृशुः ॥ ३४॥ दृष्ट्वेति ॥ दृष्ट्वा स्ववत्सान् विदूरतो विलोक्य, स प्रसिद्धः, गोव्रजो गवां समूहः तु, तत्स्नेहवशस्तेषां वत्सानां स्नेहेनाकृष्टः, अत एव अस्मृतः विस्मृत आत्मा येन सः । अत्यतिक्रान्ताः आत्मपाः स्वरक्षका गोपालाः दुर्गमार्गो दुर्गमोऽध्वा च येन सः, द्वौ पादौ यस्य सः द्विपाद् अत्यन्तधावनेन पाश्चात्यपादयोः पूर्वपादाभ्यां संघट्टनात् द्विपादिव प्रतीयमान इत्यर्थः । ककुदि ग्रीवा यस्य सः, उदञ्चितग्रीव इत्यर्थः उदुन्नमितान्यास्यानि पुच्छानि च येन सः, आस्नु सर्वतः प्रस्नवत् पयो यस्य सः, हुंकृतैः उपलक्षितः एवंभूतः सन्, जवेन वेगेन, अगात् स्ववत्ससमीपप्रदेशमाययौ । गोव्रज इत्यनेन वृषभादयोऽप्यगुरिति सूचितम् ॥ ३५ ॥ तत्र विशेषतो धेनूनां चेष्टितमाह ॥ समेत्येति ॥ अघः वत्सान् समेत्य, गावः, वत्सवत्यश्च पुनः प्रसूता अपि, अङ्गानि स्ववत्सानां शरीराणि, गिलन्त्यः इव, लिहन्त्यः सत्यः, स्वौघसं पयः, अपाययन् ॥ ३६ ॥ एवं रामेण दृष्टं वत्सेषु गवां स्नेहातिशयमुक्त्वाथ गोपानामपि दर्शयितुमाह ॥ गोपा इति ॥ गोपाः, तासां गवां रोधेन यश्चायासस्तस्य मौघ्येन वैयर्थ्येन या लज्जा तत्सहितो य उरुर्मन्युस्तेन, दुर्गाध्वकृच्छ्रतः दुर्गमगिरिजनितक्लेशेन च, अभ्येत्यागत्य, गोवत्सैः सहितान् सुतान्, ददृशुः ॥ ३७ ॥ तदिति ॥ ततश्च, तेषां सुतानां वीक्षणेन य उदग्धिकः प्रेमरसस्तेन आप्लुतो निमग्न आशयो येषां ते, गतो निवृत्तः मन्युर्येषां ते, लज्जामव्युकृच्छ्रेः सुतांस्ताडयितुमागताः सन्तोऽपि, तदीक्षामात्रविनिवृत्तमन्यव इत्यर्थः । जातोऽनुरागो येषां तथाभूताः, न केवलं गतमन्युत्वमात्रं प्रत्युत संजातस्नेहा इत्यर्थः ते गोपाः, अर्भकान् स्वस्वसुतान्, दोर्भिः उदूह्य, परिरभ्य च, मूर्द्धनि, घ्राणैः, परमामदृष्टपूर्वां, मुदं, अवापुः ॥ ३८ ॥ तत इति ॥ पशुभिः सहिता इति शेषः । प्रवयसः वृद्धाः, गोपाः, तोकानामपत्यानामाश्लेषः आलिङ्गनं तेन सुनिर्वृताः सुतरां सुखिताः, तेषां तोकानामनुस्मृत्या उद्गच्छन्त्यश्रूणि येषा तथाभूताः सन्तः, कृच्छ्रात् कथंचित्, शनैः ततः अपगताः विश्लिष्य वनं प्रति गता इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ व्रजस्येति ॥ रामः, व्रजस्य गोगोपसमूहस्य, 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इति मेदिनी । प्रेमर्द्धेः प्रेमाधिक्यस्य, औत्कण्ठ्यमतिशयं, मुक्तस्तनेषु, अपत्येषु, अनुक्षणं, प्रतिक्षणं वीक्ष्यालोक्य अपि, अहेतुवित्तत्कारणमजानन्, अचिन्तयत् । एवं विधादृष्टपूर्वस्य स्नेहकारणं किमिति विचारयामासेत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

केयमिति ः १०.१३.३७,

मायाऽऽकरणे न योगविभवो नो वा तपः कारणं किं त्वेकं तव पादपद्मशरणीभावं वदामो वयम् ।
यत्तादृक् स्थितिमानपि स्फुटमसौ रामः स्वमोहं तदा चिच्छेदाशु भवन्तमेव शरणं प्राप्य प्रभो तद्वने ॥ ७३ ॥
कर्ता गोकुलमद्य वत्सरमितं मायां विवृण्वन् स्विकामेतत्तत्त्वविकासि वत्सरहितं ज्ञात्वेत्यजस्याशयम् ।
तत्प्रीत्यै भगवंस्तदा त्वमकरोस्तत्तादृगेवेति यन्माया तस्य तथैव वत्सरहितेवासीदिदं साध्विति ॥ ७४ ॥

तावदिति ः १०.१३,४०

बहुवत्समये गतेऽपि कालो लव इति भाति हि योगनिद्रयोश्च ।
तरतमभवनं द्वयोरिहाद्ये विभुपददर्शनमन्तिमे तु तत्र ॥ ७५ ॥

कृष्णप्रिया

क्लेश-कोप-लज्जा-मौढ्य-आयास इन पांच दोषों से युक्त और दूध की हानि होने पर भी अपने बालकों को देखते ही क्रोधित गोपों का हृदय वात्सल्य रस से सरावोर हो गया । बालकों के प्रति स्नेह की बाढ़ आयी, न मालुम जाने कोप कहाँ हवा हो गया । गोपों ने अपने-अपने बालकों को उठा लिया, हृदय से लगा लिया और बालकों के मस्तक सूँघकर अतिशय आनन्द का अनुभव करने लगे ।। ३३ ॥ पुनः अपने बालकों के आलिङ्गन से परम सुख को प्राप्त हुए वृद्ध गोपजन महान् श्रम से धीरे-धीरे अपने पुत्रों से अलग हो सके । अलग होने से बालकों की स्मृति आ गयी और गोपों की आँखे छलछला आयीं ।। ३४ ॥ बलभद्र भैया ने जब दूध छोड़े हुए बालकों में भी उत्तरोत्तर गोप गौएँ एवं गोपीजनों को उत्कण्ठा और स्नेहातिशय को बढ़ते देखा तब तो वे विचारमग्न हो गये क्योंकि बलभद्रजी को ब्रह्माजी की करतूत का ख्याल नहीं था ।। ३५ ॥ श्री बलभद्रजी विचार करने लगे कि यह कौन सी कल्पनातीत घटना है कि सबकी आत्मा वासुदेव श्रीकृष्ण में जैसी सबकी प्रीति थी वैसी ही सारे व्रजजनों की अपूर्व प्रीति बालकों पर एवं बछड़ों पर बढ़ती जा रही है साथ मेरा भी प्रेम इनकी ओर प्रगाढ होता जा रहा है ॥ ३६ ॥

यह कोन सी माया है !, देवों की है, मानुषी माया है, या असुरों की है, या मेरे स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण की माया है ? लेश भी संशय नहीं यह माया अवश्य श्रीकृष्ण प्रभु की है दूसरे की नहीं इसलिये तो मुझे भी मुग्ध कर रही है ॥ ३७ ॥ ऐसा विवेकपूर्ण निर्णय कर ज्ञाननयन से निरीक्षण किया तो दाऊजी को ऐसा प्रतीत हुआ इन सर्व बछड़ों के स्वरूप में और ग्वालबालकों के स्वरूप में केवल श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण प्रतीयमान हो रहे हैं क्या बात है ॥ ३८ ॥ ऐसे दर्शन के बाद बलभद्रजी ने कहा – प्यारे कृष्ण ! यह तो मैं जानता हूँ कि ये ग्वाल बालक इन्द्रादि देव हैं और बछड़े ऋषि लोग हैं लेकिन आज न तो ये बालक इन्द्रादि देव हैं न बछड़े ऋषि हैं किन्तु आप ही हैं यह कठिन समस्या है । यदि कहा जाय कि ब्रह्मवाद के सिद्धान्त से आप ही सर्व स्वरूप है तो ठीक है यह मान लिया जाय लेकिन अभेदाश्रय से यह कहना उचित है यहाँ तो भिन्न-भिन्न रूपों का आश्रय लेने पर भी आप अकेले ही इन स्वरूपों में प्रकाशित हो रहे हैं यह बात जचती नहीं तो कृपया निगम वचनों के आधार पर यह स्पष्ट करके बतला दीजिये कि आप ग्वालबाल बछड़े वस्त्राभूषण आदि के आकार में भिन्न भिन्न क्यों प्रतीत हो रहे हैं ? तब भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी की सम्पूर्ण करतूत सुनाई और श्रीदाऊजी ने सारी घटना जान ली ।। ३९ ॥ राजन् ! ब्रह्माजी ब्रह्मलोक से अपना काम निपटाकर शीघ्र व्रज में लौट आये तब ब्रह्माजी के कालमान से तो केवल एक त्रुटि काल ही पसार हुआ था । ब्रह्माजी ने व्रज में आकर देखा तो भगवान् श्रीकृष्ण गोपबालक और बछड़ों के साथ एक वर्ष से यथापूर्व ही खेल रहे हैं ।। ४० ॥

[1]यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि । मायामये [2]शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥
इत एतेऽत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे । तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥
एवमेतेषु [3]सुचिरं ध्यात्वा [4]सर्वात्मनाऽऽत्मभूः । [5]सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नष्टे कथञ्चन ॥ ४३ ॥
एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् । स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥
तम्यां तमोवन्नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि । महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥
तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् । व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥
चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः । किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥
श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः । [6]नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोकुले सवत्साः यावन्तः बालाः सर्वे एव सवत्साः हि मायामये शयानाः मे अद्य अपि न पुनः उत्थिताः ।४१। मन्मायामोहितेतरे तावन्तः एव तत्र विष्णुना समं अब्दं क्रीडन्तः एते अत्र इतः कुत्रत्याः ? ॥ ४२ ॥ आत्मभूः एवं एतेषु सुचिरं सर्वात्मना ध्यात्वा सत्याः के कतरे न इति ज्ञातुं न इष्टे ।। ४३ ।। विश्वमोहनं विमोहं विष्णुं एवं सम्मोहयन् अजः अपि स्वया एव मायया स्वयं एव विमोहितः ॥ ४४ ॥ तम्यां नेहारं तमोवत् अहनि खद्योतार्चिः इव महति आत्मनि इतरमाया युञ्जतः ऐश्यं निहन्ति ॥ ४५ ॥ अजस्य पश्यतः तत् क्षणात् (सर्वे वत्सपालाः) घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः चतुर्भुजाः शंखचक्रगदाराजीवपाणयः किरीटिनः कुण्डलिनः हारिणः वनमालिनः ॥ ४७ ॥ श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः नूपुरैः कटकैः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः भाताः ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दृष्ट्वा च व्यतर्कयदित्याह । यावंत इति द्वाभ्याम् । मे मायाशये मन्मायातल्पे ॥ ४१ ॥ मन्मायामोहितेभ्य इतरे कुत्रत्याः ॥४२॥ इति वितर्कयन्नमुह्यदित्याह एवमिति द्वाभ्याम् । एवमेतेषु भेदेषु चिरं ध्यात्वा । स आत्मभूरिति पाठः ॥४३–४४॥ ननु मायाश्रयस्य तस्य कुतो मोह इत्यत आह । तम्यामिति । महामायाविनि भगवत्यन्यमायाया आवरणविक्षेपकत्वाभावे दृष्टांतद्वयमितम् । तम्यां तमिस्रायां रात्र्यां नेहारं हिमकणप्रभवं तम इव । तद्धितार्थोपसर्जनस्यापि तमसो नैहारमिति विशेषणं छांदसम् । तत्तमो यथा पृथगावरणं न करोति किं तु तत्रैव लीयते यथा च खद्योतार्चिरहनि पृथक् प्रकाशं न करोति एवं महति पुरुषे युंजतः पुंस इतरा नीचा माया तत्र न किंचित्करोति कित्वात्मनि स्वस्मिन्नेव ऐश्यं सामर्थ्यं निहंतीति ॥ ४५ ॥ अन्यदप्याश्चर्यमाह । तावदिति । वत्सपालाः वत्साः पालाश्च सर्वे यष्टिविषाणादयश्च ॥ ४६–४७ ॥ श्रीवत्सप्रभायुक्तान्यंगदादीनि दोष्षु यषां ते रत्नमयानि कंबुवत्त्रिधाराणि कंकणानि पाणिषु येषां ते ते च ते च ।। ४८ ॥

---

१. ब्रह्मा—च. पु. टी. । २. शये–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ३. भेदेषु चिरं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ४. स आत्मभूः–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. सदाश्रया एत इति–वीर. । ६. "श्रीवत्साङ्कितवक्षस्काः कौस्तुभामुक्तकन्धराः"–वीर. पाठे इदमर्धमधिकम् ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

व्यतर्कयद्विचारितवान्। यावन्तो यत्प्रमाणकाः श्रीकृष्णसहागताः गोकुले चारणार्थं नीतवत्ससमूहे। अद्यापि इदानीमपि वर्तमानदिनार्थकत्वेद्याव्ययस्य त्रुट्यनेहसेत्युक्त्याविरोधः स्यादिति ॥४१॥ इत इह। सप्तम्यर्थे तसिः। एते दृश्यमानाः। अत्रेत्युक्तिस्तु संभ्रमान्न तेषां पौनरुक्त्यं शंक्यम्। कुत्रत्याः कुतः समागता इत्यर्थः। तावंतस्तत्प्रमाणका एव। यतो मया हृतास्तत्रेत्यर्थः ॥ ४२॥ इति इत्थम्। वितर्कयन्विमृशन्। भेदेषु भिन्नत्वेन प्रतीयमानेषु गोपवत्सेषु। आत्मनि चेतसि। ध्यानशब्देन चेतोर्थकात्मपदलाभात्पुनरुक्तिसंभावनया पाठांतरं चक्लृपे—आत्मभूरिति। भेदेष्विति। किमेते इह प्रकृतास्तत्राह – कृष्णसृष्टाः किंवा एत एव कृष्णसृष्टास्तत्र ते प्रकृताः किं वा उभय एव कृष्णसृष्टाः प्रकृतास्तु कृष्णेनैव क्वापि ब्रह्मांडांतरे चालिताः किं वा कृष्णेन वत्सपालानां प्रकाशद्वयीकरणात् उभय एव प्रकृताः किं वा मयि तत्र गत्वा तत्र पश्यति सति एत एव कृष्णेन तत्र नीयंते पुनरत्रागच्छति मयि त एवात्रनीयंते भवतु तर्हि युगपदेवोभयत्र दृष्टिं निक्षिपामीति तथा कृत्वापि तानुभयत्र दृष्ट्वा चिरं ध्यात्वापि एतेषु मध्ये भगवत्स्वरूपभूताः सत्या बहिरंगमायासृष्टाः सत्या नेतीमं भेदं तु कथंचन ज्ञातुं न शशाक ॥ ४३ ॥ विमोहं मोहानधिकरणम्। विश्वमोहनं सर्वमोहकरम्। अजोऽपीत्यपिना ब्रह्मणोपि यदा मोहस्तदा कान्येषां कथेति ध्वनितम्। स्वया स्वकृतया स्वस्य हरेर्वा 'आत्मात्मीययोः स्वः' इति कोशांतरात्। मोहितस्यापि ब्रह्मण एव विह्वलीकरणे भगवति मायाप्रयोगरूपापराध एव हेतुरिति भावः ॥४४॥ मायायाः स्वाश्रयामोहकत्वस्यैंद्रजालीयमायादृष्टांतेन प्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मणोऽपि मायाश्रत्वान्मोहो न घटत इत्याशंकते—नन्वित्यादिना 'रजनी यामिनी तमी' इति कोशात्साधारणरात्रिपरोऽपि तमीशब्द इहार्थस्वारस्यात्तमिस्रापरो ज्ञेयः। तथा च तम्यां तमोयुक्तायां रात्रौ। महामायाविनीति। 'मायिनामपि मायिनी' इत्युक्तेः। अन्यमायाया भगवदितरमायायाः। आवरणविक्षेपशक्तिद्वयविशिष्टा भगवत एव माया नान्यस्येति भावः तमसा तुल्यं तमोवदिति तुल्यार्थे वतिस्तद्धितः। 'विशेष्यं तु प्रधानं स्यात्' इत्युक्तेः। प्राधान्यमत्र तद्धितार्थस्यैव न तु तमसः। तथा च कथमत्र तमसो विशेष्यत्वं तदभावे नैहारमिति विशेषणं कथम्। तत्राह—छांदसमिति। यद्वा—वदव्ययमिवार्थेस्ति। तत्र महति ॥ ४५ ॥ अतोप्यद्भुतमाह—तावत्तदा सकला वा सर्वशब्दस्य यष्ट्यादिपरत्वेन व्याख्यानात् व्यदृश्यंत ब्रह्मणेति शेषः। विश्वनाथस्तु—यावदेवं ब्रह्मा मीमांसमानो व्यामुह्यति स्म तावदित्यर्थः। वत्सपालाश्च पश्यतोऽजस्य पश्यंतमप्यजमनादृत्येति। भोः सत्यलोकवासिन् अज सत्यं त्वमज एवासि ईदृश्यैव बुद्ध्या विश्वं सृजसि अस्मान्मायया मोहितुमिच्छसि कथंचिज्ज्ञातुमपि तावन्न शक्नोषि पश्येति व्यदृश्यंत वयं वृंदावनीयास्तृणं चरंतो वत्सा अपि वत्सांश्चारयंतो गोपबाला अप्येवं भवाम इति ज्ञापयंत इव तदृष्टिगोचराः स्वय मेवाभूवन् स्वप्रकाशत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥ राजीवं कमलम् 'विसप्रसूनराजीव-'इत्यमरः ॥ ४७ ॥ अंगदानि केयूराणि। "अंगदं बाहुभूषाथामंगदो वालिजेऽपि च" इति धरणिः। 'कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्युक्तेः करभूषणमपि कटकोऽत्र नूपुरसाहचर्यात्पादभूषणपरः। कटिसूत्राणि क्षुद्रघंटिकायुक्तानि सूत्रप्रोतकटिभूषणानि ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गोकुले यावन्तो बाला वत्सपालरूपा आसन् तावन्तः सर्व एव वत्ससहिताः सन्तो मायेत्यादियोज्यम् ॥ ४१ ॥ इतो हेतोः यद्वा एते मायाशये शयाना इतो वर्त्तन्ते मन्मायामोहितेतरे चात्र कुत्रत्या इति योज्यं विष्णुनेत्यब्दं व्याप्य तथैव क्रीडनाभिप्रायेण ॥ ४२ ॥ एवमुक्तप्रकारेण भेदेषु मोहितानुसन्धानं अमोहितानुसन्धानं तयोर्विपर्ययस्तेषु एतेषु मध्ये के सत्याः अनारोपितपूर्ववत्सबालभावाः कतरे च न सत्याः किं नाम मन्मोहितान् भगवता नीत्वा तत्परिवर्त्तेनान्ये तादृशा मायया निर्माय्यात्राप्यमी स्थापिताः किं वा भगवता सह क्रीडन्त एते मायानिर्मिताः किं वा मया भ्रान्त्यैव ते दृश्यन्त एते वेति चिरं ध्यात्वाऽपि निजविचारादिप्रयासेन निश्चेतुं नेष्टे न शक्त इत्यर्थः। स मायाविस्तारकोऽपि आत्मभूः स्वतः सिद्धज्ञानोऽपि भगवन्माययैव ज्ञातुं नेष्टे इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ सम्मोहयन् स्वमायया वत्साद्याच्छादनात् सम्मोहतुमिच्छन्नित्यर्थः। एवं तदभिप्रायानुसारेणैव संशब्दः विष्णुमिति सर्वव्यापकत्वान्मायया तस्य दृष्ट्याच्छादनं न घटेतेति भावः। अतो विमोहं मोहयितुमशक्यमपीत्यर्थः। किं च विश्वमोहनमपि अजः स्वयम्भूरिति पूर्ववत् एवशब्दाभ्यां न तु भगवन्मायया न तु भगवान्वेति बोध्यते ॥ ४४ ॥ तच्चोचितमेवेत्याह—तम्यामिति। यदत्र टीकायामावरणविक्षेपक्रमः सम्मतः तदनुसृत्य व्याख्यायते तम्यां नैहारं तमो यथा तमीं नावृणोति किन्त्व तच्च स्वयमेव लीनंसत् तमी तमः सान्द्रीकृत्य नीहारमेवावृणोति यथा चाहन्यहः स्थितस्य पूर्णस्य चन्द्रस्यार्चिरपि सूर्यार्चिः स्वतया प्रत्याययति तथा खद्योतार्चिकर्तृ सुर्यार्चिरपि स्वतया प्रत्याययितुं न शक्नोति किं तु खद्योतमेव प्रतिहतप्रभावत्वेन ज्ञापयति। तद्वन् महति मायां प्रयुञ्जानस्येतरस्य मायामहच्छक्तिमावरीतुं भावान्तरं च विक्षेप्तुमसमर्था सती स्वाश्रयतयात्मत्वेन व्यपदिश्य तस्मिन्नितरत्र यदैश्यन्तदेव निहन्तीत्यर्थः। अव्ययमपि वच्छब्दोऽस्ति "यद्वा यथा तथैवैवं साम्य" इत्यमरः ॥ ४५ ॥ एवं मोहेन दीनतां गते ब्रह्मणि श्रीभगवानप्यचिरात् द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपि यदिति तदभिप्रायानुसारेणैव कृपां व्यतनोदित्याह—तावदित्यादिनवकेन। भक्तास्तु पृथक् पृथक् क्रियन्ते पश्यन्तमजमनादृत्य तद्दृष्टिशक्तिमनपेक्ष्य अदृश्यन्त स्वयमेव तद्दृष्टौ व्यक्तीभूताः स्वर्चाति

मात्रेणाभिव्यक्तेः कर्मकर्तृत्वम् ॥ ४६ ॥ चतुर्भुजा इति अत्र चतुर्भुजत्वादिना विष्णुत्वमवगम्यते मायाद्यधिष्ठातृत्वेन तु प्रथमद्वितीयपुरुषत्वमवगंस्यते तस्मात् —

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः । विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" ॥

इति ब्रह्मवाक्यात् ब्रह्माणं प्रति च तत्तत्कार्याय सर्वशक्तिव्यञ्जकतया प्रायो विष्णोरेवाविर्भावश्रवणात् त्रयाणामभेदज्ञापनार्थमेव व्यामिश्रत्वेनाविर्भावोऽयं ज्ञेयः ॥ ४७ ॥ श्रीवत्सो नाम दक्षिणस्तनोर्द्ध्वे सूक्ष्मरोम्णां दक्षिणावर्त्तः श्रीभगवतोऽसाधारणलक्षणम् । यद्वा, श्रीयुक्तं वत्सं वक्षः तत्प्रभायुक्तमित्यादि । यद्वा श्रीयुक्तं वत्सं वक्षो येषाम् इत्यादि योज्यम् "उरो वत्सं च वक्षश्च" इत्यमरः कटकैः पादवलयैः पारिशेष्यात् अन्यत्तैः तत्र कम्वोर्मुखाग्रभागे त्रिधारत्वात्तथोक्तम् । यद्वा कम्ववो वलयाः कङ्कणानि मणिवन्धवन्धनानि हस्तसूत्राणि "कम्वुः स्याद्वलये शङ्खे" इत्यमरस्य नानार्थात् "कङ्कणं करभूषणम्" इति नृवर्गात् तत्र तत्र क्षीरस्वामिना तथा तथा व्याख्यानात् ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गोकुले यावन्तो बाला वत्सपालरूपा आसन्, तावन्तः सर्व एव वत्ससहिताश्च सन्तो मायेत्यादियोज्यम् ॥ ४१ ॥ इत इत्यस्य पूर्वश्लोकेनान्वयः, इतो मायाशयात्, यद्वा, एते मायाशये शयाना इतो वर्त्तन्ते । 'मन्मायामोहितेतरे' चात्र कुत्रत्या इति योज्यम् । 'एते तु' इति पाठो वा विष्णुनेति पदं व्यापकतयैव क्रीडानाभिप्रायेण ॥ ४२ ॥ एवमुक्तप्रकारेण भेदेषु मोहितामोहितरूपेष्वेतेषु भयेषु वहुत्वं वालकादीनां वाहुल्यात्, यद्वा, भेदेन द्विधा वर्त्तमानेष्वित्यर्थः । अभेदेष्विति पाठः क्वचित्, भेदरहितेष्वित्यर्थः । एतेषु मध्ये के सत्याः, कतरे च न सत्याः ? किं नाम मन्मोहितान् भगवन्नीत्वा तत्परिवर्त्तनाल्ये तादृशमायया निर्म्मायात्रामी स्थापिताः, किंवा भगवता सह क्रीडन्त एते मायानिर्म्मिताः सन्तीति, किंवा माया भ्रान्त्यैव ते दृश्यन्ते एते वेति चिरं ध्यात्वापि निजविचारादिप्रयासेन निश्चेतुं न शक्त इत्यर्थः । स माया विस्तारकोऽप्यात्मभूः स्वतःसिद्धज्ञानोऽपीत्यर्थः ॥४३॥ सम्मोहयन् स्वमायया वत्साद्याच्छदनात्, यद्वा, सम्मोहयितुमिच्छन्नित्यर्थः । एवं तदभिप्रायानुसारेणैव संशब्दः । विष्णुमिति सर्वव्यापकम्—मायया तस्य दृष्ट्याच्छादनं न घटेतेति भावः । अतो विमोहं मोहयितुमशक्यमपीत्यर्थः । किञ्च, विश्वमोहनमप्यजः स्वयम्भूरिति पूर्ववत् एव शव्दाभ्याम्, न तु भगवन्मायया, न तु भगवान् वेति वोध्यते ॥ ४४ ॥ तच्चोचितमेवेत्याह— तम्यामिति । नैहारतमसः कदा द्राघ्यान्धकार नैविड्यापादनेन किञ्चित् प्रयोजनसिद्ध्या दृष्टान्तान्तरमाह— खद्योतेति । सूर्य्यांशुप्रभावेण खद्योतस्य खेदस्तदर्च्चिषश्च नाश एव यथा, तद्वदित्यर्थः । इतरा इतरस्य वा माया, तां युञ्जतो मायां प्रयुञ्जतः ॥४५॥ एवं मोहेन दीनतां गते श्रीब्रह्मणि श्रीभगवानचिरात् कृपां व्यतनोदित्याह—तावदित्यादिना । कर्त्तरि षष्ठी, पश्यता पुनरपि विचारयतेत्यर्थः, किंवा, दैन्येन भयेन च श्रीभगवन्तं निरीक्षमाणेन, यद्वा, तानेव पश्यतापि सता, इत्याश्चर्य्यविशेष उक्तो भ्रमादिकञ्च निरस्तम् । विशेषतोऽदृश्यन्त दृष्टाः, यद्वा, अजे पश्यति सति व्यदृश्यन्त दृष्टिविषया जाताः ॥ ४६ ॥ चतुर्भुजत्वादिकं श्रीवैकुण्ठनाथत्ववोधनार्थम् तत्सेवकस्य श्रीब्रह्मणस्तथैव तन्माहात्म्यप्रतीतेः, यद्वा, ब्रह्मादिभिः श्रीकृष्णस्य प्रायश्चतुर्भुजादिरूपेणैव दर्शनात् ॥ ४७ ॥ श्रीवत्सो नाम दक्षिणस्तनोर्द्ध्वे सूक्ष्मरोम्णां दक्षिणावर्त्तः श्रीभगवतोऽसाधारणलक्षणम् तेन च सारूप्यप्राप्तपार्षदसादृश्यं निरस्तम् । कटकैः पादवलयैः ॥ ४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

माया विचित्रकार्यकरमच्छक्तिरूपतया शयनं मायाशय इत्यर्थः । यया तेषां त्रुटिकालज्ञानमेव जात इत्याशयः ॥४१–४२॥ तेषु वत्सबालभेदेषु सत्याः के कतरे न सत्याः इति ज्ञातुं नेष्टे न समर्थः ॥४३॥ स्वमायया स्वमोहः कथमित्यत्र विष्णुं सम्मोहयन्निति हेतुर्ज्ञेयः ॥ ४४ ॥ वत् इवार्थे नैहारं तम इव ऐश्यं सामर्थ्यं इतरमाया अनीशस्यं माया महत्यात्मनि उत्कृष्टपुरुषे ॥ ४५ ॥ पश्यत इत्यनादरे षष्ठी ॥ ४६–४७ ॥ श्रीयुक्तानि वत्सानि वक्षांसि येषां अङ्गदयुक्तो दोषो येषां रत्नशब्देन कौस्तुभयुक्ता कम्वुत्रिरेखा ग्रीवा येषां कङ्कणयुक्ता पाणयश्च येषां ते च ते च कटकैः ॥ ४८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दृष्ट्वा च व्यतर्कयदित्याह -द्वाभ्याम् यावन्त इति । गोकुले यावन्तो वत्सा वत्सपाश्च ते सर्वे मम मायाशये मायातल्पे शयानाः सन्तोऽद्यापि नोत्थिता एव ॥ ४१ ॥ एते तु मन्मायामोहितेभ्य इतरेऽत्र दृश्यमानाः कुत्रत्याः तावन्तः मयापहृता यावन्तस्तावन्तस्तदा एव यावदद्याब्दमतीताब्दादारभ्याद्यप्रविष्टाब्दपर्यन्तं कृष्णेन समं सह क्रीडन्तो दृश्यन्ते ॥ ४२ ॥ इत्येवं वितर्कयन्मुमोहेत्याह —द्वाभ्यां एवमिति । एवमेतेषु वत्सवत्सपादिरूपभेदेष्वभयेषु चिरं ध्यात्वा किं त एवैते उत भिन्नास्तथा चेत्कुत्रत्याः कुतः समागताः इत्येवं ध्यात्वाप्यात्मभूर्ब्रह्मा सदाश्रयाः सच्छब्दवाच्यपरब्रह्मभूतकृष्णात्मका इति ज्ञातुं कथञ्चन नेशे न प्रबभूव मायाश्रया एत इति पाठे भगवतः आश्चर्यशक्त्याविभाविता इति ज्ञातुं न प्रबभूवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ किं त्वेवं विष्णुं विमोहयन् विमोहयितुमुद्युक्तश्चतुर्मुखः स्वमायया स्वयमेव विमोहितः न तु कृष्णः तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि—विमोहं विगतमोहं विश्वं मोहयतीति तथा तं

स्वयैव माययेत्यनेन स्वशरीरकपरमात्ममाययेति विवक्षितम् ॥ ४४ ॥ विश्वमोहने भगवति मायान्तरस्याकिञ्चित्करत्वे दृष्टा द्वयमाह – तम्यामिति । तम्यां तमिस्रायां रात्रौ नैहारं नीहारकणप्रभवे तम इव तद्यथा न पृथगाकारकं किं तु तत्रैव लीयते यथा खद्योतार्चिरहनि न पृथक् प्रकाशं करोति एवं महति पुरुषे युञ्जतः मायां कर्तुमुपयुञ्जानस्य पुंसः इतरा नीचा माया तत्र किञ्चित्करोति किं त्वात्मनि स्वस्मिन्नेव ऐश्यमैश्वर्यं सामर्थ्यं निहन्ति ॥ ४५ ॥ अन्यदत्याश्चर्यमाह—तावदिति । अजस्य ब्रह्म पश्यतः सतः तावत्सर्वे वत्सा वत्सपाश्च तत्क्षण एव व्यदृश्यन्त कथम्भूता नीलघन इव श्यामाः ॥ ४६ ॥ चत्वारो भुजा ये शङ्खादयः पाणिषु येषां राजीवं किरीटान्येषां सन्तीति तथा ॥ ४७ ॥ श्रीवत्सप्रभायुक्तान्यङ्गदानि दोष्षु भुजेषु येषां रत्नमयानि कम्बुवच्छङ्खवद्वर्तुलानि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च ते तथोक्ताश्च श्रीवत्सैरङ्कितानि वक्षांसि येषां कौस्तुभैरामुक्ताः संयुक्ता कन्धरा ग्रीवा येषां ते बहुजन्मार्जितपुण्यवद्भिरपि तैर्नूपुरादिभिरापादमस्तकं सर्वगात्रेष्वापूर्णाः ॥ ४८–४९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

इतो हेतोः न केवलमत्रैव स्थाने किं तर्हि अब्दं व्याप्य तत्र गोकुलेऽपि क्रीडन्तः ॥ ४२–४३ ॥ मोहितानुसन्धानं अमोहितानुसन्धानं तयोर्विपर्यय एवं प्रकारेष्वेतेषु भेदेषु अनारोपितपूर्ववत्सबालभावाः मायाहतानां वा कथं मद्वञ्चनाय भगवन्मायाकल्पितत्वमिति भावयित्वा इति भावः ॥४४॥ इतरस्य क्षुद्रस्य माया स्वप्रभावदर्शना तां युञ्जतः पुंसः आत्मनि ऐश्यं हन्ति ॥४५-४७॥ कटकैः पादवलयैः ॥ ४८–४९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ दुर्घटघटनपटीयसी शक्तिर्माया । सा च द्विविधा,–मायया बहुरूपया इत्युक्तत्वात् । तत्र प्रथमं द्वेधा–च । प्रकाशिका आवरिका च । आद्या च द्वेधा—स्वाभाविकी ऐच्छिकी च । उभे एवानन्दशक्तित्वात् प्रकाशिके । द्वितीया तु—स्वभावसङ्कोचिका कुहकश्चेति । उभयोरावरणधर्मत्वादावरिकात्वम् । तत्र प्रकाशिकावरियोर्माययोरक्रमेण दृष्टान्तमाह—तम्यां तमोवदित्यादि तम्यामित्यावरिकायां दृष्टान्तः, अहनीति प्रकाशिकायाम् । महामायिकचक्रचूडामणौ तत्र क्वापरेषां माया, यत्र ब्रह्मणोऽपि मायामासीदित्याशयः । नैहारं नीहारसमूहः । कीदृशः ! घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४४–५३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

दृष्ट्वा चैवं व्यतर्कयदित्याह—द्वाभ्याम् । मायाशये मन्मायातल्पे ॥ ४१ ॥ मन्मायामोहितास्त एव कृष्णेनात्रनीता वै विभाव्य मायिकानां नातिनिकटे गत्वा तर्जन्या साभिनयमाह–इतः प्रदेशादत्र किञ्चिद्दूरे एते वत्सबाला वर्त्तन्त इव तत्र विष्णु समं क्रीडन्तः कुत्रत्यास्ते कीदृशा मन्मायामोहितेभ्य एभ्य इतरे ॥ ४२ ॥ एतेषु भेदेष्विति किमेत इह प्रकृतास्तत्राह –कृष्णसृ कि वा एत एव कृष्णसृष्टास्तत्र ते प्रकृताः किम्बा उभये एव कृष्णसृष्टाः प्रकृतास्तु कृष्णेनैव क्वापि ब्रह्माण्डान्तरे चालिताः किं कृष्णेन वत्सबालानां प्रकाशद्वयीकरणात् उभये एव किं वा मयि तत्र गत्वा पश्यति सति एत एव कृष्णेन तत्र नीयन्ते पुनरा गच्छति मयि त एवात्र नीयन्ते भवतु तर्हि युगपदेवोभयत्र दृष्टीर्निक्षिपामीति तथा कृत्वापि तानुभयत्र दृष्ट्वा चिरं ध्यात्वेति भ स्वीयसर्वज्ञतयैवाहमवश्यं ज्ञास्यामीति बहुसमाधिनापि ज्ञातुं नैवाशकदित्याह - सत्या इति । एतेषु भेदेषु मध्ये सत्या भगवत्स्व भूता न सत्या बहिरङ्गमायासृष्टा इतीमे भेदं तु कथञ्चन ज्ञातुं संशयज्ञानविषयीकर्तुमपि नेष्टे न शशाक ॥ ४३ ॥ ततश्च ब्र मोहसमुद्रावर्त्ते निपपातेत्याह–एवमिति संमोहयन् वत्सबालस्ते येन मोहयितुमुपक्रममाणः अजो ब्रह्मापि स्वयैव मायया स्वयं विष्णौ प्रयुक्तया हेतुना विमोहितः भगवन्मायया विशेषेणैव मोहितः मोहितस्यापि ब्रह्मण एवं विह्वलीकरणरूपे विमोहने भगवं मायापयोगरूपोऽपराध एव कारणमित्यर्थः । न तु स्वमाययैव ब्रह्मा विमोहित इति व्याख्येयं मायायाः स्वाश्रयव्यामोहकत्व सम्भवात् उत्तरश्लोके दृष्टान्तविरोधाच्च ॥ ४४ ॥ महामायाविनि भगवत्यन्यमाया आवरणविक्षेपौ कर्तुमशक्नुवती स्वाश्रयं तिरस्करोतीति दृष्टान्ताभ्यामाह – तम्यान्तामस्यां रात्रौ नैहारं तमोवत् नीहारसम्बन्धि तम इव इवार्थेऽत्र वच्छब्दः "इव वद्वा साहश्ये" इत्यभिधानात् नैहारं तमो यथा तमीमावरीतुमसमर्थं तमी तमः सान्द्रीकृत्य तेन स्वमेवावृणोति नीहारं च तिरस्करो तथैव ब्रह्ममाया भगवन्तं मोहयितुमसमर्था भगवदैश्वर्यमेव विपुलीकृत्य स्वमावृतवतीं ब्रह्माणमेव तिरश्चकारेतिदृष्टान्तेऽस्मिन्नै ब्रह्ममायाया अपि हेतुत्वमस्तीत्यपरितुष्यन् दृष्टान्तान्तरमाह –स्वद्योतेति । रात्रौ यथा प्रद्योतते तथा दिवसेऽपि मत्प्रभा प्रद्यो तामिति खद्योतेन प्रयुक्तापि प्रभा दिवसे उद्भवितुमेव न शक्नोति प्रत्युत तमेव भ्रष्टतेजसं सर्वान् ज्ञापयति तथैवान्यत्रैश्वर्यवानं ब्रह्मा भगवत्यपि मायया निजैश्वर्यं प्रकटयितुकामो भ्रष्टतेजा एवाभूदित्यतः महति पुरुषे इतरमायाकर्त्री आत्मनि आत्मानं युञ्ज स्वं प्रयुञ्जानस्य पुंसः ऐश्यमैश्वर्यं निहन्ति ॥ ४५ ॥ तावदिति यावदेवं ब्रह्मा मीमांसमानो व्यामुह्यति स्मेत्यर्थः । वत्साः पाल पश्यतोऽजस्य पश्यन्तमप्यजमना हत्येति भोः सत्यलोकवासिन् ! अज ! सत्यं त्वमज एवासि ईदृशैव बुद्ध्या विश्वं सृजसि अस्मा मायया मोहयितुमिच्छसि कथञ्चिज्ज्ञातुमपि तावन्न शक्नोषि पश्येति व्यदृश्यन्त वयम् वृन्दावनीयास्तृणं चरन्तो वत्सा अपि

वत्सांश्चारयन्तो गोपबाला अपि एवं भवामेति ज्ञापयन्त इव तद्दृष्टिगोचराः स्वयमेवाऽभूवन् स्वप्रकाशत्वादिति भावः ॥ ४६-४७ ॥ श्रीर्लक्ष्मीरेखा तद्युक्तानि वत्सानि वक्षांसि येषां ते च अङ्गदयुक्ता दोषो बाहवो येषां ते च रत्नं कौस्तुभस्तद्युक्ताः कम्बवः अतिशयोक्त्या त्रिरेखाङ्किताः कण्ठाः येषां ते च कङ्कणयुक्ताः पाणयो येषां ते च ते कटकैः पादवलयैः ॥ ४८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वत्सवत्सपसहितं हरिं दृष्ट्वा शङ्कां कृतवानित्याह—यावन्त इति द्वाभ्याम् । मे मायाशये मदीययोगवैभवनिर्मितशयनस्थाने इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ इतो वृन्दावनात् तत्र तस्मिन्मायाशयेऽब्दं सम्वत्सरं यावन्तः स्थापिता इति शेषः । तावन्त एव अत्र वृन्दावने मन्मायामोहितेभ्य इतरे अब्दं वर्षपर्यन्तं विष्णुना समं सह क्रीडन्तः एते कुत्रत्या इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥ एवं शङ्कितो मुह्यदित्याह—एवमिति द्वाभ्याम् । एतेषु मायाशये शयानेषु वृन्दावने क्रीडमानेषु च भेदेषु परस्परं भिन्नेषु के सत्याः लौकिकाः कतरे नेति चिरं ध्यात्वापि कथञ्चनापि ज्ञातुं नेष्ट इत्यन्वयः ॥ ४३ ॥ स्वमायया स्वकीयया श्रीकृष्णं मोहयितुं प्रवर्तितया वञ्चनात्मिकया चेष्टया ॥ ४४ ॥ भगवन्तं मोहयन् स्वयं मोहितोऽभूदत्र किं चित्रं महात्मानं जनमपि मोहयन्मोहितो जनो भवतीत्याह—तम्यामिति । तम्यां तमिस्रायां रात्र्यां नैहारं हिमकणभवं तमो वत्तम इव यथा तत्तस्यामकिञ्चित्करं भवति प्रत्युत तत्रैव विलीयते तमोवदित्यार्षं पदम् "पदार्थः पदार्थेनाऽन्वेति नतु पदार्थैकदेशेन तद्धितार्थोपसर्जनेन तमसाऽन्वयासम्भवात् खद्योतार्चिः अहनीव अहनि खद्योतार्चिर्यथा अकिञ्चित्करं भवति प्रत्युत तत्रैव विलीयते, तथा महति आत्मनि महात्मनि इतरा तदितरकृता माया अकिञ्चित्करो भवति प्रत्युत युजतः ऐश्वर्यं बहुज्ञतां हन्ति तमेव विमोहयतीत्यर्थः ॥ ४५ ॥ अन्यदप्याश्चर्यमाह—तावदिति नवभिः । तावदेव अजस्य चतुराननस्य पश्यतः वत्साः पालाश्च सर्वे यष्टिविषाणादयश्च घनश्यामाः व्यदृश्यन्त ॥ ४६-४७ ॥ श्रीवत्सकान्तियुक्तान्यङ्गदानि दोःषु येषां रत्नमयानि कम्बुवत्त्रिधाराणि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च तथा ॥ ४८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

दृष्ट्वा चैवं व्यतर्कयदित्याह यावन्त इति द्वाभ्याम् । मे मायाशये मन्मायाशय्यायाम् ॥४१॥ त एव हरिणा किमिहानीता इति विभाव्य किञ्चिद् दूरात्तान् आलोच्याह इतः प्रदेशादत्र किञ्चिद्दूरे मन्मायामोहिता एते सन्त्येव तेभ्य इतरे तावन्त एते विष्णुना समं क्रीडन्तः कुत्रत्याः ॥ ४२ ॥ अथ विरिञ्चस्य विशिष्टं मोहमाह—एवमिति । किमिहैता प्रकृतास्तत्र ते कृष्णेन निर्मिताः किन्वैत एव ते न निर्मितास्तत्र ते प्रकृताः किं वोभयेपि तेन रचिताः मन्नीताः प्रकृतास्तु तेनान्यत्र क्वापि चालिता इत्येवमेतेषु भेदेषु विशेषेषु "भेदा द्वैधे विशेषे स्या" दिति मेदिनी । चिरं ध्यात्वा दत्तदृष्टिः सन्निभाल्य सत्याः प्रकृताः के ? कतरे च नेति तेन कुहकिनैव रचिताः के वेत्यर्थः । इति कथञ्चन केनापि प्रकारेण संशयज्ञानेनापि ज्ञातुं नेष्टे न शशाक किन्तु विमोहितोऽभूदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ स्फुटयति एवं वत्सतत्पालचौर्येण विष्णुं नन्दार्भकं मोहयन् अजो विरिञ्चोऽपि स्वयैव मायया तस्मिन् प्रयुक्तया हेतुना तत्प्रयोगापराधेन कारणेन विष्णोस्तस्य मायया विशेषेणैव मोहितः न च स्वमाययैव स्वयं विमोहित इति व्याख्येयं, मायायाः स्वाश्रयाव्यामोहकत्वात् परपद्योक्तदृष्टान्तविरोधाच्च । कीदृशमित्याह विमोहं विगतो मोहो यस्मात्तं मायानिवर्त्तकं ज्ञानपदं विश्वेषां स्वेतरेषां सर्वेषां विमोहनं योगया त्रिगुणया च यथायथं मोहकरमित्यर्थः ॥ ४४ ॥ महामायिनि हरौ तदन्यमाया न प्रभवति किन्तु स्वाश्रयमेव तिरस्करोति इति दृष्टान्ताभ्यामाह तम्यां तमिस्रायां निशि नैहारं तमोवत् इवार्थेऽत्र वच्छब्दः "इव वद्वा च सादृश्ये" इत्युक्तेः । हिमकणप्रभवं तमो यथा तमीमावरीतुमसमर्थं तत्तमो निविड़यन्निहारमेव तिरस्करोति तथा विरिञ्च-माया हरिं मोहयितुमसमर्था तस्यैश्वर्यमेव वर्द्धयन्ती विरिञ्चमेव तिरस्करोतीत्यस्मिन् दृष्टान्ते तन्मायाया हेतुत्वमस्तीत्यसतोषाद्दृष्टान्तान्तरमाह—खद्योतप्रयुक्तार्चिर्यथा अह्नि पृथक् प्रकाशं न करोतीति किन्तु तत्रैव विलीयते खद्योतस्तु भ्रष्टतेजाः प्रतीयते तथा महति पुरुषे युञ्जतः पुंस इतरा तुच्छा माया आत्मनि स्थितमैश्वर्यं निहन्तीति विरिञ्चस्य माया विनष्टा स च भ्रष्टतेजा अभूदिति भावः ॥ ४५ ॥ सापराधेऽपि विरिञ्चभृत्यत्वात् कृपैव नन्दार्भकस्यासीदित्याह तावदिति यावदेवं विचारयन् विमुह्यति स्मेत्यर्थः । वत्सास्तत्पालाश्च सर्वे घनश्यामादिलक्षणा व्यदृश्यन्त कर्मकर्त्तरि प्रयोगः, स्वप्रकाशत्वात् स्वयमेव दृष्टिगोचरा अभूवन् । पश्यतोऽजस्येत्यनादरे षष्ठी, भो सत्यलोकनिवासिन् अज ! त्वमनयेव बुद्धया विश्वं सृजसि स्वामिन्यपि नन्दार्भके मायां तनोषि तदंशानप्यस्मान् वृन्दाटवी निवासिनः कथञ्चिदपि ज्ञातुं नेष्टे ! पश्यास्माकं महैश्वर्याण्यस्माभिरेव दर्शितानीति ॥ ४६-४७ ॥ श्रीः लक्ष्मीरेखा तद्वन्ति वत्सानि वक्षांसि येषां अङ्गदवन्तो दोषो भुजा येषां रत्नं कौस्तुभस्तद्वन्तः कम्बवस्तत्तुल्याः कण्ठा येषां कङ्कणानि हस्त सूत्राणि च तद्वन्तः पाणयो येषां "कम्बुः स्याद् वलये शङ्खे" इति नानार्थवर्गात् "कङ्कणं करभूषण"मिति नृवर्गात् । कटकैः पादवलयैः ॥ ४८ ॥

श्रीसुबोधिनी

आगतस्य दृष्टवतो विचारमाह यावन्त इतिद्वाभ्यां, गोकुले यावन्तो बाला वत्साश्च ते सर्वे इतो मया नीता मायामये लोके मया स्थापिताः शयाना एव तिष्ठन्त्यद्यापि पुनर्नोत्थिताः ॥४१॥ एते चात्र पुनर्दृश्यन्त इत एवैते उत्पन्ना उद्भूता वा भवितुमर्हन्ति न तु तत आगन्तुं, अन्यथात्र कुत्रत्याः ? वैलक्षण्यं च दृश्यत इत्याह मन्मायामोहितेभ्य इतर एते आश्चर्यं च तावन्त एव

तत्रैव स्थाने तद्रूपा एव, **विष्णुना सममब्दं क्रीडन्त एते कुत्रत्या** इतिसम्बन्धः ॥ ४२ ॥ अत्र ब्रह्मण उभयथाबुद्धिः किं भगवन्माया तदानीमेव निर्मिता बाला मयानीता आहोस्वित् सत्या एवेत्येते वा सत्या निर्मिता वेतियुक्तिभिरनुचिन्तने क्रियमाणे निर्धारो जात इत्याहैवमिति, एतेषु बालेषूभयविधेषु **चिरं ध्यात्वाप्यात्मभूरपि के सत्याः कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे** न समर्थो जातः कथञ्चन युक्त्यापि ॥४३॥ तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाहैवमिति, विष्णुं **विमोहयन्** विष्णुविमोहार्थं प्रवृत्तः **स्वयमेव विमोहितो** जातः तत्र हेतुर्विमोहं **विश्वमोहनमिति**, भगवान् स्वयं मोहरहितोन्यांश्च विमोहयति, अतो भगवता मोहितोपि **स्वयमेव मायया**ऽपि **स्वयमेव विमोहितः** ॥ ४४ ॥ तद् युक्तमेवेत्याह **तम्यामिति**, तमिस्रा रात्रिस्तमी तस्यां **नैहारतमोवत्** लोकस्य व्यामोहार्थं नीहारादप्यन्धकारो जायते स चेद् रात्रौ भवेत् सोपि न दृश्येत, लोकानामदर्शनं त्वन्यथैव सिद्धमतो महामायायुक्ते भगवत्यन्या माया स्वपदमेव न प्राप्नोति किं पुनः कार्यं प्राप्स्यति ? एवं मोहकसाधर्म्येण ब्रह्ममायाया अप्रयोजकत्वमुक्त्वा भगवदग्रे ब्रह्मणोप्यप्रयोजकत्वमाह **खद्योतार्चिरिवाहनीति**, अहनि **खद्योतार्चिः** स्वयमपि न प्रकाशते कुतो घटादीन् प्रकाशयिष्यति ? दूरे सूर्यप्रकाशनादत्र एव **महतीतरस्य माया** वैश्यमीशत्वं वा **युञ्जतः** पुरुषस्य महतो **मायैश्यं प्रयञ्जतो** मायामैश्यं च **निहन्तीत्यर्थः** ॥ ४५ ॥ एवं चिन्ताकुलिते ब्रह्माणि भगवान् स्वरूपं प्रदर्शितवानित्याह **तावदिति**, यावदयं विचारयति **तावत् पश्यत एवाजस्य** सततस्तत्क्षणादेव **सर्वे वत्सा पालाश्च घनश्यामा व्यदृश्यन्त** नीलमेघश्यामा भाता ब्रह्मणा वा दृष्टा सर्वे च **पीतपट्टाम्बरधारिणः** ॥ ४६ ॥ **चतुर्भुजाः** यस्य यस्य धर्मस्य प्राकट्यार्थं यादृशो वैकुण्ठमूर्तिस्तादृशा एत इति भुजादयो निरूप्यन्ते, चत्वारो **भुजाः** प्रत्येकं येषां शङ्खचक्रगदाराजीवानि प्रत्येकं **पाणिषु** येषां, **राजीवं** कमलं, सर्वे **किरीटिनः** किरीटाभरणयुक्ताः **कुण्डलाभरणयुक्ता** मुक्ताहारयुक्ता **वनमालायुक्ताश्च** ॥ ४७ ॥ सारूप्यं गतानामप्येतद् भवतीत्यसाधारणाग् छ्रीवत्सादिधर्मानाह, **श्रीवत्सो** दक्षिणावर्तरोमरेखा अङ्गदं वाहुवलयं, **दोरत्नानि** दोषां वाहूनां रत्नानि वाहव एव वा रत्नानि, **कम्बुसदृशानि कङ्कणानि**, एतत्सहिताः प्रत्येकं पाणयो येषां, नुपूरैश्चरणाभरणैः **कटकैर्हस्ताभरणैश्च भाताः कटिसूत्रैर्णाङ्गुलीयकैश्च भाताः** ॥ ४८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दृष्ट्वा च तर्कितवांस्तदाह—यावन्त इति । गोकुले यावन्तो बालास्ते सर्वे एव सवत्सा 'अतः स्थानान्मयाऽन्यत्र नीता' इति शेषः । हि निश्चितम् अत्र सन्देहो नास्ति । ते मे मायापाशे शयाना मन्मायामोहिताः अद्यापि पुनर्नोत्थिताः न सावधाना जाताः ॥ ४१ ॥ अतो मन्मायामोहितेभ्यः इतरे तावन्त एव, तत्रापि आब्दं वर्षपर्यन्तं विष्णुना समं कृष्णेन सह क्रीडन्तोऽत्र एते कुत्रत्याः कुत आगता इत्यन्वयः ॥ ४२ ॥ 'एवं वितर्कयन् स्वयमेव मोहं प्राप्त' इत्याह—एवमिति द्वयेन । एतेषु बालवत्सादिभेदेषु उभयविधेषु एवं चिरं ध्यात्वाऽपि स सकलजगत्स्रष्टृत्वेन प्रसिद्धोऽपि आत्मभूः आत्मनो भगवतो भवतीति तथा तत्पुत्रोऽपि ब्रह्मा "सत्याः पूर्वसिद्धाः के ? मया नीतास्ते चात्रत्या वा । कतरे न ? इदानीं सृष्टाः के ये मया नीतास्ते वा अत्रत्या वा" इति ज्ञातुं निश्चेतुं कथञ्चनापि नेष्टे न शशाक ॥ ४३ ॥ एवं विष्णुं सम्मोहयन् सम्मोहितुं प्रवृत्तोऽजो ब्रह्माऽपि स्वयैव मायया स्वयमेव विमोहितः । तत्र हेतुद्वयमाह—विमोहमिति । सर्वदा मोहरहितमित्यर्थः । विश्वमोहनं चेति ॥४४॥ ननु 'ब्रह्मणो माया स्वाश्रयस्य तस्यैव कथं व्यामोहिका जाता ?' इत्याशङ्क्य 'युक्तं चैतत्' इति सदृष्टान्तमाह—तम्यामिति । तमिस्रा रात्रिस्तमी, तस्यां नैहारं नीहारकणप्रभवं तमोवत् तद्यथा दिवसे प्रभवति चेत्तदा लोकव्यामोहं करोति; रात्रौ तु रात्रितमसा सह घनीभूय स्वाश्रयनीहारमेवाच्छादयति, लोकावरणं तु रात्रितमसैव सिद्धम् । अतो न तत्र किञ्चिदपि कर्तुं शक्नोति । यथा वा खद्योतस्यार्चिः प्रभा रात्रौ प्रकाशं कुर्वन्त्यपि दिवसे तु पृथगुद्भवितुमेव न शक्नोति, किन्तु सौर्यां प्रभायां लीना सती प्रत्युत स्वाश्रयं खद्योतमेव अदृश्यं ज्ञापयति । एवं महति पुरुषे स्वमायां युञ्जतो निकृष्टस्य पुंसः इतरा नीचा माया तत्र न किञ्चित् कर्तुं शक्नोति, प्रत्युतान्यमायाविन्येव ऐश्वर्यं विद्यमानं सामर्थ्यं निहन्ति । प्रह्लादाम्बरीषादौ मायाप्रयोक्तुर्हिरण्यकशिपुदुर्वासःप्रभृतेस्तथैव दर्शनात् । तथाच मायाविनामपि मायिनि श्रीकृष्णे प्रयुक्ता ब्रह्ममाया तत्र किं कुर्यात् ? कथं वा ब्रह्मणस्तिरस्कारं न कुर्यादिति भावः ॥४५॥ 'एवं चिन्ताकुलिते ब्रह्मणि भगवान् स्वरूपं प्रदर्शितवान्' इत्याह—तावदिति । यावदयं विचारयति, तावदेवास्य ब्रह्मणः पश्यत एव सतस्तत्क्षणमविलम्बेनैव वत्साः पालाश्च सर्वे यष्टिवेण्वादयश्च भगवद्रूपा व्यदृश्यन्त, तद्वर्णयति—घनवच्छ्यामाः, । पीते कौशेये वाससी येषां ते ॥ ४६ ॥ 'व्यदृश्यन्त' इत्यस्यैव क्रियापदस्याग्रेष्वपि श्लोकेषु सम्बन्धः । प्रत्येकं चत्वारो भुजा येषां ते । शङ्खादीनि प्रत्येकं पाणिषु येषां ते, तत्र राजीवं कमलम् । ते सर्वे किरीटिनः किरीटाभरणयुक्ताः । एवमग्रेऽपि ॥ ४७ ॥ श्रीवत्सो वक्षसि दक्षिणावर्तरोमरेखाविशेषः, तत्प्रभायुक्तान्यङ्गदानि दोःषु येषां ते । रत्नमयानि कम्बुवत्त्रिधाराणि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च । तथा नूपुरादिभिराभाताः शोभमानाः ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

यावन्त इति ॥ गोकुले यावन्तो बालास्ते सर्वे एव सवत्साः अतः स्थानान्मयाऽन्यत्र नीता इति शेषः । हि निश्चितम् अत्र सन्देहो नास्ति । ते मे मायारूपे शये शय्यायां शयाना मन्मायामोहिताः अद्यापि पुनर्नोत्थिताः न सावधाना जाताः ॥ ४१ ॥ [illegible] इति ॥ अतो मन्मायामोहितेभ्यः इतरे तावन्त एव तत्रापि आब्दं वर्षपर्यन्तं विष्णुना समं कृष्णेन सह क्रीडन्तोऽत्र एते कुत्रत्याः

कुत आगताः ॥ ४२ ॥ एवमिति ॥ एतेषु बालवत्सादिषु भेदेषु एवं चिरं ध्यात्वाऽपि स आत्मभूर्ब्रह्मा सत्याः पूर्वसिद्धाः के मया नीतास्ते वाऽत्रत्या वा कतरे इदानीं सृष्टाः के ये मया नीतास्ते वा अत्रत्या वा इति ज्ञातुं निश्चेतुं कथंचनापि नेष्टे न शशाक॥४३॥ एवमिति ॥ एवं विमोहं सर्वदा मोहरहितं विश्वमोहनं च विष्णुं संमोहयन् संमोहयितुं प्रवृत्तोऽजो ब्रह्मापि स्वयैव मायया स्वयमेव विष्णौ प्रयुक्तया हेतुना स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥ ब्रह्मणो माया स्वाश्रयं ब्रह्माणमेव कथं मोहितवतीत्यत्र आह-तम्यामिति ॥ महामायाविनि भगवत्यन्यमायाया आवरणविक्षेपकत्वाभावे स्वाश्रयतिरस्कारे च दृष्टान्तद्वयमिदम् । तम्यां तमिस्रायां रात्रौ नैहारं हिमप्रभवं तमोवत् तद्यथा तमीं नावृणोति किंतु तत्र लीनं सत् उत्तमः सान्द्रीकृत्य तेन स्वयमेव वृतं भवति यथा च खद्योतार्चिः अहनि इव अह्नः स्थितं सूर्यविषयं तस्य सूर्यस्यार्चिः प्रकाशयितुं न शक्तं किंतु तेनैव प्रतिहतप्रभं सञ्जायते तद्वन्महति मायां युञ्जतः पुंसः स्वा इतरा नीचा माया तत्र न किंचित् करोति । किंतु आत्मनि स्वाश्रये यदैश्यं तदेव निहन्ति । तद्धितोपसर्जनस्य तमसो नैहारमिति विशेषणं छान्दसम् इति स्वामिपादाः । परे तु अव्ययमपि वच्छब्दोऽस्ति । "इववद्वा च सादृश्ये" इति कोशात् । तेन तम इवेत्यर्थः । एतेन प्रातिपदिकेषु तद्धितस्य वतेः पाठो नोचित इत्यादि मनोरमोक्तं प्रत्युक्तमिति प्राहुः ॥ ४५ ॥ तावदिति ॥ यावदयं विचारयति तावदेवाजस्य ब्रह्मणः पश्यत एव सतस्तत्क्षणान् अविलम्बेनैव वत्साः पालाश्च सर्वे घना इव श्यामाः पीते कौशेये वाससी येषां ते तथा भगवद्रूपा ब्रह्मणा व्यदृश्यन्त इति सर्वत्रान्वेति ॥ ४६ ॥ चतुरिति ॥ प्रत्येकं चत्वारो भुजा येषां ते शङ्खादीनि प्रत्येकं पाणिषु येषां ते तत्र राजीवं कमलं ते सर्वे किरीटिनः कुण्डलिनः हारिण. वनमालिनश्चेति ॥ ४७ ॥ श्रीति ॥ श्रीवत्सो दक्षिणस्तनोर्ध्वं रोम्णामावर्तो लक्ष्मविशेषः तत्प्रभायुक्तान्यङ्गदानि दोःषु येषाम् । यद्वा । श्रीयुक्तं वत्सं वक्षो येषाम् "उरो वत्सं च वक्षश्च" इत्यमरः । अङ्गदानि दोःषु येषां रत्नमयानि कम्बुवत्त्रिधाराणि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च ते च तथा नूपुरैः कटकैः पादवलयैः पारिशेष्यात् कटिसूत्रैः अङ्गुलीयकैश्च भाताः शोभिताः ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

मायाशये मन्मायारूपशय्यायाम् ॥ ४१ ॥ इत एभ्यो मन्मायामोहितेभ्य इतरे तत्र व्रजे ॥ ४२ ॥ ज्ञातुं न ईष्टे न समर्थोऽस्ति ॥ ४३ ॥ विमोहं मोहवर्जितम् ॥ ४४ ॥ मायाविनः सृष्टिकर्तुस्तस्य कथं मोह इत्याशंक्याह तम्यामिति महति आत्मनि महापुरुष पुरुषे प्रेरिता ईतरसाया इतरस्य कनीयसोनरस्य माया ऐश्वर्यकलाकौशल्यं युंजतः मायाप्रेरकनरस्य ऐश्यं सामर्थं हंति तत्र दृष्टांतो यथा अहनि सूर्यप्रकाशरूपे दिवसे प्रकाशिता खद्योतस्य अर्चिः दीप्तिः लीना सती खद्योतसामर्थ्यं हंति लीना भवतीत्यर्थः. यथा तस्यां गाढतमोमय्यां रात्रो नैहारं हिमकणिकोद्भवं तमः स्वसामर्थ्यं त्यजति लीनतया अवतिष्ठते । इत्यर्थः गौणस्यापि तमसो नैहारमिति विशेषणमार्षं तद्वत् महामायिनि श्रीकृष्णे अल्पमायावतो विधेः माया स्वसामर्थ्यं पराभवजनकत्वे न स्वस्यैव मोहिनी-त्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥ सांप्रतमन्यदप्यद्भुतत्वमाह नवभिः तावदिति वत्साः पालाः वत्सपाश्च अजस्य विधेः ॥ ४६ ॥ राजीवं पद्मं वनमालिनः वनपुष्पमालायुक्ताः ॥ ४७ ॥ श्रीवत्सप्रभायुक्तानि अंगदानि बाह्याभरणानि दोःषु करेषु येषां रत्नमयानि कंबुः शंख-स्तद्वत् वर्त्तुलानिकं कणानि पाणिषु मणिबंधेषु येषां ते च ते च कटकैः पादकटकैः भाताः शोभमानाः ॥ ४८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चिन्तामेवाह द्वाभ्याम् ॥ किमेतदिति ॥ यथा पुरेति शेषः । अखिलात्मनि, वासुदेवे श्रीकृष्णे, व्रजस्य प्रेम, अपूर्वं आसीत् । तथैव, तोकेष्वेतेषु व्रजवासिबालकेषु, सात्मनो मत्सहितस्य व्रजस्य, प्रेम वर्द्धते । एतत् अद्भुतं इव, अस्ति । अत्र किं किं कारणम् ॥ ४१ ॥ यद्युच्यते मायया मोह उत्पद्यते तर्हि सा लोके त्रिविधा भवति तत्रेयं का स्यादित्याह ॥ केयमिति ॥ इयं माया का किंस्वरूपा स्यात् । दैवी देवप्रयुक्ता स्यात् । वाऽथवा, नारी नरप्रयुक्ता स्यात् । वा यद्वा । आसुरी असुरप्रयुक्ता स्यात् । कुतः कस्मात् स्थानात्, आयाता भवेत् । तिसृणामप्यासामत्रासंभवान्मम त्वेवं भातीत्याह । मे भर्तुः उत मन्नाथस्य श्रीकृष्णस्यैव, प्रायः प्रायशः, इयं माया । नु निश्चितमेव । अस्तु इति पाठे मद्भ्रातुरेवास्त्वित्यर्थः । अन्या चेत्, मे ममापि, विमोहिनी न स्यात् । अन्या मायाऽन्येषां विमोहकर्त्री सत्यपि मन्मोहकर्त्री न स्यादित्यर्थः । मायाशब्दोऽत्राश्चर्यशक्तिपरः ॥ ४२ ॥ इतीति ॥ इत्येवं, संचिन्त्य, दाशार्हः स रामः, वयुनेन दिव्यज्ञानरूपेण चक्षुषा, सर्वान् वत्सान्, सवयसान् वत्सपांश्चापि, वैकुण्ठं, आचष्ट । श्रीकृष्ण-मेवापश्यदित्यर्थः ॥ ४३ ॥ एवं श्रीकृष्णरूपेण सामान्यतो ज्ञात्वा श्रीकृष्णं पृष्ट्वा तदुपदेशेन विशेषतो ज्ञातवानित्याह ॥ नैत इति ॥ एते सुरेशा देवाः न, एते ऋषयो न वा, ऋषयोऽपि नैव भवन्तीत्यर्थः । भिदाश्रये अपि, वत्सवत्सपादिभेदे सत्यपि, हे ईश, त्वं एव भासि । अतः, त्वं सर्वं पृथक् विविच्य, कथं वृत्तम् । पृथक् विवेचनां प्राप्य सर्वरूपेण त्वयैव कथं वर्त्यते स्मेत्यर्थः । वद, इति उक्तेन बलभद्रपृष्टेन, प्रभुणा श्रीकृष्णेन वक्त्रा, निगमात् संक्षेपतः एव, उक्तं, बलो बलभद्रः, अवैत् विदितवान् । अयमर्थः । पाल्यमाना वत्सास्तावदृषीणामंशाः, वत्सपाश्च देवानामंशा इति तावदहं वेद्मीदानीं तु न तथा, किं त्वस्मिन् भेदे सत्यपि मम तु त्वमेव प्रतीयसेऽतः पृच्छाम्येकेन त्वयैवमनेकविधता कथमुपात्तेति बलेनोक्ते तद्वृत्तं कृष्णेन संक्षेपत उक्तं तदा स तत्कारणमवैदिति ॥४४॥ ततः किं वृत्तं तत्राह ॥ तावदिति ॥ तावत्तावता कालेन मानुषमानेन वर्षे गते सतीत्यर्थः । आत्मभूर्ब्रह्मा, आत्ममानेन त्रुट्य-नेहसा स्वमानेन त्रुटिमात्रेण कालेन, एत्य आगत्य, पुरोवत् पूर्ववत्, आब्दमब्दपर्यन्तं, क्रीडन्तं सकलं सानुचरं, हरिं श्रीकृष्णं,

ददृशे । क्वचित्तु 'सरामं ददृशे हरिम्' इत्यपि पाठोऽस्ति ॥ ४५ ॥ दृष्ट्वा च व्यतर्कयदित्याह द्वाभ्याम् ॥ यावन्त इति ॥ गोकुले, यावन्तः सवत्साः बालाः, गोकुले यावत्संख्याका वत्सा वत्सपाश्चासन्नित्यर्थः । सर्वे एव ते सर्वेऽपीत्यर्थः । मे मम, मायाशये मायामये तल्पे, शयानाः सन्तः, अद्यापि, पुनः न उत्थिताः हि ॥ ४६ ॥ इत इति ॥ अतः, मम या माया तया ये मोहितास्तेभ्य इतरेऽन्ये, इतः व्रजन्तः एते तावन्तः एव, अत्र विष्णुना समं, आब्दं वर्षपर्यन्तं, क्रीडन्तः, दृश्यन्ते । अतः तत्र मया यत्र स्थापितास्तस्मिन्स्थाने, कुत्रत्याः स्युः ॥ ४७ ॥ इति वितर्कयन् मुमोहेत्याह द्वाभ्याम् ॥ एवमिति ॥ एवमित्थं, एतेषु भेदेषु वत्सवत्सपादिरूपभेदेषु, दृष्टिं प्रसारयन्निति शेषः । स संप्राप्तमोहः, आत्मभूर्ब्रह्मा, चिरं ध्यात्वा, सत्याः, के, कतरे न सत्याः, इत्येवं ज्ञातुं, कथंचन केनापि प्रकारेण, न ईष्टे । उभयेषु मध्ये सत्यासत्यविवेकं न प्रापेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सत्याः के इति १०.१३.४३.

इमे वेमे सत्याः स पशुपशुपा इत्ययमभूद् भ्रमो धातुः पूर्वं तदनु किमिमे वाऽथ किमहम् ।
विलोक्याजोपास्यान् पृथगिह रमेशानिति मतिः ततोऽयं को वेत्याकलितमवनावेकमखिलम् ॥ ७६ ॥
एवमेव प्रपञ्चोऽपि विचाराचिन्तितो यदि । तदा सदाऽद्वैतरूपापरोक्षमिति लक्ष्यताम् ॥ ७७ ॥ (युग्मम्)
पूर्वं वत्सप वत्सरूपधृदथो साजाश्चतुर्बाहवः सर्वेऽपीत्यलमेक इत्यनुपदं त्रेधाऽऽत्मसंदर्शनात् ।
आत्माऽसङ्गयकलस्त्र्यवस्थितिजगत्साक्षीति विज्ञापितो मन्ये तत्त्वविचारदृष्टिविधिरप्यस्मै च लोकाय च ॥ ७८ ॥

कृष्णप्रिया

यहाँ देखकर ब्रह्माजी चिन्तित हुए कि गोकुल के सम्पूर्ण गोपबालक और बछड़े तो मेरी मायामयी शय्या में निद्राधीन है वे अब तक फिर उठे नहीं तो ये सब कैसे ॥ ४१ ॥ मैंने माया शैय्या में मोहित किये हुए बालक और बछड़ों के अतिरिक्त कृष्ण के साथ खेलने वाले ये गोपबाल और बछड़े कहाँ से आ टपके जो ठीक उतने ही हैं और उसी स्थल में श्रीकृष्ण के साथ एक वर्ष से खेल रहे हैं ! ॥ ४२ ॥ ब्रह्माजी यही विचार रहें है कि क्या भगवान् की माया ने उसी समय बनाये हुवे बालकों और वत्सोंको मैं ले गया या तो मूल सत्य थे उनको ले गया अथवा क्या ये ही सत्य है या तो जो व्रज में खेलतें है वे ? ऐसी युक्तियों से चिन्तन करने पर भी कौन असली और कौन नकली यह निर्णय कर नहीं पाये ॥४३॥ सर्वदा मोह से पर, विश्व के मोहक, भगवान् श्री कृष्ण को संमोहित करने के लिये सक्रिय बने हुए खूद ब्रह्माजी जो अजन्मा है तो अपनी माया के प्रभाव से भगवान् को तो मोहित न कर सके किन्तु स्वयं मोहित हो गये ॥ ४४ ॥ सचमुच जैसे अपने सामर्थ्य को बताने की चेष्टा करने वाला कुहरा रात्री के घोर अन्धकार में स्वयं ही लीन हो जाता है और दिन के प्रकाश में प्रकाश बढाने की चेष्टा करने वाला तारागण अथवा तो जुगनू स्वयं दीन श्रीहत बन जाता है वैसे ही महत्पुरुष पर माया-और सामर्थ्य का प्रयोग करने वाले को तुच्छ माया कुछ नहीं कर पाती बल्कि अपने आश्रय में रहने वाली ईशता को ही नष्ट कर देती है ॥ ४५ ॥ ब्रह्माजी तो उधड़ बुन में पड़े हुए थे कि इतने में खूद के देखते देखते क्षण में ही सारे वत्सपाल-बालक और बछड़े जलधर श्याम पीताम्बर पहने दीखने लगे ॥ ४६ ॥ उनकी चार भुजाएँ थी सब के सब चतुर्भुज, चारों हस्तों में शंख-चक्र-गदा-पद्म-धारण किये हुए, मस्तक पर मुकुट, कर्णों में कर्णफूल वक्षः स्थल में मनोहर हार, पादलम्बिनी वनमाला धारण किये हुए थे ॥ ४७ ॥ वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न सुनहरी वर्तुला रोमरेखा, बाहुओं में बाजूबन्ध-अङ्गद बिजायत, बाहुओं में रत्न अथवा बाहुओं ही रत्न, कलाइयों में त्रिरेख शङ्ख जैसे कङ्कण, चरणों में नूपुर करों में कड़े, कमर में करधनी, अङ्गुलीओं में अँगूठियाँ जगमगा रही थी ॥ ४८ ॥

आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः । कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥
चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः । स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः ॥ ५० ॥
आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः । नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥
अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः । चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परीता महदादिभिः ॥ ५२ ॥
कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः । स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥ ५३ ॥
सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः । अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥ ५४ ॥
एवं सकृद् ददर्शाजः परब्रह्मात्म[1]नोऽखिलान् । यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५ ॥
ततोऽतिकुतुकोद्वृत्य[2]स्तिमितैकादशेन्द्रियः । तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥

---

१. ब्रह्मात्मना–विज. त. पु. । २. वृत्त–गो. प्रे. पु. ; वृत्य–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सर्वगात्रेषु भूरि पुण्यवदर्पितैः कोमलैः तुलसीवनदामभिः आङ्घ्रिमस्तकं आपूर्णाः, चन्द्रिकाविशदस्मेरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः रजःसत्वाभ्यां इव स्वकार्थानां स्रष्टृपालकाः आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैः चराचरैः मूर्तिमद्भिः नृत्यगीतादि अनेकार्हैः पृथक् पृथक् उपासिताः ॥ ४९-५१ ॥ अणिमाद्यैः महिमभिः अजादिभिः विभूतिभिः महदादिभिः चतुर्विंशतिभिः तत्त्वैः परीता ॥ ५२ ॥ मूर्तिमद्भिः स्वमहि ध्वस्त महिभिः कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः उपासिताः ॥ ५३ ॥ उपनिषद्दृशां अपि हि अस्पृष्टभूरिमाहात्म्याः सर्वे वत्सपालाः व्यदृश्यन्त ॥ ५४ ॥ अजः अखिलान् आत्मनः यस्य भासा इदं सर्वं सचराचरं विभाति तत् परब्रह्म एवं सकृद् ददर्श ॥ ५५ ॥ ततः अतिकुतुकोद्वृत्यस्तिमितैकादशेन्द्रियः अजः तद्धाम्ना पूर्देव्यन्ती पुत्रिका इव तूष्णीं अभूत् ॥ ५६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तथा भूरिपुण्यं भूरि बहुजन्मार्जितं पुण्यं तद्युक्तैर्जनैरर्पितैः ॥ ४९ ॥ चंद्रिकाविशदस्मितयुक्तैः सहारुणगुणेन च वर्तमाना येऽपांगास्तैर्वीक्षितैः । स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां रजःसत्वाभ्यां स्रष्टृपालका इव व्यदृश्यंत । सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव । रजोवदरुणगुणेन च स्रष्टार इव । तादृक्कटाक्षैर्द्योतमाना इत्यर्थः ॥ ५० ॥ आत्मा ब्रह्मा तदादिस्तंबपर्यंतैः । अनेकार्हैरनेकार्हणैः ॥ ५१ ॥ अजाद्याभिर्मायाविद्यादिभिर्विभूतिभिः शक्तिभिः । महदादिभिरिति । महत्सूत्रयोः पृथक्त्वविवक्षया चतुर्विंशतितत्त्वैर्जगत्कारणैः ॥ ५२ ॥ कालादिभिश्च तत्सहकारिभिः । तत्र कालः क्षोभकः । स्वभावः परिणामहेतुः । संस्कारो वासनाया उद्बोधकः । स्वमहिध्वस्तमहिभिर्भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातंत्र्यैरुक्तैः सर्वैरणिमाद्यैः ॥ ५३ ॥ सर्वेषां मूर्तिमत्त्वेऽपि विशेषमाह । सत्यज्ञानेति । सत्याश्च ज्ञानरूपाश्चानन्ताश्चनंदरूपाश्च तत्रापि तदेकमात्रा विजातीयसंभेदरहितास्तत्रापि चैकरसाः सदैकरूपा मूर्तयो येषां ते । यद्वा सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद्ब्रह्म तदेव मूर्तयो येषां ते इति । अत एवोपनिषदात्मज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि हि निश्चितमस्पृष्टभूरिमाहात्म्या न स्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषां ते तथाभूताः संतो व्यदृश्यंतेति ॥ ५४ ॥ एवं सकृदेकदैव ददर्श । परब्रह्मणो विशेषणं यस्येति ॥ ५५ ॥ अतिकुतुकेनाश्चर्येणोद्वृत्य दृष्टीः परावृत्य हंसपृष्ठे निपत्येति वा । कुतुकशब्दे तृतीयायाश्छंदसो लुक् । यद्वा उद्वृत्यः इति छेदः । अतिकुतुकेन उद्वृत्यो विचाल्यो विलोड्यो विपर्यस्तः स्वस्मिन्निति यावत् । पाठांतरे त्वतिकुतुकेनोद्वृत्तः क्षुभितः तेषां धाम्ना तेजसा स्तब्धसर्वेंद्रियो ब्रह्मा तूष्णीमभवन्निश्चलोऽभवत् । अत्र दृष्टांतः । पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता तस्या अंति समीपे पुत्तिका चतुर्मुखी कृतकप्रतिमेव ॥ ५६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भूरिपुण्यानि नारायणकीर्तनादीनि, तद्वद्भिर्भक्तसहस्रैर्णार्पितैः । तुलसीनवदामभिर्वनमालाभिरित्यर्थः । तुलस्या उपलक्षणत्वात्, "तुलसीकुंदमंदारकरवीरसरोरुहैः । पंचभी रचिता माला वनमाला प्रकीर्तिता ॥" इति लक्षणात् । अंघ्री च मस्तकं चांघ्रिमस्तकम् । तदभिव्याप्येत्यर्थः । आङ्योगे द्वितीया । अनेन "पत्रपुष्पमयी माला या स्यादामस्तकात्पुनः । आपादं लंबमाना सा वनमाला प्रकीर्तिता ॥" इति द्वितीयलक्षणमपि वनमालाया अत्र संपन्नम् ॥ ४९ ॥ चंद्रिकाविशदस्मितयुक्तैः कौमुदीधवलेषद्धासयुतैः । अपांगाः कटाक्षाः "अपांगो ह्यंगहीने स्यात्कटाक्षे विष्णुरक्षिते" इति यादवः । इत्यर्थं इति—द्योतमाना इति पदशेषेणायमर्थः शोभनो भवतीति भावः ॥ ५० ॥ स्तंबः स्कंधहीनवृक्षस्तृणसमूहो वा "स्तंबोऽप्रकांडद्रुगुच्छतृणकीचकगह्वरे" इति धरणिः । एकैकस्याग्रे भिन्नभिन्नब्रह्मरुद्रादयो देवास्सर्वे स्थावरजंगमाश्च स्वस्वमूर्तिभेदैः स्तुवंतीति भावः ॥ ५१ ॥ आदिपदात् श्रीकीर्तिपुष्टिकांतिगिरादयो ज्ञेयाः । महिमभिः सिद्धिभिः । अणिमाद्यैरत्राप्यादिपदान्महिमगरिमादयो ज्ञेयाः ॥ ५२ ॥ कामो वासना । कर्म अदृष्टम् । गुणाः सत्त्वादयः ॥ ५३ ॥ विशेषं ब्रह्मादिभ्यो भेदम् । तत्रापि सत्यादिरूपत्वेपि । विजातीयभेदो घटात्पटस्य तद्वन्न किन्त्वेकजातीया एवेति । तत्राप्येकजातीयत्वेपि । किञ्च सति ज्ञाने स्वरूपावाप्त्या जीवा अपि सत्यज्ञानानंतादिरूपा जायंतेऽतस्तेषु जीवविशेषशंकामपानुदन्नर्थान्तरमाह—यद्वेति । व्यदृश्यंतेति पूर्वेणान्वयः । न चैतत्सर्वं भगवता मायया दर्शितमिति मंतव्यमित्याह "सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इति, "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति, "आनंदं ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादिश्रुत्युक्तं सत्यादिरूपं यद्ब्रह्म तदेव मूर्तयो येषां ते तथा । उपनिषदः पश्यंति भक्त्यभावान्न तु तदर्थं जानंतीत्युपनिषद्दृशो दार्शनिकास्तैर्न स्पृष्टं भूरि माहात्म्यं येषां ते । 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इति, "भक्त्या मामभिजानाति" इति "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इति, "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति, "आनंदमात्रमजरं पुराणमेकं संतं बहुधा दृश्यमानम्" इति, "बहुमूर्त्येकमूर्तिकम् इति, "सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः । हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥ परमानंदसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।" इत्यादिश्रुतिस्मृतिगम्यं ब्रह्मणोप्यप्राकृतरूपगुणादिमत्त्वं तदिच्छया भक्तिमच्चक्षुर्गम्यमस्तीति ज्ञेयम् । अन्यथा मार्कण्डेयपुराणीयसप्तशतीस्तवोक्तवाराहनृसिंहविष्णुशरीरप्रादुर्भूतवाराह्यादिशक्तिकृतरक्तबीजादियुद्धमप्यसंगतं स्यात् । अतः सर्वदैव सर्वे भगवदवतारादिविग्रहाः संतीति निश्चेयम् ॥ ५४ ॥ यस्य ब्रह्मणः "यस्य भासा सर्वमिदं

विभाति" इति श्रुतेः ॥ ५५ ॥ उपसर्गयोगेन धातोरनेकार्थताद्योतनाय—निपत्येति वेति। छांदसाश्रयणस्यागतिकगतिकत्वा-त्प्रकारांतरमाह—विलोड्यो विलोडितुं योग्यः। तृतीयातत्पुरुषः। 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति विसर्गलोपः। पाठांतरे तु 'अतिकुतुकोद्वृत्तः' इति पाठे तु। तेषां सत्यादिरूपाणां वत्सपालानां तेजसा। ध्वस्तसर्वेंद्रियश्चकितेंद्रियः। अत्र निश्चलस्तूष्णीम्भावे। "पुत्तिका भूमिदंशे स्यात्तथा कृत्रिममूर्तिके" इति सात्वतः। 'पुत्रिका' इति पाठे पूर्देवी बहुलोकैः पूज्यमाना ग्रामदेवता तस्या अंति निकटे। पुत्रिका बालकैः खेल्यमानाऽपूजिता क्षुद्रा मृन्मयी पंचालिकेवेति विश्वनाथः॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भूरिपुण्यवद्भिः साधकैस्तत्तत्प्रतिमादिषु मनसा कर्मणा चार्पितैरिति प्रीत्या तेषां धारणं बहुकरणं च सूचितम् ॥ ४९ ॥ स्मेरैः अन्तः स्मितबाहुल्येन स्वयमेव चन्द्रिकानिभविशदीभूतैश्च तैरित्यर्थः। टीकायां तु स्मित एव विशदताविशेषणं तात्पर्यवशा-द्दत्तमिति ज्ञेयम्। यद्वा, चन्द्रिकावद्विशदं यथा स्यात्तथा स्मेरैः स्मयमानैः मृदुपाचक इति वत् क्रियाविशेषणेन समासः स्वकार्याणां सृष्टपालका इति तादृक्कटाक्षैरेव तदेकसाध्यवतां स्वकशब्दोक्तानामेकान्तिभक्तानां तादृशाभीष्टसिद्धेः तत्रारुणकटाक्षैः स्रष्टार इति तत्रस्थस्यारुणगुणस्य स्वकचित्तमादकत्वात्तेनैव तद्विषयकविचित्रकामानामुत्पादनात् स्मितयुक्तकटाक्षैः पालका इति निजायोग्य-त्वादिविचारेण क्षीयमाणानामपि तेषां तेनैव रक्षणात् पोषणाच्च इवेत्युत्प्रेक्षायाम् अरुणविशदगुणस्थानीयाभ्यां रजःसत्त्वाभ्यामि-वेति ॥ ५० ॥ चराचरैः तत्तल्लक्षणयुक्तैः तत्तदधिष्ठातृभिः नृत्यगीतादयो येनैकार्हाः अनेकार्हणोपकरणानि तैः पृथक् पृथगिति स्वस्वाऽधिकारानुसारेणोपासनासामग्रीभेदात् इत्थं बालकादीनां तेषां प्रत्येकमेकैकब्रह्माण्डेश्वरत्वमुक्तं तथाचाग्रे श्रीब्रह्मस्तुतौ "तावन्त्येव जगन्त्यभूः" इति ॥ ५१ ॥ महिमभिरैश्वर्यरूपैः न जायत इत्यजा नित्यसिद्धा भगवती लक्ष्मी योगमायाख्या शक्तिर्वा आद्यशब्देन मायाविद्याविद्यादयः॥ ५२ ॥ गुणाः सत्त्वादयः आदिशब्देन जातिनामादयः स्वमहिम्ना ध्वस्तोऽन्येषां महिमायैस्तै-रणिमाद्यादिभिः अणिमादीनां तत्रासमोर्द्ध्वत्वात् अन्याणिमादिकरणत्वाच्च तत्त्वादीनां च जगत्कारणत्वात् ॥५३॥ एवं मूर्त्तत्वेऽपि विविधत्वेऽपि परब्रह्मरूपत्वेन वैशिष्ट्यमेकत्वमप्याह—सत्येति। तत्र सत्या एकरसाश्च कालस्यापि कारणत्वेनाश्रयत्वेन चाऽकल्प-त्वात् तदुक्तं कालस्वभावेत्यादि "सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि" इति श्रुतेः। विशेषेण विविधं वा द्योतते दीप्तिं करोतीति विद्युत् निमेषास्तन्निमेषोन्मेषप्रभवाः कालावयवा इत्यर्थः। "यो यं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो ! चेष्टामाहुः" इत्याद्युक्तत्वात् ज्ञानरूपाः स्वप्रकाशत्वेनाजडत्वात् तदुक्तं "पश्यतो ऽजस्य तत्क्षणाद्व्यदृश्यन्त" इति न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य" यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि श्रुतेः। नित्याव्यक्तोपि भगवानीक्षते निजशक्तित इति नारायणाध्यात्म्याच्च अनन्ताः परिच्छिन्नप्रायत्वेऽप्यचिन्त्यशक्त्याविभुत्वात् "यस्त्वेतमेवमादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इति श्रुतेः। "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्युक्तत्वाच्च आनन्दमात्राः निरुपधिपरमप्रेमास्पदसर्वांशत्वात् तदुक्तं "किमेतदद्भुतमिव वासुदेवे खिलात्मनि" इत्यादि "आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इति श्रुतेः। विदितोऽसि भवान् साक्षादित्याद्युक्तत्वाच्च बहुत्वं चैकस्यैवाविर्भावाभेदविवक्षया "आनन्दमात्रमजरं पुराणमेकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्" इति श्रुतेः। युगपदनन्तगुणरूपस्यैव सतस्तस्येच्छानुसारेण विशेषदर्शनात् अतो बालवत्सादिरूपं च तत्र नागन्तुकं तदुक्तं "मणिर्यथा विभागेन" इत्यादि अत एवैकत्व-विवक्षया टीकायामाह, यद्वेति वक्ष्यते च श्रीमताऽक्रूरेण "बहुमूर्त्येकमूर्त्तिकम्" इति एवं श्रुतिप्रमाणकत्वादस्य च सत्येत्यादि-वाक्यस्य पञ्चमवेदत्वात् "सर्ववेदान्तसारं हि" इति "सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम्" इति न्यायेन तत्सारूपत्वाच्च तैरप्युपनिषच्छब्देन वेदान्तो न व्याख्यातः वक्ष्यते च "अतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ" इति सदेर्गत्यर्थत्वाज्ज्ञानार्थकत्वं तच्चेश्वर-ज्ञानादवरमात्मज्ञानमेवेति "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादिरीत्या वा तथोक्तम् आनन्त्यानादित्वात् भूरिमाहात्म्यशब्देन निर्विशेष-त्वप्रतिपादनं च निरस्तं मात्रपदेन च ज्योतिरादिधर्माणां शुक्लादिगुणानामिव तद्धर्माणां तत्स्वरूपान्तःपातित्वं विवक्षितं प्राकृता-गन्तुकत्वं च निषिद्धं यथा –

"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। परा स्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" ॥

इति श्रुतेः। अत एव प्रकृतिक्षोभात् पूर्वं स ऐक्षत स आसीदित्यादि ॥ ५४ ॥ सकृद्युगपदित्यर्थः। परं ब्रह्म सत्यज्ञानादि-रूपं तदेकरूपात् तर्हि कथं दृष्टिविषयत्वं ? तत्राह—यस्येति। अतः स्वयंप्रकाश्यत्वात् सर्व प्रकाशकत्वाच्च तदिन्द्रियाणि स्वशक्त्या प्रकाश्य स्वयमिति प्रकाशते इति भावः। अत एव व्यदृश्यन्त इति कर्त्तारं विनैवोक्तमिति दिक् किं त्वनेन प्रकारेण पूर्ववत्सबाल-कानां महिमैव दृश्यते स्म मम लीलयैतादृशैरेव सिद्ध्यति अन्यथा मायिकसृष्टिरेवाकरिष्यत इति ज्ञापनायेति गम्यते ॥ ५५ ॥ अथ तस्य मोहमाह—तत इति। तद्धाम्ना तेषां प्रभावेण अन्ति तेषामन्तिके स्तिमितैकादशेन्द्रियो निश्चेष्टः सन् तूष्णीमभूत् किञ्चिद्वक्तुमपि न शक्तवानित्यर्थः। तत्र किरीटादिशोभस्य स्तब्धस्य च तस्योपमा पूर्देवी नानापरिच्छदैः पुरजनाराध्या प्रतिमेवेति अन्यत्तैः तत्र दृष्टीः परावर्त्य तदद्दृष्टीनां चतुर्दिक्षु स्थितत्वात्ताभिः पर्यायेण दृष्टेत्यर्थः। तस्मिन्निति हंसपृष्ठ इत्यर्थः। खर्परत्वाद्वि-सर्गलोपः ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भूरिपुण्यवद्भिरर्पितैरिति प्रीत्या तेषां धारणं सूचितम्, यद्वा, भूरिपुण्यं भक्तिस्तद्वदित्युत्प्रेक्षया तेषां तन्मयताभिप्रेतातः सर्वगात्रेष्वपि तैर्धृतैरत एवाङ्घ्रितो मस्तकपर्य्यन्तमापूर्णाः ॥४९॥ स्वकार्थानां स्रष्टृपालका इति ताद्दक्कटाक्षैरेव तदेकसाध्यवतां भक्तानां सर्वाभीष्ट सिद्धेस्तत्र कटाक्षैः स्रष्टाव इति तैरेव तद्विषयकविचित्रकामानामुत्पादनात् स्मितैः, पालका इति निजायोग्यत्वादि-विचारेण क्षीयमाणानामपि तेषां तैरेव रक्षणात् पोषणाच्च । इवेति लोकोक्तौ; यद्वा, रजःसत्त्वाभ्यामिवेति तत्रारुण्यवैशद्याभ्यां रजः-सत्त्वसाम्येन तेषां तादृशत्वमुक्तम्, तथा कटाक्षाणां कादचित्कत्वेन स्रष्टृत्वं स्मितानाञ्च सदातनत्वेन पालकत्वमिति, अन्यथान्योऽन्यं तेषां तत्तत् सम्भवेदिति दिक् ॥ ५० ॥ चराचरैस्तत्तल्लक्षणयुक्तैस्तत्तदधिष्ठातृभिस्तत्रचराः पवनादयः, अचरा हिमालयादयः। नृत्यगीतादयो ये नैकार्हा अनेकार्हणोपकरणानि तैः। पृथक् पृथगिति स्वस्वाधिकारानुसारेणोपासनसामग्रीभेदात् । इत्थं बालकादीनां तेषां प्रत्येकमेकैकब्रह्माण्डेश्वरत्वमुक्तम् । तथा चाग्रे श्रीब्रह्मस्तुतौ (भा० १०।१४।१८) 'तावन्त्येव जगन्त्यभूः' इति, यद्वा, नृत्यादिनो-पासिताः । कथम्भूतैश्चराचरैः एकार्हैरेकस्य श्रीभगवतो योग्यैस्तत्तन्मुखैर्वैकुण्ठलोकवर्त्तिभिर्भगवद्विभूत्याख्यैरित्यर्थः । सर्वेषां तेषां तादृगुपासनायोग्यत्वात्तथापि जगन्त्यभूरिति सिद्ध्येदेव तत्तन्मदुपासनात् ॥ ५१ ॥ महिमभिरैश्वर्य्यरूपैः । न जायत इत्यजा नित्यसिद्धा सच्चिदानन्दविग्रहा भगवती लक्ष्मीर्योगमायाख्या शक्तिर्वा । आदिशब्देन मायाविद्याऽविद्यादयस्ताभिर्विभूतिभिः शक्ति-रूपाभिः ॥ ५२ ॥ गुणाः सत्त्वादयः । आदिशब्देन जातिनामादयः । स्व० महिम्ना ध्वस्तो महिमान्येषां यैरणिमाद्यैरणिमादीनां महासिद्धिरूपत्वात्तत्त्वादीनाञ्च जगत्कारणत्वात् ॥ ५३ ॥ एवं देहेन्द्रियादितत्तच्चेष्टादिना विविधभेदेन भिन्नानामप्यभेदमाह–सत्येति । इत्थं श्री वैष्णवसम्मतो भेदाभेदन्यायः सिद्धः । नन्वेकमेव वस्तु भिन्नञ्च मायाव्यतिरेकेण कथं सम्भवेत् ? सत्यम्; परम-दुरूहमेवैतदित्याशयेनाह—अस्पृष्टेति । उपनिषद्दृशामात्मतत्त्वज्ञानाम्, यद्वा, ब्रह्मादीनां सारज्ञानहेतवो या उपनिषदः सत्य-लोकादौ मूर्त्तिमत्यस्तासां दृशोऽक्षीणि ताभिरप्यस्पृश्य भूरिमाहात्म्या इत्यर्थः । श्रीभगवत्प्रसादविशेषेण तत्प्रियजनानुग्रहेणैव शास्त्रसारसिद्धान्तरूपं तत्तत्त्वं विज्ञेयं स्यात्, न तु शास्त्रादिपाठज्ञानेनेति भावः । अत एव वक्ष्यति (भा० १०।१३।५७) 'अतर्क्ये निजमहिमनि' इति ॥ ५४ ॥ सकृत् युगपदित्यर्थः । परब्रह्म श्रीकृष्णस्तदात्मकान् । नन्वधिकारवता श्रीपरमेष्ठिना कथमेवं द्रष्टुं शक्तम् ? तत्राह – यस्येति । परब्रह्मणा श्रीभगवता कृपया तस्मिन् प्रकाशितमिति भावः । यद्वा, यस्याजस्य भास्तेजः स्वभाव इत्यर्थः, तेनेदं जगत् सर्वं विशेषेण भाति कर्म्म-ज्ञान-भक्त्यादिसम्पत्त्या द्योतत इति श्रीभगवत्प्रसादेन तस्य स्रष्टृत्वात् योगेश्वराणां सनकादीनां तथा (भा० २।९।५) 'जगतां परो गुरुः' इत्युक्तेर्भगवद्भक्तानां श्रीनारदादीनामपि गुरुत्वात् स्वत एव तद्योग्यज्ञास्त्ये-वेति भाव इति भ्रमादिना दर्शनमपि निरस्तम् ॥ ५५ ॥ ततः परमविस्मयेन स्तम्भितः स्तुतिप्रणामादिकमपि कर्त्तुं नाशक्नो-दित्याह – तत इति । तूष्णीमभूत् निश्चेष्टो वृत्त इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः – पूर्देवी पौरैः पूज्यमाना देवी, तस्या अन्तिके वर्त्तमाना या पुत्रिका शोभार्था चित्रादिमयी पुत्तलिका, सा यथा पूजाद्यभावेन निश्चेष्टा दृश्यते, तथेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

दामभिः मालाभिः भूरिपुण्यं भगवदानुकूल्यप्रयोजिततत्सन्तोषरूपं तद्युक्तैरित्यर्थः ॥ ४९ ॥ स्वकानां भक्तानां येऽर्थाः सांसारिकपदार्थभिन्नाः तन्नित्यकैङ्कर्य्यविभिलाषरूपाः ॥ ५० ॥ आत्मा ब्रह्मा मूर्त्तिमद्भिश्चराचरैरिति चिदचितोरज्जुभुजङ्गवदध्यस्त-त्वनिरासः अणिमाद्यष्टैश्वर्यैर्जातैर्महिमभिर्माहात्म्यैः परीताः अजाद्याभिर्नवशक्तिभिः श्रिया पुष्टेत्यादिभिः द्वादशभिर्वा चतुर्विंशति-तत्त्वैश्च परीताः ॥ ५१–५२ ॥ कालादिभिः षड्भिः जीवधर्मज्ञानावरकैः मूर्त्तिमद्भिरित्यनेन नामप्रपञ्चनिरासः ॥ ५३ ॥ सत्यत्व-ज्ञानत्वानन्तत्वानन्दत्वानि मात्राः परिकरः सामग्री यासां अत एव एकरसाः विकारादिरहिताः मूर्त्तयो येषां ते तथाभूताः ॥ ५४ ॥ यस्य भासा सङ्कल्परूपेण ज्ञानेन इदं सचराचरं चेतनचेतनात्मकं जगद्विभाति तादृक् परब्रह्मात्मनः परब्रह्मसङ्कल्पसिद्धान्सर्वान् सकृद्ददर्श ॥ ५५ ॥ अतिकातुकेन प्रथमोद्वृत्तानि प्रसृतानि दर्शनश्रवणादिप्रवृत्तानि पश्चात् स्तिमितानि अविषयत्वेन निश्चला-नीन्द्रियाणि यस्य सः पूर्देव्यन्ती पूर्देवीत्वमाचरन्ती पुत्रिका इव चतुर्मुखी ब्रह्ममूर्तिः तूष्णीं स्थिता अभूदिति ॥ ५६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चन्द्रिकावद्विशदस्मितयुक्तैरारुण्यसहितापाङ्गवीक्षितैः स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां स्रष्टारः पालकाश्चेति रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालकाः सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव रजोवदरुणगुणेन स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैर्द्योतमाना इत्यर्थः ॥ ५० ॥ आत्मा चतुर्मुखस्तत् प्रभृतिभिस्स्तम्बपर्यन्तैर्मूर्त्तिमद्भिश्चराचरैः कर्तृभिर्नृत्याद्यनेकार्हणैः साधनैरुपासिताः अत्राचराणामपि तदुपासनोचित-मूर्त्तिमत्त्वं तत्तदभिमानिदेवताद्वारेणेति बोध्यम् ॥ ५१ ॥ अजाद्याभिर्विभूतिभिः कार्योपयोगिनीभिः शक्तिभिर्महदादिभिश्चतुर्विंशति-भिस्तत्त्वैरजाद्याभिरिति प्रकृतेः पृथगुक्तेस्तत्त्वादीनां जीवात्मना सह चतुर्विंशतित्वम् ॥ ५२ ॥ कालो निमेषादिवत्सरान्तः गुणक्षोभ-हेतुः स्वभावः परिणामहेतुः संस्कारश्चोद्बोधहेतुः कामः कर्महेतुः कर्म च तद्देहोपलब्धिहेतुः गुणाः सत्त्वादयो ज्ञानविक्षेपमोहहेतवः

एतैरुपासिताः कथम्भूतैः स्वस्य भगवतो महिम्ना ध्वस्तमहिभिस्तिरस्कृतस्वातन्त्र्यैर्मूर्त्तिमद्भिश्च ॥ ५३ ॥ सत्येति । नित्यनिर्विकारज्ञानानन्दापरिच्छिन्नमात्रस्य परब्रह्मण एकमूर्त्तय असाधारणमूर्त्तयः मात्रशब्देन विकारजाड्यदुःखपरिच्छेदानां व्यावृत्तिः उपनिषदां दृशां मनोवृत्तीनामप्यस्पृष्टमविषयभूतमियत्तापरिच्छेत्तुमशक्यमनवधिकं माहात्म्यं येषाम् ॥ ५४ ॥ अखिलान्वत्सान्वत्सपांश्च परब्रह्मभिन्नानेवमजश्चतुर्मुखः सकृद्ददर्श । ब्रह्म विशिनष्टि, सचराचरमिदं जगद्यस्य भासा भाति तत्परब्रह्मात्मन इत्यन्वयः तद्धाम्ना तूष्णीमभूदित्युत्तरेण वा ॥ ५५ ॥ अतिकौतुकेनात्याश्चर्येणोद्वृत्त्य दृष्टिं परावृत्त्य हंसपृष्ठे निपत्य कौतुकशब्दोत्तरतृतीयायाश्छान्दसो लुक् अतिकौतुकाद्रिक्तस्तिमितेति पाठे अतिकौतुकेन उद्रिक्तान्युत्कटान्यत एव स्तिमितानि दीनप्रायाणि पारवश्यं प्राप्तानीति यावत्तान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य स इत्यर्थः । तेषां धाम्नाऽभिभूत इति शेषः । अजो ब्रह्मा तूष्णीं बभूव निश्चलोऽभवत् यथा पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनकप्रतिमा तद्वदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अरुणविशदस्थानीयाभ्यां रजःसत्त्वाभ्यामिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥ चराचरैस्तत्तदधिष्ठातृदैवतैः ॥ ५१-५३ ॥ सत्येति । किञ्च, सत्याः सर्वकारणत्वेन ज्ञानरूपाः स्वप्रकाशत्वेन अनन्ता विभुत्वेन आनन्दा निरुपाधिपरमास्पदत्वेन एकरसाः कालकारणत्वेन अत एवैकत्वं पृथक्प्रकाशत्वेन च पृथक्त्वमपीति ज्ञेयम् ॥ ५४ ॥ एवं चेत् कथं ददर्श ? तत्राह—यस्येति । तस्य सर्वप्रकाशकत्वात् स्वप्रकाशकत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ५५ ॥ तेषां धाम्ना प्रभावेण अन्ति तेषामेव समीपे काचित् पूर्देवी पुरजनाराध्यमाना यथा सशोभा निश्चेष्टा च सैव ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु कथमियं प्रकाशिका माया ? एषापि कुहकत्वेनावरिकैव भवतु, तन्नेत्याह - सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः । सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसो ब्रह्म तद्रूपा मूर्त्तिर्येषामिति, नहि ब्रह्मणि कुहकांशकाः । ननु कथमेतत् सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसस्य नानात्वम् ? श्रुत्यप्रतिपादितत्वादित्याशङ्क्याह—अस्पृष्टभूमिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्, श्रुत्यगोचरत्वात् कथं नाम तदप्रतिपादितत्वादि ॥ ५४-५६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

चैतन्यता अपरिच्छिन्नता व्यापकता च पर्याप्ता, किं पुनस्तस्येति भावः । यद्वा, सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसो ब्रह्म तदेव मूर्त्तिर्येषां ते तथा, तेन विभूतिभूतस्य विग्रह व्यूहस्य ब्रह्मत्वे विभोः श्रीकृष्णस्य विभूतिर्ब्रह्मेति यत् सात्वतैरुच्यते, तत्र का प्रतिपत्तिरिति, तर्हि कथमेवं श्रुतिसिद्धं स्यात् ? तत्राह—अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या इत्यादि । उपनिषद एव दृशश्चक्षूंषि ताभिरस्पृष्टं भूरिमाहात्म्यं येषाम् । येषाम् माहात्म्यं श्रुतिरूपचक्षुषामपि ग्राह्यं न भवतीति श्रुति-सिद्धत्वे कोऽवसरः ? ॥ ५५-५६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भूरिपुण्यानि श्रवणकीर्त्तनादिभजनानि तद्वता भक्तसहस्रेणार्पितैः ॥ ४९ ॥ चन्द्रिकावत् विशदं यथा स्यात्तथा स्मेरयन्त इति चन्द्रिकाविशदस्मेराणि मृदुपाचक इतिवत्समासः अरुणापाङ्गेन सह वर्त्तमानानि यानि सम्मुखवीक्षितानि तैः स्वकार्थानाम् अनुकम्पनीयस्वभक्तमनोरथानां रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालका इव व्यदृश्यन्त । रजसेवारुणगुणेन स्रष्टार इव सत्त्वे व विशदस्मितेन पालका इव ॥ ५० ॥ आत्मात्र ब्रह्मा नैकार्हैः अनेकार्हणैः ॥ ५१ ॥ महिमभिरैश्वर्य्यैः अजा माया तदाद्याभिः शक्तिभिः चतुर्विंशतिभिरिति महत्त्वसूत्रत्वतयोः पार्थक्यविवक्षया तत्त्वैर्जगत्कारणैः ॥ ५२ ॥ कालादिभिश्च तत्सहकारिभिः तत्र स्वभावः परिणामहेतुः संस्कार उद्बोधकः स्वमहिध्वस्तमहिभिर्भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यैः ॥ ५३ ॥ न चैतत् सर्वं भगवता मायया दर्शितमिति मन्तव्यमित्याह—सत्येति । सत्याश्च ज्ञानरूपाश्च अनन्ताश्च आनन्दरूपाश्च तत्रापि तदेकमात्राविजातीयसम्भेदरहिताः तत्राप्येकरसाः कालपरिच्छेदकाभावात् सदैकरूपा मूर्त्तयो वपूंषि येषां ते । यद्वा "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति, सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति, आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" इत्यादि श्रुत्युक्तं सत्यादिरूपं यद्ब्रह्म तदेव मूर्त्तयो येषां ते । ननु, दृश्यत्वबहुविविधत्वादिकं ब्रह्मणो नैव श्रूयते वेदान्तदर्शिनस्तत्राह—अस्पृष्टेति । उपनिषदः पश्यन्ति भक्त्यभावान्नतु तदर्थं जानन्तीत्युपनिषद्दृशो दार्शनिकास्तेषां तैर्न स्पृष्टमपि भूरिमाहात्म्यं येषां ते "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" इति "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" इति "न चक्षुषा पश्यति रूपमस्य, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्से एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति आनन्दमात्रमजरं पुराणम् एकं सन्तं बहुधा दृश्यमानम्" इति "बहुमूर्त्त्येकमूर्त्तिकम्" इति—

"सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः । हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ।
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः" ॥

इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं ब्रह्मणोऽप्यप्राकृतरूपगुणादिमत्त्वं तदिच्छया भक्तिमच्चक्षुर्गम्यमस्तीति ज्ञेयम् ।। ५४ ।। यस्य परब्रह्मणः ।। ५५ ।। अतिकौतुकेन उद्वृत्त्यानि विलोच्चानि स्तिमितान्यानन्दस्तन्धानि एकादशेन्द्रियाणि यस्य सः उद्वृत्त इति पाठे अतिकुतुकेन क्षुभितः तेषां धाम्ना तेजसा तूष्णीं किमपि वक्तुं चेष्टितुं चाशक्तोऽभूत् । अत्र दृष्टान्तः पूर्देवी बहुलोकैः पूज्यमाना ग्रामदेवता तस्या अन्ति निकटे पुत्रिका बालकेन खेल्यमाना अपूजिता क्षुद्रा मृण्मयी पञ्चालिकेव ।। ५६ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

भूरि पुण्यवदर्पितैः बहुजन्मार्जितपुण्यवद्भिर्निवेदितैः ।। ४९ ।। चन्द्रिकावत् चन्द्रज्योत्स्नावत् विशदस्मितयुक्तैः आरुण्यसहितापाङ्गवीक्षितैः स्वकार्थानां स्वभक्तपुरुषार्थानाम् रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालका इव विशदस्मितेन पालकाः इव व्यदृश्यन्त यथा केचित्सत्त्वेन स्वभक्तमनोरथपालकाः अरुणगुणेन स्रष्टार इव व्यदृश्यन्त यथा केचित् रजसा स्वभक्तमनोरथस्रष्टार इत्यर्थः ।। ५० ।। चरैरचरैश्च आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैः स्वप्रभृतिभिस्तम्बान्तैः तावन्त्येव जगन्त्यभूरिति वक्ष्यमाणात्स्वस्वब्रह्माण्डयुक्तैः कर्तृभिः नृत्यं च गीतं च आदिना वाद्यं च तैः अनेकैरर्हैः अर्हणैश्च पृथक् पृथगुपासिताः तत्राचरकृता तदुपासना "ता आप अब्रुवन्" इति वद्देवताभिप्रायेण युज्यते ।।५१।। अणिमाद्यैरैश्वर्यैः न जायन्ते कर्मकालादिपारवश्यतया यास्ताः अजाः श्रीदेवीलीलादेव्याद्या आदिना पार्षदसङ्ग्रहः ताभिः विभूतिशब्देन परमधामादिसंग्रहः परमवैकुण्ठरमावैकुण्ठश्वेतद्वीपादिभिः महतः आदिर्महदादिः प्रकृतिस्तदादिभिः प्रकृतिमहदहङ्कारादिभिरित्यर्थः ।। ५२ ।। कालो गुणक्षोभादिहेतुः भगवच्छक्तिविशेषः स्वभावः परिणामहेतुः परिणामिपदार्थस्य प्रकृत्यादेर्धर्मविशेषः संस्कारः उद्बोधकः कामः कर्महेतुः कर्माणि चतुर्वर्गसाधनानि गुणाः तत्तत्पदार्थधर्मभूताः आदिना सर्वपदार्थप्रतिवादका वेदेतिहासपुराणादिसङ्ग्रहास्तैः स्वमहिध्वस्तमहिभिर्भगवन्महिम्ना तिरस्कृतमहिमभिः सर्वेषां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां विशेषणमिदम् ।।५३।। यतस्ते वेदान्तैकवेद्यस्य परब्रह्मपुरुषोत्तमवासुदेवनारायणादिसंज्ञस्यानन्ताचिन्त्यस्वाभाविकगुणशक्तिसिन्धोः स्वभावतोपास्तसमस्तदोषस्य श्रीकृष्णस्य मूर्त्तयोऽत एवम्भूता व्यदृश्यन्तेत्याह–सत्येति । सत्यज्ञानाऽनन्ताऽऽनन्दमात्रैकरसस्य श्रीकृष्णस्य मूर्त्तयः मात्रच्प्रत्ययः विकारित्वजडत्वपरिच्छिन्नत्वनिरानन्दत्वादिदोषैरसंस्पृष्टत्वं भगवतो द्योतयति, इयत्तानवच्छिन्नत्वं तेषां द्योतयन्नाह–अस्पृष्टेति । उपनिषच्छब्देन तदभ्यासजन्यं ज्ञानं सैव दृक् चक्षुर्येषां तेषामपि न स्पृष्टं परिच्छेतुं शक्यं भूरिमाहात्म्यं येषां ते तथाभूताः व्यदृश्यन्तेति ।।५४।। उक्तार्थं निगमयति–एवमिति । अजो ब्रह्मा एवं सकृत् युगपत् परब्रह्म श्रीकृष्णः तदात्मनस्तद्रूपान् अखिलान् वत्सादीन् ददर्श यस्य परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य ।। ५५ ।। ततस्तदाश्चर्यदर्शनादेव कुतुकानि सर्वाणि आश्चर्याणि अतिक्रान्तः अतिकुतुकः तेनैवाश्चर्यदर्शनेन तुच्छीकृतेतराश्चर्य इत्यर्थः । "अत्यादयः क्रान्ताद्ये द्वितीया" इति समासः । तद्धाम्ना तेषां तेजसास्तिमितैकादशेन्द्रियः स्तब्धसकलेन्द्रियः अत एव उद्वृत्य सकलेन्द्रियवृत्तीः परावृत्य तूष्णीं निश्चलोऽभूदित्यन्वयः । तष्णीं भावे दृष्टान्तः पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कनकप्रतिमेव ।। ५६ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

भूरीणि पुण्यानि विशुद्धिकराणि श्रवणकीर्त्तनादीनि तद्वद्भिर्भक्तैः ।। ४९ ।। चन्द्रिकावद्विशदैः स्मेरैः स्मितैः अरुणापाङ्गवीक्षितेन सहितैः स्वकार्थानां स्वानुकम्पितभक्तमनोरथानां रजः सत्त्वाभ्यां स्रष्टृपालका इव व्यदृश्यन्त रजसेवारुणापाङ्गवीक्षणेन स्रष्टारः सत्त्वेनैव विशदस्मितेन पालका इत्यर्थः ।। ५० ।। आत्मात्र विरिञ्चस्तदादिभिः नृत्यगीतादिभिर्नैकार्हैरनेकार्हणैः ।। ५१ ।। महिमभिरैश्वर्यैः अजा मूलप्रकृतिस्तदाद्याभिर्विभूतिभिः शक्तिभिः चतुर्विंशतिभिरिति बहुवचनं प्रत्येकं तावद्भिस्तत्त्वैरुपासनात् चतुर्विंशतित्वं च महत्तत्त्वसूत्रयोर्भेदविवक्षया ।। ५२ ।। कालादिभिश्च तत्सहकारिभिर्मूर्तिमद्भिस्तत्तदधिष्ठातृभिः, कीदृशैरित्याह–स्वमहीति । भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यैरित्यर्थः, कालः क्षोभकः, स्वभावः परिणामहेतुः संस्कारः उद्बोधहेतुः, कामो विषयाभिलाषः कर्मपुण्यादिरूपं गुणाः सत्त्वाद्याः ।। ५३ ।। न चैते हरिणा मायया त्रिगुणया विरचिता इत्याह–सत्येति । "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुत्युक्तं यत् सत्यज्ञानानन्तानन्दं ब्रह्म तन्मात्रास्तदेकरूपा अत एकरसाः कूटस्था मूर्त्तयो येषां ते देहदेहिभेदाभावेऽपि तद्भेदव्यपदेशः सत्ताऽसतीत्यादिवद्विशेषादेवेति बोध्यम् । उपनिषद् वेदान्तोऽदृक् येषां तैरप्यस्पृष्टं साकल्येनागृहीतं माहात्म्यं येषां ते "नमो वेदान्तवेद्यायौपनिषदः पुरुषः" इति श्रुतेरुपनिषद्वेद्यत्वं "कार्त्स्न्येन नाजोऽप्यभिधातुमीश" इति स्मृतेः साकल्येनावेद्यत्वम् ।। ५४ ।। प्राकृतैर्महदादिभिस्तत्त्वैरुपासितान् ब्रह्मात्मकान् वत्सतत्पालान् सकृत् प्रदर्श्य चिन्मयैस्तैरुपासितांस्तानतिक्रपालुः सकृद्दर्शयदित्याह–एवमिति । अखिलान् वत्सतत्पालांस्तत्त्वपर्यन्तान् परब्रह्मात्मकानजः सकृद्ददर्श । एवमिति संख्यया नामभिश्च पूर्वतुल्यानित्यर्थः । यस्य परब्रह्मणो भासा शक्त्या सर्वं सचराचरमिदं जगद्विभाति कार्यक्षमं भवति "द्रव्यं कर्म च कालश्चे"त्यादिवचनात् इदं द्वितीयदर्शनम् "अद्यैवत्त्वदृतेऽस्य कि"मित्यादिना अपराध्याये व्यक्तीभावि ।।५५।। अतिकुतुकेनोद्वृत्तानि क्षुब्धानि स्तिमितान्यानन्दक्षुब्धानि एकादशेन्द्रियाणि यस्य सः तेषां धाम्ना तेजसा तूष्णीं वक्तुमप्यनीशोऽभूत् । तत्र दृष्टान्तः पूर्देवी सर्वपुरजनैर्नोपचारैः पूज्या महामाहात्म्या देवी तस्या अन्ति सन्निधौ पुत्रिकेव शिशुभिः खेल्यमानाऽपूज्या पाञ्चालिकेवेत्यर्थः ।। ५६ ।।

श्रीसुबोधिनी

तुलसीनूतनमालाभिराङ्घ्रिमस्तकं नखशिखाग्रपर्यन्तमासमन्तात् **पूर्णास्तानि च दामानि कोमलतुलसी**निर्मितानि **सर्वगात्रेषु** च पृथक् पृथक् समर्पितानि, समर्पकाश्च **भूरिपुण्यवन्तः** ॥ ४९ ॥ असाधारणं भगवद्भावं तत्र वर्णयति **चन्द्रिके**ति **चन्द्रिकावद्** विशदाः **स्मेरा** मन्दहासा अरुणात्य**पाङ्गवीक्षितानि स्मेरैर्वीक्षितैश्च स्वकार्थानां** भक्तपुरुषार्थानां **स्रष्टृपालका** जाता **वीक्षितैः** पुरुषार्थानामुत्पत्तिः **स्मेरैः** पालनं, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह **रजःसत्त्वाभ्यामिवे**ति, अरुणवर्णत्वाद् वीक्षितं रजस्तुल्यं शुभ्रत्वात्स्मेरं सत्त्वतुल्यं, रजसोत्पाद्यते सत्त्वेन परिपाल्यते ॥ ५० ॥ किञ्चात्मा **ब्रह्मा स्तम्बस्तृण**स्तम्बो ब्रह्मादितृण**स्तम्बपर्यन्तै**राधिदैविकेर्**मूर्तिमद्भि**र्विग्रहवद्भि**श्चराचरैः** स्थावरैर्जङ्गमैश्च **पृथक्पृथगुपासिता** इति सम्बन्धः, पृथगुपासने हेतुर्नृत्यगीतादि**कार्हैर्य**थाधिकारं स्वस्य धर्मा भगवत् सेवोपयिकाः पृथक् पृथक् सन्तीति सर्वेषां **पृथगुपासनम्** ॥५१॥ अणिमाद्यष्टैश्वर्यैरपि सेवि**अणिमादीनां** महित्वं माहात्म्यरूपत्वं, **अजाद्या विभूतयः**, उत्पत्तिव्यतिरेकेणैव स्वस्योत्पत्तिभावमन्येषां चोत्पत्तिं सम्पादयति शक्तिः साजा, सादिर्यासां लक्ष्म्यादीनां, ताभिरपि प्रत्येकमुपासिताश्चतुर्विंशतितत्त्वाभिमानिन्यो देवताः ॥५२॥ **कालादयो**ऽपि मानिदेवाः, **गुणाः** सत्त्वरजस्तमांसि, आदिशब्देन नामसृष्टिवर्गः सर्वोप्यासन्यादयश्च, तेषां माहात्म्यमाह **स्वमहिध्वस्तमहिभिरि**ति **स्वमहिम्नैव ध्वस्तो महिमा**न्येषां यैः, भगवन्महिम्ना वा **ध्वस्तमहिमानः**, ते च सर्वे **मूर्तिमन्तः**, तैरपि 'पृथक्पृथ' **गुपासिताः** ॥५३॥ धर्मानुक्त्वा स्वरूपमाह **सत्ये**ति, **सत्यज्ञानमनन्त**शब्देन दोषाभावः, इतरान्यत्वमानन्दश्च स्वरूपे दोषाभावोप्यवश्यं वक्तव्य **तन्मात्रा एकरसा मूर्तयो** येषां, **रस**भेदस्तु विजातीयसंश्लेषाद् भवति, उत्कर्षमाहा**स्पृष्टभूरी**ति, **उपनिषद्दृग्भिरपि** न स्पृ **भूरि माहात्म्यं** येषाम् ॥ ५४ ॥ एवं सर्वमेव भगवत्स्वरूपं वर्णयित्वोपसंहरंस्तस्य दर्शनमाह, **अजो** ब्रह्माप्येवं **सकृदेव** दृ सर्वानेव **परब्रह्मात्मनः** परब्रह्मरूपान्, एकं हि परब्रह्म प्रसिद्धं दृश्यते त्वनन्तरूपमिति, नन्वेकेन ब्रह्मणा कथमेतावन्तो दृष्टास्त **यस्ये**ति, **यस्य** भगवतो **भासेदं सर्वमेव सचराचरं विभाति**, अतो भगवदिच्छयैव भगवद्**भासा** सर्वज्ञो जातः ॥५५॥ **ततोऽतिकु**केनातिसन्तोषे**णोद्वृत्य** दृष्टीः परावृत्य **स्तिमितान्येकादशेन्द्रियाणि** यस्य तादृशो जातः, तेन हर्षादपि स्तोत्रे न समर्थो जा अशक्यं च स्तोत्रं, प्रदर्शितस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यत्वात्, हेत्वन्तरमप्याह **तद्धाम्नाभूदि**ति, भगवत्तेजसा निष्प्रतिको **तूष्णीमासीत्**, तत्र दृष्टान्तो लौकिकः **पूर्देव्यन्ती पुत्रिकेव, पूर्देवी** सर्वैरेव पुरवासिभिः पूज्यते न तु तन्निकटस्था पुत्रिका, ना समानदेशस्थितिमात्रेण पूजार्हता भवति, अतस्तदानीं दृष्टैः सर्वैरेवायमुपेक्षित इति निष्प्रतिभत्वमुचितमेव ॥ ५६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवद्भिः बहुजन्मोपार्जितपुण्यवद्भिर्भक्तजनैरर्पितैः कोमलैस्तुलसीनवदामभिराङ्घ्रिमस्तकं चरणमा मस्तकपर्यन्तमासमन्तात् पूर्णाः ॥ ४९ ॥ चन्द्रिकावद्विशदाः स्मेरा मन्दहासास्तैः सत्त्वगुणेन स्वकानां भक्तानां येऽर्था मनोरथास्ते पालका इव, तथा अरुणापाङ्गवीक्षितैश्च रजसा गुणेन तेषां मनोरथानां स्रष्टार इव च ॥ ५० ॥ आत्मा ब्रह्मा, स्तम्बस्तृणमि ब्रह्मादितृणपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः प्राणिभिः स्वस्वाधिकारभेदेन नृत्यगीताद्यनेकार्हैः अनेकैरर्हणसाधनैः पृथक् पृथगुपासिताः ॥५१॥ 'अणिमाद्यैर्महिमभिः, अष्टैश्वर्यैः मूर्तिमद्भिः' इति सर्वत्र ज्ञेयम्। अजाद्याभिर्मायाविद्यादिभिर्विभूतिभिः शक्तिभिः चतुर्विंशतिभि जगत्कारणैर्महदादिभिश्च परीताः सेविताः। "महत्तत्त्वं, सूत्रम्, अहङ्कारः, मनः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि, पञ्च तन्मात्राणि च" इति चतुर्विंशतितत्त्वानि ॥ ५२ ॥ कालादिभिश्च मूर्तिमद्भिरुपासिताः। तत्र कालो गुणक्षो स्वभावः परिणामहेतुः संस्कारः कामोद्बोधकः, कामश्च भोगेच्छा, कर्म लौकिकवैदिकव्यापारम्, गुणाः सत्त्वादयः उपादा आदिपदेन जात्यादिग्रहणम्। स्वमहिध्वस्तमहिभिः इति। भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यैरित्यर्थः ॥ ५३ ॥ एवं सर्वेषां मूर्तिम प्युपास्यमूर्तीनां विशेषमाह— सत्येति। सत्यं परमार्थभूतम्, ज्ञानं चैतन्यरूपम्, अनन्तमविनाशि, आनन्दरूपम्, प्राकृतसम्बन्धि सार्थं मात्रपदम्, सर्वदैकरूपताप्रतिपादनार्थमेकरसपदम्। सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद्ब्रह्म तदेव मूर्तिर्येषां ते। अत एव भक्तिहीन केवलमुपनिषत्सु दृग् येषां तेषामपि अस्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषां तथाभूताः। "भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः" "भक्त्या मा भिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" इत्यादि प्रमाणं सूचयितुमाह—हीति। एवं दुर्लभदर्शनत्वेऽपि भगवदिच्छया व्यदृश्यन्त यस्य परब्रह्मात्मनो भासा प्रकाशेनेदं सचराचरं विश्वं विभाति, अखिलान् वत्सवत्सपालादीन् सकृत् एकदैव अजो ब्रह्मा प्रकारेण ददर्शेत्यन्वयः ॥ ५५ ॥ अतिकुतुकेन अत्याश्चर्येण उद्वृत्य दृष्टीः परावृत्य, कुतुकशब्दे च तृतीयायाश्छान्दसो लुक्। 'कुतुको द्वृत्तः' इति पाठान्तरे तु कुतुकेन उद्वृत्तः क्षुभितः। तथा तेषां भगवद्विग्रहाणां धाम्ना तेजसा स्तिमितानि स्तब्धानि एकादशेन्द्रि यस्य सः अजो ब्रह्मा तूष्णीमभूत् किमपि वक्तुमसमर्थोऽभूत् निश्चलोऽभूदिति वाऽर्थः। तत्र दृष्टान्तमाह—पूर्देव्येति। पूर्देवी धिष्ठात्री काचिद्देवता, तस्या अन्ति समीपे पुत्रिका चतुर्मुखी कृत्रिमप्रतिमा यथा तथेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

आङ्घ्रीति ॥ सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवद्भिः बहुजन्मोपार्जितपुण्यवद्भिर्भक्तजनैरर्पितैः कोमलैस्तुलसीनवदामभिराङ्घ्रि चरणमारभ्य मस्तकपर्यन्तमासमन्तात् पूर्णाः ॥ ४९ ॥ चन्द्रिकेति ॥ स्वकानां भक्तानां येऽर्था मनोरथास्तेषां चन्द्रिका इव

स्मयन्ते इति मृदुपाचकवत्समासः। भावप्राधान्येन मन्दहासाः तैः तथा अरुणापाङ्गेन सहितैर्वीक्षितैश्च रजःसत्त्वाभ्यां स्वकार्थानां स्रष्टृपालका इव व्यदृश्यन्त। तत्र सत्त्वतुल्यविशदस्मितेन स्वकार्थानां पालका इव रजोवदरुणगुणेन च तेषां स्रष्टार इव वचेति तादृक्कटाक्षैर्द्योतमानाः ॥ ५० ॥ आत्मेति ॥ आत्मा ब्रह्मा स्तम्बस्तृणगुच्छः ब्रह्मादितृणपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः प्राणिभिः स्वस्वाधिकारभेदेन नृत्यगीताद्यनेकार्हैः अनेकैरर्हणसाधनैः पृथक् पृथगुपासिताः एतेन तेषां प्रत्येकमेकैकब्रह्माण्डेशत्वमुक्तम् ॥ ५१ ॥ अणिमेति ॥ अणिमाद्यैर्महिमभिः अष्टभिरैश्वर्यैः मूर्तिमद्भिरिति सर्वत्र ज्ञेयम्। अजाद्याभिर्मायाविद्यादिभिर्विभूतिभिः शक्तिभिः महदादिभिः चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः जगत्कारणैः परीताः महत्सूत्रयोः पृथक् तत्त्वविवक्षया चतुर्विंशतित्वं बहुत्वमार्षम्। तथा च महत् सूत्रमहङ्कारः मनो दशेन्द्रियाणि पञ्च भूतानि पञ्च तन्मात्राणि चेति तत्त्वानि ॥ ५२ ॥ कालेति ॥ "स्वमहिध्वस्तमहिभिः" इति भगवन्महिम्ना तिरस्कृतस्वातन्त्र्यैरित्यर्थः। पूर्वोक्ततत्त्वसहकारिभिः कालादिभिश्च मूर्तिमद्भिरुपासिताः। तत्र कालो गुणक्षोभकः स्वभावः परिणामहेतुः कामोद्बोधकः कामश्च भोगेच्छाकर्मलौकिकवैदिकव्यापारः गुणाः सत्त्वादय उपादानमादिपदेन जात्यादिग्रहणम् ॥५३॥ सत्येति। सत्यं परमार्थभूतं ज्ञानं चैतन्यरूपमनन्तमविनाशि आनन्दरूपं प्राकृतसंबन्धनिरासार्थं मात्रपदम् सत्यज्ञानादिमात्रैकरसं यद् ब्रह्म तदेव मूर्तिर्येषां ते सत्यज्ञानादिमात्रा एकरसाः सदा एकरूपा मूर्तयो येषामिति वा अत एव भक्तिहीनानां केवलहीनानां केवलमुपनिषदमेव पश्यन्ति ये केवलं ज्ञानिनः दार्शनिकाः तेषामपि अस्पृष्टं स्पर्शायोग्यं भूरि माहात्म्यं येषां तथाभूताः व्यदृश्यन्त ॥ ५४ ॥ एवमिति ॥ यस्य परब्रह्मात्मनो भासा प्रकाशेनेदं सचराचरं विश्वं विभाति तत्परब्रह्मात्मरूपान् अखिलान् वत्सवत्सपालादीन् सकृत् एकदैवाजो ब्रह्मा एवमुक्तप्रकारेण ददर्श ॥ ५५ ॥ तत इति ॥ अतिकुतुकेन अत्याश्चर्येण उद्धृत्य दृष्टीः परावृत्य हंसपृष्ठे निपत्य वा कुतुकशब्दे च तृतीयायाश्छान्दसो लुक्। यद्वा अतिकुतुकेन उद्वृत्यः कोऽहमित्यनुसन्धानरहितः सन्। अत्र "खर्परे०" इति विसर्गलोपः। कुतुकोद्वृत्तः इति पाठान्तरे तु कुतुकेन उद्वृत्तः क्षुभितः तथा तेषां भगवद्विग्रहाणां धाम्ना तेजसा स्तिमितानि स्तब्धानि एकादशेन्द्रियाणि यस्य सः अजो ब्रह्मा तूष्णीमभूत् किमपि वक्तुं न समर्थोऽभूत्। निश्चलोऽभूदिति वार्थः अत्र दृष्टान्तः पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवी तस्या अन्ति समीपे पुत्तिका चतुर्मुखप्रतिमेव ॥ ५६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अंघ्रिमस्तकं अंघ्रिमभिव्याप्यमस्तकपर्यंतेषु सर्वांगेषु भूरिपुण्यवद्भिर्नरैरर्पितैः आपूर्णाः निभृताः ॥४९॥ चंद्रिकाचंद्रज्योत्स्नावत् विशदानि श्रद्धानि स्मेराणि मंदहास्यानि येषु तैः अरुणगुणेन सहवर्त्तमाना ये अपांगाः कटाक्षास्तद्युक्तवीक्षितैः स्वकार्थानास्वकीयजनमनोरथानां रजःसत्वाभ्यां स्रष्टृपालका इव रजस्तुल्यरक्तगुणेन सत्वतुल्यविशदस्मितेन च उत्पादका रक्षका इव स्थिताः ॥ ५० ॥ ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतैश्चराचरैः जंतुभिः नृत्याद्यनेकविधपूजनैः ॥ ५१ ॥ महिमभिः महासिद्धिभिः अजाद्याभिः अजाः प्रधानरूपाः प्रकृतयः आद्याः प्रधानपतयः पुरुषाश्च एवंरूपाभिः विभूतिभिः परीताः परिवृताः ॥ ५२ ॥ कालादिभिः तत्तदभिमानिदेवैरुपासिताः कथंभूतैस्तैः स्वीयेन महिना महिम्ना ध्वस्तस्तिरस्कृतो महिमा येषां तैः ॥ ५३ ॥ तेषां कीदृशादेहा इत्याशंक्याह सत्येति। सत्यज्ञानानंदमात्राः सत्पादिधर्ममयाः एकरसाः सदैकरूपाश्चमूर्त्तयो देहा येषां ते उपनिषदि छांदोग्यादौ दृक् श्रवणमनननिदिध्यासनरूपं ज्ञानं येषां तेषामपि अस्पृष्टं न स्पृष्टं योग्यं भूरिमाहात्म्यं येषां एवंभूताः अजस्य व्यदृश्यंतेति पूर्वेणान्वयः ॥५४॥ एवमिति अखिलान् वत्सपादीन् परब्रह्मात्मनः परमात्मरूपान् अजोविधिः सकृत् एकदैव ददर्श यस्य दिव्यमूर्तेः परब्रह्मणः भासा प्रकाशेन इदं प्रत्यक्षं चराचरैः सहितं विश्वं सर्वं अक्षर ब्रह्म तत्स्थमुक्तकोटिकालप्रकृतिपुरुषरूपं समग्रं विभाति ॥ ५५ ॥ तत इति ततस्तदनंतरं अतिकुतुकेन अत्याश्चर्येण अत्र सुपांसुलुगित्यादिनाछंदसितृतीयाया लुक् उद्वृत्य दृष्टिं परावृत्य तद्धाम्ना तेषां प्रकाशेन स्तिमितानि स्थिरीभूतानि एकादशेंद्रियाणि यस्य सः अजो विधिः पूर्देव्याः व्रजाधिष्ठातृ देवतायाः अंति समीपे पुत्रिका इव चतुर्मुखीप्रतिमा इव तूष्णीं स्थिरोऽभूत् ॥ ५६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति ॥ एवममुना प्रकारेण, विश्वं मोहयतीति विश्वमोहनस्तं, विमोहं स्वतो मोहरहितं, विष्णुं श्रीकृष्णं संमोहयन् विमोहयितुमुद्युक्तः अजश्चतुर्मुखः अपि, स्वयाऽऽत्मीयया एव, मायया, स्वयं एव, विमोहितः, न तु श्रीकृष्णः ॥ ४९ ॥ विश्वमोहने भगवति मायान्तरस्याकिंचित्करत्वे दृष्टान्तद्वयमाह ॥ तम्यामिति ॥ तम्यां तमिस्रायां रात्रावित्यर्थः। नैहारं हिमकणप्रभवं, तमोवत्तम इव, नीहारकणप्रभवं तमो यथा रात्रौ न ततः पृथगावरकं जायते, किं तु तत्रैव लीयत इत्यर्थः। यथा च, खद्योताचिर्ज्योतिरिङ्गणतेजः, अहनि दिवसे इव दिनमणिकृतप्रकाशवति दिवसे खद्योतप्रकाशः ततः पृथक् प्रकाशं न करोत्येवेत्यर्थः। एवं महति महापुरुषे, युञ्जतः मायां कर्त्तुमुद्युक्तस्य पुंसः, इतरमाया नीचा माया, तत्र तु न किंचित् करोतीति शेषः। प्रत्युत, आत्मनि स्वस्मिन्नेव, ऐश्यं सामर्थ्यं, निहन्ति। यथा जगति महति केनचित् कृतं कार्मणं विपरीतं सत्तमेव, वल्गति तद्वदिति भावः। तद्धितार्थोपसर्जनस्यापि तमसो नैहारमिति विशेषणं छान्दसमेव। अस्यायं भावः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः, तत्र वृत्तिपतितस्य विशेषणयोगो न सविशेषणानां वृत्तिर्न, अतस्तद्धितवृत्तिपतितस्य तमसो नैहारमिति विशेषणं न

संगच्छते। ताद्धितकवत्प्रत्ययस्य तुल्यत्वेनार्थेनोपसर्जनत्वात्। स्वार्थनिष्ठत्वे सति अर्थान्तरोपसंक्रान्तत्वमुपसर्जनत्वं यथा ब्राह्मणतुल्यं ब्राह्मणवदधीते, तस्मात्तद्धितार्थोपसर्जनस्य तमसो नैहारमिति विशेषणं छान्दसमेवेति ॥ ५० ॥ अन्यदप्यत्याश्चर्यमाह ॥ तावदिति॥ अजस्य ब्रह्मणः, पश्यतः सतः, तावत् सर्वे वत्सपालाः वत्साः पालाश्चेत्यर्थः। तत्क्षणात् तस्मिन्नेव क्षणे इत्यर्थः। घनश्यामा नीलघन इव मेचकवर्णाः, पीतकौशेयवाससः परिहितपीतपीताम्बराः, व्यदृश्यन्त। एतदारभ्य नवसु श्लोकेष्वेतदेव क्रियापदं ग्राह्यम् ॥ ५१ ॥ चतुर्भुजा इति ॥ चत्वारो भुजा येषां तु शङ्खश्च चक्रं च गदा च राजीवं पद्मं च पाणिषु येषां ते, किरीटान्येषां सन्तीति, कुण्डलान्येषां सन्तीति, हारा विद्यन्ते एषामिति, वनमालाः सन्त्येषामिति ॥ ५२ ॥ श्रीवत्सेति ॥ श्रीवत्सप्रभायुक्तान्यङ्गदानि दोःषु भुजेषु येषां रत्नमयानि कम्बुवच्छङ्खवद्वर्तुलानि कङ्कणानि पाणिषु येषां ते च ते च तया, श्रीवत्सैरङ्कितानि वक्षांसि येषां, कौस्तुभैरायुक्ताः संयेक्ताः कंधरा ग्रीवा येषाम् ॥ ५३ ॥ नूपुरैरिति ॥ भूरिपुण्यवदर्पितैः बहुजन्मार्जितपुण्यवद्भिरर्पितैः, नूपुरैर्मञ्जीरैः, कटकैर्वलयैः, भाताः शोभमानाः, कटिसूत्राणि काञ्च्यश्च अङ्गुलीयकानि स्वर्णमुद्रिकाश्च तैः भाताः, आङ्घ्रिमस्तकमापदमस्तकं, सर्वगात्रेषु कोमलैः तुलसीनवदामभिः, आपूर्णाः ॥ ५४ ॥ चन्द्रिकेति ॥ चन्द्रिकाविशदस्मेरैः चन्द्रज्योत्स्नावद्विशदस्मितयुतैः, सारुणापाङ्गवीक्षितैः आरुण्यसहितापाङ्गवीक्षितैः, स्वकार्थानां स्वभक्तमनोरथानां, रजःसत्त्वाभ्यां, स्रष्टृपालकाः स्रष्टारश्च पालकाश्च तथाभूताः इव, सत्त्ववद्विशदस्मितेन पालका इव रजोवदरुणेन गुणेन स्रष्टार इव तादृक्कटाक्षैर्द्योतमाना इत्यर्थः ॥ ५५ ॥ आत्मेति ॥ आत्मा चतुर्मुख आदिर्येषां स्तम्बः पर्यन्तो येषां ते च ते च तैः, मूर्त्तिमद्भिः, चराचरैः कर्तृभिः नृत्यगीताद्यनेकार्हैः नृत्यप्रभृत्यनेकार्हणैः करणैः, पृथक् पृथक्, उपासिताः ॥ ५६ ॥

कृष्णप्रिया

चरणकमलों से लेकर मस्तक पर्यन्त नख शिखान्त प्रत्येक श्री अङ्गों में पूर्ण पुण्यशाली परम भागवतो ने पहनायी कोमल नव तुलसी दल मालाओं से समलङ्कृत थे ॥ ४९ ॥ उनकी मुस्कराहट चांदनी सी समुज्ज्वल थी, रतनारे नयनों की कटाक्षपूर्ण तिरछी चितवन से देखना गजबठाहती थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानो कटाक्षावलोकन और स्मेरस्मित के माध्यम से रजोगुण द्वारा भक्तजनों के मन में मङ्गल मनोरथों को जगाकर सत्वगुण द्वारा उन विशुद्ध मनोरथों की पूर्ति करते थे ॥ ५० ॥ श्री ब्रह्माजी ने यह भी देखा कि, ब्रह्माजी जैसे अनेक आधिदैविक विग्रह वाले ब्रह्माओं से लेकर तृणस्तम्ब पर्यन्त सर्व सचराचर जीव निज-निज अधिकार और शक्ति अनुसार नृत्य-गीत आदि विविध प्रकार की सेवा सामग्रीओं से साधनों से प्रियतम प्रभुकी पृथक् पृथक् सेवा कर रहें है ॥ ५१ ॥ फिर सवके सब अणिमादि समग्रसिद्धियों माया विद्या अविद्या श्री गिरा पुष्टि क्रान्ति समग्र शक्तियों और महत् तत्व आदि चौवीसो तत्वों से समावृत्त परिपूर्ण थे ॥ ५२ ॥ काल (प्रकृतिक्षोभकर्त्ता) स्वभाव आदि के अभिमानी देवता, संस्कार कामनाहूँ कर्म विषय फल नामसृष्टि आदि के देवता मूर्तिमन्त बनकर प्रभु के प्रत्येक रूप की उपासना कर रहे हैं। वे सव अपनी सत्ता और महत्ता से सवकी महिमा को निःसत्व निस्तेज वना रहे थे, या भगवान की महिमा के सामने उनकी महिमा अपना अस्तित्व खो वैठी थी ॥ ५३ ॥ आगे ब्रह्माजी देख रहें है कि ये सत्र एक मात्र त्रिकालावाधित स्वयं प्रकाश ज्ञान अनन्त आनन्द एक रस ही उनका स्वरूप था। उनमें जड़ता या चेतना का कोई भेदभाव नहीं था। क्या कहा जाय उपनिषद् द्रष्टा तत्त्व ज्ञानिओं की बुद्धि भी उनकी अपार-अनन्त महिमा को छु नहीं सकती ॥ ५४ ॥ इस प्रकार श्री ब्रह्माजी ने एक ही काल में उन सब वत्सपाल वालकों को उस परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण के स्वरूप में देखा कि जिसकी ज्योति से सारा चराचर विश्व आलोकित हो रहा है ॥ ५५ ॥ भगवान् के दिव्य आश्चर्यपूर्ण ऐश्वर्य के दर्शन के बाद ब्रह्माजी अवाक् हो गये कि उनकी ग्यारहों इन्द्रियों की गति उनके तेज से अवरुद्ध हो गयी और स्वयं सर्वथा अक्रिय-निश्चेष्ट हो गये। निश्चेष्ट बने ब्रह्माजी ऐसे प्रतीत होते थे कि मानो व्रज की नगर देवता के समीप खड़ी की हुई कोई पुतली है ॥ ५६ ॥

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम् ॥ ५७ ॥
ततोऽर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः। कृच्छ्रादुन्मील्य वै दृष्टीराचष्टेदं सहात्मना ॥ ५८ ॥
सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोऽपश्यत् पुरः स्थितम्। वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाश्रियम् ॥ ५९ ॥
यत्र नैसर्गदुर्वैराः सहासन् नृमृगादयः। मित्राणीवाजितावासगत रुट्तर्षकादिकम् ॥ ६० ॥

---

१. जीव्य-श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। २. द्रुत-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक.। ३. दिके-वीर.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—इति ईरेशे निजमहिमनि अतर्क्ये स्वप्रमितिके अजातः परत्र अतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ दृष्ट्वा अनीशे अपि "इदं किं वा इति मुह्यति सति ज्ञात्वा परमः अजः सपदि मायाजवनिको चच्छाद ॥ ५७ ॥ ततः अर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः परेतवदुत्थितः कः क्रृच्छ्रात् वै दृष्टीः उन्मील्य आत्मना सह इदं आचष्ट ॥ ५८ ॥ सपदि एव अभितः दिशः पश्यन् जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समप्रियं पुरःस्थितं वृन्दावनं अपश्यत् ॥ ५९ ॥ यत्र अजितावासगतरुट्तर्षकादिकं नैसर्गदुर्वैराः नृमृगादयः मित्राणि इव सह आसन् ॥ ६० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवं मोहमग्नमजमुज्जहारेत्याह । इतीति । इरेशे इरा सरस्वती तस्य ईशे ब्रह्मणि किमिदमिति मुह्यति सति पश्चात्तद्द्रष्टुमप्यनीशे सति परमोऽजः श्रीकृष्णः सपद्यजाजवनिकां मायारूपां तिरस्करिणीं ययाऽद्भुतं दर्शितं तां चच्छाद तिरोधत्त । अपसारितवानित्यर्थः । अथ वा अयं लोकाभिमानी ममैश्वर्यं द्रष्टुमयोग्य इति तस्योपरि मायां प्रसारितवानिति । कस्मिन्स्वरूपे मुमोह तदाह । अतर्क्ये तर्कागोचरे निजोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्निति मोहे हेतुद्वयमुक्तम् । दर्शनायोग्यत्वाय त्रीणि विशेषणानि । स्वप्रमितिके स्वप्रकाशं च तत्कं सुखं च यस्मिन् अत एवाजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन् । अत एव अतन्निरसनमुखेन ब्रह्मकैः श्रुतिशिरोभिर्मितिर्ज्ञानं यस्मिंस्तस्मिन्स्वरूपे ॥ ५७ ॥ अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धान्यक्षीणि येन सः । परेतवन्मृतो यदि कथंचित्पुनरुत्तिष्ठति तथा दृष्टिर्नेत्राणि ॥ ५८ ॥ जनानामाजीव्यैर्द्रुमैराकीर्णम् । समाप्रियं संततान्यासमंतात्प्रियाणि यस्मिंस्तत् ॥ ५९ ॥ तदाह यत्रेति । नैसर्गदुर्वैराः स्वाभाविकाप्रतिकार्यवैरवंतोऽपि नराः सिंहादयश्च मित्राणीव यत्र सहैवासन् । अजितस्यावासेन द्रुताः पलायिता रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यस्मात्तथाभूतं वृंदावनमपश्यदिति ॥ ६० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवमुक्तप्रकारेण । मोहमग्नं मोहितम् । अजं ब्रह्माणम् । उज्जहारोद्धार । इरा सरस्वती । "इरा सरस्वतीमद्यजलकामप्रदेषु च" इति धरणिः । पश्चान्मोहादनु । तत् सत्यानंदमूर्तिव्यूहम् । "प्रतिसोरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा" इत्यमरः । अपसारितवान्दूरीचकार । इत्यर्थ इति—'सति प्रसिद्धेर्थेऽप्रसिद्धार्थकल्पनमन्याय्यम्' इति हेतोः प्रसिद्धार्थपरतया व्याचख्यौ–अथ वेति । महिमाधिक्यम् । अतर्क्येऽद्भुतवैभवे मोहो भवत्येवेति अतर्क्यत्वादिति हेतुरूहनीयः । अतन्निरसनमुखेनातद्व्यावृत्त्या । इरा सरस्वती तस्या ईशे महाबुद्धिमत्यपीत्यर्थः । ज्ञात्वा स्वैश्वर्यरसानुभवे तदयोग्यतां वीक्ष्य अजाजवनिकां योगमायातिरस्करिणीं चच्छाद । यया पुलिने भुंजानाञ्श्रीदामादिबालकांस्तृणं चरतो वत्सान्वत्सपान्वेषकं स्वं चाच्छाद्य स्वरूपभूतान्वत्सबालकादी न्पुनस्तानेव चतुर्भुजादित्वेन दर्शयामास तामंतर्धापयदित्यर्थः । या वास्तवं वस्त्वावृणोति अवास्तवं च दर्शयति सा माया, या तु वास्तववस्तूनामपि मध्ये किमप्यावृणोति किमपि दर्शयति सा योगमायेति मायायोगमाययोर्भेदादजाशब्देनात्र बहिरंगा माया न व्याख्येयेति विश्वनाथः ॥५७॥ ततो मायाच्छादनानंतरम् । को ब्रह्मा । आत्मना भगवता सहेदं वक्ष्यमाणं वृंदावनमाचष्ट ददर्श ॥ ५८ ॥ सपदि झटित्येव । आजीव्यैराम्रजंब्वादिभिः । यद्वा—जनानाजीवयंति क्षेत्रकर्षणादिनेति जनाजीव्या वृषास्तेषां द्रुमा द्रुमवदुत्पादका गावस्ताभिराकीर्णम् । यद्वा–जनाजीव्यं जलं तस्य द्रुमा द्रुमवद्दात्री कालिंदी तया जनाजीव्या भक्तिः सैव द्रुमो मोक्षफलप्रदत्वेन तयाकीर्णमितिवा । प्रियकराणि पुष्पपत्रादीनि । मा लक्ष्मीस्तस्याः प्रियो हरिस्तेन सहेति समाप्रियम् । मा लक्ष्मीः प्रियाशब्दोदिता श्रीराधा ताभ्यां सहेति पूर्ववत् । मा लक्ष्मीस्तस्याः प्रिया गावस्तासु नित्यं सन्निहितत्वात्तस्यास्ताभिस्सहेति ॥ ५९ ॥ तत् समाप्रियत्वम् । अप्रतीकार्यं निवर्तनाशक्यम्, यथा गोव्याघ्राखुबिडालादीनाम् । यत्र वृंदावने । तदपश्यदिति पूर्वेण संबंधः ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

इति पूर्वरीत्या बालवत्सादिरूपमेकमद्भुतं दृष्टं इदं वा किमिति वा शब्दार्थः ज्ञात्वा तन्मोहादिकमवधार्य अन्यत्तैः, अत्र प्रथमपक्षे मायया अविद्याविद्यावृत्तिकत्वात् अविद्यारूपेण तिरस्करिणीं ब्रह्मणो दृष्टिं प्रति श्रीकृष्णरूपस्य व्यवधायिकां तथा यया अविद्यारूपयाऽतर्क्यं इत्यादिपञ्चविशेषणकत्वादन्यादृश्यं तदद्भुतं दर्शितं तद्रूपेण प्रकाशिकामपि तामपसारितवानिति तमेतं पक्षमवैष्णवमयुक्तं चाशङ्क्य पक्षान्तरमाह अथवेति। अत्र तस्य स्वप्रकाशत्वात् स्वप्रकाशताशक्तिरेव दर्शने हेतुः माया त्वविद्यावृत्त्यावरणधर्मैव विद्यावृत्त्या च न तस्य तस्या अपि प्रकाशकस्य, तस्य प्रकाशनसमर्थेत्युक्तं तदेवाह—परत्राजात इति । अतस्तादृशवैभवं प्रति ब्रह्मदृष्टितो मायापसारणेन तद्दर्शितं तत्र प्रसारणेन त्वाच्छादितमिति प्रसारितमपि प्रसारितवानिति छदेरन्तर्भूतण्यर्थत्वात् मायायाश्चाण्यन्तकर्मत्वात् इति शब्द अथवेति पक्षसमाप्त्यर्थः। उत्तरग्रन्थस्य उभयत्रान्वितत्वात् क्व मुह्यतीति कुत्र तस्य मोह इत्यर्थः। स्वरूपे घनश्यामादिरूपे निजमहिमनीति बहुव्रीहिः । यद्वा, निजमहिमनीत्येव विशेष्यं कर्मधारयात् तादृशचतुर्भुजवृन्दे तद्वैभव इत्यर्थः अन्यत्समानम् ॥ ५७ ॥ उत्थित इति मोहेन हंसपृष्ठे पतनं बोधयति इदं ममतास्पदं विश्वम् आत्मना

देहेनाहन्तास्पदेन सहितं तस्यापि विस्मृतत्वात् ॥ ५८ ॥ ततश्च परमकृपया श्रीकृष्णस्तस्मै स्वान्तरङ्गवैभवं प्रकाशितवानित्याह—सपदीति त्रिभिः। यद्वा, पूर्वं वृन्दावनाधिष्ठानकश्रीकृष्णाख्यं परमस्वरूपं यया मायाजवनिकाच्छाद्य स्वशक्तिविशेषेणस्वरूपवैभवान्तरं दर्शितवान् तामपसारितवानिति प्राचीनतृतीयश्लोकार्थः। ततश्च स्वतेजोभिः सर्वाच्छादकेन अप्राकृतेन परमस्वरूपेणैव प्रकाशते इत्याह—तत इति चतुर्भिः। अर्वाचि सम्प्रत्यवतीर्णे श्रीकृष्णाख्यपरमस्वरूपे पुनर्लब्धदृष्टिः सन् इदं श्रीवृन्दावनमात्मना सह व्यचष्ट तदेव विवृणोति—सपदीति। अभितो दिशः पश्यन् सपद्येव वृन्दावनमपश्यत् स ब्रह्मा मायालक्ष्म्याः श्रीराधारूपायाः प्रियं "राधा-वृन्दावने वन" इति मात्स्यपाद्मादिभ्यः। 'यद्वा, मया तथैव लक्ष्म्या सह वर्त्तत इति समः श्रीकृष्णः तस्य आ सम्यक् प्रियं वृन्दावनं गोवर्द्धनम् इत्याद्युक्तम्। यद्वा, मायास्तस्या एव प्रियः श्रीकृष्णस्तेन सह वर्त्तमानमिति एवं चेत् समानामात्मारामाणामपि आप्रियमिति कियत् ॥ ५९ ॥ तल्लक्षणमाह—यत्रेति। तैर्व्यञ्जितमेव। यद्वा निसर्गदुर्वैरा अहिनकुलादयः सहैवासन् ततः सुतरां नृमृगादयश्च मित्राणीवासन्नित्यर्थः। तत्र हेतुः, अजितस्य योगादिना महाप्रयासेन हृद्यपि वशीकर्त्तुमशक्यस्य श्रीभगवत आवासः सदावस्थितिः तेन तद्रूपेण निजमहिम्ना द्रुतं रुट्तर्षादिकं यस्मात्तत् ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ज्ञात्वानुभूय भगवन्माहात्म्यमिति प्रकरणादध्याहार्य्यंमतः प्रेमोद्रेकेणानन्दविशेषेण वा मुह्यति सति पश्चात्तत्तदतिरेकेण द्रष्टुमप्यशक्ते सति। चार्थे वा-शब्दः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, ततश्च पृथक्त्वेन प्रकाशितं तद्वत्स-वत्स-पादि-रूपं पूर्व्वबालकेषु श्रीब्रह्मणो मायाञ्च, तां नितरामनुगृह्णन् श्रीभगवान् संवृतवानित्याह—इतीति; इति—एतानित्यर्थः। अजस्य श्रीब्रह्मणोऽजाजवनिकाञ्च बालादीनां मोहनाच्छादनात्मिकां मायां चछाद संवृतवान्। ज्ञात्वेत्यस्यात्रैवान्वयोऽवसरं विचार्य्येत्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥ ५७ ॥ ततः सम्वरणादर्व्वाक् पश्चात् प्रतिलब्धाक्षः प्राप्तसंज्ञ इत्यर्थः। परेतवदिति मोहस्यातिशय्यात्; किंवा गतेऽपि मोहे चिरेण चेष्टोत्पत्तेः। उत्थित इति मोहेन पूर्व्वं हंसपृष्ठे पतनं बोधयति। इदं विश्वमात्मना सहितमिति मोहेन विस्मृतस्यात्मनस्तदानीमनुसन्धानोत्पत्तेः; यद्वा, इदं वक्ष्यमाणं वृन्दावनादिकम्। सहैकदैवात्मना स्वयमेवापश्यत् ॥ ५८ ॥ अभितो दिशः पश्यन् सपद्येव वृन्दावनमपश्यत् स ब्रह्मा। मायाया लक्ष्म्याः श्रीराधारूपायाः प्रियम्,—तत्र तस्याः श्रीभगवत्प्रदत्ताधिपत्येन परमप्रीतेः श्रीभगवत्प्रियत्वाद्वा तस्याः; यद्वा, मया लक्ष्म्या सह वर्त्तते समो भगवान्, तस्य आ सम्यक् प्रियम् ॥ ५९ ॥ तल्लक्षणमाह—यत्रेति। तैर्व्यञ्जितमेव; यद्वा, नैसर्गदुर्व्वैरा अहि-नकुलादयः सहैवासन् नृ-मृगादयश्च मित्राणीवासन् परस्परं हिताचरणात्। तत्र हेतुमाह—अजितस्य योगादिना महाप्रयासेन हृद्यपि वशीकर्त्तुमशक्यस्य भगवत आवासः सदा सम्यग्वसतिर्यस्मिन्; अतएव स्वभावत एव वा, द्रुत-रुट्तर्षादिकं तच्च तच्च तस्मिन्; आदि-शब्देन दम्भमात्सर्य्यादयः ॥ ६० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

इलेति इडेति इरेति च देवीत्रयम् "इडा भू वाक् सुराप्सु स्यात्" इति कोशात् देवीत्रयनियामके ब्रह्मणि स्वमहिमनि मुह्यति सति परमः अजः श्रीकृष्णः अजाजवनिका तस्मिश्चछाद छादयामास स्वेनैव प्रमितिर्यस्य तादृक् कं सुखं यस्मिन् मायातः परस्मिन् अतन्निरसनेन ब्रह्मणो वैलक्षण्यप्रतिपादकेन मुखेन द्वारभूतेन ब्रह्मकैः वेदशिरोभिः मितिर्यस्य तस्मिन्महिम्नि ॥ ५७ ॥ अर्वाग्भूतेन तत आकृष्टे प्रतिलब्धे अक्षिणी येन सः आत्मना स्वेन सह श्रीकृष्णेन वा सह इदं सन्निकृष्टं श्रीवृन्दावनादिकम् ॥ ५८ ॥ सम्यक् आसमन्तात्प्रियं स ब्रह्मा माप्रियं लक्ष्मीप्रियं श्री नारायणं कृष्णं चापश्यदिति लक्ष्मीप्रियं वृन्दावनं वा रमाक्रीडमभूदिति वाक्यात् ॥ ५९ ॥ स्वाभाविकं दुष्टं वैरं येषां ते मनुष्यसिंहसर्पनकुलादयः मित्राणीव सह आसन् सहैव सञ्चारादिकर्त्तार आसन् न चेदृषीणां तपोबलेनापि सम्भवो दृश्यते इत्यत्राह—अजितस्य कृष्णस्यावासः आभिमुख्येन वासस्तेन श्रीभगवत्कृपाकटाक्षेणैव पलायितक्रोधलोभतृष्णामोहादिके वृन्दावने अनेन "कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्" इति आसुरसम्पद्बीजरहिते इति स्थलपरमैश्वर्यम् उक्तम् ऋषीणां कामक्रोधादिराहित्याभावान्न तादृशवैभवमिति भावः ॥ ६० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मुह्यते चतुर्मुखाय पूर्ववदात्मवत्सवत्सपादीन् दर्शयितुमसाधारणस्वमूर्तिदर्शनाच्छादिकां मायामाच्छादितवानित्याह—इतीति परो मा यस्मात् स परमः सर्वाऽभ्यधिको यः अजः कर्मायत्तोत्पत्तिरहितः श्रीकृष्णः सपदि ज्ञात्वा चतुर्मुखस्यावस्थां ज्ञात्वा अजां यवनिकामजारूपां यवनिकां तिरस्कारिणीं चछादावृतवान् कस्मिन् सति स्वासाधारणो महिमा यस्मिंस्तस्मिन्स्वस्वरूपे विषयभूते इत्यम् इरायाः सरस्वत्या ईशे ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशेऽसमर्थे प्रत्युतेदं किमिति मुह्यति सति निजमहिम्नो दर्शनाशक्यत्वं दर्शयितुं विशिनष्टि, अतर्क्ये इदम् इत्थन्तया केवलतर्कागोचरे तत्र हेतुरजातः परत्र अजातः अजायाः प्रकृतेः परत्र विलक्षणे प्राकृतमेव कथञ्चित्तर्कगोचरमिति भावः। स्वप्रमिति स्वयंप्रकाशं ज्ञानं कं सुखं सुखात्मकं यस्मिन् कशब्देनात्र सङ्कोचकाभावाद् परिच्छिन्नसुखवाचिना परिमिति सुखस्वरूपजीवव्यावृत्तिः इतोऽप्यतर्क्यत्वमवगन्तव्यम्, अतर्क्य इत्यनेन तन्मूलप्रत्यक्षागोचरत्वमपि

विवक्षितं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणाभ्यामनवगम्य इति फलितोऽर्थः । तर्हि किं शशविषाणवत्तुच्छं नेत्याह—अतन्निरसनमुख-ब्रह्मकमिति अतदपरमात्मवस्तु प्रकृतिपुरुषादिकं तस्य निरसनमुखेन परमात्मस्वरूपत्वनिरसनद्वारा ब्रह्मणो वेदस्य केन मूर्द्धन्योपनि-षद्भागेनेति यावत् मितिरवगतिर्यस्य तस्मिन् प्रत्यक्षादिमानान्तरानवगम्यस्वरूपस्वभावस्य परमात्मनः केवलत्वेदान्तवेद्यस्य प्राकृत-चक्षुषा द्रष्टुमयोग्यत्वात्तद्दर्शनाशक्ते सति ब्रह्मणि तज्ज्ञात्वा यथावस्थितवत्सवत्सपादिदर्शनार्थं प्रदर्शितस्वासाधारणरूपाच्छादनार्थं चाजां चच्छादेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ ततोऽजायवनिकाच्छादनानन्तरमर्वाग्बहिः प्रतिलब्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि येन सः, कः परेतवत्मृतो यथा पुनः कथं-चिदुत्तिष्ठति तद्वदुत्थितः संज्ञां प्राप्तः कृच्छात्कथंचिद्दृष्टीर्नेत्राण्युन्मील्यानिमीलितानि कृत्वा दृष्टिरिति पाठे मील्ये उन्मि-षिते दृष्टि यस्य सः, आत्मना चतुर्मुखेण सहेदं जगदपश्यत् पूर्वं भगवद्रूपेभ्योऽन्यदपश्यन्निदानीं जगज्जगदेवात्मानमात्मान-मेवाचष्टे-त्यर्थः ॥५८॥ ततः पूर्वस्थितं वृन्दावनं चापश्यत् कथम्भूतं ? जनानामाजीव्यैरुपजीव्यैर्द्रुमैराकुलं व्याप्तं समाप्रियं सम्यग्ञ्चयाऽऽसमन्ता-त्प्रियाणि यस्मिन् तत् ॥ ५९ ॥ तदेवाह—यत्रेति । यत्र वने नैसर्गदुर्वैराः नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वारमनिवार्यं वैरं येषां ते नरगो पादयो मृगाः सिंहादयश्च मित्राणि सुहृद इव वसन्तः सहैवासन् तत्र हेतुं वदन्वनं विशिनष्टि अजितस्य भगवतः आवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयः यस्मात्तस्मिन् ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

इति अनेन प्रकारेण तां तदुपरि चच्छाद छादयामासेत्यन्तर्भूतण्यर्थत्वात् कुत्र मोहस्तत्राह— निजमहिमनि व्यदृश्यन्त घनश्यामा इत्यादि स्ववैभवे तद्विशेषणानि स्वप्रमितिक इत्यादीनि मा लक्ष्मीस्तया श्रीराधादेव्या सहितः समः श्रीकृष्ण तस्य आ सम्यक् प्रियं राधा वृन्दावने वन इति ॥ ५७-५८ ॥ वृन्दावनं गोवर्द्धनमिति प्रसिद्धे ॥ ५९ ॥ अजितावासरूपञ्च तत् द्रुतरुट्तर्षादि-कञ्च तत् तस्मिन् ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तथाविधया प्रकाशिकया मायया किमिदमिदमिति ब्रह्मणि मोहं गते तां पुनस्तिरोधापयांश्चकारेत्याह—इतीरेश इत्यादि । कतर्क्योऽचिन्त्यनीय निजमहिमनि प्रकाशिका-शक्तिवैभवे स्वप्रमितिके स्वप्रमाणके स्वस्वरूपे विषयसप्रमीयम् तथाविध-निजमहिमविषये इति यावत् । ईरेशे ब्रह्मणि मुह्यति सति अजाजवनिकामजस्य ब्रह्मणा आजवनिकामजत्वाभिमान—वनिकां वनीं चच्छाद, स्वमायया तस्य मायां छादयामासेत्यर्थः । अजस्येदमाजमजत्वाभिमानः, तदेव वनिका अत्यल्पवनम्, अल्पत्वाद्वनमेव वनी । अल्पत्वादीप्, तत्राप्यल्पत्वे कन् । निजमहिमानं पुनर्विशिनष्टि-अजातः प्रकृतितः परत्र । तत्र हेतुः—अतन्निरसनमुखेन यद्ब्रह्मकं ब्रह्मानन्दस्तस्य मितिर्यत्र । ईरेशे कीदृशे ? द्रष्टुमपि अनीशे । पुनः कीदृशे ? किमिदमिति मुह्यति सति । कश्चच्छाद ? तत्राह—अजः श्रीकृष्णः । द्वयोरेवाजत्वे कथं तारतम्यमित्याह—परमः । अयं तु परमोऽजः स त्वौपचारिकः । यद्वा, अजा माया, अजा चासौ अजवनिका अतिरस्करणी अनावरिका प्रकाशिकेति यावत् । सा चेति कर्मधारयः । तां-प्रकाशिकां स्वकीयां चच्छाद संवृतवानित्यर्थः । किं कृत्वा ज्ञात्वा, ब्रह्मणो मोहं ज्ञात्वा ॥५७॥ ततस्तस्या संवरणे ब्रह्मा प्रकृतिं प्राप्त इत्याह—ततोऽर्वागित्यादि । को ब्रह्मा परेतरं मृत वत् प्रतिलब्धात्मा सन् उत्थितः कृच्छ्राद्दृष्टीरुन्मील्यात्मना सह इदमुक्तप्रायवैभवमाचष्टे ॥ ५८ ॥ न केवलं तदेवाचष्टे, स्वरूपस्थं वृन्दावनञ्च ददर्शेत्याह—सपदीत्यादि । अभितः सर्वा दिशः पश्यन् पुरःस्थितं वृन्दावनमपश्यत्, पुरःस्थित-मपि या या दिशः पश्यति तासु तास्वेव पश्यतीत्यर्थः । वृन्दावनमपि व्यापकेन ददर्श । अथवा, पुरोवृन्दावनदर्शनयोग्यता नासीत्, पश्चादेवाहङ्कारहतो ददर्श । कीदृशम् ? जनाजीव्यद्रुमाकीर्णम्, जनाजीव्यद्रुमाः कल्पद्रुमाः । स ब्रह्मा मा शोभा तस्याः प्रियं दयितम्,—तस्यास्तत्रैवानुगतत्वात् । मा लक्ष्मीर्वा तस्या अप्रियं सम्यक् प्रीतिस्थानम्,-वैकुण्ठादपि मनोहरत्वात् । आत्मना सहेत्यत्रैव वान्वेतव्यम् । या या दिशः पश्यति, तासु तास्वात्मना सह वृन्दावनं ददर्शेति वृन्दावनस्य व्यापकत्वम् । अतस्तृतीये भगवता ब्रह्माणं यत् प्रत्युक्तम्-(भा. ३।९।३१) "तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः । द्रष्टासि मां ततं ब्रह्मन् मयि लोकांस्त्वमात्मनः ॥" इति तस्यैवमुदाहरणं व्याख्यातञ्च तत्रैव तथा ॥ ५९-६० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अजां जवनिकां चच्छाद संवृतवान्मायान्तः—पटसंवरणानन्तरमेव वृन्दावन-स्वरूपदर्शन-योग्यताऽभूदिति भावः ॥ ५७-५८ ॥ वृन्दावनं कीदृशम् ? मा प्रियम्, मा शोभा अस्याः प्रियम् । स ब्रह्मा ॥ ५९-६० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तावन्मात्र एव मञ्जुमहिमनि निमज्जन्तमनुभवासमर्थं ब्रह्माणमालोक्य ततः परस्सहस्रेषु दर्शयितव्येष्वसाधारणेषु निज-महामञ्जुमहिमसु तमनधिकारिणमभिमृश्य मञ्जुमहिमदर्शनं समापयामासेत्याह-इतीति । ईरेशे ब्रह्मणि इरा सरस्वती तस्या ईशे महाबुद्धिमत्यपीत्यर्थः । किमिदमिति मुह्यति सति पश्चाद्द्रष्टुमप्यनीशे सति परमोऽजः श्रीकृष्णः ज्ञात्वा स्वैश्वर्य्यरसानुभवे तदयोग्यतां वीक्ष्य सपदि अजाजवनिकां योगमायाख्यां तिरस्करणीं चच्छाद यया पुलिने भुञ्जानान् श्रीदामादिबालकान् तृणं चरतो

वत्सान् वत्सान्वेषकं स्वं चाच्छाद्य स्वरूपभूतान् वत्सबालकादीन् पुनस्तानेव चतुर्भुजादित्वेन दर्शयामास तामन्तरधापयदित्यर्थः या वास्तवं वस्त्वावृणोति अवास्तववस्त्वेव दर्शयति सा माया या तु वास्तववस्तूनामपि मध्ये किमप्यावृणोति किमपि दर्शयति सा योगमायेति मायायोगमाययोर्भेदादजाशब्देनात्र बहिरङ्गा माया न व्याख्येया, क्व मुह्यति ? निजमहिमनि दर्शितचतुर्भुजादिरूपे स्वमहैश्वर्ये कीदृशे अतर्क्ये यतः स्वप्रमिति स्वप्रकाशं च तत् कं सुखरूपं च तस्मिन् अत एव अजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन् अतन्निरसनमुखेन ब्रह्मकैः "अस्थूलमनणु अह्रस्वम्" इत्यादिकैः श्रुतिशिरोभिर्ब्रह्माभिव्यञ्जकैर्मितिज्ञानं यत्र तस्मिन् स्वरूपे ॥ ५७ ॥ अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धानि अक्षाणि येन सः परेतवत् मृतो यदि कथञ्चित् पुनरुत्तिष्ठति तथेत्यर्थः । विस्मयरसमहाभारमर्दितत्वादिति भावः । इदं जगत् ममतास्पदं आत्मनाऽहन्तास्पदेन सह अपश्यत् तयोरपि विस्मृतपूर्वत्वात् ॥ ५८ ॥ ततश्च परमकृपया कृष्णस्तस्मै स्वमाधुर्यवैभवं प्रकाशितवानित्याह—सपद्येवेति । सम्यगासमन्तात् परस्परं प्रियाण्येव यत्र तत् ॥५९॥ तदेवाह—नैसर्गं निसर्गसिद्धं मिथो दुर्वैरं येषां तेऽपि मनुजव्याघ्रादयः मित्राणीव सहैवासन् अजितस्यावासेन द्रुताः पलायिताः तुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यस्मात्तस्मिन् ॥ ६० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

इत्येवम् इरेशे सरस्वतीशे किमिदमिति मुह्यति सति पश्चाद्द्रष्टुमप्यनीशे सति परमोऽजः श्रीकृष्णः तथा ज्ञात्वा सपदि जवनिकां अजारूपां तिरस्करिणीं तदोपरि चछाद प्रसारितवान् मूर्तिव्यूहदर्शनानर्हं मूर्तिव्यूहप्रकाशकसाक्षात्स्वरूपदर्शनार्हं चकारेति फलितोऽर्थः । वक्ष्यमाणस्तोत्रोपपत्तेः कुत्र मुह्यति सति ? अतर्क्ये तर्कागोचरे अनुमानादिभिः प्रतिपादयितुमशक्ये "नेन्द्रियाणि नानुमानम्" इति श्रुतेः । तर्हि कथं तज्ज्ञानं स्यादत आह, अतन्निरसनमुखब्रह्मकमिताविति अतद्भगवत्स्वरूपभिन्नं चिदचिदात्मकं वस्तु तन्निरसनमुखेन तत्तत्पदार्थानां भगवत्स्वरूपत्वनिषेधद्वारा ब्रह्मकैर्वेदान्तैर्मितिर्ज्ञानं यस्मिन् तत्रापि स्वप्रमितिके स्वकीयभक्तप्रमिति-प्रतीतेः क आत्माश्रयो विषय इत्यर्थः । "को ब्रह्माणि समीरात्मयमदक्षेषु भास्करे" इति मेदिनीकरकोशात् तस्मिन् स्वप्रकाश-विषये यतः अजातः परत्र मायातः परस्मिन् अभक्तैर्मायामोहितैर्वेदान्ताभ्यासेनापि ज्ञातुमशक्ये इत्यर्थः । किं बहुना निजमहिम्नि निजः असाधारणः महिमा यस्य तस्मिन् अत्यद्भुतमूर्तिव्यूहप्रकाशके श्रीकृष्णे कथं तेन किमाकारो मूर्तिव्यूहः प्रकाशितः तत्रापि कतमः इत्येवं मुह्यति सति तं च विशेषतो द्रष्टुमनीशे सति तां चच्छादेत्यर्थः ॥ ५७ ॥ ततस्तदनन्तरं को ब्रह्मा अर्वाग् बहिः प्रति-लब्धान्यक्षीणीन्द्रियाणि येनः सः परेतवदुत्थितः शवो यथा कथञ्चिदुत्तिष्ठति तद्वदुत्थितः दृष्टीः नेत्राण्युन्मील्य सहात्मना स्वेन इदं विश्वम् आचष्ट समन्ततोऽपश्यत् पूर्वमनेकानि ब्रह्माण्डानि तदभिमानिनोऽनेकान् चतुर्मुखान् तत्तन्मूर्त्युपासकान् दृष्ट्वा पश्चादेकमात्मानं चतुर्मुखमेकमेव ब्रह्माण्डमपश्यदित्यर्थः ॥ ५८ ॥ पुरः स्थितं वृन्दावनं चापश्यत् कथम्भूतं समाप्रियं सन्ततानि आसमन्तात् प्रियाणि यस्मिन् तत् ॥ ५९ ॥ यत्र वृन्दावने नैसर्गं नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वैरं येषां ते मृगसिंहादयः मित्राणीव सहैवासन् अजितस्य श्रीकृष्णस्य आवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यस्मात्तस्मिन् तत्राद्वयं ब्रह्मपरमेष्ठ्यचष्टेत्युत्तरेणान्वयः ॥ ६० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

मञ्जुमहिमचुलुकेऽपि निमज्जन्तः ततोऽन्यस्मिंस्तदर्णवे दर्शयितव्यो अनधिकारिणं विरिञ्चं विज्ञाय हरिस्तल्लीलां समापयदित्याह—इतीति । इरा सरस्वती तस्या ईशे तत्पतरि महाबुद्धिशालिनि विरिञ्चे किमिदमिति मुह्यति सति पश्चाद् द्रष्टुमप्यनीशे च सति परमोनन्दार्भकः सर्वेशस्तं स्वमञ्जुमहिमदर्शने तदनुभवे चायोग्यं ज्ञात्वा सपदि तत्क्षणात् अजाजवनिकां चछाद यया प्रकृतान् वत्सबालांस्तदन्वेषकस्वपर्यन्तानाच्छाद्य पुनः स्वात्मभूतांस्तान् घनश्यामादिलक्षणानदर्शयन्तामजाजवनिकां योगमायाख्यां तिरस्करणीमन्तर्धापयदित्यर्थः । मायायोगमाययोर्भेदस्तु "विष्णोर्माया भगवती"ति पद्यटिप्पण्यां द्रष्टव्यः । क्व मुह्यतीत्यत्राह—निजे असाधारणे महिमनि दर्शिते घनश्यामादिलक्षणे महैश्वर्ये, कीदृशे अतर्क्ये यतः स्वप्रमितिके स्वप्रकाशविज्ञानन्दरूपे इत्यर्थः । तादृशस्य मूर्तत्वादिना अतर्क्यत्वमित्यर्थः । अतएवाजातस्त्रिगुणायाः परत्र तदस्पृष्टे इत्यर्थः । अतन्निरसनमुखे ब्रह्मकैर्वेदशिरोभिः "अस्थूलमनण्वह्रस्व" मित्याद्योपनिषद्वाक्यैर्मितिज्ञानं यस्य तस्मिन् ॥ ५७ ॥ अर्वाग् बहिः प्रतिलब्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि येन सः परेतवदुत्थितः मृतश्चेत् कथञ्चिदुत्तिष्ठति तथेत्यर्थः । विस्मय महाभाव विमर्दितत्वादिति भावः । आत्मना स्वेन सहेदं जगदाचष्टापश्यत् ॥ ५८ ॥ अथ कृपालुः नन्दार्भकः स्वशिष्याय तस्मै स्वमाधुर्याश्रयं वृन्दावनमदर्शयदित्याह—सपदीति । अभितो दिशः पश्यन् वृन्दावनमपश्यत् जनाजीव्यैर्नानास्वादुफलरसवद्भिर्द्रुमैराकीर्णं सम्यगासमन्तात् प्रियाणि यत्र यत् ॥ ५९ ॥ तदेवाह नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वैरं येषां ते नृमृगादयो मनुजव्याघ्रादयो यत्र मित्राणीव सहैवासन् अजितस्यावासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयो यतस्तस्मिन् ॥ ६० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमप्रयोजके ब्रह्मणि जाते भगवांस्तद्रूपमुपसंहृतवानित्याहेतीरेश इति, इत्यमुना प्रकारेणेरेशे वाक्पतौ ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे मुह्यति च सति तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वाजाजवनिकां मायारूपतिरस्करिणीं चच्छादाच्छादितवान्, न

प्रसारितवान्, यथा ब्रह्मणो दर्शनं न भवति, उद्घाटितमाययैव तेषां दर्शनं न तु निर्माणमत आच्छादनेदर्शनं युक्तमेव, ननु ब्रह्मणो मोहेदर्शने च को हेतुस्तत्राह **निजमहिमन्यतर्क्ये** सति, भगवतोसाधारणमहिमान्येषां तर्कविषयोपि न भवति, अतः कथं द्रष्टुं शक्यते ज्ञातुं वा ? तदेव कुतस्तत्राह **स्वप्रमितिक** इति, स्वस्यैव भगवत एव प्रमितिर्यस्य, केवलं स्वसंवेद्यमेव तन् न त्वन्यसंवेद्य, तत्रापि हेतुर**जातः परत्रे**ति, प्रकृतेः परः सः, प्रकृतौ चान्ये, अतो यत्र भगवांस्तत्रान्यो नास्तीति भगवत्संवेद्यमेव भगवन्-माहात्म्यं, ननु श्रुत्वा कथं न ज्ञायते ? तत्राहातन्निरसनमुखब्रह्मकमितावििति, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निरसनद्वारैवोपनिषदो ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति न तु साक्षादाहत्य, संङ्केतग्रहाभावात्, वैदिकव्यवहारेपि यावदयं बहिर्मुखस्तत्र प्रविशति तावद्बहिर्निरसनेनैव प्रवेशनीयः प्रविष्टस्तु तद्भावमेव प्राप्स्यतीति स्वसंवेद्य एव भविष्यति, अतः प्रथमाधिकारे श्रुतिस्तथैवा 'हाथात आदेशो नेति नेती'ति, अतः श्रुतयो-प्याहत्य न वदन्तीति युक्तमेव तस्य द्रष्टुमशक्तिर्मोहश्च **ततो दुःखं चे**ति ॥ ५७ ॥ भगवतैवं कृते मूर्छित एव ब्रह्मा पतितस्ततः कियत्कालानन्तरमुत्थितः, **अवगिव प्रतिलब्धमक्षं** ज्ञानं येन, लोकदर्शनार्थमेवोत्थितो न तु भगवद्दर्शनार्थमिति व्यर्थमस्योत्थानमिति दृष्टान्तमाह **परेतवदि**ति, यथा मृत उत्तिष्ठति केनचिन्निमित्तेन तथायमप्युत्थितः पूर्वं मृतो मूर्छितः पश्चादुत्थित इति वा कृच्छ्रादतिकष्टेनैव **दृष्टीरुन्मील्येदं** जगदेव दृष्टवान् ॥ ५८ ॥ ततः **सपद्येवाभितः पश्यन् दिशो**पश्यत् ततः पुरःस्थितवृन्दावनं चापश्यत् ततस्तस्मिन् वने जीवनार्थमागतांल्लोकानपश्यत् तदाह **जनाजीव्य**मिति, **द्रुमाकीर्ण**मिति द्रुमैर्व्याप्तं न तु शून्यारण्यं **समं च तदासमन्तात् प्रियं च** ॥ ५९ ॥ ततस्तत्रत्यान् मृगानपि दृष्टवानित्याह **तत्र नैसर्गदुर्वैरा** इति, स्वभावत एव दुष्टवैरा अप्यश्वमहिषादयः **सहैवासन्** नरा मृगाश्च किञ्च **मित्राणीव**, तत्र हेतु**रजितस्य** भगवत **आवासेन गता रुट् तर्षा** तृष्णान्यपि कामादयो दोषाः, गतरुट्तर्षादिकं यथा भवति तथा सहासन्निति सम्बन्धः ॥ ६० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'एवं मोहमग्नं ब्रह्माणं भगवान् कृपया उज्जहार' इत्याह—इतीति। इत्येवं दृष्ट्वा इरेशे इरा सरस्वती, तस्या ईशे भर्तरि ब्रह्मणि 'किमिदं दृश्यते' इति मुह्यति सति पश्चात्तद्द्रष्टुमप्यनीशे असमर्थे च सति परमोऽजः श्रीकृष्णस्तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वा 'अयं लोकाभिमानी ममैश्वर्यं द्रष्टुमयोग्य' इति कृत्वा सपदि झटिति तस्योपरि अजाजवनिकां मायारूपां तिरस्करिणीं चछाद प्रसारि-तवान्। अनेन 'स्वैश्वर्यदर्शनार्थं पूर्वं भगवता स्वमाया प्रसारिता, अन्यथा तद्दर्शनं न स्यात्' इति ज्ञेयम्। 'क्व मोहः को वा मोहे हेतुः' इत्यपेक्षायामाह—अतर्क्ये इति। तर्कागोचरे भगवति इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—निजमहिमनीति। निजः असाधारणो महिमा यस्य तस्मिन् इत्यर्थः। दर्शनायोग्यत्वे हेतुमाह—स्वप्रमितिके इति। स्वप्रमितिः स्वप्रकाशं च तत् कं सुखं च तस्मिन्, स्वप्रकाशसुखरूपे इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह—अजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन्निति। 'एवंभूते किं प्रमाणम् ?' इत्यपेक्षायामाह—अतदिति। अतन्निरसनमुखेन 'अथात आदेशो' 'नेति नेति' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' इत्येवं ब्रह्मव्यतिरिक्तनिरासप्रकारेण ब्रह्मकैः श्रुतिशिरोभिर्मितिर्ज्ञानं यस्मिस्त-स्मिन्नित्यर्थः ॥ ५७ ॥ ततो मायाप्रसारणानन्तरं अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धानि अक्षाणि इन्द्रियाणि येन सः को ब्रह्मा परेतवत् मृतो यथा कथञ्चित् पुनरुत्तिष्ठेत् तथोत्थितः कृच्छ्राच्छनैर्दृष्टीर्नेत्राणि उन्मील्यात्मनाऽहङ्कारास्पदेन देहादिना सन्देहं ममकारास्पदं विश्व-मचष्ट अपश्यत् ॥ ५८ ॥ ततः सपद्येवाभितः सर्वतः सर्वा दिशः पश्यन् जनानामाजीव्या जीविकारूपा ये द्रुमास्तैराकीर्णं व्याप्तम्, समाप्रियं सन्ततानि आसमन्तात् प्रियाणि वस्तूनि यत्र तद्वृन्दावनं पुरतः स्थितमपश्यदित्यन्वयः ॥ ५९ ॥ समाप्रियत्वे हेतुं सूचयन् वृन्दावनं वर्णयति—यत्रेति। यत्र वृन्दावने नैसर्गदुर्वैराः स्वाभाविकप्रतिकायैर्वैरवन्तोऽपि नर—व्याघ्रादयः आदिपदेन अहि-नकुलादयो मूषक-मार्जारादयश्च मित्राणीव सहैवासन्नित्यन्वयः। ननु 'कथमेवं स्वाभाविकवैरत्यागः ?' इत्यपेक्षायां 'वैरं हि कामक्रोधभयादिभि-र्भवति, ते च सर्वे तत्रत्यानां भगवन्महिम्ना निवृत्ताः। अतः कारणाद्वैरं कथं स्यात् ?' इति सूचयन्नाह—अजितेति। अजितस्य वशीकृतकालकर्मस्वभावादेः श्रीकृष्णस्य आवासेन द्रुताः पलायिता रुट्तर्षादयः क्रोधलोभादयः आदिपदेन भयादयश्च यस्मात्, तथा-भूतं वृन्दावनमपश्यदित्यन्वयः ॥ ६० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति ॥ इत्येवं दृष्ट्वा अतर्क्ये तर्कागोचरे निजः असाधारणो महिमा यस्य तस्मिन् स्वप्रमितिः स्वप्रकाशं च तत्कं सुखं च तस्मिन्स्वप्रकाशसुखरूपे अजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन् अतन्निरसनमुखेन "अथात आदेशो नेति नेति" अस्थूलमनण्वह्रस्वमित्येवं ब्रह्मव्यतिरिक्तनिरासप्रकारेण ब्रह्मकैः श्रुतिशिरोभिर्मितिर्ज्ञानं यस्मिन् तस्मिन् भगवति विषये इरेशे इरा सरस्वती तस्या ईशे भर्तरि महाबुद्धिमत्यपीत्यर्थः। ब्रह्मणि किमिदं दृश्यत इति मुह्यति सति पश्चात्तद्द्रष्टुमप्यनीशे असमर्थे च सति परमोऽजः श्रीकृष्णस्तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वा अजाजवनिकां मायारूपां तिरस्करिणीं चछाद अपसारितवान्। तुगभाव आर्षः। "छद, अपवारणे" आधृषीयः। तत्तद् वत्सबालकान् चतुर्भुजादित्वेन दर्शयन्मायामन्तरधापयत्। यद्वा। अयं लोकाधिपत्याभिमानी ममैश्वर्यं द्रष्टुमयोग्य इति कृत्वा सपदि झटिति तस्योपरि प्रसारितवान्। अनेन स्वैश्वर्यदर्शनार्थं पूर्वं भगवता स्वमाया न प्रसारिताऽन्यथा तद्दर्शनं न स्यात् इति ज्ञेयम् ॥ ५७ ॥ तत इति ॥ ततो मायाप्रसारणानन्तरम् अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धानि अक्षाणि इन्द्रियाणि येन

सः को ब्रह्मा परेतवत् मृतो यथाऽमृतसेकेन कथंचित्पुनरुत्तिष्ठेत् तथोत्थितः कृच्छ्राच्छनैर्दृष्टीर्नेत्राणि उन्मील्यात्मना देहादिना
इदं विश्वम् अचष्ट अपश्यत् ॥ ५८ ॥ सपदीति ॥ सपदि एव अभितः सर्वतः सर्वा दिशः पश्यन् जनानामाजीव्या जीविकाः
द्रुमास्तैराकीर्णं व्याप्तं समाप्रियं सन्ततानि आसमन्तात् प्रियाणि वस्तूनि यत्र मा लक्ष्मीस्तत्प्रियो भगवान् तेन सहितं वा
वृन्दावनं पुरतः स्थितमपश्यत् ॥ ५९ ॥ यत्रेति ॥ यत्र वृन्दावने नैसर्गदुर्वैराः स्वाभाविकाप्रतिकार्यवैरवन्तोऽपि नरव्याघ्रा
मित्राणीव सहैवासन् यतस्तद्वृन्दावनमजितस्य श्रीकृष्णस्य आवासेन द्रुताः पलायिता रुट् तर्षादयः क्रोधलोभादयः आदि
भयादयश्च यस्मात्तादृशमस्ति । अतस्तत्र विरोधाभाव एव ॥ ६० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दृष्टैश्वर्यात् अजस्य परावृत्तिमाह इतीति । अतर्क्ये जनैस्तर्कागोचरे स्वप्रमितिके स्वस्यैव प्रमितिर्ज्ञानं प्रकाशकं यस्य
श्रीकृष्णोपदिष्टज्ञानेनैव गम्यमित्यर्थस्तस्मिन् अतः अजातः प्रकृतेः परत्र परस्मिन् तस्मात् परमेश्वरादन्येऽक्षरब्रह्मतत्त्वमुक्त
प्रकृतिपुरुषादयः अतदस्तेषां निरसनमुखेन परमेश्वरतुल्यत्वनिषेधमुखेन ब्रह्मकेषु श्रुतिशिरस्सु उपनिषत्सु मितिः प्रमाणं
तस्मिन् तथाचोक्तं श्रुतिस्मृत्योः नतत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत इति । निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते
इति एवंभूते निजमहिमनि निजः स्वकीयोऽन्यातुल्यो महिमा यस्य तस्मिन् अतिशयैश्वर्ययुक्ते श्रीकृष्णस्वरूपे इरेशे इरा वाणी
ईशे ब्रह्मणि किमिदं मया दृष्टमिति मुह्यति तदनंतरं द्रष्टुमप्यनीशे राजसस्वभावादीक्षितुमसमर्थे सति इति मुह्यं तं विधिं ज्ञात
परमः क्षराक्षरेभ्य उत्कृष्टोऽजः प्राकृतजन्महीनः श्रीकृष्णः सपदि शीघ्रं तस्योपरि अजाजवनिकां सर्वजीवावरणकारिणीं माया
तिरस्कारिणीं चच्छाद आच्छादयामास ॥ ५७ ॥ तत इति तत आच्छादनानंतरं अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धानि प्राप्तानि अक्षीणि येन
परेतवन्मृतवत् को ब्रह्मा उन्मील्य उद्घाट्य आत्मना स्वदेहेन सह ॥ ५८ ॥ जनानामाजीव्यैः फलादिभिर्जीवनार्हैः द्रुमैराकीर्णं व्या
समाप्रियं जनानां सम्यक् आसमंतात्प्रियं हितं यस्मिन् तत् पुरःस्थितं वृन्दावनम् अपश्यत् ॥ ५९ ॥ तदेव विस्तरतो वदति यत्रेति
वृंदावने नैसर्गेण स्वभावेन दुर्वैराः अनिवार्य्यं वैरयुक्ताः नृमृगादयो नरव्याघ्रादयः मित्राणीव सहासन् एकत्र स्थिता
अजितस्यावासेन निवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादयो मन्युतृष्णादयो यस्मात् एवंभूतं वृंदावनमपश्यदिति पूर्वेण संबंधः ॥६०

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अणिमेति ॥ अणिमाद्यैः महिमभिः सिद्धिभिः, अजा माया तदादिभिः विभूतिभिः, महदादिभिः, चतुर्विंशतिभिः तत्त्वैः
परीताः परितो वेष्टिताः, अजाद्याभिरिति प्रकृतेः पृथगुक्तिः । तत्त्वानां जीवात्मना सह चतुर्विंशतित्वम् ॥ ५७ ॥ कालेति ॥ स्व
भगवतो महि महिमा तेन ध्वस्तो निरस्तः महि स्वतन्त्रतारूपो महिमा येषां तैः, मूर्त्तिमद्भिश्च, कालो निमेषादिर्वत्सरान्तश्च स्वभाव
परिणामहेतुश्च संस्कार उद्बोधहेतुश्च कामः कर्महेतुश्च कर्म तद्देहोपलब्धिहेतुश्च गुणाः सत्त्वादयो ज्ञानविक्षेपमोहहेतवश्च ते आ
येषां तैः, उपासिताः ॥ ५८ ॥ सत्येति ॥ सत्यं विकाररूपासत्यत्वप्रतियोगि च ज्ञानं जाड्यप्रतियोगि च अनन्तोऽनन्तः
परिच्छेदप्रतियोगी च आनन्दः दुःखप्रतियोगी च तन्मात्रा एकरसमया मूर्त्तयो येषां ते, उपनिषद्दृशां ज्ञानचक्षुषाम् अपि,
निश्चितमेव, न स्पृष्टं स्पर्शयोग्यं भूरि माहात्म्यं येषां ते तथाभूताः ॥ ५९ ॥ एवमिति ॥ अजो ब्रह्मा, एवं सचराचरं स्थावरजङ्गम
सहितं, इदं, सर्वं यस्य भासा विभाति, एवंभूतं यत् परब्रह्म तदात्मा स्वरूपं येषां तान्, समासान्तर्गतस्यापि परब्रह्मेति पद
यस्येत्यादिविशेषणं छान्दसम् । अखिलान् सकृदेकदैव, ददर्श । यद्वा । अजः, एवं अखिलान् सकृत् परब्रह्मात्मनः ददर्श ।
पूर्वार्द्धं व्याख्याय यस्येत्येतत्पदस्य तद्धाम्ना तूष्णीमभूदित्युत्तरेणैवान्वयः ॥ ६० ॥

कृष्णप्रिया

राजन् परीक्षित् ! सर्वथा तर्क के अविषय-अगोचर-असाधारण निज महिमा वाले, स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, सुखस्व
प्रकृति-माया से पर, वेदोपनिषद् सरस्वतीजी भी भगवान का साक्षात् रूप से निरूपण करने में असमर्थ होने के कारण, ब्रह्म
अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है ऐसा निषेध मुख सच्चिदानन्द स्वरूप का किसी प्रकार कुछ संकेत ही करता है "ऐसे वाणीगोचर
ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की महिमा में समस्त विद्याओं के अधिपति ब्रह्माजी भी मूक बन गये और यह सब क्या है मैं क्या दे
रहा हूँ ऐसे अकुला उठे लेकिन दर्शन करने में भी असमर्थ हो गये। ब्रह्माजी की ऐसी दयनीय दशा को, स्थिति को देख
दयानिधि अजन्मा भगवान ने अपनी माया का परदा बिना विलम्ब ढक दिया ॥ ५७ ॥ स्वरूपाच्छादन के अनन्तर भगवत्
से ब्रह्माजी के अन्तःकरण में ज्ञानोदय हुआ। अब बाह्य ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्माजी जैसे मृत्यु पाकर पुनः पुनरुज्जीवित
सचेत हो उठे। सचेत दशा पाने के बाद ज्यों त्यों करके अति श्रम से ब्रह्माजी निज नेत्र खोले तब कुछ अंश में ब्रह्माजी
देह और इस जगत् को देख पाये ॥ ५८ ॥ बहिर्दृष्टि पाने के बाद ब्रह्माजी ने चारों ओर देखा, सबसे प्रथम दिखाएँ पुनः
श्रीवृन्दावन का दर्शन सन्मुख दर्शन पाया। श्रीवृन्दावन सबको एक समान प्रिय लगता है। जन जीवन देने वाले

फलफूल समृद्ध तरुवरों से सघन यह श्रीवृन्दावन है ॥ ५९ ॥ श्रीवृन्दावन में श्रीवृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण भगवान् नित्य विराजते हैं। इसलिये तृष्णा-काम-क्रोध-लोभ आदि दोष सबके अनायास दूर हो गये थे। स्वभाव से ही दुष्ट वैर भाव रखने वाले मृगादि पशुपक्षी वृन्द और नर-नारी निर्वैर मित्र बन कर रहते थे ॥ ६० ॥

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥ ६१ ॥
दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवानिपात्य[1] ।
स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥ ६२ ॥
उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य [2]पादयोः पतन् । आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥६३॥
शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।
कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया[3] ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [4]त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥
प्रक्षिप्तेषु द्वितीयोऽध्यायः

कर्वमक्षमा

अन्वयः—तत्र परमेष्ठी अनन्तं परं अगाधबोधं पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं उद्वहत् पुरा इव परितः सखीन् वत्सान् विचिन्वत् सपाणिकवलं एकं अद्वयं ब्रह्म अचष्ट ॥ ६१ ॥ दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतः अवतीर्य पृथ्व्यां कनकदण्डं इव वपुः निपात्य चतुर्मुकुटकोटिभिः अङ्घ्रियुगं स्पृष्ट्वा नत्वा मुदश्रुजलैः अभिषेकं अकृत ॥ ६२ ॥ प्राक् दृष्टं कृष्णस्य महित्वं पुनः पुनः स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः उत्थाय उत्थाय चिरस्य पादयोः पतन् आस्ते ॥ ६३ ॥ अथ शनैः उत्थाय लोचने विमृज्य मुकुन्दं उद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुः गद्गदया इलया ऐलत ॥ ६४ ॥

समाप्तः त्रयोदशोऽध्यायः ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तत्र च परमेष्ठी ब्रह्मा इव पुरा पूर्वंदेव ब्रह्म अचष्टापश्यत् । कथंभूतम् । पशुपवंशशिशुत्वं नाट्यमुद्वहत् । नाट्यमित्यत्र हेतुः—अद्वयमित्यादि अद्वयं च वत्सान्विचिन्वत् । एकं च सखीन् । अगाधबोधं च विचिन्वत् । अनंतं च परितो विचिन्वत् । परं च शिशुत्वमुद्वहत् । ब्रह्म च सपाणिकवलमिति नाट्यमेवोद्वहदित्यर्थः ॥ ६१ ॥ निजधोरणतः स्ववाहनात्त्वरेण वेगेनावतीर्य दंडवन्नत्वा चतुर्णां मुकुटानामग्रैरंघ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसुजलैरानंदाश्रुरूपैः सुजलैरभिषेकमकरोदिति ॥ ६२ ॥ चिरस्य चिरं पादयोः पतन्नास्ते ॥ ६३ ॥ सवेपथुः सकंपः अत एव गद्गदया अनुकरणमेतत् । इलया वाचा ऐलताऽस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधपूर्वार्धे टीकायां ब्रह्ममोहनिरूपणं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र वृंदावने । इत्यर्थ इति—नाट्यविनाद्वयस्य वत्सविचयनम्, एकस्य सखिविचयनम्, अगाधबोधस्य विचयनम्, अनंतस्य परितो विचयनं परस्य शिशुत्वं, ब्रह्मणः सपाणिकवलत्वं च कदाचिदपि न संपनीपद्यत इति भावः । ततः स्वरूपभूतानि चतुर्भुजत्वादीनि योगमाययैवाच्छाद्य प्रकटमेवाद्वयं ब्रह्म श्रुत्युक्तं दर्शितसर्वस्वरूपमूलभूतं स्वरूपं दर्शयामास । कीदृशम्—पशुपवंशशिशुत्वेपि प्रौढपरमचतुरोचितं नाट्यं मत्प्रभुर्मया मोहित एवेति ब्रह्माणं मिथ्याभिमानं ग्राहयितुं शाद्वले वत्सानदृष्ट्वापि पुलिनेऽपि सखीनदृष्ट्वाप्यदर्शनाभिनयं नटानां कर्मोद्वत् । दर्शितानां ब्रह्मादिस्तंबपर्यंतानामाच्छादनादद्वयं सर्वमूलस्वरूपत्वात्परं दर्शितेभ्यश्चिद्ब्रह्मवेभ्योऽप्यपरेषां चिदानंदमयपरः सहस्रमहावैभवानां विद्यमानत्वादनंतं परमेष्ठिनो वराकस्य का गणना, श्रीबलदेवाद्यैरवतारैरपि दुःप्रवेशत्वादगाधबोधम् उक्तलक्षणान्नाट्याद्वत्सान्सखींश्च पुरेव परितः इतस्ततो विचिन्वदिति वत्सबालान्वेषणं पूर्ववर्षे ब्रह्मणा मायामोहितत्वाद्यथार्थमेवागतम् । अधुना तु मायासक्तत्वाच्छाद्वलतृणं चरतो वत्सान्पुलिने च भुंजानान्बालान्पश्यता स्वापहृतान्मायि-

१. निपात्य—वीर. ; गो. प्रे. पु. ; निपात्य—श्रीधर. वंशी. विज. विश्व. शुक. । २. पदयोः—प. पु. टी. । ३. येडतेरया—वीर. । ४. पूर्वार्धे—श्रीधर. ।

कवत्सबालांश्चापश्यता तेन मन्मोहनार्थमभिनयमात्रमित्यवगतम्। अत एव 'नौमीड्य ते' इत्यग्रिमस्तुतिवाक्येन वत्सबालान् विचिन्वत इति विशेषणं नोपन्यस्तम्। स्वरूपभूतानां वासुदेवमूर्तीनां स्वभेदानां योगमाययैवाच्छादनादेकं भक्तमनोहरमाधुरी-लीलामयत्वात्सपाणिकवलम्। अत्र कस्मिंश्चिदधिकारिणि निकृष्टे धर्मधर्मिभावरहितं निराकारं ज्ञानमात्रं यद्ब्रह्मेतिप्रसिद्धं तदपि योगमाययैव तद्दृष्टेः प्रति चिदानंदमयानामपि रूपगुणनामलीलापरिकरधामादीनामाच्छादनाज्ज्ञानमात्रस्यैव प्रकाश-नात्संगतमित्येवमेव मिथो विरुद्धार्था अपि श्रुतयो निर्विरोधमेव संगमयितव्या इति दिक्। तत्र पशुपवंशशिशुत्वनाट्यमेवोद्वहन्न तु स्वरूपमिति श्रीभागवतस्य मोहिनीत्वप्रतिपादकमेव व्याख्यानमत एव स्वामिनोऽपि स्तुतौ भगवतः कर्मत्वे ज्ञाते प्रयोजना-पेक्षायां भगवानेव प्रयोजनमिति व्याख्यातत्वान्निराकारत्वं नाभिमतम्, न ह्यवास्तवीभूतं वस्तु स्तुतिप्रयोजनीक्रियत इति तत्त्वमिति चक्रवर्ती ॥६१॥ 'युग्यं पत्रं च धोरणम्' इत्यमरः। कनकदंडमिव हेमयष्टिरिव। इदमेव नराकृति परं ब्रह्म सर्वमूलभूतमित्यवगम्य त्वरया वाहनादुत्तीर्य देहाभिमानं परित्यज्य भूमौ दंडवत्पपात। भक्त्युद्भूताश्रूणां पावित्र्यात्सुप्रयोगः ॥६२॥ महित्वमनंतब्रह्माण्ड-प्रदर्शनरूपम् ॥ ६३ ॥ अत एव सकंपत्वादेव। एतद्गद्गदयेत्येतत्, अनुकरणं वाच एव तच्च तद्वत्तन्त्रे तिलक्षणकम्। ईड्यतेऽनयेति ईडा डलयोरैक्यत्वादीवेति। ह्रस्वेकारादिरप्ययं वाग्वाचकोस्ति। ऐलत 'ईड्-स्तुतौ'॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततश्च तत्तत्सर्वफलं साक्षाच्चकारेत्याह– तत्रेति ब्रह्म ति। प्रापञ्चिकानां तेषां तेनैवाविर्भावादिदर्शनेन तदाद्यन्तयोरेक-स्वरूपोदयेन च तत्तल्लक्षणाक्रान्तत्वात्। ननु, सम्प्रति दृश्यमानप्रपञ्चस्यान्यत् कारणमस्तु तत्राह, अद्वयं "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" इति श्रुतेः। सजातीयभेदरहितं ततो दृष्टं परित्यज्य किमर्थमदृष्टं कल्प्येत -तत्रेदमप्येकं तत्र तत्र स्वशक्त्येकमात्रसहायं पूर्वयुक्त्या बहुमूर्तित्वेऽपि सत्यज्ञानादिस्वरूपैकमूर्त्तिकमित्यर्थः। अनेन विजातीयसम्भेदश्च निषिद्धः केषाञ्चित् स्वगतभेदनिषेधश्च शक्तिशक्ति-मतोरभेदविवक्षया एवं सर्वकारणत्वेन सर्वपरत्वमनन्तत्वं तथा सर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वातर्क्यस्वरूपतच्छक्तित्वादिभिरगाधबोधलं च प्रसिद्धम्। महापुरुषादिकारणनराकृतित्वेनैव सर्वबृहत्तमत्वात् ब्रह्मत्वं साधयित्वा परं ब्रह्मापश्यदित्युक्तं वक्ष्यते च 'अद्यैव त्वदृते' इत्यादि तदेवमनुभूतपारमैश्वर्यस्य "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" ।२।१।३३। इति न्यायेन सर्वलीलानिधानस्य तादृशनराकृतित्वोचित-परमलीलामाधुर्यमप्यनुभूतवानित्याह, तत्र तादृशे श्रीवृन्दावने पशुपवंशशिशुत्वं श्रीगोपराजकुमारलीलत्वमेव नाट्यं वैचित्रीभिस्तद्वत् परमचमत्कारकारकम् उत्सर्वोत्कृष्टतया वहत् यत्नेन बिभ्रदिति तत्र च तादृशब्रह्मत्वादिधर्माणामप्युपसर्जनताजननीं ब्रह्मादि-चाण्डालपर्य्यन्तजनमनोहरां निजजनप्रेमवशतामयीं कामपि लीलामनुभूतवानित्याह–वत्सानिति। "सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसाऽ-वजगाम ह" इति तेषां ज्ञातत्वात् पुरेव विचिन्वदित्यर्थः। अन्यत्तद्व्याख्यावत् एवं वत्सरं यावत्तेनैव रूपेण वत्सबालपालकतया तत्परोक्षमवस्थितिस्तस्य गम्यते व्रजे गमनं च स्वस्वरूपप्रकाशद्वारा तेन जनकश्रुतदेवगृहगमनवत् तत्प्रकाशे कालगमनं च सखीनामिव तस्यापि सङ्क्षेपेणैव ज्ञातं कवलादीनां तथैव स्थितेरिति ज्ञेयम्॥ ६१ ॥ कथं नत्वेत्येतदाह–पृथ्व्यामिति पादद्वयेन। तेन देवाभि-मानापगममपि बोधयति, अन्यथा न हि देवा भुवं स्पृशन्तीति न सिद्ध्येत् कियद्वेदं "तद्भूरि भाग्यमिह जन्म" इत्यादि वक्ष्यमाणात् कनकेति तद्वपुष ईषद्रक्तपीतवर्णत्वात् चतुर्मुकुटाग्रैः स्पृष्ट्वेति चतुर्दिक्षु स्थितानां चतुर्णामपि कृतार्थतायै क्रमेण परिवृत्त्या भूमौ ललाटपातनात् पश्चादानन्दोदयेन चुम्बन्निवाङ्घ्रिस्पर्शनमुखैरपि कृतवानिति ज्ञेयम्, अकृताभिषेकमित्युपपत्तौ अनेनाश्रूणामत्यन्त-बाहुल्यं बोध्यते ॥ ६२ ॥ उत्थायोत्थाय पतन् पुनः पुनश्चिरमास्ते आसीत् लकारव्यत्ययश्छान्दसः साक्षात्पश्यत इवोक्तेरौपचारिका वा तत्र पतने हेतुः महित्वमिति उत्थाने हेतुस्तु तच्छ्रीमुखदिदृक्षैव ज्ञेयः॥ ६३ ॥ शनैरिति भक्त्युद्रेकेण प्रणामपरित्यागाशक्तेः किं वा प्रेमभराक्रान्त्या स्वभावत एव जाड्यापत्तेः लोचने विमृज्येति गलदश्रुधारया सम्यग्दर्शनाशक्तेः अष्टलोचनत्वेऽपि लोचनद्वयोक्ति श्रीभगवदभिमुखवर्त्यपेक्षया मुकुन्दमिति मुक्तिदातृतीर्थत्वेऽपि मुक्तिशब्दस्य भक्तावपि सम्मतत्वात् यथा पञ्चमे यथा वर्णविधान-मपवर्गश्च भवतीत्यारभ्य अनन्यभक्तियोगलक्षणा इति उद्वीक्ष्य उच्चैर्विलोक्य पश्चाद्विशेषतो नम्रकन्धरः सन् अपराधभयलज्जादिना इति श्रीब्रह्मणो भक्तिविशेषेण वत्सादिमार्गणप्रायार्थं भ्रमणं विहाय स्थिरीभूतोऽसाविति गम्यते। समाहित इत्यनेन सवेपथुर्गद्ग-दयेति प्रेमसम्पल्लक्षणेन च स्तोत्रस्य परमसम्यक्त्वं सूचितम्, ऐलत ऐट्टलकारोच्चारणं गद्गदभावानुकरणेनैव अन्योऽन्यं पूर्व पूर्व चोत्तरोत्तरमपि स्फुटं सर्वमेतन्महाश्चर्यं विलोकयति मन्मनः ॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततश्च श्रीकृष्णं ददर्शेत्याह—तत्रेति। अब्दगतेऽपि पूर्व्ववद्वत्स-सखिगण-मार्गणादिकं श्रीब्रह्मणः परमकौतुकाय; किंवा भावि-मोह-निवृत्तिर्निज-सहचराणां पूर्व्ववत् समागमादिसुखार्थम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। तत्र तादृशं वस्त्वीदृग्वर्त्तत इति चमत्कार-विशेषस्य भक्तिविशेषस्य वा कारणत्वे तात्पर्य्यम्, न तु ब्रह्मदृष्ट्याविति; यद्वा, परंब्रह्म श्रीभगवन्तमचष्ट। कथम्भूतम्? पशुप-वंश-

शिशुत्वेन श्रीनन्दकुमारत्वेन नाट्यं लीलामुद्वहत्; यद्वा, पशुप-वंशोगोपवेगुस्तस्मिन् शिशुत्वं वादनादि-परत्वम्, तदेव नाट्यमुद्वहत् कदाचित् कौतुकेन दक्षिणेन हस्तेन, कदाचित् वामेन तस्य वादनात्, कदाचिच्च भोजनार्थं जठरपट-सन्धौ न्यसनात्। कथम्भूतं नाट्यम् ? अद्वयमसाधारणमित्यर्थः। कथम्भूतं परं ब्रह्म ? एकमेकाकि-वत्सबालादिरूप-संवरणादत एव पुरेव विचिन्वत्। अन्यत् समानम्। एवमेषां श्रीब्रह्मदृष्टानां यथोत्तरं श्रैष्ठ्यमुह्यम् ॥ ६१ ॥ कथं नत्वेत्येतदाह—पृथ्व्यामिति पादद्वयेन; तेन देवाभिमानापगममपि बोधयति, अन्यथा 'नहि देवा भुवं स्पृशन्ति' इति तन्न सम्भवेत्। कनकेति श्रीब्रह्मवपुष ईषद्रक्तपीतवर्णत्वात्। चतुर्मुकुटाग्रैःस्पृष्ट्वेति शिरसश्चतुर्दिशं वर्त्तमानानां चतुर्णां मुखानां कृतार्थतार्थं क्रमेण परिवृत्य चतुर्ललाटानां भूमौ निपातनात्; अतएवोक्तमभितः पातयित्वेति, तथा भयादिव दूरतो नतिश्च बोधयति। पश्चादानन्दोदयेनाङ्घ्रियुगमस्पर्शनं मुखैर्ज्ञेयम्। अकृताभिषेकमिति तस्यैवाभिषेकोक्तेः; अनेनाश्रूणामत्यन्त-बाहुल्यं च बोध्यते। यद्वा, पदमस्पृशतो ब्रह्मणस्तादृश्यश्रुधारा स्नुता, यया चरणाभिषेकोऽभूत्। यद्वा, श्रीवृन्दावनस्याभिषेकमिति ॥ ६२ ॥ ततश्चोत्थानानन्तरं श्रीमुखदर्शनानन्दविशेषेण पादाब्जयोरेव चिरं पतन्नास्त इति प्रणाम-बाहुल्यं बोधयति। यद्वा, पुनः पुनरिति सर्व्वैरेवान्वेति; तथापि वीप्साद्वयं परमहर्षभरोदयात्; यद्वा, महिमविशेष-दर्शनाद्भक्तिविशेषेणादौ श्रीचरणाब्जयोर्दण्डवत् पतति, तदनन्तरं श्रीमुखदर्शनलोभेनोत्तिष्ठति, पुनर्माहात्म्य-स्मरणात् पतति, पुनस्तथैवोत्तिष्ठतीत्येवं चिरमवर्त्ततेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ शनैरिति भक्त्युद्रेकेण प्रणाम-परित्यागाशक्तेः। अप्यलोचनत्वेऽपि लोचनद्वयोक्तिः श्रीभगवदभिमुखवर्त्ति-मुखस्य लोचनाभ्यामेवोद्वीक्षणात्। यद्वा, प्रतिमुखं नेत्रद्वयमिति लोचनाभ्यां सर्व्वाण्येव तान्युपलक्षितानि। मुकुन्दमिति तं प्रति परमानन्दप्रदत्वाभिप्रायेण, उद्वीक्ष्य निजमुखमुत्थाप्योर्च्चैर्विशेषेण दृष्ट्वा, पश्चाद्विशेषतो नम्रकन्धरः सन् मायाविस्तारणापराधतो भयलज्जादिना, किंवा भक्तिस्वभावेन प्रश्रयवान् विनयीति प्रीतभक्तिरुक्ता। समाहित इत्यनेन सवेपथुर्गद्गदयेति प्रेमसम्पल्लक्षणेन च स्तोत्रस्य परमसम्यक्त्वं सूचितम्। 'इला' सरस्वती, तया सर्व्वयैव वाचेत्यर्थः; –चतुर्मुखानां कृतार्थतायै तैः सर्व्वैरेव स्तवनात्। ऐलतेत्यादौ लकारप्रयोगः प्रोक्त-श्रीब्रह्मभाव-विशेष-स्मरणेन श्रीबादरायणेरपि भावविशेषाविर्भावाद्वाग्विकारापत्तेरिति श्रीब्रह्मणो भक्तिविशेषेण वत्सादि-मार्गणार्थं भ्रमणं विहाय स्थिरीभूय स्थितममुमसौ तुष्टावेति ज्ञेयम्। एवमध्यायेऽस्मिन्नप्यारम्भादन्तान्तं प्रतिपदादिकं यथोत्तरामधिकमाश्चर्य्यमभिज्ञैरूह्यम्। तत्र तथा राजप्रश्नानुमोदनं प्रथममाश्चर्य्यम्; तत्र च विट्-दृष्टान्तेन सारग्राहिसतां श्रीभगवत्कथापरता स्वभाववर्णनम्; ततोऽपि श्रीभगवता सरः पुलिनश्लाघनम्; ततोऽपि क्षुत्पीडाविज्ञापनम्; ततोऽपि बालकानां भोजनपरिपाटी; ततोऽपि श्रीभगवतो भोजनमुद्रा; ततोऽपि विदूरगतवत्सानयनार्थं मित्राणामाश्वासनपूर्व्वकं स्वयंगमनम्; तत्रापि सपाणिकवलत्वम्; ततोऽपि दुर्गमस्थानेषु प्रयत्नेन वत्सान्वेषणम्; ततोऽपि मायया ब्रह्मणा वत्सवत्सपवर्गाणां मोहनमाच्छादनञ्च; ततोऽपि परमव्यग्रतया श्रीभगवता वत्सवत्सपानां सर्व्वत्रान्वेषणम्; ततोऽपि सद्य एव ब्रह्मचेष्टितज्ञानम्; ततोऽपि तन्मातॄणामिव ब्रह्मणोऽपि प्रमोदनेच्छा; ततोऽपि वत्सवत्सपादितत्तद्रूपतावाप्तिकौशलम्; ततोऽपि तैः सह पूर्व्ववत् क्रीडा; ततोऽपि तत्तन्मातॄणां स्नेहोद्रेकस्ताभिर्लालनादिविशेषश्च; ततोऽपि पूर्व्वतोऽन्योऽन्यं स्नेहविशेषस्ततोऽपि श्रीबलदेवस्य चिरं तत्तत्त्वाज्ञानम्; ततोऽपि तद्बोधनार्थं वत्सरान्ते गवां गोपानाञ्च स्नेहविशेषप्रकाशनम्; ततोऽपि रामेण विचारविशेषतो वितर्कणम्, श्रीभगवदुक्त्यैव तत्सम्यग्बोधनञ्च; ततोऽपि श्रीब्रह्ममोहस्तत्रापि ब्रह्मणा तत्त्वतस्तत्तद्रूपदर्शनम्; तत्र च तत्तत्त्वं तत्तन्माहात्म्यञ्च; ततोऽपि परमविस्मयेन ब्रह्मणो निश्चेष्टतादि; ततोऽपि सद्य एव तत्तद्रूपादिसम्वरणम्; ततोऽपि ब्रह्मणो व्युत्थानप्रकारः, श्रीवृन्दावनादिदर्शनप्रकारः, श्रीभगवद्दर्शनविशेषः, नमस्कारमुद्राप्रेमाश्रुभिरभिषेको मुहुरुत्थानं पतनञ्च प्रेमस्तुत्यारम्भश्चेत्येवं क्रमेण तत्तदवान्तरेऽपि प्रकरणविषयकाश्चर्य्यपरम्परा द्रष्टव्या। अन्या च ग्रन्थविस्तरभयान्न विस्तार्य्यते। श्रीभगवद्भक्तिरसिकानां विचारेण सा स्वमेव हृद्येव ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्व्वार्द्धे श्रीश्रील-सनातनगोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषण्यां श्रीदशमटिप्पण्यां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पशुपवंशे गोपवंशे शिशुत्वस्य बाल्यस्य नाट्यमुद्वहत् अद्वयमेकं नारायणं श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म अद्वयमिति निःसमाभ्यधिकम् एकं सपाणिकवलं करधृतस्निग्धकवलम् अचष्टापश्यत् ॥ ६१ ॥ निजवाहनहंसात् अवतीर्य पृथिव्यां वपुरभिपात्य चतुर्मुकुटकोटिभिः अङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा नत्वा च मुदश्रुसुजलैरभिषेकमकृत ब्रह्मेत्यभ्याहारः परमेष्ठीति पूर्वपदस्यान्वयो वा ॥ ६२ ॥ उत्थायोत्थाय श्रीकृष्णपदयोः पतन् चिरस्यास्ते ॥ ६३ ॥ अथ तन्महित्वं शनैः स्मरन्नेवोत्थायाश्रु पिच्छिले लोचने विमृज्य मुकुन्दं स्वस्य दमनोपयोग्युपायमहावदान्यं तं मोक्षदमुद्वीक्ष्य तदानीं तस्य स्वाभाविककृष्णस्य प्रागदृष्टं महित्वं पुनः पुनः स्मृत्वा कृपाऽऽनुरञ्जितं लोचनयुगलं पिबन्निवोद्वीक्ष्य स्वस्य तत्कृपाविस्मरणेन कृतघ्नत्वमिवालोच्य विनम्रकन्धरः तादृशापराधनिवृत्यर्थं कृताञ्जलिः उत्तरत्रापराधस्यानुवृत्तिनिराकरिष्णुरिव प्रश्रयवान् समाहितः श्रीमन्नारायणस्य तस्य ध्यानानन्दमग्नोऽत एव सवेपथुः उपर्यपि गद्गदया इलया वाण्या तं साक्षात्कृतस्वरूपरूपगुणविभूतिकं ऐलताऽस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत्र च परमेष्ठी ब्रह्मा पुरेव पूर्ववत्तथैवापश्यत् कथम्भूतं गोपालशिशुत्वनटनमुद्वहत् श्रीकृष्णात्मकं परं ब्रह्माद्वयं स्वतुल्य-वस्त्वन्तररहितं स्वतुल्यगोपबालकान्तररहितं वा अपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपम् अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितं एकमसहायं पाणौ कवलेन सहितं सखीन् वत्सांश्च विचिन्वत् एवम्भूतं कृष्णात्मकं ब्रह्माऽचष्टेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ इत्थं दृष्ट्वा त्वरया निजधोरणात्स्व-वाहनादवतीर्य पृथिव्यां कनकदण्डमिव स्वशरीरं पातयित्वा चतुर्णां मुकुटानां किरीटानां कोटिभिरग्रैरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा आनन्दा-श्रुरूपैः सलिलैः अभिषेकमकृताकरोत् ॥ ६२ ॥ चिरस्य चिरं पादयोः पतन् उत्थायोत्थायेत्यनेन पुनः पुनः पतन्निति सूचितम्। प्राग्दृष्टं श्रीकृष्णस्य माहात्म्यं पुनः पुनः स्मृत्वाऽऽस्त इत्यर्थः ॥ ६३ ॥ अथ शनैरुत्थाय नेत्रे विमृज्य मुकुन्दम् उद्वीक्ष्य विनम्रा कन्धरा ग्रीवा यस्य सः अत एव बद्धाञ्जलिः विनयवानेकाग्रचित्तः सवेपथुः सकम्पः अत एव गद्गदया वाण्या ऐलत तुष्टाव ॥ ६४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तत्रेति। ब्रह्म "अद्यैवत्वदृतेऽस्य" इत्यादिन्यायेन नराकृतितयैव परब्रह्म तदपश्यत् अत एवाद्वयमित्यादि एवमपि "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" २।१।३३ इति न्यायेन सर्वलीलाविधानस्यापि तस्य तादृशाविर्भावाभीष्टलीलामनुभूतवानित्याह-तत्रेति। श्रीगोपराजकुलतिलकलीलत्वमेव नाट्यं तद्वच्चमत्कारकारकं तदुत्कृष्टतया वहत् यत्नेन बिभ्रत् तत्राप्युपसर्ज्जनीकृतं परब्रह्मत्वभावां निजजनप्रेमवशतामयीं काञ्चित् तदन्तरीणां लीलामनुभूतवानित्याह—वत्सानिति । अन्यत् टीकादृष्टम् ॥ ६१-६२॥ पुनः पुनश्चिरमास्ते ऐलत पेठ्ट ॥ ६३-६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ प्रकाशिकां मायामन्तर्धाप्य स्वरूपेण स्थितमेकमेव ददर्शेत्याह—तत्रोद्वहदित्यादि । स परमेष्ठी एकमद्वयं ब्रह्माचष्ट ददर्श । कीदृशम् ? वत्सान् सखींश्च पुरेव विचिन्वत् । पुनः कीदृशम् ? पाणिकवलं पाणौ कवलो यस्य, परं परात्परम्, अनन्तमेक-मप्यपरिच्छिन्नम्, अगाधबोधमनवगाह्य बोधम् । ननु कथमेकत्वम्, (भा० १०।१३।४६) "ततः सर्वे वत्सपालाः" इत्यादौ (भा० १०।१३।५४) सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति स्वस्यैव बहुत्वात् । सत्यमित्याह—पशुपवंशशिशुत्वनाट्यमुद्वहत्, पशुपानां, गोपानां वंश पृथक् पृथगन्ववायास्तेषां शिशवो बालकास्तेषां भावः स्वरूपं तदेव नाट्यं नाटकीयवस्तु तद्यथा प्रवेश-निर्ग-माभ्यामाविर्भावतिरोभाववत्, तथा तदुद्वहत् (भा० १०।१३।४६) "व्यदृश्यन्त घनश्यामाः" इत्यादिना ये ये दृष्टाः, तेषां सर्वे तत्रैवान्तर्भावादेकमेवेति सिद्धम्, नतु स्वस्य नन्दकिशोरत्वनाट्यम्, तदा वंशशब्दो निरर्थकः स्यात् । पशुप-शिशुत्वनाट्यमित्यु-क्तेरेव सिद्धेः । एतेन श्रीनन्दकिशोरस्वरूपस्यैवाद्वयब्रह्मतेति सिद्धम् । नराकृति परं ब्रह्म' 'परमात्मा नराकृतिः' (भा० ७।१०।४८, ७।१५।७५) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्यादि पूर्वोक्तेन च । पाणिकवलत्वेन द्विभुजत्वमेव परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य साहजिकम् अद्वयं ब्रह्म त्युक्तेः । ब्रह्मणाप हृताः सर्वं इति ज्ञानतोऽपि तत्तद् विचयनमगाधबोधत्वे हेतुः ॥ (६१-६४)

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तत्रोद्वहदित्यादि । श्रीविग्रहस्य परिच्छिन्नत्वादिविरुद्धधर्मनिरासमुखेन बहिर्मुखानां मुखमुद्रणार्थं ब्रह्मैव तदिति निर्दिशति—तत्रोद्वहदिति । पशुपानां वंशोऽन्वयस्तस्य ये शिशवस्तेषां भावस्तद्रूपता स एव नाट्यं लीलामुद्वहत् सतः अद्वयं ब्रह्म पुरेव एकं पाणिकवलं पाणौ कवलो यस्य तं परमेष्ठी अचष्ट । अद्वयमिति तदतिरिक्तं ब्रह्मान्यन्नास्ति, स एव श्रीविग्रहे ब्रह्मेति केचित सात्वताः । यद्वा, पशुपवंश—शिशुत्वनाट्यमुद्वहत् श्रीकृष्णाख्यं परं परमेश्वरं परात्परं किमपि वस्तु अचष्टः, पुरेव एकं ददर्श, नाट्य-मित्यलीकत्वं निवारयति । ब्रह्माद्वयं ब्रह्मणा सहाद्वयं तदेव ब्रह्मरूपम् । अतः सत्यज्ञानानन्तानन्दत्वादिसिद्धम् । परं कीदृशम् ? अगाधबोधं च । पुनः कीदृशम् ? वत्सान् सखींश्च विचिन्वत्, 'अतीतसामीप्ये वर्त्तमाना' (६२।६४) ।

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ततश्च स्वस्वरूपभूतानि चतुर्भुजत्वादीनि योगमाययैवाच्छाद्य "एकमेवाद्वयं ब्रह्म" इति श्रुत्युक्तं स्वदर्शितसर्वस्वरूप-मूलभूतं स्वरूपं तं दर्शयामासेत्याह—तत्र वृन्दावने परमेष्ठी ब्रह्मा ब्रह्म अचष्ट अपश्यत् कीदृशं पशुपवंशशिशुत्वेऽपि प्रौढपरमचतुरो-चितम् नाट्यं मत्प्रभुमंया मोहित एवेति ब्रह्माणं मिथ्याभिमानं ग्राहयितुं शाद्वले वत्सान् दृष्ट्वापि पुलिनेऽपि सखीन् अदृष्ट्वापि दर्शना-

भिनयं नटानां कर्म उद्वहत् दर्शितानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां योगमायायाच्छादनादद्वयं सर्वमूलभूतस्वरूपत्वात् परं दर्शितेभ्यश्चि- द्वैभवेभ्यो अप्यपरेषां चिदानन्दमयपरस्सहस्रमहावैभवानां विद्यमानत्वादनन्तं परमेष्ठिनो वराकस्य का गणना श्रीबलदेवाद्यैरवज्ञारैरपि दुष्प्रवेशत्वादगाधबोधं उक्तलक्षणात् नाट्यात् वत्सान् सखींश्च पुरेव परित इतस्ततो विचिन्वदिति वत्सबालान्वेषणं पूर्ववर्षे ब्रह्मणा मायामोहितत्वात् यथार्थमेवावगतम् अधुना तु मायानिर्मुक्तत्वात् शाद्वले तृणं चरतो वत्सान् पुलिने च भुञ्जानान् बालान् पश्यता स्वापहृतान्मायिकवत्सबालकांश्च अपश्यता तेन मन्मोहनार्थमभिनयमात्रमिदम् इत्यवगतम् अत एव नौमीड्य ! ते इत्यग्रिमस्तुतिवाक्येन वत्सबालान्विचिन्वते इति विशेषणं नोपन्यस्तं स्वरूपभूतानां वासुदेवमूर्तीनां स्वभेदानां योगमाययैवाच्छादनादेकं भक्तमनोहरमहा- मधुरलीलामयत्वात्सपाणिकवलम् अत्र कस्मिंश्चिदधिकारिणि निकृष्टे धर्मधर्मिभावरहितं निराकारं ज्ञानमात्रं यत् ब्रह्मे ति प्रसिद्धं तदपि योगमाययैव तद्दृष्टेः प्रति चिदानन्दमयानामविरूपगुणनामलीलापरिकरधामादीनामाच्छादनाज्ज्ञानमात्रस्यैव प्रकाशनात् सङ्गतमित्येवमेव मिथो विरुद्धार्था अपि श्रुतयो निर्विरोधमेव सङ्गमयितव्या इति दिक्। अत्र पशुपवंशशिशुत्वं नाट्यमेवोद्वहन्न तु स्वरूपमिति व्याख्यानं श्रीभागवतस्य मोहिनीत्वप्रतिपादकमेव "नौमीड्यतेऽभ्रवपुषे" इत्यत्र नौमीत्युक्त्वा प्रस्तुतस्य भगवतः कर्मत्वे ज्ञाते प्रयोजनापेक्षायामेवंभूतो भगवानेव प्रयोजनमिति व्याचक्षाणानां स्वामिचरणानामपि नाभिमतमित्यवधीयते न ह्यवास्तवीभूतं वस्तु स्तुतिप्रयोजनीक्रियते इत्यवधेयम् ॥ ६१ ॥ दृष्ट्वे ति इदमेव नराकृति परं ब्रह्म सर्वमूलभूतमित्यवगम्यत्वरेण त्वरया निजधोरणतः स्ववाहनात् पृथ्व्यां वपुरभिपात्येति न हि देवा भुवं स्पृशन्तीति नियमोल्लङ्घनाद्ब्राह्मणोऽस्य देवत्वाभि- मानापगमो ज्ञेयः चतुर्णां मुकुटानामग्रैरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वे ति चतुर्दिक्स्थितानां चतुर्णामपि मुखानां बलेन कृष्णाभिमुखीकरणात् अभिषेकमर्थादङ्घ्रियुग्मस्याकरोदित्युत्थायोत्थाय भूमौ द्रुतपतने अश्रूणां बाहुल्येन पुरो वेगाच्चरणयोर्निपातो ज्ञेयः अश्रूणां भक्त्यनु- भावरूपत्वेन पावित्र्यात् सुपदः प्रयोगः ॥ ६२ ॥ पतन्नास्ते इति बहुतरप्रणामान्ते आनन्दजाड्योदयात् वर्तमानप्रयोगो मुनेस्तदानीं तत्साक्षात्कारानुभवात् ॥ ६३ ॥ लोचने इति द्वित्वं पाणिद्वयेन लोचनद्वयस्यैव युगपन्मार्जनोपपत्तेः गद्गदया गद्गदभाववत्या इलया वाचा ऐलत ऐट्ट अस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । त्रयोदशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्र वृन्दावने स परमेष्ठी ब्रह्मा ब्रह्म मुमुक्षुभिर्जिज्ञास्यं यत् बृहद्गुणशक्तिमद्वस्तु तदचष्ट अपश्यत् । ननु, दृश्यस्य ब्रह्मत्वं नेति चेन्न "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादिश्रुतेः । कथम्भूतं ? परं पूर्णम् अद्वयं निःसमानातिशयम् अनन्तमियत्तानवच्छिन्नम् अगाधबोधमनवच्छिन्नज्ञानगुणं पुरेव पाणिकवलं पाणौ कवलं यस्य तत् एकं वत्सबालविरहितम् अत एव सर्वतो वत्सान्सखींश्च विचिन्वत् । नन्विदं बृहद्गुणशक्तिमतः पूर्णस्य पाणिकवलत्वं अद्वयस्यागाधबोधस्य वत्सबालान्वेषणपरत्वं किमभिप्रायमित्यत आह । पशुपवंशशिशुत्वनाट्यमुद्वहदिति । भक्तवात्सल्येन श्रीनन्दपुत्रत्वलीलामुद्विभ्रदित्यर्थः ॥६१॥ तत्परं ब्रह्म दृष्ट्वा त्वरेण त्वरितं निजधोरणतः स्वकीयवाहनात् अवतीर्य कनकदण्डमिव पृथ्व्यां वपुः शरीरं निपातचतुर्णां मुकुटानामग्रैरङ्घ्रि- युग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसुजलैरानन्दाश्रुरूपैः शोभनैर्जलैरभिषेकमकृताऽकरोत् ॥ ६२ ॥ चिरस्य चिरं पदयोः पतन्नास्ते ॥ ६३ ॥ इलया वाचा ऐलताऽस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे त्रयोदशाध्यायार्थप्रकाशः ॥ १३ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ प्रकाशितैर्वत्सतत्पालैः सहैकेन प्रकाशितेनैव रूपेण वन-गोष्ठ्योर्विक्रीडन्नेव प्रकृतान् तत्र तत्र स्थितानेव तांस्तन्मै- श्याविष्टत्वात् प्रकृतेनैव रूपेण विचिन्वन् हरिरस्थात् तच्च प्रकृतं तद्रूपमन्तःप्रवेशितं प्रकाशितं ब्रह्माणं प्रत्यदर्शयदित्याह तत्रेति । तत्रोक्तस्वरूपे वृन्दावने परमेष्ठी ब्रह्मा अचष्ट कीदृशं तदित्याह पशुपवंशशिशुत्वे गोपालकुलबालकत्वेऽपि प्रौढातिचतुरोचितं नाट्य- मुच्चैर्वहत् । विरिञ्चस्य मिथ्या मोहकृताभिमानग्रहणाय शाद्वले वत्सान् सरःपुलिने तत्पालांश्च दृष्ट्वापि तददर्शनाभिनयं नटानां कर्म धारयदित्यर्थः । प्रकाशितानामन्तः परेशितत्वादेकं जीवप्रकृतिरूपावयवद्वयान्यत्वादद्वयं विशुद्धमित्यर्थः । तदन्यत्वेऽत्र नत्र्, तत्तच्छ- क्तिमत् खल्ववयविप्रकाशिततत्तद्दर्शितत्वात् परं प्रकाशितेभ्योऽपि वैभवेभ्योऽन्येषां तादृशानामसंख्यानां तस्मिन् सत्वादनन्तं श्रीबलभ- द्रेणापि दुष्प्रवेशत्वादगाधबोधं पुरेव वत्सादीन् सम्प्रत्यपि विचिन्वत् ॥ ६१ ॥ दृष्ट्वा इदमेव स्वयं रूपं ब्रह्मे ति विज्ञाय निजधोरणतः स्ववाहनात् पृथिव्यामिति "देवा भुवं न स्पृशन्तीति नियमविलोपस्तद्वस्तद्धामत्वात् चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वेति- चतुर्दिक्स्थितानां बलेन कृष्णाभिमुखाविधानात् अभिषेकमङ्घ्रियुग्मस्यैव बोध्यम् ॥ ६२ ॥ पतन्नास्ते इति बहुप्रणामोत्तरमानन्द- जाड्योदयात् शुकस्य तत्साक्षात्कारानुभवाल्लटः प्रयोगः ॥ ६३ ॥ लोचने इति द्विवचनं प्राणिद्वयेन तद्द्वयस्य युगपदविमार्जनात् गद्गदया सगलदक्षरया इरया वाचा ऐलत अस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीसुबोधिनी

तस्मिन् वने भगवन्तमपि पूर्ववद् दृष्टवानित्याह तत्रोद्वहदिति, तत्र वृन्दावन उद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं येन वस्तु स्वद्वैतं ब्रह्मैव, परं कालादिनियन्तृ, अनन्तमत एवापरिच्छिन्नम्, अगाधो बोधो यस्य, उद्वहदिति भिन्नपदं वा विचिन्वदिति सम्बध्यते, सखीन् वत्सांश्च परितो विचिन्वन्तं, विचिन्वन् यो वर्तते तमितियोजना एकमेव वर्षात् पूर्वमेव गृहीतं कवलं यस्य, पाणौ कवलं तेन सहितमचष्ट दृष्टवान् ॥ ६१ ॥ ततो भगवन्तं दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतो विमानादवतीर्य परित्यज्य भूमौ समागत्य पृथिव्यां स्वस्य वपुः कनकदण्डमिवासमन्तात् पातयित्वा परिवर्तनेन चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रि स्पृष्ट्वा पुनर्वाचापि नत्वाश्रुजलैः प्रेमाश्रुभिः पादयुग्मस्यैवाभिषेकमकृत ॥ ६२ ॥ ततोपि पुनःपुनरुत्थाय कृष्णस्य पादे पतन् स्तब्ध इवास्ते, तत्र हेतुः प्राग्दृष्टं महित्वं पुनः पुनः स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ६३ ॥ ततः पुनर्मूर्छां परित्यज्य शनैरुत्थाय विमृज्य ततो निर्मलचक्षुषा मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विशेषेण नम्रा कन्धरा यस्य तादृशो जातः, ततः कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् सहितः समाहितः सावधानः सवेपथुः कम्पमानो गद्गदयेलया सरस्वत्यैडत स्तोत्रं कृतवान् ॥ ६४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रक्षिप्ताध्यायेषु द्वितीयाध्यायविवरणम् ॥ २ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'ततश्च तत्र पूर्ववच्छ्रीकृष्णं दृष्टवान्' इत्याह—तत्रेति । तत्र वृन्दावने परमेष्ठी ब्रह्मा पुरेव पूर्ववदेव पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं नन्दपुत्रत्वानुकरणमुद्वहत् दधत् ब्रह्म अचष्ट अपश्यत् । नाट्यमेव स्पष्टयति—अद्वयमित्यादिना । अद्वयं च वत्सान् विचिन्वत् अद्वयस्य विजातीयभेदशून्यत्वेन विजातीयवत्सान्वेषणं नाट्यं विना न सङ्गच्छते ॥ तथा एकं सखीन् विचिन्वदिति । एकस्य सजातीयभेदशून्यस्य सजातीयसख्यन्वेषणमपि नाट्यमन्तरेण न सङ्गच्छते ॥ तथाऽगाधबोधमपि विचिन्वदिति । अगाधबोधस्य सर्वज्ञस्य अज्ञकार्यमन्वेषणमपि नाट्यमन्तरेण न सङ्गच्छते ॥ तथाऽनन्तं च परितो विचिन्वदिति । अनन्तस्य देशकालपरिच्छेद रहितस्य देशान्तरगमनेनान्वेषणमपि नाट्यमन्तरेण न सङ्गच्छते ॥ तथा परं च शिशुत्वमुद्वहदिति । परमेश्वरस्य गोपपुत्रत्वं नाट्यंविना न सङ्गच्छते ॥ तथा ब्रह्म च सपाणिकवलमिति । ब्रह्मणोऽपाणिपादस्य पाणिकवलमपि नाट्यंविना न सङ्गच्छते अतो गोपपुत्रत्वादिकं सर्वं नाट्यमेवेत्यर्थः ॥ ६१ ॥ एवं दृष्ट्वा च त्वरेण वेगेन निजधोरणतः स्ववाहाद्धंसादवतीर्य पृथ्व्यां कनकदण्ड वद्वपुर्निपात्य नत्वा परिवर्तनेन चतुर्णां मुकुटानां कोटिभिरग्रैः तदङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसुजलैः आनन्दाश्रुरूपैः सुजलैस्तत्पादयोर भिषेकमकरोदित्यन्वयः ॥ ६२ ॥ प्राग्दृष्टं कृष्णस्य महित्वं महिमानं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः उत्थायोत्थाय चिरस्य चिरकालं पादयोः पतन्नास्ते स्म इत्यन्वयः ॥ ६३ ॥ अथानन्तरमुत्थाय अश्रुपरिपूरितनेत्रस्य सम्यग्दर्शनाशक्तेस्तस्याष्टलोचनत्वेऽपि दर्शनोपयुक्ते सन्मुखस्थे द्वे लोचने विमृज्य मुकुन्दं मुक्तिदातारं कृष्णमुद्वीक्ष्य सम्यग् दृष्ट्वा लज्जया विशेषेण नम्रा कन्धरा यस्य सः, आदरेण कृतः संयोजितः अञ्जलिर्येन सः, प्रश्रयवान् विनयवान्, भयेन सवेपथुः सञ्जातकम्पः, तथापि समाहितः स्वशक्त्यनुरूपं मनःसमाधानं कृत्वा गद्गदया स्खलिताक्षरया इलया वाण्या ऐलत अस्तौत् ॥ ६४ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य–वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । त्रयोदशो गतो ज्ञप्तिं ब्रह्ममोहनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्रेति ॥ तत्र वृन्दावने परमेष्ठी ब्रह्मा पुरेव पूर्ववदेव पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं नन्दपुत्रत्वानुकरणमुद्वहन् दधत् अद्वयं परं अनन्तम् अगाधबोधं परितः वत्सान् सखींश्च विचिन्वत् एकं सपाणिकवलं हस्तगतग्रासेन सहितं ब्रह्म श्रीकृष्णाख्यमचष्ट अपश्यत् नाट्यं च विरोधवशात् तथाहि अद्वयमपि वत्सान्विचिन्वत् स्वभावत एकमपि सखीन् विचिन्वत् अगाधबोधमपि विचिन्वत् अनन्त मपि परितो विचिन्वत् अनन्तमपि परितो विचिन्वत् परमपि शिशुत्वमुद्वहत् ब्रह्म अपि सपाणिकवलम् इति ॥ ६१ ॥ दृष्ट्वेति ॥ एवं दृष्ट्वा च त्वरेण वेगेन निजधोरणतः स्ववाहाद्धंसादवतीर्य देवाभिमानापगमाद्भुमिमेव स्पृशन् पृथ्व्यां कनकदण्डवद्वपुर्निपात्य नत्वा परिवर्तनेन चतुर्णां मुकुटानां कोटिभिरग्रैः तदङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा मुदश्रुसुजलैः आनन्दाश्रुरूपैः सुजलैस्तत्पादयोरभिषेकम् अकार्षीत् ॥ ६२ ॥ उत्थायेति ॥ प्राक् दृष्टं कृष्णस्य महित्वं महिमानं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः उत्थायोत्थाय चिरस्य चिरकालं पादयोः पतन्नास्ते स्म ॥ ६३ ॥ शनैरिति ॥ अथानन्तरमुत्थाय अष्टनेत्रोऽपि कृष्णदर्शनाय सम्मुखस्थे द्वे लोचने विमृज्य मुकुन्द मुद्वीक्ष्य सम्यग्दृष्ट्वा लज्जया विशेषेण नम्रा कन्धरा यस्य सः आदरेण कृतः संयोजितः अञ्जलिर्येन सः प्रश्रयवान् विनयवान् भयेन सवेपथुः सञ्जातकम्पः तथापि समाहितः स्वशक्त्यनुरूपं मनःसमाधानं कृत्वा गद्गदया स्खलिताक्षरया इलया वाण्या ऐलत अस्तौत् । "ईड्, स्तुतौ" धातो लुगभावश्छान्दसः । डस्य लकारो गद्गदभावानुकरणार्थः ॥ ६४ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् ॥ गङ्गासहायो निरमाद्दशमस्य त्रयोदशे ॥
इति श्रीभागवते दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्रेति । तत्र वृंदावने पशुपस्य गोपस्य वंशे शिशुत्वस्य नाट्यं वेशमुद्वहत् अनंतमंतवर्जितं अगाधबोधं दुर्ज्ञेयं एवंभूतमपि पाणौ कवलेन सहितं एकं वत्सान् सखीन् पुरेव पूर्ववत् परितः सर्वतः विचिन्वत् अद्वयं आदौ गोपादि बहुरूपतया दृष्टं पश्चाद-द्वितीयत्वेन दृश्यमानं परं क्षराऽक्षरेभ्यः श्रेष्ठं ब्रह्मबृहत्वादिगुणाविशिष्टं श्रीकृष्णाख्यं परब्रह्म परमेष्ठी ब्रह्मा अचष्ट अपश्यत् ॥ ६१ ॥ निजधोरणतः स्ववाहनरूपहंसात् त्वरेण अवतीर्य्य कनकदंडमिव वपुरभिपात्य क्षिप्त्वा चतुर्णां मुकुटानां कोटिभिरग्रभागैरंघ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा नत्वा मुदा हर्षेण पतमानैरश्रुरूपैः सुजलैः अभिषेकमकृत चकार ॥६२॥ चिरस्य चिरकालं कृष्णस्य पादयोः ॥ ६३ ॥ विशेषेण नम्रा कंधरा ग्रीवा यस्य कृतांजलिर्बद्धकरपुटः प्रश्रयवान् विनयवान् समाहितः सावधानः सवेपथुः सकंपः गद्‌गदया प्रेमार्द्रया इलया वाण्या । ऐल्त ऐंट्ट स्तुतिमकरोत् बहुलं छंदसीतिशयो न लुक् लकारोच्चारणं तु गद्‌गदभावानुकरणो नैव बोध्यम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने ब्रह्ममोहो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत इति ॥ ततः, अतिकुतुकशब्दोत्तरतृतीयायाश्छान्दसो लुक् । अतिकौतुकेनात्याश्चर्येण, उद्धृत्य दृष्टिं परावृत्य, हंसपृष्ठे निपत्येति वा । पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः । स्तिमितानि निश्चलान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य सः, 'अतिकुतुकोद्वृत्तस्तिमितैकादशेन्द्रिय' इति पाठे अतिकौतुकेनोद्वृत्तान्युत्कटान्यत एव स्तिमितानि दीनप्रायाणि पारवश्यं प्राप्तानीति यावत् । एकादशेन्द्रियाणि यस्य सः, अजो ब्रह्मा, तद्धाम्ना तेषां तेजसा, अभिभूतः सन्निति शेषः । पूर्देवी व्रजाधिष्ठात्री काचिद्देवता तस्या अन्ति समीपे, पुत्रिका चतुर्मुखी कनकप्रतिमा इव, तद्वदित्यर्थः, । तूष्णीं अभूत् ॥ ६१ ॥ एवं मुह्यते चतुर्मुखाय पूर्ववदात्मवत्सादीन् दर्शयितुमसाधारण-स्वमूर्त्तिदर्शनाच्छादिकां मायामाच्छादितवानित्याह ॥ इतीति ॥ अतर्क्ये तर्कागोचरे, निजोऽसाधारणो महिमा यस्य तस्मिन्, स्वप्रमिति स्वयंप्रकाशं ज्ञानं कं सुखं च यस्मिंस्तस्मिन्, अत एव अजातः प्रकृतेः सकाशात्, परत्र परस्मिन्, अतन्निरसनमुखेन प्राकृतभावनिरसनद्वारा ब्रह्मकैः श्रुतिशिरोभिः मितिर्ज्ञानं यस्य तस्मिन्, एवंभूते भगवति श्रीहराविति शेषः । इरा सरस्वती तस्या ईशो ब्रह्मा तस्मिन्, किं इदं इति वा इत्यमेव, मुह्यति मोहं प्राप्तवति सतीत्यर्थः । पश्चात् द्रष्टुमुक्तविधभगवत्स्वरूपं विलोकयितुं अपि, अनीशेऽसमर्थे जाते सति, परमः सर्वोत्तमः, अजः श्रीकृष्णः, ज्ञात्वा चतुर्मुखस्य तथाविधावस्थां विबुध्य, सपदि तत्क्षणमेव, अजाजवनिकां मायारूपां तिरस्करिणीं, इति वक्ष्यमाणप्रकारो ब्रह्मा यथा भवेत्तेन प्रकारेणेत्यर्थः । चच्छाद अपसारितवान् । यया माययाऽद्भुतं दर्शितं तां तिरोधत्तेत्यर्थः । अथवाऽयं लोकाभिमानी ममैश्वर्यं प्रष्टुमयोग्य इति, तस्योपरि मायां प्रसारित-वानिति ॥ ६२ ॥ तत इति ॥ ततोऽजाजवनिकाच्छादनानन्तरं, अर्वाक् बहिः प्रतिलब्धानि अक्षाणीन्द्रियाणि येन सः, कः ब्रह्मा, परेतवत् मृतः यथा पुनः कथंचित् उत्तिष्ठते तद्वदित्यर्थः । उत्थितः संज्ञां प्राप्तः, कृच्छ्रात् कथंचित्, दृष्टीः नेत्राणि उन्मील्य वै उन्मीलितानि कृत्वैव, आत्मना स्वेन सह, इदं जगत्, आचष्ट अपश्यत् । पूर्वं भगवद्रूपेभ्योऽन्यदपश्यत्, इदानीं तु जगज्जगदेव आत्मानमात्मानमेवाचष्टेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ सपदीति ॥ ततः सपदि एव, अभितः दिशः पश्यन्, पुरःस्थितं जनानामाजीव्या उपजीव्या ये द्रुमास्तरवस्तैराकीर्णं व्याप्तं, सं संततानि आसमन्तात् प्रियाणि यस्मिन्, तथाभूतं, वृन्दावनं, अपश्यत् ॥ ६४ ॥ तदेवाह ॥ यत्रेति ॥ अजितस्य भगवतः आवासेन द्रुताः पलायिताः रुट्तर्षादिका आदिना क्रोधलोभादयश्च यस्मिंस्तस्मिन्, यत्र वृन्दावने, नैसर्गिकं स्वाभाविकं दुर्वारमनिवार्यं वैरं येषां ते, नरो गोपादयः मृगाः सिंहादयश्च, मित्राणि इव, सह आसन् ॥ ६५ ॥ तत्रेति ॥ तत्र वृन्दावने, परमेष्ठी ब्रह्मा, पुरा इव वत्साहरणविधानात् प्रागिवेत्यर्थः । पशुपो नन्दस्तस्य वंशस्तत्र यच्छिशुत्वनाट्यं शिशुभाव-नाटनं तत्, उद्वहत्, अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं, अगाधबोधपरिच्छिन्नज्ञानस्वरूपं, अनन्तं त्रिविधपरिच्छेदरहितं, एकमसहायं, सपाणिकवलं पाणौ कवलेन सहितं, वत्सान्, सखींश्च, परितः विचिन्वत् मृगयत्, परं ब्रह्म, अचष्ट श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्मापश्यदित्यर्थः अद्वयमपि वत्सान् विचिन्वत्, एकं च सखीन्, अगाधबोधं सद्विचिन्वत्, अनन्तं च परितो विचिन्वत्, परं च सच्छिशुत्वमुद्वहत्, ब्रह्म च सपाणिकवलमिति नाट्यं बोध्यम् ॥ ६६ ॥ दृष्ट्वेति ॥ दृष्ट्वा इत्थं विलोक्य, त्वरेण, निजधोरणतः स्ववाहनात् अवतीर्य पृथ्व्यां कनकदण्डं इव, वपुः अतिपात्य, स्वशरीरं पातयित्वेत्यर्थः । नत्वा दण्डवत् प्रणामान् कृत्वेत्यर्थः । चतुर्णां चतुःसंख्याकानां मुकुटानां किरीटानां कोट्योऽग्रणिताभिः, अङ्घ्रियुग्मं पादद्वयं, स्पृष्ट्वा संस्पृश्य मुदश्रुसुजलैरानन्दाश्रुसुसलिलैः, अभिषेकं, अकृताकरोत् ॥६७॥ उत्थायेति ॥ विधिः, प्राक् दृष्टं महित्वं कृष्णस्य निरवधिकातिशयं महिमानमित्यर्थः । स्मृत्वा स्मृत्वा, चिरस्य चिरं, कृष्णस्य, पादयोरङ्घ्रियुग्मयोः, उत्थाय उत्थाय, पुनः पुनः पतन् आस्ते पतन्नेवास्ते स्मेत्यर्थः ॥ ६८ ॥ शनैरिति ॥ अथ वेधाः, शनैः उत्थाय, लोचने नेत्रे, विमृज्य परिमार्ज्य, मुकुन्दं स्वाश्रितमुक्तिदायिनं श्रीकृष्णं, उद्वीक्ष्य, विनम्रा अवनता कंधरा ग्रीवा यस्य सः,

कृताञ्जलिर्निबद्धाञ्जलिः, प्रश्रयवान्विनयवान्, समाहित एकाग्रचितः, सवेपथुरङ्गकम्पसहितः, अत एव, गद्गदया अनुकरणमेतत् इलया वाचा, ऐलत तुष्टाव ॥ ६९ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यविरचितायामन्वयार्थबोधिन्यां भक्तमनोज्ञव्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सपाणिकवलमिति : १०.१३.६१.

कार्यान्तरनिमग्नोऽपि न स्वकान् विस्मराम्यहम्। दयाब्धिर्दर्शयन्नेवमासीत् पूर्ववदच्युतः ॥ ७९ ॥
स्वाविद्ययैव निखिलो भ्रमतीह लोको मायाकुलं कमपि वा न करोति देवः।
नाभूत् स्फुटं किमिदमत्र यदब्जयोनिः स्वाज्ञानतः स्वयमगाद्भ्रममुत्कटं सः ॥ ८० ॥
अविज्ञायाल्पत्वं निजमलघुगर्वेण यतते परीक्षार्थं कोऽपि प्रकटमहसोऽन्यस्य महतः।
तदा तस्यासीमो विधिवदपमानः प्रभवति प्रमाणं धातैवाद्भुतविभुपरीक्षोद्यतमतिः ॥ ८१ ॥
सत्सेवनं साधुफलं प्रसूते नात्यद्भुतं त्वद्भुतमेतदेव। छद्मे प्रवृत्तोऽपि विभोर्विधाता ददर्श यत्तात्त्विकविष्णुरूपम् ॥ ८२ ॥

दृष्ट्वेति : १०.१३.६२.

तदन्तर्धानतः पूर्वं शून्यत्वात् खस्थितो विधिः। युक्तं रूपं वीक्ष्य विष्णोरथासीत् स नखाश्रितः ॥ ८३ ॥
आर्द्रापराधमपि दण्ड्यमुदीक्ष्य मां वै दण्डं दयानिधिरुदारमना न कुर्यात्।
जानन्निति स्वयमसौ तदघापनुत्यै दण्डप्रणामसहितः पदमाललम्बे ॥ ८४ ॥
चतुर्भिः स्तूयसे वेदैस्त्वमेवेति विबोधयन्। विधिस्तावद्भिरात्मीयैरस्पृशन् मुकुटैः पदम् ॥ ८५ ॥
तज्जलैरेव तत्पूजा कृताप्यजनि तन्मुदे। नूत्नैः कैमुत्यतो भूयादित्यानन्दाश्रुणाऽकरोत् ॥ ८६ ॥
गर्वस्थितेरप्यगर्व - स्थितिरत्यन्तशोभिनी। यद्धाता खस्थितः पूर्वं ततोऽजनि सुखस्थितः ॥ ८७ ॥

श्रीशकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् श्रीब्रह्माजी ने श्रीवृन्दावन बिहारी जी की कृपा से ही दर्शन पाया। भगवान् विरुद्ध धर्म समाश्रयी थे। आप श्रीनन्दनन्दन स्वरूप से गोपवंश का नाट्य कर रहे हैं। स्वयं तो अद्वितीय परंब्रह्म, अनन्त अगाध बोध पूर्ण पुरुष हैं फिर भी करकमल में दहीं-ओदन के कौर को लिए हुए अनजान की तरह बछड़ों और बालकों को खोजते विचरण कर रहे हैं। ब्रह्माजी पूर्ववत् इसी अवस्था में पुनः दर्शन पाया ॥ ६१ ॥ पाणिकवल पुरुषोत्तम की झाँकी होते ही त्वरा से अपने वाहन हंस से कूद पड़े और सुवर्ण सम समुज्ज्वल अपनी अङ्ग यष्टि को श्रीचरणों में पृथ्वी पर लेटाकर लेटाया, पुनः चारों मुकुटों के अग्र से भगवान के श्रीचरणों का स्पर्श किया, दण्डवत् किया और स्नेह-भक्ति अश्रु सलिलों से पाद कमलों पर अभि किया ॥ ६२ ॥ अब ब्रह्माजी भगवान श्रीकृष्ण की पूर्वदृष्ट महिमा की पुनः पुनः स्मृति करते न अघाते बार-बार उठकर बार श्रीपादों में लेट जाते थे और अन्त में तो प्रभुचरणों में चिरकाल पर्यन्त लेटे ही रहे ॥ ६३ ॥ पुनः धीरे से प्रभु के पाद कमलों से उठकर अश्रु पोंछ कर, भगवान् मुकुन्द का दर्शन किया। भगवान के सामने सिर-गरदन झुक गये। अञ्जलि बद्ध विनय परिपूर्ण सावधानी से गद्गदाक्षर से स्तुति करने लगे। वाणी कुण्ठित हो गई। उस अवसर काया भी कंपकपी रही थी ॥ ६४ ॥

तेरहवाँ अध्याय समाप्त।

—॥—

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	व.	इ.वं.	वं.	इ.व.	शार्दू.	मि.उ.	उ.	श्लो.अ.	उ.अ.	अ.अ.	सं.श्लो.अ.	सं.श्लो.अक्ष.
६१	२५	६	३	२	१	२	१९	४	२५४०	२०	५६	२६१६	८१॥।

ब्रह्मोवाच

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥
[1]अस्यैव देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य [2]तनुभूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ॥ २ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ईड्य ! अभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ते नमः ॥ १ ॥ देव मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य तनुभूतमयस्य अस्य एव वपुषः महि अन्तरेण मनसा अवसितुं न ईशे, तु, आत्मसुखानुभूतेः तव एव साक्षात् वपुषः किम् उत ! ॥ २ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्दशेऽद्भुतं दृष्ट्वा पूर्वागंतुकनिश्चयम्। अनीशः कर्तुमस्तौषीत्कृष्णं ब्रह्मा विमोहितः ॥ १ ॥

स्वकृतापराधेन भिया सकंपतया भगवन्महिमानमनवगाहमानस्तावद्यथादृष्टस्वरूपमेव कीर्तयन्नाह। नौमीति। हे ईड्य स्तुत्य ते तुभ्यं नौमि स्तौमि। द्वितीयार्थे चतुर्थ्यः। अथ वा नौमीत्युक्त्वा प्रस्तुतस्य भगवतः कर्मत्वे ज्ञाते प्रयोजनापेक्षायामेवंभूतो भगवानेव प्रयोजनमिति तादर्थ्ये चतुर्थी। यद्वा तुभ्यं त्वामेव प्रसादयितुं त्वामेव स्तौमीत्यर्थः। अभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै। तडिद्वदंबरं यस्य तस्मै। गुंजाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परि परितः पिच्छं च वर्हापीडं तैर्लसन्मुखं यस्य तस्मै वन्याः स्रजो यस्य तस्मै। कवलादिभिर्लक्ष्मभिः श्रीः शोभा यस्य तस्मै मृदू पादौ यस्य तस्मै, पशुपस्य नन्दस्यांगजाय ॥ १ ॥ ननु नौमीति प्रतिज्ञाय किं स्वरूपानुवादमात्रं क्रियतेऽत आह। अस्यापीति। भो देव अस्यापि सुलभत्वेन प्रकाशितस्यापि तव वपुषोऽवतारस्य महि महिमानमवसितुं ज्ञातुं कोऽपि को ब्रह्मा अहमपि नेशे न शक्नोमि। यद्वा कश्चिदपि नेशे न समर्थ आसीत्। सुलभत्वाय विशेषणद्वयम्। मदनुग्रहस्य ममानुग्रहो यस्मात्तन्मदनुग्रहं तस्य। किं च स्वेच्छामयस्य स्वेषां स्वीयानां भक्तानां यथायथेच्छा तथातथा भवतः। तर्हि किमिति ज्ञातुं न शक्यतेऽत आह। न तु भूतमयस्याचिंत्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य। यदाऽस्यैवं तदा किमुन कथं पुनः साक्षात्तव केवलस्यात्मसुखानुभूतेरेव स्वसुखानुभवमात्रस्यावतारिणो गुणातीतस्य महिमानमांतरेण निरुद्धेनापि मनसा को वा ज्ञातुं समर्थो भवेत्। अथ वा भूतमयस्यास्यापि तुविराड्रूपस्य तव त्वन्नियम्यस्य वपुषो महि महिमानमेवावसितुं कोऽपि नेशे तदा साक्षात्तवैवासाधारणस्य नियम्यनियंतृभेदरहितस्योक्तलक्षणस्यास्य महिमानवसितुं कोऽपि नेशे इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पूर्वस्मिन्नध्याये आगंतुकं संप्राप्तं यद्भगवतो वत्सपालीभूय पुनः सत्यज्ञानादिरूपेण प्रतिभानं तस्य निश्चयम् किमिदं कथमेतदिति व्यवसितुम् अनीशोऽकल्पः। विमोहितो विशेषेण मोहितः (१)। अनवगाहमानो याथातथ्येनाजानन्। छांदसाश्रयणतो यत्नान्तरं वरमित्यभिप्रेत्याह—अथ वेति। प्रस्तुतस्य प्रसंगागतस्य। परानंदरसं त्वां विना पुरुषार्थांतरासंभवात्त्वमेव प्रयोजनमिति धनाप्तये धनस्येव न हि तत्प्राप्तये तत्स्तुतिरुचितत्यस्वारस्यादाह—यद्वेति। "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इति चतुर्थी। अभ्रवन्मेघवत् श्यामस्निग्धसुंदरं सर्वजीवजीवनानंदं साभिवर्षं वपुर्यस्य तस्मै। तडिद्वत्सचमत्कारे पीते चंचले अंबरे वस्त्रे यस्य तस्मै "अवतंसः कर्णपूरे न स्त्रियां शेखरेऽपि च" इति मेदिनी। वन्याः पत्रपुष्पमय्यः। स्रजो मालाः वेत्रं वेतसदंडम्। विषाणं शृंगम्। मृदू लक्ष्म्या अपि करस्पर्शासहौ, पापमर्दनशीलौ वा। पशुपो नंदस्तस्यांगाज्जायते इति तथा तस्मै। यद्वा—पशुपो नंदस्तस्यांगं मित्रं वसुदेवस्तज्जाय। यद्वा—पशुपां गोपानां मध्ये गजाय मुख्याय "मानेमतंगजे मुख्ये वस्तुभेदे गजोऽचले" इति धरणिः।

---

१. अस्यापि—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व.। २. न तु—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक.; तनु—चित्सुख।

यद्वा—"पशुर्वै स देवानाम्" इति श्रुतेः पशवः कर्मजडास्तान्पांतीति पशुपा देवास्तेंगजा यस्य। यद्वा—पशुपो रुद्रः सोंगं शरीरं यस्य स पशुपांगो ब्रह्मा तं जनयतीति तथा। मम जनकायेत्यर्थः। अत्र वैकुंठीयानर्घ्यरत्नालंकारेभ्योऽपि वृन्दावनीयगुंजादीनामुत्कर्षः। वन्या वृन्दावनीया एव पत्रपुष्पमय्यः स्रजो यस्येति नैःश्रेयसवनस्थपारिजातादिभ्योऽप्युत्कर्षः सूचितः। कवलेत्यादिना तदीयसर्वाचरणेभ्यो गोपालचरणस्यैव श्रैष्ठ्यम्। पशुपांगजायेति वसुदेवादिभ्यः श्रीनंदराजस्य सौभाग्याधिक्यं व्यंजितमिति चक्रवर्ती॥ १॥ शंकते—नन्विति। अनुवादः पुनः पुनः कथनम्। त्वं मा समर्थौ भूरन्ये तु संतीति शंकोपनोदव्याजेनार्थांतरमाह—यद्वेति। इहाडभाव आर्षः। सर्वान्विहाय तवानुग्रहे पक्षपातः स्यादिति चेदाह—किन्त्वेति। इह प्राधान्ये मयट्। यद्येतादृशस्तर्हीति। अचिंत्यशुद्धसत्त्वात्मकस्य ज्ञानं दुर्घटमिति भावः। यदाऽस्य शुद्धसत्त्वतनोरेवं महिमा ज्ञातुमशक्यस्तदा को वा न कोपीत्यर्थः। भूतमयस्यापि ज्ञानं दुर्घटं न केवलं शुद्धसत्त्वाचिंत्यरूपस्यैवेत्यभिप्रेत्याह अथ वेति। भूतमयस्योक्तलक्षणस्य विराज इत्यर्थः। तन्नियम्यवपुषस्त्वदायत्तस्य। इत्यर्थ इति—कैमुत्यन्यायेन बोधयति। ब्रह्मेति— ननु भो ब्रह्मन् त्वं जगदैश्वर्याधिपतिरहं तु वन्यगोपालपुत्रः, त्वं पुरातनोऽहं तु बालः, त्वं वेदार्थतात्पर्यज्ञत्वात्परमविद्वान्सदाचारपरायणोऽहं तु वत्सचारकत्वाज्ज्ञानशून्यस्मार्ताचारगंधमप्यजानंस्तिष्ठन् भ्राम्यन्नप्योदनकवलं भुंजानः, त्वं मायी परमसुखी साक्षात्परमेश्वर एवाहं तु त्वन्मायामोहितो मनोदुःखेन वनं पर्यटंस्तव स्तवं कर्तुं नार्हामीति ब्रह्मा तदुक्तिमाशंक्य—सत्यम्, अज्ञानान्महापराधमहमकरवमिति व्यंजयन्नाह—अस्येति। हे देव अस्यापि बालचेष्टामयस्य प्रकटितमौग्ध्यस्यापि तव वपुषो महिमानं ज्ञातुं नेशे, किमुत कैशोरलीलस्य प्रकटयिष्यमाणमहाचातुर्यस्य वपुषः, किमुतात्मनो मनसो या सुखानुभूतिस्तस्या निरतिशयानंदमयोपि वत्सचारणादिना यादृशं सुखमनुभवसि तस्येति चक्रवर्ती॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

श्रीवृन्दावनचन्द्राय नमः

एवं यस्य रूपस्य ज्ञातपरमैश्वर्यमाधुर्यस्तद्रूपमेव निजपरमपुरुषार्थत्वेन स्तोतुमुपक्रमते—नौमीति। हे ईड्य! इति त्वमेव स्तुतियोग्य इत्यर्थः। परब्रह्मणस्तवैश्वर्यमाधुर्ययोरेवाद्यसर्वप्रापञ्चिकाप्रापञ्चिकनिर्गमप्रवेशदर्शनात् अतः स्तौमि त्वां किमर्थं ते तुभ्यं त्वां प्राप्तुं "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" (२।३।१४) इति एधोभ्यो व्रजतीतिवच्चतुर्थी। ननु, ब्रह्मरूपेण रूपान्तरेण वा मत्प्राप्तिः स्यात् तत्राह अपो बिभर्तीत्यभ्रं नवीनश्यामामेघः तद्वत् स्निग्धं कृष्णकान्ति वपुर्यस्य तडिद्वत्पीतमम्बरं यस्य तस्मै। ननु, ईदृशाः श्रीवैकुण्ठेश्वरादयोऽपि सम्भवन्तीत्याशङ्क्याह—गुञ्जेत्यादि। परितः पिच्छानि यस्य तत्परिपिच्छं बर्हापीडं वन्या वनोद्भवा नानावर्णपत्रपुष्पादिमय्यः स्रजो यस्य तस्मै तत्र च विशेषतो बाल्यलीलयाकृष्टचित्तस्तामेवोद्दिशति—कवलेति। अत्र कवलं दध्योदनग्रासो वामहस्ते, वामकक्षे वेत्रविषाणे जठरपटसन्धौ वेणुरिति पूर्वोक्तानुसारेण बोद्धव्यं तान्येव लक्ष्माणि असाधारणलक्षणानि अत एव तैः श्रीः शोभा यस्य तस्मै मृदुपद इति बाल्यमेवाभिप्रेतं साक्षात्तदनुक्तिः पितृत्वगुरुत्वप्रभुत्वादिना परमगौरवात् अनुक्तमन्यद्वृन्दावनविहारित्वं वनधातुचित्रिताङ्गत्वादिकं च सङ्गृह्णन् सर्वान्ते सर्वविशेषणाश्रयमभीष्टं विशेषणमाह—पशुपस्य श्रीनन्दराजस्य अङ्गजाय पुत्राय तत्कुमारत्वेन स्वत एव नित्यम् तत्तत्समवेतत्वादित्येतच्छ्रीबालगोपालरूपं त्वामत्र प्राप्तुं त्वामेव नौमीति परमलालसया प्रागेव प्रयोजनमुद्दिष्टम्॥ १॥ अस्यापीति, तैर्व्याख्यातं तत्र नन्वित्याद्यन्ते उत्कर्षवर्णनमेव हि स्तुतिर्नामेति हेतुरध्याहार्य्यः तव वपुष इति चतुर्थचरणादत्रापि तवेति योजनया साधितंस्तव यद्वपुषः कश्चिदप्यवतारस्तस्येत्यर्थः। कीदृशस्यापि तस्य तत्राह—अस्यापीति। जगति सुलभत्वेन प्रकाशितत्वात्तत्रैदन्तानिर्देशं प्राप्तस्येत्यर्थः। मदनुग्रहस्येति मदीयसृष्टिपालकत्वादिति भावः। तदेतन्मते तु। ननु भूतमयस्येति तवर्गपञ्चमद्वयादिभागमय एव पाठः न तु तत्पञ्चमप्रथमादिभागमयः न तु वा तत्प्रथमपञ्चमादिभागमयः उत्तरव्याख्यायां तयोर्न तु तन्वोरस्पर्शात् तस्माद्यत्तु प्रथमव्याख्यायां नन्विति व्याख्यातं तत्खलु नु कारस्यैव तकारार्थतया स्वीकाराज्ज्ञेयं नेशे महित्ववसितुं इत्यसमाश्रयोजनया वा अत्र ननु वितर्कार्थो ज्ञेयः। द्वितीयार्थे ननु निश्चयार्थो ज्ञेयः। नन्विति तवर्गपञ्चमान्तपाठस्तु टीकायां मूले च प्रायः सर्वत्र दृश्यते तस्मादथवेत्यस्य पाठान्तर इत्येवार्थो ज्ञेयः साक्षात्तवेति स्वयं भगवतस्तवेत्यर्थः। केवलस्येत्येवकारव्याख्या तत्तदवतारानतीत्य विराजमानस्येत्यर्थः। गुणातीतस्येति, तत्र च पुरुषत्रिदेवीवन्नतु त्रैगुण्यतत्तद्गुणपरिच्छिन्नाधिकारस्येत्यर्थः। स्वसुखानुभूतिमात्रस्यापि तत्तदवतारित्वं महिमवत्त्वं च "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ति" इति "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इति "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतिप्रामाण्यादगम्यते। न च निर्विशेषतया तदाविर्भावविशेषस्य" ब्रह्मण एव दुर्ज्ञेयताधिक्यमत्र प्रतिपाद्यते तथापि "भूमन् महिमागुणस्य ते" इत्याद्युत्तरवाक्यद्वये सविशेषस्यैव तदाधिक्यं व्याख्यास्यते अथवत्यत्र विराड्रूपस्यापि दुर्ज्ञेयत्वोल्लेखः स्वयं भगवति तस्मिन् परमकैमुत्यं प्रतिपादयति स्म अस्मिन्नेव पक्षे तनुभूतमयस्येति चित्सुखपाठः। सञ्चछते तनुभिः सूक्ष्मैराब्रह्मस्तम्बपर्यन्तैर्व्याप्तत्वादिति हितद्व्याख्या पूर्वस्मिन् पक्षे तु तनुसूक्ष्ममचिन्त्यं यद्भूतं शुद्धसत्त्वात्मकं भगवत्तत्त्वं तत्स्वरूपस्येत्यर्थः। "अस्य महतो भूतस्य" इति श्रुतेः। "लोकनाथो महद्भूतम्" इति सहस्रनामस्तोत्राच्च नियन्तृनियम्यभेदरहितस्येति विराड्रूपस्य त्वन्नियम्यस्येत्युक्तत्वात् न तस्य कश्चिन् नियंता न च स कश्चिन्नियम्य इति विवक्षया उक्तलक्षस्येति अभ्रवपुरादिविशेषणैर्दर्शि-

तस्येत्यर्थः। अथ स्वव्याख्या। ननु, ममैतादृशं स्वरूपमनूद्य किं स्तौषीत्यशङ्कया ससम्भ्रमं तत्र निजासामर्थ्यमाह—अस्यापीति। अस्य जगतो यद्दैववपुराधिदैविकरूपं नारायणाख्यं तव वपुरधुना दर्शितेषु चतुर्भुजरूपेष्वेकमपि वपुस्तस्यापीति योज्यम्। "नारायणोऽङ्ग नरभूजलायनात्" इति हि वक्ष्यते वपुषो विशेषणानि मदनुग्रहस्येत्यादीनि साक्षात्तवैवेति पूर्ववत् आत्मना स्वयमेव कर्त्रासुखानुभूतिर्यस्य अनन्यवेद्यानन्दस्येत्यर्थः। यद्वा अस्य तव यद्दैववपुरधुनादर्शितेषु चतुर्भुजरूपेष्वेकमपि वपुस्तस्यापीति योज्यम्। अत्र मदनुग्रहस्यैति तद्दर्शनादेव हि स्वन्महिमा ज्ञात इति भावः॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

श्रीभगवतैव नितरामनुकम्पितः श्रीचतुर्मुखः परममनोहररूपगुणलीलावैभवं तमवलोक्य परमप्रेमरसनिमग्नः साक्षाद्दृश्यमानं तद्रूपमेवादौ वर्णयन् स्तौति—नौमीति। हे ईड्येति त्वमेव स्तुतियोग्यः, न तथा ब्रह्मा, न च श्रीवैकुण्ठनाथो नापि त्वदवतारादयोऽन्ये केचिदित्यर्थः, परब्रह्मणि त्वय्येवावतारिणोऽवतारादेश्चाद्य दृष्टत्वात्। अतः स्तौमि त्वाम्। किमर्थम्? ते तुभ्यं त्वत्प्राप्त्यर्थमेवेत्यर्थः। ननु, ब्रह्मरूपत्वेनान्तर्य्यामिरूपत्वेन च मम स्वतः प्राप्तिरस्त्येव? तत्राह—अपो विभर्त्तीत्यभ्रं नवीनश्याममेघस्तद्वत् स्निग्धकृष्णकान्तिर्वपुर्यस्य; तड़िद्वत्पीतमम्बरं यस्य। नन्वीदृशः श्रीवैकुण्ठेश्वर श्रीरघुनाथश्चेत्याशंक्य तद्वैलक्षण्यार्थमाह—गुञ्जेत्यादि। परितः पिच्छानि यस्मिन् तत् परिपिच्छं बर्हापीडम्। वन्या वनोद्भवा नानावर्णपुष्पपत्रादिमय्यः स्रजो यस्य तस्मै। तत्र च विशेषतो बाल्यलीलयाकृष्णचित्तस्तामेवोद्दिशति—कवलेति। तत्र कवलं दध्योदनग्रासो वामहस्ते, वामकक्षे वेत्र-विषाणे जठर-पट-सन्धो वेणुरिति पूर्व्वोक्तानुसारेण बोद्धव्यम्। तान्येव लक्ष्माण्यसाधारणलक्षणानि, अतएव तैः श्री शोभा यस्य तस्मै। मृदुपद इति बाल्यमेवाभिप्रेतम्, साक्षात्तदनुक्तिः पितृत्व-गुरुत्व-प्रभुत्वादिना परम-गौरवात्। अनुक्तमन्यच्छ्रीवृन्दावनविहारत्वं वनधातुविचित्रतांगत्वादिकञ्च संगृह्णन्नाह—पशुपस्य श्रीनन्दस्य अंगजाय पुत्राय, तत्कुमारत्वेन स्वत एव नित्यं तत्तत्समवेतत्वादित्येतच्छ्रीबालगोपालरूपं त्वामत्र प्राप्तुं त्वां नौमीति परम-लालसया प्रागेव प्रयोजनमुद्दिष्टं स्तवनं चेदमेवाभिप्रेतम्। एवमत्रापि विशेषणानामेषामुत्तरोत्तरमुत्कर्षेण प्रतिपदादिकमाश्चर्यमूह्यम्॥ १॥ ननु, नौमीति प्रतिज्ञातमुत्कर्षवर्णनमेव स्तुतिर्नाम, तत् किं स्वरूपमात्रं वर्ण्यते? तत्राह—अस्येति। वपुषोऽवतारस्याप्येकत्वमवतारजात्यपेक्षया, यद्वा, यस्य कस्याप्येकस्येत्यर्थः। मदनुग्रहस्येत्यधर्म्मनाशन-धर्मप्रवर्त्तन-द्वारा ब्रह्मसृष्टेः पालनान्न तु भूतमयस्य ज्योतिर्म्मय-देवतान्तरदेहवत् पाञ्चभौतिकत्वरहितस्येत्यर्थः। तर्हि कीदृशस्येत्यपेक्षायामाह—आत्मसुखानुभूतेः परब्रह्मात्मकस्येत्यर्थः। यद्वा, आत्मनः सुखेनानुभूतिः साक्षाज्ज्ञानं तस्या हेतोर्यदान्तरं वाह्यविषयादि परित्यागेनान्तर्मुखीभूतं मनस्तेनापि, किमुत साक्षात्तवावतारिणः। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। अतस्तव यथादृष्ट-रूपवर्णनमेव स्तुतिरिति भावः। यद्वा, तव देववपुषः श्रीवैकुण्ठाधिष्ठातृदिव्यरूपादप्यस्य वपुषः श्रीबालगोपालरूपस्य, यद्वा, अस्य श्रीबालगोपालरूपिणस्तव महि कोऽप्यवसितुं नेशे, किमुतात्मसुखानुभूतेर्ब्रह्मणः सकाशात् सच्चिदानन्दघन-दिव्यचतुर्भुजरूपादात्मसुखानुभूति-स्वरूपस्यात्मनस्तव ब्रह्मणस्तत्स्वस्य न्यूनत्वेन किमुतेति न्यायोक्तिर्दिव्यरूपतोऽप्यस्य महिमाधिक्येन तस्याः (आत्मसुखानुभूतेः) सकाशात् स्वत एव महिमाधिकता-सिद्धेः॥ २॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

श्रीमते रामानुजाय नमः

चत्वारिंशत्सङ्ख्यपद्यैर्ब्रह्मा कृष्णं स्तुवन्नमुम्। स्वरूपोपायसाध्यानि विविच्याह चतुर्दशे॥ १॥

तत्र तावद् ब्रह्माऽष्टाभिः स्वरूपरूपगुणविभूतिविवेकं कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिविवेकं च स्पष्टयति—तत्तद्वादिनिरासश्चार्थप्राप्त एवेति तत्र प्रयत्यते, तत्र प्रथमेन स्वरूपादपि रूपस्याऽभ्यर्हितत्वमाह—नौमीति। हे ईड्य! स्तुत्य! अहं ते त्वदर्थं त्वां नौमि स्तौमि प्रणमामि चेति अनेन माधवस्यैवोपायोपेयत्वं व्यञ्जितम्। श्रीभगवद्रूपस्य भक्त्यवलम्बनत्वात् तस्य स्वरूपादपि परमभोग्यत्वमाह, अभ्रवपुषे अभ्रवत् श्यामसुन्दराय तडिदम्बराय तडिद्वत्पीताम्बरद्वयं गुञ्जामालिकयाऽवतंसः कर्णावतंसः परिपिच्छं परितः सर्वतः वर्त्तमानं पिच्छंजात्यैकत्वं बहुमयूरचन्द्रिकारचितं मुकुटं तेन लसत् शोभमानं मुखं यस्य तस्मै, वन्या वने भवा वनमाला आपादलम्बिनी स्रग्यस्य तस्मै एतेषां पदानां सत्त्वतमोमयरजस्तमोमयान्तःकरणस्याऽपि स्वदर्शनकर्तुः स्वकर्णप्रान्तलग्नत्वम् "उदाराः सर्व एवैते" इति न्यायेन अहृदयपूर्वकं स्वदर्शनकर्तृनेत्राणां चन्द्रिकारूपतया शिरोधारणम् अज्ञार्पितपत्रपुष्पवन्यमालादीनामपि चरणधार्यत्वादिकमत्र व्यङ्ग्यं ज्ञेयम्। अश्नामीति वर्त्तमाननिर्देशसार्थक्यायैव कवलं केवलकर्मजडानां पशूनां ताडनाय वेत्रम्, तेषामेव स्वज्ञापनाय उच्चशब्दकारिविषाणं स्वसङ्केतितार्थज्ञानिष्वात्मभूतप्रियनित्यवर्गेषु स्वाभिप्रायव्यञ्जकशब्दं वेणुं तेषां नित्यसंश्लेषव्यञ्जकं श्रीवत्सलक्ष्म तत्सम्बन्धिस्मारकत्वन्यायेन श्रीश्च एतैः श्रीः शोभा यस्य तस्मै कोमलवालुकस्वधामश्रीवृन्दावनशैत्यकारिणी मृदुनी पदे यस्य तस्मै नौमीति शरणागतस्य मेऽञ्जलिबन्धमात्रेणाऽपराधं क्षमस्वेति पशवः पालाश्च स्वसङ्कल्पजाता यस्य तस्मै पशुपः शिवः अङ्गजः शरीरभूतब्रह्मणः जातो यस्य तस्मै इति वा एवं प्रथम पद्यव्यञ्जितं सुधीभिरनुभाव्यं नन्दस्याङ्गजः मानसः पुत्रतुल्यसुखदयितया पुत्र इव अङ्गभूर्मानसः पुत्र" इति कोशात्॥ १॥ रूपविवेकमनुवदन्स्वरूपविवेकमाह—हे देव! क्रीडाप्रवृत्त! मय्यनुग्रहो यस्मात्तन्मदनुग्रहं तस्य स्वेच्छामयस्य स्वसङ्कल्पप्रचुरस्य

स्वसङ्कल्पस्यैव सर्वरूपाविर्भावकारणत्वात् नतु पाञ्चभौतिकस्य कः ब्रह्मा अहमपि जीव इति वा नेशे न समर्थः महि माहात्म्यवतः अस्य शुद्धसत्त्वस्य वपुषोऽपीत्यनेनावतारविग्रहाणां सर्वेषां गुणविभूतीनाञ्च मह्यवसितुं न शक्यमिति भावः। भगवत्स्वरूपज्ञान-दौर्लभ्येऽपि तत्प्राप्त्युपायं कैमुत्येनाह, आत्मसुखानुभूतेः स्वस्वरूपानन्दानुभवकर्त्तुः साक्षात्सच्चिदानन्दस्वरूपगुणविभूतिकस्य अत एव तवैव मनसा सङ्कल्पमन्तरेण विना साक्षान्महि अवसितुमहं कोऽपि नेशे इति किमुत वक्तव्यं त्वत्स्वरूपज्ञानन्तु त्वदिच्छ-यैवेति भावः ॥ २ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

श्रीमते रामानुजाय नमः

वात्सल्यसौशील्यगुणाविष्कारपूर्वकं स्वापराधं क्षमापयितुकामः तावत् त्वन्मायातितरणेत्वत्प्रपत्तिरेवोपायो नान्योऽस्तीत्यभिप्रायेण प्रस्तुतरूपयुक्तः भगवन्तं शरणं व्रजति—नौमीति। हे ईड्य ! ते तुभ्यं केवलं नौमि "णु स्तुतौ" स्तुतिरत्रापराधसहन-मायातरणतदर्थशरणत्वाद्युपयुक्तवात्सल्यक्षमादिगुणाविष्कारपूर्वकोपायत्वाध्यवसायरूपा विवक्षिता स्तुतेर्गुणनिष्ठगुणाभिधानरूप-त्वात्तस्याश्चोपायत्वाध्यवसायार्थत्वाद्धातोर्लक्षणया तत्र वृत्तिसम्भवात् इति कर्मण एव सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी तदतिरेकेण पृथक् स्तुतेः साधनत्वनिरासाय तथाविवक्षा कृता उपायत्वाध्यवसायात्मकप्रपदनेऽपि तस्यैव प्रयोजककर्तृत्वेन तस्या अपि तदङ्गी-त्वेन तस्याः स्वतः साधनत्वाभावादिति भावः। तावत्सौशील्याद्यनन्तकल्याणगुणनिलयस्य भगवतः कृष्णस्य सौशील्यमाविष्कुर्वन्वि-शिनष्टि—पशुपाङ्गजाय नन्दसुताय निःसीममहिम्नः सौशील्यमन्तरेण पशुपाङ्गजत्वासम्भवेन सौशील्यमाविष्कृतं तच्च महतो मन्दैः सह संश्लेषस्वभावत्वं मृदू पादौ यस्य कवलादिभिर्लक्ष्मभिः चिन्हैः शोभा यस्य वनजानां पुष्पाणां स्रग्यस्य गुञ्जाभिरतंसौ कर्णभूषणे परितः पिच्छं बर्हापीडं तैर्लसन्मुखं तडिदिवाम्बरं यस्याभ्रवद्वपुर्यस्य तस्मै ते नौमीत्यन्वयः ॥ १ ॥ निःसीममहिमत्वमेव कैमुत्य-न्यायेन दर्शयन् स्तौति—अस्यापीति अस्य मह्यं प्रदर्शितस्य पशुपाङ्गजरूपस्यापि वपुषो महित्वं महि महिमानमन्तरेण मनसाऽ-न्तरिन्द्रियेण मनसा व्यवसितुमध्यवसितुं कोऽपि ब्रह्मापि अहमपि सन् नेशे न प्रभवामि किन्तु पुनरात्मनः परमात्मनः सुखानुभूतेरनु-कूलज्ञानस्वरूपस्य तव महिमानमवसितुं नेश इत्यन्वयः। किन्तद्वपुषो महित्वं यदवसितुं न प्रभवतीत्यपेक्षायां तद्वाचामगोचरमित्यभि-प्रायेणास्मदादिवपुषो वैलक्षण्यमात्रं वेद्मीति तद्वपुर्विशिनष्टि—मदनुग्रहस्य मय्यनुग्रहो यस्य मत्प्रार्थनां सफलीकर्त्तुमुपात्तस्येत्यर्थः। स्वेच्छामयस्य स्वेच्छातः आगतः स्वेच्छामयः "तत आगत" ४।३।७४। इत्यधिकारे "मयट्च" ४।३।८२ इति मयट् स्वेच्छामात्रपरि-गृहीतस्य नत्वस्मदादिजीववपुर्वत्कर्मायत्तस्येत्यर्थः। किञ्च ननु, भूतमयस्याभूतसङ्घसंस्थानरूपस्य "न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन" इति वचनार्थोऽत्रानुसन्धेयः शुद्धसत्त्वमयस्येति भावः ॥ २ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

श्रीमते रामानुजाय नमः

श्रीनिवासाङ्घ्रिदासेन नत्वा श्रीयतिशेखरम्। भव्या ब्रह्मस्तुतेर्व्याख्या क्रियते तत्त्वदीपिका ॥ १ ॥

अथ स्वस्य सर्वोत्पादकत्वागतपितामहत्वाभिमानरूपस्वातन्त्र्येण विस्मृतपरशेषतैकस्वरूपतया भगवति प्रकटितस्व-मायत्वेन पूर्वं स्वकृतापराधतया सभयः कम्पमानो ज्ञातभगवच्छेषतैकरूपपारतन्त्र्यस्तन्महिम्न इयत्तां वक्तुमशक्यतया स्वस्यान-भिज्ञत्वं ख्यापयन् स्वापराधं क्षमापयंश्चेदानीं यथादृष्टस्वरूपं श्रीकृष्णं स्तौति, नौमीति। हे ईड्य ! स्तुत्य ! ते तुभ्यं नौमि कारकाणां वैवक्षिकत्वाद्द्वितीयार्थे चतुर्थी त्वामित्यर्थः यद्वा, इतः पूर्वं सर्वेश्वरोऽहमेवेत्येवं रूपस्वातन्त्र्यात् विस्मृतत्वच्छेषत्वैकस्वरूपोऽभवमिति कृतापराधो जातः, इदानीं तु त्वत्कृपया सञ्जातत्वच्छेषत्वज्ञानस्त्वामनुकूलयितुं नौमीत्युच्यत इत्यर्थः। अथवा नौमीत्यत्रायमाशयः ममेयं नमस्क्रिया तुभ्यमेवास्तु तत्कुतस्त्वयैव निरूपाधिकनन्तव्यत्वात् अस्मदादीनां सर्वेषां निरूपाधिकनन्तृत्वात् तथा च हारीतः "नन्तव्यः परमशेषी शेषानन्तार ईरिताः" इति। अन्यत्रापि—

"दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च ॥
स्वत्वमात्मनि सञ्जातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम्। स्वोजीवनेच्छा यदि ते स्वसत्तायां स्पृहा यदि ॥
आत्मदास्यं हरेः स्वाम्यं स्वभावं च सदा स्मर" ॥

इति तथा च प्रह्लादवाक्यं श्रीनृसिंहप्रति "अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः" इति अनपाश्रयो निरुपाधिक इत्यर्थः। अत्रापि अग्रे वक्ष्यति स्वयम्—

"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो। भवेऽत्र वाऽन्यत्र तु वा तिरश्चाम् ॥
येनाऽहमेकोऽपि भवज्जनानाम्। भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्" ॥

इति, अतो ब्रह्मण ईश्वरजीवयोः पारमार्थिकं भेदज्ञानं सञ्जातमिति तं स्तौतीति, ये पुनर्जीवेश्वरयोरौपाधिकमेवं स्वीकृत्य तन्निवृत्तये पारमार्थिकाभेदज्ञानमेवेति वदन्ति, ते प्रष्टव्याः, अयं चतुर्मुखः सञ्जातपारमार्थिकाभेदज्ञानो न वा ? नाद्यः पक्षः पारमार्थिकाभेदज्ञानिनो भेदपूर्वकस्तुत्यभावात् न च नष्टस्य भेदज्ञानस्यानुवृत्तिर्वक्तुं शक्यते ज्ञानोत्तरकाले तस्या अनुदयात्

द्विचन्द्रज्ञानादौ तु पारमार्थिकदोषस्य विद्यमानत्वादनुवृत्तिर्युक्ता सा च पारमार्थिकचन्द्रैकत्वज्ञानादकिञ्चित्करा इह तु सकारणस्य सकार्यस्य चाज्ञानस्य पारमार्थिकाभेदज्ञानविनष्टत्वान्न कथञ्चिदनुवृत्तिरिति। नापि द्वितीयः तस्य पारमार्थिकाभेदज्ञानशून्यतया तत्पूर्वकस्वकृतस्तुतिवाक्यानां श्रीमद्भिरपि पारमार्थिकाभेदज्ञानत्वेन व्याख्यातानां "नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनाम्" "एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः" "सत्यः स्वयं ज्योतिरनन्त आद्यः" "नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः" "पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः" इत्यादीनां प्रलापापत्तेरविश्वसनीयत्वाच्च कुतः? अज्ञोक्तत्वात् अतो जीवेश्वरयोर्निरुपाधिकस्वरूपभेदज्ञानमेवास्य जातमिति मत्वा स्तौतीति, स्वस्य परमात्मात्मकत्वनारदाय स्वेनैवोक्तं द्वितीये "सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः। विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" इति न च भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेनानुवादमात्रमिदमिति वक्तुमुचितं स्वनिष्ठत्वेन प्रतीयमानेपि ईश्वरोऽहं ब्राह्मणोऽहमित्यादिभेदे तन्नियाम्यत्वतदुद्राह्यत्वतत्पाल्यत्वादीनां श्रुत्यैकगोचरत्वेनाननुवादत्वात्। तथाच श्रुतयः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ" "द्वा सुपर्णा" "पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" "अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा" "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः" इत्यादयः तथा च सूत्रकारः" भेदव्यपदेशाच्चान्यः" (१।१।२२) "अधिकन्तुभेदनिर्देशात्" (२।१।२२) "स्थित्यदनाभ्याञ्च" (१।३।६) "अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवन्तद्दर्शनात्" (३।४।८) "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" (४।४।२१) इत्यादिसूत्रैर्निरुपाधिकस्वरूपभेदमेव निश्चिनोतीति। स्मृतयोऽपि "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥" "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" इत्यादयो भेदमेव प्रतिपादयन्तीति अभेदवादास्तु सर्वस्य ब्रह्मनिष्ठत्वेन तच्छरीरत्वेनोपपन्नाः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिरिति अत एव सामानाधिकरण्यमपि मुख्यत्वेनैवोपपन्नमतोऽस्य स्वाभाविकं नन्तृनन्तव्यसम्बन्धज्ञानमुत्पन्नम् अतः स्वकृतापराधभीतः संस्तं क्षमापयति–नौमीति। अतो यथोक्त एवार्थः समीचीनः कथम्भूताय तुभ्यम्? अभ्रवपुषे स्निग्धनीलघनवद्वपुर्यस्य तस्मै तडिदम्बराय नीलघनोपरिविद्यमानतडिद्वदम्बरं यस्य तस्मै गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय गुञ्जावतंसाभ्यां कर्णभूषणाभ्याम् परिपिच्छेन शिरोभूषणेन च लसन्मुखं यस्य तस्मै वन्यस्रजे वन्याः स्रजो विद्यन्ते यस्य तस्मै कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये कवलवेत्रविषाणवेणव एव लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य तस्मै मृदुपदे मृदू पादौ यस्य तस्मै पशुपाङ्गजाय पशून् पान्ति वृष्ट्यादिना इति पशुपा देवास्ते अङ्गाज्जाता यस्य तस्मै। यद्वा, अयं मम स्वामी श्रीकृष्णः स्वावतारैश्वर्यं कंसादिभ्यो गोपयितुं नन्दगोपकुले प्रच्छन्न इति ज्ञात्वा वसुदेवात्मजत्वज्ञानवानपि असुरा एनं मा जानन्त्विति मनसि विचिन्त्य पशुपाङ्गजाय नन्दात्मजायेति प्रयुक्तवानिति तथा च श्रुतिः "अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति। धीरा उपासकास्तस्य योनिं जन्मकारणं जानन्तीत्यर्थः। तथा च द्वितीये स्वेनैवोक्तं नारदं प्रति—

वेदाहमङ्गपरमस्य हि योगमायाम्।
यूयं भवश्च भगवानथ दैत्यवर्यः। पत्नी मनोः स च मनुश्च तदात्मजाश्च॥ इत्यादि।
ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायाम्। स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः॥
यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षाः। तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥

इत्यन्तमिति॥ १॥ अथ पूर्वध्यायोक्तम्—

ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणां च कस्य च। उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः॥

"यावद्वत्सकवत्सपालकवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकम्" इत्यादि "सर्वस्वरूपो बभौ" इत्यन्तं श्रीकृष्णस्यावताररूपपरिच्छिन्नदिव्यमङ्गलविग्रहस्य महिमानमनवगाहमानोऽपरिच्छिन्नसर्वव्यापकसर्व–कल्याणगुणनिलयदिव्यविग्रहविशिष्टस्य महिमानं कैमुत्यन्यायेन सविस्मयेन स्तौति–अस्यापीति। हे देव! अस्य सौशील्यसौलभ्यादिगुणविशिष्टस्य परिच्छिन्नदिव्यविग्रहस्याऽपरिच्छिन्नं महि तु महिमानमवसितुं निश्चेतुं कोऽपि चतुराननोऽप्यहं नेशे न समर्थो भवामि। यद्वा, कोऽपि मत्सदृशः कश्चिदन्योऽपि नेशे न समर्थो बभूव किं विशिष्टस्य वपुषः? मदनुग्रहस्येत्युपलक्षणं ममानुग्रहो यस्मात्तत्तस्य स्वाश्रितानुग्रहार्थं गृहीतस्येत्यर्थः। तथा च गीतोपनिषदि—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे"॥ इति।

स्वेच्छामयस्य स्वस्येच्छा स्वेच्छा सा प्रधाना यस्मिंस्तस्य तथा च भगवद्वाक्यम्—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

इति प्रकृतिं स्वभावं अजत्वादि स्वस्वभावमेवाधिष्ठाय स्वकृत्य मायया स्वसङ्कल्पेनेत्यर्थः। "माया वयुनं ज्ञानम्" इत्यनुशासनात् सम्भवामि आविर्भवामि। यद्वा, स्वीयानामिच्छा स्वेच्छा तन्मयस्य तथा च वाल्मीकिनोक्तम्—

"सहि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः"॥ इति।

तत्र हेतुमाह–नतु भूतमयस्य न पुनर्भूतमयस्य तस्य भूतमयत्वाभावात् तत्कुतः अप्राकृतदिव्यात्मकस्य तस्यालौकिकत्वात् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतेः उपबृंहणमपि—

"न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः"। इति।

ननु, मन्महीया यदि सर्वथा दुर्ज्ञेयः तर्हि कथं ज्ञास्यन्ति ? केचिद्दषय इत्यत्राह—मनसान्तरेणेति। शुद्धमनो विना ज्ञातुं न शक्यते त्वत्कृपया निर्मलमनसा तु जानन्ति ते मनसा विशुद्धेन"।

"दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"।

इत्यादिश्रुतेः शुद्धमनोग्राह्यत्वात्—

"तथापि भूमन् ! महिमागुणस्य ते। विवोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः" ॥

इति वक्ष्यमाणत्वाच्च। किमुत साक्षात्त्वैवात्मसुखानुभूतेः स्वज्ञानानन्दानुभववतः अन्तर्यामितया सर्वव्यापित्वेन चिच्छरीरिणः तद्विलक्षणस्य सर्वाश्रयस्य दिव्यस्वरूपात्मकस्य दिव्यमहिमानमियत्तया निश्चेतुं न शक्नोमीति किं वक्तव्यमिति तथा च श्रुतिः "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" इति सर्वाश्रयभूतो विग्रह उक्तः तथा च भगवद्वाक्यमर्ज्जुनं प्रति—

"मया प्रसन्नेन तवार्ज्जुनेदम्। रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ॥
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यम्। यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ इति ॥ २ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

श्रीवृन्दावनचन्द्राय नमः

एवं श्रीमन्नन्दनन्दनचरणारविन्दमेव परमपुरुषार्थतया निश्चित्य तद्रूपमेव स्तोतुमुपचक्रमे—नौमीति ॥ १ ॥ पूर्वमहितं दृष्ट्वा विमूढस्तत्स्तुतिमुपेक्षमाण इव ससम्भ्रममाह, अस्येति ॥ २ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ ब्रह्मणः स्तुतिमाह—नौमीत्यादि। त्वामित्यध्याहार्यम्, भीतस्योक्तौ न्यूनपदता गुणः, त्वां नौमीत्यर्थः। ननु स्तुत एव स्तूयते, ब्रह्मणस्ते गोपवाल्कोऽहं किं स्तुत्यः ? इत्याशङ्क्याह—हे ईड्य ! भवानेवेड्यो नान्यः कोऽपीत्यर्थः। अन्यत्र स्तवकमर्थवादः, त्वयि तु सर्वं यथार्थमेव किमर्थं नौमीत्यत आह - ते तुभ्यं त्वदर्थं त्वत्प्रातय इत्यर्थः। ननु मत्स्वरूपमेव किं यत् प्राप्त्यर्थं स्तौषीत्याह—अभ्रवपुषे मेघश्यामविग्रहाय। एवमेव ते स्वरूपम्। तर्हि नारायण एव नूयताम्, सोऽपि तथा ? नेत्याह—गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखायेत्यादिविशेषणान्यासमाप्तेः। स त्वेवं न भवति, द्विभुजश्च न भवति, 'नराकृतिः' इति। यद्वा हे ईड्य ! वपुषे ते वपुरूपाय तुभ्यम् पूर्ववत्तादर्थ्ये चतुर्थी, त्वां नौमि। ननु नारायणाज्जातोऽसि तं त्यक्त्वा कथं परं नौषि ? तत्राह—हे अभ्र ! अं नारायणं बिभर्तीति तथा, तस्य सम्बोधने नारायणस्यापि भर्तरित्यर्थः, (१४ श० श्लो०) "नारायणोऽङ्गम्" इत्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। वपुष इत्यस्यैव सर्वाणि विशेषणानि। ते कीदृशाय ? पशुपाङ्गजाय नन्दपुत्राय। तडिदिव गौरमम्बरं यस्य, अथवा यदा पवनस्पन्दो भवति तदा दृश्यते, अन्यदा न लक्ष्यते, अति सूक्ष्मत्वाद् गौरत्वाच्च तडिदुपमानम्। अथवा वपुषे वपुर्निमित्तमित्युपस्थिते वपुषो महनीयत्वे तदेव कथमित्याशङ्क्याह—तडिदम्, इदं वपुस्तट् उच्छ्रायवत् उच्छ्रायः सर्वोत्कर्षः; ननूच्चैरिति वाक्यान्तरं हेतुत्वेनोत्थापनीयम्, 'तड् उच्छ्राये' इत्यतः क्विपि सिद्धम्, सर्वोच्छ्रितं परात्परमित्यर्थः। ते कीदृशाय ! सर्वश्रेष्ठाय, अथवा वरायाभिमतफलदानाय इदं तद् उच्छ्रितमित्येकमेव वाक्यान्तरम्। 'वृ वरणे' वादिः पवर्गीयः, तेनानुस्वारस्य पञ्चमः। हे गुञ्जावतंस ! 'गुञ्जि अव्यक्ते शब्दे' गुञ्जोऽव्यक्तशब्दः शब्दब्रह्म, अव्यक्तत्वादपौरुषेय इत्यर्थः, तस्यापि अवतंस ! श्रुतिशिरोऽवतंस ! प्रत्यक्षतया स्वावतंसः स्वयं न दृश्यत इति शब्दब्रह्मागोचर इत्यर्थः। हे परिपिच्छल ! परि परितः पीः प्यानं वृद्धिर्यस्य तत् परिपि, नपुंसकत्वात् ह्रस्वः, परिपि सर्वतो वृद्धं छलं माया यस्य सः सम्प्रत्येवानुभूतत्वात्, ध्याप्योरिति क्विपि प्यैङ् धातोः सम्प्रसारणेपिः, सन्मुखाय सत्सु भक्तेषु मुखाय अभिमुखायेति ते इत्यस्य विशेषणम् 'वपुषे इत्यस्य वा, अथवा, ते तव मृदुपदे नौमि; किमर्थम् ? वपुषे वपुरर्थम्, एतदेव वपुर्निरन्तरं स्फुरत्विति। काक्वा सर्वाण्येव वपुर्विशेषणानि ॥ १ ॥ अथ यो यज्जानाति, स तत् स्तोतुमर्हति, नाज्ञातस्य स्तवः कर्तुं शक्यत इति। नौमीति यदुक्तं तदसम्भाव्यमित्याशङ्क्याह—अस्यापीति। हे देव सर्वविजिगीषापर। अस्यापि वत्सपालरूपस्य, वपुषश्चिदेक-रसत्वाज्जातावेकवचनम्, महि महिमानम् अवसितुं ज्ञातुं कोऽपि ब्रह्माप्यहं नेशे न समर्थोऽस्मि, यतः सर्वं एव चतुर्भुजाः, सर्व एव सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः, सर्व एव महदादिभिः सेव्यमानाः अतस्तथाविधस्यास्येति साक्षाद्दृष्टस्य, सर्वनाम्नो बुद्धिस्थवृत्तित्वादिदं शब्दः खलु वत्स-वत्सपादिपरः। कीदृशस्य ? मदनुग्रहस्य मम दर्पहानिरूपोऽनुग्रहो यत्र। पुनः कीदृशस्य ? स्वेच्छामयस्य, स्वस्य तव इच्छा तन्मयस्य, तथा प्रकटितस्य, अतो न तु भूतमयस्य। तुरेवार्थः—अव्ययानामनेकार्थत्वात्। आन्तरेणापि समाधिनिश्चलेनापि मनसा साक्षादपरोक्षस्यात्मसुखानुभूतेः विग्रहरूपपरमानन्दाववोधस्य तव तु श्रीकृष्णस्य महि अवसितुं यन्न ईशे, तत् किमुत, 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च' अत्र वर्ष्मपरः। तेऽपि सत्यज्ञानादिरूपमूर्तयः अयश्चात्मसुखानुभूतिरिति तुल्यत्वादविशेषे साक्षाच्छब्दः, वस्तुतस्तु तदिच्छामयत्वादैच्छिक्याः प्रकाशिकाख्याया मायाया एव विलासः, अयं तु साक्षात्तथाविधमाय इति विशेषः ॥ २ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

नौमीड्येत्यादि। त्वामित्यध्याहार्यम्, भयेन जातक्षोभतया त्वामिति वक्तुं नाशकत्। ननु स्तव्य एव स्तूयते, ब्रह्मणस्ते गोपबालकोऽहं किं स्तव्यः? तत्राह- हे ईड्य। भवानेव स्तव्य इत्यर्थः। अन्यत्र स्तवनमर्थवादः त्वयि तु सर्वं यथार्थमेवेति। किमर्थं नौषि? तत्राह—ते तुभ्यं त्वत् प्राप्तये। यदर्थमित्यवगतम्, अहं निराकारं ब्रह्म, तर्हि तथात्वेनैव स्तूयताम्? नेत्याह—अभ्रवपुषे मेघश्यामविग्रहाय, तडिदम्बराय पीतवाससे। तर्हि नारायणः स्तूयताम्? सोऽपि तथा नेत्याह—गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखायेत्यादि—विशेषणान्यासमाप्तेः। स त्वेवं न भवति। यद्वा, हे ईड्य! वपुषे एतद्रूपाय वपुषे तुभ्यं वपुरूप त्वदर्थं त्वां नौमि, अस्मिन्नेव वपुषि रतिर्भवत्विति फलमुद्दिश्य नौमि। ननु नारायणाज्जातोऽसि तं त्यक्त्वा कथं मां नौषि? तत्राह—हे अभ्र? अं नारायणं विभर्त्तीति तथाभूतनारायणस्यापि भर्त्तः, (१४ श-श्लो०) "नारायणोऽङ्गम्" इत्यादेरत्रैव वक्ष्यमाणत्वात्। स वकारपाठे (मनुसंहितायाम् १।१०) "आपो नारा इति प्रोक्ताः" इत्यादि अपामयनत्वेनापो विभर्त्तीति अव् भ्र शब्देन नारायण एवोच्यते हे नारायण! नारायणनामा खलु त्वद्भिन्ना न भवति, त्वयि स्तुते सोऽपि स्तुतः, (भा० ४।३१।१४) "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादि। अव् भ्र शब्दः संबोधनतात्पर्यः तदा सर्वाणि वपुर्विशेषणानि। पशुपाङ्गजाय पशूनां पालं रक्षणं तदर्थमङ्गजा चेष्टा यस्य वपुरिति वपति परमानन्दमिति जनि-धनि वपि प्रभृतिभ्यः ऊसौण।दिकः। तडिदम्बराय तडिदिव गौरं चञ्चलञ्च पीताम्बरं यस्य, यदा पवनस्पन्दो भवति, तदा दृश्यते अन्यथा न दृश्यत इति तडिता सहोपमानम्। यद्वा, वपुषे वपुर्निमित्तमिति, वपुषः किमेतावद् गौरवमित्याह तडिदम् इदं वपुः अनुस्वाराभावः सन्धिविवक्षितत्वात्, किं वा मकारश्छान्दसः, तद्शब्देन उच्छ्रितं सर्वोपरि वर्त्तमानमिति यावत्, तद् उच्छ्रये' इत्यतः क्विपि सिद्धेः परात्परमित्यर्थः। वपुषे कथम्भूताय? वराय व्रियत इति वरमभिलषणीयम्। हे गुञ्जावतंस। गुञ्जा च अव्यक्तशब्दस्तस्य अवतंसः परिपिच्छलः परि परितः पीः प्यानं वृद्धिर्यस्य तथाभूतं छलं माया यस्य, 'पैङ् वृद्धौ' ध्यापोरिति संप्रसारणम् क्लीवत्वात् ह्रस्वः ग्रामणिकुलमित्यादिवत् पश्चात् समासः। सन्मुखाय सत् प्रसन्नं मुखं यत्र वपुर्विशेषणम्। सतां भक्तानां मुखं यत्र सन्मुखमिति वा। अथवा हे ईड्य! ते तव मृदुपदे नौमि। किमर्थम्? वपुषे वपुरर्थम्, एतदेव वपुः सर्वदा स्फुरत्विति कृते। तदा सर्वं वपुर्विशेषणम्॥ १॥ किंवा स्तोतव्यम् ज्ञातस्यैव वस्तुनः सम्भवति भवन्महिमा तु न ज्ञायत एव इत्याह-अस्यापीत्यादि हे देव। अस्य गोवत्स गोपबालकरूपस्य वपुषः 'चिदेकरूपत्वादेकवचनम्' महि महिमानमवसितुं ज्ञातुं कोऽपि ब्रह्माप्यहं न ईशे, ईशो न भवामि, यतः सर्वं एव सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकवपुषः, सर्वं एव प्रत्यंकं मदादिभिर्वन्द्यमानाः, कथमेतदघटतामिति तव सच्चिदानन्दप्रपञ्चभूतस्य वत्सवत्सपादिव्यतिकरस्य महिमा न ज्ञातः। किम्भूतस्य? मदनुग्रहस्य मम दर्पहानिरूपोऽनुग्रहो यत्र, स्वेच्छामयस्य स्वस्य तवेच्छा स्वेच्छा तन्मयस्य, तव नित्येच्छत्वात् तस्यापि नित्यत्वम्। अतो न तु भूतमयस्य तुशब्द एवार्थः आन्तरेण समाधिनिश्चलेन मनसापि अस्तु तावद् वचसा वक्तुमिति भावः। आत्मसुखानुभूतेः साक्षाद् प्रकटीभूतस्य तव सर्वेश्वरेश्वरस्य सान्द्रानन्दविग्रहस्य महिमा किमुत वक्तव्यः। आत्मसुखं वंशीविलासरसस्तत्रानुभूतिरनुगताभूतिः सम्पद्यस्य॥ २॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

श्रीवृन्दावनचन्द्राय नमः।

भक्तिज्ञानमहैश्वर्य्यमाधुर्य्याब्धौ पतन्विधिः। अस्तौद् प्रीतिविधौ प्रश्नोत्तरं चोक्तं चतुर्दशे॥
मम रत्नवणिग्भावं रत्नान्यपरिचिन्वतः। हसन्तु सन्तो जिह्मेमि न स्वस्वान्तविनोदकृत्॥
श्रीमद्गुरुपदाम्भोजध्यानमात्रैकसाहसम्। विधिस्तिवाम्बुधेः पारं यिया सति मनो मम॥

निखिलसच्चिदानन्दस्वरूपमूलभूतं श्रीगोपेन्द्रनन्दनं साक्षादनुभूय तत्रैवोद्भूतभक्तिनिष्ठस्तमेव विधिर्वर्णयति—नौमीति। हे ईड्य! अधुनैव दृष्टब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सर्वस्तुत! वासुदेव! सहस्रांशित्वेन परमस्तव्य! ते तुभ्यं नौमि स्तुत्या त्वामभिप्रैमि पत्ये शेत इति वदेतां स्तुतिं तुभ्यं ददामीत्यर्थः। यद्वा, त्वामेव प्राप्तुं प्रसादयितुं वा त्वां नौमि अभ्रतुल्यवपुषे तडिद्वदम्बरायेति भूतलसन्तापहारित्वं भक्तचातकजीवत्वं च, गुञ्जा चूडावर्त्तिनी अवतंसः पौष्पः चूडावर्त्ती श्रोत्रवर्ती च परिपिच्छ गुत्कृष्टबर्हं चूडाग्रवर्ति तैर्लसन्मुखं यस्येत्यसाधारणलक्षणवत्त्वम् वैकुण्ठीयाऽनर्घ्यरत्नालङ्कारेभ्योऽपि वृन्दावनीयगुञ्जादीना गुत्कर्षश्च वन्या वृन्दावनीया एव पत्रपुष्पमय्यः स्रजो यस्येति नैश्रेयसवनस्थपारिजातादीनां निकर्षः कवलादिभिर्लक्ष्मभिरेव श्रीः शोभा यस्येति गोपबालोचिताऽऽचरणस्यैव तदीयसर्वाचरणेभ्यः श्रैष्ठ्यं मृदू अतिसुकुमारौ पादौ यस्येति ताभ्यां वनभ्रमणदर्शिनां कारुण्यप्रेममूर्च्छोत्पादकत्वं पशुपाङ्गजायेति श्रीवसुदेवादिभ्योऽपि श्रीमन्नन्दस्य सौभाग्याधिक्यं व्यञ्जितम्॥ १॥ ननु, भो ब्रह्मंस्त्वं जगदैश्वर्य्याधिपतिरहं तु वन्यगोपालपुत्रस्त्वं पुरातनो ऽहं तु बालस्त्वं वेदार्थतात्पर्य्यविज्ञत्वात् परमविद्वान् सदाचारपरायणः अहं तु वत्सचारकत्वादध्ययनशून्यः स्मार्त्ताचारगन्धमप्यजानंस्तिष्ठन् भ्राम्यन्नप्योदनकवलं भुजानस्त्वं मायी परमसुखी साक्षात्परमेश्वर एव अहं तु त्वन्मायामोहितो मनोदुःखेन वने पर्य्यटंस्तव स्तवं कर्त्तुं नार्हामीति वक्रोक्तिमाशङ्क्य सत्यमज्ञानान्महापराधमकरवमिति व्यञ्जयन्नाह,

अस्येति। हे देव ! अस्यापि बाल्यचेष्टामयस्य प्रकटितमौग्ध्यस्य तव वपुषो महि महिमानमवसितुं ज्ञातुं नेशे न शक्नोमि किं ... कैशोरलीलस्य प्रकटितमहाचातुर्यस्य वपुषः वपुषोऽपि महि ज्ञातुं नेशे किमुत तव आत्मनो मनसो या सुखानुभूतिस्तस्याः ... ध्यस्वानन्दमयोऽपि वत्सचारणादिना यादृशं सुखमनुभवसि तस्येत्यर्थः। तथा त्वत्सहचराणामपि मनः सुखानुभूतेर्महि ज्ञातुं ... किमुत साक्षात्तवैव अन्तरेण प्रत्याहृत्यान्तर्वशीकृतेनापि मनसा किमुतास्थिरेण तथा को ब्रह्माप्यहं नेशे किमुतान्य इति कैमुत्य... क्रमज्ञानातिशयप्रतिपादकं ममापि ज्ञानसम्भावनायां न शास्त्राभ्यासतपोयोगादिकं हेतुः। किं तु कृपाकटाक्षकण एवेति ... वपुर्विशिनष्टि—मय्यपराधिन्यप्यनुग्रहो महैश्वर्य्यदर्शनोत्थमोहोत्तरकालदर्शनदानानुमितो यस्य तस्य अनुग्रहे हेतुः स्वेच्छामय... स्वीयानां प्रेमभक्तिमतां यथा यथा या या इच्छा दिदृक्षा सिसेविषादिस्तन्मयस्य भक्तवत्सलत्वात् तत्तत्सम्पादकस्येत्यर्थः।... मय्यपि भक्त्याभासवत्त्वादपराधित्वेऽप्यनुग्रहलेशप्राप्त्यधिकार इति भावः। नन्विच्छानुग्रहो नरवपुर्धर्माविलयत आह—न तु भू... मयस्य भूतमयं हि वपुर्जडं न तु चिन्मयम् अत एव ब्रह्मसंहितायामुक्तम् "अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति" इति ... सर्वेन्द्रियवत्त्वं तदेतस्य गोविन्दस्याङ्गानां यथा कालमन्यान् अवतारान् प्रत्येव (तदङ्गानां यथा कालमन्यान्प्रत्येव) न तु ... प्रति स तु स्वचक्षुर्भ्यामेव पश्यति स्वश्रोत्राभ्यामेव शृणोति स्वमनसैव विचारयति न तु स्वपाणिभ्यामपि पश्यतीत्यादिविवेचनी... अथवा अस्यापि देववपुषो देवाकारस्य अधुनैव त्वया दर्शितस्य वासुदेवमूर्त्तेर्मदनुग्रहस्य चतुःश्लोकीभागवतोपदेष्टृत्वेन मय्यनुग्रह... स्वीयस्यांशिनस्तवेच्छा सम्पादकस्य त्वदिच्छा सम्पादकत्वेऽपि न वयमिव भौतिका इत्याह—न तु भूतमयस्य महि महिमानं ... ब्रह्माऽपि स्वव्यञ्जकान् वेदान् वेदफलं श्रीभागवतं चाध्यापितोऽप्यहं ज्ञातुं नेशे किमुत साक्षात्तवैव नरवपुषः सर्वांशिनः ... भगवतः कथम्भूतस्य आत्मनः ? स्वस्य सुखेषुदधिचौर्य्यगोपिकास्तन्यपानवत्सचारणबाल्यचापल्याद्युत्थेषु स्वावतारान्तरासाधारण... अनुभूतिर्यस्य तस्य ॥ २ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीश्रीभगवन्निम्बार्काय नमः।

एवं मञ्जुमहित्वं दृष्ट्वा तदर्चनार्थं कृतवत्सादिहरणरूपमपराधं क्षमापयितुं भगवन्तं स्तौति—नौमीति। हे ईड्य ! स्तुत्य ते तुभ्यं नौमि स्तौमि "णु स्तुतौ" द्वितीयार्थे चतुर्थी अभ्रवपुषे घनश्यामाय तडिदम्बराय पीताम्बराय गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णाभरणे परिपिच्छं बर्हापीडं तैर्लसन्मुखं यस्य तस्मै वन्यस्रजे वन्याः वनपुष्पभवाः स्रजो यस्य तस्मै कवलादिभिर्लक्ष्मभिः श्रीः शोभा ... तस्मै पशुपाङ्गजाय श्रीनन्दात्मजाय अत्र सम्बोधनेन सर्वेश्वरत्वम् अभ्रेत्यादिपदद्वयेन स्वयंविष्णुत्वं गुञ्जेत्यादिपदत्रय्या पशुपाङ्ग... येत्यनेन च भक्तेच्छानुरूपत्वम् मृदुपदे इत्यनेनोपलक्षणतया मार्दवादिगुणगणश्च भगवतो द्योत्यते ॥ १ ॥ अभ्रवपुषे इत्युपमेय... भगवद्विग्रहस्य परिच्छिन्नत्वप्रतीतिं तत्स्वरूपस्य विग्रहवत्त्वेन परिच्छिन्नत्वप्रतीतिं च प्राप्तां निराकर्त्तुं। "हिरण्यश्मश्रुः हिरण्य... सत्पुण्डरीकं नयनं मेघाभं वैद्युताम्वरं द्विभुजम्" इत्यादिप्रसिद्धमप्राकृतं विग्रहं "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं स्व... चेयत्तानवच्छिन्नतया स्तौति—अस्यापीति। हे देव ! परमेश्वर ! अस्य तव वपुषः अपि निश्चितं महि महित्वं महिमानमियत्ता... यावत् अवसितुं ज्ञातुं कोऽपि न ईशे न समर्थ आसीत्। नन्वस्येति त्वदुक्त्यैव परिच्छिन्नतया सुज्ञातत्वं मद्वपुष आगतमतः कथं ... कोऽप्यवसितुं नेशे ? इत्यत्राह—मदनुग्रहस्येति। मद्वचनं सत्यं कर्तुं गोपवालतया स्थितस्य। ननु, त्वद्वचनसत्यत्वसिद्धये यत्... तस्य त्वन्नियम्यत्वेन सुज्ञेयत्वे कथं दुर्ज्ञेयत्वं यत्र च बालतरुणत्वादिव्यवहारस्य कथं परमेश्वरः स्यादत्राह—स्वेच्छामयस्ये... स्वेच्छयैव भक्तमनोरथानुरोधेन बालत्वादिना द्विभुजत्वचतुर्भुजत्वादिना एकधा शतधा सहस्रधा अनन्तधा वर्त्तितुं शक्तस्येत्य... किंच भूतमयस्य प्राकृतस्य विराड्रूपस्य "ईदृग्विधाऽविगणिताण्ड" इत्यगणिततया वक्ष्यमाणस्य तव वपुषः महिमानं ज्ञातुं ... न च कोऽपि ईशे यदा तदा किमुत वक्तव्यमप्राकृतस्य वपुषो दुर्ज्ञेयत्वमित्यर्थः। एवं सति किमुततरां साक्षात्सुखानुभूतेः ... रिणोऽन्तरेण निरुद्धेनाऽपि मनसा कोऽपि ज्ञातुं नेश इति वक्तव्यम्। द्वितीयस्तुशब्दः विग्रहगुणानां स्वरूपगुणानां च दुर्ज्ञेयत्वं सूचयति "को वेद ब्रह्मणो रूपम्" "यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः" इत्यादिश्रुतेः भक्तेः सुज्ञेयत्वं स्वेच्छा... दर्शितमेवेति दिक् ॥ २ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चतुर्दशे स्तुतः कृष्णः सर्वेशः परमेष्ठिनः। शुद्धप्रीतिविधौ प्रश्नोत्तरे च परिदर्शिनी ॥

अष्टादशार्णमन्त्रराजोपदेष्टृत्वेन गुरुं विश्वैश्वर्यदातृत्वेन प्रभुमुपदेशवेलायां मञ्जुमहिमदर्शनोत्तरञ्च गोपवेषलीला... कृष्णां विरिञ्चस्तद्वेषमेव तावत् स्तौति—नौमीति ! हे ईड्य ! मञ्जुमहिमशालित्वेन मम स्तुतियोग्य ते तुभ्यं नौमि त्वामेव ... त्वां स्तौमीत्यर्थः। पुष्पेभ्यो यातीतिवत् प्रयोगः कीदृशाय अभ्रमिव वपुर्यस्य तडिदिवाम्बरं यस्येति निखिलतापहारित्वं ... चातकजीवातुत्वञ्च सूच्यते, गुञ्जा चावतंसश्च पौष्पश्चूडा श्रोत्रवृत्तिः परिपिच्छं मन्त्रशिखिशिखण्डश्चूडाप्रवृत्तिस्तैर्लसत् मुखं यस्य...

वन्या वृन्दावनभवपत्रपुष्पमयी स्रक् माला यस्य, कवलादिभिर्लक्ष्मभिः गोपचिह्नैः श्रीः शोभा यस्य, मृदू कोमलौ पादौ यस्य, पशुपस्य नन्दगोपस्याङ्गाज्जाताय तदौरस्यायेति इत्थञ्च "तदुहोवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितं" तदिह श्लोका भवन्ति—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥

गोपगोपीगवावीत "मित्यादि श्रुतिगीतं स्वयं भगवत्परब्रह्म गोपालरूपमिह स्तुतम् ॥ १ ॥ ननु गोपकुमारे मयि किमैश्वर्यं यत् सर्वज्ञेन जगत्प्रभुणा विरिञ्चेनापि नूयेहमितिवत्तत्र कैमुत्यं दर्शयन्नाह अस्यापीति । देव सर्वाराध्य ! अस्येदानीं त्वया प्रकटितस्य घनश्यामादिलक्षणस्य वपुषो वासुदेवव्यूहस्य महि महिमानमवसितुं वोद्धुं कोऽपि विरिञ्चोऽप्यहं नैशोसमर्थो नास्मि मत्सृष्टस्यान्यस्य का कथेति भावः । कीदृस्य मदनुग्रहस्य सापराधेऽपि मयि व्येतस्य विमोह इत्यनुग्रहो यस्मात्तस्य स्वेच्छामयस्य स्वेषां भक्तानां या इच्छास्तन्मयस्य तदधीनस्य ममापि मृत्यत्वान्महैश्वर्यं मञ्जु महिमानं द्रष्टुं वाञ्छाभूदेव तत्पूरकस्येत्यर्थः । ननु, मायया तद्वपुः केनचित्तव दर्शितं स्यात्तत्राह ननु भूतमयस्येति सत्यज्ञानान्तानन्देत्याद्युक्तेर्विज्ञानानन्दमयस्येत्यर्थः । आन्तरेण निरुद्धेनापि मनसा चेदेवं तर्हि साक्षत्तदर्शिनस्तवैव गोपकुमारस्य महिमानमवसितुं नेशे इति किमुत वाच्यमित्यर्थः । तव कीदृशस्येत्याह—आत्मसुखेति । "गोपगोपीगवावीतम्" इत्यादि श्रवणादे गोपादिविशिष्टस्यात्मनः सुखेषु तव सहक्रीडोद्भूतेषु त्वदसाधारणेष्वनुभूतिर्यस्येति त्वत्स्वांशानां महिमानं वोद्धुमसम स्वयंरूपस्य तव महिमा कथं शक्यो बोद्धुमित्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीसुबोधिनी

स्तुतिर्ब्रह्मप्रसादश्च वत्सानां पुनरागतिः । स्नेहोपपत्तिः श्रवणे फलं चेति निरूप्यते ॥ १ ॥

प्रथमं व्याकुलो ब्रह्मा दृष्टं रूपं वर्णयन् नमस्यति **नौमीति** "णु स्तुतौ" स्तौमि भगवन्तं, तत्र हेतुं सम्बोधनेनाह हे ईड्येति, सर्वैरेव स्तूयतेतो मयापीति, "प्रयोजनमनुद्दिश्य कोपि न प्रवर्तते" इति किमर्थं स्तोत्रमित्याशङ्क्याह त इति, ते तुभ्यमेव त्वमेव फलं न त्वहं, ब्रह्मप्राप्तिश्च तपोज्ञानादिभिः किं स्तोत्रेणेति चेत् तत्राहाभ्रवपुष इति, नास्माकं फलं शब्दविषयकं ब्रह्म किं त्वेतदेव प्रत्यक्षतो दृश्यं तदपि प्राकृतचक्षुषैव तत्रापि सर्वाभरणभूषितं तत्रापि प्राकृतालङ्कारसहितं तत्राप्येतदवस्थापन्नमिति वक्तुं तथाविशेषणान्याहाभ्रवत् मेघवद् **वपुर्यस्य** नीलमेघश्यामाय, तडिद्वत् पीतमम्बरं यस्य, गुञ्जाफलानामवतंसः परिगो मयूरपिच्छानि तैर्लसन् मुखं यस्य, वनोद्भवानां पुष्पाणां स्रग् यस्य, कवलं दध्योदनो हस्ते, वेत्रविषाणे कक्षयोः, वेणुर्जठरपटयोः, एतान्येव यानि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य, मृदू पादौ यस्य, पशुपस्य नन्दस्याङ्गाच्च जातो नन्दसूनुः, अनेन यथैव व्यवहारो लौकिकस्तद्विषय एव भगवानस्माकं फलरूपोस्त्वित्यर्थः ॥ १ ॥

लौकिके प्राकृते भावे यस्य भावः स भक्तिमान् । हीनभावं तं विदित्वा योन्यथा वेद सोधमः ॥ १ ॥

यद् गृह्णाति यथैवायं रोधयत्यत्र लौकिके । तत् प्रमाणमिहाऽस्माकं नान्यद् भिन्नाधिकारतः ॥ २ ॥

नन्वेतदेव फलत्वेन किमिति प्रार्थ्यते ? प्रदर्शनार्थमेवैतदतः श्रुतिसिद्धमेव फलत्वेन प्रार्थ्यतामित्याशङ्क्याहास्यैवेति, एतदप्यस्माकं महत् फलं, यस्य हि स्वरूपानुभावौ ज्ञायेते तत् फलमिष्टं भवति, अस्माकं त्वेतस्यापि स्वरूपानुभावौ न बुद्धिगोचरावत इदमेव फलेन धाष्ट्यादेव प्रार्थ्यते, देवेतिसम्बोधनमुपास्यत्वाय, अस्यापि वपुषो महि महिमानमन्तरेणापि मनसान्तर्मुखेन विचारयुक्तेनापि मनसाहं ब्रह्मापि नेशे "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृतचक्षु" रितिपक्षं व्यावर्तयति, यद्यपीदं वपुर्मंदनुग्रहं मय्यनुग्रहो यस्य, ब्रह्मकृपयैवावतारो ब्रह्मवचनाच्च गोकुले समागमनं ब्रह्मणि कृपयैवेदानीं प्रादुर्भाव इति, अत इदं रूपं ब्रह्मार्थमेव, तर्हि कथं न माहात्म्यं ज्ञायत इत्याशङ्क्याहस्वेच्छामयस्येति, स्वस्य येच्छा तन्मयोयं, इच्छा त्वपराधेन्यथा भवतीति न नियमो मय्यनुग्रहमेव करिष्यतीति, न च कालकर्मस्वभावानां नियामकत्वं, तथा सति ब्रह्मणस्तेनुकूला इत्यनुग्रहमेव करिष्यतीति कल्पयितुं शक्यते, अतः कालाद्यधीनत्वाभावे हेतुमाह तनुभूतमयस्येति, कोप्यहमपि, यत्रास्य रूपस्यैव महिमा न ज्ञायते तत्र साक्षात् **तवैव** श्रुत्यैकसमधिगम्यस्यात्मसुखानुभूतेः स्वत एव बोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य सच्चिदानन्दरूपस्य वा, यद्यप्येतदेव तत् तथाप्यप्रतीयमानमपि फलत्वेन भिन्नतया निर्दिष्टम् ॥ २ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सञ्जातेश्वरज्ञानेन ब्रह्मणा हरिसंस्तुतिः । कृष्णस्नेहोपपत्तिश्च चतुर्दशे निरूप्यते ॥ १ ॥

तत्र भगवत्प्रभावं दृष्ट्वा नष्टगर्वो ब्रह्मा दृष्टस्वरूप एव भगवति लब्धभक्तिस्तत्प्राप्त्यर्थं तमेव स्तौति—नौमीति । 'नौमि' इत्युक्त्वा प्रकरणागतस्य भगवतः कर्मत्वम् । त्वां नौमि, स्तौमीत्यर्थः । ननु 'प्रयोजनंविना न कोऽपि कुत्रापि प्रवर्तते, अतस्तव स्तुतौ प्रवृत्तौ किं प्रयोजनम् ?' इत्यपेक्षायामाह—ते इति । ते तुभ्यमिति तादर्थ्ये चतुर्थी । त्वत्प्राप्त्यर्थं त्वां स्तौमीत्यर्थः ।

ननु 'अन्यसर्वप्राप्तिं विहाय मत्प्राप्तिरेव तव कुत इष्टा ?' तत्राह—हे ईड्येति। यतोऽस्मदादिभिः सर्वैरपि त्वमेव ईड्यः स्तुत्यः परमानन्दरूपत्वात्, अतः प्राप्तियोग्यत्वात्तवैव प्राप्तिरिष्टेति भावः। 'ममाप्यनन्तरूपत्वात् कथंभूतं मां प्राप्तुमिच्छसि' इत्यपेक्षायां 'श्रीकृष्णमूर्तिमेव त्वां प्राप्तुमिच्छे' इत्यभिप्रेत्य तद्विशेषणान्याह—अभ्रवपुषे इत्यादिना। अभ्रवत् श्यामं वपुः यस्य तस्मै। तडिद्वत् पीते देदीप्यमाने अम्बरे यस्य तस्मै। गुञ्जाभिः गुञ्जाफलैः रचितौ अवतंसौ कर्णभूषणे, परिपिच्छं वर्हापीडं तैर्लसत् शोभमानं मुखं यस्य तस्मै। वन्याः वनपुष्पपत्रमय्यः स्रजो यस्य तस्मै। पूर्वोक्तरीत्या वामे पाणौ दध्योदनकवलः, वामे कक्षे वेत्रविषाणे, जठरपटयोः सन्धौ वेणुः, एतान्येव यानि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य तस्मै। मृदू पादौ यस्य तस्मै। पशुपस्य श्रीनन्दस्य अङ्गजः पुत्रः तस्मै ॥ १ ॥ एवं स्तुतिकरणं प्रतिज्ञाय स्तुतिर्हि महिमवर्णनरूपा भवति, भगवतस्तु दुर्ज्ञेयमहिमत्वेन तत्करणमशक्यं मत्वा दुर्ज्ञेयमहिमत्वेनैव स्तौति—अस्यापीति। दुर्ज्ञेयमहिमत्वे हेतुं सूचयन् सम्बोधयति—हे देव! अस्यापि भूतमयस्य ;विराड्रूपस्य स्वेच्छामयस्य 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतम्' इति वाक्यात् स्वक्रीडार्थं स्वेच्छया प्रकटितस्य मदनुग्रहस्य मम ब्रह्माण्डविग्रहस्य जीवस्यानुग्रहो भोगसम्पत्तिः येन तस्य तव वपुषः कोऽपि को ब्रह्माऽहमपि आन्तरेण अन्तर्मुखीकृतेनापि मनसा महि महिमानमवसितुं ज्ञातुं नेशे न समर्थः। तदा तु साक्षात् आत्मसुखानुभूतेः आत्मपदेन सत्ता, सच्चिदानन्दात्मकस्यैव तव महिमानमवसितुं नेशे इति तु किमुत ? किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

चतुर्दशे विस्मितस्तु कर्मणा तेन पद्मजः। भक्त्या श्रीकृष्णमस्तावीत्तत्र श्लोकाः कुषण्मिताः (६०) ॥

उवाचेति चतुःसंख्या (४) एकाशीतिरनुष्टुभः (८१) ॥ १४ ॥

नौमीति ॥ हे ईड्य स्तुत्य! अभ्रमिव श्यामं वपुर्यस्य तस्मै तडिदिव पीते दीप्ते च अम्बरे यस्य गुञ्जानिर्मितौ यो अवतंसौ कर्णभूषणे परितः पिच्छानि यस्य तत् परिपिच्छं वर्हापीडं तैर्लसत् शोभमानं मुखं यस्य तस्मै वन्याः वनपुष्पपत्रमय्यः स्रजो यस्य कवलो ग्रासः वेत्रविषाणवेणवश्च लक्ष्म श्रीवत्साख्यं तैः श्रीः शोभा यस्य कवलादिभिर्लक्ष्मभिः श्रीर्यस्येति वा। मृदू पादौ यस्य पशुपस्य नन्दस्य अङ्गजाय पुत्राय ते तुभ्यं त्वां प्रसादयितुं "क्रियार्थोपपदस्य" इति चतुर्थी। पदये शेते इति वद्वा। नौमि स्तौमि ॥ १ ॥ अस्यापीति ॥ हे देव! ममानुग्रहो यस्मात् यस्य स्वेच्छामयस्य स्वेच्छया प्रकटितस्य स्वेषां भक्तानामिच्छामयस्य भक्तेच्छानुसारेणाविर्भवतः ननु भूतमयस्य शुद्धसत्त्वस्य रूपस्य अस्य प्रकटितकौमारस्यापि वपुषः कोऽपि को ब्रह्माऽहमपि आन्तरेण अन्तर्मुखीकृतेनापि मनसा महि महिमानमवसितुं ज्ञातुं इकार आर्षः। अवसातुमित्यर्थः। नेशे न समर्थोऽस्मि। यद्वा भूतमयस्य विराड्रूपस्यापि महिमानं ज्ञातु नेशे तदा तु साक्षात् आत्मसुखानुभूतेः आत्मपदेन सत्ता सच्चिदानन्दात्मकस्यैव तव महिमानमवसितुं नेशे इति तु किमुत वक्तव्यमित्यर्थः। ननु इत्यत्र ननु इति पाठे भूतमयस्य विराड्रूपस्येत्यर्थः। तनुभूतेति चित्सुखसम्मतपाठे तनु सूक्ष्मं यद् भूतं शुद्धसत्वात्मकं तद्रूपस्य "अस्य महतो भूतस्य" इति श्रुतौ "लोकनाथं महद्भूतम्" इति स्मृतौ च परमात्मनि भूतशब्दः इत्याद्यन्यत्र ज्ञेयम् ॥ २ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं चतुर्दशोऽध्याये उपनिषद्भिर्बद्धमुक्तनियंतृत्वे नोक्तो यो ब्रह्मपुरनिवासी स एव प्रत्यक्षः श्रीकृष्णोऽस्तीति ब्रह्मणा स्तूयते अत्र च क्षेपकश्लोका वहवः संति तत् प्रहाणेन व्याख्यायते तत्रादौ स्वदृष्टभगवन्महिमानं चिंतयन्नृनाट्यधरं श्रीकृष्णं नमस्कुर्वन्नाह नौमीति हे ईड्य बद्धमुक्तक्षेत्रज्ञवृंदैः सकामनिष्कामतया स्तोतुमर्ह पशुपांगजाय पशुपो नंदस्तत्पुत्राय तत् पालितपुत्रायेत्यर्थः अंगजायेत्युक्तिस्तु नंदसुतोयमिति लोकोक्त्यनुसारेण यद्वा पशुपस्य नंदस्यांगं स्नेहाधिक्यादंगत्वेन स्वीकृतो वसुदेवस्तस्माज्जाताय ते चेतनाचेतननियामकतया वृद्धाय श्रीकृष्णाय तुभ्यं नौमि स्तौमि नमस्करोमीत्यर्थः। व्यत्ययो बहुलमिति बाहुलकात्कारकव्यत्यये न स्तवनार्थक्रियायोगे द्वितीयायोगे द्वितीयार्थे चतुर्थी अभ्रवत् सजलनूतनजीमूतसदृशं वपुर्मूर्त्तिर्यस्य तस्मै तडिद्विद्युत्तत्तुल्यतया प्रकाशमानानि अंवराणि सुवर्णं तं तु ग्रंथितवसनानि यस्य तस्मै अद्य न प्रेमिभक्तदत्तौ गुंजानामवतंसौ कर्णभूषणे च परिपिछं मयूरपिछनिर्मितमुकुटं च तैर्लसत् शोभमानं मुखं यस्य तस्मै वन्यावनपुष्परचिताः स्रजोहारा यस्य तस्मै कवलादिरूपाणि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य तस्मै जलस्य पद्मवन्मृदू कोमलौ पादौ यस्य तस्मै एवंभूताय तुभ्यं नौमीति संबंधः ॥ १ ॥ नुतहरिमहिम्नोदुर्बोधत्वमाह अस्यापीति हे देव मदनुग्रहस्य तपःकरणादनंतरमपि अनुग्रहः तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तुते मदनुग्रहादिति भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचिच्चेति कृपा यस्य तस्य निर्गुणस्य तव स गुणावतारस्य तनुभूतमयस्य तनुर्देहो तनुर्देहो भूतमयः पृथिव्यादि महाभूतप्रचुरो यस्य तस्य राजनारायणस्यापि महि महिमानं अवसितुं इयत्तया प्रमातुं कोऽपि कः पद्मभूरहमपि नेशे न समर्थोऽस्मि अथवा कः ब्रह्मांडस्थः कश्चिदपि जनोनेशे नेष्टे न समर्थो भवेत्तर्हि आत्मनां जीवात्मनां सुखानुभूतिर्मोक्ष मुन्नुभवो यस्मात् यद्वा आत्मानात्मभावं प्राप्तानां मुक्तानामपि सुखानुभवो यस्मिंस्तस्यस्वेच्छामयस्यासंख्यजनोद्धरणाय स्वेच्छया प्रादुर्भूतस्य अस्य तव साक्षात् वपुषः प्रत्यक्षमूर्त्तेः महिमानं अंतरेण अष्टांगयोगरुद्धेनापि मनसा कोपि अवसितुं इयत्तया ज्ञातुं किं ईशे समर्थो भवति न भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दृष्टादद्भुतं विधिः पूर्वागन्तुकत्य विनिश्चयम् । कर्तुं चतुर्दशेऽनीशोऽस्तौपीद् कृष्णं विमोहितः ॥ १ ॥

स्वकृतापराधेन भिया सकम्पतया भगवन्महिमानमनवगाहमानो भगवतो वात्सल्यसौशील्यादिगुणाविष्कारपूर्वकं स्वापराधं क्षमापयितुकामो ब्रह्मा तावत्त्वन्मायादितरणे त्वत्प्रपत्तिरेवोपायो नान्योऽस्तीत्यभिप्रायेण यथादृष्टं भगवन्तं संकीर्त्तयन् शरणं व्रजन्नाह ॥ नौमीति ॥ हे ईडय स्तुत्य, अभ्रवत् सद्यः संभृतजलजलदवद्वपुर्यस्य तस्मै, घनवच्छ्यामसुन्दरायेत्यर्थः । तडिद्वदम्बरे यस्य तस्मै, परिहितपीतपीताम्बरायेत्यर्थः । गुञ्जाभिरवतंसौ कर्णभूषणे परिपिच्छं परितो वर्हापीडं च तैर्लसच्छोभमानं मुखं यस्य तस्मै, वन्या वन्यपुष्पमय्यः स्रजो माला यस्य तस्मै कवलो मसृणौदनग्रासः वेत्रं विषाणं वेणुश्च तैर्लक्ष्मभिः श्रीः शोभा यस्य तस्मै, मृदू कोमलौ पदौ पादौ यस्य तस्मै, पशुपो नन्दगोपस्तस्याङ्गजः पुत्रस्तस्मै, अत्राङ्गजशब्दः पुत्रार्थे रूढः । यद्वा नन्दसखत्वात्पशुपो वसुदेवस्तस्याङ्गजस्तस्मै, यद्वा । पशून् जीवान् पान्ति रक्षन्तीति पशुपा देवाः, "तिर्यग्जातौ पशुः प्रोक्तः सर्वप्राणिनि पुंस्ययम्' इति व्याख्यासुधायां पशुपतिशब्दव्याख्याने कोशः । ते अङ्गजा अङ्गाज्जाता यस्य तस्मै, अथवा पशून् पान्तीति पशुपा गोपास्तेषां गजाय मुख्याय, ते तुभ्यं क्षमापयितुं त्वामेव, नौमि स्तौमि । तुमर्थयोगे चतुर्थी । कर्म तु भगवानेव । द्वितीयार्थे चतुर्थी वा । केचित्तु तादर्थ्ये चतुर्थीमाहुः । अपरे संप्रदानविवक्षयेति वदन्ति ॥ १ ॥ निःसीममहिमत्वमेव कैमुत्यन्यायेन प्रदर्शयन् स्तौति ॥ अस्यापीति ॥ हे भगवन्, देवं दिव्यं वपुर्यस्य तस्य दिव्याकृतेरित्यर्थः । ममानुग्रहो येन तस्य, अलौकिकदर्शनप्रदानेन मामनुगृह्णत इत्यर्थः । स्वानामात्मीयानामिच्छा प्रचुरा यस्मिन् तस्य स्वभक्तेच्छानुसारीच्छावत् इत्यर्थः । भगवत इत्थंभूतत्वात् 'भगवान् भक्तभक्तिमान्' इत्युक्तमस्ति । तनवः स्वशरीरभूतानि भूतानि यस्य स एव तनुभूतमयस्तस्य, स्वार्थे मयट् । यस्य पृथ्वी शरीरम् 'यस्यापः शरीरम्' इत्यादिश्रुतेः । न तु भूतमयस्येति पाठे प्राकृतभूतजकरणकलेवरादिरहितस्येत्यर्थः । 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽयं परमात्मनः' इति वचनात् । तथापि, साक्षात् प्रत्यक्षतया प्रतीयमानस्य, तथात्वेऽपि, आत्मसुखानुभूतेः सर्वदाऽपरोक्षतयानुभूयमानात्मनन्दानुभवस्य, अस्य तव, महि महिमानं, अवसितुं निर्णेतुं तु, आन्तरेण अपि, अन्तर्धृतेनापि मनसा एव, केवलेन मनसापीत्यर्थः । कोऽपि को ब्रह्माहमपीत्यर्थः । नेशे समर्थो न भवामि, किमुत अन्ये इति शेषः । अन्ये समर्था न स्युस्तत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः । अतस्त्वन्महिमावबोधो यथातथाविधोऽस्तु, किं तु त्वत्प्रपत्तिं कृत्वाहं तु स्वधर्ममनुपालयंस्त्वां संसेव्य सहसात्मसात्करिष्यामीति भावः ॥ २ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तत्तादृग्योगसिद्धस्थितिसहजफलोद्बुद्धसिद्धिप्रभावप्रख्यातानन्तरूपा-कलनसमुदिताद्वैत-सद्ब्रह्मभावः ।
पश्यन्स्वात्मानमित्थं गुणमथ च मुहुर्वर्णयन् श्रौतवर्णैरेवं योगी कृतार्थस्थितिरतनुसुखं गोकुले क्रीडतीह ॥ १ ॥

इत्याद्यनेकाद्भुतकृत्यजाता योगस्थितौ ब्रह्मसुखानुभूतिः । सद्भक्तिसौलभ्यपदेति बोध्या तृतीयकाध्यायविवेकतोऽस्मात् ॥ २ ॥

हैरण्यगर्भमज्ञानमनेकाद्भुतकल्पकम् । एवमादर्शयंतस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वविचारणात् ॥ ३ ॥

विश्वव्याप्तः सुखात्मा खमिव तडिदिव प्रोल्लसन्मुख्यभूतो गुञ्जावद्रक्तिमाक्तो जगदुदयमुखे स्रग्वदाधारभूतः ।
भूषावद् द्योतमानः पशुपनुखसुरोत्पादको निर्मलात्मा यस्तं वन्दे रमेशं सगुणमहमिहेत्याद्यपद्यार्थ एषः ॥ ४ ॥

निष्कर्मताश्रयतुरीयपदं स्वरूपं लीलात्तकर्मगुणकारकमीदृगर्थात् ।
नौमीड्य ते इति चतुर्थ्यभिधानयोगाद् युक्ता विधि स्तुतिरियं श्रुतिबोधितार्था ॥ ५ ॥

श्रौतः स्तोत्रप्रकारः प्रतिपदममलो योगपक्षे वलक्षे संल्लक्ष्यो लब्धवर्णैरविकलमतिभिर्दर्शितब्रह्मभावः ।
प्रक्रान्तोदात्तवस्तुप्रथितरसकथाभङ्गभीत्या न तादृग् व्याख्यातोऽर्थोमयाऽसौ सगुणहरिगुणोल्लासिसन्मानसेन ॥ ६ ॥

नौमीड्येति । १०.१४.१.

यद्गुञ्जाभरणं घनच्छविलसत्पिच्छातिसञ्छादितोत्तंसं वेत्रविषाणभूषणपरिष्वक्तांस-पीताम्बरम् ।
साल्पग्रास-सवेणु-पाणियुगलं वन्यस्रगत्युज्ज्वलं तद्रूपं भवता प्रदर्श्य हि विभो सत्यं वयं वञ्चिताः ॥ ७ ॥

अस्यापीति । १०.१४.२.

यद्वस्तु प्रथितं यदर्थमखिलं तद्वेत्ति सर्वांशतः सोऽस्मिन्नेवमनन्त सत्यपि ममेदानींतनाज्ञानता ।
रूपेऽस्मिन् मदनुग्रहोद्यतपदेऽप्यद्यासयत्तत्त्वयि सद्रूपे त्वलमित्यवेदि च मदज्ञानं मदज्ञानजम् ॥ ८ ॥

स्वाज्ञानं मयि ते प्रकल्प्य कवयस्तत्तात्त्विकज्ञे लिखन्त्यर्थं कोऽपि न वेत्ति तत्वत इति श्लोषेण वर्णावलिम् ।
जाने सत्यमित्थतया न भवतो माहात्म्यमीदृक्स्थितेः, तत्त्वतसद्यशसां तदीयवचसा मत्रावकाशोऽजनि ॥ ९ ॥

कृष्णप्रिया

ब्रह्मा श्री भगवान् कृष्णजीकी स्तुति कर रहे हैं कि हे ईड्य गुणगान योग्य हे श्री कृष्ण ! मेघश्याम स्वरूप विग्रह धारण वाले, बीजली के समान तेजोमय पीत अम्बरधारी, कर्णों में गुंजा के कर्णपूर, कण्ठ में घुंघची की माला, घुंघची का मुकुट और सिरपेच ये मयूर पंखों की शोभा को कान्ति को बढाने वाला मुख कमल वाले, वन्य कुसुमों की पादावलम्बिनी वनमाला को धारण करने वाले वनमाली, वाम हथेली में दधि ओदन की कौर लिये हुए, छडी लकुटी सींग और कमर की फेंट में वासुरी के मङ्गल चिह्नों से परम सौन्दर्य वाले और कोमल पदवाले श्रीनन्दराय कुमार की प्राप्ति के लिये प्रणाम करता हूँ और यथामति गुणगान करता हूँ ॥ १ ॥ हे देव ! हे दिव्य ऐश्वर्य सम्पन्न मुझ किंकर पर कृपा बरसाने के लिये आपने यह श्रीविग्रह धारण किया है। नाथ ! यह श्रीविग्रह पांच भौतिक क्षण भङ्गुर नहीं किन्तु दिव्य विग्रह है आपके इस श्रीविग्रह की महिमा ब्रह्मा होने पर भी मैं मन से भी जान नहीं पाता तो फिर साक्षात् सच्चिदानन्दात्मक, निर्गुण, निर्विकार श्रीविग्रह की महिमा कैसे जान पायेंगे (यद्यपि दोनों विग्रह एक ही है फिर भी ब्रह्माजी अपनी समझ अनुकूल यह कह रहे हैं अथवा आपके श्रीविग्रह की महिमा को कोई नहीं जान पाता तब अनुभव वेद्य आपकी महिमा को तो कोई कैसे जान सकेगा) ॥ २ ॥

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥ ३ ॥
श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो [२]यतन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ [३]क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अजित ये ज्ञाने प्रयासं उदपास्य स्थाने स्थिताः तनुवाङ्मनोभिः सन्मुखरितां श्रुतिगतां भवदीयवार्तां नमन्तः एव जीवन्ति प्रायशः तैः त्रैलोक्यां अजितः अपि जीतः असि ॥ ३ ॥ हे विभो श्रेयः स्रुतिं ते भक्तिं व्युदस्य केवलबोधलब्धये यतन्ति तेषां स्थूलतुषावघातिनां यथा असौ क्लेशल एव शिष्यते न अन्यत् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तर्ह्यज्ञाः कथं संसारं तरेयुरत आह। ज्ञान इति। उदपास्य ईषदप्यकृत्वा सद्भिर्मुखरितां स्वत एव नित्यं प्रकटितां भवदीयवार्तां स्वस्वस्थान एव स्थितास्तत्सन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्तां तनुवाङ्मनोभिर्नमंतः सत्कुर्वंतो ये जीवंति केवलं यद्यपि नान्यत्कुर्वंति तैः प्रायस्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितः प्राप्तोऽसीति किं ज्ञानश्रमेणेत्यर्थः ॥ ३ ॥ भक्तिं विना ज्ञानं तु नैव सिद्ध्येदित्याह। श्रेयः स्रुतिमिति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां स्रुतिः श्रवणं यस्याः सरस इव निर्झराणां तां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा। श्रेयसां मार्गभूतामिति वा। तेषां क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते। अयं भावः। यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्यांतःकरणहीनान्स्थूलान्धान्याभासांस्तुषानेवावघ्नंति तेषां न किंचित्फलमेवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय क्लिश्यंति प्रयतंते तेषामपीति ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यदि ज्ञातुमशक्यस्तर्हि तदा "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" इति श्रुतेरज्ञानां कदापि संसारविरामो न भवेदिति चेदत आह—ज्ञान इति। ज्ञानसाधने शमदमादौ। इत्यर्थ इति—तव कथैव मोक्षदेति भावः। ज्ञाने त्वदीयस्वरूपैश्वर्यमहिमविचारे। स्थाने निवास एवाव्यग्रतया स्थिता न तु तीर्थयात्रादिक्लेशान्कुर्वन्तः। तन्वादिभिः सत्कुर्वन्तः। तन्वा सत्कारः श्रवणेसमयेऽञ्जलिबन्धादिः, वाचाऽनुमोदनादिः, मनसा चास्तिक्यादिः। सन्मुखरितां सन्तोऽनृतोक्त्यादिपरिहारार्थं प्रायो मौनशीला अपि मुखरिता मुखरीकृता यया ताम्। यद्वा—भवदीयानां श्रीव्रजराजादीनां वार्ताम्। यद्वा—भवदीयवार्तां जीवन्ति उपजीवन्ति तदेकजीवनत्वेन सद्भ्यः श्रुत्वा श्रावयन्ति। यद्वा—तन्वादिभिस्तत्तच्चेष्टयाऽजित अप्राप्य स्वप्रकाशेनेन्द्रियाद्यगोचरत्वात्। यद्वा-तन्वादिभिः कृत्वा तैरपि जितोऽसि तत्तद्वृतौ सदा स्फुरसीत्यर्थः। यद्वा—तन्वादिभिरेव साक्षात्प्राप्तो भवसि। तत्र तन्वा प्राप्तिः स्वहस्तादिना श्रीपादाब्जादिस्पर्शादिः, वाचाह्वानादिना समागमनादिः, मनसा च सङ्कल्पेनैव दर्शनादिः। यद्वा—तन्वादिभिः सह जितस्तव तन्वादीन्यपि तैर्वशीकृतानि। तत्र तनोर्वशीकरणं तद्भक्तपार्श्वे सदाऽवस्थित्यादिः, वाचस्तद्गुणकथनादिः, मनसश्च तच्चिन्तनादिरिति तोषिष्याम् ॥ ३ ॥ भक्तिरेव ज्ञानहेतुरित्याह—केवलबोधलब्धये इति। जीवोपाधित्यागेन केवलस्य शुद्धचिदानन्दघनस्य तव

१. श्रेयःसृतिं—इति क्वचित्। २. क्लिश्यन्ति—श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. वीर. विज. श्रीनिवास शुक.। ३. क्लेशलोवशिष्यते—वीर।

ज्ञानाय। अयं भाव इति—तण्डुलप्राप्तये धान्यमिव मुक्त्यवाप्तये भक्तिरेवादर्तव्येति भावः। "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥" इत्यादिगीतोक्तेः, 'भक्त्याहमेकया लभ्यः' इत्यग्रिमोक्त्या च। तपआदिपूर्तेस्तत्फलस्य ज्ञानस्य च भक्त्यधीनतया तेषां क्लेश एवेति तत्त्वम् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अत एव भक्तास्तदन्वेषणश्रमं परित्यज्य भक्तिविशेषरूपतया त्वदीयरूपगुणलीलावार्त्तामेव शृण्वन्ति तेन वशीकुर्वन्ति च तादृशमपीत्याह, ज्ञान इति। ज्ञाने त्वदीयस्वरूपैश्वर्यमहिमविचारे स्थाने सतां निवास एवाव्यग्रतया स्थिता न तु तीर्थाटनादिक्लेशान् सहन्तः तन्वादिभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्तः तत्र तन्वा सत्कारः श्रवणसमये अञ्जलिबन्धनादिः वाचानुमोदनादिः मनसा चास्तिक्यादिः सन्मुखरितां सन्तः अनृतोक्तिसर्वेन्द्रियक्षोभपरिहाराद्यर्थं प्रायो मौनशीला अपि मुखरिता मुखरीकृता यया ताम् "वाहिताग्न्यादिषु" (२।२।३७) इति निष्ठायाः परनिपातोऽपि भवदीयां भवदीयानां श्रीमद्व्रजराजादीनां वा वार्त्ताम् अन्यत्तैः। यद्वा भवदीयवार्त्तां जीवन्ति उपजीवन्ति तदेकजीवनत्वेन सद्भ्यः श्रुत्वा स्वादयन्तीत्यर्थः। हे तन्वादिभिस्तत्तच्चेष्टया अजित! अप्राप्य! स्वप्रकाशत्वेनेन्द्रियाद्यगोचरत्वात्। यद्वा तन्वादिभिः कृत्वा तैरपि जितोऽसि वशीकृतोऽसि तत्तद्वृत्तौ सदा परिस्फुरसीत्यर्थः। यद्वा, तन्वादिभिरेव साक्षात्प्राप्तो भवसि अत्र तन्वा प्राप्तिः हस्तादिना श्रीपादाब्जस्पर्शनादिः वाचा आह्वानादिना समागमनादिः मनसा च सङ्कल्पेनेव दर्शनादिः। यद्वा, सहार्थे तृतीया तन्वादिभिः सहितो जितः तव तन्वादीन्यपि तैर्वशीकृतानीत्यर्थः। तत्र तनोर्वशीकरणं तद्भक्तपार्श्वे सदावस्थित्यादिः वाचः तद्गुणकथनादिः मनसश्च तच्चिन्तनादिः अन्यत्समानम् ॥ ३ ॥

ननु, तद्विधां भक्तिं त्यक्त्वा मन्महिमपर्यवसानदर्शनाय तदुचितश्रवणमननादिभिः कंचिज्ज्ञानाभ्यासिनोऽपि दृश्यन्ते तत्राह, श्रेय इति। श्रेयसां सर्वेषाम् एव सृतिमिति अवान्तरफलत्वेन स्वत एव ज्ञानमपि भवितैवेति सूचितम्। तथाभूतामपि मधुररूपादिवार्त्तामयीं भक्तिमुदस्य उच्चैः अवहेलया दूरे क्षिप्त्वात्यन्तमनादृत्येत्यर्थः। केवलस्य तद्विधभक्तिशून्यतया स्वविज्ञतामात्रतात्पर्य्यस्य बोधस्य लब्धये क्लिश्यन्ति तदुचितश्रवणमननाद्यर्थमितस्ततो गमनादिभिर्यमनियमादिभिश्च श्रमं कुर्वन्ति तेषां क्लेशल एवं शिष्यते तेषु तवानुग्रहानुदयादिति भावः। एवकारेण चित्तशुद्ध्यादिकं फलं च निरस्तम्। ननु, योगाभासादिश्रमेण सिद्धिलाभस्तु भविता तत्राह—नान्यदिति। "सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्" इति न्यायेन अत एव वक्ष्यते स्वयं श्रीभगवता—

"यस्यां न मे पावनमङ्ग! कर्मस्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य। लीलावतारेप्सितजन्म वा स्यात् वन्ध्यां गिरन्तां बिभृयान्न धीरः" ॥

इति तत्रोपयुक्तो दृष्टान्तः यथा स्थूलतुषावघातिनो लोकंमूर्खा इत्युपहस्यन्ते तुषा बुषानि तेषामप्यतिचूर्णितानां नाशः केवलं हस्तादिवेदनैव च स्यात् तद्वदित्यर्थः। विभो! हे प्रभो! इत्यवश्यभजनीयतोक्ता ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अतो यथाकथञ्चित्तव भजनेन त्वं वशीक्रियस इत्याह—ज्ञान इति। त्वत्तत्त्ववेदने 'उत्' उच्चैरपास्य, तन्वादिभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्तस्तत्र तन्वा सत्कारः श्रवणसमयेऽञ्जलिबन्धनादिर्वाचानुमोदनादिर्मनसा चास्तिक्यादि। सन्मुखरिताम् सन्तोऽनृतोक्तिसर्वेन्द्रियक्षोभपरिहाराद्यर्थं प्रायो मौनशीला अपि मुखरिता मुखरीकृता यथा तां भवदीयां भवदीयानां वार्त्ताम्। परं तैर्व्यञ्जितम् यद्वा, वार्त्तां जीवन्ति उपजीवन्ति जीविकार्थमेव सद्भ्यः शृण्वन्तीत्यर्थः। हे तन्वादिभिस्तत्तच्चेष्टयाऽजित अप्राप्य! स्वप्रकाशत्वेनेन्द्रियाद्यगोचरत्वात्; यद्वा, तन्वादिभिः कृत्वा तैरपि जितोऽसि वशीकृतो भवसि, तत्तद्वृत्तौ सदा परिस्फुरसीत्यर्थः। यद्वा, तन्वादिभिः साक्षादेव प्राप्तो भवसि, तत्र तन्वा प्राप्तिर्हस्तादिना श्रीपादाब्जस्पर्शनादिना समनुभवादिर्वाचाह्वानादिना समागमनादिर्मनसा च संकल्पेनैव सन्दर्शनादिः। यद्वा, सहार्थे तृतीया,—तन्वादिभिः सहितो जितस्तव तन्वादीन्यपि तैर्वशीकृतानीत्यर्थः; तत्र तव तन्वोर्वशीकरणं तद्भक्तपार्श्वे सदावस्थित्यादि, वाचस्तद्गुणकथनादि, मनसश्च तच्चिन्तनादि। अन्यत् समानम् ॥ ३ ॥

एवं यथाकथञ्चिद्भजनेनापि परमफलमुक्तम्; समग्रायाश्च भक्तेर्माहात्म्यं केन वर्ण्यताम्? तथाप्येतादृशभक्तिपरित्यागेनात्मतत्त्वज्ञानार्थं यत्नपरा महादुःखिन एवेत्याह—श्रेय इति। श्रेयसां सर्व्वेषामेव सृतिमित्यवान्तरफलत्वेन स्वत एवात्मज्ञानमपि भवितैवेति सूचितम्। तथाभूतामप्युदस्योच्चैरवहेलया दूरे क्षिप्त्वात्यन्तमनादृत्येत्यर्थः। क्लिश्यन्ति यमनियमादिभिः श्रम कुर्व्वन्ति, केवलस्य शुद्धात्मतत्त्वस्य बोधलब्धये; यद्वा, कथञ्चिदपि भक्त्यमिश्रितस्य बोधस्यात्मतत्त्वज्ञानस्य लब्धये। एवकारेण स्वर्गादिकं चित्तशुद्ध्यादिकं च फलं निरस्तम्। ननु, योगाभ्यासादिश्रमेण प्रतिष्ठाया धनस्य वावश्यं लाभो भविता? तत्राह—नान्यदिति, अन्यत् किञ्चिदपि न स्यात्। तत्रोपयुक्तो दृष्टान्तो यथा स्थुल-तुषावघातेन लोकंमूर्खं इत्युपहस्यते, तुषा बुषाणि तेषामप्यतिचूर्णितानां नाशः केवल हस्तादिवेदनैव स्यात्तद्वदित्यर्थः। विभो! हे प्रभो इत्यवश्य-भजनीयतोक्ता, अतस्तेषां नरकपातोऽपि स्यादिति भावः। तथा चैकादशस्कन्धे (११।५।३)—'य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्। न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥ इति ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

कर्मणां विवेकमाह—ज्ञान इति। पूर्वोक्तभगवत्स्वरूपज्ञाने प्रयासं श्रमम् उदपास्य त्यक्त्वा नमन्त एव भक्तिपूर्वकं नमः कुर्वन्त एव ये जीवन्ति तनुवाङ्मनोभिः स्थानस्थिताः वर्णाश्रमधर्मस्थाः श्रुतिगतां वेदप्रोक्तां सद्भिर्मुखरितां भवदीयवार्तां त्वदीय वार्तां च शृण्वन्तीत्यध्याहारः। तैरपि त्रिलोक्याम् अजितस्त्वं जितोऽसि एवं स्वरूपज्ञानस्य दुर्ज्ञेयत्वं वर्णाश्रमकर्मणां भक्त्युत्पादकत्वं भक्तेरेव भगवद्वशीकारित्वं गुणभवणस्य भक्त्युपायत्वं चोक्तम् ॥ ३ ॥ इदानीं भक्तेरुत्तमोपायत्वं केवलात्मज्ञानस्य "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्" इत्युक्तश्रमावहत्वं चाह—श्रेयःसृतिमिति। भुक्तिमुक्तिरूपं श्रेयः भक्तिं परस्नेहरूपामुदस्य ये केवलस्यात्मनः बोधलब्धये केवलात्मज्ञानार्थं क्लिश्यन्ति न तु श्रीभगवज्ज्ञानार्थं तेषामसौ देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरशरीरविलक्षणात्मबोधः क्लेश एव क्लेशल क्लेशदायी एव शिष्यते यथा स्थूलतुंषावघातः क्लेशदायो अन्यत्सुखं नेति तद्वत् अनेन ज्ञानविवेक उक्तः ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु मां मोहयितुं प्रवृत्तः पराजितश्च त्वं मच्छरणागतिमात्रेण कथं मामजितं जेतुमुद्युङ्क्षे। किञ्च, जीवस्वरूपमात्मानुभूतिरूपमेवातः प्रकृतिवियुक्ततत्स्वरूपावस्थितिरूपकैवल्याय तदुपासनमेव कुरु किम्मच्छरणवरणेनेत्यत आह—ज्ञाने इति। ज्ञाने ज्ञानयोगे प्रकृतिविविक्तप्रत्यागात्मोपासनयोगे प्रयासं त्यक्त्वा नमन्त एव शरणागता एव त्वामेव त्वन्मायातरणसाधनत्वेन व्यवस्यन्ति इति यावत् उपायवाचिशरणादिपदस्थाने नमः शब्दप्रयोगो दृष्टचरः "द्रौपद्या सहिताः सर्वे नमश्चक्रुर्जनार्दनम्" इति स्थाने स्वस्ववर्णाश्रमानुरूपधर्मानुष्ठानरूपे त्वदाज्ञारूपत्वेन प्रपन्नैरप्यनतिलङ्घ्ये स्थाने स्थिताः तन्वादिकरणत्रयेण सद्भिः प्रकटितां भवदीयवार्तां त्वत्कथां श्रुतिगतां श्रवणपथं प्राप्तां ये जीवन्त्युपजीवन्ति भवदीयवार्तामेव धारकीकुर्वन्तीत्यर्थः। हे अजित! कैरप्यजितोऽपि त्वमिति सम्बोधनाभिप्रायः तैरुक्तविधैस्त्रिलोक्यन्तर्भूतैहिकामुष्मिकविषयेष्वसितैः "षिञ् बन्धने" अनासक्तैः प्रायशः त्वं जित एव त्वच्छरणागतिरेव त्वद्वशीकारोपाय इति भावः। ज्ञाने प्रयासमुदपास्येत्यनेन ज्ञानयोगः केवलं प्रयासमात्रफलो न तु पुरुषार्थपर्यवसायीति सूचितम् "सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्" इति केवलिनोऽपि च्यवनधर्मत्वाभिधानादिति भावः॥३॥ ननु, तर्हि ज्ञानयोगः शास्त्रैः कर्तव्यतया किमर्थमुच्यत इत्यपेक्षायां कैवल्यार्थज्ञानयोगस्य पुरुषार्थापर्यवसायित्वेऽपि भक्तियोगानुग्राहकतया अनुष्ठितस्य तत्पर्यवसायित्वमस्त्येवेति सूचयन् प्रपत्तियोगवद्भक्तियोगस्य तद्वशीकरणोपायत्वमस्तीत्याह—श्रेयःस्रुतिमिति। हे विभो! श्रेयस्रुतिं श्रेयसः स्रुतिः स्रवो यस्यास्तां त्वन्मायातरणद्वारा निरतिशयापरिच्छिन्नानन्दरूपत्वत्प्राप्तिरूपश्रेयसो दोग्ध्रीं तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा केवलप्रत्यगात्मानुभूतिलब्धये कैवल्याय ये क्लिश्यन्ति साक्षान्मुक्तिसाधनभूतां त्वद्भक्तिं तदनुग्राहकं ज्ञानयोगं च विहाय केवलकैवल्यार्थतया ज्ञाने क्लिश्यन्तीत्यर्थः। तेषामसौ क्लेशलवोऽवशिष्यते न त्वन्यत्फलं क्लेशल एवेति पाठे क्लेशं लात्यादत्त इति क्लेशलः क्लेशावहो व्यापार इत्यर्थः। अन्तःसारभूततण्डुलकणरहितान् स्थूलधान्याभासान् तुषानवघ्नन्ति इति तथा तेषां यथा नान्यत्तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अतो ये केवलप्रत्यगात्मस्वरूपज्ञाने परिश्रममकृत्वा स्वस्वामिसम्बन्धज्ञानपूर्वकत्वच्चरित्रमेवात्यादरेण इदमेवास्मत्प्राणधारणमिति मत्वा शृण्वन्ति तैस्त्वं वशीकृत इत्याह—ज्ञाने प्रयासमिति। हे अजित! स्ववशीकृताखिललोक! ये त्वच्छेषत्वैकस्वरूपज्ञानवन्तः केवलप्रत्यगात्मस्वरूपज्ञाने प्रयासम् उदपास्य दूरेण त्यक्त्वा सद्भिर्मुखरितां त्वमेव निरुपाधिकसर्वशेषीति ज्ञानवद्भिः शब्दितां भवदीयवार्तां त्वदीयचरित्ररूपकथां स्वस्थाने स्वाश्रमे स्थिता एव श्रुतिमतां श्रवणप्राप्ताम्। यद्वा, श्रुतिगतां वेदप्रतिपाद्यां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्त एव साष्टाङ्गप्रणामं कुर्वन्त एव तथा च प्रणामलक्षणमुक्तं श्रीभाष्यकारैः—

"मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले। कूर्मवच्चतुरः पादान् शिरस्तत्रैव पञ्चमम्" ॥ इति।

प्रणामपूर्वकमेव त्वद्वार्तां जीवन्ति उपजीवन्ति स्वप्राणधारकतया शृण्वन्तीत्यर्थः। अत्र ज्ञानशब्देनाक्षरशब्दवाच्यप्रत्यगात्मस्वरूपज्ञानं विवक्षितं तथाक्षरशब्दवाच्यः प्रत्यगात्मा "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः" इति श्रुत्युक्तः। तथा च भगवद्वाक्यमर्जुनं प्रति—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेता ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्" ॥

इत्युक्त्वा।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। इति।

क्लेश एव उक्तः इति। तथाक्षरशब्दवाच्यराजजीवाद्विलक्षणत्वेनोक्तः परमात्मा "कूटस्थोऽक्षर उच्यते, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" इति तैस्त्वं प्रायशस्त्रिलोक्यामजितोऽपि जितोऽसि स्ववशीकृतोऽसि तथा च भगवद्वचनं दुर्वाससं प्रति—

"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ! । मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि" ॥ इति ॥ ३ ॥

अथ त्वदुपासनरूपं भक्तियोगमनादृत्य केवलाक्षरज्ञाने प्रयत्न कुर्वन्ति तेषां परिश्रममेव फलं नत्वन्यदित्याह—श्रेयःसृतिमिति । हे विभो ! स्वामिन् ! श्रेयः सृतिं परमनिःश्रेयसरूपमोक्षप्रापिकां ते भक्तिम् ।

"प्रीतिरूपमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः" ।

इत्युक्तप्रकारेण प्रीतिरूपां भक्तिमुदस्यानादृत्य केवलबोधलब्धये केवलप्रत्यगात्मज्ञानप्राप्त्यै क्लिश्यन्ति परिश्रमं कुर्वन्ति तेषां क्लेशल एव शिष्यते अवशिष्यते नान्यत्किञ्चिदपि, तत्र दृष्टान्तः यथा स्थूलतुषावघातिनां यथा सूक्ष्मपरिमाणान् बहुफलान् व्रीहीन् हित्वा अन्तःकणहीनान् व्रीह्याभासान् स्थूलतुषानेवावघ्नन्ति खण्डयन्ति तेषां क्लेश एव भवति तद्वदिति अत्र "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्" इति पूर्वोक्त एवेति ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यस्मादेवं तस्माज्ज्ञान इति ॥३॥ ननु, केचिद्भक्तिमपि परित्यज्य ज्ञाने प्रयतमाना दृश्यन्ते तत्राह–श्रेयःसृतिमिति ॥४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

न तु भो ब्रह्मन् ! ज्ञानयोगेनैव महि ज्ञातुं शक्यते, स ते नास्ति, कथ ज्ञातव्यो भवता ? इति चेद् मम तु ज्ञानोपदेष्टा श्रीनारायण एव, तथापि तव महिमा न ज्ञातः, अतो भवदनुग्रहं विना ज्ञानयोगेऽपि तत्तव तत्त्वज्ञानकारणं न भवतीत्याह–ज्ञाने प्रयास मित्यादि । स्थाने त्वयि स्थिता त्वयि भावं कुर्वन्त इत्यर्थः–'स्थानभ्रष्टाः पतन्त्यधः' इत्युक्तेः, ज्ञाने प्रयासमुदपास्य उत्कर्षेण त्यक्त्वा सम्यक् त्यक्त्वेत्यर्थः । तदनुवाङ्मनोभिः–तन्वा प्रणामादिना, वाचा कीर्तनेन, मनसा स्मरणादिना भवदीयवार्ता नमन्तः सन्मानयन्त एव ये केचिज्जीवन्ति, तैस्त्रिलोक्यामजितोऽपि त्वं जितोऽसि प्रायशो बाहुल्येन यत्र भवद्वार्ता भवति, तं देशमेव प्रणमेदिति । तन्नेति तृतीयाविभक्तेर्व्यञ्जकता, अथवा, तनुवाङ्मनोभिर्जितोऽसीत्यन्वयः । वार्तां कीदृशीम् ? सद्भिर्मुखरितां श्रुतिगतामिति श्रवणपथप्राप्तमात्र एव तदर्थाद्यवधारणमप्यनवेक्ष्येत्यर्थः ॥ ३ ॥ ननु तर्हि किं ज्ञानं स्वतः साधनं न भवति ? अथ किम्, न भवत्येवेत्याह–श्रेयः सृतिमित्यादि । हे विभो ! ते तव भक्तिमुदस्य केवलबोधलब्धये ये क्लिश्यन्ति तेषां क्लेशलः क्लेश एव शिष्यतेऽवशिष्टो भवति, श्यामादित्वात् स्वार्थे ल-प्रत्ययः । नान्यत् कैवल्यादि, भक्तिसनाथेनैव ज्ञानेन कैवल्यं जन्यत इति नियमात् भक्तिं कीदृशीम् ? श्रेयःसृतिं श्रेयसः सरणिम्, ज्ञानं तु न तथा । तत्र दृष्टान्तः–यथा स्थूलतुषारघातिनां स्थूलतुषारघाते हि क्लेश एव केवलम्, परेषामपि कर्णकाटवम् ॥ ४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

ज्ञानयोगेनैव यन्महिमा ज्ञातुं शक्यते, स ते नास्ति, कथं ज्ञातव्य इति चेन्मम ब्रह्मणो भवानेव ज्ञानोपदेष्टा, तेनापि किमपि नाभूत्, अतो ज्ञानं तन्महिमज्ञानकारणं न भवतीत्याह–ज्ञाने प्रयासमित्यादि । स्थाने त्वयि स्थिताः, त्वयि भावं कुर्वन्त इत्यर्थः । (भा० ११।५।३) "स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः" इत्युक्तत्वात् । तनुवाङ्मनोभिः तन्वा-प्रणामादिना पूजादिना-वा, वाचा उत्कीर्त्तनादिना; मनसा-स्मरणादिना नमन्तः सत् कुर्वन्तः सन्तो ये जीवन्ति, तैस्त्रिलोक्यां त्वमजितोऽपि जितोऽसीति । सद्भिर्मुखरितां साक्षाद् वा भागवतादिशास्त्रद्वारा वा, किन्तु ज्ञाने प्रयासमुदपास्य त्यक्त्वा ईषदप्यकृत्वेति स्वामिनः ॥ ३ ॥ तर्हि ज्ञानं किं स्वतः श्रेयः साधनं न भवति ? अथ किम्, न भवत्येवेति ज्ञापयन्नाह–श्रेयः सृतिमित्यादि । हे विभो ! तव भक्तिमुदस्य ये केवलं बोधलब्धये क्लिश्यन्ति, तेषां क्लेशलः क्लेश एव शिष्यते, अवशिष्टो भवति, कर्मकर्तरि प्रयोगः । भक्तिं कीदृशीम् ? श्रेयःसृतिं श्रेयसः सरणिम्, ज्ञानन्तु न तथा, केवलं बोधः खलु मोक्षं जनयत्येव, कथं क्लेश इति नाशङ्कनीयम्, तस्यापि क्लेशत्वम्, भक्तिशून्यत्वात् । तत्र दृष्टान्तः–यथा स्थूलतुषावघातिनां क्लेश एव फलम्, नान्यत् किमपि । कथं भक्त्या मोक्षोऽपि भवति ? तथा–च (भा० २।३।१०) "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः तीव्रेण भक्तियोगेन" इत्यादि भक्तेः कामद्वयत्वात्, अतो भक्तिरेव कार्या ॥ ४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, तर्हि "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" इति श्रुतेरज्ञानाल्लोकाः कथं संसारं तरेयुस्तत्राह–ज्ञान इति । उदपास्य ईषदप्यकृत्वा सन्मुखरितां सन्तो मौनशालिनोऽपि स्वमाधुर्येण मुखरिता मुखरीकृता यया तां भवदीयां भवदीयानां वा वार्तां स्थाने सतां निवास एव स्थिताः न तु तीर्थान्यप्यटन्तः सन्तः श्रुतिगतां तत्सन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणप्राप्तां तनुवाङ्मनोभिरारम्भपरिसमाप्त्योर्नमन्तः तत्र तन्वा पाणिभ्यां सह शीर्ष्णा भूमिस्पर्शेन वाचा कृष्णकथायै तदास्वादकेभ्यः वैष्णवेभ्यश्च नम

इति वचनेन मनसा श्रुतायाः कथायाः अवधारिकया बुद्ध्या प्रणमन्तो ये जीवन्ति केवलं यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति तदपि तैः प्रायशस्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितोऽपि वशीकृतोऽपि भवसि। ज्ञानाल्लब्धमुक्तिभिस्तु न वशीकृतो भवस्यतः संसारतरणं कथाश्रोतॄणां किं चित्रमिति भावः। अतस्त्वत्कथैकदेशज्ञानमेव त्वज्ज्ञानं तेन संसारमपि तरन्तीति श्रुत्यर्थो ज्ञेय इति भावः ॥ ३ ॥ श्रवणकीर्त्तनादीनामेकतरयाऽपि भक्त्या कृतार्थीभवन्ति यदुक्तं नृसिंहपुराणे—

"पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु ॥
भक्त्या सुलभ्ये पुरुषे पुराणे। मुक्त्यै किमर्थं क्रियते प्रयत्नः ॥" इति।

तदपि ये तां परिहाय ज्ञाने प्रयासवन्तस्तेषां दुःखमेव फलतीत्याह—श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृतिः सरणं यस्याः सरस इव निर्झराणां तां तव भक्तिं उदस्येति श्रीस्वामिचरणानां व्याख्या। श्रेयांसि ज्ञानकर्मादिनानासाधनसाध्यानि फलानि यस्याः स्युस्तां भक्तिं त्यक्त्वेत्यर्थः। तेषां असौ बोधः क्लेशलः क्लेशं लाति ददातीति सः शिष्यते पर्यवसितो भवति तत्र दृष्टान्तः स्थूलतुषावघातिनाम् अल्पप्रमाणं तण्डुलं परित्यज्य यतस्ततः परिभ्रम्यानीय पर्वतप्रमाणं स्थूलतुषपुञ्जं सञ्चित्य तस्यान्तः कणहीनधान्याभासस्यावघातं कुर्वतां जनानां यथा स स्थूलतुषः क्लेशलः केवलं हस्तादिवेदनामात्रफलप्रदः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं विग्रहतः स्वरूपतश्च तव इयत्तानवच्छिन्नत्वात्साकल्यज्ञानाग्रहं विहाय भक्तिप्रधानैः कर्मज्ञानवैराग्याख्यैः साधनैः "तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा ब्रह्मविदाप्नोति परं, किं कर्मणा किं धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः" इतिभक्तिरेवैनं दर्शयति भक्तिवशः पुरुषः भक्तिरेव भूयसी" इत्यादिप्रसिद्धैर्मुमुक्षुस्त्वां प्राप्नोत्येवेत्याह—ज्ञान इति त्रिभिः। ज्ञाने त्वत्स्वरूपविग्रहाद्विसाकल्यज्ञाने प्रयासमुदपास्येषदप्यकृत्वा सन्मुखरितां सद्भिः प्रकटितां भवदीयवार्तां भवदीयां श्रवणमात्रेण भगवज्ज्ञानभक्तिजननीं वार्तां कीर्तिं स्थाने स्वकीये स्वकीये वर्णे आश्रमे च स्थिताः तत्सन्निकर्षेण श्रुतिगतां श्रवणप्राप्तां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्तो ये जीवन्ति केवलं तैः प्रायशस्त्रिलोक्यामन्यैरजितोऽपि त्वं जितोऽसि प्राप्त एवासि ॥ ३ ॥ हे विभो! इयत्तानवच्छिन्नश्रेयसां श्रेयः साधनानां ज्ञानवैराग्यपरभक्तीनां सृतिं मार्गभूतां भवदीयवार्ताश्रवणादिरूपां भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा केवले निःसमानातिशये यो बाधः इयत्ताज्ञानं तल्लब्धये क्लिश्यति ये तेषां क्लेशलः क्लेश एव शिष्यते। अन्यत् इयत्तानाज्ञानप्राप्तिलक्षणं फलं न इयत्ताज्ञानासम्भवात् यथा स्थूलतुषावघातिनां धान्याभासघातिनां क्लेश एवावशिष्यते नान्नलाभस्तद्वदित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु, त्वमपि चेन्महिमानं न जानासि तर्ह्यज्ञाः कथं संसारं तरेयुः श्रुतिस्तु ज्ञानादेव तत्तरणमाह "ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिरित्यादिकेतिचेत्तत्राह—अनन्तस्वरूपगुणविभूतेस्तव स्वरूपादिविषयके कृत्स्ने ज्ञाने ये प्रयासं श्रममुदपास्य परित्यज्य सन्तो मौनिनोऽपि मुखरिता यया तां भवदीयां वार्त्तां तन्वादिभिर्नमन्त एव केवलं जीवन्ति नान्यत् किञ्चित् कुर्वन्तीत्यर्थः। स्थाने स्वनिवास एव स्थिता न तु तीर्थानि पर्य्यटन्तः, श्रुतिगतां तत्सन्धिमात्रेण स्वत एव श्रोत्रप्राप्तां, हे अजित! त्रिलोक्यामजितोऽपि त्वं तैस्त्वद्वार्त्ताश्रद्धालुभिः प्रायशो बाहुल्येन जितोऽसि वशीकृतोऽसीति त्वद्वार्त्तयैव विज्ञातया संसारतो निस्तारात् किं कृत्स्नविषयकेन ज्ञानेन तस्याशक्यत्वाच्च ॥ ३ ॥ सुकरां भक्तिमननुष्ठाय कृत्स्नज्ञाने प्रयतमानानां क्लेशो भवतीत्याह—श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां श्रुतिः प्रस्रवो यस्याः निर्झराणामिवाक्षयत् सरसः तां ते भक्तिं त्वद्वार्त्ताश्रवणादिकामुदस्य ये केवलबोधलब्धये क्लिश्यन्ति तेषामसौ बोधः क्लेशलः सन्नेव शिष्यते क्लेशं लाति ददातीति सः यथाल्पप्रमाणं तण्डुलचयं विहाय तुषराशिमवघ्नतां स तद्राशिः क्लेशलस्तद्वत् ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

नन्वेवं सति कथं ज्ञानार्थं यतन्ते? तत्राह ज्ञाने प्रयासमिति, ज्ञानं द्विविधं भगवतः स्वस्य च, तत्र स्वज्ञानमपि भगवज्ज्ञानं तु न कस्यापि भवति, न ह्यापाततो दृष्टो भगवान् ज्ञातो भवति नापि श्रुतः, भक्त्यापि तत्त्वं ततो ज्ञानमिति प्रवेशोपयोगितावदेवापेक्ष्यत इति, अतो ज्ञाने प्रयासमुदूर्ध्वमेवापास्य दूरीकृत्य तव द्वारकादिस्थानेषु स्थिता देशदोषाभावाय यत्र क्वापि विष्टा वा सद्भिर्मुखरितां भगवदीयवार्तां स्वस्य श्रुतिगतां कर्णगतां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तो ये जीवन्ति ते प्रथमतः प्रसिद्धा भवन्ति, किं बहुना? तैरजितोपि भवान् जितः, अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः, आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतःसिद्धः, सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यं, भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भवन्ति, तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः, केवलं भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु न तूपपन्नानुपपन्ना वेति, तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति, परं कायवाङ्मनोभिर्नमस्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनांसि स्थापनीयानि, न तु तत्र विरोध आचरणीयः, एतावदेव कृत्यमत्र साधनं जीवनमेव न तु कर्मकरणादिकमपि, प्रायश इति ते चेद् भावान्तरं न कुर्युः

कालादयः प्रतिबन्धकत्वाद्वा, अतोनेनैव प्रकारेणाग्रिमतनानां निस्तारो मम त्वनेनैव स्वरूपेणेतिस्वतन्त्रः पक्षो निरूपितः ॥३॥ ये तु पुनः स्वज्ञानार्थं यतन्ते तेन च पुरुषार्थं साधयितुं ते भ्रान्ता एवेत्याह श्रेयःस्रुतिमिति, श्रेयसः स्रुतिः प्रस्रवः, सृतिर्गतिर्वा, यया भक्तिर्हि चिन्तामणिरूपा प्रार्थ्यते चेदन्यदिवात्मज्ञानमपि प्रयच्छति दृशोर्मापि परित्यज्य केवलं स्वरूपज्ञानमेवास्त्विति ये यतन्ते तेषामसौ यत्नः क्लेशल एव शिष्यते, क्लेशयुक्तः क्लेशलो न तु फलयुक्तोपि, तेन प्रयत्नेन गौणमपि फलं साधितं भविष्यतीतिशङ्कां वारयति नान्यदिति, अन्यत् फलं प्रासङ्गिकमपि न भवतीत्यर्थः ननु तपस्यादिना यत्ने कथं नान्यफलसिद्धिरन्तःकरणशुद्धिर्वा भवेदित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह स्थूलतुषावघातिनामिति, महता कष्टेनाप्युत्पादिताः स्थूलतुषा अवहता अपि स्वरूपत एव परं नश्यन्ति न तु कश्चन तेषु सारांशोस्ति, अतः सत्त्वमूर्तेस्वीकारे सत्त्वाभावाच् छुद्धिज्ञानादिकं न भवत्येव, मौढ्यात् प्रवृत्ताः क्लिष्टा एव भवन्तीत्यविवादम् ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'यदि त्वमेव न जानासि तदाऽन्येपि नैव जानन्ति' इत्यर्थादागतम्, तर्हि "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेरज्ञानां कथं संसारात् मोक्ष' इत्यत आह—ज्ञाने इति। ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं प्रयासं श्रममुदपास्य दूरतस्त्यक्त्वा स्थाने 'सतां निवासस्थाने' स्थिताः सद्भिर्भगवद्भक्तैः मुखरितां स्वभावत एव नित्यं प्रकटितां श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्तां भवदीयां वार्तां कथां ये तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्वंत एव जीवन्ति, हे अजित! कालकर्मादिभिरजितोऽपि प्रायशस्त्रिलोक्यां तैस्त्वं जितोऽसि वशीकृतोऽसि। "धर्मादिचतुर्विधपुरुषार्थप्रदो भवान् येषां प्रसन्नस्तेषां ज्ञानादिकं किं दुर्लभम्? कथं वा संसारः?" इति भावः। तत्र तन्वा सत्कारः सावधानतया कथायानुपवेशनम्, वाचा प्रश्नः स्तुत्यादि, मनसा अवधारणं मननादि ॥ ३ ॥ 'श्रवणादिभक्तिं विना तु ज्ञानं दुर्लभमेव' इत्याह—श्रेयः स्रुतिमिति। श्रेयसां धर्मार्थकाममोक्षाणां श्रुतिः 'सरसो निर्झराणामिव स्रवणं' यस्यास्तां ते तव भक्तिनुदस्य त्यक्त्वा ये केवलं बोधलब्धये ज्ञानप्राप्त्यर्थं क्लिश्यन्ति शास्त्राभ्यासादिक्लेशं कुर्वन्ति, तेषामसौ शास्त्राभ्यासादिजनितः क्लेशलः क्लेश एवावशिष्यते, नान्यत्। ज्ञानं तु नैव भवति।। तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्यान्तः कणहीनान् स्थूलधान्याभासान् तुषानवघ्नतां तदन्तस्तण्डुलाभावादवहननजनितहस्तक्लेश एव भवति, न तण्डुललाभः, एवं श्रवणादिभक्तिं तुच्छीकृत्य केवलं ज्ञानार्थं प्रयततामपि भक्तिविना चित्तशुद्ध्यभावाच्छास्त्राभ्यासादिक्लेश एव भवति। न ज्ञानमित्यर्थः।। 'युक्तं चैतेषां निष्फलत्वम्, महतस्त्वत्तो विमुखत्वात्' इत्याशयेन सम्बोधयति—विभो इति। लोके वैदिके च सर्वत्र 'ये साधनं परिहृत्य परित्यज्य फलार्थं यतन्ते, ते केवलं क्लेशभागिन एव भवन्ति, न फलभागिनः' इति प्रसिद्धत्वात् भक्तेश्च ज्ञानजनकत्वस्य "भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः" "वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।। जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम्" इत्यादिवचनैः प्रसिद्धतरत्वात्तद्धीनानां ज्ञानं कथं स्यात् इत्याशयः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ज्ञान इति ॥ ज्ञाने ज्ञाननिमित्तं प्रयासं श्रममुदपास्य दूरतस्त्यक्त्वा स्थाने सतां निवासस्थाने स्थिताः सद्भिर्भगवद्भक्तैः मुखरितां स्वभावत एव नित्यं प्रकटितां श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्तां भवदीयां वार्तां कथां ये तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्त एव जीवन्ति। हे अजित! कालकर्मादिभिरजितोऽपि प्रायशस्त्रिलोक्यां तैस्त्वं जितोऽसि वशीकृतोऽसि। अतः किं ज्ञानप्रयासैः ॥ ३ ॥ श्रेय इति ॥ हे विभो! श्रेयसां धर्मार्थकाममोक्षाणां स्रुतिः सरसा निर्झराणामिव स्रवणं यस्यास्तां सृतिमिति पाठे श्रेयोमार्गभूतां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा ये केवलं बोधलब्धये ज्ञानप्राप्त्यर्थं क्लिश्यन्ति शास्त्राभ्यासादिक्लेशं कुर्वन्ति तेषाम् अल्पप्रमाणं धान्यपुञ्जमुज्झित्वा बहुप्रमाणस्थूलतुषावघातिनां स्थूलतुषानेवावघ्नतां यथा स्थूलतुषः क्लेशल एव शिष्यते तथा असौ बोधः क्लेशं लाति इति क्लेशलः। क्लेशजनक एवावशिष्यते नान्यत् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तर्हि मुमुक्षुभिर्मम महिमा कथं ज्ञातव्य इत्याशंक्याह ज्ञान इति हे अजित ये पुरुषाः ज्ञाने उपनिषत्प्रोक्तकेवलजीवात्मवेदने प्रयासं परिश्रमं उदपास्य त्यक्त्वा सद्भिर्मुखरितां सदैव स्वमुखेनोच्चरितां भवदीयानां त्वदीयानां वा भवदीयां त्वदीयां वार्तां स्थाने यथा योग्यं स्वस्ववर्णाश्रमे स्थिताः संतः सत्समागमे न श्रुतिं श्रोत्रेंद्रियं गतां प्राप्तां तनुवाङ्मनोभिर्नमंतः स्वीकुर्वंत एव जीवंती त्रिलोक्यां त्वं प्रायशोऽन्यैरजितोऽपि तैस्त्वं जितोसि एवं मुमुक्षुभिः सत्संगेनैव तव महिमा ज्ञेय इत्यर्थः ॥ ३ ॥ इदानीं सत्समागमेन प्राप्तां हरिभक्तिविना जीवानां मोक्षो न भवेदित्याह श्रेय इति श्रेयस्यां चतुर्वर्गाणां यद्वा श्रेयसां पंचविधमुक्तीनां स्रुतिः प्रस्रवणं यस्यास्तां ते तव भक्तिं नवविधामुदस्य परित्यज्य केवलस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य बोधोपयथार्थाऽनुभवस्तस्य लब्धये प्राप्तये ये क्लिश्यंति तेषामसौ क्लेशलः कृतश्रमरूपः क्लेश एव शिष्यते नाऽन्यत् अत्र दृष्टांतः यथा व्रीहीन् त्यक्त्वा तंडुललब्धये अंतःकणहीनान् धान्याभासान् स्थूलतुषान् अवघ्नंतीति स्थूलतुषावघातिनस्तेषां श्रम एवाऽवशिष्टो भवति नाऽन्यत्तद्वत् ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु ममात्मसात्करणसाधनं तु ज्ञानं तद्धित्वा किमिति मद्भजनमिच्छसीत्यत्राह ॥ ज्ञान इति ॥ हे अजित, ज्ञाने केवलज्ञानसंपादने, प्रयासं उदपास्य ज्ञानसंपादनायासमुदस्येत्यर्थः । सन्मुखरितां सतां तथाविधस्वभाववत्त्वात्तैः श्रोतारं समीक्ष्य स्वत एव नित्यं प्रकटितां, अत एव श्रुतिगतां श्रवणविषयतां प्राप्तां, भवदीयवार्त्तां त्वत्कथां, स्थाने स्वस्ववर्णाश्रमानुरूपस्वधर्मानुष्ठानस्वस्थाने, स्थिताः सन्तः, तनुवाङ्मनोभिः, नमन्तो भवद्वार्त्तां सत्कुर्वन्तः सन्तश्च एव, ये जीवन्ति, तैः त्रिलोक्यां अजितः अपि, त्वं प्रायशः जितो वशीकृतः असि । भक्तेरित्थंभूतसामर्थ्यवत्त्वात्तां परित्यज्य किं ज्ञानश्रमेणेत्यर्थः । त्वच्छरणा गतिरेव त्वद्वशीकरणोपाय इति भावः ॥ ३ ॥ ननु 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इति श्रुत्यादिभिः ज्ञानयोगोऽपि कर्त्तव्यतया किमर्थमुच्यते इति चेत् कैवल्यार्थकज्ञानयोगस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्वेऽपि 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि यादृशः' इति श्रुत्यादिभिः ज्ञानयोगोऽपि कर्त्तव्यतया किमर्थमुच्यते इति चेत् कैवल्यार्थकज्ञानयोगस्य पुरुषार्थपर्यवसायित्वेऽपि 'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि यादृशः' इति प्रबलभगवद्वाक्येक्षया तस्य भक्तियोगानुग्राहकतयैव पुरुषार्थपर्यवसायित्वश्रवणात् प्रपत्तियोगवद्भक्तियोगस्यापि त्वद्वशीकरणोपायत्वमस्तीत्याह ॥ श्रेयःस्रुतिमि ॥ हे विभो, श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां स्रुतिः स्रुतिः स्रवो यस्याः सरस इव निर्झराणां तां, त्वन्मायातरणद्वारा निरतिशयापरिच्छिन्नानन्दरूपत्वत्प्राप्तिरूपश्रेयसो दोग्ध्रीमिति वा । ते तव, भक्तिं उदस्य त्यक्त्वा, ये जनाः, केवलबोधलब्धये केवलप्रत्यगात्मानुभूतिप्राप्तये कैवल्यार्थमिति यावत् । क्लिश्यन्ति, साक्षान्मुक्तिसाधनभूतां त्वद्भक्तिं तदनुगृहीतं ज्ञानयोगं च विहाय केवलकैवल्यार्थतया ज्ञाने क्लिश्यन्तीत्यर्थः । तेषां जनानां, असौ, क्लेशं लात्याददाति इति क्लेशलः एव, क्लेशावहो व्यापार एवेत्यर्थः । शिष्यते अवशिष्यते न त्वन्यत्फलमित्यर्थः । केषामिव । यथा स्थूलाश्च ते तुषाः तानवघ्नन्तीति तेषां अन्तसारभूततण्डुलरहितान् स्थूलधान्याभासान् तुषान् ये कण्डयन्ति तथाविधानां तेषामित्यर्थः । अन्यत् न, तद्वदित्यर्थः । भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय प्रयतन्ते, तेषां क्लेश एवाधिकतर इत्युक्तं स्वयं भगवतापि 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इति । अयं भावः । ज्ञानमपि त्वद्भक्तिसहितं स्याच्चेत्तदा तु तत् कथंचित्पुरुषार्थपर्यवसायि सत् त्वद्वशीकारोपायभूतं स्यान्न केवलमिति ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ज्ञाने प्रयासमिति : १०.१४.३.

येषां वशोऽस्यनिशमीश समग्रकृत्ये येभ्यः सुखं दिशसि मत्प्रमुखैरलभ्यम् ।
तैर्वञ्चसारसदृशः सुजनैः प्रयासो ज्ञाने कुतोऽधिगतपूर्णसुखैर्विधेयः ॥ १० ॥
मित्राणि मा विरमताशनतोऽहमेव वत्सानिहैव भवतां द्रुतमानयामि ।
इत्यक्षरस्रुत सुधारसपूर्णकर्णैर्गोपर्भकैः किमजितोऽपि जितोऽसि न त्वम् ॥ ११ ॥

श्रेयः सृतिमिति : १०.१४.४.

श्रीगङ्गावदनन्तभूमिरुचिरा शश्वच्छिवोल्लासिनी यावद्भक्तिझरी सुरासुरनुता तां ये विहाय भ्रमात् ।
क्षीवाणीं श्रुतिमात्रमञ्जुलपदामज्ञातमार्गक्रमां सञ्चिन्वन्ति गुहागतां श्रमफलास्ते ह्यत्र कः संशयः ॥ १२ ॥
श्रीमद्भक्तिसुबोधयोस्तव पदाम्भोजप्रसादोदये स्वोत्कृष्टत्वविवादकाग्रहजुषो स्तद्वादनिर्णायकाः ।
सन्त्याद्ये बहुसाक्षिणः सुमनसस्त्वन्त्येऽहमेकः प्रभो प्रागासं प्रकृते तु भक्त्यनुभवार्त्तैर्निर्जितोऽहं स्फुटम् ॥ १३ ॥
तत्साक्षिप्रथिता विवादरहिता भक्तिर्यदि प्रेष्ठकृत् तत्किं तामपहाय केचिदनिशं बोधोदयोद्योगिनः ।
बीजं तस्य तु सिद्धमेव भगवन्नङ्गीकृतस्य स्फुटं त्यागो दूषणमित्यनन्यशरणास्त्वां ते तथोपासते ॥ १४ ॥
अनादृत्य श्रेयःसृजममलभक्तिं तव कृतप्रयत्नो यो ज्ञप्त्यै श्रमफलमुपैत्येव च यः ।
तदेकासक्तोऽसावधिगत-समष्टिश्च भवतीत्यहं जातोऽत्रैवोभयमत सदर्थैककथकः ॥ १५ ॥
श्रोतव्यं श्रुतिवाक्यतश्च गुरुतो मन्तव्यमन्तस्ततो ध्येयं स्यादपरोक्षमित्युपनिषत्तान्वञ्चयत्वन्वहम् ।
आगोपाङ्गन मा च पण्डितमभीष्टार्थप्रदं सुन्दरं रूपं नेदमलोचि लोचनचरं यैस्ते दयाम्भोनिधे ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

हे अजित प्रभो ! ज्ञानप्राप्ति का भूरि श्रम न करके केवल निजनिवास में वास करते हुए अथवा वृन्दावन-द्वारका स्थलों में रहकर अथवा सज्जन निवासों में निवास कर सत्पुरुष भक्तों के श्रीमुख से गायी हुई हरिगाथा सुधा का नित्य पान करते हुए जीवन यापन करते हैं या तो हरिलीला को ही जो निजजीवन बना लेते हैं और तन-मन-वचन से कथा को सुनते सुनाते आप के श्रीचरणों में नमन करते रहते हैं वे भगवदीय जन स्ववश आपको वश में कर लेते हैं । क्या कहा जाय त्रिलोकी

आप किसी के वश नहीं फिर भी हे अजित भगवदीयों ने भक्ति-सेवा से आप को जीत लिये हैं ॥ ३ ॥ हे विभो श्रेयो वाहिनी आपकी भक्ति कल्याण सरिता के अमृत पान की उपेक्षा कर केवल बोध प्राप्ति के लिये श्रम उठाते और कष्ट सहते हैं उनको केवल श्रम-ही-श्रम हस्तगत होता है भला भूसी कूटनेवाले को केवल क्लेश ही मिलता है और क्या मिलेगा ॥ ४ ॥

पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥ ५ ॥
[1]अथापि भूमन् महिमागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भूमन् ! अच्युत ! इह पुरा त्वदर्पितेहा बहवः योगिनः अपि निजकर्मलब्धया कथोपनीतया भक्त्या एव अञ्जः ते परां गतिं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥ अथ अपि भूमन् ! अगुणस्य ते महिमा अनन्यबोध्यात्मतया अमलान्तरात्मभिः अविक्रियात् स्वानुभवात् अरूपतः हि विबोद्धुं अर्हति न च अन्यथा ॥ ६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

भक्त्यैव ज्ञानं नान्यथेत्युक्तं तत्र सदाचारं प्रमाणयति । पुरेति । हे भूमन्नपरिच्छिन्न इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि संतो योगैर्ज्ञानं प्राप्यापि पश्चात्त्वदर्पितेहास्त्वय्यर्पिता लौकिक्यपीहा चेष्टा यैस्ते निजकर्मलब्धया त्वदर्पितैर्निजैः कर्मभिर्लब्धया त्वय्यर्पिता ईहा च निजानि कर्माणि च तैर्लब्धयेत्येकं पदं वा । कथोपनीतया कथया त्वत्समीपं प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य विश्वव्यापकमात्मानं ज्ञात्वा अंजः सुखेनैव ते परां गतिं प्राप्ताः ॥ ५ ॥ एवं तावत्सगुणनिर्गुणयोरुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटमिति त्वत्कथाश्रवणादिनैव त्वत्प्राप्तिर्नान्यथेत्युक्तम् । इदानीं यद्यप्युभयोरविशेषेण दुर्ज्ञेयत्वमुक्त तथापि गुणातीतस्य ज्ञानं कथंचिद्भवेन्न तु सगुणस्य तवचिंत्यानंतगुणत्वादिति स्तौति श्लोकद्वयेन । तथाऽपीति । हे भूमन्नपरिच्छिन्नगुणस्य ते महिमा अमलैरंतरात्मभिः प्रत्याहृतैरिंद्रियैर्विबोद्धुं बोधगोचरीभवितुमर्हति योग्यो भवति । अथ वा विबोद्धुं ज्ञातुमर्हति अह्ना ते शक्यत इत्यर्थः । यद्वा । महिमेति महिमानं कश्चिद्बोद्धुमर्हतीत्यर्थः कथम् । स्वानुभवादात्माकारांतःकरणसाक्षात्कारात् । नन्वंतःकरणमपि सविकारमेव विषयीकरोतीति कथमात्माकारता तस्येत्यत आह । अविक्रियादिति । विक्रिया विशेषाकारस्तद्रहितात् । एवंभूतात्स्वानुभवात् विशेषपरित्याग एवात्माकारतेत्यर्थः । नन्वंतःकरणसाक्षात्कारविषयत्वेनात्मत्वप्रसंगः स्यादत आह । अरूपत इति । रूपं विषयः अविषयात् । वृत्तिविषयत्वमेवात्मनो न फलविषयत्वमतो नायं दोष इति भावः । कथं तर्हि स्फूर्तिः अनन्यबोध्यात्मतया स्वप्रकाशत्वेनैव न त्वन्यथा । इदं तदिति विषयत्वेनेत्यर्थः । अथ वा मा सर्वतोंतरंगा लक्ष्मीरप्यगुणस्य ते महि महिमानममलैरंतवृंत्तिभिरिंद्रियैरपि तथा याहग्वस्तुतस्तेन रूपेण विबोद्धुं किमर्हति नार्हत्येवेत्यर्थः । कथं तर्ह्यर्हति तदाह स्वानुभवादित्यादिना । उक्तार्थमेवैतत् ॥ ६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

इत्यत्र अस्मिन्स्थले । पृथक्पृथक्समासे श्रमादाह-एकपदं वेति । परां गतिं जीवमुक्तिरूपां परां भक्तिं वेति ॥ ५ ॥ हे भूमन् भूः प्रादुर्भावस्तद्युक्तैतन्मधुररूपप्रादुर्भाववन् । अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महिमा महित्वं बृहत्त्वरूप एको धर्मः । "मदाय महिमानश्च परब्रह्मेति शब्दितम् । वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे" इति मत्स्यावतारे त्वदुक्तेः, "सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्" इति ध्रुवोक्तेश्च महिमशब्देन प्रसिद्धं परं ब्रह्मस्वयमेव विबोध्या भवितुमर्हति । पच्यते ओदनः स्वयमेवेतिवत् कर्मणः कर्तृत्वम्, यथा कुठारः स्वयमेव वृक्षं छिनत्तीत्यत्र करणस्य कर्तृत्वं विवक्षितम् । कस्मान्निमित्तात् । अमलैः शुद्धैरंतरात्मभिः । स्वकर्मकादनुभवात् । नन्वनुभवः खल्वंतः करणवृत्तिः सा च सूक्ष्मदेहविकारमयी । नीर्विकारं ब्रह्म कथं विषयीकुर्यादित्यत आह—अविक्रियात्, न विद्यते विकारो यत्र तथाभूतात् । विकारो हि मायाधर्मः स च विषयोपरमे कथं स्यादिति लिंगदेहाभाव एव व्यंजितः । ननु तदपि ब्रह्मणोऽविषयत्वेनानुभवविषयानौचित्यादतः पुनर्विशिनष्टि—अरूपतः, रूपं विषयस्तदितराद्विषयाकारत्वरहिताद्ब्रह्माकारादित्यर्थः । ब्रह्मणो ब्रह्माकारानुभवविषयत्वं न दोष इति । नन्वस्ति किं तद्बोधः प्रकारांतरं तत्राह—अनन्यबाध्यम् आत्मस्वरूपं यस्य तत्तथा । स विबोध्यो भवितुमर्हतीत्यवगन्तव्यम् । गुणातीतस्य निर्गुणस्य । सकर्मकस्याकर्मकत्वापादनमनुचितं मत्वार्थांतरमाह—अथ वेति । अत्रापि कर्त्रर्थकप्रत्ययस्य कर्मत्वापादनं छांदसाश्रयणं विना न संभवेदित्यस्वरसात्प्रकारांतरमाह—यद्वेति । इहापि द्वितीयार्थे प्रथमा ज्ञेया । आशंकते—नन्विति । इत्यर्थ इति तात्पर्यम् । पुनराशंकते—नन्विति । इत्यर्थ इति—अविषयत्वात्तस्येति भावः । वृत्तिविषय-

१. तथापि—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. ।

त्वमिति फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितं वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्य स्वीकृतं श्रौतसंमतम्। तथा चोक्तं विद्यारण्यैः—"बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्यदाभासनघटःस्फुरेत्॥" इति। इयं व्यवस्थाऽनात्मनि, आत्मनि तु—"ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्यातिरपेक्षिता। स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते॥" इति मनुष्यादिर्ज्ञातुं न शक्नोतीति नादमुतं किन्तु तदर्द्धांग्यपि लक्ष्मीः सापि ज्ञातुं न कल्पेति। इत्यर्थ इति—काकूक्त्या लभ्योऽर्थ इति। यद्वा—जिज्ञासुः कर्मयोगेन भक्त्या चामलैरन्तर्मुखैर्ब्रह्मादिभिः संपादितात् अविक्रियात्। विक्रियाभेदहेतुर्जीवे सोपाधिस्तद्भागत्यागरूपादविरुद्धचिदानंदस्वरूपानुभवान्महावाक्यप्रमाणजप्रमारूपाद्विशेषेण प्रत्यगभेदेनापरोक्षतया बोद्धुमर्हति। अरूपत इति—रूप्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति रूपं चिदाभासः, वृत्तौ तत्सत्त्वेपि स्वप्रकाशे तदनुपयोगे तदज्ञानावरणनिवृत्तावेव वृत्तेरुपक्षीणतया तज्ज्ञानं स्वप्रकाशतयैव नेदंतयेति भावः॥ ६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

श्रेयःसृतित्वं च न केवलं वाङ्मात्रेण किं तु पूर्वं बहुशोऽनुभूतमेवास्तीत्याह—पुरेति। तैर्व्यञ्जितमेव तत्र लब्धया—

"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्"॥

इति न्यायेन कथारुचिरूपया त्वत्समीपं प्रापितया सतां प्रसङ्गादित्यादौ "तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिः" इत्यनुसारेण कथनीयरुचिरूपया आत्मानं परमात्मानं त्वां विज्ञाय "भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः" इति न्यायेन प्रेमवृद्धिक्रमतोऽनुभूय पराम् अन्तरङ्गां तव गतिं सामीप्यं प्रपेदिरे प्रपत्तिसहितं प्रापुरित्यर्थः भूमन्! हे अपरिच्छिन्नमाहात्म्येति त्वद्भक्तेरेतद्युक्तमेवेति भावः। हे अच्युत! इति, यतस्तव भक्त्या कथञ्चिदपीष्टसिद्धेश्च्युतिर्नास्त्येवेति भावः यथोक्तं काशीखण्डे—

"न च्यवन्तेऽत्र यद्भक्ता महत्यां प्रलयापदि। अतोऽच्युतः स्मृतो लोके त्वमेको विष्णुरव्ययः"॥ इति॥ ५॥

तदेवं यद्यपि ज्ञाने प्रयासमित्यादिना ज्ञानमात्रस्यामृतत्वमुक्तं तथाप्यस्ति विशेष इत्याह—तथापीति द्वाभ्याम्। अगुणस्य क्वचिदधिकारिणि अप्रकाशितगुणस्य सतः विबोद्धुं बुद्धौ प्रकाशितुं पचेर्विक्लितिविक्लेदनावत् कर्मनिष्ठो विकारादिः कर्तृनिष्ठश्च तस्य हेतुत्वलक्षणो भावः। सर्वमकर्मकधातोर्गौणमुख्यभावेन वाच्यो भवति अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् अतो बुधधातोरपि प्रकाशमात्रत्वम् इन्द्रियकरणकप्रकाशहेतुत्वं च विद्यते तदेवं कर्मनिष्ठप्रकाशमात्रविवक्षया ओदनः पचतीतिवत् विबोद्धुमर्हतीत्यपि स्यात् अर्हति अर्हा त इति अनेन बोधगोचरीकर्तुं शक्यत इत्यर्थः। अन्यकर्तृकगोचरीकरणाय योग्यो भवतीत्युक्तेस्तथैव तात्पर्यात् महि महिमानमिति "सुपांसु लुग्" इत्यादिना सुभावात् अनन्यबोध्यात्मतया चिदेकाकारांशेन जीवेशयोरभेदभावनया अन्यत्तैः, तत्र वृत्तिर्निर्विषयं चित्तमेव फलं च विषयाकारचिदाभासयुक्तं तदेवेति ज्ञेयम्। यद्वा, यद्यपि भक्त्यैव विबुद्धचेत्युक्तं तथाऽप्यनन्तकल्याणगुणमहादधेस्तव सम्यग् ज्ञानं न स्यादेव किं तु कस्यचिदेकस्य त्वद्गुणस्य माहात्म्यज्ञानं कस्यापि जनस्य यत्किञ्चिदेव भवेदित्याह—तथापीति। ते गुणाः करुणादिलक्षणास्तेषाम् एकोऽपि तस्य महि महिमा तस्य मा लक्ष्म्यः सम्पद इत्यर्थः। ताः कश्चिद्विबोद्धुमर्हति तच्च स्वानुभवात् स्वानुभवं स्वकीयानुशीलनमनुसृत्य यथा स्वानुभवस्तथा न तु सर्वथेत्यर्थः। कथम्भूतात् अविक्रियात् अभिलाषान्तरशून्यात् स कीदृशोऽनुभव इत्यपेक्षायामाह अनन्यबोध्यात्मतया आत्मैकज्ञेयस्वरूपत्वेन, अरूपतः रूप्यत इति रूपः अनिरूप्यादित्यर्थः। न चान्यथेति न स्वानुभवव्यतिरेकेण न च स्वानुभवातिरेकेण विबोद्धुमर्हतीत्यर्थः। एवं श्रीभगवद्गुणस्यापि ब्रह्मरूपत्वमभिप्रेतम्॥ ६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

श्रेयः सृतित्वञ्च न केवलं वाङ्मात्रेण, किन्तु पूर्वं बहुशोऽनुभूतमेवास्तीत्याह—पुरेति। हे भूमन्, हे अपरिच्छिन्नमाहात्म्येति त्वद्भक्तेरेतद्युक्तमेवेति भावः। योगिनो मुक्ता अपि ते तव कथोपनीयतया त्वत्कथाश्रवणकीर्त्तनादिरूपयेत्यर्थः। तत् साधनमाह—त्वदिति। यद्वा ननु, तथापि परमगति—प्रापिका भक्तिर्दुर्घटा? तत्राह—कथेति। त्वल्लीलाकथनेनोपनीतया संस्कृतया यद्वा, ते कथया कीर्त्यापनीतया त्वन्माहात्म्येन प्रवृत्तितयेत्यर्थः। परामुत्कृष्टाम्। हे अच्युतेति यतस्तव भक्त्या कथञ्चिदपीष्टसिद्धेश्च्युतिर्नास्त्येवेति भावः। अथवा भक्त्यैव योगिनस्त्वत्संगिनः सन्तस्ते तव परामुत्कृष्टां गतिं पदं श्रीवैकुण्ठलोकादि लक्षणं प्रेमलक्षणं वा गतिं विबुध्य परमफलत्वेनावधार्य तामेव प्राप्ताः। अन्यत् समानम्॥ ५॥ ईदृशं तव भक्तिमाहात्म्यं भजनीयस्य च तव महिमा केन वक्तुं शक्यताम्? अहो अस्तु तावदगुणिनस्तव, त्वदेकगुणस्यापि माहात्म्यं तत्त्वतो ज्ञातुमपि न शक्यत इत्याह यद्वा, ईदृशे भक्तिमाहात्म्ये सत्यपि ज्ञाने परमाग्रहश्चेत्तथाप्यनन्तकल्याणगुणमहोदधेस्तव ज्ञानं न स्यादेव, कथञ्चित् कस्यचित् कस्य तद्गुणस्य माहात्म्यज्ञानं कस्यापि जनस्य भवेदित्याह—तथापीति। ते गुणः करुणा-लक्षणस्तस्यापि महि महिमा, तस्य मा लक्ष्म्यः सम्पद इत्यर्थः, ताः कश्चिद्विबोद्धुमर्हति। यद्वा, मा लक्ष्मीरेव श्रीराधारूपा—बाल्येऽपि नित्यलीलापेक्षयोक्तमिदम्, तथा

तत्त्वतः, यद्वा, तेन प्रकारेण महि माहात्म्यं विशेषेण बोद्धुमर्हति । तत्प्रकारमेवाह—स्वानुभवात् स्वस्य तदनुभवतः परमदयालोर्भगवतः स्वस्मिन् कारुण्यविशेषसम्पत्तेः । कथम्भूतात् ? निर्विकारात् सम्पूर्णादित्यर्थः । स कीदृशोऽनुभव इत्यपेक्षायामाह—अनन्यबोध्यात्मतयात्मैकज्ञेयस्वरूपत्वेनारूपतो रूप्यत इति रूपमनिरूप्यादित्यर्थः, न त्वन्यथा, स्वानुभवस्य व्यतिरेकेण न विबोद्धुमर्हतीत्यर्थः । एवं श्रीभगवद्गुणस्यापि ब्रह्मरूपत्वमभिप्रेतम् । यद्वा, तदनुभवः कदा स्यादित्यपेक्षायामाह—स्वप्रकाशतयाऽनिरूप्यादिति तदुक्तं न शक्यत इत्यर्थः, अथवा त्वद्गुणस्याप्येकस्य माहात्म्यं कथमपि ज्ञातुं न शक्यत इत्याह—मा लक्ष्मीरप्यविक्रयात् स्वानुभवादपि विबोद्धुमर्हति किम् ? काक्वा; अपि तु नैवेत्यर्थः । तत्र हेतुत्वेन सम्बोधनम्, भूमन् ! हे सर्वतोऽपरिच्छिन्नमाहात्म्येति । किञ्चानन्यबोध्यात्मतया अकाराख्यस्य विष्णो रूपतस्तत्स्वरूपत्वादित्यर्थः, गुणगुणिनोरभेदात्, न त्वन्यथा, अत्र च मिथ्यात्वं नास्तीत्यर्थः । अत एवोक्तं श्रीयामुनाचार्यपादैः—'उपर्युपर्यब्जभुवोऽपि पुरुषान्' इति ॥ ६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पुरेह इति । फलनिगमनेन पूर्वोक्तमेव ज्ञानं स्फुटीकृतं योगिनः कर्मयोगिनः निजवर्णाश्रमधर्मप्राप्तया भक्त्या विबुद्ध्य विशेषेण त्वज्ज्ञानं प्राप्य ते परां गतिं त्वत्सम्बन्धिनीमर्चिरादिमार्गेण परमपदगतिं प्रकर्षेण प्रापुरिति, कीदृशाः त्वदर्पितेहाः त्वय्येवार्पितसकलचिन्तितनिमिषितादिकर्माणः "यत्करोषि" इत्यादिप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥ इदानीं तव स्वरूपलीलाविभूतिसर्वचिदचिद्व्यापकपरमात्मरूपतयावर्त्तमानस्य ज्ञानं सुशकमित्याह—तथेति । अगुणस्य त्रिगुणविलक्षणस्य ते परमात्मनः महिमा सर्वस्थूलावस्थचेतनाचेतनव्यापकत्वं विबोद्धुं ज्ञातुमर्हति योग्यो भवति । कैः अमलान्तरात्मभिः निर्मलैरन्तःकरणैः मनोबुद्धिचित्तैः कुतो हेतोः विक्रियारहितात् स्वानुभवात् आत्मनो जीवस्यानुभवात् देहेन्द्रियादिविलक्षणस्ववैलक्षण्यानुसन्धानेन परमात्मनोऽपि वैलक्षण्यानुसन्धानं भवति, एतदेव हेतुभिरुच्यते । ननु, स्वानुभवस्तु देहसम्बन्धेनैव स्थूलोऽहमित्यादिकः कथम् ? तेन परमात्मवैलक्षण्यानुसन्धानम् इत्यत्राह, अरूपतः आत्मनोऽप्यणुपरिमाणान्यरूपाभावात् । ननु, रूपं देहादिकं विनात्मन इव कथं तद्ज्ञानं ? तत्राह—अनन्यबोध्यात्मतया इति । अन्येन श्रीभगवदन्येन भगवद्बहिर्मुखेनेति यावत् न अन्येन बोध्यश्चासौ आत्मा अनन्यबोध्यात्मा तस्य भावस्तत्ता तया असौ परमात्मा स्वबहिर्मुखेन न बोध्य इत्यर्थः । अथवा अनन्यैः देवतान्तरकर्मान्तरप्रयोजनान्तरशून्यैर्बोध्यस्वरूपतया तद्ज्ञानं नान्यथात् चकारः सर्वथाऽसिद्धिमेव वदति । अथवा न अन्यत्वेन बोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य सः तस्य भावस्तत्ता तया स्वात्मशरीरितया स्वशेषित्वेन स्वाधारतया च बोध्यस्वरूपतः न चान्यथा तज्ज्ञानम् इति पर्यवसन्नोऽर्थः ॥ ६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, भक्त्या युक्तः कश्चित् किं दृष्टचर इत्यपेक्षायां न केवलं कश्चिदेवापि तु बहव इत्याह—पुरेति । हे भूमन् ! विपुलानन्दरूप ! इह लोके बहवः पुरुषा योगिनः भक्तियोगानुग्राहकात्मयाथात्म्ययोगयुक्ताः त्वय्यर्पिता इहा चेष्टा वर्णाश्रमानुगुणधर्मानुष्ठानरूपा चेष्टा यैस्तथाभूता निजकर्मभिर्वर्णाश्रमानुगुणैः सत्कर्मभिर्लब्धया निष्पन्नया । यद्वा, त्वदर्पितेहा ईहा फललिप्सा फलाभिसन्धिरहिता इत्यर्थः । निजकर्मभिर्लब्धयाऽनेन फलाभिसन्धिरहितवर्णाश्रमानुगृहीतत्वमुक्तं कथोपनीतया नित्यं त्वत्कथाश्रवणादिभिः प्रत्यक्षरूपतां प्रापितया भक्त्यैव विबुध्य यथावस्थितस्वरूपस्वभावं त्वां ज्ञात्वा दृष्ट्वेति यावत्—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप !" ॥

इति भगवदुक्तेः हे अच्युत ! भक्तान्न च्यावयतीत्यच्युतेति सम्बोधनाभिप्रायः पराङ्गतिं मुक्तिं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥ ननु, "नेशे महित्ववसितुम्" इति मन्महिमा मदनुग्रहपूर्णपात्रभूतेनापि त्वया दुरवबोध्यत्वादितरैर्दुरवबोध्यः कैमुत्यन्यायेनोक्तः अत्र तु विबुध्य भक्त्येति सुखावबोध्य उक्तः । कथमेतद् विरुद्धं वदसीत्यत्राह—तथापीति । हे भूमन् ! यद्यप्यगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महि महत्त्वममलान्तरात्मभिः सनकादिभिर्मत्प्रभृतिभिः कर्तृभिः विबोद्धुं तेषां बोधगोचरीभवितुं नार्हति नार्हति तथाप्यविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धुमर्हत्येवेत्यनुषज्यते न चान्यथा परिच्छिन्नत्वादिरूपेण नार्हति अविक्रियाद्विकाराभावादरूपतः कर्मायत्तशरीरसंयोगवियोगरहितत्वात्स्वयाथात्म्यानुभवादनन्यबोध्यात्मतया स्वेतराबोध्यस्वरूपतया स्वसंवेद्यैकस्वरूपतयेति यावत् अविक्रियात्स्वानुभवादरूपत इति निर्देशा भावप्रधानाः तृतीयार्थे पञ्चम्यार्षत्वाद् अविक्रियत्वादिरूपेण बोद्धुमर्हति स्वरूपतः स्वभावतश्च विकाररहितत्वेन प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन स्वरूपेण ज्ञायत इत्यर्थः । प्रकृतेः स्वरूपतो विकारात्पुरुषस्य स्वरूपतस्तदभावेऽपि स्वभावतस्तत्सम्भवात् एवं च जीववत्स्वभावतो विकारं वारयितुमरूपत इत्युक्तं कर्मायत्तशरीरसंयोगवियोगप्रयुक्तो हि जीवस्य धर्मभूतज्ञानसङ्कोचविकासात्मको विकारः । अतो रूपाभावादविक्रियत्वेन ज्ञायते इत्यर्थः । जीवस्य रूपवत्त्वं च स्वयाथात्म्यानुभवप्रयुक्तमिति तदननुभवो वार्यते स्वानुभवादित्यनेन स्वरूपस्यैवं विधत्वात्तन्महिमाऽप्यनितरसाधारणत्वविशेषेण ज्ञायत इत्यर्थः । यद्वा, विक्रियादित्यनन्यबोध्यात्मतायां हेतुरविक्रियादित्यत्र हेतुररूप इति तत्रापि हेतुः स्वानुभवादिति अयमर्थः, नित्यं प्रत्यक्षित-

स्वयाथात्म्यानुभवाद्धेतोः पराभिध्यानमूलकर्मायत्तशरीराभावात्तत्संयोगवियोगप्रयुक्तस्वभावविकाराभावादचेतनवत्स्वरूपविकारा-भावाच्च स्वरूपतः स्वभावतो वा विकृतस्यैवान्यबोध्यस्वरूपत्वात्तदुभयाभावेनानन्यबोध्यात्मतया ज्ञायत इत्यनन्यबोध्यात्म-स्वरूपोयमेको महिमा अमलान्तरात्मभिर्ज्ञायते न तु स्वरूपस्वभावयोरियत्ता ज्ञायत इति समुदायार्थः । अमलान्तरात्मभिः सनका-दिभिः सह मा लक्ष्मीरपि महत्त्वं विबोद्धुं नार्हतीति केचिद्योजयन्ति तत्र तथापीत्यस्यानन्वयापत्तिः तेनाक्षेपपरिहारयोः प्रति-तेनंत्राध्याहारप्रसङ्गश्च ॥ ६ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथ त्वच्छेषत्वज्ञानपूर्वकत्वद्भक्तियोगरसिकास्तु तेनैव भक्तियोगेन त्वां बहव एव प्राप्ता इत्याह—हे भूमन् ! बहुगुण-विशिष्ट ! "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादिश्रुतिषु तस्य निरुपाधिक-कल्याणगुणकत्वं प्रसिद्धमिति इह लोके श्रुतिस्मृतिभिराचार्योपदेशेन त्वच्छेषत्वरूपमात्मानं विबुध्य ज्ञात्वा पश्चाद्भक्त्यैव अञ्जः साक्षात् ते परामुत्कृष्टां गतिं संसारनिवृत्तिपूर्वकत्वत्साम्यरूपां गतिं प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः तथा च श्रुतिः "तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इति । स्मृतिरपि "मम साधर्म्यमागताः" इत्यादि तथा च भगवद्वाक्यम्—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥ इति ।

किंविशिष्टया भक्त्या कथोपनीतया त्वत्कथाश्रवणेन प्राप्तया पुनः कीदृश्या निजकर्मलब्धया त्वदाराधनरूपैः स्वस्ववर्णा-श्रमकर्मभिः प्राप्तया कीदृशास्ते योगिनः त्वदर्पितेहाः ।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्" ।

इत्याद्युक्तप्रकारेण त्वय्यर्पितानि लौकिकवैदिककर्मकलापानि यैस्ते ॥ ५ ॥ अथ यद्यपि "अस्याऽपि देववपुषो मदनु-ग्रहस्य । स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि । नेशे महित्ववसितुं मनसाऽन्तरेण" इत्युक्तं विषयकलुषितैर्मनःप्रभृतीन्द्रियैस्तव महिमा ज्ञातुं न शक्यते तथापि त्वद्दिव्यमङ्गलविग्रहप्रवणैरत एवाकलुषितैस्तैरेव साक्षात्कर्तुमर्हतीत्याह—हे भूमन् ! अनन्ता-प्राकृतगुणविशिष्ट ! तदुक्तम्—

"न हि तस्य गुणाः सर्वे सर्वैर्मुनिगणैरपि । वक्तुं शक्या वियुक्तस्य सत्त्वाद्यैरखिलैर्गुणैः" ॥

इति । अगुणस्य ते प्राकृतगुणरहितस्य ते महि महिमानं द्वितीयार्थे प्रथमा विबोद्धुं ज्ञातुम् अमलान्तरात्मभिर्वशीकृत-मन आदिभिरिन्द्रियैरर्हति—

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः । मनसा तु विशुद्धेन" ॥

इत्यादिश्रुतेः तथा च ब्रह्मा नारदं प्रति—

"ऋषे ! विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः" ।

इति । नान्यथा चस्त्वर्थे न तु केनाप्युपायेनेत्यर्थः । तत्र हेतुः, अविक्रियात् विषयात्मकानीन्द्रियाणि विकारात्मकानेव पदार्थान् गृह्णन्ति तव त्वविकारात्मकत्वात् तथा च पराशरः—

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे" ॥

इति । तत्कुतः ? स्वानुभवात् स्वीयज्ञानानन्दानुभवात् मलिनेन्द्रियाणि शब्दादीन्येव विषयीकुर्वन्ति न तु नित्यज्ञाना-नन्दानुभवस्वरूपं त्वामित्यर्थः । तदपि कुतः ? यतोऽरूपतः प्राकृतरूपरहितत्वात् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतेः । तदुक्तं मोक्षधर्मे—

"न भूतसङ्घसंस्थानो देहोस्य परमात्मनः" ।

इति । अनन्यबोध्यात्मतयेति स्वप्रकाशत्वेन नान्यैर्बोध्य आत्मा दिव्यविग्रहः स्वरूपं वा यस्य तस्य भावः तत्ता तया तथा च भगवद्वाक्यम् ।

"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन च चेज्यया" । "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !" ॥ इति ॥ ६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

किञ्च, पुरेहेति । निजकर्मलब्धया कथारुचिरूपकथोपनीतया रुचिरूपया आत्मतत्त्वमारभ्य श्रीभगवत्तत्त्वपर्यन्तमनुभूय ते तव परमान्तरङ्गां गतिं सामीप्यं प्रपेदिरे सप्रतिपत्तिकं प्रापुरित्यर्थः ॥ ५ ॥ अथापि भूमन् ! यद्यपि विबुध्येत्युक्तं तथापि तव कथञ्चिन्निर्विशेषज्ञानं स्यादपि विशेषगुणज्ञानन्तु सम्यक् (न) स्यादित्याह ॥ ६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अत्र प्रमाणं दर्शयन्नाह—पुरेह भूमन्नित्यादि। हे भूमन्! सर्वोपरि विराजमान! इह निःश्रेयसलिप्सायां योगिनश्चिरं योगे कृताभ्यासा अपि योगैरकृतार्थाः सन्त इत्यपेरर्थः। पश्चात्त्वयार्पितेहास्त्वयि अर्पितमीहामात्रं यैस्तथा सन्तो निजकर्मलब्धया त्वयीहार्पणरूपं यन्निजं कर्म तेन लब्धया प्राप्तया भक्त्यैव विबुध्य जागृद्दशां लब्ध्वा हे अच्युत! ते तव परां गतिं तव निजं धाम प्रपेदिरे। भक्त्यैवेत्येवकारोऽन्ययोग-व्यवच्छेदपरः, न ज्ञानादिनेत्यर्थः। भक्त्या कीदृश्या? कथोपनीतया तव कथामात्रेणैव प्रस्तुतये-त्यनायास-साध्यत्वम्। एतेन 'तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते' इति यदुक्तं तत् सप्रमाणमेव॥ ५॥ एवम्भूतास्तव गुणा येषां कथयैव भक्तिरुत्पद्यते, उत्पन्नया च तया सुखेन त्वत्पदप्राप्तिस्तथापि किं तव गुण-महिमा इयानेवेति वक्तुं न शक्य एवेत्याह—तथापीत्यादि। हे भूमन्! अपरिच्छिन्नवैभव। ते गुणस्य ऐश्वर्यादिगुणषट्कस्य महिमानं विबोद्धुमर्हति न समर्थो भवति कश्चिदिति शेषः। अमलानि निर्मलानि अन्तरन्तःकरणानि आत्मा च येषां तैर्विशिष्टोऽपि, विशेषणे तृतीया; अथवा, आत्मानश्चेति बहुवचनमेव, आत्मा च आत्मा च आत्मा च आत्मान इत्येकशेषः। धृतिवुद्धिस्वभावा आत्मानः, 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावः' इत्याद्युक्तेः। पूर्ववत् तृतीया। महि कीदृशम्? अविक्रियाद्विक्रिया विकारस्तामततीति विक्रियात्, न तथा अविक्रियात् विकारशून्यमित्यर्थः। तर्हि किं वोध्यमेव न भवति? तत्राह—स्वानुभवादनन्यवोध्यात्मतयैव वोद्धुमर्हति, स्वे भक्तास्तेषामनुभवः स्वानुभवो भक्तानुभव-स्तस्मात्। अनन्यबोध्यात्मतया तन्मात्रवोध्यात्मकत्वेन वोद्धुमर्हति, न चान्यथा नान्यप्रकारेण। कुतः? अरूपतः—अनिरूपणात् हेतोः; 'रूप निरूपणे' रूपणं रूपं, न रूपोऽरूपस्तस्मात्; यद्वा अमलान्तरात्मभिः सात्वतैरगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महिमा तथा तेनैव प्रकारेणापि प्राप्तः। कस्मिन् काले? अर्हति योग्ये काले भक्तिसम्पन्नतायां सत्याम्। 'अर्ह' प्रशंसायामित्यतः शतृ-प्रत्यये रूपम्। कोऽसौ प्रकार इत्याह—अविक्रियात् अविकारात् स्वानुभवात् अरूपतश्चेत्यस्य पूर्ववन्निरुक्तिः। अनन्यवोध्यात्मतया च भक्तैर्विना नान्येषां वोध्यस्तस्य भावस्तत्ता तया च, अत एव प्रकाराः, न चान्यथेत्युपसंहारः। अथवा, तव महिमा ब्रह्म अमलान्त-रात्मभिः पुरुषैस्तथार्हति योग्ये काले वोद्धुमपि, न तु भवान् दृश्यमान-श्रीविग्रहः। तथा वोद्धुमपीति तमेव प्रकारमाह—अविक्रियादित्यादि पूर्ववत्। अथवा, आत्मभिरात्मभूतैर्योगिभिस्तथा तेनैव प्रकारेणापि। कुत्र? विमलान्तर्विमलेऽन्तःकरणे! कीदृशि? अर्हति योग्ये। अन्यत् पूर्ववत्। अथवा, तव महि महिमानं मा लक्ष्मीर्वहति नान्यः। कीदृशी? आत्मभिर्यत्नधृतिवुद्धि-वर्ष्मभिरन्तर्विमला अन्तः शुद्धिमती। कुतः? स्वानुभवात्। कीदृशात्? अविक्रियात् अखण्डात्, अरूपात् रूप्यत इति रूपम्, अनिरूप्यादित्यर्थः। सैवार्हति, नान्य इति को नियमः? तत्राह—अनन्यबोध्यात्मतया, तां विनान्येषामवोध्यस्वरूपतया, न चान्यथा, नान्येन प्रकारेण; सैवार्हति, नान्यः कोऽपीत्येवंरूपेण प्रकारेणेति यावत्॥ ६॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

भक्तिजनितं ज्ञानं हि ज्ञानम्, तस्योपास्योपासकत्व-ज्ञानरूपम्, तेनैव निःश्रेयसावाप्तिरिति दर्शयति–पुरेत्यादि। हे भूमन् श्रीकृष्ण! इह निःश्रेयसलिप्सया योगिनश्चिरं योगाभ्यासे कृतपरिश्रमाः 'नित्ययोगे इन्' योगैरकृतार्थाः सन्तः पश्चात्त्वय्य-र्पितानीहानि इहा चेष्टामात्रं देहमात्राणि निजकर्माणि शुभाशुभकर्माणि च तैर्लब्धया भक्त्यैव विबुध्य उपास्यत्वेन त्वां बुद्ध्वा अज्ञः सुखेन ते परां गतिं चरणारविन्दलक्षणं परमं पदं प्रपेदिरे। गतिश्चरणम्, गम्यतेऽनेनेति 'करणवोधिकोक्तिः; कथोपनीतया कथा तव गुणानां गानं श्रवणं वा तयोपनीतया, अतः केवलेन योगेन न भवन्तीति भावः॥ ५॥ एवम्भूतास्ते गुणा येषां कथयैव भक्तिरुत्पद्यते, उत्पन्नया च तया सुखेन त्वत्पदप्राप्तिः, तथापि तव गुण-महिमा किं वक्तुं शक्यते? नैवेत्याह–तथापीति। हे भूमन् अपरिच्छिन्न! ते तव गुणस्य महि महिमानं विरोद्धुं माऽर्हति कोऽपीति शेषः। स कीदृशः? अमलं निर्मलमन्तः अन्तःकरणमात्म-देहश्च तैर्विशिष्टोऽपि, 'विशेषणे तृतीया' तर्हि किं मम गुणमहिमा अबोध्य एव? तत्राह अनन्यवोध्यात्मतया वोद्धुमर्हति, न चान्यथा। अन्यैर्भक्तिव्यतिरिक्तैर्योगादिभिर्वोध्यः स चासौ आत्मा स्वरूपश्चेति स तथा, न तथा अनन्यवोध्यात्मा तस्य भावस्तत्ता तया अन्यप्रकारेण बोद्धुं नार्हत्येव। महि कीदृशम्? अविक्रियादविक्रिया ह्रासवृद्धिरूपा तामततीति विक्रियात् न विक्रियात् अविक्रियात्, कुतः? स्वानुभवात् स्वप्रकाशाद्धेतोः; अरूपतोऽनिरूप्याद्धेतोः। रूप्यत इति रूपम्। अनिरूप्यत्वं कुतः? अनन्य-बोध्यात्मतयेति वा, अनन्यबोध्यात्मतया हेतुत्वं द्रढयति–न चान्यथा, नान्यप्रकारेणेत्यपरोऽर्थः। यद्वा, अगुणस्य प्राकृतगुण–रहितस्य तव महि महिमा ब्रह्म अमलान्तरात्मभिः पुरुषैस्तथा तेन प्रकारेणैव विरोद्धुमपि प्रापि। कदा? अर्हति योग्ये काले 'अर्हः प्रशंसायामिति शतृ' कोऽसौ प्रकारः? तत्राह अविक्रियादित्यादि। त्रयो हेतवः प्रकाराः अनन्यबोध्यात्मतया च, न चान्यथा, एवमादिभिर्विशिष्टैरेव विरोद्धमपि, न तु इदमित्थमिति भावेन स्वरूपनिर्देशेन। न तु त्वमनुभूयमानश्रीविग्रहः कदापि बोध्य इति निर्गलितोऽर्थः। यद्वा, आत्मभिरात्मभूतैरपि योगीन्द्रैरप्यमलान्तः अमलान्तःकरणेऽपि। कीदृशे? अर्हति योग्ये। अतो ब्रह्मापि वरमेवं प्रकारेण निर्वक्तुं शक्यते, तथापि न त्वमित्यर्थः। अथवा, तव महि माहात्म्यं विरोद्धुं मा लक्ष्मीरर्हति, नान्यः कीदृशी? अमला कैरर्हति? अन्तरात्मभिरन्तःकरणैः, अन्तःकरणैरमलेति वा। कुतः? स्वानुभवात्। कीदृशात्? अविक्रियादखण्डात्,

अरूपतोऽनिरूप्यात् रूप्यत् इति रूपम्, अनन्यबोध्यात्मतया च सापि अनन्यबोध्यात्मा अन्यथा न च अन्यथा तां विनेत्यर्थः, न च कोऽप्यर्हतीति । यद्वा, तव महि अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्येति पूर्ववत् कोऽपि विरोद्धुं मार्हतीति पूर्ववदेव, किन्तु अनर्हत्वे हेतुः—अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ब्रह्मणो हेतोः ब्रह्मैव तव महिमा, तस्या विक्रियत्वादीनां हेतुत्वात्, अनन्यबोध्यात्मकतया च हेतुभूतया स्वयमेव भवता बुध्यते, न चान्यैरिति भावः । अन्यथा तु न, च-कारस्त्वर्थः । अन्यप्रकारेण नेत्यर्थः ॥ ६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवं श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां भगवत्प्राप्तौ भक्तिमेव स्थिरीकृत्य तत्र सदाचारं प्रमाणयति—पुरेति हे भूमन् ! प्रभो ! इह जगति योगिनो भक्तियोगवन्तः एवं त्वय्येवार्पिता ईहा चेष्टा यैस्त्वद्भक्त्यर्थमेव सर्वेन्द्रियव्यापारं कुर्वाणा इत्यर्थः । भक्तियोग-श्रद्धावतां वर्णाश्रमकर्मानधिकारान्निजकर्मश्रवणकीर्त्तनाद्येव, तेन लब्धया विशेषतस्तु कथया श्रुतकीर्त्तितस्मृतया उप आधिक्येन नीतया प्रापितया भक्त्या प्रेमलक्षणयैव विबुध्य विज्ञाय तद्रूपगुणलीलादिकमनुभूत्येत्यर्थः । परां प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणां गतिः प्राप्ताः । यद्वा, यथा केवलबोधो विफलस्तथा केवलयोगश्चेत्यत्र सदाचारं प्रमाणयति-पुरेति । बहुकालं योगिनो भूत्वाऽपि योगं निष्फलं ज्ञात्वा त्वयि अर्पिता ईहा चेष्टा च निजकर्म च ताभ्यां लब्धया भक्त्या ज्ञानमिश्रयैव विबुद्ध्य त्वां ज्ञात्वा ॥ ५ ॥ एवं यद्यपि केवलया प्रेमभक्त्यैव तव साक्षादेतत्स्वरूपानुभवो भवति तथाऽपि केवलज्ञानस्य विगीतत्वाद्भक्तिमिश्रज्ञानमपि तव निर्विशेष-ब्रह्मस्वरूपानुभवे कारणं भवति किन्तु ज्ञानञ्च मयि संन्यसेदिति तदुक्तेर्ज्ञानं संन्यासानन्तरमेवेत्याह, तथाऽपीति । यद्यपि केवला भक्तिर्न स्यात्तदपीत्यर्थः । हे भूमन् ! भूः प्रादुर्भावस्तद्युक्तमधुरंतद्रूपप्रादुर्भाववन् ! अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य तव महिमा महत्वं बृहत्त्वरूप एको धर्मः—

"मदीयं महिमानं च परब्रह्मेति शब्दितम् । वेत्स्यनुगृहीतं मे सम्प्रश्नैर्विवृतं हृदि" ॥ इति

त्वदुक्तेः "सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ" इति ध्रुवोक्तेश्च महिमशब्देन प्रसिद्ध परंब्रह्म विबोद्धुं स्वयमेव विबोध्यो भवितु-मर्हति पच्यते ओदनः स्वयमेवेतिवत् कर्मणः कर्तृत्वं यथा कुठारः स्वयमेव वृक्षं छिनत्तीत्यत्र करणस्य कर्तृत्वं विवक्षितं कस्मा-न्निमित्तात् ? अमलैः शुद्धैरन्तरात्मभिः स्वानुभवात् स्वकर्मकादनुभवात् । नन्वनुभवः खल्वन्तःकरणवृत्तिः सा च सूक्ष्मदेहविकारमयी निर्विकारं ब्रह्म कथं विषयीकुर्यादित्यतो विशिनष्टि-अविक्रियात् न विद्यते विक्रिया विकारो यत्र तथाभूतात् विकारो हि माया-धर्मः स च मायोपरमे कुतः स्यादिति लिङ्गदेहाभाव एव व्यञ्जितः । ननु, तदपि ब्रह्मणोऽविषयत्वेनानुभवविषयत्वानौचित्यादि-त्यतः पुनर्विशिनष्टि, अरूपतः रूपं विषयस्तदितरात् विषयाकारत्वरहितात् ब्रह्माकारादित्यर्थः । ब्रह्मणा ब्रह्माकारानुभवविषयत्वे न दोष इति । नत्वस्ति किं तद्बोधे प्रकारान्तरं ? तत्राह—अनन्यबोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य तत्तया नैवान्यथा स विबोध्यो भवितु-मर्हतीत्यन्वयः । यथा विषयाकारानुभव एव शब्दस्पर्शादीन् विषयीकरोति न ब्रह्म तथैव ब्रह्माकारानुभव एव ब्रह्मविषयीकरोति न शब्दादीनित्यर्थः ॥ ६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

भवदीयवार्ताश्रवणादिरूपया भक्त्या तु भवद्विषयकं ज्ञानमन्यत्र वैराग्यं परा भक्तिस्तया त्वत्प्राप्तिश्च भवत्येवेति सदाचारेणोप-पादयति—पुरेति । हे भूमन् ! साकल्यतां ज्ञातुमशक्य ! पुरा ये योगिनः "परो हि योगो मनसः समाधिः" इति वचनाज्जितमनस्काः भक्त्यैव विबुध्य त्वां ज्ञात्वा भक्त्यैव त्वदर्पितेहाः त्वयि अर्पिता ईहा फललिप्सा यैस्ते त्वदितरेषु ऐहिकामुष्मिकपदार्थेषु विरसाः सन्तः भक्त्यैव अञ्जः सुखेन ते परां गतिं प्रपेदिरे प्राप्ताः कथम्भूतया ? साधनभूतैः स्ववर्णाश्रमकर्मभिर्ज्ञानद्वारा लब्धया प्राप्तया पुनः कथम्भूतया ? कथोपनीतया त्वत्कथाश्रवणादिना आत्मन्युपनीतया प्रवेशितया एवंभूतया नानाकारयेत्यर्थः । क्रमस्तु प्रथमं यथाऽधिकारं कर्म ततो हरिकथाश्रवणादिसाधनभक्तिद्वारा ज्ञानं ततो ऽनुपादेये पदार्थे वैराग्यं भगवति परा भक्तिश्च तथा मुक्ति-रिति दिक् ॥ ५ ॥ भगवतः प्राकृतगुणवर्जितत्वान्निर्गुणत्वं स्वाभाविकगुणयोगात्सगुणत्वं दर्शयन् पूर्वोक्तं दुर्ज्ञेयत्वं हेतुभिः कैमुतिक-न्यायेन च दृढीकरोति—तथापीति द्वाभ्याम् । यद्यप्युक्तप्रकारेण ज्ञानविषयोऽसि तथाऽपि अगुणस्य प्राकृतगुणशून्यस्य ते महि महित्वं इयत्ताम् अमलैः शुद्धैरप्यन्तरात्मभिरन्तःकरणैः कोऽपि बोद्धुं मार्हति न योग्यो भवति "न ते विष्णाजायमानो न जातो देवस्य महिम्नः परम तमाप" इति श्रुतेः । तत्र हेतुगर्भं सम्बोधनं करोति, हे भूमन् ! इयत्ताशून्य ! हेत्वन्तराण्याह, अविक्रियात् विकारवर्जितापरिमितस्वरूपत्वात् स्वानुभवात्स्वप्रकाशत्वात् रूपं कार्यं तद्विलक्षणत्वात् भावप्रधाना निर्देशाः अनन्यबोध्यात्मतया अन्यनिरपेक्ष्यविज्ञेयस्वरूपत्वेन उक्तसिद्धान्तं द्रढयति न चान्यथेति । उक्तार्थोऽन्यथा न भवति ॥ ६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अत्र सदाचारं दर्शयति—पुरेति । हे भूमन् इह जगति पुरा बहवोऽपि योगिनो योगैस्त्वत्साक्षात्कारमप्राप्य त्वयार्पिताभ्यां ईहनिजकर्मभ्यां लब्धया भक्त्या कथोपनीतया त्वद्वार्त्ताविवृद्धया त्वां विबुध्यानुभूय ते परां गतिं स्थानमञ्जः प्रपेदिरे प्राप्ताः ईहा

लौकिकी-चेष्टा निजकर्म वैदिकमग्निहोत्रादि ताभ्यां लब्धया कर्मोपसृष्टयेत्यर्थः ॥ ५ ॥ ननु भक्त्या विबुद्ध्येत्युक्तेर्ज्ञानस्यापेक्ष्यत्वात्तत् प्रयासत्यागः कथं तत्राह तथेति । हे भूमन् ! यद्यप्येवं तथापि ते गुणस्य कारुण्याद्येकतमस्य बहुपल्लवस्यैकस्यापि महिमा माहात्म्यसम्पदः कश्चिदतिप्रयासी विद्वानमलैर्विशुद्धैरन्तरात्मभिरन्तःकरणवृत्तिभिर्विवोद्धुमर्हति न तु सर्वः—

"चतुर्मुखायुर्यदि कोऽपि वक्ता भवेन्नरः क्वापि विशुद्धचेताः ।
स ते गुणानामयुतैकमंशं वदेन्नवा देववर प्रसीद ॥" इति ।

वाराहात्, ननु चक्षुषां रूपमिव मनसा तन्महिमा वोध्याऽस्ते किं तच्छुद्ध्येति तत्राह न चान्यथेति शुद्धिं विना तद्बोधो नेत्यर्थः । तच्छुद्धिश्चापेक्ष्या आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिरित्यादिश्रवणात् कस्मान्निमित्तादित्याह—स्वानुभवात् स्वकर्तृकादनुभवात् यथा स्वानुभवस्तथैव न तु सर्वथेत्यर्थः । कीदृशात् अरूपतः रूपं विषयस्तद्रहितात् शब्दस्पर्शादिविषयसंसर्गशून्यादित्यर्थः । अविक्रियात् गुणान्याभिलाषो विक्रिया तद्रहितात् तथानुभवे प्रकारमाह अनन्येति । नान्यैरुपनिषद्भिन्नैः प्रमाणैर्बोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य तत्तया घ्राणेन गन्ध इवोपनिषदैव तद्गुणो वुध्यते इत्यर्थः । तथा च कृत्स्नज्ञाने प्रयासं हित्वा भक्तिरेकाङ्गापि कार्या तया विसतन्तुवदन्तर्गतज्ञानया हृद्विशुद्धिपूर्वा तत्पदप्राप्तिरिति भावः ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी

अस्मिंश्च मार्गे फलसिद्धिर्बहूनां जातेत्याह पुरेति, हे **भूमन्** व्यापक, पूर्वमपि विद्यमान, इहास्मिन् **बहवोपि** सङ्घशो **योगिनो** योगेनावधृतभक्तिसामर्थ्याः, अत एव **त्वय्यर्पितेहा** चेष्टा **यैस्तेनैव** समर्पणलक्षणेन **कर्मणा** त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा **लब्धया भक्त्यैव विबुध्य** स्वरूपं ज्ञात्वा **हेच्युत** केनापि प्रकारेण च्युतिरहित **ते गतिं** मार्गं येन प्रकारेण त्वं गच्छसि तां **प्रपेदिरे**, पश्चात् त्वदनुगानां न कापि चिन्ता, **अञ्जोनायासेनैव परां** लोकातीतां **प्रपेदिरे** प्राप्तवन्तः, अत आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग उचितः ॥५॥ एवं लौकिकप्रकारं समर्थयित्वा वैदिकं च व्यवस्थया निरूप्य पौराणिकप्रकारेणापीदमेवोपास्यं न त्वन्तर्यामिरूपमिति वक्तुं तदपेक्षयास्य माहात्म्यं वदिष्यन्नन्तर्यामिरूपं सुकरत्वेन निरूपयत्यथापीति, हे **भूमन्** ? **अगुणस्य** गुणातीतस्य **ते महिमा**-**मलान्तःकरणैर्बोद्धुं** बोधगोचरीभवितु**मर्हति** योग्यो भवति, हेतौ तृतीया, बोधविषयो **महिमा** भवति, यथा बोधे कर्ता योग्यो भवत्येवं कर्मापि "ग्रामो गन्तुमर्हती"तिवत्, अन्तःकरणनैर्मल्ये **गुणस्य महिमा** चित्ते प्रकाशते दर्पणे मुखवत् प्रयासाभावात्, चित्त हि सत्त्वाकारं तद् गृह्णाति, अग्रहणे हेत्वभावात्, तत्र विकारं हेतुत्वेनाशङ्क्य परिहरत्यविक्रि**यादिति**, न **विक्रिया** यस्मिन् विकारे हि सति शुद्धचित्तेन न गृह्यते किञ्च **शुद्धं** चित्तमात्मगाम्यात्मस्थितमेव पदार्थं गृह्णाति, महिमा पुनरात्मनिष्ठ एवं, अतोपि ग्रहणयोग्यो भवतीत्याह **स्वानुभवादिति**, **स्वस्यानुभव** एवानुभवो यस्य, आत्मग्रहणेनैव गृह्यत इति स्वशब्देनात्मा, महिम्न **एव स्वशब्द**-वाच्यत्वे महिम्न एवानु पश्चाद् **भव उद्भवो** यस्मान् महिमसम्बन्ध्यनुभवोन्तःकरणे भवति, **गुणातीतस्य** चेत् तथा महिमा न भवति तदान्तःकरणे ज्ञानं न भवेदेव, अत एवात्मानमपि गृह्णन् स्वजनकं ज्ञापयत्येव, स्वस्यायं **महिमानुभवरूप** एव वा, **स्वयमेवानुभव**-स्तथा सति स्वप्रकाश एव, किञ्च शुद्धे ह्यन्तःकरणे ब्रह्माकारेण परिणते रूपवत्पदार्था एव न गृह्यन्ते महिमा तु ब्रह्मभूत एवेति भिन्नरूपत्वाभावाद बोद्धुमर्हति, तदाहानन्यबोध्यात्मतयेति, **अन्येन बोध्य आत्मा** स्वरूपं यस्य तादृशभिन्नोयमात्मत्वेनैव भासमानत्वात्, अन्तःकरणधर्मा वा एते निर्दिष्टाः, सर्वविकारं परित्यज्य ज्ञानरूपेण परिणतं सप्रापञ्चिकविषयग्रहणहेतुभूतवासनारहितं सत् स्वत एव स्फुरज् ज्ञानरूपमन्तःकरणं भगवन्महिमानं गृह्णातीति ॥ ६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'भक्त्यैव ज्ञानं भवति, नान्यथा' इत्यत्र न केवलं शास्त्रमेव प्रमाणम्, अपि तु **'अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदाचारोऽपि प्रमाणम्'** इत्याह—पुरेति । 'तवाग्रे मया किं बहुवक्तव्यम् ? महत्त्वेन सर्वज्ञत्वात्' इत्याशयेन सम्बोधयति—भूमन्निति । इह लोके बहवोऽपि पुरा प्रथमं योगिनो भक्तिव्यतिरिक्तानेकोपायवन्तोऽपि सन्तस्तैर्ज्ञानमप्राप्य पश्चात्त्वदर्पितेहाः त्वदर्पिताः लौकिकवैदिकी चेष्टा कर्मणि यैस्ते निजकर्मलब्धया तैस्त्वदर्पितैर्निजकर्मभिर्लब्धया चित्तशुद्धिद्वारा कथाश्रवणादरादिरूपया ततश्च कथोपनीतया कथाश्रवणजनितप्रेमलक्षणया च भक्त्यैव हे अच्युत ! अञ्जः सुखेनैव ते तव परां गतिं परं तत्त्वं विवुद्धय प्रपेदिरे प्राप्ता इत्यन्वयः । संसारे पतनं नैव भवति' इति सम्बोधनेन सूचितम् । यथोक्तं काशीखण्डे—"न च्यवन्तेऽथ मद्भक्ता महति प्रलये यदि ॥ अतोऽच्युतः स्मृतो लोकेऽहमेको विष्णुरव्ययः" इति ॥ ५ ॥ एवं सगुणनिर्गुणविभागमन्तरेणैव सामान्यतो भगवतो दुर्ज्ञेयत्वमुक्तं तत्र 'गुणातीतस्य ज्ञानं कथञ्चिद्भवेदपि, सकलगुणविशिष्टस्य ज्ञानं तु सर्वथा दुर्घटमेव' इत्याह—तथापीति द्वयेन । विषयवासनादूषितान्तःकरणानां दुर्ज्ञेयमपि अगुणस्य गुणातीतस्य ते महिमा तत्त्वममलैस्तपःप्रवचनादिभिः निरस्तनिखिलवासनादोषैः अन्तरात्मभिः अन्तःकरणवृत्तिभिः अनन्यवोध्यात्मतया अन्यैरिन्द्रियादिभिर्न बोध्यः आत्मा स्वरूपं यस्य स अनन्यवोध्यात्मा, तस्य भावस्तत्ता, तया बोद्धुं बोधगोचरो भवितुमर्हति योग्यो भवतीत्यन्वयः । ग्रामो गन्तुमर्हतीतिवत् प्रयोगः । न चान्यथेति घटपटादिवत्

'इदमेवंभूतम्' इत्येवं बोधगोचरो भवितुं नैवार्हतीत्यर्थः। तत्र हेतुत्रयमाह—'अविक्रियात्' इत्यादिपदत्रयेण। तत्र भावप्रधानो निर्देशः। यो हि जन्मादिविक्रियावान् स 'इदमित्थम्' इति बोधगोचरीभवितुमर्हति, ब्रह्मणस्त्वविक्रियत्वात् तन् कथं तथा स्यात् इत्यर्थः। यो हि परप्रकाश्यस्तस्येदमित्थतया बोधो भवति, ब्रह्मणस्तु स्वानुभवात् स्वप्रकाशत्वात् स कथं स्यात्? यो ह्याकारविशेषवांस्तस्य तथा बोधो भवति, अक्षरब्रह्मणः अरूपत आकारविशेषरहितत्वात् स कथं स्यादित्याशयः। 'एतत् सर्वं वेदान्तशास्त्रप्रसिद्धम्' इति सूचयन्नाह—हीति ॥ ६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पुरेति ॥ हे भूमन्! हे अच्युत! इह लोके बहवोऽपि पुरा प्रथमं योगिनो भक्तिव्यतिरिक्तानेकोपायवन्तोऽपि सम्यग्ज्ञानमप्राप्य पश्चात्त्वदर्पितेहाः त्वय्यर्पिताः लौकिक्यो वैदिक्यश्चेहाः कर्माणि यैस्ते निजकर्मलब्धया तैस्त्वदर्पितैर्निजकर्मभिर्लब्धया चित्तशुद्धिद्वारा कथाश्रवणादरादिरूपया भक्त्या ततश्च कथोपनीतया कथाश्रवणजनितप्रेमलक्षणया च भक्त्यैव अञ्जः सुखेनैव तव परां गतिं परं तत्त्वं विबुध्य प्रपेदिरे प्राप्ताः। त्वदर्पितया ईहया निजकर्मभिश्च लब्धयेत्येकं पदं वा ॥ ५ ॥ यद्यपि सगुणनिर्गुणयोरुभयोरपि ज्ञानं दुर्घटं तथापि निर्गुणस्य ज्ञानं कथंचिद्भवेदपि ननु सगुणस्वानन्ताचिन्त्यगुणस्येत्याह—तथापीति ॥ हे भूमन् तथापि अगुणस्य निर्गुणस्य ते महिमा तत्त्वम् अमलैः शुद्धचित्तैः अन्तरात्मभिः अन्तर्मुखतया प्रत्याहृतेन्द्रियैः पुरुषैः स्वानुभवात् आत्माकारान्तःकरणसाक्षात्कारात् विबोद्धुं बोधगोचरीभवितुम् अर्हति। इदमग्रेऽपि प्रत्येकं सम्बध्यते। अथवा विबोद्धुं ज्ञातुमर्हति शक्यत इत्यर्थः। नन्वन्तःकरणं सविकारमेव विषयीकरोति तत्कथमात्माकारता तस्येत्यत आह। अविक्रियात् इति विक्रियाविशेषाकारः तद्रहितात् विशेषपरित्याग एवात्माकारतेत्यर्थः। नन्वन्तःकरणविषयत्वेऽनात्मत्वप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—अरूपतः रूपं विषयः फलव्याप्यता तद्भिन्नत्वात् वृत्तिविषयत्वमेवात्मनो न फलविषयत्वमतो न दोषः। इत्येतैर्हेतुभिः विबोद्धुमर्हति। कथं तर्हि स्फूर्तिः अनन्यबोध्यात्मतया अन्यैरिन्द्रियादिभिर्न बोध्यः आत्मा स्वरूपं यस्य सः अनन्यबोध्यात्मा तस्य भावस्तत्ता तया स्वप्रकाशतयेत्यर्थः। न च ननु अन्यथा घटादिवदेवंभूतमिति विबोद्धुं नैवार्हति वृत्तिफलव्याप्त्योस्तु अयं भेदः घटादिजडवस्तुज्ञानविषये अन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटाद्याकारेण परिणमते। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते वृत्तिप्रतिबिम्बितचिदाभासः फलमित्युच्यते। तत्र वृत्त्या घटाद्यावरकमज्ञानं नाश्यते। चिदाभासेन फलाख्येन घटः प्रकाश्यते। ततोऽयं घट इत्यादि ज्ञानं जायते अतो घटादिस्फुरणार्थं फलव्याप्तिरपेक्ष्यते ब्रह्मविषये तु आवरकाज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिमात्रमपेक्ष्यते। ब्रह्माकारवृत्तौ जातायां ब्रह्मस्फुरणार्थन्तु रविदर्शनार्थं दीपापेक्षेव चिदाभासापेक्षा नास्ति ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वात्। एतदर्थसंग्रहश्लोकौ च। "बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ॥ तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥ स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभासस्तत्र युज्यते ॥" यद्वा। अगुणस्य महिमा विबोद्धुमर्हतीत्यत्र हेतवः। अविक्रियात् इत्यादौ भावप्राधान्यम्। विविधा क्रिया विक्रिया तद्रहितत्वात् सगुणस्तु सृष्ट्यादिविविधक्रियावान् अनन्तलीलाचरितनिधिश्च स्वानुभवात् स्वाकारानुभवरूपत्वात् सगुणस्तु न केवलं स्वानुभवरूपः किन्तु ब्रह्मादिनानाऽनन्तरूपः मत्स्यादिरूपोऽपि च अरूपतः उपलक्षणतया रूपादिगुणवत्त्वाभावात् सगुणस्तु अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणः अनन्यबोध्यात्मतया स्वप्रकाशत्वात् सगुणस्तु न केवलं स्वप्रकाशः किन्तु अनन्तचरित्ररूपगुणवत्त्वात् तद्बोधकानन्तश्रुत्यादिशास्त्रभक्तजनेन्द्रियादिबोध्योऽपि अतः अगुणस्य महिमा कथंचित् बोद्धुमर्हति ननु सगुणस्य। अन्यथा इयत्तया इदन्तया च अगुणस्यापि महिमा बोद्धुं नार्हति कुतः सगुणस्य ॥ ६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

भक्त्यैव मोक्षप्राप्तिरित्थंभूतान् सदाचारान् दर्शयन्नाह पुरेति। हे भूमन् पुरा पूर्वं इहलोके त्वयि अर्पिता त्वदर्थं कृता ईहा इन्द्रियव्यापाराः यैस्ते बहवोपि योगिनस्तव प्रत्यक्षसंयोगं प्राप्ताः साधवः निजकर्मभिस्त्वदाराधनरूपक्रियाभिर्लब्धया यद्वा त्वयि अर्पितानि ईहालौकिकी चेष्टा च निजानि स्वकीयानि शास्त्रीयकर्माणि च तैर्लब्धयेत्येकं पदं कथोपनीतया शास्त्रोक्तलक्षणसंपन्नैः सद्भिः कृतया तया तव कथया भवत्समीपं नीता प्रापिता या भक्तिस्तयैव त्वन्महिमानं शुद्धजीवात्मस्वरूपं च विबुद्ध्य हे अच्युत अञ्जः अनायासेन ते तव परां सर्वोत्कृष्टां गतिं ब्रह्मपुरे त्वत्सेवारूपां प्राप्तिं प्रपेदिरे ॥ ५ ॥ हरेर्गुणानामसंख्यतामाह गुणात्मन इति। गुणात्मनः गुणाः सत्यशौचादयोपहतपाप्मादयश्च आत्मनि स्वरूपे यस्य यद्वा गुणाः सत्यादयः आत्मनः स्वरूपभूता यस्य तस्य अस्य जनवृंदस्य हितायावतीर्णस्य ते तव गुणान् सर्वज्ञतातृप्तिरनादिबोधः स्वतंत्रता नित्यमलुप्तदृष्टिरित्याद्यसंख्येयगुणयुक्तचरित्राणि वा विमातुं इयत्तया परिमातुमपि के पुरुषाः ईशिरे समर्था अभवन् ननु कालेन तु सुकल्पैः प्रमातुमशक्या इति चेत्तत्राह वा वितर्के यैः सुकल्पैः निपुणपुरुषैः कालेन देवायुःकालेन भूपांसवो भूमिरेणवः विमिताः गणिताः स्युः तथा खे मिहिकास्तुषारकणा अपि विमिताः तथा दिवि स्वर्गे भासोग्रहादीनां रश्मिपरमाणवोपि विमिताः भूयांस्वादीनामानंत्येपि एकब्रह्मांडस्थितत्वाच्छक्या गणयेदसंख्येयकोटिब्रह्मांडाधिपयोः प्रकृतिपुरुषयोरपि नियामकस्य तव गुणगणनं कथं भवेदिति भावः ॥ ६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु भक्त्या मुक्ति प्राप्तः कश्चित्किं दृष्टचर इत्यपेक्षायां न केवलं कश्चिदेवापि तु बहव इत्याह ॥ पुरेति ॥ हे भूमन् विपुलानन्दरूप, पुरा पूर्वं, इह लोके, बहवः पुरुषाः, योगिनः भक्तियागानुग्राहितात्मयाथात्म्ययोगयुक्ताः, त्वदर्पितेहाः त्वयि समर्पिता ईहा-वर्णाश्रमानुगुणधर्मानुष्ठानरूपा चेष्टा यैस्तथाभूताः, निजकर्मभिर्वर्णाश्रमानुगुणैः सत्कर्मभिर्लब्धा निष्पन्ना तया, एकपदत्वे त्वय्यर्पिता ईहा निजानि कर्माणि च तैर्लब्धया, कथोपनीतया नित्यं त्वत्कथाश्रवणादिभिः प्रत्यक्षरूपतां प्रापितया, भक्त्या एव, विबुध्य यथावस्थितस्वरूपस्वभावं त्वां ज्ञात्वा दृष्ट्वेति यावत् 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप इति भगवदुक्तेः । भक्तान्न च्यावयतीति अच्युतस्तत्संबोधनम् । ते तव, परां गतिं मुक्तिं, अञ्जः सुखेनैव, प्रपेदिरे ॥ ५ ॥ ननु 'नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽन्तरेण' इति मन्महिमा मदनुग्रहपूर्णपात्रभूतेनापि त्वया स्वदुरवबोध्यत्वोक्तिपूर्वमितरैर्दुरवबोध्यः कैमुत्यन्यायेनोक्तः स एव त्वयैवात्र तु विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतयेति स सुखाववोध्यतयोक्तः कथमेवमेतदःरस्परविरुद्धं यथा प्रतीयेत तथा वदसीत्यत्राह ॥ तथापीति ॥ हे भूमन् निरवधिकातिशयानन्दमयस्वरूप, यद्यपि, अगुणस्य प्राकृतगुणरहितस्य, ते तव, महि महिमा अपरिमितमहामहित्वमित्यर्थः । अमलान्तरात्मभिः मत्प्रभृतिसनकादिभिर्ब्रह्मनिष्ठैः कर्तृभिरित्यर्थः । विबोद्धुं, मा अर्हति । त्वन्महिमा मदादीनामपि बोधगोचरीभवितुमर्हो न भवतीत्यर्थः । तथापि, अविक्रियात् स्वानुभवात् अरूपत इति निर्देशा भावप्रधानास्तेषु पञ्चमी तृतीयार्थे आर्षत्वात् । एवं सति, अविक्रियत्वेन स्वरूपतः प्रकृतिवद्विकाराहित्येन पुरुषवत् स्वभावतश्च विकारराहित्येन, स्वानुभवत्वेन नित्यं प्रत्यक्षितस्वयाथात्म्यानुवत्वेन, अरूपत्वेन जीववत्कर्मायत्तदेहादिविकारराहित्येन, जीवो हि कर्मायत्तशरीरसंयोगवियोगवान् स्वधर्मभूतज्ञानसंकोचविकासात्मकविकारवानतस्तद्रूपतो भगवद्रूपस्य विलक्षणत्वद्योतनायारूपत्वेने-त्युक्तमित्यर्थः । अनन्यबोध्यात्मतया स्वकृपां विनाऽन्यथा इतरसाधनैरबोधनीयस्वयाथात्म्यवत्तया च, बोद्धुं तु अर्हति हि । अन्यथा न 'द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया त्वमपि' इत्युक्तेः सर्वथा त्वन्महिम्नोऽबोध्यत्वेऽपि अविक्रियत्वादिना किंचिन्मात्रतया बोधनमपि संभवत्येवातो न विरुद्धं वदामीत्यर्थः । अमलान्तरात्मभिरविक्रियत्वादितया ज्ञायते न तु स्वरूपस्वभावयोरियत्तयेति समुदायार्थः ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

हे अच्युत ! पुरा काल में भी अनेक ज्ञान-ध्यान करनेवाले योगियों ने अपने लौकिक कर्म और वैदिक कर्म एवं उन कर्मों के फल आप के श्रीचरणों में समर्पित कर दिये थे । पुनः आप के सेवारूप कर्म और कथा-श्रवण से प्राप्त की गई भक्ति से ही आप के स्वरूप का एवं निज जीव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और अनायास आप के परम पद को भी पा लिया था ॥ ५ ॥ हे भूमन् ! हे सर्वत्र व्यापक हे श्रीकृष्ण ! तथापि निर्गुण रूपधारी आप की महिमा शुद्ध अन्तःकरण वाले यतात्म पुरुषों ने अपनी इन्द्रियों को आत्माभिमुख बना लिया है वे जितचित्त पुरुष केवल अपने अनुभव से विशेषाकार से रहित एवं बिना रूप का होने के कारण स्वप्रकाश रूप से ही जान सकते हैं और कोई उपाय से नहीं ॥ ६ ॥

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः ॥ ७ ॥
तत्तेऽनुकम्पां [1]प्रसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यैः सुकल्पैः कालेन वा भूपांसवः खे मिहिकाः द्युभासः विमिताः ते अपि हितावतीर्णस्य गुणात्मनः अस्य ते गुणान् विमातुं के ईशिरे ॥ ७ ॥ तत् ते अनुकम्पां आत्मकृतं विपाकं भुञ्जानः एव प्रसमीक्षमाणः हृद्वाग्वपुर्भिः ते नमः विदधन् यः जीवेत सः मुक्तिपदे दायभाक् ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गुणात्मनो गुणानामात्मनो गुणाधिष्ठातुस्ते तव पुनर्गुणान्विमातुमेतावन्त इति गणयितुमपि के ईशिरे समर्था बभूवुर्दूरतस्तद्विशेषवार्ता । कथंभूतस्य तव । अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुगुणाविष्कारेणावतीर्णस्य । ननु कालेन निपुणैः किमशक्यमत आह । कालेनेति । वाशब्दो वितर्के । सुकल्पैरतिनिपुणैर्बहुजन्मना महता कालेन भूपरमाणवो विमिता विशेषेण गणिता

१. सुसमीक्षमाणो—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. गिरि. ।

भवेयुः। तथा खे नभसि मिहिका हिमकणा अपि तथा द्युभासो दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवोपि ॥ ७ ॥ तस्माद्भक्तिरेव संपाद्या इत्याह। तत्तेऽनुकंपामिति। सुसमीक्षमाणस्तव कृपा कदा भविष्यतीति बहु मन्यमानः स्वार्जितं च कर्मफलमनासक्तः सन् भुंजानः नातीव तपआदिना क्लिश्यन्नेवं यो जीवेत स मुक्तौ दायभाग्भवति। भक्तस्य जीवनव्यतिरेकेण दायप्राप्ताविव मुक्तौ नान्यदुपयुक्तम् इति भावः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

निपुणाः सर्वं कर्तुं समर्था इत्याशङ्कते–नन्विति। 'प्रालेयं मिहिका चाथ' इत्यमरः। दिवि भासन्त इति द्युभासः गुण आत्मा स्वरूपं यस्य तस्येति गुणानां नित्यत्वमप्राकृतत्वञ्चोक्तम्। तथा च ब्रह्मतर्के–"गुणैः स्वरूपभूतैश्च गुण्यसौ हरिरीश्वरः" ईशिरे ईशिर इहामभावस्त्वार्षः। किञ्च–"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्य प्रसीदतु ॥" वैष्णवे च। "मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्। सुहृदं सर्वभूतानां साम्यासङ्गादयो गुणाः ॥" इत्येकादशे वक्ष्यति तोषिणी ॥ ७ ॥ यतस्त्वमनन्तकल्याणगुणनिलयो भजतां मोक्षदोऽसि तस्माद्भक्तिरेवेति। तदित्युक्तार्थः। हृद्वाग्वपुरित्यनेन साष्टाङ्गनतिलक्ष्यते "दोर्भ्यां पदाभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चैव प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥" इति लक्षणात्। इति इति–भक्तिं कुर्वतो जीवतोऽपि मोक्षो, देहावसाने तु तच्छङ्कैव नास्तीति भावः। भुञ्जान एव समये दुःखं सुखञ्च भवदनुकम्पामेवेदमिति जानन्, पिता यथा स्वपुत्रं समये दुग्धं पाययति, निम्बञ्च भक्षयति, आश्लिष्य चुम्बति, पाणितलेन प्रहरति चेत्येवं हिताहितं पुत्रस्य पितेव मत्प्रभुरेव जानाति न त्वहं, मयि तद्भक्ते नास्ति कालकर्मादीनां केषामप्यधिकार इति स एव कृपया दुःखञ्च भोजयति स्वं सेवयति चेति विमृश्य "यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितुम्" इति पृथुरिव विज्ञापयन् हृदादिभिर्नमस्कुर्वन्नातीव विलश्यन्यो जीवति स मुक्तिश्च पदञ्च तयोर्द्वन्द्वैक्यं तस्मिन्संसारमुक्तौ त्वच्चरणसेवायां त्यानुषङ्गिकमुख्यफल्योर्दायभाग्भवति। यथा पुत्रस्य दायप्राप्तौ जीवनमेव कारणं तथा भक्तस्य जीवने। तच्च भक्तिमार्गस्थितिः 'दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतः' इति वेदस्तुत्युक्तेरिति विश्वनाथः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गुणात्मन इति। तत्र पूर्वस्मिन्नर्थे पूर्वैरावतारिका उत्तरस्मिंस्त्वियं यथा विशेषतः स्वयमवतीर्णस्याऽस्य तव गुण माहात्म्यमियत्त्वमपि न केनचिदपि ज्ञातुं स्यादित्युपक्रमवत् श्रीकृष्ण एवावान्तरप्रकरणस्याप्यर्थं पर्यवसाययति–गुणेति। गुणानामात्मनश्चतयितुः पूर्वमवतारान्तरजंगत्प्रकटनेन प्रसुप्तानामपि गुणानामधुना प्रकटनेन प्रबोधनात्। गुणान् प्रकटयत यद्वा, गुणा आत्मानः स्वरूपभूता यस्येति नित्यत्वमप्राकृतत्वं चोक्तम्, तथा च ब्रह्मतर्के—

"गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरुच्यते। न विष्णोर्न च मुक्तानां क्वापि भिन्नो गुणो मतः ॥" इति।

तथा श्रीविष्णुपुराणे—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु ॥"

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥"

पाद्मोत्तरखण्डे—

"योऽसौ निर्गुण इत्युक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसंयुक्तैर्गुणैर्हेयत्वमुच्यते ॥" इति।

एकादशे च—

"मां भजन्त्यगुणाः सर्वे निर्गुणं निर्विशेषकम्। सुहृदं सर्वभूतानां साम्यासङ्गादयो गुणाः ॥" इति।

व्याख्यातं च तत्रैव, अगुणा गुणपरिणामा न भवन्ति किं तु नित्या इत्यर्थः। विशेषेण एतावन्माहात्म्या इयत्संख्यावन्तः मातुं गणयितुं के ईशिरे अपि तु न कोऽपीत्यर्थः तत्र कैमुत्यम् अस्य जगतः सर्वेषामेव जीवानां हितायावतीर्णस्य तदर्थं प्रकटितु स्यापि अयमर्थः, यस्य जीवस्य येन यया हितं स्यात् तथाऽसौ गुणस्तदर्थं प्रकटयितुमपेक्ष्यते तत्र जीवानामानन्त्यं तत्र च स्वभाव मानन्त्यं तत्राप्यवस्थादिभेदेनानन्त्यं अतस्तदर्थं गुणानामप्यानन्त्यं तत्तद्विविधभेदेन परमानन्त्यं स्यादेवेति तद्गणना न सम्भ किमुत कालदेशाद्यपरिच्छिन्ने स्वलोके विहरत इति यैर्विमितास्तेऽपि न ईशिरे इति पूर्वेणान्वयः यद्यपि भूपांस्वादीनामपि यद्यपि सूक्ष्मतयाऽऽनन्त्यं तथापि श्रीसङ्कर्षणादिज्ञानेन तद्गणनमपि सम्भाव्यते ब्रह्माण्डेन परिच्छिन्नत्वात् अनन्तकोटिब्रह्माण्डपरमाणु श्रय रोमकूपविवरगवाक्षस्य महापुरुषस्याप्यंशिनस्तव तत्कथं स्यादिति भावः। श्लोकद्वयेऽस्मिन् सगुणस्य श्रीकृष्णस्यैव महि दुर्बोधतातिशयो दर्शितः तस्मादप्यनेन कृतविवृतावस्यापि देववपुष इत्यत्र निर्गुणस्य ब्रह्मणो नासावङ्गीकृतः एतद्व्यानुसारेण प्रस्तावस्तु स्वतो बहिर्मूत एवेति सोऽपि नादृतः तस्मात्तैरप्यस्यापीत्यादिश्लोकद्वयव्याख्याद्वयमिति पूर्वपक्षतया दर्शयित्वा श्लोके

त्वस्मिन्नुत्तरपक्षः कृत इति नासामञ्जस्यं मन्तव्यम् ॥ ७ ॥ तत्त इति । एवशब्दो यथाऽपेक्ष्यमग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयः आत्मना कृतमर्जितमित्यवश्यभोग्यतोक्ता अतस्तत्र सुखदुःखादिकममन्यमान इत्यर्थः। विपाक विविधकर्मफलं पुरेहु भूमन्नित्यादिरीत्या तद्विधकथयाभिरुचितीकृताय तुभ्यं हृद्वाग्वपुर्भिर्नमो विदधदिति तत्र त्वाशक्तिं कुर्वन्निति भावः। उपलक्षणं चैतद्दैन्यात्मकस्य भक्तान्तरस्य मुक्तिनामकं पदं चरणारविन्दं "येनापवर्गाख्यमदभ्रबुद्धिर्भेजेखगेन्द्रध्वजपादमूलम्" इति प्रथमे। यद्वा, अत्र सर्गो विसर्गश्चेत्यादौ नवमपदार्थरूपाया मुक्तेरपि पदे आश्रये दशमपदार्थरूप "दशमे दशमं लक्ष्यम्" इत्यादिनिर्णीते त्वयि स दायभाक् भवति भ्रातृवष्टन इव त्वमेव तस्य दायत्वेन वर्त्तसे अतो वराक्या मुक्तेर्वा का वार्तेत्यर्थः। अत्र तद्व्याख्यायां नात्यादिति बुद्धिपौरुषादिकं निषिद्धं तद्विनाऽपि जीवतः पुत्रस्य दायप्राप्ते अत्रापि जीवत्वं भक्तिमार्गस्थितत्वं ज्ञेयम् "दृतयः एव श्वसन्ति" इत्याद्युक्तेः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

विशेषतः स्वयमवतीर्णस्यास्य तव गुणानां माहात्म्यमियत्त्वमपि न केनचिदपि ज्ञातं स्यादित्याह—गुणात्मन इति। गुणानामात्मनश्चेतयितुः पूर्वमप्रकटनेन प्रसुप्तानामिव गुणानामधुना प्रकटनेन प्रबोधनाद्गुणान् प्रकटयत इत्यर्थः। तथाभूतस्यापीति गुणानां व्यक्ततया विमानयोग्यतोक्ता; विशेषेणैतावन्माहात्म्या इयत् संख्यावन्तश्चेति मातुं गणयितुं क ईशिरे ? अपि तु न केऽपीत्यर्थः। तत्र हेतुः—अस्य जगतः सर्वेषामेव जीवानां हितायावतीर्णस्य। अयमर्थः—यस्य जीवस्य येन यथा हितं स्यात्तथाऽसौ गुणस्तदर्थं प्रकटयितुपेक्ष्यते। तत्र जीवानामानन्त्यम्, तत्र च तत्तत् स्वभावानामानन्त्यम्, तत्राप्यवस्थादि-भेदेनानन्त्यमतस्तदर्थं गुणानामप्यानन्त्यम्, तत्तद्विविधभेदेन च परमान्त्यं स्यादेवेति तद् (गुण) गणना न सम्भवेदिति, यैर्विमितास्तेऽपि नेशिर इति पूर्वेणान्वयः। भूपांश्वादीनां यथोत्तरं सूक्ष्मतयानन्त्यमूह्यम् ॥ ७ ॥ सुसमीक्षमाणः सुष्ठुपेक्षमाणः। एवशब्दो यथा पेक्षमग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयः। आत्मना कृतमर्जितमित्यवश्यभोग्यतोक्ता, अतस्तत्र सुखदुःखादिकं न मन्तव्यमिति भावः। विपाकं विविधकर्म्मफलम्। हृद्वाग्वपुर्भिर्नमो विदधदिति तत्रैवासक्तिः कार्य्या, नान्यत्रेति भावः। मुक्तिपदं मोक्षो महाकालपुरं वा; यद्वा, मुक्तिरूपं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं स्थानं पादाब्जं वा; यद्वा, अकार-प्रश्लेषेण न मुक्तिर्भक्तानां यस्मात्—यन्माहात्म्यामृतार्णवनिमज्जनेन मुक्तिर्लवणाम्बुकणवत्तुच्छीक्रियते—तस्मिन् पदे पादाब्जे तत्प्रेमलक्षणे वा दायो दानम्, तद्भाक् तद्दाता भवतीत्यर्थः। हृद्वाग्वपुर्भिरित्यस्यात्रैव वान्वयः। ततश्च हृदा दायभाक् संकल्पमात्रेणैवान्येभ्यो मुक्तिपदं ददाति, तथा वचनमात्रेण देहस्पर्शनादिना चेत्यूह्यम् ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

गुणविभूत्योर्विवेकं तन्त्रेणाह—गुणात्मनः गुणपरिणामरूपस्याऽऽश्रय प्रपञ्चस्य हितायाऽवतीर्णस्य सर्वज्ञत्वकारणत्वादिविशिष्टस्य ते विभूतिविशिष्टस्य च गुणान्विमातुं ये ईशिरे ते के सुकल्पैः यैरेते भूपांसवः खे मिहिका हिमकणाः द्युभासः नक्षत्राणि च कालेन विमिताः गणिता इति ॥ ७ ॥ इदानीमष्टमेनाशक्तानां प्रपत्तिं विविच्याह—तत्तेऽनुकम्पामिति। तत्ततः कारणात् ते पूर्वोक्तानन्तवभवस्यानुकम्पां जन्मकालिककटाक्षदानरूपां सुतराम् अतिशयितां सम्यगीक्षमाणः चातकवृत्तिरित्यर्थः। आत्मना कृतं विपाकं प्रारब्धं विपच्यते इति तथा तं भुञ्जानः न तु तत्रोद्विग्न इत्येवकारार्थः हृद्वाग्वपुर्भिः ते नमः विदधत् इत्यनेनानुकूल्यादि पञ्चपरिकरोक्तिः एवं प्रकारेण यो जीवेत इति दृप्तत्वोक्तिः। मुक्तिपदेऽचिरादिना दायभाग्भवतीति जीवतः पुत्रादेः पितृदायभाक्त्वमिवेति भावः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

न चान्यथेत्यनेनाभिप्रेतमेव विवृणोति—गुणात्मनः इति गुणानां कल्याणगुणानामात्मनः आश्रयस्य तव गुणान् अपिशब्दात्स्वरूपमपि विमातुम् इयत्तया परिच्छेत्तुं क ईशिरे के प्रभवन्ति न केपीत्यर्थः। सत्यं परत्वेनावस्थितस्य मम गुणानपि मातुं नेशिरे न तु विभवस्थितस्येति शङ्कां वारयन् विशिनष्टि—अस्य जगतो हितायावतीर्णस्य विभावास्थितस्यापि विमातुं नेशिर इति भावः। क इत्यनेन बुद्धिकुशला विवक्षितास्तदेव दर्शयितुं क इत्यनेन विवक्षितान्विशिनष्टि—कालेनेति। यैर्महता कालेनापि भुवः पांसवः तथा खे मिहिका हिमकणाः तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवो विमिताः विशेषेण गणिताः भवेयुस्तेपि क ईशिरे इत्यन्वयः ॥ ७ ॥ एवं भक्तिप्रपत्त्योर्भगवद्वशीकारसाधनत्वमुक्त्वेदानीं प्रपत्तेर्विशेषमाह—तदिति। तत्तस्माद्दुरवबोधनिस्समिमहिमत्वात्त्वत्प्रपत्तिमन्तरेण त्वन्मायाया दुस्तरत्वाच्च केवलं तन्वादिभिस्त्रिभिः करणैस्तुभ्यं नमो विदधच्छरणं कुर्वन् तवानुकम्पामपराधानवेक्षणेन केवलमनुजिघृक्षारूपां कृपां सुसमीक्षमाणः कृतापराधानामपि प्रपन्नानामुत्तारिकां मन्वानः आत्मकृतं स्वकर्मसम्पादितं विपाकं सुखदुःखादि फलं भुञ्जान एव अनेन प्रपन्नानां प्रारब्धानुभवमात्रमेव कार्यं नतु भगवत्प्राप्तये यत्नान्तरमिति सूचितं यः पुमान् जीवेत स मुक्तिपदे दायभागंशभाग्भवति "अविज्ञाताः कुमारकाः इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायैर्जीवैर्नित्यमुक्तैः सह त्वदनुभवात्मकं दायं रिक्थं विभज्यानुभवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृततत्त्वदीपिका

गुणात्मनस्ते अनन्तकल्याणगुणाकरस्य तदुक्तम् विष्णुपुराणे—

"समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ, स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः ॥
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः, संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ" ॥ इति ।

अस्य विश्वस्य हितावतीर्णस्य हितार्थमवतीर्णस्य तथा चोक्तं शुकेन परीक्षितं प्रति—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया" ॥ इति ।

नवाखिलशक्तिधाम्नः" ॥ इति ॥ ७ ॥ ते गुणान् विमातुं इयत्तया प्रमातुं क ईशिरे न केपि समर्था आसन्नित्यर्थः । ननु, बहुकालेन चिरजीविभिः कैश्चित् मातुं शक्यमेवेत्यत्राह—कालेनेति । वाशब्दः सम्भावनायां सुकल्पैरतिसमर्थैर्बहुकालजीविभिर्भूपरिमाणवो विमिता विमातुं सङ्ख्यातुं शक्या भवेयुः तथा खे मिहिका हिमकणाःद्युभासः दिवि तारागणकिरणपरमाणवोपि गणयितुं शक्या भवेयुर्न तु तव गुणा इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः "विष्णोर्नु कं वीर्याणि नोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि" इत्यादि तथा चैकादशे द्रमिलवाक्यं विदेहं प्रति—

"यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ताननुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चित् कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः" ॥ इति ॥ ७ ॥

तस्मात्त्वद्भक्तिरेव संसारनिवर्तकेत्याह—तत्तेऽनुकम्पामिति । तस्मात्कारणात्तेऽनुकम्पां कृपां समीक्ष्यमाणः भवतानुकम्पी भगवान् ममोपरि कृपाकटाक्षं करिष्यत्येवेत्यालोचयन् आत्मकृतं विपाकं स्वप्रारब्धफलं सुखदुःखात्मकं भुञ्जान अनुभवं कुर्वाण एव हृद्वाग्वपुर्भिस्ते तुभ्यं नमो विदधत् कुर्वन् यो मुमुक्षुर्जीवेत स मुक्तिपदे दायभाग् भवतीत्यन्वयः । यथा नित्यानुवृत्ताश्च दायादास्तथायमपि भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति तेह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः, यथा पादोदरस्त्वचा विमुच्यते एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादि ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गुणात्मन इति हितावतीर्णस्य कृपया प्रकटितगुणस्यापि ॥ ७ ॥ तत्ते इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

वरमविक्रियादित्यादि प्रकारेण तव महिमा ब्रह्म च ज्ञातुं शक्यते, तथापि न तवावतारस्य मत्स्यापिरूपस्यापि गुणान् विमातुं क ईशिरे, न केऽपीत्यर्थः । भवतस्तु यन्नेशेरंस्तत् किमुतेत्यर्थः । तव कीदृशस्य ? हितावतीर्णस्य हितं स्वशक्तिप्राकट्यम्, क इत्यस्य किम् शब्दस्य यच्छब्देन पुनः प्रतिनिर्देशं करोति । कालेन यैर्वेत्यादि । सुकल्पैर्योग्यैः सर्वज्ञैरिति यावत्। अन्यत् सुगमम् ॥७॥ अतः केऽपि ते तत्त्वं न जानन्त्येव, बहिरङ्गत्वात्, भवतास्तु यत्किञ्चिज्जानन्ति, अन्तरङ्गत्वात् । न यावदिति तत्प्रशंसामाह—तत्तेऽनुकम्पामित्यादि । तद् तस्मात् ते तवानुकम्पामनुग्रहं सुष्ठु सम्यक् प्रकारेणेक्षमानोऽनुभवन्, सर्वे दर्शनार्थाः ज्ञानार्थाः, हृद्वाग्वपुर्भिस्तेतुभ्यं नमो विदधत् कायवाङ्मनोभिर्भजन् यो जीवेत, जीवति स मुक्तिपदे मुक्तिलक्षणे नित्यपार्षदत्वे दायभाक्, अथवा, अमुक्ति अकैवल्यं यथा स्यात्तथा पदे चरणारविन्दे दायभाक् ममोपास्यमिदमेवेति ममकार परस्परं दायभाक् भवति । अथवा, मुक्तिपदे मुक्तिरूपे पदे स दायभाक् खण्डनकृत् भवति । 'दो अवखण्डने' इति घञि रूपम् । इतः परं मुक्तिसुखमत्यन्नास्तीति निश्चिनोति । ननु कथमेवं पूर्वकर्मभोगे दुर्निवारे सति तेन बाध्यमानो हृद् वाग् वपुर्भिर्जनो मां भजतादित्याह—आत्मकृतं विपाकमभुञ्जान एव तवानुकम्पानुभवेनैव तस्य प्रारब्धक्षयात्तद्भोगः ॥ ८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

वरमविक्रियादित्यादि प्रकारेण ब्रह्मापि निर्वक्तुं शक्यते, तथापि न ते गुणा इत्याह—गुणात्मन इत्यादि । ते तव गुणात्मनः सच्चिदानन्दादि—गुणानामात्मनः कृपामैत्रीप्रभृतिकान् गुणान् विमातुं क ईशिरे ? न केऽपीत्यर्थः । ममेति किं ब्रह्मणो नारायणस्य वा ? तत्राह—अस्य पुरो दृश्यमानस्य हिताय भक्तानां मङ्गलायावतीर्णस्य ॥ ७ ॥ अतो भक्तिरेव श्रेयस्करी, यदर्थं भक्तहितायावतरसि, अतः सैव कार्येत्याह—तत्तेऽनुकम्पामित्यादि । एवम्भूतः सन् यो जीवति, स ते दायभाक् । कुत्र ? पदे चरणारविन्दे अमुक्ति अकैवल्यं यथा भवति तथा, नित्यपार्षदः सन् चरणारविन्द-सेवी भवति ॥ ८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अप्राकृतकल्याणगुणमयं तवेदं भगवत्स्वरूपन्तु प्रेमभक्त्याविना विज्ञातुं केऽपि मायासिन्धूत्तीर्णा अपि विद्यावन्तोऽपि न शक्नुवन्ति यदिमे जगज्जना अस्मदादयस्त्वां पश्यतोऽपि न जानन्तीति किं वक्तव्यं तव महामधुरान् गुणानपि सङ्ख्यातुमपि न शक्नुवन्ति तन्माधुर्यानुभववार्ता दूरे वर्त्तामित्याह—गुणा आत्मानः स्वरूपभूता यस्येति गुणानां नित्यत्वमप्राकृतत्वं चोक्तं तथा

च ब्रह्मतर्के "गुणैः स्वरूपभूतैस्तु गुण्यसौ हरिरीश्वरः" इति अपिस्त्वर्थे गुणात्मनस्तु तव गुणान् विमातुम् एतावन्त इति गणयितुं के ईशिरे शक्नुवन्ति अपि तु नैव आमभाव आर्षः अस्य विश्वस्य हिताय संसाररोगनिवृत्तये अवतीर्णस्य वेति वितर्के यैः सुकल्पैरति-निपुणैः सङ्कर्षणादिभिर्भूपरमाणवो रेणवोऽपि विमिता गणितास्तथा ततोऽप्यधिकाः खे मिहिका हिमकणा अपि तथा ततोऽप्यधिका द्युभासः दिवि सूर्य्यादीनां किरणपरमाणवस्तथाऽपि ते सङ्कर्षणाद्या यान् अद्यापि गायन्तो गायन्तः सीमानं नैवाप्नुवन्तीत्यर्थः। यद्वा, गुणे त्रिगुणमये जगति आत्मा पालनार्थं मनो यस्य तथाभूतस्यापि तव गुणान् विमातुं न ईशिरे किं पुनर्गुणातीतमहाचमत्कारिदधि-चौर्य्यादिक्रीडात्मन इति ॥ ७ ॥ तदेवमन्यत् सर्वसाधनं परित्यज्य भक्तिमेव कुर्वंस्त्वां लभते इति प्रकरणार्थोऽवगतस्तत्र कीदृशः सन् कुर्य्यादित्यपेक्षायामाह—तत्ते इति यस्मादेवं तत्तस्मादात्मकृत विपाकं "धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते" इत्यत्र प्रतिपादितं भक्तेरप्यननुसंहितं फलं सुखं तदपराधफलं दुःखं च भुञ्जान एव तं तवानुकम्पां सुष्ठु सम्यगीक्षमाणः समये प्राप्तं सुखं दुःखं च भगवदनुकम्पाफलमेवेदमिति जानन् पिता यथा स्वपुत्रं समये समये दुग्धं निम्बरसं च कृपयैव पाययति आश्लिष्य चुम्बति पाणितलेन प्रहरति चेत्येवं मम हिताऽहितं पुत्रस्य पितेव मत्प्रभुरेव जानाति न त्वहम् मयि तद्भक्ते नास्ति कालकर्मादीनां केषामप्यधिकार इति स एव कृपया सुखदुःखे भोजयति च स्वं सेवयति चेति विमृश्य "यथा चरेद्बालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समी-हितम्" इति पृथुरिव प्रत्यहं भगवन्तं विज्ञापयन् हृदादिभिर्नमस्कुर्वन् नातीव क्लिश्यन् यो जीवेत स मुक्तिश्च पदञ्च तयोर्द्वन्द्वैक्यं तस्मिन् संसारान्मुक्तौ त्वच्चरणसेवायां चेत्यानुषङ्गिकमुख्यफलयोर्दायभाग्भवति यथा पुत्रस्य दायप्राप्तौ जीवनमेव कारणं तथा भक्तस्य जीवनं तच्चेह भक्तिमार्गे स्थितिरेव "दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेनुविधा" इत्याद्युक्तेरिति भावः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

गुणिनस्तु का कथा गुणानामप्यन्तं कोऽपि न जानातीत्याह गुणात्मन इति। गुणानां स्वाभाविकानामात्मन आश्रयस्य अस्य विश्वस्य हितायावतीर्णस्य ते गुणान् विमातुम् एतावन्त इति गणयितुमपि के ईशिरे समर्था बभूवुः न केऽपीत्यर्थः। वेति वितर्के यैः सुकल्पैरपि कालेन यथेष्टेन भूपांसवः तथा खे मिहिका हिमकणा अपि तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवोऽपि विमिताः गणिताः भवेयुस्तेऽपि ॥ ७ ॥ यथा त्वां ज्ञात्वा तव परां गतिं पूर्वे प्रपेदिरे सा भक्तिस्तु तव कृपां सुसमीक्षमाणस्य दैन्यादियुक्तस्य त्वत्कृपया जायमानया भविष्यतीत्याशयेनाह—तत्ते इति। आत्मकृतं स्वार्जितं कर्मफलं सुखं वा दुःखं वा भुञ्जान एवेत्यनेन दैन्यादि-युक्त इति सूचितम् भगवान् कर्मव्यालगृहीते मयि कदा कृपां करिष्यतीत्येवं ते तवानुकम्पां सुसमीक्षमाणः तदर्थं हृदादिभिस्ते तुभ्यं नमो विदधत् साधनरूपिकां भक्तिं कुर्वन् यो जीवेत स मुक्तिदायभाग्भवेत् तव कृपां प्राप्य परमभक्तो भूत्वा विमुक्तो भवेदित्यर्थः। तथा हि भगवान्पूर्वाचार्य्यः—

"कृपाऽस्य दैन्यादियुजि प्रजायते। यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा॥
भक्तिर्ह्यनन्याधिगतेर्महात्मनः। सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा"॥ इति ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

समस्तानां गुणानां ज्ञानन्तु कस्यापि न भवेत्तेषामानन्त्यादित्याह गुणात्मन इति; गुणा आत्मानः "समस्तकल्याणगुणात्म-कोऽसौ" इत्यादि श्रीवैष्णववात् स्वरूपानतिरेकिणो यस्य तस्य ते गुणान् विमातुं संख्यातुमपि के ईशाश्चक्रिरे आमभाव आर्षः। तदनुभववार्त्ता तु दूरेऽस्त्वित्यर्थः। कीदृशस्य ? अस्य जगतो हितायावतीर्णस्य, ननु निपुणैः कालेन किमशक्यं तत्राह वेति वितर्के यैः सुकल्पैरतिनिपुणैर्महता कालेन भूपांसवः पृथ्वीपरमाणवो विमिताः संख्याता भवेयुः, खे नभसि मिहिका हिमकणाः दिवि भासो नक्षत्रकिरणाश्च तैरपि शेषादिभिस्त्वद्गुणा विमिता नेति ॥ ७ ॥ तस्माज्ज्ञाने प्रयासं हित्वा भक्तिरेव यथाशक्ति कार्येत्याह— तदिति। ते अनुकम्पा कदा स्यादिति सुष्ठु समीक्षमाणः आत्मकृतं स्वार्जितं विपाकं कर्मफलं सुख-दुःखं स्वामिनैव पायसनिम्बरसं पित्रेव हितेच्छुना दत्तं भुञ्जान एव हृदादिभिर्नमो विदधत् कुर्वन् व्रतादिभिर्नातीव क्लिश्यन् यो जीवेत सत्सम्प्रदाये तिष्ठेत् स मुक्तिश्च पदञ्च तयोर्द्वन्द्वैक्यं तस्मिन् मोक्षे तदङ्घ्रिसेवने च दायभाक् भवेत् जीवन्नेव हि पितुः सम्पत्तौ दायं भजेन्नाजीवन्नेवं वेदोक्ततद्भक्तिवर्त्मनि तिष्ठंस्तदङ्घ्रिदायभाक् नान्य इति भावः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

गुणात्मनस्तु महिमा ज्ञातुं न शक्यत इत्याह गुणात्मनस्त इति, सर्वगुणरूपो भगवानेव जातस्ते च गुणा अनन्तास्तेषां विमानेपि कश्चिन्न शक्तः, यतः सर्वजगद्धितार्थमवतीर्णः, बहवोपि मिलित्वा नेशिरे महतापि कालेन सुकल्पैरतिसमर्थैर्भूपांसवो विमिता भवन्ति पंचाशत्कोटिघनस्य गणनायां घनान्तरवत् तदपि गणयितुं शक्येत, ख आकाशे मिहिका हिमकणाः, द्युभासो ज्योतिश्चक्रतेजोंशाः, एते तामसा राजसाः सात्त्विकाः सर्वेहितार्थं प्रवृत्ताः परिमितत्वात् गणितुं शक्याः, अपरिमितास्तु भगवद्-गुणा गणितुं न शक्याः ॥ ७ ॥ अतो ये सगुणोपासकास्ते गुणज्ञानाग्रहं परित्यज्यास्मदुक्तानुसारेण चेत् प्रवृत्तास्तदा कृतार्था

भवन्तीत्याशयेनाह तत् तस्मात् कारणात् तेनुकम्पां कृपामेव प्रकर्षेण समीक्षमाणः कदा कृपां करिष्यतीति तावत्पर्यन्तमात्मकृतमेव विपाकं कर्मविपाकं भुञ्जानो हृदयमेव मनो वाङ्मनोवपुर्भिस्ते नमो विदधद् यो जीवेत स मुक्तिपदे दायभाग् भवति, यथा पितृद्रव्ये जीवन् पुत्र एव भागी ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गुणात्मनः गुणाधिष्ठातुस्ते तव गुणान् विमातुम् 'एतावन्त' इति गणयितुमपि के ईशिरे समर्था बभूवुः ? 'तदधिष्ठानं तु दूरतः' इति सूचयितुमपिशब्दः । गणनाशक्यत्वे हेतुमाह—अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुधा गुणाविष्कारेणावतीर्णस्येति । ननु 'कालेन निपुणैः किमशक्यम् ?' अत आह—कालेनेति । वाशब्दो वितर्के । यैः सुकल्पैरतिनिपुणैः जनैर्बहुजन्मना कालेन भूपरमाणवः, तथा खे आकाशे मिहिका हिमकणाः, तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवश्च विमिताः विशेषेण गणिता भवेयुस्तथाभूता अपि के ईशिरे इत्यन्वयः ॥ ७ ॥ 'तस्माद्भजनमेव सङ्गच्छते, नतु ज्ञानाग्रहः' इति फलितमाह—तत्तेऽनुकम्पामिति । यस्मात् ज्ञानं सुदुर्घटं तत्तस्मात् हे भगवन् ऐश्वर्यादिगुणपरिपूर्ण ! यः प्राणी ते तव अनुकम्पां कृपां सुसमीक्षमाणः 'कदा भगवत्कृपा भविष्यति ?' इति प्रतीक्षमाणस्तावदात्मकृतं विपाकं स्वार्जितं कर्मफलमनासक्तः सन् भुञ्जानो हृद्वाग्वपुर्भिस्ते तुभ्यं नमो विदधत् । 'नम' इत्युपलक्षणमन्यासामपि श्रवणादिभक्तीनाम्, तासां मध्ये यथासम्भवं भक्तिं कुर्वन्नेव जीवेत् स मुक्तिपदे मुक्तिरूपे फले दायभाग्भवतीत्यन्वयः । 'दायभाक्' इत्यनेन यथा "पितृदायप्राप्तौ पुत्रस्य पितृभजनपूर्वकजीवनव्यतिरिक्तमन्यन्नापेक्षितम्, तथा भक्तस्यापि मुक्तिप्राप्तौ भगवद्भजनपूर्वकं जीवनव्यतिरिक्तमन्यन्न किञ्चिदपेक्षितम्" इति सूचितम् ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अतः सगुणस्य महिमा बोद्धुमशक्य इत्याह—गुणात्मन इति ॥ यैः सुकल्पैः अतिनिपुणैः जनैः बहुजन्मकालेन भूपांसवः भूपरमाणवः तथा खे आकाशे मिहिका हिमकणास्तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवश्च विमिताः विशेषेण गणिता भवेयुः तेऽपि गुणात्मनः गुणानामात्मनोऽधिष्ठातुः अस्य विश्वस्य हिताय पालनाय बहुधा गुणाविष्कारेणावतीर्णस्य तव गुणान् विमातुमेतावन्त इति गणयितुमपि के ईशिरे समर्था बभूवुः दूरतस्तद्विशेषबोधः । आमभावः आर्षः ॥ ७ ॥ तदिति ॥ यस्माज्ज्ञानं सुदुर्घटं तत्तस्मात् हे भगवन् ! यः प्राणी ते तवानुकम्पां कृपां सुसमीक्षमाणः कदा भगवत्कृपा भविष्यतीति प्रतीक्षमाणस्तावदात्मकृतं विपाकं स्वार्जितं कर्मफलमनासक्तः सन् भुञ्जानो नातीव तपआदिना क्लिश्यन् हृद्वाग्वपुर्भिस्ते तुभ्यं नमो विदधत् उपलक्षणतया नमनश्रवणादिषु भक्तिषु यथासंभवं भक्तिं कुर्वन्नेव जीवेत । तङार्षः । स मुक्तिपदे मुक्तिरूपे फले दायभाग् भवति भक्तस्य जीवनव्यतिरेकेण दायप्राप्ताविव मुक्तौ नान्यदुपयुज्यत इति भावः । जीवनं चात्र भक्तौ स्थितिरेव ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तस्मात्सर्वप्रकारेण जनैस्त्वत्वानुकंपायुक्तैर्भवितव्यमित्याह तदिति । तत्तस्मात्कारणात् ते तव अनुकंपां दयां सुसमीक्षमाणः हरेः कृपाकटाक्षो मयोपरि कदा भविष्यतीति निरंतरं प्रपश्यमानः हरेराज्ञानुसारेणैव वर्त्तमान इत्यर्थः । आत्मकृतं स्वकृतं विपाकं कर्मफलरूपं सुखदुःखं अनाकुलः सन् भुंजान एव मनोवाणीदेहैः ते तुभ्यं नमो विदधत् नमस्कारं कुर्वन् दुःखप्राप्तावपि तव दोषमगृह्यमाण इत्यर्थः । एवं वर्त्तमानो यो जीवेत् स मुक्तिपदे दायभाक् दायो विभागस्तं भजतीति सः मुक्तौ विभागीत्यर्थः । एवंभूतस्त्वद्भक्तेर्महिमास्तीति श्लोकाभिप्रायः ॥ ७ ॥ स्वकृतापराधं क्षमापयन्नाह द्वाभ्यां पश्यैति हे ईश ये अनार्यं असाधुतां त्वं पश्य तत्किमिति चेत्तत्राह आद्ये सर्वेषामादिभूते अनंते अनवधौ अविनाशि मूर्तौ वा परात्मनि सर्वोत्कृष्टस्वरूपे अत एव मायिनां अस्मदादीनां मायाविनामपि मायिनि मोहजनके त्वयि प्रत्यक्षमूर्तौ श्रीकृष्णेपि मायां वितत्य विस्तार्य आत्मवैभवं आत्मनस्तव वैभवं ऐश्वर्यकलापं ईक्षितुं द्रष्टुं ऐछंद्रष्टवान् अग्नौ महानले अर्चिचः दीपज्योतिरिव तवाग्रे अहं कियानस्मि अपरिमितैश्वर्यवतः सर्वांतर्यामिणस्तव पुरतोऽल्पज्ञस्य कनीयसो वराकस्य मम का गणनेत्यर्थः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

न चान्यथेत्यनेनाभिप्रेतमेव विवृणोति ॥ गुणेति ॥ गुणानां कल्याणगुणानामात्मा आश्रयस्तस्य, यद्वा । गुणाः सत्यशौचादयः आत्मनि स्वस्वरूपे यस्य तस्य, 'एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः' इति पृथिव्युक्तेः । अस्य विश्वस्य, हितावतीर्णस्य पालनाय प्रादुर्भूतस्य, ते तव, गुणान् अपिशब्दात् स्वरूपमपि, विमातुमियत्तया परिच्छेत्तुं, के ईशिरे प्रभवन्ति न केऽपीत्यर्थः । क इत्यनेन बुद्धिकुशला विवक्षिताः, तदेव दर्शयितुं क इत्यनेन विवक्षितान्विशिनष्टि—कालेनेति । सुकल्पैर्बुद्धिकुशलतावद्भिः, यैर्वा यैरेव कालेन महताऽनेहसापि, भूपांसवो भुवो रजःकणाः, तथा खे आकाशे, मिहिका हिमकणाः, तथा द्युभासः दिवि नक्षत्रादिकिरणपरमाणवः, विमिता विशेषेण गणिताः, भवेयुः । तेऽपि क ईशिरे इत्यन्वयः ॥ ७ ॥ एवं भक्तिप्रपत्त्योर्भगवद्वशीकरणसाधनत्वमुक्त्वा इदानीं प्रपत्तेर्विशेषमाह ॥ तदिति ॥ तत्तस्मात् त्वन्महिमावबोधादेर्यथार्थतया संपादनाशक्यत्वात्, प्रपत्तिमन्तरेण त्वन्मायाया दुस्तर-

त्वाच्च। केवलं हृद्वाग्वपुर्भिः मनोवाणीदेहैः करणैः, ते तुभ्यं, नमः विदधत्, कायवाङ्मनोभिस्त्वच्छरणमेव कुर्वाण इत्यर्थः। ते तव, अनुकम्पामपराधानवेक्षणपूर्वं केवलमनुजिघृक्षारूपां कृपां, सुसमीक्षमाणः, आत्मकृतं स्वकर्मसंपादितं, विपाकं सुखदुःखादिफलं भुञ्जानः एव। अनेन प्रपन्नानां प्रारब्धानुभवमात्रमेव कार्यं, न तु भगवत्प्राप्तये यत्नान्तरमिति सूचितम्। यः पुमान् जीवेत, स पुमान् मुक्तिपदे दायभागंशभाक्, भवति। 'अविज्ञाताः कुमारकाः' इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायैर्नित्यमुक्तैर्जीवैः सह त्वदानन्दानुभवात्मकं दायं विभज्यानुभवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गुणात्मन इति : १०.१४.७.

अब्धेः पानमिलाखिलाकलनमप्यन्यत्रिलोकीजनिर्वायुः स्तम्भनमन्तरिक्षगणनं चन्द्रार्कभस्तम्भनम्।
क्वापि क्वापि विभो श्रुतं भुवि परं त्वद्यापि नैतत्क्वचित् कृत्स्नत्वद्गुणवर्णनं यदमुकेनाकारि सर्वांशतः ॥ १७ ॥

कृष्णप्रिया

भगवन्! कदाचित् निर्गुण ब्रह्म को जान लिया जाय। किन्तु निपुण पुरुषों ने, अन्य कवियों ने अथवा देवों ने अनेक जन्म पर्यन्त परिश्रम करके पृथ्वी के कणों को, सूर्य की किरणों को, आकाश के ओस बिन्दुओं को और उसमें प्रकाशमान नक्षत्र तारागण को भले ही गिन डाला है अथवा गिन डालें परंतु उनमें भला ऐसा कौन हो सकता है कि जो आपके सगुण स्वरूप के अनन्त गुणों की गणना कर सके ?। हे नाथ! आप केवल विश्व कल्याण के लिये ही भूतल पर पधारे हैं ऐसे आपकी महिमा कैसे जानी जाय ॥ ७ ॥ हे भगवन्! जो पुरुष प्रति क्षण आपकी असाधारण कृपा की प्रतीक्षा करता रहता है या तो प्रतिक्षण उत्कण्ठा से आपकी अनुकम्पा का अच्छी तरह से अनुभव करता रहता है और अपने कृतकर्मों के फलों सुख दुःखादि को अनासक्त होकर भोग लेता है और भक्ति पूर्ण हृदय, वाणी, और सरोम शरीर से अपने को आपके श्रीचरणों में समर्पित करते हुए प्रणाम करता 'हुआ' अपना जीवन व्यतीत करता है वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है ॥ ८ ॥

पश्येश मेऽनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि।
मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥
अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः।
अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ईश! अनन्त! आद्ये परात्मनि मायिमायिनि अपि त्वयि मायां वितत्य आत्मवैभवं हि इक्षितुं अग्नौ अर्चिः इव ऐच्छम् मे अनार्यं पश्य ?॥ ९ ॥ अतः अच्युत अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषः हि अजानतः त्वत् पृथक् ईश मानिनः रजोभुवः मे क्षमस्व मयि नाथवान् इति एषः अनुकम्प्यः ॥ १० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तदेवं स्तुत्वा भगवंतं क्षमापयितुं स्वापराधं निवेदयति। पश्येति। हे ईश मेऽनार्यं दौर्जन्यं पश्य। यदहं मायिनामपि मायिनि विमोहके त्वय्यपि स्वमायां प्रसार्यात्मवैभवमात्मैश्वर्यमीक्षितुमैच्छमभिलषितवान्। अहो एवं कर्तुं त्वय्यहं कियानत्र किंचित्। यथाग्नेरुद्भूता ज्वाला अग्नौ न किंचित्तद्वदिति ॥ ९ ॥ रजोभुवो रजसो जातस्यातोऽजानतोऽत एवाजावलेपांधतमोंधचक्षुषः अजोऽहं जगत्कर्ताहमिति मदेन गाढतमोरूपेणांधीभूते नेत्रे यस्यातस्त्वत्तः पृथगीशमानिनः। अन्यत्र प्रभुत्वेन वर्तमानोऽपि मयि नाथे सति नाथवान्मद्भृत्य एवायमत एषोनुकंप्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् तदा। ईक्षितुं द्रष्टुम्। अहं तु भक्तिलेशमपि न कुर्वेऽपि त्वपराधपुञ्जमिति सानुशयमाह—हे ईशेति ॥ ९ ॥ यतस्त्वं महानतो हेतोः क्षमस्व 'क्षान्तिर्महीयसि' इत्युक्तेः। अतो राजसत्वात्। अत एवाज्ञत्वादेव। 'ध्वान्तं गाढेन्धतमसम्' इत्यमरः। अन्धीभूतनेत्रस्य नष्टज्ञानस्य। अतो ज्ञानहीनस्य अजानत इत्यत्र सामान्यतोऽज्ञस्य, इह तु विशेषतोऽज्ञस्येति न पुनरुक्तिः। इत्यर्थं इति—अपराधेऽप्यज्ञभृत्योपरि कृपैवौचितेति भावः। दौर्जन्योचितस्य दण्डस्य मौढ्योचितायाः क्षमायाश्च सामर्थ्यं त्वय्येवास्तीति दयालोस्तव क्षमैवोचितेत्याह—अत इति। हे अच्युत यतस्त्वं महाकृपालुत्वादिगुणेभ्यश्च्युतिरहितः, अहं च महानीचः अतो ममापराधं

क्षमस्व 'नीचे दयाऽधिके स्पर्धा' इति नीतेरिति भावः। महानीचत्वमाहुः-रजोभुवः श्लेषेण रजसो धूलेः पुत्रस्यात एवाज्ञातस्याक्षमस्व 'नीचे दयाऽधिके स्पर्धा' इति नीतेरिति भावः। ईशमानित्वं विवृणोति-अजावलेपोऽजन्यत्वमद एवान्धतमः समासान्ताभावस्त्वार्षः। एव त्वत्तः पृथगेव ईशोऽहमित्यभिमानवतः। ईशमानित्वं विवृणोति-अजावलेपोऽजन्यत्वमद एवान्धतमः समासान्ताभावस्त्वार्षः। केन विचारो तेतान्धानि चक्षूंषि यस्य तेन मयि कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मद्गर्वतमस्यपहृते सति त्वं द्रष्टव्यो भविष्यसि नान्यथेति भावः। केन विचारेण क्षमे इति चेत्तत्राह-एष ब्रह्मानुकम्प्योऽनुकम्प्याहं यतोऽन्यत्र नाथत्वाभिमानवानपि मयि तु नाथवान् दास एव। यद्वा-मौढ्यात्त्वय्यपि स्वातन्त्र्यं कुर्वन्नपि वस्तुतो मन्मायाधीनत्वादधीन एवेति मत्वा। 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः॥ १०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र ज्ञानस्याप्रयोजकत्वे स्वमेव दृष्टान्तीकुर्वंस्तत्रैव स्वापराधमपि क्षमापयितुमुपक्रमते-पश्येति। आर्यः सुजनः तस्य भाव आर्यं तत्तु विज्ञत्वमपि क्रोडीकरोति अतस्तद्विपरीतं दौर्जन्यं मूढत्वं चानार्यं पश्येति तस्य प्राकट्यादिकं बोधितं तत्र ईशे स्वप्रभौ तत्र चाद्ये पितरि त्वय्यपीतिदौर्जन्यम् अनन्ते अपरिच्छिन्नमहिम्नि परमात्मनि आत्मनोऽप्यात्मनीति मूढत्वं तत्तदज्ञानलेऽपि मायिमायिनि मायां वितत्येति परममूढत्वं किं तत् आत्मनस्तव वैभवं माहात्म्यमीक्षितुमैच्छं यत् द्रष्टुं मञ्जुमहित्वमन्यदपीत्युक्तेः, हि निश्चये। ननु, मम माहात्म्यं द्रष्टुं चेत्तर्हि को दोषः तत्राह-त्वन्माहात्म्यं द्रष्टुं तत्रापि मायां वितत्य द्रष्टुं कियान् को वराकोऽहमित्यर्थः। कियत्त्वे दृष्टान्तः अग्नौ अर्चिरिवेति। यद्वा, आत्मनः स्वस्य वैभवं द्रष्टुमिति दैन्येन पूर्वार्थमाच्छाद्य प्रोक्तम्॥ ९॥ अत इत्यस्य टीकायां प्रभुत्वेनेति प्रभुं मन्यत्वेनेत्यर्थः। यद्वा, अतो ममातितुच्छत्वात् तवातिमहत्त्वाच्च क्षमस्व अतितुच्छत्वमेव दर्शयति-रजो भुव इत्यादिभिः। अजानत इति तमोंऽशश्च व्यञ्जितः, पश्यतामपि मच्चक्षुषां च ताभ्यामेव सगर्वत्वमान्ध्यं च जातमित्याह—अजेति। हि प्रसिद्धौ त्वमपि जानासीति भावः। हे अच्युतेति त्वमेवाच्युतनामा अतः "सकृदेव प्रपन्नो यः" इत्यादिरूपव्रतादपि तवाच्युतिर्योग्यैव अस्माकं च तन्नामतानर्हत्वादेव तादृशच्युतिरपि न सम्भवतीति भावः। एषोऽहमनुकम्प्यः कथं नाथवानिति दास इत्येवम्। ननु, परमेष्ठिनस्तव दास्ये किमर्थं तत्राह—मयि भगवति निमित्ते मदेकप्राप्त्यर्थमिति॥ १०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पश्येत्यनार्य्यस्य प्राकट्यादिकं बोधितम्। हे ईशेति स्वप्रभौ तत्र चानन्ते अपरिच्छिन्नमाहात्म्ये, तत्राप्याद्ये पितरि, तत्रापि परात्मनि परमगुरौ-हृदि सर्ववेदप्रकाशनात्, तत्रापि मायिनामपि मायिनि, तत्रापि त्वयि श्रीकृष्णेऽपीति माया विस्तारणस्यायोग्यता, तत्रापि यथोत्तरमाधिक्येनोक्ता। आत्मनस्तव वैभवं माहात्म्यमीक्षितुमैच्छम्, (भा. १०।१३।१५) 'द्रष्टुं मञ्जु महित्वमन्यदपि' इत्युक्तेः। हि निश्चये खेदे वा; कियानिति यद्यप्येवं तत्त्वतोऽपराधो न स्यात्, तथाप्येवमपि कर्त्तुं को वा वराकोऽहमित्यर्थः॥ ९॥ अतो मदतितुच्छत्वान्निजात्यन्त-माहात्म्याच्च क्षमस्व। अतितुच्छत्वमेव दर्शयति रज इत्यादिविशेषणैः। अपि हिशब्दः सर्वैरेवान्वेति। हे अच्युतेति-यथाकथञ्चिदपि प्रपन्नस्य सर्वेऽपराधाः क्षम्यन्त इत्यादि माहात्म्यतः कथमपि कुतोऽपि कदापि च्युतिर्नास्ति यस्येत्यर्थः। एषोऽहमनुकम्प्यः, कथं नाथवानिति दास इत्येवम्। ननु परमेष्ठिनस्तव दास्यं किमर्थम् ? तत्राह—मयि भगवति निमित्तेत्वदेकप्राप्त्यर्थमित्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तत्र तत्र हेतुः-अजया माययावलेपो व्याप्तिः, स एव वान्धतमस्तेनाधचक्षुषः॥ १०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अथ द्वाभ्यां स्वापराधं क्षमापयति। हे ईश! मेऽनार्यं दौर्जन्यं क्षमस्व तदेवाह—अनन्ते आद्ये परमात्मनीत्यादि सर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थास्ववस्थित्या व्यापके जगत्कारणत्वाद्यसाधारणलक्षणेऽन्तर्यामिणि द्विभवरूपतया सुलभेऽपि इत्यपिशब्दार्थः। कुतः! मायाविनामपि मोहकेऽर्चारूपे मायामन्तर्धानादिकरणरूपां वितत्यात्मवैभवमीक्षितुं द्रष्टुम् ऐच्छम् अर्चिः स्फुलिङ्गकणः अग्नाविवेति दृष्टान्तेन स्वाल्पव्यक्तिः॥ ९॥ हे अच्युत! अतः कारणात् मे क्षमस्व राजसजन्मनः अजस्य त्वत्तः पृथक्तयेश्वरत्वाभिमानिनः स्वस्य ब्रह्मत्वमानान्धकारेणान्धस्य मे क्षमस्वैति तव क्षमैवोचिता एषः मयि नाथवानिति स्वस्वामिभावरूपसाधारणादनुकम्प्य इत्येवंरूपेणेति॥ १०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्यमभिष्टूय स्वापराधं क्षमापयितुं तावन्निरूपयतिपश्येति। हे ईश! ममानार्यं दौर्जन्यं पश्य किं तद्यदहं मायिनामाश्चर्यशक्तियुक्तानामपि मायिन्यत्याश्चर्यशक्तियुक्तेऽनन्तेऽपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावे जगत्कारणभूते परमात्मनि मायां वितत्याच्छाद्यात्मैश्वर्यमीक्षितुमैच्छमभिलषितवानित्येतदहम् एवं त्वयि कुर्वन्नहं कियान्न किञ्चिदतितुच्छ इत्यर्थः। यथाऽग्नावुत्थितार्चिर्ज्वालास्फुलिङ्गस्तद्वत्॥ ९॥ अत युक्तमेवैतदिति वदन्नपराधं क्षमापयति-अत इति। हे अच्युत! रजोभुवः रजसा जातस्यात एवाजानतस्त्वन्महिमिति शेषः। त्वत्तः पृथगीशमात्मानं मां मन्वानस्याजो ब्रह्मेति योऽवलेपो गर्वः स एव अन्धं तमस्तेनान्धीभूते चक्षुषी यस्य एवम्विधस्य दौर्जन्यं युक्तमेवेति भावः। अतः दौर्जन्यं क्षमस्व क्षमाप्रकारमाह, मयि नाथवान्मद्भृत्य एवात एषोऽप्यनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्वेत्यन्वयः॥ १०॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृततत्त्वदीपिका

एवं तावत्स्तुतिवाक्यैर्भगवन्तं स्तुत्वा अथ तस्मिन्ननन्तगुणाकरे भगवति शरणागतदोषभोग्यत्वं दोषादर्शित्वं वा वात्सल्यमिति लक्षणलक्षितं वात्सल्यगुणमाकलय्य तदग्रे स्वापराधरूपं दोषमाविष्करोति, पश्येश ! मेऽनार्य्यमिति । हे ईश ! सर्वस्वामिन् ! मे अनार्य्यं दाष्ट्यं धार्ष्ट्यमिति यावत् पश्य आश्चर्यत्वेनावलोकय तदेवाह—योऽहं अनन्ते अपरिच्छिन्नमहिम्नि आद्ये सर्वकारणे परात्मनि चिदचिच्छरीरके मायिमायिनि मायिनामपि मोहके त्वयि मायां स्वमायां वितत्य प्रसार्य आत्मवैभवम् अहो अखिलब्रह्माण्डनायकं भगवन्तमपि मोहितवानित्येवंरूपं देवानां श्लाघारूपमैश्वर्यमीक्षितुं द्रष्टुम् ऐच्छम् इच्छामकार्षं सोऽहं त्वन्महिम्नि विचार्यमाणे कियान् कियत्परिमाणः न किमपीत्यर्थः। कमिव अग्नौ अर्चिरिव यथा अग्नेरुत्पन्नोऽर्चिस्तत्प्रकाश्यस्तत्प्रकाशयितुं न किमपि समर्थस्तद्वदित्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं स्वापराधं निवेद्य तं क्षमापयति—अत इति। अतः अपराधस्य कृतत्वात् त्वच्छेषभूतस्य मे क्षमस्व ममोपरि क्षमां मोचय—

"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन । दोषो यद्यपि तस्य स्यात्" ॥

इति त्वयैवोक्तं हे अच्युत ! शरणागता यस्मान्न च्यवन्ति सोऽच्युत इति नामनिर्वचनम् अतः क्षमस्व । किञ्च, मदुत्पत्तिस्थानं दृष्ट्वा क्षमस्वेत्याह—हि यतः रजोभुवः रजोगुणोत्पन्नस्य तथा च वाराहे अगस्त्यम्प्रति रुद्रः "नारायणः परो देवः" इत्यारभ्य—

"रजस्तमोभ्यां युक्तोऽभूत् रजःसत्त्वाधिकं विभुम् । ससर्ज नाभिकमले ब्रह्माणं कमलासनम् ॥
रजसा तमसा युक्तं सोऽपि मां ससृजे प्रभुः" ।

इति । अजानतस्त्वामिति शेषः । सर्वशेषिणं त्वामजानत इत्यर्थः । अत एव त्वत्पृथगीशमानिनः "प्रजापतिः प्रजा असृजत" इत्यादि श्रुतेः । प्रजापतित्वाभिमानवतः अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषः अजायास्तव शक्तिरूपाया मायाया अवलेपेन संश्लेषेणान्धतमो गाढतमस्तेनान्धीभूते चक्षुषी नेत्रे यस्य तस्य कथं क्षान्तिः कार्येति चेदत आह—मयि नाथवानिति । सर्वस्य पितामहत्वेन प्रसिद्धोऽपि मयि सति नाथवानयं मन्नाथ इति यावत् इति मनसि विचिन्त्य मयाऽनुकम्प्यः मम कृपापात्रभूत इति मत्वा क्षमस्वेति भावः ॥ १० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पश्येति, आर्यः सुजनस्तस्य भावः आर्यं तेन विज्ञत्वमपि गम्यते तद्विपरीतमनार्यं दौर्जन्यं मूढत्वञ्च तत्तद्दौर्जन्यमाह—आद्य त्वय्यपीति । मूढत्वम् अनन्ते परात्मनीति परममूढत्वं मायिमायिनि मायां वितत्येति यद्यपि द्रष्टुं मञ्जुर्महित्वमित्युक्तं तत्रापि स्वगर्वः पर्यवस्यतीत्याह—आत्मेति । कियत्त्वे दृष्टान्तः अग्नावर्चिरिवेति "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" इत्याद्यनुसारेण प्रथमपुरुषतया स्तौति ॥ ९-१० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु त्वमपि यद्भक्तत्वादायभागेवासि ? मैवम्, यदि भक्त एवाभविष्यम्, तदा कथमेवमतिमौग्ध्यं मेऽभविष्यदिति स्वमौग्ध्यं प्रदर्शयति—'पश्येश मे' इत्यादि । हे ईश ! मे ममानार्य्यं मौढ्यं पश्य । किं तदित्याह—त्वय्यपीति त्वयापि अनन्ते आद्ये परमात्मनि मायां वितत्यात्मवैभवमीक्षितुमैच्छं मायिनामपि मायिनि मायिनोऽपि माहयितुं समर्थे । नन्वहमिव त्वमप्येकोऽसि ? नेत्याह—हीत्यादि । हि निश्चितम् । अहं कियान् क्षुद्र एव । तत्र दृष्टान्तः—अग्नौ सति अर्चिरिव । अग्नाद्यपेक्षया अर्चिः क्षुद्र इव ॥ ९ ॥ तस्मादयं मेऽपराधः क्षन्तव्य एवेत्याह—अतः क्षमस्वेत्यादि । अतः क्षुद्रत्वात् क्षुद्रस्यापराधो महद्भिः क्षम्यत एव । हे अच्युत ! रजोभुवो मे मम अजावलेपान्धतमः क्षमस्व । अजा अविद्या तत्कृतो योऽवलेपो गर्वः स एवान्धतमो गाढं तमः, समासान्तविधेरनित्यत्वादजभावः । अतएवान्धचक्षुषः, अतएव अज्ञानतस्त्वन्महिमानमित्यर्थः । कुतः ? त्वत्पृथगीशमानिनः; त्वत्तः पृथगहमेक ईश इति मन्यमानस्य; यद्वा त्वत् त्वामजानतः पृथगीशमानित्वात् अजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुष इत्येकं वा पदम्, तदा क्षमस्वेत्यस्य कर्माध्याहार्य्यम्; क्षमायां युक्तिं वक्ति —मयि नाथवानिति । मदीय एवायमिति कृत्वा स्वामिना हि भृत्यापराधः क्षम्यते ॥ १० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

भक्ताभावे यद्दूषणं तत् स्वाचरितेनैव दर्शयति —पश्येश इत्यादि । त्वय्यपि परमात्मनि आत्मनोऽपि ब्रह्मणोऽपि परे ॥९॥ तस्मादयं ममापराधः क्षन्तव्य एवेत्याह—अत इत्यादि । न केवलं ममापराध-क्षमापनमेव मेऽभिमतम्, अपि त्वयमनुग्राह्योऽपि, तत्र हेतुमाह—मयि नाथवानिति यदभृत्यत्वादभृत्यापराधः स्वामिनेव क्षम्यते ॥ १० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अहन्तु भक्तिलेशमपि न कुर्वे प्रत्युतापराधपुञ्जमेवेति सानुतापमाह, पश्येति । हे ईश ! मे अनार्यम् आर्यः सुजनो विज्ञश्च तस्य भाव आर्यं तद्विपरीतमनार्यं दौर्जन्यं मौढ्यं च पश्येत्यवधाय समुचितं दण्डं क्षमां वा कुरुष्वान्यथा मादृशानां दौर्जन्यमौढ्ये

एव वर्द्धिष्येते इति भावः। किन्तद्दौर्जन्यं मौढ्यं चेत्यत आह, आद्ये स्वकारणत्वात्पितरि तत्रापि त्वयि सुखेन सहचरैः सह भुञ्जान एवेति दौर्जन्यम् अनन्ते अपरिच्छिन्नैश्वर्ये परात्मनि आत्मनोऽप्यात्मनीति मूढत्वं मायिमायिनीति परममूढत्वम् एवम्भूते ऽपि त्वयि मायां प्रसार्य्य आत्मैश्वर्यमीक्षितुमहमैच्छं हि अहो अहं त्वयि कियान् किम्परिमाणकः अचिरर्चाला यथा महाग्नेरुद्भूय तमेव दग्धुमिच्छेत् ॥ ९ ॥ दौर्जन्योचितस्य दण्डस्य मौढ्योचितायाः क्षमायाश्च सम्भवेऽपि महाकृपालोस्तव क्षमैवोचितेत्याह— अत इति। हे अच्युत ! यतस्त्वं महाकृपालुत्वादिगुणेभ्यश्च्युतिरहितः अहं च महानीचः। अतो ममापराधं क्षमस्व नीचे दयाधिके स्पर्द्धेति नीतेरिति भावः महानीचत्वमाह, रजोभुवः श्लेषेण रजसो धूलेः पुत्रस्य अत एव अज्ञस्यात एव त्वत्तः पृथगेव ईदृशोऽहमित्यभिमानवतः ईशमानित्वं विवृणोति-अजावलेपः अजन्यत्वमद एवान्धतमः समासान्ताभाव आर्षः। तेनान्धानि चक्षूंषि यस्य तेन मयि त्वत्कारुण्यचन्द्रोदयेनैव मद्गर्वतमस्यपहृते सति त्वं दृश्यो भविष्यसि नान्ययेति भावः। केन विचारेण क्षमे इति चेत्तत्राह, एष ब्रह्मा अनुकम्प्यः मदनुकम्पार्हः यतोऽन्यत्र नाथत्वाभिमानवानपि मयि तु नाथवान् दास एव। यद्वा, मौढ्यान्मय्यपि स्वातन्त्र्यं कुर्वन्नपि वस्तुतो मन्मायाधीनत्वात् अधीन एवेति मत्वा "परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि" इत्यमरः॥ १० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवमियत्तानवच्छिन्नतया भगवत्कृपामूलकभक्तिप्रधानसाधनप्राप्यतया च भगवन्तं स्तुत्वा तं क्षमापयितुं निजापराधं निवेदयति— पश्येति। मायिनामाश्चर्यशक्तिमतामपि मायिनि अत्याश्चर्यशक्तिमति अनन्तेऽपरिच्छिन्ने आद्ये विश्वहेतौ परात्मनि परमात्मनि स्वमायां वितत्य प्रसार्य्य आत्मनः सर्वात्मनस्तवैश्वर्य्यमीक्षितुमैच्छमभिलषितवान् इति मे अनार्य्यं दौर्जन्यम्, हे ईश! पश्य यतः एवं कर्तुं त्वयि अहं कियान्न किञ्चिदपि अग्नावर्चिस्तदुद्भूता विस्फुलिङ्गा यथा न किञ्चित्तद्वत् ॥ ९ ॥ हे अच्युत! नित्यमूर्त्ते! रजोभुवः त्वच्छक्तिलेशाद्रजोगुणाज्जातस्य अत एवाजावलेपान्धतमोऽन्धचक्षुषः अजो जगत्स्रष्टाऽहमिति मदेन गाढतमोरूपेणान्धीभूतनेत्रस्य अत एवाजानतः अत एव त्वत्तः पृथगीशमानिनः मयि नाथे सति एव नाथवानतोऽनुकम्प्य इति मत्वा क्षमस्व ॥ १० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

भक्तस्त्वयि दायभाक् अहं त्वपराधीति सानुतापमाह— पश्येति। हे ईश ! मे अनार्यं दौर्जन्यं मौढ्यं च पश्येति विचार्य दण्डं क्षमां वा कुर्वित्यर्थः। ते द्वे दर्शयति। आद्ये स्वकारणत्वात् पितरि त्वयि सखिभिः सह सुखेन भुञ्जान इति दौर्जन्यं अनन्ते अनवच्छिन्नैश्वर्यपरात्मनि मायिनामपि मायिनि विमोहके इति विमूढत्वं ईदृशो मायां वितत्याहमात्मनस्तव वैभवमैश्वर्यमीक्षितुमैच्छम् अहो त्वय्येवं कर्तुमहं कियान् न किञ्चित् यथाग्नेरुद्भूतार्चिर्ज्वाला तस्मिन्नकिञ्चित्तद्वत् ॥ ९ ॥ दण्डोऽपि मयि क्षमैव ते महाकृपालुत्वाद्भविष्यतीत्याह अत इति। हे कारुण्यादच्युत ! रजोभुवो रजोगुणाश्रयस्य अतोऽजानतोऽज्ञस्य अजपरेशपुत्रो जगत्कर्त्ताऽहमिति योऽवलेपो गर्वस्तद्रूपेणान्धतमसेन गाढतिमिरेण समासान्ताभाव आर्षः, अन्धानि चक्षूंषि यस्य अतस्त्वत्पृथगीशमानिनो मे अपराधं क्षमस्व केन विमर्शेन क्षमे तत्राह एष विरिञ्चो ममानुकम्प्यः यतोऽन्यत्र स्वतन्त्रत्वेन वर्त्तमानोऽपि मयि मदन्तिके नाथवान् परतन्त्रो भृत्य एवेत्यर्थः "परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि" इत्यमरः ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवम्भूतस्यैव भगवतः सर्वोपास्यत्वमुक्त्वा स्वापराधं क्षमापयितुमनुवदति पश्येति, हे ईश मेनार्यं दुष्टत्वं पश्य, अनार्यमेवाहानन्ते उत्तरावधिरहिते आद्ये पूर्वावधिरहिते परमात्मनि नियामकात्मरूपेणान्तर्बहिः स्थिते एतादृशे त्वय्यपि मायिनामपि मायिनि मोहके, प्रकृतोपयोगि विशेषणमेतत्, तादृशे मायां वितत्यात्मवैभवमीक्षितुमैच्छं, अनेन प्रदर्शनार्थमेवैतदित्यपराधाभावोपि सूचितः, परमेतदत्यनुचितं तत्र हेतुमाह कियानहमिति, को वाहं वराकः? तत्र दृष्टान्तोग्नावर्चिरिवेति, न ह्यग्नेर्ज्वालाविशेषोऽग्निमेवं कर्तुमर्हति ॥ ९ ॥ अतोनुचितं यद्यपि तथापि क्षमस्व यतस्त्वमच्युतस्तव न काचित् क्षतिः, मम चायं सहजो दोषो यतोहं रजोभूः, तत्राप्यजानतः अर्थात् तव माहात्म्यं, तत्र हेतुस्त्वत्तः पृथगेवाहमीश इत्यभिमानयुक्तः, हेत्वन्तरमप्याहाजोहं न कस्मादप्युत्पन्न इति योयमवलेपो गर्वो वस्तुतस्त्वज एव, तेनावलेपेनान्धं चक्षुर्यस्य, क्षमायां हेतुमाहैषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति, एष ब्रह्मानुकम्प्यः कुतः? मय्येव सत्ययं नाथवान्, अन्यथा त्वनाथ एव स्यात्, अतो ब्रह्मण एतावत्त्वं मत्त एवेति क्षमोचिता ॥ १० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदेवं भगवन्तं स्तुत्वा क्षमापयितुं स्वापराधं निवेदयति— पश्येति। हे ईश स्वामिन् ! मे मम अनार्यं दौर्जन्यं मूढत्वं पश्य। 'किं तत् ?' इत्यपेक्षायामाह— त्वय्यपि स्वमायां वितत्य प्रसार्य आत्मवैभवं स्वप्रभावमीक्षितुं द्रष्टुमैच्छमभिलषितवानस्मि। एवं कर्तुं त्वदग्रेऽहं कियान् ? न किञ्चित्। तत्र हेतून् सूचयन् विशिनष्टि— परमात्मनीति। सर्वनियन्तरीत्यर्थः॥ तत्र हेतुमाह— मायि

नामपि मायिनि मोहके इति । तत्रापि आद्यन्तशून्यत्वे हेतुमाह— आद्ये सर्वकारणभूते पूर्वावधिरहिते इति । अनन्ते विनाशरहिते । 'एतत् सर्वं प्रसिद्धमेव' इत्याशयं सूचयन्नाह—हीति । असामर्थ्ये दृष्टान्तमाह—अग्नावर्चिरिति । यथा अग्नेरुद्भूता अर्चिः ज्वाला अग्नौ न कमपि स्वप्रभावं कर्तुं शक्नोति, तथा त्वत्त उद्भूतोऽहमपि त्वयि न कमपि स्वप्रभावं कर्तुं शक्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥ यद्यप्यहं सर्वथाऽनुचितमेव कृतवान्, तथापि मयि निकृष्टे सर्वोत्तमस्य तव क्षमैव युक्ता, अतो ममापराधं क्षमस्व । तत्र भगवतः सर्वोत्तमत्वं द्योतयन् सम्बोधयति - अच्युतेति । त्वद्विमुखा एव सर्वे देशतः कालतोऽवस्थातो गुणत ऐश्वर्यादिभ्यश्च च्युता भवन्ति, तव भक्तानां तु कुतोऽपि कथमपि त्वत्कृपया च्युतिर्न भवति । तव च्युतिस्तु दुरापास्ता, अतस्त्वं सर्वोत्तम इति भावः । तर्हि 'कुत एवं ममापराधं कृतवान् ?' तत्राह—त्वत्पृथगिति । 'त्वत्तः पृथक् अहमेव ईश । इति अभिमानवतः । तत्र हेतुमाह—हि यस्मात् त्वत्प्रभावमजानतः । तत्रापि हेतुमाह—अजेति । अजा त्वन्माया, तस्याः योऽवलेपः सम्बन्धः, तेन यत् अन्धं तमः गाढमज्ञानम्, तेन अन्धं चक्षुः विवेकहेतुरन्तःकरणं यस्य तस्य । तत्रापि हेतुमाह—रजोभुव इति । रजोगुणादुत्पन्नस्येत्यर्थः । 'तथापि केन विचारेण क्षमा कर्तव्या' इत्यपेक्षायामाह—एष इति । 'मयि नाथे स्वामिनि सत्येव अयं नाथवान्, ममोपेक्षितश्चेत्तस्यास्य कोऽप्यन्यो रक्षकः कुत्रापि स्थानं च नास्ति' इति हेतोरेष मम भृत्यो मयाऽनुकम्प्यः 'मत्कृपायोग्य' इति मत्वा इत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पश्येति ॥ हे ईश स्वामिन् ! मे मम अनार्यं दौर्जन्यं मूढत्वं पश्य । योऽहम् अनन्ते आद्ये सर्वकारणे परात्मनि सर्वनियन्तरि मायिनामपि मायिनि त्वय्यपि स्वमायां वितत्य प्रसार्यात्मवैभवं स्वप्रभावमीक्षितुं द्रष्टुमैच्छमभिलषितवान् । अग्नौ अर्चिरिव यथा अग्नेरुद्भूता अर्चिः ज्वाला अग्नौ न कमपि स्वप्रभावं कर्तुं शक्नोति तथा एवं कर्तुं त्वदग्रेऽहं कियान् न किञ्चित् ॥ ९ ॥ अत इति ॥ हे अच्युत ! अतः रजोभुवः रजोगुणादुत्पन्नस्य त्वत्तः पृथक् अहमेवेश इति अभिमानवतः हि यस्मात् त्वत्प्रभावमजानतः अजा त्वन्माया तस्या योऽवलेपः संबन्धस्तेन यत् अन्धंतमः गाढमज्ञानं तेन अन्धं चक्षुः विवेकहेतुरन्तःकरणं यस्य तस्य अजो जगत्कर्ताऽहमिति योऽवलेपो मदः स एवान्धंतमः । समासान्ताभावः आर्षः । तेनान्धीभूते चक्षुषी यस्येति वा ममापराधम् अन्यत्र प्रभुत्वेन वर्त्तमानोऽपि मयि नाथे स्वामिनि सति नाथवान् मम भृत्यो मयाऽनुकम्प्यः मत्कृपायोग्य इति मत्वा क्षमस्व ॥ १० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अत इति अतो हेतोर्हे अच्युत रजोभुवो रजोगुणोत्पन्नस्य अत एव त्वां प्रत्यक्षपरमेश्वरमजानतः अजो विश्वकर्त्ता अहमस्मी-त्यवलेपो मदः स एव अंधतमोगाढध्वांतं तेनांधीभूतानि चक्षूंषि यस्य तस्य अत एव त्वत्तः पृथगीशमानिनो मे मम अनार्यं क्षमस्व मयि स्वामिनि सति नाथवान् स्वामिमान् मद्दास एव अतो मे एषोऽनुकंप्यो दयां कर्त्तुमर्हं इति ज्ञात्वा ममापराधं क्षमस्वेति संबंधः ॥ ९ ॥ संप्रति भगवतो माहात्म्यं द्योतयन् स्वस्यात्यल्पत्वमाह क्वेति तमआद्यष्टावरणैः संवेष्टिते ब्रह्मांडरूपे घटे निजमानेन सप्तवितस्तिप्रमाणः कायो देहो यस्य एवंभूतोऽहं क्व ईदृग्विधानामगणितब्रह्मांडरूपाणां परमाणूनां चर्यायै भ्रमणार्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य एतादृशस्य च ते तव महित्वं क्व अतोऽत्यल्पे मयि त्वया कृपा विधेयेति श्लोकाभिप्रायः द्वौ । क्व शब्दौ तयोर्महदंतरं सूचयतः तमः प्रकृतिः खमाकाशः चरो वातः वार्जलम् ॥ १० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इत्थमभिष्टूय स्वापराधं क्षमापयितुं तावत्तं निरूपयति ॥ पश्येति ॥ हे ईश, अहं मायिनामाश्चर्यशक्तियुक्तानामपि मायिनि अकलनीयानन्ताश्चर्यशक्तियुक्ते, अनन्ते अपरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावे, आद्ये जगत्कारणभूते, परात्मनि परमात्मनि त्वयि अपि मायां वितत्य प्रसार्य, आत्मवैभवमात्मैश्वर्यं, ईक्षितुं प्रदर्शयितुमित्यर्थः । ऐच्छमभिलषितवान् । एतद् । मे मम, अनार्यं दौर्जन्यं, पश्य । अहो अहं त्वय्येवं कुर्वन्नहं, अग्नौ अर्चिः इव, अग्नेरुत्थितः स्फुलिङ्गोऽग्नाविवेत्यर्थः । कियान् हि । न किंचिदतितुच्छ इत्यर्थः ॥ ९ ॥ मम युक्तमेवैतदिति वदन्नपराधं क्षमापयति ॥ अत इति ॥ हे अच्युत, रजोभुवः रजोगुणतो जातस्य, अतः, अजानतः त्वन्महित्वमिति शेषः । अजा ब्रह्माहमिति योऽवलेपो गर्वः स एवान्धतमो गाढध्वान्तं तेनान्धेऽन्धीभूते चक्षुषी यस्य तस्य, अतः त्वत्पृथगीशमानिनः त्वत्तः पृथग्भूतमात्मानं मामीश इत्येवं मन्यमानस्य, मे मम, क्षमस्व हि । दौर्जन्यमिति शेषः । अहो एवंविधं दौर्जन्यं कथं सोढुं शक्यमित्यत्राह । अयं मयि, नाथवान् यथातथाविधोऽप्ययं मद्भृत्य एवास्तीति मत्वा, एषः अनुकम्प्यः, इति च मत्वा, क्षमस्व ॥ १० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पश्येति : १०.१४.९.

ज्येष्ठोऽस्मिन् भुवने प्रजापतिरिति प्रख्यातिमापादितो लोकैरस्मि कथं सदाऽखिलगुरौ ज्येष्ठे प्रभौ जाग्रति ।
जातस्तस्य विनिर्णयोऽद्य न परोऽस्त्यज्ञानवृद्धोऽवनौ मत्तुल्यो यदिहाल्पगोपशिशुभिर्ज्ञातं न तज्ज्ञातवान् ॥ १८ ॥

अतिवृद्धवया श्रान्तो भवतीति जनश्रुतिः। यथार्थाऽद्य मयि श्रीश जाता जनपितामहे ॥ १९ ॥
अदृष्टपूर्वोऽयमभून्मम भ्रमश्छलप्रवृत्तिस्त्वयि यत्प्रभावतः।
जगज्जनादृष्टविदाऽप्यहो मया नाज्ञाय्यदृष्टं निजमित्यदोऽद्भुतम् ॥ २० ॥
अर्चिः स्वदृष्ट्या त्वभिमानभावं वहत्वलं भिन्नधिया प्रकाशे।
कार्यात्मिहेत्वात्मतया स्थितस्य बह्नेर्दृशीशास्ति हि नाभिमानः ॥ २१ ॥

अतः क्षमस्वेति : १०.१४.१०.

अत्यल्पमुद्गतरजोऽक्षिण यदि प्रविष्टं स्पष्टं करोति पुरुषं सहसाऽन्धमीशः।
दुर्धर्षमर्षणरजोमयचक्षुषो मे नान्धत्वमद्भुतमितीह कृतं क्षमस्व ॥ २२ ॥
दुर्वासस्स्थितिराहृता च शुचयो हंसा विमाने कृताः, दुर्वर्णाचलसद्रुचिर्बहुसुरोल्लासस्पृहा सर्वदा।
किं वैतैर्बहुपातकैरहमहो मोहं बलात् प्रापितः किं वै तैर्बहुपुण्यदैस्तव कृपापर्याप्तिपात्रीकृतः ॥ २३ ॥

कृष्णप्रिया

हे जगदीश ! जरा मेरी उद्दण्डता को-खलता को तो देखिये। मायावियों के मायावी-अनन्त मायी, पुराण पुरुष, हे अनन्त भगवन् ! आप के ही उपर मैंने अपनी माया फैलाकर अपना प्रभाव-सामर्थ्य देखना चाहा, लेकिन मुझ अकिञ्चित्कर की शक्ति ही क्या ! नाथ ! अग्नि-प्रज्वलित आग के सामने तनिक सी अग्नि ज्वाला की इज्जत क्या है ॥ ९ ॥ नाथ ! आप इसलिये मुझे क्षमा करें। अरे प्रभो, मेरे अपराधों को क्षमा करें ? नाथ आखिर तो मैं रजोगुण से उत्पन्न हुआ हूँ आप की महिमा को मैं नहीं जानता। मैंने आपसे भिन्न अपने को संसार का स्वामी माना और मैं अजन्मा हूँ इस प्रकार के अभिमान से छका हुआ मोह के गाठ-घने अन्धकार से अन्धा बना अब प्रभो ! आप यह समझकर कि—"यह मेरा भृत्य है मुझसे यह सनाथ है मेरे बिना यह अनाथ इस पर मुझे अनुकम्पा करनी चाहिये" मेरे अपराधों को क्षमा करे ॥ १० ॥

क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११ ॥
उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तमोमहदहंखचराग्निवाभू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः अहं क्व ? च ईदृक् विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य ते महित्वं क्व ! ॥ ११ ॥ गर्भगतस्य पादयोः उत्क्षेपणं मातुः आगसे कल्पते किं अस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं हे अधोक्षज तव कुक्षेः अनंतः कियत् अपि किम् अस्ति ? ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु ब्रह्मांडविग्रहस्त्वमपीश्वर एवेति चेत्तत्राह। क्वाहमिति। तमः प्रकृतिर्महान् महत्तत्त्वमहंकारः खमाकाशः चरो वायुः अग्निर्वार्जलं भूश्च प्रकृत्यादिपृथिव्यंतैरष्टभिरेतैः संवेष्टितो योंडघटः स एव तस्मिन्वा स्वमानेन सप्तवितस्तिः कायो यस्य सोऽहं क्व क्व च ते महित्वम्। कथंभूतस्य। ईदृग्विधानि प्रकृत्यादिभिः संवेष्टितानि यान्यविगणितान्यंडानि त एव परमाणवस्तेषां चर्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव। अतोऽतितुच्छत्वास्त्वयाऽनुकंप्योऽहमिति ॥ ११ ॥ अपि च गर्भगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं मातुः किमपराधाय भवति लोके। अस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकार्यकारणशब्दैर्वा भूषितमभिहितम्। एतेषां शब्दानां भवि विषये उषितं स्थितमिति वा। सर्वं वस्त्वित्यर्थः। अधोक्षज तव कुक्षेरनंतर्बहिः कियदपि किंचिन्मात्रमपि किमस्ति न किंचिदस्तीत्यर्थः। अतः सर्वस्य तव कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वान्मातृवत्त्वया मेऽपराधः सोढव्य इति भावः ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ब्रह्माण्डं विग्रहे वपुषि यस्य स त्वं ब्रह्माण्डाविर्भावयितापीश्वर इति चेद्भवदुक्तिः स्यात्, तत्र तदुक्तौ ब्रह्माह—तदन्तर्गतप्रतीतेस्तस्मिन्नण्डे घटे वा। 'वितस्तिर्द्वादशाङ्गुलम्' इत्यमरः। द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। ईदृग्विधानि मत्स्वरूपभूतब्रह्माण्डसदृशानि मदधिकरणीभूतांबुसदृशानि वा। त एवेति विधेयापेक्षं पुंस्त्वम्। तदर्थं भ्रमणार्थम्। 'वातायनं गवाक्षोऽ'

इत्यमरः। यतस्त्वं महानहं न अतो हेतोः। तेन ममैश्वर्यं पराक्रमो वा त्वां प्रति शलभस्य गरुडं प्रतीव न गणनार्हमिति भावः॥ ११॥ अनुकम्प्यत्वे कारणान्तरमाह—अपि चेति। इन्द्रियगोचरीभूतपदार्थानामस्तित्वे व्यपदेशेऽपि तदगोचराणां परमाण्वादीनां नास्तित्वव्यपदेशो मा भूदित्येतदर्थमाह—स्थूलेत्यादि। भूषितशब्दस्य कथने वृत्तेरनुपलब्धेः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— एतेषां किमस्ति नास्तीत्येतेषाम्। भुवि लोके, एकत्वं सामान्याभिप्रायम् 'भूः स्थानमात्रे कथितो धरण्यामपि योषिति' इति मेदिनी। इत्यर्थं इति-वस्तुमात्रस्य लोकान्तगतत्वादिति तात्पर्यम्। अक्षेभ्योऽधोऽधोक्षजमिन्द्रियविषयं ब्रह्माण्डं तज्जनयति जानाति वेत्यधोक्षजस्तत्सम्बुद्धौ तथा हे सर्वजनक सर्वज्ञ वेति। एतेन सर्वज्ञस्य तव ज्ञापनमपि पुनरुक्तिरेवेति सूचितम्। यद्वा— अन्तर्मध्ये न विद्यते यत्तदनन्तः "सह सुपा" इति शास्त्रात्समासः। अन्तर्मध्येर्थेऽव्ययम्। इत्यर्थं इति—सर्वजनकत्वात्तवेति भावः। अतः सर्वजनकत्वात्। तथात्वात्तव कुक्षिगत्वात्। इति भाव इति—मातृवदानन्द एव विधेयो न तु कोप इति तात्पर्यम्। अत्र विश्वनाथः— ममापराधोऽवश्यं सोढव्य एव यतस्त्वं माता सर्वस्य त्वत्कुक्षिगतत्वात् "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" इति त्वदुक्तेः॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो अतितुच्छतमोऽहं परममहत्तमं त्वां क्षमयितुमपि नार्हामि यत आस्तां तावत्सर्वप्रपञ्चाप्रपञ्चव्यापकवासुदेवत्वं सर्वप्रपञ्चनाथत्वेऽपि त्वत्तो मम बह्वन्तरमिति वक्तुं सङ्कर्षणविशेषमहत्स्रष्टृप्रथमपुरुषत्वेन स्तौति—क्वाऽहमिति। ब्रह्माण्डस्य घटरूपकत्वं स्वल्पकालत एव नश्वरताऽभिप्रायेण कायस्य सप्तवितस्तित्वं निकृष्टपुरुषत्वविवक्षया महापुरुषस्य तु नववितस्तित्वमवात मुहुः सृष्टिप्रलययोर्निष्क्रमप्रवेशाभ्याम् ईदृग्विधेत्याद्युक्तं रोमविवरत्वं सूक्ष्मतमैकदेशत्वं तदुक्तं श्रीविष्णुपुराणे "यस्यायुतायुतांशांशे विष्णुशक्तिरियं स्थिता" इति महित्वं माहात्म्यम् अतः स्वयमेवानुकम्पां कर्तुमर्हसीति भावः॥ ११॥ किञ्च, मादृशैः क्रियमाणोऽप्यपराधस्त्वयि न घटेतैव यतस्तादृशाऽनन्तकोटिब्रह्माण्डनाथोऽपि त्वमस्मत्कृपयैतदेकब्रह्माण्डमपि मातेवोदरे विधाय विराजस इति द्वितीयपुरुषभेदहिरण्यगर्भान्तिर्यामिप्रद्युम्नविशेषपुरुषत्वेन स्तौति—उत्क्षेपणमिति। अधोक्षजेति, स्वनियम्यत्वेन अधः कृतं अक्षजम् इन्द्रियं सामर्थ्यं येन हे तादृशेति ममेन्द्रियस्यापि त्वद्वशत्वान्न मयि मूढे दीनेऽपराधो गृहीतव्य इति भावः। कुक्षिशब्देनात्र समष्टिजीवस्य सूक्ष्मदेहरूपहिरण्यगर्भस्थूलदेहरूपविराजोर्व्यापकोऽचिन्त्यशक्तिमयस्तद्देह एवोच्यते। यद्वा, गर्भगतस्य गर्भप्रविष्टस्येति अतिगूढता द्योतिता यथा तस्य तथैव ममेत्यर्थः। तस्य पादयोरुत्क्षेपणं ताभ्यां ताडनं यथा मातुर्जठरे मातुरागसेऽपराधायेति किं कल्पते किं तु न कल्पते न मन्यते अपि तु हर्षाय भवति मम गर्भोऽस्तीति जीवन्त्येवेत्यर्थः। तथा त्वयाऽपि माननीयं नापराधायेति भावः। ननु, स तदुदरस्थो वर्त्तते त्वं किं ममोदरे तिष्ठसीति चेत्तत्राह—किमस्तीति। अस्तीदमिति मीमांसकाः वदन्ति। नास्तीति साङ्ख्या वदन्ति, विशेषेण अपदेशमात्रभूषितं वन्ध्यापुत्रवत् इति अनीश्वरसाङ्ख्या वदन्ति, एतैः शास्त्रवादैः प्रत्यक्षतश्च यद्भूषितं प्रकाशितं तत्कियदपि तव हिरण्यगर्भान्तर्यामिणः पुरुषस्य कुक्षेरुदरस्य अनन्तर्बहिरेवास्ति किं वद नास्त्येव बहिः सर्वाधिष्ठानत्वात् अहमपि तर्ह्येवास्मीति अपराधः क्षन्तव्य इति भावः। यद्वा, अस्ति—नास्तिव्यपदेशेन कथनेन भूषितं स्वस्वमत्या शोभितं तदन्यदपि कियत् अस्मदादिकं सर्वमपि तव कुक्षेर्बहिर्नास्त्येवेत्यर्थः। अस्ति जन्म नास्ति नाशो व्ययो नास्त्येवेत्यर्थः। भूषितमिति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो ममातितुच्छतमत्वादहं परममहत्तमेत्वय्यपराधं क्षमापयितुमपि नार्हामीत्याह—क्वाहमिति। ब्रह्माण्डस्य घटरूपकत्वं श्रीभगवन्माहात्म्यापेक्षयातितुच्छत्वाभिप्रायेण। महित्वं माहात्म्यम्, अतः स्वयमेवानुकम्पां कर्तुमर्हसीति भावः॥ ११॥ किञ्च, मादृशैः क्रियमाणोऽप्यपराधस्त्वयि न घटेतैवेत्याह—उत्क्षेपणमिति। अधोक्षज! हे शकटस्याधस्तदीयेऽक्षे पुनर्ज्जातोपम! तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु० प० १०१।३०-३३) श्रीवासुदेव-माहात्म्ये श्रीनारदवाक्यम्—

'अधोऽनेन शयानेन शकटान्तरचारिणा। राक्षसी निहता रौद्रा शकुनीवेध-धारिणी॥
पूतना नाम घोरा सा महाकाया महाबला। विषदिग्धं स्तनं क्षुद्रा प्रयच्छन्ती जनार्द्दने॥
ददृशुर्निहतां तत्र राक्षसीं वनगोचराः। पुनर्ज्जातोऽयमित्याहुरुक्तस्तस्मादधोक्षजः॥' इति।

व्याख्यातञ्च तदीयटीकाकारैः—अधः शकटस्याक्षे पुनर्ज्जात इवेत्यधोक्षजः, इत्यनेन व्रजराजकुमारता-प्रतिपादनेन महालीलत्वसूचनात्। आगसोऽकल्पने हेत्वन्तरगर्भं सम्बोधनम्। लोके हि लीलावन्तः कृतमहापराधस्यापि चौरादेरपराधं क्षान्त्वा प्रत्युत प्रसादं कुर्वाणा दृश्यन्ते, अतो ममापराधो भवता सोढव्य इति तात्पर्य्यम्॥ १२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम

इदमेव विवृणोति—क्वाऽहमित्याद्यष्टभिः। अहं क्व ते महित्वं च क्व द्वौ क्वशब्दौ तव च मम च महदन्तरं सूचयतः, कीदृगहं तमोमहदहमित्यादिरूपः स्पष्टं तव च कीदृशस्य ईदृग्विधेत्यादि स्पष्टमेव बृहत्त्वाणुत्वरूपस्वरूपोक्त्या व्याप्यव्यापकभाव

उक्तः ॥ ११ ॥ अथ द्वाभ्यां सर्वजगत्कारणस्य श्रीमन्नारायणस्य श्रीकृष्णस्य स्वोत्पादकत्वतदुदरवर्त्तित्वेन च स्वस्य क्षम्यापराधत्वं तस्य चास्य चावतार्यवतारत्वेनाभेदमपि व्यञ्जयति—उत्क्षेपणमिति । हे अधोक्षज ! अधः लीलाविभूतौ अक्षेभ्यो जायत इति अधोक्षजः तत्तद्भक्तेन्द्रियगोचरत्वेन तत्तल्लीलावतारत्वेन च जायत इव "अजायमानो बहुधा विजायत" इति श्रुतेः गर्भगतस्य देहिनो जीवस्य पादयोरुत्क्षेपणं किं तत्तन्मातुरागसेऽपराधाय कल्पते, भवति वेति काकुः अतः कारणादस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भूपितमलङ्कृतं चिदचिद्वस्तु अविनाशस्वभावः सत्त्वं विनाशस्वभावो ह्यसत्त्वं सत्त्वासत्त्वे द्रव्यधर्मौ धर्मो विशेषणं "स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम्" इति लक्षणात् एवमुभयविधं चिदचिद्वस्तु तव कुक्षेरनन्तः किं वर्त्तते कियदपि कियदल्पत्वम् अपिशब्दादनन्तमपि अनन्तर्वर्तते किमिति सर्वस्य त्वदाधेयत्वादिना त्वच्छेषत्वमेवेति अनेन कार्यकारणभाव आधाराधेयभावः पारार्थ्येन लीलारसनिष्पादकत्वेन शेषशेषिभावश्च सम्बन्ध उक्तः ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नन्वण्डादिपतिस्त्वमीश्वर एव न तु पृथगीशमानी अतो न मयानुकम्प्यस्तत्राह–क्वेति । तमः प्रधानमहमहङ्कारो भूतादिः खमाकाशस्तच्चरो वायुश्च वार्जलं तमआदिभिर्वेष्टितेऽण्डघटे स्वमानेन सप्तवितस्तिपरिमितः कायो यस्य सोऽहं क्व, एवंभूतस्य मम महित्वं कियत् न किञ्चिदप्यतितुच्छमिति भावः । क्व च तव महित्वं कथंभूतस्येदृग्विधानि यान्यविगणितान्यसंख्यातान्यण्डानि तान्येव परमाणवस्तेषां चर्या भ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव अत्र तमआदिषु पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तराण्यन्तरावरणानि विज्ञेयानि वार्भिरत्यत्र भ्विति वारां विशेषणम्, वारि च तानि भूनि च वाभूंणि अग्नेरुत्पन्नानि वारि चेत्यर्थः । बहुलग्रहणाद्विशेष्ययस्यापि पूर्वनिपातः ततस्तमआदीनां द्वन्द्वः न तु वार्भिः भुवा पृथ्व्या च सम्वेष्टित इत्यर्थः । वैष्णवे पुराणे भुवः आवरणत्वानुक्तेरावरणानां सप्तत्वोक्तेश्च तथा हि ।

> दशोत्तरेण पयसा मैत्रेयाण्डं च तद्वृतम् । सर्वोऽम्बुपरिधानोऽसौ वह्निना वेष्टितो बहिः ॥
> वह्निश्च वायुना वायुर्मैत्रेय ! नभसावृतः । भूतादिना नभः सोऽपि महता परिवेष्टितः ॥
> दशोत्तराण्यशेषाणि मैत्रेयैतानि सप्त वै । महान्तं च समावृत्य प्रधानं समवस्थितम् ॥
> अनन्तस्य न तस्यान्तं संख्यानं चापि विद्यते । तदनन्तमसंख्यातप्रमाणं चेति वै यतः ॥
> हेतुभूतमशेषस्य प्रकृतिः सा परा मुने ! ।

इति दशोत्तराण्युत्तरोत्तरं दशगुणाधिकानीत्यर्थः । न च खचरो वायुरेकमावरणं तेन सह तमआदीनि सप्तैवेतिनिर्वाहः आकाशस्यावरणत्वाभावप्रसङ्गेन "वायुर्मैत्रेय ! नभसाऽऽवृतः" इत्युदाहृतवचनविरोधापत्तेः तस्माद्यथोक्त एवार्थः । अतोऽतितुच्छत्वात्त्वयाऽनुकम्प्योऽहमिति भावः ॥ ११ ॥ अपि च हे अधोक्षज ! गर्भगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणमाघातः किं मातुरागसेऽपराधाय भवति न भवत्येवेत्यर्थः । विषमोऽयं दृष्टान्तः तव मम गर्भस्थत्वाभावादित्यत्राह–किमिति । तव कुक्षेरन्तर्बहिः कियदपि किञ्चिन्मात्रमपि अस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितम् अस्ति नास्तीतिव्यवहारचिह्नितं तद्व्यवहारविषयभूतमिति यावत् चिदचिदात्मकं जगत्किमस्ति न किञ्चिदित्यर्थः । चिद्वस्तुनः सततमेकरूपत्वात्सदास्तीत्येव व्यवहारभूषितत्वम् अचिद्वस्तुनस्तु सततपरिणामित्वात्पूर्वपूर्वावस्थां विहायोत्तरोत्तरावस्थापत्तौ सत्याम्पूर्वपूर्वावस्था नास्तीति व्यपदेशभूषितत्वात्तत्त्वमवगन्तव्यमतः सर्वस्य त्वत्कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वान्मातृवन्मदपराधः सोढव्य इति भावः ॥ १२ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

ननु, त्वमपि विराडभिमानी सर्वेश्वरत्वेन प्रसिद्ध एव किमिति क्षमापयसीत्यत आह–क्वाहमिति । हे भगवन् ! तमोमहदहंखचराग्निवाभूंमिः तमःशब्दवाच्या प्रकृतिः महानहङ्कारः खमाकाशं खचरो वायुः वार्जलं तैः संवेष्टितं यदण्डं तदेव घटस्तस्मिन् स्वमानेन सप्तवितस्तिः कायो यस्य इत्थंभूतोऽहं क्व ईदृग्विधाऽविगणितान्यसङ्ख्यातान्यण्डान्येव परमाणवस्तेषां चर्यार्थं परिभ्रमणार्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि रोमकूपा यस्य तस्य तव महित्वं क्वेत्यालोचय द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः तदुक्तम्—

> "आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तरः । दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत् ॥
> लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः" ॥ इति ॥ ११ ॥

किञ्च मम शिशुत्वात् शिशोरपराधो मात्रैव ममापराधस्त्वया क्षन्तव्य इत्याह–उत्क्षेपणमिति । हे अधोक्षज ! अध अक्षजं इन्द्रियजन्यं ज्ञानं यस्मात्स तत्संबुद्धौ अधोक्षज ! गर्भगतस्य गर्भस्य पादयोरुत्क्षेपणं चालनं किं मातुरागसे अपराधाय कल्पते योग्यो भवति न भवतीत्यर्थः । ननु, गर्भगतस्य पादयोरुत्क्षेपणं मातुरागसे मास्तु मम तु त्वं न गर्भगत इत्यत आह, किमस्ति नास्तीति । अस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं सदैकस्वरूपतया अनाशित्वादानन्दस्वरूपं चिद्वस्तु अस्तिशब्दवाच्यं प्रतिक्षणपरिणामित्वेनावस्थान्तरापत्त्या नाशित्वादचिद्वस्तु यत्तन्नास्तिशब्दवाच्यमिति तच्च परब्रह्मशरीरभूतं तदुक्तं भगवता पराशरेण—

"अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्॥
यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै। परिणामादिसम्भूतं तद्वस्तु नृप! तच्च किम्"॥ इति।

कियदपि किञ्चिदपि तत्र कुक्षेस्तवोदरात् अनन्तर्वहिस्तद्व्यतिरेकेण किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः। सर्वस्य चिदचिदात्मकस्य जगतस्त्वदुत्पन्नत्वादत्यल्पत्वात्त्वयि लीनत्वाच्चेति भावः। तथा च श्रुतिः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इत्यादि अतः सर्वस्य त्वदात्मकत्वादहमपि त्वदात्मक एवेति क्षमस्वेति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

क्वाऽहमिति द्वितीयपुरुषतया स्तौति॥ ११॥ उत्क्षेपणमिति तत्र स्वस्य विशेषतः पुत्रत्वमेव स्थापयति॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु, त्वं ब्रह्माण्डाधिकारी जगत्स्रष्टा अहं गोपबालकः कथं मयि नाथवानसि? मैवं कोऽहं क्षुद्रतमः तथाहि यदिदं ब्रह्माण्डं तत्र पेश्यामपक्षिपोत इवाहं सप्तवितस्तिमात्रम् एवं विधानन्तकोटिब्रह्माण्डानि परागुरूपेण यद्रोमकूपेषु तथाभूतस्त्व-मसीत्याह–क्वाहन्तमोमहदित्यादि। अहं क्व तव महित्वञ्च क्व अहं कीदृशः तमःशब्दो गुणत्रयपरः तेन प्रकृतिरेवोच्यते तम आदिभिः खादिभिश्च सम्वेष्टितो योऽण्डघटः ब्रह्माण्डभाण्डं तत्र सप्तवितस्तिमात्रः कायो यस्य स तथा ते कथम्भूतस्य? ईदृग्विधानि उक्तप्रकाराणि अविगणितानि असङ्ख्यानि यानि अण्डानि ब्रह्माण्डानि तान्येव पराणवः परमाणवः तेषां चर्य्या सञ्चरणं तस्य वाताध्ववत् गवाक्षवत् रोमविवरा यस्य एतेन परिच्छिन्नवद्दृश्यमानोऽपि परिमाणत्रयविलक्षणः परिच्छिन्नोऽपि व्यापकश्चेति तव महित्वं क्व अहं वा क्वेत्यसम्भावनाधिक्ये क्वद्वयं तस्मान्ममायमपराधः क्षम्यताम्॥ ११॥ ननु, कथमेतावानपराधः क्षन्तव्यः? सत्यं यद्यपि महानेवायमपराधस्तथापि त्वयि करुणामये नापराधाय कल्पत इति सदृष्टान्तमाह–उत्क्षेपणमित्यादि। त्वदुदरवर्त्तित्वात् त्वं सर्वस्यैव मातेत्याह–किमस्तीत्यादि। अस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितम् अस्तिनास्तीति यो व्यपदेशस्तस्य भूर्भूमिस्तत्र उषितं स्थितं यत् कियत् यत् किञ्चित्तत्तव कुक्षेरनन्तर्वहिरिति यावत् तत्र किमस्ति नैवेत्यर्थः। भावाभावरूपं यत् किंचित्तत्सर्वं त्वत्कुक्षावेवेति यावत् अतो मातृगर्भस्थशिशोः पादोत्क्षेपो मातरि यथा आगसे न कल्पते तथा ममापीति क्षन्तुमुचित एवाऽयमपराधः॥ १२॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

त्वं ब्रह्माण्डाधिकारी, अहं गोपबालकः कथं मयि नाथवानिति आह–क्वाहमित्यादि। अत्यन्तासम्भावनायां क्वद्वयम्। हे नाथ! सम्यगुक्तम्, किन्तु यद्यहमधुना कोटिकोटिब्रह्माण्डाधिकारिणो मदतिरिक्तान् प्रत्येकबालकपदोपसेविनो नो लोकयिष्यम्, तदायं संदेहोऽभविष्यदिति मद्वाक्यार्थः॥ ११॥ तर्ह्ययमपराधः क्षमापयितुमशक्य एव? नैवमित्याह–उत्क्षेपणमित्यादि। उत्क्षेपणं कुक्षिगतत्वात्, सर्वस्य त्वं माता, तर्हि कथमयमपराधो न क्षन्तव्यः?॥ १२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, विश्वस्रष्टाऽतिप्रसिद्ध एव न त्वमीशमानी मम तु किमैश्वर्यं तद्ब्रूहीत्यत आह, क्वेति। तमः प्रकृतिश्च महांश्च अहम-हङ्कारश्च खमाकाशं च चरो वायुश्च अग्निश्च वार्जलं च भूश्चत्येभिस्तत्त्वैः संवेष्टितो योऽण्डघटस्तस्मिन् पातालादिसत्यलोकान्तैः स्वमानेन सप्तवितस्तिनिकृष्टलक्षणः कायो यस्य सोऽहं क्व, ईदृग्विधानि यान्यविगणितान्यण्डानि तान्येव परमाणवस्तेषां चर्य्या निष्क्रमप्रवेशरूपं परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य तव महित्वमैश्वर्य्यं क्वेति महत्स्रष्टा प्रथम-पुरुषेण कृष्णस्यैक्यविवक्षयोक्तं तेन ममैश्वर्य्यं विक्रमो वा त्वां प्रति शलभस्य गरुडं प्रतीव न गणनार्हमिति भावः॥ ११॥ किं च ममापराधोऽवश्यं सोढव्यो यतस्त्वं मातेति द्वितीयपुरुषेण पद्मनाभेन सहैक्यं भावयन्नाह–उत्क्षेपणमिति। गर्भगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं मातुः किमपराधाय भवति नैव अस्तीति नास्तीति वा व्यपदेशेन भूषितं परमतं विखण्ड्य स्वमतस्थापनं समुचितो-पपत्तिभिः सत्यत्वेन मिथ्यात्वेन वा सुस्थिरीकृतं वस्तु जगद्रूपं कियदपि एकत्वभुवनात्मकमपि किं तव कुक्षेरनन्तर्बहिरस्ति अपि त्वन्तरेव अतो ममापि त्वत्कुक्षिगतत्वात् पुत्रस्य मात्रा त्वया अपराधः सोढव्य एव "पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः" इति त्वदुक्तेरित्यर्थः॥ १२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ननु, प्रकृत्याद्यावरणसंयुक्तविराड्विग्रहस्त्वमपीश्वर एवातो न मयाऽनुकम्प्य इत्यत्राह–क्वाहमिति। तमः प्रकृतिः खमाकाशश्चरो वायुः तम आदिभिरष्टभिरावरणैः सम्वेष्टितो योऽण्डघटस्तस्मिन्स्वमानेन सप्तवितस्तिकायो यस्य सोऽहं क्व? ईदृग्विधानि यान्यविगणितान्यण्डानि ते एव पराणवः परमाणवस्तेषां चर्याः परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविव-राणि यस्य तस्य ते महित्वं च क्व? अतस्त्वयाऽनुकम्प्य एवाहम्॥११॥ किञ्च, कार्यकारणवस्त्वाधारस्य ते गर्भस्थेन मयाऽपराधः

कृतः स त्वया मातृवत्सोढव्य इत्याह—उत्क्षेपणमिति । हे अधोक्षज ! गर्भंगतस्य शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं मातुः किमागसेऽपराधाय कल्पते योग्यं भवति न भवतीत्यर्थः । तव कुक्षेरनन्तर्बहिः कियदपि किञ्चिदपि वस्तु अस्ति–नास्ति–व्यपदेशाभ्यां शब्दाभ्यां भूषितमभिहितं किमस्ति ? न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । "यच्चेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्" इति श्रुतेः तस्मात्त्वद्गर्भंगतस्य ममापराधो मातृवत्सोढव्यः ।। १२ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु जगदण्डविग्रहः सर्वकर्त्ता त्वमपीश्वरोऽसीति चेत्तत्राह क्वाहमिति । तमः प्रकृतिर्महानहमहङ्कारः खं नभः चरो वायुः अग्निस्तेजः वार्जलं भूश्चेत्येतैस्तत्त्वैः सम्वेष्टितो यो अण्डघटस्तस्मिन् पातालादिसत्यान्ते स्वमानेन सप्तवितस्तिर्निकृष्टः कायो यस्य सोऽहं क्व, क्व च ते महित्वं, कीदृशस्येत्याह ईदृग्विधानि यान्यविगणितान्यण्डानि ते एव पराणवस्तेषां चर्या प्रवेशनिर्गमरूपः परिभ्रमस्तदर्था वाताध्वानो गवाक्षा रोम्णां विवराणि यस्येति कारणोदशयेनैक्यविवक्षयैतत् तथा च गरुडे शलभस्येव त्वयि मे वैभवमिति ।। ११ ।। किञ्चावश्यं सोढव्यस्त्वया ममापराध इत्याह–उदिति, गर्भंगतस्य बालस्य पादयोरुत्क्षेपणं किं मातुरागसेऽपराधाय कल्पते नैव कथं मे गर्भंगः तत्राह अस्तीति व्यपदेशश्चेतनवाचिशब्दः, नास्तीतिव्यपदेशस्तु जडवाची तयोर्भुवि विषये उषितं स्थितं चिज्जडात्मकं जगत् तव कुक्षेरनन्तर्बहिः कियदपि किञ्चिदपि किमस्ति नास्त्येवेत्यर्थः । अस्ति-नास्ति-शब्दयोरेवमर्थता "ज्योतींषि विष्णु"रित्यादौ श्री वैष्णवे प्रसिद्धा अतो जगदन्तःपातिनो ममापि त्वत्कुक्षिगतत्वान्मात्रा त्वया अपराधः सोढव्य एव "पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह" इति त्वदुक्तेरेव एतच्च गर्भोदशयेनैक्यविवक्षया ।। १२ ।।

श्रीसुबोधिनी

एवमाधिभौतिकब्रह्माणमात्मानं तिरस्कृत्याधिदैविकमपि तिरस्करोति क्वाहमिति, तमः प्रकृतिर्महन् महत्तत्त्वमहमहङ्कारः खमाकाशश्चरो वायुरग्निर्वार्जलं भूमिश्चेत्यष्टावरणानि तैः सम्यग् वेष्टितो योयमण्डरूपो घटस्तस्मिन् घटे सप्तवितस्तिपरिमितः कायो देहो यस्य, वितस्तिमात्रं शिरः परित्यज्य कायः सप्तवितस्तिर्भवति, ईदृग्विधानामविगणितानामण्डपरमाणूनां गतिर्यत्र तादृशो वाताध्वो गवाक्षः, गवाक्षे हि सूर्यकिरणेषु त्रसरेणूनां गतिर्दृश्यत इति गवाक्षवद् रोमविवराणि यस्य, यादृशस्य ते महत्त्वं क्वाहं च क्वेति सर्वथा परीक्षायामयोग्यता ।।११।। आध्यात्मिकस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपमाश्रित्यापराधक्षमापनामाहोत्क्षेपणमिति गर्भंगतस्य पादयोरुत्क्षेपणं मातुरागसे किं भवति ? अपराधाय न कल्पते, ननु विषयो दृष्टान्त इति चेदस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां भूषितमलङ्कृतं जगत् तव कुक्षेरनन्तर्बहिः किम् ? सर्वं हि तव कुक्षौ, अतो ममापि सर्वमध्ये पातान्नापराध इत्यर्थः, अनेनापि प्रकारेणापराधक्षमापनं, अयं साधारणः पक्ष इति ।। १२ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'ब्रह्माण्डविग्रहस्त्वमपीश्वर एव' इति चेत्तत्राह—क्वाहमिति । तमः प्रकृतिः, महान् महत्तत्त्वम्, अहमहङ्कारः, खमाकाशम्, चरो वायुः, अग्निः, वार्जलम्, भूश्च, एतैः प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तैः संवेष्टितो योऽण्डघटः ब्रह्माण्डरूपो घटः 'नश्वरत्वज्ञापनाय घटपदप्रयोगः' स एव तस्मिन् वा स्वमानेन सप्तवितस्तिकायो यस्य सोऽहं क्व ? ईदृग्विधानि एवंप्रकारकाणि यानि अविगणिताण्डानि तान्येव परमाणवः, तेषां चर्या परिभ्रमणम्, तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य ते तव महित्वं च क्व ?' अतोऽतितुच्छत्वात् त्वयाऽनुकम्प्योऽहमिति भावः ।। ११ ।। अपि च हे अधोक्षज ! गर्भंगतस्यापि शिशोः पादयोरुत्क्षेपणं किं मातुरागसे कल्पते अपराधाय भवति ? न भवत्येवेत्यर्थः । सत्यमपराधाय न भवति । 'ततः किम्' अत आह—अस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां भूषितमभिहितं वस्तु तव कुक्षेरनन्तः बहिः कियदपि किमस्ति ? न किञ्चिन्मात्रमपि बहिरस्ति, किन्तु सर्वं तदन्तरेवास्तीत्यर्थः । अतः सर्वस्य त्वत्कुक्षिगतत्वेन ममापि तथात्वात् मातृवन्ममापराधः सोढव्य एवेति भावः । 'एवं भूतस्य तव ज्ञानं संसारिणां नास्ति, अतोन्द्रियत्वात्' इति सम्बोधनेन सूचितम् ।। १२ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

क्वाहमिति ।। तमःप्रकृतिः महान् महत्तत्त्वम् अहमहंकारः खमाकाशं चरो वायुः अग्निः वार्जलं भूश्च एतैः प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तैः संवेष्टितो योऽण्डघटः ब्रह्माण्डरूपो घटः नश्वरत्वज्ञापनाय घटपदप्रयोगः । स एव तस्मिन्वा स्वमानेन सप्तवितस्तिमात्रः कनिष्ठपरिमाणः कायो यस्य सोऽहं क्व ईदृग्विधानि एवंप्रकारकाणि यानि अगणितान्यण्डानि तान्येव परमाणवस्तेषां चर्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षा इव रोमविवराणि यस्य तस्य ते तव महित्वं च क्व । अतोऽतितुच्छत्वात्त्वयानुकम्प्योऽहमिति भावः ।।११।। उत्क्षेपणमिति । हे अधोक्षज ! गर्भंगतस्य शिशोः पादयोः उत्क्षेपणं किं मातुरागसे कल्पते अपराधाय भवति न भवत्येवेत्यर्थः । अस्तिनास्तीत्यपदेशाभ्यां भावाभावशब्दाभ्यां स्थूलसूक्ष्मकार्यशब्दैः कारणैर्वा भूषितम् एतेषां शब्दानां भुवि विषये उषितम् अभिहितं सर्वं

वस्तु तव कुक्षेरन्तः बहिः कियदपि किंचिन्मात्रमपि किमस्ति न किंचिन्मात्रमपि बहिरस्ति किंतु सर्वं तदन्तरेवास्तीत्यर्थः। अतः अहमपि कुक्षिगत एव तेन पुत्रस्य मात्रेव त्वया ममापराधः सोढव्यः॥ १२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

किंच गर्भगतस्यापत्यस्य पादयोरुत्क्षेपणं ताडनं मातुः आगसे अपराधाय कल्पते किं न कल्पते न भवतीत्यर्थः। ननु स्त्रीगर्भन्यायेन मत्कुक्षौ त्वं कदा स्थितोऽसीति चेत्तत्राह॥ अस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां सदसच्छब्दाभ्यां भूषितं साध्वसाधु कार्यकारणस्थूलसूक्ष्मशब्दैरलंकृतमित्यर्थः। यद्वा एतैः शब्दैर्भुवि भूमौ उषितं स्थितं यत्तत्समग्रं वस्तु तव कुक्षेरनंतो बहिः कियदपि किंचिन्मात्रमपि किमस्ति न किंचिदस्तीत्यर्थः। अतस्तथाभूतस्य ममाप्यपराधो न गण्य इति भावः॥ ११॥ अन्ये तु परंपरयोत्पन्ना अहं तु त्वत्त एवोत्पन्न इत्याह जगदिति। जगत्त्रयस्य दशलोकात्मकत्रिभुवनस्य अन्ते प्रलये य उदधीनां समुद्राणां संप्लवो मिश्रत्वं तस्मिन्नुदे महाजले नारायणस्योदरनाभिनालात् उदरस्थनाभौ नालं पद्मं तस्मात् नलिने तु नलं मतमिति विश्वः स्वार्थेऽण् अजो विधिर्विनिर्गत उत्पन्न इति वाक् मृषा नैवास्ति हे ईश्वर त्वत्तोऽहं किं न विनिगर्तोस्मि विनिर्गत एव॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वेतदण्डाधिपतिस्त्वमपीश्वर एव ततो न मयाऽनुकम्प्यस्तत्राह॥ क्वेति॥ तमः प्रकृतिश्च महन्महत्तत्त्वं च अहमहंकारश्च खमाकाशं च चरो वायुश्च अग्निस्तेजश्च वार्जलं च भूर्भूमिश्च ताभिः संवेष्टितो योऽण्डघटोऽण्डात्मको घटस्तस्मिन् सप्तवितस्तिः स्वमानेन सप्तवितस्तिपरिमितः कायो देहो यस्य तथाभूतः, अहं ब्रह्मा, क्व, ईदृग्विधानि यान्यविगणिताण्डानि तान्येव पराणवः परमाणवस्तेषां चर्या परिभ्रमणं तदर्थं वाताध्वानो गवाक्षास्त इव रोमविवराणि यस्य तस्य, ते तव, महित्वं महिमातिशयत्वं च क्व, तव महिमानं विचारयतो मम तवाग्रेऽतितुच्छत्वमित्यर्थः। अतितुच्छत्वात्त्वयाहमनुकम्प्य इति भावः॥ ११॥ लोके मातृपितॄणां स्वपुत्रेष्वनुकम्प्यत्वदर्शनात् स्वपुत्रकृतापराधानां सहिष्णुत्वदर्शनाच्च त्वत्पुत्रोऽहं त्वयानुकम्प्यो मत्कृतोऽपराधश्च त्वया क्षन्तव्य इत्याह॥ उत्क्षेपणमिति॥ हे अधोक्षज, गर्भगतस्य शिशोः, पादयोः, उत्क्षेपणमाघातः, किं मातुः स्वजनन्याः, आगसेऽपराधाय कल्पते भवति। न भवत्येवेत्यर्थः। ननु विषमोऽयं दृष्टान्तस्तव मम गर्भस्थत्वाभावादित्यत्राह। तव कुक्षेः, अनन्तः बहिः, अस्तीति नास्तीति यो व्यपदेशो व्यवहारस्तेन भूषितमभिहितं, यद्वा अस्ति नास्तीत्येवंभूतानां शब्दानां भुवि विषये उषितं स्थितं, कियदपि किंचिन्मात्रमपि, अस्ति किम्। नास्त्येवेत्यर्थः। चिदचिदात्मकस्य जगतस्त्वत्कुक्षिस्थत्वं प्रसिद्धमेवास्ति। एवं सति त्वत्पुत्रोऽहं त्वयाऽनुकम्प्योऽपराधश्च क्षन्तव्य इति भावः। चिद्वस्तुनः सततमेकरूपत्वात्सदास्तित्वमेव। अचिद्वस्तुनस्तु सततमस्तित्वेऽपि सततपरिणामित्वात्पूर्वपूर्वावस्थां विहायोत्तरोत्तरावस्थापत्तौ सत्यां पूर्वपूर्वावस्थाया निवृत्तीक्ष्या नास्तित्वेन व्यपदेशः। एवमुभयोरस्तित्वनास्तित्वभूषितत्वं बोध्यम्॥ १२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं भक्तिरसायनम्

क्वाहमिति : १०.१४.११.

> अनार्यकार्यं कथमाचरस्त्विदं सदार्यवर्योऽपि मयीति मा वद।
> तथा　भवत्वैकपिशाचयोगतोऽप्यनेकभूताकलितस्त्वहं　प्रभो॥ २४॥
> अनन्तकोटिब्रह्माण्डभाण्डीभूतोदरस्य ते। आगोऽणुमात्रमेतन्मे भारकृन्न तवाच्युत॥ २५॥

उत्क्षेपणमिति : १०.१४.१२.

> वितस्तिमितिकोदरस्थनिजबालपादाहतिर्न मातुरिहमन्तवे भवति नापि दुःखाय च।
> अलं सदय चिन्तया मदपराधराशेर्यतो विभुस्त्वमसि विश्रुतो भुवि च सत्यमाता मम॥ २६॥

कृष्णप्रिया

हे अनन्त ! प्रकृति-महत्तत्व-अहङ्कार-आकाश-वायु-अग्नि-जल और पृथ्वीरूप अष्ट वस्तुओं से घिरा-बना हुआ ब्रह्माण्ड नाम का घटरूप सात वितस्ति-साढ़े तीन हस्त की देह वाला मैं तुच्छ जीव कहाँ। आपके श्री अङ्ग के एक ही रोम कूप में रहे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को धारण करने वाले आप की महिमा यदि अगेय-अज्ञेय ही है। तो फिर आप के अनन्त रोम छिद्रों में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते दीख पड़ते हैं कि जैसे किसी गवाक्ष की जाली के छिद्र में से प्रविष्ट होती सूर्य की किरणों में धूली के छोटे कोटि कोटि परमाणु उड़ते हुए दिखायी पड़ते हैं। अब कहिये भगवन् कहाँ आप की महिमा ? और कहाँ मैं क्षुद्र जीव ॥११॥ अये अधोक्षज ! आप तो स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं आप को कहाँ मनुष्य की तरह इन्द्रियों से ज्ञान पाना है। इसलिये तो आप अधोक्षज हैं। तो हे अधोक्षज अब कहिये ! कि अपने गर्भ में स्थित बालक को, जैसे के पैरों का उछलना होता है क्या माता

उसे प्रहार मान कर अपराध मानती है ? और उस पर क्या रोष करती है ? नाथ ना, ना, कभी नहीं, तो वैसे आप भी मुझ पर दया करें। क्योंकि मैं भी कुक्षिगत बालक के समान ही हूँ और आप मेरी अम्माँ ही हैं। नाथ अस्ति और नास्ति-भाव-अभाव शब्दों से कही जाने वाली कोई भी ऐसी वस्तु है क्या ? जो आप की कुक्षिगत-कोख में न हो ?।। १२।।

जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।
विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ् न वै मृषा किं त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि ॥ १३ ॥
नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशाखिललोकसाक्षी ।
नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात्तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ १४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्य उदरनाभिनालात् अजः विनिर्गतः इति वाक् तु मृषा न वै तु ईश्वर त्वत् न विनिर्गतः अस्मि किम् ?।। १३ ॥ त्वं नारायणः न हि सर्वदेहिनाम् आत्मा असि अधीश अखिललोकसाक्षी नरभूजलायनात् नारायणः अङ्गं तत् च अपि न सत्यं तव माया एव ।। १४ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च विशेषतोऽपि त्वत्तो मम जन्म प्रसिद्धमित्याह । जगत्त्रयेत्यादि । जगत्त्रयस्यांते प्रलये य उदधीनां संप्लवः संश्लेषस्तस्मिन्नुदे उदके नारायणस्योदरे नाभिस्तस्य नालादजो विनिर्गत इति या वाक्सा तावन्मृषा न भवति । वै निश्चितम् । तथापि तु हे ईश्वर त्वत्त्वतोऽहं किं न विनिर्गतो नोत्पन्नोऽस्मि । अपि तु त्वत्त एवोत्पन्न इत्यर्थः ।। १३ ।। तर्हि नारायणस्य पुत्रः स्यास्त्वं मम किमायातं तत्राह । नारायणस्त्वमिति न हीति काक्वा त्वमेव नारायण इत्यापादयति । कुतोऽहं नारायण इति चेदत आह । सर्वदेहिनामात्माऽसीति । एवमपि किं नारायणो न भवसि नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य स तथेति । त्वमेव सर्वदेहिनामात्मत्वान्नारायण इति भावः । हे अधीश त्वं नारायणो न हीति पुनः काकुः । अधीशः प्रवर्तकः । ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात्स तथेति पुनस्त्वमेवासाविति । किं च त्वमखिललोकसाक्षी अखिलं लोकं साक्षात्पश्यसि अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायण इत्यर्थः । नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेवं तत्त्वन्यथा प्रसिद्धमित्याशंक्याह । नारायणोंगमिति । नरादुद्भूता येऽर्थास्तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद्यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽपि तवैवांगं मूर्तिः । तथा च स्मर्यते । "नराज्जातानि तत्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः।। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।।" इति । तथा "आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ॥ अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।।" इति च ननु मन्मूर्तेरपरिच्छिन्नायाः कथं जलाश्रयत्वमत आह ! तच्चापि सत्यं नेति ॥ १४ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सर्वजनप्रख्यातप्रवृत्तमाह—किञ्चेति । विशेषतः सर्वापेक्षया । त्वत्तो भवतः । नालात् पद्मदण्डात् 'नालं नालीपद्मदण्डे' इति सात्वतः । तावदिदानीम् । इत्यर्थ इति—तव नाभ्युद्भूतकञ्जाज्जातोऽपि त्वत्त एव जात इति भावः ।।१३।। तर्हि भगवन्नाभिकमलोद्भूतत्वे । स्याः त्वं भवेः । मम नन्दनन्दनस्य किमागतम् । तत्र तदा । इति भाव इति—सर्वात्मन एव नारायणपदार्थत्वमिति तात्पर्यम् । पुनरर्थान्तरेणापि तत्समर्थयति—अधीश इति । त्वमेव नन्दात्मजरूप एवासौ नारायण इति । पुनस्तथैवाह—किञ्चेति । इत्यर्थ इति - सर्वज्ञत्वात्त्वमेव स इति भावः। यशोदासूनुराशङ्कते—नन्विति । व्युत्पत्तौ उत्पादने । एवमुक्तप्रकारेणाप्यर्थो भवेदेव । तत् नारायणत्वं भगवतः । अन्यथा उक्तार्थव्यतिरेकेण प्रसिद्धं न त्वनेन पूर्वोक्तव्युत्पादनेन । आशङ्क्य स्वयमेव शङ्कित्वा पुनराह । एतदर्थस्वीकारे भगवानाशङ्कते—नन्विति। अपरिच्छिन्नाया देशकालवस्तुपरिच्छेदत्रयशून्यायाः तच्चापि जलाश्रयं वपुरपि ।। १४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विशेषतश्च कृपया पितृनामपि प्राप्तेन त्वया क्षन्तव्यमेवेति द्वितीयपुरुषभेदान्तराऽनिरुद्धविशेषविराडन्तर्यामिपुरुषत्वेनापि स्तौति—जगदिति । जगत्त्रयस्य सावरणब्रह्माण्डस्याऽन्ते प्राकृतप्रलये तदवसान इत्यर्थः । तत्र ब्राह्मकल्पादौ यदुदधिसम्प्लवस्योदमवशिष्टमुदकं तत्रेत्यर्थः । इति तेषामभिप्रायः। यद्वा, जगत्त्रयस्य योऽन्तः सर्वाऽधोभागः तत्र तदुदधिसम्प्लवोदकं गर्भोदकाख्य एकार्णवस्तत्रेत्येवार्थः । व्याख्यान्तरं ब्रह्मणो जन्मकालं ब्राह्मकल्पादिकं न बोधयतीति उदरशब्दस्तदानीं तद्गतं सर्वं सूचयति, नालं कमलदण्डः तेन कमलं लक्ष्यते । यद्वा, "नलिने तु नलं मतम्" इति विश्वकोषान्नलं कमलं स्वार्थे तद्धितः तस्मात् तु शब्देनान्यतो विशेषं बोधयति । विनाऽपि मातृव्यवधानमुत्पन्नत्वात् अत एव विशब्दश्च अत एव निर्गत इति चिरमुदरान्तःस्थितिः

सूचिता। हे ईश्वरेति पुनर्भगवति पितृ [मातृ] दृष्टिमयोग्यां मत्वा ॥ १३ ॥ अङ्गं तवैव रूपमेकम् अतो मुख्यस्य नारायणस्य तवाङ्गत्वादेव तस्य च नारायणत्वं नाराश्रयत्वे न तु गौणमित्याह—तच्चेति। अतोऽचिन्त्यशक्त्यैव तद्विग्रहस्य परिच्छिन्ना-परिच्छिन्नत्वं न तु नाराश्रयत्वेन नारपरिच्छिन्नत्वमिति भावः। अन्यत्तैः तत्र तच्चेति जलाद्याश्रयत्वमित्यर्थः। यद्वा, पुनस्तत्प्रस्ताव-व्याजेन तादृशे श्रीकृष्ण एवावान्तरप्रकरणमिदं पर्यवसाययति—अधीश ईशो महत्स्रष्टा प्रथमः पुरुषः। हे स्वयं भगवत्त्वात्तस्याप्यु-परिविराजमान! यथोक्तं द्वितीये "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इति तैर्व्याख्यातं च परस्य भूम्नः पुरुषः प्रकृतिप्रवर्तकः यस्य सहस्रशीर्षेत्याद्युक्तो लीलाविग्रहः स आद्योऽवतार इति। अतो नराणां तृतीयपुरुषभेदानां तत्तद्भूतस्थानां तथा तत्तदण्डसंस्थितानां द्वितीयपुरुषभेदानां च समूहो नारं तच्च तत्समष्टिरूपो महत्स्रष्टैव ततस्तस्याप्ययनं प्रवृत्तिर्यस्मात् इति त्वमेव मुख्यो नारायण इत्यर्थः। अतः सर्वदेहिनामात्मा सर्वभूतस्थतृतीयपुरुषः तथाऽखिललोकसाक्षी अण्डस्थद्वितीयपुरुषः तथा नरभूजलायनात् "नरा-ज्जातानि तत्त्वानि" इत्यनुसारेण ये नरभुवो महदादयस्तत्साहित्यपाठाज्जलं च नरप्रभवमेव ततो "आपो नाराः" इत्याद्यनुसारेण तद्रूपश्च यः कारणजलार्णवस्तदाश्रयत्वात् प्रथमपुरुषश्च यो नारायणः स त्वं हि निश्चितं नासि किंतु तत्तद्रूपो नारायणस्तवाङ्गं त्वं पुनरङ्गीत्यर्थः। यथोक्तम्—

> "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्॥
> तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते"॥ इति।

अतस्त्वदङ्गोत्पन्नत्वादपि तवैव पुत्रो भवेयमिति भावः। एवमेव द्वितीये "भूमेः सुरेतर" इत्यादौ "कलयासित-कृष्णकेशो जात" इत्यत्र श्रीब्रह्मवाक्ये यः सितकृष्णकेशः यत्र तत्तद्वर्णसूचकौ सितकृष्णौ केशौ देवैर्दृष्टौ सोऽपि यस्यांशेन स स्वय-मेव जातः सन्नित्यर्थः। सितकृष्णकेशत्वं च मोक्षधर्मीयनारायणोपाख्यानदर्शितनानारश्मिच्छविमयत्वात् तथा च सहस्रनामभाष्य-धृतं भारतीयं भगवद्वचनम्—

> "अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः। सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्मुनिसत्तम!"॥

इति एवमेव प्रथमे—

> "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः। सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया॥
> यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः। नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजाम्पतिः॥
> यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः। तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्"॥

"पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्" इत्युक्त्वा "स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः" इत्यादिना द्वाविंशत्यवतारांश्च प्रोच्य कृष्णस्यापि तदन्तःपातित्वेन साधारण्ये प्राप्ते विशेषमाह—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति एषामर्थः भगवान् परमपुरुषोत्तमः लोकानां ब्रह्माण्डानां सिसृक्षया हेतुना पौरुषं रूपं जगृहे प्रादुश्चकार कथम्भूतं? महदादिभिः सम्भूतं मिलितं अन्तर्भूतमहदादितत्त्वं प्रलयादौ "सोन्तः शरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः" इति तृतीयस्कन्धात् षोडशकलं "श्रीभूःकीर्तिरिलालीलाकान्तिर्विद्येति सप्तकं विमलाद्या नवेत्येता मुख्याः षोडशशक्तयः" इति भक्तिविवेकोक्तेस्ताः षोडशकला यस्य तत् इदमाद्यं पुरुषरूपमुक्त्वा द्वितीयमाह—यस्याम्भसीति। ब्रह्माण्डसृष्ट्या तदनुप्रवेशेन अम्भसि प्रलयकालीन-गर्भोदके शयानस्य यस्य कीदृशान्नाभिह्रदाम्बुजादित्यत आह यस्यावयवेति। यस्य नाभिह्रदाम्बुजस्य किं स्वरूपं पौरुषं रूपं तद्वै प्रसिद्धौ विशुद्धसत्त्वाख्यस्वरूपशक्तिविशेषाभिव्यक्तत्वात् तत्प्रचुरं स्वरूपमित्यर्थः। "नातः परं परम! यद्भवतः स्वरूपम्" इति तृतीयोक्तेः तच्चोर्जितं बलवत् परमानन्दरूपत्वात् "को ह्येवान्यात्" इत्यादिश्रुतेः तस्याकारमाह—पश्यन्त्यद इति। तस्यावतारा-नाह स एव गर्भोदशायिपुरुष एवेति अथात्रैव तस्य पुरुषस्याप्यवतारिणं श्रीभगवन्तं परिचाययति—एत इति। पुंसः पुरुषस्य एते कौमारसर्गाद्याः अंशकलाः तद्विवेकस्तत्र तैरेव कृतः कृष्णस्तु भगवान् तु शब्दो भिन्नोपक्रमे यः पौरुषं रूपं जगृहे श्रीकृष्ण एव स इत्यर्थः। तत्रापि स्वयमात्मनैव न तु तत्प्रतिरूपत्वेन दीपाद्दीपवत् एवं च स्वयं श्रीस्वामिपादैरपि "अथाहमंशभागेन" इत्यत्र व्याख्यातम्। अंशेन पुरुषरूपेण भागो मायाया भजनमीक्षणं येन तेन सर्वथा परिपूर्णरूपेणेति विवक्षितम् इति तथा च वक्ष्यते श्रीवसुदेवेन "यस्यांशांशांशभागेन विश्वस्थित्यप्ययोद्भवाः" इति तैरेव व्याख्यास्यते च यस्यांशः पुरुषस्तस्यांशो मायेत्यादि यथा ब्रह्मसंहितायां श्रीकृष्णस्तवे—

> "यस्यैकनिःश्वसितकालमथावलम्ब्य। जीवन्ति रोमबिलजा जगदण्डनाथाः॥
> विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि"॥ इति।

तस्मात् साधूक्तं नारायणोऽङ्गमिति दृष्टं च तथैव, तावत्सर्वे वत्सपाला इत्यादौ वक्ष्यते च "अद्यैव त्वदृतेऽस्य" इत्यादौ अथ प्रकृतमनुसरामः। ननु, मायिकजलान्तःपातेन तदपि ममाङ्गं किमु जगदिव मायिकं न हि न हीत्याह। तच्च तवाङ्गं सत्यमेव न तु माया मायिकमित्यर्थः। अपीति सम्भावितमेवेदमित्यर्थः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

विशेषतश्च साक्षात् पित्रा त्वया पुत्रस्य ममापराधः क्षन्तव्य एवेत्याह – जगदिति । नालं (नाला) कमलदण्डस्तेन कमलं लक्ष्यते, यद्वा, 'नलिने तु नलं मतम्' इति विश्वोक्तेर्नलं कमलम्,—स्वार्थे तद्धितस्तस्मात्; यद्वा, तदीयमध्यभागादित्यर्थः ॥ तु-शब्देनान्यतो विशेषं बोधयति,—साक्षात्तस्मादेवोत्पन्नत्वात्, अतएव वि-शब्दश्च, तत्रापि निर्गत इति चिरमुदरान्तःस्थितिः सूचिता । हे ईश्वरेति भगवति पितृदृष्टिमयोग्यां मन्वानो भक्त्या प्रभुत्वेन सम्बोधयति । यद्वा, हे ईश्वर ! नारायणाद्विनिर्गमेऽपि त्वत्त एव विनिर्गतोऽहमीश्वरत्वान्नारायणेन महाभेदादित्यर्थः ॥ १३ ॥ अंगं तवैव रूपमेकम् । ननु, नरभूजलायनादुपाधेर्नारायण इति चेत्तर्ह्युपाधेरसत्यतया नारायणत्वस्याप्यसत्यता प्रसज्येत ? तत्राह—तदपि जलं सत्यमेव, न च तव मायया; यथाङ्गं सत्यम्, तथा तदपीत्यपिशब्दार्थः । त्वल्लीलायाः सत्यतयायतस्य तथा तदुपकरणत्वेन, अतएव श्रीभगवदवतारान्नराज्जातत्वेन च जलस्यापि सत्यता सिद्धेः, अतो मायिकत्वाभावेन तस्यापरिच्छिन्नत्वान्नारायणस्याप्यपरिच्छिन्नत्वं स्वत एवाव्याहतम् । अथवा, नारायणादप्यधिकतमं श्रीकृष्णस्य महिमानमनुभूय तस्य नारायणत्वोक्त्या भीतः ससम्भ्रममाह – नारायणस्त्वं नेति । अधीश ! ब्रह्माण्डमण्डलाधीश्वर ! त्वं नारायणो न भवसि, हि यतो नर-भू-जलायनाद्यो नारायणः, स च तवांगमंशः, (भा० ११।४।३) ''भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः, पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् । स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान,—मवाप नारायण आदिदेवः ॥' इत्युक्तत्वात् नारायणोऽत्रावतारी श्रीपुरुषोत्तमः पुरुषाभिधानमवाप, जलशायी नारायणो बभूवेत्यस्यार्थः । (भा० १०।१४।३२) 'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् कृष्णस्तु पूर्णः पुरुषोत्तम एव । अतएव त्वमखिललोकसाक्षी – अखिला लोका भुवनानि येषु तान्यखिल-लोकानि ब्रह्माण्डानि तेषां साक्षी, (भा० १०।१४।११) 'क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्या' इत्याद्युक्तत्वात्, तदैव वृन्दावनान्तर्ब्रह्माण्डकोटीनां स्वयमेव दृष्टत्वाच्च । नारायणस्त्वेकस्यैवास्य ब्रह्माण्डस्य इत्यतः सर्व्वदेहिनां— सर्व्वे देहिनो व्यष्टिजीवा येषु ते सर्व्वदेहिनो वैराजास्तेषामनन्तकोटिब्रह्माण्ड वर्त्ति-समष्टीनामात्माऽसि । शेषं पूर्व्ववत् । ननु (भा० १०।१।१९-२०)—

'ब्रह्मा तदुपधार्य्याथ सह देवैस्तया सह । जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् । पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥'

इति विराडन्तर्य्यामिणः क्षीराब्धिशायिनो नारायणाख्यस्य पुरुषस्यैवोपस्थानात्तस्यैव कृष्णरूपेणावतरणात् कृष्ण एव नारायणाख्यः पुरुष इत्यवसीयते; तत् कथं त्वं नारायणो नेत्युच्यते ? सत्यम्, वाढमत्रावधीयताम् (भा० १।३।१-३)—

'जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः । सम्भूतं षोड़शकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः । नाभिह्रदाम्बुजादासीद्ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः ॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः । तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम् ॥' इति ।

एषामर्थः—भगवान् श्रीपुरुषोत्तम आदौ सर्गादौ स्ववीक्षया सृष्टैर्महदादिभिर्लोकसिसृक्षया पौरुषं रूपं जगृहे प्रादुश्चकार । कथम्भूतम् ? सम्भूतं षोडशकलम्—

'अणिमा महिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं लघिमेशिता । तथा कामावशायित्वं वशितेत्यष्टसिद्धयः ॥'

इत्यष्ट; (विष्णु० पु० ६।५।७४)—

'ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य वीर्य्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतींगना ॥'

इति षट्;

'लीला-कृपाभिधौ विष्णोः स्व-परार्थौ गुणावुभौ । लीला स्वस्यैव सौख्याय परेषां तु कृपा स्मृता ॥'

इति द्वौ । एताः षोडशकला गुणा यत्र, तत् इदमाद्यन्तु महतः पुरुषरूपमुक्तम्; द्वितीयं त्वण्डसंस्थितं पुरुषरूपमाह— यस्येति; ब्रह्माण्डसृष्ट्या तदनुप्रवेशेनाम्भसि शयानस्य यस्य नाभिह्रदाम्बुजाद्ब्रह्मासीत् । कीदृशात् ? नाभिह्रदाम्बुजस्यावयवैः कर्णिका-पत्रादिभिर्लोकविस्तरः कल्पितस्तस्मात् । कथम्भूतं नारायणरूपम् ? तदाह—तद्वा इति । न ह्यम्भःशायिनः सकाशात् क्षीराब्धिशायी सोऽन्योऽवतारो मन्तव्यः । यत्तस्यैव लोकपद्मप्रविष्टत्वात् 'तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः, प्रावीविशत् सर्व्वगुणावभासम्' इति तृतीयस्कन्धे (भा० ३।८।१५) हि कथितं पुरुषस्यास्य (भा० १।३।६) 'स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितः' इत्याद्याः कल्क्यन्ता द्वाविंशत्यवताराः प्रोक्ताः । ततः कृष्णस्यापि तदन्तःपातित्वेन पुरुषावतारत्वे प्राप्ते विशेषमाह (भा. १।३।२८) 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति पुंसः पुरुषस्यैते कुमाराद्या अंशकलास्तद्विवेकस्तैरेव कृतः । कृष्णस्तु भगवानिति 'तु-शब्दो भिन्नोपक्रमे,—यो भगवान् पौरुषं रूपं जगृहे, स एव कृष्णः, तत्रापि स्वयं स्वातंत्र्येण, न तु 'दीपादुत्पन्न-दीपवत्' इति न्यायेन, न तस्यान्यतः प्रादुर्भूतत्वम्, किन्तु मुख्यदीपस्थानीयत्वमेव कृष्णस्य; तथा च ब्रह्मसंहितायाम् (५।५९)—यस्यैकनिः

श्वसितकालमथावलम्ब्य, जीवन्ति रोमविलजा जगद्गुणार्थाः। विष्णुर्महान् स इह यस्य तनूविशेषो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ।।' इत्यस्यावतारिवरस्याप्यवतारमध्ये गणनं नान्यलीलाद्यवतारमाधुरीविशेषापेक्षया । ननु, भवतु कृष्णस्य सर्व्वथा पूर्णत्वम्, क्षीराब्धिशायिनश्चतुर्थव्युहानिरुद्धत्वेन पद्मपुराणमोक्षधर्म्मादिषु कथितत्वात्कथमंशत्वम् ? सत्यम्, वासुदेवादयश्चत्वारो व्यूहा अस्यासमोर्द्ध्वमाहात्म्यभरस्य कृष्णस्यापेक्षयांशविशेषा एव; तत्राप्यनिरुद्धादयो नितरामेव यस्य महानारायणस्यामी व्यूहाः, तस्याप्याविर्भावपदं कृष्ण इत्युक्तमेव—'यस्यैकनिःश्वसित–' इत्यादिना यच्चोक्तं क्षीराब्धिशायिन उपस्थानात् स एव कृष्ण इति, तत्र क्षीराब्धितीर एव तदनुग्रहस्य देवैः सुलभत्वात्तथोक्तम्, न तु तदवतारत्व-विवक्षया,—'अनुग्रहाय देवानां तत्र सन्निहितो हरिः' इति पाद्मादिषूक्तत्वात्, वस्तुतस्तु देवानां तत्रोपस्थानात् सर्व्वैः स्वरूपैः सम्भूय श्रीपुरुषोत्तम एतावतीर्ण इति निरूपितमेव । एतच्च श्रीस्वामिपादानामपि सम्मतमेव, तथा च (भा० १०।२।९) 'अथाहमंशभागेन' इत्यत्र तैर्व्याख्यातम्—'अंशेन पुरुषरूपेण भागो मायाया भजनमीक्षणं येन तेन' इति ।। १४ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अथ स्वस्य पितृपुत्रत्वरूपं सम्बन्धमपि विशिष्याह—जगदिति । जगत्त्रयान्ते य उदधिसम्प्लवः समुद्रैकीभावः तत् सम्बन्ध्युदकशायिनः नारायणस्योदरे नाभिः तत्सम्बन्धिनालात् कमलात् अजः विनिर्गतः इति वाक् न मृषा अतः तुरप्यर्थे । हे ईश्वर ! त्वत् त्वत्तः किन्न विनिर्गतोऽहमिति ।। १३ ।। ननु, नारायणस्त्वन्य एव नाहमिति शङ्कायां तस्य अवतारस्य नारायणादवतारिणोऽनन्यत्वमेव श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासाद्युद्घुष्टं स्फुटयति–नारायणस्त्वं नहीति । काकुः सर्वदेहिनां नारपदवाच्यानां बद्धमुक्तनित्यरूपाणां आत्मा अयनं शरीरी यः नारायणः संज्ञायां णत्वविधानात् नारायणसंज्ञः स त्वं किं नहीति काकुः। अपि त्वस्यैव अधीशोऽसि प्रवर्तकः "अपगतौ" इत्यतः "मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इति स्वमुखेनैव नारायणत्वस्फोरणात् चिदचित्प्रेरक इत्यर्थः, ज्ञानार्थत्वाद्धातोः अखिललोकसाक्षी चिदचिद्द्रष्टा यः सोऽसि श्रीमन्नारायणत्वमेवोक्तम् अथ सच्चिदानन्दस्वरूपस्य सच्चिदानन्दगुणकत्वेन रूपस्यापि तादृशत्वेन च नारायणत्वं निर्वहति अङ्गं मूर्तिः तवेत्यत्रापि योज्यम् । पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टं तवाङ्गमपि नारायणः नरभूजलायनात् यत्प्रसिद्धं नारायणत्वं तच्चापि सत्यं किन्न ? अतः तव माया एव कापट्यमेव नेति, अथवा तव जीवसमष्टिसंयुक्तं मायात्त्वम् अङ्गं शरीरं न भवति वेति काकुः "योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन्यस्याव्यक्तं शरीरम्" इत्यन्तर्यामिश्रुतेः "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इति पुरुषसमष्टिसंयोगस्य श्रीनारायणकृतत्वात् चिदचिच्छरीरकत्वात् तव नारायणत्वमिति । यद्वा, तवाङ्गं मूर्त्तिरपि माया नवेति अद्वैतवाद्यभिमतमायाकार्यं न भवति इति अथवैवं सम्बन्धः नारायणः नरभूजलायनाद्यः प्रसिद्धस्तस्य त्वमङ्गं मूर्तिरवतारः किं नासीत् आनन्दस्वरूपस्य रूपत्वात् तच्चाप्यङ्गत्वं सत्यं नेति काकुः किन्तु तव माया एव स्वेच्छामयत्वमेव ।। १४ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

किञ्च, विशेषतस्त्वत्त एव मम जन्म प्रसिद्धमित्याह – जगदित्यादि । जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां सम्प्लवः संश्लेषः तस्मिन्नुदे उदके नारायणस्यादरे नाभिस्तस्य नालादजो विनिर्गत इति जनवाक् सा तु मृषा मिथ्या न भवति, कि त्वमृषैव वै निश्चितं तथाहि हे ईश्वर ! त्वत्त्वत्तः विनिर्गत उत्पन्नो नास्मि किं अपि तूत्पन्न एवेत्यर्थः ।। १३ ।। तर्ह्यस्तु भवान्नारायणपुत्रस्तथापि मम किमायातं तदाह, नारायणस्त्वम् इति । नहीति काक्वा त्वमेव नारायण इत्युपपादयति कुतोऽहं नारायण इति चेत्तत्राह—यतः सर्वदेहिनामात्माऽसि नारं जीवसमूहस्तस्यायनमाश्रयः सवाऽयनं यस्य सः त्वमेव सर्वदेहिनामाश्रयत्वात्सर्वशरीरकत्वेन तदाश्रयत्वाच्च नारायण इति भावः । हे अधीश ! त्वं नारायणो नहीति पुनः काकुः कुतः ? यतोऽधीशः प्रवर्त्तकः नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात्स तथेति । किञ्च त्वमखिललोकसाक्षी अखिलं लोकं साक्षात्पश्यतीति तथातो नारमेषि जानासीति नारायणः "इण्गतौ" ये गत्यर्थास्ते बुद्ध्यर्थाः नन्द्यादित्वात्कर्त्तरि ल्युः । नन्विदं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवदेवं तत्त्वन्यथा प्रसिद्धं तथाहि—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः प्रोक्तास्तेन नारायणः स्मृतः" ।।

इत्यत्राह—नारायणोऽङ्गमिति । नरः परमात्मा "जह्नुर्नारायणो नर" इति नरशब्दस्य श्रीभगवन्नामसु पाठात् 'रीङ्क्षये' इति धातुः, न रीयते न श्रीयते न नश्यतीति नरः, इति व्युत्पन्ननरशब्दप्रवृत्तौ निमित्तस्य नित्यत्वस्य श्रीभगवत्यपि अनुगतत्वाच्च ततश्च नराद्भुवां जातानां जलानामयनाद्यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽपि तवैवाङ्गम् मूर्त्तिः राहोः शिर इति वत् तवाङ्गमित्यभेदसम्बन्धे षष्ठी सोऽपि त्वमेवेत्यर्थः । नन्वहमेव नारायणश्चेत् "विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमम्" इत्यादिभिर्वेदान्तैर्विश्वसमानाधिकृतत्वेन प्रतीयमानस्य विश्वव्यापकस्य कथं विश्वान्तर्भूतजलमात्रवर्त्तित्वमत आह – तच्चापि सत्यमिति । तव विभोरपि यज्जलाश्रयत्वं तत्सत्यमबाधितमेव व्यतिरेकमुखेनापि द्रढयति–न तु मायेति । तज्जलशायित्वं न माया न मृषा किं तु सत्यमेवेत्यर्थः । "अणोरणीयान्महतो महीयान् एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वा एष म

आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" इत्यादिभिरवगतं स्वरूपतो रूपतश्चाणोरणीयस्त्वं महतो महत्तरत्वं चेत्युभयं जगन्निर्माणोपासनाद्यपयुक्ततया जीवहृदयगुहादिष्ववस्थितस्य सर्वशक्तेस्तवोपपन्नमिति जलशायित्वमबाधितमेवेत्यर्थः। अवतारभेदेन तत्तदाकृतिभेदेपि तत्तत्कालकार्य्यकर्मादिचरित्रभेदेऽपि चावतारिणस्तवाभेदः अवतारी सदा त्वमेक एव न तु नानेति दिक्॥ १४॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अपि च सर्वोऽपि प्रपञ्चः परम्परया त्वत्तो जातः अहं तु साक्षात् त्वत्त एव जात इत्याह—जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोद इति। जगत्त्रयस्य प्रपञ्चस्यान्ते प्रलये य उदधीनां समुद्राणां सम्प्लव एकार्णवस्तस्मिन्नुदे उदके भोगिभोगशयनस्य नारायणस्योदरे नाभिस्तस्य नालादजो ब्रह्मा विनिर्गत इति वाक् मृषा न भवतीति निश्चितं हे ईश्वर! तथापि त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि? अपि तु त्वत्त एव विनिर्गत इत्यर्थः। तथा च मार्कण्डेयः—

"स्वपतस्तस्य देवस्य पद्मं सूर्यसमप्रभम्। नाभेर्विनिःसृतं तस्य तत्रोत्पन्नः पितामहः"॥

इति श्रीमद्रामायणे च ब्रह्मवाक्यं श्रीरामचन्द्रं प्रति—

"महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः"। इति॥ १३॥

ननु, स तु नारायणो जगत्कर्त्ता अन्यं अहं तु गोपबालक इत्यत आह—नारायणस्त्वं न हि किमिति काकुः किन्तु त्वमेवत्यर्थः। कुतः? यतः सर्वदेहिनां जीवानां शरीरभूतानामात्माऽसि आधारोऽसि अधीशोऽसि सर्वशेष्यसि अखिललोकसाक्ष्यसि साक्षात् शुभाशुभद्रष्टासि सर्वफलप्रद इत्यर्थः। ननु, नारायणस्य जलशायित्वात्परिच्छिन्नत्वेन कथं सर्वात्मकत्वमित्यत आह—नारायणोऽङ्गमिति। नारायणोऽङ्गं परिच्छिन्नत्वेन मूर्त्तिरूपः स तु नरभूजलायनात् नरादुद्भूतानि जलानि तेषामयनात् नारायणः नरशब्दवाच्यत्वमस्य "जह्नुर्नारायणो नरः" इत्यादौ प्रसिद्धं तदुक्तम्—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ता पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः"॥

इति तच्चापि सत्यं न किमिति पुनः काकुः तव जलशायित्वेन दिव्यविग्रहवत्त्वमपि सत्यमेवेत्यर्थः। किन्तु तवैव माया तवैव सङ्कल्प इत्यर्थः "माया वयुनं ज्ञानम्" इत्यनुशासनादत्र मायाशब्दः सङ्कल्पवाची ता अपः सृष्ट्वा तासु दिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टः सञ्छेते इत्येयं तवैव सङ्कल्प इत्यर्थः। तथैव स्वसङ्कल्पेन सर्वात्मापि तत्रापि प्रमाणान्तरम्—

"नाराणामयनत्वाच्च नारायण इति स्मृतः। नारशब्देन जीवानां समूहः प्रोच्यते बुधैः॥
तेषामयनभूतत्वान्नारायण इति स्मृतः। नारो नराणां सङ्घातस्तस्याहमयनं गतः॥
तेनाऽस्मि मुनिभिर्नित्यं नारायण इति स्मृतः। चेतनाचेतनं सर्वं विष्णोर्यद्व्यतिरिच्यते॥
नारं तदयनं चेदं यस्य नारायणस्तु सः"॥

इति अतः सर्वस्यायनत्वादपि नारायणस्त्वमेवेत्यर्थः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

जगत्त्रयेति। पुनः संभ्रमेण ताभ्यां वैशिष्ट्यं वदन्नपि तत्पुत्रत्वमेव स्थापयति॥ १३॥ नारायणस्त्वम्। यद्वा, अधीश-प्रथमपुरुषस्याप्युपरि वर्त्तमानो नारायणस्त्वं नराणां द्वितीय–तृतीय–पुरुषभेदानां समूहो नारं तत्समष्टिरूपः प्रथमपुरुष एव तस्याप्ययनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स अतः सर्वदेहिनामात्मा यस्तृतीयपुरुषो यश्चाखिललोकसाक्षी द्वितीयपुरुषो यश्च नरभूजलायनात् तृतीयपुरुषो नारायणः सन्नसि किन्तु स स तवाङ्गं त्वं पुनरङ्गीत्यर्थः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु सर्वस्य कुक्षिगतत्वेन यथाहं माता, तथा तवापि; ततो यदा सर्वस्यैवापराधः क्षम्यते, तदा तवापि क्षन्तव्य इति चेत् सर्वेषां तव कुक्षिगतत्वं परम्परया, मम तु साक्षादेवेति विशेषं दर्शयन्नाह—'जगत्त्रयान्त–' इत्यादि। जगत्त्रयान्ते महाप्रलये य उदधिसंप्लवस्तस्योदके नारायणस्योदरनाभिनालाद् विनिर्गतोऽस्मि, जातोऽस्मि। ननु त्वमज एव, कथं जातोऽस्मीत्युच्यते? नैवमित्याह—अजस्त्विति वाक्, वै प्रसिद्धम्, न न मृषा? अपि तु मृषैव। अजस्त्वमेव नाहम्; नु भो ईश्वर! त्वद्विनिर्गतोऽस्मि, त्वत्त एव जातोऽस्मि, नाजः; अतः सर्वजीवसाम्यं ममेति वाक्यार्थः॥ १३॥ ननु भो ब्रह्मन्! तथापि नारायणादेव जातोऽसि, कुतो मत्त इत्युच्यते? सत्यम्, त्वञ्च नारायणः, यस्मादहमभूवम्, स तवाद्यावतारश्च। नारायण इत्यभिन्नत्वात्त्वदुत्पन्न एवेति श्रीकृष्णस्यैव मूर्त्तिविशेषो नारायण एव यतस्त्वं सर्वदेहिनामात्मासि, अखिललोकसाक्षी चासि। ननु तर्हि यस्य नाभिनालात्त्वमुत्पन्नोऽसि,

स तावत् क्वेत्याशङ्क्याह—नारायणोऽङ्गमित्यादि । स नारायणः खलु तवाङ्गं मूर्तिराद्यावतारत्वात् । ननूभयोरेव नारायणत्वे कथं त्वज्जनकस्य मदङ्गत्वमित्याह—नर-भू-जलायनात् । नारायणशब्दस्य व्युत्पत्तिद्वयम्—नरभूर्नरोत्पत्तिः, जलञ्च; तदयनात् तत्स्थानात् । एकस्त्वं नरोत्पत्त्ययनान्नारायणः, नरशब्दोऽत्र जीवपरः; अन्यस्तवाङ्गं जलायनात् 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' तेन सर्वे जीवा नारं तदयनात्त्वं नारायणः जलशायित्वात्तवाङ्गं नारायण इत्येष विशेषः । ननु जलशायित्वं तस्य मायिकं नेत्याह—तच्चापि सत्यम्, तज्जलशायित्वं तस्य च सत्यम्, सत्यलीलात्वात्तवैव; न तव माययैव; अतः पूर्वोक्तं त्वदुद्भवत्वं मम सिद्धमेव ॥१४॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

ननु सर्वस्य कुक्षिगतत्वेनैव यथाहं सर्वस्य माता, तथा तवापि, ततो यदा सर्वस्यापराधः क्षम्यते, तदा तवापि क्षन्तव्य इत्याह—जगत्त्रयेत्यादि । अहं त्वत्त एव जातः सर्वेषामिव नान्यः पिता मेऽस्ति, अतः सर्वजीवसाम्यं कुतो ममेति । अन्यच्च—काचिन्माता कश्चित् पिता, त्वन्तु मे पिता च माता च, अतः क्षन्तव्य एवायमपराधः ॥ १३ ॥ ननु ब्रह्मन् ! यस्य नाभेरुद्भूतोऽसि, स तु नारायण एव, नाहं ते पितेत्याह—नारायणस्त्वमित्यादि । ननु भो ब्रह्मन् ! नारायणोऽपि नाहम्, त्वमपि तस्य नाभिनाले नाभूः, सर्वं तन्मायिकम्, अतो मत्पुत्रतापि ते मृषा इत्याशङ्क्याह—तच्चापि सत्यम् तत्सकलं सत्यमेव, नैव मायया कृतम्, भवल्लीलाया मायिकत्वाभावात् । अतस्त्वदङ्गमेव नारायणस्तदुद्भवत्वादहमपि ते पुत्रः, अतः पुत्रस्य ममापराधः क्षन्तव्य एवेति निर्गलितोऽर्थः ॥ १४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, पुत्रो हि मातुः कुक्षेरुद्गच्छति न तु सदा कुक्षावेव तिष्ठतीति चेदत आह—जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां सम्प्लवः एकीभावस्तदुदके अजस्त्विति अन्यो निर्गतोऽस्तु न वाऽस्त्वित्यर्थः । नु भोस्तदपि त्वत्तोऽहं न विनिर्गतः अपि तु निर्गत एवेत्यर्थः ॥ १३ ॥ तर्हि त्वं नारायणस्य पुत्रः स्यास्तेन मम किं तत्राह, नारायणस्त्वं नहीति काक्वा नारायणो भवस्येवेत्यर्थः । हे अधीश ! ईशानामप्यधिपते ! "विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति त्वदुक्तेः सर्वदेहिनामात्माऽसि आत्मत्वादेवाखिललोकसाक्षी च स च नारायणो जीवमात्रान्तर्य्यामित्वादात्मा साक्षी चेत्यतस्त्वदेकांश एव सोऽवगम्यते इति त्वमेव स इत्यर्थः । ननु, ब्रह्मन्नहं कृष्णवर्णत्वात् कृष्णनामा वृन्दावनस्थः स तु नारशब्दोक्तजलस्थत्वान्नारायणनामेत्यतः कथमहमेव स इति तत्राह—नरभूजलायनात्—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥ इति

निरुक्तेर्नरोद्भूतजलवर्त्तित्वात् यो नारायणः स तवाङ्गं त्वदंशत्वादिति भावः । अतस्तत्कुक्षिगतोऽप्यहं त्वत्कुक्षिगत एव । किञ्च, स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्येत्युक्त्या तव बालवपुर्वासुदेववपुश्च सच्चिदानन्दमयत्वेनैव वर्णितं तथा तच्चाप्यङ्गं नारायणाख्यं सत्यं सर्वकालदेशवर्त्तिशुद्धसत्त्वात्मकमेव न तु वैराजस्वरूपमिव मायया मायिकमित्यर्थः । चकारादन्यदपि मत्स्यकूर्माद्यङ्गं सत्यम् ॥ १४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सामान्यतः सर्वं त्वत्कुक्षिस्थमित्युक्तमहं तु विशेषतस्त्वत्पुत्र एव "नारायणाद् ब्रह्मा जायते" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादित्याह—जगदित्यादिना । जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये यः उदधीनां सम्प्लवः संश्लेषस्तस्मिन्नुदे उदके नारायणस्योदरनाभिनालादजो ब्रह्मा विनिर्गत इति या वाक् सा मृषा न भवति किन्त्वमृषैव वै निश्चितं तथापि तु हे ईश्वर ! त्वन्न विनिर्गतोऽस्मि किम् ? त्वत्तो नोत्पन्नोऽस्मि किम् ? अपि तूत्पन्न एवाऽस्मीत्यर्थः ॥ १३ ॥ ननु, नारायणपुत्रो भवतु भवान् तत्र मम किमायातमित्यत आह—नारायणस्त्वमिति । हे अधीश ! नरसमूहशास्तः ! नरसमूहो नारः अयनं प्रवेशस्थानं यस्य सः त्वं नारायणो न हि अपि तु त्वमेव नारायणः "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इति श्रुतेः । किञ्च, सर्वदेहिनामात्मासि नराः देहिनो जीवास्तेषां समूहो नारस्तस्यांशभूतस्य अयनमाश्रय आत्मा अंशी "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति निजवचनात् अतोऽपि नारायणोऽसि किञ्च अखिललोकसाक्षी अखिलान्साङ्गोपाङ्गान् लोकान्साक्षात्पश्यसि अतो नारमयसे जानासीति त्वमेव नारायणः यस्तु नरभूजलायनात् नयति स्वपादमूले स्वानन्यशरणमिति नरो भगवानेव ततो जाता नारा आपः तासु यदयनं तस्मात्प्रसिद्धो नारायणः स तु तवैवाङ्गं वपुर्भवति अतः सर्वथा परमनारायणस्त्वमेवासीति फलितोऽर्थः "नयतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः" इति—

"आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः" ॥

इति च स्मृतेः । ननु, व्यापकस्य मम तेन रूपेणाल्पदेशस्थत्वं वञ्चनयैव भवत्वत्राह—तच्चेति । तच्च जलाश्रयत्वं त्वन्मूर्त्तेः सत्यमेव न तु माया काचिद्वञ्चनेत्यर्थः । सर्वगतस्यैव भगवतोऽल्पदेशस्थत्वमचिन्त्यशक्तिमत्त्वात्तच्च भाष्यकारेण श्रीश्रीनिवासाचार्येण प्रथमाध्याये सुदृढं स्थापितमतोऽत्रोपरम्यते ॥ १४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु मातुः कुक्षेर्निर्गतः पुत्रो भवति त्वं कदा मत्कुक्षेः निर्गतस्तत्राह—जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लवः एकीभावस्तदुदके नारायणस्योदरे नाभिस्तस्य नालादजो ब्रह्मा विनिर्गत इति वाक् वै निश्चये मृषा न भवति तथा सति हे ईश्वर त्वत्तः किमहं न विनिर्गतोऽपितु निर्गत एवेत्यर्थः ।। १३ ।। ननु भव त्वं नारायणस्य पुत्रस्तेन मे नन्दसूनोः किमागतं तत्राह—नारायणस्त्वं न हीति काक्वा त्वं नारायणो भवस्येवेत्यर्थः । कुत इत्यत्राह सर्वदेहिनामात्मा व्यापको यदसि नारं जीवसमूहमयसे व्याप्नोषीति तद्व्युत्पत्तिः । अखिलेति–अखिलान् लोकान् साक्षात् पश्यसीति नारं जीवसमूहं अयसे जानासीति तद्व्युत्पत्तिः । ननु नारायणपदस्य व्युत्पत्तिरन्यथेति चेत्तत्राह नारायणोऽङ्गमिति । नरभूर्महदादितत्त्ववर्गस्तत्सहपाठाज्जलञ्च तदुद्भवमेव कारणाम्भस्तदयनात्तद्वर्त्तित्वात् यो नारायणः ख्यातः प्रथमपुरुषः सोऽपि तवाङ्गं त्वत्स्वांश एव एवमाह स्मृतिः—

नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः । तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।।
आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।। इति ।

हे अधीश ईश्वरेश्वर स्वयं भगवन् ! तथा च महदादितत्त्वान्तस्थः कारणोदशय एव गर्भोदेशयानो मत्पिता तस्य च त्वदंशांशत्वात्त्वत्सन्तानोऽहमस्मीति क्षन्तव्यं मदाग इति भावः । तच्च नारायणाख्यं त्वदङ्गं सत्यं पारमार्थिकं सर्वदेशकालवृत्तिचिद्घनमेव न तु मायया वैराजस्वरूपमिव मायिकं नेत्यर्थः । अपिरत्र सम्भावनायां इदमेव सम्भावितमित्यर्थः ।। १४ ।।

श्रीसुबोधिनी

विशेषप्रकारेण स्वस्य पुत्रत्वं भगवतः पितृत्वं चाह **जगत्त्रयेति**, **जगत्त्रयस्यान्ते** प्रलये य **उदधिसम्लव** उदधीनां संश्लेषस्तस्मिन् प्रलयोदके **नारायणस्योदरनाभिनालात् कमलादजो विनिर्गत इतिवाङ् न मृषा**, उपाख्यानानामपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वात्, अत एव हे **ईश्वर** किं त्वत्तोह न निर्गतः ? अपि तु निर्गत एवास्मि ।। १३ ।। ननु नाहं नारायण इति चेत् तत्राह **नारायणस्त्वमि**ति, त्वं किं **नारायणो न** ? हि यतो नारायणत्वसाधका हेतवः सन्ति, तानाह **सर्वदेहिनामात्मे**ति, **नारं** जीवसमूहस्तदयनं यस्येति, **आत्मा** हि सर्वभूतेषु तिष्ठति, "अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित"इति वाक्यात्, किञ्च नारमयते प्रेरयतीति **नारायणः**, अस्मिन्नपि पक्षेधीश्वरत्वाद् भवान् **नारायणो**"नराज् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधास्तेषामधीश्वरः साक्षान् नारायण इतिस्मृत" इतिवाक्यात्, **नारं** जीवसमूहमयते जानातीति चेत् तथापि भवान् **नारायणो** यतो**खिललोकसाक्षी**, ननु नैवं **नारायण**शब्दो व्युत्पन्नः किं"त्वापो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन **नारायणः** स्मृत" इतिवाक्यान् नरोत्पन्नजलायनान् **नारायण** इति चेत् तत्राह **नारायणोङ्गमि**ति, **नरभूजलायन**ाद् यो **नारायणः** स तवाङ्गं पुरुषत्वात् 'पुरुषो ह वै नारायणो कामयत'"तिश्रुतेः,"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं खण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यत" इतिवाक्यान् नारायणस्तवाङ्गमवतारः, किञ्च नारायणशब्दो वस्तुतस्तथा न व्युत्पन्न एव, यतो जलवासस्य प्रदर्शनमात्रपरत्वात् न ह्यवस्तुना शब्दो व्युत्पद्यते, अन्यथा रजतदाने शुक्तिकामपि दद्यात्, अतो जलस्थितेः प्रदर्शनमात्रपरत्वात् तेन न **नारायण**योगार्थः सिध्यति, तदाह **तच्चापि सत्यं नेति**, जलाधिकरणत्वं न सत्यं किन्तु **तव मायैव** ।। १४ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

किञ्च 'विशेषतोऽपि मम जन्म त्वत्त एव प्रसिद्धम्' इत्याह—जगत्त्रयेति । जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां सम्प्लवः संश्लेषः, तस्मिन् दे उदके शयानस्य नारायणस्य या नाभिस्ततो जातं यन्नालं कमलम्, तस्मादजो ब्रह्मा विनिर्गत इति वाक् सा तु तावन्मृषा नैव भवति । 'वै'इत्यवधारणे । तथाहि—हे ईश्वर ! त्वमेव वद, किं त्वत्तोऽहं न विनिर्गतोऽस्मि न उत्पन्नोऽस्मि ? त्वत्त एवोत्पन्नोस्मीत्यर्थः ।। १३ ।। 'एवं चेत्तर्हि नारायणस्य पुत्रस्त्वं मम किमायातम् ?' इत्याशङ्क्याह—नारायणस्त्वमिति । अत्र काकुः । त्वं किं नारायणो नहि ? अपि तु 'त्वमेव नारायण' इत्यर्थः । 'कुतोऽहमेव नारायणः ?' इत्यपेक्षायां चतुर्भिर्हेतुभिर्नारायणत्वं साधयति—सर्वदेहिनामात्माऽसीति । 'नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्य' इति व्युत्पत्तेस्त्वमेव सर्वजीवानामात्मत्वान्नारायण इत्यर्थः । "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः तेषामधीश्वरः साक्षान्नारायण इति स्मृतः" इति स्मृतेः ।। 'नाराणि चतुर्विंशतितत्त्वानि अयति प्रेरयति' इति व्युत्पत्त्यापि 'त्वमेव नारायण' इति सूचयन् सम्बोधयति—अधीश हे प्रवर्तक इति, विसर्गान्तपाठो वा ।। 'नारं जीवसमूहं जानाति साक्षात् पश्यति' इति व्युत्पत्त्याऽपि 'त्वमेव नारायण' इत्याशयेनाह - अखिललोकसाक्षीति ।। ननु "यद्यप्येवं नारायणपदव्युत्पत्तावहमपि नारायणस्तथापि तव जनकस्य नारायणस्य 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसनवः ।। तस्य ता अयनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः' इति स्मृतेर्भिन्नव्युत्पत्तिकत्वेन मत्तो भिन्नत्वात्" इत्यत आह–नारायणोऽङ्गमिति । नरः परमात्मा, तस्मात् भूतं यज्जलं तदयनाद्यः प्रसिद्धो नारायणः सोपि तवैवाङ्गं मूर्तिः, न त्वत्तो भिन्न इत्यर्थः ।। एवं जलाधिष्ठानत्वोक्त्या परिच्छिन्नत्वमायाति, तथाच 'यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः

स्थितः' इति मन्त्रवर्णाद्विरोधमाशङ्क्य निराकरोति—तच्चापि सत्यं नेति । तथा परिच्छिन्नत्वमपि सत्यं यथार्थं न भवति, किन्तु तव माया लीलैव । सृष्ट्यादिलीलार्थमेव तथा स्वरूपं प्रदर्शितम्, वस्तुतो व्यापक एवेत्यर्थः ।। १४ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

जगत्त्रयेति ।। जगत्त्रयस्यान्ते प्रलये य उदधीनां संप्लवः संश्लेषः तस्मिन्नुदं उदके शयानस्य नारायणस्य उदरे या नाभिस्ततो जातं यन्नालं कमलं "नलिने तु नलं मतम्" इति विश्वः । स्वार्थेऽण् । तस्मादजो ब्रह्मा विनिर्गत इति वाक् सा तु तावन्मृषा नैवं भवति । वै इत्यवधारणे । तथापि तु हे ईश्वर ? त्वमेव वद किं त्वत् त्वत्तोऽहं न विनिर्गतः नोत्पन्नोऽस्मि अपि तु त्वत्त एवोत्पन्नोऽस्मीत्यर्थः ।। १३ ।। यस्मादहं जातः स नारायणस्त्वमेवेति नानाव्युत्पत्तिभिराह—नारायण इति ।। त्वं किं नारायणो न हि अपि तु त्वमेव नारायण इत्यर्थः । यतः सर्वदेहिनामात्माऽसि नारं जीवसमूहोऽयनं यस्येति व्युत्पत्त्या त्वमेव नारायणः अधीशः प्रवर्त्तकः ततश्च नारस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मात्तथेति त्वमेव नारायणः । क्वचिदधीशेति संबुद्धिपाठः । तथा अखिललोकसाक्षी च त्वमसि अतः नारं जीवसमूहमयते जानातीति व्युत्पत्त्या त्वमेव नारायणः । नरः परमात्मा तस्माद्भवन्तीति नरभुवः पदार्थाः नरभूजलं च तदयनाद्यः प्रसिद्धो नारायणः सोऽपि तवैवाङ्गं मूर्तिर्न त्वद्भिन्नः "नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः ।। तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।।" इति जलाश्रयत्वेन प्राप्तं परिच्छेदं निरस्यति । तच्चापि जलाश्रयत्वेन परिच्छिन्नत्वमपि सत्यं न भवति किन्तु तव मायैव लीलार्थमेव तद्रूपं वस्तुतो व्यापकमेव ।। १४ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सर्वदेहिनां चेतनवृंदानां आत्मा अंतर्यामितया कर्मफलप्रकाशकः परमात्मा अधीशो नियंता यद्भयाद्वाति वातो यमित्युक्तेः अखिलानां लोकानां साक्षी साक्षात् द्रष्टा त्वं पुरुषोत्तमोसि अतो भवानेव नारायणः अहं वैराजनारायणो नास्मीत्युच्यते चेत्तर्हि तत्र वदामि नरभूः नराज्जातं यज्जलं तत्रायनान्निवासान्नारायण इति नामा यः प्रसिद्धो वैराजः स तवांगं चराचरधारणाय त्वदवतारोस्ति अतः स एव त्वमसीति यच्छ्रुतिस्मृतिवचनं च तदपि सत्यं माया नास्ति जग्रहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिरित्युक्तेः नारायणशब्दनिरुक्तिश्च स्मर्यते आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत इति ।। १३ ।। वैराजपुरुषोत्तमयोरभेदत्वं वर्णयन्नाह तच्चेदिति हे भगवन् अमितसामर्थ्य जगत् जगदाधारभूतं सत् स्थूलं तत्तव वपुःनारायणरूपमंगं जलस्थं चेत्तर्हि पद्मनालवर्त्मना अंतः प्रविश्य वर्षशतं मृगयतापि मया तदैव तत्रैव किं कस्मान्न दृष्टं तदनंतरं हृदि हृदयावकाशेऽपि पुनर्मृगयता मया किं नो व्यदर्शि कस्मान्न दृष्टं तदेव तपःकरणानंतरकाले सपद्येव वैकुंठस्थतव स्वरूप सुदृष्टं अतस्तव स्वरूपं ममोत्पत्तिकारणं किं नास्ति अस्त्येव अयं भावः येन मज्जन्मकारणेन तप उपदेशः कृतस्तेनैव मह्यं दर्शनं दत्तमधुना स एव मया दृष्टः अतस्त्वत्त एवाहमुत्पन्नोस्मीति ।। १४ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

किं च विशेषतस्त्वत्त एव मम जन्म प्रसिद्धमस्तीत्याह ।। जगत्त्रयेति ।। जगतां त्रयं तस्यान्तः प्रलयस्तस्मिन् य उदधीनां संप्लवः संश्लेषस्तस्मिन् यदुदमुदकं तस्मिन्, वर्त्तमानस्येति शेषः । नारायणस्य, उदरे यो नाभिस्तस्य नालस्तस्मात्, अजः ब्रह्मा, विनिर्गतः, इति वाक् तु शास्त्रलोकवाणी त्वित्यर्थः । मृषा न वै । मिथ्याभूता नैव भवतीत्यर्थः । एवं सति हे ईश्वर, अहं त्वत् त्वत्तः, न विनिर्गतः अस्मि, किं तु अहं त्वत्त एव उत्पन्नोऽस्मीत्यर्थः ।। १३ ।। तर्ह्यस्तु भवान्नारायणसुतस्तथापि मम किमायातमित्याशङ्क्य नारं जीवसमूहोऽयनमाश्रयो यस्येति नारायणः, नारस्य जीवसमूहस्यायनं प्रवृत्तिर्यस्मादिति नारायणः, नारं जीवसमूहमयसे जानासीति नारायण एवं प्रकारत्रयेण नारायणशब्दस्य त्वय्येव प्रवृत्तिसत्त्वात्त्वमेव नारायण इति दर्शयति ।। नारायण इति ।। त्वं, सर्वदेहिनां आत्मा, न हि असि, अपि तु त्वमेव भवसीति हेतोः' त्वमेव नारायणः, एवं काक्वा प्रथमपक्षमाश्रित्य नारायणत्वं समर्थितम् । किं च त्वं सर्वदेहिनां अधीशः प्रवृत्तिहेतुः, न असि । भवस्येवेत्यर्थः । अतः त्वमेव नारायणः, एवं काक्वा द्वितीयं पक्षमाश्रित्य नारायणत्वं समर्थितम् । त्वं अखिललोकसाक्षी, न असि, भवस्येव । अतः, त्वमेव नारायणः । एवं काक्वा तृतीयं पक्षमाश्रित्य नारायणत्वं समर्थितम् । नन्वेवं नारायणपदव्युत्पत्तौ भवेदेव तत्त्वन्यथा प्रसिद्धं, तद्यथा 'नराज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधाः । तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः' इति । 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः । अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत" इति स्मृतिद्वयेक्षया नरादुद्भूता येऽर्थास्तथा नराज्जातं यज्जलं तदयनाद्यो नारायणः प्रसिद्धः सोऽन्य एव नाहमिति चेत् सोऽपि त्वमेवत्याह । नरभूजलायनात्, यः नारायणः संप्रसिद्धः, सोऽपि तवैव, अङ्गं मूर्त्तिः । राहोः शिर इतिवत्तवाङ्गमिति अभेदसंबन्धे षष्ठी । सोऽपि त्वमेवेत्यर्थः । एवं नराणामात्मत्वादधीशत्वादखिललोकसाक्षित्वाज्जलायनाच्च नारायण इति चतुर्धा नारायणशब्दव्युत्पत्तिर्दर्शिता, सांप्रतं तत्र विभोरपि तव यज्जलाश्रयत्वमुक्तं तदपि सत्यमेवेत्याह । तच्चापि सर्वव्यापकस्य तव

यज्जलाश्रयत्वं तदपि, सत्यमबाधितं एव, न माया शाम्बर्या मायया समं नेत्यर्थः । यद्वा । सत्यं नेति काकुः । किं तु सत्यमेवेत्यर्थः। सा च तव माया इच्छैवेत्यर्थः । अत्र सर्वत्र मायाशब्दस्य क्वचित् प्रकृतिरूपोऽर्थः, क्वचित् ज्ञानपरः, क्वचिद्विचित्रशक्तिपरः, क्वचिद्योगात्ममायापरः, क्वचिच्छाम्बर्यर्थपरोऽपि यथोपयोगमुपादेयः । 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यनेन प्रकृतिपरत्वं 'माया वयुनं ज्ञानं' इति निघण्टुपाठात् 'मायया सततं वेत्ति' इत्यभियुक्तप्रयोगाच्च ज्ञानपरत्वं, तत्र ज्ञानेच्छयोरेकार्थत्वं, 'योगमायां समाविशत्' 'ऋते मायां विशालाक्षीम्' इत्यादौ विचित्रशक्तितापरः शाम्बरीरूपोऽर्थः प्रसिद्ध एव । एकस्यैव भगवतो विभुत्वजलाश्रयत्वयोर्निर्वोढृत्वे 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' 'व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा तण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्' 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' 'उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितं' इत्यादिकाः श्रुतयः प्रमाणभूताः ॥ १४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

जगदिति : १०.१४.१३.

हेतावपूर्णे जनिरप्यपूर्णा कार्यस्य सिद्धेति ममापि नालम् ।
हेतुस्तदासीदिति युक्तमेव त्वद्वीक्षणापूर्णदृगस्मि जातः ॥ २७ ॥

नारायण इति १०.१४.१४.

आजन्मोदयमास मय्यनुसृतो मायाप्रपञ्चस्त्वयं तत्कालं बत तत्र तत्र हि ममाप्यासीच्च मोहो महान् ।
संहृत्यापि पुनः क्षणेन करुणादृष्ट्या प्रसादोन्मुखः तत्र त्वं भवसीति नूतनगिरा किं वाऽद्य संप्रार्थये ॥ २८ ॥
जातो यद्यपि पुत्रपौत्रजनको विज्ञश्च मान्योऽखिलैः, तत्तातस्तु तथापि गर्भशिशुवत् पश्यत्यलं पाति च ।
एतच्छ्रावणमासपूर्वमधुना त्वद्दृष्टिमागःसहां संवीक्ष्याम्बुजनाभ तावकसुतो जातस्तदर्थान्वयी ॥ २९ ॥

कृष्णप्रिया

भगवन् ! ये तीनों लोक-जगत् के प्रलय अवसर में एकाकार बने हुए महासागरों के सलिल में सोये हुए श्रीनारायण के नाभि कमल से ब्रह्मा का जन्म हुआ यह श्रुति उक्ति कभी असत्य नहीं है । हे ईश, क्या में आपके उदर से निकला पुत्र नहीं ? क्या आप मेरी माँ नहीं ? नाथ, माँ, के नाते मुझे क्षमा न करेंगे ! ॥ १३ ॥ नाथ सर्व देहिओं के जीवों के आप आत्मा है इसलिये तो आप नारायण है । "नार" का अर्थ है जीवसमुदाय और "अयन" का अर्थ है आश्रय इस प्रकार नारायण शब्द बना (१) अब दूसरी बात कि आप सर्व के अधीश्वर है इसलिये भी नारायण हैं (२) अब तीसरी बात कि आप "अखिललोकसाक्षी" अखिल जीवों के द्रष्टा हैं इसलिये भी आप नारायण है (३) अब चौथी बात कि नर से उत्पन्न होने वाले जल में आप निवास करते हैं इसलिये भी जल निवासी आप नारायण है (४) जल में निवास करने वाले नारायण आपका ही अंश अवतार हैं । यह अंश रूप से दर्शन होना यह भी सत्य नहीं केवल आपकी माया है ॥ १४ ॥

तच्चेज्जलस्थं तव सज्जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।
किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥
अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिः स्फुटस्य ।
कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्या मायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जलस्थं जगत् तव वपुः सत् चेत् हे भगवन् ! तदैव तत् मे किं न दृष्टं ! किं वा। मे हृदि तदैव सुदृष्टं ! सपदि एव पुनः किं नो व्यदर्शि ॥ १५ ॥ अथ हे मायाधमन ! अत्र एव अवतारे बहिः स्फुटस्य अस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य ते जठरे अन्तः मायात्वं एव प्रकटीकृतम् ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अपरिच्छेदमेवोपपादयति । तच्चेदिति । जगदाश्रयभूतं तव तद्वपुर्जलस्थमित्येवं यदि सत्सत्यं स्यात्तर्हि तदैव कमलनालमार्गेणांतः प्रविश्य संवत्सरशतं विचिन्वताऽपि मया हे भगवन्नचिन्त्यैश्वर्यं तत्र किमिति न दृष्टम् । न च बाह्यदृश्यं सद्वपुः किन्त्वन्तः

१. दमना-वीर. ।

करणदृश्यमेवेति चेत्तदा हृद्यपि किमिति नो व्यदर्शि न दृष्टम् । तदैव तपःकरणानंतरं सपद्येव सुदृष्टमतो मायैव । अतस्त्वन्मतेर्देश-विशेषपरिच्छेदः सत्यो न भवतीत्यर्थः ।। १५ ।। अपि च यदि जलादिप्रपंचः सत्यः स्यात्तर्हि तेन तव परिच्छेदो भवेत् स तु मायाविलसित इति स्वयंव दर्शितमित्याह श्लोकत्रयेण । हे मायाधमन मायोपशमन । अत्रैवावतारे बहिः स्फुटस्यापि आत्मनो जठरमध्ये जनन्याः प्रदर्शनेन ।। १६ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तदैव प्रलयोत्तरकाले एव । तत्र जले । चक्षुर्विषयं तन्नेत्याह—किन्त्विति । तदा तदात्वेऽन्तःकरणदृश्यत्वे इति यावत् । पुनस्तदैवेति व्याख्यातमेवात्र । यतः कादाचित्कोऽतो हेतोर्माययैव 'भावाभावविषयिणी माया' इति लक्षणात् सत्यं नेत्यर्थः । यतो मायाऽतो हेतोः । इत्यर्थ इति—न हि सिकतातोयस्य शीतत्वादि ज्ञातुं शक्यमसत्यत्वादेवमत्रापि वपुषो मायात्वे तत्परिच्छेदस्य सुतरां मायात्वमिति भावः ।। १५ ।। इहैव विमर्शेन तमेवार्थमाह—अपि चेति । तेन प्रपञ्चेन । स तु प्रपञ्चस्तु । विलसितः प्रकाशितः ।। १६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सम्भावनामेव दर्शयति—तच्चेदिति । तत्तव सत् पारमार्थिकसत्यमेव वपुर्जलस्थं चेत्तत एव जगदिति जगदात्मकं चेत् तत्तदा किं मया समष्टिजीवतया सर्वजगदात्मकेनापि न दृष्टं तथा किं वा हृदि तृतीयोक्तानुसारेणैव दृढसमाधियोगविरुद्धबोधेन मया सु सुष्ठु "नातः परं परम ! यद्भवतः स्वरूपम्" इत्यादि तत्रत्यमदुक्तानुसारतः सच्चिदानन्दघनत्वेन दृष्टं वाशब्दस्यान्वयात् पुनश्च किम्वा बहिर्वृत्तौ सत्यां नो व्यदर्शीति ।। १५ ।। ननु, पूर्वरीत्या जगतस्तदन्तरपि स्थितत्वात्तद्वत्पारमार्थिकसत्यत्वं कथं न स्यात् तत्राह—अत्रैवेति । पूर्वोक्ते मायाधिष्ठातरि नारायणदेहे समाधिमात्रानुभूते मया पूर्वं तदसत्यत्वमनुभूत बहिर्दृष्ट्यनुभूते जगति नेत्यास्ताम् अत्रैव मायाधमनार्थमवतारे स्वयं भगवत्तया प्रकाशे हि निश्चितमस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य जगतस्त्वत्तो बहिः-स्फुटस्य दृश्यमानस्य तथा तव जठरे ऽपि स्फुटस्य दृश्यमानस्य सर्वमनुभूतवत्या ते तव जनन्यापि कर्त्र्या मायात्व मायिकत्वमेव प्रकटीकृतं व्यञ्जितम् अहं ममासावित्यादौ तथाऽपि "यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः" इत्यनेन यद्यप्यहं ममासावित्यादि तथाऽपि यन्माययेत्थं स्वसुतान्तर्जगद्दर्शनरूपा कुमतिर्मम जाता स एव मम गतिरित्यर्थं एव हि तत्तत्सम्बद्धः । अतस्तदपि तवाङ्गं न जलाद्याश्रयं नापि जगदिति निश्चितं तत्र त्वमेवं दृष्टान्त इति व्याजेन पुनः श्रीकृष्णविग्रहमेव परमतत्त्वरूपत्वेन साधयति–अत्रैवेति त्रिभिः । मायाधमनावतार ! इति तत्सम्बन्धमात्रं न सोढम् अवादीनामपि तत्सम्बन्धापाकरणदृष्टेरिति भावः । तच्च युक्तं स्वयं भगवत्त्वेन परात् परत्वात् तथा चैकादशे "नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते" इत्यत्र व्याख्यातं तत्रैव "विराड् हिरण्यगर्भश्च कारणं चेत्युपाधयः । ईशस्य यत्त्रिभिर्हीनं तुरीयं तत्पदं विदुः" इति अस्य बहिःस्फुटस्य प्रपञ्चस्य निजान्तर्जठरे जनन्यास्तां प्रति दर्शनेनेत्यर्थः । मायात्वं पूर्वोक्तं यत्तदीयजलादिप्रपञ्चाश्रयत्वस्य मायिकत्वं तदेव व्यक्तीकृतम् । यद्वा, विशेषेण तात्पर्यं जगदिदं बहिरेव स्फुटं नान्तरित्यस्यार्थस्येति "अथोऽमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोग" इति तथैव स्वाभाविकाचिन्त्य-शक्तिमयपरिच्छेदा परिच्छेदनिर्णयात् देवमायात्वस्य परिहारत्वाच्च श्रीशुकेन "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्यादिना तादृशत्वनिर्णयात् जगतः स्वाभाविकमेव त्वदाश्रयकत्वं न सम्भवति इति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सत्यत्वमेवोपपादयति—तदिति । प्राकृत-जलस्थमहो बहिर्दृष्ट्यापि नैव दृष्टमित्याह—किं वेति । सुशब्देन 'तप तप' इत्याज्ञा-श्रवणरूपमात्रदर्शनम्, तदैवेत्यनेन च महाप्रयासतश्चिरकालेनैव दृष्टमिति सूच्यते । न च प्रयाससाध्यमपीत्याह—किं नो इति, हृद्यपि किमिति न दृष्टम्, पुनरिति श्रीब्रह्मणे वरं दत्वा ध्याने वा सुकृदात्मानं दर्शयित्वा श्रीभगवत्यन्तर्हिते सति तद्विर-हाकुलो ब्रह्मा पूर्ववत्तद्दर्शनार्थं पुनरपि तपश्चक्रे, तथापि हृदि न ददर्शेति सूचयति—सपद्येवेति, कालान्तरे स्वत एव हृदि दृष्टमिति बोधयति, यद्वा, न च तत्र तन्नास्तीति वक्तव्यम्, पश्चात्तत्कृपया तत्रैव दृष्टत्वादित्याह--किमिति । पुनः पश्चाद्विशेषेण तत्तत्सौन्दर्य्य-परिच्छदपरिवारसाहित्यादिनाऽदर्शि नो किम् ? अपि तु दृष्टमेव । एवं श्रीभगवद्वपुष इव तत्क्रीडापरिच्छदजलादेरपि स्वप्रकाश-त्वमभिप्रेतम् । यद्यपि जलाद्युपाधेरसत्यत्वेऽपि सदा तत्सम्बन्धाभावेऽपि सदा सत्यं नारायणत्वं सुसिध्येदेव, तथापि तल्लीलाया नित्यत्वादिना तत्परिकरादेरपि सत्यताद्यपेक्षया तथा व्याख्यायते ।। १५ ।। ननु, तर्हि तज्जलादि-सत्यत्ववज्जलादिमयस्यास्य प्रपञ्चस्यापि सत्यता घटेत, तथा सति च सच्छास्त्रेण सदनुभवेन च विरुद्धयते ? सत्यम्, प्रपञ्चोऽयं मायिक एवेत्याह—अत्रैवेति द्वाभ्याम् । माया-धमनो योऽवतारस्तस्मिन्नित्येतदवतारसम्बन्धिनां सर्वेषामप्यमायिकत्वम्, तथैतदवतारोपासकानामपि मायापग-मादिकमभिप्रैति । किञ्च, अप्यर्थे एवशब्दो माया-धमनावतारेऽपि, हि निश्चितम् । मायात्वं प्रकटीकृतमिति परम-मायिकत्वं सूचयति । ते जनन्या श्रीयशोदया प्रकटीकृतमिति परमाप्तत्वेन तत्र प्रामाण्यञ्च । अप्यर्थे च कारः, कृत्स्नस्यापि, किं वोक्तसमुच्चये,

त्वदन्तर्जठरे वर्त्तमानस्य चेति दृष्टान्तः, सिद्धस्य साध्यान्तिके निर्देशात्। अयमर्थः—सत्यतया साक्षादनुभूतस्यापि तस्य क्षणान्तेऽदर्शनाद्यथा स्वाप्निकेन्द्रजालिकादिवन्मायिकत्वम्, तथा तादृशस्य बहिःस्फुटत्वेन वर्त्तमानस्यापि मायिकत्वमेव संगच्छेतेति तथा श्रीनन्दादिष्वभिव्यञ्जितमित्यर्थः। एतच्च स्तन्यपाने जृम्भया विश्वदर्शनावसर इति बोद्धव्यम्। यद्वा, श्रीब्रह्मणः सर्वज्ञत्वात् सम्प्रति श्रीभगवदनुग्रहविशेषाच्च तद्वारद्वयवृत्तज्ञानमेव वृत्तम्, ततश्च जनन्या तद्द्वारा तस्यां प्रदर्शनेन त्वया व्यक्तीकृतमित्यर्थः॥ १६॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

पूर्वप्रकृतस्वेच्छामयत्वमेव प्रकटीकरोति—द्वाभ्यां तच्चेज्जलस्थमिति। हे भगवन्! तव सज्जगद्वपुः सत्यं जगदेव वपुर्यस्य एतादृशन्तत्तव स्वरूपं नारायणस्य तव स्वरूपं जलस्थमेव चेत्तदा मे मया किं न दृष्टं नालमार्गेण विचये कृतेऽपि अदर्शनं त्वदिच्छाविलसितं पुनः हृदि मे मम तदैव किं वा सुदृष्टं अनन्तरं सपद्येव अवतारादिना पुनः किन्नो एव व्यदर्शि तदिदं सर्वं त्वदिच्छामन्तरेण कथं संभवेत् अनेन स्वरूपरूपयोर्विवेक उक्तः दुर्ज्ञेयत्वं स्वदयैकदृश्यत्वं चोक्तम्॥ १५॥ किञ्च अत्रैवेति अवतारे प्रादुर्भावे हे मायाधमन! दम्भस्य कपटस्य वा निवर्त्तक! प्रपञ्चासत्त्वस्य वा निवर्त्तक! सर्वपदार्थस्य तत्त्वात्यङ्गीकाराद् बहिःस्फुटस्य स्थूलावस्थस्यास्य प्रपञ्चस्य कृत्स्नस्य सूक्ष्मस्य च अन्तर्जठरे वर्त्तमानस्य त्वया यथा जनन्या यशोदाया मायात्वमेव स्वसङ्कल्पायत्तत्वमेव प्रकटीकृतं तथा तदानीं सृष्ट्यवसरे मयापि त्वया स्वरूपरूपादिप्रकाशनं ज्ञानोपदेशद्वारा एव कृतं न तु साक्षात्त्वेन अचिन्त्यत्वान्मनोवचसोरगोचरत्वात् च इदानीं तु साक्षादिति विशेषः। एवं च मम मोहोऽप्युचित एव मदीयकल्पविकल्पेषु कल्पनं विविधकलनं च तेषु मम मोहाभावस्त्वयैवोक्तः "यथा पूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतेः सृष्टावेव कर्त्तव्यायां मम मोहो न भवतीति वरो भवता दत्त इति ज्ञेयम् अन्यथा बहुविरोधः स्यात्। नतु भवल्लीलाविकल्पेष्विति रहस्यम् अनेनाध्यायत्रयस्य प्रक्षिप्तवादः प्रक्षिप्तः॥ १६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं चतुर्द्धा नारायणशब्दव्युत्पत्तिर्दर्शिता नराणामात्मत्वादधीशत्वाच्चाखिललोकसाक्षित्वाच्च जलायनत्वाच्च नारायण इति अस्त्वेवं न मय्येतानि प्रवृत्तिनिमित्तानि दृष्टानीति नाहं नारायण इत्यपेक्षायां तत्प्रवृत्तिनिमित्तचतुष्टयमपि तस्मिन्स्वानुभवेन दर्शयति, तच्चेदित्यादिना, सन्ति विद्यमानानि जगन्ति यस्मिस्तत्तव वपुः सृष्ट्यादौ जलस्थं चेत्त्वं नारायण एवेत्यर्थः। स जगदित्यनेन सर्वजगद्धारकत्वरूपतदात्मत्वमाद्यं प्रवृत्तिनिमित्तं तस्मिन्प्रदर्शितं जलस्थमित्यनेन तुरीये तवेत्यनेन तवापि कुक्षिस्थाखिलचिदचिदात्मकलोकस्य स्रक्ष्यमाणस्य सर्गोपयुक्तप्रवर्तकत्वं साक्षित्वं चेत्युभयं विवक्षितं तवाधीशस्याखिललोकसाक्षिणश्चेत्यर्थः। चेदिति यद्यर्थकमव्ययं यदिशब्दश्च सम्भावनायां सा च क्रियासु योग्यताध्यवसायरूपा जलस्थ चेज्जलावस्थितिविषयकमदध्यवसायविषयं चेदित्यर्थः। तत्र स्वानुभवमेव काक्वा विशदयति, हे भगवन्! तदेव जलस्थमेव वपुः मे मया न दृष्टं किं दृष्टमेवेत्यर्थः। यज्जलस्थ तदेव मे हृदि नेत्यनुषङ्गः न सुदृष्टं किं सुदृष्टमेवेत्यर्थः। पुनः सपद्येव तदेव नो व्यदर्शि तिरोधापितं न किं त्वयेति शेषः। नो व्यदर्शीत्यनेन तत्र प्रत्यभिज्ञाप्रमाणत्वेनोपन्यस्ता॥ १५॥ ननु, यज्जलस्थं यच्च भवता जले हृदि च दृष्टं यच्च तिरोभूतं तद्वपुरनिरुद्धमूर्त्तेर्जगत्कारणभूतस्यैव न तु ममाऽतो नाहं नारायण इत्यपेक्षायामेतदवतारदशायामपि तच्चतुष्टयं त्वन्मात्रापि दृष्टमेवेत्याह—अत्रैवेति। हे मायादमन! अस्मदादिकर्तृकमायां मोहनात्मिकां दमयति निरस्यतीति तथाभूतप्रपन्नानां प्रकृतिसम्बन्धनिवर्तकेति वा बहिः स्फुटस्यास्य चिदचिदात्मकस्य प्रपञ्चस्यास्मिन्नेवावतारेऽन्तर्जठरे जनन्या प्रदर्शनेनेति शेषः। ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्वं प्रकटीकृतमेव "विपुलं जगदल्पीयसि मत्कुक्षौ जनन्या दृष्टम्" इत्येतद्वचस्त्वदीयमग्निना सिञ्चेदितिवदयोग्यार्थप्रतिपादनमितीयमाशङ्का मायात्वं प्रकटीकृतमित्यनेन व्युदस्ता विचित्रशक्तियुक्तत्वात्तद्दर्शयितुं प्रभुरेव त्वमिति भावः॥ १६॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

तदेवोपपादयति तच्चेदिति हे भगवन्! निरुपाधिकज्ञानादिषड्गुणसम्पन्न! तथाचोक्तम्—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः"॥ इति।

तदेव जन्मकाल एव तत्सज्जगद्वपुः सज्जगच्छरीरकं जलस्थं तव वपुः किं मे न दृष्टमिति पुनः काकुः किन्तु अन्तःकरणमालिन्यात्साक्षाद्दर्शनाभावेऽपि अनुमानेन दृष्टमेव तथा तृतीये स्वेनैवोक्तम्—

"क एष योऽसावहमब्जपृष्ठे एतत्कुतो वाब्जमनन्यदप्सु। अस्ति ह्यधस्तादिह किञ्चनैतदधिष्ठितं यत्र सतानुभाव्यम्"॥ इति।

पश्चात्तपसा शुद्धान्तःकरणे सति साक्षादपि दृष्टमित्याह—किं वा सुदृष्टमिति किम्वाशब्दो पक्षान्तरे पुनस्तदेव समाधिरूपतपःकरणानन्तरं भगवत्प्रसादात् शुद्धेन मनसा सुदृष्टं तद्रूपं हृदि सपद्येव किं मे न व्यदर्शि? दृष्टमेवेति अतस्तव दिव्यविग्रहं मलिन-

सत्त्वानां दृष्टिगोचरं न भवति अप्राकृतत्वात्तस्य तथा च "श्रुतिः न मांसचक्षुरभिवीक्षते तं न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि अतस्तव विग्रहस्य परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वरूपं त्वत्सङ्कल्पायत्तमेवेति भावः। तथा च भगवद्वाक्यमर्जुनं प्रति —

"इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥
न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्"॥ इति॥ १५॥

अथ ब्रह्मणः स्वस्य भगवत्प्रसादात् दिव्यं ज्ञानं जातमिति। जनन्यै दर्शितं विश्वरूपं करामलकवत् पश्यन् कथयति हे मायाधमन ! शरणागतमायाकार्यससारनिवर्त्तक ! तदुक्तं भगवता "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति अत्रैवावतारे बहिः स्फुटस्य प्रसिद्धस्य कृत्स्नस्याऽस्य प्रपञ्चस्य जठरे स्वोदरे जनन्याः प्रदर्शनेनेति शेषः। मायात्वं योगैश्वर्यमेव ते त्वया आदर्शितं प्रकटीकृतम् अतस्त्वमेव सर्वशरीरीत्यर्थः॥ १६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तच्चेज्जलस्थमित्याद्यष्टकम्॥ १५-२२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

जलस्थस्य नारायणरूपस्य सत्यत्वं पुनः प्रतिपादयन्नाह - तच्चेत्-जलस्थमित्यादि। तत् प्रसिद्धं जलस्थं नारायणाख्यं वपुः सत् सत्यम्। कीदृशम् ? चेतयति सर्वमिति चेत्। पुनः कीदृशम् ? सज्जगत् सन्ति जगन्ति यत्र तत्तथा, तर्हि तन्नारायणाख्यं माययैव न अपि तु सत्यमेवेत्यर्थः। ननु तस्य सत्यत्वे किं प्रमाणमित्याह—किं मे न दृष्टम्, मे मया किं न दृष्टम्, न ज्ञातम् ? अपि तु दृष्टं ज्ञातमेवेति मदनुभव एव प्रमाणम्। सत्यं चेद्भवता कथं न विलोकितम् ? तत्राह - हे भगवन् ! तदैव मे मया हृदि किं वा न सुदृष्टम् ? हृदये सुविलोकितमेव। ननु भावनया किं न दृश्यते ? तेन तत्प्रामाण्यं नास्ति ? तत्राह—किं नो तदैव सपद्येव साक्षादेव पुनर्व्यदर्शि, अपि त्वदर्शि। अतोऽनुभवेन प्रत्यक्षेण च सिद्धमेव तत् सत्यत्वम्॥ १५॥ ननु तस्य सज्जगत्त्वं त्वया कथमवगतम् ? तस्य तन्मायिकमेव ? मैवम्। (भा. १।३।५) "यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः" इत्युक्तेस्तस्य सर्वबीजत्वादन्ते च सर्वाश्रयत्वात् स एव भुवनद्रुमः, त्वदुदरे यज्जगत्तदेव न माया त्वन्तु केवलघनानन्द इत्याह - अत्रैव मायाधमनेत्यादि। हे मायाधमन ! अत्रैवावतारे बहिः स्फुटस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्यान्तर्जठरे जठरस्यान्तर्जनन्यै मायात्वं दर्शितम्, बहिर्वर्तमानत्वेऽपि यदंतर्वर्तित्वं प्रपञ्चस्य तन्मायैव, जनन्याः—चतुर्थ्यर्थे षष्ठी नारायणान्तर्वर्तित्वं तु तस्य सर्गादौ महाप्रलये चेति तव तस्यायमपि भेदोऽन्यः॥१६॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यदि सत्यं तत्तदा कथं नेदृशीत्याह—तच्चेदित्यादि। तव तु वपुर्जलस्थमेव सदिति चेत्तदा कथं न मया दृष्टम् ? अतस्तस्य जलस्थता अनित्या, न तु तद्वपुः, त्वद्विग्रहस्य देश-कालपरिच्छिन्नता तु न सत्या व्यापकत्वात्, व्यापकत्वञ्च द्वेधा-परिच्छिन्नाकारमपरिच्छिन्नाकारञ्च। परिच्छिन्नाकारञ्च द्वेधा-एकतया अनेकतया च। तदेवाह -किं वा हृदि दृष्टं तत्राप्यनियतत्वम्, व्यापक-धर्मत्वात्। अत आह—किं वा नो पुनर्व्यदर्शि ? किंवा सज्जगद्वपुः सन्ति जगन्ति यत्र तत् सज्जगत्। जलस्थमेव तत्तदा कथं न मे दृष्टम्, हृदि सुदृष्टं चेत्तदा कथं पुनर्नो व्यदर्शि ? अतो जले वा हृदये वा कुत्रापि तत् नियतं न भवति। किंवा तव वपुः किं जलस्थं नैव ? कीदृशम् ? सज्जगच्चेतयति भुवनमिति चेत् यदि जलस्थमभविष्यत्, तदा किं न मे दृष्टमित्यादि पूर्ववत्। यद्वा, जलस्थ तव वपुर्जगन्निवासत्वेन जगदित्युपचारः सत् सत्यम्, तर्हि त्वया कथं न दृष्टम्, तत्राह—हे भगवन् ! अचिन्त्यमहिमन् ! मया न दृष्टम् ? तत् किं वा तेन किं वा इत्यर्थः। किं वा सुदृष्टं हृदि हृदये दृष्टं तेन वा किम् ? तेन-चेत् स तदा कथ पुनर्नो व्यदर्शि वा किम् ? अतो मद्दर्शने नासदिति नैव, वस्तुतः सदेव तदित्यर्थः॥ १५॥ सज्जगदिति यदुक्तं तन्मृषा, मम वपुषि कथ जगदुद्वर्त्तताम् ? तत्राह —अत्रैवेत्यादि। अस्तु दूरत उदाहरणम्, हे मायाधमन ! बहिः स्फुटस्याप्यस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्यान्तर्जठरे मायात्वं प्रकटीकृतं जनन्या इति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। एवं नारायणवपुषि यज्जगत्, तदपि मायैव। यद्वा, तस्य विश्वस्यान्तर्जठरेऽवतारे सति बहिः स्फुटस्य मायात्वमादर्शितम्, बहिर्यद्दृश्यते तन्मायिकम्, नान्तः, तदेव नारायणवपुस्त्वय्येव जनन्यै च दर्शितम्॥ १६॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, नारायणस्वरूपं तत् यदि शुद्धसत्त्वात्मकं तर्हि प्राकृते गर्भोद एव परिच्छिन्नं कुतः सदा दृश्यते न हि सर्वव्यापकस्य तस्य गर्भोदमात्रपरिच्छेदः सम्भवेत्तत्र तस्य तज्जलस्थत्वमेव न नियतमित्याह—तत् नारायणाख्यं वपुस्तव सज्जगत् सत् वर्तमानं जगत् यत्र तत् जलस्थमेव चेत् तर्हि तदैव कमलनालमार्गणान्तः प्रविश्य सम्वत्सरशतं विचिन्वतापि मया हे भगवन्नविचिन्त्ययोग-

मायैश्वर्य्य ! किं न दृष्टम् । ननु, तत्तत्र जल एव स्थितं त्वया त्वज्ञानान्न दृष्टमिति चेत् तदा त्वां ध्यायता मया तदैव हृद्यपि सुष्ठु किं वा दृष्टं तत्क्षण एव तत्राऽपि किं पुनर्न व्यदर्शीत्यतस्तद्वपुस्तव जलस्थत्वेन परिच्छिन्नमपि अचिन्त्यशक्त्या स्वकुक्षीकृतजगत्कत्वेनाऽपरिच्छिन्नं च सर्वत्रैव देशे काले च वर्त्तमानमेवापि त्वदीययोगमायया आवरणप्रकाशाभ्यामेव दृश्यते न दृश्यते चेत्यवगतम् ।। १५ ।। ननु, यस्यैव जगतोऽन्तर्वर्त्तिनि जले तद्वपुः स्थितं तदेव जगत् तत्कुक्षौ तिष्ठतीत्यसङ्गतं न हि गृहस्यान्तर्वर्तिनि घटे तदेव गृहं तिष्ठेदित्यतः शुद्धसत्त्वात्मकवपुषि तस्मिन्नस्मान्मायिकादन्यदमायिकमन्यदेव वा जगद्भवेदित्यवसीयते एवं च सति न त्वं मत्कुक्षिगत इत्याशङ्क्य कुक्षिगतस्य जगतो बहिःस्थजगदैक्यं वदन्नेव मायिकत्वं प्रतिपादयति---द्वाभ्यामत्रैवेति । हे मायाधमन, मायोपशमक ! अस्य बहिः स्फुटस्यैव प्रपञ्चस्य कृत्स्नस्यापि अन्तर्जठरे प्रदर्शनयेति शेषः । जनन्याः जननीं श्रीयशोदां प्रतीत्यर्थः । मायात्वं मायिकत्वम् अतो दुस्तर्कयोगमायैव त्वद्वपुर्जगदन्तर्वर्त्त्यपि सर्वजगद्व्यापकं युगपदेवेति ध्वनिः । तेन साक्षात्त्वापि कुक्षिगतोऽहमधुनापि वर्ते इति साक्षात् त्वमपि मन्मातेत्यनुध्वनिः ।। १६ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अल्पदेशस्थस्यैव वपुषः व्यापकत्वं स्वानुभवेन प्रपञ्चयति, तच्चेदिति । तव तद्वपुः जलस्थं चेत्तदा सज्जगत् सन्ति सत्यरूपाणि जगन्ति यस्मिन् तत्तथाभूतं व्यापकं न किम् ? अपि त्वस्त्येव तदैव मे मया न दृष्टं किम् ? अपि तु दृष्टमेव । ननु, व्यापकं वपुर्जलस्थं कथं भवेदित्यत्राह—हे भगवन्निति । अचिन्त्यैश्वर्ये त्वयि सर्वं सूपपन्नमिति सम्बोधनाभिप्रायः । अचिन्त्यैश्वर्य्यमेव स्फुटत्वेन दर्शयति—किं वा तदैव नाभिजपद्मस्थेन मे मया जलस्थं बहिःस्थमपि हृदि नो सुदृष्टं किम् ? अपि तु सुदृष्टमेव आश्चर्यान्तरमाह—सपद्येव पुनर्नो व्यदर्शि तिरोहितं जातमित्यर्थः ।। १५ ।। सज्जगदिति पदेन विश्वस्य यत्सत्यत्वमुक्तं तदुपपादयति, अत्रैव अस्मिन् एवावतारे अस्य विश्वस्य मायात्वं स्वशक्त्यभिन्नत्वं सदुपादानकतया सत्यत्वम् अन्तर्जठरे परमकारणस्य तवोदरमध्ये प्रकटीकृतम् । ननूदरमध्ये वञ्चनापरपर्य्यायभूतया माययैव कुतो न जननीं प्रति विश्वप्रकटीकरणमङ्गीक्रियते ? इत्यत्राह - हे मायाधमनेति । स्वानन्यशरणानामन्येषामपि मायां कापट्यं वञ्चनां निवारयति, यः तस्मिन् सत्यसङ्कल्पे सर्वेश्वरे स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषे त्वयि कापट्यगन्धलेशोऽपि नास्तीति सम्बोधनशब्दार्थः । अत्र यदि जलादिप्रपञ्चः सत्यः स्यात्तर्हि तेन तव परिच्छेदो भवेत्स तु मायाविलसित इत्यादिमायाद्युक्तिर्निर्मूलत्वात् "सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः" इत्यादिश्रुतिविरुद्धत्वाच्चोपेक्षणीया ।। १६ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु गर्भोदे शयानस्य न पारमार्थिकं परिच्छिन्नत्वात् विभु परमाणु च तथा स्वीक्रियते एवं कारणोदे शयानस्यापि तत्त्वं न स्यादिति चेत्तत्राह यच्चेदिति, तन्नारायणाख्यं वपुस्तव सद्विद्यमानं जगद्यत्र तादृशं चेज्जलस्थमेव तर्हि मे मया कमलनालमार्गेणान्तः प्रविश्य सम्वत्सरशतं विचिन्वता तदा किं न दृष्टं हे भगवन् अतर्क्यैश्वर्य ! ननु तस्मिन् जल एव स्थितमज्ञानात् त्वया न दृष्टमिति चेत् ध्यायता मया तदैव हृदि किम्वा सुष्ठु दृष्टं सपदि तत्क्षण एव पुनः किं नो व्यदर्शि न दृष्टमिति तथा च जलस्थमपि तद्वपुः कुक्षिगतं जगत्कं विभु चेति पारमार्थिकं तत् एवञ्च कारणोदशयश्च व्याख्यातं कृपौदासीन्ये एव दर्शनादर्शनयोर्हेतु एव भावः ।। १५ ।। ननु जगदन्तर्वर्त्तिजलस्थं वपुः कुक्षिगतं जगत्कमिति विरुद्धं तत्राह अत्रैवेति । हे मायाधमन प्रकृतिनियन्तः अत्रैव स्वयं भगवत्यवतारे अस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य त्वज्जठराद्बहिः स्फुटस्य दृश्यमानस्यान्तर्जठरे जनन्याः श्रीयशोदायास्तां प्रति प्रदर्शयता ते त्वया मायात्वमचिन्त्यशक्तित्वमेव प्रकटीकृतं मया विज्ञातं तथा च त्वद्वपुषो जगदन्तस्थत्वमन्तर्गतजगत्कत्वञ्चेति द्वयमचिन्त्यशक्तिसिद्धमित्यधुनापि मे त्वत्कुक्षिस्थत्वात् मात्रेवापराधः सोढव्य इति भावः ।। १६ ।।

श्रीसुबोधिनी

तस्य मायिकत्वार्थे तर्कमाह, तच् चेत् **जलस्थमिति, तद् वपुश्चेत् सज् जलोपरि** च वर्तते तदा **मे मया किं तदैव न दृष्टं ?** यो हि स्थूलपदार्थः परिच्छिन्नो योग्ये वर्तते स दृश्यते यथा घटः, अतस्तदा मया न दृष्टमिति न तज् जले तिष्ठति, नन्वयोग्यत्वान्न दृश्यते न त्वविद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह **किं वा सुदृष्टं हृदि मे** तदैवेति ? न हि हृदये जलमस्ति, अतो जलस्थितिर्न **नारायण**शब्दप्रवृत्तिप्रयोजिका, किञ्च **सपद्येव पुनः किं नो व्यदर्शि ?** अस्मभ्यं कथं न दर्शितवान् ? यद्यहं तस्य नारायणस्यैव पुत्रः, लोके हि पितापुत्रावन्योन्यं प्रत्यक्षसिद्धौ भवतः, न हि तयोरन्यतरो योग्यो भवितुमर्हति, वस्तुतो भवानेव **नारायणो** न तु सः, नारं सर्वमेदायते प्रविशति यमिति **नारायणः** सर्वजगदाधारः, स भवानेव न तु सः ।। १५ ।। तस्योदर एवाहं स्थितो जगत् कृतवान्, यदि जगत् तत्र सहजं तिष्ठेत् मम कृतिर्व्यर्था स्यादत्र तु तिष्ठतीत्याहात्रैवेति, हे **मायाधमन** मायानिवारक, अनेन मायासम्बन्धो भगवति निराकृतः, **अस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य कृत्स्नस्याप्यन्तर्जठरे ते जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं,** "अथो अमुष्ये"ति वाक्यात्, अतः सत्यप्रपञ्चाधारत्वाद् भवानेव नारायणः ।। १६ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

उक्तमेव स्पष्टयति—तच्चेदिति । चेद्यदि सद्विद्यमानं जगत् यस्मिस्तत् वपुर्नारायणस्वरूपं जलस्थं परिच्छिन्नमेव, तर्हि हे भगवन् अचिन्त्यैश्वर्य ! मे मया तदा कमलनालमार्गेणान्तःप्रवेशान्वेषणसमये एव किं न दृष्टम् ? तदा तपःकरणानन्तरं हृदि स्वहृदय एव किंवा सुदृष्टं सम्यक् दृष्टम् ? पुनश्च सपदि तत्क्षणमेव तत्रापि नो व्यदर्शि नैव दृष्टम् । अतो व्यापकस्यैव तवेच्छया तथा दर्शनम्, न परिच्छिन्नत्वमिति भावः ॥ १५ ॥ हे मायाधमन भक्तजनमोहनिवारक ! अत्र अस्मिन्नेवावतारे अस्य बहिःस्फुटस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य स्वजठरमध्ये जनन्याः यशोदायाः प्रदर्शनेन मायात्वं स्वेच्छाधीनलीलामात्रत्वमेव ते त्वया स्फुटीकृतम् "सा वा ईशस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका ॥ "माया नाम महाभाग ! ययेदं निर्ममे विभुः" इति तृतीयस्कन्धे लीलानुकूलेच्छाविशेषस्यैव मायाशब्देनोक्तत्वात् । हिशब्दः प्रसिद्धयर्थकः ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अपरिच्छेदमुपपादयति—तच्चेदिति ॥ चेद्यदि सद्विद्यमानं जगत् यस्मिस्तत् जगदाश्रयभूतं तव तद्वपुर्नारायणस्वरूपं जलस्थं परिच्छिन्नमित्येवं यदि सत् सत्यं तर्हि हे भगवन् अचिन्त्यैश्वर्य ! मे मया तदा कमलनालमार्गेणान्तः प्रवेशान्वेषणसमय एव दृष्टं तदा तपःकरणानन्तरं हृदि स्वहृदय एव किं वा सुदृष्टं सम्यक् दृष्टं पुनश्च सपदि तत्क्षणमेव तत्रापि नो व्यदर्शि नैव दृष्टम् अतो व्यापकस्यैव तवेच्छया तथा दर्शनं न परिच्छिन्नत्वमिति भावः ॥ १५ ॥ वस्तुतो जलादिप्रपञ्चस्यावास्तवात्तेन तव कथं परिच्छेद इत्याह—अत्रैवेति ॥ हे मायाधमन मायोपशमन ! धमतेः सौत्राल्ल्युः । अत्र अस्मिन्नेवावतारे अस्य बहिःस्फुटस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य अन्तर्जठरे स्वजठरमध्ये जनन्याः यशोदायाः प्रदर्शनेन मायामात्रत्वमेव ते त्वया प्रकटीकृतम् ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

प्रत्यक्षस्त्वमेव सत्योसि अन्यच्च सर्वं मायेत्याह हे मायाधमन मायानिवर्त्तक अत्रैवावतारे बहिःस्फुटस्य कृत्स्नस्यास्य विश्वस्य अंतर्जठरे जठरमध्ये जनन्याः स्वमातुः दर्शनेन मायात्वं योगैश्वर्यत्वं ते त्वया प्रकटीकृतम् ॥१५॥ स्फुटतया तदेव योगैश्वर्यमाह श्लोकद्वयेन यस्येति–यस्य तव कुक्षौ सात्मं आत्मना त्वया सहितम् इदं सर्वं विश्वं यथा भाति तथा तत्सर्वम् इहापि बहिरपि तथैव भाति इदं तत्सर्वं त्वयि मायया योगैश्वर्यबलेन विना किं घटेत न घटेत ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

जलस्थभगवद्वपुषः सत्यत्वोक्त्या संप्राप्तपरिच्छिन्नत्वं निवारयितुं तदपरिच्छेदं तदाश्चर्यशक्तिमत्त्वोक्त्योपपादयति ॥ तच्चेदिति ॥ जगत् जगदाश्रयभूतं, तव तत् जलस्थं, वपुः सत् चेत्, परिच्छिन्नत्वेन सच्चेदित्यर्थः । तर्हि, तदैव संवत्सरशतपर्यन्तं सम्यगन्वेषणकरणकालेऽपि, मे मया, हे भगवन्, किं न दृष्टम्, चक्षुर्भिरिति शेषः । चक्षुर्भिर्वीक्षणं मास्तु । हृदि हृदयेऽपि, मे मया, किं नो व्यदर्शि न दृष्टम् । तदा एव तपःकरणानन्तरमेव, सपद्येव, पुनः किं वा सुदृष्टम् । अतः मायाख्यत्वदिच्छाशक्तेः सर्वमपि संभवत्येव, वस्तुतस्त्वन्मूर्तेर्देशविशेषपरिच्छेदः सत्यो न भवतीति भावः ॥ १५ ॥ ननु यच्च जलस्थं, यच्च भवता जले हृदि च दृष्टं, यच्च तिरोभूतमेवं महैश्वर्यप्रदर्शकं तद्वपुरनिरुद्धमूर्तेर्जगत्कारणभूतस्यैव न तु ममातो नाहं नारायण इत्यपेक्षायां हे कृष्णैतदवतारदशायामपि महदैश्वर्य त्वन्मात्रापि दृष्टमेवातस्त्वमेव नारायण इत्याह ॥ अत्रेति ॥ मायामस्मदादिकृतमोहनात्मिकां दमयति निरस्यतीति मायादमनस्तत्संबोधने हे मायादमन, पाठान्तरे हे मायोपशमन प्रपन्नानां प्रकृतिसंबन्धनिवर्त्तकेत्यर्थः । अत्रास्मिन् अवतारे एव, बहिः स्फुटस्य, कृत्स्नस्य च, अस्य चिदचिदात्मकस्य, प्रपञ्चस्य, अन्तर्जठरे स्वकीयोदरान्तरे, जनन्याः स्वमातुः, प्रदर्शनेनेति शेषः । एव ते त्वया, मायात्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं प्रकटीकृतं हि । विचित्रशक्तियुक्तत्वात्तया दर्शयितुं त्वं प्रभुरेवासीति भावः । विपुलं जगदल्पीयसि मत्कुक्षौ जनन्या दृष्टमित्येतत्त्वदीयं वचोग्निना सिञ्चतीतिवदयोग्यार्थप्रतिपादकमितीयमाशङ्का मायात्वं प्रकटीकृतमित्यनेन व्युदस्ता ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अत्रैवेति । १०. १४. १५.

मायाऽऽकृतिकारिणीहभवता श्रीशावतारेऽप्यहो यन्मायां स्वमुखे प्रदर्श्य जननी निर्मन्तुकं मोहिता ।
तत्प्रायः प्रतिभाति कौतुकदृशः क्रीडेदृगेवास्ति ते मन्मन्तूदितमीदृशं फलमिति प्राग्राहि चित्तेन मे ॥ ३० ॥

कृष्णप्रिया

विश्व के आश्रयभूत वह आपका श्रीविग्रह केवल जल में ही रहने वाला है यदि यही सत्य हो तो हे भगवन् ! कमलनाली के छिद्र से प्रवेश कर जब मैंने ढूंढा तब उस अवसर पर मुझे क्यों नहीं दर्शन हुआ ? पुनः तपश्चर्या के अन्त में मैंने मेरे

अन्तःकरण में ही उस श्रीविग्रह का भलीभाँति क्यों दर्शन पाया ? और फिर यह भी बात है कि उस समय भी उसी क्षण मैंने क्यों नहीं दर्शन पाया ! इसलिये मेरा मन्तव्य है कि सर्वव्यापक आप की इच्छा से ही उस अवसर मुझे आप के स्वरूप का दर्शन हुआ था ॥ १५ ॥ हे मायानिवर्तक नाथ ! और अवतारगाथा को छोड़ें इसी ही अवतार में वहिर्दृश्यमान विश्व को अपने उदर में ही माता यशोदा जी को दिखला दिया जिस दर्शन से माता आश्चर्यचकित हो गयी थी । इससे यह निश्चय हुआ कि यह प्रपञ्च केवल माया ही माया है तात्पर्य यह है कि अन्तःस्थित सत्यप्रपञ्च के आधार होने के कारण आप ही सत्य है ॥ १६ ॥

यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा तथा । तत्त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥१७॥
अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शितमेकोऽसि प्रथमं ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।
तावन्तोऽसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं मयोपासितास्तावन्त्येव जगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥१८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यस्य कुक्षौ सात्मम् इदं सर्वं यथा भाति तथा तत् इह त्वयि तत् सर्वं अपि भाति इदं किं मायया विना ॥ १७ ॥ अद्य एव ते त्वत् ऋते अस्य मायात्वं किं न मे आदर्शितं ? प्रथमं त्वम् असि, ततः समस्ताः व्रजसुहृत्वत्साः, अपि तावन्तः चतुर्भुजाः असि, तदखिलैः साकं मया उपासिताः, तावन्ति एव जगन्ति अभूः तत् अमितम् अद्वयं ब्रह्म शिष्यते ॥ १८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु वहिः सत् एवांतर्जठरे प्रतिविंबोऽस्तु तत्कुतः सर्वथा मायात्वं तत्राह । यस्येति । यस्य तव कुक्षौ सर्वमिदं यथा भाति तत्सर्वमिहापि वहिरपि तथैव भाति । किं च सात्मं त्वत्सहितं तदिदं सर्वं त्वयि मायया विना किं घटेत । अयं भावः । त्वयि प्रतिबिंबश्चेत्तर्हि वाह्याद्विलोमतया प्रतीयेत न तु तदस्ति तव चादर्शस्थानीयस्य त्वयि प्रतीतिर्न स्यादतः सर्वथा मिथ्यात्वमेवेति ॥ १७ ॥ अपि च न केवलं जनन्या ममापि तथैव दर्शितमित्याह । अद्यैवेति । त्वदृते त्वां विना । अस्य विश्वस्य मायात्वं त्वया ममैव च तदप्यद्यैव किं न दर्शितं किं तु दर्शितमेव । तथाहि एकोऽसीत्यादि । तत्ततो मया सहाखिलैस्तत्त्वादिभिरुपासितास्तावंतश्चतुर्भुजा असि । जगंति ब्रह्मांडानीति प्रागनुक्तमपि दृष्टमिति ज्ञातव्यम् ॥ १८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अत्राशङ्कते—नन्विति । सतो विद्यमानस्य । तत्र आक्षेपे । अद्भुतमाह—त्विचेति, अयं भाव इति । तत् विलोमतया दर्शनम् । यत्तस्त्वमप्यत्र प्रतीयसे अतो हेतोः । न हि प्रतिबिम्बाधिकरणमपि प्रतिबिम्बावलोकने युगपत्प्रतीयतेऽन्यथादर्शोऽप्यादर्शः प्रतीयेत इति तात्पर्यम् ॥ १७ ॥ इहैवान्यदाह—अपि चेति । तथैव मातृवत् । तत् तदनु ॥ १८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदेवोपपादयति—यस्येति । यस्य सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं त्वत्सहितं भाति तद्ब्रह्माण्डमिह एतद्रूपे त्वय्यपि भाति तत्तस्मात् दुस्तर्कत्वान्मायया विना तदिदं किं सम्भवति तेन त्वत्संवन्धाभावान्न सम्भवत्येवेत्यर्थः । तस्माच्च नेदं त्वमिव पारमार्थिकं सदिति भावः ॥ १७ ॥ जनन्यनुभवोऽप्यास्तामित्याह—अद्यैवेति । त्वत्पदेनात्र साक्षाद्रूपं बालवत्सचतुर्भुजादिलक्षणं साक्षात्तद्रूपमप्युच्यते "पुरोवदाब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम्" इति "तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात् । व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः" इति "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति चोक्तत्वात् अस्येत्यनेन चात्र तदन्यदुच्यते "आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्त्तिमद्भिश्चराचरैः । नृत्यगीताद्यनेकार्हैः पृथक् पृथगुपासिता" इत्यादौ "स्वमहिध्वस्तमहिभिः" इत्युक्तत्वात् साकं मयेत्यनेन स्वाधिष्ठानब्रह्माण्डस्यापि तदन्तःपातो विवक्षितः ततश्च त्वदृते त्वां त्वत्साक्षाद्रूपवालवत्सचतुर्भुजाद्यं च विना यदखिलं दर्शितमस्य जगतस्त्वन्महिमध्वस्तमहिमतया दर्शितस्य किं मायिकत्वं न सम्यग् दर्शितं किं तु दर्शितमेवेत्यर्थः । अथ सर्वमेव तद्दर्शितं विवृणोति—एकोऽसीत्यादिना । तत्र मायिकामायिकसर्वदर्शनाद्यन्तःस्थितं तवैतद्रूपमेव पूर्णं ब्रह्मेत्यपि दर्शितं ब्रह्मलक्षणाक्रान्तत्वादित्याह—ब्रह्माद्वयं शिष्यत इति अद्वयपदेन शास्त्रान्तरप्रसिद्धं यद्ब्रह्म तदप्येतदेवेति द्योतितं "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" (३।२।११) इति न्यायात् वक्ष्यते च स्वयमेव अहो भाग्यमहो भाग्यम् इत्यादिना ॥ १८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु, अस्यैव प्रतिविम्बत्वेन तस्य मिथ्यात्वमास्तामयं सदा साक्षादनुभूयमानः सत्य एवेति चेत्तत्राह—यस्येति । सात्मं सात्मकम् । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् । यद्वा, अयमपि सत्यः, सोऽपि सत्य इति द्वयमेव सत्यमस्तु ? तत्राह—यस्येति । सर्वथा द्वयोरेक-

१. असि–वीर. । २. शिष्यसे–वीर. ।

रूपत्वेन विम्वप्रतिबिम्बन्यायापत्त्यैकस्य मिथ्यात्वमेव सेत्स्यतीति भावः। यद्वा, सर्व्वथैकरूपस्य प्रपञ्चचयस्याश्रवणाप्रसिद्धेरेको मिथ्यैव कल्पते। यदि वा वक्तव्यम् (भा० १०।१४।११) 'क्वेदृग्विधाऽविगणिताण्ड—' इत्यादिवचनतः प्रपञ्चस्य बाहुल्यं मन्तव्यमिति, तथापि सर्व्वेषामेव सत्यतया भगवदीयानामन्येषाञ्च प्राकृतानां विभूतेः साम्यमेवापद्यते; तच्चायुक्तम्। किञ्च, सतां स्वप्नमनोरथादिवन्मिथ्यात्वानुभवेन बहुलश्रुतिस्मृत्यादिवचनैश्च विरोधः स्यादिति सर्व्वथास्य मायिकत्वं युक्तमेव। अतएवोक्तम्—तत् सर्व्वमिति ॥ १७॥ ननु, सर्व्वं तत्तन्मायिकं चेत्तर्हि तत्रात्र च वर्त्तमानस्य ममापि मायिकत्वं प्रसज्येत, न प्रपञ्चान्तर्गतत्वेऽपि तव भावकानाञ्च सत्यता त्वधुना साक्षान्मयैवानुभूतेति पुनर्मायिकत्वक्षमेवानुसृत्य साहंकारमाह—अद्यैवेति। यदस्य प्रपञ्चस्य मायात्वम्, तच्च त्वत्तः स्वप्नमनोरथादौ मायामये प्रपञ्चे वर्त्तमानादपि तथा विचित्रवहुरूपतया दृश्यमानादपि विनैवेत्यद्यैव किं ते त्वया मम नादर्शितम्, न सम्यग्दर्शितम्? अपि तु दर्शितमेवेत्यर्थः। कथम्? तत्राह-एकोऽसीत्यादिना सुहृदः सखायो बालाः। न च तत्तन्मायिकमित्याह—तत्तद्यदभूस्थं तत् सर्व्वममितं बालकवत्सादिभेदेन परिच्छिन्नत्वेऽप्यपरिच्छिन्नमेव; अद्वयं तत्तन्नानाविधत्वेऽप्येकमेवातो ब्रह्मैव शिष्यते स्वयं पर्य्यवस्यति (भा० १०।१३।५४) 'सत्यज्ञानानन्तानन्द—' इत्यादिस्वरूपतया दर्शनात् ॥१८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

श्रीभगवतः सृष्टिप्रवेशनियमनकर्त्तुर्नारायणस्य श्रीमद्ब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य निरङ्कुशैश्वर्यमेव निरूप्य पुनरपि तत्सङ्कल्पायत्तत्वमेव विश्वस्य द्रढयति—यस्य तव नारायणस्य कुक्षाविदं सर्वमचेतनम् आत्मभिः बद्धैः जीवात्मभिः सहितं यथा भाति तथा त्वय्यपि अवतारविग्रहेऽपि तत्सर्वं चिदचिद्रूपं तत् इदं विश्वं किं मायया विना त्वत्सङ्कल्पाधीनत्वं विनादर्शितम् इति काकुः अपि तु तवावताराद्यवस्थापन्नस्य श्रीनारायणस्य स्वेच्छामर्त्यत्वमेवेति भावः। तदादद्विरुक्तिः सूक्ष्मस्थूलावस्थयोर्जगतोश्चिदचित्त्वेनैकरूप्यं व्यनक्ति ॥ १७॥ अद्यैवेति, अद्यैवेदानीमेव त्वयास्य स्वस्य स्वसृष्टस्य चिदचिद्रूपस्य च मायात्वमेव स्वेच्छामयत्वं मम किन्नादर्शितं ऋते सत्यस्वरूपरूपगुणके त्वत् त्वयि दर्शितमेवेति तदेवाह, त्वं प्रथममेकोऽसि ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्तास्त्वमेवाऽसि अनन्तरं तावन्तः वत्सबालाश्चतुर्भुजाः ते त्वमेवासि तत्तदनन्तरम् अखिलैः ब्रह्माण्डैः साकं वर्त्तमानैः मया मद्रूपैर्ब्रह्मभिः तैः सर्वैः उपासिता मया दृष्टा इति वा तावन्ति जगन्ति ब्रह्माण्डानि त्वमेव तद्विशिष्टः श्रीमान्नारायण एवाऽभूरिदानीं तु तत् श्रीनारायणाख्यम् अमितमनन्तं ब्रह्म अद्वय समाभ्यधिकरहित सर्वचिदचिद्विशिष्टं साक्षाद्भवानेवावशिष्यते इदानीं विनव समाधिं प्रत्यक्षो मयाऽनुभूयसे अत्याश्चर्यात्तव सौलभ्यपरा काष्ठेति भावः ॥ १८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेव काक्वा विवृणोति—यस्येति। इदं परिदृश्यमानं चिदचिदात्मकं सात्ममात्मभ्यामावाभ्यां सहितं सर्वं यथा बहिर्भाति तथा तत्सर्वं त्वय्यपि त्वज्जठरे भातमिति शेषः। हेति तदाश्चर्यशक्तिविषयकविस्मयद्योतकमिदं त्वज्जठरे मानं मायया त्वदाश्चर्यशक्त्या विना किं? तन्मूलकमेवेत्यर्थः ॥ १७॥ न केवलं जनन्या ममापि तथैव विचित्रशक्तिर्दर्शितेत्याह, अद्यैवेति। अद्य त्वदृते आधुनिकं त्वां विनाऽधुना गोपालकावस्थावस्थितं त्वां विनेत्यर्थः। अस्य त्वत्पूर्वोत्तरावस्थाद्वयं पश्यतो मम ते त्वया मायात्वं विचित्रशक्तित्व नादर्शितं किं? दर्शितमेवेत्यर्थः। विचित्रशक्तिमूलकं किं किं तव दर्शितमित्यत्राह—प्रथमं मया वत्सवत्सपापहरणदशायाम् एकोऽसि ततः समस्ता व्रजसुहृदो गोपबाला वत्साश्चासि ततः तावन्तः यावन्तो व्रजसुहृद्वत्सास्तावन्तश्चतुर्भुजा असि कथम्भूता मया सहाखिलैश्चराचरादिभिरुपासिताः ततस्तावन्ति यावन्तः चतुर्भुजाः तावन्ति जगन्त्यभूस्तावन्ति विराड्रूपाणि आसीरित्यर्थः। इदं प्रागनुक्तमपि तदा दृष्टमत्रोच्यते इति ज्ञेयम्। तत्ततोऽमितमपरिच्छिन्नमद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं कृष्णात्मकं ब्रह्म शिष्यसे अवशिष्यसे ॥ १८॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृतातत्त्वदीपिका

किञ्च सर्वमिदं जगत्त्वदाधारमेवेत्याह—यस्य कुक्षाविति। हे स्वामिन्! यस्य तव कुक्षौ सर्वमिदं सात्मं विश्वं जीवात्मसहितं चेतनाचेतनात्मकं यथा भाति आधेयतया प्रकाशते तथा तत्सर्वमपि इह बहिरपि त्वय्येव त्वदाधारमेव भाति तदिदं मायया विना किं तव? योगैश्वर्यं विना किं? किन्तु तव या नित्या योगमाया तस्या विलास एव, तथा च श्रुतिः। "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति। तथा परमात्मनो व्याप्तिं दर्शयति—

"अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"। इति ॥ १७॥

तदेवोपपादयति—त्वां विना त्वां मायाविनं विना अस्य प्रपञ्चस्य मायात्वम् अचिन्त्ययोगैश्वर्यं त्वया ममापि तदप्यद्यैव अस्मिन्नेवावसरे किं न दर्शितं? दर्शितमेव तदेव दर्शयति, प्रथमं त्वम् एकोऽसि कवलपाणिर्नन्दसूनुरेकोऽसि ततो व्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अप्यसि पुनस्तावन्तश्चतुर्भुजा असि ते च तदखिलैर्महदादितत्त्वैस्सह मया सहोपासिताः जगन्त्यसि अनेनासङ्ख्यातानि

ब्रह्माण्डान्यपि दृष्टानीति ज्ञायते । तत्सर्वं दर्शयित्वा अद्वयं ब्रह्म समाभ्यधिकरहितं ब्रह्म त्वमेव शिष्यसे अत इदं कवलपाणिगोपाल-जत्वरूपयोगैश्वर्यं त्वद्विमुखजनविमोहनार्थमिति ज्ञातं मयेति भावः ॥ १८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

त्वत्कुक्षिगतं यज्जगत्तन्मायेति यदुक्तम्, तत्प्रकारान्तरेण पुनः स्थापयति—यस्या कुक्षावित्यादि । इदं बहिः स्थितं विश्वं सर्वं सात्मम्, सान्तर्यामि चिज्जडात्मकम्, यस्य कुक्षौ यथा तथा याथातथ्येन भाति तन्नारायणाख्यञ्च वस्तु दृश्यमानं त्वयि भाति; अत इहापि त्वयि तत् सर्वं जगत्, सर्वांशपरिपूर्णे सर्वांशान्तर्गतस्यान्तर्भावः, इत्यपि तवैव प्रकाशिकाया मायायाः शक्तेर्विलास इत्याह—किमिदं मायया विना; प्रकाशिका नाम मायैवैतत् सर्वम्, न कुहकमित्यर्थः । यद्वा, यस्य तव कुक्षौ इदं विश्वं सा तव जननी; आ आत्ममात्मानमभिव्याप्य; अव्ययीभावे समानलक्षणदीर्घे, अध्यात्मवद्यथा भाति (भा० १०।८।३९) "व्रजं सहात्मानम्" इत्युक्तेस्तथा तत् सर्वं जगज्जननी च बहिश्च भाति । इहशब्दो बहिरर्थः । तत्तु अयि हे श्रीकृष्ण ! मायया विना किमिदम्, माया-वैभवमेवैतत् । यद्वा किमिदं किमेतदिति सन्देहः पुनर्मायया विना कोऽर्थः ? मायया विना यद्भवति, तदेवेदमिति निश्चयः । इदं मिथ्या न भवति, किन्तु स्वयोगशक्तिवैभवमेवैतत्; यद्वा, सात्ममात्मना सहितम्, आत्मशब्दः सम्बोध्यस्य नारायणाख्यमूर्तिपरः नारायणसहितमित्यर्थः । कुतः ? स हि सज्जगद्वपुरित्युक्तः, स त्वय्येव वर्तते, तेन जगच्च त्वदुदर एव पूर्वं एवार्थो यथा भाति, तथा इहापि बहिरपि, तत् सर्वं किमिदं मायया विना ? मायाशब्दो न मिथ्यापरः, अपि तु ऐच्छिकी प्रकाशिकाख्या मायेति या पूर्वमाख्याता, तस्या एव विलसितमेतत्, न मिथ्या न च बहिर्गतस्य विश्वस्य प्रतिविश्वस्तथासति प्रातिलौम्यमस्याद्रक्ष्यत् । न हि प्रतिविश्वः प्रातिलोम्यं जहाति, नापि विधान्तरम्,—असम्भवात् । तत उक्तप्रकारयोगशक्तिविलसितमेवेति ॥ १७ ॥ नन्विदं कुत्रोपयुज्यते ? सत्यम्, किं नाना भवति ? न हि सत्यस्य नानात्वमिति न्यायात् नैवमित्याह—अद्यैव त्वदृते इत्यादि । अद्यैव इदानीमेव त्वदृते त्वां विना त्वद्बहिरङ्गस्यास्यापराद्धुर्मम मह्यं मायात्वं किमादर्शितम् ? न । यद्दर्शितं तत् किं माया, कुहकम् ? नेत्यर्थः । कुतो न मायात्वम् ? तत्राह—एकोऽसि प्रथमम्, तन्मायैव, न एकात्वं सजातीयशून्यत्वं तव स्वरूपमेव, ततो व्रजसुहृद्वत्सा इति यत्तदपि न कुहकम् । कुतः ? तत्राह—तावन्तश्चतुर्भुजा असि, त्वमेवेत्यर्थः, (भा० १०।१३।५४) "सत्यज्ञानानन्तानन्द-मात्रैकरसमूर्त्तयः" इत्याद्युक्तेः । कथं कुहकम् ? तदित्यव्ययम्, तत्ते अखिलैर्महदादिभिः सार्द्धं मयोपासिता इति यत् तदपि न कुह-कम्, तेषां मम च तथा तथा भवितुमसामर्थ्यात्, स्वयमेव भवता तथा तथा भूतमिति न कुहकम् । तावन्त्येव जगन्त्यभूरिति चेत्तदपि न कुहकमभूरित्युक्तेस्तेषां त्वत्त्वात् तदपरं पश्चादद्वयं ब्रह्म भवानेक एव यत्तदपि न कुहकम्, ब्रह्मत्वात् । अतः पूर्वं यदुक्तम् "किमिदं मायया विना" इति यत्तदेवेति तत् सत्यमेवेति वाक्यार्थः ॥ १८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तद्जगत्तु न मायेति प्रपञ्चयति—यस्येत्यादि । यस्य नारायणस्य कुक्षौ इदं सर्वं विश्वं सा जननी आआत्मम् आत्मान-मभिव्याप्य । आत्मं समानलक्षणो दीर्घत्वम्,—(१०।८।३९) "व्रज सहात्मानम्" इति पूर्वोक्तेः । यथा भाति, तथेह बहिरपि तद्विश्वं सा च भाति, तत्तु अये हे कृष्ण ! मायया विना किं घटत इति शेषः । यद्वा, आत्मं त्वत्सहितं तवैव कुक्षौ विश्वं भाति, बहिरपि च त्वत्सहितं भाति । अतः प्रति विश्वतया त्वयि भातीत्यपि न घटते, न ह्यादर्शः प्रतिविश्व लभते, नापि प्रतिविश्वः प्रातिलौम्यं जहाति । इदं सर्वं हि अनुलोममेव दृश्यते, अतः किमिदं त्वय्यचिन्त्य-परमैश्वर्ये किमपि विस्मयकरं न भवति । किमपि प्रश्नभूतस्योत्तरं मायया विना यद् भवति, तदेवेदम्, तत्तु लीलैव, तेन वक्ष्यमाणवासे रासविलासे च नानेव या लीला, सापि न मायेति भावः ॥ १७ ॥ इममेवार्थं प्रपञ्चयति —अद्यैव ते इत्यादि । ते त्वया अद्यैवास्य विश्वस्य मायात्वं मम मह्यं न आदर्शितम् ? दर्शितमेव, किन्तु त्वदृते त्वां विना त्वन्नु माया बहिर्भूत एव, अतस्त्वदृत इति मिलितस्यैव सर्वस्य त्वदिति पञ्चमान्तेन निर्देशः । एवञ्चेन्मायात्वं कस्य यद्दर्शितं तवेत्याशङ्क्याह—तदखिलैः सार्द्धं ममोपासितास्तावन्त्येव जगन्त्यभूरिति यत्तन्माया अखिलैस्त-त्त्वादिभिः सह मायोपासिताः । तेन हि (भा० १०।१३।५४) "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति यत् पूर्वमुक्तम्, तेन सह सङ्गतिः । अदो बालादिरूपं शुद्धचैतन्यमेव; अत आह—तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते । तद्बालादिरूपममितम परिच्छिन्नं ब्रह्म अद्वयं शिष्यते, तव वैभवत्वेनैव द्वितीयशून्यं सत् शिष्यत इत्यर्थः । ननु ब्रह्मणः कथमिदं घटताम्, नानात्वमपि मे मदभिन्नत्वात् शुद्ध-चैतन्यमेव यदुच्यते इति नाशङ्कनीयम्, यतोऽस्य विग्रहस्य तथैव काचिच्छक्तिः, वस्तु-महिम्नि हेत्वन्तरापेक्षा न क्रियते ॥ १८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कुक्षिस्थबहिःस्थयोर्जगतोरनयोः सर्वथैवाभेदादैक्यमैक्यादेव कुक्षिस्थस्य मायिकत्वमवधारितमित्याह— यस्य तव कुक्षौ इदं विश्वं यथा भाति तथैव इह बहिरपि स्थितं विश्वं भाति ननु, बहिःस्थितस्य कुक्षौ प्रतिबिम्ब एवायं तत्राह— सात्मं त्वत्सहित-मेव न हि दर्पणे दर्पणो दृश्यते इति भावः । तेन बहिःस्थितं मायिकमेव विश्वं त्वत्कुक्षौ दृष्टं त्वयीति यथा कुक्षिस्थं विश्वं त्वदङ्ग-

करणक तथा बहिष्ठमपि विश्वं त्वदधिकरणकमित्यर्थः । तत्तस्माद्वैलक्षण्यगन्धस्याप्यभावात् इदं जठरगतं विश्वं किं मायया विना अपि तु मायिकमेव अत्र त्वज्जनन्यनुभवो मदनुभवश्च प्रमाणमतो मायिकजगन्मध्यवर्त्यहं त्वत्कुक्षिगत एव भवामीति मुहुर्विज्ञाप्यसे "उत्क्षेपणं गर्भगतस्य" इत्याद्यतः क्षमस्वेति भावः ।। १७ ।। किञ्च त्वत्कुक्षिगतं जगत् बहिःष्ठं तवादिपुरुषस्य रोमकूपगतं च जगत् सहस्रं सर्वं मायोपादानकत्वान्मायिकमेवेत्येतावत्कालपर्य्यन्तं मया अवधारितमेव किन्तु अतर्क्यमहामहैश्वर्यस्य तव त्वदीयस्वरूपशक्त्यात्मकं चिन्मयमपि जगत्सहस्रमस्तीत्यद्यैवानुभूतमित्याह—अद्यैव अस्य मञ्जुमहिमनि मद्दृष्टस्य जगत्सहस्रस्य किं त्वदृते जगत् सहस्रसम्बन्धि किं वस्तु त्वद्विनाभूतं अपि तु सर्वमेव त्वत्स्वरूपभूतमेवेत्यर्थः । अत एव मम मां प्रति ते त्वया अस्य न मायात्वम् आदर्शित किन्तु चिन्मयत्वमेव दर्शितमिति भावः । कुत इत्यत आह—एकोऽसीति । प्रथममेकस्त्वमसि ततः स्वरूपशक्त्यैव व्रजसुहृदो बालाः वत्साः समस्ता अपि त्वमेवाभूः ततो योगमाययैव तानाच्छाद्य प्रकाशिताः स्वरूपशक्तिमयाश्चतुर्भुजास्त्वमभूः कीदृशाः अखिलैरात्मादिस्तम्बपर्य्यन्तैश्चिन्मयैरेव मया मादृशेन ब्रह्मणापि चिन्मयेनैवोपासितास्ततश्च तावन्त्येव जगन्ति चिन्मयब्रह्माण्डान्यभूस्तत्ततो योगमाययैव त्वदिच्छया तान् सर्वानाच्छाद्य प्रकाशितममितमपरिमितसौन्दर्यमनुपमब्रह्मपूर्णमद्वयमेकं शिष्यते सम्प्रत्यपि मद्भाग्याद् योगमायया मद्दृष्टेः प्रत्यनावृतमेव भवान् वर्त्तत इत्यर्थः । अत्र त्वमभूस्त्वमभूरितिनिर्देशेन व्रजसुहृदादीनां जगदन्तानां भगवता मायाशक्ति विनैवाविर्भावितत्वाच्चिन्मयत्वमवधारणीयम् । माययाभूरित्यनुक्तेस्त्वदृते किमित्युक्तेश्च जगतां तु सुतरामेव।।१८।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

जगतः भगवच्छक्तिपरिणामितया पुनः सत्यत्वमुपपादयन् कवलवेत्रादियुक्तस्य पुरःस्थितस्य भगवद्वपुषो विभुत्वं च सूचयति अत्याश्चर्यं दर्शयति—यस्येति । सात्मं जीवात्मसहितम् इदं मायाकार्यं वेदद्वारा भगवद्दत्तेन वयुनेन वा यस्य तव नन्दसूनोः कुक्षौ यथा भाति तथा इह बहिरपि तत्सर्वं भाति तदिदं कार्यजातं त्वयि मायया तव शक्त्या विना किमपि तु तथैव न घटेतेत्यर्थः । स्वरूपस्यापरिणामित्वात् निर्मूलकार्य्योदयासम्भवाच्चेति दिक् ।। १७ ।। स्वरूपस्यापरिणामित्वं जगतः शक्तिमयत्वं पुनर्दर्शयति । अद्यैवेति । त्वदृते त्वन्मूर्तिव्यूहं विना अस्य अस्मच्छरीरादिस्तम्बपर्यन्तस्य ते त्वया मायात्वं शक्त्यभिन्नत्वं किं नादर्शितमेव तदेव दर्शयति—एकोऽसीत्यादिना । ततो यावन्तो व्रजसुहृद्वत्साः तावन्तो मया सहाखिलैस्तत्त्वादिभिरुपासिताश्चतुर्भुजास्त्वमेवासि तावन्त्येव जगन्ति ब्रह्माण्डानि तत्तन्मूर्तिनियम्यान्यभूः एतत्प्रागनुक्तमपि दृष्टमिति बोध्यम् । तदनन्तरं सर्वं स्वस्मिन् प्रविलाप्याद्वयं निःसमानातिशयं ब्रह्म भवान् शिष्यते ।। १८ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु उज्ज्वले सद्विग्रहे बहिष्ठमेव जगत् प्रतिबिम्बितं मन्मात्रा दृष्टं मुखमिव मुकुरे न तु तदन्तस्तदस्तीति तत्राह यस्येति । यस्य ते कुक्षाविदं विश्वं यथा भाति तथैवेह त्वत्कुक्षेर्बहिरपि भाति तच्च सात्मं त्वत्सहितमिति प्रतिबिम्बो निरस्तः नहि मुकुरे मुकुरो दृश्यते त्वयीति तथा कुक्षिस्थ विश्वं त्वदाधारकं तथा बहिष्ठमपीति तत्तस्माद्वैलक्षण्यलेशस्याप्यभावात्तदिदं सर्वं द्विविधदर्शनं किं मायया अविचिन्त्यशक्त्यशक्त्या विना भवति तथैवैतद्भवतीत्यर्थः ।। १७ ।। अपि च त्वत्कुक्षौ ततो बहिश्च जगत् त्वन्मात्रा दृष्टं तव कारणोदशयस्य रोमकूपेषु च जगत् कोट्यः परिभ्रमन्ति तत्सर्वं त्वन्मायया त्रिगुणया विरचितमित्येतावत् कालं मया निश्चितमेव अद्य त्वद्विचिन्त्यपराख्यशक्तेस्तव विज्ञानानन्दमयो निर्विकारः सर्गोऽस्तीत्यनुभूतमिति सरोमाञ्चं निवेदयति—अद्यैवेति । अस्य मञ्जु-महिमनि दृष्टस्य वासुदेव-निवहस्य सम्बन्धि तत्रत्यपरिच्छदरूपं वस्तु किं त्वदृते त्वां विनाभूतं अपि तु त्वदात्मकमेव सर्वमित्यर्थः । मम मां प्रति ते त्वया अस्य सन्निवहस्य मायात्वं नादर्शितं किन्तु पराख्यशक्तिमयत्वमेव दर्शितमित्यर्थः । कथमित्याह प्रथममेकत्वमसि ततो व्रजसुहृदो बालाः समस्ता वत्सा अपि त्वमेवाभूः ततस्तानाच्छाद्य प्रकाशितास्तावन्तश्चतुर्भुजास्त्वमभूः कीदृशास्ते मया लक्ष्म्या साकमखिलैस्तत्त्वरुपासिताः तावन्ति जगन्ति विज्ञानमयान्यण्डानि चाभूः तत्ततस्तानि सर्वाण्याच्छाद्य अमितमन्तर्गततत्सर्वत्वाद्विभु ब्रह्मावशिष्यते अद्वयमिति प्राग्वत् अत्र त्वदृते किं त्वमभूस्त्वमभूरितिनिर्देशान्मायया अभूरित्यनुक्तेश्च पराख्यशक्त्यैव व्रजसुहृदादिजगदन्ततया नन्दसूनोराविर्भावो दर्शितः एष खलु नारदपञ्चरात्रे शुद्धसर्गशब्देनोच्यते "शुद्धं सर्गमहं देव ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः" इत्यादिभिः ।। १८ ।।

श्रीसुबोधिनी

ननु विश्वाधारो नारायण एव पुरुषस्तस्मिन् विश्वप्रतीतेरतोऽहं प्रपञ्चमध्ये स्थितः सूक्ष्मो नारायणो न भवामीति चेत् तत्राह **यस्येति, यस्य** नारायणस्य **कुक्षाविदं सर्वं सात्ममात्मसहितं भाति तथा त्वय्यपीह भाति,** अतो विशेषाभावाद् भवानपि नारायणः, यस्तु भेदः परिच्छेदोऽन्यथाप्रतीतिरेतत् **सर्वं किं मायया विना ?** अपि तु तव व्यामोहिकया शक्त्या माययैव भासते भवान् परिच्छिन्न आधेयो नारायणाद् भिन्न इति, अतः पुरुषस्य नारायणपक्षेपि भवान् नारायणः ।।१७।। किञ्च नारायणः पुरुषोत्तमः स एव सर्वं न त्वन्यो नारायणो भवतीति चेत् तत्राहाद्यैवेति, **अद्यैव ते त्वया त्वदृतेस्य** प्रपञ्चस्य भिन्नतया सत्त्वं नास्तीति ज्ञापयितुं

मायात्वमादर्शितं, ये हि भिन्नतया जगद् भगवद्व्यतिरिक्तमस्तीत्याहुस्तेऽद्यैव भ्रान्ताः कृता यतः सर्वं त्वमेवेति, तदुपपादयत्येकोऽसि **प्रथमं** यदा मया वत्सा अपहृता बालाश्च ततो व्रजस्य सम्बन्धिनः सुहृदो बाला **वत्साश्च ततः समस्ता अपि** सर्वब्रह्माण्डरूपस्ततः क्षणानन्तरं **तावन्तोपि** भगवत्स्वरूपाश्चतुर्भुजा दृष्टास्तत्राप्यखिलैर्ब्रह्माण्डैस्तत्त्वैर्वा **मया चोपासितास्तावन्त्येव जगन्ति त्वमे-वाभूः**, अतःकारणाद् ब्रह्माद्वयमेव शिष्यते, न त्वन्यः पदार्थो विचार्यमाणः सिध्यति, तस्माद् भवानेव नारायण इति समर्थितम् ।। १८ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

उक्तमेव स्पष्टयति—यस्येति । इह बहिः जगति इदं सर्वं यथा भाति तथैव तस्य तव कुक्षावपि तत् सर्वं भाति, तदिदं भानं त्वयि मायया विना त्वदिच्छया विना किं कथं घटते इत्यन्वयः । ननु "तर्हि विद्यमानस्य विश्वस्य मुखे प्रतिबिम्बे एव कुतो न स्यात्" इत्याशङ्क्याह—सात्ममिति । आत्मना त्वया सहितमित्यर्थः । त्वयि प्रतिबिम्बत्वे बाह्याद्विलोमतयैव प्रतीयेत नतु तदस्ति । तव चादर्शस्थानीयस्य त्वदन्तः प्रतीतिर्न स्यात् । अतोऽचिन्त्यशक्त्या त्वदिच्छयैव तथा प्रतीतिरिति भावः ।। १७ ।। न, केवलं जनन्या-प्रदर्शितम्, अपि तु ममापि' इत्यत आह—अद्यैवेति । त्वदृते त्वां विना अस्य विश्वस्य मायात्वं स्वेच्छाधीनत्वं ते त्वया अद्यैव किं मम न आदर्शितम् ? अपि तु प्रदर्शितमेव । तथाहि—प्रथमं यदा मया वत्सादयो नापहृतास्तदा त्वमेकः श्रीकृष्णरूपोऽसि । ततो वत्स-बालादिहरणानन्तरं व्रजसम्बन्धिनो सुहृदो बाला वत्साः समस्ता वेणुविषाणादयश्च सर्वेऽपि त्वमेव अभूः । ततो मया सह अखिलै-स्तत्त्वादिभिरुपासिताः सेवितास्तावन्तस्तावत्सङ्ख्याकाश्चतुर्भुजाः त्वमसि अभूः । ततश्च तावन्त्येव जगन्ति ब्रह्माण्डानि त्वमभूः । तत्र तत्राप्येकैकमूर्तिरस्मदादिभिः सेवित इति ज्ञेयम् । एवमनन्तरूपस्त्वमभूः । तस्मात् अमितमपरिमित ब्रह्म परिपूर्णमद्वयमेव त्वत्स्वरूपमवशिष्यते । ब्रह्माण्डदर्शनं पूर्वमनुक्तमपि अत्रत्योक्त्यैव ज्ञेयम् ।। १८ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

ननु वहिस्थस्य जठरे प्रतिविम्बोऽस्तु नतु मायेत्यत आह—यस्येति ।। यस्य तव कुक्षौ इदं सर्वं सात्मम् आत्मना त्वया सहितम् आत्मानमपरित्यज्य सात्मं साकल्येऽव्ययीभावः । अनश्चेति टच् । "अव्ययीभावे चाकाले" इति सहस्य सः । यथा भाति तथैव तत्सर्वमपि इह वहिरपि भाति तदिदं भानं त्वयि मायया विना किं कथं घटते । अयं भावः । त्वयि प्रतिबिम्बश्चेत् वाह्याद्वि-लोमतया प्रतीयेत नतु तथास्ति तव चादर्शस्थानीयस्य त्वयि प्रतीतिर्न स्यात् । नहि दर्पणे दर्पणो दृश्यते अतो मिथ्यात्वमेवेति ।।१७।। अद्यैवेति ।। त्वदृते त्वां विना अस्य विश्वस्य मायात्वं ते त्वया अद्यैव किं मम नादर्शितम् न दर्शितमपि तु प्रदर्शितमेव । तथाहि प्रथमं यदा मया वत्सादयो नापहृतास्तदा त्वमेकः श्रीकृष्णरूपोऽसि ततो वत्सबालादिहरणानन्तरं व्रजसंबन्धिनः सुहृदो बालाः वत्साः समस्ता वेणुविषाणादयश्च सर्वेऽपि त्वमेवाभूः । ततो मया साकं सहाखिलैस्तत्त्वादिभिरुपासिताः सेवितास्तावन्तस्तावत्संख्याकाश्चतु-र्भुजाः त्वमसि अभूः ततश्च तावन्त्येव जगन्ति ब्रह्माण्डानि त्वमभूः तस्मात् अमितमद्वयं ब्रह्मैव त्वत्स्वरूपमवशिष्यते । ब्रह्माण्डदर्शनं पूर्वमनुक्तमप्यत्रत्योक्त्यैव ज्ञेयम् ।। १८ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

न केवलं मातुर्दर्शितं किंतु ममापि दर्शितमित्याह अद्येति । त्वदृते त्वां विना अस्य वत्सादिरूपस्य प्रदर्शनरूपं यन्मायात्वं योगैश्वर्यत्वं ते त्वया ममाद्यैव तत्किं न दर्शितं दर्शितमेव तदेवाह प्रथमं त्वमेकोऽसि तावंतः चतुर्भुजाः त्वमसि तत्तदनंतरम् एते मया सहाखिलैः पृथिव्यादिभिः उपासिताः यावंतस्ते तावंत्येव जगन्ति ब्रह्मांडानि अभूः तत्तदनंतरम् अमितमप्रमेयम् अद्वयं वत्सपादि-रहितं ब्रह्म श्रीकृष्णाख्यमवशिष्यते ।। १७ ।। पुनस्तदेव योगैश्वर्यं प्रकारांतरेणाह अजानतामिति आत्मा परमात्मा त्वं आत्मना स्वतंत्रतया अनात्मनि त्रिगुणात्मकप्रकृतौ मायां योगैश्वर्यं वितत्य विस्तार्य भासि अतर्यामिशक्त्या प्रकाशमानोऽसि एवंभूतां त्वत्पदवीं तव मार्गम् अजानतां पुंसां चेतनाचेतनभिन्नस्त्वं जगतः सृष्टौ सर्जने अहं विधिरूपक्षेत्रज्ञ इव भासि एवंभूतस्त्वं विधाने पालने एषः विष्णुरिव सत्त्वगुणाभिमानी क्षेत्रज्ञ इव भासि अंते प्रलये त्रिनेत्र इव तमोगुणाभिमानी रुद्र इव भासितेभ्यस्त्वं स्वरूपभावादिभिरति-विलक्षणोसीति भावः ।। १८ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एतदेव काक्वा विवृणोति ।। यस्येति ।। इदं परिदृश्यमानं, सर्वं चिदचिदात्मकं, सात्ममात्मभ्यां सहितं, जनन्यास्तव चात्मना सा[त्म]मित्यर्थः । यथा इह बहिः भाति, तथा तत् सर्वं त्वयि त्वत्संबन्धिनि, कुक्षावपि त्वज्जठरेऽपि, मातुर्भातिमिति शेषः । तत्तस्मात्, इदं यस्यास्य तवेत्यर्थः । मायया विना, किम् । एतत्त्वदाश्चर्यशक्तिमूलकमेवेत्यर्थः ।। १७ ।। न केवलं जनन्याः ममापि तथैव विचित्र-शक्तिर्दर्शितेत्याह ।। अद्यैवेति ।। अद्य त्वदृते आधुनिकं त्वां विना, अधुना गोपालबालकावस्थावस्थितं त्वां विनेत्यर्थः । अस्य त्वत्पूर्वो-

त्तरावस्थाद्वयं पश्यतः, मम, ते त्वया, मायात्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं, न एव आदर्शितं, आदर्शितमेवेत्यर्थः । विचित्रशक्तिमूलकं मया तव किं किमादर्शितमित्यत्राह । प्रथमं मत्कृतवत्सवत्सपाहरणदशायां, एकः, त्वं असीति । ततः, समस्ताः व्रजसुहृद्वत्साः व्रजसुहृदो गोपबाला वत्साश्च अपि, त्वमसीति । तत्ततः, मया ब्रह्मणा, साकं सह, अखिलैश्चराचरादिभिः, उपासिताः, तावन्तः यावन्तो व्रजसुहृद्वत्सास्तावन्तः अपि, चतुर्भुजाः त्वमसीति, ततः, तावन्त्येव, जगन्त्यभूः तावन्ति विराड्रूपाणि त्वमासीरित्यर्थः । इदं प्रागनुक्तमप्यत्रोक्त्या तत्रापि विज्ञेयम् । एतन्मायात्वमादर्शितमिति संबन्धः । तत्ततः; इदानीं अमितमपरिच्छिन्नं, अद्वयं स्वतुल्यवस्त्वन्तररहितं, ब्रह्म श्रीकृष्णात्मकं परं ब्रह्म, शिष्यतेऽवशिष्टं वर्त्तते ॥ १८ ॥

कृष्णप्रिया

जब आत्मा सहित यह सम्पूर्ण विश्व जैसा बाहर दीखता है वैसा ही आपके उदर में भी देखा तो क्या यह सर्व दर्शन आप की माया के बिना ही आप में प्रतीत हुआ ? इसलिये आप और नारायण एक ही है जो भिन्न देखने में आता है वहीं आप की माया है ॥ १७ ॥ क्या प्रभो, अभी भी आपने यह अनुभव नहीं कराया कि आपके स्वरूप से यह विश्व सत्य है । आप से अतिरिक्त विश्व नहीं ? प्रथम आप अकेले थे, फिर आप ही समस्त व्रज के मित्र और बछड़े स्वरूप हो गये और वस्त्राभूषणादि स्वरूप भी बन गये । जब उसके बाद देखा तो सर्व चतुर्भुज दीख पड़े । पुनः तो मैं और मेरे सहित सबके सब ब्रह्मांड आप की सेवा करते दीख पड़े । पुनः आप अनन्त अलग-अलग ब्रह्मांड स्वरूप बन गये अब आप केवल, अपरिमेय, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप से अवशिष्ट रहे हैं ॥ १८ ॥

अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्माऽऽत्मना भासि वितत्य मायाम् ।
सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोऽन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥
सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्स्वपि तेऽजनस्य ।
जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जगतः सृष्टी अहम् इव विधाने त्वम् इव अन्ते त्रिनेत्र इव एष त्वत् पदवीं अजानताम् अनात्मनि आत्मना मायां वितत्य भाति अन्ते त्वम् एव ॥ १९ ॥ ईश ? सूरेषु ऋषिषु तथा एव नृषु अपि तिर्यक्षु यादस्सु अपि अजनस्य ते जन्म हे प्रभो ? हे विधातः ! असतां दुर्मदनिग्रहाय च सदनुग्रहाय ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु ब्रह्मंस्तव मया दर्शितं शुद्धमेव चैतन्यं कथं प्रपंचवन्मायेत्युच्यते । सत्यम् । किं त्वद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्याद्यवतारेष्विव कार्यवशेन स्वतंत्रमायानिबंधनमित्याह श्लोकद्वयेन । अजानतामिति । त्वत्पदवीं तव स्वरूपमजानतामनात्मनि प्रकृतौ स्थित आत्मैव त्वमात्मनैव स्वातंत्र्येण मायां वितत्य भासि । कथम् । जगतः सृष्टावहमिव ब्रह्मेव । विधाने पालने च एष त्वमिव । अंते संहारे त्रिनेत्र इवेति ॥ १९ ॥ सुरेषु उपेंद्रः । ऋषिषु परशुरामः । नृष्वपि रामः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भगवतः शङ्कान्तरमाह—नन्विति । स्वीकृत्य किञ्चिदाह—सत्यं, किं त्विति । स्वतन्त्रमायानिबन्धनं स्वाधीनमायाहेतुकम् । त्रिनेत्रो रुद्रः ॥ १९ ॥ सुरेषु उपेन्द्रः । ऋषिषु परशुरामादिः । तथैव देवादिष्विव । तिर्यक्षु वाराहादिः । यादस्सु मत्स्यादिः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । असतां रावणादीनाम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदेवं गुणावतारलीलावतारेष्वपि त्वमेव मूलमित्याह, अजानतामिति द्वाभ्याम् । त्वमित्यस्य भासीत्यनेनान्वयः कर्त्तृक्रियान्वयस्यैव मुख्यत्वात् विधाने पालने एष इव एतत्कार्य्यपरिच्छिन्न इव पालनमात्रकर्त्तेवेत्यर्थः । विष्णोस्तदैक्यान्न ब्रह्मादिवत् तन्नामोक्तिरिति ज्ञेयम् यथा द्वितीये श्रीब्रह्मणैवोक्तम्—

"सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः । विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" ॥ इति ॥ १९ ॥

अजनस्य प्राकृतवज्जन्मरहितस्य स्वरूपशक्त्या स्वयमाविर्भावात् तच्च केवलं भक्तपरिपालनायेति मायाकार्यानासक्तिमाह, असतामिति । प्रभो, हे अविचिन्त्यशक्तियुक्त ! विधातः, हे अनन्तावतारकर्त्तः ! अत्राजानतामित्यादौ या टीकावतारिका ननु, ब्रह्मंस्त्याद्या तत्रायमभिप्रायः ईश्वरः खलु स्वाधीनया मायया प्राकृतविलक्षणं शुद्धसत्त्वात्मकं स्वविग्रहादिकं भजति ततस्तत्राविद्यश्च न

भवति शुद्धसत्त्वस्य स्वच्छत्वेन शुद्धचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वात्तद्रूपमेव तत्सर्वम्। जीवस्त्वीश्वराधीनया माययाऽधीनीकृतः प्रपञ्चात्मकं रजस्तमोमयं विग्रहादिकं प्राप्नोति ततस्तत्राविष्टश्च भवति रजस्तमसोरस्वच्छत्वेन चिद्रूपत्वानाविष्काराज्जडरूपमेव तत्सर्वमित्यतो भवेदेव वैलक्षण्यमिति किं तु मायाशब्दस्य स्वरूपशक्तिवाचित्वेनापि प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्तन्मतस्वमतयोरेकत्वमेव दर्शयिष्यते।२०।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ईदृश-त्वन्माहात्म्यानभिज्ञेषु त्वदभक्तेषु त्वमन्यथैव स्फुरसीत्याह—अजानतामिति। उक्तां तव पदवीं तत्त्वं भक्तिमार्गं वा अनात्मनि जडे देहे आत्मा स्वयमेव त्वमात्मना जीवरूपेण प्रकाशसे। ननु, जीवेश्वरयोः परमवैलक्षण्यं श्रुतिस्मृतिप्रतिपाद्यमानं ते कथं नावगच्छन्ति ? तत्राह - वितत्य मायामिति, अभक्तत्वेन त्वन्मायामोहितत्वादित्यर्थः। अत एव जगत् सृष्टिनिमित्तं योऽहं स इव भासि। एवमग्रेऽपि। एष त्वमिति मन्वन्तरपालकावतारश्रीविष्णुना सहाभेदाद्यभिप्रायेण—अहमेव ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति ते जानन्तीत्यर्थः। सृष्ट्यादिप्रयोजननिर्द्देशेन तेषामज्ञतैव दर्शिता। सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वेन जीवतः परमवैलक्षण्येऽपि तत्तदभिमानात् सृष्ट्यादिक्रमापेक्षया ब्रह्मादिक्रमेण निर्देशः। यद्वा, यथा सृष्ट्यादिनिमित्तमहदादिरूपेण मायां वितत्य भासि तथैवेत्यर्थः, तत्ततस्तवैव सृष्ट्यादिकर्तृत्वात् (भा० १।१।१) 'जन्माद्यस्य यतः' इत्याद्युक्त्या॥ १९॥ तेषामपि हिताय निरुपाधिककरुणया त्वं बहुधाऽवतरसीत्याह—सुरेष्विति। अजनस्य—जननं जनः, न विद्यते जनो जन्मलक्षणसंसारो भक्तानां यस्मात्तस्य। दुर्म्मदः—'अहं शास्त्रार्थज्ञो योगाभ्यासरतः सिद्धः' इत्यादिरूपः, तस्य निग्रहाय निरसनाय, तत्तल्लीलाश्रवणेन भक्त्या स्वत एव तदपगमात्। न केवलं तेषामेव हितार्थम् साधूनां सन्तोषणार्थमपीत्याह—सदिति। असद्दुर्म्मदनिग्रहेण सद्धर्म्मप्रवर्त्तनं तथा तत्तन्मधुरलीलादि-प्रकाशनमेव सत्स्वनुग्रहस्तस्मै। ननु, असत्सु कथमीदृशी कृपा ? तत्राह—प्रभो! हे परम स्वतन्त्रेत्यर्थः, यद्वा, तथापि तेषां सा दुर्वासिना कथमपयातु ? तत्राह—प्रभो! हे समर्थेति ? तवाशक्यं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः। विधातः! हे तत्तदवतारकर्त्तरिति प्रकृतोपयोगित्वादवतारित्वेन सम्बोधनम्, अथवा, मायामोहितत्वात्ते त्वदवतारेषु जीववद्दृष्टिञ्च कुर्वन्ति, जन्मादिश्रवणात्, तत्त्वतस्तु वयमिव ते तव प्रादुर्भावरूपा एवेत्याह—सृष्टाविति सार्द्धेन। सृष्ट्यादिनिमित्तं यथा वयं त्रयस्तथा तेऽपि तत्तदर्थमतो न जीववत्तेषां जन्मादीत्यर्थः। ततश्च सुरेषु धर्म्मादिषु श्रीनर-नारायणादयो ज्ञेयाः। अथवा, तर्हि भक्तेषु कथं भासीत्यपेक्षायां (१८ श० श्लो०) 'त्वदृते' इत्युक्तम्; तत्सत्यत्वमेव दर्शयन्नाह—सृष्टावित्यादि। सृष्ट्यादिनिमित्तं ब्रह्मादिरूपेण तत्तदर्थञ्च श्रीनरनारायणादिरूपेण त्वमेव तेषु भासीत्यर्थः। तदर्थं प्रपञ्चान्तर्गतमपि त्वां ते सत्यमेवानेकमप्येकमेव जानन्तीति भावः॥ २०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

एवं क्वाहमित्याद्यष्टभिः परब्रह्मणः श्रीमन्नारायणस्य तस्यावतारस्य कृष्णस्य निरङ्कुशमहित्वं प्रतिपाद्य गुणावतारादिषु अवतारिणस्तस्यावताररहस्यं दुर्ज्ञेयमित्याह—त्रिभिः अजानतामिति। एवं त्वत्पदवीं त्वत्स्वरूपगुणविभूतितत्त्वरूपाम् अजानतां त्वमात्मा "आत्मा नारायणः" इति श्रुतेः "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इति श्रुतेश्च तत्तज्जीवशरीरकः आत्मना स्वसङ्कल्पेन अनात्मनि तत्तद्देहे गुणकलांशादिव्याप्ये मायां जीवेषु "अजायमानो बहुधा विजायते" इत्यज्ञानरूपां वितत्य विस्तार्य वर्तमानः भासि तव तत्त्वज्ञानां भासि सृष्टाविवाहं सृष्टिसमयेऽहं ब्रह्मेव गुणावतारः जगतः विधाने पालने एव त्वमिवेति एषः प्रत्यक्षं दृश्यमानः एवं विष्णुकृष्णयोरेकत्वमुक्तं साक्षादेव नतु जीवान्तरितः तौ तु जीवान्तरितावेव ब्रह्मरुद्रावितिभावः॥ १९॥ अथावताराणामनन्तानां गणयितुमशक्यत्वात् "यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा" इति न्यायोक्तं तदधिकरणभूतानि सुरादीनि गणयति—सुरेष्वृषीष्वीश तथैव नृष्वपीत्यादिना। साधुपरित्राणं दुष्टनिग्रहश्च श्रीभगवदवतारप्रयोजनमुक्तम्॥ २०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मया साकमखिलैरुपासिता इत्युक्तं तत्राह—नन्वहमेवंविधश्चेत्सर्वेषामप्येवं किं न प्रतीये ? तत्राह—अजानतामिति, अनात्मनि देहे आत्माऽत्मना आत्मभावेन देहात्माभिमानस्वतन्त्राभिमानादिना हेतुना त्वत्पदवीं त्वद्याथात्म्यमजानतां भासि किं कृत्वा मायां वितत्य तेषु मायां प्रसार्य कथं भासि ? जगतः सृष्टावहमिव सृष्टौ निमित्तभूतायां सृष्ट्यर्थमिति यावत् एवमुत्तरत्रापि अहं चतुर्मुख इव विधाने रक्षणे एष त्वमिव विष्णुरिवान्ते संहारे त्रिनेत्रो रुद्र इव पृथक् स्वतन्त्र इव भासि त्वत्पदवीं जानतां तु ब्रह्मरुद्राख्यजीवान्तर्यामितया तच्छरीरकत्वेन विधाने तु साक्षात् स्वावताररूपत्वेन भासीत्यर्थः। मायाशब्दस्त्वत्र प्रकृतिपरः प्रकृतिगुणान् रजआदीन्वितत्येत्यर्थः। स हि "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इति प्रमाणवशात्क्वचित्प्रकृतिपरः "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टुपाठात् "मायया सततं वेत्ति" इत्यभियुक्तप्रयोगाच्च क्वचित् ज्ञानपरः क्वचिच्च विचित्रशक्तिपरः "योगमायां समादिशत्" इति भागवतप्रयोगादेव "ऋते मायां विशालाक्षीम्" इति श्रीरामायणप्रयोगाच्च "जलं संस्तभ्य मायया" इति जलस्तम्भनशक्तौ भारतप्रयोगाच्च तस्मात्तत्र यथोचितस्तदर्थो ग्राह्यः॥ १९॥ विधाने त्वमिवेत्येतदेवोपपादयति, सुरेष्विति। हे ईश! अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य ते तव सुरादिषु जन्मावतारः हे प्रभो, विधातः! दुष्कृतां दुर्मदनाशनाय साधूनामनुग्रहाय च भवति तत्र सुरेषूपेन्द्रादिरूपं जन्म ऋषिषु नरनारायणपरशुरामात्मकं नृषु दाशरथ्यादिकं तिर्यक्षु वराहादिरूपं यादस्सु मत्स्यकूर्मादिरूपम्॥२०॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

तदेव प्रपञ्चयति—अजानतामिति । त्वत्पदवीं तवाचिन्त्ययोगैश्वर्यम् अजानतां त्वद्विमुखानाम् अनात्मनि प्रकृतौ तिरस्करणीरूपायां योगमायायां आत्मा आत्मतया स्थितः "यस्य प्रकृतिशरीरं यः प्रकृतौ तिष्ठन्" इत्यादिश्रुतेः । आत्मना उपकरणरहितः स्वेनैव मायां वितत्य विमुखानामुपरि प्रसार्य तदुक्तम् "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति भासि प्रकाशते कथं जगतः सृष्टावहमिव विधाने पालने एष मम नेत्रगोचरस्त्वमिव अन्ते संहारे त्रिनेत्र इवेति अत्र सर्वस्य जगत उत्पत्त्यादिकं सर्वेश्वरस्त्वमेव करोषि नान्यः किन्तु सृष्टिसंहारौ चतुर्मुखरुद्रान्तर्यामित्वेन करोषि पालनं तु स्वयमेव विष्णववताररूपेण करोषि "नहि पालनसामर्थ्यमृते सर्वेश्वरं हरिम्" इत्यादिप्रमाणात् तथा च द्वितीये ब्रह्मा नारदं प्रति—

"नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् । गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥
सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः । विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्" ॥ इति ॥ १९ ॥

अन्येऽप्यवताराः साधुपरित्राणार्थं क्रियन्ते त्वयेत्याह—सुरेष्विति हे ईश ! अचिन्त्यैश्वर्य ! अजनस्य जन्मरहितस्य ते सुरेषु जन्म त्रिविक्रमादि ऋषिषु व्यासादि तथैव नृष्वपि रामकृष्णादि तिर्यक्षु वराहादि यादस्सु मत्स्यादि आविर्भावः असताम् आसुरसम्पद्युक्तानां दुर्मदनिग्रहाय तेषां प्रशान्त्यै हे प्रभो, स्वामिन् ! विधातः, जगद्रक्षक ! सदनुग्रहाय स्वाश्रितानुग्रहार्थं तदप्युक्तम् ।

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे" ॥ इति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

किन्तु ये तु तन्महिमानं न जानन्ति, ते मायैवेयमिति वदन्ति, न पुनरनिर्वचनीयं तव स्वयोगशक्तिविलसितं तथाविधमेवेति दर्शयन्नाह—अजानतां त्वत्पदवीमित्यादि । त्वत् पदवीं तव वर्त्म अजानतां जनानामज्ञानतो जनाननादृत्य, अनादरे षष्ठी, अना अपुरुष ईश्वरस्त्वमात्मा चेदात्मना इच्छाशक्त्या आत्मनि स्वभावे मायां योगमायां नामैच्छिकीं प्रकाशिकाख्यां शक्तिं वितत्य भासि, त्वत्पदवीमजानन्तस्ते तन्न विदन्तीति तेष्वनादरः । ननु तर्हि विश्वसृष्ट्यादिलीलापि प्रकाशिकायाः शक्तेर्विलसितमेवास्तु, न त्वावरिकायाः ? नैवेत्याह—सृष्टाविवाहमित्यादि । जगतः सृष्ट्यादौ योऽस्माकमभिमानः, स त्वावरिकाया एव प्रभावोऽस्मदादिरूपेण त्वमेव करोषि, तत्तु तव लीलैव, न कुहकम् । यथा वत्स-वत्सपादयस्त्वद्रूपा एव न कुहकम्, अहं ब्रह्माख्यः कश्चन, विधाने पालने त्वमिव विष्णुरिव विष्णुर्नाम कश्चन, अन्ते नाशे त्रिनेत्रे इति रुद्राख्यः कश्चनेति, वस्तुतस्तव लीलैव, न तु कुहकमिदम्, तद्वद्वत्सपालादिकं तद्दर्शितं तदपि न कुहकम्, तत्ते ऐच्छिकाख्यप्रकाशिका योगमायैव सृष्ट्याद्यपि अस्मदादिरूपेण त्वमेव करोषि तत्रास्मदादीनां योऽभिमानः, स एवावरिकाख्याया विलसितम्, न त्वस्मदादिस्त्वद्रूपत्वात् यथा वत्स-वत्सपादय इत्यन्योन्योपमाव्यङ्ग्या तेन नेदं ते कुहकमिति पूर्वानुवादः ॥ १९ ॥ एव तव मत्स्याद्यवतारा अपि न कुहकम् । ऐच्छिक्या एव प्रकाशिकाया योगशक्तेर्विलसितमेवास्मदादिवत् स वत्सपादिवदित्याह—सुरेष्वृषिष्वीशेत्यादि । सुरेषु यज्ञादिरूपेण, ऋषिषु नरनारायणादिरूपेण, नृषु पृथ्वादिरूपेण, तिर्यक्षु वराहादिरूपेण, यादःसु मत्स्यकूर्मादिरूपेण अजनस्यापि तव जन्म प्रादुर्भावोऽसतां दुर्मदनिग्रहाय, सदनुग्रहाय च । हे ईश ! कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ ! प्रभो सर्वेश्वरेश्वर ! सर्वविधातः ! विधा विधिस्तस्मात् प्रयोजनादेव विधा प्रकारस्ततो वा, विधातरिति सम्बोधनं वा, न तु तत् कुहकम्, पूर्ववत् प्रकाशिकाख्ययोगशक्तिविलसितमेव ॥ २० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एतदजानन्तो हि मुह्यन्तीत्याह—अजानतामित्यादि । त्वत्पदवीमजानतां त्वन्महिमानमविदुषां मध्ये अनात्मनि अनात्मीये भक्ते भवे आत्मना स्वयमेव मायां वितत्य भासि, यद्यपि सर्व एव ते महिमानमभिज्ञास्तथापि भक्तेषु मायां न करोषि भक्तास्तव मायाहता न भवन्तीत्यर्थः ! मायामेवाह – सृष्टौ अहमिव वस्तुतस्तु त्वमेव सृजसि, पासि, लुम्पसि च, 'अहं विद्वान्, अहमेव जगत्कर्ता' इति यदभिमानमावहामि विधाने पालने एष त्वं विष्णुरूपी यः, त्वामचक्षाणस्त्वमन्ते त्रिनेत्रः । एतेषां पार्थक्यं हि मायया ॥ १९ ॥ एवं नानावतारोऽपि ते एव पृथक्त्वेन यया भासते, सा माया, वस्तुतस्त्वं सुरादिर्न भवसि । अत उक्तम् (भा० ८।३।२४) "स वै न देवासुर" इत्यादि । तत्तद्भावस्तु मायेत्याह—सुरेष्विति । एष तव जन्म प्रादुर्भावः, स खलु असतां दुर्मद-निग्रहाय च, तेषु यत् पार्थक्यं यश्च चतुर्जातीयावतारस्तन्माया । नरेषु पृथ्वादिषु । न तु एते मे दृष्टाः सत्यज्ञानानन्तानन्दादिविशेषण-विशिष्टा वा नास्ति न माया । नन्वहमपि नरत्वमङ्गीकृतवानस्मीति नैवं तवैतत् स्वरूपमेव (पाद्मोत्तरे) "नराकृति परं ब्रह्म" (भा० ७।१०।४८) "गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्" इत्युक्तेः । यस्मादेते सत्यज्ञानानन्तानन्दादिमूर्त्तयः प्रादुर्भूताः, तस्य तव नरत्वे का कथेति पूर्वापरसङ्गतिः ॥ २० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

दुर्गममहिम्नस्तव चिन्मयजगतां वार्ता दूरे तावदास्तां बहिर्मुखानां मते तु त्वमपि मायोपाधिर्मायामय एव भवसीत्याह—अजानतामिति । त्वत्पदवीं त्वत्प्रापकं वर्त्म भक्तियोगमजानतां ज्ञानमानिनां तु मतं त्वमनात्मनि प्रकृतौ स्थित एव आत्मैव त्वम् आत्मनैव स्वातन्त्र्येणैवेति तव जीवाद्विशेषः मायां वितत्यैव भासि आकारशून्योऽप्याकारवत्त्वेन भातो भवसि सृष्टौ रजोगुणेन यथाहं विधाने पालने सत्त्वेन एष त्वं विष्णुरिव अन्ते तमसा त्रिनेत्रो रुद्र इवेति निराकारस्याप्यात्मनो मायिकाकारा यथा ब्रह्मविष्णुरुद्रा-स्तथा मायिकमेव जलस्थं नारायणरूपम् अवताराश्च सर्वे मायिकरूपा माययैव वत्सबालचतुर्भुजादीन् क्षणिकान् दर्शयामासेति ते प्राहुरित्यर्थः ॥ १९ ॥ अतस्तैः स्वभक्तानां पराभवाभावार्थं यत् स्वपदवीज्ञापनं प्रायस्तदर्थमेव तव सर्वेऽवतारा इत्याह—सुरेष्विति । असतामसाधूनां वयमेव ज्ञानवन्त इति यो दुष्टो मदस्तस्य निग्रहाय सतां भक्तानां स्वीयसच्चिदानन्दमयरूपगुणलीलानुभावनयानुग्रहाय यदुक्तम् "स त्वं नचेद्धातरिदं निजं भवेत्" इत्यादि ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नन्वद्वयं ब्रह्माहं चेत्तदान्यतुल्यता भ्रमः कुत इत्यत आह, अजानतामिति । त्वत्पदवीमजानतां जगतः सृष्टौ अहं अन्ते त्रिनेत्रश्च त्वमिव त्वं च एष निःसमानातिशयोऽपि आत्मना अन्यनिरपेक्षेणापि मायां प्रकृतिं वितत्य जगदाकारेण प्रसार्य्यापि अनात्मनि जगति आत्माऽपि सन् विधाने पालने कृतावतारः अहमिव त्रिनेत्र इव भासि अन्यतुल्यतया प्रतीतिविषयो भवसीत्यन्वयः ॥ १९ ॥ विधाने अवतारानाह – सुरेष्विति ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु ब्रह्मन् ममेत्थंभावमन्ये न वदन्ति यथा त्वमात्थेति चेत् सत्यं येषु तवात्यन्तिकी कृपा त एवैतं विदन्ति अन्ये त्वीश्वरः कश्चिदस्ति स जगत्कार्यार्थी ब्रह्मादिरूपः सृष्ट्यादि, वामनादिरूपस्तु सुरसाहाय्यञ्च करोतीत्येतावदेव जानन्ति नान्यदित्याह—अजानतामिति द्वाभ्याम् । त्वत्पदवीं त्वत्पराख्यशक्तिविलाससिद्धान्तपद्धतिमजानतामनुपासिततज्ज्ञानां तान् प्रत्यगात्मनि प्रकृतौ नियन्तृतया आत्मा स्वयमवस्थितस्त्वमात्मना स्वातन्त्र्येण मायां तामेव वितत्य भासि, कथं ? जगतः सृष्टावहं विरिञ्चिरिव विधाने पालने एष त्वमिव विष्णुना सहाभेदान्नामानुल्लेखः अन्ते विनाशे त्रिनेत्रो रुद्र इव ॥ १९ ॥ अजनस्यापूर्वदेहयोगशून्यस्य ते सुरादिषु जन्म सुरेषु वामनः ऋषिषु भार्गवः नृषु श्रीरामचन्द्रः तिर्यक्षु क्रोडः यादःसु मत्स्यः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

अत परं भवान् स्वाम्यहं सेवक इति सकृदपराधः सेवकस्य भर्त्रा सोढव्य इति वक्तुं सर्ववस्तूनां तत्त्वमाहाजानतामित्यादि-दशभिः, त्वत्पदवीमजानतामेतदग्रे वक्ष्यमाणं सर्वं तत्त्वं न तु त्वत्पदवीं जानते, एवमपि तेन तत्त्वेन न तेषां निस्तारो भ्रमतत्त्वभावात्, किन्तु तेषामपि तव पादाम्बुजानुग्रहलेशादेव मुख्यतत्त्वप्राप्तिर्न तु भावित्वेन, भ्रान्ते निरीश्वरसाङ्ख्यादिपरिकल्पिते न काचित् सिद्धिरिति, तत्र तेषां प्रथमं भ्रममाहानात्मनीति, अनात्मनि देहादावात्मात्मना देह आत्मेन्द्रियेणात्मना कृत्वा भाति, नन्वनात्मनि कथं कर्तृत्वं करणत्वं चेत्याशङ्क्याह वितत्य मायामिति, मायां वितत्य विस्तारयित्वानात्मन्येवात्मबुद्धिं सम्पादयति, तत्र दृष्टान्तो यथा सृष्टावहं ब्रह्मा, ब्रह्मा हि देहो न हि स कर्वा भवति, जगत्कर्तृत्वं भगवत एवेति जगतो विधाने स्थापने त्वमिव यथा गुणावतारो विष्णुः पालकत्वं च भगवत एवेति विष्णुरपि चतुर्भुजादिरूप इति त्वमिवेत्युक्तं, एष त्रिनेत्रः, अत एवेदानीं महादेवोप्यागत इति ज्ञायते, नाप्ययमन्तकर्ता, "जन्माद्यस्ये" तिन्याय उत्पत्तिस्थितिलया भगवतः सकाशादेवेत्युक्तं, अतो यथोत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तारो वयं कल्पिता एवं देहोप्यात्मा, इन्द्रियाणि च करणाण्यात्मा, अहमन्यथा पश्यामीति सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्निष्पद्येत ॥ १९ ॥ नन्वेवं भ्रमे सति कथं निस्तार इति चेत् तत्राह सुरेष्विति, भ्रान्तानां स्वरूपस्वतत्त्वपरिज्ञापनाय, सुरेषु देवेषु वामनरूपेण, ऋषिषु परशुरामरूपेण, तथा नृषु रामरूपेण, तिर्यक्षु वराहरूपेण, यादःसु मत्स्यकूर्मरूपेणाजनोपि जन्म कृतवान्, अन्यथा तत्त्वं को वा जानीयात् को वोपदिशेत् ? अतस्तव जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय सदनुग्रहाय च, दुष्टनिग्रहे तदुपद्रवस्तदावेशेन बुद्धिनाशश्च निराकृतो भवति ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'सर्वसाधारणतया ममापि प्राकृतत्वप्रतीतेः कथमद्वयब्रह्मत्वम् ?' तत्राह—अजानतामिति । त्वत्पदवीं तव परमस्वरूपमजानतामेव प्रकृतौ स्थितः आत्मा त्वमेव आत्मना स्वातन्त्र्येण मायां वितत्य विस्तार्य प्राकृत इव भासीत्यन्वयः । "अनात्मनि देहादौ आत्मात्मना आत्माभिमानेन त्वत्पदवीमजानतामेव स्वमायां वितत्य प्राकृत इव भासि 'नतु विवेकिनाम्'" इतिवाऽन्वयः । अज्ञानां भेदेन भाने दृष्टान्तत्रयमाह—जगतः सृष्टौ निमित्तभूतायां रजसाऽहं ब्रह्मेवेति, जगतः विधाने पालने सत्त्वेन एष त्वं विष्णुरिवेति,

जगतोऽन्ते प्रलये तमसा त्रिनेत्रो रुद्र इवेति ।। १९ ।। जगत्पालकत्वमेव प्रपञ्चयति—सुरेष्विति । हे प्रभो स्वामिन् ! अजनस्य कर्माधीनजन्मरहितस्यापि ते तव सतां सन्मार्गनिष्ठानामनुग्रहाय संरक्षणाय सुरादिषु जन्म स्वेच्छया प्रादुर्भावो भवतीत्यन्वयः । असतां सत्प्रतिपक्षिणां निग्रहं विना सतां रक्षणासम्भवादाह—असतां यो दुष्टः सत्पीडाहेतुभूतो मदः, तस्य निग्रहाय विनाशाय चेति । 'जगत्कर्तुर्युक्तं च सत्संरक्षणम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—हे धातरिति । रक्षायां सामर्थ्यं सूचयन्नाह - ईशेति । तत्र सुरेषु वामनरूपेण, ऋषिषु परशुरामादिरूपेण, नृपु रामकृष्णादिरूपेण, तिर्यक्षु वराहादिरूपेण, यादःसु जलचरेषु मत्स्यादिरूपेण ।। २० ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

मया दर्शितं शुद्धमेव चैतन्यं कथं प्रपञ्चवन्मायेत्युच्यते सत्यं किन्त्वद्वितीये त्वयि नानात्वं गुणावतारमत्स्यादिष्विव कार्यवशेन स्वतन्त्रमायानिबन्धनमपीत्याह —अजानतामिति ।। त्वत्पदवीं तव परमस्वरूपमजानतामेव अनात्मनि प्रकृतौ स्थितः आत्मा त्वमेव आत्मना स्वातन्त्र्येण मायां वितत्य विस्तार्य भासि । अत्र जगतः सृष्टौ निमित्तभूतायां रजसाऽहं ब्रह्मेवेति भासि । जगतः विधाने पालने सत्त्वेन एष त्वं विष्णुरिवेति भासि । जगतोऽन्ते प्रलये तमसा त्रिनेत्रो रुद्र इव भासि ।। १९ ।। सुरेष्विति ।। हे प्रभो ! हे विधातः ! हे ईश ! अजनस्य जन्मरहितस्यापि ते तव असतां दुर्मदनिग्रहाय सतामनुग्रहाय च सुरेषु वामनरूपेण ऋषिषु परशुरामादिरूपेण नृषु रामकृष्णादिरूपेण तिर्यक्षु वराहादिरूपेण यादःसु जलचरेषु मत्स्यादिरूपेण जन्म स्वेच्छया प्रादुर्भावो भवति ।।२०।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवंभूतस्य हरेरवतारप्रयोजनमाह सुरेष्विति सुरादिषु अजनस्य ते जन्म तिर्यक्षु वराहादिषु यादःसु जलस्थमत्स्यादिषु ।१९। हरेर्जन्मादीनां दुर्ज्ञेयत्वमाह को वेत्तीति हे योगेश्वर योगानामसंख्ययोगैश्वर्याणां नियामकस्त्वं योगमायां योगैश्वर्यं विस्तारयन् क्रीडसि एवंभूतस्य भवतः ऊतीर्जन्मकर्मादिलीलाः इयत्तया त्रिलोक्यां को वेत्ति इयत्तामाह क्व कस्मिन्स्थाने तव जन्मादिलीला भविष्यंति कथं केन प्रकारेण वा कति कियत्यो वा कदा कस्मिन्काले भविष्यंतीति को वेत्तीति संबंधः ।। २० ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वहमेवंविधश्चेत्सर्वेषामपि तवेव कथं बोध्यो नाभवमित्यत्राह ।। अजानतामिति ।। अनात्मनि देहे, आत्मात्मना आत्मभावेन, देहात्माभिमानदेवत्वाद्यभिमानस्वतन्त्रत्वाभिमानादिना हेतुनेत्यर्थः । त्वत्पदवीं त्वद्याथात्म्यं, अजानतां, मायां वितत्य, तेषु मायां प्रसार्येत्यर्थः । जगतः सृष्टौ, अहं इव, विधाने रक्षणे, त्वं इव पालनधर्मावस्थितत्वदवतारो विष्णुरिवेत्यर्थः । अन्ते संहारे, त्रिनेत्रः शिवः, इव, एषः त्वं भासि । अयं भावः । सृष्टयाद्यवसरेषु त्वत्प्राप्तैश्वर्या वयं त्रयोऽपि त्वन्मायावृतमतीनां परमेश्वरत्वेन प्रतीयमानाः सन्तोऽपि वास्तविकपरमेश्वराः न भवामः, वास्तविकः परमेश्वरस्त्वमेक एवैवं याथार्थ्येऽपि त्वत्पदवीमजानतां त्वन्मायावृतत्वान्न तथा प्रतीयसे, त्वत्पदवीं जानतां तु त्वं यथाविधोऽसि तथा प्रतीयसे इति ।। १९ ।। ननु मम त्वदुक्तविधसामर्थ्यवत्त्वे कथं मम देवादिष्ववतार इति चेदनितरसाध्यासन्निग्रहसदनुग्रहार्थमेवेत्याह ।। सुरेष्विति ।। हे ईश, अजनस्य कर्मायत्तोत्पत्तिरहितस्य, ते तव, सुरेषु देवेषु, उपेन्द्रादिरूपं ऋषिषु नरनारायणपरशुरामादिरूपं, तथैव नृषु मनुष्येषु, दाशरथ्यादिरूपं, तिर्यक्षु पशुषु अपि, वराहादिरूपं, यादःसु जलजन्तुषु अपि, मत्स्यकूर्मादिरूपं, जन्म अवतारः, हे प्रभो, हे विधातः, असतां दुष्कृतीनां, दुर्मदनिग्रहाय दुर्मदनाशाय, सदनुग्रहाय साधूनामनुग्रहार्थं च, भवति ।। २० ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सुरेष्विति : १०.१४.२०.

मात्स्यं रूपमलोकि काच्छपमपि क्रौडं च काण्ठोरवं ब्राह्मं चादितिरेणुकातनुभवे रामीयमप्युत्तमम् ।
अन्यान्यप्यभितः परन्तु न पुरा क्वापीदृगंक्षि प्रभो त्वद्रूपं स्वबलाविलासचतुरं बालात्तलीलं च सत् ।। ३१ ।।

कृष्णप्रिया

हे भगवन् ! आप ही विश्व की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के कर्त्ता है । जो लोग आपके स्वरूप को नहीं जानते उन लोगों को आप अनात्मदेहादि पदार्थों में देहेन्द्रियप्राणादिरूप से प्रतीत होते हैं आप ही अपनी माया को विस्तारकर अनात्म पदार्थों में आत्ममति सम्पादित कर देते हैं और विश्व रचना के अवसर आप ब्रह्मा के स्वरूप से, जगत्पालन के अवसर आप विष्णुस्वरूप से और प्रलय-अन्त के अवसर यहाँ ही विद्यमान यह भगवान् त्रिनेत्र के स्वरूप में प्रतीत होते हैं ।। १९ ।। हे ईश हे भगवन् ! हे प्रभो हे विधाता ! आप तो स्वयं अजन्मा ही हैं फिर भी असज्जन पुरुषों के दुर्मद-घमंड के नाश के लिये और सज्जनों पर असीम अनुग्रह करने के लिये देवता-ऋषि-मनुष्य-पक्षी-क्षुद्रप्राणी और जलचर आदि योनियों में आप अवतार धारण करते हैं ।। २० ।।

को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मन् योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।
[1]क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥
तस्मादिदं जगदशेषसमत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥ २२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भूमन् ! भगवन् ! परात्मन् योगेश्वर ! अहो क्व ! कथं वा ! कति वा ! कदा वा ! योगमायां विस्तारयन् क्रीडसि इति भवतः ऊतीः त्रिलोक्यां कः वेत्ति ! ॥ २१ ॥ तस्मात् असत्स्वरूपं स्वप्नाभम् अस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् इदम् अशेषं जगत् यत् मायातः उद्यत् अपि नित्यसुखबोधतनौ अनन्ते त्वयि एव सत् इव अवभाति ॥ २२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु च स्वातंत्र्ये कथं कुत्सितेषु मत्स्यादिषु जन्म कथं वा वामनाद्यवतारे याञ्चादिकार्पण्यं कथं वाऽस्मिन्नेव कदाचिद्भयपलायनादि अत आह । को वेत्तीति । अन्वर्थैः संबोधनैर्दुर्ज्ञेयत्वमेवाह भूमन्नित्यादिभिः । भवत ऊतीर्लिलास्त्रिलोक्यां को वेत्ति क्व वा कथं वा कदा वा कति वेति । अचिंत्यं तव योगमायावैभवमिति भावः ॥ २१ ॥ ननु भवत्ववताराणामचिंत्यो महिमा प्रपंचस्य ह्यसत्त्वे कथं सत्त्वप्रतीतिरितीमामाशंकां सपरिकरमुपसंहरन्परिहरति । तस्मादिति । अस्तधिषणं निरस्तप्रतिभासं त्वय्येवोद्यदुद्भवदपि यन्नश्यत् सदिवेत्युपलक्षणमेतत् । नित्यमिव सुखमिव चेतनमिव चाधिष्ठानभूतस्य तव गुणैस्तथा तथा भातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अत्राशङ्कते—नन्विति । अतः अत्र । अन्वर्थैरर्थानुगतैर्यथार्थैरिति यावत् । क्व कुत्र । कथं केन प्रकारेण । कदा कस्मिन् काले । कति कियत्सङ्ख्याका ऊतीः करोति चक्रे करिष्यति वेत्यर्थः । इति भाव इति—अघटनघटनापटीयस्या मायातोऽपि योगमाया प्रबला 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । ननु कृष्णस्य मम भूभारहरणार्थमेव जन्म, रामस्य रावणवधार्थमेव, शुक्लाद्यवतारगणस्य तत्तत्समयधर्मप्रवर्त्तनार्थमेवेति प्रसिद्धिर्न तु ज्ञानिमानिनां दुर्मदनाशार्थं – सत्यम्, तव प्रादुर्भावादिलीलानां कुत्र कुत्र विषये किं किं प्रयोजनं कदाकदा वा कियन्त्यो वा ता इति कार्त्स्न्येन ज्ञातुं कोऽपि न प्रभवतीत्याह—हे भूमन् विश्वव्यापकानन्तमूर्ते, हे भगवन् भूमत्वेऽपि षडैश्वर्यश्रीपूर्ण, हे परमात्मन् भगवत्त्वेऽपि परमात्मस्वरूप, हे योगेश्वर योगमाययैवानुभाव्यमानभूमत्वादिमहैश्वर्य । ऊतीर्जन्मादिलीलाः । त्रिलोक्यां त्रिलाकीमध्यवर्तिनीर्लीलाः । को वेत्ति न कोऽपीति । यतः क्वेत्यादि । ननु तवानन्ता एव मूर्तयो विश्वव्यापिकाः षडैश्वर्यवत्यः परमात्मस्वरूपा न तु भौतिकाः, त्रिलोकीवर्त्तिनीरेव भक्तविनोदार्या लीलाः कुर्वत्यः सर्वा एव सदैव युगपदेव क्रीडन्तीति कथं संभवेदित्यत आह—विस्तारयन्निति । अचिन्त्यशक्त्या योगमाययैव तत्तदुपासकभक्तान्प्रति तासां यथाकालं प्रणाशनावरणाभ्यां क्रीडानिर्वाह इत्यर्थ इति विश्वनाथः ॥ २१ ॥ तदङ्गीकृत्याप्याशङ्कते—नन्विति । सपरिकरं सानुबन्धम् । तत्र सत्यत्वप्रतीतौ । इत्यर्थ इति—अधिष्ठानगुणेन प्रपञ्चे सत्प्रतीतिर्न तु स्वत इति भावः ॥ २२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं सर्वमिव निरूप्य सम्भ्रमेणाह—को वेत्तीति । भूमन् ! हे अपरिच्छिन्न ! भगवन्, हे सर्वैश्वर्ययुक्त ! परमात्मन् हे सर्वान्तर्यामिन् सर्वकारणस्वरूपेति वा योगेश्वर, हे स्वाभाविकयोगशक्त्या सर्वकालव्यापक ! भवत ऊतीर्लीला अहो विस्मये क्व कथं वा कति वा कदा वा स्युरिति को वेत्ति किं त्वपरिच्छिन्नत्वादपरिच्छिन्नानामाधारं सर्वैश्वर्ययुक्तत्वात् तासां प्रकारं परमात्मत्वात् तासामियत्तां सर्वकालव्यापकत्वात्तदवसरमपि त्वमेव वेत्सीत्यर्थः । तत्र सर्वत्र हेतुः योगमायां महास्वरूपशक्तिमिति ॥ २१ ॥ यस्मादेवं त्वमेवैष सर्वकारणं तस्मान्मायातः प्रधानत उद्भवत् प्रलीनं भवच्च त्वय्येव त्वामाश्रित्यैव सदिव त्वदीयं स्वरूपमिदं नित्यधाम वा यत् सद्वस्तु तदिवावभाति त्वदीयतत्तत् सत्तयैव यत्किञ्चित्तत्तत् सत्तां प्राप्नोतीत्यर्थः । मायाया अपि त्वच्छक्तित्वेन त्वदाश्रयतामात्रतः सद्भावादिति भावः । तादृशत्वद्व्यतिरेकं तु असत्स्वरूपं शशविषाणतुल्यं त्वदन्येऽपि त्वदस्फूर्तौ स्वप्नाभं स्थिरार्थप्राप्त्यभावात् तत एवास्तधिषणमित्यादि नित्या सुखबोधरूपा च येयं परब्रह्मभावेन निर्णीता तनुः तत्स्वरूपे "सच्चिदनन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे" इति तापनीश्रुतिहयशीर्षपञ्चरात्रयोः अत्र "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा" इत्यादिवक्ष्यमाणविष्णुपुराणवाक्यं "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (२।२।२८) इति वेदान्तसूत्रं च विचार्य अत्रैतदप्युक्तं भवति मायाशब्देन क्वचिन्मिथ्याभिव्यञ्जकः शिक्षाविशेष उच्यते क्वचिद्दुर्वितर्कसत्यव्यञ्जकः शक्तिविशेषोऽप्युच्यते तत्र प्रथमं इन्द्रजालपर्यायस्त-

---

१. क्व वा—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ।

द्विज्ञेषु दृष्टः स च स्वप्रत्यायितजलादिना तेषां तु न भ्रमं करोति स्वाश्रयाऽव्यामोहकत्वात् अन्येषां चापातमात्रे भ्रमेऽपि न दृष्ट्यादिक हरति मृगतृष्णातुल्यत्वात् द्वितीयस्तु मुनिदेवादौ श्रुतः यथा तृतीये श्रीसनकादिवैकुण्ठगमने तदीययोगमायाशब्दः स्वामिभिर्व्याख्यातः स चायं न पूर्वतुल्यः श्रीकर्दमादीनां तत्कल्पितविहारविमानादिभिः स्वार्थकरत्वात् श्रीप्रद्युम्नादीनां युद्धादौ शत्रुच्छेदादिदर्शनाच्च सोऽयं मुन्यादिषु तत्र आदिमयः श्रीभगवति तु स्वाभाविकः यथा "सर्वभूतेषु सर्वात्मन्! या शक्तिरपरा तव। गुणाश्रया: नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर!" इति श्रीविष्णुपुराणोक्ताया अपराख्यशक्तेः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" इत्यादिश्रुतौ मायाख्यया कथितया स्वाभाविकत्वममिथ्यात्वव्यञ्जकत्वं विष्णुपुराण एव दर्शितम् "शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञान-गोचराः। अतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥ भवन्ति तपतां श्रेष्ठ! पावकस्य यथोष्णता" इति "एकदेशस्थितस्याग्ने-र्ज्योत्स्नाविस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" इति च "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति श्रुतिश्च। प्रकृतिशब्देन स्वभावमाह, न तु तत्पर्यायं विद्यादिति ज्ञापनतात्पर्यतयानूद्य विधेयत्वप्राप्तेः पर्यायमात्रकथने लक्षणत्वा-भावाज्ज्ञानासिद्धेः 'मायिनं तु महेश्वरम्" इत्यत्रानूद्य विधेयत्वस्यैव लब्धेश्च किं तु "मायिनन्तु महेश्वरम्" इति महेश्वरस्य मायया-श्रितत्वं बोधयति ततश्च महेश्वरत्वमेवान्तरङ्गं तदकृत्रिमं चेत्यायाति इन्द्रो मायावान् पुरुषः शूर इति वत् मायया बहिरङ्गत्वेऽपि स्वाभाविकत्वमेकदेशस्थितस्याग्नेरिति दृष्टान्तेनैव लब्धं मायाया बहिरङ्गत्वे च न तद्दोषेण महेश्वरत्वं लिप्तं स्यात् यथोक्तं प्रथमे श्रीमदर्जुनेन "त्वमाद्यः पुरुषः साक्षादीश्वरः प्रकृतेः परः। मायां व्युदस्य चिच्छक्त्या कैवल्यं स्थित आत्मनि" इति सेयमेव चिच्छक्तिः परात्वेन विष्णुपुराणे प्रोक्ता—

"याऽतीतगोचरा वाचां मनसां च विशेषणा। ज्ञानिज्ञानपरिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरीं पराम्"॥ इति।

अस्या एव परात्वेनान्तरङ्गत्वं परमाचिन्त्यत्वं विविधवृत्तित्वं महेश्वरता पर्यायकत्वमप्युद्दिष्टम् "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति। अत्र खलु "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च" इति परातत्त्वस्यारोपोपजीव्यवस्त्वन्तराभावज्ञापितस्य स्वाभाविकत्वस्य परमाचिन्त्यत्वस्य च बोधकं तृतीये श्रीसनकादिवैकुण्ठगमने योगमायेति निर्दिष्टा चिच्छक्तित्वेन स्वामिभिर्व्याख्याता तत्त्ववादिभिश्च स्वभाष्ये "योगमाया च माया च तथेच्छाशक्तिरेव च। मायाशब्देन भण्यन्ते शब्दतत्त्वार्थवेदिभिः" इति शब्दमहोदधिमुदाहृत्य स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः "अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्" इति श्रुतिमपि प्रमाणीकृत्य योगमायाशब्दवन्मायाशब्दोऽप्येतद्वाचित्वेन सम्मतः श्रीरामानुजाचार्यचरणैश्च "माया वयुनं ज्ञानम्" इति निघण्टुस्थितपर्यायशब्दाः स्वभाष्ये लिखिताः तृतीये स्वामिभिश्च "सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका। माया नाम" इत्यत्र द्रष्टृदृश्यानुसन्धानरूपेति आत्मेच्छानुगता वाऽत्मेतत्रात्मेच्छा मायेति "कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः। पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥ ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्" इत्यव्यक्तमपि मायाशब्देन वोच्यते स्म "प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेऽपि विमोहिनी" इत्यादौ मोहिनीशक्तिरपि स्यात् "माया दम्भे कृपायां च" इति विश्वप्रकाशे "स्यान्माया शाम्बरीबुद्धयोः" इति त्रिकाण्डशेषे च कृपादयोऽपि तत्पर्याया दृश्यन्ते अत्रैव च "तम्यान्तमोवन्नैहारम्" इत्यादौ मायाशब्देन प्रभावमात्रमभिप्रेतं सत्यं तत्प्रकाशने ऽपि दोषाऽविशेषात् दृष्टान्ते तस्य च तादृशत्वात् तदेवं तत्र तत्र यथायथं मायाशब्दो योजनीयः श्रीस्वामिव्याख्या चेति सर्वं समञ्जसम् अत्र च प्रकरणे मायाशब्देन दुस्तर्कशक्तेरेवा-भिधानं तदुक्तम् "मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्" इति अतो यत्र यस्य स्पर्शो नास्ति तत्र तस्य स्थितत्वं मिथ्येति मिथ्यात्वमपि तद्व्याख्यातं युक्तं किं च या पराख्यशक्तित्वेनोक्ता सैव वैकुण्ठादौ स्वरूप-विभूतिव्यञ्जिका यथा "न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः" इति द्वितीये "दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम्" इत्यग्रे "इतीरेशेऽतर्क्ये" इत्यादिकं सत्यज्ञानेत्यादिकं च पूर्वत्र एतन्मयी विभूतिश्चाऽनश्वरा यथा द्वितीये तत्रैव न च कालविक्रम इति श्रीविष्णुपुराणे—

"कला काष्ठा निमेषादिकालसूत्रस्य गोचरे। यस्य शक्तिर्न शुद्धस्य प्रसीदतु स मे हरिः"॥ इति।

"कलामुहूर्त्तादिमयश्च कालो न यद्विभूतेः परिणामहेतुः" इति च अत्र शुद्धस्येत्युक्तत्वात् भगवत्स्वभावैषा महती शक्तिः या त्वपरा सा न तादृशी किं तु यथा तत्रैव "यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इति "सर्गाद्या भावशक्तयः" इति च एकादशे च "एषा माया भगवतः सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी" इति तदेवमपि यथार्हं विवेचनीयम्॥ २२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु, तर्हि त्वदवताराणां कस्यापि जीववदत्यन्तलौकिकी चेष्टा नोपपद्यते? तत्राह—को वेत्तीति। भूमन् अपरिच्छिन्न! भगवन् सर्वैश्वर्ययुक्त! परात्मन् सर्वान्तर्निगूढ! योगेश्वर दुर्घटघटनसमर्थ। सम्बोधनानामेषां यथोत्तरं दुर्ज्ञेयत्वे श्रैष्ठ्यमूह्यम्। योगमाया सच्चिदानन्दविलासरूपो भगवच्छक्तिविशेषः, तां विस्तारयन्निति तद्वतीनामपि सत्यता सूचिता। एतच्च श्रीभागवता-मृतोत्तरखण्डे विस्तरतोऽस्ति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, योग ऐश्वर्यं तद्युक्तां मायां भक्तेषु कृपाम्। एवमूतीनामप्यैश्वर्यमत्त्वेना-

नन्तत्वेन चाज्ञेयत्वं युक्तमेवेति भावः। यद्वा, कथं तथाप्यद्यापि दुर्वासना ग्रस्ता बहवो दृश्यन्ते ? तत्राह—को वेत्तीति। तव योगमायाविस्तारणेन तत्तल्लीलानां दुर्वितर्क्यत्वात्ते प्रायो मूह्यन्त्येवेत्यर्थः। तच्चाचितमेवेति सम्बोधन-चतुष्टयेनोक्तमेव। एवं भगवतो दुर्वितर्क्यत्वात्तल्लीलानामपि दुर्वितर्क्यत्वं सिद्धमेव। तत्तल्लीला तत्त्वज्ञानाय त्वद्भक्तान् प्रपन्नाः सन्त एव ते निस्तरन्ति, न चान्यथेति भावः॥ २१॥ अहो ! किं वक्तव्यं तवावतारवर्गतत्तल्लीलादीनां सत्यतादि, मिथ्यादिरूपोऽप्ययं प्रपञ्चस्त्वत्सम्बन्धात् सत्यादिरूपेण विद्योतत इत्याह,—तस्मादिति। योगमायाविस्तारणेन तव क्रीडनाद्धेतोः। यद्वा, 'अत्रैव' इत्यादि (१६-१८ श०) पद्यत्रयेण जगतो मिथ्यात्वमुक्त्वा तदन्तरा पतिताशंकां त्रिभिर्निरस्याधुनोपसंहरन्नाह,—तस्मादिति, जनन्यां मयि च तन्मिथ्यात्व-प्रदर्शनाद्धेतोः; अस्याद्यपादेनैवान्वयः। अन्तो नाशस्तद्रहित इति नित्यसत्तोक्ता, अतोऽसत्स्वरूपमप्यनन्तस्य सम्बन्धात् सत्, स्वप्ना-भमनित्यम्, नित्यस्य सम्बन्धान्नित्यम्, अस्तधिषणं बोधस्य सम्बन्धाच्चेतनम्, पुरुदुःखदुःखञ्च, सुखस्य सम्बन्धात् सुखमिति विवेच-नीयम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, एवं सत्यपि त्वत्सेवया तेषामपि परममंगलं भवतीत्याह, तस्मादिति। यस्मात्तव त्वदवतार-वर्गतत्तल्लीलादीनामचिन्त्यो महिमा तस्मादसत्स्वरूपं प्रायोऽसल्लोकमयत्वात्, स्वप्नाभं नश्वरत्वेनानित्यत्वात्, अस्तधिषणं प्रायो भगवन्माहात्म्याज्ञानात्। तत्र तत्र हेतुः—मायात उद्यदिति। तथाभूतमपि यद्यपि त्वयि निमित्ते त्वत्प्राप्त्यर्थं भवति, त्वत्सेवां करोतीत्यर्थः, तदा सदिवावभात्युत्तमतां प्राप्नोतीत्यर्थः। इवेति लौकिकोक्तिन्यायेनानधिकार्थम्। यद्वा, सद्वस्तु श्रीवैकुण्ठपदं तद्वद्वि-राजत इत्यर्थः। अन्यत् समानम्॥ २२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

हे भूमन्, सर्वाधिक ! श्रीमन्नारायण, भगवन्, ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधे ! परात्मन्, सर्वान्तर्यामिन्, हे योगेश्वर, विभवार्चावतारूप ! भवतः ऊतीर्लीलाः को वेत्ति ताश्च क्व देशे कथं केन करणेन कतिसङ्ख्याकाः कदा कस्मिन् काले भवन्ति एवं कोऽपि न जानाति। त्वन्तु योगमायां योगाय प्रपन्नभक्तानां स्वसंयोगाय मायां कृपां विस्तारयन् क्रीडसि ताश्च क्रीडाः सर्वदेशसर्वकाल सर्वावस्थास्वनन्ता एवेति भावः॥२१॥ एवमवताररहस्यं प्रतिपाद्य क्रीडसीत्युक्तं प्रपञ्चसृष्टिस्थितिसंहारादिरूपं क्रीडनं प्रपञ्चस्वरूपं च विशेषत आह—तस्मादिति, द्वाभ्याम्। तस्मादिदं चिदचिद्रूपं सर्वं सूक्ष्मस्थूलावस्थं जगदसत् स्वरूपम् असच्छब्दवाच्यो यः स्वम् आत्मा त्वं तस्य तव सूक्ष्मावस्थनामरूपविभागरहितचिदचिद्विशिष्टत्वेनासच्छन्दवाच्यस्येति पर्यवसितार्थः। रूपं शरीरं कार्यावस्थायां क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं त्वत्सृष्टत्वात् स्वप्नतुल्यं विचित्रमेव अस्ता धिषणा जीवधर्मज्ञान येनेति अत एव तस्य जीवस्य पुरूणि दुःखादनन्तरं दुःखान्येव येन तत्पुरूणि बहूनीत्यर्थः। त्वय्येव नित्यसुखे ज्ञानतनौ। अथवा नित्यः सत्यश्चासौ सुखबोधतनुश्च सत्यानन्द ज्ञानस्वरूप-रूपः तस्मिन् त्वय्येवाधिकरणे अनन्ते चेतनाचेतनवस्तुपरिच्छेदादिरहिते सर्वचिदचिच्छरीरिणि मायातः विचित्रशक्तेः उद्यत् अपि यत् सदिवावभाति कार्यावस्थायां उद्यत् त्वत्सङ्कल्पेन कारणावस्थायाम् अपि यच्च अप्ययावस्थं भवच्च सदिव त्वत्स्वरूपमिवावभाति इवशब्दो भवद्विलक्षणत्वमेव द्योतयति। एवं जगदुपादाननिमित्तत्वोक्त्या ब्रह्मपरमात्मभगवन्नारायणस्यासाधारणं लक्षणं लीला च मुख्योक्तेति॥ २२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अवतारप्रसङ्गात्तेषां जातिप्रकारसङ्ख्याकालनियमाभावं क्रीडैकप्रयोजनत्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं चाह को वेत्तीति। अवतारदशायामपि स्वासाधारणविपुलानन्दरूपत्वषाड्गुण्यपूर्णत्वप्रशासितृत्वयोगनिर्वाहकत्वाद्यप्रहाणप्रदर्शनार्थं भूमन्नित्यादि-सम्बोधनचतुष्टयं भवतः तव ऊतीर्गतीश्चेष्टास्त्रिलोक्यां कः पुमान् क्व वा कस्यां जातौ कथं केन प्रकारेण कति कियत्सङ्ख्याकाः कदा कस्मिन् काले अवतारा इत्येतच्च वेद न कोऽपि जानातीत्यर्थः। केवलमाश्चर्यशक्ति विस्तारयन्नेवं क्रीडसीति मम भातीति भावः॥ २१॥ किं चाजानतामहमादिरूपेण केवलं त्वमेव भासि जगदपि विपरीतं भातीत्याह—तस्मादिति। तस्मात्त्वद्व्यतिरिक्त-स्वतन्त्रवस्त्वभावान्नित्यसुखबोधतनौ नित्यानुकूलज्ञानरूपे त्वय्येवानन्तेऽपरिच्छेद्यमहिम्नि यन्मायातस्त्वत्सङ्कल्परूपज्ञानादुद्यदुदय-मानमपि यल्लीयमानमतस्त्वदपृथक्सिद्धमिति भावः। पुरुभ्यो दुखेभ्य उपरि तथाविधानि दुःखानि यस्मिन् स्वप्नाभं स्वप्नतुल्यं सर्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्ये सति वैधर्म्येण भवितव्यमन्यथा तयोरैक्यमेव स्यात्तत्रोभयानुगतं साधर्म्यमनित्यत्वरूपं स्वप्नं तु तत्काल-मात्रावस्थायित्वं तद्द्रष्ट्रैकानुभाव्यत्वरूपं वैधर्म्यं दार्ष्टान्तिके तु कालान्तरेऽवस्थायित्वमनेकानुभाव्यत्वरूपं चेति विवेकः। इदं चिदचिदात्मकशेषं जगदसत्स्वरूपमपि अजानतां सदिव भाति सततविकारवदपि तद्विपरीतवदाभातीत्यर्थः॥ २२॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथ तिर्यगादिषु तवाऽवतारो दुष्कृतनाशपूर्वकसाधुपरित्राणार्थमित्येतावज्ज्ञातम्, यास्तव विभूतयस्तास्तु केऽपि न जानन्ति अनन्तत्वात्तासामित्याह—को वेत्तीति। हे भूमन्, भूमगुणविशिष्ट ! भगवन्, ऐश्वर्यादिगुणाकर ! परात्मन्, परमात्मन् ! योगेश्वर, योगफलप्रद ! भवत ऊतीर्विभूतीर्लीला वा त्रिलोक्यां को वेत्ति अहो इत्याश्चर्ये क्व कुत्र कथं केन प्रकारेण कति वा कति-सङ्ख्याकाः कदा वा कस्मिन् काले स्वयोगमायां विस्तारयन् क्रीडसि इति को वेत्ति इयत्तया न कोऽपि जानातीत्यर्थः। तथा

चैकादशे भगवानुद्धवं प्रति "सङ्ख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया। न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः" इति ॥२१॥ तस्मादिदं विश्वं तवाचिन्त्ययोगमायावैभवकार्यमित्याह – तस्मादिति। तस्मादिदमशेष जगन्नित्यसुखबोधतनौ नित्यानन्दज्ञानादिस्वरूपे अनन्ते अपरिच्छिन्नमाहात्म्ये त्वय्येवाधारभूते मायातस्तव प्रकृत्याख्यशक्तेः उद्यदपि उदयं प्राप्नुवत् अपि यत् नाशं प्राप्नुवत् सदिवावभाति ब्राह्मणोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहमिति आत्मवद्भाति न तु आत्मस्वरूपं जडत्वेन विरुद्धस्वरूपत्वादत एव सदैकरूपाभावात् आत्मनस्तु चेतनत्वात् कथम्भूतं जगत् असत्स्वरूपं नाशित्वात् सदैकरूपाभावाच्च अत एव स्वप्नाभं स्वप्नतुल्यम् अस्थिरत्वात् स्वप्नपदार्थानामपि न स्वरूपेण मिथ्यात्वम् ईश्वरसृष्टत्वात्तेषां किन्तु अनित्यत्वमेव तथा च श्रुतिः "न तत्र रथा न रथयोगाः" इत्यादि "स हि कर्त्ता" इत्यन्तम् एतच्छ्रुतिव्याख्यानरूपं सूत्रमपि "सन्ध्ये सृष्टिराह हि" [३।२।१] इत्यादि। पुनः कीदृशं अस्तधिषणम् अस्ता लुप्ता स्वस्वरूपप्रवणरूपा धिषणा बुद्धिर्यस्मात्तत् तथा च तृतीये ब्रह्मा भगवन्तं प्रति—

"दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात्। सर्वाशुभोपशमनाद्विमुखेन्द्रिया ये"॥ इति।

पुनः कीदृशं पुरुदुःखदुःखं दुःखोदर्कं दुःखादुत्तरं दुःखस्यैव जनकं न तु सुखलवमात्रमपीत्यर्थः। तदुक्तं विदुरेण मैत्रेयं प्रति —

"सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं चान्यदुपारमं वा॥
विन्देत भूयस्तत एव दुःखम् यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः"॥ इति ॥ २२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु त्वमेवेदं वेत्सि, किमुतान्येऽपि इत्याशङ्क्य न कोऽपि तव लीलां वेत्तीत्याह – को वेत्तीत्यादि। हे भूमन्! देशतोऽपरिच्छिन्न! विश्वव्यापक हे भगवन्! अचिन्त्यसर्वैश्वर्यसम्पन्न! हे परात्मन् अनन्तगुणकर्मन्! हे योगेश्वर! कालतोऽपरिच्छिन्न! तव ऊतीर्लीलाः, अहो आश्चर्यम्; क्व वा को वेत्ति, देशतोऽपरिच्छिन्नत्वात्, क्वेत्यसिद्धम्, अथवा, को वेत्ति, अचिन्त्यपरमैश्वर्यत्वात्; कति वा को वेत्ति–अनन्तगुणकर्मत्वात्; कदा वा को वेत्ति,–कालतोऽपरिच्छिन्नत्वात् इति। देश-प्रकार-संख्या-कालवचनैः क्वेत्यादिभिश्चतुर्भिर्भूमन्नित्यादि-सम्बोधन-चतुष्टयमसम्भावनायां हेतुमद्धेतुभावेन समन्वेतव्यम्। एतेन सर्वथैव ते महिमा ज्ञातुमशक्य इति वाक्यार्थः॥ २१॥ यतस्त्वदवतारास्तल्लीलाश्च तवैच्छिक-प्रकाशिकाख्ययोगमायाशक्तिविलसितत्वान्नित्या एव तस्मात्तद्व्यतिरिक्तं सर्वं जडजातं मिथ्या दुःखञ्चेत्याह—तस्मादिदमित्यादि। इदं जगज्जडमयः प्रपञ्चः, अशेषं सर्वमेवासत्। असत्त्वे हेतुः–स्वप्नाभम्। कुतः? अस्तधिषणं ज्ञानशून्यम्, जडत्वात्; अतएव पुरुदुःखदुःखम्, पुरूणि यानि दुःखानि तैर्दुःस्थितानि निखिलानीन्द्रियाणि यस्मात्तत्तथा। ननु यदीदं सर्वमसदेव, तदा कथ मदुदरे मन्मात्रा सर्वं दृष्टम्? तत्राह –नित्या शाश्वती सुखस्वरूपा आनन्दमयी बोधस्वरूपा ज्ञानघना तनुर्विग्रहो यस्य सः; तथा तस्मिन् त्वय्येव श्रीनन्दकुमार एव मायातः पूर्वोक्तरूपैच्छिक-प्रकाशिकाख्ययोगमायात उद्यदाविर्भवदपि सम्भावनायां, सदिव सदेवावभाति; इव एवार्थः। त्वय्येवेत्येवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकत्वेन बहिर्वर्तमानस्यासत्त्वमिति भावः। त्वयि तु सच्चिदानन्दघनेऽसद्रूपस्य तु न सम्भवः, त्वद्विग्रहमात्रस्यैवायं स्वभावः। उक्तञ्चाष्टमे–(भा० ८।६।९) "योगेन धातः सह नस्त्रिलोकान्, पश्याम्यमुष्मिन् सह विश्वमूर्त्ते" इति। त्वयि स्थितस्य नित्यरूपस्य प्रपञ्चवद्दृश्यमानस्य निजलोकस्य वर्त्तमानत्वान्नित्यत्वमेव अस्य न मृषात्वमित्यर्थः॥ २२॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

नन्वेवं कथं घटतां ब्रह्मणो नराकृतित्वं यदुच्यते इति न वक्तव्यम्, मतस्त्वमचिन्त्यानुभावोऽसि तव महिमानं को वेत्तीत्यादि। हे भूमन्, भगवन्, परात्मन् योगेश्वरेति चत्वारि विशेषणानि सम्बोधन-पराण्यचिन्त्यमहिमाख्यापकानि। यतस्त्वं योगमायां भुवि तन्वन् क्रीडसि भूमन्नित्यपरिच्छिन्नत्वे, क्वेति भगवन्नित्यचिन्त्यमहिमत्वे कथमिति परात्मनः सर्वेषां पुरुषादीनामपि, आत्मन्निति, कतीति योगेश्वरेति नानारूपत्वे, कदेति तस्मात्तत्र महिमा कैरपि वक्तुं न शक्यते, तवावताराणां वा नित्यत्वादिकं कैर्निरस्यताम्॥ २१॥ यदधिष्ठाने प्रपञ्चोऽपि सन्निव प्रतीयते इत्याह—तस्मादित्यादि। त्वय्येव नान्यत्र, एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदपरः। त्वयि श्रीयशोदानन्दने यशोदा यज्जगदपश्यत्, तत् सदिव, सदेवावभाति मायातोऽचिन्त्यशक्तित उद्यदपि। त्वयि कीदृशे? नित्यसुखबोधतनौ नित्या सुखस्वरूपा बोधस्वरूपा तनुर्यस्य तस्मिन्, यत्किञ्चित् तदेव सदिति प्रागुक्तपरमतखण्डनम्। अथवा, इदं विश्वं मायात उद्यदपि मायिकमपि त्वयि त्वद्विषयकं यदि भवति, तदा सदिव सदेवावभाति, इवशब्द एवार्थः॥२२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, कृष्णस्य मम भूभारहरणार्थमेव जन्म रामस्य रावणवधार्थमेव शुक्लाद्यवतारगणस्य तत्तत्समयधर्मप्रवर्त्तनार्थमेवेति प्रसिद्धिर्न तु ज्ञानिमानिनां दुर्मदनाशार्थम्, सत्यम्, तव प्रादुर्भावादिलीलानां कुत्र कुत्र विषये किं किं प्रयोजनं कदा कदा वा कियत्यो वा ता इति कार्त्स्न्येन ज्ञातुं कोऽपि न प्रभवति इत्याह–को वेत्तीति। भूमन्, हे विश्वव्यापकाऽनन्तमूर्त्ते! हे भगवन् भूमत्वेऽपि

षडैश्वर्यपरिपूर्ण ! हे परात्मन् ! भगवत्त्वेऽपि परमात्मस्वरूप ! हे योगेश्वर, योगमाययैवानुभाव्यमानभूमत्वादिमहामहैश्वर्य ! ऊती-र्जन्मादिलीला: त्रिलोक्यां त्रिलोकीमध्यवर्तिनी: लीला: को वेत्ति न कोपि, यत: क्वा हो इत्यादि । ननु, तवानन्ता एव मूर्त्तयो विश्वव्यापिका: षडैश्वर्यवत्य: परमात्मस्वरूपा न तु भौतिक्य: त्रैलोक्यान्तर्वर्तिनीरेव भक्तविनोदनार्था लीला: कुर्वत्य: सर्वा एव सदैव युगपदेव क्रीडन्तीति कथ सम्भवेदित्यत आह—विस्तारयन्निति । अचिन्त्यशक्त्या योगमाययैव तत्तदुपासकभक्तान् प्रति तासां यथा समयं प्रकाशनावरणाभ्यामेव क्रीडानिर्वाह इत्यर्थः ।। २१ ।। तस्मादिदङ्कारास्पदं जगदेव मायिकं मध्यमपरिमाणवत्त्वेप्येतत्परिच्छेदकं त्वद्वपुस्तु शुद्धसत्त्वात्मकमेवेति प्रकरणमुपसंहरति—तस्मादिति । असत् सार्वकालिकसत्तारहितं स्वरूपं यस्य तत् अत एव स्वप्नाभं स्वप्नवदल्पकालवर्ति न तु स्वाप्निकवस्तुवदस्य जगतो मिथ्यात्वं व्याख्येयम् "प्रधानपुम्भ्यां नरदेव सत्यकृत्" इति सप्तमोक्तेः 'सत्यं ह्येवेदं विश्वमसृजत" इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेश्च अस्ता लुप्ता धिषणा ज्ञानमविद्यया यस्य तत् नित्यमिति सन्धिनी सुखमिति ह्लादिनी बोध इति संविदत एतत्स्वरूपशक्तित्रितयात्मकत्वात् सदानन्दचिन्मय्यस्तनवा यस्य तस्मिन् त्वयि अधिष्ठाने मायात: कारणादुद्यत् उद्गच्छत् अपि यत् अस्तं गच्छदपि सदिव सर्वकालिकमिव । यद्वा, यस्मात् सदनुग्राहकाणि त्वत्स्वरूपाण्येव मङ्गलानि तस्मादिदं जगदेव असत्स्वरूपम् अमङ्गलात्मकम् ननु मिथ्याभूतस्य जगत: किं भद्राभद्रविचारेण तत्राह—स्वप्नाभं स्वप्नवत् भातीति तत् मिथ्यात्वेन न प्रतीतमित्यर्थः । किं तु अस्तधिषणत्वात् पुरुदु:खदु:खत्वादभद्रमपि सदिव विषयानन्ददृष्ट्या उत्तममिवाऽऽभाति ।। २२ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृत: सिद्धान्तप्रदीप:

देशत: प्रकारत: कालतश्च भगवदवताराणां तल्लीलानां च दुर्ज्ञेयत्वमाह—को वेत्तीति । त्रिलोक्यां को भवत: सुरादिषु कृतावतारस्य ऊतीर्लीला: वेत्ति न कोऽपि । ननु, तत्कालिका जना जानन्त्वत्राह—योगमायां जनमोहिनीं विस्तारयन् तत्र तत्र क्रीडसि । ननु, तत्तल्लीलापरं त्वां कथञ्चित् ज्ञात्वा लीलामपि तत्र त्वत्कृतां जानन्त्वत्राह—हे भगवन्, दुर्ज्ञेयषडैश्वर्यसम्पन्न ! हे भूमन्, दुर्ज्ञेयस्वरूप ! हे योगेश्वर, अघटितघटनाकुशल ! त्वां त्वत्कृपां विना को वेत्तीति भाव: ।। २१ ।। ननु, यदि दुर्ज्ञेयोऽहं तर्हि मां हित्वा जगदेवाश्रयणीयं भवतीत्यत्र न हि न हि भगवन्, जगदाश्रयणीयं पुरुदु:खदु:खत्वात् त्वमेव परमानन्दत्वादाश्रयणीय इत्याह—तस्मादिति द्वाभ्याम् । नित्यसुखबोधतनौ त्रैकालिकानन्दप्रकाशविग्रहे अनन्ते अपरिच्छिन्ने परमकारणे उद्यदपि उत्पन्नमपि स्वरूपतोऽपरिणामित्वं द्योतयन्नाह—मायात: शक्तिभूताया: प्रकृतेरिति सदुपादानकमपीत्यर्थः । तथाऽपि स्वप्नाभमनित्यम् अस्त-धिषणं बुद्धिव्यामोहकं बहुदु:खानामपि दु:खम् यत् यस्मादिदमेवंविधं तस्मात् अखिलं सकलं जगत् असत्स्वरूपमनुपादेयस्वरूपं नाश्र-यणीयमित्यर्थः । कथं तर्हि अस्मिन् सर्वे आसक्ता: ? इत्यत: सदिवोपादेयवत् भातीति ।। २२ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु परया योगमायया मम विज्ञानमय: सर्ग: पूर्वोक्तलक्षण: कियति स्थाने केन विधिना कियता कालेन भवेत् स च कियानिति वेत्थ न वेति चेत्तत्राह—को वेत्तीति । हे भूमन् विश्वव्यापकासंख्यमूर्त्ते ! हे भगवन् पूर्णषडैश्वर्य ! हे परात्मन् बद्धमुक्त-सर्वजीवान्तर्यामिन् ! हे योगेश्वर योगाया: पराया: स्वामिन् ! भवतस्तव त्रिलोक्यां ऊतीस्तत्सर्गसिद्धा जन्मादिलीला: को वेत्ति न कोऽपीत्यर्थः । यत: क्वाहो कथं वेत्यादि नत्वसङ्ख्यताभि: षडैश्वर्यपूर्णाभिस्तव मूर्त्तिभिस्ता ऊतयो युगपदेव कथ संभवेयुस्तत्रा-योगमायां विस्तारयन्निति स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युत इत्यादिश्रुत्युक्तयाऽचिन्त्यया अनया तत् सर्वं निर्वाह इत्यर्थः ।। २१ ।। मया अधिष्ठितं जगत्तु प्राकृतत्वादनित्यमित्याह तस्माद्विज्ञानमयात् सर्गादन्यदिदमशेषं जगत् असत् स्वरूपमशोभन-वपु: स्वप्नाभम् अल्पकालवर्त्तीत्यर्थः । अस्ता विलुप्ता धिषणा ज्ञानं यत्र तत् अत: पुरुदु:खेति प्रचुरदु:खस्वरूपमेव तत्रत्यसुखस्यापि विषसम्पृक्तमधुन्यायेन दु:खत्वादिति भाव: । कुत ईदृक् तत्राह त्वय्याश्रये स्थिताया मायातस्त्रिगुणाया: कारणादुद्यद्बुद्बुदवत् अपियत् तत्रैवास्तं गच्छत् तथापि अज्ञानिनां सदिव शोभनमिवावभाति त्वयि कीदृशीत्याह नित्येति । नित्यसुखबोधरूपं यद्ब्रह्म सा तनु-र्मूर्तिर्यस्य तस्मिन् ब्रह्म-विग्रहे इत्यर्थः ।। २२ ।।

श्रीसुबोधिनी

ननु तदव्यतिरेकेणापि वेदादिना कथं न तत्त्वपरिज्ञानं ? तत्राह **को वेत्तीति**, तत्त्वं भवान् भवल्लीला च, तत् को वा जानाति ? वेदस्तु व्याख्यात्रभावात् मूकवत् नार्थं समर्पयति, भूमन्निति, व्यापकत्वादेकदेशे स्थितो न जानातीत्युक्तं, **भगवन्निति**, षड्गु-णैश्वर्यसम्पन्नत्वादनीशत्वादिगुणयुक्त: कथं जानीयात् ? न हि पामरा विदुषस्तत्त्वं जानन्त्वनीशो वेश्वरस्याविरक्तो वा विरक्तस्य, **परात्मन्निति**, परमात्मनस्तत्त्वं न हि जीवो जानाति, **योगेश्वरेति**, न हि स्वच्छन्दगतेर्बद्धो जानाति, किञ्च सापि लीला **क्व वा** जायते ? **अहो** आश्चर्ये, न हि मत्स्यादिरूपे ज्ञानप्रकाश उचित:, **कथं वा** जायते ? न हि भगवतो लीलासमुद्रे प्रस्तरणादिरूपा कस्य-चिद् बुद्धिगम्या भवति, **कति** वा लीलाप्रकारा भवन्ति **कदा** वा भवन्तीति न कोपि वेद, तत्र हेतु**र्विस्तारयन्** क्रीडसि **योगमाया:**

मिति, यदि मायामविस्तारयन् क्रीडेत् तदा लोको जानीयादपि, अतस्त्वत्स्वरूपं त्वमेव जानासीति तत्त्वोपदेशार्थं तवावतारः ॥ २१ ॥ एवं देहाद्यात्मभावं भवान् दूरीकरोतीत्युक्त्वा प्रपञ्चेपि योयं भ्रमः प्रपञ्चमिथ्यात्वं भिन्नतयापि सत्यत्वं सोपि निवर्तत इत्यतिदिशति तस्मादिति, इदं जगदशेषमसत्स्वरूपमसतां वहिर्मुखानामिव स्वरूपं यस्य सन्मार्गप्रतिबन्धकं, अत्र ममतायां भगवद्वैमुख्यं भवतीति स्वरूपतोप्यनित्यमुदयास्तमितप्रायं, तदाह स्वप्नाभमिति, स्वप्नस्येवाभा यस्य, किञ्च ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतत्, यतोस्ता गता धिषणा यस्मात्, किञ्च क्लेशरूपं च पुरुदुःखादपि दुःखं यस्मात्, एतादृशमपि त्वय्येव सदिवावभाति त्वन्निमित्तं यथा सद् नारदादिस्तथा घटादिरपि भाति भगवत्सेवासाधकत्वात्, तत्र हेतुर्नित्यसुखबोधतनावनन्त इति, उदयास्तमितत्वं नित्यस्य भगवतः सम्बन्धात् नित्यमिवाभाति, पुरुदुःखदुःखमपि सुखात्मकमाभाति, अस्तधिषणमपि बोधात्मकमाभाति, अनित्यमप्यनन्त आभातं नित्यमिव भासते, भ्रमादप्युद्गतं देहात्मज्ञानं सेवौपयिकत्वात् सदिवावभाति, अतः सर्वमेव जगत् त्वत्सम्बन्धे सति समोचीनं, अन्यथा विपरीतमिति जगतस्तत्त्वम् ॥ २२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'एवं सामान्यत उक्त्वा, विशेषतस्तु तव लीलाः कोऽपि न जानाति' इत्याह—को वेत्तीति । अहो आश्चर्यरूपां योगमायां विस्तारयन् यदा त्वं क्रीडसि, तदा त्रिलोक्यां हे भूमन् ! व्यापकस्य भवतः ऊतीः लीलाः क्व भवन्तीति परिच्छिन्नः को वेत्तीति । तथा हे भगवन् ! 'षड्गुणसम्पन्नस्य तव लीलाः कथं भवन्ति' इति स्वयं भगहीनः अज्ञः को वेत्ति ? तथा हे परमात्मन् ! 'कालादिनियन्तुस्तव लीलाः कदा भवन्ति' इति को वेत्ति ? तथा हे योगेश्वर ! 'अनन्तरूपेण क्रीडतस्तव लीलाः कति भवन्ति' इति अल्पज्ञः को वेत्तीति योज्यम् ॥ २१ ॥ उपपादितं श्रीकृष्णस्य परब्रह्मत्वमुपसंहरति—तस्मादिति । अचिन्त्यमायाधिपतित्वेन स्वतन्त्रत्वात् । अनन्ते देशपरिच्छेदरहिते नित्यसुखबोधतनौ नित्यानन्दज्ञानविग्रहे त्वयि इदमज्ञदृष्ट्या प्रतीयमानं जगत् प्राकृतत्वमशेषमसत्स्वरूपमेव मायातः त्वदिच्छया उद्यदपि यत् आविर्भावतिरोभावं प्राप्नुवत् सदिवावभाति इत्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाह— स्वप्नदृष्टपदार्थस्याभा उपमा यस्य तत् । तद्भानस्य फलमाह—अस्तधिषणमिति । आसुरसम्पद्वतां त्वद्विमुखानामस्ता विपरीता प्राकृतत्वनिश्चयरूपा भवति धिषणा बुद्धिर्यस्मात् तत्, अत एव पुरुदुःखदुःखमिति । प्राकृतदृष्ट्या तवापमानात् बहुदुःखभोगानन्तरमपि दुःखानि दुःखपरम्परा यस्मात्तत् । तथा चोक्तं गीतासु—"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । पर भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम्" इति ॥ २२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

को वेत्तीति ॥ हे भूमन् ! हे भगवन् ! हे परात्मन् ! योगेश्वर ! अहो आश्चर्यरूपां योगमायां विस्तारयन् यदा त्वं क्रीडसि तदा त्रिलोक्यां भवतः ऊतीः लीलाः क्व देशे भवन्ति कथं वा भवन्ति कति वा भवन्ति कदा वा काले भवन्ति इति को वेत्ति न कोऽपीत्यर्थः ॥ २१ ॥ तस्मादिति ॥ तस्माद्धेतोः अनन्ते नित्यसुखबोधतनौ नित्यानन्दज्ञानरूपे त्वयि एव स्वप्नपदार्थवदाभा यस्य तत् अस्ता धिषणा प्रतिभासो यस्य पुरु बहुल दुःखानन्तरं दुःखं यत्र इदमज्ञदृष्ट्या प्रतीयमानं जगत् अशेषमसत्स्वरूपमेव मायातः उद्यत् उद्गच्छत् अपि यन्नश्यत अपि । पूर्वादिणः शता इणो यण् । सदिव उपलक्षणतया नित्यमिव सुखमिव चेतनमिव अधिष्ठानभूतस्य तव गुणैरवति ॥ २२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तर्हि कोऽपि न विद्यादित्याशंक्य वेत्तीत्याह महिम्नः तत्त्वं याथार्थ्यं जानाति अननुगृहीतः अन्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् मृगयन् सन्न जानाति ॥ २१ ॥ अनुग्रहं कांक्षन्नाह तत्तस्माद्धेतोर्हे नाथ अत्र भवे अस्मिन् विधिजन्मनि वा अन्यत्र मनुष्यजन्मनि वा तिरश्चां पशूनामपि मध्ये जन्मनि सः मे भूरिभागो महद्भाग्यमस्तु येन भाग्येन भवतो जनानां भक्तानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि अहं भूत्वा तव पादपल्लवं चरणकमलं निषेवे ॥ २२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अवतारप्रसङ्गात्तेषां जातिप्रकारसंख्याकालनियमाभावं क्रीडैकप्रयोजनत्वं विचित्रशक्तिमत्त्वं चाह ॥ क इति ॥ तत्रावतारदशायामपि स्वासाधारणविपुलानन्दरूपत्वषाड्गुण्यपूर्णत्वप्रशासितृत्वयोगनिर्वाहकत्वाद्यप्रहाणप्रदर्शनार्थं भूमन्नित्यादिसंबोधनचतुष्टयं वक्ति । हे भूमन् स्वासाधारणविपुलानन्दरूप, हे भगवन् षाड्गुण्यपूर्ण, हे परात्मन् हे प्रशासित हे योगेश्वर सकलयोगनिर्वाहक, भवतस्तव, ऊतीश्चेष्टाः, त्रिलोक्यां, कः पुमान्, क्व वा कस्यां जातौ, कथं वा केन प्रकारेण, कति वा कियत्संख्याकाः, कदा कस्मिन् काले, इत्येतत् वेत्ति । न कोऽपि जानातीत्यर्थः । केवलं योगमायां स्वकीयामाश्चर्यशक्तिं, विस्तारयन्नेव, क्रीडसि । इति मम भातीति

भावः ॥ २१ ॥ अहो त्वदीया योगमायारूपाश्चर्यकारिणी शक्तिर्या त्वयि स्वशरीरभावेन स्थितं चिदचिदात्मकमिदं जगत्परिणमित-याऽसदपि त्वामजानतां सदिव भातीत्याह ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात् अत्वद्ब्रह्मात्मकस्वतन्त्रवस्त्वभावात् नित्यसुखबोधतनौ नित्यानु-कूलज्ञानस्वरूपे, अनन्तेऽपरिच्छेद्यधर्महिम्नि, त्वय्येव मायातस्त्वत्संकल्परूपज्ञानशक्त्या, उद्यदुत्पद्यमानं अपि, यत्लयमप्युपगच्छत्, पुरुभ्या दुःखेभ्य उपर्युपरि विविधानि दुःखानि यस्मिंस्तत् । स्वप्नाभं स्वप्नतुल्यं, सर्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्ये सति वैधर्म्येन भवितव्यमन्यथा तयारैक्यमेव स्यात् तत्रानित्यत्वस्वरूपं साधर्म्यमुभयानुगतम् । स्वप्ने स्वाप्नार्थानां तत्कालमात्रावसायित्वं दार्ष्टान्तिके तु कालान्तरावसायित्वमनेकानुभाव्यरूपत्वमिति च तयोर्वैधर्म्यं, अस्तधिषणं प्रशस्तमतिमद्भिरपि दुराकलनीयम् इदं चिदचिदात्मकं अशेषं जगत्, असत्स्वरूपं सततपरिणामित्वेनासत्तया प्रत्यक्षेक्ष्यं सदपि, त्वामजानतामिति शेषः । सदिव, अवभाति । सततविकार-वत्सदपि तद्विपरीतवदाभातीत्यर्थः ॥ २२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

को वेत्तीति : १०.१४.२१.

इयानेव भूयात् प्रसादो मयीश त्वयाकारि येनाद्य लीलास्तवेमाः ।
समालोकिता नान्यथा कोऽपि शक्तः पुरावाऽऽस नाग्रेऽपि नाद्यापि भूमन् ॥ ३२ ॥

कृष्णप्रिया

हे सर्व व्यापक श्रीहरि ? हे भगवन् ! हे परात्मन् ! हे योगेश्वर । जब कभी भी आप आपकी योगमाया का विस्तार करते हुए लीलाओं का विस्तार करने लगते हैं तब इस त्रैलोक्य में कौन ऐसी व्यक्ति है जो जान सके कि भगवान् अपनी लीला कैसे, कहाँ, किसलिये और कितनी करते हैं ॥ २१ ॥ नाथ, यह विश्व असत्स्वरूपवाला, स्वप्न जैसा, ज्ञान का प्रतिबन्धक उत्तरोत्तर दुःख देने वाला ही है। और सारा जगत् माया से उत्पन्न होनेवाला है फिर भी नित्यानन्दबोधस्वरूप हे अनन्त आप में हो रहा है इसलिये आपके सम्बन्ध से यह सत्य है । यदि आपका सम्बन्ध न होता तब तो यह जगत् असदादि ही है ॥२२॥

एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः पूर्णोऽद्वयो मुक्त उपाधितोऽमृतः ॥ २३ ॥
एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते [1]तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिः अनन्तः आद्यः नित्यः अक्षरः अजस्रसुखः निरञ्जनः पूर्णः अद्वयः उपाधितः मुक्तः अमृतः त्वम् एकः आत्मा ॥ २३ ॥ गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये त्वां एवंविधं सकलात्मनाम् अपि स्वात्मानम् आत्मात्मतया विचक्षते ते भवानृताम्बुधिं तरन्ति इव ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्वमेव तु सत्य इत्याह । एकस्त्वं सत्यः । कुतः आत्मा दृश्यमसत्यं दृष्टं न चात्मा दृश्योऽतः सत्यः । किं च यद्विकारवत्त-दसत्यम् । न च त्वयि जन्मादयो विकाराः संतीत्याह । आद्यः कारणमतो न जन्म । आद्यत्वे हेतुः । पुराणः पुरापि नवः कार्या-त्पूर्वमपि वर्तमान इत्यर्थः । अत्र हेतुः पुरुष इति । तथा च श्रुतिः । "पूर्वमेवाहमिहासम्" इति, "तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति । जन्मानंतरास्तित्वलक्षणं विकारं वारयति । नित्य इति । सनातन इत्यर्थः । पूर्णोऽजस्रसुखोऽक्षरोऽमृत इति चतुर्भिः पदैः क्रमेण वृद्धिविपरिणामापक्षयविनाशान्वारयति । पूर्णत्वे हेतुः । अनंतोऽद्वय इति च । देशकालपरिच्छेदरहितो वस्तुपरिच्छेदरहितोऽ-पीत्यर्थः । अमृतत्वोपपादनाय चतुर्विधक्रियाफलत्वं वारयति स्वयंज्योतिर्निरंजन उपाधितो मुक्त इति पदत्रयेण । अयं भावः । तत्रोत्पत्तिराद्य इत्यनेनैव निराकृता । प्राप्तिरपि क्रियया ज्ञानेन वा भवेत् । क्रियया प्राप्तिरात्मपदेनैव निराकृता । ज्ञानतः प्राप्तिं वारयति । स्वयंज्योतिरिति । विकृतिरपि तुषापाकरणेनावघातेन व्रीहीणामिवोपाध्यपाकरणेन भवेत्तत्त्वसंगत्वान्न संभवतीत्याह । मुक्त उपाधित इति । संस्कारोऽपि किमप्यतिशयाधानेन मलापाकरणेन वा तत्रातिशयाधानं पूर्णत्वेनैव निराकृतम् । मलापाकरणं निवारयति । निरंजन इति । निर्मल इत्यर्थः ॥ २३ ॥ तस्मादेवंभूतज्ञानान्मुच्यंत इत्याह । एवंविधमिति । त्वां ये विचक्षते सम्यक्

---

१. तरन्त्येव—वीर. ।

पश्यंति। कथम् आत्मात्मतया आत्मा प्रत्यक्चैतन्यं तस्य स्वरूपेण। न चैतत्पुत्रादिष्विव गौणमित्याह। सकलात्मनामपि स्वात्मानम्। केन। गुरुरेवार्कस्तस्माल्लब्धा उपानपज्ज्ञानं तदेव सुचक्षुस्तेन भव एवानृतांवुधिस्तं ते तरंतीव॥ २४॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवं जगतो मिथ्यात्वेन बाधसामानाधिकरण्ये "नैतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिश्रुतिसिद्धं विजातीयभेदाभावमभिधाय 'सृष्ट्याविवाहम्' इत्यत्र स्वगतभेदं च वारयित्वा जीवैर्मुख्याभेदं दर्शयन्सजातीयभेदमपनुदति-एक इति। अतो दृश्यत्वात्। सत्यत्वेऽन्यदप्याह-किञ्चेति। अतः परमकारणत्वात्। इत्यर्थ इति-पुराणशब्दोऽत्र जीर्णार्थपरो नेत्यर्थः। इहास्य जगत इति यत्पूर्वंभवनं तदिति श्रुतिपदार्थः। इत्यर्थ इति—सनातनस्यैव नित्यपदार्थत्वादिति भावः। परिच्छेदः परिमितिः। उत्पाद्याप्यविकार्यसंस्कार्यरूपाणि चतुर्विधानि क्रियाफलानि। अयं भाव इति—तत्र चतुर्षु आत्मनो विनैव क्रियां स्वरूपत्वेन प्राप्तत्वात्, स्वयंप्रकाशस्य ज्ञानाविषयत्वादित्याह—ज्ञानत इत्यादि। तुषाणामपाकरणं येन अवघातेनावहननेन। तच्च उपाध्यपाकरणम्। तत्र तयोः। इत्यर्थ इति—निर्मले मलसत्त्वे निर्मलत्वव्याघातादित्यर्थः। अत्र विश्वनाथः—बहिर्मुखानां मते तु त्वमपि मायोपाधिर्मायामय एव, दुर्गमहिम्नस्तव चिन्मयजगतां तु मायिकत्वे का वार्तेति। त्वत्पदवीं त्वत्प्रापकं वर्त्म 'भक्त्याहमेकया लभ्यः' इति त्वदुक्तेः। भक्तियोगमजानतां ज्ञानिमानिनां तु मते त्वमनात्मनि प्रकृतौ स्थित एवात्मैव त्वमात्मनैव स्वातन्त्र्येणैवेति तव जीवाद्विशेषः। मायां वितत्यैव भासि, आकारशून्योऽप्याकारवत्त्वेन जातो भवसि, सृष्टौ रजोगुणेन यथाऽहंविधानेन पालने सत्त्वेन एष त्वं विष्णुरिव अन्ते तमसा त्रिनेत्रो रुद्र इवेति निराकारस्यात्मनो यथा मायिकाकारा ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तथा मायिकमेव जलस्थं नारायणरूपमवताराश्च सर्वे मायिकरूपा माययैव वत्सबालचतुर्भुजादीन् क्षणिकान्दर्शयामासेति ते प्राहुः॥ २३॥ यस्मात्त्व सर्वविकारादिशून्यस्तस्माद्धेतोः। एवंविधं सत्यज्ञानादिरूपम्। प्रत्यक् जीवः। आत्मशब्दोऽत्र स्वरूपपरः। एतत् आत्मदर्शनम्। पुत्रे आत्मदृष्टिर्यथा गौणी न तथेत्याह—सकलेति। अनृतत्वादेव तरन्तीवेत्युक्तम्॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पुनरवान्तरप्रकरणं तथैवोपसंहरति एक इति। यस्मान्नारायणस्त्वमित्यादि, एकोऽसीत्यादि च, तस्मात् सपाणिकवलोऽयं त्वमेक एवात्मा सर्वेषां प्रापञ्चिकाप्रापञ्चिकानां मूलं स्वरूपं "तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम्" इति "साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्यां हि वै" इति च श्रीगोपालतापनीश्रुतेः। वक्ष्यते च "सर्वेषामेव भावानाम्" इत्यादि "कृष्णमेनमवेहि त्वम्" इत्यादि च तदात्मत्वमेव साधयति-पुरुष इत्यादिना। तत्र पुरुषः "योऽसावुत्तमः पुरुषो गोपालः" इति तच्छ्रुतेः पुराणः गूढः "पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः" इति वक्ष्यमाणवचनात्। सत्यः "सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्" इत्याद्युक्तत्वात्। स्वयञ्ज्योतिः "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणममुं व्रजेत्" इति तच्छ्रुतेः। अनन्तः "न चान्तर्न बहिर्यस्य" इत्यादि "योऽयं कालस्तस्य ते" इत्याद्युक्तत्वात्, आद्यः "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्" इति ब्रह्मसंहितायाम् "त्रिदितोऽपि भगवान् साक्षात्" इत्यादिश्रीवसुदेववाक्यादेः नित्यः "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् तं पीठगं येऽनुयजन्ति विप्रास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्, एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्याद्युक्ता संयजन्ते न कामान् तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात् प्रकाशयेदात्मपदं तदेव" इति तच्छ्रुतेः। अक्षरः "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः" इति श्रीगीताभ्यः अजस्रसुखः "कृष्णात्मकोनित्यानन्दैकरूपः" इति तच्छ्रुतेः केवलानुभवानन्दस्वरूप" इति श्रीवसुदेववाक्यादेः निरञ्जनः "विशुद्धविज्ञानघनं स्वसंस्थया समाप्तसर्वार्थम्" इति श्रीनारदवाक्यात्। पूर्णः "ते होचुरुपासनमेतस्य गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहि" इति तच्छ्रुतेः "को वेत्ति भूमन्" इति ब्रह्मवाक्यादेः। अद्वयः "अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः" इति तच्छ्रुतेः मुक्त उपाधितः "साक्षात्प्रकृतिपरः" इति तच्छ्रुतेः अमृतः "गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति" इति तच्छ्रुतेः "मर्त्योमृत्युव्यालभीतः पलायन्" इत्यादिवाक्यादेः तथा "जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयं योऽसौ सौर्ये तिष्ठति योऽसौ गोषु तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ गोपेषु तिष्ठति" इत्यादितच्छ्रुतेरेव, अत्र टीकायां पदत्रयेण चतुर्विधं क्रियाफलं वारयतीति तद्वारणं समाप्तीत्यर्थः॥ २३॥ एतादृशत्वज्ज्ञानेनाऽनायासेनैव संसारान्मुच्यत इत्याह - एवमिति। एवंविधं पूर्वोक्तप्रकारकं त्वां श्रीकृष्णं सकलात्मनामपि जीवभेदानां पूर्वोक्तपुरुषत्रयभेदानां चापि रश्मीनां स्वैकदेशानां च सूर्यमण्डलमिव स्वात्मानं परमस्वरूपम् आत्मात्मतया सकलेत्यादिना यथोक्तं तथैव न तु केवलशुद्धात्मादितयेत्यर्थः। विचक्षते आत्मादितः सर्वतः परमप्रेमास्पदत्वेनानुभवन्ति साक्षात् त्वदुपदेष्टृत्वात् तादृशो गुरुरेवार्कः न त्वन्योपदेष्टृवद्दीपादिस्थानीयः तद्विधश्च "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इत्यनुसारेण श्रीशुकदेवादिः उपनिषच्छ्रीगोपालतापन्याद्या "योऽसौ ब्रह्म परं ब्रह्म गोपालः" इत्यादिरूपा भवो जन्ममरणादिमयः संसारः तस्यानृतत्वात् तदाश्रयेण च "त्वय्यम्बुजाक्ष!" इत्यादि रीत्या गोवत्सपदायमानत्वादिवशब्दः॥ २४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पूर्व्वोक्तं श्रीभगवतः सत्यत्वमेवोपपादयन् जीवतत्त्ववैलक्षण्येन भगवतस्तत्त्वमाह—एक इति। एकोऽपि त्वमात्मा व्यापकः पुरुषः सर्वजीवानां प्रत्येकमन्तर्य्यामी—'पुरि शयनात् पुरुषः' इत्युक्तेः; पुराणश्च पूर्वतो निजैश्वर्य्येण वर्त्तमानोऽपि नव एवेति परम-महाशक्तिमानीश्वर इत्यर्थः। एवं परब्रह्मत्वं परमात्मत्वं परमेश्वरत्वञ्च क्रमेणोक्तम्। न चैश्वर्य्यादिकं मायिकमित्याह—सत्य इति। ननु साकारत्वेन दृश्यत्वात् कथं सत्यता ? तत्राह—स्वयंज्योतिः स्वप्रकाशस्त्वत्कृपयैव दृश्यत्वात्। किञ्चानन्तः उत्तरावधिरहितः, आद्यः पूर्वावधिरहितः, एवमपरिच्छिन्न इत्यर्थः। यद्वा, अनन्तोऽपरिच्छिन्नः आद्यो जीववज्जन्मरहितः, नित्यः सदैकरूपः सर्व-विकाराभावात्, अक्षरः स्थिरः। यद्वा, प्रपञ्चातीतः (गी० १५।१६)—'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इति श्रीगीतोक्तेः, अजस्रसुखो नित्यानन्द आनन्दघनमूर्तिरित्यर्थः, निरञ्जनो निर्म्मलो विशुद्ध इत्यर्थः, पूर्णः सम्पूर्णोऽनन्यापेक्ष इत्यर्थः, अद्वयो विजातीयसम्बन्ध-रहितः उपाधितो मुक्तो निरुपाधिरकारणसर्वजीवनिरन्तरहितकारी यद्वा, स्वत एव तत्तद्गुणादियुक्त इत्यर्थः। अमृतोऽविनाशी यद्वा, न विद्यते मृतं मृतिर्मरणलक्षणसंसारो भक्तानां यस्मात् सः। एवं मूर्त्तिमत्त्वेन जीववत् प्रसक्तं परप्रकाश्यत्वं परिच्छिन्नत्व गर्भवासादिपूर्वकजायमानत्वमवस्थादिभेदेन विविधरूपत्वमस्थिरत्वमल्पसुखत्वमविशुद्धत्वं विजातीयसम्बन्धत्वं सोपाधिकत्वं संसारि-त्वञ्च निरस्तम्। एतेषां यथायथं हेतु-हेतुमत्तोह्या ॥२३॥ एतादृशत्वज्ज्ञानेन भवत्यानायासेनैव संसारान्मुच्यन्त इत्याह-एवमिति। सर्वजीवानां स्वात्मानं परमनियन्तारमप्यात्मनोऽपि सकाशादात्मतया प्रियतया। यद्वा, सर्वजीवानां स्वात्मानं परमात्मानमप्यात्मनो ममैवात्मान्तर्य्यामी तत्तयापि किमुत प्रियत्वादिना विचक्षते सम्यग्जानन्ति, ते त्वद्भक्ता मिथ्याभूतोऽपि संसार एवाब्धिर्दुस्तर-त्वात्तं तरन्ति। अनृतेति तत्त्वतोकिञ्चित्करत्वादज्ञानमात्रोत्पन्नत्वाद्वा। इवेति चात्मज्ञानस्य भगवज्ज्ञानान्तर्गततया तज्ज्ञानस्या-नायससिद्धत्वात् ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

एवं विलक्षणत्वेन विश्वस्य चिदचिद्रूपस्य तच्छरीरत्वं तव चात्मत्वमित्याह—एकस्त्वमिति। अनेकजीवविलक्षणः त्वमे-वात्मा इति विश्वात्मत्वं विधीयतेऽत्र अततीत्यात्मा व्यापकः जीवाणुत्वव्यावृत्तिः पुरुषः व्यष्टिजीवपुरुषनियन्ता पूषु चिदचित्सु शेत इति च "आत्मनि योऽव्यक्ते" इत्यादिश्रुतेः। पुराणः पुरापि नवकिशोरमूर्त्तिरेव, सत्यः इच्छामूर्तिमत्त्वेऽपि सत्यः सत्यस्वरूप-रूपगुणकः एवमपि न परप्रकाश्यः यतः स्वयञ्ज्योतिः रविचन्द्रवह्निनामपि ज्योतिःप्रदः स्वप्रकाशः एवमपि न परिच्छिन्नः यतः अनन्तः सर्वदेशसर्वकालसर्वावस्थासु ज्योतिरादिपरिच्छिन्नतारहितः यत आद्यः सर्वकारणं कारणत्वेऽपि बीजवन्नानित्यः किन्तु नित्यः नित्यत्वेऽपि क्षरणस्वभावचिदचिद्वस्तुविलक्षणः अक्षरः अजस्रसुखः इति मुक्ताक्षरव्यावृत्तिः तस्य पूर्वमनित्यसुखत्वात् यतः निरञ्जन उपाधिरहितः अत एव पूर्णः स्वरूपरूपादिभिः यतः अद्वयः समाधिकदरिद्रः उपाधितो मुक्त इति पुनरुक्तिर्मायोपाधि-केश्वरनिरासार्था अमृत इति मुक्तनित्यादिपरमभोग्यस्वरूपरूपगुण इति भावः ॥ २३ ॥ एवं विभूतिद्वयविशिष्टत्वं श्रीभगवतो नारायणस्य श्रीकृष्णस्य प्रतिपाद्याचार्यप्रपत्तिमुखेनैव तत्कृपया एतादृशा श्रीभगवज्ज्ञानतत्प्राप्तिः इति विशिष्याह—पञ्चभिः। एवंविधं पूर्वप्रकारेणोक्तपरमस्वरूपं त्वां ये श्रीभगवतो नारायणस्य तव जन्म सामयिककृपाकटाक्षविषया ये त एव गुर्वर्कलब्धोप-नित्सुचक्षुषा गुरुरेवार्कः यस्य दृष्टौ च परमतत्त्वश्रीमन्नारायणस्वरूपरूपादितत्त्वज्ञानहीनगुरोरतारकत्वम् अभिप्रैति तस्माल्लब्धं यदुपनिषद्रूपं सर्वोपनिषद्रूपस्य रूपमेव सुचक्षुः शोभनं चक्षुः व्यापको रहस्यत्रयावेदको मन्त्रस्तेनेत्यर्थः। सकलात्मनां बद्धमुक्त-नित्यानां जीवानामपि स्वात्मानं निरवधनवत्प्रियमात्मानं शरीरिण त्वां ये आत्मात्मतया विचक्षते आत्मनो ममात्मा प्राणप्रिय-स्तद्भावेन "माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः" इति श्रुत्युक्तरीत्या नवविधसम्बन्धानुसन्धानेनेति भावः। ये पश्यन्ति ते भवानृताम्बुधिं तरन्ति इव, एवार्थे इवशब्दः निश्चयेन तरन्त्येवेति भावः। भूयतेऽस्मिन्निति भावः अनृताम्बुधिम् ऋतेतरविषयो ह्यनृतशब्दः अनृतं कर्मादिपञ्चकम् अभिवक्ति तस्याम्बुधित्वरूपणम् अपारत्वाशोष्यत्वानुल्लङ्घनीयत्वाऽतार्यत्वादिना तत्राविद्याया अपारत्वं कर्मजलस्य शोष्यत्वम् "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इति वाक्यात् वासनाया अनुल्लङ्घनीयत्वं रुचेरतार्यत्वं प्रकृतेरम्बुधित्वं चेति तस्य सत्यत्वं च व्यज्यते ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यद्यसदिदं जगत् मच्छरीरभूतं मय्येवोत्पद्य लीयते तर्हि तद्दोषभागहमप्यसन्नेवेत्यतस्तं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन शोधयति-एक इति। सत्यः स्वञ्ज्योतिरनन्त इति पदत्रयेण "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इति जगत्कारणत्वेन लक्षिते सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टे वस्तुनि विशेष्यांशशोधकं वाक्यं प्रत्यभिज्ञायते सत्यः निर्विकारः अनेनाचेतनात्तत्संसृष्टचेतनाच्च व्यावृत्तिः स्वयञ्ज्योतिः सङ्कोचकाभावान्नि-त्यासङ्कुचितस्वयंप्रकाशस्वरूप इत्यर्थः। अनेन मुक्तजीवानां व्यावृत्तिः तेषां बद्धदशायां सङ्कुचितप्रकाशत्वात् अनन्तः स्वरूपतः स्वभावतश्च त्रिविधपरिच्छेदरहितः अनेन नित्यसिद्धव्यावृत्तिः तेषां स्वभावत आनन्त्येऽपि स्वरूपतस्तदभावात्, तत्र सत्यत्वमेव

विवृणोति उपाधितोऽमृतो निरञ्जनोऽक्षरश्चेति अमृत इति छेदः। जीवस्योपाधितो मरणं नाम कर्मायत्तदेहवियोगात्मकं तद्रहित इत्यर्थः। अमृत इत्यजातत्वस्याप्युपलक्षणम् उपाधित इत्यस्य काकाक्षिन्यायान्मुक्त इत्यनेनापि सम्बन्धः। उपाधितो मुक्तः नित्यं कर्मायत्तदेहसम्बन्धान्मुक्तः तत्प्रतिभट इत्ययमुपाधितोऽमृतत्वे हेतुः। निरञ्जनः पुण्यपापरूपाञ्जनरहितः तत्प्रतिभट अनेन प्रकृतिसंसृष्टजीवव्यावृत्तिः स्पष्टीकृता भवति अक्षर इत्यनेन षड्भावविकारात्मकक्षरणस्वभावरहितवस्तुवाचिना प्रकृते व्यावृत्तिः स्पष्टीक्रियते आनन्त्यं विवृणोति नित्यः पूर्णोऽद्वयश्चेति नित्य इति कालपरिच्छेदव्यावृत्तिः पूर्ण इति देशपरिच्छेदराहित्यमुच्यते "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति श्रुत्युक्तरीत्या सर्ववस्तुव्यापकत्वं तेन विवक्षितम् अतो देशपरिच्छेदव्यावृत्तिः स्पष्टैव अद्वय इत्यनेन वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुच्यते, अद्वयः अब्रह्मात्मकद्वितीयवस्तुरहितः सर्वस्य स्वात्मकत्वेन सर्ववस्तु सामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यमुक्तं भवति। यद्वा, अद्वयः स्वस्वरूपगुणापेक्षयोत्कृष्टगुणयुक्तवस्त्वन्तररहितः निरतिशयगुणयुक्तत्वमपि वस्त्वपरिच्छेदः तत्राद्यकल्पे स्वरूपस्यैव सर्वशरीरकत्वेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्यार्हत्वरूपं वस्तुपरिच्छेदराहित्यं न तु गुणानामित्यवगन्तव्यं द्वितीये तु निरतिशयत्वं स्वरूपे गुणेषु चानुगतमित्युभयेषामपि वस्तुपरिच्छेदराहित्यमिति विवेकः, एवं प्रकृतिपुरुषव्यावृत्तस्य स्वरूपस्य कीर्तनम्, अजस्रसुख इति अजस्रं सततमविच्छिन्नं दुःखासम्भिन्नम् इति यावत् तत्सुखं यस्य सः बहुव्रीहिणाऽवगतस्याजस्रसुखस्यान्यपदार्थसम्बन्धो राहोः शिर इतिवदभेदरूपः कथमेवम्विधस्य ममासत्स्वरूपजगत्कारणत्वमित्यत उक्तम् आद्य इति, आदौ भव आद्य एवम्विधोऽपि जगत्कारणभूत इति साध्यधर्म्मनिर्द्देशः अत्रोपपत्तिरुच्यते। "एक आत्मा पुरुषः पुराणः" इति "एकमेवाद्वितीयम्" इति स्थानप्रमाणेन तत्रेवात्रापि सृष्टिदशावस्थनामरूपविभागनिबन्धनप्रपञ्चगतबहुत्वप्रतिसम्बन्धितदविभागनिबन्धनैकत्वमेकशब्देनोच्यते नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतयैकत्वव्यपदेशार्हः न विशेष्याकारेण कारणभूतः किं तु विशिष्टत्वाकारेणेति भावः। आत्मेत्यनेन स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषकालादिद्रष्टृत्वं विवक्षितं स्वक्षेत्रस्य द्रष्टा ह्यात्मा "एतद्यो वेत्ति सततम्" इति भगवदुक्तेः। यद्यपि सा क्षेत्रज्ञशब्दव्युत्पत्तिस्थाऽपि तत्पर्यायतया प्रयुज्यमानस्यात्मशब्दस्याप्यन्तःप्रविश्य धारकवाचिनस्तत्पर्यन्तताऽत्र विवक्षिता, अनेन निमित्तकारणत्वोपयुक्तं सर्वज्ञत्वं विवक्षितम् इदमुपादानकारणत्वोपयुक्तसर्वशक्तित्वस्याप्युपलक्षणम् एक इत्युपादानादिकारणत्वं प्रसाधितम्, अथ निमित्तकारणत्वं साधयति—पुरुषः पुराणः पुरुषशब्देनाऽत्र कर्तृत्वं विवक्षितं तस्यैव कर्तृत्वदर्शनात् "कर्ताशास्त्रार्थवत्त्वात्" (२।३।३३) इति सूत्रस्वारस्याच्च पुराणः पुरापि नवः पुरा जगत्सृष्टेः पूर्वं वर्त्तमानः पुरुषः जगत्कर्त्तेत्यर्थः॥ २३॥ यतस्त्वमेवं कारणभूतोऽत एव "कारणं तु ध्येयः" इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वामेवंविधं ध्यात्वा मुच्यन्त इत्याह—एवमिति। ये जना गुरुरेवार्कः सूर्यवत्तमसोऽज्ञानस्य निवर्त्तकत्वात् तथा रूपणं तस्मादुपलब्धा या उपनिषद्वेदान्तः अत्रोपनिषच्छब्देन तद्वाक्यार्थज्ञानं विवक्षितं सैव शोभनं चक्षुस्तेनैवंविधं त्वां विचक्षते चक्षिर्दर्शनेऽपि वर्त्तते पश्यन्तीत्यर्थः। गुरुमुखाद्वेदान्तवाक्यार्थं निश्चित्य तन्मननपूर्वकं प्रत्यक्षतापत्तिपर्यन्तरूपामुपासनां ये कुर्वन्तीति भावः। कथम्भूतं कथं च? तत्राह—सकलात्मनां सर्वेषामात्मनाम् उपासकानां चान्तरात्मानमात्मनामुपासकानामात्मतया त्वच्छरीरतया। यद्वा, सकलात्मनां सर्वजीवानां देवमनुष्यादीनां ये आत्मानः देवमनुष्यादिशरीरान्तर्वर्त्तिनो जीवास्तेषामप्यन्तरात्मतया स्वात्मानमुपासकानामप्यन्तरात्मानं य इह विचक्षते त एव भवानृतामम्बुधिन्तरन्तीत्यन्वयः। भवे संसारे यान्यनृतानि तान्येवाम्बुधिस्तं यथा सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धो वातीत्यादिना पुण्यं कर्म प्रस्तुत्य तत्प्रतिसम्बन्धिनि पापे "एवमनृतादात्मानं जुगुप्सेत्" इत्यनृतशब्दप्रयोगादनृतशब्दः पापकर्मवाची पापत्वं चानिष्टसाधनत्वं मुमुक्षोः स्वर्गादिफलस्याप्यनिष्टत्वेन तत्साधनं कर्माप्यनृतशब्देन विवक्षितम् एवं च पुण्यपापानि तरन्तीत्यर्थः॥ २४॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथ सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनस्त्वमेव धारकत्वेन निरुपाधिक आत्मा इत्याह—एकस्त्वमिति। एकः मुख्यस्त्वमेव "एके मुख्यान्यकेवलाः" इति निघण्टुः, निरुपाधिक आत्मा चिदचिच्छरीरी यद्यपि प्रकृत्यपेक्षया जीवोऽप्यात्मा तथापि परमात्मापेक्षया शरीरमपि भवति त्वन्तु शरीर्येव न तु कस्यापि शरीरभूतः "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेः। तत्कुतः? पुरुषः पुरि शयनात्पुरुषः अत एव पुराणः पुराणोऽपि अभिनवत्वेनानुभाव्यः सत्यः उत्पत्त्यादिरहितः तथा च श्रुतिः "सत्यस्य सत्यम् इति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" इति प्राणसाहचर्याज्जीवात्मानः प्राणाः तेहि स्वरूपेणानुत्पाद्यत्वेऽपि कर्मानुगुणदेहयोगेन जन्मवन्तस्तदप्यस्य नास्तीति तेषामेष सत्यमिति श्रुतेरर्थः। स्वयञ्ज्योतिः सदा स्वप्रकाशः असकुञ्चितज्ञानैश्वर्यः "यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः" इति प्रमाणात् अनन्तः अपरिच्छिन्नज्ञानानन्दादिगुणः तदुक्तम्—

"योऽनन्तशक्तिर्भगवाननन्तो महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः"। इति।

आद्यः कारणानामपि कारणम् "सकारणं करणाधिपाधिपः, अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्" इत्यादिश्रुतेः। नित्यः सदैकरूपः चिदचिद्गतत्वेऽपि तद्गतविकाराभावात् तदुक्तं पराशरेण—

"अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने। सदैकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे"॥ इति।

तत्कुतः ? यतः अक्षरः अप्रच्युतस्वरूपस्वभावः "एष आत्मा अपहतपाप्मा, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादिश्रुतेः। अजस्रसुखः निरन्तरज्ञानानन्दादिगुणानुभववान् "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" इत्यादि श्रुतेः। निरञ्जनः अप्राकृतदिव्यविग्रहवत्त्वेनास्पृष्टप्रकृत्यंशः "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतेः, । पूर्णः अन्तर्यामितया सर्वत्रानुस्यूतः अत एवाद्वयः समाभ्यधिकशून्यः "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यादिश्रुतेः। उपाधितो मुक्तः सदा असङ्कुचितज्ञानतया अविद्यादिदोषरहितः अत एवामृतः यं प्राप्य प्रपन्ना न मृता इत्यमृतः संसारनिवृत्तिपूर्वकमोक्षप्रद इत्यर्थः 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति"।

"इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च"॥

इति श्रुतिस्मृतिप्रमाणात्, अत्र सत्यः स्वयञ्ज्योतिरनन्त इति पदत्रयेण "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति श्रुतिवाक्यमुपबृंहितमित्युक्तं भवति तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्यत्वगुणयोगि ब्रह्माऽऽह—तेन परिणामादिविकारास्पदमचेतनं तत्संश्लिष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः अवस्थान्तरयोगेन तयोर्निरुपाधिकसत्यत्वविरहात् स्वयञ्ज्योतिः-पदवाच्यज्ञानपदं नित्यासङ्कुचितज्ञानत्वेन गुणयोगि-ब्रह्माऽऽह—तेन पूर्वं सङ्कुचितज्ञानत्वेन मुक्तो व्यावृत्तः अनन्तपदं देशकालवस्त्वपरिच्छिन्नं स्वरूपमाह - कल्याणगुणाकरत्वेन। सगुणत्वात् स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यं श्रुतिसिद्धं तेन सत्यज्ञानपदद्वयव्यावृत्तबद्धमुक्तविलक्षणाः सातिशयस्वरूपस्वगुणा नित्याः व्यावृत्ताः विशेषणानां व्यावर्तकस्वभावत्वात् ततः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यनेन सत्यत्वादिगुणविशिष्टं ब्रह्म सकलेतरवस्तुविसजातीयमिति निश्चितमिति विस्तरस्तु आकरेषु द्रष्टव्यः अतः प्रकृतमनुसरामः॥ २३॥ तस्माज्जीवात्मपरमात्मनोः स्वस्वामिभावशरीरशरीरिभावादिसम्बन्धज्ञानमेव संसारमोचकमित्याह—एवंविधे त्वामिति। एवंविधं एकस्त्वमात्मेत्यादि पूर्वोक्तप्रकारेण त्वां सकलात्मनामपि नित्यमुक्तबद्धानाम् अपि शब्दात्प्रकृतेरपि स्वात्मानं स्वधारकतयात्मानं "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेः। आत्मात्मतया आत्मनामात्मा आत्मात्मा तस्य भावः आत्मात्मता तया विचक्षते पश्यन्ति ज्ञानिन इति शेषः। केन साधनेन विचक्षते इत्यत आह—गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा गुरुः—

"गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्रुकारस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते"॥

इति निर्वचनसिद्धो गुरुशब्दः स गुरुरेवार्कस्तस्माल्लब्धं यदुपनिषत्सुचक्षुः रहस्यज्ञानचक्षुस्तेन आचार्योपदिष्टरहस्यज्ञानेन ये पश्यन्ति त्वदाराधनं कुर्वन्तीत्यर्थः। ते भवानृताम्बुधिं अनृतशब्दवाच्याविद्याकार्यसंसारसागरं तथा च श्रुतिः "अनृतेन हि प्रत्यूढास्तेषां सत्यानामनृतमपिधानम्" इति तरन्त्येव। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति स्मृतेः। अत्र तरतिस्त्यागपरः त्यजन्तीत्यर्थः। तमुत्सृज्य त्वामेव सेवन्ते इति भावः॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एकस्त्वम्॥ २३-२४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

यद्यपि तवावताराः सर्वे नित्याः, यद्यपि वत्सवत्सपादिरूपेण सम्प्रत्येव सत्यज्ञानादिवपुर्भिर्नाना दृष्टोऽसि, तथापि त्वमेक एव, यत इदानीं तत्तत् सर्वमन्तर्धाप्यैक एव वर्त्तसे; तेन सजातीय-विजातीय-द्वैतशून्यत्वादेक एवासीत्याह - एकस्त्वमात्मेत्यादि। त्वमेकः यदिदं सर्वं दृष्टम्, तत्त्वमेव, न तत् सजातीयं विजातीयं वा। त्वत्तः पृथगात्मा, न शरीरम्। तर्हि किं नोरूपः ? नेत्याह—पुरुषो दृश्यमानपुरुषाकारतया श्रीनन्दकिशोर एव। तर्हि किमहमर्वाचीनः ? नेत्याह—पुराणः। तर्हि कथं नन्दपुत्रः ? तत्राह—सत्यः, एवंरूपेणैव सत्यः, एवंरूपेणैव नन्दादयोऽपि सत्या इत्यर्थः। कुत इयं सङ्गतिः ? तत्राह—स्वयंज्योतिः स्वप्रकाशः। तव स्वयं ज्योतिष्ट्वेन सर्वमेव सङ्गच्छते,—अचिन्त्यपरमशक्तित्वात्। तर्हि किमहं परिच्छिन्नः ? तत्राह—अनन्तः—एवरूपेणैव व्यापकत्वात्। ननु पुराण इति यदुक्तं तत् किं प्राचीनः ? नेत्याह—आद्यः। ननु तथाप्यादौ भवत्वान् आदिशब्दस्य च सावधित्वात् सृष्टेः प्राक्जातत्वमायातम्। तथा सति प्राचीनत्वमेवायाति, न तु मे नित्यत्वमित्याशङ्क्याह—नित्यः। तर्हि किमहमाकाशवन्नित्यः ? नेत्याह—अक्षरः। स तु क्षर एव,—भूतविशेषत्वात्, —(गी० १५।१६) "क्षरः सर्वाणि भूतानि" इत्युक्तेः। अतएवाजस्रसुखो निरन्तरानन्दः। तर्हि कथं भवता हृतेषु मे दुःखम् ? तत्राह—निरञ्जनोऽलिप्तः, तेनापि लिप्तो न भवसि। तर्हि निर्विशेषं ब्रह्मैव ? नेत्याह पूर्णः, परिपूर्णं ब्रह्म बृहद्ब्रह्मेत्यर्थः। अतएव अद्वयः, द्वयमपूर्णता नास्ति यस्य, यत उपाधितो मुक्तः, अतोऽमृतः; अमृतमास्वाद्यं यत् किञ्चित्तदस्यास्तीत्यर्श आदित्वादच्। एतत् सर्वाण्येव विशेषणानि; विशेष्यन्तु त्वमिति त्वच्छब्दवाच्यं श्रीकृष्णरूपम्, तेन त्वद्रूपस्यानिर्वचनीयत्वे तात्पर्यम्॥ २३॥ ये त्वेवम्विधे तव श्रीविग्रहे आत्मबुद्धिं कुर्वन्ति, न पुनः शरीरबुद्धिम्, त एव निस्तरन्तीत्याह—एवम्विधं त्वामित्यादि। एवम्विधमेवम्प्रकारं त्वां श्रीविग्रहरूपं ते आत्मात्मतया आत्मनामपि आत्मतया विदन्ति, परमात्मत्वेन जानन्ति। किंवा आत्मा विग्रहः, स एवात्मा चिद्रूपस्तत्तया, ते भवानृताम्बुधिं तरन्तीव, तरन्त्येव; इव एवार्थः। कीदृशम् ?

सकलात्मनामपि आत्मानम् । केन ? गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा, गुरुरेवार्कस्तेन लब्धा अधिगता या उपनिषत् तत्त्वं रहस्यमिति यावत्, सैव सुष्ठु शोभनं चक्षुस्तेन, अथवा, एवम्विधं परमाचिन्त्यमहैश्वर्यं त्वां ये आत्मनः स्वस्यात्मतया स्वजीवनबुद्ध्या विचक्षते, ते तरन्तीव, तरन्त्येवेति पूर्ववत् । यद्वा, एवम्विधं परमप्रेमास्पदविग्रहं त्वां ये ज्ञानिन आत्मा आत्मेत्येव विचक्षते, न तु श्रीनन्दकिशोरोऽयं प्राणनाथ इत्यादिरूपेण ते भवानूनाम्बुधिं तरन्तीव न तु भवन्ति, इवशब्दोऽसम्भवानार्थः ।। २४ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एवञ्चेदवताराणां सत्यत्वम्, तर्हि किमहं नाना इत्याशङ्क्याह—एकस्त्वमित्यादि । त्वमेकः, परमात्मा सर्वात्मरूपः, तर्हि किमहं नीरूपः ? तत्राह -पुरुषो दृश्यमानपुरुषाकारः । तत् किमहमर्वाक् ? तत्राह—पुराणः एवंरूपेणैव प्राक्सिद्धः, अतएव सत्यः । तर्हि कथं नन्दसुतः ? तत्राह—स्वयंज्योतिर्नन्दगृहे स्वयंकृतप्रकाशः, न तु तत्सुतः । तर्हि किमेवाहं परिच्छिन्नः ? तत्राह—अनन्तोऽपरिच्छिन्नः परिच्छिन्न इव दृश्यते । अधुनैव तवानन्तता च दृष्टा न केवलमनन्त आद्यश्च सर्वकारणकारणम्, अतएव नित्योऽक्षरः क्षरतीति क्षरा माया, न विद्यते सा यस्य स तथा, अतएव अजस्रसुखः, अतो निरञ्जनोऽज्यतेऽनेनेत्यञ्जनं प्रमाणं प्रमाणान्निर्गतोऽप्रमेय इत्यर्थः । अतः पूर्णोऽद्वयः न विद्यते द्वयं प्रपञ्चो यस्य उपाधितो मुक्त उपाधिशून्यः अमृतोऽमृतरसवदास्वाद्यः । एवंविधं त्वां केचिदेव विरला जानन्ति, इति भावः ।। २३ ।। येतु एवंविधं त्वामविज्ञाय केवलेनैवात्मज्ञानेन भवाम्बुधिं तितीर्षन्ति, तेषां केवलं कृच्छ्रमेवेत्याह - एवंविधं त्वामित्यादि । तरन्तीव, न तु तत्तरन्ति । यद्वा, एवंविधं दृश्यमानश्रीनन्दकिशोरविग्रहं परमप्रेमास्पदं त्वां ये हि आत्मतयैव विचक्षते, ते तरन्त्येवेति भावः ।। २४ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च तवानन्तमूर्त्तित्वेऽपि त्वमचिन्त्यशक्त्या एकमूर्त्तिरेवेत्याह-एक इति । त्वम् एक आत्मा परमात्मेत्यर्थः । जीवात्मनां बहुत्वेनैकत्वभावात् । ननु, परमात्मा निराकार एव न पुरुषः पुरुषशब्दस्याऽऽकृतिमत्येव पदार्थे रूढेः किमन्यः पुरुष इवार्वाचीनः न पुरातनः । ननु, नन्दपुत्रत्वादर्वाचीनोऽप्यहं पुरातनो भवतः स्तुत्यैवाऽभूवं न तु यथार्थतयेति तत्राह, सत्यः त्वं नन्दपुत्रोऽपि सत्यः त्रैकालिकसत्तावान् पुराणपुरुष इत्यर्थः । नन्वस्य पुरुषस्य कालकर्मादिप्रकाश्यत्वादहमपि किन्तथैव न स्वज्ज्योतिः त्वन्तु स्वप्रकाशः किं सूर्यादिवत् परिच्छिन्नः न अनन्तः न विद्यतेऽन्तः कालतो देशतश्च यस्य सः नन्वन्येऽप्यवतारा एवम्भूता एव तेषामहं कतमस्तत्राह, आद्यः त्वं तेषामपि मूलभूतोऽवतारीत्यर्थः । नन्वहं द्विपरार्द्धान्ते किमेतत्स्वरूपेणैवावस्थास्यामि न वेत्यत आह, नित्यः जगदिदं पुरातनमपि सत्यमपि द्विपरार्द्धान्ते स्वरूपेणास्थायित्वादनित्यमुच्यते त्वं तु तदापि नन्दपुत्राकारेणापि स्थास्यसीति नित्य उच्यसे त्वदाकारस्य पूर्णब्रह्मस्वरूपत्वात् "योऽसौ सौर्य्ये तिष्ठतीत्यादौ यः साक्षात् परब्रह्मेति गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्" इति तापनीश्रुतेः । "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इति त्वदुक्तेश्च । नन्वाकारवतः षड्विकारवत्त्वेन प्रतिक्षणक्षरत्वादहमपि किं तथैव न अक्षरः । नन्वाकारवन्तो ह्यवश्यमेव सुखदुःखधर्माणो भवन्ति तत्राह—अजस्रसुखः । ननु, मम बाल्ये गोपीस्तन्यदुग्धदधिघृतादिषु लोभः पौगण्डे कालियादिषु कैशोरे गोपिकासु काम इत्यहं कामादिमालिन्ययुक्त एव, न निरञ्जनः त्वत्कामादीनामपि चिन्मयत्वात् । ननु, तदपि गोपीकादिसापेक्षत्वादपूर्णस्तु भवाम्येवेति तत्राह, पूर्णः प्रेमिभक्तसापेक्षत्वं हि न पूर्णत्व व्याहन्तीत्यर्थः । नन्वेवम्भूतो मद्विधः कोऽप्यन्यो वर्तते न वेति तत्राह, अद्वयः । ननु, सत्यमद्वयत्वात् पूर्णंब्रह्मैवाहन्तदपि केचिन्मां विद्योपाधिं मन्यन्ते तत्राह–उपाधितो मुक्त इति । "विद्याविद्याभ्यां भिन्नः" इति गोपालतापनीश्रुतेः यतस्त्वममृत इति "अमृतं शाश्वतं ब्रह्म" इति श्रुत्युक्तममृतशब्दवाच्यं निरुपाधिब्रह्मैव श्लेषेण न विद्यते मृतं मृत्युर्यस्मात् स इति ।।२३।। किञ्च त्वदीयनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपोपासका अपि त्वयि पुरुषाकारस्वरूपे परमात्मत्वेन भक्त्या भाग्यवशाद् यदि प्राप्तनिष्ठाः स्युस्तर्हि ते शान्तभक्ताः सञ्ज्ञीयन्त इत्याह–एवम्विधमुक्तलक्षणं त्वां सकलात्मनां सर्वजीवात्मनां स्वात्मानं मूर्त्तत्वेन मनोनयनाह्लादकत्वात् शोभनमात्मानं पुरुषस्वरूपमेव आत्मात्मतया परमात्मत्वेन भक्त्या ये पश्यन्ति "परमात्मतया कृष्णे जाता शान्ती रतिर्मता" इति श्रीभक्तिरसामृतोक्तेः । केन, गुरुरेवार्कस्तस्माल्लब्धाऽध्ययनेन प्राप्ता या उपनिषत् सैव सुचक्षुस्तेन तदर्थावगाहनोत्थेन ज्ञानेन भव एव अमृताम्बुधिस्तं तरन्तीव ।।२४।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अतस्त्वमेवोपादेय इत्याह –एक इति । त्वं सत्यः किं स्वर्गादिर्न नित्यः ? किं प्रधानं न अक्षरः ? किं जीवो न अनन्तः ? किं शेषो न पुराणपुरुषः ? सर्वतो वैलक्षण्ये विशेषणानि स्वयञ्ज्योतिः अजस्रसुखः पूर्णः एकः समानाधिकशून्योऽतोऽद्वयोऽनुपमः आत्मा सर्वात्मा आद्यः हेतुः निरञ्जनो निखिलदोषवर्जितः यतः उपाधितः सर्वदा मुक्तः अत एव नास्ति मरणं यस्मात्सोऽमृतः ।।२३।। उपादेयमुक्त्वा तत्प्राप्तिकामस्य संसारतरणोपायमाह—एवमिति । आत्मनः स्वस्य आत्मतया भेदसहिष्ण्वभेदेन ये त्वां विचक्षते सम्यक् पश्यन्ति त्वद्ध्यानं कुर्वन्ति ते भव एव अनृतयुक्तः कपटग्राहयुक्तोऽम्बुधिस्तं तरन्त्यावतरणे संशयाभावं सूचयतीवशब्दः भेदसहिष्ण्वभेदचिन्तनमेव मुक्तिसाधनमुक्तं सूत्रकारेण "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" (४।१।३) इति सूत्रार्थो वेदान्तकौस्तुभे

द्रष्टव्यः । ननु, "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" इत्यादिश्रुतिभ्यः । अणुपरिमाणकस्य "नित्यो नित्यानाम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः सर्वदैव स्वरूपतो भिन्नस्य केन हेतुना तादृशोऽप्यभेदः सङ्गच्छते ? इत्यतो हेतुगर्भं विशेषणमाह—सकलात्मनाम् स्वात्मानमिति "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति श्रीमुखवचनाद्भगवदंशभूतजीवस्वरूपाणां स्वात्मानं स्वाश्रयमंशिन-मित्यर्थः । अंशस्यांशिनिरपेक्षस्वरूपस्थितिप्रवृत्त्याद्यभावात्स्वरूपतो भिन्नस्यैव तदभिन्नत्वं युक्तमेवेति भावः । तथाह भगवान्सूत्रकारः "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" (२।३।४२) इति केन ? गुरुरेव अर्कस्ततो लब्धा उपनिषद् अध्यात्मविद्या तदेव सुचक्षुस्तेन गुरूपदिष्टवेदान्तजन्येन स्वस्य ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेनेत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चिज्जडात्मकस्य जगतः स्वरूपमशोभनं स्वप्नसदृशं दुःखाकुलमुक्तं त्वय्येव नित्येत्युक्तं भगवत्स्वरूपन्तु विशिष्य दर्शयति एकत्वमिति । एक आत्मा त्वं व्रजसुहृदादिवहुरूपत्वेऽप्यैक्यात्यागात् श्रुतिश्चाह "एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाती"ति । स्मृतिश्च "एकानेकस्वरूपाये"ति । नन्वात्मा किं तार्किकानामिवाकृतिहीनः न पुरुषः मुखपादकरोदरादिमान् आनन्दमयवाक्ये पुरुषविध इति श्रवणात् । ननु किमितरपुरुषवदाधुनिकः न पुराणः पुरातन इत्यर्थः । ननु नन्दपुत्रत्वादहमाधुनिक एव न सत्यः त्रैकालिकः पुरापि तत्पुत्र इत्यर्थः । नन्वितरपुरुषवत् किं कालादिप्रकाश्यः न स्वयंज्योतिः स्वप्रकाश इत्यर्थः । ननु किं दीपादिप्रकाशवत् परिच्छिन्नः न अनन्तः सर्वदेश इत्यर्थः । नन्वीदृशा मत्स्यादयोऽप्यवतारास्तेषु कतमोऽहं तत्राह—आद्य इति, तेषामवतारी स्वयं रूपत्वमित्यर्थः । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि"ति स्मरणाच्च । ननु महाप्रलयेऽप्येवमेव स्थास्यामि न वेति चेत्तत्राह नित्यः सदैकरसः तदाप्येवमेव स्थास्यसीत्यर्थः । नन्वाकृतिमतो भावस्य विकारदर्शनात् ममापि स स्यात् न अक्षरः निर्विकार इत्यर्थः । ननु तादृशस्य कदाचि-द्दुःखस्यापि दर्शनान्ममापि तत् स्यात् न अजस्रसुखः । ननु बाल्ये दध्यादिषु लोभः पौगण्डे कालियादिषु क्रोधः कैशोरे गोपकिशोरीषु मे कामश्चेति लोभादिमालिन्यवानहं न निरञ्जनः तल्लोभादीनां स्वरूपधर्मत्वान्निर्मलत्वमित्यर्थः । ननु मध्यादीनां गोपकिशो-रीणाञ्चापेक्षणादपूर्णोऽहं न पूर्णः तेषां तासाञ्च तद्विभूतित्वादिति भावः । अद्वय इति प्राग्वत्, ननु मामन्ये सोपाधिमाहुः न, उपाधितो मुक्तः "साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः" इति श्रुतेः उपासितः सन्नमृतः न विद्यते मृतं मृत्युर्यस्मादिति मुक्तिप्रद इत्यर्थः "गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति" इति श्रुतेः ॥२३॥ त्वां भजतामश्रमा मुक्तिरित्याह एवमिति । एवम्विधमुक्तलक्षणं त्वां सकलात्मनां निखिलक्षेत्रज्ञानां स्वात्मानं दिव्यपुरुषत्वात् शोभनमात्मानं आत्मात्मतया स्वान्तर्यामितया स्वस्वामितया च ये विचक्षते ध्यायन्ति, केन ? गुरुरेवार्कस्तस्माल्लब्धा अध्ययनेन प्राप्ता "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इत्युपनिषत् सैव सुचक्षुस्तेन तदुत्थेन निर्णयेनेत्यर्थः । ते भव एवानृताम्बुधिर्दुष्कर्मफलसिन्धुस्तं तरन्ति "ऋतं पिबन्ता" वित्यादावृतशब्दः, सुकर्मफलपरो दृष्टः त्वदाश्रयेण तस्य गोवत्स-पदतुल्यत्वादनायासतरणसूचनायेवशब्दः उपनिषदर्थस्तु एष आत्मा विज्ञानानन्दः ते तवान्तर्यामी अमृतो नित्य इत्यन्तर्यामित्वं तस्य नित्यमित्यर्थः । न चैव ते तवात्मेति सम्बन्धनीयं तथा सति षष्ठ्यर्थस्यौपचारिकत्वापत्तेः ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतस्तत्त्वमाहैकस्त्वमात्मेति, त्वमादावेक एव सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यः ततः **आत्मा** त्रिविधो जीवरूपोन्तर्या-मिरूपो विभूतिरूपश्च जातः, ततः **पुराणः पुरुषः** पुरुषोत्तमः, अथर्वैको ब्रह्मवादे, **आत्मा योगे, पुरुषः** साङ्ख्ये, **पुराणो** वैष्णवे, **सत्यः** पाशुपते, **सत्** त्यदितिभेदे **सत्यो** जगद्रूपो वा, एवं पञ्चविधोपि **स्वयञ्ज्योतिः** स्वप्रकाशो न तु जडः, **अनन्तो**न्तशून्य उत्तरा-वधिरहितः, **आद्यः** पूर्वावधिरहितः **नित्यः** सदैकरूपः, न तु वृद्धिक्षयवान् यथा समुद्रश्चन्द्रो वा, एवं प्रपञ्चरूपत्वे दोषचतुष्टयं निवार्य भगवतो रूपान्तराण्याहाक्षर इति, शब्दब्रह्माक्षररूपः प्रकृतिपुरुषकारणरूपो वा, तेन ज्ञानविषय उक्तः, ततसाध्यमोक्षरूपत्वमाहाज-**स्रसुख** इति नित्यसुखरूपः, तस्मिन्नपि सुखे प्राप्तदोषान् निवारयति निरन्तरसुखरूपमप्यज्ञानयुक्तं भवति यथा सुषुप्तिः, तद्व्यावृत्त्यर्थ-माह **निरञ्जन** इति, अञ्जनमविद्या तद्रहितः, परिच्छेदोपि भवति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **पूर्ण** इति, तरतमराहित्यार्थमाहाद्वय इति, केनचिदुपाधिनैव भोक्तव्यमितिशङ्कां वारयति **मुक्त उपाधित** इति, यथा स्त्रीसुखं पुरुषेणैव भोक्तव्यं पुरुषसुखं स्त्रियैव तथा ब्रह्मानन्दा-नुभवे न कोप्युपाधिरपेक्षितः, किञ्च स्वरूपतोपि स ऋतोलौकिकः श्रुत्यैकसमधिगम्यो न तु लौकिकप्रमाणवेद्यः, अन्यथा पूर्वोक्तरूपो न स्यात्, एभिरेव षोडशविशेषणैर्देहाद् वैलक्षण्यमपि ज्ञातव्यं, "षोडशकलोयं पुरुषः," देहस्तु बाल्यकौमारादिभेदेनानेको नापि व्यापको नाप्यात्मेत्यादि स्वयमूह्यं, एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतेभ्यो वा वैलक्षण्यं ज्ञातव्य, षोडशकलो वा नारायण एभिरुक्तः ॥ २३ ॥ एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वैवंविधं ये वक्ष्यमाणप्रकारेणोपासते ते श्रान्ता इत्याहैवंविधमिति पञ्चभिः **एवं** षोडशकलं **त्वां सकलात्मनामपि** सर्वजीवानामात्मानं देहरूपमात्मरूपं चात्मन एव स्वस्यैवात्मतयाहमेव भगवानिति ये **विचक्षते** पश्यन्ति तत्र विषयप्रबोधको **गुरुर्को** ज्ञानकरणमुपनिषदेव चक्षुः, य एवमहमेव परं ब्रह्मेति जानन्ति **ते भवानृताम्बुधिं तरन्तीव** सर्वं ब्रह्मेतिज्ञाने सर्वतरणं केवलमात्मन एव ब्रह्मत्वेन ज्ञाने यः संसारोनृतरूपः केवलं स्वमोहात् कल्पितोहम्ममात्मा स एवाम्बुधिस्तरणेशक्यः, तादृशमपि **तरन्तीव** दोषाधारस्यानिवृत्तत्वात्, अन्तर्दोष एव निवृत्तो न तु देहेन्द्रियविषयाणां, अतोनृताम्बुधिस्तीर्णोप्यतीर्णप्राय इत्यर्थः ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'नित्यसुखबोधतनौ' इत्युक्तमेव सर्ववेद्यं भगवतस्तत्त्वं विशदयति–एक इति । एकस्त्वं सत्यः परमार्थभूतः । तत्र हेतुमाह–आत्मेति । किञ्च यद्विकारवत्तदसत्यम्, तव च जन्मादयो विकाराः न सन्ति । तत्र जन्माभावे हेतुमाह—आद्य इति, सर्वकारणमित्यर्थः । कारणत्वे हेतुमाह—पुराण इति कार्यात् प्रपञ्चात् पूर्वमपि वर्तमान इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—पुरुष इति, । "पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रुतेः । जन्मानन्तरभाव्यस्तित्वविकारं वारयति— नित्य इति, सनातन इत्यर्थः । वृद्धयभावे हेतुमाह—अनन्त इति, देशपरिच्छेदरहित इत्यर्थः विपरिणामाभावे हेतुमाह—अजस्रसुख इति, नित्यानन्तरूप इत्यर्थः । अपक्षयं वारयति—अक्षर इति । विनाशं वारयति –अमृत इति । तत्र हेतुमाह— निरञ्जन इति, निर्मल इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—उपाधितो मुक्त इति, कालकर्मगुणादिपारवश्यरहित इत्यर्थः । तत्रापि हेतुमाह –पूर्ण इति, अचिन्त्यानन्तशक्तिपरिपूर्ण इत्यर्थः । तथाच द्वैतापत्तिमाशङ्क्याह—अद्वय इति । 'एवंभूते किं प्रमाणम् ?' इत्याकाङ्क्षायामाह—स्वयंज्योतिरिति । 'यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः स्वयंप्रकाश एव, न तत्र प्रमाणान्तरम् । अन्यथा जडत्वापत्तेः ।। २३ ।। 'एवंभूतस्य तव आत्माऽभिन्नज्ञानात् मुक्तिर्भवति' इत्याह—एवमिति । गुरुरेवार्कः सूर्यवत् अज्ञानान्धकारनिरासेन परमार्थप्रकाशकः, तस्माल्लब्धा उपनिषत् उपनिषज्जन्यं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन ये एवंविधमुक्तप्रकारकं त्वामात्मात्मतया स्वाभेदेन पश्यन्ति, ते भवानृताम्बुधिं 'भवतीति भवः देहेन्द्रियान्तःकरणादावात्माध्यासः स एव मिथ्यात्वात् दुस्तरत्वाच्चानृताम्बुधिः, तं, तरन्तीवेत्यन्वयः । 'भवाम्बुधेरनृतत्वात् तत्तरणमपि तथैव' इत्याशयेन इवशब्दप्रयोगः । 'न चायमभेदः पुत्रादिष्विव, किन्तु यथार्थ एव' इत्याह– स्वात्मानमिति । स्वरूपभूतं न केवलं स्वात्मानम्, किन्तु सकलात्मनां सर्वजीवानामप्यात्मानमिति । "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति वचनात्, अंशांशिनोरभेदाच्च ।। २४ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

एक इति ।। त्वम् एकः आत्मा पुराणः पुरुषः सत्यः स्वयंज्योतिः स्वयंप्रकाशः अनन्तः आद्यः नित्यः अक्षरः अपक्षयहीनः अजस्रसुखः नित्यानन्दः निरञ्जनः निर्मलः पूर्णः अद्वयः उपाधितो मुक्तः अमृतः नाशरहितश्च ।। २३ ।। एवंविधमिति ।। गुरुरेवार्कः परमार्थप्रकाशकस्तस्माल्लब्धा उपनिषत् उपनिषज्जन्यं ज्ञानमेव चक्षुस्तेन ये एवंविधमुक्तप्रकारकं स्वरूपभूतं सकलात्मनां सर्वजीवानामप्यात्मानं त्वामात्मात्मतया स्वाभेदेन विचक्षते पश्यन्ति । ते भवानृताम्बुधिं भवतीति भवः स एव मिथ्यात्वात् दुस्तरत्वाच्चानृताम्बुधिस्तं तरन्तीवेत्यन्वयः । भवाम्बुधेरनृतत्वात् तत्तरणमपि तथैवेत्याशयेनेवशब्दप्रयोगः ।। २४ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

भगवत्संबंधं प्राप्तान् जनान् स्तुवन्नाह अहो इत्यादिना व्रजगोरमण्यः व्रजस्य गावश्च रमण्यो गोप्यश्च अहो अतिधन्याः कुतो धन्यत्वं तत्राह हे विभो यासां स्तन्यामृतं स्तनोद्भवं क्षीरं वत्सतराणां वत्सानाम् आत्मजानां पुत्राणाम् आत्मना तद्रूपेण त्वया मुदा अतीव पीतं यस्य तव तृप्तयेऽध्वराः सर्वे यज्ञा अपि अद्यापि नालं पूर्णतां च न प्राप्ताः अहोऽति धन्या इत्यत्र संधिरार्षः ।। २३ ।। नंदादीनां व्रजनिवासिनाम् । अहो इति आश्चर्ये भाग्यमस्ति कुतः यतः परमः सर्वोत्कृष्टः आनंदोऽस्मिस्तत् श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म येषां मित्रं भवति ।। २४ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मच्छरीरभूतमप्येतज्जगत् यद्यसत् सदेवोत्पद्य लीयते तर्हि तद्दोषभागहमप्यसन्नेवेत्याशङ्कानिवारणाय तं प्रकृतिपुरुषविलक्षणत्वेन शोधयति ।। एक इति ।। हे हरे, त्वं सत्यः निर्विकारः, अनेन अचेतनात् तत्संसृष्टचेतनाच्च व्यावृत्तिः कृता । स्वयंज्योतिः संकोचकत्वाभावान्नित्यासंकुचितस्वयंप्रकाशस्वरूप इत्यर्थः । अनेन मुक्तजीवव्यावृत्तिः कृता। तेषां बद्धदशायां संकुचितप्रकाशकत्वात् । अनन्तः स्वरूपतः स्वभावतश्च त्रिविधपरिच्छेदरहितः, अनेन नित्यसिद्धमुक्तेभ्यो व्यावृत्तिः कृता । तेषां स्वभावत आनन्त्येऽपि स्वरूपतस्तदभावात् । अनेन पदत्रयेण 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इति जगत्कारणत्वलक्षकश्रुतिलक्षितचिदचिद्वस्तुविशिष्टो विशेष्यांशः शोधितः उपाधितः मुक्तः नित्यं कर्मायत्तदेहसंबन्धात् मुक्त इत्यर्थः । निरञ्जनः पुण्यपापरूपाञ्जनरहितः, अनेन प्रकृतिसंसृष्टजीवेभ्यो व्यावृत्तिः कृता । तेषां कर्मायत्तदेहसंबन्धवत्त्वात्पुण्यपापरूपाञ्जनसहितत्वात् । उपाधिपदस्य काकाक्षिन्यायादमृत इति पदेनापि संबन्धः । उपाधितः, अमृतः । जीवा उपाधितः मृताः, न तथाविधस्त्वं, जीवानामुपाधितो मरणं नाम कर्मायत्तदेहयोगवियोगभाक्त्वं, त्वं तथात्वरहित इत्यर्थः । अक्षरः विकारषट्करहितः, नित्यः कालकृतपरिच्छेदरहितः, पूर्णः देशकृतपरिच्छेदरहितः, 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इति श्रुत्युक्तं सर्ववस्तुव्यापकत्वमनेन सूचितम् । अद्वयः अस्वात्मकद्वितीयवस्तुरहितः । यद्वा । अद्वयो नाम स्वस्वरूपसापेक्षयोत्कृष्टगुणयुक्तवस्त्वन्तररहितः । अजस्रं संततमविच्छिन्नं दुःखासंभिन्नमिति यावत् । एवंविधं सुखं यस्य सः, बहुव्रीहिणावगतस्याजस्रसुखस्यान्यपदार्थसंबन्धो राहोः शिर इतिवदभेदरूपः । आद्यः आदौ भवः, जगत्कारणभूतत्वात् । एकः नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टतया एकत्वव्यपदेशार्हः । आत्मा स्वशरीरभूतप्रकृतिपुरुषकालादिद्रष्टा, आत्मा हि स्वक्षेत्रस्य द्रष्टा एव 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः

क्षेत्रज्ञम्' इति भगवदुक्तेः। अनेन निमित्तकारणत्वोपयुक्तं सर्वज्ञत्वं विवक्षितम्। पुरुषः अनेन कर्तृत्वं विवक्षितम्। तस्यैव कर्तृत्वदर्शनात् 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वाच्च' इति सूत्रस्वारस्याच्च। पुराणः पुरापि नवः पुराणः, जगत्सृष्टेः पूर्वं वर्त्तमानो जगत्कर्त्ता पुरुषस्त्वमेवेत्यर्थः ॥२३॥ यतस्त्वमेव कारणभूतोऽत एव 'कारणं तु ध्येयः' इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वामेवंविधं ध्यात्वा एव सर्वे मुच्यन्ते इत्याह ॥ एवमिति ॥ ये जनाः, गुरुरेवार्कः सूर्यस्तस्माल्लब्धा या उपनिषद्वेदान्तवाक्यार्थज्ञानं सैव सु शोभनं चक्षुस्तेन, अत्र गुरोः सूर्याभिन्नत्वं तमोनिरासकत्वेन, तत्र सूर्यस्तु बाह्यमेव तमो निरस्यति, गुरुस्त्वान्तरं तम इति भेदः। उपनिषच्छब्दो यद्यपि वेदान्तवचनस्तथाप्यत्र तेन तद्वाक्यार्थज्ञानमेव विवक्षितम्। एवंविधयुक्तप्रकारं, सकलात्मनां अपि, स्वात्मानं सुतरामात्मभूतं, त्वां आत्मात्मतया, सर्वान्तरात्मतया, विचक्षते पश्यन्ति। चक्षिर्दर्शनार्थः। ते एव, भवानृताम्बुधिं पुण्यपापात्मकं संसारसमुद्रं, तरन्ति। तरन्तीवेति पाठे इव अवधारणे। यथा 'संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति' इत्यादिना पुण्यं कर्म प्रस्तुत्य तत्प्रतिसंबन्धिनि पापे, एवं 'अनृतादात्मानं जुगुप्सेत्' इत्यनृतशब्दप्रयोगादनृतशब्दः पापकर्मवाची, पापत्वं चानिष्ठसाधनत्वं, मुमुक्षोः स्वर्गादिफलस्याप्यनिष्टत्वेन तत्साधनं कर्म अनृतशब्देन विवक्षितम्। एवं च पुण्यपापानि तरन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

कृष्णप्रिया

हे नाथ ? आप "षोडशकलः" सोलह कलाओं से परिपूर्ण है। आप एक :—भेदरहित है (१) आत्मा अन्तर्यामी रूप जीवरूप विभूति रूप है (२) पुरुषः सांख्यशास्त्र के सांख्यपुरुष आप है (३) पुराणः – वैष्णव मत के पुराण पुरुष आप हैं। (४) सत्यः—पाशुपत मत के आप सत्य तत्व हैं यदि सत् त्यद् ऐसा भेद माना जाय तो सत् सत्यरूप और त्यद् जगद् रूप आप हैं (५) स्वयंज्योतिः—स्वयं प्रकाश हैं जड़ नहीं हैं (६) अनन्तः उत्तरावधि से रहित अन्तरहित हैं (७) आद्यः—पूर्वावधि से रहित है (८) नित्यः—वृद्धि क्षय रहित सदैकरस रूप हैं (९) अक्षरः—अक्षर ब्रह्म शब्द ब्रह्म रूप हैं (१०) अजस्रसुखः—नित्य सुख स्वरूप है (११) निरञ्जनः अविद्यारहित हैं (१२) पूर्णः—परिपूर्ण हैं (१३) अद्वयः -तारतम्य से रहित हैं (१४) मुक्तः—उपाधि से रहित हैं (१५) ऋतः आप अलौकिक केवल श्रुतिवेद्य हैं अमृतः - ऐसा भी पाठ है तब आप अमृत स्वरूप हैं भगवन् एकादश इन्द्रिय और पञ्चभूतों से विलक्षण "षोडशकल" सोलह कलाओं से पूर्ण नारायण हैं ॥ २३ ॥ षोडशकल हे भगवन् ? सकल जीवों के आत्मा और देह स्वरूप आप ही हैं। सद्गुरु रूप सूर्य से प्राप्त तत्त्व ज्ञान-उपनिषद् ज्ञान नाम के दिव्य चक्षु से जो भक्त लोग आपको अपने आत्म स्वरूप में जान लेते हैं वे इस संसाररूप असत्य महासागर को पार कर जाते हैं ॥ २४ ॥

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥ २५ ॥
अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त [1]ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्मतया आत्मानं एव विजानतां तेन एव निखिलं प्रपञ्चितं जातं इति ज्ञानेन यथा रज्ज्वां अहेः भोगभवाभवौ-(तथा) च ज्ञानेन तत् अपि भूयः प्रलीयते ॥ २५ ॥ अजस्रचिति परे केवले आत्मनि विचार्यमाणे तरणौ अहनी इव ऋतज्ञभावात् अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ नाम द्वौ अन्यौ न स्तः ॥ २६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तत्र च ज्ञानेन तरंतीति तच्च तरंतीवेति तच्चात्मात्मतया ज्ञानेनेत्यर्थत्रयं प्रतिज्ञातं क्रमेणोपपाद्यते तत्रात्मानमेवात्मतयेत्यनेन श्लोकेन ज्ञानेन तरंतीत्येतदुपपाद्यते। अज्ञानसंज्ञाविंत्यनेन तरंतीवेत्येतत् त्वात्मानमित्यादिश्लोकद्वयेन त्वात्मात्मतयेत्येतदुपपाद्यते। ननु ज्ञानेन कथं भवं तरंतीति तस्याज्ञानमूलत्वादित्याह। आत्मानमेवेति। तेनेवाज्ञानेनैव। प्रपंचितं प्रपचः। रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ सर्पशरीरस्याध्यासतदपवादौ रज्ज्वज्ञानेन यथेति ॥ २५ ॥ ननु ज्ञानेन तरंत्येव किमिदमुच्यते तरंतीवेति तत्राह। अज्ञानसंज्ञाविति। अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ भवबंधमोक्षौ भवेन बंधस्तस्मान्मोक्षश्च तौ द्वौ नाम प्रसिद्धौ ऋतज्ञभावात् ऋतश्चासौ ज्ञश्च यो भावस्तस्मादन्यौ न स्तः। ननु कथं महानपलापः क्रियते। परमार्थविचारादित्याह। अजस्रेति। अखंडानुभवरूपे परे शुद्धे आत्मन्यज्ञानं न च बंधः। अत एव न ज्ञानं न च मोक्षः तरणौ सूर्ये रात्र्यहनी इवेति ॥ २६ ॥

1. ऋतेज्ञ–वीर।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र भवसन्तरणेऽर्थत्रयं प्रतिज्ञातमिति योजनीयम्। तत्र तेषु। ज्ञानेन संसारतरणे शङ्कते-नन्विति। तस्य संसारस्य ॥२५॥ पुनराशङ्कते - नन्विति। तत्र तस्मिन्नाक्षेपे ऋतः सत्यः ज्ञो ज्ञानरूपः यो भाव आत्मा, भावशब्द आत्मवाचकोऽप्यस्ति व्युत्पादितमधस्तात्। सदन्यत्वे त्वसत्त्वापत्तेः ज्ञभेदे भानापत्तेश्चान्यौ न स्तः। पुनराशङ्कते—नन्विति। अपलापो निह्नवः। परमार्थविचारात्सत्यविमर्शात्। अज्ञानस्यैव बन्धकत्वात्तदभावे बन्धाभावः स्फुट एव। अत एव बन्धाभावादेव। बद्ध एव मुच्यते न त्वबद्धोऽपीति तस्य स्वत एव मुक्तत्वादित्यर्थः। तरणौ नित्यप्रकाशरूपे सूर्ये रात्र्यभावात्तद्विविक्तदिनस्याप्यभावात्। अहनी रात्रिश्चाहश्चाहनी, एकशेषस्त्वार्षः। सम्बन्धस्य मृषात्वेन तद्विविक्तमोक्षानुपपत्तेर्द्वौ न स्त इति भावः। अजस्रचिति व्यभिचारिण्यवस्थात्रयेऽपि निरन्तरं तत्साक्षिचिदात्मना भासमाने ॥ २६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्वात्मा खलु शुद्धावस्थो जीव एव मूलं ततस्तदज्ञानेनैव जातः प्रपञ्चः तज्ज्ञानेनैव नश्येत् किं भगवज्ज्ञानेनेति विप्रतिपन्नान्निराकरोति–आत्मानमेवेति। आत्मानं स्वमेवात्मतया मूलस्वरूपत्वेन विजानतां जीवानां भवन्तं तु तद्रूपत्वेनाप्यविजानतामित्येवकारार्थः। तेनैव मूलेन भवदज्ञानेनैव हेतुना निखिलं प्रपञ्चितं जातं तं दोषमसहिष्ण्वा भवद्भक्त्या मायया विस्तारितं देहादिकं तेषां जातं स्वरूपास्फूर्तिपूर्वकतदध्यासेन तदीयतया सम्पन्नं तस्माज् ज्ञानेन मूलेन भगवदज्ञानच्छेदकेन भगवज्ज्ञानेनैव स्वरूपज्ञानं तदध्यासहेतुरज्ञानमपि प्रलीयते तत्प्रलयमेव दृष्टान्तेन स्पष्टं बोधयति रज्ज्वामिति। अत्रैकदेश द्विशेषो द्रष्टव्यः "भयं द्वितीयभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृतिः। तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा" इति तच्च व्याख्यातं यतो भयं तन्मायया भवेत् ततो बुधो बुद्धिमान् तमेवाभजेत् उपासीत। ननु, भयं द्वितीयाद्यभिनिवेशतो भवति स च देहाहङ्कारतः स च स्वरूपास्फुरणात् किमत्र तस्य माया करोति अत आह, ईशादपेतस्येति। ईशविमुखस्य तन्मायया अस्मृतिः स्वरूपास्फूर्तिर्भवति ततो विपर्य्ययो देहोऽस्मीति ततो द्वितीयाभिनिवेशाद्भयं भवति एव हि प्रसिद्ध लौकिकीष्वपि मायासु उक्तं च श्रीभगवता "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इत्यादि यद्यप्येवं तथापीश्वरतत्त्वमात्रस्यापेक्षया तत्र च प्रतिपत्तिमात्रस्य न चांशिनः न चानुभवस्य श्रीरामनाम्नापि तच्छ्रवणात् तस्मात् तत्र जीवस्वरूपानुभव एष सम्यगपेक्षते परिपूर्णाविर्भावस्य स्वयं भगवतस्तज् ज्ञानं परमं महदेवेति तस्य च फल त्वयि च परमप्रेमादय एवेति भावः ॥ २५ ॥ अनृतत्वं दर्शयति—अज्ञानेति। ऋतशब्देनात्राव्यभिचार्य्युच्यते ज्ञशब्देन ज्ञाता भावशब्देन पदार्थविशेषः ऋतश्चासौ ज्ञश्चेति ऋतज्ञः स चासौ भावश्चेति ऋतज्ञभावः एष एवाजस्रचित्यात्मनीत्यनुवदिष्यते तत्र ऋताजस्रयोरेकत्व व्यक्तमेव अचितोरेकत्वं प्रकाशरूपस्य सूर्यादेः प्रकाशमानत्ववच्चितोऽपि चेतनरूपत्वात् यत् खलु स्वप्रकाशमज्ञानरहितञ्च तज्ज्ञातृ स्यादेव भावात्मनारेकत्वन्तु भावयति प्रकाशयति चेतयतीति निरुक्तेः आत्मनीत्यात्मानमित्याभ्यां जीवस्वरूपमेवात्र पूर्वत्र च पद्ये लभ्यते तत्रैवाज्ञानज्ञानबन्धमोक्षविचारार्हत्वात् प्रकरणेऽस्मिन्नाभ्यामन्यत्र भगवद्वाचित्वात् युष्मद्भवच्छब्दयोः सर्वत्र प्रयुक्तत्वाच्च तस्मादयमर्थः यौ भवबन्धमोक्षावृतज्ञभावात् अन्यौ स्तः मायावृत्तित्वात् तौ तस्मिन्नजस्रचिदात्मरूपे ऋतज्ञभावे तु विचार्य्यमाणे न स्तः तत्रानयोः सम्बन्धोऽस्ति नास्ति वेति विचारे क्रियमाणे तु तत्र न सम्भवत इत्यर्थः। तर्हि कथं तौ स्फुरतः तत्राह–अज्ञानेनैव सञ्ज्ञाप्रतीतिर्यथास्तौ तथा दृष्टान्तेन दर्शयति, ये अहनी लिङ्गसमवायन्यायेन रात्र्यहनी तरणेरन्यौ स्तः कालवृत्तिरूपत्वात् ते तु तरणौ तथा विचार्य्यमाणे यथा न सम्भवत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अनायाससिद्धत्वमेवाह—आत्मानमिति। आत्मतया ब्रह्मत्वेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिरहितस्वरूपत्वेनात्मानमविजानतामेव, तेनात्मतत्त्वाज्ञानेनैव जातमिति तेनैव प्रपञ्चस्यात्मन्यध्यासेन भासमानत्वात्, अथवात्मानं भगवन्तमात्मतया प्रियतया भगवत्तया वाविजानतां प्रपञ्चितं संसारः। यद्वा, अहमेवेश्वरः, 'भगवांश्चाहमेव' इत्यादिमायाविस्तारस्तादृशज्ञानमात्रेणैव प्रकर्षेण लीयते नश्यति; चकारान्मुमुक्षादिकञ्च प्रलीयते, किं वक्तव्यं भवानृताम्बुधिरिति। भूयोऽपीति भूयिष्ठमपि प्रपञ्चितम् ॥ २५ ॥ संसारतरणस्यातितुच्छतामेवाभिव्यञ्जयन् मोक्षस्यापुरुषार्थतामाह—अज्ञानेति। ऋतज्ञभावात् सत्यज्ञानादन्यौ न स्तः, तत्त्वतो मिथ्याभूतावेवेत्यर्थः। अजस्रचिति नित्यज्ञानरूपे केवले शुद्धे परे प्रपञ्चातीत आत्मतत्त्वे विचार्य्यमाणे सति यथा बन्धो मिथ्यैव, तथा सति विचारान्मोक्षोऽपि मिथ्यैवेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तो यथा रवौ न रात्रिस्तदभावाद्विचारेण दिनमपीत्यर्थः। एवं संसाराभावमात्रत्वेन मोक्षस्य तुच्छतया न पुरुषार्थतासिद्धिरिति भावः। अथवा परे परमेश्वरे केवले एकस्मिन्नेवात्मनि मनसि विषये विचार्य्यमाणे सत्येव। ननु, तदविचारमात्रेणैव कथं तौ मिथ्या भवतः? तत्राह—अजस्रचितीति नित्यज्ञानघने तद्विचारप्रवृत्त्यैव तयोस्तत्त्वज्ञानोदयादिति भावः। मिथ्यात्वे दृष्टान्तः—सूर्य्ये रात्रिदिने इव, रात्रेरभावेन तत्परिच्छेद्यदिवाभागस्याप्यभावात् ॥ २६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तदेव तरणप्रकारं दर्शयति-आत्मानं स्वं जीवस्वरूपं आत्मतया "आत्मा नारायणः परः" इति श्रुतेः। श्रीनारायणशरीरत्वेनैव विजानतां शारीरकशास्त्रोक्तवैशिष्ट्यज्ञानेन युक्तानां सतां तथा तेनैव श्रीनारायणेनैव निखिलं प्रपञ्चितं नामरूपव्याकरणं जातमिति विजानताञ्च तेषां ज्ञानेन स्वस्वरूपज्ञानेन परमकारणश्रीमन्नारायणज्ञानेन च तन्नामरूपपरिष्वञ्जनरूपं बन्धनं भूयः प्रतीयतेऽपि स्वस्वरूपं शुद्धं भासते—

"बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः। कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः"॥

इत्युक्तेः। तत्तत्कर्मानुगुणं जीवानां बन्धक इत्यर्थः। जीवे रज्जुस्थानीये अहेः भोगस्य शरीरस्य जन्मोत्पत्तिः इव नामरूपपरिष्वङ्गः तदभावश्चेति दृष्टान्तः स्पष्टतरः॥ २५॥ जीवे नामरूपनिष्ठां भगवति सर्वजीवशरीरिण्यपि प्राकृतनामरूपभावं विज्ञानोपयोगित्वेनाह—द्वौ नाम प्रसिद्धौ भवबन्धमोक्षौ क्रमादज्ञानसञ्ज्ञौ अज्ञानश्च सम्यग् ज्ञा ज्ञानश्च ययोस्तौ अज्ञानसंज्ञौ तौ च ऋतज्ञभावात् अन्यौ न स्तः अज्ञानज्ञानरूपावेवेत्यर्थः। ऋतः सत्यः ज्ञः ज्ञानस्वरूपः भावः पदार्थः जीवः स्वभावो धर्मभूतज्ञानं वा तस्मादेव स्तः स्वपररूपाज्ञानज्ञानाद्भवतः अथवा ऋतश्चासौ ज्ञश्च जीवः तस्य भावात् स्वभावाद्धर्मभूतज्ञानादन्यौ न स्तः तदावरणरूपत्वादिति अजस्रचित्यात्मनीति त्वयि अजस्रचिति निरन्तरज्ञानस्वरूपरूपे व्यापके आत्मनि सर्वशरीरिणि केवले चिदचिद्विलक्षणे परऽसङ्गे विचार्यमाणे तौ न स्तः इति किं वक्तव्यम् इत्यध्याहार्यं कस्मिन् काविव तरणौ सूर्ये अहनी दिनरात्री इवेति॥ २६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ये विचक्षते ते तपन्तीत्युक्तमथ प्रसङ्गात्तद्विपरीतानां का गतिर्यदि संसृतिस्तर्हि कस्तन्निवृत्त्युपायस्तत्राह—आत्मानमिति। अविजानताम् इति छेदः आत्मानं परमात्मानं त्वामात्मतयैव सर्वान्तरात्मतयैवाविजानतां तेनैव तदविज्ञानेनैव निखिलं प्रपञ्चितं जातं प्रपञ्चो जातः संसारः प्राप्त इत्यर्थः। देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमतन्मूलकापरमात्मोपासनादिनैव संसारः प्राप्त इत्यर्थः। तत्प्रपञ्चितं पुनर्ज्ञानेन देहात्माद्यनभिमानपूर्वकपरमात्मोपासनात्मकेन प्रलीयते नश्यति, निवर्त्तत इति यावत् परमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावप्रयुक्तस्य संसारस्य ज्ञानसद्भावे सति निवृत्तौ दृष्टान्तमाह - यथा रज्ज्वामधिष्ठानभूतायामहेः सर्पस्य भोगिनः शरीरं तस्य भवाभवौ भोगविषयकज्ञानोदयतल्लयौ रज्जुयाथात्म्यज्ञानप्रयुक्तौ तद्वद्देहात्माद्यभिमानपूर्वप्रत्यक्षतापत्तिपर्यन्तभगवदुपासनात्मज्ञानाभावतत्सद्भावप्रयुक्तौ संसारतन्मोक्षावित्यर्थः। मृषावादिनस्त्वत्र रज्जुयाथात्म्यज्ञानप्रयुक्तः सर्पभ्रमस्तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्त्तते एवमपरमार्थभूतो बन्धो ब्रह्माभिन्नं जीवे तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यतद्याथात्म्याज्ञानमूलकस्तद्याथात्म्यज्ञानान्निवर्त्तते इति व्याचक्षते तत्र वाक्यार्थज्ञानस्य निवर्तकत्वानुपपत्तिस्तेन सत्यभूतस्यैव बन्धस्य निवृत्त्यनुपपत्तिश्च भाष्यादिषु च सप्तविधानुपपत्तिप्रतिपादनपरप्रकरणे द्रष्टव्या विस्तरभयात्त्वत्र न लिख्यते॥२५॥ उक्तदृष्टान्तेनाभिप्रेतमेव दार्ष्टान्तिके पुनर्दृष्टान्तान्तरेणानुगमयति—अज्ञानसंज्ञाविति। भवः संसारस्तद्रूपो बन्धः तस्मान्मोक्षश्चेत्येतौ द्वौ अज्ञानसंज्ञावज्ञानमुक्तविधपरमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावः संज्ञा तदुपासनात्मकं ज्ञान तेऽनयोः स्त इति तथाभूतौ अंशं आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् सम्बन्धोऽत्र हेतुहेतुमद्भावरूपः उपासनात्मकज्ञानाभावतस्तद्भावहेतुकौ भवबन्धमोक्षावित्यर्थः। नान्यौ स्तः अन्यमूलकौ न स्तः नामशब्दः शास्त्रीयप्रसिद्धिद्योतकः एवं स्थिते यथाहनि तरणौ सूर्ये सति तम इवेति शेषः। तदा अज्ञभावादृते देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमं विना अज्ञभावं विहायेत्यर्थः। अजस्रचिति नित्यज्ञानैकाकारे प्रत्यगात्मनि केवले परे परस्मिन्नात्मनि परमात्मनि विचार्यमाणे प्रत्यगात्मान्तरात्मत्वेन वेदान्तवाक्यार्थविचारपूर्वकं परमात्मन्युपास्यमान इत्यर्थः। तत्प्रलीयते इत्यनुषङ्गः। प्रपञ्चितं प्रलीयत इत्यर्थः॥ २६॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथ त्वदज्ञानात्संसारप्राप्तिस्त्वज्ज्ञानात्तन्नाश इत्याह—आत्मानमिति। त्वामात्मानमेवात्मतया स्वात्मतया अविजानतां तेनैव त्वदज्ञानेनैव निखिलं प्रपञ्चितं जातं प्रकृतिवशात्संसारो जात इत्यर्थः। तथा च भगवद्वाक्यम्—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः। मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप!। अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि"॥ इति।

"ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते" त्वज्ज्ञानेन स्वस्वामिसम्बन्धज्ञानेन भूयोऽपि तत् प्रलीयते स संसारो निवर्तते तत्र दृष्टान्तः रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा रज्जौ यथा अहेः सर्पस्य भोगभवाभवौ भवतः रज्ज्वज्ञानात्सर्पभ्रमस्तज्ज्ञानात् पुनस्तन्नाशस्तद्वदित्यर्थः। यद्वा, आत्मानं स्वात्मानमेवात्मतया विजानतां ज्ञानानन्दादिगुणकं त्वच्छेषत्वस्वरूपमविजानतां तेनैव निरुपाधिकज्ञानानन्दादिगुणकज्ञानस्वरूपाज्ञानेनैव निखिलं प्रपञ्चितं ज्ञातं देवोऽहं मनुष्योऽहमिति देहात्मभ्रमो जात इत्यर्थः। ज्ञानेन आत्मयाथात्म्यस्वरूपज्ञानेन भूयोऽपि तत्सर्वं विलीयते शेषं पूर्ववत्॥ २५॥ अथ जीवानामेव स्वस्वरूपपरस्वरूपाज्ञानवशाद्भवबन्धमोक्षौ

तव तु तयोर्गन्धोऽपि नास्तीत्याह—अज्ञानसंज्ञाविति । अज्ञानसंज्ञौ अज्ञानकारणौ भवबन्धमोक्षौ भवेन बन्धो भवान्मोक्ष इत्येतौ द्वौ नाम प्रसिद्धौ नान्यौ नान्यकारणौ स्तः कुतस्तव इति शेष ऋतज्ञभावात् ऋतं सत्यं ज्ञो ज्ञाता "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिश्रुतेः क्व सति अजस्रचिति नित्यानन्दे आत्मनि चिदचिच्छरीरिणि केवले चिदचिद्गतविकारशून्ये "निर्विकारं निरञ्जनम्" इत्यादिश्रुतेः परे परमात्मस्वरूपे त्वयि विचार्यमाणे सति तत्र दृष्टान्तः तरणौ सूर्ये अहनी इव रात्रिदिवसाविव नहि सदा प्रकाशमाने आदित्ये रात्रिदिवसव्यवहारः सम्भवति किन्तु जगत्येव एवं निरुपाधिकसदासर्वज्ञे त्वयि बन्धमोक्षौ न संभवतः किन्तु, त्वत्स्वरूपानभिज्ञानां जीवानामेवेति भावः । तदुक्तमेकादशे "बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः । गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्" । एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ! । बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः" इति ।। २६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नन्वात्मा खलु शुद्धावस्थो जीव एव मूलं ततस्तज्ज्ञानेनैव जातः प्रपञ्चस्तज्ज्ञानेनैव नश्येत् तत्र तादृशमतज्ज्ञानां किमिति केषाञ्चिन्मतमित्याशङ्क्याह—आत्मानमिति । आत्मानं शुद्धजीवमेवात्मतया मूलस्वरूपत्वेन विजानतां त्वां तु तद्रूपत्वेनाविज्ञानतामित्येवकारार्थः । तेनैव मूलेन त्वदज्ञानेनैव हेतुना लब्धच्छिद्रया मायया निखिलं देहादिकं प्रपञ्चितं शुद्धे जीवे अहंममतयाऽध्यस्तं जातं तस्माज्ज्ञानेन मूलत्वादज्ञानच्छेदकेन त्वज्ज्ञानेनैव तदध्यासहेतुरज्ञानमपि प्रलीयते तत्प्रलयमेव दृष्टान्तेन बोधयति—रज्ज्वामिति । तथा चैकादशे वक्ष्यते "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य" इत्यादि ।।२५।। अनृतत्वमेव दर्शयति—अज्ञानसज्ज्ञाविति । आत्मशब्देनात्र पूर्वत्र च पद्ये शुद्धजीवश्चोच्यते न तु श्रीभगवान् तत्रैवाज्ञानबन्धमोक्षविचारार्हत्वात् प्रकरणेऽस्मिन्नाभ्यामन्यत्र भगवद्वाचित्वाय युष्मद्भवच्छब्दयोः सर्वत्र युक्तत्वात् ।। २६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ हे भगवन् ! तवायं श्रीविग्रह एवात्मा, तस्यानात्मत्वज्ञाने संसृतिः स्वरूपज्ञाने संसृतिनाशश्चेति दर्शयति—आत्मानमेवात्मतयेत्यादि । आत्मानं तव श्रीविग्रहमात्मतया चिद्रूपतयाऽविजानतां जनानां निखिलं प्रपञ्चितम्, निखिलप्रपञ्चो जायते, तेनैव ज्ञानेन आत्मताज्ञानेन भूयोऽपि तत्प्रपञ्चित-निखिलमेव प्रलीयते । तत्र दृष्टान्तः—रज्ज्वामित्यादि । रज्जौ यथा रज्जुज्ञानाभावे अहिभोगस्य भवः, अहिरेवायमिति प्रतीतिः, रज्जुज्ञाने सति तस्याभवः तथा शुद्धज्ञानानन्दघने तव श्रीविग्रहे नरविग्रहसादृश्यान्नरविग्रहोऽयमिति भ्रान्तिः, उत्तरकालं भवदनुग्रहवशाद्यदा शुद्धज्ञानानन्दघनोऽयमिति ज्ञाने सति प्रमाभ्रान्त्या संसृतिः प्रमया तन्नाश इति वाक्यार्थः ।। २५ ।। अथ तवायमिति श्रीविग्रहो नित्यसुखबोधस्वरूपः, एतस्यैवंविधो ज्ञानमूलको हि भवबन्धो मोक्षश्चेत्याह-'अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ' इत्यादि । अजस्रचिति केवले परे परात्परे आत्मनि तव श्रीविग्रहे विचार्यमाणे सति ऋतस्वभावाद्धेतोर्भवबन्धमोक्षौ अज्ञानसंज्ञौ अज्ञानेन संज्ञा ययोः वस्तुतस्तु बन्धोऽपि अज्ञानजः मोक्षोऽपि बन्धस्य मिथ्यात्वात्, तथा असति बन्धे कः मोक्षः ? द्वौ अन्यौ न स्तः ऋतुस्वभाव एवास्ति, न तौ, ऋतस्वभावो हि पार्षदरूपलक्षणः, तस्माद्धेतोर्न बन्धो न च मोक्षः । तत्र दृष्टान्तः—तरणाविवाहनी, तरणौ सूर्ये सत्येव अहनी रात्रिदिने, तरणावसति न रात्रिर्न च दिनम्, एतेन तव यथार्थाज्ञाने सति भवबन्धश्च मोक्षश्च, यथार्थज्ञाने तु न बन्धो न मोक्षश्च, केवलं भक्तत्वमेव ।। २६ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अज्ञानेन प्रपञ्चः, ज्ञानेन तन्नाश इति प्रपञ्चस्य भवाभवौ परश्लोकेन दर्शयित्वा भवबन्धतन्मोक्षयोरज्ञानकल्पितं संज्ञामात्रम्, न तु वस्तुतः सत्तेत्यपि तत्परश्लोकेन दर्शयित्वा (२१ श-श्लो०) "त्वामात्मानं परं मत्वा" इत्यादिना तत्परश्लोकेन तथाविधानामज्ञतां प्रतिपाद्य (२८ श-श्लो०) "अन्तर्भवेऽनन्त" इत्यादिना असदपवादेनाधिष्ठानतत्वमनुभवन्तः सन्तोऽप्यन्तर्भवे मृगयन्त्येव, न तु पश्यन्तीति श्रीकृष्णतत्त्वस्य दुर्ज्ञेयतां प्रतिपाद्य भक्ता एव तत्तत्वं जानन्तीति सर्वापवादेन दर्शयति–अथापीत्यादि । किञ्च पूर्वोक्तं (३ य-श्लो) "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्तः" इत्यादिना, (४ र्थ-श्लो०) "श्रेयसृतिं भक्तिम्" इत्यादिना चान्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानाद्भक्तेः प्राधान्यं यत् सूचितम्, तस्यैव विवरणं कुर्वन् पञ्चभिः श्लोकैर्ज्ञानस्य निःश्रेयसकरत्वं प्रयासबहुलत्वं भक्तेस्त्वयत्नसाध्यत्वमिति क्रमेण दर्शयति तथा हि एवंविधं त्वामेवंविधं दृश्यमानं सुखध्येयं सुखोपास्यं परमप्रेमास्पदं सर्वेन्द्रियरसायनं ये आत्मतयैव विचक्षते, ते भवाम्बुधिं तरन्तीव, न तु सम्यक् तरन्ति । ननु आत्मानमात्मतया यदि न जानीयात्, तदा कथं संसाराभावः ? तत्राह–आत्मानमेवात्मतयेत्यादि । अयमर्थः –आत्मतया अज्ञानेन प्रपञ्चः, ज्ञानेन तन्नाशः, एतावता किं मिथ्याभूतस्य प्रपञ्चस्य स्थित्या वा ? नाशेन वा किमर्थः, यथा रज्ज्वां सर्पभावाभावौ द्वावेव मृषेति दर्शयति-तद्भावे बन्धः, तदभावे मोक्षः एवेत्येव महत् फलमिति चेत् बन्धमोक्षावपि मृषा इति दर्शयति–अज्ञानसंज्ञाविति । अथाज्ञानिनां पन्थाः अज्ञानिनस्तु त्वां न जानन्त्येव ?।। २५-२६ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, तरन्त्येव ते किमिति तरन्तीवेति ब्रूषे ? तथा भवस्य चानृतत्वं वा कुतस्तत्र तेषां ज्ञानिनामाश्रयणीये विवर्त्तवादमते जगदिदमनृतमेव तत् तरणमप्यनृतमेवेत्यतस्तरन्तीवेत्युच्युते इत्याह द्वाभ्याम् । आत्मानञ्जीवम् आत्मतया ज्ञानानन्दमयात्मत्वेन अविजानतां किन्तु अविद्यया आवरणात् ज्ञातुमशक्नुवतां नैव जानतान्तेनैवाऽज्ञानेन निखिलं प्रपञ्चितं सर्वः संसारोऽभूत् भूयः पुनश्च साङ्ख्ययोगवैराग्यतपोभक्तिभिरात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वेन यज्ज्ञानन्तेन तत्सर्वं प्रपञ्चितं विलीयते, यथा रज्ज्वाम् अहेर्भोगस्य सर्पशरीरस्य अज्ञानज्ञानाभ्यां भवाभवौ अध्यासाऽपवादौ ।। २५ ।। अत एव भवस्यानृतत्वम् अनृतत्वादेव तत्तरणस्याप्यनृतत्वं स्पष्टयति–अज्ञानेति । अज्ञानेन संज्ञा ययोस्तौ भवबन्धमोक्षौ भवः संसारस्तद्रूपो बन्धश्च तन्मोक्षश्च तौ द्वौ नाम ज्ञभावौ ज्ञातृत्वं ज्ञानमिति यावत् ऋतश्चासौ ज्ञभावश्च तस्मादन्यौ यौ स्तः तौ ऋतज्ञभावे तस्मिन्नजस्रचित्यात्मनि तत्स्वरूपे जीवे केवले देहादि-सङ्गरहिते । विचार्य्यमाणे सति न स्तः न सम्भवत इत्यन्वयः । दृष्टान्तेन दर्शयति, ये अहनी लिङ्गसमवायन्यायेन रात्र्यहनी तरणेरन्यौ स्तः ते तु तरणौ तथा विचार्य्यमाणे यथा न सम्भवत इत्यर्थः ।। २६ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उक्तज्ञानाभावे जन्ममरणप्रवाहलक्षणः संसारस्तज्ज्ञानसद्भावे तन्निवृतिरित्याह–आत्मानमिति । आत्मानमात्मतया अविजानतां तेनैव भगवद्ध्यानविरोध्यज्ञानेन निखिलं प्रपञ्चितं जन्ममरणप्रवाहलक्षणं जगत् जातं प्राप्तं भवति ज्ञानेन स्वस्व-ब्रह्मात्मकत्वज्ञानेन भगवद्ध्यानसाधनभूतेन च तज्जन्ममरणप्रवाहलक्षणञ्जगत् विलीयते यथा रज्ज्वाम् अज्ञाने अहेः भोगस्य भवोऽनुभवः ज्ञानेनाभवोऽननुभवस्तद्वत् ।। २५ ।। ननु, जन्ममरणप्रवाहलक्षणसंसारप्राप्तिनिवृत्तिलक्षणौ बन्धमोक्षौ जीववत् परमात्म-नोऽपि कुतो न ? ज्ञानरूपत्वाद्यविशेषादित्याशङ्क्यां निराकरोति–अज्ञानसंज्ञाविति । अज्ञानेन अल्पज्ञानेन जीवेन संज्ञा ययोस्तौ बद्धजीवविषयकावित्यर्थः । अनुदरीत्यादिवन्नञर्थोऽत्र बोध्यः अल्पज्ञानत्वं जीवोऽल्पशक्तिः "अज्ञो जन्तुरनीशश्च" इत्यादिश्रुति-स्मृतिषु प्रसिद्धम् एवम्भूतौ नाम प्रसिद्धौ भवेन बन्धश्च ततो मोक्षश्च तौ भवबन्धमोक्षौ अन्यौ परमात्मविषयकौ न स्तः "न मे मोक्षो न बन्धनम्" इति श्रीमुखवचनात् त्वं तु बन्धमोक्षप्रद एवासीत्याह—अजस्रेति । अजस्रचिति नित्यानुभवे केवले निःसमाना-धिके परे परमेश्वरे त्वयि आत्मनि स्वहृत्पद्मे अविचार्य्यमाणे असन्निहिते ऋतश्चासौ ज्ञश्च परमात्मा तद्भावस्तद्भक्तिस्तस्मात् सन्नि-हिते मोक्ष इति भावः । क्रमाद् द्वौ स्तः त्वयि अविचार्य्यमाणे सति बन्धः त्वद्भक्तेश्च त्वद्भावापत्तिलक्षणो मोक्ष इत्यर्थः "बन्धको भवपाशेन भवबन्धाच्च मोचकः" इति स्मृतेः यथा तरणौ असन्निहिते सन्निहिते क्रमादहनो गतागते भवतस्तद्वदित्यर्थः ।। २६ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एतद्युपनिषज्ज्ञानविहीनानां संसृतिर्दुर्वारेत्याह—आत्मानमिति । अतति प्रकाशते अत्यते गम्यते मुक्तैरिति निरुक्तेर्वि-ज्ञानानन्दं त्वाम् अतति व्याप्नोति सर्वमिति निरुक्तेरात्मतया स्वव्यापितया स्वस्वामितया चाविजानतां पुंसां तेनैव तादृशत्वावि-ज्ञानेनैव तद्वैमुख्येनेति यावत् निखिलं प्रपञ्चितं जातं देहगेहादिष्वहन्ताममतालक्षणः सर्वो विस्तारोऽभवत्, भूयः पुनः पुनः "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोः स्मृति"रित्यादेः ज्ञानेनोक्तलक्षणेन त्वद्विषयकेन तत्प्रलीयते विनश्यति, अत्र दृष्टान्तः रज्ज्वामिति यथा रज्जुस्वरूपाज्ञानात्तस्यामहिभोगस्य भवः तज्ज्ञानात्तु तस्यामहिभोगस्याभवस्तद्वत् । ये तु रज्जूरगदृष्टान्ताद-तात्त्विकान्यथाभावं विवर्त्तमिह विरिञ्चिरूपादिशत् रज्जोरज्ञानादुरगो यथा भासते तज्ज्ञानात्तु विनश्यति भानकालेऽपि स मिथ्यैव तद्वदद्वितीयचिन्मात्रात्माज्ञानात् प्रपञ्चो भासते तज्ज्ञानात्तु विनश्येत् भानकालेऽपि मिथ्यैवेत्याहुः ते प्रष्टव्याः; क्वेदमज्ञानं कस्य भासते ? इति । ब्रह्मण्येव तदेव प्रतीतिः चेन्न "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुतिव्याकोपात् आत्मेतरस्य सर्वस्य मिथ्यात्वेन "यतो वा" इत्यादेः वेदस्य "एष वन्ध्यासुतो भाति" इत्यादितौल्येन तद्वादिनो नास्तिकतापत्तेस्तस्यापि मिथ्या-त्वेन तद्वादस्यापि शून्यत्वापत्तेश्चेति यत् किञ्चिदेतत् तस्माद्भगवद्वैमुख्यादस्य संसारस्तत्साम्मुख्यात्तु तद्विनाश इत्येतदर्थमेव दृष्टान्तो ग्राहयतीति सुस्थं विशेषस्तु तदनन्यत्वाधिकरणभाष्ये पीठके च द्रष्टव्यः ।। २५ ।। परमात्मत्वेन त्वज्ज्ञानाभावाज्जीवस्योक्त-लक्षणः संसारः स च तत्त्वेन त्वज्ज्ञानाद्विनश्येत् परमात्मा तु नित्यमसंसारीत्याह ज्ञानेति । ऋतश्चासौ ज्ञश्च स चासौ भावश्च पदार्थः सोऽत्यज्ञा नगुणको जीव इत्यर्थः । तस्मात्तं लक्षीकृत्येति "ल्यप् लोपे पञ्चमी" अज्ञानेन यथार्थज्ञानविरोधिना अन्यसादृश्यत्वज्ज्ञानेन संज्ञाप्यते विबुध्यते निरूप्यते इति यावत् भवबन्धो देहगेहादावहन्ताममतालक्षणः संसारः मोहश्च तद्विनाशस्तौ द्वौ प्रयोजकत्वेन प्रतियोगित्वेन चाज्ञाननिरूप्यौ नान्यौ नाम नाज्ञाननिरपेक्षौ जीव एव स्तः भवतः परमात्मनि लये तु तौ नेत्याह—अजस्रेति नेत्यनुवर्त्तनीयं अजस्रचिति निरन्तरसार्वज्ञ्ये "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिश्रुतेः । न खलु परमात्मनः स्वस्मिन् विरुद्धधीरस्ति येन संसारः स्यात्तदभावादेव तद्विनाशी मोक्षश्च नेत्यर्थः । आत्मनि सर्वव्यापके सर्वस्वामिनि च केवले विशुद्धे परे सर्वान्तर्गतत्वेऽपि सर्वास्पृष्टे विचार्यमाणे योगिभिर्निःश्रेयसार्थिभिर्ध्यायमाने इत्यर्थः । दृष्टान्तमाह तरणाविवेति । सूर्ये यथा अहनी रात्रिदिवसौ न स्तस्तद्वत् ।। २६ ।।

श्रीसुबोधिनी

ननु सर्वस्यैव तेन ज्ञानेन कथं न विलयः ? तत्राहात्मानमेवेति, ह्यात्मानमेवात्मतया जानन्ति, अतस्तेनैव भ्रमाद् यावज् जातं निखिलमपि प्रपञ्चितं प्रपञ्चाकारेणात्मीयतया परिकल्पते ज्ञानेन भयोपि तदेव तावन्मात्रमेव लीयते न तु कृतिसाध्यं, तत्र दृष्टान्तो रज्ज्वामहेः कल्पितस्यैव सर्वस्य भोगस्य कायस्य भवाभवावुत्पत्तिनाशौ सर्पोयं नायं सर्प इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य जगतो भगवत्कृतस्य नापि स्वकृतस्य भ्रमात् सर्पदेहे रज्जुर्न पुनरावर्तते नायं सर्प इति ज्ञातेपि, अतोज्ञानकृतमेव निवर्तते नान्यदित्यहम्ममाभिमान एव गच्छति नान्यत् ॥ २५ ॥ किञ्च वस्तुतोस्य तदपि न निवर्तते, मुक्तोहमिति ब्रह्माहमित्येतदप्यज्ञानकृतमेव, आत्माज्ञानादेवैवमपि जानाति, बन्धस्य तज्जनितत्वेन कार्यत्वाविशेषाज् ज्ञानमोक्षावप्यज्ञानकार्यमेव, न हि शयानः स्वप्न उत्थाय भोजनादिकमपि कुर्वन् वस्तुत उत्थितो भवति, स्वप्नस्यानिवृत्तेः, तथा भगवच्छक्तेरज्ञानस्याप्यनिवृत्तेर्न तेषां परमार्थतो मोक्षोपि सम्भवति तत्र हेतुमाह ऋतज्ञभावादिति, मोक्षस्त्वावृतज्ञानरूपः, न त्वज्ञानजनितज्ञानरूपः, भगवज्ज्ञानशक्त्यैव मोक्ष इत्येकादशे वक्ष्यति, किञ्च मोक्षो हि भगवति सायुज्यं, स चाजस्रचिदात्मा नित्यचिदानन्दरूपः, तत्राज्ञानकृतप्रपञ्चज्ञानयोरभावाज् जीवस्याज्ञानकृतज्ञानेन कथं प्रवेशः स्यात् ? तदाह केवल इति, किञ्च स तु परो नियामकः, न हि नियम्यैर्भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण निकटे गन्तुं शक्यते, अतो जीवब्रह्मज्ञानिनो न मोक्षः, तत्रोपपत्ति वदन् दृष्टान्तमाह विचार्यमाणे तरणाविवाहनी इति सूर्ये विचार्यमाण एव अहनी भवतो न तु स्वबुद्ध्या, अन्यथा निमीलिताक्षः स्वयमेव रात्रिं कुर्यात् प्रसारिताक्षश्च दिनं अतः सूर्यं एवागते दिनमपगते रात्रिरिति केवलं खण्डाद्वैतवादिनो भ्रान्ता एव ॥ २६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'समुद्रस्य तरणं क्रियया अप्रसिद्धम्, तत्कथं ज्ञानेन तरणं सम्भवति ?' इत्याशङ्क्य अध्यासस्य अज्ञानमूलकत्वात् 'ज्ञानेन तत्र तरणं युक्तम्' इति सदृष्टान्तमाह—आत्मानमिति। आत्मानमात्मतया याथातथ्येन अजानतामेव तेनैव तदज्ञानेन निखिलं प्रपञ्चितं देहादावहन्ताममतात्मकं जातमात्मज्ञानेन च भयः पुनरपि तत् प्रलीयते। तत्र दृष्टान्तमाह—रज्ज्वामिति। यथा रज्ज्वज्ञानात्तत्र जातोऽहेर्भोगः सर्पदेहः पुनः रज्जुतत्त्वज्ञानात् प्रलीयते, तथेत्यर्थः ॥२५॥ 'अहन्ताममतात्मकसंसारस्य कल्पितत्वादेव भवानृताम्बुधिं तरन्तीव' इत्युक्तं तदुपपादयति—अज्ञानसंज्ञाविति। नाम प्रसिद्धौ। भवोऽहन्ताममतात्मकोऽध्यासः, स एव बन्धस्ततो मोक्षश्च तौ द्वावपि ऋतः अबाधितश्चासौ ज्ञश्चिदात्मकश्च यो भावः परमार्थभूतः आत्मा, तस्मादन्यौ न स्तः। तत्र हेतुमाह—अज्ञानसंज्ञाविति। अज्ञानेनैव संज्ञामात्रमेव ययोस्तौ, नाबाधिताविर्त्यथः। ननु 'कथमेवं प्रसिद्धयोस्तयोरपलापः क्रियते ?' इत्याशङ्क्याह—अजस्रेति। विचार्यमाणे सति आत्मनि वास्तवबन्धमोक्षासम्भवादित्यर्थः। तत्र हेतुं सूचयन्नात्मानं विशिनष्टि—अजस्रमिति। नित्यज्ञानरूपे, केवले अद्वितीये, परे प्रकृतिविलक्षणे, इति। तत्र दृष्टान्तमाह—तरणाविति। यथा सूर्यस्वरूपे विचार्यमाणे तत्र न रात्रिर्न दिवसः, किन्तु 'तदप्रकाशात् रात्रिः तत्प्रकाशाच्च दिवस' इति व्यवहारः, तथा आत्मस्वरूपाप्रकाशादहन्ताममतात्मकबन्धः, तत्प्रकाशाच्च मोक्ष इत्यर्थः। बन्धस्याप्यज्ञानकृतत्वेन अवास्तवत्वात्तत्प्रयुक्तमोक्षस्यापि तथात्वमुक्तम् ॥२६॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अत्र ज्ञानेन तरन्ति तच्च तरन्तीव तच्चात्मात्मतया ज्ञानेनेत्यर्थत्रयं प्रतिज्ञातं तत्राद्यमुपपादयति—आत्मानमिति॥ आत्मानमात्मतया याथातथ्येन अजानतामेव तेनैव तदज्ञानेन निखिलं प्रपञ्चितं प्रपञ्चः जातम् तच्च यथा रज्ज्वज्ञानजौ अहेर्भोगस्य शरीरस्य भवाभवौ रज्ज्वां रज्जुतत्त्वज्ञानादेव लीयेते तथा आत्मज्ञानेन भूयः पुनरपि तत्प्रपञ्चितं प्रलीयते॥ २५॥ द्वितीयमुपपादयति—अज्ञानेति॥ नाम प्रसिद्धौ। भवो बन्धस्ततो मोक्षश्च तौ द्वावपि नाम अज्ञानेनैव संज्ञामात्रं ययोस्तौ अजस्रचिति नित्यज्ञानरूपे केवले अद्वितीये परे शुद्धे आत्मनि विचार्यमाणे सति तरणौ सूर्ये अहनी लक्षणया रात्रिदिने इव ऋतः अबाधितश्चासौ ज्ञश्चिदात्मकश्च यो भावः परमार्थभूतः आत्मा तस्मादन्यौ न स्तः। यथा सूर्ये विचार्यमाणे तत्र न रात्रिर्न दिवसः एवमात्मनि न बन्धो न मोक्षः इति॥ २६॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पुनः किंच एतेषां भाग्यस्य महिमा महत्त्वं तावदास्तां वक्तुम् अशक्यं भवतु शर्वादयः शर्वोऽहंकाराधिष्ठाता रुद्रः स आदिर्येषां ते वयं मनोबुद्धिदेवाः एकादश इन्द्रियदेवाश्चापि बतेति हर्षे भूरिभागाः भवामः कुतस्तत्राह एतद्धृषीकचषकैः एतेषां व्रजवासिनां हृषीकाणां इन्द्रियाण्येव चषकाः पानपात्राणि तैर्वयं ते तव अंघ्र्युदजमध्वमृतासवं असकृत्मुहुर्मुहुः पिबाम अंघ्री एव उदजे उदकजे पद्मे तयोर्मधुमकरंदस्तदेवामृतं मिष्टम् आसवं मदजनकम् अयं भावः यदा एकैकेंद्रियदेवा वयं त्वत्कीर्तिश्रवणरूपदर्शनोच्छिष्टजलपानादि कुर्वाणा अपि महद्भाग्यास्तदा समग्रेंद्रियैस्त्वत्संबंधं प्राप्तानां तेषां महद्भाग्यं तत्र किमु वक्तव्यमिति॥ २५॥ ततोप्यधिकहरिभक्तानां साक्षात्समागमं प्रार्थयन्नाह तदिति—इह नृलोके यत्किमपि जन्म ततोऽप्यधिकम् अटव्यां मार्गे यज्जन्म

ततोऽप्यधिकं गोकुले जन्म तदेव भूरि भाग्यं महद्भाग्यमस्तु कुतो महद्भाग्यं तदाह व्रजवासिनां मध्ये कतमस्य यस्य कस्यापि कीदृ रजसा अभिषेकः स्नानं यस्मिन्नेवंभूतं जन्म तेषां पदरजोभिषेके किमाधिक्यमित्याशंक्याह ॥ निखिलं सर्वं येषां जीवितं तु मुकुं एवास्ति प्रत्यक्षमुकुंदस्य दुर्लभत्वमाह यस्य हरेः पदरजः अद्यापि श्रुतिभिर्वेदैः मृग्यम् अन्वेषणीयमेवास्ति एवंभूतस्य मुकुन्द तदेकजीवनानां भक्तानां च संबंधो येषामस्ति तेषां महद्भाग्यमित्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पूर्वश्लोके ये विचक्षते ते तरन्तीत्युक्तमथ प्रसङ्गात्तद्विपरीतानां का गतिः, यद्युच्यते संसृतिरेव, तर्हि कः सुकरस्तन्नि वृत्त्युपायस्तत्राह ॥ आत्मानमिति ॥ आत्मानं परमात्मानं त्वां, आत्मतया एव, सर्वान्तरात्मतयैवेत्यर्थः । अविजानतां जीवानां तेन एव, तव सर्वान्तरात्मतया अविज्ञानेनैव, निखिलं प्रपञ्चितं जातं, प्रपञ्चो जातः । संसारः संप्राप्त इति यावत् । तव सर्वान्त रात्मताभिज्ञानाभावात्तेषां त्वदुपासनाभावस्ततश्च देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमोदयेन संसारप्राप्तिरिति भावः । तदेवमज्ञानाज्ज प्रपञ्चितम् । भूयः प्रचुरतया संपादितेन ज्ञानेन अपि, देहात्माद्यनभिमानपूर्वं संपादितपरमात्मोपासनरूपज्ञानेनैवेत्यर्थः । चकारा दात्मज्ञानेन, प्रलीयते नश्यति निवर्त्तते इति यावत् । परमात्मोपासनात्मज्ञानाभावप्रयुक्तस्य संसारस्य ज्ञानसद्भावे निवृत्तौ दृष्टान्तमाह । यथा रज्वामधिष्ठानभूतायां सत्यां, अहेः सर्पस्य, भोगभवाभवौ सर्पशरीरस्य भवाभवौ, सर्पशरीरविषयकज्ञानोदि तल्लयौ, रज्जुयाथात्म्याज्ञानज्ञानप्रयुक्तौ, संभवतः । तद्वद्देहाद्यभिमानपूर्वकप्रत्यक्षतापत्तिपर्यन्तभगवदुपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भा वप्रयुक्तौ ससारतन्मोक्षावित्यर्थः ॥ २५ ॥ उक्तदृष्टान्तेन बोधितमप्यर्थं दृष्टान्तान्तरेण दार्ष्टान्तिकेऽनुगमयति ॥ अज्ञानसंज्ञाविति । भवः ससारस्तद्रूपो बन्धस्तस्मान्मोक्षश्च तौ द्वौ, अज्ञानमुक्तविधपरमात्मोपासनात्मकज्ञानाभावश्च सज्ञा भगवदुपासनात्मकं ज्ञानं च ते अनयोः स्तः इति अज्ञानसंज्ञौ स्तः । अर्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् । उपासनात्मकज्ञानाभावतत्सद्भावहेतुकौ भवबन्धमोक्षौ भवत इत्यर्थः । संबन्धोऽत्र हेतुहेतुमद्भावरूपः । अज्ञानज्ञानवत्तया भवबन्धमोक्षप्रवृत्तिरस्तीति भावः । अन्यौ न स्तः । अन्यमूलकौ न भवत इत्यर्थः । नामशब्दः शास्त्रीयप्रसिद्धिद्योतकः । 'बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिर्विद्यया च तथेतरः' इति भगवदुक्तेः । अत्राविद्याविद्या शब्दाभ्यामज्ञानज्ञाने विवक्षिते स्तः । एव स्थिते, यथा अहनि दिवसे, तरणौ सूर्ये सति, निरावरणे सूर्ये साक्षात् समीक्षि सतीत्यर्थः । तम इति शेषः । इव, तमः यथा प्रलीयते तद्वदित्यर्थः । अज्ञभावात् ऋते अज्ञभावं विना, देहात्मभ्रमस्वतन्त्रात्मभ्रमं त्यक्त्वेत्यर्थः । अजस्रचिति नित्यं ज्ञानैकाकारे, आत्मनि प्रत्यगात्मनि विषये, केवले शुद्धे, परे परस्मिन् परमात्मनीत्यर्थः विचार्यमाणे देहत्रयविलक्षणं निजात्मान ब्रह्मरूपं विभाव्य तत्र परमात्मनि त्वयि साक्षात् कृते सतीत्यर्थः । तत् प्रपञ्चितम् प्रलीयते इति शेषः ॥ २६ ॥

कृष्णप्रिया

षोडश कला और सर्व की आत्मा ब्रह्म-भगवान को ही मैं ब्रह्म हूँ मैं भगवान हूँ ऐसा समझने वालों ने तो उस प्रकार की भ्रान्ति से सारा प्रपञ्च कल्पित किया है। जैसे रस्सीरज्जू में कल्पित साँप के शरीर की उत्पत्ति और नाश होता है वैसे ज्ञान से भी कल्पित प्रपञ्च का ही नाश होता है भगवत्कृत प्रपञ्च का नहीं ॥ २५ ॥ भव रूप बंध और मोक्ष दोनों अज्ञान कृत हैं वास्तविक दृष्टि से तो अज्ञान की ही यह दो संज्ञा है विवेक दृष्टि से देखने से ऐसा लगता है कि जैसे सूर्य में दिन और रात दोनों रहे हैं और है वैसे ही मोक्ष, सदानन्द रूप केवल नियामक भगवान में सत्य ज्ञान स्वरूप है इससे निश्चय है आत्मा की न तो मुक्ति है और न तो बन्धन है ॥ २६ ॥

त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च । आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य 'अहोऽज्ञजनताज्ञता ॥ २७ ॥

अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।
असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं 'किमयन्ति सन्तः ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—परमात्मानं त्वाम् आत्मानं परं मत्वा च पुनः आत्मा बहिः मृग्यः अहो अज्ञजनताज्ञता एव ॥ २७ ॥ हे अनन्त ! सन्तः अन्तर्भवे (हृदयाकाशे) भवन्तम् एव अतत् त्यजन्तः मृगयन्ति असन्तम् अपि अहिं अन्तरेण (परित्यागेन) अपि सन्तं गुणं किं सन्तः अयन्ति ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु परमार्थज्ञानादज्ञानकृतो बंधो निवर्ततामात्मतयैव ज्ञानादिति कोऽयमाग्रह इत्याशंक्य यदध्यासादात्मनः परत्व स्फूर्तिस्तदपवादेन तत्रैव ज्ञानं युक्तमितीममर्थं विस्मयेनाक्रोशन्निवाह । त्वामिति ! त्वामात्मानं परं देहादिरूपं मत्वा आत्मानं

१. अहो अज्ञजनाज्ञता–वीर. । २. किमु–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. ।

देहादिमध्यस्थ तथा परं देहादिमात्मानं मत्वा देहादावात्मानमध्यस्येत्यर्थः। एवमन्तर्नष्ट आत्मा बहिर्मृग्य इत्यहो चित्रम्। न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इत्यर्थः॥ २७॥ विवेकिनस्तु प्रत्यक्स्वरूपे एव परमात्मानं विचिन्वंतीत्याह। अंतर्भव इति। भवतीति भवश्चिज्जडात्मकं शरीरं तन्मध्य एव हि प्रसिद्धं त्वां मृगयंति। कथम् अतज्जडं त्यजंतोऽपवदंतः। ननु सतो ज्ञानेनालं किमसतोऽपवादेनेत्याशंक्याध्यस्तापवादं विनाऽधिष्ठानतत्त्वं न ज्ञायत इति सतां व्यवहारेणाह। असंतमिति। अंति समीपे असंतमप्यहिमंतरेण तन्निषेधं विनेत्यर्थः। संतं गुणं रज्जुं संतः किमु यंति जानंति। अंति संतमपि गुणमिति वा न जानंतीत्यर्थः। तस्मादात्मात्मतयैव ज्ञानान्मुक्तिरिति भावः॥ २८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पुनराशंकते—नन्विति। आग्रहो हठः। यस्याध्यासात्, अन्यत्रान्यदृष्टिरध्यासः। अस्फूर्तिज्ञानम्। तदपवादेन अध्यस्तापवादेन। अपवादस्त्वारोपितापाकरणम्। तत्रैव यत्रापवादः कृतस्तस्मिन्नेव। आक्रोशन् उच्चैर्वदन्। अध्यस्य प्रकल्प्य। अत्र देहे। बहिर्वनादौ। मृग्यतेऽन्विष्यते। इत्यर्थ—इति भावः। ये आत्मविन्मन्याः पुरुषाकारं त्वां नाद्रियंते त एव पूर्वोक्ताः स्थूलतृषावघातिन इत्याह—त्वामिति। चोऽप्यर्थे, परमात्मानमेवापि त्वां पुरुषाकारं परं शुद्धपरमात्मतोऽप्यन्यं मायाशबलमात्मानं मत्वा आत्मा परमात्मा पुनस्त्वत्तो बहिरेव मृग्यः, अहो तस्या अज्ञजनताया अज्ञताऽत्यद्भुतेत्यर्थः। अयमर्थः—विवर्त्तपरिणामादयो वादाः खलु चिद्भिन्ने मायिके जगत्येव प्रवर्त्तते न तु पूर्णचिति ब्रह्मणि। तथा 'शब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्' इति तृतीयात्। "यत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्विभुः। बभूवतेनैव स वामनः" इत्यष्टमात्। "सत्यज्ञानानंतानंदमात्रैकरसमूर्त्तयः" इति दशमात् गोविन्दं सच्चिदानंदविग्रहं वृंदावनसुरभूरुहतलासीनमिति। "तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि" इति गोपालतापिनीश्रुतेश्च पूर्णब्रह्मात्मके भगवद्वपुर्द्धामादावपि। ये तु श्रुतिसमृतीक्षणाभावादंधास्तत्रतत्रापि विवर्तमंधपरंपरयैव प्रवर्त्तयंतो भ्रश्यंति ते त्वहोशब्देन ब्रह्मणा स्वसृष्टौ शोच्येषु मध्ये विस्मयरसविषयीचक्रिर इति विश्वनाथः॥ ये तु सकलात्मनामप्यात्मानं त्वामात्ममात्रया विचक्षते ते त्वतिमूर्खा एवेत्याह—त्वामिति। परमात्मानमेव त्वां परं केवलमात्मानं शुद्धजीवरूप मत्वा। अप्यर्थे चकारः। "आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः" इति। स भवानपि अपुनर्बहिर्मृग्यः स्यात्। 'अभावे नह्यनो ना च' इत्यमरः। न पुनर्बहिर्वृंदावने मृग्यते किं तु शुद्धजीवस्वरूपभेदेन देहान्तरे एव मृग्यते इत्यर्थः। आहो विस्मये। इयमज्ञजनताया अज्ञता पूर्वोक्तस्य विविधवैलक्षण्यस्य हानाननुसंधानात्। यद्वा—आत्मानं सर्वेषां मूलस्वरूपं त्वां परमात्मानं मत्वा तथा परं त्वत्तोऽन्यमेव तादृशमात्मानं मत्वा यः कश्चिदन्यो भवेदिति कल्पयित्वा बहिस्त्वत्पादाब्जसदनादस्मादन्यत्रात्मा मृग्यो भवति मृग्यत इत्यर्थः। इयमहो अज्ञजनताया अज्ञता। यद्वा—त्वं केवलमात्मानं जीवस्य शुद्ध स्वरूपमेव मत्वा तत उत्कर्षावाप्तौ परमात्मानमंतर्यामिमात्रञ्च त्वां तथातथा वा यदि मन्यते तदापीत्यर्थः। अज्ञजनताया अज्ञतैव परिशिष्यते। "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति भगवद्वाक्याननुसंधानात्। यश्चात्मा मुख्यवृत्त्या तत्तच्छब्दवाच्यो बहिर्मृग्य एवेति तर्जनीयुगलेन चरणकमलयुगलं दर्शयति। यद्येवं न स्यात्तदाहमपि स्वसदन एव स्थित्वा मनसि समाधास्यं न पुनरत्र श्रीवृंदावने समायास्यम्। न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। संधिश्छन्दोनुरोधेन। जन्मन्यज्ञानतया अज्ञतेति वा। यद्वा—ये जीवतत्त्वेश्वरतत्त्वविदोपि सर्वं परित्यज्य तादृशं श्रीकृष्णं संप्रति श्रीवृंदावन एव मृगयंते तान् स्तौति। प्रथमं तावत् परं केवलमद्वैतोपासनया त्वामात्मानं जीवस्वरूपानतिरिक्तमनुभूय ततः परमात्मानञ्चानुभूय पुनरधुना आत्मा तल्लक्षणं सर्वेषां मूलस्वरूपं बहिश्चक्षुरादिगोचरे मृग्यः सम्पद्यते। तस्मादहो विज्ञजनताया विज्ञतेति। 'अज्ञजनताऽज्ञता' इति क्वचित्पाठः। तत्राज्ञशब्देनाऽनुत्तमशब्दवद्विज्ञ एवात्र व्याख्येयः। अत्र मृग्ये। अहो इत्यत्र रोरुत्वाभावः। सदैन्यरोदनवचनत्वेन मृग्य इत्यकारस्य प्लुतत्वात् "अतो रोरप्लुतादप्लुते" इति सूत्रं न प्रवर्तते इति॥ २७॥ प्रत्यक्स्वरूपे जीवे। विचिन्वंति पश्यंति। "तत्त्वमसि" इत्यादिषु तच्छब्दश्चेतनपरस्तद्भिन्नमतत्। अत्राक्षिपति—नन्विति। तत्त्वं स्वरूपम्। असंतमविद्यमानमपि। तन्निषेधं नायं सर्प इत्येवंरूपं निषेधम्। इत्यर्थ इति—अंतरेणेत्यव्ययस्य वर्जनार्थत्वादिह तृतीयाभ्रमो न कार्य इति तात्पर्यम्। "गुणास्त्वावृत्तिशब्दादिज्येंद्रियामुख्यतंतुषु" इति वैजयंती। तं तु शब्देन रज्जुरपि लक्ष्यतेऽत एव गुणं रज्जुम्। असतः समीपत्वासंभव मन्वानः प्रकारांतरेण याजयति—अंतीत्यादि। इत्यर्थ इति—किमुना निपातद्वयेन प्रकृतिविरुद्धाऽर्थो द्योत्यत इति भावः। यस्मादध्यस्तापवादो वस्तुयाथात्म्यबोधी तस्मात्। आत्मतया स्वरूपतया। इति भाव इति। अहं ब्रह्मास्मीत्येवं जीवभावनापरित्यागपूर्वकं स्वस्मिन्ब्रह्मभावेनैव मोक्षहेतुरिति तात्पर्यम्॥ पूर्वत्र हेतुमाह—हे अनंत सर्वव्यापिन्, हि यस्मादंतर्भवे व्यष्टिसमष्टिरूपस्य भवस्य जगता मध्ये संतो विवेकवंतो भवन्तं श्रीकृष्णमेव मृगयंति सर्वदोषहीनं सर्वगुणपूर्णमेव प्राप्तुं तेषां मनोरथः स्वयं भगवान्भवानेव च तादृश इति। किं कुर्वन्तः। अतत् तद्व्यतिरिक्तमन्यदन्यदपरितोषेण त्यजतः। ननु जगदेव ममावरणं तत्कमत्र मत्प्राप्तिस्स्यात्, उच्यते—भवेदेवमविवेकिनां, विवेकिनां तु गूढस्य कारणस्य तव तत्तद्गुणलेशाभासभावितं तदेव कार्यभूतं प्रत्यायकं, तव चास्तु नाम सद्रूपमसद्रूपमप्यन्विष्यन्, तदाश्रयलाभो दृश्यते इत्याह—असंतमपीति। संत इति साधारणविवेकिनः पूर्वेषां तद्विशेषाणां दृष्टांताः। अत्र च तदंशत्यागे व्यष्टिप्रक्रियेयं—प्रथमतो देहादीनां जडमलिनादित्वात् क्रमपरित्यागेन तच्चेतनादिहेतुः शुद्ध आत्मोपलभ्यते। निर्विशेषब्रह्मदृष्टिस्तु "या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथा-

श्रवणेन वा स्यात् । सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्" इत्यादिध्रुववाक्यादिभ्यः, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इत्यादिश्रीगीतादि-भ्यश्च परिहृतैव । ततः शुद्धजीवस्यापि प्रकाशकः "केचित्स्वदेहांतर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसंतम् । चतुर्भुजम्" इति द्वितीयोक्तेस्तदंतर्यामी तस्यापि तत्राल्पगुणोल्लासेन ततः पूर्णोदशायी तृतीये वर्णितः । समष्ट्यंतर्यामी तदवतारश्च ततोपि ब्रह्मांडसमष्ट्यंतर्यामी 'आद्योवतारः पुरुषः परस्य' इति सूचितः । कारणार्णवशायी प्रथमपुरुषः ततः 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्' इत्यादि "यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इत्यादिदृष्ट्या साक्षात्त्वमेव । अथ समष्टावपि पूर्वमिंद्रचंद्रादिमयं विराड्रूप-मामेवेश्वरं मन्यंते, पश्चात्तस्यापि नश्वरत्वादिना तदंतर्यामीत्यादि पूर्ववत् । तस्मादधुना केनापि भाग्योदयेन साक्षात्त्वैव लाभे सति साधूक्तं—त्वामात्मानमित्यादि । अत्रेयं श्रीवैष्णवप्रक्रिया—यद्यपि व यदेकं चिद्वस्तु मायाश्रयं विद्यामयं तद्यपि व तन्मायाविषयमविद्या-परिभूतं चेत्युक्तमयुक्तमिति जीवात्मपरमात्मनोर्विभागोऽवगतः । ततश्च स्वरूपसामर्थ्यवैलक्षण्येन तद्द्वितयं मिथो विलक्षणस्वरूप-मेवेत्यायातम् । न च परिच्छेदेप्रतिबिंबादिव्यवस्थया विभागः स्यात्, तत्र यद्यनादिविद्यकत्वेनोपाधेर्वास्तवत्वं तर्ह्यविषयस्य तस्य कथमपि परिच्छेदविषयत्वासंभवः । निर्द्धर्मकस्य व्यापकस्य निरवयवस्य प्रतिबिंबत्वायोगोप्युपाधिसंबंधाभावात्प्रतिबिंबभेदाभावात् दृश्यत्वाभावाच्च । उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्य ज्योतिरंशस्यैव प्रतिबिंबो दृश्यते न त्वाकाशस्य । दृश्यत्वाभावादेव तथा वास्तव-परिच्छेदादौ सति सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण न तत्त्यागश्च भवेत्, शास्त्रे क्वचित्प्रतिबिंबत्वाद्यंगीकारस्तु तत्सादृश्येनैव अंशु-द्ग्रहणात् । वृद्धिह्रासभाक्त्वमंतर्भावादुभयसामंजस्यादेवेति न्यायेन । उपाधेराविद्यकत्वे तु वास्तवपरिच्छेदाद्यभावात् प्राप्तो मायाश्रयमित्युभयात्मको विरोधस्तदवस्थ एव स्यात् । यथा शुद्धायां चितावविद्याकल्पितोपाधौ तस्यामीश्वराख्यायां विद्येत्यसमंजसा च कल्पना स्यादित्याद्यनुसंधेयम् । तस्मादेकमेव तत्परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिंत्यशक्त्या सर्वदैव चतुर्द्धावतिष्ठते । सूर्यान्तमंडलस्थतेज इव बहिर्मंडलतद्बहिर्गतरश्म्यादिरूपेण । अचिंत्यशक्तित्वं च मणिमंत्रमहौषधादीनां कारणगुणकारणे तस्मिन्नाश्चर्य्यम् । 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इति । 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इति च न्यायेन 'आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः' इति षष्ठेप्येतद्दर्शितम् । अतस्त-त्तत्समावेशाद्यनुपपत्तिश्चाचिंत्यशक्तित्वेनैव पराहता, दुर्घटघटकत्वमचिंत्यत्वं, येन खलु सा शक्तिरपरिच्छिन्नमपि परिच्छिन्नत्वेन दर्शयति । यथैव दर्शयिष्यते 'एकदेशस्थितस्याग्नेः' इति । सा शक्तिश्च त्रिधा । अंतरंगा, तटस्था, बहिरंगा चेति । अत्रान्तरंगया स्वरूपशक्त्याख्यया पूर्णेनैव स्वरूपेण वैकुंठादिवैभवेन चावतिष्ठते । तटस्थया रश्मिस्थानीयचिदेकात्मरूपशुद्धजीवरूपेण बहिरंगया मायाख्यया आभासगतवर्णशाबल्यस्थानीयतदीयबहिरंगवैभवजडात्मप्रधानस्वरूपेण चेति चतुर्धात्वम् । यथोक्तं श्रीवैष्णवे-"एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा । परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" इति । श्रुतौ च-"यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति । अत एव तदात्मत्वेन जीवस्यैव तटस्थशक्तित्वं, प्रधानस्य मायांतर्भूतत्वमभिप्रेत्य शक्तित्रयं तत्रैव दर्शितम् "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा । अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥" इति । तत्र परा—'यातीतगोचरा वाचाम्' इत्यनेनोक्ता । क्षेत्रज्ञाख्या जीवभूता सेयमपरा, प्रथमातृतीययोर्मध्यवर्त्तिनी तृतीया सेयमपि परेति वा । तथा च श्रीगीतासु "भूम्यादितया भेदं प्राप्ता प्रकृतिरष्टधा" इत्युक्त्वा प्राह, "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम्" इति 'सर्वभूतेषु सर्वात्मन्' इत्यनेनोक्ता तु अविद्या कर्म कार्यं यस्याः । अपरायाः सा तत्संज्ञा मायेत्यर्थः । अत एव जीवस्य रश्मिस्थानीयत्वात् मंडलविलक्षणं मायाव्यवधानतिरोधापनीयत्ववैभवत्वं युक्तम् । तदंतरं ह्युक्तम् "यथा क्षेत्रज्ञशक्तिः सा तारतम्येन वर्त्तते" इति । अत्रान्तरंगत्वतटस्थत्वबहिरंगत्वादिनैव तेषामेकात्मकानां तत्र साम्यं न तु सर्वात्मनेति तत्तत्स्थानीयत्वमेवोक्तं न तु तत्तद्रूपत्वं ततस्तत्र दोषा अपि नावकाशं लभंते । अत्र विशेषविवेकाः श्रीभागवतसंदर्भतट्टीकयोरवलोकनीया इति दिक् । विश्वनाथस्तु—विज्ञास्तु त्वां मायोपाधित्वेन मन्यंते किं तु जीवात्मानमेव, अतस्तमेव मायामालिन्यतो विच्युतीकर्त्तुं तमेव केवलं शुद्धं मृगयंती-त्याह—अंतर्भवे शरीरमध्ये एव वर्त्तमानम् । अनन्ताः असंख्याता भवा नानायोनिषु जन्मानि यस्य तं प्रसिद्धम् अल्पज्ञ जीवात्मानं मृगयंति । किं कुर्वन्तः । अतत् आत्मभिन्नं मायिकं मायाश्चापवदंतः, न तु चिन्मयस्य जीवात्मनो ज्ञानेनाल, किंचिद्भिन्नस्यापवा-देनेत्याशंक्याध्यस्तापवादं विनाऽधिष्ठानतत्त्वं सम्यङ् न ज्ञायत इति सत्यम्, व्यवहारेणाह—असंतमिति । अतरेण नायं सर्प इत्यप-वादं विनेत्यर्थः । अन्यत्तैः । "असंगो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतेर्जीवात्मनो हि स्थूलसूक्ष्मदेहसंबंधो नैवास्ति, तत एव देहो दैहिकाः शोकमोहादयश्च तस्य नैव संति, तदप्यविद्ययैव तस्मिञ्जीवात्मनि देहोऽध्यस्तः । ततश्च कदाचिदुद्भूतेन ज्ञानेन 'नायमात्मा देहः' इति देहस्यासतोप्यपवादं विना तथैव शुद्धं सत्यं जीवात्मानं किं जानंति नैव जानन्ति, यथैवाहिमनपवाद्य रज्जुं न जानंतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ये तु सकलात्मनाप्यात्मानं त्वाम् आत्ममात्रतया विचक्षते ते त्वतिमूर्खा एवेत्याह—त्वामिति । परमात्मानमेव त्वां परं केवलमात्मानं शुद्धजीवस्वरूपं मत्वा अप्यर्थे चकारः आत्मा "आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिः" इति स भवानपि भुव-नर्बहिर्मृग्यः स्यात् "अभावे न ह्यनो ना च" इत्यमरः न पुनर्बहिः श्रीवृन्दावने मृग्यते, किन्तु शुद्धजीवस्वरूपभेदेन देहान्तरेव मृग्यत इत्यर्थः । अहो विस्मये इयमज्ञजनता वा अज्ञता पूर्वोक्तस्य विविधवैलक्षण्यस्य ह्यन्यननुसन्धानात् । यद्वा, आत्मानं सर्वेषां मूलस्वरूपं त्वां परम् अनात्मानं मत्वा तथा परं त्वत्तोन्यमेव तादृशमात्मानं मत्वा यः कश्चिदन्यो भवेदिति कल्पयित्वा बहिस्त्वत्पदाब्जसदनात्

स्मादन्यत्र आत्मा मृग्यो भवति मृग्यत इत्यर्थः। इयमहो अज्ञजनताया अज्ञतेति। यद्वा, त्वां केवलम् आत्मानं जीवस्य शुद्धस्वरूपमेव मत्वा तत उत्कर्षावाधौ परमात्मानमन्तर्यामिमात्रं च त्वां मत्वा तथा तथा वा यदि मन्यते तदापीत्यर्थः। अज्ञजनताया अज्ञतैव परिशिष्यते "विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति भगवद्वाक्याऽननुसन्धानात् यश्च आत्मा मुख्यवृत्तत्तच्छब्दवाच्यो बहिर्मृग्य एवेति तर्जनीयुगलेन चरणकमलयुगलं दर्शयति–यद्येवं न स्यात्तदाऽहमपि स्वसदन एव स्थित्वा मनसि समाधास्यं न पुनरत्र श्रीवृन्दावने समायाम्यं न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। सन्धिश्छन्दोऽनुरोधेन ज्ञम्मन्यजनताया अज्ञतेति वा। यद्वा, ये जीवतत्त्वेश्वरतत्त्वविदोऽपि सर्वं परित्यज्य तादृशं श्रीकृष्णं संप्रति वृन्दावन एव मृगयन्ति, तान् स्तौति प्रथमं तावत् परं केवलम् अद्वैतोपासनया त्वाम् आत्मानं जीवस्वरूपानतिरिक्तमनुभूय ततः परमात्मानमेव चानुभूय पुनरधुना आत्मा तल्लक्षणं सर्वेषां मूलस्वरूपं बहिश्चक्षुरादिगोचरे मृग्यः संपाद्यते तस्मादहो विज्ञजनतायाः विज्ञतेति अहो अज्ञजनाज्ञतेति क्वचित्पाठः। तत्र चाज्ञशब्देनाऽनुत्तमशब्दवद्विज्ञ एवात्र व्याख्येयः। अत्र मृग्य अहो इत्यत्र रोरुत्वाभावः सदैन्यरोदनवचनत्वेन मृग्य इत्यकारस्य प्लुतत्वात् "अतो रोरप्लुतादप्लुते" (६।१।११३) इति सूत्रं न प्रवर्तते इति ॥२७॥ पूर्वत्र हेतुमाह–हे अनन्त ! सर्वव्यापिन् ! हि यस्मात् अन्तर्भवे व्यष्टिसमष्टिरूपस्य भवस्य जगतो मध्ये सन्तो विवेकवन्तः भवन्तं श्रीकृष्णमेव मृगयन्ति सर्वदोषहीनं सर्वगुणपूर्णमेव प्राप्तुं तेषां मनोरथः स्वयं भगवान् भवानेव च तादृश इति। किं कुर्वन्तः ? अतत् त्वद्व्यतिरिक्तमन्यदन्यदपरितोषेण त्यजन्तः। ननु, जगदेव ममावरणं तत्कथमत्र मत्प्राप्तिः स्यात् ? उच्यते भवेदेवमविवेकिनांविवेकिनान्तु गूढस्य कारणस्य तव तत्तद्गुणलेशाभासभाषितां कार्य्यभूतं तदेव प्रत्यायकं तत्र चास्तु नाम सद्रूपम् असद्रूपमप्यनन्विश्यन् तदाश्रयलाभो दृश्यत इत्याह असन्तमपीति। सन्त इति साधारणविवेकिनः पूर्वेषां तद्विशेषाणां दृष्टान्ताः अत्र च तदंशत्यागे व्यष्टिप्रक्रियेयं प्रथमतो देहादीनां जडमलिनादित्वात् क्रमशस्त्यागेन तच्चेतनादिहेतुः शुद्ध आत्मोपलभ्यते निर्विशेषब्रह्मदृष्टिस्तु "या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ ! माभूत्" इत्यादि श्रीध्रुववाक्यादिभ्यो "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्" इत्यादि श्रीगीतादिभ्यश्च परिहृतैव ततः शुद्धजीवस्यापि प्रकाशकः "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तं-चतुर्भुजम्" इति द्वितीयोक्तेस्तदन्तर्यामी तस्यापि तत्राल्पगुणोल्लासेन ततः पूर्णो गर्भोदशायी तृतीये वर्णितः समष्ट्यन्तर्यामी तदवताराश्च ततोऽपि सर्वब्रह्माण्डसमष्ट्यन्तर्यामी "आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य" इति सूचितः कारणार्णवशायी प्रथमपुरुषः ततो "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्" इत्यादि "यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता" इत्यादि दृष्ट्या साक्षात्त्वमेव। अथसमष्टावपि पूर्वमिन्द्रचन्द्रादिमयं विराड्रूपं मामेवेश्वरं मन्यन्ते पश्चात्तस्यापि नश्वरत्वादिना तदन्तर्यामीत्यादि पूर्ववत् तस्मादधुना केनापि भाग्योदयेन साक्षात्त्वं व लाभे सति साधूक्तं त्वामात्मानमित्यादि। अत्रेयं श्रीवैष्णवप्रक्रिया यद्यपि यदेकं चिद्वस्तु मायाश्रयं विद्यामयं तद्यपि तन्मायाविषयमविद्यापरिभूतं चेत्युक्तमयुक्तमिति जीवात्मपरमात्मनोर्विभागोऽवगतः ततश्च स्वरूपसामर्थ्यवैलक्षण्येन तद्द्वितयं मिथोविलक्षणस्वरूपमेवेत्यागतं नच परिच्छेदप्रतिविम्बत्वादिव्यवस्थया विभागः स्यात् तत्र यद्युपाधेरनादिविद्यकत्वेन वास्तवत्वं तर्हि विषयस्य तस्य कथमपि परिच्छेदविषयत्वाऽसम्भवः निर्धर्मकस्य व्यापकस्य निरवयवस्य प्रतिबिम्बत्वायोगोऽपि उपाधिसम्बन्धाभावात् प्रतिबिम्बभेदाभावात् दृश्यत्वाभावाच्च उपाधिपरिच्छिन्नाकाशस्य ज्योतिरंशस्यैव प्रतिबिम्बो दृश्यते नत्वाकाशस्य दृश्यत्वाभावादेव तथा वास्तवपरिच्छेदादौ सति सामानाधिकरण्यज्ञानमात्रेण न तत्त्यागश्च भवेत् शास्त्रे क्वचित् प्रतिबिम्बत्वाद्यङ्गीकारश्च तत्सादृश्येनैव "अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्" (३।२।१९) वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्" (३।२।२०) इति न्यायेन उपाधेराविद्यकत्वेतु वास्तवपरिच्छेदाद्यभावात् प्राक्तनो मायाश्रयमित्याद्युभयात्मको विरोधः तदवस्थ एव स्यात्। तथा शुद्धायां चित्यविद्या तदविद्याकल्पितोपाधौ तस्यामीश्वराख्यायां विद्येत्यसमञ्जसाच्च कल्पना स्यादित्याद्यनुसन्धेयम्। तस्मादेकमेव तत्परमतत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव चतुर्द्धाऽवतिष्ठते सूर्यान्तर्मण्डलस्थतेज इव बहिर्मण्डलतद्बहिर्गतरश्म्यादिरूपेण अचिन्त्यशक्तित्वं च मणिमन्त्रमहौषध्यादीनां कारणगतकारणे तस्मिन्नाश्चर्य्यम् "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" (२।१।२७) "आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि" (२।१।२८) इति च न्यायेन "आत्मेश्वरो ऽतर्क्यसहस्रशक्तिः" इति षष्ठे ऽप्येतद्दर्शितम् अतस्तत्तत्समावेशाद्यनुपपत्तिश्चाचिन्त्यशक्तित्वेनैव पराहता दुर्घटघटकत्वं ह्यचिन्त्यत्वं येन खलु सा शक्तिरपरिच्छिन्नमपि परिच्छिन्नत्वेन दर्शयति, यथैव दर्शयिष्यते "एकदेशस्थितस्याग्नेः" इति शक्तिश्च सा त्रिधा अन्तरङ्गा तटस्था बहिरङ्गा चेति तत्रान्तरङ्गया स्वरूपशक्त्याख्यया पूर्णेनैव स्वरूपेण वैकुण्ठादिस्वरूपवैभवेन चाऽवतिष्ठते तटस्थया रश्मिस्थानीयचिदेकात्मशुद्धजीवरूपेण बहिरङ्गया मायाख्यया आभासगतवर्णशावल्यस्थानीयतदीयबहिरङ्गवैभवजडात्मप्रधानरूपेण चेति चतुर्द्धात्वम् यथोक्तं श्रीवैष्णवे "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा। परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्" इति। श्रुतौ च "यस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। अत एव तदात्मत्वेन जीवस्यैव तटस्थशक्तित्वं प्रधानस्य च मायान्तर्भूतत्वमभिप्रेत्य शक्तित्रयं तत्रैव दर्शितं "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा। अविद्या कर्मसञ्ज्ञान्या तृतीयाशक्तिरिष्यते" इति। तत्र परा "या ऽतीतगोचरा वाचाम्" इत्यनेनोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या जीवभूता सेयमपरा प्रथमतृतीययोर्मध्यवर्तिनी तृतीयापेक्षया सेयमपरेति वा तथा च श्रीगीतासु भूम्यादितया भेदं प्राप्ता प्रकृतिरष्टधेत्युक्त्वा प्राह "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूताम्" इति "सर्वभूतेषु सर्वात्मन्" इत्यनेनोक्ता अविद्याकर्मकार्य्यं यस्याः

अपरायाः सा तत्सञ्ज्ञा मायेत्यर्थः। अत एव जीवस्य रश्मिस्थानीयत्वात् मण्डलविलक्षणं मायाव्यवधानतिरोधापनीयवैभवत्वं युक्तं तदनन्तरं ह्युक्तम् "यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा तारतम्येन वर्त्तते" इति अत्रान्तरङ्गत्वतटस्थत्वबहिरङ्गत्वादिनैव तेषामेकात्मकानां तत्र साम्यं न तु सर्वात्मनेति तत्तत्स्थानीयत्वमेवोक्तं न तु तत्तद्रूपत्वं ततस्तत्तद्दोषा अपि नावकाशं लभन्ते अत्र विशेषविवेकाः श्रीभागवतसन्दर्भतट्टीकयोरवलोकनीया इति दिक् ॥ २८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं तत्त्वे आत्मतत्त्वे प्रपञ्चतत्त्वे च विचिन्तितेऽपि ये त्वामात्मानमेव मन्यन्ते, न त्वात्मविलक्षणो भिन्नोऽप्यसीति ते परमज्ञा एवेत्याह त्वामिति। परमात्मानमेव त्वां परं केवलमात्मानं क्षेत्रज्ञमेव मत्वा; अप्यर्थे च शब्दः, अतएवात्मा अन्तर्बहिश्च व्यापकोऽपि त्वमपुनर्बहिर्मृग्यं स्याः; 'अभावे नह्य नापि' इत्यमरः, न पुनर्बहिर्वृन्दावनादौ मृग्यतेऽसद्भिः, किन्तु देहान्तरे वेत्यर्थः। अहो विस्मये। इयमज्ञजनताया अज्ञता, पूर्व्वोक्तविविधवैलक्षणस्य व्यापकत्वस्य च ह्यन्यनुसन्धानात्। अकारलोपश्छन्दोऽनुरोधेन। अज्ञजनाज्ञतेति क्वचित् पाठः॥ २७॥ सावस्तु बहिरन्तश्च व्यापकतया वर्त्तमानं त्वां मृगयन्तीत्याह—अन्तरिति। अनन्त! हे अपरिच्छिन्न! अन्तर्बहिर्व्यापकेत्यर्थः। सन्तस्त्वद्भक्तास्त्वन्तर्भवे स्वदेहान्तरेव भवन्तं मृगयन्ति किम्?—काक्वा। नैव, किन्तु बहिरपि मृगयन्तीत्यर्थः। कथम्? अतदवस्तु मिथ्याभूतमसद्भिस्त्वसत्तया ज्ञायमानमात्मतत्त्वं त्यजन्तः परिहरन्तो यतस्तत्त्यागं विना विशुद्धज्ञानं न भवतीत्याशयेनाह, -अन्तमिति। अन्तरेण तन्निषेधं विनेत्यर्थः। नाहं सः, किन्तु तदीयोऽस्मीति बुद्ध्या प्रथममात्मनो मिथ्येश्वरत्वज्ञानं निरस्यैव सन्तोऽपि त्वां प्राप्नुवन्तीति भावः। यद्वा, अतदसद्वस्तु निर्व्वाणमित्यर्थः। अवस्तुत्यागेन विना सद्वस्तु न प्राप्यत इत्याह—असन्तमिति। अथवा, ननु तर्हि कथमभिज्ञा मृगयन्ते? तदाह—अन्तर्भवतीत्यन्तर्भवं हृदयकमलं तस्मिन्। अतत् त्वन्मार्गणव्यतिरिक्तं सर्व्वं त्यजन्तः। ननु भगवत्स्मरणात् स्वयमेव तदपयास्यति, किं तत्त्यागाग्रहेण? तत्राह—असन्तमिति। विना विषयादिपरित्यागम्, विना च कर्म्मज्ञानादिपरित्यागम्, भगवत्स्मरणं न सिध्यतीति भावः। अन्यत् समानम्॥ २८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अन्येषान्तु जीवपरमात्मयाथात्म्यज्ञानमेव स्वोक्तार्थस्थेम्ने आह—त्वामात्मानमिति। परं चिदचिद्विलक्षणं त्वां श्रीमन्तं नारायणं परं ब्रह्म अज्ञानाध्यस्तमात्मानं जीवरूपं मत्वा च पुनः अपरमर्वाचीनं संसारिणं जीवमात्मानं देहमन्तःकरणावच्छिन्नत्वेनोपाधिकत्वेन प्रतिविम्बत्वेन वा मत्वा आत्मा पुनः बहिः घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यादिरूपेण मृग्य इति एवमज्ञजनताया अज्ञता इत्याश्चर्यम्॥२७॥ सतां पुनस्तत्त्वविचारसामर्थ्यमाह—अन्तरिति। हे अनन्त! सर्वदेव सर्वकालसर्वावस्थासु व्यापक! भवे संसारमध्येऽन्तर्वर्त्तमानं भवन्तमेव सर्वचिदन्तर्यामिणम् अत एव अतत् तच्छब्दवाच्यभवद्भिन्नत्वं भवे प्रपञ्चः त्यजन्तः सन्तः भवन्तं त्वामेव मृगयन्ति तच्छरीरत्वेन विचिन्वन्ति तदेव विचयमर्थान्तरन्यासेनाह—सन्तं कालत्रये सत्यं गुणम् अन्तरेण विना असन्तं गुणादविनाभूतं सन्तम् अपि अहिम् उ इति वितर्के भ्रान्ताः अन्ति निकटे भ्रमात् विनाभूतमेव सत्यमेव रज्ज्वज्ञानात् यन्ति जानन्ति पश्यन्ति वा इति काकुः तेषां भ्रमाभावात् एवं परमात्मानं विना पृथक्त्वेन स्थूलावस्थं च जगत् रूपं वस्तु अवर्त्तमानमपि भ्रान्ता जीवाः परमात्मा पृथग्भूतमेव तर्कि यन्ति? अपितु नैव, सन्तस्तु उभयावस्थं जगत्परमात्मशरीरभूतमेव जानन्तीति भावः॥ २८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अज्ञभावादित्यनेन उक्तमज्ञत्वमेव विशदयन् विस्मयते—त्वामिति। देहात्मभ्रमोऽहमेवेश्वरः इत्येवं स्वतन्त्रात्मभ्रमश्चेति द्विविधोऽपि भ्रमोऽनर्थहेतुतया त्याज्यतया च तत्र तत्रोच्यते अत्राप्युभयविधभ्रमस्यात्मपरमात्मयाथात्म्यज्ञानमूलकत्वमुक्त्वा विस्मयते परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणमात्मानं प्रकृतिपुरुषान्तःप्रवेशेन तद्गतदोषाऽसंस्पर्शेन प्रशासनेन च भर्त्तारं त्वाम्, इदमेव हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं यल्लोकत्रयान्तःप्रवेशनतद्गतदोषास्पर्शनप्रशासनैर्भर्त्तृत्वं यथोक्तं भगवता—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः"॥

इत्येवमत्यन्तविलक्षणमपि त्वाम् इत्यर्थः। एवंविधं त्वामात्मानं प्रत्यगात्मानं मत्वा चस्त्वर्थः। आत्मानं च प्रत्यगात्मानं तु परमन्यं देहमेव मत्वेत्यर्थः। आत्मा परमात्मा पुनर्बहिर्मृग्यः मृग्यत इत्यर्थः। अहोऽज्ञजनानाम् इयमज्ञता न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। विवेकिनस्तु जीवान्तरात्मतयैव त्वा मुपासत इति भावः॥ २७॥ इदमेव दृष्टान्तमुखेन काक्वोपपादयति—अन्तर्भव इति। हे अनन्त! सन्तो विवेकिनः अन्तर्भवे भवतीति भवः देहः तन्मध्ये अतत् तदन्यार्थकोऽत्र नञ् परमात्मनोऽन्यद्यज्जीवपर्यन्तं पञ्चविंशतितत्त्वजातं तत्त्यजन्तः तस्मिन्परमात्माभिमानं त्यजन्तस्तद्विलक्षणमेव मुक्तविधं भवन्तं त्वां मृगयन्ति विविच्योपासत इत्यर्थः। "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इति श्रुत्यनुसारात् सन्तः विवेकिनः रज्जुयाथात्म्यज्ञानवन्तः अन्ति समीपे सन्तं तत्त्वेनैव प्रतीयमानं गुणं रज्जुमसन्तमप्यहिं सर्पं किमु प्रतियन्ति सन्निहितस्यापि विस्मरणे व्यवहिताध्यासे चायं दृष्टान्तः। यथा विवेकिनः

सन्निहिते गुणे हि विलक्षणतया प्रतीयमाने न व्यवहितसर्पबुद्धिं कुर्वन्ति एवं जीवान्तरात्मतया सन्निहिते त्वयि जीवपर्यन्ततत्त्वविलक्षणतया प्रमितेन जडजीवबुद्धिं कुर्वन्ति किन्तु तां विहाय स्वरूपतः स्वभावतश्च तद्विलक्षणं त्वामध्यवस्यन्त उपासत इत्यर्थः ॥२८॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथ—"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः एवम्विधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते" इत्याद्युक्तप्रकारेण श्रुतिस्मृत्यादिवाक्यैश्च त्वां समाभ्यधिकशून्यं परमकारणं सर्वाधारं सर्वशेषिणं निरुपाधिकानन्तज्ञानानन्दादिकल्याणगुणनिधिं स्वाश्रितसंसारनिवर्त्तकं सत्यप्रतिज्ञं चिदचिन्नियन्तारं ज्ञात्वाऽपि त्वत्तः परं किञ्चिदन्यत्तत्त्वं मन्यमाना अज्ञा इति तान् विस्मयेनाक्रोशं कुर्वन्निवाह—त्वामात्मानमिति। त्वामात्मानं निरुपाधिकसर्वात्मानं परमुत्कृष्टं मत्वा निश्चित्य "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" इत्यादिश्रुतेः। ननु, जीवात्मापि देहाद्यपेक्षया परः अतः स एव कथं न स्यादित्याह, परमात्मानमेव च चकारोऽप्यर्थः एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः त्वामेव परमात्मानं मत्वा। मा परो यस्मादिति परमः परमश्चासावात्मा च परमात्मा तं त्वामेवेत्यर्थः। "मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!" इत्यादि स्मृतयः "परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां, द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इत्यादयः श्रुतयश्च इममेवार्थमुपपादयन्तीति भावः। एवम्भूतं त्वां ज्ञात्वाऽपि सर्वविधिभूते त्वय्येव परतत्त्वनिश्चयं कृत्वापि आत्मा पुनर्बहिर्मृग्यः त्वत्तोऽपि यत्किञ्चिद्गुणदरिद्रं सर्वविशेषशून्यत्वेन निर्विशेषं चिन्मात्रं वस्तु अन्वेषयन्ति श्रुतिस्मृत्यर्थमज्ञात्वा तत्रैव निश्चयं कुर्वन्तीति यदहोऽज्ञजनता अहो इत्याश्चर्ये अज्ञजनताया अज्ञता तेषामज्ञाने त्वन्मायैव कारणमिति मया निश्चितमित्यर्थः। ननु "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभिर्निर्विशेषं चिन्मात्रं ब्रह्मैव परमार्थस्तदतिरेकि सर्वं मिथ्याभूतं तस्मिन्नेव कल्पितमिति कथं सर्वशेषी सर्वनियन्तृत्वादिगुणकः परमेश्वर एव परं तत्त्वमिति प्रतिपाद्यते इति चेत्, तदसत् कथमित्युक्ते शृणु, सदेवेत्यत्र सच्छब्दवाच्यः परमात्मा नारायण एवेत्यवधारय "एकोऽहं वै नारायण आसीत्" इत्यादिश्रुत्यैक्यार्थात् "एकमेवाद्वितीयम्" इति "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः" इत्यादिश्रुतिस्मृत्युक्तसमाभ्यधिकशून्यत्वं प्रतिपाद्यते "यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽद्य भूतले" इत्यत्र तत्समाभ्यधिक एव प्रतिषिध्यते न तु तत्पुत्रकलत्रादिकमपीति यत्तदद्रेश्यमित्याद्यपि हेयपदार्थनिषेधपरम्—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः"

इत्याद्यनुसारात् अन्यथा "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिभिर्विरोधः स्यात् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यत्रापि सत्यत्वादिगुणकमेव ब्रह्मेति पूर्वमेवावोचाम। अन्यथा बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दनिर्वचनविरोधः स्यात् तत्त्वमसीत्यत्रापि परब्रह्मात्मकत्वं जीवस्य प्रतिपाद्यते "य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरम्" इत्याद्यनुरोधात् अन्यथा "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः" इत्यादिभिर्विरोधः स्यात्। अत एव श्रुतिस्मृतिभिः सिद्धेऽर्थेत्वदुक्तलक्षणाया अनवकाशः। मुख्यार्थबाधे सत्येव लक्षणा अत्र तु बाध एव नास्ति श्रुतिस्मृतिभिर्विरोधाभावात् ऋजुगत्या कार्ये सिद्धे वक्रगत्या साधयितुमन्याय्यत्वाच्च अतो यथोक्त एवार्थः समीचीनः। यद्वा, त्वामात्मानं परं जीवं मत्वा परमात्मानमेव च परं जीवमात्मानं त्वां मत्वा अयमाशयः आत्मा ब्रह्मैव त्वं स्वाविद्यया जीवरूपेणावस्थित इति मत्वा परं जीवमात्मानं त्वां मत्वा स्वाविद्यानिवृत्तौ पुनर्ब्रह्मस्वरूपेणैव तिष्ठतीति मत्वा आत्मा पुनर्बहिर्मृग्य ईश्वरजीवात्मव्यतिरिक्तं किञ्चिच्चिन्मात्रमस्तीति निश्चिन्वन्ति अहोऽज्ञजनताज्ञतेति अहो तेषां दुराग्रहः निर्विशेषस्वप्रकाशं ब्रह्म वदन्ति पुनस्तस्यैवाविद्यया आवृत्तिं वदन्तीति अहो बुद्धिवैपरीत्यं तेषामिति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इति न्यायेन शुद्धे ब्रह्मणि अविद्याप्रसक्तिमङ्गीकृत्य पुनस्तन्निवर्त्तने शमदमादिसम्पदमङ्गीकृत्य तस्यैव मोक्षं वदन्तीत्यहो तेषामज्ञता इत्याक्रोशति ते शोच्या इत्यर्थः। अत्र त्वामात्मानं परं देहादिमत्वा आत्मनि देहादिमध्यस्य तथा च परं देहादिमात्मानं मत्वा देहादावात्मानमध्यस्यात्र नष्ट आत्मा बहिर्मृग्यते इति न तावज्जीवात्परत्वं वक्तुं शक्यं तस्य जडत्वेनातितुच्छत्वात् प्रत्युत जीवस्यैव देहादेः परत्वात् "परः पराणाम्" इत्यादि श्रुतेः। नापि पृथिव्यादितत्त्वेभ्यः परत्वं तस्य तत्कार्यत्वात् अतः देहादेः परत्वं स्वमतिविजृम्भितं किञ्चाध्यासोऽपि देहात्मवादिनां देहादावात्माध्यासः शुक्तौ रजतादिवद्भवति देहोऽहं कृशोऽहं स्थूलोऽहमिति आत्मनि देहाध्यासस्तु कस्याऽपि न दृष्टचरः न हि रजते शुक्त्यध्यासः किन्तु शुक्तौ रजताध्यास एव अत इदमप्यसमञ्जसमित्यलमतिपल्लवितेनेति ॥ २७॥ त्वत्स्वरूपज्ञास्तु त्वामेव सर्वविधिभूतं सर्वापद्विमोचकं निरुपाधिकानन्तकल्याणगुणाकरं सर्वसेव्यं स्वशरीरे एव विचिन्वन्तीत्याह—अन्तर्भवे इति। अन्तर्भवे भवतीति भवः शरीरं तस्मिन् भवन्तमेव सर्वस्वामिनं सन्तस्त्वत्सम्बन्धज्ञानवन्तो मृगयन्ति उपासते इत्यर्थः। किं कुर्वन्तः अतत्त्यजन्तः न तत् अतत् देवादिप्रपञ्चः तस्य नश्वरत्वात् तज्ज्ञानं विना तत्त्यागो न सम्भवतीत्याह, असन्तमपि अन्ति समीपे अहि

सन्तं गुणमन्तरेण विना रज्जुत्वज्ञानं विना तमसन्तमहिं किमु यन्ति जानन्ति ? तमसत्त्वेन जानन्ति किं ? रज्जौ रज्जुत्वज्ञानं विना सर्पाऽसत्त्वज्ञानं न सम्भवति तद्वत्तव परमात्मत्वज्ञानं विना देवादिप्रपञ्चासत्त्वज्ञानं दुर्घटमित्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ये तु सकलात्मनामप्यात्मानं त्वाम् अन्यथा विचक्षते ते त्वतिमूर्खा एवेत्याह—त्वामिति। आत्मानं सर्वेषां मूलस्वरूपं त्वां परम् अनात्मानं मत्वा यः कश्चिदन्यो भवेदिति कल्पयित्वा बहिस्त्वत्पादाब्जसदनादस्मादन्यत्र आत्मा मृग्यो भवति मृग्यत इत्यर्थः। इयमहो अज्ञजनताया अज्ञतेति। यद्वा, त्वां केवलं जीवस्य शुद्धस्वरूपमेव मत्वा तत उत्कर्षावातौ परमात्मानमन्तर्यामि-मात्रञ्च त्वां मत्वा तथा तथा वा यदि मन्यते तदापीत्यर्थः। अज्ञजनताया अज्ञतयैव परिशिष्यते "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इति भगवद्वाक्यात् यतश्च आत्मा मुख्यवृत्तत्च्छब्दवाच्यो बहिर्मृग्य एवेत्यञ्जलिना श्रीचरणौ दर्शयति–यद्येवं तर्ह्यहमपि स्वसदन एव स्थित्वा मनस्येव समाधास्यं न पुनरत्र वृन्दावने समायास्यं न हि गृहे नष्टं वने मृग्यत इति भावः। सन्धिश्छन्दोऽनुरोधेन ज्ञम्मन्यजनताया अज्ञतेति वा। यद्वा, सर्वं परित्यज्य सम्प्रति श्रीकृष्णैकमुख्यान् रतौति, एवं परं तावत् केवलम् अद्वैतोपासनया त्वाम् आत्मानं जीवस्वरूपानतिरिक्तमनुभूय ततः परमात्मानमेव चानुभूय पुनरधुना आत्मा सर्वेषां मूल-स्वरूपं बहिश्चक्षुरादिगोचरं मृग्यः सम्पाद्यते तस्मादहो विज्ञजनतायाः श्रीरुद्रादिरूपाया विज्ञतेति अज्ञजनाज्ञता इति क्वचित् पाठः ॥ २७ ॥ अत्र चानुत्तमशब्दवद्विज्ञ मुख्योऽपि व्याख्यातुं शक्यते पूर्वत्र हेतुः भवन्तः श्रीकृष्णमेव अतस्त्वद्व्यतिरिक्तमन्यदन्यद् परितोषेण त्यजन्तः भवस्य त्वद् कार्यभूतत्वात् तदन्तर्याम्याद्यवस्थस्य तद्रूपस्य च त्वदंशत्वात्तत्र तव दर्शनञ्च युक्तमेव यतः कार्य-मात्रदृष्टीनामसत्यपि कार्ये तत्रैव तद् कारणं दृश्यम् इत्याह—असन्तमिति। सन्त इति साधारणविवेकिनः पूर्वेषां सद्विशेषाणां दृष्टान्तः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अतोऽज्ञा एवं त्वदतिरिक्तमात्मान्तरं बहिर्मृगयन्ति, न तु विचक्षणा इत्याह—त्वामात्मानमित्यादि। परमात्मानं परमात्मस्वरूपं त्वामात्मानं त्वमिति यो विग्रहस्तं परं मत्वा अनात्मत्वेन ज्ञात्वा आत्मा नाम कोऽप्यन्योऽस्तीति बहिर्मृग्यो बहिरनु-सन्धेयः, साक्षाद्भूतमात्मानं त्वां विहाय ध्यानादौ बहिर्मार्गं आत्मानुसन्धानं कार्यमिति यत्तदहो अज्ञजनानां तेषामज्ञतैवेति वाक्यार्थः ॥ २७ ॥ अज्ञानां रीतिरुक्ता, विज्ञास्तु भवन्तमेव हृदये विचारयन्ति, न तु सम्यक् पश्यन्तीत्याह—'अन्तर्भवेऽनन्त' इत्यादि। हे अनन्त ! अपरिच्छिन्न ! सन्तो विज्ञा अतद्वस्तु त्यजन्तः सन्तोऽन्तर्भवे हृदयान्तरे भवन्तमेव मृगयन्ति न तु लभन्ते, स्वरूपेण तव तत्त्वं न विदन्ति। तत्र दृष्टान्तः—असन्तमपीत्यादि। असन्तं मिथ्यारूपम्, अहिमन्तरेण विना सन्तं सत्यं गुणं किं सन्तस्तमहिं सन्ति जानन्ति ? न जानन्त्येव। उ सम्बोधने तेन समुचितमेव ते अतत् अज्ञानकृतमवस्तु त्यक्त्वा वस्तुभूतं त्वामवस्तु तया पुनर्जानन्ति, यथा सन्तं गुणं गुणमेव जानन्ति न पुनरसन्तमहिम् ॥ २८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तत्राह–त्वामात्मानमित्यादि। त्वां श्रीकृष्णमात्मानं परमप्रेयांसं परं मत्त्वा भिन्नं ज्ञात्वा आत्मा बहिर्मृग्यः, बहिरेव दृश्यते। देहादिष्वात्मभावं कुर्वन्ति, अहो अज्ञानामज्ञता ! अयमज्ञानां पन्थाः। सन्तस्तु सारासारविवेकिनः, ते तु उभय विचारयन्तः अतत्, अवस्तु त्यजन्तो भवन्तं विचारयन्त्येव, न तु लभन्त इत्याह-अन्तर्भवे इत्यादि। मृगयन्ति, न तु लभन्ते। तर्हि के लभन्ते इत्याह - ॥ २७-२८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ये त्वात्मविन्मन्याः पुरुषाकारं त्वां नाद्रियन्ते त एव पूर्वोक्ताः स्थूलतुषावघातिन इत्याह–त्वामिति। चो ऽप्यर्थे परमात्मानमेवापि त्वां पुरुषाकारं परं शुद्धं परमात्मनोऽन्यं मायाशबलम् आत्मानं मत्वा आत्मा परमात्मा पुनस्त्वत्तो बहिरेव मृग्यः अहो तस्या अज्ञजनताया अज्ञता अत्यद्भुतेत्यर्थः। अयमर्थः विवर्तपरिणामादयो वादाः खलु चिद्भिन्ने मायिके जगत्येव प्रवर्तन्ते न तु पूर्णे चिति ब्रह्मणि तथा शब्दब्रह्मवपुष्यदिति "तत्तद्वपुर्भाति विभूषणायुधैरव्यक्तचिद्व्यक्तमधारयद्विभुः। बभूव तेनैव स वामनः" इति दृश्यमान् "सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः" इति दशमात् "गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्" इति तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरी हि" इति गोपालतापनीश्रुतेश्च पूर्णब्रह्मात्मके भगवद्वपुर्धर्मादादपि ये तु श्रुतिस्मृतीर्मन्यन्ते दन्वास्तत्र तत्रापि विवर्त्तमन्वपरम्परयैव प्रवर्त्तयन्तो भ्रश्यन्ति ते त्वहो शब्देन ब्रह्मणा स्वसृष्टौ शोच्येषु मध्ये विषयीचक्रिरे इति अहो अज्ञजनाऽज्ञतेत्यपि पाठः ॥२७॥ विज्ञास्तु त्वां मायोपाधित्वेन न मन्यन्ते किन्तु जीवात्मानमेवाऽस्तमेव मायामालिन्यादि विच्युतीकर्तुं तमेव केवलं शुद्धं मृगयन्तीत्याह–अन्तर्भवे स्वशरीरमध्य एव वर्त्तमानं अनन्तभवम् अनन्ता असङ्ख्या भवा नाना

योनिषु जन्मानि यस्य तं प्रसिद्धमलग्नं जीवात्मानं मृगयन्ति किं कुर्वन्तः ? अतत् आत्मभिन्नं मायिकं मायां च त्यजन्तः अपवदन्तः। ननु, चिन्मयस्य जीवात्मनो ज्ञानेनाऽलं किञ्चिद्भिन्नस्यापवादेनेत्याशङ्कच अध्यस्तस्यापवादं विना अधिष्ठानतत्त्वं न सम्यक् ज्ञायत इति सतां व्यवहारेणाह—असन्तमिति। अन्ति समीपे असन्तमप्यहिमन्तरेण नायमहिरिति तदपवादं विनेत्यर्थः। सन्तं गुणं रज्जु सन्तः किं नु यन्ति जानन्ति ? नैव जानन्ति, तथैव "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतेर्जीवात्मनः स्थूलसूक्ष्मदेहसम्बन्धो नैवास्ति तत्सम्बन्धाभावादेव देहा देहिकाः शोकमोहादयश्च तस्य नैव सन्ति तदप्यविद्ययैव तस्मिन् जीवात्मनि देहोऽध्यस्तः ततश्च कदाचिदुद्भूतेन ज्ञानेन नायमात्मा देह इति तस्य देहस्याऽसतोऽप्यपवादं विना सत्यं शुद्धं जीवात्मानं किं जानन्ति ? नैव जानन्तीत्यर्थः ॥२८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवमणुपरिमाणकः सनातनो ब्रह्मांशभूतो जीवः विभुपरिमाणकः सनातनः ब्रह्म नारायणादिपदवाच्योंऽशी श्रीकृष्णः तयोरंशांशिनोः प्रभाप्रभावतोरिव गुणगुणिनोरिव जातिव्यक्त्योरिव अवयवावयविनोरिव कार्यकारणयोरिव स्वरूपतो भिन्नयोरेवाभेदः "एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते" इत्यनेनोक्तः तस्य चांशभूतस्यानादिमायावृतज्ञानस्याज्ञस्य स्वांश्यविचारेण बन्धस्तद्भजनेन तद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षः पूर्वश्लोकेन वर्णितः अथेममेव सर्ववेदार्थभूतं स्वसिद्धान्तं विशदयन् अत्यन्तभेदवादिमतं सर्वश्रुतिस्मृतिविरुद्धं निराकरोति, त्वामिति। त्वां सकलात्मनामात्मानं तेषां सत्यत्वमूलं परमं सत्यं अंशिनं "नित्यो नित्यानाम्" इत्यादिश्रुतिप्रोक्तम् परमत्यन्तभिन्नं मत्वा तथात्मानम् अंशभूतं परमत्यन्तं भिन्नम् ब्रह्मात्मकं मत्वा परं स्वभावत एव भिन्नत्वेऽप्यभिन्नयोः जीवपरमात्मनोरन्योन्यतोऽत्यन्तं भेदं मत्वा पुनर्बहिः "तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिसिद्धान्तात्पृथग्भूते स्वेच्छाविलसिते कुपथि ब्रह्मात्मकः जडस्वरूपः ज्ञानपरिणामवदादिरूपो वा आत्मा मृग्यः अहो इति अज्ञजनतायाः तार्किकादिजनसमूहस्य अज्ञता नहि जीवपरमात्मनोरत्यन्तभेदोऽस्ति तत्तादात्म्यविधायकानां त्वमस्यादिवाक्यानां बाधप्रसङ्गात् न पुनरत्यन्ताभेदोऽप्यस्ति उपदेशवैयर्थ्यापत्तेः एकस्मिन्नद्वितीये भेदकल्पनायाः तदपवादस्य च वर्षसहस्रेणापि विद्वत्सभायामुपपादयितुमशक्यत्वात् अतः स्वरूपतो हि भेद एव "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यत्र जडाजडयोः स्वरूपतोऽभेदासम्भवात् आत्मनो जडत्वस्वीकारः ज्ञानपरिणामवत्त्वादिस्वीकारश्चतुच्छ एव "चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादिश्रुतिविरोधादित्यलं विस्तरेणविस्तरस्तु वेदान्तकौस्तुभादिषु द्रष्टव्यः।२७। ननु, यद्यहमेव बन्धमोक्षप्रदः सर्वभिन्नाभिन्नः परमपुरुषस्तर्हि केचिन्मयि मनुष्यबुद्धिं कुतः कुर्वन्तीत्यत्राह—अन्तभव इति। हे अनन्त ! त्रिविधपरिच्छेदशून्य ! भवे संसारे स्वमायाकार्यभूते ब्रह्माण्डे यदान्तर्मध्यन्तत्रभवन्तं स्वेच्छया प्रविष्टं त्वां स्वासाधारणेनैव रूपेण वर्तमानम् हि यत् भ्रान्त्या गृहीतमतद्ब्रह्मत्वं मनुष्यत्वम् तत्त्यजन्तः सन्तः विवेकिनः मृगयन्ति तत्त्वतो निश्चिन्वन्ति यथेन्द्रेण "कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम्" इति। श्रीकृष्णे मर्त्यत्वं भ्रान्त्या प्रकल्पितम् पुनर्विविच्य बुद्ध्वा "विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्" इत्यादिना परमपुरुषत्वेन श्रीकृष्णो वर्णितः तत्र दृष्टान्तमाह—यथा सन्तः रज्जुस्वरूपविदः असन्तं भ्रान्त्या गृहीतमहिमन्तरेण तन्निषेधं विना अन्ति समीपे सन्तं गुणं रज्जुं किमुयन्ति जानन्ति ? किं तु भ्रान्तिगृहीतमहिं निषेधयित्वैव रज्जु जानन्तीत्यर्थः। तद्वत् अत एवोक्तम्—

> "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यङ्गतानां परदेवतेन।
> मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः" ॥ इति ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु ब्रह्मन् ! मामेव त्वं परमात्मानं ब्रवीषि, न चैव मन्ये इति चेत्तत्र साक्षेपमाह—त्वामिति। चकारोऽप्यर्थे परमात्मानमेवापि त्वां परं मायाशबलमात्मानं मत्वा त्वत्तो बहिः पुनरात्मा परमात्मा मृग्यः अहो इत्याश्चर्ये ज्ञजनताया विज्ञमन्यजनसमूहस्याज्ञता आश्चर्येत्यर्थः। अधीतशास्त्राया अपि तस्याः संसारो दुर्वार इति भावः ॥ २७ ॥ तर्हि मे परमात्मता जगति विलुप्ता तत्राह—अन्तरिति। हे अनन्त विभो ! अन्तर्भवे शरीरमध्ये हृदि सन्तो वैष्णवास्तु भवन्तं त्वामेव नन्दसुतं मृगयन्ति परमात्मत्वेन ध्यायन्तीत्यर्थः। अततः परमात्मत्वाद्भिन्नमन्यसादृश्यप्रतीतं मायाशबलत्वं पादादिगतैरङ्कैः पूतनादिमोक्षदानैश्च विशेषैस्त्यजन्तः परिहरन्तः। मार्गणेऽतत्त्यजनमावश्यकमिति दृष्टान्तेनाह अन्ति समीपेऽसन्तमविद्यमानमप्यहिमन्तरेण तन्निषेधं विना सन्तं विद्यमानमपि तं गुणं सन्तः पण्डिताः किम् यन्ति जानन्ति नेत्यर्थः यथा रज्जावुरगस्याभावेऽपि तद्बुद्धिविगमं विना तस्याः स्वरूपं न स्फुरेदेवं नन्दसुतं त्वयान्यस्य प्रतीतत्वच्छबलत्वबुद्धिविगमं विना परमात्मत्वं न स्फुरेत् अतस्तद्वदतत्त्यजनमावश्यकमित्यर्थः। तथा च भ्रान्तेः प्रतीतं तच्छबलत्वं निर्धूय तवैव परमात्मता प्रचार्यन्त्यतः प्रगल्भन्त इति ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्च ये स्वात्मब्रह्मविचारकाः सर्वसङ्गं परित्यज्य देशान्तरे गय आत्मा प्राप्तव्य इति परित्यागं कुर्वन्ति तेतिभ्रान्ता इत्याह त्वामात्मानमिति, त्वं कृष्णः सर्वात्मा सर्वरूपस्तादृशं त्वां भिन्नं मत्वा नाहं सर्वः किन्तु विलक्षण इति परं च भगवद्रूपमेव

ज्ञानप्रकाश्य आत्मा भगवद्विभूतिरूपो भावनया स्फुरितो व्यापकत्वादिधर्मः साङ्ख्यादिस्मृतिसिद्धस्तमात्मानं मत्वा, स तु न जीवरूपः कदाचिदपि न हि घटः पर्वतो भवति, अतः परमात्मा पुनर्बहिर्गत्वा सन्न्यासं गृहीत्वा मृग्य इत्यहो अज्ञानां भ्रान्तिरेतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेथ तस्य भयं भवतीति श्रुत्युक्तं तेषां भयं निरूप्य ये पुनरिहैवान्तःकरणे भगवच्चिन्तका अन्तर्यामिणमितरपरित्यागेन भावयन्ति ते कृतार्थाः ॥२७॥ एकत्र लब्धपदं चितमन्यदपि प्राप्स्यतीत्याहान्तर्भव इति, अन्तर्भवतीत्यन्तर्भवो हृदयाकाशस्तस्मिन्, हे अनन्त देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित, तत्रापि विद्यमानं भवन्तमेव ये मृगयन्ति ते सन्तो भवन्ति, अन्वेषणे प्रकारमाहात्तत् यजन्त इति, न तद् यत्र येषु साधनेषु भगवच्चिन्तनं सम्यङ् न भवति तदतत् त्यजन्तो विरुद्धसाधनपरित्यागेन निरन्तरं भगवच्चिन्तकाः सन्त इत्युक्तं भवति, किञ्च भ्रमबुद्धिमपि त्यक्त्वा भगवच्चिन्तनं कर्तव्यमिति दृष्टान्तेनाहासन्तमपीति, अविद्यमानमप्यहिं सर्पमन्तरेण तद्व्यतिरेकेणान्ति निकटे सन्तं गुणं रज्जुं किमयन्ति जानन्ति ? अन्तरशब्दो नानार्थः सोत्रापरित्यागवाची, भ्रमप्रतिपन्नं विषयमपरित्यज्य वस्तुस्वरूपचिन्तनं न सम्भवति, अतो मूलभ्रमप्रतिपन्नं देहात्मभावं व्यामोहकशास्त्रप्रतिपन्नं च भावं परित्यज्य हृदये विद्यमानो भगवान् भावनीयः, पुनः सन्त इतिपदं ते तथैव भावयन्तीतिप्रमाणकथनार्थम् ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु "परमात्मज्ञानात् बन्धो निवर्तताम्, तस्यात्मत्वेन ज्ञाने कोऽयमाग्रहः ?" इत्याशङ्क्य "सर्वत्र यदज्ञानादेव भ्रमो जातस्तज्ज्ञानादेव भ्रमनिवृत्तिर्दृष्टा, न त्वन्यज्ञानात्, तथात्रापि आत्माज्ञानाज्जातस्य संसारबन्धस्य आत्मज्ञानादेव निवृत्तिर्युक्ता" इत्यभिप्रेत्य इत्यजानतो निन्दन् आश्चर्यं करोति – त्वामिति । स्वात्मानं त्वां परं स्वतो भिन्नं मत्वा, परं स्वतो भिन्नं 'कार्यकारणसङ्घातरूपं' देहादि च आत्मानं मत्वा । आत्मा परमात्मा पुनः स्वस्माद्बहिरेव मृग्यः अन्वेषणीय इति अज्ञजनानां समूहः अज्ञजनता तस्या अज्ञता । अहो आश्चर्यम्, नहि गृहे नष्टं वस्तु वने सूज्ञैर्मृग्यते इति । अत्र सन्धिद्वयमार्षम् । न च 'एवमात्मज्ञानात् मुक्तिकथने भक्तिमार्गविरोध' इति शङ्कनीयम्, "माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ॥ स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा" इति सिद्धान्तवचनानुसारेण मर्यादामार्गे आत्माभेदज्ञानमन्तरेण भगवति सर्वतोऽधिकस्नेहात्मकभक्तेरसम्भवात् । "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इति श्रुत्याऽऽत्मन्येव स्नेहाधिक्यप्रतिपादनात् ॥ २७ ॥ 'अतएव विवेकिनोऽस्मिन् सङ्घाते एव त्वदभिन्नमात्मानं मृगयन्ति' इत्याह –अन्तर्भव इति । हे अनन्त सर्वस्वरूप ! भवतीति भावः शरीरादिसङ्घातः, तन्मध्य एव अतत् त्वद्व्यतिरिक्तमात्मतयाऽध्यस्तं प्राकृतं देहादिकं त्यजन्तः अपवदन्त एव सन्तो विवेकिनो भवन्तं भवदभिन्नमात्मानं मृगयन्ति अन्विष्य जानन्ति । ननु 'तत्त्वज्ञानेन एवालम्, किमतदपवादेन ?' इत्याशङ्क्य 'अध्यस्तापवादं विना अधिष्ठानतत्त्वं न ज्ञायते' इत्यत्रापि सतां व्यवहारः प्रमाणमाह–असन्तमिति । असन्तमिति । अविद्यमानमपि अहिमन्तरेण तदपवादं विना अन्ति समीपे सन्तं विद्यमानमपि तं गुणं रज्जु सन्तो विवेकिनोऽपि किमु यन्ति जानन्ति ? नैव जानन्तीत्यर्थः । अतो विचारेण तदपवादोऽप्यावश्यकः इति भावः ॥२८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तृतीयमाह—त्वमिति ॥ स्वात्मानं त्वां परं स्वतो भिन्नं मत्वा परं स्वतो भिन्नं देहादि चात्मानं मत्वा आत्मा परमात्मा पुनः स्वस्माद्बहिरेव मृग्यः अन्वेषणीय इति जनानां समूहः जनता अज्ञा चासौ जनता तस्या अज्ञता अहो आश्चर्यं नहि गृहे नष्टं वस्तु वने सुज्ञैर्मृग्यते इति मृग्य अहो इत्यत्र मृग्योहो इत्यकरणम् अहोऽज्ञेति संधिश्चार्षः ॥ २७ ॥ अन्तर्भव इति ॥ हे अनन्त ! भवः चिज्जडात्मकं शरीरं तस्य अन्तः तन्मध्य एव अतत् त्वदतिरिक्तमात्मतयाऽध्यस्तं प्राकृतं देहादिकं त्यजन्तः अपवदन्त एव सन्तो विवेकिनो भवन्तं भवःभिन्नमात्मानं मृगयन्ति अन्विष्य जानन्ति । असन्तमप्यविद्यमानमपि अहिमन्तरेण तदपवादं विना अन्ति समीपे सन्तं विद्यमानमपि तं गुणं रज्जुं सन्तो विवेकिनोऽपि किमुपयन्ति जानन्ति नैव जानन्ति । अतः असतोऽपवादं विनाऽधिष्ठानतत्त्वं न ज्ञायते ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवंभूतानां भक्तानां हरेरानृणित्वमाह एषामिति । हे देव भवानपि एषां घोषनिवासिनां विश्वफलात्समग्रफलरूपात्त्वत्तः अपरं अन्यत् किं फलं तेभ्यो एता दास्यति इति नोऽस्माकं चेतोऽन्तःकरणं यत्र कुत्रापि अयत्प्राप्नुवत् अन्वेषयत् सत् मुह्यति ननु मम स्वरूपदानेनानृणीभवेयमिति चेत्तत्राह सतां भक्तानां वेषात् वेषमात्रेणापि सकुला बकाघासुराभ्यां सहिता बालघातिनी पूतनापि त्वामेव अदिता त्वद्रूपमेव प्रापिता तर्हि एषां धामादयः त्वत्कृते त्वदर्थमेव संति तेभ्यः किं दास्यसीति संबंधः अत एवैषां त्वमृणवानेव भवसीत्यर्थः । धामगेहं अर्थो धनं आत्मा देहः ॥२७॥ ननु तेषां रागादयो भक्तेस्तान् पातयंतीति चेत्तत्राह—तावदिति । हे कृष्ण यावत् ते जनास्तव भक्ता न भवंति रागादयः आदिशब्देन द्वेषकामादयः तावत् स्तेनाः धर्मज्ञानवैराग्यभक्तीनां चौराः घातकाः भवंति तावत् गृहमपि कारागृहं बंधनगेहसदृशमस्ति तावन्मोहोऽप्यंघ्रिनिगडः चरणशृंखलारूपोऽस्ति ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अज्ञभावादित्यनेनोक्तमज्ञत्वमेव विशदयन् विस्मयते ॥ त्वामिति ॥ परं प्रकृतिपुरुषविलक्षणं प्रकृतिपुरुषान्तःप्रवेशेन तद्गतदोषासंस्पर्शेनेन प्रशासनेन च भर्तारमित्यर्थः। त्वां आत्मानं प्रत्यगात्मानं मत्वा, चस्त्वर्थः। आत्मानं च प्रत्यगात्मानं तु, परं देहं एव मत्वा, आत्मा परमात्मा त्वं, पुनर्भूयो भूयः, बहिः मृग्यः अज्ञैर्मृग्यते इत्यर्थः। इत्थंभूता अज्ञजनताज्ञता गृहे नष्टस्य वनेऽन्वेषकस्येवाज्ञानिनो जनसमूहस्याज्ञभावः, अहो अत्याश्चर्यरूपा, विवेकिनस्तु जीवान्तरात्मतयैव त्वामुपासत इति भावः॥ २७॥ इदमेव दृष्टान्तमुखेन काक्वापपादयति ॥ अन्तर्भव इति ॥ हे अनन्त, सन्तो विवेकिनः, भवतीति भवो देहः भवे इत्यन्तर्भवं तस्मिन् देहमध्ये इत्यर्थः। अतत् त्यजन्तः, अतदित्यत्रान्यार्थको नञ्। परमात्मनोऽन्यज्जीवपर्यन्तं पञ्चविंशतितत्त्वजातं निरस्यन्तः सन्त इत्यर्थः। भवन्तं एव, तद्विलक्षणमुक्तविधं त्वामेवेत्यर्थः। मृगयन्ति हि। विविच्योपासते एवेत्यर्थः। 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इत्यादिश्रुतेः। स्वात्मपर्यन्तातत्त्यागेनासंप्रज्ञातसमाधिना भगवन्तमुपासितुं मृगयन्तीति भावः। एवमसंप्रज्ञातसमाधिनोपासने भगवदन्तिकस्थस्वविस्मरणपूर्वं तदन्तरायापादकं स्वात्मध्यानं न कार्यमिति दृष्टान्तेन दर्शयति। सन्तः रज्जुयाथात्म्यज्ञानवन्तो विवेकिनः, अन्ति स्वसमीपे, सन्तं तत्त्वेनैव प्रतीयमानं, तं प्रसिद्धं, गुणं रज्जुं, अन्तरेण, रज्जुतां परित्यज्येत्यर्थः। असन्तं अपि अहिं सर्पं, यन्ति किमु। प्रतियन्ति किमित्यर्थः। यथा विवेकिनः संनिहिते गुणेऽहिविलक्षणतया प्रतीयमाने न व्यवधानकारकसर्पबुद्धिं कुर्वन्ति। एवं जीवान्तरात्मतया संनिहिते त्वयि जीवपर्यन्ततत्त्वविलक्षणतया प्रमिते सति तत्र मिथ्यात्वेनापि न जडजीवबुद्धिं सन्तः कुर्वन्ति, किं तु तां विहाय स्वरूपतः स्वभावतश्च तद्विलक्षणं त्वामेवोपासते इति भावः। तस्मादिदं जगदशेषमित्यारभ्यैतच्छ्लोकपर्यन्तं सप्तापि श्लोकाः क्षेपकाः सांप्रदायिकानां प्रीत्यै यथासंप्रदायं व्याख्याताः॥ २८॥

कृष्णप्रिया

हे भगवन्! आप श्रीकृष्ण ही सर्व की आत्मा है और आप सर्व स्वरूप हैं ऐसे आप को भिन्न मानकर और भगवद्रूप को अपनी आत्मा समझकर आप भगवान को घरपरिवार त्यज के बाहर खोजने के लिये निकल चल पड़ते हैं अहो अज्ञ जन की कहाँ तक अज्ञता॥ २७॥ हे अनन्त! "अतत् त्यजन्तः" अतत् का तात्पर्य है कि जिन साधनों से श्रीकृष्णचिन्तन ठीक नहीं हो पाता ऐसे "अतत्" साधनों का त्याग करके केवल श्रीकृष्ण के चिन्तन कराने वाले साधनों से हृदय आकाश में विराजमान आप को जो परमभागवतजन खोजते हैं वे ही सत्पुरुष हैं। रज्जू में जो नहीं है फिर भी जो दिखता है ऐसे साँप का भी बिना त्याग किये समीप में रहे हुए गुण-रस्सी को सज्जन कैसे जान सकते हैं॥ २८॥

> अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
> जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥ २९॥
> तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र[1] वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
> येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥ ३०॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अथ अपि देव? ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि भगवन्महिम्नः तत्त्वं जानाति च अन्यः एकः चिरं विचिन्वन् अपि न (जानाति)॥ २९॥ नाथ! अत्र वा अन्यत्र तु वा तिरश्चां वा सः भूरिभागः भवः अस्तु येन अहं भवज्जनानां एकः अपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे॥ ३०॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नन्वेवं ज्ञानैकसाध्ये मोक्षे किमिति भक्तिरुद्घोषिताऽत आह। अथापीति। यद्यपि हरतप्राप्यमिव ज्ञानमुक्तं तथापि हे देव तव पदाम्बुजद्वयमध्ये एकदेशस्यापि यः प्रसादलेशोऽपि तेनानुगृहीत एव भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति। हे भगवँस्ते महिम्नस्तत्त्वमिति वा। एकोऽपि कश्चिदपि चिरमपि विचिन्वन्नप्यतदंशापवादेन विचारयन्नपीत्यर्थः॥ २९॥ तत्तस्मात् भूरिभागो महद्भाग्यम्। अत्र भवे जन्मनि तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन्वाऽन्यत्र येन भाग्येन भवदीयानां जनानामेकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा निषेवेऽत्यर्थं सेवेय इति॥ ३०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पुनराशंकते—नन्विति। एवम् उक्तरीत्या। ज्ञानैकसाध्ये केवलज्ञाननिवर्त्ये। 'श्रेयःस्रुतिम्' इति, 'भक्त्याहमेकया लभ्यः' इत्यादिवाक्यैः उद्घोषिता विशेषेण कथिता। यतो भक्तिरेव ज्ञानजनिकाऽतो हेतोः। समासे पुनरुक्तिमाशंक्यावग्रहेणाह—हे इति।

[1] भवेऽत्र—श्रीधर. वंशी. वीर. विज.।

इहापिशब्दोऽस्यैव भार्येति वक्ष्यमाणैवकारसंबंधवच्चतुर्भिः संवध्यते सूत्रमणिन्यायेनेति । इत्यर्थं इति । अतदंशापवादस्यैव विचार पदार्थत्वादिति भावः । हे देवेति । सर्वप्रकाशक सर्वत्र प्रकाशमानेति । यद्वा –दीव्यति सदा वृंदावने क्रीडतीति । हे भगवन्निति हे निजकारुण्यादिगुणप्रगटनपरेत्यर्थः ॥ किञ्च, तस्य जीवस्य ब्रह्मसुखानुभवस्तु केवलेन त्वद्भक्तिलेशे नापि भवति नान्यथेत्याह– तथापीति । यद्यपि मायामायिकसमस्तांशविच्युतः स्यात्तथा स जीवात्मा तदपि तव पदाब्जप्रसादलेशेनानुगृहीत एव भगवतस्तव यो महिमा महिमशब्दवाच्य ब्रह्म, तस्य तत्त्वं जानाति । तदुक्तं त्वयैव मत्स्यरूपेण—"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतम्मे" इत्यादि । व्याख्यातं च तैः । तथा च श्रीगीतासु –'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्' इति । ज्ञानमपि त्यक्त्वा तत उर्वरितां भक्तिमेव केवलां बहु मानयंस्तामेवाभ्यसेत् । यो ज्ञानी, तमेव प्रसादलेशरूपो भक्तियोगोऽनुगृह्णातीत्यर्थः । यस्तु फलप्राप्तौ सत्यां न साधनोपयोग इति मत्वा ज्ञानं भक्तिञ्च त्यक्त्वा केवलब्रह्मानुभव एवोद्यतः स एकोऽपि मुख्योपि ज्ञानिसहस्रगुणकत्वं न पीत्यर्थः । चिरं विचिन्वन् बहुशास्त्राभ्यासयोगाभ्यासाभ्यां विचारयन्नपि ॥ २९ ॥ यतो भवत्पदसेवैव मुक्तिहेतुस्तस्मादिति ॥ भो ब्रह्मन् साध्यसाधनतत्त्वज्ञशिरोमणेस्तुल्यैव व्यंजितलक्षणयोर्भक्तिज्ञानयोर्मध्ये तव कुत्र स्पृहाऽस्त आह—तदस्त्विति । हे नाथेति संबोधनेनैव व्यंजितायां सत्यामपि दास्यस्पृहायां भो ब्रह्मन् उत्कर्षनिकर्षौ सम्यग्विचार्यैव सर्वोत्कृष्टं वस्तु स्पष्टं प्रार्थयस्वेति चेत्त एव मे भूरिभागो महदेव भाग्यं मनसा निर्द्धारितमेव वर्त्तते इति भावः । येन भूरिभागेनात्र भवे ब्रह्मजन्मनि वा तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन्वेति । ब्रह्मजन्मारभ्य तिर्यग्योनिपर्यन्तं यावंति जन्मानि संभवंति तेष्वपि क्वापि जन्मनीति भावः । 'गजो गृध्रो वणिक् पथः' इति वचनात्तिर्यग्योनावपि भक्तिश्रवणात् । तिरश्चामपीति बहुवचनेनापिशब्देन च मोक्षाय जलांजलिं दत्त्वा स्वस्य तत्रापि सहस्रजन्मप्रार्थनापि व्यंजिता । भवदीयानां जनानां मध्ये एको यः कश्चिदपि नितरां साधकत्वसिद्धत्वदशयोः सेवेत । तदेवम् 'नौमीड्य ते' इत्येकेन माधुर्यम् , "अस्यापि देव" इत्यादिभिः, 'तदस्तु मे नाथ' इत्यंतैः षड्भिरैश्वर्यं विवृतवता ब्रह्मणा तन्मध्य एव 'ज्ञाने प्रयासम्' इति 'तत्तेऽनुकम्पाम्' इत्याभ्यां केवलाया भक्तेरुत्कर्षः । 'त्वामात्मानं परं मत्वा' इति, 'अजानतां त्वत्पदवीम्' इत्याभ्यां केवलज्ञानस्याक्षेपः । 'श्रेयःस्रुतिम्' इति, 'परेह भूमन्' इत्याभ्यां केवलयोर्ज्ञानभक्त्योर्वैफल्यसाफल्ये । 'अन्तर्भवेऽनन्त' इति, 'अथापि हे देव' इत्याभ्यां भक्तिमिश्रं ज्ञानम् । 'एवंविधं त्वाम्' इत्यनेन शांतभक्तिः । 'तदस्तु मे' इत्यनेन दास्यभक्तिश्चाभ्यधायि । अतः परं माधुर्यसिन्धावेव निपतिष्यता ब्रह्मणा 'अहोतिधन्या'इत्यादिभी रागात्मकवात्सल्यादिरतिमन्त एव स्तोष्यंत इति सुतरां तात्पर्यनिष्कर्षः । अत्र तोषिणी – मम तु तादृशप्रसादस्य फलं यज्ज्ञानं तस्यापि यत्फलमुपासनं तस्यापि यत्फलं साक्षात्कारः स एव सहसा संवृत्तस्तस्मादेतदेव प्रार्थ्यते इति । 'नौमि' इत्यादिप्रतिज्ञामेव संगमयन्सर्वं प्रकरणं तादृशे श्रीकृष्ण एव पर्यवसाययन्नाह यावत्समाप्ति । तत्तस्मान्नाथ हे सर्वकामपरिपूरक । पारमेष्ठ्यपदप्रापकं यन्मे भाग्यं तन्महन्न भवति किन्तु स एव भूरिभागः यद्भवज्जनानां मध्ये एकोऽपीति सेवायाः सम्यक्त्वापेक्षया, अत एव निश्शब्दः, तत्र च तत्र ब्रह्मजन्मनि, अन्यत्र तत्प्रतियोगिहरिणादि तिर्यग्योनौ वा न मम ग्रहः, किं तु त्वद्भक्तावेवेतिवाशब्दाभ्यां सूच्यते । हरिणादियोनौ सेवा च स्नेहेन रजआदिमार्जनायावहेलनादि रूपा गम्या, सा च तद्विधानादृष्टैव किल प्रार्थ्यते । पद्यद्वयमिदमित्थं वा संगमनीयम्—यद्यप्येवं तव महिमाऽथापि त्वत्पदाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादोऽनुग्रहस्तस्य लेशोऽपि यत्र, किमुत पूर्णः, स तेनानुगृहीत एव भवज्जनानामनुगतरूप एकोऽपि कश्चनापि भूत्वेति च ॥३०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यद्यप्येवमपरिच्छिन्नं तन्माहात्म्यं प्रस्फुटमेव तथापि त्वत्प्रसादेनैव तद्विवेकस्य तत्परिसरगमनं स्यान्न त्वन्यथेत्याह— अथापीति । योजनात्र स्पष्टा तत्र चार्थापि तव महिम्नस्तत्त्वं जानातीत्यनेन पूर्वप्रकरणे विवर्त्तवादमयव्याख्यानयनं च प्रस्फुटीभूत पदार्थास्तु दर्श्यन्ते देव ! हे सर्वप्रकाशक ! सर्वत्र प्रकाशमानेति वा । यद्वा, दीव्यति श्रीवृन्दावने सदा क्रीडतीति देवस्तस्य सम्बोधनं प्रसादः कृपा तस्य लेशेनानुगृहीत एवेति "यमेवैष वृणुते" इत्यादिश्रुतिं सूचयति, भक्त्या तु पदाम्बुजशब्दप्रयोगः हि निर्दिष्टः भगवन् ! हे निजकारुण्यादिगुणप्रकटनपरेत्यर्थः । अयं प्रसादे हेतुरूह्यः महिम्नः स्फुटमस्यापि देववपुष इत्यादिभिरपरिच्छेद्यत्वेनोक्रान्तस्य "को वेत्ति भूमन् ! इत्यादिना तथा भ्यस्तस्यापि तत्त्वं स्वरूपं यत्किञ्चिदनुभवति अन्यः प्रसादहीनः एकः एकाकी निःसङ्गः सन्नपीत्यर्थः । श्रेष्ठो रुद्रादिरपीति वा विचिन्वन् तत्त्वं कीदृक् कियद्वेति शास्त्राभ्यासेन विचारयन् योगाभ्यासेन च मृगयन्नपीत्यर्थः। लेशेत्युक्तिः तस्य वर्द्धिष्णोः क्रमेण पूर्णप्राप्त्यभिप्रायेण ॥ २९ ॥ मम तु तादृशप्रसादस्य फलं यज्ज्ञानन्तस्यापि यत्फलम् उपासनं तस्यापि फलं यत् साक्षात्कारः स एव सहसा संवृत्तस्तस्मादेतदेव प्रार्थय इति नौमीत्यादि प्रतिज्ञामेव सङ्गमयन् सर्वं प्रकरणं तादृशे श्रीकृष्ण एव पर्यवसाययन्नाह—यावत्समाप्ति, तत्तस्मात् नाथ ! हे सर्वकामपरिपूरक ! पारमेष्ठ्यपदप्रापकं यन्मम भाग्यं तन्महत् भवति किं तु स एव भूरिभागः महद्भाग्यं यत् भवज्जनानाम् एकोऽपीति सेवायाः सम्यक्त्वाद्यपेक्षया अत एव निशब्दः तत्र च तत्र ब्रह्मजन्मनि अन्यत्र तत्प्रतियोगिहरिणादितिर्यग्योनौ वा न ममाग्रहः किं तु त्वद्भक्तावेवेति वा शब्दाभ्यां सूच्यते हरिणादियोनौ सेवा च स्नेहेन रजआदिमार्जना यावहेलनादिरूपा गम्या सा च तद्विधानां दृष्टैव किल प्रार्थ्यते पद्यद्वयमिदमित्थं वा सङ्गमनीयं यद्यप्येवं तव महिमा तथापि त्वत्पदाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादोऽनुग्रहः तस्य लेशोऽपि यत्र किमुत पूर्णः सः तेनानुगृहीत एवेति भवज्जनानामनुगतरूपः एकोऽपि कश्चन अपि भूत्वेति च ॥ ३० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यप्येवं त्वन्माहात्म्यं प्रस्फुटमेव, तथापि त्वत्प्रसादेनैवानुभूतं स्यात्तथेत्याह—अथापीति। देव! हे सर्व्वप्रकाशक! सर्व्वत्र प्रकाशमानेति वा। यद्वा, दीव्यति श्रीवृन्दावने सदा क्रीडतीति देवस्तस्य सम्बोधनम्; यद्वा, देवेति तथैव पदाम्बुजविशेषणम्। प्रसादः प्रसन्नता कृपा वा, तस्य लेशेनानुगृहीत इति। यद्वा, प्रसादस्तत्सम्बन्धितुलस्यादिमहाप्रसादः। हि निश्चितम्। भगवन्! हे निजकारुण्यादिगुणप्रकटनपरेत्यर्थः,—अयं प्रसादे हेतुरूह्योऽन्यः प्रसादहीनः। यद्वा, पूर्व्वं भक्तेः प्रकृतत्वात् तदन्तरापतितवितर्ककुल-परिहारे सत्यपि निरन्तरश्लोके भक्तेरेव प्रार्थनाद्भक्तिलक्षणस्य महिम्न इति ज्ञेयम्। तत्त्वम्—कीदृक्, कियान् वेति। एक एकाकी निःसंगः सन्नपीत्यर्थः, श्रेष्ठो रुद्रादिरपीति वा, विचिन्वन् शास्त्राभ्यासेन विचारयन् योगाभ्यासेन च मृगयन्नपीत्यर्थः। यद्यपि सम्पूर्ण-प्रसादेनैव तत्तत्त्वज्ञानं स्यात्, तथापि लेशेत्युक्तिस्तस्य दौर्लभ्याद्यभिप्रायेण ॥ २९ ॥ त्वत्प्रसादस्तु त्वद्दास्ये सत्येव सिध्यतीति दास्यं प्रार्थयते—तदिति। नाथ! हे सर्व्वकामपरिपूरक! पारमेष्ठ्यपदप्रापकं यन्मम भाग्यम्, तन्महद्भाग्यं न भवति, किन्तु स एव भूरिभागो महद्भाग्यम्—त्वज्ज्येष्ठपुत्रस्य मम स एव श्रेष्ठो भाग इति शेषार्थः। भवज्जनानामेकोऽपीति सेवायाः सम्यक्त्वाद्यपेक्षया, अतएव निशब्दस्तत्र चात्र ब्रह्मजन्मन्यन्यत्रान्यस्मिन् ब्रह्मजन्मनि वा। यद्वा, अन्यत्र तत्प्रतियोगिकीटादितिर्य्यग्योनौ वा न ममाग्रहः, किन्तु त्वद्भक्तावेवेति, अत्रान्यत्रशब्दाभ्यां सूच्यते। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, त्वत्प्रसादस्तु तावकानां निषेवयैव सिध्येदिति याचते—तदिति। एक इति पूर्व्ववत्, तव भवतो ये जनाः सद्यो भक्तौ प्रवृत्ता नूतनभक्ता इत्यर्थः, तेषामपि पादपल्लवम् ॥ ३० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

एवं एतावता प्रघट्टकेन स्वरूपोपायसाध्यानि तत्त्वतः प्रतिपाद्य श्रीभगवन्नारायणस्य श्रीकृष्णस्य शरणागतिमेव गुरू करोति—अथापीति। हे देव! लोकानुग्रहार्थं क्रीडनप्रवृत्त! तव पदाम्बुजसम्बन्धिद्वयमन्त्रप्रसादलेशेनानुगृहीत एव जीवः श्रीभगव-तस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति नान्यः अप्रपन्नो न जानातीति सर्वोत्तमार्त्तप्रपत्त्यभावेऽपि दृप्तप्रपत्त्यापीत्यतः लेशेनेत्युक्तम् एकोऽपि मुख्योपि शास्त्रज्ञेषु व्यपदेश्यो ऽपीत्यर्थः। चिरं विचिन्नपि अत्र "शास्त्रज्ञानं बहुक्लेशं बुद्धेश्चलनकारणम्" "मनुष्याणां सहस्रेषु०० कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" श्रीमन्नारायण–परब्रह्मत्वेनेत्यर्थः। षष्ठे परीक्षिता च जन्तवः रजोभिः समसङ्ख्या जीवाः तेषु श्रेयोविचेष्टाः ज्ञानिनः तेषु मुमुक्षवः तेषु कश्चिदविद्यानिवृत्तिमान् तेष्वपि सिद्धाः तेष्वपि सर्वेष्वपरिमितेषु कोटिष्वपीत्युक्तेः एकः षष्ठकक्षायां श्रीनारायणपरायणः सुदुर्लभ इत्युक्तः एवञ्च प्रपन्न एव श्रीमन्नारायणस्य तत्त्वं जानातीति सुष्ठूक्तं यतः भक्तानाम् "अनेकजन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इत्युक्त्या प्रारब्धक्षयान्ते मुक्तिरुक्ता, प्रपन्नानां तु "सकृदेव प्रपन्नाय, अहं त्वां सर्वपापेभ्यः" सकृत्कृतः शास्त्रार्थः" इत्याद्युक्तिभिः "दृप्तानामपि जन्तूनां जन्मान्तरनिवारिणी" इत्युक्तेश्च एतद्देहपातानन्तरं मुक्तिरित्याचार्य्यैर्निर्णीतत्वा-च्चेत्यलं पल्लवितेन। प्रकृते तु चिरं विचिन्वन्नपि उपायं शास्त्रेषु न जानात्येवेति भावः ॥ २९ ॥ प्रपत्तिरूपमन्त्रालाभे भक्तिरूपं ज्ञानं प्रपत्तिरूपञ्च ज्ञानं दुर्लभमुक्त्वा स्वस्य एतादृशज्ञानलाभमेवाशास्ते—तदस्तु मे नाथेति। हे स्वामिन्! अनेन स्वामिसेवकभावसम्बन्ध उक्तः तत्तस्मात् मे स भूरिभागः भाग्यमंशो वा त्वद्वरणीयताहेतुर्गुणविशेषः प्रपत्तिरूपो ऽस्तु अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि अन्यत्र भवे वा मनुष्यादिजन्मनि तिरश्चां भवे वा अनेन प्रपत्तेः सर्वाधिकारित्वमुक्तं येन शरणागतिरूपोपायेन एकोऽपि असहायोऽपि अभक्तत्वात् कर्मज्ञानभक्तिसहायहीनोऽपि भवज्जनानां श्रीरामश्रीकृष्णभक्तानां मध्ये भूत्वा भवनं जन्म भक्तान्य लब्ध्वा दास्यसंवलितं नाम च लब्ध्वा तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे इति –

"पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥

इत्युक्तेः वैष्णवो भागवत आचार्यादिः शरणागतिमार्गो वा पश्वादीनां जन्मान्तरीयस्य तस्य कल्पनात् अविरोध इति सर्वथा प्रपत्त्यैव मोक्ष इति राद्धान्तः ॥ ३० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, केचिदज्ञाः सन्तः संसरन्ति केचित्तु विवेकिनः सन्तो मामुपास्य तरन्तीत्युक्तं कर्त्तर्हि विवेकाविवेकहेतुरित्यत्र भवदनुग्रहविशेषभावाभावादेवेत्यभिप्रायेणाह—तथापीति। यद्यपि केचिदज्ञाः संसरन्ति केचिद्विवेकिनः सन्तस्तरन्ति तथापि हे देव! तव पदाम्बुजद्वयस्य प्रसादलेशेनानुगृहीत एव पुमान्प्रणत्यालम्बनस्य पदाम्बुजद्वयस्य तत्प्रसादमूलत्वादेव मुक्तिः भगवतस्तव महिम्न-स्तत्त्वं याथात्म्यं जानाति अन्योऽननुगृहीतस्तु एकोऽपि निर्जनदेशस्थोऽपि चिरमपि विचिन्वन्न च नैव जानाति हि ॥ २९ ॥ कस्तर्हि मदनुग्रहहेतुरित्यत्र त्वद्भक्तजनसङ्गतिविशेष एवेत्यभिप्रयंस्तमेवात्मनः प्रार्थयते, तदस्त्विति। तत् तस्मात्त्वदनुग्रहस्यैव विवेक-हेतुत्वात् हे देव। स भूरिभागः महाभाग्यं महांस्तु कोऽसौ येन भाग्येनाहमत्र भवे चतुर्मुखजन्मन्यन्यत्र तु वा मनुष्यजन्मनि किं बहुना तिरश्चां मध्ये वा भवज्जनानां केनापि प्रकारेण त्वदाभिमुख्यार्हाणां जनानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे तावन्मां भवज्जनान्तर्भूतत्वेनाऽनुगृहाणेति भावः ॥ ३० ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अथैवमपि संसारनिवृत्तिरशक्या एव तथापि त्वत्प्रसादात्तत्त्वज्ञानेन सुशका तन्निवृत्तिरित्याह—अथापीति। हे देव, द्योतनशील! अथापि तव महिमा ज्ञातुमशक्य इति एवमपि तथाऽपि ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि निश्चितं तव पदाम्बुजसेवया त्वत्प्रसादात् भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति जानात्येव न चान्य एकोऽपि त्वच्चरणारविन्दसेवाविमुखश्चिरं विचिन्वन्नपि चिन्तयन्नपि न जानातीत्यर्थः। तदुक्तं प्रथमे—

"स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः। यो मायया सन्तततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्" ॥ इति।

त्वय्यभक्ता न जानन्तीत्यत्र शुकवाक्यं द्वितीये—

"भूयो नमस्ते ऋषभाय सात्वतां विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः" ॥ इति २९ ॥

अथ तस्मात्त्वत्कृपाकटाक्ष एव त्वन्महिम्नस्तत्त्वयाथात्म्यज्ञाने कारणं नान्यत् तस्मात्कस्यामपि योनौ मम संसृतावपि तव पादपद्मसेवास्त्विति प्रार्थयन्नुपसंहरति—तदस्त्विति। हे नाथ! तस्मान्मे स एव भूरिभागः महद्भाग्यं मे अस्तु किं तदित्याह, अत्र भवे चतुर्मुखजन्मनि वा अथवा अन्यत्र मनुष्यादौ, अथवा तिरश्चां पशुपक्षिणां मध्ये जन्म स्यादिति शेषः। स भूरिभागः येन भावेनाहं भवज्जनानां तव पादभक्तानां एकोऽपि कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवयामि समुद्रे गङ्गौघ इव निरन्तरं चिन्तयामीत्यर्थः। ननु, देवादौ जन्म भवतु नाम भगवत्सेवानुपयोगिनि तिर्यगादौ कथं जन्म प्रार्थयतीति चेन्न, भगवद्भक्तियोगिनां सहवासो तिरश्चामपि संसारनिवर्त्तकः तदुक्तम्—

"पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्" ॥ इति ॥ ३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तथापि तद्विवेकस्य त्वत्पर्यन्तगमनं त्वत्प्रसादेनैव स्यादित्याह—अथापीति। भक्त्या पदाम्बुजशब्दप्रयोगः लेशेत्युक्तिस्तस्य वर्द्धिष्णोः क्रमेण पूर्णप्राप्त्यभिप्रायेण महिम्नः ऐश्वर्यमाधुर्यादिरूपमाहात्म्यस्य मम तु तादृशप्रसादस्य फलं यज्ज्ञानं तस्यापि यत् फलमुपासनम् तस्यापि यत् फलं साक्षात्कारः स एव सहसा संवृत्तस्तस्मादेतदेव प्रार्थय इति ॥ २९ ॥ नौमीत्यादिप्रतिज्ञामेव सङ्क्रमयन् सर्वप्रकरणं श्रीकृष्ण एव पर्यवसाययितुमाह—तदस्त्वित्यादिना। यावत्समाप्ति, अन्यत्र हरिणादियोनौ वा सेवा चात्र स्नेहेन रज आदिमार्ज्जना यावहेलनादिरूपा सा च तद्विधानां दिष्ट्यैव किल तत् प्रार्थ्यते ॥ ३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवम् विज्ञयोः पन्थानं दर्शयित्वा विज्ञस्य चान्वेषणमात्रम्, न तु स्वरूपतो ज्ञानमिति यदुक्तम्, तत्तु व्यतिरेकमुखेन पुनर्निश्चाययति अथापीत्यादि। अज्ञ-विज्ञयोर्वर्त्म-दर्शनानन्तर यदुच्यते, तदवधीयतामित्यानन्तर्यार्थवचनोऽथशब्दः। तत्स्वरूपज्ञानयोग्यतां त्वां विचिन्वतोऽपि नास्तीति स्वरूपज्ञातुरसम्भावनायां स्वरूपज्ञाता कोऽप्यस्तीति पुनः सम्भावनायामपि-शब्दः। हे देव! सर्वजिगीषाशालिन्! ते तव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि प्रसादस्य लेशेनापि, किमुत सम्यक्—प्रसादेन, एव हीति निर्द्धारणाधिक्यम्। भगवत्तत्त्वज्ञानं न लौकिकप्रमाणागम्यम्, तथाहि न तावत् प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारि, प्रमाकरणत्वात्, नाप्यनुमानगम्यम्, तस्य च प्रत्यक्षोपजीवित्वात्; नाप्युपमानगम्यम्,—सादृश्याभावात्, नापि शब्दगम्यम्—तस्य शक्तिलक्षणाभ्यामविषयत्वात्। तेनालौकिकं किमपि प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम्, तच्च भगवत्प्रसादजन्यानुभवः। तथा चोक्तं स्वयमेव - (भा० २।९।३१) "यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः। तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात् ॥" इति। तेन सम्यगेवोक्तम् - न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्नपि, अन्यस्त्वत् प्रसादाभाजनम्, एकः प्रधानतमोऽपि सर्वशास्त्रतत्त्वज्ञोऽपीत्यर्थः ॥ २९ ॥ तस्मादवगतम्, हे नाथ! भवदनुगृहीता एव भवत्तत्त्वविदः, ततो भवदनुगृहीतीर्भवितुं क्व मे तादृशी योग्यता? भवज्जनानां मध्ये या कश्चिदपि भूत्वा भजनं करोतीत्याह—तदस्तु मे नाथेत्यादि। तत्तस्मात् हे नाथ! स भूरिभागो महद्भाग्यं मेऽस्तु, कोऽसौ? तत्राह—येन भूरिणा भागेन भवज्जनानां मध्ये एकोऽपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे, अथवा, तव विभूतिमध्ये एकोऽपि मुख्यतमोऽपि भूत्वा भवज्जनानां पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे ॥ ३० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अथापीत्यादि। अथ ज्ञानाद्यनन्तरं हि देव! ते तव पदाम्बुजद्वयस्य प्रसादलेशेनाप्यनुगृहीत एव हि एव हीति निर्धारणातिशये, जानात्येव हि निर्धारणशब्दावुत्तरत्रानुवर्तनीयौ। हे भगवन्! न चान्य एकोऽपि मुख्योऽपि चिरमेव हि विचिन्वन्नेव हि। एतेन ज्ञानमार्गमनूद्य भक्तिरेव परमपुरुषार्थ इति सिद्धान्तितम् ॥ २९ ॥ भो ब्रह्मन्! किं तेऽभिलषितम्? ज्ञानं भक्तिर्वा? तत्राह—तदस्त्वित्यादि। एकोऽपि ब्रह्मापि भूत्वा; यद्वा, भवज्जनानां मध्ये एकोऽपि यः कोऽपि भूत्वा तव एकोऽपि मुख्योऽपि भवज्जनानां पादपल्लवमिति वा ॥ ३० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च, तस्य जीवात्मनो ब्रह्मसुखानुभवस्तु केवले न त्वद्भक्तिलेशेनापि भवति नान्यथेत्याह—अथापीति। यद्यपि मायामायिकसमस्तांशविच्युतः स्यात् तथा स जीवात्मा तदपि तव पदाब्जप्रसादलेशेनानुगृहीत एव भगवतस्तव यो महिमा महिमशब्दवाच्यं ब्रह्म तस्य तत्त्वं जानाति यदुक्तं त्वयैव मत्स्यरूपेण—

"मदीयं महिमानं च परब्रह्मेतिशब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि"॥ इति।

व्याख्या च तत्रत्या श्रीस्वामिपादानां मे मया अनुगृहीतं तुभ्यं प्रसादीकृतं परब्रह्म वेत्स्यसीति अत्र प्रसादलेशो गुणीभूतभक्तियोगो ज्ञानिनां पूर्वसिद्धो वर्त्तते एव तेन अनुगृहीत इति अविद्यायामुपरतायां विद्यायाश्चोपरमारम्भे "ज्ञानं च मयि संन्यसेत्" इति भगवदुक्तेर्ज्ञानमपि त्यक्त्वा तत उर्वरितां भक्तिमेव केवलां बहुमानयंस्तामेवाभ्यसेत् यो ज्ञानी तमेव प्रसादलेशरूपो भक्तियोगोऽनुगृह्णातीत्यर्थः। यस्तु फलप्राप्तौ सत्यां न साधनोपयोग इति मत्वा ज्ञानं भक्ति च त्यक्त्वा केवलब्रह्मानुभव एवोद्यतः स्यात् स एकोऽपि मुख्योऽपि ज्ञानिसहस्रगुरुभवन्नपीत्यर्थः। चिरं विचिन्वन् बहुशास्त्राभ्यासयोगाभ्यासाभ्यां विचारयन्नपि॥ २९॥ भो ब्रह्मन्! साध्यसाधनतत्त्वज्ञशिरोमणे! स्तुत्यैव व्यञ्जितलक्षणयोर्भक्तिज्ञानयोर्मध्ये तव कुत्र स्पृहेत्यत आह—तदस्त्विति हेनाथेति सम्बोधनेनैव व्यञ्जितायां सत्यामपि दास्यस्पृहायां भो ब्रह्मन्! उत्कर्षनिकर्षौ सम्यक्तया विचार्यैव सर्वोत्कृष्टं वस्तु स्पष्टं प्रार्थयस्वेति चेत् स एव भूरिभागो महदेव भाग्यं मनसा निर्द्धारितमेव वर्त्तत इति भावः। येन भूरिभागेन अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि वा तिरश्चामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन् वेति ब्रह्मजन्मारभ्य तिर्य्यग्योनिपर्य्यन्तं यावन्ति जन्मानि सम्भवन्ति तेष्वपि क्वापि जन्मनीति भावः। गजो गृध्रो वणिक्पथ इति वचनात्तिर्य्यग्योनावपि भक्तिश्रवणात् तिरश्चामपीति बहुवचनेनापि शब्देन च मोक्षाय जलाञ्जलिं दत्त्वा स्वस्य अत्रार्थे सहस्रजन्मप्रार्थनापि व्यञ्जिता भवदीयानां जनानां मध्ये एको यः कश्चिदपि नितरां साधकत्वसिद्धत्वयोर्दशयोः सेवे तदेवं नौमीड्य! ते इत्येकेन माधुर्य्यम् अस्यापि देवेत्यादिभिस्तदस्तु मे नाथेत्यन्तैः पद्यैरैश्वर्यं विवृतवता ब्रह्मणा तन्मध्य एव ज्ञाने प्रयासमिति तत्तेऽनुकम्पामित्याभ्यां केवलायाः भक्तेरुत्कर्षः "त्वामात्मानं परं मत्वेति, अजानतां त्वत्पदवीम्" इत्याभ्यां केवलज्ञानस्याक्षेपः श्रेयःसृतिमिति पुरेह भूमन्नित्याभ्यां केवलयोर्ज्ञानभक्त्योः क्रमेण वैफल्यसाफल्ये अन्तर्भवेऽनन्तेति अथापि ते देवेत्याभ्यां भक्तिमिश्रं ज्ञानम् एवम्विधं त्वां सकलात्मनामित्यनेन शान्तभक्तिः तदस्तु मे इत्यनेन दास्यभक्तिश्चाभ्यधायि अतः परन्तु माधुर्य्यसिन्धावेव निपतिष्यता ब्रह्मणा अहोऽतिधन्या इत्यादिभीरामात्मकवात्सल्यादिरतिमन्त एव स्तोष्यन्ते इति स्तुत्यर्थतात् पर्य्यनिष्कर्षः॥ ३०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यद्यपि साक्षात्परमपुरुष एव सर्वदृग्गोचरतया स्थितोऽपि भगवन्महिम्नस्तत्त्वं ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव जानाति अन्यस्तु एकोऽपि उपायज्ञेषु मुख्योऽपि चिरं विचिन्वन्न जानाति अनेन भगवत्पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशस्यैव भगवज्ज्ञाने मुख्यहेतुत्वमुक्तम्॥ २९॥ हे नाथ, प्रार्थनीय! तस्मात् अत्र भवे ब्रह्मजन्मनि तिरश्चामपि मध्ये अन्यत्र मनुष्यादौ वा यज्जन्म तस्मिन् येन भूरिभागेन तत्तेषां ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीतानां भवज्जनानां भागवतानां मध्ये एकोऽपि यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लव निषेवे नितरां सेवेयं स भूरिभागः महद्भाग्यं मे ममापि अस्तु॥ ३०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु गुरूपलब्धया अन्तर्याम्युपनिषदा मे परमात्मतां विदित्वा संसारं तरिष्यन्ति, किं "विबुध्य भक्त्यैवे"ति मत्कथाश्रवणादि भक्त्याग्रहेणेति चेत्तत्राह अथेति। यद्यपि सा उपनिषल्लब्धा तथापि कथाश्रवणादिहेतुकेन ते पदाम्बुजद्वयस्य प्रसादलेशेनाप्यनुगृहीत एव सन् जनो महिम्नस्तत्त्वं स्वरूपं जानाति; न चान्यस्तद्धेतुकतत्प्रसादलेशशून्य एकोऽतिपाण्डित्येन मुख्यस्तामुपनिषदं चिर विचिन्वन् विचारयन्नपि तथा च भक्त्यैव निस्तारो ज्ञानन्तु विषतन्तुन्यायेन तदेतदेवोत्पद्यतेति किं तदाग्रहेणेति॥ २९॥ एवं विरञ्चिर्माधुर्य्यैश्वर्यगुणिकां स्तुतिं हरेर्विधाय तस्मिन् भक्तिमेव मुख्यापायमभिधाय तामेव प्रार्थयते—तदिति। हेनाथ गोपालस्वामिन्। स भूरिभागो मे अस्तु येनाहमत्र भवे ब्रह्मजन्मनि "गजो गृध्रो वणिक्पथ" इति तिर्यक्योनावपि भक्तिस्मरणात् तिरश्चामपि मध्ये यो भवस्तस्मिन् वैतद्भवादनात्र भवज्जनानामेको भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे "नीचानुसन्धिर्भक्तिवर्द्धन" इति तिरश्चामित्युक्तं कुत्रापि जन्मास्तु तव भक्तिश्च भूयादिति एवमुक्तं श्रीनारदं प्रति जितन्तस्तोत्रे—यत्र कुत्र कुले वासो येषु केषु भवोऽस्तु मे। तव दास्यैकभावे स्यात् सदा सर्वत्र मे रतिः॥ इति॥ ३०॥

श्रीसुबोधिनी

यद्यप्येवम्भावनान्तःकरण उचिता तथापि भजनमार्गव्यतिरेकेण तच्छास्त्रव्यतिरेकेण च भगवन्माहात्म्यं न परिज्ञातं भवतीति केवलचिन्तनं तथा नोपयोगाय भगवदाविर्भावं सम्पादयति नापि प्रपञ्चनिवृत्तिमित्याहाथापीति, हे देव ते पदाम्बुजद्वय-

प्रसादलेशेनैवानुगृहीतो भगवन्महिम्नस्तत्त्वं जानाति बहूनां मध्य एकोपि चिरमपि विचिन्वन्नन्यो न जानाति तस्मादावश्यकत्वाल् लाघवाच्च भगवन्मार्गेणैव भगवान् सेव्यो नान्य इतिशास्त्रार्थान् मम भगवद्भक्तेषु जन्मास्त्विति प्रार्थयते तदस्तु मे नाथेति, हे नाथ, भक्तिमार्गानुसारेण सम्बोधनं, स भूरिभागो भवो मेस्तु अत्र गोकुलेन्यत्र वा, किं बहुना ? तिरश्चामपि मध्ये, येन भवने जन्मनाहमपि भवज्जनानां मध्य एको भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे, अन्यथा विजातीयैः सह भक्ता भजनं न कुर्वन्ति ॥ ३० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवम्विधज्ञानेनैव चेन्मोक्षो भवति तदा तत्र तत्र भक्तिः किमित्युद्घोषितेत्याशङ्क्याह—अथापीति। यद्यपि ज्ञानं सुलभमिवोक्तमथापि हे देव! नानाविधसृष्ट्यादिक्रीडापरस्य ते तव पदाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादलेशस्तेनानुगृहित एव पुमान् भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं जानाति अन्यस्त्वद्भक्तिहीनस्तु एकोऽपि निर्जने देशे एकाकी स्थितोऽपि चिरं बहुकालं विचिन्वन् अतदंशापवादेन शास्त्रबलेन विचारयन्नपि तन्नैव जानातीत्यन्वयः "भक्त्या मामभिजानन्ति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः" इति शास्त्रमत्र प्रमाणं सूचयति, हीति ॥ २९ ॥ स्वामिनस्तव दासे मय्यनुग्रह एव युक्त इत्याशयेन सम्बोधयति–नाथेति। यस्मात्त्वद्भक्तिहीनस्य न पुरुषार्थसिद्धिस्तत्तस्मादत्र भवे अस्मिन् ब्रह्मजन्मनि कर्मवशात्तिरश्चाम्पश्वादीनामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन्वापि जन्मनि स एव मे भूरिभागो महद्भाग्यमस्तु येन भाग्येनाहं भवज्जनानां मध्ये एको यः कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं नितरां सेवे इति ॥ ३० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अथापीति ॥ यद्यपि ज्ञानं सुलभमिवोक्तमथापि हे देव! ते तव पादाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादलेशस्तेनानुगृहीत एव पुमान् भगवतस्तव महिम्नस्तत्त्वं हे भगवन्निति संबुद्धिर्वा जानाति अन्यस्त्वद्भक्तिहीनस्तु एकोऽपि निर्जने देशे एकाकी स्थितोऽपि चिरं बहुकालं विचिन्वन् अतदंशापवादेन शास्त्रबलेन विचारयन्नपि तन्नैव जानाति ॥ २९ ॥ तदस्तु इति ॥ हे नाथ! यस्मात्त्वद्भक्तिहीनस्य न पुरुषार्थसिद्धिस्तत्तस्मादत्र भवे अस्मिन् ब्रह्मजन्मनि कर्मवशात्तिरश्चां पश्वादीनामपि मध्ये यज्जन्म तस्मिन्वापि जन्मनि स एव मे भूरिभागो महद्भाग्यमस्तु येन भाग्येनाहं भवज्जनानां मध्ये एको य कश्चिदपि भूत्वा तव पादपल्लवं नितरां सेवे ॥ ३० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यद्धरेरैकांतिकभक्तऋणित्वमुक्तं तस्य मनुष्यसदृशतया वर्त्तनेन निर्वृत्तिमाह प्रपंचमिति हे प्रभो प्रपन्नानां शरणागतानां जनतानां जनसमूहानां आनंदसंदोहं सुखपुंजं अनवधिकातिशयानंदमित्यर्थः प्रथितुं प्रथयितुं विस्तारयितुं निःप्रपंचोऽपि मनुष्यादिभावरहितोऽपि भूतले प्रपंचं पुत्रत्वशिष्यत्वबंधुत्वादिमनुष्यप्रभृतिभावं विडंबयसि अनुकरोषि पुत्रत्वादिभावेन तेभ्योतिशयानंदप्रदानत्वात्तवानृणित्वमिति भावः ॥ २९ ॥ संप्रति स्तुतिमुपसंहरन्नाह तव वैभवं योगैश्वर्यं मे मम मनआदीनां न गोचरं समग्रतया प्रत्यक्ष्यं न भवति ॥ ३० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

केचिदज्ञाः सन्तः संसरन्ति केचित्तु विवेकिनः सन्तः मामुपास्य तरन्ति इत्युक्तं कस्तर्हि विवेकाविवेकहेतुरिति चेदत्र भवदनुग्रहविशेषभावाभावावेवेत्यभिप्रायेणाह ॥ अथापीति ॥ अथापि यद्यपि केचिदज्ञाः संसरन्ति केचिद्विवेकिनः सन्तः तरन्ति तथापीत्यर्थः। हे देव, ते तव, पदाम्बुजद्वयस्य यः प्रसादलेशस्तेनानुगृहीतः पुमान् एव, प्रणत्यालम्बनस्य पदाम्बुजद्वयस्य तत्प्रसादमूलत्वादेवमुक्तिः। भगवन्महिम्नः भगवतस्तव महिम्नः, तत्त्वं याथात्म्यं, जानाति हि अन्यः अननुगृहीतस्तु, एकोऽपि निर्जनदेशस्थोऽपि, बहुकालमपि विचिन्वन् सन्नपि, न च नैव जानातीत्यर्थः ॥ २९ ॥ कस्तर्हि मदनुग्रहहेतुरित्यत्र त्वद्भक्तजनसंगतिविशेष एवेत्यभिप्रायंस्तमेवात्मनः प्रार्थयते ॥ तदस्त्विति ॥ तत्तस्मात् त्वदनुग्रहस्यैव विवेकहेतुत्वात्, हे नाथ स्वामिन्, येन भाग्येन, अहं, अत्र भवे चतुर्मुखजन्मनि, अन्यत्र तु वा मनुष्याणामेव जन्मनि वा, किं बहुना। तिरश्चां मध्ये वा, भवज्जनानां येन केनापि प्रकारेण त्वदाश्रिमुख्यार्हाणां जनानां मध्ये, एकोऽपि यः कश्चिदपि भुत्वा, तव पादपल्लवं निषेवे नितरां सेवे, तत्तथाविधः, सः भूरिभागः माहाभाग्यं, मे मम, अस्तु। मां भवज्जनान्तर्भूतत्वेनानुगृहाणेति भावः ॥ ३० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तदस्त्विति : १०.१४.३०.

भूभारक्षपणाय शेषशयनो नारायणोऽयं स्वयं यद्भूयोऽवतरिष्यतीह धरणौ तत्तत्प्रियार्थं सुराः।
यूयं यात सयोषितोऽचिरमिति प्राघोषयन्नप्यलं मोहान्नाभवमंशभागहमहो धिङ् मां हिततयागिनम् ॥ ३३ ॥
धिग् ज्ञानं मम नित्यवेदपठनं धिक् सत्यलोकस्थितिं वृद्धत्वं वयसोऽपि धिक् च धिगिमां सर्वज्ञताहङ्कृतिम्।
स्त्रीबालैरनुभूयतेऽक्षिभिरहो त्वद्रूपमेतद्वरं येनावेक्षि मया न जातु सकृदप्यर्वागितः सौख्यदम् ॥ ३४ ॥

कृष्णप्रिया

हे देव "निज भक्तजनों के हृदय कमल में नित्य दर्शन देने वाले दयानिधि" हे देव ! आप के स्वरूपज्ञान की महिमा ऐसी शक्तिशालिनी है जिससे संसार का नाश हो ही जाता है—लेकिन आप के कोमल चरण युगल कमलों का तनिक भी अनुग्रह-प्रसाद को जो भक्त जन पा लेता है वही आप की महिमा के महत्व को जान लेता है लेकिन कोई योग-याग-त्याग-वैराग्य-ज्ञान आदि साधनाभिमान से आप का चिरकालपर्यन्त कितना भी चिन्तन करता रहे फिर भी आप की महिमा को जान नहीं पाता ॥ २९ ॥ अब यही अभ्यर्थना है कि हे नाथ ? इस गोकुल में-व्रज में-वृन्दावन में-गोवर्धन जो की तरहटी में अथवा अन्य किसी भी स्थल में मुझे इस जन्म में दूसरे जन्म में-अथवा किसी क्षुद्र पशु-पक्षी आदि की योनि में "भूरिभागो भवो भवेत्" सेवोपयोगी बड़भाग जन्म मिले कि जिससे मैं आप के तदीय-तादृशजनों में से कोई एक सेवक बन कर आप के श्री चरणों की सदा सेवा कर सकूँ ॥ ३० ॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेऽद्यापि [1]न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विभो अद्य अपि यत्तृप्तये अध्वराः न च अलं अहो व्रजगोरमण्यः अति धन्याः यासां वत्सतरात्मजात्मना अतीव मुदा ते स्तन्यामृतं पीतम् ॥ ३१ ॥ नन्दगोपव्रजौकसाम् अहो भाग्यम् अहो भाग्यं यत् परमानन्दं पूर्णं सनातनं ब्रह्म मित्रम् ? ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देवादिजन्मनोऽपि यत्र कुत्रचित्त्वद्भक्तिमज्जन्मैव श्रेष्ठमित्यौत्सुक्येन सतभिः श्लोकैरभिनंदति अहोऽतिधन्या इत्यादिभिः। व्रजगोरमण्यः व्रजस्था गावो रमण्यो गोप्यश्च। ते त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सानामात्मजानां च रूपेण यस्य तव तृप्तये सर्वेऽपि यज्ञा अद्यापि नालं न शक्तास्तेन त्वया प्रतिक्षणं तृप्यता यासां स्तन्यममृतरूपं पीतमिति ॥ ३१ ॥ अहो इति पुनरुक्त्या भाग्यस्य सर्वथाऽपरिच्छिन्नत्वमुक्तम् ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यत्र कुत्र यस्मिन्कस्मिन्योनौ। ते त्वयेति। तृतीयैकवचनेप्यादेश आर्षः। किञ्च, त्वद्भक्तेष्वतिनिकृष्टस्य ममैतावत्येव प्रार्थना समुचिता, त्वत्प्रसादात्सा सफलीभूयात्। ये तु त्वद्भक्तेष्वतिप्रकृष्टास्तेषां त्वयि शुद्धवात्सल्यादिरतिभाजां पदवीं प्रार्थयितुमयोग्यास्मदादिभिरतिदुर्लभा केवलं स्तूयत एवेत्याह—अहोतिधन्या इति ॥ ननु भवेयं नाम सर्वपूर्णस्त्वयापि सेवितुमन्वेषणीयः, किन्तु भवान् परमेष्ठी मज्जनाश्चात्र गोपा गोरक्षका एव, तस्मात्कथंचिद्यादवासंग एव त्वत्प्राप्तुमर्हिष्यसीत्याशंक्य एषामेव महिमा सर्वतः पर इति तदेकदेशोदाहरणेन व्यंजयति, तेन च स्वाभिलाषं सूचयति—अहो इति। प्रथमत एव विस्मयवाचकप्रयोगोयमतीव विस्मयेन। अतिधन्याः कृतार्थतापरमकाष्ठां प्राप्ताः। कास्ताः—व्रजगोरमण्य इति। बहुत्वमन्यत्रैव कस्या अपि तथा भाग्यं दुर्लभमिति बोधयति। कथं धन्यास्तत्राह—हे विभो परिपूर्ण। ते त्वयापि यासां स्तन्यामृतं पीतम्। विभुत्वमेवाह—अथ कार्त्स्न्ये, सर्वेप्यध्वरा इत्यर्थः। ते यस्य तवाद्यापि वेदस्यानादित्वात्तद्विहितानामध्वराणामप्यनादिकालतोऽद्यपर्यंतं तृप्तये संतोषमात्राय नालम् न समर्थाः, परिपूर्णत्वादेवेति भावः। तथाभूतेनापि पीतम्, अन्यामृताशिनोऽपि यज्ञभागमात्रोपजीविनस्तत्तु (त्र) तत्र च तेषु च न सादरः। अहो किमिदममृतमिति भावः। तत्रापि स्तन्यमित्यनेन तादृशस्यापि तस्य तच्छरीरोद्भवरसविशेषास्वादनमिति। तथा पीतमित्यर्थवैशिष्ट्येन स्वयं स्वमुखेन चूषितमिति। तत्र चातीवेत्यनेनात्यंतमिति, तत्र च मुदेत्यनेन परमामोदपूर्वकमिति। तत्रापि वत्सवत्सपरूपेणेत्यनेन परमलोभेन कोटिधा भूत्वेत्येवमुत्तरोत्तरचमत्कारवैशिष्ट्यं बोधयति। न केवलमस्मिन् व्रजे तासामेव परमविशिष्टानां कादाचित्कमेवेदृशं भाग्यम्, न च कर्मकांडमात्रानुसारेण 'यत्तृतयेऽद्याप्यथ नालमध्वराः' इति यदेव भगवन्माहात्म्यं मद्विधचमत्कारकरम्, अपि तु तद्वासिमात्रेष्वेव नित्यमेव च किमपि तद्विराजते, ब्रह्मकांडानुसारेण भगवन्माहात्म्यमपि न तावन्मात्रतत्तायोग्यमित्यस्ति ॥ ३१ ॥ अपरिच्छिन्नत्वम् महत्त्वम्। परमानंदमित्यादिनदेनंदनन्दनस्य सर्वथा तारतम्यं, व्रजवासिनाञ्च पूर्वजन्मापादितसकलज्ञानसाधनीभूतयज्ञतपसां परमसाफल्यमस्यानंदमग्नो ब्रह्माभिनंदतीति ज्ञेयम्। अत्र

१. ऽद्याप्यथ नालमध्वरा—इति क्वचित्।

विश्वनाथः—रागात्मकवात्सल्यवतीं स्तुत्वा रागात्मकसख्यवतः स्तुवन्नाह अहो भाग्यमिति । इह वीप्साऽत्यानंदे । परमानंदमिति क्लीबत्वमार्षम्, तेन च "सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इति श्रुतिवाच्यं ब्रह्म सूचयति । परमपदेन कृष्णस्य तत्प्रतिष्ठाभूतत्वं, पूर्णपदेन ब्रह्मस्वरूपाणामंशावताराणां व्यावृत्तिः । एतादृशं ब्रह्म येषां श्रीदामादिबालकानां मित्रं सखा । मित्रत्वस्य तत्कालभवत्वं वारयति- सनातनं सार्वकालिकमिति । मित्रत्वस्य सार्वकालिकत्वेन श्रीदामादीनामपि सार्वकालिकत्वं ज्ञापितम् । 'अयं तूत्तमो ब्राह्मणः' इत्युक्ते ब्राह्मणस्यैवोत्तमत्वात्तद्विशिष्टोऽप्युत्तम इतिवदत्रापि मित्रत्वस्यैव सनातनत्वं विवक्षितं, तथा मित्रशब्दस्य बंधुमात्रवाचकत्वादेव व्याख्येयम् । श्रीमन्नन्दराजव्रजवासिमात्राणां पशुपक्षिपर्यंतानां सर्वेषामेवाहो भाग्यं, किं पुनर्नन्दस्य, तदीयगोपानां च । किं तत्; येषां वात्सल्यादिसर्वविधप्रेमवतां परमानन्दं ब्रह्म सनातनं मित्रं बन्धुः बंधुत्वोचितप्रीतिकर्त्तृ, वक्ष्यते च गोपैः—"दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम् नन्द ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ।।" इत्यत एषु व्रजवासिष्वौत्पत्तिकानुरागेयेव पूर्णं ब्रह्मत्वमर्थं आयातः । तेन परमानदमप्यानंदयन्ति व्रजवासिन इति ते सच्चिदानंदमया एव, अथ च परमविस्मयरसविषयीभूता इति ध्वनितम् ।। अतिशयांतरमपीति स्मरन्निव सचमत्कारमाह—अहो इति । अहो आश्चर्ये, भाग्यमनिर्वचनीयस्त्वत्प्रसादः, वीप्सातदतिशयिता प्रागल्भ्येन पुनः पुनश्चमत्कारावेशात् । ननु कथं प्रथमतश्चमत्कारमात्रं व्यंजयसि, येषां तत्तान् कथय तत्राह—श्रीमन्नन्दराजव्रजवासिमात्राणां पशुपक्षिपर्यंतानां, कथमाश्चर्यं कथं वा भाग्यं तत्राह—परमानंदम्, तदेव येषां मित्रं स्वाभाविकबंधुजनोचितप्रेमकर्तृ तादृशप्रेमविषयश्चेत्यर्थः तथा च वक्ष्यते च श्रीगोपैः—"दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्सर्वेषां नो व्रजौकसाम् । नंद ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ।।" इति । आनंदस्य क्लीबत्वं छान्दसम् । तेन च "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" इति श्रुतिवाच्यं तत्सूचयति । यत्र क्वाप्यानंद एव खलु तादृशप्रेमकर्त्तारो दृश्यंते न त्वानंदः कुत्रचित्, एष त्वानंदोऽपि तत्कर्त्ता तत्र च श्रुतिमात्रवेद्यत्वेन परमः खंडामृततारतम्यवत्स्वरूपत एवालौकिकमाधुर्यः, अत आश्चर्यं भाग्यं चेति भावः । अन्यदप्याश्चर्यमयमिदमित्याह—सनातनं, तत्तादृशमपि नित्यं, कस्य चित्सुखानंदोऽपि न नित्यो दृश्यते एषां तु तादृशोपि । पुनः कथंभूतं ब्रह्म—"अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म बृंहति बृंहयति च" इति श्रुतेः "बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च यद्ब्रह्म परमं विदुः" इति विष्णुपुराणाच्च बृहत्तमत्वेन ब्रह्मसंज्ञमपि "अथानंदास्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य 'ये ते शतम्' इति वारंवारं मनुष्यानन्दान्मर्त्यपर्यन्तानंदं दशधा शतशतगुणाधिक्येन गणयित्वा मत्तोऽपि शतगुणमानंदं परब्रह्मणः प्रोच्यापि संभ्रमेण "यतो वाचो निवर्त्तंते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इत्येनानंत्यं स्मृत्वा वाङ्मनसातीते सर्वतो बृहत्तमत्वेन श्रुतिभिर्गीतमपीत्यर्थः । तत आनंदस्यैतादृशत्वमेतादृशबृहत्तापि क्वचिन्मित्रत्वमिति भावः । न चैतावदेव पूर्णमप्यमृतं सौरभादिभिरिव स्वाभाविकगुणरूपैश्वर्यलीलामाधुरीभिः सर्वाभिरेव पूरितं सत् एतदपि कुत्रापि न दृष्टं श्रुतं, न च तादृशमित्रमित्यर्थः । अत्राऽपरोक्षेपि श्रीकृष्णे परोक्षवन्निर्देशः कौतुकविशेषाय । किञ्च, मित्रत्वमत्र विधेयं, परमानन्दत्वमनूद्यम्, ततश्चानूद्यधर्मा विधयवैशिष्ट्याय प्रयुज्यन्ते इति मित्रताया अपि तत्तद्द्वारा लभ्यन्ते । मनोरमं सुवर्णमिदं कुण्डलं जातमितिवत्प्रयुज्यते युज्यते चानूद्यस्य विधेयं तादात्म्यापन्नत्वेन विवक्षितत्वात् । तत्र च परमानंदत्वं पूर्णत्वं च तस्यासिद्धमेव तत्प्रेमरूपत्वात् । सनातनत्वमपि तस्य सनातनत्वात्, निरुपाधित्वेनोक्तत्वात् कालवैशिष्ट्यादिनिर्देशेन कालसामान्यलाभात्, अन्यत्र श्रीरुक्मिण्यादौ दृष्टत्वात्, एषामपि तथैव श्रुतितन्त्रादौ दृष्टत्वाच्च । एवं पूर्ववत् श्रीकृष्णस्य स्वभगवत्त्वमपि दर्शितं तथा निजाभिलाषस्य युक्तता चेति ।। ३२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, भवेयं नाम सर्वपूर्णस्त्वयापि सेवितुमन्वेषणीयः किं तु भवान् परमेष्ठी मज्जनाश्चात्र गोपा गोरक्षका एव तस्मात् कथञ्चिद्यादवादिसङ्ग एव तत्प्राप्तुर्महिष्यसीत्याशङ्क्य एषामेव महिमा सर्वतः पर इति तदेकदेशोदाहरणेन व्यञ्जयति, तेन च स्वाभिलाषं सूचयति । अहो इति । प्रथमत एव विस्मयवाचकप्रयोगोऽयमतीवविस्मयेन अतिधन्याः कृतार्थतापरमकाष्ठां प्राप्ताः के ते व्रजगोरमण्य इति रमणीशब्देन परमोत्कृष्टत्वं स्तन्यदानेन भगवत्सुखहेतुत्वं च व्यञ्जितम् बहुत्वमन्यत्रैकस्या अपि तथाभावं दुर्लभमिति बोधयति कथं धन्यास्तत्राह, हे विभो ! परिपूर्ण ! ते त्वयापि यासां स्तन्यामृतं पीतं विभुत्वमेव दर्शयति—अथ कार्त्स्न्ये सर्वेऽप्यध्वरा इत्यर्थः । ते यस्य तव अद्यापि वेदस्यानादित्वात् तद्विहितानामध्वराणामप्यनादित्वादनादिकालतो ऽद्य पर्यन्तं तृप्ते सन्तोषमात्राय नालं न समर्थाः परिपूर्णत्वादेवेति भावः । तथाभूतेनापि पीतमित्यनेन अन्यामृताशिनोपि यज्ञभागमात्रोपजीविनस्त्वं तु तत्र च तेषु च न सादरः तस्मादहो किमिदममृतमिति भावः । तत्रापि स्तन्य तादृशस्यापि तस्य तच्छरीरोद्भवरसविशेषास्वादनमिति तथा पीतमित्यर्थवैशिष्ट्यं न स्वयं श्रीमुखे चूषितमिति तत्र चातीवेत्यनेनात्यन्तमिति तत्र च मुदेत्यनेन परमानंदपूर्वकमिति तत्रापि वत्सरूपेणेत्यनेन परमलोभेन कोटिधाभूत्वेत्येवमुत्तरोत्तरचमत्कारवैशिष्ट्यं बोधयति ।। ३१ ।। किञ्च, न केवलमस्मिन् व्रजे तासामेव परमविशिष्टानां कादाचित्कमेवेदृशं भाग्यं न च कर्मकाण्डमात्रानुसारेण "यत्तृप्तयेऽद्याप्यथ नालमध्वरा इति यदेव भवन्माहात्म्यं मद्विधचमत्कारकरम् अपि तु तद्वासिमात्रेष्वेव नित्यमेव च किमपि तद्विराजते ब्रह्मकाण्डानुसारेण भवन्माहात्म्यमपि न तावन्मात्रतायोग्यमित्यस्त्यतिशयान्तरमपीति स्मरन्निव पुनरतीव सचमत्कारमाह—अहो इति । अहो आश्चर्ये भाग्यमनिर्वचनीयस्तत्प्रसादः वीप्सा तदतिशयितप्रागल्भ्येन पुनः पुनश्चमत्काराऽऽवेशात् ननु, कथं प्रथमतश्चमत्कारमात्रं व्यञ्जयसि येषां तद् तान्

कथय ? तत्राह, श्रीमन्नन्दराजव्रजवासिमात्राणां पशुपक्षिपर्यन्तानां कथमाश्चर्यं कथं वा भाग्यं तत्राह, परमानंन्दं यत् तदेव येषां मित्रं स्वाभाविकबन्धुजनोचितप्रेमकर्तृ तादृशप्रेमविषयश्चेत्यर्थः। तथा च वक्ष्यते श्रीगोपैः "दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्। नन्द ! ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्" इति आनन्दस्य क्लीवत्वं छान्दसं तेन च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिवाच्यं तत्सूचयति, यत्र क्वाप्यानन्द एव खलु सर्वे तादृशप्रेमकर्त्तारो दृश्यन्ते न त्वानन्दः कुत्रचित् एषु त्वानन्दोऽपि तत्कर्त्ता तत्र च श्रुतिमात्रवेद्यत्वेन परमः खण्डामृततारतम्यवत् स्वरूपत एवालौकिकमाधुर्यः अत आश्चर्यं भाग्यं चेति भावः। अन्यदप्याश्चर्यमयमिदमित्याह—सनातनं तत्तादृशमपि नित्यं कस्यचित्क्षद्रानन्दोऽपि न नित्यो दृश्यते एषां तु तादृशोऽपीति पुनः कथम्भूतम् "अथ कस्मादुच्यते ब्रह्म बृंहति बृंहयति च" इति श्रुतेः। "बृहत्वाद्बृंहणत्वाच्च यद्ब्रह्म परमं विदुः" इति विष्णुपुराणाच्च बृहत्तमत्वेन ब्रह्म सञ्ज्ञमपि "अथानन्दस्य मीमांसा भवति" इत्यारभ्य "ते ये शतम्" इति वारं वारं मनुष्यानन्दान्मत्पर्यन्तानन्दं दशधा शतशतगुणाधिक्येन गणयित्वा मत्तोऽपि शतगुणमानन्दं परब्रह्मणः प्रोच्यापि सम्भ्रमेण "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इत्यनेनानन्त्यं स्मृत्वा वाङ्मनसातीतेन सर्वतो बृहत्तमत्वेन श्रुतिभिर्गीतमपीत्यर्थः। तत आनन्दस्यैतादृशत्वमेतादृशबृंहतां ऽप्यनेन मित्रत्वं क्वचित् दृष्टमिति भावः। न चैतावदेव किं तर्हि पूर्णमपि अमृतं सौरभ्यादिभिरिव स्वाभाविकरूपगुणलीलैश्वर्यमाधुरीभिः सर्वाभिरेव पूरितं सत् एतदपि कुत्रापि न दृष्टं श्रुतं न च तादृशं मित्रमित्यर्थः अत्रापरोक्षेऽपि श्रीकृष्णे परोक्षवन्निर्देशः कौतुकविशेषाय। किञ्च, मित्रत्वमत्र विधेयं परमानन्दमनूद्यं ततश्चानूद्यधर्मविधेयवैशिष्ट्याय प्रयुज्यन्त इति मित्रताया अपि तत्तद्भावो लभ्यते मनोरमं सुवर्णमिदं कुण्डलं जातमितिवत् युज्यते च अनूद्यस्य विधेय तादात्म्यापन्नत्वेन विवक्षितत्वात् तत्र परमानन्दत्वं पूर्णत्वं च तस्याः सिद्धमेव, तत्प्रेमरूपत्वात् सनातनत्वमपि तस्य सनातनत्वात् निरुपाधिकत्वेनोक्तत्वात् कालवैशिष्ट्यानिर्देशेन कालसामान्यलाभात् अन्यत्र श्रीरुक्मिण्यादौ दृष्टत्वात् एषामपि तथैव श्रुतितन्त्रादौ दृष्टत्वाच्च एवं पूर्ववत् श्रीकृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वमपि दर्शितं तथा निजाभिलाषस्य युक्तता चेति ॥ ३२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्र च श्रीनन्दव्रजजनैः सदृशीं भक्तिं तेषां पादपल्लवनिषेवां वा प्रार्थये इत्याशयेन, तथा 'मधुरेण समापयेत्' इति न्यायेन, तथा भगवतः प्रियजनानां माहात्म्यवर्णनमेव तस्य परमास्तुतिरित्यभिप्रायेण च तानभिनन्दति—अहोऽतीति दशभिः। अहो आश्चर्ये, अथेति मांगल्ये। अतिधन्याः कृतार्थतापरमकाष्ठां गता इत्यर्थः। रमयन्ति स्तनदानेन त्वां तर्पयन्तीति रमण्यः। यस्य तव तृप्तये तुष्टये। विभो हे सर्वथाऽपरिपूर्ण ! तथापि पीतम्, तच्चातीवात्यन्तम्, तत्र च मुदा, तत्रापि वत्स वत्सरूपेण साक्षात्त्वया पीतमित्यतीत-निर्देशो भगवता तत्तन्निजरूप-सम्वरणात्, अद्यापीति पूर्वतोऽद्यपर्य्यन्तमित्यर्थः, यद्वा, सम्प्रति बाल्ये प्रकटितेऽपि ॥ ३१ ॥ न केवलं स्तन्यदायिन्यस्ता एव धन्याः, किन्तु श्रीनन्दादयः सर्वेऽपि व्रजवासिनोऽतिधन्या इत्याह—अहो इति वीप्सा परमहर्षेण, भाग्यातिशयाभिप्रायेण वा। नन्दगोपस्य व्रज ओको निवासो येषाम्, यद्वा, नन्दश्च गोपाश्चान्ये च व्रजौकसः पशुपक्ष्यादयः सर्वे तेषाम्, किं वक्तव्यं नन्दस्य भाग्यम्, अहो गोपानामपि सर्वेषां परमभाग्यमित्येवमत्र कैमुतिकन्यायोऽवतार्य्यः— येषां मित्रं बन्धुस्त्वम्। तत्र च परम-आनन्दो यस्मादिति कदाचित् शोकदुःखादिकं सुखाल्पत्वञ्च निरस्तम्; पूर्णमिति प्रत्युपकारापेक्षकत्वादिकम्; ब्रह्म व्यापकमिति कुत्रचिदलभ्यत्वम्, सनातनं नित्यमिति कदाचिदप्यप्राप्यत्वम्। यद्वा, पूर्णं ब्रह्म त्वं येषां मित्रं सनातनं नित्यमित्रतयैव नित्यं वर्त्तमानमित्यर्थः। न केवलमापत्त्राणादिकरम्, किन्तु परमानन्दप्रदं चेत्याह—परमानन्दं परमानन्दस्वरूपम्, यद्वा, आनन्दयतीत्यानन्दं परं केवलम्, मित्रम्, न त्वीश्वरादिरूपम्, प्रेमविशेषहान्यापत्तेः, यद्वा, पूर्णः ब्रह्मापि त्वमेव नन्दगोपव्रजौकस एव मित्राणि यस्य, तथाभूतमसि, नपुंसकत्वं ब्रह्मविशेषणत्वात्, श्रीभगवत्प्रियतमानामपि श्रीराधादीनां माहात्म्यम्, तदानीं बाल्ये तद्रसाप्रवृत्तेः किं वा पुत्रत्वादिना लज्जातः परमगोप्यत्वाद्वा व्यक्तं न वर्णितम् ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

एवं सर्वशास्त्रप्रमाणकं प्रपत्तिवैभवं प्रख्याप्य प्रपत्तिमतां श्रीभगवान् वशीकृतोऽतिसुलभो भवतीत्याह—अहो इति। अहो इत्याश्चर्ये अतिधन्या इति अत्यन्तं धन्याः द्वाभ्यां धन्याश्चर्योपाख्यानं हरिवंशस्थं स्मारितं व्रजस्था गावः रमण्यः गोप्यः कुतो धन्या अत आह, हे विभो ! चिदचिद्व्यापक ! ते त्वया वत्सतराणां शरीरधारकेण गवां गाप्यात्मजशरीरेण च गोपीनां स्तन्यामृतं दुग्धरूपममृतं अतीव मुदा महताऽऽनन्देन पीतं यत्तृप्तये यस्य तव तृप्तये अध्वराः अग्निष्टोमादयोऽश्वमेधान्ताः अद्यापि अलं समर्था न भवन्ति श्रीभगवद्वशयितृत्वं प्रपत्तेरसाधारणं लक्षणम् ॥ ३१ ॥ अथ यत्तत्वं ममापि दुर्लभं दुर्ज्ञेयं तदेषां सुलभं सुज्ञेयं स्वरूपरूपगुणविभूत्यादिकमभूदिति सरोमाञ्चाश्रु प्राह—अहो भाग्यमहोभाग्यम् इति। पुनरुक्त्या भाग्यापरिच्छेद्यत्वम् उक्त नन्दगोपसम्बन्धिव्रजवासिनाम् अथवा नन्दश्च गोपाश्च व्रजवासिनश्च वृक्षभूमिलतागिर्य्यादयः तेषामहो आश्चर्यं महद्भाग्यमिति यन्मित्रं शरणागतिवशीकृतमित्यर्थः। मित्रपदं श्रीरामायणे शरणागतिभावद्योतकम् उक्तं श्रीरामचन्द्रेण विभीषणं प्रति—

"मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्" ॥ इति।

श्रीकृष्णचन्द्रोऽप्यग्रे वक्ष्यति "तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः" इति परिग्रहः भार्येति भार्या मित्रमिति न्यायात् अतः शरणागतिवशितः सः सुलभत्वेन येषां सर्वतो हितकारीति तच्च परमानन्द-विषयप्रयोजनेन मैत्रीभङ्गरहितम् एतच्चान्तर्धानानन्तरम् इति रहस्यं यद्यपि गोचारणादिना श्रीकृष्णविश्लेषदुःखं गोपादीनाम् अस्ति, तथापि "वियोगे तन्मयं जगत्" इति न्यायेन तच्चिन्तनात्साक्षाद्दर्शनादानन्दप्राप्त्या सुखमेव प्राकृतमित्रे तु न तथेति विभा-व्यम्, एवं पूर्णत्वब्रह्मत्वव्यापकत्वज्ञानेन मथुराद्वारकावासिन्यपि तस्मिन्तेषां विश्लेषदुःखं नाऽभूदेव एवञ्च प्राकृतमित्रव्यवच्छेदः तच्च सनातनं परव्योमाधिपश्रीमतो नारायणभगवत एव स्वामिनः लीलाविभूतौ स्वेच्छयाविर्भावात् सनातनत्वमनादित्वम् ॥३२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चतुर्मुखजन्मतोऽपि यत्र क्वचित्त्वज्जनसङ्गिजन्मैव श्रेय इत्यौत्सुक्येन नन्दगोपगोपिकादीनभिनन्दति—सप्तभिः अहो इति। व्रजस्य गावो रमण्यो गोप्यश्चातिधन्याः कुतः ? इत्यत्र ता विशिनष्टि, यासां व्रजगोरमणीनां स्तन्यामृतं वत्सरूपेणाऽऽत्म-रूपेण च त्वयातीव पीतं यस्य विभोस्तव तृप्तयेऽध्वराः सर्वे यज्ञाश्च नालं न पर्याप्तास्तेन त्वयेत्यन्वयः ॥ ३१ ॥ नन्दादीनां भाग्य-महो कुतः ? यद्यतः निरतिशयानन्दं सर्वव्यापकं सनातनं ब्रह्म मित्रमभूत् ॥ ३२ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

तदेवोपपादयति—अहो इति। अहो इति हर्षे व्रजगोरमण्यः नन्दव्रजगावो गोपिकाश्चातिधन्याः अस्माभिरपि अतिशयेन श्लाघ्याः कथमित्युक्ते। हे विभो, निरुपाधिकस्वामिन् ! यासां स्तन्यामृतं दुग्धामृतं ते त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सतररूपेणात्मज-रूपेण चातीव मुदा अतिहर्षेण तृष्णापूर्वकमिति यावत् पीतं उपयुक्तं यत्तृप्तये यस्य तव प्रीणनाय अद्यापि मज्जन्मारभ्य अद्य पर्यन्तम् अध्वरा यज्ञा मद्यज्ञमारभ्य सर्वैः कृतामखा न चालं न समर्था इत्यर्थः। ननु, देवादिभिर्भगवदाराधनरूपे यज्ञे आहूतो विष्णुराया-त्येव स्वभागार्थमिति कथमुच्यते नालमिति चेत्सत्यम्, यद्यपि सर्वकर्मफलप्रदो विष्णुस्तत्तत्फलदानार्थमायाति स्वपूजां गृह्णाति तथापि तत्र अतितृप्तिरलंबुद्धिर्न जाता इति द्रष्टव्यं लोके प्रसिद्धमिति भावः ॥ ३१ ॥ किञ्च, चतुर्मुखेन मयाऽप्येतेषां भाग्यमहिमा वर्णयितुमशक्य इत्यत्यादरेणाभिनन्दतीत्याह—अहो भाग्यमिति। नन्दगोपव्रजौकसाम् अहो भाग्यम् इत्यत्यादरे वीप्सा कथमित्युक्ते यद्येषां मित्रं ब्रह्म आसीदिति शेषः। ननु, परस्परोपकारकत्वं मित्रत्वमिति तेषामुपकारापेक्षया मित्रं किमिति नहि नहीत्याह-परमानन्दमिति। परमानन्दसन्दोहं यद् ब्रह्म तदेव निरपेक्षमेवेत्यर्थः। ननु, परमानन्दसन्दोहो मुक्तोऽपि भवतीति स एव किमिति चेन्न, सनातन पूर्णमिति सदापूर्णं मुक्तस्य बद्धावस्थायां न्यूनानन्दो जातः अस्य तु सदा स्वतः पूर्णत्वमिति भावः। तथाचोक्तं संवित्सिद्धौ—

> "तथा सुरासुरनरब्रह्माण्डशतकोटयः। क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः ॥
> ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः। विष्णोर्विभूतिमहिमसमुद्र इव बिन्दवः" ॥ इति

श्रीयामुनाचार्यचरणैः ॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

के ते भवत्साहित्ययोग्या मज्जनाः ? इत्याशङ्क्य तानेव व्यञ्जयितुमाह—अहो इति। यद्वा, अहो इति न केवलमत्र तासामेवेदृ (दृशं) शं भाग्यं तच्च तद्वत् कादाचित्कमेव नच यत्तृप्तये इति यदेव भवन्माहात्म्यम् अपि तु तद्वासिमात्रेष्वेव नित्यमेव च किमपि तद्विराजते ॥ ३१ ॥ भवन्माहात्म्यमपि न तादृशतायोग्यमित्यस्ति अतिशयान्तरमपीति स्मरन्निव पुनरतीव चमत्कार-माह—अहो इति। अहो आश्चर्ये भाग्यमनिर्वचनीयस्तत्प्रसादः वीप्सा तदतिशयताप्रागल्भ्येन पुनः पुनश्चमत्कारावेशात् केषां तत्राह नन्दगोपव्रजौकसां व्रजरथमात्राणां पशुपक्षिपर्यन्तानां किं तत् येषां परमानन्दं मित्रं स्वाभाविकबन्धुजनोचितप्रेमकर्तृ क्लीबत्वं छान्दसं तेन च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिवाच्यं तत् सूचयति, यत्किञ्चिदानन्द एव खलु सर्वे तादृशप्रेमकर्त्तारो दृश्यन्ते नत्वानन्दः कुत्रचित् एषु त्वानन्द एव तत्कर्त्ता। तत्र च श्रुतिमात्रवेद्यत्वेन परमखण्डाऽमृततारतम्यवत् स्वरूपत एवालौकिकमाधुर्यत् न चैतावदेव किं तत् पूर्वमपि अमृतं सौरभ्यादिरिव स स्वरूपतो गुणलीलैश्वर्ये माधुरीभिः सर्वाभिरेवामर्यादमेव सत् एतदर्थ कुत्रापि न दृष्टं श्रुतञ्च न च तादृशं मित्रमित्यर्थः पुनः कथम्भूतमपि ब्रह्म आनन्दानन्त्येन सर्वतो बृहदपि आनन्दस्य तादृशबृहत्त्व तादृशबृहतोऽप्यन्येन मित्रत्वं क्व दृष्टमिति भावः। अन्यदप्याश्चर्यमिदमित्याह, सनातनं तत्तादृशमपि नित्यं कस्यचित् क्षुद्रानन्दोऽपि न नित्यो दृश्यते एषान्तु तादृशोऽपीति ॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ननु त्वं ब्रह्माण्डाधिकारी जगत्कर्ता, कथं मज्जनानां मध्ये यः कश्चिदपि भवितुमभिलषसि ? मैवं वादीः। भवज्जनानां यथा सौभाग्यं तथा न केषामपीति संश्लाघ्य तानभिनन्दति-अहोऽतिधन्या इत्यादि। अहो अहो आश्चर्यम् सन्धिरार्षः। व्रजरमण्यो

गोरमण्यो धेनवश्चातिधन्याः। कुतः ? यासामुभयीषां वत्सतरात्मजात्मनेति यथायोगं योजनीयम्। गोरमणीनां वत्सतरात्मना व्रजरमणीनामात्मजात्मना ते तया स्तन्यामृतं पीतमतीव मुदा अत्यन्तहर्षेण। ननु मम यथा तथैव हर्षो भवति, स्तन्यामृतपानाद् यद् भविष्यति तत् किम् ? नैवम्, यत्तृप्तयेऽद्यापि अध्वरा नालं न समर्थाः, तस्मादासां भाग्यातिशयं किं क्रम इति ॥ ३१ ॥ नन्वस्तु तावदासां भाग्यम्, तवानेन किमायातम् ? भवज्जनानां मध्ये एकोऽपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे इति यदुक्तं तत्रेदं नोपयुज्यते ? सत्यम्, अहन्तु व्रजौकसां मध्ये यः कश्चिदपि भूयासमिति व्रजौको मात्रमेव स्तौमीत्याह—अहो भाग्यमहो भाग्यमित्यादि। अतिशयविस्मये वीप्सा। यद् येषां नन्दगोपव्रजौकसां पूर्णं ब्रह्म श्रीकृष्णस्तत्रं मित्रं सुहृद्विग्रहतया पूर्णं घनमतः सनातनं परम आनन्दो यत्र, अथवा, सनातनं मित्रम्, न ह्रीदानीन्तनमेव अपि तु त्रैकालिकमेतेषामपि त्रिकालसिद्धत्वात् ॥ ३२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तेषामेव साधुवादं करोति अहो इत्यादि बहुभिः ॥ ३१ ॥ पूर्णं ब्रह्म विग्रहत्वात् पूर्णं ब्रह्म श्रीकृष्णः, पूर्णं ब्रह्मपरं ब्रह्मेत्यादि श्रीकृष्णपरमेव। परमप्रेमास्पदरूपत्वाद् वा पूर्णत्वम्, परमो ब्रह्मानन्दादपि परस्यानन्दो यस्मात्तथा तत् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किं च तत्र त्वद्भक्तेष्वतिनिकृष्टस्य—ममैतावत्येव प्रार्थना समुचिता त्वत्प्रसादात् फलवती भूयात् ये तु त्वद्भक्तेष्वतिप्रकृष्टास्तेषां त्वयि शुद्धवात्सल्यादिरतिभाजां पदवीं प्रार्थयितुमयोग्या अस्मदादिभिरतिदुर्लभा केवलं स्तूयते एवेत्याह—अहो इति द्वाभ्याम्। व्रजस्था गावो रमण्यो गोप्यश्च अतिधन्यास्तत्राप्यहो इत्याश्चर्याभिधायकपदेन वाङ्मनसाऽगोचरश्चमत्कारातिशयो व्यञ्जितः तमेवाह—ते त्वया सच्चिदानन्दस्वरूपेणापि यासां स्तन्यं देहैकावयवस्तनोद्भवम् अमृतं पीतं तत्रापि मुदा तत्राप्यतीवेति पुनः पुनः पानेऽपि मुदः प्रतिक्षणवर्द्धिष्णुत्वमेव तत्रापि गवां वत्सतरात्मनेति दोहनादिव्यवधानस्यासह्यत्वं गोपीनामात्मजात्मनेत्यन्यथा तत्प्राप्त्यभावः तत्रापि विभो ! इत्यतिलोभात् स्वस्य बहुस्वरूपीकरणेनेति तासां मध्ये एकस्या अप्येकस्तनोत्थो रसोऽपि त्वया त्यक्तुमशक्य इत्यानन्दमात्रस्वरूपस्य तवाप्यानन्दकत्वात्तासां वपुषः सच्चिदानन्दत्वे के नाम संशेरते इति भावः। यस्य तव तृप्तये "तृप प्रीणने" यं त्वां प्रीणयितुमित्यर्थः अद्यापि। अनादिकालतः प्रवृत्ता अद्यपर्य्यन्ता अपि सर्वेऽपि यज्ञा अस्मदादिकृता मन्त्रा अनुष्ठानपावित्र्याद्यविकला अपि नालं न समर्थाः ॥ ३१ ॥ रागात्मकवात्सल्यप्रेमवतीः स्तुत्वा रागात्मकसख्यप्रेमवतः स्तुवन्नेव तन्त्रेण वात्सल्यादिसर्वरतिमतोऽप्युपश्लोकयति—अहो भाग्यमहोभाग्यमिति। वीप्सा अत्यानन्दचमत्कारेण परमानन्दमिति क्लीवत्वमार्षं तेन च "सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिवाच्यं ब्रह्म सूचयति—परमपदेन श्रीकृष्णस्य तत्प्रतिष्ठाभूतत्वं पूर्णपदेन ब्रह्मस्वरूपाणामंशावताराणां व्यावृत्तिः एतादृशं ब्रह्म येषां श्रीदामादिबालकानां मित्रं सखा मित्रत्वस्य तत्कालभवत्वं वारयन् विशिनष्टि, सनातनं सर्वकालिकमिति मित्रत्वस्य सार्वकालिकत्वे न श्रीदामादीनामपि सार्वकालिकत्वं ज्ञापितम् अयं तूत्तमो ब्राह्मण इत्युक्ते ब्राह्मण्यस्यैवोत्तमत्वात्तद्विशिष्टोऽप्युत्तम इतिवदत्रापि मित्रत्वस्यैव सनातनत्वं विवक्षितं तथा मित्रशब्दस्य बन्धुमात्रवाचकत्वादेवं च व्याख्येयं श्रीमन्नन्दराजव्रजवासिमात्राणां पशुपक्षिपर्य्यन्तानां सर्वेषामेवाहो भाग्यमहो भाग्यं किं पुनर्नन्दस्य तस्य तदीयगोपानां च किं तत् येषां वात्सल्यादिसर्वविधप्रेमवतां परमानन्दं ब्रह्म सनातनं मित्रं बन्धुः बन्धुत्वोचितप्रीतिकर्तृ यद्वक्ष्यते गोपैः "दुरत्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम्। नन्द ! ते तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम्" इत्यत एव व्रजवासिष्वौत्पत्तिकानुराग्येव पूर्णं ब्रह्मेत्यर्थं आयातः तेन परमानन्दमप्यानन्दयन्ति व्रजवासिन इति। सच्चिदानन्दमया एवाऽथ च परमविस्मयरसविषयीभूता इति ध्वनितम् ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्रापि भगवदन्यभक्तगोगोप्यादिपादरेणुरञ्जिते व्रजे किमपि जन्म मे भवत्विति प्रार्थयितुमाह—अहो इत्यादि। ते त्वया यद्यस्य ॥ ३१ ॥ यत् येषां पूर्णं ब्रह्म सनातनम् मित्रम् मिन्दयत्तेष्टार्थानिति मित्रं मिन्देर्धातो रूपम् मिनुते मानं करोतीति मित्रम् मानार्थस्य मिनुतेर्वा मोदतेऽस्य सुखेनेत्यर्थस्य मोदतेर्वा ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

त्वत्परिकराणां पदवी त्वस्माकं सुदुर्लभा केवलं स्तूयत एवेत्याह—अहो इति द्वाभ्याम्। व्रजस्था गावो रमण्यश्च गोपाः अतिधन्यास्तत्राप्यहो इत्यनिर्वाच्या तद्धन्यतेत्यर्थः। तामेवाह, हे विभो ! यासां स्तन्यामृतं ते त्वया चिद्घनेन पूर्णेनाप्यतीव मुदा पीतं वत्सतरात्मजात्मना वत्सबालवपुषेत्यर्थः। तथा च तवेव तासामपि चिद्घनानां स्तन्यञ्च रसरूपमेव गन्धादिवत्भुक्तमिति न त्वसारांशसंभावनेति ध्वन्यते यस्य तव तृप्तये अद्याप्यनादिकालतः प्रवृत्ता इदानीं पर्यन्ता अध्वरा यज्ञा अस्मदाद्यनुष्ठिताः साङ्गा अपि नालं न समर्था भवन्ति ॥ ३१ ॥ अहो भाग्यमित्यानन्दचमत्कारादत्यादराद्वीप्सा नन्दगोपस्य नन्दाभिधानस्य भूपतेर्व्रजौकसां भाग्यमहो आश्चर्यं वीप्सया अत्याश्चर्यमित्यर्थः। कथमित्यत्राह—यदिति। पूर्णं स्वयं भगवत् परमानन्दं ब्रह्म येषां मित्रमिति

परमानन्दमिति क्लीबत्वमार्षं तेन "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुत्युक्तं तत् सूच्यते मित्रतायास्तात्कालिकतां वारयितुं सनातनमिति सार्वदिकमित्यर्थः। तथा च तद्व्रजौकसामपि सनातनत्वमुक्तं न च ब्रह्म सनातनमितिसम्बन्धः पूर्णत्वेनैव ब्रह्मणस्तत्त्वलाभात् तस्मान्मित्रं सनातनमिति सम्बध्यते 'अयमुत्तमः पण्डित' इत्यत्र यथा पाण्डित्यस्यैवोत्तमत्वं तथा मित्रत्वस्य सनातनत्वमिह विधीयते मिदेरधिकरणे कर्त्तरि च प्रत्ययान्मिथो मित्रत्वमभिमतं "दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्" इत्यादिवक्ष्यमाणाच्च व्रजौकसां तिर्यगन्तानां भावेषु मैत्री सङ्क्रमस्तद्धूर्त्तस्वभावाद् हरेस्तेषु सा तु तद्भावानुसारादितिबोध्यम्॥ ३२॥

श्रीसुबोधिनी

एवं स्वप्रार्थनामुक्त्वा गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दत्यहो इति, व्रजे स्थिता गावो रमण्यश्च धन्याः, यतस्ते त्वया स्तन्यामृतं पीतमत्यर्थं सन्तोषपूर्वकं च, तत्र प्रकारमाह, यासां गोरमणीनां वत्सतरात्मनात्मजात्मना च, विभो सर्वभवनसमर्थ, कथमेतावता भाग्यमित्याशङ्क्याह यत्तृप्तय इति, यस्य भगवतस्तृप्तयेद्यापि अध्वरा यागा नालं न समर्थाः॥ ३१॥ किञ्च न केवलमेतावन्मात्रमेव किन्त्वन्यदपि करोतीत्याहाहोभाग्यमिति, पूर्वकाण्डस्याप्रयोजकता स्वतः स्तनपानेनैव कृता, उत्तरकाण्डस्याप्रयोजकतां कृतवानित्युच्यते यद् ब्रह्म मित्रमिति, ब्रह्म हि सर्वसमं मित्रं हि विषमं हिताचरणादहितादिदूरीकरणाच्च, भगवांस्तु ब्रह्मापि संस्तेषां मित्रं जातस्तत्प्रतिपक्षान् हन्ति तांश्च सर्वतः परिपालयतीति, अहोभाग्यमहोभाग्यमितिवीप्सया पुनःपुनर्भाग्यस्मरणं ज्ञापयति, नन्दगोपस्य व्रजे ये तिष्ठन्ति तेषां सर्वेषामेव, अथवादौ नन्दस्य भाग्याभिनन्दनं ततो गोपानां ततो व्रजौकसामितिक्रमोपपत्तिः स्पष्टैव, किञ्च नोपकारेणैव तेषां कृतार्थता किन्तु स्वयमानन्दरूपः फलात्मा स्वरूपानुभवं कारयति, तदाह परमानन्दं पूर्णं सनातनमिति, अनित्यपरिच्छेदरहितो ह्यानन्दः फलमिति॥ ३२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

स्वतोऽपि व्रजभक्तानामुत्कर्षमालक्ष्य तानभिनन्दति—अहो इति सार्द्धाभ्याम्। व्रजस्था गावो, रमण्यो गोप्यश्चातिधन्या अतिकृतार्थाः। तत्रापि 'अहो' इत्याश्चर्याभिधायकपदेन तासां कृतार्थताया वाङ्मनसागोचरत्वं सूचयति। 'कुत एवम्?' इत्यपेक्षायामाह—यतस्ते त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सानामात्मजानां बालानां च स्वरूपेण यासां गोगोपीनां स्तन्यं दुग्धं अमृतवत् स्वादु मत्वा अतीव अत्यर्थं सन्तोषपूर्वकं मुदा हर्षेण स्वाग्रहेण पीतमिति। ननु 'कथमेवं मत्कर्तृकदुग्धपानमात्रेण तासां कृतार्थता?' इत्यत आह—यदिति। यस्य परमपुरुषस्य तव तृप्तयेऽद्यापि अनादिकालतः प्रवृत्ता अद्यपर्यन्तमपि सर्वेऽप्यध्वरा यज्ञाः नालं समर्था न जाताः, तस्य तव यासां दुग्धपानेन तृप्तिर्जाता तासां कृतार्थतायां कः सन्देह इत्यर्थः। यज्ञैरतृप्त्यभावे महत्त्वं हेतुं सूचयन् सम्बोधयति - विभो इति॥ ३१॥ एवं वेदपूर्वकाण्डार्थसम्पत्त्या तेषां कृतार्थता उक्ता, इदानीमुत्तरकाण्डार्थसम्पत्त्याऽपि तेषां कृतार्थतामाह - अहो भाग्यमिति। नन्दगोपस्य यो व्रजस्तदोकसां सर्वेषां 'अहो भाग्यमहो भाग्यम्' इति पुनरुक्त्या तेषां भाग्यस्य सर्वथा परिच्छिन्नत्व सूचयति। तत्र हेतुमाह—यदिति। पूर्णं ब्रह्म येषां मित्रं मित्रतया वर्तते। 'परमानन्दम्' इति फलरूपत्वमुक्तम्। क्लीबत्वमार्षम्। 'पूर्णम्' इत्यंशत्वव्यावृत्तिः। 'सनातनम्' इति जन्मादिविकारराहित्यम्। अत्र परं ब्रह्म हि सर्वसमं भवति मित्रत्वं च हिताचरणादि; तद्दूरीकरणादिरूपं वैषम्यम्। तथाच येषां प्रेमवशात् स्वभावमपि साम्यं परित्यज्य विषमतया वर्तते, तेषां भाग्यमहिमा केन वक्तुं शक्यते इति भावः॥ ३२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अहो इति॥ हे विभो! यस्य तव तृप्तयेऽद्यापि अनादिकालतः प्रवृत्ता अद्यपर्यन्तमपि सर्वेऽप्यध्वरा यज्ञा नालं न समर्था जाताः। तेन ते त्वया वत्सतरात्मजात्मना वत्सतराणामात्मनां बालानां च स्वरूपेण यासां गोगोपीनां स्तन्यं दुग्धम् अमृतमिव स्वादु अतीव अत्यर्थं संतोषपूर्वकं मुदा हर्षेण स्वाग्रहेण पीतम्। अहो! ताः व्रजस्थाः गावो रमण्यो गोप्यश्चाहो अतिधन्या अतिकृतार्थाः। सन्धिरार्षः॥ ३१॥ अहो भाग्यमिति॥ परमानन्दं क्लैब्यमार्षं पूर्णं सनातनं ब्रह्म यन्मित्रं येषां मित्रतया वर्त्तते तेषां नन्दगोपस्य यो व्रजस्तदोकसां सर्वेषामहो॥ ३२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं स्वमहत्त्वं परित्यज्य आह हे कृष्ण मामनुजानीहि स्वस्थानं यातुमाज्ञां कुरु सर्वं मत्कृतवत्सहरणादिसमग्रं वेत्सि जगतां अनंतं कोटिब्रह्मांडानां नाथः स्वामी त्वं जगत् मत्कृतविश्वं एतत् मद्घृतवत्सपादि च तवार्पितं तुभ्यं दत्तं॥ ३१॥ एवं भगवता प्रस्थापितः सत्वत्यादरेण तं नमस्कुर्वन् स्तुतिमाह श्रीकृष्णेति यदुकुलकमलहर्षदायित्वात् हे भानूपम क्ष्माभूश्च निर्जरा अमराश्च द्विजा विप्राश्च पशवो गवादयश्च उदधिः समुद्रश्च तेषां वृद्धिकारित्वात् हे उडुराजोपम उद्धर्मः सद्धर्मविरुद्धोऽधर्मस्तदेव शार्वरं रजनीध्वांतं तद्धरतीति उद्धर्मशार्वरहरस्तत्संबुद्धिः हे क्षितिराक्षसध्रुक् आर्कं सूर्यमारभ्य वैकुंठगोलोकपर्यंतानां सर्वेषामर्हणं पूज्य हे हरे आकल्पं कल्पपर्यंतं ते तुभ्यं नमः यद्वा आकल्पं त्वदीयगुजावतंसबर्हापीडादिकं हस्तकवलादिकं च भूषणं च अभिव्याप्य॥ ३२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चतुर्मुखजन्मनोऽपि यत्र क्वचित्त्वज्जनसङ्गिजन्म एव श्रेय इत्यौत्सुक्येन नन्दगोपगोगोपिकादीनभिनन्दति सप्तभिः ॥ अहो इति ॥ व्रजगोरमण्यः व्रजस्य गावो रमण्यो गोप्यश्च, अतिधन्याः । कुत इत्यत्र ता विशिनष्टि । यासां व्रजगोरमणीनां, स्तन्यामृतं पयः, ते त्वया, वत्सतरात्मजात्मना वत्सरूपेण आत्मजरूपेण चेत्यर्थः । मुदाऽप्यानन्देन, अतीवातिशयेनैव, पीतं, हे विभो, यत्तृप्तये यस्य विभोस्तव तृप्ति विधातुं, अद्यापि, अध्वराः च, सर्वे यज्ञाश्चापीत्यर्थः । न अलं न पर्याप्ता भवन्ति । तेन त्वया पीतमिति संबन्धः । अहो अत्याश्चर्यम् ॥ ३१ ॥ अहो इति ॥ नन्दाख्यो यो गोपस्तस्य यो व्रजो गोष्ठः स ओको निवासस्थानं येषां तेषां, अहो भाग्यमहो भाग्यं, एतेषां भाग्यस्यान्तं यातुं न पारयामीत्यर्थः । यद्यतो हेतोः, परमानन्दं निरवधिकातिशयानन्दमयं, पूर्णं सर्वव्यापकं, सनातनं ब्रह्म, मित्रं, अभूत् । येषामिति शेषः ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

धन्यं तत्किल गोकुलं च तदधिष्ठात्र्यश्च ता देवता धन्यास्ते तरवस्तदेकसुखदा धन्याश्च धन्याश्च ते ।
नित्यं यैरखिलैस्त्वदर्पित-भवव्यापारसंभारकैः सन्मित्रत्वपदं प्रभुः स्वयमसावानायि संयोगतः ॥ ३५ ॥
तासामुत्कृष्टता भाग्यमसीममिति किं ब्रवे सर्वेषामपि नः सर्वं याभिः पुण्यमघः कृतम् ॥ ३६ ॥
यस्मात्सुखं निरुपमं स्पृहयन्ति धन्या यं वर्णयन्ति निगमाः सुखरूपमस्मिन् ।
स त्वं प्रभो प्रतिदिनं सुखमीहसे यद् येभ्यस्ततः स्फुटमिमे न किमीश धन्याः ॥ ३७ ॥
श्रीशाऽप्नोम्यहमेष सृष्टिजनकः शर्वादिदेवेडितोऽप्येषां त्वत्पदरागिणां पदरजःसाम्यं न रम्य यतः ।
तस्मादार्थिकमेव सिद्धममलैरेतैः सुभाग्यास्पदैरानन्दप्रदपुण्यलोकरुचिराप्यर्जात्रिलोकी जिता ॥ ३८ ॥
तमश्छेदकं भाग्यमह्नोऽर्क एव ध्रुवं भातयहो भाग्यमेषामपि त्वम् । यदज्ञानबन्धं निरस्यैव मित्रीकृतो येन निर्यत्नमानन्दमूर्तिः ॥३९॥
यत्स्वैरप्रपदप्रपातजनितस्पर्शोद्भवत्यूर्ध्वगोऽप्यल्पो रेणुरपीह यस्तृणकणस्तद्योगतो वा विभो ।
एतावेव वयं न वर्णयितुमप्यस्मिन्नलं किं पुनः प्रेमालिङ्गनरञ्जितां च भवता गोगोपगोपीशिशून् ॥ ४० ॥

कृष्णप्रिया

हे विभो ! इस व्रज की गायों और व्रज रमणियाँ कितनी बड़भागिनी है कि हे नाथ ? जिसने जिन गायों का और व्रज स्त्रियों का अत्यंत आनन्द हर्ष चाव से अपने स्तन्य दूध अमीमय दूध पिया ? हे कृपानाथ बड़े बड़े वाजपेय सोम आदि यज्ञसृष्टि प्रारम्भ से लेकर अद्यापि पर्यन्त आपकी तृप्ति प्राप्ति संतुष्टि के लिये पूर्णतया समर्थ न बनी, ऐसे सदानन्द भगवान् श्रीकृष्ण गोओं के बछड़े बनकर और गोपियों के बालक बनकर स्तनंधय बने इससे अधिक बड़भाग बन पाता है क्या ? ॥ ३१ ॥ अहो आनन्द की बात है कि श्रीनन्द बाबा एवं व्रजनिवासिओं के भाग्य की महिमा अपार है। इनके सद्भाग्य की सीमा का मूल्याङ्कन कौन कर सकता है देखो तो सही परमानन्द सनातन पूर्ण ब्रह्म-श्रीकृष्ण जिनके मित्र बन गये हैं। इतना ही कहाँ ! व्रज समस्त धन्य धन्य है, बड़भागी है ॥ ३२ ॥

> एषां तु भाग्यमहिमा'च्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः ।
> एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥ ३३ ॥
> तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् ।
> यज्जीवितं तु निखिलं भगवानननन्त'स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥ ३४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अच्युत ? एषां तु भाग्यमहिमा तावत् आस्तां एतद्धृषीकचषकैः ते अङ्घ्र्युजमध्वमृतासवं शर्वादयः वयं एकादश एव हि असकृत् पिबामः बतभूरिभागाः ॥ ३३ ॥ भगवान् अनन्तः तु यत्जीवितं यत्पदरजः अद्य अपि श्रुतिमृग्यं एव यत् इह गोकुले अटव्यां अपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकं किं अपि जन्म तद् भूरिभाग्यम् (अस्तु) ॥ ३४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च । एषां भाग्यस्य तावन्महिमा आस्तां कस्तं वक्तुं शक्नोति शर्वादयः शर्वोऽहंकाराधिष्ठाता आदिर्येषां चंद्रादीनामेकादशानां ते तथा वयं च । वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमान आह । एव मनोबुद्ध्यहंकारचक्षुराद्यधिष्ठातारस्त्रयोदश देवा एव

१. महिता-जीव. । २. भगवान् मुकुन्द-श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. ।

तावद्बताहो भूरिभागाः यस्मादेतेषां नंदगोपव्रजौकसां हृषिकाणींद्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैस्ते तव चतुर्दशस्य चित्ताधिष्ठातुरंघ्री एव उदजे वारिजे तयोर्मधु मकरंदस्तदेवामृतं स्वाद्वासवं मादकं पिवामः। एतदुक्तं भवति। यदा प्रत्येकमिंद्रियाभिमानिनो वयं कीर्तिसौंदर्यसौगंध्याद्येकदेशसेविनोऽपि कृतार्थास्तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेतेषां किं वर्ण्यते भाग्यमिति॥ ३३॥ अहो मया प्रार्थितं 'तदस्तु मे नाथ स भूरिभागः' इति यत्तदेतदेवेत्याह। तद्भूरिभाग्यमिति। किं तत्। इह मनुष्यलोके यत्किमपि जन्म तत्राप्यटव्यां यत्तत्रापि गोकुले यत्। अहो सत्यलोकं विहायात्र जन्मनि जाते को लाभोऽस्त आह। अपि कतमांघ्रिरजोभिषेकमिति। गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्याप्यंघ्रिरजसाऽभिषेको यस्मिंस्तत्। ननु कुतो गोकुलवासिन एव अति धन्यास्तत्राह। यदिति। येषां जीवितं निखिलं भगवान्मुकुंदः। मुकुंदपरमेव जीवनमित्यर्थः। दुर्लभतामाह। अद्यापीति। श्रुतिमृग्यं वेदैरपि मृग्यत एव न तु दृश्यत इत्यर्थः॥ ३४॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तेषां भाग्यमहत्त्वं तु परतममेव परंत्वस्माकमपि भाग्यं परमेवेत्याह—किन्त्वेति। एतेषां गोपानाम्। तावदधुना। त्रयोदशशर्वचन्द्रब्रह्मदिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाव्याः। बत हर्षे। अहो अद्भुतम्। 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः। चित्ताधिष्ठातुर्वासुदेवस्यास्य। एतदुक्तमित्यारभ्य भाग्यमित्यंतेन नन्दव्रजवासिभ्यो ब्रह्माण्डे न कोऽपि भाग्यविशेषवानस्तीति बोध्यते॥ अहो एषां माहात्म्यं को नाम वर्णयितुं शक्नुयात्, वयमप्येषां सम्बन्धेनैव कृतार्था जाता इत्याह—एषामिति। तुर्भिन्नक्रमे। अङ्घ्र्युदजमधु श्रीचरणारविन्दमाधुर्यं, तत्पानं तु तदीयाभिमानाध्यवसायसंकल्पदर्शनश्रवणादिरूपम्। देवताश्च—शर्वब्रह्मचंद्रदिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका इति। यद्वा—गुह्येंद्रियद्वयस्यानुपयोगादश्लीलत्वाच्च तदधिष्ठात्रोर्मित्रप्रजापतयोस्त्याग एव, पादाधिष्ठातोपेंद्रस्तु तदीयधारणशक्त्यावेशावतारो देवताविशेष एव कश्चित्, चित्ताधिष्ठातारं श्रीवासुदेवं विना तेषां सर्वेषामपाकर्तुं क्षमत्वेन तृतीये कथनात्। तस्य तु तत्समीपगतानुभवसुखं श्रीगोपादीनां स्वयं भगवतो नित्याप्राकृतपरिकरत्वादेतेषां च प्राकृताधुनिकत्वात् दसंभवेऽपि तन्नित्यावरणस्थदेवगणाऽभेदविवक्षयेदमुक्तं तदावेशिरूपात्तेषाम्, तथा च पाद्मोत्तरखण्डे "नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः। ते वै प्राकृतलोकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदिवेश्वराः॥" इति। "उभयथापि तस्य च नित्यत्वात्" इत्यत्र करणपक्षस्यैव हि देवता, न भोक्तृपक्षस्येति शारीरकनिर्णयः। श्रीगोपादीनामन्तरंगपरिकरत्वेन सर्वशक्तित्वमिति श्रीकृष्णोपासनाशास्त्राभिप्रायः। पूर्ववदश्लीलपरिहारः, सूर्यादीनां नयनादिकोटिभिर्युगपद्दर्शनादिसुखाधिक्यसातत्यपरिहारस्तु विरुध्यते। ततश्चेयं वा व्याख्या। श्रीमन्नन्दराजव्रजौकसां तादृशं भाग्यमेव कैमुत्येन स्तोतुं कादाचित्केनापि तन्माधुरीमात्रलाभेन स्वेषामपि भाग्यमभिनंदति, तेन च तादृशनिजाभिलाषमपि द्रढयति—एषामिति। यद्वैकाऽद्वितीयाऽनुपमेत्यर्थः। तदेतद्व्रजे प्रथमानं तदेतदित्यर्थः। ते त्वांघ्र्युदजमधु हृषीकचषकैर्निजनिजचक्षुरादिभिरेव पानपात्रैः शक्त्या भक्त्या च, प्राधान्यात् शर्व आदिर्येषां ते दशदिक्पालदेवता वयमसकृत्पुनः पुनरिहागत्य पिवामः। वक्ष्यते च - 'वंद्यमानचरणः' इत्यादि। कीदृशम्—अमृतासवं परमस्वादुत्वादिनाऽमृतं परममादकत्वेन चासवं तयोर्द्वंद्वैक्यं तद्रूपम्। यद्वा—एते च ते हृषिकचषकाश्च तैः, एतच्छब्दप्रयोगश्चात्यन्तचमत्कारेण। अमृता मृत्युहीना मुक्तास्तेषामप्यासवं मादकम्। किञ्च, व्रजवासिभिर्वयमपि भूरिभाग्याः क्रियामहे। एतद्धृषीकैस्तत्रत्याऽभिमानाध्यवसायसंकल्पशब्दस्पर्शरूपरसगन्धकीर्त्तनसंवाहनातिकगत्यात्मकं तदेवामृतासवं स्वादु मादकं गुह्येंद्रियद्वयस्याश्लीलत्वाच्चित्ताधिष्ठातुर्वासुदेवस्य त्वदभेददृष्ट्या त्यागादेकादशैवेति। यद्यप्यत्रैषामन्तरात्मन एव विषयभोगो न तु तत्तत्कर्तॄणामिंद्रियाधिष्ठातॄणामित्यध्यात्मसिद्धान्तस्तथापि बुद्धौ ब्रह्मा तिष्ठति, चक्षुषि सूर्यश्च। तमधिष्ठातारं विना तत्तदिन्द्रियं श्रीकृष्णनिष्ठानामपि रूपरसादीनां ग्राहकं न स्यादिति सामान्यदृष्ट्यात्मविदां प्रवादोऽपि श्रीकृष्णे रत्यौत्कंठावतां ब्रह्मादीनामानंदहेतुः कर्तृत्वामात्रेणैव भोक्तृत्वाभिमानांगीकारात्, तथैव स्वेषां प्राकृतत्वेप्यप्राकृततत्तद्रिन्द्रियाधिष्ठातृत्वाभिमानाच्च। प्रेम्णामेव विलक्षणप्रक्रियेयं, दृश्यते चान्यत्र पद्यावल्यादौ—'मिथ्यापवादवचसाप्यभिमानसिद्धे" इत्यादि। अन्यथा चिदानंदमयवपुषामपि श्रीभगवत्परिवाराणामिंद्रियादीनामपि भगवत इव तन्मयत्वमेव न तु प्राकृतत्वं संभवेत्, कुतस्तत्र प्रपंचगतानां ब्रह्मादीनां प्रवेश इति ज्ञेयम्। अत्रैतादृशपदेन गुह्येंद्रियद्वयस्याश्लीलत्वादनुपयोगाच्च तदधिष्ठात्रोर्मित्रप्रजापत्योस्त्याग एव ध्वनितः। यद्वा—कादाचित्केनापि तन्माधुरीलाभेन स्वेषामपि भाग्यमभिनन्दन्ति, एषां भाग्यमहिता एकाऽद्वितीयाऽनुपमेत्यर्थः। दशैव वयं दशदिक्पाला भूरिभागा भवामः। कुत इत्यत आह—एतदिति। स्वतर्जन्या स्वनेत्रश्रोत्रं स्पृशति। वत्सचारणाय व्रजान्निष्क्रांतस्य तव चरणसौन्दर्यामृतं नेत्रश्रोत्रैः पिबामः। असकृत् पौनःपुन्येन। 'वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः' इत्युक्तेः 'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः' इत्युक्तेश्चेति विश्वनाथः॥ ३३॥ यतो व्रजवासिन एव धन्या अतः कारणात्। यस्य कस्यापीत्यनेनोच्चनीचभेदो निरस्तः। "स्त्री राधा पुरुषः कृष्णो विज्ञेयो व्रजमध्यगः। न तत्र सर्वजातेषु विशेषो विद्यते क्वचित्॥" इति संहितोक्तेः। अत्राशंकते—नन्विति। तत्र क्षेपे। निखिलं सर्वात्मतया। इत्यर्थ इति। अहर्निशं कृष्णकैताना एत इति भावः। इत्यर्थ इति। अहो तेषां भाग्यं, ये प्रत्यक्षं पश्यंतीति भावः॥ तस्माज्जगदैश्वर्याय प्राप्ताय, प्राप्तव्याय मोक्षाय च मया जलाञ्जलिर्दत्तः। केन प्रकारेणैषां व्रजवासिनां चरणधूल्यो लभ्यंत इति विभाव्य सनिश्चयमाह—तदेव मे भूरिभाग्यं भवत्विति ज्ञेयः। यदि श्रीमत्कृपाकटाक्षा उदारा भवंतीति भावः। किं तत्। इहाटव्यां वृन्दावने यत्किमपि कोमलतृणदूर्वादिजन्म, यद्गुणा

त्वत्प्रियसखादिव्रजवासिजनचरणविन्याससौभाग्यं संभवेत्। नन्वस्मिन्नतिदुर्लभे लोभं विहाय स्वयोग्यमन्यत्प्रार्थयस्वेति चेत् तर्हि गोकुलेऽपि त्वन्नगरप्रांतादावपि कतमस्य त्वदीयशौचिककालाद्दिद्वपाद्येकतरस्यांघ्रिरजसोऽभिषेको यत्र तथाभूतं शिलापीठं पट्टिकादिजन्म भवतु। नन्वेषां व्रजवासिनामेतावन्माहात्म्ये को हेतुः, कथं वा जगत्पूज्यस्य जगत्स्रष्टुः परमेष्ठिनस्तवैषां नीचजातीनां पादधूलिलिप्साथां नास्ति लज्जेति तत्राह—येषां जीवितं भगवान् 'भगः श्रीकाममाहात्म्य–' इत्यमरनानार्थवर्गात्। सौन्दर्य्यसौस्वर्य्यादिगुणविशिष्टो भवान्। मुकुन्दमुखे कुन्दवद्धास्यं यस्य स इति। त्वत्सौन्दर्य्यमन्दहसितायेवैकजीवनोपायः, तेन विना सद्य एवामी म्रियन्त इति भावः निखिलमिति। किञ्चिदपि जीवितं न भोजनपानादिहेतुकमित्यर्थः। अतोऽद्यापि येषां पादरजः श्रुतिभिर्मृग्यत एव न तु प्रायः प्राप्यत इत्यतोऽहं ब्रह्मापि किं वेदेभ्योधिको यतः एतत्प्रार्थने मम लज्जा स्यादिति भावः। अतो मया 'तदस्तु मे नाथ' इति यत्पूर्वं प्रार्थितं तत् स्वस्य वैधभक्तिमत्त्वे एव। यदि व्रजजनानुगतिमत्त्वेन मां रागानुगामृताम्भोधौ निमज्जयति तदेवं प्रार्थितम्॥ अत्र तोषिणी—तदेवं तेषां महामाहात्म्यमनुवदन् जातदैन्यस्त्वज्जनान्तःपातितया त्वच्चरणसेवेच्छामपि धाष्टर्येनैवाकरवमिति व्यञ्जयन् यत्किञ्चित्त्वज्जनचरणरज एव बहु मन्यमानः प्रार्थयते–तदिति। तत्प्रतिकूलं मुक्त्यादिपञ्चकम् इहेत्यादिपदपञ्चकेन निरस्तम्। जन्मेति। मुक्तिरिह मथुरामण्डल इति वैकुण्ठादिकमपीति सारूप्यादि, अटव्यामिति मथुरादि, गोकुल इति मधुवनादि। तत्रापि किमपि दूर्वादिमृदुतृणत्वमितिप्रभिप्रायः। तत्रैवांघ्रिरजोभिः सम्यगभिषेकसिद्धेः त्वच्चरणसेवायामन्तरीणाभिलाषाच्च। अभिषेक इति सर्वाङ्गसाफल्यलोभादुक्तम्। ननु कथं साक्षाद्गोपादिजन्मैव न प्रार्थ्यते, तत्राह–यदिति। यस्य गोकुलस्य तद्वासिमात्रस्य निखिलं भगवान् मुकुन्द एव, तत्र यः स्वयं भगवान् परात्परत्वात्साधयितुमशक्य इत्यर्थः। साधितोऽपि यो मुकुन्दः प्रायशो मुक्तिमेव दाता न तु भक्तियोगमात्रमपि तमेतं विना सज्जनः क्षणमपि न जीवितुं शक्नोतीत्यर्थः, इति परमप्रेमविशेषवत्त्वमुक्तम्। आस्तां तावदन्यैर्दुस्साध्यत्वं दुर्लभप्रेमत्वं च, यस्य पादरजः श्रुतिभिरद्यापि त्वयि साक्षादत्रावतीर्णेऽपि दृश्यत एव कतम रजः कियान्महिमेति ज्ञातुमिष्यत एव, न तु तदन्तः प्राप्यत इत्यर्थः। "यतो वाचो" इत्यादिश्रुतेः। अतः परमप्राचीनताद्दृशसर्वज्ञानप्रदश्रुतिदुर्लभज्ञाने त्वत्पादरजस्यपि प्रार्थना मेऽनुपयुक्ता, कुतः पुनः प्रेमतरवशीकृतत्वत्पादाब्जश्रीगोपादिजन्मप्रार्थनेति भावः। एवम् 'अहोऽतिधन्याः' इत्यारभ्य श्रीव्रजवासिभेदानां यथापूर्वंमाहात्म्यमुक्त्वा दर्शयित्वा श्रीव्रजेश्वरयोस्तु तदतीव बोधितं, साक्षात्तत्प्रस्तावश्च तौ प्रशंसितुमपि कोऽहं वराक इति विवक्षया। सखायस्तु—स्वापराधजभयलज्जाभ्यां न प्रस्तुता एव। अतश्च तदाच्छादनाय लब्धानन्दविशेषा जन्मान्तर एव प्रथमत उपन्यस्ता इति ज्ञेयम्॥ ३४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो एषां माहात्म्यं को नाम वर्णयितुं शक्नुयात् वयमप्येषां सम्बन्धेनैव परमकृतार्था जाता इत्याह–एषामिति। तु शब्दो भिन्नोपक्रमे अङ्घ्र्युदजमधु श्रीचरणारविन्दमाधुर्यं तत्पानं तु तदीयाभिमानाध्यवसायसङ्कल्पदर्शनश्रवणादिरूपं देवताश्च शर्वब्रह्मचन्द्रदिग्वाताकंप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः। यद्वा, गुह्येन्द्रियद्वयस्यानुपयोगादशलीलत्वाच्च तदधिष्ठात्रोर्मित्रप्रजापत्योस्त्यागेनैकादश पादाधिष्ठातोपेन्द्रस्तु तदीयधारणशक्त्यावेशावतारो देवताविशेष एव कश्चिद् चित्ताधिष्ठातारं श्रीवासुदेवं विना तेषां सर्वेषामप्यकर्तुं क्षमत्वेन तृतीयेऽभिधानात् तस्य तु तत्समीपगत्यनुभवसुखं श्रीगोपादीनां स्वयं भगवतो नित्यप्राकृतपरिकरत्वादेतेषां च प्राकृताधुनिकत्वात्तदसम्भवेऽपि तन्नित्यावरणस्य देवगणाभेदविवक्षयेदमुक्तं तदावेशिरूपत्वात्तेषां तथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

"नित्याः सर्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः। ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदशेश्वराः"॥ इति।

उभयथापि तस्य च नित्यत्वादित्यत्र करणपक्षस्यैव हि देवता न भोक्तृपक्षस्येति शारीरकनिर्णयः श्रीगोपादीनामन्तरङ्गपरिकरत्वेन स्वतः सर्वशक्तित्वमिति श्रीकृष्णोपासनाशास्त्राभिप्रायः पूर्ववदश्लीलपरिहारः सूर्यादीनां नयनादिकोटिभिर्युगपद्दर्शनादिसुखाधिक्यसातत्यपरिहारश्च विरुद्धश्चेत् तत इयं वा व्याख्या श्रीमन्नन्दराजव्रजौकसां तादृशं भाग्यमेव कौतुकेन स्तोतुं कादाचित्केनापि तन्माधुरीमात्रलाभेन स्वेषामपि भाग्यमभिनन्दति तेन च तादृशानिजाभिलाषमपि द्रढयति एषामिति। एका अद्वितीया अनुपमेत्यर्थः। एतत् व्रजे प्रथमानं तदेतदित्यर्थः। ते तवाङ्घ्र्युदजमधु हृषीकचषकैर्निजनिजचक्षुरादिभिरेव पानपात्रैः शक्त्या भक्त्या च प्राधान्याच्छर्व आदिर्येषां ते दशदिक्पालदेवता वयमसकृत्पुनः पुनरिहागत्य पिबामः वक्ष्यते च "वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धैः" इति "शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः" इति च कीदृशम् अमृतासवं परमस्वादुत्वादिना अमृतं परममादकत्वेन चासवः तयोर्द्वन्द्वैक्य तद्रूपम्। यद्वा, एते च ते हृषीकचषकाश्च तैः एतच्छब्दप्रयोगश्चात्यन्तचमत्कारेण अमृता मृत्युहीना मुक्ताः तेषामप्यासवं मादकमित्यर्थः॥ ३३॥ तदेव तेषां महामाहात्म्यमनुवदन् जातदैन्यस्त्वज्जनान्तः पातितया त्वच्चरणसेवेच्छामपि धाष्टर्येनैवाकरवमिति व्यञ्जयन् यत्किञ्चित्तज्जनचरणरज एव बहुमन्यमानः प्रार्थयते, तदिति। तत्प्रतिकूलमुक्त्यादिपञ्चकम् इहेत्यादिपदपञ्चकेन निरस्तं तत्र जन्मेति मुक्तिरिह मथुरामण्डल इति वैकुण्ठादिकमपीति सारूप्यादि अटव्यामिति मथुरादि गोकुलं इति मधुवनादि तत्रापि किमपि दूर्वादिमृदुतृणत्वमितिप्रभिप्रायः तत्रैवाङ्घ्रिरजोभिः सम्यगभिषेकसिद्धे तच्चरणसेवायामन्तरीणाभिलाषाच्च अभिषेक इति सर्वाङ्गसाफल्यलोभादुक्तम् अन्यत्तैः। यद्वा, ननु कथं साक्षाद्गोपादिजन्मैव न प्रार्थ्यतां तत्राह–यदिति। यस्य गोकुलस्य तद्वासिमात्रस्य निखिलं

जीवितं भगवान् मुकुन्द एव तत्र यः स्वयम्भगवान् परात्परत्वात् साधयितुमशक्य इत्यर्थः। साधितोऽपि यो मुकुन्दः प्रायशो मुक्तिमेव दाता न तु भक्तियोगमात्रमपि तमेतं विना मज्जनः क्षणमपि न जीवितुं शक्नोतीत्यर्थः। इति परमप्रेमविशेषवत्त्वमुक्तम् आस्तां तावदन्यदुःसाध्यत्वं दुर्लभप्रेमवत्त्वं च यस्य पादरजःश्रुतिभिरद्यापि त्वयि साक्षादत्राऽवतीर्णेऽपि एव कतमं रजः कियन्महिमेति ज्ञातुमिष्यत एव न तु तदन्यः प्राप्यत इत्यर्थः। "यतो वाचः" इत्यादिश्रुतेः अतः परमप्राचीनमादृशसर्वज्ञानप्रदश्रुतिदुर्लभत्वात् त्वत्पादरजस्यपि प्रार्थना मेऽनुपयुक्ता कुतः पुनः प्रेमभरवशीकृतत्वत्पादाब्जकश्रीगोपादिजन्मप्रार्थनेति भावः। एवम् अहोऽतिधन्या इत्यारभ्य श्रीव्रजवासिभेदानां यथापूर्वं माहात्म्यकैमुत्यं दर्शयित्वा श्रीव्रजेश्वरयोस्तु तदतीतबोधितं साक्षात्तत् प्रभावश्च तौ प्रार्थितुमपि कोऽहम् वराक इति विवक्षया सखायस्तु स्वापराधजभयलज्जाभ्यां न प्रस्तुता एव अतश्च तदाच्छादनाय लब्धानन्दविशेषास्तन्मातर एव प्रथमत उपन्यस्ता इति ज्ञेयम् ॥ ३४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो एषां माहात्म्यं को नाम वर्णयितुं शक्नुयात् ? वयमप्येषां सम्बन्धेनैव परमकृतार्था जाता इत्याह—एषामिति। तुशब्दः कटाक्षे वाक्यालंकारे वा; भाग्यमहिता, पुनः हे अच्युतेति त्वद्भक्तानामपि भाग्यमहिमा सर्वतोऽच्युत एवेति भावः। अङ्घ्रयदजमधु श्रीचरणारविन्दमकरन्दं श्रीभगवद्दास्यतदीयबुद्धिनिश्चयाध्यवसायसंकल्परूपदर्शनकथाश्रवणादिरूपम्; कथम्भूतम्? परममाधुर्यादिनामृतञ्च तदासवञ्च, असवः प्राणास्तन्मयं परमजीवनरूपमित्यर्थः। यद्वा, अमृता मृत्युहीना मुक्तास्तेषामप्यासवं परममादकमित्यर्थः—मोक्षसुखादप्याधिक्येन तद्विस्मारकत्वात्, एवमीदृशस्य मधुनोऽसकृत् पानविशेषादन्येभ्योऽपि भक्तेभ्यो व्रजौकसामधिकं माहात्म्यं दर्शितमेकादशेति, (भा० २।५।३०) 'दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः' इतीन्द्रियाधिष्ठातारो दश, मनोऽधिष्ठाता चन्द्रश्चेक इत्येकादश। वयमिति बुद्ध्याधिष्ठाता ब्रह्मा, शर्व्वादय इति तद्गुणसंविज्ञानबहुब्रीहिणाऽहंकाराधिष्ठाता रुद्रश्चेति त्रयोदशेत्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, पायूपस्थयोर्भक्तौ साक्षादुपयोगाभावात्तदधिष्ठात्रोर्मित्रप्रजापत्योः परित्यागे नैकादश, यद्वा, पुंसां वैष्णवपुत्रोत्पादनादिना योषितास्च तत्रत्यानां प्रायोभगवत्साक्षाद्भजनादिना कथञ्चित् प्रजापतेरुपयोगे सति पादाधिष्ठातोपेन्द्रः श्रीवासुदेवस्य भगवतोऽवतारत्वेन तदभिन्न एवेति तद्व्यतिरेकेण एकादशैव सिध्यन्ति। यद्यपि सच्चिदानन्दविग्रहाणां व्रजजनानां तेषामिन्द्रियाद्यधिष्ठातृत्वयोग्याः प्राकृताश्चन्द्रादयो देवा न भवन्ति, किन्तु सच्चिदानन्दविग्रहाः श्रीवैकुण्ठवर्त्तिन एव, तथापि श्रीवैकुण्ठवासिनां छायारूपत्वेन तैः सहैषामेवाभेदविवक्षयां बहिर्दृष्ट्या वा तथोक्तम्। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे नित्यवैकुण्ठकथने तत्रत्यदेवानां नित्यत्वम् –'नित्याः सर्व्वे परे धाम्नि ये चान्ये च दिवौकसः। ते वै प्राकृतनाकेऽस्मिन्ननित्यास्त्रिदशेश्वराः॥' यद्वा, सर्व्वातिशायिनीं कृष्णस्य विविधां माधुरीमनुभूय कादाचित्केनापि तल्लाभेन स्वेषामेव भाग्यमभिनन्दति—एषामिति। एतद्व्रजे प्रथमानं तवाङ्घ्रयदजमधु हृषीकचषकैः स्वस्वेन्द्रियपानपात्रैः पिबामः। कथम्भूतम्? अमृतासवममृतवन्मधुरं मासववन्मादकं च वयं निर्वृतिवर्जिता लोकपाला नव, चन्द्रसूर्य्याविति चैकादशेति ॥ ३३ ॥ श्रीनन्दव्रजजनसदृशभक्त्यिच्छया तत्पादपल्लवनिषेवेच्छया वा तत्प्रतिकूलमुक्त्यादिपञ्चकमिहेत्यादिपदपञ्चकेन निरस्तम्,—तत्र जन्मेति मुक्तिः, इहेति स्वर्गादि, किमपीति ब्राह्मणादि, अटव्यामिति पुरग्रामादि, गोकुल इति तपोवनादि; किमपीति क्षुद्रतरतृणत्वमभिप्रेतम्, तत्रैवाङ्घ्रिरजसा अभिषेकमिति अभिषेकसिद्धेरभिषेकशब्देन शिर आरभ्य सर्व्वांगस्नपनमभिप्रेतम्, महालोभात् सर्व्वांगसाफल्यापेक्षया वा; यद्वा, रजसैवैकेनाभिषेकम्, ततश्च रजसः सर्व्वतीर्थमयत्वं सर्वपदस्थापकत्वञ्च ध्वन्यते। यस्य पदरजः श्रुतिभिरप्यद्यापि त्वयि साक्षादवतीर्णेऽपि मृग्यत एव, न तु प्राप्यत इत्यर्थः, यतो भगवत्प्राप्त्यर्थमेव (तै० २।५।१) 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुतेः, (कठ० १।३।९) 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इति भगवत्पदत्वेनैव ब्रह्म प्रशस्यते, ज्ञानकर्म्मादिकं च प्रबोध्यते, अन्यथा प्राप्ते सत्यां साध्यसिद्धौ साधनत्यागन्यायेन तत्प्रशंसाज्ञानादिबोधनानुपपत्तिः। स मुकुन्दः—मादृशदुर्ल्लभभक्तिदाता, विशेषतश्च भगवान् निजाखिलैश्वर्य्यप्रकटनपरः। यस्य गोकुलस्य सर्वेषामपि तत्रत्यानामित्यर्थः, निखिलं जीवितम् –क्षणमपि त्वां विना यैर्न जीव्यत इत्यर्थ इति परमप्रेमविशेष उक्तः। अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, ननु गोकुलवासिनां कस्यापि पादरजःस्पर्शि किमपि जन्म प्रार्थ्यते, न कथं साक्षाद्गोपादि ? तत्राह—यज्जीवितमिति। अर्थः स एव। परमप्राचीनमादृशसर्वज्ञानप्रदश्रुतिदुर्ल्लभस्य त्वत्पादरजसोऽपि प्रार्थना मेऽनुपयुक्ता, कुतस्तु प्रेमभरवशीकृतत्वत्पादाब्जजश्रीगोपादिजन्मप्रार्थनेति भावः॥ ३४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अथैकादशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां महदात्मकस्वस्वरूपत्वेन तद्भोग्यस्य भगवतः स्वभोग्यत्वमङ्गीकृत्य स्वाभाग्यं विवृणोति एषां त्विति। अङ्घ्र्युदजमधु अङ्घ्रिकमलयोर्मधुमादकम् अमृतं सेवामृतं कथामृतञ्चेति अन्यत्स्पष्टम् ॥ ३३ ॥ भवज्जनानां इत्युक्त्या प्रपन्नसञ्ज्ञस्य प्रपन्नशेषत्वज्ञानस्य च परमभोग्यत्वमाह–कैमुत्येन तद्भूरिभाग्यमिति। इहाटव्यां किमप्यनिर्वाच्यं कीटतृणादिजन्म यच्चापि गोकुले गवां कुले वत्सादिजन्म श्रीकृष्णहस्तकमलस्पृश्यदोह्याभिनन्द्याह्वानयोग्यतयाभ्यर्हितं तदपि भूरिभाग्यम् उभयविधं जन्म मम स्यादपि पूर्वतनोक्तं कीटादिजन्म विशिनष्टि—कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकं बहुष्वेकस्य व्रजवासिनोऽङ्घ्रिसम्बन्धिरजसाऽभि-

भिषेको यस्य तत् उभयविधस्यापि श्रीभगवत्श्रीकृष्णसम्बन्धित्वमाह—यज्जीवितं त्विति। तुशब्दः जीवितभिन्नस्यात्यसारत्वं व्यनक्ति, तत्रापि निखिलम् इति च पतिपुत्रादिबन्धुविशिष्टम् इति भगवान् ज्ञानबलशक्तितेज-ऐश्वर्यवीर्याद्यनन्तगुणविशिष्टः सुलभतयाऽऽद्यादिमुक्तिदातृत्वेन मुकुन्दः स भगवान् येषां गोगोपालवृक्षतृणादीनां जीवितमेव जीवितकाल आयुरूपः प्राणरूप इति यावत् यस्य तव पदरजस्तु अद्यापि श्रुतिमृग्यम् एव वेदोपनिषद्भिर्मृग्यम् अन्वेषणीयम् "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः कोऽद्धा वेद क इह प्रावोचत् मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इत्याद्याः श्रुतयो वदन्ति इति भावः ॥ ३४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे अच्युत ! तेषां नन्दादीनां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां कस्तमियत्तया वर्णयितुं शक्नुयादित्यर्थः। शर्वोऽहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां ते मनोबुद्धिचित्ताधिष्ठातॄणां चन्द्रादीनां ते वयमेकादश च स्वस्य चित्ताधिष्ठातृत्वेऽपि मेढ्राधिष्ठातृत्वाच्च एकादशेत्युक्तम् एवं चतुर्दश वयं इति भावः। वयं मेढ्रादिकर्मज्ञानेन्द्रियाभयाधिष्ठातारश्च भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमानस्योक्तिः एवं मनोबुद्ध्यहङ्कारोभयेन्द्रियाधिष्ठातारः त्रयोदश देवाः विवक्षिताः। कुतः ? यस्मादेतेषां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पात्राणि तैस्तवाङ्घ्रिरेवोदजं कमलं तस्य मधु मकरन्दस्तदेवामृतं स्वाद्वासवं मादकं पिबामः एतदुक्तं भवति। यथा प्रत्येकेन्द्रियाभिमानिनो वयं कीर्त्तिसौगन्ध्याद्येकैकदेशसेविनोऽपि कृतार्थास्तथा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेतेषां किमु वर्ण्यते भाग्यमिति ॥ ३३ ॥ यन्मया प्रार्थनीयं तदेवेत्याह—तदिति। यन्मया प्रार्थनीयं भूरिभाग्यं तदेवेत्यर्थः, किं तदिह मनुष्यलोके यत् किमपि मनुष्यजन्म तत्राप्यटव्यां यत्तत्रापि गोकुले यदहो सत्यलोकं विहायात्र जन्मनि ते को लाभः अत, आह, गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसाऽभिषेको यस्मिंस्तत् कतमं विशिनष्टि—यस्य गोकुलवासिनः कतमस्यापि जीवितं भगवान् मुकुन्द एव भगवान्मुकुन्दपरमेव जीवनमित्यर्थः। तस्य दुर्लभत्वमाह अद्यापीति। यस्य तव पदरजः केवलं श्रुतिभिर्वेदान्तैर्मृग्यत एव न तु दृश्यत एवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अपि चैतेषां भाग्यमहिमाऽऽस्तां तावत् कस्तं वक्तुं शक्नोति वयं सर्वे शर्वादय एतेषामिन्द्रियाणामधिष्ठातार एव महाभागा इत्याह—एषां त्विति। हे अच्युत ! एषां घोषनिवासिनां भाग्यमहिमा तावदास्तां तिष्ठतु शर्वादयः अहङ्काराधिष्ठाता शर्व आदिर्येषां चन्द्रादीनां ते शर्वादय एकादश वयमिति स्वस्य भगवद्दर्शनेन बहुमन्यमानः पूज्यत्वं स्थापयति, पृथक्त्वेनेति भावः। अतस्तत्साहित्येन द्वादशैव एते सर्वे तत्तदिन्द्रियाधिष्ठातारो बत इति हर्षे भूरिभागा धन्याः कुतः ? यस्मादेतेषां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैस्ते त्रयोदश चतुर्दशस्य विष्णुवासुदेवशब्दवाच्यस्य पादेन्द्रियचित्तेन्द्रियाधिष्ठातुस्तवाङ्घ्री एवोदजे पद्मे तयोर्मधु मकरन्दरूपामृतं स्वादु आसवं रसम् असकृद्वारं वारं क्षणे क्षणे पिबामः अनुभवामः अतो वयं भूरिभागा एते भूरिभाग्यवन्त इत्यत्र किं वक्तव्यमिति भावः। तत्रैतेषां ज्ञानेन्द्रियेषु श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनात्वग्भेदात्पञ्चसु दिगादित्याश्विवरुणवायवः पञ्चाधिष्ठाय भगवच्चरित्रश्रवणतद्दिव्यविग्रहदर्शनतदङ्गादतुलस्याद्यवघ्राणतत्प्रसादशेषास्वादनतत्पादसम्वाहनादिद्वारा अनुभवं कुर्वन्ति एतेषां कर्मेन्द्रियेषु वाक्पाणिपादपायूपस्थेषु अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतयः पञ्चाधिष्ठाय तद्गुणकीर्त्तनतत्कर्मरूपाराधनतद्दर्शनाद्यर्थगमनतत्कैङ्कर्योपयोगितया पायूपस्थद्वारा शरीरशुद्ध्यादिभिरनुभवन्ति, त्वामिति। तत्र विष्णुवासुदेवशब्दवाच्ये त्वया एतेषां पादेन्द्रियचित्तयोरधिष्ठात्रा स्वेनैव स्वस्यानुभवः क्रियते विवेकः अतो द्वादशैव वय धन्या इत्यर्थः। एतेषां सर्वेन्द्रियाणि भगवत्प्रवणानीति स्वयमेव वक्ष्यति "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इति ॥ ३३ ॥ अतो मया यत्पूर्वं प्रार्थितं तदेवास्त्वित्याह—तद्भूरिभाग्यमिति। मम तदेव भूरिभाग्यं किन्तत्तदाह—इहास्मिन् लोकेऽपि यत्किमपि जन्म स्यादिति शेषः। तत्राप्यटव्यामपि यत् तत्रापि गोकुले यत्। ननु सर्वलोकोपरि वर्त्तमानसत्यलोकवासं तिरस्कृत्यात्र जन्म किमिति प्रार्थयतीत्यत आह—कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम् अपीति सम्भावनायां गोकुलवासिनां मध्ये कतमस्यापि अङ्घ्रिरजसाऽभिषेको यस्मिन् जन्मनि तत्। ननु, गोकुलवासिनामेवाङ्घ्रिरजः किमर्थं प्रार्थ्यमिति चेत्तेषां त्वय्यनन्यभक्तत्वादित्याह, यज्जीवितं निखिलं मुकुन्द एव येषां सर्वं जीवितं धारणपोषणादिरूपं जीवनं मुकुन्द एव अतस्तेषामङ्घ्रिरजः प्रार्थ्यमित्यर्थः। येषां त्वमतिदुर्लभोऽपि श्रुतिमृग्यमेव न तु तासां गोचर अतो गोकुले मम जन्म स्यात्तदेव भूरिभाग्यमिति भावः ॥ ३४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एषामित्यादिपञ्चकम् ॥ ३३–३७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अत एषां भाग्यं वर्णनीयं न भवति, तद्दूरेऽस्तु; एषां सम्बन्धाद्वयमेव धन्या इत्याह—एषां त्वित्यादि। हे अच्युत ! एषां भाग्यमहिमा सौभाग्यमहिमा दूरादास्ताम् वयमेव भूरिभागा अतिधन्या वयमिति किमहमेवेत्यर्थे बहुवचनम्। किं वा अन्ये अ त्या

शङ्कयाह—एकादशैव । कुतः ? तत्राह—एतदित्यादि । गृहीतनराकृतीनामेषामप्राकृतत्वेऽपि नराकृतित्वादिन्द्रियाधिष्ठातार एवास्मादादय एषां हृषीकचषकैस्तु तवाङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं पिबामः । के ते एकादश ? तत्राह—शर्वादयः शर्वादीनां त्रयोदशानां मध्ये एकादशैवेति पायूपस्थाधिष्ठात्रोरनौचित्याद्वर्जनम्, यद्वा, हे अच्युत ! एषां भाग्यमहिमा दूरादास्ताम्, सा किं वर्णनीया, मित्रीभूतपूर्णब्रह्मत्वात् । कीदृशी ? एका मुख्या अदशा, दशा अवस्था, तद्रहिता एकरूपा । एवकार उभयत्र योज्यः । किन्तु शर्वादयो वयमेव भूरिभागाः । कुतः ? इत्यत आह—हृषीकचषकैरेषामेतदङ्घ्र्युदजमधु पिबामः । कीदृशम् ? अमृतासवम्—अमृतस्य आ सम्यक् सवः प्रसवो यस्मात्, 'सु प्रसवे' इत्यतः, अतएव रसकृदानन्दकृत्ते प्रसिद्धा दश दिगधीशाः शर्वादयो वयमित्यन्वयः । अतः पूर्वोक्ते (३२ श-श्लो) "यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म" इत्यादिना कृतश्लाघानां व्रजौकसां चरणमधुपानं त्वच्चरणमधुपानादप्यभीष्टमिति ध्वनिः ।। ३३ ।। अतो भगवन् ! अनेन शरीरेणासकृदेषां चरणमधुपानं स्वाच्छन्द्येन न सम्भवति, विनात्रैव लब्धेन जन्मान्तरेण तेन तथा कृपा कार्या, यथात्र यत् किञ्चिदपि जन्म भवतीत्यादि । तद्भूरि भाग्यमित्यादि, तत्तस्मादटव्यां श्रीवृन्दावने व्रजे वा किमपि जन्म भूरिभाग्यमस्तु, मे इति शेषः । किमपीति यत्किञ्चिदपि जन्म तदेव भूरिभाग्यम् । कुतः ? इत्याह—यदिति । यज्जन्म गोकुले व्रजेऽपि कतमस्य यस्य कस्यचिज्जनस्याङ्घ्रिरजसामभिषेको यत्र गोकुलवासिनां यस्य कस्यापि पदधूलिसेको यत्रेति सापेक्षसमासः, तेषां पादरजोऽभिषेकः कथमेव तवाभिलषणीय ? इत्याशङ्क्याह - यदिति । यद्येषां भगवान् मुकुन्दस्त्वं जीवितं प्राणा निखिलं जातिधनादि सर्वमपरञ्च । ननु मुकुन्द एवाहम्, किमेवं दुर्लभः ? अथ किम्, दुर्लभातिदुर्लभ एवेत्याह—अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव । यस्य तव भगवतो कुमुन्दस्य पदरजः श्रुतिभिर्मृग्यत एव न तु लभ्यते ।। ३४ ।।

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एषां त्वित्यादि । एषां व्रजवासिनां भाग्यमहितां किं वर्णयामः ? सा तु दूरत आस्ताम्, वयमेव भूरिभागा अतिधन्याः, वयमिति गौरवेण बहुवचनम् । कियत् संख्यकाः ? तत्राह—एकादशैव तु । कुतः ? एतद्धृषीकचषकैस्ते तवाङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवमसकृत् पिबामश्चेत् के ते एकादश शर्वादयः सर्वप्रधानाः त्रयोदशानां मध्ये एकादशैवेति निर्धारणं पायूपस्थाधिष्ठात्रोरनौचित्याद् वर्जनम् । यद्वा, एषां भाग्यमहिता दूरादास्ताम्, यत एषामेका मुख्या, अतोऽदशैव दशावस्था तत्र स्थिता एकरूपा एकैव अदशैव इत्येवकार आवर्त्तनीयः । अतः सा किं वक्तुं शक्यते ? किन्तु ते प्रसिद्धा वयं भूरिभागाः । कुतः ? हृषीकचषकैरेषामङ्घ्र्युजमधु पिबामः । कीदृशम् ? अमृतासवममृतादपि आसवमसूनामिदं हितमासवम् । वयं कीदृशाः ? शर्वादयः शर्व आदिर्येषाम् ।। ३३ ।। यत्सम्पर्काद्वयमपि धन्याः, तत्स्वरूपा तु परमप्रेयसीत्याह—तद्भूरिभाग्यमित्यादि । इह नृलोके तत्राप्यटव्यां वृन्दावने, तत्रापि गोकुले नन्दव्रजे अपि कतमस्य यस्य कस्याप्यङ्घ्रिरजसमभिषेको यत्र । नृलोक इति नृजन्म वा, अटव्यामिति तर्वादिजन्म वा, गोकुल इति गवादि-जन्म वा । यद्येषां तु भगवान् मुकुन्दस्त्वं निखिलं जातकुलशीलादि जीवितं प्राणाः यस्य मुकुन्दस्य तव पादरजस्तु अद्यापि श्रुतिमृग्यमेव, न तु तासां लभ्यम् । मुक् मुक्तिस्तानुन्दति क्लेदयति भक्तान् प्रति मुक्तिं विक्लेदयतीत्यर्थः । पृषोदरादित्वात् न्यङ्क्वादित्वाद् वा चस्य कः ।। ३४ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्चैभिर्व्रजवासिभिर्वयमपि भूरिभागा क्रियामहे इत्याह—एषां तु भाग्यस्य महिमा तावदास्तां कस्तां वक्तुं शक्नोति वयमेकादश एतेषामिन्द्रियाधिष्ठातारोऽपि भूरिभागाः अत एतेषां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैस्तव अङ्घ्र्युदजयोश्चरणकमलयोर्मञ्जीररञ्जितयोर्मधु तत्रत्याऽभिमानाध्यवसायसङ्कल्पशब्दस्पर्शरूपरसगन्धकीर्त्तनसम्वाहनान्तिकगत्यात्मकं तदेव अमृतं स्वादु आसवं मादकं शर्व्वादया रुद्रादय इत्यश्लालस्येन्द्रियद्वयस्याधिष्ठातृदेवताद्वयस्य त्यागात् चित्ताधिष्ठातुर्वासुदेवस्यापि तदभेददृष्ट्या त्यागादेकादशैव पिबामः अत्र यद्यप्यभिमन्तुरात्मन एव विषयभोगा न तु तत्कर्तृणामिन्द्रियाधिष्ठातॄणामित्यध्यात्मसिद्धान्तस्तथापि बुद्धौ ब्रह्मा तिष्ठति चक्षुषि सूर्यस्तिष्ठति तं तमधिष्ठातारं विना तत्तदिन्द्रियं श्रीकृष्णनिष्ठानामपि रूपरसादीनां ग्राहकं न स्यादिति सामान्यदृष्ट्या अध्यात्मविदां प्रवादोऽपि श्रीकृष्णे रत्यौत्कण्ठ्यवतां ब्रह्मादीनामानन्दहेतुः कर्तृत्वमात्रेणैव भोक्तृत्वाभिमानस्वीकारात् तथैव स्वेषां प्राकृतत्वेऽपि प्राकृतत्वेऽपि अप्राकृततत्तदिन्द्रियाधिष्ठातृत्वाभिमानाच्च प्रेम्णामेव विलक्षणैव प्रक्रिया दृश्यते चान्यत्र पद्यावल्यादौ "मिथ्याभवादवचसाप्यभिमानसिद्धिः" इत्यादौति अन्यथा चिदानन्दमयवपुषां श्रीभगवत्परिवाराणामिन्द्रियादीनामपि भगवत इव तन्मयत्वमेव न तु प्राकृतत्वं सम्भवेत् कुतस्तत्र प्रपञ्चगतानां ब्रह्मादीनां प्रवेश इति ज्ञेयम् । यद्वा, कादाचित्केनापि तन्माधुरीलाभेन स्वेषामपि भाग्यमभिनन्दति, एषामिति । भाग्यमहिता एका अद्वितीया अनुपमेत्यर्थः । दशैव दशापि वयं दिक्पालदेवताः भूरिभागा भवामः कुत इत्यत आह, एतदिति स्वतज्जन्या स्वनेत्रश्रोत्राणि स्पृशति वत्सचारणाय व्रजान्निष्क्रान्तस्य तव चरणसौन्दर्य्यसौस्वर्य्यामृतनेत्रश्रोत्रैः पिबाम इति ।। ३३ ।। तस्माज्जगदैश्वर्य्याय प्रार्थाय प्रार्थ्याय मोक्षाय च मया जलाञ्जलिर्दत्तः केन प्रकारेणैषां व्रजवासिनां चरणधूलयो लभ्यन्त इति विभाव्य सनिश्चयमाह—तदेव मे भूरिभाग्यं भवत्विति शेषः । यदि श्रीमत्कृपाकटाक्षा उदारा भवन्तीति भावः किन्तत् इह अटव्यां वृन्दावने यत् किमपि कोमलतृणदूर्वादजन्म

यदुपरि त्वत्प्रियसखादिव्रजवासिजनचरणविन्याससौभाग्यं सम्भवेत्। नन्वस्मिन्नतिदुर्ल्लभे लोभं विहाय स्वयोग्यमन्यत्प्रार्थयस्वेति चेत् तर्हि गोकुलेऽपि त्वन्नगरप्रान्तादावपि कतमस्य त्वदीयसौचिककारुहुडिपाद्येकतरस्याप्यङ्घ्रिरजसोऽभिषेको यत्र तथाभूतं शिलापीठपट्टकादिजन्म भवतु, नन्वेषां व्रजवासिनामेतावन्माहात्म्यवत्त्वे को हेतुः कथं वा जगत्पूज्यस्य जगत्स्रष्टुः परमेष्ठिनस्तवैषां नीचजातीनां पादधूलिलिप्सायां नास्ति लज्जेति तत्राह, येषां जीवितं भगवान् भगं श्रीकाममाहात्म्येत्यमरनानार्थवर्गात् सौन्दर्य्यसौस्वर्यादिगुणविशिष्टो भगवान् मुकुन्दः मुखे कुन्दवद्धास्यं यस्य सः इति त्वत्सौन्दर्य्यादिमन्दहसिताद्येव जीवनोपायः तेन विना सद्य एवामी म्रियन्ते इत्येतेषामसाधारणस्त्वयि महाप्रेमैव सर्वोत्कर्षे हेतुरिति भावः। निखिलमिति किञ्चिदपि जीवितन्न भोजनपानादिहेतुकमित्यर्थः, अतोऽद्यापि येषां पदरजः श्रुतिभिमृ॑ग्यते एव न तु प्रायः प्राप्यत इत्यतोऽहं ब्रह्मापि किं वेदेभ्योऽप्यधिको यत एतत् प्रार्थने मम लज्जा स्यादिति भावः। अतो मया तदस्तु मे नाथेति यत् पूर्वं प्रार्थितन्तत्स्वस्य वैधभक्तिमत्त्वे एव यदि व्रजजनानुगतिमत्त्वेन मां रागानुगामृताम्भोधौ निमज्जयति तदेवं प्रार्थितम्॥ ३४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

किंच, हे अच्युत, नित्यमूर्त्ते! एषां नन्दगोपव्रजौकसां भाग्यस्य महिता महिमा तावदास्ताम्, कस्तद्वर्णने क्षम इत्यर्थः। बुद्ध्याद्यधिष्ठातारो वयमेकादश अन्ये चाहङ्काराद्यधिष्ठातारः शर्वादयः त्रियः भूरिभागा महाभाग्यवन्तः यस्मादेतेषां हृषीकाणीन्द्रियाण्येव चषकाणि पात्राणि तैः अङ्घ्री एवोदजे कमले तयोर्मधु मकरन्दस्तदेवामृतं स्वादु आसवं मादकमसकृत्पुनः पुनः पिवामः यदा प्रत्येकं करणाधिष्ठातारो वयं कीर्त्तिसौन्दर्य्यसौगन्ध्याद्येकैकदेशसेविनोऽपि कृतार्थास्तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनां किं वर्ण्यते इति भावः॥ ३३॥ तस्मात् यन्मया प्रार्थितं "तदस्तु मे नाथ! स भूरिभागः" इति तद्भूरिभाग्यमिदमेवेत्याह—तद्भूरिभाग्यमिति। किं तदित्याकाङ्क्षायामाह—इह मनुष्यलोके तत्रापि अटव्यां तत्रापि गोकुले गोपीगोपानां गमनागमनादिव्यवहारभूमौ यत्किमपि जन्म तत् अहो ब्रह्माण्डाधिपतेरत्र तव जन्म प्रयोजनं किमत आह—अपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकमिति। गोकुलवासिनां मध्ये अपि कतमस्याप्यङ्घ्रिरजोऽभिषेको यस्मिन् तत्। नन्वत्रत्यानामेवम्विधमाहात्म्ये को हेतुरत्राह यदिति। यत्र येषां जीवितं तु भगवान् मुकुन्दस्त्वं निखिलं साङ्गं सफलं करोषि यत् यस्य तव पादरजः श्रुतिभिमृ॑ग्यमेव न तु दृश्यते प्रथमस्तु शब्दो भगवत्सम्बन्धवर्जितस्य जीवितस्य तुच्छत्व सूचयति, द्वितीयस्तुशब्दो भगवदितरैः सफलीकृतस्य जीवितस्य तुच्छत्वं सूचयति॥ ३४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कदाचित्केन भगवन्माधुरीलाभेन स्वभाग्यमभिनन्दति एषामिति। एषां व्रजौकसां भाग्यमहिमा तावदास्तां कस्तां शक्नुयात् वक्तुं यत एका अद्वितीया निरुपमेत्यर्थः। दशैव दशापि वयं शर्वादयो दिकपाला भूरिभागा भवामः कुत इत्यत्राह एतदिति तर्जन्या स्वनेत्रश्रोत्राणि स्पृशति एतैः हृषीकचषकैरिन्द्रियप्राणपात्रैस्ते अङ्घ्र्युदजयोश्चरणपद्मयोर्माधुर्यमधूनि नेत्रचषकैः शिञ्जितमधूनि च श्रोत्रचषकैरसकृत् पिबामः तानि च स्वादुत्वान्मादकत्वाच्चामृतासवरूपाणीति शर्वादयो व्रजे तद्दर्शनाय मुहुरायान्तीति युगलगीते व्यक्तीभावि यत्तेषां व्रजौकसां हृषीकचषकैस्तदधिष्ठातारो देवा वयं तानि पिबाम इत्याहुस्तत्र करणाधिष्ठातॄणां भोक्तृत्वानङ्गीकारात्॥ ३३॥ अथ वृन्दाटवीदर्शनमहिम्ना रुचितभक्तिवर्त्मनि सतृष्णः प्रार्थयते तद्भूरीति। प्रभुरुदारश्चेत् कृपाकटाक्षस्तर्हि मे तदेव भूरिभाग्यं भूयादितिशेषः। किं तत्। इह वृन्दाटव्यां यत्किमपि पूर्वादिजन्म यत्र ते समित्रगणस्य पादसंस्कारः स्यादिति भावः। एतच्चेन्नाभिमतं तर्हि गोकुले त्वन्नगरप्रान्तेऽपि किमपि शिलापट्टिकात्मकं जन्मास्तु, कीदृशं तत्? कतमस्य यस्य कस्यापि तद्वासिनः अङ्घ्रिरजसाभिषेको यस्मिस्तत् ननु तद्वासिनां कुतोऽयं महिमा कथं वा जगत्पूज्यस्य जगत्पतेस्तव तत्पादरजःस्पृहायां न त्रपेति चेत्तत्राह मुखे कुन्दवत् हासो यस्य सोऽतिमधुरमूर्त्तिर्भगवान् स्वयं प्रभुर्येषां निखिलं जीवितं तदेकजीवनत्वात्तादृशमहिमानस्ते इत्यर्थः। येषां पादरजोऽद्यापि श्रुतिभिमृ॑ग्यते न तु लभ्यतेऽतो मे तत्स्पृहायां का त्रपेति भावः। श्रुतिधारणादेव मे जगत्पूज्यतादीति॥ ३४॥

श्रीसुबोधिनी

एवमधिभौतिकस्य जन्मप्रार्थनेन तेषां भाग्याभिनन्दनेन च भगवान् स्तुतः, इदानीमाध्यात्मिकरूपस्य स्वस्यैवाभिनन्दनेन स्तौत्येषामिति, तुशब्दः पूर्वपिक्षयाप्याधिक्यकथनार्थः, एषां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां ततः पूर्वमेतदेव निरूपयिष्यामः, एतन्निरूपणे तु ततस्त्रयोदशगुणमेषां भाग्यमर्थादेवोक्तं भविष्यति, वयमेतेषां गोकुलवासिनामिन्द्रियाधिष्ठातृदेवा एकादश "दिग्वातार्कप्रचेतोश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रका"श्चन्द्रश्चेति, केचिदन्तःकरणचतुष्टयस्य भिन्नं भिन्नमाहुस्तदा चतुर्दश त्रयोदश वा भवन्ति, सर्वानात्मतया गृहीत्वा वदति वयमिति, बतेति हर्षे भूरि भाग्यमेषां, यद्येते गोकुलवासिनो नोत्पन्ना भवेयुस्तदास्माकमधिष्ठातृता विफलैव स्यात्, भाग्ये निदानमाहैतत्तद्धृषीकचषकैरिन्द्रियपानपात्रैरसकृद् वारंवारमङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं शर्वादयो महादेवसहिता वयं पिबामः, अङ्घ्रिरेवोदजं कमलं तत्र मध्वेव मकरन्द एवामृतासवं मिष्टं देहादिविस्मारकं च, रोमाञ्चः स्वदश्च दशमकार्यं, अन्येषामनुपयोगः

स्पष्ट एव, पुंसामपि बालककन्योत्पादनादिद्वारा मित्रको परित्यज्य शर्वादय एकादशैव वा ॥ ३३ ॥ एवं गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्द्य वृन्दावनवृहद्वनादिष्वपि ये वृक्षादयोऽपि जाता लतागुल्मादयश्च कीटादयो वा तेषामपि भाग्यमभिनन्दति तद् भूरिभाग्यमिति, तदेव जन्म भूरिभाग्यमधिकभाग्ययुक्तं, इह वृन्दावने गोकुले वा किमप्यप्रयोजकमपि जन्म, तत्र हेतुः कतमस्य परब्रह्मणोऽङ्घ्रिरजसामभिषेको यत्र, कतमस्य गोकुलवासिना वा यस्यकस्यचित्, येषानुलग्नानां गोकुलवासिनां वा निखिलमपि जीवितं स्वार्थं परार्थमैहिकपारलौकिकार्थं च सर्वमेव भगवाननन्तः, अनन्तपदेन ब्रह्मवादप्रकारो व्यावर्तितः, किन्तु विशेषप्रकारेण रजसां महात्म्यमाह्यापि यस्य भगवतः पदरजः श्रुतिमृग्यमेव, श्रुतयो हि भगवत्प्रदान्वेषणपरा ब्रह्म भगवत्पदं ज्ञात्वा "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" "तद् विष्णोः परमं पद" मित्यादिभिर्ब्रह्य प्रशंसन्ति, रजःप्राप्तौ तु कृतार्थाः सत्यो न पुनर्बोधयेयुः प्रयोजनाभावात् ॥ ३४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

किञ्च हे अच्युत ! एषां व्रजवासिनां भाग्यस्य महिता महिमा तावदास्ताम्, कस्तं वक्तुं शक्नोति ? 'बत' इति हर्षे । शर्वो रुद्रः आदिर्येषां ते एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवता एव वयं भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः । नात्र सन्देह' इत्याह—होति । तत्र हेतुमाह—एतदिति । एतेषां व्रजवासिनां हृषीकाणि इन्द्रियाणि एव चषकाणि पानपात्राणि तैः ते तवांघ्री एव उदजे कमले, तयोर्मधु मकरन्दः, तदेवामृतं तद्वत् स्वादु आसवमन्यविस्मृतिकारकं मादकमसकृत् पिबामः । यदा प्रत्येकमिन्द्रियाभिमानिनो वयं रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाद्येकैकविषयसेविनोऽपि कृतार्थास्तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेनेषां भाग्यं वक्तुं केन शक्यते इति भावः । तत्र शर्वः अहङ्कारस्याधिष्ठाता, ब्रह्मा बुद्धेः, चन्द्रो मनसः, दिशः श्रोत्रयोः, वातस्त्वचः, अर्कश्चक्षुषोः, वरुणः रसनायाः, अश्विनीकुमारौ नासिकयोर्द्वयोरेकत्वेन ग्रहणम्, वह्निर्वाचः, इन्द्रो हस्तयोः, उपेन्द्रः पादयोः, मित्रः पायोः, ब्रह्मैव उपस्थस्यापि, इत्येवं त्रयोदश । तत्र पायूपस्थयोः सेवायामुपयोगाभावात्तयोर्देवते विहाय 'एकादश' इत्युक्तम् ॥ ३३ ॥ एवं भगवद्भक्तानां भाग्यमभिनन्द्य तेषु प्रवेशे स्वस्यानधिकारं मत्वा 'तेषां पादरजः—सम्बन्धेनैव तदधिकारसिद्धिर्भवति' इति निश्चित्य पूर्वं यत् प्रार्थितं "भवज्जनानां मध्ये कोऽपि भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे' इति, तत्राप्याग्रहं त्यक्त्वा व्रजवासिजनपादरजोऽभिषेकयोग्यं जन्म प्रार्थयते—तद्भूरिभाग्यमिति । तादृशं भूरिभाग्यमस्तु, येन इह मनुष्यलोके तत्रापि गोकुले तत्राप्यटव्यां वृन्दावने किमपि पशुपक्षिवृक्षलताकीटादीनां मध्ये जन्मास्तु । ननु "सत्यलोके जगत्स्वामित्वं विहाय अत्र जन्मनि को लाभः ?" तत्राह—अपीति । गोकुलवासिनां मध्ये कतमस्य यस्यकस्यापि अङ्घ्रिरजसाऽभिषेको यस्मिन् तत् गोकुलवासिनां चरणरजःसम्बन्ध एव महाँल्लाभः । 'एषामपि कुत एवं महत्त्वम्' इत्यत आह—यदिति । येषां जीवितं निखिलं गृहवित्तपुत्रादिसर्वस्वं च भगवान् मुकुन्द एव, सर्वथा तत्परत्वादेव एषामेवं महत्त्वमित्याशयः । ननु 'ममैव एवं महत्त्वं कुतः ?' तत्राह—अद्यापीति । अनादिकालमारभ्य अद्यपर्यन्तमपि यस्य तु भवतः पदरजः श्रुतिभिरपि मृग्यते एव, नतु दृश्यते इत्यर्थः । अतस्त्वदनन्यभक्तानामेषां माहात्म्यं किं वर्णनीयमित्याशयः ॥ ३४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एषामिति ॥ हे अच्युत ! एषां घोषनिवासिनां व्रजवासिनां भाग्यस्य महिमा तावदास्तां कस्तं वक्तुं शक्नोति । बतेति हर्षे । शर्वो रुद्रः आदिर्येषां ते एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृदेवता एव वयं भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः यतः एतेषां व्रजवासिनां हृषीकाणि इन्द्रियाणि एव चषकाणि पानपात्राणि तैस्ते तव चतुर्दशस्य चित्ताधिष्ठातुः अङ्घ्री एव उदजे कमले तयोर्मधु मकरन्दस्तदेवामृतं तद्वत्स्वादु आसवमन्यविस्मृतिकारकं मादकमसकृत् पिबामः । तत्र शर्वः अहङ्कारस्याधिष्ठाता ब्रह्मा बुद्धेः चन्द्रो मनसः दिशः श्रोत्रयोः वातस्त्वचः अर्कश्चक्षुषोः वरुणः रसनायाः अश्विनीकुमारौ नासिकयोर्द्वयोरेकत्वेन ग्रहणं वह्निर्वाचः इन्द्रो हस्तयोः उपेन्द्रः पादयोः मित्रः पायोः ब्रह्मैव उपस्थस्यापि इत्येवं त्रयोदश । तत्र पायूपस्थयोः सेवायामुपयोगाभावात्तयोर्देवते विहायैकादशेत्युक्तम् । यदा प्रत्येकमिन्द्रियाभिमानिनो वयं कीर्त्तिसौन्दर्यसौगन्ध्याद्येकदेशसेविनोऽपि कृतार्थाः तदा सर्वेन्द्रियैः सर्वसेविनामेषां भाग्यं किमुच्यते ॥ ३३ ॥ "तदस्तु मे नाथ स भूरिभाग" इति यत्प्रार्थितं तदिदमेवेत्याह—तद्भूरिभाग्यमिति ॥ तादृशं भूरिभाग्यमस्तु येन इह मनुष्यलोके तत्रापि गोकुले तत्राप्यटव्यां वृन्दावने किमपि पशुपक्षिवृक्षलताकीटादीनां मध्ये जन्मास्तु । तत्रापि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसाऽभिषेको यस्मिन् तद् जन्मास्तु गोकुलवासिनां चरणरजःसम्बन्ध एव महाँल्लाभः । येषां जीवितं निखिलं गृहवित्तपुत्रादिसर्वस्वं च भगवान्मुकुन्द एव । यतः अद्यापि अनादिकालमारभ्याद्यपर्यन्तमपि यस्य तु भवतः पदरजः श्रुतिभिरपि मृग्यत एव ननु दृश्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

त्रिः त्रीन् वारान् परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य जगद्धाता ब्रह्मा अभीष्टं प्रेष्टं स्वस्थानं प्रत्यपद्यत जगाम ॥ ३३ ॥ तत इति स्वभुवं स्वस्मादुत्पन्नं विधिं भगवान् अनुज्ञाप्य गमनाऽऽज्ञां दत्त्वा ततस्तदनंतरं यथापूर्वं चेष्टाद्यनतिक्रमेण स्थिताः सखायो यत्र तत् स्वकं स्वकीयं पूर्वभोजनस्थलं पुलिनं तटतत्रिप्रागवस्थितान् पूर्वान् वत्सान् आनिन्ये आनीतवान् ॥ ३४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एषमिति ॥ हे अच्युत, एषां तु एतेषां नन्दादीनां तु इत्यर्थः । भाग्यमहिमा भाग्यस्य महत्ता, तावत् आस्ताम् । कस्तन्महिमानमियत्तया वर्णयितुं शक्नुयादित्यर्थः । शर्वोऽहंकाराधिष्ठाता रुद्रः आदिर्येषां ते, एकादश चन्द्रादयः, वय अहं च, वयमित्यात्मानमेव बहुमन्यमानस्योक्तिः । एवं मनोबुद्ध्यहंकारोभयेन्द्रियाधिष्ठातारो वयं त्रयोदश देवा इत्यर्थः । हि निश्चितं, वर्तेति हर्षे, भूरिभागाः महाभाग्यवन्तः । कुतः । यतः एतेषां व्रजवासिनां हृषीकानीन्द्रियाणि तान्येव चषकानि पानपात्राणि तैः, ते तव, अङ्घ्रिश्चरण एवोदजं कमलं तस्य मधु मकरन्दः तदेवामृतवत् स्वादु आसववत् मादकं, असकृत् पिबामः, एव, एकैककरणाभिमानिनो वयमेकैकदेशसेविनोऽपि कृतार्थास्तदा सर्वेन्द्रियैस्तव सर्वाङ्गलावण्यसेविनामेतेषां भाग्यं किं वर्ण्यते इति भावः । अत्र ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकमिति दश बाह्यकरणानि मनोबुद्ध्यहंकारचित्ताख्यानि चत्वार्यन्तःकरणानि तेषां चतुर्दशानां चतुर्दशाधिष्ठातारो देवास्तत्र चित्ताधिष्ठातुरच्युतस्य कृष्णस्य चाभेदात्तदगणने त्रयोदश शिष्टास्तत्रापि शर्वादय इत्यत्र शर्वोपादाने द्वादशावशिष्टाः, वयमिति पदेन स्वयं ब्रह्माप्युपात्तः । एवं सति आदिशब्दोपादेया एकादश शिष्टास्तत एकादशेत्युक्तमिति बोध्यम् । अत्र केचित्तु गुह्येन्द्रिययोरनुपयोगादश्लीलत्वाच्च तदधिष्ठात्रोर्मित्रप्रजापत्योस्त्यागेन पादाधिष्ठातुरुपेन्द्रस्य सर्वपद्धारणशक्त्यावेशमात्रेणानुपयुक्तप्रायत्वात्तत्त्यागेनैकादशत्वमित्याहुः ॥ ३३ ॥ यन्मया प्रार्थनीयं तदेतदेवेत्याह ॥ तदिति ॥ इह मनुष्यलोके, किमपि यत् जन्म, मानुषं जन्म तत्रापि, अटव्यां विपिने यज्जन्म, तत्रापि गोकुले यज्जन्म तदपि, कतमस्य गोकुलवासिनां मध्येऽपि यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिंस्तथाभूतं, यत् जन्म, तत्तदेव, भूरि भाग्यं, अतो मया यत् प्रार्थनीयं तदेतदेवेत्यर्थः । सत्यलोकं विहायात्र जन्मोपलभ्य व्रजजनपत्स्पृष्टरेणोरभिषेकं प्रार्थयामीति भावः । यत्पदरजः यस्य तव पादरजः तु अद्यापि श्रुतिमृग्यं एव, वेदान्तैरपि तन्मृग्यत एव न तु दृश्यत इत्यर्थः । इत्थंभूतमहिमः, मुकुन्दो मुक्तिप्रदः, भगवान् षाड्गुण्यपूर्णः परमेश्वरस्त्वमेव, निखिलं यज्जीवितं येषां परमजीवनरूपः असि, तत एतन्मया प्रार्थ्यते इति भावः ॥ ३४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तद्भूरिभाग्यमिति । १०.१४.३४.

अत्रत्येषु रजःसितोपलशिलाशैलादिपूर्वीरुहामल्पीयस्तृणवल्लरीषु यदि वा पक्ष्यादितिर्यक्षु वा ।
एतेष्वन्यतमं जनुर्दिश तथा श्रीशानिशं प्रार्थये साष्टाङ्गं प्रणिपत्य येन भविता त्वत्पादयोगः सदा ॥ ४१ ॥
त्वन्नाभिपद्मारुहमासमीश त्वत्पादपद्मोदित एष रेणुः । सोदर्यसङ्गस्पृहयालुचेतो वस्तुं तदत्रेच्छति सावकाशम् ॥ ४२ ॥
नानासत्त्वनिजेवितं शिवकरं सूर्याश्रितं निस्तमो भूयोऽनन्तपदानुगामि विलसद्गोभूषितं तत्सुखम् ।
दृष्ट्वा माधव सर्वतोमुखगति प्रोद्भूतमेतद्व्रजस्तत्तुल्यां स्थितिमाकलय्य च निजां मन्येऽतिधन्यं निजम् ॥ ४३ ॥

कृष्णप्रिया

हे अच्युत प्रभो ! श्री नन्दबाबा-यशोदारानी रोहिणी देवी और समग्र व्रजजन पशु-पक्षिओं के भाग्य की तो दूर रहे कौन तारीफ कर सकेगा इनकी महिमा की जहाँ शेष-सरस्वती-श्रुति की गति नहीं। लेकिन ब्रह्मा शिव-विष्णु आदि ग्यारह देव भी कम भाग्यवान् नहीं, क्योंकि सेवा-स्नेह निरत इन व्रजवासिओं की ग्यारह इन्द्रियों के आसवपेययोग्य-चषक-प्याले बनाकर हे नन्दलाल ! आप के श्रीचरण कमलों के अमृत से भी अधिक मधुर मादक मकरन्द आसव रस का बार-बार पान करते रहते हैं भला जिन ब्रज प्यारे का हम देव केवल एक एक इन्द्रिय के माध्यम से मकरन्द रस पीकर अघा गये हैं-कृत-कृत्य बन गये हैं तब समग्र इन्द्रियों से रसराज की सेवा रस का पान करने वालो के लिये तो क्या कहा जाय ॥३३॥ अब नाथ एक अभिलाषा यह है कि-इस व्रजभूमि में किसी भी अटवी-वन में, यदि मान ले तो विशेष करके इस गोकुल में वह बड़भागी गोप जन का नन्द परिवारिक दौवारिक का या तो किसी भी योनि का जन्म मिले यही दैन्य पूर्वक निवेदन है। नाथ, यदि व्रज में देह मिली तब तो किसी न किसी भगवदीय जन की पदरज उड़कर मुझ पर आ ही जायगी। नाथ ? जिनके जीवन और गृह-पुत्र-परिवार आदि सर्वस्व मुकुन्द भगवान हो, उनके पद पराग की प्राप्ति आप के श्रीपदपंकज पराग की ही प्राप्ति है। हे भगवन् ! हे श्री कृष्ण, आप के श्रीचरण पङ्कजों की 'रज' तो आज अनादि काल से अद्यापि श्रुति भगवती तलसती है पर देख नहीं पाती ॥ ३४ ॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति नश्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता ये धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥३५॥
तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् । तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥३६॥

१. यद्वा-श्रीधर. वंशी. वीर. विज.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः - हे देव सद्वेषात् पूतना अपि सकुला त्वां एव आपिता (तर्हि) ये त्वत्कृते धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयाः न: चेत् विश्वफलात् त्वदपरं फलं कुत्र अपि अयत् मुह्यति एषां घोषनिवासिनां भवान् किं त्वद ररं फलं राता इति ॥ ३५ ॥ हे कृष्ण ! जनाः यावत् ते न, तावत् रागादयः स्तेनाः तावत् गृहं कारागृहम् अङ्घ्रिनिगडः मोहः तावदेव ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अपि च किं वर्ण्यते कृतार्थत्वमेतेषां येषां भक्त्या भवानपि ऋणीवास्ते। ननु किं दातुमसमर्थोऽहं येन ऋणी स्यामत आह। उत अपि भवानपि एषां कुत्रापि किं विश्वफलात्सर्वफलात्मकात्त्वत्तः परं फलं राता दास्यतीति नश्चेतः अयत्सर्वत्र गच्छद्विचारयत् मुह्यति। ननु मामेव दत्त्वाऽनृणः स्यामिति चेन्नहि नहि। सद्वेषादिव सतां भक्तानां यो वेषस्तदनुकरणमात्रेण पापिष्ठा पूतनाऽपि त्वामेवापिता प्रापिता तर्हि एतत् महद्रूपं फलम् एतत्संबंधिनामपि नंदादीनामपीत्यर्थः। मां दास्यामीति चेत्तत्राह। सकुलेति। बकाघासुरसहिता एषामपि तावदेव चेदपर्याप्तमित्याह। यदिति। येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थमेवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ननु वीतरागादिदोषाणां संन्यासिनामपि न मत्तः परं किंचिदस्ति कथमेषामपर्याप्तमित्यत आह। तावदिति। हे कृष्ण रागादयस्तावत्स्तेनाश्चोरा भवंति। तथा तावद्गृहमपि कारागृहं बंधनागारम्। मोहोऽपि तावदेवांघ्रिनिगडः पादशृंखला। यावत्ते त्वदीया जना न भवंति। त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठा मोचका एवेति न यतिभ्यो विशेषो भजनं त्वधिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्यदपि तेषामलौकिकमहत्त्वमाह—अपि चेति। अत्राशङ्कते—नन्विति। एषां व्रजवासिनाम् कुत्रापि कस्मिन्नपि। सर्वफलात्मकात् सर्वाभ्युदयस्वरूपात्। त्वत्तो भवतः। परम् अन्यत्, किं फलमित्यन्वयः। मुह्यति आकुलीभवति। माम् आत्मानम्। नहिनहीति द्विरुक्त्या सर्वथाऽऽनृण्याऽभाव उक्तः। यदि पूतनैकाकिनी मुक्ता तर्हीति। तत्राक्षेपे। बकाघभ्रातृसहिता सापि सकुलेति "कुलं समूहे देहे च वंशसम्बन्धिनोरपि" इति धरणिः। एषां व्रजवासिनाम्। तावदेव पूतनातुल्यमेव ददासि चेत्तर्हि अपर्याप्तं न्यूनमेव तत्। येषां व्रजवासिनाम्। धाम गृहम्। अर्थो वसु। सुहृदः सम्बन्धिनः। प्रिया भार्या। आत्मा देहः। आशयोन्तःकरणम्। त्वदिति षष्ठ्यर्थे—तव। कृते इति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं तादर्थ्ये। इत्यर्थ इति। न हि सर्वात्मभावेन सर्वसमर्पिणां परमभक्तानां मारणार्थमागतपापपूतनया साम्यमुचितमिति भावः ॥ ननु भवद्विधायापि यद्येवं चरण रज एव परमफलत्वेन दास्ये, किञ्च पूर्वं भवता त्वां लब्ध्वैव त्वां स्तौमीति प्रतिज्ञातमधुना पुनरेतच्चरणरज एव प्रार्थ्यते, भद्रेयं निष्ठा भवद्विधानामिति सनर्मप्रश्नमाशंक्य तथैवाह। एषां पूर्वोक्तमाहात्म्यानाम्। उत प्रश्ने। विश्वफलादपीत्यपिशब्दान्वयः। ततश्चास्याः श्रीव्रजभूमेरूर्ध्वं तव स्थानं नास्ति एतत्स्वरूपादूर्ध्वञ्च फलं नास्तीति कुत्र च दातेत्यर्थः। अयदिति नञ्पूर्वमिण्धातो रूपम्। त्वत्तः परं फलं कुत्राप्यजानदित्यर्थः। मुह्यतीति। निश्चयाशक्तेः। सत्यं मँद्भावयुक्तानां व्रजवासिविशेषाणां धात्री जनानां वेशात् 'लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्यां' इति तृतीयोक्तेः। इवेति हिंसामयदम्भेनैव न तु भक्त्येत्यर्थः। अतः समानफलत्वं कथं स्यादिति भावः। पूतनापि अन्यस्य का वार्तेत्यर्थः। अपिशब्दोऽयं यथायोगमन्यत्रापि योज्यः। सकुलेति। प्राक्तनाधुनिकतत्कुलोत्पन्नसहिता गोकुलप्रतिकक्षत्वेन निर्देशात्। बकाघयोस्तु स्वतन्त्र एव तत्स्पर्शोऽस्त्यन्येष्विव त्वामेवेति। पूतनायाः साक्षात् अन्येषां तु भगवद्द्वेषिणां पूतनाऽनुवर्तित्वेनैव। बकाघयोस्तु विरोधिवेशान्मुक्तिमात्रमिति ज्ञेयम्। आपिता त्वयैवेति शेषः। सुहृन्निरुपाधिहितकारी, प्रियः तादृशप्रीतिविषयः। त्वत्कृत इति प्रत्येकं स्वाभाविकमेव तेषां तदेकार्थत्वं, तव पुनस्तत्तद्भेदेनानेकप्रियजनार्थत्वमित्यर्थः। तदेवं ते पूर्णा एव। श्रीभगवच्चरणास्तु प्रत्युपकारासामर्थ्येनाऽपूर्णा इवातस्तेभ्यः किमिव दास्यन्त्यतोऽहमपि भवतामृणित्वेन पारवश्यमाशङ्क्य तादृशनिजाभिलषितसिद्धये तच्चरणरजश्शरण एव भवितुं युक्त इति भावः। तदेवमपि श्रीकृष्णतद्वासिनोरव्यभिचारत्वमेव व्यञ्जितम्। तथा पूर्वोक्त तयैवायं परमसिद्धान्तः सूचितः। तादृशत्वद्वशीकारमयप्रेम्ण एव परमफलत्वात् ॥ विश्वनाथस्तु—किञ्च, येषां पादरजो मया लोभात्प्रार्थ्यते तल्लभ्यतां न लभ्यतां वा मयेति स्पष्टं न ब्रूषे चेत्, मा ब्रूहि, किं त्वन्यदेकं यत्पृच्छ्यते तदुत्तरमवश्यमेव देहीत्याह—एषामेभ्यो भवान् किं रातेति किं फलं दास्यतीति। उत प्रश्ने, इत्यहं पृच्छामीत्यर्थः। ननु सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञ त्वयैव चेतसि विचार्य स्वयमेव ज्ञायतां तत्राह—नोऽस्माकं चेत इति। बहुवचनेन न केवलं ममैव अपि तु रुद्रसनकादीनां नारदादीनां च सर्वेषामेव सर्वज्ञानां चेतो मुह्यति। चेतः कीदृशम्—किं च फलात्सर्वफलात्मकात्त्वत्तोऽपि अपरमन्यत्फलं कुत्रापि देशे काले वा यत् बुद्ध्या बहुधाऽन्विष्याऽपि अप्राप्नुवत् 'इण्—गतौ' शत्रन्तः। अयमर्थः—सर्वफलरूपमेभिरनावित एव पुत्रादिरूपेण प्राप्य एव वर्तसे अत एव मयैषां भवानिति षष्ठी प्रयुक्ता। यदि तु त्वत्तोऽप्यधिकमन्यत्किञ्चन वस्तु प्रशस्तमस्यास्यतु तदैतेभ्यो देयत्वेन योग्यमभविष्यत्, तत्तु नास्तीत्यस्माकं चेतोमोहहेतुरिति। ननु ब्रह्मन् सत्यं तत्त्वानभिज्ञ एवासि मयैतेषां भविष्यन्तीमनुरागमयीं भक्तिं जानतैव तत्साध्यफलभूतस्वात्मा पुत्रादिरूपः प्रथममेव दत्त इत्यन्ये खलु कृतज्ञाः, अहं तु करिष्यमाणविज्ञ इति मदीयं

जितमिति चेत्सत्यं, प्रभो तदपि त्वं न्यायेन जीयस एवेत्याह—सद्वेषादिव सद्वेषादेवेत्यर्थः। पूतना पापिष्ठापि स्वकुलसहितापि त्वामेवापिता त्वयैव त्वां स्वात्मानं प्रापिता, तथा येषां धामादयो ममतास्पदाहंतास्पदानि त्वत्कृते त्वदर्थमेव ते चैते व्रजवासिनोऽपि त्वया त्वामेवापिता इति वाक्यशेषो नासानेत्रभ्रूग्रीवाभंग्यव ज्ञापितः। यथैव स्वात्माऽतिनिकृष्टायै पापिष्ठायै पूतनायै दत्तः स एव स्वात्माऽतिप्रकृष्टेभ्यः पुण्यवच्चिरोमणिभ्यो व्रजवासिभ्यो दत्त इति प्रथमतो दानेष्यनुचितानुष्ठितिर्दुर्वारा एवेत्येषामृणित्व-स्वीकार एव तव निष्कृतिरिति भावः॥ ३५॥ पुनराक्षिपति—नन्विति। एषामेव कथमपर्याप्तं तेषामप्येतत्तुल्यत्वादपर्याप्त-मेवेति। रागोऽत्यंताभिनिवेशः 'कारा स्याद्बंधनागारे' इति यादवः, मोहः पुत्रादिषु स्नेहविशेषः। इति भाव इति। केवलज्ञानि-भ्यस्तव भक्ता एवाधिका इति तात्पर्यम्। "या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपिनाथ मा भूत्" इति ध्रुवोक्तेः। नन्वेते गृहस्थाः पुत्रकलत्रादिसंसारज्ञाने निपतिता इति संन्यासिभिरुच्यते, सत्यं, त्वल्लक्षणपुत्रत्वद्भक्तलक्षणकलत्रादिमन्त एते गृहस्था वर्तंतां, देशान्तरस्था ये त्वद्भक्तास्तेऽपि सन्न्यासिभ्योऽधिका इत्याह—तावदिति। रागादयो रागद्वेषाभिनिवेशाः, ते च महाचौरा जीवनिष्ठज्ञानानंदादिमहाधनान्यपहृत्य परमेश्वरे राजनि एते मा कूत्कुर्वन्त्विति बुद्धया कर्माधिकारमये गार्हस्थ्यकारागृहे मोहनिगडेन बद्धा जीवाः स्थाप्यन्ते। हे कृष्ण जना जीवा यावत्ते त्वद्भक्तानु-ग्रहभाजनत्वेन त्वदीया न भवन्ति तावदेव रागादयः स्तेनाः, त्वदीयत्वे सति तेषां त्वद्भक्तेष्वेव रागः भक्तिप्रतिकूले वस्तुन्येव द्वेषः त्वय्येवाभिनिवेश इति। प्रत्युत त्वन्निष्ठज्ञानानंदादिकमप्यानीय दधानास्त एव परमसाधवो भूत्वा नित्यमुपकुर्वते। एवमेव गृहं भद्राभद्रकर्मसाधनं यत्कारागारमासीत्तदेव तेषां त्वत्परिचर्याकीर्तनादिसाधनं त्वदीयनित्यधामप्रापकं भवेत्। एवं मोहविषयस्य त्वद्भक्तत्वात्सोऽपि चेत्प्रेमानुभावरूपमोहप्रापक इति कथमेतत्समकक्षतां संन्यासिनो लभंताम्। ये 'कृच्छ्रे महानिह भवार्णवमप्ल-वेशाम्' इत्यादिना मत्पुत्रेण सनत्कुमारेणापकर्षितास्तेभ्यः संन्यासिभ्योऽपि भक्ताः परमाधिकाः, ये देशांतरगृहस्थभक्तास्तेभ्यः परं सहस्रगुणतोऽपि प्रेम्णाधिकतमास्ते व्रजवासिनः तैरेभिस्त्वं साक्षात्पूर्णस्वरूपोऽपि पुत्रादिरूपेण स्वाधानीकृत एव वर्तस इति भावः॥ ननु धामादीनां मदेकार्थतयैव यदि तेषां महिमा तर्हि भवानपि निजगृहं तथैवाचरेदिति चेत्, आस्तां तावत्, एषां स्वात्मनोऽपि त्वदेकार्थत्वेनात्मारामगणेभ्योऽपि महत्तरं भावमाहात्म्यम्, मादृशां तु भवदुन्मुखत्वमपि दुर्घटमित्याह—तावदिति। अयमर्थः—रागो विषयप्रीतिः, तदादयस्तन्मयविषयलाभालाभहानिषु हर्षविषादशोकाद्याः, गृहं विषयमात्रं, मोहो रागादिहेतुरविवेकः, ते च तत्तद्विक्रियायां रागमुखनिरीक्षका एव सर्वे इति प्रथमं स एवोक्तः। तत्र निरुपाधिप्रेमास्पदस्यात्मनोऽप्यात्मत्वेन त्वमेव रागस्य स्वाभाविकपरमयोग्याश्रयः। अतस्तल्लक्षणानिजस्वामिनमुपलभ्यैव भ्रमन्नसौ जनानां शुभवासनारूपां त्वद्भजनसामग्रीं हरंश्चौर एव, ततस्तदनुवर्त्तिनोऽपि तादृशाः। अथ गृहमयो विषयोऽप्यवशिष्टदण्डनायैव कारागारीकृतः स्यात्। त्वत्पादानुस्मरणविरोधिबोधप्रद-त्वात्। मोहोप्यसौ तेन तेनावस्थावैशिष्ट्यं प्रातस्तत्र स्वयं निगडायते। नष्टेऽपि तादृशकारागृहे रागादिमयस्य तस्यावशेषेणापि त्वत्पादानुसरणोन्मुखत्वाशक्तेः। तदेवं त्वदीयानुसृतौ ते तावत्तादृशा भवंति यावज्जनास्ते तव न भवन्ति त्वया न स्वीक्रियंत इत्यर्थः। जाते तु तावकत्वे रागादीनामप्यात्मनोऽप्यात्मनस्तव प्राप्तौ सत्यां तैर्नात्माप्याश्रियते इति स्वयमेव ते दोषा अपगच्छ-न्तीत्यर्थः। अत्र रागस्य तत्प्राप्तिः "या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥" इत्यनुसारेण गृहस्य त्वदर्पितत्वेन मोहस्य च त्वत्प्रेममयत्वेनेति। अत एव ते तावत्तावकानां शिरोमणयो, मादृशास्त्वेतच्चरणरेणुस्पर्शिगणे यत्किंचित्प्राप्त्यप्यभिलाषिण एव, कथमेतत्कक्षां प्राप्नुयुरिति भावः। यद्वा—ननु तेषां प्रत्युपकारासमर्थमपि मां सदा सेवमानास्त एव दूषणीयास्तत्राह—हे कृष्ण सर्वचित्ताकर्षक यावत्ते तव जना न भवन्ति, साक्षात्सेवां न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। अर्थात्त्वद्भक्तास्ता-वत्तेषां त्वत्स्मृतौ स्वाभाविकभोजनेच्छादयो निवासस्थानं कदाचिन्निद्रादिना त्वद्विस्मृतिलक्षणो मोहोऽपि तावत्परमदुःखदा एव न भवन्ति। यद्वा—तव रागादयस्तव लीलास्थानमपि त्वत्प्रेममूर्च्छापि तावत्परमदुःखदा भवन्ति। यावत्साक्षात् त्वत्सेवां न प्राप्नुवन्तीति पूर्ववत्। तदेवं सति तव मोहनत्वमेवैषां व्रजवासिनां तवानुसरणे कारणं तस्मादेषां को दोष इति भावः। किमर्थं—तत्राह—प्रपन्नजनता निजव्रजजनरूपा मदादिरूपा च। प्रथितुं प्रथयितुम्। ऐश्वर्यलीलातोऽप्यस्या लीलाया भक्तजनपरानंदत्वादित्यर्थः। तदुक्तम्—'नंदः किमकरोद्ब्रह्मन्' इत्यादि, "गायंतेऽद्याऽपि कवयो यल्लोकशमलापहम्" इति, 'येन येनावतारेण' इत्यादि, 'यच्छृण्व-तोऽपैत्य रतिर्वितृष्णा' इत्यादि॥ ३६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, भवद्विधायाऽपि यद्येषां चरणरज एव परमफलत्वेन दास्ये तर्ह्येभ्यो वा किं दास्ये। किञ्च, पूर्वं भवता त्वां लब्धुमेव त्वां स्तौमीति प्रतिज्ञातम् अधुना पुनरेतच्चरणरज एव प्रार्थ्यते भद्रेयं निष्ठा भवद्विधानामिति सनर्मप्रश्नमाशङ्क्य तथैवाह, एषामिति। एषां पूर्वोक्तमाहात्म्यानाम् उत प्रश्ने विश्वफलादपीत्यपि शब्दान्वयः ततश्चास्याः श्रीव्रजभूमेरूर्ध्वं तव स्थानं नास्ति एतस्त्वद्रूपादूर्ध्वं च फलं नास्तीति कुत्र च किं दातेत्यर्थः। अयदिति नञ् पूर्वमिण्धातो रूपं त्वत्तः परं फलं कुत्राप्यजानदित्यर्थः। मुह्यतीति निश्चयाशक्तेः सतां सद्भावयुक्तानां व्रजवासिविशेषाणां धात्रीजनानां वेषात् "लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यम्" इति तृतीयोक्तेः इवेति तत्रापि हिंसामयदम्भेनैव न तु भक्त्येत्यर्थः। अतः समानफलत्वं कथं स्यादिति भावः। पूतनाऽरीत्यन्यस्य का

वार्त्तेत्यर्थः । अपि शब्दोऽयं यथा योग्यमन्यत्रापि योज्यः । सकुलेति, प्राक्तनाधुनिकतत्कुलोत्पन्नसहिता गोकुलप्रतिकक्षत्वेन निर्देशात् बकाघयोस्तु स्वतन्त्र एव तत्स्पर्शोऽस्त्यन्येष्विव त्वामेवेति. पूतनायाः साक्षात् अन्येषां तु भगवदद्वेषिणां पूतनानुवर्त्तित्वेनैव बकाघयोस्तु विरोधिवेषानुक्तिमात्रमिति ज्ञेयम्, आपिता त्वयैवेति शेषः । सुहृत् निरुपधिहितकारी प्रियस्तादृशप्रीतिविषयः त्वत्कृत इति प्रत्येकं स्वाभाविकमेव तेषां त्वदेकार्थत्वं तव पुनस्तत्तद्भेदेनानेकप्रियजनार्थत्वमित्यर्थः । तदेवं ते पूर्णा एव श्रीभगवच्चरणात् प्रत्युपकाराऽसामर्थ्येनाऽपूर्णा इव ततस्तेभ्यः किमिव दास्यन्ति अतोऽहमपि भवतामृणित्वेन पारवश्यमाशङ्क्य तादृशनिजाभिलाष सिद्धये तच्चरणरजःशरण एव भवितुं युक्त इति भावः । तदेवमपि श्रीकृष्णतद्वासिनोरव्यभिचारित्वमेव व्यञ्जितम्, तथा पूर्वपक्ष भङ्ग्यैवाऽयं परमसिद्धान्तः सूचितः । तादृशतद्वशीकारमप्रेम्ण एव परमफलत्वात् ॥ ३५ ॥ ननु, धामादीनां मदेकार्थतयैव यदि तेषां महिमा तर्हि भवानपि निजगृहं गत्वा तथैवाचरेति चेत् ? आस्तां तावदेषामात्मनोऽपि त्वदेकार्थत्वेनात्मारामगणेभ्योऽपि महत्तर भावमाहात्म्यं मादृशां तु भवदुन्मुखत्वमपि दुर्घटमित्याह—तावदिति । अयमर्थः रागो विषयप्रीतिः तदादयस्तन्मयविषयलाभालाभ हानिषु हर्षविषादशोकाद्याः गृहं विषयमात्रं मोहो रागादिहेतुरविवेकः ते त्वत्तद्विक्रियायां रागनुखनिरीक्षका एव सर्वं इति प्रश्नः स एवोक्तः, तत्र निरुपाधिप्रेमास्पदस्यात्मनोऽप्यात्मत्वेन त्वमेव रागस्य स्वाभाविकपरमयोग्याश्रयः अतस्त्वल्लक्षणनिजस्वामिनमनुप लभ्यैव भ्रमन्नसौ जनानां शुभवासनारूपां त्वद्भजनसामग्रीं हरंश्चौर एव ततस्तदनुवर्तिनोऽपि तादृशाः । अथ गृहमयो विषयोऽप्यक शिष्टदण्डनायेव तेनैव कारागारीकृतः स्यात् त्वत्पदानुसरणविरोधिरोधसदनत्वात् मोहोऽप्यसौ तेन तेनावस्थात्रैशिष्ट्य प्राप्तस्तत्र स्वं निगडायते नष्टेऽपि तादृशकारागृहे रागादिमयस्य तस्याऽवशेषेऽपि त्वत्पदानुसरणोन्मुखत्वाशक्तेः तदेवं त्वदीयानुसृतौ ते तावत्तादृशा भवन्ति यावज्जनास्ते तव न भवन्ति त्वया न स्वीक्रियन्त इत्यर्थः । जाते तु तावकत्वे रागादीनामप्यात्मनोऽप्यात्मनस्तव प्राप्तौ सत्यां तैर्नाऽत्माप्याश्रियत इति स्वयमेव ते दोषा अपगच्छन्तीत्यर्थः । तत्र रागस्य तत्प्राप्तिः—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु" ॥

इत्यनुसारेण गृहस्य तदर्पितत्वेन मोहस्य च तत्प्रेमयत्वेनेति अत एते तावत् तावकानां शिरोमणयः मादृशस्त्वेतच्चरण रेणुस्पर्शिगणे यत्किञ्चित्त्वत्प्राप्तावप्यभिलाषिणं एव कथमेतत्कक्षां प्राप्तुम इति भावः । यद्वा, ननु तेषां प्रत्युपकारासमर्थमपि सदा सेवमानास्त एव दूषणीयाः तत्राह—हे कृष्ण ! सर्वचित्ताकर्षक ! यावत्ते तव जना न भवन्ति साक्षात् त्वत्सेवां न प्राप्नुवन्ती त्यर्थः । अर्थात् त्वद्भक्ताः तावत् तेषां त्वत्स्मृतौ स्वाभाविकभोजनेच्छादयो निवासस्थानं कदाचिन्निद्रादिना त्वद्विस्मृतिलक्षणो मोहोऽपि तावत् परमदुःखदा एव भवन्ति । यद्वा, तव रागादयस्त्वल्लीलास्थानमपि त्वत्प्रेममूर्च्छापि तावत्परमदुःखदा भवन्ति यावत् साक्षात् त्वत्सेवां न प्राप्नुवन्तीति पूर्ववत्, तदेवं सति तव मोहनत्वमेवैषां व्रजवासिनामपि तवानुसरणे कारणं तस्मादेषां को दोष इति भावः । किमर्थं तत्राह, प्रपन्नजनता निजव्रजजनरूपा मदादिरूपा च प्रथितुं प्रथयितुं ऐश्वर्यलीलातोऽप्यस्या लीलाया भक्त परमानन्दप्रदत्वादित्यर्थः । तदुक्तं "नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् !" इत्यादौ "गायन्तेऽद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्" इति "येन येनावतारेण" इत्यादि "यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिः" इत्यादि ॥ ३६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

मुह्यतीति निश्चयाशक्तेः, यद्वा, ऋणित्वेनैषां वश्यतया मादृशान् विहाय्यात्रैव स्थास्यतीति शोकःदुःखाद्यतिशयेन मोहं प्राप्नोति । सकुला बकाद्यासुर-सहितेति तयोर्भगवत्प्राप्तिहेतु-तत्स्पर्शादि-प्राप्तौ तत्सम्बन्ध एव हेतुरिति ज्ञेयम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । विश्वकलादपीत्यपिशब्दान्वयः, कुत्रेति श्रीमाथुरव्रजभूमावेव स्वतो जन्मादिसिद्धेः । यद्वा, कुत्रापीत्यस्य यथास्थितमेवान्वयः । (अयदिति इन् गतौ शत्रन्तः) गत्यर्थादिण्धातोर्ज्ञानार्थत्वात् कथञ्चित् कदाचिदत्यजानदित्यर्थः । सद्द्वेषात् सतां द्वेषात् मारणो द्यमादपि सकुलाऽपि बालघातनादि-महादुष्टत्वेन प्रसिद्धा पूतनापि त्वामापिता त्वयैव प्रापणकारणं स्तन्यदानादिकं पूर्वं निर्दिष्ट मेवास्ति । इवेति सुखविशेषप्राप्त्या तत्त्वतः साक्षाद्भगवदप्राप्तेः । आपितेति च तत्सुखेन सह भगवदभेदात्तदवाप्त्या भगवदाप्त्यभि प्रायेण । एते च त्वन्मिश्राणीत्युक्तमेव, अतः प्राप्येऽवश्यविशेषोऽपेक्षत एवेति भावः । ननु, तर्हि निजस्थानधनादिसहितमात्मानं साक्षादेभ्यो दास्यामि ? तत्राह—यद्धामेति । त्वत्कृते त्वत्सेवालक्षण-कर्म्मणि निमित्ते तैर्यत्तुभ्यमर्पितमस्ति, त्वयापि तन्मात्र एव प्रत्युपकारेण साम्यमेव, न च तव प्रसिद्ध औदार्य्यादिविशेषः सम्पद्येतेति भावः ॥३५॥ आदि-शब्दात् क्रोधादयस्त्वदीयानां क्रोधोऽपि भक्तिः, तन्नर्तादिना दुर्बुद्धीनामन्येषामपि मोचकत्वे पर्य्यवस्यत्येव । कृष्ण ! हे साक्षात्परमेश्वर ! अन्यैस्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, यदि मदर्थमेवैषां धामादयस्तर्हि कथं विषयभोगादौ रागादय आतिथ्यपालनादिगार्हस्थ्यं वान्योऽन्यं स्नेहो वा दृश्यते ? तत्राह—कृष्णस्य तव न ते । यद्वा, हे कृष्ण ! सर्व्वथा परमानन्दप्रद ! अर्थात् ममैव नते नमने भक्तावित्यर्थः । स्तेनाः स्वभावतो लोकानां विवेक धैर्य्यादिगुणरत्नमोषका अपि विषयभोगादौ रागादयो भवन्ति; आदिशब्दात्तदप्राप्त्यादौ क्रोधादयोऽपि ज्ञेयाः । सकीर्णत्वादिना कारागारवद्दुःखदमपि गृहं गृहस्थाचारः । अङ्घ्रिनिगडवदस्वातन्त्र्यापादकोऽपि मोहोऽन्योऽन्यं स्नेहभरश्च । अयं भावः—भक्तानां स्वभावतस्त्वदर्पितमहाप्रसादद्रव्यादावेव प्रवृत्त्या तत्र रागलोभादीनामपि भक्तिपरिपोषकत्वात्, तथा तदन्यत्र प्रवृत्तजनेषु क्रोधस्य च भक्तिप्रवर्त्तकत्वात्, तथा वैष्णवातिथिसेवादिना-गार्हस्थ्ये सर्व्वहितसाधारणास्त्वद्वार्त्ताद्युपयुक्तास्तत्रैवेति तत्र च यावत्तावकं विना

तत्र प्रवृत्त्यसम्भवादिति । ननु, तेषामभीष्टसिद्धिदानासमर्थमपि मां सदा सेवामानास्त एव दूषणीयाः ? तत्राह—हे कृष्ण ! सर्व्व-चित्ताकर्षक ! यावत् ते व्रजवासिनो जनास्त्वत्सेवनपरा न भवन्ति, तावत्तव रागादयो नृत्यगीतादिविलासाः स्तेना इव परमोपद्रवका भवन्तीत्यर्थः, गृहमपि कारागारं परमदुःखदमित्यर्थः, मोहः सर्व्वभक्तविषयकोऽङ्घ्रिनिगडयन्त्रणाकारः, परमास्वातन्त्र्यापादनात् । यद्वा, श्रीवैकुण्ठादिविषयका रागादयस्तत्रत्यमेव गृहं मोहश्च महालक्ष्म्यादिविषयको ज्ञेयः । अन्यत् समानम् । त्वयैव यत्नतस्तथा क्रियते, सर्व्वेऽपि लोका यथा त्वां भजन्तीति तेषां को दोष इति भावः । यद्वा, भावत्तेषां स्वदेहादिषु पश्वादिषु वा रागादयः स्तेना भवन्ति, गृहं तावत् कारागृहं स्वबान्धवेषु मोहस्तावदङ्घ्रिनिगडो यावत्ते व्रजस्था जनास्त्वत्सेवनपरा न स्युः ॥ ३६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अथ भवानेषां प्रपत्तिमताम् ऋणी एव भविष्यतीति वदति एषामिति । घोषनिवासिनां व्रजवासिनाम् उत अप्यर्थे भवानपि कैवल्यादिप्रदोऽपि हे देव, क्रीडाप्रवृत्त ! विश्वफलात् सर्वफलरूपात् त्वत् त्वत्तः अपरं फलं कुत्रापि देशे काले वा अयत् न गच्छत् न जानत् इति यावत् अतः किं राता किं दास्यतीति अथवा, "अय गतौ" इत्यतः अयत् विचारयत् नः चेतः मुह्यति यद्यतः पूतना सकुला अघबकादिसहिता हे देव, क्रीडनमदमुदित ! सद्वेषात् सत्याः श्रेष्ठायाः प्रतिव्रतायाः यशोदाया मातुर्वेषात् एवार्थे इव वेषमात्रादेव त्वामेव त्वया आपिता प्रापिता अत एषां गोगोपगोपीनन्दयशोदादीनां तु धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयाः त्वत्कृते वर्त्तन्ते त्वदर्थं श्रीकृष्णस्य श्रीमतो नारायणस्य तव शेषभूताः शेषत्वज्ञानपूर्वं समर्पिता वर्त्तन्ते धाम गृहम् अर्थाः दुग्धादयः अमूल्य-रत्नादिपर्यन्ताः, सुहृदः प्रियाः स्त्रियः, आत्मा जीवः, तनयाः प्राणाः चेष्टाविशिष्टशरीराणि, आशयो वासनाः एवमात्मात्मीयभर-समर्पणविशिष्टरक्षाभरार्पणं कृते इति चतुर्थ्यर्थभूतशेषत्वव्यङ्ग्ये वर्त्तते, एवं चैषामपि सत्यनुकार्याणां स्वात्मानमपि ददासि चेत्तवायं लीलाभिनिवेशकारितोऽविवेक एवेति भावः ॥ ३५ ॥ इति श्रीभगवज्जनानां प्रपन्नानां च वैभवमुक्त्वा श्रीभगवत्स्नेहादिमतामपि गोपगोप्यादीनां रागादिगृहादिबन्धनेन देहाभिमानित्वेन चान्यसंसारितुल्यत्वं निराकरोति–तावदिति । अनेन हे कृष्ण ! स्वरूपरूप-गुणविभूतिभिश्चित्ताकर्षक ! यावदेते रागद्वेषादयः त्वत्सम्बन्धिनो न भवन्ति तावत्स्तेनाः विवेकहारिणो भवन्ति यावत् गृहं त्वन्मन्दिरं न भवति तावत्कारागृहं तत्तुल्यम् एवं मोहः देहात्मबुद्धिरूपः चिदचितोः त्वच्छेषत्वज्ञानेन त्वत्सेवोपयोगी न भवति तावत्संसारो निगडः एवं ममतास्पदाहन्तास्पदयोः भगवत्सेवोपयोगित्वेन एषां व्रजवासिनाम् अन्येषां च प्रपन्नादीनां न संसार-बन्ध इति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इदमपि न प्रार्थनीयं किन्तु कमपि त्वत्सम्बन्धविशेषमेवेत्यभिप्रयन् येन केनापि रागद्वेषाद्यन्यतमेन त्वत्सम्बन्धमात्रेणैव निरतिशयानन्दपुरुषार्थभूतत्वत्प्राप्तौ सत्यां ततोऽन्यत्किं फलं दातुं व्रजवासिष्ववतिष्ठस इति मन्मनो नितरां मुह्यतीत्याह, येषामिति । हे देव ! सकुला वकासुरादिसहिता पापिष्ठाऽपि पूतना सद्वेषादिव सतां साधूनां वेषादिव साधुवेशानुकारमात्रेणैवेत्यर्थः । वस्तुतो जिघांसयाऽपीति भावः । यन्त्वामेव प्रापिता सोऽयं भवानेषां घोषनिवासिनां विश्वस्य पुरुषार्थभूतात्त्वत्तोऽन्यत्परमुत्कृष्टं फलं राता दास्यतीति नोऽस्माकं चेतः कुत्रापि सर्वत्राऽप्ययद्गच्छन्विचारयन्मुह्यति विश्वफलभूतस्त्वं प्रत्यक्षतोऽतिष्ठस एव तत उत्कृष्टस्य फलस्याभावात्किन्दास्यतीति मच्चेतो मुह्यतीत्यर्थः । घोषनिवासिनो विशिनष्टि—येषां घोषनिवासिनां ये धामादयः ते त्वत्कृते त्वदर्था एवेत्यर्थः । धाम गृहमर्थो धनं तनुर्देहः आशयो मनः ॥ ३५ ॥ ननु, मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरागद्वेषादिमतामपि मत्सम्बन्ध-विशेषमात्रेणैव कथं मत्प्राप्तिस्तत्राह—तावदिति । हे कृष्ण ! तावदेव रागादयः स्तेनाश्चौरा भवन्ति त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धका भवन्तीत्यर्थः । तथा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारं मोहोऽपि तावदेव पादशृङ्खलं यावत्ते तव जना येन केनाऽपि प्रकारेण त्वत्सम्बन्धिनो न भवन्ति त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठामोचका एवेति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

किञ्च, तेषां भाग्यमहिमा किं वर्ण्यते यैस्त्वमपि भक्त्या वशीकृत इत्याह—एषामिति । हे देव ! उत अपि भगवानपि एषां विश्वफलात्सर्वफलस्वरूपात् किं त्वत्तः परं फलं राता दास्यतीति नश्चेतः अयन् विचारयन् मुह्यति मोहं प्राप्नोति अत एतेषां त्वं ऋणी एवेति मया ज्ञानं तत्कुतस्त्वत्तोऽधिकफलाभावात् ननु, मत्सारूप्यं दत्त्वा अनृणी भविष्यामीति चेन्नहि नहीत्याह, सद्वेषा-दिवेति सद्वेषात् समीचीनमातृवेषात् तदनुकरणमात्रेण दुष्टा पूतनाऽपि त्वामेव त्वत्सारूप्यमोक्षमापिता प्रापिता त्वयेति शेषः । एतेषामनुयायिनां मोक्षं दत्त्वा अनृणी भविष्यामीति चेन्न, साऽपि सकुला बकादिसहिता त्वत्सारूप्यं प्रापिता अत एतदप्येतेषामप-र्याप्तमिति भावः । कथमपर्याप्तमित्यत आह–यद्धामार्थ इत्यादि येषां धाम गृहम् अर्थो धनं सुहृत्सुहृदः प्रियाश्च ते आत्मतनयाश्च प्राणा इन्द्रियाणि आशया अन्तःकरणानि त्वत्कृते त्वदर्थमेवेति अतस्त्वमेतेषाम् ऋणी एव सदेति निश्चितमित्यर्थः ॥३५॥ ननु, रागद्वेषादि-शून्यानां परमात्मतत्त्वज्ञानिनां न मत्तः पर किञ्चिदप्यस्ति अतः कथमेतेषामपर्याप्तमित्यत्राह—तावद्रागादय इति । हे कृष्ण ! कर्षति

वात्सल्यादिगुणैर्वशीकरोति प्रपन्नानिति कृष्णस्तत्सम्बुद्धौ हे कृष्ण ! तावदेव रागादयः स्तेनाश्चौरास्तावदेव गृहं कारागृहं बन्धनागारं तावदेव मोहो निगडः पादबन्धनं यावत्ते जनास्त्वदनन्यभावा न भवन्ति त्वच्छरणागतानां तु त्वन्निष्ठास्ते विपरीता गुणा एव भवन्तीति भावः । एतावदनन्तरं ते ज्ञानिनस्त्वां सर्वशेषिणं परमात्मानं ज्ञात्वा भजन्ति एते तु त्वां पुत्र इति सखा इति सुहृदिति ज्ञात्वा वात्सल्यादिवशेन भजन्तीति तथा च सप्तमे नारदः "कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहात् यथा भक्त्येश्वरे मनः । आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिङ्गताः" इति अन्यत्रापि—

"मन्निमित्तं कृतं पापमप्यद्धर्माय प्रकल्पते । मामनादृत्य धर्मोऽपि पापः स्यान्मत्प्रभावतः" ॥ इति ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

किन्तु, भगवन् ! एक एवास्ति मे महान् सन्देहस्तं स्वयमपि त्वं दूरीकर्तुं न शक्नोषीत्याह—एषामित्यादि । हे देव ! एषां घोषनिवासिनाम्, उत विस्मये, भवान् विश्वफलाद्विश्वस्य फलभूतात् त्वत्तोऽपरं किं राता दाता इति कुत्रापि सन्देहस्तद्धेतुः अयत् पतन्नोऽस्माकं चेतो मुह्यति । ननु कथं ते चेतोमोहः ? आत्मानमेव दास्यामीति चेदवैदग्ध्यापत्तेरिदमनुचितमित्याह—सद्वेषा-दिवेति, सती माता तद्द्वेषादिव, न तु तद्द्वेषात्, स्तन्यदानाय मातृवपुः कृत्वा गतेति न, अपि तु जिघांसयैवेति इव-शब्दः, तद्वेषा-भासमात्रेणैव पूतना त्वामेवात्मानमेवापिता प्रापिता, तत्रापि सकुला वकाघादिसहिता । एभ्योऽपि यदि स एवात्मैव दातव्यस्तदा योग्यायोग्यविचाराभावादवैदग्ध्यमेवापतति । आत्मनोऽधिकं वस्तु तव नास्त्येव, तत् किमपरं दास्यसीति योग्य एव सन्देहः । ननु भो ब्रह्मन् ! मा सन्देहं कार्षीः, एभ्यो यद्देयं तद्दत्तमेव । यद्वा त्वत्कृते त्वत्कर्मणि धामादीनि सर्वाणीति ब्रह्मणो वाक्यशेष एवान्त-र्यामिरूपेण सरस्वतीं देवीं प्रेरयता सिद्धान्तितम् । तेभ्यः पूतनादिभ्य आत्मानं सायुज्यं दत्तम्; एभ्यस्तु एवम्भूतं सायुज्यादपि परमदुर्लभं प्रेम दत्तमिति न ममावैदग्ध्यमिति सिद्धान्तः ॥ ३५ ॥ अथ हे ब्रह्मन् एषामेवम्विधत्वं कथं भवता लक्षितमित्याशङ्क्य व्यतिरेकमुखेन तत् प्रपञ्चयन्नाह—तावद्रागादय इत्यादि । स्तेनाश्चोरप्रायाः, ज्ञाने मोषकत्वाद्रागादयस्तावदेव कारागृहप्रायम्, विना प्रारब्धक्षयेन ततो वहिर्भवनमशक्यमिति कारागृहसदृशं गृहं तावदेव निगडप्रायः, स्वयमभेद्यत्वाद्दुर्भिदो मोहश्च तावदेव यावत् हे कृष्ण ! जनास्ते न भवन्ति, त्वदीया न भवन्ति, तव चेद्बभूवुस्तदा स्तेनादिप्राया रागादयस्तेषां न सन्तीति सिद्धम् । सिद्धान्ते यदेषां तथैवाकलितं तदेते त्वदर्पितधामादित्वेनोक्तप्रकारा एव ॥ ३६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तदेषां प्रेमभक्तानां भवान् ऋणीव कथमपि प्रत्युपकारः कर्त्तुं शक्यत एवेत्याह—एषामित्यादि स्वामिपादानां व्याख्यैव शरणीकार्या ॥ ३५ ॥ नन्वेषां रागादयो दृश्यन्ते, तथापि कथमेते श्रम-दम-तितिक्षादिभिः शुद्धसत्त्वेभ्योऽप्यधिकास्ते इत्याह—तावद्रागादय इत्यादि । अत्रापि स्वामिव्याख्यैव ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किं च येषां पादरजो मया लोभात् प्रार्थ्यते तल्लभ्यतां न लभ्यतां वा मयेति स्पष्टं न ब्रूवे चेन्मा ब्रूहि किं त्वयैव यत्पृच्छ्यते तदुत्तरमवश्यमेव देहीत्याह–एषाम् एभ्यो भवान् किं रातेति फलं दास्यतीति उत प्रश्ने इत्यहं पृच्छामीत्यर्थः । ननु, सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञेन त्वयैव चेतसा विचार्य्य स्वयमेव ज्ञायतां तत्राह–नोऽस्माकं चेत इति बहुवचनेन न केवलं ममैव अपि तु रुद्रस्य सनकादीनां नारदादीनां च सर्वेषामेव सर्वज्ञानां चेतो मुह्यति चेतः कीदृशं विश्वफलात् सर्वफलात्मकात्त्वत्तोऽपि अपरमन्यत् फलं कुत्रापि देशे काले वा अन्यत् बुद्ध्या बहुधा अन्विष्याप्राप्नुवत् "इण गतौ" शत्रन्तः अयमर्थः सर्वफलरूपस्त्वमेभिरनादित एव पुत्रादिरूपत्वेन प्राप्त एव वर्तसे अत एव मया एषां भवानिति षष्ठी प्रयुक्ता यदि तु त्वत्तोऽप्यधिकममन्यत् किञ्चन वस्तु प्रशस्तमं स्यास्यत् तदेवैतेभ्यो देयत्वेन योग्यमभविष्यत् तत्तु नास्तीत्यस्माकं चेतो मोहे हेतुरिति । ननु, ब्रह्मन् ! सत्यं त्वं तत्त्वानभिज्ञ एवासि मयैतेषां भविष्यतीमनुरागमयीमद्भुतां भक्तिं जानतैव तत्साध्यफलभूतः स्वात्मा पुत्रादिरूपः प्रथममेव दत्त इत्यन्ये खलु कृतज्ञा भवन्ति अहं तु करिष्यमाणविज्ञ इति मयैव जितमिति चेत् सत्यं प्रभो ! तदपि त्वं न्यायेन जीयस एवेत्याह, सद्वेषादिव सद्वेषा-देवेत्यर्थः । पूतना पापिष्ठाऽपि स्वकुलसहिताऽपि त्वामेवापिता त्वयैव त्वां स्वात्मानं प्रापिता तथा येषां धामादयो ममतास्पदाहन्ता-स्पदानि त्वत्कृते त्वदर्थमेव ते चैते व्रजवासिनोऽपि त्वया त्वामेवापिता इति वाक्यशेषो नासानेत्रभ्रूग्रीवाभङ्ग्यैव ज्ञापितः य एव स्वात्मा अतिनिकृष्टायै पापिष्ठायै पूतनायै दत्तः स एव स्वात्मा अतिप्रकृष्टेभ्यः पुण्यवच्छिरोमणिभ्यो व्रजवासिभ्यो दत्त इति प्रथमतो दानेऽप्यनुचितानुष्ठितिर्दुर्वरित्येषां ऋणित्वस्वीकार एव तव निष्कृतिरिति भावः ॥ ३५ ॥ नन्वेते गृहस्थाः पुत्रकलत्रादिसंसारगर्ते निपतिता इति संन्यासिभिरुच्यते सत्यं त्वल्लक्षणपुत्रत्वद्भक्तलक्षणकलत्रादिमन्त एते गृहस्था वर्तन्तां देशान्तरस्था ये त्वद्भक्ता गृहस्थास्तेऽपि संन्यासिभ्योऽप्यधिका इत्याह—तावदिति । रागादयो रागद्वेषाभिनिवेशास्ते च महाचौरा जीवनिष्ठज्ञानानन्दादि-महाधनान्यपहृत्य परमेश्वरे राजनि एते मा फूत्कुर्वन्त्विति बुद्ध्या कर्माधिकारमये गार्हस्थ्यकारागारे मोहनिगडेन निबध्य जीवान्

स्थाप्यन्ते हे कृष्ण ! जना जीवा यावत्ते त्वद्भक्तानुग्रहभोजनत्वेन त्वदीया न भवन्ति तावदेव रागादयः स्तेनाश्चोराः त्वदीयत्वे सति तेषां त्वद्भक्तेष्वेव रागः भक्तिप्रतिकूले वस्तुन्येव द्वेषः त्वय्येवाभिनिवेश इति प्रत्युत त्वन्निष्ठज्ञानानन्दादिकमप्यानीय दधानास्त एव परमसाधवो भूत्वा नित्यमुपकुर्वते एवमेव गृहं भद्राभद्रकर्मसाधनं यत्कारागृहमासीत्तदेव तेषां त्वत्परिचर्य्याकीर्त्तनादिसाधनं त्वदीयनित्यधामप्रापकं भवेत् एवं मोहविषयस्य त्वद्भक्तत्वात् सोऽपि त्वत् प्रेमानुभावरूपमोहप्रापकः इति कथमेतत् समकक्षतां संन्यासिनो लभन्तां ये "कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेषां षड्वर्गनक्रमसुखेनतितीर्षन्ति" इत्युक्त्या मत्पुत्रेण सनत्कुमारेणापकर्षितास्तेभ्यः संन्यासिभ्योऽपि भक्त्या परमाधिका ये देशान्तरस्थभक्तास्तेभ्यः परः सहस्रगुणतोऽपि प्रेम्णा अधिकतमा ये व्रजवासिनस्तैरेभिस्त्वं साक्षात् पूर्णब्रह्मस्वरूपोऽपि पुत्रादिरूपत्वेन स्वाधीनीकृत एव वर्त्तसे इति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

व्रजस्थानां भाग्यातिशयमाह - एषामिति । सद्वेषादिव सतां त्वद्भक्तानां गोपीजनानां यो वेशस्तदनुकरणमात्रेणैव सकुला बकादिसहिता पूतनाऽपि पापिष्ठा राक्षस्यपि त्वामेवापिता प्रापिता तथाऽपि विश्वफलात्सर्वफलात्मकात्त्वत्तोऽपरं फलं कुत्राऽप्यस्ति ? किन्तु न कुत्राऽप्यस्ति अतो येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थमेव एवम्विधानामेषां हे देव ! किं दास्यतीति नश्चेतः अयत् सर्वत्र गच्छत् विचारयत् मुह्यति ॥ ३५ ॥ किं बहुना जनमात्रोऽपि त्वदीयो भूत्वा कृतार्थो भवतीत्याह–तावदिति । हे कृष्ण ! यावत् ते त्वदीयाः जना न भवन्ति त्वदितरसम्बन्धपरित्यागपूर्वकं त्वां शरणं न व्रजन्ति तावत् रागादयः ऐहिकामुष्मिकपदार्थतत्साधनादिषु रागस्तद्विरोधिषु द्वेषः उदासीनेषूपेक्षा एवमादयः स्तेनाश्चोरा पुरुषार्थहराः भवन्ति तावदेव गृहं कारागृहं बन्धनालयं भवति तावदेव मोहोऽपि अङ्घ्र्योर्निगडं शृङ्खला भवति ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तद्व्रजःस्पृहयाऽतिप्रसन्नमालक्ष्य तद्वाचं श्रोतुकामोऽस्यायमेकं पृच्छति—एषामिति । हे देव । एभ्यो घोषनिवासिभ्यो भवान् किं फलं राता दास्यति, उत प्रश्ने एतदहं पृच्छामीत्यर्थः । ननु वेदज्ञेन त्वयैव विचार्य बुध्यतां तत्राह नोऽस्माकं मम शिवस्य च नारदादेश्च सर्वेषां वेदज्ञानां चेतः विश्वफलान्निखिलफलस्वरूपात् त्वत्तोऽपरं फलं कुत्रापि देशे काले वा अयदप्राप्नुवत् विमुह्यति किं प्रदायायमनृणी भवेदिति विमोहमेति "इण् गतौ" शत्रन्तः । नन्वेभ्य एतदीयेभ्यो वा अहमात्मानमेव प्रदाय पर्याप्तिं कुर्याम् तत्राह सद्वेषादिवेति धात्रीवेषादेव सकुला बकाघसहिता पूतनापि पापिष्ठापि त्वामेवापिता त्वयैव त्वां स्वात्मानं प्रापिता येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थं विनियुक्तास्तेभ्यः पुण्यवच्छिरोमणिभ्यस्त्वदनुरागनिभृतेभ्यः स्वात्मदानेनापि न पर्याप्तिरिति सर्वदा तेषां ऋण्येव भवानिति तत्पादरजोऽभिषेको मेऽनुगृह्यतां जगत्पतित्वं मे न रोचते इति भावः ॥ ३५ ॥ नचैषां घोषनिवासिनां गृहकलत्रापत्येषु रागादिसत्त्वान्नैष महिमा सम्भवेदिति चेत्तत्राह तावदिति । देशान्तरस्थानामपि गृहिणा कलत्रापत्यं प्रतीपवतां कलत्रादिषु रागाभिनिवेशद्वेषास्तावत् स्तेनाज्ञानादिधनहरा भवन्ति, गृहमपि तावत् कारागृहं गृहादिविषयको मोहोऽपि तावदेवाङ्घ्रिनिगडः पादशृङ्खला यावत्ते जनास्त्वदुक्ता न भवन्ति त्वदीयत्वे तु सति तेषां त्वदुक्तेषु रागस्त्वयि त्वत्सम्बन्धिनि चाभिनिवेशस्त्वदुक्तिप्रतीपेषु द्वेषश्चेति त्वज्ज्ञानादीन् ददानास्ते परमोपकारिणः साधवो भवन्तीत्यर्थं गृहञ्च त्वत्परिचर्यादिभक्तिसाधनं सत्त्वनित्यधामोपलम्भकं भवेत् कलत्रादेरपि त्वदुक्तत्वात्तद्विषयको मोहोऽपि परमार्थपर्यवसायीति त्वत्सम्बन्धादेव स्पर्शमणिस्पर्शन्यायेन संन्यासिनां रागादीनां तत्पर्यवसायित्वे सति का कथैषां त्वन्मित्राणां त्वन्नियुक्तधामादीनामिति दर्शितमहिमानस्ते भवन्तीति ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

तेषां फलमेतदेव न भवति, सेवायाः क्रियमाणत्वात्, अतस्तत्फलं कथं नाभिनन्द्यत इत्याशङ्क्य तत् फलं न ज्ञायत एवेत्याहैषामिति, एतेभ्यो घोषनिवासिभ्य एतत्सेवासाध्यमेतत्सम्बन्धि हे देव त्वं किं राता ? किं दास्यसीति नोऽस्माकं चित्तं त्वत्तोन्यत् फलं कुत्रापि ब्रह्माण्डे सकलप्ययद् गच्छन् विमुह्यति, यतस्त्वमेव विश्वस्यैव फलं परमानन्दस्त्वत्तोन्यत् कथं फलं भविष्यति ? तर्ह्यात्मानमेव दास्यामीति चेत् तत्राह. सद्वेषादिवेति, सतो यशोदाया वेषाद् वेषं प्राप्य वेषाद्धेतोर्वा पूतना सकुला भ्रातृसहितापि त्वामेवापिता प्रापिता, अर्थात् त्वयैव, देवेतिसम्बोधनं पूज्यार्थं, ये पुनस्त्वदर्थमेव धाम गृहमर्थो धनं सुहृदो मित्राणि प्रियाः प्रीतिविषयाः पदार्था आत्मा देहस्तनयाः पुत्राः प्राणा इन्द्रियाणि चाशयोन्तकरणमेतत् सर्वं केवलं त्वत्कृते त्वदर्थम् ॥ ३५ ॥ नन्वेतेषां संस्कारो जीवतामेव निवर्तनीयः पूतना तु मारितेति संसारनिवृत्तिं दास्यामीति चेत् तत्राह तावदिति, गृहादिषु रागादयस्तावदेव स्तेना विवेकधैर्यापहारकास्तावदेव गृहमपि कारागृहं बन्धनस्थानं तावदेव पुत्रादिषु मोहोऽङ्घ्रिनिगडः पादशृङ्खला यावत् कृष्ण न ते जनास्त्वत्सेवका न भवन्ति, त्वत्सेवकानां त्वेतानि त्रीण्यपि सात्त्विकादीनि सेवौपयिकानीति शास्त्रतोऽप्यभिलाषितान्येव ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'अपि चैषां कृतार्थत्वं किं वर्ण्यते ? येषां भक्त्या भवान् अपि ऋणीव दृश्यसे' इत्याह—एषामिति । उत अपि हे देव बहुधा द्योतमान ! एषां घोषनिवासिनां भवान् सर्वप्रकारेण सर्वं कर्तुं सर्वं दातुं च समर्थोऽपि किं राता किं दास्यति ? एषां भक्त्यनुरूपं तवापि किञ्चिद्देयं नास्तीत्यर्थः । 'तर्ह्यात्मानमेव दत्त्वाऽनृणः स्याम्' इति चेत्तत्राह—विश्वफलादिति । सर्वफलात्मकात् त्वत्तोऽपि परनुत्कृष्टं फलमेषां योग्यमित्यर्थः । 'कुत एषां मत्तोऽप्युत्कृष्टफलयोग्यता ?' तत्राह—सद्वेषादिति । इवशब्द एवकारार्थकः । सत्या जनन्या वेषमात्रादेव दुष्टा पूतनाऽपि हे देव त्वत्कृपया त्वामेवापिता प्रापिता, अत एषां तत उत्कृष्टं फलमपेक्षितमित्याशयः । 'तर्हि एतत्सम्बन्धिनामपि आत्मानमेव दास्यामि' इति चेत्तत्राह—सकुलेति, बकासुराघासुरसहिता । एवमपि नैतेषां फले आधिक्यमिति भावः । फलाधिक्यावश्यकत्वे तेषां भक्त्याधिक्यं हेतुमाह—यद्धामेति । येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थमेव । येषामपि दुष्टपूतनाया दत्तमेव फलं चेद्दास्यसि, तदा तदपर्याप्तमेवेति भावः । धाम गृहम् । अर्थो धनम् । सुहृदो मित्राणि । प्रियाः प्रीतिविषयाः स्त्र्यपत्यादयो ये के च पदार्थाः । आत्मा देहः । तनयाः पुत्राः । प्राणाः इन्द्रियाणि, मुख्यप्राणश्च । तेन जीवितमाशयोऽन्तःकरणम् । ननु "त्वमपि सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञः, अतस्त्वमेव एषां योग्यस्य फलस्य निश्चयं कुरु, तद्दास्यामि" इत्यत आह—इति नश्चेत इति । इत्येतस्मिन्नर्थे नोऽस्माकं मम रुद्रस्य सनकादीनां च सर्वेषां सर्वज्ञानाम् अयत् विचारेण स्वशक्त्या सर्वत्र गच्छत् अपि चेतो मुह्यति, निश्चयं न प्राप्नोति इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ ननु "एते गृहस्था अतो रागादिभिश्चोरैर्विवेकधैर्यादिधनं विलुम्पद्भिर्मोहनिगडेन बद्ध्वा कारागृहरूपे गृहे निरुद्धाः, अतः कथमेषां ततो विनुच्य मम प्राप्तिरूपं फलमपर्याप्तम् ? यतो विगतरागादिदोषाणां संन्यासिनामपि न मत्तः परं किञ्चित् प्राप्यं फलमस्ति" इति चेत्तत्राह—तावदिति । हे कृष्ण सदानन्दरूप ! यावज्जनाः जीवास्ते त्वदीया न भवन्ति 'त्वदेकशरणतया त्वया स्वकीयत्वेन अङ्गीकृता न भवन्ति' तावदेव रागादयः, आदिशब्देन द्वेषादयः स्तेनास्तथा तावदेव गृहं कारागृहं बन्धनागारम् । तावदेव मोहोऽप्यङ्घ्रिनिगडः पादबन्धनशृङ्खला भवति । यथा राजपरिकरबहिर्भूतानामेव चोरादय उपद्रवं कुर्वन्ति, राजानुगृहीतानां तु प्रत्युत सेवामेव कुर्वन्ति तथा त्वद्विमुखानामुपद्रवकारिणोऽपि रागादयस्त्वयाऽनुगृहीतानां तु रागमोहादीनामपि त्वद्भजनपर्यवसायित्वेन द्वेषादीनां त्वद्भजनविरोधिविषयत्वेन च संसारदुःखविमोचकत्वात् उपकारिण एव ते । तथाच केवलविरागेभ्यस्त्वद्भक्तानां त्वद्भजनस्याधिक्यात् न तत्सदृशं फलं पर्याप्तमिति भावः ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

किमेषां धन्यता वर्ण्यते तेषां भवानपि ऋणीवास्ते इत्याह—एषामिति ॥ उत अपि हे देव ! एषां घोषनिवासिनाम् संप्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी । भवान् सर्वप्रकारेण सर्वं कर्तुं दातुं च समर्थोऽपि किं राता किं दास्यति इति विश्वफलात् सर्वफलात्मकात्त्वत्तोऽपि अपरम् अन्यत्फलं कुत्रापि देशे काले वा नयत् अयत् बुद्ध्या बहुधा अन्विष्याप्यप्राप्नुवत् । "इण्, गतौ" शत्रन्तं नञ्समासः । नोऽस्माकं मम रुद्रस्य सनकादीनां च चेतो मुह्यति । ननु मामेव दत्त्वाऽनृणी स्यां तत्राह । यतः हे देव ! सद्वेषादिव मातृतुल्यवेषादेव सकुला प्राक्तजन्मकुलसहितापि बकाघासुरयोस्तु स्वतन्त्र एव भगवत्स्पर्शोऽस्ति ततस्तौ न गण्यौ । दुष्टा पूतनापि त्वत्कृपया त्वामेवापिता प्रापिता अत एषां तत उत्कृष्टं फलमपेक्षितमित्याशयः । येषां घोषनिवासिनां तु धाम गृहम् अर्थो धनं सुहृदो मित्राणि प्रियाः प्रीतिविषयाः स्त्र्यपत्यादयो ये के च पदार्थाः आत्मा देहः तनयाः पुत्राः प्राणाः इन्द्रियाणि मुख्यप्राणाश्च तेन जीवितमाशयोन्तः करणम् एते सर्वे त्वत्कृते त्वदर्थमेव । तथा च य आत्मा पारिष्ठायै पूतनायै दत्तः स एव चेदतिप्रकृष्टेभ्यो दीयेत तदा नौचिती एव भवेदतः एषामृणित्वस्वीकार एव तव निष्कृतिः ॥ ३५ ॥ यतीनामिव मुक्तिस्त्वेषामतितुच्छं दानं त्वदीयत्वसंकल्पमात्रेण लभ्यत्वादित्याह—तावदिति ॥ हे कृष्ण ! यावज्जनाः जीवास्ते त्वदीया न भवन्ति स्वस्मिन् त्वदीयत्वं न संकल्पयन्ति तावदेव रागादयः आदिशब्देन द्वेषादयः स्तेनाश्चौराः परमार्थमोषका भवन्ति तावदेव गृहं कारागारं बन्धनागारतुल्यं भवति तावदेव मोहोऽप्यङ्घ्रिनिगडः पादबन्धनशृङ्खला भवति त्वदीयत्वाभिमानिनां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठामोचका एवेति न यतिषु विशेषः भक्तेष्वधिकमिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नन्वेतावत्कालपर्यंतं कथं भोजनशयनोपवेशनादिविस्मृतं तत्राह द्वाभ्यां एकस्मिन्निति आत्मनः प्राणेशं प्राणाधारं हरिमंतरा विना एकस्मिन्नब्दे संवत्सरेपि याते गते सति अर्भकाः कृष्णमायाहृताः संतः आत्मनः स्वस्य क्षणार्द्धं पल्पंचकं मेनिरे काकाक्षिगोलकन्यायेन आत्मशब्दस्योभयत्र संयोगः ॥ ३५ ॥ इह अस्मिन् लोके सर्वं जगत् यया हरिमायया मोहितं सत् अभीक्ष्णं भूयोभूयः विस्मृतः आत्मा गतजन्मनां देहकलापो येन तत् विस्मृतात्मकमभूत् ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यथाकथंचित् निरतिशयपुरुषार्थभूतत्वत्प्राप्तौ सत्यां ततोऽन्यत् किं फलं दाता इति मन्मनो नितरां मुह्यतीत्याह ॥ एषामिति ॥ हे देव, सकुला बकासुरादिस्वकुलजनसहिता, अपिशब्दादतिपापनिष्ठापि पूतना, सद्वेषादिव मातृसमानवेषमात्रधारणादिव,

वस्तुतस्तु जिघांसयेति भावः। त्वां अर्पिता एव त्वया मातृगतिं प्रापितैवेत्यर्थः। सोऽयं भवान्, हे देव, येषां घोषनिवासिनां धाम गृहं च अर्थो धनं च सुहृदो मित्त्राणि च प्रियाः प्रेमास्पदीभूताश्च आत्मा देहश्च तनयाः पुत्राश्च प्राणा असवश्च आशयो मनश्च ते, त्वत्कृते त्वदर्थमेव, वर्त्तन्ते तथाभूतानाम्, एषां घोषनिवासिनां, किं उत किं न्वित्यर्थः। विश्वफलात् सकलपुरुषार्थभूतात्, त्वत्त्वत्तः, अपरमन्यत्, फलमुत्कृष्टं फलमित्यर्थः। राता दाता दास्यतीति यावत्। इति, नोऽस्माकं चेतः, कुत्रापि सर्वत्रापि, अयत् गच्छत् विचारयत् सत्, मुह्यति। विश्वफलभूतस्त्वं तु प्रत्यक्षतोऽवतिष्ठसे एव। तत उत्कृष्टस्य फलस्याभावात् किं दास्यसीति मच्चेतो मोहमुपगच्छतीत्यर्थः॥ ३५॥ ननु मत्प्राप्तिप्रतिबन्धकरागद्वेषादिमतामपि मत्संबन्धविशेषमात्रेणैव कथं मत्प्राप्तिस्तत्राह॥ हे कृष्ण, तावत् एव रागादयः, स्तेनाश्चौराः, भवन्ति। त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धका भवन्ति इत्यर्थः। तथा तावत्, गृहमपि, कारागृहं बन्धनागारं, मोहः अपि, तावदेव, अङ्घ्रिनिगडः पादशृङ्खलतुल्यः, यावत् ते तव, जनाः न येन केनापि प्रकारेण त्वत्संबन्धिनो न भवन्ति, तावदेव रागादय उक्तप्रकाराः, त्वदीयानां तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठत्वेन मोचका एवेति भावः॥ ३६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तावदिति : १०.१४.३६.

मुष्णन्ति प्रसभं प्रविश्य हृदये कामादिपाटच्चराः सर्वस्वं ननु तावदेव जठरावासोऽपि दुःखप्रदः।
मोहाऽहंममतात्मकोऽपि निगडः स्यात्तस्य तावद्ध्रुवे यावत्कृष्ण कृपां विधाय भवता स्वत्वेन नाङ्गीकृतः॥ ४४॥
कृता मन्तुक्षान्तिर्द्विषदपहृतिश्चाघविहृतिः दुरुन्नेयं मायाऽऽवरणमपि नीतं लयमिदम्।
परात्मेक्षालाभः सुखमविकलं चाप्यधिगतं न चेहेऽन्यत् किञ्चित्सदय तव पादाब्जभजनात्॥ ४५॥
पुंसां सर्वजनानुरञ्जकगुणप्रोल्लासितेनापि चेद्आत्मेष्टोऽन्यगतो गुणो लघुरपि स्वीकार्य एवादरात्।
युक्तं चैतदसौ यतोऽखिलरजः साम्राज्यलक्ष्मीरपि ब्रह्मा तत्पदरेणुसंग्रहविधौ साङ्काक्षचित्तोऽभवत्॥ ४६॥
ज्येष्ठो विधिर्लोकदृशा कनिष्ठा गोपालबाला व्रजवासिनश्च। श्रीशाङ्घ्रिसेवासुखतारतम्ये व्यत्यस्तभावो नहि कस्य मान्यः॥ ४७॥
वत्सानस्य करोमि मोहकलितान् सर्वानपीति त्वया धातश्चिन्तयता न चिन्तितमिदं यद्वत्सरूपोऽप्यहम्।
तत्त्वं स्वोक्तित एव मोहितमतिर्जातोऽस्यलं नो मयाऽकारीत्यर्थमसूचयत् कमलजं मन्येऽब्रुवन्नेव सः॥ ४८॥
यन्मायाकलिता बभूवुरखिलाः पालाः सवत्सा विधेः तस्याद्धैव सकाशतोऽपहरता निःशेषमाया मया।
स्वातन्त्र्येण किमर्थमर्थनमितः कार्यं स चानीयतां वर्गो मत्सुहृदामिति प्रभुरुदासीनस्तदाऽऽसीन्मुदा॥ ४९॥

कृष्णप्रिया

हे देव हे करुणानिधान ? इस गोकुल व्रज निवासी दान में दानी शिरोमणि होते हुए भी क्या देंगे ? भगवन् ! मोक्षादि समस्त फलों के फल तो आप ही हैं। आप ही सर्व फल स्वरूप हैं इसलिये आप से उत्तम तो कोई फल है ही नहीं ऐसा विचार करता हुआ मेरा मन असमञ्जस में पड़ गया है—अचम्भे में पड़ गया है। यदि इन सर्व समर्पित व्रज भक्तों को आप अपना स्वरूप भी दें फिर भी करज मुक्त नहीं होंगे। हे कृपानिधि ? यशोदाजी के या लक्ष्मी जी के समान केवल वेशभूषा बनाकर आपको मारने के लिये ही समीप आयी हुई पूतना भी अपने सारे परिवार सहित जब आपको ही प्राप्त हो गई। अब बताईए नाथ वैरिणी बालघातिनीने ऐसा फल पाया तो अब आपके पास क्या फल रहा कि जिन्होंने अपने गृह परिवार धन सुहृद प्रिय जन प्रिय आत्मा तनय प्राण इन्द्रिय अन्तःकरण आदि सर्वस्व आपके लिये ही हैं और न्योछावर कर चुके हैं उन व्रजजनों को भी वही फल देकर आप कैसे ऋण मुक्त बनेंगे॥ ३५॥ हे श्रीकृष्ण ! विषयानुराग काम क्रोध आदि चोर तब तक ही मनुष्य के विवेक धैर्य आदि धन का अपहरण कर सकते हैं और तभी तक घर उनके लिये काराग्रह है और तभी तक पैरों को जकड़ रखने वाली जीवों की बेड़ियां है जब तक जीव आपके नहीं बनते आपके श्रीचरणों में सर्व समर्पन नहीं करते॥ ३६॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले[1]। प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥ ३७॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो। मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥ ३८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रभो ? भूतले प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं निष्प्रपञ्चः अपि प्रपञ्चं विडम्बयसि॥ ३७॥ प्रभो, जानन्तः एव जानन्तु किं बहु उक्त्या ! तव वैभवं मे मनसः वपुषः वाचः गोचरः न॥ ३८॥

१. मायया—च. पु. टी.।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नन्वत एवाहमेषां पुत्रादिरूपेण वर्त्ते इति चेत्तत्राह । प्रपंचमिति । प्रपन्ना या जनता जनसमूहस्तस्याश्चानंदानां संदोहं समूहं प्रथयितुमिति । न हि कपटपुत्रत्वादिना तादृग्भक्तेरानृण्यं संपद्यत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ तदेवमादित आरभ्याचिंत्यानंतगुणत्वेन स्वयं दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम् । केचित्तु वय जानीम इति स्थितास्तानुपहसन्निवाह । जानंत इति । न तु मे मनआदीनां तव वैभवं विषय इति ॥ ३८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

समर्थयन्नाशङ्कते—नन्विति । यत एते यतिभ्योऽधिका अत एव । तत्राक्षेपे । तादृग्भक्तेः परमप्रेमभक्तेः । इत्यर्थ इति । निष्कपटभक्तेषु सकपटव्यवहृत्या दोषस्तु भवति कुत आनृण्यमिति तात्पर्य्यम् । भूतल इति । वैकुण्ठीयलीलातोऽपि विस्तृतीकर्तुं विडम्बयसीति । अयं भावः—प्रकाशे दीपो नातिशोभते यथान्धकारे, श्वेतराजतपात्रे हीरकरत्नं नातिशोभते यथा नलिकाचाहि पात्रे तथैव चिन्मये वैकुण्ठे चिन्मयी लीला नातिचमत्करोति यथा मायामये प्रपञ्चे इति । यद्यपि व्रजमण्डलमपि चिन्मयमेव तदपि कृष्णस्य प्राकृतपुरुषसाधर्म्यमिव भूतलस्थव्रजमण्डलस्यापि । प्राकृतभूतलसाधर्म्यमेव दृष्टमतो न लीला चमत्करोत्येवेति । हे प्रभो इति । मामपि प्रपन्नमध्ये गणयेति भावः ॥ ननु व्रजेऽस्मिन्नेतत्पुत्रादिभावं पूर्णब्रह्मणो मम न वस्तुत इति केचिन्मन्यते, सत्यं, न भ्रान्ता एवेत्याह—प्रपञ्चमिति । प्रपञ्चातीतोऽपि त्वं भूतले सदा स्थितस्सन् प्रपञ्चं प्रपञ्चस्थपुत्रादिभावं प्रपञ्चयसि अनुकरोषि । प्रापञ्चिकेषु पित्रादिषु प्रापञ्चिकाः पुत्रादयो यथा चेष्टन्ते तथैव त्वमपि चेष्टस इत्यर्थः । तेन जीवानां यथा पितृपुत्रादिभावो ह्यवास्तवस्तथा तव न, तव तु सनिष्प्रपञ्चत्वाद्वास्तवो नित्य एवेति । तव लीला नित्या प्रपचातीताऽपि प्रपञ्चानुकरणमयीति सिद्धान्त उक्तः । किमर्थं विडम्बयसि । प्रपन्ना या जनता तस्या यस्तादृशलीलास्वादनोत्थ आनन्दसन्दोह आनन्दपुञ्जस्तं ब्रह्मानन्दाद्वैकुण्ठीयेत्येतत्तरयितुमित्यर्थः । प्रपन्नानां ब्रह्मानन्दाद्वैकुण्ठीयेत्येतत्तरर्यायितोऽवसेयम् ॥ ३७ ॥ तदेवम्—तद् वाक्यालङ्कारे, एवम् प्रकारे । यद्वा—तद्दुर्ज्ञेयत्वमिति योजना । वैभवम् ऐश्वर्य्यम् । गोचरो विषयः ॥ सत्यं तर्हि मत्स्वरूपस्य मद्व्रजवासिनां मदीयलीलाया मद्भक्तेश्च सर्वमेव तत्त्वं मदग्रेऽप्रतिममेवं व्याचक्षाणा भवद्विधा अस्मिञ्जगति कियन्तो वर्त्तन्ते, तान् जिज्ञासे कथयेति वक्रोक्तिमाशङ्क्य सत्रपं सकम्पं सानुतापमाह—जानन्त एवेति । ये जानन्तस्ते जानन्तु, अहं तु महामूर्ख एवास्मीति भावः । ननु तर्हि कथमेतावल्लक्षणपर्यन्तं ब्रूत एव तत्राह किम्बहूक्त्येति । त्वदग्रे बहूक्तिरेव मूर्खत्वद्योतिनीत्यर्थः । ननु ब्रह्मन् निष्कपटं ब्रूहीति तत्राह—नेति । तव वैभवमैश्वर्यं मम मनसो न गोचर इति ध्यानेनान्तप्राप्त्यभावात् । वपुष इत्यधुनैव चक्षुषाऽपि, वाच इति 'गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्' इति मया तावदुक्तमेव । यद्वा—तव मनसो वैभवं मम न गोचर इति त्वन्मनसि यत्किमप्यस्ति तत्किं मया ज्ञातुं शक्यते 'साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः' इति पूर्वमेव मदुक्तेः । एवं त्वद्वपुष इति त्वद्वपुषि किमस्तीति तव वाच इति तव वेदलक्षणायां वाचि किमस्तीति, साक्षात्तव तु मयि मौनवत्त्वाद्वचनगन्धस्याऽप्राप्तिरेव । तस्मात्के खलु तवाग्रे मदादयो वराका इति भावः ॥ ३८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्वहो भाग्यमित्यादौ मित्रत्वस्य कालविशेषानिर्दिष्टत्वेन परमानन्दादीनामनूद्यधर्माणां तस्मिन् विधेये सङ्क्रमणेन च व्रजौकोभिः समं मम लीलाया नित्यत्वमभिप्रेतम् एषां त्वित्यादावेकेत्यनेन तदेव निर्दिष्टं तद्भूरीत्यादौ वैकुण्ठादिपरित्यागपूर्वकमेषां चरणरजःसम्बन्धेन स्वजन्म प्रार्थ्य पुनरेषामनादिश्रुतिमृग्यमद्रूपपुरुषार्थप्राप्तिं च जीवनरूपां समर्थ्य तदेव द्रढीकृतम् एषां घोषेत्यादौ मम तद्दणविगणनासमर्थत्वेनानादिकल्पपरम्परायां पुत्रादिरूपेणानुगतत्वप्राप्त्या तदेवानीतं तावदित्यादौ तत्र विघातकासम्भवात्तदेव पर्य्यवसायित तत्तदप्यास्तां नौमीड्य त्यादौ तेषामेषां सम्बन्धि यदेतन्मम रूपं तदेव निजपुरुषार्थत्वेन प्रतिज्ञातं तत् कश्चित् प्रपञ्चरीतिदृष्ट्या लीलेयमन्यथेत्याशङ्कयेत् तत्र किं वक्तव्यं तत्राह–प्रपञ्चमिति । नित्यमेवैतैः समं लीलायमानस्त्वं निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चास्पृष्टलीलोऽपि मध्ये मध्ये त्वेतैः समं भूतलेऽवतीर्य प्रपञ्चं विडम्बयसि नरान्तरवज्जन्मादिलीलयाऽनुकुर्वन्नपि महान्तम् एव तव उत्कर्षं दर्शयतीत्यर्थः । ननु, किमर्थमिदं तत्राह—प्रपञ्चमिति । नित्यमेवैतैः समं लीलायमानस्त्वं निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चास्पृष्टलीलोऽपि मध्ये मध्ये त्वेतैः समं भूतलेऽवतीर्य प्रपञ्चं विडम्बयसि नरान्तरवज्जन्मादिलीलयाऽनुकुर्वन्नपि महान्तम् एव तत उत्कर्षं दर्शयतीत्यर्थः । ननु, तत्राह—किमर्थमिदं प्रपन्नेति । यद्यपि तस्यां नित्यायामभूतलाप्रकटलीलायां नित्यानां प्रपन्नजनसमूहानाम् एषाम् अनित्यानां चास्माकं यथास्वन्दर्शनेन श्रवणेन चानन्दो भवत्येव तथाप्यस्यां भूतले प्रकटायां जन्मादिलीलायां त्वानन्दानां सन्दोहः प्रथितो भवतीत्येतदर्थमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ तदेवमस्यापि देववपुष इत्यादिभिः सामान्यतस्तस्य महिम्नो दुस्तर्कत्वं दर्शितं पुनश्च पश्येश ! मेऽनार्यमित्यादिभिः, स्वरूपशक्तिमायाशक्त्योः स्वरूपस्य च विशेषतः । अथ अहोऽतिधन्यादिप्रार्थितं तन्निजजनप्रेम्णः एषां घोषनिवासिनामित्यादिना, कारुण्यस्य प्रपञ्चमित्यादिना, लीलायाश्चेति तत्तन्निरूपणं परित्यज्योपक्रममथ निजाभीष्टत्वेनाभिप्रयन्नुपसंहरति—जानन्त इति । प्रभो ! हे विचित्रानन्तमहाप्रभाव ! तव वैभवं वेदादिभिः श्रुतमपि मम मनसो न गोचरं न परिच्छेद्यं सामक्ष्येण दृष्टादिरूपमपि वपुषश्चक्षुरादिगोलकस्य न अत एव न वाचः तस्मान्नौमीत्यादिना यत्प्रार्थितं तदेव प्रार्थय इति भावः ॥ ३८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रपञ्चं पुत्रत्वादिकम्। निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चातीतोऽपि भूतले पृथिव्यां विडम्बयस्यनुकरोषि। किमर्थम्? व्रजसम्बन्धिस्वलीलाकर्णनद्वारा निजभक्तानन्दविस्तारार्थम्। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। अथवा, तत्त्वत एव पुत्रादिरूपेणेभिः सह विहारविशेषं करोषि? तत्राह—प्रपञ्चमिति। निर्गतः प्रपञ्चोऽन्येषामपि यस्मात्तथाभूतस्त्वं विडम्बयसि विडम्बयसि स्थिरीकरोषि। प्रपन्नजनता व्रजवासिजनसमूहस्तद्द्वारा (विहारद्वारेण) स्वस्यैवानन्दविस्तारणाय॥ ३७॥ तदेवं (भा० १०।१४।३) 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' इत्यारभ्य प्रतिपादितं ज्ञानतुच्छत्वं भक्तिमाहात्म्यं चोपसंहरन्नाह—जानन्त इति। ये तव वैभवं त्वद्भक्तिमाहात्म्यं जानन्तो वर्त्तन्ते, ते महापण्डितम्मन्या जानन्तु नाम; अतो ज्ञाने यतमाना ज्ञानमपि किल साधयन्त्विति भावः। इति सोल्लुण्ठोक्तिः, बह्वघोक्त्या ज्ञानादितुच्छतया भक्तिमाहात्म्यस्य च वर्णनेनापरेण किम्? प्रभो! हे विचित्रानन्तमहाप्रभाव! तव वैभवं मम वपुषो लिखनादिशक्त्या, वाचश्च वर्णनादिना, मनसोऽपि चिन्तनादिनाऽविषयोऽपरिच्छिन्नत्वादवितर्क्यत्वाच्च। एवं तद्व्यतिरिक्तमन्यत् सर्वं गोचर इति सूचितम्। यद्वा, प्रथम परमस्तुतितया प्रारब्धं श्रीभगवद्वपुषो वर्णनं तदन्तरायोत्तरकालपतितशंकापरम्परया तद्भक्तिभजनमाहात्म्यवर्णनेन च तदेव सुदृढीकृत्योपसंहारेऽपि तदेवाह—प्रकर्षेण सुन्दरतराकारादिना भवति प्राकट्यं प्राप्नोतीति प्रभुस्तत्सम्बोधनम्—हे असाधारणप्रकृष्टतर इत्यर्थः। तव वपुषो वैभवं न मम गोचर इत्यन्वयः। यद्वा, तव मनआदेर्वैभवं न मे गोचरस्तत्र यथा समुद्रकोटिगम्भीराशयस्य तव मनसस्तथैकस्यैव परिच्छिन्नत्वापरिच्छिन्नत्वादिना वपुषश्च तथानन्तागाधवेदरूपस्य; यद्वा, परिमितस्यापि सर्वथातिशयस्य साम्प्रतं सख्यादिषूच्चार्यमाणस्य वचसश्च वैभवं तत्तदभिप्रायादिकं न गोचरः; यद्वा, प्रस्तुतश्रीभगवन्महास्तुतिरूपं श्रीनन्दव्रजमाहात्म्यवर्णनमुपसंहरन् तज्ज्ञानाभिमानिनो मूढानुपहसन्निवाह—एषामित्यादेः। श्रीव्रजवासिनोऽनुवर्त्तन्त एव, ततश्चैषां वैभवमित्यर्थबलाज्ज्ञेयम्। प्रभो! हे श्रीगोकुलेश्वर! व्रजवासिनामेषां माहात्म्यं मम तवापि न कायवाङ्मनसां गोचरः, तथापि तज्ज्ञानाभिमानं ये कुर्युस्ते परमाज्ञा उपहास्या एवेति भावः। अन्यत् समानम्॥ ३८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

ननु, मम को वा संसारिभेदापादको गुणः ममताऽहन्तादर्शनाद्वैषम्यनैर्घृण्यसत्त्वादित्यत्राह—निष्प्रपञ्चोऽपि स्वरूपरूपगुणैः सर्वचेतनाचेतनविलक्षणोऽपि प्रपञ्चं सूक्ष्मस्थूलरूपं विडम्बयसि तत्तच्छरीरकत्वेन स्वेच्छिकविग्रहेण च विडम्बयसि अनुकरोषि न तु तवाऽहन्ताममतास्पदतत्तत्पदार्थसङ्गे न वैषम्यनैर्घृण्यादिप्रसक्तिः संसारो वा तर्हि विडम्बनेन किं प्रयोजनं तत्राह—प्रपन्नेत्यादि। परमपदस्थलक्ष्मीशेषविष्वक्सेनादिप्रपन्नानन्दसमूहविस्ताराय भोगविभूतिमत्त्वमिह च अनन्ततत्तद्भक्तप्रपन्नमनोरथाऽनुगुणानन्दविस्ताराय तत्तद्रूपैः क्रीडनं तवेति भावः॥ ३७॥ एवम्भूततत्त्वज्ञाने हि दुर्ज्ञेयत्वमेवापरिमेयस्वरूपरूपगुणविभूतिलीलामयस्य भगवतः प्रस्तावयन् स्तौति, एकेन जानन्त एवेति ये वदन्ति जानीमो वयं भगवत्तत्त्वम् इति ते जानन्तु "अविज्ञातं विजानताम्" इति श्रुतेः ते न जानन्त्येवेति भावः। "विज्ञातमविजानताम्" इत्यादिश्रुतेरर्थमाह—किं बहूक्त्येति बहूक्त्या बहुकथनेन किम्? "वाचो विग्लापनं हि तत्" इत्युक्तेः तव वैभवं त्वत्स्वरूपरूपादिवैभवं मे परिमितमनोवृत्तिशरीरशक्तेः विषयः गोचरो न भवति सङ्कल्पविकल्पाभ्यां मनोविषयो न भवति वपुषः परिच्छिन्नविषयतया ग्रहणविषयो न भवति वाचो विषयश्च वर्णनीयत्वेन न भवति॥ ३८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं मोहितचित्तोऽपि पुनरेव अध्यवस्यामीत्यभिप्रायन्नाह—प्रपञ्चमिति। निष्प्रपञ्चोऽपि "निष्क्रियं निष्कलम्" इति श्रुत्युक्तरीत्या प्राकृतशरीरतद्व्यापाररूपप्रपञ्चरहितोऽपि मायया सङ्कल्पेन प्रपञ्चं विडम्बयसि अनुकरोषि किमर्थम्? हे प्रभो! प्रपन्नजनसमूहस्यानन्दसन्ततं प्रथितुमाविष्कर्तुं वर्द्धयितुम् इति यावत् मम त्वेवं निश्चय इति भावः॥ ३७॥ ननु, मम प्रपञ्चविडम्बनहेतुं तत्त्वतस्त्वं न जानीष इत्यत्राह—जानन्त इति। ये जनास्त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं जानन्ति त एव विडम्बनहेतुं जानन्तु मम बहुभाषितेन किं न किञ्चिदपि साध्यमस्तीत्यर्थः। एवमात्मनोऽज्ञत्वमाविष्कृतं पुनः सार्वजनीनमेतत्तु जानामीत्यभिप्रयन्नाह—मनस इति। तव वैभवं मनआदिकरणत्रयस्य गोचरो नेत्यनुवर्तते न गोचरो न विषय इत्यर्थः। वपुषः इति दृष्टान्तार्थं यथा वपुषो न गोचरः तथा वाङ्मनसयोरपीति अथवा तव वपुषोऽपि वैभवं वाङ्मनसागोचरमित्येतावत्तु जानामीत्यर्थः॥ ३८॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

ननु, यथाहमेषां पुत्रादिरूपेण वर्त्ते न तथा तेषामिति वैषम्यादानृण्यं स्यादित्यत आह—प्रपञ्चमिति। हे प्रभो! त्वं निष्प्रपञ्चोऽपि प्रपञ्चरहितोऽपि "न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः" इति प्रमाणात् भूतले प्रपञ्चं विडम्बयसि अनुकरोषि किमर्थमिति चेदत आह—प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रपन्नजनता प्रपन्नजनानां समूहस्तस्या आनन्दानां त्वत्स्वरूपरूपगुणानुभवरूपानन्दानां सन्दोहं समूहं प्रथितुं प्रथयितुं विस्तारयितुं तदुक्तं भगवता "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" इति

स्वदर्शनदानेन साधुपरित्राणमेव परमप्रयोजनं दुष्कृतनाशस्त्वानुषङ्गिक इति भावः। अतो ये त्वद्गुणश्रवणकीर्त्तनादि विना शरीरधारणमपि न बहुमन्यन्ते तान् दर्शनादिना सुखयति अतस्तेषां ऋणी एव त्वमिति भावः॥ ३७॥ अतो मयाऽप्येतदेव निश्चितमित्याह—जानन्त इति। हे प्रभो! स्वामिन्! किं बहूक्तेन बहूक्त्या किं? ये केचिन्निर्विशेषं गुणदरिद्रं चिन्मात्रं प्रमाणशून्यं यत्किञ्चित्तत्त्वं त्वत्तः परमस्तीति जानीम इति निश्चयं कृत्वा स्थितास्ते जानन्तु तेषां ममाऽऽग्रहो नास्ति अहोऽज्ञजनताऽज्ञता इति पूर्वमेवोक्तं कुतः?—

"मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय, !"। "नारायणात्परो देवो न भूतो न भविष्यति"॥

इत्यादिप्रमाणैर्निश्चयेन तादृशस्य ब्रह्मणः स्वपुष्पायमाणत्वात् अत एव मम तु मनसो वपुषो वाचस्तव वैभवं त्वन्महिमा गोचरो विषयो भवत्विति शेषः। इतः परं निरुपाधिकत्वच्छेषशेषिसम्बन्धज्ञानं मम विस्मृतं मा भूदित्यर्थः॥ ३८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तदेवमस्यापि देववपुष इत्यादिभिस्तस्यानेकधा दुस्तर्कत्वमेव प्रदर्श्य तत्तन् निरूपणं परित्यजन् उपक्रमार्थमेवाभीष्टलेनाभिप्रायं तूपसंहरति–जानन्त इति। हे कृष्ण! सर्वेन्द्रियाकर्षकगुणरूप! अनुजानीहीति गमनानुज्ञेयं नात्मेच्छया प्राथ्यंते किन्त्वत्स्थानार्हतयैवेति भावः॥ ३८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

नन्वगतमेव भवतैषां तत्त्वम्, यत्तत्वं कीदृशम्? तदपि कथयेत्याह– प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपीत्यादि। हे प्रभो! तव तत्त्वं को वेत्तुं-प्रभुत्वात्। प्रभुर्हि कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः तथापि यत् किञ्चिद्वदामीति। प्रभो इति सम्बोधनार्थः। किं वक्तव्यम्, तद्वदेत्याह–निष्प्रपञ्चोऽपि त्वं केवलसच्चिदानन्दलीलोऽपि भूतले प्रपञ्चं लौकिकव्यवहारं विडम्बयसि, अनुकरोषि। किं कर्त्तुम्? तत्राह–प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रथयितुं तव लौकिकलीलायां येषां प्रपन्नानामानन्दसन्दोहस्तं वर्द्धयितुम्॥ ३७॥ इत्येवाहं जानामि, अन्ये येऽन्यज्जानन्ति, ते जानन्तु नामेति सकटाक्षमाह—जानन्त एवेत्यादि। जानन्त एव तव महिमानं जानीम इत्यभिमानवन्त एव जानन्तु, किं बहूक्त्या, तान् प्रति बहुना व्याहारेण, अथवा, किं बहूक्त्येति परवाक्येन सह सम्बध्यते। ते जानन्त्वेव मम तु मनसो वपुषो वाचो गोचरस्तव वैभवं न भवति, अचिन्तनीयत्वान्न मनसो गोचरः, अनन्तत्वान्न वाचो गोचरः वपुःशब्दोऽत्र चक्षुःश्रवणाद्यर्थः, तेन तदगोचरत्वेन चक्षुरादेरप्यगोचरः॥ ३८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

हे प्रभो! ज्ञातं ज्ञातम्, निजानृण्यहेतोरेव त्वयैव मध्यवसितमेवेत्याह–प्रपञ्चमित्यादि। निष्प्रपञ्चत्वं प्रपञ्चं प्रकृतिविस्ताररचनमपि विडम्बयसि अनुकरोषि। प्रपञ्चं लोकव्यवहारमिति वा, यद्वा, प्रपञ्चं कुहकं मायामिति यावत्, विडम्बयसि विशेषेण लम्बयसि 'डलयोरेकत्वात्' विस्रंसयसीत्यर्थः। एभिः सह यद्यत् करोषि तत् सत्यत्वेनैव प्रतिपादयसि, न मायया। किमर्थम्? प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रथयितुम्। अतस्तन्महिमानं केऽपि न जानन्ति। जानीम इति ये मन्यन्ते, ते जानन्तु एव, इति तान् प्रति असूयया वदति–जानन्त एवेत्यादि। जानन्त एव जानन्तु, किन्तु मे ब्रह्मणोऽपि मनआदीनां तव वैभवो न गोचर एव॥ ३७-३८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, व्रजेऽस्मिन्नेतत्पुत्रादिभावं पूर्णब्रह्मणो मम न वस्तुत इति केचिन्मन्यन्ते सत्यं ते भ्रान्ता एवेत्याह–प्रपञ्चमिति। निष्प्रपञ्चोऽपि प्रपञ्चातीतोऽपि त्वं भूतले सदा स्थितः सन् प्रपञ्चं विडम्बयसि प्रपञ्चस्थं पुत्रादिभावमनुकरोषि प्रापञ्चिकेषु पित्रादिषु प्रापञ्चिकाः पुत्रादयो यथा चेष्टसे इत्यर्थः। तेन जीवानां यथा पितृपुत्रादिभावो ह्यवास्तवस्तथा तव न तव तु सनिष्प्रपञ्चत्वाद्वास्तवो नित्य एवेति तव लीला नित्या प्रपञ्चातीताऽपि प्रपञ्चानुकरणमयीति सिद्धान्त उक्तः किमर्थं विडम्बयसि प्रपन्ना या जनता तस्या यस्तादृशीलीलास्वादनोत्थ आनन्दसन्दोहस्तं प्रथयितुं ब्रह्मानन्दाद्वैकुण्ठीयलीलानन्दादपि विस्तृतीकर्तुं भूतल इत्ययं भावः। प्रकाशे दीपो नातिशोभते यथान्धकारे एव श्वेतराजतपात्रे हीरकरत्नं नातिशोभते यथा नीलकाचादिपात्रे, तथैव चिन्मयवैकुण्ठे चिन्मयी लीला नातिचमत्करोति यथा मायामये प्रपञ्चे इति यद्यपि व्रजमण्डलमपि चिन्मयमेव तदपि कृष्णस्य प्राकृतपुरुषसाधर्म्यमिव भूतलस्थव्रजमण्डलस्यापि प्राकृतभूतलसाधर्म्यमेव दृष्टमतोऽत्र लीला चमत्करोत्येवेति हे प्रभो! इति मामपि प्राञ्चमध्ये गणयेति भावः॥ ३७॥ सत्यं तर्हि मत्स्वरूपस्य मद्व्रजवासिनां मदीयलीलाया मद्भक्तेश्च सर्वमेव तत्त्वं मदग्रेऽपि स प्रतिभमेवं व्याचक्षाणा भवद्विधा अस्मिन् जगति कियन्तो वर्तन्ते तान् जिज्ञासे कथयति वक्रोक्तिमाशङ्क्य सत्रपं सकम्पं साऽनुतापमाह—जानन्त एवेति। ये जानन्तस्ते जानन्तु अहं तु महामूर्ख एवास्मीति भावः। ननु, तर्हि कथमेतावत्क्षणपर्य्यन्तं ब्रूषे एव तत्राह, किं बहूक्त्येति। तथा

बहूक्तिरेव मूर्खत्वद्योतिनीत्यर्थः । ननु, ब्रह्मन् ! निष्कपटं ब्रूहीति तत्राह, नेति तव वैभवमैश्वर्यं मम मनसो न गोचर इति ध्याने-नान्तप्राप्त्यभावात् वपुष इत्यधुनैव चक्षुषाऽपि वाच इति "गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्" इति मया तावदुक्तमेव । यद्वा, तव मनसो वैभवं मम न गोचर इति त्वन्मनसि यत् किमप्यस्ति तत् किं मया ज्ञातुं शक्यते "साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः" इति पूर्वमेव मदुक्तेः एवं त्वद्वपुष इति त्वद्वपुषि किमस्तीति तव वाच इति तव वेदलक्षणायां वाचि किमस्तीति साक्षात्तव तु मयि मौन-वत्त्वात् वचनगन्धस्याप्यप्राप्तिरेव तस्मात् के खलु त्वदग्रे मदादयो वराका इति भावः ॥ ३८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ननु, सर्वदा परच्छन्देन वर्तमानस्य कथं सर्वजनशरण्यत्वमित्यत्र भगवतः स्वातन्त्र्यं वदन् शरणागतेषु कृपालुतामाह— प्रपञ्चमिति । निष्प्रपञ्चोऽपि पारवश्यादिरूपप्रपञ्चरहितोऽपि प्रपञ्चं पारवश्यादिचेष्टितं विडम्बयसि अनुकरोषि तत्प्रयोजनमाह, प्रपन्नेत्यादि । हे प्रभो, समर्थ ! प्रपन्नजनतायाः शरणागतजनसमूहस्य आनन्दसन्दोहं स्वकृपानिमित्तसुखसमूहं प्रथयितुम् ॥ ३७ ॥ यथाशक्ति भगवन्तं स्तुत्वा पूर्वोक्तमियत्तानवच्छिन्नत्वमुपसंहरति । जानन्त इति ॥ ३८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु ब्रह्मन् ! एते मनुष्या जातिसम्बन्धादतिस्निग्धाः मनुष्यविग्रहं यां लालयन्ति न हि किञ्चिदैश्वर्यमेभ्यो मया दत्तं यत् सचमत्कारं स्तवनीयमिति चेत्तत्राह—प्रपञ्चमिति निष्प्रपञ्चत्वमेभिर्निष्प्रपञ्चैः सह भूतलेऽवतीर्णः प्रपञ्चं विडम्बयसि तमनुसरन्त-प्यन्तर्निभृतपारमैश्वर्यैः कर्मभिस्तं न्यक्करोषीत्यर्थः । किमर्थमेतत्तत्राह प्रपन्नेति प्रपन्नाया जनताया यस्तादृशकर्मानुभवोत्थ आनन्द-सन्दोहस्तं प्रथितुं विस्तारयितुं भूतले तानि तादृशानि कर्माणि निशि दीपवृन्दानीवातिशोभितान्यनुभावयितुमित्यर्थः ! तव चैषाञ्च मनुष्यत्वं स्वरूपतन्तुविज्ञानानन्दत्वमेव ऐश्वर्यन्तु तेषां पृष्ठलग्नमेवेति भावः ॥ ३७ ॥ तदेवं यथामति प्रभुं स्तुत्वा विज्ञमन्यानुपहसन् दुर्ज्ञेयतामाह हे प्रभो तव मन आदीनां भवं सङ्कल्पविभूतितात्पर्यरूपं मे गोचरो नेति ॥ ३८ ॥

श्रीसुबोधिनी

नन्वेतत् सर्वं साक्षात्स्वरूपे युक्तं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह **प्रपञ्चमिति, निष्प्रपञ्चोपि** त्वं **प्रपञ्चं विडम्बयसि** प्राप-ञ्चिकेपि चेष्टां करोषि, तत्र हेतुः **प्रपन्ना** या **जनता** तस्या **आनन्दसन्दोह**मानन्दसमूहं **प्रथितुं** स्थूलं कर्तुं, ननु विपरीतरूपेण कथं तदधिकं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति, सर्वप्रकारेणापि सर्वसमर्थः ॥ ३७ ॥ ननु ज्ञानेनाप्यानन्दप्रथनसम्भवात् किमिति प्रपञ्चं विडम्बयतीत्याशङ्क्याह **जानन्त** इति, ये जानन्तो भवन्ति त एव जानन्तु वस्तुतो ज्ञानं स्वप्नप्रबोधरूपं, अतो भ्रान्ता एव ते, ननु तथा सति तन्मतं दूषणीयमिति चेत् तत्राह **किं बहूक्त्येति**, बहूक्त्या किं प्रयोजनम् ? अल्पेनैव तु दूष्यते न हि मत्तः कश्चिन् महानस्ति वेदगर्भोहं मम तु **मनसो वपुषो वाचोपि वैभवं न गोचरो** न ज्ञातुं शक्यं, न देहकृत्या परिच्छेत्तुं शक्यं, स हि सर्वं करोति तथा भगवद्वैभवमपि कृत्वा प्रदर्शयिष्यतीति शङ्कयोक्तं वचसां विषयो न भवत्येव तथा चेतसोपि ॥ ३८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'अतएव अहमेषां पुत्रादिरूपेणापि स्थित' इति चेत्तत्राह—प्रपञ्चमिति । हे प्रभो सर्वकरणसमर्थ ! त्वं निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चा-तीतोऽपि प्रपन्ना शरणमागता या जनता जनसमूहस्तस्यानन्दानां सन्दोहं समूहं प्रथयितुं विस्तारयितुमिह भूतले प्रपञ्चं विडम्बयसि बहूनां पुत्रादिरूपेणानुकरोषि । तथाच नैतेन विडम्बनमात्रेण एषामनिर्वचनीयप्रेमवतामानृण्यं सम्पद्यते इति भावः ॥ ३७ ॥ तदेव-मादित आरभ्य अचिन्त्यानन्तगुणत्वेन स्वयं भगवतो दुर्ज्ञेयत्वमुक्त्वा, ये तु 'वयं तत्त्वतो जानीम' इत्यभिमन्यन्ते तानुपसंहरन् इवाह—जानन्त इति । ये जानन्ते 'जानीम' इति वदन्ति त एव जानन्तु । बहूक्त्या तेषां बहुनिन्दावचनेन किं प्रयोजनम् ? हे प्रभो ! मम मन आदीनां तव अचिन्त्यानन्तगुणस्य वैभवं गोचरो विषयो न भवति । 'अहं हि वेदगर्भो, नहि लोके मत्तोऽन्यः कश्चिदधिक-ज्ञानवानस्ति' इति यद्यहमेव न जानामि, तदा ये 'वयं भगवत्तत्त्वज्ञा' इति वदन्ति ते तु 'केवलमभिमानेन भ्रान्ता एव' इति भावः । वपुषश्चक्षुरादेः ॥ ३८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पुत्रादिरूपतया वर्त्तनमप्यानृण्यकरं न भवतीत्याह—प्रपञ्चमिति ॥ हे प्रभो ! निष्प्रपञ्चः प्रपञ्चातीतोऽपि प्रपन्ना शरणमागता या जनता जनसमूहस्तस्यानन्दानां संदोहं समूहं प्रथितुं प्रथयितुं विस्तारयितुमिह भूतले प्रपञ्चं विडम्बयसि बहूनां पुत्रादिरूपेणानु-करोषि अतस्तेनैषां कथमानृण्यं स्यात् ॥३७॥ एवं भगवतो दुर्ज्ञेयत्वमुक्तं ये भगवत्तत्त्वं जानीम इति मन्यन्ते तान् मानिनो जनानुपहसति जानन्त इति ॥ ये जानन्तः वयं भगवत्तत्त्वं जानीम इति वदन्तः सन्ति त एव जानन्तु बहूक्त्या तेषां बहुनिन्दावचनेन किं प्रयोजनम् । हे प्रभो ! तव वैभवं मे मम मनसः वपुषश्चक्षुरादेः वाचश्च गोचरो विषयो न भवति अहं तव वैभवज्ञाने मूर्खः अन्ये पण्डितम्मन्यास्तु मूर्खतमा इत्याशयः ॥ ३८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ऊचुरिति ते त्वया अतिरंहसा अतिवेगेन स्वागतं सुष्टु आगमनं कृतं अस्माभिस्त्वद्दते एकोऽपि कवलो नाभोजि न जग्धः यद्वा त्वया एकोपि कवलः स्वहस्ते एव स्थितोपि न भुक्तः इतोऽत्र एहि साधु सम्यक् भुज्यतामिति सुहृदो वाला ऊचुः ॥ ३७॥ हृषीकाणां सर्वजीवेन्द्रियाणां ईशो नियामकः अभवहृत्यभुक्त्वा अघासुरस्य चर्म दर्शयन् सन् न्यवर्त्तत अगमत् ॥ ३८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं मोहितचित्तोऽपि पुनरेवमध्यवस्यामीत्यभिप्रयन्नाह ॥ प्रपञ्चमिति ॥ निष्प्रपञ्चोऽपि 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति श्रुत्युक्तरीत्या प्राकृतशरीरतद्व्यापाररूपप्रपञ्चरहितः सन्नपि, प्रपञ्चं मायया संकल्पेन, अत्र भूतले इति पाठे, माययेति शेषो ग्राह्यः। विडम्वयस्यनुकरोषि । किमर्थमिति चेत्तत्राह । हे प्रभो, प्रपन्ना शरणं प्राप्ता चासौ जनता जनसमूहस्तस्या य आनन्दसंदोह आनन्दसंततिस्तं प्रथितुमाविष्कर्त्तुं वर्द्धयितुमिति यावत् । मम त्वेवंभूतो निश्चयोऽस्तीति भावः ॥ ३७ ॥ ननु मम प्रपञ्चविडम्बनहेतुं तत्त्वतस्त्वं न जानीषे इत्यत्राह ॥ जानन्त इति ॥ हे प्रभो, ये जनाः, जानन्तः त्वत्स्वरूपस्वभावादिकं विजानन्तः भवन्ति, ते एव, विडम्वनहेतुमिति शेषः । जानन्तु । मे मम, वहूक्त्या वहुभाषितेन, किं न, किंचिदपि साध्यं नास्तीत्यर्थः । एवमात्मनोऽज्ञत्वमाविष्कृत्य सार्वजनीनमेतत्तु जानामीत्यभिप्रयन्नाह । मनस इति । तव वैभवं, मनसः, वपुषः, वाचः, मनआदिकरणत्रयस्येत्यर्थः। गोचरः । नेत्यनुवर्त्तते । विषयभूतं नेत्यर्थः । वपुष इति दृष्टान्तार्थं, यथा वपुषस्तव वैभवं न गोचरस्तथा वाङ्मनसोरपि न गोचर एतावत्तु जानामीति भावः ॥ ३८ ॥

कृष्णप्रिया

हे प्रभो, शरणागत भगवदियों को परमानन्द समूह प्रदान करने के लिये ही निष्प्रपञ्च होते हुए भी आप इस भूतल पर पधारकर प्रपञ्च का केवल अभिनय दिखावा ही करते हैं। नाथ ? यदि कोई कहे कि ज्ञान प्रदान से भी आनन्द प्रदान हो सकता था तब प्रपञ्च का अभिनय क्यों किया ! तव कहते हैं कि ऐसा जो कहते हैं उनको कहने दीजिये लेकिन नाथ आपकी कृपा से आपके स्वरूप और स्वभाव को जानते हैं वे ही जाने और क्या जाने ! प्रभो मैं खुद ब्रह्मा भले हूँ । इससे क्या मतलब ! आपका वैभव आपकी महिमा मेरी वाणी मन और देह से अप्राप्य और अवर्ण्य है ॥ ३८ ॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्ववित् । [१]त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत्तवार्पितम् ॥ ३९ ॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुगाकल्पमार्क[२] महन् भगवन् नमस्ते ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृष्ण ? मां अनुजानीहि सर्ववित् त्वं सर्वं वेत्सि जगतां त्वं एव नाथः एतत् जगत् तव अर्पितम् ॥ ३९॥ श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्ष्मानिर्जर ? द्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रुक् अर्हन् भगवन् आकल्पं आकल्पं ते नमः ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

जगदीशत्वाद्यभिमानं परित्यज्याह। अनुजानीहीति। स्वमहिमानमस्मदादीनां च ज्ञानवलादि सर्वं त्वमेव वेत्सि यतः सर्वदृक् जगतां नाथस्तु त्वमेवेत्येतावज्ज्ञातमतो ममतास्पदं जगदेतच्छरीरं च तवार्पितम् ॥ ३९ ॥ तदेवं किंकरं मां प्रस्थापयेत्यादरेण नमस्करोति । श्रीकृष्णेति । वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन हे सूर्योपम । क्ष्मा चावनिर्निर्जरा देवाश्च द्विजाश्च पशवश्च त एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारित्वेन हे चंद्रोपम । उद्धर्मः पाखडधर्मस्तदेव शार्वरं तमस्तद्धरतीति तथा अनेन द्वयोपम हे क्षितिराक्षसध्रुक् क्षितौ राक्षसाः कंसादयः उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनः सूर्योपम। सूर्याद्युपमाऽपि न्यूनेति मत्वाह । आर्कमर्कमभिव्याप्य सर्वदा महन् पूज्य भगवन्नाकल्पं कल्पपर्यंतं ते तुभ्यं नम इति ॥ ४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्वन्यूनताद्योतनेन भगवतो महत्त्वमाह— जगदीशेति । अनुजानीहि अनुज्ञां देहि ॥ ननु मम वैभवं तव मास्तु गोचरस्तत्र वैभवमहं वेद्मि न वेति तत्र किमहमत्र प्रत्युत्तरं कुर्यामिति व्यञ्जयन्सलज्जं सनिर्वेदमाह—अनुजानीहीति । अन्तर्भावितण्यर्थः, अनुज्ञापयेत्यर्थः । अत्र स्थले क्षणमपि स्थातुमयोग्यमतिनीचं मामाज्ञापय, यादृशोऽहं तादृशं स्थलं सत्यलोकमेव गच्छेयमिति भावः।

१. त्वद्-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. मार्कंसुमहन्—वीर. ।

हे कृष्ण चित्तं त्वस्माकमत्राकर्षस्येव। किन्तु, 'तद्भूरिभाग्यमिह जन्म' इति मत्प्रार्थनायां दृगिङ्गितेनाप्यस्त्विति श्रीमच्चरणैर्नोक्त-मतः किं कुर्वे, तस्मात्त्वत्पुलिनभोजनकेलेरन्तरायं कुर्वन्नयमपराधी त्वल्लीलाप्रातिकूल्यादेव श्रीमुखोद्गतवचनसुधालेशमप्यनाप्नुवन्न-हमितो झटिति दूरमपसरामि, त्वं वत्सान्पाययित्वा पुलिने भुञ्जानैः प्रियसखैः सह सहासोक्तिप्रत्युक्तिकौतुकं भोजनलीलाशेषं समा-पयेति ध्वनयः। अयमहं त्वतितारल्यात्पुनः पुनः किं वा विज्ञापयामीत्याह - सर्वमस्मदादीनां मनोवपुर्वाचां वैभवं त्वमेव वेत्सि। किञ्च, नाहमस्य जगतः स्वप्रभुत्वान्नाथः किन्तु त्वमेव जगतामन्येषां बहूनां नाथः। अत एतच्च जगत्क्षुद्रतरं तव त्वदीयमेव त्वयार्पितम्, यमिच्छसि योग्यमस्य जानासि तमस्याधिकारिणं कुर्विति भावः ॥ ३९ ॥ तदेवमित्युक्तार्थम्। पशवो गावश्च। उद्गतो धर्मो यत्र स उद्धर्मः। शर्वर्यां भवं शार्वरम् ॥ यद्यपि मामपराधिनं विज्ञाय न ब्रूषे तदपि स्वनेत्राभ्यां सानुग्रहावलोकनामृतं तु मह्यं देहि, यथा तेनैवाहारेण नित्यं प्राणान्रक्षन्कल्पपर्यन्तं जीवितुं प्रभविष्यामीति व्यञ्जयन्प्रणमिति—श्रीकृष्णेति। सूर्यस्वरूपं दक्षिणं नेत्रमाल-क्ष्याह—वृष्णिकुलपद्मस्य पोषं प्रफुल्लत्वं तत्प्रदायिन्। मामपि पद्मसन्तानं कृपया प्रफुल्लयेति भावः। चन्द्रस्वरूपं वामं नेत्रमाल-क्ष्याह—क्ष्मा तत्रत्या मनुष्यादयः, निर्जराः स्वर्गस्था देवाः, द्विजाः पशवश्च वृन्दावनस्थाः, पशवो गावश्च त एवोदधयस्तेषां वृद्धि-कारिन्। मामपि देवाधमं कृपया वर्द्धयेति भावः। युगपदेव नेत्रे द्वे एव पुष्पवन्तावालक्ष्याह—उद्धर्मः पाषण्डधर्मः स एव शार्वरं-मन्धतमसम् 'शार्वरं त्वन्धतमसे' इत्यमरः। तद्धरतीति तथा। तेन स्वप्रभौ त्वय्यपि मायाचिकीर्षालक्षणं पाषण्डं मम हर कृपया, यथा पुनरेवं न कुर्यामिति भावः। क्षितिराक्षसाः अघासुरादयस्तेभ्यो द्रुह्यति द्रोहेणापि स्वर्गतिं ददासीत्यतस्त्वद्वयस्य वृन्दवत्सवृन्द-द्रोहित्वावत्सलोकब्रह्मराक्षसं मामपि दण्डप्रदानेनापि संस्कुरुष्वेति भावः। स्वप्रभोरनुग्रहं निग्रहं वा दृष्ट्वा दासो जीवितुमुत्सहते, औदासीन्यं दृष्ट्वा तु न प्राणान्धर्तुमीष्ट इति भावः। हन्तहन्त महामहेश्वरोऽपि वेत्रगुञ्जागैरिकपिच्छादिरचिताकल्पो गोचारकबालकैः समं खेलन् हृष्यतीत्यनौचित्यं मत्प्रभोरिति पूर्वं विचारितवतात्वनभिज्ञेन मया येष्वपराद्धं तानपि प्रसादयामीति मनसि विभाव्याह—आकल्पं त्वदीयगुञ्जादिवेशमभिव्याप्य। आर्कम् आर्को नाम वृक्षो भगवदनर्हपुष्पोऽपि तमभिव्याप्य। हे अर्हन् मत्पूज्य, किं वा हे योग्य कृपाकृपाभ्यां मद्भद्राभद्रं कर्तुं समर्थ ते तत्तत्सहिताय तुभ्यं नमः। "सर्वसंशयहृत्सर्वभक्तिसिद्धान्तसन्ततिः। अस्तु ब्रह्मस्तुति-श्चित्तभित्तौ मे चारुचित्रिता॥" इति विश्वनाथः। तोषणीकारास्तु—प्रीतिसादरसर्वसम्पदनुभवपूर्वकं प्रणामाय प्रथमतः कृष्णेति-स्वरूपनाम्ना सम्बोधनम्, पुनः क्रमेण बहिर्बहिर्विशेषणं व्यञ्जयञ्जन्मकर्मनामभिरपि सम्बोधयति—वृष्णीत्यादिना। वृष्णिकुलं श्रीवसुदेवादिकं श्रीनन्दादिकञ्च पूर्वोक्तप्रामाण्यात्। तत्र प्रस्तुतत्वेन श्रीनन्दादिकमेवात्र मुख्यं ज्ञेयं, पशुपाङ्गजायेति प्रतिज्ञातत्वात्। क्ष्मेत्यविशेषेण प्राप्तत्वेऽपि विशेषविवक्षया द्विजपश्वोरुपादानं गोब्राह्मणहितावतारताप्रसिद्धेः। उद्धर्मो भगवद्विमुखो धर्मः, क्षिति-राक्षसाः उद्धर्मप्रवर्तकाः कंसादयश्च। चन्द्रसूर्यरूपोभयत्वेन रूपकव्यंजिका सर्वशुभकारिता विवक्षया कीर्तिप्रतापप्रशंसाद्योतनेच्छया च। हे भगवन् एवम्भूतश्रीकृष्णरूपत्वेन स्वयं भगवन्नित्यर्थः। तथार्कम् स्वर्भुवर्भूर्लोकव्यापकप्रकाशमर्कमारभ्य महावैकुण्ठपर्यन्तम्। अर्हन् पूज्य। यद्वा—एतच्चापूर्वं दृष्टं त्वमेव कर्तुमर्हसि नान्यः कोऽपीत्याह - अर्हतीत्यर्हन् हे सर्वं कर्तुं योग्य समर्थेति वा। अत आकल्पं मज्जीवनकालकल्पानभिव्याप्य। यद्वा—आकल्पं त्वदीयगुंजावतंसबर्हापीडादिकं वामहस्तस्थकवलादिकं च भूषणमभि-व्याप्य। तथार्कमिति पूर्ववत् ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ तत्तत्प्रकरणान्ते या दैन्यात्मिका भक्तिरेव तत्प्राप्तिकारणत्वेन दर्शिता, तामेवाविष्कुर्वन् अनुज्ञां प्रार्थयते—हे कृष्ण! सर्वेन्द्रियाकर्षकरूपगुण! अनुजानीहि अनेन गमनानुज्ञेयं नात्मेच्छया प्रार्थ्यते किं त्वत्राऽवस्थानानर्हतयैवेति सा च प्रार्थितस्यापि तस्य मौनितयेति भावः। त्वयि च यन्मयोक्तं यद्वा वक्तव्यं तत्सर्वं पुनरुक्तमेवेत्याह—सर्वं स्वर्वभवं मद्वैभवं च स्वमनोगतं मन्मनोगतं च स्वनिगूढलीलत्वं मदयोग्यत्वं चेत्यादिकं त्वमेव वेत्सि नाहमिति अतस्त्वदाज्ञां विना तृणादिरूपेणाप्येषां तृणादीनां सौभाग्यमा-सादयितुं न शक्नोमीति भावः। विषयमपि त्यक्तुं न शक्नोमीत्याह—त्वमेवेति। तव त्वयैव मह्यमर्पितं दासस्याऽऽज्ञास्थायित्वमेव युक्तमिति भावः। यदि चैवं ब्रूषे अपहृतात्मनां वालवत्सानां दर्शनं विना कथमनुज्ञां याचसे तत्राप्येवं निवेदयामीत्याह—सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृगिति चात्र ज्ञापितम् ॥ ३९ ॥ श्रीति सादरसर्वसम्पदनुभवपूर्वकं प्रणामाय प्रथमतः कृष्णेति स्वरूपनाम्ना सम्बोधनं पुनः क्रमेण ततो बहिर्बहिर्विशेष्यं व्यञ्जयन् जन्मकर्मनामभिरपि सम्बोधयति, वृष्णीत्यादिना। वृष्णिकुलं श्रीवसुदेवादिकं श्रीनन्दादिकं च पूर्वोक्तप्रामाण्यात् तत्र प्रस्तुतत्वेन श्रीनन्दादिकमेवाऽत्र मुख्यं ज्ञेयम् पशुपाङ्गजायेति प्रतिज्ञातत्वात् क्ष्मेत्यविशेषेण प्राप्तत्वेऽपि विशेषविवक्षया द्विजपश्वोरुपादानं गोब्राह्मणहिताऽवतारताप्रसिद्धेः उद्धर्मो भगवद्विमुखो धर्मः क्षितिराक्षसाः उद्धर्म-प्रवर्तकाः कंसादयश्च चन्द्रसूर्य्यरूपोभयत्वेन रूपकव्यञ्जना सर्वशुभकरिताविवक्षया कीर्तिप्रतापप्रशंसाद्योतनेच्छया च हे भगवन्! एवम्भूतश्रीकृष्णरूपत्वेन स्वयं भगवन्नित्यर्थः। तथार्कं स्वर्भुवर्भूर्लोकव्यापकप्रकाशमर्कमारभ्य महावैकुण्ठपर्यन्तमर्हन् पूज्य! यद्वा, एतच्चापूर्वं दृष्टं त्वमेव कर्त्तुमर्हसि नान्यः कोऽपीत्याह—अर्हतीत्यर्हन् हे सर्वं कर्तुं योग्य! समर्थेति वा अत आकल्पं मज्जीवन-

कालरूपान् कल्पानभिव्याप्य यद्वा, आकल्पं त्वदीयगुञ्जावतंसबर्हापीडादिकं वामहस्तस्थकवलादिकं च भूषणमभिव्याप्य तुभ्यं तथा आर्कम् अर्को नामवृक्षो भगवदनर्हपुष्पो वैष्णवानामनादरणीयः तमप्यन्तं समभिव्याप्य तत्तत्सहितायेत्यर्थः ।

"श्रीमच्चैतन्यदेवानुगृहीतानामनुग्रहात् । तेषां मुदेस्तुतिर्ब्राह्मी व्याख्यातेयं यथामति" ।। ४० ।।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्थं स्तुतिप्रभावजनित श्रीभगवत्प्रसादविशेषतोऽखिलाभिमानापगमेन परमदैन्यमाश्रितोऽस्तज्ज्ञानादिनेव निजस्थानं गन्तुमनुज्ञां प्रार्थयते—अनुजानीति । कृष्ण ! हे निजाशेषभगवत्ता प्रकटनपर ! सर्वमुक्तत्वद्व भवं त्वमेव वेत्सि; यतः सर्वदृक् सर्वज्ञः यद्वा, सर्वदृगपि त्वं वत्सि किम् ? काक्वा; नैवेत्यर्थोऽनन्तत्वात्, अतस्तत् स्तोतुमपि नार्हामीति प्रस्थापयेत्यर्थः । किञ्च, तद्धृति सिद्धयेऽभिमानत्यागेन निज सर्वं त्वय्यर्पयामीत्याह—त्वमेवेति । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् । अथवा, भो ब्रह्मन् ! त्वयात्र किमपि जन्मादि नैव प्रार्थितम्; तत् किमन्यत्र गन्तुमिच्छसि ? तत्राह—सर्वमिति चतुर्मुखेनानेन देवदेहेनात्र स्थातुं नार्हामीत्यादिकं मद्वृत्तम्, तं चैषां प्रेमवश्यो यथेष्टमेतान् रमयितुं व्यग्रोऽसीत्यादिकं च वृत्तम्, हे कृष्ण ! व्रजजनैकप्रिय ! त्वं वेत्स्येव, तत् कथमत्र स्थास्यामीति भावः । किन्तु निजं तत् प्रार्थितसिद्धये सर्वं त्वय्यर्पयामीत्याह, जगतां नाथस्त्वमेवेत्यर्पणाभिमानोऽपि न मम घटतेऽतोऽर्पणमपर्याप्त मिति भावः । अथवा भोः परमेष्ठिन् ! सृष्ट्यादिना भावज्जगदीशस्त्वम्; तत् कथमीदृशं दैन्यमालम्बसे ? तत्राह—जगतामेव नाथः स्त्वमित्यहं दास एवेति भावः । ननु, पितामहस्य तव पुत्रपौत्रादिमयं जगत् साक्षात्त्वयाविक्रियमाणमेतद्दृश्यते तत्राह, तवैवैतत्स गर्दर्पितं मयि त्वयैवातोऽत्र न मम नाथत्वम्, किन्तु त्वत्कर्त्तृकार्येण महिम्नैव मदधिकृततया स्फुरतीति भावः ।। ३९ ।। हे श्रीकृष्णेति श्रीः सर्वविषयक विविधशोभा, तद्युक्त कृष्ण ! श्रीमत्त्वादेव सर्वचित्ताकर्षकेति सर्वथा सर्वतो वैशिष्ठ्यमभिप्रेतम् । तदेवाभिव्यनक्ति वृष्णीत्यादिना; तत्र हेतुः—भगवन्निति सर्वैश्वर्यविस्तारकेत्यर्थः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, इत्थं सञ्जातपरमभक्त्यान्ते विविध नामसंकीर्त्तनरूपां स्तुतिं कुर्वन् सर्वमवतारप्रयोजनमेकश्लोकेन संक्षिप्य वर्णयन् सपदाब्जग्रहं प्रणमति । तत्र वृष्णिकुलेति—सूर्योदयेन कमलानां तमोमुद्रानिरसनपूर्वकप्रकाशनमिवाविर्भावमात्रेण श्रीवसुदेवादियादववर्गाणां दुःखनाशनपूर्वकानन्दप्रदत्वं प्राग्वर्णितम् । तच्चोक्तमेव (भा० १०।२।१७) 'स बिभ्रत् पौरुषं धाम' इति, (भा० १०।२।३८) 'दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवः' इत्यादिना । किञ्च, पृथिव्याश्च देवानाञ्च विप्राणाञ्च पशूदधेश्च गवादिपशुसमुद्रस्य श्रीनन्दव्रजस्य वृद्धिकारिन् ! अधर्म निवर्त्तनधर्मप्रवर्त्तनादिना साक्षाद्दुःखहरणसुखसम्पादनादिना च वर्द्धनशील ! यद्यपि क्ष्मा वर्द्धनेनैव तदन्तर्गतानां द्विजगवादीनां वृद्धिकारित्वं स्वत एवायाति, तथाप्यवतारेऽस्मिन् तद्विशेषापेक्षया पृथङ्निर्दिष्टम् । यद्वा, महर्लोकादिवर्तिनामृषीणां गोलोकादिवर्ति गोकुलानाञ्च ग्रहणार्थम्, यद्वा, व्रजसम्बन्धिनो ये क्ष्मा निर्ज्जरा विप्रा द्विजाश्च पक्षिणः पशवश्च गोमहिष्यादयोऽतिप्राचुर्यात् एवोदधयस्तद्वृद्धिकारिन्निति प्राधान्यव्रजस्यैव सम्वर्द्धकत्वमुक्तम् । अधुना प्रेमभक्तिविस्तारणं मुख्यप्रयोजनमन्ते वर्णयति, धर्मोऽत्र भक्तिलक्षणस्तद्विरुद्धं ज्ञानादिकमेवोत्तथादिन्यायेनोद्धर्मः, स एव सदा सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि भक्तिमार्गस्याच्छादकत्वात्तमस्तद्धरतीति तथा, अत एव हे क्षितिराक्षसध्रुक् ? क्षितिराक्षसा द्विविधाः, एके भवतमसि ये चरन्ति रजनीचरसाम्यादविल लोकैककजीवनभक्तिमार्गविघातकत्वाच्च राक्षसा अन्तर्निगूढासुरभावा असन्तः, अन्ये च वृष्णिकुलादि द्वेषिणः प्रकटदैत्याः कंसाद यस्तेभ्यो द्रुह्यतीति तथा, तत्रासतां दुर्मदादिनिग्रहेण कंसादीनाञ्च साक्षान्मारणेनैव । तच्च तेषां हितार्थमेवेत्याह—भगवन् ! हे परमदयालो ! सतां भक्तौ प्रवर्त्तनात् । एतच्चापूर्वदृष्टं त्वमेव कर्त्तुमर्हसि, नान्यः कोऽपीत्याह, अर्हतीत्यर्हन् हे सर्वं कर्त्तुं योग्य समर्थेति वा, अत आकल्पं मज्जीवनकालमभिव्याप्य, यद्वा, आ आकल्पं त्वदीयगुञ्जावतंसवर्हापीडादिकं वामहस्तस्थकवलादिकञ्च भूषणमभिव्याप्य, तथार्कमर्को नाम वृक्षो भगवदनर्हपुष्पो वैष्णवानामनादरणीयस्तमप्यर्कमभिव्याप्य तत्तत्सहितायाशेष निजैश्वर्य प्रकटनशोभायुक्त कृष्ण परमानन्द नन्दनन्दन ! नमस्ते ।। ४० ।।

श्रीमच्चैतन्यदेवानुगृहीतानामनुग्रहात् । तेषां मुदे स्तुतिर्ब्राह्मी व्याख्यातेयं तथारुचि ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

इति स्तुत्वाऽनुज्ञां प्रार्थयते—अनुजानीहीति । अतो मामनुज्ञापय याहीत्याज्ञापय हे कृष्ण ! मयि सत्त्वसुखज्ञानप्रदस्वेति सच्चिदानन्दघनस्वरूपरूपे "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति श्रुतेः । वत्सबालादीन् सर्वान् त्वमेव वेत्सि यतः सर्वदृक् सर्वदर्शी जगतां समष्टिजीवानां नाथः त्वमेव नाहं एतज्जगत् चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्माण्डं तव शरीरभूतं न मम तच्चापि त्वयि समर्पितम् एवम् आत्मात्मीयभरसमर्पणं कृत्वा नमस्करोति ।। ३९ ।। श्रीकृष्णेति हे श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दरविग्रह ! सदानन्द स्वरूपरूप ! अयं परवासुदेवः विष्णुर्नारायणः श्रीकृष्णावतारश्रीरामावतारश्यामसुन्दरः सच्चिदानन्दस्वरूपरूप एव सर्वत्रानुसन्धेयो वैष्णवैरिति रहस्यं नन्वहो यादवकुले जातो यादव एवेत्यत्राह, वृष्णिकुलमेव पुष्करं तस्य जोषं प्रीतिः तां दानुं शीलं यस्य तत्सम्बोधनम् "यदोः प्रियस्यान्ववाये मलयस्येव चन्दनम्" इति कुन्तीवाक्येन यदुकुलस्य यशोदानायैव भवत्प्रादुर्भाव इति भवता हेतुत्वकथनम्, अनेन सूर्योपमत्वं च क्ष्मानिर्जरा विप्राः द्विजाः पक्षिणः पशवः गवादयः श्रीवृन्दावनस्थाः तेषाम् उदधिरिवेति

श्रीवृन्दावनं तस्य वृद्धिं करोतीति तत्सम्बोधनं चन्द्रोपमत्वं च उद्धर्मं पाखण्डमेव शार्वरं शर्वरीसम्बन्धि अन्धकारं हरतीति हरः तत्सम्बोधनं क्षितिराक्षसध्रुक्, क्षितौ ये राक्षसाः तान् द्रुह्यतीति कंसादिमारक ! मन्देहाश्च तेषामुदयसमय एव मारक ! सूर्योपम ! पुनः सम्बोधयति; आ अर्कम् अर्हन् ! अर्कं देवम् अभिव्याप्य सर्वदेवानां पूज्यतम ! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते नमः आकल्पं शृङ्गारम् अर्हन् ! योग्य ! इति वा ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ जिगमिषुरावयोस्तारतम्यं सर्वज्ञस्त्वमेव वेत्सीति वदन्ननुज्ञां पृच्छति—अनुजानीहीति । हे कृष्ण ! सर्वदृक् हेतुगर्भमिदं तत्त्वात्सर्वं वेत्सि जगतां नाथस्त्वं न त्वहमिति भावः । एतत् परिदृश्यमानं जगत्तव त्वयार्पितम् उत्पाद्य स्वस्मिन्नेव निहितमित्यर्थः । न तु ममेति भावः अतो मामनुजानीह्याज्ञापयेत्यर्थः ॥ ३९ ॥ एवमापृच्छ्याक्षिप्तसङ्कोचनेनैव तदनुज्ञातः पुनर्हर्षातिशयात्प्रकृतावतारासाधारणधर्मैः सम्बोधयन्परिक्रम्य प्रणम्य च जगामेत्याह – श्रीकृष्णेति द्वाभ्याम् । वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन सूर्योपमा क्ष्मानिर्जरा भूदेवा ये द्विजास्तेषाम् । यद्वा, क्ष्मायाः निर्जराणां देवानां द्विजानां पशूनां च उदधिवद्विस्तारः तस्य वृद्धिं करोतीति तथाभूत ! तत्समुदायवृद्धिकारित्वेन चन्द्रोपमाद् उद्धर्मः पाषण्डधर्मः स एव शार्वरं तमः तद्धरतीति तथाऽनेन हि द्वयोपमा हे क्षितिराक्षसध्रुक् ! क्षितौ ये राक्षसाः कंसादयः उद्यन्नेव तेभ्यो द्रुह्यतीति पुनः सूर्योपमा सूर्याद्युपमाऽपि न्यूनेति मित्वाऽऽह–आर्कमर्कमभिव्याप्य सर्वेषां सुमहन्पूज्य ! हे भगवन् ! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

किञ्चेदानीमहमस्मिन्नेवाधिकारे स्थास्यामीत्याग्रहो नास्ति अतस्त्वमेव यस्मिन् त्वदाराधनभूते कर्मणि माम् नियोजयितुमिच्छा तव वर्त्तते तस्मिन्नेव नियोजयेत्याह –अनुजानीहिति । कर्षति स्वशेषभूतान् ब्रह्मादीन्स्वस्वाधिकारे नियोजयतीति कृष्णस्तत्सम्बुद्धौ हे कृष्ण ! मां अनुजानीहि आज्ञां देहि मम तु त्वत्कैङ्कर्यमेव परमप्रयोजनमिति त्वमेव वेत्सि यतस्त्वं सर्वदृक् "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादि श्रुतेः नियोजने हेतुमाह, यतस्त्वमेव जगतां असङ्ख्यातब्रह्माण्डानां नाथः किञ्च तज्जगत्तवार्पितं त्वच्छेषभूतं त्वदर्थमित्यर्थः तथाचोक्तं "कृष्णस्य हि कृते सर्वं जगदेतच्चराचरम्" इति ॥ ३९ ॥ तदेवं नौमीत्यारभ्य स्वाभाविकनन्तनृनन्तव्यभाव एवैतावत्पर्यन्तं स्थापितः अतः पुनस्तमेव स्वशेषिणमत्यादरेण "कृताञ्जलिपुटा हृष्टा नम इत्येव वादिनः" इति न्यायेन नमस्कुर्वन्नुपसंहरति–श्रीकृष्णेत्यादिभिर्विशेषणैः स्वज्ञानबलादिभिः शत्रून् स्वाश्रितविरोधिन आकर्षति नाशयतीति कृष्णस्तत्सम्बुद्धौ हे श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् ! वृष्णीनां कुलमेव पद्मं तस्य जोषदायिन् प्रीतिदानेन सूर्यतुल्य ! क्ष्मानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ! क्ष्माऽवनिर्निर्जरा देवा द्विजा भूदेवाः पशवश्च त एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारिन् चन्द्रतुल्य उद्धर्मशार्वरहर ! उद्धर्मः पाषण्डं तदेव शार्वरं गाढं तमस्तद्धरतीति पुनः सूर्यतुल्य ! आकल्पमार्कं क्षितिराक्षसध्रुक् क्षितौ राक्षसाः कंसादयस्तेभ्य आकल्पं ब्रह्मकल्पं मर्यादीकृत्य आर्कं सूर्यप्रलयं मर्यादीकृत्य "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतेः । उद्यन्नेव द्रुह्यतीति पुनः सूर्यतुल्य ! यथा सूर्यं उद्यन्निव राक्षसेभ्यो द्रुह्यति तथा त्वमपि आविर्भवन्नेव तान्नाशयतीत्यर्थः । हे अर्हन् ! अस्मदादीनां सर्वेषां पूज्यतम ! भगवन्, हेयनिषेधपूर्वकाप्राकृतज्ञानादिषड्गैश्वर्य ! तुभ्यन्नमः अहं त्वच्छेषभूतस्त्वदर्थमेव स्यां न मम इति फलितार्थः । यद्वा, आकल्पमित्यत्र आ अकल्पमितिच्छेदः अकल्पो मोक्षस्तमभिव्याप्येत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमस्कन्धे उपक्रमे "पिबत भागवतं रसमालयम्" इति आर्कमिति तू पूर्वोक्त एवार्थः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

सर्वमिति तथाप्यत्रावस्थानाज्ञाया अलाभात् कथं स्थास्यामीति भावः । विषयमपि न त्यक्तुं शक्नोमीत्याह—तवेति । तव त्वयैव मय्यर्पितं दासस्याज्ञास्थायित्वमेव च युक्तमिति भावः ॥ ३९-४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

उपसंहरति—अनुजानीहीत्यादि । हे कृष्ण ! मामनुजानीहि । ननु किमनुज्ञास्यामीत्याशङ्क्याह – सर्वं त्वं वेत्सि, तत् किं कथनीयम् । ननु कथमहं वेद्मि ? तत्राह—सर्वदृक् सर्वज्ञोऽसि । ननु ज्ञातं भो ज्ञातम्; तत् भूरिभाग्यमिहेति यदुक्तम् तदेव तव तु जगरत्स्रष्टु रेवं न युज्यत इत्याशङ्क्याह – त्वमेवेति जगतां नाथस्त्वमेव, नान्योऽस्मद्विधादिः । कुत ? इत्याह—जगच्चैतत्तवार्पितं त्वय्येवार्पितम्, त्वय्यार्पितस्य नाथत्वां विना कोऽन्यो भवतु ? तस्माद्यथाभिलषितमेव भूयादित्यनुजानीहि ॥ ३९ ॥ तस्माद्भूयोऽपि ते नम इति सस्तवं प्रणमति—श्रीकृष्णेति । हे भगवन् ! नमस्ते, वृष्णिकुलपुष्कराणां जोषः प्रीतिस्तां दातुं शीलं यस्येत्यनेन भानुत्वं व्यञ्जयम्; क्ष्मा पृथ्वी, निर्जरा देवाः, द्विजाः पशवश्च वृन्दावनसम्बन्धिनस्त एवोदधयः, दुरवग्राह्यत्वात्, तेषां वृद्धिकारित्वेन चन्द्रत्वम्, उद्धर्मा एव शार्वराणि तमांसि तेषां हरत्वेन महाज्योतिष्ट्वाद वह्नित्वं 'वह्नीन्द्वर्कास्तमोनुदः' इत्युक्तेः । अत एक एव त्वं भानुचन्द्रवह्नीनां मण्डलानि । अयमर्थः । यथा अमी तेजोमण्डलरूपेण बहिः प्रकाशन्ते, अन्तस्तु स्वस्वाकारेण वर्तन्ते, तथा त्वमपि

ब्रह्माकारेण विश्वव्यापी दृश्यमानाकारेण परिच्छिन्न इति ॥ क्षितिराक्षसध्रुक् ! त्वम्, अतस्त्रितयतेजोव्यतिरिक्तनिजतेजोविशेष-वत्त्वम्, आर्कमर्कमभिव्याप्य, नमो यावत् सूर्यो भास्यति, तावत्कालपर्यन्त नम इत्यर्थः । किं बहुना ? आकल्पं कल्पो द्विपरार्द्धकालं यावज्जीवामि, तावदेव नम इति भावः । हे अर्हन् ? नमस्य ! एवं नौमीत्युपक्रम्य नमस्त इत्युपसंहारः ॥ ४०-५६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

किं बहुना प्रलपेन ? सर्वमेव त्वं वेत्सीत्याह—अनुजानीहि, इत्यादि । एतज्जगत्त्वार्पितं त्वय्येवार्पितम्, एतेन सह मम कर्तृत्वेन दायो नास्ति, नाहमस्य कर्त्ता, च-कारात् एतत् शरीरञ्च त्वय्येवार्पितम् ॥ ३९ ॥ नौमीत्युपक्रम्य नमस्कारेणोपसंहरति श्रीकृष्णेत्यादि ॥ ४०-५६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, मम वैभवं तव मास्तु गोचरस्तव वैभवमहं वेद्मि न वेत्तीति वक्रोक्तिमाशङ्क्य किमहमत्र प्रत्युत्तरं कुर्यामिति व्यञ्जयन् सलज्जं सनिर्वेदमाह—अनुजानीहीति । अन्तर्भावितण्यर्थम् अनु अनुज्ञापयेत्यर्थः । अत्र स्थले क्षणमपि स्थातुमयोग्यमतिनीतं मामाज्ञापय यादृशोऽहं तादृशं स्थलं सत्यलोकमेव गच्छेयमिति भावः । हे कृष्णेति चित्तं तु त्वमत्राकर्षस्येव किं तु तद्भूरिभाग्यमिह जन्मेति मत्प्रार्थनायां दृगिङ्गितेनाऽप्यस्त्विति श्रीचरणैर्नोक्तमतः किं कुर्वे तस्मात्त्वत्पुलिनभोजनवेलावन्तरायं कुर्वन्नयमपराधी त्वल्लीलाप्रातिकूल्यादेव श्रीमुखोद्गतवचनसुधालेशमप्यनाप्नुवन्नहमितो झटित्येव दूरमपसरामि त्वं वत्सान् कालयित्वा पुलिने भुञ्जानैः प्रियसखैः सह सहासोक्तिप्रत्युक्तिकौतुकं भोजनलीलाशेषं समापयेति ध्वनयः । अयमहं त्वतितारल्यात् पुनः पुनः किं वा विज्ञापयामीत्याह, सर्वमीत्याह, सर्वमस्मदादीनां मनोवपुर्वाचां वैभवं त्वमेव वेत्सि किं च नाहमस्य जगतः स्रष्टृत्वाज्ञायः किं तु त्वमेव जगतामन्येषामपि बहूनां नाथः अत एतच्च जगत् क्षुद्रतरं तव त्वदीयमेव त्वय्यर्पितं यमिच्छसि योग्यमस्य जानासि तमस्या-धिकारिकं कुर्विति भावः ॥ ३९ ॥ यद्यपि मामपराधिनं विज्ञाय न ब्रूषे तदपि स्वनेत्राभ्यां सानुग्रहाऽवलोकनाऽमृतं तु मह्यं देहि यथा तेनैवाहारेण नित्यं प्राणान् रक्षन् कल्पपर्यन्तं जीवितुं प्रभविष्यामीति व्यञ्जयन् प्रणमति—श्रीकृष्णेति । सूर्य्यस्वरूपं दक्षिणं नेत्रमालक्ष्याह, वृष्णिकुलपद्मस्य जोषः प्रफुल्लत्वं तत्प्रदायिन् मामपि पद्मसन्तानं कृपया प्रफुल्लयेति भावः । चन्द्रस्वरूपं वामनेत्र-मालक्ष्याह क्ष्मा क्ष्मातलस्था मनुष्यादयः निर्जराः स्वर्गस्थाः देवा द्विजाः पशवश्च वृन्दावनस्थाः पक्षिणो गावश्च त एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारिन् ! मामपि देवाधमं कृपया वर्द्धयेति भावः, युगपदेव नेत्रे द्वे एव पुष्पवन्तावालक्ष्याह—उद्धर्मः पाषण्डधर्मः स एव शार्वरं मन्धतमसं "शार्वरं त्वन्धतमसम्" इत्यमरः तद्धरतीति तथा तेन स्वप्रभौ त्वय्यपि मायाचिकीर्षालक्षणं मम पाषण्डं कृपया हर यथा पुनरेवं न कुर्यामिति भावः । क्षितौ राक्षसा अघासुरादयस्तेभ्यो द्रुह्यसि द्रोहेणापि स्वगतिं ददासीत्यतस्त्वद्द्वयस्य वृन्दवत्स-वृन्दविद्रोहित्वात् सत्यलोकब्रह्मराक्षसं मामपि दण्डप्रदानेनापि संस्कुरुष्वेति भावः । स्वप्रभोरनुग्रहं वा दृष्ट्वा दासो जीवितुमुत्सहते औदासीन्यं दृष्ट्वा न प्राणान् धर्त्तुमीष्टे इति भावः । हन्त हन्त महामहेश्वरोऽपि क्षेत्रगुञ्जागैरिकपिच्छादिरचिताकल्पो गोचारक-बालकैः समं खेलन् हृष्यतीत्यनौचित्यं मत्प्रभोरिति पूर्वं विचारितवता तत्त्वानभिज्ञेन मया येष्वपराद्धं तानपि प्रसादयामीति मत्वेति विभाव्याह—आ आकल्पं त्वदीयगुञ्जादिवेषमभिव्याप्य आर्कं अर्को नाम वृक्षो भगवदनर्हपुष्पस्तमपि व्रजस्थमभिव्याप्य हे अर्हन्, मत्पूज्य ! किं वा हे योग्य कृपाङ्कपाभ्यां मद्भद्राभद्रं कर्तुं समर्थ ! ते तत्तत्हिताय तुभ्यं नमः —

"सर्वसंशयहृत् सर्वभक्तिसिद्धान्तसन्ततिः । अस्तु ब्रह्मस्तुतिश्चित्तभित्तौ मे चारु चित्रिता" ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वाधारस्त्वमेवेति वदन् आज्ञां देहीत्याह— अनुजानीहीति । इहैव परिचर्य्यां कर्तुं सत्यलोकं प्रति गन्तुं वा आज्ञापय मामित्यर्थः ॥ ३९ ॥ अक्षिसंकोचेनैव स्वलोकं व्रजेत्यनुज्ञातो नमस्करोति -श्रीकृष्णायेति । हे श्रीकृष्ण ! श्रीयुक्त सदानन्द ! वृष्णिकुलपुष्करस्य जोषदातृत्वेन प्रीतिदातृत्वेन हे भास्करोपम ! क्ष्मादय एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारित्वेन हे चन्द्रोपम ! उद्धर्माः नानापाखण्डधर्मास्त एव शार्वराः निशाचराः तान् हन्तीति हे देवेन्द्रोपम ! क्षितिराक्षसाः दुर्वृत्ताः जनाः तेभ्यो द्रुह्यतीति हे नरेन्द्रोपम ! निःसमानातिशयप्रीतिदातृत्वादिगुणनिधे ! भास्कराद्युपमा न्यूनेति मत्वाऽऽह, आर्कमर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्हन्, पूज्य ! हे भगवन् ! आकल्पं कल्पपर्य्यन्तं ते तुभ्यं नमः ॥ ४०—४१ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु मम वैभवं तव गोचरो मास्तु तव वैभवमहं वेद्मि न वेति चेत्तत्र सत्रपं सनिर्वेदमाह अनुजानीहि अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् अनुज्ञां देहि तव सजग्धिक्रीडान्तरायत्वादपराधवानहं दूरमपसरामि "तद्भूरिभाग्य"मिति मदभ्यर्थितः श्रीमच्चरणैर्दृगिङ्गितेनापि नाङ्गीकृतं किं बहु विज्ञापयामि दूरतस्तद्भावयामि सर्वं त्वं वेत्सि यतः सर्वदृक् । ननु जगत्पतिस्त्वं जगत्कार्यं कुरु तत्राह त्वमेवेति बहूनां जगतां त्वमेव नाथः एतच्चाल्पकं जगत्त्वादाज्ञयैव मया रचितं त्वयार्पित यमिच्छसि तस्मै देयं न मे किञ्चिदनेन प्रयोजनम्

मद्वाञ्छितुं तदेव दयासिन्धुना सम्पाद्यमिति भावः ॥ ३९ ॥ यद्यपि सागसं मां न-सन्तापयेयास्तथापि कृपावलोकं विना मे जीवितं दुर्द्धरमिति व्यञ्जयन् प्रणमति श्रीकृष्णेति । वृष्णिकुलमेव पुष्करं तस्य जोषो विकासस्तद्दायिन्निति सूर्यत्वं तेन ममापि पद्मभवत्वात्तद्दानं साम्प्रतं क्ष्मा च निर्जराश्च द्विजाश्च पशवो गावश्च त एवोदधिस्तद्वृद्धिकारिन्निति चन्द्रत्वं तेन ममापि निर्जरद्विजस्य वृद्धिकरणं साम्प्रतं क्षितौ राक्षसेभ्यो अघादिभ्यो द्रुह्यसि द्रोहेणापि स्वपदं ददासीति अतस्त्वत्सजग्धिप्रत्यूहकारिणं ब्रह्मराक्षसं मामपि दण्डेन संस्कृत्य स्वपदं देहि त्वयौदासीन्य तेन मज्जीवनं दुर्द्धरमिति भावः । किञ्च सर्वेश्वरस्यानन्तलक्ष्मीकस्य गुञ्जापिञ्छादिवेषो गोचारणं गोपभिस्तैः सह सख्यञ्च नोचितमित्यविज्ञेन मया मनसि सम्भाव्यापराद्धं तदिदानीं क्षमयामीत्याह आकल्पं गुञ्जादिवेषमभिव्याप्य अर्कस्त्वदनर्हपुष्पो वृक्षा व्रजस्थस्तं चाभिव्याप्य तत्सहिताय ते नमोऽस्तु तत्तत्सर्वस्य त्वदीयत्वाद्धि ज्ञानघनत्वाच्च मद्वन्द्यत्वम् । हे अर्हन् पूज्य ॥ ४० ॥

"परमैश्वर्यमाधुर्य भक्तिभृद्ब्रह्मणोदिता । जीयाद्गोकुलमाहात्म्य धात्रीनन्दसुतस्तुतिः ॥"

श्रीसुबोधिनी

एवं स्तुत्वा गमनं प्रार्थयति वालकानामानयनार्थमनुजानीहीति, गन्तुमनुज्ञां प्रयच्छ, कृष्णेतिसम्बोधनं स्वस्य प्रेमख्यापनार्थं, प्रेषणेपराधाभावे वा न किञ्चिन् मया वक्तव्यं यतस्त्वमेव सर्वं वेत्सि यतः सर्वविद्, तत्र गतस्य स्वातन्त्र्यशङ्का न कर्तव्या, यतस्त्वमेव जगतां नाथः, अतोधिकारस्थित्यर्थं प्रेषय, एतज् जगत् नवैव त्वयैव चार्पितं मयि स्थापितं अतः प्रेषणमुचितमेव ॥३९॥ गच्छन् नमस्यति हे कृष्णेति, वृष्णयो यादवास्तेषां कुलमेव पुष्करं तस्य जोषो विकासस्तस्य दायिन्निति सूर्यरूपतोक्ता, क्ष्मा पृथिवी निर्जरा देवा द्विजा ब्राह्मणाः पशवश्च त एवोदधिस्तस्य वृद्धिकारिन्निति चन्द्ररूपता, उद्धर्मः पाषण्डधर्मस्तदेव शार्वरं तस्य निवारकेत्यग्निरूपता, क्षितिराक्षसध्रुगिति, क्षितावुत्पन्ना ये राक्षसास्तान् द्रोग्धीत्यवतारप्रयोजनम्, आकल्पं नमस्त इति, आर्कमर्हन्निति, अर्कमभिव्याप्य सर्वपूज्येति स्वस्यापि नमस्कारे हेतुः ॥ ४० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

जगदीशत्वाभिमानं परित्यज्याह—अनुजानीहीति । हे कृष्ण ! जगतामनन्तकोटिब्रह्माण्डानां त्वमेव नाथश्च स्वामी । तत्र हेतुमाह—एतत् सर्वमपि जगत् तवार्पितं त्वयैव विनिर्मितम्, यद्वा एतत्पर्यन्तं ममतास्पदं जगत् अहन्तास्पदमेतच्छरीरं च तत्तवार्पितम्, स्वकीयत्वाभिमानं परित्यज्य तुभ्यं समर्पितमित्यर्थः । ननु 'कथं तर्हि तत्र स्वकीयत्वाभिमानः ?' तत्राह—सर्वमिति । स्वमहिमानमस्मदादीनां ज्ञानवलादिकं च सर्वं त्वं स्वयमेव वेत्सि जानासि, तत्र मया को वा विशेषो वक्तव्य इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—सर्वदृगिति । सर्वसाक्षित्वादित्यर्थः । तथा चाज्ञस्य ममोपरि सर्वज्ञस्य तव कृपैव युक्ता इति भावः । ननु 'तवाधिकारोऽधुना न परिसमाप्तः, कथं वृन्दावने जन्म प्रार्थयसे ?' इत्याशङ्क्याह—अनुजानीहि मामिति । तद्ध्यधिकारस्थित्यर्थं मामनुजानीहि, सत्यलोकं गन्तुमनुज्ञां देहीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ नेत्रकटाक्षेणैव गमनाज्ञां प्राप्य गच्छन् वहुधा सम्बोधयंश्च नमस्कारं प्रार्थयते - हे श्रीकृष्ण सदानन्दरूप ! वृष्णयो यादवाः, तेषां कुलमेव पुष्करं कमलम्, तस्य जोषो विकासः, तस्य दायिन् ! 'जुष प्रीतौ' इति प्रीतिदातृत्वेन सूर्योपमा सूचिता । तथा क्ष्मा पृथ्वी, च निर्जरा देवाः, द्विजा ब्राह्मणाश्च, पशवो गावश्च, ते एव उदधयस्तेषां वृद्धिकारिन् ! इति चन्द्रोपमा । तथा उद्धर्मः पाखण्डधर्मः, तदेव शार्वरं तमः तद्धरतीति तथा, तत्सम्बोधनेन चन्द्रसूर्ययोर्द्वयोरुपमा । अनेन 'ममापि मायाप्रतारणरूपपाखण्डकृतापराधं हर' इत्यपि सूचितम् । क्षितौ ये राक्षसाः कंसादयस्तेभ्य उद्यन्नेव द्रुह्यतीति तथा, तत्सम्बोधनेन पुनरपि सूर्योपमा । 'सूर्याद्युपमाऽपि न्यूना' इत्याशयेनाह—आर्कमर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्हन् हे पूज्य ! पूज्यत्वे हेतुमाह - हे भगवन् ! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अनुजानीहीति ॥ हे कृष्ण ! त्वं मामनुजानीहि सत्यलोकं गन्तुमनुज्ञां देहि सर्वदृक् त्वं सर्वमपि वेत्सि त्वमेव जगतां नाथः अतः मया ममतास्पदमेतत् जगत् शरीरं च तव अर्पितम् ॥ ३९ ॥ श्रीकृष्णेति ॥ हे श्रीकृष्ण ! वृष्णयो यादवाः तेषां कुलमेव पुष्करं कमल तस्य जोषो विकासः तद्दायिन् इति सूर्योपमा । तथा क्ष्मा पृथ्वी च निर्जरा देवा द्विजा ब्राह्मणाश्च पशवो गावश्च ते एव उदधयस्तेषां । वृद्धिकारिन्निति चन्द्रोपमा । तथा उद्धर्मः पाखण्डधर्मः तदेव शार्वरं तमः तद्धरतीति तथा तत्सम्बोधनेन चन्द्रसूर्ययोर्द्वयोरुपमा । क्षितौ ये राक्षसा कंसादयस्तेभ्य उद्यन्नेव द्रुह्यतीति तथा तत्संबोधनेन पुनरपि सूर्योपमा आर्कमर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्हन् हे पूज्य ! हे भगवन् ! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ४० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

गोष्ठप्रवेशप्रकारमाह बर्हेति–बर्हादिभिः विचित्रितानि विचित्रीकृतानि अंगानि करमस्तकादीनि येन सः प्रसूनानि पुष्पाणि वनधातवो वनाकरोद्भवाः गैरिकादयः प्रोद्दामाः श्रेष्ठाः ये वेण्वादीनां रवाः शब्दास्तैरुत्सवस्तेन आढ्यो युक्तः दलं पर्णं वत्सान् गुणान्

मनोहरशब्दैः संबोधयन् अनुगैः अनुचरैः गोपैर्गीता पवित्रा कीर्त्तिर्यस्य गोपीनां दृशो दृष्टयस्तासां उत्सवप्रदा दृशिर्दर्शनं यस्य स गोष्ठं गोकुलं प्रविवेश ॥ ३९ ॥ अस्मात् महाव्यालात् वयं अविता रक्षिताः स्मः ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ जिगमिषुरावयोस्तारतम्यं सर्वज्ञस्त्वमेव वेत्सीति वदन्ननुज्ञां पृच्छति ॥ अनुजानीहीति ॥ हे कृष्ण त्वं सर्वदृक् हेतुगर्भमिदम् । सर्वज्ञत्वात् सर्वं वेत्सि । जगतां नाथः, त्वं एव न त्वहमिति भावः । एतत् परिदृश्यमानं जगत्, तव अर्पितं त्वयैव सगुणाय मह्यमर्पितमित्यर्थः । अतः, मां अनुजानीह्याज्ञापय ॥३९॥ एवमापृष्टोऽक्षिसंकोचेनैव तदनुज्ञातः पुनर्हर्षातिशयात् प्रकृतावतारसाधारणधर्मैः संबोधयन् परिक्रम्य प्रणमति ॥ श्रीकृष्णेति ॥ श्रीकृष्ण, वृष्णीनां कुलमेव पुष्करं पद्मं तस्य जोषः प्रकाशस्तं ददातीति तत्संबुद्धिः प्रीतिप्रकाशदातृत्वेन सूर्योपमा । क्ष्माऽवनिश्च निर्जरा देवाश्च द्विजा ब्राह्मणाश्च पशवो गावश्च त एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारी तत्संबुद्धिः, क्ष्मादिसमुदायवृद्धिकारित्वेन चन्द्रोपमा, उद्धर्मः पाषण्डधर्मः स एव शार्वरं तमस्तद्धरतीति तत्संबोधनम् । अनेन द्वयोरौपम्यम् । क्षितौ भूमौ ये राक्षसाः कंसादयस्तेभ्यो द्रुह्यति उद्यन्नेव जिघांसतीति तत्संबुद्धिः । अनेन पुनः सूर्योपमा । सूर्याद्युपमातिन्यूनेति मत्वाऽऽह । आर्कमभिव्याप्य, अर्हन् सर्वेषामपि पूज्य हे भगवन्, आकल्पं कल्पपर्यन्तं, ते तुभ्यं, नमः । स्वसखवत्सविमोचनतोऽद्भुतं गतवतां विधितत्सुहृदां मुदे । विधृतचित्रतदाकृतिरच्युतो व्रजसुभद्रकरोऽवतु वो हरिः ॥ ४० ॥

कृष्णप्रिया

हे कृष्ण ! प्रभो, अब मुझे निज निवास जाने की अनुज्ञा दीजिये आप सर्वज्ञ होने से सब कुछ जानते ही हैं आप ही अनेक जगतों के नाथ हैं आपने ही इस जगत् रचनादि की सेवा के लिये मुझे प्रसादी रूप में दिया इसलिये मुझे सेवा करने के लिये जाना चाहिये अब आप अनुमति दीजिये ॥३९॥ श्रीकृष्ण ! हे यादव, कुल कमल को विकसित करने वाले दिवाकर ! पृथ्वी-देव-द्विज और गोवृन्द स्वरूप समुद्र की समृद्धि करने वाले चन्द्र, पाखण्ड धर्म नाम के घोर तिमिर को हटाने वाले और पृथ्वी में पैदा हुए राक्षसों के विनाशक भगवन् ! सूर्य से लेकर सर्वजन के सेव्य-पूज्य हे श्रीकृष्ण भगवन् ! कल्प पर्यन्त आपके श्रीचरणों में मेरे प्रणाम हो ॥ ४० ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः । नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥
ततोऽनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् । वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जगद्धाता भूमानम् इति अभिष्टूय पादयोः त्रिः परिक्रम्य अभीष्टं नत्वा स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥ भगवान् स्वभुवं अनुज्ञाप्य ततः यथापूर्वसखं स्वकं प्राग् अवस्थितान् वत्सान् पुलिनं आनिन्ये ॥ ४२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ससखिवत्सकमोक्षणकौतुकद्रुतविलंबितपुत्रमुदेऽद्भुतम् । निखिलरूपमतो दधदच्युतोऽवतु स वः कलयन्व्रजमंगलम् ॥ १ ॥

पादयोर्नत्वा । अभीष्टं सर्वतः पूजितमभिप्रेतं वा ॥ ४१ ॥ अनुज्ञाप्यानुज्ञां प्रदाप्य पृष्ट्वेत्यर्थः । स्वभुवं ब्रह्माणम् । यथापूर्वं स्थिताः सखायो यस्मिंस्तत्स्वकं पुलिनम् प्रागवस्थितान्वनं प्रति पूर्ववदवस्थितान्वत्सानानिन्ये ॥ ४२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ससखवत्सकमोक्षणेन यत्कौतुकं तेन द्रुतं गतं विलम्बितं विलंबो यस्य स तथा । यद्वा—द्रुतः शीघ्रतायुतश्चासौ विलम्बितो जातविलम्बश्चेति द्रुतविलम्बितः वत्सपालावलोकनार्थं भगवदवलोकनार्थं वा प्रथमं द्रुतो दृष्ट्वा च संशयितः सन् विलम्बितोऽभूदिति, स चासौ पुत्रो ब्रह्मा चेति तथा । यद्वा—द्रवति निसर्गेण निम्नं गच्छतीति द्रुतं तोयम्, द्रुते विलम्बते ऊर्ध्वदेशे तिष्ठतीति द्रुतविलम्बितं कमलम्, तस्य पुत्रस्तथा तस्य मुदे । यद्वा—द्रुतोऽतिवेगवान् विः पक्षी हंसो यस्य स द्रुतविर्ब्रह्मा, लंबनं लंबा क्रीडा, सा च—जंघाधोभागेन लघु काष्ठदंडं दूरे निक्षिप्य तदानयनार्थगतबालात्प्रागेव वृक्षशाखां गृहीत्वा ततोऽप्यूर्ध्वशाखामालंबनरूपा, सैव मर्कटोल्लंबनशब्देन लक्षिता, सा च गोपालेषु प्रायोऽस्ति, लंबा जाता येषां ते लंबितास्ते पुत्रा यस्य गोपीजनस्य स लंबितपुत्रः, ससखवत्सकमोक्षणे कौतुकं यस्य स तथा स चासौ द्रुतविश्चेति तथा, ससखवत्सकमोक्षणकौतुकद्रुतविश्च लंबितपुत्रश्चेति समाहारद्वंद्वस्तस्य मुदे 'तत्पुरुषे च कस्य च' इत्युक्तेः । यतो निखिलरूपं रूपे निःरूपे निखिलं निखिलरूपं निखिलानां रूपमिति वा दधत् अतो हेतोः व्रजमंगलं

कलयन् रचयन् सः प्रसिद्धोऽनेकरूपत्वेप्यच्युतो निर्विकारः वोऽध्येत्रध्यापकानवतु (१)। भूमानं सर्वेश्वरम्। त्रिरभिष्टूय वेति संबन्धः। यथोक्तान्वये तु "एका चंड्या रवेः सप्त तिस्रो गणपतेः स्मृताः चतस्रः केशवस्योक्ताः शिवस्यार्द्धा प्रदक्षिणा॥" इति विरोधः स्यात्। सर्वतः पूज्यत्वे नास्तिकाभावप्रसङ्गं मन्वानोऽर्थांतरं ब्रूते—अभिप्रेतं वेति। स्वधाम सत्यलोकम्। प्रत्यपद्यत प्राप॥ भूमानं सर्वथैवापरिच्छिन्नम्। अभीष्टं भगवता प्रस्थापयिमिति शेषः। यतो जगद्धाता अन्यथा सहसा तत्पदत्यागे विश्वसृष्टेरसिद्धेः, ततश्च 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' इति न्यायेनाधिकारान्ते तदभीष्टं सेत्स्यतीति बुद्धयते॥ ४१॥ ततः स्तवनानन्तरम्। इत्यर्थं इति। प्रयोजकणिजन्ताज्ज्ञपेर्ल्यप् "नाज्ये मितोऽहेतौ" इति मित्वाभाव इह्यायमर्थो वोध्यः प्रदाप्य दापयित्वेति। वस्तुतः स्वभुवं स्वोद्भूतमपि मनुष्यनाट्याभिप्रायेण लोकसंग्रहार्थं वा पृष्टवानिति भावः॥ स्वभुवं मौनेनैवानुज्ञाप्य 'अनुजानीहि मां कृष्ण' इत्याज्ञाप्रार्थने कृते "मौनं सम्मतिलक्षणम्' इति ब्रह्मणा सहसावगमात्। मौनत्यागाभावस्तु-पशुपवंशशिशुत्वदशायामङ्गीकृतस्य ब्रह्ममोहनार्थमंगीकृतस्य नाट्यस्यारंभपरिसमाप्तिसिद्धयर्थम्। तत्र "ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान्। उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समंततः॥" इति वत्सबालकान्वेषणनाट्यारंभः। 'नौमीड्य०' इत्यादिब्रह्मस्तुतौ प्रवृत्तायां कुतस्त्योयं चतुर्मुखः किं तिष्ठते किं वा मुहुर्ब्रूते इति स्ववत्सान्वेषणव्यग्रोऽहं गोपशिशुर्न बुध्ये इति व्यञ्जकेन मौनेनैव तस्यैव नाट्यस्य समाप्तिरिति स्वाधीनब्रह्मणोऽग्रे निजमहैश्वर्यस्याज्ञानमभिनीयते स्मेति तन्नाट्यशब्देनोच्यते। 'तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यम्' इत्यादिना वात्सल्यरसपरिकरव्रजेश्वर्यादीनामग्रे तु तत्प्रेमाधीनेन श्रीकृष्णेन निजमहैश्वर्यस्य तन्महाप्रेममाधुर्यरसाच्छादितस्याज्ञानयाथार्थ्यमेव, तत्र न तस्याभिनय इति न तन्नाट्यशब्देन वाच्यमिति विवेचनीयम्। प्राक् प्राग्वदेव। तृणचरणादिचेष्टादिभिरवस्थितान् स्वकं स्वभोजनस्थानं पुलिनमानिन्ये। यथापूर्वं पूर्वोपवेशादिकमनतिक्रम्यापरित्यज्य वर्तमानाः सखायो यत्र तत्, समासान्त आर्षः। यद्वा—यथा यथावदेव स्थिताः पूर्वसखाः स्वरूपभूतसखेभ्यः पूर्वसखायो यत्र तत्। एतत्सर्वसमाधानञ्च श्रीकृष्णेच्छासंवलितमायावैभवमेव, तथा मात्रादिभिर्व्यवहारौपयिकं ह्यस्तनादि तत्तद्बालकादिचरितं स्मृतमपि प्राचीनेषु स्मारयितुं नेष्टमित्यादि वोध्यम्॥ ४२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भूमानं सर्वथैवापरिच्छिन्नम् इति एवम् अभिष्टूय अभिष्टुत्य अभितः स्तुत्वा। यद्वा सर्वव्यापकमेव तथावस्थितं भक्त्या त्रिःपरिक्रम्य अभीष्टं सामीप्यया श्वायां कृतमौनेन श्रीकृष्णेनाभिप्रेतं धाम यतो जगद्धाता अन्यथा तत्पदत्यागे विश्वसृष्ट्यसिद्धेः एवं "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्" (३।३।३१) इति न्यायेन तदन्ते तदभीष्टसिद्धिर्भविष्यतीति ज्ञाप्यते॥ ४१॥ स्वभुवम् आत्मजम् इति सर्वापराधक्षमादिकं सूचितम् अनुज्ञाप्य इदानीमप्यानयानीति सस्मितं पृष्ट्वा अनुज्ञापनं चेदं स्वसार्वज्ञादिव्यञ्जनोपालम्भनोत्पातशिक्षाक्षमानुग्रहविनयादिव्यञ्जकमपीदं व्यञ्जयति, तादृशस्वरूपैरपि बालवत्सैर्न मम लीलासुखं किन्तु तैरेवेति ततो ब्रह्मानुज्ञापनानन्तरं प्राक् प्राग्वदेवावस्थाचेष्टादिभिरवस्थितान् यथापूर्वं पूर्ववदवस्थाचेष्टाद्यनतिक्रमेण वर्त्तमानाः सखायो यत्र तत् स्वकं स्वभोजनस्थानं पुलिनमानिन्ये अत्र सकवलपाणेः कृष्णस्यागतस्य तैः पूर्ववदेव दृश्यमानस्यावस्थितिश्च पूर्ववदेव ज्ञेया एतत्सर्वसमाधानं च श्रीकृष्णेच्छासम्वलितमायावैभवमेव तथा मात्रादिभिर्व्यवहारौपयिकं ह्यस्तनादितत्तद्बालकाचरितं स्मृतमपि प्राचीनेषु स्मारयितुं नेष्टमित्यपि वोद्धव्यम्॥ ४२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भूमानमपरिच्छिन्नमाहात्म्यम्। इत्येवमभिष्टूय अभिष्टुत्याभितः स्तुत्वा। यद्वा, सर्वव्यापकमपि तथावस्थितं भक्त्या त्रिः परिक्रम्याभीष्टं प्रियतमं स्वधाम सत्यलोकवर्त्ति निजगृहं गत इति प्रथमं लज्जादिना व्रजवासलोभेन वा पारमेष्ठ्यं पदं परित्यज्य कुत्रापि निलीय स्थास्यामीति मनसि कृत्वा स्थितः, इदानीञ्च श्रीभगवत्प्रसादमासाद्य निजप्रियपदमेवागच्छदित्यर्थः, यतो जगद्धाता, अन्यथा तत्पदच्युत्या विश्वसृष्ट्यसिद्धेः, अतः श्रीभगवानेव प्रस्थापयामास॥ ४१॥ न च केवलं स्वेच्छया गत इत्याह—तत इति। अनुज्ञाप्य प्रस्थाप्येत्यर्थः। स्वभुवमात्मजमिति सर्वापराधक्षमादिकं सूचितम्। ततो ब्रह्मानुज्ञापनानन्तरमेव, प्राक् पूर्वमेव, यथा—पूर्वसखं स्वकं निजभोजनस्थानं वत्सानां पूर्वावस्थितिस्थानं वा, सरःपुलिनमवस्थितान् वनान्तर्वर्त्तमानान् वत्सानानिनाय। इत्यस्य श्रीब्रह्मणानीय समर्पिता इति श्रीभगवतैव वा कुतोऽपि सवत्सा बालका आनीतास्ते वा, स्वयं कुतोऽप्यागताः पुनस्तत्रोपविष्ट्य इत्युक्त्यभावात् केवलं मायापगमेन पूर्ववत् पुलिने भोजनार्थमासीनेषु पूर्वमेव तानाश्वास्य वत्सानयनार्थं गतोऽसौ वत्सानेवाधुनानीतवानित्युक्तश्च मायामोहिताः सन्तोऽब्दं यावत्ते तत्र तत्रावर्त्तन्ते इति स्पष्टमेवावगम्यते, न च व्यक्तमिदमन्यैर्जनैर्गोपादिभिः कथं ते तत्र न दृष्टाः? शीतवातादिना वा कथं न हि वाधिता इति, मायायाः सर्वशक्तिमत्वात्? यदि वा वक्तव्यमिदम्—श्रीभगवता दृष्टापि तादृगवस्थास्ते कथमुपेक्षिताः स्युरतः श्रीब्रह्मणा सत्यलोकादौ श्रीभगवददृश्यस्थाने कुत्रापि नीत्वा मायया मोहयित्वा रक्षिता इति? तन्न युक्तम्, यतो ब्रह्ममुदे न ते समानीता इत्यादावुक्तमेव, (भा० १०।१३।४१) 'मायाशये' इत्युक्त्या श्रीभगवत्कृपया च तेषां दुःखाभाव एव, यत्र कुत्रापि नीता अपि ज्ञानघनमूर्त्तेः श्रीभगवतो नैवादृश्याः स्युर्नाम, पूर्वन्तु यद् क्षणं न ते दृष्टा इतस्ततो मार्गिताश्च

तत्स्नेहपरवशतया किंवा श्रीब्रह्ममोहार्थमेवेत्यपि पूर्वमुक्तमेवेति सर्व्वथा ते तत्र तत्रैव तथा स्थिता इति सुसिध्येत् । अतएव श्रीस्वामिपादैरपि लिखितम्—'नन्वेतावन्तं कालं कथं ते तत्रैवोपविष्टाः ? कथञ्च क्षुत्पिपासादिविस्मरणम्' इत्यादि । यथापूर्व सखायो यस्मिन्निति प्रागवस्थितानिति च बालकवत्सपुलिनभोज्यभोजनार्थोपवेशादिकमपि सर्वं पूर्व्ववदेव वर्त्तमानं बोधयति, किन्त्वाब्दिकवयसा कियत्याकारादिवृद्धिर्ज्ञेया । तथा मात्रादिषु तद्वद् बालकाचरितादिकं श्रीभगवत्प्रभावेण तेषु निजतया परिस्फुरितमिति च बोद्धव्यमन्यथाब्दस्थितेरागन्तुकैस्तैः सह वैलक्षण्यापत्तेरिति दिक् ।। ४२ ।।

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

भूमानमिति, सर्वतोऽल्पत्वरहितं स्वरूपरूपगुणविभूतिभिर्वैपुल्यविशिष्टसुखरूपम् अभीष्टं सुखमेव सर्वाभीष्टं भवत्यतोऽभीष्टं स्वस्य प्राप्यतयाऽभीष्टं प्रियं परब्रह्मनारायणावतारतया तदभिन्नं त्रिःपरिक्रम्य परव्यूहविभवेषु त्रिसङ्ख्येषु तृतीयस्य विभवरूपस्य भगवतः त्रिः परिक्रमणं योग्यमेव पादयोर्नत्वा शरणागतस्य नमनमेव पुमर्थः जगद्धाताऽपि नत्वेति अहन्ताममतानिवृत्तिर्व्यज्यते नाहं न मम तवैवाहम् इति नमःशब्दार्थत्वात् इत्यलम् ।। ४१ ।। ततो भगवान् ज्ञानबलैश्वर्यादिषड्गुणः स्वभुवं स्वस्य नारायणत्वात्स्वपुत्रम् अनुज्ञाप्य आज्ञाप्य अपराधक्षमालक्षणं यथापूर्वं सखाय उपविष्टा यस्मिन् तत् पुलिने स्वकं स्वीयं वत्सान् आनिन्ये द्विकर्मकस्य धातोरन्वयः । स्वस्य कं सुखं यस्मिन् तत्पुलिनमिति वा ।। ४२ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इतीत्थं सम्बोधनैः पूर्वोक्तैश्च धर्मैरभिष्टूय जगद्धाता ब्रह्मा भूमानमपि लीलया सङ्कुचितविग्रहं भगवन्तं परिक्रम्य पादयोर्नत्वा प्रणम्य स्वधाम सत्यलोकं प्रत्यपद्यत जगाम ।। ४१ ।। तत इति । ततः स्वस्माद्भवश्चतुर्मुखमाज्ञाप्याक्षिसङ्कोचेनेति शेषः । यथापूर्व सखायो यस्मिस्तत्स्वकं पूर्वाधिष्ठितं पुलिनं प्रत्येव वत्सानानिन्ये ।। ४२ ।।

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

भूमानं निरवधिकभूमगुणविशिष्टं पादयोर्नत्वा नमस्कृत्य द्वितीयार्थे षष्ठी पादौ नत्वेत्यर्थः । अभीष्टं सर्वतः पूजितं वा ।। ४१ ।। अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रदाय स्वभवं स्वस्माद्भवो जन्म यस्य तच्चतुर्मुखं यथापूर्वं विद्यन्ते सखायो यस्मिन् तत् स्वकं पुलिनम् ।। ४२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अभीष्टसामीप्ययाच्ञायां कृतमौनेन श्रीभगवताऽभिप्रेतं स्वधाम भूमानमेवाभीष्टम् ।।४१।। अनुज्ञापनेन चैवं ज्ञापितं तादृशस्वरूपैरपि बालवत्सैर्न मम लीलासुखं किन्तु तैरेवेति स्वकं निजभोजनस्थानं यथापूर्वसखमिति प्राक् प्राग्वदेवावस्थितानिति ।४२-४३।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अभीष्टं भगवता प्रस्थापयितुमिति शेषः, यतो जगद्धाता अन्यथा सहसा तत्पदत्याजने विश्वसृष्ट्यसिद्धेः ततश्च "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" [३।३।३१] इति न्यायेनाधिकारान्ते तदभीष्टं सेत्स्यतीति बुद्ध्यते ।। ४१ ।। स्वभुवं ब्रह्माणम् अनुज्ञाप्य आज्ञाप्येति मौनेनैव अनुजानीहि मां कृष्णेत्याज्ञाप्रार्थने कृते "मौनं सम्मतिलक्षणम्" इति ब्रह्मणा सहसावगमात् मौनत्यागाभावस्तु पशुपवंशशिशुत्वदशायामङ्गीकृतस्य ब्रह्ममोहनार्थे नाट्यस्यारम्भपरिसमाप्तिसिद्ध्यर्थे तत्र "ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेऽपि च वत्सपान् । उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः" इति वत्सबालकान्वेषणनाट्यारम्भे नौमीड्येत्यादिब्रह्मस्तुतौ प्रवृत्तायां कुतस्त्योऽयं चतुर्मुखः किञ्चेष्टते किं वा मुहुर्ब्रूते इति स्ववत्सान्वेषणव्यग्रोऽहं गोपशिशुर्न बुद्ध्ये इतिव्यञ्जकेन मौनेनैव तस्य नाट्यस्य परिसमाप्तिरिति स्वाधीनब्रह्मणोऽग्रे कृष्णेन निजमहैश्वर्य्यस्याज्ञानमभिनीयते स्मेति तन्नाट्यशब्देनोच्यते "तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यम्" इत्यादिना वात्सल्यादिरसपरिकरव्रजेश्वर्य्यादीनामग्रे तु तन्महाप्रेमाधीने कृष्णे निजमहैश्वर्य्यस्य तन्महाप्रेममाधुर्य्यरसाच्छादितस्याज्ञानं यथार्थमेवेति तत्र न तस्याभिनय इति न तन्नाट्यशब्दे वाच्यमिति विवेचनीयं प्राक् प्राग्वदेव तृणचरणादिचेष्टाभिरवस्थितान् स्वकं स्वभोजनस्थानं पुलिनमानिन्ये कीदृशं यथापूर्वं पूर्वोपवेशादिकमनतिक्रम्य अपरित्यज्य वर्तमानाः सखायो यत्र तत् समासान्त आर्षः । यद्वा, यथा यथावदेव स्थिताः पूर्वसखाः स्वरूपभूतसखेभ्यः पूर्वे सखायो यत्र तत् ।। ४२ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं स्वभुवं ब्रह्माणमनुज्ञाप्य अक्षिसङ्कोचेनैव तल्लोकं प्रत्याज्ञाप्य यथापूर्वं सखायो यस्मिंस्तत्स्वकं पुलिनं प्रतिवत्सानानिन्ये ।। ४२ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवं मधुरस्तुतिनिर्गर्वव्रजभावाभिवाञ्छापरितुष्टेन भगवता कृपया अवलोकितो विरञ्चिर्भूमानं कृष्णं पुनः किञ्चिदभिष्टूय त्रिः परिक्रम्य पादौ नत्वा सम्प्रति जगत्कार्यं कुरु तदवसाने 'यावदधिकार' न्यायेन वाभीष्टं भावीति तेनोक्तः स्वधाम प्रत्यपद्यत

प्राप ॥ ४१ ॥ गृहीतमौन एव भगवान् दृगन्तेनैव स्वभुवं ब्रह्माणमनुज्ञाप्य स्वलोकं गच्छेत्याज्ञाप्य वत्सान् स्वकं स्व-सजग्घिस्थानं पुलिनमानिन्ये, कीदृशान् प्राक् पूर्ववदेव तृणभक्षणादिचेष्टयाऽवस्थितान् पुलिनं कीदृशं यथा यथावदेव स्थिताः पूर्वसखाः प्रकाशित-सखेभ्यः पूर्वे प्रकृताः सखायो यत्र तत् ॥ ४२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं स्तुत्वा गत इत्याहेतीति भूमानं पूर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डरूपेण प्रदर्शितात्मानं त्रिः परिक्रम्य पुनः पादयोर्नत्वाभित इष्टं भगवन्तं स्वाभिलषितं स्वस्य धाम वा प्रत्यपद्यत प्रस्थितः, गत इतियावत् ॥ ४१ ॥ ततो भगवत्कृत्यमाह तत इति, यावद् गत्वा ब्रह्मा स्वगृहं बालकान् वत्सांश्चानयति तावद् भगवानेव ब्रह्माणमनुज्ञाप्य प्रागवस्थितान् वत्सान् पुलिनमानिन्ये, पुलिन-मपि स्वकमेव, यत्र पूर्वं बालकाः स्थितास्तत्रापि यथापूर्वसखं पुलिनं यथापूर्वं सखायो यत्र पूर्वं पुलिने बालकान् पूर्ववदुपवेश्य पश्चाद् वत्सानयनार्थं गत इव वत्सान् पुलिनमानिन्ये ॥ ४२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

जगद्धाता ब्रह्मा इत्येवं भूमानं सर्वतो व्यापकमपि जगद्धिताय अल्परूपेण विराजमानं श्रीकृष्णमभिष्टूय स्तुत्वा त्रिः परि-क्रम्य तत्पादयोर्नत्वा अभीष्टं सर्वतः उत्कृष्टतया सर्वाभिप्रेतं स्वाभिप्रेतं वा स्वधाम सत्यलोकं प्रत्यपद्यत जगाम । 'जगद्धाता' इत्यनेन सृष्टयधिकारस्थानत्वात्तत्र तस्य स्थितिरावश्यकीति सूचितम् ॥ ४१ ॥ भगवानेवं स्वभुवं स्वपुत्रं ब्रह्माणमनुज्ञाप्य स्वलोकगमनानुज्ञां दत्त्वा ततस्तदनन्तरं यावत् ब्रह्मा स्वस्थानाद्बालकवत्सानानयेत्, तावत् स्वशक्त्यैव ततस्तानानीय प्रथमतो बालान् पुलिने पूर्ववदव-स्थितान् कृत्वा पश्चाद्वत्सानयनार्थं गत एव वत्सानपि यथापूर्वं सखायो यस्मिंस्तत् स्वकं स्वकेलिसम्पत् सरःपुलिनमानिन्ये । ब्रह्मद्वारा तेषामानयने पुनरपि पूर्ववद् संवत्सरो व्यतीतः स्यादिति ज्ञेयम् ॥ ४२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति ॥ जगद्धाता ब्रह्मा इत्येवं भूमान व्यापकं श्रीकृष्णम् अभिष्ट्य स्तुत्वा । दैर्घ्यमार्षम् । त्रिः परिक्रम्य तत्पादयोर्नत्वा अभीष्टं स्ववाञ्छितं पूजितं वा स्वधाम सत्यलोकं प्रत्यपद्यत जगाम ॥ ४१ ॥ तत इति ॥ भगवानेवं स्वयंभुवं ब्रह्माणं सत्यलोकगम-नाय अनुज्ञाप्य ततः प्राक् प्राग्वदेव तृणचरणादिचेष्टाभिरवस्थितान् वत्सान् यथापूर्वं पूर्वोपदेशनादिकमनतिक्रम्य अपरित्यज्य वर्त-मानाः सखायो यस्य यत्र तत् । समासान्त आर्षः । सखीति शुद्धः पाठः । यद्वा । यथा यथावस्थिताः पूर्वसखा पूर्वे सखायो यत्र तत् स्वकं स्वभोजनस्थानं पुलिनमानिन्ये । एवं च प्रथमं बालान् पुलिनमानीय ततस्तत्र वत्सानानिन्ये इति भावः ॥ ४२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

समेति पुण्ययशसो मुरारेः पादावेव पल्लवे पद्मे ते एव प्लवो नौका तं ये समाश्रिताः कथंभूतं महतां ब्रह्मादिदेवानां महामुक्तानां गोलोकब्रह्मपुरनिवासिनां च पदं आश्रयभूतं तेषां भवांबुधिः वत्सपदं सदृशोस्ति किंच परं पदं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्म पुराख्यं स्थानं तेषां पदं प्राप्यं भवति पद्यते प्राप्यते तत् पदं विपदां यत् पदं आधारभूतं संसरणं तेषां तन्न भवति ॥ ४१ ॥ यत् कौमारे कृतं तत् पौगंडे कथमुक्तमिति यद्वचनं प्रति इह आख्याने त्वयाऽहंपृष्टः ॥ ४२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीति ॥ इतीत्थं अभिष्टूय स्तुत्वा जगद्धाता ब्रह्मा, भूमानं संप्रदर्शितवत्सवत्सपादिरूपेण बहुभावं सन्तमपि लीलया संकुचितसर्वात्मकविग्रहं भगवन्तं, त्रिस्त्रीन् वारान्, परिक्रम्य, पादयोः नत्वा प्रणम्य, अभीष्टं स्वधाम सत्यलोकं, प्रत्यपद्यत जगाम ॥ ४१ ॥ तत इति ॥ ततः, भगवान् कृष्णः, स्वस्माद्भवतीति स्वभूश्चतुर्मुखस्तं, अक्षिसंकोचेनेति शेषः । अनुज्ञाप्य अनुज्ञां प्रदाय, प्रागवस्थितान् स्वचक्षुर्विषयप्रदेशे ब्रह्मणाऽऽनीयावस्थापितान्, वत्सान्, यथापूर्वं सखायो यस्मिंस्तत्, स्वकं स्वेन पूर्वमधिष्ठितं पुलिनं प्रति, आनिन्ये ॥ ४२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तत इति : १०.१४.४२.

विना ब्रह्मानुसन्धानोपरतिं नेति लौकिकीम् । दृष्टिं योगीत्यजे याते युक्तं तत्ताहगीक्षणम् ॥ ५० ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेव जी ने कहा–राजन् ? इस प्रकार ब्रह्माजी ने अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड के स्वरूप से दर्शन कराने वाले अपने सर्वथा इष्ट भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करने के बाद प्रभु के श्री चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया पुनः तीन प्रदक्षिणा करके

भगवान के अनुग्रह स्वरूप निज धाम सत्यलोक की ओर प्रस्थान किया ॥ ४१ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजी को प्रस्थान के लिये अनुज्ञा देकर यथा पूर्व घास चुरकर अव स्थित उन बछड़ों को हाँक कर उस अपने यमुना पुलिन पर ले गये जहाँ पर प्यारे नन्द लालन के मित्र गोपाल बालक अपने-अपने भोजन स्थल पर जिस-जिस अवस्था में बैठे थे ॥ ४२ ॥

एकस्मिन्नपि यातेऽब्दे प्राणेशं चान्तराऽऽत्मनः । कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेऽर्भकाः ॥ ४३ ॥
किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः । यन्मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णविस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥
ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा । नैकोऽप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥
ततो हसन् हृषीकेशोऽभ्यवहृत्य सहार्भकैः । दर्शयंश्चर्माजगरं [१]न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ॥ ४६ ॥
बर्हप्रसूनवन[२]धातुविचित्रिताङ्गः [३]प्रोद्दामवेणुदलश्रृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।
वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिर्गोपीदृग्उत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥ ४७ ॥
अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना । [४]हतोऽविता वयं चास्मादिति बाला व्रजे जगुः ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः -राजन् ! अर्भकाः आत्मनः प्राणेशं च अन्तरा एकस्मिन् अब्दे याते अपि कृष्णमायाहताः क्षणार्धं मेनिरे ॥४३॥ अभीक्ष्णविस्मृतात्मकं सर्वं जगत् यन्मोहितं मायामोहितचेतसः इह किं किं न विस्मरन्ति ॥ ४४ ॥ ते सुहृदः स्वागतं कृष्णं अतिरंहसा ऊचुः च एकः अपि कवलः न अभोजि इतः एहि साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ ततः हृषीकेशः अर्भकैः सह हसन् अभ्यवहृत्य आजगरं चर्म दर्शयन् वनात् व्रजं न्यवर्तत ॥ ४६ ॥ बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलश्रृङ्गरवोत्सवाढ्यः अनुगगीतपवित्रकीर्तिः गोपीदृगुत्सवदृशिः वत्सान् गृणन् गोष्ठं प्रविवेश ॥ ४७ ॥ अद्य अनेन नन्दसूनुना महाव्यालः हतः च वयं अस्मात् अविताः इति व्रजे वालाः ऊचुः ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नन्वेतावंतं कालं कथं तत्रैवोपविष्टाः कथं च क्षुत्पिपासादिविस्मरणमत आह एकस्मिन्निति श्लोकद्वयेन । अब्देऽपि याते प्राणेशं कृष्णमंतरा च विनापि प्रियविरहे क्षणोऽपि वर्षाधिको भवति तथापि मायाहताः क्षणार्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥ यद्यया मायया मोहितं जगदभीक्ष्णं पुनःपुनर्विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मैव येन तत्तथा ॥ ४४ ॥ अत एवमूचुश्च त्वयाऽतिवेगेन स्वागतं सम्यग्वत्सानानीय आगतम् । एकोपि ग्रासस्त्वां विनाऽस्माभिर्नाभोजि न भुक्तः । इत एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥ अभ्यवहृत्य भुक्त्वा ॥ ४६ ॥ प्रोद्दामो वेण्वादिस्तस्य रवैरुत्सवस्तेनाढ्यः संपन्नः । गृणन्नुपलालनं राह्वयन् । गोपीदृगुत्सवदृशिः गोपीदृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः ॥ ४७ ॥ यशोदानंदसूनुनेति बहूनामुक्तिः सहैव दर्शिता । केचिदाहुर्यशोदासूनुनेति अपरे नंदसूनुनेति । यद्वा यशोदां नंदयतीति यशोदानंदः स चासौ सूनुश्चेति तथा तेन । अस्मान्महाव्यालाद्वयं चाविता रक्षिताः ॥ ४८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कौतुकाविष्टः शङ्कते—नन्विति । ते गोपाः । तत्रैव पुलिने । अब्दे वर्षे । आत्मनो जीवमात्रस्य । प्राणेशं स्वामिनम् । मायात्र योगमाया तयैव सर्वेषां गोपगोपीनन्दादीनामब्दकालोऽपि मुहूर्तयामदिनमासत्वादिपरिवृत्तिं विनैव पञ्चपलात्मकक्षणार्धकाल एव साधितमिति न तस्या अचिन्त्यवैभवायाः किमपि दुःसम्पाद्यमिति ॥ ४३ ॥ इह संसारे अभीक्ष्णं सुषुप्तौ शास्त्रे वा ज्ञातस्यापि देहद्वयातिरिक्तस्य तस्य मुहुर्विस्मरणादिति योगमायैव बहिरंगमायात्वेनात्र ज्ञेया अतो भगवदिच्छाबलायास्तस्यास्तादृशेष्वपि मोहनत्वं घटत एवेति भावः ॥ ४४ ॥ अतो मायामोहितत्वात् । स्वागतं सर्ववत्सानयनपूर्वकं सुखेनागतमित्यर्थः । एवं वर्षेऽप्यतीते तथैव कवलादिस्थितिः श्रीकृष्णेच्छयैव जातेति ज्ञेयम् । अतिरंहसेति—दूरगतवत्सानयने घटिकैका त्ववश्यं गमिष्यतीत्यस्माभिर्विचारितम्, त्वया तु क्षणार्द्धेनैवागतमिति भावः । एकोऽपि ग्रासस्त्वया नाभोजि श्रीहस्ते पूर्वकवलवृत्तेः अत इतः अस्मिन् सर्वेषामस्माकं मण्डलस्थाने एहि प्रविश साधुवत्साद्यन्वेषणे वैयग्र्यं त्यक्त्वा सम्यग्यथा स्यात्तथा भुज्यतामिति तोषिणीचक्रवर्तिकारौ ॥ ४५ ॥ ततो बालोक्तिश्रवणानन्तरम् । आजगरम् अघासुरदेहसम्बन्धि । हसन्निति तदानन्ददर्शनात् । अभ्यवहृत्येति । वर्षे गतेऽप्यन्नव्यञ्जनादीनां क्षणार्द्धमात्रपरिणामित्वं जातम् । दर्शयन्नित्याह—हे सखायः अद्य मृतोऽयं सर्पः वसारक्तादिकलिलो वर्त्तत इति पश्यत तद्वधस्य व्रजे प्रत्यापनार्थमेतावत्कालपर्य्यन्तं तत्तदाच्छादनं सर्वं योगमायाकृत्यमेवेति ॥ ४६ ॥ नव धातवस्तु—हरितालगैरिकहिं-

---

१. निववर्त—इति कस्यचित् । २. नव—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ३. प्राघ्मातवेणु—वीर. । ४. हतो नीतः—वीर. ।

लुमनःशिलसौराष्ट्रीसौवीरसौभाग्यतुल्यबोलाख्याः । यद्वा—नूयन्ते इति नवा देवद्विजादयः, तैर्धीयन्ते धार्यन्त इति नवधातूनि चन्दनानि, दधातेस्तुः । तानि च—श्वेतरक्तागुर्वादिभेदेनानेकानि तैर्विचित्रिताङ्गः प्रोद्दामो महान् । उपलालनैरौष्ठसंयोगजशब्दादिभिः ॥ इति निजप्रियसहचरबालकवत्ससङ्गतिजनितहर्षभरतो वन्यवेशादिविशेषेण व्रजस्त्रीजनानां नेत्रानन्दं सञ्जनयन् व्रजान्तर्जगामेत्याह—बर्हेति । वन धातुर्गैरिकादिः । वनपदं गृहलभ्यसुवर्णादिव्यवच्छेदार्थम् । प्राचीनपुस्तकेषु तु 'नवधातुः' इति पाठ एव, सोऽप्यर्थैक्येन सम्यगेवेति बर्हादिभिर्विशेषणचित्रितानि भूषितान्यङ्गानि येन, किं वा सखिभिर्यस्य । अतः प्रोद्दामोऽत्युच्चो यो वेणुदलशृङ्गाणां रवस्तेन स एवोत्सवः किं वा स चोत्सवश्च नृत्यक्रीडागीतादिरूपस्तेनाढ्यः परमसमृद्धिमान् । अत एवानुगैस्तैरेव बालकैर्गीता हर्षभरेण गीतवत्सुस्वरं तालादिसंयुतमुच्चैः कीर्तिता पवित्रा निर्मला जगत्पावनी वा अघासुरादिवधरूपा यस्य । गोपीशब्देन श्रीयशोदाद्याः सर्वा एव व्रजस्त्रियः, तासामपीदानीमेव श्रीकृष्णहर्षभरेणाधिकं नेत्रानन्दोदयात्तेः ॥ ४७ ॥ लोके मातापित्रोरुभयोर्नामग्रहणपूर्वकं पुत्रनामोच्चारणं प्रायो न दृश्यत इत्यस्वारस्येनाह यद्वेति । केचिद्यशोदासुहृदः, अपरे नन्दसुहृदः, पितृतो मातुरधिकस्नेहाद्बालानां वृद्धनामोच्चारणस्यायोग्यत्वाद्वा मातृकुलोत्पन्नास्तु—यशोदासूनुरयमिति वदन्ति । तदन्ये नंदसूनुरिति तोषिणीकाराः । विश्वनाथस्तु यशोनंदयोर्भाग्यमानंदो यशो वा यस्मात्तथाभूतेन सूनुना शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपि कर्मधारयमाह ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तथा तेषां कालाज्ञानं च माययैवेत्याह—आत्मनः स्वस्य प्राणेशम् आत्मनः श्रीकृष्णस्य मायाहृता इति वा माया यद्यपि ब्राह्म्येव तथाऽपि श्रीभगवताऽनुमोदिता सती भागवत्येव संवृत्तेति अतः श्रीबलदेवचिन्तने "प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुः" इति तत्तच्चासम्भवमपि तदिच्छाशक्तेः सर्वशक्तितो बलवत्त्वान्नात्यसम्भवम् अतस्तया हृताः प्रतिबद्धाः "मनोहृतः प्रतिहतः प्रतिबद्धो हृतश्च सः" इत्यमरः । प्राणेशत्वे हेतुः कृष्णं बल्लवेन्द्रकुमारम् । किञ्च, अर्भकाः श्रीनन्दव्रजबालकाः क्षणार्द्धं पलपञ्चकं मेनिरे तत्र तेषां प्रतीतौ मुहूर्त्तयामदिवसऋत्वादिपरिवर्त्ते विनैव तस्य कालस्य स्थिते हे राजन्निति परमाद्भुतत्वात ॥ ४३ ॥ तत्र दृष्टान्तमाह—कि किमिति । इह जगति अभीक्ष्णमिति सुषुप्तौ शास्त्रे वा ज्ञातस्याऽपि देहद्वयातिरिक्तस्य तस्य मुहुर्विस्मरणात् इति मायामहिमोक्तः अतो भगवदिच्छाबलात्तस्यास्तादृक्षेष्वपि मोहनत्वं घटेत इति भावः ॥ ४४ ॥ स्वागतं सर्ववत्सवर्गानयनपूर्वकं सुखेनागतमित्यर्थः । एवं वर्षेऽप्यतीते तथैव कवलादिस्थितिः श्रीभगवदिच्छावैभवेन ज्ञेया अन्यत्तैः यद्वा, त्वयाऽप्येकोऽपि कवलो नाऽभोजि श्रीहस्ते पूर्वकवलवृत्तेः अतः इतः अस्मिन् सर्वेषामस्माकं मण्डलमध्यस्थाने एहि प्रविश साधुवत्साद्यन्वेषणे सम्प्रत्यपि तत्सम्भालने वा जातवैयग्र्यं त्यक्त्वा सम्यक् यथा स्यात्तथा भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ हसन्निति तेषां मायामुग्धानां वाक्यश्रवणात् दुःखादिव्यञ्जकोक्तिश्रवणेन प्रहर्षोदयाच्च हृषीकेश इति तेषां परमप्रेष्ठत्वात् व्रजं प्रति व्यवर्तत, निरवर्तेदिति पाठे स एवार्थः परस्मैपदमार्षम् आजगरं चर्म दर्शयन्निति अघासुरवधस्य व्रजे कथनाय इति तच्चर्माऽपि श्रीभगवता तावत् कालं माययाऽऽच्छाद्य तथैव रक्षितमासीदिति ज्ञेयम् ॥ ४६ ॥ इति निजप्रियसहचरबालकवत्ससङ्गतिजनितहर्षभरतो वन्यवेषादिविशेषेण व्रजस्थस्त्रीजनानां नेत्रानन्दं सञ्जनयन् व्रजान्तर्जगामेत्याह—बर्हेति । वनधातुर्गैरिकादिः वनपदं गृहलभ्यसुवर्णादिव्यवच्छेदार्थं बर्हादिभिर्विशेषेण चित्रितानि भूषितान्यङ्गानि येन किं वा सखिभिर्यस्य सः अतः प्रोद्दामोऽत्युच्चैः यो वेणुदलशृङ्गाणां रवः तेन स एव वोत्सवः किं वा स च उत्सवश्च नृत्यक्रीडागीतादिरूपस्तेनाढ्यः परमसमृद्धिमान् अत एवानुगैस्तैरेव बालकैः गीता हर्षभरेण गीतवत् सुस्वरं तालादिसहितमुच्चैः कीर्तिता पवित्रा निर्मला जगत्पावनी वा कीर्तिः अघासुरवधादिरूपा यस्य गोपीशब्देन यशोदादयः सर्वा एव व्रजस्त्रियः तासामपीदानीमेव श्रीकृष्णहर्षभरेणाधिकनेत्रानन्दोत्पत्तेः एवं सख्यांशेन श्रीकृष्णाविर्भावेभ्यस्तेभ्योऽप्येषामाधिक्यं दर्शितम् ॥ ४७ ॥ मातृकुलोत्पन्नैर्यशोदासूनुना अन्यैर्नन्दसूनुनेति प्रोक्तमिति ज्ञेयम् । यद्वा अतिसन्तोषेण द्वयस्यैवाविशेषतः प्रशंसा द्वाभ्यामपि ताभ्यां गोकुलकुलभाग्यद्योतनाच्च ॥४८॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

आत्मजः स्वस्य प्राणेशमात्मनः श्रीकृष्णस्य मायाहृता इति वा, माया यद्यपि ब्राह्म्येव, तथापि श्रीभगवतानुमोदिता सती भागवत्येव संवृत्ता । अतः प्राक् श्रीबलदेवचिन्तने (भा० १०।१३।३७) 'प्रायो मायास्तु मे भर्त्तुः' इति एवं सर्व्वमेव संगच्छते । तच्च पूर्व्वं लिखितमेव, अतस्तयाहृता व्याप्ताः । प्राणेशत्वे हेतुः—कृष्णं श्रीव्रजेन्द्रकुमारम् । किञ्च, अर्भकाः श्रीनन्दव्रजबालकाः । हे राजन्निति परमाद्भुतत्वात ॥ ४३ ॥ इह जगति विस्मृत आत्मैव, किं वा सर्व्वव्यापको भगवानपि येन तत् सर्व्वमितीन्द्रादि—मोहापेक्षया । अभीक्ष्णमिति कथञ्चित् कदाचित् स्मृतस्य स्मारितस्यापि वा मुहुर्विस्मरणादिति मोह-महिमोक्तः ॥४४॥ स्वागतं सर्व्ववत्स-वर्गानयनपूर्व्वकं सुखेनागतमित्यर्थः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, अतिरंहसा स्वागतमित्यस्य लक्षणम्, नैकोऽपीति, यद्वा, त्वयैकोऽपि कवलो नाभोजि,—श्रीहस्ते पूर्व्वकवलवृत्तेः । अत इतोऽस्मिन् सर्व्वेषामस्माकं मण्डलमध्यस्थाने एहि प्रविश । साधु निजोदरपरिपूरणादिप्रकारेण सम्यग् यथा स्यात्तथा भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ हसन्निति तेषां मायामुग्धवाक्यश्रवणात् किंवा दुःखादिव्यञ्जकोक्त्यश्रवणेन प्रहर्षोदयादर्भकैः सहाभ्यवहृत्येतितैर्विना स्वयं तेनैतावन्तं कालं किमपि नाभोजीति सूचयति । ननु तर्हि श्रीयशोदा-

दिभिस्तत् कथं सोढ़म् ? तत्राह – हृषिकेशः सर्वेन्द्रियवृत्तिप्रवर्त्तक इति भुज्यतामित्यनुकारादिचानुर्य्येण तेषां चित्ते ग्राहितामित्यर्थः, यथा श्रीलक्ष्मणेन श्रीरघुनाथादिषु, तद्वृत्तञ्च पुराणेषु प्रसिद्धमेव। यद्वा, तदानीं स्वयं प्रीतिरहितोऽपि केवलं तेषां सन्तोषार्थमभुङ्क्तेः, इदानीञ्च निजरसनेन्द्रियादिप्रवर्त्तनेन तत्तद्रसगन्धादि-ग्रहणपूर्वकं परमप्रीत्या भुङ्क्तेवेत्यर्थः। व्रजं प्रति न्यवर्त्तत, निववर्त्तेति पाठे स एवार्थः। आजगरं चर्म्म दर्शयन्नित्यघासुरवधस्य व्रजे कथनाय तत्स्मरणार्थमिति तच्चर्म्मापि श्रीभगवता तावत्कालं माययाच्छाद्य रक्षितमासीदिति ज्ञेयम् ॥ ४६ ॥ इति निजप्रियसहचरबालकः सङ्गतिजनितहर्षभरतो वन्यवेषादिविशेषेण व्रजस्यस्त्रीजनानां नेत्रानन्दं सञ्जनयन् व्रजान्तर्जगामेत्याह – बर्हेति। वनधातुर्गैरिकादिर्बर्हादिभिर्व्विशेषेण चित्राणि भूषितान्यंगानि येन, किंवा सखिभिर्यस्य सः। अतः प्रोद्दामोऽत्युच्चो यो वेणुदलश्रृङ्गाणां रवस्तेन स एवोत्सवः, किंवा उत्सवश्च नृत्यगीतादिरूपस्तेनाढ्योऽस्त एवानुगैस्तैरेव बालकैर्गीता हर्षभरेण गीतवत् सुस्वर तालादिसहितमुच्चैः कीर्त्तिता पवित्रा निर्म्मला जगत्पावनी वा कीर्त्तिरघासुरवधादिरूपा यस्य। गोपीशब्देन श्रीयशोदादयः सर्वा एव व्रजस्त्रियस्तासामपीदानीमेव श्रीकृष्णदर्शनहर्षभरेणाधिकनेत्रानन्दोत्पत्तेः, यद्वा, श्रीकृष्णैकप्रिया भगवत्यः श्रीराधादयस्तन्नेत्राणामेव विशेषतस्तद्दर्शनोत्सवसिद्धेः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, गोपीनां दृग्भिस्तत्कर्त्तृकसाक्षाद्दर्शनैरुत्सवो यस्यास्तथाभूता दृशिर्द्दृष्टिर्यस्येत्यन्योऽन्यं सन्दर्शनसुखमुक्तम्। एतच्च व्रजान्तरे बोद्धव्यम्—तदानीं वत्सपालने व्रजाद्दूरचरत्वेनाति विरहानुदयाद् व्रजाद्बहिरग्रेऽनभिगमनात्। तच्चाग्रे गोपालने रसविशेषाविर्भावसमये व्यक्तं वक्ष्यते ॥ ४७ ॥ यशोदाया आनन्दरूपसूनुनेति तस्य तत्कर्म्मणा तस्या एव विशेषतः सन्तोषोदयात् ॥ ४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आत्मनः प्राणेशं कृष्णमन्तरा विना एकस्मिन्नब्दे यातेऽपि ब्रह्ममाया हृता अर्भकाः क्षणार्द्धं मेनिरे इत्यन्वयः। अथवा मायाहृता मायया कृष्णकृपया प्राप्ता व्याप्ताः "हृन हिंसागत्योः" इति धातोः। अन्यथा श्रीकृष्णस्य विरहे क्षणस्यापि कथं तेषां सहनं स्यात्? एवं रात्र्यादावपि ज्ञेयम् ॥ ४३ ॥ कृपाप्राप्तत्वमेवाभिनयेनाह माया श्रीभगवत्कृपा तया मोहितचेतसः किं किं विषयं न विस्मरन्ति यथाऽत्रैव श्रीयशोदायाः कुन्त्याः वसुदेवदेवक्योः कंसवधानन्तरम् अक्रूरादेश्च श्रीभगवदिच्छया तत्तत्विस्मरणं श्रीकृष्णनाट्यानुसारिकमेव वर्णितमिति तदेवाह—यथा मायया इच्छया विचित्रशक्त्या वा जगत् चिदचिद्रूपम् अभीक्ष्णं वारंवारं विस्मृतस्वस्वरूपकं वर्त्तत इति ॥ ४४ ॥ अत एव ते ऊचुरित्यादि, श्लोकः स्पष्टार्थः ॥ ४५ ॥ हृषीकाणामीशः देहेन्द्रियप्राणमनोविशिष्टात्मसमूहनियन्ता परमात्मा तैः सहाभ्यवहृत्य भुक्त्वा व्रजं न्यवर्त्तत इत्यनेन तेषां सर्वक्रिया श्रीभगवत्कृतैवेति ॥४६॥ बर्हादिभिः विचित्रितानि अङ्गानि येन तत्र बर्हेण मुकुटशोभा कृता प्रसूनैः मालारूपैः सर्वाङ्गालङ्कारः वनेन जलेन धातुभिस्तिलकादिरचनेति विभागः नवधातु इति वा पाठः वेणुरवेण श्रृङ्गरवेण प्रोद्दामः प्रबलः उत्सवः तेनाढ्यः वत्सान् तत्तन्नाम्नामुच्चारणे गृणन् गोपीदृशामुत्सवदायि दर्शनं यस्य सः गोष्ठं प्रविवेश ॥ ४७ ॥ महाव्यालः अघासुरः अद्येति वर्षानन्तरमुक्तावपि मायामोहितत्वेन तेषाम् एकदिवसलाल्लाज्ञानं बाला इति च इदमेव उपोद्बलयति व्रजे व्रजस्य पुरुषस्त्रीषु जगुरकथयन् ॥ ४८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नन्वेतावन्तं कालमेते कथं तत्रैवोपविष्टा कथं वा तेषां क्षुत्पिपासादिविस्मरणं तत्राह–एकस्मिन्निति द्वाभ्याम्। अब्देऽपि याते आत्मनः प्राणेशं कृष्णमन्तरा विरहेणाऽपि प्रियविरहक्षणोपि वर्षाधिको भवति तथापि हे राजन्! कृष्णस्य मायया हृता मोहिता क्षणार्द्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥ भगवन्मायया मोहितानि चेतांसि येषां तेऽत एव किं किं न विस्मरन्ति? सर्वं विस्मरन्त्येव यस्य मायया मोहितं जगदभीक्ष्णं पुनः पुनः विस्मृत आत्मैव येन तत्तथा किमुत क्षुत्पिपासादिकमिति भावः ॥ ४४ ॥ अत एवैवमूचुरित्याह–ऊचुश्चेति। ते त्वयाऽतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतम् एकोऽपि ग्रासस्त्वां विनाऽस्माभिर्नाभोजि न भुक्तः अत एहि साध्वविक्षेपेण भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥ ततोऽर्भकसहितोऽभ्यवहृत्य भुक्त्वा वनाद्व्रजं प्रति न्यवर्त्ततागाम ॥ ४६ ॥ कथम्भूतो न्यवर्त्तत तत्राह बर्हेति। बर्हादिभिर्विचित्रितान्यङ्गानि यस्य धातवो गैरिकादयः प्रोध्माताः ध्मायमानाः ये वेणवः दलानि च तरुपर्णानि वेष्टनीकृत्य मुखवायुपूरितानि श्रृङ्गाणि च तेषां रवेण य उत्सवो हर्षस्तेनाढ्यः वत्सान् गृणन्हुङ्कारादिभिः प्रेरयन्नित्यर्थः। अनुगैर्वत्सपैर्गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य गोपीदृशामुत्सवरूपाहृशिर्दर्शनं यस्य तथाभूतो गोष्ठ प्रविवेश ॥ ४७ ॥ ततो व्रजे आगता वत्सपा जगुर्जगुः किमिति तदाह–अद्यास्मिन्नहन्यनेनाजगरो हतः अस्मान्महाव्यालमुखादुद्धृत्यमनेन नीताः व्रजं प्रापिताश्चेति ॥ ४८ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

आत्मनः स्वस्य प्राणेशं कृष्णमन्तरा विना अब्देऽपि याते तथापि कृष्णमायाहृता अर्भका क्षणार्द्धं मेनिरे अयमाशयः श्रीकृष्णं विना पूर्वं क्षणार्द्धमपि वर्षाधिकं भवति तदेवाद्य कृष्णमायामोहितास्ते अब्दमपि क्षणार्द्धं मेनिर इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अहो! भगवन्मायावैभवमिति मन्वानं प्रत्याह—किंकिमिति। यया मायया अभीक्ष्णं पुनःपुनर्विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मा स्वात्मा श्रीकृष्णाऽख्यो येन तत्तथा तथा च वक्ष्यति श्रीशुकः "कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इति ॥ ४४ ॥ अतिवेगेन त्वया

स्वागतं एकोऽपि ग्रासस्त्वां विनास्माभिर्नाभोजि न भुक्तः इत एहि साधु धैर्येण भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ अभ्यवहृत्य भुक्त्वा स्पष्टमन्यत् ॥ ४६ ॥ प्रोद्दाम उत्कटो वेण्वादिरवैरुत्सवस्तेनाढ्यः सम्पन्नः वत्सान् गृणन् उपलालनैराह्वयन् गोपीदृगुत्सवदृशः गोपीनां दृशां दृष्टीनां उत्सवरूपा मङ्गलरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः ॥ ४७ ॥ यशोदानन्दयोः सूनुना यशोदासूनुना नन्दसूनुना इति वा बहूनामुक्तिः स्पष्टमन्यत् ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

"ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेऽतिरंहसा" इति च वत्सानितो वत्सपालीस्त्वान्यत्रेत्यनेनान्यत्र सकृदीक्षितानामपि तेषां पुनस्तत्रावस्थापनं तेषां तु तदपि न ज्ञातमासीदिति ज्ञापयति, अत्र सर्वा ह्यनुपपत्तिर्माययैव वारिता सा च माया ब्रह्मणोऽपि श्रीभगवदनुमोदितत्वात्तदीयैव जातेति ज्ञेयम् अतः श्रीसङ्कर्षणेनोक्तम् "प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुः" इति अभीक्ष्णं यया मोहितम् ॥४५-४६॥ गोप्यः श्रीयशोदादयः ॥ ४७-४८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अत्र तावत् कालाज्ञानं तथैव कवलपाणेः कृष्णस्यागतस्य तैः सह तथैव भोजनलीलाशेषादिकं दुस्तर्कयोगमायावैभवमेवेत्याह—एकस्मिन्नित्यादिचतुर्भिः । आत्मनः स्वस्य प्राणेशं कृष्णमन्तरा विनाऽपि योगमायया आहृता आवृताः ॥ ४३ ॥ मोहनसाधर्म्येण योगमायया बहिरङ्गमायां दृष्टान्तयति—किं किमिति । विस्मृत आत्मा येन तत् तथैव योगमायया वर्षं व्याप्य कृष्णविरहदुःखं ते विस्मारिता इति भावः ॥ ४४ ॥ अर्भका ऊचुः, अतिरंहसा सुखेनैवागतं दूरगतवत्सानयने घटिकैका त्ववश्यं भविष्यतीत्यस्माभिर्विचारितं त्वया तु क्षणार्द्धेनैवागतमिति भावः । एकोऽपि कवलो ग्रासस्त्वया विना नाभोजि तस्मादित एहि ॥ ४५ ॥ हसन्निति, तेषामानन्ददर्शनात् अभ्यवहृत्येति वर्षे गतेऽप्यन्नव्यञ्जनादीनां क्षणार्द्धमात्रपरिणामित्वं जातं तच्च न वैरस्यं जनयतीति भावः । दर्शयन्नित्यहो सखायः अद्य मृतोऽयं सर्पो वसारक्तादिकलिलो वर्त्तत एवेति पश्यतेति तद्वधस्य व्रजे प्रख्यापनार्थं योगमाययैव तावत्कालपर्य्यन्तं तत्तदाच्छादितमासीदिति ज्ञेयम् वनात् वनविहरणात् व्रजञ्जगामेति शेषः ॥ ४६ ॥ गृणन् उपलालनैराह्वयन् गोपीनां वत्सलानां दृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः ॥ ४७ ॥ यशोदानन्दयोर्भाग्यमानन्दो यशो वा यस्यात्तथाभूतेन सूनुनेति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी कर्मधारयः तस्मान्महाव्यालाद्वयस्त्वाविताः ॥ ४८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आत्मनः प्राणेशं श्रीकृष्णमन्तरा विना एकस्मिन्नब्दे यातेऽपि कृष्णमायया हृता मोहिता अर्भकाः क्षणार्द्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥ विस्मृत आत्मा येन तत् ॥ ४४ ॥ ते त्वया अतिरंहसा अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतम् एकोऽपि कवलस्त्वां विना अस्माभिर्नाभोजि न भुक्तः एहि साधु अविक्षेपेण भुज्यताम् ॥ ४५ ॥ ततस्तेषामुक्तितः हसन् अभ्यवहृत्य भुक्त्वा ॥ ४६ ॥ बर्हादिभिर्विचित्रितानि विभूषितान्यङ्गानि येन सः प्रोद्दामो यो वेण्वादिरवैरुत्सवः तेनाढ्यः सम्पन्नः तत्र दलानि मधुरशब्दोदयार्थमावेष्टितानि पिप्पलादिपत्राणि गोपीदृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः वत्सान् गृणन् उपलालयन् ॥ ४७ ॥ अस्मात् महाव्यालात् ॥ ४८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अत्र समयापरिज्ञानं तथैवागतस्य कवलपाणेर्नन्दसूनोस्तैः सह सजग्धिलीलासमापनञ्च तस्याचिन्त्ययोगमायाविलसितमेवाह—एकस्मिन्निति चतुर्भिः । आत्मनः स्वस्य प्राणेशं कृष्णमन्तरा विना कृष्णस्य मायया योगाख्यया आहृता आवृताः क्षणार्द्धं पलपञ्चकम् ॥ ४३ ॥ मोहनसाधर्म्येण योगमायां त्रिगुणां दृष्टान्तयति – किं किमिति । इह जगति मायया त्रिगुणया मोहितानि चेतांसि येषां ते किं किं न विस्मरन्ति अभीक्ष्णमिति विस्मृतः सुषुप्तौ शास्त्रे वा देहद्वयातिरिक्ततया ज्ञातोऽप्यात्मा येन तादृशं भवति तथाच वर्षं व्याप्य कृष्णविच्छेददुःखं सखायो योगमायया विसस्मरुरिति ॥४४॥ ऊचुश्चेति । त्वया अतिरंहसा क्षणार्द्धेनैव सुखेनागतं अस्माभिस्तु घटिकावश्यं भाविनीति दृष्टं त्वया विना अस्माभिरेकोऽपि कवलो नाभोजि तस्मादित एहि ॥ ४५ ॥ ततो हसन्निति तेषां हर्षदर्शनात् वर्षे गतेऽपि भक्ष्याणामवैरस्यं तस्य क्षणमवैरस्यं तस्य क्षणार्द्धे परेशात् तेषां रसात्मकत्वाच्च चर्माजगरमिति शुष्कस्यापि तस्य सद्यो मृतत्वप्रदर्शनं तद्वधचरितस्य व्रजे व्याख्यानार्थं वनाद् वनविहाराद् व्रजं प्रति न्यवर्तत जगामेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ बर्हेति वनधातुर्गैरिकादिः प्रोद्दामोऽत्युच्चो वेण्वादिरवस्तेनोत्सवेनाढ्यः अनुगैस्तैर्बालैर्गीता पवित्रा लोकपावनी कीर्त्तिरघवधादिरूपा यस्य सः, वत्सान् गृणन्नुपलालनैराह्वयन् गोपीनां श्रीयशोदादीनां वत्सलानां दृशामुत्सवरूपदृशिर्दर्शनं यस्य ॥ ४७ ॥ अद्यानेन महाव्यालो हतः तस्माद्वयञ्च अविता रक्षिता कीदृशेनेत्याह यशोदेति मातृपक्षीयैर्यशोदासूनुरिति पितृपक्षीयैर्नन्दसूनुरिति चोक्तेनेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तदा बालकाः समागतं भगवन्तं कथं ज्ञातवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहैकस्मिन्नपीति, एकस्मिन्नप्यब्दे वर्षे याते गत आत्मनः प्राणेशमन्तरा भगवन्तं विनाल्पोऽपि कालो यत्र विरहाद् भूयान् भवितुमर्हति तत्र तावन्तमपि कालं कृष्णमायया आहृता व्याप्ता न

त् ब्रह्ममायया क्षणार्धमेवार्भका मेनिरे ॥ ४३ ॥ ननु कथमेतावतः कालस्य विस्मरणम् ? तत्राह किं किमिति, मायामोहितचेतसः किं किं न विस्मरन्ति ? यद् यस्मात् सर्वमेव जगत् मोहितं सदभीक्ष्णं सर्वदैव विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मा येन तादृशम् ॥४४॥ अत एव स्वसुहृदं कृष्णमूचुस्ते त्वयातिरंहसा स्वागतमिति, तत्र हेतुत्वेनाहुर्नैकोप्यभोजि कवल इति तव गमनानन्तरमेकोपि कवलो नाभोजि न भुक्तः, अनेन भगवति प्रेमापि सूचितं, अत एवेहि, मध्ये पूर्ववत् तिष्ठ, साधु भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥ ततो भगवता तथैव कृतमित्याह तत इति, अर्भकैः सहाभ्यवहृत्य भुक्त्वाघासुरस्य च चर्म प्रदर्शयन् वनाद् व्रजं प्रति न्यवर्तत ॥ ४६ ॥ समागच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति बर्हेति प्रोद्दामगोवन्धनरज्जुर्दोहसम्बन्धि, अधिको वा, वत्सान् गृणन्नुच्चारयन्, अनुगैर्बालकैर्गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य, गोपीदृशामुत्सवरूपा दृष्टिर्यस्य ॥ ४७ ॥ ततो बालका अघासुरवधं व्रज आहुरद्यानेनेति, केचिद् यशोदासूनुनेत्यन्ये नन्दसूनुनेति, वयं चास्माद् व्यालादविताः ॥ ४८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'एवं संवत्सरपर्यन्तं कालं ते कथं तत्रैवोपविष्टाः ? कथं वा क्षुत्पिपासादीन् विस्मृतवन्तः ?' तत्राह– एकस्मिन्निति। आत्मनः स्वस्य प्राणेशमन्तर्यामिणः प्रियतमं कृष्णमन्तरा विना एकस्मिन्नब्दे याते व्यतीतेऽपि तेऽर्भका क्षणार्धं मेनिरे। ननु 'प्रियविरहेण क्षणार्द्धमपि वर्षादधिकं भवति, कथं तेषां वैपरीत्यं जातम् ?' तत्राह—कृष्णमायाहृता इति। नच "तर्हि 'मन्मायामोहितेतर' इति ब्रह्मणा कथमुक्तम् ?" इति शङ्कनीयम्, भगवत्परिग्रहभूतानां ब्रह्ममायया मोहासम्भवात्। 'प्रायो मायाऽस्तु मे भर्तुः' इति श्रीवल्लभद्रेणापि तथैवोक्तत्वात् ॥ भगवतैव स्वलीलासिद्धयर्थं ते मोहिताः, ब्रह्मणस्तथा वाक्यं त्वभिमानमात्रेण ज्ञेयम्। 'राजन्' इति सम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥ ४३ ॥ भगवन्मायामाहात्म्यमाह—किं किमिति। मायया मोहितं चेतो येषां ते प्राणिन इह संसारे किं किं न विस्मरन्ति, सर्वमेव पर्यायेण विस्मरन्तीत्यर्थः। किं बहुनोक्तेन ? सर्वमेव जगत् प्राणिमात्रं यया मायया मोहितं सत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः शास्त्राचार्यैः प्रबोधितमपि विस्मृतः आत्मा स्वरूपमपि येन तथा भवति ॥ ४४ ॥ मोहेन क्षणार्धाभिमानादेव ते सुहृदः गोपबालास्तं कृष्णं ते त्वयाऽतिरंहसा अतिवेगेन स्वागतं सम्यगागतमस्माभिस्तु तावदेकोऽपि कवलो ग्रासस्त्वां विना नाभोजि न भुक्तः, अत इतः अस्मिन् स्वोपवेशस्थाने एहि उपविश, साधु यथा भवति तथा वत्सानां प्राप्तत्वादपि क्षेमेण भुज्यतामित्यूचुश्च ॥ ४५ ॥ ततो मोहप्रयुक्ततद्वाक्यश्रवणानन्तरं हृषीकेशः सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णः हसंस्तैरर्भकैः सह अभ्यवहृत्य भुक्त्वा आजगरमघासुरशरीरजं चर्म तेषां दर्शयन् वनात् व्रजप्रति न्यवर्ततेत्यन्वयः ॥ ४६ ॥ वनाद्व्रजमागच्छन्तं वर्णयति—बर्हेति। बर्हो मयूरपिच्छं च प्रसूनानि च नवधातवो गैरिकादयश्च तैर्विचित्रितान्यङ्गानि यस्य सः, प्रोद्दामा अत्युत्कटा ये वेण्वादिरवाः शब्दास्तैर्यं उत्सवस्तेनाढ्यः सम्पन्नः, वत्सान् गृणन् उपलालननामभिराह्वयन्, अनुगैर्गोपैर्देवैर्वा गीता पवित्रा श्रवणादिपराणां सर्वदोषनिवर्तिका कीर्तिर्यस्य सः, गोपीनां दृशामुत्सवरूपा हरिदर्शनं यस्य सः कृष्णः गोष्ठं व्रजं प्रविवेश ॥ ४८ ॥ बहूनां सहैवोक्तिः। तत्र केचिदाहुः—यशोदासूनुनेति, केचिन्न नन्दसूनुनाऽनेनाद्य वने महाव्यालो हतोऽस्माच्च व्यालाद्वयमविता रक्षिता इति गोपबाला व्रजे जगुः कथितवन्तः ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एकस्मिन्निति ॥ हे राजन् ! आत्मनः स्वस्य प्राणेशमन्तर्यामिणं प्रियतमं यं विना क्षणमपि वर्षायते तं कृष्णमन्तरा विना एकस्मिन्नब्दे याते व्यतीतेऽपि कृष्णस्य मायया हृताः मोहितास्तेऽर्भकाः क्षणार्द्धं मेनिरे ॥ ४३ ॥ किं किमिति ॥ मायया मोहितं चेतो येषां ते प्राणिन इह संसारे किं किं न विस्मरन्ति। सर्वमेव पर्यायेण विस्मरन्तीत्यर्थः। किं बहुनोक्तेन। सर्वमेव जगत् प्राणिमात्रं यया मायया मोहितं सत् अभीक्ष्णं पुनः पुनः शास्त्राचार्यैः प्रबोधितमपि विस्मृतः आत्मा स्वरूपमपि येन तथा भवति ॥४४॥ ऊचुरिति ॥ मोहेन क्षणार्द्धाभिमानादेव ते सुहृदः गोपबालास्तं कृष्णं ते त्वयाऽतिरंहसातिवेगेन स्वागतं सम्यगागतमस्माभिस्तु तावदेकोऽपि कवलो ग्रासस्त्वां विना नाभोजि न भुक्तोऽत इतः अस्मिन्स्वोपवेशस्थाने एहि उपविश। साधु यथा भवति तथा वत्सानां प्राप्तत्वादपि क्षेमेण भुज्यतामित्यूचुश्च ॥ ४५ ॥ तत इति ॥ ततः हृषीकेशः हसन् तैरर्भकैः सहाभ्यवहृत्य भुक्त्वा आजगरमघासुरशरीरजं चर्म तेषां दर्शयन् वनात् व्रजं प्रति न्यवर्तत। आजगरचर्मदर्शनं च व्रजे प्रख्यापनाय योगमायया तत्कालपर्यन्तमाच्छादितत्वान्न नन्दादिभिर्दृष्टमिति ॥ ४६ ॥ बर्हेति ॥ बर्हो मयूरपिच्छं च प्रसूनानि च नवधातवो गैरिकादयश्च तैर्विचित्रितान्यङ्गानि यस्य सः प्रोद्दामा ये वेणुदलश्रृङ्गाणां रवास्तैर्य उत्सवस्तेनाढ्यः सम्पन्नः वत्सान् गृणन् उपलालनैराह्वयन् अनुगैर्गीता पवित्रा कीर्तिर्यस्य स गोपीनां दृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः कृष्णः गोष्ठं व्रजं प्रविवेश ॥४७॥ अद्येति ॥ यशोदानन्दसूनुनेति बहूनामुक्तिः सहैव दर्शिता। तत्र केचिद्यशोदासूनुनेत्याहुः। परे नन्दसूनुनेति। यद्वा। यशोदां नन्दयति यशोदानन्दः स चासौ सूनुः यशोदाया आनन्दरूपः सूनुर्वा तेन अनेनाद्य वने महाव्यालो हतोऽस्माच्च व्यालाद्वयमविता रक्षिता इति गोपबाला व्रजे जगुः कथितवन्तः ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एतदिति सुहृद्भिर्मित्रैः सह शिक्यादिस्तेयप्रभृति चरितं क्रीडितं अघार्दनं अघासुरनाशनं च शाद्वले हरिततृणवति पुलिने जेमनं च व्यक्तेतरद्रूपं व्यक्तात् चेतनाचेतनमिश्रात् विश्वात् इतरत्भिन्नं वत्सवत्सपादिरूपं स्वरूपं च अजस्य श्रीकृष्णस्य ऊरुमंहान् अभिष्टवो ब्रह्मस्तुतिरूपः प्रबंधस्तं एतत्सर्वं शृण्वन् गृणन् कथयन् नरः अखिलान् अर्थान् पुरुषार्थान् एति प्राप्नोति ॥ ४३ ॥ कौमारैः कुमारावस्थायां कृतैः कौमारं जहतुः रामकृष्णौ तत्यजतुः निलायनैः केचिद्गोपाः निलीय अन्येषामदृश्यतया स्थिता अन्यैर्मृग्या इत्येवं विविधानि क्रीडनानि तैः सेतुबंधैरिति श्रीरामचंद्रलीलानुकरणैः ॥ ४४ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने ब्रह्मस्तुतिर्नामा चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वेतावन्तं कालमेते कथं तत्रैवोपविष्टाः कथं वा तेषां क्षुत्पिपासादिविस्मरणं तत्राह एकस्मिन्निति श्लोकद्वयेन ॥ एकस्मिन्निति ॥ आत्मनः, प्राणेशं श्रीकृष्णं, अन्तरा विना, एकस्मिन् अब्दे वर्षे याते गते सत्यपि, हे राजन्, कृष्णस्य मायया हृताः मोहिताः, अर्भका क्षणार्द्धं मेनिरे । चोऽवधारणे ॥ ४३ ॥ किं किमिति ॥ इह संसारे, मायामोहितचेतसः, किं किं न विस्मरन्ति, अपि तु सर्वं विस्मरन्ति । यत् यथा मायया, मोहितं सर्वं जगत्, अभीक्ष्णं पुनः पुन, विस्मृत आत्मा येन तथाभूतं, भवति । तदा क्षुत्पिपासाविस्मरणं किं वक्तव्यमिति भावः ॥ ४४ ॥ ऊचुरिति ॥ यत एवं भगवन्माययोपहृतास्तत एव, सुहृदः कृष्णं एवं ऊचुश्च । ते त्वया, अतिरंहसाऽतिवेगेन, स्वागतं सम्यगागतम् । एकोऽपि, कवलः ग्रासः, त्वां विना, अस्माभिः, न अभोजि नैव भुक्तः । अतः, इतोऽत्र एहि । साध्वविक्षेपं यथा तथा, भुज्यतां इति ॥ ४५ ॥ तत इति ॥ ततः, हसन् हासं कुर्वन्, हृषीकेशः कृष्णः, अर्भकैः सह, अभ्यवहृत्य भुक्त्वा, आजगरं महासर्पसंबन्धि, चर्म दर्शयन् अद्यायं व्यापादित इति स्मृत्यनुसंधानं कारयित्वेत्यर्थः । वनात् व्रजं प्रति, न्यवर्त्तताजगाम ॥ ४६ ॥ कथंभूतो न्यवर्त्तत तत्राह ॥ बर्हेति ॥ बर्हा मयूरपिच्छानि च प्रसूनान्युत्तमपुष्पाणि च वनधातवः सिन्दूरादयो वन्या धातवश्च तैर्विचित्रितं चित्रधाऽलंकृतमङ्गं स्वशरीरं येन सः, प्रोद्दामो दाध्मायमानो यो वेणुश्च दलं पत्रनिर्मितवाद्यं च शृङ्गं च तेषां यो रवोत्सवो नादविधानोत्सवस्तेनाढ्यः संपन्नः, वत्सान् गृणन् उपलालनादिभिः संबोधयन्, अनुगैर्वत्सपैः गीता पवित्रा कीर्त्तिर्यस्य सः, गोपीनां दृशामुत्सवरूपा दृशिर्दर्शनं यस्य सः, एवंभूतः सन्, कृष्णः, गोष्ठं, प्रविवेश ॥ ४७ ॥ अद्येति ॥ यशोदानन्दसूनुना, एषां बहूनामुक्तिः सहैव दर्शिता । तत्र केचिदाहुर्यशोदासूनुना, अपरे नन्दसूनुनेति, यद्वा यशोदां नन्दयत्यानन्दयतीति यशोदानन्दः स चासौ सूनुस्तेन, अनेन कृष्णेन, अद्यास्मिन्नहन्येव, महाव्यालोऽतिमहानजगरः, हतः अस्माद्व्यालात्, वयं च तदुदरप्रविष्टा वयमपि, अविताः रक्षिताः । इत्येवं, बाला गोपदारकाः, व्रजे जगुः ऊचुः । कालान्तरकृत तात्कालीनं कथं भवेत्' इति यत्पृष्टं तदित्यं समाहितम् ॥ ४८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सत्याः के इति : १०.१३.४३.

इमे वेमे सत्याः स पशुपशुपा 'इत्ययमभूद् भ्रमो धातुः पूर्वं तदनु किमिमे वाऽथ किमहम् ।
विलोक्याजोपास्यान् पृथगिह रमेशानिति मतिः ततोऽयं को वेत्याकलितमवनावेकमखिलम् ॥ ७६ ॥
एवमेव प्रपञ्चोऽपि विचाराचिन्तितो यदि । तदा सदाऽद्वैतरूपापरोक्षमिति लक्ष्यताम् ॥ ७७ ॥ (युग्मम्)
पूर्वं वत्सप वत्सरूपधृदथो साजाश्चतुर्बाहवः सर्वेऽपीत्यलमेक इत्यनुपदं त्रेधाऽऽत्मसंदर्शनात् ।
आत्माऽसङ्गचकलस्त्यवस्थितिजगत्साक्षीति विज्ञापितो मन्ये तत्त्वविचारदृष्टिविधिरप्यस्मै च लोकाय च ॥ ७८ ॥

कृष्णप्रिया

प्राणप्रिय प्यारे नन्दलाल से बिछुड़े इन बालकों को एक वर्ष बीत चुका था, किन्तु हे राजन् ! कृष्ण की माया के प्रभाव से उन ग्वाल बालकों को वह सुदीर्घ काल क्षणार्ध के समान ही लगा ॥ ४३ ॥ राजन्, इस संसार में माया मोहित चित्त मानव क्या क्या नहीं विसर जाता ? अरे बाबा यह सारा विश्व मायामोहित जिस प्रभु की माया से मुग्ध बनकर शास्त्रों के बार-बार उपदेश सुनने पर भी अपना स्वरूप विसर बैठा ही है ॥ ४४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण को सन्मुख देखकर अत्युत्कण्ठा से एक साथ मित्र वृन्द बोल उठा हे कृष्ण आओ भैया यहाँ आप के विना हम सबने एक भी कौर नहीं खाया, आओ इधर मिल जुल कर अब सब ठीक ठीक भोजन कर लें ॥ ४५ ॥ वापस आने के बाद भगवान् हृषीकेश व्रज सखाओं को हंसते हंसाते प्रेमपूर्वक भोजन करने लगे । पुनः मार्ग में मित्रों को अजगर के चर्म को दिखलाते हुए व्रज की ओर लौटे ॥ ४६ ॥ मयूरपंख-पुष्प-एवं नयी वन की

गैरुक आदि धातुओं की चित्र विचित्र रचनाओं से विभूषित श्रीअङ्गवाले, उन्नत स्वर वाले वेणु-दल-सींग आदि की ध्वनियों से उच्छलित-आनन्दवाले नाम लेकर बछड़ों को पुकारते हुए, अपने अनुगामी मित्रों द्वारा गायी जा रही पवित्र कीर्ति वाले, और दर्शन देकर गोपीजनों के नयनों को आनन्दरस में सराबार करने वाले श्रीव्रजराज व्रज में पधारे ॥ ४७ ॥ व्रज में जाकर बालकों ने कहा कि आज श्री नन्दयशोदालाल ने एक बड़े अजगर को मार दिया और उस अजगर से हम लोगों को बचा लिया ॥४८॥

राजोवाच

ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् । [1]योभूतपूर्वः स्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

सर्वेषामपि भूतानां नृप [2]स्वात्मैव वल्लभः । इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥
तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् । न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥
देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम । यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥ ५२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ब्रह्मन् स्वोद्भवेषु अपि लोकेषु यः अभूतपूर्वः इयान् प्रेमा परोद्भवे कृष्णे कथं भवेत् ॥ ४९ ॥ नृप ! सर्वेषां अपि भूतानां स्वात्मा एव वल्लभः इतरे अपत्यवित्ताद्याः तद् वल्लभतया एव हि प्रियाः ॥ ५० ॥ राजेन्द्र ! तत् देहिनां स्वस्वकात्मनि यथा स्नेहः तथा ममतालम्बि पुत्रवित्तगृहादिषु न ॥ ५१ ॥ राजन्यसत्तम ! देहात्मवादिनां पुंसां अपि यथा देहः प्रियतमः हि ये च तं अनु न तथा ॥ ५२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् ॥ शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्" इत्यादिना स्वतोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यमुक्तं तत्र पृच्छति । ब्रह्मन्निति ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्णस्य साक्षादात्मत्वात्तस्मिन्नात्मीयेभ्यः प्रेमाधिक्यं युक्तम् इति वक्तुं प्रथमं तावदात्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषां तु तदुपाधिकमिति दर्शयति पंचभिः । सर्वेषामपीति ॥ ५० ॥ कुतः तथा दर्शनादित्याह- तदिति । तस्मादेव कारणात्स्वस्वकात्मन्यहंकारास्पदे देहे ॥ ५१ ॥ आत्माध्यासतारतम्येन प्रेमतारतम्यं दृश्यमानं तन्निबंधनमेवेति दर्शयितुं मूढामूढभेदेन विशेषमाह । देहात्मवादिनामिति द्वाभ्याम् । तं देहमनुलक्ष्य भवंति ये पुत्रादयस्ते तु न तथा प्रियतमः तदर्थत्वेन ते प्रिया इत्यर्थत्वेन ते प्रिया इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

लोके हि अतिगुणवत्तमादपि परपुत्राद्गुणहीनेऽपि स्वपुत्रे प्रेमाधिक्यं दृश्यते तच्चात्र विरुद्धम्, यतः स्वपुत्रेभ्योऽपि परस्य नंदस्य पुत्रे प्रेमाधिक्यमिति कथमिति संदिहानः पृच्छति—हे ब्रह्मन्निति । साक्षाद्भगवद्रूपत्वात्त्वं सर्वं जानासीति संबुद्ध्याशयः । इयान् एतत्प्रमाणकः । तदाह—यो भूतेत्यादि ॥ स्नेहस्तावत्त्रिधा । विषयसौंदर्येण ममताविशेषेण स्वाभाविकदेहिकसंबंधविशेषेण च । तत्र प्रथमं प्रागेव 'यावद्वत्सप' इत्याद्युक्तेः । द्वितीयश्च तद्वदेव तत्तत्संबंधस्यानतिरेकात् । यश्च तृतीयः श्रीप्रद्युम्नादौ तन्मातरि श्रुतः स त्वत्र विपरीत एव, तर्हि 'व्रजौकसां स्वतोकेषु' इत्यादिकमुक्तमित्यभिप्रेत्य विशेषबुभुत्सया परबुबोधयिषया वा पृच्छति—ब्रह्मन्निति। श्रीदामादिनामरूपाभ्यां व्यक्ते न तु स्वस्वरूपेण व्यक्ते तस्मिन् । यः यावान् । अत्र परोद्भवत्वं 'नंदस्त्वात्मज उत्पन्ने' इत्युक्तसिद्धांतानुसारेणैवोक्तम्, अन्यथा श्रीमन्नंदयशोदे प्रत्यप्ययं पूर्वपक्षः प्रसज्जेत, स च पुराणकृत इति । यद्वा—'यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्' इति दृष्टांतिते श्रीकृष्ण एव पूर्वपक्षः । एतत्पक्षे विषयसौंदर्यस्याधिक्यमस्त्येव । किं तु, ततोऽपि ममतादेहसंबंधयोराधिक्यं विवक्षितम्, तच्च सिद्धान्तविशेषबुभुत्सयेति ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥ आत्मीयेभ्यः देहपुत्रादिभ्यः "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इति श्रुत्यभिप्रायेणाह—अन्येषामिति । तदुपाधिकम् आत्मोपाधिकम् । पंचभिः 'सर्वेषाम्' इत्यारभ्य 'चराचरम्' इत्यंतैः ॥ परमात्मा श्रीकृष्णोऽतः सर्वेषामेव प्रियादात्मनोऽप्यधिकप्रियः, किमुतात्मीयेभ्यः इति सुखदविषयेभ्यः वक्तुमादावात्मनस्स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषां तदुपाधिकमेवेत्याह सर्वेषामिति पञ्चभिः । अतः प्रथमं स्वात्मेति । देहदेह्यविवेकेनाहन्तास्पदमात्रमुच्यते, ममतास्पदे प्रेमव्यवच्छेदार्थं, स्वशब्दश्च प्रतिस्वमनुभवापेक्षया । हे नृपेति । तादृशस्यास्य स्वधर्मतः प्रजापालनमपि तथैवेति भावः । भूतानामित्यौपचारिकभेदेन । हीति तत्तद्भवप्रामाण्यं बोधयति ॥ ५० ॥ कुतः—सर्वेभ्यः आत्मा प्रियः । तथादर्शनात् सर्वाधिकप्रेमदर्शनात् । यत आत्मैव प्रियस्तस्मात् । अहंकारास्पदे आत्मत्वेन स्वीकृते न त्वात्मनि यथा ममतां ममत्वमालम्बन्त आश्रयन्त इति ममतालम्बीनि तानि च स्नेह इत्यन्वयः ।

---

१. योऽभूतपूर्व—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. स्वात्मैकवल्लभ—इति कस्यचित् ।

तदेव व्यतिरेकेणाह—तदिति । तत्राऽहङ्कारास्पद इत्यन्तंव तेषां व्याख्या परत्र पद्ये तु अहङ्कारस्पदे हे आत्मेत्यादिका ज्ञेया । पाठान्तरं न संमतम् अस्यैव विवक्षितत्वात् । ममतालम्बीति षष्ठयर्थस्य व्यवहितत्वान्न्यूनता योग्यैवेत्यर्थः । हे राजेन्द्रेति । साम्राज्येऽप्यात्मवत्स्नेहो नास्तीति भवता ज्ञायत एवेति भावः ॥ ५१ ॥ तारतम्यम् न्यूनाधिक्यभावः । तन्निबन्धनमात्महेतुकम् । मूढामूढौ अज्ञज्ञौ । राजन्यं प्रायेण देहात्मवच्चैव, त्वं तु तेषु सत्तमोसीति न तव देहाध्यास उचित इति संबुद्धयभिप्रायः । साम्राज्येप्यात्मवत्प्रेमा नास्तीति त्वया ज्ञायत एवेति भावः । पूर्वश्लोकस्थराजेन्द्रेत्यस्याप्ययमेवाभिप्रायः । इत्यर्थ इति । प्रियं धनादि, प्रियतरं पुत्रादि, प्रियतमो देह इति भावः ॥ देह एवात्मेतिवादिनामत्यन्ताविवेकिनामित्यर्थः । तन्मतेप्यात्मन एव प्रियतमत्वं पर्यवस्येत् आत्मतयैव देहेऽभिमानेन प्रियतमत्वात् । हि निश्चये । त्वथ चकारः । हे राजन्यसत्तमेति । केचिद्राजन्या देहात्मवादिनोऽसन्त एव, आत्मवादिनश्च सन्तः, ईश्वरवादिनः सत्तरास्तेषु । श्रीकृष्णैकप्रियत्वात्त्वं तु सत्तम इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, स्नेहस्तावत्त्रिधा दृश्यते विषयसौन्दर्येण ममताविशेषेण स्वाभाविकदैहिकसम्बन्धविशेषेण च तत्र प्रथमं प्रागवदेव यावद्वत्सपेत्याद्युक्तत्वात् द्वितीयश्च तद्वदेव तत्तत्सम्बन्धस्थानतिरेकात् यश्च तृतीयः श्रीप्रद्युम्नागमने तन्मातरि श्रुतः स त्वत्र विपरीत एव तर्हि कथं "व्रजौकसां स्वतोकेषु" इत्यादिकमुक्तमित्यभिप्रेत्य विशेषबुभुत्सया परविबोधिषया वा पृच्छति—ब्रह्मन्निति । श्रीकृष्णे श्रीदामादिनामरूपाभ्यां व्यक्ते न तु स्वस्वरूपेणैव व्यक्ते तस्मिन् अन्यथा तत्रापि पूर्वपक्षः प्रसज्जेत स च पुरा न कृत इति यः यावान् अत्र परोद्भवत्वं "नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने" इत्युक्तसिद्धान्तानुसारेणैवोक्तम् अन्यथा श्रीमन्नन्दयशोदे प्रत्यप्ययं पूर्वपक्षः प्रसज्जेत स च पुरा न कृत इति यद्वा यथा कृष्णे त्वपूर्ववदिति दृष्टान्तिते श्रीकृष्ण एव पूर्वपक्षः एतत्पक्षे विषयसौन्दर्य्यस्याधिक्यमस्त्येव किं तु ततोऽपि ममतादेहसम्बन्धयोराधिक्यं विवक्षितं तच्च सिद्धान्तविशेषबुभुत्सयेति ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥ परमात्मा श्रीकृष्णोऽसौ सर्वेषामेव प्रियादात्मनोऽप्यधिकप्रियः किमुतात्मीयेभ्यः सुखदविषयादिभ्य इति वक्तुमादावात्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषां तदुपाधिकमेवेत्याह—सर्वेषामिति पञ्चभिः । अत्र प्रथमतः स्वात्मेति देहदेह्यविवेकेनाहन्तास्पदमात्रमुच्यते ममतास्पदे प्रेमव्यवच्छेदार्थं स्वशब्दश्च प्रतिस्वमनुभवापेक्षया भूतानामित्यादावौपचारिकभेदेन हे नृपेति त्वादृशस्य स्वधर्मतः प्रजापालनमपि तथैवेति भावः । हीति तत्रानुभवादिप्रामाण्यं बोधयति ॥ ५० ॥ तदेव व्यतिरेकेणाह—तदिति अत्राहङ्कारास्पद इत्यन्तंव तेषां व्याख्या परत्र पद्ये तु अहङ्कारास्पदेऽपि देह आत्मेत्यादिका ज्ञेया पाठान्तरं तु न सङ्गतम् अस्यैव विवक्षितत्वाद्देहस्य निरन्तरश्लोके वक्ष्यमाणत्वात् ममतालम्बीति षष्ठ्यर्थस्य वा व्यवहितत्वात् न्यूनता योग्यैवेत्यर्थः । हे राजेन्द्रेति साम्राज्येऽप्यात्मवत् स्ने[illegible]नास्तीति भवता ज्ञायते एवेति भावः ॥ ५१ ॥ देह एवात्मेति वादिनां अत्यन्ताविवेकिनाम् इत्यर्थः । तन्मतेऽप्यात्मन एव प्रियतमत्व पर्यवस्येत् आत्मतयैव देहाऽभिमानेन प्रियतमत्वात् हि निश्चये त्वर्थे चकारः हे राजन्यसत्तमेति केचिद्राजन्या देहात्मवादिनोऽसन्त एव आत्मवादिनश्च सन्तः ईश्वरवादिनः सत्तराः तेषु श्रीकृष्णैकप्रियत्वात् त्वं सत्तम इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ब्रह्मन् ! साक्षाद्वेदरूपेति त्वं सर्व्वमेव वेत्सीति भावः । इयानेतावान्, यो यावान्, परोद्भव इति श्रीकृष्णे तेषां श्रीयशोदानन्दनबुद्धिरेव, न तु भगवद्बुद्धिर्यया स्वापत्येभ्योऽप्यधिकस्नेहः स्यादिति भावः । ननु वस्तुस्वभावेन भवेदिति चेत्तर्हि तत्र का युक्तिरिरिति पृच्छति—कथमिति । 'च' अपि, स्वोद्भवेष्वपि, पाठान्तरं स्पष्टम् । कथ्यतां तन्निरूप्यताम् । एवं तत्प्रकारस्यैव प्रश्नः, न तु तद्योग्यतायास्तदर्थं पुत्रादिपरित्यागसुप्रसिद्धेः । यद्वा, तत्रोपविष्टानां केषाञ्चित्तत्परागां मुनीनां पुत्रादिष्वेव स्नेहं दृष्ट्वा श्रीभगवति तमनालोक्य तानुपहसन्निव पृच्छति ब्रह्मन्निति । कथं कुतः ? अन्यत् समानम् ॥ ४९ ॥ परमात्मा श्रीकृष्णोऽसौ सर्वेषामेव प्रियादात्मनोऽप्यधिकप्रियः, किमुतात्मीयेभ्य इति वक्तुं आत्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषाञ्च तदुपाधिकमेवेत्याह—सर्वेषामिति पञ्चभिः । स्वस्यात्मेति सम्यग्ज्ञानानुत्पत्त्या परेषामात्मना सह भेददृष्टेः, किंवा स्वस्यात्मनः प्रेष्ठतायाः स्वयमेव साक्षादनुभवसिद्धेः । आद्यशब्दाद्गृहदारादयोऽपत्यादिभ्योऽधिकवल्लभस्यापि देहस्यानुक्तिरग्रे देहात्मरागिणां मते विशेषेण देहस्यैव प्रियतमताया वक्ष्यमाणत्वात् । यद्वा, आद्यशब्देन सोऽपि गृहीतस्तस्य स्पष्टानुक्तिः सदाधिकपालनादिना तस्य वल्लभतायाः प्रत्यक्षत्वात् । एवमग्रेऽपि । हे नृपेति प्रजापालनमपि भवादृशो राज्ञो यत् प्रियम्, तदप्यात्मात्मत्वेनात्मनः प्रियत्वादेवेति भावः । हीति तत्रानुभवादिप्रामाण्यं बोधयति ॥५०॥ तदेवाह—तदिति । स्वार्थे कः, स्वस्मिन् स्वस्मिन्नात्मनि देहाधिष्ठातरि, अतस्तस्य साभिमानत्वात्तैरपि व्याख्यातम्—'अहंकारास्पदे' इति । आत्मनि देह इति व्याख्या चायुक्ता,—तस्य निरन्तरश्लोके वक्ष्यमाणत्वात् । देहिनां देहातिरिक्तात्मज्ञानवतामित्यर्थः । ममतालम्बीत्यहन्तास्पदादप्यात्मनः सकाशान्ममतास्पदपुत्रादिषु स्नेहस्य न्यूनतायोग्यत्वादित्यर्थः । हे राजेन्द्रेति साम्राज्येऽप्यात्मवत् स्नेहो नास्तीति भवता ज्ञायत एवेति भावः ॥ ५१ ॥ देह एवात्मेतिवादिनामत्यन्ताविवेकिनामित्यर्थः । अतएव देहातिरिक्तात्माज्ञानाद्देह एव प्रियतमस्तन्मतेऽप्यात्मनः प्रियतमत्वं पर्य्यवस्येदेव, आत्मतयैव देहस्य मननेन प्रियतमत्वात् । हि

निश्चये; त्वर्थे चकारः । हे राजन्यसत्तमेति केचिद्राजन्या देहात्मवादिनोऽसन्त एव, ब्रह्मवादिनश्च सन्तः, ईश्वरवादिनः सत्तरास्तेषु च श्रीकृष्णैकप्रियत्वात्त्वं सत्तम इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

परोद्भवे परपुत्रे श्रीकृष्णे इयान् वृद्धिस्योऽपरिच्छिन्नः प्रेमा यः स्वोद्भवेष्वपि तोकेषु बालेषु अभूतपूर्वः कथञ्जातः ? इति कथ्यताम् ॥ ४९ ॥ उत्तरयति शुकः भूतानां चेतनजीवशरीरयोः वाची भूतशब्दः सर्वेषां देवतीर्यङ्मनुष्यस्थावरशरीरवतां स्वात्मा जीवदेहविशिष्टं स्वस्वरूपं परमात्मरूपं विशेष्यं न तु देहात्पृथग्भूतं वा प्रीतिविषयं तस्याऽननुभवात् इतरेऽपत्यवित्ताद्या तद्वल्लभतया तस्य देहविशिष्टस्य स्वस्य प्रियत्वेन प्रीतिदातृत्वेनैव प्रिया भवन्ति ॥ ५० ॥ देहादीनाम् एवात्मपदशब्यानां त्रयाणां प्रेमास्पदत्वं विवृणोति—तदिति । हे राजेन्द्र ! ततः कारणात् यथा देहिनां स्वस्वदेहज्ञानविशिष्टानां जीवानां स्वस्वकात्मनि अहन्ताविषये स्वस्य स्वस्य देहे स्नेहः भवति तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ममताविषया ये पुत्रवित्तगृहदासादयस्तेषु स्नेहो न भवति ॥ ५१ ॥ अपि च देहात्मवादिनाम् आसुरस्वभावानां पुंसामपि यथा देहः प्रियतमः प्रीतिविषयीभूतः तथा तं देहमनु ये पुत्रकलत्रादयस्ते न प्रियतमा इति ॥ ५२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्" इत्युक्तं पुरस्तात्तत्र स्नेहाधिक्यकारणं पृच्छति—राजा ब्रह्मन्निति स्वोद्भवेष्वपत्येष्वभूतपूर्वः प्रेमा स परोद्भवे कृष्णे कथमभूदिति प्रश्नः, कथ्यतां तत्र हेतुः कथ्यताम् ॥ ४९ ॥ "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या पुत्रादिषु प्रेमा यत्सङ्कल्पायत्तं तस्मिन्नेव साक्षात्पुत्रतामापन्ने सति युक्तमेव प्रेमाधिक्यमित्युत्तरमाह—सर्वेषामिति । स्वात्मा जीवान्तरात्मा परमपुरुष एव निरतिशयप्रिय इतरे तु देहतदनुबन्ध्यादयो जीवपर्यन्तास्तस्य परमात्मनो वल्लभतयैव निरतिशयप्रियत्वेनैव हेतुना प्रियाः ॥ ५० ॥ तस्माद्धे राजेन्द्र! देहिनां निरतिशयस्वरूपपरमात्मसङ्कल्पायत्तप्रीतियुक्तानाञ्जीवानां स्वस्वदेहे या ममता तदवलम्बी प्रेमा यथा स्वस्वदेहे न तथा पुत्रादिषु । अयं भावः साक्षान्निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मसम्बन्धादात्मनि या प्रीतिर्न सा देहे जीवे न व्यवहितत्वाद्या च देहे प्रीतिर्न सा पुत्रे देहात्मभ्यां व्यवधानाद्या च पुत्रे न सा वित्ते या च वित्ते न सा गृहादिष्विति ॥ ५१ ॥ इदं देहात्माभिमानि तदनभिमानि साधारणमनुभवसिद्धम् इत्याह—देहात्मवादिनाम् इति । हे राजन्यसत्तम ! अपि शब्दस्य देहात्माभिमानरहितानमपीति भावः तन्देहमनु देहानुबन्धिनो य इत्यर्थः । ते न तथा देहवत्प्रियाः किन्तु तारतम्येनेति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्लयाऽऽब्दमन्वहम् । शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्" ॥ इति ॥

पूर्वोक्तं हृदि स्थितमाविष्कुर्वन् पृच्छति, ब्रह्मन्निति ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्णस्य साक्षात् स्वात्मत्वात्तस्मिन्नात्मीयेभ्यः प्रेमाधिक्यं युक्तमेवेति परिहरति, तत्र प्रथमं स्वस्वात्मनः प्रेमाधिक्यं स्वतः प्रेष्ठत्वम् अन्येषां तु तत्प्रेष्ठतयैत्याह, सर्वेषामिति । स्पष्टम् ॥ ५० ॥ तस्मात्कारणात् हे राजेन्द्र ! यथा देहिनां देहयुक्तानां स्वस्वकात्मनि स्वे स्वे आत्मनि प्रत्यगात्मनि स्नेहः प्रेमाधिक्यं भवति तथा ममतालम्बिषु ममतास्पदेषु पुत्रवित्तादिषु न भवति ममेयं भार्या ममायं पुत्रः ममेदं वनमित्यादीनां यत्सम्बन्धतया प्रियत्वं स आत्मा भिन्न इत्यर्थः ॥ ५१ ॥ किञ्च, येषां देह एवात्माभिमतस्तेषामपि देहस्नेहवत्तदनुबन्धिषु न प्रेमाधिक्यमित्याह—देहात्मवादिनामिति देहोऽहं कृशोऽहं स्थूलोऽहमित्युक्तप्रकारेण देहात्मवादिनां पुरुषाणामपि यथा देहः प्रियत्वेनाभिमतस्तथा ये तन्देहमनुवर्तन्ते गृहादयस्ते प्रियत्वेन नाभिमताः तदुक्तम्—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् । ग्रामञ्जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ इति ॥ ५२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णे श्रीदामादिनामरूपाभ्यां व्यक्ते यो यावान् ॥ ४९ ॥ परमात्मा श्रीकृष्णोऽसौ सर्वेषामेव प्रियादात्मनोऽप्यधिकप्रियः किमुतात्मीयेभ्यः इति वक्तुमादावात्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमन्येषां तदुपाधिकमेवेत्याह—सर्वेषामिति पञ्चभिः । अत्र प्रथमतः स्वात्मेति देहदेहिविवेकेनाहन्तास्पदमात्रमुच्यते ममतास्पदे प्रेमव्यवच्छेदार्थं स्वशब्दश्च प्रतिस्वम् अनुभावापेक्षया भूतानामित्यौपचारिकभेदेन ॥ ५० ॥ तदेव व्यतिरेकेणाह—तदिति ॥ ५१-५२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

"व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् । शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्" इत्यादिना स्वतोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यं व्यञ्जितं तत्र पृच्छति, ब्रह्मन्निति । परोद्भवे नन्दपुत्रे स्वोद्भवेषु स्वस्वपुत्रेष्वपि यः प्रेमा अभूतपूर्वः ब्रह्ममोहनात् पूर्वं न भूतः लोके हि अतिगुणवत्त्वमादपि परपुत्रात् गुणहीनेऽपि स्वपुत्रे प्रेमाधिक्यं दृश्यत इत्यतो लोकविरुद्धत्वादिदं

पृच्छ्यते इति भावः ॥ ४९ ॥ भो राजन् ! ममतास्पदेभ्यः पुत्रादिभ्यः सकाशादहन्तास्पदे आत्मनि प्रेमाधिक्यमिति लोकरीतिः प्रथमं दृश्यतां तत एवास्य सिद्धान्तो भविष्यतीत्याह, सर्वेषामिति पञ्चभिः । वल्लभः लोकदृष्ट्या आत्यन्तिकप्रीतिविषयः स च प्रतिदेहमेकैक एव न तथान्ये इत्याह, इतरे इति ॥ ५० ॥ यथा निरुपाधिकः ॥५१॥ स चात्मा मूढैर्देह एव ज्ञायते इति तन्मतेनाह— देह एवात्मेति वदितुं शीलं येषां तं देहम् अनुभवन्ति ये पुत्रादयस्ते तथा न प्रियतमा इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यदुक्तं "व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम् । शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्" इत्यादिना स्वतोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यं तत्र कारणं पृच्छति ब्रह्मन्निति ॥ ४९ ॥ श्रीकृष्णस्य आत्मनामप्यात्मत्वात्सर्वोत्तमप्रेमविषयत्वं युक्तमिति वक्तुं प्रथमं तावदात्मनः स्वतः प्रेष्ठत्वमात्मीयानां तु तदर्थमिति दर्शयति—सर्वेषामिति पञ्चभिः ॥५०॥ स्वस्वकात्मनि अहमर्थे ॥५१॥ अहमर्थेऽपि अज्ञात्मनां देहे आत्मज्ञानां स्वरूपभूते च स्नेहाधिक्यमित्याह—देहात्मवादिनामिति त्रिभिः । तं देहं ये अनु पुत्रादयस्ते तथा प्रियतमाः न भवन्ति ॥ ५२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

व्रजौकसां स्वतोकेषु इत्यादिना स्वपुत्रेभ्योऽपि सकाशात् परपुत्रेऽपि कृष्णे प्रेमाधिक्यं पूर्वं दर्शितं तत्र पृच्छति ब्रह्मन्निति, परोद्भवे नन्दपुत्रे कृष्णे स्वोद्भवेषु स्वपुत्रेष्वपि यः प्रेमा अभूतपूर्वः विरञ्चिमोहनात् पूर्वं न भूतः स कथं तत् कथ्यतां लोके खलु महागुणादपि परपुत्रात् स्वपुत्रेष्वल्पेष्वपि प्रेमाधिक्यं दृश्यते इति लोकविरुद्धत्वान्ममायं प्रश्न इति ॥ ४९ ॥ लोकप्रेमरीतिपरीक्षणेनैवायं सिद्धान्तो भवेदिति तावदाह सर्वेषामिति स्वात्मैव देहेन्द्रियाध्यक्षो जीववल्लभः प्रियः तस्य विज्ञानानन्दत्वादिति भावः । तस्मादितरेऽपत्यादयस्तु तद्वल्लभतया तदीयत्वेनैव प्रिया इत्यर्थः ॥ ५० ॥ तत्तस्माद्यथा स्वस्वकात्मनि विज्ञानानन्देऽहन्तास्पदे जीवात्मनि स्नेहस्तथा ममतास्पदेषु पुत्रादिषु तत्सम्बन्धिषु नास्ति पुत्रकलत्रयोः स्वतोल्पेपि देहादिपिहितत्वेन स्वरूपाप्रकाशात् स्वतोऽनधिकत्वाच्च न स्नेहो मुख्यः ॥ ५१ ॥ मतभेदेनाप्यात्मन एव प्रेमास्पदत्वं दर्शयति—देहात्मेति । गौरोऽहं स्थूलोऽहमिति प्रत्ययात् ये देहमेवात्मानं मन्यन्ते लोकायतिकास्तेषामात्मत्वेनाभिमतो देहो यथा प्रियतमस्तथा तं देहमनु ये पत्यादयो भवन्ति ते न तथा प्रिया इत्यात्मैव वल्लभ इति ॥ ५२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भ्रान्तमोहनिवृत्त्यर्थं सर्वसिद्धान्तमुपपाद्य स्नेहाश्रयविवेचनार्थं प्रक्रियान्तरमारभते, स्नेहः **स्वात्मनिष्ठः स चात्मा** भगवान् जीवो वा, सहजस्नेहो भगवति तत्सम्बन्धात् तदंशत्वादाहोस्वित् जीव एव ? तथा सति भगवति स्नेहः कथमित्याक्षिपते ब्रह्मन्निति, जीवस्य देहेन सम्बन्धस्ततः पुत्रादिषु ततो नन्दे ततो नन्दपुत्र इतिक्रमः, **परोद्भवे** स्वप्राणापेक्षयापि योधिकः **प्रेमा स कथं भवेत् स्वोद्भवेष्वपि स्तोकेषु योभूतपूर्वः** ? अतो सिद्धान्तः कथ्यताम् ॥ ४९ ॥ तत्र भगवति स्नेहमुपपादयति **सर्वेषामिति**, लोके तावत् सर्वेषां प्रेमविषय आत्मा देहः, **इतरेपत्यवित्ताद्यास्तस्य** देहस्य **वल्लभतया** प्रियतया, युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा परबालके परदेहे वा स्नेहः स्यात् ॥ ५० ॥ तत्रापि तारतम्यमित्याह तद् राजेन्द्रेति, देहाभिमानवतां **यथा स्वस्वकात्मनि** देहे स्नेहोहमभिमानविषयत्वान्न **तथा पुत्रवित्तादिषु ममताविषयत्वात्** ॥ ५१ ॥ नन्वत्र देहो वात्मा वा कः प्रियत्वेन सहजोभिनिर्दिष्टः आत्मा चेत् स न देहादतिरिक्तः प्रतीतः केनापि पामरेणातः प्रेम कथम् ? तत्र देहश्चेत् को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह **देहात्मवादिनामिति**, अस्ति देहव्यतिरिक्त आत्मा पामराणामपि मते, तथाप्यङ्गीकृत्याप्युच्यते देह एव **आत्मा** येषामपि **वादिनां, राजन्यसत्तमेति**सम्बोधनं स्नेहार्थं, **यथा देहः प्रियतमो न तथा पुत्रादयः** ॥ ५२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'व्रजौकसां स्वतोकेषु' इत्यादिना स्वपुत्रेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे यत् प्रेमाधिक्यमुक्तं, तत्र शङ्कमानः पृच्छति—ब्रह्मन्निति सम्बोधनं सर्वज्ञत्वसूचनाय । लोके ह्यतिगुणवत्तमादपि परपुत्रान् गुणहीनेऽपि स्वपुत्रे प्रेमाधिक्यं दृश्यते, व्रजवासिनां तु य स्वपुत्रेष्वपि पूर्वं नाभूत् स इयान् अत्युत्कटः प्रेमा परोद्भवे कृष्णे कथं भवेत् ? तत्रोपपत्तिः कथ्यताम् ॥ ४९ ॥ एवं पृष्टः शुकः "श्रीकृष्णस्य साक्षात् सर्वात्मकत्वात् आत्मनश्च निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वस्य लोकसिद्धत्वात् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इति श्रुतिसिद्धत्वाच्च, तस्मिन् आत्मीयेभ्यश्च पुत्रादिभ्यः प्रेमाधिक्यं युज्यते एव" इति सिद्धान्तयितुं प्रथमं तावत् 'आत्मनः स्वतःप्रेष्ठत्वमन्येषां तु तदुपाधिकं प्रेष्ठत्वम्' इति दर्शयति—सर्वेषामिति पञ्चभिः । 'सकलराजश्रेष्ठत्वेन विवेकित्वात्त्वयापि एतद्विचारणीयम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—नृपेति । सर्वेषामपि भूतानां प्राणिनां स्वात्मैव वल्लभः निरुपाधिकातिशयप्रीतिविषयः, तदितरेऽपत्यवित्ताद्यास्तु तद्वल्लभतयैव तस्यात्मनः सुखसाधनतयैव वल्लभाः, न स्वत इति । 'लोकसिद्ध एवायमर्थः' इति सूचयन्नाह—हीति ॥ ५० ॥ लोकप्रसिद्धिमेव स्पष्टयति—तदिति । तत् तस्मात् आत्मनो निरुपाधिकप्रेमास्पदत्वादेव हे राजेन्द्र ! प्राणिनां यथा स्वस्वकात्मनि अहङ्कारास्पदे

देहे स्नेहस्तथा ममतास्पदेषु पुत्रादिषु स्नेहो न भवति ॥ ५१ ॥ एवं सामान्यतः 'सर्वत्र दृश्यमानं प्रेमतारतम्यमात्माध्यासतारतम्य-निबन्धनमेव' इत्युक्तं, तदेव विशेषतः स्पष्टयति—देहात्मवादिनामिति द्वाभ्याम्। 'तव तु देहाद्विविक्तात्मज्ञानमस्ति' इत्याशयेन सम्बोधयति—राजन्यसत्तमेति। 'देह एव आत्मा' इति वदितुं शीलं येषां तेषामपि यथा देहः प्रियतमस्तथा तं देहमनु ये गृहापत्या-दयस्ते प्रियतमा न भवन्ति। 'हि' इति सन्देहनिरासाय ॥ ५२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

व्रजौकसां स्वतोकेषु इत्यादिना स्वपुत्रेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे स्नेहाधिक्यमुक्तं तत्पृच्छति—ब्रह्मन्निति ॥ हे ब्रह्मन्! यः प्रेमा स्वोद्भवेषु तोकेषु स्वस्वपुत्रेष्वपि अभूतपूर्वः ब्रह्ममोहनात्पूर्वं नाभूत्। स इयान् अत्युत्कटः प्रेमा परोद्भवे कृष्णे श्रीदामादि-रूपे कथं भवेत् तत्रोपपत्तिः कथ्यताम्। लोके गुणवत्तमादपि परपुत्रादतिनिर्गुणेऽपि स्वपुत्रे स्नेहदर्शनादिदं लोकविरुद्धम् ॥ ४९ ॥ आत्मीयेभ्योऽप्यात्मनि स्नेहोऽधिको भवति कृष्णश्च साक्षादात्माऽतस्तत्र स्नेहाधिक्यमिति प्रकरणेनोत्तरयति सर्वेषामिति ॥ हे नृप! सर्वेषामपि भूतानां प्राणिनां स्वात्मैव वल्लभः निरुपाधिकातिशयप्रीतिविषयः तदितरेऽपत्यवित्ताद्यास्तु तद्वल्लभतयैव तस्यात्मनः सुखसाधनतयैव वल्लभा न स्वत इति ॥ ५० ॥ तदिति ॥ हे राजेन्द्र! तत्तस्मात् देहिनां प्राणिनां यथा निरुपाधिकः स्वस्वकात्मनि अहङ्कारास्पदे स्नेहस्तथा ममतालम्बिषु ममेदमिति ममकारास्पदेषु पुत्रवित्तगृहादिषु स्नेहो न भवति ॥ ५१ ॥ अध्यासतारतम्येन प्रेमतारतम्यं दर्शयति—देहेति ॥ हे राजन्येषु सत्तम! देह एवात्मेति वदितुं शीलं येषां तेषामपि यथा देहः प्रियतमस्तथा तं देहमनु ये गृहापत्यादयस्ते प्रियतमा न भवन्ति ॥ ५२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथेदानीं "व्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याब्दमन्वहम्। शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत्' इत्यादिना स्व-तोकेभ्योऽपि परपुत्रे कृष्णे प्रेमाधिक्यमुक्तं तत्र पृच्छति राजा ॥ ब्रह्मन्निति ॥ हे ब्रह्मन्, परोद्भवे कृष्णे, इयान् प्रेमा, कथं भवेत्। यः प्रेमा, स्वद्भवेष्वपि, तोकेषु, अभूतपूर्वः पूर्वं न भूतः, सः प्रेमा, अस्मिन् कथं, एतत् कथ्यताम्। न हि ते एनं पुरुषोत्तमं जानन्ति, येन तत्र तथा भावः स्यात्ततोऽयं प्रश्नसंभवः। श्लोका न वेत आरभ्य क्षेपकाः सन्त्यथापि ते व्याख्यायन्ते स्वबोधाय संप्रदा-यानुसारतः ॥ ४९ ॥ 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या पुत्रा-दिषु यः प्रेमा स यत्संकल्पायत्तस्तस्मिन्नेव साक्षात् पुत्रतामापन्ने सति तत्र युक्तमेव प्रेमाधिक्यमित्युत्तरमाह ॥ सर्वेषामिति ॥ हे नृप, सर्वेषां अपि, भूतानां, स्वात्मा जीवान्तरात्मतयावस्थितः पुरुषोत्तमः एव, वल्लभः निरतिशयप्रियः, इतरे अपत्यवित्ताद्याः जीवपर्यन्ता देहतदनुबन्धिनोऽर्भकधनाद्यास्तु, तद्वल्लभतयैव परमात्मनो निरतिशयप्रियत्वेनैव हेतुना, प्रियाः भवन्ति हि ॥ ५० ॥ तदिति ॥ तत्तस्मात्, हे राजेन्द्र, देहिनां निरतिशयप्रेमास्पदस्वरूपपरमात्मसंकल्पायत्तप्रीतियुक्तानां शरीरिपर्यायजीवानां, स्वस्व-कात्मनि, यथा स्नेहः, तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु, न। अयं भावः। साक्षान्निरतिशयप्रियस्वरूपपरमात्मासन्नसबन्धादात्मनि या प्रीतिर्न सा देहे, कुतः। प्रेमास्पदपरमात्मनो देहस्य च जीवेन व्यवहितत्वात्। या च देहे प्रीतिर्न सा पुत्रे, देहात्मभ्यां व्यवधा-नाद्या च पुत्रे न सा वित्ते, या च वित्ते न सा गृहादिष्विति ॥ ५१ ॥ इदं च देहात्माभिमानानभिमानितया मूढा मूढानां साधारणं सिद्धमित्याह ॥ देहात्मवादिनामिति ॥ हे राजन्यसत्तम, देहात्मवादिनां पुंसां अपिशब्दाद्देहमात्मानमवाद्दिनामपि, यथा देहः, प्रिय-तमोऽतिशयेन प्रियः, तथा च तथैव, तं देहं अनु, ये देहानुबन्धिनस्ते इत्यर्थः। न हि। किं तु तारतम्येन प्रिया इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सर्वेषामिति : १०.१४.५०.

आत्मप्रीत्यै प्रियं सर्वमिति ते जानतः श्रुतिम्। कृष्णं च परमात्मानं क प्रश्नः किमुवोत्तरम् ॥ ५१ ॥

कृष्णप्रिया

परीक्षितजी ने पूछा—भगवन्? यह बात बताइए कि आज पर्यन्त इन व्रजवासियों का निजी बालकों में भी जो प्रेम नहीं देखने में आया आज उस प्रेम से भी अधिक स्नेह श्रीनन्दराय जी के कुमार में कैसे हुआ ? ॥ ४९ ॥ श्रीशुकाचार्यजी ने कहा—राजन्! प्राणिमात्र को अपनी आत्मा देह ही अधिक प्रिय होती है। और जो पुत्र पुत्री धन आदि पर जो प्रेम होता है वह इसलिये कि सबको अपनी देह प्रिय होती है और ये सब देह की प्रियता के कारण प्रिय है ॥ ५० ॥ राजन्! आप जानते हैं कि देह धारी जनों में से प्रत्येक व्यक्ति को जैसी अपनी देह प्रिय लगती है उतनी प्रियता ममता के पात्र विषय पुत्र पौत्र धन आदि के लिये नहीं होती ॥ ५१ ॥ राजन्! देह ही आत्मा है ऐसे मतावलम्बी को अपनी देह जैसे अधिक प्रिय होती है वैसे उस देह के पीछे पीछे चलने वाले उनके अपत्य पौत्र वित्तादि प्रियतम नहीं होते ॥ ५२ ॥

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः । यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिन् जीविताशा बलीयसी ॥ ५३ ॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥ ५४ ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् । जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च । भगवद्रूपमपरं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥ ५६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः - देहः अपि ममताभाक् चेत् तर्हि असौ आत्मवत् प्रियः न यत् अस्मिन् देहे जीर्यति अपि बलीयसी जीविताशा न जीर्यति ॥ ५३ ॥ तस्मात् सर्वेषां अपि देहिनां स्वात्मा प्रियतमः एतत् सकलं चराचरं जगत् तदर्थमेव ॥ ५४ ॥ त्वं अखिलात्मनां एनं कृष्णं एव आत्मानं अवेहि सः अपि अत्र जगत् हिताय मायया देही इव आभाति ॥ ५५ ॥ वस्तुतः अत्र स्थास्नु च चरिष्णु भगवद्रूपं कृष्णं जानतां अन्यत् अपरं किञ्चन वस्तु इह न ॥ ५६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यद्यस्माज्जीर्यत्यप्यासन्नमरणेऽपि जीविताशा भवति । अयं भावः । न जीविष्यतीति निश्चितेऽपि देहे यत्प्रेमास्पदत्वं तदात्मगतमेव न तु देवगतं तस्य मरणोन्मुखत्वात् बीभत्सत्वाच्च । अथ वा तद्यस्मिन्देहे जीर्यत्यपि जीविताशा अविवेकदशायां बलीयस्यासीत्सा तु विवेकिनो यदा ममतामाग्भवति तदात्मवत्प्रियो न भवत्यतस्तत्र नातीवास्थेति ॥ ५३ ॥ तदर्थमेव सकलं प्रियमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ प्रस्तुतमाह । कृष्णमेनमिति ॥ ५५ ॥ न केवलमात्मनामात्माऽपि नु जडानामपीत्याह । वस्तुत इति । सर्वजगत्कारणमिति । कृष्णं जानतां पुंसां स्थावरं जंगमं च सर्वं भवगद्रूपं भगवानेव स्वरूपं यस्य तन्नान्यत् ॥ ५६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अज्ञवृत्तमुक्त्वा ज्ञवृत्तमाह—अयं भाव इति । न हि विवेकिनो देहाद्यसज्जडेऽध्यासो भवति चिन्निष्ठत्वात्तस्येति तात्पर्यम् । ननु विवेकदशातः प्राक् तु तेषामपि देहाध्यासोऽस्त्येवेति चेत्तत्राह—अथ वेति । सोऽपि ममताश्रयो देहोऽपि । तदा ममत्वसमयेपि प्रियो न, विनाशित्वनिश्चयात् । अतो विनाशित्वादेव । तत्र देहे । नातीवास्था नात्यन्तं स्नेह इत्यर्थः । ममेति देहं मन्यमानानामविवेकिनां मतमालम्ब्याह—देहोपीति । तैर्व्याख्यातम् । तत्र प्रथमपक्षे अपीति सम्भावनायां पुत्राद्यपेक्षया समुच्चये वा, द्वितीयपक्षेऽविवेकदशायामिति बलीयसीति विशेषणेनाक्षिप्यते, एतत्प्रतियोगितया विवेकिन इत्यपि । असौ देहोपीत्यनयोरन्वितयोरर्थं व्याचष्टे-सोपीति । नातीवास्था इति—म्रियतां जीवतु वेत्यपेक्षाधिक्यं नास्तीत्यर्थः । इदं नात्मवत्प्रिय इत्यस्य व्याख्यानमिति । यद्वा—आत्मवत्पूर्वमविवेकेनात्मतया गृहीतोऽहन्ताविषयो देहस्तद्वत्प्रियो न भवतीत्यर्थः । यद्यस्माज्जीर्यति रोगादिनाभिभूते ममतास्पदेऽस्मिन्देहविषये जीविताशा अयं देहश्चिरं तिष्ठत्विति वाञ्छापि अवलीयसी पूर्वापेक्षया स्वल्पापि भवति, विवेकतोऽस्मिन्नात्मतागमेनातिप्रियत्वाभावात् । विश्वनाथस्तु—देहात्मवादिनां तेषामपि कदाचिदीषद्विवेके सति आत्मैव प्रियः स्यान्न तथा देह इत्याह—देहोपि । अहंतास्पदीभूतोऽपि देह ईषद्विवेकेन यदि ममताभाक् स्यात्तदाऽसौ देह आत्मवत्प्रियो न भवेत् किन्त्वात्मानुरोधेनैव प्रियः स्यादित्यर्थः । तत्र लोकानुभवमेव प्रमाणयति—यदिति । सर्वत्र देहत्यागे आत्मनोऽतिकष्टं दृष्ट्वा तदतिकष्टं ममात्मनो मा भवत्विति बुद्ध्यैव आत्मन्यतिस्नेहादेव देहे जीविताशाधिका भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ यत आत्मनोऽन्यः कोऽपि न प्रियतमस्तस्मात् । स्वात्मा प्रियतमो निरुपाधिप्रेमास्पदः, प्रज्वलति गृहे स्थितं पुत्रादिकमानेतुं प्रवेशादर्शनादिति भावः । तदर्थम् स्वात्मार्थम् । इत्यर्थ इति । पूर्वोदाहृतश्रुतेरिति भावः । तस्मादिति । चरं पुत्रकलत्रादि, अचरं गृहघटादि, तेन लोकदृष्ट्या पुत्रादिभ्यः सकाशादात्मन एवात्यंतिकप्रीतिविषयत्वं प्रतिपादितम् ॥ ५४ ॥ यदर्थमेतदुक्तं तदाह—अखिलात्मनां सर्वजीवानाम् । ननु सर्वान्तर्यामिणोऽदृश्यत्वात्कथं देहिरूपेण प्रतीतिस्तत्राह—मायया कृपया । तत्र हेतुः—जगतां निजदर्शनश्रवणवताम् । हिताय बंधनिवृत्तये । निर्गुणरूपस्य ज्ञातुमशक्यत्वाद्भक्तकृपया सगुणविग्रहमाविश्चकारेतिभावः । विवक्षितं सिद्धान्तं प्रतिपादयंस्तत्त्वदृष्ट्या तस्याप्यात्मत्वेनापेक्षिकप्रीतिविषयत्वमेव, आत्यंतिकप्रीतिविषयत्वं तु केवलं श्रीकृष्णस्यैवेत्याह—कृष्णमिति । अखिलानामात्मनां जीवानामप्यात्मानं परमात्मानमेव कृष्णमवेहि, तेन पुत्रादिषु प्रीतिर्यथा देहानुरोधेन देहे च प्रीतिर्यथात्मानुरोधेन तथैवात्मन्यपि प्रीतिः परमात्मानुरोधेन । स च परमात्मा कृष्ण एव मूर्तः पूर्ण एव । यदुक्तम्—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्यतः कृष्णस्यैवात्यंतिकप्रीतिविषयत्वात्तत्रैव प्रीतेः परा काष्ठेति स्वपुत्रेभ्योऽपि तत्र यत्प्रेमाधिक्यं तदुपपादितम् । किञ्च, जीवानां भक्त्यभावान्मायया ज्ञानावरणाच्च भक्त्यैकप्राकाश्ये तस्मिस्ताहशत्वेनानुभवो मायिकजीवानामभक्तानां कथमस्त्वित्यतः पुत्रादिष्वेव लोकानां प्रीतिविषयत्वेनानुभवो न तस्मिन् । व्रजवासिनां तु मायातीतत्वाद्भक्तिपूर्णत्वाच्च यथार्थत एवानुभव इत्यतस्तेषां स्वपुत्रादिभ्योऽपि तस्मिन्

१. जन्मिनां—वीर. । २. मखिलं—श्रीधर. वंशी. सुदर्शन. विज. सनातन. जीव. शुक. ; मपरं—वीर. ।

प्रेमाधिक्यं स्वाभाविकं वर्तत एवेति समाधेयम् । जगद्धितायावतीर्णः स कृष्णोऽपि मायया देहीवाभाति स्वाविद्यया मूढैर्जीव इव भौतिकदेहवान्प्रतीयते इत्यर्थः । यद्वा—माययैव यो देहस्तद्वानिव मायोपाधिरिव प्रतीयते न तु स मायोपाधिरित्यर्थः । अत एव मधुसूदनसरस्वतीपादैरपि "सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा नहि मानमेति, चिदानदाकारं जलदरुचिसारं श्रुतिगिरां व्रजस्त्रीणां हारम्" इत्यादि बहुशो वर्णितम् । यद्वा—ननु परमात्मा खल्विन्द्रियग्राह्यो न भवेत् कृष्णश्च सर्वैर्दृश्यत एवेति तत्राह—जगत एव हिताय मायया निर्हेतुकाचित्यया कृपया सोऽपि अत्र जगज्जनेन्द्रियेषु देहीवाभाति स्वयमेव तद्ग्राह्यत्वेन प्रकाशत इति अतर्क्यतदिच्छया तद्गृहीतैरिन्द्रियैरेव स गृह्यते न पुनरिन्द्रियैः स्वयमेव शब्दादिरिव ग्रहीतुं शक्य इति भावः । अत एव भागवतामृतधृतं नारायणाध्यात्मवचनम् । "नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यत निजशक्तितः । नामृते परमानन्दं कः पश्येतामितं प्रभुम् ॥" इति तत्रत्या कारिका च । ततः स्वयं प्रकाशत्वशक्त्या स्वेच्छाप्रकाशया "सोऽभिव्यक्तो भवेन्नेत्रे न नेत्रविषयत्वतः" इति। अत्र हितमन्यदेशीयानामनुकूलजनानां स्वकृपादृष्टिदानेनैव स्वमाधुर्यग्राहणम्, प्रतिकूलानां कंसाद्यसुराणां तु पित्तदूषितरसनया मत्स्यंडिकाभोजनमिव प्राकृतैरेवेंद्रियैस्तन्माधुर्यग्रहणरहितमेव दर्शनं ध्यानावेशसिद्ध्यर्थम् । आवेशफलञ्च सर्वापराधोपशमनपूर्वको मोक्षः, स एव तेषां हितम् । किञ्च, व्रजस्थानामैश्वर्यज्ञानशून्यानामन्येषामनुकूलप्रतिकूलानामपि स देहीवाभाति । तदपि "देहदेहिविभागोऽत्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्" इति मध्वाचार्यधृतमहावाराहवचनादेव । शास्त्रज्ञैर्देहीति वक्तुमयोग्यत्वादिवशब्दप्रयोगः। तोषिणी तु—माययेति आत्मारामाणां तत्प्रियजनानाञ्चात्माधिकनिरुपाधिपरमप्रेमास्पदसर्वांशत्वेन तद्व्यतिरिक्तवस्तुसंभेदाभावादिति भावः । निरुपाधिपरमप्रेमास्पदत्व खल्वात्मत्वमानन्दत्वं चेति । अत एव श्रीमध्वाचार्यधृतमिति पूर्ववत् । तदेवमसुरादीनां मायावरणान्न तथा भाति "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति भगवद्गीतोक्तेश्च । तत्र योगमायादुर्घटनाकारि किमपि मम बुद्धिसौष्ठवमिति । श्रीस्वामिचरणाश्च तत्प्रियजनानां तत्प्रेमभावितान्तःकरणे क्षीरे सितोत्पलवदेकजातीयत्वेन प्रेमास्पदतास्वभावोऽसौ स्वमाधुरीभिरधिकमाभाति । अन्यत्र यथोचितमिति स्थिते सर्वातिशयितप्रेमस्वभावानां श्रीव्रजवासिनां किमुतेति भावः ॥ ५५॥ ननु केवलात्माऽऽत्मत्वे तु सर्वव्यापिता नश्येदिति चेत्तत्राह—न केवलमिति । वस्तुतो याथात्म्येन । अत्र लोके । अन्यत् कृष्णेतरत्। न केवलं सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामेव परमस्वरूपमपि तु अन्ते सर्वेषां जडानामादौ सर्वेषां साक्षात्तद्रूपाणां चेति वक्तुं तस्य भूमत्वमाह—वस्तुत इति । वस्तुतः तत्त्वतः । कृष्णमत्र जगति जानतां विचारयतां तद्विचारज्ञानामित्यर्थः । सत् स्थावरजङ्गमरूपमखिलं यच्च भगवतो रूपं नारायणाद्यभिधमखिलं तत्तत्सर्वमिह श्रीकृष्ण एव तत्तदन्तर्भूतत्वेनैव स्फुरतीत्यर्थः । नान्यत्किञ्चन, यत्तत्र नास्ति तन्नास्त्येवेत्यर्थः । कारणांशिनोर्विज्ञानेन कार्यांशयोर्विज्ञानात्, तद्व्यतिरेकेण तद्व्यतिरेकाच्च । महासमुद्रस्य सागरतरंगफेनादिवत्। सूर्यान्तरीणमण्डलात्मकस्य बहिर्मण्डलकिरणपरमाणुगणमरीचिकादिवदिति ज्ञेयम् । तदुक्तं द्वितीये—"सोऽयं तेऽभिहितस्तात भगवान्विश्वभावनः । समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥" इति । विश्वनाथस्तु—किञ्चापेक्षिकप्रेमास्पदानि ये चात्मदेहपुत्राद्यास्तेपि विचारवतः स एवेत्यापेक्षिकप्रेमास्पदत्वमपि तस्यैवेत्याह—वस्तुत इति । वस्तुतस्त्वित्यर्थः । कृष्णं जानतां पुंसां मते स्थावरजङ्गमञ्च सर्वं तद्रूपमेव तस्यैव सर्वकारणत्वात्, कारणस्यैव कार्याकारत्वादिति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ममेति देहं मन्यमानानामविवेकिनां मतमालम्ब्याह—देहोऽपीति, तैर्व्याख्यातम् । तत्र प्रथमपक्षे अपीति सम्भावनायां पुत्राद्यपेक्षया समुच्चये वा द्वितीयपक्षे अविवेकदशायामिति बलीयसीति विशेषणेनाक्षिप्यते एतत्प्रतियोगितया विवेकिन इत्यपि असौ देहोऽपीत्यनयोरन्वितयोरर्थं व्याचष्टे—सोऽपीति, नातीवास्थेति म्रियतां जीवतु वेत्यपेक्षाधिक्यान्नास्तीत्यर्थः । इदं नात्मवत्प्रिय इत्यस्य व्याख्यानमिति । यद्वा, आत्मवत्पूर्वमविवेकेनात्मतया गृहीतोऽहन्तविषयो यो देहस्तद्वत् प्रियो न भवतीत्यर्थः । यद्यस्माज्जीर्यति रोगादिनाऽभिभूतेऽस्मिन् ममतास्पदे देहविषये जीविताशा अयं देहस्तिष्ठत्विति वाञ्छापि अबलीयसी पूर्वापेक्षया स्वल्पापि भवति विवेकतोऽस्मिन्नात्मतापगमेनातिप्रियत्वाभावात् ॥ ५३ ॥ चरं देहापत्यादि अचरं गेहादि तदात्मकमेतज्जगच्चापि सकलमपि यत्किञ्चिदित्यर्थः । एतेनात्मनः सुखस्वरूपत्वञ्च बोधितम् ॥ ५४ ॥ एवं देहद्वयातिरिक्तस्य शुद्धस्यात्मनः स्वतः प्रियत्वमुक्त्वा विवक्षितमाह—कृष्णमिति—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः" "तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते"

इत्येतल्लक्षणत्वेन तन्नामानमेनं श्रीयशोदानन्दनरूपम् अखिलानामात्मानं सूर्य्यमण्डलस्थानीयस्य तस्य रश्मिपरमाणुस्थानीयानां शुद्धानामपि क्षेत्रज्ञानां परमस्वरूपत्वेन परमात्मानमवेहि तर्हि कथं लोके दृश्यतया भाति तत्राह—जगद्धितायेति । सोऽपि सर्वात्मपरमस्वरूपरूपोऽपि परमकल्याणगुणत्वेन परमकारुणिकत्वात् स्वभक्तप्रसङ्गेन जगतोऽपि हितायाऽत्र जगति भाति कल्पे कल्पे स्वरूपशक्त्या प्रकाशते । ननु, यदि तादृश एव कृष्णस्तर्हि कथं देहात्मविभागादिना तद्विरुद्धधर्म इवाभाति तत्राह—माययेति। आत्मारामाणां तत्प्रियजनानाञ्चात्माधिकनिरुपाधिपरप्रेमास्पदसर्वांशत्वेन तद्व्यतिरिक्तवस्तुसम्भेदाभावादिति भावः । निरुपाधिपरमप्रेमास्पदत्वञ्खल्वात्मत्वमानन्दत्वञ्चेति अत एव श्रीमध्वाचार्यधृतं महावाराहवचनं "देहदेहिविभागोऽत्र नेश्वरे विद्यते

क्वचित्" इति तदेवमसुरादीनां मायावरणान्न तथा भाति "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इति श्रीभगवद्गीतासु च तत्र योगमायादुर्घटघटनाकारि किमपि मम बुद्धिसौष्ठवमिति श्रीस्वामिचरणाश्च तत्प्रियजनानान्तु तत्प्रेमभावितान्तःकरणे क्षीरे सितोत्पलवदेकजातीयत्वेन प्रेमास्पदतास्वभावोऽसौ स्वमाधुरीभिरधिकमाभाति अन्यत्र तु यथोचितमिति स्थिते सर्वातिशयि तत्प्रेमस्वभावानां श्रीव्रजवासिनां किमुतेति भावः ॥ ५५ ॥ न केवलं सर्वेषां क्षेत्रज्ञानामेव परमं स्वरूपम् अपि तु अन्ते सर्वेषाञ्जडानाम् आदौ सर्वेषां साक्षात्तद्रूपाणां चेति वक्तुन्तस्य भूमत्वमाह—वस्तुत इति । वस्तुतस्तत्त्वतः कृष्णमत्र जगति जानतां विचारयतां तद्विचारज्ञानाम् इत्यर्थः । यत्स्थावरजङ्गमरूपमखिलं यच्च भगवतो रूपं नारायणाद्यभिधमखिलं तत्तत्सर्वम् इह श्रीकृष्णे एव तदन्तर्भूतत्वेनैव स्फुरतीत्यर्थः । नान्यत्किञ्चन यत्तत्र नास्ति तन्नास्त्येवेत्यर्थः । कारणांशिनोः विज्ञानेन कार्यांशयोर्विज्ञानात् तद्व्यतिरेकेण तद्व्यतिरेकाच्च महासमुद्रस्य सागरतरङ्गफेनादिवत् सूर्यस्यान्तरीणमण्डलात्मकस्य वहिर्मण्डलकिरणपरमाणुगणमरीचिकादिवदिति ज्ञेयन्तदुक्तं द्वितीये—

"सोयन्तेऽभिहितस्तात ! भगवान् विश्वभावनः । समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात् सदसच्च यत्" ॥ इति ॥ ५६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ममेति देहं मन्यमानानां विवेकिनां मतमालम्ब्याह—देहोपीति । तैर्व्याख्यातं तत्र नातीवास्थेति म्रियतां जीवतु वेत्यपेक्षाऽधिकं नास्तीत्यर्थं इति । यद्वा, आत्मवत् पूर्वमविवेकेनात्मतया गृहीतोऽहन्ताविषयो यो देहस्तद्वन्न प्रियो भवतीत्यर्थः । यद्यस्मात् जीर्य्यति रोगादिनाभिभूतेऽस्मिन् ममतास्पदे देहे विषये जीविताशा अयं देहस्तिष्ठत्विति वाञ्छापि अवलीयसी पूर्वापेक्षया स्वल्पैव भवति विवेकतोऽस्मिन्नात्मत्वाभिमानापगमेनातिप्रियत्वाभावात् ॥ ५३ ॥ चरं देहापत्यादि अचरं गेहादि तदात्मकमेतत् जगत्प्रपञ्चञ्च अपि सकलमपि । यद्वा, सकलं देहदैहिकं जगच्च चराचरद्रव्याणां यज्ञादिसाधनतया तत्तत्फलोपभोगेन च क्रमशः सर्वस्याप्यात्मारमत्वात् अन्यत्तैर्व्याख्यातम् यद्वा, तदर्थं तत् सुखार्थं तत् सुखार्थमेवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥ अखिलानामात्मनां क्षेत्रज्ञानामात्मानम् अन्तर्यामित्वात् परमात्मानमित्यर्थः । एवं श्रीयशोदानन्दनं सोऽपि ईदृशोऽपि अत्रावतीर्णः लोके वा देहीव यथाऽन्यो जनस्तद्वदाभाति ईषत्प्रकाशते तच्च मायया तस्य तत्त्वाज्ञानेनैव लौकिकत्वेऽपि सर्वत्रैवालौकिकत्वात् तच्चादावुक्तमेव ईषदिति तत्त्वतः प्रायः परमैश्वर्य्यप्रकटनाभिप्रायेण । यद्वा, मायया कृपया देही जीव इव सन् आ सम्यक् भाति राजते उक्तयुक्त्या प्रियत्वेन साधितानामखिलात्मनामेवात्मानं जगद्धिताय कृष्णमवेहि जगतां दुःखध्वंसाय परमानन्दप्राप्तये च कृष्णस्वरूपेणावतीर्णमवेहीत्यर्थः । ननु, कृष्णे स्नेहः परमात्मतयोपाधिरिति चेदुच्यते तर्हि असुराणामपि वस्तुतस्तथात्वात्तेषां स्नेहः कथं नोत्पद्यते तत्राह— सोऽपीति । सोऽपि देहदेहिविभागरहितोऽपि अत्र एषु दृष्टेष्वसुरादिषु मायया तदायस्वाभाविकप्रेमास्पदत्वाद्वाऽऽवरणशक्त्या देहीव प्राकृतशरीरीव आभाति तथाचोक्तं महावाराहे "देहदेहिविभागोऽत्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्" इति । अयं भावः आवरणभावादेव तत्प्रियत्वानुभावः स्यात् मल्लोके परमोत्कटदोषावृता आत्मानमपि व्यापादयन्तो दृश्यन्ते तदावरणं तु भक्त्यैव सम्यगपयाति तेन भक्तितारतम्येनैव प्रेमतारतम्यम् अतो व्रजवासिनां सर्वातिशायिभजनविशेषात् कृष्णे प्रेमाधिक्यमेवेति ॥ ५५ ॥ भगवान् रूप्यते परमकारणतया साक्षादनुभूयते यस्मिन् तथाभूतमखिलं भवति न चान्यदन्यप्रकारकं स्यादित्यर्थः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, तादृशत्वज्ञानस्य फलमाह—वस्तु इति । अखिलात्मनामात्मेति कृष्णं जानतां भगवतो रूपमधिष्ठानं सर्वत्रैव भगवानयं निवसतीति परिस्फुरतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

एवं सामान्यतः विशेषतः आत्मनः प्रेमविषयीभूतं देहं प्रतिपाद्य आत्माऽज्ञानवतां च देहस्यैवाऽऽत्मत्वेन प्रीत्यास्पदत्वमुक्त्वा इदानीं देहविलक्षणात्मज्ञानवतां प्रीतिवृत्तिं विवेचयति—देहोऽपीति । येषां देहोऽपि ममताभाक् इति मतं भवेत् चेद्यदि तर्हि तदाऽसौ देहः आत्मवत्प्रियः कुतस्तेषां आत्माऽनुभवस्य प्रीतिविषयत्वात् तस्य च देहनाशे सति विनाशात् अदर्शनाद्यतः तेषामस्मिन् देहे जीर्यति सति अपि सम्भावनायां जीविताशा बलीयसी भवति औषधादिकरणेन व्याध्यादिनिवारणेन योगेन वा आसनादिभिः धारणाभेदैश्च देहस्य नीरोगीकरणेनात्माऽनुभवस्यैव तेषां प्रियत्वमिति भावः ॥ ५३ ॥ एवमेव परमात्मप्रीतिमतां प्रपन्नानाम् भक्तानां च भगवत्प्रीतिमेवाह - द्वाभ्याम्, तस्मात्सर्वेषामपि देहस्याऽपि आत्मविशेष्यकत्वेनैव प्रियत्वमतः स्वात्मा स्वस्य जीवस्य आत्मा परमात्मा एव, देहिनां देहविशिष्टजीवानां प्रियतम इत्यस्माभिः आत्मज्ञैर्निर्णीयते अत एतच्चराचरं जगत् तदर्थं आत्मार्थं आत्मा परमात्मा तच्छेषभूतमित्यर्थः ॥ ५४ ॥ एतदेव विशदयति-कृष्णमेनमिति । एनं कृष्ण सदानन्दस्वरूपरूपं परं ब्रह्म श्रीनारायणाख्यम् अखिलात्मनां सर्वावस्थबद्धमुक्तनित्यजीवानाम् आत्मानं शरीरिणं शेषिणमाधारम् अवेहि सोऽपि तादृशस्वरूपरूपगुणविभूतिमानपि अत्र श्रीवृन्दावनभूमौ जगद्धिताय चेतनाचेतनकल्याणाय मायया स्वसङ्कल्पेन वर्त्तमानोऽपि "माया वयुनं ज्ञानम्" इति नैघण्टुकाः देहीव भौतिकदेहधारीवाज्ञानां भाति ॥ ५५ ॥ एवं वैशिष्ट्यं भगवदज्ञानवतां चिदचिदन्यत्त्व प्रतिपादयति—कारणत्वप्रतिपादनेन परिणामं च वारयति, भगवत इति । श्रीकृष्णं वस्तुतः स्वात्मात्मत्वेन स्थास्नु चरिष्णु च चेतना-

चेतनम् अखिलं सर्वं भगवद्रूपं श्रीभगवतः श्रीकृष्णस्य रूपं शरीरम् इति च जानतां तदन्यद्वस्तु किञ्चनाऽपि नहि "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (२।१।१५) इति सूत्रे चिदचिद्वस्तुनोः शरीरशरीरिभावेन परमात्मानन्यत्वप्रतिपादनात् स्वरूपपरिणामानभ्युपगमात् श्रुतिपुराणेषु सहस्रशः साङ्कल्पिकप्रवेशस्यैव घोषितत्वाच्च ।। ५६ ।।

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

विवेकिष्वेतावान्विशेष इत्याह – देहोऽपीति । ममताभाक् येषां देहोऽपि ममताविषयः न त्वहन्ताविषय इति भावः। तर्हि तेषामसौ ममताभाग्देहः नात्मवत्प्रियः किन्तु ततः किञ्चिदूनप्रिय इत्यर्थः। ननु, विवेकिनो देहे सुतरां प्रीत्यभावः किं न स्यात्तत्राह –यद्यस्माद्देहे जीर्यत्यपि विपत्तुमुद्युक्तवत्यपि जीविताशा बलीयसी न जीर्णतां याति किन्तु बलीयस्येवावतिष्ठतेऽतः किञ्चिदूनप्रिय इति भावः ।। ५३ ।। अस्तु प्रकृते किमायातं तत्राह तस्मादिति । तस्माल्लोकपरिपाटेरेवंविधत्वाज्जन्मिनां जननवतां देहभृतामित्यर्थः । प्रियतमः कृष्ण इति शेषः । तत्र हेतुः स्वात्मा स्वेषां जीवानामन्तरात्माऽत एतच्चराचरात्मकं जगत्सर्वं तदर्थमेव प्रियं तदिष्टसम्पत्तये एव प्रियम् इत्यर्थः। "आत्मनस्तु कामाय" इति श्रुत्यनुसारेणायं निर्देशः अर्थशब्दः प्रयोजनवाची प्रयोजनं चेष्टसम्पत्तिः तदिष्टसम्पत्तय एव प्रियमिति यावत् "न वा अरे" इति श्रुतेस्त्वयमर्थः पतिपुत्रादीनां कामाय कामसिद्ध्यै तदभीष्टसिद्ध्यै भार्या पित्रादीन् प्रति पतिपुत्रादीनामभीष्टसिद्धयर्थं न पतिपुत्रादयः प्रिया भवन्ति, अपि त्वात्मनः तत्तत्पुत्रादिनिमित्तभोगप्रदातुः परमपुरुषस्यैव सङ्कल्पात्तेषां पतिपुत्रादीनां भार्यापुत्रादीन् प्रियत्वं भगवत्सङ्कल्पायत्तम् अस्या भार्याया अयं पतिः प्रियोऽस्य पितुरयं पुत्रः प्रियः स्यादित्येवं भगवता सङ्कल्पिते सति तत्तत्प्रियं भवतीति एवं च स्वस्य निरतिशयप्रियरूपत्वाभावे सतोरेषां प्रियावहत्वासम्भवात्तस्य तत्त्वं कैमुत्यनयसिद्धम् (प्रेमास्पदत्वं प्रियतमत्वं पवित्रीकरणत्वं नित्यहीनमङ्गलसुखदायित्वं तत्त्वञ्च सर्वमङ्गलं च श्रीकृष्णकमल एव नान्यत्रात्रत्यदेहकलत्रपुत्रमित्रधनाद्यादौ चेति दिक्) ।। ५४ ।। कृष्णे परमात्मत्वसंशयं निराकरोति-कृष्णमिति । एनं कृष्णम् अखिलात्मनामात्मानमवेहि जानीहि यद्यखिलात्मनामात्मा तर्हि किमर्थं मानुषतामापन्नस्तत्राह—मायया आत्मीयसङ्कल्पेनात्र लोके गोपादिषु देहीव कर्मायत्तदेहभृदिवाभात्यविवेकिनामिति भावः ।। ५५ ।। तदेव विशदयति वस्तुत इति। स्थावरजङ्गमात्मकं कृत्स्नं जगद्भगवतः शरीरमन्यत्तत्पृथक्सिद्धं वस्तु किञ्चिदपि न विद्यत इत्येवं वस्तुतो जानतां देहीवाभातीत्यन्वयः । एवं जानतां तु देवमनुष्यादिविजातीयत्वेनैव सर्वशरीकत्वेनैव च भातीत्यर्थः ।। ५६ ।।

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

देहोऽपि ममेदं शरीरमिति ममताभाक् ममतास्पदस्तर्हि असौ देहो नात्मवत् प्रियो भवति, कुतः ? यत् यस्मात् अस्मिन् देहे जीर्यत्यपि विशीर्यमाणेऽपि जीविताशा बलीयसी "आयुराशास्ते" इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण जीविताशा बलीयसी उत्कटा भवति ममेदं शरीरं कियत्कालं स्थायि स्यादिति सर्वस्याभिलाषा जायते इति प्रसिद्धमित्यर्थः ।। ५३ ।। तस्मात् स्वात्मैव प्रियतम इत्युपसंहरन्नाह–तस्मादिति । तस्मात् कारणात्सर्वेषामपि देहिनां जीवात्मनां प्रियतमः स्वात्मैव परमात्मैव कुतः ? एतच्चराचरं जगत्तदर्थमेव हेतुगर्भितमिदं तदर्थत्वात्सर्वस्येत्यर्थः ।। ५४ ।। कः सर्वात्मनामात्मेत्यत आह–कृष्णमिति । त्वम् अखिलात्मनां जीवात्मनाम् आत्मानं शरीरिणम् एकं श्रीकृष्णमवेहि जानीहि सोऽप्यत्र जगद्धिताय जगद्रक्षणार्थं मायया स्वसङ्कल्पेन देहीवाभाति मनुष्यसजातीयतया भाति तथा चोक्तं मोक्षधर्मे—

"एष नारायणः साक्षात् क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम्" ।। इति ।। ५५ ।।

अतः श्रीकृष्ण एव सर्वशरीरीत्याह—वस्तु इति । लोके वस्तुतो यथार्थत्वेन स्थास्नु चरिष्णु जङ्गमस्थावरं सर्वं कृष्णमेव जानतां ज्ञानिनामिह नान्यत्किञ्चन वस्तु किन्तु अपरं चिदचिद्रूपं जगत् भगवद्रूपमेव तेषां भगवच्छरीरमेव भाति नान्यदित्यर्थः तथा च श्रुतिः "यस्मात्मा शरीरं, य आत्मनि तिष्ठन् यमात्मा न वेद य आत्मानमन्तरो यमयति, यस्य पृथिवी शरीरं यस्यात्मा शरीरम्, एष सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा" इत्यादि तथा चैकादशे कविवाक्यं जनकं प्रति—

"खं वायुमग्निं सलिलं महीं च । ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम् । यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः" ।। इति ।। ५६ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ममेति देहं मन्वानानां विवेकिनां मतमालम्ब्याह–देहोऽपीति । अत्र देहादहन्ताममतयोरपगमेनात्मगतमेव सङ्कल्प्यत इति टीका योज्या पुत्राद्यपेक्षया समुच्चयार्थोऽयमपिशब्दः टीकायाञ्च अविवेकदशायामिति बलीयस्त्वविशेषणेनाक्षिप्यते एवं प्रतियोगितया विवेकिन इत्यपि सोऽपीत्यसौ देहोऽपीत्यनयोर्व्यञ्जकमिति ज्ञेयम् । सरलार्थस्त्वयं यस्मान्ममताभाक्त्वादेव पुत्रादिवत् देहे जीर्यति तस्य देहस्य जीविताशा बलीयसी भवति ममता चात्मसम्बन्धादेवेति ।। ५३ ।। एवमात्मनः स्वतःप्रियत्वे

मुख्यस्वरूपत्वञ्च बोधितम् ।। ५४ ।। अथ विवक्षितमाह—कृष्णमिति । एवं श्रीयशोदानन्दनरूपम् अत्र जगति जगतो हितायाभाति स्वयं प्रकाशते देहीव देहात्मविभागादिना तद्विरुद्धधर्म इव माययैवाभाति न केवलं सर्वेषां जीवानामेव परमस्वरूपम् अपि तु अन्ते सर्वेषां जडानाम् ।। ५५ ।। आदौ सर्वेषां साक्षाद्रूपाणां चेति वक्तुं तस्य भूमत्वमाह, वस्तुत इति । वस्तुतः तत्त्वतः श्रीकृष्णम् अत्र जगति जानतां जनानां विचारयतां तद्विचारज्ञानामित्यर्थः । यत् स्थावरजङ्गमरूपमखिलं यच्च भगवतो रूपं नारायणाद्यभिधमखिलं तत्तत् सर्वम् इह श्रीकृष्ण एव तदन्तर्भूतत्वेनैव स्फुरतीत्यर्थः । नान्यत् किञ्चन यत्तत्र नास्ति तन्नास्त्येवेत्यर्थः । कारणांशिनोर्विज्ञानेन कार्यांशयोर्विज्ञानात् तद्व्यतिरेके व्यतिरेकाच्च महासमुद्रस्य सागरतरङ्गफेनादिवत् सूर्यस्यान्तरीणमण्डलात्मकस्य बहिर्मण्डलकिरण-परमरीचिकादिवदिति ज्ञेयम् ।। ५६ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

देहात्मवादिनां तेषामपि कदाचिदीषद्विवेके सति आत्मैव प्रियः स्यान्न तथा देह इत्याह—देहोऽपि अहन्तास्पदीभूतोऽपि देह ईषद्विवेकेन यदि ममताभाक् स्यात्तर्ह्यसौ देह आत्मवत् प्रियो न भवेत् किं त्वात्मानुरोधेनैव प्रियः स्यादित्यर्थः । तत्र लोकानुभवमेव प्रमाणयति—यदिति । सर्वत्र देहत्यागे आत्मनोऽतिकष्टं दृष्ट्वा तदपि कष्टं ममात्मनो मा भवत्विति बुद्ध्यैव आत्मन्यतिस्नेहादेव देहे जीविताशा अधिका भवतीत्यर्थः ।। ५३ ।। तस्मादिति चर पुत्रकलत्रादि अचरं गृहघटपटादि तेन लोकदृष्ट्या पुत्रादिभ्यः सकाशादात्मन एवात्यन्तिकप्रीतिविषयत्वं प्रतिपादितम् ।। ५४ ।। विवक्षितं सिद्धान्तं प्रतिपादयंस्तत्त्वदृष्ट्या तस्याप्यात्मन आपेक्षिकप्रीतिविषयत्वमेव आत्यन्तिकप्रीतिविषयत्वं केवलं कृष्णस्यैवेत्याह— कृष्णमिति । अखिलानामात्मनां जीवानामप्यात्मानं परमात्मानमेव कृष्णमवेहि तेन पुत्रादिषु प्रीतिर्यथा देहानुरोधेन देहे च प्रीतिर्यथा आत्मानुरोधेन तथैवात्मन्यपि प्रीतिः परमात्मानुरोधेन स च परमात्मा कृष्ण एव मूर्त्तः पूर्ण एव यदुक्तं "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" इत्यतः कृष्णस्यैवात्यन्तिकप्रीतिविषयत्वात्तत्रैव प्रीतेः पराकाष्ठेति स्वपुत्रेभ्योऽपि तत्र यत् प्रेमाधिक्यं तदुपपादितम् । किञ्च, जीवानां भक्त्यभावात् मायया ज्ञानावरणाच्च भक्त्यैकप्रकाश्ये तस्मिन्तादृशत्वेनानुभवो मायिकजीवानामभक्तानां कथमस्त्वित्यतः पुत्रादिष्वेव लोकानां प्रीतिविषयत्वेनानुभवो न तस्मिन्, व्रजवासिनां तु मायातीतत्वाद्भक्तिपूर्णत्वाच्च यथार्थ एवानुभव इत्यतस्तेषां स्वपुत्रादिभ्योऽपि तस्मिन् प्रेमाधिक्यं स्वाभाविकं वर्तते एवेति समाधेयं जगद्धितायावतीर्णः स कृष्णोऽपि मायया देहीव आभाति स्वाविद्यया मूढैर्जीव इव भौतिकदेहवान् प्रतीयत इत्यर्थः । यद्वा, माययैव यो देहस्तद्वानिव मायोपाधिरिव प्रतीयते न तु स मायोपाधिरित्यर्थः । अत एव मधुसूदनसरस्वतीपादैरपि "सच्चित्सुखैकवपुषः पुरुषोत्तमस्य नारायणस्य महिमा नहि मानमेति" चिदानन्दाकारं जलदरुचिसारं श्रुतिगिरां व्रजस्त्रीणां हारम्" इत्यादिबहुशो वर्णितम् । यद्वा, ननु परमात्मा खल्विन्द्रियग्राह्यो न भवेत् कृष्णस्तु सर्वैर्दृश्यत एवेति तत्राह, जगत एव हिताय मायया निर्हेतुकाचिन्त्यया कृपया सोऽपि अत्र जगज्जनेन्द्रियेषु देहीव आभाति स्वयमेव तद्ग्राह्यत्वेन प्रकाशते इति अतर्क्यतदिच्छया तद्गृहीतैरिन्द्रियैरेव स गृह्यते, न पुनरिन्द्रियैः स्वयमेव शब्दादिरिव ग्रहीतुं शक्य इति भावः । अत एव भागवतामृतधृतं नारायणाध्यात्मवचनम् । "नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः । तामृते परमानन्दं कः पश्येतामितं प्रभुम्" इति तत्रत्या कारिका च "ततः स्वयंप्रकाशत्वशक्त्या स्वेच्छाप्रकाशया । सोऽभिव्यक्तो भवेन्नेत्रे न नेत्रविषयत्वतः" इति तत्र हि तमन्यदेशीयानामनुकूलजनानां स्वकृपादृष्टिदानेनैव स्वमाधुर्य्यग्राहणम्, प्रतिकूलानां कंसाद्यसुराणां तु पित्तदूषितरसनया मत्स्यण्डिकाभोजनमिव प्राकृतैरेवेन्द्रियैस्तन्माधुर्य्यग्रहणरहितमेव दर्शनं ध्यानावेशसिद्धयर्थम् आवेशफलन्तु सर्वापराधोपशमनपूर्वको मोक्षः स एव तेषां हितम् किञ्च, व्रजस्थानामैश्वर्यज्ञानशून्यानामन्येषामनुकूलप्रतिकूलानामपि यद्यपि स देहीवाभाति तदपि "देहिदेहविभागोऽत्र नेश्वरे विद्यते क्वचित्" इति मध्वाचार्य्यधृतमहावाराहवचनादेव शास्त्रज्ञैर्देहीति वक्तुमयोग्यत्वादिवशब्दप्रयोगः ।। ५५ ।। किञ्चापेक्षिकप्रेमास्पदानि ये चात्मदेहपुत्राद्यास्तेपि विचारवतः स एवेत्यापेक्षिकप्रेमास्पदत्वमपि तस्यैवेत्याह— वस्तुत इति । वस्तुतस्त्वित्यर्थः । कृष्णं जानतां पुंसां मते स्थावरं जङ्गमं च सर्वं तद्रूपमेव तस्यैव सर्वकारणत्वात् कारणस्यैव कार्याकारत्वादिति भावः ।।५६।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यत् यतः अज्ञानकाले जीर्यत्यपि जीविताशा आसीत् सोऽपि देहः ममताभाक् चेद्यदा आत्माऽनात्मविवेकदशायां भवति तर्हि आत्मवत् प्रियो न भवतीत्यन्वयः ।। ५३ ।। तस्मात्सर्वेषां ज्ञानिनामज्ञानिनां च आत्मैव प्रियतमः तदर्थमात्मार्थमेव सकलं प्रियं भवति तथा च श्रुतिः "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इति ।। ५४ ।। प्रकृतमनुसरति—कृष्णमिति । अखिलात्मनां सर्वेषां जीवानामंशभूतानामात्मानं परमात्मभूतमंशिनमित्यर्थः । ननु, सर्वात्मनो नन्दगृहे कथं प्रवेश इत्यत आह, अत्र जगद्धिताय आविरभूदिति शेषः । ननु, अखिलात्मनि श्रीकृष्णे केषाञ्चित् प्रतिकूलाचरणे किं बीजमित्यत्राह—सोऽपि सर्वात्मापि श्रीकृष्णः मायया सामान्यजनमोहिन्या देहीव स्वात्मोपम्येन आभातीति ।। ५५ ।। न केवलं श्रीकृष्ण आत्मनामात्मा अपि तु चिदचित्पदार्थानां स्वशक्तिरूपाणां सर्वेषामात्मेत्याह—वस्तुत इति । सर्वकारणकारणं श्रीकृष्णं जानतां विदुषाम् स्थावरं जङ्गमं च अखिलं सर्वं भगवद्रूपं चेतनत्वेनाऽचेतनत्वेन भिन्नत्वेऽपि सर्वकारणकारणात् श्रीकृष्णात् पृथक्-

स्थितिप्रवृत्त्याद्यभावात् अभिन्नमित्यर्थः "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" (२।१।१५) इत्यादिसूत्रेभ्यः "ऐतदात्म्यमिदम्" इत्यादि श्रुतिभ्यः "सर्वं कृष्णः स्थावरं जङ्गमं च विश्वात्मानं विश्वमेतं प्रतीहि" इत्यादि स्मृतिभ्यश्च अतोऽन्यदकृष्णात्मकं किञ्चनापि वस्तु न ॥ ५६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तेषामेव तत्त्ववित् प्रसङ्गेनेषद्विवेकलाभे सति देहोऽपि चेन्ममताभाक् स्यात्तर्ह्यसावात्मवत् प्रियो न भवेत् किन्तु तत्सम्बन्धेनैवेत्यर्थः। लोकानुभवं प्रमाणयति यदिति यस्माद्रोगादिना देहे जीर्यति सति तत्रातिक्लेशं वीक्ष्यात्मनो मम सोऽतिक्लेशो माभूदित्यात्मन्यतिस्नेहादेव देहे जीविताशा बलीयसी भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥ निगमयति – तस्मादिति। चरम् अपत्यादि, अचरं गृहादि सकलं तदर्थमेव प्रियतममिति लोकद्वयात्मन एवाति स्नेहविषयत्वमुपपादितम् ॥ ५४ ॥ प्रस्तुतमाह–कृष्णमिति।

कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

इति स्मृत्युक्तलक्षणत्वेन तन्नामानं विभुविज्ञानानन्दमेनं श्रीनन्दराजसूनुम् अखिलानामात्मना विशुद्धानामपि जीवानामात्मानमवेहि तेन यथा अपत्यादिषु देहानुरोधेन देहेत्वात्मानुरोधेन स्नेहः प्रतीयते तथात्मनि जीवे कृष्णदेहस्थानीये तदनुरोधादेव स्नेह इति कृष्णस्यैवातिस्नेहविषयत्वात् स्वपुत्रेभ्योऽपि तत्र स्नेहाधिक्यं सिद्धम्। इदमत्र बोध्यम् प्रेमा खलु सुख एव चेतनस्य दृश्यते स च प्रकाशरूपे तस्मिन् स्थिरः जडस्य विषयसुखस्य विवेकिना हेयत्वात् तादृशं सुखञ्च जीवस्वरूपमेव स्वप्रकाशे सुखे जात्यापरिमाणु न चोत्कृष्टे प्रकाशं सुखं चातिशयितमर्षयति जीवस्य तादृशस्यापि प्रेमा भवेदेव तादृशञ्च वस्तु परं ब्रह्मैव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "राति दातुः परायणः" "एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" इत्यादि श्रुतिभ्यः गुडात् मधु इव जात्या बिन्दोः सिन्धुरिव परिमाणेन च ब्रह्मोत्कृष्टं जीवादिति निर्णीतं सूत्रकृता परमतः सेतून्मानेत्यादिकेऽधिकरणे तत् परं ब्रह्म कृष्ण एव साक्षात् प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपाल" इति "योऽसौ परं ब्रह्म गोपाल" इति च श्रवणात् सोऽपि कृष्णो जगद्धितायात्र व्रजेऽवतीर्णो मायया देहीवाभाति वस्तुतः स्वात्ममूर्तिरेवोक्तश्रुतेरिति ॥५५॥ न केवलं जीवात्मनामेवात्मा कृष्णोऽपि तु जडानामपीत्याह—वस्तुत इति तत्त्वतोऽत्र जगति कृष्णं जानतां विचारयतां विदुषां स्यास्नु चरिष्णु चाखिलं भगवतस्तस्यैव रूपं भवति तद्व्याप्यत्वात्तदधीनवृत्तिकत्वात्तद्रूपमिति प्राणसंवादादवगतम् अत एवं श्रूयते "स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति" इति ॥ ५६ ॥

श्रीसुबोधिनी

पश्चादल्पविवेकेन **देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसावेव देह आत्मवत्** पूर्वानुभूतदेहवदहमभिमानयुक्तदेहवत् प्रियो न भवति, किञ्च प्राणश्चेदात्मा तदापि प्राणवन्न देहः प्रियः, **यज्जीर्यत्यपि देहेस्मिन्नपि** देहे **बलीयसी** तस्य **जीविताशा** ॥ ५३ ॥ तस्मादात्मा प्रिय इत्यविवादं, तदर्थं चान्यत् ॥ ५४ ॥ स चात्मा कृष्ण एवेत्याह **कृष्णमेनमिति, अखिलात्मनामयमात्मा**, अत्रैव स्नेहः सहजो धर्म एतद्विषयकस्तदंशः पश्चादन्यत्र गच्छति तदंशेषु, एतन् मैत्रेयीब्राह्मणे वाक्यान्वयादित्यधिकरणे स्पष्टमस्माभिरप्युपपादितं भगवद्धर्मा एवाऽन्यत्र कार्ये अंशे च भासन्त इति। ननु, कृष्णः कथमात्मा तत्राह, **जगद्धितायेति**। केवलं जगद्रक्षार्थं मायया देहीवाभाति वस्तुतस्तु परब्रह्मैव ॥ ५५ ॥ किञ्च, कृष्णं जानतां सर्वमेव स्थावरजङ्गमात्मकं भगवद्रूपं भाति यत अन्यत् नास्त्येव किञ्चन। ननु, भगवतः कथमेवं रूपं तत्राह—**अपरमिति**। परं कृष्णरूपम् अपरं जगत् अतो महापुरुषप्रतीत्यापि कृष्णो भगवान् यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवतीति तदेव सङ्गच्छते ॥ ५६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

जीर्यत्यपि आसन्नमरणे अपि अस्मिन् देहे अविवेकदशायां यथाऽहन्तास्पदत्वेन प्रियतमत्वेन च बलीयसी उत्कटा जीविताशा भवति, तथा सोऽपि देहो यदि विवेकदशायां ममताभाग्भवति, तर्ह्यसावपि आत्मवत् प्रियो न भवति। जीवतु वा नश्यतु वा, तत्र नाग्रहः ॥ ५३ ॥ यद्यस्मादेवं तस्मात् सर्वेषामपि देहिनां स्वात्मैव प्रियतमः। चरं पुत्रकलत्रादि, अचरं गृहधनादि। सकलमपीदं जगत् तदर्थमेव आत्मसुखार्थमेव प्रियं भवतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥ 'भवत्वात्मा सर्वतः प्रियः, कृष्णः कथं प्रियो भवति ?' तत्राह–कृष्णमिति। एनं कृष्णमखिलात्मनां सर्वप्राणिनामात्मानं त्वमवेहि जानीहि। ननु 'सर्वात्मा चेत्तर्हि कथमिन्द्रियगोचरः सन् परिच्छिन्नमनुष्यवत् प्रतीयते ?' तत्राह– जगद्धितायेति। यादृशीर्लीलाः श्रुत्वा जनो मनोमलं विहाय स्वपरायणः स्यात्तादृशलीलाकरणेन जगतो हिताय सर्वात्माऽपि मायया स्वेच्छयैवात्र व्रजे देहीवाभाति, न तु वस्तुतः। कर्माधीनो मनुष्य एवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥ 'न केवलं चेतनानामेवायमात्मा, अपि तु जडानामपि' इति वदन् 'तस्य सर्वात्मत्त्वे महतां दर्शनमपि प्रमाणम्' इत्याह –वस्तुत इति। वस्तुतः परमार्थतः श्रीकृष्णं जानतां पुंसामत्र संसारे स्यास्नु स्थावरं चरिष्णु जङ्गमं च सर्वं भगवद्रूपं भगवान् श्रीकृष्ण एव हि यस्य तथाभूतं भाति, ततोऽन्यदिह जगति किञ्चनापि नावशिष्यते इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

देहोऽपीति ।। अहंतास्पदीभूतोऽपि देहो यदि ईषद्विवेकेन ममताभाक् आत्मभिन्नत्वेन ज्ञातो भवेत् तह्यसौ देहः आत्मवत् प्रियो नैव भवेत् । किन्त्वात्मानुरोधेनैव प्रियो भवेत् । यद्यतः अस्मिन् देहे जीर्यत्यपि जीर्णत्वेन प्रीतेरविषयेऽपि न जीविष्यतीति निश्चयेऽपि च देहत्यागे आत्मनोऽतिकष्टं दृष्ट्वा ममात्मनः कष्टं माभूदिति बुद्ध्यैव जीविताशा बलीयसी अधिका भवति यद्वा । यद्य-स्माज्जीर्यति रोगादिपीडितेऽस्मिन् विवेकिनां ममतास्पदे देहे जीविताशा तिष्ठत्वयं देह इति वाञ्छाऽपि अवलीयसी पूर्वापेक्षया स्वल्पा भवति । विवेकेनात्मत्वाभिमानापगमे नातिप्रियत्वाभावात् ॥ ५३ ॥ तस्मादिति ॥ हे भारत ! तस्मात्सर्वेषामपि देहिनां स्वात्मैव प्रियतमः चरं पुत्रकलत्रादि अचरं गृहधनादि सकलमप्येतज्जगत् तदर्थमेव आत्मसुखार्थमेव प्रियं भवति ॥ ५४ ॥ कृष्णमिति ॥ एनं कृष्णमखिलात्मनां सर्वप्राणिनामात्मानं त्वमवेहि जानीहि । जगद्धितायावतीर्णः स कृष्णोऽपि अत्र लोके मायया देहीव आभाति तत्तच्चरितैर्लोकास्तत्प्रवणाः स्युरिति लीलाप्रकटीकरणम् ॥ ५५ ॥ न केवलमात्मनामात्मा अपि तु जडानामपि मूलमित्याह— वस्तुत इति ॥ वस्तुतः परमार्थतः श्रीकृष्णं जगत्कारणं जानतां पुंसामत्र संसारे स्थास्नु स्थावरं चरिष्णु जङ्गमं च अखिल वस्तु भगवद्रूपं भाति । ततोऽन्यदिह जगति किंचनापि नावशिष्यते ॥ ५६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विवेकिष्वेतावान् विशेष इत्याह ।। देहोऽपीति येषाम् ॥ असौ देहोऽपि, ममताभाक् ममताविषयः स्यात् चेत्, न त्वहंता-विषय इति भावः । तर्हि, तेषां असौ, ममताभाक् देहः, आत्मवत् प्रियः, न, किं तु ततः किंचिदूनप्रिय इत्यर्थः । ननु विवेकिनो देहे सुतरां प्रीत्यभावः किं न स्यात्तत्राह । यद्यस्मात्, अस्मिन् देहे जीर्यत्यपि विपत्तुन्मुखत्वत्यपि, जीविताशा बलीयसी जीर्णतां न याती-त्यर्थः । किं तु बलीयस्येव तिष्ठत्यतः आत्मनः सकाशाद्देहः किंचिदूनप्रिय इति भावः ॥ ५३ ॥ अस्त्वेवमेव एतावता प्रकृते किमायातं तत्राह ॥ तस्मादिति ।। तस्माल्लोकपरिपाटेरेवंविधत्वात्, सर्वेषां अपि, देहिनां देहभृतां, जन्मिनामिति पाठे जन्मवतां प्रियतमः, श्रीकृष्ण इति शेषः । तत्र हेतुः । यतः सः स्वात्मा स्वेषां देहिनां जीवानामिति यावत् । आत्माऽन्तरात्मा भवति । अत एव, चराचरं स्थावरजङ्गमात्मकं, सकलं एतत्, जगच्च विश्वमपि, तदर्थमेव, सकलरसमयश्रीकृष्णस्यान्तरात्मतामालम्ब्येत्यर्थः । प्रियमिति शेषः । तदिष्टसंपत्तये एव प्रियमित्यर्थः । 'आत्मनस्तु कामाय' इति श्रुत्यनुसारेणायं निर्देशः । अर्थशब्दः प्रयोजनवाची । प्रयोजनं चेष्टसंपत्तिः, तदिष्टसंपत्तय एव प्रियमिति यावत् । 'न वा अरे' इति श्रुतेरयमर्थः । पतिपुत्रादीनां कामाय कामसिद्ध्यर्थं तदभीष्टसिद्ध्यर्थं भार्यापुत्रादीन् प्रति प्रियत्वं भगवत्संकल्पायत्तं, अस्या भार्याया अयं पतिः प्रियः, अस्य पितुरयं पुत्रः प्रियः स्यादित्येवं भगवता संकल्पिते सति ततस्तत्प्रियं भवतीत्येवं भगवतः निरतिशयप्रियरूपत्वाभावे सति इतरेषां प्रियावहत्वासंभवात्तस्य तत्त्वं कैमुत्यनयसिद्धम् ।। ५४ ।। श्रीकृष्णे परमात्मत्वसंशयं निराकुर्वन्नाह ॥ कृष्णमिति ॥ हे राजन्, त्वं एनं कृष्णं, अखिलात्मनां सकलशरीरिणां, आत्मानं, अवेहि । यद्ययमखिलात्मनामात्मास्ति, तर्हि किमर्थं मानुषतामापन्नस्तत्राह । सोऽपि उक्तविधोऽपि कृष्णः, जगद्धिताय विश्वस्य हितं कर्तुं, मायया स्वीयसंकल्पेन, अत्र लोके गोपादिषु देहीव कर्मायत्तदेहभृदिव, आभाति । अविवेकिनामिति शेषः ।।५५।। तदेव विशदयति ।। वस्तुत इति ।। स्थास्नु स्थावरात्मकं, चरिष्णु जङ्गमात्मकं च, अखिलं कृत्स्नं जगत्, भगवद्रूपं भगवतः शरीरं, भवति । अन्यत् तत्पृथक्-सिद्धं वस्तु, इह ब्रह्माण्डगोलके, किञ्चन किंचिदपि, न अस्ति । नैव विद्यते इत्यर्थः । इत्येवं, अत्र लोके, कृष्णं, वस्तुतः अजानतां देहिनां, देहीव मनुष्य इव भातीति पूर्वेणान्वयः । एवं जानतां तु देवमनुष्यादिविजातीत्वेनैव सर्वशरीरकत्वेनैव च भातीत्यर्थः ॥५६॥

कृष्णप्रिया

राजन्, यद्यपि ममता का आश्रय शरीर भी कुछ विवेक ज्ञान होने से आत्मा से भिन्न है ऐसा प्रतीत हो जाय तब आत्मा के समान कदापि प्रिय नहीं रह सकता किन्तु आत्मा के अनुरोध से प्रिय बना रहता है - कारण यह है कि सर्वथा शरीर के शीर्ण होने पर भी प्राणियों को जीने की इच्छा बनी रहती है ।। ५३ ।। इसलिये यह निश्चित सिद्धान्त है कि सभी प्राणियों को आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है । उसी आत्मा के हितार्थ ही देह गेह द्रव्य आदि पदार्थ हैं, अतः ये सब प्रिय हैं स्वतः उसमें प्रियत्व नहीं है ।। ५४ ।। अब राजन् ? यह निर्णय हुआ कि आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है तब भगवान् श्रीकृष्ण को ही प्राणियों की आत्मा की आत्मा जानिये । विश्व के कल्याण के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण वह भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी माया से सामान्य शरीर धारी पुरुष जैसे सांसारिक जीवों को प्रतीत होते हैं परंतु भगवान की देह भी आनन्द रूप ही है ।। ५५ ।। राजन् परीक्षित् ! वास्तविक स्वरूप से भगवान् श्रीकृष्ण को जो जानते हैं उन भगवदीयों को तो ऐसा ज्ञान है ही कि यह स्थावर जङ्गम रूप जगत् है वह भगवान् श्रीकृष्ण जी का अपर रूप है और आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि रूप जो स्वरूप है वह भगवान् का "पर" स्वरूप है इस ब्रह्माण्ड में भगवान् श्रीकृष्ण को छोड़कर और कोई वस्तु नहीं है ।। ५६ ।।

[1]सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति [2]स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः [3]किमतद्वस्तु रूप्यताम् ॥ ५७ ॥

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशोमुरारेः ।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥ ५८ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोऽहमिह त्वया । यत् कौमारे हरिकृतं जगुः [4]पौगण्डकेऽर्भकाः ॥ ५९ ॥

एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरघार्दनं [5]शाद्वलजेमनं च ।
[6]व्यक्तेतरं [7]रूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेति नरोऽखिलार्थान् ॥ ६० ॥

[8]एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे । निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराण पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे ब्रह्मस्तुतिर्नाम [9]चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

समाप्तेयं कौतुकलीला

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सर्वेषां अपि भावानां भावार्थः भवति स्थितः तस्य अपि भगवान् कृष्णः अतद्वस्तु किं ? रूप्यताम् ॥ ५७ ॥ ये पुण्ययशोमुरारेः महत्पदं पदपल्लवप्लवं समाश्रिताः तेषां भवाम्बुधिः वत्सपदं परंपदं पदं न यद् विपदां पदं न ॥ ५८ ॥ अर्भकाः कौमारे हरिकृतं यत् पौगण्डके जगुः यत् त्वया अहं पृष्टः ते एतत् सर्वं आख्यातम् ॥ ५९ ॥ नरः मुरारेः सुहृद्भिः अघार्दनं च शाद्वलजेमनं व्यक्तेतरं रूपं अजोर्वभिष्टवं एतत् चरितं शृण्वन् गृणन् अखिलार्थान् एति ॥ ६० ॥ निलायनैः सेतुबन्धैः मर्कटोप्लवनादिभिः एवं विहारैः व्रजे कौमारं जहतुः ॥ ६१ ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कत इति तदाह । सर्वेषामिति । भावार्थः सद्रूपार्थः परमार्थ इत्यर्थः । भवतीति भवत्परिणामं प्राप्नुवत्कारणं तस्मिन् भवति परिणामिनि स्थितः "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादिश्रुतेः । तस्यापि भवतः कारणस्यापि भगवान्कृष्णो भवत्कारणम् । अतः किमतत् श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु रूप्यताम् ॥ ५७ ॥ तस्माच्छ्रीकृष्णस्यैव परमार्थत्वात्तदेक-शरणानामयत्नसिद्धो मोक्ष इति प्रकरणार्थमुपसंहरति समाश्रिता इति । पुण्यं यशो यस्य स पुण्ययशाः स चासौ मुरारिश्च तस्य पदपल्लव एव प्लवस्तं ये सम्यगाश्रिताः । कथंभूतम् । महत्पदं महतां पदमाश्रयम् । यद्वा महच्च तत्पदं चेति तथा । तेषां भवांबुधिर्वत्स-पदमात्रं भवति किं च परं पदं श्रीवैकुंठाख्यं पदं स्थानं भवति । विपदां यत्पदं विषयस्तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति । न ततः पुनरावर्तंत इत्यर्थः ॥ ५८-५९ ॥ सुहृद्भिश्चरितं 'मुष्णंतोऽन्योऽन्यशिक्यादीन्' इत्यादिनोक्तम् । अघार्दनं च शाद्वले जेमनं भोजनं च व्यक्तेतरम् व्यक्ताज्जडप्रपंचादितरच्छुद्धसत्त्वात्मकं वत्सतत्पालरूपम् । यद्वा व्यक्तेतरच्चिद्विलासस्तदेव रूप्यत इति रूपम् । अजस्य उरुर्महानभिष्टवः स्तवस्तं ब्रह्मकृतां स्तुतिम् एतच्छृण्वन्गृणन्गायन्नरः सर्वपुरुषार्थान्प्राप्नोति ॥ ६०-६१ ॥

इति श्रीपरमानंदनृसिंहपदषट्पदः । व्याकरोच्छ्रीधरस्वामी यथामति विधिस्तुतिम् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधपूर्वार्धे टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सर्वं कृष्ण एवेति कुतस्तत्सर्वात्मत्वम् । यद्वा --भवत्यस्मादिति भवत् तस्मिन्नुपादाने मृत्तत्त्वादिष्विव घटपटादीनां भावार्थः सत्यताकारणं परमकारणं परपरकारणान्वेषणे कारणतायास्तत्रैव विश्रान्तत्वादिति जगद्विवर्तस्य तस्यैवाधिष्ठानत्वादिति भावः । यतः कृष्ण एव परमकारणमतो हेतोः । अयमेवार्थः श्रीनीलकण्ठेनापि भारतसभापर्वटीकायां दृढीकृतः । तथाहि—बीजाङ्कुर-तरूपमेषु ईशसूत्रविराट्स्वनन्तबीजगर्भफलोपमः श्रीकृष्णो नन्दनन्दन एव महामायावी सृतिप्रलयकैवल्येषु कर्मोपरमे सति जगदि-

---

१. अपि वस्तूनां—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. सनातन जीव. श्रीनिवास. गिरि. शुक. । २. स्मृतः—वीर. । ३. किमेतद्वस्तु—वीर. । ४. पौगण्डे परिकीर्तितम्—श्रीधर. वंशी. विज. गिरि. ; पौगण्डे कीर्तितं भुवि—वीर. । ५. भोजनं च—वीर. । ६. तरद—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ; तरत्—विश्व. । ७. मजस्य संस्तुति-वीर. । ८. अयं श्लोको वीर. पाठे नास्ति । ९. द्वादशादिचतुर्दशान्तास्त्रयोऽध्याया न सन्ति ।

जालं स्वमूर्त्या सह तिरोधायास्तसमस्तविशेषं ब्रह्मात्मानं प्रापयति, कर्मशेषसत्त्वे पुनरुद्भावयतीति ।। विचारमेवाह—सर्वेषामिति । सर्वेषामपि प्राकृताप्राकृतवस्तूनां भावरूपो योऽर्थः सत्ता सम्भवति तत्सत्ताश्रयसत्तावत्युपादानादौ वस्तुनि स्थितं स्यात् । एवं यद्यत् उपादानाद्यात्मकं वस्तु तस्य सर्वस्यापि प्राकृताप्राकृतस्य भगवान् तत्सर्वशक्तिविशिष्टः श्रीकृष्ण एकस्तादृश इत्यर्थः । 'अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते मायात्वम्' इत्यादिकस्य श्रीब्रह्मणैवानुभूतत्वादिति भावः । तस्मादेतत्सर्वकारणादित्वेन स्वयं भिन्नादपि तस्मादन्यत्किं वस्त्वित्ति तन्निरूप्यतामित्यर्थः । तदेवं तस्य सर्वमूलात्मकत्वे सिद्धे तेषां बालवत्सानां च तत्प्रादुर्भावत्वे स्थिते एव स्वभावतः तादृशप्रेमास्पदत्वं पूर्वयुक्त्या श्रीव्रजवासिषु तच्चाधिकं युक्तमेवेति ज्ञापितम् । अथवा—ननु कथमेषु श्रीयशोदानन्दन एव सर्वात्मोच्यते, यदि भगवद्रूपत्वेनोच्यते तर्हि सन्त्यन्यानि तद्रूपाणि बहूनीत्याशङ्क्याह-वस्तुत इति । सहस्रशीर्षादिचरिष्णु तत्तदवतारादि तत्तदखिलं भगवद्रूपमिह श्रीकृष्ण एवेत्यादि पूर्ववत् । किञ्च, सर्वेषां भावानां पदार्थानां मध्ये भावः प्रेमा तद्रूप एवार्थः पुरुषार्थः स्थितः पर्यवसितो भवति । तात्पर्यपर्यवसानविषयो भवतीत्यर्थः । तस्य प्रेम्णोऽपि । भगवान् श्रीकृष्ण इति पूर्ववत् । तं तिरोहितसर्वविलक्षणगुणरूपत्वेऽपि सर्वतः पूर्णपरमानन्दरूपं विना तस्याप्यलब्धप्रतिष्ठत्वात्, तस्मात्ततोऽन्यद्वस्तु निरूप्यतां यत्प्रेमयोग्यं स्यादिति । तदेवमपि पूर्ववत्स्वाभाविकप्रेमास्पदत्वमेव स्थापितमिति । विश्वनाथस्तु—सर्वेषामपि स्थावरजङ्गमानां भावः भवत्यस्मादिति भावः कारणं प्रधानम्, तद्रूपोऽर्थः स्थितः स्थिरो भवति तस्यापि भावस्य भावः कारणं श्रीकृष्ण एव, अतः किमतत् श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु रूप्यताम् । यद्वा—वस्तूनां बुद्धीन्द्रियाणां भावार्थो व्यङ्ग्योऽर्थः आत्मा स्थिरो भवति, तस्याप्यंशत्वात्तदव्यंग्योंशी श्रीकृष्णः, अतः किमतत् तद्भिन्नं वस्तु किम्, किमर्थं रूप्यतां स एव सेव्यतां केवलमित्यर्थः ।। ५७ ।। यतः श्रीकृष्ण एव सर्वस्वरूपस्तस्मात् । प्लवः तरणसाधनम् । महतामाश्रयत्वं तु स्वर्गादिरप्यस्ति तन्निवृत्तये समासान्तरमाह - यद्वेति । वत्सपदमयत्नतार्थमित्यर्थः । न हि केवलमेतदेव वैकुण्ठानन्दानुभवादपि तेषां भवति । ततो वैकुण्ठात् । इत्यर्थं इति । जन्ममरणशून्याः सन्तस्तत्रैव तिष्ठन्तीति भावः ।। तदेवं प्रेमदस्वभावादपि श्रीकृष्णादघासुरादिवदघयुक्तानामेव मोक्षमात्रं परमं फलम्, तस्मादेवान्येषां तत्तन्माधुर्यज्ञानेन मोचकतामात्रं गुणमुपादायापि तत्पदमाश्रयतां श्रीब्रह्मादिवत्परमप्रेम्णा तदुचितपरमतत्पदप्राप्तिरेव परमं फलम् । मोक्षस्तु भावी भवन्भूतो वेति तदाश्रयामोदेन नानुसन्धातुं शक्यः स्यादिति । सर्वप्रकरणार्थमुपसंहरति—समेति । पुण्यं तद्धंतु चारु वा यशो यस्य । तादृशतया मद्विधवर्ण्यमानगुणो य इत्यर्थः । यश्च नरकासुरसेनापतेर्मुरस्य हन्ता । अघनरकसदृशानेकमोक्षदातेत्यर्थः । तस्य श्रीकृष्णस्य पदमेव पल्लवः । सौकुमार्य्यादिगुणैः स्वतः परमसुखद इत्यर्थः । स एव प्लवः तादृशसुखदत्वाज्ञानेन तत्तरणोपायमात्रतया जात इत्यर्थः । अत्र पल्लवपदेन तेषां क्रूरत्वादिकं पदस्य महौषधिपल्लवन्महाप्रतापत्वं च सूचितम् । तादृशं तं तथा ये समाश्रितास्तेषामपि । यस्तु स्वभावतः सुखादयेन भवाम्बुधिर्वत्सपदं तत्तव्यतीर्णवस्तुभानास्पदं भवति तस्य न तत्फलमित्यर्थः । किन्तु, परं पदं तन्नित्यधाम श्रीवृन्दावनवैकुण्ठादि निजप्रेमानुसारेण पदं परमास्पदं भवति । विपदां पदं यत् दुर्विषयं जगद्वा तत् खलु तेषां कदाचिदपि न भवति, यतस्तेषां मतिस्ततोऽन्यत्र नासज्जते इत्यर्थः । किंभूतम् महतां तन्नित्यपार्षदानां पदमित्यर्थः ।। ५८ ।। यत् त्वयाहं पृष्टोऽस्मि एतत् । इह संदेहे ।। ५९ ।। शाद्वलजेमनम् नवतृणानां वत्सरूपेण भोजनम् । 'शाद्वलो नवघासः स्यात्' इति कोशात् । यद्वा—शाद्वलाशनेन सहितं जेमनं गोपीयभोजनं शाद्वलजेमनम् । मध्यमपदलोपी समासः । अत एव स्वामिचरणैः शाद्वलजेमनं भोजनं चेति व्याख्यातम् । शुद्धसत्त्वात्मकरूपस्यापि व्यक्तान्तःपातित्वादर्थान्तरमाह—यद्वेति । चितो विलासस्तद्रूपेण भवनम् । सर्वपुरुषार्थान् धर्मार्थकाममोक्षान् ।। ब्रह्मणस्तत्प्रार्थितं सेत्स्यति न वेति संदिहानं प्रति कैमुत्येनाह—एतदिति । व्यक्तेतरत् व्यक्तादितरत् । प्रपञ्चातीतमित्यर्थः । सर्वत्राप्यन्वितमिदम् अघार्दनादीनां सर्वेषां श्रीभगवत्स्वरूपशक्तिविलासत्वात् । अकारान्तत्वमार्षम् । शृण्वन् गृणन् । तत्तत्प्रवृत्तिमात्रेणैवेत्यर्थः । तदैव सूक्ष्मतया फलोत्पत्तेश्च । नर इति चाधिकारानपेक्षत्वमुक्तम् । विश्वनाथस्तु—सुहृद्भिश्चरितम् 'मुष्णंतोऽन्योन्यशिक्यादि–' इत्यादिनोक्तम् । व्यक्तात्प्रपञ्चादितरत् । अदन्तत्वमार्षम् ।। ६० ।। एतदध्यायस्य पुनरुक्तिस्त्वस्या लीलाया बाल्यलीलान्तर्गतत्वबोधनायैवेत्यलम् ।। कौमारलीलामुपसंहरति—एवमेतदुपलक्षणकैरित्यर्थः । जहतुः संवृतवंतौ । व्रज इति । कदाचिदप्यन्यत्र कौमारलीलासंबन्धो नास्तीति व्रजस्योत्कर्षं सूचयति । निलायनं नाम कश्चिन्निलीय स्थितोऽन्येन परिमृग्य दृश्यत इत्येवम् । मर्कटोत्प्लवनमादि येषां तैः । सेतुबन्धैरिति । श्रीरघुनाथलीलानुकरणं खल्विदम् । बहुत्वं पौनःपुन्यात् । एवं चाल्यमानयन्त्रमन्त्रवारणादीति युद्धमुद्राद्यनुकरणमपि गम्यम् । आदिना क्षीराब्धिमंथनादिलीलावतारांतरकृतापि ज्ञेया ।। ६१ ।। श्रीपरमानंदनृसिंहयोः पदेषु पंकजस्थानेषु षट्पदो भ्रमरस्थानीयः । इति एवम् । व्याकरोत् विवृतवानिति (१) यत्तु कैश्चिदुक्तं ब्रह्मणो मोहासंभवादध्यायत्रयं प्रक्षिप्तमिति, तदसत् "भवान्कलाविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्" इत्युक्तेर्मोहासंभवेपि भगवल्लीलायां तदसंभवाभावात् । वस्तुतस्तु—भगवदिच्छाधीनप्रवृत्तेः 'द्रष्टुं मंजुमहित्वमन्यदपि ते' इत्युक्तेश्च मोहाभाव एव । यथाश्रुतमोहकल्पने तु सर्वज्ञस्यापि भगवतः तदवज्ञा अन्वेषणे मोहापत्तेः तेषामेवानयनाभावे सर्वशक्तेरशक्तत्वापत्तेश्च । सिद्धांतदर्पणेप्येतच्छंकित्वा समाहितम् । तथाहि—"किं त्वध्यायत्रयं त्वस्मिन्नघासुरवधादिकम् । ब्रह्मणो मोहकथनाद्विवर्तस्य च वर्णनात् ।। १ ।। संगतेः परिदृष्टत्वाद्बाल्यपौगण्डलीलयोः । सूचनेऽनुक्तितश्चापि प्रक्षिप्तमिव भाति मे ।। २ ।।" व्याख्या—अघविमोक्षं सखिभिः सह संपूर्त्तां भुक्तिं च वीक्ष्य तदीश्वरत्वे संदिहानो ब्रह्मा मोहं प्रापेति तत्र

वर्णितम्। स मोहस्तु न संभवति "भवान्कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्" इति तं प्रति भगवद्वचनात्, "न भारती मेंग मृषोपलभ्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः" इत्याद्युक्तेश्च। 'आत्मानमेवात्मतया विजानताम्' इत्यादौ रज्जुसर्पन्यायेन प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्तत्वं वर्णितम्। तत्र तद्वादश्च वैष्णवसिद्धान्तविरोधी। 'एवं विहारैः' इत्यारभ्य 'मर्कटोत्प्लवनादिभिः' इत्यंतैकादशाध्यायान्तिमपद्येन कौमारीं लीलां समाप्य पञ्चदशाध्यायादौ 'ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ' इत्यादिना बाल्यपौगण्डलीलयोः सङ्गतेर्दृष्टत्वाद्द्वादशस्कन्धोक्तानुक्रमणिकायामनुक्तेश्च॥ १-२॥ "मेवं वादीर्महाबुद्धे ब्रह्ममोहस्तृतीयके। एकादशे विवर्त्तोक्तिर्वैराग्यप्रतिपादिका॥ ३॥" अर्थः --'भवान् कल्प-' इति यो वरो भगवता ब्रह्मणे दत्तः स किल कल्पेषु ये विकल्पाः सर्गास्तेषु वैषम्यादिदोषेण भवान्न विमुह्यतीत्यर्थकः, न तु मन्मायया न विमुह्यतीत्यर्थकश्च। तथा बकश्रियोस्तदभ्यधिकयोरपि मोहदर्शनात्। अन्यथा 'नैते सुरेशा ऋषयो न चैते' इत्याद्युक्तेः, 'सा नोपेपाय शङ्किता' इत्याद्युक्तेश्च तृतीये ईश्वरत्वाभिमानपरिहारफलकं सरस्वत्यनुगमनेन तन्मोहवर्णनं 'छाया प्रत्याह्वयामास' इत्येकादशे विवर्त्तवर्णनं च प्रक्षिप्तं स्यात्। ननु भवतां विवर्त्तवर्णने का सङ्गतिस्तत्राह वैराग्येति। अविषयेऽभ्रमाऽसम्भवादेवेति भावः॥ ३॥ नन्वेवमवस्थालीलयोः सगतेरांतरालिकाध्यायत्रयं प्रक्षिप्तं स्यादिति चेत्तत्राह—"यत्समाप्यापि कौमारीं लीलां तां स्मृतिगां मुनिः। अपूर्वां प्रार्थितां प्राख्यत्तेन किंचिन्न दूषणम्॥ ४॥" अर्थः—तां कौमारीमेवाघासुरवधादिकां लीलामपूर्वां पूर्वमनुक्तामाश्चर्यां वेत्यर्थः। प्रार्थितां परीक्षिता वाञ्छिताम्। स्मृतिगां स्मृतिपथमारूढाम्। एतदुक्तं भवति—न चाघासुरवधाद्या लीलात्रासगंता, कौमारलीलानंतरत्वात् पौगंडलीलाद्युक्त्वानुक्तेश्च। न च पुनरुक्तत्वादसंगता प्रागनुक्तेः। न च समाप्यापि तदुक्तिः शंकाहेतुः श्रोतृप्रेष्ठाया विचित्रायाः स्मृतिपथमारूढायास्तस्याः कथने समाप्योक्तिदोषव्युदासात्। श्रोतृप्रेष्ठत्वं च 'तथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम्' इत्यादितदुक्तेः। किञ्च, समाप्त्युनरात्तत्वदोषः पुराणादौ नादर्तव्यस्तस्य काव्यालंकारविषयत्वात्॥ ४॥ ननु द्वादशस्कंधे भागवतार्थानुक्रमणिकायामेतस्या असूचनादिदमध्यायत्रयं प्रक्षिप्तं स्यात्तत्राह—"गोपीगीतादिषु स्पष्टमघस्य हृतीरीक्ष्यते। लीलास्थानप्रसिद्धेश्चान्यत्रापि मतोऽन्यथा॥ ५॥ आचारादिकथानां च तत्तत्प्रक्षिप्तताभवेत्। तस्मादत्र स्युरध्यायाः पञ्चत्रिंशच्छतत्रयम्॥ ६॥ गोपीगीते तावत् 'विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसात्' इति व्यालराक्षसोऽघासुर एव निर्दिष्टः। "यन्न व्रजंत्यघभिदो रचनानुवादाच्छृण्वंति येन्यविषयाः कुकथा मतिघ्नीः" इति तृतीयेऽघभिदिति तद्वधचरितनिमित्तकं नामोक्तमभेदनं मूर्तस्यैव न त्वमूर्तस्यामूर्तपापाभिप्रायत्वे त्वघहरेरित्येवं ब्रूयात्। 'अघः स्याद्व्यसनपापयोः' इति धरणिधरेणापि दैत्यवाचकोघशब्दो वर्णितः। न चासुरमुक्तेः सिद्धांतविरुद्धत्वादेतत्प्रतिपादकाध्यायत्रयमिदं प्रक्षिप्तमेव न तदार्षमिति वाच्यं, कृष्णमारितेषु सर्वेषु दृष्टत्वात्। "आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥" इत्यादिष्वपि मां श्रीकृष्णलक्षणमप्राप्यैव न तु प्राप्येत्याद्यंगीकारात्। तथा चोक्तम् –"ये च प्रलंबखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः। अन्ये च शाल्वकपिबल्वलदंतवक्त्रसप्तोक्षशंबरविदूरथरुक्मिमुख्याः॥ ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः कांबोजमत्स्यकुरुकेकयसृंजयाद्याः। यास्यत्यदर्शनमलं बलभीमपार्थव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम्॥" इति। न च पुराणांतराप्रसिद्धत्वेन सा लीला न संभाव्या पाद्मब्रह्मांडयोः स्पष्टत्वात्। न च भक्तिगतिसाम्येन तेषां सा प्राप्तिरसमंजसा शुद्धभक्तैस्तादृशप्राप्तेरनुपादेयत्वात् 'नात्यंतिकं विगणयंत्यपि ते प्रसादम्' इत्याद्युक्तेः। "अघासुरविघाती च पूतनामोक्षदायकः" इति श्रीशंकरेणापि संमोहने गोपालसहस्रनामसु पठितमिति॥ ६१॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विचारमेवाह—सर्वेषामपि प्राकृताप्राकृतवस्तूनां भावरूपो योऽर्थः सत्ता स भवति तत्सत्ताश्रयसत्तावति उपादानादौ वस्तुनि स्थितः स्यात् एवं यद्यदुपानाद्यात्मकं वस्तु तस्य सर्वस्यापि भगवान् तत्तत्सर्वशक्तिविशिष्टः श्रीकृष्ण एकस्तादृश इत्यर्थः। "अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते" इत्यादिकस्य श्रीब्रह्मणैवानुभूतत्वादिति भावः। तस्मादेतत्सर्वकारणादित्वेन स्वयं भिन्नादपि तस्मादन्यत् किं वस्त्विति तन्निरूप्यतामित्यर्थः। तदेव तस्य सर्वमूलाधारत्वे सिद्धे तेषां बालवत्सानां च तत्प्रादुर्भावत्वे सिद्धे स्वभावत एव तादृशप्रेमास्पदत्वं पूर्वयुक्त्या श्रीव्रजवासिषु तच्चाधिकं युक्तमेवेति ज्ञापितम्। अथवा ननु, कथमेषु श्रीयशोदानन्दन एव सर्वात्मेत्युच्यते यदि भगवद्रूपत्वेनोच्यते तर्हि सन्त्यन्यानि बहूनि तद्रूपाणि इत्याशङ्क्याह, वस्तुत इति स्यास्तु सहस्रशीर्षादि चरिष्णु तत्तदवतारादि तत्तदखिलं भगवद्रूपम् इह श्रीकृष्ण एवेत्यादिपूर्ववत् किञ्च सर्वेषामिति सर्वेषामेव भावानां पदार्थानां मध्ये भावः प्रेमा तद्रूप एवार्थः पुरुषार्थः स्थितः पर्यवसितो भवति तात्पर्यपर्यवसानविषयो भवतीत्यर्थः। तस्य प्रेम्णोऽपि भगवान् कृष्ण इति पूर्ववत् तं तिरोहितसर्वविलक्षणगुणरूपत्वेऽपि सर्वतः पूर्णपरमानन्दस्वरूपम् विना तस्याप्यलब्धस्वत्वतिष्ठत्वात् तस्मात्ततो ऽन्यद्वस्तु निरूप्यतां यत्प्रेमयोग्य स्यादिति तदेवमपि पूर्ववत् स्वाभाविकप्रेमास्पदत्वमेव स्थापितमिति॥ ५७॥ तदेव प्रेमदस्वभावादपि श्रीकृष्णादघासुरादिवदघयुक्तानामेव मोक्षमात्रं परमफलं तस्मादेवान्येषां तु तत्तन्माधुर्यज्ञानेन मोचकतामात्रं गुणमुपादायापि तत्पदमाश्रयतां श्रीब्रह्मादिवत्परमप्रेम्णा तदुचितपरमतत्पदप्राप्तिरेव फलं मोक्षस्तु भावी भवन् भूतो वेति तदाश्रयाणां दैन्यानुसन्धातुं शक्यः स्यादिति सर्वप्रकरणार्थं मुहुः संहरति, समाश्रिता इति। पुण्यं तद्धेतुश्चारु वा यशो यस्य तादृशतया मद्विधवर्ण्यमानगुणो

य इत्यर्थः। यश्च नरकासुरसेनापतेर्मुरस्य हन्ता अवनरकसदृशानेकमोक्षदातेत्यर्थः तस्य श्रीकृष्णस्य पदमेव पल्लवः सौकुमार्यादिगुणैः स्वतः परमसुखद इत्यर्थः। स एव प्लवः तादृशसुखदत्वाज्ञानेन तत्तरणोपायमात्रतया जात इत्यर्थः। अत्र पल्लवपदेन तेषां क्रूरत्वादिकं पदस्य महौषधिपल्लववन्महाप्रभावत्वञ्च सूचितं तादृशं तं तथा ये समाश्रितास्तेषामपि वस्तुस्वभावतः सुखोदयेन भवाम्बुधिर्वत्सपदं भवति तर्त्तव्यस्तीर्णो वेति अपि न ज्ञायेत तस्य न तत्फलमित्यर्थः किन्तु परम्पदं तन्नित्यधामैव निजप्रेमानुसारेण पदं स्थानं भवति विपदां यत्पदं जगत्तत्तु न यतो महतां तन्नित्यपार्षदानां पदमिति ॥ ५८ ॥ यदित्येव प्रपञ्चयति—यदिति ॥ ५९ ॥ श्रीब्रह्मणस्तत्प्रार्थितं सेत्स्यति। न वेति सन्दिहानं प्रति कौतुक्येनाह, एतदिति। व्यक्तेतरं व्यक्तादितरत् प्रपञ्चातीतमित्यर्थः सर्वत्राप्यन्वितमिदम् अघार्दनादीनां सर्वेषां श्रीभगवत्स्वरूपशक्तिविलासत्वात् अकारान्तत्वमार्षं शृण्वन् गृणन् तत्तत्प्रवृत्तिमात्रेणैवेत्यर्थः। तदैव सूक्ष्मतया फलोदयात्तेन नर इति चाधिकारानपेक्षत्वमुक्तम् ॥ ६० ॥ कौमारलीलामुपसंहरति—एवमिति। एवमेतदुपलक्षणकैरित्यर्थः। जहतुः संवृतवन्तौ व्रज इति कदाचिदप्यन्यत्र कौमारलीलासम्बन्धो नास्तीति सर्वतो व्रजस्योत्कर्षं सूचयति, निलायनं नाम कश्चित् कुत्रापि निलीय स्थितो अन्येन परिमृग्य दृश्यत इत्येवं मर्कटोत्प्लवनमादिः प्रथमं येषां तैः सेतुबन्धैरिति श्रीरघुनाथलीलानुकरणं खल्विदम्, बहुत्वं पौनःपुण्यात् एवं चाल्यमानयन्त्रमन्त्रवारणादिभिर्युद्धाद्यनुकरणमपि गम्यम् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कुतः? परमकारणत्वेन सर्व्वत्रैव विद्यमानत्वादित्याह सर्वेषामिति, तैर्व्याख्यातमेव। अथवा ननु, कथमखिलात्मनामात्मानमित्युच्यते,—तेषां तत्स्वरूपत्वेन ततो भेदाभावात्? तत्राह—वस्तुत इति, अकारप्रश्नेनैव कृष्णस्य तत्त्वमजानतामेवाखिलं तत्स्वरूपं भवति, जानतान्तु भिन्नत्वेन परिस्फुरतीत्यर्थः। कुतः? परमकारणतया तस्य कार्य्यतो भिन्नत्वादिति। तामेव दर्शयति—सर्व्वेषामिति। अर्थः स एव अथवैतादृशज्ञानतोऽपि तस्य श्रीमूर्त्तिषु भक्तिः परमफलेत्याह—प्रस्तुत इति। अत्र स्थातुं स्थावरन्तु श्रीमूर्त्त्यादिकम्, चरिष्णु च तदभक्तलक्षणम्, यद्वा, स्थास्नु—अचल-श्रीमूर्त्तिलक्षणम्, चरिष्णु—श्रीशालग्रामशिलादिकमखिलं श्रीभगवतो रूपमधिष्ठान कृष्णं साक्षात् कृष्ण एवायमिति जानतामिह जगति किञ्चिदतत् तद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदन्यत् मोक्षादिकं वस्तूपादेयं न भवति; किन्तु कृष्णो भगवद्रूपमेव वा वस्तु स्यादित्यर्थः। श्रीभगवतः परमवस्तुत्वमेवोपपादयति—सर्व्वेषामिति। अर्थः समान एव। यद्वा, वस्तूनां मध्ये भावः प्रेमा तद्रूपोऽर्थो वस्तुस्थितो विचारेण सारतया स्थितो भवत्यन्येषां सर्व्वेषामेव तत्साधनत्वात्तस्य भावार्थस्यापि भगवान् प्रकटाशेषैश्वर्य्यः कृष्णः स्थितो भवति,—तेन प्रेम्णापि तस्यैव साध्यत्वात्। यद्वा, तस्य भगवान् परमेश्वरः श्रीनारायणस्तस्यापि कृष्णः श्रीनन्दनन्दनो निजाशेषभगवत्ता-प्रकटनेन ततोऽप्यस्य श्रैष्ठ्यात्। वस्तु परमफलरूपम्, अतत्—तद्व्यतिरिक्तं किमस्ति, तन्निरूप्यताम्, अपि तु नास्त्येवेत्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥ ५७ ॥ अतस्तदेकशरणानामयत्नतो महादुःखावलीविनाशः श्रीवैकुण्ठलोकलाभश्च सुखं सम्पद्यत इत्याह—समाश्रिता इति। पदमेव पल्लवः सौकुमार्य्यारुण्यादिना; यद्वा, पल्लवशब्देन पदस्य कल्पद्रुमत्वं ध्वन्यते,—पदस्य पल्लवोऽङ्गुलिरेकेत्यर्थः; स एव प्लवः पोतस्तं सम्यक् तदेकनिष्ठत्वादिना शरणागतत्वेनाप्याश्रिताः। महतां मुक्तानामपि किंवा भगवद्भक्तानां श्रीनारदादीनां पदमाश्रयं पुण्यं परमं-मंगलं परमोत्तमं वा यशोऽघासुरमोचनलक्षणं यस्य तादृशो यो मुरारिर्भगवान् श्रीकृष्ण इत्यर्थस्तस्य, यद्वा, नरकासुरसेनानीमुख्य-मुरदैत्य-हन्ता मुरारिः श्रीकृष्ण एव प्रसिद्धः, यद्वा, पुण्यं यशो भवति भक्तानां यस्मात्तदिति महत्पदविशेषणम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, यद्यस्माद्विपदां पदं विघ्नवर्गस्तेषां कदापि न भवति ॥५८॥ यदित्येव प्रपञ्चयति—यदिति, यद्वा, यत् परिकीर्त्तितम्। इहास्मन्नर्थे यत् पृष्टमिति ॥ ५९ ॥ किं वक्तव्यम्, समाश्रितानां तत्तत् स्यादिति। तस्यैतल्लीला—श्रवणादिना सर्व्वार्थसिद्धिः स्यादित्याह—एतदिति तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, सुहृद्भिः सह चरितं कृतमिति सर्व्वेषामेव विशेषणमघार्दनादेस्तैः सहितेनैवाचरणात्। तत्र रूपे साहित्यं तेषामेव रूपाचरणात्, ब्रह्मस्तुतौ च तेषामपि माहात्म्यपूर्णत्वात्। शिक्यमोषणादिकं चाघार्दनलीलान्तर्गतमेवेति पृथङ्नोक्तम्। व्यक्तेतर प्रपञ्चातीतमिदमपि सर्व्वेषामेव विशेषणम्;—अघार्दनादीनां सर्व्वेषामपि तेषामत्यन्तालौकिकत्वात्। अन्तकारान्तत्वमार्षम्, शृण्वन्निति गृणन्निति च वर्त्तमानता तत्र तत्र प्रवृत्तिमात्रत्वाभिप्रेता। नर इति चाधिकारानपेक्षा ॥६०॥ इत्थ श्रीभगवतः कौमारलीलामुक्त्वान्यामपि द्वयोरेव भ्रात्रोर्व्वक्ष्यमाण-पौगण्डलीलानुसारेणैकत्रैव संक्षिप्य तामुद्दिशन् समापयति-एवमिति, ईदृशैर्जहतुः संवृतवन्तौ। व्रज इति कदाचिदप्यन्यत्र कौमारलीलासम्बन्धो नास्तीति सर्व्वतो व्रजस्योत्कर्षं सूचयति। निलायनं नाम कश्चित् कुत्रापि निलीय स्थितोऽन्येन परिमृग्य दृश्यत इत्येवम्। यद्वा, (भा० १०।३७।२६) 'चक्रुर्निलायनक्रीडां चौरपालापदेशतः' इत्यग्रे वक्ष्यमाणप्रकारकम्, सेतुबन्धश्च कुतोऽपि निःसरतो जलस्य मृत्तिकादिना निरोधनम्, यद्वा, कदाचिज्जलविहारादौ श्रीरघुनाथकृतसेतुबन्धं दिदृक्षमाणानां वयस्यानां प्रीत्यै वानरायितैस्तैरेव सरोवरमध्ये सेतुनिर्म्माणम्, तथा श्रीमधुपुर्य्यां श्रीमज्जन्मस्थान-पश्चिमभागे, बहुत्वम्,—तत्तद्बाहुल्यात् पौनःपुन्याच्च, आदिशब्देन कन्दुकोत्क्षेपणादीनि ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां चतुर्द्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

कार्यकारणानन्यत्वमेवाह— सर्वेषां वस्तूनां स्थूलावस्थचिदचिद्वस्तूनां भावार्थः सत्यत्वरूपोऽर्थः अभिधेयो भवति इति भवत्स्वरूपपर्यवसिते तस्मिन् सूक्ष्मावस्थचेतनसमष्टिगर्भके महद्ब्रह्मणि जगद्योनिभूते प्रकृत्याख्ये सूक्ष्माचेतन इति भवच्छब्दार्थे स्थितः इति कालत्रये पदार्थसत्यत्वमुक्तं सर्वपदार्थसत्ख्यातिस्वीकारात् अत एवैकादशे श्रीभगवता श्रीकृष्णचन्द्रेण "विकल्पः ख्यातिवादिनाम्" इति वक्ष्यते विविधतया कल्प्यते रच्यत इति सत्पदार्थ इत्यर्थः। तस्यापि भवच्छब्दार्थसूक्ष्मावस्थचेतनस्यापि चेतनसमष्टिरूपगर्भदातृत्वेन भगवान् ज्ञानबलादिषड्गुणैः परिपूर्णः श्रीमन्नारायणः परं ब्रह्म परं तत्त्वं सर्वश्रुतिशिरःप्रतिपाद्यः श्रीकृष्णः परममाधुर्यविशिष्टस्वरूपरूपगुणविभवैश्वर्यः सौशील्याद्यनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणनिधिः स्वभक्तप्रपन्ननित्याकर्षकः सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वादिस्वरूपरूपगुणकश्च "पिता माता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः" इति श्रुत्युक्तः "अहं बीजप्रदः पिता" इति गीतासु स्ववचनोक्तः "सर्वकारणकारणम्" इत्युक्तश्च अतः अतद्वस्तु न तद्वस्तु अतद्वस्तु तद्भिन्नं वस्तु किं वर्त्तते यदि तद्भिन्नं वस्तु वर्त्तते तर्हि रूप्यतां कथ्यतामिति प्रश्नः अतः—

"पिता च रक्षकः शेषी भर्त्ता ज्ञेयो रमापतिः। स्वाम्याधारोऽयमात्मा च भोक्ता चेति मनूदितः" ॥ इति।

नवविधसम्बन्धानुसन्धानवतां सर्वस्य भगवच्छेषत्वानुसन्धानं स्वस्य चाधेयत्व–विधेयत्व–शेषत्वानुसन्धानेन श्रीभगवदधीनसत्तास्थितिप्रवृत्तिकत्वमिति, विशदमनुसन्धेयम् ॥ ५७ ॥ अत एव श्रीभगवच्छरणागतिरेव श्रीमदाचार्यकारिता सर्वाधिकारिका इति सुस्पष्टमाह–समाश्रिता य इति। ये पुरुषा मुरारेः मुरहननसमर्थस्य भाविनोऽपि भूतवन्निर्देशश्चानादिसिद्धनामवत्त्वं हरेः सूचयतीदं पदं पुण्ययशाश्चासौ मुरारिः तस्य पदपल्लवप्लवं पदश्चरणः स पल्लव इव शीतलः सुखदः प्लवः नौकातुल्यः सान्निध्यस्पर्शाभ्यामेव तारकत्वं व्यञ्जितम् महत्पदं महतां ब्रह्माण्डाधिष्ठानामपि पदमाश्रय तेषां भवाम्बुधिः जन्ममृत्युप्रवाहरूपः संसारः समुद्र इव दुस्तरोऽपि वत्सपदं वत्सपदतुल्यं भवेत् अयत्नतरणीयो भवेत् परं पदं स्थूलावस्थचिदचिद्विशिष्टब्रह्मणः लीलाविभूतिविशिष्टस्य परं विरजातश्च परम्पदं परमव्योमाख्यं श्रीवैकुण्ठं पदं स्थानं स्वगृहरूपं भवेत् विरजाप्रमाणञ्च "प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। वेदान्तस्वेदजनिततोयविस्राविता च सा" इति "अर्चिरादिना तत्प्रथिते (४।३।१) इति सूत्रकृदभिमतार्चिरादिना एव गमनेन प्रपन्नानां परमपदप्राप्तिः अत एवात्मात्मीयभरसमर्पणवतां प्रपन्नानां यद्विपदां पदं संसारभ्रमणरूपं तत् तेषां न भवेदेवेत्यर्थः ॥ ५८–६१ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नान्यद्वस्त्वस्तीत्येतदेवोपपादयति—सर्वेषामिति। धातुशब्दोऽत्र "भूवादयो धातवः" (१।३।१) इति सङ्केतितधातुपरः स च तदुत्तरप्रत्ययानां तदुभयार्थानां चोपलक्षकः सर्वे शब्दा व्युत्पन्ना इति व्युत्पत्तिपक्षश्चाभिप्रेतः भवतिरिति भूधातुः "एकस्तिपौ" धातुनिर्देशे इति विहितस्तिप्प्रत्ययान्तोऽत्र निर्दिष्टः तदयमर्थः। सर्वेषां शब्दानां तदर्थानां च यो भावः सत्ता स एवार्थोऽभिधेयो यस्य तथाभूतो भवतिर्भूधातुः स्मृतः "भू सत्तायाम्" इति स्मृत इत्यर्थः सत्ता च प्रमाणसम्बन्धार्हत्वरूपा एवं च तस्य सर्वशब्दतदर्थानाञ्च या सत्ता तद्बोधकस्य भूधातोस्तदर्थतत्प्रत्ययतदर्थादेरपि शब्दात्सर्वधातुतत्प्रत्ययतदुभयार्थानाञ्च यो भावः सत्ता स भगवान् श्रीकृष्णः तत्सत्तानिर्वाहकः कृष्ण इति, भावग्रहणं प्रवृत्तिस्थित्योरुपलक्षणं सर्वशब्दः तदर्थसत्तास्थितिनिर्वाहकः इति फलितार्थः। एवं च सति कृष्णात्पृथक्सिद्धं वस्तु किमस्ति ? तन्निरूप्यतामिति, किमतद्वस्त्विति पाठे अन्यदकृष्णात्मकं वस्तु किमस्ति ? यन्निरूप्येतेत्यर्थः एव भगवतः परत्वं सर्वकारणत्वं चोपपाद्य "ब्रह्मविदाप्नोति परं, कारणन्तु ध्येयः" इति श्रुत्युक्तरीत्या तद्वेदनमेवानिष्टपरिहारपूर्वकेष्टप्रापणक्षममिति वदन्नुपसंहरति समाश्रिता इति। पुण्यं यशो यस्य तस्य मुरारेर्महत्पदं महतामाश्रय पदपल्लवं ये समाश्रिताः समाश्रयणमत्र न्यासोपासनान्यतररूपं तेषामेव भवाम्बुधिर्वत्सपदतुल्यो भवति नान्येषामित्यर्थः किञ्च, परं पदं वैकुण्ठाख्यं पदं स्थानं भवति इति। विपदां दुःखानां यत्पदं विषयः संसारः तत्पुनः कदाचिदपि तेषां न भवति पुनर्न निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ ५७–५८ ॥ प्रश्नस्योत्तरं कथितमित्याह बादरायणिः–एतदिति यत्प्रत्यहं पृष्टः किं तद्यत्कौमारे श्रीकृष्णकृतं तत्कथमर्भकाः पौगण्डे विदुरित्येतदेतदुत्तरं सर्वं ते तुभ्यं मे मया ख्यातम् ॥५९॥ अध्यायत्रयार्थश्रवणादिफलमाह–एतदिति। सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" इत्यादिनोक्तं मुरारिकर्तृकमघासुरहननं शाद्वले भोजनं जेमनमिति पाठेऽपि स एवार्थः व्यक्तात्मकृतिरूपादितरद्रूपं शुद्धसत्त्वात्मकं वत्सवत्सपादिरूपमजस्य ब्रह्मणोऽभिष्टवं स्तुतिं चेत्येतत्सर्वं शृण्वन्गृणन्कथयंश्च पुमानखिलानभीष्टानर्थान्प्राप्नोति ॥ ६०–६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीश्रीनिवाससूरिकृता तत्त्वदीपिका

अतः फलितार्थमाह—सर्वेषामिति। सर्वेषामपि वस्तूनामचित्पदार्थानां देहादीनां भावार्थः सत्ता भवति चेतने त्वयि स्थितः कुतः ? सर्वस्याचित्पदार्थस्य चेतनाधारत्वात् तस्यापि भवतश्चेतनभूतस्य तव भगवान् कृष्ण आधार इति शेषः। भवान्

भगवति कृष्णे स्थित इत्यर्थः। अतोऽस्तद्वस्तु किमस्ति ? तद्रूप्यतां निरूप्यतां तथा च श्रुतिः "यथा रथस्यारासु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमेव भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः" इति ॥ ५७ ॥ तस्मात् श्रीकृष्णस्यैव निरुपाधिकसर्वशेषित्वात्सर्वाधारत्वात्सर्वसेव्यत्वात्सर्वफलप्रदत्वाच्च तदाश्रितानां मोक्षो हस्तगत एवेत्याह—समाश्रिता इति। पुण्यं यशो यस्य स पुण्ययशाः स चासौ मुरारिश्च तस्य पादपल्लवं कथम्भूतं महत्पदं महतां भागवतानां पदमाश्रयभूत तदेव प्लवस्तं ये समाश्रिताः प्रपन्नास्तेषां भवाम्बुधिः संसारसमुद्रो वत्सपदमात्रं भवति परम्पदं वैकुण्ठाख्यं पदं भवति संसारनिवृत्तिपूर्वकनित्यमुक्तभोग्यस्थानं भवति यद्विपदां पद शोकमोहादिरूपं यत्पदं तत्कदाचित्तेषां न भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः "न स पुनरावर्त्तते देवानां पूरयोध्या" इत्यादि एतच्छ्रुतिव्याख्यानुरूपं सूत्रमपि प्रमाणम् "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" (४।४।२२) इति ॥ अत्र "उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वताफलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये" इति षड्विधतात्पर्यलिङ्गेनापि जीवेश्वरयोः स्वरूपभेद एव प्रतीयते तथाहि उपक्रमे तावत् नौमीड्यत्यनेन नन्तृनन्तव्यभावेन स्वरूपभेद एव उक्तः उपसंहारेऽपि "श्रीकृष्णवृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्" इत्यारभ्य अर्हन् भगवन्नमस्ते, इत्यन्तं भगवतो निरुपाधिकमनन्तव्यत्वेन स्वस्य नन्तृत्वेन च जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपभेद एव समर्थितः। अभ्यासोऽपि तस्यैव दृश्यते तथा हि "श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो !, तथापि भूमन्महिमाऽगुणस्य ते, तत्तेनुकम्पाम्, पश्येश ! मे नार्यम्' अतः क्षमस्व, क्वाहं, नारायणस्त्वं नहि सर्वदेहिनाम्, अजानतां त्वत्पदवीं, को वेत्ति भूमन्, एकस्त्वमात्मा, एवंविधं त्वां सर्वात्मनामपि स्वात्मानं, त्वामात्मानं परं मत्वा, अन्तर्भवेऽनन्त ! भवन्तमेव, तदस्तु मे नाथ ! सभूरिभागः, अनुजानीहि मां कृष्ण ! सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्" इत्यादिभिर्वाक्यैर्भेद एवोपपादितः अपूर्वता प्रमाणान्तराप्राप्तिः नहि शास्त्रप्रमाणं विना जीवपरमात्मनोः स्वस्वामिभावसम्बन्धज्ञानं जायते फलमपि मोक्षरूपः "गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्त्येव भवानृताम्बुधिम्" इत्यादिभिः प्रतिपादितम् अर्थवादोपि—

"जगत्त्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात्। विनिर्गतोऽजस्त्विति वाङ्न वै मृषा किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोस्मि" ॥

इत्यादिना दर्शितः उपपत्तिस्तु "असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणन्तं किमुयन्ति" इत्यनेनानुपपत्तिमुक्त्वा "अथापि ते नाथ ! पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि। जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नः" इत्यनेन दर्शिता, अत उपक्रमादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गेन जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपभेद एव प्रतिपादितः सामानाधिकरण्यं तु "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म" इत्यादिभिर्मुख्यतयोपपद्यते अतः शरीरशरीरिभावेन सामाधिनाधिकरण्येनाभेदः स्वरूपेण तु भेद एव तथा "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मानावीशते देव एकः, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" इत्यादिश्रुतयः स्वाभाविकं भेदं प्रतिपादयन्ति स्मृतिरपि—

"यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः। नान्यथा लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे तथैव च" ॥ इत्यादि।

अत एव ये चिन्मात्रस्वरूपं निर्विशेषं गुणशून्यमेव ब्रह्मेति वदन्ति ते स्वमतिविजृम्भितत्वेन स्वगोष्ठीनिष्ठा एव न तु प्रामाणिकाः कुतः इति चेत् ? तादृशस्य ब्रह्मणः श्रुतिस्मृतीतिहासादिषु कुत्राप्यश्रवणात् जीवेश्वरयोरविद्यामयौपाधिकत्वाभावात् अन्यथा तयोरादिमत्त्वापत्तेर्नित्यत्वप्रतिपादक—"नित्यो नित्यानां, द्वावजो, अजो नित्यः शाश्वतः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तेर्व्यासपराशरादीनां तयोरनादित्वेनाभिमतत्वाच्च। ननु' सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"—

"यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्" ॥

इत्यादि श्रुतिस्मृतिभिः सर्वस्य मिथ्यात्वश्रवणात् निर्विशेषमात्रप्रतीतेः कथं तादृशस्य ब्रह्मणः स्वाभाविकसगुणत्वमिति चेदहो विद्वत्ता ! हन्त त्वदुक्तानां श्रुत्यादीनामर्थमज्ञात्वा त्वयोपन्यस्ता एताः कथमिति चेच्छृणु सर्वं खल्विति सर्वं ब्रह्मात्मकमित्यर्थः "नेह नाना" अब्रह्मात्मकत्वेन स्वनिष्ठं किञ्चिदपि नास्ति, नेदं यदिदं यन्मनुष्याः प्रकृतिविकारमुपासते तन्नित्यं न भवतीति प्रतिपादयति, न पुनः "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति श्रुतिप्रतिपादितमप्राकृतदिव्यविग्रहमपि निषेधति "यदिदं मनसा वाचा" इत्याद्यपि दृश्यमानं देवत्वादिकमेव निषेधति। अन्यथा "सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः" इत्यादीनां दत्तजलाञ्जलिः स्यात् अतः सर्वस्य तच्छरीरतया तन्निष्ठत्वात्तद्व्यतिरेकेणाब्रह्मात्मकस्य निषेधात् अस्मदुक्तरीत्या श्रुतिस्मृतीतिहासादीनां विरोधाभावात्सर्वं सुस्थम् अतोऽत्र निर्विशेषब्रह्मणो जीवेश्वरयोः स्वरूपैक्यस्य च गन्धोऽपि न प्रतीयते इति व्यासपराशराद्यनुगामिनां विशिष्टाद्वैतवादिनां पन्थाः ॥ ५८–६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीगोवर्द्धनकृतवासश्रीवेङ्कटाचार्यदासदासेन, श्रीश्रीनिवासदासेन,
विरचितायां तत्त्वदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विचारमेवाह—सर्वेषामिति । सर्वेषामपि प्राकृताप्राकृतवस्तूनां भावरूपो योऽर्थः सत्ता सम्भवति तत्सत्ताश्रयसत्तावति उपादानादौ वस्तुनि स्थितः स्यात् एवं यद्यत् उपादानाद्यात्मकं वस्तु तस्य सर्वस्यापि प्राकृताप्राकृतस्य भगवान् तत्तत्सर्वशक्तिविशिष्टः श्रीकृष्ण एकस्तादृश इत्यर्थः तदेव तस्य सर्वमूलान्ते सिद्धिस्तेषां बालवत्सानाञ्च तत्प्रादुर्भावत्वे स्थिते स्वभावत एव तादृशप्रेमास्पदत्व स्वाभाविकप्रेमात्मसु श्रीव्रजवासिषु अधिकं स्फुरन्तीति युक्तमेवेति भावः । तदेव प्रेमस्वभावात् श्रीकृष्णादघासुरादिवद्युक्तानामेव मोक्षमात्रं पुरुषार्थः, अन्येषां तु तन्माधुर्यज्ञानेन मोचकतामात्रं गुणनुपादायापि तत्पदमाश्रयतां श्रीब्रह्मादिवत् परमप्रेम्णा तदुचितपरमतत्पदप्राप्तिरेव पुरुषार्थः मोक्षस्तु भावी भवन् भूतो वेति तदाश्रयामोदेन नानुसन्धातुं शक्यः स्यात् तदानीन्तनमायावृतगोपबालकवत् इति ॥५७॥ सर्वप्रकारणार्थमुपसंहरति—समाश्रिता इति ॥५८॥ यदित्येव प्रपञ्चयति—यदिति ॥५९॥ श्रीब्रह्मणस्तत् प्रार्थितं सेत्स्यति नवेति सन्दिहानं प्रति कौतुकेनाह—एतदिति ॥ ६० ॥ मर्कटोत्प्लवनमादिर्येषां तैर्बहुत्वं पौनःपुन्यात् ॥ ६१ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ ब्रह्मस्तवस्य निर्गलितार्थमाह—सर्वेषामित्यादि । सर्वेषामेव भूतानां भावार्थः सत्तार्थः सत्तारूपपदार्थो भवति ब्रह्मणि स्थितः, तस्यापि भवतो ब्रह्मणो भगवान् कृष्णोऽवधित्वेन स्थित इत्यर्थः । यथोक्तम् 'भेदस्तु कथितो वेदैर्मणिततेजसोरिव' इति । अतोऽन्यत् कृष्णेतरत् किं वस्तु रूप्यतां निरूप्यताम् । कृष्ण एव ब्रह्म, न तदतिरिक्तं तदिति वाक्यार्थः । अतः (भा० १०।१३।३) "ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत" इति यद् प्रतिज्ञातम्, तदेतदतिरहस्यमध्यायद्वयेन कथितमिति ॥ ५७-६१ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

सर्वेषामित्यादि । सर्वेषां वस्तूनां भावार्थो भवति सत्तायां सत्तामात्रे ब्रह्मणि स्थितः, तस्यापि ब्रह्मणः श्रीकृष्ण एव भवत्कारणम् ॥ ५७-६१ ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कुत इति तदाह - सर्वेषामपि । स्थावरजङ्गमानां भावः भवन्त्यस्मादिति भावः कारणं प्रधानं तद्रूपोऽर्थः स्थितः स्थिरो भवति तस्यापि भावस्य भावः कारणं कृष्ण एव अतः किमतत् श्रीकृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु रूप्यताम् । यद्वा, वस्तूनां बुद्धीन्द्रियादीनां भावार्थः व्यङ्ग्योऽर्थः आत्मा स्थिरो भवति तस्याप्यंशत्वात्तद्व्यङ्ग्यो अंशी श्रीकृष्णः अतः किमतत् तद्भिन्नं वस्तु किं किमर्थं रूप्यतां स एव केवलं सेव्य इत्यर्थः ॥५७॥ तदेवं साधितं श्रीकृष्णस्यैव तच्चरणाश्रयणैकहेतुकान्मायातरणादेवानुभवगोचरी भवतीति तच्चरणाश्रयिणामेव सर्वोत्कर्षमभिव्यञ्जयति—समाश्रिता इति । पुण्यं चारु मनोहरं यशो यस्य तस्य मुरारेः पदपल्लव एव प्लवस्तं ये सम्यक् कैवल्येनाश्रिताः कीदृशं महतां पदम् आश्रयं तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदं तीर्णतर्त्तव्यवस्तुमानानास्पदं भवति परं पदं नित्यधाम श्रीवृन्दावनवैकुण्ठादि तेषां पदमास्पदं विपदां यत्पदं दुर्विषयः तत्खलु तेषां कदाचिदपि न भवतीति तेषां मतिस्ततोऽन्यत्र नासज्जते इत्यर्थः ॥ ५८-५९ ॥ सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" इत्यादिनोक्तं व्यक्तात् प्रपञ्चादितरत् अतकारान्तत्वमार्षम् अजस्य उरुर्महानभिसर्वतो भावेन स्तवस्तम् ॥ ६० ॥ "ब्रह्मन् ! कालान्तरकृतं तत्कालीनम् कथं भवेत्" इति राजप्रश्नोत्तरं समाप्य पुनस्तां कथामेवामवलम्बमान आह—एवमिति । जहतुः संवृतवन्तौ निलायनैः निलीयस्थितिं तदन्वेषणाद्यैः सेतुबन्धलङ्काप्रयाणक्षीराब्धिमथनादिभिरवतारान्तरचरितैः ॥ ६१ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । चतुर्दशोऽयं दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एतदेवोपपादयति—सर्वेषामिति । सर्वेषां वस्तूनां भावेन सत्तापरपर्यायेण सहितोऽर्थः स्थितिप्रवृत्त्यादिनामकः भवतीति भवत् परिणामं प्राप्नुवत् कारणम् एतस्मिन् स्थितः कारणं विना कार्यसत्तास्थितिप्रवृत्त्याद्यसम्भवात् तस्यापि भवतः कारणस्य भगवान् कृष्णो भवत् कारणमस्ति अतः किमतदकृष्णात्मकं वस्तु अस्ति यद्रूप्यतां यन्निरूप्येत ॥ ५७ ॥ अतः सर्वकारणकारणस्य श्रीकृष्णस्योपासनया संसारनिवृत्तिः परमपदप्राप्तिश्च भवतीति प्रकरणार्थमुपसंहरति—समाश्रिता इति । पुण्यानि यशांसि यस्य सः पुण्ययशाः मुरस्यारिर्मुरारिः स चासौ स च तस्य पदपल्लव एव प्लवस्तं महतां पदमाश्रयं ये सम्यगाश्रिताः तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदतुल्यं भवति परम्पदं परमं वैकुण्ठं पदं स्थानं भवति विपदामापदां यत् पदं विषयः तत्पुनः कदाचिदपि न भवति ॥ ५८-५९ ॥

सुहृद्भिः सह मुरारेः एतत् "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" इत्यादिनोक्तं चरितम् अघासुरहननं च शाद्वले जेमनं च व्यक्तेतरम-प्राकृतं रूपं च अजस्य यः उरुर्महानभिष्टवः स्तवस्तं च शृण्वन् गृणन् नरः अखिलार्थानेति प्राप्नोति ।। ६० ।। कौमारं जहतुरिति कौमारावस्थागोपनं कृतवन्तौ ।। ६१ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे चतुर्दशाध्यायार्थप्रकाशः ।। १४ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सर्वेषां देहेन्द्रियादीनां वस्तूनां भावार्थो व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्प्रवृत्तिबोध्यो जीवात्मा स्थिरो भवति कौटस्थ्यात् तस्याप्यंश-त्वात्तद्व्यङ्ग्योंऽशी कृष्ण एव निरूप्यताम् । अतः तद्भिन्नं वस्तु निरूप्यतां नेत्यर्थः ।।५७।। सर्ववृत्तिप्रदस्य सर्वस्वामिनः श्रीकृष्णस्य चरणाश्रयणादेव मुक्तिरित्युपसंहरति समितिं । पुण्यं यशो यस्य चासौ मुरारिश्च कृष्णस्तस्य पदपल्लव एव प्लवो नौस्तं ये सम्यगेकान्तिभावेनाश्रिताः । कीदृशं ? महतां पदमाश्रयं तेषां भवाम्बुधिर्दुष्पारोऽपि वत्सपद भवति, पद पदं परव्योमपदं स्थानं भवति यद्विपदां पदमाश्रयस्तत्तेषां न भवति न च पुनरावर्तत इति श्रुतेः ।। ५८–५९ ।। सुहृद्भिश्चरितं "मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्" इत्यादिभिरुक्तम् । शाद्वले जेमनं भोजनं व्यक्तेतरप्रपञ्चादन्यत्रूप चिद्घनवत्सतत्पालादि अतान्तमार्षम् अजस्य विरञ्चेरुरुर्महान-भिसर्वतोभावेन स्तवस्तम् ।। ६० ।। इत्थमवशिष्टां कुमारलीलामभिधाय तत् समापकं पद्यं पूर्वोक्तमेवाह—एवमिति ।। ६१ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

श्रीसुबोधिनी

किञ्च, न केवलं सर्वस्य भगवत्त्वे महतां दृष्टिरेव प्रमाणमपि तु युक्तिरपि अत आह—सर्वेषामिति । सर्वपदार्थानाम-बाधितोऽर्थो भवति कारणे स्थितः कारणातिरिक्तं कार्यं नास्तीति तस्य कारणस्यापि कारणं तत्त्वं भगवानेव अतो भगवद्व्यतिरिक्तं वस्तु किं निरूप्यतां स्नेहोऽपि धर्मः जगद्वत् पूर्वमुत्पन्नः अतो भगवत्येव युज्यत इति प्रसङ्गात्तस्य कारणत्वमुक्तम् ।। ५७ ।। सर्व-पुरुषार्थरूपत्वाच्च तस्मिन् स्नेह इत्याह—**समाश्रिता इति** ये मुरारेः पदं समाश्रिताः पुण्यं यशो यस्य पदपल्लव एव प्लवः तत्स्व-भावतोऽपि महत्पदं तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदं परम्पदं तु पदम्, विपदां यत्पदं न तत्तेषां पदम् ।। ५८ ।। उपसंहरति —**एतत्त इति** । कौमारे यद्धरिणा कृतं तत्पौगण्डे परिकीर्त्तितमित्यत्र तत्रानुपपत्तिः परिहृतेत्यर्थः ।। ५९ ।। अध्यायत्रयश्रवणकीर्त्तनयोः फलमाह—**एतदिति** । आदौ मुरारेः सुहृदां बालकानां चरितं क्रीडा ततः अघार्दनं ततः शाद्वले जेमनं भोजनं चकाराद्वत्सापहरणं व्यक्तादित-रमव्यक्तम् अलौकिकं भगवद्रूपमजस्योर्वभिष्टवं स्तोत्रं एतत्सर्वं शृण्वन् गृणन्नपि सर्वपुरुषार्थान् प्राप्नोति ।। ६०–६१ ।।

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रक्षिप्ताध्यायेपु तृतीयाध्यायविवरणम् ।। २ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्रोपपत्तिमाह—सर्वेषामिति । सर्वेषामपि वस्तुनां भावार्थः परमार्थः भवति भवत्परिणामं प्राप्नुवदिति कारणम्, तस्मिन् स्थितः । तस्यापि सर्वकारणस्य कारणं भगवान् कृष्ण एव, अतः अतत् कृष्णव्यतिरिक्तं वस्तु किं तत् रूप्यताम् निरूप्यताम् ।। ५७ ।। 'तस्मात् श्रीकृष्णस्यैव परमार्थत्वात्तदेकशरणानामेव अयत्नसिद्धो मोक्षो, नान्येषाम्' इति प्रकरणार्थमुपसंहरति—समाश्रिता इति । महतां ब्रह्मशिवादीनामपि पदमाश्रयभूतं, पुण्यं 'श्रवणादिपराणामन्तःकरणशोधकं' यशो यस्य स पुण्ययशाः स चासौ मुरारिश्च तस्य, पदपल्लव एव प्लवः संसारसिन्धुतरणे नौस्तं ये सम्यक् निष्कपटमाश्रिताः तेषां भवाम्बुधिः वत्सपदमिव सुतरो भवति । परं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं पदं स्थानं भवति विपदां दुःखानां यत् पदं स्थानं संसारस्तत्पुनः कदापि न भवति । न ततः पुनरावर्तन्ते इत्यर्थः ।५८। यत्त्वयाऽहमिह भगवल्लीलायामाश्चर्येण पृष्टस्तदेतत् प्रश्नस्योत्तरं सर्वं मया ते तुभ्यमाख्यातं प्रकथितम् । कथितमेवानुवदति—यदिति । यत् कौमारावस्थायामघासुरवधादि हरिणा कृतं तद्यथा तत्पौगण्डावस्थायां बालैर्व्रजे परिकीर्तितमिति ।। ५९ ।। अध्याय-त्रयश्रवणकथनपराणां फलमाह—एतदिति । एतन्मुरारेः सुहृद्भिश्चरितं, मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्' इत्यादिनोक्तं, अघार्दनमघा-सुरमोक्षणं च, शाद्वले हरिततृणे सखिभिः सह जेमनं भोजनं च, व्यक्तेतरत् व्यक्ताज्जडात् प्रपञ्चादितरत् शुद्धानन्दात्मकं, वत्सवत्स-पालादिरूपं च, अजेन ब्रह्मणा कृतमुरुं महान्तमभिष्टवं स्तोत्रं च, शृण्वन् गृणन् नरोऽखिलार्थान् सर्वपुरुषार्थान् एति प्राप्नोति ।।६०।। एवमुक्तप्रकारकैरन्यैरपि निलायनादिभिः कौमारैः कुमारावस्थायां योग्यैर्विहारैः कृत्वा व्रजे स्थितौ रामकृष्णौ कौमारं कुमारावस्थां जहतुस्त्यक्तवन्तौ इत्यर्थः । निलायनं निलीय स्थितिः सेतुबन्धः नद्यादिपु सेतुबन्धः । मर्कटवदुत्प्लवनं शाखातः शाखान्तरगमनम् । आदिपदेनानेकविधलीलान्तरग्रहणम् ।। ६१ ।।

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दारायाणां पादसेवाधिकारिणा ।। १ ।।
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ।। २ ।।
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । त्रयोदशो गतो ज्ञप्ति ब्रह्मस्तुतिनिरूपकः ।। ३ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

सर्वेषामिति ।। सर्वेषामपि स्थावरादिवस्तूनां भवत्यस्मादिति भावः कारणं प्रधानं तद्रूपोऽर्थः स्थितः स्थिरो भवति। तस्यापि भावस्य भावः कारणं भगवान् कृष्ण एव। यद्वा। भावार्थः सद्रूपार्थः परमार्थ इत्यर्थः। भवतीति भवत् परिणामं प्राप्नुवत् कारणं तस्मिन् भवति परिणामिनि स्थितः तस्यापि भवतः कारणस्यापि भगवान् कृष्णो भवत्कारणम् अतः अतत् कृष्णव्यतिरिक्तं किं वस्तु अस्तीति रूप्यतां निरूप्यताम् ।। ५७ ।। समाश्रिता इति ॥ महतां ब्रह्मशिवादीनाम् अपि पदमाश्रयभूतं महच्च तत्पदं चेति वा पुण्यं मनःशोधकं यशो यस्य स पुण्ययशाः स चासौ मुरारिश्च तस्य पदपल्लव एव प्लवः संसारसिन्धुतरणे नौस्तं ये सम्यक् निष्कपटमाश्रिताः तेषां भवाम्बुधिः वत्सपदमिव सुतरो भवति। परं पदं श्रीवैकुण्ठाख्यं पदं स्थानं भवति विपदां दुःखानां यत्पदं स्थानं संसारस्तत्तुनः कदापि न भवति। न ततः पुनरावर्तन्ते इत्यर्थः ।। ५८ ।। एतदिति ।। यत्त्वयाऽहमिह भगवल्लीलायामाश्चर्येण पृष्टस्तदेतत्प्रश्नस्योत्तरं सर्वं मया ते तुभ्यमाख्यातं प्रकथितम्। यत्कौमारावस्थायामघासुरवधादि हरिणा कृतं तद्यया तत्पौगण्डावस्थायां बालैर्व्रजे परिकीर्त्तितमिति ।। ५९ ।। एतदिति ।। एतन्मुरारेः सुहृद्भिश्चरितं मुष्णन्तोऽन्योऽन्यशिक्यादीनि इत्यादिनोक्तम्। अघार्दनमघासुरमोक्षणं च शाद्वले हरिततृणे सखिभिः सह जेमनं भोजनं च व्यक्तेतरत् व्यक्ताज्जडात् प्रपञ्चादितरत्। व्यक्तेतरमिति अदड्डादेशाभाववान् पाठस्त्वार्षः। स एव तोषणीसारार्थसंदर्शिनीभ्यां स्वीकृतः शुद्धानन्दात्मकं वत्सवत्सपालादिरूपञ्च। यद्वा। व्यक्तेतरच्चिद्विलासस्तदेव रूप्यत इति रूपम् अजेन ब्रह्मणा कृतमुरु महन्तमभिष्टवं स्तोत्रं च शृण्वन् गृणन् नरोऽखिलार्थान् सर्वपुरुषार्थान् एति प्राप्नोति ।। ६० ।। एवमिति ।। एवमुक्तप्रकारैरन्यैरपि निलायनादिभिः कौमारैः कुमारावस्थायां योग्यैर्विहारैः कृत्वा व्रजे स्थितौ रामकृष्णौ कौमारं कुमारावस्थां जहतुस्त्यक्तवन्तौ इत्यर्थः। निलायनं निलीय स्थितिः सेतुबन्धः नद्यादिषु सेतुबन्धः श्रीरामलीलानुकरणं वा मर्कटवदुत्प्लवनं शाखातः शाखान्तरगमनम् आदिपदेनानेकविधलीलान्तरग्रहणं तैः ।। ६१ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् ॥ गङ्गासहायो निरमाद्दशमस्य चतुर्दशे ॥
इति श्रीभागवते दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नान्यद्वस्त्वस्तीत्येतदेवोपपादयति ।। सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां ब्रह्माण्डे वर्त्तमानानां सकलानां अपि, वस्तूनां पदार्थानां, भावार्थः सत्तास्थितिप्रवृत्त्यादिरूपोऽर्थः, भवति परिणामं प्राप्नोति भवत् प्रकृतिपुरुषात्मकं कारणं तस्मिन्, स्थितः। तस्य अपि प्रकृतिपुरुषात्मककारणस्यापि, भगवान् कृष्णः कारणं, अतत् सर्वान्तरात्मककृष्णव्यतिरिक्तं, अब्राह्मात्मकमित्यर्थः। वस्तु किं रूप्यतां निरूप्यताम्। अयं भावः 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति श्रुतेः सर्वेषां प्रेमास्पदरसमूर्त्तिः श्रीकृष्णः स यदा नयनविषयतां प्राप्तस्तदा, सर्वेषां प्रेमातिशयस्तत्रैव भवेन्न तत्र परोद्भवात्मभवत्वादिविचार इति ।। ५७ ॥ एवं भगवतः श्रीकृष्णस्य परत्वं सर्वकारणत्व प्रेमास्पदत्वं चोपपाद्य 'ब्रह्मविदाप्नोति परं कारणं तु ध्येयः' इति श्रुत्युक्तरीत्या समाश्रयणपूर्वं तद्वेदनमेवानिष्टपरिहारकेष्टप्रापणक्षममिति वदन्नुपसंहरति ।। समाश्रिता इति ।। पुण्यं यशो यस्य स चासौ मुरारिश्च तस्य, पवित्रकीर्त्तेर्भगवत इत्यर्थः। महत्पदं महतामाश्रयं पदपल्लव एव प्लवस्तं, पल्लववत्सुकोमलचरणरूपनावमित्यर्थः। ये समाश्रिताः, समाश्रयणमत्र प्रपत्त्युपासनान्यतररूपं, तेषां एव, भवाम्बुधिः, वत्सपदं वत्सपदतुल्यो भवति नान्येषामित्यर्थः। किं च, परं पदं भगवद्धामापि तेषामेव प्राप्यं भवतीत्यर्थः। यत्, विपदां दुःखानां, पदं संसार इत्यर्थः। तत्, तेषां पदं स्थानं, कदाचिदपि, न भवति। न ततः पुनरावर्त्तत इत्यर्थः ।। ५८ ।। एवं त्वत्प्रश्नोत्तरं कृतमित्याह बादरायणिः ।। एतत्त इति ।। हे राजन्, इह त्वया, यत् अहं पृष्टः, तत् एतत्, सर्वं ते तुभ्यं, आख्यातम्। किं तत्। यत्, कौमारे, हरिकृतं श्रीहरिणा विहितं, तत् पौगण्डे, अर्भकैः व्रजे, परिकीर्त्तितं, तदाख्यातमिति संबन्धः ॥ ५९ ।। अथाध्यायत्रयार्थश्रवणादिफलमाह ॥ एतदिति ॥ मुरारेः एतत्, सुहृद्भिः चरितं 'मुष्णन्तोऽन्योन्यशिक्यादीन्' इत्यादिनोक्तम्। अघार्दनं मुरारिकृतमघासुरविमर्दनं, शाद्वलजेमनं चापि, व्यक्तेतरत् व्यक्ताज्जडात् प्रपञ्चादन्यत्, रूपं शुद्धसत्त्वात्मकवत्सवत्सपादिरूपं, अजोर्वभीष्टवं ब्रह्मणा कृतां महतीं स्तुतिं च, सर्वमपीदं शृण्वन्, गृणन् कथयन्, नरः पुमान्, अखिलार्थान् स्वाभीष्टसकलार्थान्, एति प्राप्नोति ॥ ६० ।। एवमिति ॥ पूर्वं व्याख्यातः, अन्ये त्वेनमत्र न पठन्ति ।। ६१ ॥

इति श्रीहरिकृष्णाख्यभगवत्पादषट्पदः। तत्पौत्रोऽकरवं व्याख्यां स्तुतेः कस्य यथामति ॥ १ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यविरचितायामन्वयार्थावोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धे चतुर्दशोऽध्याय ॥ १४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

यत्कौमार इति : १०.१४.५९.

कौमार आचरेदेवं प्रह्लादोक्तिमनुस्मरन्। युक्तं कौमार एवेदृक् क्रीडाकृद्भगवानभूत् ।। ६० ।।

योगज्ञानपदातिशायिचरितं भक्तिप्रवाहं स्फुटं यश्चक्रे व्रजबालकेलिकुतुकी लोकेषु सर्वेष्वपि ।
सोऽस्मान्पातु रमापतिर्निजजनत्राणात्तदीक्षः सदेत्यालोच्योऽत्र समन्वयो निगदितस्त्र्यध्यायी्युपात्तो बुधैः ।। ६१ ।।

एवमिति : १०.१४.६१.

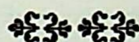
कौमारैरेव कौमारं विहारैर्जहतुर्व्रजे । इत्युक्त्या कर्मनिर्हारः कर्मणेऽप्यपि बोधितम् ।। ६२ ।।

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने चतुर्दशोऽध्यायः ।। १४ ।।

कृष्णप्रिया

सभी कार्यों के कारणरूप अर्थ ही स्थिर होते हैं भगवान् श्रीकृष्ण उन कारणों के भी कारण हैं तो फिर उनसे भिन्न कौन वस्तु हो सकती है ? यदि कोई वस्तु हो तो निरूपण कीजिये ।। ५७ ।। राजन् ! मुरारि-मुर नाम के दैत्य के शत्रु मुरारि भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी का यशस्वि पुण्यमय चरण पल्लव तो नौका है। उस नौका का अच्छी तरह से दृढता और श्रद्धा से आश्रय करने वाले प्रपन्न जनों के लिये यह संसार सागर तो बछड़े के खुर के समान हो जाता है और वैकुंठ धाम निवास बन जाता है और उनके जीवन में विपत्तियों का कोई स्थान नहीं होता ।। ५८ ।। राजन् ! आपने मुझसे जो प्रश्न किया था कि भगवान् ने जिस कार्य को पांचवें वर्ष में किया था बालकों ने उसे एक वर्ष के बाद आज ही हुआ है, यह समझकर क्यों कहा उसका समाधान मैंने कर दिया ।। ५९ ।। जो भक्तजन गोपाल बालकों का भगवान् श्रीकृष्ण के साथ खेलने, हरे हरे घासों पर जिमने अघासुर का उद्धार, स्वयं बालक और बछड़े के स्वरूप हो जाना और ब्रह्माजी की विस्तारपूर्ण स्तुति इत्यादि प्रसङ्गों का श्रवण कीर्तन स्मरण करेंगे वह समस्त पुरुषार्थों को पा लेंगे ।। ६० ।। इस प्रकार आँख मिचौनी, पुल बांधना, वानरों की तरह उछलना कूदना, आदि कुमारोचित्त खेलों के द्वारा कृष्ण एवं बलराम ने व्रज में अपनी कुमारावस्था बिता दी ।। ६१ ।।

चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।



अथ तामसप्रमेयप्रकरणम्

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	वसंत	वंश.	इ. वं.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो.	अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
५२	४१	४	५	१	१	३	१८८०	१६	६०	१६५६		६१	७

[1]श्रीशुक उवाच

ततश्च [2]पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥
तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥
तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥ ३ ॥
स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ततः तौ व्रजे पौगण्डवयःश्रितौ पशुपालसम्मतौ बभूवतुः तौ सखिभिः सह गाः चारयन्तौ पदैः वृन्दावनं अतीव पुण्यं चक्रतुः ॥ १ ॥ विहर्तुकामः वेणुम् उदीरयन् स्वयशः गृणद्भिः गोपैः वलान्वितः पशून् पुरस्कृत्य माधवः पशव्यं तत् कुसुमाकरं वनम् आविशत् ॥ २ ॥ मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता शतपत्रगन्धिना वातेन जुष्टं तत् निरीक्ष्य भगवान् रन्तुं मनः दधे ॥ ३ ॥ सः आदिपुरुषः तत्र तत्र अरुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः स्पृशच्छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्य मुदा स्मयन् इव अग्रजम् आह ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः पंचदशे धेनुपालनं धेनुकार्दनम् ॥ कालियक्ष्वेडतो गोपरक्षणं च निरूप्यते ॥ १ ॥
अहिवक्त्रप्रवेशेन वृथाखिन्नान्सखीनतः ॥ कृष्णः प्रावेशयत्पक्वफलं तालालिकाननम् ॥ २ ॥

पशुपालसंमतौ पशूनां पालने संमतौ पशुपालानां वा संमतौ । ईषद्वयोवलातिरेकमनुकृतवंताविस्यर्थः । अतीव चक्रतुः सर्वतः प्रसर्पणेन ॥१॥ स्वयशो गृणद्भिर्गोपैर्वृतस्तद्वनं प्राविशत् ॥ २ ॥ तद्वनं निरीक्ष्य रंतुं मनो दधे । कथंभूतम् । मंजुघोषा येऽलिमृगद्विजा भ्रमरमृगपक्षिणस्तैराकुलं व्याप्तम् । महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता महतां मनसा प्रख्यं तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिंस्तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेन वा तेनेति शैत्यमुक्तम् । शतपत्रगधिनेति परिमलवत्त्वं जुष्टं वनमिति मांद्यं च सूचितम् ॥ ३ ॥ अरुणपल्लवश्रिया सह । स्पृशंत्यः शिखाः शाखाग्राणि येषां तान् ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततो ब्रह्मस्तुतेरनंतरम् । 'क्ष्वेडस्तु गरलं विषम्' इत्यमरः (१) । यतो वृथा खिन्नास्ततः कारणात् । तालानामालिः पंक्तिर्यत्र कानने तत्तथा । 'तृणराजाह्वयस्तालः' इत्यमरः (२) । 'पौगंडं दशमावधि' इत्युक्तेः पंचमवर्षतो दशमाब्दांतं पौगंडम् । पशुपालने संमतस्यापि पालकांतराप्रीत्या तेषु प्रवेशो दुर्घट इति मत्वा समासांतरम् । इत्यर्थ इति । वयोबलाभावे पशूनां निवर्तनस्थापनादि न संभवतीति भावः । गोचारणस्य प्रथमदिने कार्तिकशुक्लाष्टमीति पाद्मे । तथाहि—'शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः । तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः ॥' इति ॥ १ ॥ बलान्वितः सरामः । कुसुमाकरं पुष्पखनिरूपम् । तद्वनं वृंदावनम् । श्लेषेण माधवं इति वसंतवत्तदुल्लासक इत्यर्थः ॥ २ ॥ मंजुघोषा मनोहरशब्दाः । 'मनोज्ञं मंजु मंजुलम्' इत्यमरः ।

१. बादरायणिरुवाच—गो. प्रे. टी. । २. वयः समाश्रितौ व्रजे–वीर. ।

महतां हरिपराणां मनसा प्रख्यं तुल्यं स्वच्छं पयो जलम् 'विमर्दोत्थे परिमलो गंधो जनमनोहरे' इत्यमरः। 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः। वनस्य सघनत्वाद्वायोर्वेगस्तत्र मंदीभवतीति भावः ॥ ३ ॥ आदिपुरुष इति अनुजत्वेऽपि वस्तुतस्तदादिरेवेत्याह। स्मयन्निव विस्मित इव। वनस्पतीन्, अत्र भक्तिभरभग्नग्रीवा नरा यथा पुष्पादिना हरिचरणारविंदमर्चयंति तथैवेमे वृक्षा इति ध्वनितम्। विवक्षितवनस्पत्युत्कर्षस्य स्वोत्कर्ष एव पर्यवसानं, स्वोत्कर्षस्य स्वयमुक्तावनौचित्यात्। मुदानंदजनितेन गांभीर्यभावेन स्थातुमशक्तेश्च। रामे सख्यभावोत्थेन स्मितेनानेन स्वमहोत्कर्षारोपस्तत्रैव व्यंजितः। अत एवाग्रिमश्लोके आदिपूरुषेति स्वनाम्नापि संबोधनम्। तस्य करिष्यते इवेति मदभिप्रायं मदग्रजो मा बुध्यतामिति स्मितनिह्नववान्न तु स्मयन्नित्यर्थः। तथाहि -"श्रीवृंदावनतद्वासिमाधुर्योल्बणचेतसा। तत्स्तवे हरिणारब्धे निजोत्कर्षाविसायिनम्॥ तमालोच्य ततो राममपदिश्य व्यधायि सः। अतोऽत्र नैव तात्पर्यं रामोत्कर्षानुवर्णने। सख्यभावात्तदा रामे नर्मणेदमुदीरितम्" इति भागवतामृतीयकारिकाः ॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततः पञ्चमवर्षक्रीडानन्तरं त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमात् व्रज इति पूर्ववत् एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्, पशुपालसम्मताविति समन्ततः श्रीवृन्दावनविहारार्थं साग्रजस्य श्रीभगवतो गोपालनेच्छा चिरं जाताऽस्ति सा च बाल्यदृष्ट्या श्रीनन्दादीनां स्नेहभरेण सम्मता न स्यात् अधुना च यथाकालं किञ्चिद्वयोबलातिरेकप्रकटने सम्मताऽभूदित्यर्थः। पशुपालानां वा सम्मतौ इति व्याख्या तु तयोः पशुपालनप्रावीण्यसूचिका पण्डितसम्मत इति वत् किं वा पशूनां पालानां च सम्मतौ सन्तौ श्रीभगवता पालितानां मुक्तस्तन्यत्वेन मातृसङ्गं मेलितानामपि तं त्यक्तुमशक्नुवतां वत्सानां तन्मातॄणां च तदनुगत्वेन वृषादीनामपि साहचर्य्येण निरुध्यमानानामपि सर्वेषां तस्यान्तिके समागमनात् तेन विना वने पशूनामगमनाच्च तत्र ताविति युगलत्वेन निर्देशात् स्नेहभरद्योतना क्रीडा सौष्ठवार्था सखिभिः सममिति ततः प्रभृतिपूर्वे गोपालनान्निवृत्ता इति ज्ञेयम् ये खलु "ततः प्रवयसो गोपाः" इत्यादौ वर्णिता इति ज्ञेयम् अयम्भावः। पूर्वं स्वधर्मरूपेण गोचारणे तस्मिन् पुत्ररूपस्य प्रतिनिधेरयोग्यत्वात् श्रीव्रजेश्वरेण स्वयमेव गोचारणं ततस्तत्सङ्गानुरोधेन तत्सवयस्कैरेव स्वस्वगोचारणम् अधुना तु श्रीकृष्णेन तदारम्भेण तत्सङ्गयोग्यैस्तत्सवयस्कैरेव तदिति एतच्च कार्त्तिकशुक्लाष्टम्यां तथा च पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये—

"शुक्लाष्टमी कार्त्तिके तु स्मृता गोपाऽष्टमी बुधैः। तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः" ॥ इति।

पदैः तादृशगोसेवायाः गोपजातिस्वधर्मत्वेन पादुकाद्यग्रहणात् साक्षादुदितैः श्रीपादाब्जचिह्नैः पुण्यं पुण्यजनकं सुन्दरं वा अतीवेति पूर्वापेक्षया (वैकुण्ठाद्यपेक्षया) वा सर्वतः प्रसर्पणेन ॥ १ ॥ एवं सामान्येन द्वयोरपि गोचारणादिकमुद्दिश्याऽधुना विशेषतो विचित्रमधुरमधुरक्रीडां वक्ष्यन् तत्र च श्रीभगवतः प्राधान्यं द्योतयन् प्रथमदिनक्रीडामन्यत्रातिदेशार्थमाह—तदित्यादिना। तच्छ्रीवृन्दावनाख्यं किं वा सुप्रसिद्धमनिर्वचनीयमाहात्म्यं वा तच्छब्दप्रयोगश्च प्रेमभरेण स्मरणविशेषात् माधवो लक्ष्मीकान्तः इति वृन्दावनस्य सर्वसम्पद्विस्तारणाभिप्रायेण श्लेषेण वसन्त इव तदुल्लासकः उच्चैः ईरयन् वादयन् तच्च तदन्तःप्रवेशेन स्वस्यैव हर्षोदयात् श्रीवृन्दावनवर्त्तिनां निजप्रवेशज्ञापनेन प्रहर्षेणौत्सुक्याच्च स्वस्य यशोगुणद्भिरिति विहारारम्भे तेषां तत्प्रेमयहर्षभरोदयः सूचितः, आविशत् आविवेश प्रीत्यान्तः प्रविवेश श्लेषेण पशुपक्षिवृक्षादयः तत्रत्याः सर्वे श्रीकृष्णाविष्टा बभूवुरित्यर्थः। कुसुमानामाकरमिति स्वभावत एव सदा सर्वपुष्पसमृद्धेः अनेन तथा पश्वम्यमिति स्वत एव पशूनां सुखसिद्धया तत्पालनप्रयासाभावेन च तथा गोपैर्वृत इति बलान्वित इत्येताभ्यां सुखविहारसामग्री दर्शिता अत एव विहर्त्तुं काम इत्येवोक्तम् ॥ २॥ अन्यामपि तां वर्णयन् श्रीभगवतो विहारारम्भमाह—तदिति। महान्तो भगवद्भक्ताः तन्मनःप्रख्यत्वेनात्यन्तस्वच्छत्वं श्रीभगवद्विहारयोग्यत्वं चोक्तं किन्त्वत्र समासप्रविष्टः सरस्वच्छब्दो बहुवचनान्त एव ज्ञेयः, तज्जलकणिकाव्याजेन महन्मनोवृत्तय इवेत्युत्प्रेक्षा च ध्वनिता निरीक्ष्य सर्वतः प्रसन्नदृष्टिप्रसारणेनानुमोद्य मनोदधे प्रीत्या मनोऽभिनिविष्टं चक्रे भगवानपीति तन्मोहनत्वातिशयो द्योतितः॥३॥ तत्र तत्र स्थाने स्थाने सर्वत्रैवेत्यर्थः। श्रीः सम्पत् भरो भारः अरुणेति तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तथा तेन च हेतुना करणेन वा स्पृशच्छिखान् एवं श्रेष्ठ्येन वनानां पतीन् वनस्पतीन् महावृक्षानित्युक्तं यद्यपि "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात्तैरपुष्पाद्वनस्पतिः" इत्यमरोक्त्या वनस्पतिशब्देन वृक्षसामान्यं नोच्यते तथापि लिङ्गसमवायन्यायात् तच्छब्देन वानस्पत्या अपि गृह्यन्ते स्मयन्निति नर्मद्योतकं कुर्वन्ति गोप्य इवेत्यादौ तत्प्राकट्यात् तत्तदितिचाञ्चल्यक्रीडोपोद्वलकत्वेन एवमित्यादिना वक्ष्यमाणाच्च तच्चैकात्म्येन सवयस्कतया सह सर्वदा क्रीडापरत्वेन बाल्ये सख्यांशप्राबल्यात् तथैवाऽग्रजस्य तदानीं गौणत्वमालम्ब्याह—अग्रजमिवेति, अग्रजमपि स्मयन्निवेति च तथैवाभिप्रायः, दर्शयिष्यते च तद्भावद्वये कस्यापि कदाचिदुद्भूतत्वं क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तम् इत्यादिभ्यां अतोऽग्रजभावांशसद्भावेन नर्म चेदं स्तुतिरीत्यैव कृतम् नन्वेवञ्चेत् श्रेष्ठत्वादग्रजेनैव कथं न तस्मै नर्म निर्मितं तत्राह—आदिगुणादिना श्रेष्ठश्चासौ पुरुषश्चेति एवं कविना तु सविनोदं तत्तन्नर्मसङ्गीतमयीस्तुतिरपि तस्मिन्नेव पर्य्यवसायिता एतदपि कर्त्तव्येषु रमणविशेषेषु चित्तोल्लासेन प्रथममेकं क्रीडनमेव रन्तुं मनो दध इत्युक्तत्वात् एवं सनर्मवचनमपि भगवन्निर्मितत्वात् सर्वं यथावदेव ज्ञेयम् ॥ ४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततश्चेति कथारीत्या वाक्यालंकारे. यद्वा, ततो वत्सपालनक्रीडानन्तरमेवेति मध्ये क्रीडान्तरादिना विलम्बो निरस्तः। त्वर्थे चकारो भिन्नोपक्रमात्, पौगण्डवयसा पूर्व्वतोऽधिकरसप्रकटनयोग्यषष्ठाब्दारम्भकालेन श्रितौ सेवितौ सन्तौ। व्रज इति पौगण्ड-लीलाया अन्यत्राभावं बोधयन् व्रजसम्बन्धेन तस्या माधुर्य्यं तत्रत्यानाञ्च भाग्यभरं सूचयति। एवमग्रेऽन्यत्रापि ज्ञेयम्। पशुपाल्ये सम्मताविति श्रीवृन्दावनविहारार्थं साग्रजस्य श्रीभगवतो गोपालनेच्छा चिरं जातास्ते, सा च बाल्यदृष्ट्या श्रीनन्दादीनां स्नेहभरेण सम्मता न स्यात्, अधुना च यथाकालं किञ्चिद्वयोबलातिरेकप्रकटनेन सम्मताऽभूदित्यर्थः, यद्वा, पशुपालानां सर्व्वेषां गोपजातीनाम्, किंवा पशूनां पालानाञ्च सम्मतौ सन्तौ गाश्चारयन्तौ बभूवतुः। श्रीभगवता पालितानां मुक्तस्तन्यत्वेन मातृसंगे मिलितानामपि तं त्यक्तुमशक्नुवतां वत्सानां तन्मातॄणाञ्च तदनुगत्वेन वृषादीनामपि, साहचर्य्येण निरुद्धमानानामपि सर्व्वेषां तस्यान्तिके समागमनात्, तेन विना वने पशूनामगमनाच्च, तत्र च द्वित्वं स्नेहभरेण श्रीबलदेवेन सहाभेदात् सहचरत्वाच्च। गाश्चारयन्ताविति तयोर्गवामेव पालने उक्तेऽपि पशुपालसम्मताविति तत्संगे महिष्यादीनामपि सर्व्वपशूनां पालनापेक्षया। सखिभिः सममिति वत्सपानामेव सर्व्वेषां तत्सहचराणां गोपालने प्रवृत्तेः। एवं ततः प्रभृति पूर्व्वगोपालनकर्त्तारो गोपालनान्निवृत्ता इति ज्ञेयम्। श्रीभगवतो गोपालने प्रवृत्तिः कार्त्तिकशुक्लाष्टम्याम्, तथा च कार्तिकमाहात्म्ये—'शुक्लाष्टमी कार्त्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः। तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्व्वन्तु वत्सपः॥' इति,—पदैः स्वावतारार्थंरोदनादिप्रयत्नकृच्छ्रीधरण्यनुग्रहाय पादुकाद्यग्रहणात् साक्षादुदितैर्वज्रांकुशाद्यसाधारणलक्षणयुक्तैः श्रीपादाब्जचिह्नैः पुण्यं साक्षात् पुण्यरूपं सुन्दरं वा; अतीवेति स्वभावतः पुण्यमपि वृन्दावनमधुना पूर्व्वापेक्षया सर्व्वतः प्रसर्पणेनात्यन्तं चक्रतुरित्यर्थः; यद्वा, श्रीवैकुण्ठादाधिक्याभिप्रायेण॥ १॥ एवं सामान्येन द्वयोरपि गोचारणादिकमुद्दिश्याधुना विशेषतो विचित्रमधुरमधुरक्रीडां वक्ष्यन्, तत्र च श्रीभगवतः प्राधान्यं द्योतयन् प्रथमदिनक्रीडामन्यत्रातिदेशार्थमाह—तदित्यादिना तत् श्रीवृन्दावनाख्यम्, किंवा सुप्रसिद्धमनिर्व्वचनीयमाहात्म्यं वा, यद्वा, श्रीबादरायणेः प्रेमभरेण स्मरणविशेषात् सर्व्वथार्थः स एव। माधवो लक्ष्मीकान्त इति वृन्दावनस्य सर्व्वसम्पद्विस्तारणाभिप्रायेण, यद्वा, निजाशेषभगवत्ताप्रकटनार्थं मधुवंशेऽवतीर्णं इति तस्य तदुचितमेवेति भावः। श्लेषेण माधवाख्य वसन्तस्य प्रवेशेन यथा स्वत एव सर्व्वं वनं पुष्पादिभिः समृद्धं स्यात्, तथा तस्य प्रवेशेन तदिति, किंवा मधु मधुररसस्तेन क्रीडतीति माधवः, श्रीवृन्दावनस्य मधुररसोपभोगार्थमित्यर्थः। उच्चैरीरयन्, तदिति श्रीमदधर-पल्लवमाधुर्य्येणैव वादयन्,—तच्च श्रीवृन्दावनवर्त्तिनां निजप्रवेशविज्ञापनेन प्रहर्षणार्थम्, किंवा तदन्तःप्रवेशेन स्वस्यैव हर्षभरो-दयात्, स्वस्य किंवा स्वं निजधनरूपं यशो गृणद्भिः कीर्त्तयद्भिरिति विहारार्थं तस्य विहारेच्छया निजप्रहर्षात्। पशूनिति संगिनां महिष्याद्यपेक्षया, आविवेश प्रीत्यान्तः प्रविवेश, श्लेषेण पशुपक्षिवृक्षादयस्तत्रत्याः सर्व्वे श्रीकृष्णाविष्टा बभूवुरिति। कुसुमानामा-करमिति शरत्काले बहुलपुष्पसम्पत्तेः, किंवा श्रीवृन्दावनस्य स्वभावत एव सदा सर्व्वपुष्पसमृद्धेः, अनेन तथा पशव्यमिति स्वत एव पशूनां सुखसिद्धया तत्पालनप्रयासाभावेन च, तथा गोपैर्वृत इति बलान्वित इत्येताभ्यां सुखविहारसामग्री दर्शिता॥ २॥ अन्यामपि तां वर्णयन् श्रीभगवतो विहारारम्भमाह—तदिति। महान्तो भगवद्भक्तास्तन्मनः प्रख्यत्वेनात्यन्तस्वच्छत्वं श्रीभगवद्विहारयोग्यत्वं चोक्तम्। जुष्टं सेवितमिति श्लेषेण वायोरपि सेवकतया वनस्य माहात्म्यञ्च निरीक्ष्य सर्व्वतः प्रसन्नदृष्टिप्रसारणादिना दृष्ट्वा मनो दध्रे, प्रीत्या मनोऽभिनिविष्टं चक्रे, प्रारभतेत्यर्थः। भगवानिति निजभगवत्तां दर्शयितुमिति भावः॥ ३॥ तत्र तत्र स्थाने स्थाने सर्व्वत्रैवेत्यर्थः। श्रीः सम्पत्, भरः भावः। अरुणेति तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, तया तेन च हेतुना कृत्वा वा, यद्वा, पादयोर्निजारुणपल्लवादपि श्रिया शोभया हेतुनेवेति पराजयेन परमसौन्दर्य्येण च, स्पृशच्छिखानिति भक्त्या स्पर्शनं बोधितम्। ततश्च पत्राणामनुक्ति-फलपुष्पवदुपादेयत्वाभावात्। एव तेषां श्रैष्ठ्येन वनानां पतीन् वनस्पतीन् महावृक्षानित्युक्तम्। स्मयन्निवेति स्वत एव सदा श्रीमुख-प्रसत्तेः (प्रसादात्)। यद्वा, अग्रजमिवाह, वस्तुतः स्वतस्तस्मिन्नेव तत्तद्वर्णनस्य पर्य्यवसानात्। आदिपुरुष इति तस्याग्रजत्वा-सम्भवेऽपि क्रीडाविशेषार्थमग्रजतया प्रादुर्भूतं तं प्रति तथा वक्तुं युज्यत एवेति भावः। एतदप्यग्रे आद्यरतिविशेषेषु चित्तोल्लासार्थं प्रथममेकं क्रीडनमेव (पूर्वश्लोके) 'रन्तु भगवान् मनो दध्रे' इत्युक्तत्वात्। यद्वा, आदिपुरुषः पुरुषोत्तम इति लोकशिक्षणार्थमग्रज-सम्माननं तत्तद्विनोदमाधुर्य्यादिकञ्च सर्वं तस्य युक्तमेवेति भावः। अत्रेदं तत्त्वम्—वनस्पतीनां प्रणतिविशेषेण सन्तुष्टः सन् तेभ्यस्त-द्दातुकामोऽपि सद्गुणगणविनम्रो लज्जया तान् स्वस्मिन्नपि तेषां सेवापरतां चानिर्द्दिशन्नग्रजस्य सम्मानमिषेण तं प्रत्येव तां वर्णयन् तेषां तत्तद्गुणवर्णनद्वारा प्रथमं श्रीवृन्दावनान्तः प्रवेशे तत्रत्यान् सर्वानेव प्रति प्रसादविशेषमकरोदिति॥ ४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

पञ्चमादुपरि आनवमात्पौगण्डम् आषोडशात्कैशोरम्॥ १–४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ पौगण्डावस्थावस्थितयो रामकृष्णयोः काञ्चित्क्रीडां वर्णयन् रामकर्तृकं धेनुकासुरभञ्जनम् उभयकर्तृकं तदनुचर-भञ्जनं कृष्णकर्तृकंकालीयह्रदजलपानमूर्च्छितगोगोपोत्थापनं च वर्णयति पञ्चदशेन। ततः कैशोरानन्तरं प्राप्तपौगण्डवयसौ पशुपाल्ये

सम्मतौ पशुपालानां वा सम्मतौ तौ रामकृष्णौ सखिभिः सह गाश्चारयन्तौ पदैः पादविन्यासैर्वृन्दावनमतीवपुण्यवच्चक्रतुः, तत्तदा स्वकीर्ति गृणद्भिर्गोपैः परिवृतो बलेन सह समन्वितो वेणुमुदीरयन्नादयन् पशून् पुरस्कृत्य विहर्त्तुमिच्छुः कुसुमानामाकरं पशुभ्यो हितं वनं प्राविशत् ॥ १–२ ॥ मञ्जूः रमणीयो नादो येषां तैरलिमृगपक्षिभिर्घ्यातं महतां योगिनां मनसा तुल्यं स्वच्छं पयो यस्मिंस्तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेनैवमतिशैत्यमुक्तं शतपत्राणां गन्धो यस्य तेन वातेन जुष्टम् एवं परिमलयुक्तत्वमुक्तम् एवम्विधं वनं निरीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे ॥ ३ ॥ अरुणपल्लवानां श्रिया सह फलानां प्रसूनानां च भरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा अग्राणि येषां तांस्तरून् वीक्ष्यादिपुरुषः श्रीकृष्णः मुदा स्मयन्निवाग्रजं रामं प्रतीदं वक्ष्यमाणमाह ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

श्रवणमननाभ्यां दुरितहरणाय हरेः पौगण्डवयसि क्रियमाणं विक्रमं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये ततः कौमारात्पौगण्डवयः नववर्षलक्षणं वयः श्रितौ प्राप्तौ पशुपालत्वेन सम्मतौ योग्यौ ॥ १ ॥ उदीरयन् ध्वनयन् कुसुमाकरं कुसुमोत्पत्तिस्थानम् ॥ २ ॥ मञ्जवः मनोहराः घोषा येषाम् अलयश्च मृगाश्च द्विजाश्च मञ्जुघोषैः अलिमृगद्विजैः आकुलं महतां नारायणचरणारविन्दनिरन्तरमनसां मनःप्रख्यं मनस्तुल्यं निर्मलं पयो जलं यस्य तत्तथा महन्मनःप्रख्यपयश्च तत्सरश्च महन्मनःप्रख्यपयःसरस्तदस्यास्तीति महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वान् तेन शतपत्राणां पद्मानां गन्धोऽस्यास्तीति शतपत्त्रगन्धी तेन वातेन वायुना ॥ ३ ॥ पल्लवारुणश्रिया युक्तयोः पादयोः प्रसूनोरुभारेण स्पृशन्त्यः शिखा एव कराग्रकोटयो येषां ते तथा तान्वनस्पतीन् वृक्षान्दृष्ट्वा अत्र भक्तिभरभुग्नग्रीवाः पुरुषाः यथा पुष्पनिचयादिना मुकुन्दचरणारविन्दमर्चयन्ति, तथा वृक्षाश्च पुष्पभरोपनतशाखाकराग्रैः पूजयन्तीत्याक्षिप्तः शेषार्थो बोद्धव्यः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

स्मयन्निति नर्म्मद्योतकं कुर्वन्ति गोप्य इवेत्यादौ तत्प्राकट्यात् तत्तदिति चापल्यक्रीडोपोद्वलकत्वेन एवमित्यादिना वक्ष्यमाणाच्च तच्च सवयस्कतया सह सर्वदा क्रीडापरत्वेनैकात्म्येन सख्यांशभावात् तत्रैवाह—अग्रजमिवेति। अतस्मत्तद्भावेन नर्म चेदं स्तुतिरीत्यैव कृतम् एवं सनर्म्मवचनमपि भागवतत्वात् सर्वं यथावदेव ज्ञेयम् ॥ १–४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

स्मयन्निवाहाग्रजमित्यादि। आदिपुरुषत्वेनाग्रज इति महानुपपत्तिः अत एवाग्रजं स्मयन्नेवाग्रजमुपलक्ष्यीकृत्य ॥ १–४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

धेनूनां रक्षणं ज्येष्ठस्तुतिः स्वैः सह खेलनम्। धेनुकस्य वधो रक्षा विषात् पञ्चदशे गवाम् ॥

ततः पञ्चमवर्षक्रीडानन्तरं पशूनां पालने सम्मतौ गोपैः सम्मतीभूतौ तद्दिनं तु पाद्मे कार्तिकमाहात्म्ये दृष्टम्—

शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः। तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः ॥ इति ॥

पदैः पदचिह्नैर्ध्वजादिभिः पुण्यं चारु अतीवेति पूर्वमूनविंशतिचिह्नानां चरणयोर्लघुत्वाद्रेखाणामतिसूक्ष्मत्वेन स्पष्टीभावात् ॥ १ ॥ तद्वन पशव्यं पशुभ्यो हितम् आसमन्तादवित् माधव इति श्लेषेण वसन्त इव तदुल्लासकः ॥ २ ॥ तत्पञ्चेन्द्रियाह्लादकं वनं निरीक्ष्य मञ्जुघोषा अलयो मृगा द्विजाः पक्षिणश्च तैर्घ्यातमिति विविधेन सौस्वर्य्येण श्रोत्रस्य वातेन जुष्टं सेवितमिति व्यञ्जितेन मान्द्येन महतां मनःप्रख्यं मनःसदृशं शीतलमधुरस्वच्छं पयो यत्र तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेनेति शैत्येन च त्वगिन्द्रियस्य माधुर्य्येण रसनायाः शतपत्रगन्धिनेति सौरभ्येण नासायाः शतपत्रस्थसौन्दर्य्येण नेत्रस्याप्याह्लादकम् ॥ ३ ॥ अरुणपल्लवानां श्रीः शोभा अधोमुखत्वेन पादस्पर्शनात् फलानां प्रसूनानां चोरुभरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा येषां तान् वनस्पतीन् वृक्षान् विलोक्य स्मयन् स्मयमान इति विवक्षितस्य वनस्पतीनामुत्कर्षस्य पर्य्यवसानं सोत्कर्ष एव स्यात् स्योत्कर्षस्य च स्वयमुक्त्यनौचित्यात् मुदेत्यानन्दजनितेन गाम्भीर्य्याभावेनोक्त्या विना स्थातुमशक्तेश्च रामे सख्यभावोत्थेन स्मितेनानेन स्वमहोत्कर्षारोपस्तत्रैव व्यञ्जितः अत एवाग्रिमश्लोके आदिपुरुषेति स्वनाम्नाऽपि तस्य सम्बोधनं करिष्यते इति मदभिप्रायमिमं मदग्रजो माबुद्ध्यतामिति स्मितनिन्हुवान्न तु स्मयन्नित्यर्थः, तथा हि "श्रीवृन्दावनतद्वासिमाधुर्योल्बणचेतसा। तत्स्तवे हरिणा लब्धे निजोत्कर्षावसायिनम् ॥ तमालोच्य ततो राममपदिश्य व्यधायि सः। अतोऽत्र नैव तात्पर्यं रामोत्कर्षानुवर्णने ॥ सख्यभावात्तदा रामे नर्मणेदमुदीरितम्" इति भागवतामृतीया सार्द्धकारिका आदि पुरुष इति तदनुजत्वेऽपि स्वयं भगवत्त्वात्तदादिः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

इति प्रकटीकृतपौगण्डावस्थयोः राममाधवयोर्गोपालनादिलीलां सानुचरधेनुकासुरवधं कालीयनागक्ष्वेडतो गोपरक्षणं च पञ्चदशेऽस्मिन्नध्याये वर्णयति—तत इति। कौमारगोपनानन्तरं पौगण्डवयः श्रितौ आविष्कृतपौगण्डवस्यौ राममाधवौ सखिभिः

समं सह गाश्चारयन्तौ पदैः पादपद्मविन्यासैः वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः ॥ १ ॥ तत्तदा कुसुमाकरं पुष्पालयं गोपालानां प्रियं पशव्यं पशुभ्यो हितं वनं माधवः श्रीपतिः प्राविशत् ॥ २ ॥ तद्वनं निरीक्ष्य भगवान् अखण्डैश्वर्यो रन्तुं मनो दधे कथम्भूतम् मञ्जुमधुरो घोषो नादो येषां तैरल्यादिभिराकुलं व्याप्तम् महतां मनोभिः प्रख्यानि तुल्यानि अत्युज्ज्वलानि पयांसि यस्मिन् तत्सर आश्रयत्वेनास्ति यस्य तेन शीतलेन शतपत्रगन्धिना शतपत्राख्यपद्मपरिमलवता वातेन जुष्टं सेवितम् अनेन निविडवनसञ्ज्ञाद्वातस्य मन्दगतित्वमपि द्योतितम् ॥ ३ ॥ स आदिपुरुषः प्रकृतिपुरुषप्रेरकः श्रीकृष्णः अरुणपल्लवश्रिया सह पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा अग्राणि येषां तान् वनस्पतीन् वीक्ष्य मुदा स्मयन्निव अग्रजं श्रीराममाह, स्वभावत एव सदा प्रसन्नवदनत्वादिवेत्युक्तिः ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

धेनूनां पालनं पञ्चदशे सङ्कर्षणस्तुतिः । स्वैः क्रीडाधेनुकवधं सत्राणञ्च विषतोऽभवत् ॥

ततः पञ्चमाब्दक्रीडान्तरं पौगण्डं वयः षाष्ठ्याब्दिकीमवस्थामाश्रितौ व्यञ्जयन्त्यौ तौ श्रीवलकृष्णौ पशुपालसम्मतौ बभूवतुः तद्दिनन्तु गोपाष्टमीत्युक्तम् :—

शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः । तद्दिनाद् वासुदेवोऽभूद् ज्ञेयः पूर्वन्तु वत्सपः ॥ इति ॥

पाद्मकार्तिकमाहात्म्ये । पदैरङ्घ्रिचिह्नैर्ध्वजवज्रादिभिर्वृन्दावनमतीव पुण्यं मनोज्ञं चक्रतुः, इदानीमङ्घ्रिचिह्नानां प्रव्यक्त्या तत्र शोभाधिक्यात्, ननु कृष्णस्य गोपस्यापि राजपुत्रत्वात् गोचारणं न युक्तमिति चेन्तस्य परेशत्वेन तदौचित्यात्, स हि यज्ञपुरुषः मन्त्रैर्हविषा च गव्येन यज्ञसिद्धिरिति गोपालनस्य यज्ञपुरुषतासम्पादकत्वात् ॥ १ ॥ तद्वनं माधवः कृष्णः श्लेषेण वसन्त इव तदुल्लासकृत् ॥ २ ॥ तद्वनं वीक्ष्य भगवान् तत्र रन्तुं मनो दधे, कीदृक् ? मञ्जुघोषा अलिनो मृगा द्विजाः पक्षिणश्च तैराकुलं व्याप्तमिति विविधसुखरवत्वात् श्रोत्रेन्द्रियस्य वातेन जुष्टं सेवितं कीदृशेन ? महन्मनःप्रख्यं साधुचित्तमयं शीतलमधुरं स्वच्छं पयो यत्र तत् सरो यस्याश्रयत्वेनास्तीति तेन मान्द्यशैत्यधारित्वात् त्वगिन्द्रियस्य माधुर्येण रसनेन्द्रियस्य, शतपत्रगन्धिनेति सौगन्ध्यवत्वात् घ्राणेन्द्रियस्य च शतपत्रसौन्दर्यधारित्वात् त्वगिन्द्रियस्य च, आह्लादकमितीन्द्रियपञ्चकाह्लादि वनं सूच्यते ॥ ३ ॥ तत्र तत्र पर्यटन् स नन्दसूनुरादिपुरुषो वनस्पतीन् वीक्ष्य स्मयन्निवाग्रजमोहेत्यन्वयः, कीदृशान् ? अरुणानां पल्लवानामधोमुखानां श्रिया शोभया सह फलादीनामुरुभरेण हेतुना पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा येषां तान् अत्र वनस्पत्युत्कर्षस्य स्वोत्कर्षे पर्यवसानात्तस्योत्कर्षस्य च स्वस्मिन्नभिधातुमयुक्तत्वादग्रजं व्यपदिश्याभिधानं न दोषावहं मुदा स्मयन्निवेत्यतिगाम्भीर्यं मुक्ति विनास्थातुमशक्तिश्च व्यज्यते ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अपि चमसं वत्सरं बाल्यमानं पौगण्डं तत उत्तरमाषोडशं कैशोरं तत्र कृष्णपौगण्डवयःकृतं चरितं दुरितहारि निरूपयत्यस्मिन्नध्याये । ततो बाल्यात्पौगण्डसंज्ञं वयःश्रितौ पशवो महान्तस्तत्पालाविति सम्मतौ तत्त्वेन लोकानां सम्मतौ बभूवतुः । सखिभिर्मित्रैः समं साकं गाश्चारयन्तौ पदैः साङ्घ्रिनिक्षेपैः स्वतः पुण्यं वृन्दावनमतीव पुनरधिकं चक्रतुः ॥ १ ॥ स्वयशो गृणद्भिः स्तुवद्भिर्गोपैर्वृतो माधवः सबलः पशून्पुरस्कृत्य पशव्यं तद्धितं विहर्तुकामः । तुं काममनसोरपीत्यादेर्विहर्तुं काम इच्छा यस्य सः । कुसुमाकरं कुसुमानां पुष्पाणामाकरः खनिरुत्पत्तिस्थानमिति यावत् तद्वनं वेणुमुदीरन्नुत्रणयन्प्राविशत् ॥ २ ॥ मञ्जवो मञ्जुला मनोहरा घोषा येषां तेऽल्यश्च भ्रमराश्च सिंहादयश्च द्विजाः कोकिलादिपक्षिणश्च तैराकुलं । मञ्जुघोषेत्यलिमात्रविशेषणं वा । तन्मञ्जुघोषेण वेणुमनोहरघोषेणालयो मृगा द्विजा आकुला अपूर्वरवश्रवणतो यत्रेति तद्वा । महतां मनो महन्मनस्तेन प्रख्यं पयो जलं तद्यत्सरस्तद्वान् तदुपरि पतनेन तेनात एव शतपत्राणां कुशेशयानां गन्धः सोऽस्यास्तीति तद्वांस्तेन वातेन जुष्टं निरीक्ष्य भगवान्रन्तुं मनो दधे दध्रे ॥ ३ ॥ आदिपूरुषस्तत्र तत्र वनाद्वनं अरुणपल्लवश्रियाऽरुणानां पल्लवानां श्रिया सह । अनेन नीराजनं ध्वन्यते । फलानां प्रसूनानां चोरुर्महान्भरो भारस्तेन पादयोः स्पृशन्त्यः शिखा अग्रभागा येषां ते तान् । अनेन नमनसत्कृतनमनवद्ध्वन्यते । वीक्ष्य मुदा स्मयन्नग्रजं बलं प्राह । स्वसाम्राज्यं जनसभाजनार्थमग्रजेऽर्पयन्नाहेतीवशब्देन द्योतयति ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

यशोदानन्दयोरेवं निरोधः सुनिरूपितः । गोपालानां निरोधोत्र सस्त्रीकाणां निरूप्यते ॥ १ ॥
मध्यमोयं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्यते । पञ्चधैवानुभावोत्र दुष्टनिग्रहरूपवान् ॥ २ ॥
आध्यात्मिकीमविद्यां वै दूरीकर्तुं तथाकृतिः । तदर्थं क्रमतोध्याया उभयेषां तथा द्वयम् ॥ ३ ॥
स्नेहाधिक्यसुसिद्ध्यर्थं स्नेहान्तो मध्यमः स्मृतः । प्रथमं द्वादशेध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥ ४ ॥
तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते । कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं मतम् ॥ ५ ॥
ततः सर्वविनाशः स्यादित्यन्ते मरणाभिधा । ततश्चेज् जीविताः सर्वे पुनर्देहान्तरस्थितिः ॥ ६ ॥

तत्र प्रथमं ज्ञानं निरूपयन् भगवान् देशशुद्धिं वनप्रवेशं वनक्रीडायां मनश्च कृतवानित्याह त्रिभिः ततश्चेति, वन एव ज्ञानं सात्त्विकत्वात् तत्रोद्वेगो न भवतीति तत्र क्रीडायां मनो निरूपणीयं प्रवेशश्च ग्रामाद् भिन्नप्रक्रमार्थो वक्तव्यः, तत्र प्रथमं भगवतो

मध्यमलीलायां वृन्दावनस्य दैत्यभूयिष्ठत्वाच्छुद्धिमाह तत इति, **पौगण्डं वयः** षष्ठवर्षमारभ्य नववर्षपर्यन्तं, पुरुषार्थचतुष्टयसाधक-कालाभिमानिन्यो देवता भगवन्तं सेवितुमागताः **पौगण्डशब्देनोच्यन्ते**, दोषाभावः प्रथमं निरूपणीय इति षड्वात्मकः कालः पूर्वं निरूपितः, **ततस्तदनन्तरं पौगण्डमेव वयस्ताहण्यमिव श्रितौ व्रजे पशुपालानां सम्मतौ बभूवतुः** पशूनां **पालने** वा योग्यौ, तौ रामकृष्णौ साधारणं चरित्रमुभयोरिति, अतो **गाश्चारयन्तौ सखिभिः** सख्यपर्यन्तमागतैर्बालकैर्गोरक्षा धर्मः स तैः कार्यतेन्यथा सख्यपर्यन्तं गता यदि विक्षिता भवेयुस्तदा वैकुण्ठे नयनलक्षणमात्मसमर्पणं नोपपद्येरन्, **सखिभिः समं**, समं वा **वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः, समत्वाद्** यागभूमिरेषा, इदानीं पुण्यरूपैव जाता, **पदैः** पादन्यासैः, पादयोः **पुण्यनिकायोस्तीति** पूर्वमवोचाम, **पुण्यं ऐहिकपारलौकिकसाधनं कामानुरूपफलदं च** इदमपि निःसाधनानां स्वयमेव भगवत्प्राप्तिसाधनरूपं लीलाविशिष्टं सत् स्वतः फलरूपं, अयमेवातिशयो ज्ञेयः, कामाभावेपि भगवत्प्रापकं च ॥ १ ॥ ततो भगवान् विशेषाकारेण वृन्दावनप्रवेशं कृतवानित्याह **तन्माधव** इति, सामान्यलीलैकेनैवोक्ता, **तत्** तत्र **माधवो** लक्ष्मीपतिर्लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुं शब्द ब्रह्म च संवादार्थ**मुदीरयन्, वेणुरिति** वक्षेश्च वयौ स्वरूपानन्दविषयानन्दावणू यस्मात् स **वेणु**रुभयविस्मारकस्तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्त्याध्यात्मिका आधिदैविकाश्चोद्बुद्धा भवन्ति ततो **वृतो गोपैराधिदैविकैस्त एव स्वयशो गृणद्भिः**, भगवद्यशस्तैर्निरन्तरं गीयते, **सामर्थ्यायं बलान्वितः**, बलभद्रो हि बलात्मा, क्रियायां पशूनां विनियोग इति, **पशून पुरस्कृत्य** तानादौ क्रियाशक्त्या शुद्धान् कर्तुं **वनमाविशत्**, स्थानमपि **पशव्यं** पशूनां हितं, भगवता पूर्वं तथाकृतत्वात्, **विहर्तुकाम** इति, तत्र विहारेच्छया प्रविष्टः, **विहारे हि क्रिया पूर्णा भवति**, रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उद्रेकमाह **कुसुमाकरमिति, कुसुमानां** रजोविकासानामाकरं स्थानभूतं, **वनमिति, वनलीला** सात्त्विकीति सत्त्वप्रधानैव रजोलीला ॥ २ ॥ पश्चाद् भगवांस्तत्र स्थिताभिः सर्वाभिरेव देवताभिरलौकिकीभिः सह रन्तुं मनः कृतवानित्याह तदिति **मञ्जुघोषो** येषामलीनां मृगाणां **द्विजानां च कुलैराकुलं दृष्ट्वा रन्तुं मनो दध** इतिसम्बन्धः, यत्र त्रिविधा अपि **मञ्जुघोषा**स्तत्र भूदोषो नास्तीति ज्ञातव्यं,[तृणपुष्पफलात्मकं **च वनं भवति**, तत्सम्बन्धिनश्चेन् निर्दुष्टास्तदा तृणादयोपि निर्दुष्टा एव अत्राल्यादीनां **मञ्जुघोषत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेपि** यत् कथनं तेन लोकप्रसिद्धातिरिक्तो भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो **मञ्जुत्वविशेषो** यः स उच्यतेतो नानर्थक्यं, अत एव **मृगाणामप्युक्तिः**, अन्यथा रसोद्दीपकत्वं तेषां लोके न सिद्धमिति तदुक्तिरयुक्ता स्यात्, स्वस्थितिदेशे प्रियस्थितिज्ञापकत्वमपि **मञ्जुत्वं** तेषां ज्ञेयं, किञ्च न केवलं दोषाभावस्तत्र किन्तु गुणपूर्णतापीत्याह **महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता वातेन जुष्टमिति, अन्तरिक्षदेवत्या हि पशवोरण्यप्रतिष्ठाः** तत्र वायुरुभयाधिपतिर्गवामरण्यस्य च, स चेत् सर्वथादोषरहितो गुणवांश्च भवति तदैव लीला सङ्गच्छते, श्रमापनोदनार्थं च तस्यापेक्षा लोकसिद्धा, वृन्दावने सामान्यतः सर्वदोषनिवृत्तेरुक्तत्वाद् वायोरागन्तुकदोष एव परिहर्तव्यः, जलं पुष्पाणि च तत्सम्बन्धीनि शैत्यमान्द्यसौरभ्याणि च गुणाः, तथा सति वायुराधिदैविको भवति, महतां मनोवद् यत् **सरः सर्वदोषाभावपूर्वकगुणेषु निदर्शनं महतां मनः**, ततोपि प्रकर्षेण ख्यातिर्यस्य भगवल्लीलौपयिकत्वात्, एतादृशं पयस्तद्युक्तं **सरो** लयविक्षेपशून्यं शान्तं तरङ्गादिरहितं, अनेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते, सदादिपदेषु सत्स्वपि यन्महत्पदादानं तेन सरस्स्वपि नाल्पत्वं महत्परिमाणवत्त्वमेतल्लीलामध्यपात्यतिरिक्ताज्ञातत्वं च ज्ञाप्यते, शतपत्राणि कमलानि कुशेशयानि पुष्पविशेषा वा, तेषां **गन्धोस्यास्तीति सौरभ्यं** निरूपितं, तेनापि चेत् सेवितं तदा **भगवान्** षड्गुणैः सह तत्र रमणार्थं प्रवृत्तः, भृङ्गादिषु त्रयो गुणा वा ते च त्रयः, अतो वृन्दावनं षड्गुणैर्युतं **स्वसमाने च रमणं भवति** ॥ ३ ॥ कदाचित् प्राकृतरतिं भगवान् करोतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थं वृक्षाणां भ्रमराणां मृगपक्षिणां भूमेश्च स्वरूपं वक्तव्यं, वनं हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि यदि दुष्टा भवेयुः स्वरूपतोपि तदापि वनं त्याज्यमिति दोषाभावो गुणाश्च वक्तव्याः, तान् भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एव, अतोग्रे प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं बलभद्रं बोधयति **स तत्र तत्रे**ति, यदि वनस्थानं स्वभावं प्रकटयेयुस्तूष्णीं वा तिष्ठेयुस्तदा भगवांस्तेषां स्वरूपं न वदेत् किन्तु त एव नम्रा इत्याह **स तत्र तत्र** सर्वत्र **वनेरुणपल्लवानां श्रियोपलक्षितान् फलप्रसूनयोरुरुभरेण स्वपादयोः स्पृशच् छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्येति, पल्लवा** अङ्गुलिस्थानीयाः, येन हस्ताभ्यां नमस्कारः सूच्यते **फलानि** पुष्पाणि च निवेदयन्ति, साष्टाङ्गश्च नमस्कारः **पादयोः शिखास्पर्शेन** यथासम्भवं सूचितः, तानुद्वृतान् **दृष्ट्वा** भगवतो हर्षः, **स्मयन्निवेति** मन्दहासो मुखप्रसादहेतुः, बलभद्रस्य तदज्ञानाद् विस्मयः, आश्चर्यभाव**वादिवेति**, बलभद्रोप्यावेशित्वेन बोधनीयः, अन्यथा देवताचिन्तनाभावे सा देवता नाविष्टा स्यात्, नन्वावेशापेक्षयावतारो मुख्य इति कथं बलभद्रपरत्वेन तेषां निरूपणमित्याशङ्क्याग्रजमिति, अग्रे स एवाविर्भूत इति, तर्हि बोधनमनुचितमिति चेत् तत्राहादिपूरुष इति पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

प्रमेयप्रकरणम् ।

द्वादशेध्याये प्रकरणार्थोक्तौ, गोपालानां निरोध इत्यादि । एतयोर्निरोधो मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः । मध्यमोयमिति । वयस्यानां स्वामिनीनां चाग्रेस्मान्निरोधादधिकस्य तस्य वक्ष्यमाणत्वादेतत्प्रकरणोक्तस्तमपेक्ष्य स तयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः । पञ्चधैवेति । धेनुककालीयदावाग्निद्वयप्रलम्बनिग्रहात्मक इत्यर्थः । साधारणानां व्रजस्थानामेतेनान्तःकरणनिरोधप्रतिबन्धकापगमः उक्तः,

वयस्यानां सखीनां तु मुख्यत्वेन निरोध एकैकेनाध्यायेनोक्त इत्याहुः उभयेषामिति । तत्र निमित्तमाहुः स्नेहाधिक्येति । साधारणापेक्षयाधिकस्नेहज्ञापनार्थमित्यर्थः । प्रथमं द्वादशेऽध्याय इति श्लोकः । अत्र अयमाशयः । अत्र ह्यादौ लीलासम्बन्धिवस्तुस्वरूपं निरूप्यते । तदनन्तरं दशरसात्मकलीलानुभवश्च । तथा चैवं भावोवत्यनन्तरं देहादिसर्वविस्मृतिरेव वक्तुं युक्ता, सापि न तात्कालिकी, किन्तु सार्वदिकीति स्थितौ सत्यां यदेतदग्रे धेनुकवधनिरूपणं तत्ताद्दग्रूपमित्येव ज्ञेयम् । धेनुकातिरिक्ततदध्यासाभावश्चेत्यपि । अध्यासनिवृत्तौ तत्स्मृत्यसंभवात् । किञ्च । अध्यासस्य अविद्याजन्यत्वनियम इति ग्रहिलवादिनं प्रति 'तुष्यतु दुर्जन' इति न्यायेनाहुः यद्याग्रहस्तदंतमेव धेनुकं तथा मानयेति । आवश्यकदैहिककर्मप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वं हि देहाध्यासे । अयमपि स्वाभीष्टभजनप्रकारविशेषानुकूलतद्वनगमनप्रतिबन्धक इति तथा । अत एव मूले 'प्रेम्णेदमत्र व' रित्युक्तम् । गोपेष्टप्रकारस्य भगवदभिमतत्वमपि ज्ञापयितुं सखित्वमप्युक्तम् । अन्यथा सीतिवीर्य इत्यादेः कृतनरहारत्वस्य चोक्तत्वात्सम्भावितानिष्टदेशे गमनविज्ञापनं प्रेमविरुद्धमिति तदुक्तिर्विरुद्धा स्यात् । यथा तत्त्वज्ञानस्वभावादेव तदध्यासनिवृत्तिरावश्यकी, तथात्रोत्तरसानुभवस्वभावजनिततत्कारविशेषोत्कटरागतः स्वेष्टलीलाप्रतिबन्धकत्वातिरिक्तस्तद्धर्मो भासमानोपि न बाधकस्तेषां विज्ञप्तावभूत्, अतस्तन्निवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यथा सा न स्यादेव । अत एवाग्रेप्युच्चाधिकारवत्प्राप्यं फलं प्राप्तवन्तः । एतदेवाहुः फलावधीति क्रियाविशेषणेन । कालीय इन्द्रियाण्याहुरिति । इत्याहुरिति सम्बन्धः । इति मतमिति च । आध्यात्मिकीर्मविद्यामित्युक्तत्वात्ताद्दशस्यैव देहादेरध्यासनिवृत्तिस्तत्कार्या । स च लिङ्गशरीरात्मक इति प्राकृततन्निवृत्तिरेव वाच्या । सैवाध्यायान्ते निरूपिता । अत एव 'दवोपहतचेतस' इति वक्ष्यति । लीलास्थलभक्तजीवनादिकमपि नाद्दष्टजन्यम्, अलौकिकत्वादिति ज्ञापनाय । एतेदेवोक्तमाचार्यैः ततश्चेज्जीविता इत्यनेन । देहस्य प्रारब्धजन्यत्वनियमेन तस्य च नष्टत्वेन न तज्जन्योग्रिमो देह इति पूर्वस्माद्भिन्न एवेत्याहुः पुनर्देहा तरेति । 'मृत्युरत्यन्तविस्मृति' रिति वाक्यात् हरिविस्मृतेरेव तथात्वम् । तथा च विषयोन्मुखेन्द्रियाणां तद्धेतुत्वात्तथात्वमित्याशयेनोक्तं कालीय इन्द्रियाण्याहुरित्यादि । एतेनैतेषां भगवद्भावातिरिक्तभावाभावः सार्वदिक इति सूचितम् । यद्यपि पूर्वमप्येतेषां तथात्वमेवासीत्तथापि यथा वाचा लीलास्थतर्वादिस्वरूपं ज्ञापितम्, तथा स्वकृत्यैतेषां स्वरूपमाधुनिकान् ज्ञापयितुं लौकिकमपि भाव स्थापयित्वा तथाकृतवान्, अन्यथा 'दवोपहतचेतस' इति न वदेत्, अलौकिकत्वात्, लौकिकेष्वेव तथात्वसम्भवादिति भावः । ततश्च पौगण्डवय इत्यत्र, दोषाभावः प्रथममित्यादि । पुरुषे हि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवात्मकः सङ्घः । तथात्वं भगवत्यपि भासत इति तदभावनिरूपणे दोषाभावः उक्तः । प्रमाणप्रकरणत्वात् । तेन भक्तानामपि तथात्वं सिध्यति । अन्यथा सख्यदानं न स्याद् । स चोक्तलील्यैवोक्त । तथा हि । नहि जीवस्य ताद्दगुत्सवहेतुत्वं पूतनान्तकत्वं मुक्तिदत्वं वा सम्भवति । न वा स्वोपकारकर्त्र्यामपि ब्रह्मादिदुरापुरुषार्थहेतुकृपायुक्तमन्तःकरणमन्यस्य भवति । यत्राप्यतिशयो द्दष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादिति न्यायः सर्वत्र द्दष्टव्यः । न वा पूतनास्तनसम्बन्धे प्राणरक्षा सम्भवति । अत एव दुर्जरवीर्यमित्युक्तम् । अतितोकस्य प्राणधर्मरूपस्तनार्थित्वदशायां प्रवालमृद्वङ्घ्रिस्पर्शमात्रेण शकटे तथात्वोक्त्या चावस्थाविरुद्धकार्यकरणेन भौतिकप्राणराहित्यमेवोक्तं भवति । तृणावर्तगलग्रहणेपि तथा । बकमुखान्तःप्रवेशोपि। स्वमुखकमलेखिलप्रदर्शनेनैकदैव लघुत्वगुरुत्वप्राकट्येन रज्जुन्यूनतया चेन्द्रियदेहराहित्यं ज्ञाप्यते । न हि 'यः पृथिव्यां तिष्ठ' न्नित्यादिश्रुत्युक्तधर्मवतीन्द्रियं देहो वा सम्भवति । न हि देहे लघुत्वगुरुत्वे एकदैव सम्भवतः, तावद्रज्ज्वमानं वा । उक्तन्यायोनुसन्धातव्यः । एव सति देहाद्यभावेन तदध्यासादेरप्यभावादुक्तगुणैश्च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहरूपत्वं सिद्धम् । तेन दोषाभावज्ञापककालभिमानिन्यस्ता इति पूर्वं ता एव निरूपिताः । अत्रैव श्लोके सखिभिः सममित्यत्र, गोरक्षा धर्म इत्यारभ्य नोपपद्येरन्नित्यन्तम् । ननु गोरक्षा हि वर्णधर्मः । तथा च भगवत्सख्यं प्राप्तानां तदपेक्षाविक्षेपावसम्भावितावित्यनुपपन्नमिति चेत् । अत्रायं भावः । 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि' रितिन्यायेन स्वाभाविकधर्मान् स्थापयित्वैव सख्यं दत्तवान्प्रभुरिति मन्तव्यम् । अन्यथाग्रे दवोपहतचित्तत्वं विषपानेन चान्यथाभावो नोपपद्यते । अत एव स्वाभाविकपूर्वसर्वधर्मनिवृत्तिविषपानकार्यव्याजेन भगवता कृतेत्युक्तम् । एवं सति सख्यस्य फलपर्यवसायित्वार्थं स्वकर्तव्यं गोरक्षणं तैः कारयति प्रभुः । सख्यं प्राप्तानां प्रभुकर्तव्यकरणस्यैव स्वधर्मत्वात् । अन्यथा तदकरणे स्वाभाविकधर्मैश्च चित्तमितस्ततो भ्रमद्भगवन्माहात्म्यग्रहणाक्षमं सद्भगवल्लोकदिदृक्षामपि न जनयेदिति तद्दर्शनमपि न स्यात् । समर्पणे कृतेपि प्रभुश्चेन्न मनुते, तदा न तत् सम्पद्यत इत्यात्मीयत्वेनाङ्गीकारे सत्येव तत्सम्पत्तिः । इह तु तदर्थं स्वगृहप्रकटनेनात्मसमर्पणमेव भगवानेतेषु मनुत इति ज्ञायते । तेन अस्य आत्मसमर्पणरूपत्वम् । इदं तु साधनरूपम् । अतः साधनप्रकरणे निरूपितम् । फलरूपं तु फलप्रकरणे निरूपयिष्यते । साधनरूपनवविधभक्त्यनन्तरं हि फलरूपाणि तानि नवापि भवन्ति । अतः साधनप्रकरणे निरूपितम् । पुण्यमतीवेत्यत्र, पूर्वमवोचामेति । 'या वै लसच्छ्रीतुलसी' ति श्लोक इत्यर्थः । तन्माधवो वेणुमित्यत्र, लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुमिति । व्रजसीमन्तीन्य एवात्र लक्ष्मीपदेनोच्यन्ते । एकवचनं तु दिवा कथञ्चित्तथैव सम्भवतीत्याशयेनोक्तम् । अर्थं शब्दब्रह्म च संवादार्थमिति । अत्र हि स्वच्छन्दविहारार्थं वनप्रवेश उच्यते । स चामर्यादारूप इति मर्यादानिरूपकशब्दब्रह्मणा विसंवादादप्रामाण्यं स्यात्तन्निरासाय तल्लीलास्वरूपनिरूपकं शब्दब्रह्म प्रकटयति । एवं सति यत्र प्रवर्तकशब्दस्यैव मोक्षादिविस्मारकत्वम्, तत्र तद्विषयस्य कीदृशत्वं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थं वेणुपदव्युत्पत्तिकथनम् । वेदे चातथात्वं स्फुटम् । इदं च स्वतःपुरुषार्थरूपम् । फलाविसंवादि च । तेन प्रमाणोत्तमत्वं सूचितम् । तथा चायं मार्गः पुष्टिरूप इति मर्यादामार्गीयप्रमाणाविषय

युक्तमिति भावः। कुसुमाकरं वनमित्यत्र, रजसेव विहार इति। रसोद्दीपिका सामग्री रजःशब्देनोच्यते। यथा रसशास्त्रसिद्धा लौकिको रीतिः, तथात्रापीति ज्ञापनाय। अत्रैव सत्त्वप्रधानैवेति। 'सत्त्वात्संजायते ज्ञान' मिति वाक्याद्रसस्वरूपज्ञानपूर्विकैव लीलेत्यर्थः। स्पृशच्छिखान्वीक्ष्येत्यत्र, तान् उद्धतान् दृष्ट्वेति। निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थः।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

॥ तत्रादौ द्वादशाध्यायप्रकाशः ॥

लोकप्रसिद्धया प्राप्तं प्रक्षिप्ताध्यायत्रयं सङ्क्षेपतो व्याख्यायार्थैकादशाध्यायान्तप्रमाणप्रकरणानन्तरं प्रमेयप्रकरणं व्याचिख्यासवः पूर्वोक्तैतत्प्रकरणयोः सङ्गतिं निरूपयितुं द्वयोरर्थमाहुर्यशोदेत्यादि, एवं बाल्यभावेन यशोदानन्दयोर्निरोधः पूर्वप्रकरणे सुष्ठु मुख्यत्वेन निरूपितः, अत्रास्मिन् प्रकरणे सस्त्रीकाणां गोपालानां निरूप्यते, तथा च प्रतिबन्धकीभूतबाल्यभावकृतनिरोधजिज्ञासानिवृत्तावश्यवक्तव्यत्वादवसरसङ्गत्यास्मिन् प्रकरणे पौगण्डभावकृतनिरोधो निरूप्यत इत्यर्थः, ननु पूर्वप्रकरण एव सस्त्रीकाणां गोपालानां निरोधस्य श्रीयशोदानन्दनिरोधेन सहोक्तत्वात् किं पुनरत्र तन्निरूपणेनेत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुरेतयोरित्यादि, तथा च निरोध एषां मुख्यताज्ञापनमेव प्रयोजनमिति पूर्वोक्तनिरोधवैलक्षण्यार्थं निरूप्यत इत्यर्थः॥ १॥ सुबोधिन्यां नन्वध्यायद्वयेनैव निरोधवैशिष्ट्यसिद्धौ पुनः प्रकरणद्वयं व्यर्थं स्यादित्यत आहुर्मध्यम इत्यादि, तथाचोत्तमस्याग्रे साधनप्रकरणे निरूप्यत्वान्न वैयर्थ्यमित्यर्थः, ननु किमत्र मध्यमत्वमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहुर्वयस्यानामित्यादि, सुबोधिन्यां ननु भवत्वेवं तथापि धेनुकादिवधोक्तेरत्र किं प्रयोजनमत आहुः पञ्चधेत्यादि, कथं पञ्चधेत्यतष्टिप्पण्यामाहुर्धेनुकेत्यादि, तथा च भगवदनुभावनिरूपणार्थं तन्निरूपणं भक्तौ माहात्म्यज्ञानस्य पूर्वाङ्गत्वेनावश्यकत्वादिति॥ २॥ सुबोधिन्यां ननु दुष्टनिवारणस्य पूर्वं कृतत्वादत्रापि तेनैवैतदुपकारसिद्धेः पुनः प्रकटीकरणेऽपि कस्यचिदेकस्य दुष्टस्य निवारणेऽपि तत्सिद्धेः पञ्चानां निवारणस्य किं प्रयोजनमत आहुराध्यात्मिकीमित्यादि, तथा कृतिरिति पञ्चनिग्रहकृतिः, अत्र किञ्चिद् विशेषं टिप्पण्यामाहुः साधारणानामित्यादि, शिष्टाध्यायद्वयप्रयोजनमाहुर्वयस्यानामित्यादि॥ ३॥ सुबोधिन्यामेवंविभागस्य प्रयोजनमाहुः स्नेहेत्यादि, तदवतार्यं तदर्थं टिप्पण्यामाहुस्तत्रेत्यादि, सुबोधिन्यां मध्यमत्वं निगमयितुमाहुः स्नेहान्त इत्यादि, स्नेह एवान्तः फलं यत्र तादृशत्वादयं निरोधो मध्यम इत्यर्थः, एवं प्रकरणार्थ उक्तः, एतस्य च प्रमेयप्रकरणत्वं निबन्ध एवमुक्तं "मतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिर्हि वर्ण्यते" इति, अर्थस्तु पूर्वप्रकरणोक्तलीलाभि'र्मनः कृष्णासक्तमभू'दतो हेतोः प्रमेयस्य भगवतो या सम्पत्तिर्हार्दी प्राप्तिस्तया कृत्वा हि यतो हेतोः कृष्णासक्तिर्वर्ण्यतेतः प्रमेयप्रकरणमिति, तेन प्रमेयबलादत्र निरोध इति सिध्यति॥ ३१॥ "निरोध"श्च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकासक्तिरतः पूर्वाङ्गस्य पूर्वं वक्तव्यत्वादध्यायार्थमाहुः प्रथमं द्वादशेऽध्याय इति सार्धद्वयेन, तत् कथमित्याकाङ्क्ष्य तदर्थं टिप्पण्यामाहुरत्रायमित्यादि, तावद्रूपमिति देहादिसर्वविस्मृतिनिरूपणरूपमित्यर्थः, धेनुकेत्यादिवधस्य विस्मृतिरूपत्वे प्रतियोगिनः स्मृतिरूपतासिध्यति सैव चात्र देहाध्यास इति धेनुकातिरिक्तो यो देहाध्यासस्तदभाव इत्यपि सिध्यतीत्यर्थः, तत्र हेतुमाहुरध्यासेत्यादि आनन्तर्यमात्रेण स्मृत्यसम्भवमात्रेण च न देहाध्यासरूपत्वमस्योच्यते किन्तु प्रकारान्तरेणापि मूलतो निश्चीयत इत्याशयेनाहुः किञ्चेत्यादि तथेत्यन्तं, तथा च कार्यादपि तस्य देहाध्यासत्वनिश्चय इत्यर्थः, अत एवेति भजनप्रतिबन्धकताज्ञापनस्यावश्यकत्वादेव उक्तमिति "रामकेशवयोः सखे"त्यनेनोक्तं, तथा च तन्निवृत्तेः प्रेम्णा विज्ञापनादपि तस्य तथात्वमित्यर्थः, एवं प्रतिबन्धकत्वं निर्णीय देहाध्यासत्वपरिचायकं भजनप्रतिबन्धतावच्छेदकं रूपं धेनुके विवृण्वन्त्यथेत्यादि, तथा च तद्वनगमनाभावानुकूलं यदावश्यकं दैहिकं कर्म तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वं चातिवीर्यत्वकृतनराहारत्वाभ्यां भीतिजनकत्वेन धेनुके निश्चीयत इति स देहाध्यासरूपः परिचेय इत्यर्थः, एवं देहाध्यासकार्यजनकत्वेनास्य देहाध्यासत्वं निश्चित्य देहाध्यासनाशकनाश्यत्वेनापि देहाध्यासत्वमस्याहुर्यथेत्यादि, तन्निवृत्तिरिति धेनुकनिवृत्तिः, अन्यथा सा न स्यादेवेति देहाध्यासरूपत्वाभावे निवृत्तिर्न स्यादेव, तथा च यथात्मविषयकनिरोध्यनुरागद्वारा तत्त्वज्ञाननाश्यत्वं देहाध्यासस्य तथा भगवद्विषयकानुरागद्वारोक्तरसानुभवनाश्यत्वमस्येत्यतोप्ययं देहाध्यासरूप इति भावः, भगवतो रसरूपत्वमात्मत्वं चाविवादमतो न कोपि शङ्कालेश इति दिक्, अत एवेत्यादि देहाध्यासनिवृत्तेरेव देहसम्बन्धिषु स्वकीयत्वबुद्धेर्निवृत्तत्वाद्दत्युच्चाधिकारवद्भिर्यत् फलं प्राप्यते सेवकत्वरूपं तत् प्राप्तवन्त इत्यर्थः, पुरःस्फूर्तिक तु तालफलरूपं गतसाध्यसरूपं वा बोध्यं, एतेन प्रथममितिकारिकोत्तरार्धं पूर्वार्धे हेतुत्वेनान्वेतीति बोधितम्॥ ४॥ निवृत्ते देहाध्यास इन्द्रियाध्यासनिवृत्तिः पूर्वमेव विषयाणां बन्धकत्वं निवर्तत इत्यतापि तस्य देहाध्यासत्वं निश्चाय्यत इति सुबोधिन्याशयोग्रिमकारिकातो ज्ञायते, तथा चायं कारिकार्थस्तद्वधो धेनुकवधो ज्ञानपूर्वो धेनुकस्वरूपलीलास्थानस्वरूपज्ञानपर्वः फलावधि यथा स्यात् तथा निरूप्यत इति ज्ञेयः, कालीय इन्द्रियाण्याहुरित्यादेरर्थं विवृण्वन्तीत्याहुरित्यादि, तादृशस्यैवेत्याध्यात्मिकस्यैव, तन्निवृत्तिरिति लिङ्गशरीरनिवृत्तिः॥ ६॥

ततश्चेत्यत्र ज्ञाने निरूपणीये देशशुद्ध्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाहुर्वन एवेत्यादि, "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्येन वनस्य तथात्वात् 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मितिवाक्याज् ज्ञानस्य तथात्वेन तथेत्यर्थः, अत्र हि कौमारत्यागानन्तरं पौगण्डाश्रय उच्यते तत्र कौमारे को दोषः कश्च तस्य भाव इत्याकाङ्क्षायां दोषाभाव इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः पुरुषे हीत्यादि, स चोक्तलीलयैवोक्त इति दोषाभावः प्रमाणप्रकरणोक्तलीलायैवोक्तः, कथमुक्त इत्याकाङ्क्षायां

तद् व्युत्पादयन्ति तथा हीत्यादि, तत्र पूर्वं जीवतां निराकुर्वन्ति न हीत्यादि सम्भवतीत्यन्तं, अन्तःकरणवत्तां निराकुर्वन्ति न वेत्यारभ्य द्रष्टव्य इत्यन्तं, प्राणवत्तां निराकुर्वन्ति न वेत्यारभ्य प्रवेशोपीत्यन्तं, इन्द्रियवत्तां शुद्धतां च निराकुर्वन्ति स्वमुखेत्यारभ्य सन्धातव्य इत्यन्तं सिद्धमाहुरेवं सतीत्यादि, एवं दोषाभावं साधयित्वा पञ्चात्मकः काल इत्यादेस्तात्पर्यमाहुस्तेनेत्यादि, ता इति देवताः, अयमर्थः, यदि हि कालपरिच्छेद्यत्वं स्यात् तदा दोषवत्त्वं सम्भाव्येतापि तत् तु नास्ति देशपरिच्छेदस्येव कालपरिच्छेदस्यापि लीलार्थमिच्छयैव प्रकटनादतो न कोपि शङ्कालेश इति दिक्, सुबोधिन्यां गोरक्षा धर्म इत्यादि, तदर्थं टिप्पण्यामाहुर्नुं गोरक्षा हीत्यादि, अन्यथेत्यादि, स्वाभाविकधर्माभावे, अयमेवाचार्याशय इति ज्ञापयितुमाहुरल एवेत्यादि, सुबोधिन्यामन्यथा सख्येत्यादिफक्किकां विवृण्वन्त्यन्यथेत्यादि, अन्यथेति भगवता तैस्तदकारणे, न तत् सम्पद्यत इति नोपपद्येरन्नित्यस्यायमर्थः, स्वगृहप्रकटनेनेति वैकुण्ठप्रकटनेन, अस्यात्मसमर्पणरूपत्वमिति वैकुण्ठप्रकटनस्यात्मसमर्पणरूपत्वं, अत्र मूले गाश्चारयन्ताविस्यनेन गोचारणमात्रमुक्तं पाद्मोत्तरखण्डे तु तत्र दिनादिविशेष उच्यते 'कार्त्तिकामलपक्षे तौ रामकृष्णौ बुधाष्टमीदिने गोपालतामाप्तौ कृष्णौ षट्सप्तहायना'विति ॥ १ ॥ तन्माधव इत्यत्र लक्ष्म्या सहेत्यादेरर्थं शब्दब्रह्मेत्यादेरर्थं च टिप्पण्यामाहुर्व्रजेत्याद्यत्र हीत्यादि च, स इति स्वच्छन्दविहारः, अप्रामाण्यमिति प्रमाणागोचरत्वं, तद्विषयस्येति प्रवर्तनाविषयस भक्तागमनादेरित्यर्थः, अतथात्वमिति वेणुतुल्यत्वाभावः, तदेव विशदयन्तीदमित्यादिना, फलाविसंवादि चेति, भगवत्स्वरूपात्मकफलाविसंवादि चेत्यर्थः, सुबोधिन्यां विषयिणो मुक्ताश्चेतिपरोक्षवादो लौकिकभावयुक्ताः सर्वात्मभावयुक्ताश्चेत्यर्थः, आध्यात्मिका इत्यादि तत्तद्गता धर्मा इत्यर्थः, रजसैव विहार इत्यादेरर्थमाहुष्टिप्पण्यां रसेत्यादि, अत्रैवं बोध्यं, सर्वस्य मूलं सच्चिदानन्दो भगवान् गुणाश्च सत्त्वादयो भगवत एवोत्पन्ना इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितं रजसश्च "काम ईहा" इत्येकादश वृत्तय उक्तास्तज्जनकत्वं यथा लौकिकस्य रजसस्तथा भगवद्धर्मरूपस्याप्यतो लोकसदृशी रससामग्र्यलौकिकी वाच्या, किञ्च यद् यज्जनकं तत् तदात्मकमितिव्याप्तिः समन्वयसूत्रे दर्शितेतीह "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्तभगवद्रसात्मिकैव सर्वापि सामग्री रजआदिशब्दैराचार्यैरुच्यते रसशास्त्ररीतिकलीलाबोधनायेति न कोपि शङ्कालेशः, सत्त्वप्रधानेत्यादेरर्थमाहुः सत्त्वादित्यादि ॥ २ ॥ तन्मञ्जिवत्यत्रान्तरिक्षदैवत्या इत्यादेरयमाशयः प्रतिभाति, "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोन्तरिक्षदैवत्याः खलु वै पशव" इतितैत्तिरीयब्राह्मणश्रुतेस्तादृशाः पशवो यदान्तरिक्षप्रधानेरण्ये प्रविष्टास्तत्र वायुरन्तरिक्षाध्यक्षत्वादुभयाधिपतिस्तदीयाश्चेत् तद्देशे यान्ति तदा तदधिष्ठातुरानुगुण्यमावश्यकं यदि सोन्यथा प्रेरयेद् देशं वा शोषयेत् तदा सा लीला तत्र न सङ्गच्छत इति तस्य निर्दोषत्वं गुणवत्त्वं च वाच्यमिति तत्तत्सम्बन्धिनीति वृन्दावनसम्बन्धिनी तेन निर्दोषत्वबोधनाद् वायोरागन्तुको दोषः परिहृतो गुणास्तु स्पष्टाः, निर्दुष्टत्वगुणवत्त्वे सामान्यस्यापि वायोः सम्भवत इत्याधिदैविकत्वं बोधयितुं महन्मन इत्यादिविशेषणं व्याकुर्वन्ति महतामित्यादि, महन्मनसोपि सकाशात् प्रकर्षेण ख्यातिर्यस्य तत् महन्मनःप्रख्यं तादृशं यत् पयस्तद्युक्तं यत् सरस्तदस्यास्तीत्येतत्सम्बन्ध्यस्तीति तादृशो यो वायुः, तथा च महन्मनोदृष्टान्तेन लयविक्षेपशून्यताशान्तीनां बोधनादाधिदैविकत्वं बोध्यमित्यर्थः, पुरःस्फूर्तिकं तात्पर्यमाहुरनेनेत्यादि, अत्र यद्यपि वायोः सरःसम्बन्धिपयःकणयोगेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते भवतस्तथापि तादृशपयोयुक्तसरस एतत्सम्बन्धित्वकथनेन शैत्यमान्द्ययोः कश्चिद् विशेषः सूच्यते स च लौकिकरीतिभिन्नत्वरूप इति तथा, तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति सदेत्यादि, तेनापीति वायुना ॥ ३ ॥ स तत्रेत्यत्र तूष्णीं वेति वाशब्द एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे, नम्रा इत्याहेति वैकुण्ठस्य इव प्रकटसच्चिदानन्दा इति हेतोराहेत्यर्थः, नम्रत्वमेव स्फुटीकुर्वन्ति तत्रेत्यादि सूचित इत्यन्तं, तथा च वैकुण्ठस्थैर्यथा तुलसीत्पी बहुमानेन स्वस्मिन् सच्चिदानन्दप्राकट्यं बोध्यते तथैतैर्नम्रतेत्यर्थः, तेभ्योप्येतेष्वाधिक्यं बोधयितुं तानित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थ इति, तथा च तान् दृष्ट्वा भगवतो न हर्ष एतान् दृष्ट्वा तु हर्ष इति महदेवाधिक्यमित्यर्थः, ननु स्मयन्नित्यनेन मायामोहबोधनात् कथं हर्षोवगन्तव्य इत्याकाङ्क्षायां तस्यार्थमाहुः सुबोधिन्यां स्मयन्निवेत्यादि, तथा च मन्दहासस्यान्यार्थत्वाबाधो निर्बाधः सुखेनावगन्तव्य इत्यर्थः, ननु भवतु भगवतो हर्षस्तथापि बलभद्रे तेषां स्वरूपबोधनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुर्बलभद्रेपी त्यादि, अन्यथेत्येवम्भङ्ग्या स्वस्वरूपबोधनाभावे, नाविष्टा स्यादिति बलभद्रे तिरोहितैव तिष्ठेन्न तु प्रकटा स्यात्, अत्रायं भावः एते हि साक्षात्पुरुषोत्तमसेवका एवेति तेषामन्यनमस्कारादिकमनुचितं तथा चात्र साधारण्येन नमस्कारकृतावनन्यत्वभङ्गश्चेत् स्यात् तन्निवृत्त्यर्थं बलभद्रे प्रविष्टं स्वस्वरूपं तदानीं बलभद्राय बोधनीयं येन तस्यापि स्वाभिमानः पृथक्तया निवर्तेतेत्येतत् प्रयोजनमित्यर्थः, अयं च सर्वोप्यर्थः स्वरूपबोधनान्यथानुपपत्त्या समर्थितो ज्ञेयः, पुरुषोत्तम इति, तथा च महत इदमेवकृत्यं यत् स्वसेवार्थमागतमुत्कृष्टं करोति यथैकादशस्कन्धे "निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनमनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि"रिति तथा च न दोष इत्यर्थः ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अथ तामसप्रकरणे प्रमेयप्रकरणम्

द्वादशेऽध्याये यशोदानन्दयोरिति प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरूपितस्तथाप्येतयोः सुष्ठु मुख्यतया निरूपित इत्यर्थः, आध्यात्मिकीमिति स्थूलदेहाद्यध्यासरूपाधिभौतिकी लिङ्गदेहाद्यध्यासरूपाध्यात्मिकी अलौकिकदेहाद्यध्यासरूपाधिदैविकी, इयं तु

भगवत्सेवोपयोगित्वात् न निवर्तनीयेति भावः, **उभयेषामिति** निरोधार्थमिति शेषः, **देहाध्यासो हीति** धेनुकपदस्य देहाध्यास-वाचकत्वं योगरूढ्योरभावेपि कल्पनया टिप्पण्यां व्याख्यातं, परोक्षवादस्थले कल्पना । अपि प्रवृत्तिनिमित्तत्वं "कल्पनोपदेशाच्चे"ति सूत्रे व्यवस्थापितं, धेनुकमारणं देहाध्यासनिवारणं चैकपदवाच्यत्वादैक्येनैव भगवता सम्पादितमिति भावः, **ज्ञानपूर्वं इति** अत्र ज्ञानपदेन तर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तं, यद्यपि बलभद्रं प्रति बोधयति तथापि प्रसङ्गादन्येषामपि श्रवण-मिति ज्ञेयं, **ततश्चेदिति** ल्यब्लोपे पञ्चमी, तं मरणं प्राप्य पुनर्जीविता इत्यर्थः । **ततश्च** इत्यस्याभासे **तत्रेति** ज्ञानपूर्वधेनुकवधे निरूपणीये, तस्य वनलीलात्वात् प्रथममिदं त्रयमाहेत्यर्थः, च त्रयं ज्ञानं निरूपयन्नाह सत्त्वप्रधानैव लीलेतिवक्ष्यमाणत्वाद् रसस्वरूप-ज्ञानं निरूपयन्नित्यर्थः, तादृशलीलार्थं वनप्रवेशे हेतुमाहुर्वन एवेति, वनस्य तत्तद्रसस्वरूपज्ञापकस्तम्भादिसात्त्विकभावहेतुत्वात् तत्रैव तद्ज्ञानं भवतीत्यर्थः, मध्ये मार्गमेवं न भवतीति तद्व्यावर्तनायैवकारः, वनस्य तादृशत्वे हेतुमाहुः **तत्रोद्वेगो न भवतीति**, मध्ये-मार्गं वक्ष्यमाणसत्कृतिमात्रसम्भवेप्यन्यदर्शनसम्भावनयोद्वेगो भवतीति तेन न तावती लीला यया स्तम्भादिभावा भवन्ति, वने तादृशोद्वेगो न भवतीति वनस्यैव सात्त्विकत्वमित्यर्थः, इदमेव 'सत्त्वप्रधानैव लीले'त्यनेन वक्ष्यते, तथा च **विहर्तुकाम इति** पदस्य वनपदसमभिव्याहारात् सत्त्वप्रधानलीलाकाम इत्यर्थ इति भावः, **तत्रे**ति तादृशवने क्रीडायां तस्या मनोजन्यत्वात् मनो निरूपणीय-मतोग्रिमश्लोकेन तदुक्तमित्यर्थः, ननु 'तन् निरीक्ष्य मनो दधे' इति कथनात् प्रवेशः प्राप्त एवेति भिन्नतयैकेन प्रवेशः कथमुक्त इत्यत आहुः **प्रवेशश्चेति**, पूर्वाध्यायेपि वनलीलोक्ता तथा'प्यविदूरे व्रजभुव' इति वाक्याद् ग्रामसम्बन्धिन्येव, अत्र ततो भिन्नप्रक्रमेण केवल-वनलीलाबोधनार्थं प्रवेशश्च वक्तव्य इत्यर्थः, **मनो निरूपणीयमयं च वक्तव्य** इत्यन्वाचयः, **दैत्येति** दैत्यस्य मधोर्भूमौ मधुवने तत्पुर्या वृन्दाया वनमस्तीत्यर्थः, **दोषाभाव इति** पौगण्डलीलाभक्तेषु पुरुषार्थान् स्थापितवानिति वक्ष्यते **एवंवृन्दावने इति** चतुर्भिः, ते च चत्वार इति चतुर्वर्षात्मकत्वं तस्य, **कौमारलीलाया** भगवति दोषाभावनिरूपणेन भक्तेषु दोषाभावो निरूपितस्ते च पञ्चेति पञ्चवर्षात्मकत्वं तस्येत्यर्थः, **तदनन्तरमिति** भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावसाधकलीलाकालानन्तरं पुरुषार्थसाधकलीला-कालमाश्रितावित्यर्थः, भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावः सिद्ध इति टिप्पण्यां व्युत्पादितं "अन्यथा सख्यदानं न स्या"दि-त्यनेन, **ततश्चेति** चकारस्यार्थमाहुः **तारुण्यमिवेति**, **पशूनामिति** अस्मिन् पक्षे पालनं पालः पशूनां पाले पालने सम्मतौ योग्या-वित्यर्थः, **स्वयमेवेति** पुण्यं साधितं तत्साधनं भवति इदं स्वयमेवेत्यतिशयः, स्वत इति पुण्यं फलदमिदं स्वयं फलरूपमिति चातिशयः ॥ १ ॥ **विशेषाकारेणेति** सामान्यतस्तु प्रथमश्लोकेप्युक्त एवेतिभावः, **तन्माधव** इत्यत्र लक्ष्म्या सहेति माधवपद-समभिव्याहाराद् **विहर्तुकाम** इत्यस्य **लक्ष्म्या सह विहर्तुकाम** इत्यर्थोऽग्रिमश्लोके 'रन्तु'मित्यस्य "सर्वाभिरेव देवताभिः सह रन्तु"मित्यर्थ इति विशेष इति भावः, **संवादार्थमिति** वेणुनादस्य लीलास्वरूपनिरूपकत्वं वेणुपदव्युत्पत्त्या निरूपितं टिप्पण्युक्त-कैमुत्येन लीलायास्तदुभयविस्मारकत्वबोधनेन सर्वोत्तमत्वबोधनाय वेणुवादनमित्यर्थः, **स्वरूपानन्देति** मोक्षानन्दस्वर्गाद्यानन्दा-वित्यर्थः, वेणोस्तादृशत्वं साधयन्ति **तद्वादने इति**, यत इति शेषः, यतो वेणुवादने सति **विषयिणो** भोगपरा **मुक्ता** निवृत्तिमार्गीयाः शक्रशर्वपुरोगाः **समायान्ति**, तद् विहायैतद्विचारपरा एव भवन्तीत्यर्थः, **प्रयोजनान्तरमाहुः आध्यात्मिका इति**, आत्मानं जीवमधि-कृत्य वर्तन्ते ते **आध्यात्मिकाः**, देवं भगवन्तमधिकृत्य वर्तन्ते ते **आधिदैविकाः**, उभयानुगुणकर्तारोपि स्वामिनीः समानीय भगवन्तं प्रतीक्षन्ते नादश्रवणे भगवानागत इति ज्ञानादुद्बुद्धा भवन्ति, तत **आधिदैविका** आगत्य स्वामिन्यागमनं भगवते सूचयन्ति इति तैर्वृतो भवतीत्यर्थः, सौन्दर्यं वेशः अमर्यादलीला इत्यादिरूपं यशस्तैर्निरन्तरं गीयते, **सामर्थ्यार्थमिति** प्रतिबन्धकागमनाभावार्थ-मित्यर्थः, **बलात्मेति** बलं प्रतिबन्धकनिरसनसामर्थ्यमात्मनि यस्येत्यर्थः, **क्रियायामिति** गोचारणलीलायामित्यर्थः, **क्रियाशक्त्येति** वनप्रवेशनेनेत्यर्थः, **शुद्धानिति** यथा वत्सासुरमारणेन वत्सानां कण्टकशर्कराक्षेत्रप्रवेशहेतुभूतं भावं निवर्तितवानित्युक्तं, तथा वन-प्रवेशनेन गवां तं भावं निवर्तितवान्, तथा च शुद्धांस्तादृशभावरहितानित्यर्थः, वृन्दावनस्य निर्दुष्टतृणादिमत्त्वमनुपदमेव वक्ष्यते-तस्तत्सम्बन्धाद् गवामपि निर्दुष्टत्वं भविष्यतीति भावेन **पशव्यपदमुक्तमित्याहुः स्थानमपीति**, **विहारे हीति** क्रिया अन्तरङ्गलीला पूर्णा स्तम्भादिभावावधिका **विहारे** हि सति भवतीत्यर्थो ज्ञेयः, **रजोविकासानामिति** रजोरूप उद्दीपको विकासो येषामित्यर्थः, **सत्त्वप्रधानैवेति** स्तम्भादिपर्यन्ता रसस्वरूपज्ञानहेतुत्वात् सात्त्विकी लीला, उद्बोधकोद्बुद्धरसस्य सत्कृतिरूपा लीला रसे लोभजन-नाद् राजसी, अमर्यादलीला प्रमादमोहनीवीं प्रतीतिप्रकारकाज्ञानसम्पादकत्वात् तामसी, इयं त्वधुना वने गृह इव निर्भयतया स्थित्य-भावान् न सम्भवतीति एवकारेण व्यावर्त्यते, **रजोलीलेति** रसोद्दीपकसामग्रीविशिष्टा लीलेत्यर्थः ॥ २ ॥ **तदित्यस्याभासे पश्चादिति** तदागमनसूचनानन्तरमित्यर्थः, **सर्वाभिरेवेति** पूर्वं त्वेकत्रैव सङ्केतस्य कृतत्वात् तत्रैव रिरंसासीत् तदुक्तं लक्ष्म्येत्येकवचनेन सर्वा-गमनज्ञानानन्तरं तु सर्वत्रैव रिरंसा जातेत्यर्थः, **देवताभिः** क्रीडायोग्याभिः, **अलौकिकीभिः** लोकावेद्यतया स्थिताभिरित्यर्थः, व्याख्याने, तत्र **भूदोष** इति नीरसत्वमित्यर्थः, तथा सति तृणपुष्पफलाभावादेते त्रयो न तिष्ठेयुरित्यर्थः, तृणादीनामपि निर्दुष्टत्वात् तदात्मकवनस्य लीलोपयोगित्वमाहुः **तृणेति**, तत्सम्बन्धिनां वक्ष्यमाणस्वरूपमञ्जुघोषत्वेन तृणपुष्पफलानामप्यास्तरणकुसुमग्रथन-फलभोगादिरूपलीलोपयोगित्वमेव, इदमेव निर्दुष्टत्वं, भगवतस्तत्तदाकाङ्क्षायामकालेप्याविर्भावात्, तदाकाङ्क्षाभावे कालेप्यनावि-र्भावात्, **प्रियस्थितिज्ञापकत्वमिति** शेषः। निर्जन एव देशे यथेच्छं क्रीडया घोषसम्भवेन **तत्रैव ता इति** ज्ञापकत्वमित्यर्थः,

गुणपूर्णतापीति निर्दुष्टगुणवद्वातसेवितत्वमित्यर्थः, **अन्तरिक्षदैवत्या** इति वायवस्थेत्याह "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्ष देवत्याः खलु वै पशवः वायव एवैनान् परिददाती"ति श्रुतेः, तथा च गावोन्तरिक्षदेवत्या अन्तरिक्षं च वायुदेवत्यमतो वायुर्गवाधि पतिरित्यर्थः, रुद्रदेवत्यपक्षेऽपि त्रिदेवतापक्षे रुद्रस्यापि वायुभेदत्वाद् गवाधिपतित्वं वायोः, **तदैव लीलेति** वायोर्दोषराहित्ये गवाधि पतित्वादरण्यस्थान्तरङ्गनिकुञ्जाधिपतित्वाच् चान्तरङ्गनिकुञ्जेषु ता न गमयेदिति भावः, **आगन्तुकेति** औष्ण्यचण्डतानिर्हार गन्धश्च वक्ष्यमाणगुणैरेव परिहृतो भवतीति भावः, **जलं पुष्पाणि च** विशेषणान्युक्तानीति शेषः, तेनैते **गुणाः** उक्ता इति शेषः, अग्र **लयविक्षेपेति लयः** शोष **विक्षेपः** प्रवाहः तडागे नद्यां च तत्सम्भवात् **सरः**पदमित्यर्थः, **सदादीति** पयसि महन्मनःप्रख्यत्वकथनेन पयस्वति सरसि महत्प्रख्यत्वमुक्तं जातमिति भावः, पयसो मनस्त्वं तत्सम्बन्धेन सरसो महत्त्वं च सादृश्येन कल्पनया, यथा ज्योति षोलदोग्धृत्वादिसादृश्येनाजात्वं "ज्योतिरुपक्रमा"दितिसूत्रे व्युत्पादितं तथात्रापि ज्ञेयं, भागवतेपि वेदफलरूपत्वात् तथा व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः, **पुष्पविशेषा वेति** कुशेशयानां रात्रिविकासित्वादिदमुक्तं, **गन्धोस्यास्तीति** अस्तिविवक्षायां मत्वर्थीय इत् **तेनापीति** आभासे **मनो दधे** इत्यत्र धातोर्धारणार्थमादाय वाक्यार्थ उपक्रान्तः, अत्र पोषणार्थमादाय **प्रवृत्त** इत्यनेनोपसंहृतः, आगमनज्ञानानन्तरं मनः कृतवान्, तादृशवायुसेवितवनदर्शने तूद्बुद्धभावः सन् **प्रवृत्त** एवेत्यर्थः, तथा च धात्वर्थतावच्छेदकावच्छिन्नो वाक्यार्थं इत्युपक्रमोपसंहाराविरोध इत्याकलनीयम्, तथा च **प्रवृत्त** इत्यस्य मनः पोषितवानित्यर्थः, दर्शनेन प्रवृत्तौ मनःपोषस्या वान्तरव्यापारत्वेपि फलरूपप्रवृत्तिनान्तरीयत्वात् प्रवृत्तित्वेनोक्तः, व्यापारान्तरमाहुः **भृङ्गादिष्विति**, साम्यज्ञानं चावान्तरव्यापार इत्यर्थः ॥ ३ ॥ 'रन्तुं मनो दध' इत्यनन्तरमेवं'वृन्दावने' इत्येव वक्तुमुचितं तथापि मध्ये श्लोकपञ्चकमुपोद्घातार्थमित्याहुः **क्व चिदित्यारभ्य बोधयतीत्यन्तेन, प्राकृतेति** प्राकृतैः पदार्थै रतिमित्यर्थः प्राकृतसामग्र्या रतिं करोतीतिशङ्कायां लीलासामग्री भावनीया न भवेदिति विवरिष्यते, **स्वरूपमिति** दोषाभावो गुणाश्चेत्यर्थौ विवरिष्यते, **भूमेश्चेति** चकारेण तच्छ्लोकोक्तास्तृण वीरुधादयो ज्ञेयाः, भूमिवृक्षयोर्वनस्वरूपत्वमाहुः **वनं हीति, तत्स्था** इति अलयो मृगपक्षिणश्चेत्यर्थः, **स्वरूपतोपीति** 'यदि दुष्टं भवे'दिति पूर्वेणान्वयः, अलीनां मृगपक्षिणां च दोषस्तत्स्थदोषः भूमेर्वृक्षाणां च दोषः स्वरूपदोषः, एवं चतुर्विधदोषे भावनया त्यागे स्यादियमविशेषात् सर्वैव च लीलासामग्री भगवद्भावनायां भावनीया न भवेत्, तथा सति मुक्तिरेव सिध्येन् न तु निरोध इत्यव तारप्रयोजनं विरुध्येतेत्येतन्न्यायेन सर्वस्या अपि निर्दोषत्वेनाप्राकृतत्वं निर्धारितं भविष्यतीतिभावेन भगवता रमणारम्भे बोध **भावो** वक्तव्य इत्यर्थः, तर्हि गोपैरन्योन्यं वक्तव्यं किं भगवद्बलभद्रसंवादेनेत्याशङ्क्याहुस्तानिति, **बलभद्र एव च** वुध्यत इत्यन्वय **अत** इति यतस्तयोरेव बोध इत्यर्थः, **प्रत्यक्षत** इति प्रतिबन्धकागमनार्थं बलभद्रं ज्ञापयित्वैव लीलाकरणात् तन्मानसप्रत्यक्षविषय त्वेन लीलां कर्तुं बलभद्रबोधनमित्यर्थः; **स तत्रे**त्यस्याभासमाहुः **यदि वनस्था** इति, इत्याहेति इति 'स तत्र तत्रे'ति श्लोके आहेत्यन्वयः, **उपलक्षितानिति** लक्ष दर्शनाङ्कनयोः तादृशश्रियाङ्कितान् तत्सहितानित्यर्थः, तथा च सहार्थे तृतीयेतिबोध्यं, बलभद्र सिद्धं बोधनप्रयोजनमाहुः **आवेशित्वेनेति**, चतुर्व्यूहविशिष्टभगवदावेशवत्त्वेन हेतुनेत्यर्थः, तादृशावेशसिद्ध्यर्थं बोधनमित्यर्थः **अन्यथेति** एवम्बोधनाभावे सदोषत्वेन प्राकृतत्वं मत्वा तच्चिन्तनं न कुर्यात् तदा तदावेशो न भवेदित्यर्थः, **बलभद्रपरत्वेन** निरूप हेतुरधुनैवावेशस्य शैघ्र्यमित्यग्रे वदिष्यन्त्या "वेशिना सर्वभावेने"त्यादिना, अतस्तत्पराणीमानि वाक्यानि न त्वावेशाधिकरणे पराणीत्यर्थः । तथापि तदपेक्षया अवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वेनैव कथनमुचितमित्याहुः नन्विति ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

द्वादशाध्यायविवृतौ **पञ्चपर्वानुभावोत्रे**ति अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासाः स्वरूपविस्मृतिश्च श्चेति तन्निवारको भगवदनुभावोत्र निरूपित इत्यर्थः, **दुष्टनिग्रहरूपवानिति** देहाद्यध्यासः स्वरूपविस्मृतिसंज्ञकश्चेति पञ्च पर्वाणि यानि निरूपितानि तान्यत्र धेनुकादयो दैत्या मूर्तिमन्तः "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः, तन्निग्रहरूपवान् भगवद नुभाव इत्यर्थः, **आध्यात्मिकीमविद्यां** वा इति एतानि पञ्च पर्वाणि निवर्तितानीत्यनेनाध्यात्मिकी अविद्यैव निवर्तिता, भौतिकी तु पूतना पूर्वं नाशिता, आधिदैविकी तु लीलोपयोगिदेहाद्यध्यासरूपा तादृग्लीलापयोगिस्वरूपाज्ञानरूपा चेति सा न निवर्तनीयेति **ततः सर्वविनाशः** स्यादिति विषरूपविषयसम्बन्धात् सर्वपारमार्थिकहानिः स्यादित्यर्थः ॥ ० ॥ **ततश्च पौगण्डवय** इत्यस्याभासे भगवतो **मध्यमलीलायामिति** प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण प्रमाणप्रमेयसाधनप्रकरणैर्व्रजजनानां सिध्यन्तीति निबन्धे उक्तं, अतः प्रमेयप्रकरणे अस्मिन् आसक्तिसाधकलीला **मध्यमलीले**त्यर्थः, **पशुपालने वेति** अस्मिन् पक्षे पालनं पालः पशूनां पालः पशुपालः सम्मतौ योग्यावित्यर्थः **समं वेति** अस्मिन् पक्षे **समं** तुल्यमित्यर्थः ॥१॥ **तन्मञ्जुघोषालीत्य**स्याभासे तत्र **स्थिताभिरिति** वृन्दावन गोवर्धननिकटवर्तिग्रामस्थिताभिरित्यर्थः, **देवताभिरिति** व्रजवरनितम्बिनीभिरित्यर्थः, परोक्षवादेन "देवता"पदवाच्यत्वात् तासां **अन्तरिक्षदैवत्याः पशव** इति 'वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षदैवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान् परिदधाती'तिश्रुतेर्वायुर न्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षं पशुदैवतमतो वायोरुभयाधिपतित्वं, **भृङ्गादिष्विति** अलिभृङ्गद्विजादिष्वित्यर्थः, **त्रयो गुणा** इति मरुत् पदवाच्यास्त्रयो गुणास्तत्र निर्दुष्टत्वमेको गुणः भगवत्स्वरूपगानादानुभवानन्दजत्वलक्षणो द्वितीयः स्वस्थितिदेशे भगवत्स्थितिज्ञापकत्व रूपस्तृतीयः ॥ ३ ॥ **भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एवेति** "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे"तिवाक्याद् भग

स्वरूपं भगवानेव जानाति वृन्दावनं च साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकमेवेति, तत्रस्थतरुलतालिमृगपक्षिपश्वादिरूपं भगवदितरो न जानात्यतः प्रभुरेव निरूपयति, बलभद्रस्य वेदात्मकत्वात् स एव बुध्यते, अनेन वृन्दावनस्वरूपं वेदेनापि स्वतो न बुध्यते भगवदुपदेशेन ज्ञायते इति सूचितमिति यत्र सर्वज्ञस्य वेदस्यापीयं व्यवस्था तत्रान्यस्य कथं बोध इति कैमुत्यं दर्शितं, स्मयन्निवाहाग्रजमादिपुरुष इत्यस्य विवृतौ अग्रे स एवाविर्भूत इति यद्यप्यावेशावतारयोर्मध्येवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वं वृक्षादीनां वक्तव्य न तु बलदेवपरत्वं तथापि ज्येष्ठभ्रातुरभ्यर्हितत्वस्य वेदे निरूपितत्वाद् धर्ममार्गसरणिमादाय ज्येष्ठभ्रातुरुत्कर्षकथनार्थं तत्परत्वं वृक्षादीनां वर्णितमित्याहुः अग्रे स एवाविर्भूत इति तर्हि बोधनमिति ज्येष्ठभ्रात्रे उपदेशस्यानुचितत्वादाशङ्का, समाधानं तु "आदिपुरुष" इत्यनेन पुरुषोत्तमत्वमादाय पुरुषोत्तमस्य सर्वगुरुत्वात् ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

द्वादशेध्याये यशोदेति का० १२५ ३ । प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरोधः पूर्वप्रकरणे निरूपितः, तथाप्येतयोः सुष्ठु मुख्यतया निरूपित इत्यर्थः, अत्रास्मिन् प्रकरणे सत्रीकाणां गोपालानां निरोधो मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः, नन्वत्र प्रमेयप्रकरण एव मुख्यनिरोधसिद्धावग्रिमप्रकरणवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याहुर्मध्यम इति का० १२६ ३ । यद्यपि वयस्यानां स्वामिनीनां च पूर्वप्रकरणोक्तनिरोधापेक्षयास्मिन् प्रकरण अधिको निरोध उच्यते तथापि वक्ष्यमाणनिरोधमपेक्ष्य एतत्प्रकरणोक्तो निरोधो गोपालानां स्वामिनीनां च द्वयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः, पञ्चधेति का० १२६ ३ । धेनुककालियप्रथमदावाग्निप्रलम्बद्वितीयदावाग्निनिग्रहात्मकः पञ्चधा भगवदनुभावोत्र प्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः, एते पञ्च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासस्वरूपविस्मृतिरूपाः पञ्चभिरध्यायैर्निरूप्यन्ते, तत्र प्रथमो दावाग्निः प्राणाध्यासरूपः, प्रलम्बः अन्तःकरणाध्यासः, द्वितीयदावाग्निः स्वरूपविस्मरणात्मक इति तत्र तत्र स्फुटं, आध्याहिमकोमित्यादि का० १२७ ३ । लिङ्गशरीराद्यध्यासरूपामविद्यां दूरीकर्तुमविद्यापर्वरूपधेनुकादिवधकरण, आधिभौतिक्यविद्या पूतनारूपा पूर्वं नाशिता, आधिदैविकी तु लीलासाधकत्वात् न निवर्तनीयेति भावः, तदर्थं धेनुकादिवधार्थं क्रमतः पञ्चाध्यायाः, उभयेषां वयस्यानां स्वामिनीनां च निरोधार्थं क्रमेण सप्तदशाष्टादशात्मकमध्यायद्वयमित्यर्थः, उभयेषां निरोधस्य पृथङ्निरूपणे निमित्तमाहुः स्नेहाधिक्येति का० १२८ ३ । साधारणापेक्षया अधिकस्नेहज्ञापनार्थं पृथङ्निरूपणमित्यर्थः, एतत्प्रकरणीयनिरोधस्य मध्यमत्वोक्तौ हेतुमाहुः स्नेहान्त इति, स्नेह एवान्तः फलं यस्य तादृशो निरोधो मध्यम इत्यर्थः, अत्र स्नेहपदेनासक्तिर्ज्ञेया स्नेहान्तनिरोधस्य प्रमाणप्रकरण एव सिद्धत्वात्, व्यसनसिद्धिश्च साधनप्रकरणे, तथा चोक्तं दशमस्कन्धनिबन्धे "सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतं फलप्राप्तिश्चतुर्थे हि सिद्धो रोधश्चतुर्विधः" इति, अध्यायार्थमाहुः प्रथममिति का० १२९ ३ । अत्र ज्ञानपदेन लीलासम्बन्धितर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसात्मकलीलानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तं, फलं चात्र विषाम्भःपानेन परेतानाममृतवर्षिण्या ईक्षया पुनर्जीवनसम्पत्त्या ज्ञानपूर्णालौकिकदेहप्राप्तिः, फलावधीति नपुंसकप्रयोगात् क्रियाविशेषणमिति टिप्पण्यां व्याख्यातं, क्रियाविशेषणे द्वितीया क्लीबत्वं चेति वैयाकरणसिद्धान्तात्, कालीय इति का० १२९ ३ । अत्र इति शब्दमध्याहृत्य इत्याहुरिति व्याख्यातं टिप्पण्यां, तत्रायमाशयः, आहुरितिकर्तरिप्रयोगेण कालीयशब्दादनभिहिते कर्मणि द्वितीया स्यात्, इति शब्दाध्याहारे तु आख्यातादिभिरिव निपातेनाप्यभिधाने प्रथमानुशासनान् न काप्यनुपपत्तिः, तथा च इन्द्रियाणीतिपदमपि प्रथमान्तमेव, इतीति निपातेनाभिधानात्, एतदेव हृदि कृत्वा तथा व्याख्यातं प्रभुभिः, तत इति का० १३० ३ । तत इन्द्रियेभ्यो विषयेभ्यश्च सर्वविनाशः स्यादिति बोधयितुमन्ते अध्यायान्ते मरणाभिधा विषाम्भःपानेन मरणोक्तिः, ततो मरणानन्तरमपि सर्वे जीविताश्चेत् तदा पुनः अलौकिकदेहान्तरस्थितिरित्यर्थः ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

पञ्चदशे तरुस्तोत्रं धेनुरक्षा विनाशनम् ॥ धेनुकस्य विषाद्गोपवत्सरक्षा निरूप्यते ॥ १ ॥

तदेवं कौमारलीलां निरूप्य पौगण्डलीलां निरूपयति—तत इति । ततश्च कौमारावस्थानन्तरं यदा तौ रामकृष्णौ व्रजे पौगण्डवयःश्रितौ ईषद्वयोबलातिरेकमनुकृतवन्तौ, अत एव पशूनां गवादीनां पालने चारणसंयोजनबन्धनादौ नन्दादीनां सम्मतौ बभूवतुस्तदा सखिभिः सह गाश्चरयन्तौ ब्रह्मादिवन्द्यैः पदैः सर्वतः प्रसर्पणेन वृन्दावनमतीव पुण्यं पवित्रं पुण्यजनकस्थानं चक्रतुरित्यन्वयः । तद्गोचारणारम्भदिनं तु पाद्मे कार्तिकमाहात्म्ये उक्तम् "शुक्लाष्टमी कार्तिके तु स्मृता गोपाष्टमी बुधैः ॥ तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः" इति ॥ १ ॥ तत्र वृन्दावनगमनप्रकारमाह—तदिति । तद्वृन्दावनं विहर्तुकामो वेणुमुदीरयन् वादयन् स्वयशो गृणद्भिर्गोपैर्वृतः बलेन चान्वितः पशून् गाः पुरस्कृत्य माधवो लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्ण आविशत् । वनस्य विहारयोग्यतां दर्शयंस्तद्विशिनष्टि—पशव्यं तृणजलच्छायादिबाहुल्येन पशुभ्यो हितम् । कुसुमानामाकरम् ॥ २ ॥ तत् पञ्चेन्द्रियाह्लादकं वृन्दावनं निरीक्ष्य भगवान् कृष्णो रन्तुं मनो दधे । मञ्जुघोषा मधुरनादा ये अलिमृगद्विजाः भ्रमरभृङ्गपक्षिणस्तैराकुलं व्याप्तमिति श्रोत्राह्लादकत्वमुक्तम् । महता भगवद्ध्याननिष्ठानां योगिनां मनसा प्रख्यं सदृशं शीतलं मधुरं स्वच्छं च पयो यस्मिंस्तत् सर आश्रयत्वेन विद्यते यस्य तेन वातेन जुष्टमिति जलगतमाधुर्येणाग्रिमश्लोकोक्तफलबाहुल्येन च रसनाह्लादकत्वमुक्तम् । अनेनैव

जलसम्बन्धनात् शीतलेन वनसम्बन्धान्मन्देन च वायुना जुष्टत्वेन त्वगिन्द्रियाह्लादकत्वमुक्तम् । 'शतपत्रगन्धिना' इति घ्राणाह्लादकत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥ 'अरुणपल्लवश्रिया जुष्टम्' इति नेत्राह्लादकत्वमुक्तम् । स आदिपुरुषः श्रीकृष्णस्तत्र तत्र वने फलानां प्रसूनानां चोरुभरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखाः शाखा येषां तान् वनस्पतीन् वृक्षान् वीक्ष्य मुदा हर्षेण स्मयन् प्रहसन्, यद्वा आश्चर्यं कुर्वन्निव अग्रजं बलभद्रमाह । स्वसङ्कल्पकृतत्वेन वस्तुत आश्चर्याभावादिवशब्दप्रयोगः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गोपालत्वं पञ्चदशे धेनुकस्य विनाशनम् ॥ विषाद्रक्षा च गोपानां श्लोकास्तत्र द्विमार्गणाः (५२) ॥

श्रीशुवाचेति (३) पादोना ऊनषष्टिरनुष्टुभः (५८॥) ॥ १५ ॥

पञ्चमवर्षलीलामाह ततश्चेति ॥ ततः कौमारानन्तरं यदा तौ रामकृष्णौ व्रजे पौगण्डवयःश्रितौ अत एव पशूनां गवादीनां पाले पालने चारणसंयोजनबन्धनादौ नन्दादीनां संमतौ बभूवतुः । ईषद्वयोबलातिरेकमकृतवन्तौ इत्यर्थः । स्वधर्मे गोचारणे प्रतिनिधिना पुत्रेणारब्धे नन्दो निवृत्त इति ज्ञेयम् । तदा सखिभिः सह गाश्चारयन्तौ पदैः ध्वजादिभिश्चरणचिह्नैः सर्वतः प्रसर्पणेन वृन्दावनमतीव पुण्यं पवित्रं चक्रतुः । पूर्वं तु बालत्वेन सूक्ष्माणां चरणचिह्नानामप्रकटत्वात् एतत् गोचारणारम्भदिनं तु "शुक्लाऽष्टमी कार्तिकस्य स्मृता गोपाष्टमी बुधैः ॥ तद्दिनाद्वासुदेवोऽभूद्गोपः पूर्वं तु वत्सपः ॥" इति पाद्मे ॥१॥ तन्माधव इति ॥ विहर्तुंकामो वेणुमुदीरयन् वादयन्स्वयशो गृणद्भिर्गायद्भिर्गोपैर्वृतः बलेन चान्वितः पशून् गाः पुरस्कृत्य माधवो लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्णः श्लेषेण वसन्त इव तदुल्लसकः पशव्यं तृणजलच्छायादिबाहुल्येन पशुभ्यो हितं कुसुमानामाकरं तद्वृन्दावनम् आविशत् ॥ २ ॥ तन्मञ्ज्विति ॥ मञ्जुघोषा मधुरनादा ये अलिमृगद्विजाः भ्रमरहरिणपक्षिणस्तैराकुलं व्याप्तमिति श्रोत्राह्लादकत्वमुक्तम् । महतां योगिनां मनसा प्रख्यं सदृशं शीतलं मधुरं स्वच्छं च पयो यस्मिंस्तत् सर आश्रयत्वेन विद्यते यस्य तेन शतपत्रगन्धिना कमलगन्धवता वातेन जुष्टमिति रसनाल्लघ्राणाह्लादकता । अग्रिमश्लोके तु नेत्राह्लादकता । तद्वृन्दावनं निरीक्ष्य भगवान् रन्तुं मनो दध्ने । अत्र वातेनेति शैत्यं शतपत्रेति परिमलवत्त्वं जुष्टं वनमिति पवनमान्द्यम् ॥ ३ ॥ स तत्रेति ॥ स आदिपूरुषः श्रीकृष्णस्तत्र तत्र वने अरुणाः ये पल्लवास्तेषां श्रिया फलानां प्रसूनानां चोरुभरेण पादयोः स्पृशन्त्यः शिखाः शाखा येषां तान् वनस्पतीन् वृक्षान् वीक्ष्य मुदा हर्षेण स्मयमानः आश्चर्यता । यद्वा । आश्चर्यं कुर्वन्निव अग्रजं बलभद्रमाह स्म ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं पंचदशेऽध्याये वृंदावनं गत्वा श्रीकृष्णकृतं वृक्षादिप्रशंसनं अनेकविधक्रीडनं च विषोदपानेन मृतगोपजीवनं च रामकृतं धेनुकहननं च निरूप्यते तत्रादौ लीलाकरणार्थं वृंदावनप्रवेशमाह द्वाभ्यां तत इति पौगंडवयःश्रितौ प्राप्तौ अतः पशुपालानां नंदादीनां पशुपालने वा संमतौ पूर्वं बाल्यदृष्ट्याऽसंमताविदानीं तु बलाधिक्यप्रकटनेन पशुपालने नंदादिभिः संमानितावित्यर्थः पदैः स्वपादन्यासैः अतीव अतिशयं पुण्यं पवित्रं चक्रतुः ॥ १ ॥ तयोर्मध्ये श्रीकृष्णस्य प्राधान्यमाह तदिति स्वस्य यशः कीर्तिं गृणद्भिः गायद्भिः समवयोभिः गोपैः वृतो रामेण युक्तः माधवो रमापतिः वेणुं मुरलीं उदीरयन् वादयन्सन् तद्वनं प्राविशत् कथंभूतं तत् कुसुमानां आकरं अत्युत्पत्तिस्थानं पशव्यं तृणादिभिः पशूनां हितकरं ॥ २ ॥ वृंदावनशोभां निरूपयन्नाह मंजुर्मनोहरो घोषः शब्दो येषां तैर्भ्रमरमृगपक्षिभिराकुलं व्याप्तं महतां धर्मवतां मनोवत् प्रख्यं स्वच्छं यत्पयो यमुनाजलं तस्मिन् सरः सरणं गमनं विद्यते यस्य तेन शतपत्राणां सरोजानां गंधो विद्यते यस्य ते न वा तेन जुष्टं सेवितं तद्वनं ॥ ३ ॥ अरुणानां पल्लवानां नवांकुराणां शोभया सहितान् फलपुष्पयोः उरुभरेण बहुभारेण पादयोः विषये स्पृशंत्यः शिखाः अग्रभागाः येषां तान् वनस्पतीन तरून् वीक्ष्य मुदा स्मयन्नुपहसन्निव सः अग्रजं रामं जगाद ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

धेनूनां पालनं पञ्चदशेऽथो धेनुकार्दनम् । विषात्कालीयसर्पस्य गोपत्राणं च कथ्यते ॥ १ ॥

अघास्यसंप्रवेशेन सखीन् खिन्नान् वृथा ततः । पक्वतालफलं कृष्णः काननं तानवेशयत् ॥ २ ॥

तत इति ॥ ततश्च कौमारानन्तरमपि, पौगण्डं च तद्वयश्च तच्छ्रितौ संप्राप्तपौगण्डवयसावित्यर्थः । तौ रामकृष्णौ, सखिभिः समं सह, व्रजे, गाः धेनूः, चारयन्तौ सन्तौ, पशुपालने पशुपालानां वा संमतौ, बभूवतुः । पदैः पादन्यासैः, वृन्दावनं, अतीव, पुण्यं चक्रतुः ॥ १ ॥ तदिति ॥ तत्तदा, स्वयशः स्वकीर्ति, गृणद्भिर्वर्णयद्भिः, गोपैर्गोपबालकैः, वृतः परिवीतः, बलान्वितः बलभद्रसहितः, वेणुं स्ववंशीं, उदीरयन् मुखवायुपूर्त्या निनादयन्, विहर्तुकामः वने क्रीडितुमनाः, माधवः स्वयं कृष्णः, पशून् पुरस्कृत्य, धेन्वादीनग्रचरान् कृत्वेत्यर्थः । कुसुमाकरं कुसुमप्रधानतरुप्रायमित्यर्थः । पशव्यं प्राज्याभिनवघासवत्त्वेन पशुभ्यो हितं, वनं प्राविशत् ॥ २ ॥ तदिति ॥ मञ्जुः रमणीयो घोषो नादो येषां ते येऽलयो भ्रमराश्च मृगा हरिणाश्च द्विजाः पक्षिणश्च तैराकुलं व्याप्तं

महतां योगिनां यत् मनस्तेन तुल्यं स्वच्छं निर्मलं पयो यस्मिंस्तत् सरः आश्रयत्वेनास्ति यस्येति सरस्वान् तेन, अनेनातिशैत्यमुक्तम्। शतपत्राणां गन्धो यस्य तेन, वातेन जुष्टं अनेन परिमलवत्त्वमुक्तम्। तद्वनं निरीक्ष्य वीक्ष्य, भगवान्, रन्तुं तत्र क्रीडितुं, मनः दधे। मनसा संकल्पितवानित्यर्थः ॥ ३ ॥ स इति ॥ आदिपूरुषः सः कृष्णः, तत्र तत्र, अरुणाश्च ते पल्लवाश्च तेषां या श्रीस्तया सह, फलानि च प्रसूनानि च तेषां य उरुभरस्तेन, पादयोः, स्पृशन्त्यः शिखाः अग्राणि येषां तान्, वनस्पतींस्तरून्, वीक्ष्य, स्मयन् उपहसन् इव, मुदा अग्रजं रामं प्रति, आह वक्ष्यमाणमुवाच ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ततश्चेति : १०.१५.१.

ताद्दग् गवावनमिहाऽऽत्मदृशा विधेयं स्यात्संभ्रमो न खलपद्धतिसाध्वसं च।
तारोदिताऽऽत्तनुरसग्रहणस्पृहा चेत्यर्थं प्रमुर्विशदयन् भृशमास गोपः ॥ १ ॥

भूत्वाऽनन्तगवावनैकरसिकस्यार्कस्य वंशे पुरा यद्गोत्राणमकारि चित्रमिह किं का वाऽन्वयोत्कृष्टता।
इत्यावेशविशेषजुष्टहृदयो मन्येऽन्वयोत्कृष्टतां प्रेप्सुः क्षिप्रमिहाचकाङ्क्ष भगवान् निःसंख्यगोपालनम् ॥ २ ॥

मत्पालनं हृदि निधाय धृतावतारो यद्यप्यथापि कथमत्र भवेन्न जाने।
इत्यप्रगल्भकुविशङ्कितमार्जनाय नाना गवावनमधात् प्रथयन्स्वशक्तिम् ॥ ३ ॥
दुर्दैत्यनाशनविधावुपयोगिरूपं स्याद्यादृशं विपिनसीम्नि स ताद्दगासीत्।
तत्तद्वयो विलसता व्रज एव कार्यमेतत्स्फुटं व्रजवयः कथनाद्विभाति ॥ ४ ॥

पशुपतिपदवाच्यो भासतेऽत्र त्रिनेत्रो भुवि तदनुमतत्वं नाम तत्कार्ययोगः।
ध्वनितमिदमिहैवं गोपगोत्राणकर्ता खलहृतिमतिरासीत्तत्प्रभृत्यच्युतो यत् ॥ ५ ॥
वृन्दावनं तदनघं हि पुराऽघहत्या सञ्जातमित्यलमवेक्ष्य रमाधवोऽसौ।
पुण्यास्पदं निजपदैरकरोत् तदीड्यं युक्तं च पुण्यदमघघ्नमिहेशवर्त्म ॥ ६ ॥

तदिति : १०.१५.२.

विना निजयशः स्तुतिं भवति नैव वीर्योदयाभिवृद्धिरिह शूरसत्कुलजनैरपीति प्रभुः।
तदह्नि सबलः स तैर्निजयशो गृणद्भिर्वृतः सुमङ्गलरवोन्मुखो वनमगात् खलध्वस्तये ॥ ७ ॥

वने लसन्तं प्रसमीक्ष्य माधवमनन्तशाखागमबोधितागमम्। स्वतुल्यमेवात्मविभूतिवैभवं जानन् ययौ तद्विपिनं स माधवः ॥ ८ ॥

तन्मञ्ज्विति : १०.१५.३.

तत्तच्छ्रुत्युग्रपदिताऽऽत्तनुफलप्राग्वासनापुष्पितेऽग्र्यजोमञ्जुविचारभाजिविषयोल्लासावगाहिन्यपि।
सानन्दं विहरामि तत्र हृदि यत्सत्सत्कृतावानतं भूयादेवमबोधि तादृशि तरुप्रान्ते च रन्त्वा स्वयम् ॥ ९ ॥

मानुष्यस्य न चेदगीह विहितं कर्मागमख्यातिभिः प्रोद्यद्भक्तिफलैर्विचारहृदयैर्भूसंभवैः सत्तरैः।
स्त्रीकुर्यामहमेव तन्निजधिया सर्वं तथाप्यादरान्नित्यानन्तपदर्शकतयेत्याधात् स्फुटार्थं प्रभुः ॥ १० ॥

अग्रजमिति : १०.१५.४.

नित्यानन्तपदस्पृष्टशिरसस्तान् विभाव्य सः। युक्तमेवाच्युतोऽनन्तं प्रोचे तच्छुभदस्थितिम् ॥ ११ ॥
सर्वाग्रस्य ममैव सर्वविषयेष्वग्र्याधिकारोऽस्त्यथाप्यद्यास्मिन् हिमदर्पिताविजयते रामे मदीयाग्र्यता।
तस्मात् तत्कृतसत्कृतिग्रहणकृत् संप्रत्यसौ नाहमित्यालोच्यैव तमच्युतोऽग्रजमिति प्रोचे प्रजेशाग्रणीः ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

धेनुकासुर का उद्धार और ग्वालबालों को कालियनाग के विष से बचाना।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब बलराम और श्रीकृष्ण ने पौगण्ड अवस्था में अर्थात् छठे वर्ष में प्रवेश किया। अब उन्हें गौएँ चराने की स्वीकृति मिल गयी। वे अपने सखा ग्वालबालों के साथ गौएँ चराते हुए वृन्दावन में जाते और अपने चरणों से वृन्दावन को अत्यन्त पावन करते ॥ १ ॥ यह वन गौओं के लिये हरी-हरी घास से युक्त एवं रंग-बिरंगे पुष्पों की खान हो रहा था। आगे-आगे गौएँ, उनके पीछे-पीछे बाँसुरी बजाते हुए श्याम सुन्दर, तदनन्तर बलराम और फिर श्रीकृष्ण के यश का गान गाते हुए ग्वालबाल-इस प्रकार विहार करने के लिये उन्होंने उस वन में प्रवेश किया ॥ २ ॥ उस वन में कहीं तो भौंरे

बड़ी मधुर गुंजार कर रहे थे, कहीं झुंड के झुंड हिरण चौकड़ी भर रहे थे, और कहीं सुन्दर-सुन्दर पक्षी चहक रहे थे। कहीं सुन्दर-सुन्दर सरोवर थे, जिनका जल महात्माओं के हृदय के समान स्वच्छ और निर्मल था। उनमें खिले हुए कमलों के सौरभ से सुवासित होकर शीतल मन्द सुगन्ध वायु उस वन की सेवा कर रही थी। इतना मनोहर था वह वन कि उसे देखकर भगवान् ने मन ही मन उसमें विहार करने का संकल्प किया ॥ ३ ॥ पुरुषोत्तम भगवान ने देखा कि बड़े-बड़े वृक्ष फल और फूलों के भार से झुककर अपनी डालियों और नूतन कोपलों की लालिमा से उनके चरणों का स्पर्श कर रहे हैं, तब उन्होंने बड़े आनन्द से मुसकराते हुए से अपने बड़े भाई बलरामजी से कहा ॥ ४ ॥

[1]श्रीभगवानुवाच

अहो अमी देववरामरार्चितं [2]पादाम्बुजं ते [3]सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥
[4]एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त [5]आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न [6]जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥
नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ।
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥ ७ ॥
[7]धन्येयमद्य धरणी [8]तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अहो अमी यत् तरुजन्म कृतं आत्मनः तमोऽपहत्यै शिखाभिः सुमनःफलार्हणं उपादाय देववरामरार्चितं ते पादाम्बुजं नमन्ति ॥ ५ ॥ आदिपुरुष, एते अलिनः अखिललोकतीर्थं तव यशः गायन्तः अनुपदं भजन्ते प्रायः अमी भवदीयमुख्याः मुनिगणाः अनघ वने गूढं अपि आत्मदैवं न जहति ॥ ६ ॥ ईड्य गृहम् आगताय अमी शिखिनः मुदा नृत्यन्ति हरिण्यः गोप्यः इव ईक्षणेन ते प्रियं कुर्वन्ति कोकिलगणाः सूक्तैः वनौकसः धन्याः हि इयान् सतां निसर्गः ॥ ७ ॥ इयं धरणी अद्य धन्या त्वत्पादस्पृशः तृणवीरुधः करजाभिमृष्टाः द्रुमलताः धन्याः सदयावलोकैः नद्यः अद्रयः खगमृगाः धन्याः (तथा) श्रीः अपि यत्स्पृहा भुजयोः अन्तरेण गोप्यः धन्याः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तरुजन्म येन तमसा कृतं तस्य तमसः पापस्यापहत्यै नाशाय अथवा येन त्वय्येश्वरेण सर्वोत्कारकं तरुजन्म कृतं तं हि नमंति । एवं श्लाघ्येऽपि जन्मनि यदज्ञानरूपं तमोऽस्ति तस्यापहत्यै ॥५॥ हे अनघ वने गूढमपि त्वां न त्यजंति । त्वयि मनुष्यवेषेण निगूढे सति मुनयोऽप्यलिवेषेण निगूढास्त्वां भजंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ इयान् हि सतां निसर्ग इति । यदस्ति स्वस्मिंस्तद्गृहमागताय महापुरुषाय समर्पयंतीति ॥ ७ ॥ तृणवीरुधश्च तव पादौ स्पृशंतीति तथा करजाभिमृष्टा नखैः स्पृष्टाः । सदयैरवलोकैः । श्रीरपि यस्मै स्पृहयति केवलं तेन भुजयोरंतरेण वक्षसा गोप्यो धन्या इति ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तदेवाह—येन पापेन । न हि पापिनो भगवद्दृष्टिगोचरीभवंतीत्यरुच्यार्थांतरमाह—अथ वेति । श्रीवृंदावनतरूणामुपकारकं प्रागद्रुमरूपाणाम् 'वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्' इत्याद्युक्तेर्ब्रह्मादिभिः प्रार्थ्यमानजन्मनां तमोऽभावात्, लंके तज्जातीय तरूणां यत्तमोजन्यं जन्म तत्तमोपहत्यै इति वा । यद्वा—तमसोऽपराधस्यापहत्य, येनापराधेन कृतं तरुजन्म । हंतास्माभिरपराद्धं कश्चित्कृतः यत्कृष्णसन्निधिगमनासमर्थमस्माकं तरुजन्म विधात्रा कृतमिति तेषामनुरागोत्थ वचनमेवान्ववो वद्भगवान् । वस्तुतस्तु ब्रह्मादिप्रार्थ्यवृंदावनीयतरुजन्म नापराधफलमिति तत्त्वम् ॥ ५ ॥ अनघेति । गोपवेषत्वेऽप्यपरिमितैश्वर्यत्वं तदेति संबुद्धि...

---

१. प्राचीनप्रत्यां "श्री भगवानुवाच" इत्ययमंशो न दृश्यते । २. पदाम्बुजं—वीर. । ३. फलार्हणैः—विज. । ४. एतेऽलयस्तव—श्रीध. । ५. पुरुषानुपथ—विज. । ६. त्यमरा मदेवं—विज. ७. विज. पाठे अयं श्लोकः "ग्राम्यवदीशचेष्टितः" इति एकोनविंशश्लोकानन्तरं वर्तते । ८. इति कस्यचिद् ।

अलिनो भ्रमराः "भ्रमराणां पक्षमूलमलमाहुर्मनीषिणः" इत्युक्तेरलमस्ति येषामित्यलिनः। इत्यर्थ इति। 'प्रकाशे प्रकाशं गुप्ते गुप्तम्' इति न्यायेन गुप्तस्य गुप्तवेषेणव भजन उचितमिति भावः। "वेत्ता सर्वस्य वेद्यस्य मुनिः सद्भिरुदाहृतः" इत्युत्पलः। मुनिगणा रहस्यलीलागमनार्थं भ्रमरीभवंति, तेन भो भ्रमरा मदतिरहस्यकुंजमपि प्रविश्यास्मत्सौरभ्यमास्वादयत मा संकुचतेति तान्प्रति प्रसादो ध्वनितः। अखिललोकानां मुक्तनुमुक्ष्वादीनां तीर्थं सेव्य शोधकं वा। यद्वा—अखिलोऽनल्पः लोको ज्ञानं येषां तेषां सर्वज्ञानामपि सेव्यम्। अनघानां निर्दुःखानां मुक्तानामात्मदैवं प्राप्यत्वेन निश्चितम् 'मुक्तानां परमा गतिः' इत्युक्तेः। 'दुःखनोव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। आदिपुरुषसर्वकारणकारणाभजने पातित्यं मा भूदित्यर्थः। आत्मप्रभवमीश्वरं न भजंत्यवजानति 'स्थानाद्भ्रष्टाः पतंत्यधः' इत्युक्तेः। पूर्वोक्तमुनिगणपक्षेऽपि योजनास्येति ॥ ६ ॥ सतां निसर्ग इति। नृत्यसहर्षावलोकप्रियवचनैर्गृहागतस्य साधोः संमाननमिति सतां विदुषां स्वाभाविको धर्म इत्यर्थः। शिखिनो मयूरा यद्वा—केशशिखाधारिणः। हरिण्यः मृग्यः। पक्षे हरिं नयंति प्राप्नुवंति इति हरिण्यः हरिभक्ताः। सूक्तैः कर्णप्रियैर्वचोभिः। पक्षे कः ब्रह्मा, ओ विष्णुः, उ शिवः, तेषां किलो वार्त्ता येषां ते कोकिला इन्द्रादयः, तान् गणयति पूजनार्थमिति कोकिलगणा यज्ञादिकरणशीलाः। 'वार्त्तासंभाव्ययोः किल' इति शाश्वतः। इयान् एतावान्। सतां शास्त्रश्रद्धावताम्। निसर्गः स्वभावः यद्गृहागतायातिथये सुदृष्टिसुवचोनमनादिना पूजनमिति, अन्यथा "अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहाद्याति ह्यपूजितः। तस्य पूर्वकृतं पुण्यं नाशमायाति सर्वतः॥" इत्यादिस्मृतिधर्माकुप्येतेति ॥७॥ वक्षसा तत्संबंधेन लक्षितलक्षणया भुजांतरेण वक्षःसंयोगो लक्ष्यते। धन्येयं भूमिर्धन्याश्चात्रत्याः पदार्था इति भावः। यद्वा—सन् अयः शुभावहो विधिर्यैस्तथाभूतैरवलोकैः सहिता। यतः किञ्चित्सुगन्धशीतलां गोपीपर्यायां सारिवां वल्लीं वक्षसि कौतुकेन ध्रियमाणां विलोक्याह—गोप्यः श्यामवल्ल्योऽपि भुजयोरतरं वक्षस्तेन सहिता यतः श्रीः शोभापि यस्मै स्पृहयति सा या वल्ली शोभामपि शोभयतीत्यत एव वक्षसि त्वया ध्रियत इति भावः। पक्षे गोप्यो व्रजसुंदर्यः यत्स्पृहा यस्मै भुजांतराय लक्ष्मीरपि स्पृहयति, तदुक्तं भागवतामृते—"सदा वक्षःस्थलस्थापि वैकुंठेऽपितुरिदिरा। कृष्णो वः स्पृहयास्यैव रूपं विवृणुतेऽधिकम्। पौराणिकमुपाख्यानमत्र संक्षिप्य लिख्यते। श्रीः कृष्णे प्रेक्ष्य सौन्दर्यं तत्र लुब्धा ततस्तपः। कुर्वतीं प्राह तां कृष्णः किं ते तपसि कारणम्॥ विजिहीर्षे त्वया गोष्ठे गोपीरूपेति साऽब्रवीत्। तद्दुर्लभमिति प्रोक्ता लक्ष्मीस्तं पुनरब्रवीत्॥ स्वर्णरेखेव तेनाथ वस्तुमिच्छामि वक्षसि। एवमस्त्विति सा तस्य तद्रूपा वक्षसि स्थिता॥" इति विश्वनाथः॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो इति प्रहर्षे आश्चर्य्ये वा अमी इमे स्थावरयोनयोऽपि हे देववर! सर्वदेवोत्तम! सुमनसः पुष्पञ्च फलं च तदेवार्हणं पूजोपकरणमात्मनः शिखाभिरग्रभागैः श्लेषेण शिरोभिः उपादाय उपादेयत्वेन गृहीत्वा ते तव पादाम्बुजं नमन्ति नमस्कुर्वन्तः शिखाभिरेव तव पादाम्बुजे समर्पयन्तीत्यर्थः। कीदृशं पादाम्बुजम् अमरा ब्रह्मादिदेवा मुक्ताश्च तैरर्प्यचितम्। ननु, कथं स्थावराणामीदृशं ज्ञानं तत्राह—तम इति। येषामीदृशो भावस्तेषामज्ञानं नास्त्येव प्रत्युत तमोऽपहत्यै पश्यतां शृण्वतां च तमोनाशाय यत् यैः श्रीवृन्दावनसम्बन्धि तरुजन्म कृतम् अङ्गीकृतम्। यद्वा, तमोऽपहत्यै पशुपक्ष्यादिवत्त्वत्सङ्गमासक्तिदुःखनाशाय नमन्ति के तेऽमी यत् यैस्तरुजन्म कृतं प्राप्तमित्यर्थः। एवं नित्यसिद्धान् प्रतिविवक्षितं साधनसिद्धान् प्रति तु आत्मनस्तमोऽपहत्यै तवाप्राप्तिदुःखनाशाय यदित्यादि यथा ब्रह्मणा प्रार्थितमिति भावः। एवं सर्वत्र प्रचारेण मुहुः सर्वेषामेव सुखं कार्य्यमिति स्वैरविहारेच्छया प्रोक्तम्॥ ५॥ एत इति। श्रीमदङ्गुल्या दर्शयति—अविशेषेणाखिललोकानां तीर्थं संसारमलपावनं त्वद्भक्तिमाहात्म्यद्योतकगुरुरूपं वा अनुपथं पथि पथि भजन्ते अनुवर्त्तन्ते त्वाम् अनुपदमिति पाठेऽपि तथैव तच्च युक्तमेवेत्याह, हे आदिपुरुषेति। सदा स्वतः सर्वेषां त्वत्सेवकत्वादिति भावः। अत्रानुमिमीत इव प्राय इति भवदीया भवतो नाना रूपस्योपासका ये तेष्वपि पूर्णस्य मदव्रजरूपस्य भवत उपासकत्वान्मुख्या ये मुनयः परममननिश्चिततद्रूपत्वद्भजनेन तत एवान्यत्र मौनशीलत्वेन चानन्या इत्यर्थः। तेषां गणाः अत एव श्लेषेण मुनयोऽपि गणा अनुगा येषां ते मुनीश्वरा इत्यर्थः। श्रीब्रह्मणापि दुर्लभस्य लाभात् ते वने श्रीवृन्दावने गूढमन्यरूपोपासकैर्ज्ञातमपि अत्रैव क्वचित् क्रीडाविशेषाय निलीयस्थितमपि च न जहति तत्र हेतुः, आत्मदैवमिति। भवदीयमुख्या इति च अनयोश्च मिथो हेतुत्वं हे अनघ! न विद्यते भक्तानामघं यस्मिन् सः हे अपराधाग्राहिन्! परमकारुणिकेति यावत् अनघात्मदैवमित्येकं वा पदं तदेवमेषामभीष्टसिद्धिः कार्येति भावः। प्राय इति वितर्के श्रीनारदादिवत् यशोगानपरमरहस्यतदन्वेषणाऽनुगत्यादिसाम्यात्॥६॥ ईड्य! हे स्तुतियोग्येति लज्जया स्मित्वा विमुखीभवन्तमिवाग्रजमभिमुखीकरोति मुदेत्यस्य सर्वैरप्यनुषङ्गः ईक्षणेन प्रियं प्रीतिं भावं ते तुभ्यं जनयन्ति "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" (१।४।३३) इति संप्रदानत्वं गोप्य इवेति वीक्षणस्य सुष्ठुतया प्रेम्णा च साम्यात् दैर्घ्यचाञ्चल्यसप्रेमत्वादिना तत् स्मरणाच्च अत एव श्रीरामप्रेयस्योऽप्यन्या ज्ञेयाः इत्थं पौगण्डमारभ्य तासु तस्य भावोदयः सूचितः। परमतेजस्वित्वेन पौगण्ड एव कैशोरांशाविर्भावात् तासामपि तादृशत्वात् सूक्तैः श्रोत्रसुखदशब्दैः तत्तत् कुतः? गृहमागताय अभ्यागतायेत्यर्थः। तच्च "वाक् चतुर्थी च सूनृता" इति न्यायेन युक्तमेवेत्याह, इयानिति॥ ७॥ एवं तत्कर्तृकसेवया तान् स्तुत्वा श्रीरामकर्तृकप्रसादेनापि धरण्यादिसहितान् एव तान् स्तौति–धन्येति। इयमादितो वर्त्तमाना विचित्रावतारस्पर्शसौभाग्यवती विशेषतः श्रीवराहशेषप्रसादातिशयलब्धमाहात्म्यापि अद्य त्वदवतार एव धन्या परप्रशंसनीयाऽभूत् आस्तां तावदस्या धन्यात्वं तत् संभवानां मध्ये लघिष्ठा

इमाः श्रीवृन्दावनवर्तिन्यः तृणवीरुधस्तृणरूपा लता दूर्वाद्या अपि धन्याः यतस्त्वत्पादस्पृशः एवमुत्तरत्र च धन्येयमिति वचनं लिङ्ग व्यत्ययेनानुवर्त्यं त्वदिति छान्दसो ङसो लुक् ततो यथास्थानमाकर्षणीयं तथा द्रुमा लताश्च करजैरङ्गुलिभिः किसलयादि सौकुमार्यस्पर्शाय भूषणाद्यर्थंच्छेदनाय वा स्पृष्टाः सन्तः "मालत्यदर्शि वः कच्चित्" इत्यादिवत् करजाः नखा इत्यर्थे तु तैरभिज्ञा नाम नावरतासूचकः किसलयादौ लेखो ज्ञेयः, स च श्रीगोपीनामुद्दीपनार्थः "पश्यतेमा लताः" इत्यादिवत् तथा एताः नद्यः शैला द्रयोऽपि त्वत्पादस्पृशः सन्त इति गम्यं योज्यं वा तेषु तस्यैव प्राधान्यात् नद्यस्तदेत्यादौ गृह्णन्ति पादयुगलमिति हन्तायमद्रिरिति यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोद इति वक्ष्यमाणाच्च अथ गोपीपर्यायां श्यामसारिवां तर्हि कथञ्चित्तद्वक्षोलग्नां दर्शयन् श्लेषेणाह, गोप्य इति। मत्पितृव्यादवतीर्णस्य पुनर्मत्पितुर्धर्मतां प्राप्तस्य गोपकन्यापरिणयनमेव भविष्यतीति सूचयन्त्य इति भावः तदेवमाह यस्तस्य प्रियात्वं प्राप्स्यन्तीभिः काभिश्चिद्गोपीभिः सह विहारस्तस्य सूचना कृता यत्स्पृहेति श्रीवैकुण्ठनाथवक्षस्थिता लक्ष्मीरपि यत्स्पृहेत्यर्थः। न केवलं स्पृहामात्रं किन्तु वक्ष्यते चान्यन्नागपत्नीभिः "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इति एवमप्यत्र श्रीगोपी तदप्राप्तिः श्रीगोपीनामिव तदनन्यत्वाभावात् तासु तदधिकारिणीष्वननुगतत्वाच्चेति भावः। अत्र सर्वेषां सर्वेषु सत्स्वपि तस्य कृपा प्रसादस्य परमकाष्ठाप्राप्तत्वात् विशेषोक्तिरिति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो इति प्रहर्षे, सादरसम्बोधने वाश्चर्य्ये वा। अमी इमे स्थावरयोनयोऽपि। देववर हे पूज्यश्रेष्ठ ! सर्व्वदेवोत्तमेति वा। अतएव सुमनसः पुष्पं फलञ्च, तदेवार्हणमर्ह्यं तेऽनेनेति पूजोपकरणम्, शिखाभिरग्रभागैः कृत्वोप समीपे उपटोकनत्वेन वाचक सुमन इति श्लेषेण भावरूपता तस्य ध्वानता। तमसोऽज्ञानस्यापहृत्यै, अमरैः सत्त्वप्रधानैरर्च्चितमित्यन्वयः। यद्वा, अहो प्रातः! देववरैः श्रीब्रह्मादिभिरमरैश्च मृत्युरहितैरप्यर्च्चितम्,—तत्र मुक्तानामज्ञानं मोक्षस्वीकारात्। यद्वा, आत्मनः शिखाभिर्निजैः है भक्त्यैपटोकनद्रव्यं निजशिरसि कृत्ववानीयेत। सामान्येन तरुजन्म, सर्व्वस्थावरजातिः, महात्म्यां सर्व्वस्थावरत्वमेव प्रार्थनात् तस्य कारणं यत्तमः दुष्प्रारब्धं तस्यापहृत्यै इति सामान्यदृष्ट्योक्तम्,—स्थावरत्वेन पशुपक्ष्यादिवत् त्वत्संगे गमनाशक्तेरिति भावः। यद्वा, आत्मनस्तमः शोकस्तदपहृत्यै। ननु तत् कुतः ? तत्राह,—यद्यस्मात् त्वया तरुजन्म कृतम्। अन्यत् समानम्। अत एते सदा त्वत्संगिनो भवन्त्विति वरो ज्ञेयः ॥५॥ एत इति श्रीमदंगुल्या दर्शयति। अखिलानामधिकारानपेक्षया सर्व्वेषामेव लोकानां जीवानां तीर्थं संसारतारकं भगवद्भक्तिमाहात्म्यद्योतकगुरुरूपं वा। अनुपथं पथि पथि भजन्तेऽनुवर्त्तन्ते त्वाम्, यद्वा, अनुपथं गायन्तो यश एव भजन्ते सेवन्ते। तच्च युक्तमेवेत्याह,—हे आदिपुरुषेति, सदा स्वतस्तव सेव्यत्वात् तेषाञ्च सेवकत्वादिति भावः। यद्वा, गायन्तः सन्त आदिपुरुषस्य श्रीब्रह्मणोऽनुपथं भजन्ते, स्वभावं लभन्त इत्यर्थः। सदा यशोगानाद्भवदीयाश्च ते, अतो मुख्याश्च मुनिगणा इति मौनादिलक्षणमात्मारामत्वमपास्य भगवद्भजने प्रवृत्तेषु मुख्या इत्यर्थः। एवं श्लाघामिषेण वरोऽयमेव, प्रायः इति केषाञ्चित् स्वतः प्रथमत एव भक्तत्वात्। यद्वा, प्रायो गूढ़मित्यन्वयः, कदाचिदैश्वर्य्यप्रकटनात् प्रायःशब्दः। न विद्यतेऽघमपराधो भक्तानां यस्मिन् तेषां सर्व्वापराधमर्षणात् तत्सम्बोधनम्, यद्वा, अनघश्च तमात्मदैवञ्चेति। अयमत्यागे हेतुः। प्राय इति वितर्के वा। ततश्चेदमुक्तं भवति,—यथा परमवैष्णवा मुनयो वेदवचने निगूढमपि दुर्व्बोधलीलत्वसुलभत्वादिनापि हेतुना न त्वां त्यजन्ति, किन्तु कर्मज्ञानादि मार्गेषु वर्त्तमाना अपि तत्र तत्र सारभूतं त्वद्यश एव परमश्रेयोबुद्ध्यानुक्षणं गायन्तः सर्व्वपरित्यागेन त्वां प्रेम्णा सेवन्ते, तथैवैते लिनोऽप्यतो नूनं त एवेमे इति, यद्वा, ननु श्रीब्रह्मणोऽप्यत्र किञ्चिन्मात्रजन्मप्रार्थनया तस्मादप्यत्रत्यानां माहात्म्येनामी मुनिगणा इति न संगच्छेत ? अत आह,—भवदीयेषु मुख्या इति श्रीनारदादय इत्यर्थः। अतो मुनयोऽप्यनुगा येषां ते मुनीश्वरा इत्यर्थः। अन्यत् समम् ॥ ६ ॥ ईड्य ! हे स्तुतियोग्येति लज्जया विमुखीभवन्तमग्रजमभिमुखीकरोति, यद्वा, ईड्याया श्लाघ्यया, मुदा परम हर्षेणेत्यर्थः, अस्य सर्व्वैरप्यनुषंगः। प्रेमनृत्यकारिणो भवन्त्विति वरो ज्ञेयः। ईक्षणेन प्रसन्ननेत्रदृष्ट्या प्रियं प्रीतिभावं वा ते तव जनयन्ति, दृष्टिसौन्दर्य्यत एव, किंवा श्रीगोपिकास्मारणात्। एवमग्रेऽपि। सूक्तैर्मधुरस्तोत्रविशेषसदृशैरुत्तमस्वनैः। तत् कुतः! गृहमागतायाभ्यागतस्य प्रीत्यै तं प्रति निजनिजोत्तमद्रव्यसमर्पणोपपत्तेः। यद्वा, ते तव गृहं प्रत्यागताय,—भावे निष्ठा, स्वस्थाने तवागमनार्थमित्यर्थः। अत एता गोप्यो भवन्त्विति वरो ज्ञेयः, स्वभावनिरीक्षणात् स्त्रीत्वाच्च। यद्वा, गोप्य इवेति सर्व्वत्र दृष्टान्तः। एवं तासां तत्तदखिलसम्पत्त्या सर्व्वेभ्यस्तेभ्यो वैशिष्ट्यम्, मयूरादीनाञ्च परं नृत्यादिष्वेव सौष्ठवं सूचितम्। ततश्च सदा त्वत्प्रियरहस्यगीतविशेषगायका भवन्त्विति वरः। धन्याः परमभाग्यवन्तः। एषामेतदुपयुक्तमेवेत्याह —इयानिति। हि यतः स्वभावत एवैषां परमसाधुत्वादिति भावः। यद्वा, धन्याः परमप्रेमघनयुक्ता भवन्त्विति वृन्दावनीयान् सर्व्वानेव प्रत्ययं वरः। हि यस्मात्, एषां प्रेमभक्तानामेवेयान् स्वभावो भवतीति ॥ ७ ॥ एवं प्रथमदृष्टानां हृद्यतमानां विशेषतो माहात्म्यमभिवर्ण्य पुनर्हर्षभरेण सामान्येन सर्व्वेषामपि वर्णयति, यद्वा, किं विशेषवर्णनेन ? सर्व्वं एवात्रत्या धन्या इत्याह—धन्येति। इयमादितो वर्त्तमाना विचित्रत्वादिना भूषिता श्रीवराहेणोद्धृत्य रमिता, शेषरूपेण त्वया शिरसि धार्य्यमाणाप्यद्य श्रीमथुरायामवतीर्णे त्वयि, किंवा, श्रीनन्दव्रजे पौगण्ड लीलया गोपाले सत्येव धन्या परमभाग्यवती सर्व्वोत्तमाऽभूद्। अद्येति सर्व्वत्राग्रेऽप्यनुवर्त्यम्, धन्येयमित्यपि वचनादिव्यत्ययेन तथा त्वदिति समासान्तः प्रविष्टमपि यथास्थानमाकर्षणीयम्। इमानि तृणानीमा वीरुधश्च गुल्मिन्यो धन्याः, न च स्वर्गादिवर्तिन्यो

दण्डकादिस्थिताश्च । तत्र हेतुः - त्वत्पादस्पृशः । एवमग्रेऽपि व्याख्येयम् । धरण्या धन्यत्वेऽप्ययमेव वा हेतुर्द्रष्टव्यः, असाधारणसुन्दरपदगोष्ठाद्यक्षुण्णप्रदेशेषूदितैरलंकारविशेषसम्पत्तेः । द्रुमा लताश्च फलपुष्पादिग्रहणेन, भूषणाद्यर्थं पत्रादिच्छेदनेन च नखैः स्पृष्टाः, नद्यः श्रीयमुनाद्याः, अद्रयः श्रीगोवर्द्धनादयः, खगा मयूरादयो मृगाः कृष्णसारादयश्च, दूरस्थिताः सदयैरवलोकैर्धन्याः । नद्यद्रीणां पादाब्जस्पर्शधन्यतासद्भावेऽपि तथोक्तिः प्रायो दूरवर्त्तित्वात्, तथा धरण्यादिषु सर्वेषु सदयावलोकसम्भवेऽपि, तथा द्रुमादिष्वपि यथायथं पादस्पर्शादिसम्भवेऽपि तेषु तेषु तत्तत्प्राधान्यापेक्षया तथोक्तम् । एवमग्रेऽपि । इमाः श्रीनन्दव्रजवर्त्तिन्यः, किंवा, सदा हृद्वर्त्तित्वेनापरोक्षाः । भुजयोरन्तरेणालिंगनेनेत्यर्थः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, अपिशब्दः समुच्चये, भुजयोरन्तरेण सदयावलोकादिभिश्च तासु धन्यताकारणानां पादस्पर्शनादीनां सर्व्वेषामपि प्राधान्येन सद्भावादिति तासां सर्व्वतोऽधिकतरधन्यतोक्ता । श्रीवैकुण्ठेशस्य वक्षसि नित्यमेव वसन्ती लक्ष्मीस्त्वद्वक्षस एव स्पृहयतीत्यसंगतमेव । तेनायमर्थः—कृष्णस्यासमोर्द्ध्वं माधुर्य्यभरमवेक्ष्य तस्मै स्पृहयन्ती श्रीरतपश्चकार । तच्च (भा० १०।१६।३६)—'यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः' इति नागपत्नीभिर्वक्ष्यते, अतः श्रियोऽप्यधिकमाहात्म्यं व्रजसुन्दरीणां सुव्यक्तमेव ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अमी तरवः सुमनःफलार्हणं सुमनःफलानुरूपं पूजासाधनन्तमोऽपहत्यै "पाप्मापेत" इति श्रुतेः ॥ ५–६ ॥ निसर्गः स्वभावश्चरितमवलक्ष्यते ॥ ७–१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवाह–अहो इत्यादिभिः चतुर्भिः स्वयमादिपुरुषोऽपि लोकमर्यादास्थापनार्थमवतीर्णत्वात्स्वशेषभूतमपि शेषमग्रतोऽवतीर्णत्वमात्रेण स्वतोऽधिकमिव सम्भावयन्नाह—अहो इति । हे देववर ! यद्वा, देववरैरमरैरर्चितं तव पादाम्बुजं पुष्पफलादिरूपं पूजासाधनमुपादाय शिखाभिर्नमन्ति तरवः किमर्थमात्मनस्तमसः पापस्यापहत्यै नाशाय येन तमसा तरुजन्म कृतं सम्पादितं तस्य तमसोऽपहत्यै इत्यन्वयः ॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष ! एते भृङ्गास्तवानुपदमखिललोकपावनं यशो गायन्तः भजन्ते तिरश्चां कथमेवंविधं ज्ञानं तत्राह—अमी अलयः प्रायेण भवद्भक्तेषु मुख्या मुनिगणा एवात एवानघानामात्मनां दैवतं गूढं गोपवेषेणेति शेषः । त्वां न जहति न त्यजन्ति ॥ हे ईड्य ! अमी शिखिनो मयूरा नृत्यन्ति तथा हरिण्यो गोप्य इवेक्षणेन ते तुभ्यं प्रियं कुर्वन्ति तथा स्वगृहं प्रत्यागताय ते कोकिलानां गणाः सूक्तैः प्रियं कुर्वन्ति एते कोकिलादयो वनौकसोऽपि धन्या एव सतां निसर्गः स्वभाव इयान् हि मृदूक्त्यादिभिर्बहुमानमियानेव हि इयं धरणी तृणानि वीरुधश्च धन्याः कुतः ? यतस्तव पादौ स्पृशन्तीति तथा तथा द्रुमलताश्च धन्याः कुतः करजैर्नखैरभिमृष्टाः तथा अद्र्यादयोऽपि धन्या कुतः ? सदयैरवलोकनैः त्वया वीक्षिता इति शेषः । तथा गोप्योऽपि धन्याः कुतः ? भुजयोरन्तरेण वक्षसा आलिङ्गिता इति शेषः । कथम्भूतेन यद्यस्मिन्स्पृहा स्पृहावती श्रीः तेन ॥ ६–८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इममेवार्थं विशदयति–अहो इति । देववर ! यद्वा, देववराः ब्रह्मादयः अमरा देवाः एतैरर्चितं सुमनःफलार्हणैः पुष्पफलोपायनैरात्मनः स्वस्य तमोपहत्यै अज्ञाननिमित्तपापनिरासाय तरुषु जन्म येन तमोनिमित्तपापेन ॥ ५ ॥ यतो यथा देवादयो मनुष्यलिङ्गमवाप्य भगवन्तं सेवन्ते तथा एते भ्रमरा अपि तेष्वेतेषु तस्मात्त्वच्चरणपद्मसेवानवरतं न हातव्या मुमुक्षुभिरिति भावेनाह—एत इति । अलिनो भ्रमराः "भ्रमराणां पक्षमूलमलमाहुर्मनीषिणः" इति अखिललोकतीर्थं समस्तजनस्य स्नानलक्षणं कीर्तनयोग्यं शुद्धिजननस्थानीयं "शास्त्रेष्वम्भसि पावने" इति च अखिलः अनल्पः लोकः प्रकाशः ज्ञानं येषां ते तथा तेषां सेवायोग्यतास्थानीयं "लुक् प्रकाशे" इति धातुः अनुपथं "पथ गतौ" इति धातुः यत्र गच्छसि त्वं तत्रानुगमनलक्षणसेवां कुर्वन्तीत्यर्थः । अनुपदं वा मुनिगणाः सर्वज्ञानां देवादीनां गणाः "वेत्ता वेद्यस्य सर्वस्य मुनिः सद्भिरुदाहृतः" इत्युत्पमाला त्वदीयेषु वैष्णवेषु मुख्या गूढं मनुष्यलिङ्गधरं न जहति त्यजन्ति "ओहाक् त्यागे" इति धातुः जहातीति पाठे वा "व्यत्ययो बहुलम्" (३।१।८५) इति सूत्रान्निर्णयः अमराणामात्मदैवं कुलदैवं अनघात्मदैवमिति पाठे अनघानां निर्दुःखानां मुक्तानाम् आत्मदैवम् "मुक्तानां परमा गतिः "दुःखेनोव्यसनेष्वघम्" इत्यमरः अनघेति पृथक् पदं वा ॥ ६ ॥ पूर्वोक्तमतिदिशति–नृत्यन्तीति । शिखिनो मयूराः अन्यत्र केशशिखाधारिणः तापसाः हरिण्यः मृगस्त्रियः अन्यत्र हिरण्मयवत्तपस्तेजसा ज्वलन्त आसां भारोऽस्तीति हरिण्यः परोपदेशसम्बन्धेन हरिभक्तजनतापहरिण्य इत्युच्यन्ते "महेशाज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्" इति स्मृतेः "हरिणी सा हिरण्मयी" इत्यभिधानं ते तवेक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति कोकिलगणाश्च सूक्तैः कर्णरम्यैः वचनैः प्रियं कुर्वन्तीति अन्यत्र कः ब्रह्मा उः शिवः तयोः किल वार्ता कीर्तनं सम्भावना च येषां ते कोकिलाः इन्द्रादयः परभृतः इतरप्राणिरक्षार्थं प्राणधारिणः न स्वार्थं परमभागवता इत्यर्थः । स्मार्त्तन्यायः गृहमिति गृहमागतायातिथये गृहिणाऽर्घ्यपाद्यादिकं दातव्यमिति यत्तस्मात् वनौकसो मृगादयो वा वानप्रस्थादयो वा धन्याः कृतार्थाः स्वं स्वं निवासमागतं त्वां सभाजयन्ति, अयं सतां जातिस्वभाव इत्याह—सतां निसर्गः नितरां स्वभावः इयान् एतावान्

हि यस्मात्तस्मादिदमुचितमिति भावः । "वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् तस्यैतां शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् आशां प्रतीक्षे सङ्गतं सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे" इति "वाचां सम्भावयोः किल" इति यादवः ईड्य ! सर्वकर ! ॥ ७-८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अहो इति ॥ ५ ॥ भवदीया भवतो नानारूपस्योपासका ये तेष्वपि पूर्णस्य मदग्रजरूपस्य भवत उपासकत्वात् मुख्या ये मुनयस्तेषां गणा वने श्रीवृन्दावने गूढमन्यरूपोपासकैरवज्ञातमिति न जहति हे अनघ ! अपराधाग्राहिन् ॥ ६-७ ॥ गोप्य इवेति नेत्रगुणेन तत्स्मरणात् अथ गोपीपर्यायां श्यामसारिवां तर्हि कथञ्चिद्वृक्षोलग्नां दर्शयन् श्लेषेण गोप्य इति नेत्रगुणेन तत्स्मरणात् रामप्रियाभिः काचिद्रामस्य भाविविलाससूचनेयम् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

१-४ अथ वृन्दावनस्य तर्वादिरलौकिकतां स्वसेवापरायणताञ्च दर्शयितुं स्व-महिमकथने स्वस्यानौचित्यमिति बलदेव-व्यपदेशेनैव तस्य वृन्दावन-तर्वादिरात्मविषयां रतिं भगवान् प्रपञ्चयति-अहो इत्यादि । (४ र्थ-श्लो०) "स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः" इति पूर्वश्लोकपठितेनादिपुरुषशब्देन स्वस्याग्रजवत्वाभावात् अग्रजवत्त्वं स्वयमेव स्वीकृतमित्यायातम् । अतः स्मयन्निव प्रहासपूर्वमिवेति स्वाश्रयस्याराध्यत्वस्य तत्रारोपोऽवगन्तव्यः । एवमेव धीरोदात्तनायकलक्षणां यदात्मश्लाघापराङ्मुखता, तेनात्रास्मच्छब्द-प्रयोगे कर्तव्ये युष्मच्छब्द-प्रयोगः । तथाहि अहो आश्चर्ये, अस्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुष इति यदाह, तस्य विवृतिम् । अहो आश्चर्यम्, हे देववर ! ते तव पादाम्बुजमयी तरवः सुमनः फलार्हणमादाय शिखाभिर्नमन्ति । न फलभरेणामी नम्राः, अपि तु प्रणामचिकीर्षयैव नम्रशिरस इत्यर्थः । अमी इति के ते इत्याशङ्क्याह—यत् यैस्तरुभिस्तमोऽपहत्यै द्रष्टॄणां तमोनाशायात्मनस्तरुजन्म कृतं गृहीतम् । कीदृशं तरुजन्म ? अमरार्चितम्, अमरैर्ब्रह्मादिभिरप्यर्चितं स्पृहणीयम्,—(भा० १०।१४।३४) "किमप्यटव्याम्" इत्युक्तेः । एतेन वृन्दावनतरूणां परमभागवत्त्वमायातम् ॥ ५ ॥ न केवलं तरव एवोपासते, भ्रमराश्चेत्याह—एनेऽलिनस्तव यश इत्यादि । तवेति पूर्ववदस्मच्छब्द-प्रयोगे युष्मच्छब्दः । अतोऽमी मुनिगणा मननशीलानां भागवतानां गणा मननधर्मत्वाद् यशोगानस्यास्पष्टता सम्भुचितैव ! भवदीयानां भागवतानां मुख्या परमभागवता इत्यर्थः । हे अनघ ! वने गूढमप्यात्मदैवं न जहति, सहैव यशो गायन्तो भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ न केवलमलिन एव एतेऽपीत्याह—नृत्यन्त्यमीत्यादि । अमी शिखिनो मुदा नृत्यन्ति । एतेनैतेऽपि परमभागवताः-(भा० ११।२।४०) "उन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः" इति तल्लक्षणोक्तेः । हे ईड्य ! हरिण्योऽवीक्षणेन ते प्रियं कुर्वन्ति । 'ते' इति पूर्ववत् । का इव ? गोप्य इव, अथवा, गोप्ये निर्जने स्थले, इव-एवार्थः । एतेनैता अपि परमभागवताः,—"यत् सर्वत्र तदीक्षणम्" इत्युक्तेः । न केवलमेता एव, कोकिला अपीत्याह—सूक्तैरपीत्यादि । कोकिलगणा अपि सूक्तैः प्रियं कुर्वन्ति । एतेनैतेऽपि परमभागवता निरन्तरस्तवनात् । गृहमागताय अतिथय इवेति, इव-शब्द उभयत्र योज्यः । तदर्थे अतिथिनिमित्तम्,—वाक् चतुर्थी च सूनृता इत्युक्तेः अतो वनौकसा वृन्दावनौकसा धन्या एव । तत्र हेतुः—इयान् हि सतां वैष्णवानां निसर्गः स्वभावः, एतेनामी वैष्णवा एवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ किञ्च, एतेषां धन्यता तु नित्यसिद्धैव, अप्राकृतत्वात् । धरण्यपि अद्य इदानीं धन्येत्याह—धन्येयमित्यादि । अद्य इदानीमियं धरणी धन्या । तृणवीरुधश्च एतास्तृणवीरुधा धरणीसम्बन्धिन्य एव । पूर्वं तु (५ म-श्लोक) "अहो अमी देववरामरार्चितम्" इत्यादिना य उक्तास्तरवस्तेऽप्राकृताः । अद्येति कालस्य पार्थक्य-निर्देशात् । तत्रायं विचारः । वैकुण्ठं तु त्रिविधं भवति, भौममभौमं भौमाभौमञ्चेति । भौमं भौमस्वर्गवत् पुरुषोत्तमक्षेत्रम्, "वपुर्भूतं महात्मनः" इत्युक्तेः । अभौमं स्वयागशब्दत्याधारम्, भौमाभौमं व्रजवृन्दावनादि, 'सान्निध्य नित्यदा हरेः' (भा० १०।१।२८) "यत्र सन्निहितो हरिः" इत्यादिना विहित-महिम-ख्यापनात्, भौमं भूतत्वात् । भौमत्वम् (भा० १०।५।१८) "ततः प्रभृति नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥" इत्यादिना हरेर्निवासस्य परमवैकुण्ठस्य भावगुणैः सह रमाक्रीडमभूत् । सर्वसमृद्धिमान्—अष्टसिद्धि-नवनिधिभिश्च समृद्ध इत्यनेन भौमम् । तेनाद्येति कालनियमः, अद्य मदवतारं यद्यप्यंशेन सर्वदैव मम सान्निध्यमेव, तथापि परिपूर्णभावेननाद्यावतीर्णोऽस्मीति पूर्णभावेन मल्लोकोऽप्यवतीर्ण इति भौमाभौमत्वसिद्धिः धन्यत्वे हेतुः—त्वत्पादस्पृशः, पूर्ववद् युष्मच्छब्द-प्रयोगः । द्रुमलता इति धरणीसम्बन्धित्वात् पुनरुपादानम्, न केवलं धरण्यादय एव, नद्यादयश्च । नद्यो यमुनाद्याः, अद्रयो गोवर्द्धनादयः श्रीरपि यद्भावान् स्पृहयति । अतः श्रीशब्दापादानादुक्तस्य सर्वस्य स्वाश्रयत्वं प्रकाशितश्रियः सङ्कर्षणपरत्वे प्रसिद्धत्वात् ॥ ९-१८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अदस्-शब्द प्रयोगेणाह-अहो अमीत्यादि । तमोऽपहत्यै तमोनाशाय । यत् यस्मात् तरुजन्म वृन्दावने कृतमङ्गीकृतम् । आत्मन इति तृतीयार्थे षष्ठी, अथवा, आत्मनस्तरुजन्म; यद्वा, तरूणामन्येषां जन्म यत्कृतं तस्य तमसोऽपहत्यै आत्म-साजात्यादन्येषां तरूणामपि तमोनाशका वृन्दावन-तरव इत्यर्थः । कुतः ? आत्मन आत्मजातीयहेतोः, न तु ते तमोजन्मानः तेषां मन्मयत्वात् । तत्र

चोक्तं वैकुण्ठवर्णने (भा. ३।१५।१६) "कैवल्यमिव मूर्त्तिमत्" इति एवमुत्तरश्लोकेऽपि ॥ ५ ॥ एतेऽलिनो मुनीनां मननशीलानां गणा भवदीयमुख्या पार्षदप्रवरान्तरयशो गायन्ती मम यशो गायन्तीत्यर्थः, लोके च परमगभीरो धीरोदात्त ईश्वरो भ्रातरं सखायममात्यं वा लक्ष्यीकृत्यात्मनो महिमानं प्रकटयति। आदिपुरुषस्य ममानुपथं भजन्ते इत्यनेनैवादिपुरुषशब्देनैतद्व्यज्यते। अलिनां तिर्यक्जातीनामपि मुनित्वे पार्षदत्वे अप्राकृतत्वम् एवं तरूणामपि कुतस्तमः ? ॥ ६ ॥ न केवलमलिनः, अमी शिखिनोऽपीत्याह–नृत्यन्तमित्यादि। न केवलं शिखिनो नृत्यन्ति, हरिणाश्च ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, का इव, गोपिका इव। न केवलं हरिण्यः, कोकिलगणा अपि सूक्तैरुपनिषत्प्रायैः। एते हि वेदमूर्त्तयः ॥ ७ ॥ न केवलमेते धन्याः, धरणी चेत्याह–धन्येयमद्येति। अद्य धरणी धन्यैव, यतस्त्वत्पादस्पृश इत्यादि पूर्ववत्। द्रुमलताश्च करजाभिमृष्टाः अतो धन्याः नद्योऽद्रयश्चाभिमृष्टा, इत्येकदेशेनानुवर्त्तनीयम्। खग मृगाश्च सदयावलोकैर्धन्याः। गोप्यो भुजयोरन्तरेण वक्षसा धन्याः, स्वात्मानं (प्रति) सर्वेयमुक्तिः। तत्प्रकाशः—यत्स्पृहा श्रीरिति वाक्याद् यानि यानि स्पृहयतीति, यत्स्पृहा, श्रीस्तु श्रीकृष्ण एव स्पृहावती, तेन तस्य सेवोपकरणेष्वपि तस्याः स्पृहा ॥ ८ ॥ (९-१८)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वीयपुष्पफलादिभिः स्वप्रभोः श्रीकृष्णस्य चरणावर्चयाम इति मनोनुलापं युष्माकमहं जानामीति स्वविज्ञत्वं परमभक्तान् श्रीवृन्दावनीयवृक्षान् कटाक्षेण ज्ञापयन्नग्रजमाह—अहो इति। शिखाभिः स्वस्वशिरोभिरुपायनं तत्तदुपाय पदाम्बुज नमन्तीति भक्त्याशिरोभिरेव चरणयोस्तत्तदर्पयन्तीत्यर्थः। किमर्थम् आत्मनस्तमसोऽपराधस्याऽपहत्यै येनापराधेन कृतमुत्पादितं तरुजन्महन्तास्माभिरपराध एव कश्चित्कृतः यत्कृष्णसन्निधिगमनासमर्थमस्माकं द्रुजन्म विधात्रा कृतमिति तेषामनुरागोत्थं वचनमेवान्ववोचद्भगवान् वस्तुतस्तु ब्रह्मादिभिरपि प्रार्थ्यमानत्वाद्वृन्दावनीयतरुजन्म नापराधफलमिति ज्ञेयम् ॥ ५ ॥ तत्रत्यान् जङ्गमान् स्तौति–द्वाभ्याम् एतेऽलिनो भ्रमराः अनुपथं त्वदङ्गसौरभानुसारित्वात् वने क्वचिद्रहस्यलीलार्थं गूढं सहचराद्यगम्यमपि त्वां न जहति न त्यजन्ति हे अनघेति तत्र गमनेऽप्येषां त्वघं त्वं न गृह्णासि तस्मादेते भवदीयमुख्या एव मुनिगणा रहस्यलीलामननशीला भ्रमरीभवन्ति तेन भो भ्रमराः ! मदतिरहस्यकुञ्जमपि प्रविश्याऽस्मत्सौरभ्यमास्वादयत मासङ्कुचतेति तान् प्रति प्रसादो ध्वनितः ॥ ६ ॥ ते गृहमागताय त्वां ग्रहमागतं सम्मानयितुं सूक्तैः प्रियं कुर्वन्तीति पूर्वेणैवान्वयः। इयान् सतां निसर्ग इति नृत्यसहर्षविलोकनप्रियवचनैर्गृहागतस्य साधोः सम्मानमिति सतां स्वाभाविको धर्म इत्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं तत्तत् कर्त्तृकसेवया तान् स्तुत्वा श्रीरामकर्त्तृकप्रसादेनापि तानेवानुरक्तैरन्यैश्च सहितान् स्तौति–धन्येयं धरणी अद्येत्यवतारगतस्थूलकालमालम्ब्योक्तिवाचकेन पदेन त्वत्स्वरूपवराहशेषस्पर्शादपि त्वत्स्पर्शोऽस्या अतिसुखद इति द्योतितम् कुतो धन्येयमिति चेत् धरणीस्थानां तृणादीनामपि त्वत् सम्पर्कादेवेत्याह तृणानि च वीरुधश्च तास्त्वत्पादाभ्यां स्पृक् स्पर्शो यासां तथाभूता यतः द्रुमा लताश्च करजैः पुष्पत्रोटनार्थं नखैरभिमृष्टा स्पृष्टाः यतः नद्यादयश्च सकृपावलोकैः। यद्वा, सन् अयः शुभावहो विधिर्येभ्यस्तथाभूतैरवलोकैः सहिता यतः किञ्चित् सुगन्धशीतलां गोपीपर्य्यायां शारिवां वल्लीं वक्षसि कौतुकेन ध्रियमाणां विलोक्याह, गोप्यः श्यामवल्ल्योऽपि भुजयोरन्तरं वक्षस्तेन सहिता यतः श्रीःशोभापि यस्मै स्पृहयति सा या वल्लीशोभामपि शोभयतीत्यत एव वक्षसि त्वया ध्रियत इति भावः। पक्षे गोप्यो व्रजसुन्दर्य्यः यत्स्पृहा यस्मै भुजान्तरा लक्ष्मीरपि स्पृहयति तथा हि भागवतामृतीयाः कारिकाः—

> "सदा वक्षःस्थलस्थापि वैकुण्ठेशितुरिन्दिरा। कृष्णोरःस्पृहयाऽस्यैव रूपं विवृणुतेऽधिकम् ॥
> पौराणिकमुपाख्यानमत्र संक्षिप्य लिख्यते। श्रीःप्रेक्ष्य कृष्णसौदर्य्यं तत्र लुब्धा ततस्तपः।
> कुर्वन्ती प्राह तां कृष्णः किन्ते तपसि कारणं ॥ विजिहीर्षे त्वया गोष्ठे गोपीरूपेति साऽब्रवीत्।
> तद्दुर्लभमिति प्रोक्ता लक्ष्मीस्तं पुनरब्रवीत्। स्वर्णरेखेव ते नाथ ! वस्तुमिच्छामि वक्षसि।
> एवमस्त्विति सा तस्य तद्रूपा वक्षसि स्थिता" ॥ इति ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अहो इत्यतिकौतुके अव्ययम् हे देववर ! यत् येन त्वया स्वचरणसंस्पर्शयोग्यम् ब्रह्मादिभिरपि वाञ्छितं तरुजन्म कृतम् तस्य त पादाम्बुजं सुमनःफलार्हणमुपादाय नमन्ति। ननु, ब्रह्मादिभिः प्रार्थितं वृन्दावने तरुजन्म प्राप्य पुनः किं वाञ्छन्त्यत आह–तमोऽपहत्यै इति। तमः पुनर्भवलक्षणः संसारो निरन्तरभवत्पादपद्मसन्निकर्षप्रतिबन्धकस्तन्निवृत्तये इत्यर्थः ॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष ! प्रायः अमी भवदीयेषु भागवतेषु मुख्याः एव अलिनः भृङ्गात्मना स्थिताः यत एते वने गूढमपि आत्मदैवं त्वां न जहति न त्यजन्ति अपि तु। हे अनघ ! अखिललोकतीर्थं तव यशोऽनुपदं गायन्तो भजन्ते त्वां भजन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हिर्हेतौ यतः सताम् ईयान् निसर्गः साधूनामीदृशः स्वभावः अतः केचित्सन्त एव मयूरादिरूपेणेह वसन्तीति भावः ॥ ७ ॥ अद्य इदं त्वयाक्रम्यमाणा धरणी धन्या त्वत्पादौ स्पृशन्तीति त्वत्पादस्पृशस्तृणवीरुधश्च धन्याः करजैर्नखैरभिमृष्टाः स्पृष्टाः द्रुमलताश्च धन्याः त्वदीयैः सदयावलोकैर्नद्यादयश्च धन्याः श्रीरपि यत्स्पृहा यत्र स्पृहावती भवति तेन भुजयोरन्तरेण वक्षसा गोप्यो धन्याः ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अहो इति । हे देववर ! अमी तरवः सुमनःफलार्हणम् आत्मनः शिखाभिः शिरोभिरुपादाय तद्रूपमुपायनं गृहीत्वा अमरैः विरिञ्चादिभिरर्चितं ते पादाम्बुजं नमन्ति । किमर्थम् ? अस्मन्नमस्कारं शृण्वतां तमसोऽज्ञानस्य अपहत्यै विनाशाय यद्वा पुष्पादिभिस्त्वत्पादार्हणाय तरुजन्म कृतं स्वीकृतं यद्वा, तमसः पशुपक्ष्यादिवत् त्वत्सङ्गमाशक्तिजन्यदुःखस्यापहत्यै नमन्ति यद् येन ते पदाम्बुजेन तरुजन्म कृत, न चैषामज्ञानं शक्यं वक्तुं तादृग्भाववत्वात् ब्रह्मादिप्रार्थितत्वाच्च तज्जन्मनः ।। ५ ।। अथ वृन्दावनस्थान् जङ्गमान् स्तौति—एत इति द्वाभ्याम् । हे आदिपुरुष ! एते अलिनः तव यशोगायन्तोऽनुपथं त्वदङ्गसौरभ्यनुसारेण त्वां भजन्ते क्वचिद्रहस्यलीलायं गूढं सखिभिरगम्यमपि त्वामात्मदैवं न जहति तस्मादमी भवदीयेषु मुख्या मुनिगणास्त्वद्रहस्यमननशीलाः शुकादय एव भवेयुः, हे अनघ ! तत्र गमनेऽप्येषामघं न गृह्णासीति तत्रानुमतिश्च व्यज्यते ।। ६ ।। गृहमागताय ते तुभ्यं त्वां सत्कर्तुमित्यर्थः। सूक्तैः प्रियं कुर्वन्तीति पूर्वेणैव सम्बन्धः सतां निसर्गः इयान् स्वगृहागतस्य साधोर्नृत्यसहर्षवीक्षणप्रियवचनैः सम्माननं सतां स्वाभाविको धर्म इत्यर्थः ।। ७ ।। अथ वृन्दावनभुवं तत्रत्यानन्यांश्च बलभद्रप्रसादपात्रत्वेन स्तौति — धन्येयमिति, इयं धरणी वृन्दावनभूमिर्धन्या श्लाघ्या अद्येति, तदवतारवराहस्पर्शादपि त्वत्स्पर्शोऽस्या अतिहर्षकृदिति सूच्यते तद्भवास्तृणवीरुधस्तृणरूपा लताद्यूर्वाद्याश्च धन्याः यतस्त्वत्पादस्पृशः द्रुमलताश्च धन्याः यतस्त्वत्करजैः पुष्पत्रोटनार्थमपि तैरभिमृष्टाः स्पृष्टाः नद्यादयश्च सन् "अथ शुभावहो विधिः" येध्यस्तैः सकृपैर्वालोकैर्धन्याः मरुता चलन्तीं श्यामलतां तद्वक्षोलग्नां वीक्ष्याह गोप्यः श्यामलताः श्लेषेण व्रजकिशोर्यस्तव भुजयोरन्तरेण वक्षसा धन्याः तदन्तरं कीदृशं श्रीर्यत्स्पृहेति लक्ष्मीर्यत्स्पृहयतीत्यर्थः । वक्ष्यते चैवं नागपत्नीभिः "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इत्यादिना व्रजकिशोरीविषयकः पूर्वरागोऽत्र पद्ये नन्दसूनोः सूचितः ।। ८ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

किमाह महामाहात्म्यो हरिर्हलधरं प्रतीत्यतः श्लोकत्रितयेनाह ।। अहो इति । हे देववर । अमरार्चितं देवपूजितं ते पदाम्बुजं पादकमलं सुमनः फलार्हणं पुष्पफलात्मकं पूजोपायनमुपादाय शिखाभिर्येन पापेन कृतमात्मनस्तरुजन्म तस्य तमसः पापस्यापहत्यै शिखाभिर्नमन्ति । अहो आश्चर्यंचयोऽस्यार्थत्वमिति भावः ।। ५ ।। हे आदिपुरुष अग्रज । अलानि पक्षमूलानि सन्त्येषामित्यलिनो भ्रमराणां पक्षमूलमाहुर्मनीषिण इति वचनादखिललोकतीर्थमखिलानां लोकानां तीर्थमृषिजुष्टजलतुल्यमखिललोकस्य ज्ञानिजनस्य शास्त्ररूपमिति तीर्थं वा यशो दिक्स्फूर्तिमतीं कीर्ति । दिक्षुगानाद्यश इति छान्दोग्यभाष्योक्तेः । गायन्तः सन्तोऽनुपथमनुपदं वा भजन्ते यतोऽतः प्रायो बाहुल्येन भवदीयेषु तावकसेवकेषु मुख्या मुनिगणा एवामी । हे अनघ निर्दोष हे अमर वा । आत्मदैवं स्वसतुल्यं त्वां वने गूढमपि न जहाति न त्यजन्ति । मनुजतनुं निगूढ त्वामेतेऽप्यल्पादितया गुढस्वस्वरूपास्तज्जात्यनुरूपस्वरादिना त्वां सेवन्त इति भावः । अला वृश्चिकलाङ्गूलं तदिवास्त्येषामित्यलिनअलभूषणादौ सर्वधानुभ्य इन् । मधुपालिनः । षट्पदभ्रमराऽलय इत्युभयतश्चामरः । पूर्वत्र चोपयुक्त उत्तरत्र चोपयोक्ष्यत इति लेखनमत्रेति ज्ञेयं ।।६।। अमी शिखिनः केकिनः । शिखी केकीत्यमरः । नृत्यन्ति । ईडय मुदेति योग्यायोग्यान्वयि । इदं तु स्वजलदतुलकायच्छविविलोकनघटितनानेतान्भ्रातर्यारोप्योचे हरिरित्यामरपामरं विज्ञातमेव सर्वत्रासम्भावितं भगवति योज्यमित्यान्तरङ्गिको भावोऽवसेयः । ईडचनुदेति पदमेकं वा । या रमयेडचः स्तुत्योऽह तद्धेतुकनुदेति तदार्थः । यदा शुभाण्यप्यभ्राणि सन्ति बलकलेवरमपि शुभ्रमिति तदभ्रान्त्या तत्रर्तनप्रवर्तनं युक्तमित्येवयुक्तिः। उक्तं च रामायणे । पाण्डुरारुणवर्णानि नीलमाञ्जिष्ठकानि च । प्रविशन्त्यभ्रजालानि निष्कामश्च पुनः पुनरिति । अत एव नीलमेघः समाभास इत्यादौ नीलादिपदसार्थकता हृढनिरूढेति ज्ञेयं । हरिण्यो हरिणतरुण्यो गोप्य इव ते ईक्षणेन निरीक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति कोकिलगणाः सूक्तैः पञ्चमरागप्रपञ्चनवचनैर्वनौकसो वनमोको भवनं येषां ते तथा गृह वनरूपस्वनिवासमागताय प्रियं कुर्वन्ति किलेतत्सम्भावितं हि यतोऽत्रो धन्यः कृतार्थः सतां निसर्गः स्वभाव इयानेतावानेवामी मुनिगणा इति पूर्वोक्तमत्राप्यनुसन्धेयं ।।७।। एवमग्रजसमर्पितस्वप्राज्यः साम्राज्यः श्रीमद्वृन्दावनमिति प्रीतमना अद्रेर्गोवर्धनसम्बन्धिनी या सरिद्यमुना तद्रोधस्सु तत्तीरेषु कूलं रोधश्च तीरं चेत्यमरः । सानुगः पशूश्चारयन्नेम इत्यन्वयः । अद्रेः सानुग इति वाऽन्वयः । तदगुश्रृङ्गोगरिग इत्यर्थः ।। ८ ।।

श्रीसुबोधिनी

प्रथमं वनस्पतीनां वैष्णवत्वात् स्वरूपमाहाहो इति, अहो इत्याश्चर्ये, तेषामवान्तरभेददर्शनं स्मृत्वाश्चर्यमाह हे देववर ! अमी वृक्षा अमरार्चितं ते पादाम्बुजं शिखाभिर्नमन्तीतिसम्बन्धः, प्रदर्शनेन तेषां चेतनत्वं सूचितमाधिदैविकत्वं च, यद्यप्येते देवास्तथापि भवान् देववरः, तरतमभावेपि देवानां देवभजनं न युक्तमित्याशङ्क्याहामरार्चितमिति, अमरा ये मुख्यदेवास्तै रप्यर्चितं, स हि सङ्कर्षणो देवकार्यसाधकोतो भूभारहरणार्थं प्रार्थितोतो यथा तेषां खेदं दूरीकरोष्येवं वनस्पतीनामपि तमो दूरीकर्तव्यं, दूरीकरणार्थं प्रवृत्तेः, अतो नमन्ति, तमोपहत्या इति, येन तमसा तरुजन्म कृतं, सजातीयेनैव सजातीयनिराकरणं भवतीत्याधिदैविकतमोनियामकमेव नमस्यन्ति, अत एव भगवता स्वनमस्कारो नोक्तः, मूलभूतं च तमो न कर्मणा ज्ञानेन च गच्छति

किन्तु देवतयैव, तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थं त्वां ज्ञापयितुं तद्रूपेणैव नमस्कारं कुर्वन्ति दयासिद्ध्यर्थं च, गुणाधिकारोऽस्मै दत्त इति मर्यादार्थं तन्निराकरणाय निवेदनं, शिष्टं स्वयमेव करिष्यति, तदर्थं लीला क्रियत एव, यद्वा केनचिद् भगवत्त्वमित्यतिमज्ञात्वा तत्प्रश्ने कृते सुज्ञस्तं प्रत्याह, तस्य कदम्बस्य प्रियालस्य पनसस्य वा तले क्रीडतीति तदा तदज्ञाननिवृत्तिः स्वस्माद् भवत्येतच्च तरुत्व एव सम्भवति नान्यथेति तादृक् तरुजन्म यत्कृतं येन भवता कृतं तमोपहत्यं, उक्तरीत्या सर्वेषां तमोज्ञानं तदपहत्यर्थमित्यर्थः, आत्म-पदस्य शिखाभिरित्यनेन तरुजन्मेत्यनेन वा सम्बन्धः, हरौ स्वतले क्रीडत्यन्यदेशीयतरवस्तु मौढ्य किन्तु तत्सर्वं हरिज्ञानमानन्दश्च भवतीत्यात्मनस्तमोपहत्या इत्यत्रैव सम्बन्धः, अतस्तदुपकारं स्मृत्वा नमन्तीति वार्थः, यद्वा यद् यस्माद्धेतोरात्मन आत्मीयं स्वीयत्वेन परिगृहीतमिति यावत् तादृक् तरुजन्म कृतमर्थात् त्वयैवातो नमन्तीतिसम्बन्धः, वृन्दावनभूमावुत्पत्तिमात्रेणैव हरि-रात्मीयत्वं मनुत इति तथा, यत्रोत्पत्त्यादिरूपधर्माणामेतादृशत्वं तत्र धर्मिणां किं वाच्यमितिभावः, वक्ष्यति चाग्रे "न नः पुरो जनपदा" इत्यारभ्य "नित्यं वनौकस" इति "तस्मान् मच्छरणं गोष्ठ'मित्यादि, तमःपदं गुणत्रयोपलक्षकं, विशेषाकथनात् सम्बन्ध-मात्रेण सर्वेषां तथा त्वयेति ज्ञेयं, 'मन्निकेतं तु निर्गुण'मितिवाक्यात् ॥५॥ एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्त्वा भ्रमराणां विज्ञापनमाहैतेऽलिन इति, लोकप्रतीत्या यद्यप्येते झङ्कारमिव कुर्वन्ति तथापि वस्तुतस्ते यश एव गायन्ति, एतेऽपि तामसाः परं वृक्षापेक्षया किञ्चित्स-मीचीनाः, ते तु फलपुष्पाद्या इति सुमनांसि फलानि चार्हणरूपाणि पूजारूपाण्यग्रे स्थापयित्वा कायिकं नमनं कृतवन्तः, एते तु राजसा इति फलाद्यभावाच्च वाचनिकीमेव सेवां कुर्वन्ति, ते सङ्गे मुखामोदार्थमायान्तीति न मन्तव्यं यतो यश एव गायन्तोऽनुपथं भजन्ति, प्रार्थना त्वेतेषां नापेक्ष्यते यतोऽखिललोकतीर्थं यशो गायन्ति सर्वेषामेव यच्छोधकं तदात्मानं शोधयत्येवेत्यविवादं, प्रभूणां गायका अपि सेवका भवन्ति, कदा वा कृपां करिष्यतीत्यनुपथं भजनं, नन्वेते भ्रमरा हीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्तीत्याशङ्क्याह प्राय इति, अमी सर्वे मुनिगणा एव भवदीयेषु भवत्सेवकेषु मुख्याः, ननु ब्रह्मविदो भक्ताः कथं नीचयोनिं प्राप्नवन्त इत्याह गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवमिति, भवान् गूढस्तेऽपि गूढाः, यथा भवान् मनुष्यभावं प्राप्त एवमेतेऽपि भ्रमरभावं भवदीयमुख्य-त्वादनुपथं भजनं, मुनिगणत्वाद् गानं, ननु किमिति गूढं भजन्ते प्रकटमेव देवान्तरं महादेवादिरूपं कथं न भजन्ति ? तत्राहा-नघात्मदैवमिति, अनघश्चासावात्मा दैवं च निर्दोषो हि त्यक्तुं न शक्यः, तत्राप्यात्मनः, तत्रापि दैवं तामसा एव हि सेव्याः, तत्र महादेवादयः स्वसम्बन्धिनोऽपि देवता अपि भूतगणावृता इति न सेवितुं शक्याः, ब्रह्मादयस्तु स्वसम्बन्धिन एव न भवन्ति, अन्ये तामसा देवता एव न, अत एवानन्यगत्या गूढमपि भजन्ते, वने वा गूढं यथा भवति तथा; अन्यथा भगवान् रोषं वा कुर्यात्, अत एतेष्वप्यनुग्रहः कर्तव्य इति ॥६॥ मृगपक्षिणां विज्ञापनमाह नृत्यतीति, हे ईड्य ? अमी शिखिनस्त्वामागतं ज्ञात्वा नृत्यन्ति, ईड्येति-सम्बोधनादन्ये गायन्ति स्वयं नृत्यन्ति, शिखिनां नृत्यमेव प्रशस्तं, आगमने यो नृत्यति स महान् भक्तः, आगमनमेव तस्याभीष्टं, यतो हरिण्योऽपि त ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, कथञ्चित् प्रीतिरुत्पादनीया, ता अपि मुदा भवन्तं पश्यन्ति स्वस्य च चक्षुंषि भवते प्रदर्शयन्त्यो गोपिकादिस्मारकत्वेन सुखं जनयन्ति, गोप्य इवेति, गोप्यो यथा स्वरूपतः सुखजनिका एवं तत्स्मारिका अपि, नाट्य-काव्येषु तथानिरूपणात्, कोकिलगणास्तु सूक्तैः स्तोत्ररूपैः प्रियं कुर्वन्ति, तासां शब्देन च महानन्दो भवति, एते वनस्था गृहस्था इव धन्याः, यत इयानेव सतां निसर्गः स्वभावः,

आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम्। वाक्यैः स्तुतिश्च परमा महत्येतावदेव हि ॥ १ ॥
तृणानि भूमिरुदकं सामान्ये गृहमागते ॥ १½ ॥

अत आहैयानेव सतां निसर्ग इति ॥ ७ ॥ वृन्दावनभूम्यादीन् स्तौति धन्येति, इयं धरणी भूमिर्धन्या तव पादस्पर्शात् तृणवीरुधोऽपि धन्याः, त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता अपि धन्याः, करजैर्नखैरभिमृष्टा नद्योऽद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः, दयासहितावलोकनैर्गोप्योऽपि धन्यास्तव भुजयोरन्तरेण कृत्वा तत्रालिङ्गनं प्राप्य, ननु कथमस्य दुर्लभत्वम् ? तत्राह यत्स्पृहा श्रीरिति, भूम्यादीनां विज्ञापनं न किञ्चित् कर्तव्यं यतस्त्वया यथाकथञ्चित् सर्व एव तत्तत्प्रकारेण प्रीणिताः, आवेशिनः सर्वभावेन निरूपणे आवेशाधिकरणभूतः सम्यग् भावयति ततः शीघ्रमेवाविष्टा सा देवता भवति, अन्यथोभयेषामप्यनिष्टं स्यात् वृन्दावनस्थानां सङ्कर्षणस्य च भजनेऽभजनेऽपि देवता-न्तरभजनेन तेषां नाशो भगवद्भोग्यानां स्वीकारेणेतरस्य चाभजने तु सर्वदैवाभजनेतिक्रमः स्यादन्यस्य च क्रोधः, अतो नित्यस्वावेश-सिद्ध्यर्थं बलभद्रस्य प्रबोधनम् ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्रैव तमोपहत्यं तरुजन्मेत्यत्र तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थमिति। अत्रायं भावः। तमसोऽज्ञानहेतुत्वेन ज्ञानविरोधित्वाच्च कदाचित् स्वसमीपे भगवत्यागते स्वसम्बन्धिपत्रपुष्पफलाद्यपेक्षायां च सत्यां पूर्वोक्तदोषेणेदमज्ञात्वा न प्रकटयेयुः स्वजातिस्वभावेन स्वस्वकाले एव च प्रकटयेयुस्तदापराधः स्यात्। अत्र तादृक्तरुजन्मवैयर्थ्यं च अतस्तमोनिवृत्तावज्ञानस्यापि निवृत्तेर्यथोचिता सेवा भव-तीति तन्निवृत्तिः प्रार्थनीया, न तु तरुत्वस्यापि, परमेष्ठत्वादिति ॥ ५ ॥ एतेऽलिन इत्यत्र, वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीना इति। देवापेक्षया मुनीनां तथात्वं स्पष्टम्। वाचनिकं भजनमनुपथं च भजनं रसविशेषोद्दीपकत्वं चाधिकमेतेषु तेन तथा ॥ ६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अहो इत्यत्रावान्तरभेददर्शनमिति, गोपालेषु सत्स्वप्यस्मच्चरणयोरनिपातेनावेशावतारादिविषयकभेददर्शनं, तदस्य दोषनिवृत्त्यर्थमिति तदुत्वक्षमानाधिकरणदोषनिवृत्त्यर्थं, तं दोषं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति तमस इत्यादि परमेष्ठत्वादिलक्षं सुबोधिन्यां गुणाधिकार इत्यादि, तमोगुणाधिकारोस्मै सङ्कर्षणाय भगवता दत्त इति मर्यादारक्षणार्थं तमोनिराकरणाय वक्ष्ये कथनमित्यर्थः, तदर्थमिति तदुक्तसेवार्थं, प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि, पुनस्ततोपि प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वा यदित्यादि, एतेषां पक्षाणां समुच्चय एवेति ज्ञेयं, तमःपदस्य गुणत्रयोपलक्षकत्वे मानमाहुर्विशेषेत्यादि, तथा च गुणदूरीकरणे प्रकारविशेषप्रार्थनाभावाद् यथाकथञ्चित् स्वसम्बन्धसम्पादनेन तथात्वाय सम्पादितस्वकीयत्वसाफल्याय च नतिरिति ज्ञेयमिति भावः ॥ ५ ॥ एतेलिन इत्यत्र परं वृक्षापेक्षयेत्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्देवापेक्षयेत्यादिना, सुबोधिन्यामेते राजसा इति विशेष धर्मकत्वाद् राजसाः, यत् पुनः पूर्वं तामसत्वमुक्तं तत् तामसराजसत्वमभिप्रेत्येति न विरोधः, प्रार्थनानपेक्षायां हेतुमाहुर्यन्न इत्यादि विवादमित्यन्तं, अनुपथभजनप्रयोजनमाहुः प्रभूणामित्यादि, एवमेतेपि भ्रमरभावमिति, तथा च "न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च युज्यते विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण" इतिगारुडवाक्यान्नैषां 'कर्मबन्धन'त्वं भ्रमरत्वं किन्तूक्तहेतुकमिति न दोष इत्यर्थः, गूढमिति "मनुष्यभावेन गूढं मां", तामसा एव हीत्यादि, अत्रैवं भाति, "यजन्ते सात्त्विका देवा"नितिगीतावाक्ये तत्तद् गुणवतां तत्तद्गुणकदेवभजनमुक्तं पञ्चमस्कन्धे च शिवस्य सङ्कर्षणभजनमेवं सति यद्यपि महादेवादिभजनं प्राप्नोति तथापि त एतत्सम्भूतगणावृता इति दुःसङ्गविशिष्टा इति नैतेषां सेव्याः ब्रह्मादयस्तु विजातीयत्वान्न सेव्या अन्ये सजातीयास्तु निकृष्टाः अतो मुनित्वात् सर्वमिदमवगत्यानन्यगत्या गूढमपि त्वामेव भजन्त इत्यर्थः, पक्षान्तरमाहुरन्यथेत्यादि, अन्यथेति योगभ्रंशेपि भजनाकरणे॥७॥ धन्येयमित्यत्र नन्वन्यप्रकारकनिरूपणं बलभद्रबोधनाय भवतु नाम तथापि "गोप्योन्तरेणे"त्यादि त्वसम्भाविसमेवेति तत् किमिति वदतीत्याशङ्क्य तन्निरूपणतात्पर्यमाहुरावेशिन इत्यादि, सम्यग् भावयतीत्यात्मानं तत्त्वेन भावयति, तेषामिति भजनकर्तॄणां भगवद्भोग्यानामिति गोप्यतिरिक्तानामिति ज्ञातव्य'मक्षण्वता'मित्याद्यग्रिमेण "कृष्णो रेमे" इत्यत्र भगवत एव भोगकर्तृत्वोक्त्या चान्यथा विरोधः स्यात्, भगवद्भोग्यापदेन तदतिरिक्ताः सुखेन स्वीकरोतु। भगवदावेशाच्च पुष्पादिग्रहणदोषः परिहृत इति न काप्यनुपपत्तिरत एवाग्रिमाभासे 'तत्रत्याना'माधिदैविकवृन्दावनस्थानां 'स्वरूपं' मदुपभोग्यमेवेदमितिरूप'मर्थो'न्निरूप्य 'तादृशे' स्वं 'क्रीडां कृतवा'नित्युक्तं, अन्यथा वृन्दावनस्वरूपनिरूपण एव तत्प्राप्तेरस्य निरूपितत्वात् पुनस्तदुक्तिरार्थिकेत्वोक्तिश्च निरर्था स्यात्, नित्यस्वावेशेन चान्यभावोत्पत्त्यभावात् तदस्वीकारेणापराधसम्भव इति तथा क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यत्र या क्रीडा सा तु मल्लयुद्धरूपा तथैव विवृतौ दृश्यमानत्वादिति सर्वमवदातम् ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो इत्यत्र अवान्तरभेददर्शनमिति दोषाभावार्थं सजातीयत्वात् सङ्कर्षण एव नमस्य इति भगवदंशावतारभेदज्ञानं वृक्षाणामित्यर्थः, प्रदर्शनेनेति 'अमीनमन्ती'तिप्रदर्शनेनेत्यर्थः, चेतनत्वमिति नमनाच्चेतनत्वं, 'असौ लोक' इत्यादिष्वदस्शब्दस्य पारलौकिकपदार्थवाचकत्वेन अमीपदादाधिदैविकत्वं च सूचितमित्यर्थः, देवकार्यसाधक इति यज्ञप्रतिबन्धकासुरनिवारणेन यज्ञसाधक इत्यर्थः, अत एवेति तमोपहत्यर्थं नमनकथनादित्यर्थः, नोक्त इति कृतस्तु चतुर्व्यूहविशिष्टपुरुषोत्तमनमस्कारः, तन्मध्ये सङ्कर्षणमात्रनमस्कारोत्र भगवता उक्त इत्यर्थः मूलभूतं चेति देहिकारणीभूतं तमो यावद्देहं न गच्छतीत्यर्थः, शिष्टमिति रसानु भावनमित्यर्थः, तदर्थमिति रसानुभावनार्थमित्यर्थः, वृन्दावनेति मूले जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं तदनेन साधितं, उत्पत्तिमत आत्मीयत्वे उत्पत्तेर्हेतुत्वाज् जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं, तथा च वृन्दावनस्वरूपभूतानामात्मीयत्वे किं वाच्यमिति भाव इत्यर्थः, वक्ष्यति चेति भगवदीयत्वमत्र सूचितं अग्रिमवाक्याभ्यां वक्ष्यति चेत्यर्थः ॥ ५ ॥ एतेलिन इत्यस्याभासे विज्ञापनमिति, भगवते स्वदोषाभाव गुणविज्ञापनमित्यर्थः, व्याख्याने, तामसा इति वृक्षवदेतेषामपि स्वरूपाज्ञानसम्भवादिति भावः, राजसा इति रसोद्दीपका इत्यर्थः, प्रार्थनास्विति स एव तमोपहतिरूपो दोषाभावो गुणश्च सेवारूपः सर्वत्रानुसन्धेयः, परन्त्वत्र यशसः स्वत एव दोषनिवारकत्वात् प्रार्थना नापेक्ष्यत इत्यर्थः, गानस्य सेवारूपगुणत्वं विवृण्वन्ति प्रभूणामिति, अग्रे वने चेति सात्त्विकभावहेतौ रहःस्थले इत्यर्थः, अन्यथेति उच्चैःशब्दे सर्वेषां ज्ञानसम्भवादिति भावः, अनुग्रह इति आत्मीयत्वं माननीयमित्यर्थः ॥ ६ ॥ नृत्यन्तीत्यत्र तासां शब्देन चेति हरिणीनां स्वरूपेण तासां शब्देन च महानानन्द इत्यर्थः ॥ ७ ॥ धन्येत्यस्याभासे स्तौतीति स्तुतिरुत्कर्षाविष्करणं गुणवर्णनं, तथा चोत्कर्षार्थं दोषाभावं गुणांश्च वर्णयतीत्यर्थः, व्याख्याने, धनं भगवांस्तत्सम्बन्धो यथाधिकारं सर्वत्र ज्ञेयः, ननु कथमस्येति आलिङ्गनस्यापि शब्दसूचितं दुर्लभत्वं कथमित्यर्थः, प्रीणिता इति धनयोग्यताकथने तत्सम्बन्धेन धनधर्मप्रीतिजनकत्वं सूचितमितिभावः, अन्यथेति अधुनावेशाभावे इत्यर्थः, अर्थादिति 'आवेशिनः सर्वभावेने'त्यादिनोक्तप्रयोजनाद्धेतोस्तत्सिद्धयर्थमित्यर्थः, बलभद्रबोधनं बलभद्रपरत्वेन बोधनमित्यर्थः, इत्याहेति इदं निरूप्य इदं कृत्वा क्रीडां कृतवानितिहेतोस्तदनन्तरं रमणहेत्यर्थः, तथा च व्याख्याने अध्याहारनिषेधेप्यार्थिकमानन्तर्यमिति भावः ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नृत्यन्त्यमीत्यत्र आगत इति का० १३१६, १३२६। अत्र शिखिनां हरिणीनां कोकिलानां च क्रमेण तोषः प्रियार्थ-निवेदनं स्तुतिश्चोक्ता ॥ ७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भगवदुक्तिमेव दर्शयति - अहो इति। अहो आश्चर्यं वृन्दावनस्य माहात्म्यं यत्रत्यानां वृक्षाणामपि विवेकिनामिव व्यवहार इत्यर्थः। तदेव स्पष्टयति—हे देववर! अमी वृक्षा आत्मनः शिखाभिः शाखाभिः सुमनः फलार्हणं पुष्पफलादिपूजोपकरणमुपादाय समर्प्य अमरैर्ब्रह्मादिदेवैरर्प्यार्चितं ते तव पदाम्बुजं नमन्तीत्यन्वयः। एवं नमस्कारे हेतुमाह—तम इति। यद्यस्मात् अमीषां तमसः अज्ञानस्य, पापस्य वाऽपहत्यै विनाशाय ब्रह्मादिदुर्लभं वृन्दावने भवता तरुजन्म कृतमित्यर्थः। अनेन बलभद्रस्य वस्तुतः स्वाभिन्नत्वं सूचितम् ॥५॥ तत्रत्यान् जङ्गमान् स्तौति एते इति द्वयेन। एतेऽलिनो भ्रमरा लोकप्रतीत्या झङ्कारमिव कुर्वन्तोऽपि वस्तुतस्तव यशो गायन्तोऽनुपदं पथि पथि त्वां भजन्ते। यशोगाने हेतुमाह—अखिललोकतीर्थमिति। वक्तृश्रोतृसर्वजनानां शोधकमित्यर्थः। यशसः शोधकत्वे भगवतो भजनीयत्वे च हेतुत्वेन सम्बोधयति—आदिपुरुषेति। ननु 'एते जातिहीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्ति' इत्याशङ्कयाह प्राय इति। हि यस्मात् अमी भ्रमरा मुनिगणा भवदीयेषु भवत्सेवकेषु मुख्याः। ननु 'मम भक्ता मुनिगणाः कथं नीचां योनिं प्राप्तवन्तः?' तत्राह—गूढमिति। त्वयि मनुष्यवेषेण निगूढे सति मुनयोऽप्यलिवेषेण निगूढास्त्वां भजन्ति, न न त्यजन्तीत्यर्थः। ननु 'तर्हि प्रकटं देवान्तरमेव कुतो न भजन्ति?' तत्राह—अनघेति। अनघो निर्दोषश्चासावात्मनः स्वस्य दैवं च तं भजन्ति। नह्येवंभूतो भवान् सेवकैस्त्यक्तुं शक्य इति भावः ॥ ६ ॥ हे ईड्य स्तुत्य! अमी शिखिनो मयूरा मुदा नृत्यन्ति नृत्येनैव गृहमागताय ते तुभ्यं प्रियं कुर्वन्ति, तथा हरिण्योऽपि गोप्य इव गृहमागताय ते तुभ्यमीक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, तथा कोकिलगणा अपि गृहमागताय ते सूक्तैः स्तोत्ररूपैर्मधुरशब्दैः प्रियं कुर्वन्ति। अत एते वनौकसो वनवासिनो निकृष्टजातयोऽपि भ्रमरादयो धन्याः कृतार्थाः। तत्र हेतुमाह—इयानिति। हि यस्मात् स्ववशवर्तिपदार्थस्य स्वगृहमागताय महते निवेदनाग्रहरूपः सतां सदाचारनिष्ठानां निसर्गः स्वतः सिद्धः स्वभावः ॥ ७ ॥ एवं तत्तत्कर्तृकसेवया तांस्तान् स्तुत्वा स्वकर्तृकप्रसादविषयान् स्तौति—धन्येति। तव पादस्पर्शादियं धरणी अद्य धन्या। तथा त्वत्पादौ स्पृशन्तीति त्वत्पादस्पृशस्तृणवीरुधश्च धन्याः। तथा तव रजैर्नखैरभिमृष्टाः द्रुमलताश्च धन्याः। तथा दयासहितावलोकनैर्नद्योऽद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः। तथा तव भुजयोरन्तरेण कृत्वा भुजमध्ये वक्षःस्थले आलिङ्गनं प्राप्य गोप्योऽपि धन्याः। ननु कथमालिङ्गनस्यैवं माहात्म्यम्?' तत्राह—यत्स्पृहा श्रीरिति। लक्ष्म्या अपि यस्यालिङ्गनस्य स्पृहा भवति ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अहो इति ॥ अत्र बाल्ये सख्यांशप्राबल्येन अग्रजत्वस्य गौणत्वात्तादृशान्येव वचांसि सख्ये नर्मापि स्तुतिरीत्यैव अग्रजांशसद्भावात्। अहो हे देववर! अमी वृक्षाः यत् येन तमसा पापेन तरुजन्म कृतं तस्य आत्मनः तमसः अपहत्यै शिखाभिः शाखाभिः सुमनःफलार्हणं पुष्पफलादिपूजोपकरणमुपादाय समर्प्य अमरैर्ब्रह्मादिदेवैरर्चितं ते तव पादाम्बुजं नमन्ति। यद्वा। यद्यस्मात् अमीषां तमसः अज्ञानस्य पापस्य वाऽपहत्यै विनाशाय ब्रह्मादिदुर्लभं वृन्दावने भवता तरुजन्म कृतमित्यर्थः ॥ ५ ॥ एते इति ॥ हे आदिपुरुष! एते अलिनो भ्रमराः झङ्कारं कुर्वन्तोऽपि वस्तुतः अखिललोकस्य तीर्थं शोधकं तव यशो गायन्तोऽनुपदं पथि त्वां भजन्ते। हि यतः अमी भ्रमराः प्रायः भवदीयेषु भवत्सेवकेषु मुख्याः मुनिगणा एव। अतः हे अनघ! वने गूढमपि आत्मनो दैवं त्वां न जहति अलिवेषेण निगूढास्त्वां भजन्ति ॥ ६ ॥ नृत्यन्तीति ॥ हे ईड्य! गृहमागताय गृहमागतं त्वां प्रसादयितुम्। "क्रियार्थे"ति चतुर्थी। अमी शिखिनो मयूराः मुदा नृत्यन्ति तथा हरिण्योऽपि गोप्य इव ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति तथा कोकिलगणाः सूक्तैर्मधुरशब्दैः प्रियं कुर्वन्ति। अत एते वनौकसो वनवासिनो निकृष्टजातयोऽपि भ्रमरादयो धन्याः कृतार्थाः। हि यस्मात् इयान् गृहागतसत्काररूपः सतां निसर्गः स्वतः सिद्धः स्वभावः ॥ ७ ॥ धन्येति ॥ तव पादस्पर्शादियं धरण्यद्य धन्या तथा त्वत्पादौ स्पृशन्तीति त्वत्पादस्पृशस्तृणवीरुधश्च धन्याः। तथा पुष्पादित्रोटनार्थं तव करजैर्नखैरभिमृष्टाः द्रुमलताश्च धन्याः। तथा दयासहितावलोकनैर्नद्योऽद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः। तथा श्रीरपि यद्भुजान्तरं स्पृहयति इति यत्स्पृहा भवति तेन तव भुजयोरन्तरेण कृत्वा भुजमध्ये वक्षस्थले आलिङ्गनं प्राप्य गोप्योऽपि धन्याः। अत्र पौगण्डेऽपि कदाचित्कैशोराविर्भावाद्रहसि व्रजबालाभी रेमे इति सूचितम्। अग्रिमश्लोके सानुग इत्यस्य अनुगाभिः सहित इति ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

बलदेवव्याजेन स्वमाहात्म्यद्योतनाय स्वसंबंधवतस्तरून् प्रशंसन्नाह अहो इति संबोधने आश्चर्ये वा देवेभ्यो ब्रह्मशिवादिभ्यो वरः श्रेष्ठस्तत्संबुद्धौ हे संकर्षण अमी द्रुमाः सुमनांसि पुष्पाणि फलानि च तान्येवार्हणं पूजनोपकरणं शिखाभिः शाखारूपैः शिरोभिः

गृहीत्वा ते पादपद्मं नमंति किमर्थं यत् येन तमसा आत्मनः स्वस्य तरुरूपं जन्म कृतं तस्य तमसः पापस्य अपहत्यै निवारणाय नमन्तीति संबंधः ॥ ५ ॥ हे आदिपुरुष अनुपदं प्रतिक्षणं भजंते हे अनघनिष्पाप भवदीयेषु भक्तेषु मुख्याः भ्रमरवेषेण गूढा मुनयः गोपवेषेण गूढं गुप्तं आत्मदैवं आत्मनः स्वस्य देवं परमभाग्यं त्वां वनेपि न जहति न त्यजंति ॥ ६ ॥ शिखिनो मयूराः हे ईड्य ईडितुं स्तोतुं मुदा हर्षेण गोप्यो यथा तथा हरिण्यः ईक्षणेन मनोहरेण प्रेमगर्भितावलोकनेन ते प्रियं पूजनं कुर्वंति सूक्तैः सुंदरशब्दैः गृहमागताय तुभ्यं सत्कारं कुर्वंति एते वनौकसः धन्याः संति कुतः यतः सतां साधूनां इदं परिमाणमस्येति इयान् निसर्गः स्वगृहं प्राप्ते पूज्ये स्वसामर्थ्यनुसारेण सत्कारः समर्पणरूपः स्वभावः ॥७॥ रामस्य स्वावतारत्वात् स्वाभेदेन श्रीप्रभृति संबंधं वर्णयन् हृयदि धन्यतामाह धन्येति इयं भूः तव पादचारेण धन्या धन्येति ईयमिति च पदं वचनविपरिणामेन सर्वत्र योज्यं त्वदित्यत्र व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थे पंचमी तु समासः तेनाग्रेप्यन्वयो बोध्यः त्वत् तव पादौ स्पृशंतीति तथा तृणानि वीरुधो भूतलताश्च करजैर्नखैः अभिमृष्टाः पुष्पग्रहणाय स्पृष्टा द्रुमलतास्तरुलताः सदयैः दयासहितैः तवावलोकनैः एते अवलोकिताः श्रीरपि यत्स्पृहा यस्मै हृदयकमला यत्स्पृहयति आलिंगन-मिच्छतीति तथा भुजयोरंतरेण हृदयेन स्पृष्टाः गोप्यो धन्याः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्वयमादिपुरुषः सन्नपि लोकमर्यादाख्यापनार्थमवतीर्णत्वात् स्वशेषभूतमपि शेषमग्रतोऽवतीर्णत्वमात्रेण स्वतोधिकत्वं संभावयन्नाहाहो इत्यादिचतुर्भिः ॥ अहो इति ॥ हे देववर, अमरैर्देवैरर्चितं पूजितं' देववराश्च तेऽमराश्च तैरर्चितमिति वा । ते तव पादाम्बुजं चरणकमलं, अमी तरवः' सुमनः फलार्हणं पुष्पफलादिरूपं पूजासाधनं उपादाय, यत् येन तमसा, आत्मनः तरुजन्म कृत संपादितं, तमोपहत्यै तस्य तमसो विनाशाय, शिखाभिः स्वेषां मूर्द्धस्थानीयाग्रभागैः, नमन्ति त्वां प्रणमन्तीत्यर्थः। अहो अत्याश्चर्यमिदम् ॥५॥ एत इति ॥ हे आदिपुरुष, एते अलिनो भृङ्गाः, अखिललोकतीर्थं सकलजनपावनं, तव यशः, गायन्तः, सन्तः अनुपदं भजन्ते । तिरश्चां कथमेवं ज्ञानं तत्राह । अमी अलिनः, प्रायः प्रायेण, भवदीयमुख्याः भगवतस्तव भक्तेषु मुख्याः, मुनिगणाः सन्त्येव । अत एव, अनघो निर्दोष आत्मा येषां तेषां देवं परमगतिरूपस्तं, अनघेति पृथक् संबोधनं वा । तदा आत्मदैवं स्वान्तर्यामिणमिति । गूढं गोपवेषेणाच्छादितस्वपरमेश्वरभावं, त्वां वने अपि, न जहति न त्यजन्ति ॥ ६ ॥ नृत्यन्तीति ॥ हे ईड्य स्तुत्य, अमी शिखिनो मयूराः, मुदा अत्यानन्देन, नृत्यन्ति । तथा हरिण्यः गोप्य इव, ईक्षणेन, ते तव, प्रियं कुर्वन्ति । तथा कोकिलानां गणाः, गृहं स्वभवनं, आगताय ते तुभ्यं, प्रियं सूक्तैः कर्णरम्यैर्वचनैः, कुर्वन्ति च । अत एवैते वनौकसः धन्याः एव । तथा हि। अत्र सज्जनानां, निसर्गः स्वभावः, इयान् । स्वगृहागताय मृदूक्त्यादिभिः प्रियसंपादनं बहुमानप्रदानमेतावान् सज्जनस्वभाव इत्यर्थः॥७॥ धन्येति ॥ अद्य इयं, धरणी पृथ्वी, धन्या । तृणानि च वीरुधश्च ताः अपि, धन्याः । कुतः । यतः त्वत्पादस्पृशः नित्यं त्वत्पादस्पर्शं प्राप्नुवन्ति ततो धन्या इत्यर्थः । तथा द्रुमास्तरवश्च लताः प्रतानिन्यश्च ता अपि, धन्याः । कुतः । यतः करजाभिमृष्टाः तव नखैः संस्पृष्टाः, ततो धन्या इत्यर्थः । तथा नद्यः कालिन्द्यादयः, बहुवचनं कालिन्दीसंपृक्तेतरनदीबोधकम् । अद्रयः गोवर्द्धनः, बहुवचनं तदुपरि वर्त्तमानद्रुमाद्यभिप्रायकम् । खगाः नानाविधा हंसादयः पक्षिणः, मृगा आरण्याः पशवः, तव सदयावलोकैः, धन्याः। तव दयापूर्णदृशा वीक्षितत्वाद्धन्या इत्यर्थः । तथा गोप्यः अपि, तव भुजयोः अन्तरेण, धन्याः । त्वया वक्षसा आलिङ्गितत्वात् धन्या इत्यर्थः । कथंभूतेन भुजयोरन्तरेण । श्रीः स्वयं लक्ष्मीरपि, यस्मिन् भुजान्तरे स्पृहा यस्यास्तथाभूता भवति, तद्विधेनेति संबन्धः ॥८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहो इति । १०. १५. ५.

भो राम यस्त्वमनिशं विगतान्यकृत्यो यन्मातरं वहसि मूर्ध्नि भरस्खलन्तीम् ।
प्राप्तं तमन्तिकमवेक्ष्य भवन्तमेते वृक्षा नमन्त्युचितमेव कुलीनमूलाः ॥ १३ ॥

नानानेत्रजुषो जटाभरभृतो दिव्योल्लसत्सफलाः सत्पत्राः स्थिरविग्रहा रसहृदः शाखोन्मुखा ये क्षमाः ।
स्वाराड्वच्च तपस्विवच्च विधिवद् भूपालवच्छूरवद् विद्वद्वद् द्विजवच्च सत्पदरतिस्तेषां क्षमाशालिनाम् ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा गोत्रोद्धारकं त्वामिमेऽपि गोत्रोद्भूताः सन्नतास्त्वत्पदाब्जे । तच्छ्रीरामालोकयैनान् स्वपुत्रैस्तुल्यानेवं तद्दयावानवोचत् ॥१५॥

प्रत्येकं गुरु-देवता-नरपतीनस्मिन्नपूर्वेक्षितान् पश्येज्जातु न रिक्तपाणिरिह तु त्रित्वावलीढो भवान् ।
भूभृत्त्वादिति संविचिन्त्य तरवो भूसंभवाः साध्विमे त्वां श्रीराम नमन्ति पल्लवकरश्लिष्यत्फलोपायनाः ॥ १६ ॥

दुष्टानेककुजन्मिनां निवसनं ते भारकृद् भूभृतः श्रीमद्राम यथा ततोऽप्यतितरां भारापनोदक्षमः ।
आवासश्च परोपकृत्यविरत-व्यापारितात्माऽखिलस्वेष्टानामपि वर्तते त्वयिति विभुस्तं किं तथाऽदर्शयत् ॥ १७ ॥

लघूनवितगोगणानपि निरीक्ष्य नः सम्प्रति नमन्त्युरुफलार्पणैः सतत-विप्रसङ्गा इमे ।
अहो वननिवासिना-मतिथिसत्कृतिप्रेमता सुविष्णुपदगामिता तदुचितेति मन्यामहे ॥ १८ ॥

एतेऽलिन इति : १०. १५. ६.

नाम्ना मुनिर्नहि मुनिर्मुनिराट् स एव यस्त्वच्युताच्युत–यशश्रय–गानचित्तः।
श्रीमत्पदाम्बुजरतिः स हि कीदृशोऽपीत्येतत् स्फुटं मुनिपदव्यपदेशतोऽली॥ १९॥

न चोत्तमे जन्म कुले निदानं मद्दृक्प्रसादे जगतीह किन्तु। सदागमान्तर्मधुरोक्तितेति प्राकार्यली तादृशि तत्स्फुटार्थम्॥ २०॥

सदागमलसन्तो ये सुमनोरससेविनः। श्रुत्यानन्दगिरो देव मुनयो हि कथं न ते॥ २१॥

नृत्यन्त्यमीति : १०. १५. ७.

मद्वर्हभारः पतितोऽपि येन मौलावलङ्कारपदं प्रणीतः। युक्तं मयूराः प्रसमीक्ष्य तं त्वां नृत्यन्त्यमी राम घनप्रमोदाः॥ २२॥

विलसद्विषयोल्लासा हरिण्यो हरिणाश्रिताः। गोपीवत्प्रियमप्यासां सिद्धं रामावलोकनम्॥ २३॥

यस्यान्यपुष्टस्य न शक्तिरन्नदाने भृशं तेन मनोज्ञवाचा। कार्योऽतिथेः सत्कृतिरादरेणेत्यभूद् विविक्तं परपुष्टसूक्तैः॥ २४॥

ये दृष्ट्वाऽतिथिमागतं निजगृहे वाचा रसालोच्चया सत्कुर्वन्त्यथ ये च तत्प्रियदृशो ये वा तदङ्घ्रिस्पृशः।
येषां वाऽतितरां फलार्पणमतिर्नित्यं त एवावनौ सत्याः सन्त इति प्रकाशितमभूत् तत्तत्पदोत्कीर्तनात्॥ २५॥

धन्येयमिति : १०. १५. ८.

मत्पालको मदनुवर्तनमीक्षमाणो दिष्ट्याऽद्य मामधिगतो यदनन्त एषः।
क्लेशापनोदनमितो ह्यचिरेण भूयादित्यन्तरेऽवनिरियं बहुधा कृतार्था॥ २६॥

गोप्य इतिः

अभ्यासो यस्य यस्मिन् मनसि दृढतरो वर्तते वस्तुजाते तद्वक्त्रात्तद्विनिर्यात्यवशसमये भूरिसंस्कारयोगात्।
एवं गोपीगतात्मा सहि विभुरवदद् गोपिकाधन्यतोक्ति नो चेदुद्दिश्य रामं विपिनगतनुतौ तादृगुक्तच्प्रसक्तिः॥ २७॥

न वृक्षैः प्रणामः स्तुतिः षट्पदैर्वाकृता सूक्तमुक्तं चनान्यप्रपुष्टैः। कृपावत्सलत्वं तथात्वेन मत्वाऽनुगृह्णासि दीनानिहेत्येव सत्यम्॥२८॥

अनादृत्य श्रेयः पदमपि पदं स्वं कमलभूः कथं वा लुब्धोऽभूदधमतरतर्वादिजनिपु।
निरस्तेयं शङ्का यदिह विपिने यन्मुखसुरस्तुतोऽपीशस्तेषां स्तुतिकृदभवत्तत्पदगतिः॥ २९॥

कृष्णप्रिया

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा :—देवशिरोमणे! यों तो बड़े-बड़े देवता आपके चरणकमलों की पूजा करते हैं; परन्तु देखिये तो ये वृक्ष भी अपनी डालियों से सुन्दर पुष्प और फलों की सामग्री लेकर आपके चरण कमलों में झुक रहे हैं। क्यों न हो, इन्होंने इसी सौभाग्य के लिये तथा अपना दर्शन एवं श्रवण करने वालों के अज्ञान का नाश करने के लिए ही तो वृन्दावनधाम में वृक्ष-योनि ग्रहण की है। इनका जीवन धन्य है॥ ५॥ आदिपुरुष! यद्यपि आप इस वृन्दावन में अपने ऐश्वर्यरूप को छिपाकर बालकों की-सी लीला कर रहे हैं, फिर भी आपके श्रेष्ठ भक्त मुनिगण अपने इष्टदेव को पहचानकर यहाँ भी प्रायः भौंरों के रूप में आपके भुवन-पावन यश का निरन्तर गान करते हुए आपके भजन में लगे रहते हैं। वे एक क्षण के लिये भी आपको नहीं छोड़ना चाहते॥ ६॥ भैया! वास्तव में आप ही स्तुति करने योग्य हैं। देखिये, आपको अपने घर आया देख ये मोर आपके दर्शनों से आनन्दित होकर नाच रहे हैं। हरिनियाँ मृगनयनी गोपियों के समान अपनी प्रेमभरी तिरछी चितवन से आपके प्रति प्रेम प्रकट कर रही हैं, आपको प्रसन्न कर रही हैं। ये कोयलें अपनी मधुर कुहू-कुहू ध्वनि से आपका कितना सुन्दर स्वागत कर रही हैं। ये वनवासी होने पर भी धन्य हैं। क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे आये अतिथि को अपनी प्रिय-से-प्रिय भेंट कर देते हैं॥ ७॥ आज यहाँ की भूमि अपनी हरी-हरी घास के साथ आपके चरणों का स्पर्श प्राप्त करके धन्य हो रही है। यहाँ के वृक्ष लताएँ और झाड़ियाँ आपकी अँगुलियों का स्पर्श पाकर अपना अहो भाग्य मान रही हैं। आपकी दया भरी चितवन से नदी, पर्वत, पशु, पक्षी सब कृतार्थ हो रहे हैं, और वन की गोपियाँ आपके वक्षःस्थल का स्पर्श प्राप्त करके, जिसके लिये स्वयं लक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, धन्य-धन्य हो रही हैं॥ ८॥

[1]श्रीशुक उवाच

एवं [2]वृन्दावनं [3]श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् । रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥ ९ ॥
क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः । उपगीयमानचरितः [4]सखि सङ्कर्षणान्वितः ॥ १० ॥
क्वचिच्च कलहंसानामनु कूजति कूजितम् । अभि नृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ॥ ११ ॥
मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् । क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—एव श्रीमत् वृन्दावनं (प्रति) प्रीतमनाः कृष्णः सानुगः अद्रेः सरिद्रोधःसु पशून् सञ्चारयन् रेमे ॥ ९ ॥ अनुव्रतैः उपगीयमानचरितः संकर्षणान्वितः स्रग्वी मदान्धालिषु क्वचित् गायत्सु गायति ॥ १० ॥ क्वचित् कलहंसानां कूजितम् अनु कूजति क्वचित् हासयन् नृत्यन्तं बर्हिणं अभिनृत्यति ॥ ११ ॥ गोगोपालमनोज्ञया मेघगाम्भीरया वाचा नामभिः दूरगान् पशून् प्रीत्या क्वचित् आह्वयति ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवं श्रीमद्वृंदावनं प्रति प्रीतः सन्नद्रेः समीपवर्तिसरित्तटेषु पशून्संचारयन्सानुगो गोपैः सह वर्तमानः प्रीतमनाः रेमे ॥९॥ तामेव रतिमाह क्वचिदित्यादिभिर्दशभिः ॥ १० ॥ बर्हिणं नृत्यंतमन्वभिनृत्यति बर्हिणमभिमुखो नृत्यतीति वा। सखीन्हासयन् ॥ ११-१२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवम् एवं प्रकारम् । अद्रेर्गोवर्द्धनस्य । यद्वा—इत्थमग्रजं परितोष्य गोप्यांतरेण भुजयोरिति निजोक्त्यैवोद्दीप्तकंदर्पस्तत्रैव गाः सखींश्च नियुज्य भोः श्रीमदीक्षणमत्र सुबलेन सार्द्धं गोवर्द्धनकंदरारोधसि विश्रम्यागंतास्मि त्वमग्रे कालिंदीरोधस्सु तावद्विहरेत्युक्त्वा ततो वियुज्य पौगंडेपि कैशोराविर्भावाद्रहसि व्रजबालाभिः सार्द्धं रेमे इत्याह—एवमग्रजं स्तुत्वा तद्द्वारैव पशून्वृंदावनं रयन्नद्रेः सरितो मानसगंगाया रोधस्सु रेम इत्यन्वयः । श्रीमती व्रजयोषिन्मुख्याऽस्यैव प्रीता प्रेमवता यस्मिन्सः कुलालकर्तृको घट इतिवत् प्रीतेत्यस्य विशेष्यत्वविवक्षया परनिपातः । अत एव प्रीतमनाः अनुगाभिः सखिभिः सहितः । व्याख्यानस्यास्य रहस्यत्वादेतस्यावरकं रत्नस्य कनकसंपुटमिव व्याख्यांतरमवतारिकां विनैवास्ति । तद्यथा श्रीमतो बलदेवाद्याः प्रीता यस्मिन्सः । सानुगोनुगैस्सहितः । अन्यत्समानम् ॥९॥ या वृंदावने रतिः कृता तामित्यर्थः । अनुव्रतैः सखिभिः । स्रग्वी वनमालाधरः ॥१०॥ बर्हिणम् मयूरम् अभिनृत्यति तत्तुल्यं नृत्यति सर्वतो वा । मयूरतुल्यत्वं पक्षैर्विनाऽसंभवं मत्वार्थांतरमाह—अभिमुखेति । हासयन् हासं जनयन् ॥ ११ ॥ नामभिः प्रसूतिवारप्रयुक्तादिलक्षणैः—हे सूर्ये, हे सोमे । यद्वा—हे अश्विनि, हे यमुने, हे कृष्णे, हे पीते इत्येवं रूपैः । गवां गोपालानां मनसः प्रियया ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं सनर्मवर्णनादिप्रकारेण वृन्दावनं व्याप्य प्रीतः सन् "कालाध्वभावदेशानाम्" इत्यादिना कर्मत्वम् अद्रेः श्रीगोवर्द्धनस्य प्रीतत्वप्रीतमनस्त्वयोः सामान्यविशेषाभ्यां भेदः ॥ ९ ॥ प्रीतमनसो रतिं दर्शयन् वर्त्तमानप्रयोगेण साधारणदिनगतामेवाह - क्वचिदित्यादिना । पूर्वं "केचिद्वेणून्वादयन्तः" इत्यादिना बालकानामेव प्राधान्येन तत्तत्क्रीडोक्ता, इदानीं तु प्रीतमनस्त्वेन साक्षात् श्रीकृष्णस्यैवेति विशेषः, क्वचित् कस्मिंश्चित् (पथि सङ्कर्षणान्वित इति वा पाठः) पथि स्रग्वीति पाठे कस्मिंश्चित् प्रदेशे कदाचिद्दिने वा एवमग्रेऽपि मदेन श्रीवृन्दावनपुष्परसपानजेन श्रीभगवत्सान्निध्यसौभाग्यजेन वा अन्धेषु महामत्तेषु तादृशेष्वलिष्विति गानमाधुर्यमभिप्रेतं सङ्कर्षणशब्दः श्रीभगवता सह तस्यापृथक्तया गानाभिप्रायेण अनुव्रतैः तदेकप्रीतिपरैर्गोपैः अत्र भ्रमराणां स्वजातीयस्वरमात्रस्य गानं श्रीभगवतस्तदनुसारिस्वरस्य तदुचितरागस्य च अनुव्रतानां तु तयोर्गीतवद्धतच्चरितस्य चेति मिथो गानमेलनं ज्ञेयम् ॥ १० ॥ कलवाक्यैरिति शुकादप्युत्तमजल्पनं बोधयति, एवं वल्गिवति च चशब्दो वल्गिवात समुच्चिनोति अर्थस्तथैव बर्हिणम् अभिलक्ष्यीकृत्य नृत्यति तदभिमुखः सन् नृत्यतीत्यर्थः । तेषां व्याख्याने उत्तरत्राप्यनुराकर्षणीयः तज्जातिनृत्येनैव तन्निर्जयात् सखीन् हासयन् ॥ ११ ॥ पशूनिति श्लेषेण श्रीकृष्णपार्श्वतो दूरं गत्वा निर्बुद्धित्वमुक्तं येन पूर्ववदात्मपश्चादेव तत्स्फुरणात् दूरगत्वज्ञानमपि न जातमिति भावः । मेघेति तद्गर्जितं लक्ष्यते तद्वद्गम्भीरयेति महापुरुषस्वभावत एव ॥ १२ ॥

---

१. प्राचीनप्रत्यां "श्रीशुक उवाच" पाठो न दृश्यते । २. वने कृष्णः श्रीमान् प्रीत०—गो. प्रे. टी. । ३. श्रीमत्पश्यन्प्रीत—वीर. । ४. स्रग्वी—श्रीधर. वंशो. ; सखि—वीर. विज. विश्व. ।

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवमीदृशं वर्णयन्नित्यर्थः; यद्वा, अनेन प्रकारेण; तत् प्रति प्रीतः सन्तुष्टः कृतप्रसाद इत्यर्थः ॥ ९ ॥ प्रीतमनसो रतिमेव दर्शयति - क्वचिदित्यादिना, पूर्व्वं (भा. १०।१२।७)—'केचिद्वेणून् वादयन्तः' इत्यादिना बालकानामेव प्राधान्येन तत्तत्क्रीडोक्ता, इदानीन्तु प्रीतमस्त्वेन साक्षाच्छ्रीकृष्णस्यैवेति विशेषः । क्वचित् कस्मिंश्चित् पथि, 'स्रग्वी' इति पाठे कस्मिंश्चित् प्रदेशे कदाचिदिति वा । एवमग्रेऽपि । मदेन श्रीवृन्दावनपुष्परसस्य पानजेन श्रीभगवत्सान्निध्य-सौभाग्यजेन वा अन्धेषु सुखविशेषेण निमीलिताक्षेषु महामत्तेषु वा, तादृशेष्वलिष्वित गानमाधुर्य्यमभिप्रेतम् । संकर्षणशब्दः श्रीभगवता सह तस्यापृथक्तया गानाभिप्रायेण; तथा चोक्तम् (श्री भा. १०।८।१२)—'यदूनामपृथग्भावात् संकर्षणमुशन्त्यपि' इत्यनुव्रतैस्तदेकप्रीतिपरैर्गोपैरुप समीपे सर्व्वोपरितनत्वेन वा, गीयमानानि चरितानि यस्य; यद्वा, उपगीयमानमलिगानादप्युत्तमतया संश्लाघ्यमानं चरितमलिगानानुकारलक्षणं यस्य सः । एवमिदं विशेषणमग्रेऽपि पद्यत्रयकं यावदनुवर्त्यम् ॥ १० ॥ कलवाक्यैरिति शुकादप्युत्तमजल्पनं बोधयति । एवं वल्गिवति च शरच्छेऽपि कोकिलकूजनं सर्वत्राश्रयश्रीवृन्दावन-स्वभावात् ॥ ११ ॥ च-शब्दो वल्गिवति समुच्चिनोति; अर्थस्तत्यैव बर्हिणमभिलक्ष्यीकृत्य नृत्यति, तदभिमुखः सन् नृत्यतीत्यर्थः । ह स्फुटम्; आसयन् तमेकोपवेशयन् । निर्ज्जित्य नृत्यादुपरमयन्नित्यर्थः; यद्वा, नायं साधु नृत्यतीति बर्हिणमेव प्रति सखीन् हासयन् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेव प्रपञ्चयति—क्वचिदित्यादिना । श्रीदामेत्यतः प्राक्तनेन । मदेन मधुपानमदेनान्धेषु भृङ्गेषु गायत्सु सत्सु स्वयं सखीन् हासयन् क्वचिदनुगायति अनुगैः उद्गीयमानं चरितं यस्य सखिभिः सङ्कर्षणेन चान्वितो रेमे क्वचित् कलहंसानां कूजतमनुकृत्य कूजति चुकूज । तथा नृत्यन्तं बर्हिणमभिनृत्यति अनु अभिनयं करोतीत्यर्थः । क्वचिन्मेघस्येव गम्भीरया वाचा सङ्केतितनामभिः सखीन् हासयन् दूरगान् पशूनाह्वयति आजुहाव कया गवां गोपानां च मनोज्ञया प्रीत्या तयोपलक्षितो वा ॥ १०-१२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्ण एवम्विधमाहात्म्यं वृन्दावनमवाप्य रेमे इत्यन्वयः अद्रेः पादेषु सरितो नद्यः रोधःसु तीरेषु पशून् सञ्चारयन् ॥ ९ ॥ रतिप्रकारं दर्शयति—क्वचिदिति । अनुव्रतैरनुचरैः सखिभिः सङ्कर्षणेन चान्वितः अनुगतः ॥ १० ॥ हासयन् हासं जनयन् ॥ ११ ॥ नामभिः प्रसूतिवारप्रयुक्तादिलक्षणैः गवां गोपालानां मनोऽन्तःकरणं ज्ञापयन्त्या बोधयन्त्या मनोरमया वा ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एवं सनर्मवर्णनादिप्रकारेण वृन्दावनं व्याप्य प्रीतः सन् ॥ ९-१० ॥ एवं प्रथमगोचारणादिप्रसङ्गे साधारणदिनगतां लीलामाह—क्वचिदित्यादिना । बर्हिणमभिलक्ष्यीकृत्य नृत्यति पशूनां दूरगात्म-नश्चादेव श्रीकृष्णगमनस्फूर्त्तेः सत्त्वानां मध्ये यो व्याघ्रसिंहयोः भीतः तद्वच्चानुरौति स्म तेषामीषद्भयदर्शनकौतुकार्थमिति भावः ॥ ११-१४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवमिति साग्रम् । यद्वा, इत्थमग्रजं परितोष्य गोप्योऽन्तरेण भुजयोरिति निजोक्त्यैवोद्दीप्तकन्दर्पस्तत्सङ्ग एव गाः सखींश्च नियुज्य भोः श्रीमदार्य्य ! क्षणमहमत्र सुबलेन सार्द्धं गोवर्द्धनकन्दरारोधसि विश्रम्यागन्तास्मि त्वमग्रे कालिन्दीरोधस्सु तावद्विहरेत्युक्त्वा ततो वियुज्य पौगण्डेऽपि कैशोराविर्भावाद्रहसि व्रजबालाभिः सार्द्धं रेमे इत्याह—एवमग्रजं स्तुत्वा तद्द्वारैव पशून् वृन्दावनं सञ्चारयन् अद्रेः सरितो मानसगङ्गाया रोधस्सु रेमे इत्यन्वयः । श्रीमती व्रजयोषिन्मुख्या सैव प्रीता प्रेमवती यस्मिन् स कुलालकर्तृको घट इति वत् प्रीतेरस्य विशेष्यत्वविवक्षया प निपातः अत एव प्रीतमनाः अनुगाभिः सखीभिः सहितः व्याख्यानस्यास्य रहस्यत्वादेत स्यावरकं रत्नस्य कनकसम्पुटमिव व्याख्यान्तरमवतारिकां विनैवास्ति तद्यथा श्रीमन्तो बलदेवाद्याः प्रीता यस्मिन् सः सानुगः अनुगैः सहितः अन्यत् समानम् ॥ ९-१० ॥ बर्हिणम् अभिलक्ष्यीकृत्य नृत्यति सखीन् हासयन् बर्हिणमेव रसोल्लासयन् ॥ ११-१२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एवं श्रीमद्वृन्दावनं प्रति प्रीतः सन् अद्रेः समीपम् इति शेषः सरिद्रोधःसु यमुनातटेषु च पशून् सञ्चारयन् सानुगः प्रीतमनाः रेमे ॥ ९ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—क्वचिदित्यादिभिः ॥ १० ॥ हासयन् वयस्यानिति शेषः ॥ ११-१२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमग्रजस्तुतिविधया वृन्दावनं रेमे अकर्मकधातुना योगात् देशस्य कर्मत्वं, श्रीमन्तो बलभद्रादयः प्रीता यस्मिन् सः अनुगैर्भृत्यैः सहितः अद्रेर्गिरिराजस्य सरितो मानसगङ्गाया रोधःसु पशून् सञ्चारयन् रहस्यार्थस्त्वयं एवमुक्तविधयाग्रजं स्तुत्वा गोप्या-

न्तरेणेति स्वोक्तिसमुद्दीपितस्मरो धेनुर्मित्राणि च तस्मिन् नियोज्य ससुबलोऽहमद्रिशोभां विलोक्य आगच्छामीति निवेद्य तद्द्वारा पशून् वृन्दावनं सञ्चारयन् । श्रीमती प्रीता प्रेमवती यत्र तादृशः तत एव प्रीतमनाः सानुगस्तदनुगाभिः सहितश्चाद्रेः सरिद्रोधस्सु रेमे इति ॥ ९-१० ॥ नृत्यन्तं बर्हिणमभिनृत्यति सखीन् हासयन् ॥ ११-१३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कुसुमरसास्वादनमदेनान्धा अलिनोऽलयो वा तेषु गायत्सु क्वचित्क्वापि गायत्यनुवृत्तैस्तत्कूजनाकृतस्वकूजनैरुपगीयमानचरित इदं मुद्रणाभावादेवादिभिरित्यर्थः । अनुव्रतैर्गोपालैरिति व्याख्या सखीति स्तुत्यकृष्णेन सह छत्रिन्यायेन वा तदाश्रतमलेन स्तव्यतया सन्मतजनविशेषकतया नेतव्यं । सखीभिः सङ्कर्षणेन चान्वितोऽनुगतः ॥ ९ ॥ कूजितं कुजनमनु कूजति मयूरं बर्हिणं हासयन्पार्श्वस्थैर्लोकैरयं स्वरो न कृष्णस्वरवदित्युपहासयन् बर्हिणमिति वा ॥ १० ॥ गोगोपालमनोज्ञया मनोहारिण्या मेघगम्भीरया वाचा नामभिः स्वसङ्केतितैस्तन्मनो जानातीति तथा ।११। चकोरक्रौञ्चक्रव्हभारद्वाजालिर्बर्हिणामित्यत्रान्तरविद्यमानमाह्वेति देहलीदीपन्यायेन सर्वान्वयि । चकोरेत्यादि बर्हिणान्तं गतं । चकोरादीनां सत्त्वानामिति सामानाधिकरण्यं । वंय्यधिकरण्येन तदितरेषां सत्त्वानां प्राणिनामिति वा । अनु रौति तद्रुतवद्रुतं करोतीत्यर्थः । सिंहव्याघ्रयोः सकाशाद्भीतवदनुरौति व्याघ्रो मां ग्रसत्वर आगच्छेति यं कश्चित्प्रति शब्दं कराति ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं वृन्दावनस्वरूपं निरूप्यात्रत्यानां च स्वरूपमर्थाद् बलभद्रबोधनं च कृत्वा तादृशे वृन्दावने भगवान् क्रीडां कृतवानित्याहैवमितिदशभिः, पौगण्डवयसः पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालरूपत्वादादौ पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनं क्रमेण ततो दशरसोद्भावनेन क्रीडापरमानन्दस्य दशधा रसो लोकेनुभूयत इति ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थं, तथा प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन् रतिं कृतवानित्याहैवम्रूपे वृन्दावने कृष्णः पशून् सञ्चारयन् रेमे इतिसम्बन्धः, वृन्दावनगुणनिरूपणार्थमेव वचनानामुपयोगादेवमित्यनेनैव सम्बध्यते अतो निरूप्योक्त्वेत्यादिक्रिया नाध्याहर्तव्याः, शाब्दी च सङ्गतिरेवमित्यत्रैव योजनीया, यत्र रन्तुं मनो दधे यत्र चोवाच रेमे न्यानि च कृतवानिति महावाक्ये सर्वेषां सम्बन्धः, यदा पुनस्तत्तदभिमानिदेवताभिः सह रतिं कर्तुमारम्भं कृतवांस्तदा लक्ष्मीः स्वत एव समागतातो रमणमनुक्तसिद्धमेवेत्यनुभावा उद्दीपनविभावा व्यभिचारिणश्च निरूप्यन्ते, आलम्बनं तु लक्ष्मीरेव, नायकोलङ्कारमाह कृष्ण इति, सदानन्दो हि पुरुषोत्तमो मनश्च करणं, तस्यापि दोषनिवृत्तिपूर्वकं गुणा वक्तव्याः, तदाह प्रीतमना इति, प्रीतं निर्दुष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य, पशून् सञ्चारयन्निति धर्मः, सम्यक् चारणं देशविशेषे, गह्वरादिवने वक्तव्ये स्वरमणं बाध्येतेत्युभयोरुपयोगार्थं देशविशेषान् निर्दिशत्यद्रेः सरिद्रोधस्स्विति, पर्वतसम्बन्धिन्यो याः सरितस्तासां रोधस्सु कूलेषु, तत्र हि हरिततृणानि भवन्ति प्ररूढानि च, पर्वते स्थित्वाग्रस्तान् स्थित्वा वा तासामन्यत्र गमनशङ्काभावाच्चारयन्नेव रमणं सम्भवति, अत एव सम्यक् चारणं धर्मरस्तौ रक्षायां स्वाभिनिवेशे धर्मरमणयोर्हीनता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सानुग इति, अनु पश्चाद्गच्छन्तीत्यनुगाः सेवकास्तैः सहितः ॥ ९ ॥ एवं धर्मोद्भावनेन क्रीडामुक्त्वार्थोद्भावनेनापि क्रीडामाह क्वचिदिति, मदान्धालिषु गायत्सु क्वचिद् भगवानपि गायति, अनुव्रतैर्निजभक्तैरुपगीयमानचरितश्च सखिसङ्कर्षणाभ्यां चान्वितः, 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यते' इतिश्रुतेर्वीणानुरणनस्थानीया भ्रमरा भवन्ति, अर्थभोगेनैव गीतमपि गायति, अन्यथा तद्रसोद्रेको न ज्ञापितः स्यात्, सर्वतश्च स एव स्तूयमानोपि भवति परिकरयुक्तश्च, परिकरो द्विविध इति सखिसङ्कर्षणौ निरूपतौ स्वसम्बन्धिनः कुलसम्बन्धिनश्चेति, "बन्धुभिर्यावद् भुज्यत' इत्यर्थे तेषां सहभाव आवश्यकः, समीपे गानं स्तोत्रं वार्थभोग एव, मुनीनां भ्रमरत्वनिरूपणात् समीपे धाष्ट्र्याद् गानं न भविष्यतीति मदान्धता निरूपिता, मदोत्र भगवत्सान्निध्यानन्दो भक्तिरसोन्मादो वा वृन्दावने पुष्पेषु मकरन्दश्चरणसमर्पितेषु भक्तिरस एवेति, अनु व्रतं येषामिति तेषामपि स्वसाम्यकरणं सर्वे सखायः सङ्कर्षणश्च सम्यगन्वयस्तेषामप्यर्थभोगः सम्यक् सम्पाद्यत इति एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमना इति पञ्चपदानि सर्वत्रानुवर्तन्ते ॥ १० ॥ एवमर्थलीलामुक्त्वा कामलीलामाह क्वचिच्चेति कलहंसानां कूजितमनुकूजति, कामे हि द्वयं कर्तव्यं कूजितं रसोद्गमनार्थं बन्धाश्च रसार्थं, तत्र मयूरस्य मयूर्या सह सम्बद्धस्य मत्तस्य गात्रविक्षेपे सर्वतो रस एकीभूय नेत्राभ्यां निर्गतो मयूर्या मुखे प्रविशत्यूर्ध्वं च रेतो निर्गच्छति ज्ञानद्वारा च, अन्ये सर्वे प्राकृता एव रसाः, अत एव विचित्रं तत्र कार्यमुत्पद्यते, शब्दो मनःपूर्वक इति रसारसयोर्भेदकस्य हंसस्य मानसैकशरणस्य तादृशं भवति कूजितं, अत एव सर्वविलक्षणत्वं हंसे वक्तुं कलहंस उक्तः, स हि कलानां हंसः, बहूनामेकविधप्रतिपादकत्वेन दर्शनीयो भवति भगवांस्तु सर्वेषामेव कूजितं रसावान्तरभेदाविर्भावार्थमनुकूजति, अभितश्च नृत्यन्तं बर्हिणं नृत्यति यदि मयूरो मयूर्या सह रसेन नृत्यति, अन्यथा मेघादिदर्शनेन स्वभावतो वा यदि नृत्यति तदापि भगवान् नृत्यति रसाभासभावाभासनिरूपणार्थंन्यथा रसः पुष्टो न भवेत् तदाह हासयन् क्वचिदिति कदाचिद् बर्हिणं हासयन् नृत्यति बाला बर्हिणं हसन्ति नायं सम्यक् नृत्यतीति सर्वदैवमितिनिषेधार्थमाह पुनः क्वचिदिति ॥ ११ ॥ मोक्षलीलामाह मेघगम्भीरयेति, वाचा दूरगान् पशून् नामभिर्गणयन्

क्वचिदाह्वयतीतिसम्बन्धः, भगवत्सायुज्यं मुक्तिश्च भगवद्दत्तैव भवति, सर्वशास्त्रनिरूपितानां साधनानां भगवति तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकानां ततः प्रतिफलितानां भगवत्कृतानामेव साधकत्वमितिसिद्धान्तः, "यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्धया भद्ररन्धन येनोपशान्तिर्भूताना" मित्यत्र विशेषतो निरूपणात्, अतो भगवन्नामस्मरणं कीर्तनं च भगवता नामग्रहणार्थं, तदपि ग्रहणं सर्वेषां तापनिवर्तकरूपेण तदपि कृपयावसरे. यदा ते दूरं, गता भवन्ति, यथा ते साक्षात्कृतस्य भगवतो न गृह्णन्ति तथा भगवानपि दूरगानेवाह्वयति, पशवः सर्वथा गत्यन्तररहिताः स्वतो बुद्धिरहिताश्च, तदपि नामग्रहणं प्रीत्यैव, अन्यथान्यस्य विषयनिवारकत्वं न सम्भवति, प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्, सापि चेद् वाण्यलौकिकी । भवेत् तदालौकिकं फलं न प्रयच्छेदिति ज्ञापयितुं गोगोपालमनोज्ञयेत्युक्तं, गवां गोपालानां च मनोज्ञा भवति साक्षाद्वाणी, गोपाला गुरव इव गावोधिकारिण्य इव, उभयेषां मनोज्ञता पूर्वं ततः फलानुभवात्, इमामेव हि लीलां भगवान् मुक्तौ करोति, केवलवाचा समाह्वाने स्वाधिकारो न भात इति न निवर्तेताto भिन्नभिन्नाधिकारिनिरूपणार्थं नामभिरितिबहुवचनं तददान्तरसाधनपरिग्रहार्थं च, प्रथमत एव पशवस्ततोपि दूरगास्ते चेद् भगवता स्वतो न मुच्यन्ते मुक्ता एव तिष्ठन्ति ॥ १२॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

एवंवृन्दावन इत्यस्यावतारिकायां, तत्र प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्निति । अत्र हि भगवद्दास्यमेव मुख्यो धर्मः । स च वृक्षाणां भगवता निरूपितः । तथा चैवं 'वृन्दावने पशून्संचारयन् रेमे' इति वाक्येन पूर्ववाक्यानां सम्बन्ध इति तादृशधर्मप्रकटनपूर्वकं रमणं महावाक्यार्थो भवति । स्वयं पशुचारणे क्रीडायां प्रतिबन्धः स्यादिति तदभावाय भगवत्कार्यं स्वयं गोपाः कुर्वन्तीति पशुचारणमपि सेवैवेति स्वधर्म एव, वैश्यानां चायं धर्मो भवत्येवेत्यर्थः समाज इति भावः ॥ ९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एवं वृन्दावनमित्यत्र श्लोकचतुष्टये पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनमुक्तं तत्र धर्मः को वेत्याकाङ्क्षायां तत्र प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्नित्यनेन यो धर्मोभिसंहितस्तं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्त्यत्र हीत्यादिना, तथा च भगवद्दास्यरूपो वृक्षधर्मः, सेवारूपो गोपधर्मो गोचारणरूपो वैश्यधर्म, इति त्रयमप्यभिसंहितमित्यर्थः, सुबोधिन्यां ननु पूर्वं वृन्दावने प्रवेशस्य रन्तुकामतया वृन्दावनवर्णनस्य चोक्तत्वात् प्रकारवाचिन एवम्पदस्य पूर्वोक्तक्रियाभिः सम्बन्धे वाक्यभेदप्रसङ्गाद् 'रेमे' इत्यनेन सम्बन्धाङ्गीकारे च क्रीडानामनुक्तत्वेन तदनन्वयात् तदन्वयाय सन्निहितपरामर्शार्थं निरूप्येत्यादिक्रियाध्याहार्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तद्योजनप्रकारमाहुर्वृन्दावनेत्यादि, एवमित्यनेनैवेति, एवमितिपदं वृन्दावनपदेनैव सम्बध्यतेतो नाध्याहार इत्यर्थः, तर्हि कथं शाब्दी सङ्गतिरित्यत आहुः शाब्दी चेत्यादि, एवमित्यत्रेत्यस्मिन् श्लोके, अन्यानि चेति श्लोकान्तरे वक्ष्यमाणानि, महावाक्य इति 'रेमे रमालालितपादपल्लव' इत्यन्त्ये वाक्ये, रेमे सञ्चारयन्नितिसमभिव्याहारसूचितमर्थमाहू रमणमित्यादि, उभयोरिति भगवतो गवां चानुभाव इत्यादि, तत्र ये रसाननुभावयन्त्यनुभवगोचरतां नयन्तीति यावत् तेनुभावा ये रसमुद्दीपयन्त्युत्पादयन्तीति यावद् ये बाह्यास्त उद्दीपनविभावा य इतस्ततो रसेषु सञ्चरन्त्यनेकरसव्याप्या भवन्तीतियावत् ते व्यभिचारिणस्तेत्र निरूप्यन्त इत्यर्थः, ते रसतरङ्गिण्यादिभ्योवगन्तव्याः । क्वचिद्गायतीत्यत्रैवं धर्मोद्भावनेनेत्यादि, धर्मस्य स्वदास्यरूपस्य गोचारणादेश्चोच्चैः प्रकटीकरणेन लीलानुक्त्वार्थस्य स्वस्वरूपस्य स्वप्रसादरूपस्य स्रक्पुष्पफलान्नादेश्च दानादुच्चैः प्रकटीकरणेनेत्यर्थः, चरितश्चेति भवतीति शेषः, ननु कथमत्रार्थोद्भावनमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति यदेत्यादि युक्तश्चेत्यन्तं, अर्थभोगेनेति, मातृप्रभृतिप्रेषितवस्तूनां भोगेन वन्यवस्तूनां भोगेन च मदान्धालिसाधर्म्यात् तेषां च मधुगन्धग्राहित्वादिति, किञ्चात्रार्थपदेन श्रीरपि ज्ञातव्योक्तश्रुत्युपन्यासात्, स एवेति श्रीयुक्त एव, कोत्र परिकर इत्याकाङ्क्षायां तं स्फुटीकुर्वन्ति परिकर इत्यादि, स्तोत्रं वार्थभोग एवेत्यर्थस्य प्रसादस्य प्रातावेव, अन्यथा गानस्तोत्रयोः स्फूर्तिरेव न स्यात्, मदान्ध्ये तूष्णींस्थितिरेव स्यान्न तु गानमित्याशङ्क्य मदस्वरूपमाहुर्मदोत्रेत्यादि, स्वसाम्यकरणमिति स्रगादिदानेन मुख्यभक्ततुल्यभावसम्पादनं, अनुव्रतपदेन भक्ता ग्राह्या अनुव्रतपदव्याख्यानरूपत्वात्, स्वतुल्यभोगसम्पादनं वा, सङ्कर्षणाय तु स्रगादिकमनुच्छिष्टमेव ददातीति ज्ञातव्यं, एवमर्थोद्भावनमुपपाद्यैतच्छ्लोकोक्तपदानां सर्वत्रावश्यकत्वं बोधयन्त्येवमित्यादि, सर्वत्रेत्यग्रिमश्लोकेषु ॥ १० ॥ क्वचिच्च कलहंसेत्यत्र भगवान् स्वकामलीलामलौकिकीं ज्ञापयितुं तद्धेतुभूतं रसमलौकिकमेव प्रकटयति तादृशं च मयूर इति तमभिनृत्यतीति शुकाशयं प्रकटीकर्तुमाहुस्तत्र मयूरस्येत्यादि द्वारा चेत्यन्तं, तथा चात्र 'गात्रविक्षेप' एव बन्धस्थानीय इत्यर्थः केवले रसे तथैव सिद्धत्वादिति, ननु तथापि बन्धाभावान्न्यूनतेवेत्यत आहुरन्य इत्यादि बन्धवन्तः प्राकृत इति सप्तमी उपयोगिन इत्यर्थात्, अप्राकृतत्वे गमकमाहुरत एवेत्यादि, तथा चात्र नृत्यमात्रेणैव सा लीलेत्यर्थः, तेनात्र 'हरेर्दिदृक्षैव काम' इति स्फुटीभविष्यति, यथा लौकिके रसे मयूरस्तथालौकिके कूजिते कलहंस इत्याशयेनाहुः शब्दो हीत्यादि, कलानां हंस इत्यव्यक्तमधुरशब्दानां विवेचको भवतीति ज्ञापितं भवति एवं रसं निश्चित्य क्वचिच्चेतिमूलस्थपदद्वयस्वार्थमाहुर्भगवांस्त्वित्यादि ॥ ११ ॥ मेघगम्भीरेत्यत्र मोक्षलीलां व्युत्पादयन्ति भगवत्सायुज्यमित्यादि, मोक्षस्य मार्गद्वयभेदभिन्नत्वादुभयपरत्वेन व्याख्येति ज्ञेयं, तत्र सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावः सायुज्यं, तथा च भगवता सह प्राथमिकसंयोग इति,

फलति मुक्तिश्च दुःखाभावरूपा मार्गान्तरे तु सायुज्यं स्वरूपप्रवेशात्मकं मुक्तिश्च स्वरूपेण व्यवस्थानं सोभयविधापि भगवद्ध्यानेन भवति 'मोक्षमिच्छेज् जनार्दना'दिति वाक्यात्, ननु तयोर्भगवद्दानैकप्राप्यत्वे शास्त्रोक्तसाधनानां का गतिरित्याकाङ्क्षायां तेषां गतिमुपपादयन्ति **सर्वेत्यादि** सर्वेषु शास्त्रेषु मोक्षप्रतिपादकेषु **श्रुतिपुराणयोगसाङ्ख्यादिषु** निरूपितानां साधनानां ज्ञानोपासना चित्तनिरोधसन्न्यासादीनां स्वनुष्ठितत्वे सति साधनस्योत्कृष्टतासम्पादको यो मनोधर्मस्तदेकतानतारूपस्तेन स्वस्य भगवत्सम्बन्ध जनकानां ततो भगवद्बुद्धौ प्रतिफलितानां ततो भगवानपि तानि करोति यथा शरतल्पे गते भीष्मे भगवन्तं ध्यायति भगवानपि तं ध्यातवानिति राजधर्मे उक्तं "शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनो मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मन" इत्यादिभिः कतिपयैः श्लोकैर्यथा च ध्रुवे भगवति सङ्गतात्मनि सति, भगवांस्तत्र गत्वा तस्मा आत्मनि प्रदर्शितवानिति चतुर्थस्कन्ध उक्तं तस्मात् भगवत्कृतानामेव मोक्षसाधकत्वमिति सिद्धान्तः, तथा चैवं शास्त्रोक्तसाधनानां गतिरित्यर्थः, ननु निदर्शनस्य क्वाचित्कत्वेन सर्वांशे वंशात्रार्थाङ्गीकारे किं मानमत आहुर्यदन्वित्यादि, इदं हि चतुर्थस्कन्धे प्रचेतोभिर्भगवन्त प्रत्युक्तं, एतस्य पूर्वं "मितावदंव प्रभुर्भाव्यं दीनेषु वत्सलै" रित्यर्धमोस्ति, एतस्याग्रे "क्षुल्लकानामपीहता" र्मति चतुर्थः पादोस्ति, तथा चात्रैवं विशेषतो निरूपणादिना मानमतो महतां क्षुल्लकानां च भगवता तदनुस्मरणे कृता एव कार्यसिद्धिरिति निर्विवादमित्यर्थः, एवं साधनगतिमुपपाद्य निरूप्य माहुरत इत्यादि, एवं प्रकृतोपयोगशास्त्रार्थं निरूप्य **मेघगम्भीरयेत्यादि** व्याकुर्वन्ति **तदपि ग्रहणमित्यादि**, ग्रहणमिति नामग्रहणं दूरगतावेवाह्वाने हेतुर्यथेत्यादि, त इति भक्ताः, न गृह्णन्तीति युष्मदस्मद्भ्यामेव व्यवहारसम्भवान्न गृह्णन्ति, तथापि केचिद् दृष्टान्तः साधर्म्येपि वा, चोपानीतभोजनसामग्र्यादिसहिता दूरत एव भगवन्तमाह्वयन्ति न तु निकट आगत्य तथा भगवानपि दूरत एवाह्वयतीत्यर्थः, पशुपदसूचितमर्थमाहुः **पशव इत्यादि**, तथा चानन्यचित्ता भीरवो रमानभिज्ञाश्च सङ्गृहीताः, प्रीत्येति पदस्याभि माहुरन्यथेत्यादि, **विषयो** लज्जादिर्भयं वा, अवशिष्टविशेषणकृत्यमाहुः **सापीत्यादि**, **अलौकिकीति** गुता, गोपाला गुरवस्तैः शिक्षका इत्यर्थः, **पूर्वं ततः फलानुभावादिति** वाणीतः **फलानुभावात्** पूर्वमित्यन्वयः, पुष्टिमुक्तिप्रकारं विवृत्य मर्यादामार्गीयां दिशन्तो**मामिति**, अस्मिन् पक्षे स्वतो बुद्धिराहित्यज्ञानस्य स्वदत्तत्वाभिप्रायेणालौकिकत्वं च मुक्तिदानेच्छया प्रकटितत्व, अन्यद् यथायथ योज्यं, केवलेत्याद्युभयत्र योज्यं, **बहुवचनमिति** चेत्येवं योज्यं, **अवान्तरसाधनं** योगमाया, नन्वेतावत्करणे को हेतुस्तत्राहुः **प्रथममित्यादि** पश्यतोन्वेषयतश्चातोपि दूरगास्तत्स्थानाज्ञातारः, **मुच्यन्त इत्यन्तर्भावितण्यर्थः** ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवं वृन्दावन इत्यत्र **स्वत एव समागतेति** आज्ञामनपेक्ष्येच्छामेव ज्ञात्वा सर्वास्वाविष्टेत्यर्थः, **अत इति** श्रीमत्पदसूचित लक्ष्म्यावेशाद्धेतोरालम्बनवाचकैस्ताभिरित्यादिपदैरनुक्तमपि ताभिः सह रमणं सिद्धमेवेतिहेतोस्त्रयोपि निरूप्यन्ते इत्यर्थः, **अनुभावा इति** गवां स्मरणे तासामागमनसम्भावनया रसे शङ्का भवतीतिशङ्कारूपव्यभिचारिभावहेतुत्वाद् धर्मस्य व्यभिचारित्वं तथा चैते त्रयो मनोदेशधर्मा इति ज्ञेयं, आलम्बनाकथने हेतुमाहुः **लक्ष्मीरेवेति**, **अनाविष्टाः** नालम्बनमित्येवकारः, सा तु श्रीमत्पदेन सूचितैवेति भावः, **तस्यापीति** नायकेपि कृष्णपदेन सत्त्वं दोषाभाव आनन्दो गुण उक्त इत्यपि शब्दः, कृष्णपदसमभिव्याहारान् मनस्यपि सत्त्वं सूचितमित्याशयेनाहुः **निर्दुष्टमिति**, **उभयोरिति** चारणरमणयोरित्यर्थः, **रमणमिति** करोतीति शेषः ॥ ९ ॥ **क्वचिदित्यत्र निजभक्तैरिति** वेण्वादिकं सङ्गे नयन्ति तादृशैरित्यर्थः, **स एवेति** अयंभोगवानेवेत्यर्थः, भक्तेष्वर्थोद्गमनमाहुः **तेषामप्यर्थभोग इति** ॥ १० ॥ **कामलीलामाहेति** भगवत्कूजितबन्धस्वरूपज्ञाने भगवत्कामो भवतीतिभावः, क्वचिच्चेत्यत्र **रसार्थमिति** कूजितोद्गतरसानुभवार्थमित्यर्थः, **सम्बद्धस्येति** सहितस्येत्यर्थः, **अन्ये सर्वे इति** जीवनिष्ठा आश्लेषादय (रसस्वभावा जायन्ते मुख्या भोगस्तु रसनिर्गमनमेवातोनुकरणं तस्यैव) इत्यर्थः, **अत एवेति** कामस्य विलक्षणत्वादेवेत्यर्थः, **शब्द इति** शब्दस्य मनःपूर्वकत्वात् तज्जनकं मनःसम्बन्ध्येव किञ्चिद् वाच्यमतो **मानसैकशरणस्यैव कूजितं, तादृशं** भगवत्कूजितजनकं भवतीत्यर्थः, "मानस"पदे श्लेषो ज्ञेयः, कूजितस्य भगवदीयत्वात् तज्जनककूजितवति रसारसयोर्भेदकत्वमुक्तं तथा च तदनुकरणे भगवता स्वकूजितस्य यत्र यथोचितं तत्र तथा श्रवणमश्रवणमन्यथाश्रवणं वा भवतीति रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितं स्वस्य मान **मानसमेवैकं** शरणं गृहं यस्य तत्त्वं, अन्तःकरणसम्बन्धित्वमित्यर्थः, उपलक्षणेन सर्वस्यैवेन्द्रियकार्यस्य रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितमिति भावः **अत एवेति** भगवत्कूजितजनककूजितवत्त्वादेवेत्यर्थः, **सर्वेति** जीवान्तरविलक्षणत्वमित्यर्थः, **कलानामिति** अव्यक्तमधुरध्वनीनां हंसः प्रकाशक इत्यर्थः, **हंसानां कूजितमितिबहुवचनैकवचनयोस्तात्पर्यमाहुः बहूनामिति**, बहुप्रतिपादितस्यैकस्य श्रवणे श्रोता निष्णातो भवतीति भगवति कूजितनिष्णातत्वं सूचितमित्यर्थः, **भगवांस्त्वति** हंसस्त्वेक एकविधं कूजितं करोति भगवांस्तु सर्वाणीति तुशब्दः, (**हासयन् क्वचिदित्यस्याभासमाहुरन्यथा मेघादीति** क्रीडायामेतत् द्वयमप्यस्तीति ज्ञापयितुमेव नृत्यन्तमभिनृत्यतीत्युक्तं आद्यनृत्यपक्षे तु रस एवास्तीति तत्र रसेनेत्युक्तं, **तदाहेति** रसपोषकोभयनिरूपणार्थमिदं नृत्यमिति शृङ्गारोद्बोधकनृत्ये हासविषयत्वकथनेन भावस्य पक्षिनिष्ठत्वकथनेन चाहेत्यर्थः ॥ ११ ॥ **मेघगम्भीरयेत्यत्र मुक्तिश्चेति** संसारान् मोचनमित्यर्थः, अथवा स्वस्य सहयोगस्तृणादिविषयान् मोचनं च सम्पादनीयमितिभावः, **तत्तद्धर्मेति** श्रवणकीर्तनादिधर्मद्वारा सम्बन्धजनकानां भगवत्सान्निध्यं नायित्यर्थः, **भगवत्कृतानामिति** "श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभय" मितिवाक्योक्तानां त्रयाणां भगवत्कृतानामेव साधकत्व

भक्ता एतत्साधनं भगवते विज्ञापयन्तीति श्रवणं, अयं मोचनीय इतिचिन्तनं स्मरणं, आतिवाहिकेभ्यस्तादृशाज्ञादानं च कीर्तनमित्यर्थः, यथा ते इति भक्ता इत्यर्थः, साक्षात्कारानन्तरं तु पादसेवनादिकमेव भवतीतिभावः, तथा चासाक्षात्कृतस्य नाम गृह्णन्तीति पर्यवसितं, दूरगानेवेति असाक्षात्कृतानित्यर्थः, पशव इति पूर्वोत्तरकाण्डसाधनाभावोनेन विवृतः पशुत्वेनायोग्यत्वाद् बुद्धिविरहाच्च, गोपाला गुरव इवेति गा भगवत्समीपमानयन्तीति भगवत्प्रापकत्वाद् गुरुत्वं, पूर्वं तत इति दर्शनात् पूर्वमेव ततो वाणीत एव रसानुभवस्तथा च साधनदशायामेव फलानुभव इत्यर्थः, इदमेवालौकिकत्वं, इमामेवेति अयं मां प्रापणीय इत्यतिवाहिकमाज्ञापयतीत्यर्थः, श्रवणस्मरणे तु तस्यापि पूर्वाङ्गे इत्येवकारः, अत्र तु साक्षादेव मोक्षदानार्थं प्रकट इति नातिवाहिकापेक्षेतिभावः तदवान्तरेति कीर्तनस्यावान्तरसाधनानि रूपध्यानादीनीत्यर्थः, अत्र तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकमपि साधनं नास्ति तथापि मुक्तिदाने हेतुमाहुः प्रथमत एवेति ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवंवृन्दावने इत्यस्य विवरणे दशधा रस इति शृङ्गारादिभवत्यन्तं रसैर्दशधा रस इति स्वरूपानन्दो लोके लीलासृष्टौ अनुभूयते इत्यर्थः, ब्रह्मानन्दापेक्षयेत्यादि ब्रह्मानन्दे हि एकरूपत्वेन सुखानुभवः भजनानन्दे दशधा रसानुभव इत्याधिक्यं, आलम्बनं तु लक्ष्म्येवेति लक्ष्म्येति तृतीया, लक्ष्म्या इव गोपिकाभिः सह क्रीडां कुर्वाणो भगवानेवालम्बनविभावरूप इत्यर्थः, यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बनविभाव इति रसशास्त्रराद्धान्तात्, अन्यत्र गमनशङ्काभावाच् चारयन्नेव रमणं सम्भवतीति इह "चारयन्नेवे" त्यन्तं भिन्ना फक्किका, तथा च "चारयन्नेव रेमे" इति मूले विद्यमानेन रेमे इतिपदेनान्वयो बोधितः, ततो रमणं सम्भवतीतिभिन्ना फक्किका, यत एवं रमणं सम्भवति ततो रेमे इत्यर्थः न ह्यत्र गोचारणक्रियाव्यापृतस्य भगवतः आनन्दतिरोभावः किन्तु गोचारणं कुर्वत एव रमणसम्भवात् परमानन्दानुभव इतिहार्दं, अत एतत्सूचनार्थं सानुगपदं मूले अनुगा गाश्चारयन्ति स्वयं तु रमत इति भावः ॥ ९ ॥ क्वचिद् गायतीत्यस्याभासे एवं धर्मोद्भावनेनेति 'रेमे सञ्चारयन्नद्रे'रित्यनेन गोचारणाख्यक्रीडानिरूपणेन धर्मोद्भावनमुक्त्वेत्यर्थः, निबन्धे "मोक्षः कामश्चेतिसाक्षात्पुरुषार्थद्वयं मतं तत्साधकत्वं धर्मस्ये"ति व्यवस्थापितं, प्रकृतेपि व्रजसीमन्तिनीभिः सह तृतीयपुरुषार्थरूपरमणस्य साधकं गोचारणमिति धर्मत्वं ज्ञेयं, साक्षात्पुरुषार्थत्वं शृङ्गाररमणस्य, तत्साधकत्वं गोचारणस्य, एवं व्रजसुन्दरीविचारेपि धर्मत्वं तासामपि शृङ्गाररमणरूपपुरुषार्थं गोचारणलीलैव साधयति ॥ १० ॥ क्वचिच्चेत्याभासे एवमर्थलीलामुक्त्वेति "क्वचिद् गायति गाय"त्स्विति पूर्वश्लोकेनेत्यर्थः, भगवत्कर्तृको गानादिसम्पत्तिभोगो भगवतोर्थलीला, तादृगर्थलीलामनुभवन् भगवानेवार्थरूपपुरुषार्थस्वरूपो भक्तानाम् ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं वृन्दावनवृक्षादीन् स्तुत्वा, 'तत्र क्रीडां कृतवान्' इत्याह—एवमिति । एवं श्रीमत् शोभायुक्तं वृन्दावनं स्तुत्वा प्रीतमनाः कृष्णः अद्रेः सानुषु प्रान्तेषु सरितो रोधःसु तटेषु च पशून् गाश्चारयन् रेमे इत्यन्वयः ॥ ९ ॥ तामेव क्रीडां वर्णयति—क्वचिदिति दशभिः ॥ अनुव्रतः अनुगैर्देवादिभिर्गोपैर्वा उपगीयमानं चरितं यस्य स सङ्कर्षणेनान्वितः स्रग्वी श्रीकृष्णः मधुपानमदेनान्धा येऽल्यो भृङ्गास्तेषु क्वचिद्गायत्सु सत्सु स्वयमपि गायति ॥ १० ॥ क्वचित् कलहंसानां कूजितमनुकृत्य स्वयं कूजति । तथा नृत्यन्तं बर्हिणमभि सम्मुखं नृत्यति । 'एवमनुकरणं किमर्थम् ?' इत्यत आह—हासयन्निति । 'सखीन्' इति शेषः ॥ ११ ॥ गवां गोपानां च मनोहरया मेघस्येव गम्भीरया वाचा सङ्केतनामभिः दूरगान् पशून् प्रीत्या क्वचिदाह्वयति ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति ॥ एवं श्रीमत् शोभायुक्तं वृन्दावनं स्तुत्वा तत् प्रति वा प्रीतमनाः कृष्णः अद्रेः सानुषु रम्यसमस्थानेषु सरितो रोधःसु तटेषु च पशून् गाश्चारयन् रेमे । सानुग इति पाठे अद्रेः समीपवर्तिषु सरिद्रोधःसु सानुगः गोपैः सहित कृष्णो रेमे ॥ ९ ॥ क्वचिदिति ॥ अनुव्रतैः अनुगैर्देवादिभिर्गोपैर्वा उपगीयमानं चरितं यस्य सः संकर्षणेनान्वितः स्रग्वी श्रीकृष्णः मधुपानमदेनान्धा येऽल्यो भृङ्गास्तेषु क्वचिद् गायत्सु सत्सु स्वयमपि गायति ॥ १० ॥ क्वचिच्चेति ॥ क्वचित् हासयन् सखीनिति शेषः । कलहंसानां कूजितमनुकृत्य स्वयं कूजति तथा नृत्यन्तं बर्हिणमभिसंमुखं नृत्यति । बर्हिणमेव वा हासयन् उल्लासयन् ॥ ११ ॥ मेघेति ॥ गवां गोपालानां च मनोज्ञया मनोहरया मेघस्येव गम्भीरया वाचा सङ्केतनामभिः दूरगान् पशून् प्रीत्या क्वचिदाह्वयति ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सानुगः अनुगैः पश्चाद्गच्छद्भिर्गोपैः सहितः कृष्णः वृंदावनं प्रविश्य प्रीतमनाः सन् अद्रेः गोवर्धनस्य सरिद्रोधस्सु तत्समीपस्थनदीपुलिनेषु पशून् चारयन् रेमे ॥ ९ ॥ हरेः रमणमाह क्वचिदित्यादिदशभिः मदेन पुष्पादिमकरंदघ्राणजनितेन अंधाः मत्ता अलयः षट्पदाः तेषु अनुव्रतैः गोपैः स्रग्वी पुष्पहारयुक्तः ॥ १० ॥ जल्पंतं शब्दं कुर्वंतं शुकमनुपश्चात् कलैर्मधुरैर्वाक्यैः सः हरिः वल्गु अनुकूजति ॥ ११ ॥ गोपान्हासयन् बर्हिणं मयूरं नृत्यन्तमभिलक्ष्य तदभिमुखो नृत्यतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति ॥ एवं, अग्रजं वदन्निति शेषः। श्रीमच्छोभावहं, वृन्दावनं, पश्यन्निति शेषः। प्रीतं प्रसन्नं मनो यस्य सः सानुगोऽनुगैः सहितः कृष्णः, पशून् संचारयन् सन्, अद्रेर्गोवर्द्धनस्य संबन्धिषु, सरिद्रोधस्सु, गोवर्द्धनपादनिःसृतासु नदीषु, तच्छिवके चेत्यर्थः ॥ रेमे चिक्रीड ॥ ९ ॥ तदेव प्रपञ्चयति क्वचिदित्यादिना श्रीदामेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ क्वचिदिति ॥ मदेन मकरन्दात्मकमधुपानमदेनान्धाश्च तेऽलयो भ्रमराश्च तेषु, गायत्सु सत्सु, क्वचित् अनुव्रतैरनुगैः, उपगीयमानं चरितं यस्य सः, स्रग्वी विविधनानाविधपुष्पहारः, संकर्षणान्वितो बलभद्रेण सहितः कृष्णः, गायति ॥ १० ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचिच्च कुत्रचित्तु, कलहंसान् राजहंसानां, कूजितं अन्वनुकृत्य, तत्कूजनानुकरणं कृत्वेत्यर्थः। कूजति। क्वचित्, हासयन् स्वसखीन् हासं कारयन् सन्, नृत्यद् बर्हिणं मयूरं, अनुकृत्येति शेषः। अभिनृत्यति तत्सन्मुख स्थित्वा नृत्यं करोति ॥ ११ ॥ मेघेति ॥ क्वचित् मेघगम्भीरया जलदस्येव गम्भीरया, अत एव गावश्च गोपालाश्च तेषां मनोज्ञा तया, वाचा, दूरगान् पशून्, नामभिः संकेतितसंज्ञाभिः, प्रीत्या आह्वयति ॥१२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

क्वचिद् गायतीति : १०.१५.१०.

अलिहंसकेकिशुकपिकचकोरचक्रस्वनानुकरणमिषात्। विश्वक्रीडा क्रीडा मम न तदन्येत्यबोधि हरिणेह ॥ ३० ॥
मच्चेष्टया विश्वमिदं विचेष्टते तथा यथाऽहं प्रकृते करोमि। इत्थं जनान् ज्ञापयितुं त्वयाश्रितो मन्ये विभो पक्षिरवानुकारः ॥ ३१ ॥

कृष्णप्रिया

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! इस प्रकार परम सुन्दर वृन्दावन को देखकर भगवान् श्रीकृष्ण बहुत ही आनन्दित हुए। वे अपने सखा ग्वालबालों के साथ गोवर्धन की तराई में यमुनातट पर गौओं को चराते हुए अनेकों प्रकार की लीलाएं करने लगे ॥ ९ ॥ एक ओर ग्वालबाल भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों की मधुर तान छेड़े रहते हैं तो दूसरी ओर बलरामजी के साथ वनमाला पहने हुए श्रीकृष्ण मतवाले भौंरो की सुरीली गुनगुनाहट में अपना स्वर मिलाकर मधुर संगीत अलापने लगते हैं ॥ १० ॥ कभी-कभी श्रीकृष्ण कूजते हुए राजहंसो के साथ स्वयं भी कूजने लगते हैं और कभी नाचते हुए मयूरों के साथ स्वयं भी ठुमुक-ठुमुक नाचने लगते हैं और ऐसा नाचते हैं कि मयूर को उपहासास्पद बना देते हैं ॥ ११ ॥ कभी मेघ के समान गम्भीर वाणी से डर गये हुए पशुओं को उनका नाम लेकर बड़े प्रेम से पुकारते हैं उनके कण्ठ की मधुर ध्वनि सुनकर गायों और ग्वालबालों का चित्त भी अपने वश में नहीं रहता ॥ १२ ॥

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च[1] बर्हिणः। अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः ॥ १३ ॥
[2]क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम्। स्वयं [3]विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥ १४ ॥
नृत्यतो [4]गायतः क्वापि [5]युध्यतो वल्गतो मिथः। गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥
क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः। वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजान् बर्हिणः च सत्त्वानां (मध्ये) व्याघ्रसिंहयोः भीतवद् अनुरौति स्म ॥ १३ ॥ क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणं आर्यं पादसंवाहनादिभिः स्वयं विश्रमयति ॥ १४ ॥ क्वापि मिथः नृत्यतः गायतः वल्गतः युध्यतः गोपालान् गृहीतहस्तौ हसन्तौ (रामकृष्णौ) प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥ क्वचित् नियुद्धश्रमकर्शितः गोपोत्सङ्गोपबर्हणः वृक्षमूलाश्रयः पल्लवतल्पेषु शेते ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चकोरादीननुकृत्य रौति। कदाचिच्च सत्त्वानां मध्ये व्याघ्रसिंहगोचरां भीतवद्भवति। सत्त्वेषु पलायमानेषु पलायत इत्यर्थः। तयोः सत्त्वानां बलोद्रेकाणां भीतवद्भवतीति वा ॥ १३ ॥ आर्यमग्रजं विश्रमयति विगतश्रमं करोति ॥ १४ ॥ मिथो नृत्यादीन्कुर्वतो गोपान्प्रशशंसतुः ॥ १५-१६ ॥

---

१. भारद्वाजालिबर्हिणः–विज.।
२. अनुजल्पति जल्पन्तं कलवाक्यैः शुकं क्वचित्। क्वचित् सवल्गु कूजन्तमनुकूजति कोकिलम् ॥ क्वचिदयमधिकः दृश्यते।
३. विश्राम–विज.। ४. गायतो वापि–विज.। ५. वल्गतो युध्यतो–श्रीधर. वंशी. वीर. विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

चकोरो जीवंजीवश्चंद्रप्रियः पक्षीः क्रौञ्चो जलचरः पक्षी, चक्राह्वः कोकः, भारद्वाज उद्धर्वाधश्चंचुश्चित्रितांगः पक्षी। सत्त्वानां जीवानां 'सत्त्वं जीवे बले गुणे' इति कोशात्। व्याघ्रसिंहयोरिति पञ्चम्यर्थे षष्ठी। इत्यर्थ इति। सत्त्वेषु मृगादिषु धावत्सु स्वयमपि तथैव धावति न तु भीत इति भावः। अन्येऽपि सर्पादयो भयहेतवो बहवः संति द्वयोरेवोपादानं कथमित्यस्वरसादर्थांतर-माह-तयोर्व्याघ्रसिंहयोः। सत्त्वानां सकाशाद्भीतवदिति। यद्यप्यन्ये भयहेतवः संति, न तेष्वेतयोस्तुल्यं बलमिति भावः। सत्त्वानां प्राणिनां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः शब्देन भीतवद्भवति सखिषु पलायमानेषु स्वयमपि पलायते। वस्तुतस्तु स्वस्य स्वाभाविकशौर्येण भयाभावो वतिनोक्त इति विश्वनाथः॥ १३॥ गोपस्योत्संग उपविष्टस्योरुजं घायोग उपवर्हणमुपधानं शिरःपीठं यस्य तम्॥ १४॥ नृत्यत इत्यादीनां चतुर्णां द्वितीयांतानां गोपालानित्यनेन संबंधः। वल्गतः प्लवतः 'वल्ग-प्लवने' धातुः। स्खलनादिविषये हसंतौ। प्रशशंसतुः तुष्टुवतुः॥ १५॥ नियुद्धं बाहुग्रहणादिना द्वंद्वयुद्धम्॥ १६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

क्वचिदित्यनुवर्त्तत एव चकोरश्चन्द्रिकापायी क्रौञ्चश्चिञ्चाटकन्दभक्षी चक्राह्वश्चक्रवाकः भरद्वाज एव भारद्वाजः स्वार्थेऽण् व्याघ्राटाख्यः पक्षी चकोरादीनां कञ्चित् क्वचिदनुकृत्य रौति सर्वानेव युगपदनुकृत्य रौति सर्वशक्तिमत्त्वात् इत्यैश्वर्यं तत्रापि पूर्ववद्बोध्यं भीतवदिति क्रीडाकौतुकेन वतिप्रत्ययस्तयोर्हिंस्रत्वाभावेनापि वस्तुतस्ताभ्यां भयाभावात् स्मेति प्रसिद्धमेवेदं नात्र संशयः कार्य इत्यर्थः। अत्र तेषामुत्तरपक्षे व्याघ्रादिवलातिशयानां सम्बन्धे भीतायत इत्यर्थः। यद्वा, सत्त्वानां मध्ये यो व्याघ्रसिंहयोः सम्बन्धे भीतः तद्वच्चानुरौति तेषामीषद्भयदर्शनकौतुकार्थमिति भावः॥ १३॥ आदिशब्दाद्वीजनादीनि॥ १४॥ नृत्यत इति क्वापि प्रशसंसतुः वल्गतः उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गतिविशेषं कुर्वंतः मिथो अन्योन्यमासक्त्येत्यर्थः। अन्यत्तैः। यद्वा, तौ क्वापि नृत्यतः क्वापि गायत इत्येवं क्वापीति सर्वैरपि योज्यं किञ्च क्वापि मिथो गृहीतहस्तौ क्वापि हसन्तौ भवतः। यद्वा, पदद्वयमिदं विशेषणत्वेन सर्वत्रैव योज्यं क्वापि गोपालान् हसन्तौ अहो इमे गानेन गन्धर्वगणतिरस्कारिणो नृत्येन विद्याधरगणविडम्बका युद्धेन त्रिलोकीजित्वरा इत्यादिपरिहासं कुर्वन्तौ प्रशशंसतुरेव तत्त्वतो माहात्म्यविशेषख्यापनात्॥ १५॥ उपसंहरिष्यन् विश्रामक्रीडां वदन् गोपानां सौभाग्यभरं वर्णयति, क्वचिदिति त्रिभिः। पल्लवेत्युपलक्षणं कोमलनवदलकोरकपुष्पाणां तल्पेषु बहुत्वं पृथक् पृथक् पञ्चषैर्मिलित्वा निर्मितत्वेन बाहुल्यात् ततश्च बहुतरेष्वपि तेषु तेषां प्रीत्यै तत्तदलक्षितस्तत्तत्प्रेमोद्बोधितेन निजशक्तिविशेषेण बहुरूपतयैव शेत इति विज्ञापयति—एवम् ईशचेष्टित इति वक्ष्यमाणमैश्वर्यमत्रापि सङ्गतं स्यात्। नियुद्धं तैरेव सह बाहुयुद्धं तेन श्रमः श्रीगण्डादिविषयकमौक्तिकसुन्दरप्रस्वेदकणिकोदयादिकरः तेन कर्शितो दुर्बल इव अनेन सखीनामपि तादृशं बलवत्त्व सूचितम्, तथा चागमे "गोपैः समानगुणशीलवयोविलासवेषैः" इति तदेवमपि तेषां स्वयमसुरमारणादौ यदप्रवृत्तिस्तत्रेदं पश्यामः सर्वस्य व्रजस्य तेनापि गुणेन श्रीकृष्णैकसुखतात्पर्यलीलाशक्तिरेव तेषामुद्यमं स्तम्भयतीति गोपेति ते किञ्चिदज्येष्ठा ज्ञेयाः तत्रोपवर्हणरचनं च तत्सुखलाभायैव तेन तत्कृतं किं वा रचितस्यापि तेनैव तदर्थं त्यागो ज्ञेयः॥ १६॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पशून् गो-वृष-वत्सतर्य्यादीन्; यद्वा, आत्मनो गवादीन् सर्व्वानेव चतुष्पदो दूरगान् सतः पशूनिति श्लेषेण श्रीकृष्णवश्यत्वं तो दूरं गतत्वान्निर्वुद्धित्वमुक्तम्। नामभिर्गंगा-यमुना-हंसी-धवलीत्यादि-तत्तत्संज्ञाभिः प्रीत्याह्वयति। अतएव गवां तेषु प्रीतिविशेषेण किंवोपलक्षणमेतत्। सर्वेषामेव पशूनाञ्च मनोज्ञया चित्ताकर्षिण्या वाचा वचनेनैव, न तु वश्या। कथम्भूतया? मेघस्य गर्ज्जितवद्-गम्भीरया, सा च महापुरुषस्वभावत एव, किंवा, दूरगाह्वानेऽत्र तद्विशेषापेक्षया॥ १३॥ क्वचिदित्यनुवर्त्तत एव। चकोरश्चन्द्रिकापायी, क्रौञ्चश्चिञ्चोटभक्षी, चक्राह्वश्चक्रवाको भरद्वाज एव भारद्वाजः—स्वार्थेऽण्, व्याघ्राटाख्यः पक्षी चकोरादीनां कञ्चित् क्वचिदनुकृत्य रौति, सर्वशक्तिमत्त्वादित्यैश्वर्यं तत्रापि पूर्ववद्बोद्धव्यम्। भीतवदिति क्रीडा-कौतुकेन वति-प्रत्ययस्तयोर्हिंस्रत्वाभावेनापि वस्तुतस्ताभ्यां भयाभावात्। यद्वा, यथान्यः कश्चिद्वालको भीतो भवेत्, तथैव भीतः स्यादित्यर्थः, बाल्यलीला-स्वभावात्। स्मेति प्रसिद्धमेवेदम्, नात्र संशयः कार्य्य इत्यर्थः॥ १४॥ आदि-शब्दाद् वीजनादीनि॥ १५॥ कृष्णलीला-प्रसंग एव द्वयोरपि युगपदेवाह—नृत्यत इति। क्वापि प्रशशंसतुर्वल्गतो गतिविशेषं कुर्वंतो मिथोऽन्योऽन्यमासकल्येत्यर्थः, यद्वा, अस्य युध्यत इत्यनेनैव परेण वान्वयः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, तौ क्वापि नृत्यतः, क्वापि गायत इत्येवं क्वापीति सर्वैरपि योज्यम्। किञ्च, क्वापि मिथो गृहीतहस्तौ क्वापि हसन्तौ भवतः, यद्वा, पदद्वयमिदं विशेषणत्वेन सर्वत्रैव योज्यम्। क्वापि गोपालान् प्रशशंसतुः,—'परमविदग्धाः' 'शूराः' 'सुस्निग्धाः' इत्यादिश्लाघां चक्रतुः, किंवा, नृत्यादिना प्रहर्षोदयेन हसन्तौ प्रशशंसतुः, किंवा, गोपालान् हसन्तौ—'अहो इमे गानेन गन्धर्वगण-तिरस्कारिणः, नृत्येन विद्याधरविड़म्बकाः, युद्धेन त्रिलोकीजित्वराः, इत्यादिपरिहासं कुर्वन्तौ प्रशशंसतुरेव, तत्त्वतो माहात्म्यविशेषख्यापनात्॥ १६॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

उपबर्हणम् उपधानम् । आर्यम् बलभद्रम् सम्वाहनं लालनम् ॥ १४-१८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

क्वचिच्चकोरादीननुसृत्य रौति रुराव सत्त्वानां मृगाणां मध्ये व्याघ्रसिंहयोस्ताभ्यां भीतवद्भवति ॥ १३ ॥ क्वचिद् गोपानामुत्सङ्गोऽङ्क एवोपबर्हणमुपधानं यस्य तं क्रीडापरिश्रान्तमार्यमग्रजं स्वयं पादपीडनादिभिर्विश्रमायति ॥ १४ ॥ वल्गत उल्लवतः नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् गृहीतौ हस्तौ याभ्यां तथाभूतौ प्रशशंसतुः ॥१५॥ क्वचिन्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन यः श्रमस्तेन कर्शितः म्लानः वृक्षमूलाश्रयः पल्लवतल्पेषु गोपानां उत्सङ्गमुपधानं यस्य तथाभूतः शेते शिश्ये ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्याघ्रशार्दूलसिंहयोः सकाशात् भीतवत् स्वयमपि भीतो भवति ॥ १३ ॥ गोपस्य उत्सङ्गोऽङ्क एव उपबर्हणं शिरःपीठं यस्य स तथा तम् आर्यं ज्येष्ठं पादसम्वाहनादिभिः विश्रामयति, क्रीडाप्राप्तं क्लेशं नाशयति ॥ १४ ॥ रामकृष्णौ नर्तनादिकुर्वाणान् गोपालान् नृत्यादिविशेषविषयेषु प्रशशंसतुः स्खलनादिविषये हसन्तौ वल्गतः उत्प्लवतः ॥ १५ ॥ नियुद्धं बाहुवल्लीग्रहणादिद्वन्द्वयुद्धम् ॥ १६-१७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तल्पेष्विति बहुत्वं तत्र तत्रानेकेन प्रकारेणेति द्योतकं महात्मनः महात्मानः परमभाग्यवन्तः "सुपां सुपो भवन्ति" इत्युपसङ्ख्यानेन ॥ १५-१६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किन्तु सत्त्वानां प्राणिनां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः शब्देन भीतवद् भवति सखिषु पलायमानेषु स्वयमपि पलायते वस्तुतस्तु स्वस्य स्वाभाविकशौर्येण भयाभावो वतिप्रत्ययेनोक्तः ॥ १३ ॥ उपबर्हणं शीर्षोपधानम् ॥ १४ ॥ हसन्तौ कृष्णरामौ नृत्यादीन् कुर्वतो गोपालान् प्रशशंसतुः ॥ १५-१८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

क्वचिच्चकोरादीन् अनुरौति तदनुकरणशब्दान् करोति क्वचिच्च सत्त्वानां मृगादीनां मध्ये व्याघ्रसिंहयोस्ताभ्यां भीतवद्भवति ॥ १३ ॥ विश्रमयति विगतश्रमं करोति ॥ १४-१६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चकोरादीननुकरोति कतिचिच्च सत्वानां प्राणिना मध्ये व्याघ्रसिंहयोः शब्देन भीतवद्भवति सत्वेषु विद्रवत्सु स्वयमपि विद्रवति, वतिना भयाभावो दर्शितः स्वयमतिशूरत्वात् तच्च शूराणामपि सखीनां विद्रवणेन हासोयमिति बोध्यम् ॥ १४ ॥ उपबर्हं शीर्षोपधानं विश्रमयताश्रमं करोति ॥ १५ ॥ हसन्तौ रामकेशवौ मिथो नृत्यादीन् कुर्वतो गोपान् प्रशशंसतुः ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गोपस्य यस्य कस्यचिदुत्सङ्ग आरोह उपबर्हणं शिरः पीठमार्यपादसंवाहनादिभिः स्वयं साक्षाद्विश्रामयति । वा विश्रमे विराग इत्यनुवृत्तो वाशब्दो व्यवस्थितविकल्पार्थः । विश्रमं करोति रजो विश्रामयत्राज्ञां धुर्यान्विश्रामयेति स इत्यादिवद् ॥ १३ ॥ वल्गत उत्प्लवनादिकुर्वतो गृहीततद्धस्तौ रामकृष्णौ हसन्तौ प्रशशंसतुर्नर्तनादिकं बहुसमीचीनमिति तुष्टुवतुः ॥ १४ ॥ नियुद्धं द्वन्द्वयुद्धं तेन जातो यः श्रमस्तेन कर्षितः क्लिष्ट इव । पल्लवतल्पेषु कामलकिसलयकल्पितास्तरणेषु ॥ १५ ॥ हतः पाप्मा येषां ते तथा । इदं संवहद्वीजयद्विशेषणम् ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं पुरुषार्थचतुष्टयलीलामुपपाद्य दशरसप्रकारेण भगवतो लीलां वदन् प्रथमं षड्रसलीलामाह चकोरेति, चकोरा हि चन्द्रकिरणभोक्तारो लौकिकभोगाः, न ह्यन्येन चन्द्रकिरणा भूमौ स्थिता भोक्तुं शक्यन्ते त एव परं भोक्तारः सूर्यकिरणा इव, अन्यथा ततः शैत्यादिकं न स्यात्, तथैव सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुंज्यन्ते तद्दास्यं चानुभवन्ति, तथैव लोकप्रतीतिः, तद्वदयं भगवान् न रसानुभवं करोतीति ज्ञापयितुं शृङ्गाररसे चकोरवद् भगवतो वाग्व्यापारो निरूप्यत, क्रौञ्चो वीरे, चक्रवाकः करुणायां, स हि वियुक्तः आवर्तनेन मारणमभिप्रेतमिति तेनाह्व आह्वानं यस्येति तस्यावश्यं करुणा युक्तैव, भारद्वाजोद्भुते, क्रमस्य नियामकत्वाद्, भारद्वाज इत्याख्या यस्य, स हि द्विजन्मा, तन्नामसम्बन्धख्यापनमद्भुतरसेनुगुणं भवति बर्हो हास्ये, तस्य तथात्वं पूर्वमेव निरूपितं, एते पञ्चविधा नात्यन्तं विरुद्धा इत्येकीकृत्य निरूपिताः, भयानकरसस्तु सर्वोपमर्दक इति पृथङ् निरूपयति, सत्त्वानां मध्ये व्याघ्रसिंह

योर्भीतवच्चानुरौतीति, एवं रसाविर्भावे प्रमाणं प्रसिद्धमिति स्मेत्याह, भयं द्विविधं स्वरूपनाशादभिमानादिधर्मनाशाद् वा, तत्र स्वरूपे व्याघ्रोऽभिमानादिधर्मे सिंहः, बहुप्रकारं च भयं प्रतीकारासमर्थानां सम्भावनायामप्यन्यथा, अन्येषां चान्यथेति तत्र सत्त्वानि शशादीनि प्रतीकारसम्भावनारहितानि, भये परमा काष्ठा सत्त्वसम्बन्धिन्यवस्था, रसाभिनये चेष्टापेक्षया वचनमतिसुन्दरमिति तदेव निरूपितम् ॥ १३ ॥ बीभत्सरसलीलामाह **क्वचित क्रीडापरिश्रान्तमिति** आर्यं स्वयं **क्वचिद् विश्रमयति** विगतश्रमयुक्तं करोति **पादसंवाहनादिभिः**, पादे हि चलतः श्रमो भवति, अङ्गमर्दनं च तदुक्तकरणं च शय्यास्तरणादिकं चादिशब्देनोच्यते, हीनाद्धीनभाव उत्तमस्य बीभत्सो भवति **भक्तिमतामेव स बीभत्स** इतिप्रतीतेत्यन्तानुचितप्रतीतिस्तेषामेवेति यथा "स्पृष्टगतमपि क्रव्यमध्यग्रमत्ती"ति न पिशाचानां तादृशदर्शनेन बीभत्सरस उदेति किन्त्वस्मदादीनामेव तथेदमपि भक्तानां, एते हि सर्वे रसा भगवद्भजने तत्तदधिकारनिरूपकाः, सर्वे रसाविष्टा अपि भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति, पादसंवाहनादिकरणे हेतुः **क्रीडापरिश्रान्तमिति**क्रीडा मल्लक्रीडा, भगवतैव सह बलिष्ठेन सह कृतश्रमो बलाधिकयजनको भवति परं प्रथमं पीडां प्राप्नोति, तत्प्रतीकारं नान्यो जानाति भगवद्बलेनैवातिमात्रं व्यापृतत्वात्, तदाह **परितः श्रान्तमिति**, अतिविह्वलतासूचनार्थं गोपस्यैव कस्यचिदुत्सङ्ग **उपबर्हणं** यस्य, अत एव विकलत्वात् स्वामिकृतमुपचारमपि सहते, आर्यत्वादेव भगवतस्तथाकरणम् ॥ १४ ॥ रौद्ररसमाह **नृत्यत इति**, मल्लानामिव हि वीररसो रौद्रः, स चान्यत्रोत्पन्नोऽपि भगवतोपनिबध्यत इति भगवतो रसयुक्तलीला,

कायवाङ्मनोभिर्यद्युक्तमयुक्तं पीडकं च तत् । चतुर्विधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा ॥ १ ॥

साधारणत्वादत्रोभयोर्ग्रहणं, उभावुभौ मल्लयुद्धे, अन्यत्र बहवः, तत्र कायिकं नृत्यं गानं वाचिकं वल्गनं मानसं स्वप्रौढिख्यापकत्वात् मिथश्च युध्यन इति पीडारूपक्रिया कायिकीव, कांश्चिदसन्तो कांश्चित् प्रशशंसतुः, गृहीतहस्ताविति न पक्षपातेन कस्यचित् क्रियाभिनिवेशः केनचित् कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः, सापि लाली लोकप्रसिद्ध मुख्यत्वस्यापिका, हसन्ताविति, प्रथमं सन्तोष पश्चात् प्रशशंसतुरिति वा ॥ १५ ॥ शान्तरसलीलामाह **क्वचित् पल्लवतल्पेष्विति**, शयानो हि शान्त इव भवति **नियुद्धं** बाहुयुद्धं तत्र यः श्रमः स **कर्षितो** येन जितश्रम इत्यर्थः, शान्तरसः प्रत्येकपर्यवसायीति निरूपयन् भगवाननेकरूपः सर्वत्र **वृक्षमूलेषु** सर्वैरेव गोपालैरहमहमिकतयास्तृता बहव एव तल्पास्तेषां सर्वेषामेव युगपत्सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव तल्पेषु भगवान् शयानो जातः, तदाह बहुवचनं, ननु तथापि भगवान् किमिति तत्र शयनं कृतवानित्याह **वृक्षमूलाश्रय इति**, वृक्षस्य मूलमेवाश्रयत्वेन येषां ते **वृक्षमूलाः** परमहंसास्तानाश्रयतेतस्तत्रत्रातीन्द्रियत्वेन स्थितान् पमरर्षीन् कृतार्थीकर्तुं तथा करोतीत्यर्थः, लोकानामेव प्रतीतिस्तल्पे **शेत** इति, वस्तुतस्तानि योगिनामन्तःकरणान्यतस्तेषु शेते गोपानामुत्सङ्ग एवोपबर्हणं यस्येति तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमृषिष्वप्राधान्यस्यापनमिति ज्ञापयति, ते हि वैश्या अतः स्वधर्मख्यापकमुत्सङ्गपदं, **उपबर्हणं** शिरस उपधानम् ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

वृक्षमूलाश्रय इत्यत्र, वृक्षस्य मूलमेवेत्यारभ्यातस्तेषु शेत इत्यन्तम् । गोपोत्सङ्गोपबर्हणस्य तल्पेषु शयानस्य वृक्षमूलाश्रयत्वमनुपपन्नमित्येवं व्याख्या । न च तत्र तल्पस्थित्या तथात्वमुक्तमिति वाच्यम्, भगवद्विशेषणत्वानुपपत्तेः । एवं सति विवक्षितार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादेनैवोक्तिरियं श्रीशुकस्येत्याचार्यैरपि तथैवोच्यते । तथा हि इमानि वृक्षमूलानि स्वप्रियाभ्यः सङ्केतितानि, गोपाश्रान्तरङ्गाः प्रातसख्या इत्युभयानुगुणकार्यकर्तारोऽत उक्तमूलेष्वेव तद्रचनां कृतवन्तः तथा च सङ्केतानन्तरं नायिकागतःकरणानि तत्रैव सन्तीति तेषु तथात्वेनोक्तिः । गुप्ततया स्थितिरित्यतीन्द्रियत्वम्, सर्वपरित्यागेन मानसोत्कटभावप्राधान्येन च परमहंसत्वम् । रहःसन्देशवाक्यानामतिगोप्यानानुक्त्या चर्षित्वम्, अत एव परमत्वमुक्तम् । प्रिययोगवत्त्वेन योगित्वम् । शयन उपबर्हणस्य प्राथमिकत्वेन तथैव वक्तुमुचितत्वेऽपि यदन्ते कथनं तेन रतिभ्रान्त्या पश्चाद्यच्छपनं तदत्रोच्यत इति ज्ञायते, अन्यथोपबर्हणस्य तल्पान्तर्गतत्वेन तेनैव तत्प्राप्तेर्गोपोत्संगो नोच्येत । एवं सति तदुक्त्या तल्पान्तर्गततदभावः सूचितो भवति । स च विविधवन्येरेव भवतीति तदन्ते श्रमापनोदनार्थमन्तरङ्गगोपास्तथा कृतवन्तः, तदा तेषामेव प्राधान्यम्, न नायिकानाम् । इदमेवाभिसन्धाय तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमित्याद्युक्तमाचार्यैः **परोक्षवाद** इति । स्मरयुद्ध निरुद्धपदेनोक्तवान्, अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या शान्तरसो नोक्तः स्यात् ॥ १६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

चकोरेत्यत्रान्येन न भोक्तुं शक्यन्त इत्यत्र दृष्टान्तः **सूर्यकिरणा इवेति**, चन्द्रकिरणानां भोज्यत्वे युक्तिमाहुरन्यथेत्यादि, तथा च तत्स्पर्शस्य त्वचा बहिरनुभवेऽपि तद्द्वारा ते शरीरान्तर्न प्रविशेयुस्तदान्तः शैत्यादिकं नानुभूयेतातः कार्यबलात् तेषां भोज्यत्वं, श्रुतिश्च "तेजोशितं त्रेधा भवती"ति, चकोरेषु तु भूमिष्ठभोक्तृत्वं विशेषः, ननु पुरुषेषु भोग्यत्वं नोपपन्नं तेषां भोक्तृत्वेनैव प्रसिद्धेरित्याकाङ्क्षायां किरणदृष्टान्तेन तेषामपि तथात्वं व्युत्पादयन्ति तथैवेत्यादि, अनुभवन्तीति स्त्रिय इति शेषः, प्रकृतेतिदिशन्ति तद्वदित्यादि, रसान्तरमाहुः **क्रौञ्चो वीर** इति, क्रौञ्चा हि काश्मीरादौ महाहिमसंहतिदेशेष्वान दृष्टा तानि हिमसंहति-

विहितान्यपि स्वयं देशान्तरे वर्तमाना अप्याकाशे उड्डीयमाना वाप्या सेवन्ते तेनाण्डानि जीवन्तीति तेषां वीर्यं प्रसिद्धं तद्वदत्रापि बोध्यं, 'किञ्चोत्साहवर्धनो वीर' इति हेमन्ते कौञ्चरुतमेव रसोद्बोधकत्वेन वर्ण्यत इत्यतोपि तथा, तृतीयं रसमाहुश्चक्रवाक इत्यादि, शोकस्य करुणास्थायित्वाच्चक्रवाके तदभावमाशङ्क्य तत्र स्थायिनं सङ्गमयन्ति चक्रपदेत्यादिना, चतुर्थं रसमाहुर्भारद्वाज इत्यादि, तत्राद्भुतस्याङ्गीकारे नियामकमाहुः **क्रमस्येत्यादि, व्याघ्रसिंहयोरितीवेत्युन्नेयमत एव भीतवच्चेत्यत्र** चकार उक्तः, अनुकुर्वन् स्वयं पश्चाद्व्याघ्रवद् रौति भक्तभयोपस्थितौ भक्तानां स्वरूपज्ञाने पश्चात् सिंहवत् **एवमित्यनुकरणेन प्रसिद्धमिति** रसशास्त्रे प्रसिद्धं तेन विशेषतो नोच्यत इत्यर्थः, ननु व्याघ्रस्य सिंहस्य च भीतिजनकत्वाविशेषादेकेनापि भयोत्पत्तौ द्वयोः कथनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुर्भयं **द्विविधमित्यादि, स्वरूपनाशादिति** स्वरूपनाशहेतुभूतं, एवमग्रेपि, **स्वरूपे व्याघ्र इति** स्वरूपनाशहेतुभूतभयोद्दीपको व्याघ्रः, एवमग्रेपि, तथात्वं चात्र विप्रयोगावैर्याभ्यां भक्तेषु प्रकटयत्यत एवोक्तं 'सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते ह्यः इन्दुः कन्दर्पोपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीडितं' तथा च दशाविशेषे तद्वदपि करोतीत्यर्थः, तदेतदाहुर्बहुप्रकारमित्यादि निरूपितमित्यन्तेन, **एवं वृन्दावन इति** श्लोकेनुभावोद्दीपनविभावव्यभिचारिणां निरूपणस्योक्तत्वादत्र चकोरादिकथनेन षण्णां रसानामनुभावा अनुरावरूप उद्दीपनविभावो यथासम्भवं व्यभिचारिणश्च निरूपिता बोध्याः, एवमत्र षड् रसा निरूपिताः ॥ १३ ॥ **क्वचित् क्रीडेत्यत्र बीभत्सरसलीलामिति** तद्रसानुभाविकां तद्रसोद्दीपिकां च **लीलां** कथमत्र बीभत्सरसः प्रत्येतुं योग्य इत्यत आहुर्हीनादित्यारभ्य **भक्तानामित्यन्तं**, अत्र बीभत्सरसनिरूपणं परोक्षवादरूपं वस्तुतस्त्वत्र भगवत एवाविष्टत्वान्न दोषसंकोचः किन्त्वापातत एव तथेति, एवं सत रसान् निरूप्य तदभिनयप्रयोजनमाहुरेते हीत्यादि **प्राप्नुवन्तीत्यन्तं**, तत्तदधिकारनिरूपकास्तु दशश्लोकोक्तानां पशुपक्ष्यादीनां तत्तद्रसालम्बनानां चेत्यर्थः, **सर्वरसाविष्टा इति** तत्तद्रसाविष्टाः, तथा चैतज्ज्ञापनार्थं तत्तदभिनय इत्यर्थः ॥ १४ ॥ नृत्यत इत्यत्र **रौद्ररसमाहेति** गोपैरुद्दीपितमनुभावितं च तमाहेत्यर्थः, ननु भगवान् मल्ललीलां स्वयं कुतो न कृतवानुपनिबन्धनमात्रमेव कुतः कृतवानित्यत्र हेतुमाहुः **कायवागित्यादिकारिकया, कायवाङ्मनोभिर्यन्नर्तनादिकं** तत् तु **युक्तमयुक्तं पीडकं** च श्रमेणेत्युरुकृत्यत्वाभावात् तत् सा लीला स्तूयत एव न तु क्रियत इत्यर्थः, युक्तापीडिके तु मुख्यभक्तैः सह क्रियेत एवेति भावः, तदिति नपुंसकप्रयोगेणैतस्याः फलपर्यवसायित्वं द्योत्यते ॥ १५ ॥ **क्वचित् पल्लवेत्यत्र** शान्तरसलीलामिति शान्तरसानुभाविकां लीलां, **वृक्षस्य मूलमित्यादेरर्थं** टिप्पण्यामाहुर्गोपोत्सङ्गेत्यादि **स्यादित्यन्तं**, सुबोधिन्यां ननूत्सङ्गे मुख्यप्राधान्यस्थापनमत आहुस्ते हि **वैश्या** इत्यादि, ते हि **वैश्या** भगवद्दूतो जाता अतः स्वस्य यो धर्मं ऊरुजत्वं तत्स्थापकमुत्सङ्गपदमित्यर्थः, शेषं स्फुटम् ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

चकोरेत्यत्र चकोरभोगं दृष्टान्तेन साधयन्ति **सूर्यकिरणा इवेति**, आप्यमण्डलजलांशाश्चन्द्रकिरणास्तद्भोक्तारः सूर्यकिरणाः, अन्यथा किरणद्वारा जलाग्रहणे पर्जन्यो न वर्षेत्, "याभिरादित्य" इतिश्रुतेः, तथा चकोरा अपि, ननु तादृशकिरणसेवनेन स्मदादेरिव नेत्रयोस्तापो निवर्तत इत्येव वाच्यं, न तु भोक्तृत्वमित्यत आहुरन्यथेति, भोगाभावे अन्तःशैत्याभावेनाङ्गारभक्षणजनितापनिवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः **तथैवेति** चन्द्रकिरणवदित्यर्थः, **स्त्रीभिर्भुज्यन्त इति** गतसाराः क्रियन्त इत्यर्थः, स्त्रीभिः पुरुषा भुज्यन्ते पुरुषाश्च दास्यमेवानुभवन्ति न तु रसमिति, ननु प्रतीयते भोक्तृत्वमित्यत आहुस्तथैवेति, प्रतीतिस्तथैव वस्तुतस्तु ते स्तथैव क्रियन्ते परन्तु गतविवेकत्वाद् भोक्तृत्वं मन्यन्त इत्यर्थः, इदं "कामिनां दर्शयन् दैन्य" मित्यत्र विवरिष्यते, तथा च चन्द्रकिरणस्थानीयाः पुरुषाः चकोरस्थानीयाः स्त्रिय इति पर्यवसन्नं, भगवति वैलक्षण्यमाहुस्तद्द्वयमिति, चन्द्रकिरणस्थानीयाः स्त्रियः स्वयं **चकोरवत् तद्भोक्तेति तथा अनुरौतीत्यर्थः**, यस्य यस्य स्थायिभावो यत्र यत्र प्रसिद्धः स स तत्तद्रसेनुक्रियते तत्र चन्द्रविषयिणी रतिश्चकोरे प्रसिद्धा, क्रौञ्चे युद्धोत्साहः, अग्रेप्यूह्यं, तत्तदनुकरणे तत्तद्धर्मस्मृत्या स्वस्य तत्तद्रसाविष्टा भक्ताः सेवितुं शक्ता भवन्तीत्यर्थः, चक्रवाके करुणास्थायिभावं शोकमाहुः स हीति, करुणाप्यस्तीत्याहुः चक्रेति, चक्रपदश्रवणे प्रायेण कश्चिन् मारयिष्यतीति ज्ञानेन मार्योपरि करुणा चक्रवाकस्य भवतीत्यर्थः, **सत्त्वसम्बन्धिन्येवस्येति** शशादिसम्बन्धिनीत्यर्थः, अत्र परन्त्विति शेषः, प्रौढस्थितिरूपा शशाद्यवस्था **भये परमा काष्ठा** भवति परन्तु **वचनस्यातिसुन्दरत्वात्** तदेव निरूपितमित्यर्थः ॥ १३ ॥ **क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यत्र विगतश्रमेति युक्तमिति** भावे क्तः, योग इत्यर्थः, तथा च विगतं श्रमयुक्तं श्रमयोगो यस्मात् तादृशं करोतीत्यर्थः, अङ्गान्तरं विहाय पादयोरेव संवाहे हेतुमाहुः पादे हीति, **बीभत्सो भवतीति** द्रष्टुर्जुगुप्साजनको भवतीत्यर्थः, अत **एव विकलत्वादिति** अधुना क्रियामात्रव्यापृतत्वेन स्वामित्वस्फूर्तिरूपज्ञानकलारहितत्वादित्यर्थः, **उपनिबध्यत इति** तद्रूपो रसो भगवतानूद्यत इत्यर्थः ॥१४॥ **क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यत्र शान्त इवेति** निर्वेदः प्रयत्नशैथिल्यं तेन युक्त इवेत्यर्थः, यद्यप्यष्टावेव रसा मुख्यास्तथापि श्रृङ्गारव्यभिचारित्वेन निर्वेदस्य स्वीकृतत्वात् तस्यैव च शान्तस्थायिभावत्वाच् छान्तरसोप्युक्तो जात इति शान्तो भवतीत्युक्तं, मूले श्रृङ्गाराङ्गत्वेनायं रस उक्तस्तत्तात्पर्यमिदमुक्तमिति ज्ञेयं, **प्रत्येकपर्यवसायीति** समुदाये निर्वेदाविरुद्धरसानां सम्भवात् पूर्वोक्तरसवत् समुदाये पर्यवसन्नो न भवतीत्यर्थः, **निरूपयन् बहुवचनं तत्** तस्मादाहेत्यन्वयः, **भगवानिति** अनेकरूपत्वात्

हेतुत्वार्थमुक्तं अग्रे स्वरूपकथनार्थमुक्तमिति विभागः, तथा च भगवत्त्वादनेकरूपः सन् भगवांस्तत्र शयानो जात इत्यन्वयः, ननु तथापीति तल्पेषु स्थातव्यमेव शयनं किमर्थमित्यर्थः, तानाश्रयत इति तेषु पदकमलं स्थापयतीत्यर्थः, कृतार्थीकर्तुमिति स्मरयुद्धानन्तरमपि तल्पे शयानो भवतु तदा वयं चरणसेवां कुर्म इति तासां मनोरथं पूरयितुमित्यर्थः, लोकानामेवेति श्रान्तत्वादतिकोमलतल्पे शेत इत्यन्तरङ्गगोपानां प्रतीतिर्भगवांस्तु योगिमनोरथपूरणार्थमेव शेते न तु श्रान्त इत्यर्थः, स्वधर्मव्यापकमिति स्वकारणजातीयैः स्वावयवैः सेवा स्वधर्मः मुखेनोपदेशेन सेवा ब्राह्मणधर्मः बाहुभ्यां रक्षया सेवा क्षत्रियधर्मः तयोरुभ्यां सेवैतेषां स्वधर्म इति तद्व्यापकमित्यर्थः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

चकोरक्रौञ्चेत्यस्य व्याख्याने, सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्त इति कामशास्त्रोक्तलक्षणानां कस्मिन्नपि पुरुषेऽसम्भवात् पुरुषस्य भोक्तृत्वं भाक्तं, वस्तुतः कामिन्य एव भोक्त्र्यः, भगवति तु तच्छास्त्रोक्तलक्षणानां सर्वेषां सत्त्वात् जागरूकं भोक्तृत्वमित्याहुः तद्वद्वयं भगवान् नेत्यारभ्य वाग्व्यापारो निरूप्यत इत्यन्तेन, चकोरो हि परमरसिकोत्यन्तालौकिकप्रकारेण चन्द्रकिरणान् भुङ्क्ते तदेकरतश्च, तद्वद् भगवानपि दूरस्थितचन्द्रमुखीमुखचन्द्रिका भुङ्क्ते तन्मात्रासक्तश्च, अतिदुरापनायिकाभोगस्त्वतिचातुर्येण भवतीति तादृक्चातुर्यचमत्कारसूचनाय चकोरवद् वक्तीति शृङ्गाररसोनेन निरूपितः, क्रौञ्चो वीर इति क्रौञ्चस्य युद्धाद्युत्साहवत्त्वात् उत्साहस्य वीररसस्थायिभावत्वात् वीररसः क्रौञ्चवद् वाग्व्यापारेणोक्तः, चक्रवाकः करुणायामिति करुणारसो दुःखिते भवति, शोकस्थायिभावकत्वात् चक्रवाको ह्यत्यन्तं दुःखितः, चक्रवाकी वियोगव्याकुलः, अतस्तत्र करुणारसः स्फुट एवेति तदेतदाहुः, स हि वियुक्त इति, चक्रपदेन मारणमभिप्रेतमितीति चक्रे जलचक्रे पतितः परमकष्टं प्राप्नोति चक्रपतितपुरुषमारणाय चक्रं बहुप्रकारेण यतते, एवं चक्रवाको विरहचक्रे पतितः परमपीडामनुभवति, तद्वद् वाग्व्यापारकरणात् स्वस्मिन् व्रजवामलोचनाविरहव्याकुलत्वं चक्रभ्रमणगतपुरुषवद् दुःखितत्वं भगवान् सूचयतीति युक्तः करुणारसः, अत एव गीतगोविन्दे उक्तं "प्रहरन् हरभ्रान्त्यानङ्ग मुधा किमु धावसी"ति "सद्वृत्तः स्तनमण्डलः सखि कथं प्राणैर्मम क्रीडती"ति च, एवं करुणारसो विप्रलम्भशृङ्गारे स्पष्ट इति, शृङ्गाररससम्बन्धित्वाद् रसत्वं करुणारसस्य, यत्र तु करुणायाः शृङ्गाररससम्बन्धो नास्ति तत्र करुणामात्रत्वं न तु रसत्वं, एवमेव हास्यादीनामपि शृङ्गाररसमध्यपातित्वे रसत्वं न त्वन्यथा, शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तात्, ननु वियोगेनैतादृशी व्याकुलतास्ति चकोरवद् दुःप्रापपदार्थभोगचातुर्यं चास्ति तर्हि भगवान् किमिति वियोगमनुभवतीत्याकाङ्क्षायां भयस्य प्रतिबन्धकत्वबोधनाय भयानकरसं निरूपयन् व्याघ्रसिंहयोर्भीतवदनुरौति, भयानकरसोपि शृङ्गाररसेनुकूलः, अन्यथा निर्भीततया प्रवृत्तौ तु सर्वत्र प्रसिद्ध्यापत्त्या रसत्वमेव भज्येत, गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इति राद्धान्तात्, अत एव शृङ्गाररससम्बन्धित्वाद् भयानकरसस्य रसत्वं अन्यथा तु भयमात्रत्वमिति ॥१३॥ क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यस्याभासे बीभत्सरसलीलामाहेति अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धं लब्ध्वैव रसतां प्राप्नोति अन्यथा तु बीभत्सत्वमेव न तु रसत्वं, "स्युः शृङ्गारसंवलिता रसा हास्यादयो यदी"ति वाक्यात्, शृङ्गाररसे एतस्याप्यपेक्षास्ति, अन्यथा उभयोः आलम्बनविभावयोः परस्परात्यन्ताकाङ्क्षावशवर्तित्वात् मानखण्डितादिभावा नोद्भवेयुः, बीभत्सरसस्तु जुगुप्सास्थायिभावकत्वात् मनसः परावृत्तिमात्रजन्मा स्वल्पाया अपि स्नेहन्यूनताया दर्शनाद् भ्रमात्मकज्ञानाद् वा अयोग्यतादिदर्शनेन वा परमानन्दकाङ्क्षां निवारयन् मानखण्डितादिभावसम्पादको भवति, अत एव शृङ्गाररसं पोषयन् रसत्वमाप्नोति, अत एव "वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिक"मित्यादौ नायकेऽधमत्वोक्तिर्युज्यते, दूतिकासम्भोगवद्ज्ञानान्नायकतो मनसः परावृत्त्या बीभत्सरसोदयात्, श्रीगीतगोविन्देपि "याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववाद"मित्यत्र "याही"त्युक्त्या बीभत्सरसोदयो दृश्यते, प्रकृते बलदेवपादसंवाहनं निरीक्ष्य किमयं भगवान् शृङ्गाररमणोद्योगं विहाय वृथाव्यापारं करोतीति सुदृशां मनसि बीभत्सरस उदेति, एतावदेव बीभत्सरसत्वं, यत्र तु कुत्सितपदार्थसत्तानिरूपणं तत्र बीभत्सरसो नास्तीतिज्ञेयं, रसस्वरूपाभावात्, रसत्वं ह्युत्तमजनोपादेयत्वं सुखजनकत्वं च, कुत्सितवस्तुनिरूपणे तूत्तमानां वमनाद्युत्पत्त्या दुःखजनकत्वेन सुखसंसर्गाभावान् न रसत्वं, अत एव नोपादेयत्वं अपि तु हेयत्वमेवेति तत्र रसतानिरूपणमाग्रहमात्रं, अत एव श्रीमदाचार्यैर्भगवत्ययं रसो निरूपितः, एवं सति वीरकरुणहास्यादिरसाः शृङ्गाररसस्यावयवास्तैः पुष्टः शृङ्गाररसो भवतीति "रसो वै स" इत्युपनिषत्सिद्धः शृङ्गाररसात्मा श्रीवृन्दावनविधुः श्रीकृष्णो निरूपित इति भाग्यभाजो विभावयन्तु ॥ १४ ॥ नृत्यतो गायत इत्यस्याभासे रौद्ररसमाहेति अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धी, प्रकृतेपि मल्लयुद्धदर्शनासक्तिं दृष्ट्वा वृथाकालक्षेपकर्तरि नन्दनन्दने शृङ्गाररससम्बन्धिक्रोधजन्मा रौद्र रस उदेति वधूनां, अत एव रसत्वं, अयं रौद्ररसः क्रोधस्थायिभावको मानिनीनां विप्रलब्धानां च बहुधा बोभवीति ॥ १५ ॥ क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यस्याभासे शान्तरसलीलामाहेति अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धीति भवत्येतस्य रसत्वं शृङ्गाररससम्बन्धस्तु सुबोधिन्यां परोक्षवादेनोक्तः टिप्पण्यां तु स्फुट एव, एवं नव रसाः शृङ्गाररससम्बन्धिनो भूत्वा रसतां लभन्ते, भक्तिरसस्तु शृङ्गाररसाङ्गभूतः कुत्रचित् स्वतन्त्रोपीति नास्मिन्नङ्गभावेनैव रसत्वमित्याग्रहो विदुषां, 'शृङ्गार एव सर्वे रसा' इत्यत्र तु नवानामेवाङ्गत्वोक्तिः भक्तिरसस्य तत्राप्रसिद्धत्वात् ॥ १६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नृत्यतो गायतः क्वापीत्यत्र कायवाङ्मनोभिरिति का० १३३३ । नृत्यतो गायतो वल्गत इति पदत्रयेणोक्तं काय-वाङ्मनोभिर्यद्युद्धं युक्तं पीडारहितं युध्यत इति पदोक्तं पीडकं अत एव अयुक्तं चतुर्विधापि मल्ललीला हरिणा मुदा स्तूयते ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

चकोरादीन् पक्षिणः अनुरौति तत्तज्जातिशब्दानामनुकरणं करोति । सत्त्वानां प्राणिनां मध्ये व्याघ्रसिंहयोः शब्देन भीतवद्भवति, वतिप्रत्ययेन वस्तुतो भयाभावं सूचयति ॥ १३ ॥ क्वचित् क्रीडया परिश्रान्तमतो गोपोत्सङ्गमुपबर्हणमुच्छीर्षकं यस्य तमार्यमग्रजं सुप्तं पादसंवाहनादिभिः पादसम्मर्दनादिभिः स्वयं कृष्णः विश्रमयति विगतश्रमं करोति ॥१४॥ क्वापि मिथो नृत्यादिकं कुर्वतो गोपालान् गृहीतहस्तौ रामकृष्णौ हसन्तौ "अहो ! यूयं नृत्येन विद्याधरविडम्बका, गानेन गन्धर्वगणतिरस्कारिणो, युद्धे त्रिलोकीजित्वरा" इत्येवं प्रशशंसतुः ॥१५॥ नियुद्धं बाहुयुद्धम्, तेन यः श्रमस्तेन कर्शितः श्रान्त इव गोपोत्सङ्गोपबर्हणः वृक्षमूलाश्रयः वृक्षच्छायाश्रितः सन् कृष्णः क्वचित् पल्लवे एव शेते । 'पल्लवतल्पेषु' इति बहुवचनात् पुष्पादीनामपि तल्पा गोपैर्बहुमहत्त्वात् पृथक्पृथग्रचितास्तेषु तेषां प्रीत्यर्थं तत्तदलक्षितस्तावद्रूपः सन् शेते । एवमीशचेष्टित इति वक्ष्यमाणं सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

चकोरेति ॥ चकोरक्रौञ्चादीन् पक्षिणः अनुरौति तत्तज्जातिशब्दानामनुकरणं करोति । सत्त्वानां प्राणिनां मध्ये व्याघ्र-सिंहयोः शब्देन भीतवद् भवति सखिषु पलायमानेषु पलायते । वस्तुतो भयाभावाद्वतिः प्रत्ययः ॥ १३ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् क्रीडया परिश्रान्तमतो गोपस्योत्सङ्गमुपबर्हणमुच्छीर्षकं यस्य तमार्यमग्रजं सुप्तं पादसंवाहनादिभिः पादसंमर्दनादिभिः स्वयं कृष्णः विश्रमयति विगतश्रमं करोति ॥१४॥ नृत्यत इति ॥ क्वापि मिथो नृत्यतः गायतः वल्गतः धावतः युध्यतः युद्धमिच्छतः । क्वचनत्य-गोपालान् गृहीतहस्तौ हसन्तौ रामकृष्णौ अहो यूयं नृत्येन विद्याधरान् गानेन गन्धर्वान् वल्गनेन मल्लवरान् युद्धेन शूरांश्च जयथ इत्येवं प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥ क्वचिदिति ॥ नियुद्धं बाहुयुद्ध तेन यः श्रमस्तेन कर्शितः श्रान्त इव गोपोत्सङ्गोपबर्हणः वृक्षमूलाश्रयः वृक्षच्छायाश्रितः सन् कृष्णः पल्लवतल्पेषु गोपैः रचितेषु शेते ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

क्वचिदितिशेषः । मेघगर्जिततुल्यया गंभीरया गोगोपालानां मनोज्ञया मनोहरया वाचा ॥ १३ ॥ चकोरश्चंद्राभिलाषी तदादीन् पक्षिविशेषानानुसृसरौति सत्वानां सत्वेभ्यो बलाधिक्येभ्यो जंतुभ्यः तथा व्याघ्रसिंहयोर्व्याघ्रसिंहाभ्यां भीतवत्सत्वानां व्यत्ययो बहुलमिति बाहुलकात्कारकव्यत्ययेन पंचमीस्थाने षष्ठी बोध्या ॥ १४ ॥ आर्यं बलदेवं पादयोः संवाहनादिभिः संमर्दनादिभिः हरिः स्वयं विश्रामयति श्रमरहितं करोति ॥ १५ ॥ मिथः परस्परं बलतो ग्रहणं कुर्वतो गोपालान् हसंतौ गृहीतहस्तौ द्वौ रामकृष्णौ प्रशशंसतुः यद्वा तौ क्वापि नृत्यतः क्वापि मिथो गृहीतहस्तौ क्वापि हसंतौ भवतः यद्वा गोपालान् हसंतौ अहो इमे गानेन गन्धर्व-तिरस्कारिणः नृत्येन विद्याधरविडंबिकाः युद्धेन त्रिलोकीजित्वरा इत्यादि परिहासं कुर्वन्तौ प्रकर्षतः शशंसतुः ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चकोरेति ॥ चकोराश्चन्द्रज्योत्स्नापिवाश्च क्रौञ्चाः कुञ्चश्च चक्रवाकाश्च भारद्वाजा व्याघ्रटाश्च तान्, बर्हिणो मयूरांश्च अन्वनुसृत्य, रौति स्म । सत्त्वानां मृगादिबलवत्सत्त्वजातीनां मध्ये, व्याघ्रसिंहयोः, पञ्चम्यविवक्षया सामान्ये षष्ठी । व्याघ्रसिंहाभ्या-मित्यर्थः । भीतवत्, भवति । ताभ्यामन्ये यथा भयं प्राप्नुवन्ति, तद्वत्सर्वथा निर्भीकः सन्नपि तदनुकरणं करोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित्, क्रीडापरिश्रान्तं क्रीडनकृतपरिश्रमनाटनं कुर्वन्तं, गोपानामुत्सङ्गोऽङ्क एवोपबर्हणमुपधानं यस्य तं, स्वाग्रजभ्रातर बलभद्रं स्वयं श्रीकृष्ण एव, पादसंवाहनादिभिः पादोपमर्दनादिभिः, विश्रमयति श्रमरहितं करोति ॥ १४ ॥ क्वापि नृत्यतो नृत्यं कुर्वाणम्, गायतो गानं कुर्वाणम्, वल्गत उत्प्लवतः, मिथः परस्परं, युद्धचतः युद्धं कुर्वाणम्, गोपालान्, गृहीतहस्तौ संगृहीतपरस्परपाणी रामकृष्णौ, प्रशशंसतुः तत्कृतनृत्यादिविशेषविषये तेषां प्रशंसां चक्रतुरित्यर्थः । तत्कृतनृत्यादौ स्वस्वकौशलं दर्शयन्तौ इति शेषः । हसन्तौ, बभूवतुः ॥ १५ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् कृष्णः, नियुद्धेन बाहुयुद्धेन यः श्रमस्तेन कर्शितो ग्लानः सन् तदा वृक्षमूलमाश्रयो यस्य तथाभूतो भगवान्, गोपानामुत्सङ्ग एवोपबर्हणमुच्छीर्षकं यस्य तथाभूतः सन्, पल्लवतल्पेषु बहुवचनं पल्लवप्राचुर्यबोधनार्थम् । शेते । अत्र सर्वत्र वर्त्तमानप्रयोगा भूतेऽर्थे बोध्याः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

क्वचित् क्रीडेति : १०.१५.१५.

तत्त्वज्ञेनापि नो लङ्घ्या मर्यादा लोकपावनी । इति किं दर्शयन्नीशश्चक्रे रामाङ्घ्रिसेवनम् ॥ ३२ ॥

कृष्णप्रिया

कभी चकोर क्रौंच (कराँकुल), चकवा भरदूल और मोर आदि पक्षियों की सी बोली बोलते तो कभी बाघ, सिंह आदि की गर्जना से डरे हुए जीवों के समान स्वयं भी भयभीत की सी लीला करते ॥ १३ ॥ जब बलरामजी खेलते-खेलते थककर किसी ग्वाल-बाल की गोद के तकिये पर सिर रखकर लेट जाते तब श्रीकृष्ण उनके पैर दबाने लगते, पंखा झलने लगते और इस प्रकार अपने बड़े भाई की थकावट दूर करते ॥ १४ ॥ जब ग्वाल-बाल नाचने गाने लगते अथवा ताल ठोंक ठोंककर एक दूसरे से कुश्ती लड़ने लगते, तब श्याम और बलराम दोनों भाई हाथ में हाथ डालकर खड़े हो जाते और हँस-हँस कर 'वाह-वाह' करते ॥ १५ ॥ कभी-कभी स्वयं श्रीकृष्ण भी ग्वाल-बालों के साथ कुश्ती लड़ते-लड़ते थक जाते तथा किसी सुन्दर वृक्ष के नीचे कोमल पल्लवों की सेज पर किसी ग्वाल-बाल की गोद में सिर रखकर लेट जाते ॥ १६ ॥

पादसंवाहनं चक्रुः केचिदस्य[1] महात्मनः । अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७ ॥
[2]अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः । गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः[3] शनैः ॥ १८ ॥
एवं निगूढात्मगतिः[4] स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः[5] ॥ १९ ॥
[6]श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा । [7]सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—केचित् तस्य महात्मनः पादसंवाहनं चक्रुः हतपाप्मानो अपरे व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७ ॥ महाराज अन्ये स्नेहक्लिन्नधियः तदनुरूपाणि महात्मनः मनोज्ञानि शनैः गायन्ति स्म ॥ १८ ॥ चरितैः गोपात्मजत्वं विडम्बयन् स्वमायया निगूढात्मगतिः ईशचेष्टितः रमालालितपादपल्लवः सः ग्राम्यैः समम् ग्राम्यवद् रेमे ॥ १९ ॥ रामकेशवयोः सखा श्रीदामा नाम गोपालः (अन्ये) सुबलस्तोककृष्णाद्याः गोपाः प्रेम्णा इदम् अब्रुवन् ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

व्यजनैः पल्लवादिनिर्मितैः ॥ १७–१८ ॥ ईशचेष्टित इति । विगूढस्वभावत्वेऽप्यंतरांतरा ईशस्यैव चेष्टितानि दृश्यंते यस्मिन्सः ॥ १९ ॥ ईशचेष्टितत्वमेव दर्शयितुमाह । श्रीदामेति । स्तोकः कृष्ण इति कश्चित् ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

पादसंवाहनं चरणमर्दनम् । तस्य हरेः । महात्मनः ब्रह्मादिपूज्यस्य । केचित्सुबलादयः । अपरे श्रीदामादयः । हतपाप्मानो जन्मांतरार्जितानंतपुण्याः । व्यजनैः वस्त्रपत्रादिरचितैः ॥ १७ ॥ अन्ये मनःसौख्यादयः । तदनुरूपाणि तयोः प्रियाणि गीतानि । स्नेहेन क्लिन्ना रागवती धीर्येषां ते तथा ॥ १८ ॥ एवं गोपलीलया । निगूढात्मगतिः प्रच्छन्नात्मस्वरूपः । ग्राम्यैर्गोपैः 'ग्राम्यो नैपुण्यवर्जितः' इति कोशः । ईशचेष्टितः प्रादुष्कृतनिजैश्वर्यः । अंतरांतरा मध्येमध्ये दैत्यदलनादिना स्वकीयस्वरतामपि बोधयतीति भावः ॥ १९ ॥ शेषकार्यमाह–। आद्यशब्दात् वृंदवंधु–देवभद्र–विनोदार्जुन–कामकंद–प्राणभानु–दृष्टिभानु–चन्द्रभानु–जयभानु–कलोत्तान–वीरसेन–कीर्त्तिसिंधु–कमलाकर–सुखसागर–संजयादयो ज्ञेयाः । श्रीदाम्नः प्राङ्निर्देशः सखिषु मुख्यत्वात् । स्तोककृष्ण इति चतुरक्षरमेव नाम ज्ञेयम् । तत्र चेदमेव लक्ष्यते बालस्यास्य रूपं कृष्णमनुगच्छदेव वर्त्तते तस्मान्नाम च तमनुगमिष्यत्प्रणयविशेषाय संपत्स्य इति विचार्य्य सम्यगुल्लसता तत्पित्रा तादृशं नाम प्रकाशितमिति । प्रेम्णेति न तु तालफललोभेन न तु दुष्टवधार्थं वेति, किं तु प्रियजनप्रीतिविशेषार्थमेवेति ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

केचिदिति, बहुत्वं क्रमेण परिवृत्त्या श्रीमत्पादाब्जयोर्बहुभिः सम्वाहनात् किं वा बहुलशय्यासु प्रत्येकं त्रिचतुरतया तत्र प्रवृत्तेरभिप्रायेण महात्मन इति छान्दसं महात्मानः परमभाग्यवन्त इत्यर्थः । यद्वा, तस्य महागुणगणाश्रयरूपस्य हृतः ततस्तादृशतत्सेवान्तरायरूपः पाप्मा यैः इत्यात्मानमधिक्षिपति तेषां नित्यतादृशत्वेऽपि अयमात्माऽपहतपाप्मेति वत्तत्प्रयोगः एवमिदं पदं पूर्वेण परेणाऽपि योज्यं सम्यक् मन्दमधुरचालनादिमुद्रया बीजयन् ॥ १७ ॥ तस्याऽवसरस्य योग्यानि तस्य श्रीभगवतोऽपि सदृशानि वा

१. तस्य–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. परेतु–विज. । ३. क्लिन्नहृदः–वीर. । ४. रतिः–वीर । ५. चेष्टितं–विज. । ६. श्रीदामनामा–वीर. । ७. सुबलाशोककृष्णाद्यान्गोपाम्प्रेम्णेदमब्रवीद–विज. ।

श्रीतानीति शेषः। विशेषमप्याह, मनोज्ञानि चित्ताकर्षणानि विचित्राद्भुतस्वरतालादिमयत्वात् शनैरिति विश्रामावसरयोग्यत्वा- दुत्तमगानमुदात्वाच्च स्नेहक्लिन्नधीत्वस्यात्रैवोक्तिर्गानस्वभावतस्तत्प्राकट्यविशेषाभिप्रायेण यद्वा, पदद्वयस्यास्य सर्वान्ते निर्देशात् पूर्वश्लोके वाक्यद्वयेनापि सम्बन्धो द्रष्टव्यः ॥ १८ ॥ अनुक्तामप्यन्यां गोपलीलामुद्दिशन् तादृशलीलायाश्च तदतिप्रियत्वं प्रतिपादयन्नुपसंहरति—एवमिति। स्वाविर्भावान्तरे रमालालितपादपल्लवोऽपि एवं वृन्दावनविहारप्रकारेण रेमे रतिं प्राप तदेवमत्र पूर्व तादृशसुखस्याप्यनादरः सूचितः किं कुर्वन् चरितैर्नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न इत्यादिरूपैरलौकिकैर्लौकिकं गोपात्मजत्वं विडम्बयन् ह्रीयोग- मारूपं कुर्वन् अलौकिकं गोपात्मजत्वमात्मनि दर्शयन्नित्यर्थः। ननु, श्रीभगवतः कथमात्मजत्वं तत्राह, स्वे ये श्रीनन्दयशोदादयः पित्रादिरूपास्तेषां मायया कृपया वात्सल्यवशतयेत्यर्थः। अत एव नितरां गूढा सर्वेषामप्यगम्या आत्मगतिर्महाप्रणयमयनिजमाधुरी- विशेषो यस्य अत एव कैश्चिद्ग्राम्यैर्वन्धुभिः समं कश्चिद् ग्राम्यो बन्धुरिवेति आत्मजवत् सख्येऽपि तादृशोपमत्वमिति भावः। ननु तर्हि सर्वत्रोच्यमानं श्रीभगवत्ताप्रकटनं तत्र कथं सङ्गच्छतां तत्राह, ईशं सर्वैश्वर्ययुक्तं चेष्टितं यस्य तल्लीलाशक्तिरेव तादृशी सती श्रीभगवदनुसंहितापि सर्वं सम्पादयतीत्यर्थः ॥ १९ ॥ एवं प्रथमदिनक्रीडयाऽन्यदिनक्रीडामप्युपलक्ष्याऽधुना कदाचिन्निजप्रियजनप्रीत्यै गोपालत्वे किञ्चिदैश्वर्यमपि साक्षात् प्रकटितमिति प्रसङ्गादाह—श्रीदामेत्यादिना। तत्र श्रीरामस्य सखेति निर्देशस्तद्युद्धे तस्यैव प्राधान्यात् सुबलाद्याश्च सखायः श्रीदाम्नः प्राङ्निर्देशः सखिषु मुख्यत्वेन व्रजे तस्मिन्नन्यस्य केवलकृष्णनाम्ना प्रचारणायामनर्ह- त्वात् स्तोककृष्ण इति चतुरक्षरमेव नाम ज्ञेयं तत्र चेदेवमेव लभ्यते बालस्यास्य रूपं कृष्णमनुगच्छदेव वर्त्तते तस्मान्नाम च तदनु- गमिष्यत्तत्प्रणयविशेषाय सम्पत्स्यत इति विचार्य सम्यगुल्लसता तत्पित्रा तादृशनामप्रकाशितमिति प्रेम्णेति न तु तालफललोभेन च दुष्टवधार्थं किं तु प्रियजनप्रीतिविशेषार्थं किञ्चिदिष्टद्रव्यप्रार्थनलक्षणप्रेमस्वभावेनैव। यद्वा, स्वव्याजेन श्रीकृष्णरामयोरेव तादृश- भोजनसम्पादनेच्छामयेनत्यर्थः। अत्र च सख्यमयप्रेम्णेति लभ्यते सख्यं च साजात्येनैव भवतीति मिथः प्रभावाविज्ञानमयमेव यथोक्तं तैः "अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद्बकवद्विनङ्क्ष्यति" इति वक्ष्यते चानन्तरं रामरामेति ततोऽर्जुनेन तत्तद्युद्धाह्वान- प्रार्थनावत् वीररसस्वाभाविकसख्यमयप्रेमैवेदमिति स्थितम् ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

उपसंहरिष्यन् विश्रामक्रीडां वदन् गोपानां सौभाग्यभरं वर्णयति—क्वचिदिति त्रिभिः। पल्लवेत्युपलक्षणम्—कोमल- नवकोरकपुष्पाणां तल्पेषु, किंवाविलम्बार्थं केवलं पल्लवैरेव रचितेषु तल्पेषु। तत्र च तदानीमेव प्रेमसम्भ्रमेण त्वरया बहुभि- र्यस्यैर्विरचितत्वाद्-गौरवेण बहुत्वम्, किंवा प्रत्येकं परमदक्षैः सर्व्वैरेव तैरेकैकशो निर्म्मितत्वेन बाहुल्यात्, ततश्च बहुतरेष्वपि तेषु तेषां प्रीत्यै तदलक्षितो निजशक्तिविशेषेण बहुरूपतयेव शेत इति ज्ञेयम्। एवम् (२० श. श्लो.) 'ईशचेष्टितः' इति वक्ष्यमाण- मैश्वर्य्यमत्रापि संगतं स्यात्। नियुद्धं तैरेव सह बाहुयुद्धाख्यमल्ललीला, तेन श्रमो मौक्तिकसुन्दरश्रीगण्डादि-विषयकप्रस्वेदकपिञ्जरी- यादि-तल्लक्षण स्वीकारात्, तेन कर्शितः खिन्न इव। गोपः श्रीराधादेव्याः भ्राता श्रीदाम-नामा प्रियसखस्तस्योत्संगः क्रोडमेवोप- बर्हणमुपधानं यस्य सः। एवं श्रीदाम्नोऽपि तद्वत्तत्र बहुत्वं ज्ञेयम्। यद्वा, गोपानामुत्संगोपबर्हण इति कुत्रापि कस्यचिदित्य- वोध्यम्, तच्च तल्पांगत्वेन यस्य कस्याप्युपबर्हणस्थस्तैर्निजोत्संगोपधानता—सुखार्थमवचितत्वात्, किंवा रचितस्यापि तेनैव तस्य त्यागात् ॥ १७ ॥ केचिदिति बहुत्वं क्रमेण परिवृत्त्या श्रीमत्पदाब्जयोर्बहुभिः सम्वाहनात्, किंवा बहुलशय्यासु प्रत्येकं त्रिचतुरादि- तत्र प्रवृत्तेरभिप्रायेण, किंवैश्वर्य्यविशेषेणैकस्यापि तस्य बहुतरः सम्वाहन—सम्भवात्। महात्मन इत्यार्षम्, महात्मानः परमभाग्य- वन्त इत्यर्थः। यद्वा, तस्यैव विशेषणमपरिच्छिन्नस्येत्यर्थः। स्वयमेकेनव शक्तिविशेषतः सर्वास्वपि शय्यासु व्यापकत्वेन शयनात्। हतः—निजकीर्त्यादिना श्रीभगवतैव नाशितः पाप्मा जगतामपि यैस्ते तादृश-सेवा-सौभाग्याभावात्, वयन्तु पापिष्ठा एवेति भावः। एवमिदं पदं पूर्वेण परेणापि योज्यम्। सम्यक् मन्दमन्दमधुरभ्रमणादिमुद्रयाऽब्जीजयन् ॥ १८ ॥ तस्यावसरस्य श्रीभगवतोऽनुरूपाणि योग्यानि गीतानीति शेषः। महात्मन इति पूर्ववत्, यद्वा, समुद्रकोटिगभीरस्याक्षोभ्यतरस्यापि तस्य मनोज्ञानि चित्ताकर्षकाणि विचित्राद्भुत—स्वर-तालादिमत्त्वाच्छ्रीगोपीगुणादिमयत्वाच्च। हे महाराजेति सम्राजोऽपि भवादृशस्तादृशक्रीड़ासुखं न विन्दतीति भावः, यद्वा, महाराजोऽत्यन्तप्रकाशमानः परमश्रेष्ठो यः स्नेह इत्यर्थः, तेन क्लिन्नधिय आर्द्रचित्ताः सन्तः, अतएव शनैर्बाष्परुध्य- मानकण्ठतया लघु लघु अगायन्, स्नेहक्लिन्नधीत्वस्यात्रैवोक्तिर्गानस्वभावत्वेन तत्प्राकट्यविशेषाभिप्रायेण, यद्वा, पदद्वयस्यास्य सर्वान्ते निर्देशात् पूर्वश्लोके वाक्यद्वयेनापि सम्बन्धो द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥ अनुक्तामप्यन्यां तस्मिन् दिने कृतां गोपलीलामुद्दिशन् तद्दिनवन्यक्रीड़ामुपसंहरति—एवमित्युक्तप्रकारेण, किंवेदृशैश्चारितैश्चेष्टितैः रमा-लालितपादपल्लवोऽपि रेमे रतिं प्रापेति महात्म्यं- पादाब्ज-लालन-सुखादपि गोपक्रीड़ासुखस्य माहात्म्यं सूचितम्, यद्वा, रमयति सदा तमिति रमा श्रीराधा देवी तया लालित-पाद- पल्लवः सन्निति दिवारण्य-परिभ्रमण-श्रमापनोदनार्थ-सम्वाहनादिना रतेरुपकारकत्वं दर्शितम्। किं कुर्वन् ? गोपात्मजत्वं विडम्बयन् प्रकटयन्नित्यर्थः। यद्वा, डलयोरेकत्वात् स्थिरीकुर्वन्नित्यर्थः, चरितैरित्यस्यात्रैव वान्वय इति श्रीनन्ददेव जीतोऽस्मीति श्रीभगवद्- द्धिमपि बोधयति। ननु, प्रकट-तादृशैश्वर्य्यस्य कथं नाम तद्विडम्बनं सिध्येत् ? तत्राह—स्वस्य मायया मायाख्य-शक्त्या कृपया वा नितरां गढाच्छादितात्मनो गतिरात्मारामत्वपूर्णकामत्वादिलक्षणमैश्वर्य्यं येन सः; यद्वा, नितरां गूढातिरहस्योपनिषदामप्यगम्या-

गतिनिजमाधुरीविशेषो यस्य। अतएव कैश्चिद्ग्राम्यैर्बन्धुभिः समं कश्चिद्ग्राम्यः समो बन्धुः प्रभुरिवेति परमलौकिकत्वम्; तेन गोपक्रीडामाधुर्य्यञ्च बोधितम्। ननु, तर्हि सर्वत्रोच्यमानं भगवत्ताप्रकटनं कथं तत्र संगच्छताम्? तत्राह—ईशस्य चेष्टितं यस्य सः, तत्तच्चरितानामेव लोकातीतत्वादिति भावः। इति लौकिकालौकिकत्वेन भगवत्ता विशेषप्रकटनं पूर्ववत् सिद्धमेव। अथवा, निगूढात्मनो गतिः श्रीवसुदेवद्वारा गोकुले गमनं येन (सः), श्रीनन्दादेवात्मनो जन्मज्ञानात् तदनुरूपव्यवहाराच्चेति गोपात्मजत्व-विडम्बनस्य मुख्यसाधनमुक्तम्। ईशं सर्वैश्वर्य्ययुक्तं चेष्टितमपि यस्य; यद्वा, ईशचेष्टित ऐश्वर्य्यचेष्टायुक्तोऽपि ग्राम्यवत् रेम इतीश-चेष्टितादपि ग्राम्यवच्चरितस्य माहात्म्यं सूचितम्। अन्यत् समानम्॥ २०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

निगूढा आत्मगतिः स्वविषयज्ञानं सर्वेषाम्॥ १९-४२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदा तस्य महात्मनः कृष्णस्य पादसम्वाहनं केच्चिच्चक्रुः अपरेऽपहतपाप्मानः तत्सेवालाभादिति भावः। तरुपल्लव-निर्मितैः व्यजनैः सम्यग्वीजयन्॥ १७॥ अन्ये तु हे महाराज! प्रेमार्द्रचित्ताः हृदयङ्गमानि तदनुरूपाणि चेष्टितानि जगुः॥ १८॥ इत्थं निगूढा आत्मरतिः स्वात्मानुभूतिर्येन तथाभूतः स्वसङ्कल्पेन चरितैश्चेष्टितैः गोपात्मजत्वमनुकुर्वन् रमया लालितौ पादौ एव पल्लवौ यस्य तथाभूतोऽपि ग्राम्यैः प्राकृतैः सह तद्वद्रेमे कथम्भूतः मध्ये मध्ये ईश्वरासाधारणानि चेष्टितानि यस्य तथाभूतः॥ १९॥ तदेव दर्शयति—श्रीदामेत्यादिना। श्रीदामा सुबलादयश्च इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन्॥ २०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

महात्मनः कृष्णस्य मनोहराणि स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रा धियो येषां ते तथा॥ १८॥ बाललीलामुपसंहरति—एवमिति। स्वमायया स्वेच्छयैव निगूढात्ममतिः प्रच्छन्नस्वरूपानुभवः अन्याऽपेक्षयेति शेषः। ग्राम्यैः मूर्खजनैः किमर्थमेवं कृतमत्राह, ग्राम्यवदिति धर्मं इति शेषः॥ १९॥ शुकः परीक्षितमाह—धन्येयमिति। कस्माद्धन्येत्यत्राह, तृणवीरुध इति। तस्य कृष्णस्य पादौ स्पृशन्तीति तत्पादस्पृशः करजैर्नखैः अभिमृष्टा अभितः श्रिताः लूना इत्यर्थः। नद्यादयो दयासहितैरवलोकैरवलोकिताः गोप्यः श्रीमद्भुजयोरन्तरं वक्षःस्थलं स्पृहयतीति यत्स्पृहा तस्मिन् भुजयोरन्तरेण मध्यम् आलिङ्गिता इति यत्तस्मादियं पृथिवी तद्गताः पदार्थाश्च धन्या इत्यर्थः॥ यद्वेकार्यार्थमवतीर्णं हरिणा तच्छेषं वक्तुमुपक्रमते, श्रीदामेति। सुवलश्चाशोकश्च कृष्णश्चाद्या येषां ते तथा तान्॥२०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तस्य महागुणगणस्येति हृतः तादृशतत्सेवान्तरायरूपः पाप्मा यैरित्यात्मानम् अधिक्षिपति तेषां नित्यतादृशत्वेऽप्यय-मात्माऽपहतपाप्मेतिवत्तत्प्रयोगः॥ १७॥ तदनुरूपाणि तदवसरार्हाणि॥ १८-१९॥ एवं गोचारणलीलासामान्यप्रसङ्गो कादाचित्क-मप्याह—श्रीदामेति। स्तोककृष्ण इत्येव नाम न तु स्तोकेति विशेषणं तदग्रे तन्नामकरणानर्हत्वात् प्रेम्णा प्रियजनोचितप्रार्थनामयेन स्वव्याजेन तयोरेव तादृशभोजनेच्छामयेन च॥ २०-३४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ श्रीकृष्णस्य लीलावैचित्र्यं श्रीशुकः प्रपञ्चयति, एवमित्यादि। निगूढा अप्रकटा आत्मगतिरात्मनस्तत्वं सच्चिदानन्दादि-लक्षणः स्वभावो यस्य स तथा। कोऽर्थस्तस्मिन्नेव विग्रहे सन्नपि सच्चिदानन्दलक्षणो धर्मो मायया आवरिकाख्यमायया अभक्तान् प्रति न प्रकाश्यते, ते तु मनुजार्भक एवायमिति जानन्तीति गूढ़त्वदस्यायं भावः। अत आह—चरितैर्गोपार्भकत्वं विडम्बयन्ननुकुर्वन्, चरितैरेव, न तु श्रीविग्रहेण स तु सच्चिदानन्दलक्षणः। अत आह—रमा आनन्दिनी शक्तिस्तया लालितः पादपल्लवो यस्य, गोप-वालकैः सहेत्यर्थः। कैः क इव! ग्राम्यैः समं ग्राम्यवत् ग्राम्यैर्बालकैः समं ग्राम्यवालक इव। वस्तुतस्तु न तेऽपि ग्राम्याः, अयन्तु नैवेत्ये-वाह-ईशचेष्टित ईशेषु ईशप्रायेषु तेषु तथाविधैस्तैर्वा चेष्टितं चेष्टा यस्य। अन्यथा रमालालित-पादपल्लव इत्यनेनैवेश्वरत्वसिद्धेरीश-चेष्टित इति पौनरुक्त्यम्, चरितैर्गोपार्भकत्वं विडम्बयन्नित्यनेन सहापि विरोधश्च स्यात्॥ २०-३७॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एवं निगूढात्मगतिरित्यादि। चरितैश्चेष्टितैरेव गोप्यात्मजत्वं विडम्बयन्ननुकुर्वन्, न तु वस्तुगत्या रमा-लालितपादपल्ल-वोऽपि ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः सन् रेमे। ग्राम्यो जनो ग्राम्यैः सह यथा रमते, तथा रेमे, न तु तेऽपि ग्राम्याः, स्वयमपि न ग्राम्यः, यत् ईशचेष्टितः, इदमेव ईश चेष्टितं यस्य॥ २०-३७॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वयोगमायया आवृतात्मैश्वर्य्यः स्वयं गोपात्मजोऽपि चरितैर्गोपात्मजत्वं भूपालपुत्रत्वं विडम्बयन् तिरस्कुर्वन् सोऽप्येवं लीलां कर्त्तुं न जानातीति भावः। "गोपा गोपालके गोष्ठाध्यक्षे पृथ्वीपतावपि" इति मेदिनी ऐश्वर्यदृष्ट्या रमालालितपादपल्लवोऽपि तदावरणात् कैश्चिद्ग्राम्यैः बन्धुभिः सह कश्चिद्ग्राम्यो बन्धुरिव रेमे न केवलमावृतमेव तदैश्वर्यमित्याह—असुरमारणादिप्रसङ्गेषु ईशमैश्वर्य्यमयं चेष्टितं यस्य सः ॥ १९ ॥ ईशचेष्टितत्वमेव दर्शयितुमाह—श्रीदामेति। प्रेम्णेति कृष्णरामावेव स्वव्याजेन तालफलानि भोजयितुमित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

व्यजनैः तालवृन्तादिरूपैः ॥ १७ ॥ स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रीकृता धीर्येषां ते ॥ १८ ॥ निगूढा साधारणैर्जीवैर्दुर्लक्ष्या आत्मगतिर्यस्य सः कृपामात्रापेक्षया तु ईशस्य स्वस्यैव चेष्टितं यस्मिन् सः स्वमायया स्वसङ्कल्पेन गोपात्मजत्वं चरितैस्तदनुरूपैश्चेष्टितैः विडम्बयन् अनुकुर्वन् रमालालितपादपल्लवोऽपि ग्राम्यैः ग्रामेषूत्पन्नैः स्वकृपापात्रभूतैर्गोपदारकादिभिः समं सह ग्राम्यवत् बालक इव रेमे इत्यन्वयः ॥१९॥ श्रीदामा सुबलाद्याश्चेदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् सुबलश्च स्तोककृष्णश्च सुबलस्तोककृष्णौ तावादी येषां ते ॥२०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नियुद्धं सखिभिः सह भुजयुद्धं तेन श्रमः कपोलादिगतमौक्तिकसुन्दरस्वेदकणादिकरस्तेन कर्षितः कृशवत् प्रतीतः तेन तेषाञ्च तत्समं विक्रमत्वं सूचितं "गोपैः समानगुणशीलवयोविलासैः" इत्यागमोक्तेश्च श्रमत्वेन भृत्यसेवाभिलाषादुदितस्तत्सेवारुचिरेव तस्याः अष्टादशदोषविरहस्मरणात् ॥ १७ ॥ सेवामाह—पादेति। हतपाप्मानो दहरवन्नित्यनिवृत्तदोषाः व्यजनैस्तालवृन्तैर्वा-लव्यजनैश्च ॥ १८ ॥ तदनुरूपाणि यशांसीति शेषः ॥ १९ ॥ उपसंहरति—एवमिति। एवं वृन्दाटवी क्रीडाप्रकारेण रेमे रतिं प्राप तेन वैकुण्ठविहारेषु नेदृशी रतिरिति सूच्यते स्वेषु मायया कृपया नितरां गूढा मुकुराधरचित्रवन्नरचेष्टान्तरवस्थापितात्मगतिर्विशुद्ध निजैश्वर्यं येन सः स्वेभ्यो विशुद्धं तत्र रोचेतेति भावात् स्वयं गोपात्मजोऽपि चरितैः पूतनादिवधरूपैरन्यद् गोपात्मजत्वं पृथ्वीपतिपुत्रत्वं वा विड्म्वयन् तिरस्कुर्वन् तत्र तत्र तत्तल्लेशस्याप्यभावात् रमया एवं वृन्दावनं श्रीमदित्याद्यधिगतया श्रीगोकुलमहालक्ष्म्या ललिताचीप्सितौ पादपल्लवौ यस्य सः यद्यपि निजैश्वर्यं तेनानिगूह्यते तथापि क्वाप्यसुरमारणादौ तद्व्यक्तीभवेदित्याह—ईशमैश्वर्यमयं चेष्टितं यस्य सः स्वैः सार्द्धं विहारे तु तन्नास्तीत्याह ग्राम्यैर्बन्धुभिः समं ग्राम्यो बन्धुर्यथेति ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तदनुरूपाणि चरितानीति पूरणीयम्। स्नेहेनैतत्पादस्य कृष्णहस्तस्पर्शायोग्यत्वादेवोत्तरत्र गूढत्वप्राप्तिः फलमित्युत्प्रेक्ष-यन्ति। भक्तिरसेन क्लिन्ना आर्द्रा धीर्येषां ते तथा शनैर्निद्राविद्रुतिदरतः ॥ १७ ॥ एवं निगूढात्मनो मतिर्यस्य स स्वरूपभूतेस्यात्म-मतिर्यस्येति वा। गूहनमीहात एव नेतरत इत्याह ॥ स्वमाययेति। स्वेच्छयेत्यर्थः। चरितैः कर्मभिर्गोपात्मजत्वं विडम्बयन्ननुकुर्वन् रमालालितपादपल्लवोऽपि ग्राम्यैरश्लीलजनैः समं साकं रेमे। नरेषु जनने नरवत्प्रवृत्ती रत्योदेरासे चेष्टितं ग्राम्यवदश्लीलवद्भवति। अयं चानुकरणस्य महामहिमा ॥ १८ ॥ हरिचरणस्मरणपरवशचेताः शुकः स्वयमवन्यादिधन्यतां मनस्यानीय लोकानपि प्रकाशयति ॥ धन्येति। अद्य धरणीयं धन्या तृणवीरुधस्तृणानि श्रीतृणानि धन्यास्तत्र तन्त्रम्। यत्पादस्पर्शो यस्य हरेः पादौ स्पृशन्तीति तास्तथा नद्योऽद्रयश्च धन्याः सदयावलोकैः खगमृगा धन्याः श्रीरपि यत्स्पृहा स्पृच्छा यस्याः सा तद्भुजयोरन्तरवक्ष-रसालिङ्गितेन गाप्यो धन्याः। परवश्रीरियमति न पूर्वोत्तरसङ्गतिरतस्याः ॥ १९ ॥ प्रकृत आह ॥ श्रीदामेति। सुबलादयः श्रीदाम्न एकस्य कृष्णाद्यान्गोपान्प्रेम्णा स्नेहेनेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रम्णेदमब्रुवन्निति पाठः सरलः। श्रीदाम्न एकस्य-कृष्य कथने निमित्तं बहुप्रेमपात्रता। सुवलः कृष्णश्चान्यौ बलकृष्णाभ्याम् ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

भक्तिरसमाह पादसंवाहनं चक्रुरिति केचिदिति दुर्लभाः, अस्येति, शान्तरसाभिनयकर्तुः सर्वरसास्वादकस्य वा, महात्मन इति, ततोऽप्यधिकस्य रसान्तरमुत्पादयितुं समर्थस्य, पादसंवाहनमत्र दास्यं, पुनः कर्ममार्गानुसारेणापि भक्तिं कुर्वाणा हतपाप्मानो निष्कल्मषाः, कर्मिणां पापसम्भावना वर्तत इति तन्निराकरणार्थमुक्तं हतपाप्मान इति, ते ह्यासन्योपासकाः पूर्वं तेनैव तथा कृताः, अतो वायोः साम्यात् तदभिव्यक्तिहेतुभिर्व्यजनैः सम्यग्वीजयन्, एवमुभयविधा अपि भगवत्सेवालक्षणं भक्तिरसं भगवत्सन्निधानाल्लभन्त इति भक्तिरससहिता भगवत एव लीला ॥ १७ ॥ एवं रूपप्रपञ्चानुसारेण लीलामुक्त्वा नामप्रपञ्चानुसारेणापि लीलामाहात्म्य इति, भगवतोऽनुरूपाणि योग्यानि न त्वननुरूपाणि, निरोधार्थं केवलं कृतानि मनोज्ञानि मनोहराणि भगवतो

भक्तानां च, यद् भगवता गोप्यं तत्प्राकट्यं भगवतो मनोहरं भवति भक्तानां तु भक्तिमार्गविरुद्धं, महात्मन इति, भगवति सर्वं सम्भवति, अतो भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवान् कीर्तनीय इतिज्ञापनार्थं महात्मन इत्युक्तं, गानं रागानुसारेण भगवद्गुणोपनिबन्धयुक्तानां कीर्तनं, स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणं, महाराजेतिसम्बोधनं राजलीलात्वज्ञापनाय, तेषामपि प्रेमोद्गमो भगवत्सान्निध्याद्भीष्टगुणाच्च जात इति सर्वलीलान्ते तेषां प्रेमोच्यते स्नेहक्लिन्नधियः शनैरिति, स्नेहेन क्लिन्ना धीर्येषां, आर्द्रवाससा स्पृष्टं सर्वमार्द्रमिव भवतीति ज्ञापयितुं तेषां गानमपि तथा जातमित्याह शनैरिति, एतदन्तैव भगवल्लीला ॥ १८ ॥ अतः परं जीवाः सायुज्यमेव प्राप्स्यन्तीति कैः सह लीला कर्तव्या स्यादत उपसंहरत्येव, एता एव दशविधलीला यत्र क्वचिद् भगवत उच्यन्ते, अग्रे भगवतो राजसीं सात्त्विकीं च लीलां वक्ष्यन् तामसीयं गोकुले ग्राम्यैः सह कृतेत्याह, ननु ज्ञानरूपे भगवति कथमियं लीला सम्भवति ज्ञानस्य तमोविरोधित्वात् ? तत्राह निगूढात्मगतिरिति, नितरां गूढा आत्मनो गतिर्ज्ञानलीला यस्य, स्वमाययेत्युभयत्र सम्बध्यते, स्वाधीनमायया गोपात्मजत्वमपि चरितैः कृत्वा विडम्बयत्यनुकरोत्युपहसति वा, न हि गोपा एतादृशा भवन्ति, अतो महानल्पस्य नाम स्वस्मिन् स्थापयंस्तानुपहसत्येव, चरितान्यलौकिकानि, विडम्बनं चालौकिकचरित्रैर्न भवतीति माया तेषु सहकारिणी क्रियते, बहूनामेव चरित्राणां बहुधा प्रदर्शितानां विडम्बनं सिध्यति, अतः स्वरूपं गोपयन् गोपानुकरणं चोपहसन् रेमे, लीलादावुक्ताया लक्ष्म्या उपसंहारे विनियोगमाह रमालालितपादपल्लव इति, क्रीडान्ते पादसंवाहनं पतिव्रताया धर्मः अन्यथा समतया गता भक्तिर्न पुनरागच्छेत्, अतः प्रत्यापत्त्यर्थमन्तेवश्यं पादसंवाहनं कर्तव्यं एतादृशोपि ग्राम्यैः समं ग्राम्यरसानुभवार्थं ग्राम्यवदेव रेमे, अन्यथा विजातीये रसो नोत्पद्येत, ईशचेष्टित इति भगवतोप्यन्ते प्रत्यापत्तिः, ईशस्येव चेष्टितं यस्येति "लोकवत् तु लीलाकैवल्य"मितिन्याय उपदर्शितः, ईश्वरा अप्याखेटकादिरूपां व्याधवल्लीलां कुर्वन्ति तथैतदपि भगवता कृतमिति ॥ १९ ॥ एवं गोपानां संस्कारार्थं लीलां प्रदर्श्य तेषां दोषनिराकरणार्थं धेनुकवधलीलां प्रस्तावयति श्रीदामानामेति विंशत्या, श्रीर्दाम यस्य, लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चित् तद्भ्रातेव, सोपि गोपालो नन्दवंशोद्भवो रामकेशवयोः सखा साधारणः सख्यपर्यन्तमागतः स्त्रीसम्बन्धी लीलासम्बन्धी भक्तिसम्बन्धी च, तादृशानन्यानपि गणयति सुबलेति, स्तोको भिन्नः, कृष्णो भिन्नः, स्तोककृष्णश्चापरः सुबलो बलभद्रानुसारी स्तोककृष्णो भगवदनुसारी सुबलस्तोककृष्णवेवाद्यौ येषां, ते सर्वे सम्भूय प्रेम्णा स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रार्थयन्ति ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अन्ये तदनुरूपाणीत्यत्र, भगवति सर्वं सम्भवतीति भक्तिमार्गे विरोधलीलाया अभावात्तत्कृतो मनोज्ञत्वपरिहारोनुपपन्न इत्यत आहुः महात्मन इत्यस्य तात्पर्यं भगवतीत्यादिना । यथा रोदनं यथा वाग्रे सर्वज्ञत्वेन जानन्नपि भक्तपरीक्षार्थमसन्तमपि भक्तदुःखहेतुं कालीयह्रदे प्रदर्शितवान् । तथाविधा लीला न गीतेत्यर्थः ।॥ १८ ॥ एवं निगूढात्मगतिरित्यत्र, स्वकार्याकरणमेवात्र निगूढत्वम्, तेन तद्विपरीतकार्यसम्भवोपि । अत एव पूर्णशृङ्गाररसात्मत्वं संगच्छत इति दिक् । ॥ १९ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पादसंवाहनमित्यत्र भक्तिरसमिति गोपानां भक्तिरसं, ततोप्यधिकस्येति नवरसास्वादनापेक्षयाप्यधिकरसास्वादकस्य, कथं तदित्यत आहु रसान्तरमित्यादि, नवभ्यो रसेभ्योन्यो रसो सान्तरं भक्तिरसमन्यत्रोत्पादयितुं समर्थस्य, दास्यमत्र सख्यान्तरभावि ज्ञेयम् ।। १७ ॥ अन्य इत्यत्र भगवति सर्वं सम्भवतीत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्भक्तिमार्गेत्यादि, सुबोधिन्यामभीष्टगुणादित्यभीष्टगुणप्राप्तेरित्यर्थः, एतदन्तैवेति स्नेहान्तैव, क्वचित् पल्लवेत्यादिचतुर्षु पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा" इतिकारिकोक्ताः पुष्टिमार्गीयायाश्चतुर्विधा ज्ञातव्याः ॥ १८ ॥ एवमित्यत्राभासेतःपरमिति लीलाजन्यस्नेहोत्तरं पुनर्लीलाकरणे, इत्याहेतीतिहेतोः प्रकारभेदोपसंहारमाहेत्यर्थः, नितरां गूढेतिनिगूढपदतात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः स्वकार्याकरणमित्यादि, सुबोधिन्यां सहकारिणी क्रियत इति, तथा चालौकिकेष्वेव सा तथा प्रदर्शयतीतिभावः ॥ १९ ॥ श्रीदामेत्यत्राभासे संस्कारार्थमित्यलौकिकभावसिद्ध्यर्थम् । राम रामेत्यत्र प्रथमरामसम्बोधने हेतुमाहुः कायिकश्चेत्यादि, अयमाध्यात्मिकः कायिकदोषो बलदेवेनैव दूरीकर्तव्य इतिभगवदिच्छाज्ञानात् तथेत्यर्थः ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पादसंवाहनमित्यत्र अत्र दास्यमिति पूर्वश्लोकोक्तं चरणसंवाहनं योगिकृतत्वादात्मनिवेदनरूपं, अत्रोक्तं गोपकृतत्वाद् योगिषु गतेषु गोपैः कृतं यद् दास्यं तादृशदास्यरूपं न त्विदं द्वयमपि पादसेवनभक्तिरूपं, तथा सत्यज्ञान्तरमर्दनादिकं न प्राप्येत, अत एव लक्ष्मीकृतजानुसंलालने 'करपल्लवरोचिषे'ति पदे तस्याः सभयत्वमेव व्याख्यातं, एवमुभयविधा इति हरिसेवयैव देहादीनां ब्रह्मभावं सम्पाद्य सायुज्यं प्राप्ता आसन्यस्य सेवया इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य हरिसेवया ब्रह्मभावरूपं सायुज्यं प्राप्ताश्चेत्यर्थः ॥१७॥ अन्य इत्यस्याभासे तां लीलामाहेति भक्तिरसलीलामित्यर्थः, अन्य इत्यत्र भक्तानां त्विति भक्तानां भक्तिमार्गविरुद्धं चरित्रममनोहरमित्यर्थः, तथा च यत्प्राकट्यं भगवतोनभीष्टं तदन्तरङ्गचरित्रं भगवतोऽमनोहरं, भक्तानाममनोहरं रोदनादिचरित्रं च न गीत-

मित्यर्थः, अनुरूपाणीत्यनेन बालभावाननुरूपपूतनामारणादिचरित्रव्युदासो ज्ञेयः, भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्चेति स्नपयोक्त नामलीलातश्च प्रेमोद्गमः "स्नेहक्लिन्नधियः शनैः"रितिपदद्वयेनोक्त इत्यर्थः, गानस्य शनैस्त्वे हेतुमाहुः आर्द्रवाससेति, इति दयान्वित क्लिन्नधीकृतगानस्यापि क्लेशाच् छनैस्त्वमित्यर्थः, सायुज्यमिति नित्यलीलास्थितिमित्यर्थः, कैः सहेति नित्यलीलास्थिताविति निवर्तनीयदेहाद्यध्यासाभावाद् धेनुकवधादिलीला कैः सह स्यादित्यर्थः ॥ १८ ॥ एवमित्यत्र तामसीति यत्र भगवानपि स्वस धर्मांश्च विस्मृत्य रन्तुं प्रवृत्तस्तादृशीत्यर्थः, ज्ञानस्येति तद्धर्मरूपस्येति शेषः, तमो विरुणद्धि तादृशत्वात् तस्येत्यर्थः, ज्ञानमिति धर्मरूपं ज्ञानमित्यर्थः; टिप्पण्यां स्वकार्येति स्वस्य धर्मरूपज्ञानस्य कार्यं तमसो विरोधः कार्यप्रतिबन्धस्तत्करणमित्यर्थः, तेनेति प्रतिबन्धाभावेन हेतुना तद्विपरीतस्य तमसः कार्यंसम्भव इत्यर्थः, सुबोधिन्यां, चरितानीति गवाह्वानादिचरितान्यलौकिकानि मोक्षदानरूपाणि, तथात्वज्ञानं मायया प्रतिबध्यते इति गोपात्मजत्वादेव करोतीत्येव ज्ञानं भवतीत्यर्थः, चरितैरितिबहुवचनस्या माहुः बहूनामेवेति ॥१९॥ श्रीदामेत्यस्याभासे संस्कारार्थमिति नित्यलीलायोग्यतार्थमित्यर्थः, दोषनिराकरणार्थमिति तनुनवत्व सिद्ध्यर्थमित्यर्थः, श्रीदाम यस्येति सा सूत्रं यस्य तत्सन्देशादिद्वारा सेवाकर्तेत्यर्थः ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

व्रजरमणीनामपि भक्तिरस उदेति, अयं भगवान् न लौकिकनायक इत्यस्माभिरप्येतस्य भजनमेव कार्यं भक्तिलभ्यत्वात् पुरुषोत्तमस्येति, एवमत्र भक्तिरसोपि श्रृङ्गाररसाङ्गभूत एव, मातृचरणानां तु स्वतन्त्र एव पुत्रभावरूपो भक्तिरसः "ततो भक्ति र्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने" इति वाक्यात् ॥ १७ ॥ एवं निगूढात्मगतिरित्यस्य व्याख्याने एता एव लीला यत्र क्वचिदिति एतासु दशविधलीलास्वेव सर्वश्रृङ्गारसम्बन्धिलीलानामन्तर्भाव इति हार्दम, रमालालितपादपल्लव इत्यत्र समतया गतेति रत्यां हि समत्वमपेक्षितं, तुल्यतायां तु न भक्तिरसोतो रमणसमये तुल्यतां कृत्वापि पुनर्भक्तिलाभार्थं श्रीलक्ष्मीः पादसंवाहनं करोति स्मेत्यर्थः ॥ १९ ॥ श्रीदामा नामेत्यस्य विवृतौ लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चिद् तद्भ्रातेवेति इह लक्ष्मीपदेन मुख्यस्वामिनी श्रीवृष भानुनन्दिनी ग्राह्या, वैष्णवास्तां लक्ष्मीं "परां राधां प्रचक्षते" इति ब्रह्मवैवर्ते लक्ष्मीपदवाच्यतोक्तेः तस्याः श्रीदामा भ्राता भवति वेति स्फुटं ब्रह्मवैवर्तादौ प्रसिद्धिश्च, भ्रातेवेत्यत्र इव पदोपादानं तु श्रीस्वामिन्या भगवद्रूपत्वादयोनिजनुस्त्वख्यापनार्थं, सोपि गोपालः नन्दवंशोद्भव इति श्रीनन्दस्य सम्बन्धी यो वंशः यदुवंशः तत्रोद्भवो यस्येत्यर्थः, पुराणे श्रीनन्दस्य श्रीवृषभानोश्च यदुवंशोद्भवत्वकथनात् ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा केचिद्गोपास्तस्य महात्मनः श्रीकृष्णस्य पादसंवाहनं चक्रुः। अपरे तु गोपा व्यजनैः पल्लवादिनिर्मितैः समवीजयन् सम्यग्मन्दमधुरचालनादिनुद्रया अवीजयन् । एवं भगवत्सेवा विशुद्धान्तःकरणानामेव सम्पद्यते, इत्याशयेनाह–हतेति। बहुजन्मा र्जितैः सुकृतैः हतो नष्टः पाप्मा येषां ते ॥ १७ ॥ अन्ये तत्स्नेहेन विक्लिन्ना आर्द्रा धीर्येषां ते तदनुरूपाणि तस्य शयनस्यानुरूपाणि योग्यानि, अत एव महात्मनस्तस्य कृष्णस्य मनोज्ञानि सुखकराणि गीतानि शनैः यथा निद्राभङ्गो न स्यात्तथा गायन्ति स्म। हे महाराज !' इति सम्बोधनेन राज्ञामपि शयनं एवमेव भवति, तत्तु तव विदितमेवेति भावः ॥ १८ ॥ वस्तुतो रमया लक्ष्म्या लालितौ पादपल्लवौ यस्य स भगवानेव स्वमायया स्वेच्छया निगूढा आच्छादिता आत्मनो गतिस्तत्त्वं येन सः स्वचरितैर्गोपालजत्वं विड बयन् अनुकुर्वन् ग्राम्यैर्गोपैः समं सह ग्राम्यवत् एवमुक्तप्रकारेण रेमे इत्यन्वयः । ननु 'स भगवानेवायम्, इत्यत्र किं ज्ञापकं तत्राह ईशचेष्टित इति । ईशस्य चेष्टितानि देवादिष्वप्यसम्भावितानि असुरसंहारादीनि कर्माणि यस्य सः ॥ १९ ॥ ईशचेष्टितत्वमेव दर्श यितुं चरित्रान्तरमाह–श्रीदामेति । रामकेशवयोः सखायः श्रीदामाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन्नित्यन्वयः । प्रेम्णा 'इत्यनेन स्वार्थप्रार्थना व्याजेन तावेव तालफलानि भोजयितुमिति सूचयति ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पादेति ॥ हतः पाप्मा पापं येषां ते केचिद् गोपास्तस्य महात्मनः श्रीकृष्णस्य पादसंवाहनं चक्रुः । अपरे तु गोपा व्यजनैः पल्लवादिनिर्मितैः समवीजयन् ॥ १७ ॥ अन्ये इति ॥ हे महाराज ! अन्ये तत्स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रा धीर्येषां ते तदनुरूपाणि हरिगुणानुरूपाणि अत एव मनोज्ञानि रुचिराणि महात्मनो हरेर्यशांसि इति शेषः । शनैर्गायन्ति स्म । यद्वा । तदनुरूपाणि पूर्वोक्तशयनस्यानुरूपाणि अतो महात्मनः कृष्णस्य मनोज्ञानि सुखकराणि गीतानि शनैः निद्राभङ्गो यथा न स्यात्तथा गायन्ति ॥१८॥ एवमिति ॥ स्वचरितैर्गो पात्मजत्वं विडम्बयन् अनुकुर्वन् स्वमायया निगूढा आच्छादितात्मनो गतिस्तत्त्वं येन सः तादृशोऽपि क्वचिदन्तरान्तरा ईशस्येवेदं मयं चेष्टितं यस्य सः रमया लक्ष्म्या लालितौ पादपल्लवौ यस्य स भगवान् ग्राम्यैर्गोपैः समं सह ग्राम्यवदेवमुक्तप्रकारेण रेमे ॥ १९ ॥ ईशचेष्टितत्वं दर्शयति —श्रीदामेति ॥ रामकेशवयोः सखा श्रीदामा नाम गोपालः तथा अन्येऽपि तयोः सखायः सुबलः स्तोककृष्ण श्रेत्याद्या गोपाः प्रेम्णा स्वव्याजेन रामकृष्णावेव तालफलानि भोजयितुमित्यर्थः । इदं वचनमब्रुवन् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

युद्धश्रमेण कर्षितः पीडितः वृक्षमूलान्येव आश्रयः स्थानं यस्य सः गोपानामुत्संगः अंक एव उपबर्हणं मस्तकस्याधोधृत्यर्थमुपधानं यस्य सः शेते ॥ १७–१८ ॥ स्नेहेन क्लिन्ना आर्द्रा धीर्येषां ते ॥ १३ ॥ स्वमायया स्वयोगसामर्थ्येन निगूढा गोपिता आत्मनः स्वस्य गतिरैश्वर्य्यप्रसरण येन तथाभूतः सन् ईशचेष्टितः गुप्तैश्वर्य्यत्वेपि ईशानि ब्रह्मादिनियामकानि चेष्टितानि यस्य विडंबयन् अनुसरन् ॥ २०–२१ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पादसंवाहनमिति ॥ तदा केचित्, महात्मनः तस्य कृष्णस्य, पादसंवाहनं चक्रुः । अपरेऽन्ये, हतपाप्मानः सेवालाभान्निवृत्तसकलपापाः सन्तः, व्यजनैस्तरुपल्लवनिर्मितैस्तालवृन्तैः, समवीजयन् ॥ १७ ॥ अन्य इति ॥ हे महाराज परीक्षित्, अन्ये, स्नेहक्लिन्नधियः प्रेमार्द्रचित्ताः सन्तः, मनोज्ञानि हृदयंगमानि, महात्मनः कृष्णस्य, तदनुरूपाणि तदानीं तस्यामवस्थायां वा कर्त्तुं योग्यानि संचेष्टितानि, शनैः गायन्ति स्म ॥ १८ ॥ एवमिति ॥ एवमित्थं, निगूढा नितरां गुप्ता आत्मगतिः स्वात्मानुभूतिर्येन सः, स्वमायया स्वसंकल्पेन, चरितैः रचितैश्चेष्टितैः, गोपात्मजत्वं गोपबालकभावं विडम्बयन्ननुकुर्वन्, रमया लालितौ पादावेव पल्लवौ यस्य सः, एवंभूतः कृष्णः, ईशचेष्टितः मध्ये मध्ये परमेश्वरासाधारणचेष्टितानि प्रदर्शयन् सन् इत्यर्थः । ग्राम्यैः प्राकृतैः समं सह, ग्राम्यवत् ग्राम्यैस्तुल्यमेव, रेमे ॥ १९ ॥ तदेव दर्शयति श्रीदामेत्यादिना ॥ श्रीदामेति ॥ रामकेशवयोः बलकृष्णयोः सखा, नाम प्रसिद्धः, श्रीदामा, सुबलश्च स्तोककृष्णश्च तावाद्यौ मुख्यौ येषां ते, गोपाः प्रेम्णा हेतुना, इदं वक्ष्यमाणवचनं, अब्रुवन् रामकृष्णावुद्दिश्य कथयामासुः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ग्राम्यैरितिः १०.१५.१९

ग्राम्योऽपि चेत्त्वत्पदपद्मसक्तस्त्वं प्रीणयस्यन्वहमात्तलीलः । अदर्शि गोपालजने स्फुटं तत् कृपानिधे वञ्चय नाधुना माम् ॥३३॥

श्रीदामेति : १०.१५.२०

तारोल्लसद्रसफलाननुभवो न भक्तियोगं विना प्रभवितेत्यवलोक्य गोपाः ।
कृष्णं सराममखिला भृशमार्थयन्त प्राप्तुं तमर्थमिति युक्ततरं विभाति ॥ ३४ ॥

कृष्णप्रिया

परीक्षित् ! उस समय कोई कोई पुण्य के मूर्तिमान स्वरूप ग्वालबाल महात्मा श्रीकृष्ण के चरण दबाने लगते और दूसरे निष्पाप बालक उन्हें बड़े-बड़े पत्तों या अँगोछियों से पंखा झलने लगते ॥ १७ ॥ किसी किसी के हृदय में प्रेम की धारा उमड़ आती तो वह धीरे-धीरे उदारशिरोमणि परममनस्वी श्रीकृष्ण की लीलाओं के अनुरूप उनके मन को प्रिय लगने वाले गीत गाने लगता ॥ १८ ॥ भगवान् ने इस प्रकार अपनी योगमाया से अपने ऐश्वर्यमय स्वरूप को छिपा रक्खा था । वे ऐसी लीलाएँ करते जो ठीक-ठीक गोपबालकों की सी ही मालूम पड़ती । स्वयं भगवती लक्ष्मी जिनके चरण कमलों की सेवा में संलग्न रहती हैं वे ही भगवान् इन ग्रामीण बालकों के साथ बड़े प्रेम से ग्रामीण खेल खेला करते थे । परीक्षित् ! ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करती थी ॥ १९ ॥ बलरामजी और श्रीकृष्ण के सखाओं में एक प्रधान गोप बालक थे श्रीदामा एक दिन उन्होंने तथा सुबल और स्तोककृष्ण (छोटे कृष्ण) आदि ग्वालवालों ने श्याम और राम से बड़े प्रेम के साथ कहा ॥ २० ॥

राम राम [1]महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण । इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥ २१ ॥
फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च । सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥ २२ ॥
[2]सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् । आत्मतुल्य[3]बलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ २३ ॥
तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् । न [4]सेव्यते पशुगणैः [5]पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम्[6] ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—राम राम महाबाहो दुष्टनिबर्हण कृष्ण इतः अविदूरे तालालिसङ्कुलं सुमहद् वनं (अस्ति) ॥ २१ ॥ तत्र भूरीणि फलानि पतितानि पतन्ति च किन्तु दुरात्मना धेनुकेन अवरुद्धानि सन्ति ॥ २२ ॥ हे राम कृष्ण सः खररूपधृक् अतिवीर्यः असुरः अन्यैः आत्मतुल्यबलैः बहुभिः ज्ञातिभिः वृतः ॥ २३ ॥ अमित्रहन् कृतनराहारान् तस्मात् भीतैः नृभिः न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैः च विवर्जितम् ॥ २४ ॥

१. महासत्त्व–वीर. । २. सोतितीव्रो -विज. । ३. साम्य–द्विज. । ४. न सेव्यन्ते–विज. । ५. पक्षिसङ्घवि–विज. । ६. इदमर्धं नास्ति ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तालालिसंकुलं तालानां पंक्तिभिर्व्याप्तम् ॥ २१–२४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

दुष्टानां निवर्हण उन्मूलकः। अविदूरे निकटे। इतः अस्मात्प्रदेशात्। हे रामेति रमसे क्रीडसीति तन्नामनिरुक्तैरेतामप्य- शक्यां क्रीडां कुरु। किं वा–रमयसि क्रीडयसि सुखयसि वेति तयाऽस्मान्रमयेति भावः। वीप्सादरे। महासत्त्वेति तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः। हे कृष्णेति परमानंदप्रदस्वभावत्वेन सर्वाकर्षकत्वादस्माकमपि सुखं कर्त्तुमर्हसीति भावः। दुष्टनिवर्हणेति। वत्सा- सुरादीनां तस्मात्साक्षाद्बधदृष्टेः। इतो गोवर्द्धनादविदूरे क्रोशचतुष्टयांतरे'तारफरा–तालसी' इतिख्यातप्रदेशगतं वनम्।"अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुररक्षितम्। मथुरापश्चिमे भागे ह्यदूरादेकयोजनम्॥" इति वाराहोक्तेः। पश्चिमे पश्चाद्भवे भागे नैरृतकोण इति व्याख्येयं, तत्रैव दर्शनात्। श्लेषेण तालानामलिवर्णत्वेनातिस्वादुजातीयत्वं ध्वनितम्। हे राम तव महासत्त्वपरीक्षा हे कृष्ण तवापि दुष्टनिबर्हणपरीक्षा, अद्यकर्त्तव्येति भावोयं तयोः सख्यभावेन बलिष्ठत्वज्ञानान्न प्रेम्णि विरुध्यते, प्रत्युत वीररसोत्साहोद्दीप- नत्वेन संरुध्यत एवेति ज्ञेयम्॥ २१॥ तत्र तालवने। यद्यपर्येव पाकं गतानि तर्हि अस्माकं किमिति चेत्तत्राह–पतितानीति। तर्ह्या- नीय भुज्यतामिति चेत्तत्राह–धेनुकेनेति। तर्हि तं पृष्ट्वानीयतामिति चेदाह–दुरात्मनेति। प्रार्थितोऽपि दुरात्मा न प्रसीदतीति भावः॥ २२॥ तत्र गत्वा प्रसह्य भुज्यंतामिति चेदाह–अतिवीर्य इति। एकाकिनं तं निष्कास्य पुनः स्वकार्यं क्रियतामिति चेत्त- आत्मतुल्यबलैरिति॥ २३॥ तत्र तु गमनमेवास्माकं दुर्घटमित्याहु–तस्माद्धेनुकात्। वनमिति शेषः। त्वमेव तादृशानां हंतेत्याहुः– हे अमित्रहन् शत्रुनाशक॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

हे रामेति रमसे क्रीडसीति तन्नामनिरुक्तैरेतामप्येकां क्रीडां कुरु किं वा रमयसि क्रीडयसि सुखयसि वेति तयास्मान् रमयेति भावः। वीप्सा आदरे प्रोत्साहनार्थम् अत एव त्वामेवादौ सम्बोधयाम इति भावः। हे महासत्त्वेति तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः। हे कृष्णेति परमानन्दप्रदस्वभावत्वेन सर्वाकर्षकत्वादस्माकमपि सुखं कर्त्तुमर्हसीति भावः। हे दुष्टनिबर्हणेति वत्सासुरादीनां तस्मात्साक्षाद्बधदृष्टेः अतस्तालवनरोधकधेनुकवधार्थमपि तालपातनादिकं युक्तमेवेति भावः। एवं दुष्टनिबर्हणेति श्रीकृष्णबलस्य सार्थकत्वं वदन्तो महासत्त्वेति तद्बलस्य विफलत्वं दर्शयन्तस्तमुत्तेजयन्ति इतः श्रीगोवर्द्धनादित्यर्थः। प्रायस्तत्रैव तदा गोचारणात् तथा च श्रीहरिवंशे तत्प्रसङ्ग एव—

"आजग्मतुस्तौ सहितौ गोधनैः सह गामिनौ। गिरिं गोवर्द्धनं रम्यं वसुदेवसुतावुभौ"॥ इति।

अविदूरे अनतिदूरे श्रीगोवर्द्धनपूर्वतः क्रोशचतुष्टयान्तरे वृत्तेः तथा च वाराहे —

"अस्ति गोवर्द्धनं नाम क्षेत्रं परमदुर्लभम्। मथुरापश्चिमे भागे अदूराद्योजनद्वयम्"॥ इति।

तथा—

"अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुररक्षितम्। मथुरापश्चिमे भागे अदूरादेकयोजनम्"॥ इति।

अत्र तु नैरृतपश्चिमयोरभेदः यत्तु श्रीहरिवंशे "गोवर्द्धनस्योत्तरतो यमुनातीरमाश्रितम्। ददृशातेऽथ तौ वीरौ रम्यं तालवनं महत्" इति। तत्र गोवर्द्धनस्योत्तरभागे तदन्तर्गतैशानकोणे स्थित्वा ददृशाते इति ल्यब्लोपे पञ्चमी। यमुनातीरमाश्रितमिति मधुवनमध्यस्थिताया मधुपूर्य्या मधुवनसीम्नः परस्तादग्निकोणस्थयमुनाभागान्तमारभ्य रेखारूपतया स्थितस्य तस्य वनस्य प्रान्तस्तत्तीरभागः तालसीनामा तु ग्रामो मध्यत्वान्मुख्यो भागस्तत्पुर्य्या नैरृतकोणस्थः तस्य च पश्चिमस्यां तारफरनामाऽन्यस्तस्यैव इति तद्विशेषश्च हरिवंशे—

"स तु देशः समः स्निग्धः सुमहान् कृष्णमृत्तिकः। दर्भप्रायः स्थलीभूतो लोष्ठपाषाणवर्जितः"॥ इति॥ २१॥

ततः किमित्याशङ्क्य साभिलाषमनुवदन्ति–फलानीति। पतन्ति पतितानि चेति निर्भरस्वयम्पक्वत्वेनातिमधुरत्वं पुन- नश्वरत्वं च व्यञ्जितं तथा पातनप्रयासोऽपि निरस्तः इति। प्रायो भाद्रमासे क्रीडेयं तस्मिन्नेव सर्वेषां तालानां पाकात् एवमियं लीला श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तानुसारेण ग्रीष्मकृतकालियदमनानन्तरं ज्ञेयं तत्र विष्णुपुराणे क्रमप्राप्तत्वमेव कारणं हरिवंशे तु "दमिते सर्पराजे तु कृष्णेन यमुनाह्रदे" इत्यारभ्य सा लीला वर्णितेति स्पष्टमेव तदिति। ननु, तर्हि युष्माभिर्गत्वा तानि वन्यत्वेन साधारणानि स्वयमानीयन्तां तत्राहुः अवरुद्धानि ननु तस्य किं तैः प्रार्थ्यानीयन्तां तत्राहुः—दुरात्मनेति। अतस्तं हत्वा तानि ग्रहीतुं युक्तम् एवेति भावः॥ २२॥ तद्भीत्या न च कैश्चिदपि तत्फलानि भुक्तानि सन्तीत्युत्तेजयन्ति, स इति द्वाभ्याम्। अतिवीर्यः महाबल

रामं प्रत्युक्तिर्मह्त्त्वव्यंजननाय खररूपधृगिति कृष्णं प्रत्युक्तिः प्रियसखस्य रसिकशिरोमणेस्तस्यं हासाय (यद्वा, द्वौ प्रत्येव द्वयं खररूपधृगप्यतिवीर्यं इत्यतोऽवज्ञया न योद्धव्यमिति भावः) विशेषणद्वयसमाहारस्य तु खररूपधृगप्यतिवीर्य्यं इत्यतः स तु नापरैर्बाध्यत इति भावः । किञ्च, ज्ञातिभिरिति तेषामपि तत्रात्यन्तसाहाय्यं दर्शितम् ॥२३॥ तस्मादिति सार्द्धकम् दुरात्मतामेवाभिव्यञ्जयन्ति—कृतनराहारादिति । अत्र न सेव्यत इत्यर्द्धं पद्यमनेकत्र, किं त्वनन्वितं चकारात्स्वादूनि च अभुक्तपूर्वाणामपि सौरभ्येणैव साक्षादिवावेदयन्ति, एष इति । वै निश्चये गन्धोऽवगृह्यते उपलभ्यत इति प्रायोऽस्मिन् देशे भाद्रमासे वृष्टघनुकूलपौरस्त्यवातात् एवं फलानामुत्कृष्टत्वं निकटवर्त्तित्वं च सूचितं तदेतत्सर्वं श्रीकृष्णरामयोरज्ञातमिव मत्वा तैर्यज्ज्ञापितं तत्तु ताभ्यां नर्मणा तस्याज्ञातस्येव क्रमशः पृष्टत्वादिति ज्ञेयम् ॥ २४–२५ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं प्रथमदिन क्रीड़याप्यन्यदिनक्रीडामप्युपलक्ष्याधुना कदाचिन्निजप्रियजनप्रीत्यै गो–पालने किञ्चिदैश्वर्य्यमपि साक्षान् प्रकटितवानिति प्रसंगादाह—श्रीदामेत्यादिना । सुबलाद्याश्च सखायः । श्रीदाम्नः प्राग्निर्देशः सख्यातिशयेन श्रेष्ठ्यात्, तादृशोक्तौ तस्य मुख्यत्वाद्वा; स्तोककृष्ण–नामा कश्चिद्गोपः कृष्णसनामत्वेन सखित्वाद्यर्थम्; यद्वा, कृष्णात् प्राग्जातस्य तस्य कृष्णेति नामकरणात्, तथापि सर्वथा कृष्णतो लघुत्वेन स्तोककृष्ण इति ख्यातेः, आदि–शब्देनांश्वर्जुनविशाल–वृषभोजस्वि–देवप्रस्थवरूथप–भद्रसेनादय एते मुख्यतमा ज्ञेयाः । प्रेम्णेति, न तु तालफल–लोभेन, न च दुष्टवधाय वा; किन्तु प्रियजन-प्रीतिविशेषार्थमेव किञ्चिदिष्टद्रव्यप्रार्थनलक्षणप्रेमस्वभावेनैवेत्यर्थः, यद्वा, दुष्टनिग्रहादि तत्कीर्त्यनुरागेणैवेति ॥ २१ ॥ हे रामेति रमसे क्रीडसीति निरुक्त्या तालवने गत्वा तालपातनादि क्रीडां कुरु, किंवा रमयसि क्रीडयसि सुखयसि वेति तयास्मान् रमयेति भावः, वीप्सा चादरे, स च तालफलपातनाद्यर्थं प्रोत्साहनार्थम्, अत एवादौ तस्य सम्बोधनम् । हे महासत्त्वेति परमबलिष्ठस्य तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः । हे कृष्णेति परमानन्दघनत्वादस्माकमपि सुखं कर्त्तुमर्हसीति भावः । हे दुष्टनिवर्हणेति वत्सासुरादीनां तस्मात् साक्षादवघदृष्टेः, अतस्तालवनरोधकधेनुकवधार्थमपि तालपातनादिकं युक्तमेवेति भावः । एवं महासत्त्वतया दुष्टनिवर्हणत्वं दुष्टनिवर्हणतया च महासत्त्वत्वमिति तत्तदन्योऽन्यत्वयोरुक्तम्, तेन च तौ प्रति दुष्टतो निजशंका स्वयमेव निरस्ता, इतः श्रीगोवर्द्धनादित्यर्थः, प्रायस्तत्रैव तदा गोचारणात्, तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु प० १३।२) तत्प्रसंग एव—'आजग्मतुस्तौ सहितौ गोधनैः सहगामिनौ । गिरिं गोवर्द्धनं रम्यं वसुदेवसुतावुभौ ।' इति । अविदूरेऽनतिदूरे श्रीगोवर्द्धनपूर्वतः क्रोशचतुष्टयान्तरे वृत्तेः; तथा च श्रीवाराहे–'अस्ति गोवर्द्धनं नाम क्षेत्रं परमदुर्ल्लभम् । मथुरा पश्चिमे भागे अदूराद्योजनद्वयम् ।' इति, तथा – 'अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुर-रक्षितम् । मथुरा पश्चिमे भागे अदूरादेकयोजनम् ॥' इति । सुमहत्क्रोशद्वयव्यापित्वात्; तद्विशेषश्च श्रीहरिवंशे (विष्णु प० १३।५)—'स तु देशः समः स्निग्धः सुमहान् कृष्णमृत्तिकः । दर्भप्रायः स्थलीभूतो लोष्टपाषाणवर्जितः' ॥ इति ॥ २२ ॥ पतन्ति पतितानि चेति पातनप्रयासो निरस्तः । तालानां पक्वानां सतां स्वयमेव पतनादिति प्रायो भाद्रमासे क्रीडेयमवगम्यते, तस्मिन्नेव सर्वेषां तालानां पाकात् । एवमियं लीला श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तानुसारेण ग्रीष्मे कृतकालियदमनानन्तरं ज्ञेया । ननु तर्हि युष्माभिर्गत्वा तान्यानीयन्ताम् ? तत्राहुः—अवरुद्धान्यावृतानि रक्षितानीत्यर्थः । ननु तर्हि प्रार्थ्य नीयन्ताम् ? तत्राहुः—दुरात्मनेति, यद्वा, कथं तर्हि परकीयाणि द्रव्याणि तानि ग्राह्याणि ? तत्राहुः दुरात्मना दुष्टदैत्येनेत्यर्थः । अतस्तं हत्वा तद्द्रव्याणि ग्रहीतुं युज्यन्त एवेति भावः । यद्वा, वन्यानि फलानि सामान्यतः सर्वेषामुपभोग्यानि, तेन केवलं दुष्टस्वभावतयैवावरुध्यन्ते, अतो ग्राह्याण्येवेति भावः ॥ २३ ॥ तद्भीत्या च न कैश्चिदपि तत्फलानि भुक्तानि सन्तीत्युत्तेजयन्ति–स इति द्वाभ्याम् अतिवीर्य्यो महाबल इति रामं प्रत्युक्तिर्मात्सर्य्यजननाय, गर्द्दभरूपधृगिति कृष्णं प्रत्युक्तिः,—प्रियसखस्य रसिकशिरोमणेस्तस्य हासाय । यद्वा, द्वौ प्रत्येव द्वयं खररूपधृगप्यतिवीर्य्यं इत्यतोऽवज्ञयाऽनवहिताभ्यां न भाव्यमिति भावः । किञ्च, ज्ञातिभिरन्यैश्च मित्रादिभिः, किं वान्यैरित्युक्ते प्रात्युदासीनत्व निरस्यति ज्ञातिभिरिति ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

महासत्त्वमहाबलेति रामविशेषणं दुष्टनिवर्हणं दुष्टघ्नेति श्रीकृष्णस्य अविदूरे समीपे तालानां पङ्क्तिभिर्व्याप्तं महद्वनमास्ते ॥ २१ ॥ कानिचित्फलानि पतन्ति पाततुमुद्युक्तानि कानिचित्पतितानि च सन्ति किन्तु तानि दुरात्मना धेनुकासुरेणाऽवरुद्धानि ॥ २२ ॥ स चासुरोऽत्यन्तं वीर्यं यस्य तथाभूतः खररूपं बिभ्राणश्च स्वसमानरूपैः बहुभिर्ज्ञातिभिः परिवृतश्च ॥ २३ ॥ कृतः नरा एव आहारो येन तस्मादसुराद्भीतैर्नृभिरभुक्तपूर्वाणि कदाऽप्यननुभूतानि सुरभीणि च फलानि सन्ति एष अत्रापि सर्वतो व्याप्तस्तत्फलसुरभिगन्धो ऽनुगृह्यतेऽस्माभिः ॥ २४–२५ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दुष्टनिवर्हण ! दुष्टजनोन्मूलन ! अविदूरे निकटे तालानाम् आल्या पङ्क्त्या सङ्कुलं निविडम् ॥ २१ ॥ तत्र खरतालवने फलान्यपरिपाकं प्राप्तानीति नेत्याह—पतितानीति । सन्तु तान्यानीय भुज्यन्तामिति तत्राह—किन्त्विति ॥ २२ ॥ तीव्रः क्रूरः

खररूपं गर्दभदेहं धारयतीति खररूपधृक् असहायश्चेन्निष्कासनीय इति नेत्याह, आत्मेति ॥ २३ ॥ कृतः नराणामाहारो येन स तथा तस्मात् ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

इतो गोवर्द्धनादविदूरे क्रोशचतुष्टयान्तरे तारफरा इति तालसीति ख्यातप्रदेशगतं वनम्—

"अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुररक्षितम् । मथुरापश्चिमे भागे अदूरादेकयोजनम्" ॥ इति

वाराहोक्तेः । पश्चिमे पश्चाद्भवे भागे इति नैऋ॑तकोणे इति व्याख्येयं तत्रैव तद्दर्शनात् तालानामालिभिर्व्याप्तं इत्येन तालानामलिवर्णत्वेनातिस्वादुजातीयत्वं ध्वनितम् । किन्तु धेनुकेन अवरुद्धानि वशीकृतानीत्यत एव हे राम ! तव महासत्त्वपरीक्षा हे कृष्ण ! तथापि दुष्टनिवर्हणत्वपरीक्षाद्य कर्तव्येति भावोऽयं तयोः सख्यभावेन बलिष्ठत्वज्ञानान्न प्रेम्णा विरुद्धचते प्रत्युत वीररसोत्साहोद्दीपनत्वेन संरुद्ध्यत एवेतिज्ञेयम् ॥ २१-२२ ॥ सोऽतिवीर्य्येत्यादि तयोः पराक्रमोत्तेजनम् ॥२३॥ आवयोरग्रे तस्य तदीयानां चातिवीर्य्यं खपुष्पायमाणं भविष्यतीति चेत्तर्हि चलनं तत्रत्यान्नरान्निर्भयान् तान् तालभोजिनश्च दत्तयुष्मदाशिषः कुरुतमित्याहुः-तस्मादिति । ननु, कस्यां दिशि तद्वनं तद्ब्रूतेत्यत आहुः, एष वै गन्धः भाद्रमासीयप्राच्यसमीरणेनानीत इति भावः ॥ २४-२५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तालानामालिभिः पङ्क्तिभिः सङ्कुलं व्याप्तम् ॥ २१-२४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ईशचेष्टितमाह—श्रीदामेति अयं श्रीराधायाः पूर्वजः पीठमर्दः सखा । प्रेम्णेति स्वव्याजेन तौ तालफलान्यास्वादयितुमिति भावः ॥ २१ ॥ इतो गोवर्द्धनादविदूरे योजनान्तरे—

अस्ति तालवनं नाम धेनुकासुररक्षितम् । मथुरा पश्चिमे भागे अदूरादेकयोजनम् ॥

इति वाराहवाक्यात् पश्चिमे पश्चाद्भवे भागे नैऋ॑तकोणे इत्यर्थः । किन्तु धेनुकेनावरुद्धानीति हे राम ! तव महासत्त्वं हे कृष्ण ! तव दुष्टनिवर्हणत्वं चाद्य परीक्ष्यमिति भावः । न च भयस्थानप्रेरणं प्रेमक्षतिकरं तस्य तत्सखत्वेन तन्महाविक्रमविज्ञानात् प्रत्युत वीररसोद्दीपकत्वेन तद्वर्द्धकमेव ॥ २२-२३ ॥ सोऽतिवीर्य इति तयोर्विक्रमोत्तेजनम् ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

श्रीदामा श्रीदामोदरमतद्भागत्वाद्धेनुकस्यापुरस्कृत्य पुरस्कृत्य न तिरस्कार्योऽयमनार्यं इति मतिमान् किञ्चायं तावत् इति नेयादुपायात्तमन्यं निवारयेदिति तन्मुखबन्धं विधातुं बलं प्रत्यादावलपदित्यालपति ॥ राम रामेति । अविदूरे समीपे तालानां तृणराजतरूणामालयः पङ्क्तयस्ताभिः सङ्कुलं व्याप्तम् ॥ २१ ॥ पतितानि प्राक् पतन्तीदानीम् । तर्हि गच्छ भक्षय से नेति वदतीत्यत आह । किन्तु दुरात्मना धेनुकेन तन्नाम्नाऽसुरेणावरुद्धानि प्रतिबद्धानीति ॥ २२ ॥ कुमारान्गृहीत्वा गत्वा मार्गितत्वं तं भुङ्क्ष्वेत्युक्त्वाह ॥ स इति । अतितीव्रो बहुतापकः । तीव्रमरयुत्कटकटुकनितान्तेष्वन्यवन्मतमिति विश्वः । तद्रूपं निरूपयति । स्वरूपधृगिति । गर्दभाकार आत्मतुल्यवलैरात्मना तुल्यं अलसदृशं बलं येषां ते तैः साम्येति पाठे आत्मनो बलेन साम्यं यस्य तदवयेषामिति विग्रहः । अन्यैस्तर्हि भेदं विधायादाय फलान्यागच्छेत्यत आह ॥ ज्ञातिभिरिति । नास्मच्चतुर्विधोपायसाध्यः स इति भावः ॥ २३ ॥ गताश्चेत्किं गतिं यापयति स इत्यत आह । कृतनराहारात्कृतो नराणां गतानामाहारा येन तस्मादिति हे अरिविमर्द शत्रुसंहारक । पृथक् पृथगन्वयः । भीतैर्नृभिर्वनं न सेव्यते । पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च विवर्जितम् । विवर्जितमिति सरलः पाठः । विवर्जितैरिति पाठे सुपां सुपो भवन्तीति प्रथमायास्तृतीयादेश इत्युपदिशन्ति । भीतैः कथञ्चिद्गतैर्विवर्जितैः प्राणेभ्यः सर्वैः सेव्यत इति वा ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

तदाहुः सुबलः प्रथमं निरूपित इति रामरामेति सम्बोधनं प्रथमं, कायिकश्चायं दोषस्तेनैव दूरीकर्तव्यः, महासत्त्वेति तस्य स्तुतिः प्रकृतोपयोगिनी, मल्लयुद्धादिना च महाबलत्वं ज्ञातं, भगवतस्तु तद्रूपं माहात्म्यजनकं न भवतीति, धेनुकवधस्यावश्यकत्वाय दुष्टनिबर्हणेतिस्तुतिः, इतः क्रीडास्थानादविदूर एव निकट एव, सुमहदस्मादपि महत् तालालिभिस्तालपङ्क्तिभिर्व्याप्तमस्ति ॥ २१ ॥ ततः किमत आह फलानीति, पातनप्रयासोपि नास्ति पतितानि सन्ति, चिरपतितानां तथारसो न भवतीति पतन्ति चेत्युक्तं, न च तानि पतितानि केनचिन् नीयन्ते किन्तु सन्त्येव, तत्र हेतुर्धेनुकेनावरुद्धानि, तर्हि प्रार्थनायां दास्यतीति शङ्क्याहुर्दुरात्मनेति, स हि दुष्टः प्रार्थितोपि न प्रयच्छति ॥ २२ ॥ किञ्च न तं कोपि प्रार्थयत इत्याह सोतिवीर्य इति, अतिवीर्यत्वान् न कमपि गणयति, हीनभावाश्रये तु भक्षयत्येव यतोयमसुरः, तद्यस्माकमप्यशक्य इतिशङ्कां वारयितुं पुनर्नाम गृह्णन्ति

राम हे कृष्णेति, स कथं परिज्ञातव्य इत्याशङ्क्याहुः खररूपधृगिति, न चैकः सः बहवश्च भवन्तः अतः सम्भूय मारणीय इतिशङ्कां वारयन्ति आत्मतुल्यबलैरिति बहूनां तादृशबलवत्त्वे कुलमेव हेतुरिति ज्ञापयितुमाहुर्ज्ञातिभिरिति, अन्यैरपि बहुभिर्वृतः, तेप्यन्ये सङ्घशो बहव एव सजातीयाः ॥ २३ ॥ एवं तस्य वीर्यं प्रशस्तं यदर्थं तदाह तस्मादिति, कृतो नर एवाहारो येन, स हि मनुष्यानेव विशेषतो भक्षयत्यत एव तस्माद् भीतैर्नृभिर्न सेव्यते तद् वनं, तर्ह्यस्माभिरपि न गन्तव्यमित्याशङ्क्याहुरमित्रहन्निति, हे कृष्ण भवानमित्रहन्ता सोप्यमित्र इति तद्धननं तव शक्यं कर्तव्यं च, अयं धर्मो भगवन्निष्ठो जागरूक एतेषां हृदि स्फुरतीत्युक्तदोषवतोपि स्थाने गमनं प्रार्थयन्ति, अन्यथैवम्प्रेरणस्य प्रेमविरुद्धत्वेन "प्रेम्णेदमब्रुव"न्निति वचनं विरुद्धं स्यात् प्रियस्यामित्रे च न स्थापयितुचितमिति च, किञ्च तद् वनं सर्वेषामेवासेव्यं ये भूचरा चान्तरिक्षचराः, अतः पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च विशेषेण वर्जितं, अतो ये पशुपालका ये वा देवपरिपालकास्तैः सोवश्यं वध्यः ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

राम रामेत्यत्र प्रथमरामसम्बोधने हेतुमाहुः कायिकश्चेत्यादि, अयमाध्यात्मिकः कायिकदोषो बलदेवेनैव दूरीकर्तव्य इतिभगवदिच्छाज्ञानात् तयेत्यर्थः । तद्रूपमिति भावप्रधानः ॥ २१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तदाहुरिति तत् तस्मात् प्रार्थनार्थमाहुः प्रथमश्लोकेन वनस्वरूपमिति शेषः ॥ २१ ॥ तस्मादित्यत्र हे कृष्णेति अमित्रहन्नित्येकवचनात् कृष्णे दुष्टनिवर्हणत्वस्य पूर्वमुक्तत्वाच्च कृष्णेत्यनेनैव सम्बध्यते इतिभावः ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सामर्थ्यमादरं च सूचयन्तो बहुधा सम्बोधयन्ति–'महासत्त्व, महाबल' इति रामविशेषणम् । 'दुष्टनिवर्हण, दुष्टविनाशन' इति कृष्णविशेषणम् । इतः अस्मात् क्रीडास्थानात् अविदूरे समीपे एव तालालिभिः तालानां पङ्क्तिभिः सङ्कुलं व्याप्तं सुमहद्वनमस्तीति ॥ २१ ॥ तत्र च भूरीणि फलानि सन्ति । 'नच तद्ग्रहणे प्रयासोऽस्ति' इत्याशयेनाहुः–पतितानीति । 'तर्हि चिरकालपतितानां फलानां वैरस्यं स्यात्' इत्याशङ्क्याहुः–पतन्ति चेति । 'तदा गृह्यन्ताम्' तत्राहुः–किन्तु धेनुकेनावरुद्धानीति । 'तर्हि स प्रार्थनीयः' तत्राहुः–दुरात्मनेति । दुष्टत्वात् न स प्रार्थनायोग्य इति भावः ॥ २२ ॥ 'तर्हि तं तिरस्कृत्य बलात्कारेण ग्राह्याणि' इति चेत्तत्राहुः–सोऽतिवीर्य इति । दुष्टत्वे बलाधिक्ये च हेतुमाहुः–असुर इति । 'कथं स विज्ञेयः ?' इत्यपेक्षायां तस्य स्वरूपतोऽप्यशुभत्वाभिज्ञापकं चिह्नमाहुः–खररूपधृगिति । बलवत्त्वं निर्भयत्वं च सूचयन्तः पुनः सम्बोधयन्ति–हे राम हे कृष्णेति । 'तथापि स एको युष्माकं बहूनां किं करिष्यति ?, इत्याशङ्क्याहुः–आत्मतुल्यबलैरिति ॥ २३ ॥ 'त्वमेव पूतनादिवत् एनमपि हत्वा एतन्निर्भयं कर्तुं शक्त' इत्याशयेन कृष्णं सम्बोधयन्ति–हे अमित्रहन् इति । तच्च वनं मनुष्यादिभिर्विवर्जितम् । तत्र हेतुमाह–तस्मादसुराद्भीतैर्मनुष्यादिभिर्न सेव्यते इति । भयहेतुत्वेन विशिनष्टि–कृतेति । कृतो नरा एव आहारो येन सः ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

राम रामेति ॥ हे राम राम महाबाहो ! कृष्ण ! हे दुष्टानां निवर्हण नाशक ! इत अस्मात् क्रीडास्थानात् अविदूरे समीपे एव तालालिभिः तालानां पङ्क्तिभिः संकुलं व्याप्तं सुमहद्वनमस्तीति एतच्च गोवर्द्धनाद्योजनान्तरे मथुराया नैऋत्यां तारफरा इति तालसीति च स्यातप्रदेशेऽस्तीति इयं क्रीडा ग्रीष्मर्तु कृतकालियदमनानन्तरवर्षासु भाद्रपदे ज्ञेया । पुराणान्तरात् तत्रैव तालफलपाकाच्च ॥ २१ ॥ फलानीति ॥ तत्र वने पतन्ति । शश्वत्तम् । पतितानि च भूरीणि बहूनि फलानि सन्ति किंतु दुरात्मना धेनुकेन तन्नाम्ना दैत्येन अविरुद्धानि ॥ २२ ॥ स इति ॥ हे राम ! हे कृष्ण ! सः असुरः सुरविरोधी धेनुकः अतिवीर्यः खररूपं धर्जति इति धृक् । धृजेः क्विप् । तथा आत्मतुल्यबलैर्बहुभिरन्यैर्ज्ञातिभिः खरैर्वृतश्चास्ति ॥२३॥ तस्मादिति । हे अमित्रहन् ! कृतो नराणामाहारो येन तस्मान्मनुष्यभुजो धेनुकात् भीतैर्नृभिः पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च न सेव्यते अत एव तैः विवर्जितम् ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दुष्टानां निबर्हण नाशक इतोऽस्मात्स्थानात् अविदूरे पूर्वस्यां दिशि कोशचतुष्टयांतरे ॥ २२ ॥ धेनुकेन रासभेन ॥ २३ ॥ अतिवीर्यो महाबलः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

रामेति ॥ हे महासत्त्व हे महाबलोपेत, हे राम हे राम, हे दुष्टनिवर्हण हे दुष्टघ्न, कृष्ण, इतोऽस्मात् स्थानात्, अविदूरे समीपे, तालानां तृणराजानामालयः श्रेणयस्ताभिः संकुलं व्याप्तं, सुमहत् वनं, आस्ते इति शेषः ॥२१॥ फलानीति ॥ तत्र वने, भूरीणि बहूनि 'फलानि पतन्ति पतितुमुद्युक्तानीत्यर्थः । सन्ति । कानिचित् फलानि तु, पतितानि च अधः पतितान्यपि, सन्ति । किंतु तानि

दुरात्मना अतिदुष्टमनसा, धेनुकेन धेनुकनाम्नाऽसुरेण, अवरुद्धानि, सन्ति ॥ २२ ॥ स इति ॥ हे राम, हे कृष्ण, अतिवीर्यः बहुबल-युक्तः, खररूपधृक् लम्बकर्णरूपं बिभ्राणः, आत्मतुल्यबलैः स्वसमानबलवद्भिः, अन्यैः बहुभिः ज्ञातिभिः सः असुरः वृतः परिवारितः भवति ॥२३॥ तस्मादिति ॥ कृतो नराणामाहारो येन तस्मात्, पुरुषादादित्यर्थः । तस्मादसुरात्, भीतैरतिभीतिं प्राप्तैः, नृभिर्मनुष्यैः हे अमित्रहन् शत्रुनिबर्हण, न सेव्यते । किं बहुना । पशुगणैः पक्षिसंघैश्चापि, विवर्जितं अस्ति ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

फलानीतिः १०.१५.२२.

प्रपञ्चवनसंभूतेर्वस्तुनः सरसामनः । सम्प्राप्तौ स्फुटमत्युग्रनः क्रोधो रोधक इत्यभूत् ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

हमलोगों को सर्वदा सुख पहुंचाने वाले बलरामजी ! आप के बाहु-बल की तो कोई थाह ही नहीं है। हमारे मनमोहन श्रीकृष्ण ! दुष्टों को नष्ट कर डालना तो तुम्हारा स्वभाव ही है। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक बड़ा भारी वन है। बस उसमें पाँत के पाँत ताड़ के वृक्ष भरे पड़े हैं ॥ २१ ॥ वहाँ बहुत से ताड़ के फल पक-पककर गिरते रहते हैं और बहुत से पहले के गिरे हुए भी हैं। परन्तु वहाँ धेनुक नाम का एक दुष्ट दैत्य रहता है। उसने उन फलों पर रोक लगा रखी है ॥ २२ ॥ बलरामजी और भैया श्रीकृष्ण । वह दैत्य गधे के रूप में रहता है। वह स्वयं तो बड़ा बलवान् है ही, उसके साथ और भी बहुत से उसी के समान बलवान् दैत्य उसी रूप में रहते हैं ॥ २३ ॥ मेरे शत्रुघाती भैया ! उस दैत्य ने अब तक न जाने कितने मनुष्य खा डाले हैं। यही कारण है कि उसके डर के मारे मनुष्य उसका सेवन नहीं करते और पशु-पक्षी भी उस जंगल में नहीं जाते ॥ २४ ॥

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च । एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते[1] ॥ २५ ॥
प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् । [2]वाञ्छाऽऽसीन् महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥ २६ ॥
एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया । प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥ २७ ॥
बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् । फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥ २८ ॥
फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः । अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥ २९ ॥
समेत्य [3]तरसा [4]प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली । निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् [5]खलः ॥ ३० ॥
पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा[6] पराक् स्थितः । चरणावपरौ राजन् बलाय [7]प्राक्षिपद् रुषा ॥ ३१ ॥
स तं गृहीत्वा [8]प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना । चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अभुक्तपूर्वाणि सुरभीणि च फलानि विद्यन्ते एषः वै सुरभिः विषूचीनः गन्धः अवगृह्यते ॥ २५ ॥ कृष्ण गन्ध-लोभितचेतसां नः तानि प्रयच्छ राम महती वाञ्छा आसीत् यदि रोचते गम्यताम् ॥ २६ ॥ एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया प्रहस्य गोपैः वृतौ प्रभू तालवन जग्मतुः ॥ २७ ॥ बलः प्रविश्य मतङ्गजः इव ओजसा तालान् बाहुभ्यां सम्परिकम्पयन् फलानि पातयामास ॥ २८ ॥ असुररासभः पततां फलानां शब्दं निशम्य सनगं क्षितितलं परिकम्पयन् अभ्यधावत ॥ २९ ॥ तरसा समेत्य प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं उरसि निहत्य बली खलः काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् ॥ ३० ॥ राजन् संरब्धः उपक्रोष्टा पुनः आसाद्य पराक् स्थितः रुषा अपरौ चरणौ बलाय प्राक्षिपत् ॥ ३१ ॥ सः त एकपाणिना प्रपदोः भ्रामयित्वा भ्रामणत्यक्तजीवितं तृणराजाग्रे चिक्षेप ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः ॥ २५-२८ ॥ सनगं सवृक्षम् ॥ २९ ॥ प्रत्यग्द्वाभ्यां पश्चिमाभ्याम् । काशब्दमिति गर्दभजाति-शब्दानुकरणम् । पर्यसरत्परितोऽधावदित्यर्थः ॥३०॥ उपक्रोष्टा गर्दभः । पराक् प्रतिमुखः । अपरौ पश्चिमौ । बलाय बलं हंतुम् ॥३१॥ तृणराजस्तालः ॥ ३२-३३ ॥

---

१. ञ्जगृह्यते-वीर.; विगृह्यते-विज. । २. वाञ्छास्ति-श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व.; वाञ्छासीन्-वीर. विज. । ३. तरसाऽभ्येत्य-विज. । ४. पश्चाद्-गो. प्रे. टी. । ५. स्वरः-गो. प्रे. टी.; सरद्बलं-विज. । ६. उपक्रोष्टु-विज. । ७. प्राहिणोद्रुषा-विज. । ८. पदयोः-वीर. प्रपदोः-विज. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विष्वक्सर्वत्रांचति प्रसरतीति विषूचीनः। पृषोदरादिरयम्। विशेषेण गृह्यते घ्राणेनेति शेषः ॥ २५ ॥ यद्वा–कदाप्यस्माकं लोभो नासीत्, नवनीतादिलुब्धस्यास्य संपर्कादेव लोभितचेतसो वयं जाता इति रामं प्रत्युक्तिर्गोपानामित्याह–कृष्णस्य गंधेन लोभितं चेतो येषां तेषां तथा 'गंधो गन्धे हिंसने च लेशसंपर्कयोरपि' इति कोशात्। अदनाकांक्षा चेत्तर्हि कालांतरं नेष्यामि तत्राहुः–वांछेति ॥ २६ ॥ एवम् गम्यतां यदि रोचत इत्येवंप्रकारम्। प्रभू कृष्णवलदेवौ ॥ २७ ॥ मतंगजो हस्ती। ओजसा अवष्टंभेन बलेन वा 'ओजोऽवष्टंभवलयोः' इति यादवः ॥ २८ ॥ असुरश्चासौ रासभः खरः ॥ २९ ॥ इत्यर्थ इति। शीघ्रगतिद्योतनार्थं पर्यधावदिति तु छंदोभंगभयान्नोक्तमिति ॥ ३० ॥ उपक्रोष्टेति। क्रोष्टुवदत्युच्चध्वनित्वात्। रासभे गौणी लक्षणा प्राहिणोत् चिक्षेप ॥ ३१ ॥ सः बलः। तम् दैत्यम्। प्रपदाः पादाग्रयोः 'पादाग्रं प्रपदम्' इत्यमरः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

चतुर्थ्यर्थे षष्ठी कृष्णेत्यादि मुहुरुभयसम्बोधनमतिवैयग्र्यं सूचयति–कृष्णगन्धेति। श्लेषेणाऽस्माकं कदाऽपि लोभो नाऽसीत् नवनीतादिलुब्धस्यास्य सम्पर्केणैव लोभितचेतसामिति श्रीरामं प्रत्येवोक्तिः तेन च नर्मणा निजदुर्लभप्रार्थनदोषो निरस्त एव मुहुः प्रार्थनेऽप्यनङ्गीकारमिवालक्ष्य सप्रणयरोषमाहुः वाञ्छाऽस्तीत्यादि ॥ २६ ॥ वृतौ साहाय्याय परितो वेष्टितौ प्रभू तेषां प्रहर्षार्थं स्वसामर्थ्यं दर्शयन्तौ ॥ २७ ॥ बलदेवस्यादौ प्रवेशादिकमादौ प्रार्थितत्वात्ततः श्रीकृष्णस्यापि तत्कीर्त्तये तत्र गौणायमानत्वात् तालानिति वहुत्वमेकस्य कम्पनेनैव सङ्घट्टितानां तेषां वहूनां कम्पात् सम्यक् परितः कम्पयन्निति विकीर्य दूरे पतन्तु न तु शिरसीत्येतदिच्छया किंवा वाहुभ्यां द्वाभ्यामेव वहूनां तेषां युगपद्ग्रहणात् सम्यक् परितः कम्पयन्निति महाबलस्वभावेन ॥ २८ ॥ सपर्वतं क्षितितलं सर्वां पृथ्वीं परितः कम्पयन्निति तस्य पूर्वोक्तमतिवीर्य्यत्वं दर्शितम् ॥ २९ ॥ नितरां हत्वा प्रहृत्य यतो बली साधारणदेवताऽपेक्षया बलवत्त्वेन बलिमानीत्यर्थः। काशब्दं कुत्सितशब्दम् आर्षः कादेशः, पर्य्यसरत् पुनः पद्भ्यां हनने छिद्रान्वेषणाय परितो वभ्राम यतः खलः तादृशदुश्चेष्टः ॥ ३० ॥ आसाद्य निकटीभूय उपक्रोष्टा निकटे काशब्दं कुर्वन् पराक् विमुखं स्थितः सन् पुनरेत्य ॥ ३१ ॥ एकेनैव पाणिना पदयोर्गृहीत्वा भ्रामयित्वा च प्रपदोरिति पाठस्त्वार्षः, पादयोरग्रभाग इत्यर्थः। पूर्वं तु तत्प्रहाराङ्गीकारः स्वानवधानप्रकाशनेन स्वस्य तेनाक्षोऽभ्यत्वं प्रख्यापयितुम् ॥ ३२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

दुरात्मतामेवाभिव्यञ्जयन्ति—कृत-नराहारादिति; ननु, तर्हि परमस्निग्धा यूयं वत तादृशे कर्म्मणि किं मां प्रवर्त्तयथेत्याशंक्य श्रीकृष्णं प्रत्याहु—हे अमित्रहन्निति वकाघासुरादयो महादैत्या भवता लीलया हताः। एष गर्द्दभः कतमो नाम स्यात्? विशेषतश्च दुष्टामित्र-घातादिना तव कीर्त्तिरेव महती भवितेति भावः। इत्थमपि स्निग्धतराणां तेषां यद्यपि तत्र तत्प्रेरणं नोपयुज्यते, तथापि सपरिवारं रावणं हत्वा श्रीजानकीं श्रीरघुनाथान्तिके नेतुमिच्छन्तं श्रीहनुमन्तं प्रति श्रीरघुनाथेन स्वयं रावणे हते सति तस्य कीर्त्तिर्महती भवतीति सुन्दरकाण्डे तस्या वाक्यवत्तद्वीर्य्यानुभविनामेषामपि तत्कीर्त्तिविशेषार्थं तद्घटेतैवेति दिक् ॥ २५ ॥ वै निश्चये, गन्धोऽवगृह्यते उपलभ्यत इति च-कारात् स्वादूनि च, अभुक्तपूर्व्वाणामपि सौरभ्यं साक्षाद्वेदयन्ति—एष इति। प्रायोऽस्मिन् देशे भाद्रमासे वृष्ट्यनुकूलपौरस्त्यवातां पूर्वदिग्वातात्। एवं फलानामुत्कृष्टत्वं निकटवर्त्तित्वञ्च सूचितम् ॥ २६ ॥ अतः प्रयच्छ, यतो गन्धेन तालानां सौरभ्येण लोभितचेतसाम्, —चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। हे कृष्णेति तं प्रति विशेषेणैवोक्तिः, परमप्रियतम एव तथा प्रार्थनस्य योग्यत्वात्, यद्वा, कृष्णस्य सर्व्वचित्ताकर्षकस्य गन्धेन सम्बन्धमात्रेण। लोभितचेतसामितीयं रामं प्रत्येवोक्तिः, दुर्ल्लभान्यपि तत्सम्बन्धप्रभावेण सुलभानि स्युरिति भावः। श्लेषेणास्माकं कदापि कुत्रापि लोभो नासीत्; नवनीतादि-लुब्धस्यास्य सम्पर्केणैव लोभितचेतसामिति नर्म्मणा निजगामिदुर्ल्लभप्रार्थनादोषो निरस्तः। अतो महती वाञ्छा तेष्वस्माकं चिरादस्ति। गूढोऽयमर्थः—मया वत्सासुरादयः साक्षाद्बहवो हताः, अग्रजेन तु न कोऽपीति तस्य कीर्त्त्यर्थं धेनुकोऽयं तेन घातयितव्यः, गर्द्दभाच्चामुष्मादल्पबलात् काचिच्छंका नास्त्येवेति श्रीकृष्णस्येच्छा चिरं जातास्तीत्यतो गम्यताम्, तथाप्यस्मत्प्रेरणयैव दुष्टाक्रान्तस्थाने न गन्तव्यम्, किन्तु निजरुच्यैव गम्यतामित्याहुः—तदीति। अनुजस्नेहाक्रान्तचित्ताय तस्मै तत्र गमनं कदाचिदेवारोचेतेत्याशंकया विशेषस्तं प्रति तथोक्तिः ॥ २७ ॥ सुहृदां श्रीदामादीनां प्रियं निजकीर्त्तिविस्तारणादि तस्य चिकीर्षया प्रकटमुच्चैर्हसित्वेति तेषां सभयोक्तिश्रवणात्, किंवा, तेषां शंका-निवारणार्थम्, अतएवोक्तं श्रीकपिलदेवेन (भा. ३।२८।३२)—'हासं हरेरवनताखिललोकतीव्रशोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम्' इति। तथा वृतौ परितो वेष्टितौ स्नेहाकुलतया दुष्टतो भयात्, सार्द्धमिति पाठेऽपि तथैवार्थः। प्रभू तेषां प्रहर्षार्थं स्व-सामर्थ्यं दर्शयन्ताविति, यद्वा, तेषामीश्वरावतस्तेषां प्रीत्यर्थं तद्युक्तमेवेति भावः ॥ २८ ॥ बलदेवस्यादौ प्रवेशादिकमग्रजत्वेनाग्रतो गमनादनुजस्नेहाद्वा, किंवा तत्कीर्त्त्यर्थं श्रीकृष्णस्य तत्र गौण्यात्। तालानिति बहुत्वमेकस्य कम्पनेनैव सङ्घट्टितानां तेषां बहूनां कम्पात्, किंवा, बाहुभ्यां द्वाभ्यामेव बहूनां तेषां युगपद्ग्रहणात्। सम्यक् परितः कम्पयन्निति महाबलस्व-

भावेन, किंवा, चतुर्दिग्वर्त्ति सर्व्वफलानां सर्व्वदिक्षु तेषां पातनार्थमोजसा बलेन वेगेन वा पातयामास। मत्तो गज इवेति वृक्ष-पातने दृष्टान्तः॥ २९॥ सर्व्वतं क्षितितलं सर्व्वां पृथ्वीं परितः कम्पयन्निति तस्य पूर्व्वोक्तमतिवीर्य्यत्वं दर्शितम्॥ ३०॥ उद्गीर्य नितरां हृत्वा प्रहृत्य, यतो बली। काशब्दं कुत्सितशब्दं गर्द्दभस्वभावत्वात्। पर्य्यसरत् पुनः पद्ध्यामेव ताभ्यां हननाय श्रीबलदेवस्याग्रे पश्चाद्भागं कृत्वाग्रतोऽधावदित्यर्थः, यतः खरो गर्द्दभस्य तादृश-स्वभावादित्यर्थः, 'खलः' इति पाठे दुष्टस्तादृश-दुश्चेष्टत्वात्॥ ३१॥ उपक्रोष्टेति निकटे का-शब्द-मोचनाभिप्रायेणातः पराक् विमुखं स्थितः सन् पुनरेत्य। हे राजन्निति प्रेम्णानिष्टशंकयान्तः क्षोभितं राजानमाश्वासयति, यद्वा, राजमानक्रोधेनाशेष-निजतेजः प्रकटनात्॥ ३२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे कृष्ण! तत्फलगन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां नोऽस्मभ्यन्तानि फलानि प्रयच्छ प्रादाय देहि हे राम! यद्यस्माकं वाञ्छा तत्फलाऽनुबुभूषा वर्त्तते यदि रोचते तर्हि गम्यतां च वयं नियन्तुं प्रभवाम इति भावः॥ २६॥ इत्थं सुहृदां वचः श्रुत्वा तेषां प्रियं कर्तुमिच्छया प्रहस्य गोपैर्वृतौ प्रभू रामकेशवौ तालवनं प्रति जग्मतुः॥ २७॥ तत्र बली रामः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान्परितः कम्पयन् कथं मतङ्गज इवौजसा बलेन फलानि पातयामास॥ २८॥ तदा पततां फलानां शब्दमाकर्ण्य रासभाकारोऽसुरः सवृक्षं क्षितितलं कम्पयन्नभ्यधावत्॥ २९॥ बलं रामं स बल्यसुरः समेत्य पाश्चात्याभ्यां पादाभ्यां तरसा बलेन उरसि निहत्य काशब्दं गर्दभध्वनिं मुञ्चन्स खरः पर्यसरत्परितश्चचार॥ ३०॥ पुनराश्वासाद्य संरब्धः क्रुद्धः उपक्रोष्टा गर्दभः अनभिमुखं स्थितः हे राजन्! रुषाऽपरौ पाश्चात्यौ पादौ रामाय प्राक्षिपद्धुद्योजयामास॥ ३१॥ तदा स रामस्तमेकेनैव पाणिना पादयोर्गृहीत्वा भ्रमणेन त्यक्तं जीवितं येन तं तृणराजाग्रे तालाऽग्रे विक्षेप प्राऽक्षिपत्॥ ३२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नृभिरमुक्तपूर्वाणि विष्वक् सर्वत्राऽञ्चतीति विषूचीनः सर्वत्र व्याप्तिमानित्यर्थः। विशेषेण गृह्यते घ्राणेन्द्रियेणेति शेषः॥ २५॥ लोभ आकाङ्क्षा "लुभ गार्ध्ये" "गृधु अभिकाङ्क्षायाम्" इति धातुः अदनाकाङ्क्षा चेत्कालान्तरे आनेष्यामीति तत्राह - वाञ्छेति॥ २६-२७॥ मतङ्गजः वारणः ओजसा बलेन अवष्टम्भेन वा "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" इति च॥ २८॥ रासभः गर्दभः नगैर्वृक्षैः एवं तैश्च सहितम्॥ २९॥ काशब्दं गर्दभजातिजं कर्णनिष्ठुरं शब्दं पर्यचरच्च परितोऽवर्तत॥ ३०॥ उपक्रोष्टुं क्रोशतिरत्र क्षेपार्थः क्षेप्तुं पराक् स्थितः प्राङ्मुखः॥ ३१॥ पदोः पादयोः भ्रामणेन परिभ्रमणकरणेन॥ ३२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ यतोऽस्माकं वाञ्छाऽस्ति॥ २६॥ प्रहस्येत्यहो गर्दभोऽप्येवं बलीत्यसम्भाव्यत्वान्मृषैव वा ब्रूथेति भावः॥ २७-२८॥ सनगं कुलपर्वतैरपि सहितम्॥ २९॥ प्रत्यग्द्धाभ्यां पश्चिमाभ्यां द्वाभ्यां काशब्दमिति गर्दभशब्दानुकरणं पर्य्यसरत् परितोऽधावत्॥ ३०॥ संरब्धः कोऽपि उपक्रोष्टा निकट एव काशब्दं कुर्वन् पराक् पृष्ठीकृत्य स्थितः॥ ३१॥ तं गृहीत्वा प्रपदोः पदयोरग्रभागे इत्यर्थः। तृणराजस्तालः॥ ३२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः॥ २५-२८॥ नगैर्वृक्षैः सहितं सनगम्॥ २९॥ प्रत्यक् पश्चिमाभ्यां द्वाभ्यां पद्भ्यां काशब्दं गर्द्दभध्वनिं मुञ्चन् पर्य्यसरत् परितोऽधावत्॥ ३०॥ उपक्रोष्टा गर्द्दभः संरब्धः क्रुद्धः सन् पुनरासाद्य पराक् अनभिमुखः स्थितः सन् अपरौ पाश्चात्यौ चरणौ बलाय हन्तुं रुषा प्राऽक्षिपत्॥ ३१॥ तृणराजाग्रे तालशिरसि॥ ३२-३३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अस्मासु किं तस्य बलमिति चेत्तर्हि गन्तव्यमित्याह-तस्मादिति। जनोपकारश्च भावीति भावः॥ २५॥ ननु किमस्ति तद्वनं तत्राह-एष वै इति विषूचीनः सर्वतो विसारी॥ २६॥ नोऽस्मभ्यं तानि प्रयच्छ तेषु वाञ्छा अस्ति॥ २७॥ प्रहस्येति सुहृत्सुखाय गर्दभानपि प्रक्ष्याव इति भावः॥ २८-२९॥ स नगं सपर्वतम्॥ ३०॥ प्रत्यग् द्वाभ्यां पश्चिमाभ्यां द्वाभ्यामिति मुञ्चन् पर्य्यसरत् का-शब्दमिति रासभशब्दानुकरणं पर्यसरत् परितोऽधावत्॥ ३१॥ संरब्धः क्रुद्धः उप समीपे क्रोष्टा काशब्दं मुञ्चन् पराक् पृष्ठीकृत्य स्थितः, अपरौ पश्चिमौ॥ ३२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सुरभीण्यभुक्तपूर्वाणि पूर्वमभुक्तान्यभुक्तपूर्वाणि। एतदावासात्प्रागभुक्तपूर्वाणि पूर्वजैरिति वा। पक्षद्वयेऽपि तत्सुरभित्वं कथं ज्ञातेत्यत ऊहनत इत्याह॥ एष इति। विषूचीनो विष्वगञ्चतीति विष्वगिति स्थिते ऋत्विगित्यादिनाऽञ्चेः सुप्युपपदे क्विन्प्रत्यये तस्य सर्वापहारित्वेन लोपे तस्यानिदितां हल उपधायाः क्ङितीत्युपधानकारलोपे विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियां स्वार्थे खप्रत्यये

तस्येनादेशे यचि भमिति भसंज्ञायामच इति धात्वकारलोपे चावित्यणो दीर्घे विषूचीनो व्याप्त इत्यर्थः। सुरभिर्गन्धो विगृह्यते विशेषेण गृह्यते नासिकयेति शेषः॥ २५॥ अन्ततो गत्वा बलबलादयं कृष्णत एवेति तं पुरस्करोतीतीरयति॥ प्रयच्छ तानि नः कृष्ण इति। गन्धेन लोभितम्। लुभ गार्ध्ये। गृध अभिकाङ्क्षायामिति स्मरणात्साकाङ्क्षं चेतो येषां तेषां नो लोभितेति णिजन्तान्निष्ठा तानि फलानि प्रयच्छ देहि। हे राम महती विना तत्फलदानमनिवर्त्या वाञ्छाऽऽसीत्। यदि तुभ्यं रोचते तर्हि गम्यताम्॥ २६॥ एवं सुहृदः श्रीदाम्नः सुहृदां श्रीदामादीनां वा वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया क्रियानयं खर इति प्रहस्य गोपैर्वृतं तालवनं प्रतिजग्मतुः। एवं साहसं नानुष्ठेयमित्यत आह॥ प्रभू इति॥ २७॥ ताला द्रुमभेद इति विश्वः। मतङ्गजो मत्तगज ओजसा बलेन। ओजोऽवष्टम्भबलयोरिति यादवः। असुररासभो रासभरूपी दैत्यः सनगं सवृक्षं क्षितितलं परिकम्पयन्नभ्यधावत्॥ २९॥ बलं सम्मेत्य सङ्गम्य तरसाऽऽवृत्य परावृत्य द्वाभ्यां क्षितितलं स्पृष्ट्वा पद्भ्यां पाश्चात्याभ्यां गूढपात्परिवृढस्य पादघात एवाहन्तुदस्तत्रापि पाश्चात्याङ्घ्रिकुट्टनं बहुरोपावर्हामिति तत्स्वाभाविकेदं क्रियापदेशेन ग्रन्थकृद्ध्वनयामासेति ज्ञेयम्। उरसि निहत्योरगत्वादुरसि ताडनमपि तथा काशब्दं स्वजात्यनुरूप एव पथ्यक्षपुरुषान्यतमत्वाभावेऽपि शब्दशब्दस्य तस्मिन्परतः कुशब्दस्य कादेश आर्षः। अनुकरणशब्दो वा। इतिशब्दकलोपीति। इतिशब्दव्यपेतानीत्यादेः। शेषो वेतिशब्दस्य मुञ्चन्बल पर्यचरत्। अयमपि स्वभावो गर्दभानाम्॥ ३०॥ पुनर्बलमासाद्योपक्रुष्टुं काशब्दं कर्तुं संरब्धः संरम्भयुतः परावास्थितः पुरेवापरौ चरणौ बलाय प्राहिणोत्ताभ्यां तताडेति यावत्॥ ३१॥ स बलस्तं खरासुरं पदोः पादयोरेकपाणिनैकेन हस्तेन भ्रामयित्वा तेन भ्रामणेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं मृतं तृणराजस्तालस्तदग्रे तत्प्रान्तभागे चिक्षेप॥ ३२॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्च तत्राभुक्तपूर्वाणि फलानि दिव्यानि सन्ति, केचिद् भुक्तपूर्वाणीत्याहुरन्यथा कथं तेषां कामनेति, रक्षायां यद्यपि भोगो बाध्यते तथापि चौर्येण भक्षणं सम्भवति, तानि च फलान्यत्यन्तसुरभीणि, सौरभ्यं तु तेषां प्रत्यक्षसिद्धमेव, तदाहैष वै सुरभिर्गन्ध इति, विषूचीनः परितः प्रसरद्रूपः, अत एव सर्वतो गृह्यते॥ २५॥ एवं दुर्लभतां फलोत्तमत्वं चोक्त्वा तानि प्रार्थयन्ते प्रयच्छेति, दाने भगवानेव समर्थ इति कृष्णेत्युक्तं, तस्यैव सर्वत्र स्वत्वात्, अन्येन प्रतिबन्धनिवृत्तावपि परस्वं न ग्रहीतुं शक्यं, तत्र कामनायां हेतुर्गन्धलोभितचेतसामिति, गन्धेन लोभितं चेतो येषां न केवलमिदानीमेव चित्तलोभः किन्तु पूर्वमपि वाञ्छासीन् महती, उत्सुको राम इति राम गम्यतामित्युक्तं, अतिनिर्बन्धे कदाचित् कोपं कुर्याद् गते चानिष्टं भवेदित्याशङ्क्याहुर्यदि रोचत इति, यदि गन्तुं रोचते॥ २६॥ ततो गतावित्याहैवमिति, सुहृदां स्वभावत एव हितं कर्तव्यं, तत्रापि तेषां वचनं श्रुतं, अतः सुहृदामेव प्रियचिकीर्षया तत्र गतौ, अन्यथाक्लिष्टकर्मा भगवान् निरपराधिनं कथं मारयेत्? अत एव भगवता न मारितोपि, मित्रहितं च कर्तव्यमतः प्रहस्य, तेषामाग्रहं दृष्ट्वा दोषनिवृत्तिं वाञ्छन्तीति वा, सामान्यकार्यमित्युभौ जग्मतुः, गोपैर्वृतावित्ति कर्तव्यार्थनिर्धारः, अन्यथा तः सह न गच्छेतां, शङ्काभावार्थमाह प्रभू इति॥ २७॥ तत्र गत्वा यत् कृतवन्तौ तदाह बल इति अक्लिष्टकर्मा भगवान् बहिरेव स्थितो बलस्त्वन्तः प्रविश्य बाहुभ्यां तालानि संपरिकम्पयन् फलानि पातयामास, यानि सुपक्वानि तानि चालनेन पतन्ति, ननु विद्यमानेषु फलेषु किमिति बहूनि पातयामास? मतङ्गज इवेति, मतङ्गजः सर्वाण्येवानुपयुक्तान्यपि पातयति॥२८॥ ततो यज् जातं तदाह पततां बलजनितकण्डनिवृत्त्यर्थं, उपायेनापि पातनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाहौजसेति, स्वबाहुबलेनैव फलानां शब्दं श्रुत्वासुरेष्वपि, रासभोधमः, असुरापेक्षयासुरपशवोधमास्तत्रापि गर्दभाः, तस्य निर्भयागमने हेतुमिव सामर्थ्यमाह सनगं परिकम्पयन्निति, गोवर्धनसहितं सर्वमेव भूतलं परिकम्पयन्॥ २९॥ आगत्य बलभद्रं ताडितवानित्याह समेत्येति, समेत्य मिलित्वा निकटे समागत्य तरसा प्रत्यग्भूतो जातो विपरीतमुखस्ततो द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बलभद्रमुरसि निहत्य ताडयित्वा काशब्दं रासभशब्दं मुञ्चन्नुच्चारयन् पर्यसरत् परितो वेष्टनमिव प्रदक्षिणां कृतवान्, जातिस्वभावोयं, ननु महान् फलार्थी स्वस्थाने समागतः स्वयमेव फलान्युद्धाट्य गृह्णाति तत्र कथमागत्य ताडनमनुचितं कृतवान्? तत्राह खल इति॥ ३०॥ बलभद्रोपि स्वयमेवागतस्तत्स्थान इति सकृदपराधः सोढः, तावतापि स न निवृत्त इत्याह पुनरासाद्येति, पुनर्निकटे गत्वा क्रोधसंरब्ध उपक्रोष्टा सृगालतुल्यो गर्दभः पराक् स्थितः पुनर्विमुखो भूत्वापरौ चरणौ पुनर्बलाय प्राक्षिपत्, प्रक्षेपपर्यन्तं क्रोधोनुवृत्तः इति ज्ञापयितुमन्ते रुषेत्युक्तं, सम्बोधनं स्नेहादप्रतारणाय॥ ३१॥ तदा द्वितीयापराधे बलभद्रो मारितवानित्याह प्राहिणोद् सं तमिति, प्रपदोर्गृहीत्वैकपाणिनैव तं भ्रामयित्वा तृणराजतालवृक्षस्योपरि प्राहिणोद् यथा वत्सो भगवता, अयमप्यन्तरिक्ष एव मृत इत्याह त्यक्तजीवितमिति, त्यक्तं जीवितं येन॥ ३२॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणीत्यत्र। केचिदित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीजं तु गन्धविशेषेणेष्टरसानुमानात्कामः सम्भवति। अत एव गन्धलोभितचेतसामिति वक्ष्यन्ति। उक्ततद्धर्मेश्चौर्यसम्भावनापि नेति॥ २५॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

विद्यन्त इत्यत्र मतान्तरमनूद्य दूषयन्ति केचिदित्यादि, तट् टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति केचिदित्यादि, ननु चौर्येण भक्षणस्य सम्भवान्न दोष इत्यतस्तद् दूषयन्त्युक्तेत्यादि, ॥ २५ ॥ स तमित्यत्र मूले धेनुकवधमात्रमुक्तं पाद्मोत्तरखण्डे तु दिनमप्युक्तं "कार्त्तिक्यां पूर्णमास्यां तु धेनुकानां वधः कृत,, इति, अत्र बहुवचनो 'धेनुकशब्दो जातिवाचीति ज्ञायते । ।' ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पुनरासाद्येत्यस्याभासे बलभद्रोपीति इतीत्यस्याग्रे बलेनेति शेषः, इति हेतोर्बलेनापराधः सोढ इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अभुक्तपूर्वाणि यानि पूर्वं कदापि न भुक्तानि तथाविधानि सुरभीणि सुगन्धीनि च फलानि तत्र विद्यन्ते । ननु "यदि तत्र कदापि तद्भयेन गमनं न जातं तदा कथ ज्ञायते तत्र तथाविधफलानि सन्तीति" तत्राहुः—एष इति । विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः एष तेषामेव सुरभिर्गन्धोऽवगृह्यते । तेन गन्धेन तथात्वं ज्ञायते इत्यर्थः ॥ २५ ॥ न केवलमिदानीमेव तल्लोभो जातः, किन्तु पूर्वमपि महती वाञ्छा आसीत् । तत्र केचिदाहुः—हे कृष्णेति । केचिदाहुः – हे रामेति अतस्तानि फलानि गन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां नोऽस्माकं प्रयच्छ देहि । 'अतिनिर्बन्धे कृते कदाचित् कोपं कुर्यात्, गते वा तत्र किञ्चिदनिष्टं स्यात्, इत्याशङ्क्याहुः–यदि रोचते तदा गम्यतामिति ॥२६॥ एवं सुहृदां मित्राणां गोपानां वचः श्रुत्वा प्रहस्य सुहृदां तेषां प्रियचिकीर्षया तैर्गोपैर्वृतौ रामकृष्णौ तालवनं जग्मतुः । अनेन फलप्रदाननिर्धारः सूचितः । तथानिर्धारहेतुत्वेन सामर्थ्यं सूचयन्नाह—प्रभू इति ॥ २७ ॥ तद्वनं प्रविश्य बलः बाहुभ्यां ओजसा बलेन तालवृक्षान् सम्परिकम्पयन् तत्फलानि पातयामास । तत्र दृष्टान्तमाह–मतंगज इवेति । २८ ॥ तदा चासुररासभः रासभो गर्दभः तद्रूपधृक् असुरो धेनुकः पततां फलानां शब्दं निशम्य श्रुत्वा नगा वृक्षास्तैः सहितं क्षितितलं परिकम्पयन् अभ्यधावत् हन्तुं सम्मुखमाजगाम । 'सनगं क्षितितलं कम्पयन्' इत्युक्त्या तस्य महत्त्वं युद्धसामर्थ्यं च सूचितम् ॥ २९ ॥ समेत्य समागत्य प्रत्यग्द्वाभ्यां पश्चिमाभ्यां पद्भ्यां बलमुरसि निहत्य काशब्दं गर्दभजातिशब्दं मुञ्चन् पुनरपि हननावकाशं पर्यालोचयन् पर्यसरत् परितोऽधावत् । तत्र सामर्थ्यमाह–बलेति । ननु "सर्वफलदाता भगवांश्चेत् फलार्थी सन् स्वयमेव तत्स्थानमागतस्तदा तत्र स्वयमेव फलान्यानीय तस्मै देयानीत्युचितम्, तदकृत्वा कथमेवं विपरीतं कृतवान् ?" तत्राह - खल इति । खलानामयमेव स्वभावो यन्महतो न गणयन्ति, योग्याय न प्रयच्छन्ति, प्रत्युत तत्र प्रतिवन्धका भवन्त्यतो न तथा कृतवान्, विपरीतं च कृतवानिति भावः ॥ ३० ॥ संरब्धः सङ्क्रुद्धः उपक्रोष्टा गर्दभरूपोऽसुरः पुनरासाद्य समीपमागत्य पराक्स्थितः पृष्ठीकृत्य स्थितः हे राजन् ! रुषा क्रोधेन बलाय बलं हन्तुमपरौ पश्चिमौ चरणौ प्राक्षिपदित्यन्वयः ॥ ३१ ॥ स बलस्तमसुरमेकेनैव पाणिना प्रपदोः पादाग्रयोर्गृहीत्वा भ्रामयित्वा च भ्रामणेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं तृणराजाग्रे तालमूले चिक्षेपेत्यन्वयः ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विद्यन्त इति ॥ अभुक्तपूर्वाणि यानि पूर्वं कदापि न भुक्तानि तथाविधानि सुरभीणि सुगन्धीनि च फलानि तत्र विद्यन्ते विषूचीनः सर्वतः प्रसृतः एष तेषामेव सुरभिर्गन्धो भाद्रमासीयप्राच्यसमीरणेनानीतः अवगृह्यते तेन गन्धेन तथा त्वं ज्ञायते ॥ २५॥ प्रयच्छेति ॥ हे कृष्ण ! हे राम ! तानि फलानि गन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां नोऽस्माकं प्रयच्छ देहि । यतोऽस्माकं महती वाञ्छाऽस्ति । अतः यदि रोचते तदागम्यताम् ॥ २६ ॥ एवमिति ॥ एवं सुहृदां मित्राणां गोपानां वचः श्रुत्वा प्रहस्य सुहृदां तेषां प्रियचिकीर्षया तैर्गोपैर्वृतौ प्रभू रामकृष्णौ तालवनं जग्मतुः ॥२७॥ बल इति ॥ तद्वनं प्रविश्य बलः बाहुभ्याम् ओजसा बलेन तालवृक्षान् संपरिकम्पयन् मतङ्गज इव तत्फलानि पातयामास ॥ २८ ॥ फलानामिति ॥ असुरो रासभः धेनुकः पततां फलानां शब्दं निशम्य श्रुत्वा नगा वृक्षास्तैः सहितं कुलाचलसहितं वा क्षितितलं परिकम्पयन् अभ्यधावत् हन्तुं संमुखमाजगाम ॥२९॥ समेत्येति ॥ तरसा वेगेन समेत्य समागत्य प्रत्यग् द्वाभ्यां पश्चिमाभ्यां पद्भ्यां बलमुरसि निहत्य बली खलश्च सः काशब्दं कुत्सितं गर्दभजातिशब्दम् आर्षः कादेशः । मुञ्चन् पुनरपि हननावकाशं पर्यालोचयन् पर्यसरत् परितोऽधावत् ॥ ३० ॥ स पुनरिति ॥ हे राजन् ! संरब्धः संक्रुद्धः उपक्रोष्टा गर्दभरूपोऽसुरः पुनरासाद्य समीपमागत्य परावित्स्थतः पृष्ठीकृत्य स्थितः रुषा क्रोधेन बलाय बलं हन्तुमपरौ पश्चिमौ चरणौ प्राक्षिपत् ॥३१॥ स तमिति ॥ स बलस्तमसुरमेकेनैव पाणिना प्रपदोः पादाग्रयोर्गृहीत्वा । प्रपदोरित्यार्षः पाठः । पदयोरिति साधुः पाठः इति तोषणी । भ्रामयित्वा च भ्रामणेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं तृणराजाग्रे तालमूले चिक्षेप । भ्रामयित्वेति मित्त्वे ह्रस्वाभाव आर्षः ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कृतमनुजभक्षणात् धेनुकाद्भीतैः पूर्वं न भुक्तानि न भक्षितानीत्यभुक्तपूर्वाणि राजदंतादित्वात्पूर्वप्रयोगार्हस्य पूर्वशब्दस्य परनिपातः चात् स्वादूनि ननु तर्हि कथं स्वादुमुता तेषां ज्ञाता तत्रोच्यते विषूची सर्वत्र विस्तारी सूचयैशून्ये इति धातोर्निष्पन्न

विषूचीशब्द इनंतो बोध्यः षोपदेशत्वमार्षं सुरभिः समीचीनो गंधः नोस्माभिः ॥ २५ ॥ प्रपच्छ देहि ॥ २६ ॥ सुहृदां प्रियं कर्त्तु-मिच्छया प्रभू धेनुकहनने समर्थौ ॥ २७ ॥ मतंगजो मदोन्मत्तो हस्ती ओजसाबलेन ॥ २८ ॥ असुरश्चासौ रासभो गर्द्दभश्च सनगं स-वृक्षं ॥ २९ ॥ तरसा वेगेन प्रत्यग्द्वाभ्यां पश्चिमाभ्यामुभाभ्यां पद्भ्यां बलरामं उरसि हृदये हत्वा काशब्दं कुत्सितं खरजातिनादं मुंचन् कुर्वन् पर्यसरत् हननाऽवसरं प्रतीक्षन् परितो बभ्राम कादेश आर्षः ॥ ३० ॥ संरब्धः क्रुद्धः उपक्रोष्टा रासभः पराक्पश्चान्मुखः स्थितः अपरौ पश्चिमौ बलाय बलं रामं हंतुं क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन इति चतुर्थी रुषा क्रोधेन ॥ ३१ ॥ पदयोरिति व्यक्तव्ये प्रपदोरिति पाठ आर्षः । पादयोः हस्ताभ्यां गृहीत्वा एकहस्तेन भ्रामयित्वा तृणराजाग्रे तालवृक्षाग्रे ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विद्यन्त इति ॥ किं च सुरभीणि, तानि फलानि, अभुक्तपूर्वाणि पूर्वमपि नरैरभुक्तानीत्यर्थः । विद्यन्ते । तेषां फलानां, विषूचीनः अत्रापि सर्वतः प्रसृतः, सुरभिः अन्यगन्धैरनभिभूतः, एषः गन्धः, अवगृह्यते उपाघ्रायते । अस्माभिरिति शेषः वै ॥ २५ ॥ प्रयच्छेति ॥ हे कृष्ण, तानि फलानि, गन्धेन लोभितानि चेतांसि येषां तेषां, नोऽस्माकं, अस्मभ्यमित्यर्थः । प्रयच्छ आदाय देहि । हे राम, महती वाञ्छा तत्फलानुबुभूषा, अस्ति वर्त्तते । अस्मदन्तःकरणे इति शेषः यदि, रोचते तर्हि, गम्यताम् । न वयं नियन्तुं प्रभवाम इति भावः ॥ २६ ॥ एवमिति ॥ एवमेवंविधं, सुहृद्वचः स्वसुहृद्भूतगोपवचनं श्रुत्वा, सुहृत्प्रियचिकीर्षया स्वसुहृदां प्रियं कर्त्तु वाञ्छया, प्रभू रामकृष्णौ, प्रहस्य हासं कृत्वा, गापैः वृतौ सन्तौ, तालवनं जग्मतुः ॥ २७ ॥ बल इति ॥ बलः रामः, प्रविश्य प्रथमतः प्रवेशं कृत्वा, बाहुभ्यां, ओजसा बलेन, मतंगजो मत्तमातङ्गः इव, तालान् संपरिकम्पन् परितः कम्पायमानान् कुर्वन् सन्, फलानि पातयामास ॥ २८ ॥ फलानामिति ॥ तदा पततामधः पतमानानां फलानां, शब्दं निशम्य आकर्ण्य, असुररासभः रासभाकृतिरसुर इत्यर्थः । सनगं सवृक्षं, क्षितितलं परिकम्पयन्, अभ्यधावत् ॥ २९ ॥ समेत्येति ॥ बली बलवान्, खलो धेनुकासुरः, बलं रामं, समेत्य संप्राप्य, प्रत्यक् पश्चात्, द्वाभ्यां पद्भ्यां, तरसा बलेन, उरसि निहत्य, काशब्दं गर्द्दभजातिध्वनिं, मुञ्चन् सन्, पर्यसरत् परितश्चचार ॥ ३० ॥ पुनरिति ॥ संरब्धः क्रुद्धः, उपक्रोष्टा गर्द्दभः सोऽसुरः, पुनः आसाद्य, बलमिति शेषः पराक् अनभिमुखं, स्थितः सन्, हे राजन्, अपरौ पाश्चात्यौ चरणौ, रुषा क्रोधेन, बलाय बलं ताडयितुं प्रकर्षेण उपरि चिक्षेप ॥ ३१ ॥ स इति ॥ तदा स रामः, तं धेनुकासुरं, एकपाणिना एकेन हस्तेनैव, प्रपदोः पश्चिमपादयोः, गृहीत्वोपादाय, भ्रामयित्वा स्वमूर्द्ध्नः परितो भ्रमणं विधाप्य, भ्रामणेनैव त्यक्तं जीवितं येन तं, भ्रामणमात्रत एव परासुतां प्राप्तं धेनुकमित्यर्थः । तृणराजाग्रे तालाग्रे, चिक्षेप प्राक्षिपत् ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवं सुहृद्वच इति : १०.१५.२७.

वत्सानामनुभूय पालनसुखान्यद्यासि गोपालकस्तत्तादृग्भवता विधेयमधुना कान्तं गवां यद्भवेत् ।
इत्याकर्ण्य सुहृद्वचांसि भगवान् कर्तुं किमैषीत्तदा कृत्वाऽन्तं खरधेनुकस्य विपिनं तद्धेनुकान्तं बलात् ॥ ३६ ॥
इत्यं प्राङ्मयैतद्वनं वत्सपेन सता वत्सकान्तं तथा धेनुकान्तम् । विधेयं च गोपालकेनाधुनापीत्यगात्तैः सहेशस्तदिष्टार्थदृष्टिः ॥ ३७ ॥
आकृत्या सुमनोहरोऽपि बकवत्स्याच्चेत् प्रकृत्या खलः शिक्ष्यः सोऽप्यनुपेक्षमेव जगतीत्यात्तप्रतिज्ञस्य मे ।
आकृत्यापि खलस्त्वसौ खलगणोपेतः प्रकृत्यापि तत् सम्प्रत्येव स दण्ड्य इत्यजनि तद्वाचा सहर्षोऽच्युतः ॥ ३८ ॥
आकृत्यापि खलस्त्वसौ खलगणोपेतः प्रकृत्यापि तत् सम्प्रत्येव स दण्ड्य इत्यजनि तद्वाचा सहर्षोऽच्युतः ॥ ३८ ॥

नराशखरधेनुकस्य हि पुरः कथं रे मम बलस्य च नियोजनं नरशरीरभाजोऽधुना ।
स्फुटं कुरुत निस्त्रपा इति रुषं विहायादराद् हसन् प्रभुरगादिति प्रथमतः क्रुधो निर्जयः ॥ ३९ ॥
नित्यतृप्तोऽप्यहं भक्तान् कुर्वे सत्फलभोजिनः उत्सार्य विघ्नमप्युग्रमिति तत्कृतितः स्फुटम् ॥ ४० ॥
सुरोल्लासो यथा भूयात्तथा खलविनाशनम् । मया कार्यमिति श्रीशः शीघ्रं तद्वनमाययौ ॥ ४१ ॥

बलः प्रविश्येति : १०.१५.२८.

वृन्दावनमभयं मम कर्तुरिदं शेषकार्यमवशिष्टम् इत्यनुजवागभिज्ञो रामोऽग्रेऽभूत्तदा खलं हन्तुम् ॥ ४२ ॥
शीतोष्णादिसहिष्णवोऽप्यविरत विष्णोः पदालम्बिनोऽरण्यस्थाश्च महातपस्स्थितिजुषोऽप्येकाऽध्यगा भूमिजाः ।
जाताश्चेत्खलसङ्गिनो विधिवशाद् भ्रश्यत्फलाः स्युः क्षणादेवं तालफलाभिपातनामिषादाबोधि रामेण किम् ॥ ४३ ॥

समत्येति : १०.१५.३०.

अपूर्वाभ्यां पदाभ्यां यत्खरो राममताडयत् । सुराश्रितेष्वहं वीर्यादपूर्वोऽस्मीति बोधितम् ॥ ४४ ॥
खला मूर्खा असुराश्च पाश्चात्यपददर्शकाः । स्वभावसिद्धा इत्यासीद् युक्तं तादृग्गतिः खरः ॥ ४५ ॥
शत्रोरपि सकृन्मंतुं सहेय चरणोदितम् । व्यञ्जयन्निति तत्पादप्रहारं सोढवान् बलः ॥ ४६ ॥

स तं गृहीत्वेति : १०.१५.३२.

यद्यप्यस्मि खरान्तकोऽहमधुना रामस्वरूपस्तथाप्याबालस्थविरं खरान्तक इति श्रीरामनामात्मनि।
प्रख्यातं पदमद्य न व्यभिचरत्वित्याशयादच्युतो मन्ये पुण्यजनासुहृत्खलहृतो रामं किमायोजयत् ॥ ४७॥
शपथेन निवार्य मां पुरा यद् विहितोऽनेन वने खरप्रणाशः। अधुनापि तथा करिष्यतीति खरमुद्वृत्तमरं जघान रामः॥ ४८॥
दृष्ट्वा खरं प्रसभरुद्धसुतालमालं तालध्वजः स हतवानिति युक्तमेव।
साधारणोऽपि सहते नृपतिर्न केतौ यस्मान्निजे जयपदे रिपुरुद्धभावम् ॥ ४९ ॥
खलोऽयमिह भासते यदपि कान्तनामा तथाप्यपूर्वपदशक्तितो ध्रुवमसावपूर्वस्थितः।
तदस्य तृणरोधिनः खलु वधे नु कः संशयोऽधुनेति स जघान तं सकलधेनुको धेनुकम् ॥ ५० ॥
योऽन्तर्गीतानभिज्ञो बहिरतुलमहाकण्ठनादाभिमानोगोजातात्युच्चतालोच्चरणगतितया तत्परीक्षां विधाय।
हन्याद्वेगेन गीतामृतजलधिशयः कुस्वरं तं वदन्तं द्वाभ्यां प्रत्यक्पदाभ्यां प्रकटितविभवं दुर्जनं सज्जनेशः॥ ५१॥
वनप्रवेशात्ततालकम्पनाच्च तदा रवात्। तत्क्षोभागतिदुःशब्द पद्धतिध्वंसतोऽध्वनि॥ ५२॥ (युग्मम्)
आक्रम्य पादद्वयमेकपाणिनाऽनुजेन मे प्रागसुरः कृतभ्रमः।
प्राक्षेपि वृक्षे त्विति तद्गरीयसो ममापि तत्साध्विति तत्तथाऽकरोत् ॥ ५३ ॥
विधाय खलनाशनं बहुबलः स शूरः स्वयं भवत्यतितरां कृती निजनृपाय संवेदयन्।
अहं तृणचरानुगस्तदिह तार्णराजाग्रतः खलाहतिनिवेदनं ह्युचितमित्यधार्क्षि तथा ॥ ५४॥
तालैतावदिह स्थितोऽपि समभूस्त्वं यस्य संसर्गतस्त्यक्तो भक्तजनैर्द्विजैरपि समुद्भ्रान्तं खलं पश्य तम्।
धृत्वैवाशयमीदृशं हृदि बलश्चिक्षेप तालोपरि सोऽप्यन्ये च शिरांसि सत्यमिदमित्यान्दोलयन् कम्पनात् ॥ ५५॥

कृष्णप्रिया

उसके फल हैं तो बड़े सुगन्धित, परन्तु हमने कभी नहीं खाये। देखो न, चारों ओर उन्हीं की मन्द-मन्द सुगन्ध फैल रही है। तनिक सा ध्यान देने से उसका रस मिलने लगता है ॥ २५ ॥ श्रीकृष्ण ! उनकी सुगन्ध से हमारा मन मोहित हो गया है और उन्हें पाने के लिये मचल रहा है। तुम हमें वे फल अवश्य खिलाओ। दाऊ दादा ! हमें उन फलों की बड़ी उत्कट अभिलाषा है। आप को रुचे तो वहाँ अवश्य चलिये ॥ २६ ॥ अपने सखा ग्वालबालों की यह बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी दोनों हँसे और फिर उन्हें प्रसन्न करने के लिये उनके साथ तालवन के लिये चल पड़े ॥ २७ ॥ उस वन में पहुँचकर बलरामजी ने अपनी बाँहों से उन ताड़ के पेड़ों को पकड़ लिया और मतवाले हाथी के बच्चे के समान उन्हें बड़े जोर से हिलाकर बहुत से फल नीचे गिरा दिये ॥ २८ ॥ जब गधे के रूप में रहने वाले दैत्य ने फलों के गिरने का शब्द सुना, तब वह पर्वतों के साथ सारी पृथ्वी को कँपाता हुआ उनकी ओर दौड़ा ॥ २९ ॥ वह बड़ा बलवान् था। उसने बड़े वेग से बलरामजी के सामने आकर अपने पिछले पैरों से उनकी छाती में दुलत्ती मारी और इसके बाद वह दुष्ट बड़े जोर से रेंगता हुआ वहाँ से हट गया ॥ ३० ॥ राजन् ! वह गधा क्रोध में भरकर फिर रेंगता हुआ दूसरी बार बलरामजी के पास पहुँचा और उनकी ओर पीठ करके फिर बड़े क्रोध से अपने पिछले पैरों की दुलत्ती चलायी ॥ ३१ ॥ बलराम जी ने अपने एक ही हाथ से उसके दोनों पैर पकड़ लिये और उसे आकाश में घुमाकर एक ताड़ के पेड़पर दे मारा घुमाते समय ही उस गधे के प्राणपखेरू उड़ गये थे ॥ ३२ ॥

तेनाहतो [1]महातालो [2]वेपमानो बृहच्छिराः। पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥ ३३ ॥
बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः। तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥ ३४ ॥
नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे। ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥ ३५ ॥
ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये। क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥ ३६ ॥
तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया। गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत्तृणराजसु ॥ ३७ ॥
फलप्रकरसङ्कीर्णं[3] दैत्यदेहैर्गतासुभिः। रराज[4] भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥ ३८ ॥
तयोस्तत्[5] सुमहत् कर्म [6]निशम्य विबुधादयः। मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥
अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः। तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥ ४० ॥

१. महांस्तालः—वीर.। २. पतमानो—वीर. विज.। ३. संकीर्णा—वीर. विज.। ४. स्वरतालाग्रे:—वीर.। ५. तु सुमहत्—वीर.।
६. निशाम्य—वीर. विज; निशाम्य—श्रीवर. वंशी.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः -तेन आहतः वेपमानः बृहच्छिराः महातालः पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः सः च अन्यं सः अपि अपरम् (तालं कम्पयन् भग्नः) ॥ ३३ ॥ बलस्य लीलया उत्सृष्टखरदेहहताः सर्वे तालाः महावातेरिताः इव च कम्पिरे ॥ ३४ ॥ अनन्ते जगदीश्वरे भगवति एतत् चित्रं न अङ्ग तन्तुषु पटः यथा यस्मिन् इदं ओतप्रोतम् ॥ ३५ ॥ ततः हतवान्धवाः धेनुकस्य ये ज्ञातयः क्रोष्टारः सर्वे संरब्धाः कृष्णं रामं च अभ्यद्रवन् ॥ ३६ ॥ हे नृप आपततः गृहीतपश्चाच्चरणान् तान् तान् कृष्णः रामः च लीलया तृणराजसु प्राहिणोत् ॥ ३७ ॥ फलप्रकरसंकीर्णं भूः सतालाग्रैः गतासुभिः दैत्यदेहैः घनैः नभस्तलम् इव रराज ॥ ३८ ॥ विबुधादयः तयोः तत् सुमहत् कर्म निशम्य पुष्पवर्षाणि मुमुचुः वाद्यानि चक्रुः तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥ अथ गतसाध्वसाः मनुष्याः तालफलानि आदन् हतधेनुककानने पशवः च तृणं चेरुः ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

उत्सृष्टेन खरदेहेन हतैस्तालैराहताः चकंपिरे अकंपंत ॥ ३४ ॥ यस्मिन्निदं विश्वमोतमूर्ध्वतंतुषु पट इव ग्रथितं प्रोतं तिर्यक्तंतुषु पटव देव संग्रथितम् । सर्वतोऽस्यूतं वर्तत इत्यर्थः ॥ ३५-३७ ॥ घनैर्नभ इव भुवस्तलं रराज । तत्र फलप्रकरसंकीर्णमिति दैत्यदेहैश्च सतालाग्रैः संकीर्णमित्यनेन चारुणश्वेतनीलघनसादृश्यसंपादनम् ॥ ३८-३९ ॥ आदन्नभक्षयन् ॥ ४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तेन खरासुरदेहेन । बृहच्छिराः अतितुंगः । भग्नः त्रुट्यन् । पार्श्वस्थम् तालम् ॥ ३३ ॥ हतैर्भग्नैः । आहता भग्नाः ॥३४॥ एतत्तालादिपातनम् । यस्मिन् बल । इत्यर्थ इति । सर्वाधारत्वेन तस्य तन्नाद्भुतमिति भावः । "न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते इत्येवं" वक्ष्यमाणरीत्या प्रतियोधाद्यनुकरणमात्रशक्तिप्रकाशकारिण्या नरलीलयैवदं कृतमित्याश्चर्यत्वेन वर्ण्यते, न त्वैश्वर्यलीलयेत्याह—नैतदिति । अचित्रत्वे हेतुः—भगवति शक्त्या समग्रैश्वर्यादियुक्तेऽनंते स्वरूपतोऽप्यपरिछिन्ने तथोपाधिसंबंधेनापि जगदीश्वरे ओतं प्रोतमित्यादिलक्षणे च दृष्टांतेऽपि तंतूनां कारणत्वेन पटादन्यत्वम् । अत्र तादृशभगवत्त्वादिकं श्रीकृष्णांशेषु मुख्यत्वाद्युक्तमेवेति भाव इति तोषिणी ॥ ३५ ॥ क्रोष्टारः स्वजातिस्वनं कुर्वाणाः । ततः धेनुकपतनानंतरम् संरब्धाः कुपिता 'संरभः कोपवेगयोः' इति विश्वः । कृष्णमित्यादावुक्तिः श्रीबलदेवस्य पराक्रमदृष्ट्या भयात्तत्त्यागेन तदभिद्रवणात् । यद्वा—अग्रजप्रेम्णा स्वयमेवाग्रे गमनात् रामञ्चेति पश्चादनुजस्नेहेन तस्यापि तत्पार्श्वे गमनात् । अभिद्रवणे तु द्वयोरपि प्राधान्याच्चकारौ । क्रोष्टारः महाक्रोशनं कुर्वाणाः हतबांधवा इति । शोकेनाप्यतिक्रोधाच्छक्त्यतिशयं कुर्वन्त इति भावः ॥ ३६ ॥ तांस्तान् धेनुकबांधवान् । हे नृपेति । नृपा यथा नरपालनार्थं दुष्टान्हंतीत्येवं श्रीकृष्णेनापि तत्कृतमिति भावः । यद्वा—नृपस्येव लीलया राजानोऽपि मृगयाक्रीडाकौतुकेन मृगान् घ्नंतीत्यनायास एव तात्पर्यात् ॥ ३७ ॥ भूरिति । तलमित्यनेन व्यवहिते नापि संबध्यते । षष्ठयर्थे प्रथमा बोध्येत्याशयेन भुवस्तलमिति स्वामी । फलानां प्रकरेण समूहेन संकीर्णं मिलितम् । तत्र भूतले । दैत्यदेहैरित्यनेन संकीर्णमित्यस्य समासांतर्गतस्यापि "भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्" इतिवत्संबंधः । यद्वा—दैत्यदेहैः सह फलप्रकरसंकीर्णमिति संबंधः । पूर्णोपमेयम् उपमानोपमेयसादृश्यधर्मोपमावाचकपदानां चतुर्णामेवोपादानात् । यद्वा—नभस्तलं नभःस्वरूपम् 'तलं स्वरूपाधारयोः' इति विश्वः ॥३८॥ तयोः रामकृष्णयोः । तद् त्यहननतालपातनरूपम् । नरकृत्यायोग्यत्वान्महत् । आदिना गंधर्वर्षयो ग्राह्याः ॥३९॥ हतधेनुकस्य कानने चेरुः बभक्षुः । मनुष्यास्तत्रत्याः पुलिंदादय एव न तु गोपाला आदन्, गर्दभरक्तोक्षितत्वेन फलेषु घृणोत्पत्तेः॥४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

चकारादपरोऽपि परमित्येवं बहवो बहून् कम्पयन्तो भग्ना इति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥ एवं सन्निकृष्टा भग्नाः दूरस्थास्तु कम्पिता इत्याह—बलस्येति ॥ ३४ ॥ इदं च "न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते" इत्येवं वक्ष्यमाणरीत्या प्रतियोद्धाद्यनुरूपमात्रशक्तिप्रकाशधारिण्या नरलीलयैव कृतमित्याश्चर्यत्वेन वर्ण्यते न त्वैश्वर्यलीलयेत्याह - नैतदिति । अचित्रत्वे हेतुः भगवति भक्त्या समग्रैश्वर्यादियुक्तं अनन्ते स्वरूपेणाप्यपरिच्छिन्ने तथोपाधिसम्बन्धेनापि जगदीश्वरे ओतं प्रोतमित्यादिलक्षणे च दृष्टान्तेपि तन्तूनां कारणत्वेन कार्यात् पटादन्यत्वम् अत्र तादृशभगवत्त्वादिकं श्रीकृष्णांशेषु मुख्यत्वात् युक्तमेवेति भावः ॥ ३५ ॥ कृष्णमित्यादावुक्तिः श्रीबलदेवस्य पराक्रमदृष्ट्या भयात्तत्त्यागेन तदभिद्रवणात् किंवा अग्रजप्रेम्णा स्वयमग्रतो गमनात् रामञ्चेति पश्चादनुजस्नेहेन तस्यापि तत्पार्श्वे गमनात् अभिद्रवणे तु द्वयोरपि प्राधान्याच्चकारौ क्रोष्टार इति महाक्रोशनं कुर्वाणाः हतबान्धवा इति च शोकेनातिक्रोधान्निजशक्त्यतिशयं दर्शयन्त इति भावः ॥ ३६ ॥ हे नृपेति प्रहर्षोदयात् (यद्वा, नृपस्येव लीलया राजानो हि मृगया क्रीडाकौतुकेन मृगान् घ्नन्तीति अनायास एव तात्पर्यम्) तृणराजस्विति समासान्तविधेरनित्यत्वात्॥ ३७ ॥ गतासुभिरिति देहानामस्पन्दनं बोधयति अत एव रराज श्रीकृष्णपक्षीयाणामानन्दजनकत्वात् भूः भूमिरूपं तलं तालानामधो देशः किं वा भूरित्यव्ययं भूर्लोकादिवत् । यद्वा, सुपांसुलुगित्यादिना ङसः सुभावः । अथवा सतालाग्रैर्दैत्यदेहैरुपलक्षिता भूः फलप्रकरसङ्कीर्णं यथा

स्यात्तया रराज नभस्तलं नभःस्वरूपं "तलं स्वरूपाधरयोः" इति विश्वः ॥ ३८ ॥ गोपानामेव प्रीत्यर्थमपि तत्तत् अन्येषां जा- मित्याह—तयोस्त्विति द्वाभ्याम्। तयोस्तदिति वा पाठः सुमहदिति सपरिवारस्यैव तस्यावहेलयापि मारितस्य देवादिभयक- च बोधयति आदि शब्दाद्विद्याधरादयो महर्ष्यादयश्च क्रमेण तेषां तत्तत्कर्मं ज्ञेयम् वाद्यैर्गीतनृत्यान्यपि ज्ञेयानि प्रायोऽन्योन्यं ते- सङ्गतत्वात् ॥ ३९ ॥ गोपाला इत्यनुक्त्वा मनुष्या इत्युक्तेस्ते तु मृतगर्दभप्रसङ्गेन घृणां विधाय नादन् किं त्वन्य एव मनुष्य इत्यर्थः। हतधेनुककानन इति तृणबाहुल्यमपि सूचितम् ॥ ४० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथ प्रक्षेपकाल एवेत्यर्थ इति पादप्रहारस्य वञ्चनं ज्ञेयम्। पूर्व्वं तु निह्नुत्येति तस्याबलत्वं स्वस्य च महासामर्थ्यं दर्शयितुमवञ्चनात् हननार्थं प्रक्षिप्तयोः पादयोरेव ग्रहणेन प्रहारासिद्धेः। तृणराजेत्यतिस्थूलात्युच्चत्वाभिप्रायेण, महाताल इति वक्ष्यमाणत्वात्। तदग्रे क्षेपणं गोपानां प्रहर्षार्थम्, तस्य लघुतामात्मनश्च महाबलिष्ठतां दर्शयितुं तथा लीलया तालपातनार्थञ्च ॥३३॥ तेन खरदेहेन, स पार्श्वस्थश्चान्यं स्वपार्श्वस्थं कम्पयन् भग्न इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि, चकारदन्योऽप्यपरमित्येवं बहवो बहून् कम्पयन्तो भग्ना इति ज्ञेयम् ॥ ३४॥ एवं सन्निकृष्टा भग्ना दूरस्थास्तु कम्पिता इत्याह बलस्येति महासत्त्वेति (२२ श श्लोके) पूर्वमुक्तेः श्रीबलदेवस्य बलातिशयो दर्शितः ॥ ३५ ॥ इदञ्च तस्य लोकेऽद्भुतमपि तत्त्वदृष्ट्या न चित्रमित्याह—नेति। एतत् लीलया धेनुक- मारणतद्देहोत्क्षेपणादिकर्म्मसामर्थ्यं वा, चित्रमद्भुतं न भवति। कुतः ? भगवति सर्व्वैश्वर्य्ययुक्तेऽतोऽनन्तेऽपरिच्छिन्नशक्तावनन्ते जगदीश्वरे। भगवत्त्वादिकमेव दर्शयति—ओतः प्रोतमिति। इदञ्च सर्व्वं श्रीभगवदवतारत्वेन तदभेदादुक्तम्। दृष्टान्तस्तु सर्व्वतो- नुस्यूतत्वमात्रे, न चाभेदविवक्षया। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, भगवतीत्यग्रजतया गौरवविशेषेण सर्व्वज्ञत्वाभिप्रायेण वा, अनन्ते शेषरूपेऽतो जगदीश्वरे, शिरसि पृथ्वीधारणेन जगत्पालनात् तदेवाभिव्यञ्जयति—इदं भूतलमोतंप्रोतं कारणकार्य्यात्मकमखिलं यद्वा, पर्व्वतादिभिर्दैर्घ्ये विस्तारे च सर्व्वतो निविडीभूतं यस्मिन् यन्मस्तकोपर्य्यस्ति। दृष्टान्तो नैविड्यमात्रे ॥३६॥ कृष्णमित्यादि- वृत्तिः श्रीबलदेवस्य पराक्रमदृष्ट्या भयात्तत्त्यागेन प्राक् कृष्णं प्रत्यभिद्रवणात्, किंवाग्रज-वात्सल्येन स्वयमग्रतो भवनात् (स्थितत्वात्) रामञ्चेति पश्चादनुजस्नेहेन रामस्यापि तत्पार्श्वे गमनात्। अभिद्रवणे तु द्वयोरपि प्राधान्याच्चकारो। क्रोष्टार इति महाक्रोशं कुर्व्वाणा हतबान्धवा इति च। शोकेनातिक्रोधान्निजशक्त्यतिशय दर्शयन्त इति भावः ॥ ३७ ॥ हे नृपेति प्रहर्षोदयात्; यद्वा, नृपाः लीलया राजानो हि मृगयया क्रीड़ाकौतुकेन मृगान् घ्नन्तीत्यनायासे एव तात्पर्य्यम्। तृणराजस्वित्यार्षम्,—तृणराजेषु ॥ ३८॥ गतासुभिरिति देहानामस्पन्दनं बोधयति; अतएव रराज; भूर्भूमिरूपम्; तलं तालानामधोदेशः, किंवा भूरित्यव्ययम्,—भूर्लोक- दिवत् ॥३९॥ गोपानामेव प्रीत्यर्थमपि तत्र तत्तदन्येषां जातमित्याह—तयोरिति द्वाभ्याम्। सुमहदिति देवादिभयंकरस्य महाबलिष्ठ- सपरिवारस्य तस्यावहेलयाशुमारणात्। आदिशब्दाद्विद्याधरादयो महर्ष्यादयश्च; क्रमेण तेषां तत्तत्कर्म्म ज्ञेयम्। वाद्यैर्गीतनृत्यान्यपि ज्ञेयानि, प्रायोऽन्योऽन्यं तेषां संगतत्वात् ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तेन परिक्षिप्तेनासुरेण हतस्ताडितो महान् तालः भग्नः पतमानो बृहच्छिरोऽग्रभागो यस्यात एव पार्श्वस्थं तालं पातयन् पपातेति शेषः। स च पार्श्वस्थः पतमानस्तथैवान्य सोऽपि तथैवान्यम् ॥ ३३ ॥ बलस्य रामस्य लीलयोत्सृष्टेन खरदेहेन हताः तैर्हताः सर्वे तालाश्चकम्परे यथा महावातेनेरिता कम्पितास्तद्वत् ॥ ३४ ॥ जगदीश्वरेऽनन्ते एतन्न चित्रं कुतः अङ्ग हे राजन्! तन्तुषु पट इवेद जगद्यच्छिरस्योतं प्रोत च ॥ ३५ ॥ ततो धेनुकस्य ये ज्ञातयः क्रोष्टारो गर्दभाः खरशब्दं कुर्वन्तो वा हतः बान्धवो येषां ते अत एव संरब्धाः सर्वेऽभ्यद्रवन् अभिमुखं जग्मुः ॥ ३६ ॥ हे नृप! गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषांस्तांस्तालेषु प्राहिणोत् प्राक्षिपत् प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम् ॥ ३७ ॥ फलसमूहैः सङ्कीर्णा धरा गतप्राणैर्दैत्यदेहैः कठिनैस्तालाग्रैश्च घनैर्नभस्तलमिव रराज ... स्तालाग्रैरित्यरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसम्पादनम् ॥ ३८ ॥ निशाम्य दृष्ट्वा विबुधादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्ववृषुर्वाद्यानि दुन्दुभ्यादीनि वादयामासुः। तुष्टुवुर्विबुधादय इत्यनुवर्त्तते ॥ ३९ ॥ अथ ततः गतभया मनुष्यास्तालफलान्यादन् भक्षितवन्तः हतो धेनुको यस्मिं- स्तस्मिन्कानने पशवश्च तृणमचरन् ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तेन खररूपासुरशरीरेण बलेन पार्श्वस्थं तालं कम्पयन् भग्नोऽभूत् किञ्च स च पार्श्वस्थः अन्यं तालं सोऽन्योऽपरं ... मित्येवं परम्परया ॥ ३३ ॥ बलस्य लीलया कर्मणा उत्सृष्टेन उत्क्षिप्तेन खरदेहेन तालाहताः ॥ ३४ ॥ अन्यस्य चित्रमपि रामस्य तत्कर्म चित्रं न भवतीति शुकः परीक्षितमाह—नैतदिति। हि शब्दोधराखिलेयम् ननु, सर्षपयतीति प्रसिद्धिं द्योतयति ॥ ३५ ॥ क्रोष्टारः क्षेप्तुकामाः ताच्छीलिकस्तृन्प्रत्ययः स्वजातिरवं वा ॥ ३६–३७ ॥ फलप्रकरसङ्कीर्णा तालफलसमुहेन ... ॥ ३८ ॥ तयोः रामकृष्णयोः ॥ ३९ ॥ आदन् भक्षितवन्तः ॥ ४०–४१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

किञ्च, इदञ्च "न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते" इति वक्ष्यमाणरीत्या प्रतियोद्धाद्यनुरूपमात्रशक्तिप्रकाशकार्यात् धारिण्या नरलीलयैव कृतमित्याश्रयेत्वेन वर्ण्यते—नैतदिति, दृष्टान्तेऽपि तन्तूनां कारणत्वेन कार्यात् पटाऽन्यत्वम् ॥ ३५–३७ ॥ दैत्यदेहैरुपलक्षिता भूः फलप्रकरसङ्कीर्णं यथा स्यात्तथा रराज नभस्तलं नभःस्वरूपम् ॥ ३८–३९ ॥ यद्वा, साधारणमनुष्या एवादन् न तु गोपाः मृतगर्द्दभप्रसङ्गे घृणां विधायेति भावः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तालवनक्रीड़ामाह—फलप्रकरेत्यादि । फलप्रकरसङ्कीर्णं यथा स्यात्तथा भू रराज । कैः ? गतासुभिर्दैत्यदेहैः । कैः किमिव ? घनैर्नभः स्थलमिव ॥ ३९–५२ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

फल प्रकर–सङ्कीर्णमिति यथा स्यात्तथा । भूः रराज । कैः ? गतासुभिर्देहैः । कैः किमिव ? घनैर्नभस्थलमिव ॥३९–५२॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उत्सृष्टेन खरदेहेन हतैस्तालैराहताः प्राप्ताघाताः ॥ ३४ ॥ विश्वम् ओतं अग्रतन्तुषु पट इव ग्रथितं प्रोतं तिर्य्यक् तन्तुषु पटवदेव ग्रथितं सर्वतोऽनुस्यूतं वर्त्तत इत्यर्थः ॥ ३५–३६ ॥ हे नृप ॥ ३७ ॥ फलप्रकरसङ्कीर्णं यथा स्यात् तथा भू रराज कैः दैत्यदेहैः निर्भिन्नतालाग्रसहितैः तेषां स्वतः श्यामत्वात् रुधिरोक्षितत्वाच्च घनैः श्यामरक्तैर्नभस्तलमिव "तलं स्वरूपाधारयोः" इति विश्वः ॥ ३८–३९ ॥ मनुष्यास्तत्रत्याः पुलिन्दादय एव न तु गोपालाः आदन् गर्दभरक्तोक्षितत्वेन फलेषु घृणोत्पत्तेः ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

लीलयोत्सृष्टेन खरदेहेन हतैस्तालैराहताः चकम्पिरे अकम्पत ॥ ३४॥ नैतदिति श्लोकः वासुदेवस्य सङ्कर्षणाख्या द्वितीया मूर्त्तिर्बलो न तु केवलशेषावतार इति ज्ञापयति ॥ ३५–३९ ॥ आदन् अभक्षयन् ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

स बलः प्रपदोः पादयोरग्रभागे तं खरं गृहीत्वा तृणराजस्य तालतरोरग्रे चिक्षेप ॥ ३३–३४ ॥ उत्सृष्टेन क्षिप्तेन खरदेहेन हतैस्तालैराहता लब्धाघाताः ॥ ३५ ॥ बलदेवस्येदं शौर्यंनाश्चर्यमित्याह—नैतदिति । इदं विश्वं यस्मिन् ततमूर्द्धतन्तुषु पटवद्ग्रथितं प्रोतं तिर्यक् तन्तुषु तद्वद्ग्रथितं सर्वतोऽनुस्यूतमस्तीत्यर्थः ॥ ३६–३७ ॥ हे नृप ॥ ३८ ॥ फलप्रकरैः संकीर्णं यथा स्यात्तथा भूः रराज कैरित्याह—दैत्यदेहैर्भग्नतालाग्रसहितैः तेषां श्यामत्वाद्रुधिरनिषिक्तत्वाच्च घनैः श्यामरक्तैर्नभस्तलमाकाशमिव "तलं स्वरूपाधारयोः" इति विश्वः ॥ ३९–४० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तेन खरशवेनाहतस्ताडितो बृहच्छिराः पतमानो हि पतन्महातालः पार्श्वस्थं तालं कम्पयन्स्स्वयं भग्नः स च तालविलोलितस्तालोऽन्यतालं सोऽप्यन्यमित्येवं पङ्क्तिशः समकम्पत ॥ ३३ ॥ स्वदेहहत एकस्तदाहतहता महावातेरिता इव सर्वे तरवश्चकम्पिरे ॥ ३४ ॥ एकतालताडने तालालीनां कम्पकं बलस्य बलमियदहो कथमिति मनसि सन्देहं कुर्वन्तमिवोर्वीशं विदित्वा शुकस्तमपास्तं कर्तुं किञ्च स्वस्य तत्त्वेनैव तत्त्वतो मुक्तावस्थानं चेति तन्महिमानमाह ॥ नैतदिति । जगदीश्वरे जगत्स्वामिनि । अङ्ग हे परीक्षित् । तन्तुषु पटो यथा तथेदं जगदोतं प्रोतं तद्धारकतयाऽनन्ते तन्नाम्नि शेषे धराऽखिलेयं ननु सर्वमायतीत्यादिप्रसिद्धं हिराह । तस्मिन्नेतत्खरासुरासुहरणं तरुकम्पनं चेत्येतच्चित्रमाश्चर्यं नेति सर्वोपपत्तिकृद्भवतीति भगवति जगदीश्वरे कृष्णे सहाये सतीति वा ॥३५॥ क्रोष्टारः । क्रोष्टृशब्दो ऋकारान्तः । काशब्दं कुर्वन्तो हतो बान्धवो धेनुको येषां ते तथाऽभ्यद्रवन् । प्राह्णिणोदिति पृथगन्वेति । तृणराजस्त्विति जानन्ति पूर्वराजान इत्यादिवत्समासान्तविधेरनित्यताधित्योक्तमिति ज्ञेयम् । तृणराजानां तालानां सुगर्भवद्विद्यमानफलस्तवकमोचनं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथोपरि प्राह्णिणोदिति वा । ह्रस्वो नपुंसक इति ह्रस्वः । सा तु हिंसायां सूस्तु गर्भविमोचन इति विश्वः ॥ ३६–३७ ॥ फलानां प्रकरो निकरस्तेन सङ्कीर्णा आकुला गतासुभिर्दैत्यदेहैर्गता असवः प्राणा येभ्यस्तैः सतालाग्रैस्तालशिरोभिः सहितैरिति देहविशेषणम् । घनैः सहितं नभस्थलमाकाशप्रदेश इव भू रराजाशोभत ।

नभस्थलमिन्द्रनीलमिति सुधाभिधानादिन्द्रनीलवच्च रराजेति वा। फलानां नैल्यात्तदुपमता चेति तलशब्दश्च केवलप्रदेशमात्रा-पेक्षया युक्ततया चेति ज्ञेयम्। चशब्दाध्याहारमात्रं सोढव्यम् ॥ ३८ ॥ वाद्यानि चक्रुरवादयन् ॥ ३९ ॥ आदन्भक्षयनानां मा-भयं येषां ते हतो धेनुको यस्मिंस्तच्च तत्काननं वनं च तस्मिंस्तृणं पशवश्चेरुरभक्षयन् ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

पूर्वं तु फलान्येव पतन्तीदानीं तु वृक्षाः स्वयमपि पतिता इत्याह तेनाहत इति, तेन बलभद्रेण रासभदेहेन वा, आहत-श्चतो महातालोऽपि वेपमानो जातस्ततो वृहच्छिराः स्थूलाग्रिमभागः कम्पने स्थिरीभवितुमशक्तः स्वपार्श्वस्थं वृक्षं कम्प-मध्ये भग्नः सोऽपि पूर्ववद् वेपमानः पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः, सोऽप्येवमपरः, एवं सा पङ्क्तिः सर्वापि पतितेत्यर्थः ॥ ३३ ॥ किं-केवलमेका पङ्क्तिः पातिता किन्तु सर्व एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह बलस्येति, साक्षाद्बलरूप एवायमतस्तेन लीलया-खरदेहेन हतेन वृक्षेण आ सर्वतो हतास्ताला महावातेरिता इव चकम्पिरे, अस्य क्रियाशक्तिरनेकपरम्परायामपि न-सर्वात्मकत्वादस्य यत्रैवास्य क्रियाशक्तिर्व्याप्नोति तत्सम्बन्धात् तत्र स्थितापि क्रियाशक्तिरुद्गच्छति तया चान्यत्र सर्वे-स्थिताप्युद्गच्छति यथा काष्ठेषु वह्निः, वह्निराधारमपि न स्थापयतीति वह्निसमानधर्मा वायुरत्र दृष्टान्तीकृतः, महावातेन-गुप्तोऽपि वायुरुद्गतो महानेव भूत्वान्यमप्येवमुद्बोधयतीत्यन्तं महानेव भवति ॥ ३४ ॥ इदं बलभद्रचरित्रमाश्चर्यमिव मत्वा-नैतच्चित्रमिति नेदं कर्म बलभद्रस्य किन्त्वाविष्टस्य भगवतः, तदाह भगवति नैतच्चित्रमिति किञ्चायमनन्तः सर्वसंहर्ता-णस्तस्य तालवृक्षमात्रकम्पनं किमाश्चर्यं यं कालं स्मृत्वा जगदेव कम्पते ? किञ्च जगदीश्वरः, अयं जगतो नियन्ता, ईश्वरस्या-सर्वे कम्पन्ते "यद्भयाद् वाति वातोय"मित्यादिवाक्यात्, प्रथमप्रहारपर्यन्तं बलभद्रः, ततो व्यथाप्रतीकारार्थमुपायान्वेषणे भगव-स्मृते सहसैवाविष्टो भगवांस्तथा कृतवान्, अन्यथा बाहुभ्यां कम्पन एव वृक्षभङ्गो भवेत्, किञ्च यस्मिन् सङ्कर्षणेऽहममाभिमाना-तरि सर्वमेव जगदोतं प्रोतं च समवायरूपत्वान्निमित्तरूपत्वाच्च, तन्तुभिः पट ओतः प्रोतश्च दीर्घतन्तव ओतास्तिर्यक्तन्तवः प्रो-स्तथा सर्वमेव जगद् भगवति समवेतत्वेन ग्रथितत्वेन च स्थितं, अतो हस्ताचालनेनापि सर्वजगत्कम्प उचितः, किमाश्चर्यं वृ-महाव्यापारे ॥ ३५ ॥ एवं धेनुकवधं भगवत्सामर्थ्यं चोक्त्वा प्रसङ्गात् तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां वधमाह तत इति, ते तु बहवो-कृष्णं रामं च धेनुकस्य ज्ञातयो ये धेनुकवधेन क्लिष्टा हतबान्धवाः क्रोधसंरब्धाः सन्तः क्रोष्टारो गर्दभा आक्रोशयुक्ता अ-द्रवन्, चकारद्वयेन गोपानप्यभ्यद्रवन तदा प्रतिगोपं कृष्णो रामश्चोपस्थितौ भवतः, अतो बहुधा कृष्णं बहुधा राम-ज्ञापयति ॥ ३६ ॥ तदनु भक्तरक्षार्थं सर्वानेव मारितवन्तावित्याह तांस्तानिति, य एवाग्रे मारिताः, कृष्णो रामश्चेति, यत्-पतन्ति, नृपेतिसम्बोधनं पूर्ववत्, तेषां वधे न कोऽपि प्रयास इत्याह लीलयेति, गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषां, सर्वेषामेवान्तरिक्ष-दुष्टारोपिततालवनदूरीकरणार्थं च तृणराजस्वेव प्राहिणोत्, रामः कृष्णश्चैक एवेत्येकवचनम् ॥ ३७ ॥ ततो यज्जातं त-फलप्रकरैः फलसमूहैः सङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिश्च सङ्कीर्णं ध्वस्ता भग्ना ये तालाग्रास्तालशिरांसि तैरपि सङ्कीर्णं तच्च भू-रराज शोभामेव प्राप्तवत्, न तु भूशोभा काचिन्नष्टा, तत्र दृष्टान्तो घनैर्नभ इवेति, निर्मलं नभः सूर्यसहितं चन्द्रनक्षत्रसहितं-शोभते तथा घनैरपि सम्बद्धं शोभते घनानां सर्वजनापेक्षाविषयत्वात् त्रीण्यप्येतानि नीलावान्तरजातियुक्तानि, अतिनीलानि फ-रासभास्तु धूसरास्तालाग्राश्च श्यामा मेघा अपि तथैव ॥ ३८ ॥ तत् कर्म तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धं जातमिति ज्ञापकमाह तयोर्नि-सुमहत् कर्म धेनुकवधलक्षणं विबुधादयो गन्धर्वादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्वाद्यानि चक्रुस्तुष्टुवुश्च, त्रिविधानां त्रयं हर्षचि-अनेन देवानां हितार्थं वध उक्तः ॥ ३९ ॥ एवं सपरिकरो धेनुकवधो निरूपितः, भगवता तु तालफलानि न दत्तानि परं सर्व-सर्वैर्भक्षितमित्याहार्थात भिन्नप्रक्रमेण, तालफलान्यादन् सर्व एव मनुष्या गतसाध्वसाश्च जाताः, तृणं च पशवश्चेरुः, हतो धेनु-यत्र तादृशे कानने, तत्र छायया तृणं न शुष्कं भवतीति, चकारात् पक्षिणोऽपि सुखिनो जाताः ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

ततः कृष्णं च रामं चेत्यत्र चकारद्वयेनेतीति ज्ञापयतीत्यनेन योज्यम्। फलप्रकरेत्यत्र सर्वजनापेक्षाविषयत्वा-देहलीदीपन्यायेनोभयत्र योज्यम्। ॥ ३६ ॥ दृष्टान्तस्यांशिकत्वाभावाय ॥ ३८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तांस्तानित्यत्र तृणराजस्विति समासान्तस्यानित्यवान् न टच् ॥ ३७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तेन श्रीरामोत्सृष्टखरदेहेन आहतः, अतएव वेपमानः बृहच्छिरा विस्तृताग्रिमभागो महातालः पार्श्वस्थं तालान्तरं कम्प-भग्नः पतितः, स च तेन कम्पितस्तालोऽपि पार्श्वस्थं तालान्तरं कम्पयन् भग्नः, सोऽपि चापरं तालं कम्पयन् भग्नः ॥ ३३ ॥-केवलमेतावत्, किन्तु समीपस्था एव भग्नाः दूरस्थास्तु बलस्य लीलयोत्सृष्टेन प्रक्षिप्तेन खरदेहेन यो हतस्तेनान्य, तेन-

हताहताः सर्वे एव तालाश्चकम्पिरे । तत्र दृष्टान्तमाह–महावातेनेरिताः प्रेरिता यथा कम्पन्ते तथेति ॥ ३४ ॥ एतच्छ्रवणेनाश्चर्यं मन्यमानं राजानं प्रत्याह–नैतदिति । अप्रतारकत्वं सूचयन् सम्बोधयति–अङ्गेति । यस्मिन्निदं विश्वं ओतमूर्ध्वंतन्तुषु पट इव सङ्ग्रथितं प्रोतं तिर्यक् तन्तुषु पट इव संग्रथितं तस्मिन् जगदीश्वरे सङ्कल्पमात्रेण जगज्जननादिकर्तरि । तत्र हेतुः भगवति अनन्तशक्तियुक्ते अनन्ते स्वयं जन्मविनाशादिरहिते एतत् हस्तव्यापारेणासुरमारण–वनप्रकम्पनादि चित्रमाश्चर्यं नैव भवति ॥ ३५ ॥ ततो धेनुकवधानन्तरं ये धेनुकस्य ज्ञातयः क्रोष्टारो गर्दभास्ते सर्वे संरब्धाः क्रुद्धाः सन्तः कृष्णं रामं च चकारात् गोपांश्च हन्तुमभ्यद्रवन् । तत्र हेतुः–हतेति । हतो धेनुको बान्धवो येषां ते ॥ ३६ ॥ आपततः वेगादागच्छतो गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषां तथाभूतान् तान् दैत्यान् हे नृप ! कृष्णो रामश्च तृणराजसु तालमूलेषु प्राहिणोत् प्राक्षिपत् । प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम् ॥ ३७ ॥ फलप्रकरैः फलसमूहैः सङ्कीर्णं सतालाग्रैः भग्नतालशाखाभिः सहितैर्गतासुभिः प्राणरहितैर्दैत्यदेहैश्च सङ्कीर्णं व्याप्तं भूतलं रराज । तत्र दृष्टान्तमाह–घनैरिव नभस्तलमिति । यथा नीलरक्तश्वेतादिनानावर्णैर्मेघैर्नानारूपं नभो भाति, तथा नानारूपैः फलादिभिर्भूतलमपि नानारूपं बभावित्यर्थः ॥ ३८ ॥ तयो रामकृष्णयोस्तु सुमहत् अन्यैर्दुष्करं धेनुकवधेन तालवनस्य निर्भयत्वसम्पादनरूपं कर्म निशम्य दृष्ट्वा विबुधादयः, आदिशब्देन गन्धर्वादयः । तत्र देवाः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः । गन्धर्वा गानपूर्वकं वाद्यानि चक्रुः । मुनयस्तुष्टुवुः ॥३९॥ अथ धेनुकवधाद्यनन्तरं हतो धेनुको यस्मिंस्तस्मिन् कानने गतसाध्वसा निर्भया मनुष्यास्तालफलानि आदन् अभक्षयन् । 'मनुष्या' इति पश्वादीनामप्युपलक्षणम् । 'मनुष्या, इति सामान्योक्त्या तदा भगवत्सखीनां गोपानां फलभक्षणं तु कैमुत्यन्यायेनार्थसिद्धम्, तदर्थमेव तत्र गमनात् । तथा पशवश्च गोमहिषादयस्तृणं चेरुः ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तेनेति ॥ तेन श्रीरामोत्सृष्टखरदेहेन आहतः अत एव वेपमानः बृहच्छिरा विस्तृताग्रिमभागो महातालः पार्श्वस्थं तालान्तरं कम्पयन् भग्नः पतितः स च तेन कम्पितस्तालोऽपि पार्श्वस्थं तालान्तरं कम्पयन् भग्नः सोऽपि चापरं तालं कम्पयन्भग्नः ॥ ३३ ॥ बलस्येति ॥ बलस्य लीलयोत्सृष्टेन प्रक्षिप्तेन खरदेहेन यो हतस्तेनाहतोऽन्यस्तेनान्य इत्येवं हताहताः सर्व एव ताला महावातेन ईरिता इव चकम्पिरे ॥ ३४ ॥ नैतदिति ॥ अङ्ग हे राजन् ! यस्मिन्निदं विश्वम् ओतमूर्ध्वतन्तुषु पट इव ग्रथितं प्रोतं तिर्यक्तन्तुषु पट इव संग्रथितं तस्मिन् जगदीश्वरे भगवति अनन्ते बलदेवे एतत् हस्तव्यापारेणासुरमाणवनप्रकम्पनादि चित्राश्चर्यं नैव भवति ॥ ३५ ॥ तत इति ॥ ततो धेनुकवधानन्तरं हतो बान्धवो धेनुको येषां ते धेनुकस्य ज्ञातयः क्रोष्टारो गर्दभास्ते सर्वे संरब्धाः क्रुद्धाः सन्तः कृष्णं रामं च चकारात् गोपांश्च हन्तुमभ्यद्रवन् ॥ ३६ ॥ तांस्तानिति ॥ हे नृप ! आपततः वेगादागच्छतः गृहीतौ पश्चाच्चरणौ येषां तथाभूतान् तान् तान् दैत्यान् कृष्णो रामश्च तृणराजसु तालमूलेषु । टजभाव आर्षः । प्राहिणोत् प्राक्षिपत् प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम् ॥ ३७ ॥ फलप्रकरेति ॥ फलप्रकरैः फलसमूहैः संकीर्णा । संकीर्णमिति पाठे भूरिति विशेष्यमव्ययं क्रियाविशेषणं वा । सतालाग्रैः भग्नतालशाखाभिः सहितैर्गतासुभिः प्राणरहितैर्दैत्यदेहैश्च संकीर्णा व्याप्ता भूः घनैर्नभस्तलमिव रराज तत्र फलप्रकरसंकीर्णेति दैत्यदेहैः फलैः तालाग्रैश्चेति अरुणश्वेतनीलघनसादृश्यसंपादनम् ॥ ३८ ॥ तयोरिति ॥ अन्यैर्दुष्करं धेनुवधेन तालवनस्य निर्भयत्वसंपादनरूपं सुमहत् कर्म निशम्य दृष्ट्वा विबुधादयः आदिपदेन गन्धर्वादयः तत्र देवाः पुष्पवर्षाणि मुमुचुः । गन्धर्वा गानपूर्वकं वाद्यानि चक्रुः मुनयस्तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥ अथेति ॥ अथानन्तरं हतो धेनुको यस्मिंस्तस्मिन् कानने गतसाध्वसा निर्भया मनुष्यास्तालफलानि आदन् अभक्षयन् तथा पशवश्च गोमहिषादयस्तृणं चेरुः । अत्र मनुष्याः पुलिन्दादयो नतु गोपाः । गर्दभरक्तोक्षितत्वेन घृणोत्पत्तेरिति चक्रवर्ती ॥ ४० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

चकारादपरोपि परमित्येवं बहुभंगः ॥ ३३ ॥ उत्सृष्टेन प्रक्षिप्तेन खरदेहेन हतैस्तालैराहताः ॥ ३४ ॥ यस्मिन् संकर्षणस्य चतुर्विंशतितत्वात्मकविराड्रूपे इदं देवमनुष्यादिरूपैश्चतुर्विंशतितत्वात्मकं विश्वं ओतं दीर्घतंतुषु पट इव ग्रथितं प्रोतं तिर्यक् तंतुषु पटवत् महाभूतात्मके विराड्देहे अल्पभूतात्मकं देवमनुष्यादिरूपं विश्वमनुस्यूतं वर्तते इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ क्रोष्टारः खराः ॥ ३६ ॥ हे नृप ॥ ३७ ॥ स तालाग्रैः तालाग्रसहितैः गतप्राणैर्दैत्यदेहैः सहितं फलानां प्रकरैः निकरैः संकीर्णं व्याप्तं भूः भूरूपं तलं घनैः नभोगगनमिव रराज फलतालदेहैः रक्तनीलश्वेतांबुदवद् बभौ ॥३८॥ वाद्यानि वादित्राणि चक्रुः वादयामासुः ॥३९॥ गतसाध्वसाः गतभयाः आदन् भुंजंति स्म ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तेनेति ॥ तेन परिक्षितेनासुरेण, आहतस्ताडितः, महातालः वेपमानः कम्पमानः, बृहदति प्रवृद्धं शिरोऽग्रं यस्य सः। स एव, पार्श्वस्थं पार्श्ववर्त्तिनं, अन्यं तालं, कम्पयन्, भग्नः। स द्वितीयस्तालश्च, अन्यं तृतीयं तालं, कम्पयन् भग्नः। स तृतीयस्तालश्चापि अपरं चतुर्थं तालं कम्पयन् भग्नः। एवं परंपरया बहूनां तेषां पतनं बोध्यम् ॥ ३३ ॥ बलस्येति ॥ एवं बलस्य बलदेवेन, लीलया उत्सृष्टश्चासौ खरदेहश्च तेन हता ये तैराहताः सर्वे तालाः, महांश्चासौ वातश्च तेन ईरिताः कम्पिताः सन्त इव, चकम्पिरे ॥ ३४ ॥ नैतदिति ॥ अङ्ग हे राजन्, जगदीश्वरे सर्वजगन्नियन्तरि, अनन्ते भगवति, एतत् चित्रमाश्चर्यं, न भवति हि। यतः यस्मिन्नेव इदं सकलं जगत्, तन्तुषु, सूत्रेषु, पटः यथा, तथा, ओतं प्रोतं च, भवति। इत्थंभूतमहिमा बलो भवतीति भावः ॥ ३५ ॥ तत इति ॥ ततः धेनुकस्य, ये ज्ञातयः, क्रोष्टारो गर्दभाः सन्ति, ते हतो बान्धवो येषां तथाभूताः, अत एव संरब्धाः क्रुद्धाः सन्तः, सर्वे कृष्णं च रामं चापि, अभ्यद्रवन् अभिमुखमाजग्मुः ॥ ३६ ॥ तांस्तानिति ॥ हे नृप, रामः कृष्णश्च, आपततोऽभ्यागच्छतः, तान् तान् खराकृतीनसुरानित्यर्थः। गृहीतौ पाणिभ्यामुपात्तौ पश्चाच्चरणौ येषां तान् कृत्वा, लीलया, तृणराजसु तालेषु, प्राहिणोत् प्रत्येकाभि-प्रायकमेकवचनम् ॥ ३७ ॥ फलेति ॥ फलानां प्रकराः समूहास्तैः संकीर्णा, यद्वा फलप्रकरेति लुप्ततृतीयमार्षम्। सतालाग्रैस्तालाग्रैः सहितैः, गतासुभिर्गतप्राणैः, दैत्यदेहैश्च, संकीर्णा भूभूर्मिः, घनैर्मेघैः, नभस्थलं इव, रराज उक्तविशेषणैररुणश्वेतनीलत्वसाम्यं बोध्यम् ॥ ३८ ॥ तयोरिति ॥ विबुधादयः देवप्रभृतयः, तयो रामकृष्णयोः, तत्पूर्वमुक्तं यत्तदित्यर्थः। सुमहत् कर्म, निशम्य दृष्ट्वा पुष्पवर्षाणि नान्दनवनीयपुष्पवर्षणानि, मुमुचुः। वाद्यानि चक्रुरवादयन्, तुष्टुवुश्च ॥ ३९ ॥ अथेति ॥ अथानन्तरं, हतो व्यापादितो धेनुको यस्मिन् तच्च तत् काननं तस्मिन्, मनुष्याः, गतं निवृत्तं साध्वसं भयं येषां तथाभूताः सन्तः, तालफलानि आदन् पशवो गवादयः, तृणं तृणानीत्यर्थः। एकवचनं जात्यभिप्रायम्। चेरुरभक्षयन् च ॥ ४० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तेनाहत इतिः १०· १५· ३३.

संपीडितोऽपि सरलः फलदानशीलो दुष्टः समुद्धृतपदोऽपि स दुष्ट एव।
तालादिकम्पनमथाङ्घ्रितिः खलस्य मन्ये बलेन रचितेति निदर्शनाय ॥ ५६ ॥
अन्यानुपकृत्युपकृतिहेतू खलसज्जननिर्गमौ भवतः। तालवनमीश्वरास्मिन् भवतोदाहृत्य दर्शितं मन्ये ॥ ५७ ॥
नो चेत्सरफलशालिनो रसवतस्तारस्य जाताऽनघा शुद्धिस्तद्विहितोऽप्यलं स वितथो भूर्यागमेक्षाविधिः।
आलम्ब्याशयमेवमेव विदधे तारं स तादृग्विधं प्रागुद्दृष्टागम इत्यभूत्स्फुटमिह व्यासोक्तराजोक्तितः ॥ ५८ ॥

कृष्णप्रिया

उसके गिरने की चोट से वह महान् ताड़का वृक्ष-जिसका ऊपरी भाग बहुत विशाल था-स्वयं तो तड़तड़ाकर गिर ही पड़ा। सटे हुए दूसरे वृक्ष को भी उसने तोड़ डाला। उसने तीसरे को तीसरे ने चौथे को इस प्रकार एक दूसरे को गिराते हुए बहुत से तालवृक्ष गिर पड़े ॥ ३३ ॥ बलराम जी के लिये तो यह एक खेल था। परन्तु उनके द्वारा फेंके हुए गधे के शरीर की चोट खा-खाकर वहाँ सबके सब ताड़ हिल गये। ऐसा जान पड़ा मानो सबको झंझावातने झकझोर दिया हो ॥ ३४ ॥ भगवान् बलराम स्वयं जगदीश्वर है। उनमें यह सारा संसार ठीक वैसे ही ओत प्रोत है, जैसे सूतों में वस्त्र। तब भला उनके लिये यह कौन आश्चर्य की बात है ॥ ३५ ॥ उस समय धेनुकासुर के भाई बन्धु अपने भाई के मारे जाने से क्रोध के मारे आग बबूला हो गये। सबके सब गधे बलरामजी और श्रीकृष्ण पर बड़े वेग से टूट पड़े ॥ ३६ ॥ राजन्। उनमें से जो जो पास आया उसी उसी को बलरामजी और श्रीकृष्ण ने खेल खेल में ही पिछले पैर पकड़कर तालवृक्षों पर दे मारा ॥ ३७ ॥ उस समय वह भूमि ताड़ के फलों से पट गयी और टूटे हुए वृक्ष तथा दैत्यों के प्राणहीन शरीर से भर गयी। जैसे बादलों से आकाश ढक गया हो, उस भूमिकी वैसी ही शोभा होने लगी ॥ ३८ ॥ बलरामजी और श्रीकृष्ण की यह मङ्गलमयी लीला देखकर देवतागण उनपर पुष्प बरसाने लगे और बाजे बजाकर स्तुति करने लगे ॥ ३९ ॥ जिस दिन धेनुकासुर मरा, उसी दिन से लोग निडर होकर उस वन के तालफल खाने लगे तथा पशु भी स्वच्छन्दता के साथ घास चरने लगे ॥ ४० ॥

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः । स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत्[१] ॥ ४१ ॥
तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥ ४२ ॥
पीत्वा मुकुन्दमुख[२]सारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं[३] यदपाङ्गमोक्षम् ॥ ४३ ॥
तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले । यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥ ४४ ॥
[४]गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः । नीवीं [५]वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥ ४५ ॥
जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ । संविश्य [६]वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥ ४६ ॥
एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् । ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥
अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः । दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अनुगैः गोपैः स्तूयमानः पुण्यश्रवणकीर्तनः कमलपत्राक्षः कृष्णः साग्रजः व्रजम् आव्रजत् ॥ ४१ ॥ दिदृक्षितदृशः समेताः गोप्यः गोरजश्छुरितकुन्तलः बद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासं वेणुं क्वणन्तं अनुगैः अनुगीतकीर्ति तं अभ्यगमन् ॥ ४२ ॥ व्रजयोषितः मुकुन्दमुखसारघम् अक्षिभृङ्गैः पीत्वा अह्नि विरहजं तापं जहुः (श्रीकृष्णः) सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षं तत्सत्कृतिं समधिगम्य गोष्ठं विवेश ॥ ४३ ॥ तयोः पुत्रयोः पुत्रवत्सले यशोदारोहिण्यौ यथाकामं यथाकालं परमाशिषः व्यधत्ताम् ॥ ४४ ॥ तत्र व्रजे मज्जनोन्मर्दनादिभिः गताध्वानश्रमौ रुचिरां नीवीं वसित्वा दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ जनन्युपाहृतं स्वाद्वन्नं प्राश्य उपलालितौ वरशय्यायां संविश्य सुखं सुषुपतुः ॥ ४५-४६ ॥ राजन् एवं वृन्दावनचरः सः भगवान् क्वचित् रामम् ऋते सखिभिः वृतः कालिन्दीं ययुः ॥ ४७ ॥ अथ निदाघातपपीडिताः गावः च गोपाः च तृषार्ताः तस्याः विषदूषितं दुष्टं जलं पपुः ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गोरजोभिश्छुरितेषु कुंतलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य रुचिरे ईक्षणे चारुहासश्च यस्य तं च तं च दिदृक्षितदृशो दिदृक्षिता दर्शनोत्कंठायुक्ता दृशा यासां ताः ॥ ४२ ॥ मुकुंदस्य मुखपद्मगतं सारघं मधु । अह्नि यो विरहस्तस्माज्जातं तापम् । स च तासां सत्कृतिं पूजाम् । कां सत्कृतिं कथं वा कृतां तामाह । सव्रीडेति । सव्रीडेन सलज्जेन हासेन विनयो यथा भवति तथा यदेतत् । किं तत् । अपांगमोक्षं कटाक्षदर्शनम् तथा तां सत्कृतिं प्राप्येति ॥ ४३-५० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृष्ण इति व्रजस्थानां चित्ताकर्षणं, कमलपत्राक्ष इति नेत्रनासयोराकर्षणम् । पुण्ये धन्ये श्रवणे कर्णौ यतस्तादृक्कीर्त्तनं वेणुगानं यस्येति श्रोत्रस्याप्याकर्षणं सूचितम् । अनुगैः देवरूपैरित्यर्थः ॥ ४१ ॥ तम् श्रीकृष्णम् । गोरजोभिः छुरितेषु व्याप्तेषु कुन्तलेषु केशपाशेषु बद्धं बर्हं मयूरपक्षो यस्य स इत्युत्तरेण कर्मधारयः । 'छुरितं व्याप्तभेदयोः' इति धरणिः । दिदृक्षा जाता यासां ता दिदृक्षिताः दृशः स्वयमेव कर्तृत्वं भेजुः, करणत्वं त्यक्त्वेति ध्वनिः । ताः दृशो यासामिति ॥ ४२ ॥ सरघाभिः संचितं सारघम् 'सरघा मधुमक्षिका' इति हलायुधः । मधु मकरंदं, मुखं लक्षणया पद्ममाह, सारघपदमपि लक्षितलक्षणया मकरंदमाह ॥ ४३ ॥ तयो रामकृष्णयोः । यथाकामं तदिच्छानुसारेणेत्यर्थः । परमाशिषस्तद्वांछितानि । व्यधत्ताम् अकुरुताम् ॥ ४४ ॥ अध्वनोऽयमाध्वनः स चासौ श्रमश्चेत्याध्वनश्रमः, गत आध्वनश्रमो ययोस्तौ तथा । विश्वनाथस्तु—न श्रमोऽश्रमः स चेश्वरत्वान्नरलीलया तस्या-भावोऽनश्रमः, गतोऽध्वनोऽनश्रमः ययोस्तावित्याह । तत्र गोकुले सुषुपतुरिति द्वयोः संबंधः । नीवीं धौतवस्त्रम् "नीवी स्त्री कटि-बंधेऽपि वणिग्मूलधने तथा । दृढबद्धे धौतबद्धे कटिदत्तकुशत्रये ॥ जितेंद्रियायां नार्यां च श्रीभक्तायाञ्च कथ्यते" इति शारदः ॥ ४५ ॥ संविश्य पतित्वा । यद्यपि संपूर्वविशतेः शयने वृत्तिर्दृश्यते 'स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरोक्तेस्तथाप्युपसर्गाणामनेकार्थत्वादत्र पतनेऽर्थे । वरशय्यायाम् मृदुवस्त्राच्छादितपर्यंके ॥ ४६ ॥ क्वचित् कदाचित् । राममृते बलभद्रं विना । एव कुर्वन्निति शेषः ॥ ४७ ॥ निदाघो ग्रीष्मर्त्तुस्तत्संबंध्यातपो रविकरभवोष्णत्वविशेषस्तेन पीडिता व्याकुला इत्यर्थः अथ कार्त्स्न्येन । अथेति मंगलानंतरारंभ-प्रश्नकार्त्स्न्याधिकारप्रतिज्ञासमुच्चयेषु । दुष्टम् विकृतिजनकम् । तत्र हेतुः । विषदूषितमिति । तस्याः कालिन्द्याः ॥ ४८ ॥

१. व्रजमाविशद्-वीर. ; मागमन्-विज. । २. रुपगीत-वीर. विज. । ३. मुखसौरभ-गो. प्रे. टी. ; मुखसारस-वीर. । ४. विगमी यदपाङ्गमोक्षः-विज. । ५. ततो गतश्रमो-वीर ; विगताध्वश्रमौ-विज. । ६. वासो वसित्वा रुचिरं-वीर. । ७. मृदु-विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं प्रसङ्गेन दिनान्तरस्य धेनुकवधलीलामपि समाहृत्य प्रथमगोचारणदिनसन्ध्यालीलापि यथायुक्तमित्थं ज्ञेयेति तद्दिन-सन्ध्यालीलामाह षड्भिः—तत्र सामान्यव्रजजनदृश्यमानत्वेन वर्णयति - कृष्ण इति । कृष्ण इत्यभिप्रेतं सर्वचित्ताकर्षत्वं दर्शयन् विशिनष्टि—कमलेत्यादिना । कमलपत्राक्ष इति सौन्दर्यं शोणच्छविकोणतया विस्तीर्णताकीर्णतया च कैशोरांशव्यक्तिरपि पुण्य-श्रवणकीर्तने यस्य स इति सर्वसद्‌गुणकर्मादि माहात्म्यम् अनेन व्रजनाथसन्तच्छ्रवणादेव विरहार्त्युपशमस्तावकानां च चित्तोल्लासः सूचितः एवं स्वरूपशोभां दर्शयित्वा आवरणशोभामाह, स्तूयमान इत्यादिना ॥ ४१ ॥ अथ तदुल्लङ्घितवाल्यैः श्रीगोपकुमारी-विशेषैरपि दृश्यमानत्वेन तं वर्णयंस्तेषामनुरागोत्पत्तिं स्पष्टयति—तमिति द्वाभ्याम् । ईक्षणमवलोकनं गोरज इत्यादिना उपरि मध्ये तले च श्रीमुखशोभा दर्शिता अन्यवेषसद्भावेऽपि तत्तन्मात्रस्यैव वर्णनं सायं वनादागतत्वेन वैशिष्ट्यात् वेणुक्वणनं स्वभावत एव विशेषतश्च तासां प्रहर्षणार्थमाकर्षणार्थं च उपेतिरागमात्रगानमयवेणुक्वणनोपगानत्वेन गीता कीर्तिर्यस्य तम् अत्र साग्रजतानुक्तिस्तस्य तत्रानुपयुक्तप्रायत्वात् अत एव छलेन व्यवहितत्वात् गुरुजनसङ्गतौ हि तस्याग्रजताभाव एव प्रबलते तस्य व्रजागमननिर्द्धारे गोरजः-शङ्कुरितेति सूचितगोरज उद्धूतिर्वेणुक्वणनमनुगोपगीतकीर्तित्वमिति हेतुत्रयं ज्ञेयम् अभिगमने हेतुः, दिदृक्षिताः सञ्जातदिदृक्षा दृशो यासामिति, अत्र प्रथमतो गोचरणेन दूरगमनतो विविधशङ्कोत्पत्तिः तथा पूर्वतोऽधुना गोपालते कालविलं वनेनागमनं चोत्कण्ठा-वैशिष्ट्यं हेतुः समेताः अन्योन्यं मिलिताः ऐकमत्येन सख्यात् तत एव भयलज्जादिहानेश्च तच्च स्वस्वगृहतः सर्वासामेव युगपद्वेणु-नाच्छ्रीकृष्णाध्वनिं वा पूर्वमेवागतानामुच्चस्थानविशेषे वा ज्ञेयम् ॥४२॥ ततश्च यद्वृत्तं तदाह—पीत्वेति । तैर्व्याख्यातम् स्वमाधुरी-परिवेषणेन वियोगदुःखान्मुक्तिं ददातीति मुखे कुन्दानि दन्तरूपाणि यस्येति वा मुकुन्दः तस्य मुखाब्जसारघमक्षिभृङ्गैरवलेह्य पीत्वेति तत्सौदर्यपरमासत्त्वा नेत्रमात्रात्मिकासत्यो भृशं वीक्ष्येत्यर्थः । प्रकृत्याभिरूप इत्यादिवत्तृतीया किञ्च, भृङ्गरूपकेण श्रीमुखा-वयवेषु ततस्ततो मुहुर्द्दृष्ट्वा यद्धवनिता व्रजयोषित इति समुत्कण्ठाविशेषः अह्नीति रात्रौ विहरतापाभावः सूचितः । तस्यां व्रजेन्द्र-ग्रहादौ तत्सन्दर्शनादिसिद्धेः सत्कृतिमाह—सव्रीडो हासोपताद्दशोऽपि विनयः रहस्यप्रियजनोचितव्यवहारोपत्रताद्दशं यथा स्यात्था तद्रूपामित्यर्थः । यदित्येतत्प्रोक्ता तां किंरूपां अपाङ्गमोक्षकटाक्षदर्शनरूपामित्यर्थः यद्वा यत्रासां अपाङ्गमोक्ष एव सत्कारोपकरणत्वेन विद्यते यत्र ताद्दशां यथा स्यात् तथा सत्कृतिं समधिगम्येति यद्वा, यत्सद्वृत्त्यधिगमनं सव्रीडेत्यादिरूपं अपाङ्गस्य मोक्षो यत्र तद्वत् च क्लीवत्वमार्षं वा कंसात्कृतिं यः अपाङ्गमोक्ष इत्यर्थः । तद्विशेषणं सव्रीडहासेति यद्वा व्रजयोषितः पूर्वोक्तास्तद्विशेषाः मुकुन्दस्य सर्वदुःखमोचकत्वेन तादृशनाम्नः श्रीकृष्णस्य मुखसारघं मुखकमलस्य सौन्दर्यरूपं मकरन्दमक्षिभृङ्गैरक्षिभिरेव भृङ्गैः पानपात्रैः पीत्वा समास्वाद्य अह्नि यो विरहस्तेन यस्तापस्तदप्राप्तिजा तृष्णा तां जहू रात्रिजविरहतापं तु प्रातर्दर्शनेन जहुरेवेति भावः । यत्र यत्रैव सव्रीडौ हासविनयौ यत्र तादृशमपाङ्गमोक्षं कटाक्षनिःक्षेपरूपां तत् सत्कृतिं ताभिः कृतं सम्मानं समधिगम्य मत्वा गोष्ठं गोष्ठा-न्तर्निजगृहं विवेशेति ॥ ४३ ॥ एवं तासामानन्दं द्वाभ्यामुक्त्वा मात्रोर्द्वयोराह—तयोरिति । पुत्रयोरिति । द्वयोरपि द्वौ प्रत्येव स्नुप-भावेन लालनभरं बोधयति—यथाकालमिति । शरदादौ सायं प्रदोषादौ च समये विधेयानुसारेणेत्यर्थः । यथा कामं पुत्रयोः स्वयोर्वा इच्छानुसारेण यथेत्यादिकयोर्विपर्ययेण पाठः क्वचित् परमा उत्कृष्टा आशिषः उपभोगान् सम्पादितवत्यौ यतः पुत्रवत्सले अनेन प्रागङ्कारोपणालिङ्गनचुम्बनादिकं कुशलप्रश्नसर्वाङ्गनिरीक्षणादिकञ्च सूचितम् ॥४४॥ आशीर्विधानमेव प्रपञ्चयति—गतेति युग्मकेन । गताध्वानेति न श्रमो अश्रमः स चेश्वरत्वात् श्रीमन्नरलीलाङ्गीकारेण तस्याभावस्त्वनश्रमः श्रम एवेत्यर्थः । सम्प्रति क्षणं विधान-लीयायां विगताध्वश्रमावित्यर्थः । आदिशब्देन केशप्रसाधनजलमार्जनादीनि स्नेहभरसंभ्रमेण क्रमोल्लङ्घनान्मज्जनस्यादावुक्तिः । यद्वा, जलेन धूलिमपसार्य पश्चात् सुगन्धिद्रव्येण तत् नीवीमिति अजहल्लक्षणया परिधानवस्त्रं च उत्तरीयस्य यज्ञोपवीतवद् प्रावर-पेक्षत्वाद् अनुलेपनादिशोभाव्यवधायकतया तस्याग्रहणाच्च भूषणानामनुक्तिः वस्त्रादीनामिव म्लानत्वाभावेन तेषामपरिवर्त्तनात् प्रातरेव तदाधिक्यौचित्याच्च जननीभ्या उपहृतं परिविष्टं प्राश्य प्रकर्षेण सुखेनाशित्वा उपलालितौ ताम्बूलादिमुखवासार्पणसुख-गोष्ठीशिरोघ्राणादिभिः प्रतिलालितौ तत्र व्रजे तन्मध्ये अवरोधान्तर्महाप्रासादे तथा च पाद्मोत्तरखण्डे वर्णितम्—

"तस्मिंश्च भवने श्रेष्ठे रम्ये दीपैर्विराजिते । श्लक्ष्णे विचित्रपर्यङ्के नानापुष्पविवासिते ॥
तस्मिन् शेते हरिः कृष्णः शेषे नारायणो यथा" । इति

वरशय्यायां दिव्यपर्यङ्कोपरि संविश्य श्रीगात्रं प्रसार्य अनेन क्रीडार्थं निद्रायां क्षणं विलम्बो बोध्यते तदेव सूचयति, सुखं यथा स्यादिति सखिदासादिकृतोपस्कृतताम्बूलसमर्पणचामरान्दोलनपदाब्जसम्वाहननर्मगोष्ठीगीतगानादिसुखप्रकारेणेत्यर्थः ।४५-४६। अत्राध्यायसमाप्त्यकरणं क्रमप्राप्तामपि पूर्वत्र दुःखमयतया त्यक्तां कालियदमनलीलामनुस्मृत्य वैचित्र्यात् अनुस्मृतायाश्च तस्याः आवेशादेव तां प्रथमभागतो वक्तुमारब्धामपि तन्मात्रमुक्त्वाध्यायः समापयिष्यते । पुनश्च विहरत्यपि तत्र स्वयं भगवति यमुनायाः स दोषो नापगत इति श्रोतॄणामपरितोषमाशङ्क्य विलोक्य दूषितां कृष्णामित्येकेनैव पद्येन सा लीला सूचयिष्यते राजप्रश्नतःपुनः प्यमानावेशादेव तु विस्तारयिष्यते अथ तथैवोपक्रमे ते एवमित्यादिना एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गोपालनभृङ्गाद्यनुकरणादिनेत्यर्थः । त

व्रजजनैकजीवनभूतो वृन्दावनचरो भगवान् कृष्ण इति भगवत्तायामपि सार्द्रचित्तस्तद्विशेषं स्मरन्ति, क्वचित् कदाचित् गोचारणारम्भवर्षस्य निदाघे रामं विनेति अन्यथा तेन तादृशसाहसनिषेधमयमातृशिक्षया कालियह्रदप्रवेशो निवार्य्येतेति सम्भाव्य तस्मिन् दिन एव तत्र गत इति भावः। वृतो वेष्टितः श्रीमुखसन्दर्शनार्थं सर्वेषामेव प्रेमस्पर्द्धया परितो ऽन्तिकागमनात् विशेषतः स्नेहेन व्रजेश्वर्या अनुशासनाच्च ॥ ४७ ॥ गावश्च गोपाश्च अथानन्तरमेव पपुरिति गावस्तावदन्यत्र चालिता अपि निदाघातपपीडिताः सत्यस्तज्जलमूर्द्ध्वात् यमुनातीराद्दृष्ट्वा पशुतया तद्दोषाज्ञानादेव द्रुतगत्या प्रविश्य पपुः गोपाश्च तत्पीडिता एव किं तु प्रसिद्धतद्दोषं जानन् तासां मृतिं दृष्ट्वा शरीरजिहासया पपुरिति ज्ञेयम् अत एव गोपाश्चेति तदनन्तरमुक्तं ताश्च ते चाग्रगामिनः कतिचिदेव ज्ञेयाः श्रीकृष्णस्यैकाकित्वेन पश्चात् त्यक्तुं तैरशक्यत्वात् सङ्ख्यातीतगोचारणाय समन्तात् भागश एव गन्तुं तेषां योग्यत्वात् पश्चाद्गामिना श्रीकृष्णेन दृश्यमानानां गवामपि तत्पानासम्भवात् दुष्टत्वे कारणमाह—विषदूषितामिति ॥ ४८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथ तद्वधानन्तरं मनुष्या गोपा एव, गतं साध्वसं रामकृष्णविषयकानिष्टशंका येषाम्। आदन् तत्रैवाभक्षयन्। यद्वा, ततः प्रभृति गोपादयः सर्वं एव मनुष्या धेनुकोत्पातगतभया अभुक्तपूर्वाणि (भूपतितानि) तान्यभक्षयन्नित्यर्थः। किंवा, गोपास्तालफलान्यादन्; मनुष्या अन्येऽपि सर्वे गतसाध्वसा बभूवुरिति। हतधेनुकेति मनुष्याणामगम्यतया घनतृणादिसञ्चये तत्र निर्भयत्वेन सर्वत्र सुखेन तृणचरणादिकमभिप्रेतम् ॥ ४१ ॥ एवं प्रसंगादापतितां तालीवनक्रीडां निरूप्य पूर्वं प्रस्तुतां गोपालन-प्रथमदिन-क्रीडामेव वदन् वनविहारं समाप्य व्रजान्तर्विलासमाह—कृष्ण इति षड्भिः। अथवा, तस्मिन्नेव दिने तालीवनक्रीडापि सा द्रष्टव्या, एकदेत्याद्यनुक्त्या क्रमेण तद्दिनक्रीडामेव तत्कथनात्। ततश्च कालेऽपि कार्त्तिकशेषे पक्वतालानां समृद्धिः सर्वर्त्त्वाश्रयः श्रीवृन्दावनसम्बन्धात्। पुरो वातोऽपि शरद्वृष्ट्यर्थमेतद्वंशस्वभावादघटत एवेति दिक्। साग्रजः कृष्ण इति प्राधान्येन तस्य निर्देशः प्रायः सर्वत्र तस्यैव मुख्यत्वात्, विशेषतश्च व्रजागमने तस्यात्यन्तोत्साहात्, व्रजजनानन्दविशेषोत्पादनाच्च, तथाग्रतोऽभिगमिष्यन्तीभिः श्रीगोपिकाभिः सह संगमोत्सवार्थमग्रे भवनाच्च। कृष्ण इत्यभिप्रेत-सर्वचित्ताकर्षकत्वं दर्शयन् विशिनष्टि, कमलेत्यादिना। कमलपत्राक्ष इति सौन्दर्य्यम्, पुण्ये श्रवणकीर्त्तने यस्येति सर्वसद्गुणकर्म्मादिमाहात्म्यम्। अनेन व्रजस्थानां तच्छ्रवणादेव विरहार्त्त्युपशमः, स्तावकानाञ्च चित्तोल्लासः सूचितः। एवं व्रजागमने व्रजस्थानां प्रहर्षार्थं विशेषतो रूप गुणादि प्रकटनमभिप्रेतमतो निजाभीष्टसिद्धेश्च, गोपैः स्तूयमानो रूपगुणादिप्रदर्शनेन विशेषतश्च तद्दिनकृत धेनुकवधादि वर्णनेनानुगैः पश्चाद्वर्त्तिभिः सद्भिः, श्रीकृष्णस्य गोपीनां चान्योऽन्यं सम्यग् दर्शनसिद्ध्यर्थम्, यद्वा, अनुगैः सेवकैर्गोपैश्च सहचरैरिति प्रेमस्तवनं बोधयति, यद्वा, अनुगैः श्रीदामादिभिः सख्यस्वभावत एव गोपैश्च व्रजस्थैरग्रतोऽभिगतैरन्यैर्वान्धवैस्तत्तच्छ्रवणात् स्तूयमान आव्रजदिति गंगातीरे निविश्य कथयतोऽपि श्रीवादरायणेर्भावविशेषेणात्मनः प्रायो व्रजस्थत्व स्फूर्त्तः ॥ ४२ ॥ ततश्च सायन्तेनवन्यवेषविभूषितस्य श्रीभगवतो गोपीनाञ्चान्योऽन्यं सन्दर्शनसम्मानानन्दमाह—तमिति द्वाभ्याम्। कुन्तलाः केशा अलका वा। ईक्षणमवलोकनम्। एवमुपरि अधोऽधश्च सर्वतः श्रीमुखस्य सौन्दर्य्यमुक्तम्। अन्यालंकारादिसद्भावेऽपि तत्तन्मात्रस्यैव वर्णनं सायं वन्यवेशे तस्य तस्यैव मुख्यत्वात्, तेन तेन शोभाविशेषोदयाच्च। वेणुक्वणनं स्वभावत एव, विशेषतश्च निजागमनविज्ञापनेन तासामाकर्षणार्थं प्रहर्षणार्थञ्च। अत्र एवोप सामीप्येन वेणुक्वणनञ्चोपगीयते, तेन वा गीता कीर्त्तिर्धेनुकघातनादिलक्षणा यस्य तम्। अयमपि दिदृक्षितत्वे हेतुरेको द्रष्टव्यः। अभिगमनार्थञ्च तस्य व्रजागमनज्ञाननिर्द्धारे गोरज इति, वेणुं क्वणन्तमिति, अनुगैरुपगीतकीर्त्तिमिति च हेतुत्रयम् गोप्य उल्लङ्घितवाल्यास्तत्प्रियाः, अत एव श्रीवलदेवोऽपि दृढं व्यावर्त्तितस्ताभिः सहानुजस्यासंकोचसंगमसुखार्थं केनापि छलेन तस्य दूरगमनात्। अभिगमने हेतुविशेषः—दिदृक्षितदृशः। अस्तु तावदात्मा मनो वा, द्रष्टुं परमोत्सुका दृशोऽपि यासां प्रथम गोचारणेन दूरागमनतो विविधशंकोत्पत्तेस्तथा पूर्वं वत्सपालनतोऽधुना गोपालने कालविलम्बेनागमनाच्च। समेता अन्योऽन्यं मिलिताः सत्य ऐकमत्येन भय लज्जादि हानेरन्योऽन्यं सख्यस्वभावाद्वा, यद्वा, स्व स्व गृहतोऽतिवेगेन सर्वासामेव धावनाद्मोगपद्येन पथि, किंवा पूर्वमेव विरहार्त्त्या सर्वासामेकत्र संगतेः ॥ ४३ ॥ ततश्च तस्य सन्दर्शनामृतेन तासां विरहज्वरो निरस्त इत्याह, पीत्वेति। मुक्तिरपि कुत्सिता यस्मादानन्दात्, तं ददातीति मुकुन्द इति तन्मुखस्यापि तादृशत्वमभिप्रेतम्, यद्वा, मुखे कुन्दानि दन्तरूपाणि यस्य, एवमरुणाधरश्यामसुन्दरश्रीमुखस्य शोभाविशेषः सूचितः। तस्य सारघमक्षिभृंगैः पीत्वेति तत्सौन्दर्य्यं परमासक्त्या भृशं साक्षाद्दृष्ट्वेत्यर्थः। यद्यपि भृंगाः स्वयमेव मधु पिबन्ति, तथापि तेषां करणत्वमक्ष्णामेव पिपासुत्वात्। तदुक्तमेव (पूर्वश्लोके)—'दिदृक्षितदृशः' इति। किञ्च, भृंगरूपणे भृंगवदक्ष्णां चाञ्चल्यादिना सौन्दर्य्यविशेषस्तथा श्रीमुखावयवेषु ततस्ततो मुहुर्भ्रमिश्च ध्वनिता। विरहजमिति तद्दिने विशेषतो विरहार्त्तिस्तच्च 'दिदृक्षितदृशः' इत्यत्रोक्तमेव। व्रजस्था योषित इति तत्रैव हेतुविशेषः। अह्नीति रात्रौ विरहतापाभावः सूचितः, तस्यां श्रीनन्दगृहादौ तत्सन्दर्शनादि-सिद्धेः, किंवा, अस्य परेणान्वयः। किञ्चिद्दिनशेषे गोष्ठान्तः प्रविवेश, रात्रौ सम्यग् दर्शनाद्यसम्पत्तेः। तामभिगमन श्रीमुखप्रेमसन्दर्शनलक्षणां तासां वा किञ्चिदुपायनार्पणपूर्वां गीति रञ्जनादि लक्षणां सत्कृतिम्, सम्यगधिकञ्च प्राप्य। श्रीभगवतापि ताः प्रेम्णा सम्मानिता इत्याह सव्रीडेति। विनयोऽत्र चापल्याभावः, न च विनयतो मुखनम्रतादिना तासु सभावदृष्टिविशेषहानिरित्याह—यदिति। अपांगमोक्षञ्च यथा

स्यात्तथा। यद्यस्माद्विवेश ॥ ४४ ॥ एवं तासामानन्दमुक्त्वा द्वाभ्यां मात्रोर्द्वयोराह—तयोरिति । पुत्रयोरिति द्वयोरपि, द्वौ प्रत्येकं स्वपुत्रभावेन स्नेहभरं बोधयति । ततश्च काञ्चित् कश्चित् प्रति किञ्चिदित्येवं द्वे एव ते क्रमशो युगपच्च द्वयोस्तयोर्व्यंग्यत्तामिति ज्ञेयम्, तथापि परमस्निग्धत्वादिना व्रजेश्वर्या एव तत्र मुख्यत्वम्; श्रीरोहिण्याश्च साहाय्येन साहित्यमात्रमिति । यथाकालमिति विकाले सायं प्रदोषादौ च समये विधेयानुसारेणेत्यर्थः, यद्वा, आदौ नीराजनम्, ततो वन्यभूषणोत्तारणम्, ततोऽङ्गतो गोधूलिमार्ज्जनादिकमित्येव क्रमेणेति । यथाकामं पुत्रयोः स्वयोर्वेच्छानुसारेण । परमोत्कृष्टा आशिष उपभोगादीन् सम्पादितवत्यौ, यद्वा, परं केवलं तयोराशिष एव त्यघत्ताम्, न तद्गृहकृत्यं किमपि चक्रतुरित्यर्थः, यतः पुत्रवत्सले, अनेन प्रागंकारोहणालिंगनचुम्बनादिकं कुशल प्रश्न सर्वांग निरीक्षणादिकञ्च तथा स्तन्यस्रवार्द्रवस्त्रत्वादिकमपि सूचितमेव ॥ ४५ ॥ आशीर्विधानमेव प्रपञ्चयति-गतेति द्वाभ्याम् । तत्र गोष्ठमध्ये गृहे वा गत आध्वानः अध्वसम्बन्धी वनपरिभ्रमणभरः श्रमो ययोः । स विसर्ग पाठेऽलुक् समास आर्षः, 'गताध्वाहः श्रमौ' इति पुण्यारण्यश्रीपाद-धृतं पाठान्तरं चिन्त्यम् । आदिशब्देन केशप्रसाधन गात्रजल माज्र्जनादीनि, स्नेहभरसम्भ्रमेण क्रमोल्लङ्घनान्मज्जनस्यादावुक्तिः। यद्वा, यथाकालमित्यादौ क्रमस्य सूचितत्वादत्रानिर्दिष्टोऽप्यसौ बोद्धव्य एव। यद्वा, उन्मर्द्दनं जलमार्ज्जनमादिशब्दान्निर्म्मंच्छनादयः । नाभीमिति लक्षणया परिधानवस्त्रमुत्तरीयस्य ब्रह्मचर्य्यात् प्रागनपेक्षलादनुलेपादि शोभा व्यवधायकतया तस्याग्रहणाद्वा, यद्वा, एकत्वेनापि नित्यसंयुक्ततया वस्त्रद्वयमेव तदुपलक्ष्यम्, भूषणातामनुक्तिर्वंशीदीनामिव म्लानत्वाभावेन तेषामपरिवर्त्तनात्, किंवा दिव्यस्रग्गन्धाभ्यां गृहे तान्यपि दिव्यान्युपक्ष्यन्ते ॥ ४६ ॥ जननीभ्यामुपहृतं परिवेषितं प्राश्य प्राशनरूपेण किञ्चिन् किञ्चिद्भुक्त्वा, यद्वा, प्रकर्षेणाशित्वा यतस्ताभ्यामुपहृतमतः स्वादु । उपलालितौ ताम्बूलादिमुखवासार्पणसुख गोष्ठी मुखचुम्बनादिभिः । करशय्यायां दिव्यपर्य्यंकोपरि सम्विश्य शयित्वा, अनेन क्रीडार्थं निद्रायां क्षणं विलम्बो बोध्यते । तदेव सूचयति—सुखं यथा स्यादिति श्रीगोपिकाभिरुपस्कृत ताम्बूल समर्पण चामरान्दोलनपादाब्जसम्वाहन नर्म्मगोष्ठीगीत गानादि सुखप्रकारेणेत्यर्थः। तत्तद्विशेषः श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे श्रीगोलोकक्रीडाप्रसंगतो ज्ञेयः। व्रजे गवां वासमध्ये विविक्तत्वात् प्रियत्वाच्च, न च प्रासादादौ दासदास्यादिबहुललोकसंकीर्णतया स्वाच्छन्द्याभावात् । यद्वा, व्रज इति भूम्ना पूर्वोक्ताभिप्रायमेव, ततश्च महाप्रासादान्तरिति ज्ञेयम्, वरशय्यायामित्युक्तेः, अन्यथा पित्रोः सुखानुत्पत्तेश्च सुषुपतुर्निद्रालीलां भेजतुः। एवमेतत् प्रथमदिनक्रीडानुसारेण तालीवनक्रीडां विना प्रायोऽन्यदिनक्रीडाप्यनुमेया । सा चावशिष्टजीवनावध्यन्तरकालस्य श्रीपरीक्षितस्तत्तदशेषकथनेन तावत्कालगते सत्यन्यस्यावश्यकथ्यस्य वृत्तस्यावकाशास्थितिशंकया न किल श्रीबादरायणिना विस्तारिता। इत्थं नाम सायं व्रजागमनादि क्रीडेव विशेषतो वर्णिता, न तु प्रातर्व्रजाद्वनगमनवार्त्ता, तदानीं श्रीयशोदादीनां सर्वेषां व्रजस्थजनानां श्रीभगवद्विच्छेदेन शोकवैकल्यादिवृत्तस्य परमदुःखापादकत्वादिति । तद्विशेषोऽपेक्ष्यश्चेत् सोऽपि तत एव विज्ञेयः ॥ ४७ ॥ इत्थं निगूढैश्वर्य्यां लौकिकीं लीलामुक्त्वा तालीवनक्रीडाप्रसंगेन प्रकटैश्वर्य्यान्तां वक्ष्यन् कालीयदमनं वक्तुमारभते एवमित्यादिना। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गोपालनभृंगादिविविधानुकरणादि विचित्र पौगण्डलीलयेत्यर्थः। स व्रजजनैर्कजीवनभूतो भगवान् निजैश्वर्य्यं साक्षात् प्रकटयन्नित्यर्थः। अतः कृष्णो जगच्चित्ताकर्षकः, यद्वा, भगवान् सर्वज्ञो यतः कृष्णः सर्वलोकहितार्थं स्वयमवतीर्णः परमेश्वरः कालियदुष्टत्वादिकं ज्ञात्वा तस्माद्वृन्दावनजीवरक्षार्थं तन्निग्रहानुग्रहार्थञ्च ययाविति भावः। वृन्दावने चरन् सन् क्वचित् कदाचित् षष्ठवर्षस्यान्ते ग्रीष्मकाल इत्यर्थः। रामं विनेत्यन्यथा कालियह्रदप्रवेशादिना शेषव्रजजनानामनर्थापत्तेः एतच्चाग्रे व्यक्तं भावि । एवं व्रजजन-रमणाभिप्रायेण राममित्युक्तम्, यद्वा, परमस्निग्धेन तेन स्वाभिप्रेतकालिय ह्रदान्तनिपातनिवारणाशंकया। राजन्निति तल्लीलास्मरणेन स्वयमार्त्ततया किंवाऽग्रे राज्ञा धैर्य्यार्थं सम्बोधयति, यद्वा, राजमानः सन् किंवा तद्दिने कालियह्रद जलविहाराद्यर्थं मुपयुक्तायुक्ताल्पभूषणस्वीकारेण सर्वांगशोभाभिव्यक्तेः, कालियदमनार्थं तेजोविशेषप्रकटनाद्वा। वृतो वेष्टितः श्रीमुखसन्दर्शनाद्यर्थं सर्व्वेषामेव प्रेमसन्दर्शनाद्यर्थं सर्व्वेषामेव प्रेमस्पर्द्धया परितोऽन्तिकागमनाद्विशेषतः स्नेहेन व्रजेश्वर्य्या अनुशासनाच्च । कलिं कलिकालदोषमन्योऽन्यकलहञ्च द्यत्यवखण्डयतीति कलिन्दस्तस्य पुत्रीमिति तस्या अपि तादृशत्वमभिप्रेतम् । अतः कालियनिःसारणार्थं तस्यां यान युक्तमेवेति भावः ॥ ४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

सारघं मधु ॥ ४३–५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

श्रोतॄणां कीर्त्तयतां च पुण्यावहं यच्छ्रवणं कीर्त्तनं च तद्यस्य सः कृष्णः साग्रजो व्रजमाविवेश ॥ ४१ ॥ तं व्रजमाविशन्तं दिदृक्षिताः दृशः यासान्ताः गोप्यः समेताः सनुदिताः अभ्यगमन्नभिमुखमाजग्मुः कथम्भूतम् ? गोरजोभिर्व्याप्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य रुचिरमीक्षणं चारु हासश्च यस्य अनुगैः उपगीता कीर्तिर्यस्य तं मुकुन्दस्य मुखसारघं मुखपद्मं पीत्वा तद्गतं मधु पीत्वेत्यर्थः ! अह्नि यो विरहस्तज्जं तापं जहुः तासां व्रजयोषितां सत्कृतिं बहुमानं समधिगम्य, सत्कृतिस्वरूपमेवाह सलज्जं सहासं सविनयं च यथा तथा अपाङ्गयोर्नेत्रान्तयोर्मोक्षः प्रसरणं यस्मिरत्ं यत् तद्रूपां तासां सत्कृतिं प्राप्य गोष्ठं

विवेश ॥ ४२–४३ ॥ यथाकाममिच्छानुगुणं कालानुगुणं च यथा तथा परमा आशिषः कामान् व्यधत्तामकुर्वताम् ॥ ४४ ॥ तदेव दर्शयन्नाह – तत्र गृहेऽङ्गमर्दनादिभिर्गताध्वसम्बन्धिश्रमो ययोस्तौ रुचिरं नवं वस्त्रं वसित्वा दिव्याभ्यां स्रग्गन्धाभ्यामलङ्कृतौ जनन्योपहृतं पात्रे दत्तं स्वादु मृष्टमन्नं प्राश्य उपलालितौ सुखं यथा तथा सुप्तवन्तौ ॥ ४५–४६ ॥ कदाचिद्रामं विनेतरैः सखिभिर्वृतः हे राजन्! कालिन्दीं यमुनां ययौ ॥ ४७ ॥ निदाघे ग्रीष्मर्तौ य आतपः तेन पीडिता अत एव तृषार्त्ताः तस्याः कालिन्द्याः कालीयविषेण दूषितमत एव दुष्टं जलं पपुः पीतवन्तः ॥ ४८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोरजसा छुरितकेशपाशैः बद्धानि बर्हवन्यप्रसूनानि पिच्छवनभवपुष्पाणि यस्य स तथा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धवर्हवन्यप्रसूनश्च रुचिरे ईक्षणे चारुहासश्च यस्य स तथा तम् ॥ ४२ ॥ मुकुन्दस्य मुखमेव सारघ मधु सरघायोग्यं सारघ "सरघा मधुमक्षिका प्रोक्ता" इति हलायुधः । अह्नि विरहजं तापं यासामपाङ्गमोक्षः कटाक्षनिरीक्षणं व्रीडया सहितः सव्रीडश्चासौ हासश्च सव्रीडहासः तस्य विगमो राहित्यं विशेषेण प्रार्तिर्वा यस्य स तथा तासां सत्कृतिं सत्कारं समधिगम्य प्राप्य ॥ ४३–४४ ॥ मज्जनं स्नानम् उन्मर्दनं शरीरमलोद्वर्तनं नीवीं वस्त्रं वसित्वा आच्छाद्य ॥ ४५ ॥ प्राश्य पीत्वा संविश्य शयित्वा ॥ ४६ ॥ इदानीं कथान्तरं वक्तुमुपक्रमते, एवमिति ॥ ४७ ॥ निदाघातपः ग्रीष्मर्तुभवरविकिरणभव उष्णविशेषः तेन पीडिताः ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तत्र सामान्यव्रजजनदृश्यमानत्वेन वर्णयति—कृष्ण इति । एकेन अथ परमतेजस्वित्वेन झटिति तद्वदुल्लङ्घितबाल्यैः श्रीगोपकुमारीविशेषैरपि दृश्यमानत्वेन वर्णयंस्तेषामनुरागोत्पत्तिं स्पष्टयति—तदिति द्वाभ्याम् ।।४१–४२।। अक्षीण्येव भृङ्गास्तत्पाने स्वतः प्रवृत्तत्वात् तैः द्वारभूतैः स्वयमपि पीत्वा सत्कृतिमाह –सव्रीडो हासो यत्र तादृशो विनयरहस्यप्रियजनोचितव्यवहारो यत्र एतादृशं यथा स्यात्तथा यत् स्यात् तद्रूपामित्यर्थः । यदित्येतत् प्रोक्तां तां किंरूपां अपाङ्गमोक्षां कटाक्षदर्शनरूपामित्यर्थः ॥ ४३ ॥ परमाशिषः उत्कृष्टोपभोगान् तत्र गोष्ठमध्ये निजावरोधप्रासादे गतः आध्वनः अध्वसम्बन्धि श्रमो ययोः टेरलोप आर्षः सविसर्गपाठे गताध्वश्रमावित्यर्थः । षष्ठ्यलुक् छान्दसः सम्प्रति क्षणं विश्रमलीलायां विगतश्रमावित्यर्थः । एवं गोपालनभृङ्गाद्यनुकरणोक्तप्रकारेण ॥ ४४–४७ ॥ दुष्टत्वकारणमाह—विषदूषितमिति ॥ ४८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वनाद्गोष्ठप्रवेशलीलामाह त्रिभिः –कृष्ण इति । व्रजस्थानां चित्तस्याकर्षणं कमलपत्राक्ष इति नेत्रनासयोः पुण्ये धन्ये श्रवणे कर्णौ यतस्तथाभूतं कीर्त्तनं वेणुगानं यस्य स इति श्रोत्रस्याप्याकर्षणं ध्वनितम् ॥ ४१ ॥ व्रजबालानां विशेषत आकर्षणमाह–तं गोप्योऽभ्यगमनं गोरजोभिश्छुरितेषु व्याप्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यप्रसूनानि च यस्य रुचिरमीक्षणं चारुहासश्च यस्य ईक्षणयोर्हासो वा यस्य तं दिदृक्षिताः सञ्जातदर्शनेच्छा दृशो यासान्ता इति गोपीकर्तृकं लज्जा भवहेतुकं वर्जनमगानयन्त्यो दृशस्तादाकरणत्वं परित्यज्य स्वतन्त्रकर्तृत्वं प्राप्ता इति ध्वनिः तेन च प्रतिवेशिनां श्रोत्रघ्राणेन्द्रियाणां वेणुसौन्दर्याङ्गसौरभ्यसम्पल्लाभमालक्ष्य मात्सर्येणैव स्वेषां रङ्कत्वमसहमानाः स्वाश्रयभूता गोपीः परित्येज्येव सपत्नीभवितुमिव चापल्यात् स्वयमेव कृष्णपार्श्वं चलिता इत्युत्प्रेक्षा ध्वन्यते । समेता इति सर्वा एव कुलवध्वः स्वस्वगृहान् विहाय चलन्ति पश्य मामेव किं त्वं वारयन्ती वधिष्यसीति स्वस्वश्वश्रूः प्रत्युत्तरयन्त्य इति भावः ॥ ४२ ॥ अभिगम्य किं चक्रुरित्यत आह—पीत्वेति । मुकुन्दस्य मुखे सारघं स्मितरूपं मधु अक्षिभृङ्गैः पीत्वा नत्वपाङ्गभृङ्गैः । पीत्वेत्यनेन कृष्णस्यादृष्टगोपीकस्यान्यमनस्कस्यैव यत् साहजिकं स्मितं तत् ताभिर्निःशङ्कतया सम्पूर्णनेत्रैरेव पीतमिति गम्यते ततश्च द्वितीयक्षणे कृष्णस्य तत्रावधाने सति हर्षोत्थो हासस्तासां यदेवाजनि तदैवोद्भूतया लज्जया स सम्पूर्णावलोको हासश्चावृतः वामकरकृतमवगुण्ठनं च किञ्चित्संवृत्तं तत्तदावरणव्यञ्जितो विनयश्चाभूदित्येतत् सर्वमाधुर्यमेव कृष्णोऽनुबभूवेत्याह—तत्सत्कृतिं तादृशावलोकनरूपां सत्कृतिं ताभिः कृतं किञ्चिदुपायनप्रदानरूपं सम्माननमित्यर्थः । समधिगम्य विदग्धशिरोमणित्वात् सरसास्वादं स्वीकृत्य गोष्ठं विवेश अत्र सत्कारसमधिगमक्रिययोः क्रमेण सव्रीडेत्यादिविशेषणद्वयं तेन च व्रीडया सहितो हासो विनयश्च यत्र तत् यथा स्यात्तथा तासां सत्कृतिं यतः प्राप्नुवतः अपाङ्गस्य मोक्षो यत्र तद्यथा स्यात्तथा समधिगम्य गोष्ठं विवेशेत्यर्थः । ताभिः कृता सव्रीडहासविनया तादृशावलोकरूपा सत्कृतिः तस्याधिगमः कृष्णेन तत्प्राप्नुवदपाङ्गमोक्षसहितः कृत इति फलितम् अत्र सम्पूर्णनेत्राभ्यां दर्शने तासां लज्जया विमुखीभावः स्यादतस्तत्कटाक्षप्रार्थ्यर्थमेव कृष्णेनापाङ्गमोक्ष इति ज्ञेयम् । अथैतद्विवरणं ताभिः प्रत्येकं स्वनयनाञ्जनावौत्सुक्यं सञ्चारिणा स्वपरिजनेनानीयावलोकनकुसुममर्पितं तथैव स्वाधरपल्लवाञ्जलौ हर्षसञ्चारिणोप्यादीयार्पितं हासकुसुमं च गृहीत्वा एतद्वस्तुद्वयमेवास्मद्गृहे तत्र भवते देयमस्ति तत् कृपया गृह्यतामिति यदैव दर्शितं तदैव तदुपायनद्वयमानेतुं कृष्णेन स्वप्रेष्ठ्योऽपाङ्गोऽन्वयुज्यत स च महाचपलः पूर्वमेव तद्द्वयं तासामन्तर्गृहगतमपि चोरयितुमुद्यतोऽतः कृष्णेन बध्वैव स्थापित आसीत् ताभिस्तस्मिन्नुपायनद्वये प्रकटीकृत्य दित्सिते सति स

एवबन्धान्मोचितः सन् शर इव शीघ्रं गत्वा तद्यदैव ग्रहीतुमारभत तत् क्षण एव तासां कोषाधिकारिण्या सख्या व्रीडया प्रादुर्भूय तदुगायनद्वयमावरीतुं प्रववृते ततश्च तयोर्विग्रहे प्रवृत्ते सन्ध्यर्थं विनये च तासां परिजने समायाते स च बलवान् कृष्णप्रेष्योऽप्युत्तां व्रीडाविनयाभ्यां सहितमेव सहासावलोकनमुपायनमाकृष्णानीय कृष्णाय प्रादात् स च तत्त्रिकमतिदुर्लभमहारत्नमिव प्राप्य स्वहृदय-मन्दिराभ्यान्तर एव स्थापयामासेति कथा सत्कारव्यञ्जितोपलब्धा यद्वा व्रजयोषितोऽह्नितोऽह्नि तापं जहुः, कास्ता व्रजयोषितः? यासामपाङ्गमोक्षं तत्तां प्रसिद्धां सत्कृतिं समधिगम्य गोष्ठं विवेश कीदृशं सव्रीडहासविनयम् अत्र यत् पदस्योत्तरवाक्यगतत्वात् तत्तदापेक्षा ॥ ४३ ॥ यथाकामं पुत्रयोर्वाञ्छितं भक्ष्यादिकमनतिक्रम्य यथाकालं प्रदोषादिकं भोजनकालमनतिक्रम्य परमाशिषो भक्ष्यपरिधेयादिभोगान् ॥ ४४ ॥ न श्रमोऽश्रमः स चेश्वरत्वात् नरलीलया तस्याभावस्त्वश्रमः गतोऽध्वनोऽनश्रमः श्रम एव ययोस्तौ नीवीं परिधवस्त्रम् ॥४५॥ एवं कार्त्तिकगोपाष्टमीदिनलीलां समाप्य तद्वर्षीयनिदाघगतस्य कस्यचिद्दिनस्य लीलामाह—एवमिति राममृते इति जन्मर्क्षशान्तिकस्नानार्थं मातृभ्यां तस्य तद्दिने गृह एवोपवेशितत्वात् ॥ ४७ ॥ गाव इति पश्चात् शनैरागच्छन्तं कृष्णमनपेक्ष्य तृषार्त्तत्वात् द्रुतगामिन्यः तदनुद्रुताः केचन गोपाश्च ॥ ४८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पुण्ये श्रवणकीर्त्तने यस्य सः ॥ ४१ ॥ तं श्रीकृष्णं व्रजमाविशन्तम् दिदृक्षिता दर्शनोत्कण्ठायुक्ता दृशो यासां ताः गोप्यः अभ्यगमन् अभिमुखमाजग्मुः कथम्भूतम् ? गोरजोभिश्छुरितेषु कुन्तलेषु बद्धानि बर्हवन्यप्रसूनानि यस्य रुचिरमीक्षणं चारु हासश्च यस्य तं च तं च ॥ ४२ ॥ व्रजयोषितः मुकुन्दमुखस्य मुकुन्दमुखपङ्कजस्य सारघं मधु अक्षिभृङ्गैः पीत्वा अह्नि यो विरहस्ततो जातं तापं जहुः मुकुन्दोऽपि तत्सत्कृतिं तासां पूजां समधिगम्य गोष्ठं विवेश सत्कृतिमेवाह—सव्रीडेन हासेन विनयो यथा भवति तथा यदेतदपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनम् ॥ ४३ ॥ परमाशिषः प्रियान् कामान् ॥ ४४ ॥ रुचिरां नीवीं सुखदं वस्त्रं वसित्वा सुखं सुषुपतुः ॥ ४५–५० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

मनुष्यास्तत्रत्याः शवशदयः एवादन् नतु गोपाः तेषां रासभरुधिरानिषिक्तत्वेन तद्दिने तदस्वीकारात् ॥ ४१ ॥ वनाद् व्रजप्रवेशलीलामाह—कृष्ण इति त्रिभिः ॥ ४२ ॥ किशोरीणां विशेषतः समाकर्षणमाह—तमिति । गोपास्तमभ्यगमन् तद्दर्शनाय तदागमपथस्थप्रासादशिखराण्यारोहन्नित्यर्थः । कीदृश्यः ? दिदृक्षिताः सञ्जाता दिदृक्षा दृशो यासां ता इति करणानामपि दृशां दिदृक्षायां कर्त्तृत्व निर्देशात् लज्जा भयहेतुकं तन्निवारणं न मेनिरे इति तद्दृशस्तदवश्या इति भावः । श्रोत्रघ्राणयोस्तद्वेणुनादतदङ्गसौगन्ध्यलाभान्मात्सर्यादिव दृशां तद्रूपलाभप्रवृत्तिरिति सूच्यते । समेता मिथो मिलिता इति श्वश्रूणां गणना न कृतेति व्यज्यते। तं कीदृशं ? गो रजोभिः छुरितेषु व्याप्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य रुचिरयोरीक्षणयोश्चारुर्हासो यस्य तञ्च तञ्च तम् ॥ ४३ ॥ अभिगम्य यच्चक्रुस्तदाह—पीत्वेति । मुकुन्दस्य विरहदुःखमुक्तिदातुर्मुखे अरविन्दे स्मितरूपं यत् सारघं मधु तदक्षिरूपेण तु कटाक्षरूपंभृङ्गैः पीत्वेति स्वकर्मकतदवलोकात् प्राकृतस्वभावसिद्धं तत् स्मितं ताभिर्निशङ्कं निपीतमिति भावः। अह्नि यो विरहस्तेन यस्तापस्तदप्राप्तिजा तृष्णा तं जहुरिति रात्रिविरहजं तापन्तु प्रातर्दर्शनेन जहुरेवेति भावः । ततस्तत् सत्कृतिं कृष्णः समाधिगम्य गोष्ठं स्वभवनं विवेश । अत्र सव्रीडेति सत्कृतिक्रियाया विशेषणं यदपाङ्गेति तु समधिगमक्रियाया बोध्यं तेन च सव्रीडहासो विनयश्च यत्र तद्यथा स्यात्तथा ताभिः कृतां सत्कृतिं यतः प्राप्नुवतोऽपाङ्गस्य मोक्षो यत्र तद्यथा स्यात्तथा समधिगम्य गोष्ठं विवेशेत्यर्थः । ताभिः कृष्णमुखचन्द्रे समवलोक्यमाने तत्र कृष्णावधाने सति हर्षेण हासस्तासामभ्युदेत तदोद्भूतया लज्जया तत्समवलोकहासा वावृती मुखपङ्कजानि चावगुण्ठितानीति सौशील्यरूपो विनयश्चाभूत् नेत्रोधराञ्जलिधृतस्यावलोकस्मितकुसुमगुच्छस्य विनयसौरभ्यादिग्रूपस्यार्पणं कृष्णस्य सत्कारः तञ्च यदपाङ्गमोक्षं समधिगम्येति नेत्राभ्यां विलोकने लज्जया अन्तस्तिरोदध्युरिति नेत्रास्तेनैव तदवलोकनं तत्कटाक्षलाभार्थकं ततश्च तां सत्कृतिं महारत्नसम्पदमिव स्वहृत्कोषे निदधानो गृहं प्रापेति भावः । यद्वा व्रजयोषितोऽह्नि तापं जहुस्ताः कास्तत्राह यासामपाङ्गमोक्षं प्रसिद्धां सत्कृतिं समधिगम्य गोष्ठं विवेश कीदृशं तत्राह स व्रीडेति । अत्र यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वात् पूर्वत्र तच्छब्दापेक्षा नास्ति ॥ ४४ ॥ यथाकामं पुत्रवाञ्छामनतिक्रम्य यथाकालं प्रदोषकालमनतिक्रम्य परमाशिषो भक्ष्यपरिधेयादीनुत्तमभोगान् ॥ ४५ ॥ गतेति युग्मकम् । गतोऽध्वनो मार्गहेतुकः श्रमो ययोस्तौ श्रमः पूर्ववत् । नीवीं परिधानवस्त्रं वरशय्यायां दुग्धफेनमृदुलायां रत्नपर्यङ्कास्तृतायां सुषुपतुः विचित्रलीलाविज्ञिष्टं स्वरूपानन्दयोगनिद्रया तु बभूवतुरित्यर्थः ॥ ४६–४७ ॥ एवं कार्तिकोपाष्टमीवासरीयां लीलां समाप्य तद्वर्षीयग्रीष्मर्तुंगतस्य कस्यचिद्वासरस्य लीलामाहैवमित्यादिभिः राममृते इति तस्मिन् वासरे तज्जन्मर्क्षयोगात्तन्मात्रा गृह एव स्थापनात् ॥ ४८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

पुण्यानि तद्वन्ति श्रवणानि येन तत्कीर्तनं यस्य स तथा ॥ ४१ ॥ गवां रजसा छुरिता रूपिताश्च ते कुन्तलाश्च तेषु बद्धानि बर्हाणि पिच्छानि वन्यानि वनभवानि प्रसूतानि यस्य स चासौ रुचिरे ईक्षणे यस्य स चासौ चारुर्मनोहरो हासो यस्य च। पिच्छबर्हं

नपुंसक इत्यमरः। दिदृक्षता दर्शनेच्छावत्त्वेनाशङ्किता दृशो यासां ता गोप्यः समेता मिलिता वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्ति प्रत्युगमन् ॥ ४२ ॥ व्रजयोषितोऽह्निविरहजं हरिविरहजातं तापमक्षिभृङ्गैः रक्षीभ्येव भृङ्गास्तैर्मुकुन्दमुखसारघं मुकुन्दस्य मुखमेव सरघा मधुमक्षिकास्तासामिदं सारघं मधु पीत्वा। सरघा मधुमक्षिकेत्यमरः। सरं गतिं घातयति हन्त्यन्येभ्योऽपीति डः णिलोप-टिलोपः रघणं रघि गतौ स्वनौघस्वेति घिरकरणादन्येभ्योऽपीति घः। आगमशासनस्यानित्यत्वान्न नुम्। सहरघं वर्तत इति सरघा। यासामपाङ्गमोक्षो वीक्षणं तन्निरीक्षणं सव्रीडहासविगमो व्रीडा लज्जा तया सहितः सव्रीडो हासस्तस्य विगमो येन स लज्जाहास-निरासककटाक्षमोक्षो यासां तत्सत्कृतिं समधिगम्य प्राप्य गोष्ठं विवेश। यासां सव्रीडहासविगमो बहिर्व्रीडासहितहासप्रसरोऽपाङ्गस्या-नङ्गस्य तदुपद्रवस्येति यावत् मोक्षो मोचनं येन स यासां तत्सत्कृतिं सत्कारमिति वा ॥४३॥ रोहिणीयं वाल्हीकपुत्री कौरव्यायणी। यथोक्तं बृहदारण्यकभाष्ये। वाल्हीकसुता रोहिणी। अतो बलभद्रः कौरव्यायणीपुत्र इति। प्रसङ्गसङ्गत्येदमुक्तमिति ज्ञेयम्। आशिषः परं व्यधतां परमाशिषो व्यधत्तामिति वा ॥ ४४ ॥ मज्जनं स्वपनमुन्मर्दनसङ्गादेर्मलनिष्कासनं तदादिभिरादर्शप्रदर्श-नादिभिः। रुचिरां नीवीं वस्त्रं वसित्वाऽऽच्छाद्य। वस्त्रबन्धेऽपि नीवीत्यमरः। स्त्रीलिङ्गो नीवीशब्दः स्त्रीपुंससामान्यकटीवस्त्रवाचक इति बहवः। स्त्रीकटीवस्त्रमात्रवाचक इति पक्षेऽप्यन्वयव्यत्यसनेनानुपदं क्रियमाणं व्याख्यानान्तरमिति विवेकः। निवियते व्यञ् संवरणे नौ व्यत्रो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घो ण इति दीर्घः कृदिकारादिति ङीष्। आच्छाद्य। नीवी स्त्रीकटबन्धन इति मेदिनी। दिव्यस्रग्गन्धालङ्कृतौ रुचिरां नीवीं योषिद्वस्त्रं वसित्वा स्थितया तया जनन्योपहृतं परिवेषितं स्वाद्वन्नं प्राश्य भुक्त्वा ताभ्यामुप-लालितावादौ मृदुशय्यायां संविश्य सुखं यथा तथा सुषुपतुः ॥ ४६ ॥ रामं बलमृते तेनालोच्य तं गोपादिशान्त्यै स्थापयित्वा गत इति ज्ञेयम्। तथा हि हरिवंशे। ससङ्कर्षणमामन्त्र्य एवं कृते बाहुवीर्यं लोके ख्यातिं गमिष्यतीत्यादिनोक्तम्। ज्येष्ठं विहाय स काचिद-चिन्त्यशक्तिर्गोगोपगोगणयुतो यमुनातटेषु। रेमे भविष्यदनुवीक्ष्य हि गोपदुःखं तद्बोधनाय निजमग्रजमेष सोऽस्रादित्याचार्योक्तेः। विना तस्य सरीसृपवरीयसाननसहगमने कालियस्याहेरेतत्परिचरस्य दमनं यमुनातो बहिर्यापनं च समक्षं चेत्किञ्चित्सङ्कुचितचेत-स्कताहेतुर्भवेदिति राममृत इत्यनेन ध्वनयतीति मन्तव्यम् ॥ ४७ ॥ निदाघो ग्रीष्मर्तुस्तत्सम्बन्ध्यातप औष्ण्यं तेन पीडिता विदूषितमिति दुष्टम् ॥ ४८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं वनलीलामुक्त्वा पुनर्व्रजे भगवतः समागमनमाह **कृष्णः कमलपत्राक्ष** इति, **कृष्णो व्रजमाव्रजदिति** व्रजस्थानां महानानन्दहेतुरुक्तः, तदेतावत्कालं विरहतप्तानां कथं तापं दूरीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **कमलपत्राक्ष** इति, **कमलपत्रवदायतेतिविशाले** परतापापनोदके **अक्षिणी** यस्य, अनेन दृष्ट्यैव तापहारित्वमुक्तं, ननु कारणभूत आध्यात्मिके पापे विद्यमाने कथं तापनिवृत्तिः? तत्राह **पुण्यश्रवणकीर्तन** इति, पुण्ये **श्रवणकीर्तने** यस्य, अनेन पापं जलपूरेणेव नाश्यत इति निरूपितं, **श्रवणे प्रविशति कथा पूरो** हृदयं ततः सर्वमेव **दोषमालोड्य मुखतो निःसरति**, एवं क्रियत्कालपर्यावृत्त्या सर्वथैव शुद्धो भवति, नन्वेवमपि सति भगवत्कीर्तिः कथं प्राप्यते? तत्राह **स्तूयमानोऽनुगैरिति**, **अनुगा** भक्ता गोपाश्च, तेन भगवच्चरित्रं सर्वथैव **सुलभ**मुक्तमलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेण, **साग्रज** इति, धेनुकवधस्तेन कृत इति तं पुरस्कृत्य सहैवागतो भगवान् न तु पृथक् पृथग् यथायथम् ॥ ४१ ॥ **आगच्छन्तं** भगवन्तं वर्णयति **तं गोरजश्छुरितकुन्तलेति**, तं भगवन्तं गोप्योऽभ्यगमन्निति सम्बन्धः, पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता, सा गोपिकाभिर्न दृष्टेति गोपिकानां भवति तापोतस्तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते, तत्र **गोरजोभिश्छुरितानि** व्याप्तानि **कुन्तलानि** यस्येति पुरुषार्थलीला प्रतिपादिता, गावोत्र धर्मो रजोर्थो व्याप्तिः **कामो अलका मोक्ष**-स्थानीयाः सत्यावलम्बिनः, **धर्मादिसहितानामेव मोक्ष** इति चतुर्णामेकवाक्यता, कुन्तलाश्च कामरूपा रजो रजोगुण एव गावोत्रानु-भावाः, तेन पुष्टः शृङ्गाररसो निरूपितः, **बद्धो बर्हः**, बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयति, **वनोद्भवानां प्रसूनानां** सम्बन्धो भयानकहास्ये जनयति, **रुचिरेक्षणं करुणाख्यं चारुहासो रौद्ररसं**, महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयति, **वेणुं क्वणन्तमिति** शान्तरसः, ब्रह्मामृतं प्रकटीकुर्वंश्च, **अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति** भक्तिरसः, एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योपि **दिदृक्षितदृष्टय** एव स्थिताः, न हि साधारण्येन दृष्टो भगवान् स्वस्य परमरसमुत्पादयति, एकान्ते समागतं भगवन्तं सर्वरस-सहितं द्रक्ष्याम इति दिदृक्षैव स्थिता, अत एव प्रथमं दर्शनं नोक्तं समागम एवोक्तः, समागमार्थं यद् दर्शनं तदन्यशेषभूतमिति न पृथङ्निरूपणमपेक्षते, **अभितः समागता** इति भगवतस्ताभिरेव वेष्टनं निरूपितं, ए..स्यास्तत्कार्यं न भवतीति **समेताः**, अग्रे गावो बलभद्रमुखाश्च गताः पश्चादागच्छन्तो गोपिकाभिरेव व्यवहिताः, मध्ये गोपिकाभिर्भगवान् वेष्टित इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ **तत्रस्ता** यत् कृतवत्यस्तदुक्त्वा पश्चाद् भगवतो व्रजे समागमनं निरूपयति पीत्वेति, आदौ तापापनोदनार्थं गोपीजनवल्लभसरसः करुणावीचि-मुक्ताल्लावण्यामृतं पातव्यं, अन्यथान्तस्तापो न गच्छेत्, गते हि तापे रसास्वादनं, बहिस्तापो मिलनादेव गतः, स पेपीयमानो रसो यदि तापहारको मिष्टश्च भवति तदेव भूयान् पातुं शक्यः, तच्च लोके नास्ति, दुग्धादीनां तृषादिजनकत्वात्, जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते, उभयात्मकमपि यदि परिणामे सुखदं न भवति तदापि न समीचीनं, अतो भगवल्लावण्यामृतं सर्वगुणविशिष्ट-मित्याह, मुकुन्दो मोक्षदाता ज्ञानरूपः शान्तः, अतो नाग्रे दोषजनकः प्रत्युत मोक्षपर्यवसायी, मुखं हि भक्त्यात्मकं भवति, अतः

स्नेहाद् बहुपानं सम्भवति, तत्र सारघं, सरघा मधुमक्षिका तया सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु क्रियते तत् कोटरादि तिष्ठति, अन्यजातीयं तु मधु न द्रवीभूतं भवति, घनीभूतं च पातुं न शक्यं, ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः सरघास्थानीयाः, तैः सर्वैरेव सर्वप्रकरणेभ्यः परमानन्दं समुद्धृत्यैकत्रानन्दनिधिर्बोधितः, सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित आनन्द एकीभूयात्र स्थित इत्यर्थः, ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च प्रार्थनया भगवानत्रानीतः, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः, त एव हि रसं जानन्ति ये तदेकोपजीविनो भवन्ति, ते भृङ्गाः, न तेषामन्यद् देहनिर्वाहकमप्यस्तीति विषयान्तरसम्बन्धो नास्त्येव, केवलमन्यत्र परिभ्रमणमात्रं, तथा गोपिकानामपि चक्षूंषि परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुखलावण्यामृतमेव, अत आहाक्षिभृङ्गैरिति, अनेन गोपिकानां श्रुत्यादिभिः सह साजात्यमपि निरूपितं, पानं बहिःस्थितस्य द्रवद्रव्यस्यान्तर्निवेशनं, नेत्राणामपि स्वतो रसाभिज्ञत्वज्ञापनाय भृङ्गपदं, तत् सति स्वतोपि प्रवृत्तिर्भवति, अन्यत्र च न विनियोगः सिध्यति, गोपिकानामपि देवतात्वादन्येनापि पानं सम्भवति, अतांस्ताभिः तावत्कालं नानुभूत इति चिन्तया यस्तापः स लावण्यामृतरसेनान्तः पूर्णे गच्छति, अन्यस्तु त्रिविधोपि तापः पूर्वमेव गत इति ज्ञापयितुं विरहजमित्युक्तं, ननु विरह एव किमिति सम्पाद्यते सन्निधान एव कथं न स्थीयत इत्याशङ्क्याह व्रजयोषित इति, व्रजस्थाः स्त्रियो विवेकरहिताः पराधीनाश्च, तत्राप्यह्नि, अहनि स्त्रीस्वभावोपि बाधकः, अतः परं ताभिर्मिलिताभिर्मध्यस्थिते भगवति यत् कर्तव्यं तद् वक्तुमशक्यमिति सङ्क्षेपेणाह तत्सत्कृतिमिति, तासां सत्कारमनुभूय परितः समालिङ्गनादि यावद् वा भगवद्भक्ते नापि शक्यं तत् सर्वं तासां सत्कारत्वेनोच्यते, सम्यगधिगम्य प्रत्येकं भिन्नतया तत् सुखमनुभूय सम्यक्तया ताः कृतार्थीकृत्य गोष्ठं विवेश, ननु कोयं तत्कृतः सत्कारः ? लौकिकभोजनादिरपि चेत् तत्कृत एव पुनर्गोष्ठे समागमनं व्यर्थमेव स्यात् लौकिकं च वाच्ये, अतो विशिनष्टि सव्रीडहासविनयमिति यदिति, विशेषतो वक्तुमशक्यं, स एव रसः, तत्रान्धकारे यादृशी लीला सा व्यावर्तिता, अपाङ्गानां मोक्षो यत्रेति, अलसादयश्चापाङ्गाः, कं कं प्रकारमभिनेष्यतीति प्रथमप्रकारापन्नाया एव तस्याविर्भूतांस्त्रिविधान् रसानाह सव्रीडहासविनयमिति, आदौ व्रीडा मध्ये पुष्टे रसे हासो रसान्ते च विनयः, तैः सह वर्तमानं; प्रत्येकं बहुधायं रस इति दिव्यो भगवत्प्रभाव उक्तः, अनौचित्यपरिहाराय सत्कृतिशब्दः, जगत्पूज्यत्वाच्च, भगवतो यथाधिकारं च पूजा, नन्वत्राप्यागत्य तद् भवेदिति कथं मार्ग एव सत्कारस्वीकारो जात इति शङ्कापरिहारार्थमाह गोष्ठमिति, गवां बन्धनस्थानं तत्, तथापि भगवत्प्रभावाद् यथोचितम् ॥ ४३ ॥ तत्रापि सत्कारो जात इत्याह तयोरिति, साधारण इति ज्ञापनार्थमुभयोर्ग्रहणं, यशोदारोहिण्याविति लोके ख्यातिरुक्ता, पुत्रयोरिति लौकिक एव भावः, प्रेमरहितं न गृह्णातीत्याशङ्क्य पुत्रवत्सले इत्युक्तं, इच्छामप्यनतिक्रम्य कालमप्यनतिक्रम्य परमाशिषो व्यधत्तां, कामः स्वनिष्ठः, सन्ध्याकाले च परोक्षतयैवाशिषो वक्तव्या इति कालापेक्षानिरूपणं नमस्कारे कृते स्वस्य महित्वं स्थापितवत्याविति ज्ञापयितुमाशिषां निरूपणम् ॥ ४४ ॥ तत उपचारा गताध्वानश्रमाविति मज्जनान्युन्मर्दनादीनि, उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानां, छान्दसः परनिपातः, मज्जनं वा पादयोः, मज्जने वोन्मर्दनादिना, रजो- निवृत्त्यर्थमादौ वा मज्जनं, प्रातीतिकोयं श्रमः, नीवीं मल्लानामिव रुचिरां पीताम्बरादिनिर्मितां दिव्येन स्रग्गन्धादिना च मण्डितौ जातौ मध्ये त्वधिकारिदेवैस्तथाकृतौ ॥ ४५ ॥ पश्चाज्जनन्युपहृतं प्राश्येति, रोहिण्या समानीतं, प्रायशो भगवतो दधि- भद्रेणैव सह भोजनं, असमासाद् द्रव्यमेकमेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यं, प्राश्येति कोमलदुग्धान्नादिकं सूचितं, तत उपलालितौ पित्रादिभिः सर्वैरेव, सर्वेषामनुग्रहार्थमेवमुक्तं, वरशय्यायां संविश्येति रात्रिकृत्यमुक्तं, जनन्यादिभिः सह शयननिषेधार्थमुक्तं सुखं सुषुपतुरिति, लीलाह्निकी सम्पूर्णा निरूपिता, व्रजे हि नात्यन्तं धर्मप्रधानता, अतो न रात्रिकृत्यं किञ्चिदुक्तं, व्रजस्यानुक्त- सिद्धत्वेपि कथनेन सम्पूर्णे व्रजे स्वप्रियाभिः सह शयनं सूच्यते ॥ ४६ ॥ एवमाह्निकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैषयिकं भगवत्कृत्यं वक्तुं कालीयह्रदगमनार्थं प्रस्तावनामाहैवं स भगवानिति, एवं निरोधार्थं वृन्दावनचरो भगवान् जातः, तत्र हेतुः स भगवानिति, स इति निरोधार्थमेवागतः, भगवानिति सामर्थ्यं, कृष्ण इति नाम्नाऽनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे'ति वाक्यार्थं बोधयितुं प्रवृत्तिरुचितेति, क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे वा तत्कार्यं स्वसाध्यमेवेति ज्ञात्वा राममृते कालिन्दीं ययौ, वनं हि भयप्रदं भवति पर्वतसमीपे कालिन्दीसमीपे च, तत्र निदाघे प्रायशः कालिन्दीसमीप एव गोचारणं, सखिभिर्वृत इति तेषां समान- शीलतोक्ता, अपरिहार्यतापि, अन्यथा भगवान् स्वयमेव गच्छेत् ॥ ४७ ॥ एवं सम्भूयगतानां मध्ये भगवानन्यत्रैव स्थितः, क्रमेणैव गावो गोपालाश्च गता इत्याहाथेति, गच्छेत् क्वचिद् वृक्षच्छायायां भगवन्तं स्थापयित्वा जलं पाययित्वा पीत्वा चागमिष्याम इत्यभ्यनुज्ञाय दूरे गन्तव्यमिति बोधिता अपि विशेषतो न निषिद्धा निदाघातपेनात्यन्तं पीडिता दुष्टं तस्या यमुनाया जलं पपुः, सा हि यमभगिन्यतो दुष्टायापि स्थानं दत्तवती, स च दोषो न तस्याः किन्त्वन्यकृत इत्याह विषदूषितमिति, विषेणात्यन्तं दूषितं उष्णस्पर्शादिनापि दूष्यते तदर्थं विशेषः ॥ ४८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तं गोरज इत्यत्र, गावोत्र धर्मं इत्यादि। धर्मस्य वृषरूपत्वेन गोजातीयत्वाद्गोशब्देन धर्मोत्रोक्तः। धर्महेतुत्वेन अर्थस्य धर्मसाध्यत्वेन तत्सम्बन्धित्वाद्विक्षेपहेतुत्वेन च रजोरूपत्वान्मदहेतुत्वाच्च रजःपदेनार्थ उक्तः। निष्कामस्यात्यसम्बन्धत्वात्

त्कामे सत्येव तथात्वाद्वचाधिः कामः 'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानासे'ति श्रुतेः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश'दिति श्रुतेश्च कामेनैव सर्वरूपेणाविर्भूय सर्वव्याप्तवानिति च तथा। केशाः सदा बद्धास्तिष्ठन्ति, अलकाः सदैव मुक्ता एवेति तथा। दूरमिव गतानां मानिनीमनसां स्वशोभातिशयेनाकार्येव स्वरूपानन्ददातार इति च मोक्षस्थानीया इति भावः। तत्तद्दर्शनेन सा सा लीला साक्षादनुभूतेव भवतीति निगर्वः। अत्रैव कुन्तलाश्च कामरूपा इत्यादि। उत्तमरसभोक्तृदर्शने स्वस्यापि तद्भोगेच्छा लोकसिद्धा। प्रकृते च भ्रमरतुल्या एते मुखाम्बुजस्य परितश्चकासत इति तद्द्रष्टुर्भावोद्दीपका इति कामरूपाः। गवां सदा भगवत्संगतत्वेन प्रियस्मारकत्वात् कदाचित् तासामन्यादर्शनसम्पादकत्वेन रसानुभवहेतुत्वाच्चानुभावकत्वम्॥ ४५॥ मध्ये त्वधिकारिदेवैरिति तु परोक्षकथनं वेदितव्यम्॥ ४६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तं गोरज इत्यत्र **गावोत्र धर्म** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्धर्मस्येत्यादि, **व्याप्तिरितिच्छुरित**पदोक्ता **व्याप्तिः तथेति** मोक्षस्थानीयाः **सत्यावलम्बिन** इत्यस्यार्थं विवृण्वन्ति **दूरमिवेत्यादि** भाव इत्यन्तं, तथा च सत्यं वास्तवरूपमवलम्बन्ते दयाया प्रकटीकुर्वन्ति तच्छीला इत्यर्थः सिध्यति, **सत्त्वावलम्बिन** इतिपाठे तु सत्त्वं ज्ञानजनकं तदवलम्बिनोर्थात् तादृगिन्द्रियावलम्बिन इत्यर्थो बोध्यः, नन्वेतद्विशेषणकभगवद्दर्शनेन कथं गोपिकानां तापनिवृत्तिरित्यत आहुस्तत्तदित्यादि, एतदेव **धर्मादिसहितेतिफक्कि**कया सुबोधिन्यां सूचितं, **कुन्तलाश्चेत्यादि**नोक्तं प्रकारान्तरं विवृण्वन्त्युत्तमेत्यादि, **कामरूपा** इति कामनिरूपका, **वीराद्भुतरसौ** बोधयतीत्युत्साहजनकत्वात् कथं बद्धमितिविस्मयजनकत्वाच्च तौ बोधयति, **भयहास्ये जनयती** दुर्गभूमौ दृष्टत्वात् कथञ्चिद् विकृतिरूपया भङ्ग्या स्थापितत्वाच्च ते **जनयति**, **रुचिरेक्षणं करुणा**मिति हा वयमेतावत्पर्यन्तस्थिता इतिशोकमूलानुकरुणां, **रौद्ररस**मिति क्वचिदधिकारिविशेषे, **अविशिष्टरसं** बीभत्सं क्वचिद् भक्तविशेषे जनयतीत्यर्थः॥४२॥ **पीत्वेत्यत्र गोपिकाभिरेव मुक्त इत्यत्र** हेतुमाहुस्त एवेत्यादि **अनेनेत्यक्ष्णां** भृङ्गत्वनिरूपणेन, **साजात्यमिति** यथा श्रुत्यादयः सर्वं वदन्ति परमत्रैव तात्पर्ययुक्तास्तथैता अपि सर्वत्र भ्रमणयुक्तदृष्ट्योपि भगवदेकनिरीक्षका इति तथा, अक्ष्णां भृङ्गत्वोक्त्या व्यञ्जितमर्थमाहुर्गोपिकानामित्यादिना गच्छतीत्यन्तेन **अन्येनापीति** भावरूपेण प्रकारेणापि, **त्रिविध** इति देहेन्द्रियात्मनां सम्बन्धि, **बन्धनस्थानमिति**, तथा च भगवान् मार्ग एव रसं ददाति न तु संसाररूपे गृह इतिवस्तुस्थितिर्व्यज्यते॥ ४३॥ **गताध्वानेत्यत्र** मध्ये स्वित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्मध्ये **त्वधिकारी**त्यादि॥ ४४-४५॥ **जनन्युपहृतमित्यत्र नात्यन्तं धर्मप्रधानतेति** किन्त्वत्यन्तं धर्मिप्रधानतेतिभावः॥ ४६॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कृष्ण इत्यत्र **तदिति** कृष्णस्य व्रजागमनमागन्तुः कमलपत्राक्षत्वात् तापहारकमित्यर्थः, दृष्ट्यैव सङ्केतसूचनाद् **भाव्यर्थ**निश्चयेन तापनिवृत्तिरितिभावः, अग्रिमश्लोके तापान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र विरहपदं, **नन्विति** अध्यात्ममन्तःकरणं तत्सम्बन्धिनि विरहकारणभूते मदमानादिरूपे इत्यर्थः, **अनेनेति** एतयोः पुण्यत्वकथनेनेत्यर्थः, पुण्यं हि प्रायश्चित्तं तात्कालिकपापभोगनिवर्तकं न तु स्वरूपतो नाशकमिति निबन्धे निरूपितं तत्सूचनाय जलपूरदृष्टान्तः, पूरो हि वस्तु देशान्तरे प्रक्षिपति न तु स्वरूपतो नाशयति, तथापि तात्कालिकमदमाननिवृत्तिः, कालान्तरे तु रसोद्रेकाद् भविष्यत एवेति भावः, **श्रवणे** इति सतीतिशेषः, **कथापूर इति** सुधासंवलितकथापूर इत्यर्थः, **शुद्ध** इति पूर्वोक्तपापरहित इत्यर्थः, **नन्वेवमपीति** श्रवणकीर्तनाभ्यामाध्यात्मिकपापनिवृत्तावपि भगवत्यनित्यरतित्वादिदोषदर्शनलक्षणस्याधिदैविकपापस्य विद्यमानत्वात् तन्निवर्तकोत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपा कीर्तिः कथं प्राप्यते इत्यर्थः, **अनघा** इति अन्तरङ्गा इत्यर्थः, **अलौकिकेनेति** लोकावेदेनेहैव भगवान् रतो यथापूर्वमेवेत्यादितद्वर्णनप्रकारेण भक्तस्तुल्या सुलभत्वमुक्तं, लोकवेदेन प्रकारेण गोपस्तुल्या सुलभत्वमित्यर्थः॥ ४१॥ **तमित्यत्र** न **दृष्टेति** नानुभूतेत्यर्थः, तत्तद्धर्मदर्शनेन तत्तत्स्थायिभावोनुभूतो भवतीति ज्ञेयं **अत्र धर्म** इति पुरुषार्थपरत्वव्याख्याने इत्यर्थः शृङ्गाररसपरत्वे त्वनुभावत्वं वक्ष्यत इतिभावः, रजोदर्शनेन परम्परया तत्सम्बन्धिगोसम्बन्धिनी सर्वापि धर्मादि (विभावानुभाव) लीला नित्यत्वाद्दृष्ट्यनुभूता भवति साक्षात्त्वर्थलीलानुभूता भवतीत्यर्थः, एवं सर्वत्र ज्ञेयं **मोक्षस्थानीया** इति टिप्पण्युक्तदिशा अलकेषु सर्वापि मोक्षलीला अन्यत्र त्वंशतो धर्मादिलीलेतिविशेषः, एकवाक्यतेति **गोरजश्छुरितकुन्तलेत्य**स्य छुरणक्रियावत्त्वाद् वाक्यत्वं, तथा चैकस्मिन्नवान्तरवाक्ये सम्बन्ध इत्यर्थः, **कामरूपा इति** कामनिरूपकास्तदुद्बोधका इत्यर्थः, **रजोगुण** इति रजसः कामदातृत्वस्य फलप्रकरणे "दिनपरिक्षये"इतिश्लोके वक्ष्यमाणत्वाद् रसोद्दीपका इत्यर्थः, **अत्रानुभावा इति** पूर्वं व्यभिचारित्वेनोक्ता अप्यत्रानुभावा इत्यर्थः टिप्पण्युक्तदिशा परिरम्भादिरूपानुभावसम्पादनेन प्रियस्मारणेन च रसं बहिरन्तश्चानुभावयन्तीति यौगिकोर्थो ज्ञेयः, **तेनेति** उद्दीपनानुभावसाहित्येनेत्यर्थः, शृङ्गारे चकोरदृष्टान्तस्योक्तत्वाच् चन्द्रे चकारेण इव भवतीष्वहं रत इतिज्ञापनेन भगवन्निष्ठा शृङ्गाररस्थायिरूपा रतिः कुन्तलदर्शनादिना भावोद्बोधनादेताभिरनुभूतैतासामपि तेन रतिर्जातेति पर्यवसन्नोर्थः, **निरूपित** इति भगवतैतासु स्थापित इत्यर्थः, **बर्हस्येति** अनेन समयविशेषे स्वकृतबर्हवस्त्रमरणेन भगवतो लीलान्तरोत्साह आश्चर्यं चैताभिरनुभूतं भवतीत्यर्थः, एते त्रयो भगवन्निष्ठा एताभिरनुभूताः, अग्रिमास्त्वेतास्वेव जाता इति जनयतीति, **तत्रोक्तं**, वनसम्बन्धिपुष्पधारणेन वने रुचिज्ञापनाद् भगवान् पुनर्वनं गच्छेदिति भयं रसक्षमा अस्मान्

विहाय प्रकृष्टा सूना येषां तैरक्षमैर्दिनं नीतवानिति हासः, एतादृशोस्मान् पूर्वोक्तपापवशात् त्यजतीति शोकः, त्यक्त्वा गत इति भयं तथाः स्वयं च हसतीति क्रोधः, पूर्वार्धसमुदितधर्मदर्शनेन तत्रापि नयनसमर्थस्तदकृत्वा अनुनयनार्थं किमित्येवं करोतीत्याकारि जुगुप्सा, नाद्यावशिष्टेति नाद्येष्ववशिष्ट इत्यर्थो ज्ञेयः, वेणुनादेन शान्तिरूपो निर्वेदो जनितः प्रयत्नशैथिल्यलक्षणः, येना नादरसानुभवो भवति, एतदेवोक्तं "ब्रह्मामृत"मिति नादब्रह्मरसं इत्यर्थः, अनुगत्वेन रूपात्मकभगवत्सेवालक्षणो गानेन नाम भगवत्सेवालक्षणश्च भक्तिरसो जनितः, बद्धबर्हो वन्यप्रसूनानि रुचिरेक्षणं चेति द्वन्द्वः, ततस्तैः सहितश्चारुहासो यस्येति बहुव्रीहि 'गोरजश्छुरिते' त्यनेन कर्मधारयः, विदृक्षितदृष्टय इति दिदृक्षा सञ्जाता आसामिति तद्धितान्तं ज्ञेयं, निष्ठान्तत्वे कर्म दिदृक्षितपदं स्यात्, न हीत्यादि रसानुभवे विशेषः, दर्शने तु सर्वसाधारण्यमेव, असाधारणं दर्शनमाहुः एकान्त इति, अभि माहुः ताभिरेवेति एवकारेण व्यावर्त्यानाहुः अग्रे इति तथा च व्यावर्त्या गवादय इत्यर्थः, गोपिकागमनेनापि वेष्टनमेव निरू भगवद्वर्णनलक्षण एव वाक्यार्थ आभासे उपक्रान्तोत्र वेष्टित इत्यर्थः इत्यनेनोपसंहृतः ॥ ४२ ॥

पीत्वेत्यस्याभासे तत इति तत्कीर्तिकथनपूर्वकव्रजागमननिरूपणं वाक्यार्थ इत्यर्थः, व्याख्याने, आदाविति पानं तत्कर सत्कृतिश्च तत्कृतिः तत्रादावित्यर्थः, करुणेति करुणया वीचियुक्तादित्यर्थः, पेपीयमान इति यङ्लुगन्तात् कर्मणि शानच्, तच्चेति तद् वस्त्वित्यर्थः, दोषत्रयेण बहुपानासम्भवस्तत्र दुग्धस्य मिष्टत्वेपि तृषाजनकत्वं न तु तापहारकत्वं, आदिपदाभ्यां निम्बादेस्तापहार तिक्तत्वेन वैरस्य जनकत्वं न तु मिष्टत्वमित्यर्थः, जलं तादृशमपि बहु पातुं न शक्यते तत्र हेतुमाहुर्यद्वीति, विकारजनकमि नीहारवदिति हिमवदित्यर्थः, सर्वगुणेति मुकुन्दसम्बन्धाद् दोषाजनकत्वं मुखसम्बन्धात् तापहारकत्वं मुखस्य दर्शनमात्रेणैव हारकत्वात्, सारत्वात् मिष्टत्वं, एभिस्त्रिभिर्गुणैर्बहु पानं सम्भवतीत्यर्थः, भक्त्यात्मकमिति तापहारकमित्यर्थः तत्रेति मुखे इत मधु क्रियत इति यथा कुसुमजलमानीय सारा निष्काश्यते तथेत्यर्थः, दृष्टान्ते स्थापनमुक्तमित्यत्र बोधनस्य स्थापनत्वमाहुः सर्वप्रक ष्विति, सरघाभिः पुष्पेभ्या रसः समानीयते रसनिष्ठो यः सारः यथा कुसुमजलात् निष्काश्यते तन्मधुसारं तथात्र सरघास्थानीय श्रुतयः रसस्थानीयो भगवान् सारस्थानीयं लावण्यमिति ज्ञेयं, रसस्त्विति लावण्यरूप इत्यर्थः, सरघाभिः पुष्परसो भुज्यते रसस्त्वन्यैरेव भुज्यते तथात्र गोपिकाभिरेव भुक्तः, तत्र हेतुः त एवेति हि यत इत्यर्थः, रसो हि ज्ञात्वा भोक्तव्यः ज्ञानं तु भृङ्ग देतच्चक्षुषामेव, तथा च रसज्ञचक्षुर्युक्तत्वादेताभिरेव ज्ञात्वा रसो भुक्तः, भृङ्गनिष्ठं रसज्ञानमेव दृष्टान्तार्थः, अत एव जानन्ति न तु भुञ्जत इति अनेनेति श्रुतिबोधितरसनिष्ठसारपानकथनेन श्रुतिभिरादिपदेन ब्रह्मादिभिश्च, सह साजात्यमेकरससर्वानि निरूपितं, इयान् परं विशेषः, श्रुतीनां सरघादृष्टान्तेन रसभोग एतासां तु भोक्तृजनदृष्टान्तेन रसनिष्ठसारघभोग इति अत एव त्युक्तं, अनुक्त्यापि चक्षुभिरेव रूपदर्शनसम्भवेनाक्षिपदं किमर्थमित्याशङ्क्याहुः गोपिकानामिति, ब्रह्मादीनां देवतात्वात् चक्षु विनैव योगजधर्मप्रत्यासत्त्या सर्वदर्शनं तथैतासामपि देवतात्वस्य वक्ष्यमाणत्वादुक्तत्वाच्च सम्भवतीत्यक्षिभृङ्गैरित्युक्तमित्यर्थः, इति लावण्यामृतस्य गुणत्रययुक्तत्वेन बहुपानात् तस्मिन्नन्तः पूर्णे सति पूर्वश्लोकोक्तस्तापोनुपदोक्तचतुर्दशधर्मविरहजो गच्छता इत्यर्थः, अन्यास्त्विति 'कृष्ण' इति श्लोकोक्तो बाह्य इत्यर्थः, त्रिविध इति धर्मिविरहरूपाधिभौतिकपापजनितः आध्यात्मिकपापज आधिदैविकपापजनितश्चेति, सन्निधान एवेति भगवता व्रजे एव कुतो न स्थीयत इत्यर्थः, तथा सति चतुर्दशापि धर्माः साक्षाद् स्युरितिभावः व्रजस्य हीति व्रजसम्बन्धित्वेनास्मदर्थमेव भगवान् प्रकट इति ज्ञानेन सर्वत्रैव यथेच्छं क्रीडितुमुचित इति विवेक त्याद् व्रजस्थितौ स्वाधीनत्वेन लीला अन्यास्ताभिर्बाध्येरन् स्त्रीत्वेन पराधीनत्वात् तास्वपि सा न सम्भवति, हीति व्रजसम्बन्धि तादृशविवेकराहित्यं युक्तमेवेत्यर्थः, तत्राप्यह्नीति प्रतिबन्धकानां वनगमनादिना यथाकथञ्चित् समाधानसम्भवेपि मध्यमसीमा त्रपाद्यनुरोधेनैव सर्वं कर्तव्यं न तु निःशङ्कतयेति त्रपारूपः स्वभावाप्यह्निबाधको भवति, निशि तु सर्वेषां शयानत्वेन स्त्रीणां बन्धकानां स्वपार्श्वस्थत्वमाननेन च सर्वं सम्पद्यत इतिभावः, लौकिकभोजनादिरिति अग्रे मात्रा कर्तव्यं दुग्धान्नभोजनकि भोजनमिति हेतुमण्णिजन्ताद्भावे ल्युट्, सन्ध्याभोगसामग्रीभोजनानन्तरं तु पयःपानं सार्थकमेवेतिभावः, पुनर्गोष्ठे इति गोष्ठ गाः स्थापयित्वा गृहे गत्वा रात्रिक स्वीकृत्य तं वेषमुत्तार्य तत्समयोचितलघुवेषं विधाय फेनभोगार्थं पुनर्गोष्ठे समागमन लौकिकं चेति लावण्यपानोक्त्या तत्कृतः सत्कारापि तत्सजातीय एव वाच्यः, अतो लौकिकभोजनादिकं पाकादिवैयर्थ्यात् पृ बाध्यते अतोपि न तथेत्यर्थः, विशिनष्टीति समभिगम्येति क्रियां विशिनष्टीत्यर्थः, यादृशीति विभावानुभावरहिता मुख्य भवरूपेत्यर्थः, अलसाक्ष इति चस्त्वर्थे, एते तु अनुद्बुद्धरसदशायामेव सम्भवन्ति, तत्र च रसोद्बोधाय विभावानुभावा अतो व्यावर्त्यतेऽनेन विशेषणेन, सव्रीडेत्यादि तु तमस्यपि सम्भवति, चेष्टयैव त्रितयबोधनसम्भवात् तस्येति मुख्यरस अधिभूतानिति शरीरभूतानित्यर्थः, सव्रीडेत्यत्र व्रीडनं व्रीडः इयं व्रीडा न निषेधिका किन्तूत्साहसंवर्धनेन रसार्थप्रेरिका, व्रीड लज्जायां चेति धातुपाठात्, अतःश्रीत्वविशिष्टस्य रूढ्या लज्जामात्रवाचकत्वेन स्त्रीत्वस्यात्राविवक्षितत्वात् न टाबिति प्रति गवामिति तत्र गवां बन्धनार्थमन्येषामामनावश्यकत्वे ताभिरेव वेष्टनासम्भवादित्यर्थः ॥ ४३ ॥ गताध्वानेत्यत्र नीवीमिति पीतमित्यर्थः, ग्रन्थिमत्त्वेन मलकच्छसाहश्यं, धौत्रपरिधाने गोदोहनादौ तत् मुक्तं भवेदिति भावः, मध्ये त्विति एतद् त्वाद् सर्वत्र सङ्क्षेपेणैवोच्यते, अतः स्वमार्गीयसेवारीतिसिद्धं फेनभोगादिकं तत्र नासाभूषणोत्तारणादिकं च सर्वमेवास्तीति ज्ञेयं

श्लोके जननीकृतत्वमुक्तमग्रिमश्लोकेपि तथा, मध्येस्मिन् श्लोके जननीकृतत्वानुक्त्या तत्रैव तथा कृताविंत्यर्थः ॥ ४५ ॥ रोहिण्या समानयने हेतुः **प्रायश** इति, **बलभद्रेणै**वेत्येवकारेणान्ये बालका व्यावर्तिताः तथा सति तज्जनन्योप्यानयेयुः, व्यावृत्तौ हेतुः **असमा-सादिति**, समसनं समासः, आवेशेन सम्यक्तया स्थितिरित्यर्थः, अन्यैः सह तदभावात्, अतो जननीभिरिति बहुवचनान्तेन न समासः, लीलार्थं कदाचिदन्यैरपि सह सम्भवतीति **प्रायश** इत्युक्तं, तर्हि यशोदया समानीतमिति कुतो नोच्यत इत्याशङ्क्याहुः **व्रव्यमिति कोमलदुग्धान्नादिकमिति**, सुश्रृतं दुग्धमन्नादिकं चेत्यर्थः, आदिपदेन शाकः सन्धितामाद्रादि चेति, व्रजे हीति पूर्वनाडीचतुष्टयावधि न सुप्तव्यमिति **धर्मस्तत्**प्रधानता न किन्तु 'निशि शयानमतिश्रमेणे' तिवाक्याच् छीघ्रमेव शयनं, अतो दिवा सुखस्वापार्थं व्याजेन वनगमनवद् रात्री महच् चरित्रं नापेक्षितं किन्तु माययैव तदज्ञानेन पार्श्वस्थत्वमाननेन तत्सिद्धिः, अतः 'सुखं सुषुपतु'रित्येवोक्ते न तु तदर्थमन्यत् किञ्चिदुक्तमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ **वैषयिकमिति** 'विषयास्तद्विप'मित्युक्तत्वाद् विषकार्यमरणनिवर्तकमित्यर्थः, एवमित्यत्र एवमित्यस्य विवरणं **निरोधार्थमिति**, **तत्कार्यमिति** तनुनवत्वसम्पादनमित्यर्थः, **स्वसाध्यमेवेति** सङ्कर्षणस्य प्रलयकर्तृत्वात् तस्मिन् विद्यमाने तद्विरुद्धं नूतनदेहोत्पादनं न भवेदित्यर्थः ॥ ४७ ॥ **अथेत्यस्याभासे इत्याहेति** इति हेतोर्जलपानमाह, भगवता सह गमने तु तादृशं जलं न पिबेयुरित्यर्थः, **अथेत्यनेनोक्तं** भिन्नप्रक्रमं विवृण्वन्ति क्वचिदित्यादिना ॥ ४८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

स्तूयमानोनुगैरित्यत्र अलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेणेति रहस्यलीलाकथनं हि सर्वेषां लोकानां सन्निधौ न भवति किन्तु तादृशभक्तनिकटे रहस्येव भवति, तस्य वक्तारोपि विरला अतस्तेषां लोकावेद्यत्वादलौकिकप्रकारेणैव तेभ्यो लीलास्वरूपं लभ्यते, प्रकटलीलास्तु गोपैः सर्वसमक्षं गीयते, तल्लाभोपि सर्वप्रसिद्धलौकिकप्रकारेणैव भवतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥ **तं गोरजश्छुरित-मित्यस्य** विवृतौ **बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयतीति** वीरा हि स्ववीरताख्यापकं लक्ष्मविशेषं बिभ्रति, भगवानपीह श्रृङ्गाररससम्बन्धिस्ववीरताबोधनार्थं उद्बुद्धश्रृङ्गाररसस्य मयूरस्य चिह्नं बर्हं धारयत्यतस्तद्दर्शने वीररसोनुभूयते, बर्हदर्शने मयूरस्य लोकविलक्षणायाः काममलीलायाः स्मरणे आश्चर्यं भवति, प्रकृते भगवानप्यप्राकृतीं लोकविलक्षणामेव काममलीलां करोतीति तस्या अनुभवाददद्भुतरसो बोभूयते, **वनोद्भवानां प्रसूनानामिति** बद्धबर्हतादर्शनेनाविर्भूतयोर्वीराद्भुतरसयोः प्राबल्या-दस्मदर्थं भगवानेतावत् करोत्यस्मदेकरत इतिज्ञानादेतादृश्यातिरभूद् यया व्रीडादिपरित्यागेन बलात्कारेणायं ग्राह्यो यथास्मन्निकट एव तिष्ठेत् इति त्वरिता बभूवुः, परं वन्यप्रसूनदर्शने पुनरपि वने गमिष्यतीति भयमुत्पद्यते, ततश्च लज्जापरित्यागो न कर्तव्य इतिमतिरुदेति, युक्तं चैतत्, यदि भयानकरसो नोत्पद्येत तदा लज्जात्यागे रसप्राकट्याद् गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इति रसमर्यादाया अभावात् रसत्वमेव न स्यात्, अतो भयरसोपि श्रृङ्गाररसपोषक इति सिद्धं भयस्य रसत्वं, किञ्च वन्यप्रसूनदर्शने भगवति चातुर्यभावमवगच्छन्ति, एतादृशीः सौन्दर्यचातुर्यस्नेहादिवतीरस्मान् विहाय "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्यात् कामलीलाप्रतिबन्धके वने पशुपालान् गृहीत्वा पशूनां पृष्ठभागे परिभ्रमतीति हास्यरसमुदयते, **रुचिरेक्षणं करुणारसमिति** वन्यप्रसून-दर्शनेन प्रकटीभूतयोर्भयानकहास्यरसयोः प्राबल्येनोत्पन्नाया उदासीनतायाः प्रशमनाय करुणारस उत्पादनीयः, स च रुचिरेक्षण-दर्शनेन उत्पद्यते इत्याशयः, रुचिरेक्षणावलोकनेन एतादृशे मध्यनिविष्टरसनिमग्नचञ्चरीकसरसिजसदृशे ईक्षणे एतावत्कालमस्माभिः कुतो नानुभूते इतिशोकस्थायिभावकः करुणारस उद्भवति, तथा च येन केनापि प्रकारेण सरसिरुहनयने सततमवलोकनीये इति पुनरभिलाषसङ्गः परिस्फुरति, एवं श्रृङ्गाररसाङ्गता करुणारसस्य, एवं करुणारसे उत्पन्ने मानादिकं नात्रस्यत इति तदुत्पत्त्यर्थं पुनर्मानादिबीजमुद्बोधयितुं क्रोध आवश्यक इति तं प्रकटयितुं चारुहासं करोति, ततश्च वयमेतादृशानुरागवत्यः एतावत्कालं यन्त्र-मेतादृग् दुःखमनुबभूविम भगवांस्तु दुःखितानप्यवलोक्य हसतीति नायमस्मद्विषयकस्नेहवानतः क्रोधस्थायिभावको रौद्ररसः आवि-र्भवति, सोयमित्थं श्रृङ्गाररसपोषक इति बोद्धव्यं, इत्थं कदाचिदुत्साहः कदाचिद् विस्मयः कदाचिद् भयं कदाचिद्धास्यं कदाचित् तापः कदाचित् क्रोध इति नानाविधपुरुषोत्तमभूषणावयवाद्यवलोकनैर्नानाप्रकारका भावाः समुज्जृम्भन्ते, एवं विविधभावोत्पत्त्या विलक्षणः कश्चिदास्वादः श्रृङ्गाररसे सर्वरसानामङ्गिभूते समुल्लसति, परं क्रमेण भवति, क्रमेणावलोकनात् क्रमेण तत्तात्पर्यावि-धारणात्, यदा तु समूहावलम्बनवत् युगपदेव सर्वे धर्मा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हादयः परिस्फुरन्ति तदा बीभत्सरस उदेतीत्याहुः **महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयतीति** नाट्ये अवशिष्टं नाट्यावशिष्टं बीभत्सरसं जनयतीत्यर्थः, "बीभत्सा द्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ रसाः स्मृता" इतिवाक्यादष्टौ रसा नाट्ये, तत्र श्रृङ्गारादिरौद्रान्ता रसा इह निरूपिता अतो बीभत्सरसोऽवशिष्टः, स तु "गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हा दिसर्वधर्मविशिष्टवेशावलोकने सम्भवति, अयं तु भगवाननेकचरित्रचमत्कारयुक्तोस्त्यतः कुत्र कुत्रास्य स्नेहः कुत्र कुत्रास्य रमणं किं किं न कामकापट्यं करोतीतिबुद्धौ जुगुप्सास्थायिभावको बीभत्सरस उदेति, सोयं मनसः परावर्तको रसः शान्तरसेन शमनीय इति शान्तमुत्पादयितुं वेणुनादं करोतीत्याहुः **वेणुं क्वणन्तमिति**, **शान्तरस** इति **वश्च** इश्च वयौ ब्रह्मानन्द-विषयानन्दौ अणू यस्मादितिव्युत्पत्तिसिद्धो वेणुस्तत्क्वणने परमानन्दोत्पत्तौ घोषकामिनीनां भगवदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसो जायते तदा सर्वप्रयत्नराहित्येग्रिमलीला न सम्भवतीति तदुत्पादनाय स्वस्य श्रृङ्गाररसोपयोगिकीर्तिश्रवणं कारयित्वा भक्ति-मुत्पादयतीत्याहुः **अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति**, **भक्तिरस** इति अनुगा अन्तरङ्गगोपास्तैर्गीयमानां कामकीर्तिं भगवतः श्रुत्वा अयं

भगवान् सर्वोत्तमः सकलरसिकशिरोमणिरित्येतस्मादानन्दानुभवः सर्वथा कर्तव्यो न मानादिकं कर्तव्यमित्यभिलाषेण दास्यादिरूपो भक्तिरसः प्रकटीभवति, सोयं शृङ्गाररसानुसंसृष्ट इति ज्ञेयं, एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तमिति इदमत्र ज्ञेयं, अस्मिन् श्लोके ये दश रसा उक्तास्तेषु केचन भगवति जाताः शृङ्गारादयः, केचन भयादयो व्रजवामलोचनास्वेव जाता इति कथं सर्वरसयुक्तत्वं भगवतीति चेत्, इत्थं, यथा यशोदानन्दने वन्यप्रसूनाद्यासक्ति दृष्ट्वा व्रजनारीणां भयहास्यादिरस उत्पद्यते एवमेतास्वपि गुरुजनपरतन्त्रादिज्ञानेन तादृक्चातुर्याभावज्ञानेन च भयहास्यादयो रसा भगवत्यपि प्रादुर्भवन्ति, अतिमाने च क्रोधश्च, कदाचिदित्याग्रहेण भगवत्प्रार्थिताकरणे जुगुप्सास्थायिभावको रसोपि सम्भवति, रतिरम्भादिमदहृत्स्मितावलोकनमधुरभाषणादिसौष्ठवं व्रजवधूटीनामवलोक्य तदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसः प्रभावप्युदेति, मानापनोदनादौ भक्तिरसस्तु व्रजसुन्दरे स्फुट एव, अत एव दशमस्कन्धे बहुलाश्वश्रुतदेवप्रसङ्गे उक्तं 'भगवान् भक्तभक्तिमानिति "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विजे"त्यादि भगवताप्युक्तं, अतः सर्वरसयुक्तो भगवान् गोवर्धनधर इति सर्वरसयुक्तं भगवन्तमित्युक्तिर्युक्तैव ॥ ४२ ॥

पीत्वा मुकुन्देत्यत्र जलं नीहारवत पातुं न शक्यते इति बहु पातुं न शक्यत इत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तः **नीहारवत्** इति हिमं यथा बहु पातुं न शक्यते १०-१२-४३ तथा तापहारकमपि जलं बहु पातुं न शक्यते, विकारोत्पादकत्वात्, मुकुन्दमुखसारघं तु तापहारकत्वान् मिष्टत्वात् तृषादिदोषाजनकत्वात् परिणामसुखदत्वाच्च भूयो भूयः पातुं शक्यत इति भावः, **ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः सरघास्थानीया** इति सरघा यथा पुष्पेभ्यो रसं समानीय मधु करोति तथा ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च भगवानानन्दनिधिरत्र व्रजे समानीत इति सरघास्थानीयत्वं ब्रह्मादीनां श्रुतीनां चेत्यर्थः, तथापि सरघा तु बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु करोति भगवांस्त्वेक एवात्रानीत इति न दृष्टान्तस्वारस्यमतो दृष्टान्तस्वारस्याहुः **तैः सर्वैरेवेत्यारभ्य बोधित इत्यन्तेन**, यथा सरघया बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसं आनीय मधु क्रियते तथा ब्रह्मादिभिरपि निखिलवेदेषु उक्तो यः परमानन्दो भगवान् स श्रीकृष्ण एवेति वोधितं "वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः" इत्यादिवाक्यैरित्यर्थः, श्रुतिभिरपि सर्वत्र प्रकरणेषु उक्तो यः परमात्मानन्दनिधिः स "रसो वै सः" "आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रमति" "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" "कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इत्यादिभिः श्रीकृष्ण एव परब्रह्मस्वरूप इति वोधितं एवं सति सरघया यथा बहुपुष्पनिष्ठरसस्यैकीकरणेनैकत्र मधुकरणं तथा ब्रह्मादीनां श्रुतीनामपि सर्वत्रोक्तस्य परमानन्दरसस्यैकत्र श्रीकृष्णे एकीकरणं, इह श्रीकृष्णरूपपरमानन्दस्याजन्यत्वात् तद्बोधनमेव करणमिति ज्ञेयं, फलितमाहुः **सर्वप्रकरणेष्वित्यादिना, अतोस्माभिरेतावत्कालं नानुभूत इति चिन्तयेति** इदमनुशयानाया नायिकाया यल्लक्षणं रसशास्त्रे उक्तं तदत्र सिद्धं पश्चातापकरणात्, **तत्सत्कृतिं समधिगम्येत्यत्र** लौकिकं च बाध्यते लौकिकं भोजनादि तु बाध्यते इह न सम्भवतीत्यर्थः, व्रजनागरीभिः शृङ्गाररससम्बन्धिसत्कारकरणस्यात्रोचितत्वात् ॥ ४३ ॥

गताध्वानश्रमौ तत्रेत्यत्र मज्जनान्युन्मर्दनादीनीति मज्जनान्येव उन्मर्दनादीनीत्यभेदे कर्मधारयो बोद्धव्यः, तदुपपादयन्ति **उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानामित्यनेन**, बहुव्रीहौ कृते मज्जनान्येव उन्मर्दनादिरूपाणि, अन्यथा पूर्वं मज्जनं पश्चादुन्मर्दनमित्युक्तिर्बाध्येत लोकविरुद्धत्वात् अरुचिसम्पादकत्वाच्च, बहुव्रीहौ कृते तु पूर्वमुन्मर्दनं पश्चात् मज्जनं सिध्यतीति युक्तमेव, लोके तथैव क्रियमाणत्वात् सुखदायकत्वाच्च, द्वन्द्वसमासमाश्रित्य पक्षान्तरेण व्याकुर्वते, **छान्दसः परनिपात** इति उन्मर्दनशब्दस्येत्यर्थः, मज्जनं च उन्मर्दनं चेति द्वन्द्वे कृते अजाद्यन्तमित्यनुशासनादुन्मर्दनशब्दस्य पूर्वनिपातोपेक्षितः स छान्दसत्वात् बाधितः किन्तु परनिपात एव जात इत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे मज्जनोन्मर्दनयोः पूर्वापरभावो नास्ति किन्तु यथोचितं मज्जनोन्मर्दने इति, उन्मर्दनमज्जनयोः पूर्वापरभाव इत्यर्थः, **मज्जनं वेति** मज्जनशब्दस्य पूर्वं कथितत्वात् पूर्वं मज्जनमेव वाच्यमितिपक्षे तु चरणारविदमात्रमज्जनं **मज्जनपदेन ग्राह्यं**, तच्चोन्मर्दनात् पूर्वमेव, वनादागतस्य कृष्णस्य चरणारविन्देषु रजः सम्बन्धोस्ति तस्य दूरीकरणस्य पूर्वमेवोचितत्वात्, ततः पादयोर्मज्जनानन्तरं सर्वत्रानन्दमयविग्रहे उन्मर्दनं, ततः स्नानं त्वर्थात् प्राप्तमतो नोक्तं, आदिशब्देन वा ग्राह्यं, एवं सति बोधसौकर्याभावजन्मामरुचिं मत्वा पक्षान्तरेण व्याकुर्वते **मज्जने वा उन्मर्दनादिना** इति; सप्तमीतत्पुरुषः, सप्तमी निमित्ते, मज्जननिमित्तं यानि उन्मर्दनादीनीत्यर्थो भवति, एवं सति सौकर्यं शब्दसाधनेर्थबोधने चेति ज्ञातव्यं, रजोनिवृत्त्यर्थं **आदौ वा मज्जनमिति** आदौ मज्जनं सकलानन्दविग्रहस्य, तत उन्मर्दनं, ततः पुनर्मज्जनं आदिशब्देन ग्राह्यं, पूर्वं चरणमात्रमज्जनमुक्तं, अस्मिन् पक्षे सकलाङ्गस्य मज्जनं वारद्वयमिति विवेकः ॥ ४५ ॥ **जनन्योपहृतं प्राश्येत्यस्य विवरणे रोहिण्या समानीतमिति** जननीशब्दो रोहिणीवाचकः, तस्मात् इह जननीपदेन रोहिण्येवायाति बलदेवनिरूपितजननकारणत्वं तत्रैव, यतः बलदेवस्य गृहीतजन्मत्वात्, अत एव "अयं वै रोहिणीपुत्र" इत्यत्र रोहिणीपुत्रत्वनिश्चयार्थं वैपदं, व्याख्यातं च सुबोधिन्यां तथैव, अतो बलदेवे जननधर्मस्य विद्यमानत्वात् तत्कारणीभूता रोहिणी जननीपदवाच्या, यशोदा तु न जननीपदग्राह्या; भगवति जननधर्मस्याभावेन तन्निरूपितजननीत्वस्य श्रीयशोदायामभावात्, अत एव "अयं वै रोहिणीपुत्र" इत्यस्य विवृतौ "यदि भगवान् केनाप्यंशेन प्राकृतो भवेद् यशोदेयः देवकेय इति नाम भवेत्"इत्युक्तं, अतो न यशोदा जननीपदवाच्येति जननीपदेन रोहिण्येव ग्राह्या त्याशयेन **रोहिण्या समानीतमित्युक्तं प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनमसमासादिति जनन्योपहृतं प्राश्येत्यत्र** जनन्येत्यसमासादित्यर्थः, समासे हि जनन्या उपहृतं जनन्युपहृतं जननीभ्यां वा उपहृतं जनन्युपाहृतं इति स्यात्, तथा च यशोदा रोहिण्योरुभ-

योरपि ग्रहणं स्यात्, यद्यपि भगवति जननधर्माभावाद् यशोदायां जननीत्वांशो नास्ति, ततश्च जननीपदेन यशोदाया ग्रहणं न भवेत्, तथापि जननप्रसिद्धिमादाय जननीत्वसिद्धेर्जननीभ्यामुपहृतं जनन्युपहृतं इतिसमासे कृते यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात्, परन्तु जनन्योपहृतमिति पाठादसमासे एकया जनन्या उपहृतमित्यर्थो भवति, सा जननीत्ववती तु रोहिणी, तया उपहृतं उभाभ्यां रामकृष्णाभ्यां प्राशितं, यदि उपहरणे यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात् तदा यशोदया पृथक् भोजितो भगवानित्यर्थो भवेत्, प्रकृते तु जनन्येकवचना, तेन असमस्तपदेन पूर्वोक्तरीत्या रोहिणीमात्रग्रहणात् तयैकया समानीतं उभाभ्यां प्राशितमित्युक्तं भवति, ततश्च भगवतो वलभद्रस्य चैकत्रैव भोजनमायातीति युक्तमुक्तं सहैव भोजनमिति, अतो न रात्रिकृत्यमुक्तमिति सुखं सुषुपतुरिति, वाक्याच् छयनमात्रमुक्तं, भगवतस्तथैव गोपानामपि कृत्यन्तरस्यानुक्तेः शयनमात्रमायाति ततश्च नास्ति धर्मप्रधानतेत्यवगम्यते, यदि धर्मप्रधानता स्यात् तदा दिवसे कार्यव्यापृत्या धर्मकरणाभावेपि रात्रौ कथाश्रवणादिकं स्यात्, तदपि नास्तीति केवलं धर्मिप्रधाना एवेति सर्वसाधनरहिता प्रमेयबलेनैव कृतार्था भविष्यन्तीति भावः, यद्यपि "वर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते" इतिवक्ष्यमाणत्वाद् गोपानां रात्रौ भगवत्कथाश्रवणकीर्तनादिकमस्ति तथापि तत् केषाञ्चिदन्तरङ्गानामेव गोपानां न तु सर्वेषामतः सर्वस्य व्रजस्य तु "अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे"तिवाक्याद् दिवा व्यवहारकार्यं रात्रौ शयनमिति न धर्मप्रधानता किन्तु सर्वसाधनराहित्येन केवलं भगवत्यविहितस्नेहेन धर्मिमात्रपरतेत्येषां कृतार्थता भगवत्प्रमेयबलेनैवेति सर्वं सुस्थम् ॥ ४६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततश्च साग्रजः अनुगैर्देववर्ष्यादिभिः गोपैश्च स्तूयमानः कृष्णः व्रजमागमत् । तत्सौन्दर्यातिशयं सूचयन्नाह कमलपत्रवदक्षिणी यस्य सः । पूर्णानन्दस्य विविधलीलाप्रयोजनं सूचयन्नाह—श्रोतॄणां च पुण्यजनकं श्रवणं कीर्तनं च यस्य सः ॥ ४१ ॥ दिदृक्षिता दर्शनोत्कण्ठायुक्ता दृशो यासां ताः, अत एव समेताः परस्परं मिलिता गाप्यस्तं वनादागच्छन्तं कृष्णमभ्यगमन् द्रष्टुमग्रतः सम्मुखं जग्मुरित्यन्वयः । दर्शनोत्कण्ठायां तत्सौन्दर्यातिशयं हेतुमाह गोरजोभिश्छुरितेषु व्याप्तेषु कुन्तलेषु केशेषु बद्धं बर्हं मयूरपिच्छं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य तथा रुचिरमीक्षणं चारुर्मनोहरो हासश्च यस्य तम्, वेणुं क्वणन्तं वादयन्तमनुगैर्देववादिभिरुपगीता कीर्तिर्यस्य तम् ॥ ४२ ॥ एवमभ्युपगताश्च व्रजयोषितो मुकुन्दस्य मुखमेव पद्मं तद्गतं सारघं मधु अक्षिभृङ्गैर्नेत्ररूपैर्भ्रमरैः पीत्वा मुखसौन्दर्यं नयनैर्दृष्ट्वा अह्नि यस्तेन विरहः, तज्जं तापं जहुः । अनेन तासां श्रीकृष्णमनसां अन्यस्तु त्रिविधोऽपि तापो नास्तीति सूचितम् श्रीकृष्णस्तु तासां सत्कृतिं सन्मानं समधिगम्य प्राप्य गोष्ठं विवेश । 'का सा सत्कृतिः ? कथं वा कृता ?' इत्यपेक्षायामाह—सव्रीडेति । सव्रीडं सहासं सविनयं च यथा स्यात्तथा यदपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनं तां सत्कृतिमित्यन्वयः ॥ ४३ ॥ तयोः वनादागतयोः पुत्रयो रामकृष्णयोः यशोदारोहिण्यौ यथाकामं तदिच्छानुसारेण यथाकालम् ऋतुमासप्रभातादिकालानुसारेण च परमा उत्कृष्टा आशिषः भक्ष्यपरिधेयादिविषयान् व्यधत्तां सम्पादितवत्यौ । तत्र हेतुमाह—पुत्रवत्सले इति । माताऽपि यदि काचित् स्नेहरहिता तदा पुत्रानभिप्रेतमपि करोति, ते तु अतिस्नेहवत्यावित्याशयः ॥ ४४ ॥ ता आशिषो दर्शयति—गतेति द्वयेन । तत्र व्रजे नन्दभवने मज्जनं जलेन स्नानम्, उन्मर्दनं सुगन्धितैलादिना, आदिपदेन रजोदूरीकरणकेशप्रसाधनादिग्रहणम् । क्रमोऽत्र न विवक्षितः । मज्जनादिभिर्गताध्वश्रमौ 'अध्वान' इत्यार्षम् । यद्वा न श्रमः अश्रमः श्रमाभावः, तस्याभावस्त्वनश्रमः श्रम एव । गतोऽध्वनो अनश्रमो ययोस्तौ गताध्वानश्रमौ रुचिरां मनोज्ञां नीवीं वस्त्रं वसित्वा दिव्याभ्यां स्रगन्धाभ्यां पुष्पमालाचन्दनाभ्यां मण्डितौ त्वलङ्कृतौ ॥ ४५ ॥ जननीभ्यामुपहृतमानीतं स्वाद्वन्नं प्राश्य भुक्त्वा ताभ्यां ताम्बूलाद्यर्पणवीजनपादसंवाहनप्रियगानादिभिरुपलालितौ महाप्रासादे वरशय्यायां पुष्पास्तरणादिना रचितायां संविश्य स्वगात्रं प्रसार्य सुखं यथा स्यात्तथा सुषुपतुरिति द्वयोरन्वयः ॥ तथा चोक्तं पाद्मोत्तरखण्डे—'तस्मिंश्च भवनश्रेष्ठे रम्ये दीपैर्विराजिते । श्लक्ष्णे विचित्रपर्यङ्के नानापुष्पविवासिते ॥ तस्मिन् शेते हरिः कृष्ण शेते नारायणो यथा' इति ॥ ४६ ॥ लीलान्तरमाह—एवमिति षड्भिः । एवं पूर्वोक्तगोचारणप्रकारेण क्वचित् निदाघे वृन्दावनचरः सन् राममृते विना अन्यैश्च सखिभिर्वृतः स भगवान् कृष्णः कालिन्दीं यमुनां ययौ । जलपानार्थमिति शेषः । 'इयमपि लीला ईश्वरत्वज्ञापिका, सावधानतया श्रोतव्या' इत्याशयेन सम्बोधयति—राजन्निति ॥ ४७ ॥ अथ शनैर्गच्छन्तं श्रीकृष्णं परित्यज्य गावश्च गोपाश्च शीघ्रं गत्वा कालियविषेण दुष्टं तस्या यमुनाया जलं पपुरित्यन्वयः । तथागमने हेतुमाह—तृषार्ता इति । तत्रापि हेतुमाह—निदाघातपपीडिता इति ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्ण इति ॥ ततश्च साग्रजः अनुगैर्देववर्ष्यादिभिर्गोपैश्च स्तूयमानः कमलपत्रवदक्षिणी यस्य पुण्यजनकं श्रवणं कीर्तनं च यस्य सः कृष्णः व्रजमाव्रजदागमत् ॥४१॥ तमिति ॥ दिदृक्षिता दर्शनोत्कण्ठायुक्ता दृशो यासां ता अत एव समेताः परस्परं मिलिता गोप्यः गोरजोभिः छुरितेषु व्याप्तेषु कुन्तलेषु केशेषु बद्धं बर्हं मयूरपिच्छं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य तथा रुचिरमीक्षणं चारुर्मनोहरो हासश्च यस्य वेणुं क्वणन्तं वादयन्तमनुगैर्देववादिभिरुपगीता कीर्तिर्यस्य तं वनादागच्छन्तं कृष्णमभ्यगमन् द्रष्टुमग्रतः संमुखं जग्मुः॥४२॥ पीत्वेति ॥ व्रजयोषितः व्रजकुमार्यः मुकुन्दस्य मुखमेव पद्मं तद्गतं सारघं मधु अक्षिभृङ्गैर्नेत्ररूपैर्भ्रमरैः पीत्वा मुखसौन्दर्यं नयनैर्दृष्ट्वा अह्नि यस्तेन विरहस्तज्जं तापं जहुः । श्रीकृष्णस्तु सव्रीडं सहासं सविनयं च यथा स्यात्तथा यदपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनं तद्रूपां तासां

सत्कृतिं सम्मानं समधिगम्य प्राप्य गोष्ठं विवेश ॥ ४३ ॥ तयोरिति ॥ तयोर्वनादागतयोः पुत्रयो रामकृष्णयोः पुत्रवत्सले यशोदारोहिण्यौ यथाकामं तदिच्छानुसारेण यथाकालमृतुमासप्रभातादिकालानुसारेण च परमा उत्कृष्टा आशिषः भक्ष्यपरिधेयादिविषयाम् व्यधत्तां सम्पादितवत्यौ ॥ ४४ ॥ गतेति द्वयम् ॥ तत्र व्रजे नन्दभवने मज्जनं जलेन स्नानम् उन्मर्दनं सुगन्धितैलादिना आदिपदेन रजोदूरीकरणकेशप्रसाधनादिग्रहणम्। क्रमोऽत्र न विवक्षितः। न श्रमः अश्रमः श्रमाभावस्तस्याभावस्त्वनश्रमः श्रम एव गतोऽध्वनोऽनश्रमो ययोस्तौ गताध्वानश्रमौ। द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः। रुचिरां मनोज्ञां नीवीं वस्त्रं वसित्वा दिव्याभ्यां स्रग्गन्धाभ्यां पुष्पमालाचन्दनाभ्यां मण्डितौ अलंकृतौ जननीभ्यामुपहृतमानीतं स्वाद्वन्नं प्राश्य भुक्त्वा ताभ्यां ताम्बूलाद्यर्पणवीजनपादसंवाहनप्रियगानादिभिरुपलालितौ महाप्रासादे वरशय्यायां पुष्पास्तरणादिना रचितायां संविश्य स्वगात्रं प्रसार्य सुखं यथा सुषुपतुः ॥४५-४६॥ एवं कार्तिकगोपाष्टमीदिनलीलां समाप्य तद्वर्षीयनिदाघगतस्य कस्यचिद्दिनस्य लीलामाह–एवमिति ॥ हे राजन्! एवं पूर्वोक्तगोचारणप्रकारेण क्वचित् निदाघे वृन्दावनचरः सन् रामऋते विना अन्यैश्च सखिभिर्वृतः स भगवान् कृष्णः कालिन्दीं यमुनां ययौ। जलपानार्थमिति शेषः ॥ ४७ ॥ अथेति ॥ अत्र शनैर्गच्छन्तं श्रीकृष्णं परित्यज्य निदाघस्य ग्रीष्मस्यातपेन पीडिताः अतः तृषार्ता गावश्च गोपाश्च शीघ्रं गत्वा कालियविषेण दूषितं तस्या यमुनाया जलं पपुः ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं द्विगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

गोरजोभिः गोपादपांसुभिश्छुरिता व्याप्ताश्च ते कुंतलाः केशाश्च तेषु बद्धानि बर्हाणि वन्यप्रसूनानि पुष्पाणि च यस्य रुचिरं सुंदरमीक्षणं चारुहासश्च यस्य स चासौ स च तं वेणुं क्वणंतं वादयंतं तं श्रीकृष्णं दिदृक्षितं दृशो दिदृक्षिता दर्शनाभिलाषया सहिता दृशो यासां ताः समेताः समूहिताः गोप्योऽभ्यगमन् संमुखा अगन् ॥४२॥ व्रजयोषितः। अक्षिभृंगैः मुकुन्दस्य मुखकमलोत्सन्नं सारघं मधु पीत्वा अह्नि दिवसे यो विरहो वियोगस्तस्माज्जातं विरहजं तापं जहुः स च स व्रीडेन हासेन विनयो यथा भवति तथा सव्रीडहासविनयं मदपांगमोक्षम् अपांगानां कटाक्षाणां मोक्षं श्रीकृष्णोपरि प्रसारणं एवंभूतांत्तत्सत्कृतिं तासां गोपीनां सत्कृतिमुपायंनसामग्रीं समधिगम्य प्राप्य गोष्ठं विवेश ॥ ४३ ॥ परमाशिषः श्रेष्ठाशीर्वादान् व्यधत्तां कृतवंत्यौ ॥ ४४ ॥ न श्रमः अश्रमः न अश्रमः अनश्रमः श्रम एवेत्यर्थः गतः अध्वा अनश्रमश्च यतोस्तौ विगताध्वश्रमावित्यर्थः तत्र स्वगेहे रुचिरां मनोहरां नीवीं अनुत्तरीयं वस्त्रं वसित्वा परिधाय ॥ ४५ ॥ उपाहृतं दत्तं प्राश्य भुक्त्वा संविश्य प्रविश्य ॥४६॥ कालिंदीं यमुनां ॥ ४७ ॥ निदाघस्य ग्रीष्मर्त्तोः तापेन पीडिताः तस्या यमुनायाः दुष्टं निकृष्टं ॥ ४८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कृष्ण इति ॥ पुण्ये श्रोतॄणां कीर्त्तयतां च पुण्यावहे श्रवणं चरित्राकर्णनं कीर्त्तनं तद्गायनं च यस्य सः, कमलपत्रे इवाक्षिणी यस्य सः, कृष्णः, साग्रजो रामसहितः, अनुगैरनुयायिभिः, गोपैः स्तूयमानः सन् व्रजं आविशत् ॥ ४१ ॥ तमिति ॥ गवां रजोभिः छुरिता व्याप्ताश्च ते कुन्तलाश्च तेषु बद्धानि बर्हाणि मयूरपिच्छानि प्रसूनानि च येन स चिरमीक्षणं चारुहासश्च यस्य स चासौ स च तं, वेणुं क्वणन्तं वादन्तं, अनुगैर्गोपैः, अनुगीता कीर्त्तिर्यस्य तं, तं व्रजमाविशन्तं कृष्णं, दिदृक्षिता दर्शनोत्कण्ठायुक्ता दृशो यासां ताः समेताः संमुदिताः गोप्यः, अभ्यगमन् अभिमुखमाजग्मुः ॥ ४२ ॥ पीत्वेति ॥ व्रजयोषितः, मुकुन्दस्य मुखसारसं मुखपद्मं, अक्षीण्येव भृङ्गास्तैः पीत्वा, तद्गतं मधु पीत्वेत्यर्थः। मुखसारघमिति पाठे, मुकुन्दस्य मुखमेव सारघं मधु इति, अह्नि दिवसे, विरहजं तापं जहुः। दिने वियोगजातो यः परितापस्तं जहुरित्यर्थः सव्रीडं सहासं सविनयं च यथा तथा, अपाङ्गयोर्नेत्रप्रान्तयोः मोक्षः प्रसरणं यस्मिंस्तत्, यदवलोकनं तद्रूपां तासां व्रजयोषितां या सत्कृतिर्बहुमानस्तां, समधिगम्य संप्राप्य, गोष्ठं विवेश ॥ ४३ ॥ तयोरिति पुत्रवत्सले स्वपुत्रयोः स्नेहातिशयवत्यौ, यशोदारोहिण्यौ, तयोः पुत्रयोः, यथाकाममिच्छानुगुणं, यथाकालं कालानुगुणं, परमाशिष आशीर्वचनानि, अभिलाषान्वा, व्यधत्तामकुर्वाताम् ॥ ४४ ॥ तदेव दर्शयन्नाह ॥ गतेति ॥ तत्र गृहे, मज्जनं स्नानं च उन्मर्दनं शारीरमलोद्वर्त्तनं च ते आदी येषां तैः, गतो निवृत्तः अध्वनि भवोऽध्वानः श्रमो ययोस्तौ रुचिरां नीवीं वसित्वा सुन्दरवस्त्रपरिधानं कृत्वा, दिव्याभ्यां स्रगन्धाभ्यां मण्डितौ अलंकृतौ ॥ ४५ ॥ जननीति ॥ जनन्युपहृतं मात्रा पात्रे दत्तं, स्वादु मृष्टं, अन्नं, उपलालितौ सन्तौ, प्राश्य भुक्त्वा, सुखं यथा तथा, मृदुशय्यायां संविश्य शय्यामधिरुह्य, सुखं यथा तथा, व्रजे सुषुपतुः सुप्तवन्तौ ॥४६॥ एवमिति। एवमित्थं वर्त्तमानः, वृन्दावनचरः, भगवान् सः कृष्णः, क्वचित् कदाचित्, हे राजन्, रामं ऋते बलभद्रं विना, सखिभिरितरैर्गोपैर्वृतः सन्, कालिन्दीं यमुनां, ययौ ॥ ४७ ॥ अथेति ॥ अथ कालिन्दीप्राप्त्यनन्तरं, गावश्च, गोपाश्च, निदाघे ग्रीष्मर्त्तौ य आतपस्तेन पीडिताः, अत एव, तृषार्त्ताः सन्तः, विषदूषितं विषसंपर्कसंजातदोषं, अत एव दुष्टं, तस्याः कालिन्द्याः, जलं पपुः पीतवन्तः ॥ ४८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्ण इतिः १०. १५. ४१.

अहमस्मि खलान्तकः सदैव ध्रुवमग्रेऽपि खलान्तको भवेयम्। अभिधा तु सदर्थिकाऽद्य जातेत्यलमानन्दयुगायतौ व्रजं सः ॥ ५१ ॥

तमितिः १०. १५. ४२.

दुरुखखलनाशनं सुजनकामसम्पूरणं व्रतद्वयमहर्निशं लसति चारु दीनप्रभो।
विभाव्य मनसेति ता युवतयस्तमभ्यर्चयन् स्वकामपरिपूर्तये सपदि दर्शिताद्यव्रतम् ॥ ६० ॥

जनन्युपहृतमिति ः १०. १५. ४६.

मातृव्यपदेशजुषोऽप्यासीत् स्तनविषमिहामृतं किमुत। मात्रार्पितमद्धाऽमृतमिति तद्बुभुजेऽप्रकार्यहृक् स मुदा ॥ ६१ ॥

विलक्षणचमत्कृतिं भववने विधाय क्षणादनन्तविषयोदयं रसमथानुभूयाऽतुलम्।
सुगोकुलकृतादरो भवति यो नु तस्य प्रिया सुभुक्तिरथ सुप्तिरप्यभवदीशकृत्या स्फुटम् ॥ ६२ ॥

राममृते इति : १०. १५. ४७.

अस्मिन्नह्न्येष नीतो यदि सह विपिनं गोपवद्वारिपश्चेद्‌योगो भ्रश्यत्प्रयोगो मम भुवि भविता यस्तदुज्जो वनार्थः।
जीर्णं तद्वा न पीतं यदि तदपि तदन्वेषणं बद्धकक्षो भूयात्कुर्याच्च सद्योऽमृतमयमुदकं यामुनं शिक्षिताहिः ॥ ६३ ॥

गोगोपजीवनमथा-ऽहिनिरासपूर्वं यद्यामुनाम्बुविमलीकरणं च कार्यम्।
सङ्कलितं भुवि मया तदिदं न सिद्धयेदित्यच्युतो वनमगात्स विनैव रामम् ॥ ६४ ॥ (युग्मम्)

अहंकृत्या प्रकृत्याऽयं भुजङ्गेशो मदग्रजः। भुजङ्गाघमशिक्षायामहमेकोऽलमित्यगात् ॥ ६५ ॥

स्वप्रेयसीहार्दरसान्तरङ्गकेलिं न कुर्याद् गुरुसन्निधाने। भुजङ्गभोगं विमलञ्चिकीर्षुर्ययौ विना राममितीव कृष्णः ॥ ६६ ॥

रामः शेषावतारो यदि स निजजन-त्राणजाताभिलाषस्तन्न स्यादस्य दण्डः कथमपि दुरहेर्दूषिताशेषवारः।
इत्यालोच्यैव मन्ये प्रमुरखलसुहृद् गोकुलानन्ददायी हित्वा रामं जगामाधिककचविपिनं कालियोन्मर्दनेऽह्नि ॥ ६७ ॥

खशत्रुर्यदि स्वीयमित्रानुयोगी तदा तत्समक्षं न शिक्षा विधेया।
प्रभो लोकनीतिं विभाव्यैव यातो भवानेक एवाऽह्नि तत्रेति युक्तम् ॥ ६८ ॥

अद्यशेषा वयमिह यास्यामो गोव्रजानि पालयितुम्। इत्यच्युतस्य वचनं शृण्वन् प्रायोऽवसद् गृहे रामः ॥ ६९ ॥

जलं पपुरिति : १०.१५.४८.

आगोयमाबुधमिहाज्ञसुविज्ञसीमे ख्याते तयोर्विशदभावमनायि पूर्वा।
गोपैः प्रपीतविषदुष्टजलैः परा तु श्रीशेन यत्तदुदयो निखिलेषु तुल्यः ॥ ७० ॥

कृष्णप्रिया

इसके बाद कमलदललोचन भगवान् श्रीकृष्ण बड़े भाई बलरामजी के साथ व्रज में आये। उस समय उनके साथी ग्वालबाल उनके पीछे पीछे चलते हुए उनकी स्तुति करते जाते थे। क्यों न हो; भगवान् की लीलाओं का श्रवण-कीर्तन सबसे बढ़कर पवित्र जो है ॥ ४१ ॥ उस समय श्रीकृष्ण की घुंघराली अलकों पर गौओं के खुरों से उड़-उड़कर धूलि पड़ी हुई थी, सिरपर मोरपंख का मुकुट था और बालों में सुन्दर सुन्दर जंगली पुष्प गुंथे हुए थे। उनके नेत्रों में मधुर चितवन और मुखपर मनोहर मुसकान थी। वे मधुर-मधुर मुरली बजा रहे थे और साथी ग्वालबाल उनकी ललित कीर्ति का गान कर रहे थे। वंशी की ध्वनि सुनकर बहुत सी गोपियाँ एक साथ ही व्रज से बाहर निकल आयीं। उनकी आँखें न जाने कब से श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए तरस रही थीं ॥ ४२ ॥ गोपियों ने अपने नेत्ररूप भ्रमरों से भगवान् के मुखारविन्द का मकरन्द-रस पान करके दिनभर के विरह की जलन शान्त की। और भगवान् ने भी उनकी लाजभरी हँसी तथा विनय से युक्त प्रेमभरी तिरछी चितवन का सत्कार स्वीकार करके व्रज में प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ उधर यशोदामैया और रोहिणी जी का हृदय वात्सल्यस्नेह से उमड़ रहा था। उन्होंने श्याम और राम के घर पहुंचते ही उनकी इच्छा के अनुसार तथा समय के अनुरूप पहले से ही सोचसँजोकर रक्खी हुई वस्तुएं उन्हें खिलायीं पिलायीं और पहनायीं ॥ ४४ ॥ माताओं ने तेल-उबटन आदि लगाकर स्नान कराया। इससे उनकी दिनभर घूमने फिरने की मार्ग की थकान दूर हो गई। फिर उन्होंने सुन्दर वस्त्र पहनाकर दिव्य पुष्पों की माला पहनायी तथा चन्दन लगाया ॥ ४५ ॥ तदनन्तर दोनों भाइयों ने माताओं का परोसा हुआ स्वादिष्ट अन्न भोजन किया। इसके बाद बड़े लाड़-प्यार से दुलार-दुलार कर यशोदा और रोहिणी ने उन्हें सुन्दर शय्यापर सुलाया। श्याम और राम बड़े आराम से सो गये ॥ ४६ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार वृन्दावन में अनेकों लीलाएं करते। एक दिन अपने सखा ग्वालबालों के साथ वे यमुनातटपर गये। राजन्! उस दिन बलरामजी उनके साथ नहीं थे ॥ ४७ ॥ उस समय जेठ-आषाढ़ के घाम से गौएँ और ग्वालबाल अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। प्यास से उनका कण्ठ सूख रहा था। इसलिये उन्होंने यमुनाजी का विषैला जल पी लिया ॥ ४८ ॥

विपाम्भस्तदुपस्पृश्य [१]दैवोपहतचेतसः । निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥ ४९ ॥
वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥ ५० ॥
ते सम्प्रतीतस्मृतयः [२]समुत्थाय जलान्तिकात् । आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥ ५१ ॥
अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् । पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥ ५२ ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कुरूद्वह दैवोपहतचेतसः तद् विषाम्भः उपस्पृश्य सर्वे सलिलान्ते व्यसवः निपेतुः ॥ ४९ ॥ योगेश्वरेश्वरः कृष्णः स्वनाथान् तथाभूतान् तान् वै वीक्ष्य अमृतवर्षिण्या ईक्षया समजीवयत् ॥ ५० ॥ सम्प्रतीतस्मृतयः ते जलान्तिकात् समुत्थाय सर्वे परस्पर वीक्षमाणाः सुविस्मिताः आसन् ॥ ५१ ॥ राजन् विष पीत्वा परे तस्य आत्मनः पुनरुत्थानं तत् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् अन्वमंसत ॥ ५२ ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

संप्रति सद्य एव इता प्राप्ता स्मृतिर्येस्ते संप्रतीतस्मृतयः । यद्वा सम्यक्प्रतीता प्रतिप्राप्ता स्मृतिर्येस्ते तथेति ॥ ५१-५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमे पूर्वार्धे टीकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् दुष्टम् । विषेण युतमंभो विषांभो मध्यपदलोपी समासः । दैवोपहतचेतसः दिष्टनाशितज्ञानाः । सलिलांते जलनिकटे। कृष्णकृपया कुरुवंशेऽपि दुर्योधनदत्तविषेण भीमो जलांते पतित्वा यथोत्थितस्तथेमेऽप्युत्थास्यंतीति बोधयितुं संबोधयति महामुनिः-कुरूद्वहेति ॥ ४९ ॥ तान् गोगोपान् । तथाभूतान् गतप्राणान् । स्व आत्मैव नाथो येषां तान् । मृतसंजीवनं तु योगिनोऽपि, स तु योगेश्वरेश्वर इति नात्राद्भुतमिति भावः । ईक्षया दृष्ट्या ॥५०॥ आद्यसमासे क्लिष्टकल्पनां मन्वानः समासांतरमाह–यद्वेति । स्मृतिरत्र 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमंजस्तरिष्यथ' इति गर्गाचार्यवचनस्मरणम् । केनापीदमुक्तं वचनं तेन सर्वज्ञेन श्रीकृष्णेनैव पुनर्जीविता वयमिति ॥ ५१ विषं सविषं जलम् । विषं विद्यतेऽत्रेति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । परेतस्य मृतस्यात्मनः यत्पुनरुत्थानं तद्गोविंदानुग्रहेक्षितम् । अन्वमंसत ज्ञातवंतः । हे राजन्निति भवादृशामेतद्युक्तमिति भावः । यथा त्वमात्मनोऽश्वत्थामास्त्रहतस्य पुनरुज्जीवनं कृष्णानुग्रहं मनुषे तथा तेऽपीति भावः ॥ ५२ ॥ अत्र धेनुकवधलीलायां श्रुतिमाह–"समिद्र गर्दभं समृण" इति । अर्थः–हे इंद्र गर्दभं तद्रूपं धेनुकं समृण मारयेत्यर्थः ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एतच्च सर्वं श्रीभगवतो भाविलीलाविशेषाधिष्ठातृशक्तिवैभवमेवेत्याह · देवो भगवान् तस्येदं दैवं लीलाशक्तिवैभवं तेन उपहतं ज्ञानं येषां त इति तदुक्तं ईशचेष्टित इति वक्ष्यते च श्रीकृष्णेनाद्भुतकर्मणेति उपस्पृश्य किञ्चिदाचम्य विषाम्भ इति पुनरुक्तिस्तद्विशेषविवक्षया व्यसव इवात्र च तादृशदैवमेव कारणम् ॥ ४९ ॥ वै एव ईक्षणेत्यविलम्बं बोधयति, यतः स्वनाथान् अनन्यगतीन् अत एवामृतवर्षिण्या प्राकृतानां प्राकृतममृतमिव तेषां तदीयानामेकं जीवनहेतुं कारुण्यं वर्षितुं शीलं यस्याः । यद्वा, अमृतं तादृशं कारुण्याश्रुजलं तद्वर्षिण्या यथोक्तं द्वितीये "यद्वै व्रजे व्रजपशून् विषतोयपीतान् पालानजीवयदनुग्रहदृष्टिवृष्ट्या" इति सम्यक् ग्लानिशोकादिनिरासेन युगपदेवाजीवयत् स्वस्थानकरोत् तादृशी च शक्तिर्न कृत्रिमा किन्तु स्वाभाविक्येत्याह–योगेश्वरेश्वर इति। यदुपासनाविशेषेणैव योगेश्वराणामपि तत्तच्छक्तिरित्यर्थः ॥ ५० ॥ सुविस्मिताः सुषुप्तेरिव सर्वेषामेकदैव सद्यः समुत्थानात् परस्परं वीक्षमाणा इत्यन्तविस्मयस्वभावात् ॥ ५१ ॥ गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्यानुग्रहेक्षितमन्वमंसत अनुमितवन्तः यद्वा विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः पुनरुत्थानम् इति एतेऽप्यघासुरादात्मनां मोक्षणमनुस्मृत्वेति ज्ञेयम् । हे राजन्निति भवादृशामेतद्युक्तमेवेति भावः ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

१. तदैवोपहृत–वीर. । २. मूर्च्छिता वै–वीर. विज. । ३. उत्थाय च–वीर. विज. । ४. बालक्रीडायां पञ्चदशोऽध्यायः–गो. प्र. ग्रं.; अन्यत्र 'पूर्वार्धे' पाठो दृश्यते ।

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथ यानानन्तरमेवेति विचारादिकं निरस्तम्, यद्वा, भिन्नोपक्रमेऽथशब्दः, महार्त्तिवार्त्तोपसक्तेः। चकाराभ्यामुभयेषामपि प्राधान्यं बोध्यते, सर्वेषामेकदैव सहपानात्, अन्यथा प्राक् कृतपानानां केषाञ्चिदनर्थापत्त्या पश्चादन्येषां तत्र प्रवृत्त्यसम्भवात्। ननु, कृष्णं विना ते कुतो जलं पपुः? तत्राह, निदाघेति। अत एव तृषार्त्ता इति। दुष्टत्वे कारणमाह—विषदूषितमिति ॥ ४९ ॥ एतच्च श्रीकृष्णं विना जलपानं तेषां निदाघातपपीडितत्वादिकञ्च सर्वं कालियनिःसारणार्थं श्रीभगवदिच्छयैवेत्यग्रे व्यक्तं भावि। अत एवाह—दैवेन देवस्य भगवतो मनोभावेन, कालियस्य दैवेन वा, उपहतं चेतो ज्ञानं येषां ते इति अत एवोपस्पृश्य किञ्चिदाचम्य किंवा समीपे स्पृष्ट्वैव। एवं तद्विशेषविवक्षयोक्तगोषन्यायेन विषान्त इत्यादेः पुनरुक्तिः, किं वा निपातादौ तदेकहेतुताविवक्षया सर्वे गोगोपाश्च, सलिलस्य तस्यान्ते समीप एव, यद्वा, स्वरूपेऽन्तशब्दः सलिल एवेत्यर्थः। दुर्विषजलपानेन सद्यस्तत्रैव निपतनादन्यत्र गन्तुमशक्तेर्व्यसव एव। एतदन्यच्च वक्ष्यमाणमशेषं श्रीभगवतोऽद्भुतचेष्टितत्वमित्यूह्यम्, अद्भुतकर्म्मणेत्यन्ते वक्ष्यमाणत्वात्। तच्च तत्रैव विस्तार्य्यम्। कुरूद्वह हे कुरुकुलनन्दनेति विषीदन्तं राजानं सान्त्वयति ॥ ५० ॥ तान् सर्वान् तथाभूतान् तादृगवस्थागतान्, स्पष्टानुक्तिरमंगलस्य पुनरतिव्यञ्जनायोग्यत्वात् स्नेहभरोदयाद्वा, वं एव। वीक्ष्यैवेत्थमविलम्बं बोधयति, यतः स्वनाथाननन्यगतीन् एवामृतवर्षिण्या दृष्ट्या परमस्नेहावलोकनेनेत्यर्थः। अन्यथेच्छामात्रेणापि तत्सिद्धेः। सम्यक् ग्लानिशोकादिनिरासेन युगपदेवाजीवयत् स्वस्थानकरोत्; यतः कृष्णो व्रजजनैकबन्धुः परदुःखकातरो वा। एतच्चाद्भुतं न स्यादित्याह—योगेश्वराणामीश्वर इति तदीयशक्त्यंशांशगन्धेनैव योगेश्वराणामपि तत्तच्छक्तेरित्यर्थः, यद्वा, योगेश्वरानपि परिपालयति किमुत तान् व्रजजनानिति भावः ॥ ५१ ॥ सुविस्मिताः सुप्तोत्थिता इव सर्वेषामेकदैव सद्यः समुत्थानात्, परस्परं वीक्षमाणा इत्यत्यन्तविस्मयस्वभावात्, सर्वेषामेकमत्यर्थं वा ॥ ५२ ॥ गोविन्दस्य गोकुलेन्द्रस्यानुग्रहेणेक्षितं स्वीकृतम्, किंवा ईक्षेक्षणं तत्कृतमित्यर्थः। यद्वा, तदेककारणत्वविवक्षयाभेदोपचारः—ईक्षितमीक्षणमेवोत्थानममन्यत। हे राजन्निति भवादृशानां भागवतोत्तमानां श्रीभगवदनुग्रहं विनात्ममंगले कारणान्तरमननाद् यथा भवत्प्राणने श्रीयुधिष्ठिरादीनामिति भावः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तद्विषोदकमुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः मूर्च्छिता व्यसवः प्राणव्यापाररहिताः हे कुरूद्वह! निपेतुः तथाभूतान् मूर्च्छितान् पतितांश्च तान् दृष्ट्वाऽमृतसञ्जीवनादियोगनिर्वाहकः कृष्णः स्व आत्मैव नाथो रक्षको येषां तानमृतवर्षिण्या ईक्षया दृष्ट्या समजीवयत्सचेतनान् करोति स्म ॥ ४९-५० ॥ ताश्च ते च ते "पुमान्स्त्रिया" [१।२।६७] इत्येकशेषः गावो गोपाश्च संप्रतीताः सम्यक्प्राप्ताः स्मृतयो यैस्तथाभूता जलान्तिकादुत्थाय परस्परं वीक्षमाणाः सुविस्मिताश्चाऽऽसन् ॥५१॥ विषं पीत्वा सम्परेतस्य मृतस्यात्मनो यत्पुनरुत्थानं तद्गोविन्दस्यानुग्रहेक्षणकृतममन्यत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उपस्पृश्य आचम्य पीत्वा च ॥ ४९-५० ॥ तथाभूतान् मृतप्रायान् ईक्षया दृष्ट्या सम्प्रति स्मृतयः सम्यक् प्राप्तप्रत्यभिज्ञानाः ॥ ५१ ॥ विषं विषमिश्रजलं पीत्वा परेतस्य मृतस्यात्मनः पुनरुत्थानं गोविन्दस्यानुग्रहयुक्तनिरीक्षणकृतमन्वमंसत न्यरूपयन् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोदशः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

सर्वानुपपत्तिसमाधानार्थमाह—दैवेति। देवो भगवान् तस्येदं भाविलीलाशक्तिः वैभवं दैवं व्यसन इव अत्र च तादृशदैवमेव कारणं ज्ञेयम् ॥ ४९-५१ ॥ पुनरुत्थानं गोविन्दानुग्रहेक्षितं तद्धेतुकमन्वमंसत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

दैवो भगवांस्तस्येदं दैवं लीलाशक्तिवैभवं तेनोपहतबुद्धयः असव इति लीलासौष्ठवार्थं योगमाययैव नित्यानामपि तेषामसूनाच्छाद्य तथा दर्शनात् ॥ ४९-५० ॥ ते जलान्तिकात्समुत्थाय सुविस्मिता इति मृता एव वयं केन जीविताः केनाप्यौषधेन

विषहरमन्त्रेण वा परस्परमिति सखे! किन्त्वमेतद्रहस्यं जानासीति प्रत्येकं प्रश्नात् एवं महासन्देहे प्रवर्त्तमाने भो वयस्या अ मयैवैतत्कारणम् "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इति गर्गाचार्य्यवचनस्मरणात् सम्यगवगतमिति केनाप्युक्ते सति सर्वे एव सम्यक् प्रकारेण प्रतीता प्रतीतविषयीकृता स्मृतिस्तदीया यैस्तथाभूता आसन्नित्यन्वयः ॥ ५१ ॥ अनु अनन्तरमेकमत्येन व्रजेश्वर श्रीनारायणेनाविश्य गोविन्दस्य अनुग्रहेक्षितमेव कारणममंसत यस्मात् पीत्वा विषमित्यादि ॥ ५२ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमेऽस्मिन् पञ्चदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ताः गावश्च ते गोपाश्च तथा ते "पुमान् स्त्रिया" (१।२।६२) इत्येकशेषः सम्यक् प्राताः स्मृतयो यैस्ते तथा ॥ ५१-५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे पञ्चदशाध्यायार्थप्रकाशः ॥ १५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ गाव इति तृष्णार्त्तत्वाद्व्रतगमनाः पश्चात् शनैरायान्तं कृष्णमनपेक्ष्य तस्या जलं पपुः ॥ ४९ ॥ देवस्य कृष्णस्य इदं दैवं तल्लीलाशक्तिवैभवम् । वासव इति तद्वैभवेनैव तल्लीलासिद्धये तदसूनां मूर्च्छिततद्विधानात् बलभद्रधीमोहवत् ॥ ५०॥ समजीवयत् सुस्थप्राणान् व्यधात् ॥ ५१ ॥ ते सर्वे सुस्थाः केनास्माकं स्वास्थ्यं कृतमिति परस्परं वीक्षमाणाः सम्प्रतीताः सम्यक् प्रतीतिविषयीकृताघाहिवर्यस्मृतिर्यैस्ताहशाः सन्तः सुविस्मिता आसन् ॥ ५२ ॥ अनु अनन्तरं गोविन्दानुग्रहेक्षितं तदमंसत किं तदित्याः पीत्वेति परेतस्य मूर्च्छितप्राणस्य ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतश्रीवैष्णवानन्दिन्यां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

दैवोपहतचेतसस्तद्विषाम्भ उपस्पृश्याचम्य पीत्वा च निपेतुर्व्यसवस्तत्प्राया मूर्च्छा सञ्जातैषामिति ते तथा विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गना इत्याद्युदाहृत्याकरे विस्तरत उपपादितोपपत्तिर्ज्ञेया ॥ ४९ ॥ अमृतवर्षिण्या वीक्षया कटाक्षेण ॥ ५० ॥ सम्प्रति तत्काले इताः स्वान्प्राताः स्मृतिर्येषां ते तथा ॥ ५१ ॥ विषं पीत्वा परेतस्य तत्प्रायस्य गोपजनस्यात्मनः पुनरुत्थानं यत्तद्गोविन्दानुग्रहेक्षितमनुग्रहार्द्रीचितमन्वमंसत व्यजानन् ॥ ५२ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीसुबोधिनी

पानफलमाह विषाम्भ इति, उपस्पर्शनं पानस्नानादिकं स्पर्शमात्रं वा, तावतैव सर्वे व्यसवः सलिलान्त एव निपेतुः ननु तेषां जीवनादृष्टस्य विद्यमानत्वात् कथं व्यसवो जाताः? तत्राह दैवोपहतचेतस इति, तेषां हि तावदेव जीवनादृष्टमतो दैवेनैवोपहतचेतसः, सलिलसमीपेर्धजल एव निपेतुः, यद्यपि दोषो दूरीकृतो धेनुकवधेन तथापि पूर्वसन्ततिरपि दूरीकर्तव्या. दुष्टेनैव हि दोषाणां नाशो भवत्यलौकिकसुकृतेन च दिव्यभावोत्पत्तिः, विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥ ४९ ॥ ततो भगवत्कृत्यमाह वीक्ष्येति, स्वभावतोपि जानाति तथापि क्रीडायां साधनं वक्तव्यमिति योगेश्वरेश्वर इत्युक्त, योगस्यापि नियन्ता, योगेन हि सर्वेषां ज्ञानं भवति, तत्राप्ययं नियामकः, किं पुनः स्वज्ञाने वक्तव्य इत्यर्थः, योगेश्वराणामपीश्वर इत्युपदेष्टृणामप्ययं नियामक उक्तः, तत्र हेतुः कृष्ण इति, सदानन्दः, तान् निरोधार्थमानीतान् वै निश्चयेन तथाभूतान् न तु मूर्च्छितान् स्वयमागत्य वीक्ष्य वीक्षणेन नूतनदेहान् निर्माय्यामृतवर्षिणवेक्षया समजीवयत्, सर्वे हि प्राणा मृता आधिदैविकाः, तान् दृष्ट्यैवानीय तेषु देहेषु वर्षति स्म, नन्वेतावत्करणे को हेतुः? तत्राह स्वनाथानिति, सम्यगजीवयदिति, पुनर्विषसम्बन्धेपि न तेषां काचित् क्षतिः ॥ ५० ॥ तेषां पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं तद्रूपतां च प्रतिपादयति त इति, त एवैते जीवाः, सम्यक् प्रतीता स्मृतिर्येषां, अनुसन्धानं प्रातमेव भवति परं सर्ववृत्तान्तपुरःसरं न भवतीत्याधिदैविकभावमापन्नाः सर्वे स्मृतियुक्ता जाताः, अतः समुत्थाय जलसमीपं परित्यज्य प्रदेशान्तरं गताः सुविस्मिता जाताः, एतावान् भावो भगवता विशेषः कारितोतो विस्मयो भगवद्भावस्य निवृत्तत्वात् ततः सर्वे परस्परं वीक्षमाणा प्रत्येकमुद्बोधका इव जाताः ॥५१॥ अत एवोद्बुद्धज्ञानाः पूर्वसिद्धं सर्वमेव ज्ञातवन्त इत्याहान्वमंसतेति, स्वयमेवानुमानं कृतवन्तः, प्रायेणैव भविष्यतीत्यूहप्रेक्षितवन्तः, भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वात्, राजन्निति स्नेहसम्बोधनं, तदग्रे वक्ष्यमाणं, गोविन्दस्यानुग्रहेणेक्षणं यत्रेति तज् ज्ञातवन्तः, तदाह विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः स्वस्य पुनरुत्थानमिति, भगवत्कृपावीक्षणेनैव जातमिति ज्ञातवन्तः, एवं ज्ञानपूर्णो देहस्तैः प्राप्त इति प्रथमो निरोधो निरूपितः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

वीक्ष्य तानित्यत्र योगेश्वरश्चासावीश्वरश्चेतिकर्मधारयो योगेश्वराणामीश्वर इतिषष्ठीतत्पुरुषो वा, तत्र प्रथमपक्ष ईश्वरत्वेन सर्वहितकर्तृत्वं च द्वितीयपक्षे योगेश्वराणां ब्रह्मसुखानुभवयोग्यतावत्त्वात् सुखस्य चैतदधीनत्वादीश्वरत्वमित्यभिप्रायेणा-हस्तत्रेत्यादि ॥ ५० ॥ त इत्यत्र प्राप्तमेव भवतीति देहान्तरप्राप्तावपि स्तनपान इष्टसाधनत्वज्ञानवदित्यर्थः, विस्मये हेतुभंग-वदिति ॥ ५१ ॥ अयं चैश्वर्याध्याय इत्यस्मिन्नध्याय ऐश्वर्यलीला तच्चैश्वर्यं प्रथमश्लोक एव कौमारपौगण्डादिकालाभिमानिनां भगवत्सेवार्थमागतत्वेन व्याख्यानाद् द्योतितमग्रे च भगवता बलदेवे स्वधर्मबोधनात् समाप्तौ च गोगोपानां स्वदृष्ट्या जीवनाच्च मूल एव स्फुटीकृतं बोध्यम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धश्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

विषाम्भ इत्यत्र पूर्वसन्ततिरिति देहाध्यासस्य निवृत्तत्वाद् देहान्तरं तु नोत्पत्स्यते परन्तु पूर्वं जाता या स्थूलदेहरूपा लिङ्गशरीरस्य सन्ततिः सा गतेत्यर्थः, अलौकिकमुक्तेनेति ततः प्रतिफलितेन भगवत्कृतेनेत्यर्थः, तादृशानामेव साधकत्व 'मेघ-गम्भीरया वाचे'त्यत्र व्युत्पादितम् ॥ ४९ ॥ वीक्ष्येत्यत्र सर्वे हि प्राणा इति जीव प्राणधारण इति धातोरिति भावः, आधिदैविका इति आसन्यरूपा भगवदर्थं होद्गानकर्तार इत्यर्थः, इदं 'विधाद्यर्थभेदा'दित्यधिकरणे सम्यग् व्युत्पादितं, तेषु देहेष्विति नूतनलिङ्ग-केष्वित्यर्थः ॥ ५० ॥ त इत्यत्र अत इति सर्वस्मृतियुक्तत्वादित्यर्थः, एतस्य सुविस्मिता इत्यनेनान्वयः, मध्ये स्वरूपकथनं, अत्र पञ्चम्युक्त्या जलान्तिकात् समुत्थाय अन्यत्र गत्वेत्येवमर्थ उक्तः, एतावानिति तनुनवत्वरूपो भाव इत्यर्थः, अत इति कार्यस्य दर्शनात् कारणस्य चाज्ञानात् कुत इदं जातमिति विस्मय इत्यर्थः कारणाज्ञाने हेतुमाहुः भगवद्भावस्येति, अलौकिकदेहाः सत्य-ज्ञानानन्दरूपा इति फलाध्याये निरूपितं, भगवता भक्तिमार्गीयलीलासिद्धयर्थं तेषां तत्त्वं निवर्तितं हस्तपिहितमिव कृतमतोऽज्ञान-मित्यर्थः, अग्रिमश्लोके उत्प्रेक्षां वक्ष्यति तत् न याथार्थ्यज्ञानमिति भावः ॥ ५१ ॥ अन्वमंसतेत्यत्र 'अन्वमंसते'त्यस्योत्प्रेक्षापरत्वेन व्याख्याने हेतुमाहुः भगवद्भावस्येति, भगवत्त्वस्य निवृत्तत्वेन 'नूतनदेहान् निर्माये'त्यादिनोक्तस्य भगवद्भावस्याप्रत्यक्षत्वादनु-ग्रहेक्षणहेतुकत्वानुमितिर्न सम्भवतीत्युत्प्रेक्षाया एवानुमितित्वमुक्तं 'परोक्षज्ञानस्यैवानुमानत्वमिति ब्रह्मवाद' इत्युक्तत्वात् ॥ ५२ ॥

इति द्वादशाध्यायः ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यैर्जलं न पीतं ते तद्विषयुक्तमम्भ उपस्पृश्य स्नानाचमनादिकं कृत्वाऽपि सर्वे व्यसवः प्राणरहिताः सलिलस्यान्ते तीरे निपेतुः । पानकर्तॄणां पतनं त्वर्थसिद्धमेव ज्ञेयम् । 'तन्निकटनिवासिनां दुष्टत्वज्ञानस्यावश्यकत्वान्मरणभयस्य तत्पानप्रतिबन्धकत्वाच्च कुतस्तत्पानम् ?' इत्यत आह—दैवेति । दैवेन प्रारब्धविशेषेण उपहतं मोहितं चेतो येषां ते ॥४९॥ कृष्णस्तान् गोगोपान् तथाभूतान् निर्गतप्राणत्वेन पतितान् अमृतवर्षिण्या ईक्षया वीक्ष्य समजीवयदित्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—स्वनाथानिति । स्व एव नाथो रक्षकः स्वामी येषां तान् । रक्षायां सामर्थ्यमाह—योगेश्वरेश्वर इति । यद्दत्तसामर्थ्येन योगेश्वरा अपि जीवयितुं समर्थास्तस्य तत्र सामर्थ्ये किमाश्चर्यमित्याशयः ॥ ५० ॥ सम्प्रति सद्य एव इता प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते सम्प्रतीतस्मृतयः, यद्वा सम्यक् प्रतीता प्रतिप्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते सर्वे गवादयो जलान्तिकात् जलसमीपात् समुत्थाय परस्परं वीक्षमाणाः सुविस्मिता आसन्नित्यन्वयः ॥ ५१ ॥ विष पीत्वा परेतस्य मृतस्यात्मनः स्वदेहस्य पुनरुत्थानं तत् हे राजन् ! गोविन्दस्य अनुग्रहेक्षितमनुग्रहेक्षणकृतमन्वमंसतेत्यन्वयः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना ॥ श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ॥ श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने ॥ गतः पञ्चदशो वृक्षस्तुत्यादिविनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विषाम्भ इति ॥ हे कुरूद्वह ! जलेन पीतेऽपि दैवेन प्रारब्धविशेषेण उपहतं मोहितं चेतो येषां ते तद्विषयुक्तमम्भ उपस्पृश्य स्नानाचमनादिकं कृत्वापि सर्वे व्यसवः प्राणरहिताः सलिलस्यान्ते तीरे निपेतुः ॥ ४९ ॥ वीक्ष्येति ॥ योगेश्वराणामपीश्वरः कृष्णः स्वनाथान् स्व एव नाथो येषां तान् गोपान् तथाभूतान् निर्गतप्राणत्वेन पतितान् वीक्ष्य अमृतवर्षिण्या ईक्षया समजीवयत् ॥ ५० ॥ त इति ॥ सम्प्रति सद्य एव इता प्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते संप्रतीतस्मृतयः । यद्वा । सम्यक् प्रतीता प्रतिप्राप्ता स्मृतिर्यैस्ते सर्वे गवादयो जलान्तिकात् जलसमीपात् समुत्थाय परस्परं वीक्षमाणाः सुविस्मिताः आसन् ॥ ५१ ॥ अन्वमंसतेति ॥ हे राजन् ! ते गोगोपाः विषं पीत्वा परेतस्य मृतस्यात्मनः स्वदेहस्य पुनरुत्थानं तत् गोविन्दस्य अनुग्रहेक्षितमनुग्रहेक्षणकृतमन्वमंसत ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तद्विषांभः विषमिश्रं जलमुपस्पृश्य पीत्वा सलिलांते जलसमीपे ॥४९॥ योगानां समग्रसुखोपायानां ईश्वरास्तेषां नियामकः यद्वा योगेश्वराणां समग्रसिद्धिनियामकानामीश्वरो नियंता ॥ ५० ॥ संप्रतीतस्मृतयः सद्य एव संप्राप्तदेहदैहिकज्ञानाः ॥ ५१ ॥ विषं विषमिश्रं जलं पीत्वा परेतस्य मृतस्य आत्मनः गोपानामचेतनदेहसमूहस्य यत्पुनरुत्थानं तत् गोविंदानुग्रहेण ईक्षितं यथा तथा गोपाः अन्वमंसत ॥ ५२ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने धेनुकवधो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विषाम्भ इति ॥ हे कुरूद्वह परीक्षित्, तत् विषाम्भो विषोदकं, उपस्पृश्य पीत्वा, तदैव दैवेनोपहतानि चेतांसि येषां ते, मूर्च्छिता इत्यर्थः। व्यसवः प्राणव्यापाररहिताः, सर्वेऽपि, सलिलांते जलसमीपप्रदेशे, निपेतुः ॥ ४९ ॥ वीक्ष्येति ॥ योगेश्वरेश्वरः मृतसंजीवनादियोगनिर्वाहकः, कृष्णः, तान् तथाभूतान्, मूर्च्छितान् पतितांश्चेत्यर्थः। वीक्ष्य वै दृष्ट्वैव, स्व आत्मैव नाथो रक्षको येषां तान्, अमृतवर्षिण्या ईक्षया दृष्ट्या, समजीवयत् सचेतनान् करोति स्म ॥ ५० ॥ त इति ॥ ताश्च ते च ते, पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः गावो गोपाश्चेत्यर्थः। संप्रतीताः सम्यक् प्राप्ताः स्मृतयो यैस्तथाभूताः सन्तः, जलान्तिकात् सलिलस्य समीपप्रदेशात्, समुत्थाय, परस्परं वीक्षमाणाः सन्तः, सर्वेऽपि सुविस्मिताः, आसन् ॥ ५१ ॥ अन्वमंसतेति ॥ हे राजन्, विषं पीत्वा, परेतस्य, मृतस्य, आत्मनः स्वस्य, पुनः यत्, उत्थानं जीवनं, तत् गोविन्दानुग्रहेक्षितं श्रीकृष्णानुग्रहेक्षणकृतं, अन्वमंसत अमन्यन्त ॥ ॥ ५२ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थविवोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

समजीवयदितिः १०.१५.५०.

जानन्तोऽपि भवापगां विषजलां जाग्रत्कृतान्तोरगां पश्यतोऽपि तदङ्गसङ्गविगतप्राणानपि प्राणिनः।
तत्संसक्तधियो भवन्ति च पुनर्मोहात्तथा तद्भुजस्तादृक्षा अपि ये मदङ्घ्रिशरणास्तान् जीवयाम्यन्वहम् ॥ ७१ ॥
एतद्द्वयं जगति सूचयताऽच्युतेन गो-गोपजातकृत-तद्विषवारि-पानम्।
नैव न्यषेध्यथ च तत्क्षण एव तेषा-मुज्जीवनं सदयया विहितं स्वदृष्ट्या ॥ ७२ ॥ (युग्मम्)
स एव मनुजो निजान् भृशमनिष्टदात्कर्मणो निवारयति यस्तदुत्थितफलोपाशान्त्यक्षमः।
अचिन्त्यचरितस्त्वयं प्रभुरकुण्ठशक्तिस्तदा यदा स परमोचितं तदपि वीक्ष्य तूष्णीं स्थितः ॥ ७३ ॥
यस्त्वद्भक्तो मृत्युरस्मादपैतीत्येतत्सत्यं मातृवाक्यं विधास्यन् ।
गोगोपालोज्जीवनं तत्प्रमाणं स्पष्टं चक्रे भक्तकल्याणकर्ता ॥ ७४ ॥
बहुतृषोऽपि गवावनतत्परा अपि मदङ्घ्रिरता यदि तानहम्। अविरतं वनतो वत जीवयाम्यकृततत्कृतितः स्फुटमच्युतः ॥ ७५ ॥
गोविन्ददृष्ट्यमृतवृष्टिपरिप्लुतानामग्रेऽहमस्मि भुवनेषु विरूपमेव।
कुर्वन् स्वनामविशदं विषमेवमासीद् गोपेष्वसह्यमपि तत्क्षणनष्टवीर्यम् ॥ ७६ ॥
गोविन्दपूर्णकरुणा यदि तन्न कस्मादप्यत्र दुर्विषयतोऽपि विषादभयं स्यात्।
स्पष्टं तु मानमिदमेव यदत्र गोपास्तेजस्विनः समभवन् भुवि पूर्वतोऽपि ॥ ७७ ॥
अनुपेक्ष्य निमेषार्धमपि यत्प्रभुणा कृतम्। गोपसञ्जीवनं तेन वात्सल्यं विशदीकृतम् ॥ ७८ ॥
श्रीशकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

कृष्णप्रिया

परीक्षित्! होनहार के वश उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा था। उस जल के पीते ही सब गौएँ और ग्वालबाल प्राणहीन होकर यमुनाजी के तट पर गिर पड़े ॥ ४९ ॥ उन्हें ऐसी अवस्था में देखकर योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अमृत बरसाने वाली दृष्टि से उन्हें जीवित कर दिया उनके स्वामी और सर्वस्व तो एकमात्र श्रीकृष्ण ही थे ॥ ५० ॥ परीक्षित्! चेतना आने पर वे सब यमुनाजी के तट पर उठ खड़े हुए और आश्चर्यचकित होकर एक दूसरे की ओर देखने लगे ॥ ५१ ॥ राजन्! अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि हम लोग विषैला जल पी लेने के कारण मर चुके थे, परन्तु हमारे श्रीकृष्ण ने अपनी अनुग्रहभरी दृष्टि से देखकर हमें फिर से जिला दिया है ॥ ५२ ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १५ ॥

—※—

अथ षोडशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	वसं.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
६७	४०	१८	६	८	२७३८	४६	३८	२८२२	८८	६

श्रीशुक[1] उवाच

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः । तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

राजोवाच

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम् । स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥

ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः । गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

श्रीशुक उवाच

कालिन्द्यां कालियस्यासीद्ध्रदः कश्चिद् विषाग्निना । [3]श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विभुः कृष्णः कृष्णाहिना दूषितां कृष्णां विलोक्य तस्याः विशुद्धिम् अन्विच्छन् तं सर्पम् उदवासयत् ॥ १ ॥ विप्र भगवान् कथम् अगाधे अन्तर्जले अहिम् न्यगृह्णाद् सः वै यथा बहुयुगावासं आसीत् कथ्यताम् ॥ २ ॥ ब्रह्मन् स्वच्छन्दवर्तिनः भूम्नः भगवतः तस्य गोपालोदारचरितं अमृतं जुषन् कः तृप्येताम् ॥ ३ ॥ विषाग्निना श्रप्यमाणपयाः यस्मिन् उपरिगाः खगाः पतन्ति (एवंभूतः) कालिन्द्यां कालियस्य कश्चित् ह्रदः आसीत् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षोडशे कालियस्योक्तो निग्रहो यमुनाह्रदे । तत्पत्नीभिः स्तुतेनाथ कृष्णेनानुग्रहः कृतः ॥ १ ॥

हत्वा रासभदैतेयाञ्जग्ध्वा तालफलान्यलम् । प्रीतोऽनृत्यत्फणारंगे कालियस्य कलानिधिः ॥ २ ॥

उदवासयन्निःसारितवान् ॥ १ ॥ बहूनि युगान्यावासो यस्य तमहिम् । स वै अहिरजलचरोऽपि तस्मिन्नंतर्जले यथा येन प्रकारेणासीत् अथ वा बहूनि युगान्यावासो यथा भवति तथा येन प्रकारेण स व तत्रासीदिति कथ्यताम् ॥ २ ॥ गोपाल्येन यदुदारं चरितमाचरितं तदेवामृतम् अतः कथ्यतामिति ॥३॥ श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य सः । उपरि गच्छंतः खगा यस्मिन्पतंति ॥४॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अथ श्रुतिप्रोक्तं कालियदमनमाह—"योऽहन्नहिमन्वपस्ततर्दैत्यपाद्हस्तो अपृतन्यदिद्रम्" इति । अर्थस्तु—योऽहिः सर्पोऽपो यमुनाजलानि ततर्द विषसंपर्केण नाशितवान्, तमिद्रोऽहन् हिंसितवान् पीडनमात्रमत्र हंत्यर्थः । स चाहिरपात् पादहीनः अहस्तः श्वसन् इंद्रम् अपृतन्यत् अयोधयत । इयमेवाहिरूपत्वाद्वृत्रस्य तद्वधमप्याह । अत्रेंद्रः कृष्णस्तत्र वासव इति ॥ निग्रहो दण्डः । तत्पत्नीभिः कालियभार्याभिः (१) जग्ध्वा । भुक्त्वा । अलं प्रीतोऽतिप्रीतः । फणारंगे स्फटारूपक्रीडाभूमौ । कलानां नृत्यादीनां वक्ष्यमाणानां निधिराधारः (२) । श्रीशुक इह श्रीपदेन शुको यथाज्ञातमेव वदति तथा सोऽपि व्रजजनदुःखानुसंधानेन विस्तार्य नोवाच राज्ञः श्रीकृष्णाप्रियत्वात् । कृष्णाहिना श्यामसर्पेण । कृष्णाम् यमुनाम् "कृष्णा स्याद्रौपदी नीली कालिन्दी मरिचेषु च । कणाद्राक्षासु भद्रासु, इति धरणिः । तस्याः कृष्णायाः । विशुद्धिम् निर्विषतोयताम् ॥१॥ सः कालियः । अगाधेः तलस्पर्शे । सर्पविशेषणत्वे त्वजलचरस्य जले चिरं स्थित्यसंभवात्प्रकारान्तरमाह—अथवेति । यथा येन प्रकारेण बहुयुगावास बहुयुगान्यावासो यत्र तद्बहुयुगावासं स्यात्तथेतीहार्थेन गृह्णाति—तेन प्रकारेणेति । तत्र कृष्णायाम् । आसीद्बभूव । इति कोऽर्थः स प्रकारः कथ्यताम् । हे विप्र परमविद्याप्रवीणत्वांत्त्वं सर्वं जानासीति भावः । "जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम् ॥"इति याज्ञवल्क्यात् ॥ २ ॥ हे ब्रह्मन्निति त्वं साक्षाद्ब्रह्मरूपत्वेनान्यप्रबोधनेऽपि समर्थोऽसीति भावः । एवं श्लेषेण

---

१. बादरायणिरुवाच—गो. प्रे. टी. । २. वासो—वीर ; वासी—विज. । ३. श्रप्यमाणं पयो-गो. प्रे. टी. ।

सर्वंभक्तश्रोत्रादीन्द्रियाणां च पालनेनोदारं सुखदातृ चरितमिति । स्वानां स्वस्य वा छंदेन वर्त्तितुं शीलमस्येति तथा तस्य । जुषन् सेवमानः ॥ ३ ॥ 'कालिन्द्या ह्रदः' इति हरिवंशोक्तेर्योजनप्रमाणस्तस्या दक्षिणभागे वर्त्तमानस्तद्गर्त्तजस्तत्प्रवाहासृष्ट एव, अन्यथा तद्विषसंपृक्तजलवती सा मथुरादिदेशस्यजनैरव्यवहार्य्येवाभविष्यदिति ज्ञेयम् । ह्रदः अगाधजलवद्द्वटविशेषः । 'तत्रागाधजलो ह्रदः' इत्यमरः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कृष्णामिति वर्णतो नामतश्च अतः सख्यास्तस्या दुर्विषदूषितत्वेनाऽवश्यप्रतीकार्यमभिप्रेतम् । कृष्णेनाहिनेति, महादुर्विषमयत्वमुक्तं न केवलं तस्या एव तद्धितायाभूत् अपि तु सर्वेषामपि यतः कृष्णः कर्षति दुःखानीति जलपानादिसिद्धया व्रजस्य महातीर्थोद्धारणादिना जगतामपि, दमनादिना कालियस्यापि हिताचरणात् बाल्यलीलारसाविष्टस्यापि तस्य पूर्ववत् स्वावसरेण ऐश्वर्यमप्युदयते इत्याह, विभुरिति ॥ १ ॥ भगवान् सर्वेणापि प्रकारेण कर्तुं समर्थः तथापि कथं केन प्रकारेणेति वै च स च "बहुयुगवासम्" इति विश्रुतत्वात् बहूनि युगानि आवासो यत्र तादृशं यया भवति तथा यथा आसीत्तत्कथ्यतामित्येवान्वयः । विप्र ! हे परमविद्याप्रवीण ! तथा च याज्ञवल्क्यः—

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्" ॥ इति ॥ २ ॥

यद्यपि श्री मुनीन्द्रेण तद्विशेषदुःखशङ्कया सङ्क्षिप्य कथितं तथापि तदज्ञानेन राज्ञा तल्लीलासामान्याभिलाषादेव पृष्टमिति तद्वाक्येनैव दर्शयति – ब्रह्मन्निति । भगवतः ऐश्वर्यादिषट्कयुक्तस्य भूम्नः सर्वथापि सर्वातिशयितस्य तत्रापि स्वच्छन्दवर्तिनः स्वैरलीलाप्रकाशिनः एवमेवम्भूतस्य गोपालजात्यनुरूपम् उदारं सर्वतोऽपि महत्परमानन्ददातृ वा यच्चरितं तज्जुषमाणः कस्तृप्येत् ! अतृप्तौ हेतुः अमृतमिवेति ॥ ३ ॥ श्रीशुक उवाचेति तदेवं निशम्य सवासनत्वे तस्मिन् जातस्नेहः सुखदुःखात्मकं सर्वमेव तादृशाय निवेदनीयमित्यभिप्रायेण श्रीव्रजवासिदुःखमयनिजदुःखात्मकमपि तन्निवेदयन् श्रीशुकवद्यथाश्रुतमेवोवाच न त्वत्यत्रैव विस्तारं पीत्यर्थः । कालिन्द्यां ह्रद इति तस्या दक्षिणभागे वर्त्तमानस्य तस्य तद्गर्भत्वात् तस्याः प्रवाहस्तूत्तरतः पृथगेवोह्यः अन्यथा तद्दुर्विषजलेन यादवकुलवासश्रीमधुपुर्य्यादिव्याप्तेः स तु कालियस्य विषाग्निना श्रप्यमाणपया आसीत् उपरिगाः ऊर्द्ध्वं गच्छन्तः खगा इति तत्रापि दूरगत्वमभिप्रेतम् ॥ ४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कृष्णामिति वर्णतो नामतश्चातः सख्यास्तस्या दुर्विषदूषितत्वेनावश्यप्रतिकार्य्यत्वमभिप्रेतम् । कृष्णेनाहिनेति महादुर्विषमयत्व मुक्तम् । कृष्णो जगद्धितार्थमेव स्वयमवतीर्णो भगवानित्यर्थः । जलविशोधनेन हि तस्यास्तेन जलपानादिसिद्धया व्रजस्य च महातीर्थोद्धरणादिना च जगतामपि, तथा दमनादिना कालियस्यापि हिताचरणात् । एतत् सर्वमग्रे व्यक्तं भावि । यतो विभुरेकयापि क्रिययानेकार्थं कर्त्तुं समर्थ इत्यर्थः । अतएव सर्पवीति सर्पस्तमिति तस्यान्यत्र प्रयाणप्रयासोऽपि निरस्तः ॥ १ ॥ वै च—स च बहुयुगावासमिति दूषितामित्युक्तेः । कालियह्रद इति प्रसिद्धेर्गल्यकालवासेन तदसम्भवात् । भगवान् मादृशां प्रभुरिति महेशं किंवा अगाधजलान्तर्दुष्टाहिनिग्रहे दुःखशंकया शोकादेव, अतो विशेषेण प्रकर्षेण च कथ्यताम्; यद्वा, विशेषतः प्राति सर्वमनोरथान् पूरयतीति विप्रस्तस्य सम्बोधनम्; तत्कथनेन मादृशां कामं परिपूरयेति भावः ॥ २ ॥ ननु, तद्विशेषकथनं परमदुःखप्रदम्, अतएव मया संक्षिप्य कथितम्, तत्राह—ब्रह्मन्निति भगवतः सर्वैश्वर्य्ययुक्तस्यात एव भूम्नः परिपूर्णस्य स्वच्छन्दवर्तिनश्च परमस्वतन्त्रस्य तादृशस्यापि गोपालनरूपमत एवोदारं सर्वोत्कृष्टं सुखप्रदं वा यच्चरितममृतमिति मरणतुल्यमहादुःखनिवर्त्तकम्, तदेव महौषधमिति भावः । यद्वा, गोपालनेनोदारचरितत्वस्य हेतुत्वेन त्रीणि विशेषणानि; —तत्र भगवत इति तेनैव भगवता विशेषप्रकटनात्, अतएव भूम्नोऽपरिच्छिन्नमाहात्म्यस्य, यतः स्वानां छन्देनेच्छया वर्त्तितुं शीलस्य; यद्वा, तत्तद्दृष्ट्या तद्दुःखं सह्यमपि स्यादिति विशिष्टविशेषणैराह,—तत्राद्याभ्यां वक्ष्यमाणवस्थादिकं निरस्तम्; आत्मेच्छया वर्त्तिन इत्यनेन च महाकौतुकिनस्तस्य लीलया कौतुकमेव न तु शोक इति; यद्वा, भक्तेच्छानुवर्त्तिन इति तस्य सदा सर्वत्र सुखमेवेति बोधितम् । अथवा, अमृतमिति परमदुःखमयमपि तच्चरितस्य तस्य प्रेमविशेषस्वभाववत् परमानन्दमयत्वमेवाभिप्रेतम् । तच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमस्ति । गोपालेति सम्बोधनम्; यद्वा, हे वाक्पते ! किंवा श्रीभगवता सह गुरोरभेददृष्ट्या, हे श्रीकृष्णेत्यर्थः । अन्यत् समानम् । अतस्त्वमपि सोढुं शक्नोमि, किं कुर्य्यामितः कथ्यतामेवेति भावः । ब्रह्मन् हे वेदमयेति यथा वेदेषु वर्त्तमानं दुःखव्रतमपि न किल त्यज्यते, तथा सह तेनैव न त्याज्यं स्यादिति भवता ज्ञायत एवेति भावः ॥ ३ ॥ कालिन्द्यां ह्रद इति तस्या दक्षिणभागे वर्त्तमानस्य तस्य तथा सह तेनैक्यप्राप्तेस्तस्याः प्रवाहस्तूत्तरत एवोह्योऽन्यथा तद्दुर्विषजलेन यादवकुलावास-श्रीमधुपुर्य्यादिव्याप्तेः । आसीदित्यतीतनिर्देशः कालियसम्बन्धाद्यपेक्षया, कश्चिदेकोऽनिर्वचनीयो वा । अनिर्वचनीयत्वमेव दर्शयति—विषेत्यादिना । उपरिगा ऊर्द्ध्वं गच्छन्तः खगा इति, तत्रापि दूरगा इत्यभिप्रेतम् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

कृष्णां यमुनाम् ॥ १ ॥ न्यगृह्णात् निगृहीतवान् ॥ २ ॥ भूम्नः अपरिच्छिन्नमहिम्नः गोपालोदारचरितं गोपालकाऽनुगुणमुदारचरितं तदेवामृतम् ॥ ३ ॥ श्रप्यमाणपया कथितजलाः ॥ ४-५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कालीयदमनात्मकं कर्मानुवर्णयितुकामस्तावद्राज्ञः प्रश्नावसरप्रदानाय तत्सङ्गृह्य दर्शयति—विलोक्येति । कृष्णाहिना कालीयेन दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्यालोच्य तस्याः कृष्णायाः विशुद्धिमन्विच्छुः तं सर्पमुदवासयत्ततो निष्कासितवान् ॥१॥ तत्र विस्मितः पृच्छति राजा—कथमिति द्वाभ्याम् । अन्तर्जले तत्राप्यगाधे तत्राप्यहिं सर्पं कथं निगृहीतवान् ? स वै अहिर्बहूनि युगान्यावसतीति तथाभूतो यथा येन प्रकारेणासीत्तदपि हे विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥ आत्मनः शुश्रूषाधिक्यं व्यनक्ति—ब्रह्मन्निति । भूम्नः विपुलमाहात्म्यस्य स्वतन्त्रस्यापि लीलया गोपालस्य सतः यदुदारं चरितं तदेवामृतं जुषन् कः पुमान् तृप्येत न कोऽपि ॥ ३ ॥ विषाग्निना पच्यमानं पयो यस्मिंस्तस्य ह्रदस्योपरिगाः उपरि चरन्तः खगाः पक्षिणः पतन्ति पेततुः विषजलवायुप्रसारमात्रेऽपि मूर्च्छिताः पतन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरौ भक्तिमतां संसारविषं निर्वीर्यं भवतीति निदर्शयितुं अनन्तरातीताध्यायं सङ्क्षिप्योक्तं कालीयनागमर्दनमहिमानं प्रपञ्चयत्यस्मिन्नध्याये, तत्र राज्ञः प्रश्नमुत्थापयितुमाह—विलोक्येति । कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना कृष्णसर्पेण उदवासयत् ततऽन्यत्रावासमकारयत् ॥ १ ॥ अगाधे अतलस्पर्शे न्यगृह्णात् निगृहीतवान् प्रसह्य गृहीतवानित्यर्थः । यथा येन प्रकारेणासीत् स प्रकारः ।२-३। श्रप्यमाणं क्वाथ्यमानं पयो जलं यस्मिन् ह्रदे स तथा यस्मिन् ह्रदे ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

बहुयुगावासमिति विश्रुतत्वात् बहूनि युगानि आवासो यत्र तादृशं यथा भवति तथा यथा स्यात्तथा कथ्यतामित्येवान्वयः ॥१॥ यद्यपि मुनीन्द्रेण तद्विशेषदुःखशङ्कया सङ्क्षिप्य कथितं तथा तदज्ञानेन वा तल्लीलासामान्याभिलाषादेव तथा पृष्टमिति दर्शयति ॥२॥ ब्रह्मन्निति स तु तत्प्रीतये स्वदुःखकथानिवेदनाय च नात्यन्तमर्थेऽभिनिविश्य यथाश्रुतमेवोवाचेत्यर्थः ॥ ३-४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ कालिय-दमन-लीलां प्रवक्तुमुपक्रममाण आह,—विलोक्य दूषितामित्यादि । कृष्णः कृष्णाहिना दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्य तस्या विशुद्धिं विशेषेण शुद्धिमन्विच्छन्तं सर्पमुदवासयदिति वाक्यार्थः । तात्पर्यार्थस्तु स्वयं श्रीकृष्णः स्वनाम्ना मित्रभूतां कथमन्यो दूषयिष्यति, तत एनां शोधयिष्य इति मित्रवात्सल्यम्, एकदेशेन सुहृदपि यदि खलः स्यात्तदा सोऽपि दण्डनीय एव, तत्र मित्रत्वेनोपरोधो न कार्य इति सदुपदेशश्च दर्शयितुं तथा कृष्णः कृष्णां कृष्णाहिनेत्यनुप्रासध्वनिः ॥ १ ॥ अथ तत्केलिश्रवणश्रद्धालुतां राजा प्रकटयन्नाह ब्रह्मन्नित्यादि । हे ब्रह्मन् भूम्नः परात्परस्य तस्याचिन्त्यपरमैश्वर्यस्य भगवतः कृष्णस्य स्वच्छन्दवर्त्तिनः स्वाधीनस्य गोपालोदारचरितं जुषन् कस्तृप्येत । अत्र कस्यापि यस्य कस्यचिज्जनस्यापि तृप्तिर्नास्ति, तद्वन्धुपौत्रस्य तद्भागिनेयपुत्रस्य तेनैव रक्षितस्य मम पुनस्तृप्तिर्यन्न स्यात्, तत् किम् ? अयं भावः—तथाविधेश्वरस्य तथाविधैश्वर्यप्रतिपादकेषु चरितेषु वरं तृप्तिर्जायते, वैचित्र्याभावात्, तस्य तु गोपालक्रीडायां वैचित्र्यविशेषवत्तया न तृप्तिरिति गोपालोदारशब्दयोर्महिमा ॥ ४-८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

विलोक्य दूषितामित्यादि । कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना दूषितां विलोक्य तस्य विशुद्धिमन्विच्छन् कृष्णाहिमुदवासयत् । अयं भावः—स्वयं कृष्णः कृष्णेति नाम्ना मित्रभूतां कथमन्यो दूषयिष्यति । मित्रभूताप्येषा शोधयितव्येति स्वनाम्ना मित्रमपि खलश्च दण्डनीय एवेति तथा द्वयं कृतवान् ॥ १-२ ॥ गोपालोदारचरितमिति । गोपालवदुदारं सुन्दरं यच्चरितं तदेवामृतम् ॥३-८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

न्यगृह्णाद् कालियं कृष्णो दर्शयन् स्वमयादृव्रजम् । स्तुतोऽहिभिः प्रसन्नस्तान् षोडशे निरसारयद ॥

कृष्णां यमुनाम् उदवासयत् तस्मान्निस्सारितवान् ॥ १ ॥ बहूनि युगानि व्याप्य आवासो यत्र तद्यथा स्यात्तथा आसीत् ॥ २ ॥ गवां श्लेषेण सर्वभक्तश्रोत्रादीन्द्रियाणां च पालनेनोदारं सुखदातृचरितम् ॥ ३ ॥ कालिन्द्यां विशेषतः प्रकर्षेण कथ्यताम् ह्रद इति हरिवंशोक्तेर्योजनप्रमाणस्तस्या दक्षिणे भागे तत्प्रवाहेणास्पृष्ट एव अन्यथा तद्विषसम्पृक्तप्रवाहवती सा मथुरादिदेशस्थजनैरव्यवहार्य्यैवाभविष्यदिति ज्ञेयं श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य सः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

षोडशे कालीयनिग्रहस्तद्भार्याकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रं कालीयं प्रत्यनुग्रहश्च निरूप्यते, उदवासयत् निःसारितवान् ॥ १ ॥ स अहिः बहूनि युगानि आवासो यथा भवति तथा केन प्रकारेण तत्रासीदिति कथ्यताम् ॥ २-३ ॥ कालिन्द्यां कालिन्द्याः श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्मिन् सः ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ॐ नमः कालियमर्दनाय कृष्णाय

षोडशे कालियं कृष्णो न्यगृह्णात्तद्वधस्ततः । अनुगृह्य तमुत्सार्य यमुनां निर्विषां व्यधात् ॥

कृष्णां यमुनां नामतो वर्णतश्च साम्यात् सखीमवश्यकर्त्तव्योपकारामिति भावः । कृष्णाहिना कालियसर्पेण । उदवासयत् निःसारितवान् ॥ १ ॥ अगाधे जलेऽन्तः कथमहिं न्यगृह्णात् स वै स चाहिरजलचरोऽपि बहूनि युगान्यावासो यत्र तद्यथा स्यात्तथा तस्मिन् जले कथमासीत् कथ्यताम् । हे विप्र ! विद्यातिनिपुण !

"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते । विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम् ॥"

इतियाज्ञवल्क्योक्तेः ॥ २ ॥ गवां पशूनां स्वभक्तश्रोत्रेन्द्रियाणाञ्च पालनेनोदारं सुखदात्चरितम् ॥ ३ ॥ कालिन्द्यामिति । दक्षिणे भागे तत्प्रवाहेणास्पृष्टो योजनप्रमाणो ह्रदः श्रीहरिवंशोक्तेर्बोध्यः तत् स्पर्शे तत्प्रवाहस्य माथुरादिभिरन्यवार्यता स्यात् श्रप्यमानं पच्यमानं पयो जलं यस्य सः पतन्ति विषज्वालया विग्लाताः सन्तः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरि ॐ ॥ संसारविषमतां जरयत्कंसारिचरितं सङ्कुच्योक्तं प्रपञ्चयत्यस्मिन्नध्याये । तत्रादौ शुको राजप्रश्नबीजमाह तीति निरूपयति ॥ श्रीशुक इति । कृष्णः कृष्णाहिना स कालिम्ना कालियेन कृष्णां यमुनां दूषितां विषविषमतया जनानुपयोज्यां वीक्ष्य तस्या विशुद्धिं निर्विषतामन्विच्छंस्तं सर्पमुदवासयत्ततो निष्कासयामास ॥ १ ॥ स कुतो निकेतनं तत्र चक्रे कथं वा बहूनि तत्र कृतावासं वासुदेवो वासितमचीकरत्सोऽप्यनन्ताङ्घ्रः क्व वाऽवात्सीत्सर्वं हे विप्र सर्वज्ञ कथयेति पृच्छति परीक्षिदित्याह राजेति । अगाधे लोडयितुमशक्ये जलेऽहिं भगवान्कथं न्यगृह्णाज्जग्राह । स सर्पोऽन्तर्यमुनाऽन्तः कथं बहुयुगावास्यासीत् हे विप्रेदं कथ्यतां । इदानीं । शुकेन बहुयुगेत्याद्युक्तमपि मानान्तरतोऽवगत्याप्राक्षीत्परीक्षिदित्यर्थद्योतको वैशब्दः ॥२॥ इयताऽपि नातृप्तः किलेलापालेत्यतो लपति ॥ ब्रह्मन्निति । स्वच्छन्दवर्तिनो भूम्नस्तस्य भगवतो गोपालोदारचरितं गोपालैर्गोपालिभिर्गोपालैश्च सह कृतं यदुदारचरितममृतं तदाख्यं पीयूषं जुषन्सेवमानः कस्तृप्येत । अलमिति लपेद्यदि कश्चित्तृप्येतालमिति वदेत्तर्हि स का कुत्सित इत्यपि कश्छन्दसां योगमावेदेत्यादिवदन्वयो ज्ञेयः ॥ ३ ॥

श्रीसुबोधिनी

इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यवः समुदाहृताः । त एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि ॥ १ ॥
अतस्तदुपमर्दोऽत्र निरूप्यो हि त्रयोदशे । सन्तुष्टो भगवांस्तेषु स्वलीलां चेद् करोति हि ॥ २ ॥
भक्तिमार्गानुसारेण निस्तारो नान्यथा भवेत् । तेषां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्चेद् कृष्णस्य सर्वथा ॥ ३ ॥
ततोऽन्जसैवेन्द्रियाणि भवन्त्याज्ञावशे हरेः । तदेव विषयश्चापि हरेर्भवति सर्वथा ॥ ४ ॥
सर्वो ग्योगरहितः पूर्वसम्बन्धहानतः । परीक्षार्थमिन्द्रियाणां हि निग्रहं कुरुते हरिः ॥ ५ ॥
परीक्षार्थं ततो देवः कालं प्रेरितवांस्तथा । स्वासक्तिश्चापि कर्तव्या निरोधे मध्यमे महान् ॥ ६ ॥
यत्नः कर्तव्य इत्येव मुग्धभाव चकार ह । कथामात्रत्वाभावाय सङ्क्षेपेणाह तां पुरा ॥ ७ ॥
अक्लिष्टकर्मा भगवान् ज्ञापयामास लीलया । उद्यमश्चापराधश्च परीक्षाकार्यमेव च ॥ ८ ॥
स्तुतिः प्रसाद इत्यत्र षड्थां परिकीर्तिताः ॥ ८½ ॥

तत्र प्रथमं सङ्क्षेपेण कथामाह विलोक्येति, कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना कालसर्पेण कालीयेन दूषितां विलोक्य सर्वज्ञो भगवांस्तस्या विशुद्धिमग्रे क्रीडार्थमन्विच्छंस्तं सर्पमुदवासयत् ततोन्यत्र प्रेषितवान्, सारूप्यं प्राप्तो हि भगवता निवृत्तः कर्तव्यः सारूप्यं प्राप्तेन च दोषो नान्येन निवारणीयो रूपान्तरे च रूपान्तरदोषो न निवार्य इतिमर्यादा, अतः कृष्णपदत्रयं, विभूतिः सामर्थ्यं प्रकृतोपयोगि, सारूप्यादेव न मारणं, हृषीकेशत्वाच्च नर्तनं अत एव कलौ कृष्णएव सर्वदोषनिवारको यदि सर्वेन्द्रियैर्नृत्यतीन्द्रियकृतमपराधं च सहते, अतो यमुना शुद्धा कर्तव्येति यस्याः प्रसिद्धायाः प्रसिद्धं सर्पं दूरीकृतवान ॥ १ ॥ राजा विस्मितः पृच्छति कथमिति, स हि जानाति वांडशेन यथा मत्स्यो बध्यते तथा कालीयो बद्ध इति, अतस्तस्य महतः कीदृशं बडिशमिति तथा वासो वा प्रकारप्रश्नः, यदि लोके तादृशमपि बन्धनं स्यात् तदा न प्रष्टव्यः स्यात्, स तु नास्ति, यतः स बहुयुगपर्यन्तमावासो

तादृशं यथा भवति तथावात्सीत्, यदि तादृशं भवेद् बन्धनं स्वयमेव निवृत्तः स्यात्, न चैतदसम्भावितं यतो भगवान्, अतः प्रकारं कथयेतिप्रश्नः, विप्रेतिसम्बोधनं विशेषेण ज्ञानपूरणाय विशेषेण प्रकर्षेण वा कथ्यतामिति ॥ २ ॥ जलचरसाधारणबन्धवदिदमपि भविष्यत्यतो न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य साधारण्येन भगवत्कथां श्रोतव्यत्वेन स्तौति, ब्रह्मन्निति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च, भगवत इति सर्वैव लीला षड्गुणयुक्ता भविष्यतीत्यप्रयोजकत्वं निवारितं, भूम्न इति सर्वत्र लीलाधिक्यं, स्वच्छन्दवर्तिन इति लीलायां न कस्याप्यनुरोधः, तत्रापि गोपालस्य लौकिकानां बुद्धिपरिग्रहार्थं यतमानस्य, उदारं सर्वपुरुषार्थान् पात्रापात्रविवेकं परित्यज्य प्रयच्छतीति पुरुषार्थानामपेक्षितत्वात् सर्वथैतदेव वक्तव्यं श्रोतव्यं च, तदपि चरितं न तु कल्पितं, तत्रापि सर्वदोषनिवारकं मृत्युनिवारकं च, तदाह, मृतमिति, किञ्च, अमृतं जुषन् किं कश्चित् तत्र तृप्येतेतिलौकिकोक्तिः ॥ ३ ॥ भगवतोतिसामर्थ्यं ख्यापयितु ह्रदस्वरूपमाह द्वयेन कालिन्द्यामिति,।कालयः कालीय इत्युभयं, कालीयस्य सम्बन्धी कश्चिद् ह्रद आसीत्, सम्बन्धोग्रे वक्तव्यः, विषाग्निना तस्यैव श्रूयमाणमावर्त्यमानं विषेण व्याप्यमानं वा पयो यस्मिन् यस्मिन् ह्रद आकाशमार्गेणोपरि गच्छन्तोपि खगा मध्ये पतन्तीत्युपरि दोषमर्यादा निरूपिता ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथ त्रयोदशाध्यायं विवरिषवोस्मिन् प्रकरणे समस्तानां मध्यमनिरोधस्य वक्तव्यत्वात् तदङ्गत्वेन पूर्वाध्याये देहाध्यासात्मकधेनुकस्य वधो निरूपितोत्र वादशस्येन्द्रियाध्यासस्य निष्कृतिं निरूपयतीत्याहुरिन्द्रियाणीतिसार्धेन, "अत्रात्र वै मृत्युर्जायत" इतिश्रुत्युक्ते नानामृत्युपक्षे समस्तानामिन्द्रियाणयेव "विषयेन्द्रियसंयोगादि"तिगीतावाक्यात्कविषतुल्यपरिणामकराजससुखजनकत्वान् मृत्यः समुदाहृतास्ते मृत्यव एव हि विषयाविष्टत्वाद्धेतोर्विषपूर्णानि कालीयशिरांस्यतो हेतोस्तपमर्दोत्र त्रयोदशेध्याये निरूप्यते, तथा च हेतुतागर्भः प्रसङ्गसङ्गतिरित्यर्थः, अत्र समस्तपदं गोपपरं ज्ञेयं तेषामेव निरोधस्य चिकीर्षितत्वादिति, ननु कालीयशिरांसि चेत्तेषामिन्द्रियाणि तदा तदुपमर्दे भगवतस्तत्सम्बन्धो वक्तव्यः स च "पराञ्चि खानी" तिश्रुत्या विरुध्यत इत्युपमर्दो न सम्भवतीत्युपमर्दोसम्भव इत्यत आहुः सन्तुष्ट इत्यादि, हि यतो हेतोः सन्तुष्टो भगवांस्तेषु लीलां चेत् करोति तदा भक्तिमार्गानुसारेण तेषां निस्तारो भवेन् नान्यथा न प्रकारान्तरेण, तथा च यथा ध्रुवस्य "तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य पुरःस्थितं ददर्श" तिवाक्यात् पराचा चक्षुषा दर्शनं तथात्र भक्तिमार्गानुसारेण संसारनिस्तारस्य चिकीर्षितत्वात् पराचामपीन्द्रियाणां सम्बन्ध उपमर्दश्चेति मार्गभेदान्न श्रुतिविरोध इत्यर्थः, ननूपमर्देपि स्वभावनाशाभावात् पुनश्चेद् विषयसम्बद्धानि स्युस्तदानि कृतोऽपि स निःफल इत्यत आहुस्तेषामित्यादि द्वयं, तेषामिन्द्रियाणां प्रपञ्चो वृत्तिरूपो विस्तारः कामिन्यो नागपत्न्यस्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य भवन्ति तत एवेन्द्रियाण्यञ्जसा हरेराज्ञावशे भवन्ति तदैव विषयोपि सर्वथा पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितो हरेर्भवति, तथा चेन्द्रियोपमर्दे तद्वृत्तीनां सर्वथा भगवदधीनत्वाद् विषयस्य चान्योपयोगराहित्यान् नीपमर्दवैयर्थ्यमित्यर्थः, परीक्षेत्यारभ्य प्रेरितवानित्यन्तस्यार्थं टिप्पण्यां व्युत्पाद्य विवृण्वन्ति नन्वित्यादि, तथा च 'तन्नागभोगे' त्यादीनां परीक्षाहेतुत्वान्नानुपपत्तिरित्यर्थः, तावृशमिति निग्रहरूपं, सुबोधिन्यां नन्वन्यपरीक्षाकरणं भवतु नाम मुख्यभक्तेन्द्रियपरीक्षाकरणं तु नोचितं सर्वथा दोषराहित्यादनुभूतत्वाच्चेत्यत आहुस्तथा स्वासक्तिश्चापि कर्तव्येति, यथान्येषां साधारणानां परीक्षा कर्तव्या तथा मुख्यभक्तानामासक्तिश्चापि कर्तव्या पूर्वाध्यायोक्तनिरोधस्य स्नेह एव पर्यवसानादिति, किञ्च मध्यमे निरोधे महान् यत्नश्च कर्तव्य इतिहेतोर्हरिरेव तु मुग्धभावं चकार ह, हेति हर्षे आश्चर्ये वा, तथा च मुख्यभक्तेषु परीक्षणीयत्वाभावेप्यासक्त्यर्थमन्येषु निरोधयत्नार्थं तथा करणमिति न दोष इत्यर्थः। नन्विदं कथा प्रासङ्गिक्युक्ता न तु निरोधसाधिका मूले तदिन्द्रियनिरोधस्यानुक्तत्वादत आहुः कथेत्यादि कथान्यथामात्रत्वाभावज्ञापनाय तां विशुद्धिं पुरा सङ्क्षेपेणाह, अर्थात् पश्चाद् विशेषेणातोत्रापीन्द्रियनिरोधोभिप्रेत इति विशेषकथनान्यथानुपपत्त्यावसीयतेतो न दोष इत्यर्थः, ननु परीक्षायाः कर्तव्यत्वेप्यक्लिष्टतयेव कर्तव्या न तु क्लेशलेशेनापि क्लिष्टकर्मत्वात् तथा च कथं तथा कृतमित्यत आहुरक्लिष्टकर्मेति भगवानक्लिष्टकर्मैव विषयासक्तानामिन्द्रियाणामपराधकर्तृत्वमनया लीलया ज्ञापयामास, तथा च तज्ज्ञापनं नान्यथा भवतीति तदर्थमेवंकृतिरित्यर्थः, शेषं स्फुटम्। विलोक्येत्यत्र सारूप्यं प्राप्तेनेति कृत इतिशेषः, प्रकृतोपयोगिसारूप्यादिति परीक्षोपयोगीन्द्रियसारूप्यात् हृषीकेश इत्यारभ्य सहत इत्यन्तं वस्तुतोथंकथनम् ॥ १ ॥ कथमित्यत्र स इति बन्धनप्रकार इत्यर्थः, विप्र कथ्यतामितिसमभिव्याहारमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहुर्विशेषेणेत्यादि ॥ २ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्रयोदशेध्याये समुदाहृता इति 'शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय' इत्यत्रेन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः, त एवेति पूर्वाध्याये गोपमृत्युजनकविषपूर्णत्वेन तन्मृत्युरूपेन्द्रियरूपत्वं कालीयस्योक्तं, अत्र रोषेण विषमुच्चैः स्थापितवान्, अत एवाक्षिभिर्गरलोद्वमनं, अतस्तेनैव हेतुना शिरसामिन्द्रियरूपत्वं, देहस्यालौकिकत्वसम्पत्त्या तत्र प्रवेष्टुमशक्नुवन्ति सविषयेन्द्रियाणि मृत्युरूपत्वेन साजात्यात् कालीयशिरःसु स्थितानि सङ्घातस्य विषसम्बन्धे देहस्य पात इन्द्रियाणां विषद्वारा कालीये स्थितिरिति भावः, अत इति इन्द्रियरूपत्वादित्यर्थः, उपमर्दो दोषनिवृत्त्या नवत्वसम्पादनं, हीति तनुनवत्वानन्तरमिन्द्रियनवत्वमुचितमित्यर्थः, सन्तुष्ट इति एवं चेत् करोति तदा भक्तिमार्गरीत्या तनुनवत्वरूपो निस्तारो भवेत् अन्यथा ज्ञानमार्गरीत्या न भवेत् सङ्घातराहित्यमेव स्यादित्यर्थः,

तेषामिति इन्द्रियाणां विषयरूपो विस्तरः कामिन्यो विशेषतस्तास्वेव विषयानुभवात्, इन्द्रियाणां हीति स्वेन्द्रियाणामित्यर्थः, इति स्वेन्द्रियाणां कार्याप्रकटनरूपनिग्रहादित्यर्थः, अक्लिष्टेति अक्लिष्टकर्मत्वात् लीलयैव स्वस्वरूप कालियाय ज्ञापयामास, कार्यमिति भगवत्कार्यं तन्निग्रह इत्यर्थः। हृषीकेशत्वादिति एतच्छिरसामिन्द्रियरूपत्वेन स्वस्य तदीशत्वादितिभावः॥ ब्रह्मन्नित्यत्र बुद्धीति बुद्धेः स्वविषयत्वसम्पादनार्थमित्यर्थः, यतमानस्येति इन्द्रियविषयतां प्राप्नुवत इत्यर्थः, गवामिन्द्रियाणां रक्षक इत्यर्थः, विषयविषयकत्वे इन्द्रियाणि नष्टानि स्युः॥ ३॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

त्रयोदशाध्यार्थोक्तौ कालियस्य शिरांसि हीति कृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारे वध्यानां दोषरूपता निरूपिता तन्मध्ये निगृह्याणामपि स्वरूपं किञ्चिद् विलक्षणं वाच्यमतो धर्मसाम्याच्च चरित्रसाम्याच्च यस्य यद्दोषरूपत्वं तदवगम्यते, द्वादशस्कन्ध विवृतौ "कालीय इन्द्रियाण्याहु"रित्यस्य टिप्पण्यां तदुपपत्तिर्निरूपिता, अतस्तदुपमर्द इति विषयरूपविषपूर्णानामिन्द्रियाणामुपमर्द एव कर्तव्यो न स्वरूपतो नाशः, स्वरूपनाशे भजनं न स्यात्, उपमर्दाभावे संसारासक्तिः स्यात्, अतः संसारासक्तिनिवारणाय कालियशिरसां उपमर्दः कृतः इति सारं, सन्तुष्ट इत्यारभ्य नान्यथा भवेदित्यन्तं तेषु विषयासक्तेन्द्रियेषु स्वलीलां नृत्यादिरूपां चेत् करोति तदा इन्द्रियवतो निस्तारो भवति, भक्तिमार्गानुसारेणेति अनुजिघृक्षया स्नेहेनेत्यर्थः, अत एव भगवता भक्तिमार्गीय रूपचरणारविन्दाभ्यां कालियशिरःसु नृत्यलीला कृतेति ज्ञेयं, तथा चायमाध्यात्मिकः पक्षः सिद्धः, यदा जीवस्य विषयासक्तेन्द्रियेषु भगवद्रमणं भवेत् तदा जीवः कृतार्थो भवेदिति।

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

त्रयोदशेऽध्याये इन्द्रियाणीत्यादि का० १३४३। समुदाहृता इति "शतायुः पुरुष शतेन्द्रिय" इत्यत्र इन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः, त एवेति ते इन्द्रियरूपा मृत्यवः एव कालीयस्य विषपूर्णानि शिरांसि ज्ञेयानि, अत इत्यादि का० १३४६। अत इन्द्रियरूपत्वादुपमर्द एव युक्तो न तु नाश इति भावः, शिरस्सु नृत्यप्रयोजनमाहुः सन्तुष्ट इत्यादि का० १३५०। अन्यथेन्द्रियाणां लौकिकत्वं न स्यात् किन्तु ज्ञानमार्गानुसारेण इन्द्रियादिसङ्घातराहित्यमेव स्यादित्यर्थः, तेषामित्यादि का० १३६३, १३६४। तेषामिन्द्रियाणां विषयरूपो विस्तारः कामिन्यो नागपत्न्यस्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य भवन्ति तत एवेन्द्रियाणि अब्जवत्सु हरेर्भवन्ति, तदैव विषयोपि पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितः हरेर्भवति, तथा च इन्द्रियाणां विषयाणां च भगवदीयत्वसम्पादनं प्रकृतलीलाप्रयोजनमिति भावः, ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः, "तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्ट"मित्यादिलोकोक्त लीलात्वयुक्ता उत्पाताश्चानुपपन्नाः वस्तुतः कालादिभयरहिते भगवत्युत्पातहेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः परीक्षेत्यादिना का० १३८३। परीक्षेत्यनन्तरं निरूप्यत इति शेषः, तथा च कृतो निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षैवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः, तत्रोपपत्तिं वदन्त'स्तं नागभोगे'त्यादिनोक्तभक्तपीडाजनकलीलातात्पर्यमाहुरिन्द्रियाणां हीति, हि यतो हेतोरिन्द्रियाणां निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुत इति सम्बन्धः, अत्रेन्द्रियपदं भगवदिन्द्रियपरं निग्रहपदं च भगवदिन्द्रियाणां स्वाकार्याप्रकटनपरं, तथा च भगवान् "तं नागभोगपरीवीतमदृष्टचेष्ट"मित्याद्युक्तप्रकारेण स्वेन्द्रियाणां स्वकार्याप्रकटनरूपं निग्रहं यत् कृतवान् स निग्रहो भक्तानां पूर्ण पीडाजनकदण्डरूपो जात इति निग्रहपदं तथा च भगवतः स्वेन्द्रियकार्याप्रकटनं मृत्योरप्यधिकपीडाजनकनिग्रहरूपं भक्तानां निरोधे सत्येव भवेन् नान्यथेति पूर्णनिरोधपरीक्षार्थमेव तथात्मानं दर्शितवानित्यर्थः, उत्पातोत्पत्तिमाहुस्ततो देवः कालं प्रेरितवानिति, देवपदेनाधिदैवरूपः काल उच्यते, स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ प्रेरितवान् अत एव "त्रिविधा" इत्युक्तं मूले, स्वासक्तिरिति का० १३९३। केषाञ्चिद् भक्तानां परीक्षा कर्तव्या कृतपरीक्षाणां केषांचिद् भक्तानामासक्तिश्चापि कर्तव्या, किञ्च एतस्मिन् प्रमेयप्रकरणीये मध्यमे निरोधे भगवता प्रमेयबलेन महान् यत्नः कर्तव्य इति हेतोर्मुग्धभावं चकारेत्यर्थः, ननु कथा प्रासङ्गिकी न तु निरोधसाधिकेत्याशङ्क्याहुः कथामात्रत्वेति का० १४०३। एतत्कथायाः कथामात्रत्वाभावाय साधारण कथात्वाभावबोधनाय पुरा पूर्वं सङ्क्षेपेण "विलोक्य दूषितां कृष्णा"मित्येकेन शुक आहेत्यर्थः, ततः "कथमन्तर्जलेऽगाधे" इति विशेषप्रश्ने सति शुको विस्तरेणाह, अतो ज्ञायते एतत्कथायां कश्चिदभिप्रायो वर्तत इति, अभिप्रायस्तु कालीयदमनेन भक्तानामिन्द्रियदोपनिवर्तनेन निरोधसाधकत्वमेवेति, अभिप्रायविशेषभावे तु प्रश्नं विनैव प्रसङ्गवशात् स्वयमेव वदेदिति भावः, तथा च भगवन्मार्गीयसिद्धान्तो विशेषप्रश्नं विना विस्तरेण न वक्तव्य इति सूचितं, तदुक्तं प्रथमस्कन्धनिबन्धे "ततो विशेषप्रश्नश्चेद् वक्तव्या रीतिरियं सदे"त्ति, अक्लिष्टे सदोषेन्द्रियरूपकालीयेन भगवदपराधकरणात् सदोषेन्द्रिाणां भगवदपराधकर्तृत्वमिति अक्लिष्टे भगवान् ज्ञापयामास अन्यथा अक्लिष्टकर्मत्वं न स्यादित्यर्थः, अत्र प्रकरणानि विभजन्त उद्यमश्चेति, का० १४१३। उद्यमः कालीयदमनार्थो भगवदुद्यमः, अपराधः कालीयकर्तृकः, परीक्षा भक्तानां स्नेहपरीक्षा, कार्यं भगवत्कर्तृकं कालीयनिग्रहरूपं, स्तुतिर्नागपत्नीनां, प्रसादो भगवतः, एवं षट् प्रकरणानीत्यर्थः।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

निग्रहः कालियस्यत्र तत्फणासु च नर्तनम् । पत्नीस्तुतिस्तदुद्वासः षोडशे विनिरूप्यते ॥ १ ॥

अथ कालियदमनात्मिकां लीलां सङ्ग्रहेणाह–विलोक्येति । कृष्णाहिना कालियेन दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्य तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् कृष्णस्तं सर्पमुदवासयत् ततो निःसारितवान् । तत्र सामर्थ्यं सूचयन्नाह–विभुरिति ॥ १ ॥ एवं सङ्ग्रहेण कथितं कालियनिग्रहं पुनर्विस्तरतः श्रोतुं पृच्छति कथमिति । भगवान् सर्वप्रकारेण निग्रहितुं समर्थोऽपि श्रीकृष्णः अगाधे गम्भीरेऽन्तर्जले जलमध्ये अहिं कालियं कथं केन प्रकारेण न्यगृह्णात् निगृहीतवान् ? । तथा स वै स च रमणकद्वीपनिवासी कालियो बहूनि युगानि बहुयुगपर्यन्तमावासो यथा स्यात्तथा तत्र यथा येन कारणेनासीत्, तदेतत् हे विप्र ! कथ्यताम् । सम्बोधनेन 'तव अज्ञातं किञ्चिन्नास्ति, सर्वविद्याप्रवीणत्वात्' इति सूचितम् । यथोक्तं याज्ञवल्क्येन–"जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ॥ विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रियलक्षणम्" इति ॥ २ ॥ एवं प्रश्ने स्वस्य भगवच्चरितश्रवणे तृप्त्यभावं हेतुमाह–ब्रह्मन्निति । हे ब्रह्मन् ! तस्याद्भुतकर्मत्वेन प्रसिद्धस्य श्रीकृष्णस्य गोपालोदारचरितं गोपालरूपेण यदुदारं सर्वेषां सर्वपुरुषार्थप्रापकं चरितं जुषन् श्रवणादिना सेवमानः कस्तृप्येतेत्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाह–अमृतमिति । यथाऽमृतं जुषन् न तृप्यते तद्वदित्यर्थः । गोपालरूपधारणे हेतुमाह—स्वच्छन्दवर्तिन इति । स्वेषां भक्तानां छन्दः इच्छा, तदनुवर्तनशीलस्येत्यर्थः । तच्चरितस्य सर्वपुरुषार्थहेतुत्वे हेतुमाह–भूम्न इति । विपुलमाहात्म्यत्वेन महापुरुषस्य । तत्रापि हेतुमाह—भगवत इति ॥ ३ ॥ एवं पृष्टो भगवतः सामर्थ्यातिशयं सूचयंस्तावद्ध्रदस्वरूपमाह—कालिन्द्यामिति द्वयेन । विषाग्निना श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य, अत एव उपरि गच्छन्तः खगाः पक्षिणो यस्मिन् ह्रदे पतन्ति पेतुः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

षोडशे कालियदमे तत्पत्नीभिः स्तुतो हरिः ॥ अनुजग्राह तं तत्र श्लोकाः स्युः षष्टिरष्ट (६८) च ॥
सप्तोवाचेति सार्द्धास्तु पञ्चाशीतिरनुष्टुभः (८५॥) ॥ १६ ॥

विलोक्येति ॥ कृष्णाहिना कालियेन दूषितां कृष्णां यमुनां विलोक्य तस्याः विशुद्धिमन्विच्छन् विभुः कृष्णस्तं सर्पमुदवासयत् ततो निःसारितवान् ॥ १ ॥ कथमिति ॥ हे विप्र ! भगवान् अगाधे गम्भीरेऽन्तर्जले जलमध्ये अहिं कालियं कथं केन प्रकारेण न्यगृह्णात् निगृहीतवान् तथा स वै अजलचरोऽपि कालियः तस्मिन्नन्तर्जले बहूनि युगानि बहुयुगपर्यन्तमावासो यथा स्यात्तथा तत्र यथा येन कारणेनासीत् तदेतत् कथ्यताम् । बहूनि युगानि आवासो यस्येत्यहिविशेषणं वा ॥ २ ॥ ब्रह्मन्निति ॥ हे ब्रह्मन् ! भूम्नो महत्तमस्य स्वच्छन्दवर्तिनः स्वतन्त्रस्य भगवतः अमृतम् अमृततुल्यं गोपालोदारचरितं गोपालरूपेण कृतं यदुदारं चरितं तत् जुषन् सेवमानः । आर्षः शता । कस्तृप्येत । तङार्षः सकर्मस्य तृप्यतेः कर्मकर्त्तरि वा ॥३॥ कालिन्द्यामिति ॥ विषाग्निना श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्य अत एव उपरि गच्छन्तः पक्षिणो यस्मिन्ह्रदे पतन्ति स्म पेतुः एवंभूतः कालियस्य निवासरूपकालिन्द्यां कश्चित् ह्रदः कालिन्दीप्रवाहेण अस्पृष्ट एव यमुनादक्षिणभागे योजनप्रमाणः आसीत् । प्रवाहेण तज्जलस्पर्शे तु यमुना तद्देशे अन्यवहार्यैवाभविष्यदिति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं षोडशेऽध्याये श्रीकृष्णस्य यमुनापतनं तत्संबंधिजनानुतापं च कृष्णकृतनागदमनं तत्पत्नीनां स्तुतिं च यमुनायाः सकाशात्तन्निष्काशनंच निगदति कृष्णाहिना कालीयसर्पेण दूषितां दोषं प्रापितां कृष्णां कालिंदीमुदवासयत् निष्काशयामास ॥ १ ॥ कथमिति अगाधे बहुले अंतर्जले जलमध्ये बहूनि युगान्यावासो यस्य त बहुयुगपर्यंतं निवासिन अहिं कथं न्यगृह्णात् स सर्पः तत्र यथा येन प्रकारेण आसीत् हे विप्र तेन प्रकारेण प्रश्नद्वयं कथ्यतां ॥२॥ स्वछंदं स्वतंत्रं वर्त्तते इति स्वछंदवर्त्तीतस्य यत् गोपालवेषेण उदारमुत्कृष्टमाचरितं त देवामृतं जुषन् सन् कस्तृप्येत अतः कथ्यतां ॥ ३ ॥ विषाग्निना श्रप्यमाणं उत्सिच्यमानं पयो जलं यस्य सः सर्पस्य ह्रदः अतः उपरिगछंतः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

निग्रहः कालियस्योक्तः षोडशे यमुनाह्रदे । नागपत्नीस्तुतकृष्णकृतस्तासामनुग्रहः ॥ १ ॥
दैतेयान् रासभान् हत्वा गोपांस्तालफलान्यलम् । आशयित्वा फणारङ्गेऽनृत्यत्कालीयभोगिनः ॥ २ ॥

अथ श्रीहरेः कालियदमनात्मकं कर्मानुवर्णयितुकामस्तावद्राज्ञः प्रश्नावसरप्रदानाय तत् संगृह्य दर्शयति ॥ विलोक्येति ॥ विभुः परमेश्वरः, कृष्णः, कृष्णाहिना कालियेन, दूषितां दूषितजलीकृतां, कृष्णां यमुनां, विलोक्यालोच्य, तस्याः, कृष्णायाः विशुद्धिमन्विच्छन् कर्तुकामः सन्, तं कालियाख्यं सर्पं, उदवासयत्ततो निष्कासितवान् ॥ १ ॥ तत्र विस्मितः पृच्छति राजा कथमिति द्वाभ्याम् ॥ कथमिति ॥ अन्तर्जले जलमध्ये, तत्रापि अगाधे अतलस्पर्शे, तत्रापि, अहिं महाविषं सर्पं, कथं भगवान्, न्यगृह्णात्

निगृहीतवान् । सः अहिः, वै बहूनि युगान्यावसतीति तथाभूतः, यथा येन प्रकारेण, आसीत्, तदपि, हे विप्र, कथ्यताम् ॥ २ ॥ अत्रात्मनः शुश्रूषाधिक्यं व्यनक्ति ॥ ब्रह्मन्निति ॥ भूम्नः विपुलमाहात्म्यस्य, स्वच्छन्दवर्त्तिनः स्वतन्त्रस्य, तस्य भगवतः, हे ब्रह्मन् गोपालोदारचरितं लीलया गोपालस्य सतो यदुदारं चरित्रं, तदेव अमृतं जुषन् संसेवमानः, कः पुमान्, तृप्येत । न कोऽप्येतच्चरित्र-श्रवणे तृप्तिं यायादित्यर्थः ॥ ३ ॥ कालिन्द्यामिति ॥ कालिन्द्यां यमुनायां, कश्चिन कालियस्य, ह्रदः, आसीत् । कथंभूतः । विषाग्निना विषवह्निना, श्रप्यमाणं पच्यमानं पयो यस्मिंस्तथाभूतः, उपरिगाः तस्योपरि चरन्तः, खगाः पक्षिणः, यस्मिन्, पतन्ति विषमयजलविप्रुड्वायुप्रसारस्पर्शमात्रेणापि मूर्च्छिताः पतन्ति स्मेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विलोक्येति : १०.१६.१.

श्रीकृष्णः स्वानुरूपां स्त्रियमलमहिना दूषितां स्वीयरूपाभासेनेन्द्रेण मृष्टां मुनियुवतिमिवालक्ष्य चेतःपवित्राम् ।
युक्तं तच्छुद्धिकामोऽभवदपसरणं तस्य कृत्वा यदग्रे स्पष्टं दावाग्निदिव्यं जनदृगघहरं स व्यधात्पूर्णकामः ॥ १ ॥

विधाय बलशालिना बहुलतालमानं वनं सलीलमखवं कृतं भुविजनोपजीव्यं यथा ।
विधातुमुचितं तथा तदनुजनस्य सम्प्रत्यपि ममेति किमभूत्प्रभुः खलवनावगाहोन्मुखः ॥ २ ॥
पुत्रेण प्रिययाऽजेन च रसाप्त्यै साधुसूर्योदितं कृत्वा नीतमरोगतामिह सरोगं चापि यत्प्रेमतः ।
तत्तादृग्वनजातमेतदधुना सत्कार्यमङ्गोमयेत्यालोच्याभवदच्युतः किमु समुच्चित्तोऽवगाहेऽम्भसः ॥ ३ ॥
कृत्वा रोगनिराकृतिं न सुखयाम्येनां यदा दर्शितप्रागभ्यन्तरभावकामिह तदा धन्वन्तरित्वं मम ।
किं वा मां शरणीभवेद्गवदोच्छित्त्यै च को वा भुवीत्यार्तत्राणपरायणः स भगवांस्तां कर्तुमैच्छत्किमु ॥ ४ ॥

साधारणोऽपि सहते न पराङ्गनायामप्यन्यवीक्षणमपीति कथं स शौरिः ।
स्वस्त्रीगृहे बत सहेत भुजङ्गवासं तच्छासनोद्यतमना इति युक्तमीशः ॥ ५ ॥

यः कालाहियुतो भवो निगदितो भीतिप्रदः प्राणिनां तत्राहं विहरन् क्षणेन तमहिं तस्माद्विनिःसारयन् ।
भोग्यं भक्तजनैरनामयतया तं चातनोमि क्रमाद् व्यक्तीकर्तुमिति प्रभुः किमु तदा तत्तादृगारब्धवान् ॥ ६ ॥

अस्मिन्वने भवति यो विषयो मदीयभक्तापकार्यलमवामि ततः स्वकीयान् ।
तं शोधयामि विषयंच तथा यथाऽमे स्यात्तत्सुखावह इति प्रभुरेवमैषीत् ॥ ७ ॥

योऽस्मिन् पर्वतमूर्धतोऽम्बुनिधितःशक्राब्जसद्माद्दपि प्रह्लादं विषतोऽप्यरक्षदखिलादप्यन्यतः साध्वसात् ।
स श्रीशो हि विषाकुलान्तरांमदं दृष्ट्वा तदीयाभिधं प्रह्लादं भुवनं यदैच्छदमृतं कर्तुं तदेतिक्षमम् ॥ ८ ॥

कालिन्द्यामिति : १०.१६.४.

यो यामुनोदरगतस्तनयो ममासौ स्पष्टस्ततोऽस्य परिहृत्य गदं विधेयम् ।
सौख्यं मयेत्यनुविचिन्त्य किमच्युतोऽसावैच्छध्रदं तमपि कर्तुमहिं गताधिम् ॥ ९ ॥
यज्जीवनं भवति नैव परोपकारि धिक् तस्य जन्म जगतीत्यनुतापयुक्तम् ।
आसीत्पयः किमु विषाग्निमिषेण तस्माच्छ्रीशोऽन्वगात् तदनुतापिजनानुकम्पी ॥ १० ॥

विषयाहिरगाधचित्रवीर्योऽवनिजानेव न केवलं हिनस्ति । अपि तूर्ध्वगतीनपीत्यसूचि वचसाऽर्वेण पतत्खगार्थकेन ॥ ११ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित् । भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि महाविषधर कालिय नागने यमुना जी का जल विषैला कर दिया है । तब यमुनाजी को शुद्ध करने के विचार से उन्होंने वहाँ से उस सर्प को निकाल दिया ॥ १ ॥ राजा परीक्षित् ने पूछा : ब्रह्मन् ! भगवान् श्रीकृष्णने यमुनाजी के अगाध जल में किस प्रकार उस सर्पका दमन किया ? फिर कालिय नाग तो जलचर जीव नहीं था ऐसी दशा में वह अनेक युगों तक जल में क्यों और कैसे रहा ? सो बतलाइए ॥२॥ ब्रह्मस्वरूप महात्मन्, भगवान् अनन्त है वे अपनी लीला प्रकट करके स्वच्छन्द विहार करते हैं । गोपालरूप से उन्होंने जो उदार लीला की है, वह तो अमृतस्वरूप है । भला उसके सेवन से कौन तृप्त हो सकता है ॥३॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा—परीक्षित् । यमुनाजी में कालिय नाग का एक कुण्ड था । उसका जल विषकी गर्मी से खौलता रहता था । यहाँ तक कि उसके ऊपर उड़नेवाले पक्षी भी झुलसकर उसमें गिर जाया करते थे ॥ ४ ॥

[1]विप्लुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः । म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य [2]ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य [3]गाढरशनो न्यपतद् विषोदे ॥ ६ ॥
[4]सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेगसंक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
[5]पर्युत्प्लुतो [6]विषकषायबिभीषणोर्मि[7]र्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥
[8]तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य [9]तत् स्वसदनाभिभवं [10]निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत्त[11]दमृष्यमाणः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यस्य विप्लुष्मता विषोदोर्मिमारुतेन अभिमर्शिताः तीरगाः स्थिरजङ्गमाः प्राणिनः म्रियन्ते ॥ ४ ॥ चण्डवेगविषवीर्यम् तम् अवेक्ष्य नदीं दुष्टां च तेन (अवेक्ष्य) ततः गाढरशनः खलसंयमनावतारः कृष्णः अतितुङ्गं कदम्बम् अधिरुह्य आस्फोट्य विषोदे न्यपतत् ॥ ६ ॥ पुरुषसारनिपातवेगसंक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः विषकषायविभीषणोर्मिः सर्पह्रदः धावन् पर्यक्धनुःशतं प्लुतः तत् अनन्तबलस्य किम् (आश्चर्यम्) ॥ ७ ॥ अङ्ग वरवारणविक्रमस्य ह्रदे विहरतः भुजदण्डघूर्णवार्घोषम् आश्रुत्य तत् स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य तत् अमृष्यमाणः चक्षुश्रवाः समसरत् ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च । विप्रुष्मता अंबुकणयुक्तेन विषोदतरंगस्पर्शितमारुतेन स्पृष्टा यस्य तीरगा म्रियंते स ह्रद आसीदिति ॥ ५ ॥ तं कालियम् । चंडो वेगो यस्य तादृशं विषमेव वीर्यं सामर्थ्यं यस्य तम् । कदंबमित्ति भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकस्तत्तीरे न शुष्क इति ज्ञातव्यम् । अमृतमाहरता गरुत्मताऽऽक्रांतत्वादिति च पुराणान्तरम् । आस्फोट्य बाहुं करतलेनाहत्य गाढा दृढ बद्धा रशना कटिबंधनवस्त्रं येन सः ॥ ६ ॥ तदा सर्पस्य ह्रदः पुरुषश्रेष्ठस्य पतनभारेण संक्षोभितानामुरगाणां विषैरुन्नतोंबुराशिर्यस्य सः । विषेण कषायीकृता भयंकरा ऊर्मयो यस्य सः । पर्यक् परितो धावन् धनुःशतं प्लुतः प्रसृतः नैतच्चित्रमित्याह । अनंतबलस्येति ॥ ७ ॥ ह्रदे विहरतो भुजदंडाहतोदकघोषं श्रुत्वा ततः स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य तदसहमानः सर्पः समसरत् समाजगाम ॥८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अत्रान्यदाह—किं चेति यस्य ह्रदस्य । अभिमर्शिताः स्पृष्टाः ॥ ५ ॥ चंडस्तीक्ष्णो वेगः । तेन कालियेन । ततः कदंबात् । अतितुंगात् अत्युच्चात् । ह्रद इति शेषः ।। ६ ॥ तदा पतनकाले । कषायीकृताः कथिताः । यद्वा—विषकषायेण विषरागेण विभीषणा ऊर्मयो यस्येति "काथे रागे कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" इति यादवः । किं तत् न किमपीत्यर्थः । लक्षयोजनविस्तारायामपरीमितभूप्लावनमपि तत्र नाद्भुतावहमिति भावः । 'षण्णवत्यंगुलं धनुः' इत्यमरः । 'धनुर्हस्तचतुष्टयम्' इति च ॥ ७ ॥ अंग हे नृप । वरवारणो गजेंद्रस्तद्वद्विक्रमस्य । यद्वा–अगैरवयवैर्वरः श्रेष्ठो यो वारणस्तत्समविक्रमस्य । ततः श्रीकृष्णात् । स्वसदनाभिभवम् स्वस्यानपराभवं । समाजगाम बाधितुमाजगामेत्यर्थः । वरः श्रेष्ठे विट्पतौ च देवादेरीप्सिते वृते" इति यादवः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विप्रुष्मतेति । श्रप्यमाणपयस्तया सदा जवेन तत्कारणानामुच्छलनात् इति मारुतस्यापि दाहकत्वमुक्तम् अन्यश्च विशेषः श्रीहरिवंशे—

';दीर्घं योजनविस्तार (दुस्तरं) मगम्यं त्रिदशैरपि । गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम् ॥
दुःखोपसर्पं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः । विषारणीभवस्याग्नेधूमेन परिवेष्टितम् ॥
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा । समन्ताद्योजनं साग्रं तीरेष्वपि दुरासदम्" ॥ इति ।

१. विप्रुष्मता–श्रीधर. वंशी. वीर. विश्व. ; विप्लुष्मता–शुक. । २. तुङ्गादास्फोटय–वीर. विज. । ३. रशनोऽभ्यपतद्–इति कस्यचित् । ४. सार्पं–विज. । ५. पर्यंक्–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ६. कषायितभीषणोर्मिरच्चद्धनुः–वीर. । ७. रच्चद्धनु–वीर ; भोधोमनु–विज. । ८. तस्मिन्ह्रदे–वीर. विज. । ९. तं स्वं सदना–वीर. । १०. भवं ससैन्यः । ११. तममृष्य–विज. ।

एवं भूमिगुहायां तत्पुरीजलस्तम्भविद्यया जलमध्य एव वा ॥ ५ ॥ वेगः शीघ्रप्रसर्पणं चण्डेति अप्रतिकार्य्यत्वादितो निःसार्य एवेति भावः। तेन कालियेन हेतुना अधिरुह्य तच्छिखरे आरुह्य तथा च तत्रैव "आरुढश्चपलः कृष्णः कदम्बशिखरं मुदा" इति ततः कदम्वात् गाढरसन इत्यनेन केशादीनामपि गाढबन्धनमुपलक्ष्यते तथा च तत्रैव "बध्वा परिकरं दृढम्" इति न्यपत दित्यत्र हेतुः खलानां संयमनाय अवतारः स्वलोकादवतरणं किंवा मत्स्याद्यवतारा अपि यस्य सः इति कालियदमनार्थमित्यर्थः एकः कदम्वः किमवशिष्टः श्रीकृष्णवृक्षत्वात् कृष्णवत् "कदम्बः कृष्णवृक्षो हि कालियह्रदसमीपगः। तस्मादेको न शुष्कोऽभूत् विषह्रारकरः परान्" इति प्रसिद्धया श्रीकृष्णेनैव स विहाराय रक्षित इति गम्यते, परानिति वचनात् तत्संनिवासिनो वृक्षगणा अपि न मृता इत्यायातमेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ पुरुषसारत्वादेव निपातवेगः अन्यत्तैः। यद्वा, पुरुषस्य भगवतः सारेण किञ्चिद्वलप्रकाशेन यो निपातस्तस्य वेगेन जवेन संक्षोभितः अत एवोरगविषोच्छ्वसितश्चाम्बुराशिर्यस्य स कषायितेति पाठः श्रीचित्सुखस्य श्रीस्वामि पादानां च सम्मतः कषायीकृत इति व्याख्यानात्। कषायोऽत्र क्वाथ्यरसो रक्तः पीतवर्णो वा "निर्यासेऽपि कषायोऽस्त्री" इति क्षीरस्वामिना तत्तद्व्याख्यानात्। धीमन् हे विवेकिन्! इति राजानमाश्वसयति, धनुषः प्रमाणमुक्तम् "अष्टभिर्यवमध्यैः स्यादङ्गुलं द्वादशाङ्गुलम्। तालं त्रितालको हस्तो हस्तौ द्वौ किष्कुरुच्यते। किष्कुद्वयं धनुः प्रोक्तम्" इति अतः पूर्वं तावत्प्रदेशमात्रव्यापने बाला गावश्च रक्षिता इति ज्ञेयम् अनन्तं बलं शक्तिर्यस्य तत्कर्म। यद्वा, अनन्तस्य नागराजस्यापि विषादिवलं यस्मात्तस्य तद्विषं किम्? अपि तु न किञ्चिदपीत्यर्थः ॥ ७ ॥ विहरतः विचित्रजलवाद्यसन्तारादिक्रीडां कुर्वतः वरवारणो दिग्घस्ती तद्वद्विक्रमः अङ्गेत्यव्ययं राज्ञः शोकनिरासार्थं सलालनसम्बोधनम् ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

विप्रुष्मतेति श्रूयमाणपयस्तया सदा जवेन तत्फणानामुच्चलनादिति मारुतस्यातिदाहकत्वमुक्तम्। अन्यच्च विष्णु श्रीहरिवंशे (विष्णु प० ११।४२,४४,४६)—

'दीर्घं योजनविस्तारं दुस्तरं त्रिदशैरपि। गम्भीरमक्षोभ्यजलं निष्कम्पमिव सागरम् ॥
दुःखोपसर्पं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैर्बिलैः। विषारणिभवस्याग्नेर्धूमेन परिवेष्टितम् ॥
तृणेष्वपि पतत्स्वप्सु ज्वलन्तमिव तेजसा। समन्ताद्योजनं साग्रं तीरेष्वपि दुरासदम् ॥ इति ॥ ५ ॥

वेगस्तेजो जवो वाः चण्डेत्यप्रतिकार्य्यत्वादितोऽयं निःसार्य्य एवेति भावः। तेन कालियेन हेतुना। अधिरुह्य तच्छि खरमारुह्य; तथा च तत्रैव (हरिवंशे विष्णु प. १२।१) 'आरोहच्चपलः कृष्णः कदम्बशिखरं मुदा' इति। ततः कदम्बात् 'गाढरसनः' इत्यनेन केशादीनामपि गाढबन्धनमुपलक्ष्यते; तथा च तत्रैव (हरिवंशे विष्णु प. १२।१) 'बद्ध्वा परिकरं दृढम्' इत्यभिमुखमपतत्; 'न्यपतत्' इति पाठे महावेगेन कुर्दित्वा मध्येऽपतत्। यतः खलानां दुष्टानां संयमनायावतारः श्रीवैकुण्ठादव तरणम्; किंवा मत्स्याद्यवतारा अपि यस्य स इति कालियदमनार्थमित्यर्थः ॥ ६ ॥ पुरुषसारत्वादेव निपाते वेगः। अन्यत्तैर्व्या ख्यातम्। यद्वा, पुरुषस्य भगवतः सारेण बलेन निपाताद्यो वेगो जलसञ्चालनम्, किंवा निपातस्य वेगेन जवेनातिशीघ्रं संक्षोभि तोऽतएवोरगविषोच्छ्वसितश्चाम्बुराशिर्यस्य सः। 'कषायित' इति पाठः श्रीचित्सुखस्य श्रीस्वामिपादानाञ्च सम्मतः, 'कषायीकृत' इति व्याख्यानात्। धीमन् हे विवेकिन्निति राजानमाश्वासयति। अनन्तं बल शक्तिर्यस्य; तत् कर्म्म; यद्वा, अनन्तस्य नागराजस्यापि बल यस्मात्तस्य तद्विषं किम्? अपि तु न किञ्चिदपीत्यर्थः ॥७॥ विहरतो विचित्रजलवाद्यसन्तारादिक्रीडां कुर्व्वतः। अंगेत्यव्ययं राज्ञः शोकनिरासार्थं स-लालन-सम्बोधने; हे अंगस्वरूपात्मीयेति वा। वरवारणो मत्तगजेन्द्रस्तद्वद्विक्रमो जलाहतिक्रीडा यस्य; किंवा, जलेऽपि वरवारणवद्विक्रमो लीलागतिर्यस्य; यद्वा, अंगे कस्मिंश्चित् श्रीपादाब्जकनिष्ठांगुल्यवयवेऽपि वारवारणादरत्वादीनां विक्रमः शक्तिविशेषो यस्य तस्येति भुजदण्डाभ्यामाहतस्य जलस्य महाशब्दो नादुभुत इति भावः। निरीक्ष्यालोच्य चक्षुषा शृणोतीति चक्षुःश्रवा इति तद्घोषश्रवणे चक्षुःप्रवृत्तेस्तस्य वक्ष्यमाणसौन्दर्यं न किञ्चिदाकलयदिति भावः, अन्यथा दंशनासम्भवात् यद्वा, चक्षुषि श्रवः कीर्त्तिर्यस्य चक्षुषा श्रवणस्यापि सिद्धेस्तत्साफल्यं त्वधुनैवाभूदिति भावः ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

गाढरशनः द्रढीकृतवासः परिधानः ॥ ६ ॥ पुरुषसारः कृष्णः विषोच्छ्वसिताम्बुराशिः विषजुष्टप्रवृद्धवारिपूरः धनुः धनुः शतहस्तमितं देशं पर्यक्प्लुतः तीरप्रान्तमलङ्घयत् ॥ ७-८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यस्य ह्रदस्य तीरगाः स्थिरजङ्गमाः वृक्षादिरूपा मृगादिरूपाश्च प्राणिनः विप्रुष्मता शीकरयुक्तेन विषजलस्पर्शिना मारुतेनाभिमर्शिताः संस्पृष्टाः म्रियन्ते तथाविधः कश्चिद्ह्रदः कालीयस्यावासभूतः कालिन्द्यामासीदित्यन्वयः ॥ ५ ॥ सर्वलोकव्यापि व्यापनशीलं विषमेव वीर्यं बलं यस्य तं कालीयं ह्रदं वा तेन दुष्टां नदीं यमुनां चालोक्य खलानां संयमनाय दमनायाऽवतारो यस्य सः हेतुगर्भमिदं तत्त्वाद् कदम्बं वृक्षमधिरुह्य गाढा दृढीकृता रशना काञ्ची यस्य सः आस्फोट्य करतलेन भुजमुत्सङ्गं वा आहत्य

त्रातास्ततः कदम्बात् कथञ्चिद्विषोदे न्यपतत् अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वात्स कदम्बो विषजलेनापि न शुष्क इत्याहुः ॥ ६ ॥ सर्पस्य ह्रदः पुरुषवर्यस्य पुरुषोत्तमस्य निपातवेगेन संक्षोभितानामुरगाणां विषैरुच्छ्वसितः प्रवृद्धोऽम्बुराशिर्वारिपूरो यस्य विषैः कषायिताः कषायीताकृताः क्वथिताः भीषणा ऊर्मयो यस्मिन् तथाभूतः पर्यक् परितोऽद्धघनुश्शतं तत्परिमाणस्थलं प्लुत आवृतः, नैतच्चित्रमित्याह—अनन्तबलस्य तत्किं कियत् ॥ ७ ॥ तस्मिन् ह्रदे विहरतः गजश्रेष्ठस्यैव विक्रमो यस्य तस्य भगवतो भुजदण्डाहतोदकघोषमाकर्ण्य अङ्ग हे राजन् ! स्वनिलयतिरस्कारमसहमानश्चक्षुःश्रवाः सर्पः स्वसैन्यसहितः समसरदाजगाम ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विप्लुष्मता विशेषेण दहता "प्रेष प्लुष दाहे" इति धातुः विषेण विशिष्टमुदं विषोदं तेन युक्ता ऊर्मयः विषोदोर्मयः यस्य स तथा स चासौ मारुतः विषोदोर्मिमारुतः तेनाभिमर्शिता आवृत्य गृहीताः यस्य ह्रदस्य ॥ ५ ॥ तेन कालियेन खलानां संयमनार्थं निग्रहार्थम् अवतारो यस्य स तथा आस्फोटय द्विगुणीकृतहस्तप्रहारं कृत्वा गाढरशनः दृढबद्धकक्षप्रदेशः विषोदे विषमिश्रितजले ह्रद इति शेषः ॥ ६ ॥ सर्पस्य निवासभूतह्रदः सर्पह्रदः पुरुषभारस्य पुरुषवरस्य पुरुषश्रेष्ठस्य पुरुषोत्तमस्येत्यर्थः । निपातवेगेन सङ्क्षोभितस्य सञ्चालितस्य स्वस्थानस्थितिक्लिष्टस्थोरगस्य विषेण सह उच्छ्वसितः उद्रेचितः अम्बुराशिर्यस्य ह्रदस्य स तथा विषकषायेण विषक्वाथेन विषरागेण वा विभीषणोर्मिभिः भयङ्करतरङ्गोर्मिभिः भयजनक "रागे क्वाथे कषायोस्त्री निर्यासे सौरभे रसे" इति यादवः । एवंविधो ह्रदो धनुश्शतं तीरस्थानमुल्लङ्घ्य पर्यक् प्लुतः परितः उद्रिच्य गतः हरेरेतन्न चित्रमित्याह—अनन्तबलस्येति । लक्षयोजनविस्तारायामपरिमितभूप्लावनेऽपि न चोद्यं किमुत धनुःशतमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अङ्ग नृप ! शृणु वारवारणविक्रमस्य गजेन्द्रविक्रमस्य यद्वा अङ्गैरवयवैः वरणीयस्य वारणस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथा तस्य हरेर्भुजदण्डाभ्यां घूर्णस्य मन्द्रध्वनितया क्षुब्धस्य वारः जलस्य घोषमाश्रुत्य तस्मात्स्वसदनाभिभवो यस्तममृष्यमाणः चक्षुःश्रवाः सर्पः तं कृष्णं समसरत् संसृतवान् बाधितुमागतवानित्यर्थः "वरो ना रूपजामात्रोर्देवादेरीप्सिते वृते" इति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विप्रुष्मतेति जलस्तम्भविद्यया तन्मध्य एव तत्पुरीदुःखोपसर्पं तीरेषु ससर्पैर्विपुलैरिति श्रीहरिवंशदृष्टथा विलेष्वपि ॥५-६॥ पुरुषस्य भगवतः सारेण किञ्चिद्बलप्राकट्य नेत्याद्यपि ग्राह्यं कषायितेति पाठः श्रीस्वामीचित्सुखस्यापि मतः कषायीकृता इति व्याख्यानात् ॥ ७-८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

विप्रुष्मता अम्बुकणयुक्तेन विषादकतरङ्गस्पर्शिमारुतेन अभिमृष्टाः स्पृष्टाः ॥ ५ ॥ तं कालियं कदम्बमिति भाविना श्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन स एकस्तत्तीरे न शुष्कः अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वादिति पुराणान्तरमिति श्रीस्वामिचरणाः गाढं दृढं बद्धा रशना रशनापदोपलक्षिताः कुन्तलोष्णीषादयोऽपि येन सः आस्फोटय बाहुं करतलेनाहत्य ॥ ६ ॥ ततश्च पुरुषस्य कृष्णस्य सारेण बलेन यो निपातवेगस्तेन संक्षोभितानाम् उरगाणां विषैरुन्नतोऽम्बुराशिर्यस्य सः विषेण कषायीकृता रक्तपीतवर्णीकृता भयङ्करा ऊर्मयो यस्य सः "निर्यासेऽपि कषायोऽस्त्रीत्यत्र" क्षीरस्वामिना तथा व्याख्यानात् पर्य्यक् परितः धनुश्शतं प्लुतः प्रसृतः—

"अष्टभिर्यवमध्यैः स्यादङ्गुलं तैस्त्रिभिर्भवेत् । तालं त्रितालको हस्तो हस्तौ द्वौ किष्कुरुच्यते ॥

किष्कुद्वयं धनुःप्रोक्तम्" इति ॥ ७ ॥ विहरतः विचित्रजलवाद्यसन्तारादिना क्रीडतः भुजदण्डाभ्यां घूर्णा येषां तथाभूतानां वारां जलानां घोषं श्रुत्वा तत्ततो घोषादेव स्वसदनस्याभिभवं निरीक्ष्य तत्तम् असहमानः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यस्य तीरगाः स्थिरजङ्गमाः स्थावराः जङ्गमाश्च विप्लुट् विषाम्बुकणो विद्यते यस्मिन् तेन विषोदकोर्मिस्पर्शिमारुतेन अभिमर्शिताः परितः स्पृष्टा म्रियन्ते स ह्रदः आसीत् ॥ ५ ॥ खलसंगमनाः अवतारा: यस्य सः स्वयमाविर्भूतो भगवान् कृष्णः तं कालियं चण्डवेगं तीव्रवेगं यद्विषं तदेव वीर्यं यस्य तं तेन दुष्टां नदीं प्रावृषि अतिवृष्टयां सत्यां तज्जलप्रवेशादित्यर्थः । काद्रवेयैर्नियुक्तेनामृतमाहरता श्रीगरुडेनाक्रान्तत्वात्स कदम्बस्तत्तीरे न शुष्कस्तमधिरूढः गाढा दृढीकृता रशना काञ्ची येन सः बाह्वाद्याङ्गानि करतलाभ्यामास्फोट्याहत्य ततो निपतत् ॥ ६ ॥ तदा स सर्पह्रदः पुरुषसारस्य पतनवेगेन संक्षोभितानामुरगाणां विषैरुच्छ्वसितः उद्रिक्तोऽम्बुराशिर्यस्य सः विषैः कषायाः कषायीकृताः विशेषतो भीषणा ऊर्मयो यस्य सः पर्य्यक् परितो धावन् धनुः शतं प्लुतप्रसृतः एतच्चित्रं नेत्याह—अनन्तबलस्य किं तदिति ॥ ७ ॥ तस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य भुजदण्डाहतोदकघोषमाकर्ण्य तत्ततः स्वसदनाभिभवं च निरीक्ष्य तदमृष्यमाणः तत्स्वसदनाभिभवमसहमानाः समसरत्समाजगाम ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

विप्रुष्मता तदम्बुकणयुक्तेन अभिमर्षिताः स्पृष्टाः सन्तः ॥ ५ ॥ तमहिं कदम्बमधिरुह्यातितुङ्गात्ततो विषोदेऽपतत्। एष कदम्बो भाविभगवत्पदस्पर्श सौभाग्यान्न शुष्कः सुधामाहरता गरुडेन तस्मिन्नुपवेशाद्वा गाढा दृढबद्धा रसना परिकरः येनेति कुन्तलोष्णीषादेरुपलक्षणम्। वाहुं वामं दक्षिणपाणितलेनास्फोट्य आहत्य ॥ ६ ॥ पुरुषस्य हरेः सारेण वलेन यो निपात वेगस्तेनासंक्षोभितानामुरगाणां विषैरुच्छ्वसित उन्नतोऽम्बुराशिर्यस्य सः विषेण कषायां क्वाथरसो रक्तपीतवर्णता तेन विभीषणा भयङ्करा ऊर्मयो यस्य स सर्पह्रदः पर्यक् परितो धनुःशतं प्लुतः प्रसृतोऽभूत्—

अष्टभिर्यवमध्यैः स्यादङ्गुलं तैस्त्रिभिर्भवेत्। ताल त्रितालको हस्तौ हस्तौ द्वौ किष्कुरुच्यते ॥

किष्कुद्वयं धनुः प्रोक्तम्" । इति वचनात् धनुर्मानं वोध्यम् ॥ ७ ॥ तस्य विहरतो विचित्रजलवाद्यसन्तादिना विक्रीडतः भुजदण्डाभ्यां घूर्णा येषां तादृशानां वारां घोषमाश्रुत्य तद्घोषादेव स्वसदनस्याभिभवञ्च निरीक्ष्य तत्तदमृष्यमाणोऽसहं चक्षुश्रवाः सर्पः समसरदागतः ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यस्मिन् श्राप्यमाण श्रा पाके। पुगन्तः। विषजनिताग्निना क्वथ्यमानं पयो जलपुपरिगाः खगाः पक्षिणोऽपि पतन्ति कश्चित्कालिन्द्यां कालियस्य कालीयस्य संज्ञाद्वयं ज्ञेयं ह्रद आसीत् चेत्किमित्यतो वक्ति ॥ विप्लुष्मतेति। विप्लुष्मता विषाग्निकणः विषोदोर्मिमारुतेन विषविदूषितं यदुदं तस्य ये या वोर्मयस्तरङ्गास्तत्सङ्गतः सदा तेनाभिमर्शिताः स्पृष्टा यस्य तीरगाः स्थिरजङ्गमाः प्राणिनो म्रियन्ते प्राणिनोऽन्तश्चेष्टावतः कालियस्येति वाऽन्वयः। अनेन स्थिरजङ्गमा इत्यत्रत्यजङ्गमपदेन प्राणिनां लाभाचद्वारिचर इति निरस्तं ॥ ५ ॥ चण्डः प्रचण्डोऽपरिहार्यो वेगो यस्य तच्च तद्युपवीर्यं यस्य तमवेक्ष्य तेन च दुष्टां नदीं यमुनां चावेक्ष्य। किमाह वणिजो वहित्रचिन्तयेति पशुपालस्य पथिकस्येति व्यर्थेत्यतः कथयति। खलसंयमनं येन सः संयमयतीति संयमनोऽवतारो यस्य इति कृष्णः कदम्बं नीपपादपं। कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपेऽपि निकुरम्बक इति विश्वः। तन्मात्रस्य विषोर्मिवापघातेऽपि न ... गरुत्मतो हरतोऽमृतं विन्दुः पतितः करत इति। यथोक्तं मात्स्ये। गृहीत्वाऽमृतपात्रं हि गच्छन्मार्गे क्षुधार्दितः। कदम्बे कल्पं ... यमुनातीरगो विराट्। जहार मत्स्यं नीरस्थ शप्तः सौभरिणा रुपेति। सर्पराजसचिवमोचितविषभयं काननं तद्विहारार्थं रक्षितं वृक्षोऽपि तदुपान्तवर्त्यवर्ततेति वा। यथोक्त हरिवंशे। तदिदं दारुणाकारमरण्यं रूढशाद्वलं। रक्षितं सर्पराजस्य सचिवैः ... कारिभिः। वनं निर्विषयाकारं विगन्नमिव दुःस्पर्शं। तैराप्तकारिभिर्नित्यं सर्वतः परिरक्षितमित्यादि। अधिरुह्य ततस्तस्मात् तुङ्गात्प्रदेशाद्गाढरसनो दृढवद्धकाञ्चिर्दृढशब्द इति वा। यथोक्तं हरिवंशे। वद्ध्वा परिकरं दृढं ह्रदमध्येऽकरोच्छब्दं निष्पतन्भुजे ... इति। रसनं स्वादने ध्वाने रसना काञ्चिजिह्वयोरिति विश्वः। अस्फोट्य भुजेनैकेनापरं भुजं द्वाभ्यां कराभ्यामङ्कद्वन्द्व वाऽऽस्फो... यित्वा विषोदे ह्रदे न्यपतदुड्डीन कृतवान्॥६॥ सर्पस्यायं सार्पो ह्रदः पुरुषसारस्य रसः सारो वर इति गीताभाष्योक्तेः पुरुषसारः निपातस्य यो वेगस्तेन सङ्क्षोभितस्येतस्ततश्चलनवत उरगस्य सर्पस्य गतं यद्विषं तेनोच्छ्वसित उद्रेचितोऽम्बुराशिजलः यस्मिन्स विषकषायेण तत्क्वाथेन विभीषयन्ति जनानिति विभिषणा ऊर्मयस्तैस्ताभिर्वा भीमो भयङ्करः। रागे क्वार्थ कषायो ... निर्यासे सौरभे रस इति यादवः। कषायो रसभेदे स्यादङ्गरागे विलेपने। निर्यासे च कषायोऽपि सुरभो लोहितेऽन्यवदिति विश्वः ... विशेषो वा। धनुःशतं तत्प्रमाणं विष्वङ् नद्याः परित प्लुत आप्लुतः। इदं यदुपतेर्न चित्रमित्याह ॥ अनन्तवलस्य किं वर्ण्यते अनन्त वलं यस्य तस्य धनुःशतजलोत्प्लावनं किं क्रियत तर्हि वहुदवीयः पदवीं प्रति कुतो नाकारी वारिप्लावनं भगवद्भिः तत्रत्यजनार्दनं स्यादिति जानता जनार्दनेनैतावदेवाकारीति निरस्तं। अमित्तादिपदानि बन्धनानन्तपदबन्धनेन नोभयः ... विषविषमतेति द्योतयति। अनन्ते शेषे वलं परिवर्तमानं यस्य स तथा शेषशयनस्य न विषवाधेति नाद्भुतं। योऽनन्तनामा गरुडः ... दंसक इत्यादेरनन्तो गरुडस्तेन वलनं सञ्चरणं यस्य तस्येति नाद्भुतमिति ॥ ७ ॥ चक्षुरेव श्रवः श्रवणं यस्य स सर्पः ... विहरतः क्रीडतः। अङ्ग हे राजन्। वरवारणविक्रमस्य वरः श्रेष्ठो वारणो गजस्तस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य तस्य। अङ्ग ... वारणः पुष्ट इति तस्येति भुजदण्डाभ्यां घूर्णन्भ्रमन्वारुदकं तस्य घोष स्वसदनस्याभिभवस्तिरस्क्रिया येन तं ध्वनिं श्रुत्वा ... इतरसरीसृपयुतोऽमृष्यमाणोऽसहमानस्तत्तस्मात्समसरदुपगतः। वरवारणविक्रमस्येत्युक्तिस्त्वितरालक्ष्यतां निमित्तीकृत्येति वा ... विहारोत्साहो वहुलस्तस्येति वेति ज्ञेयं ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

परितो दोषमाह विप्लुष्मतेति, विन्दुसहितेन विषोदसम्बन्धिनामूर्मीणां चलनेन जातेन वायुनाभिमर्शिताः ... एवोभयकूले विद्यमानास्तीरगा भूमिष्ठा अपि प्राणिनः स्थावरा वृक्षा जङ्गमा मण्डूकादयोपि प्रमादादप्यागता म्रियन्ते, ... शाखाश्च वर्धमानास्तत्रायान्तीति तथोक्तम् ॥ ५ ॥ एतादृशो दोषः परिहरणीय इति भगवानुद्यमं कृतवानित्याह तमिति, ... भगवान् स्वयं तत्र गत इत्याह, तं कालीयं प्रसिद्धमल्पेन न निराकार्यं चण्डवेगं कालवदतिवेगवत्तरं, अत एव भगवतैव ...

इत्यवेक्ष्य कदम्बमधिरूह्य ततोतितुङ्गात् बाहुस्फोटनं कृत्वा मल्लभावाविष्करणेन विषोदे न्यपतदितिसम्बन्धः, प्रथमत एव चण्डवेगं तत्रापि विषं वीर्यं यस्येत्युपासिता देवता तस्य प्रत्यक्षेति सूचितं, अत एव भगवदतिक्रमोपि, "विषमित सर्पा" इतिश्रुतेः "तद्धैनान् भूत्वावतीति च" अत एव विषस्य चण्डवेगता गुण उक्तः, विषस्यापि पराक्रमः, तेन दुष्टामिति विशेषणांशे भरः, अत एवाधि-दैविकेन दुष्टा देवाधिदेवं विना नान्येन समोचीना कर्तुं शक्या, चकारात् तं चापि दुष्ट समीचीनं कर्तुं, खलसंयमनावतार इत्य-वतारप्रयोजनमपि तत्, खलाः परोपद्रवकारिणस्तेषां संयमो नियमनं, जीवने दोषनिवृत्तौ दोषमेव दूरीकरोति न मारयती-त्यन्यदा मारयतीतिनियमः, नियमनार्थमेवावतारः, कृष्ण इति सदानन्दो दोषनिवृत्त्यर्थं, तज्जातीयश्च कदम्बो वृक्षः, स हि तुङ्ग उच्चे वर्तते, स हि कदम्बो भगवत्कृत एव गरुडस्थानभूतः, तत्रागत्य गरुडः कालीयनिर्गमनं मारणार्थं प्रतीक्षते, गरुडकृपयैव न शुष्यति विप्लुष्मतेतिविशेषणात् सजलवायुस्पर्श एव मरणस्योक्तत्वादूर्मिजनितस्यैव वायोस्तथात्वादुच्चैः स्थितोयं महान् वृक्षो न म्रियत इतिसिद्धान्तः, प्रथमतस्तस्यारोहणं कृत्वा ततो वृक्षादतितुङ्गादत्युच्चे रोधसि प्ररूढादत्युच्चाधिदैविकेन सह समानेन युद्धं कर्तुमास्फोटनं कृत्वा मध्ये कालेन भूमौ मर्यादाभङ्गो मा भवत्विति गाढा रसना यस्य तादृशो भूत्वा नितरामास्फालनं कृतवान्, स्थानस्य क्रूरतानिर्देशो भगवन्माहात्म्यज्ञा नाय ॥ ६ ॥ ततो यज् जातं तदाह सर्पह्रद इति, पुरुसारस्य पुरुषोत्तमस्य निपातवेगे सम्यक् क्षोभितो योयमुरगस्तस्य यद् विषोच्छ्वसितं विषोच्छ्वासस्तेनोच्छ्वसितोऽम्बुराशिर्यस्य, उच्छ्वसितपदमावृत्त्या योजनीयं, एतादृशो ह्रदः, परितः प्लुत उत् प्लुतः, वर्षायामिवोच्छूनो जात उत्प्लुत्य गच्छन्निव जातो वा, भगवन्निपातेन जातक्षोभादितोन्यत्र गमिष्यामीति, विषेण कषाया विशेषेण भीषणा ऊर्मयो यस्य तादृशश्च सः, एतादृशो धावन् जातः, अधावदिति वा, अडभाव-श्छान्दसः धनु शतं हस्तानां, चतुःशतं अनन्तबलं यस्य तादृशस्य नैतदाश्चर्यं, अनन्ते काले वा बलं यस्मात्, यस्तु जगदेवोत्प्लुतं करोति विषकषायविभीषणोर्मित्वकथनात् सर्वमारकत्वं तस्योक्तं, उपासितभगवच्चरित्रमेतत् ॥ ७ ॥ भगवत्समीपमागत इत्याह तस्येति ह्रदे विहरतो भगवतः समसरत् समीपं गतः, भुजदण्डयोः प्रहारेण घूर्णायमानं यद् वार्जलं तस्य घोषमाश्रुत्य तदमृष्य-माणः समागत इति सम्बध्यते, आदौ निपाते किं जातमित्याश्चर्याविष्टस्ततः कश्चिद् विहरतीति श्रुतवान्, ततोपि तस्य बाहुप्रहारेण जले शब्दः श्रुतः, शब्दे हेतुर्वरवारणविक्रमस्येति, वर उत्कृष्टो यो वारणो गजस्तद्वद् विक्रमो यस्येति, तस्य हि स्वभावो जले विहरणं, सर्वोपमत्वाद् भगवतोपि तथा, न श्रवणमात्रेण तस्यागमनं किन्तु तेन भगवता स्वसदनस्याभिभवं श्रुत्वा तेन शब्देन वा चक्षुःश्रवा इति श्रवणदर्शने एकत्रैव, अतः श्रुतमपि दृष्टमिव मन्यते, सम्यगागत इति, स्वप्रौढिसहितः, तत्स्वसदनाभिभवममृष्य-माण इत्यागमने हेतुः ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

खलानां संयमनं येन तादृशोवतार
तं चण्डवेगेत्यत्र विषयस्य चण्डवेगतेतिव्याख्यानन्तरं, खलसंयमनावतार इत्यत्र खलानां संयमनं येन तादृशोवतार
यस्येति खलसंयमनायावतारो यस्येति वा व्यधिकरणपदबहुव्रीहिर्ज्ञेयः, दोषनिवृत्त्यर्थमिति तद्दोषनिवृत्त्यर्थं गाढरशनत्वकथन-
प्रयोजनमाहुर्मध्य इत्यादि, स्थितकालमध्येनेनागन्तुककालेन भूमौ स्थितिमर्यादाभङ्गो मा भवत्वित्येतदर्थं तथेत्यर्थः ॥ ६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अतितुङ्गादित्यत्र देवाधि-
र्तमित्यस्याभासे एतादृश इति उद्यमहेतुः पूर्ववाक्ययोः शक्योर्थः, भगवत्सामर्थ्यं तात्पर्यार्थः, अतितुङ्गादित्यत्र देवाधि-
देवादन्यस्य विषदोषनिवारणाशक्तेरुक्तत्वाद् गरुडस्य तन्निवारकत्वं न सम्भवतीत्यरुच्या सिद्धान्तमन्यमाहुः विप्रुष्मतेतीति ॥ ६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अभिमर्शिताः स्पृष्टास्तीरगाः स्थिरा
यस्य विप्रुष्मता अम्बुकणयुक्तेन विषोदोर्मिमारुतेन विषोदकतरङ्गस्पर्शिमारुतेन अभिमर्शिताः स्पृष्टास्तीरगाः स्थिरा
वृक्षादयः, जङ्गमाः पश्वादयश्च प्राणिनो म्रियन्ते स्म । एवंभूतः कालियस्य निवासरूपः कश्चिद् ह्रदः प्रवाहं त्यक्त्वा गर्तविशेषः कालिन्द्यामासीदिति द्वयोरन्वयः ॥ ५ ॥ चण्डोऽपरिहार्यो वेगो यस्य तद्विषमेव वीर्यं बलं यस्य तस्य तथाभूत त कालियमवेक्ष्य तथा नदीं यमुनां च तेन दुष्टामवेक्ष्य ततस्तन्निःसारणार्थं गाढा दृढं बद्धा रशना कटिवस्त्रं येन सः कृष्णः अतितुङ्गमत्युच्चं कदम्बवृक्षमधिरुह्य आस्फोट्य करतलेन बाहुमाहत्य ततः कदम्बात् तस्मिन् विषोदे विषयुक्तमुदं यस्मिंस्तस्मिन् ह्रदे न्यपतत् । अत्र भाविश्रीकृष्ण-कालियनिग्रहे हेतुं सूचयन्नाह—खलेति । खलानां परोद्वेजकानां यत् संयमनं निग्रहस्तदर्थमवतारो यस्य सः । अत्र भाविश्रीकृष्ण-
कालियनिग्रहे हेतुं सूचयन्नाह—खलेति । खलानां परोद्वेजकानां यत् संयमनं निग्रहस्तदर्थमवतारो यस्य सः । अथवा अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वात् स न शुष्क इति ॥ ६ ॥
चरणस्पर्शभाग्यवशादेकः स कदम्बवृक्ष एव न शुष्क इति बोध्यम् । अथवा अमृतमाहरता गरुत्मताक्रान्तत्वात् स न शुष्क इति ॥ ६ ॥
भगवतः सामर्थ्यातिशयं स्पष्टयति सर्पह्रद इति । पुरुषसारस्य पुरुषोत्तमश्रीकृष्णस्य निपातवेगेन निपतनभरेण सङ्क्षोभितानामुरगाणां विषेण युक्त उच्छ्वसित उच्छलितोऽम्बुराशिर्यस्य सः, विषेण कषायीकृता रक्तपीतादिवर्णाः विभीषणा भयङ्करा ऊर्मयो यस्य सः, सर्पस्य ह्रदः धावन् पर्यक् सर्वतः धनुःशतं प्लुतः प्रसृतः । धनुर्मानं तु—"अष्टभिर्यवमध्यैः स्यादङ्गुलं तैस्त्रिभिर्भवेत् ॥ तालं त्रितालको हस्तो हस्तौ द्वौ किष्कुरुच्यते ॥ किष्कुद्वयं धनुः प्रोक्तम्" इति ज्ञेयम् ॥ एतच्छ्रुत्वा आश्चर्यं मन्यमानं प्रत्याह अनन्तेति । अनन्तमपरिमितं बलं यस्य तस्य निपातेन तदेतत् धनुःशतं ह्रदधावनमाश्चर्यतया प्रतीयमानमपि किम् ? नाश्चर्यमित्यर्थः । यद्वा विषोद्रेकेण भगवति किञ्चिद्वैगुण्यस्याशङ्कायां तन्निरासार्थमाह—अनन्तबलस्येति । अनन्तस्य नागराजस्यापि बलं यस्मात्तस्य

तत् कालियविषं किम् ? न किमपि कर्तुं शक्तमित्यर्थः ॥ ७ ॥ अङ्ग हे राजन् ! वरवारणः गजश्रेष्ठः तद्वद्विक्रमो विहारो यस्य तस्य ह्रदे विहरतः कृष्णस्य भुजदण्डाभ्यां हततया घूर्णं यद्वार्जलं तस्य घोषं नादमाश्रुत्य तत् तस्मात् एवं तद्विहारात् स्वसदनस्याभिभवं च निरीक्ष्य तदुभयममृष्यमाणः असहमानः चक्षुःश्रवाः सर्पः समसरत् समीपमाजगाम ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विप्रुडिति ॥ यस्य विप्रुष्मता अम्बुबिन्दुयुक्तेन विषोदोर्मिमारुतेन विषोदकस्पर्शिवायुना अभिमर्शिताः स्पृष्टास्तीरगाः स्थिरा वृक्षादयः जङ्गमाः पश्वादयश्च प्राणिनो म्रियन्ते स्म ॥ ५ ॥ तमिति ॥ चण्डोऽपरिहार्यो वेगो यस्य तद्विषमेव वीर्यं बलं यस्य तथाभूतं तं कालियमवेक्ष्य तथा नदीं यमुनां च तेन दुष्टामवेक्ष्य ततस्तन्निःसारणार्थं गाढा दृढ बद्धा रशना कटिवस्त्रम् उपलक्षणमेतत् कुन्तलोऽणीषादयोऽपि येन खलानां संयमो निग्रहस्तदथम-तारो यस्या स कृष्णः अतितुङ्गमत्युच्चं कदम्बवृक्षमधिरुह्य आस्फोट्य करतलेन बाहुमाहत्य ततः कदम्बात् तस्मिन् विषोदे विषोदे विषयुक्तमुदं यस्मिंस्तस्मिन्ह्रदे न्यपतत् । अत्र भाविश्रीकृष्णचरणस्पर्शमाहात्म्य वशादेकः स कदम्बवृक्ष एव न शुष्क इति बोध्यम् । अथवा अमृतमाहरता गरुत्मताऽऽक्रान्तत्वात्स न शुष्कः ॥ ६ ॥ सर्पह्रद इति ॥ पुरुषसारस्य पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य निपातवेगेन निपतनभरेण संक्षोभितानामुरगाणां विषेण युक्त उच्छ्वसित उच्छूलितोऽम्बुराशिर्यस्य सः विषेण कषायीकृताः क्वथिताः रक्तपीतादिवर्णीकृता वा "निर्यासेऽपि कषायोऽपि" इत्यत्र क्षीरस्वामिव्याख्यानात् विभीषणा भयंकरा उर्मयो यस्य सः सर्पस्य ह्रदः धावन् पर्यक् सर्वतः धनुःशतं चतुर्हस्तो धनुः तच्छतं हस्तचतुःशतीं प्रसृतः स धनुःशतधावनम् अनन्तबलस्य भगवतः किमाश्चर्यम् ॥ ७ ॥ तस्येति ॥ अङ्ग हे राजन् ! वरवारणः गजश्रेष्ठः तद्वद्विक्रमो विहारो यस्य तस्य ह्रदे विहरतः जलवाद्यादिक्रीडां कुर्वतः कृष्णस्य भुजदण्डाभ्यां हततया घूर्णं घूर्णनं यस्य तद्यद्वार्जलं तस्य घोप नादमाश्रुत्य तत् तस्मात् तद्विहारात् स्वसदनस्याभिभवं च निरीक्ष्य तदुभयममृष्यमाणः असहमानः चक्षुःश्रवाः सर्पः समसरत् समीपमाजगाम ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

विप्लुष्मता विप्लुषोजलकणा विद्यन्ते यस्मिन् तेन विषोदस्य गरलोदकस्य ऊर्मयस्तरंगास्तेषां स्पर्शयुक्तेन मारुतेन अभिमर्शिताः स्पृष्टाः यस्य ह्रदस्य तिरगास्तटस्थाः म्रियन्ते एवंभूतो ह्रद आसीदिति सम्बन्धः ॥ ५ ॥ चंडः प्राणिनाशकत्वात् चक्षेष्यमिश्र उग्रो वेगी यस्य एवंभूतं यद्विषं तदेव वीर्यं पराक्रमो यस्य तं नागं तेन दुष्टां दूषितां नदीं चावेक्ष्य गाढा दृढबद्धा रशना कटिबन्धनवसनं येन सः कृष्णः अतितुंगं अत्युच्चं कदंबं तरुभेदमारुह्य ततः आस्फोट्य हस्तेन बाहुं ताडयित्वा विषादे ह्रदे पपात अमृतमाहरता गरुडेन विश्रमायाधिष्ठितत्वात् स एव कदम्बो न शुष्क इति पुराणान्तराद्बोध्यम् ॥ ६ ॥ सर्पेति पुरुषोत्तमस्य पतनवेगेन संक्षोभिता उरगाः सर्पास्तेषां विषैरुच्छूसित ऊर्ध्वमागतः अंबुराशिर्जलसमुहो यस्य विषेण कषायाः नीलत्वं प्राप्ताः भयानकाः ऊर्मयो यस्य सः पर्यत् सर्वतः चापशतं धावन् सन् प्लुतो विस्तृता भूदिति यत् अपरिमितसामर्थ्यस्य तत् किमाश्चर्यम् ॥ ७ ॥ तस्येति विहरतो रममाणस्य श्रेष्ठहस्तिपराक्रमस्य हरेः भुजदंडाभ्यां घूर्णं आहतं वाजलं तस्य धोषं शब्दं श्रुत्वा तत् ततः स्वसदनपराभवं च निरीक्ष्य तत्कृत्यममृष्यमाणः असहमानं चक्षूंसि एव श्रवांसि कर्णा यस्य सः नागः समसरत् आगच्छत् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विप्रुष्मतेति ॥ यस्त ह्रदस्य, तीरगाः स्थिरजङ्गमाः वृक्षादिरूपाः स्थावराः मृगादिरूपा जङ्गमाश्च प्राणिनः, विप्रुष्मता शीकरयुक्तेन, विषोदोर्मिमारुतेन विषमयजलतरङ्गाणां मारुतेन, अभिमर्शिताः संस्पृष्टाः सन्तः, म्रियन्ते, तथाविधः कश्चिद् ह्रदः कालियस्य निवासभूतः कालिन्द्यामासीदिति समन्वयः ॥ ५ ॥ तमिति ॥ चण्डवेगं स्पर्शमात्रेणैव व्यापनशील विषमेव वीर्यं यस्य तं, तं कालियं ह्रदं वा, तेन कालियेन ह्रदेन वा, दुष्टां नदीं यमुनां च, अवेक्ष्यालोक्य, खलानां संयमनाय दमनायावतारो यस्य सः हेतुगर्भमिदम् । तत्त्वात्, कृष्णः, अतितुङ्गमत्युन्नत, कदम्बं कदम्बतरुं, अवरुह्य अधिरुह्य, गाढा रशना यस्य सः, दृढनिबद्धपरिकरः सन्, आस्फोट्य करतलेन भुजमुत्सङ्गं वा आहत्य, ततः कदम्बात्, विषोदं विषमजलह्रदे, न्यपतत् । अत्र कदम्बः भाविश्रीकृष्णचरणस्पर्शभाग्येन य एकस्तीरे न शुष्कः । यद्वा । अमृतमाहरता गरुडेन साम्प्रतं घटं यथा तथा क्रान्तत्वादेवात्रैको ... पुराणान्तरे ॥ ६ ॥ सर्पह्रद इति ॥ हे धीमन्, सर्पह्रदः कालीयह्रदः, पुरुषसारस्य पुरुषोत्तमस्य यो निपातः संपतन तस्य वेगस्तेन संक्षोभिताः क्षोभ प्राप्ता ये उरगाः सर्पास्तेषां विषैरुच्छ्वसितः प्रवृद्धोऽम्बुराशिर्वारिपूरो यस्य सः, विषेण कषायीकृता भीषणा उर्मयो यस्मिंस्तथाभूतः सन् पर्यक् परितः, धनुःशतं शतधनुष्परिमाणस्थलपर्यन्तं, प्लुतः प्रसृतः, ... मित्याह । अनन्तबलस्य, तत् किं कियत् लक्षयोजनविस्तारायामपरिमितभूप्लावनमपि यत्र किंचिदिव, तत्र धनुःशतमिति किमु मिति भावः । 'चतुर्हस्तं धनुः प्रोक्तं द्विहस्त इषुरुच्यते' इति धनुष्प्रमाणम् ॥ ७ ॥ तस्येति ॥ अङ्ग हे राजन्, वरः श्रेष्ठो यो मतंगजस्तस्येव विक्रमो यस्य, ह्रदे विहरतः विहारं कुर्वतः, तस्य भगवतः भुजावेव दण्डौ ताभ्यां घूर्णस्वाहतस्य वार्जलस्य यो घोषस्तं भुजदण्डाहतोदकध्वनिमित्यर्थः । आश्रुत्याकर्ण्य, तेन यः स्वसदनस्याभिभवस्तं, अमृष्यमाणोऽसहमानः चक्षुःश्रवाः कालियः, तत्तदा, ससैन्यः स्वकीयसैन्यसहितः सन्, समसरत् सम्मुखमाजगाम ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विप्रुष्मतेति : १०.१६.५.

जातश्चेत्खलवासमङ्गतमरुत्-स्पर्शोऽप्यधः पातयत्यत्युग्रागम-योगसिद्धिनिपुणानप्यर्हतः प्राणिनः।
सङ्गोऽद्धा यदि तस्य वाच्यमिह किं तद्धन्यमाकाङ्क्षता कार्यो दुर्जनसङ्गतिर्नहि कदाप्येतत्स्फुटं तद्गिरा ॥ १२ ॥

कदम्बमधिरुह्येति : १०.१६.६.

यस्मिन् श्रीशानुग्रहप्रागभावस्तस्याप्यन्ते नेह शक्तः कृतान्तः।
जाते त्वीशानुग्रहे किं तु वाच्यमस्मिन् स्पष्टोदाहृति-स्तत्कदम्बः ॥ १३ ॥
सदम्बेषु सिद्धं कदम्बेऽपि कुर्यामदम्भेन चानुग्रहं सम्प्रतीति।
मुदाऽसौ तदाधात्पदा स्वेन गत्वा कदम्बाविलम्बावलम्बात् स्फुटार्थम् ॥ १४ ॥
वनोपो नवनीपो वा कोऽप्यस्तु भुवने तु यः। तटस्थवृत्तिः स प्रेयान् ममेत्यवोधि तच्छ्रयात् ॥ १५ ॥
आगममवलम्ब्यैवं कार्यं जडजातशोधनं विदुषा। इति किं विशदं स्वाशयमीशश्चक्रे तदागमाश्रयतः ॥ १६ ॥
कुजन्म वा न प्रतिबन्धकं हरेरनुग्रहे नापि सुजन्म कारणम्।
कुजन्मिमुख्योऽपि स भूरुहो भवत्प्रसादभाग् यत्तदवैमि तत्कृपाम् ॥ १७ ॥
नित्यागमः स हि यतोऽयमिहाधिरूढः श्रीमान् प्रभुर्भुवनविश्वविलासहेतुः।
अन्ये त्वपायिन इति स्फुटमेव तत्र शिष्टस्तरुः स हि यदीशपदावलम्बी ॥ १८ ॥
को वा कस्मिन् स्यात्प्रसङ्गे सहायो धीमानेवं चिन्तयेन् स्नेहभावम्।
सर्वैः कुर्याद्यज्जगन्नायकस्याप्यासीत् पक्षोऽहिप्रमाथे कदम्बः ॥ १९ ॥

आस्फोट्येति :

खलनिग्रहप्रसङ्गे निपुणतमो बाहुजातमहिमैव। इति तत्कारणभूतौ बाहू प्रतिबोधयंस्तथा चक्रे ॥ २० ॥
त्वामेव यास्यत्यहिरेप रोषादतस्त्वया भाव्यमविन्द्र तेन। यस्माद्भुजस्त्वं भुजगस्त्वसावित्याबोधयत्किं स्वभुज तदेशः ॥ २१ ॥

गाढरशन इति :

विधातुं भक्तानां सुखदमवनौ जीवनमहं तथा कर्तुं नाना खलमदविनाशं च सततम्।
मया कामं बद्धः परिकर इति स्वाशयमिमं प्रभुः शंसन् भक्तान् समभवदलं गाढरशनः ॥ २२ ॥
स्वोदरस्थितजनस्थितिभङ्गो मा भवत्विति धिया स दयालुः। विश्वविश्वपरिरक्षणचित्तः साधु तत्परिकरोदर आसीत् ॥ २३ ॥
सपरिकरमेव भुवनं निर्भयमधुना करोमि सुखशालि। इत्यखिलबोधनार्थं दयालुरासीत्स्वयं स सपरिकरः ॥ २४ ॥
यस्य स्यादुदरं सुराशनगुणश्रीकं न तस्याखिले ब्रह्माण्डेऽपि भयं जरामृतिभवं नाप्यन्यदीयं भयम्।
क्षुद्रेऽस्मिन् भुवने स निर्भयतयैवान्योपकारेह्याऽऽत्मानं केलिपदं नयेदिति तथा कृत्याऽच्युतोऽबोधयत् ॥ २५ ॥
निःसार्य काकोलमकारि सिन्धुपयो यथा प्रागमृतातिशायि।
तदेव संप्रत्यपि कृत्यमस्तीत्यासीत् क्रिमीशः स तथाप्रयत्नः ॥ २६ ॥
अवितुं भुवनमशेषं त्वनर्हमपि किमिह नहि सहेय। आशयमिमं विशदयन् स्वीचक्रेऽधोगतिं तदा कृष्णः ॥ २७ ॥
दुर्जनप्रबलगर्वहारकं भूमिजावतरणं हि मे मतम्। बोधयन्निति तदाऽच्युतो चिराच्छाखिनः स भुवने ह्यवातरत् ॥ २८ ॥
स्वागमे मम तटस्थवस्थितिः सर्वदा तु भुवने विहारभाक्। बोधयन् द्वितयमेतदच्युतस्तात्दशस्थितितयाऽऽस यत्तदा ॥ २९ ॥
आद्याक्षरमं सुलभं भक्तानां वीक्षितुं हरे रूपम्। यन्नापे स न दृष्टः कृष्णो भुवने न्यलोकि गोपालैः ॥ ३० ॥ (युग्मम्)

सर्पह्रद इति : १०.१६.७.

मज्जीवनक्षोभकरः प्राप्तः कोऽयमिति क्रुधा। ह्रदः शतधनुःसंस्थाच्छरौघान् व्याश्रितानधात् ॥ ३१ ॥
क्रुद्धश्चेत्परमेश्वरस्तदिह रुट्शान्त्यै प्रसादाय च सत्कुर्याद्वसुदानपूर्वमभितो धर्मं हि नानाविधम्।
आलोच्यैवमवेक्ष्य चाच्युतमपि क्रुद्धं स सर्पह्रदश्चक्रे धर्मशतं लसद्वसु मुदं नेतुं तमेतन्मिषात् ॥ ३२ ॥
त्वमेकमौलिः शतमौलिरेष यत् त्वत्तः शतांशैरधिको बलेन हि।
इतीह विज्ञाय कुरु प्रभोऽमुना वैरं ह्रदः किं स जगाद तन्मिषात् ॥ ३३ ॥
धनवन्तरिस्तुतयशाः स किलायमद्य प्राप्तो हि रोगरहितं ब्रत मां विधातुम्।
जानन्निति ह्रदवरः स हि तन्मिषेण रोगस्थलं सुलभदर्शनयोग्यमाधात् ॥ ३४ ॥
भवह्रदोऽयं विषमस्वभावः क्षोभं गतोऽप्यत्र मम प्रवेशात्। न बाधते मां न मदीयभक्तानपीत्यबोधि ह्यमयोरमीत्या ॥ ३५ ॥

तस्येति : १०.१६.८.

साक्षी यद्यपि चिन्मयोऽस्मि च तथाप्यस्मिन् भवाम्भोनिधौ लीलालम्बितविग्रहश्च विहराम्येव स्वभक्तावनम्।
कर्तुं दुष्टविमर्दनं च तरसेत्यापामरख्यातये मन्ये सज्जनवत्सलेन विभुना तद्वाविहारः कृतः॥ ३६॥
प्रागासीद्विग्रहो युक्तः स मया च विनाऽधुना। काऽयमाप्नोति मृदङ्गविग्रहोऽतिरुषाऽगमत्॥ ३७॥
परगृहे परगत्वमचिन्तयन्निजगमे तदिति स्मयसम्भृतः। भवति यः स हि जिह्मगतिः स्फुटं प्रभुगृहं यदहिःस्वमदोऽब्रवीत्॥ ३८॥

कृष्णप्रिया

उसके विषैले जल की उत्ताल तरङ्गों का स्पर्श करके तथा उसकी छोटी-छोटी बूँदें लेकर जब वायु बाहर आती और तट के घास-पात, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि का स्पर्श करती, तब वे उसी समय मर जाते थे ॥ ५ ॥ परीक्षित्, भगवान् का अवतार तो दुष्टों का दमन करने के लिये होता ही है। जब उन्होंने देखा कि उस साँप के विष का वेग बड़ा प्रचण्ड (भयंकर) है और वह भयानक विष ही उसका महान् बल है तथा उसके कारण मेरे विहार का स्थान यमुनाजी भी दूषित हो गयी हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण अपनी कमर का फेंटा कसकर एक बहुत ऊँचे कदम्ब के वृक्ष पर चढ़ गये और वहाँ से ताल ठोंककर उस विषैले जल में कूद पड़े ॥ ६ ॥ यमुनाजी का जल साँप के विष के कारण पहले से ही खौल रहा था। उसकी तरङ्गें लाल-पीली और अत्यन्त भयङ्कर उठ रही थी। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के कूद पड़ने से उसका जल और भी उछलने लगा। उस समय तो कालियदह का जल इधर-उधर उछलकर चार सौ हाथ तक फैल गया। अचिन्त्य अनन्त बलशाली भगवान् श्रीकृष्ण के लिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ७ ॥ प्रिय परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्ण कालियदह में कूदकर अतुल बलशाली मतवाले गजराज के समान जल उछालने लगे। इस प्रकार जलक्रीडा करने पर उनकी भुजाओं के टक्कर से जल में बड़े जोर का शब्द होने लगा। आँख से ही सुनने वाले कालिय नाग ने वह आवाज सुनी और देखा कि कोई मेरे निवास स्थान का तिरस्कार कर रहा है। उसे वह सहन न हुआ। वह चिढ़कर भगवान् श्रीकृष्ण के सामने आ गया ॥ ८ ॥

> तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
> क्रीडन्तमप्रतिभयं[1] कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा [2]भुजया चछाद ॥ ९ ॥
> तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा [3]भृशार्ताः।
> [4]कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥ १० ॥
> गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः। [5]कृष्णेन्यस्तेक्षणप्राणाः क्रन्दन्त्य[6] इव तस्थिरे ॥ ११ ॥
> अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः। उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् अप्रतिभयं क्रीडन्तं कमलोदराङ्घ्रिं तं रुषा मर्मसु संदश्य भुजया चछाद ॥ ९ ॥ तं नागभोगपरिवीतम् अदृष्टचेष्टम् आलोक्य भृशार्ताः दुःखानुशोकभयमूढधियः तत्प्रियसखाः कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामाः पशुपाः निपेतुः ॥ १० ॥ गावः वृषाः वत्सतर्यः कृष्णे न्यस्तेक्षणाः सुदुःखिताः भीताः क्रन्दमानाः रुदन्त्यः इव तस्थिरे ॥ ११ ॥ अथ अतिदारुणाः आसन्नभयशंसिनः भुवि दिवि आत्मनि (इति) त्रिविधाः महोत्पाताः व्रजे उत्पेतुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवदुज्ज्वलश्च तं श्रीवत्सपीतवसनं ह्रदे विहरतः श्रीवत्सेन संयुक्तभुजबलत्पीतं वस्त्रं यस्य तं भुजया भोगेन चछादावेष्टयत् ॥ ९ ॥ स प्रियो येषां ते तत्प्रियास्ते च ते सखायश्चेति तथा ॥ १०-११ ॥ भुवि भूकंपादयः दिवि उल्कापातादयः आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः। आसन्नं भयं शंसितुं शीलं येषां ते ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तम् कृष्णम् अवदातः श्यामः "अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे निरामये" इति शाश्वतः। मर्मसु यत्र ताडनादिनाऽधिकं पीडां मृत्युर्वा जायते तत्स्थानं मर्मेति। अप्रतिभयम् निर्भयम्। भुजयोर्भोगेन शरीरेण "भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि" इति मेदिनी। भुजति कुटिलीभवतीति भुजा 'भुजो—कौटिल्ये' इगुपधत्वात्कः ॥ ९ ॥ सः श्रीकृष्णः। परिवीत परिवेष्टितम्। न दृष्टा चेष्टा हस्तपादादिचालनरूपा यस्य तम् ॥ १० ॥ वत्सतर्यः गर्भाधानयोग्यवयसः ॥ ११ ॥ आसन्नम् निकटम् ॥ १२ ॥

१. प्रतिबलं। २. भुजगश्छाद–वीर. विज.। ३. भयार्ताः–वीर.। ४. कृष्णार्पितात्म–वीर.। ५. कृष्णन्यस्तेक्षणाः–वीर. विज.। ६. क्षमा भीता रुदत्य–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तादृशोऽपि दुष्टोऽसौ तथाऽचेष्टतेति कालियस्य महापराधं दर्शयन् व्रजजनभावेनानुशोचन् विशिनष्टि—प्रेक्षणीयेत्यादिना। क्रीडन्तमित्यत्र हेतुः अप्रतिभयमिति तच्च कालियस्य निर्बुद्धित्वं सूचयति, चक्षुःश्रवा इति, प्रस्तुतत्वादेव ज्ञेयं कया भुजया भुजाकारत्वात्तस्य भोग एव भुजा यतो भुजग इत्यप्युच्यते तस्माद्भोगेनेत्यर्थः। भुजग इति पाठे भोगेनेति शेषः॥ ९॥ तस्य प्रियसखा इति परमसौहार्दमुक्तं पशुपा इति स्वभावसारल्येन सुस्निग्धचित्तत्वं कृष्णे अर्पिता आत्मानः सुहृदादयश्च यैस्ते तत्साहाय्याय कृतसर्वार्पणा इत्यर्थः। तत्र सुहृदः पितृभ्रात्रादयः अर्था धनानि कामा लोकद्वयभोगाः सुहृच्छब्देन गृहीतस्यापि कलत्रस्य पृथङ्निर्देशो विशेषविवक्षया किन्तु कलत्रपदेन केचिल्लब्धयज्ञोपवीता ये ज्येष्ठास्ते च सखायो लभ्यन्त इति सर्वेषां तेषामनन्यापेक्षत्वम् अतो भृशार्ता अत्यर्थदुःखिताः सन्तः आर्त्तस्वरेण क्रन्दन्तो वा अत एव दुःखेन अनुशोकः वारं वारं शोचनं भयं च तं विना कथं भविष्याम इति ताभ्यां मूढा विवेकहीना धीर्येषां तथाभूता नष्टचेतना वा सन्तः यद्वा नागभोगपरिवीतमालोक्यादौ भृशार्ताः अदृष्टचेष्टं चालोक्य दुःखानुशोकभयैर्मूढधियः सन्तो नितरां छिन्नमूलवृक्षवदचेष्टत्वादिना पेतुः मूढधीत्वादेव तं ह्रदं प्राविशन्निति ज्ञेयं तज्जलाप्लुतदेशपतनेप्येषां विषाक्रान्तत्वाभावः। श्रीकृष्णस्य स्पर्शप्रभावेन ह्रदस्यापि निर्विषीकरणात् अदृष्टचेष्टितत्वं च कालियस्य निःसारणाय तस्मिंस्तत्पत्नीषु च तद्दोषातिशयप्रदर्शनार्थम्॥ १०॥ क्रन्दमानां आर्त्तनादमुच्चैः कुर्वत्यः इवेति लोकोक्तौ रुदन्त्यः रुदत्यः अश्रूणि मुष्णन्त्यः तस्थिरे इति परमवत्सलानां गवादीनामत्यन्तशोकेनापि स्तब्धतापत्तेः कदाचिद्वज्रविशेषघातेन मृतस्यापि प्राणिन ऊर्द्ध्वावस्थितिवत् आत्मनेपदमार्षं गवाद्युपलक्षितत्वेन महिष्यादयो हरिण्यादयश्च ज्ञेयाः पशुश्चेति वक्ष्यमाणात् तेषां किञ्चिद्दूरचरत्वेन पश्चादागमनादत्रानुक्तिरियमिति ज्ञेयम्॥ ११॥ अथानन्तरमेव दारुणाः स्वभावतो महाभयङ्कराः महोत्पाताश्च महादुर्निमित्तं स्वभावतः॥ १२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तादृशेऽपि दुष्टोऽसौ तथाचेष्टतेति कालियस्य महापराधं दर्शयन् भावविशेषेणानुशोचन् विशिनष्टि, तं प्रेक्षणीयेत्यादिना। क्रीडन्तमित्यत्र हेतुः—अप्रतिभयमिति, यद्वा, अप्रतिभयमपि सदश्य चच्छादेति कालियस्य निर्बुद्धित्वं सूचयति, यद्वा, अप्रतिभयं यथा स्यात्तथा सन्दश्य चच्छाद। चक्षुःश्रवा इति प्रस्तुतत्वादेव ज्ञेयम्। कया? भजया भोगेन, भुजगस्य भोगेनैव गमनेन भुजस्यैव भोगत्वात्, 'भुजगः' इति पाठेऽपि स एवार्थः। तत्त्वतस्तु मर्म्मसु दशनं तत्तदंगचुम्बनसौष्ठवं भोगेनाच्छादनञ्च सर्व्वांगनिविडालिंगनमिति ज्ञेयम्, अतो रुषेव रुषा वस्तुतस्तु प्रेम्णैवेति, यतः प्रेक्षणीयेत्यादि, अतएवाग्रे तं प्रति श्रीभगवतो महानुग्रहो भावीति॥ ९॥ तस्य प्रियसखा इति परमसौहार्द्दमुक्तम्। पशुपा इति स्वभावतः सुस्निग्धचित्तत्वम्। कृष्णे अर्पिता आत्मनः सुहृदादयो यैरात्मनः सुहृदादयश्चेति वा; तत्र सुहृदः पितृभ्रात्रादयः, अर्था धनानि, कामा लोकद्वयभोगाः सुहृच्छब्देन गृहीतस्यापि कलत्रस्य पृथङ्निर्द्देशोऽर्पणविशेषविवक्षयेरनन्यापेक्षत्वम् अतो भृशार्त्ता अत्यर्थं दुःखिताः सन्तः आर्त्तस्वरेण क्रन्दन्तो वा, अतएव दुःखेनानुशोको वारम्वारं शोचनं भयञ्चानाथत्वादिना; ताभ्यां मूढा विवेकहीना धीर्येषाम्; तथाभूता नष्टचेतना वा सन्तः; यद्वा, नागभोग-परिवीतमालोक्यादौ भृशार्त्ताः, अदृष्टचेष्टञ्चालोक्य दुःखानुशोकभयैर्मूढधियः सन्तो नितरां छिन्नमूल-वृक्षवदचेष्टत्वादिना पेतुः। मूढधीत्वादेव ते तद्ह्रदं न प्राविशन्निति ज्ञेयम्। अदृष्टचेष्टत्वञ्च श्रीवृन्दावनाश्रितस्यापि कालियस्य निःसारणाय तेष्वन्येषु च लोकेषु तद्दोषातिशय-प्रदर्शनार्थं तत्प्रेमालिंगनानन्देन स्तब्धीभूतमिति तत्त्वार्थः॥ १०॥ क्रन्दमाना आर्त्तनादमुच्चैः कुर्व्वत्यः, इवेति लोकोक्तौ, क्रंदन्त्यो रुदत्योऽश्रूणिमुञ्चन्त्यः। 'तस्थिरे' इति परमवत्सलानां गवादीनामत्यन्तशोकेनातिस्तब्धतापत्तेः। कदाचिद्वज्रविशेषघातेन मृतस्यापि प्राणिन ऊर्द्ध्वावस्थितिवत्। आत्मनेपदमार्षम्। वत्सतराणां वृषेष्वन्तर्भावो ज्ञेयः, प्राधान्याद् गवादयो व्यक्तमुक्ताः, किञ्च, महिष्यादयो ग्राह्या हरिण्यादयश्च। वन्याः सर्व्वेऽपि पशवस्तादृगवस्था एव ज्ञेयाः। पशू श्चेति वक्ष्यमाणत्वात्तेषां गवादिभ्यः किञ्चिद्दूरचरत्वेन पश्चादागमनादत्रानुक्तिरिति ज्ञेयम्॥ ११॥ अथानन्तरमेवातिदारुणाः स्वरूपतो महाभयंकरा महोत्पाताश्च महादुर्निमित्तस्वभावतः, किंवा, पूर्वोक्तन्यायेन भागवत-प्रवर-श्रीनन्दादिषु कालियस्य परमदुष्टताप्रदर्शनाय एतेषां तत्रागमनार्थम्॥ १२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

फणां चच्छाद छादयामास पशवः पशुप्रायाः तत्प्रभावानभिज्ञाः॥ १०-११॥ आत्मनि शरीरे भुवि श्रृगालरुतादि दिवि निर्घातादि आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादि॥ १२-१६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भुजगः कालियस्तं कृष्णं मर्मसु सन्दश्य चच्छाद वेष्टितवान्, कथम्भूतम्? प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवन्निर्मलश्च तं श्रीवत्सशब्दोऽत्रार्ष आद्यन्तः श्रीवत्सयुक्तं पीतं वस्त्रं यस्य तं च स्मितेन सुन्दरमाननं यस्य प्रतिपक्षाङ्कयरहितं कमलवदुदरमङ्घ्री च यस्य तम्॥ ९॥ नागस्य भोगेन देहेन वेष्टितमत एवादृष्टा इतरैरलक्षिता चेष्टा यस्य तं कृष्णमालोक्य तस्य कृष्णस्य प्रियास्सखायः

गोपाः भयेनार्त्ताः कृष्ण एवार्पिता आत्मानो मनांसि शरीराणि वा सुहृदादयश्च यैस्तथाभूताः अर्थो वित्तं कामा इष्टार्थाः दुःखादिभिः मूढा धियो येषां ते निपेतुः दुःखं मानसिकं शोको रोदनम् ॥ १० ॥ वत्सतर्यो दम्याः सुतरां दुःखिताः क्रन्दमाना आह्वयन्त्यः कृष्ण एव न्यस्तानीक्षणानि याभिस्ता रुदन्त्य इव तस्थुः ॥ ११ ॥ दिवि भुव्यात्मनीत्येवं त्रिविधा आसन्नभयसूचका उत्पाता बभूवुः तत्र भुव्युत्पाताः भूकम्पादयः दिव्युल्कापातादयः आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः ॥ १२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अवदातः श्यामलः "अवदातोऽरुणे पीते श्वेते श्यामे निरामये" इति च, च्छाद आच्छादितवान् आवृतवानित्यर्थः ॥ ९ ॥ परिवीतं परिवेष्टितम् अदृष्टचेष्टं निश्चेष्टम् ॥ १० ॥ वत्सतर्यः गर्भाधानयोग्यवयसः ॥ ११ ॥ त्रिविधाः इत्युक्तं विवृणुते-दिवीत्यादिना । दिवि उत्पाताः आदित्यमण्डले कबन्धादिदर्शनं निर्घातादिभिः भुवि कम्पादिकिम् आत्मनि देहे वामनेत्रस्फुरणादि आसन्नभयशंसिनः समीपं भयसूचकः ॥ १२–१४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

श्रीयुक्तं वत्सं वक्षो यस्य पीतं वसनं यस्य स च स च तं भुजाकारत्वात्तस्य भोग एव भुजा यतो भुजग इत्युच्यते तस्माद्भोगेनेत्यर्थः । भुजग इति पाठे भोगेनेति शेषः ॥ ९–१३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ कालियस्य दौर्जन्यवर्णनद्वारा सौभाग्यविशेषमेव वर्णयन्नाह—तं प्रेक्षणीयेत्यादि । तं श्रीकृष्णं भुजग्रहणं द्वित्वाभावस्त्वार्षः, भोगेन छादयामास, तदङ्गसङ्गालिङ्गनेन सौभाग्यमेव । किं कृत्वा ? रुषा मर्मसु सन्दश्य सच्चिदानन्दघने मर्मसु दशनैरालिख्य । प्रेक्षणीयो नवोदितत्वादतिशयदर्शनीयः सुकुमारः सुस्निग्धो यो घनस्तत्स्वरूपोऽपि अवदातः सुष्ठुतेजाः 'अवदातः सिते पीतः' इत्युक्तेः तेजसश्च शुभ्रधर्मत्वात् । वर्णमहिमा घनाभस्तेजोमहिम्ना सर्वप्रकाश इत्यर्थः । यद्वा, घनावदातो घनज्योतिघनानन्दवत् श्री–वत्से श्रीयुक्ते लक्ष्मीलक्ष्मभूषिते वत्से वक्षसि पीतवसन यस्य । यद्वा, श्रीवत्सं दक्षिणावर्त्त सूक्ष्मरोमराजिः श्रीर्लक्ष्मीर्वक्षःस्थलस्था लक्ष्मीस्तया वत्ससुरश्च । पश्चात् श्रीवत्सश्च श्रीवत्सश्चेत्येकशेषे श्रीवत्सम्, तत्र पीतवसनं प्रालम्बाकारेण स्थितं पीतोत्तरीयं यस्य । एतेन तादृशास्फलानवेगेनापि यथास्थितमुत्तरीयञ्च न लगितमित्यवहेलानिःशङ्कतादिकं ध्वनितम् । अतः स्मितसुन्दरास्यं स्मितयुक्तं सुन्दरास्यम्, न तु स्मितेन यति यति असौ दशति, तति तत्येवास्य स्मितं वर्द्धते, तेन युक्तं सुन्दरं मुखं यस्येत्यर्थः । अप्रतिमयं यथास्यात्तथा क्रीडन्तं तेन सहैव क्रीडन्तमिव, एतेन भगवतः कोपाभावः सूचितः ॥ ९–१२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तं प्रेक्षणीयेत्यादि । प्रेक्षणीयः सुन्दरः सुकुमारः सुकोमलो घन इव घनश्यामल इति यावत्, तथाप्यवदातस्तुल्यः श्रीर्लक्ष्मीस्तद्युक्तं वत्सं वक्षस्तत्र पीतवसनं यस्य । तावता आवेगेनापि जलनिपाते वक्षसः पीतवासो न स्खलितमिति तात्पर्यम् ॥ ९–१३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रेक्षणीयमतिसुखदमपि रूपं कालियं प्रति विपरीतमभूदित्याह तमिति । घनवदुज्ज्वलं श्रीवत्से विहारवशात् आदौ पीतं वसनं यस्य तं यद्वा श्रिया लक्ष्मीरेखया युक्तं वत्सं वक्षो यस्य पीते वसने यस्य स च स च तम् "उरो वत्सं च वक्षश्च" इत्यमरः भुजया भोगेन ॥ ९ ॥ परिवीतं वेष्टितम् अदृष्टचेष्टमिति कालियस्योत्साहवर्द्धनार्थं क्षणं भीतस्तब्धवत् स्थितं यद्वा अरे कालिय त्वं यथेष्टं प्रथमं दश्यतां वेष्ट्यताम् अहं पश्चात् बलं दर्शयिष्यामीति वीरदर्पेण स्थितं पशुपाः केचित् गोपाः शालिक्षेत्रस्थाः कृष्णमुखात् ॥ ११ ॥ शीघ्रमायाताः ते कीदृशाः कृष्णेऽर्पिता लालनार्थमात्मादयो यैस्ते ॥ १० ॥ रुदन्त्य इवेति भयवैयग्र्येणाश्रूणां शोषात् ॥ ११ ॥ त्रिविधाः भुवि भूकम्पादयः दिवि उल्कापातादयः आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः भगवतः खल्वमङ्गलाशङ्काराहित्येपि यदुत्पाताः तद्गवां गोपादीनां च दुःखसूचनार्थं किंवा तत्तदधिष्ठातृदेवानामपि कृष्णे प्रीतिमत्वेनैश्वर्य्यविस्मरणात् कृष्णेप्यशुभाशङ्किनः सन्तः प्रकटयामासुरिति ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

आगत्य किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह—तमिति । तं श्रीकृष्णं मर्मसु सन्दश्य भुजया भोगेन च्छाद अविष्टवत् ॥ ९ ॥ स प्रियो येषां ते तत्प्रियाः ते च ते सखायश्च ते तथा ॥१०॥ आसन्न सन्निहितं भयं शंसितु शीलं येषां ते ॥ १२–१२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

परममनोज्ञमपि तद्रूपं कालियं प्रति विपरीतमभूदित्याह तमिति। घनावदातं मेघवदुज्ज्वलं श्रिया रेखारूपया युक्तं वत्समुरो यस्य पीते वसने यस्य स च स च तम्। भुजया भोगेन॥ ९॥ परिवीतं वेष्टितं अदृष्टचेष्टमिति त्वया आदौ यथेष्टं वेष्ट्यतामहन्तु पश्चाद्विक्रमं दर्शयिष्यामीति वीरदर्पेण स्थितमित्यर्थः। पशुपाः केचिद्गोपाः शालिक्षेत्रस्थाः कर्षकाश्च शीघ्रमागताः ते कीदृशाः? लालनार्थं कृष्णेऽर्पितात्मादयो यैस्ते कामभोग्याः दुःखेनानुशोको मुहुः शोचनं तं विना कथं भविष्याम इति भयं ताभ्यां मूढा निर्विवेका धीर्येषां तादृशाः सन्तो निपेताश्छिन्नमूलतरुवन्निपेतुः॥ १०॥ रुदन्त्य इवेति भयवैयग्र्येण तदश्रूणां विशेषणात्॥ ११॥ त्रिविधाः भुवि भूकम्पादयः दिव्युल्कापातादयः आत्मनि च वामनेत्रस्पन्दनादयः इयमशुभसूचना तल्लीलाशक्त्यैव तत्र व्रजौकसां विशुद्धमनस्कतया समाकर्षणाय रचिता नहि भगवति सपरिकरे सा सन्तरेत्॥ १२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

प्रेक्षणीयश्चातिसुन्दरश्चासौ सुकुमारश्चासौ घनवन्मेघवदवदातः श्यामस्तं। अवदातोऽरुणे श्यामे पीते श्वेते निरामय इति यादवः। श्रीवत्से वक्षसि यस्य स चासौ पीतं वसनं यस्य स च तमुरो वत्सं च वक्षश्च। वत्सं तु वक्षसीत्यमरविश्वौ। स्मितेन सुन्दरमास्यं यस्य स तमप्रतिभयं प्रति प्रतिस्थितप्रतिभटभयशून्यम्। तु विप्रति नरमित्यृग्भाष्ये महान्प्रतिस्थश्च नु विप्रतिरीरित इत्युक्तेः विस्तरस्तु तट्टीकादितोऽनुसन्धेयः। क्रीडन्तं कमलोदराङ्घ्रिमुदरनाभिश्चाङ्घ्रिः पादश्च तौ कमले इव तस्य तमिति केचित्। कमलोदरवदङ्घ्रिर्यस्य स तं पद्मगर्भारुणेक्षणम्। पद्मोदरसुन्दराभ्यामित्यादेः। मर्मसु सन्दश्य भुजया वाहेयेतिवद्भुजाशब्दश्चावन्तः। भोगेनेति यावत्। चच्छादापावृणोत्। तं नागभोगेत्युत्तरोक्तिस्वारस्यात्सरसः पाठः। ललितभुलया वाहयेति प्रयोगाद्भुजग इति लेखकगतिः॥ ९॥ यस्मिन्कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा अर्पिताः सुहृदो बान्धवा अर्था रायः कलत्रं भार्याः कामोऽप्रेक्षणीयसर्वविषयो यैस्ते नागभोगपरिवीतम्। अत्र नागपदद्दृष्ट्या भोगशब्दः शरीरमात्रपरः। सरीसृपशरीरबद्धमदृष्टचेष्टं स्वतः सचेष्टमपीतरादृष्टा चेष्टा यस्य तं विलोक्य सप्रियो येषां ते च ते सखायश्चेति ते पशुपा गोपा भृशमार्ता दुःखं चान्तरङ्गिकं तदनुशोको बहिरश्रुप्रदर्शनं भयं चैतैर्मूढा कर्तव्यास्फूर्तिहेतुर्धीर्येषां ते निपेतुः॥ १०॥ वत्सतर्यो गर्भाधानयोग्यवयस्काः क्रन्दमानाः क्रोशमाना रुदन्त्य इव तस्थिरे। छान्दसमात्मनेपदम्। इत्याश्चर्यात्मकमव्ययं वतस्थिरेऽवतस्थिरे। वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरित्युक्तेरल्लोपे समवप्रविभ्यस्थ इति वात्मनेपदता॥ ११॥ व्रजेऽतिदारुणा त्रिविधा उत्पाता उत्पेतुः। तान्प्रकारानुदीरयति। दिवि सवितरि सुषिरादिदर्शनं भुवि कम्पादिरात्मनि देहे पुंसि वामलोचनादिस्फुरणं वामलोचनानां दक्षिणाक्ष्यादिस्फुरणादीनिति तत्फलं लपति। आसन्नभयशंसिन आसन्नमतिसमीपसमापतद्भयं तच्छंसितुं शीलं येषामातीति ते तथा। अन्ततो गत्वा किंरूपास्त इत्यतोऽत्याह॥ आसन्निति। अभयशंसिनोऽभयं शंसितुं शीलं येषां ते तथा त आसन्॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

ततोपराधं कृतवानित्याह तमिति, अयुक्तं कृतवानिति वक्तुं भगवन्तं वर्णयति प्रेक्षणीयमिति, प्रेक्षणीयश्चासौ सुकुमारश्चासौ घनावदातश्च सात्त्विकादित्रिविधानामप्यादरणीयः, अनेन लोकविरुद्धं तेन कृतमित्युक्तं भवति, परमार्थतोपि विरुद्धं कृतवानित्याह श्रीवत्सेन सहितं पीतवसनं यस्य, प्रमेयविरोधः प्रमाणविरोधश्चोक्तः, स्मितयुक्तं सुन्दरमास्यं यस्येति भक्तिमार्गविरोधश्च, क्रीडन्तमिति रसशास्त्रविरोधश्च, अप्रतिभयमिति नीतिशास्त्रविरोधश्च, कमलोदराङ्घ्रिमिति सर्वोपास्यत्वेन जगद्विरोधश्च, तत्रापराधं कृत्वा स्वस्थानं, नेष्यामीति विचार्य रोषेण भुजया स्वकायेन फणेन वा आच्छादितवान् वेष्टितवान् वा॥ ९॥ ततो यज्जातं तदाह तमिति, नागशरीरेण परिवीतं शेषशयनाभिनयकर्तारभत एवादृष्टचेष्टमालोक्य प्रलयो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य भगवतः प्रियाः सखायश्च तादृशा भृशमार्ता जाताः, ते ह्यात्मनिवेदिनः, आत्मनिवेदिनां न पृथक् स्थातुमुचितं, अत एव व्याकुला जाताः, तदाह, कृष्णे भगवत्यर्पित आत्मा सङ्घातः सुहृदो मित्राण्यर्थो धनं कलत्रं स्त्री कामाः पुत्रादयः, सर्वं एवार्पिता यैः, अत एव दुःखं, आत्मापि तत्र वर्तत इति, अनु पश्चाच्छोकश्च, सुहृदोपि तत्र निवेदिता इत्युभाभ्यां मूढा भयेन च गुणत्रयकार्यैस्त्रिभिरपि मूढा धीर्येषां ते, पूर्वं जीविता अपि मूर्छिताः सन्तो निपेतुः॥ १०॥ गावोपि गोपालवज्जाता इत्याह गाव इति, स्त्रियः पुरुषा बालाश्च क्रन्दमानाः सुदुःखिता जाताः, तेषां चित्ते सात्त्विकत्वाभावान्न मूर्छिताः किन्तु कृष्णे न्यस्तानीक्षणानि प्राणाश्च यस्य, ते सर्पादिभेदं न जानन्ति, पश्यन्ति च कृष्णं, किन्त्वगम्ये तिष्ठतीति दुःखिताः, क्रन्दन्त्य इति ग्राम्यपशुसङ्घत्वात् स्त्रीप्रयोगः, "ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री"त्यनुशासनात्, यथा वा विवेकयुक्ताः स्त्रियो रुदन्ति तद्वदेव तस्थिरे, सर्वं एव देवा लोका भूतानि च कालादयोपि भगवाञ् शेषशायी प्रलयं करिष्यतीति ज्ञात्वा प्रलये यावन्त उत्पातास्तान् सर्वानेव कृतवन्तः॥ ११॥ ततो गोकुलवासिनस्तान् दृष्ट्वा भीता जाता इति वक्तुं प्रकृतोपयोगित्वाच्च व्रज एवोत्पातान्

वर्णयत्यथेति, सर्वकालविलक्षणार्थमथेति, महोत्पाताः प्रलयकालीना दिवि भुव्यन्तरिक्षे चेति त्रिविधाः, हि युक्तश्चायमर्थः, प्रलये हो ते कर्तव्या अन्यथाधिकारिणो दण्ड्याः स्युः, किञ्च शीघ्रमेव प्रलया भविष्यतीत्यासन्नभयशंसिनः, सूचका अपि स्वरूपतोपि भयानका इत्याहातिदारुणा इति दिव्युत्पेतुरुल्कान्ताः, भुव्यात्मनि शरीरे चोत्पन्नाः एकदोत्पन्नत्वादतिशीघ्रमेव पर्यवसायित्वम् ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तमित्यत्र प्रेक्षणीयत्वेन ज्ञानयोग्यत्वात् "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान" मितिवाक्यात सात्त्विकानामादरणीयः, सुकुमारत्वात् स्वरूपलाभेन 'रजसो लोभ एवे' तिवाक्याद् राजसानामादरणीयः, घनावदातत्वेन नीलश्वेतरूप इति वर्णतः साजात्यात् स्वदोषनिवृत्त्यर्थं तामसानामादरणीय इत्यर्थः, प्रमेयेति श्रीवत्सस्याक्षरात्मकत्वात् पीताम्बरस्य च वेदरूपत्वात् प्रमेयत्वप्रमाणे, नीतिशास्त्रविरोध इति एतादृशदुष्टजले निर्भयश्चेत् किञ्चित् कारणं, तत्र विचार्यं कर्तव्यं न तु सहसेति नीतिस्तद्विरोध इति ॥ ९ ॥ तमित्यत्र आर्ता जाता इति प्रलये आत्मरमणेन नास्माकं सेवा सेत्स्यतीति भावः, प्रियसखा इति प्रियाश्च ते सखायश्चेति कर्मधारयस्तत्पुरुषश्च, ते होत्यारभ्य तदाहेत्यन्तं कृष्णेर्पितात्मेत्यास्याभासो ज्ञेयः, अत एव दुःखमिति अपराधकृतदुःखं भगवति सम्बद्धुमशक्तं सदेतदात्मनि सम्बद्धमित्यथः, भयेन चेति दुःखानुशोकयोस्तामसराजसत्वान् मोहजनकत्वं, भयस्य सात्त्विकत्वात् सहकारित्वमेवेति भिन्नतया कथनं, मूर्छिता इति नीत्युपसर्गस्यार्थः ॥ १० ॥ गाव इत्यत्र सात्त्विकभावं विवृण्वन्ते सर्पादिभेदं न जानन्तीति, "रुदन्त्य" इत्यत्र रोदनस्य वक्तव्यत्वादि 'वे' त्युनपपन्नमतः पक्षान्तरमाहुर्यथा वेति तस्थिरे इत्यात्मनेपदानुपपत्त्या अवतस्थिर इत्युक्तं, तदा 'समवप्रविभ्यः स्थ' इत्यात्मनेपद, भागुरिमतेनाकारलोपः, सवर्णे वर्णोदेः इति इवार्थे वा ॥ ११ ॥ अथेत्यत्र दिवीति एत एव क्रमेणाधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकरूपा ज्ञेयाः, अत एव टिप्पण्यां तथैवोक्तं, शरीरे चेति चकारादात्मपदेनान्तरिक्षमपि गृह्यते, "सूर्यं ते चक्षु" रित्यनुवाके "अन्तरिक्षमात्मे" त्यनेन पश्चात्तस्य मध्यवर्तित्वसाम्येनोपलक्षणंनोक्तमिति तेनैव हेतुना सर्वात्मत्वमपि ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आगत्य च रुषा क्रोधेन तं कृष्णं मर्मसु यत्र स्वल्पेऽपि ताडने कृते प्राणहानिः स्यात्तेषु कुक्षिकण्ठाद्यवयवेषु संदश्य भुजया स्वदेहेन चछाद आवेष्टितवानित्यन्वयः। कालियस्यापराधातिरेकं सूचयन् भगवन्तं वर्णयति—प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवत् अवदातः स्वच्छः श्यामश्च तम्, श्रीवत्सेन सह पतिं वसनं वस्त्रं यस्य तम्, स्मितेन सुन्दरं मनोहरमास्यं यस्य तम्, अप्रतिभयं निर्भयं यथा स्यात्तथा क्रीडन्तम्, कमलोदरवत् रक्तौ कोमलावङ्घ्री यस्य तम् ॥ ९ ॥ त कृष्णं नागभोगेन परिवीतं परिवेष्टितमतएवादृष्टचेष्टमालोक्य भृशार्ताः अतिपीडिताः ततोऽपि दुःखानुशोकभयमूढधियो दुःखान्तरमपि वारंवार शोकञ्च 'अनेन विना किं करिष्याम' इति 'कथं जीविष्यामि इति भयं च तैर्मूढा मूर्छिता विवेकरहिता धीर्येषां ते पशुपा गोपा निपेतु-रित्यन्वयः। एवमार्तत्वे हेतुमाह तत्प्रियेति। स एव प्रियो येषां ते तत्प्रियाः, ते च ते सखायश्चेति तथा। तेषां सख्यमेव स्पष्टयति-कृष्णेऽर्पिता आत्मादयो यैस्ते इति। आत्मा देहादिसङ्घातः, सुहृदः पुत्रादयः, अर्थो धनम्, कलत्रं स्त्री, कामाः इहामुष्मिकभोगाः। न च 'तत्र तादृशविषाक्रान्तदेशे पतितानां तेषां कुतो मरणम्?' इति शङ्कयम्, भगवत्कृपादृष्ट्यामृतवृष्टेर्विद्यमानत्वात्। एवमग्रे नन्दादिष्वपि द्रष्टव्यम् ॥ १० ॥ गवादयोऽपि कृष्णे न्यस्तेक्षणा दत्तदृष्टयः, अतस्तस्य नागवेष्टनेन निश्चेष्टत्वं वीक्ष्य सुदुःखिताः स्वरक्षकाभावं मत्वा मृत्योर्भीताश्च, अत एव क्रन्दमानाः आर्तनादमुच्चैः कुर्वत्यः रुदत्यः अश्रूणि विमुञ्चन्त्य एव तस्थिरे स्थिता बभूवुरित्यन्वयः। इवशब्द एवकारार्थकः ॥ ११ ॥ अथ हि अनन्तरमेवातिदारुणाः अतिभयङ्कराः भुवि, दिवि, आत्मनि च इत्येवं त्रिविधमहोत्पाता व्रजे उत्पेतुर्बभूवुरित्यन्वयः। तत्र भुवि भूकम्पादयः, दिवि उल्कापातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः। अतिदारुणत्वमेव स्पष्टयति—आसन्नं समीपमागतं भयं शंसितुं शीलं येषां ते इति ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति ॥ प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घन इव अवदातः स्वच्छश्यामश्च तं जलविहारात् श्रीवत्सेन सह संश्लिष्टं पीतं वस्त्रं यस्य। यद्वा। श्रिया लक्ष्मीरेखया युक्तं वत्सं वक्षो यस्य स चासौ पीतवसनश्च तम्। "उरो वत्सं च वक्षश्च" इत्यमरः। स्मितेन सुन्दरं मनोहरमास्यं यस्य तम् अप्रतिभयं निर्भयं यथा स्यात्तथा क्रीडन्तं कमलोदरे इव रक्तौ कोमलौ चाङ्घ्री यस्य तं श्रीकृष्णं रुषा क्रोधेन मर्मसु प्राणहानिकरेषु कण्ठाद्यवयवेषु संदश्य भुजया स्वदेहेन चछाद आवेष्टितवान्। "छे च" इति तुगभाव आर्षः ॥ ९ ॥ तमिति ॥ तं कृष्णं नागभोगेन परिवीतं परिवेष्टितमत एवादृष्टचेष्टमालोक्य भृशार्ताः अतिपीडिताः ततोऽपि दुःखञ्च तदनु दुःखान्तरमपि वारंवारं शोकञ्च अनेन विना किं करिष्याम इति कथं जीविष्याम इति भयं च तैर्मूढा मूर्छिता विवेकरहिता धीर्येषां ते पशुपा भगवानेव प्रियो येषां ते तत्प्रियास्ते च ते सखायश्चेति कृष्णेऽर्पिता आत्मा सुहृदः अर्था धनानि कलत्राणि कामा भोगाश्च यैस्ते पशुपा गोपा निपेतुः। अत एव मूढधीत्वात्कृष्णनिःसारणार्थं यत्नं कर्तुमपि नाशक्नन्। यद्यपि तीरगाणामपि विषवेगेन मरणं संभाव्यते

तथापि भगवत्कृपया नाभूत् ॥ १० ॥ गाव इति ॥ गावः वृषाः वत्सतर्यः त्रिवर्षा वत्स्यः कृष्णे न्यस्तेक्षणा दत्तदृष्टयः अतस्तस्य नागवेष्टनेन निश्चेष्टत्वं वीक्ष्य सुदुःखिता स्वरक्षकाभावं मत्वा मृत्योर्भीताश्च अत एव क्रन्दमानाः आर्तनादमुच्चैः कुर्वत्यः रुदत्यः। इव एवार्थे नुमार्षः अर्थःश्रूणि विमुञ्चन्त्य एव भयवैयग्र्येणाश्रूणां शोषाद्वा रुदन्त्य इवेति तस्थिरे स्थिता बभूवुः। क्रन्दमानाः तस्थिरे इति च कर्मव्यतिहारे विवक्षिते आत्मनेपदम् ॥ ११ ॥ अथेति ॥ अथ हि अनन्तरमेवातिदारुणाः आसन्नं समीपमागतं भयं शंसितुं शीलं येषां ते भगवतो मङ्गलरूपत्वेऽपि गोगोपानां दुःखसूचनार्थाः भुवि भूकम्पादयः दिवि उल्कादय आत्मनि वामाङ्गस्फुरणादयः इति त्रिविधाः महोत्पाताः व्रजे उत्पेतुः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

प्रेक्षणीयसुकुमारः घनवदवदातः शुद्धशामलः स चासौ स च तं जलविहारात् श्रीवत्सांकेन संलग्नं पीतं वसनं यस्य तं मंदस्मितेन सुंदरमुखं अप्रतिभयं निर्भयं कमलोदरवत् कोमलावंघ्री यस्य तं श्रीकृष्णं रुषा मर्मस्थानेषु संदश्य भुजया भुजाकारदेहेनावेष्टयत् ॥ ९ ॥ नागभोगेन परिवीतं वेष्टितं तस्य प्रियाः स एव वा प्रियो येषां ते च ते सखायश्च भृशार्त्ताः अतिदुःखिताः अर्पिता देहादयो यैस्ते कलत्रशब्देन केषांचिदुद्वाहितानां गोपानां स्त्रियो बोध्याः कामाः भोगाः ॥ १० ॥ वत्सतर्यो वत्सिकाः कृष्णे न्यस्तेक्षणाः घृतनेत्राः रुदत्य इति वक्तव्ये रुदंत्य इत्युच्चारणं बहुलं छंदसीति शपो लुगभावे नुमागमविधानात् तस्थिरे तस्थुः पदव्यत्ययेनात्मनेपदं ॥ ११ ॥ भुवि कंपादयः दिवि विद्युत्पातादयः आत्मनि स्त्रीपुरुषदेहे वामदक्षिणांगस्फुरणादयः आसन्नभयशंसिनः समीपभयसूचकाः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ॥ प्रेक्षणीयश्च सुकुमारश्च घनवदवदातः श्यामलश्च तं, 'अवदातोऽर्जुने पीते श्वेते श्यामे निरामये' इति यादवः। 'अवदातं तु विमले विमले मनोज्ञे सितपीतयोः' इत्यनेकार्थसंग्रहः। श्रीवत्सशब्दोऽत्रार्श आद्यजन्तः। श्रीवत्सयुक्तं पीत वसनं यस्य तं हृदकृतविहारवत्तया श्रीवत्ससंयुक्तोच्चलत्पीतवसनमित्यर्थः। स्मितेन सुन्दरमास्यं यस्य तं, अप्रतिभयं प्रतिपक्षाद्भयरहितं यथा तथा, क्रीडन्तं, कमलस्योदरवत् कोमलावङ्घ्री यस्य तं कमलवदुदरमङ्घ्री च यस्य तमिति वा। श्रीकृष्णं, कालियः, मर्मसु हृदयकण्ठादिमर्मस्थानेषु, संदश्य, भुजया भोगेन स्वदेहेनेति यावत्। चच्छाद वेष्टितवान् ॥ ९ ॥ तमिति ॥ त श्रीकृष्णं, नागः कालियस्तस्य भोगो देहस्तेन परिवीतो वेष्टितस्तं, अत एव अदृष्टा इतरैरलक्षिता चेष्टा यस्य तं तथाभूतं, आलोक्य, तस्य श्रीकृष्णस्य प्रियाश्च ते सखायश्च तत्प्रियसखाः, यद्वा। सः श्रीकृष्णः प्रियो येषां ते च ते सखायश्च, पशुपा गोपाः, भयार्त्ता भयेन दुःखिताः। भृशार्त्ता इति पाठेऽत्यन्तदुःखाः, कृष्णे अर्पिता आत्मानो मनांसि शरीराणि वा सुहृदः अर्था धनानि कलत्राणि स्त्रियः कामा इष्टार्थाश्च यैस्तथाभूताः, दुःखं मानसिकमशर्म च अनुशोको रोदनं च भयं भीतिश्च तैः मूढा धियो येषां तथाभूताः सन्तः, निपेतुः ॥ १० ॥ गाव इति ॥ गावो धेनवः, वृषा वृषभाः, वत्सतर्यो गर्भाधानयोग्यवयसो गावः, सुदुःखिताः सुतरां संजातदुःखाः, क्रन्दमाना आक्रन्दन्त्यः, कृष्णे एव, न्यस्तानीक्षणानि याभिस्ताः, भीता भीतिमत्यः सत्यः रुदन्त्य इव तस्थिरे तिष्ठन्ति स्म ॥ ११ ॥ अथेति ॥ अथानन्तरं, आसन्नभयशंसिनः समीपागतमहाभीतिसंसूचका, अतिदारुणा, दिवि, भुवि, आत्मनि च इत्येवं त्रिविधाः महोत्पाताः, व्रजे उत्पेतुः हि। तत्र भुवि भूकम्पादयः, दिवि उल्कापातादयः, आत्मनि वामनेत्रस्फुरणादयः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तमिति : १०.१६.९.

श्रीवत्सहारार्दाभरणं निरीक्ष्याप्यधोक्षजं नालमलक्षि मङ्क्षु। तेनाहिनेत्यत्र न विस्मयो यच्छ्रुत्यङ्गहीनस्थितिरीदृगेव ॥ ३९ ॥
विनापराधं नहि दण्डनार्हो भवत्यसावित्यवगत्य कृष्णः। सेहे तदुन्मादकृतिं निजाङ्गे नो चेत्तथा तत्र पुराप्यशक्यम् ॥ ४० ॥
आदावखिलं सर्वं परीक्ष्याथ निजं बलम्। व्यक्तीकार्यं हि शूरेणेत्यधादीशः स्फुटं नयम् ॥ ४१ ॥
स्वानिष्टकृत् स्यात्स्वयमेव जन्तुः स्वकर्मभिस्तत्र न हेतुरीशः। स्पष्टं तमोभोगगुणावृतं श्रीकान्तं चकाराहिरगाधमोहः ॥ ४२ ॥

तं नागेति : १०.१६.१०.

यो निःसीमं प्रेमपात्रं हि यस्य तस्मिन् क्लेशैरन्विते सोऽतिदुःखी।
लोकेष्वेवं सिद्धमेवेति युक्तं कृष्णं दृष्ट्वा तादृशं ते तथाऽऽसन् ॥ ४३ ॥

अथेति : १०.१६.१२.

तमःप्रभावातिशयः प्रभुः स क्षुब्धो यदा स्याद्भुवने तदानीम्।
सिद्धा त्रिधोत्पातजनिर्हि गोकुले स्फुटार्थमासीदिति तच्चरित्रात् ॥ ४४ ॥

कृष्णप्रिया

उसने देखा कि सामने एक साँवला-सलोना बालक है। वर्षाकालीन मेघ के समान अत्यन्त सुकुमार शरीर है। लगकर आँखें हटने का नाम ही नहीं लेतीं। उसके वक्षःस्थल पर एक सुनहली रेखा—श्रीवत्स का चिह्न है और पीले रंग का वस्त्र धारण किये हुए हैं। बड़े मधुर एवं मनोहर मुख पर मन्द-मन्द मुसकान अत्यन्त शोभायमान हो रही है। चरण इतने सुकुमार और सुन्दर है, मानो कमल की गद्दी हो। इतना आकर्षक रूप होने पर भी जब कालिय नाग ने देखा कि बालक तनिक भी न डरकर इस विषैले जल में मौज से खेल रहा है, तब उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने श्रीकृष्ण को मर्म स्थानों में डंसकर अपने शरीर के बन्धन से उन्हें जकड़ लिया॥ ९॥ भगवान् श्रीकृष्ण नागपाश में बँधकर निश्चेष्ट हो गये। यह देखकर उनके प्यारे सखा ग्वालबाल बहुत ही पीड़ित हुए और उसी समय दुःख पश्चाताप और भय से मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े, क्योंकि उन्होंने अपने शरीर सुहृद, धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र भोग और कामनाएँ सब कुछ भगवान् श्रीकृष्ण को ही समर्पित कर रखा था॥ १०॥ गाय बैल बछिया और बछड़े बड़े दुःख से डकारने लगे। श्रीकृष्ण की ओर ही उनकी टकटकी बँध रही थी। वे डरकर इस प्रकार खड़े हो गये, मानो रो रहे हों। उस समय उनका शरीर हिलता-डोलता तक न था॥ ११॥ इधर व्रज में पृथ्वी, आकाश और शरीरों में बड़े भयङ्कर-भयङ्कर तीनों प्रकार के उत्पात उठ खड़े हुए, जो इस बात की सूचना दे रहे थे कि बहुत ही शीघ्र कोई अशुभ घटना घटने वाली है॥ १२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः। विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम्॥ १३॥
तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः। तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः॥ १४॥
आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः। निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः॥ १५॥
तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः। प्रहस्य किञ्चिन्नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः॥ १६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अङ्ग तान् आलक्ष्य भयोद्विग्नाः अतद्विदः तत्प्राणाः तन्मनस्काः दुःखशोकभयातुराः आबालवृद्धवनिताः पशुवृत्तयः ते दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः नन्दपुरोगमाः गोपाः रामेण विना कृष्णं गाः चारयितुं गतं ज्ञात्वा तैः दुर्निमित्तैः निधनं प्राप्तं गोकुलात् निर्जग्मुः॥ १३-१४॥ तान् तथा कातरान् वीक्ष्य माधवः अनुजस्य प्रभावज्ञः सः भगवान् बलः प्रहस्य किञ्चित् न उवाच॥ १६॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तानालक्ष्य गोकुलान्निर्जग्मुरिति तृतीये नान्वयः। भयोद्विग्ना भयहेतुभ्यो भीताः भयेन कंपमाना इति वा॥ १३॥ न तं हरिं विदंतीत्यतद्विदः॥ १४॥ पशुवृत्तयोऽतिवत्सलाः॥ १५॥ कातरान् भीतान्॥ १६॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तान् उत्पातान्। भयहेतुभ्यो महोत्पातेभ्यः। 'लक्षणातो वरा शक्तिः' इत्युक्तिमाश्रित्य समासांतरमाह—भयेनेति। उद्विग्ना इति 'ओविजी—भय चलनयोः' अतः क्तप्रत्ययः, तस्य नत्वं च॥ १३॥ तैर्भूकंपादिभिः। अतद्विदः कृष्णमाहात्म्यमजानंतः। तस्मिन् कृष्णे इंद्रियाणि येषां ते तथा। नितरां धनं श्रीयमुनाह्रदरूपं स्वविहारास्पदमिति। सरस्वतीसंवादः॥ १४॥ तत् बालानभिव्याप्याबालं तत्प्रभृति ये वृद्धा वनितास्ते आबालवृद्धवनिताः। पशुपदद्दष्टिमात्रात्व्यवहारो येषां ते तथा॥ १५॥ तत् बालादीन्। तथा रोदनादिप्रकारेण। माधवो मधुवंशोद्भूतः। स बलः। अनुजस्य कृष्णस्य प्रभावज्ञः अयं तु साक्षात्सर्वसर्पशायी कथमेनमन्यः सर्पः पीडयितुं कल्प इति ज्ञानवानित्यर्थः। भगवान्सर्वशक्तियुक्तोऽपि माधवः सर्वविद्यापतिरपि न किञ्चिदुपदिष्टवान् किन्तु तद्दुःखेन दुःखेपि तेषामेव किञ्चिद्धैर्यार्थम् प्रकटं बहिरेव हिंसित्वा तूष्णीमासीत्। अयं निजानुजतत्त्वज्ञः स्निग्धश्च हसतीति नात्र चिंतेति बोधयितुमित्यर्थः। यद्वा—शेषरूपेण मया क्रीडां त्यक्त्वा प्राकृतक्षुद्रकालीयसर्पक्रीडास्य रोचत इति प्रहसने हेतुर्ज्ञेयः। नन्वीदृशे संकटेऽपि कथं स्वसामर्थ्यं न व्यंजितवान्, न च तत्प्रभावं स्पष्टमुपदिष्टवान् प्रभावज्ञ इति। तदिच्छां विना तत्कर्तुं न शक्तवानित्यर्थः। माधवपदार्थस्तु श्रीहरिवंशे—"मा विद्या च यतः प्रोक्ता तस्या ईशो यतोऽभवत्। तस्मान्माधवनामापि धवः स्वामीति कीर्त्तितः॥" इति विश्वनाथसंदर्भतोषिणीकाराः॥ १६॥

१ मन्त्र काव्य—विज.। २. सर्वे वे—गो. प्रे. टो.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तानिति त्रिकम्। विना रामेणेति परमस्निग्धस्य गम्भीरस्य सदा साहाय्यरतस्य तस्य समक्षे तस्य तादृशव्यसनता न सम्भवेदिति भावः। अन्यत्तैः, आलक्ष्यैव भयोद्विग्ना बभूवुः ॥ १३ ॥ अत एव निधनमेव प्राप्तं गत्वा नितरां धनं श्रीह्रदरूपं स्वविहारसर्वस्वमिति सरस्वतीसम्वादः अतद्विधमाहात्म्यमननुसन्दधाना इत्यर्थः। ननु कथं तत्रैव तेषां क्षोभः जातस्तत्राह – स एव प्राणो जीवनं येषाम् अतस्तस्मिन् मनो येषामिति ॥ १४ ॥ ते तदेकप्रियत्वेन प्रसिद्धाः पशुवृत्तित्वेन तदीयवात्सल्यस्वभाव-भाविता इत्यर्थः। पशुवद्वृत्ति वात्सल्यांशे येषामिति वा अत एव दीनाः इतस्ततो मुहुःस्खलन्तो निपतन्तश्चेत्यर्थः कृष्ण-व्रजजनचित्ताकर्षकः कथ कुत्रास्तीति तद्दर्शनोत्सुकाः सन्तः यद्वा स्वभावत एव तादृशाः ॥ १५ ॥ तथा तादृशकातर्यं प्राप्तानपि तान् वीक्ष्य स गोकुलैकप्रियोऽपि बलः भगवान् सर्वशक्तियुक्तोऽपि माधवः सर्वविद्यापतिरपि असमर्थ इव किञ्चिन्न कृतवान् अज्ञ इव च न किञ्चिदुपदिष्टवान् किन्तु तद्दुःखेन दुःखितोऽपि तेषामेव किञ्चित् द्वैध्यार्थं प्रेति प्रकटं वहिरेव हसित्वा तूष्णीमासीत् अयं निजानुजस्य तत्त्वज्ञः स्निग्धस्य हसतीति नात्र चिन्तेति वोधयितुमित्यर्थः। एवं तेषां प्राणरक्षायोग्यत्वात् नाश एव तदा तस्या-विभूतः स्वभावत एव सर्वसमाधानशक्तिमयत्वात् भगवल्लीलया इति भावः। तर्हि कथमीदृशेऽपि दुःखसङ्कटे स्वसामर्थ्यं न व्यञ्जितवान् न च तत्प्रभावं स्पष्टमुपदिष्टवान्? तत्राह प्रभावज्ञ इति तज्ज्ञत्वेन तदिच्छां विना तत्कर्तुं न शक्तवानित्यर्थः। माधवपदं चेदं श्रीहरिवंशे व्युत्पादितम्—

"मा विद्या च यतः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवेत्। तस्मात् माधवनामासि धवः स्वामीति कीर्तितः" ॥ इति ॥ १६ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

विना रामेणेति परमस्निग्धस्य तस्य साक्षादनुजामंगलं न सम्भवेदिति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, आलक्ष्यैव भयोद्विग्ना बभूवुः, अतएव निधनं प्राप्तं मत्वैवातद्विदस्तन्माहात्म्यमननुसन्दधाना इत्यर्थः, यतः स च प्राणो जीवनं येषामतस्तस्मिन्नेव मनो येषामिति सर्व्वथा तदेकगतय इत्यर्थः। ते तदेकप्रियत्वेन प्रसिद्धाः, स्वपक्षे ते गोपाः, अतो दुःखादिभिरातुरा विवशाः ॥ १३–१४ ॥ अतएव दीनाः, इतस्ततो मुहुः स्खलन्तो निपतन्तश्चेत्यर्थः। कृष्णो व्रजजनचित्ताकर्षकः, कथं कुत्रास्तीति तद्दर्शनोत्सुकाः सन्तः यद्वा, सदा स्वभावतैव कृष्णदर्शनलालसा इति तदेकगतित्वमेव दर्शितम् ॥ १५ ॥ तथा तादृशान् सर्वज्ञानादि सम्पन्नानपीत्यर्थः। कातरान् भीतान् विह्वलान् वा; यद्वा, तादृशकातर्य्यंप्राप्तानपि तान् वीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा सोऽनुजैकप्रियोऽपि बलः, प्रहस्य उच्चैर्हसित्वा किञ्चिदपि नोवाच; किञ्चित् प्रहस्येति वा; यतो भगवान् सर्व्वज्ञः, विशेषतो माधवो मधुवंशोद्भवः, अतएवानु-जस्य प्रभावमैश्वर्य्यम्, किंवा प्रकृष्टं भावं कालिय-निःसारणार्थं तत्तदाचरणाभिप्रायं जानातीति तथा सः। प्रहासस्तेषां शोकादि-लाघवार्थम्, किञ्चिदनुक्तिश्च श्रीभगवदभिप्रायाभिज्ञतासूचनेन तेषामाश्वासनाय; यद्वा, प्रहासेन किञ्चिदनुक्त्या च तं प्रति श्रीबादरायणे प्रणय-कोपोक्तिरियम्। भगवान् परमस्वतन्त्रो निरपेक्षो वा। माधवो मधुकुलसम्बन्धस्फूर्त्या, न गोपवदतिस्नेहार्द्रचित्त इत्यर्थः, किंवा, मधुपानरसिक इत्यर्थः। वलो वलवानेव, न तु बुद्धिमानित्यर्थः, यतः स हलधर इत्यर्थं तस्य तद्युक्तमेवेति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तानुत्पातानालक्ष्य भयेनोद्विग्नाः कम्पितगात्राः नन्दप्रभृतयो गोपा रामेण विना गाश्चारयितुं गतं कृष्णं ज्ञात्वा ॥ १३ ॥ तन्माहात्म्याभिज्ञास्तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं तस्य विपत्तिं प्राप्तमिव ज्ञात्वा यतस्तस्मिन्नेव प्राणास्तस्मिन्नेव मनांसि च येषामतः शोकभयाभ्यामातुराः ॥ १४ ॥ सर्वे अङ्ग हे राजन्! पशुवत्सलाः धेनुवद्वात्सल्ययुक्ताः कृष्णस्य दर्शने निमित्ते लालसाः निर्जग्मुः ॥ १५ ॥ तदा तान्निर्गच्छतः कातरांश्चावलोक्य माधवो वलो रामः मधुवंशप्रभवत्वान्माधवः अनुजस्य प्रभावाभिज्ञोऽत एव किञ्चिदपि नोवाच ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पशुवत् वृत्तिर्येषां ते तथा दृष्टमात्रव्यवहारिणः ॥ १५ ॥ माधवो मधुकुलोद्भवः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

निधनमिति नितरां धनं श्रीयमुनाह्रदरूपमिति वास्तवार्थः ॥ १४–१५ ॥ भगवान् सर्वशक्तियुक्तोऽपि माधवः सर्व-विद्यापतिरिति असमर्थ इव न किञ्चिदुपदिष्टवान् किन्तु तद्दुःखेन दुःखेऽपि तेषामेव किञ्चिद्धैर्यार्थं प्रकटं बहिरेव हसित्वा तूष्णी-मासीत् अयं निजानुजस्य तत्त्वज्ञः स्निग्धश्च हसतीति नात्र चिन्तेति बोधयितुमित्यर्थः। तस्माच्च हेतोरतिदुःखितमाज्ञाय विचार्य तर्हि कथमीदृशेऽपि सङ्कटे स्वसामर्थ्यं न व्यञ्जितवान् न च तत्प्रभावं स्पष्टमुपदिष्टवान्, तत्राह–प्रभावज्ञ इति। तज्ज्ञत्वेन तदिच्छां विना तत्कर्तुं न शक्तवानित्यर्थः। माधवपदं चेदं श्रीहरिवंशे व्युत्पादितम्—

"मा विद्या च यतः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवेत्। तस्मान्माधवनामासि धवः स्वामीति कीर्त्तितः" ॥ इति ॥ १६–२० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ दुर्निमित्तानि दृष्ट्वा गोकुलवासिनामाशङ्कामाह—तानालोक्येत्यादि द्वाभ्याम्। तैस्तथाविधैर्दुर्निमित्तैर्निधनं प्राप्तं समुपस्थितमिति मत्वा अहोऽस्माकं मरणमुपस्थितमिवेति मत्वा विना रामेण गाश्चारयितुं गतं कृष्णञ्च ज्ञात्वा, किमिदमाकस्मिकं किमभिव्यञ्जकं दुर्निमित्तमित्यतद्विदो दुर्निमित्तकारणाविदः सर्वे गोकुलान्निर्जग्मुरित्युत्तरेणान्वयः। यद्वा, रामेण विना अतद्विदः रामस्तु तद्विदेव। अयं वाक्यार्थः।—एतद्दुर्निमित्तं यद्दृश्यते तदवगतं निधनं प्राप्तम्, मरण-सूचकान्येवैतानि दुर्निमित्तानि। कृष्णोऽपि न निकटवर्ती, योऽस्मान् रक्षिष्यति। स तु गाश्चारयितुं गतः, तदा तत्रैव सर्वे गच्छाम इति सर्वे तथा चक्रुः। वस्तुतस्तु दुर्निमित्तस्य कारणं किमपि नास्ति, भगवतः सकलविघ्नोपशमहेतुत्वाद् विघ्नस्य शङ्कापि नास्ति। असति विपत्सद्भावे कथं तस्य सूचकं दुर्निमित्तम्, तेन एतादृशं यद्वीर्यकौशलं सर्वैर्द्रक्ष्यतामिति सर्वेषां तत्रानयनार्थं भगवतैव तत् सम्पादितं कुहकम्, न तु तद्वास्तवमिति। अतएवोक्तम् (१२ श-श्लो.) "आसन्नभयशंसिनः" इति। अत्रेयं व्याख्याता एते उत्पाता भयशंसिनो नासन् भगवन्तं प्रतीति परमार्थोक्तिः॥ १३-१९॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

निधनं मत्वेति। रामेण विना गाश्चारयितुं गतं कृष्णं ज्ञात्वा स्वेषां मरणं प्राप्तं समागतमिति मत्वा च॥ १४-१९॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तानालक्ष्य गोकुलान्निर्जग्मुरिति तृतीयेनान्वयः। निधनमेव प्राप्तं मत्वा नितरां धनं श्रीयमुनाह्रदरूपं स्वविहारास्पदमिति सरस्वतीसम्वादः महाशोकात् पशूनामिव बुद्धिविवेकप्रतीकारज्ञानशून्या वृत्तिः सत्ता येषां ते॥ १३-१५॥

"मा विद्या च यतः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवेत्। तस्मान्माधवनामाऽसि भवः स्वामीति कीर्तितः"॥ इति

हरिवंशोक्तनिरुक्तेः प्रभावं लीलैश्वर्यं जानातीति सः तस्य स्वानुजमहाप्रेमवत्त्वेपि प्रेम्णा तदैश्वर्यानावरणं कृष्णेच्छानुरञ्जितलीलाशक्त्यैव अन्यथा श्रीनन्दादीन् शोकावेगेन सर्पह्रदं मंक्षु शीघ्रं मिमंक्षून् को वारयितुं प्रभवेदिति भावः प्रहस्येति मत्स्वरूपेण शेषनागेन सह क्रीडा न रोचते किन्तु प्राकृतक्षुद्रकालियसर्पाधमेनैवेति तस्य नरलीलत्वस्मरणात् किञ्चिन्नोवाचेति तेषां शोकान्धानां कृष्णं दिदृक्षूणां तदावरणस्थानौचित्यादशक्तत्वाच्च किन्तु स्वप्रहासशोकाभावदर्शनं यतो न किञ्चिदनिष्टाभावं सूचयित्वा प्राणजिहासां शिथिलयामासुः॥ १६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

न तं कालकालं श्रीकृष्णं विदन्तीत्यतद्विदः "ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः" इति श्रुतिरत्रानुसन्धेया॥ १४॥ पशवो यथा भयकाले सहैव पलायन्ते तद्वद्वृत्तिर्येषां ते पशुवृत्तयो निर्जग्मुः॥ १५॥ कातरान् उद्भ्रान्तचित्तान्॥ १६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तानालक्ष्य गोकुलात् सर्वे निर्जग्मुरिति तृतीयगतेन सम्बन्धः रामेण विना गाश्चारयितुं गतं कृष्णं ज्ञात्वा॥ १३॥ निधनं नाशं प्राप्तं मत्वा नितरां धनं स्वविहारास्पदकालिन्द्या ह्रदमिति गीर्देव्या सूचितोऽर्थः अतद्विदस्तल्लीलाशक्तिचेष्टामजानन्तः॥ १४॥ महाशोकात् पशूनामिव तत्प्रतीकारबोधहीना वृत्तिर्येषां ते॥ १५॥ प्रहस्येति। मदवतारेण शेषनागेन स्वैकान्तिना सार्द्धं क्रीडा न रोचते किन्त्वनेन विमुखेन नागाधमेनेति प्रहासः यद्यपि नन्दादीनामिव बलदेवस्यापि कृष्णानुरागित्वात्तदैश्वर्यज्ञानाच्छादनेन भाव्यं तथापि तेषां ह्रदप्रवेशप्रतिषेधाय तदिच्छानुरञ्जितया तल्लीलाशक्त्यातज्ज्ञानं तस्य नाच्छादितं तत्प्रहासानुमिततन्मङ्गलार्थं तेषां लोके व्रजभवनं लोकजिहासापि नाभूदिति॥ १६॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

नन्दपुरोगमा गोपास्तानुत्पातानालक्ष्य दृष्ट्वा भयेनोद्विग्नाः कातराः कृष्णस्य किं भयमायातमित्युद्विग्ना भीता वा चारयितुं सञ्चारयितुं तृणानि खादयितुं वा॥ १३॥ तैस्तैर्दिव्यभौमकायकैरतद्विदस्तत्प्रभावज्ञाः॥ १४॥ आबालवृद्धवनिता इति पदे। आ अभिव्याप्य। इत्यादयः सर्वे पशुवृत्तयः पशूनां वृत्तिवद्वृत्तिर्येषां ते मुग्धा इति यावत्॥ १५॥ माधवो मधुकुलजो बलोऽनुजस्य कृष्णस्य प्रभावज्ञः प्रहस्य किञ्चिदपि नोवाच॥ १६॥

श्रीसुबोधिनी

ते च व्रजस्थास्तानालक्ष्यैते उत्पाता भवन्तीति ज्ञात्वा भयेनोद्विग्ना जाता यतो गोपाः, नन्दः कर्मसिद्धान्तयुक्तः पुरोगमो मुख्यो येषां, कृतनिरोधा वा विवेकिनः, कृष्णे विद्यमानेऽस्माकं प्रलयोपि न भविष्यतीति निश्चित्य प्राकृतबुद्ध्या कल्पयन्ति स्म, बिना रामेणेति, रामो हि बलिष्ठो लोकप्रतीत्या धेनुकोपि तेनैव मारित इति रामेण बिना भगवानेव गाश्चारयितुं गतस्तन्मध्य उत्पाताः

जायन्ते ॥ १३ ॥ अतो दुर्निमित्तान्यत्यनिष्टं सूचयन्तीति विपरीतं ज्ञात्वा निर्जग्मुरित्युत्तरेण सम्बन्धः, विपरीतज्ञाने हेतुरतद्विद इति तस्य भगवतो माहात्म्यं न विदन्तीत्युचितमेव तेषां, लौकिका हि ते, लौकिकानां प्रियोनिष्टं भावयत्यप्रिय इष्टमितिस्थितिः, भवननिषेधविषयत्वेन सर्वदानिष्टमेव भावयति प्रियः स्नेहस्य तथाभावकस्वभावत्वात्, अन्यस्य विपरीतं, किञ्च ते आत्मानमेवानिष्टविषयं भावितवन्त इत्याह तत्प्राणा इति, तस्मिन्नेव प्राणा येषां, तस्मिन्नेव मनो येषां, अत एव दुःखं शोकं भयं च त्रिभिरातुराः ॥ १४ ॥ गोकुलं शून्यं विधाय सर्व एव निर्गता इत्याहाबालवृद्धवनिता इति, अङ्गेतिसम्बोधनं सर्वत्र स्नेहसूचकं, पशूनामिव वृत्तिर्येषामिति न देहवस्त्रादिदृष्टिः, गोकुलादेव निर्गताः, तेषां कामनामाह कृष्णदर्शने लालसाः दर्शनार्थमतिव्याकुलाः ॥ १५ ॥ तेषां श्रीभगवत्समीपगमने भ्रमाभावाय हेतुमाह तेन्वेषमाणा इति, पतिरेवान्वेषणायस्ततोपि सदानन्दः, ते भगवद्गतमार्गेणैव गताः, तदाह पदव्या यमुनातटमिति, पदवी सूक्ष्मो मार्गः, तया यमुनातटमेव गताः, तेषां मार्गान्तरागमने तथैव च गमनेभिज्ञानमाह भगवल्लक्षणैः पदैः सूचितयेति, ध्वजवज्राङ्कुशाद्यसाधारणचिह्नैर्भगवच्चरणसम्बन्धे भूमेरार्द्रता भवतीति स्फुटसर्वलक्षणानि पदानि भूमावुद्गच्छन्ति ताः सूचिता पदवी भवति ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

ते चेति चकारोन्वाचये, गोपा इत्यस्य पूर्वव्याख्याने कर्मित्वमेव स्यान् न तु भक्तिमार्गीयत्वमित्यतः पक्षान्तरमाहुः कृतेति, सङ्गस्थेभ्यः सकाशादेतेषां भाववैलक्षण्यं विवृण्वन्ति कृष्ण इत्यादिना ॥ १३ ॥ आबालेत्यस्याभासे गोकुलं शून्यमित्याङ्गोर्थः ॥ १५ ॥ तेन्वेषमाणा इत्यस्याभासे गमनस्य पूर्वश्लोके उक्तत्वादियं भावना पदव्यां पर्यवस्यति, 'दध्ना जुहोति'तिवत् तथा च भ्रमाभावहेतुपदव्येव वाक्यार्थः, अभिज्ञानमाहेति करणव्युत्पत्त्या अभिज्ञापकमित्यर्थः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे अङ्ग हे राजन् ! तान् उत्पातानालक्ष्य दृष्ट्वा नन्दादयः सर्वे गोपा भयेन उद्विग्नाः व्याकुलाः, अत एव दीनाः सन्तो गोकुलान्निर्जग्मुरिति त्रयाणामन्वयः। भयेन व्याकुलतायां हेतुं सूचयन्नाह—तैरिति। तैर्दुर्निमित्तरूपैः कृष्णस्य निधनं मरणं प्राप्तं मत्वेत्यन्वयः। तत्रापि हेतुं सूचयन्नाह—विनेति। रामेण विना कृष्णं गाश्चारयितुं वनं गतं ज्ञात्वेत्यन्वयः। 'गोकुलात्तेषां निर्गमं कृष्णान्वेषणार्थमेव' इत्याशयेनाह—कृष्णदर्शनलालसा इति। भयोद्विग्नत्वमेव स्पष्टयति—दुःखेति। दुःखं तद्वियोगजन्यः सन्तापः, शोकोऽनन्तरनिर्वाहचिन्ता, भयं तद्वियोगदुःखेन मरणभयम्, तैरातुरा विवशाः। तत्र दृष्टान्तमाह—पशुवत् विवेकशून्या चित्तवृत्तिर्येषां तथाभूता इति। 'न केवलं नन्दयशोदादीनामेवेयमवस्था, किन्तु सर्वेषामेव व्रजवासिनाम्' इत्याह—आबालवृद्धवनिता इति। ननु "एवमुत्पातदर्शनेऽप्यनिष्टान्तरशङ्कां विहाय कृष्णनिधनशङ्कैव कथं जाता" इत्याशङ्क्याह—तत्प्राणा इति। तदधीन एव प्राणो जीवनं येषां ते, अत एव तस्मिन्नेव मनो येषां ते, अतः प्रथमतः सर्वेषां तत्रैवोपस्थितत्वात् बकसवत्साद्युपद्रवस्य वने श्रुतत्वाच्च उत्पातदर्शनेन तन्निधनशङ्कैव जातेत्याशयः। "ननु तथा कृष्णस्य सदानन्दरूपत्वेन जन्मरणादिरहितत्वात् कथं तथा शङ्का युक्ता ?" इत्याशङ्क्याह—अतद्विद इति। न तस्य परमस्वरूपं विदन्तीति तथा ते ॥ १३-१५ ॥ तान् नन्दादीन् तथा कातरान् व्याकुलान् वीक्ष्य माधवः मधुवंशप्रभवो भगवान् ज्ञानैश्वर्यादिमत्त्वेन तेषां प्रबोधे समर्थोऽपि बलः प्रहस्य किञ्चिन्नोवाचेत्यन्वयः। प्रहासे तूष्णींभावे च हेतुमाह—प्रभावज्ञ इति। यतः स बलः अनुजस्य कृष्णस्य प्रभावज्ञः कृष्णे सर्पस्याकिञ्चित्करत्वं निश्चित्य नन्दादीनां यमुनातीरगमनं कृष्णाभिप्रेतं च ज्ञात्वा प्रहस्य तूष्णीं बभूवेत्याशयः ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तानिति त्रयम् ॥ अङ्ग हे राजन् ! तान् उत्पातान् आलक्ष्य दृष्ट्वा भयेन उद्विग्ना व्याकुलाः भयहेतुभ्यो भीता वा भयेन कम्पमाना वा अतद्विदः हरिप्रभावानभिज्ञाः स हरिरेव प्राणा येषां तस्मिन् हरौ मनो येषां ते दुःखशोकभयैः आतुराः बालान् वृद्धान् वनिताश्चाभिव्याप्य। पञ्चम्यभावः आर्षः। यद्वा। रक्षणीयत्वात् आवृताः बालवृद्धवनिताः यैः। "प्रादिभ्यो धातुजस्य" इति समासः। पशूनामिव विवेकशून्या अतिवत्सला वा वृत्तिर्येषां ते दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः सर्वे नन्दपुरोगमाः नन्दाद्याः गोपाः कृष्णः रामेण विना गाः चारयितुं गतं ज्ञात्वा तैर्दुर्निमित्तैः उत्पातैः हरिं निधनमिव प्राप्तं मत्वा नितरां घनं यमुनाह्रदरूपं स्वविहारास्पदमिति भारती। गोकुलान्निर्जग्मुः त्रयं भिन्नान्वयं वा। तत्राद्ये भयोद्विग्नाः बभूवुः द्वितीये दुःखाद्यैरातुरा बभूवुः तृतीये पशुवृत्तयः गोपा इति विशेष्यम् ॥ १३-१५ ॥ तानिति ॥ तान्नन्दादीन् तथा कातरान् व्याकुलान् भीतान्वा वीक्ष्य माधवः मधुवंशप्रभवः अनुजस्य कृष्णस्य प्रभावं जानाति तादृशः स प्रसिद्धः भगवान् बलः प्रहस्य मत्स्वरूपेण शेषनागेन क्रीडा न रोचते किन्तु क्षुद्रेण कालियेनेतिहासपूर्वकं लीलानाट्यं स्मृत्वा किञ्चिदपि नोवाच। किन्तु शोकान्धानां तेषां वारणमशक्यं मत्वा स्वप्रकाशशयत्या अनिष्टाभावमूहयित्वा प्राणजिहासां शिथिलयामास ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तानालक्ष्य गोकुलान्निर्जग्मुरिति तृतीयेनान्वेतव्यं भयेनोद्विग्नाः विह्वलाः रामसहायस्य तस्य भयं न स्यादिति भावः ॥१३॥ दुर्निमित्तैः भूकंपादिभिः तं श्रीकृष्णं परमेश्वरं विदंति तथाभूतान् भवंतीत्यतद्विदः ॥ १४ ॥ हे अंगवालादिभ्योऽभिव्याप्य श्रुभिर्वृत्तिसन्दुग्धन्नक्षिरादिभिरा जीविका येषां ॥ १५ ॥ कातरान् भयाकुलान् माधवो विद्यापतिः मां विद्या च यातः प्रोक्ता तस्या ईशो यतो भवानिति हरिवंशोक्तेः बलदेवः अनुजस्य कनिष्ठभ्रातुः प्रभावज्ञः सर्वपराक्रमवेत्ता ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तानिति ॥ तानुत्पातान्, आलक्ष्य दृष्ट्वा, भयोद्विग्ना भयेन कम्पितगात्राः- नन्दपुरोगमा नन्दप्रभृतयः, गोपाः, रामेण विना, गा धेनूः, चारयितुं, गतं कृष्णं ज्ञात्वा, शङ्कितचेतस आसन्निति शेषः ॥ १३ ॥ तैरिति ॥ अतद्विदस्तन्माहात्म्यानभिज्ञाः, अत एव, तैः पूर्वोक्तैः, दुर्निमित्तैरपशकुनैः, निधनं मरणं प्राप्तं मत्वा, तस्मिन् कृष्णे एव प्राणा येषां ते, तस्मिन् श्रीकृष्णे मनांसि येषां ते, ते नन्दादयः, दुःखं च शोकश्च भयं च तैरातुराः, आसन्निति शेषः ॥ १४ ॥ आबालेति ॥ अङ्ग हे राजन्, आबालवृद्धवनिता बालान् वृद्धान् स्त्रियश्च अभिव्याप्येत्यर्थः । पशुवत्सलाः धेनुवद्वात्सल्ययुक्ताः, पशुवृत्तय इति पाठे, पशूनामिव वृत्तिर्येषां ते, कृष्णदर्शने एव लालसा येषां ते, सर्वे दीनाः सन्तः, गोकुलात् निर्जग्मुः ॥ १५ ॥ तानिति ॥ तथोक्तप्रकारेण, कातरान् दीनान् तान् नन्दादीन् वीक्ष्य, भगवान् परमैश्वर्ययुक्तः, माधवो मधुवंशप्रभवः, स बलः, यतः अनुजस्य प्रभावज्ञः, भवति, ततः प्रहस्य किञ्चित्, न उवाच ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

निर्जग्मुरिति : १०.१६.१५.

अनिष्टजनकोत्पातोदयश्चेद्गोकुले तदा । तत्फलानुदयायैकः शरणं परमेश्वरः ॥ ४५ ॥

तांस्तथेति : १०.१६.१६.

विनैव मामद्य वनं प्रयातः प्रार्तविशेषादृत-कार्यभागः । युक्ता न तद्व्यक्तिरितीव सोऽभूत् तूष्णीं सहासस्तु भयापनुत्त्यै ॥ ४६ ॥
अहो विचित्रं भगवच्चरित्रं यत्सेवकस्यापि मनोविधारणम् । इतीव किं विस्मयमादधानो रामो जहासाऽभयकृत्तदा क्षणम् ॥ ४७ ॥
प्रतिक्षणं गोपजनोऽखिलोऽयं पश्यन्नपीशाद्भुतकेलिजातम् । अतज्ज्ञवद् वक्त्यधुना किमेतज्जहास तद्विस्मयतः सरामः ॥ ४८ ॥

कृष्णप्रिया

नन्दबाबा आदि गोपों ने पहले तो उन अशकुनों को देखा और पीछे से यह जाना कि आज श्रीकृष्ण बिना बलराम के ही गाय चराने चले गये। वे भय से व्याकुल हो गये ॥ १३ ॥ वे भगवान् का प्रभाव नहीं जानते थे। इसीलिए उन अशकुनों को देखकर उनके मन में यह बात आयी कि आज तो श्रीकृष्ण की मृत्यु ही हो गयी होगी। वे उसी क्षण दुःख शोक और भय से आतुर हो गये। क्यों न हों, श्रीकृष्ण ही उनके प्राण मन और सर्वस्व जो थे ॥ १४ ॥ प्रिय परीक्षित् ! व्रज के बालक, वृद्ध और स्त्रियों का स्वभाव गायों जैसा ही वात्सल्यपूर्ण था। वे मन में ऐसी बात आते ही अत्यन्त दीन हो गये और अपने प्यारे कन्हैया को देखने की उत्कट लालसा से घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े ॥ १५ ॥ बलरामजी स्वयं भगवान् के स्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं। उन्होंने जब व्रजवासियों को इतना कातर और इतना आतुर देखा, तब उन्हें हँसी आ गयी। परन्तु वे कुछ बोले नहीं, चुप ही रहे। क्योंकि वे अपने छोटे भाई श्रीकृष्ण का प्रभाव भली-भाँति जानते थे ॥ १६ ॥

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः । भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥ १७ ॥

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
[1]मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥ १८ ॥
[2]अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरितमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य[3] जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च संक्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥ १९ ॥
गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः [4]शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥

---

१. मार्ग–विज. । २. अन्तर्जले–विज. । ३. लक्ष्य–विज. । ४. शून्यां प्रियेण रहितां ददृशुस्त्रिलोकीं–वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भगवल्लक्षणैः पदैः सूचितया पदव्या दयितं प्रियम् अन्वेषमाणाः ते यमुनातटं जग्मुः ॥ १७ ॥ अङ्ग ते गवाम् मार्गं तत्र तत्र अन्यपदान्तरान्तरे अब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि विश्पतेः पदानि निरीक्षमाणाः सत्वराः ययुः ॥ १८ ॥ आरात् अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतम् निरीहं कृष्णं जलाशयान्ते उपलभ्य मूढधिषणान् गोपान् परितः संक्रन्दतः पशून् च (निरीक्ष्य) आर्ताः परमकश्मलम् आपुः ॥ १९ ॥ अनन्ते भगवति अनुरक्तमनसः तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः गोप्यः प्रियतमे अहिना ग्रस्ते भृशदुःखतप्ताः प्रियव्यतिहृतं त्रिलोकं शून्यं ददृशुः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

भगवंतं लक्षयंति यानि पदानि तैः पदैः सूचितया पदव्या मार्गेण ॥ १७ ॥ पदैर्मार्गज्ञानप्रकारमाह । त इति । विश्पतेः श्रीकृष्णस्यान्येषां पदानामंतरांतरे मध्येमध्ये तत्तदपोहेन गवां श्रुतीनां मार्गे सत्वरा अप्रमत्ता योगिनस्तत्तदुपाध्यपवादेन यथा परं तत्त्वं मृगयंते तद्वदिति भावः ॥ १८ ॥ ततश्च सर्पशरीरवेष्टितं कृष्णं दूरान्निरीक्ष्य गोपांश्च पशूंश्च तथा तथा निरीक्ष्यार्त्ताः परमकश्मलं परं मोहं प्रापुः ॥ १९ ॥ प्रियेण श्रीकृष्णेन व्यतिहृतं विरहितं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुः ॥ २०–२२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

लक्षयंति सूचयंति पद्मध्वजादिचिह्नैः ॥ १७ ॥ ते गोपाः । विशां प्रजानां नंदस्य वैश्यजातीयत्वाद्वैश्यानां वा पतेः 'वयं गोवृत्तयोऽनिशम्' इत्युक्तेः । तत्रतत्र स्थानेस्थाने । अशनिर्वज्रम् । अन्येषाम् गवादीनाम् । अंतरश्चांतरश्चानयोः समाहारोंऽतरांतरम्, तस्मिंस्तथा मध्येमध्ये इत्यर्थः । तत्तदपोहेन तेषांतेषां गोपादानां गोपपदानां चापोहेन त्यागेन । गोशब्दस्य श्रुतिवाचकत्वं बाधाचित्वाद्धयेयम् । श्रुतीनाम् वेदानाम् । मार्गे विचाररूपे । अप्रमत्ताः सावधानाः । तत्तदुपाध्यपवादेन अन्नमयाद्युपाधिनिराकरणेन । परं तत्त्वं शुद्धं ब्रह्म "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" इत्येवं पुच्छरूपत्वेनान्वेषयंतीति । तद्वदित्यत्र गवां धेनूनां मार्गेऽध्वन्यपि तथैवान्वेषयामासुः । इति भाव इति । संकलितान्तर्गतं संकलिताकरणं विना न लभ्यत इति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥ ततश्च अनंतरं च । तथातथा मूर्छया पतितान् संक्रंदतश्च । निरीहम् निश्चेष्टम् । अन्तर्ह्रदे ह्रदमध्ये । जलाशयांते ह्रदसमीपे । भो बालका वृत्तांतं तावत्कथयत—किं कालियेनैव तीरादाकृष्य कृष्णो जले पातितः किं वा कृष्ण एव तीरादवप्लुत्य जले पतितस्तत्रापि स्वबुद्ध्याऽन्यस्य कस्यचिदुपदेशेन वेत्यादिप्रश्ने मूढधिषणान् किमपि वक्तुमसमर्थान् गोपान्वीक्ष्य परमकश्मलं तन्मूर्च्छातोऽपि सकाशादधिकां मूर्च्छामापुरित्यर्थः ॥ १९ ॥ शून्यम् असत्तुल्यम् "शून्यमंकासने खे च श्वसमूहे वितथे तथा" इति धरणिः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अन्वेषमाणाः अन्विच्छन्त्यः तत्र हेतुः दयितं तत्र हेतुः कृष्णम् ॥ १७ ॥ तत्र तत्र श्रीचरणन्यासभुवि विशो वैश्या गोपरूपाः ततो गोकुलपतेरित्यर्थः । सत्वाद्यभावश्छान्दसः अन्यपदान्तरान्तर इति चिरं प्रस्थितस्य पशुपशुपवर्गपरिवेष्टितस्यापि तस्य पदानि न केनचिदाक्रान्तानीति बोधयित्वा भूम्यव तावदात्मभूषणत्वेन रक्षितत्वं सर्वेषामपि प्रेमास्पदत्वमचेतनैर्बाल्वादिभिरप्यक्षोभ्यत्वेन महाप्रभावत्वमिति हेतुत्रयं सम्भावयति एवमेवोक्तं भगवल्लक्षणैरिति ततश्च साक्षात्तस्य तादृशानां तादृशप्रेमासदत्वे कालियालङ्घ्यत्वे च को विस्मय इति भावः ॥ १८ ॥ मूढधिषणान् मोहं गतान् परितः सर्वमेव तीरं व्याप्य ॥ १९ ॥ एवं सर्वेषामेव सामान्येन दुरवस्थामुक्त्वा तत्रैव श्रीगोपीनां विशेषमाह—गोप्य इति । भगवति सर्वैश्वर्ययुक्ते अतो न विद्यतेऽन्तो नाशो भक्तानां यस्मात् तथाभूते अपरिच्छिन्न इति वा इत्यहिग्रसनासम्भव उक्तः तथाप्यहिना ग्रस्ते तदिच्छयैव भोगेनाक्रान्ते सति अत्यर्थदुःखतप्ताः यतोऽनुरक्तमनसः स्वभावतो निरन्तरप्रेमवत्य इत्यर्थः । तथा तस्मान् तस्मिन्नपि स्वभावतः प्रियतम एवेति आत्मा प्रियः परमात्मा प्रियतरः ततोऽपि विशिष्टत्वात् श्रीकृष्णः प्रियतम एवेति ततः प्रेमभराक्रान्त्या तत्तत्त्वाननुसन्धानादित्यर्थः । यद्वा, भगवति परमसुन्दरे अनन्ते च अपरिच्छिन्नगुणे तथा प्रियतमे कस्यचित् प्रियतरे तासां तु प्रियतमे यतः सदानुरक्तमनसः अधुना च ग्रस्ते ग्रस्तवत् सर्वतो भोगेन परिवेष्टिते सति तस्य सौहृदेन प्रेम्णायाः स्मितावलोकगिरः ताः स्मरन्त्यो भृशदुःखतप्ताः सत्यः प्रियेणैव कर्त्रा विशेषेणातिशयेन हृतं स्वग्रस्ततादर्शनायान्धवद्विरायमाणतां विधाय च विस्मारितमित्यर्थः । प्रियव्यतिक्रान्तमिति पाठे च "व्यतिकरः समाख्यातो व्यसने व्यतिषङ्गने" इति विश्वप्रकाशात् "व्यसनं विपदि भ्रंशे" इत्यमरकोशाच्च । प्रियेण हेतुना भ्रष्टमिति तथैवार्थः टीकायां विरहितमित्यस्य च त्याजितमित्यर्थ इति तथैव तात्पर्यं ततस्तादृशं जगच्छून्यं ददृशुः शून्यमिति शोकवेगेनात्मन इव जगतामपि मरणमननात् निजप्रियतमाभावेन सर्वस्यैकारकारगमनाद्वा ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

दयितमिति तत्पदलक्षणाभिज्ञत्वं सद्यस्यत्प्राप्तौ हेतुश्च द्योतयति । दयितत्वे हेतुः—कृष्णमिति । अतएवान्विष्यन्तो मृगयमाणाः ॥ १७ ॥ तत्र तत्र सर्वत्रैव श्रीमत्पादाब्जन्यासस्थाने । ननु चिरं प्रस्थितस्य पशुपवर्गपरिवेष्टितस्य तस्य पदानि न कथं मृष्टानि ? कथं वा पशुपक्ष्यादिभिर्नाक्रान्तानि ? तत्राह—विशां प्राणधनानां पत्युर्भूम्यात्मभूषणत्वेन प्रयत्नतो धृतानि व्रजवासिनां महाधनानि, न केनापि तान्याक्रम्यन्त इति भावः ॥ १८ ॥ मूढधिषणान् मोहं गतान्, परितः किञ्चिदधिकैकयोजनव्याप्ति तद्ध्रद—पूर्वदक्षिणपश्चिमप्रान्तेषु सम्यक् क्रन्दतः पशूंश्चोपलभ्य सर्वमेव ह्रदं व्याप्य विक्रीडतो भगवते दर्शनार्थमनस्कानां पशूनां तत्र तत्र सर्वत्रैव स-संक्रन्दनावास्थितेः । च-कारादुभयेषामपि तत्र प्राधान्यं बोधयतः; यद्वा, एक उक्तसमुच्चये, ततश्च पक्षिणोऽपीति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥ एवं सर्वेषामेव सामान्येन दुरवस्थामुक्त्वा तत्रैव श्रीगोपीनां विशेषमाह – गोप्य इति । भगवति सर्वैश्वर्ययुक्तेऽनन्ते न विद्यते अन्तो नाशो भक्तानामपि यस्मात् तथाभूतेऽपरिच्छिन्न इति वा, इत्यहिग्रसनासम्भव उक्तः; तथाप्यहिना ग्रस्ते तदिच्छयैव भोगेनाक्रान्ते सति अत्यर्थदुःखतप्ताः यतोऽनुरक्तमनसः स्वभावतो निरन्तरप्रेमवत्य इत्यर्थः । तत् कुतः ? प्रियतमे – आत्मा प्रियः परमात्मा प्रियतरः, श्रीकृष्णस्ततोऽपि विशिष्टत्वात् प्रियतमस्तस्मिन्, प्रेमभराक्रान्त्या तत्तत्त्वाननुसन्धानादित्यर्थः । यद्वा, भगवति परमसुन्दरेऽनन्ते चापरिच्छिन्नगुणे तथा प्रियतमे स्वभावत एव सर्वतोऽधिकप्रिये, अतः सदानुरक्तमनस एव । अधुना च ग्रस्ते ग्रस्तवत् सर्वतो भोगेन परिवेष्टिते सति तस्य सौहृदेन प्रेम्णायाः स्मितावलोकगिरस्ताः स्मरन्त्यो भृशदुःखतप्ताः सत्यः । शून्यमिति शोकवेगेनात्मन इव जगतामपि मरणमननान्निजप्रियतमाभावेन सर्वस्यैवाभावमननाद्वा ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

पदैः सूचितया पदव्या ॥ १७ ॥ गवामन्यपदान्तरान्तरैः गवां पदैरन्यपदैश्च मिश्रितैः ॥ १८ ॥ कश्मलम्मोहम् ॥ १९ ॥ प्रियप्रतिहृतं विराहृतम् ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ते नन्दादयः कृष्णं मृगयन्तः भगवन्तं रामः लक्षयन्तीति तथा तैर्ध्वजवज्रादिभिश्चिह्नैरितिभावः । पदैः सूचितया पदव्या मार्गेण यमुनायास्तटं जग्मुः ॥ १७ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—ते इति । विशपतेः विश्वस्य पत्युः कृष्णस्य तत्र तत्र ध्वजादिरेखाभिरुपपन्नानि युक्तानि पदानि तत्राशनिर्वज्रः गवां मार्गे अन्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्येमध्ये निरीक्षमाणाः अङ्ग हे राजन् ! त्वरायुक्ता ययुः ॥ १८ ॥ जलमध्ये भुजगदेहेन परिवेष्टितमदृष्टचेष्टितं कृष्णं ह्रदस्य तीरे मूर्च्छितान् गोपांश्च सङ्क्रन्दतः पशूंश्चारादेवोपलभ्य ज्ञात्वा आर्त्ताः सन्तो महत्कश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १९ ॥ तस्य कृष्णस्य सौहृदेन सौहार्देन यत् स्मितं ये च विलोकाः कटाक्षास्तान् गिरश्च स्मरन्त्यः निरतिशयप्रीतिविषये तस्मिन् सर्पेण ग्रस्ते सति नितरां दुःखेन तप्ताः प्रियेण रहिताः त्रिलोकीं शून्यं ददृशुः ॥ २० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भगवल्लक्षणैर्हरेः पद्मध्वजादिलक्षणोपेतैः पदैश्चरणन्यासैः सूचितया सूचयन्त्या पदव्या मार्गेण ॥ १७ ॥ वैशद्याय पुनरुक्तं विवृणोति—त इति । यवो व्रीहिविशेषः शनिर्वज्रं "दम्भोलिरशनिर्द्वयोः" इत्यमरः । विशपतेः प्रजापतेः कृष्णस्य गवां मार्गे कृष्णपादेनान्यस्य गोपस्य अन्यासां गवां पादेनान्तरान्तरे मध्ये मध्ये मिश्रित इति शेषः । गवां पादेन अन्यपदेन वज्रादिलक्षणेन पदेन इतरलक्षणेन पदेनान्तरान्तरे मध्याविनाभूते वा ॥ १८ ॥ जलशयान्ते ह्रदसमीपे परितः स्थितान् गोपादानुपलक्ष्य परमं कश्मलं मोहम् ॥ १९ ॥ तस्य कृष्णस्य सौहृदं च स्मितं च विलोकश्च गिरश्च तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः ताः स्मरन्त्यः प्रियव्यतिहृतं विरहितम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

भगवतो लीलाविशेष एवायम्; मां प्रति कस्य कीदृक् प्रेमेति परीक्षितं समागतेष्वपि सर्वेषु तेषु क्षणमहिभोगवद्धः सन् कौतुकमकार्षीत् । तत्र तस्य प्रभावज्ञानामपि गोपगोपीनां पित्रोश्च 'अनिष्टाशङ्कीनि बन्धुहृदयानि' इति न्यायेन महिज्ञतामपि बाधित्वा प्रेमप्रभावेण सर्वेषां करुण एव रसो जातः । प्रेमवात्सल्ये तस्य प्रेम-वर्द्धकत्वेनाङ्गत्वमेवागतुरित्याह—गोप्योऽनुरक्तमनस इत्यादि द्वाभ्याम् । गोप्योऽत्र व्रजेश्वरीतुल्यवयसः; तुल्यव्यथा इति । वात्सल्यप्रतिपादकत्वादनुरक्तमनसो विक्लिन्नहृदया भगवत्यनन्तेऽहिना ग्रस्ते रुद्धे सति शून्यं जगद् ददृशुः । प्रियव्यतिकृतं प्रियमभीष्टं तेन विरहितं तु केवलं शून्यं ददृशुः । ताः कृष्णमातरं व्रजेश्वरीमपत्यं श्रीकृष्णं प्रति अनुप्रतप्राम्, तुल्यव्यथाः सत्यः समुपगुह्य शुचः स्रवन्त्यस्तास्ताः कथाः कथयन्त्य आसन्निदुत्तरेणान्वयः । एतेन तुल्यव्यथत्वात्तत् सवयस एव । यास्तु भगवत्प्रियाः किशोर्यस्तासां दुःखानुभवो न वाग्विषय एवेति तन्नोक्तम्; तदवर्णनमेव तद्वर्णनम् । तास्तु मूर्च्छयैव दत्ताश्वासास्तद्दुःखज्ञास्तथा न बभूवुः । पश्चात्तटमुत्थिते भगवति यदा हर्षजयकोलाहलोऽभूत् तदैव ताः प्रबोधं गता इति तद्दुःखावर्णनात्तथैव मन्तव्यम् ॥ २०–२३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

गोप्योऽनुरक्तमनस इत्यादि गोप्योऽत्र यशोदासहचर्य्यः (२१ श-श्लो) "तुल्यव्यथाः" इति विशेषणात्, तासां तं प्रति पुत्रभाव एव, भोग्यत्वेनानुरक्तास्तु नवीनाः तासां दुःखन्तु राग-विषयम्। तेन तन्नोद्दिष्टम्, तास्तु मूर्च्छयैव दत्तहस्तावलम्बास्तावन्तं कालमासन् भगवच्छक्त्यैव पुनर्जीविता इति भावः॥ २०-२२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भगवन्तं लक्षयन्ति यानि तैः सूचितया पदव्या॥ १७॥ पदैः पदवीज्ञानप्रकारमाह—ते इति। विश्पतेः विशां वैश्यानां गोपानां पत्युरुध्यक्षस्य कृष्णस्य, षत्वाभावं आर्षः। अन्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये तदपोहेन गवां श्रुतीनां मार्गे सत्वरा अप्रमत्ता योगिनस्तत्तदुपाध्यपवादेन यथा परन्तत्त्वं मृगयन्ति तद्वदिति भावः॥ १८॥ सामान्यतो गोपगोपीजनानां वैक्लव्यमाह—तत श्चान्तर्ह्रदे ह्रदमध्ये भुजगभोगपरीतं सर्पशरीरवेष्टितं भो बालकाः वृत्तान्तं तावत्कथयत किं कालियेनैव तीरात् कृष्णो बलादाकृष्य जले पातितः किंवा कृष्ण एव तीरादवप्लुत्य जले पतितः तत्रापि स्वबुद्धया अन्यस्य कस्यचिदादेशेन वेत्यादिप्रश्ने मूढधियः मूर्च्छितबुद्धीन् वक्तुं किमपि चेष्टितुं चासमर्थान् गोपान् वीक्ष्य परमकश्मलं तन्मूर्च्छातः सकाशादप्यतिमूर्च्छाम्॥ १९॥ तत्रानुरागवतीनां वैक्लव्यमाह—भगवति परमसुन्दरे अनन्तगुणे तस्य सौहृदं स्वविषयकं प्रेमस्मितं विलोकं रहसि कृतां गिरं सौरतवार्तां च स्मरन्त्यः त्रिलोकं प्रियेण व्यतिकृतं विरहितं तद्विरहदावाग्निभस्मीभूतत्वाच्छून्यं व्यतिहृतमिति पाठे प्रियेणैव विशेषेणातिशयेन हृतं स्वदशान्तःपातीतिकृतं ददृशुः॥ २०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ते नन्दाद्याः दयितं प्रियमन्वेषयन्तः भगवन्तं लक्षयन्तीति भगवल्लक्षणैरम्बुजादिलक्ष्मयुक्तैः पदैः सूचितया पदव्या मार्गेण यमुनातटं जग्मुः॥ १७॥ तदेवाह ते इति। हे अङ्ग! विश्पतेः अनेकब्रह्माण्डरूपायाः प्रजायाः पालकस्य श्रीकृष्णस्य तत्र तत्र गवां मार्गे अन्येषां पद्मानामन्तरं मध्ये मध्ये अब्जादिभिरुपपन्नानि पदानि निरीक्षमाणाः त्वरायुक्ताः ययुः॥ १८॥ अन्तर्ह्रदे भुजगभोगेन परीतं वेष्टितं कृष्णं जलाशयस्यान्ते तीरे परितः मूढधिषणान् गोपान् सङ्क्रन्दतः पशूंश्च आरादेव उपलक्ष्य प्राप्य परं महत् कश्मलमापुः॥ १९॥ भगवति अनुरक्तं मनो यासां ताः गोप्यः प्रियतमेऽहिना ग्रस्ते सति भृशदुःखतप्ताः प्रियेण श्रीकृष्णेन व्यतिहृतं विरहितं त्रिलोकं शून्यं ददृशुः॥ २०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

भगवन्तं कृष्णं लक्षयन्ति यानि तैः पदैरब्जयवाङ्कुशादिचिह्नितैः सूचितया पदव्या जग्मुः॥ १७॥ तदेवाह—ते तत्रेति। विश्पतेः विशां गोपानां पत्युः स्वामिनः अन्येषां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये तत्तदपवादेन तानि निरीक्षमाणाः सत्वरा ययुः गवां श्रुतीनां मार्गे सत्वराः योगिनो अतन्निरसनेन यथा तमेव परं तत्त्वमन्विष्यन्ति तद्वदिति भावः॥ १८॥ तत्र यतास्ते कृष्णं निरीहं गोपान् मूढधिषणान् पशूंश्च संक्रन्दत आराद्दूरादुपलभ्य दृष्ट्वा परमं कश्मलमापुः॥ १९॥ व्रजकिशोरीणामवस्थामाह—गोप्य इति। भगवति परमसुन्दरे अनन्ते "बृहद्गुणत्वाद् यमन्तमाहु" रित्युक्तेर्महागुणशालिनि कृष्णेऽनुरक्तमनसः तस्य सौहृदं स्वविषयां मैत्रीं स्मितविलोकं गिरश्च रहो वार्त्ता स्मरन्त्यः त्रिलोकं प्रियेण तेन व्यतिहृतं विरहितं तद्विरहवह्निदग्धत्वाच्छून्यं ददृशुः॥ २०॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भगवन्ति श्रीमन्त्यैश्वर्यवन्तीतरविलक्षणानि लक्षणानि येषां तानि तैः पदैः पादैः। अनेन कृष्णमिति पृथक् सत्त्वात्तल्लक्षणैः पदैरिति वक्तव्यं भगवदित्यतिरिक्तमिति निरस्तम्। भग ऐश्वर्यमाहात्म्यज्ञानवैराग्ययोनिषु। यशोवीर्यप्रयत्नेच्छाश्रीधर्मविमुक्तिष्विति विश्वः। सूचितया पदव्याऽन्वेषमाणा यमुनातटं जग्मुः॥ १७॥ लक्षणान्येवंरूपाणीति निरूपयति॥ त इति। अब्जं कमलरेखा यवो व्रीहिरेखाऽशनिर्वज्रमङ्कुशरेखाध्वजेन चोपपन्नानि पदानि। विस्पतेः प्रजास्वामिनः। शब्दसुश्राव्यताये विश्पतिरिति छान्दसः प्रयोगः। गवां मार्गेऽन्यपदान्तरान्तरेऽन्येषां गोपानां पदान्तरान्तरे तन्मध्यावकाशे निरीक्षमाणाः पश्यन्तः सत्वरा ययुः॥ १८॥ ह्रदे भुजगभोगपरीतं भुजगश्च भोगश्च ताभ्यां बहिरन्तश्च परीतस्तम्। भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणकाययोरिति विश्वः। अन्तर्निभृतसुखं जलाशयान्ते ह्रदसमीपे मूढधिषणाम्बुद्धिहीनान्सङ्क्रन्दतो रुदतः स्वयमार्ताः परमकश्मलमापुः॥ १९॥ अनुरक्तं मनो यासां तास्तस्य तत्कर्तृकाः सौहृदं च स्मितं च विलोकश्च गिरो वचनानि च ताः स्मरन्त्यस्त्रिलोकं प्रियव्यतिहृतं प्रियविरहितं शून्यं ददृशुः॥ २०॥

श्रीसुबोधिनी

तत्रापि भगवान्न केवलं गतः किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभिज्ञानमाह ते तत्रेति, तत्र तत्र मार्गे विश्वेवैश्याधिपतेर्गोकुलराजस्य भगवतः पदानि दृष्ट्वा तेनागतप्राणाः सत्वरा ययुः, अन्यथा गमनेप्यसामर्थ्यं स्यात्, यवः कीर्तिप्रतिपादकः, अब्जाकाररेखा सुसेव्यत्वाय, भक्तानां मनोगजनिवारणायाङ्कुशरेखा, अशनिः पापपर्वतच्छेदाय, ध्वजो निर्भयवासदानाय, एवमनेकविधैश्चिह्नैरुपपन्नानि पदानि, अतः स्वस्यापि कृतार्थता भविष्यतीति शकुनमिव प्राप्येष्टदर्शनार्थं शीघ्रं गताः, गवां मार्गेन्येषां गोपालानां च पदान्यन्तरा यत्र, तेन सर्वैः सह तिष्ठतीतिसन्तोषोपि, अन्तरा मध्ये ॥ १७ ॥ ननु कथं सर्वज्ञो बलभद्रो न तेषां निषेधं कृतवानित्याशङ्क्याह तांस्तथेति, तथा कातरानतिदीनान् वीक्ष्य प्रहस्य भगवत्सरीक्षां स्मृत्वा विधिनिषेधयोरन्यतरदपि नोक्तवान्, यतोनुजस्य भगवतः प्रभावज्ञः, अयं श्लोकः पूर्वत्र वा विगीतो वा ॥ १८ ॥ गता भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह अन्तर्ह्रद इति, दूरादेव भगवन्तं यमुनाह्लदे समुद्रे शेषशायिनमिव भगवन्तं दृष्टवन्तः, तदाह, हृदमध्ये भुजगभोगेन सर्पशरीरेण परीतं वेष्टितमारादेवोपलभ्य सुतत्वान् निरीहं जलाशयसमीपे च गोपानुपलभ्य, वृत्तान्तप्रश्नाभावाय विशेषणद्वयं मूढधिषणानिति, मूढा लयं प्राप्ता धिषणा बुद्धिर्येषां, परितः सर्वतो विक्षितान् पशूंश्च सङ्क्रन्दतः इति तेषामनिष्टसूचकत्वं, अतो मार्गे यथाकथञ्चिदप्यगता एतत् त्रितयं दृष्ट्वा परमकश्मलं मूर्छामापुः, आर्ता विकलाः सन्तापयुक्ताश्च जाताः ॥ १९ ॥ एवमार्त्यनन्तरं गोपिकानां यशोदासहितसाधारणस्त्रीणां नन्दादीनां च वृद्धगोपानामवस्था आह गोप्य इतित्रिभिः, गोप्यश्च भगवन्तं तादृशं दृष्ट्वा त्रैलोक्यमेव प्रियरहितं ज्ञातवत्यः, प्रिया एव हि रक्षणीयाः, अत प्राणरक्षायामिह लोकरक्षायां परलोकरक्षायां च निवृत्तव्यापारास्तथैव लयं प्राप्तवत्य इति तामस्यवस्था, अनुरक्तं मनो यासां, अनेन तेषां प्राणवियोगाभावे हेतुरुक्तः, ननु भगवति साम्प्रतं मनः प्राणवियोजकमेव न तु प्राणरक्षकमित्याशङ्क्याह भगवतीति, सर्वकरणसमर्थो भगवान्, अतः षड्भिरपि गुणैस्तासां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः, तथापि विषयस्यानिष्टरूपत्वे प्राणरक्षा भक्तिविरोधिनीत्याशङ्क्याहानन्त इति, न विद्यतेन्तो यस्येति, विषयश्च नानिष्टरूपः, अतो भगवता रक्षिता सजीवा एवेतिकर्तव्यतामूढाः स्थिताः, किञ्च तासां जीवने हेत्वन्तरमपि जातमित्याह तत्सौहृदेति, तस्य भगवतः सौहृदं स्मितं विलोकं गिरश्च स्मरन्त्यः, सौहृदस्मरणे शरीरस्थितिः, स्मितस्मरण इन्द्रियाणां विलोकस्मरणे प्राणानां वाक्स्मरणेन्तःकरणस्य, साधकानुक्त्वा बाधकमाहाहिना सर्पेण वेष्टिते परमप्रीतिविषये भृश दुःखेन तप्ताश्च जाताः, अतिस्त्रिलोकं प्रियेण व्यतिहृतं शून्यमेव ददृशुरित्यर्धजरतीयम् ॥ २० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तांस्तथेत्यत्र तस्य श्लोकस्यासङ्गतत्वं स्फुटीकुर्वन्त्ययं श्लोकः पूर्वत्र वा विगीतो वेति, बलभद्रस्य पूर्वमेव भगवत्प्रभावज्ञत्वादुत्पातदर्शनसमय एव न कातर्यं तत्र वायं श्लोको वक्तुमुचितो वस्तुतस्तु किञ्चित्कार्यस्यात्रानुक्तत्वात् केवलहासस्य तूष्णीम्भावस्यानुचितत्वाच्च विगीतः क्षेपको वेत्युभयथाप्यत्रासङ्गत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

ते तत्रेत्यत्र पदवीविशेषणस्य भगवत्पदस्यापि पूर्वं निरूपितत्वात् तत्राप्यनुपपन्ना तद्विशेषणे गोगोपसाहित्यविशेषणे तत्पदे पर्यवस्यति, दध्नेन्द्रियकामस्येतिवदतिपाराार्थ्यं, अतः स्वस्यापीति भूमिः पदैः कृतार्था स्वस्यापि तथैत्यपिशब्दः ॥ १७ ॥ अन्तर्ह्रद इत्यस्याभासे इति हेतोराह आर्तिमिति शेषः, उपसंहारे आर्तेरेव वाक्यार्थत्वोक्तेः ॥ १९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भगवन्तं लक्षयन्ति ज्ञापयन्ति यानि वज्राङ्कुशादियुक्तानि पदानि तैः सूचितया ज्ञापितया पदव्या मार्गेण दयितं प्रियं कृष्णमन्वेषमाणाः मृगयन्तः ते गोपादयो यमुनातटं जग्मुरित्यन्वयः ॥ गमनप्रकारमाह—ते इति । हे अङ्ग हे राजन् ! ते गोपा गवां मार्गे तत्र तत्रान्येषां गोपादीनां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये अब्जादियुक्तानि विश्वपतेर्वैश्यानां गोपानामधिपस्य श्रीकृष्णस्य पदानि निरीक्षमाणाः सत्वराः त्वरया शैघ्र्येण युक्ता यमुनातटं ययुरित्यन्वयः ॥१८॥ गत्वा च आरात् दूरादेव अन्तर्ह्रदे ह्रदमध्ये भुजगस्य सर्पस्य भोगेन देहेन परीतं वेष्टितमत एव निरीहं निश्चेष्टं तं कृष्णं जलाशयस्यान्ते तीरे मूढधिषणान् मूर्छया पतितान् गोपान् तथा परितः सङ्क्रन्दतः आर्तनादं प्रकुर्वतः पशून् गवादींश्च निरीक्ष्यार्ताः अतिपीडिताः सन्तः परमकश्मलं मूर्छामापुरित्यन्वयः ॥ १९ ॥ एवं सामान्यतः सर्वेषां दुःखमुक्त्वा तत्प्रेमवतीनां गोपीनां दुःखमाह—गोप्य इति । गोप्यश्च तस्मिन् प्रियतमे कृष्णे अहिना सर्पेण गृहीते सति भृशदुःखतप्ताः अत्यन्तदुःखेन सन्तप्ताः सत्यः प्रियेण कृष्णेन व्यतिहृतं विरहितं त्रिलोकं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुरित्यन्वयः । प्रियतमत्वज्ञापकमाह—तदिति । तस्य सौहृदं प्रेम, स्मितं च, विलोकं च, गिरः प्रियवचनानि च स्मरन्त्यः । स्मरणे हेतुमाह—अनन्तगुणपूर्णे तस्मिन् भगवति अनुरक्तं मनो यासां ता इति ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ते इति ॥ भगवन्तं लक्षयन्ति ज्ञापयन्ति यानि वज्राङ्कुशादियुक्तानि पदानि तैः पदैः सूचितया ज्ञापितया पदव्या मार्गेण दयितं प्रियं कृष्णमन्वेषमाणाः मृगयमाणाः "एष्टृ, गतौ" ते गोपादयो यमुनातटं जग्मुः ॥ १७ ॥ ते तत्र तत्रेति ॥ अङ्ग हे राजन्! ते गोपाः गवां मार्गे तत्र तत्रान्येषां गोपादीनां पदानामन्तरान्तरे मध्ये मध्ये अब्जं कमलं यवः अङ्कुशः अशनिर्वज्रं ध्वजश्च तैः उपपन्नानि युक्तानि विश्पतेर्वैश्यानां गोपानामधिपस्य श्रीकृष्णस्य। सत्वाद्यभाव आर्षः। पदानि निरीक्षमाणाः सत्वरा यमुनातटं ययुः ॥ १८ ॥ अन्तरिति ॥ आरात् दूरादेव अन्तर्ह्रदे ह्रदमध्ये भुजगस्य सर्पस्य भोगेन देहेन परीतं वेष्टितमत एव निरीहं निश्चेष्टं तं कृष्णं जलाशयस्यान्ते तीरे मूढधिषणान् मूर्छया पतितान् कृष्णस्य ह्रदे पतनकारणं वक्तुमक्षमान्वा गोपान् तथा परितः संक्रन्दतः आर्तनाद प्रकुर्वतः पशून् गवादींश्च निरीक्ष्यार्ताः अतिपीडिताः सन्तः परमं कश्मलं मूर्छामापुः ॥ १९ ॥ अनुरक्तानां गोपीनां वैक्लव्यमाह—गोप्य इति ॥ अनन्ते भगवति कृष्णे अनुरक्तं मनो यासां ताः तस्य सौहृदं प्रेम स्मितं च विलोकं च गिरः प्रियवचनानि च स्मरन्त्यः गोप्यः तस्मिन् प्रियतमे कृष्णे अहिना ग्रस्ते गृहीते सति भृशदुःखतप्ताः अत्यन्तदुःखेन सन्तप्ताः सत्यः प्रियेण कृष्णेन व्यतिहृतं विरहितम्। व्यतिकृतमिति पाठेऽपि स एवार्थः। त्रिलोकं त्र्यवयवं लोकं त्रैलोक्यं शून्यं ददृशुः ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अन्वेषमाणाः मृगयमाणाः भगवतो लक्षणानि ध्वजोर्ध्वरेखापद्मादीनि चिह्नानि येषु तैः पदैः सूचितया पदव्या यथा ॥ १६ ॥ अब्जादिभिः युक्तानि। विश्पतेः विशां प्रजानां स्वकीयानां प्रकृतिपुरुषादीनां पतेः यद्वा विशां वैश्यजातीयगोपानां पतेर्हरेः पदानि सत्वाद्यभाव आर्षः गवां मार्गे अन्येषां पदानां अंतरांतरे मध्ये निरीक्षमाणाः ॥ १८ ॥ अंतरिति। भुजगस्य सर्पस्य भोगेन देहेन परीतं वेष्टितं निरीहं आरात् दूरादुपलभ्य दृष्ट्वा जलाशयांते ह्रदसमीपे मूढधिषणान् तमोग्रस्तबुद्धीन् गोपान् संक्रंदतः पशूंश्च दृष्ट्वा आर्त्ता व्रजवासिनः परमकश्मलं मोहं प्रापुः ॥ १९ ॥ तस्य सौहृदं मित्रत्वं च स्मितयुक्तोऽवलोकश्च गिरश्च ताः स्मरन्त्यः सर्पेण प्रियतमे कृष्णे ग्रस्ते सति अतिदुःखेन तप्ताः सत्यः गोप्यः प्रियेण हरिणा व्यतिहृतं रहितं त्रिलोकं शून्यं ददृशुः ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

त इति ॥ दयितं प्राणप्रियं, कृष्णं अन्वेषमाणा मृगयन्तः, ते नन्दादयः, भगवन्तं श्रीकृष्णं लक्षयन्ति ज्ञापयन्तीति तैः, ध्वजोर्द्ध्वरेखावज्रपद्मादिभिश्चिह्नयुक्तैरिति भावः। पदैः पादन्यासैः, सूचितया, पदव्या मार्गेण, यमुनातटं प्रति, जग्मुः ॥ १७ ॥ तदेव प्रपञ्चयति ॥ त इति ॥ ते नन्दादयः, तत्र तत्र प्रदेशे, अब्ज पद्मं च यवो धान्यविशेषश्च अङ्कुशः सृणिश्च अशनिर्वज्रं च ध्वजश्च तैर्लक्ष्मभिः उपपन्नानि युक्तानि, विश्पतेर्विश्वपत्युः श्रीकृष्णस्य, पदानि गवां मार्गे, अन्येषां पदानां अन्तरान्तरं मध्यं मध्यं तस्मिन्, निरीक्षमाणाः सन्तः, अङ्ग हे राजन्, सत्वरास्त्वरायुक्ताः भूत्वा, ययुः ॥ १८ ॥ अन्तरिति ॥ यमुनातटे आगतास्ते इति शेषः। अन्तर्ह्रदे मध्यप्रदेशे, भुजगस्य सर्पस्य भोगः शरीरं तेन परितो वेष्टितस्तं, कृष्णं आरात् दूरात्, निरीहं निश्चेष्टं, उपलभ्य दृष्ट्वा, जलाशयान्ते जलाशयस्य समीपप्रदेशे च मूढधिषणान् मूर्च्छितप्रायान्, गोपान् परितस्तान् सर्वतः, संक्रन्दतः क्रन्दमानान्, पशून् गवादींश्च, उपलभ्य आर्त्ताः सन्तः, परमकश्मलं महामोहं, आपुः ॥ १९ ॥ गोप्य इति ॥ अनन्ते अपाररूपलावण्यौदार्यादिगुणवति, भगवति श्रीकृष्णे, अनुरक्तानि गाढानुरागं प्राप्तानि मनांसि यासां ताः, तस्य श्रीकृष्णस्य सौहृदेन सौहार्द्देन स्मितं च विलोकाः कटाक्षाश्च गिरो वाचश्च ताः, स्मरन्त्यः गोप्यः, प्रियतमे निरतिशयप्रीतिविषये कृष्णे, अहिना सर्पेण, ग्रस्ते सति, भृशदुःखतप्ताः नितरां दुःखेन परितापं गताः सत्यः, प्रियव्यतिहृतं प्रियविरहितं प्रियेण त्यक्तमित्यर्थः। त्रिलोकं भूरादिलोकत्रयं, शून्यं निर्मनुजादिसदृशं, ददृशुः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तेऽन्वेषमाणा इति : १०.१६.१७.

भगवत्पदपद्मरञ्जिता या पदवी सैव कलौ सुखप्रदा हि। उपलब्धिरपि प्रभोस्तयैवेत्यभवद्गोपवृत्ततः स्फुटार्थम् ॥ ४९ ॥

अन्तरिति : १०.१६.१९.

सर्वे क्लेशा यान्ति नाशं यदीयस्मृत्या सत्त्वं क्लेशलेशावभासम्।
अङ्गीकृत्याक्लेशयस्तान् स्वभक्तान् कस्मादस्माल्लब्धमीश त्वया किम् ॥ ५० ॥

कृष्णप्रिया

व्रजवासी अपने प्यारे श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने लगे। कोई अधिक कठिनाई न हुई, क्योंकि मार्ग में उन्हें भगवान के चरण चिह्न मिलते जाते थे। यव, कमल, अङ्कुश आदि से युक्त होने के कारण उन्हें पहचान होती जाती थी। इस प्रकार वे यमुना तट की ओर जाने लगे ॥ १७ ॥ परीक्षित्! मार्ग में गौओं और दूसरों के चरण-चिह्नों के बीच-बीच में भगवान् के चरण-चिह्न भी दीख जाते थे। उनमें कमल, जौ, अङ्कुश, वज्र और ध्वजा के चिह्न बहुत ही स्पष्ट थे। उन्हें देखते हुए वे बहुत शीघ्रता से चले ॥ १८ ॥

उन्होंने दूर से ही देखा कि कालिय-दह में कालिय नाग के शरीर से बँधे हुए श्रीकृष्ण चेष्टाहीन हो रहे हैं। कुण्ड के किनारे ग्वाल-बाल अचेत हुए पड़े हैं और गौएँ, बैल, बछड़े आदि बड़े आर्त स्वर से डकरा रहे हैं। यह सब देखकर वे सब गोप बहुत व्याकुल और अन्त में मूर्छित हो गये ॥ १९ ॥ गोपियों का मन अनन्त गुणनिलय भगवान श्रीकृष्ण के प्रेम के रंग में रंगा हुआ था। वे नित्य निरन्तर भगवान के सौहार्द, उनकी मधुर मुसकान, प्रेमभरी चितवन तथा मीठी वाणी का ही स्मरण करती रहती थी। जब उन्होंने देखा कि हमारे प्रियतम श्यामसुन्दर को काले साँप ने जकड रक्खा है। तब तो उनके हृदय में बड़ा ही दुःख और बड़ी ही जलन हुई। अपने प्राण वल्लभ जीवन सर्वस्व के बिना उन्हें तीनों लोक सूना दीखने लगा ॥ २० ॥

ताः कृष्णमातरमपत्यमनु प्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
[1]तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥ २१ ॥
कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् । प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥ २२ ॥
इत्थं स्वगोकुलमनन्यगतिं[3] निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥ २३ ॥
तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ताः अपत्यं अनुप्रविष्टां कृष्णमातरं समनुगृह्य तुल्यव्यथाः शुचः स्रवन्त्यः ताः ताः व्रजप्रियकथाः कथयन्त्यः कृष्णानने अर्पितदृशः मृतकप्रतीकाः आसन् ॥ २१ ॥ कृष्णानुभाववित् सः भगवान् रामः कृष्णप्राणान् तं ह्रदं निर्विशतः नन्दादीन् वीक्ष्य प्रत्यषेधत् ॥ २२ ॥ इत्थं मर्त्यपदवीं अनुवर्तमानः (कृष्णः) मुहूर्तं स्थित्वा अनन्यगतिं आत्महेतोः सस्त्रीकुमारम् स्वगोकुलम् अतिदुःखितं आज्ञाय उरङ्गबन्धात् उदतिष्ठत् ॥ २३ ॥ तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगः श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखः भुजङ्गः कुपितः (सन्) त्यक्त्वा श्वसन् फणान् उन्नमय्य हरिं ईक्षमाणः तस्थौ ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनन्यगतिमात्मानमित्थं निरीक्ष्यात एवात्महेतोः स्वगोकुलमतिदुःखितमाज्ञायोरगबंधादुदतिष्ठदित्यन्वयः ॥ २३ ॥ तस्य प्रथ्यमानेन वपुषा व्यथितात्मशरीरो भुजंगः सर्पः कुंडलीनुन्मुंच्य तं त्यक्त्वा कुपितः स्वफणानुन्नमय्य श्वसन्केवलमीक्षमाणस्तस्थौ। कथंभूतः ? श्वसनरंध्रेषु नासाविवरेषु विषं यस्य स तथा अंबरीषो मंडकपाकभाजनं तद्वत्संतप्तानि स्तब्धानीक्षणानि यस्य स तथा उल्मुकानि मुखेषु यस्य स च स च स च ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ता गोप्यः। कृष्णमातरं यशोदाम्। शुचोऽश्रूणि। स्रवंत्योऽश्रुधारया नदीं कुर्वंत्यः। व्रजप्रियस्य कृष्णस्य कथाः ताः पूतनावधादिरूपाः वा व्रजस्य प्रियकथाः—पूतनाद्या महादुष्टा अनेन बहवो हता अयं सर्पस्तेष्वेकः को नाम वराकः एनं हत्वाऽधुना यास्यतीति तन्मात्राश्वासनार्थमिति जीवगोस्वामिनः। 'प्रतीकोऽपघने तुल्ये' इति धरणिः। मृततुल्या इति ॥ २१ ॥ तद्ध्रदम् कालियह्रदम्। स प्रसिद्धः। प्रत्यषेधदिति—भो आर्यपादाः 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमंजस्तरिष्यथ' इति श्रीगर्गवचनात् त्वेतादृशदुर्गोत्तरणं किं चित्रमिति विचार्य विवेकं भजत युष्मासु ह्रदं प्रविष्टे पश्चात्स्वस्थागतस्यास्य मदनुजस्य लालनपालनादिकं कः कर्त्तव्यम्, 'गोपायस्व समाहितः' इति गर्गमहर्षिनिदेशलंघने प्रवृत्ताः कथं स्वेत्यादिवाक्यैरित्यर्थः। ननु तेषां सर्वेषां प्रतिषेधं कर्तुं स कथं शक्तस्तत्राह भगवान् सर्वशक्तियुतः। कांश्चिदुक्तं युक्त्या कांश्चिद्बलेन कांश्चिदंतःप्रेरणया च। अत एव सर्वरमणः रामः। ननु सोऽपि कथं स्वस्थस्तत्राह—कृष्णस्य सर्वदुःखकर्षकस्य सदानंदमूर्त्तेरनुभाववैभवं दुष्टदलनादिरूपं वेत्तीति तोषिणी ॥ २२ ॥ इत्थम् सर्पवेष्टितम्। नान्या गतिर्ज्ञाता यस्यासौऽनन्यगतिस्तम्। सर्वरक्षकत्वे सति सर्वारक्ष्य निरीक्ष्य विमृश्य। अत एव अनन्यगतित्वादेव। आत्महेतोः। मदर्थम्। उरगबंधादहिवेष्टनात्। उदतिष्ठत् पृथग्बभूव। गोकुलपक्षे त्वमो लुगभाव आर्षः। सकलाः स्त्रियः कुमाराः सस्त्रीकुमारामिति साकल्येऽव्ययीभावः। मुहूर्त्तं स्तब्ध इव स्थित्वा किं रे कालिय त्वया विक्रमसर्वस्वं दर्शितोऽहं संप्रति गोपालबालकोऽप्ययं विक्रमलवं दर्शयति पश्येत्युक्त्वोरगबंधादुदतिष्ठत्पृथग्भवितुमुद्यतोऽभूत् ॥ २३ ॥ प्रथ्यमानेन वर्द्धमानेन। 'मंडकं सूक्ष्मरोटिके' इति शाश्वतः। ततोय इति प्रसिद्धम्। यद्वा - अंबरीषः भ्राष्ट्रम् अन्नभर्जनार्थं रचितो गृहकारवत्। 'क्लीबेंऽबरीषं भ्राष्ट्रो ना' इत्यमरः ॥ २४ ॥

---

१. प्रतप्तां–वीर. । २. त्रस्ताः–विज. । ३. गतिं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. चिद्घ. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तन्माता हन्त कीदृशी जातेत्यपेक्षायां शोकभरेण किञ्चिदेव प्रकाशयन् सर्वासामेव तासां दशाविशेषमाह—ता इति। ताः पूर्वोक्ताः श्रीयशोदासख्योऽन्याः श्रीगोप्यः न पतति कस्मिन्नपि दुःखे कुलं यस्मात्तदपत्यं परमस्नेहपात्रपुत्रमित्यर्थः अत एव तत् अनुलक्षीकृत्य तदर्थं प्रकर्षेण सर्वतोऽधिकतया ततां प्रविष्टामिति पाठे ह्रदं प्रवेष्टुमारब्धामित्यर्थः। तुल्यव्यथा अपि स सम्यक् अनु निरन्तरं गृहीत्वा धृत्वा शुचः शोकाश्रूणि स्रवन्त्यः प्रवाहरूपेण मुञ्चन्त्यः तास्ताः पूतनादितो दैवकृतरक्षामयीः वत्सबकादिवधरूपास्तवैश्वर्यमयीश्च व्रजस्य प्रियकथाः कथयन्त्या तादृशा महादुष्टा बहवोपि हताः अयं सर्पः तेष्वेकः को नाम वराकः एनं हत्वाऽधुनैवायास्यतीति तन्मातृसान्त्वनार्थमित्यर्थः। तथा कृष्णार्पितदृशश्च सत्य आसन् पश्चात् मृतकतुल्याश्चासन्नित्यर्थः। विशेषतस्तासां शोकोक्तिः श्रीविष्णुपुराणे—

"सर्वा यशोदया सार्द्धं विशामोऽत्र महाह्रदे। नागराजस्य नो गन्तुमस्माकं युज्यते व्रजे"॥

"दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा। विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को व्रजः॥ विना कृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम् अरम्यं नातिसेव्यं च वारिहीनं यथा सरः॥ यत्र नेन्दीवरदलप्रख्यकान्तिरयं हरिः। तेनापि मातुर्वसिन रतिरस्तीति विस्मयः॥ उत्फुल्लपङ्कजदलस्पष्टकान्तिविलोचनम्। अपश्यन्त्यो हरिं दीनाः कथं गोष्ठे भविष्यथ॥ अत्यर्थमधुरालापहृताशेषमनोधनाः। न विना पुण्डरीकाक्षं यास्यामो नन्दगोकुलम्॥ भोगेनावेष्टितस्यापि सर्पराजस्य पश्यत। स्मितशोभिमुखं गोप्यः कृष्णस्यास्मद्विलोकने"॥ इति॥ २१॥ कथञ्चिन्मोहोपशमे कालविलम्बे च ह्रदं निश्शेषेण प्रविशतः नन्दादीन् सर्वानेव व्रजजनान् रा: व्रजरक्षार्थं भगवता गृहे त्यक्तो यः बन्धुवत्सलत्वेन प्रसिद्धो वा ननु, तेषां सर्वेषां प्रतिषेधनं स कथं कर्त्तुं शक्तः? तत्राह भगवान् सर्वशक्तियुक्तः कांश्चिद्युक्त्युक्त्या कांश्चिद्बलेन कांश्चिद्दन्तःप्रेरणया च एवं सर्वरमणाद्रामः। ननु, सोपि नाम कुतः स्वस्थ आसीत्? तत्राह—कृष्णस्य परब्रह्ममूर्तेर्भगवतः अनुभावं प्रभावं वेत्तीति तथा सः॥ २२॥ इत्थम् अनेन सर्वेषां तेषामपि मोहनादिना प्रकारेण न विद्यते अन्या गतिः रक्षको यस्य तथाभूतम् आत्मानमिति शेषः। पतिमिति पाठे स एवार्थः उदतिष्ठत् श्रीकृष्णः अन्यतैः यद्वा सच मुहूर्त्तं स्थित्वा उरङ्गमबन्धादुदतिष्ठन् मुहूर्त्तस्थितौ हेतुः मर्त्यपदवीं यं प्रति दण्डो विधीयते तस्य दासो लोके दर्श्यते इतीदृशीं तन्नीतिमनुवर्त्तमान इति उत्थाने हेतुः स्वात्मीयं गोकुलम् इत्थं निजोत्थानं विना न जीविष्यतीति प्रकारेण न विद्यतेऽन्या गतिः रक्षको यस्य किं वा न विद्यतेऽन्या यत्राहिवेष्टने स्वस्यास्थास्यतिस्तस्मादपरा गतिर्गमनं यस्येति तत्रैव प्रवेशनिश्चयो यस्येत्यर्थः। तादृशं निरीक्ष्य तच्चेष्टादर्शनेन निश्चित्य अमो लुगभावः आर्षः तत्रापि सस्त्रीकुमारं कृत्स्नमित्यर्थः। साकल्येऽव्ययीभावः, चेष्टादर्शनमेवाह –आत्महेतोरतिदुःखितं दुःखपराकाष्ठामापन्नं सम्यक् ज्ञात्वेति स्वभावतो जनमात्रस्य दुःखासहिष्णुता तस्मिन् वर्त्तत एव तथापि स्वीयस्य तत्राप्यात्ममानवार्तिहेतुकदुःखस्य तत्राप्यात्मदुःखदुःखितस्येति क्रमज्ञानेनोत्थानेति त्वरा बोधिता एवं तदुत्थानादिका सर्वेव लीलाव्रजजनेन दृष्टेति गम्यते॥ २३॥ उत्थानप्रकारमेव दर्शयन् कालियस्य ग्लानिमाह—तदिति। तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन स्वयं विस्तार्यमाणेन किञ्चिदुच्छ्वास्यमानेन वपुषा व्यथितः त्रुट्यन्निव पीडितः आत्मभोगो यस्य आत्मशब्देन तत्रात्यन्तमभ्यास संध्यज्य पीडा वैशिष्ट्यं द्योतितं स्वच्छन्दश्चासाधारणतया विवक्षया अम्बरीषमत्र ज्वलद्विषभर्जनपात्रं हरिं दुरभिमानदोषहरणात् निजावासहरणोद्यमत्वाद्वा अन्यतैः तत्र कुण्डलं वेष्टनम्॥ २४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु तन्माता का हन्त कीदृशी जातेत्यपेक्षायां शोकभरेण तत् किञ्चिदेव प्रकाशयन् सर्वासामेव तासां दशाविशेषमाह—ता इति। न पतति कस्मिन्नपि दुःखे कुलं यस्मात् तदपत्यं परमस्नेहपात्रत्वामित्यर्थः। अतएव तदनु लक्षीकृत्य तदर्थं प्रकर्षेण सर्वतोऽधिकतयां ततम्। तुल्यव्यथा अपि सम्यक् अनु निरन्तरं गृहीत्वा धृत्वा, अन्यथा तस्याः सहसैव सद्यो ह्रदप्रवेशापत्तेः। शुचः शोकाश्रूणि स्रवन्त्यः प्रवाहरूपेण मुञ्चन्त्यः, तास्ताः पूर्वोक्ताः सर्वा अनिर्वचनीया वा; व्रजस्य प्रियः, किंवा व्रज एव प्रियो यस्य तस्य कथाः; यद्वा, व्रजे वर्त्तमानाः प्रियस्य कृष्णस्य कथाः; किंवा, व्रजस्य प्रियाः कथाः, श्रीकृष्णस्य बाल्यक्रीडादिवृत्तानि; सस्मितमधुरावलोकपूर्वकनर्मालापान् वेति सर्वथात्यन्तशोकविलाप उक्तः; यद्वा, वत्सबकादि-वध-रूपाः कथाः कथयन्त्यस्तादृशा महादुष्टाः कृष्णेन हताः। अयं सर्पः को नाम वराकः? एनं हत्वाधुनैवायास्यतीति तन्मातृसान्त्वनार्थमिति भावः। विशेषतस्तासां शोकोक्तिः श्रीविष्णुपुराणे यथा (५।७।२५-३१)—

"सर्वा यशोदया सार्द्धं विशामोऽत्र महाह्रदे। नागराजस्य नो गन्तुमस्माकं युज्यते व्रजे॥
दिवसः को विना सूर्यं विना चन्द्रेण का निशा। विना वृषेण का गावो विना कृष्णेन को व्रजः॥
विना कृता न यास्यामः कृष्णेनानेन गोकुलम्। अरण्यं नापि सेव्यञ्च वारिहीनं यथा सरः॥
यत्र नेन्दीवरदल-प्रख्यकान्तिरयं हरिः। तेनापि मातुर्वसिन रतिरस्तीति विस्मयः॥

उत्फुल्लपंकजदल-स्पष्टकान्तिविलोचनम् । अपश्यन्त्यो हरिं दीनाः कथं गोष्ठे भविष्यथ ॥
अत्यर्थमधुरालाप-हृताशेषमनोधनाः । न विना पुण्डरीकाक्षं यास्यामो नन्दगोकुलम् ॥
भोगेनावेष्टितस्यापि सर्पराजस्य पश्यत । स्मितशोभि मुखं गोप्यः कृष्णस्यास्मद्विलोकने ॥" इति ।

कृष्णाननेर्ऽपितदृशश्च सत्यः, आसन् तत्सन्दर्शनार्थं स्थिताः शोकाकुलतया भूमावुपविष्टा वा । पश्चाच्च मृतकप्रतीका बभूवुः यद्वा, कथयन्त्यः कृष्णाननार्पितदृशः सत्यो मृतकप्रतीका आसन् बभूवुः, मोहं गता इत्यर्थः । एता हि प्रायो व्रजेश्वरीसमवयस्काः, पूर्वोक्ताश्च प्रायो नववयस्का भगवत्प्रियतमा इति केचिदद्विवेचयन्ति ॥ २१ ॥ कथञ्चिन्मोहोपशमे कालविलम्बे च ह्रदं निःशेषं निर्विशेषेण वा प्रविशतो नन्दादीन् सर्वानेव व्रजजनान्, स व्रजरक्षार्थं भगवता गृहे रक्षितो यः, बन्धुवत्सलत्वेन प्रसिद्धो वा। ननु तेषां सर्वेषां प्रतिषेधनं स कथं कर्त्तुं शक्तः ? तत्राह,—भगवान् सर्वशक्तियुक्तः— कांश्चिद्युक्त्युक्त्या, कांश्चिद्बलेन, कांश्चिच्च श्रीविष्णुपुराणानुसारेण स्मितशोभिमुखत्वदृष्ट्या भगवत्स्वस्थतादि—प्रदर्शनेप्यर्थः । एवं सर्वरमणाद्रामः । ननु सोऽपि तदा कुतः स्वस्थ आसीत् ? तत्राह—कृष्णस्य परब्रह्ममूर्त्तेर्भगवतोऽनुभावं प्रभावं वेत्तीति तथा सः; पुनश्च स्नेहभराकुलास्ते सर्वे श्रीकृष्णस्य तादृशसाक्षादवलोकनतः परमार्त्त्युद्भवेन विशेषतश्च ह्रदप्रवेशाप्राप्त्यान्तर्दुःख—भरोदयेन मोहिता भूमौ निपत्यावस्थिता ज्ञेयम्,—(भा. १०।१७।१४) 'उपलभ्योत्थिताः सर्वे इति वक्ष्यमाणत्वात्' ॥ २२ ॥ इत्थमनेन तेषां सर्वेषामपि मोहादिना प्रकारेण न विद्यतेऽन्यः पतिः रक्षको यस्य तथाभूतमात्मानमिति शेषः । उदतिष्ठन् श्रीकृष्णः । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् । यद्वा, इत्थमुक्तेन मोहेन शोकमोहाद्यनुपरम-प्रकारेणातिदुःखितम्, अनन्या एकान्तिनस्तेषां पतिं चात्मानं निरीक्ष्यालोच्येत्येषां रक्षावश्यमेवाशु कार्येति भावः । विशेषतश्चात्महेतोरेवातिदुःखितं स्वकीयमकृत्येनापि रक्ष्यं गोकुलमाज्ञाय स्वभावतः परदुःखासहिष्णुता भातीव । तत्र च स्वकीयानां तत्राप्यात्महेतुकमित्युत्थानेऽतित्वरा बोधिता । स-स्त्री-कुमारमिति श्रीयशोदादीनां गोपीनां श्रीदामादि-सहचर-गोपकुमाराणाञ्च दुःखविशेषविवक्षया पृथङ्निर्दिष्टम्; अथवा, इत्थमुक्तप्रकारकं परमार्त्तं मरणोद्यतञ्च स्वगोकुलं निरीक्ष्य, न विद्यतेऽन्यत् किञ्चिदपि स्वस्माद्यस्य तं पतिञ्च गोकुलस्वामिनम्, किंवा, अनन्या गोपास्तेषां पतिं श्रीनन्दं स-स्त्रीकुमारमात्महेतोः रतिदुःखितमाज्ञाय । हे अनन्येति श्रीपरीक्षितं प्रति सम्बोधनं वा,—तवेवानन्यानां तेषामपि प्राणरक्षापूर्व्वकं शेषमङ्गलं तेनावश्यं कृतमेवेति भावः । तथापि पतिं गोकुलस्येत्यर्थात् तमेव । अन्यत् समानम् । मर्त्यपदवीमनुवर्त्तमानो लौकिक-लीलां दर्शयन्नित्यर्थः । अतो मुहूर्त्तमल्पकालमेवोरगभोगबन्धे स्थित्वा; यद्वा, यं प्रति निःसारणादिदण्डो विधीयते, तस्य हि दोषो लोकेषु दर्शयितुं इतीदृशीं मर्त्यपदवीमनुसरन्नपि शीघ्रमुदतिष्ठदित्यर्थः । भावविशेषालिंगनादिना यो हि मिलति, स बलान्न मोच्यते, किन्तु क्षणं तेन संगत्य स्थीयत इति लोकरीतिमनुसरन्निति तत्त्वार्थः ॥ २३ ॥ उत्थानप्रकारमेव दर्शयन् कालियस्य ग्लानिमाह तदिति । तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन स्वयंविस्तार्य्यमाणेन किञ्चिदुच्छ्वासयमानेन वपुषा व्यथितः पीड़ित आत्मभोगः स्वदेहः, किंवा, आत्मनो देहो ? वा, भोगश्च देहो यस्य सः । निविड़दृढ़वेष्टनं गतस्य भोगस्य तदन्तर्वर्त्ति-श्रीवपुषः किञ्चिदुत्फुल्लनेनाकृष्ट्या क्रुटनदुःखोत्पत्तेः, कुपितत्वात् किंवा व्यथितात्मभोगत्वात् श्वसन् मुहुरुच्चैः श्वासान् मुञ्चन्, किञ्च, श्वसनेत्यादिश्वसनरन्ध्रविषत्वम्, श्वासेनैव तदत्यन्ताभिव्यञ्जनात् । अम्बरीषोऽत्र विषपाकपात्रं तदुपमयेक्षणानामतिरक्तत्वं दुर्व्विषमयत्वञ्च । उल्मुकमुखत्वञ्च । मुखतो ज्वलद्विषाग्निशिखा-मोचनात् । एषामुत्तरोत्तरं घोरत्वमूह्यम् । एवं पूर्व्वोद्दिष्टं सर्व्वतोऽतिदुर्व्विषमयत्वं दर्शितम् । हरिं दुरभिमान-दोषहरणात्निजजीवन-हरणोद्यमाद्वा । तत्त्वार्थस्तु अव्यथितात्मभोगस्वरयोत्थानात् प्रणयेन कुपितो मनोहरत्वात् तमीक्षमाण एव तस्थौ । श्वासादयः सात्त्विकविकारा एव । तत्र विषाम्बरीषत्वादिकं जातिस्वाभाविकमेवेति ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

व्रजप्रियः कृष्णः मृतकप्रतिकाः मृतकल्पाः ॥ २१-२२ ॥ वृध्यमानं वर्द्धमानम् उरङ्गबन्धात् ॥ २३ ॥ श्वसनरन्ध्र-विषाग्निर्दृष्टिः श्वसनरन्ध्रमेव विषपावकं यस्य सः स्तब्धेक्षणो य अलातचक्रमुखः ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तां कृष्णस्य मातरं यशोदामपत्यमनुद्दिश्य प्रतप्तां दुःखिताम् अनुगृह्य सम्यग्गृहीत्वा ह्रदे पतितुम् उद्युक्तां निवार्येत्यर्थः । शुचोऽश्रूणि स्रवन्त्यः तया तुल्यदुःखा प्रियो व्रजो यस्य तस्य कृष्णस्य तास्ताः कथाः पूतनाद्यमलार्जुनभञ्जनादिरूपाः कथयन्त्यः कृष्णस्याननेर्ऽपिताः निहिताः दृशो याभिस्ताः मृतकप्रतीकाः मृततुल्या आसन् ॥ २१ ॥ कृष्ण एव प्राणो येषां तान् कृष्णोज्जीविनः नन्दादीन् तं ह्रदं विशतः प्रवेष्टुमुद्युक्तान् रामः प्रत्यषेधन्निवारितवान् तत्र हेतुः तत्प्रभाववित् तत्रापि हेतुर्भगवान् ॥ २२ ॥ न विद्यते अन्या गतिः रक्षणोपायो यस्य तत् आत्मनः स्वस्य हेतोः स्त्रीकुमारप्रयन्तं दुःखितं गोकुलं निरीक्ष्य तद्दुःखं असहन् मर्त्यपदवीमनुवर्त्तमानोऽत एव मुहूर्तमात्रं तूष्णीं स्थित्वा तत उरङ्गबन्धादुदतिष्ठत् त्याजितोरगबन्धो बभूवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन भारीक्रियमाणेन पृथुशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात् "रऋतोहलदेर्लघोः (६।४।१६१) इति ऋतोरभावात्

कर्मणि लटः शानच् वपुषा व्यथितस्वशरीरो भुजङ्गः कृष्णमुन्मुच्य कुपितः फणानुन्नमय्य श्वसन् केवलं हरिमीक्षमाणः तस्थौ कथम्भूतः ? नासारन्ध्रेषु विषं यस्य अम्बरीषवत्सन्ततानि स्तब्धानि चेक्षणानि यस्य अम्बरीषशब्दो भ्राष्ट्रवाची "अम्बरीषः पुमान् भ्राष्ट्रम् क्लीबेम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना" इत्यादिनामानुशासनात् अम्बरीष इत्यौणादिकसूत्रेण "अबि शब्दे" इत्यस्माद्धातोः कृतृभ्यामीषन्नित्यत ईषन्निरनुवर्त्तमाने तत्सन्नियोगेन रुडागमो निपात्यते समस्तपाठे नासिकाच्छिद्रमेव विषपाकभ्राष्ट्रं यस्य स चासौ स्तब्धेक्षणः उल्मुकान्यग्निकणानि मुखे यस्य उल्मुकवज्ज्वलन्मुखो वा ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अपत्यमनुप्रविष्टाम् आत्मना पुरस्थितह्रदे प्रविष्टां शरीरेण तीरे स्थितां कृष्णमातरं यशोदां समनुगृह्य परिरभ्य यशोदा-दुःखतुल्यव्यथाः शुचः शोकादश्रूणि स्रवन्त्यः वाष्पधारया नदीं कुर्वंत्यः याः पूर्वं व्रजप्रियस्य कृष्णस्य कथाः कथयन्त्यः आसन् ता अधुना त्रस्ताः कृष्णाननेऽर्पितनेत्राः गोप्यो मृतकप्रतीका विज्ञाता अनेनेति शेषः ॥ २१ ॥ कृष्ण एव प्राणो येषां ते तथा तान् ह्रदं निर्विशतः प्रवेष्टुकामान् ॥ २२ ॥ आज्ञाय ज्ञात्वा उरगबन्धात् सर्पकृतबन्धनात् उदतिष्ठत् उत्थितोऽभूत् ॥ २३ ॥ भगवत्युत्थिते सर्पः किंक्रियोऽभूदित्यत्राह—तत्प्रथ्यमानेति । तेन कृष्णेन प्रथ्यमानवपुषा वर्धमानशरीरेण व्यथितः आत्मभोगः स्वशरीरं यस्य स तथा अत एव कुपितोऽत एव श्वसन् दीर्घश्वासं कुर्वन् श्वसनरन्ध्रे नासिकाच्छिद्रे विषाम्बरीषं विषभ्राष्ट्रं यस्य स तथा "क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो वा कन्दुर्ना स्वेदिनी स्त्रियाम्" इत्यमरः । स्तब्धेक्षण उल्मुकमुखश्च स्तब्धे ईक्षणे उल्मुके मुखे यस्य स तथा "अङ्गारेऽलात उल्मुकः, इत्यमरः एवंविधो भुजङ्गो हरिमीक्षमाणस्तस्थावित्यन्वयः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ताः पूर्वपूर्वोक्ताः श्रीयशोदासख्योऽन्याः तास्ताः पूतनादिभ्यो रक्षामयीः ॥ २१-२२ ॥ स च मुहूर्त्तं स्थित्वा उरगबन्धादुदतिष्ठत् तावत् स्थितौ हेतुः मर्त्यपदवीमनुवर्त्तमानः उत्थाने हेतुः स्वमातमीयम् इत्थं गोकुलं निजोत्थानं विना न जीविष्यतीति प्रकारेण न विद्यतेऽन्यः पतिः रक्षको यस्य तादृशं निरीक्ष्य दृष्ट्वा तथापि सत्रीकुमारं श्रीकृष्णमित्यर्थः । प्रकारमेवाह—आत्मेत्यादि ॥ २३-२९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तेषामेव करुणरसपराकाष्ठामालक्ष्य कदाचिदमी मद्वियोगमाशङ्क्य नश्येरन्, तदत्यसमञ्जसं भविष्यतीति तां लीलां संजिहीर्षुर्यदकरोत्तदाह—इत्थं स्वगोकुलमित्यादि । एते मर्त्यप्राया मद्वियोगेन मरिष्यन्त्येवेति तेषां मर्त्यपदवीमाज्ञाय ज्ञात्वा कालियेन सह तां पूर्वोक्तां खेलामनुवर्तमानः सन् मुहूर्त्तं स्थित्वा उरगबन्धनात् उरगे यः स्वकृतो बन्धः, न तु तत्कर्त्तृको बन्धः, तस्मादुदतिष्ठत्, स्वाधीनबन्धत्वादिच्छामात्रेणैवोत्थानम् । अन्यत् समम् ॥ २४-२५ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

आज्ञाय मर्त्यपदवीमित्यादि । मर्त्यपदवीमाज्ञाय ज्ञात्वा, एते मर्त्या अतिक्षणभङ्गुर-प्राणा अस्मदनालोकेन मरिष्यन्त्येव, तदलं विलम्बेन—इत्यनुवर्त्तमानो विचारयन् मुहूर्त्तं स्थित्वा उरग-बन्धादुदतिष्ठत् ॥ २४-२६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्र वात्सल्यवतीनां वक्तव्यमाह · ताः प्रसिद्धाः पुरन्ध्र्यः अपत्यम् अनुलक्षीकृत्य प्रतप्तां सन्तापजर्जरां प्रविष्टामिति पाठे अपत्य एव लीनतां प्राप्तां मूर्च्छितामिति यावत् यशोदां सम्यगनुगृह्य त्यधुनाप्यस्याः शरीरे प्राणाः वर्त्तन्ते तदिद नोपेक्षणीयमिति तद्भुजाभ्यामङ्कीकृत्य शीतलसलिलेनाश्रुकलाविलन्नं मुखं मुहुर्मुहुः प्रक्षाल्य व्रजप्रियस्य कृष्णस्य कथास्तास्ताः उच्चैः कथयन्त्यः तच्चेतनाप्रापणार्थमिति भावः । ताः कीदृश्यः ? शुचः शोकस्य स्रवन्त्यो नद्यः "स्रवन्ती निम्नगाऽपगा" इत्यमरः । स्वतरङ्गैणान्यानपि प्लावयन्त्य इति भावः । अन्ते तु मृतकस्येव प्रतीका अवयवा यासां ताः ॥ २१ ॥ प्रत्यपद्यदिति भो आर्य्यपादाः ! "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इति गर्गवचनादस्यत्वे तादृशदुर्गोत्तरणं किञ्चित्रमिति विचार्य्य विवेकं भजत युष्मासु ह्रदं प्रविष्टेषु पश्चात् स्वस्याागतस्यास्पदमनुजस्य लालनपालनादिकं कैः कर्तव्यं "गोपायस्व समाहितः" इति वर्गमर्ह्वानिर्देशलङ्घने प्रवृत्ताः कथं स्यंत्यादिवाक्यैरित्यर्थः । भगवान् इति तत्र सामर्थ्यम् ॥ २२ ॥ अनन्यगतिमिति पुरस्त्वमार्षम् आज्ञाय सम्यक् ज्ञात्वा मुहूर्त्तं घटिकाद्वयं स्तब्ध इव स्थित्वा किं रे कालीय ! त्वया दिक्रमसर्वस्वमहं दर्शित एव सम्प्रति गोपबालकोप्ययं विक्रमलवं दर्शयति पश्येत्युक्त्वा उरङ्ग उरगस्तद्बन्धात् उदतिष्ठत् ।' २३ ॥ उत्थानप्रकारमेव दर्शयन् कालियस्य ग्लानिमाह—तदिति । तेन कृष्णेन प्रथ्यमानं वेष्टनसमयगतसङ्कोचनां परित्यज्य विस्तार्य्यमानं यद्वपुर्भुजजङ्घादिकं तेन व्यथितः त्रुट्यन्निव पीडितः आत्मनो भोगो यस्य सः वेष्टनमुन्मुच्य तं त्यक्त्वा स्वफणान् उन्नमय्य श्वसन् केवलमीक्षमाण एव तस्थौ कीदृशः श्वसनरंध्रेषु नासाविवरेषु विषं यस्य तथा अम्बरीष भ्राष्ट्रः ज्वलद्विषभर्जनपात्रं भाण्ड इति ख्यातं तद्वत् प्रातानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य तथा उल्मुकानि निस्सरन्ति मुखेभ्यो यस्य सच सच सच सः ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

मृतकप्रतीकाः इति भगवदमृतदृष्टिवृष्ट्या न मृता इति भावः ॥ २१-२२ ॥ इत्थमुक्तं गोकुलस्य मर्त्यपदवीं मर्त्यप्रकृतिं तत्त्वानभिज्ञतमाज्ञाय स्वगोकुलमात्महेतोः दुःखितं च निरीक्ष्य मुहूर्त्तं स्थित्वा अनन्यगतिम् अन्यैर्दुर्वारं स्वायत्तमात्मानमनुवर्त्तमान उरङ्गबन्धादुदतिष्ठदित्यन्वयः ॥ २३ ॥ तत्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रथ्यमानेन वपुषा व्यथितात्मभोगः पीडितात्मदेहः श्रीकृष्णे विनिर्गते तद्बन्धनार्थं कृतं कुण्डलं त्यक्त्वा कुपितः स्वफणानुन्नमय्य श्वसन् श्वासान् मुञ्चन् केवलं हरिमीक्षमाणस्तस्थौ, कथम्भूतः ? श्वसनरन्ध्रेषु नासाच्छिद्रेषु विषं यस्य तथा अम्बरीषाणीव भ्राष्ट्राणीव सन्तप्तानि स्तब्धानीक्षणानि यस्य तथा उल्मुकवत् प्रज्वलितानि मुखानि यस्य सच सच तथा ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

वत्सलानां दशामाह—ता इति । ता मातृभावेन प्रसिद्धा गोप्यः कृष्णमातरं श्रीयशोदां, अपत्यं कृष्णमनुप्रविष्टां तदन्तिकं प्रवेष्टुं कृतारम्भां भुजाभ्यां समनुगृह्य तत्तुल्यव्यथाः सत्यः शुचः शोकाश्रूणि स्रवन्त्यो मुञ्चन्त्यः व्रजप्रियस्य कृष्णस्य तास्ता बकादिमर्दनादिकाः कथाः कथयन्त्यः अघमिवेतमपि सर्पं विमर्द्य सूनुरायातीति बोधयन्त्य आसन् अस्मासु विषविप्लुष्टासु स कथं स्यादिति भावः । मृतकस्येव प्रतीका अङ्गानि यासां ताः ॥ २१ ॥ प्रत्यषेधदिति भो आर्यचरणाः ! "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" "गोपायस्व समाहितः" इति गर्गाचार्यैरुक्तं किं विस्मरथ ? तच्च कालियदुर्गतरगमस्य महापुरुषस्य मदनुजस्य कियत् ? तत्पदारविन्दस्य प्रभावो भवच्चरणे युष्मासु विषवह्निविप्लुष्टेषु कोऽस्य लालनकृदिति तान्यवारयदित्यर्थः ॥ २२ ॥ कालियस्योत्सादनदर्शनाय व्रजौकसां भावशोभादर्शनाय च निरीहतां प्रकाश्येदानीं विक्रमं प्रकाशयदित्याह इत्थमिति । सर्वेषां मोहादिना प्रकारेण नान्यो गतिर्यस्य तत् पुंस्त्वं छान्दसं आत्महेतोरतिदुःखितमाज्ञाय मर्त्यपदवीं यं प्रति दण्डो विधेयस्तद्दोषो लोके दृश्य इति नीतिमनुवर्तमानोऽनुसरन् मुहूर्त्तं स्थित्वा उरङ्गस्य बन्धादुदतिष्ठन् निर्गतः ॥ २३ ॥ उत्थानविधिं दर्शयन् उरगस्य ग्लानिमाह—तदिति । तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन विस्तार्यमाणेन वपुषा बाहूरुजङ्घादिना व्यथितः त्रुटितवत् पीड़ित आत्मभोगः स्वदेहो यस्य सः "भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोर्मतः" इति विश्वः । वेष्टनं त्यक्त्वा स्वफणानुन्नमय्य स्वसन् हरिमीक्षमाण एव तस्थौ । कीदृशः स्वसनरन्ध्रेषु नासाछिद्रेषु विषं यस्य अम्बरीषं जलदुर्जनभाजनभ्राष्टस्तत् समानि शुद्धानीक्षणानि यस्य उल्मुकानि विषाग्निखण्डानि निःसरन्ति मुखेभ्यो यस्य स च स च स च सः ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अपत्यमनुप्रविष्टां ह्रदं प्रवेष्टुकामां कृष्णमातरं समनुगृह्य परिरभ्य स्थापयित्वा तुल्यव्यथास्तद्यशोदासमानखेदाः शुचो निमित्ताच्छ्रवन्त्यः श्रावयन्त्यो विंदूंस्ता अन्याः प्रति व्रजप्रियकथा व्रजे कृताः प्रियस्य कृष्णस्य कथाः । एवं बहव उपद्रवा जाताश्चेदपि न पोतघात इदानीमप्येवमिति चिन्ता कुत इति तत्कथाः कथयन्त्यः । अथवा प्राग्या एतादृश्यस्ता इदानीं मृतकप्रतीकाः शववन्निश्चेष्टा ज्ञाताः । लोकेन लोकेशेन वा । प्रतीका इति पाठे शवसदृशा इत्यर्थः । कृष्णानने तन्मुखेऽर्पितास्तदेकविषया दृशो यासां ता आसन् । कृष्णस्याननं चेष्टा तद्विषयेऽर्पितदृश इति वा । हे कृष्णेति मातरं मा न विद्यत आतरस्तरपण्यं यस्य तदपत्यमन्विति वा तरणोपकरणविरहितमित्यर्थः । आतरस्तरपण्यं स्यादित्यमरः ॥ २१ ॥ कृष्णानुभावविद्भगवान्बलः कृष्णः प्राणो येषां ते तथा तान्नन्दादीन् ह्रदं निर्विशतः प्रवेष्टुकामान्प्रत्यषेधन्निषिषेध ॥ २२ ॥ इत्थं स्वगोकुलं तज्जनं सस्त्रीकुमारमात्महेतोः स्वनिमित्तमतिदुःखितमाज्ञाय ज्ञात्वा पुच्छं वामकरणे धृत्वे सतीति शेषः । यथोक्तं स्वमणीशविजये । स दन्दशूकस्य मुख विभिन्दंस्तदीयपुच्छं जगृहे करेण । यथापराधं ननु दण्डदाता निरागसं कं वरयेन्न शौरिरिति स्वस्वामिनो याच्ञां कृत्वा मोचनं कार्यमित्यत आह । इत्थं स्वमनन्यगतिं गत्यन्तरशून्यं स्वात्मानमेव सर्वगतिं निरीक्ष्य च मर्त्यपदवीमनुवर्तमानो मुहूर्त्तं स्थित्वोरंगबन्धादुरगबन्धात् । नुमागमो बिन्दुर्वा इतराशक्यपरिहारताद्योतको बन्धस्येति ज्ञेयः । उदतिष्ठत् । एवमाज्ञाय निरीक्ष्येति पदयोरन्वयेऽश्लिष्टता । अन्यथाऽन्यतरवैयर्थ्यमिदानन्यगतीति भाव्यं कथमनगतिमिति च निरस्तं । गवां कुलानि गोकुलं गोकुलश्च तमिति वा । अनुबन्धो हि भक्तिः स्याद्बन्धः स्नेह उदाहृत इति वचनादुरङ्गात्मनो बलरामस्नेहं निमित्तीकृत्योरङ्गबन्धादुदतिष्ठदिति वा । यथोक्तं हरिवंशे । सङ्कर्षणस्तु सङ्क्रुद्धो बभाषे कृष्णमव्ययं । कृष्णकृष्ण महाबाहो गोपानां नन्दवर्धन । दम्यतामेष वै क्षिप्रं सर्पराजो विषायुधः । इमे नो बान्धवास्तात त्वां मत्वा मानुषं विभो । परिदेवन्ति करुणं सर्वे मानुषबुद्धयः । तच्छ्रुत्वा रौहिणेयस्य वाक्यं तत्स्नेहयन्त्रितः । विक्रुश्यास्फोट्यद्बाहू इत्यादि ॥ २३ ॥ तस्य कृष्णस्य तेन वा प्रथ्यमानं विपुलिभवद्वपुः कलेवरं तेन व्यथितो व्यथायुक्त आत्मनः स्वस्य भोगो यस्य स हरिं त्यक्त्वोत्सृज्य स्वफणानुन्नमय्योद्धृत्य भुजङ्गः कुपितः श्वसन्श्वसनरन्ध्रयोर्नासिकयोर्विषमेवाम्बरीषं भ्राष्ट्रं लाजभर्जनभाण्डं यस्य कालिम्ना साम्यं स्तब्धानीक्षणानि यस्य चासावुल्मुकानीवास्पृश्यान्यास्यानि मुखानि यस्य सः । अम्बरीषं भवेद्भ्राष्ट्र इति विश्वः । क्लीबेऽम्बरीषं भ्राष्ट्रो ना । अङ्गारेऽलातं चोल्मुक इत्युभयतश्चामरः । ईक्षमाणः श्वसंस्तस्थौ ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

यशोदासहितानामवस्थामाह ता इति, कृष्णमातरं समनुगृह्य लोकन्यायेन शुचः स्रवन्त्यो जाताः, यशोदा त्वपत्यं भगवन्तमनुप्रविष्टा तत्रैव गता, अन्यासां जीवने हेतुः, तास्ता व्रजप्रियस्य भगवतः कथाः कथयन्त्यः, किञ्च कृष्णाननेऽर्पिता दृशः, भगवन्मुखारविन्दमपि पश्यन्ति, अतो मृतकप्रतीका आसन् मृतप्रायाः सजीवा एव स्थिताः, पूर्वं भगवता रक्षिता एता भगवद्गुणैर्दर्शनेन च ॥ २१ ॥ अन्ये तु नन्दादयो बलभद्रेण रक्षिता इत्याह कृष्णेति, कृष्णे प्राणा येषां, प्राणस्थाने हि स्वेनापि स्थातव्यमिति तमेव ह्रदं निर्विशन्तो जाताः, तदा तान् बलः प्रत्यधत्, कथं तेन प्रतिषिद्धाः स्थिता इत्याशङ्क्याह स भगवानिति स रामो भगवान् भगवत्सहितो वा, सोऽपि किमिति प्रत्यषेधत् ? तत्राह कृष्णानुभावविदिति कालीयदमनलक्षणं भगवदनुभावं जानातीति ॥ २२ ॥ एवं सर्वेषां गोकुलवासिनां वैयग्र्यमुपपाद्य सर्वसमर्थस्य भगवत एवङ्करणमनुचितमित्याशङ्क्य तत्समाधानार्थं भगवान् परीक्षां कृतवानित्याहेत्थमिति, परीक्षायां हेतुः स्वगोकुलमिति, स्वस्य गोकुलं परीक्षणीयमेव, अन्यथा कृतकरिष्यमाणयोर्निरोधयोर्वैयर्थ्यं स्याद् यदि तेषु कृतकार्यं नोपलभ्येत, परीक्षया यत् सम्पन्नं तदाहानन्यपतिमिति न विद्यतेऽन्यः पतिर्यस्य, जडत्वाद् गोकुलत्वेनान्यपत्यभाव एव निरूपितः, किञ्च सस्त्रीकुमारमात्महेतोरतिदुःखितं निरीक्ष्य, स्त्रियः साधारण्यः, कुमारा अतिबालाः तदन्वाज्ञाय विचार्य, भवेत्येवमेवैतदिति निश्चित्य, ननु स्वतः सर्वज्ञस्य किं परीक्षयेत्याशङ्क्याह मर्त्यपदवीमनुवर्तमान इति, यथा तेषु मानुषभावेनैव निरोधं करोति तथा परीक्षामपि कृतवान्, अतो मुहूर्तं स्थित्वोरगबन्धात् सर्पबन्धनादुदतिष्ठदुत्थितः निद्रापाये सुप्तमिव कृतवानित्यर्थः ॥ २३ ॥ तस्योत्थाने यदासीत् तदाह तत्प्रथ्यमानेति, अत्र भारतादौ बलभद्रस्तुतिप्रबोधादिकं निरूपितं तत् कल्पान्तरीयं, तत्रांशावतारो मनुष्यभावापत्तिश्चेति केचित्, लीलयैव तथेत्यपरे, वस्तुतो यथा येन यत्र कारयति तथा स करोतीति व्यवस्था, पूर्वं भगवान् सूक्ष्मः स्थितः पश्चात् पुष्टो जातस्तेन स्वयमेव वेष्टनानि भग्नानीव जातानि, तदाह तेन भगवता प्रथ्यमानं यद् वपुस्तेन कृत्वा व्यथित आत्मा भोगो यस्य, एतादृशः शीघ्रं भगवन्तं परित्यज्य स्वफणानुन्नमय्य कुपितो भुजङ्गो युद्धार्थं तस्थौ क्रोधे हि बलमधिकं भवतीति, स्थितिमयेऽपि श्वसन् विषवायुं विमुञ्चन् स्थितः, किञ्च श्वसन्, रन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखस्तस्य ह्यपरि पञ्च छिद्राणि नासे चक्षुषी मुखमिति, स्थानत्रयेऽपि स घोर इत्युच्यते, तत्र प्रथमं श्वसनरन्ध्रे विषं यस्य, अम्बरीषवद् भ्राष्ट्राग्निवत् स्तब्धे ईक्षणे यस्य, उल्मुकयुक्तं मुखं यस्य, एतादृशोऽपि हरिमीक्षमाणो भगवत्सान्निध्यात् स्वयमपि न ज्वलितः परं सम्मुखं स्थितः ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

ता इत्यत्र नन्वेवं मातृचरणतुल्यनिरोधः कस्यापि न सम्पन्न इति पूर्ववाक्योक्तानां न परमोत्कर्षः सिध्यतीत्यत आहुः पूर्वं इति, तास्तथैव स्युरेव परं भगवता रक्षिता इति न तथा जातास्तासां तथाभवनं भगवतोऽत्यन्तं दुःसहं तिरोधानस्यापि दुःसहत्वादिति रक्षणे हेतुः, एतच्च "नय मां यत्र ते मनः" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने स्पष्टं, तथा च स्वकृत्या तथात्वाद् भगवत्कृत्या वा तथात्वात् सर्वोत्कर्ष एतास्वेव ध्वन्यत इतिभावः । इत्थमित्यत्रानन्यपतिपदेनैता एव ज्ञातव्या अन्येषां भिन्नत्वेन निरूपणात् ॥ २३–२९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इत्थमित्यस्याभासे परीक्षामिति परित ईक्षा येनेति परीक्षाहेतुमित्यर्थः, अस्मिन् श्लोके इदं सूचितं, वाक्यार्थस्तूत्थानमेव, उपसंहारे तथैवोक्तत्वात्, व्याख्याने जडत्वादिति गोकुलत्वेन हेतुना मूढत्वादनन्यत्वमेव भगवदागतौ साधनमुक्तं न तु धर्मादिकमन्यदित्यर्थः ॥ २३ ॥ तत्प्रथ्यमानेत्यत्र उल्मुकयुक्तमिति तथा भ्राष्ट्राग्निरुल्मुकयुक्तस्तथा सर्वतो जाज्वल्यमानं मुखं यस्येत्यर्थः, तथा च मूले अम्बरीषदृष्टान्त उभयत्राप्यन्वेतव्यः, उल्मुकयुक्तमुल्मुकं, अर्श आद्यच् ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ता गोप्यः अपत्यं श्रीकृष्णमनुलक्षीकृत्य प्रविष्टां तदेकचित्तां विस्मृतस्वरूपाम् यद्वा अपत्यमनुह्रदं प्रविशन्तीं कृष्णमातरं समनुगृह्य हस्तेन धृत्वा तत्तुल्या व्यथा यासां ताः, अत एव शुचः अश्रूणि स्रवन्त्यः उद्गिरन्त्यः, तस्याः प्रतिबोधार्थं व्रजप्रियस्य कृष्णस्य तास्ताः पूतनानिधनयमलार्जुनभङ्गादिकथाः कथयन्त्यः, कृष्णस्यानने एवर्पिता स्थापिता दृक् दृष्टिर्याभिस्ताः, मृतकप्रतीकाः शवतुल्या मूर्छिता आसन् ॥ २१ ॥ पूर्वं तूष्णींभूतोऽपि राम इदानीं तु तं कालियह्रदं विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य प्रत्यषेधत् । "पूतनादयो बहवो दुष्टा अनेन निहता, अस्य तु वराकस्यैकस्य का गणना ? अधुनैव एनं निगृह्य आयाति । 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ' इति गर्गवचनाद् विषजलप्रवेशतो युष्माकं मरणे तु पश्चादध्रदान्निःसृतेन तेन सम्बन्धो न सम्भवति, जीवतां तु सम्भवति, अतो वृथा प्राणत्यागो न कार्यं" इत्युपपत्त्या निवारितवानित्यर्थः । तेषां ह्रदप्रवेशोद्योगे हेतुमाह—कृष्णे एव प्राणा इन्द्रियान्तःकरणानि येषां तानिति । रामस्य सावधानतायां नन्दादिप्रतिषेधे च हेतुमाह—कृष्णानुभावविदिति । प्रभावज्ञाने हेतुमाह—सोऽपि भगवानेवेति ॥ २२ ॥ 'अनन्यभक्तानां दुःखनिवारणे भगवान् विलम्बं न करोति' इति प्रदर्शयन् ततो यज्जातं तदाह—इत्थमिति । एवं

मुहूर्तमात्रं बन्धने स्थित्वा आत्महेतोः स्ववियोगात् सस्त्रीकुमारं स्त्रीभिः कुमारैश्च सहितं स्वगोकुलं गोकुलवासिजनमतिदुःखितं निरीक्ष्य उरङ्गबन्धात् कालियकृतपरिवेष्टनरूपादुदतिष्ठत् निःसरणार्थं स्वदेहं प्रथितवानित्यर्थः। गोकुलस्योपेक्षानर्हत्वं दर्शयति—अनन्यगतिमिति। न विद्यते अन्या गतिः रक्षको यस्य तदनन्यगतिः, तथाभूतं गोकुलमाज्ञायेत्यर्थः। पुंस्त्वमार्षम्। यद्वा न विद्यतेऽन्या गतिः रक्षको यस्मात् सोऽनन्यगतिः, एवंभूतमात्मानमाज्ञायेत्यर्थः। 'तर्हि किमिति मुहूर्तमात्रमपि बन्धने स्थितः?' तत्राह—मर्त्यपदवीमनुवर्तमान इति। मनुष्यनाटचेन स्वेच्छया तथैव लीलां कुर्वन्नित्यर्थः॥ २३॥ तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानेन संवर्ध्यमानेन वपुषा व्यथितः आत्मनः स्वस्य भोगो देहो यस्य स भुजङ्गः कालियाख्यः सर्पस्तं त्यक्त्वा श्वासान् विमुञ्चन् फणान् उन्नमय्य उत्थाप्य हरीमीक्षमाणस्तस्थावित्यन्वयः। तस्स्वरूपस्य भयंकरत्वं सूचयन् विशिनष्टि—श्वसनरन्ध्रेषु नासाविविरेषु विषं यस्य, तथा अम्बरीषो भ्राष्ट्रस्तद्वत् सन्तप्तानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य, तथोल्मुकान्यग्निकणानि मुखेषु यस्य स च स च॥ २४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अनुरागवतीनां वैक्लव्यमाह—ता इति॥ ताः गोप्यः अपत्यं श्रीकृष्णमनुलक्षीकृत्य प्रविष्टां तदेकचित्तां विस्मृतस्वरूपाम् यद्वा। अपत्यमनुह्रदं प्रविशन्तीम्। आदिकर्मणि क्तः। यद्वा। अपत्य एव लीनतां प्राप्तां मूर्छितामित्यर्थः। प्रतप्तामिति वा पाठः। कृष्णमातरं समनुगृह्य हस्तेन धृत्वा तत्तुल्या व्यथा यासां ताः अत एव शुचः अश्रूणि स्रवन्त्यः उद्गिरन्त्यः शुचामश्रूणां नदीभूता वा। "स्रवन्तीनिम्नगापगा" इत्यमरः। तस्याः प्रतिबोधार्थे व्रजप्रियस्य कृष्णस्य तास्ताः पूतनानिधनयमलार्जुनभञ्जादिकथाः कथयन्त्यः परिणामे तु कृष्णस्यानन एवार्पिता स्थापिता दृक् दृष्टिर्याभिस्ता मृतकप्रतीकाः शवतुल्या मूर्च्छिता आसन्॥ २१॥ कृष्णेति। कृष्णस्यानुभवं वेत्ति तादृक् स भगवान् रामः कृष्ण एव प्राणा येषां तान् कालियह्रदं निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य प्रत्यषेधत्। "नारायणसमो गुणैः" इति "अनेन सर्वदुर्गाणि" इत्यादिभिश्च कृष्णानुभावात्मिकाभिरुपपत्तिभिर्निवारितवान्॥ २२॥ इत्थमिति। इत्थम् एवं मर्त्यपदवीं मनुष्यरीतिम् अनुवर्तमानः हरिः एवं मुहूर्तमात्रं बन्धने स्थित्वा अनन्यगतिं नान्या गतिर्यस्य तथाभूतम्। पुंस्त्वमार्षम्। आत्महेतोः स्ववियोगात् सस्त्रीकुमारं स्त्रीभिः कुमारैश्च सहितं स्वगोकुलं गोकुलवासिजनमतिदुःखितम् आज्ञाय निरीक्ष्य उरङ्गबन्धात् कालियकृतपरिवेष्टनरूपादुदतिष्ठत् निःसरणार्थं स्वदेहं प्रथयन्नुत्थितवान्॥ २३॥ तदिति॥ तस्य कृष्णस्य प्राथ्यमानेन संवर्ध्यमानेन वपुषा व्यथितः आत्मनः स्वस्य भोगो देहो यस्य श्वसनरन्ध्रेषु नासाविवरेषु विषं यस्य तथा अम्बरीषो भ्राष्ट्रस्तद्वत्संतप्तानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य तथोल्मुकानि मुखेषु यस्य सः स च भुजङ्गः कालियः कुपितोऽपिकुण्डलीभूतः तं त्यक्त्वा श्वसन् श्वासान् विमुञ्चन् फणान् उन्नमय्य उत्थाप्य हरिमीक्षमाणस्तस्थौ॥ २४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अनुप्रविष्टां ह्रदप्रवेष्टुमारब्धां कृष्णमातरं यशोदां तुल्यव्यथाः तां गोप्यो गृहीत्वा शुचः स्रवंत्यः अश्रूणि मुंचंत्यः ... श्रीकृष्णस्य याः याः व्रजे पूतनाहननाद्याः प्रियकथाः तास्ताः सर्वाः कथयंत्यः कृष्णमुखे अर्पितदृशः मृतकप्रतीकाः शवसदृशाः बभूवुः॥ २१॥ तं ह्रदं निर्विशतः प्रवेष्टुं आरब्धान् प्रत्यषेधत् निवारितवान् यतः कृष्णप्रभावज्ञः॥ २२॥ नास्ति अन्या श्रीकृष्णेतरा गतिर्यस्य तत् अमो लुगभाव आर्षः स स्त्रीकुमारं निरीक्ष्य आत्महेतोः अतिदुःखितं आज्ञाय मनुष्याचरणमनुसृत्य अतो मुहूर्त्तं कालं स्थित्वा उरंगस्य सर्प्पस्य बंधनादुदतिष्ठत् निर्गतः॥ २३॥ तदिति तस्य श्रीकृष्णस्य प्रथ्यमानेन विस्तार्यमाणेन वपुषा व्यथित आत्मभोगः स्वदेहो यस्य सः भुजंगवेष्टनमोचनेन श्रीकृष्णंत्यक्त्वाकुपितः सन् स्वफणान् उत्तुंगान् कृत्वा श्वसन् हरिं ईक्ष्यमाणः सन् तस्थौ सः कीदृशः श्वसनरंध्रेषु नासाछिद्रेषु विषं यस्य स तथाभूतश्वासो अंबरीषं रोदकपात्रं तद्वत्तप्तानि स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य सः तथा उल्मुकानि विषमयश्वाससत्वेन उल्मुकतुल्यानि मुखानि यस्य स चासौ स च॥ २४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ता इति॥ ताः गोप्यः, अपत्यं श्रीकृष्णं, अनुप्रविष्टां ह्रदे पश्चात् प्रवेष्टुमुद्युक्तां, अनुप्रतप्तामिति पाठे, अनुप्रतप्ताम् अपत्यमुद्दिश्य प्रतप्तामतिदुःखितामित्यर्थः। कृष्णमातरं यशोदां, समनुगृह्य सम्यक् गृहीत्वा, ह्रदे पतन्तीं निवार्येत्यर्थः। तुल्यव्यथाः समानदुःखाः, शुचोऽश्रूणि स्रवन्त्यः, साश्रुनयना इत्यर्थः। ताः ताः, व्रजस्य प्रियः कृष्णस्तस्य कथाः पूतनामारणयमलार्जुनभञ्जनादिरूपाः, कथयन्त्यः, कृष्णस्याननं मुखं तस्मिन्नर्पिता दृशो याभिस्तथाभूताः सत्यः, मृतकप्रतीकाः मृताङ्गाः, शवतुल्या इत्यर्थः, आसन्॥ २१॥ कृष्णेति॥ कृष्णे प्राणो येषां तान्, श्रीकृष्णैकजीवनानित्यर्थः। तं ह्रदं, निर्विशतः प्रवेष्टुमुद्युक्तान्, नन्दादीन् वीक्ष्य, कृष्णानुभाववित् श्रीकृष्णमहिमाभिज्ञः, हेतुगर्भमिदं विशेषणम्। तस्मात् भगवान् सः रामः, प्रत्यषेधत् निवारितवान्॥ २२॥ इत्थमिति॥ इत्थं, न विद्यतेऽन्या गतिः रक्षणोपायो यस्य तत्, अमो लुगभाव आर्षः। सस्त्रीकुमारं सस्त्रीकुमारपर्यन्तमिलितं स्वगोकुलं, आत्महेतोः, अतिदुःखितं निरीक्ष्य, आज्ञाय सर्वेषामतिशयितं दुःखं ज्ञात्वा, मर्त्यपदवीं अनुवर्त्तमानः प्रथमं गृहीतमनुष्यपदवीमित्यर्थः। स कृष्णः, मुहूर्त्तं स्थित्वा, मर्त्यानुकरणतया मुहूर्तपर्यन्तं तूष्णीं स्थित्वेत्यर्थः। ततः, उरङ्गबन्धात् उरगकृतबन्धनात्

उदतिष्ठत् त्यक्तोरगवन्धो वभूवेत्यर्थः ॥ २३ ॥ तदेव स्फुटतयाऽऽह ॥ तदिति ॥ तस्य कृष्णस्य प्रथ्यमानं विस्तीर्यमाणं च तद्वपुश्च तेन, व्यथित आत्मनः भोगः शरीरं यस्य सः, भुजङ्गः कालियः, त्यक्त्वा श्रीकृष्णमुन्मुच्य, कुपितः, सन्, स्वफणान् उन्नमय्य, श्वसन् श्वसानुश्चन्, श्वसनरन्ध्रेषु नासारंध्रेषु विषं यस्य सः, अम्बरीषो मण्डपाकभाजनं तद्वत् संतप्तानि स्तब्धानि निश्चलानि च ईक्षणानि यस्य सः उल्मुकानि अग्निकणाः मुखे यस्य स चासौ स च, समस्तपाठे नासारन्ध्रमेव विषाम्बरीषं विषपाकभ्राष्ट्रं यस्य स्तब्धानि ईक्षणानि यस्य स चासावुल्मुकमुखः, केवलं हरिमेव, ईक्षमाणः तस्थौ ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्णेति : १०.१६.२२

जडजात-विचित्रचेष्टितं यत् परमीशस्य निरीक्ष्य तन्न कार्यम् ।
भजकैर्यदसा वचिन्त्यशक्ति-रिति युक्तो हलिना कृतो निषेधः ॥ ५१ ॥

इत्थमिति : १०.१६.२३.

संत्यक्ताखिलबल-गोकुलाभिमानाः स्वात्मातौ धृतमनसश्च ये भवेयुः ।
दृष्ट्वा तान् भवति दयोदयोऽच्युतस्य चित्तेऽस्मिन्नभवदुदाहृतिः स्फुटैषा ॥ ५२ ॥

तत्प्रथ्यमानेति : १०.१६.२४

भुवने विहृतिस्तमोगुणाकलितेन क्रियते तु येन सः । नियतं पृथुदेहहृभवत्यलमीशेन तथा कृताद्व्यवोधि ॥ ५३ ॥
तमोगुणावृतः स्थूलदेहदृष्टिरिति क्षमम् । चित्रमीशस्तु तद्दृष्ट्याप्याघात् तद्गुणभञ्जनम् ॥ ५४ ॥
स्वरूपानुसन्धानवुद्धि-र्मुमुक्षु-र्यदा स्यात्तदैवारयो यातवीर्याः ।
अभीतं तमाशु त्यजन्तीति कृष्ण-स्तदा स्वप्रभावादभिव्यक्तमाधात् ॥ ५५ ॥

कृष्णप्रिया

माता यशोदा तो अपने लाड़ले लाल के पीछे कालियदह में कूदने ही जा रही थी परन्तु गोपियों ने उन्हें पकड़ लिया। उनके हृदय में भी वैसी ही पीड़ा थी। उनकी आँखों से भी आसुओं की झड़ी लगी हुई थी। सबकी आँखें श्रीकृष्णके मुखकमल पर लगी हुई थी जिनकी शरीर नें चेतना थी, वे व्रजमोहन श्रीकृष्ण की पूतना-वध आदि की प्यारी-प्यारी ऐश्वर्य की लीलाएँ कह-कहकर यशोदाजी को धीरज बँधाने लगी। किन्तु अधिकाँश तो मुर्दे की तरह पड़ ही गयी थी ॥ २१ ॥ परीक्षित्! नन्दवावा आदि के जीवन-प्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। वे श्रीकृष्ण के लिये कालियदह नें घुसने लगे। यह देखकर श्रीकृष्ण का प्रभाव जाननेवाले भगवान् बलरामजी ने किन्ही को समझा-बुझाकर किन्ही को बलपूर्वक और किन्ही को उनके हृदयों में प्ररणा करके रोक दिया ॥ २२ ॥ परीक्षित्! यह साँप के शरीर से बँध जाना तो श्रीकृष्ण की मनुष्यों जैसी एक लीला थी। जब उन्होंने देखा कि व्रज के सभी लोग स्त्री और वच्चों के साथ मेरे लिये इस प्रकार अत्यन्त दुखी हो रहे हैं और सचमुच मेरे सिवा इनका कोई दूसरा सहारा भी नहीं है तब वे एक मुहूर्त तक सर्प के बन्धन में रहकर बाहर निकल आये ॥ २३ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने उस समय अपना शरीर फुलाकर खुब मोटा कर लिया। इससे साँप का शरीर टूटने लगा। वह अपना नागपाश छोड़कर अलग खड़ा हो गया और क्रोध से आगबबूला हो अपने फण उँचा करके फुफकारे मारने लगा। घात मिलते ही श्रीकृष्ण पर चोट करने के लिये वह उनकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगा। उस समय उसके नथुनों से विष की फुहारे निकल रही थी। उसकी आँखे स्थिर थी और इतनी लाल-लाल हो रही थी मानो भट्ठी पर तपाया हुआ खपड़ा हो। उसके मुहँ से आगकी लपटें निकल रही थी ॥ २४ ॥

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो वभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥ २५ ॥
एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरः स्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिल[1]कलादिगुरुर्ननर्त ॥ २६ ॥
तं नर्तु[2]मुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीय[3]गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥ २७ ॥
यद् यच्छिरो न [4]नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ण स्तत्तन्ममर्द खरदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
[5]क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोऽसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८ ॥

---

१. ऽमृतकलाधि–विज। २. अवेत्य–इति कस्यचित। ३. सुर–श्रीधर. वंशी. वीर. विज। ४. नमते गरकाशीर्ण्ण–विज। ५. क्षीणे बले भगवतोल्बणमाशु वक्त्राद्रक्तं वमन्परम–विज।

कर्दमक्षमा

अन्वयः क्रीडन् द्विशिखया जिह्वया द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं अतिकरालविषाग्निदृष्टिं अमुं यथा खगेन्द्रः परिससार सः अपि अवसरं प्रसमीक्षमाणः बभ्राम ॥ २५ ॥ एवं परिभ्रमहतौजसम् उन्नतांसम् आनम्य तत्पृथुशिरःसु अधिरूढः तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुरुः आद्यः ननर्त ॥ २६ ॥ तदा तं नर्तुं उद्यतम् अवेक्ष्य तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसा उपसेदुः ॥ २७ ॥ अङ्ग शतैकशीर्ष्णः क्षीणायुषः भ्रमतः यद् यत् शिरः न नमते तत् तत् खरदण्डधरः अङ्घ्रिपातैः ममर्द (तदा) नागः आस्यतः नस्तः उल्वणं असृक् वमन् परमकश्मलं आप ॥ २८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हरिश्च क्रीडंस्तममुं सर्पं परिससार परितो बभ्राम। अतिकरालविषाग्नियुक्ता दृष्टिर्यस्य तम्। जिह्वया द्विशिखयेति प्रतिमुखम् ॥ २५ ॥ एवं परिभ्रमेणैव हृतमोजो यस्य तम्। उन्नतावंसौ यस्य तम्। तस्य मूर्धसु ये रत्ननिकरास्तेषां स्पर्शेनातिताम्रं पदांबुजं यस्य सः। ननु कथं चंचलेषु शिरस्सु ननर्त तत्राह। अखिलकलानामादिगुरुः ॥ २६ ॥ उपसेदुः प्राप्ताः ॥ २७ ॥ शतैकशीर्ष्णः शतमेकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य क्षीणायुषोऽपि पुनर्भ्रमतो यद्यच्छिरो न नमते स्तब्धतां न त्यजति। नृत्यच्छलेनाङ्घ्रिपातैस्तत्तन्ममर्द तदा चास्यतो मुखेभ्यो नस्तो नासाविवरेभ्यश्चासृग्वमन् ॥ २८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तं कालियम्। अमुम् अंगुलिनिर्दिष्टम्। सृक्किणी ओष्ठप्रांतौ। सोऽपि सर्पोऽपि बभ्राम ॥ २५ ॥ एवम् ग्रहणाबंधः। नर्त्तनासंभवं मत्वाशंकते—नन्विति। अखिलानां रज्ज्वाद्युपरि तननृत्यादीनां कलानां विद्यानां प्रथमाचार्यः ॥ २६॥ नर्तुं नर्त्तितुम्। वर्णलोपः छांदसः। तदा नर्त्तनकाले। तदीया भगवदीया एव गंधर्वादयस्तस्य सर्वेश्वरत्वात्। "एष सर्वेश्वरः" इति श्रुतेः। पुष्पोपहारः पुष्पवृष्टिः। उपसेदुः सिषेविरे ॥ २७ ॥ शतमेकानि मुख्यानि शिरांसि यस्य तस्याग्रे फणासहस्रोक्तेः। क्षीणायुषोपि क्षीणबलस्यापि "आयुर्वै घृतम्" इत्यत्रायुःशब्दो बलपरोस्ति यथा तथात्रापि। स्तब्धताम् उच्चताम् परमकश्मलम् अतीवक्लेशं 'कश्मलं क्लेशपापयोः' इति धरणिः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सृक्किणी सृक्कणीपरितो मुहुर्लिहन्तमिति युगपदेव द्वाभ्यां द्वयोः परिलेहनात् अस्य जातिस्वभावत्वेप्यधुना कोपनातिशयोऽभिप्रेतः तेनातिघोरत्वं सूचितम् अत एव करालेति पुनरुक्तिश्च हि एव क्रीडन्नेव परितः ससार भ्रमणार्थं तस्य सर्वतो बभ्रामेत्यर्थः। यथा खगेन्द्रः श्रीगरुड इति प्रबलत्वेन क्रीडायां शीघ्रतायां वा दृष्टान्तः स कालियोऽपि दंशनावसरं प्रकर्षेण प्रतिपदं सम्यगीक्षमाणः अभीक्ष्णं बभ्राम इति सर्पेण क्रीडाकौशलमुक्तम् ॥ २५ ॥ परिभ्रमहृतौजसमपि उन्नतांसम् अत एव आनम्य तं श्रीहस्तेन तथा च श्रीहरिवंशे "शिरः स कृष्णो जग्राह स्वहस्तेनावनम्य च" इति पृथ्विति तद्रङ्गयोग्यतोक्ता तन्मूर्द्धेतिसौन्दर्यविशेषः स्पर्शेति लावण्यविशेषः तथापि अतिताम्रत्वं कोमलत्वात् आदिगुरुत्वे हेतुः आद्यः अनेन कालियस्य च महाभाग्यं सूचितम् ॥ २६ ॥ नृत्यसुखार्थं तदुपकरणमाह—तमिति। अवेक्ष्य अवेत्येति वा पाठः समानार्थः ईक्षेरिणश्च ज्ञानार्थत्वात् तदीयाः श्रीगरुडादयः पार्षदाः गन्धर्वादयः स्वर्ग्याः यद्वा, वैकुण्ठवर्त्तिन ये गन्धर्वादयस्ते तत्र मृदङ्गादीनां वादनैश्चारणा उपसेदुः असेवन्त गीतैर्गन्धर्वाः पुष्पैर्देवाः तद्वध्वश्चेत्यर्थः। उपहाराः विविधगन्धसुगन्धिचूर्णादयस्तैः सिद्धाः नुतिभिश्च मुनयः इत्येवं विवेचनीयं क्रमातिक्रमो हर्षभरेण बादरायणैरनुसन्धानात्। यद्वा, प्रीत्या सर्वेषामपि सर्वत्र प्रवृत्तिरभिप्रेता ॥ २७ ॥ एकशब्देन मुख्यवाचकेनान्यान्यपि बहूनि सन्तीति बोध्यते अग्रे फणासहस्रोक्तेः क्षीणायुषः मृतप्रायस्येत्यर्थः। उल्वणम् उद्भटं प्रचुरमित्यर्थः ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

द्वे शिखे अग्रभागौ यस्यास्तया जिह्वया द्वे सृक्किणी सृक्किणी परितो मुहुर्लिहन्तमिति युगपदेव द्वाभ्यां द्वयोः परिलेहनादस्य जातिस्वभावत्वेऽप्यधुना कोपेनातिशयोऽभिप्रेतः, तेनातिघोरत्वं सूचितम्। अतएव करालेति पुनरुक्तिश्च बहुशिरस्त्वेन मुखानां बहुत्वेऽपि जिह्वयेत्येकत्वं सृक्कणश्च द्वित्वमंगानां युगलानां बहूनां वैकत्वेन द्वित्वेन चानिर्द्देशेऽपि स्वतो द्वित्वादि-सिद्धेः किंवा, प्रतिमुखं तस्यास्तयोश्चैकत्वं द्वित्वाभिप्रायेण। हि अपि, तादृशमप्यमुं परितः ससार, भ्रमणार्थं तस्य सर्व्वतो बभ्रामेत्यर्थः। यथा खगेन्द्रः श्रीगरुड़ः इति सद्यो हन्तुं शक्तोऽपि यथा केवलं क्रीड़ार्थमेव परितो भ्रमतीति क्रीड़ायां शीघ्रतायां वा दृष्टान्तः स कालियोऽपि दशनावसरं प्रकर्षेण प्रतिपदं समाप्रोक्षमाणा आसीदित्यर्थः; अपेक्षमाण इति वा, परिसरणेन तदप्राप्तेरिति सर्पेण श्रीकृष्णस्य क्रीड़ा-कौशलमुक्तम् ॥ २५ ॥ परिभ्रम-हृतौजसमप्युन्नतासम्, अतएवानम्य चेति। पृथु अतिविस्तीर्णतया तद्रंगयोग्यतोक्ता। तन्मूर्द्धेति सौन्दर्य्यविशेषस्तथा नृत्यगतावभिनिवेशो वैदग्ध्यं चोक्तम्, अखिलकलानामादिगुरुरुपदेष्टृश्रेष्ठः प्रथमप्रवर्त्तको वा यद्वा, आद्यो यः स तच्छिरः स्वधिरूढ़ः इति तस्य महाभाग्यं सूचितम्। तच्चाग्रे विस्तरतो व्यक्तं भावि। कालाश्चाग्रे तैरेवाभिनयः

ञ्जयितव्याः ॥ २६ ॥ नृत्यसुखार्थं तदुपकरणमाह –तमिति। तदा तत्क्षण एव, तदीयाः श्रीगरुडादयः पार्षदा गन्धर्वादयश्च स्वर्ग्याः, यद्वा, तदीया वैकुण्ठवर्त्तिनो ये गन्धर्वादयस्ते, तत्र मृदंगादीनां वाद्यैश्चारणा उपसेदुरसेवन्त, गीतैर्गन्धर्वाः, पुष्पैर्देव-वध्वोऽप्सरसः, श्रीभगवन्नृत्यापेक्षया नृत्यानाचारणात्; किंवा, सर्वा एव देव्यस्तथापि नृत्यानुक्तिस्तथैवोपहारा विविध गन्ध-सुगन्धिचूर्णादयस्तैः सिद्धाः, नुतिभिश्च मुनय इत्येवं विवेचनीयम्। क्रमातिक्रमः प्रीत्या, तेषां सहसोपसत्त्या तत्तत्संकीर्णताभिप्रायेण; किंवा, हर्षभरेण श्रीवादरायणेरननुसन्धानात्; यद्वा, तेन प्रीत्या सर्व्वेषामपि सर्वत्र प्रवृत्तिरभिप्रेता ॥ २७ ॥ एक-शब्देनान्यान्यपि बहूनि सन्तीति बोध्यते, अग्रे फणासहस्रोक्तेः। क्षीणायुषो मृतप्रायस्येत्यर्थः। उल्वणं प्रचुरमित्यर्थः। आस्य-नासाभिरसृजो वनामत्तेन तत्तद्द्वारनिरोधात् ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अनुङ्कालियं क्रीडन् कृष्णः सोऽपि कालियः ॥ २५ ॥ अमितकलादिगुरुः भरतादिकलानामादिगुरुः ॥ २६–२७ ॥ नस्तः नासिकाभ्यः वमन् उद्गिरन् ॥ २८–२९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

द्वे शिखे अग्रभागौ यस्यास्तया जिह्वया द्वे सृक्किणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिह्यानमतिकराला विषाग्निभीषणा दृष्टिर्यस्य तमसुं कालियं क्रीडन्निव परितश्चचार "अभितः परितः समया" इत्यादिवचनेनामुमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया अमुष्य परितः ससारेत्यर्थः। यथा गरुडस्तद्वत् सोपि कालियोऽप्यवसरं दंशनार्थमन्तरमन्वेषयन् परिबभ्राम ॥ २५ ॥ एवं परिभ्रमणेनैव गतबलम् उन्नतांसो यस्य तं कालीयमानम्य नम्रं कृत्वा तस्य पृथुषु विपुलेषु शिरस्स्वधिरूढः आद्योऽखिलविद्याकारणभूतः अखिलानां भरतशास्त्रविदाम् आदिगुरुः हेतुगर्भमिदं तत्त्वात् चपलेष्वपि शिरस्सु ननर्त्त, कथम्भूतः ? तस्य मूर्द्धसु ये रत्नसमूहास्तेषां स्पर्शेनाताम्रं पादाम्बुजं यस्य तथाभूतः ॥ २६ ॥ नृत्य कर्तुमुद्यक्तं तं कृष्णमवेक्ष्य तदीयाः भगवत्सेवकाः गन्धर्वादयः प्रीतिपूर्वकं मृदङ्गादिभिरुपलक्षिताः सहसा आशु उपसेदुः।जग्मुः। यद्वा, तदीयाः कालियस्य परिजनाः उपसेदुः गन्धर्वादयश्च तथा भगवन्तं सेवितुं मृदङ्गादिभिः सहोपसेदुरित्यन्वयः ॥ २७ ॥ शतमेकानि मुख्यानि शिरांसि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः कालियस्य आर्षत्वात् "शीर्षन् छन्दसि" (६-१-६१) इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः यद्यच्छिरो न नमते नम्रं नाभूत्, अङ्ग हे राजन्! तत्तच्छिरः कर्मअङ्घ्रिपातैः खलदण्डधरः हेतुगर्भं तत्त्वान्ममर्द कथम्भूतस्य क्षीणमायुर्बलं वा यस्य भ्रमतः तदा आस्यतः मुखेभ्यः नस्तो नासिकाभ्यश्चोल्वण-मुष्णम् अधिकं वा असृग्रुधिरं वमन्नुद्गिरन् स नागः कालियः परमधिकं कश्मलं मोहं मूर्च्छां दुःखं वा अवाप लेभे ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

तम् अमुं सर्पं परिससार परितश्चचार द्वे सृक्किणी ओष्ठान्तर्भागौ स सर्पोऽप्यपसरन् तिर्यग्गच्छन् बभ्राम चतुर्दिशं परिवर्त्तमानोऽभूत् ॥ २५ ॥ हृतौजसं क्षीणबलम् आनम्य प्रह्वीकृत्य अमृतकलस्य चन्द्रस्यादिगुरुः परमगुरुः अमृतकला-नामधिको गुरुः उद्गिरणशील इति भावः। इदं विषौषधज्ञानार्थमुक्तम् ॥ २६ ॥ उपसेदुः उपस्थिताः ॥ २७ ॥ गरकालशीर्ष्णः विषेण नीलशिरसः सर्पस्य "मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः" इत्यमरः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथोत्थिते भगवति रोषावेशादुत्थितस्य कालियस्य फणमण्डलानि दृष्ट्वा भगवतः कर्कशमार्गस्यगतिविशेषेण निर्नर्तिषा जाता। तदनुरूपवाद्यं गन्धर्वादिवधूभिरावद्धमिति दर्शयति–तं नर्त्तुमुद्यतमवेक्ष्येत्यादि। तं श्रीकृष्णं नर्त्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तस्मिन्नेव काले गन्धर्वादिवध्वः प्रीत्या मृदङ्गादिवाद्यगीताभ्यां पुष्पोपहारवलिभ्याश्चोपसेदुस्तदीयं नृत्यमुपचक्रुः। गन्धर्वसिद्ध-चारणवधवो वाद्यगीताभ्याम्, वधव इति मधुर-कोमल-करतालघातेन वाद्यस्य माधुर्यम्, सौन्दर्य-विशेषेण च गीतस्य माधुर्यम्, मुनि-देववधवः पुष्पोपहारवलिभ्याम्, काश्चित्, पुष्पवृष्ट्या काश्चिदुपहारैः, सर्वेषां वधव एवेति गन्धर्वसिद्धादिपुंभ्यस्तत्तद्वधूनामेवातिहर्षो जातः,– तद्विषये तद्विधानामतिरतिमत्त्वात् ॥ २७–३० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तं नर्त्तुमित्यादि। नृत्ये वाद्यगीताद्यपयुज्यते, तेन गन्धर्वसिद्ध–चारण वध्वा मृदङ्गगीताभ्यां यथायोगमुपसेदुः। वधव इति गाने मधुर-स्वरत्वात्, वाद्ये करकमलानां कोमलत्वादाघात-लाघवात् सुश्रव्यत्वात्। मुनिवधे वा देववधवश्च पुष्पोपहार–नुतिभ्यामुपसेदुः। सम्यङ् नृत्यन्तम्, "अहो! नृत्यमहो नृत्यम्' इति स्तुवन्ति, पुष्पवृष्ट्या च सम्मानयन्ति। वधव इति श्रीकृष्णे स्त्रीणामेवात्यन्तिकी रतिरिति वा तात्पर्यम् ॥ २७–३० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

द्वे स्वीये सृक्किणी पुनः पुनर्लिहन्तं तममुं परि परितः ससार तं भ्रमयितुं तस्य सर्वतो बभ्रामेत्यर्थः। स कालियोऽपि दंशनस्य अवसरं समीक्षमाण एव बभ्राम कृष्णकर्तृकभ्रमणलाघवाद्दंशनावसरं न प्रापेति तिर्यग्भ्रमिखेलयापि तं जिगायेत्यर्थः। उन्नतावुच्चावंसौ यस्य तम् आनम्येति परिभ्रमहतौजस्त्वात् भ्रमणासमर्थस्य शिरांस्येव एकहस्तेनैवानम्य तत्राधिरूढः "शिरः स कृष्णो जग्राह स्वहस्तेनावनम्य च" इति हरिवंशोक्तेः तस्य मूर्द्धसु ये रत्ननिकरास्तेषां कठोराणां स्पर्शेनातिसुकुमारत्वादतितामत्यरुणं पादाम्बुजं यस्य सः स्थालीशरावादिषु कलाज्ञापनाय नटा नटन्ति। अयं तु सर्वकलानामादिगुरुत्वात् चञ्चत्कालियमूर्द्धसु ननर्तेति स्वकलाभिज्ञत्वदर्शनेयं व्रजसुन्दरीषु पूर्वरागवतीषु ज्ञेया ॥ २६ ॥ नर्त्तुं नर्त्तितुं तदीयेति वाद्यं विनैव स्वगुणैर्नैवोच्चारितैस्त्यैर्थशब्दैः प्रभुर्नृत्यति तद्वयं कं समयं प्रतिस्थिता इति विचार्य्येति भावः ॥ २७ ॥ शतम् एकानि मुखानि शिरांसि यस्य तस्य अग्रे फणासहस्रोक्तेः यत् यत् न नमत्युच्चीभवति तत्रैव सहसाऽऽरूह्य अङ्घ्रिपातैस्ताभेव क्षणान्ममर्द तदा च आस्ये मुखेभ्यो नस्तो नासाविवरेभ्यः असृग्वमन् ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हरिश्च क्रीडन् द्विशिखयाजिह्वया द्वे सृक्किणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानम् अतिकराला विषाग्नियुक्ता दृष्टिर्यस्य तम् कालियम् परितः ससार सोऽपि कालियोऽपि अवसरं दंशनार्थम् अन्तरं प्रसमीक्षमाणः बभ्राम ॥ २५ ॥ आद्यः विश्वहेतुः एवं परिभ्रमणेनैव हृतमोजो बलं यस्य तम् उन्नतावंसौ यस्य तं कालियम् आनम्य तस्य पृथुशिरस्सु अधिरूढः सन् ननर्त, कथम्भूतः? तस्य नागस्य मूर्द्धसु ये रत्ननिकरास्तेषां स्पर्शेनात्यरुणं पादाम्बुजम् यस्य सः; ननु, विषमेषु तच्छिरस्सु कथं ननर्त? इत्यत आह अखिलकलानामखिलाः कलाः येषु तेषां शिवादिनामादिर्हेतुश्चासौ गुरुश्च स तथा ॥ २६ ॥ देवशब्दवाच्यानां सर्वेषां तत्सामार्य्याश्च ॥ २७ ॥ शतमेकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कृष्णः क्रीडन्नमुं भुजङ्गं परितः ससार तं भ्रमयितुं तस्य सर्वतो बभ्रामेत्यर्थः। स भुजङ्गोऽपि दंशनावसरं प्रसमीक्षमाण एव बभ्राम तद्भ्रामणलाघवात्तदवकाशं न प्रापेति तिर्यग्भ्रमणलोलया तं जितवानित्यर्थः ॥ २५ ॥ उन्नतावंसौ यस्य तमानम्येति परिभ्रमहतौजस्त्वाद् भ्रमणाशक्तस्य तस्य शिरांस्येकहस्तेनानमय्य तेष्वधिरूढः सन् ननर्त। तन्मूर्द्धस्थस्य रत्ननिकरस्य स्पर्शेनातिताम्रे पादाम्बुजे यस्य सः "कालियफणामाणिक्यरञ्जितश्रीपादाम्बुजः" इति तन्नामस्तोत्रे। ननु सर्पशिरःसु चञ्चलेषु तत्र नर्तनं तत्राह अखिलेति। नटाः खलु कलाविज्ञाः स्थालीवरत्रादिषु नृत्यन्ति अस्य तु निखिलकलाचार्यत्वात्तच्छिरस्सु कलाप्रदर्शनं स्वानुरागिणीनां रञ्जनार्थम् ॥ २६ ॥ न च नर्तने सामग्री न्यूनतेत्याह - तमिति। नर्तितुमुद्यतं मृदङ्गादिवादित्रैर्थे तथा शब्दमुच्चारयन्तं प्रभुमवेत्येत्यन्यद्विकसितार्थं तदीयास्तत्सेवकाः ॥ २७ ॥ शतमेकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य फणासहस्रोक्तेः। तस्य यद् यच्छिरो न नमते उच्चीभवति तत्रैव सहसा बलेनारुह्य अङ्घ्रिपातैस्तालरक्षणात् ममर्द स तदा मुखेभ्यो नस्तो नासिकाच्छिद्रेभ्यश्चासृक् रुधिरं वमन् ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तं यथा खगेन्द्रो गरुडस्तथा जिह्वया द्विशिखया द्वे शिखे अग्रभागौ यस्याः सा तथा प्रतिस्विम मेकैकमुखविवरानिःसृक्किणी ओष्ठान्तःपुटयोर्लेलिहानमास्वादयन्तमतिकरालो यो विषाग्निस्तद्युक्तनेत्रममुं क्रीडन्नेव परिससार। सोऽप्यपसरन् गच्छन्प्रसमीक्षमाणः सन् बभ्राम चचार ॥ २५ ॥ एवं परिभ्रमेण परितः परिवर्तनेन हृतमोजो यस्य स उन्नता अंसाः स्कन्धा यस्य तमानम्यानमय्य शिरस्यधिरूढः आद्यः पुराणपुरुष आद्यः प्राक्तेन भक्ष्यत्वेन कृतः सोऽप्यधिरूढ इति वा। अदघातोः कर्मणि ण्यत्प्रत्ययः। तस्य मूर्धसु विद्यमानानां रत्नानां निकरस्तत्स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं यस्य सोऽमृतकलाधिगुरुरमृतकलो सोमः स एनाधिगुरुर्मूलपुरुषो यस्य स अमृतकला अधिरधिको यस्य तस्य वंशस्य गुरुरिति वा। अखिलकलाधिगुरुरिति सकलकलास्वामीत्यर्थः। पक्षद्वन्द्वेऽपि न विषविषमताऽस्येति ध्वन्यते। ननर्त ॥ २६ ॥ नर्तुं नर्तितुमुद्यन्तं तं कृष्णमवेक्ष्य तदीयाः उपास्याः सहसा उपगताश्च गन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः। उपास्याः सहस उपगताश्च रिति पदद्वयं हे सहस एवं विपर्यसेऽपि हासहितेत्युपसेदुरिति वा ॥ २७ ॥ गरेण कलानि श्यामानि शीर्षाणि यस्य अन्यद् यद्यच्छिरो न नमते न नमति तत्तद्दण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः पादकुट्टनैर्ममर्द। एवं भगवता वन्ने क्षीणे सति वक्त्रान्मुखेभ्य आस्यैः रक्तं वमन्नरकश्मलं मूर्छा नाग आप। मूर्छा तु कश्मलं मोह इत्यमरः। परमकश्मलं नागः किं न प्राप्तोऽसि किमिति ममर्द ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह तं जिह्वयेति, द्विशिखया जिह्वया युगपदेव द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं प्रसिद्धं कालीयमतिकरालविषमेवाग्निदृष्टौ यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं कौतुकी भगवान् क्रीडन्निवानु परिससार, भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह यथा खगेन्द्र इति, न हि कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति, दुष्टाश्च भगवतो दाह्याः, न हि काष्टाद् वह्नेर्भयं भवति, अतः स एव भगवतो भीतः, युद्धार्थमेवावसरं प्रसमीक्षमाणो बभ्राम, प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥२५॥ तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्याहैवमिति, ननु दुष्टः कथं नृत्यं कारितवान् ? तत्राह परिभ्रमहतौजसमिति, सर्पो हि परिभ्रमे व्यथां प्राप्नोति, अतो बहुधा परिभ्रमाद्धतौजा इव जातः, केवलमुन्नता अंसा यस्य तादृशमानम्य तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढो जातः, ननु सर्पोयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत् तत्राहाद्यइति, स हि सर्वकर्ता सर्वस्याप्याद्यस्तस्यापि पिता भवत्यतस्मारूढवानथ वा शेषशायी स हि सर्वदा सर्पमेवारुह्य तिष्ठति, अतस्तस्य सर्पारोहणेभ्यासात् तत्र स्थितः संस्तस्य मूर्धसु यानि रत्नानि तेषां निकरः समूहस्तस्य स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं यस्यैतादृशः, पूजितचरण इव सन्तुष्टस्तच्छिरस्सु ननर्त, ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान् ? तत्राहाखिलकलादिगुरुरिति, अखिलकलानामादिगुरुः, कलाकौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टानि च, लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति ॥ २६ ॥ नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह तं नर्तुमुद्यतमिति, सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति, अत्रापि ते लौकिकानां सेवासामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह नर्तुमुद्यतं भगवन्तमवेक्ष्य तदा तस्मिन् समये तदीया ये गन्धर्वादयस्ते प्रीत्या स्वस्य सेवाविनियोगं ज्ञात्वा मृदङ्गपणवानकानि वाद्यानि गीतानि पुष्पोपहाराः पुष्पवृष्टयो नुतिभिः स्तोत्रैः सहसा शीघ्रमेवोपसेदुरुपसन्नाः, नृत्ये हि प्रथमतो नान्दी तत्र देवतास्तुतिः पुष्पवृष्टिश्च कर्तव्या तदनु वाद्यं गीतं च, तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वा नान्दीप्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव, भगवन्तमेव च देवाधिदेवं स्तुवन्तः, अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं सहसा शीघ्रमेवोपसेदुरित्युक्तं, गन्धर्वा गायकाः, सिद्धाः पुष्पवृष्टिकर्तारः, मुनयः स्तोत्रकर्तारः, चारणा वादकाः, देववध्वोप्सरसः सहनर्तक्यः, क्वचिदभिनय उभयोर्बहूनां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥ २७ ॥ एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह यद्यदिति यद्यदेव कालीयस्य शिरो न नमते तदेव नामयन् दमयाम्बभूवेतिसम्बन्धः, शतं शतसङ्ख्याकान्येकानि प्रधानानि शीर्षाणि यस्य, एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेपि नान्येषां नमनं, अतः प्रत्येकं नामनं, अङ्गेतिसम्बोधनं स्नेहात्, आदौ यावन् नमनं न मन्यतेन्यत्र स्थित एवाङ्घ्रिप्रपातं नृत्ये गतिविशेषैस्तालसमाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पादप्रहारभिया तन् नतमेव तिष्ठति, किञ्च न प्रहारमात्रं करोति किन्तु ममर्द, पादेन मर्दनमपि करोति यथोपरितनी त्वग् गच्छति द्वितीयप्रहारेऽधिकव्यथाजननार्थं, नन्वक्लिष्टकर्मा किमित्येवं करोति ? तत्राह खलदण्डधर इति खलानां दण्डमयं बिभर्ति, अतो दण्डार्थमेवं करोतीत्यर्थः, ततः क्षीणायुषः क्षीणप्राणबलस्य मूर्छितस्य रुधिरमुल्बणं जातं, तदन्तःस्थापयितुमशक्यमिति मुखात् नस्तो नासिकातश्च वमन् नागः परमकश्मलमाप, मूर्छां महतीं व्यथां वा, नागजातित्वान्न पलायते शूरा हि ते, क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमिति भिन्नं वाक्यं सङ्घातपरं देहपरं वा, अन्यत् तु जीवपरम् ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तं जिह्वयेत्यत्र भगवत्परिसरणं वाक्यार्थः, तद्भ्रमणं तु भगवति दृष्टान्तसूचितं भयाभावं दृढं कर्तुं, तथा च मूले सोपीत्यपिशब्देन न भगवत्समुच्चयः, किन्तु वाक्यार्थे भ्रमणस्यगौणत्वं बोधितं, एतत्सूचनाय व्याख्याने स एवेत्येवकारः, बहुधेति अवसरप्रतीक्षाया उक्तत्वादिदमागतम् ॥२५॥ तं नर्तुमित्यत्र पुष्पवृष्टिर्नुतिश्च भगवतः एव कृता निर्विघ्नार्थं न तु ते नृत्याङ्गं, ततो भगवान् नृत्यं कृतवान्. अतस्तदङ्गत्वेन गीतवाद्यसम्पत्तिरेव वाक्यार्थः ॥ २७ ॥ यद्यदित्यस्याभासे तदाहेति दमनमाह, श्लोकद्वयेनेति शेषः, अध्यायकारिकासु लील्या दमनमुक्तमिति मर्दनादिकमपि दमनप्रकारविवरणत्वेन व्याख्यायते, तथा च दमनप्रकारविवरणं प्रथमश्लोकार्थः, दमन द्वितीयश्लोकार्थः, सप्रकारं दमनं श्लोकद्वयमहावाक्यार्थः, तत्रैवमन्वयः, यद्यच्छिरो न नमते तत्तन् नमयन् दमयाम्बभूव, तत्र प्रकारः अङ्घ्रिपातैर्ममर्द, ततस्तस्य रुधिरं उल्वणं जातं तद् वक्त्रात् नस्तो वमन् स परमकश्मलमाप, ततोक्षिभिर्गरलमुद्वमतस्तस्य शिरस्सु मध्ये यद्यत् समुन्नमति तत्तदनुनमयन् जातः, एवं दमयाम्बभूवेति, प्रहारो नामनं तस्य विवरणं ममर्देति, यन् न नमते तस्य नामनं, ततोपि यत् समुन्नमति तस्यानुनामनमिति विशेषः ॥ २८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्रतिमुखं द्विशिखया हरिश्च क्रीडंस्तमनु सर्पं परिससार सर्वतो बभ्राम। अभयंकरत्वं च सूचयन् सर्पं विशिनष्टि- जिह्वया द्वे सृक्किणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानमास्वादयन्तम्, अतिकराला विषाग्नियुक्ता दृष्टिर्यस्य तम्। तथापि भगवतो निर्भयत्वं सूचयन् दृष्टान्तमाह—यथा खगेन्द्रो गरुड इति। सोऽपि सर्पो दशनावसरं प्रसमीक्षमाणस्तमनुबभ्राम ॥ २५ ॥ एवं परिभ्रमेणैव

हृतमोजो देहेन्द्रियादिसामर्थ्यं यस्य तम् । तथाप्युन्नता अंसाः फणा यस्य तम् । समानम्य हस्तेन नम्रं कृत्वा तस्य पृथुशिरस्स्वधि-रूढः । अत एव तस्य मूर्धसु ये रत्ननिकरा रत्नसमूहास्तेषां स्पर्शेनातिताम्रमत्यरुणं पादाम्बुजं यस्य स कृष्णो ननर्त । ननु "चञ्चलेषु शिरस्सु कथं ननर्त" इत्याशङ्क्याह—अखिलेति । अखिलानां कलानां नृत्यादिकौशलानामादिगुरुः प्रवर्तक इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—आद्य इति । सर्वकारणभूतः । अनेन तस्य परमं भाग्यं सूचितम् ॥ २६ ॥ ननु "नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यात्" इत्याशङ्क्य तत्सम्पत्तिमाह तमिति । तं स्वस्वामिनं कृष्णं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य ज्ञात्वा तदीयास्तत्सेवका गन्धर्वादयः प्रीत्या हर्षेण मृदङ्गादिभिः सहसा झटिति उपसेदुः सेवितवन्तः । तत्र गन्धर्वा गायका गीतैः । सिद्धाः पुष्पवृष्टिभिः, उपहारैः, ताम्बूलादिभिश्च । सुराः स्तुतिभिः । चारणा मृदङ्गादिवाद्यैः । देववध्वः अप्सरसः सहनर्तनैः ॥ २७ ॥ एकशब्दः मुख्यवाचकम्, फणासहस्रस्य वक्ष्यमाणत्वात् । शतमेकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः क्षीणायुषः क्षीणबलस्यापि मृतप्रायस्यापि क्रोधवशादुन्नमतः कालियस्य यद्यच्छिरो न नमते स्तब्धतां न जहाति, तत्तन्नृत्यच्छलेनाङ्घ्रिपातैममर्द । तदा च स नागः आस्यतो मुखेभ्यो नस्तो नासाविवरेभ्योऽप्युल्वणं विषमिश्रत्वेन भयङ्करमसृक् रुधिरं वमन् परमकश्मलं महतीं मूर्च्छामाप । ननु "परमकृपालुर्भगवान् कथमेवं पीडां दत्तवान् ?" तत्राह—खलदण्डधर इति । तस्य खलत्वेन गर्वितत्वात् गर्वस्य सर्वश्रेयः-परिपन्थित्वात् दण्डेन गर्वनिवृत्तिद्वारा परमानुग्रहमेव कृतवानिति भावः ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति ॥ हरिश्च क्रीडन् प्रतिमुखं द्विशिखया जिह्वया द्वे सृक्विणी ओष्ठप्रान्तौ लेलिहानमास्वादयन्तमतिकराला विषाग्नि-युक्ता दृष्टिर्यस्य तम् अमुं सर्पं खगेन्द्रो गरुडो यथा गरुड इव परिससार सर्वतो बभ्राम । सोऽपि दंशनावसरं प्रसमीक्षमाणस्तमनु बभ्राम ॥ २५ ॥ एवमिति ॥ एवं परिभ्रमेणैव हृतमोजो देहेन्द्रियादिसामर्थ्यं यस्य तं तथाप्युन्नता असाः फणा यस्य त समानम्य हस्तेन नम्रं कृत्वा तस्य पृथुशिरःस्वधिरूढः । अत एव तस्य मूर्धसु ये रत्ननिकरा रत्नसमूहास्तेषां स्पर्शेनातिताम्रमत्यरुण पादाम्बुजं यस्य अखिलानां कलानां नृत्यादिकौशलानामादिगुरुः प्रवर्तकः चञ्चलेष्वपि शिरःसु नर्त्तनकुशलः आद्यः कृष्णो ननर्त ॥ २६ ॥ तं नर्तुमिति ॥ तदा तं कृष्णं नर्तुं नर्तितुम् । इडभाव आर्षः । उद्यतमवेक्ष्य ज्ञात्वा तदीयास्तत्सेवका गन्धर्वादयः प्रीत्या हर्षेण मृदङ्गादिभिः सहसा झटिति उपसेदुः सेवितवन्तः । तत्र गन्धर्वा गायका गीतैः सिद्धाः पुष्पवृष्टिभिः उपहारैः ताम्बूलादिभिश्च मुनयः स्तुतिभिः चारणा मृदङ्गादिवाद्यैः देववध्वः अप्सरसः सह नर्तनैः ॥ २७ ॥ यद्यदिति ॥ अङ्ग हे राजन् ! शतमेकानि मुख्यानि शीर्षाणि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः शीर्षन्नार्षः । अत्र शतस्य शिरसां मुख्यत्वात् अन्यशिरोऽपेक्षया अग्रे सहस्रफणत्वोक्तेः । क्षीणायुषः क्षीणबलतया मृत-प्रायस्यापि क्रोधवशाद् भ्रमतः कालियस्य यद्यच्छिरो न नमते । कर्मकर्तरि लट् । "न दुहस्नुनमाम्" इति यङ् न तत्तच्छिरः कर्मखलानां दण्डधरो हरिः नृत्यच्छलेनाङ्घ्रिपातैममर्द । तदा च स नागः आस्यतो मुखेभ्यो नस्तो नासाविवरेभ्यश्चोल्वणं विष-मिश्रत्वेन भयंकरमसृक् रुधिरं वमन् परमकश्मलं महतीं मूर्छामाप ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

द्विशिखया प्रतिमुखं द्विशिखावत्या जिह्वया द्वे सृक्किणी ओष्ठप्रांतभागौ परिलेलिहानं लिहंतं अतिकराला अतिभयानका विषाऽग्निविशिष्टा दृष्टिर्यस्य तं खगेंद्रो गरुडो यथा तथा कृष्णः क्रीडन् सन् अमुं नागं परितः ससार सर्वतो बभ्राम सोपि कृष्णदंशना-वसरमवकाशं ईक्षमाणः सन् श्रीकृष्णमनु बभ्राम ॥ २५ ॥ एवमिति । परिभ्रमेण हृतं ऊर्जो बलं यस्य तं उन्नताः असाः स्कंध-भावा ग्रीवा यस्य तं हस्तेनामय्य तस्य नागस्य पृथुशिरस्सु नृत्ययोग्यमहाविशालफणेषु अधिरूढस्तदुपरि स्थितः तस्य मूर्द्धसु स्थिता रत्ननिकरा मणिसमूहास्तेषां स्पर्शेनाऽतिताम्रे रक्तपदांबुजे यस्य सर्वेषामाद्यो हरिरखिलकलानामादिगुरुत्वात् ननर्त्त ॥ २६ ॥ नृत्योत्साहार्थं तदुपकरणमाह तमिति । तदीयाः पार्षदाः मुनयश्च नुतिभिरुपसेदुः समीपं प्राप्ताः एवं यथा योग्यं योजनीयं ॥ २७ ॥ क्षीणयुषो मृतप्रायस्यापि भ्रमतः शतमेकानि प्रधानानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः तत्तच्छिरः अंघ्रिपातैः नृत्यकलया पादनिक्षेपैः ममर्द अपीडयत् आस्यतो वदनेभ्यः नस्तो नास्तिकाभ्यः उल्वणं विषमिश्रं असृक् रुधिरं वमन्नुद्वमन् स नागः कश्मलं कष्टं प्राप ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ॥ द्वे शिखेऽग्रभागौ यस्यास्तया, जिह्वया द्वे सृक्किणी ओष्ठप्रान्ता परिलेलिहानं, अतिकराला विषाऽग्निवृता दृष्टिर्यस्य तं, तं अमुं कालीयं, खगेन्द्रो गरुडः, यथा, तथा, क्रीडन् क्रीडयन्, कृष्णः परिससार परितश्चचार हि । परीत्यस्य परित इत्यर्थानुसरणात् 'अभितः परितः समया' इत्यादिवचनेनामुमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया । अमुष्य परितः ससारेत्यर्थः । सः कालियोऽपि अवसरं दंशनार्थमन्तरं, प्रसमीक्षमाणः अन्वेषयन्, बभ्राम ॥ २५ ॥ एवमिति ॥ एवं परिभ्रमेण परितो भ्रमणेनैव हृतं गतमोजो बलं यस्य तं, उन्नतावंसौ यस्य तं कालियं, आनम्य नम्रं कृत्वा, तस्य पृथूनि विपुलानि च तानि शिरांसि मस्तकानि च तेषु, अधिरूढः, आद्यः अखिलविद्याकारणभूतः श्रीकृष्णः, अखिलाः कला येषां भरतशास्त्रविदां तेषामादिगुरुः, हेतुगर्भविशेषणं

तत्त्वात्, तस्य कालियस्य मूर्द्धसु शिरस्सु ये रत्ननिकरा रत्नसमूहास्तेषां स्पर्शेन अतिताम्रमत्यरुणं पादाम्बुजं यस्य तथाभूतः सन्, ननर्त्त । अखिलकलाविद्गुरुरुदात्तदीयेषु सकलेष्वपि शिरस्सु नर्त्तनं चकारेत्यर्थः ॥ २६ ॥ तमिति ॥ तदा, नर्त्तुं नृत्यं कर्त्तुं उद्यतमुद्युक्तं, तं श्रीकृष्णं, अवेक्ष्य, तदीयाः श्रीकृष्णभगवतः सेवकाः ये गन्धर्वाश्च सिद्धाश्च मुनयश्च चारणाश्च देवाश्च वध्वस्त-दङ्गनात्मिका अप्सरसश्च ताः, प्रीत्या, मृदङ्गाश्च पणवाश्च आनकाश्च वाद्यानि च गीतानि च पुष्पोपहाराश्च नुतयः स्तुतयश्च ताभिः, उपलक्षिताः सत्यः, सहसा आशु, उपसेदुराजग्मुः । पाठान्तरे तदीयाः कालियस्य परिजनाः, उपसेदुः । गन्धर्वादयश्चापि, उपसेदुः ॥ २७ ॥ यदिति ॥ अङ्ग हे राजन् ! शतं शतपरिमितानि एकानि मुख्यानि शीर्षाणि शिरांसि यस्य तस्य शतैकशीर्ष्णः, 'एके मुख्यान्यकेवलाः, इत्यमरः । 'शीर्षन् छन्दसि' इति शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । क्षीणमायुर्बलं वा यस्य तस्य, कालियस्य यत् यत् शिरः, न नमते नम्रं नाभूत्, तत्तच्छिरः कर्म, अङ्घ्रिपातैः, खलदण्डधरः हेतुगर्भम् । तत्त्वात् ममर्द । वक्त्रान्मुखात्, मुखेभ्य इत्यर्थः । नस्तः नासिकायाः, नासिकाभ्य इत्यर्थः । आशु उल्बणमुष्णमधिकं वा, रुधिरमसृक्, वमन् उद्गिरन्, नागः परमधिकं, कश्मलं मोहं, मूर्च्छां दुःखं वा आप उपलेभे ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ननर्तेति : १०.१६.२६.

संसारे वर्तमानोऽप्यनुपदमभयस्ताक्ष्यवत् सर्पभङ्गे निस्तन्द्रं संयतेत द्विषदधिदमने प्रेक्षमाणोऽवकाशम् ।
योऽसावाशु प्रमाता भवति रिपुखलसद्वासनामस्तपादो भूयाद्भूयाश्च शर्वादपि चतुरतरस्ताण्डवेषु प्रवीणः ॥ ५६ ॥
सन्त्यन्याङ्गे देवा भुवनेहिशिरोविलासभागात्मा । श्रीशः श्रुत्यर्थममुं व्यक्तीचक्रेऽहिमौलिनर्तनतः ॥ ५७ ॥
लासे रासेऽप्येकरूपः सावर्ण्यादस्म्यहं सदा । इत्यग्रे रासधीरासील्लासधीरः प्रसङ्गतः ॥ ५८ ॥
दुर्दर्पसर्प-विमदीकरणाय शस्तं शास्त्रे जनेष्वनुभवादपि गारुडास्त्रम् ।
आचिन्तयन्निति पदा सविलासशाली प्रोद्यद्ध्वजेन किमनृत्यदहेः शिरस्सु ॥ ५९ ॥
नागालङ्कृतविग्रहः पशुपतिर्दुर्वर्णभूभृत्प्रियावासः सद्विहितस्तुतिः शिवपदो यः सर्वदोमाधवः ।
तस्यास्मिन् भुवने हि ताण्डवविधिर्युक्तो ममेत्यच्युतश्चित्रं चकार चारु सकलोत्तंसः सलास्यं तदा ॥ ६० ॥
सद्रत्नौघलसत्प्रदीप्तिकलित-प्रान्तान्तरङ्गं तथा स्वर्णश्रीललितान्तरङ्गसुषुमामध्याश्रितं तच्छिरः ।
स श्रीशो हृदि रङ्गमेव कलयन्निःशेषरङ्गाधिकं किं वा तत्र चकार नर्तनविधिं श्रीभारतेऽद्यस्थितिः ॥ ६१ ॥
यो युष्मान् द्वेष्टि भो भक्ता हन्तुमिच्छत्यनागसः । तं कालसर्पं दमयाम्येवेतीशो व्यबोधयत् ॥ ६२ ॥
संसारे निजगोकुले च भुवनेऽप्यात्मानुसन्धानदृग् यः स्यात्तस्य न भीतिरस्ति निखिलब्रह्माण्डखण्डादपि ।
सर्वेषामविशेषतो भयपुषोऽपि स्यात्कृतान्तस्य हि दत्वा मूर्ध्नि पदं सलीलमभयस्तद्भीतिदः प्रत्युत ॥ ६३ ॥

यद्यच्छिर इति : १०.१६.२८.

या या बलादुदयमेष्यति वासना सा दम्या पदेन गतवीर्यमदा यथा स्यात् ।
एवं कृते रिपुजयो भवति स्वयं च सन्मुक्तिभागिति तथेशकृतो स्फुटार्थम् ॥ ६४ ॥

कृष्णप्रिया

वह कालीय नाग अपनी अपनी दो शिखा वाली दोहरी जिह्वा से अपने दोनों गलफरों को चाट रहा था ऐसे अत्यंत भयानक विषरूप अग्नि से भरे हुए कालीय नाग के चारों तरफ वर्तुलाकार क्रीडा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण गरुड के समान घूम ने लगे और कालीय भी (काटने के लिये) लाग देखता हुआ श्रीकृष्ण जी के चारों ओर घूमने लगा ॥ २५ ॥ इस प्रकार गोलाकार घूमते घूमते उस कालीय नाग का जब बल नष्ट हो गया तब ऊँचे कन्धे वाले कालीय को नवांकर आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण उसके विशाल शिरों पर आरूढ हो गए एवं मस्तकों पर सर्व कलाओं के अधिपति प्रभु नाँचने लगे । तब प्रभुजी के सुकुमार चरण कमल कालीयनाग के मस्तकों के रत्नों के समूह से अत्यत आरक्त हो रहे थे ॥ २६ ॥ जब भगवान् श्रीकृष्ण कालीय नाग के मस्तकों पर नर्तन के लिए तत्पर हुए, तब भगवान को देख भगवान के तदीय गन्धर्व, सिद्धजन, मुनिजन, चारण देव देवङ्गनाएँ आदि सर्व मृदङ्ग, पणव, आनक आदि, वाद्य गोत एवं पुष्प तथा उपहार और स्तोत्रों से सेवा करने के लिए प्रीतिपूर्वक यकायक समुपस्थित हो गए ॥२७॥ वत्स परीक्षित् ? उच्छृंखल उस कालीय नाग के सौ मस्तिष्क थे और ये प्रत्येक मस्तक था इसलिए प्रत्येक शिर का दमन करने के लिए भगवानको हर एक मस्तकका दमन पृथक् पृथक् करना पडता था । राजन्, कालीय नाग का जो जो शिर नहीं नमता था अथवा नहीं नमाता था, खलों को दण्ड देने वाले भगवान् निज पादप्रहार से उस मस्तक का दमन कर देते थे । कालीय नाग खल था उनकी आयु क्षीण होने जा रही थी फिर भी वह घूम रहा था इस लिए उसके मुख एव नासिका के छिद्रों से खून बहने लगा जिस से कालीय को खूब कष्ट होने लगा ॥ २८ ॥

[1]तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु यद् यत् समुन्नमति निःश्वतो रुषोच्चैः ।
[2]नृत्यन् पदानुनमयन्[3] दमयाम्बभूव पुष्पैः [4]सुपूजित इवेह [5]पुमान् पुराणः ॥ २९ ॥
तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो[6] रक्तं मुखैरुरु [7]वमन् नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३० ॥
कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं[8] पार्ष्णिप्रहारपरिभग्न[9]फणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाहिमा[10]द्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१ ॥
[11]तास्तं विपन्नमनसोऽथ [12]पुरस्कृतार्भाः [13]कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः[14] शमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—रुषा उच्चैः निःश्वसतः अक्षिभिः गरलं उद्वमतः तस्य शिरःसु यत् यत् समुन्नमति (तत्तत्) नृत्यन् पदा अनुनमयन् दमयाम्बभुव इह पुराणः पुमान् पुष्पैः प्रपूजितः इव ॥ २९ ॥ नृप तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रः भग्नगात्रः मुखैः उरु रक्तं वमन् चराचरगुरुं पुराणं पुरुषं नारायणं तं मनसा अरणं जगाम ॥ ३० ॥ गर्भजगतः कृष्णस्य अतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रं अहिं दृष्ट्वा अमुष्य पत्न्यः आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः आद्यम् उपसेदुः ॥ ३१ ॥ अथ पुरस्कृतार्भाः ताः शरणदं भूतपतिं शरणं प्रपन्नाः भुवि कायं निधाय प्रणेमुः ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पुनरपि रुषा उच्चैर्निःश्वसतो यद्यत्समुन्नमति तत्तत्पदाघातेनानुनमयन्निहास्मिन्नवसरे हृष्टैः गंधर्वादिभिः शेषासनः पुराणः पुरुष इव यशोदानंदनः पुष्पैः प्रपूजितः यद्वा तदा गंधर्वादिभिः पुष्पैः प्रपूजितो गोपैः पुराणः पुमानिव दृष्ट इति । यद्वा पुष्पैः प्रपूजित इव प्रसन्नः सन्दमयांबभूव । हितं कृतवानित्यर्थः ॥ २९ ॥ अरणं शरणम् ॥ ३० ॥ गर्भे जगंति यस्य तस्यातिभारेण अवसन्नमाक्रांतम् । पार्ष्णिः पादपृष्टम् । आद्यं श्रीकृष्णम् । श्लथंतो विस्रंसमाना वसनादयो यासां ताः ॥ ३१ ॥ ताः शरणं प्रपन्नाः सत्यस्तं प्रणेमुः । सुविग्नमनसोऽतिविह्वलचित्ताः । भुवीति । तस्मिन्स्थाने जलाधस्ताद्वा तीरे वा । शमलस्य पापात्मनोऽपि भर्तुर्मोक्षेप्सवः भर्तुर्यच्छमलं तस्य वा भूतपतिं प्राणिमात्रस्य पतिम् शरणदमाश्रयप्रदम् ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गरलम् विषम् । समुन्नमति उच्चैर्भवति । तत्तच्छिरः । गंधर्वाणां देवयोनित्वेन भ्रमोऽनुचित इति मत्वा प्रकारांतरेणाह यद्वेति । गोपानामपि वस्तुतो देवर्षित्वे तत्रापि स नोचित इति मत्वा पुनराह—यद्वेति । इत्यर्थं इति । "परमोऽनुग्रहो दंडो दुष्टे प्रभुणार्पितः" इति न्यायेन तद्धितमेव चकारेति भावः ॥ २९ ॥ तस्य कृष्णस्य चित्रतांडवेनाद्भुतनृत्येन रुग्णं भुग्नं फणारूपच्छत्रं यस्य सः । उरु महत् । भग्नगात्रो मर्दितांगः । तम् श्रीकृष्णम् । परमभक्ताभिस्तत्पत्नीभिः कृपारूपं भक्तिबीजं पूर्वमुप्तमपि पूर्वपूर्वापराधजनितक्रौर्य्यदोषव्याप्ते कालियांतःकरणे दुष्टक्षेत्र इव प्ररोढुमसमर्थमेवासीत्, तदा तु श्रीचरणस्पर्शेन तत्कृतदंडप्राप्त्या च तत्तद्दोषक्षये सति सहसैव तद्भक्तिबीजमंकुरितं बभूवेत्याह—स्मृत्वेति । मद्वैरिणो गरुडादप्यस्य सहस्रगुणाधिकं बलं मयोपलब्धं तस्मात्तत्पत्नीभिरुपादिष्टभक्तिः कोऽयमेव परमेश्वर इति स्वीयस्मृतिगोचरीकृतमेत्यर्थः । चराचरगुरुमित्यस्यार्थः बलं दर्शयन्नहमेव परमेश्वर उपास्य इति मूढमपि मां ज्ञापयन्कृपया मच्छिरोर्पितचरणो गुरुर्भवन्प्रसीदति, तमिममहमीदानीं शरणं यामीति । अरणं शरणमिति चक्रवर्ती ॥ ३० ॥ गर्भजगत इति । रोमविवरांतर्निविष्टानंतब्रह्मांडत्वादिति भावः । "क्वेदृग्विधाविगणितांडवराण्डचर्यावाताध्वरोमविवरस्य' इति परमेष्ठ्युक्तेः । बहिर्मुखोऽयं भगवत्कृतदंडेन म्रियते चेन्म्रियतां वयं विधवा भूत्वा भगवंतं भजामेति । यदा तु भक्त्या शरणं गतस्य तस्य पत्युर्दैन्यनिर्वेदविषादवितर्कमत्वादिसंचारिलक्षणं ददृशुर्मुखादंगेषु ...

---

१. प्राचीनप्रत्यां (२९, ३०) श्लोकद्वयं न दृश्यते । २. तत्तत्पद—इति कस्यचित् । ३. नमयन्स यदा बभूव पुष्पैः सुपूजितो भगवान्पुरुषः—विज. । ४. प्रपूजित—श्रीधर वंशी. वीर. विश्व. शुक. । ५. पुनः पुराणः—च. पु. टी. । ६. फणासहस्रोवीर. । ७. मुखैरुरु वीर. । ८. सन्न पार्ष्णि—विज. । ९. रुग्ण—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक. । १०. ह्विराज—विज. । ११. तं तास्सुविग्न—विज; तास्तं सुविग्न श्रीधर. वंशी. शुक. । १२. पुरस्कृतार्हाः—विज. । १३. कायान्निधाय—वीर.; कायान्निपात्य—च. पु. टी. । १४. पुटीः परमस्य—विज. ।

ह्रोऽयमस्मद्भाग्यवशाद्व्रणवोऽभूत्तदस्य रक्षणे यतामह इति संहतास्तत्र जातस्नेहत्वादार्त्ताः श्रीमच्चरणसंनिधिमाजग्मुः ॥ ३१ ॥ ता नागपत्न्यः। तम् श्रीकृष्णम्। पुरस्कृता अग्रे कृता अर्भा वाला याभिस्तास्तथा। जलाधस्थर्जलगतो नंतुं दर्शनमृतेऽशक्य इत्यरुच्याह—तीरे वेति। यद्वा—भुवीत्युक्तेर्ह्रदस्य मध्ये द्वीपास्ति यत्र स्थितः कृष्णः कालीयवेष्टितो गोकुलजनैरदृश्यतेति ज्ञेयमत्र। साध्वीनां स्त्रीणां पापेऽपि भर्तरीश्वरदृष्टिरेवोचिता न त्वन्यथा। पापदृष्टिकरणे साध्वीत्वहतेरर्थांतरमाह भर्तुरिति। कृतांजलिपुटा इत्युक्ते स्तासां कामरूपत्वं प्रतीयते, अन्यथास्तुतिकरणादिकमपि दुर्घटं स्यादिति भावः॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सर्वाङ्गवैवश्येऽपि अक्षिभिर्गरलमुद्वमत इति दुष्टस्वभावनिर्देशः ॥ २९ ॥ तस्य तद्वा अनिर्वचनीयं चित्रं विविधं भ्रान्तिरेचकादिगतिभेदं यत्ताण्डव तेन विशेषतो रुग्णं जातव्रणं भग्नं वा फणानां सहस्रं यस्य सः। अथ साक्षात् श्रीचरणकृतदण्डात् सहजान्तर्दोषक्षयेण श्रीवल्लिवत् तत्स्पर्शाद्विशुद्धभावोत्पत्त्या च श्रीभगवन्तं ज्ञातवान् प्रपन्नश्चेत्याह—स्मृत्वेति। तं श्रीकृष्णं चराचराणां गुरुं जनकत्वादेः यतः पुराणं पुरुषं सर्वेषामाद्यमित्यर्थः। यतः नारायणं लोकपद्माकारनाभिमित्यर्थः। किं वा सर्वजीवानामाश्रयम् एते सर्वथा शरणापत्तौ हेतवः स्मृत्येति प्राचीनेन तेन शतशः श्रुतस्यापि तस्य दौरात्म्यमानराहित्यात् मनसेति परमात्त्यं तवास्मीत्युक्तावप्यशक्तेः यद्वा मनसो शरणगमने हेतुः पुरुषमन्तर्यामितया हृदयरूपाणां पुरि शेते सदा वर्त्तत इति तथा यद्वा तं श्रीकृष्णं नारायणं स्मृत्वा स्वपत्नीभ्यस्तथा श्रुतमनुसन्धाय शेषं प्राग्वत् ॥ ३० ॥ एवं शरणापत्या त्यक्तचरणाघातदण्डे सम्यक् प्रसन्ने यासां स्वभक्तानामपि दुष्टस्वामिसङ्कोचादनागतचरीणां सम्वन्धेन स्वयमेव तस्य तादृक्त्वं साधितं तदपेक्षान्यायेति तदर्थमेव ताभ्यस्तादृशप्रसाददर्शनार्थमेव च शिरस्येव विलम्वमाने श्रीभगवति तासां प्रतिपत्तिमाह—कृष्णस्येति द्वाभ्याम्। गर्भंजगत इति विभुत्वादुक्तं "न चान्तर्नं वहिर्यस्य" इति न्यायेन गर्भशब्देन ह्यत्रान्तरमुच्यते ततो व्याप्तसर्वस्येत्यर्थः। तथापि जगत्स्पर्शाभावस्तु दर्शितः "मया ततमिदं सर्वम्" तस्मिन्नेवम्भूते भारतायाः कैमुत्याद्यत्कालियादेः सर्वस्यापि. चूर्णत्वं न जायते तत् खलु तस्येच्छामयनिजशक्तिप्राकट्यस्योपेक्षात एव सम्भवतीति भावः आतपत्ररूपकेण फणानां परिरुग्णतया तस्य वाह्यश्रियो विमर्शः सूचितः उपसेदुः पार्श्वे जग्मुः आर्त्तत्वादेव श्लथद्वसनादिकाः इति महादैन्य युक्तम् ॥ ३१ ॥ सुविग्नं पतिमरणशङ्कया तदप्यपराधशङ्कया वाऽतिभीतमतिदुःखितं वा मनो यासां ताः अयं प्रणामे प्रपत्तौ वा परमदैन्येन गुणविशेष उक्तः भुवि कायं निधाय दण्डवन्निपत्येत्यर्थः। एवं ह्रदस्य मध्ये कश्चित् द्वीपो वोध्यते यत्र क्रीडाविशेषार्थ मुत्थितः श्रीकृष्णः कालियेनावृतो गोकुलजनैरदृश्यतेति वर्णितं पुरस्कृतार्भत्वं कृपाजननार्थम्, ननु, भर्तुरपराधेन वृतो न विभ्यति स्म ? तत्राह भूतानां प्राणिनां सर्वेषामपि पतिं तासां तादृशतया स्फुरितं तस्माद्भयेऽपि कुत्रान्यत्र गन्तव्यमिति भावः। अत एव भर्तुः भर्त्रा यः शमलस्य मोक्षस्त्यागः तमिच्छन्त्यः कुतः साध्व्यः पतिव्रताः श्रीकृष्णभक्तिमत्यश्च ॥ ३२ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधुना केवलमक्षिभिरेवं विषमुच्चैर्वमतः। अनेन तदानीमपि तीक्ष्णदृष्टित्वमभिप्रेतम्; तत्त्वार्थपक्षे द्वयम्। अङ्घ्रिपातैर्नृत्यगत्या पादाब्जन्यासविशेषैर्मर्दनं तज्जातिस्वाभाविकदोष-निरसनम्; किंवा पादाब्जस्पर्शविशेष-महासौभाग्यलभनम्. अतएव तेन शिरसामुत्तम्भनञ्च क्षीणायुष्ट्वादिकं सहजदुष्ट-बलदर्पाद्यपगमस्तदर्थमेव खलेषु दुर्विषमयास्यादिस्थानेषु दण्डं दधत्। ततश्च प्रेमानन्दमूर्च्छाप्तिस्ततश्च गरलोद्वमनं निजाशेषान्तर्दोषत्यागः, रुषा प्रणयकोपेन, यद्वा, अ-कार-प्रश्लेषेण न विद्यते रुट् यस्यां तया भवत्येत्यर्थः। दमयाम्बभूव सहजजातिदोषं त्याज्यामासेत्यर्थः। तेन च तत्त्वतो हितमेवाकरोत्; तच्च तैरपि व्याख्यातम्। 'दययाम्बभूव' इति पाठोऽपि क्वचित्। नन्वीदृशीमद्भुतां कृपां किमिति कृतवानित्याशंक्य स्वयमेव हेतुं वितर्कयति—पुष्पैरिति। इह श्रीवृन्दावनान्तः श्रीयमुनाह्रदे पुराणः पुमान् श्रीकृष्णोऽयं पुष्पैः प्रकर्षेण पूजितः। इवेत्युत्प्रेक्षायां वितर्क एव वा। पुराणः पुमानिति पुरुषोत्तमत्वेनेत्यर्थः, यद्वा, पुरापि नव इति निरुक्त्या पूर्वतो वर्त्तमानोऽपि नित्य-नूतन इत्यर्थः, यद्वा पुरं श्रीमथुराख्यमानयति प्राणयतीति पुराणः पुमान् श्रीकृष्ण एव। अन्यत् समानमिति ॥ २९ ॥ तस्य तत्त्वानिर्वचनीयं चित्रं विविधं भरतमुन्युक्तभ्रान्तिरेचकादि-गति-भेदात्, यद्वा, नृत्यगत्यैव दृढ़प्रहरणात्, किंवा, निग्रहायाचर्य्यमाणस्यापि तस्यानुग्रहे पर्य्यवसानादद्भुतं यत्ताण्डवं तेन विशेषतो रुग्णं जातव्रणं भग्नं वा फणानां सहस्रं यस्य सः। हे नृपेति यथा भवादृशां प्रजापालनाय दुष्टस्य निग्रहो दण्डोऽपि तत्त्वतो हितायैव, तथेतिभावः। तत्त्वार्थपक्षे तु सर्वफणेषु तादृशनृत्येन तत्साफल्यतोऽत्यन्तानुग्रह एव। तत्र विरुग्णेत्यनेन पूर्वोक्त—मर्दनवदनुग्रहभरसम्पत्तये ताण्डवाधिक्यं द्योत्यते। एवं फणावर्गविरुग्णत्वादिना दुर्मदाद्यपगमाद्दीनः सन्; तत्त्वार्थपक्षे-सहजान्तर्दोषक्षयेण च विशुद्धभावोत्पत्त्या श्रीभगवन्तं सस्मार, ततश्च तं प्रपन्न इत्याह – स्मृत्वेति। चराचराणां गुरुं जनकम्, यतः पुराणं पुरुषं सर्वेषामाद्यमित्यर्थः, यतो नारायणं लोकपद्माकर-नाभिमित्यर्थः, किंवा, सर्वजीवानामाश्रयम्। एते सर्वथा शरणापत्तौ हेतवः। स्मृत्वा विस्मृतमपि तं मनसि कृत्वा चिन्तयित्वा वा, तं नारायणमेव शरणं गतः। मनसेति परमार्त्या 'तवास्मि' इत्युक्तावप्यशक्तेः, यद्वा, मनसा शरणगमने हेतुः—पुराणमन्तर्य्यामितया हृदयरूपायां पुरि शेते सदा वर्त्तत इति, तथा तमिति। अन्यत् समानम्। तत्त्वार्थपक्षे—तं श्रीकृष्णं नारायणं स्मृत्वा ज्ञात्वा, कुतः? चराचरात् तन्मयब्रह्माण्डादपि गुरुं गरिष्ठं महाभारवत्त्वात्, किञ्च, पुराणं पुरुषं बाल्येप्यबालमित्यर्थः, नृत्यादिकला—विशेषात्; अतस्तमेव शरणं गतः ॥ ३० ॥

एवं शरणापत्त्या प्रसन्नेऽपि श्रीभगवति तत्पत्नीः प्रति प्रसादविशेषायँ तासां माहात्म्यं दर्शयितुं तमत्यजति सति पतिप्रपत्त्यादि-कोत्पन्न-सज्ज्ञानानामादौ सम्यक्प्रपत्तिमाह—कृष्णस्येति द्वाभ्याम्। आतपत्ररूपकेण फणानां परिरुग्णतया तस्य राज्यविध्वंसो भ्रंशः सूच्यते। उपसेदुः पार्श्वे जग्मुरार्त्तत्वादेव श्लथद्वसनादिका इति महादैन्यमुक्तम् ॥ ३१ ॥ सुविग्नं पतिमरणशंकयातिभीत-मतिदुःखितं वा मनो यासां ताः; अयं प्रणामे प्रपत्तौ वा परमदैन्येन गुणविशेष उक्तः, भुवि कायं निधाय, दण्डवन्निपत्येत्यर्थः। पुरस्कृताभंत्वं कृपाजननार्थम्। ननु भर्त्तुरपराधेन कुतो न बिभ्यति स्म ? तत्राह भूतानां प्राणिनां सर्वेषामपि पतिमनन्यगतित्वा-दित्यर्थः, अतएव भर्त्तुर्यत् शमलमपराधस्तस्य मोक्षं मर्षणमिच्छन्त्यः, किंवा पञ्चम्यर्थे षष्ठी, शमलान्मोक्षेच्छव इत्यर्थः। यद्वा, अपराधिनोऽपि भर्त्तुर्मोक्षः संसारदुःखध्वंसस्तदिच्छवः। कुतः ? साध्व्यः पतिव्रताः श्रीकृष्णभक्तिमत्यो वा। अतस्तस्मादप्य-तत्पादानुग्रहविशेषो युक्त एवेति भावः। शरणदं तदङ्ह्ल्याश्रयप्रदम्, अन्यथा श्रीवृन्दावनमध्ये तत्र निवासासम्भवः, यद्वा, रक्षक-नियाजकं यदन्येन केनापि रक्ष्यते, तत्तस्यैव प्रेरणादित्यर्थः। अतस्तासां तद्रक्षाहेतु-प्रपत्त्यादिकं तेनैव सम्पादितमिति भावः। शरणं प्रपन्नाः रक्ष रक्षेत्यार्तस्वरेण शरणागततया तमाश्रिताः यद्वा, शरणं सर्व्वापद्भ्यो रक्षितारं तथैवाश्रिताः, किंवा रक्षितुं प्रवृत्ताः सत्य इत्यर्थः। तत्त्वार्थपक्षे—अपराधो योग्योऽस्यापि (श्रीकृष्णभक्तिपरायण-तत्पत्नी) तच्चुम्बनादि-प्रवृत्तेः, किंवा दुर्विषज्वालया श्रीवृन्दावनवर्त्ति-प्राणिहिंसातः। एवमन्यदप्यूह्यम् ॥ ३२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

चित्रताण्डवम् अद्भुतनृत्यन्तेन विरुग्णं भग्नम् ॥ ३०–३१ ॥ पुरस्कृताभाः पुरस्कृतबालाः ॥ ३२–३३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अक्षिभिर्नेत्रैर्विषमुद्वमतः पुनः रुषा क्रोधेन उच्चैर्निश्वसतः श्वासं मुञ्चतस्तस्य शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः कर्तृ समुन्नमति उद्धृतं बभूवेत्यर्थः। तत्तत्तदा पादघातेनानुनमयन् प्रह्वीकुर्वन्नित्यं नृत्यन् दमयांबभूव दण्डयामास, कथम्भूतः ? पुष्पः पुष्पवर्षैः सुपूजितः गन्धर्वादिभिरिति कर्तृपदाध्याहारः तादात्विकं भगवन्तं लक्षयति इह अस्मिन्नवसरे पुराणः पुमानिव शेषासनो भगवान्नि-वालक्ष्यतेत्यर्थः ॥ २९ ॥ तस्य भगवतश्चित्रेणोद्भटेन ताण्डवेन नृत्येन निरुग्णं नितरां पीडितं फणानां सहस्रं यस्य भग्नं गात्रं यस्य सः कालियः हे नृप ! मुखैः रुधिरमुद्वमन् उद्गिरन् तदा तं कृष्णं चराचरात्मकं सर्वभूतनियन्तारं पुराणं पुरुषं श्रीनारायणं स्मृत्वा तमेव मनसा शरण शरणं जगाम ॥ ३० ॥ कृष्णस्य गर्भे यज्जगत्तस्यातिभरेणावसन्नं पीडितं पार्ष्णिप्रहारैः पादपृष्ठघातैः परितो रुग्णाः पीडिताः फणा एवाऽऽतपत्राणि यस्य तमहिं कालियं दृष्ट्वा अमुष्य कालियस्य पत्न्यः आर्त्ता दुःखिताः विस्नं समाना वस्त्रादयो यासां ताः आद्यं श्रीकृष्णमुपसेदुरुपजग्मुः ॥ ३१ ॥ ताः कालियपत्न्यः सुविग्नानि नितरां भीतानि मनांसि यासामत एव पुरस्कृताः पुरोनि-धापिताः अर्भा बालाः याभिस्तास्तथाभूताः भुवि कायान् देहान्निधाय दण्डवत्पातयित्वा तं भूतपतिमपराधानवेक्षणेन शरणागतचूक-मात्ररक्षितारं कृष्णं प्रणेमुर्नमश्चक्रुः ततस्ताः साध्व्यः पतिव्रताः शमलस्य पाप्मनो भर्तुर्बिभ्रतः मोक्षेच्छवः भर्तुः शमलस्य वा धृताञ्जलिपुटाः शरणदं शरणं रक्षणोपायमात्मानं ददातीति तथा तं "य आत्मदा बलदा" इति श्रुतेः ! तं कृष्णं शरणम् उपायं प्रपन्नाः अध्यवसितवत्यः—

"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिश्शरणागतिः" ॥

इत्युक्तविधां प्रपत्तिं चक्रुरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः समुन्नमति तत्तच्छिरः अनुनमयन् नृत्यन् बभूव ॥ २९ ॥ अङ्घ्रिपातविशेषेण रुग्णं भग्नम् अरणं शरणं क्षीरसागरशायी यस्तम् ॥ ३० ॥ गर्भे जठरे जगद्यस्य स गर्भजगत् तस्य कृष्णस्य अतिभरेणावसन्नः पीडितः पार्ष्णिः पादपृष्ठ-भागो यः तेन कृतेन प्रहारेण परिरुग्णं फलातपत्रं यस्य स तथा तम् ॥ ३१ ॥ पुरस्कृतार्हाः अग्ने कृतपूजनाः परमस्य सकाशात् पत्युः र्मोक्षेच्छवः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तं श्रीकृष्णं नारायणं स्मृत्वा सत्पत्नीभ्यः श्रुतमनुसन्धाय एवं शरणापत्त्या क्षान्तवन्तमपि तदपेक्षया शिरस्येव स्थितं तत्पत्न्यः प्रपेदिरे इत्याह—कृष्णस्येति द्वाभ्याम्। गर्भजगत इति विभुत्वात् भुवि कायं निधायेति तत्र मध्यद्वीपः सूचितः ॥३०-३६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवं नृत्यतस्तस्य पादाघातेन तालत्यागसमयातिशयशब्देन भुग्नशिरसं पतिमालोक्य नागपत्न्यः समुपतस्थुरित्याह-कृष्णस्य गर्भजगत इत्यादि। गर्भजगद् यस्य स तथा। कोऽर्थः ? गर्भे उदरे स्वीकृतं जगद्येन। ननु सदैव तस्योदरे जगत् तिष्ठति तदा सर्वदेव सर्वस्यैव दुःसहः स्यात्; अपि तु ऐच्छिक्या प्रकाशिक्या योगमायया जगतो यावान् भरस्तावान् तस्मिन्नेव स्वपार्ष्णि सञ्चारित इति तेन तत्पार्ष्णि प्रहार-रुग्णं फणारूपमातपत्रं यस्य, तद् दृष्ट्वा आद्यं तं श्रीकृष्णमनुष्य कालियस्य पत्न्य आर्त्ताः सत्य उपसेदुः। आर्तत्वे हेतुः—श्लथद्वसनेत्यादि ॥ ३१–३४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

गर्भंजगत इति भरातिशये उत्प्रेक्षा ॥ ३२-३४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तस्य शिरस्सु मध्ये यत् यत् मनुन्नमति तत्तदेव पदा पादप्रहारेण अनुनमयन् तस्मिन्नवसरे हृष्टैर्गन्धर्वादिवृ ष्यमाणैः पुष्पैः प्रपूजित इव प्रसन्नः सन् तेषामेव हितार्थं दुष्टन्तं दमयांबभूव ॥ २९ ॥ परममक्तामिस्तत्पत्नीभिः कृपाल्पं भक्तिबीजं पूर्वं गुप्तमपि पूर्वपूर्वापराधजनितक्रौर्य्यदोषव्याप्ते कालियस्य तदन्तःकरणे दुष्क्षेत्रे इव प्ररोढुमसमर्थमेवासीत् तदा तु श्रीचरणस्पर्शेन तत्कृतदण्ड-प्राप्त्या च तत्तद्दोषक्षये सति सहसैव तद्भक्तिबीजमङ्कुरितं बभूवेत्याह—स्मृत्वेति। मद्वैरिणो गरुडादप्यस्य परस्सहस्रगुणाधिकं बलं मयोपलब्धं तस्मान्मत्पत्नीभिरुपदिष्टभक्तिः कोऽयमेव परमेश्वर इति स्वीयस्मृतिगोचरीकृत्येत्यर्थः। चराचरगुरुमित्यसाधारणं बलन्दर्शयन्नहमेव परमेश्वर उपास्य इति मूढमपि मां ज्ञापयन् कृपया मच्छिरोर्ऽपितचरणो गुरुर्भवान् प्रसीदति तमिममहमिदानीं शरणं यामीति अरणं शरणम् ॥ ३० ॥ गर्भे जगन्ति यस्य तस्य अत एवाऽतिभरेण आद्यं श्रीकृष्णम् आर्त्ता इत्येतावत्कालपर्य्यन्तं याः पत्न्यावुदासीना एवासन् बहिर्मुखोऽयं भगवत्कृतदण्डेन म्रियते चेन्म्रियतां वयं विधवा एव भूत्वा भगवन्तं भजामेति यदा तु मनसा शरणं गतस्य पत्युर्दैन्यनिर्वेदविषादवितर्कमित्यादिसञ्चारिलक्षणं मुखाद्यङ्गेषु ददृशुस्तदैवाहो अस्मद्भाग्यवशादयं वैष्णवोऽभूत्तदस्य रक्षणे यतामह इति संहृतास्तास्तत्र जातस्नेहत्वादार्त्ताः श्रीमच्चरणसन्निधिमाजग्मुः ॥ ३१ ॥ तास्त प्रथमं प्रणेमुः—भुवीति। ह्रदस्य मध्ये केचित् द्वीपा वुद्ध्यंते यत्रैव स्थितः कृष्णः कालियवेष्टितो गोकुलजनैरदृश्यतेति ज्ञेयं पुरः कृष्णस्याग्रे कृता अर्भा बाला याभिस्ता इति कृपाजननार्थम् ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

रुषोच्चैर्निश्वसतस्तस्य शिरस्सु मध्ये यद्यच्छिरः समुन्नमति तत्तत्पदा पादमूलेनानुनमयन् एवं नृत्यन् इह नृत्यक्रीडायां पुराणः पुमान् श्रीकृष्णः पुष्पैः प्रपूजित इव प्रसन्नः सन् दमयांबभूव हितं कृतवानित्यन्वयः ॥ २९ ॥ सोऽपि मनसा तं श्रीकृष्णमरणं घरणं गृहं रक्षितारं मुक्तौ आश्रयं साधनसमये सहायमित्यर्थः जगाम ॥ ३० ॥ गर्भे जगन्ति अस्य अत एवातिभरेण अवसन्नमाक्रान्तम् पार्ष्णिप्रहारैः पादपृष्ठघातैः परितः रुग्णानि फणा एवातपत्राणि यस्य तमहिं दृष्ट्वा आद्यं श्रीकृष्णमुपसेदुरुपजग्मुः कथम्भूताः ? श्लथन्तो विस्रंसमानाः वसनादयो यासां ताः ॥ ३१ ॥ ताः नागपत्न्यः सुविग्नमनसः अतिविह्वलमनसः पुरस्कृता अग्रे कृताः अर्भा बालाः याभिस्ताः भर्तुः शमलस्य पापस्य मोक्षेप्सवः तं श्रीकृष्णं भूतपतिं प्राणिमात्रस्य पतिं शरणदमाश्रयदं शरणं प्रपन्नाः सन्तः प्रणेमुः, प्रणामप्रकारमाह, भुवि कायं निधाय दण्डवत्पातयित्वेति कृताञ्जलिपुटा इत्यनेन करादियुक्तानि शरीराण्यपि ताभिः प्रकटीकृतानीति गम्यते ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तस्य शिरःसु नृत्यन् कृष्णस्तेषु मध्ये यद् यत् समुन्नमति तत्तदेव पदाङ्घ्रिप्रहारेणानुनमयन् तदा गन्धर्वादिभिर्वृष्टैः पुष्पैः प्रपुजित इवाति प्रसन्नस्तेषां हिताय तं नागं दमयाम्बभूव ॥ २९ ॥ शेषदेवानुग्रहाद्वा तद्धरिभक्तिभ्यः स्वपत्नीभ्यः श्रुतोऽपि हरिमहिमा कालियस्य हृदि क्रौर्यादिदोषान्नोदितः अधुना तु तच्चरणस्पर्शेन तद्विमर्दनदण्डेन च तद्दोषपरिक्षयात्तत्र तदुदयो बभूवेत्याह—तच्चित्रेति। पत्नीभ्यः श्रुतं महिमानं स्मृत्वा विचिन्त्य तं पुरुषं अरणं शरणम् ॥ ३० ॥ अथ कालियस्य शरणापत्तेः प्राक् तत्पत्न्यो हरिविमुखोऽयं तत्कृतेन दण्डेन म्रियतां, वय वैधव्यदशयैव हरिं भजाम इति पत्यावप्युदासीनास्तस्थुरथ दैन्यादि-चिह्नैरिति तच्चरणापत्तिकास्तत्प्राणत्राणाय प्रपेदिरे इत्याह कृष्णस्येति गर्भे जगन्ति यस्य अत एवातिभरेणावसन्नं निपीडितमहिं स्वपतिं दृष्ट्वा आद्यं कृष्णमुपसेदुस्तच्चरणान्तिकमाजग्मुः ॥ ३१ ॥ पुरस्कृतार्भा इति दयोत्पादनाय भुवि कामं निधायेति ह्रदमध्ये कश्चिद्द्वीपो वुध्यते यत्रैव कालियो हरिमवेष्टयन् शमलस्य सापराधस्य ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अक्षिभिर्नयनैर्गरलमुद्वमतो रुषा चोच्चैरुच्छ्वसतः तिरस्सु मध्ये यद्यत्समुन्नमति प्रह्वं भवति नृत्यञ्च पदाऽनुनमयत्पुनर्नम्रं कुर्वन्नृत्यन्यदा बभूव तदा पुष्पैस्तद्वर्षणपुरःसरं स्तुतो बभूव। दमयाम्बभूवेत्यपि पठन्ति। तत्र पदद्वयं। नियतश्चानुप्रयोगः। पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान्पुराण इति केचित्पठन्ति। स्फुटार्थः पाठः ॥ २९ ॥ तस्य श्रीकृष्णस्य चित्रं यत्ताण्डवमनोनदद्यद्यभवो मृदङ्गं जगो हनूमाञ्जगतामधीशं। अदर्शयत्तालगतीः कपर्दी ननर्त गोपालकबालमौलिरित्यादेश्चित्रता ताण्डवस्य तेन विरुग्णं भग्नं फणारूपं वाऽऽतपत्रं यस्य स मुखैरुरु यथा रक्तं वमन्भग्नमितरद्गात्रं यस्य स चराचरगुरुं पुराणं पुरुषं नारायणं स्मृत्वा स एवायमिति सञ्चिन्त्य मनसाऽरणं शरणं दंशनादिरणाभावं च जगाम ॥ ३० ॥ गर्भं उदरमध्ये जगद्यस्य तस्यः यातिभरस्तेना-वसन्नं कृशं पार्ष्णैः पादपृष्ठभागस्य प्रहारैस्ताडनैः परिरुग्णं भग्नं फणातपत्रं यस्य तमहिराजं दृष्ट्वाऽमुष्य पत्न्यः श्लथद्वसनभूषण-केशबन्धाः सत्य आर्ता उपसेदुः ॥ ३१ ॥ विपन्नमनसो नम्रचित्ताः पुरस्कृतोऽर्ह्णसाधनं याभिस्ताः खिन्नमानसा वा भुवि तीरभूमौ स्थलादिस्थानमात्रे वा कायं निधाय दण्डवद्। कायं निधायेत्यनेन बिना न कायजबाधात्राध इति वध्वो ध्वनयामासुरिति

तच्चातुर्यं महदिति ज्ञेयं । भूतपतिं जगद्राजं कृताञ्जलिपुटाः परमस्य स्वोत्तमस्य भर्तुः कालियस्य मोक्षेच्छवो मोक्षमिच्छन्तीति तास्तथा । नलोकेति निषेधान्न षष्ठी । स्वपतिमोचनमिच्छन्त्यः परमस्य सकाशात्पत्युर्मोक्षेक्षव इति व्याख्याने भूतपतिरिति किञ्चिद्दुश्लिष्टं भवतीति वदन्ति । शरणदं शरणं प्रपन्नाः प्रणेमुर्नेमुः । भुवि शरणदमिति वाऽन्वयः ।। ३२ ।।

श्रीसुबोधिनी

पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः, आधिदैविकस्य दण्डमाह तस्याक्षिभिरिति, नासिकामुखाभ्यां रुधिरमेव विषप्रतिबन्धकं जातं, अक्ष्णोस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् प्रतिबन्धकं न जातमिति यदाक्षिभिर्गरलमुद्वमति तादृशस्य शिरसां मध्ये यद्यत् समुन्नमति तत्तदेव पदानुनमयन् दमयाम्बभूव, आधिदैविकभावान्नान्यपि कानिचिच्छिरांसि, तान्येव वा पुनरुद्गतानि, गरलं स्वस्योपास्यं रूपं, तदग्रे करोति, पश्चात् तस्मिन्नपि प्रतिहते निःश्वसिति नातः परं निस्तार इति, तादृशं क्षीणमपि चेन् मारयति भगवांस्तदा मरणार्थं रुषोच्चैर्भवति, सम्यगुन्नमतीत्यनेन देवताधिष्ठानं ज्ञापितं, आधिदैविके हि मरणार्थमुपस्थिते साक्षान्मारणमनुचितमिति नृत्यत्पदा नृत्यं कुर्वंतैव नृत्यकरणभूतेन पदा, अनुनमयन् स्वसम्मुखतया नम्रं कारयन् छिन्नयन्निव दमयाम्बभूव दमनं कारितवान्, स्वयमेव वा कृतवान्, एवं दमने कृत आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वल्लास्यं भवेत् तदा मर्यादाविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराण इति, इहास्मिन्नवसरे पुष्पैः सुपूजित इव जात आध्यात्मिको भगवता सन्मार्गे शिक्षित इति तयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां पूजितो भगवान्, तौ ह्यलौकिकप्रकारेण दिव्यैः स्वतेजोभिः पूजां कृतवन्तौ, तानि पुष्पाणीव जातानि, तदाह पुष्पैरिव सुपूजित इति, उभयोः पूजायां प्रत्येकं हेतुमाह पुरुष इति, आधिदैविकपूजायां हेतुः, त्रयमपि प्राकृतमेवेति पुराणस्तूपास्यः पुरुषोत्तमो हि सर्वोपास्यरूपाणामप्युपास्यो यथा व्यासकपिलादेः, एवं मूर्छापर्यन्तं दण्डं कृतवानद्भुतकर्मत्वान्नृत्येनाविलष्टकर्मत्वान्न मारितवान् ।। २९ ।। एवं सति भगवच्चरणारविन्दप्रसादात् तस्य ज्ञानभक्ती जाते इत्याह तच्चित्रेति, नन्वभिमाने विद्यमाने कथं ज्ञानम् ? तत्राह चित्रताण्डवेन विरुग्णा फणातपत्रं यस्येति, अभिमानस्य सूचकाः फणा एव श्वेतातपत्रस्थानीयाः, ते पुनर्विचित्रताण्डवेन विशेषेण भग्नाः, नृत्यं द्विविधं लास्यताण्डवभेदेन लास्यं स्त्रीनृत्यं पुरुषनृत्यं, तयोरवान्तरभेदाः शतशः सन्ति, रसाभिनिविष्टः पुरुषः प्रलये महादेव इव विचित्रताण्डवं करोति तद् भगवतात्र तच्छिन्नार्थं कृतं, तेन विशेषेण भग्नफणातपत्रो जातः, ननु शरीरदोषे विद्यमान आध्यात्मिके भौतिके च कथं ज्ञानभक्ती भवत इत्याह रक्तं मुखैरुरु वमन्निति, रुधिरमन्तर्दोषात्मकं, तद्वमनेनान्तर्दोषो गतः भगवत्ताडनाच्च बहिर्दोषोऽपि, अतो निर्दुष्टो नारायणं स्मृतवान्, आधिदैविके हि शेषे स्वसम्बन्धिनि स शेते, अत आधिदैविकेनोपास्यत्वेन नारायणं स्मृतवान्, उपास्येन च स एवायं नारायण इति ज्ञातवान्, तदा स्वस्य दासत्वमस्य स भगवतः स्वामित्वं चाप्यत्वेन ज्ञात्वा तमेवारणं शरणं मनसा जगाम, मनसा हि नारायणः शरणत्वेन भावनीयः स ह्यन्तःकरणसाक्षी. शरणं गतो हि पश्चात् सेवको भक्तो भवति, ततः परं न प्रहार इति ज्ञातव्यम् ।। ३० ।। अनेन स एवं जात इत्यन्येनैव तस्य विमोचनं वक्तुं तस्य स्त्रियः समागता इत्याह कृष्णस्येति, ता हि भर्तारं द्रष्टुमागताः पतिव्रता नार्यः, अतः स्वधर्मेणैव तासां ज्ञानं, कृष्णस्य भारेणावसन्नं पीडितं पार्ष्णिप्रहारेण च परितो भग्नं फणातपत्रं यस्य, एवं स्वतोभिमाना गतदोषममुष्यैव पत्न्यस्तं दृष्ट्वार्ताः सत्यो भगवन्तमुपसेदुरितिसम्बन्धः, ननु बालकस्य भगवतः को भारः तत्रापि सच्चिदानन्दस्य स्थूलकार्यस्येव भारत्वात् ? तत्राह गर्भं जगद्यस्येति, न ह्येकेन जगद्भारः सोढुं शक्यते, नन्वस्यैव भ्राता शेषः कथं सहते ? तत्रोक्तं परितो भग्नं फणातपत्रं यस्येति न केवलं भगवान् भाररूपः किन्तु मारयति च नन्वयस्य स्त्रियः कथं भगवत्स्थाने समागताः ? तत्राहाद्यमिति स ह्यादिः सर्वस्य मूलभूतो भवति, किञ्चामुष्य पत्न्यः "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इति यज्ञसंयोग एवासां पत्नीत्वं, अयं च भगवान् यज्ञः, तत्र पतिसंयुक्तः स्वयं चेदसंयुक्ताः स्युस्तदा पत्न्य एव न स्युः, किञ्चार्ताः पत्नीत्वादेव तस्यार्धशरीरं भवन्त्यतः स्वयमेव ताडिता इत्यर्थं विज्ञापयन्ति, नन्वन्यस्य मारणे कथमन्यो मारित इव पीडितो भवेत् ? शास्त्रं तूपचरितार्थमितिमतं दूरीकुर्वंस्तत्राधिकारे तन्नाशो भवतीति ताडितचिह्नान्याह श्लथन्ति वासनानि भूषणानि केशबन्धाश्च यासाम् ।। ३१ ।। आदिमध्यावसानेषु संयुक्तानां नामपगमस्ताडनव्यतिरेकेण न सम्भवति तत्रापि मानवतीनां तासां भर्तृमोचनार्थं भर्तरि दयोत्पादनार्थं भर्तुर्बालकत्वं ज्ञापयन्त्यो बालकान् पुरस्कृत्योपायनमिव स्वसर्वस्वं भर्तृस्थापितं निवेद्य स्वयमपि भूमौ जल एवोद्गताधिदैविकभूमौ तीरस्थभूमौ वा जलमध्ये प्रविष्टं भगवन्तं वारमनिवेदनमिव कुर्वन्त्यो नमस्कारं कृत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्याह तास्तमिति, नन्वागता एव स्तुतिं न प्रार्थितवत्यः ? तदाह विपन्नमनस इति, विपन्नं मनो यासां, भगवान् मोचयिष्यतीति गतविश्वासा भर्तुरपराधित्वात्, अतः प्रकारं परित्यज्याय भिन्नप्रकारेण स्तोत्रं कृतवत्यः, पुरस्कृता अर्भा बालका याभिः संयुक्ता तु सामग्री पूर्वमेव गतातो भूमौ कायं निधाय, नन्वेतादृगवस्थायां कथं पुरुषान्तरे पतिताः ? तत्राह भूतपतिमिति, स हि भूतमात्रस्य पतिः साधारणः, तद्भार्या एवानुगृहीताः स्युस्तत्राह साध्व्य इति, ता हि भर्तृरूपमेव भगवन्तं सेवितुं वाञ्छन्ति नान्यप्रकारेण, अतः कृताञ्जलिपुटाः अञ्जलिं बद्ध्वा देवताकृत्वाद् दिव्यस्त्रीरूपा भर्तुः शमलस्य पापस्यापराधस्य च मोक्षे मोक्षण इच्छा यासां तादृश्यः सत्यो भगवन्तं शरणद इति शरणं प्रपन्नाः, स तु शरणागत इति भगवतैव मारणीयस्तथापि तस्य पापं सहजं तमोरूपमपराधश्च न गच्छतीति स्येतासामुद्योगः ।। ३२ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तस्याक्षिभिरित्यत्र पुष्पैः सुपूजित इतिचतुर्थचरणस्याभास आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वेत्याधिदैविकः शेष उपास्यरूपो भगवांस्तस्येत्यर्थः, मर्यादाविरोध इत्याधिदैविकः सत्करणीय इतिमर्यादाविरोध, परिहारं व्याकुर्वन्त्याध्यात्मिक इत्याध्यात्मिको विषरूपः स भगवता शिक्षित ईदृशस्थल एवं न कर्तव्यमिति तयोराधिदैविकरूपविशेषरूपयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां तथेत्यर्थः, पुमानिति तस्याधिदैविककर्तृकपूजाहेतुत्वं तमधिष्ठाय स्थितत्वात् ज्ञातव्यं, ननु सोपि महांस्तमधिष्ठाय पुरुषः कथमास्ते तत्राहुस्त्रयमपि प्राकृतमिवेति, एकादशे द्वात्रिंशाध्याये "ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धिश्च गुणैर्विधत्ते वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यदि"त्यत्र तथा निरूपणात् त्रयमपि प्राकृतमिवातस्तदधिष्ठानमुचितमेवेत्यर्थः उपास्यस्येति पूज्य इतिशेषः ।। २९ ।। तच्चित्रताण्डवेत्यत्र ननु दोषराहित्येपि न महत्कृपां विना स्मरणं सम्भवतीति तामाहुराधिदैविकेत्यादि, आधिदैविकस्मरणे हेतुर्दोषराहित्यं, मूलस्थतत्पदानर्थक्यं परिहरन्त्युपास्येत्यादिना, अत्र तं पदमावर्तते, स्मृत्वेति प्रत्यभिज्ञाय, ननु नारायणापेक्षया पुरुषोत्तम उत्कृष्ट इति तं परित्यज्य किमेतच्छरणगमनमित्याशङ्क्य तमेव पुरुषोत्तमं ज्ञात्वा तथा कृतवानिति वदन्तो मूलस्थं चराचरेत्यादिविशेषणत्रयं व्याकुर्वन्ति तदेत्यादिना, तदा यदैव नारायणं ज्ञातवान् ।। ३० ।। कृष्णस्येत्यस्याभासे ननु तस्मिन् मनसा शरणागते सति भगवान् सर्वज्ञस्तं तदैव कुतो न मुक्तवानित्यत आहुरन्येनेत्यादि, अन्येनेत्याध्यात्मिकेन तस्योपास्येन विषेण सौभरिणा वा, तथा च यद्ययं स्वत एव तथा भवेत् तदा भगवांस्तदैवैनं त्यजेदयं त्वाध्यात्मिकबलेन तथा जात इत्यन्यप्रार्थनमपेक्षते "ये यथा मा" मितिप्रतिज्ञानात् तथेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तास्तमित्यस्याभासे भगवन्तं वेति लक्ष्यीकृत्येतिशेषः, अस्मिन् पक्षे हृदभूमिर्ज्ञातव्या, तासां तादृगवस्थां दृष्ट्वा कृपालुस्तल्लज्जास्थापनार्थं तत्सहित एव किञ्चिन्नीचैः प्रविष्ट इति तथा, अथशब्दव्यञ्जितोर्थोयमुक्तो ज्ञेयः, संयुक्ता सामग्री वनादिरूपा ।। ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मर्दनस्य देहक्लेशजनकत्वादाधिभौतिकस्य "ममर्दे"त्यनेन दण्ड उक्तः, "कश्मलमापे" त्यनेन मूर्छाया इन्द्रियसामर्थ्य-नाशकत्वान् तद्दण्ड आध्यात्मिकस्य, विषस्योपास्यदेवत्वादग्रिमश्लोकेनाधिदैविकस्य दण्ड उक्तः, तस्याक्षिभिरित्यत्र ज्ञानप्रधानत्वादिति तादृशे उपास्यदेवप्रतिबन्धकं नायातीत्यर्थः, विषस्याधिदैविकत्वेन तद्दमकशिरोनुनामनेपि विषस्य दण्डो न जात इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुराधिदैविकेति, विषस्य सततस्थित्या तद्रूपाण्येव कानिचिज् जातानीत्यर्थः, दमनं कारितवानिति इन्द्रियाणि दाम्यन्ति स चरणः तानि दमयाम्बभूव, तेन भगवान् दमयाम्बभूवेति णिजन्ताण्णिच्, तथा च तेन चरणेन प्रयोज्य-कर्त्रेन्द्रियाणां दमनं कारितवानित्यर्थः, तथा सति चरणकर्तृकं दमनमायाति, अत्र तु भगवत्कर्तृकमेवेन्द्रियाणां दमनरूपवत्त्वमभि-प्रेतमिति तावद्गौरवे प्रयोजनाभाव इति पक्षान्तरमाहुः स्वयमेवेति, अस्मिन् पक्षे नृत्यरसदा करणेन भगवानिन्द्रियाणि तच्छिरांसि तत्र यद्यन न नमते तत्तद् दमयाम्बभूवेत्यन्वयः, प्रथमपक्षे चरणस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमितिविशेषः, आधिदैविकस्येति विषभावा-पन्नस्य शिरस इत्यर्थः, उपास्यस्येति विषस्येत्यर्थः, अस्वारस्यमिति तत्कृतः शोभाभाव इत्यर्थः, शिरसामि मणितेजसा रक्तो-त्पलवत्स्थितेन शोभैव जाता विषेणापि स्वतेजसा नीलोत्पलवत्स्थितेन शोभैव जातेतिभावः, इयमेव पूजा ज्ञेया, त्रयमपीति आधिदैविकोपि प्राकृततुल्य इति प्रकृतिभर्तारं पुरुषं नाभिभवितुं शक्नोत्यतस्तत्र शोभाजनक एव भवति, पुरुषत्वेपि विषस्य नीलकण्ठे 'तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यं' मित्यनेनाभिभवस्योक्तत्वाद् विषेणाभिभवः शङ्क्येत पुरुषोत्तमे तदपि तथेत्यर्थः, श्लोकद्वय-महावाक्यार्थमुपसंहरन्ति एवमिति, मूर्छापर्यन्तमिति प्रकारः, दण्डदमनमित्यर्थः, एवं सतीति त्रयाणामपि दण्डे जाते सतीत्यर्थः ।२९। तच्चित्रेत्यत्र आधिदैविके हीति आधिदैविकानि शिरांसि शेषरूपाणि अतस्तत्पूजादर्शने शेषद्वारा नारायणस्मृतिः, हि यतस्तत्र मणिप्रभायाः स शेत इत्यर्थः, आधिदैविकेनेति स्वमणितेजसा तत्कृतपूजासम्पादनमुपकारो ज्ञेयः, उपास्येनेति उपकृत इतिशेषः, पुष्पायितत्वदर्शनेन "करपल्लवरोचिःसंलालित" स्मरणं, विषप्रभाया अपि पुष्पायितत्वेनायमेव नारायण इति ज्ञानमितिभावः, पुरुषत्वादाधिदैविकपूज्यत्वं नारायणत्वादुपास्यपूज्यत्वं चराचरगुरुत्वात् स्वस्य दासत्वं पुराणत्वात् तस्य स्वामित्वमेवं ज्ञानं भक्त्युपयोगित्वेन निरूपितं, आद्यत्वेनेति पुराणत्वेनेत्यर्थः, आधिदैविके हीत्यारभ्य ज्ञात्वेत्यन्तं ज्ञानविवरणं मनसा हीत्यारभ्य भवतीत्यन्तं भक्तिविवरणमिति ज्ञेयं, अन्येनेति आधिदैविकेन उपास्येन च प्रपन्नो जातः, नतु स्वतः, अतः परिकरेण स्तुत्या मोचनं, न तु स्वस्य शरणागतिमात्रेण, स्वतः प्रपत्तौ तु शरणागतिमात्रेणैव मोचनं स्यादित्यर्थः ॥ ३० ॥ कृष्णस्येत्यत्र स्वत इति देहत इत्यर्थः ।। ३१ ।। अग्रे मानवतीनामिति पातिव्रत्याभिमानेन शरीरे अभिमानवतीनामित्यर्थः, तथा च पत्नीपदस्यार्थोयं, तादृशीनां स्वभावत एवं न सम्भवतीतिभावः, अग्रिमश्लोकमाहुः भर्तृमोचनार्थमिति तीरस्थभूमौ वेति नमस्कारं कृत्वे-त्यग्रिमेणैतस्यान्वयः, पक्षान्तरमाहुः अन्तरिति, एतादृशं भगवन्तं वा, प्रणम्येतिशेषः, प्रणम्य भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्यन्वयः, जले भूम्युद्गमस्यानुक्तत्वाद् द्वितीयः पक्षः, तीरेपि नन्दादिस्थित्या तथा न सम्भवतीति तृतीयः पक्षः, व्याख्यानान्ते स त्विति तुशब्दः मारणीय इत्यस्यानन्तरमन्वेति, मारणीयस्तु न परं पापापराधनिवृत्तिर्न भविष्यतीत्यर्थः, पापापराधयोर्निवारणमेव मोचनमिति 'कृष्णस्ये' त्यस्याभासेन न विरोधः ।। ३२ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तथापि रुषा उच्चैः निःश्वसतः श्वासान् विमुञ्चतः अक्षिभिर्गरलं विषमुद्वमतस्तस्य कालियस्य शिरःसु यद्यच्छिरः समुन्नमति उच्चीभवति, तत्तत् नृत्यन् पदा पादाघातेन अनुनमयन् प्रह्वीकुर्वन् भगवान् दमयाम्बभूव, दमनं चकारेत्यर्थः। इह अस्मिन्नवसरे पुमान् पुराणः शेषासनः श्रीनारायण इव श्रीकृष्णोऽपि हृष्टैर्गन्धर्वादिभिः पुष्पैः प्रपूजितो जातः। यद्वाऽस्मिन्नवसरे पुमान् पुराणः श्रीकृष्णः कालियेन पुष्पैः प्रपुजित इव प्रसन्नो लक्षितः, तत्प्रसन्नतां विना तत्पादस्पर्शस्य अतिदुर्लभत्वात् ॥ २९ ॥ "एवं भगवच्चरणसम्बन्धेन अन्तर्दोषस्य क्षीणत्वात् तत्स्मरणेन तं शरणं जगाम" इत्याह तच्चित्रेति। नृत्यं हि द्विविधम्, लास्यताण्डवभेदात्। तत्र स्त्रीकृतं लास्यम्, पुरुषकर्तृकं ताण्डवम्। 'स्वाम्यपराधीदण्ड्य' इत्यपि राजवृत्तं त्वया ज्ञायते एव, इत्याशयेन सम्बोधयति-नृपेति। तस्य श्रीकृष्णस्य चित्रेण लौकिकेन ताण्डवेन विशेषतो रुग्णानि सञ्जातव्रणानि फणातपत्राणि यस्य सः। 'विरुग्णफणासहस्र' इति पाठान्तरम्। तत्प्रथ्यमानवपुषा च भग्नानि गात्राणि यस्य सः। मुखैरुरु रक्तं बहु रुधिरं वमन् उद्गिरन् श्रीनारायणं स्मृत्वा ज्ञात्वा मनसा तमेव अरणं शरणं जगामेत्यन्वयः। तस्य शरणयोग्यतामाह – चराचरगुरुमिति। ब्रह्मादिपूज्यम्। तत्र हेतुमाह-पुरुषमिति। अन्तर्यामिणमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—पुराणमिति। सर्वकारणमित्यर्थः ॥ ३० ॥ भगवच्छरणागमनेन तत्पत्नीनामपि तद्विमोचनप्रयत्नो जातस्तमाह—कृष्णस्येति। गर्भे जगन्ति ब्रह्माण्डानि यस्य तस्य कृष्णस्यातिभरेण अवसन्नमाक्रान्तं तस्यैव पार्ष्णिः पादपृष्ठं तत्प्रहारेण परिरुग्णफणातपत्रं चाहिं दृष्ट्वा अमुष्य पत्न्यः आर्ताः, अत एव श्लथन्तो विस्रंसमाना वसनादयो यासां ताः आद्यं श्रीकृष्णमुपसेदुः तत्समीपं जग्मुः ॥ ३१ ॥ अथानन्तरं ता नागपत्न्योऽपि तं श्रीकृष्णं शरणं प्रपन्नाः कृताञ्जलिपुटाश्च सत्यो भुवि जलादधस्तात् तस्मिन् स्थाने कायं निधाय दण्डवच्छरीरं निपात्य प्रणेमुरित्यन्वयः। तत्र प्रयोजनं सूचयन्नाह-भर्तुर्यच्छमलमपराधस्तस्मात् मोक्षे ईप्सा इच्छा यासां तादृश्यः, अतएव तदपराधा स्वयमपि सुविग्नमनसो विह्वलितचित्ताः। तत्र हेतुमाह—साध्व्य इति, पतिव्रता इत्यर्थः। भगवतो दयोत्पादनार्थं पुरोऽग्रे कृता अर्भा बाला याभिस्ताः। ननु "देवतान्तरं विहाय तमेव कुतः शरणं गताः?" तत्राह—शरणदमिति, आश्रयप्रदमित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—भूतपतिमिति, सर्वपालकमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्येति ॥ रुषा उच्चैः निःश्वसतः श्वासान् विमुञ्चतः अक्षिभिर्गरलं विषमुद्वमतस्तस्य कालियस्य शिरःसु यद्यच्छिरः समुन्नमति उच्चीभवति तत्तत् नृत्यन् पदा पादाघातेनानुनमयन् प्रह्वीकुर्वन् भगवान् दमयांबभूव दमनं चकार। इहास्मिन्नवसरे पुराणः पुमान् हरिः कालियेन पुष्पैः प्रपूजित इव लक्षितः। यद्वा। इहास्मिन्नवसरे हृष्टैर्गन्धर्वादिभिः शेषासनः पुराणपुरुष इव यशोदानन्दनः प्रपूजितः। यद्वा। तदा गन्धर्वादिभिः पुष्पैः प्रपूजितो गोपैः पुराणः पुमानिव दृष्टः। यद्वा। पुष्पैः प्रपुजित इव प्रसन्नः सन् दमयांबभूव दण्डव्याजेन हितं कृतवान् ॥ २९ ॥ तच्चित्रेति ॥ हे नृप! तस्य श्रीकृष्णस्य चित्रेणालौकिकेन ताण्डवेन विशेषतो रुग्णानि संजातव्रणानि फणातपत्राणि यस्य सः विरुग्णफणासहस्र इति पाठान्तरम्। तत्प्रथ्यमानवपुषा च भग्नानि गात्राणि यस्य सः मुखैः रक्तं बहु रुधिरं वमन् उद्गिरन् बलातिरेकेण कृष्णचरणस्पर्शमहिम्ना जातज्ञानतया वा चराचरगुरुं पुराणं पुरुषं श्रीनारायणं स्मृत्वा ज्ञात्वा मनसा तमेव अरणं शरणं जगाम ॥ ३० ॥ कृष्णस्येति ॥ गर्भे जगन्ति ब्रह्माण्डानि यस्य तस्य कृष्णस्यातिभरेण अवसन्नमाक्रान्तम् तस्यैव पार्ष्णिः पादपृष्ठं तत्प्रहारेण परिरुग्णफणातपत्रं चाहिं दृष्ट्वाऽमुष्य पत्न्यः आर्ताः अत एव श्लथन्तो विस्रंसमाना वसानादयो यासां ताः आद्यं श्रीकृष्णम् उपसेदुः तत्समीपं जग्मुः ॥ ३१ ॥ ता इति ॥ अथानन्तरं भर्तुर्यच्छमलमपराधस्तस्मात् मोक्षेप्सवः क्षमामिच्छन्त्यः अत एव तदपराधात् स्वयमपि सुविग्नमनसो विह्वलितचित्ताः साध्व्यः पतिव्रताः भगवतो दयोत्पादनार्थं पुरोऽग्रे कृता अर्भाः बाला याभिस्ताः नागपत्न्योऽपि शरणदमाश्रयप्रदं भूतानां पतिं पालकं श्रीकृष्णं शरण प्रपन्नाः कृताञ्जलिपुटाश्च सत्यो भुवि जलादधस्तात्तस्मिन्स्थाने तीरे वा कायं निधाय दण्डवच्छरीरं निपात्य प्रणेमुः। कृताञ्जलित्वमिच्छारूपधारणसामर्थ्यात् अत्र ह्रदस्य मध्ये कश्चिद्द्वीपो बुद्ध्यते यत्रैव स्थितः कृष्णः कालियवेष्टितो गोपैरदृश्यतेति ज्ञेयमिति चक्रवर्ती ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अक्षिभिर्नेत्रैर्गरलं विषमुद्वमतः भूयो रुषोच्चैः निःश्वसतः श्वासोच्छासं कुर्वतः मस्तकेषु मध्ये यद्यच्छिरः समुन्नमति उत्तुंगं भवति तत्तच्छिरः हरिर्नृत्यन् सन् पदा पादताडनेन अनुनमयन् अधः कुर्वन् सन् इह अस्मिन्समये प्रसन्नैर्गोपैः पुष्पैः सुपूजित इव प्रसन्नः सन् दमयांबभूव ॥ २९ ॥ तच्चित्रतांडवविरुग्णफणा हे नृप तस्य चित्रं तांडवनृत्यं तेन विरुग्णानि छिन्नानि फणारूपाणि आतपत्राणि यस्य उरु बहुरक्तं रुधिरं वमन् नारायणरूप अरणं रक्षकं प्राप ॥ ३० ॥ गर्भे जगत् यस्य तस्य अतिभरेणावसन्नं पीडितं पादपृष्ठप्रहारेण परिरुग्णं फणातपत्रं अहिं स्वपतिं दृष्ट्वा अमुष्य सर्प्पस्य पत्न्यः आद्यं श्रीकृष्णं श्लथंतो विस्रंसमाना वस्त्रादयो यासां ताः ॥ ३१ ॥ सुविग्नं भर्तुर्मरणं शंकाभीतं मनो यासां ताः अग्रे कृतबालकाः भगवतो दंशादिपीडाजनकतया पापिष्ठस्य भर्तुः स्वपतेर्मोचनमिच्छवः शरणदं आश्रयपदं भूतपतिं तं शरणं रक्षकं समीपं प्राप्ताः सत्यः भुवि कायं निधाय प्रणेमुः ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तस्येति ॥ अक्षिभिर्नेत्रैः, गरलं विषं, उद्वमतः उद्गिरतः, रुषा क्रोधेन, उच्चैः निश्वसतः श्वासं मुञ्चतः, तस्य कालियस्य शिरस्सु मध्ये यद्यत् शिरः कर्त्तृ समुन्नमति उद्धतं भवति तत्तच्छिरः पदा पादमूलेन, अनुनमयन् नृत्यन्, कृष्णः पुष्पैः पुष्पवर्षैः प्रपूजितः सन्, गन्धर्वादिभिरिति कर्त्तृपदाध्याहारः। इह तस्मिन्नवसरे, पुराणः पुमान् इव स्वयं शेषासनो भगवान् इव संलक्ष्यमाणः सन्नित्यर्थः। तं दमयांबभूव दण्डयामासेत्यर्थः ॥२९॥ तदिति ॥ तस्य भगवतश्चित्रमुद्भुटं यत्ताण्डवं नृत्यं तेन विरुग्ण नितरां परिरुग्णं फणातपत्रं फणारूपच्छत्रं यस्य सः, कालियः हे नृप, भग्नानि गात्राणि यस्य स तथाभूतः सन् मुखैः रक्तं रुधिरं, उरु वमन्नधिकमुद्गिरन् संभ्र, तदा तं श्रीकृष्णं, चराचरगुरुं, पुराण. पुरुषं नारायणं स्मृत्वा, मनसा तमेव, अरणं शरणं, जगाम ॥ ३० ॥ कृष्णस्येति ॥ गर्भे जगद्यस्य तस्य कृष्णस्य अतिभरोऽत्यन्तभारस्तेनावसन्नः पीडितस्तं यः पार्ष्णिः पादपृष्ठभागस्तेन यः प्रहारस्तेन परिरुग्णं फणातपत्रं यस्य तं अहिं कालियं दृष्ट्वा, अनुष्य कालियस्य, पत्न्यः श्लथन्तः स्रंसमानाः वसनानि च भूषणानि आभरणानि च केशबन्धाश्च ते यासां ताः, आर्त्ता दुःखिताः सत्यः, आद्यं श्रीकृष्णं, उपसेदुः संप्रापुः ॥ ३१ ॥ ता इति ॥ ताः कालियपत्न्यः, सु नितरां विग्नानि भीतानि मनांसि यासां ताः अत एव पुरस्कृताः पुरो निधापिता अर्भा बाला याभिस्तथाभूताः सत्यः, भुवि भूमौ, कायान् देहान्, निधाय दण्डवत्पातयित्वा भूतपतिं अपराधानवेक्षणेन शरणागतभूतमात्ररक्षितारं, तं श्रीकृष्णं, प्रणेमुर्नमश्चक्रुः। अथ ततः साध्व्यः पतिव्रताः शमलस्य पाप्मनः भर्त्तृ विभ्रतः, मोक्षेप्सवः भर्त्तुः शमलस्य मोक्षेप्सव इति वा। कृताञ्जलिपुटाः विहिताञ्जलयः सत्यः शरणदमापद्भ्यो रक्षणकारकं भगवन्तं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नारायणमिति : १०.१६.३०.

> जडजात—जनावनात्तदीक्षः स हि योऽस्मिन्भुवने जलायनः स्यात्।
> इति युक्तिमहिः स पीडिताङ्गो हृदि नारायणचिन्तकस्तदाऽऽसीत् ॥ ६५ ॥

पत्न्य इति : १०.१६.३१.

> यो मत्पदं शरणमेति रिपोरपि स्यां श्रेयःप्रदोऽस्य भुवनेषु कयाऽपि गत्या।
> संव्यञ्जयन्निति हरिः शरणागताहिसौख्याय तस्य युवतीः कृतवान् स मध्ये ॥ ६६ ॥

पुरस्कृतार्भा इति : १०.१६.३२.

> बाले तथा द्रुतनुदेति दया दयालोर्वृद्धे तथा न तरुणे न च वाञ्चलासु।
> इत्थं विचिन्त्य मनसाऽखिलनागपत्न्यः श्रीशं ययुः किमु पुरस्कृतनूलपोनाः ॥ ६७ ॥

कृष्णप्रिया

अतिशय रोष से ऊँचे निश्वास को लेता और अपने नेत्रों से भयानक विषको उगलता हुआ कालीयनाग अपने सौ मस्तकों में से जिस-जिस मस्तक को उठाता है उसी मस्तक को नृत्य करते हुए भगवान् ने अपने पादप्रहार से दवाकर सर्प का दमन किया। तव ऐसा दृश्य दृष्टि पथ हुआ कि गन्धर्वादि लोगों ने पुष्पों से भगवान के श्रीचरणों का अर्चन किया हो ॥ २९ ॥ राजन् परीक्षित्! भगवान् श्रीकृष्णजी के इस चित्र ताण्डव नृत्य से जिस कालीय नाग के फणरूप छत्र टूट पड़े वह कालीय नाग अपने मुखों से रुधिर को उगलता हुआ भग्नगात्र हो गया तव कालीय नाग ने जाना कि यह श्रीकृष्ण भगवान स्थावर जंगम के गुरु हैं, पुराण पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं एवं भगवान नारायण हैं अव मुझे इनकी शरण लेनी चाहिए। यह निश्चय कर मन से प्रभु का शरणागत वन गया ॥ ३० ॥ समस्त जगत को उदर में रखने वाले भगवान श्रीकृष्ण के अतिशय भार से मृतप्राय भगवान की एड़ी के प्रहार से टूटे हुए फणरूप छत्र वाले कालीय नाग को देख, शिथिल वस्त्र, शिथिल आभूषण और विखरे केशों से शोभारहित वनी हुई कालीय नाग की पत्नियाँ आर्तावस्था को प्राप्त कर भगवान के श्रीचरणों के शरण में आ गयी ॥ ३१ ॥ पुनः अत्यंत दुःखित मन वाली वे कालीय नाग की पतिव्रता पत्नियाँ, निजपति कालीय नाग को पाप एवं अपराध से मुक्त कराने की इच्छा से अपने छोटे-छोटे बालकों को आगे कर शरणागत वत्सल शरणद श्रीकृष्ण प्रभु के शरण में आयीं और दोनों हाथ जोड़ अपने शरीर को जमीन पर दण्ड की तरह गिराकर के भगवान् को प्रणाम करने लगी ॥ ३२ ॥

नागपत्न्य ऊचुः

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन्[1] ॥ ३३ ॥
अनुग्रहोऽयं[2] भवतः कृतो हि नो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥
तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः[3] ॥ ३५ ॥
कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽऽचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृतकिल्बिषे अस्मिन् दण्डः न्याय्यः हि रिपोः सुतानाम् अपि तुल्यदृष्टेः तव अवतारः खलनिग्रहाय फलम् एव अनुशंसन् दमं धत्से ॥ ३३ ॥ भवता नः अयं दण्डः अनुग्रहः कल्मषापहः खलु यत् अमुष्य देहिनः दन्दशूकत्वं ते क्रोधः अपि अनुग्रहः एव सम्मतः ॥ ३४ ॥ निरस्तमानेन मानदेन च अनेन पूर्वं किं तपः सुतप्तं सर्वजनानुकम्पया धर्मः अथ वा यतः सर्वजीवः भवान् तुष्यति ॥ ३५ ॥ देव अस्य तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः कस्य अनुभावः न विद्महे यद्वाञ्छया ललना श्रीः कामान् विहाय धृतव्रता सुचिरं तपः आचरत् ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रथमं तावत्कुपितं भगवंतं दंडानुमोदनेनोपशमयंत्यः स्तुवंति । न्याय्यो हीति ।

तत्र "दंडानुमोदनं षड्भिर्दशभिश्च हरेर्नतिः । प्रार्थनं पंचभिः श्लोकैस्ततः पन्नगयोषिताम्" ॥ १ ॥
न च निग्रहानुग्रहलक्षणं वैषम्यं तवास्तीत्याहुः । धत्से दममिति । अनुशंसन्नालोचयन् ॥ ३३ ॥ निग्रहोऽप्यनुग्रहायेत्युक्तमिदानीमनुग्रह एवायं न निग्रह इत्याहुः । अनुग्रह इति । नोऽस्माकं यस्मादमुष्य सर्पत्वं दृश्यतेऽतस्तन्मूलपापनिवर्तको दंडोऽनुग्रह एव क्रोधत्वेन प्रतीयमानोऽपीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ महांश्चायमनुग्रह इति । तस्य पूर्वंपुण्यमभिनंदंति । तप इति । स्वयं मानरहितेनान्येभ्यो मानदेन च । सर्वं जीरयतीति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥ न तप आदिनिमित्त एवैष भाग्योदयः किं त्वचिंत्यं तव कृपावैभवमित्याहुः कस्यानुभाव इति श्लोकत्रयेण । तप आदिना ब्रह्मादयोऽपि यस्याः श्रियः प्रसादमिच्छंन्ति स श्रीर्ललना उत्तमा स्त्री यस्य त्वदंघ्रिस्पर्शाधिकारस्य वांछया तप आचरत् । अस्य सर्पस्य । किं कृत इति को वेत्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कुपितानुनयकोविदा नागांगना आहुः । दंडानुमोदनम् दंडप्रशंसा षड्भिः श्लोकैर्षट्त्रिशदंतैः, ततो दशभिरष्टचत्वारिंशदंतैः ततः पंचभिस्त्रिपंचाशदंतैः । पन्नगयोषिताम् सर्पस्त्रीणाम् (१) न्यायादनपेतो न्याय्य उचितः । अस्मिन् सर्पे । निग्रहानुग्रहकर्तृत्वेन किमहं विषमस्तत्राहुः—न चेति । रिपोः सुतानामिति षष्ठ्यौ सप्तम्यर्थे । रिपौ सुतेषु चेत्यर्थः । दमम् दंडम्, खलोऽयं दंड्य इत्यालोचयन्निति भावः । 'फलम्' इति पाठे तु अपराधानुरूपं फलं विचारयन्नित्यर्थः । यद्वा–रिपोः सुतानां रिपुसुतेषु [illegible] स्वसुतेषु, च तुल्यदृष्टेः रिपोरपि पुत्रस्य प्रह्लादस्य शिष्टस्य पालनदर्शनात्स्वस्यापि सुतस्य नरकासुरस्य वधदर्शनाच्चेति भावः । न च खलनिग्रहेऽपि नैर्घृण्यमित्याहुः—धत्स इति । खलत्वहेतुकनानानरकदुःखोपशमपूर्वकनित्यसुखमयमोक्षलक्षणं फलमेव [illegible] मयेत्यनुशंसन्कथयन्नेव दमं दंडं धत्स इति ॥ ३३ ॥ पूर्वं निग्रहदृष्टिरस्माकं प्रमादोऽतः क्षम्यतामित्याहुः—निग्रहोऽपीति । [illegible] असद्योनिप्राप्तानाम् । यस्मात् पापात् । अमुष्य अस्मत्पतेः । दंदशूकत्वम् । तन्मूलपापनिवर्त्तकः सर्पयोनिकारणीभूताघनिवर्त्तको दंडः [illegible] पापनिवर्त्तकत्वादनुग्रह एवेति संबंधः । इत्यर्थ इति । 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः' इत्युक्तिमाश्रित्य लोकदृष्टौ निग्रहोऽपि [illegible] नुग्रह एवेति भावः ॥ ३४ ॥ अहो अस्य भाग्यमित्याहुः—महांश्चेति । अनेन सर्पेण । पूर्वम् पूर्वजन्मनि । यतस्तप आदेः । सर्वजीवः सर्वात्मा ॥ ३५ ॥ नहि तपआदिभिस्तव पादधृतिर्मस्तके जायतेऽत्यंतकृपामृत इत्याहुः—न तप इति । कस्य तपआदेः कर्मणः अनुभावः प्रभावः । सोंघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः । किं कृतः केन कृतः । इत्यर्थं इति । न कोपीति भावः ॥ ३६ ॥

---

१. धंर्स्य–विज. ; धर्ममेवानुशंसन्–च पु टी. । २. भवता–वीर. विज. । ३. सर्वजीवनः–वीर. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अस्मिन् दण्डो न्याय्य एव; तत्र हेतुः, कृतानि किल्बिषाणि गरुडे श्रीयमुनावृन्दावनयोस्तज्जीवसमूहे श्रीभगवति च अपराधा येन तादृशे यस्तवावतारः प्राकट्यमात्रं खलानां साधुद्रोहिणां निग्रहाय भवति एवं साधूनामनुग्रहाय चेति सूचितम् अन्यथा तु न निग्रहो न चानुग्रह इत्याह—रिपोरिति। रिपूणां सुतानां च सम्बन्धे च तुल्या दृष्टिर्यस्य तादृशस्य न च खलनिग्रहेऽपि नैर्घृण्यमित्याह—धत्स इति। फलं नानानरकादि दुःखहेतुत्वखलत्वोपशमपूर्वकं नित्यसुखदानलक्षणम्॥ ३३॥ हि निश्चितं नोऽस्मान् प्रतिदण्डो दण्डत्वेन दृश्यमानोऽप्ययमनुग्रह एव भवता कृतः यतस्ते त्वया कृतः सोऽमसतां कल्मषापह एव स्यात् यद्यस्मात् कल्मषादमुष्य देहिनः कर्मभिर्नानादेहं प्राप्नुवतः सम्प्रति दन्दशूकत्वं जातं कृते त्वनुगृहे निरन्तरभवदावेशेन जीवन-मुक्तत्वात् दन्दशूकत्वाभास एव स्थास्यतीत्यर्थः। तस्मात् क्रोधोपीत्यादि। यद्वा, असतां कल्मषापहोऽपि ते त्वया दण्डो नो कृतो कृतः यद्यस्मात् अमुष्य सर्पत्वं सर्पशरीरं तत्खलु अनुग्रहे निमित्ते त्वया सम्मतमेव तथा क्रोधो जातिस्वभावोऽपि अनुग्रहे निमित्त एव त्वया सम्मतः अङ्गीकृतः स्वक्रीडायै योजित इत्यर्थः। भोगपरिवेष्टनस्वीकारात् तथा फणेषु क्रोधेनोन्नम्यमानेषु परमहर्षेण नृत्याचरणाच्च॥ ३४॥ तपः कृच्छ्रादि सुष्ठु तप्तं कृतं सौष्ठवमेव दर्शयति—निरस्तेति विशेषणद्वयेन। तेन चैच्छिकेन तस्य सन्तोषमसम्भाव्य पक्षान्तरमाहुर्धर्म इति, स्वधर्मो नित्यः कृत इति शेषः। एवं स्वरूपेण सामर्थ्यमुक्त्वा विशेषणेनाप्याहुः—सर्वजनानुकम्पयेति। अनुकम्पा सर्वात्मना हिताचरणं तत्पूर्वकं इत्यर्थः। पूर्वमिति एतज्जन्मनि तत्तदसम्भवात् यतो याभ्यां तपोधर्माभ्यां त्वत्सन्तोषार्थं कृताभ्यामिति गम्यं सर्वे जीवा यस्येति जीवेषु सर्वेषु समानाद्यभावेन सम्माननानुकम्पनादिना च तव तत्प्रभोस्तोष-सिद्धेः॥ ३५॥ तव श्रीगोकुलेश्वररूपस्याङ्घ्रिरेणूनां स्पर्शः तत्राधिकारः अस्यापराधिनः कालियस्य कतमस्य कारणस्यानुभावः फलं तत्र विद्मः तत्र हेतुर्यदिति तादृशतप आदिप्रसाद्या श्रीरपि ललना परमसुकोमलाऽपि यद्वाञ्छया कामान् त्वद्विधपरमघव-सङ्गमयतत्तद्भोगान् विहाय धृतव्रता बद्धनियमा सती तप आचरदेव न तु तं प्रापेत्यर्थः। प्राप्तौ सत्यां "कस्यानुभावोऽस्य न देव ! विद्महे" इति नोच्यतेति भावः। तच्च युक्तमेवेति सम्बोधयन्ति—देव हे अद्भुतानन्तमहिम्ना द्योतमान ! इति। एतदुक्तं भवति श्रीरियं वैकुण्ठेश्वरादिप्रेयसीरूपा न तु गोपरामारूपा रेखादिरूपा च 'गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः" इति तदुक्तेस्तस्मिन्नेव पर्यवसानात् सूक्ष्मस्वर्णरेखारूपेण तद्धामवक्षो भागे स्थितत्वाच्च तपोऽत्र स्त्रीत्वात् स्वपत्याराधनम् अत एव पूर्वत उत्कृष्टत्वं श्रीकृष्णस्य तेन सहैकात्म्यप्रज्ञानात्तथापि सौन्दर्यादिवैशिष्ट्येन लोभविशेषात् तद्वाञ्छात्वं च युक्तमिति श्रीत्वेन सर्वासां तासामैकात्म्ये सत्यप्यन्यतमाया अभिलाषः प्रादुर्भावभेदेनाभिमानभेदात् यथा वैकुण्ठनाथादिसङ्गिनीष्वपि तत्तल्लक्ष्मीषु सीतादीनां श्रीरामविरहाद्यं श्रूयत इति तस्याश्च तप आदिना त्रिकालमप्राप्तिरेव विवक्षिता अप्राप्तिकारणं च गोपीवत्तदनन्यत्वाभाव एवेति च यद्यपि तासां परमतद्भक्तानां सङ्ग एव श्रीवृन्दावनान्तर्यमुनावास एव च हेतुरस्ति तथापि स्वावमाननात् तद्दासस्य च तद्रजः-स्पर्शमयत्वेन फलान्तःपातात् तदप्रस्ताव इति ज्ञेयम्॥ ३६॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कृतं किल्बिषमपराधो येन तस्मिन्। न्याय्यत्वे हेतुः, तवेत्यादि। यद्यपि तत्त्वतः प्रेमभक्तिविस्तारणायावतारस्तथापि खलनिग्रहे सत्येव तत् सम्पद्यत इत्याशयेन, किंवा दण्डप्रसंगानुसारेण खलनिग्रहायेत्युक्तं फलं हितमेवालोचयन्, अतो वैषम्यं किञ्चित्तत्र कुत्रापि न भजसीत्याहुः—रिपोरिति षष्ठी सप्तम्यर्थे दुःखभावेन द्वेष्टरि साधुत्वेन सुतवत् स्नेहविषयेष्वपि तुल्यदृष्टिः सन्, अन्यथा तत्तद्धितासिद्धिः, यद्वा, रिपोः सुतानामपि कृतकिल्बिषाणां सतां दमं धत्से। कथम् ? तुल्यदृष्टिः सन् रिपौ सुतेष्वपि साम्येनेत्यर्थः। रिपोरित्येकत्वं जात्यपेक्षया। षष्ठ्यन्तपाठे परमेश्वरत्वेन तत्र तत्र तुल्यदृष्टिरपि तव। अन्यत्तथैव। अयमेव पाठस्तेषां सम्मतः। धत्से दममिति धारणादन्यथा विशेषणत्वेन वर्त्तमानस्य रिपोरित्यादेः सर्व्वस्यापि धार्य्यत्वेन रिपोरिति लिखनोपपत्तिः, यद्वा, फलमेवेति लेख्ये लेखकभ्रमात् धत्से दममिति फलमेवेत्यादिनैव वैषम्यपरिहार-सिद्धेः। एवं प्रथमान्तपाठ-स्तेषामपि सम्मतः स्यात्। तत्र यद्यप्यत्रानुग्रहप्रसंगो नास्ति, तथापि निग्रहानुग्रहलक्षणमिति व्याख्या सुतेष्वनुग्रहसम्भावनया, किंवा तुल्यदृष्टित्वादिनानुग्रहस्यापि सूचनादिति, अथवा दण्डस्य न्याय्यत्वे हेतुः—कृतेति, विशेषतश्चातिदुष्टे तवायं दण्डो योग्य एवेत्याहुः—तवेति, दमं खलानां धत्से। प्रथमान्तपाठे दमस्य साम्ये तात्पर्य्यम्। ननु तर्हि सर्वत्र गीयमानं परमदयालुत्वं नाम कथं सिध्येत् ? तत्राहुः—फलमेवेति हितार्थमेव तदाचरणादित्यर्थः। अन्यत् समानम्॥ ३३॥ नोऽसतामिति पुंस्त्वेन निर्देशः कालियादिसंग्रहात्। हि यतः खलु निश्चितं देहिनो विचित्रं देहं प्राप्नुवतोऽपि। एवन्शब्देन कथञ्चिदपि न निग्रह इति बोध्यते। सम्यङ्मतोऽस्माभिर्विद्वद्भिर्वा। अन्यत्तैर्व्याख्यानम्। यद्वा, नोऽस्मान् प्रति, यतो दण्डोऽसतां सर्वेषां कल्कषापहो दुर्वासनोन्मूलकः। तच्चेदं साक्षादनुभूयत इत्याहुः—देहाभिमानिनोऽप्यमुष्य महापराधिनोऽप्यस्य सर्पत्वस्य यदपसरणं दृश्यत भवतीति वा शरणापत्त्या सद्बुद्ध्युत्पत्तेरतो दण्डहेतुः क्रोधोऽप्यनुग्रह एवेति सम्मतः, यद्वा, असतां कल्माषपहोऽपि ते त्वया दण्डो न कृतः, यद्यस्मादमुष्य सर्पत्वं शरीरमित्यर्थः। तथास्य क्रोधो जातिस्वभावोऽनुग्रहे निमित्त एव त्वया सम्मतः, भोगपरिवेष्टन-स्वीकारात्, तथा फणेषु क्रोधेनोन्नम्यमानेषु परमहर्षेण नृत्याचरणाच्च॥ ३४॥ तपः स्वधर्माचरणं कृच्छ्रादिकं वा, सुष्ठु तप्तं

कृतम्। सौष्ठवमेव दर्शयति, निरस्तेति, विशेषणद्वयेन मदमात्सर्य्यादि क्रूरस्वभावकस्य तपसस्तत्तदभावेन सुष्ठुत्वम्। तेन च तत्र सन्तोषमसम्भाव्य पक्षान्तरमाहुः, धर्म इति, कृत इति शेषः, सर्वजनानुकम्पयेति सर्वजीवेष्वहिंसा-लक्षणो हिताचरणलक्षणश्चेत्यर्थः। पूर्वमित्येतज्जन्मनि तत्तदसम्भवान्, यतस्तप-आदेः सर्वे जीवा यस्येति जीवेषु सर्वेषु मान-मात्सर्य्य-हिंसाद्यभावेन सम्मानानुकम्पादिषु च स्वत एव तत्प्रभोस्तोषसिद्धेः॥ ३५॥ तवाङ्घ्रयो रेणूनां स्पर्शस्तेष्वधिकारोऽस्याऽपराधिनः कालियस्य कतमस्य तपआदेरनुभावः फलम्, तन्न विद्मस्ताद्दृशतपआदिनापि दुर्लभत्वात्। दुर्लभत्वमेवाहुः—यदिति। तच्च युक्तमेवेति सम्बोधयन्ति—देव हे अद्भुतानन्त-महिम्ना द्योतमानेति, यद्वा, हे क्रीडापरेतीदृशनृत्यादि-बाल्यक्रीडारतस्यापि तव पादरेणुस्पर्शमात्राधिकारोऽस्मदुनापि सुदुर्लभ एवेति भावः। प्रियतया नित्यसिद्धाया अपि लक्ष्म्या भूगतेऽवतारे भगवदर्थं तपश्चरणाभिप्रायेण तथोक्तमिति, यद्वा, सदा वैकुण्ठेश-वक्षःस्थयापि श्रिया कृष्णस्य माधुर्य्यातिशयं दृष्ट्वा लुब्धया तथा तल्लब्धये तपः कृतम्, तथापि तन्न लब्धम्, किन्तु केवलं गौरसूक्ष्मरेखारूपेण वक्षसि निवासाभास एव वरो लब्ध इत्यागमदिक्॥ ३६॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

यद्दन्दशूकत्वं येन कल्मषेणामुष्य दन्दशूकत्वमभूत्तत्कल्मषापह इत्यन्वयः। अतस्तव क्रोधोऽप्यनुग्रहरूप इत्यर्थः॥ ३४॥ कस्य पुण्यस्य श्रीललना वेदवतीसंज्ञा श्रीस्स्वयं तपश्चारेति श्रीमद्रामायणे श्रूयते॥ ३६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत्र भगवतस्तदितरासाध्यं स्वभर्तृप्राणसंरक्षणात्मकं स्वाभीष्टोपायतां महाविश्वासपूर्वकं वाचिकीर्षवस्तावद्याचनोपयुक्तगुणवत्तां स्तुतिव्याजेनाविष्कुर्वन्त्यस्तावद्रक्षणीयस्वस्वभर्तुः कार्पण्यं भवान्तरसुकृतवत्त्वञ्च सूचयन्त्यः प्रकृतमेतस्य दमनमहितव्याजं हितमेव तच्च समदृशा त्वया कर्तुमुचितमेवेति विज्ञापयामासुः न्याय्य इत्यादिना द्वयेन। ततश्चतुर्भिः कार्पण्यकृतवत्त्वे ततो दशभिर्याचनायत्वोपयुक्तगुणानाविष्कर्तुं स्तुतिः ततः पञ्चभिर्याच्ञेति विवेकः कृतं किल्बिषं हृदविद्रूषणात्मकं स्वद्द्यनात्मकं वा येनास्मिन् यस्त्वया धृतो दण्डः स न्याय्य उचित एव, कृतकिल्बिष इत्यनेन तस्य दण्ड्यत्वमाकिञ्चन्यं प्रत्युसापराधत्वं च सूचितम् अथ तद्दण्डयितृत्वं न्याय्यमित्यभिप्रायेणाहुः—तवावतारः खलानां दुष्टानां निग्रहार्थं हि तवावतार इत्यर्थः। नन्वमपि वात्सल्यनिधेः ममैव तदनुचितमित्यत्राहुः—रिपोरिति। रिपोः सुतानामपि विषये तुल्या वैषम्यरहिता दृष्टिर्यस्य तथाभूतस्त्वं फल हितात्मकमेव अनु समनन्तरमेव शंसन् सूचयंस्तावद्दमं दण्डं धत्से करोषि रिपोः सुतानामपीत्यनेन मित्रामित्रविभागानादरेणापराधिनां सर्वेषामपि दमं धत्स इति सूचितम् अत एव तुल्यदृष्टिः यद्वा, "हरिर्दुःखानि भक्तेभ्यो हितबुद्ध्या करोति वै। शस्त्रक्षाराग्निकर्माणि स्वपुत्राय पिता यथा" इत्युक्तरीत्या अनुगृह्यमाणानां तावत्पुत्रादीनामिव सर्वेषामपि तादात्विकहितव्याजं हितमेव करोषीति सूचितम् अतोऽयं दण्डोऽनुग्रहरूप एव वात्सल्यनिधेस्तवोचितश्चेति भावः॥ ३३॥ दण्डस्याऽनुग्रहरूपतामेव स्पष्टयन्ति—अनुग्रह इति। भवता यः कृतो दण्डः सोऽयं नोऽस्माकमस्मद्विषये अनुग्रह एव, कुतः? यतो दण्डस्त्वत्कर्तृकदण्डोऽसतां नोऽस्माकं कल्मषापहः दुरितापहः किं तत्कल्मषं यदपहन्ता मद्दण्डस्तत्राहुः—अमुष्य देहिनः कालियाख्यजीवस्य यत् यस्मात्कल्मषाद्दन्दशूकत्वं सर्पत्वं प्राप्तमिति शेषः। तत्कल्मषापह इत्यर्थः। अतस्तव क्रोधोऽप्यनुग्रह एवाऽस्मद्विषये एव सम्यक् मतो विज्ञातः॥ ३४॥ कृतकिल्बिषे दन्दशूकत्वं सर्पत्वमिति पदद्वयेन साधनान्यतरराहित्यात्मकमाकिञ्चन्यं कार्पण्यं सूचितम् अथेश्वरानुग्रहनिमित्तं सुकृतवत्त्वमनुमान्ति—तप इति। अनेनास्मद्भर्त्रा पूर्वं पूर्वस्मिन् जन्मनि निरस्ताहङ्कारे मानदेन महद्भ्यः पूजाप्रदेन च सता किं तपः सुतप्तं सुष्ठु कृतं पाकं पचतीतिवन्निर्देशः। अथवा सर्वभूतानुकम्पया कश्चिद्धर्मो वा अनुष्ठितः स्यात्, कथमेवं ज्ञायते? इत्यत्राहुः यतः सर्वान् जीवयति "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्" इति श्रुत्युक्तरीत्या भोगमोक्षप्रदानेनाऽऽजीवयतीति तथा भवांस्तुष्यति तुष्टो भवितुं तावद्दण्डयतीति भावः। तपोधर्मयोरनिर्वचनीयत्वाभिप्रायकः किंशब्दः अनेनानुष्ठितौ तपोधर्मौ इदमित्थन्तया नास्माभिरल्पबुद्धिभिर्निर्वक्तुं शक्यौ किन्तु केवलं सर्वान्तरात्मनो भवतस्तोषात्किञ्चित्तन्निमित्त किञ्चित्तप आदिकं कृतमित्यनुमास्यामह इति भावः यद्वा, तप इत्यादिभिश्चतुर्भिः कार्पण्यमेवाविष्क्रियते अयमर्थः पूर्वमनुग्रहरूपाद्दण्डात्प्रागेवानेन निर्गतः क्रूरेणानेन सर्पेण किं तपः सुतप्तं न किञ्चित् अथवा को धर्मः न कश्चिद् यतो येन तपसा धर्मेण वा भवांस्तुष्यति तन्न किञ्चिदपि कृतमित्यर्थः। स्वभावतः क्रूरस्य निरस्तमानत्वाद्यसम्भावनाप्रदर्शनाय तद्विशेषणानि॥ ३५॥ कस्येति। अस्य कालियस्य त्वत्पादरजःस्पर्शाधिकारः कस्य पुण्यस्यानुभावः प्रभावस्तत्पुण्यमयं न वेद वयमपि न विद्मः यद्वा, इदन्न कस्यचिदपि तादृशं पुण्यमस्मिन् सम्जातौ किञ्चिदपि सम्भावितमित्ययं न वेद वयमपि न विद्मह इत्यर्थः। तवैतत्तदङ्घ्रिरेणोर्दौर्लभ्यमभिप्रेतं तदेवाविष्कुर्वन्ति—यद्वाञ्छयेति। यद्वाञ्छया यदङ्घ्रिरेणुलिप्सया श्रीललना श्रीर्लक्ष्मीरेव ललना यस्याः पादरजो ब्रह्मादयो लिप्सन्ति मा श्रीरपि कामानङ्घ्रिरेणुव्यतिरिक्तान् पुरुषार्थान् विहायाऽनिच्छन्ति धृतव्रता पूर्वं तपश्चर्योपयुक्तम् इन्द्रियजयात्मकं व्रतं यथा तथाभूतं तपो बहुकालमचरत् पुरा श्रीर्वेदवतीरूपेण तपश्चचारेति श्रीरामायणकथासु श्रूयते॥ ३६॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दण्डः शासनं न्याय्यो युक्तः रिपोः सुतानामिति षष्ठी सप्तम्यर्थे रिपोः सूतेष्वपि तुल्यदृष्टेः त्वं तेषूभयेष्वपराधेषु दमं दण्डं धत्से, कथं धत्से ? इति तत्राह—फलमिति । अनुशंस्यम् अपराधानुरूपं फलम् अनुग्रहलक्षणं दण्डं करोषीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

ननु निगृह्णतः कथमनुग्रहो भवतीत्यत्राह-अनुग्रह इति । हिशब्द एवार्थे भवता सर्वपूज्येन त्वया नः अस्माकं अयमनुग्रह एव कृतो न तु विरोधः कृतः ते त्वया क्रियमाणो दण्डो ऽसतामसाधुभावानां दुष्टकर्मणां तामसयोनिं प्राप्तानां कल्मषापहः खलु पापपरिहारक एव अनुध्यासत्वं कथमत्राह यदिति । अमुष्य कालियनाम्नो दन्दशूकत्वं तत्तत्प्राणिदंशनशीलयोनित्वमभूत् इति ज्ञायते यद्यस्मात्तस्मादसत्वं योग्यं तथा अतस्ते तव क्रोधः क्रोधकारणदण्डो योग्यस्य देहिनोऽनुग्रहः सम्मतः अस्माभिः प्रतिपन्न इत्यन्वयः "दण्डोऽपि भगवच्चीर्णोऽ ममैषोनुग्रहः कृतः" इत्यादिस्मृतेर्मुक्तिमत एवायं विशेष इति ज्ञायते ॥ ३४ ॥ यद्दन्दशूकत्वमपि न दुष्कर्मनिमित्तमपि तु पूर्वजन्मन्यत्युत्कटत्वद्विषयतप आदिप्रभावोपनतमिति मन्यामहे "अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते" यतोऽस्य गवादिप्राणिद्रोहत्वदर्शनोदरन्नपापपरिहाराय तव लक्ष्म्यादिसर्वदेवतावाञ्छितसेवाचरणसरोजरेणुमन्दिरमूर्द्धाऽभूदिति भावेन वदन्ति तप इत्यादिना । भूदानादिलक्षणो धर्मः सर्वेषां जीवानां प्राणभूतः सर्वान् जीवयतीति वा ॥३५ ॥ तप आदिषु कस्य पुण्यस्यानुभवोऽयं प्रभावः अध्यवसायो वा काम्यन्त इति कामाः विषयास्तान् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यद्वाञ्छयेति श्रीरियं वैकुण्ठेश्वरादिप्रेयसीरूपा तपोऽत्र स्त्रीत्वात् स्वपत्याराधनम् अत एव पूर्वत उत्कृष्टत्वं श्रीव्रजेन्द्रनन्दनरूपाविर्भावविशेषेऽस्मिन् लोभविशेषात्तद्वाञ्छत्वं च युक्तं तस्याश्च तप आदिना त्रिकालप्राप्तिरेव विवक्षिता कस्यानुभावोऽस्येत्यादेः अप्राप्तिकारणञ्च गोपीवत्तदन्यत्वाभाव एव तासां परमतद्भक्तानां सङ्ग एव यद्यपि श्रीवृन्दावनान्तर्वास एव च हेतुरस्ति तथापि स्वावमानानात्तद्दासस्य तद्व्रजस्पर्शमयत्वेन फलान्तःपातात् तदप्रस्ताव इति वज् ज्ञेयम् ॥ ३६-४४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः वृहत्क्रमसन्दर्भः

आगत्य यदुचुस्तदाह—तपः सुतप्तमित्यादि । भो नाथ ! अनेनास्मत्पतिना किं तपः सुष्ठु विधिपूर्वकं तप्तम् ! अस्य तमोयोनेः कथं नाम तप इत्याशङ्क्याह-पूर्वपूर्वस्मिन् जन्मनि । ननु पूर्वजन्मन्यप्ययं महामत्त एवासीत् ? नेवमित्याह-निरस्तमानेन । न केवलं स्वयं निरस्तमान आसीत् मानदोऽप्यासीदित्याह-मानदेन सर्वभूत-सम्मानकारिणा । तपसः फलं तावदीदृशं न भवतीत्याह-धर्मोऽथवा कः सुकृत इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वेतव्यः । धर्मो भगवदुक्तिलक्षणो धर्मः अन्यथा तप इत्यनेनैव धर्मो लभ्यते । भक्तिलक्षणो धर्मोऽपि साधनरूप एवेति न स च साध्यरूप एवेत्याह-सर्वजनानुकम्पया सह । सर्वभूतानुकम्पा हि भक्तौ ज्ञानेन वा सिद्धस्यैव भवति तेनायं पूर्वजन्मन्युत्तमभक्त एवासीदिति निश्चयः । ननु कुत इदं वो निश्चयज्ञानमित्याह-यत इत्यादि । यतो हेतोर्भवान् श्रीकृष्णस्तुष्यति । तव तोषस्तु न तपआदिभिर्भवति, अपि तु निष्कैतवयैव भक्त्या । तथा च (भा.७.७।५२) " न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च । प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिः" इत्यादि ॥ ३५ ॥ ननु कथमहं तुष्यामि ? हन्तुमेव प्रवृत्तोऽहम् ! पश्यत मृतप्राय एवायम्; किमितोषकार्यम् ? अथ किमित्याहुः कस्यानुभाव इत्यादि । हे नाथ ! तापश्चेन्नायम्, तदायं कस्यानुभावः तथाविधस्यान्यस्य सम्भवात् । कोऽसावनुभाव इत्याहुः-तथाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः । तथाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार एव तोषस्यानुभावः । अस्य सम्यक् स्पर्श एवाभूत् । अस्तु रेणुस्पर्शस्याधिकारः यस्याङ्घ्रेः सम्यक् स्पर्शस्य रेणुस्पर्शाधिकारस्य वा वाञ्छया श्रीर्ललना वक्षःस्थितापीति बोद्धव्यम्, तपोऽचरत् । किं कृत्वा ? कामान् स्वयमुपस्थितान् भोगान् विहाय । कीदृशी ? धृतव्रता ॥ ३६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यतो भवांस्तुष्यतीत्यस्यायमभिप्रायः तोषश्चेत्तव न भवति तदा अपराद्धोऽयं फणिपतिरतदैव व्यापादितोऽभविष्यत् न तच्चेत् तेन तव तोषश्च प्रसादश्चानुमतः प्रसादहेतुस्त्विह जन्मनि नास्य दृश्यते तेन प्राक्तनं किमपि तपोऽनुमातव्यम् एतमेवार्थं विवृण्वते कस्यानुभाव इत्यादि येनायं स्वपादस्पर्शाधिकारी बभूवेत्यर्थः ॥ ३५-३६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रथमं स्तवन्त्यः कोयमुपशमयितुं दण्डमनुमोदयन्ति न्याय इति अनेन साधुद्रोहलक्षणस्य स्वखलत्वस्य फलमवश्य प्राप्यं प्राप्तमिति भावः । शिष्टपालनदुष्टनिग्रहकृतस्तव तु कत्रापि वैषम्यं नैवास्तीत्याहुः रिपोः सुतानां रिपुसुतेषु अपकारात् स्वसुतेषु च तुल्यदृष्टेः रिपोरपि पुत्रस्य शिष्टस्य प्रह्लादस्य पालनदर्शनात् स्वस्यापि सुतस्य नरकासुरस्य वधदर्शनाच्चेति भावः । नच खलनिग्रहेऽपि नैर्घृण्यमित्याहुः धत्से इति । खलत्वहेतुकनानानरकदुःखोपशमपूर्वकनित्यसुखमयमोक्षलक्षणं फलमेव दीयते मयेत्यनुशंसन्

कथयन्नेव दमं दण्डं धत्से ॥ ३३ ॥ तस्मादुष्टेष्वपि तव वस्तुतस्त्वानुग्रह एव निग्रहाकार इत्याहुः अनुग्रह इति । नोऽस्माकं दण्ड
कल्मषं प्राचीनविविधपापम् अपहन्तीति सः यतः कल्मषात् अमुष्य देहिनो जीवस्य दन्दशूकत्व तस्मात् क्रोधोऽपीत्यादि ॥ ३४ ॥
इदानीं तु निग्रहाकारोपि नैवायमनुग्रहः किन्तु शिष्टजनता कष्टलभ्यमपि वस्त्वयमनायासेनैव लभते स्म यत्तत्र किं प्राचीनं सुपुण्य
मस्तीति वितर्कयन्त्य आहुः तप इति । निरस्तमानेन गर्वशून्यत्वादन्यकृतसम्माननाभिलाषरहितेन मानदेन अन्येभ्यो मानन्ददर्शनात्
तपसो वैष्णवीयत्वं सूचितं वैष्णवेतरेषु तपस्विष्वमानित्वमानदत्वादर्शनात् "नाहं दानैर्न तपसा" इति त्वदुक्तेरन्यतपसस्त्वत्प्रका
कत्वाभावाच्च सर्वजनानुकम्पया उपलक्षितो यो धर्मः सकृत् इति धर्मस्यापि वैष्णवीयत्वं कर्मिणां सर्वभूतानुकम्पयानुत्पत्तेः यतस्त
पसो धर्माद्वा हेतोस्तुष्यति अस्य शिरस्सु रङ्गस्थलीकृतेषु प्रहर्षनृत्याचरणात् सर्वजीवः सम्माननानुकम्पादिना सर्वजीवेषु सन्तोषितेषु
सर्वजीवमन्दिरो भवानपि सन्तुष्यतीत्यर्थः । श्लेषेण सर्वांस्त्वं जीवयसि त्वत्सन्तोषकाममेव किं पार्ष्णिप्रहारैर्दर्शितं
द्योतितम् ॥ ३५ ॥ किञ्च न तप आदिहेतुक एष भाग्योदयः किन्त्वतर्क्यं तव कृपावैभवमेवेदमित्याहुः—कस्येति त्रिभिः । कस्य
महानीचस्याऽपि कालियस्य कस्य तावदनुभावः फलं तन्न जानीमहे फलमेव किं दृष्टं तत्राहुः तव नन्दपुत्रस्य अङ्घ्रिरेणोरपि स्पर्श
स्वकर्तृको योऽधिकारः सोऽपि तप आदिसर्वसुकृतदुर्लभः अयं तु अङ्घ्रिद्वयकर्तृकं स्पर्शं तं च नृत्यलक्षणं तत्रापि स्वशिरस्सु प्राप्त
भाग्यस्य कियान् महिमा वाच्य इति भावः । ब्रह्मादिसर्वभक्तेभ्योऽधिकापि श्रीस्तव नारायणरूपस्य ललनापि यस्य गोपालरूपस्य
चरणस्पर्शवाञ्छया तव आचरत् तदपि न प्राप ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सर्वेश्वरेण त्वया सर्वोद्वेजकेऽस्मिन् दण्डो हितायैव कृत इति दण्डानुमोदनपूर्वकं कालीयभाग्यं वर्णयन्ति न्याय्य इति
षड्भिः । फलं हितमेवानुशंसन् आलोचयन् दमं दण्डं धत्से ॥ ३३ ॥ निग्रहो हितायैव कृत इत्युक्तमेव स्पष्टयन्ति अनुग्रह इति भवता
कृतोऽयं दण्डः नोऽस्माकमनुग्रह एव हि यतस्ते दण्डः असतां कल्मषापहः पापनाशकः यद्यस्मात् कल्मषात् अमुष्य दन्दशूकत्वं तत्
त्वम् अतस्ते क्रोधोऽपि अनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥ अनुग्रहनिमित्तं किमपि तप आद्यनेन पूर्वमनुष्ठितमित्याहुः—तप इति । अनेन
किञ्चिमप्यस्मद्बुद्ध्यगोचरं तपः सुतप्तम् अथवा कश्चिद्धर्मः स्वनुष्ठितः यतः सर्वान् जीवयतीति सर्वजीवो भवांस्तुष्यति शिरस्वङ्घ्रयर्
पणेनास्मत्पतिं पवित्रीकरोषीति भावः ॥ ३५ ॥ निमित्तानुग्रहस्वीकारे वैषम्यादिदोषप्रसङ्गात्किमप्यनुग्रहनिमित्तं तप आद्यस्यास्ती
त्युक्तम् तद्विशेषतस्तु वयं न विद्मह इत्याहुः यद्वाञ्छया यस्याङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारस्य वाञ्छया यस्याः विश्वमातुर्ब्रह्मादयोऽपि पाद
पद्मरेणुस्पर्शाधिकारमिच्छन्ति सा श्रीरपि ललना भगवतोऽतिप्रिया नित्यसहचरी अपि लोलात्वशाद्वियुक्ता यदायदाऽभवत्प्रादुर्भा
वातस्तदा तदा तप आचरत् स तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः अस्य नागस्य कस्यानुभावः किमाकारस्य तप आदेरनुभावः, हे देव! वयं
न विद्महे न तद्विधः तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारणं तप आदिकमपि अधिकारतः स्वरूपतश्च गहनमेवातो भवत्कृपा सर्वत्र कारण
मिति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नागपत्न्य ऊचुरिति—

पड्भिर्दण्डस्य युक्तत्वं दशभिः प्रणतिः प्रभो । पञ्चभिः प्रार्थना चेति स्तुतिः कालिययोषिताम् ॥

तत्र प्रथमं कोपोपशमनार्थं पतिदण्डस्य युक्तत्वमाहुर्न्याय्य इति खलेनानेन खलतायाः फलमवश्यं प्राप्यमित्यर्थः । साध्वसाधुभयोः
दण्डनरक्षतस्तव न वैषम्यमित्याह—रिपोः सुतानामपि स्वसुतानाञ्च तुल्यदृष्टेः रिपुसुतस्य साधोः प्रह्लादस्य त्राणात् स्वसुतस्या
साधोः भौमस्य विनाशाच्चेत्यर्थः । न च खले दण्डो वैषम्यमित्याह— धत्से इति अनेन दण्डेन साधुत्वं भावीति फलमेवाभिशंसन् दण्डं
धत्से इति ॥ ३३ ॥ निग्रहोऽनुग्रहायेत्युक्तम् इदानीं सोऽनुग्रह एवेत्याहुः । अहेरयं दण्डोऽनुग्रह एव कृतः असतां ते दण्डो यतः कल्मषा
पापहो भवति । यतः कल्मषादमुष्य देहिनो जीवस्य दन्दशूकत्वं सर्पत्वमभूत् तस्मादक्रोधोऽपीत्यादि क्रोधत्वेन प्रतीतोऽपि दण्डोऽनु
ग्रह एव सतां सम्मतः । इत्थं वारोषणो ह्यसौ देव इति स्मृतिः सङ्गता ॥ ३४ ॥ अनुग्रहरूपे दण्डे तस्मिन् पुरातनं पुण्यं सम्भावयन्ति
तप इति निरस्तमानेन स्वसत्कारस्पृहाशून्येन अन्येभ्यो मानदेनेति तपसो विष्णूद्देश्यकत्वं व्यज्यते, तदन्यतपसि तथात्वादर्शनात्
'नाहं वेदैर्न तपसा" इत्यादि वाक्यात्तेन त्वदनुग्रहाभावाच्च सर्वजनानुकम्पया धर्मो वेति तस्यापि तदुद्देश्यत्वं स्वर्गादिहेतुकस्य
तस्य अभावात् यतस्तपसो धर्माद्वा भवांस्तुष्यति अस्य फणारङ्गस्थलीर्विधाय प्रहर्षेण नृत्यसीत्यर्थः । सर्वजीवो निखिलजीवनकर्ता
तेनास्यापि जीवनदानं साम्प्रतमिति भावः ॥ ३५ ॥ किञ्चायं भाग्योदयस्तपोधर्माभ्यां न भवेत् किन्तु करुणैव तवेयमित्याहुः—कस्ये
त्रिभिः । कस्य साधनस्यायमनुभावः फलमिति वयं न विद्महे । किं तदित्यत्राहुः—अस्यातिदुष्टस्याहेस्तव नन्दसूनोरङ्घ्रिरेणोः स्पर्श
योऽधिकारः करुणैवेयमिति द्रढयन्ति यस्य नन्दसूनोस्तव चरणस्पर्शवाञ्छया ब्रह्मादिवन्द्यापि श्रीर्ललना वैकुण्ठगतान् भोगान् विहाय
तपोऽचरत् तथापि न प्राय: यत्तपः स्थानं श्रीवनमिति ख्यातम् ॥ ३६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कृतकिल्बिषेऽस्मिन्विषधरे दण्डः शिक्षा न्याय्यो न्यायादनपेतो न्यायाप्राप्त इति यावत्। रिपोर्वैरिवारे सुतानां पुत्रेष्वपि तुल्या समा तत्तद्योग्यतानुसारिणी दृष्टिर्यस्य तस्य तवावतारः खलनिग्रहायैव। अनुशास्यमानोऽनुगुणतया वर्णनीयं फलं तद्रूपं दममनुग्रहं धत्से धरसि करोषीति यावत् ॥ ३३ ॥ अनुग्रहोऽयं भवता कृत इति श्लोके केशवकृतदमनमात्रस्य पात्राधिकारिमात्रपापनाशकता प्रतीयते। तथा चेज्जरान्सन्धादिदुर्जनैर्नो नाशकतापन्ना। सा च मानदेनेत्यतो मानतस्तदभिप्रायमाह ॥ दण्डोऽपीति। एष भगवच्चीर्णो दण्डो ममोपर्यनुग्रहः कृत इति चिन्तयतां। तदपि न साल्वादिचिन्तनवदित्याह ॥ भक्त्येति। अलं शुभकारि भवति। तत्राप्येवं दण्डे कृते द्वेषमेव कृतवान्भगवानिति द्वेषं कुर्वतां तमःप्राप्त्यै यथाऽशुभाप्त्यै तथा भवेदिति च महाकौर्मे इति शेषः ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ ननु निग्रहः कृतोऽयमनुग्रहः कथमित्यत एवमनुसन्धाने स तथा नैवं चेदनेवमित्यावेदयन्ति ॥ अनुग्रह इति। भवता कृतो दण्डो न उपर्यनुग्रहस्तदात्मा हि यतो ते दण्डोऽसतामौपाधिकासत्कर्मणां कल्मषापहः पापहरः खलु निश्चयः। अयं तु तिर्यग्जन्मवानिति भवति चासन्नित्याह ॥ यदिति। अनुष्य देहिनः कालियस्य यद्यतो दन्दशूकत्वं जनदंशनयोनित्वं तदयमप्रदत एतज्जन्माप्रापकपापमोचकत्वाद्वैतद्योनावपि त्वच्चरणस्मरणकारणत्वाद्वाऽयं क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एवेति नः सम्मतः। येऽसत्कर्माणोऽपि दण्डे त्वता चीर्णेऽयमनुग्रहः कृतः कृतज्ञेनेति चिन्तयन्ति तेषामन्तः सत्स्वभावानां कल्मषमसुरावेशादिसन्निवेशकृतं पापमपहन्ति स तथाऽखलु यत्कल्मषमपहन्तीति वा। कं मोक्षसुखं लुनाति छिनत्तीति तच्च तत्कल्मषं च तन्न भवतीत्यखलुकल्मषं तदपहन्ति नाशयतीति स तथेति वा। अनेन तत्पातकस्य स्वरूपाननुबन्धिता ध्वन्यते। येषामसतामसत्स्वभावानां चीर्णे दण्डे क्रोधो जरासन्धादीनां भवता कृतो दण्डः कल्मषापहः पातकघातकः खलु नेत्यप्यर्थो मानानुमानेन ज्ञेयः। अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः खलु निषेधने च वीप्सायामिति विश्वः। पापापनोदेन तेषां तमःप्राप्त्यै भवतीति भावः। उपलक्षणमेतत्। असतां मध्यमानां च दण्डः खलुश्च कल्मषापहश्चेत्युभयरूप इत्यपि योजना ज्ञेया। इति भवता कृतो भवोऽस्त्येषामित्यर्शआद्यचि संसारिणस्तेषां भावो भविता नित्यसंसारिता कृता येन स इति तदर्थं इति वा। उतामृतत्वस्येशान इतिवद्वर्गार्थे वा त्वप्रत्ययवदयं तल्। संसारसङ्घकृदिति वा। अमुष्यानुं पतिभिक्षामिति यावत् नो देहीत्यान्तरङ्गिको भावो भामिनीनां ज्ञेयः ॥ ३४ ॥ स्वपतिरपि न पतितः किन्तु त्वदनुग्रहपात्रमिति महानित्याहुः ॥ तप इति। अनेन निरस्तो मानोऽहन्ता येन स तेन तथा मानदेन मानर्नियमानप्रदेन मानदेन मौनव्रतवता वा मा न विद्यते नदः समुद्रः स्वावासत्वेन यस्य स इति प्रस्तुतविवक्षया। इदानीं त्यक्तसमुद्रवासेन प्राक् किं किंरूपं तपः सुतप्तं कृतं निर्धारणे सप्तमी तपस्सु तन्मध्ये किं तपश्चीर्णमिति वा। यथोक्तं हरिवंशे। उत्सृज्य सागरावासं यो मया विदितः पुरा। भयात्पतगराजस्य सुपर्णस्योरगाशिन इति। सर्वजनानुकम्पया सर्वेषु जनेष्वकम्पया धर्मो भूदानादिलक्षणोऽथवाऽनुष्ठितः कुत इत्यत आह ॥ यत इति। भवान्सर्वजीवः सर्वजीवनदस्तुष्यति ॥ ३५ ॥ हे देव। अयं कस्य तपआद्यन्यतमस्यानुभावः प्रभाव इति न विद्महे न जानीमः। हे देव न विद्मेति वा। अयं क इत्यत आह ॥ तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार इति। अङ्घ्र्यो रेणवो धुलयस्तेषां स्पर्शः सम्बन्धस्तस्मिन्नधिकारोऽनुभाव इत्यप्यन्वेति। कुतस्तस्य दुर्मिलता चरणरेणुस्पर्शस्येत्यत आहुः ॥ यदिति। ललना श्रीरपि कामानितरविषयान्विहाय सुचिरं धृतव्रता सती यद्वाञ्छया तपोऽचरच्चचार ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

दण्डानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा। प्रार्थना पञ्चभिश्चेति त्रेधा स्तुतिरुदीर्यते ॥ १ ॥

द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका। भगवान् षड्गुणस्तास्तु दशधा पञ्चधा पतिः ॥ २ ॥

तत्र प्रथमं भगवत्कृतस्य दण्डत्वं स्वीकृत्य तस्य न्याय्यत्वमाहुर्न्याय्यो हि दण्ड इति, अयं मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनपेतः, ईश्वरो हि त्रिविधदण्डं करोति न्याय्यं न्यूनमधिकं च प्रसादमयदिश्वरत्वधर्मास्तत्र प्रयोजकाः, तत्रायं न्याय्यः, कृतं किल्बिषं पापं येन, अनेन बहव एव विहिंसिता इत्येतर्हि पाप्युचितैव, ननु पापे दण्डधरो यमोऽस्ति मया कथं स कर्तव्य इति चेत् तत्राहुस्तवावतारः खलनिग्रहायेति, खला हि निरन्तरं दोषकर्तारो बहुजीविनश्च, मरणानन्तरमेव यमोधिकारी तावत्पर्यन्तमुपेक्षायां सर्वनाश एव स्यात्, अतः खलानां निग्रहार्थमेव भगवान् मध्येवतीर्णः, ननु तथापि कश्यपपुत्रोऽयं शेषभ्राता कथं दण्ड्य इति चेत् तत्राहू रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेरिति, न ह्यवतीर्णः सम्बन्धमपेक्षते दण्डार्थमेव ह्यवताराद् रिपोः सुतानां स्वसुतानां च सम्बन्धिनी तद्विषयिका भगवतस्तुल्यैव दृष्टिः, अन्यथाकरणे वैषम्यं स्यात्, रिपोः सम्बन्धिनी सुतसम्बन्धिनी वा सप्तम्यर्थे वा षष्ठी, किञ्च भगवान् दण्डं न पीडार्थं करोति तथा सत्यात्मत्वं भज्येताद्यत्वं च किन्तु भगवान् पुत्रमिव तस्याग्रे सत्फलमेवानुशंसन् दमं करोति, तदाह धत्से दमं फलमेवानुशंसन्निति, अतोऽस्याग्रे भविष्यतीति दण्डेन विनिश्चितम् ॥ ३३ ॥ एवं भगवत्कृतस्य दण्डत्वमङ्गीकृत्येदानीं दण्ड एवायं न भवति किन्त्वनुग्रह एवेत्याहुरनुग्रह इति, भवतायमनुग्रह एव कृतः, अहिनोहेः, अप्रयोजकत्वान्नपुंसकत्वं, ततो नुम्, अतो वानुग्रहः, अहीनो वानुग्रहः, ननु दुःखात्मकस्यास्य कथमनुग्रहरूपत्वम् ? तत्राहुर्दण्डोऽसतां खलु कल्मषापह इति, दण्डो भगवानिति भारते व्यवस्थापितं, अतः क्लेशरूपोऽपि तपोवद्यागवद् दण्डोऽपि कल्मष-

नाशक इत्यनुग्रह एव, ननु पापस्य प्रत्यहं जायमानस्य दीपेनान्धकारस्येव निवृत्तिरप्यप्रयोजिकान्यथा दुःखनिवारणार्थं कोपि पापं न कुर्याद् दण्डापेक्षया पूर्वदुःखस्यैवाल्पत्वादत आह यद् दन्दशूकत्वमिति, आदावसत्त्वप्रतिपादकत्वं तस्योक्तमेव तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धं, दन्दशूकत्वं सर्पत्वमपि जातं तदपि गच्छति चेद् दन्दशूकत्वमपि गच्छेत् ततो देहिन इतिशब्दाद् देहसम्बन्धस्तदभिमानो गच्छेत्, अतो बह्वर्थसाधकदण्डस्य हेतुभूतः क्रोधोप्यनुग्रह एव, न केवलं युक्तिमात्र किन्तु सम्मतः सतां मतः सर्वविप्रतिपन्नत्वात् अतो दण्डो दण्डहेतुः क्रोधश्चानुग्रह एव ॥ ३४ ॥ किञ्चास्तां दण्डप्रसादवार्ता, एकमत्यन्तमाश्चर्यं प्रतिभाति यदस्मिन् पुण्यं कृतवानिति तत्र हेतुं न जानीम इत्याहुस्तपः सुतप्तमिति, धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तपोविद्यमानस्यैवासत्सम्बन्धस्य त्याजकत्वात्, अत एव "यदा वै दीक्षित कृशो भवत्यथ मेध्यो भवती"त्यादिवाक्यात् सम्पादकस्तु प्रवृत्तिलक्षणो धर्म इत्युच्यते, एकस्तु दोषनिवृत्त्या विद्यमानमेव फलं प्रकटीकरोत्यपरस्तु दोषविनिर्मुक्तं परित्यज्यागन्तुकं फलं साधयति, भगवांस्त्वात्मा ईश्वरश्चज्ञानप्रसादो भक्तिप्रसादश्च, तत्राद्ये पक्षे तपसा ये दूरीकर्तुं शक्या दोषास्तेषु विद्यमानेषु तपसा न निवृत्तिः सम्पादयितुं शक्या, स दोषस्त्वहङ्कारात्मकः यस्तपसा न गच्छति प्रत्युत तपस्वीत्यधिक एवाहङ्कारो भवति, तदर्थमाह किं वानेन लोकोत्तरं तपस्तप्तमिति येन भवान् परमात्मा तुष्यति ? तोषान्यथानुपपत्त्या तादृशमपि तपोस्तीति कल्प्यते, तत्रापि सुतप्तं, देशकालादिसाधनानि सम्यग्जातानि प्रकारश्च, अन्यथा षड्गुणो भगवान् न तुष्येत्, परं दोषान्तरनिराकरणार्थं धर्मद्वयमपेक्षते, तदाह निरस्तमानेन च मानदेनेति, स्वयं निरभिमानो महानप्यन्यस्मै हीनायापि मानं प्रयच्छति, तदाह स्वकृतः परकृतश्चाभिमानो गच्छतः, यद्यप्यस्य पक्षस्य तोषजनकत्वमस्ति तथापि यावता भगवान् नृत्यति तावत्तोषजनकत्वं न भवतीति पक्षान्तरमाह धर्मोथ वेति, प्रथमपक्षे बहिस्तोषरूपनृत्यहेतुत्वं नोपपद्यतेत उभयमप्यपेक्षितं, वाशब्दः समुच्चये, वाशब्दप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते तपो निवृत्तिलक्षणो धर्मोस्तु न वा बहिस्तोषहेतुरवश्यमपेक्ष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमे, लौकिक धर्मशास्त्रानुसारेण धर्मो नैतादृशं फलं साधयति किन्तु भगवच्छास्त्रानुसारेणैव, तत्राप्येको दोषः परिहरणीयः द्रव्यमयस्तु परोपद्रवकारी क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी ज्ञानमयश्च तथा, अयमेवापरितोषस्तपसि, अतस्तद्दोषपरिहारार्थमाह सर्वजनानुकम्पयेति सर्वजनेषु यानुकम्पा यत्र स्वपरद्रोहसम्भावना नास्ति, भगवच्छ्रवणकीर्तनादौ, तत्रापि कीर्तने, ननु भगवत्तोषहेतुषु परिचर्यादिरूपेषु भवगद्धर्मेषु सत्सु कथमयमेव सर्वोपकारी धर्मस्तोषहेतुरिति चेत् तत्राह सर्वजीव इति, सर्वान् जीवयतीति सर्वजीवः सर्वे वा जीवा यस्मादिति वा, सर्वेषां जीवात्मरूपो वा, अतः सर्वोपकारिणि धर्मे तोष उचितः, यतो भगवान् सर्वजीवः, अनेनैव पराधाभावोपि सूचितः, योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वादाश्चर्यम् ॥ ३५ ॥ किञ्चास्तामिदमाश्चर्यं, इतोप्यधिकमाश्चर्यमस्तीत्याहुः कस्येति, भगवच्चरणारविन्दरेणवो भगवदीयदेहसम्पादका इति पूर्वमवोचाम, तादृशानां सम्बन्धोस्य च जातस्तेन ज्ञायते भगवदीयं देहं प्राप्स्यतीति परं येषामेव कोटिजन्मोपार्जितत्रिविधधर्मसंस्कृतभूतानि तेषामेव देहं सम्पादयन्तीति मर्यादया व्यवस्था, साधारणसंस्कारपक्षे तूपपत्तिः सम्भवति, तत्रापि हेतुः कश्चन वक्तव्यः, स च क्रियारूपो न भवति, अधिकारिणामेव तथात्वसम्पादकत्वात्, अलौकिकस्तु भवति, स लोकेनुभावो न सिद्धः, ततोस्यापि कस्यचिदनुभावोस्तीति ज्ञायते, परं स सम्बन्धी न निर्णीतस्तस्यानुभावस्य प्रयोजनमाहुस्तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार इति, तवाङ्घ्रिरेणूनां स्पर्शेधिकारो येन गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणो न तु सगुणाः कथञ्चन, यतो महद्भिरपि सगुणैर्जीवैस्तन्न प्राप्यत इत्याह यद्वाञ्छयेति, श्रीः सात्त्विकी भगवच्छक्तिः, तस्याश्चेन्नाधिकारो ब्रह्मरुद्रयोस्तत्सम्बन्धिनां च सुतरामेव नाधिकारः, ब्रह्मानन्दरूपापि सा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ललनेति, या श्रीः स्त्रीरूपा शक्तिरूपेति यावत्, अनेन भगवतोन्तरङ्गदासीभूता निरूपिता, सापि तपः करोति दास्यसिद्ध्यर्थं तथापि न प्राप्तवती त्रितयमेवैतत्स्थानमिति सर्वप्रसिद्धिः, न तु चरणौ, न च वक्तव्यं स्त्रीभावेन भोगेच्छा तत्र प्रतिबन्धिकेत्याह विहाय कामानिति, सर्वनिवान्तःकरणाभिलाषरूपान् धर्मान् परित्यज्य तपः करोति न च वक्तव्यं दीर्घकालादरनैरन्तर्याभावस्तस्या इति तत्राहुः सुचिरं धृतव्रतेति, आदरनैरन्तर्ये व्रताभिनिवेशाज् जायेते, एवं साधनविचारेण रेणूनामुत्कृष्टत्व मुक्त्वा तत्स्पर्शयोग्यत्वमस्य समर्थितम् ॥ ३६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

न्याय्यो हीत्यादिस्तुतितात्पर्योक्तौ त्रेधा स्तुतौ हेतुमाहुर्द्विविधस्य पीति, भर्तुः स्वस्य चेत्यर्थः, तावत्तावच्छब्दोक्तेति तत्स्तुतिकरणे हेतुमाहुर्भगवानित्यादि, पतिः कालियः, न्याय्य इत्यत्र प्रसादमर्यादेति, क्रमोत्र न विवक्षित इति यथासम्भवं योज्यम् । अनुग्रहोयमित्यत्राङ्गीकृत्योक्तमितिशेषः, अतो वानुग्रहो इति नपुंसकत्वादनुग्रहो यद्वान्यस्य दण्डो दुःखरूप एवेति स्वहित्वान्निकृष्टदेहस्य दमनमनुग्रह एवेत्यर्थः, अहिन इत्यत्र वर्णविकृतिमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहुर्हीनो वानुग्रह इति, अहिन्शब्दस्याहीनवाचकत्वं शब्दभेदाख्यकोशे स्फुटमित्यपि, तथा च दण्डस्य नानुग्रह इतिभावः, आदावितित्ति पूर्वमिति, दुःखस्यैवेतिवेति कामादिकृतदुःखस्यैव, श्रीधरीये 'हि न' इतिपदद्वयं कृत्वा व्याख्यातं तच्चिन्त्यं, न इत्यस्य नागपत्नीवाचकत्वे तत्कृतदण्डस्य तदनुग्रहताया वक्तुमशक्यत्वान्न इत्यस्य कालियपरत्वे लक्षणापत्तेश्चेत्यादिदोषान्, पूर्वं तस्योक्तमिति पापस्योक्तं दण्डस्य तद्धेतुभूतक्रोधस्य चानुग्रहत्वं व्युत्पादयन्ति सिद्धमित्यादि, तदपीति पापमिति । तपः सुतप्तमित्यत्र ननु ज्ञानत एव

नृत्यकरणे हेतुर्धर्म इत्याशङ्कायां धर्मस्वरूपं भगवत्स्वरूपं च विचारयन्ति धर्म इत्यादिना, विद्यमानस्येति शरीरे विद्यमानस्य, सम्पादक इति फलसम्पादकः, विद्यमान इत्यात्मलाभरूपं, धर्मद्वयेनापि भगवत्तोषाभावे हेतुमाहुर्भगवांस्त्वित्यादि, भगवांस्त्वात्मा व्यापक इतिज्ञानेन प्रसादो यस्य तादृशः, किञ्चेश्वरो नियामकश्चेति भक्त्या प्रसादो यस्य तादृशः, तथा च ज्ञानाभावे तपसा न तुष्यति "न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गा" दिति "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वतस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिश्रुतेर्भक्त्यभावे धर्मान्तरेणापि न तुष्यति "नाहं वेदै" रिति "नालं द्विजत्व" मित्याद्युपक्रम्य "प्रीयतेमलया भक्त्या" त्यादिवाक्यैः' तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति तत्राद्ये पक्ष इत्यादि, किमिति विकल्पे, अन्यथेति देशादिषडङ्गाभावे, तत्रापि विशेषमाहुः परमित्यादि तथा च यद्यपेक्षितं धर्मद्वयमस्मिन् स्यात् तदेदानीमप्ययं तादृशस्वभावः स्यात् तदभावाच्च तादृशं साधनमनेन न कृतमित्यवसीयत इत्यर्थः, एवं सामान्यतपःपक्षस्य तोषहेतुत्वं नृत्याहेतुत्वं च साधयित्वा द्वितीयपक्षस्य तथात्वं साधयन्ति यद्यपीत्यादि, तत्रापीति भगवच्छास्त्रीये यज्ञादिरूपे धर्मे, तत्रापि कीर्तनमित्यन्यापेक्षाराहित्याच्च स्वतोपेक्षाराहित्याच्च स्वपरद्रोहरहितमित्यर्थः, अनेनैवेत्यात्मत्वेनैव ॥ ३५ ॥ कस्यानुभाव इत्यत्राधिकारहेत्वज्ञानं व्युत्पादयन्ति तादृशामित्यादि, एवं फलानुमाने कुतो हेत्वज्ञानमित्यत आहुः परमित्यादि, तेषां भगवदीयानामेव कोटिजन्मार्जितश्रौतस्मार्तभगवदीयधर्मसंस्कृतभूतानि भगवदीयजीवानामेव देहं सम्पादयन्तीति मार्यादिकी व्यवस्था, तथा चैतस्य पूर्वं भगदीयत्वं नावगतमिति न मार्यादिकया व्यवस्थया हेतुज्ञानं, साधारणसंस्कारपक्षे तु त इच्छयैवाधिकार इत्युपपत्तिः सम्भवति परमिच्छायायामपि कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यस्तत्र क्रियारूपस्य हेतोरुक्तरीत्यासम्भवादलौकिकोनुभावो वा वक्तव्यः स लोके न सिद्ध इति कार्यबलादनुभावोस्तीति ज्ञायते परमनुभावसम्बन्धो न निर्णीत इत्यतो हेत्वज्ञानं, तथा च चरणरेणुस्पर्शरूपकार्यदर्शनबलादस्याधिकारस्तद्धेतुश्च कश्चिदस्तीति सामान्यतो ज्ञायते न तु विशेषतोयमेवेति निर्णेतुं शक्यत इतीदमाश्चर्यमेवेत्यर्थः, त्रितयमिति गुणत्रयम् ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कारिकासु द्विविधस्यापीति सर्पयोनिकारणीभूतस्य सहजस्य तमो अज्ञानं तद्रूपस्य प्रत्यहं जायमानस्य चेत्यर्थः, दण्डानुमोदनेन सहजपापस्य निवृत्तिः नमनेन तमोरूपस्य प्रार्थनया अपराधस्येति, त्रयाणां सङ्ख्यातात्पर्यमाहुर्भगवानिति "अवतारः खलनिग्रहाये" त्युक्तत्वाद् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च षड्गुणमिति दण्डानुमोदनं षड्भिरुक्तं, तासु दशधेति प्रकट इति शेषः, दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति नमनं दशभिः, प्रार्थनीयः पतिः, भगवति पतित्वं पञ्चधा, पञ्चानां पतिरितियावत्, "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपति" रिति, धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः, अत एव सङ्ग्रहकारिकायां "स्त्रीभिश्च याज्ञिकैर्लोकैर्बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचित् असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पति" रिति पञ्चानामेव पतिरुक्तः, अतः प्रार्थना पञ्चभिः कृतेत्यर्थः, न्याय्यो हीति अस्य न्याय्यत्वसमर्थनाय दण्डत्रयं विवृण्वन्ति ईश्वरो हि इति, राजादिरित्यर्थः, रिपोरित्यत्र प्रथमपक्षे स्वसुतानामित्यध्याहारो भवतीति द्वितीय पक्षः, उभयत्रापि सम्बन्धमात्रप्रतीत्या विषयताबोधो न स्वारस्येन भवतीति तृतीयः पक्ष उक्तः ॥ ३३ ॥ अनुग्रह इत्यत्र खल्वित्यस्यार्थमाहुः दण्डो भगवानितीति, अतः क्लेशरूपोपीति दण्डस्य भगवत्त्वात् क्लेशजनकोपि दण्डः कल्मषनाशकः, यथा क्लेशजनकमपि तपः "तपो मे हृदय" मितिवाक्येन भगवत्त्वात् कल्मषनाशकं तथेति, ननु दण्डनलक्षणकर्मरूपस्यास्य कथं पापकर्मनाशकत्वं कर्मणः कर्मानाशकत्वस्य निबन्धे व्यवस्थापितत्वात्, अत आहुर्दण्डोपीति, दण्डनलक्षणकर्मरूपोपीत्यर्थः, यागवदिति यथा यागः कर्मरूपोपि "तरति ब्रह्महत्या" मितिश्रुत्युक्तत्वात् कर्मनाशकः तथायमपि भगवत्त्वात् तथेत्यर्थः, उत्तरार्धस्याभासमाहुः नन्विति, यथा दीपेनान्धकारनिवृत्तावप्यन्धकारकारणीभूताया रात्रेर्विद्यमानत्वाद् दीपे निवृत्तेन्धकारस्तिष्ठेदेव तथा प्रत्यहं जायमानस्य पापस्य दण्डेन निवृत्तावपि तत्कारणीभूतस्य दन्दशूकत्वजनकपापस्य विद्यमानत्वाद् दण्डे निवृत्ते पापं तिष्ठेदेवेति तादृशी निवृत्तिर्मूलभूतपापस्याभावं प्रत्यप्रयोजिकेत्यर्थः, अन्यथेति तादृशनिवृत्त्यैव मूलभूतपापनिवृत्तौ दण्डापेक्षया पूर्वंदुःखस्याल्पत्वं ज्ञात्वा कामादिजनितदुःखनिवृत्त्यर्थं पापं न कुर्यात्, अतस्तथा ज्ञात्वापि मूलभूतपापवशात् पापं करोतीति भावः, यद् दन्दशूकत्वमिति यस्मात् कल्मषाद् दन्दशूकत्वं जातं तादृशकल्मषापह इत्यर्थः, आदाविति पापस्यासद्योनिजनकत्वं पूर्वमुक्तमेव, तदा तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धमेव जातमित्यर्थः, जातमिति यस्मात् कल्मषादितिशेषः, तदपीति सर्पयोनिहेतुभूतकल्मषमपीत्यर्थः, अत्र सहेतुकदण्डस्यानुग्रहत्वं वाक्यार्थ इत्युपसंहाराद् ज्ञेयं, आश्चर्यं वाक्यार्थोग्रिमश्लोके आभासेन निरूपितः ॥ ३४ ॥ तपः सुतप्तमित्यत्र एतत्तपोधर्मयोर्लोकोत्तरत्वं निरूपयितुं लोकसिद्धे ते निरूपयन्ति धर्मो द्विविध इत्यादिना, विद्यमानस्यैवेति न त्वविद्यमानफलसम्पादक इत्येवकारः, असत्सम्बन्धस्येति स्त्रीपुत्रादिभिः सम्बन्धस्येत्यर्थः, एकस्त्विति निवृत्तिलक्षणो धर्मः असत्सम्बन्धं निवर्त्य विद्यमानमेवात्मरूपं फलं प्रयच्छति, प्रवृत्तिलक्षणस्तु दोषमनिवर्त्यैवाविद्यमानं स्वर्गादिकं प्रयच्छति, अत्र जातस्य भगवत्तोषरूपफलस्योभयविधत्वं निरूपयन्ति भगवांस्त्विति, तुशब्देन फलान्तरस्योभयविधत्वं निवारितं आत्मत्वाद् विद्यमानफलरूपं ज्ञानं प्रसादो यस्य तादृशः, ईश्वरत्वादविद्यमानफलरूपा भक्तिः प्रसादो यस्य तादृशः, तथा च तपोधर्मयोर्भगवत्तोषं जनयित्वैव तदुभयजनकत्वात् तपोधर्माभ्यां तत्सम्बन्धः सम्भवति, तथापि लोकसिद्धतपसोभिमानरूपदोषसहितत्वात् तन्न सम्भवति, अतो लोकोत्तरं किं तप इत्याश्चर्यं, धर्मोपि योनिजीवरक्षभावकर्मणां विरुद्धत्वात् कथमस्य सम्पन्न इत्याश्चर्यमुपसंहारे

वक्ष्यते, तत्राद्ये पक्ष इति तपसा भगवत्परितोषपक्ष इत्यर्थः, न निवृत्तिरिति असत्सम्बन्धस्येत्यर्थः, स दोष इति तपसा दूरीकर्तुं शक्य इत्यर्थः, प्रत्युतेति तपसि जाते प्रवर्धतेपीत्यर्थः, देशेत्यादि सु इत्यस्याक्षरार्थोयं, निर्दुष्टं षड्गुणं जातमित्यर्थः, भवत्पदस्य भागवते भगवानर्थः, तदर्थः षड्गुण इति तादृशो भगवान् षड्गुणेनैव तपसा तुष्यति, तपसः षड्गुणत्वं द्वितीयस्कन्धे विवृतं दोषान्तरेति विषयाभिलाषया चित्तवैयग्र्यरयान्तरदोषस्येत्यर्थः, निरभिमान इति गतदेहाभिमान इत्यर्थः, तेन शीतादिकालधर्मकृत वयग्र्यं न भवति, अन्यस्मै मानदानेन च तत्कृतप्रतिबन्धाभावाच् चित्तवैयग्र्यं न भवति, पूर्वोक्तोऽहङ्कारस्तु अहं तपस्वी महानित्याकारको ज्ञेयः, परकृत इति अहं ब्राह्मणः कथमन्यस्य सन्माननं करोमीत्याकारको ब्राह्मण्यादिधर्मकृत इत्यर्थः, धर्मोथवेत्यत्राथ वा इत्यव्ययद्वयं ज्ञेयं, एको दोष इति उपद्रवकारित्वरूपो दोष इत्यर्थः, अयमेवेति नृत्यावधितोषजनकस्वरूपः पूर्वमुक्तोऽ मुख्योयमेवेत्येवकारेण स व्यावर्त्यते, तपसीति विषयसप्तमी, तपोविषयक इत्यर्थः, तत्रापीति द्रोहाभाव उभयत्रापि, परन्तु कीर्तिर् लोकानुग्रहोपि सिध्येदितिभावः ॥ ३५ ॥ कस्येतिश्लोकत्रयेपि पूर्वोक्तादधिकमाश्चर्यमेव वाक्यार्थ इति आभासे किञ्चेति समुच्चय उक्तः, कस्येत्यत्र अनुभावपदार्थं विवृण्वन्ति भगवच्चरणारविन्दरेणव इत्यारभ्य ज्ञायत इत्यन्तेन, अस्य चेति भगवदीयानां जायत एव अस्यापि जात इति चकारः परमिति सम्बन्धो जातस्तेन तत्प्राप्तिश्च भविष्यति परमेवं व्यवस्थापक्षे असम्भावितमित्यर्थः, तेषामिति येषां रेणुसम्बन्धो जातः, त्रिविधेति अग्रिमश्लोके विवृतं सात्त्विकादित्रैविध्यमत्रापि ज्ञेयं, त्रिविधधर्मसंस्कृतरेणुसम्बन्धे त्रिविधधर्म फलं न वाञ्छन्तीति द्वयोः सङ्गतिः, भूतानीति चरणस्थितानि रेण्वादीनीत्यर्थः, साधारणेति तदुपार्जितत्वं विशेषः पूर्वमुक्त धर्ममात्रसंस्कृतानि रेण्वादीनि तादृशं देहं जनयन्तीतिपक्षे इत्यर्थः, तत्रापीति रेणुभिस्तादृशफलोपपत्तावपि रेणुसम्बन्धे हेतुर्वक्तव्य इत्यर्थः, धर्मे हेतुरुक्तः स त्वत्र तु न सम्भवतीत्याहुः स चेति, अलौकिकस्त्विति अनुभावस्तु हेतुर्भवतीत्यर्थः, अनुभावस्यालौकिकत्वं व्युत्पादयन्ति स लोके इति लोकसिद्धत्वादलौकिक इत्यर्थः, तत इति अनुभावस्य हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः, प्रयोजनमिति फलमित्यर्थः, समासमाहुरङ्घ्रीति, येनाधिकारो जातस्तादृशोनुभावः इत्यर्थः, अनधिकारिण्यधिकारसम्पादनमाश्चर्यमित्यर्थः, एतत्समर्थनार्थं अविकाराभावमुत्तरार्धभासेनाहुः गुणातीता एवेति, हि यत इत्यर्थः, तस्याश्चेदिति सगुणानां निरूपणीयत्वात् ब्रह्मानन्दावपि निरूपणीयाविति कैमुतिकन्यायेन तन्निरूपणमुक्तं, ब्रह्मानन्देति सा तु गुणातीतैवेतिभावः, स्त्रीरूपेति विष्णोः सत्त्वाधिष्ठातुः लीलार्थं त्रितयमिति सगुणमित्यर्थः, न तु चरणाविति भगवच्चरणयोर्गुणातीतत्वादितिभावः, सगुणेषु कामकामिष्वेव सा तिष्ठति न तु गुणातीतचरणाश्रितेषु भक्तेषु "तं भजन् निर्गुणो भवे" दित्यादिवाक्यैरितिभावः, ब्रह्मानन्दरूपा तु व्यावृत्तैव, दीर्घेति दीर्घकालः आदरः नैरन्तर्यं च तेषामभाव इत्यर्थः, एवमिति अस्मिन् श्लोके वाक्यार्थोयं, आभासे तु श्लोकत्रयस्योक्त इति ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

(५) भगदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नागपत्नीस्तुतौ न्याय्यो हि दण्ड इत्यत्र अध्यायविभागपूर्वकं स्तुतेस्त्रैविध्यमाहुर्दण्डानुमोदनमित्यादि का० १४२६ १४३१। दण्डानुमोदनं षड्भिरिति कारिकातः पूर्वोक्तं सर्पयोनिकारिणीभूतं सहजं पापमेकं द्वितीयं च प्रत्यहं क्रियमाणमज्ञानरूपं तृतीयं भगद्विषयकोपराधः, एवं त्रयाणामपि नाशिका त्रिविधास्तुतिरिति सङ्ख्यातात्पर्यं, भगवानिति "अवतारः खलनिग्रहाये"त्युक्तत्वात् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च षड्गुणमिति दण्डानुमोदनं षड्भिरुक्तं, तासु दशधेति प्रकट इति शेषः, दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति नमनं दशभिः, पञ्चधा पतिरिति तदुक्तं द्वितीयस्कन्धचतुर्थाध्याये, 'प्रार्थनीयः पतिः', भगवति पतित्वं पञ्चधा, "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपति" रिति, धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः, अतः प्रार्थना पञ्चभिः कृतेत्यर्थः ॥३३॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

कुपितस्य कोपशान्तिमन्तरेण तत्प्रार्थनाया निष्फलत्वात् कोपशान्त्यर्थं प्रथमं तत्कृतस्य दण्डस्यानुमोदनं कुर्वन्ति— न्याय्यो हीति षड्भिः। अस्मिन् सर्पे दण्डो न्याय्यो हि युक्त एव। तत्र हेतुमाह कृतकिल्बिषे इति। कृतं किल्बिषं दंशनरविहेठनादि अपराधो येन तस्मिन्नित्यर्थः। तत्रैव हेत्वन्तरमप्याहुः—तवावतारः खलानां परोद्वेजकानां निग्रहायेति। 'सतां सरक्षणाय च' इति अर्थादेव ज्ञेयम्॥ 'एवं चेत्तर्हि वैषम्यं स्यात्' इत्याशङ्क्याहुः—रिपोरिति। शत्रोः स्वसुतानामपि च विषये तुल्या दृष्टिर्यस्य तस्य। "एवमपि स्पष्ट एव विरोधः प्रतीयते। समदृशो निग्रहानुग्रहाद्यसम्भवात्" इत्याशङ्क्याहुः—धत्से इति। फलं पुरुषार्थप्राप्ति बन्धकपापनिवृत्त्यादिरूपमेवानुशंसन् आलोचयन् दमं दण्डं धत्से। अतः सतामिव तेषामपि फललाभान्न वैषम्यमित्याशयः। 'खलमेवानुशंसन्' इति पाठे तु खलं दुष्टमेवालोचयन् दमं धत्से, तथा च नहि गुणदोषानुसारेण यथोचितमनुग्रहादि कुर्वतो वैषम्यं सम्भवतीत्याशयः॥ ३३॥ 'फलहेतुत्वात् नायं निग्रहः, किन्त्वनुग्रह एव' इत्याहुः— अनुग्रह इति। भवता नोऽस्माकमयं दण्डरूपोऽनुग्रह एव कृतः। पत्या सहैक्याभिमानाद्बहुवचनम्। ननु 'दण्डस्य कथमनुग्रहत्वम् ?' तत्राहुः—हि यस्मात् ते त्वया कृतो दण्डः खलु निश्चयेन असतां दुष्टानां कल्माषपहः सर्वदोषनिवारकः। 'अत्र किं प्रमाणम् ?' इत्याशङ्क्य 'ये ये हताश्चक्रधरेण दैत्यास्त्रैलोक्यनाथेन जनार्दनेन। ते ते गता विष्णुपुरीं नरेन्द्र! क्रोधोपि देवस्य वरेण तुल्यः' इत्यादिवाक्यप्रमाणमाहुः—क्रोधोपीति। ते तव क्रोधप्रयुक्तहननादिदण्डोऽपि मोक्षप्रतिबन्धकदुःखहेतुपापनिवर्तकत्वादनुग्रह एवेति सतां सम्मत इत्यर्थः। 'यस्य कालियस्य प्राचुर्य पापमस्तीति कथं ज्ञायते ?' इत्यपेक्षायामाहुः—यद्दन्दशूकत्वमिति। 'यत् यस्मात् अमुष्य एतदन्तःस्थितस्य देहिनोऽनेकदेहं

इदानीं दन्दशूकत्वं सर्पयोनित्वं दृश्यते, तेन तन्मूलं पापमस्ति' इत्यनुमीयते। तथाच पापनिवर्तकत्वेन अनुग्रह एव, अन्यथा उत्तरोत्तरपापवृद्धया अस्य एतत्सम्बन्धिनामस्माकं च नरकपातादि दुःखमेव स्यादित्याशयः ॥ ३४ ॥ 'चरणेन शिरःस्पर्शलक्षणेन महताऽनुग्रहेण तव सन्तोषहेतुसुकृतमपि पूर्वानुष्ठितमस्यानुमीयते' इत्याहुः तप इति। सर्वान् जीवयतीति सर्वजीवः सर्वान्तरात्मा भवान् यतो याभ्यां तपोधर्माभ्यां तुष्यति तथाभूतं तपः अनेन किं सुतप्तं सम्यगनुष्ठितम्, तथाभूतो धर्मोऽथवा कोऽनुष्ठित इत्यन्वयः। अस्मिन् जन्मनि तदसम्भवादाहुः—पूर्वमिति। यज्ञादिधर्मस्य हिंसाबाहुल्येन दयानाशकत्वात् श्रवणकीर्तनपूजानमस्कारादिलक्षणं धर्ममभिप्रेत्याहुः—सर्वजनानुकम्पयेति। तस्य सर्वेन्द्रियोपशान्तिं सूचयन्त्य आहुः निरस्तमानेनेति। यदृच्छालाभसन्तोषं सूचयन्त्य आहुः मानदेन चेति। यथासम्भवं प्राणिसम्मानं कुर्वता इत्यर्थः एवं च "दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येनकेनचित्। सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः" इति नारदोक्तः सिद्धान्तो दर्शितः ॥ ३५ ॥ यद्यपि 'अनेन भवत्सन्तोषकारणं किञ्चित्तप आदि अनुष्ठानं कृतम्' इति सामान्यतो वयं जानीमः, तथापि हे देव अचिन्त्यानन्तमहिम्ना बहुधा द्योतमान! अस्य नीचस्यापि तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शेऽधिकारः कस्य तपआदेः सुकृतस्यानुभावः फलम्, इति विशेषतो न विद्महे इत्यन्वयः। तस्य दुर्लभत्वमाहुः— यद्वाञ्छयेति। यस्य त्वदङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारस्य वाञ्छया ब्रह्मादिभिरुपास्यापि श्रीर्लक्ष्मीः ललना उत्तमा स्त्री सर्वान् कामान् भोगवासना विहाय धृतव्रता गृहीताहारशयनादिनियमा सती सुचिरं दीर्घकालादरनैरन्तर्येण तप आचरत् ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्र दण्डानुमोदनेन कोपं शमयन्त्यः स्तुवन्ति-न्याय्य इति ॥ कृतं किल्बिषमपराधो येन तस्मिन् अस्मिन् सर्पे दण्डो न्याय्यो हि युक्त एव। यतः रिपोः सुतानाम् अपि रिपौ स्वसुतेषु चेत्यर्थः। सप्तम्यर्थे षष्ठ्यौ। यद्वा। रिपुसुतेषु अपि ना स्वसुतेषु च तुल्या दृष्टिर्यस्य रिपुसुतस्यापि प्रह्लादस्य शिष्टस्य पालनात् स्वसुतस्यापि दुष्टस्य नरकासुरस्य वधकरणाच्चेति तस्य तवावतारः खलानां निग्रहायास्ति तथा खलं दुष्टमेव अनुशंसन् आलोचयन् दमं दण्डं धत्से। फलमिति पाठे पापनिवृत्त्यादि इत्यर्थः ॥३३॥ अनुग्रह इति ॥ भवता नोऽस्माकमयं दण्डरूपोऽनुग्रह एव कृतः खलु निश्चयेन असतां दुष्टानां कल्मषापहः यत् यस्मात् कल्मषात् अमुष्य एतच्छरीरान्तःस्थितस्य देहिनोऽनेकदेहं प्राप्नुवत इदानीं दन्दशूकत्वं सर्पयोनित्वं दृश्यते। अतः तत्कल्मषनिवर्तकत्वात् ते क्रोधोऽपि क्रोधत्वेन प्रतीयमानोऽपि अनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥ तप इति ॥ स्वयं निरस्तमानेन निरभिमानेन अन्येषां सर्वेषां मानदेन सत्कर्त्रा अनेन सर्पेण पूर्वं प्राग्जन्मनि किं तपः सुतप्तं सम्यगनुष्ठितं तथा सर्वेषु जनेषु अनुकम्पया धर्मोऽथवाऽनुष्ठितः यतः याभ्यां तपोधर्माभ्यां सर्वान् जीवयति स सर्वजीवः भगवान् तुष्यति ॥ ३५ ॥ कस्येति ॥ हे देव! अस्य नीचस्यापि तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शेऽधिकारः। कस्य तपआदेः सुकृतस्यानुभावः फलमिति विशेषतो न विद्महे। तत्रार्थः। यस्य त्वदङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारस्य वाञ्छया ललना उत्तमा स्त्री श्रीर्लक्ष्मीरपि सर्वान् कामान् विहाय धृतव्रता गृहीतनियमा सती सुचिरं तपः अचरत् ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं नागपत्नी कृतां स्तुति माह न्याय्यो हीति कृत किल्बिषे कृतापराधे अस्मिन्नस्मद्भर्तरि दण्डो न्याय्यः न्यायादनपेतोऽस्तिरिपोः सुतानामपि मध्य तुल्यदृष्टेस्तव अतः खलमेवानुशसन् जानन् सन् त्वं तस्मिन् दमं धत्से करोषि ॥ ३३ ॥ भवता अयं दंडरूपो नोऽस्माकमनुग्रहः कृतः तथाहि ते त्वया असतां कृतो दंडः कल्मषापहः पापनिवर्तकोऽस्ति हि निश्चितं अमुष्य देहिनो जीवस्यय दंदशुकत्वं सर्पत्वं भवति तस्य तिवृत्तये ते तव क्रोधोऽस्माभिरनुग्रह एव संमतः ॥ ३४ ॥ निरस्तमानेन मानवर्जितेनान्येषां मानदेनानेन सर्पेण सर्वजनेषु अनुकंपया दययाऽर्थवाधर्मः पालितः किं सर्वाणि अनेकोटिब्रह्मांडानि जीवयतीति सर्वजीवः यद्वा सर्वेषां जीवो जीवनं यस्मात् सर्वजीवः ॥ ३५ ॥ अस्य सर्पस्य यस्त्वदांघ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः सः कस्य पुण्यस्यानुभावो महिमास्ति तं वयं न विद्महे कामानान्यविषयान् विहाय ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शरणप्राप्त्यनन्तरं प्रथमतस्तु कुपितं भगवन्तं दण्डानुमोदनेनोपशमयन्त्यः स्तुवन्ति। दण्डानुमोदनं तत्र षड्भिर्दिग्भिर्हरेः स्तुतिः। पञ्चभिः प्रार्थना नागयोषिदाचरिता ततः ॥ १ ॥ न्याय्य इति ॥ कृत किल्बिषं ह्रदजलविषदूषिततासंपादनात्मकं स्वन्मर्मसु दंशविधानात्मकं वा पापं येन तस्मिन्, अस्मिन् नागे, यः त्वया धृत इति शेषः। दण्डः, स न्याय्यः उचित एव। हि यस्मात्, तव अवतारः, खला दुष्टास्तेषां निग्रहो भर्त्सनं तस्मै, 'निग्रहो भर्त्सनेऽपि स्यात्' इति मेदिनी। परपीडनं वा निग्रहः 'निग्रहः परपीडनम्' इति वचनात्। भवति। नन्वेवमपि वात्सल्यनिघ्नमनुचितमेवेत्यत्राहुः। रिपोः सुतानामपि, षष्ठी सप्तम्यर्थे, रिपुषु सुतेषु चेत्यर्थः। तुल्या वैषम्यरहिता दृष्टिर्यस्य तस्य, षष्ठी प्रथमार्थे। समानदृष्टिस्त्वमित्यर्थः। खलं अनुशंसन्नालोचयन् सन्नेव, दमं दण्डं, धत्से। न तेन निग्रहानुग्रहलक्षणं तव वैषम्यमस्तीति भावः। फलमेवानुशंस्यमिति पाठे, अनुशंस्यमपराधानुरूपं, फलं फलरूपं दमं धत्से, फलमेवानुशंसन् इति पाठे, फलं एव अनु शंसन् इति च्छेदः। फलमस्य हितमेवमेवेति, अनु तदपराधेक्षणानन्तरं, शंसन् पर्यालोचयन् सन्नेव, दण्डं करोषीत्यर्थः ॥३३॥ तदेवमस्य निग्रहोऽयमनुग्रहायेत्युक्तं तदेव स्फुटं प्रदर्शयन्त्य आहुः ॥ अनुग्रह इति ॥ भवता कृतः

यः अयं दण्डः, सः नोऽस्माकं, अनुग्रहः एव । कुतः । हि यतः, ते दण्डः त्वत्कृतोऽयं दम इत्यर्थः । असतामस्माकं, कल्मषापहः दुरित विनाशकरः, खलु । किं तत् कल्मषं यदपहन्ता मद्दण्डस्तत्राहुः । अमुष्य देहिनः कालियस्य, यद्यस्मात्कल्मषात्, दन्दशूकत्वं, प्राप्तमिति शेषः । तत्कल्मषापह इत्यर्थः । अतः ते तव, क्रोधः अपि, अनुग्रहः एव, अनुग्रहगर्भं एव । संमतः सम्यक् विज्ञातः । अस्माभिरिति शेषः । 'दण्डोऽपि भगवच्चीर्णोऽनुग्रहः सर्वथा स्मृतः' इति स्मृतेः 'हरिर्दुःखानि भक्तानां हितबुद्धया करोति वै । शस्त्रक्षतानिक्रमाते स्वपुत्राय पिता यथा' इति पद्मादिवचनाच्च ॥ ३४ ॥ दन्दशूकस्याप्यस्यातिमहानयमनुग्रहः पूर्वपुण्यकृत एवेति तत्पूर्वपुण्यमभिनन्दन्त ऊचुः ॥ तप इति ॥ हे कृष्ण, अनेनास्मद्भर्त्रा, पूर्वं पूर्वस्मिन् जन्मनि, निरस्तमानेन निरस्ताहंकारेण, मानदेनान्येभ्यो मानं प्रयच्छता सता च, किं तपः सुतप्तं सुष्ठु कृतं स्यात् । पाकं पचतीतिवन्निर्देशः । अथवा, सर्वजनानुकम्पया सर्वेषु जनेषु विहितया दयया युक्तः, कश्चित् धर्मो वा, अनुष्ठितः स्यात्, यतस्तपआदितः, सर्वान् जीवयतीति सर्वजीवः भवान्, तुष्यति तुष्टोभवितुं तावद्भवयतीति भावः ॥ ३५ ॥ अन्तर्विचारिते न तपआदिनिमित्त एष भाग्योदयः, किं तु अचिन्त्यं किंचित्तवेदं कृपावैभवमित्याहुः श्लोकत्रयेण ॥ कस्येति ॥ अस्य कालियस्य, तव अङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारस्त्वदीयपादरजः संस्पर्शाधिकारिता, कस्य पुण्यस्य, अनुभावः प्रभावः । तथाविधं पुण्यं, न वेद अयं सर्पो न जानाति । वयमपि, न विद्महे । तवेत्यनेन भगवदङ्घ्रिरेणोर्दौर्लभ्यमभिप्रेतं तदेव विष्कुर्वन्ति । यद्वाञ्छया यदङ्घ्रिरेणुलिप्सया, ललना भगवतस्तव पत्नी सत्यपि, श्रीः स्वयं लक्ष्मीः, यदङ्घ्रिरेणुं ब्रह्मादयो वाञ्छन्ति, तथाभूता स्वयं रमेत्यर्थः । कामानङ्घ्रिरेणुव्यतिरिक्तान् सर्वान् पुरुषार्थान्, विहायानिच्छन्ती, धृतं व्रतं यया सा धृतव्रता पञ्चर्योपयुक्तेन्द्रियजयात्मकव्रता तथाभूता सती, सुचिरं बहुकालं, तपः अचरत् । पुरा श्रीर्वेदवतीरूपेण तपश्चचारेति आर्षरामायणकथाऽत्र सूचिता ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

न्याय्य इति : १०.१६.३३.

अत्युग्रकर्मा चरणानुरूपं फलं त्वनेनेदमभोजि भोगिना । एतावतैवाजनि तेऽवतारकृतार्थतेतः परमीश पाहि नः ॥ ६८ ॥

नृपो यदि न शिक्षयेदनयवर्त्मभाजः प्रजास्तदा निजपदानुगा यदुपते भवेयुः कथम् ।
अतः समुचितं प्रभो व्यरचि शासनं यद्वयं सदा भुवनवासिनस्त्रिभुवनैकनाथो भवान् ॥ ६९ ॥

शिक्षैव धर्मो न नृपस्य केवलो धर्मः प्रजारञ्जनमप्यमुष्य हि ।
तत्कर्तुरीश प्रथमं तवोरगाधीशे द्वितीयोऽप्युचितोऽस्ति सम्प्रति ॥ ७० ॥

अनुग्रह इति : १०.१६.३४,

त्वद्बुद्धयाऽयं दण्डोऽप्यस्मद्बुद्धया त्वनुग्रहो भूयात् । अपि दुर्लभं श्रीयस्तल्लब्धमनेन त्वदङ्घ्रिकञ्जरजः ॥ ७१ ॥

अनुग्रहात् केवलतो गरीयाननुग्रहो निग्रहपूर्वको यः । मदोऽखिलोऽपि प्रथमादपैति परप्रसादं च परस्तनोति ॥ ७२ ॥

तप इति : १०.१६.३५,

यद्यप्यस्मिञ्जन्मनि क्रूरकर्मा निर्वर्ण्यं तु प्राक्तन भागमस्य । यस्मादीशाशेषजीवाश्रयेण कामं चक्रे यस्त्वया रङ्गभूमिः ॥ ७३ ॥

कस्येति : १०.१६.३६.

किमस्माभिः पूर्वं सुकृतमिह वा जन्मनि कृतं न विद्मः पद्मेश त्रिभुवनपते यत्फलमिदम् ।
प्रपश्यामः सम्प्रत्यत्यनुतनुरूपं तव सुरैरजेशाद्यैर्बुद्धयाऽप्यनधिगतमद्यापि यदहो ॥ ७४ ॥

स्वतस्त्वं पुन्नागो भवसि भुवने नागशयनस्तथाऽऽध्येयो नागानन गुरुमुखैर्नागपनुतः ।
अतस्त्वत्तो नागानवरत-दयाशालिहृदयान्न नस्तज्जातीनां भयमिति विभो निश्चितमिदम् ॥ ७५ ॥

नमः सनातनाय ते नमः सुधाब्धिवासिने नमो रमाविलासिनं नमोऽवतारशालिने ।
नमो व्रजार्तिहारिणे नमः सदिष्टकारिणे नमः कृपाप्रसारिणे स्वदासधारिणे नमः ॥ ७६ ॥

दुर्वर्ष-रोप-विष-भेषज-मेकमेव लाकोत्तरं नतिनुतिप्रचुरं वचो यत् ।
जानन्त्य इत्यमवलाः स्वधिकारहीनाश्चक्रुर्नतीर्बहुविधाः प्रणुतीस्तथेशे ॥ ७७ ॥

कृष्णप्रिया

नागपत्न्यां निवेदन करने लगी कि-हे नाथ यह कालिय नाग बडा अपराधी एवं महापापी है आपने कालिय नागको दण्ड दिया वह सर्वथा समुचित है, एवं न्याययुक्त ही है । आपका अवतार खलोंके निग्रह के लिये ही है । आप सापराध संतानों के लिए एवं सापराध शत्रुओंके एक समान दृष्टि वाले हैं आप जो कुछ दण्ड शिक्षा आदि करते हैं वह हितकर परिणाम का

विचार कर ही करते हैं। निरपराधी शत्रुओं को आप कभी सताते नहीं॥ ३३॥ भगवन्! कालिय नागको किया हुआ यह निग्रह–यह दण्ड, सचमुच कालिय नाग पर अनुग्रह है। आप जो असज्जनों को दण्ड देते हैं वह तो पापियों के पापोंके निवारण के लिए होता है। कालिय नागने जिस पाप के फलस्वरूप यह सर्पयोनि पाई थी, वह दण्ड से निवृत हो गई। नाथ! सज्जन तो जानते हैं एवं मानते हैं कि आपका क्रोध भी कृपा का स्वरूप है॥ ३४॥ इस कालिय नाग ने पूर्व जन्म में कौन सा तप किया कि जिस पुण्य के फलस्वरूप सर्वजीव को जिलाने वाले आप कालिय नाग पर प्रसन्न हो गए, ऐसा लगता है कि कालिय नाग ने अमानी बनकर सब को मान दिया है, भगवत्तोष साधक धर्मका अनुष्ठान किया है, जीव मात्र पर दया भी की है; अन्यथा आप कालिय पर प्रसन्न कैसे होते!॥ ३५॥ हे देव! हे नाथ! यह बात समझ में नहीं आती कि यह कालिय आप श्री के श्री चरणोंकी पवन धुलीके स्पर्शका अधिकारी कैसे बना! हे देव! भगवती श्री जो आपकी प्रियतमा ललना है फिरभी सर्व कामनाओं से पर होकर चिर काल पर्यन्त व्रत का अधिकार कर आप के चरणों की रजःप्राप्ति के लिए सुदीर्घ तप किया, ऐसी श्रीदेवी के लिए दुर्लभ चरणों की रज कालीय नाग ने कैसे प्राप्त की। किस अनुग्रह का यह कालिय नाग को फल मिला॥३६॥

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजः[1]प्रपन्नाः॥ ३७॥
[2]तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः[3]।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः[4] स्याद् विभवः समक्षः॥ ३८॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने। भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने॥ ३९॥
ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च॥ ४०॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यत्पादरजःप्रपन्नाः नाकपृष्ठं न सार्वभौमं न च पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् न योगसिद्धीः न अपुनर्भवं वा न वाञ्छन्ति॥ ३७॥ हे नाथ संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणः यत् इच्छतः विभवः समक्षः स्यात् अन्यैः दुराप तत् तमोजनिः क्रोधवशः अपि एष अहीशः आप॥ ३८॥ भगवते पुरुषाय महात्मने भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने तुभ्यं नमः॥ ३९॥ ज्ञानविज्ञान-निधये ब्रह्मणे अनन्तशक्तये अगुणाय अविकाराय अप्राकृताय च नमः ते॥ ४०॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यत्तव पादरजःप्रपन्नाः प्राप्ताः पारमेष्ठ्याद्यपि तुच्छं मन्यंते॥ ३७॥ अहो तदेषः अयत्नत एव प्राप। अन्यैः श्रयादिभिरपि। कथंभूतं पादरजः। यदिच्छतः सेव्यं मे भवत्विति प्रार्थयमानस्यैव समक्षः प्रत्यक्ष एव विभवोऽपेक्षिता संपद् भवति॥ ३८॥ नमस्तुभ्य भगवतेऽचिंत्यैश्वर्यादिगुणाय। तदुपपादनाय दशभिः श्लोकैर्विशेषणानि। पुरुषाय पूर्व्वंतर्यामिरूपेण वर्तमानाय। महात्मने एवमपि नातिपरिच्छिन्नाय। कुतः। भूतावासाय आकाशाद्याश्रयाय। एतदपि कुतः भूताय पूर्वमपि सते। कुतः। पराय कारणाय। किं च परमात्मने कारणातीताय॥ ३९॥ कारणत्वं कारणातीतत्वं च समर्थयितुमाहुः। ज्ञानविज्ञान-निधये ज्ञानं ज्ञप्तिः विज्ञानं चिच्छक्तिः उभयोर्निधये ताभ्यां पूर्णाय। कथं तथात्वमत उक्तं ब्रह्मणेऽनंतशक्तये। कथंभूताय ब्रह्मणे अगुणायाविकाराय। पुनः कथंभूतायानंतशक्तये। प्राकृताय प्रकृतिप्रवर्तकाय। अप्राकृतायेति वा अप्राकृतानंतशक्त्युक्ताय। अयमर्थः अगुणत्वादविकारं ब्रह्म ज्ञप्तिमात्रत्वात्कारणातीतं प्रकृतिप्रवर्तकोऽनंतशक्तिर्विज्ञाननिधित्वादीश्वरः कारणं तदुभयात्मने नम इति॥४०॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यस्य पादरजो यत्पादरजः। तुच्छं मन्यंते मृषात्वात्, अपुनर्भववांछा तु तेषाम् "अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुंक्ते" इति तस्यानिच्छालभ्यत्वात्। यद्वा न पुनर्भवो यस्मात्तद्रज इति ज्ञेयम्॥ ३७॥ अहो अद्भुतम्। तत्पादरज एव सर्प आप प्राप। यत्पादरजोऽपेक्षिता संपद्भवतीत्यन्वयः। ऐहिकी पारत्रिकी च विभूतिः प्रेमसंपद्वा भवतीत्यर्थः। अन्यैर्दुरापमत्र श्रुतिः—"नान्यैर्देवै-र्मनसा वाचा" इति। मनोवाक्शब्दावत्र ज्ञानकर्मेंद्रियोपलक्षकौ। मनुष्यशरीरमेव कल्याणहेतुरिति नियमस्तु नास्तीत्याह अहीश इति। यदा भवतः कृपाकटाक्षपातस्तदेव कल्याणमिति तात्पर्यम्॥३८॥ तत् अचिंत्यैश्वर्यादि। एवमपि प्रपुं वर्त्तमानत्वेऽपि। नाति-परिच्छिन्नाय अतिशयेनापरिमितायेत्यर्थः तदपि। तत्र हेतुं शंकते–कुत इति। आकाशाद्याश्रयत्वमपि। कारणस्याप्याकाशादेस्तन्मात्रा-

१ त्वत्पाद–विज. । २ तदीश–विज. ३ प्यनीशः–विज। ४ यदृच्छया स्याद्भवतस्समक्षं–वीर. ; यदीप्सितं स्याद्धि भवत्समक्षं–विज.।

कार्यत्वश्रुतेस्तस्यापि कारणांतरेण भाव्यमित्याशंकानिवृत्त्यर्थमाह—किं चेति ॥ ३९ ॥ समर्थयितुं बोधयितुम् । तथात्वम् तत्तत्पूर्णत्वम् । उभयपूर्णत्वप्रतिपादनाय । अत इति चतुर्थ्यर्थे तसिः । उक्तम् पदद्वयं ब्रह्मणे अनंतशक्तये इति । प्रकृतिप्रवर्तकत्वे तस्य प्रयोजकत्वं गन्त्रानोऽर्थांतरमाह—अप्राकृतेति । प्रकृतिकार्यकर्तृत्वादिवर्जिताय । अथमर्थ इति । व्यावहारिकज्ञानस्य सकारणत्वेऽपि परमार्थज्ञानस्य कारणानोतत्वमेव, अल्पज्ञस्य सृष्टिकारणताभावेऽपि सर्वज्ञस्यानंतशक्तिमतः कारणता भवत्येवेति निर्गलितोऽर्थः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तु तावत्त्वत्पादाब्जयोर्द्वयोर्बहुतररेणूनाम् स्पर्शमाहात्म्यं तदेकस्य यथाकथञ्चित् आश्रयणमाहात्म्यमप्यनिर्वाच्यमित्याहुः—नेति । नाकपृष्ठं न वाञ्छन्ति किंुत सार्वभौमम् एवं पारमेष्ठ्यमित्यादि कर्मफलं कैमुत्येनोक्त्वा योगादिफलं समुच्चयेनाह न योगेति अत्र टीकायां नाकपृष्ठादीति लेख्ये पारमेष्ठ्यादीति लेखभ्रमात् ॥ ३७ ॥ अन्यैर्ब्रह्मादिभिः परमोपासकैरपि दुःखेन प्राप्यं न त्वद्यापि प्राप्तम् एष महापराधोऽपि यतस्तमोजनिस्तामसजातिः तत्र च क्रोधवशः तत्रापि अहिषु श्रेष्ठोऽपि तदेव प्राप्तः एतच्च साधनप्रद्युम्नादि न घटते केवलं त्वत्कारुण्यादेवेति सम्बोधयन्ति नाथयति दीनान् याचयतीति हे नाथेति । किञ्च यस्मिन् भव सम्बन्धमात्रेण सर्वेषां स एव सिद्धिः स्यादित्याहुः—सं रेति देहाभिमानिनोपि विभवः ऐहिकी पारलौकिकी च विभूतिः प्रेमसम्पद् एवं प्राप्यनुचितम् अतोऽधुना साक्षात्त्वत्पादाब्जद्वयाङ्गीकृतफणागणोऽयं व्यक्तविभवविशेषमेव खलु प्राप्तुमर्हतीति भावः ॥ ३८ ॥ एवं दण्डमनुमोदमाना एवेदृशेऽन्येतावदनुग्रहेणाश्चर्यं मत्वा तत्परिहाराय मिथो विरोधिनानाधर्माश्रयत्वं दर्शयन्त्योऽत्वर्यशक्तित्वात्स्तुति क्षमापणदंन्येन च प्रणमन्ति—नम इति दशभिः । भगवते अतर्क्यानिन्तैश्वर्यनिधये अत एव सर्वे विरोधास्त्वयि विलीयन्त इति स्तुवन्ति पुरुषायेत्यादिना । एतच्च प्रायो हेतुहेतुमत्तादिप्रदर्शनेन तैरपि व्यञ्जितमेव । यद्वा पुरुषायेत्यादिविशेषणानां मध्ये प्रायो द्वाभ्यां द्वाभ्याम् अतिदुर्घटतया क्वचिदेकैको विरोधः क्वचित्तु विश्ववैलक्षण्येन विस्मयो द्रष्टव्यः तथाहि पुरुषायापि महात्मने व्यापकाय भूतावासाय सर्वजीवेष्वन्तर्यामितया नियामकाय अथ च भूताय जीवानां तदंशत्वेनाभेदात् जीवनरूपाय तद्रूपत्वेन नियम्यायेत्यर्थः यद्वा भूतावासाय जननिवासाय भूताय गृहीतजन्मने तथा च वक्ष्यति स्कन्धान्ते "जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः" इत्यद्भुतत्वम् पराय सर्वतो भिन्नत्वेन स्थिताय अथ च परमात्मने सर्वेषां हृदि वर्त्तमानाय ॥ ३९ ॥ ज्ञानस्वरूपाय अथ च विज्ञानविधये कर्मधारयः ब्रह्मणे सजातीयादिभेदरहितस्वरूपाय अथ च अनन्तशक्तये अगुणत्वेनाविकाराय अथ च प्रकृतिप्रवर्त्तकाय इत्यद्भुतत्वमेव परत्राप्येवमेव ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो ! अस्तु तावच्छ्रीपदाब्जयोर्बहुतर-रेणूनां स्पर्शविशेषमाहात्म्यम्; तदेकस्य यथाकथञ्चिदाश्रयणमाहात्म्यमप्यनिर्वाच्यमित्याहुः—नेति । नाकपृष्ठं स्वाराज्यम्, सार्वभौमं साम्राज्यम्, रसाधिपत्यं पातालस्वाम्यम्, योगसिद्धीरणिमाद्याः, अन्यत् स्पष्टम्; सच्चिदानन्दघनमूर्तेः श्रीभगवतः पादाब्जरजसोऽपि तादृशतया तत्प्रपत्तिमात्रेणापि तत्तदनिच्छा युक्तैव—तदपेक्षया नाकपृष्ठादीनामतितुच्छत्वादिति भावः । अत्र टीकायां नाकपृष्ठादिति लेख्ये पारमेष्ठ्यादीति लेखकभ्रमात् ॥ ३७ ॥ अन्यैर्ब्रह्मादिभिर्भक्त्याद्यैर्विशिष्टैर्दुःखेन प्राप्यम्, यद्वा, त्वदभक्तेतरैर्ब्रजजनेतरैर्वाऽलभ्यमप्येष महापराध्यपि, यतस्तमोजनिस्तत्र च क्रोधवशस्तत्राप्यहिषु श्रेष्ठोऽपि तदेव प्राप्तः । एतच्च कयापि युक्त्या न घटते, केवलं त्वचिन्त्यप्रभावादेवेति सम्बोधयन्ति—नाथ हे ईश्वरेति, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हे परमस्वतन्त्रेत्यर्थः । तमोजनिरित्यादिविशेषणानामयं गूढोऽभिप्रायः—ईश्वरेण त्वया विहित-जातिस्वभावस्य दोषो नामायम्, तत्रास्य कोऽपराध इति विचार्य्य त्वया क्षन्तुमेव युज्यते इति । एतच्चाग्रे व्यक्तं भावि । किञ्च, यस्मिन् मनःसम्बन्धमात्रे सकामानां देहाद्यासक्तानामपि सद्य एव सर्वेष्टसिद्धिः स्यादित्याहुः संसारेति । संसारस्य जन्ममरणादिलक्षणस्य चक्रं समूहः किंवा, संसार एव चक्रवत् - पुनः पुनरावृत्त्या चक्रम्, तस्मिन् । अतएव भ्रमतो विविधदुःखमनुभवतः, पुण्यपापादि कुर्वतो वा, देहाभिमानिनोऽपि विभव ऐहिकी विभूतिः, प्रेमसम्पद्वा – रजसः श्रीचरणाब्जसम्बन्धेन परमाद्भुततानन्त-माहात्म्यात्, यद्वा, सम्यक् सारश्चतुर्वर्गश्रेष्ठो मोक्षः, स एव चक्रं परमभ्रामकत्वात्, तस्मिन् भ्रमतो मुमुक्षुवर्ग-प्रतिपाद्यमानाध्यात्मवाक्यादिभिः निःसत्त्वमशक्नुवतोऽपि जनस्य, विभवः श्रीवैकुण्ठलोक-सम्पत्तिः, समक्षः साक्षादत्रैव स्यात् । अन्यत् समानम् । एवं प्राप्यनुचितमतोऽधुना साक्षात् त्वत्पादाब्जद्वयमंगीकृतगणगणोऽयं व्यक्तविभवविशेषमेव खलु प्राप्तुमर्हतीति भावः ॥ ३८ ॥ नाथेति (३८ श्लो०) सूचितमचिन्त्यप्रभावत्वमेव बहुधा दर्शयन्त्यो भक्त्या प्रणमन्ति, नम इति दशभिः । भगवतेऽतर्क्यानिन्तैश्वर्यनिधये, अतः सर्वे विरोधास्त्वयि विलीयन्त इति स्तुवन्ति—पुरुषायेत्यादिना । एतच्च प्रायो हेतु हेतु-मत्तादि-प्रदर्शनेन तैरपि व्यञ्जितमेव । यद्वा, पुरुषायेत्यादिविशेषणानां मध्ये प्रायो द्वाभ्यां द्वाभ्यामतिदुर्घटतया क्वचिदेकैको विरोधः, क्वचित्तु विश्ववैलक्षण्येन विस्मयो द्रष्टव्यः । तथा हि पुरुषायापि महात्मने व्यापकाय, भूतावासाय सर्वजीवेष्वन्तर्यामितया नियामकाय, अथ च भूताय जीवानां तदंशत्वेनाभेदाज्जीवरूपाय तद्रूपत्वेन नियम्यायेत्यर्थः, यद्वा भूतावासाय जननिवासाय भूताय गृहीत जन्मने । तथा च वक्ष्यति स्कन्धसमाप्तौ (भा. १०।९०।४८)—'जयति जननिवासो देवकीजन्मवादः' इत्यद्भुतत्वमेव, पराय सर्वनियन्त्रेऽथ च परमात्मने सर्वप्रवर्तकाय

नियोजकस्याज्ञया कृतस्य कर्मणो नियोज्येषु दोषाद्यस्पृष्ट्या दण्डादि-नियमनमद्भुतमेव, यद्वा, पराय सर्वतो भिन्नत्वेन स्थितायाथच सर्वेषां हृदि हृदि वर्त्तमानाय ॥ ३९ ॥ ज्ञानस्वरूपायाथच विज्ञान-निधये ब्रह्मणेऽथानन्तशक्तयेऽगुणत्वेना-विकारायाथचप्रवृत्ति-प्रवर्त्तकाय, यद्वा, ज्ञानादिनिधयेऽपि ब्रह्मणेऽनन्तशक्तयेऽप्यगुणायाविकारायाप्यप्राकृतायेत्यत्राद्भुतत्वमेव। परत्राप्येवमेव ज्ञेयम् ॥ ४० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

रसाधिपत्यं पातालाधिपत्यम् ॥ ३७ ॥ प्रत्यक्षत्वं साक्षात्कारः तमन्यैर्दुरापं एष आपेत्यन्वयः ॥ ३८-३९ ॥ ज्ञानविज्ञान-शब्दौ धर्मिधर्मविषयौ अगुणाय सत्त्वादिगुणरहिताय अप्राकृताय अकार्यभूताय यद्वा प्राकृताय प्रकृतावुपलभ्याय ॥ ४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नन्वैश्वर्यकैवल्यादिषु प्रार्थनीयपुरुषार्थेषु सत्स्वपि तान्विहाय किं विशेषेण मदङ्घ्रिरेणुं वाञ्छन्तीत्यत्राहुः नेति। ये त्वत्पा-दरजःप्रपन्नास्ते पारमेष्ठ्यादिकं न वाञ्छन्ति पारमेष्ठ्यादिभ्यो ऽतिशयपुरुषार्थरूपं त्वत्पादरजः सेवमानास्तेनैव तृप्ताः पारमेष्ठ्यादिकं न वाञ्छन्तीत्यर्थः। तत्र पारमेष्ठ्यं चतुर्मुखैश्वर्यं नाकपृष्ठं स्वर्लोकं सार्वभौमं चक्रवर्तित्वं रसाधिपत्यं भूर्लोकादधस्तनलोकाधिपत्यं योगसिद्धीरणिमादीन् अपुनर्भवं कैवल्यम् ॥ ३७ ॥ तर्ह्येवं कृपणस्यापि कथं दुर्लभतममस्मत्पादरजःस्पर्शाधिकारः ? तत्राहुः—तदिति एष अहीशः सर्पाधिपस्तमोजनिस्तमः प्रचुरजन्मास्त एव क्रोधवशः तदपि तथापि हे नाथान्यैर्दुष्प्रापं त्वत्पदाम्बुजस्पर्शम् आप लेभे यद्भवतः समक्षं प्रत्यक्षत्वं तदन्यैर्दुरापमपि एष आपेति वान्वयः युक्तञ्चैतदित्याहुः—संसारचक्रं स्वकर्मभिर्भ्रमतो जीवस्य यदृच्छया भवतः समक्षत्वं स्यात् —

एवं संसृतिचक्रेऽस्मिन् भ्राम्यमाणं दुरत्यये। जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायत ॥

इतिस्मरणादिति भावः। विभव इति पाठे विभवस्तदनुग्रहरूपो विभवः समक्षः प्रत्यक्षः स्यादेव यादृच्छिकादिसुकृतविशेषरूपव्याज-मात्रावलंबनेनानुजिघृक्षोर्वात्सल्यनिधेस्तवानुग्रहरूपो विभवः प्रत्यक्षः स्यादेव अन्यथा कस्यापि चेतनस्य निर्दुष्टस्यासम्भवात् त्वत्कृपा-निर्विषयैव स्यादिति भावः ॥ ३८ ॥ तदेवं कार्पण्यमाविष्कृत्याथ शरण्यत्वोपयुक्तगुणैर्विशिषन्त्यः स्तुवन्ति—नम इति दशभिः। चतुर्थ्यन्तानां भगवत इत्यादीनां तुभ्यं नमः इत्यन्वयः तत्राश्रितकार्यनिर्वाहका आश्रयणसौकर्यापादकाश्चेति द्विविधाः शरण्यगुणास्तत्र ज्ञानशक्तिपूर्तिप्राप्त्यादय आश्रितकार्यनिर्वाहकाः तत्र ज्ञानमनिष्टपरिहारेष्टप्रापणोपयुक्तरूपं तच्च ज्ञानविज्ञाननिधय इत्यनेनोक्तं ज्ञानमनिष्टपरिहारोपयुक्तं विज्ञानमिष्टप्रापणोपयुक्तं तयोर्निधिराश्रयः तस्मै शक्तिर्नाम अघटितघटनसामर्थ्यात्मिका स चानन्तशक्तय इत्यनेनोक्ता ब्रह्मण इत्यनेन सर्वशेषित्वादिगुणबृहत्त्ववाचिना भगवत इत्यनेन षाड्गुण्यपूर्णवाचिना पूर्तिप्राप्ती विवक्षिते पूर्तिरवाप्त-समस्तकामत्वं प्राप्तिर्निरुपाधिकशेषित्वम् आश्रयणसौकर्यापादकास्तु गुणाः परत्वस्वामित्वसौशील्यवात्सल्यादयस्तत्र भूताय पराय परमात्मन इति परत्वमुक्तम् परत्वं नाम स्वेतरापेक्षयोत्कृष्टत्वम् —

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

इति स्वेतरनिखिलजगदन्तः प्रवेशनप्रशासनाभ्यां व्याप्यगतदोषास्पर्शेन च धारकत्वं हि परमात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमवगतम् अनेन स्वेतरनियाम्यसर्ववस्त्वपेक्षयोत्कृष्टत्वं स्पष्टमेव पराय भूताय भूतत्वमत्र सर्वेभ्यः कारणतया प्रागवस्थितत्वं परमकारणायेत्यर्थः। अनेनापि परत्वं स्पष्टमेव भूतावासायेत्यनेन सौलभ्यमवगतं परत्वयुक्तोपि न मेर्वादिवद्दूरतरोऽपि तु सर्वभूतहृदयगुहावास इति भावः। अनेन सौलभ्यं सुव्यक्तमेव, पुरुषाय महात्मन इत्यनेन सौशील्यं विवक्षितं स्वयं वाचामगोचरमाहात्म्ययुक्तोपि यादवाना-मन्यतमपुरुषरूपेण तैः सह संश्लेषस्वभाव इति भावः। महतो मन्दैः सह संश्लेषस्वभावत्वं हि सौशील्यं महापराधीनं कालिय मनुगृहीतुमुद्योगप्रत्याख्यानपरेणानेन प्रकरणेन वात्सल्यं व्यक्तमेवावगतं भूतावासाय परमात्मने इति व्यापकत्वोक्त्या प्रसक्तं व्याप्य गतदोषं परिजह्रुः अगुणायेति। हेयगुणरहिताय पराय भूतायेति कारणत्वोक्त्या प्रसक्तविकाराश्रयत्वपरिहाराभिप्रायेणाविकाराये-त्युक्तिः सद्वारकविकाराश्रयत्वेन कारणत्वेऽपि स्वरूपतः स्वभावतश्चाविकारायेत्यर्थः। सद्वारकविकाराश्रयत्वमेव स्पष्टयन्ति प्राकृताय "भूमिरापोऽनलो वायुः अपरेयमितस्त्वन्याम्" इति श्लोकद्वयोक्तप्रधानपुरुषात्मकप्रकृतिद्वयद्वारा तद्गतविकाराश्रयाय ॥ ३९-४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कीदृशा विषया इति भावेन तानाहुः—न नाकेति। नाकस्य पृष्ठं सुकृतेनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तीति पारमेष्ठ्यं सत्यलोकः सार्वभौमं चक्रवर्तिपदं "इमा रामाः सरथाः सतूर्याः" इत्यादिलक्षणं रसाधिपत्यम् अखिलस्वर्गविभवं योगसिद्धि-रणिमादिलक्षणाः अपुनर्भवम् अपवर्गभक्तिलभ्यं मोक्षम् "अपुनर्भवमात्राद्धि हरिसामीप्यमुत्तमम्" इत्यादि स्मृतेः ॥ ३७ ॥ किं बहु वक्तव्यमिति भावेन वदन्ति—तदिति। ईशनाथ, शङ्करस्वामिन्! यद्भवत्समक्षं भवतः साक्षात्करणं तदपि दुरापम् "न चक्षुसा

पश्यति कश्चिदेनं, नान्यैर्देवैर्मनसा नापि वाचा" इत्यादिश्रुतेः। साधनसामग्रीमन्तरेण दुष्प्रापमित्यर्थः। तमसा गुणेन जनिः यस्य स तथा अत एव क्रोधस्वभावः तथाप्यनीशोऽसमर्थः॥ ३८॥ "दण्डोपि भगवच्चीर्णः" इति स्मृत्यर्थमात्मनि कृष्णं स्तुवन्ति—नम इत्यादिना। भूतावासायेत्यनेन भूतनाशेन नाशः स्यादित्युच्यत इति शङ्कां निवारयति भूतायेति विद्यमानाय "भू सत्तायाम्" इति धातुः॥ ३९॥ अधिकारायेत्युक्तं समर्थयते, अप्राकृतायेति॥ ४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

भो नाथ! वयं स्त्रियस्तत्रापि तिरश्च्यः, तत्रापि शोकार्ता इत्यस्माकं प्रलाप एवायमिति मा जानिथाः; किन्तु तव पादरजसः प्रभाव ईदृश एवेत्याहुः—न नाकपृष्ठमित्यादि। यत्पादरजःप्रपन्ना यस्य तव पादरजसि प्रपन्ना जनास्तद्विना न किञ्चिद् वाञ्छन्तीति भावः॥ ३७॥ 'अहो किमस्य भाग्यम्' यदनेन तदप्रयत्नेनैव प्राप्तमित्याहुः—तदेष नाथेत्यादि। हे नाथ! तत्ते पादरज एव आप। तदिति एवं-प्रकारेण स्वयमेव मूर्ध्नि नटता तेन सर्वतः सञ्चारितम्। अत आहुः—दुरापमन्यैः, अन्येषामिदृक् सौभाग्यं नास्ति। तस्मादयमहीशः क्रोधवशोऽपि तमोऽजनिः, तमसा अजनिः, अतमोजनिरित्यर्थः। तमसा जातस्यैवंविधसौभाग्यमसम्भवं स्यात्। अन्यथा (३५ श-श्लो.) "तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वम्" इत्यादि पूर्वोक्तस्यासङ्गतिः। तस्मात्तवैवेदृशी लीला नान्यथा प्रकारेण स्यादिति तवैवेच्छयायं नागयोनिगतः क्रोधान्धश्चाभूत्। वस्तुतस्तव भृत्योऽयम्। तत् प्रापेति तच्छब्दस्य साक्षात्तत्प्रयोजन यच्छब्देन तदर्थं परिपोषयन्त्य आहुः—संसारचक्रे इत्यादि। संसारचक्रे भ्रमतो जनसमुहस्य मध्ये यद्वाञ्छतो यत्तत्वार्थिगणस्याभिलषत एव समक्षः साक्षाद्वर्ती विभवः परमपदलाभः स्यात्। प्राप्तवतस्तु किमुतेत्यस्य तव भृत्यत्वं सिद्धमेवेति॥ ३८॥ तस्मादेवं रूपमकरुणाय तुभ्यं नम इत्याहुः—नमस्तुभ्यमित्यादि। तुभ्यं भगवते नमः। कीदृशाय? महात्मने, मह उत्सव आनन्द इत्यर्थः स्तत्स्वरूप आत्मा विग्रहो यस्य तस्मै। अतएव पुरुषाय पुरुषोत्तमाय, भीमो भीमसेनवत्। अथवा अपुरुषाय पुरुषस्यापि परायेत्यर्थः। अत एव भूतावासाय, भूतानां पृथ्व्यादीनामवासायानन्दमात्रविग्रहाय। भूताय भूः सत्ता तद्रूपाय सत्तारूपाय, अतः पराय परमात्मने परमपरमात्मन इत्यर्थः॥ ३९॥ भो भगवन्! ब्रह्मेति परे यत् परात्परं वदन्ति, तदपि त्वमेव। त्वदितरन्न तदिति ब्रह्मत्वेनैव तं स्तुवन्त्य आहुः—ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तय इत्यादि बहुभिः॥ ४०-४४॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यः पादस्पर्शस्तव सर्वनैरपेक्ष्येणैव भवतीति दर्शयति-न नाकपृष्ठमित्यादि। किं बहुना, अपवर्गमपि न वाञ्छन्तीत्यत्र अपुनर्भवं वेति। ते के? तत्राहुः—यत् पादरजःप्रपन्नाः स ईदृक् ते पादस्पर्शस्तिर्यक्योनेरप्यस्याभूदहो किमनेन सुकृतं कृतमित्यर्थः॥ ३७॥ एतदेव प्रपञ्चयति—तदेष इत्यादि। हे नाथ! अन्यैर्भक्तेतरैर्दुरापं त्वत्पादरज एष आप अहोचित्रम्। तमोजनिस्तत्रापि क्रोधवशस्तत्राप्यहीन्द्रः संसार-चक्रे भ्रमतोऽस्य शरीरिणः। समक्षः साक्षादपरोक्षो विभवो ब्रह्मसम्पत् स्याद् भवति। 'यदिच्छतो जनस्य' इत्यनादरे षष्ठी। अनिच्छतोऽप्यस्य यदिच्छन्तं जनमनादृत्य स्याद् य इच्छति तस्य वरमेष विभवो न स्यात् अनिच्छतोऽपि स्यादित्यर्थः॥ ३८॥ तस्मात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थाय नमस्ते इत्याहु—नमस्तुभ्यमित्यादि। भगवते महात्मने मह उत्सव आनन्दस्तन्मयात्मने पुरुषाय पुरुषोत्तमाय। यद्वा, पुरुषाणां, नारायणादीनां त्रयाणामाद्यो वृद्धिस्तत्स्वरूपो यो महः उत्सव आनन्दस्तदात्मने। भूतावासाय भूतानि पृथिव्यादीनि तेषामावासाय आनन्दमात्रविग्रहाय। भूताय भूः सत्ता तत्र ...मित्यविग्रहायेत्यर्थः। यतः पराय परमात्मने परमात्मा हि यः कथ्यते, तस्मादपि पराय॥ ३९॥ हे नाथ! कथं स्तोतव्योऽसि त्वमनिर्वाच्यमहिमा, वयं तिर्यञ्चः तत्रापि स्त्रियस्तत्रापि शोकार्त्ताः, तदा कथं स्तोतव्यग्रत्वम्? त्वद् वैभवं ब्रह्म स्तुम इत्याहु—ज्ञान विज्ञान,निधये इत्यादि। हे अनन्त! अपरिच्छिन्न? तव शक्तये शक्तिरूपाय ब्रह्मणे नमः। किम्भूताय ब्रह्मणे? ज्ञान,विज्ञाननिधये इत्यादि कृष्णाय नम इत्यन्तं सर्वं तुल्यम्॥ ४०-४४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एतावन्महिमभिर्मत्पादरेणुभिः किं फलं स्यादिति चेन्मैवं वाच्यं तव चरणरेणव एव फलं सर्वफलेभ्योऽप्यधिकमित्याहु नेति। प्रपन्ना एव न वाञ्छन्ति किं पुनस्तत्प्राप्ताः अपवर्गमपि किम्पुनर्नाकपृष्ठादिकम्॥ ३७॥ अन्यैर्लक्ष्म्यादिभिरपि किञ्च सर्वकाम मुकुटभूतमपि त्वत्पादरजः सकामजन्यस्य फलसाधनमपि भवतीत्याहुः—संसारेति। इच्छतः सकामस्य शरीरिणः यद् यतो विभवः समक्षः इच्छाविषयीभूतादपि यतः अपेक्षिता सम्पत्तिः प्रत्यक्षैव भवतीत्यर्थः॥ ३८॥

"षड्भिः श्लोकैः कृपामेवं विवृत्य दशभिः पुनः। एकादश नतीश्चक्रु भक्त्या कालिययोषितः"॥

भक्तेरुपास्यत्वेनाहुः भगवते अप्राकृतषडैश्वर्य्यवते पुरुषाय नराकाराय महात्मने नराकृत्यापि सर्वव्यापकाय यागिभिरुपास्यत्वेनाहुः सर्वभूतनिवासाय भूताय पूर्वमपि सते॥ ३९॥ ज्ञानिभिरुपास्यत्वेनाहुः—ज्ञानविज्ञानयोः सम्पदोर्निधिरिव निधिस्तस्मै पुनर्मु... नराकारे तस्मिन्मन्दधीभिः प्रसञ्जितान् गुणविकारादिदोषान् वारयन्त्य आहुः—अनन्तशक्तये अतर्क्यानन्तशक्तिसमुदाय अगुणाय 'विकाराय प्राकृतगुणविकाररहिताय अप्राकृताय अप्राकृतगुणविकारसहितायेत्यर्थः॥ ४०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

भगवदङ्घ्रिरेगुस्पर्शाधिकारिकृतार्थताकथनपूर्वकं कालीयभाग्यातिशयमाहुः—नेति द्वाभ्याम् । यद्येरवत्पादरजःप्रपन्नाः प्राप्तास्ते पारमेष्ठ्याद्यपि न वाञ्छन्ति ॥ ३७ ॥ तत्तव पादरजः एष तमोजनिरपि आप अहो अस्य भाग्यमिति भावः यदिच्छतः यस्त्वदीयपादरजो मे सेव्यं भवत्विति प्रार्थयत एव समक्षः प्रत्यक्ष एव विभवः वाञ्छितः कामः स्यात् ॥ ३८ ॥ अथ स्तुवन्ति—नम इति द्वादशभिः भगवते—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णां भग इतीरितः ॥

नेति स्वाभाविकैरैश्वर्यादिगुणैर्युक्ता यत्तदेवोपपादयन्ति पुरुषायेत्यादिना । पुरुषाय पूर्वन्तर्यामिरूपेण वर्त्तमानाय तथापि महात्मने पूर्भिरपरिच्छिन्नाय भूतावासाय आकाशादिभूतोपलक्षितकार्यमात्रधारकाय भूताय पूर्ववर्तिने सर्वोद्गमनस्थानाय पराय तल्लयस्थानाय परमात्मने अन्यानिरपेक्षस्थितिप्रवृत्त्यादियुक्ताय ॥ ३९ ॥ ज्ञानं धर्मभूतं सामान्यतः सर्वपदार्थविषयकं ज्ञानमतीतानागतवर्त्तमानसर्वपदार्थविवेकलक्षण विविधं ज्ञानं तयोर्निधये अननाल्पज्ञाज्जीवात्सर्वज्ञः परमेश्वरो भिन्न इत्युक्तम् तथा च श्रुतिः "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ" इति ब्रह्मणे बृहत्स्वरूपगुणाय अनन्ता चेतनाचेतनरूपाः असंख्येयाः शक्तयो यस्य तस्मै अगुणाय सत्त्वादिगुणास्पृष्टस्वरूपविग्रहाय अविकाराय शक्तिविक्षेपत एव जगदुपादानकारणत्वात्स्वरूपतो विकारायेत्यर्थः । अप्राकृताय च प्राकृतविभूतिमते इत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु किं मत्पादरेणुभिः फलमिति चेन्नैते फलहेतवोऽपि तु परमफलान्येवेत्याहुः । न नाकेति । यस्यते पादरजःप्रपन्नाः न तु प्रातास्तेऽपि नाकपृष्ठादिकं न वाञ्छन्ति अपुनर्भवं सुखैश्वर्यप्रधानं मोक्षम् ॥ ३७ ॥ तत् त्वत्पादरजः अन्यैः श्रयादिभिरपि दुरापं इच्छतः सकामस्य शरीरिणो जीवस्य यद्यतो विभवः समक्षः तद्रजो मे सेव्यं भूयादिति वाञ्छा विषयीभूतादपि यस्मादपेक्षितादपि यस्मादपेक्षिता सम्पत्तिः प्रत्यक्षा स्यादित्यर्थः ॥ ३८ ॥ अथ दशभिर्नमस्कुर्वन्ति—नम इत्यादिभिः । भगवते नित्यपूर्णषडैश्वर्याय, पुरुषाय नराकाराय तत्त्वेऽपि महात्मने व्यापकाय अतोभूतावासाय निखिलप्राणिहृद्गताय भूताय पूर्वसिद्धाय पराय सर्वश्रेष्ठाय परा चासौ मा च श्रीस्तदात्मने तद्व्यापिने ॥ ३९ ॥ ज्ञान-विज्ञानयोर्निधिकारणाय ब्रह्मणे बृहद्गुणाय अनन्ताः शक्तयो यस्य तस्मै न गुणा सत्वादयो यस्मिन् न विकाराः षोडश यस्मिन् अतोऽप्राकृताय ॥ ४० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

न नाकपृष्ठमिति श्लोके न मोक्षसदृशं किञ्चिदित्याद्युक्तपुरुषार्थोत्तमं मोक्षं न वाञ्छन्तीति कथं कथ्यत इत्यतस्तत्तात्पर्यं मानेनाह ॥ अपुनर्भवमात्रादिति । जननादिविकलान्मोक्षाद्धरिसामीप्यं तद्रूपो मोक्ष उत्तमस्तत्रापि सामीप्येऽपि स्पर्शयोग्यत्वमुत्तममित्यन्वेति । यथा सम्यगुत्तममिति वेदविदो विदुः ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ के ते कामास्तस्य त्यक्ता इत्यतस्तानाहुः ॥ नेति । नाकपृष्ठं नाकस्य पृष्ठे सुकृत तेऽनुभूत्वेत्यादेः स्वर्गं न च पारमेष्ठ्यं सत्यलोकाधिपत्यं न सार्वभौमं चक्रवर्तितां गतं । इमा रामाः सरथाः सतूर्या इत्युक्तेः साम्राज्यं रसाधिपत्यं बलिप्रभावं न योगसिद्धिरणिमादीनपुनर्भवं सामान्यमुक्तिं त्वत्पादरजः प्रपन्नाः । तदित्यव्ययं षष्ठ्यर्थं । त्वत्पादेति पाठः तु स्फुटार्थः । न वाञ्छन्तीत्यन्वयः ॥ ३७ ॥ ईश लक्ष्मीसुहृद नाथ सर्वनाथ । संसारचक्रे तत्समुहे वा तदात्मकचक्रे वा भ्रमतः शरीरिणो देहधारिणो यदीप्सितं वाञ्छितं स्यात्तदन्यैः साधनसामग्रीशून्यैर्दुरापं दुष्प्राप्यं तमोजनिः क्रोधवशाऽजीशोऽस्मदादिप्राणिनां नाथः समर्थतरो वा भवत्समक्षं भवतोऽपरोक्षं प्राप । हिना सर्वानुभवसिद्धतामाहुः ॥३८ ॥ नमस्तुभ्यं भगवत इति पद्ये भूताय भूतभूतायेतिजगज्जनार्दनैक्यमुच्यत इति भ्रमं भ्रंशयन्ननूद्य व्याकरोति ॥ भूताय सदा विद्यमानायेति । भू सत्तायामित्यस्मात्क्तप्रत्ययः । कालप्रबन्धमात्र इति द्योतयितुं सदेति पूर्वाचार्यैरिति ज्ञेयं ॥ ततश्चायं पदार्थः ॥ महात्मने भगवते पुरुषाय भगवते नमः । भूतावासाय जगन्निलयाय भूताय सदा विद्यमानाय पराय परात्मने । तत्तद्वेदान्तगतशब्दानुकृतिरियमिति न पुनरुक्तिरिति हृदयं । एवमुत्तरत्रापि ॥ ३९ ॥ ज्ञानेति श्लोकेऽप्राकृतेति पदमिति दर्शयति ॥ अप्राकृतायेति । ज्ञानं सामान्य विज्ञानं सामान्यैर्ये त्वविज्ञेया विशेषा मम गोचराः । देवादीनां तु तज्ज्ञानं विज्ञानमिति कीर्तितमिति मानिकं विज्ञानं तन्निधयेऽगुणायाविकारायाप्राकृताय तुभ्य नमः ॥ ४० ॥

श्रीसुबोधिनी

इदानीं फलविचारेणापि माहात्म्यं वदन्त्यरतथात्वमाहुर्न नाकपृष्ठमिति, लोके ह्येतावन्ति फलानि त्रिविधधर्मसाध्यानि, तत्र सात्त्विकधर्मसाध्यः स्वर्गो नाकपृष्ठात्मको यत्रेन्द्रादयो निवसन्ति, राजसधर्मसाध्यं सार्वभौमं सर्वस्या अपि भूमेराधिपत्यं, ज्ञानसहितसात्त्विकराजसोभयधर्मसाध्यं पारमेष्ठ्यं ब्रह्मस्थानं, तामसधर्मसाध्यं रसाधिपत्यं, निवृत्तिधर्मसाध्यो योगः, सिद्धयश्चाणिमादयो ध्यानादिसाध्याः, अपुनर्भवो मोक्षः स सर्वसाध्यः, एतावन्ति फलानि, वाशब्देनानुक्तसर्वसमुच्चयोनादरश्च सूच्यते,

एतानि सर्वाण्येव फलानि यत्पादरजःप्रपन्ना न वाञ्छन्ति, रजःप्राप्तौ तु न वाञ्छन्तीति किं वाच्यम्? रजःप्रपन्नाः एव यत्र न वाञ्छन्ति ॥ ३७ ॥ एवं रजसो महाफलत्वं निरूप्य तदनेन प्राप्तमित्यस्य भाग्यमभिनन्दन्ति तदेष इति, नाथेतिसम्बन्धेनोपपत्तिरुक्ता, अन्यैर्दुरापमप्ययमपि प्राप्तवान्, अस्यानधिकारधर्मानाह तमोजनिरित्यादिभिः, केवलतमसैव जनिर्जन्म यस्य, अनेन मूलाशुद्धिरुक्ता, क्रोधवश इति कार्याशुद्धिः, अहीश इति संसर्गाशुद्धिरुक्ता, ईशपदेनान्यकृतपापसम्बन्धोऽप्युक्तः, एवं सर्वदोषनिधानस्य सर्वोत्कृष्टदुर्लभफलप्राप्तिः केवलं भगवदिच्छयेत्याहुः संसारचक्र इति, यादृच्छिकमिदं फलं भगवदिच्छयैव भवतीति निर्णीयते चक्रे हि पतितः सर्वत्र परिभ्रमति, स भगवच्चरणेऽप्यायाति भगवति समागतेतो न कोऽपि हेतुः कर्मादिः किन्तु यदिच्छतो यस्य चरणारविन्दरेणोरिच्छत इच्छां कुर्वतः पुरुषस्य साधनरहितस्यापि विभव उत्कृष्टफलं कदाचित् समक्षं भवति प्रत्यक्षो भवति, यदृच्छत इतिपाठे यदृच्छातोऽकस्माद् भगवदिच्छया वा ॥ ३८ ॥ एवं चरणस्पर्शभगवत्तोषादिलक्षणं तत्र भाग्यमभिनन्द्य तत्सम्बन्धात् स्वयमपि भगवन्नमस्काराधिकारिण्य इति नमस्यन्ति नमस्तुभ्यमितिदशभिः ॥

दश रूपाणि तु हरेर्मूलरूपः स्वशास्त्रतः । वेदान्तवेद्यरूपश्च जगद्रूपस्तथैव च ॥ १ ॥

सङ्घातजीवरूपश्च नानारूपश्च शास्त्रतः । एवं प्रमेयरूपाणि पञ्चधोक्तानि वै हरेः ॥ २ ॥

वेदार्थरूपस्तन्त्रार्थो गुणार्थो ह्यवतारकृत् । अन्तर्यामी च भगवान् दशधोक्तः स्वलीलया ॥ ३ ॥

ज्ञात्वा हि स्तोत्रं कर्तव्यं कोऽयमिति कियानिति कथङ्गुणक इति च, तत्र दशविधो भगवान् दशविधलीलाभिरेकस्मिन्नेकस्यां लीलायां यावन्त्यवान्तररूपाणि तानि सर्वाण्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं सृष्टिलीलां वदन्त्यः पुरुषोत्तमरूपं भगवन्तं नित्यमेकं नमस्यन्ति नमस्तुभ्यमिति, भगवान् मूलभूतः स एव भवान्, तदाह तुभ्यं भगवते नम इति, आविर्भूतानाविर्भूतरूपे एते एव, ततः सर्वोत्तमोऽप्ययं जात इतीतरसापेक्षत्वेन पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेन निरूपयन्ति पुरुषाय महात्मने, महांश्चासावात्मा चेति, आत्मा हि साक्षात् सर्वस्मृतिप्रतिपाद्यः, पुरुषः साङ्ख्यप्रतिपाद्यः, महान् वेदप्रतिपाद्यः, त्रितयमेकीकृतं महान् पुरुषरूप आत्मेत्युक्तं भवति, अनेनैव सच्चिदानन्दरूपताऽप्युक्ता, पुरुषः सद्रूपो महानानन्दरूपश्चिद्रूप आत्मेति, ततो मूलभूतस्य पञ्चात्मकत्वमाह भूतावासायेत्यादिपदैः, स एव मूलरूपो भवति यस्मिन् सर्वाणि भूतानि तिष्ठन्ति, एतदर्थमेव भगवता प्रदर्शितं मात्रे स्वस्मिन् ब्रह्माण्डं, तदाह भूतानामावासो यस्मिन्निति, तानि चेद् भूतानि भिन्नानि भवेयुस्तदासङ्गत्वं भगवतो भज्येतेति भूतरूपोऽपि भगवान्, तदाह भूताय परायेति, स एव च पुनर्मूलरूपो भवति यस्तु प्रशास्ति अनियामकस्य मूलत्वं न सम्भवतीति परायेति 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत' इत्यादिश्रुतेः, यश्च पुनर्न सर्वोत्तमः स मूलभूतो न भवतीति परम उत्कृष्ट उक्तः, तथा न व्यापको योऽयं नात्मा स विभूतिमान् न भवतीति न तस्य मूलत्वं, तदाहात्मन इति, परमश्चासावात्मा चेति, सर्गलीलायां प्रथमतो भगवान्, ततः पुरुषः, ततो महत्त्वं ततो भूतावासोऽहङ्कारः, ततो भूतानि, ततः सर्वं जगत्, तत्रापि परो विराड्रूपः परमात्मा नारायणश्चेति ब्रह्माण्डविग्रहान्ता सर्वकथा ॥ ३९ ॥ विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति ज्ञानविज्ञाननिधय इति, ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभवः, निर्विषयकं सविषयकं वा, आत्मभूतं गुणभूतं च, तयोर्निधिरुत्पत्तिस्थानं, ये केचन ज्ञानविज्ञानार्थिनस्ते सर्वे तत एव कृतार्था भवन्तीति, एवं साधनरूपतामुक्त्वा फलरूपतामाह ब्रह्मण इति, ननु ब्रह्मणः फलरूपत्वं जगत्कर्तृत्वं च कथमुपपद्यते? तत्राहानन्तशक्तय इति अनन्ताः शक्तयो यस्य, तेन सर्वरूपोऽपि भवितुं शक्नोति, अनन्तशक्तित्वं गुणसङ्गाद् भविष्यतीति शङ्क्याहागुणायेति, न विद्यन्ते गुणा यस्य, गुणसम्बन्धाभावे हेतुरविकारायेति, विकारेषु सत्सु कारणत्वेन गुणा मृग्यन्ते, विकाराश्च अत्र जन्मादयो दोषाश्च, तत्रापि हेतुराप्राकृतायेति, प्राकृतो हि विकारी दोषवांश्च भवति, चकारादप्राकृतत्वेसङ्गित्वं हेतुरुक्तः, विसर्गे तु ज्ञानमधिकारिविशेषणं, ज्ञानपूर्णो ब्रह्मा भवति, विविधज्ञानं सृष्ट्युपयोगि, एवं स्वरूपकार्योपयोगिविशेषणद्वयमुक्त्वा विसर्गरूपमाह ब्रह्मण इति, ब्रह्मात्र चतुर्मुखः, ततः सर्वकार्योत्पत्त्यर्थमनन्तशक्तय इति, बन्धाभावायागुणायेति, दोषाभावायाविकारायेति, स्वेच्छया सृष्टिव्यावृत्त्यर्थमाहाप्राकृतायेति, अनेन विसर्गे षड् गुणा अप्युक्ता गुणत्रये दोषत्रयाभावश्च, ज्ञानमहत्त्वे सामर्थ्यानि गुणाः ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

न नाकपृष्ठमित्यत्राभासे तथात्वमिति चरणरेणुस्पर्शायोग्यत्वं, सर्वसाध्य–इति सर्वंभावसाध्यः सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या सर्वैः कृत्या च साध्य इत्यर्थः ॥ ३७ ॥ नतितात्पर्योक्तौ ननु वेदे ब्रह्मणः कर्मब्रह्मभेदेन द्विरूपत्वात् तन्त्रे च चतूरूपत्वाद् द्वयेन चतुर्भिर्वा नमस्कार उचितो न तु दशभिस्तदधिकरूपानुपलम्भादिति शङ्कायां तत्करणतात्पर्यमाहुर्दश रूपाणि त्वित्यादि, तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति, तथा च श्रीभागवतानुसारेण सच्छास्त्रानुसारेण च दशरूपाणां सत्त्वात् तथेति न दोष इतिभावः, तत्तच्छ्लोकप्रतिपाद्यत्वप्रकारे प्रदर्शनक्रमेणाहुर्मूलरूप इत्यादि, तथैवेति वेदान्तप्रतिपाद्येन प्रकारेण, सङ्घातजीवरूपश्चेतीदमपि वेदान्तप्रतिपाद्य एव प्रकारे ... साङ्ख्योक्ते वेति ज्ञेयं, ननु वेदार्थरूप एव कुतो न नमस्यते तत्राहुर्ज्ञात्वेति, हि युक्तोऽयमर्थो "येऽन्यथा सन्त"–मितिवाक्यात्, ... न केवलं वेदार्थरूप एव किन्तु श्रीभागवताद्यर्थरूपोऽपीति तेन तथेत्यर्थः । नमस्तुभ्यमित्यत्र ततः सर्वोत्तमोऽपीत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः

पीत्यादि, सुबोधिन्यामेतदर्थं सर्गलीलायां योजयन्ति सर्गेत्यादि कथेत्यन्तं, एव भगवच्छास्त्ररीत्या मूलरूपत्वमुक्तं श्रीभागवते "भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग" इतिलक्षणाद् ब्रह्मण एवोपादानत्वात् कार्यरूपत्वमिति सा कथंतदन्ता निरूपिता गुणवैषम्यमत्र पूर्वं नोक्तं श्रौतमतसङ्कीर्णत्वादिति ज्ञेयम् ॥ ३९ ॥ ज्ञानेत्यत्र ब्रह्मरूपमिति, वेदान्तवेद्यरूपं तद् विसर्गसहितं पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिसहितं तत्रापीति दोषभावे, द्वितीयपक्षे विसर्गस्य निरूपणीयत्वात् तत्प्रकटनार्थं पुनर्व्याकुर्वन्ति विसर्गं त्वित्यादि, स्वेच्छया सृष्टीति स्वाभाविकी सृष्टीत्यर्थः, अनेनेति विशेषणषट्केन ॥ ४० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यत्पादरज इत्यत्र यदिति द्वितीयान्तं पादरजसो विशेषणं न तु समासः, प्रपत्तिः शरणागतिः ॥ ३७ ॥ संसारचक्र इत्यत्र यस्येति इच्छां कुर्वत इत्यनेन सहान्वयात् षष्ठ्यन्तमुक्तं, मूले तु द्वितीयान्तमेव ॥ ३८ ॥ एवमिति चरणस्पर्शस्तत्तोषश्चाश्चर्यमिति पूर्वमुपक्रान्तः श्लोकत्रयार्थोऽत्रोपसंहृतः, कारिकासु वेदार्थरूप इति वेदार्थरूपोर्थरूपश्चेत्यर्थः, तन्त्रार्थं इति तन्त्रप्रतिपाद्य इत्यर्थः, गुणार्थ इति गुणानां वस्तुरूप इत्यर्थः, अवतारकृदिति "आद्योवतारः पुरुषः परस्ये" तिवाक्यात् तत्रावतरणकृदित्यर्थः, अन्तर्यामी चेति चकारेण "परावरगतिज्ञश्च" तत्रैवोक्तः, कारिकाणामन्ते ननु दशश्लोकेषु नमनमेव वाक्यार्थ इति स्वरूपवर्णनं कुत्रोपयुज्यते इत्यत आहुः ज्ञात्वा हीति, स्वरूपं ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, हि युक्तोयमर्थः, अन्यथा स्तुतेरारोपित्वं भगवान् मन्येत, अत स्वज्ञानं भगवते बोधयितुं स्वरूपवर्णनमित्यर्थः, वाचिकनमनेन भगवतो नमस्यत्वगुणस्योक्तत्वान् नमनस्यापि स्तुतित्वमिति भावः ॥ ३९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकार्थनिरूपककारिकासु मूलरूप इति 'नमस्तुभ्य' मितिश्लोके भगवत्पदोपादानात् परमात्मपदोपादानाच्च, वेदान्तवेद्य इति "ज्ञानविज्ञाननिधये" इतिश्लोके ब्रह्मपदानन्तशक्तिपदोपादानात्, जगद्रूपेति "कालाये" ति श्लोके विश्वायेतिपदोपादानात्, सङ्घातजीवरूप इति "भूतमात्रेन्द्रिये"ति श्लोके भूतमात्रेन्द्रियेत्यादिपदोपादानात्, नानारूप इति "नमोनन्ताये" तिश्लोके अनन्तायेतिपदोपादानात्, वेदार्थरूप इति "नमः प्रमाणमूलाये"ति श्लोके प्रमाणमूलादिपदोपादानात्, तन्त्रार्थ इति "नमः कृष्णाये" ति श्लोके व्यूहसहितपुरुषोत्तमनिरूपणात्, तथा हि 'रामाये' त्यनेन सङ्कर्षण उक्तः, 'वसुदेवसुताये' त्यनेन वासुदेवः, 'प्रद्युम्नानिरुद्ध' पदाभ्यां तावेव, 'कृष्ण' पदेन सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तमः उक्तः, गुणार्थ इति "नमोगुणे" तिश्लोके 'गुणप्रदीपाये' त्यादिपदोपादानात्, अवतारकृदिति "अव्याकृते" ति श्लोके 'अव्याकृतविहाराये'त्युक्तेः, अन्तर्यामि चेति "परावरे" ति श्लोके 'परावरगतिज्ञाये' तिपदोपादानात् । तुभ्यं भगवते इत्यस्य विवृतौ आविर्भूतानाविर्भूत इति तुभ्यमिति युष्मच्छब्देन पुरोवर्तिनिर्देशात् पुरोवर्तित्वस्याविर्भूत एव सत्त्वात्, भगवत्पदे अनाविर्भूत इति "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इतिवाक्याद् भगवत्पदं परमकाष्ठापन्नवस्तुवाचकं, परमकाष्ठापन्नं त्वाविर्भूतानाविर्भूतत्वेन द्विविध, तत्र तुभ्यमित्यनेनाविर्भूतस्योक्तत्वाद् भगवत्पदेनानाविर्भूत उच्यत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ ज्ञानविज्ञाननिधाय इत्यस्य विवृतौ ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानीति, "ज्ञानविज्ञाने"-त्यनेन ज्ञानं "ब्रह्म"पदेन महत्त्वं "अनन्यशक्ति" पदेन सामर्थ्यमित्यर्थः, बन्धदोषजडता इति "अगुण" पदेन बन्धभावः "अविकार" पदेन दोषाभावः, "अप्राकृत" पदेन जडत्वाभावः, एवं दोषत्रयाभावः पदत्रयेण निरूपितः ॥ ४० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकप्रतिपाद्यानि रूपाण्याहुर्दशरूपाणीत्यादि १४४३ "कालाये" ति श्लोके जगद्रूप उक्तः, यद्यप्येतदाभासे जगद्रूपतामुक्त्वा नमस्यन्तीत्युक्तं तथाप्युक्त्वेति न पूर्वानुवादः किन्तु 'कालाये' तिश्लोक एव जगद्रूपताकथनपूर्वकं नमनमेव वाक्यार्थं इति, सङ्घातेति का. १४५३, १४६३ ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तस्याधिकारस्य महत्त्वे सदाचारमपि प्रमाणमाहुः—नेति । यत्पादरजःप्रपन्नाः शरणं प्राप्ताः भक्तजनाः नाकपृष्ठादिकं न वाञ्छन्ति तुच्छं मन्यन्ते । कं सुखम् । न कं सुखं यत्तदकं दुःखम् । न अकं यत्र तन्नाकम् । तदेव पृष्ठं स्थानं नाकपृष्ठं स्वर्गम्, सार्वभौमं सर्वभूमिराज्यम्, पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदम्, रसाधिपत्यं पातालादिविलस्वर्गराज्यम्, योगसिद्धीः अणिमाद्यैश्वर्याणि, अपुनर्भवं लयात्मकं मोक्षं च ॥ ३७ ॥ 'यदि न वाञ्छन्ति तदा तेषां तन्न स्यात्' इत्याशङ्क्याहुः—संसारेति । जन्ममरणादिसंसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणः प्राणिमात्रस्य, न जात्यादिविशेषनियमः, नीचस्यापि यत् पादरजः इच्छतः सेव्यमेव भवत्विति प्रार्थयतो विभवो लोकापेक्षिता सर्वापि सम्पत् समक्षः प्रत्यक्षः स्वयमेव स्यात्, प्रह्लादाम्बरीषादेस्तत्प्रसिद्धः । "उक्ततपआदिसाधनस्यापि भवत्कृपां विना दुष्करत्वाद्भवत्कृपैव मुख्यं साधनम्" इति सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति—नाथेति । अन्यैर्ब्रह्मादिभिरपि दुरापं तत् पादरजः एष कालियः आप । 'न चैष तत्प्राप्तियोग्यः, स्वभावदुष्टत्वात्' इत्याहुः—क्रोधवश इति । तत्र हेतुमाहुः—तमोगुणाज्जनिर्यस्य स इति । संसर्गदोषेणापि तस्य दुष्टत्वमाहुः—अहीश इति ॥ ३८ ॥ एवं दण्डानुमोदनेन क्रोधस्य शान्ति विधाय प्रसन्नतार्थं तदैश्वर्याद

निरूपयन्त्यः प्रणमन्ति –नम इति दशभिः। भगवते अचिन्त्यानन्तैश्वर्यादिगुणनिधये तुभ्यं नमः। एतदुपपादनार्थान्यन्यानि विशेषणानि। तत्र सर्वत्र 'तुभ्यं नम' इति सम्बन्धः। अत्र क्वचिद्द्विरुक्तिस्त्रिरुक्तिश्च व्याकुलतातिशयवशात् प्रेमातिशयवशाद्वा बोध्या। पुरुषाय पूर्षु अन्तःकरणेषु नियामकतया शेते तिष्ठतीति तथा तस्मै, अत एव महात्मने महतां ब्रह्मादीनामपि नियन्त्रे। भूतानि आकाशादीनि प्राणिनश्च आवसन्त्यस्मिन्निति भूतावासस्तस्मै सर्वाधाराय। भूताय पूर्वमपि सते। पराय प्राकृतविलक्षणाय परमात्मने परमेश्वराय ॥ ३९ ॥ ज्ञानं शास्त्रीयम्, विज्ञानमनुभवः, तयोर्निधये कारणाय ! ब्रह्मणे व्यापकाय। अनन्ताः अपरिमिता विद्याऽविद्यादयः शक्तयो यस्य तस्मै। अविकाराय जन्मादिविकारशून्याय तत्र हेतुः—अगुणाय सत्त्वादिप्राकृतगुणवश्यतारहिताय। तत्रापि हेतुमाहुः—प्राकृताय प्रकृतिप्रवर्तकाय च ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

न नाकेति ॥ यस्य तव पादरजः प्रपन्नाः शरणं प्राप्ताः भक्तजनाः नाकपृष्ठं स्वर्गस्थानं न वाञ्छन्ति इति सर्वत्रान्वयः। न च सार्वभौमं सर्वभूमिराज्यं न पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदं न च रसाधिपत्यं पातालादिराज्यं न च योगसिद्धीः अणिमाद्याः अपुनर्भवं मोक्षमपि न वाञ्छन्ति ॥ ३७ ॥ तदेष इति ॥ हे नाथ ! संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणः प्राणिमात्रस्य यत्पादरजः इच्छतः विभवः सम्पत् समक्षः प्रत्यक्षः स्वयमेव स्यात्। अन्यैर्ब्रह्मादिभिरपि दुरापं तत् पादरजः कर्म तमोजनिः तमोगुणप्रभवः क्रोधवशश्च एष अहीशः कालियः आप ॥ ३८ ॥ अथ नमस्कारात्मिका दशश्लोकी स्तुतिष्टीकाकृद्भिरनेकधा व्याख्याताऽप्यार्जवेनैकधैव व्याख्यायते। नम इति ॥ भगवते पुरुषाय महात्मने भूतानामावासाय आधारभूताय भूताय च पराय परमात्मने तुभ्यं नमः ॥ ३९ ॥ ज्ञानेति। ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभवस्तयोर्निधये कारणाय ब्रह्मणे व्यापकाय अनन्ताः शक्तयो यस्य अगुणाय निर्गुणाय अविकाराय प्राकृताय प्रकृतिप्रवर्तकाय। अप्राकृतायेति वा छेदः। तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यस्य तव पादरजः प्रपन्नाः स्वर्गादीन् न वांछंति नाकपृष्ठं स्वर्गं सार्वभौमं सर्वभूमेरेकनियंतृत्वं पारमेष्ठ्यं विधित्वं रसाधिपत्यं पातालराज्यं योगसिद्धीरणिमाद्याः अपुनर्भवं मोक्षं च ॥३७॥ तदिति हे नाथ यदन्यैर्ब्रह्मादिभिर्दुरापं दुःखेन प्राप्यं तत्तव पादरजः तमोजनिस्तमोगुणजन्मा एषः अहीशः क्रोधवशोपि प्रापयत्तव चरणरज इच्छतो जनस्य समक्षः विभवश्चतुर्वर्गरूपा समृद्धिः स्वयमेव स्यात् ॥ ३८ ॥ दशभिः श्लोकैर्नमस्कारं कुर्वंत्य आहुः नम इत्यादिना भगवते अनेकविधैश्वर्य्यसंपन्नाय पुरुषाय अनादिनित्यसिद्धपुरुषविग्रहाय महात्मने अंतर्यामिशक्त्या सर्वत्र व्यापकाय अत एव भूतावासाय सर्वभूतधारकाय भूताय इह मनुष्यरूपेणाविर्भूताय पराय बद्धमुक्तेभ्यः श्रेष्ठाय परमात्मने तुभ्यं नमः ॥ ३९ ॥ ज्ञानेति। ज्ञानशास्त्रजन्यं विज्ञानं प्रत्यक्षानुभवस्तयोर्निधये तात्पर्यपूर्णाय अतः ब्रह्मणे परब्रह्मणे अनंतशक्तये अपरिमितिबलाय अगुणाय सत्वादिगुणवर्जिताय अविकाराय विकारशून्याय अप्राकृताय प्रकृत्युत्पन्नविग्रहरहिताय अप्राकृतदेहायेति यावत् ते तुभ्यं नमः ॥ ४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वैश्वर्यकैवल्यादिषु प्रार्थनीयपुरुषार्थेषु सत्स्वपि तान् विहाय किमर्थं विशेषेण मदङ्घ्रिरेणुं वाञ्छन्तीत्यत्राहुः॥ नेति॥ यत्पादरजःप्रपन्नाः यस्य तव चरणरेणुं सेवमानाः नाकपृष्ठं स्वर्गं स्वर्लोकवैभवमित्यर्थः। न च नैवेत्यर्थः। वाञ्छन्ति। सार्वभौमं सप्तद्वीपवत्या भूमेः चक्रवर्त्तिराज्यं, वाञ्छन्ति। पारमेष्ठ्यं ब्रह्मलोकसंबन्धि सुखं, न वाञ्छन्ति। रसाधिपत्यमधस्तनलोकाधिपत्यं न वाञ्छन्ति। योगसिद्धीरणिमादिकाः सिद्धीश्च अणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यमपीत्यर्थः। न वाञ्छन्ति। अपुनर्भवं वा कैवल्यमोक्षमपीत्यर्थः। न वाञ्छन्ति। पारमेष्ठ्यादिभ्यः अपि त्वत्पादरजसः अतिशयितपुरुषार्थरूपत्वात् न तद्वाञ्छन्तीति भावः॥ ३७॥ तदिति ॥ एषः अहीशः सर्पाधिपः कालियः, तमोजनिस्तमःप्रचुरजन्मा, अत एव क्रोधवशः तथापि, हे नाथ, अन्यैः दुरापं तत्तव पादरजः, आप लेभे। इदमतिचित्रमिति भावः। न च त्वच्चरणरजोमहिमा यथातथाविध इत्याह। संसारचक्रे भ्रमतः, यत्तव पादस्पर्शवद्रजः इच्छतः एतन्मे सेव्यं भवत्विति प्रार्थयमानस्य शरीरिणः, विभवः चतुर्वर्गाभिरूपा समृद्धिः, प्रत्यक्षः एव स्यात्। तदेव अयत्नत एव प्राप्स्यतः परं किं चित्रमिति भावः॥ ३८ ॥ सांप्रतं भगवतोऽचिन्त्यैश्वर्यादिगुणवत्तां मनसि निधाय शरणमुपयन्त्यः गुणैर्विशिषन्त्यः स्तुवन्ति दशभिः श्लोकैः। तत्र भगवते इत्यादीनां चतुर्थ्यन्तानां तुभ्यं नम इत्यनेनान्वयः॥ नम इति॥ भगवते अपरिमितैश्वर्यसंपन्नाय, पुरुषाय अनादिनित्यसिद्धपुरुषाकारविग्रहाय, महात्मने विग्रहवत्त्वेऽप्यपरिच्छिन्नाय भूतावासाय सर्वभूतहृद्गुहाधिहितावासाय, भूताय सर्वदा विद्यमानाय, पराय बद्धमुक्तेभ्योऽतिश्रेष्ठाय, अत एव परमात्मने कारणकारणाय तुभ्यं नमः॥ ३९ ॥ ज्ञानेति ॥ ज्ञानमनिष्टपरिहारोपयुक्तं च विज्ञानमिष्टप्रापणोपयुक्तं च तयोर्निधिराश्रयस्तस्मै, ब्रह्मणे गुणविभूत्यैश्वर्यैर्बृंहते अनन्तशक्तये अपरिमितशक्तियुक्तायापरिमितबलायेति वा अगुणाय सत्त्वादिमायिकगुणवर्जिताय, सत्त्वादयो न सन्तीशे च प्राकृता गुणाः इति स्मृते। अविकाराय चिदचिच्छरीरत्वेऽपि तद्गतपरिणामित्वादिविकारवर्जिताय, प्राकृताय सृष्टिकाले प्रकृतिप्रवर्त्तकाय, अप्राकृतायेति च्छेदे प्रकृतिगुणोद्भूतविग्रहरहिताय च ते तुभ्यं, नमः ॥ ४० ॥

कृष्णप्रिया

हे देव ! जिन्होंने आपके श्रीचरणों की रजः प्राप्त की और जो आपके चरण रज के शरण में हैं, वे भगवदीय जन न तो स्वर्गलोक, न तो सार्वभौमपद, न तो ब्रह्माजी का सत्यलोक, न रसातल-पातालादि का राज्य, न योग न अन्य सिद्धियों को चाहते हैं अधिक क्या वे मोक्ष तक की कामना भी नहीं करते हैं ॥ ३७ ॥ हे नाथ ! तप आदि साधननिष्ठ एवं ज्ञाननिष्ठ महानुभावों के लिए जो अप्राप्य मानी गयी वही दुर्लभ रज, इस कालीय नाग ने कैसे पायी ? यह कालीय नाग तो (१) तमोगुण से उत्पन्न है, यह मूलरूप से अशुद्ध है। (२) फिर भी क्रोध से भरा हुआ है, इस क्रिया से अशुद्ध है। (३) सर्पों के स्वामी होने से ससर्ग दुष्ट है। वह चरणरज पा चुका है। नाथ आपके श्रीचरणों के रज की ऐसी दिव्य महिमा है, जिससे संसार चक्र में सतत् भटकने वाला भी यदि रज की कामना कर ले तो उसको मोक्ष अथवा ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है ॥ ३८ ॥ हे नाथ ! आप भगवान् को प्रणाम, आप सांख्य प्रतिपाद्य पुरुष हैं, आप वेदवेद्य महात्मा हैं, आप सर्वमहाभूतों के आश्रयदाता हैं, आप सर्वभूतस्वरूप हैं, आप सर्व से पर स्वरूप हैं, ऐसे उत्तमस्वरूप परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥ ३९ ॥ हे भगवन् ! ज्ञान एवं विज्ञान के भंडार, ब्रह्मस्वरूप, अनन्तशक्तिसम्पन्न, प्रकृति के गुणो से पर निर्विकार है क्योंकि आप प्राकृत गुण जो जन्म जरादि से पर अप्राकृत हैं वैसे आपको नमस्कार है ॥ ४० ॥

कालाय कालानाभाय कालावयवसाक्षिणे । विश्वाय[1] तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे[2] तस्य हेतवे ॥ ४१ ॥
भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने । [3]त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥
नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते । नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥
नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये । प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥ ४४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे तस्य हेतवे तुभ्यं नमः ॥४१॥ भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने । त्रिगुणेन अभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये तुभ्यं नमः ॥ ४२ ॥ अनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते । नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये तुभ्यं नमः ॥४३॥ प्रमाणमूलाय नमः कवये शास्त्रयोनये । प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमः नमः ॥४४॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनंतशक्तित्वात्कालशक्त्या विश्वस्रष्ट्त्वा दरूपेण नमस्यंति कालाय कालस्वरूपाय । कालानाभाय कालशक्त्याश्रयाय । कालावयवानां सृष्ट्यादिसमयानां साक्षिणे । ततश्च विश्वाय विश्वरूपाय । तर्हि किं जडोऽहं नहि तदुपद्रष्ट्रे । न च द्रष्ट्रे मात्राय । किंतु तत्कर्त्रे । न च कर्तृ मात्राय विश्वहेतवे सर्वकारकरूपाय ॥ ४१ ॥ तदेवाहुः । भूतमात्रेति । भूतमात्रेंद्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने आशयश्चित्तं भूतादिरूपाय । अतः सर्वकारकरूपायेति अहंकारात्मतया नमस्यंति । त्रिगुणेनेति । एवं सृष्टे कार्ये यस्त्रिगुणोऽभिमानस्तेन गूढा स्वांशभूतानामात्मनां जीवानामनुभूतिर्येन तस्मै ॥ ४२ ॥ त्वं स्वहंकारानावृत इति स्तुवंति । नमोऽनंतायाहंकारापरिच्छेदात् । अतः सूक्ष्मायादृश्यत्वात् अत एव कूटस्थायोपाधिकृतविकाराभावात् । अत एव विपश्चिते सर्वज्ञाय । एवं वस्तुतः स्तुत्वाऽचिंत्यमायात्वेन स्तुवंति नानावादानुरोधाय अस्ति नास्ति सर्वज्ञः किंचिज्ज्ञो बद्धो मुक्त एकोऽनेक इत्यादिनानावादानुरूपद्धि माययाऽनुवर्तते यस्तस्मै । किं च । वाच्यवाचकशक्तये । अभिधानाभिधेयशक्तिभेदादपि नानात्वेन प्रतीयमानायेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ अनावृतत्वमेव हेत्वंतरेणापि सूचयंत्यः स्तुवंति । नमः प्रमाणमूलाय । चक्षुरादीनां चक्षुरादिरूपाय । अत एव कवये स्वयं तन्निरपेक्षज्ञानाय । कुतः । शास्त्रयोनये वेदात्मकनिःश्वासाय । किं च प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः इति ॥ ४४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततश्च सर्वसाक्षित्वाच्च यद्यहं विश्वरूपस्तर्हि जडतापत्तिस्तत्राह– नहीति । ननु केवलमुपद्रष्टैवाहं तत्राहुः– न च किं त्विति संबंधः । एवमग्रेऽपि ॥ ४१ ॥ तदेव सर्वकारकरूपत्वमेव । यतो भूतादिरूपोऽसि अतो हेतोः । एवम् उक्तरीत्या । सृष्टिकार्ये देहादौ । त्रिगुणोऽभिमानः सात्त्विकोऽहं ब्राह्मणोऽस्मीत्याद्याकारकाभिमानः । गूढाऽऽच्छादिता स्वांशभूतानां जीवानाम् अनुभूतिर्ज्ञानम् ॥ ४२ ॥ अहंकारापरिच्छेदात् अहंकारकृतपरिच्छेदाभाववत्त्वात् । अतः परिच्छेदाभावात् । अत एव अदृश्यत्वादेव । अत एव उपाधिकृतविकाराभावादेव । अनुरूणद्धि अनुसरति । नानात्वेऽन्यदप्याह– किं चेति । इत्यर्थ इति । वाच्यवाचकभेदोऽपि नानात्वप्रतीतौ हेतुरिति भावः ॥ ४३ ॥ अनावृतत्वम् आवरणहीनत्वम् । चक्षुरादिरूपाय "चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" इत्यादिश्रुतेः ।

१ विश्वरूप य–वीर. । २ विश्व–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ३ निर्गुणेना–विज. ।

यद्वा प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां मूलाय प्रतिष्ठापकाय। "प्रमाणमिन्द्रियग्रामे प्रत्यक्षादौ प्रमातरि। मर्यादा नित्यशास्त्रे यत्नाशक्ते हेतौ मानयोः ॥" इति विश्वः। अत एव चक्षुरादिप्रकाशकत्वादेव। तन्निरपेक्षज्ञानाय चक्षुरादिनिरपेक्षज्ञानाय। तत्र हेतुं शंकते—कुत इति। यद्वा—शास्त्रं योनिर्ज्ञप्तिकारणं यस्य तथा। "योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने कारणे ताम्रके पणे" इति यादवः। यद्वा—निर्देशकारणाय कुर्यादिदं नेत्यादिनिर्देशस्य कर्त्रे 'निर्देशग्रंथयोः शास्त्रम्' इत्यमरः। प्रमाणस्य वेदस्यापि मूलाय श्रीभागवतस्वरूपाय, चतुःश्लोक्युपदेशानंतरमेव ब्रह्ममुखेभ्यो वेदानामाविर्भावात्। कवये तदाविर्भावकर्त्रे व्यासदेवाय नम इत्यर्थः। 'व्यासः प्राकट्यकृत्' इति सिद्धांतदर्पणोक्तेः। शास्त्रं श्रीभागवतमेव प्रमाणं ज्ञप्तिसाधनं वा यत्रेत्यपि विश्वनाथः। न हि केवलं शास्त्रयोनिरेव किं तु तद्रूपत्वमित्याह—निगमेति। प्रवृत्ताय प्रवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय विधिरूपायेत्यर्थः। निवृत्ताय निवृत्तिमार्गप्रवर्तकाय निषेधरूपाय। यद्वा सृष्टौ प्रवृत्ताय, प्रलये निवृत्ताय। निगमाय उभयेषां मार्गाय, विषयायेत्यर्थः, अयनं पदवी मार्गः पद्या च निगमः पथि' इति हलायुधः। यद्वा—उभयरूपत्वे हेतुः—निगमाय वेदमूर्तये 'निगमो निश्चये वेदे परे पथि वणिक्पथे' इति यादवः ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कालाय कालशक्तिकत्वेन तद्रूपाय अथ च कालस्य कालचक्रस्य नाभये मध्यवलयाय तदाश्रयायेत्यर्थः। समासान्तस्त्वार्षः। तथापि कालावयवानां साक्षिण एव न तु तेषु प्रसक्ताय विश्वाय विराड्रूपाय तदुपद्रष्ट्रे विश्वान्तर्यामिणे ॥ ४१ ॥ भूतादीनामात्मने चेतयित्रे ज्ञानप्रदायेत्यर्थः। अथ च गूढा आच्छादिता स्वांशभूतानां जीवानामनुभूतिरात्मतत्त्वज्ञानं येन तस्मै ॥ ४२ ॥ अनन्ताय परममहते अथ च सूक्ष्माय कूटस्थाय निर्विकाराय अथ च विपश्चिते विचित्रवैदग्धिगुरवे नानावादाननुरोधयति प्रवर्तयतीति तस्मै यतः वाच्यवाचकयोः अर्थशब्दयोः शक्तिर्यस्मात् तस्मै ॥ ४३ ॥ अतः प्रमाणं श्रीभागवतशास्त्रसारसङ्ग्रहाः वेदाः तस्य मूलाय कारणायाऽऽश्रयाय वा कवये स्वतः सिद्धज्ञानाय अथ च शास्त्रयोनये शास्त्रमेव योनिः प्रमाणं यस्य "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र.सू.) इत्यत्र तथा तथा व्याख्यानात् प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं तदुभयस्मादपि निगमरूपाय अद्भुतत्वेन पुनर्नमो नम इति ॥ ४४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कालाय कालशक्तिकत्वेन तद्रूपायाथच कालस्याश्रयाय, यद्वा, कालाय, अतः कालनाभाय तथापि कालावयवानां परमात्मादीनां द्विपरार्द्धान्तानां साक्षिण एव, न तु प्रवर्त्तकाय। प्रवर्त्तकत्वे संहारकत्वकालसम्बन्धादिना निर्दयत्वादिप्रसक्तेः, विश्वाय सर्वकर्तृ-कर्म्म-करणादिरूपाय तत्तच्छक्त्यादिप्रदत्वात्, अथच तदुपद्रष्ट्रे विश्वसाक्षिमात्राय तत्तत्कर्म्मभिरलिप्तायेत्यर्थः। यद्वा विश्वाय विराड्रूपाय मायाश्रयत्वात्तदुपद्रष्ट्रे विश्वान्तर्य्यामिणे भूतादीनामात्मनामात्मने चेतयित्रे ज्ञानप्रदायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥ अथच गूढा आच्छादिता स्वांशभूतानामनुभूतिरात्मतत्त्वज्ञानं येन तस्मै ॥ ४२ ॥ अनन्ताय परममहते अथच सूक्ष्माय, कूटस्थाय निर्विकाराय अथच विपश्चिते विचित्रवैदग्धीगुरवे, यद्वा, कूटं शाठ्यं तत्स्थाय, अथच विवेकिने नानावादप्रवर्त्तकाय, यतो वाच्यवाचकयोरर्थशब्दयोः शक्तिर्यस्मात् तस्मै ॥ ४३ ॥ अथच प्रमाणं वेदा वैष्णवसिद्धान्ता वा, तस्य मूलाय कारणाय आश्रयाय वा, कवये शास्त्रकृते, अथच शास्त्रार्थाश्रयाय, यद्वा, स्वतः सिद्धज्ञानाय, अथच शास्त्रपराय प्रवृत्तनिवृत्तरूपाय, शास्त्राय निगमाय तदाज्ञारूपाय तत्तद्विहिताचाराय वा, अद्भुतत्वेन पुनर्नमो नम इति ॥ ४४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

कालः नाभिवदंशभूतो यस्य सः कालनाभः हेतवे उपादानाय ॥ ४१ ॥ निर्गुणेन अगुणहेतुना अभिमानेन स्वरूपं गूढस्वात्मानुभूतये स्वविषयमन्येषां ज्ञानं निरुध्यते ॥ ४२ ॥ कूटस्थाय सर्वकारणाय अविकाराय वा नानावादाविरुद्धाय तादृत्यावस्थिताय ॥ ४३ ॥ प्रवृत्ताय निवृत्ताय उभयविधकर्मनिर्वाहकाय निगमाय औपनिषदज्ञानप्रवर्त्तकाय ॥ ४४-४५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सत्त्वादिप्रकृतिगुणक्षोभनिमित्तकालस्यापि पृथङ् निमित्ततान्युदासाय तस्य तत्सामानाधिकरण्यनिर्देशः कालाय कालात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं न मृदात्मको घट इतिवत् स्वरूपाभेदनिबन्धनमपि त्वात्मा देवो जात इतिवच्छरीरात्मभावनिबन्धनमित्यभिप्रायेणाहुः—कालनाभायेति। कालो नाभिवदङ्गभूतो यस्य सः कालनाभः "अच्प्रत्ययपूर्वात्सामलोम्नः" (पा.सू.) इत्यत्राजितियोगविभागाश्रयणात्सर्वसमासान्तोऽच्प्रत्ययः। यद्वा, कालस्य नाभिर्नेम्यरादीनां नाभिवद्धारकः आत्मभूत इति कालस्य देवमनुष्यादिदेहपारवश्येन जीवस्य तच्छरीरकत्ववत् कालपारवश्येन तच्छरीरकत्वमपि तु तद्याथात्म्यावलोकनेनेत्यभिप्रायेणाहुः कालावयवसाक्षिण इति। कालावयवानां निमेषादिसंवत्सरान्तानां साक्षिणे साक्षाद्द्रष्ट्रे पराय भूतायुक्तकारणस्य प्रकृतेरनन्तत्वाभिप्रायेण कार्यसामानाधिकरण्येन निर्दिशन्ति—विश्वायेति। विश्वात्मकायेत्यर्थः। तदात्मकत्वं किं तत्स्वरूपानतिरिक्तत्वेनेत्याहुः, विश्वरूपायेति। विश्वं रूपं शरीरं यस्य तस्मै शरीरात्मभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यमिति भावः। यद्वा, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यैव कारणत्वात् तस्य स्थूलचिदचिद्विशिष्टेनात्मना साकमनन्यत्वाभिप्रायेण विश्वायेत्युक्तिः विशेष्यांशस्यापि शरीरत्वात्

निबन्धनविश्वसामानाधिकरण्याभिप्रायेण विश्वरूपायेत्युक्तिः न केवलमुपादानकारणभूताय अपितु जगन्निमित्तभूताय चेत्यभिप्रायेणाहुः तत्कर्त्रे इति । उपकरणाधिकरणादिकमपि त्वमेवेत्यभिप्रायेणोक्तं विश्वस्य हेतव इति हेतुत्वं कारकषट्कसाधारणं गोबलीवर्दन्यायेन तत्कर्त्रे इत्युक्तिः ॥ ४१ ॥ विश्वाय विश्वरूपायेत्युक्त्योः कार्येण सह विशिष्टविशेष्यांशसामानाधिकरण्ययोर्निबन्धनद्वयमाहुः—भूतेति । भूतादिरूपेण परिणतत्वाद्भूताद्यात्मने अत्र भूतादिशब्दः । भूतादिकार्यरूपेण परिणतचिदचिद्विशिष्टब्रह्मपरः एवं च कार्यावस्थब्रह्माभिन्नकारणावस्थब्रह्मण इत्यर्थः । भूतादीनामात्मने तदन्तः प्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्त्रे इत्यप्यर्थस्तन्त्रेण विवक्षितः अन्तःप्रवेशप्रशासनाभ्यां भर्तृत्वमेव ह्यात्मशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तत्र भूतान्याकाशादीनि मात्राः शब्दादयः पञ्च इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश प्राणाः पञ्च मनोबुद्धिश्चाशयो वासनाः एवं सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टब्रह्मणः स्थूलावस्थाचिदचिद्विशिष्टभेदे तयोः कार्यकारणभावो विशेषणविशेष्ययोः शरीरात्मभावश्चेति निबन्धनद्वयमुक्तम् अथ चित्सामानाधिकरण्येऽपि निबन्धनमाहुः—त्रिगुणेनेत्यर्द्धेन । त्रिगुणेन गुणत्रयहेतुकेनाभिमानेन गूढा छन्ना स्वात्मानुभूतिजीवानां यस्मात्तस्मै ज्ञानविकासरूपजीवगतकार्यं प्रति कारणभूतायेत्यभिप्रेतार्थः ॥ ४२ ॥ एवं जगत्कारणत्वेन परत्वनिर्वाहणलक्षितस्य परमात्मनः चिदचिद्विशिष्टस्य स्वरूपं विशेष्यांशभूतं जगन्निमित्तकारणं विशोधयन्ति नमोऽनन्तायेति—अत्र सत्यादिवाक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते अनन्तपदेन तस्य कूटस्थपदेन निर्विकारवाचिना सत्यपदस्य विपश्चिच्छब्देन ज्ञानपदस्य च प्रत्यभिज्ञानात् विविधं पश्यति इति विपश्चित् तस्मै नित्यासङ्कुचितसर्ववस्तुविषयकधर्मभूतज्ञानाश्रयायेत्यर्थः । पृषोदरादित्वाद्यशब्दस्य चिभावः एवमचेतनात् त्रिविधजीवेभ्यश्च व्यावृत्तायेत्युक्तं भवति अनन्तायेत्यनेन सर्ववस्तुसामानाधिकरण्याहंत्वरूपवस्तुपरिच्छेदराहित्यमप्युक्तं सर्ववस्तुसामानाधिकरण्याहंत्वञ्च सर्वान्तःप्रवेशेन तच्छरीरकत्वेन च, तत्र कथमणुस्वरूपजीवान्तःप्रवेशेन तच्छरीरकत्वं विभोः परमात्मनः सङ्गच्छते ? इत्यत्राहुः—सूक्ष्मायेति । "अणोरणीयान्' नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" इत्यादि श्रुत्युक्तरीत्या सूक्ष्मादपि सूक्ष्मत्वाज्जीवान्तःप्रवेशयोग्यायेति भावः । नन्वेवम्भूतं मां कथं केचिन्निमित्तकारणमेव वदन्ति केचिच्च जीवाभिन्नमित्यादीत्यत्राहुः—नानावादा वेदविरुद्धास्ताननुवृत्त्यावस्थिताय अनधिगतवेदान्तवाच्यैकवाक्यानां विप्रतिपन्नबुद्धीनां तत्तद्वादानुरूपेणापि प्रतीतायेत्यर्थः । तत्र हेतुः वाच्यवाचकशक्तये वाचकाः तत्तद्वादिप्रयुक्ताः विवक्षितार्थविषयाः शब्दाः वाच्यास्तत्तच्छब्दविवक्षिता अर्थाः, तत्र वाच्यशक्तिरुपस्थाप्य त्वयोग्यतालक्षणावाचकशक्तिरुपस्थापकत्वलक्षणा तदुभयशक्तिनिर्वाहकत्वान्नानावादानुरोधायेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ एवमपि केवलं शास्त्रयोनये शास्त्रं योनिः कारणं स्वरूपस्वभावप्रमितिजनकं यस्य तस्मै शास्त्रस्य भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिपुरुषदोषसम्भावनां निराकुर्वन्त्यो विशिषन्ति—प्रमाणमूलाय प्रमाणं स्वप्रमितिसाधनं शास्त्रं तस्य मूलाय तदाविष्कर्तृत्वेन तत्कारणाय तथा च स्मर्यते—

> अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा । आदौ वेदमयी नाम्ना यतः सर्वाः प्रसूतयः ॥ इति ।

श्रूयते च "तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" "ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत" इति च प्रमाणमूलत्वासम्भावनां निराकुर्वन्ति कवये पूर्वपूर्वानुपूर्वीविशिष्टत्वेन शास्त्राविष्कारोपयुक्तसार्वज्ञ्ययुक्ताय न केवलं प्रमाणमूलाय अपि तु प्रमेयनिर्वाहकायापीत्याहुः प्रवृत्ताय निवृत्ताय च उभयकर्मनिर्वाहकाय निगमायोपनिषज्ज्ञानप्रवर्त्तकाय ॥ ४४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कालाय भक्तकामधेनवे कालनाभाय कालाश्रयाय विश्वाय स्वाधीनप्रपञ्चाय तस्य विश्वस्योपद्रष्ट्रे अध्यक्षाय तस्य कर्त्रे भवान्तरकारणाय प्रकृतेर्मूलकारणत्वं निवारयति—विश्वहेतव इति । प्रपञ्चस्य मूलकारणाय "विश्वस्य तदधीनत्वाद्विश्वं विष्णुरितीर्यते" इत्यादिस्मृतेः । विश्वाय विराट्पुरुषाय तत्कर्त्रे विश्वस्योत्पादनमायाप्रेरकाय इत्यादिरर्थो न युक्तः अप्रामाणिकत्वादिति ॥ ४१ ॥ विश्वस्य भगवदधीनत्वं विवृणोति—भूतेति । भूतानि पञ्चमात्राः शब्दादयः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि प्राणाः दश मनः सङ्कल्पविकल्पलक्षणं बुद्धिर्निश्चयहेतुः एषामाशयः स्थानम् आत्मा स्वभावो यस्य स तथा तस्मै "आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च" इत्यमरः "स्थानेऽभिप्राय आशय" इति यादवः । निर्गुणेन सत्त्वादिगुणजन्मरहितेनाभिमानेनाज्ञानेन गूढा अप्रकाशिता स्वात्मानुभूतिर्यस्य स तथा तस्मै ॥ ४२ ॥ अनन्ताय नित्याय सर्वगताय सूक्ष्माय इन्द्रियाऽविषयाय "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्" इति श्रुतेः । कूटस्थाय शश्वदेकप्रकाराय विपश्चिते सर्वज्ञाय निपुणबुद्धये वा नानावादानां सिद्धान्तानाम् अनुरोधाय अनुकूलवर्तमानाय वाच्योऽर्थः । तस्य प्रतिपाद्यत्वे योग्यत्वं वाच्यशक्तिः वाचकः शब्दः तस्यार्थप्रतिपादनसामर्थ्यं तद्द्वयं यस्य स तथा तस्मै ॥ ४३ ॥ प्रमाणमूलाय प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतिष्ठापकाय कवये अतिक्रान्तदर्शिने शास्त्रं वेदः योनिर्ज्ञप्तिकारणं यस्य स तथा तस्मै "योनिः स्त्रीणां भगे स्थाने कारणे ताम्रके पणे" इति यादवः । निर्देशकारणाय इदं कुर्यादिदं न कुर्यादिति विधिकर्त्रे "निर्देशग्रन्थयोः शास्त्रम्" इत्यमरः । प्रवृत्ताय प्रवृत्तिमार्गप्रदर्शकाय च सृष्टौ प्रवृत्ताय प्रलये निवृत्तायेति वा उभयेषां निगमाय मार्गाय विषयायेत्यर्थः । "अयनं पदवी मार्गः पन्था च विनिगद्यते निगम" इति हलायुधः । वेदमूर्त्तये वा निश्चायकाय वा "निगमो निश्चये वेदे पुरे पथि वणिक्पथे" इति यादवः ॥ ४४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कालविशेषे देशविशेषे च प्रादुर्भवति तस्मिन् तत्तत्परिच्छेदादिदोषान् वारयन्त आहुः कालाय कालस्वरूपाय कालना कालशक्त्याश्रयाय तथापि कालावयवानां सृष्ट्यादिसमयानां साक्षिणे एव न तु तेषु सत्ताय विश्वाय विश्वरूपाय तर्हि किं न हि तदुपद्रष्टे न च द्रष्टृमात्राय किन्तु तत्कर्त्रे नच कर्तृमात्राय किन्तु विश्वहेतवे विश्वस्य हेतुसमुदायाय ॥ ४१ ॥ न च मात्रायापि यतो भूतानाम् आत्मने चेतयित्रे अतोऽद्भुतं तं चरित्रं यतो जडानपि चेतयसि चेतवान् जडीकरोपीत्याहु- योऽभिमानस्तेन गूढा आवृता शोभना आत्मनो जीवस्यानुभूतिर्ज्ञानं येन तस्मै ॥ ४२ ॥ ननु किमत्र तत्त्वं तत्राहुः— अस्यान्तं वयं न प्राप्नुम इत्यर्थः । तत्र हेतुः सूक्ष्माय दुर्ज्ञेयत्वादित्यर्थः । ननु, जीवात्मानं मद्भिन्नमेव पण्डिता आहुस्तत् मात्मानमेव मोहयामि तत्र मैवं वादीरित्याहुः— कूटस्थाय "एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः" इत्यभिधानात् प्रच्युतस्वरूपेण सर्वकालं व्याप्नोषि सः तु देवमनुष्यतिर्यगादिभिरनेकैः प्रच्युतैः स्वरूपैः कश्चिदेव काल व्याप्नोतीति कथं स इति भावः । देवमनुष्यादित्वं वस्तुतो जीवस्य न स्वरूपमिति चेत्तदपि त्वत्तः स भिन्न एवेत्याहुः विपश्चिते सर्वज्ञाय एव प्रसिद्ध इत्यर्थः । किञ्च, तदपि जीवात्मा ईश्वराद्भिन्न इति ईश्वराभिन्न इति जड इति चेतन इति एक इत्यनेक इत्या नानावादान् अनुरुणत्सि कौतुकार्थमवकाशयसीति तस्मै अत एव त्वदिच्छावशादेव तत्र मिथो विवादिनो मिथः संवादिनश्च शब्दमेव प्रमाणीकुर्वन्तीत्याहुः वाच्यानामर्थानां वाचकानां शब्दानाञ्च नानाविधाः शक्तयो यस्मात्तस्मै ॥ ४३ ॥ प्रामाण्येपि श्रीभागवतस्य सर्वाधिक्यमाहुः प्रमाणमूलाय श्रीभागवतस्वरूपाय कवये तत्कर्त्रे वेदव्याससस्वरूपाय अत एव योनये प्रादुर्भावकाय तथा चतुर्वर्गप्रतिपादकं शास्त्रमपि प्रमाणमित्याहुः प्रवृत्तशास्त्राय निवृत्तशास्त्राय तन्मूलनिगमशास्त्राय ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कालाय कालभिन्नाय ननु चेतनस्याचेतनेनाभेदः कथं घटेत ? इत्यतः शक्तितद्वतो हि भेदाभेदसम्बन्धादित्याशयेन कालनाभाय कालशक्त्याश्रयाय कालावयवानां सृष्ट्यादिसमयानां साक्षिणे विश्वाय विश्वाभिन्नाय कार्यकारणयोर्भेदाभेदसम्बन्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति" इतिश्रुतेः विश्वस्य ब्रह्मणि द्वैताद्वैतसम्बन्धहेतुं तज्जत्वादिकमाहुः तत्कर्त्रे विश्वजन्मादि निमित्तकारणमात्रपक्षनिराकरणायाहुः विश्वहेतवे विश्वस्य निमित्तकारणायोपादानकारणाय चेत्यर्थः । हेतुशब्दस्योभय वाचकत्वात् "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति श्रुतेश्च प्रधानकारणवादनिराकरणायाहुः तदुपद्रष्ट्रे विश्वपद्रष्ट्रे सर्वज्ञाय विश्वोत्पत्त्या दिसमयाद्यनभिज्ञस्य प्रधानस्य तत्कर्तृत्वासम्भवात् ॥ ४१ ॥ समष्टिव्यष्टिदेहावयवसंयोगवियोगहेतुत्वेन स्तुवन्ति-भूतेति । समष्टिव्यष्टिदेहगतान्याकाशादीनि मात्राणि शब्दतन्मात्रादीनि च उभयेन्द्रियाणि च प्राणस्य तस्य वा गोरवस्थाविशेषत्वात्पृथ "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणिच खम्वायुः" इति श्रुतावपि पृथगेव तन्निर्देशः । आशयश्चित्तं च तेषामात्मने उत्पत्तिस्थितिप्रवृत्त्यादिहेतव इत्यर्थः । ननु, समष्टिदेहे तेषामाश्रयः समष्टिजीवः व्यष्टिजीवः तदाश्रय जीवानामात्मपरमात्मानुभूति स्वतो नास्ति कुतः ? पुनर्भूताद्याश्रयत्वमिति सूचयितुं जीवानुभूतिप्रदत्वेन स्तुवन्ति—त्रिगुणेनेति । त्रिगुण नाभिमानेन देहाद्यभिमानेन गूढा देहे केनापि नियोजितः कश्चिदस्मीति किञ्चिद्विवेकरूपा स्वांशानामात्मनां भूतिर्यस्मात्तस्मै ॥ ४२ ॥ अनन्ताय महतोऽपि महीयसे सूक्ष्माय अणोरप्यणीयसे "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इति कूटस्थाय सर्वबीजत्वेऽपि निर्विकाराय विपश्चिते सर्वज्ञाय दृश्यत्वादृश्यत्वनिर्गुणत्वैकत्वानेकत्वादिविषयान् नाना वेदान्तवाक्यानि अनुरुणद्धि अविरोधप्रकारेणानुवर्तते यस्तस्मै "तत्तु समन्वयात्" (१।१।४) इति न्यायात् वाच्यानां वाचकानाम् तत्तद्वाचकानाम् उपस्थाप्योपस्थापकत्वादिलक्षणाः शक्तयो यस्मात्तस्मै सर्वाऽभिधेयाभिधानशक्तिमूलायेत्यर्थः ॥ प्रमाणं शास्त्रं मूलं ज्ञापकं यस्य तस्मै वेदैकवेद्याय कवये शास्त्रार्थद्रष्ट्रे शास्त्रयोनये शास्त्रप्राकट्यकर्त्रे "तस्य ह वा एतस्य भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग् वेदः" इति श्रुतेः । किञ्च कुरु कर्म त्यजेति चेत्याद्युभयविधाय प्रवृत्ताय प्रवृत्तिबोधकाय निवृत्ताय बोधकाय निगमाय धर्मार्थकामस्वरूपतदुपायबोधकतया बुभुक्षूणां मुक्तिस्वरूपतदुपायबोधकतया मुमुक्षूणां च हितकर्त्रे नमः ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कालाय "कलविलविक्षेपे" कलयति गुणक्षोभलक्षणं विक्षेपं करोतीति तस्मै, ननु तं समयः करोति तत्राह कालस्य मध्यवलयाग्राश्रयाय समासान्त आर्षः तेन तं करोषीत्यर्थः । कालावयवानां सृष्ट्यादिसमयानां साक्षिणो साक्षाद्द्रष्ट्रे विश्वाय क्षेत्रज्ञशक्तिभ्यां जगद्रूपाय तस्योप समीपे द्रष्ट्रे न च द्रष्टृमात्राय किन्तु उत्कर्त्रे न च कर्तृमात्राय किन्तु विश्वस्य हेतवे रूपाय तन्निचयस्य तदधीनवृत्तिकत्वादिना ततो अनितरत्वादिति भावः ॥ ४१ ॥ न च हेतुमात्राय किन्तु भूतादीनामात्मने जीवज्ञानहरत्वं चाह त्रिगुणो योऽभिमानोऽहङ्कारस्तेन गूढा आवृता शोभना आत्मनो जीवस्यानुभूतिर्येन तस्मै "त्वत्तो जीवानां प्रमोयस्तेऽत्रशक्तिश्च" इति वक्ष्यमाणात् ॥ ४२ ॥ अनन्ताय अहङ्कारपरिच्छेदरहिताय सूक्ष्माय प्रदग्रहणाय सदैकरूपाय विपश्चिते सर्वज्ञाय निर्गुणोऽभिन्न गुणो भिन्नगुणा अमूर्तिर्नित्यमूर्त्तिरात्ममूर्त्तिश्चेत्यवनानावादाननुरुणत्सि

मवकाशयसीति तस्मै एतदेव स्पष्टयन्ति वाच्यानामर्थानां वाचकानाञ्च शब्दानां तत्तद्वादस्थायिकाः शक्तयो यतस्तस्मै ।। ४३ ।। चे देवं तर्हि वास्तवार्थक्षतिस्तत्राह- प्रमाणानां मूलाय चतुर्लक्षणीरूपाय तेनैव हि प्रमाणानि स्थिरतां लभन्ते तत्र हि श्रुतिर्मुख्यं प्रमाणं प्रत्यक्षानुमाने तु तदनुगृहीते एव प्रमाणो इति निर्णीतं "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा" दित्यनेन कवये तदाविर्भावकाय बादरायणाय शास्त्रं शासनं तस्य योनये कारणाय त्वत्त एव तत्प्रवृत्तमित्यर्थः । प्रवृत्ताय ज्योतिष्टोमादिरूपाय निवृत्ताय शमदमादिरूपाय निगमाय तदावेदकवेदरूपाय ।। ४४ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कालनाभायेत्यप्रतीतेरनूद्य व्याचष्टे ।। कालनाभायेति । नाभिशब्दपर्यायोऽयं स्वार्थतद्धितो नाभशब्दः कालाश्रयत्वार्थक इति केचित् । नाभिरित्यथ नाभः स्याद्विष्णुः सर्वाश्रयो यत इत्यादेर्नाभिशब्द आश्रयमात्रार्थकः तथा च कालस्य नाभ इति विग्रह इति वदन्ति । भगवदङ्गानां भगवताऽभेदात्कालो नाभौ स्वस्मिन्नित्यच्प्रत्ययेति योगविभागात्कालनाभः पद्मनाभस्तस्मै । बहुव्रीह्यर्थं एवाचार्यैः साम्मुख्येनोक्त इत्यपि व्याचक्रिरे । विश्वाय तत्कर्त्रे । विश्वहेतव इति पदार्थं मानत आह ।। विश्वस्येति । मूलहेतुत्वतो विष्णुहेतुः प्रातिस्विकं प्रतिव्यक्तिकरणत्वात्कर्तेत्युच्यत इत्यन्वयः । अनेन मूले कर्तृपदानन्तरं सतो विश्वहेतुपदस्य मुख्यसर्वकारणार्थकत्वात्प्रागन्वयनीयता सूचितेति मन्तव्यं ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ कालाय पुमर्थदात्रे कालनाभाय तदाश्रयाय कालावयवसाक्षिणे क्षणलवादिलक्षणतदवयवसाक्षिणे विश्वाय स्वाधीनीकृतप्रपञ्चत्वाद्विश्वशब्दवाच्याय तदुपद्रष्टे तत्तत्कृतसुकृतदुष्कृतदेयफलज्ञाय तद्धेतुवते तन्मूलकारणाय तत्कर्त्रे प्रातिस्विकं तदुत्पत्तिकर्त्रे ।। ४१ ॥ भूतानि पञ्च मात्राः शब्दाद्या इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दश प्राणाः पञ्च दश वा मनः सङ्कल्पात्मकं बुद्धिः कार्याकार्यविनिश्चयो बुद्धिर्ज्ञानं प्रतीतिर्बुद्धिस्तु कार्याकार्यविनिश्चय इति गीताभाष्योक्तेः । भूतादीनामाशयः स्थानमात्मा देहः स्वभावो वा यस्य तस्मै । आशयोऽन्तःकरणं वा तेषामात्मा स्वामी तस्मै वा । आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म चेत्यमरः । स्थानेऽभिप्राय आशय इति यादवः । निर्गुणेन सत्त्वादिगुणसम्बन्धविधुरेणाभिमानेनेच्छया गूढाऽप्रकाशिताऽऽत्मनां जीवानां स्वास्वरूपभूताऽनुमुक्तिगा भूतिरैश्वर्यं येन स तस्मै । अन्वाश्रये बन्धने मोक्ष इति विश्वः ।। ४२ ।। अनन्ताय निर्नाशाय बद्धाय वा सूक्ष्मायाव्यक्तायानन्ताय सर्वगताय वा । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममिति श्रुतेः कूटस्थाय शश्वदेकप्रकाराय कूटमाकाशः कूटं स्वं विदलं व्योम सन्धिराकाश उच्यत इत्यभिधानाद्गीताभाष्ये । विवक्षिते पूर्णज्ञानाय नानावादानुरोधाय नानाविधा वादाः सत्सिद्धान्तास्तेषामनुरोधायानुकूलतया स्थिताय नानावादानामनुरोधो मर्यादा येन स तस्मै वा वाच्यवाचकानां शब्दार्थशब्दानां शक्तिर्वाच्यत्ववाचकत्वसामर्थ्यं येन तस्मा इति वा ।। ४३ ॥ प्रमाणानां मूलं प्रतिष्ठापकस्तस्मै कवयेऽतिक्रान्तदर्शिने शास्त्रयोनये शास्त्रं योनिर्ज्ञप्तिदारणं यस्य तस्मै प्रवर्तकतया प्रवृत्तायैवं निवृत्ताय निगमाय गर्भगतागमाय मार्गरूपाय वा । अयनं पदवी मार्गः पद्या चेति निगद्यत इति हलः । निश्चायकाय वा । निगमो निश्चये वेदे परे पथवणिक्पथ इति यादवः ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी

जगद्रूपतां सहेतुकामुक्त्वा नमस्यन्ति कालायेति, स्थानं हि द्विविधमुक्तं, शब्दमर्यादायां कालो नियामकः, अर्थमर्यादायां भूमिरिति, तदप्याह जगतो हि मूलकारणं कालः, भगवच्चेष्टारूपत्वात्, कालो नाभौ यस्येति सृष्टौ प्रयोजनमुक्तं, मृत्युर्हि कालः, स स्वस्थाने तिष्ठति, नाभिस्तस्य स्थानं, मृत्युना भक्षिता हि मृत्योर्बहिःकृता मृत्युमन्तर्निवेश्य "मृत्युनैवेदमावृतमासीदि"त्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितं, तेन कालत्वेन क्रियाशक्तिरुक्ता, कालनाभत्वे सृष्टिप्रयोजनमुक्तं, सृष्टिप्रकारमाह कालावयवसाक्षिण इति कालावयवानां सर्वोत्पत्तिनिमित्तानां साक्षिणे अनेन विश्वसृष्टौ क्लेशाभावोऽप्युक्तः, शब्दमर्यादायां तु कालः सूर्यः कालनाभाः शब्दाः, सर्व एव वेदाः कालावयवसाक्षिणः कर्माणि, सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितं, वर्णा हि मात्रात्मकाः तेन काल एव नाभौ येषामिति सर्वथा कालापेक्षा तेषामेव "काले कर्म हि चोद्यत" इतिकालावयवसाक्षित्वं, कर्मणां नित्यत्वाय कालावयवस्य साक्षित्वमुक्तं, विश्वकारणरूपत्वमुक्त्वा विश्वरूपत्वमाह विश्वायेति तस्य विश्वस्य त्रैविध्यं निरूपयन्नादावाधिदैविकरूपमाह तदुपद्रष्ट्र इति तस्य विश्वस्योपद्रष्टा, आधिदैविकव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपेणैवासम्भवात् तत्कर्त्र इत्याध्यात्मिकरूपं, स हि सर्वकर्ता, आधिभौतिकमाह तस्य हेतव इति हेतुः कारणं भूतादि अनेनार्थमर्यादापि निरूपिता विश्वमेवार्थरूपः, तदुपद्रष्टा मोक्षरूपः तत्कर्ता कामरूपः, तद्धेतुर्धर्मः ।। ४१ ।। एव विश्वरूपत्वमुक्त्वा तद्भोक्तृसङ्घातजीवरूपत्वमाह, तत्र प्रथमं सङ्घातं निर्दिशति भूतमात्रेति भूतानि मात्रा इन्द्रियाणि प्राणामनो बुद्धिराशयश्चित्तमात्माहङ्कारश्च अयमेव हि सङ्घातः एतद्रूपाय जीवरूपश्चेत्याह, त्रिगुणेनाभिमानेन गूढा स्वात्मानुभूतिर्यस्य इयमेव हि भगवतः पुष्टियंदमर्यादव्यवस्थया स्थितः, स्वात्मानुभूतौ सत्यां जीवभावो विरुध्यत इति गुणैराच्छदनम् ।। ४२ ।। एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपत्वमुक्त्वा शब्दसृष्टिरूपत्वमाह नमोनन्तायेति रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिर्विलक्षणा, अन्तवती रूपसृष्टिरनन्ता नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः कूटस्थाविकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टिर्विपश्चिद् बोधरूपा नामसृष्टिः, एवं चतुर्धा वैलक्षण्यमुक्तं, नन्वेवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसङ्गस्तत्राह नानावादानुरोधायेति सिद्धान्ततदाभासतत्पाषण्डरूपा नानावादास्तेषामनुरोधो यस्य, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति तत्रोपपत्तिमाह वाच्यवाचकशक्तय इति वाच्योर्थो वाचकः शब्दः, उभयत्रापि शक्तयो यस्य, यथैवार्थं

वक्तुमिच्छति तथैवार्थो भवति तं प्रति सर्वस्यापि शब्दस्य, यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवास्मिन् छब्दे तदर्थं शक्त्यो प्रवर्ति ऊतिरत्र स्पष्टैव ॥ ४३ ॥ एवं सामान्यतो नामसृष्टिलीलामुक्त्वा विशेषमाह नमः प्रमाणमूलायेति वेदादयो हि प्रमाणं तेषां प्रामाण्यमादरणीयत्वं वा तद् भगवत्प्रतिपाद्यत्वेन भगवत्प्रतिपादितत्वेन च, अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, नित्यत्वेपि भगवद्व्यतिरिक्तत्वेप्रामाण्यं च स्यात्, नित्यता च न स्यात् अतः प्रमाणमूलभूतो भवानेव कवये तद्रसाभिज्ञाय, अनेन शब्दवक्ता शब्दरसाभिज्ञ शब्दरूपश्चोक्तः, शब्दोपादानकारणरूपश्चेत्याह शास्त्रयोनय इति शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणं एवं निदानरूपत्वमुक्त्वा वान्तररूपत्वमाह प्रवृत्ताय निवृत्तायेति वेदो हि द्वयं सम्पादयति प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कुतश्चिन्निवर्तयति क्वचित् प्रवर्तयति निगम आज्ञारूपो भवति एवम्प्रकारेण निगमरूपो वेदरूपो वा, अनेन सद्धर्मा उक्ताः ॥ ४४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कालायेत्यत्रोक्त्वा नमस्यन्तीति वदन्तो नमस्यन्ति, स्थानं हि द्विविधमिति स्थानं नियमनं द्विविधं शब्देनार्थेन च, षष्ठे निबन्धे त्रिविधमुक्तं देशकालात्मभेदेन तथापि प्रकृते द्विविधमेव स्फुटमिति द्विविधमुक्तं तत्र शब्दमर्यादायां कालो नियामकः स्थानं स्थापकोर्थमर्यादायां भूमिः शेषात्मिका ब्रह्माण्डरूपा तत्तत्साधनवतां तत्तद्देशनियामिकेति तदुक्तं नियमनं सिध्यतीति सर्वमत्राप्याहेत्यर्थः, प्रथमतो जगन्मूलकारणत्वं व्युत्पादयन्ति जगत इत्यादि, भगवच्चेष्टारूपत्वादिति "योयं कालस्तस्य तेऽव्यक्तबन्धो चेष्टामाहु" रिति "सतोभिव्यञ्जकः काल" "इति पुरुषस्तदुपादान" मित्यादिवाक्येभ्यः, ज्योतिर्विद्भिस्तत्तन्मुहूर्तं उत्तमानां बलेनैव भाग्याकृतिप्रभृत्यङ्गीकाराच्च, प्रयोजनमुपपादयन्ति मृत्युर्हीत्यादि, मृत्युना कालेन भक्षिताश्चराचरात्मकाः पदार्थाः मृत्योः सकाशाद् बहिः प्रकटिता "अशनाया" रूपं मृत्युमन्तर्निवेश्य, "तदेतन्मृत्युमनवे" तिश्रुतावुक्तं. श्रुतिस्तु काण्वानां बृहदारण्यके ब्राह्मणेस्ति, प्रयोजनं मृत्योरन्तःप्रवेशः कालावयवानामिति 'निमेषादिवत्सरान्ता'नां अनेनेति साक्षित्वकथनेन उदासीनत्वात्, एवं जगद्धेतुत्वमुक्तं, अतः परं स्थानं व्युत्पादयन्तस्तत्र शब्दमर्यादायां कालस्य कथं नियामकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति शब्देत्यादि, तृतीय इति तृतीयस्कन्ध एकादशाध्याये "ग्रहर्क्षताराचक्रस्थ" इत्यत्र वर्णा वैदिका मात्रात्मकाः प्रणवमात्राः योकारस्तदात्मका "अकारो वै सर्वा वा" गितिश्रुतेः, तेन त्रयीमयः कालात्मा सूर्यो नाभावन्तर्येषामितिहेतोर्वर्णव्यवस्थापकत्वात् सर्वथा कालापेक्षा वेदानामेवातो वेदाः कालनाभाः, कालावयस्येति तन्मूलभूतकारणस्याकारस्य, एवं कालकृतनियमनमुक्तं, अर्थमर्यादापि निरूपितेति त्रिविधविश्वरूपत्वकथनेनार्थकृता या मर्यादा तत्र तत्र तस्य स्थापनरूपा साप्यर्थबलान्निरूपितेत्यर्थः । भूतमात्रेन्द्रियेत्यत्र ननु पुष्टिरनुग्रहस्तथा चात्र तन्निरूपणाभावे क्रमो भज्येतेत्यत आहुरियमित्यादि, इयमुभयरूपतैव हि यतो हेतो भगवतः पुष्टिरनुग्रहो यद्यस्माद्धेतोरुभयरूपत्वेनामर्यादव्यवस्थया स्थितिः, तथा चानेन प्रकारेणानुग्रहनिरूपणात्र क्रमभङ्ग इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ नमोनन्तायेत्यत्र ननु विश्वे निरूपिते तन्मध्यपातिशब्दसृष्टिरपि निरूपितप्रायेति पुनस्तन्निरूपणं किमर्थमित्यत आहुः रूपेत्यादि, तथा च वैलक्षण्यात् तथेतिभावः, कूटस्थेत्यस्यैव व्याख्यानमाविकृतेति, एवमिति ज्ञानरूपायां, सर्वैरेवेत्यादि, तथा च पाषण्डेनान्यथा वा भगवन्तं निरूपयन्ति तान् प्रति पाषण्डेनान्यथा च प्रकटीभवतीति त जगद्विलय इत्यर्थः, ऊतिरत्र स्पष्टेत्य- स्मिन् श्लोके नानावादानुरोधकथनाद् वादनानात्वस्य च कर्मवासनयैव भवनात् तेन सा स्पष्टैवेत्यर्थः ॥ ४३ ॥ नमः प्रमाणमूला- येत्यत्र भगवत्प्रतिपाद्यत्वेनेति भगवान् प्रतिपाद्यो यस्मिंस्तत्त्वेन, अन्यथेत्याद्येतदुभयरूपत्वाभावे, तथा चाद्याभावे "सर्वे वेदा" इति- विरोधाद् द्वितीयाभावे "एकमेवाद्वितीय" मितिश्रुतिविरोधाच्च तथेत्यर्थः, अनेनेत्यादिप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपवत्त्वकथनेन मन्वन्तरे सद्धर्मा उक्ता इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कालायेत्यस्याभासे जगद्रूपतामिति एतत्कथनपूर्वकं नमस्कारो वाक्यार्थः न त्वयं पूर्वानुवादः, व्याख्याने, स्थानं हीति हि यतः स्थितिरेव स्थानं स्थीयतेस्मिन्निति च स्थानमेवं द्विविधं स्थानं पञ्चमस्कन्धे उक्तमित्यर्थः । शब्देति वेदोक्तकर्मप्रकारेण स्थिता इत्यर्थः, अर्थानां शब्दप्रतिपाद्यानां पुरुषार्थानां मर्यादा जम्बूद्वीपतीर्थादिस्थानमित्यर्थः, तदपीत्यपिशब्देनैतस्य प्रासङ्गिकत्वं मुख्यतया वाक्यार्थस्त्वाभासोक्त एवेतिभावः, मृत्युनेति कालस्य स्वस्थानस्थितिः प्रयोजनं तदर्थं मृत्युं स्वान्तर्निवेश्य प्रलये स्थिता, प्रजाः सृष्ट्या बहिः कृतवान् भगवानित्यर्थः, मात्रात्मका इति ह्रस्वादिमात्राणां मूलत्वादिभावः ॥ ४१ ॥ नमोनन्तायेत्य- स्याभासे एवमिति श्लोकचतुष्टयार्थस्यानुवादोयं, शब्दस्यापि प्रमेयत्वात् पञ्चमश्लोके तथोक्तमतः कारिकासूक्तं पञ्चानामपि रूपत्वं सिद्धमितिभावः, व्याख्याने, तत्पाषण्डेति स चासौ पाषण्डश्च, सिद्धान्तरूपो यः पाषण्डो बाह्यसिद्धान्त इत्यर्थः, सिद्धान्तः मायावादादिः, यथाकथञ्चिद् वेदनिष्ठत्वात् ॥ ४३ ॥ नमः प्रमाणेत्यत्र आदरणीयत्वमिति द्वितीयस्कन्धोक्तप्रमाणलक्षणमनुसृत्याह तत्त्वं नित्यत्वमित्यर्थः, प्रमाणं मूलं यस्येतिव्युत्पत्त्या भगवान् प्रतिपाद्यो यत्र-तादृशत्वं प्रमाणानां, प्रमाणेन भगवद्ज्ञानं यावत्, प्रमाणस्य मूलमिति व्युत्पत्त्या भगवत्प्रतिपादितत्वं तेषां प्रमाणभूतो मूलभूतश्चेतिव्युत्पत्त्या भगवद्रूपत्वं तेषामिति अन्यथा तदिति नित्यत्वरूपं प्रामाण्यमित्यर्थः, अप्रामाण्यं चेति सामान्यतः प्रमाजनकत्वं च न स्यादित्यर्थः, अनेनेति विशेषणद्वयेन कर्मधारयपक्षमेवानुसृत्य मूलत्वेन शब्दवक्तृत्वं प्रमाणत्वेन शब्दरूपत्वं कविपदेन तद्रसाभिज्ञत्वं च निरूपितम् ॥ ४४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कालायेत्यस्य विवृतौ शब्दमर्यादायामिति वेदोक्तमर्यादायां कालस्य नियामकत्वं काले कर्मविधानादित्यर्थः, शब्दमर्यादायामिति वेदमर्यादायामित्यर्थः, कालः सूर्यः इति "कालाये" त्यनेन सूर्य उच्यते कालभौतिकरूपत्वात् सूर्यस्येत्यर्थः, तत्रोपपत्तिस्तु "सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चित" मित्यनेन वक्ष्यत्यनुपदं, अत एव निबन्धे "सूर्यस्तस्याविभौतिक" मित्युक्तं, अन्येनार्थमर्यादेति अनेनेति "विश्वाये"त्यादिपदचतुष्टयोपादानेनेत्यर्थः, अर्थमर्यादापीति वेदात्मकालौकिकशब्देन प्रतिपाद्या ये अर्थाः पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षाख्यास्तेषां मर्यादापीत्यर्थः, पुरुषार्थान् प्रतिपादयन्ति विश्वमेवार्थरूप इत्यारभ्य तद्धेतुधर्मं इत्यन्तेन तदुपद्रष्ट्रे इति "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमक्ष" दितिश्रुतेः उपद्रष्टृशब्दवाच्यस्य प्रत्यगात्मनो दर्शनं मोक्षः, मोक्षे च शुद्धाद्वैतस्फूर्तौ मोक्षरूपत्वं उपद्रष्टृ रुक्तं, तत्कर्ता काम इति "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेये"तिश्रुतेः कामस्यैव जगत्कर्तृत्वाभिधानात् ॥ ४१ ॥ इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिरिति "गूढस्वात्मानुभूतय" इत्यनेन भूताद्यात्मकस्यापि गूढस्वानुभवत्वमुक्तं, तच्च युक्तिविरुद्धमित्यमर्यादत्वं प्रदर्शितं, मर्यादाविरोध भगवत्कृतश्चेत् तदा पुष्टिकार्यत्वं तस्य कञ्चिज्जीवमनुगृहीतुमेव मर्यादाविरोधो भगवता क्रियते, अतो मर्यादाविरुद्धभगवत्कृत्या तत्कारणीभूता पुष्टिरनुमीयते, प्रकृते मर्यादाविरोधस्य "गूढस्वात्मानुभूतय" इत्यनेनोक्तत्वात् पुष्टिलीलानेनोक्तेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

कालनाभाय कालशक्त्याश्रयाय । एवमुक्त्या प्रतीतं तद्भेदं वारयन्त्य आहुः—कालाय कालरूपाय । कालावयवानां सृष्ट्यादिसमयानां निमेषादिद्विपरार्धान्तानां साक्षिणे । विश्वाय विश्वोपादानतया विश्वरूपाय । तदद्रष्ट्रे विश्वसाक्षिणे । तत्कर्त्रे विश्वकर्त्रे । विश्वहेतवे करणादिसर्वकारकरूपायेत्यर्थः ॥४१ ॥ सर्वकारकत्वमेव स्पष्टयति—भूतेति । भूतानि आकाशादीनि, मात्राः शब्दादयः पञ्च प्राणाश्च दशविधाः, इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयात्मकानि दश, मनश्च बुद्धिश्च आशयश्चित्तं च आत्मा अहङ्कारश्च तद्रूपाय । 'एवं सर्वात्मा चेत्तदा तथात्वेन कुतो न प्रतीयते?' तत्राहुः—त्रिगुणेनेति । गुणत्रयहेतुकेनाभिमानेन देहाद्यात्माभिमानेन गूढा आच्छन्ना स्वांशभूतानामात्मनां जीवानामनुभूतिर्विवेकज्ञानं येन तस्मै ॥ ४२ ॥ अनन्ताय देशकालवस्तुपरिच्छेदरहिताय । सूक्ष्माय तथात्वेन दुर्ज्ञेयाय । कूटस्थाय संसर्गदोषरहिताय । विपश्चेति सर्वसाक्षिणे । नानावादानुरोधाय 'इस्तपादाद्यस्ति–तन्नास्ति, सर्वज्ञः-किञ्चिज्ज्ञः, बद्धः- मुक्तः, एक-अनेक' इत्यादीन् नानावादाननुरुणद्धि अनुवर्तते यस्तस्मै । वाच्यवाचकशक्तये वाच्यानामर्थानां वाचकानां शब्दानां च शक्त्यो यस्मात्तस्मै ॥४३ ॥ प्रमाणानि चक्षुरादीनि तेषां मूलाय प्रकाशकाय, 'चक्षुषश्चक्षुः'इत्यादिश्रुतेः । अत एव कवये चक्षुरादिनिरपेक्षज्ञानाय । शास्त्रयोनये 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेद' इति श्रुतेः वेदात्मनिःश्वासाय । प्रवृत्ताय प्रवर्तकाय विधिरूपाय, निवृत्ताय निवर्तकाय निषेधात्मकाय एवमुभयात्मकाय निगमाय वेदरूपाय ॥ ४४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कालायेति ॥ कालाय कालरूपाय कालनाभाय कालशक्त्याश्रयाय । समासान्त आर्षः । कालस्यावयवानां निमेषादीनां साक्षिणे विश्वाय तद्रूपाय तस्य विश्वस्य उपद्रष्ट्रे साक्षिणे तत्कर्त्रे विश्वकर्त्रे विश्वहेतवे करणादिसर्वकारणरूपाय तुभ्यं नमः ॥ ४१ ॥ भूतेति ॥ भूतानि आकाशादीनि मात्राः शब्दादयः पञ्च प्राणाश्च दशविधाः इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयात्मकानि दश मनश्च बुद्धिश्च आशयश्चित्तं च आत्माहङ्कारश्च तद्रूपाय त्रिगुणेन गुणत्रयहेतुकेनाभिमानेन देहाद्यात्माभिमानेन गूढा आच्छन्ना स्वांशभूतानामात्मनां जीवानामनुभूतिर्विवेकज्ञानं येन तस्मै तुभ्यं नमः ॥ ४२ ॥ नम इति ॥ अनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय निर्विकाराय विपश्चिते साक्षिणे नानावादान् तत्तन्मतप्रसिद्धान् शरीरी अशरीरी सर्वज्ञः किञ्चिज्ज्ञः इत्यादीन् अनुरुणद्धि अनुवर्तते यस्तस्मै वाच्यानामर्थानां वाचकानां शब्दानां च शक्त्यो यस्मात्तस्मै तुभ्यं नमः ॥ ४३ ॥ नम इति ॥ प्रमाणानां चक्षुरादीनां मूलाय प्रकाशकाय कवये शास्त्रस्य वेदस्य योनये कारणाय स्वतःप्रवृत्ताय प्रवर्तकाय विधिरूपाय निवृत्ताय निवर्तकाय निषेधात्मकाय एवमुभयात्मकाय निगमाय वेदरूपाय तुभ्यं नमः ॥ ४४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पुनः कथंभूताय कालाय कालकालाय कालनाभाय कालधारकाय कालस्यावयवानां दिनसंवत्सरयुगनित्यप्रलयादीनामंगानां सक्षिणे साक्षाद्द्रष्ट्रे विश्वाय वैराजावताराय तदुपद्रष्ट्रे तस्य विश्वस्योपद्रष्ट्रे साक्षिणे तत्कर्त्रे विश्वकारकाय अतः विश्वहेतवे जगत्कारणाय ते नम इति प्रतिपदं संबध्यते ॥ ४१ ॥ जीवसमूहस्य पंचभूतादीनां आत्मने प्रवर्त्तकाय आशयश्चित्तं त्रिगुणेन सत्वादित्रिगुणात्मके नाभिमानेन जीवानां गूढा गुप्ता स्वात्मानुभूतिर्निजानुभवो यस्य जीवानां तवानुभवो गुप्त इत्यर्थः ॥ ४२ ॥ अनंताय अविनाशिने सूक्ष्मेष्वक्षरपुरुषादिषु सूक्ष्माय स्व प्रकाशशक्त्या व्यापकाय कूटस्थाय कूटं पर्वतशृंगं तद्वत्तिष्ठति अन्येभ्योऽपराभवनीयतया वर्त्तते तस्मै विपश्चिते सर्वबोधाय नानावादानां सांख्ययोगादीनां अनुरोधः समाश्रियं स्मिस्तस्मै वाच्यः पदार्थश्च वाचकस्तज्ज्ञापक-

शब्दश्च तयोः शक्तिः अनेन शब्देनायं पदार्थो बोध्य इति संकेतो यस्मात् तस्मै नमः ॥ ४३ ॥ प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां मूलाय उत्पादकाय कवये सदा स्वतः सिद्धज्ञानाय यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वत इति श्रुतेः शास्त्राणां वेदानां योनये उत्पत्तिकारणाय एतन्महतोद्भुतस्य ऋग्वेदः श्वसितमिति श्रुतेः यद्वा शास्त्रं योनिर्ज्ञानजनकं यस्य तस्मै शास्त्रगम्यत्वं ज्ञेय इत्यर्थः। तदुक्तं व्याससूत्रे शास्त्रयोनित्वादिति प्रवृत्ताय संकर्षेण प्रद्युम्नादिरूपैः प्रवृत्तधर्मप्रवर्त्तकाय निवृत्ताय श्रीनरनारायणसनकादिदत्तादिरूपैः निवृत्तधर्मप्रवर्त्तकाय निगमायच्छात्ररूपाय नमो नमः ॥ ४४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कालायेति ॥ कालाय कालात्मकाय, 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' इति भगवद्गीतोक्तेः। कालो नाभिवदङ्गभूतो यस्य तस्मै, कालशक्त्याश्रयायेति वा। कालावयवानां निमेषादिसंवत्सरान्तानां साक्षिणे साक्षात् द्रष्ट्रे, विश्वाय विश्वात्मकाय, तर्हि किं जडोऽहं न, तदुपद्रष्ट्रे विश्वसाक्षिणे, विश्वरूपायेति पाठे विश्वं रूपं शरीरं यस्य तस्मै, तत्कर्त्रे विश्वकारकाय, न केवलं कर्तृमात्राय, किं तु विश्वहेतवे सर्वकारणरूपाय जगत्कारणरूपायेति यावत्। तुभ्यं नमः इति शेषः ॥ ४१ ॥ भूतेति ॥ भूतान्याकाशादीनि च मात्राः शब्दादयश्च इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियाणि च प्राणाः प्राणादयः पञ्चासवश्च मनश्च बुद्धिश्च आशयश्चित्तं वासना वा च एतेषामात्मा प्रवर्त्तकस्तस्मै, त्रिगुणेन गुणत्रयहेतुकेन, अभिमानेनाहंकारेण, अहंकरणरूपाज्ञानेनेत्यर्थः। गूढा च्छन्ना स्वात्मानुभूतिर्जीवानां यस्य तस्मै, देहादावहंभावभाजामनाविष्कृतस्वसुखानुभवायेत्यर्थः। तुभ्यं नम इति शेषः ॥ ४२ ॥ त्वं सर्वदाहंकाराद्यनावृत एवासीत्यादि सूचयन्त्यः स्तुवन्ति ॥ नम इति ॥ अनन्ताय अहंकारकृतपरिच्छेदरहिताय, महते इत्यर्थः। सूक्ष्माय सूक्ष्मरूपजीवान्तःप्रवेशनेन ततोऽप्यतिसूक्ष्मायेत्यर्थः। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इति श्रुतेः। 'सूक्ष्माणामप्यहं जीवः' इति 'य आत्मनि तिष्ठ' श्रुतिस्मृतिभ्यां तथावबोधात्, कूटस्थाय उपाधिकृतविकाररहिताय, विपश्चिते सर्वज्ञाय, वस्तुवृत्या स्तुत्वाऽचिन्त्यमायत्वेन स्तुवन्ति। नानावादानुरोधाय अस्ति नास्ति स गुणोऽगुणः साकारो निराकारः सर्वज्ञोऽल्पज्ञः ईश्वरः जीवः बद्धो मुक्तः अनेक एकः कर्त्ताऽकर्त्ता इत्यादीन् नानावादान् अनुरुणद्धि माययाऽनुवर्त्तते यस्तस्मै, वाच्यवाचकशक्तये अभिधेयाभिधानरूपयोर्वाच्यवाचकयोः शक्तिस्तन्निर्वाहकत्वं यस्य तस्मै, अतो नानात्वेन प्रतीतायेत्यर्थः। नमः ॥ ४३ ॥ नम इति ॥ प्रमाणानां चक्षुरादीनां मूलं चक्षुस्तस्मै, 'चक्षुषश्चक्षुः' इति श्रुतेः। कवये सार्वज्ञ्ययुक्ताय, शास्त्रं वेदादिस्तद्योनये, 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' इत्यादिश्रुतेः। 'शास्त्रयोनित्वात्' इति श्रीमद्व्यासप्रणीतशारीरकसूत्राच्च। प्रवृत्ताय प्रवृत्तकर्मनिर्वाहकाय, निवृत्ताय निवृत्तकर्मनिर्वाहकाय, निगमाय उपनिषज्ज्ञाप्रवर्त्तकाय, नमः नमः ॥ ४४ ॥

कृष्णप्रिया

हे नाथ आप कालरूप हैं यानि जगत का मूल कारण कालरूप आप हैं, काल को अपनी नाभि में आश्रय देने वाले आप हैं, काल के अवयवों के आप साक्षी हैं, विश्वरूप हैं, विश्व के आप द्रष्टा हैं, विश्व के आप कर्ता हैं और विश्व के कारण हैं ऐसे भगवान को मेरा प्रणाम है ॥ ४१ ॥ पञ्च महाभूत, पञ्च तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित, आत्मा-अहंकार रूप आत्मा ऐसे भगवान को एवं त्रिगुणात्मक अभिमान से अपने अंशरूप आत्माओं के अनुभव को ढकने वाले हम सब आपको प्रणाम करते हैं ॥ ४२ ॥ अनन्त, सूक्ष्म, कूटस्थ, सर्वज्ञ, अनेक वादों का अनुसरण करने वाले, एवं वाच्य तथा वाचक दोनों से जिनकी शक्ति हैं, ऐसे भगवान आपको हम सब प्रणाम करती हैं ॥ ४३ ॥ वेद आदि शास्त्र प्रमाण हैं, उन सब का प्रतिपाद्य आप हैं एवं प्रतिपादक भी आप हैं इसलिए प्रमाण-वेद के आदि कारण आपको हमारा प्रणाम है, आप ही कवि हैं, आप ही रस-रूप हैं और रसज्ञ हैं ऐसे कवि स्वरूप को हमारा प्रणाम, शास्त्र की प्रवृत्ति निवृत्ति कराने वाले आपको प्रणाम शास्त्र के कारण आपको प्रणाम निगम स्वरूप नाथ आपको प्रणाम है ॥ ४४ ॥

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च। प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥
नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च। गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥
अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये। हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥ ४७ ॥
परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः। अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रे ऽस्य[1] हेतवे[2] ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च नमः प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥ गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च नमो गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥ अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये। मुनये मौनशीलिने हृषीकेश नमः ते अस्तु ॥ ४७ ॥ परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रे तस्य हेतवे तुभ्यं नमः ॥ ४८ ॥

१. दृश्युपलक्ष्याय—वीर. ; प्रत्युपलक्ष्याय—विज. । २. विश्वहेतवे—वीर. विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

किं च अनावृतैश्वर्यत्वादेव चतुर्मूर्तिरूपेण सर्वोपास्यत्वेन नमंति नमः कृष्णायेति श्लोकेन । रामाय संकर्षणाय । वसुदेवसुताय च वसुदेवशब्दितं शुद्धं सत्त्वं तत्र प्रकाशमानाय वासुदेवायेत्यर्थः । सात्वतामेतदुपासकानां पतये सालोक्यादिना पालकाय । एवं चतुर्मूर्तये कृष्णाय तुभ्यं नम इति ॥ ४५ ॥ कथं चतुर्मूर्तितेति तदाहुः । नमो गुणप्रदीपायेति । गुणा अंतःकरणानि तान् प्रदीपयति प्रकाशयतीति तथा तस्मै । चित्ताद्यधिष्ठातृत्वेन चतुर्मूर्तितेत्यर्थः । ननु तथाऽप्येकस्यैव कथं चतुर्ष्ट्वमत आहुः । गुणात्मच्छादनाय तैरेव गुणैरुपासकानां फलवैचित्र्यायात्मानमाच्छाद्य नानात्वेन प्रकाशमानायेत्यर्थः । ननु तर्हि कथ प्रतीतिरत उक्तं गुणवृत्त्युपलक्ष्याय चित्तादीनां चेतनाध्यवसायादिवृत्तिभिरुपलक्ष्याय । उपलक्षणमेवाहुः । गुणद्रष्ट्रे तत्साक्षिणे । कथंचिदुपलक्ष्य एव न तु ज्ञेय इत्याहुः स्वसंविदे । अगोचरायेत्यर्थः ॥ ४६ ॥ अगोचरत्वमुपलक्ष्यत्वं च दर्शयन्तो नमंति । अव्याकृतविहाराय अप्रतर्क्यमहिम्न इत्यर्थः । सर्वव्याकृतसिद्धये सर्वकार्योत्पत्तिप्रकाशहेतुत्वेनोपलक्षणयोग्यायेत्यर्थः । उपलक्षणांतरमाहुः हे हृषीकेश करणप्रवर्तक । किं विषयलिप्सया न मुनये आत्मारामाय । किं साधनवशेन वा नहि नहि मौनशीलिने मौनमात्मारामता तत्स्वभावाय ॥ ४७ ॥ कुतः । परावरगतिज्ञाय स्थूलसूक्ष्माणां गतिज्ञत्वेन न क्वापि सज्जमानायेत्यर्थः । अपि च सर्वाध्यक्षाय सर्वस्याधिष्ठात्रे । कुत एतत् । अविश्वाय न विश्वं यस्मिंस्तस्मै तन्निषेधावधये । विश्वाय च तद्विवर्ताधिष्ठानायेत्यर्थः । किं च तद्द्रष्ट्रे अध्यासापवादसाक्षिणे । अपि च अस्य विश्वाध्यासस्य तदपवादस्य च विद्याविद्याभ्यां हेतवे । यद्वा अविश्वाय विश्वतैजसाद्यवस्थारहिताय । विश्वाय च मायया स्वांशैस्तत्तदवस्थाय । तद्द्रष्ट्रे तासामवस्थानां भावाभावसाक्षिणे । अन्यत्समानम् । तस्मात्सर्वगतिज्ञत्वसर्वाधिष्ठातृत्वात्मारामत्वादिभिर्निरतिशयैश्वर्याय तुभ्य नम इति ॥

विशेषणैरसंकीर्णैः पंचपंचाशता पुनः ॥ अहित्रीभिः प्रसन्नो वस्तासामिव भवेद्धरिः ॥ १ ॥ ४८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

वेदरूपत्वेऽपि भक्तवत्सलतया चतुर्व्यूहं दधर्येत्याहुः—किं चेति । यद्वा—कृष्णाय सदानंदरूपाय प्रपन्नाघकर्षकाय, दैत्यादिपु वह्नये नीलवर्णाय वा "कृष्णः सीसायलोहेषु कृष्णो नीलेऽनले कलौ । शूद्रे काके पिके व्यासे ध्वांते पक्षेऽर्जुने हरौ ॥" इति यादवः । रामाय अभिरामाय । प्रद्युम्नाय प्रकृष्टधनाय 'द्युम्नं द्रविणं धनम्' इति हलायुधः । ज्ञानं विना न निरुध्यते इत्यनिरुद्धतस्मै ॥ ४५ ॥ तदाहुः—चतुर्मूर्त्तिभवने प्रकारमाहुः । इत्यर्थ इति । चतुर्व्यूहं विनांतःकरणचतुष्टयाधिष्ठातृत्वं कथं घटेतेति भावः । तथाप्याशंकते—नन्विति । तथापि चतुर्मूर्तित्वेपि अतः अत्र । इत्यर्थ इति । शुद्धब्रह्मरूपत्वमाच्छाद्य भक्तानां यथायथा कामं तथातया भवनशीलायेत्यभिप्रायः । आत्मानमाच्छादयामि चेत्तर्हि कथमहं प्रतीय इत्याशंकते—नन्विति इत्यर्थ इति । स्वप्रकाशस्यान्यगोचरत्वे स्वसंवित्ता भ्रश्येतेति भावः । यद्वा—गुणाः सत्त्वाद्या भक्तिज्ञानाद्या वा तेषां ज्ञापकाय गुणात्मा प्रकृतिरेव छादनमावरकं यस्य तस्मै गुणैरिंद्रियादिभिरात्मनो जीवानाच्छादयतीति वा ॥ ४६ ॥ इत्यर्थ इति व्याकृतविहारस्तर्कितुं शक्यो भवतीति त्वं तु न तथेत्यर्थः । इत्यर्थ इति । कारणं विना कार्योत्पत्तेरसंभवादित्यभिप्रायः । प्रवर्त्तकत्वं तु 'कारणं विना मंदोऽपि न प्रवर्त्तते' इति न्यायात्किंचिदपेक्ष्यैव भवतीति शंकते—किमिति । आत्मरामतापि साधनसंपत्त्यैवेति पुनराशंकते— किमिति । यद्वा—अव्याकृता व्याकर्त्तुमशक्याः सृष्ट्यादिविहारा यस्य तस्मै । पर्वेषु भक्तेषु व्याकृता प्रकटिता सिद्धिः स्वरूपं येन तस्मै । मुनये सर्वज्ञाय मौनशीलिनेऽसंभावितोक्तिरहिताय ॥ ४७ ॥ आत्मारामत्वे हेतुमाशंकते—कुत इति । इत्यर्थ इति जीवेष्वपि ज्ञानिनो न कुत्राप्यासक्ता भवंति परमज्ञानिनस्तव तु कथमासक्तिर्भवेदिति तात्पर्यम् । अन्यदाह—अपि चेति सर्वाधिष्ठातृत्वे हेतुमाशंकते कुत एतत् सर्वाधिष्ठातृत्वम् इत्यर्थ इति न हि साक्षाद्विश्वरूपत्वं किं तु विवर्त्ताधिष्ठानत्वेन तदस्तीति भावः । तत्समर्थयति—किं चेति । तत्रैवान्यदाह—अपि चेति । पूर्वव्याख्याने क्लिष्टकल्पनां मत्वाह । विश्वेत्युपलक्षणं तैजसप्राज्ञयोः । तत्तदवस्थाय विश्वादिरूपाय । यतः आत्मारामादिरूपोऽसि तस्माद्धेतोः असंकीर्णैः अमिलितैः पुनरुक्तिदोषवर्जितैः । वः युष्माकमध्येत्रध्यापकानां श्रोतृवक्तॄणाम् । तासामिव नागांगनानामिव (१) ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

किञ्च, स्वयं भगवान् कृष्णोऽपि त्वमेकश्चतुर्विधश्चेति वदन्तस्तत्रैव नति पर्यवसाययन्ति— नम इति । सात्वतामुपासकानां पतय इति पतित्वेनैक्यमेव साधितम् अन्यथानर्थापत्तिः तथा चोक्तं पञ्चमस्कन्धे श्रीलक्ष्मीदेव्या' स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं समन्ततः पाति भयातुरं जनम् । स एक एवेतरथा मिथोभयम्" इति अन्यत्तैः । यद्वा, कृष्णायेति प्रस्तुतत्वात् श्रीनन्दनन्दरूपाय "वन्दे व्रजेशसुतयोः" इत्यादि प्रसिद्धचा रामाय च तत्तद्रूपाय वसुदेवसुताय च तस्मै तस्मै तत्सहयोगेन प्रद्युम्नायाऽनिरुद्धाय च तद्व्यूहान्तःपातिने एवमत्र कृष्णायेति वासुदेवान्तरस्य व्यावृत्त्यर्थं रामायेति सङ्कर्षणान्तरस्य अत एव वसुदेवसुतायेति क्रमेण धर्मपुत्रादेः दशरथपुत्रादेश्च तत्तत्सहयोगेन प्रद्युम्नानिरुद्धयोश्चान्वयोरिति तेन सात्वता यादवा एव तदेवं नित्यत्वमपि सूचितं तथा च श्रीगोपालतापन्याम्—

"प्राप्य मथुरां पुरीं रम्यां सदा ब्रह्मादिसेविताम् । शङ्खचक्रगदाशाङ्गैं रक्षितां मुसलादिभिः ॥
यत्रासौ संस्थितः कृष्णः त्रिभिः शक्त्या समाहितः । रामानिरुद्धप्रद्युम्नैः रुक्मिण्या सहितो विभुः" ॥

इति त्रिभिः रामादिभिः शक्त्या च रुक्मिण्येत्यन्वयः एवमेवोक्तं "मथुरा भगवान् यत्र" इति वसुदेवसुताय चेति श्रीकृष्णपक्षे चकारात् श्रीमन्नन्दगोपकुमाराय "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः" इति न्यायेन वसुदेवसुताय चेत्यर्थः। श्रीरामपक्षे "तातं भवन्तं मन्वानः" इति वक्त्र व्रजेशसुतयोः" इति व्यवहारेण श्रीमन्नन्दगोपकुमाराय चेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ तदेवं भक्तान् प्रति गुणप्रदीपाय स्वरूपभूतानामैश्वर्यादिगुणानां प्रकाशकाय अभक्तान् प्रति तु गुणैः प्राकृतैरात्माच्छादनाय यद्यप्येवं तथापि तेषां प्राकृतगुणानां जडानामपि वृत्त्याप्रवृत्त्यालक्ष्याय तत्प्रवर्त्तकत्वेनानुमेयाय तत्प्रवर्त्तकत्वमेव कथं तत्राह - तद्द्रष्ट्रे वीक्षामात्रेणेति भावः। स्वयन्तु स्वसम्विदे स्वप्रकाशस्वरूपगुणाय यद्वा एवं यादवसम्बन्धेऽपि गोकुलसम्बन्ध एव गरीयानित्याहुः प्रेमवश्यतादीनां गुणानां प्रकर्षेण प्रकाशकाय तादृशगुणप्रकाशेनाप्यात्मच्छादनाय च आवृतनिजैश्वर्याय गुणैर्दामभिरात्मानमाच्छादयसि तथा तस्मै वा दामोदरत्वे श्रीयशोदया बहुभिर्दामभिर्बन्धनात् तथापि गुणानां यमलार्जुनमोचनादिलक्षितानां दाम्नामेव वा बहूनामप्यपर्याप्तानां वृत्त्या प्रवर्त्तनेन जेयाय किञ्च गुणद्रष्ट्रे दाम्नां तेषामेव द्रष्ट्रे भीत्या मुहुर्दर्शनपराय अथ च स्वेषु वयस्यबालकेषु तदानीमपि नवनीतचौर्याद्यर्थसम्विदः सङ्केता यस्येति इदमद्भुतमेव ॥ ४६ ॥ अव्याकृतः प्रपञ्चातीतो विहारो यस्य अथ च सर्वत्र व्याकृते न तत्तल्लीलात्वेन सिद्धिः प्रसिद्धिर्यस्य सर्वं प्राकृतस्यैव सिद्धिस्तत्तल्लीलासाधकता यस्येति वा तदुक्तं "प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि" इति अव्याकृतलीलत्वादेव "परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया। गृहीतचेता राजर्षे! आख्यानं यदधीतवान्" इत्यादिकं घटत इत्याहुः, हृषीकेश हे स्वस्मिन्नात्मारामयर्यन्तानां सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकेति मुनये आत्मारामाय अथ च अकारप्रश्लेषेण अमौनशीलिने तद्विपरीतश्रीगोकुलानन्दलीलाय यद्वा, न व्याकृतो न व्यक्तो विहारो दधिपयश्चौर्यादिचेष्टा यस्य तथापि सर्वैरेव व्याकृता तन्मात्रादिभ्यो व्याख्याता सिद्धिस्तत्तच्चेष्टाफलं दधिपयोभक्षणादिकमपि यस्य तस्मै अहो तेन च सर्वेषां प्रीतिरेवासीदित्याहुः—हृषीकेश हे सर्वेन्द्रियवशीकारिणगुणगणेति। किञ्च, तत्रोपालम्भादौ मुनये मौनशीलिन इति स्वान्तःकरणनिहिततादृशवयुनोऽपि बहिर्मौनेन सुप्रतीको यथास्त इत्येवमुक्तरूपो यस्तस्मा इत्यर्थः । श्लोकद्वयेऽस्मिन्नार्थान्तिराच्छन्नतयोक्तिरियं प्रभुतास्फुरणात् सङ्कोचेनेति ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥ तादृशातर्क्यलीलत्वे हेतुः परावरगतिज्ञाय तत्तदात्मत्वेन तत्तत्तत्त्वज्ञाय नतु ज्ञेयाय तथापि सम्प्रति सर्वेषामध्यक्षाय अक्षाण्यधिकृत्य वर्त्तत इति प्रत्यक्षाय किञ्च न विद्यते विश्वं यत्र तस्मै तथापि विश्वाय तदेव प्रतिपादयन्ति "तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे" दृष्टृत्वात् दृश्यादस्माद्भिन्नाय उपादानरूपात् त्वदव्यतिरिक्तमिदमिति विश्वरूपाय श्रीगोपाललीलापक्षेऽपि "अद्यैव त्वदृतेऽस्य किं मम न ते" इत्यादिदृष्ट्या तत्तत्सङ्गमनीयम् एवं सर्वविरोधाश्रयत्वेनेवाचिन्त्यशक्तित्वं तेनैव चैश्वर्यमिति पूर्वमपि प्रतिपादितम् अतोऽशेषविरोधाश्रयत्वात् निग्राह्यस्याप्यनुग्रहो युक्त एवेति भावः ॥ ४८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

किञ्च, कृष्ण एकोऽपि त्वं चतुर्विध इत्याहुः—नमः कृष्णायेति । सात्वतानामुपासकानां पतय इति पतित्वेनैक्यमेव साधितम्, अन्यथा नार्थापत्तिः, तथा चोक्तं पञ्चमस्कन्धे (५।१८।२०) श्रीलक्ष्मीदेव्या 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयं, समन्ततः पाति भयातुरं जनम् । स एक एवेतरथा मिथोभयम्' इति, यद्वा, 'वृष्णीनां पतये' इति श्रीयदुकुलावतीर्णचतुर्णामेव परमाभिन्नत्वं दर्शितम् । ततश्च कृष्णाय वासुदेवायेत्यर्थः । रामस्य विशेषणं वसुदेवसुतायेति तस्यैव संकर्षणत्वात् ॥ ४५ ॥ सात्वतपतित्वेन कारुण्यादिगुणप्रकाशकाय, अथच तत्स्वभावाच्छादकाय, कदाचिदन्तर्द्धानादिना गुणानामिन्द्रियाणां वृत्तिभिरुपलक्ष्याय, हृषीकेशत्वादिना तत्प्रवर्त्तनेन लक्षणेन, अथच गुणानां तेषां द्रष्ट्रे साक्षिणे, किञ्च, स्वसम्विदे स्वप्रकाशाय; यद्वा, गुणप्रदीपत्वादेव गुणर्दामभिरात्मानमाच्छादयतीति तथा तस्मै—दामोदरत्वे श्रीयशोदया बहुभिर्दामभिर्बन्धनात्, तथापि गुणानां भक्तवात्सल्यादीनां दाम्नां वा, वृत्त्या वर्त्तनेन उपलक्ष्याय, बाललीलादिना स्वच्छन्दत्वेऽपि नलकूवरमणिग्रीवाभ्यामिव सर्वैः संलक्ष्यितुं शक्याय; किञ्च, गुणद्रष्ट्रे गुणानां दाम्नां तेषामेव द्रष्ट्रे प्रीत्या मुहुर्दर्शनपराय । किञ्च, स्वेषु वयस्यबालकेषु तदानीमेव नवनीतचौर्यार्थं सम्विदः संकेता यस्येति, इदमप्यद्भुतमेव नवनीतचौर्यतो गुणैर्बद्धस्य तान् साक्षात् पश्यतोऽपि पुनस्तच्चौर्यार्थसंकेतात् ॥ ४६ ॥ न व्याकृतः केनापि व्याख्यातो निर्वक्तुमशक्यो विहारो लीला यस्य तस्मै, तथा च श्रीविष्णुपुराणे – 'अनाख्येयप्रयोजन' इति । अथच सर्वैः शास्त्रज्ञैः शास्त्रैर्व्याकृता निरुक्ता सिद्धिर्यस्य, न्यायशास्त्रादौ सर्वत्र प्रागीश्वरसिद्धेरेव प्रस्तुतत्वात्, यद्वा, अव्याकृतः प्रपञ्चातीतो विहारो यस्य अथच सर्वत्र लौकिकादिकर्म्मप्रपञ्चस्य सिद्धिर्यस्मात् तस्मै, अतएव हृषीकेश हे तदर्थं निजसर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकेति । मुनये आत्मारामाय, अथच अकारप्रश्लेषेण अमौनशीलिने धर्म्मर्याद्याचरणाद्गोपीकुलरमणाद्वा ॥ ४७ ॥ पराणामुत्कृष्टानामवराणाञ्च निकृष्टानां गतिं शुभाशुभलक्षणम्, तत्त्वं जानातीति तथा तस्मै । अथवा पराणामवराणाञ्च अध्यक्षाय स्वामिने, निकृष्टानामुपेक्षणाणामप्यध्यक्षत्वमद्भुतम्, अविश्वाय विश्वतैजसाद्यवस्थारहिताय, अथच विश्वाय तत्तदवस्थास्वीकारिणे, तद्द्रष्ट्रे तत्तदवस्थानां साक्षिणे, अथच तत्तद्धेतवे, यद्यप्यन्येऽपि विविधा बहवो विरोधादयः श्रीभगवति वर्त्तन्ते, तथापीमे प्रसिद्धाः प्रायः शास्त्रसिद्धा उक्ताः । विरोधाद्यलंकाराच्च परममाहात्म्यमेव पर्य्यवस्यति, किञ्च, एतदेव भगवत्त्वम्, यत्र महोदधौ विचित्र—

विचित्रप्रवाह इव सर्व्वे विरोधाः प्रविशन्ति, यतो निर्गुणत्व-निर्व्विशेषत्वादयो ब्रह्मणः सगुणत्व-सविशेष-त्वादयश्च मायिकप्रपञ्चस्य धर्म्माः परस्परं विरुद्धा अपि श्रीभगवतो निर्गुणत्वादावपि सगुणत्वादिना सगुणत्वादावपि निर्गुणत्वादिना सर्व्वेऽपि तस्मिन् सुखं श्रीवन्त एव, सच्चिदानन्दघनविग्रहत्वात्। एतदेव परब्रह्मत्वमेव, तदेव तर्कागम्यं तत्प्रसादैर्विज्ञेयं भगवत्ताभिधेयं परमैश्वर्य्यमिति। एतच्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतमस्ति। अतोऽशेषविरोधाद्याश्रयात् श्रीवृन्दावनाश्रितस्य परमानुग्राह्यस्यापि निग्रहो युक्त एवेति भावः ॥ ४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

गुणप्रदीपाय गुणप्रकाशाय गुणात्मस्थोदयाय च आत्मसङ्कल्पस्थगुणोन्मेषाय। यद्वा, गुणेषु आत्मनि च स्थित उपलम्भो यस्य तस्मै चेतनाचेतनेष्वन्तरात्मतयोपलभ्यायेत्यर्थः। गुणवृत्त्युपलक्ष्याय तत्कारणत्वेनोपलक्षणीयाय ॥ ४६ ॥ अव्याकृतविहाराय क्रीडापरिहाराय सर्वव्याकृतस्य नामरूपव्याकरणयुक्तस्य चिदचिद्घनसिद्धिहेतवे मुनिः अनुसन्धानता मौनं अनादरादवचनम् "अवाक्यनादरः इति श्रुतेः ॥ ४७-४८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सत्यं परत्वावस्थितोऽहमुक्तगुणयुक्तो न तु व्यूहविभवाद्यवस्थ इत्यत्राहुः—नमः कृष्णायेति। रामकृष्णादिविभवावस्थायां प्रद्युम्नानिरुद्धादिव्यूहावस्थायाञ्चाहीनस्वस्वभावायेतिभावः। विभवावस्थायां सौशील्यमेकमधिकमाविष्कृतमित्यभिप्रायेणाहुः—वसुदेवसुतायेति। यद्वा, शरण्यत्वोपयुक्तमाश्रितार्तिपरिजिहीर्षैकशीलत्वमाहुः—नमः कृष्णायेति। व्यूहविभवादिरूपेण सात्वता-माश्रितानां पतये अनिष्टपरिहारपूर्वकं पालकायेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ पालकत्वप्रकारमेवाहुः – गुणप्रदीपायेति। सात्वतामित्यनुवर्त्तते तेषां गुणस्य धर्मभूतज्ञानस्य प्रदीपाय प्रदीपवद्विषयावारकनिवारकाय सात्वतां गुणप्रदीपायेत्यनेनासात्वतां तद्वैपरीत्यं सूचितं तदेव स्पष्टीकुर्वन्ति गुणात्मच्छादनाय गुणेन गुणमयमायया आत्मनो जीवानसात्वतश्छादयति सङ्कुचितज्ञानान् करोतीति तथा तस्मै एतद्विशेषणद्वयप्रसक्तवैषम्यपरिजिहीर्षया विंशिषन्ति गुणवृत्त्युपलभ्याय गुणस्य गुणपरिणामात्मकमनोवृत्त्या ध्यानोपासनान्यतर-रूपया उपलभ्यायो लक्ष्याय गुणवृत्तिरूपव्याजमात्रापेक्षत्वाद्वैषम्यरहितायेतिभावः। गुणवृत्त्यपरिज्ञानासम्भावनां निराकुर्वन्ति—गुणद्रष्टे सर्वान्तःकरणवृत्तीनां साक्षाद्यगपद्द्रष्ट्रे तत्र हेतुः स्वसंविदे स्वासाधारणापरिच्छिन्ननिरुपाधिकनित्यासङ्कुचितधर्मभूत-ज्ञानाश्रयाय ॥ ४६ ॥ यद्यहं गुणद्रष्टा तर्हि तथात्वेन किं न ज्ञायेत इत्यत्राहुः अव्याकृतेति। अव्याकृतोऽनभिव्यक्तः विहारः गुण-द्रष्टृत्वादिरूपो यस्य तस्मै न केवलं गुणद्रष्ट्रेऽपि तु सर्वव्याकृतानां देवादिपदार्थानां तद्बुद्धिवृत्तीनां च सिद्धये निष्पत्तिहेतवे न केवलं तेषां सिद्धिहेतुरेवापितु सर्वेन्द्रियप्रशासिता चेत्यभिप्रायेण संबोधयन्ति—हृषीकेशेति। हृषीकाणाम् ईशः नियन्ता शरण्यत्वोपयुक्त-गुणान्तरमाहुः मुनये तापत्रयातुरजीवोज्जीवनाय याहच्छिकप्रासङ्गिकानुषङ्गिकादन्यतमसुकृतलेशानुचिन्तनात्मकमननशीलाय मौनी शीली अजल्पाकः परिपूर्णैश्वर्यत्वाद्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् तृणीकृत्य जोषमासीनायेत्यर्थः। अयमपि परत्वावहो गुणः ॥ ४७ ॥ परावरगतिज्ञाय बन्धमोक्षाभिज्ञाय आश्रितानां मोचकायानाश्रितानां बन्धकाय चेत्यर्थः। तथाचोक्तं भगवतैव "तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्" इति—

"तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु" ॥ इति च

आश्रयणसौकर्यापादकोऽयं गुणः कृतापराधानप्याश्रयणरूपव्याजमात्रावलम्बनेन रक्षितुं उद्यमो ह्याश्रयणसौकर्यापादकः अनेन वैषम्यराहित्यं कारुणिकत्वञ्चाभिप्रेतं तथा च स्मर्य्यते—

"सर्वज्ञोऽपि हि सर्वेशस्सदा कारुणिकोऽपि सन्। संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षामपेक्षते" ॥ इति

सर्वाध्यक्षाय सर्वपुरुषार्थाधिपतये आश्रितानां धर्मादिस्वात्मपर्यन्तप्रदातृत्वरूपमहावदान्यायेत्यर्थः। अयमाश्रितकार्यापादको-गुणः पूर्वं पराय भूतायेत्युक्तपरत्वोपयुक्तजगदुपादानत्वप्रयुक्तविश्वानन्यत्वं विशिष्टस्य तथात्वेऽपि विशेष्यांशस्य विश्वशरीरकत्वेन तद्विलक्षणत्वं तन्निमित्तत्वं तत्सृष्टौ स्वेतरोपकरणान्तरनिरपेक्षत्वञ्च "विश्वाय विश्वरूपाय तत्कर्त्रे विश्वहेतवे" इत्युक्तं तदेव विश्वाय तुभ्यं नमः इति युष्मच्छब्दविवक्षितषाड्गुण्यपूर्णत्वाभिमुखत्वादिविशेषणानां विश्वशब्दाद्यभिप्रेतविश्वानन्यत्वादीनाञ्चैकविशेष्य-वृत्तित्वरूपमर्थसमानाधिकरण्यमुक्तम् अथ भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तवद्विशेष्याभिधायिनां तत्तच्छब्दानाम् एकविशेष्यपर्यवसानात्मकं शब्दसामानाधिकरण्यमाहुः विश्वाय "नतास्म सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वता "वचसां वाच्यमुत्तमम्" इत्युक्तरीत्या सकलशब्द-वाच्यायेत्यर्थः। विश्वशब्दस्यात्र पूर्वत्र च लाक्षणिकत्वात्सर्वनामकार्याभावः संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वाद्वा एकस्यैव सर्वशब्दवाच्यत्व-प्रयुक्तं सर्वेषां शब्दानां पर्यायत्वं निराहुः अविश्वायेति। तदन्यत्वमत्र न ह्यर्थः न विश्वः अविश्वः तस्मै तत्तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तेभ्यो विलक्षणायेत्यर्थः। न हि स्वस्वप्रवृत्तिनिमित्तविलक्षणैकविशेष्यनिष्ठप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टैकविशेष्याभिधायिनां शब्दानां पर्यायत्व-

प्रसङ्ग इति भावः। कथं जातिगुणाद्याश्रयतत्तद्विशेष्यपर्यवसायिनामेव विशेष्याभिधायित्वमित्यत्राहुः विश्वहेतव इति अस्य च हेतव इति च पाठः तदा विश्वारामर्शीदं शब्दः जातिगुणाद्याश्रयनिखिलविशेष्यजातगतसत्तास्थितिप्रवृत्तिहेतवे तत्सत्तादिहेतुत्वेन विश्वस्य तदपृथक्सिद्धविशेषणादपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनां मत्वर्थीयप्रत्ययमन्तरेणापि विशेष्यपर्यवसायित्वमाकृतिनयसिद्धमिति भावः। विश्वसत्तादिहेतुत्वासम्भावनां निराकर्तुं हेतुत्वोपयुक्तज्ञानवत्तामाहुः तद्द्रष्ट्रे इति ॥ ४८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णाय उत्कृष्टानन्दरूपाय भक्तजनदुरितकर्षणशीलाय वा शत्रूणामन्नये वा नीलवर्णाय वा "कृष्णः सीसाद्यलोहेषु कृष्णो नीलेऽनले कली। शूद्रे काके पिके व्यासे ध्वान्ते पक्षेऽर्जुने हरौ" इति च रामाय रामनाम्ने अभिरामाय वा प्रकृष्टघुलामेयाय। यद्वा प्रकृष्टघनाय "प्रद्युम्नं द्रव्यं द्रविणम्" इति हलायुधः अनिरुद्धाय ज्ञानिनां निरोधरहिताय ॥ ४५ ॥ गुणाः सत्त्वादयः भक्तिज्ञानादयो वा तेषां प्रदीपाय ज्ञापकाय गुणात्मा प्रकृतिः तस्यां स्थितः उदयः स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै गुणैः श्रोत्रादीन्द्रियजन्यज्ञानैः प्रत्युपलक्ष्याय अनुमेयस्वरूपाय गुणद्रष्ट्रे गुणसाक्षिणे स्वसम्विदे स्वयंप्रकाशाय "तद्ब्रह्म वेदाहं ब्रह्मास्मि" इति श्रुतिः अनेनाप्यस्याप्यन्यो द्रष्टा तस्याप्यन्य इत्यनवस्था निरस्तेति ज्ञातव्यम् ॥ ४६ ॥ अव्याकृताः व्याहर्तुमशक्याः सृष्ट्यादिविहारा यस्य स तथा तस्मै। ननु व्याहर्तुमशक्यविहारश्चेत्कथं तर्हि तज्ज्ञानम् अत्राहुः—सर्वेति। सर्वैर्व्याकृता विवृता सिद्धिः स्वरूपज्ञानं यस्य स तथा स्वानुग्रहेण ज्ञातिस्वरूप इत्यर्थः। तस्मै। यद्वा सर्वव्याकृतसिद्धये नामरूपात्मकं जगत्सर्वं व्याकृतं तस्य सिद्धिरुत्पत्तिर्येन स तथा तस्मै मुनये सर्वज्ञानाय मौनशीलिने असम्भावितभाषणशीलरहिताय ॥ ४७ ॥ परावरगतिज्ञाय कार्यकारणस्थितिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय सर्वेषाम् उपरिगताय अविश्वाय विश्वेभ्यो जीवेभ्योऽन्यस्मै "शरीरेषु प्रविष्टत्वाद्विश्वो जीव उदीर्यते" इत्यादिस्मृतिः तात्पर्यात् पुनरुक्तमाहुः-विश्वायेति। जीवस्य जगदन्तःपातित्वेऽपि चेतनत्वेन स्वातन्त्र्यशङ्कानिवारणार्थं पृथग्जीवग्रहणं—

"जीवस्य तदधीनत्वाद्विश्वो विष्णुरिति स्मृतः। अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वाद्विश्वहेतुश्च कीर्त्तितः" ॥ इति ॥ ४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णाय रामाय च वासुदेवाय वसुदेवसुतायेति वासुदेवादिचतुर्व्यूहान्तरं व्यावर्त्तितम् ॥ ४५-४६ ॥ अव्याकृतविहाराय प्रपञ्चातीतलीलाय ॥ ४७-४८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः वृहत्क्रमसन्दर्भः

ब्रह्मत्वेन स्तुवन्त्यो भक्तिवासनया सरसतया तथा स्तवने सन्तोषमलभमानाः पुनः स्वरूपेण स्तुवन्ति- नमः कृष्णाय रामायेत्यादि। कृष्णाय परब्रह्मणे, कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥ रामादयोऽपि चत्वारो विग्रहास्त्वदभिन्ना एवेति दर्शयन्ति - रामाय;-'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते'॥ इति तुल्यार्थकत्वात्। वसुदेव-सुताय च, वसुदेव सुतोऽपि त्वम् (भा.४।३।२३) "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवसंज्ञितम्" तत्राविर्भूतैर्यो वासुदेवश्चित्ताधिष्ठाता, स च त्वमेव। एवं प्रद्युम्नायेति प्रद्युम्नोऽपि प्रकृष्टं द्युम्नं द्युतिः परममहस्तस्मै। अनिरुद्धाय केनापि न निरुद्धः स्वच्छन्दस्त्वात्तस्मै। अतो वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः परः स त्वं श्रीकृष्ण इत्यर्थः। वक्ष्यति च स्वयमेव (भा. ११।१६।३२) "सात्वतां नवमूर्त्तीनामादिमूर्तिरहं परा" इति विभूतियोग-कथने विभूतित्वेऽप्युपचारादहमिति। अतः सात्वतां पतये नमः सात्वता हि केचिद्वासुदेवादि-नवमूर्त्तिवादिनस्तेषां पतित्वात् त्वमेक एव वासुदेवाद्यो नवमूर्त्तयः। अथवा, सात्वतां यदूनां पतये इत्यनेन भाविद्वारकाविलासोऽपि स्तुतः॥ ४५ ॥ हे भगवन् तव गुणाः किं स्तोतव्याः यतस्त एव मोहान्धकारहारिण इत्याहुः—नमो गुणप्रदीपायेत्यादि। गुणा एव प्रदीपास्तमोनुदा यस्य तस्मै, गुणात्मनो ब्रह्मादयस्तेषामपि छादनाय स्वतेजसावरकाय, गुणानां सत्वादीनां वृत्तिरुपलक्ष्याय हीनलक्ष्याय गुणवृत्तिभिरनङ्कितायेत्यर्थः,—"हीने उपश्च कथ्यते" इति श्रुतेः। अतएव गुणद्रष्ट्रे गुणनियन्त्रे। स्वेषां भक्तानां सम्वित् सम्यक् वित् सत्ता यस्मात्, नित्य-पार्षदायेत्यर्थः॥ ४६ ॥ एवं तव विहारा अपि स्तोतुं न शक्यन्त इत्याहुः अव्याकृतविहारायेत्यादिवहुभिः। अव्याकृता अप्राकृता विहारा यस्य, सर्वव्याकृतस्य सर्वपुरुषार्थस्य सिद्धिर्यस्मात। हे हृषीकेशेत्यस्यायं भावः। सर्वहृषीकेशत्वादस्माकं येयमुक्तिस्तस्यापि त्वमेव प्रवर्त्तकः तत् कथं नानुमोदस इत्यर्थः। एतावता स्तवेनापि न किञ्चिद्वदसि, तस्मान्मौनशालिने मुनये नमः। मौनस्यापि तव तत्त्वमेकम्, तेन तन्न जहासि,-(गी.१०।३८) 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' इति श्री गीतासु स्वोक्तेः॥ ४७॥ नानावाधानुरोधाय परिच्छिन्ना व्यापी विग्रहो नित्यः, एकोऽनेकः, निर्गुणः, स्वानन्दगुणवान्, आनन्दो मूर्त्तः, इत्यादयो ये नानावादाः, तेष्वनुरोधो यस्य सर्ववादसंवादक इति यावत्तस्मै। अविश्वाय विश्वस्माद्भिन्नाय, विश्वाय विश्वप्रकाशकाय, तद्द्रष्ट्रे तस्य हेतवे च॥ ४८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एवं ब्रह्म स्तुत्वा मनः प्रसादाभावेन पुनः श्रीकृष्णमेव स्तुवन्ति–नमः कृष्णायेत्यादि। कूले रामं दृष्ट्वा अयं सहायो भवत्विति तमपि स्तुवन्ति–नमो रामायेति। प्रभो! त्वं नन्दसुत एव, स्त्रियोऽपि वयं सर्वं जानीम एव, किन्तु वसुभिर्गोधनैर्दीव्यतीति वसुदेवः। वसुषु देवभेदेषु दीव्यतीति वा (भा. १०।८।४८) "द्रोणो वसूनां प्रवरः" इत्युक्तेः। वसुदेव इति नन्दस्य नामान्तरम्। तेन त्वं वसुदेवसुतः, तस्मात् यथात्वेन त्वां नमाम इत्याहुः–वसुदेवसुताय चेति च-कारस्यार्थः। त्वमेव प्रद्युम्नस्तज्जनकत्वात्, त्वमेवानिरुद्धस्तत्पितामहत्वात् त्वमेव सात्वतां पतिरित्याहुः–प्रद्युम्नायेत्यादिना भाविद्वारकाविलासोऽपि तदा स्तुतः॥ ४५॥ गुणा एव प्रदीपास्तमोहन्तारो यस्य, गुणात्मनां ब्रह्मादीनामपि छादनाय आच्छादनाय गुणवृत्तीनां सत्वादिवृत्तीनामुपलक्षयाय, अथवा गुणवृत्तयोऽप्युपलक्ष्या यस्माद् गुणवृत्तीनामपि प्रकाशाय। गुणद्रष्ट्रे अदोषदर्शिने स्वसंविदे स्वतःसिद्धज्ञानाय॥ ४६॥ अव्याकृता अप्राकृता विहारा यस्य, सर्वव्याकृतस्य सर्वव्याकारस्य सर्वपुरुषार्थस्य सिद्धये सिद्धरूपाय, तेषां सिद्धिर्यस्मादिति वा। एतावता स्तवेनापि न किञ्चिद् वदसि त्वं मुनिरिव तिष्ठसि, तस्मात् मौनशीलिने मुनये नमः। उक्तञ्च (गी. १०।३८) मौनञ्चैवास्मि गुह्यानाम्" इति। हृषीकेश इत्यस्यायं भावः—अस्माभिर्यदुच्यते, तस्यापि त्वमेव प्रवर्त्तकः, तदा कथं नानुमोदसे इति॥ ४७॥ अविश्वाय विश्वातीताय अथ च भक्तानां विश्वाय विश्वदेवत्वं भक्तानाम् सर्वनामत्वाभाव आर्षः। तद्द्रष्ट्रे विश्वद्रष्ट्रे विश्वहेतवे च॥ ४८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सर्वशास्त्रप्रतिपादितसारस्वरूपाणि तु तव चत्वार्य्येवेत्याहुः, नम इति। चकारान्नन्दसुताय च सात्वतां सात्वतवंशोत्पन्नशूरादीनां पर्जन्यादीनां च पतये पालकाय॥ ४५॥ यतस्तेष्वेव गुणानां प्रेमवश्यत्वादीनां प्रकर्षेण प्रकाशकाय प्रकाशितेन प्रेमवश्यलगुणेन आत्मच्छादनाय आवृतनिजैश्वर्य्याय तदपि त्वं भक्तितत्त्वज्ञैर्ज्ञातस्वरूप एव भवसीत्याहुः गुणस्य भक्तवात्सल्यातिशयस्य वृत्त्या असाधारणसत्तया उपलक्ष्याय स्वयं भगवन्तं विना कोऽप्येवं न भवतीति ज्ञेयाय यतो गुणद्रष्ट्रे स्वभक्तस्य गुणमेव पश्यति दोषगन्धमपि यस्तस्मै अत एव स्वेषु भक्तेष्वेव सम्विदनुभवो यस्य तस्मै॥ ४६॥ लीलापुरुषोत्तमस्य तव लीलामाधुर्य्याधिक्यमित्याहुः—अव्याकृतः अनिर्वाच्यत्वादव्युत्पादितो प्राकृतो वा विहारो यस्य तस्मै। यद्वा, न व्याकृतो विवाहादिव्यापाररहित एव विहारो यस्य सः सर्वेषां भक्तविशेषाणामेव व्याकृतानां तत्सेवोचितविशिष्टाकृतीनां सिद्धिर्यस्मात्तस्मै अत एव हृषीकेश भक्तसर्वेन्द्रियाकर्षक भक्तहीनेषु मुनये आत्मरामाय अत एव तेषु स्वाभीप्सितप्रार्थकेषु सत्सु मौनशीलिने न किमपि ब्रूवते तेभ्यः सुखं दुःखाभावं च न ददते॥ ४७॥ यतः परेषामुत्कृष्टानां भक्तानाम् अवरेषां निकृष्टानामभक्तानां च गतिं प्राप्यं जानते सर्वाध्यक्षाय सर्वफलाध्यक्षत्वात् तत्तत्समुचितफलस्य दात्रे इत्यर्थः। कर्मफलदातृत्वेऽपि न तव कर्मसम्बन्धः यतोऽविश्वाय प्रपञ्चातीताय तदपि मायाशक्त्या विश्वाय विश्वं स्रष्टुं तस्य विश्वस्य द्रष्ट्रे तथैवास्य विश्वस्य हेतुं प्रधानं च चेतयितुं विकारयितुं वा तस्य द्रष्ट्रे "क्रियार्थोपपदस्य" इत्यादिना चतुर्थी॥ ४८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वेदरूपत्वेन नत्वा वेदवेद्यचतुर्मूर्त्तित्वेन नमन्ति–नम इति। सात्वतामुपासकानां पतये परवासुदेवाय वसुदेवसुताय वसुदेवापत्यतयापि वासुदेव इति प्रसिद्धाय एवम्भूताय कृष्णाय व्यूहाङ्गिने नमः अङ्गमूर्तीर्नमस्यन्ति रामाय सङ्कर्षणाय प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय च नम इति॥ ४५॥ अथ मुमुक्षवन्तःकरणशुद्ध्यादिहेतुत्वेन बुभुक्षमन्तःकरणं प्रदीपयति–तथा तस्मै अत एव गुणवृत्तिभिः उपलक्ष्याय ध्यानेन लभ्याय अत एव स्वकीयानां ध्यातॄणां मुमुक्षूणां संवित् ध्येयस्वरूपगुणादिविषयकं ज्ञानं यस्मात्तस्मै अत एव गुणद्रष्ट्रे स्वकीयानां स्वविषयकान्तःकरणसाक्षिणे किञ्च, गुणैरात्मानं जीवात्मानं बुभुक्षुर्जीवमाच्छादयति स्वध्यानपराङ्मुखं करोतीति तथा तस्मै च इत्यन्वयः॥ ४६॥ नित्यलोकविहारित्वेन नमन्ति - अव्याकृतविहाराय नित्यलोकविहाराय नमः अनित्यलोकहेतुत्वेन नमन्ति–सर्वव्याकृतिसिद्धये नमः सर्वेन्द्रियप्रेरकत्वेन नमन्ति–हृषीकेश नमस्तेऽस्त्विति। लोकशिक्षार्थं मुनये मननकर्त्रे मौनशीलिने असम्बद्धवचनवर्जिताय च नमः॥४७॥ परावरगतिज्ञाय मुमुक्षुबुभुक्षुमार्गविदे सर्वाध्यक्षाय सर्वाधिष्ठात्रे कार्यस्य कारणं विना स्वरूपतस्थित्याद्यभावात् विश्वाय विश्वाभिन्नाय कारणस्य कार्यत्वावच्छिन्नत्वाभावात् अविश्वाय विश्वभिन्नाय च नमः। नन्वेवंविधं विश्वहेतुत्वं प्रधानादेर्वाच्यम् इत्यत्रानीक्षतुर्विश्वहेतुत्वासम्भवात् "तदैक्षत बहु स्याम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धो विश्वद्रष्टा भवानेव विश्वहेतुरित्याहुः– तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे इति। "ईक्षतेर्नाशब्दम्" [१।१।५] इति सूत्रमात्राऽनुसन्धेयम्॥ ४८॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

प्रातनिर्णीतमुपास्यस्वरूपं दर्शयन्त्यो नमन्ति—नमः कृष्णायेति। रामाय बलभद्राय च नन्दसुताय च सात्वतां सात्वतवंशोद्भवानां शूरादीनां पर्जन्यादीनाञ्च पतये पालकाय॥ ४५॥ तेष्वेव प्रेमाधीनतादीनां गुणानां प्रदीपाय प्रदर्शकाय प्रदर्शितैस्तैर्गुणैरात्माच्छादनाय मुकुरावरचित्रन्यायेन स्वैश्वर्यावरकाय तथापि निहतदैत्यसौख्यदातृत्वादीनां गुणानां वृत्या स्वयं भगवत्त्वेनो-

पलक्षणाय बोध्याय गुणद्रष्ट्रे भक्तस्य गुणमेव तनुदोषं यः पश्यति तस्मै अतः स्वेषु भक्तेषु सम्विदनुभवो यस्य तस्मै ॥ ४६॥ अव्याकृतो विज्ञानघनो विहारो यस्य तस्मै नामरूपवन्मायिकं वस्तु व्याकृतमुच्यते तद्भिन्नं नित्यममायिकमव्याकृतं नित्यविहारायेत्यर्थः। "एको देवो नित्यलीलानुरक्तः" इति श्रुतेः सर्वेषां व्याकृतानां नामरूपिणां महदादीनां पृथिव्यन्तानां सिद्धिर्यस्तस्मै। हे हृषीकेश ! मुनये देवहूतीपुत्राय कपिलाय मौनशीलिने ब्रह्माणमपि साभिमानं प्रति किमप्यब्रूवते इत्यर्थः॥ ४७॥ परेषाम् ज्ञानिनामवरेषां कर्मिणाञ्च गतिं प्राप्यं जानातीति तस्मै। सर्वेषां मोक्षस्वर्गादीनां फलानामध्यक्षाय स्वामिने तत्तत् साधनानुसारेण तत्तत् फलदायेत्यर्थः। अविश्वाय न विश्वं यस्मिंस्तस्मै तत्स्पर्शरहितायेत्यर्थः। तथापि विश्वाय तदन्तःप्रविष्टाय विश्वतीति तद्व्युत्पत्तेः "एतदीशनमीशस्ये"त्यादि पूर्वोक्तेः अस्य विश्वस्य हेतवे हेतुं प्रधानं परिणमयितुं तद्द्रष्ट्रे "स ऐक्षत लोकान्नुसृजा" इत्यादि श्रुतेः क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी॥ ४८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कृष्णाय वर्णतोऽपि नामतः गतं। रामाय तन्नाम्ने प्रकृष्टं द्युम्नं यस्य स तस्मै कीर्तिद्युम्न सहस्रसातमर्मत्यृभ्वाख्ये विश्वं कीर्ति टीकायां च द्युम्नं कीर्ति चेति व्याख्यातत्वात्। तथा तु विद्युम्नं महाकीर्ति इति तत्रैवोक्तत्वाच्च। म्ना अभ्यास इत्यस्मात्कर्मकविधानमिति कर्मणि कप्रत्यये दिवि म्नायत इति व्युत्पत्त्या द्युम्नशब्देन कीर्तिरुच्यते। हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमित्युक्तेः प्रकृष्टसुवर्णं वाऽस्य यस्मै द्युम्नं द्योतयतेऽर्शो वाऽन्नं वेति। यास्कनिरुक्तेः प्रकृष्टान्नरूपाय वेति। अनिरुद्धाय केनापि निरुद्धो न भवतीत्यनिनः प्राणिनः सर्वे रुद्धा येनेति वा स तस्मै वा। सात्वन्तो भक्ता यादवा वा तेषां पतिस्तस्मै। सात्वतामिति षष्ठ्याऽलुक्त्वेनैकपद्ये घिसंज्ञेति वा षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वेति वा पतिशब्दो लाक्षणिकोऽयमिति वोपपत्तिः॥ ४५॥ नमो गुणप्रदीपायेत्यत्राकारप्रश्लेषेण पदक्रमं विश्लेषयन्विवक्षितमर्थमाह॥ गुणप्रदीपायेति। गुणान्दीपयति ज्ञापयतीति स तथा तस्मै। गुणात्मस्थोदयायेत्यनूद्य व्याचष्टे॥ गुणात्मस्योदयायेति। गुणात्मिका प्रकृतिस्तस्यां स्थित उदयः स्वरूपं यस्य स हरिस्तस्मै॥ ततश्च श्लोकव्याकृतिः॥ गुणान्प्रदीपयति ज्ञापयतीति स तथा तस्मै गुणात्मनि तिष्ठतीति स उदयो यस्येति वा स चासावुदयश्चेति वा तस्मै गुणैः प्रत्युपलक्षयितुं योग्यतानुसारेण ज्ञातुं योग्यस्तस्मै गुणद्रष्ट्रे भक्ततारतमभावस्थितगुणसाक्षिणे स्वसंविदे स्वप्रकाशाय। तद्ब्रह्मावेदहं ब्रह्मास्मीत्यादेः॥ ४६॥ अव्याकृताः साकल्येन व्याख्यातुं विवरीतुमिति यावत् अशक्या विहारा यस्य स तस्मै दयायां सर्वव्याकृतासिद्धिर्यथायोग्यं येन तस्मै। मनःपूर्वकं नाम स्कन्दयं नाग इति त्वं जानीष इति मनसि कृत्वा तथा सम्बोध्य नमन्ति॥ हृषीकेशेन्द्रियस्वामिन्निति। मुनये गतं। मौनशालिनेऽसम्भाष्यभाषणशून्याय। इयताऽपि प्रयत्नेन किञ्चिदोष्ठानाकुञ्चनमिति युवतयोऽनेन कटाक्षयन्ति॥ ४७॥ परावरगतिज्ञायेति श्लोकेऽविश्वाय विश्वायेति व्याहतमुच्यते। तद्द्रष्ट्रे विश्वहेतव इति प्रागभिहितेः पुनरुक्तिश्चेत्यतो विश्वपदं स्वयं व्याकृत्य मानं चोदाहृत्य पुनरुक्तिमपाकरोति॥ अविश्वाय जीवेभ्योऽन्यस्मा इति। न विश्वोऽविश्व इति व्युत्पत्तिः। शरीरेषु प्रविष्टत्वाज्जीवो विश्व उदीर्यते। विशेरांणादिकः कर्तर्यशुपृषिलटिकणिखटिविशिभ्यः ववन्निति ववन्प्रत्यये विशतीति विश्व इति व्युत्पत्तिर्ज्ञेया। विश्वायेति घटयदाह। जीवस्य विश्वस्य भगवदधीनत्वाद्विष्णुर्विश्व इति स्मृत इत्यन्वयः जीवस्यैव विश्वस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वादिष्वहेतुरित्यत्र विश्वो जीवः प्राग्जगद्विश्वपदार्थ इति न पुनरुक्तिरिति भावः॥ ततश्च श्लोकार्थः॥ परावरगतिज्ञाय कारणकार्यस्थितिविदे उत्तमाधमगतिमतये वा सर्वाध्यक्षाय सर्वस्वामिनेऽविश्वाय जीवविलक्षणाय विश्वाय स्वाधीनजीवनिकायाय तद्द्रष्ट्रे जीवगुणकर्मादिद्रष्ट्रे विश्वस्य जीवस्योत्पत्त्यादिहेतवे नमः। प्रभुर्हि जीवो जडमपेक्ष्येत्युक्तेः प्रपञ्चान्तर्गतत्वेपि विशेषशङ्कास्पदतेति पृथगुक्तिरिति ज्ञेयम्॥ ४८॥

श्रीसुबोधिनी

एवं वैदिकप्रमाणप्रमेयरूपतामुक्त्वा तदनाविर्भूतमित्याविर्भूतं भगवन्तं चतुर्मूर्त्ति तन्त्रप्रकारयुक्तं निरूपयति नमः कृष्णायेति, कृष्णाय सदानन्दायेतिस्वरूपमुक्तं, अवान्तररूपत्वमाह ततो रामाय सङ्कर्षणाय, वसुदेवसुताय वासुदेवाय, चकारादस्य प्रद्युम्नरूपताप्युक्ता, वसुदेवशब्दस्य शुद्धसत्त्वे वसुदेवे च सङ्केतात्, प्रद्युम्नायानिरुद्धायेतिचतुर्मूर्तिर्भगवानुक्त, सदानन्दो भगवांश्चतुर्मूर्त्या चावतीर्णो यदर्थं तदाह सात्वतां पतये नम इति शुद्धसत्त्वानां परमवैष्णवानां पतिः, भक्तिफलरूपो भक्तिप्रवर्तकश्च, अतोनेनेशानुकथा विष्णुभक्तिर्निरूपिता॥ ४५॥ एवं तन्त्रन्यायेन भगवन्तं निरूप्य साङ्ख्ययोगादिभिः स्मार्तनिरूपितं भगवन्तं निर्णयेन निरूपयति नमो गुणप्रदीपायेति, 'भगवान् सगुण' इत्यस्यायमर्थो गुणान् प्रकर्षेण दीपयति तत्प्रकाशतार्थमेव गुणान् स्वनिकटे स्थापयति, ततो गुणान् प्रकाशयन् गुणानां माहात्म्यख्यापनाय गुणैरात्मनश्छादनं येन गुणैरात्मानं छादितवान् गुणेषु स्वतेजो दत्त्वा स्वयं तिरोहितो जात इत्यर्थः, ततः पुनः कौतुकार्थं गुणाना वा वृत्तयश्चाक्षुषज्ञानाद्यस्तैरुपलक्ष्यत इति तथा, एवं सत्त्वरजस्तमोभावा उक्ताः, नन्वेतदपि किमिति करोति ? तत्राह गुणद्रष्ट्र इति गुणानां द्रष्ट्रा, तान् दृष्ट्वा तेषामेवमुपकारं कृतवानित्यर्थः, ते कृतस्तु स्वस्यापकारो नास्तीत्याह स्वसंविद इति, स्वत एव संविद् यस्य न तस्य ज्ञानं केनचिदुत्पाद्यते केनचिन्नाश्यते वा, अतो गुणानां सच्चिदानन्दधर्माणां स्वयमेव तद्रूपेणाविर्भूतस्वरूपाणामुपकारार्थं सगुण इत्युच्यत इत्यर्थः॥ ४६॥

एवं सगुणरूपत्वमुक्त्वा ज्ञेयं रूपं भगवन्तमाहाव्याकृतेति, अव्याकृते प्रकृतिपुरुषरूपे विहारो यस्य, अव्याकृतो वा केनाप्यज्ञातो विहारो यस्य, अव्याकृतार्थं वा विहारो यस्य, कपटमानुषभावं सम्पादयति यथा न कोपि जानात्विति, तस्याव्याकृतत्वे प्रमाणमाह सर्वव्याकृतसिद्धय इति, सर्वे ये व्याकृतास्तत्त्वानि ब्रह्माण्डानि च तदन्तर्वर्त्तीनि च तेषां सिद्धिरुत्पत्तिर्निश्र यस्मात्, "अव्यक्तादीनि भूतानी"तिवाक्यात्, अन्यथा व्याकृतोत्पत्तिर्न स्यात्, कार्यस्य पूर्वावस्थातो वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्, एवमुत्पत्तिपक्षं निरूप्य ज्ञप्तिपक्षं निरूपयति हृषीकेश नमस्तेस्त्विति, हृषीकाणीन्द्रियाणि तेषामीशः प्रवर्तकः, प्रकृते भगवानेव ज्ञापनार्थं स्वेन्द्रियाणि प्रवर्तयोपस्थित इति साक्षात् तं नमस्यन्ति, तादृशीं वावस्थां प्रार्थयन्ति तर्ह्यव्याकृतस्य ज्ञानं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह मुनय इति, मननमेव तत्र हेतुः, मुनयश्च द्रष्टारः, तद्रूपो भगवान्, किञ्च साधनान्तरमपव्याकृतस्य भगवतो ज्ञाने निरूपयन्ति मौनशीलिन इति, मौनमेव शीलं सहजः स्वभावो यस्य, "उपरतायां वाचि किञ्ज्योति" रितिप्रश्ने "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योति" रिति "वचस्युपरते प्राप्ये"तिवाक्याच्च, तदेकं भगवत एवाव्याकृतं रूपं यत्रैव "यस्यामतं तस्य मत" मित्यादिवाक्यानि सम्बध्यते ॥४७॥ शास्त्रार्थरूपश्चैको भगवान् पण्डितव्यवहार्यः, तमाह परावरेति, परे ब्रह्मादयः, अवरेस्मदादयः, तेषां सर्वेषामेव गतिं व्यवस्थां जानातीति, शास्त्रेण ह्युत्पाद्यते यज् ज्ञानं तदेतादृशं भवतीति, एवं बहिर्ज्ञानमुक्त्वान्तर्ज्ञानमाह सर्वाध्यक्षायेति, सर्वेषामध्यक्षः साक्षी, अतस्तं प्रत्यक्षेण नमन्ति ते नम इति, तेषां प्रतिपाद्यरूपं सङ्ग्रहेणाहाविश्वायेति, विश्वव्यतिरिक्तो विश्वरूपश्च, विश्वरूप एव सन् विश्वव्यतिरिक्तश्च, यथा वृक्षः काण्डादिरूप एव सन् फलरूपोपि, चकारादुभयमुभयत्र, अनेन केचन विश्वरूपं प्रतिपादयन्ति केचन तद्व्यतिरिक्तं, केचनोभयं, केचित् पुनरेकदेशिन इति, किञ्च तद् द्रष्टृ तस्य रूपस्य द्रष्टा त्वमेव, अनेनाविश्वपक्षे प्रमाणमुक्तं, विश्वपक्षेपि प्रमाणमाह तस्य हेतव इति, तस्य विश्वस्य कारणरूपोपि, कारणात्मकत्वेन कार्यस्येति प्रमाणता, एवं निरोधमुक्त्याश्रयाः क्रमादेतैरेवोक्ताः ॥ ४८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नमः कृष्णायेत्यत्राभासे तदिति तद्रूपमित्यर्थं अस्येति वसुदेवसुतस्य । ॥ ४५ ॥ नमो गुणप्रदीपायेत्यत्र निर्णयेनेति ते हि सगुणं भगवन्तं वर्णयन्ति तत्र यथा भगवतः सगुणत्वं तन्निर्णयेन, उपकारं कृतवानित्यर्थ इति तथा च गुणोपकारकतया सगुणत्वं न तु गुणोपहितत्वेतिनिर्णय इत्यर्थः सिध्यति, उपधानमाशङ्क्य परिहरन्ति तैरित्यादि, तद्रूपेणेति सत्त्वरजस्तमोरूपेण, इदं यथा तथा द्वितीयसुबोधिन्यां स्फुटं, 'सद्रूपस्य मलं सत्त्वं चिद्रूपस्य रज आनन्दरूपस्य तम' इति तत्रोपपादनात् ॥ ४६ ॥ अव्याकृतेत्यत्रान्यथेति कारणस्य व्याकृतत्वे, एवं ज्ञानार्थमिति कार्यवैलक्षण्यज्ञानार्थं, प्रार्थयन्त्यस्त्वितिपदेन प्रार्थयन्ति ॥ ४७ ॥ परावरेत्यत्र तेषामिति शास्त्राणां, ननु भवत्वेवं गुणप्रकाशत्वादिना गुणार्थत्वमव्याकृतविहारतादिना चावतारकृत्त्वं परावरगतिज्ञत्वादिना चान्तर्यामित्वं तथापि निरोधमुक्त्याश्रयाणामत्रास्फुटत्वाल्लीलाभिर्दशविधत्वं कथमित्यत आहुरेवंनिरोधेत्यादि, नमो गुणेत्यत्र सगुणोपकारकतया निरोधः, अव्याकृतेत्यत्र तादृशविहारतया स्वरूपवस्थानतया मुक्तिः परावरेत्यत्राधिष्ठायेत्यर्धश्लोकोक्तरीत्या ज्ञानाधारत्वेन क्रियाधारत्वेन चाश्रय इत्येवंक्रमादेतैरेव श्लोकैरेता उक्ता इति सुखेनैव दशलीलाभिरपि तथात्वं सिध्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नमः कृष्णायेत्यस्याभासे वैदिकेति वेदप्रकारयुक्तामित्यर्थः, व्याख्याने, चकारादिति प्रद्युम्नोप्ययमेव न तु सङ्कर्षणवद् रूपान्तरमपीति चकारेण सूचितमित्यर्थः, शुद्धसत्त्वानामिति सात्वतपदस्यार्थद्वयमभिप्रेत्यात्र पदद्वयमुक्तं, भक्तेः फलं "भक्त्या मामभिजानाती" तिवाक्योक्तं ज्ञानमित्यर्थः ॥ ४५ ॥ नमो गुणेत्यत्र उपलक्ष्यते इति "गुणप्रकाशैरनुमीयते भवा' निति प्रकारेणोपलक्षणविधया ज्ञायते इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ अव्याकृतेत्यत्र अव्याकृतो विहारो यस्येतिपक्षे विहारः पुरुषेवतरणमित्यर्थः, तस्यैव ब्रह्माण्डोत्पत्तिहेतुत्वात् तस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिकारणत्वं न स्यादितिभावः, अव्याकृतार्थमिति व्याकृतमिति भावे क्तः, तथा च स्वरूपस्याव्याकृतत्वार्थमज्ञापनार्थमित्यर्थः, तस्येति प्रकृतिपुरुषरूपस्य विहारस्य स्वरूपस्य चेत्यर्थः, आद्यस्य व्याकृतत्वे तत्त्वोत्पत्तिर्न स्यात् द्वितीयस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिर्न स्यात्, तृतीयस्य व्याकृतत्वे देवतिर्यगाद्युत्पत्तिर्नस्यात्, किन्तु तेषां मोक्ष एव स्यादितिभावः, कार्यवैलक्षण्यस्यावश्यवाच्यत्वादिति सर्वत्र हेतुः एवं व्याकृतोत्पत्तावव्याकृतत्वं हेतुरुक्तः, ज्ञप्तौ तु हृषीकेशत्वं हेतुर्वक्ष्यते, अत्र स्वव्याकृतमेव स्वरूपं स्वेच्छया ज्ञापितवानित्याहुः प्रकृते इति, साक्षादिति ते इत्यस्यार्थोयं तादृशीमिति नमनयोग्यामिन्द्रियप्रेरणा स्थामित्यर्थः, अस्त्विति प्रार्थनायां लोट्, तर्हीति व्याकृतज्ञापनार्थं हृषीकेशत्वे सतीत्यर्थः अव्याकृतस्येन्द्रियैस्तत्प्रतिप्रेरितैर्ज्ञापनाभावे वस्तुसत्त्वैव न सिध्येदितिभावः मननमेवेति एवकारेण भगवत्प्रतिकानीन्द्रियाणि व्यावर्त्यन्ते, मुनयश्चेति चकारोर्थविशेषे यत इत्यर्थे, तद्रूप इति भगवानेव मुनिरूपः सन्नात्मानं पश्यति तेनाव्याकृतत्वमपि न हीयते वस्तुसत्ता च साधितेतिभावः, एवमग्रिमविशेषणेपि स्वभावो यस्येत्यनेन मत्वर्थ एव विवृतः, तदेकमिति सर्वोपादकं सर्वज्ञापकं चाज्ञेयमक्षरं भगवत एव रूपं, पूर्वोक्तप्रकृत्यादेर्भिन्नत्वशङ्कापरिहारायेदमुक्तं, यत्रैवेति अक्षर एवेत्यर्थः, पुरुषोत्तमस्तु "भक्त्या मामभिजानाती" तिवाक्याद ज्ञात एवेतिभावः ॥ ४७ ॥ परावरेत्यस्याभासे शास्त्रार्थरूप इति शास्त्रप्रतिपाद्यं रूपं पक्ष, पूर्वमज्ञेयं रूपमुक्तं शास्त्रज्ञेयमप्येकं रूपमस्ति तदत्रोच्यत इत्यर्थः, अक्षरस्य रूपद्वयमज्ञेयं ज्ञेयं चेति एकदेशिमतमिद "न

भेदादिति चेन् न प्रत्येकमतद्वचना' दिति, व्याख्याने, शास्त्रेण हीति हि यतः शास्त्रेण यस्य रूपस्य ज्ञानमुत्पाद्यते तद्रूपं परावरगतिज्ञ सर्वप्रेरकं च भवति, शास्त्रं परावरगतिज्ञत्वप्रकारेणान्तर्यामित्वप्रकारेण च ज्ञानमुत्पादयतीत्यर्थः' एवमिति बहिःस्थितस्य भगवज्ज्ञानं परावरमर्यादास्थापकत्वेन "मद्भयाद् वाति वातोय" मित्यादिवाक्येभ्यः, अन्तः स्थितज्ञानं सर्वप्रेरकत्वेन भवतीत्यर्थः अत इति बहिरन्तर्ज्ञानविषयो यत इत्यर्थः । तेषामिति शास्त्राणामित्यर्थः, प्रमाणतेति हेतुत्वस्येतिशेषः ॥ ४८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

रामाय सङ्कर्षणाय अहङ्कारे उपास्याय, वसुदेवसुताय "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं यदीयते तत्र पुमानपावृत" इति चतुर्थस्कन्धोक्तेः वसुदेवशब्देन शुद्धं चित्तम्, तत्सुताय तत्र प्रकाशमानाय उपास्याय वासुदेवाय, प्रद्युम्नाय बुद्धावुपास्याय, अनिरुद्धाय मनसि उपास्याय, एवं चतुर्मूर्तये कृष्णाय तुभ्यं नमः । कृष्णावतारप्रयोजनं सूचयन्त्यः प्रणमन्ति—सात्वतां भक्तानां पतये पालकाय नमः ॥ ४५ ॥ ननु 'एकस्य कथं चतुर्मूर्तिता ?, तत्राहुः—गुणप्रदीपायेति । गुणागुणकार्यान्तिःकरणानि प्रदीपयति प्रकाशयतीति तथा तस्मै, चित्तादिचतुर्विधान्तःकरणाधिष्ठातृत्वेन चतुर्मूर्तितित्याशयः । गुणै रहङ्कारादिभिरेवात्मनः आच्छादनं यस्य तस्मै । तथा गुणानां चित्तादीनां चेतनाध्यवसायादिवृत्तिभिरुपलक्ष्याय तत्प्रवर्तकत्वेन अनुमेयाय । तत्प्रकाशकत्वेनाप्यनुमेयत्वमाहुः -गुणद्रष्ट्रे इति । स्वसंविदे स्वयंप्रकाशरूपाय ॥ ४६ ॥ अव्याकृतः अप्रकटो विहारो यस्य, यद्वा अव्याकृते प्रकृतौ विहारो यस्य तस्मै । सर्वव्याकृतसिद्धये सर्वेषां व्याकृतानां तत्त्वानां ब्रह्माण्डानां च सिद्धिरुत्पत्तिः प्रकाशश्च यस्मात्तस्मै । हे हृषीकेश हृषीकाणीन्द्रियाणि, तेषामीश प्रवर्तक ! ते तुभ्यं नमः । मुनये मननशीलाय' तत्तत्प्राणिकर्मानुसारेण तत्तत्फलविचारकायेत्यर्थः । ननु "यदि सर्वफलदाताऽहमेव, तर्हि कथं न स्पष्टं वदामि ?" इत्याशङ्क्याहुः—मौनशीलिने इति ॥ ४७ ॥ मुनित्वमेव स्पष्टयन्ति-परावरेति । परे ब्रह्मादयः, अवरे अस्मदादयः, तेषां गतिं कर्मानुरूपफलभूतामवस्थां जानातीति तथा तस्मै । तत्र हेतुमाहुः—सर्वाध्यक्षायेति, सर्वसाक्षिणे इत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयन्ति-तद्द्रष्ट्रे इति । तत्रापि हेतुमाहुः—अविश्वायेति । विश्वतैजसाद्यवस्थारहिताय । तत्र जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः, स्वप्नावस्थाभिमानी तैजसः, सुषुप्त्यवस्थाभिमानी प्राज्ञ इति विवेकः । एवमवस्थाभावे सर्वात्मकत्वे हेतुमाहुः – विश्वायेति । तत्रापि तदुपादानत्वे हेतुमाहुः—अस्य च हेतवे इति ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नम इति ॥ कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय नमः प्रद्युम्नाय अनिरुद्धाय सात्वतां पतये भक्तपालकाय नमः प्रद्युम्नानिरुद्धयोः नित्यसिद्धयोरनुवादः । भगवत्प्रसादाद्धाविज्ञानेन वा ॥ ४५ ॥ नम इति गुणानामन्तःकरणादीनां प्रदीपाय प्रकाशकाय गुणैरहंकारादिभिरात्मनश्छादनं यस्य तस्मै गुणानां वृत्तिभिरुपलक्ष्याय गुणानां द्रष्ट्रे स्वसंविदे स्वप्रकाशरूपाय नमः ॥ ४६ ॥ अव्याकृतेति ॥ अव्याकृते प्रकृतौ विहारो यस्य सर्वेषां व्याकृतानां तत्त्वानां ब्रह्माण्डानां च सिद्धिरुत्पत्तिः प्रकाशश्च यस्मात्तस्मै । हे हृषीकेश ! हृषीकाणीन्द्रियाणि तेषामीश प्रवर्तक ! ते तुभ्यं नमः । मुनये मौनशीलाय मौनशीलिने तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ४७ ॥ परावरेति ॥ परे ब्रह्मादयोऽवरेऽस्मदादयस्तेषां गतिमवस्थां जानाति तस्मै सर्वेषामध्यक्षाय साक्षिणे विश्वाय विश्वरूपायापि अविश्वाय विश्वधर्मविकाररहिताय तद्द्रष्ट्रे विश्वसाक्षिणे अस्य विश्वस्य हेतवे च तुभ्यं नमः । अयमर्थः पूर्वमुक्तोऽपि विह्वलतावशात् प्रेमवशाद्वा पुनरुक्तः । अन्यत्राप्येवम् ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवमुपनिषच्छब्दैः स्तुतः स एव मनुष्यरूपो जात इति सूचयंत्यः स्तुवंति नम इति सन् श्रीकृष्णे विद्यते येषु ते सत्वंतः यादवा भक्ता वा आर्यत्वात्स्वार्थिकाल्लोपेन सत्वंत एव सात्वतास्तेषां पतये नमः ॥ ४५ ॥ भक्तेषु गुणान् कृपालुत्वादीन्प्रदीपयतीति गुणप्रदीपयस्यतस्मै यद्वा मनुष्यलोके आगत्य गुणान् स्वकीयान् सत्यशौचादीन् प्रदीपयति प्रकाशतया दर्शयतीति तथाभूतस्तस्मै देवमनुष्यादिष्वाविर्भूयगुणैः देवमनुष्यादिजातिस्वभावैः आत्मानं समग्रैश्वर्ययुक्तं स्वस्वरूपं स्वेच्छया आच्छादयतीति गुणात्मछादनस्तस्मै गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणवृत्तिभिः सत्त्वगुणवृत्तिरूपैः शमदमादिभक्तिसाधनैरुपलक्षितुं योग्याय गुणद्रष्ट्रे दोषान् विहाय भक्तानां गुणान् पश्यतीति गुणद्रष्टा तस्मै स्वसंविदे स्वकीयेषु भक्तेषु संवित्तोषिर्यस्य यद्वा स्वेन स्वकीयेन स्वदत्तेन संवित्त अन्येषां ज्ञातुं यस्य तस्मै ॥ ४६ ॥ अव्याकृतकार्यातीतो विहारो यस्य तस्मै अन्यथा गुणातीतानां शुकादीनां तल्लीलासुमनआकर्षणाभावात् परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्येत्युक्तमश्लाकालायेत्युक्तेः यद्वा अव्याकृते ब्रह्मपुरे विहारो रमणं यस्य तस्मै स्वधामनि ब्रह्माणि रंस्यते नम इत्युक्तेः व्याकृतानां नामरूपादिसमग्राणां व्याकृतीनां सिद्धिर्यस्मात्तस्मै हंताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुविश्य नामरूपे सर्वेषां व्याकरवाणीति परागां ब्रह्मश्रुतेः मौनशीलिने गुणात्मकवागुच्चारणरहितऽस्वभावाय मुनये नारायणमुनयेति नमः ॥ ४७ ॥ परावरगतिज्ञाय पुरस्थानां महामुक्तानामवराणां प्राकृतलोकस्थानां ब्रह्मादीनां च गतिर्यो गमनादिव्यवहारस्तां जानातीति तथाभूतस्तस्मै सर्वाध्यक्षाय सर्वेषां ब्रह्मपुरतत्रस्थमुक्तकालप्रकृतिपुरुषादीनामध्यक्षाय अधिपतये अविश्वाय विश्वातीताय तासां तमोमयस्वभावेन पूर्वापरस्मृत्यसंधाना भावादत्रविश्वायेत्यादिविशेषणत्रये पुनरुक्तिदोषो नगण्यः एतेषामर्थस्तु पूर्वं व्याख्यातः ॥ ४८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अनावृतैश्वर्यत्वादेव चतुर्व्यूहात्मकमूर्त्तिरूपेण सर्वोपास्यत्वेन स्तुवन्त्यो नमन्ति ॥ नम इति ॥ कृष्णाय उत्कृष्टानन्दमूर्त्तये, वा भक्तजनदुरितकर्षणशीलाय, रामाय सर्वजनाभिरामत्वेन रामसंज्ञाभाजे, वसुदेवे शुद्धेऽन्तःकरणे सूते आविर्भवतीति वसुदेवसुत- स्तस्मै च शुद्धान्तःकरणप्रकाशमानत्वेन वसुदेवसुतायेत्यर्थः । प्रकृष्टं द्युम्नं धनं यस्य तस्मै, अनिरुद्धाय ज्ञानिनां निरोधरहिताय, सन् श्रीकृष्णः विद्यते उपास्यत्वेनैषु ते सत्वन्तो भक्तास्त एव सत्वन्तस्तेषां पतये, स्वभक्तजनानामनिष्टपरिहारपूर्वकं पालका- येत्यर्थः । नमः नमः । आर्षत्वात् स्वार्थिकाण्लोपेन सत्वन्त एव सात्वन्तस्तेषामिति सात्वत्सिद्धिः ॥ ४५ ॥ स्वभक्तपालकत्वप्रकार- मेवाहुः ॥ नम इति ॥ सात्वतामित्यनुवर्त्तते । सात्वतां भक्तानां, गुणप्रदीपाय गुणस्य धर्मभूतज्ञानस्य प्रदीपः प्रदीपकस्तस्मै, अनाद्यविद्यारूपाज्ञानध्वान्तावृतस्वधर्मभूतज्ञानानां स्वभक्तजनानां प्रदीपवदज्ञानतिमिरनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्रकाशकारकायेत्यर्थः । सात्वतां गुणप्रदीपायेत्यनेनासात्वतां तद्वैपरीत्यं सूचितम् । तदेव स्पष्टीकुर्वन्त्य आहुः । गुणेन गुणमयमायया आत्मनः असात्वतो जीवान् छादयति संकुचितज्ञानान् करोतीति तस्मै च, एतद्विशेषणद्वयप्रसक्तवैषम्यपरिजिहीर्षया विशिंषन्ति । गुणवृत्त्या गुणपरि- णामात्मकमनोवृत्त्या उपलक्ष्य उपलभ्यस्तस्मै, येषां यथाविधा स्वस्मिन्मनोवृत्तिस्तेषां तथाविधतया ज्ञानविषयायेत्यर्थः । भगवतो जीवगुणवृत्तिज्ञानासंभावनां निराकुर्वन्ति । गुणद्रष्ट्रे सर्वान्तःकरणवृत्तीनां साक्षाद्द्रष्ट्रे, तत्र हेतुः । स्वसंविदे स्वासाधारणापरिच्छिन्न- निरुपाधिकनित्यासंकुचितधर्मभूतज्ञानाश्रयायेत्यर्थः । तुभ्यं, नमः ॥ ४६ ॥ ननु यद्यहं गुणद्रष्टा तर्हि तथात्वेन किं न ज्ञायेत इत्यत्राहुः ॥ अव्याकृतेति ॥ अव्याकृतोऽनभिव्यक्तो विहारो गुणद्रष्टृत्वादिरूपो यस्य तस्मै किं च, न केवलं गुणद्रष्ट्रे, अपि तु, सर्वेषां व्याकृतानां देवादिपदार्थानां तद्बुद्धिवृत्तीनां च सिद्धये निष्पत्तिहेतवे, न केवलं सिद्धहेतुरेवापि तु सर्वेन्द्रियप्रशासिता च त्वमेवेत्य- भिप्रायेण संबोधयन्ति । हृषीकाणामिन्द्रियाणामीश नियन्तः, तत्स्थशरण्योपयुक्तं गुणान्तरमाहुः । मुनये संसारगतत्रिविधतापातुर- जीवोज्जीवनाय यादृच्छिकप्रासङ्गिकाद्यन्यतमसुकृतलेशानुचिन्तनात्मकमननशीलाय, मौनेन शालते तस्मै, परिपूर्णैश्वर्यवत्वाद् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत्तृणवन्निःसारं बुद्ध्वा जोषमासीनायेत्यर्थः । ते तुभ्यं, नमः अस्तु ॥ ४७ ॥ परेति ॥ परा चावरा च परावरे ते गती येषां ते परावरगतयस्तान् जानातीति परावरगतिज्ञस्तस्मै । तत्र परगतिर्मोक्षरूपा अवरगतिर्बन्धरूपा तत्तदधिकारवतां तत्तत्प्रदानप्रकारज्ञायेत्यर्थः । मोक्षाभिधगत्यर्हाणां स्वाश्रितानां मोक्षाभिधानेन संसृतिमोचकाय बन्धनात्मकावरगत्यर्हाणां तत्प्रदानेन बन्धकायेति भावः । तथा चोक्तं भगवतैव । 'तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् । क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु' इति । सर्वाध्यक्षाय सर्वपुरुषार्थाधिपतये, आश्रितानां धर्मादिस्वात्मपर्यन्तप्रदातृतया महावदा- न्यायेत्यर्थः । अविश्वाय विश्वातीताय, विश्वाय च 'शरीरेषु प्रविष्टत्वाद्विश्वो जीव उदीर्यते । जीवस्य तदधीनत्वाद्विश्वो विष्णुरिति स्मृतः' इति स्मृतेर्विश्वशब्दाभिहितजीवान्तःस्थतया विश्वशब्देनाभिहितायेत्यर्थः । जीवो देहे स्थितः सन्नपि यथार्थतया देहस्वरूपं स्वस्वरूपं च न जानाति, त्वं तु तत् द्वयं साक्षात्पश्यसीति तद्द्रष्टा तस्मै, अस्योत्पत्त्यादिहेतुत्वाद्विश्वहेतुश्च कीर्त्तितः' इति स्मृतेः । अस्य विश्वस्य, हेतुस्तस्मै च, ते तुभ्यं, नमः । विश्वशब्दस्यात्र पूर्वत्र च लाक्षणिकत्वात् सर्वनामकार्याभावः । संज्ञापूर्वकविधेरनित्य- त्वाद्वा । विश्वायेत्यादिविशेषणत्रिकस्य पुनरुक्तत्वेऽपि तदर्थान्तरेण व्याख्यानान्न स दोषः । पञ्चस्वाशता त्वत्रासंकीर्णैर्हि विशेषणैः । स्तुतः स्त्रीभिरहेः प्रीतस्तासामिव स मेऽस्तु वै ॥ ४८ ॥

कृष्णप्रिया

सदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण को प्रणाम; संकर्षणस्वरूप राम आप को प्रणाम; शुद्धस्वरूप वासुदेवजी को प्रणाम; एवं वासुदेवपुत्र वंशवर्धक प्रद्युम्नस्वरूप आप को प्रणाम; एवं सात्वत-शुद्ध सत्व गुण वालों के स्वामी है वैसे सात्वत पति अनिरुद्धजी को प्रणाम । इस श्लोक में वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध आदि चतुर्व्यूह स्वरूप भगवान को नमस्कार किया ॥ ४५ ॥ गुणो के सम्यक् रूपसे प्रकाशक प्रभुको प्रणाम; गुणों की महिमा बताने के लिए गुणों में अपने तेज को स्थापित कर अपने स्वरूप को आच्छादित करने वाले आप को नमस्कार । गुणोंकी वृत्तियों से बोध कराने वाले प्रभुको प्रणाम; गुणों के द्रष्टा को प्रणाम; सच्चिदा- नन्दादि गुणों का स्वतः स्वयं ज्ञान कराने वाले भगवान को प्रणाम ॥ ४६ ॥ हे हृषीकेश ! अव्याकृत ऐसे प्रकृति पुरुष रूप में विहार करने वाले अथवा आप के विहारों को कोई नहीं जानता ऐसे अव्याकृत विहारीजी को प्रणाम; सर्व व्याकृत ब्रह्माण्डादि तत्वों की उत्पत्ति और ज्ञान आप से होता है ऐसे आप को प्रणाम; मननशील मुनियों में मनन रूप से रहने वाले मुनिस्वरूप आपको प्रणाम; मौनरूप सहज स्वभाव वाले मौनशील भगवान को प्रणाम ॥ ४७ ॥ ब्रह्मादि जैसे बडे और दूसरे जो छोटे माने जाय उनकी व्यवस्था को जानने वाले आपको प्रणाम; सर्वके अध्यक्ष-साक्षी आपको नमस्कार विश्वसे पृथक् स्वरूप आपको प्रणाम एवं विश्व- स्वरूप को प्रणाम; एवं विश्व के द्रष्टा और विश्वके कारण स्वरूप आपको प्रणाम ॥ ४८ ॥

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोऽकृतकालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान्[1] प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥ ४९ ॥
तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुः[2] सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥ ५० ॥
अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः । क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥ ५१ ॥
अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति[3] पन्नगः । स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रभो त्वं हि अनीहः अकृतकालशक्तिधृक् अमोघविहारः समीक्षया सतः तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् गुणैः अस्य जन्मस्थितिसंयमान् ईहसे ॥ ४९ ॥ त्रिलोक्यां शान्ताः अशान्ताः मूढयोनयः उत तस्य ते एव तनवः हि सतां धर्मपरीप्सया ईहतः अत एव अवितुं स्थातुः च ते अधुना शान्ताः एव प्रियाः ॥ ५० ॥ हे शान्तात्मन् स्वप्रजाकृतः अपराधः भर्त्रा सकृद् सोढव्यः मूढस्य त्वाम् अजानतः क्षन्तुम् अर्हसि ॥ ५१ ॥ भगवन् पन्नगः प्राणान् त्यजति अनुगृह्णीष्व साधुशोच्यानां स्त्रीणां नः पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एवं तावद्दंडानुमोदनेन नमस्कारैश्च भगवंतं प्रसाद्येदानीं त्वदधीनानां प्राणिनां कोऽपराध इत्याशयवत्यः प्रार्थयंते। त्वं हीति। अस्य लोकस्य गुणैर्जन्मादींस्त्वमेव अकृत अकराः। ततश्च तांस्तान्संस्काररूपेण सतः युज्यमानान्स्वभावान्घोरत्वादीन् प्रतिबोधयन्नीहसे क्रीडसि। यद्वा अस्य जन्मादींस्त्वमीहस इत्यन्वयः। कथंभूतः। अकृतानादिर्या कालशक्तिस्तां धारयतीति तथा। अन्यत्समानम् ॥ ४९ ॥ अतस्तस्य तवैवामूस्तनवस्तन्यंत इति क्रीडोपस्कराः तथापि तवाधुना शांताः प्रियाः। कुतः। सतां धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्तमानस्यातस्तानवितुं स्थातुः स्थितस्य ॥ ५० ॥ एवं च तवाप्रियाचरणाद्यपराधस्तर्हि सोढव्य इति ॥ ५१-५२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवम् उक्तविधया। श्रीकृष्ण एव दोषमादधंत्य आहुः - त्वं हीति। गुणैः सत्त्वादिभिः। आदिना शांतमू ढत्वे ग्राह्ये। त्वमकृत इह युष्मत्प्रयोगे प्रथमपुरुषः छांदसः। 'ऋजुमार्गेण' इति न्यायमाश्रित्याह—यद्वेति। ईहसे करोषि धातूनामनेकार्थ-त्वादीहिरत्र करणे॥ ४९॥ यतस्त्वमेवास्य कारणमतो हेतोः। तस्य कर्त्तुः। अमूः सर्पाद्याः। तथापि स्वीतनुत्वेऽपि। शांताः सात्त्विका देवादयः। अशांताः राजसा मनुष्यादयः। मूढयोनयः तामसा अस्मदादयः ॥५०॥ स्वामिधर्मं ज्ञापयंत्यः। क्षमां यंतीत्याह-एवमिति, पूर्वोक्तरीत्या। सोढव्यः क्षंतुमर्हसीति द्विरुक्तिरादरार्था संभ्रमाद्वा। मूढस्य तामसस्य। अत्र हेतुः—त्वां सर्वेश्वरम्। शांतात्मनामेतदेवोचितमिति संबुद्ध्यभिप्रायः। शांतलोकविप्रियकारित्वलक्षणोऽस्यापराधः सकृत्सोढव्य इति अधुना दंडयित्वा शिक्षितोऽप्ययं त्वदीयशांतजनेभ्यो यदि पुनरपरात्स्यति तदा न सोढव्य इति भावः। यद्वा—सकृदपि यो भर्ता तनापि, त्व तु स्रष्टृत्वादिना नित्येश्वरोऽस्यतस्त्वया तु किमुतेति भावः ॥ ५१ ॥ पद्भ्यां न गच्छत्यर्थादुरसा गच्छतीति पन्नग इत्यनेन तद्दैन्यं ध्वनितम्। साधुशोच्यानामित्युक्तेः त्वं साधुवर्योऽसि "पतिरेव हि साध्वीनां नारीणां जीवनं स्मृतम्" इत्याशयेनाह—प्राण इति। पतिजीवनपर्यंतमेव साध्वीनां जीवनम्, पत्यंते तदनुगमश्रवणादिति भावः। हे भगवन्परमदयालो। यद्वा—हे सर्वज्ञ निजकारुण्यमहिमानं स्वमायायैवं जीवानामस्माकं दैन्यं च जानास्येवेति भावः। ननु चिकित्सस्य साध्वेव कृता रोगो गत एव किं तु रोगशेषदूरीकरणार्थं सत्राष्टौ प्रहारा अवशिष्यंते तेषु सम्मतिर्दीयतामित्यत आहुः—अनुगृह्णीष्वेति। दोषशेषोऽस्यानुग्रहामृतप्रदानेनैव नाश्यो न तु दंडतीव्रौषधपायनेन यतोऽसौ प्राणांस्त्यजति। ननु त्यजतु किमनेन विगीतसर्पदेहेनातः परं दिव्यदेहो मद्भक्त एव भविष्यति तत्राहुः-स्त्रीणामिति। सुंदरीणामस्माकं वैधव्ये सति कश्चिदन्यः पापिष्ठः सर्पो बलात्कामयिता भविष्यतीत्यतः शोच्यानामस्माकमयमेव सप्रत्युतास्त्रवैष्णवताकत्वात्प्राणः। स्नेहास्पदीभवन्प्राणतुल्य इति विश्वनाथः। तोषिण्यां तु—हे भगवन्निति संबुद्धेरभिप्रायांतरमपि। तच्च—"अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्त्तानां शरणं त्वहम्" इति प्रतिज्ञां स्मरस्येवेत्येवंरूपः। आर्त्तत्वमाहुः—प्राणानिति। यद्वा—अहो वत मा कुर्वंस्मिन्ननुग्रहमस्माकं तु स उपयुक्त एवेत्याहुः—स्त्रीणां साधुभिः शोच्यानां जात्यैवास्वातंत्र्यात्, परमदैन्यं - ध्वनितम्। यद्वा—साधु यथा स्यात्तथा पुनर्यथाऽपराधी न भवेदित्यर्थः। पतिरेव प्राणो जीवनं प्रकर्षेणाक्षतशरीरेणैव दीयतामिति ॥ ५२ ॥

---

१. तत्तत्स्वभावाध्प्रतिबोधयस्व नः—विज. । २. वितुं सतां—श्रीधर. वंशी. वीर. शुक. ; वितुः सतां विश्व । ३. स्त्यक्ष्यति—वीर. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्वस्य को दोषः सर्पत्वदातुर्ममैवेश्वरस्येत्याशङ्क्याहुः, त्वमिति पञ्चभिः। हि एव हे विभो, सर्वेश्वर! अनीहः तत्तदभिलाषशून्य एव त्वमीहसे करोषि नन्वेतद्विरुद्धं तत्राहुः—सत इति। तत्र जन्मनि सतः प्रकृतिलीनप्राचीनकल्पगतसाधकभक्तजनस्य समीक्षया तदुद्बोधनाय तं द्रष्टुमेव कृतेन प्रकृतीक्षणेनेत्यर्थः। स्थितौ जन्ममध्येऽवतीर्य्य तमेव सम्यक् कृपापूर्वकं साक्षादवलोकितुमित्यर्थः। संयमे तमेवालिङ्ग्यापि समीक्षितुमित्यर्थः। "मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः" इति पाद्मात् तत आनुषङ्गितयाऽन्येषामपि तत्स्यादिति भावः। ननु, यदर्था समीक्षाऽस्त एवोद्बुध्यन्तां तत्राहुः— अमोघविहारः यथा कथञ्चिदपि तत्सम्बन्धस्याव्यर्थत्वादित्यर्थः। तेषामप्युद्बोधने युक्तिः अकृतकालशक्तिधृक् कालस्वरूपया स्वाभाविकशक्त्येत्यर्थः। तथा गुणैः संलक्षितान् स्वभावान् प्राचीनकर्मसंस्कारान् प्रति बोधयन्निति तस्मात् तथा कृतकर्मणोऽस्यैव दोषः न तु तव ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्य इति न्यायादिति भावः॥ ४९॥ यस्मादेवं साम्यं तस्मात्तस्यैव त इत्यादि त्रिलोक्यां वर्त्तमानाः सर्वा एवेत्यर्थः अशान्ताः घोराः उत अपि मूढयोनयोऽपि हि निश्चये विशेषस्त्वधुना शान्ता इत्यादि एवमपीदृशदुष्टानुग्राहकस्य तव परमकारुण्यमेव तादृशेऽपि त्वय्यपराधिनोऽस्य परमशामरत्वमेवेति भावः। ते द्वयस्य वाक्यभेदान्न पुनरुक्तिदोषः मध्यमं तु ते पदं शान्ता इत्यस्य विशेषणम्॥ ५०॥ अतस्त्वया क्षन्तुं युज्यत एवेत्याहुः – अपेति। भर्त्रा पोष्टृत्वात् पितृतुल्येन स्वप्रजाकृतोपराधः सकृदपि सोढव्यः सोढुं योग्यः तस्मात् क्षन्तुमित्यादि त्वन्तु शान्तात्मत्वात् सर्वथा क्षन्तुमर्हसीत्यर्थः। किञ्च, मूढस्य तामसजातिस्वभावेन ज्ञानहीनस्य अत एव त्वामजानतः त्वदद्भुतलीलादिदर्शनेनापि त्वां ज्ञातुमशक्नुवतः यद्वा सकृदपि यो भर्त्ता तेनापि त्वं तु स्रष्टृत्वादिना नित्येश्वरः किमुतेति॥ ५१॥ किं वक्तव्यं क्षमा कार्येति अनुग्रह एव कर्त्तुं इत्याहुः—अन्विति। कुतः? भगवन्, हे परमदयालो! यद्वा, हे सर्वज्ञेति! निजकारुण्यमहिमानं स्वमायावैभवं च तत एव जीवानामस्माकं दैन्यं च त्वं जानास्येवेत्यर्थः। एतच्चाविलम्बेनेत्याहुः—प्राणानिति। यद्वा, "अन्नं हि प्राणिनां प्राणा" "आर्त्तानां शरणं त्वहम्" इत्यादिनिजप्रतिज्ञां स्मरस्वेत्यर्थः। आर्त्तत्वं दर्शयन्ति—प्राणानिति। अहो बत न क्रियतां वास्मिन्ननुग्रहः अस्मास्ववश्यं कर्त्तुमुपयोज्यत इत्याहुः—स्त्रीणामिति। साधुभिः शोच्यानां जात्यैव स्वातन्त्र्याद्यभावात् इति परमदैन्यं दर्शितम् यद्वा, साधु यथा स्यात् पुनरनपराधत्वादिसम्पादनेनेत्यर्थः। पतिरेव प्राणः जीवनं प्रकर्षेण शरीराक्षतत्वादिना च दीयताम्॥ ५२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

नन्वयमपराधो निग्रहयोग्य एवेति चेत्तत्राहुः–त्वमिति पञ्चभिः। हि एव, त्वमेव विभो हे सर्व्वेश्वर! गुणैः रजआदिभिर्जन्मादीन् ईहसे करोषि, अनीहस्तदनपेक्षोऽपि सतः पूर्व्वंत एव वर्त्तमानानिति वैषम्यं परिहृतम्, समीक्षया दृष्टिमात्रेण परमापेक्षया वा। ननु किमर्थं समीक्षा? इत्यपेक्षायामाहुः–अमोघविहारः सदा क्रीड़ार्थमित्यर्थः। यद्वा, तत्तत्स्वभावप्रतिबोधनरूपलक्रीड़ा केनापि न विहन्तुं शक्यत इत्याहुः–अमोघेति। यतः स्वाभाविककालशक्तिधृक्, ब्रह्मादिभिरपि कालस्यालङ्घ्यत्वात्॥ ४९॥ त्रिलोक्यां वर्त्तमानाः सर्व्वं एवेत्यर्थः। अशान्ता घोराः, उत अपि, मूढ़योनयोऽपि, हि हेतौ निश्चये वा, सतां वैष्णवानां धर्म्मो भक्तिलक्षणस्तस्य परीप्सया प्रतिपालनेच्छया परितः सिद्धीच्छया वा, ते द्वयस्य वाक्यद्वयेनान्वयादपुनरुक्तिदोषः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, ते व्रजजनाः॥ ५०॥ किन्तु, अपराधोऽयं त्वया क्षन्तुं युज्यत एवेत्याहुः–अपेति। भर्त्रा पोषकेण स्वस्य प्रजया पोष्येण कृतोऽपराधः सकृदपि सोढ़व्य एव। अतस्त्वं क्षन्तुमर्हस्येव; विशेषतः शान्तस्वभावस्य तव क्षमोचितैवेत्याहुः–हे शान्तात्मन्निति। तत्र चाज्ञस्यावश्यं क्षन्तव्य एवेत्याहुः–मूढ़स्य तमोजातिस्वभावेन ज्ञानहीनस्य, तत्रापि त्वामजानतः, त्वदद्भुतलीलादिना त्वां ज्ञातुमशक्नुवतः, अथवा सकृदपि यो भर्त्ता, तेनापि त्वन्तु स्रष्टृत्वादिना नित्येश्वरः। वयञ्च जीवाः सेवका एव, अतो मुहुरप्यस्माकपराधस्त्वया सोढुमेव योग्य इति भावः, किञ्च, क्षन्तुमिति। अन्यत् समानम्॥ ५१॥ किं वक्तव्यम्, क्षमा कार्य्येति, अनुग्रह एव कर्त्तुं योग्य इत्याहुः–अन्विति। कुतः? भगवन् हे परमदयालो! यद्वा, हे सर्व्वज्ञेति निजकारुण्यमहिमानं स्वमायावैभवञ्च तत एव जीवानामस्माकं दैन्यञ्च त्वं जानास्येवेत्यर्थः। तच्चाविलम्बनेत्यादि-निजप्रतिज्ञां स्मरस्वेत्यर्थः। आर्त्तत्वं दर्शयन्ति–प्राणानिति। अहो बत न क्रियतामस्मिन्ननुग्रहः, अस्मास्ववश्यं कर्त्तुमुपयुज्यत इत्याहुः–स्त्रीणामिति। साधुभिः शोच्यानां जात्यैव स्वातंत्र्याद्यभावादिति परमदैन्यं दर्शितम्। यद्वा, साधु यथा स्यात् पुनरनपराधत्वादिसम्पादनेनेत्यर्थः। पतिरेव प्राणः जीवनम्, प्रकर्षेण शरीराक्षतत्वादिना च दीयताम्॥ ५२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अनीहः सङ्कल्पातिरिक्तव्यापारशून्यः अकृतकालशक्तिधृक् अनादिकालाख्यशक्तिधृक्॥ ४९॥ अमरा देवादयः शान्ताः सत्त्वप्रचुराः अशान्ताः रजःप्रचुराः॥ ५०-५१॥ पतिरेव प्राणः॥ ५२-५३॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं शरण्यत्वोपयुक्तगुणविशिष्टं स्तुत्वाऽथ "अविज्ञाताः कुमारकाः इति श्रुत्युक्तरीत्या त्वत्कुमारप्रायस्य त्वच्छरीरभूतस्यास्मद्भर्तुः कदाचिदननुकूलस्य स्वशरीरस्यैव स्वपुत्रस्येव चापराधः करणकलेवरादिप्रदानेनाखिलजीवोज्जिजीवीयषया सर्वजगदुदयविभवलयलीलेन सर्वशरीरेण विपुलापराधवत्त्वेऽपि किञ्चिदानुकूल्ययुक्तजीवोज्जिजीवीयषया कृतावतारेण त्वया सोढुमुचित इति क्षमापयन्त्यस्तावद्भर्तृप्राणरक्षां कैङ्कर्यं च प्रार्थयन्ते—त्वमिति पञ्चभिः। हे विभो ! त्वं ह्यनादिकालाव्ययशक्तियुक्तः अनीहः सङ्कल्पेतरव्यापारशून्यः अनेन "अकलितश्रम एव सृजत्यसौ" इति वचनार्थोऽभिप्रेतः गुणैः रजस्सत्त्वतमोभिरस्य जगतो जन्मस्थितिलयान् कुर्वन्निति शेषः। तत्तत्स्वभावान् रजस्तमस्तदुभयस्वभावानपि सतो जीवान् समीक्षयानुग्रहगर्भया दृष्ट्या दृशा प्रतिबोधयंस्तावत्दण्डनेन प्रबुद्धान् कुर्वन् अप्रतिहतजगद्व्यापाररूपविहारश्चेष्टसे यद्वा, समीक्षया त्वं "बहुस्यां प्रजायेयेति" त्युक्तया सङ्कल्पात्मिकया दृष्ट्या अनीहस्तद्व्यतिरिक्तव्यापारशून्यः प्रलयदशायां तत्तत् स्वभावान् तत्तत्कर्मवासनात्मकस्वभावमात्रयुक्तान् सङ्कुचितज्ञानान् असत् प्रायान् सतो जीवान् प्रतिबोधयन् स्वाराधनोपयुक्तकरणकलेवरादिप्रदानेन विकसितज्ञानान् कुर्वन् एवंविधं महोपकारं कर्तुमिति भावः। अप्रतिहतजगद्व्यापारात्मकविहारोऽस्य जगतो जन्मादीन् ईहसे चेष्टसे करोषीति यावत् तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्नित्यनेन सर्वजीवसाधारण्येन तद्विषयकमहोपकारैकशीलत्वं सूचितम् एवमपराधानवेक्षणेन केवलनुपकारैकशीलस्य तव कियानयमपराध इति भावः॥ ४९॥ जन्मादीनि ईहसे इत्यनेन सर्वजीवान् प्रति तस्य पितृस्थानीयत्वं सूचितं किञ्च तस्यैव प्रतिबोधयतोऽस्य जन्मादीनि ईहमानस्य ते तव त्रिलोक्याममूः सर्वाः शान्ताः सात्त्विक्यः अशान्ताः राजस्यः मूढयोनयस्तामस्यश्च प्रजास्तनवः देहाः आधेया विधेयाः शेषाश्चेत्यर्थः। सर्वा अप्यनुग्राह्या एवेति भावः। ननु, सर्वासामनुग्राह्यत्वे जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्गस्तत्राहुः, यद्यप्येवं तथापि स्थातुः स्थितिकर्तुरत एव सतां धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्त्तमानस्य कृतावतारस्येति यावत् ते तव शान्तास्तनवः अवितुं रक्षितुं प्रिया इष्टा हि सदा सकलजन्मसु सापराधा अप्यधुनाऽपराधविरिरंसवः प्रियाः अतोऽस्यानुग्राह्यत्वेऽपि न जगद्व्यपारोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः॥ ५०॥ अतोऽयं यावच्छान्ति दण्डितोऽप्यधुनोपशान्तः पुत्रवत् सोढव्य एवेत्याहुः—अपराध इति। भर्तुरस्मद्भर्तुरपराधः सकृत् सोढव्यः इतः परं पुनरपराधः कृतश्चेन्न सोढव्यः इत्यभिप्रायेण सकृदित्युक्तिः स्वप्रजाकृतः स्वपुत्रकृतत्वाच्च सोढव्य इत्यर्थः। अनेन भगवतः पितृस्थानीयत्व सर्वजीवानां पुत्रस्थानीयत्वञ्चाभिप्रेतं किञ्चाज्ञानकृतोऽपराधः क्षमापणेन सह्य एव सर्वथेति लोकपरिपाटीमभिप्रेत्याहुः—क्षन्तुमर्हसीति। अधुना त्वयि शान्त्या भवितव्यम् इत्यभिप्रायेण शान्तात्मन्निति संबोधनं, यद्वा, कृतापराधेष्वप्यधुना शान्तेषु त्वदानुकूल्योपयुक्तशान्तिमत्त्वात्मा अनुग्रहप्रदणं मनो यस्य तथाभूतेति संबोधनं मूढस्यात एव त्वामजानतः क्षन्तुमर्हसि अपराधमिति विभक्तिविपरिणामेनानुसङ्गः प्रकृतत्वाच्छेषो वा॥ ५१॥ हे भगवन् ! अयं पन्नगः सर्पः प्राणांस्त्यक्ष्यत्यतोऽनुगृह्णीष्व साधुशोच्यानां साधुभिर्दयनीयानां स्त्रीणामस्माकं पतिरेव प्राणः स प्रदीयताम् ॥ ५२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रातिस्विकजीवाभीष्टदातृत्वात्तद्द्रष्टृ इति प्रपञ्चस्य मूलकारणं हरिरित्युक्तं तत्स्पष्टयितुमाह—त्वं हीति "सत्यधर्मा सत्यकर्मा" इति श्रुतेः। अमोघविहारस्त्वम् अत एवानीहोऽक्लिष्टकर्मा त्वं सत्त्वादिगुणैरस्य जगतो जन्मादीनीहसे हि यस्मात् "देवस्यैष स्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा" इति श्रुतेः। तस्मात्तव सत्यप्रपञ्चस्रष्टृत्वस्वभावात् समीक्षया सम्यज्ज्ञाने न नोऽस्मान्प्रतिबोधयस्वेत्यन्वयः। यथा तव जगत्स्रष्टृत्वं स्वभावस्तथास्मत्प्रतिबोधनमपि स्वभावोऽस्त्वित्याशयः। लोके स्वरूपसत्तयभावाद्वरादिना मायया वाऽन्यसहायेन वा श्रमेण कर्तृत्वं न तथा तवेत्याशयेनाह—अकृतेति। कालः कारणं ज्ञानं वा अकृतावरादिना नान्यनिमित्तं स्वरूपमिति यावत् एवंविधां शक्ति धारयसीति स्वरूपभूतज्ञानक्रियाशक्तिधर इत्यर्थः तदुक्तं "हरेः स्वरूपशक्तिर्या कालशक्तिरुदीर्यते। सदा सर्वगुणात्मत्वात्" इति यथा स्वाधीनत्वात्सत्त्वादिगुणैः सृष्टिं करोषि तथा स्वनियतदुर्गावायुभ्यां संहारस्थिती करोषीत्याशयेनोक्तम् अकृतेति तयोरपि कालाधीनत्वेन कालशब्दवाच्यत्वादित्यर्थः 'दुर्गाचाप्यवरा ततः"—

"सर्वसंहारकारित्वाद्वायुः सर्वस्य जीवनात्। कालाभिमानिनावेतौ दुर्गावायुश्च कीर्तितौ। इति च॥ ४९॥

विश्वायेत्यादिना हरेर्जगदात्मकत्वमुक्तमिति मन्दाशङ्कानिरासाय स्थावराज्जङ्गमस्य पृथक्कृत्य त्रैविध्यकथनेन मिथोऽपि भेदस्तात्त्विक इति दर्शनार्थं तस्य भगवत्प्रतिमात्वेन तत्त्वतः स्तवनेन हरेरतिशयिता प्रीतिर्भवतीति भावेनाहुः—तस्य वेति। यस्त्वं "नमस्तुभ्यं भगवते" इत्यादिना प्रसक्तस्तस्य ते तवैवामूस्तनवः प्रतिमास्थानीयाः शान्ता अशान्ता मूढयोनय उतेति यास्त्रिधा भिन्ना अमूरित्यर्थः। त्रिलोक्यां जङ्गमसंज्ञा इति शेषः अत्रापि तारतम्यमस्तीत्याहुः शान्ता इति सुखान्तं सुखस्वभावमेवाप्नुवन्तीति यत् तस्मात् शान्ता देवाः सतामप्यवितुः ते तव प्रियाः "परा पूर्वेषां सख्यावृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिरेति" इति श्रुतिः। प्रियस्यापि तारतम्यविशेषद्योतको हि शब्दः प्रियं द्विविधम् अन्तर्बहिश्चेति तत्रान्तः प्रियाः सन्तः बहिः प्रिया असन्तः अत्रापि कश्चन विशेषः संहारहेतुत्वादसन्त ईषदन्तः प्रिया इव स्थितिहेतुत्वात्सन्तो विशेषान्तः प्रिया इत्यतोऽभ्युनेति

विशेषणं तदुक्तं "अन्तः प्रियं बहिश्चेति द्विधा प्रियमुदाहृतम्" इत्यादिदेवानां शान्तत्वादिकं "सुखान्तं प्राप्नुयुर्यस्माद्देवाः शान्ता उदीरिताः" इत्यादिस्मृतिसिद्धम् अशान्ताः मानुषाः प्रोक्ता मूढयोनयोऽसुरा इत्यर्थः। अवनादिकमं प्रवर्तनं च प्राणमुखेनेत्याहुः, स्थातुरिति। कर्मप्रवर्तनार्थं सर्वशरीरेषु स्थातुरीहतः "ईह चेष्टायाम्" इतिधातुः चेष्टकत्वमीहशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं अवनशब्दस्यापि तदेवात ईहतः प्राणस्य सकाशात् कर्मपरीप्सया कर्मपालनेच्छया पालनं प्रवर्तनं तदिच्छया प्राणस्य सकाशात् कर्मप्रवर्तनामिच्छति भगवानित्यतः स महाविर्भुरित्यर्थः तदुक्तं "वायोः सकाशाज्जगतः प्रवृत्तिं कामयत्यजः" इत्यादि "प्राणस्य प्राणम्" इति श्रुतिश्च शब्दगृहीता ॥ ५० ॥ सोढव्यः क्षन्तुमर्हसीति द्विवंचनमादरार्थं स्वचापल्यप्रकटनार्थं च शान्तानां देवानामात्मन् स्वामिन् मूढस्येत्यस्य विवरणं त्वामजानत इति ॥ ५२-५३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नन्वस्य को दोषः ? सर्पत्वदातुर्म्ममैवेश्वरस्येति चेदित्यत आहुस्त्वमिति पञ्चभिः। हि एव हे विभो ! सर्वेश्वर अनीहस्त-त्तदभिलाषशून्य एव त्वमीहसे करोषि नन्वेतद्विरुद्धं तत्राहुः सतः प्रकृतिलीनप्राचीनकल्पगतः साधकभक्तवृन्दस्य समीक्षया तदुद्बोधनाय तद्द्रष्टुमेव कृतेन प्रतीक्षणेनेत्यर्थः। "मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः" इति पाद्मात् तत आनुषङ्गिकतयाऽन्येषामपि तत् स्यादिति भावः। तस्मात्तथा कृतकर्मणस्यैव दोषो नतु भवेदिति भावः ॥ ४९-५९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

विश्वस्य न केवलं हेतुरसि, तत्पालननाशहेतुरप्यसीत्याहुः—त्वमस्य जन्मेत्यादि। विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमानीहसे यद्यपि तथापि अमोघविहारो नित्यलीलः। जगन्नाशलीलायां तत्स्थितिलीलाया असम्भवादिति। तथा विहारस्य मोघत्वेऽपि अमोघलील एव, नित्यान्तरङ्गलीलत्वात्; इयन्तु बहिरङ्गलीला ॥ ५०-५७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तदेवाहुः— त्वं ह्यस्येत्यादि ॥ ५०-६७ ॥ क्रीडामानुषरूपिण इत्यस्यार्थः—क्रीडार्थममानुषा गोपगोपीप्रभृतयो यदवस्तान् रूपयितुं निरूपयितुं तत्तत् क्रीडायामवधापयितुं शीलं यस्य स तथा तस्य ॥ ६८ ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वसृष्ट्या प्रधानं चेतनयुक्तं विकृतं च कृत्वा मम किं फलमिति चेत्तत्राहुः-त्वमिति। सतः प्रधानस्य समीक्षया अस्य विश्वस्य पूर्वकल्पान्ते तत्रैव लीनस्य तत्तत्स्वभावान् तांस्तान् संस्काररूपेण सतः स्वभावान् घोरत्वादीन् प्रतिबोधयन् जन्मादीन् गुणैरज आदिभिः ईहसे करोषि गुणानां कर्तृत्वस्य त्वय्युपचाराद्वस्तुतस्तु त्वमनीहः अकृता क्षणादिर्या कालशक्तिस्तां धारयतीति तः एवञ्च प्रधानगत ईक्षणरूपरतव विहारोऽमोघः ॥ ४९ ॥ केनाभिप्रायेणैवं स्तुध्वे इति चेत् तत्राहुः-तस्यैव पूर्वोक्तलक्षणस्य तव विश्वहेतुत्वाद्विश्वरूपस्य अमूः शान्ताद्यास्तनवः शान्तादिस्वभावान् त्वमेव प्रतिबोधयसि चेत्तत्र घोरस्वभावोऽयं कालियः स्वस्वभावं क्रौर्यं कथं त्यक्तुं शक्नोत्विति भावः तथापि तवाधुना शान्ताः प्रियाः कुतः ? सतां धर्मपालनेच्छया ईहतः प्रवर्तमानस्य अतस्तानवितुं स्थातुः स्थितस्य ॥ ५० ॥ अतः शान्तलोकविप्रियकारित्वलक्षणोऽस्यापराधोऽभूदेव स च सकृत् सोढव्य इति अधुना दण्डयित्वा शिक्षितोप्ययं त्वदीयशान्तजनेषु यदि पुनरप्यपराध्यति तदा न सोढव्य इति भावः। क्षन्तुमर्हसीत्यर्थपौनरुक्त्यमतिवैय्यग्र्यव्यञ्जकं क्षन्तुमित्यपराधमिति शेषः। शान्तात्मन्निति क्षन्तृत्वे हेतुः मूढस्याजानत इति क्षन्तव्यत्वे हेतुः ॥ ५१ ॥ ननु, चिकित्सास्य साध्वेव कृता रोगो गत एव किन्तु रोगशेषदूरीकरणार्थं सम्प्राप्ताः पार्ष्णिप्रहारा अवशिष्यन्ते तेषु सम्मतिर्दीयतामित्यत आहुः-अनुगृह्णीष्वेति। सदोषशेषोऽनुग्रहामृतप्रदानेनैव नाशनीयो नतु दण्डतीव्रौषधपानेन यतोऽसौ सम्प्रति प्राणांस्त्यजति। ननु, त्यजतु प्राणान् किमनेन विगीतेन सर्पशरीरेण अतः परं दिव्यदेहो मद्भक्त एव भविष्यति तत्राहुः—स्त्रीणामिति। सुन्दरीणामस्माकं वैधव्ये सति कश्चिदन्यः पापिष्ठः सर्पो बलात् कामयिता भविष्यतीत्यतः शोच्यानामस्माकमयमेव सम्प्रत्युदग्रवैष्णवताकत्वात् प्राणः स्नेहास्पदीभवन् प्राणतुल्यः ॥ ५२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एतदेवोपपादयति—त्वमिति। हे विभो सर्वगत ! अकृतकालशक्तिमनादिकालाख्यशक्तिं धारयतीति तथा अनीहः सम्पूर्णत्वरागित्वाद्यनारित्वादिदोषावहचेष्टाशून्यस्त्वं तेषां तेषां सृज्यानां सतः सूक्ष्मरूपेण सत्यानेव स्वभावान् समीक्षया प्रतिबोधयन् निजशक्तिगुणैः अस्य विश्वस्य जन्मादीन् समीहसे इत्यन्वयः ॥ ४९ ॥ ननु, त्विभ्रूपः सर्वगतः सर्वहेतुश्चाहमेव चेत्तर्हि निग्रहानुग्रहौ

निर्विषयौ भवतः नेत्याहुः यद्यपि तस्यैव विश्वरूपस्य सर्वहेतोः सर्वगतस्य ते शान्ताः सात्त्विका अशान्ताः राजसाः मूढयोनयस्तामसाः अमूः प्रजाः तनवो देहाः तथापि ते तव ये सन्तस्तेषां सतां धर्मपरीक्षया धर्मपालनेच्छया अधुना ईहितस्तांश्चावितुं स्थातुः स्थितस्य ते शान्ताः प्रियाः अनुग्रहविषयाः तामसा राजसास्तु दण्ड्या एवेति भावः ॥ ५० ॥ एवं चेदसौ तमोजनिर्दण्ड्य एवेति प्राप्ते प्रार्थयन्ते अपराधा इति त्रिभिः ॥ ५१-५२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ कृपालुतां दर्शयन्त्यः पत्युस्त्राणं प्रार्थयन्ते पञ्चभिः। ननु प्रधानपरिणमनादिना मे किं फलं तत्राह–त्वमिति। सतः प्रधानस्य समीक्षया अस्य विश्वस्य पूर्वकल्पावसाने तत्रैव मोक्षणे विलीनस्य तत्तत्स्वभावान् घोरत्वादीन् प्रतिबोधयन् गुणैरजःप्रभृतिभिर्जन्मादीनीहसे करोषि, कीदृशः? अकृतां नित्यां कालशक्तिं धरसीति सः अनीहो विश्वसर्गादिकर्मफलस्य ईहाशून्यः तर्हि प्रधानेक्षणतत्परिणमनादिप्रवृत्तिर्मेऽपार्था तत्राह—अमोघेति। तद्रूपो विहारस्तवामोघः जीवभोगाद्यर्थत्वात् सफल इत्यर्थः। तथा च कृपालुत्वात्तेऽस्यापि नागस्य त्राणं युक्तमिति ॥ ४९ ॥ तस्यैवेति। तस्यैव पूर्वोक्तस्य शक्त्या जगदाकारस्य तवामूः शान्ताद्यास्तनवः तन्यस्ते क्रीडा आभिरिति व्युत्पत्तेः क्रीडोपस्करा इत्यर्थः। तत्र शान्ताः सात्त्विकाः अशान्ता घोराः राजस्यः मूढयोनयस्तामस्यः तथापि तवाधुना शान्ताः प्रियाः कुतः सतां धर्मपरीप्सया ईहितश्चेष्टमानस्य अतस्तान् सतोऽवितुं स्थातुः स्थितस्य तथा चास्य नागस्य त्वद्रचितक्रौर्यस्वभावस्य स्वयं तत्त्यागे असामर्थ्यात् त्वत्कृपयैव तत्त्यागो भावीति ॥ ५० ॥ शान्तजनविप्रियकारित्वमस्यापराधः सकृत् सोढव्य एव पुनरेवं कारित्वे तु न सोढव्य इति भावः। क्षन्तुमर्हसीति वैयग्र्यात् पुनरुक्तिः शान्तात्मन्निति क्षन्तृत्वे मूढस्याजानत इति क्षन्तव्यत्वे हेतुः ॥ ५१ ॥ ननु पञ्चषैः पार्ष्णिप्रहारैरस्य दोषशेषोऽस्त्वेकः सन्मतिश्चेद्भवतीनामिति चेत्तत्राह अनुगृह्णीष्वेति। तच्छेषोऽनुग्रहादेवापगच्छेदिति भावः। तैरेष प्राणांस्त्यजति नन्वस्य दुष्टस्य प्राणने यदुक्तानां वः कथमाग्रहस्तत्राहुः स्त्रीणामिति। स्त्रीभ्योऽस्मभ्यमयं पतिर्दीयतां इदानीं त्वं प्रपन्नत्वादयमस्माकं इत्यर्थः। नः कीदृशानामित्याह—साध्विति। एतस्मिन् मृते वैधव्येन वैरूप्ये सति साधुभिः शेषदेवादिभिः शोच्यानामिति तेभ्यो नैतद्रोचेत इति भावः ॥ ५२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

त्वं अस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभावित्ति श्लोके दुर्गमार्थत्वात्कालशक्तिपदं स्वयं व्याख्याय तत्स्थेम्ने मानमुदाहरति। अकृतकालशक्तिवृक् अकृतं वराद्यनिर्मितं स्वरूपमिति यावदिति। हरेर्या स्वरूपशक्तिः सा सदा सर्वगुणात्मकत्वानिमित्तात्कालशक्तिरुदीर्यते। कलकामधेनुरिति स्मरणात् गतम्। अन्यत्रापि तच्छब्दं सप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति ॥ तत इति। ततो हरेरवरा दुर्गाऽपि सर्वसंहारकारित्वात्कालशक्तिरुदीर्यते। वाशब्दो वायुरित्यनेन समुच्चायकः सन्नन्वेति। सर्वस्य जीवनाद्वायुर्वा कालशक्तिरुदीर्यते। किञ्च कालाभिमानिनावभिमानी चाभिमानो चेत्याभमानिनी। एवमेवैतौ कीर्तिताविति ज्ञेयम्। अताऽपि कालशक्तित्वं तयोः प्रवाधिन्यामनोहोऽकृतकालशक्तिवृगित्यत्र कृतकालवृगिति पदच्छेदेन काले शक्तिः कालशक्तिः कृता च सा कालशक्तिश्च तां धरतीति हरिशक्तेस्तत्काले जातत्वभ्रान्तिर्भवति तन्निरासाय पदच्छेदं प्रदर्श्य व्याचष्ट इत्यवतारितम्। तत्र पूर्वपक्षो सर्वथा प्रेक्षावांश्चेत तर्हि कक्षीकार्यः प्रेक्षावांश्चेदनीहोऽकृतेत्यत्र बुधाकपो चेति कथं कृतत्यादिपदं विच्छिन्द्यादर्थत उभयाप्यनुपपन्नावतारिकेति वदन्ति ॥ ततश्चायं श्लोकार्थः ॥ मूलकारणं हरिरित्युक्तं स्पष्टयितुमाह ॥ त्वं हीति। अमोघविहारोऽव्यर्थक्रीडस्त्वमस्य जगतोऽनीहोऽक्लिष्टकारित्वादकृतकालशक्तिवृक् अकृताऽकारणिका नित्येति यावत् कालशक्तिः सकलगुणात्मकत्वात्कालाख्या शक्तिस्तां धृष्णोतीति कालधृक् कालशक्तिर्दुर्गा वायुश्च तौ धृष्णाति तद्द्वारा सृष्ट्यादिकरणेन तौ धारयसीति भावः। गुणैः सत्त्वादिभिर्जन्मस्थितिसंयमानीहसे हि यतस्तस्मात्। देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहेत्यादेः। स्पृहापूर्वं सृष्ट्याद्यकरणात्स्वभावात्समीक्षया सम्यग्ज्ञानेन नोऽस्मान्प्रतिबोधय जाग्रतीकुरु। स्वभावत एवाततोति स तथोत वा। दासप्राणावित्यनीहोऽनिनि मुख्यप्राणे ईहा चेष्टा यस्य स ईहसे। या रमाया हसे ह्रासार्थं सन्तोषार्थमिति यावत्। अमोघविहार इत्यर्थकरणे मानानुयानं भवतीति ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥ तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यामिति श्लोके शान्ताः क्रोधरहितास्ते तव प्रिया इति निष्कोपस्य कस्यचिद्भगवत्प्रियत्वमिति भ्रान्तिनिरासाय प्रमाणेन तत्तात्पर्यं दर्शयंस्तेनैव प्रमाणेन भगवत्प्रियाणामेकविध्यभ्रान्तिं निरस्यानेकविधत्वं च दर्शयति ॥ अन्तःप्रियमिति। अन्तःप्रियं वहिःप्रियमित्यावर्तितमन्वेति। इति द्विधा प्रियमुदाहृतम्। चः समुच्चये। सन्तो हरेरन्तःप्रियाः सर्वे च सदसत्त्वाविवेकेन सर्वं हरेर्बहिःप्रियम्। सर्वमिति सङ्कोचयति ॥ असन्तश्चेति। संहारे कर्तव्ये ईषत्किञ्चिदसन्तोऽन्तः प्रिया इव भवन्ति तदपेक्षयाऽसदपेक्षया सन्तो विशेषान्तःप्रियाः। कुत इत्यत आह ॥ तथास्थिता इति। तथैव स्थितिमन्त इति सन्तः शान्ताः। कथमित्यता मानेन तद्व्युत्पत्तिप्रकारमाह ॥ सुखान्तमिति। यस्य सुखस्यान्तो निर्णयो येषां ते तथा यस्मात्सुखान्तं प्राप्नुयुस्तस्मात्ते वा शान्ता उदीरिता अशान्ताः सुखदुःखमिश्रफलतयाऽऽवदन्ता मानुषाः प्रोक्ता असुरा विमूढा मताः। तत्रैव स्थातुः कर्मपरीप्सयेहत इत्यप्रतीतार्थतयाऽनूद्य व्याकरोति। सर्वकर्मपरीप्सया कर्मप्रवर्तनार्थम्। अनेन तृतीया चतुर्थ्यर्थं इति सूचयति।

स्थातुरित्यस्य किञ्चिदध्याहृत्यान्वयं दर्शयति ॥ सर्वशरीरेषु स्थातुरिति । ईहत ईहमानस्य प्राणस्य सकाशात् । विशिष्टवाक्यार्थमाह ॥ प्राणसकाशाद्धि कर्मप्रवर्तनमिच्छति भगवानिति । प्राणाद्धीति वक्तुं शक्ये प्राणस्य सकाशादिति वचनं मानगतवायोः सकाशादित्यनुकरणरूपं सत्समानस्य छन्दसीत्यतः समानस्येति योगो विभज्यते । तेन समक्षः साधर्म्यं सजातीयमित्यादि सिद्धमिति काशिकोक्तेः । प्राणस्य समानः काशः सुखभोजनं यस्य तस्माच्चतुर्मुखात् । सहशब्दो वा सदृशवाची । सदृशः सख्या ससखीति यथेति । तेनायमस्वपदविग्रहो बहुव्रीहिः । समानः पक्षो यस्येत्यादीति कौमुद्युक्तेः समानः काशो यस्येति सकाशस्तस्मादित्यर्थविशेषं द्योतयितुं सकाशादित्युक्तम् । अजो भगवान्हरिर्वायोः सकाशाज्जगतः प्र ञ्चस्य प्रवृत्तिं कर्मप्रवर्तनं कामयतीच्छति । पदव्यत्ययेन तमतिहायापि हरेः सामर्थ्यं द्योतयति वायोरपि प्रभुं विष्णुरतः प्राणप्राणं प्राहुः प्रेक्षावन्तः ॥ अथ श्लोकार्थः ॥ त्रिलोक्यां विद्यमानचेतने तस्यैव नमस्तुभ्यमिति प्रस्तुतस्तुतस्यामूस्तनवस्ते; तनव इव तनवः सन्निधानपात्रम् । ता आह । शान्ताः शस्यान्तो निर्णयो येषां देवानां तेऽशान्ता नित्यसंसारिण उत मूढयोनयो मूढा योनिर्येषां तेऽसुरा अधुना सतामवितृ रक्षयितुस्ते शान्ता विशेषान्तः प्रियाः । हि शब्दोऽन्तः प्रियाः किञ्चिदन्तः प्रिया इव वहिः प्रियाश्चेति मानिकार्यद्योतकः । सतामवनादिकं पवनद्वारकमित्याह ॥ स्थातुरिति । सर्वशरीरस्थितस्येहत ईहमानस्य सकाशात्कर्मपरीप्सया कर्मणां परीप्सा तदर्थं तत्प्रवर्तनार्थमीहतश्चेष्टमानस्य त इत्यप्यन्वयः । यो भवान्कर्मपरीप्सया कर्मप्रवर्तनं स्थातुरहितो वायोः सकाशादिच्छति तस्यैव ते नम इति वाऽन्वयः । अधुनेत्यनेन नास्मन्नाथनाशसमयोऽयमतो मुञ्चेति द्योतयन्ति । प्राणस्य प्राणमित्यादिप्रसिद्धिं वा हिराह ॥ ५० ॥ फलितमामलपन्ति ॥ अपराध इति । यस्माद्भर्त्रा पोषयित्रा सकृदेकवारं स्वप्रजाकृतः सोढव्यस्तस्मात् । यस्मात्तस्मादिति च पूर्वश्लोकादनुवर्तेते । त्वं ह्यस्य जन्मेत्यादि त्वन्महिम्नाऽथ त्वत्प्रजेति । हे शान्तात्मन् देवस्वामिन् समाधानभूतं इत्यन्तर्भावः । मूढस्येत्युक्तौ मूढयोनय इत्युक्तमूढता चेन्न कदाचिदपि दयनीयता स्यादिति त्वामजानत इति मौढ्यं विवृतवत्य इति ज्ञेयम् । क्षन्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥ अम्बुजास्यः क्षणं प्रतीक्षध्वं मोक्षणमनन्तरं तनुयामिति । नानन्त वद तावदवकाशो नास्तीति विज्ञापयन्ति ॥ अनुगृह्णीष्वेति । हे भगवन् साधु यथा तथा शोच्यानां शोकयोग्यानां तत्रापि स्त्रीणां नोऽनुगृह्णीष्वानुग्रहं कुरु पतगः प्राणांस्त्यजति । अनुग्रहविग्रहमाहुः । पतिः प्राणस्तत्समः प्रदीयताम् । समस्तपाठे पतिश्चासौ प्राणश्चेति वा पत्युः प्राण इति वा विग्रहो ज्ञेय इति । साधुभिः शोच्यानामिति वा ॥ ५२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सर्वरूपेण नत्वा विज्ञापनार्थं प्रथमतोऽस्यापराधस्तथा नास्तीति वक्तुं त्वमेव सर्वस्वभावानां बोधक इत्युपपत्तिमाहुस्त्वं ह्यस्येति, त्वमेव ह्यस्य जगतो जन्मस्थितिसंयमान् गुणैरकृत कृतवान्, स्वयमनीह एव चेष्टामकुर्वन्नेव, तादृशस्य करणे हेतुमाह स्वकालशक्तिधृगिति, कालशक्तिं बिभर्तीति, यदैव भगवता कालशक्तिरधिष्ठिता तदैव गुणक्षोभं करोति सिंहासनस्थितपुत्रिका वायुमिव, ततः सर्वाण्येव कार्याणि भवन्ति, गुणा उपादानं, कालो निमित्तं, स्वभावो नियामकः, तमाह तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्निति, तस्य तस्य वस्तुनः स्वभावास्तत्तत्कार्यनियामकास्तेषां प्रतिबोधश्च कालेनैव क्रियते, स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेण वा, एवं कुर्वन् सतः समीक्षयेहसे लीलां करोषि, तव कार्यद्वयं, अनवतीर्णेनाक्षरे समारूढे कालशक्तिगुणैः स्वभावश्चोद्गता भवन्ति, ततः सर्वमेव जगद् भवति परमनेकविधं तस्मिन्नपि च जगति सतः सर्वस्यैव सन्मार्गस्य सतां च समीक्षया परिपालनपूर्वकं सम्यगवेक्षया लीलां च करोषि, तेन च तेषां सर्व एव पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्ति जगच्च रक्षितं भवति, न च पुनः पुनः कर्तव्यं पतति, तत्र हेतुमाहामोघविहार इति, न मोघो व्यर्थो विहारो यस्य, अनेनोभयत्रापि हेतुरुक्तः ॥ ४९ ॥ अस्य दुष्टस्वभावत्वे भगवतश्च शिक्षकत्वे हेतुमुक्त्वा कार्यमाहुस्तस्यैव तेमूरिति यदा भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति तदा सर्वाण्येव शरीराणि भगवल्लीलोपयोगिकत्वाद् भगवत्तनवो भवन्ति, तं च त्रिविधाः शान्ताः सात्त्विका अशान्ता राजसा विक्षिप्ता मूढयोनयस्तामसास्तत्रैव तनवः द्वितीयसर्गप्रकारात्रापयुज्यत, दशांशानां तत्रवापकार इति, मूढ्यानिषु तथात्वमनुचितमित्याशङ्क्य त इत्युक्तं, तथा सति कथं भगवदवतारलीला ? तत्राह शान्ताः प्रियास्त इति, अधुनाऽवितुः पालकस्य धर्मपरीप्सया धर्मरक्षेच्छया स्थातुं स्थितेच्छुः, शान्ता एव सात्त्विका एव प्रिया न त्वतिरिक्ता उभयविधाः, ते हि नाशका उत्पादकाश्च, उत्पादका अप्यनभिमताः, अधिकभारजनकत्वात्, नाशकास्तु विरोधिन एव, अनेनोभयमपि कार्यमुक्तम् ॥ ५० ॥ तथाप्यस्यापराधः सोढव्य इत्याहुरपराध इति, यद्यपि साम्प्रतमस्याभिनिवेशस्तथाप्यस्मदादीनामपि भवानेव पतिरतोऽनवसरे कार्यकरणादपराधः सोऽपि सोढव्यः, स्वस्यैव प्रजाभिः पालनीयाभिः कृत इति, अन्यथा पालकत्वं न स्यात्, कार्यनिर्वाहार्थं च सकृदेव सोढव्यो ज्ञापनार्थं, स्वस्य प्रजाभिः कृतः, पुनरपराधे ज्ञात्वा करणात् मारणमेवोचितं, विरोधित्वात्, अत एव क्षन्तुमर्हसि क्षमाया उपायान्तरमप्याह शान्तात्मन्निति, शान्त आत्मा यस्य, सत्त्वनिधानत्वात् क्षोभाभावाद् दण्डन कार्यस्य सिद्धत्वादग्र प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च सोढव्यः, नन्वज्ञानात् कृतमिति कथमवगन्तव्यम् ? ज्ञातकरणपक्षे तु सकृदपि न सोढव्य इत्याशङ्क्याहुर्मूढस्येति, स्वभावादेवायं सर्पयोनिस्तमसः, अतो मौढ्यात् त्वां न जानाति, अज्ञानात् कृतमकृतप्रायम् ॥ ५१ ॥ क्षमायां यत् कर्तव्यं तदाहुरनुगृह्णीष्वेति अनुग्रहः कर्तव्यः, नन्वनुग्रहे को हेतुः ? तत्राह भगवन्निति, तवैव गुणो हेतुभूतो न त्वस्य, तर्हि सर्वत्रैव प्रसादो भवेदित्या-

शङ्क्य निमित्तमाहुः प्राणांस्त्यजतीति कृपावसरोयं, यथा कृपायां भवत्यादिर्हेतुः, एवं समयोपि अत एव ग्रहणादिकाले सेवारहितायामपि यथा दीयते तथा कृपा विधेयेत्यर्थः, पन्नग इति, जीवमात्रमित्यल्पतां दयायां हेतुः, नन्वल्पत्वादेव किमनेन जीवितेनेत्याशङ्क्याहुः स्त्रीणामिति, स्त्रीणामस्माकं पतिरूपोयं प्राणः प्रकर्षेण दीयतां, स्त्रीणां प्राणरक्षा सर्वथा कर्तव्येति, ननु स्त्रियोपि दुष्टाः "शालावृकाणां हृदयान्येता" इतिश्रुतेरित्याशङ्क्याहुः साधुशोच्यानामिति, सत्यं दुष्टाः स्त्रियः परं स योनिदोष एव न तु जीवदोषः, अतः साधवस्तं जीवं शोचन्ति कथमयं स्त्रीशरीरे पतित इति यत्र सर्वदा भयं पराधीनता मुक्त्यभावश्च, भवांश्च साधूनां परिपालकः, अतस्तेषां शोकाभावायास्मत्प्राणा रक्षणीया इतिभावः ॥ ५२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

त्वं ह्यस्येत्यत्र स्वभावा तःस्थितस्वरूपेणेति स्वभावाधिदैविकेन भगवद्रूपेण, सत इति द्वितीयाबहुवचनान्तं, लीलाकरणमेव व्याकुर्वन्ति तवेत्यादि ॥ ४९ ॥ तस्यैव तेमूरित्यत्र ननु मूढानां भगवद्विरोधित्वात् कथं तनुत्वमित्याशङ्क्योतपदतात्पर्यमाहुः द्वितीयसर्गेत्यादि, आसुरसर्गो द्वितीयसर्गो "द्वौ भूतसर्गावि"त्यादिवाक्यात् तत्प्रकारो येतेष्वज्ञास्तेषु तेषु यः प्रकारो दुष्टस्वभावस्त्याजनरूपोत्र मूढयोनिषु युज्यते, तत्र हेतुर्दैत्येत्यादि, तथा च साम्प्रतं तत्समयाभावादयमेवोपयुज्यत इत्यर्थः, उतेत्युक्तमिति विकल्पबोधकपदमुक्तं, अवतारलीलेति दुष्टनिग्रहलक्षणा उभयमिति दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनं च ॥ ५० ॥ अपराध इत्यत्र यत्करोत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः पालकत्वेनेत्यादि, ज्ञापनार्थं इति स्वस्वभावज्ञापनार्थः ॥ ५१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्वं ह्यस्येत्यत्र हेतुमाहेति ईहाभावान् कारणमन्यमाहेत्यर्थः ॥ ४९ ॥ तस्यैवेत्यस्याभासे कार्यमाहेति शिक्षाकार्यमित्यर्थः, व्याख्याने, द्वितीयसर्गेति क्रीडार्थं जगत्करणप्रकार इत्यर्थः, उपसंहारे उभयमपीति सद्रक्षा धर्मपरीप्सा चेत्यर्थः ॥ ५० ॥ अपराध इत्यत्र अत एवेति यतो भर्त्रा सोढव्यो भवति अत एव त्वं क्षन्तुं सोढुमर्हसीत्यर्थः, उपायान्तरमिति प्रजात्वं स्वनिष्ठं कारणमुक्तं, शान्तिरपि भवन्निष्ठा कारणान्तरमस्तीत्यर्थः, कार्यस्येति निग्रहस्येत्यर्थः ॥ ५१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं तावद्दण्डानुमोदनेन नमस्कारैश्च भगवन्तं प्रसाद्य इदानीं "तमेव साधु कर्म कारयति यमूर्ध्वं निनीषति तमसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण 'त्वदधीनानां प्राणिनां कोऽपराधः ?' इत्याशयवत्योऽनुग्रहं प्रार्थयन्ते-त्वं हीति पञ्चभिः। हे प्रभो सर्वसमर्थ ! त्वं हि स्वयमनीहः आत्मकामत्वात् इच्छारहितोऽपि समीक्षया ईक्षणमात्रेण सतः संस्काररूपेण विद्यमानान् प्राणिनां तत्तत्स्वभावान् घोरत्वादीन् प्रतिबोधयन् गुणैः कृत्वा अस्य विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमान् ईहसे करोषि। तत्रासामर्थ्ये हेतुमाहुः—अकृतेति। अकृता अनादिसिद्धा या कालरूपा शक्तिस्तां धारयतीति तथा। ननु 'अनीहस्य जगत्करणे किं प्रयोजनम् ?' इत्यपेक्षायामाह-अमोघविहार इति। अमोघो जीवानां चतुर्विधपुरुषार्थहेतुर्विहारः सृष्ट्यादिलीला यस्य सः ॥ ४९ ॥ तस्यैव जगज्जन्मादिकर्तुस्ते तव त्रिलोक्याममूः शान्ताः सात्त्विकाः, अशान्ता राजसाः, मूढयोनयः तामसा उत अपि तन्वन्ते क्रीडार्थं विस्तार्यन्ते इति तनवो देहाः। तथापि तेषु शान्ता एव अधुना ते तव प्रियाः, नेतराः। हिशब्दोऽवधारणे। तत्र हेतुमाहुः- सतां धर्मपरीप्सया धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्त्तमानस्य कृतावतारस्येति। अत एव तान् अवितुं स्थातुः स्थितस्य ते तव तामसानां राजसानां च धर्मविरोधित्वान्न प्रियत्वमिति ज्ञेयम् ॥ ५० ॥ एवं भगवतो जगत्स्वामित्वमुक्त्वा, उपपत्तिपूर्वकं क्षमापयन्ति अपराध इति। यतः स्वप्रजाकृतोऽपराधो भर्त्रा स्वामिना सकृत् सोढव्य इयमेव लोकरीतिः, अतस्त्वमपि अस्यापराधं क्षन्तुमर्हसि, सर्वभर्तृत्वात्। "पालनार्थंगृहीतसत्त्वमूर्तेस्तव तु क्षमैव युक्ता, शिक्षादण्डस्य जातत्वात्" इत्याशयेन सम्बोधयन्ति-शान्तात्मन्निति। क्षमायां हेत्वन्तरमाहुः—त्वामीश्वरमजानत इति। अज्ञाने हेतुमाहुः—मूढस्येति। तामसत्वात्। 'सकृत् त्वामजानत' इत्युक्त्या 'यदि पुनर्ज्ञात्वाऽप्यपराधं कुर्यात्तदा पुनर्निःसन्दिग्धं सर्वथा दण्डनीय' इति सूचितम् ॥ ५१ ॥ 'त्वदनुग्रहं विना त्वस्य निस्तारो नास्ति' इति सूचयन् सम्बोधयन्ति-भगवन्निति। यस्मादयं पन्नगः प्राणांस्त्यजति, अतोऽनुगृह्णीष्व अनुग्रहं कृत्वैनं मुञ्चेत्यर्थः। किञ्च पराधीनतया साधुभिः शोच्यानां स्त्रीणां नोऽस्माकं पतिरूपः प्राणः जीवनहेतुः प्रकर्षेणाङ्गभङ्गपीडादिराहित्येन दीयताम् ॥ ५२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्वं हीति ॥ हे प्रभो ! त्वं हि अनीहः इच्छारहितोऽपि अकृता अनादिसिद्धा या कालरूपा शक्तिस्तां धरतीति प्राप्नोति तथा अमोघो जीवानां चतुर्विधपुरुषार्थहेतुर्विहारः सृष्ट्यादिलीला यस्य स त्वं समीक्षया ईक्षणमात्रेण सतः संस्काररूपेण विद्यमानान् प्राणिनां तत्तत्स्वभावान् घोरत्वादीन् प्रतिबोधयन् गुणैः कृत्वा अस्य विश्वस्य जन्मस्थितिसंयमान् ईहसे करोषि। अत्र त्वमस्य अस्माकमकृतेति स्वामिनां प्रथमव्याख्याने प्रथमपुरुष आर्षः ॥ ४९ ॥ तस्यैवेति ॥ त्रिलोक्यां ये शान्ताः सात्त्विकाः अशान्ता राजसाः

मूढयोनयस्तामसा उत अपि तस्य जगत्कर्तुः ते तवैव तनवः देहाः क्रोडोपस्कराः तथापि हिरवधारणे सतां धर्मपरीप्सया धर्मपरिपालनेच्छया ईहतः प्रवर्तमानस्य कृतावतारस्येति । शतार्थः । अत एव तान् अवितुं स्यातुः स्थितस्य तव अधुना शान्ता एव प्रियाः नेतरे ॥ ५० ॥ अपराध इति ॥ शान्तात्मन् ! यतः स्वप्रजाकृतः अपराधो भर्त्रा स्वामिना सकृत्सोढव्यः । अतः मूढस्य त्वामजानतप्रास्य त्वत्प्रियभूतशान्तलोकविप्रियव.ारित्वलक्षणमपराधं क्षन्तुमर्हसि सर्वभर्तृत्वात् ॥ ५१ ॥ अनुगृह्णीष्वेति ॥ हे भगवन् ! यस्मादयं पन्नगः प्राणांस्त्यजति अतोऽनुगृह्णीष्व अनुग्रहं कृत्वैनं मुञ्चेत्यर्थः । किञ्च । पराधीनतया साधुभिः शोच्यानां स्त्रीणां नोऽस्माकं पतिः पतिरूपः प्राणः जीवनहेतुः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सांप्रतं नमस्कारपूर्वकां स्तुतिमुपसंहरन्त्यः सत्यः स्वापेक्षितकृत्तं निवेदयंति त्वमित्यादि त्रिभिः हे प्रभो अनीहः प्राकृतचेष्टाहीनस्त्वं अस्यासंख्यकोटिब्रह्मांडरूपस्य जगतः उदास्त्यादीन् गुणैर्गुणाभिमानिसंकर्षणादित्रिभिः स्वाऽवतारैरकृत अकरोः हे कालशक्तिधृक् तेषां सत्वादित्रिगुणयुक्तानां क्षेत्रज्ञानां स्वभावान् सतः प्रलये संस्काररूपेण वर्त्तमानान् शांतयोरमूढाः प्रकृतिः समीक्षया बोधयन् अमोघः सत्यो विहारो जीवानां यथा कर्म न्यूनाऽधिकभावेन फलप्रदानरूपं क्रीडनं यस्य एवंभुतस्त्वं ईहसे नागशिरस्सु नृत्यं करोषि यद्वा ईहसे मत्स्याद्यवतारैर्लोके नानाविधचेष्टामसंख्यजनोद्धारणाय करोषि ॥ ४९ ॥ भर्त्रा प्रजा गलकेन सकृदेकवारं सोढव्यः क्षंतुं योग्यः अतो हे शांतात्मन् मूढस्य तमसा मूढत्वं प्राप्तस्य तस्मात्त्वां सर्वभर्त्तारमजानतोऽस्यापराधं ॥५०॥ पन्नगोऽसौ नागः तस्मिन्मृते साधुसम्यक्शोच्यानां शोकं कर्त्तुमर्हाणां नोऽस्माकं ॥ ५१ ॥ ते किंकरीणां तव दासीनां नः तवाज्ञया यदनुष्ठेयं कर्त्तव्यं तद्विधेहि कथयेत्यर्थः यत् यां तवाज्ञां प्रति अनुतिष्ठन् जनः ॥ ५२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवं तावद्दण्डानुमोदनेन नमस्कारैश्च भगवन्तं प्रसाद्येदानीं पित्रा पुत्रस्येवास्यापराधः करणकलेवरादिप्रदानेनाखिलजीवोज्जीविषया सर्वजगदुदयविभवलयलीलेन सर्वशरीरकेण स्वाश्रितस्य विपुलाराधवत्त्वेऽपि तदपराधमर्किचिद्गणयताऽऽश्रितहितं विधातुं कृतावतारेण त्वया सोढव्य इति क्षमापयन्त्यस्तावद्भर्त्तुः प्राणरक्षां कैंकर्यं च प्रार्थयन्त्य ऊचुस्त्वमिति पञ्चभिः ॥ त्वमिति ॥ हे प्रभो, त्वं हि स्वमेव, अकृतकालशक्तिधृक् अनादिभूतकालाख्यशक्तियुक्तः, अनीहः संकल्पेतरव्यापारशून्यः, अनेन 'अकल्पितश्रम एव सृजत्यसौ" इति वचनार्थः । गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः, अस्य जगतः, जन्म प्रादुर्भावश्च स्थितिः पालनं च सयमः संहारश्च तान्, कुर्वन्निति शेषः । तत्तत्स्वभावान्, सत्त्वादिगुणमयस्वभावान्, सतो जीवान्, समीक्षया अनुग्रहगर्भया दृष्ट्या, प्रतिबोधयन् दण्डेन प्रबुद्धान् कुर्वन्, अमोघविहारः अप्रतिहतजगद्व्यापाररूपविहारः सन्, ईहसे चेष्टसे। एवमपराधानवेक्षणेन केवलमुपकारैकशीलस्य तव कियानयमस्यापराध इति भावः । जन्मादीनीहसे इत्यनेन सर्वजीवान् प्रति तस्य पितृस्थानीयत्वं सूचितम् ॥ ४९ ॥ किं च ॥ तस्येति ॥ तस्यैव अस्य विश्वस्य जन्मादीनीहमानस्य, ते तव, त्रिलोक्यां, अमूः सर्वाः शान्ताः सात्त्विका उत अशान्ता राजसाः, मूढयोनयस्तामसाश्चेति त्रिप्रकाराः, तनवः शान्तादिप्रकृतिकप्रजारूपा देहाः, अनेन सर्वेषामस्य शरीरत्वं तस्य शरीरित्वं च प्रदर्शितम् । शरीरत्वात्सर्वा अपि तनवोऽनुग्राह्या एवेति भावः । ननु सर्वासामप्यनुग्राह्यत्वे जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्गस्तत्राहुः । यद्यप्येवं तथापीति शेषः । स्थातुः स्थितिकर्त्तुः, सतां धर्मपरीप्सया धर्मपालनेच्छया, ईहतः प्रवर्त्तमानस्य, कृतावतारस्येति यावत् । ते तव, अधुना शान्ताः तनवः, अवितुं रक्षितुं, सदा प्रिया इष्टाः, सन्ति हि । दण्डप्रदानात् प्राक् अशान्ततनुप्राया मूढतनुप्राया वा वयं त्वया दण्डप्रदानेन शान्ततनुतां यतो गमिता अतो नो हि प्रियतनुभाजो मत्वाऽनुगृहाण, न तन्मात्रेण जगद्व्यापारोच्छेदप्रसङ्ग इति भावः ॥ ५० ॥ दण्डविहितशिक्षोऽयमधुनोपशान्तोऽतः प्राक् कुमार्गगदण्डोपशान्तपुत्रवत् सोढव्य एवेत्याहुः ॥ अपराध इति ॥ भर्त्रा स्वामिना, स्वप्रजाकृतः अपराधः, सकृदेकवारं तु सोढव्यः । पुनरपराधे कृते स न सोढव्य इत्यभिप्रायेण सकृदित्युक्तम् । अज्ञानकृतमपराधं क्षमागुणेन निवर्त्तयन्तीति लोकपरिपाटीमभिप्रेत्योक्तार्थमेव भूयः प्राहुः । हे शान्तात्मन्, मूढस्य, त्वां अजानतः, अस्यास्मद्भर्त्तुरपराधमिति शेषः । क्षन्तुं, अर्हसि ॥ ५१ ॥ अपराधातिशयात्तदुक्तीरगणयन्तं भगवन्तं दीना भूत्वा भूयोऽपि तदेवाहुः ॥ अनुगृह्णीष्वेति ॥ हे भगवन्, पन्नगोऽयं सर्पः, प्राणान् त्यजति । अधुना त्यक्ष्यतीत्यर्थः । अतः अनुगृह्णीष्व । साधुशोच्यानां साधुभिर्दयनीयानां, स्त्रीणां नोऽस्माकं, पतिः पतिरूपः प्राणः, प्रदीयताम् । भवतेति शेषः ॥ ५२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तस्यैव ते इति : १०.१६.५०.

कीदृशयोरपि करयोः स्वत्वं सममेव वामदक्षिणयोः । शान्ताशान्तशरीरिन्न शान्तिमानपि तवैष तनुरूपः ॥ ७८ ॥

विश्वात्मान् भगवन्नसौ तव मतः किं कालियोऽरि सुहृन्किं वान्यो यदि तत्र ते समुचितस्तत्रैव दण्डक्रमः ।

कृष्णाद्विव्यपदेशतोऽरिरिति चेत्त्वत्काय एवार्थतः सिद्धरत्तद्प्रियदेहशिक्षणमितः प्राक् क्वापि नाश्राव्यहो ॥ ७९ ॥

अपराध इति । १०.१६.५१.

स्वसेवकानां सहतेऽपराधमेकं नृपो द्वावपि निर्घृणोऽपि । दयानिधिस्त्वं त्वसि तन्न युक्तः सकृत्कृतागस्यपि दण्डयोगः ॥ ८० ॥

किं नागाधिपवद्वपं यदुपते जातागसो वा न वायद्यद्यस्तदशङ्कमेव भण भोः को वाऽपराधोऽस्ति नः ।

अन्त्यश्चेदपराधलेशरहितास्त्वस्मासु कस्मात् समारब्धं दण्डनमेतदाद्यगुरुणा सौभाग्यभाग्यापहम् ॥ ८१ ॥

नानापराधनिधि -रप्यहि रीश्वरेण कृत्वा कृपां तदबलासु सपद्यमोचि ।

एवं यशोऽभनमजंय सर्वपूज्यपादाम्बुजानिशमनन्यधियाऽऽस्म दास्यः ॥ ८२ ॥

कृष्णप्रिया

हे भगवन् ! हे प्रभो ! यद्यपि आप अनीह-इच्छा रहित हो एवं कालशक्ति को धारण करने वाले हो फिर भी इस ब्रह्माण्ड की सत्वादि गुणों द्वारा उत्पत्ति-स्थिति-लय आदि करते हो; आप अमोघ सत्यलीला वाले हैं इसलिए आप उन-उन पदार्थों के जैसे-जैसे स्वभाव है वैसे-वैसे उन स्वभावों को जागृत कर, सत्पुरुषों का पूर्ण ध्यान करते हुए ही सब लीला करते हैं ॥ ४९ ॥ हे नाथ इस त्रिलोक के भीतर जो शान्त-सात्विक शरीर, अशान्त-राजस शरीर एवं मूढ़ योनि-तामस शरीर है, वे सब आपकी क्रीडा के उपकरण होने से आपका ही शरीर है । फिर भी जो शान्तस्वरूप हैं वे आपको प्रिय हैं क्योंकि सत्पुरुषों की और उनके धर्म की रक्षा करने की इच्छा से प्रवृत्ति करते हुए आपने उन्हीं की रक्षा के लिए अवतार धारण किया है ॥ ५० ॥ हे नाथ ! आप तो स्वामी हो, इसलिए दया करके स्वामी को एक बार अपनी प्रजा का अपराध सहना चाहिए । हे शान्तात्मन् भगवन् ! आपकी महिमा एवं स्वरूप से अनभिज्ञ एवं सर्पयोनि के कारण स्वभाव से मूढ ऐसे इस कालीय को क्षमा करनी चाहिए ॥ ५१ ॥ हे भगवन् इस कालीय नाग पर अनुग्रह कीजिए, यह नाग आसन्न मरणावस्था को प्राप्त कर रहा है, हम स्त्रीजन है, साधु पुरुषों के लिए हम दयापात्र है, हम पर कृपा कर हमारा पति ही प्राण है इसलिए हमें प्रति रूप प्राणों का दान करें यही प्रार्थना है ॥ ५२ ॥

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया । यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते [१]सर्वतोभयात् ॥ ५३ ॥

श्रीशुक[२] उवाच

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः[३] । मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४ ॥

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालियः शनकैर्हरिम् । कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥

[४]कालीय उवाच

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः । स्वभावो दुस्त्यजो नाथ [६]लोकानां यदसद्ग्रहः ॥ ५६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः- ते किङ्करीणाम् अनुष्ठेयं विधेहि यत् श्रध्दया अनुतिष्ठन् वै सर्वतः भयात् मुच्यते ॥ ५३ ॥ इत्थं नागपत्नीभिः समभिष्टुतः सः भगवान् अङ्घ्रिकुट्टनैः भग्नशिरसं मूर्छितं विससर्ज ॥ ५४ ॥ शनकैः प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् दीनः कृताञ्जलिः कालियः हरिं प्राह ॥ ५५ ॥ हे नाथ वयं उत्पत्त्या सह खलाः तामसाः दीर्घमन्यवः नाथ स्वभावः दुस्त्यजः लोकानां यत् असद्ग्रहः ॥ ५६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ग्रस्मदनुग्रहेऽन्येषां मृत्युरेवेति चेत्तन्नेत्याहुः । विधेहीति । त्वदाज्ञया प्राणिनो नाद्यामेति भावः ॥ ५३-५४-५५ ॥ यदसद्ग्रह इति । यतः स्वभावोऽसद्ग्रहरूपः । यद्वा यतः स्वभावादसति देहादौ ग्रहोऽभिमानः स दुस्त्यज इति ॥ ५६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भिन्नान्वयान् ते तव योः पुनरुक्तिर्न शंक्येति । अनुष्ठेयम् कर्तव्यम् । विधेहि आज्ञापय 'विपूर्वाधा करोत्यर्थे' इति व्याड्युक्तः । करोत्यर्थत्वेपि तमुल्लंघ्यान्यार्थोऽपि प्रकृतसंगतया भवतीति बोधार्थमयमर्थः । यत् भवदाज्ञातम् । सर्वतोभयात् संसारात् इति भाव इति । प्राणिहिंसापरित्यागेन सद्गतिं लप्स्यामह इति तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥ अंघ्रिकुट्टनैः पादमर्द्दनैः ॥ ५४ ॥ प्रतिलब्धेन्द्रिय-

१. त्वदाज्ञया-वीर. । २. स पुमान्भयाद्-वीर. विज. सर्वबन्धनात्-च. पु. टी ३. बादरायणिरुवाच-गो. प्रे. टी. । ४. नुष्टितः- इति क्वचित् । ५. अन्यत्र "कालीय उवाच" पाठो न दृश्यते । ६. भूतानां-वीर. विज. ।

प्राणः त्यक्तमूर्च्छः । कृतांजलिरिति सर्वांगव्यथावत्त्वाद् डवद्भूमौ निपत्य प्रणामासमर्थं इति ॥ ५५ ॥ असतां ग्रह इव बंधकारी मिथ्याहठरूप इति वा । स्वभावः स्वजातिधर्मः । स्वभावस्य दुराग्रहरूपत्वमसंभवं मत्वाऽर्थांतरमाह—यद्वेति । यो ग्रहो ब्रह्मणोऽहमित्याद्यभिनिवेशः । हे नाथ हे ईश्वर तमपि त्वं खंडयितुं समर्थं इति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तवाज्ञया यदनुष्ठेयं विधेयं तत् किङ्करीः प्रति समादिश यद्वा, तवाज्ञयैव तव किङ्करीणां सतीनामस्माकमनुष्ठेयं तवाज्ञयेत्यस्य परेणान्वयः । यद्यस्मात् तवाज्ञया अनुतिष्ठन् कर्म कुर्वन् यदनुष्ठेयमिति वा वै प्रसिद्धो सर्वतः सर्वस्मादपि सर्वत्रापि वा । यद्वा, सर्वतो भयात् मुच्यते इति भगवल्लोकप्राप्तिरेवाभिप्रेता ॥ ५३ ॥ स स्तुतिमात्रप्रीतः श्रीवृन्दावनस्वच्छन्दक्रीडारसिको वा यद्वा, परदुःखकातरो भगवान् श्रीकृष्णः अङ्घ्रिभ्यां कुट्टनैः प्रहारैर्भग्नशिरसम् अत एव मूर्च्छितं तत्याज ॥ ५४ ॥ निजदुर्मदादिदोषं हरतीति हरिं यतः कृष्णं साक्षात् भगवन्तं दीनश्चार्त्तः गताभिमानो वा आर्त्तत्वादेवाशक्त्या पत्नीवन्न दण्डवत् प्राणनमिति ज्ञेयं प्रकृष्टं दीनजनानां वक्तुमुचितमाहेति अतो भगवति निजदोषारोपणमिव यत्करिष्यते तदपि दैन्येनैव स्वस्य तदधीनतायामेव तात्पर्यात् ॥ ५५ ॥ तथैवाह—वयमिति चतुर्भिः । उत्पत्त्या सहजजातिस्वभावेनैवेत्यर्थः । नाथ, हे ईश्वरेति तमपि त्वं खण्डयितुं समर्थोऽसीति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तवाज्ञया यदनुष्ठेयम्, तवाज्ञयेत्यस्य परेण वान्वयः । त्वदाज्ञया चेतं ह्रदं परित्यज्य पूर्व्वस्थानं गतानामप्यस्माकं श्रीगरुड़ादिभ्यो भयं न भवितैवेत्याहुः—यदिति । यद्यस्मात् तवाज्ञयानुतिष्ठन् कर्म्म कुर्व्वन् यदनुष्ठेयमिति वा । वै प्रसिद्धौ, सर्व्वतः सर्व्वस्मादपि सर्व्वत्रापि वा, यद्वा, सर्व्वतो भयान्मुच्यत इति वैकुण्ठलोकप्राप्तिरेवाभिप्रेता ॥ ५३ ॥ स स्तुतिमात्रप्रीतः श्रीवृन्दावनस्वच्छन्दसुखक्रीडारसिको वा, यद्वा, परमदुःखकातरो भगवान् श्रीकृष्णोऽङ्घ्रिभ्यां कुट्टनैः प्रहारैर्भग्नशिरसम्, अतएव मूर्च्छितं तत्याज, यद्यपि स इत्यादिकं विसर्ज्जने हेतुर्विभाति, तथाप्येतद्विशेषणद्वयं तद्दुष्टतासम्यगगमबोधनार्थम् । किंवा, अग्रे वक्ष्यमाणकृपाविशेषार्थम् । तत्त्वार्थपक्षे तु भगवदानन्दनृत्यावेशेन भग्नशिरसमपि । यद्वा, शिर इव शिरः कामादिषु श्रेष्ठोऽभिमानः, हृतदुरभिमानमित्यर्थः, मूर्च्छनैः समुच्चयार्थत्वात् । यद्वा, लब्धानन्दमोहमित्यर्थः । नागपत्नीभिरित्यस्यायं भावः—निजदयालुत्वादिना तद्दुष्टत्वेऽप्यपि स्वतः प्रसन्नोऽपि तासां स्तुत्याधिकं सन्तुष्ट इति । प्रेमविशेषविस्तारणार्थं तदवतारे तदनुरूपभावा योषितः प्रति प्रायः प्रसादविशेषात् । एतच्च प्रथमस्कन्धमारभ्य पौरवेन्द्रपुरन्ध्र्यादिस्तुत्यादिना व्यक्तमेव । अतएवात्र सम्यक् अभितः स्तुत इत्युक्तम् ॥ ५४ ॥ विसर्ज्जनेनानन्द-मूर्च्छापगमात् प्रतिलब्धेन्द्रियादिवृत्तिरिति तत्त्वार्थः । निजदुर्म्मदादिदोषं हरतीति हरिम्, यतः कृष्णं साक्षाद्भगवन्तं कृपाविशेषेण मनोहरं परमानन्दप्रदं चेति तत्त्वार्थः । एवमन्यदप्यूह्यम् । दीनो गताभिमान आर्त्तो वा । दीनत्वेनैवाशक्त्या पत्नीवन्न प्रणनामेति ज्ञेयम् । प्रकृष्टमाहेति—भगवत्येव निजदोषावर्ज्जनात्, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि ॥ ५५ ॥ दीनत्वेनान्यत् स्वयं रचयित्वा वक्तुमशक्नुवन् स्वपत्नीभ्यः श्रुतार्थमेव, किंवा, तासां तादृशोक्त्यैव प्रसन्नं मत्वा तथैवाह—वयमिति चतुर्भिः । उत्पत्त्या सह जातिस्वभावेनैवेत्यर्थः । नाथ हे ईश्वर ! इति त्वद्विहित एव स्वभाव इति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अङ्घ्रिकुट्टनैः मूर्च्छितमित्यन्वयः ॥ ५४-५५ ॥ असद्ग्रहः दुष्टपिशाचतुल्यः ॥ ५६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

युष्मदनुग्रहोऽन्येषां मृत्युरेवेति चेत्तत्राहुः—विधेहि त्वदाज्ञया यत्तव किङ्करीणामस्माकमनुष्ठेयं तद्विधेहि अनुष्ठेयं विशिषन्ति स पुमान् कालियो यदनुष्ठेयं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् भयात्प्रकृतान्मृत्युभयात् मुच्यते यथाऽस्मत्तो लोका न भीताः स्युर्यथा चायं मृत्युभयान्मुच्येत तादृशमनुष्ठेयं कर्म आज्ञापयेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ एवं स भगवान् कृष्णो नागपत्नीभिरभिष्टुतः याचितश्चाङ्घ्रिकुट्टनैर्भग्नशिरसं मूर्च्छितं च कालियं विससर्ज ॥ ५४ ॥ ततः शनकैः प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन तथाभूतः कालियः कृच्छ्रादत्यायासात् श्वासं मुञ्चन् कृताञ्जलिः हरिं प्राह ॥ ५५ ॥ उक्तिमेवाह—वयमिति त्रिभिः । वयमुत्पत्त्या सह उत्पत्तिप्रभृति खलाः दुष्टास्तामसा दीर्घमन्युर्येषां तथाभूताश्च वयमिति तिर्यगभिप्रायेण निर्देशः । अत एव "वयं च तत्र भगवन्" इत्यनेनापौनरुक्त्यम्, हे नाथ ! भूतानां स्वभाव औत्पत्तिको गुणः दुस्त्यजः यद्यतः स्वभावः असद्ग्रहः दुष्टपिशाचतुल्यः अतो दुस्त्यजः ॥ ५६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अङ्घ्रिकुट्टनैः अङ्घ्रिमर्द्दनैः ॥ ५४-५५ ॥ यदसद्ग्रहो यो दुराग्रहः ॥ ५६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

भवत्वयं युष्मभ्यं पतिर्दत्त एव किन्तु यन्मया आदिश्यते तत्कर्तव्यमिति तत्र सम्भ्रममवश्यमेवेत्याहुः—विधेहीति। तच्चेतःस्थानादन्यत्र शीघ्रं यातेत्यग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥ ५३ ॥ अङ्घ्रिभ्यां कुट्टनैः प्रहारैर्भग्नशिरसं कालियं तत्याज तच्छीर्षेभ्यः सहसैवावप्लुत्य तदग्रे तस्थावित्यर्थः ॥ ५४ ॥ कृच्छ्रादतिकष्टादेव कथञ्चित् कृताञ्जलिः सर्वाङ्गव्यथावत्त्वात् नतु भूमौ दण्डवन्निपत्य प्रणामसमर्थ इति भावः ॥ ५५ ॥ यत् यतो असतो विरुद्धत्वेन ज्ञातस्यापि रागद्वेषादेर्ग्रहो ग्रहणं विदुषामपि किम्पुनर्मूढानामस्माकमिति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अनुग्रहे कृते युष्मद्भ्यो जनानां भयं भविष्यत्यत आहुः—यथा जनानाम् अस्मद्भ्यो भयं न भवेदस्माकं च कुशलं स्यात्तथा अनुष्ठेयं विधेहि ॥ ५३–५४ ॥ कृताञ्जलिरित्यनेन शरीरविशेषं प्रकटीकृत्वेति गम्यते त्वन्मायामोहिताः वयं खलाः स्वभावतन्त्राः त्वं तु सर्वेश्वरः सर्वकर्त्तातो निग्रहमनुग्रहं वा यथेच्छसि तथा कुर्वित्याह—वयमिति चतुर्भिः । यद्यतः असद्ग्रहः देहगेहादौ दुष्टः आग्रहः स्वभावो दुस्त्यजः ॥ ५५–५६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु दण्डोऽयं वः पतिः किन्तु मदाज्ञायां स्थेयमिति चेत्तत्र ससम्भ्रममवश्यमेवेत्याहुः—विधेहीति । तच्चेतः स्थानात् शीघ्रं यातेत्युपरिष्टात् स्पष्टीभावि ॥ ५३ ॥ विससर्जेति । सहसैव तन्मूर्द्धन्योऽवप्लुत्य तदग्रे तस्थावित्यर्थः ॥ ५४ ॥ कृच्छ्रात् कष्टादेव कृताञ्जलिः कुट्टनैरतिव्यथितगात्रत्वात् साष्टाङ्गं प्रणामं कर्त्तुमसमर्थं इति भावः ॥ ५५ ॥ उत्पत्त्या सह जातिस्वभावेनेत्यर्थः । यद् यस्मात् स्वभावादसतो रागद्वेषादेर्ग्रहो विदुषामपि भवति का कथा अस्माकं मूढानामिति भावः ॥ ५६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

युष्मत्पतिप्राणप्रदानमन्यमरणकारणमित्यत आहुः ॥ विधेहीति । ते तव किङ्करीणां दासीनां तवाज्ञयाऽनुष्ठेयं विधेहि यत्त्वदाज्ञप्तं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् यः पुमान्स भयान्मुच्यते । अयं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्भवेदित्येतद्दृष्टिविषयः पुमांश्चेतनमात्रं भयाद्विभयान्मुच्यत इत्यावृत्त्याऽन्वयोऽपि ज्ञेयः । इतः परं नाद्यादयं परान्नरादीनिति हृदयम् ॥ ५३ ॥ स भगवान्नागपत्नीभिरित्थं समभिष्टुतोऽङ्घ्रिकुट्टनैः अनेन गूढपदः पादप्रहारो वह्वरुन्तुद इति माधवस्तथा चकारेति ध्वन्यते । भग्नानि शिरांसि यस्य तं मूर्छितं विससर्ज । ततोऽहिपत्नीप्रियमञ्जुवाक्यं निशम्य तं निर्भयमाशु चक्रे । तथाऽहिनारीकृतमृदुभाषणेन न कस्य चित्तं मृदुतामुपैतीति रुक्मिणीशविजयोक्तेः ॥ ५४ ॥ शनकैः प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कृच्छ्रात्समुच्छ्वसन्दीनः कृष्णं हरिं कृताञ्जलिः सन्प्राह ॥ ५५ ॥ उत्पत्त्या सह खला आजनोनखलतोपेतास्तामसास्तमःप्रचुरा दीर्घकोपाश्च । स्वभावस्यानपायादित्याह ॥ भूतानां नाथेति । यद्यतोऽसद्ग्रहोऽसन् ग्रह आग्रहो दुराग्रहः स भूतानां स्वभाव इति वाऽन्वयः । दुस्त्यजो हातुमशक्यः ॥ ५६ ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु मुक्तिः सर्वेषामपेक्षितातः प्राणरक्षापेक्षया मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहुर्विधेहि ते किङ्करीणामिति वयं ह्यात्मनिवेदनेनैव तव दास्यो जाताः, तासां च स्वधर्मस्तवाज्ञापरिपालनं, यतस्ते किङ्करीभिस्तवाज्ञयैवानुष्ठेयं, ततः किमत आह यत् तवोक्तं श्रद्धयानुतिष्ठन् सर्वत एव भयान्मुच्यते, मुक्तिस्तु तवाज्ञाकरणेनापि भविष्यति, एवमेव मुक्तौ दास्यमात्मनिवेदनं व्यर्थं स्याद् भक्तिरसश्चाननुभूतः स्यात्, अतोयं देय इति प्रार्थना ॥ ५३ ॥ ततो यत् कृतवांस्तदाहेत्यमिति, एवम्प्रकारेण सम्यगभिष्टुतो मूर्छितमन्तःखिन्नं भग्नशिरसं बहिः खिन्नमङ्घ्रिकुट्टनैरेव विससर्ज, स्वयं जले जलक्रीडामेव कुर्वन् पादप्रहारेणैव तं स्त्रीणां स्थाने प्रक्षिप्तवानित्यर्थः ॥ ५४ ॥ ततो यज् जातं तदाह प्रतिलब्धेति प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन, प्राणग्रहणं वलार्थं मूर्छितं 'स्वार्थसम्पत्त्या' इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनं, अतः प्रतिलम्भः, कालीय इति प्रसिद्धिः सद्बुद्धिहेतुः शनकैरिति शीघ्रता सूचिता, हरिमिति निर्भयत्वं स्वस्य जीवनाशा च, अतो वाक्यान् निःश्वासानां कृच्छ्रात् कष्टेन सम्यगुच्छ्वसन् यथाशास्त्रं देवरूपं गृहीत्वा कृताञ्जलिः सन्नाह ॥ ५५ ॥ स्वापराधं निवेदयति कृपार्थं वयं स्वभावत एव खलाः परोपद्रवकारिणो दुष्टस्वभावाः, तदुत्पत्त्यैव सह, उत्पत्तिशिष्टोयं दोषो न त्वागन्तुकः, अतः शिक्षा व्यर्था, अनिवर्त्यदोषत्वात्, सर्वथा मारणपक्ष उत्पादनमेव व्यर्थं स्यात्, तथापि शिक्षया कश्चन गुणो भविष्यतीत्याशङ्क्याह तामसा इति तामसास्तु ज्ञानरहिताः, अनुसन्धाने विद्यमाने हि शिक्षणमुपकाराय भवति, तामसानां तु नानुसन्धानं किञ्च प्रत्युपकार एव भवति यतो वयं दीर्घमन्यवः, अनेनेदं ज्ञापितं मन्मारणेपि मदीयोन्योपकरिष्यति त्वत्सेवकेभ्यः पश्चाद्वा तस्मादप्रतीकार्यदुष्टा वयमिति ॥ ५६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

प्रतिलब्धेत्यत्र मूर्च्छितस्यार्धसम्पत्त्येति 'मुग्धेर्धसम्पत्तिः परिशेषा'दिति तार्तीयीकसूत्रात् तथेत्यर्थः, शीघ्रता सूचितेति यद्यपि शनकैः पदार्थो मन्थरता तथापि घटिकानन्तरं स्तुतिकृतौ बलाधिक्यस्य जातत्वाच्छनकैः स्तुतिकरणं न स्यात् तथा चायं शनकैः करोतीतीन्द्रियप्राणप्रतिलम्भाव्यवहितोत्तरकालीनत्वं स्तुतौ प्राप्यत इति शनकैः पदेनैव स्तुतिकरणे शीघ्रता सूचितेत्यर्थः, यथाज्ञात्मित्यादि तु कृताञ्जलिपदतात्पर्यमुक्तम् ॥ ५५ ॥ वयं खला इत्यत्र तदिति दुष्टस्वभावत्वं त्वत्सेवकेभ्य इति चतुर्थी ॥ ५६ ।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

विधेहि त इत्यत्र आत्मनिवेदनेनेति आत्मनो निवेदनं दुःखितत्वज्ञापनं तेनेत्यर्थः ॥ ५३ ॥ वयं खला इत्यत्र तदिति खलत्वमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'युष्मदनुग्रहेऽन्येषामनर्थ एव स्यात्' इत्याशङ्क्य 'इदानीं प्रभावस्य ज्ञातत्वाद्भवदाज्ञानुसारेणैव वर्तिष्याम' इत्याहुः—विधेहीति। ते तव किङ्करीणामाज्ञाकरीणामस्माकं यदनुष्ठेयं कर्तव्यं तद्विधेहि आज्ञापय। यत् यस्मात्तवाज्ञया श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् कर्माणि कुर्वन्नेव जनः सर्वतो भयं यस्मिंस्तस्मात् सर्वतोभयात् संसाराद्विमुच्यते ॥ ५३ ॥ स भगवान् कृष्णो नागपत्नीभिरित्थं समभिष्टुतः सम्यक् स्तुतिनमस्कारादिपूर्वकं प्रार्थितः अङ्घ्रिकुट्टनैः पादप्रहारैर्भग्नानि शिरांसि यस्य तम्, अत एव मूर्च्छितं कालियं विससर्ज तत्याज, तच्छिरोभ्योऽवप्लुत्याग्रे तस्थावित्यर्थः ॥ ५४ ॥ ततश्च शनकैः प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन सः, तथापि कृच्छ्रात् कष्टात् स उच्छ्वसन् ऊर्ध्वं श्वासान् विमुञ्चन् अत एव दीनः, कृतः संयोजितोऽञ्जलिर्येन स कालियः कृष्णं सदानन्दरूपं हरिं सर्वदुःखहारकं प्राहेत्यन्वयः। तस्य सर्पत्वेऽपि स्वेच्छयाऽन्यरूपधारणे सामर्थ्यमस्तीति ज्ञेयम्, कृताञ्जलित्वोक्तेः। तत्पत्नीष्वपि तज्ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥ कालियोऽपि "सर्वं जगत् त्वत्कर्तृकत्वेन त्वदधीनमेव, वयमपि तदन्तःपतिता एव, अतस्त्वन्नियन्त्रिता एव सर्वं कुर्मः। नात्रास्माकं कश्चिदपराधः। तथापि तवेश्वरत्वेन कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वाद्यथा मन्यसे तथा कुरु" इत्याह—वयमिति चतुर्भिः। वयं सहोत्पत्त्या जन्मनैव खलाः परोद्वेजकाः। तत्र हेतुमाह—दीर्घमन्यव इति। दीर्घो महान् मन्युः क्रोधो येषां तथाभूताः। तत्र हेतुमाह—तामसा इति। 'स्वामिनस्तवानुग्रह एव युक्त' इति सूचयन् सम्बोधयति—नाथेति। अतः स्वभावः सहजो धर्मो दुस्त्यजः। न केवलं ममैव एवम्, किन्तु सर्वेषामपि लोकानां प्राणिनाम्। यत् यस्मात् स्वभावात् असन् असमीचीनो ग्रहः अहंताममतारूपो देहादावाग्रहो भवति ॥ ५६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

युष्मदनुग्रहेऽन्येषां मृत्युरिति चेत्तत्राहुः—विधेहीति। ते तव किङ्करीणामाज्ञाकरीणामस्माकं यदनुष्ठेयं कर्तव्यं तद्विधेहि आज्ञापय। त्वदाज्ञया प्राणिनो नाद्याम इत्याशयः। यत् यस्मात्तवाज्ञया श्रद्धयाऽनुतिष्ठन् कर्माणि कुर्वन्नेव जनः सर्वतो भयं यस्मिंस्तस्मात् सर्वतोभयात्संसाराद्विमुच्यते ॥ ५३ ॥ इत्थमिति ॥ स भगवान् नागपत्नीभिरित्थं समभिष्टुतः संस्तुतिपूर्वकं प्रार्थितः अङ्घ्रिकुट्टनैः पादप्रहारैर्भग्नानि शिरांसि यस्य तमत एव मूर्च्छितं कालियं विससर्ज तत्याज। तच्छिरोभ्योऽवप्लुत्याग्रे तस्थावित्यर्थः ॥ ५४ ॥ प्रतिलब्धेति ॥ शनकैः प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन सः तथापि कृच्छ्रात् कष्टात् समुच्छ्वसन् ऊर्ध्वंश्वासान् विमुञ्चन् अत एव दीनः कृतः संयोजितोऽञ्जलिर्येन। यद्वा। कृच्छ्रादेव कृतोऽञ्जलिर्येन सर्वाङ्गव्यथावत्त्वान्न दण्डवत्प्रणन्तुं शक्तः स कालियः कृष्णं प्राह स्म ॥ ५५ ॥ वयमिति ॥ हे नाथ ! वयं सहोत्पत्त्या जन्मनैव खलाः परोद्वेजकाः तामसाः दीर्घमन्यवः महाक्रोधाः अतः स्वभावः सहजो धर्मो दुस्त्यजः लोकानां प्राणिनां यत् यस्मात् स्वभावात् असन् असमीचीनो ग्रहः अहंताममतारूपो देहादावाग्रहो भवति ॥ ५६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अंघ्रिकुट्टनैर्भग्नशिरसं विससर्ज्ज मुमोच ॥ ५३ ॥ शनकैः प्राह ॥ ५४ ॥ अतोऽस्माभिर्दुस्त्यजः लोकानां जनानां यस्मात् स्वभावादसति देहादावेकग्रहो बंधनमस्तीति यदसद्ग्रहः ॥ ५५ ॥ हे धातः गुणैः सत्वादिभिर्विविधतया सर्ज्जनमुत्पत्तिर्यस्य तत् अतः नानाविधाः स्वभावादयो यस्य तत् वीर्योजसी शरीरेंद्रियसामर्थ्ये योनिबीजे मातृपितरौ आशयाकृती अंतःकरणदेहौ ॥ ५६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

युष्मदनुग्रहेऽन्येषां मृत्युरेवेति चेत्तत्राहुः ॥ विधेहीति ॥ ते तव, किंकरीणामस्माकं, तव आज्ञया, अनुष्ठेयं तत्, विधेहि आज्ञापय। यद्यत्तवानुष्ठेयमित्यर्थः। तत् श्रद्धया, अनुतिष्ठन्नाचरन्नयं कालिय इति शेषः। सर्वतः सर्वस्मात्, भयात्, मुच्यते वै।

यथा लोका अस्मत्तः भीताः न स्युः, यथा चायं मृत्युभयात् मुच्येत तादृशमनुष्ठेयं आज्ञापयेत्यर्थः ॥ ५३॥ इत्थमिति ॥ इत्थमेवं, भगवान् स कृष्णः, नागपत्नीभिः समभिष्टुतः प्रार्थितः सन्, अङ्घ्रिकुट्टनैः पार्ष्णिप्रहारैः, भग्नशिरसं, मूर्च्छितं च नागं विससर्ज ॥ ५४ ॥ प्रतीति ॥ ततः शनकैः, प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन तथाभूतः कालियः, कृच्छ्रात्, समुच्छ्वसन् श्वासं मुञ्चन् दीनो दीनतां प्राप्तः, कृताञ्जलिः सन्, कृष्णं हरिं सांप्रतं कृष्णावतारमितोऽग्रे हयंवतारं धरिष्यन्तमेतमेव भगवन्तमित्यर्थः। प्राह ॥ ५५ ॥ तदुक्तिमेवाह त्रिभिः ॥ वयमिति ॥ हे कृष्ण, वयं उत्पत्त्या सह, उत्पत्तित आरभ्येनैवेत्यर्थः खला दुष्टाः, तामसास्तमोगुणप्रधाना, दीर्घो मन्युः क्रोधो येषां तथाभूताः, वयमिति तिर्यग्जात्यभिप्रायेण निर्देशः । अत एव 'वयं च तत्र भगवन्' इत्यनेन वक्ष्यमाणेन सह न पौनरुक्त्यम् । हे नाथ, लोकानां स्वभावः दुस्त्यजः । यद्यतो दुष्टस्वभावात्, असति देहादौ ग्रहः आग्रहः, उत्पद्यतेऽतः स दुस्त्यज इत्यर्थः । यद्वा । हे नाथ लोकानां भूतानां, स्वभावः उत्पत्त्या सह संभूतो गुणत्वेन स्वीकृतः स्वभावः, दुस्त्यजः। यद्यतः, स स्वभावः, असद्ग्रहः दुष्टपिशाचतुल्यः, यथा वलितः पिशाचोऽनेकोपायैर्दुस्त्यजस्तद्वत् स्वभावोऽपीति भावः ॥ ५६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इत्थमिति ; १०.१६.५४.

भर्तृक्षेमधिया स्तुतोऽप्यहमिह स्त्रीभिर्न चेज्जीवयाम्येनं तद्भविता दयास्पदपदे नूनः कलङ्काङ्कुरः ।
इत्यालोच्य दयानिधिः स भगवांस्तत्प्राणदानोत्सुकश्चक्रे प्राणभृदङ्घ्रिणाऽपसरणं तस्येति युक्तिक्षमम् ॥ ८३ ॥

प्रतिलब्धेति : १०.१६.५५.

सामान्योदकसङ्गमादपि नरस्तप्तः स्वतापोत्करं तत्कालं ह्यवधूय चारु लभते शान्तिं सुखावस्थितिम् ।
या नाम्नैव च तापपापहृदसौ गङ्गाऽपि यं सर्वदा स्तौत्युत्तापहृतौ तदङ्घ्रियुगहिस्तादृक् सुखीति क्षमम् ॥ ८४॥

वय खला इति ; १०.१६.५६.

तमःस्वभावान्वयि मत्प्रवर्तनं विभो न तद्दूषयितुं तव क्षमम् ।
यतः सदा श्रौतपदैस्त्वयैव हि तस्मिन् गुणत्वं समुदोपपादितम् ॥ ८५ ॥

कृष्णप्रिया

हे भगवन् हम तो आप की सेविकायें हैं, इस लिए जो चाहिए सो आज्ञा करें, हम आप जैसी आज्ञा करेंगे वैसा ही पालन करेंगे। नाथ ! आप की आज्ञा के अनुसार जो जीव चलता है वे सर्व प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है ॥ ५३ ॥ श्रीशुकाचार्यजीने कहा राजन् ! नागपत्नियों की स्तुति से प्रसन्न हुए पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने भग्नमस्तक एवं मूर्च्छित कालीय नाग को अपने चरणों की ठोकर से दूर फेंक दिया ॥ ५४ ॥ जब भगवानने कालीय नाग को पाद प्रहार से कालीय की पत्नियों के पास फेंक दिया तब कालीय को भगवान के पादस्पर्श से गये हुए आधे प्राण इन्द्रियाँ आदि पुनः मिले, अब चरण स्पर्श की महिमा से वह देव बना फिर धीरे धीरे कण्ठ से उच्छ्वास लेता हुआ कृताञ्जलि होकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी को निवेदन करने लगा ॥ ५५ ॥ कालीयने कहा—हे नाथ ! हम तो जन्म से ही खल हैं, स्वभाव से तमोगुणी हैं, क्रोध से भरे हुये हैं नाथ ! स्वभाव का परिवर्तन सर्वथा कठिन है, क्योंकि लोगों का जो मिथ्या आग्रह है वह स्वभावजन्य है ॥ ५६ ॥

त्वया सृष्टमिदं [1]विश्वं धातुर्गुणविसर्जनम् । नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥ ५७ ॥
वयं च तत्र भगवन् सर्पा [2]जात्युरुमन्यवः । कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः [3]स्वयम् ॥ ५८ ॥
भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः । अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥ ५९ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः । नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
[4]स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो [5]गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥ ६० ॥

---

१. सर्वं धातुर्गुण-वीर.; विश्वं धातुर्गुण विज. । २. जात्योरु-वीर. । ३ मोहितास्त्वया-वीर ; मोहिताः प्रभो-विज ४ स्वजात्य-विज. । ५ दाराद्भुज्यतां गोनृभिर्नदी-वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—धातः गुणविसर्जनं नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति इदं विश्वं त्वया सृष्टम् ॥ ५७ ॥ भगवन् वयं सर्पाः च तत्र जात्युरुमन्यवः स्वयं मोहिताः दुस्त्यजां त्वन्मायां कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥ तत्र सर्वज्ञः जगदीश्वरः भवान् हि कारणम् नः अनुग्रहं निग्रहं वा (यत्) मन्यसे तद् विधेहि ॥ ५९ ॥ इत्याकर्ण्य कार्यमानुषः भगवान् वचः प्राह सर्प त्वया अत्र न स्थेय स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यः समुद्रं याहि माचिरम् गोनृभिः नदी भुज्यताम् ॥ ६० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनम् । तत्रापि नानास्वभावादयो यस्य तत् ॥ ५७ ॥ जात्या जन्मनैवोरुमन्युर्येषां ते वयं स्वयं कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥ हि यस्मात्तत्र त्वन्मायात्यागे भवानेव कारणमित्यनुग्रहं विधेहि ममाज्ञया खादंतीति ईश्वरत्वा-न्निग्रहं वा विधेहीति ॥ ५९ ॥ यतो गोभिर्नृभिश्च नदी भुज्यत इति ॥ ६० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्रापि गुणविसर्गत्वेपि । नानास्वभावा अग्नेरूर्ध्वज्वलनम् वायोस्तिर्यग्गमनमित्येवमाकाराः । नानावीर्याणि मनुष्ये-ष्वप्यन्यदित्येवम् । ओजोऽवष्टंभः, बीजं शुक्लादि, आशयोऽभिप्रायः, आकृतिराकार एते नानाविधा यत्र संति तदि-त्यर्थः ॥ ५७ ॥ तत्र विश्वस्मिन् । त्वन्मायाम् क्रोधादिरूपेण परिणताम् ॥ ५८ ॥ यन्मन्यसे तद्विधेहीति संबधः । अनुग्रहम् प्रसादम् । निग्रहम् दंडम् । सर्वं निजमायावैभवादिकमस्माकं दैन्यादिकञ्च जानासीति सर्वज्ञ इत्यनुग्रहे हेतुः । जगदीश्वर इति, परमस्वतंत्र इति च निग्रहे । तथा च विष्णुपुराणे —'यथाहं भवता सृष्टम्' इत्यादि । यद्वा —सर्वज्ञ इति, निग्रहानुग्रहयोः कारणं वेत्सि, जगदीश्वर इति तयोरेकं विधेहीति । सत्यपि निग्रहकारणेऽनुग्रहमपि कर्त्तुं समर्थोसीति भावः ॥ ५९ ॥ कार्यमानुषो देवकार्यार्थं धृतनरदेहः । अत्र यमुनाह्रदे । सार्द्धेनान्वयः । कार्यं जगद्धितं तदर्थं स्वेन मानुषरूपेण प्रकटो यो भगवान् । यद्वा – कार्यं क्रीडा लीला तयैव मानुषो न तु तद्वद्भौतिकदेहविशेषत्वेनेत्यर्थः । यद्वा—कार्या निजप्रेमभक्तिविस्तरणादिना संपाद्या मानुषा येन मानुषेष्ववतारेण तेषामेव प्राधान्यात् । अतस्तस्य मूलस्थाने श्रीवृंदावने सर्पाणां स्थितिरनुचितेति भावः । यद्वा–काद्ब्रह्मणोऽप्यार्य्याः पूज्यतमा मानुषाः श्रीनंदादयो यस्य सः एवं तेषां सुखार्थमिति भावः । हे सर्पेति तत्र स्थित्ययोग्यत्वं याने समर्थत्वं चाह ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदेवाभिव्यञ्जयति–त्वयेति सार्द्धेन । ननु ब्रह्मणा सृज्यते नतु मयेत्याशङ्क्याह, हे धातरिति त्वमेव तद्रूपेण सृजसीति भावः । स्वभावः शान्तत्वादिः वीर्यौजसोर्देहेन्द्रियशक्तिभेदेन भेदः योनिबीजयोर्मातापितृभेदेन आशयो वासना आकृतिः रूपम् ॥५७॥ भगवन् ! सर्वेश्वरेति स्वकर्मणा एव सर्पा इति पक्षो निरस्तः कर्मणामपीश्वरत्वात् तस्मादस्वातन्त्र्येणैवामपराधो जात इति भावः । अतः कथमिति अन्यैरपि दुस्त्यजाम् ॥ ५८ ॥ स्वयं त्यागशक्तौ हेतुः भवानिति त्वया हेतुना एव सा त्याज्या स्यादित्यर्थः । मन्यसे यमिच्छसि तमेव विधेहीत्यर्थः । तत्र सर्वं निजमायावैभवादिकमस्माकं च दैन्यादिकं जानासीति सर्वज्ञः इत्यनुग्रहे हेतुः जगदीश्वरः परमस्वतन्त्र इति च निग्रहे तथा च विष्णुपुराणे "यथाहं भवता सृष्टः" इत्यादि अन्यत्तः । यद्वा, सर्वज्ञ इत्यनुग्रहनिग्रहयोः कारणं वेत्सि जगदीश्वर इति तयोरेकं विधेहीति वाक्यार्थः तत्र च जगदीश्वर इति सत्यपि निग्रहकारणे अनुग्रहमपि कर्त्तुं शक्नोषीति भावः ॥ ५९ ॥ इत्याकर्ण्येत्यर्द्धकम् । मया यदादिश्यते तदनेनावश्यं कार्य्यमिति तदुक्तयभिप्रायं ज्ञात्वेत्यर्थः, । कार्य्यं जगद्धितं तदर्थं स्वेन मानुषस्वरूपेण प्रकटो यो भगवान् । यद्वा, कार्यं क्रीडामनुष्यलीलयैव मानुषः । ननु, तद्वद्भौतिकदेहविशेषत्वेनेत्यर्थः । यद्वा, कार्य्याः निजप्रेमभक्तिविस्तारणादिना सम्पाद्या मानुषा येन मानुषेष्ववतारेण तेषामेव प्राधान्यात् अतस्तस्य मूलस्थाने श्रीवृन्दावने सर्पाणां स्थितिरनुचितेति भावः । यद्वा, कात् ब्रह्मणाऽपि आर्याः पूज्यतमा मानुषाः श्रीनन्दादयो यस्य सः एवं तेषां सुखार्थमिति भावः । हे सर्पेति तत्र स्थित्ययोग्यतां याने च शक्ति दर्शयति अत एव स्वस्य ज्ञात्यादिभिर्युक्त इति स्वशब्देन तेषां तादृशदुर्विषमयत्वं तदधीनत्वं च सूचितम् ॥ ६० ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तदेवाभिव्यञ्जयति त्वयेति सार्द्धेन । ननु श्रीब्रह्मणा सृज्यते, न तु मयेत्याशंक्याह–हे धातरिति । त्वमेव तद्रूपेण सृजसीति स्वभावः शान्तत्वादिः, वीर्य्यौजसोर्देहेन्द्रियशक्तिभेदेन भेदः, योनिबीजयोश्च मातृत्व-पितृत्वभेदेन, आशयो वासना, आकृतिः रूपम् ॥ ५७ ॥ भगवन् हे सर्व्वेश्वर ! इति स्वकर्म्मणैव सर्पा इति पक्षो निरस्तः–कर्म्मणामपीश्वरत्वात् । यद्वा, हे परमस्वतन्त्र ! इति कर्म्मादिनामपि त्वदधीनत्वान्निजेच्छामात्रेणैव वयमीदृशा विहिताः, तत्र किं वक्तुं वराका वयं शक्नुम इति भावः । यद्वा, हे अनुलङ्घ्यशासन ! इति, अत उरुमन्युमयीं त्वन्मायां कथं त्यक्तुं शक्नुम इत्यर्थः । स्वयमिति यदि तां त्वया त्यज्यामहे, तदैव त्यागः सम्भवतीत्यर्थः । ननु, तत्त्यागाय मद्भजनोपायश्चिन्त्यताम्, तत्राह–मोहितास्त्वन्माययैव, यद्वा, स्वयं तयैव मोहिता इति ॥५८॥

तेदेवाभिव्यञ्जयति–भवानिति । कारणमिति त्वया हेतुनैव सा त्याज्या स्यादिति भावः । मन्यसे यमिच्छसि, तमेव विधेहीत्यर्थः। तत्र सर्व्वं निजमायातैर्भवादिकमस्माकञ्च दैन्यादिकं जानातीति सर्व्वज्ञ इत्यनुग्रहे हेतुः, जगदीश्वरः परमस्वतंत्र इति च निग्रहे। तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।७।७०) –'यथाहं भवता सृष्टः' इत्यादि । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् । यद्वा, अतस्तत्र महदपराधेऽपि भवानेव कारणम्, लज्जाभयादिनापराध इति व्यक्तं न निर्दिष्टम्, तच्च त्वमेव जानासीत्याह–सर्व्वज्ञ इति । किंवा, किमन्यद्वक्तव्यम्, सर्व्वं त्वमेव जानासीत्यर्थः। जगतामीश्वरः, अतोऽस्मास्वपि निग्रहं कर्त्तुमर्हसीति भावः। अतो यं मन्यसे कर्त्तुमिच्छसि, तदिति तम्, यद्वा, यदन्यद्वा मन्यसे, तदेवास्मान् प्रति विधेहि, तत्रास्माकमिच्छया किं भवेदिति भावः ॥ ५९ ॥ इत्याकर्ण्येति–मया यदादिश्यते तदनेनावश्यं कार्य्यमिति तदभिप्रायं ज्ञात्वेत्यर्थः। यद्वा, इति ईदृशं दैन्याद्यनुगृहीतं वचः कार्य्यं जगद्धितं तदर्थं मानुषरूपेण प्रकटो यो भगवान्, यद्वा, कार्य्या निजप्रेमभक्तिविस्तारणेन सम्पाद्या मानुषा येन, मनुष्यत्वं हि श्रीभगवत्प्रेमभक्त्यैव सम्पद्यते, अतएव देवानामपि तद्दुर्लभं प्रार्थ्यञ्च पूर्व्वं प्रायः प्रेमभक्त्यभावे न मनुष्यत्वं न वृत्तमिव, अधुना श्रीभगवता तत् सम्पाद्यमित्यर्थः। अतस्तत्स मूलस्थाने श्रीवृन्दावने सर्पाणां स्थितिरनुचितेति भावः। यद्वा, कात् ब्रह्मणोऽपि आर्य्याः पूज्यतमा मानुषाः श्रीनन्दादयो यस्य सः। एवं तेषां सुखार्थमिति भावः। हे सर्प ! इति तत्र स्थित्ययोग्यतां याने शक्तिञ्च दर्शयति । अतएव स्वस्य ज्ञात्यादिभिर्युक्त इति स्व-शब्देन तेषां तादृशं दुर्व्विषमयत्वं तदधीनत्वञ्च सूचितम्। त्वमिति पाठेऽपि तस्य महादुष्टत्वादिसूचनेन स एवार्थोऽभिप्रेतः। नदी प्रवाहवती श्रीयमुनेति त्वदवस्थित्या लोकानामपकारः स्यादिति भावः ॥ ६०–६१ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

वीर्यं बलम् ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं योनिरुत्पत्तिक्षेत्रम् ॥ ५७–६७ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्वयेति । हे धातः ! गुणैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनमिदं तिरश्चां जालं त्वया सृष्टं, कथम्भूतम् ? नाना स्वभावादयो यस्य तथाभूतं तत्र वीर्यं बलमोजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं योनिरुत्पत्तिक्षेत्रं बीजं कारणमाकृतिः संस्थानम् ॥५७॥ ततः किमत आह वयञ्चेति । हे भगवन् ! तत्रापि तिरश्चां मध्येऽपि वयं सर्पाः जात्या जन्मनैवोरुमन्युर्येषां तथाभूताः दुस्त्यजां त्वदनुग्रहमन्तरेण दुस्त्यजां नापि त्यक्तुमशक्यां त्वन्मायामोहिताः वयं कथं त्वन्मायां मायागुणरजःकार्यं क्रोधं कथं त्यजामः ? ॥ ५८ ॥ हि यस्मात्तत्र त्वन्माया-त्यागे भवानेव कारणं त्वन्तु सर्वज्ञः निग्रहानुग्रहोचितज्ञानवान् जगदीश्वरः तदुचितसामर्थ्ययुक्तः अतस्त्वमनुग्रहं निग्रहं वा यन्मन्यसे त्वमेवं कुर्विति नियन्तुं चाहं च प्रभुरिति भावः। तत्त्वदभिमतं नोऽस्मभ्यं विधेह्याज्ञापय ॥ ५९ ॥ कार्यमानुषः दुष्कृद्दमनसाधुपरि-त्राणात्मककार्यार्थं मानुषः स्वेच्छोपात्तमनुष्याकृतिरित्थं कालियस्य वच आकर्ण्य प्राह, उक्तमेवाह–नेति चतुर्भिः। हे सर्प ! अत्र इह त्वया न स्थेयं किन्तु स्वज्ञात्यादिभिः सह माचिरमचिरात् समुद्रं याहि नदी यमुना गोनृभिश्च भुज्यतां पीयताम् ॥ ६० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

धातुर्हिरण्यगर्भस्य सकाशात् गुणभूतं सर्जनं सृष्टिरस्य जगतः प्राधान्येन विष्णोरेषा सृष्टिः "विष्णुः प्रधानतः स्रष्टा गुण-स्रष्टा चतुर्मुख इति वचनात् नानास्वभावा अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमित्यादिनानाविधाः स्वभावाः वीर्याणि पराक्रमादीनि ओजोऽवष्टम्भः बीजं शुक्रादि आशयोऽभिप्रायः एषामाकृतिः स्वरूपं यस्य तत् ॥ ५७–५९ ॥ देवकार्यार्थं मानुषविडम्बः ॥ ६० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कार्यं क्रीडा मनुष्यलीला तयैव मानुषो न तु तद्वद्भौतिकदेहविशेषत्वेनापीत्यर्थः ॥ ६०–६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवं कालिये निःसारिते सद्य एव यमुना शुद्धासीदित्याह–तदेव सेत्यादि। सा यमुना तदैवामृतजलाभवत्। कुतः ? भगवतः श्रीकृष्णस्यानुग्रहात् । भगवत्स्वरूपमाह–क्रीडामनुजरूपिणः। क्रिडा लीला च मनुजरूपः नराकृतिश्च ते अस्य स्त इति नित्ययोगे इन्, नित्यलीलो नित्यमनुजाकृतिश्च यस्तस्येत्यर्थः–'नराकृति परं ब्रह्म' इत्याद्युक्तेः। नराकृतित्वम् द्विभुजत्वम्। द्वन्द्वसमासादिवद्के वलयीत्यादिवत् नित्ययोगेऽतिशायने संसर्गे च विवक्षायां मत्वादयो भवन्त्यमी' ति दुर्गः ॥ ५८ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे षोडशोऽध्यायः

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

यतो गुणैर्विविधं सर्जनं सृष्टिर्यत्र तत् विविधत्वमाह–नानास्वभावादयो यस्य तत् ॥५७॥ जात्या जन्मनैव बहुकोपाः ॥५८॥ तत्र मायात्यागे ॥ ५९ ॥ कार्येषु ब्रह्मरुद्रादिदुष्करेष्वपि कालियनिग्रहादिकर्मसु मानुषः एव न तु तत्तत्कृत्यसमुचितचक्रपाण्यादिरित्यर्थः। यद्वा, कार्यं क्रीडा लीला तेनैव मानुषः लीलामयमानुषस्वरूप इत्यर्थः। यद्वा, कस्य ब्रह्मणोऽप्यार्यश्चासौ मानुषश्चेति सः। यद्वा, कार्य्यं मानुषस्यैव यस्य सः, यतो गोभिर्नृभिश्च नदी भुज्यते तटप्रवाहगतघासपत्रफलजलानां भोगौचित्यात् ॥ ६० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे धातः ! इदं विश्वं त्वयैव सृष्टम् कथम्भूतं सत्त्वादिभिः स्वशक्तिगुणैः विविधतया सृज्यते इति गुणविसर्जनं तत्रापि नाना स्वभावादयो यस्य तत् ॥ ५७–५८ ॥ यन्मन्यसे तन्नोऽस्मभ्यं विधेहि ॥ ५९ ॥ कार्यार्थं मनुष्यलोको यस्य सः भूभारहरणाद्यर्थं मनुष्यलोकेऽवतीर्ण इत्यर्थः ॥ ६०–६६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गुणैस्त्वदधीनैर्विविधतया सृज्यत इति गुणविसर्जनमिदं विश्वं तत्रापि नानास्वभावादयो यस्य तत्; स्वभावः शान्तत्वादिः वीर्यौजसोः शरीरेन्द्रियशक्तिभेदाद्भेदः योनिबीजयोस्तु मातापितृभेदात् आशयो वासना आकृतिः रूपम् ॥ ५७ ॥ जात्या जन्मनैवोरुमहान् मन्युर्येषां ते स्वयम् कथम् त्यजामः ॥ ५८ ॥ तत्र मायात्यागे ॥ ५९ ॥ इत्याकर्ण्येत्यर्द्धकम् । मदुक्तमयं करिष्यत्येवेति तदुक्तिभावं विज्ञातेत्यर्थः । कार्यं लीलामानुषेषु यस्य सः तेषां सुखायेति भावः । यद्वा कार्याः स्वप्रेमवैशिष्ट्येन सम्पाद्य मानुषा येन सः तेष्ववतारेण तेषामेव प्राधान्यात् ॥ ६० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

त्वया सृष्टमिदं विश्वमिति श्लोके धातुर्गुणविसर्जनमित्यनूद्य व्याख्याय मानमुदाहरति । धातुरिति । धातुर्हिरण्यगर्भस्य सकाशाद्गुणभूता सृष्टिरस्य जगतः । तावकीना तु प्रधानसृष्टिरित्याह ॥ प्राधान्येन विष्णोरेवेति । विष्णुः प्रधानतो मुख्यतया स्रष्टा सृष्टिकर्ता चतुर्मुखो गुणकर्ता ॥ ततश्च श्लोकार्थः ॥ इदं विश्वं त्वया सृष्टं मुख्यतो धातुर्गुणरूपं विसर्जनं यस्य तत् । अर्थमाह ॥ नानेति । नानास्वभावा जलादीनां स्पन्दनादयो वीर्यं विलक्षणकार्यजननसामर्थ्यमोजोऽवष्टम्भो योनिर्बीजं रक्तशुक्लादिराशयोऽभिप्रायो येषामाकृतिः स्वरूपं यस्य तत् ॥ ५७ ॥ तत्राप्येवंविधे प्रपञ्चे वयं सर्पजातय इत्युरुमन्यो बहुकोपा यया मोहिता वयं दुस्त्यजां तां त्वन्मायां कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥ तर्हि न कदाऽपि मोहापवाह इत्यत आह ॥ भवानिति । तत्रैतन्मोहापोहे भवान्कारणमनुग्रहं वा निग्रहं वेति यन्मन्यसे तन्नो विधेहि ॥ ५९ ॥ कार्यार्थं मानुषोऽवतार इति स तथा आज्ञापयति ॥ नेति ॥ ६० ॥

श्रीसुबोधिनी

अस्माकमेवत्र तत्त्वे भवानेव हेतुरित्याह त्वया सृष्टमिति समुदायजननात् न दोषः, ब्रह्मणा सृष्टमित्याशङ्क्याह धातरिति, त्वमेव विधाता, ननु भगवत्कार्यं कथमेतादृशं ? तत्राह गुणानां विशेषेण सर्जनं यत्र, तत्रैविध्यं सर्वत्रैव सम्बध्यत इति भेदान् गणयति, नानाविधाः स्वभावादयो यस्मिन्निति, स्वभावः प्रकृतिधर्मो जीवगतः, वीर्यमिन्द्रियधर्मः, ओजः प्राणधर्मः, योनिर्मातृधर्मः, बीजं पितृधर्मः, आशयोन्तःकरणस्य, एते सर्वं एव नानाविधाः, प्रत्येकसमुदायाभ्यामनेकविधा भवन्ति, अत एव नानात्वं वैचित्र्यं च ॥ ५७ ॥ अस्माकं तु सर्वमेव तामसमित्याह वयमिति, चरत्वर्थे, भौतिकाग्न्यादीनामपि सङ्ग्रहार्थं च तत्र सृष्टौ भगवत्स्थितिसम्बोधनं ज्ञानार्थं, सर्पा जात्यैव उरुमन्यवः, जातिस्वभावौ दुष्टौ निरूपितौ, गुणातीतावस्थया सात्त्विकावस्थया वा मायापरित्यागो भवति, सर्पाणां क्रोधवशानां च न तत् सम्भवति, अतः कथं त्वन्मायां त्यजामः ? ननु दोषपरिज्ञाने कथं न त्यागः ? तत्राह दुस्त्यजामिति, त्वदीया मायाऽस्मत्कृतैरुपायैः सर्वथा दुस्त्यजा, तर्हि त्यागार्थं भगवानेव किं न प्रार्थ्यते ? तत्राह मोहिताः स्वयमिति, स्वयमेव मोहिताः, आत्मैव विमोहितः, अतः स्वहितापरिज्ञानात् त्यागार्थमपि न प्रयत्न इत्यर्थः ॥ ५८ ॥ तह्यवश्यं भवद्भ्रचो दोषोत्पत्तिसम्भवान् मारणीया एव भवन्त इति चेत् तत्राह भवान् हि कारणमिति अस्माकमेवम्भावे भवानेव कारणं "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह" इत्यादिवाक्यान्यत्र प्रमाणमिति हिशब्द आह, एवं सति तत्रानुग्रहं निग्रहं वा यदुचितं तन्नोऽस्मभ्यं विधेहि, अपराधः कृत इति निग्रहः कर्तव्यस्त्वया कारित इत्यनुग्रहः कर्तव्यः, ननु विरोधे शास्त्रार्थः को वा भवेत् ? यद्यनेन दण्डः कृतः स्यात् त्वयानुग्रहः कर्तव्य इति तूचितं अथ भवानेव सर्वरूपस्तदा निग्रहस्य कृतत्वादनुग्रहः कर्तव्यः, अथ निग्रहोनुग्रहश्च कृतावाहोस्विन्न कृतावेतदुभयं सर्वज्ञत्वाद् भवानेव जानाति, अतो यन् मन्यसे तद् विधेहि, शक्त्यभावस्तु तव नास्तीत्याह जगदीश्वर इति ॥ ५९ ॥ एवं श्रुत्वा यत् कृतं भगवता तदाहेत्याकर्ण्यति वच एव श्रुतमर्थस्तु पूर्वमेव परिज्ञातः, यद्यपि प्रसादः कर्तव्यः स्वकृतत्वात् पूर्वभावस्य स्तुतत्वाच्च तथापि समयानुरोधेन प्रसादोन्यथा कर्तव्य इति ज्ञापनार्थमाह कार्यमानुष इति, यत्र कार्यार्थमयुक्तं मानुषभावमपि प्रदर्शयति तत्रास्य भक्तस्यापि प्रसादान्यथाकरणं किं वक्तव्यं ? न च तस्य बाधकशङ्कयान्यथा करोतीति शङ्कनीयं यतो भगवानाज्ञापयति, हे सर्प गमनसमर्थ, अत्र त्वया न स्थेयं समुद्रं गच्छ चिरं माऽत्रास्त्वयं गमने प्रकारमाह स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्य इति ज्ञातयो ज्ञातीया अपत्यानि दाराश्च तैराढ्य इति, क्वापि तव स्थितौ न कोपि प्रयास इति सूचितं, इतो गमने हेतुमाह गोनृभिर्भुज्यतां नदीति अनेन त्वया नदी दूषितेति तत्राधिको दोषो निरूपितः ॥ ६० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

त्रयोदशेऽध्याये प्रकरणतात्पर्योक्तौ, परीक्षवेन्द्रियाणामित्यादि । ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः । तं नागभोगेत्यादिनोक्तलीला त्वयुक्ता, उत्पाताश्चानुपपन्नाः वस्तुतो हेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः परीक्षेत्यादिना । कृष्णे निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिं वदन्त एव तं नागभोगेत्यादितात्पर्यमाहुः इन्द्रियाणां ह्येति । हि यस्माद्धेतोस्तन्निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुते इति सम्बन्धः । मृत्योरप्यधिकपीडाजनको दण्डो निग्रहशब्देनोच्यते । भगवतः स्वेन्द्रियकार्यप्रकटनमात्रमेव गोकुलवासिनां तादृशं पूर्णे निरोधे भवन्नान्यथेति तज्ज्ञापनार्थं तथात्मानं प्रदर्शितवानित्यर्थः । उत्पातोपपत्तिमाहुः ततो देव इति । देवपदेनाधिदेवरूपः काल उच्यते । स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ प्रेरितवानित्यर्थः । अत एव त्रिविधा इत्युक्तम् । पुरुषाय महात्मन इत्यस्याभासे, ततः सर्वोत्तमोपीत्यादि । यद्यपि सर्वोत्तमस्तथाप्ययं नन्दगेहे जातो, न तु नृसिंहवत्स्वयमेव प्रकटः । तथा च जननं गर्भादिसापेक्षमिति पुरुषोत्तमत्वमनुपपन्नं स्यादिति तदभावाय पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेनोपपादयतीत्यर्थः ॥ ५० ॥ अपराधः सकृद् भर्त्रेत्यत्र, यद्यपीत्यादि । पालकत्वेन साम्प्रतं सात्त्विकेष्वेव कृपा, न राजसतामसयोरतस्तयोः स्वकार्यकरणेऽनवसर इति तत्करणमपराधस्तथापि तयोरपि भवानेव पतिरिति सोढव्य इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

त्वया सृष्टमित्यत्र नन्वेङ्कृतौ वैषम्यदोषापत्तिरिति तत्परिहारमाहुः समुदायजननान् न दोष इति सदसतोः समुदायस्यैकदेव जननात् तद्विभागाभावेनादोष इत्यर्थः, पूर्वमेकविधं सृष्ट्वा पश्चात् तत्रान्यथाकरणे हि तत् स्यादिति भावः ॥ ५७ ॥ आकर्ण्येत्यत्र प्रसादः कर्तव्य इति प्रसादः स्वधर्माविष्करणपूर्वकं स्थापनं, अन्यथा कर्तव्य इत्यन्यथा कृतिस्तथा कृत्वान्यत्र स्थापनं, ननु भगवत्स्थापितत्वाद् गरुडोत्र समयास्यतीत्यस्य बाधकशङ्कयायमन्यत्र प्रेषितो न तु कार्यमानुषत्वादित्याशङ्कायामाहुर्नचेत्यादि, यस्मादाज्ञापयत्यतः कार्यार्थमेव निस्सारणं न तु गारुडशङ्काभावार्थं तन्निवृत्तिः प्रकारान्तरेणापि निवृत्तत्वात् ॥ ६० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इत्याकर्ण्येत्यस्याभासे यत्कृतमिति प्रकारान्तरेण प्रसादः कृत इति सार्धचतुष्टयश्लोकवाक्यार्थ उक्तः, एतद्वाक्यार्थस्तत्राज्ञात्रयकथनमुपसंहारे वक्ष्यते, व्याख्याने, वच एवेति अर्थस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वान् न वाक्यत्वमिति भावः स्वकृतत्वादिति तदपराधं विना तत्सदनाभिभवस्य स्वत एव कृतत्वादित्यर्थः, पूर्वभावस्येति सृष्टिभावस्येत्यर्थः, अन्यथेति अत्र स्थापनप्रकारादन्येन प्रकारेण समुद्रे स्थापयित्वा गरुडभयाभावसम्पादनेनेत्यर्थः ॥ ६० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे धातः पितः ! गुणैर्विविधप्रकारेण सृज्यते इति गुणविसर्जनमिदं विश्वं त्वया सृष्टम् । तद्विश्वमेव विशिनष्टि—नानास्वभावादयो यस्य तत् । तत्र स्वभावः—शान्तत्वघोरत्वादिः, वीर्यम्—देहशक्तिः, ओजः—इन्द्रियशक्तिः, योनिः—मातृशक्तिः, बीजं शुक्रम् पितृशक्तिः, आशयः वासना, आकृतिः—स्वरूपम् ॥ ५७ ॥ तत्र तस्मिंश्च वयं जात्या जन्मनैव उरुमन्युः क्रोधो येषां ते तथाभूताः सर्पाः । अतो हे भगवन् सर्वेश्वर ! दुस्त्यजां ब्रह्मादिभिरपि दुर्जयां त्वन्मायां तया मोहिताः स्वयं भवदनुग्रहमन्तरेण कथं त्यजाम इत्यन्वयः ॥ ५८ ॥ हिशब्दोऽवधारणे । तत्र शान्तत्वघोरत्वादिस्वभावे भवानेव कारणम्, यतो जगदीश्वरः । अतो यदि 'मत्प्रयुक्तस्वभावादेते अशुभं कुर्वन्ति' इति, 'नैषामपराध' इति च मन्यसे तह्यनुग्रहं विधेहि यदि च 'एते स्वतन्त्रा अपराधिन एव' इति मन्यसे तर्हि नो निग्रहं दण्डं विधेहि सम्पादय । 'अविदितं च तव किञ्चिन्नास्त्येव, किं बहु वक्तव्यम्' इत्याशयेनाह—सर्वज्ञ इति ॥ ५९ ॥ कार्यमानुषः कार्यार्थमविद्याकामकर्मभिः, संसारे भ्राम्यमाणानाममुद्धारार्थं श्रवणादियोग्यलीलाकरणार्थं मानुषतया प्रतीयमानः, वस्तुतस्तु भगवान् अनभिभूतैश्वर्यादिगुण एव श्रीकृष्णस्तस्य कालियस्य तत्पत्नीनां च इत्येवं निष्कपटं वच आकर्ण्य श्रुत्वा प्राह । तद्वचनमाह—हे सर्प ! यतो गोभिर्नृभिश्च नदी यमुना भुज्यते, अतस्त्वया विषधरेणात्र नद्यां न स्थेयम्, मा चिरं शीघ्रमेव स्वज्ञात्यपत्यदारैराढ्यो युक्तस्त्वं समुद्रं समुद्रमध्यस्थं रमणकं द्वीपं याहीत्यन्वयः ॥ ६० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्वयेति ॥ हे धातः ! नानाविधः स्वभावः शान्तघोरत्वादिः वीर्यं देहशक्तिः ओजः इन्द्रियशक्तिः योनिर्मातृशक्तिः बीजं शुक्रं पितृशक्तिः आशयो वासना आकृतिः स्वरूपं यस्य तत् गुणैर्विविधप्रकारेण सृज्यत इति गुणविसर्जनमिदं विश्वं त्वया सृष्टम् ॥ ५७ ॥ वयमिति ॥ तत्र तस्मिंश्च वयं जात्या जन्मनैव उरुर्मन्युर्येषां ते तथाभूताः सर्पाः स्मः अतो हे भगवन् ! दुस्त्यजं ब्रह्मादिभिरपि दुर्जयां त्वन्मायां तया मोहिताः स्वयं भवदनुग्रहमन्तरेण कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥ भवानिति ॥ तत्र घोरत्वादिस्वभावे सर्वज्ञो जगदीश्वरश्च भवानेव कारणम् । अतो यदि अस्मान्परतन्त्रान्मन्यसे तदा नोऽस्माननुग्रहं विधेहि । यदि स्वतन्त्रान्मन्यसे

तदा निग्रहं दण्डं विधेहि ॥ ५९ ॥ इतीति सार्द्धम् ॥ कार्यार्थं मानुषरूपो भगवान् इत्येवं कालियवचनमाकर्ण्य प्राह स्म । हे सर्प ! यतो गोभिर्नृभिश्च नदी यमुना भुज्यते । भुज्यतामित्यपि पाठः अतस्त्वया विषधरेणात्र नदीसमीपे ह्रदे न स्थयम् । मा चिरं शीघ्रमेव स्वज्ञात्यपत्यदारैराढ्यो युक्तस्त्वं समुद्रं समुद्रमध्यस्थं रमणकं द्वीपं याहि ॥ ६० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सर्पस्य जात्या जन्मनैव उरुर्बहुर्मन्युर्येषां ते त्वन्मायां दुष्टस्वभावरूपां ॥ ५७ ॥ यन्मन्यसे तद्विधेहि कुरु ॥ ५८ ॥ आकर्ण्य श्रुत्वा कार्यमानुषः ब्रह्मादिप्रार्थितभूभारहरणादिकार्याय मानुषत्वं यस्य सः स्वज्ञात्यादियुक्तः याहि गच्छ विलंबं मा कुरु यतो गोनृभिः नदी भुज्यतां नदीजलं उपभुज्यते इत्यर्थः ॥ ५९ ॥ तुभ्यं मदनुशासनं त्वयि कृतां मम शिक्षामित्यर्थः ॥ ६० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

त्वयेति ॥ हे धातः, गुणैः सत्त्वादिभिः विविधतया सृजते इति गुणविसर्जनं, इदं तिरश्चां जालरूपं, विश्वं, नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति यथा तथा, त्वया सृष्टं भवति । तत्र अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् गमनमित्यादयो नानाविधाः स्वभावाः वीर्यं बलं, ओजः प्रवृत्तिसामर्थ्यं, योनिरुत्पत्तिक्षेत्रं, बीजं कारणं शुक्रादिर्वा, आशयोऽभिप्रायः, आकृतिः स्थानं, अत्र श्रीगोपालानन्दस्वामिचरणास्तु वीर्यौजसी शरीरेन्द्रियसामर्थ्ये, योनिबीजे मातृपितरौ, आशयाकृती अन्तःकरणदेहौ इत्याहुः ॥ ५७ ॥ ततः किमत आह ॥ वयं चेति ॥ हे भगवन्, तत्र च तिरश्चां मध्येऽपि, वयं जात्या जन्मनैव उरुरधिकः मन्युः क्रोधो येषां तथाभूताः, मोहितास्त्वन्माययैवं संप्राप्तमोहाः, सर्पाः स्वयं, दुस्त्यजां त्वदनुग्रहमन्तरेण स्वतः दुःखेनापि त्यक्तुमशक्यामित्यर्थः । त्वन्मायां त्वन्मायागुणकार्यं क्रोधं, कथं त्यजामः ॥ ५८ ॥ भवानिति ॥ हि यस्मात्, तत्र मायात्यागे, सर्वज्ञः निग्रहानुग्रहोचितज्ञानवान्, जगदीश्वरः जगन्नियमनोचितसामर्थ्ययुक्तः, भवांस्त्वमेव, कारणं अस्ति । अतः, अनुग्रहं निग्रहं वा, यत् मन्यसे, तत्त्वदभिमतं, नोऽस्मभ्यं, विधेहि त्वमेवं कुर्वित्याज्ञा येत्यर्थः ॥ ५९ ॥ इतीति ॥ य इति ॥ कार्यं दुष्टदमनसाधुपरित्राणात्मककर्तव्यार्थसंपादनं तदर्थं मानुषः स्वेच्छोपात्तमानुषाकृतिः, भगवान् श्रीकृष्णः, इत्युक्तप्रकारं, वचः कालियस्य वचनं, आकर्ण्य प्राह । स यदाह तदाह चतुर्भिः । हे सर्प त्वया अत्र ह्रदे, न स्थेयम् । किं तु स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यः ज्ञात्यादिभिः सहेत्यर्थः । समुद्रं याहि, चिरं मा विलम्बो न कार्यं इत्यर्थः । नदी यमुना, गोनृभिश्च, भुज्यतां पीयतामित्यर्थः । तुभ्यं मदनुशासनं मत्कर्तृ'क त्वद्दण्डतात्मकमित्यर्थः । एतत् चरित्रं, यः मर्त्यः पुमान्, उभयोः संध्योः संध्ययोः संस्मरेत्, स्मृत्वा च कीर्त्तयन् भवेत्, स संस्मर्त्ता कीर्त्तयिता चेत्यर्थः । युष्मद्भयं सर्पदंशजमृत्यतो भीतिमित्यर्थः । न आप्नुयात् । इत्याज्ञान्तरम् । इति सार्द्धद्वयश्लोकस्यैकान्वयः ॥ ६०-६१ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

त्वयेति : १०.१६.५७.

यदि मत्प्रकृतिं निरीक्ष्य रोषस्तव चेतस्युदितस्तथा ममापि । त्वयि तादृशयोनिदानकर्तर्यपि रोषो भविता कथं न विष्णो ॥ ८६ ॥

त्वत्प्रियोदरविहारवत्यपि रोषमेषि यदि मय्यनागसि । तद्वदेश किमपत्यरक्षणप्रेमता भुवि निराश्रयाऽजनि ॥ ८७ ॥

तार्क्ष्यपक्षमनुलक्ष्य शिक्षितः कालियो भगवतेति दुर्यशः । नार्जयेश करुणानिधे यतः शत्रुमित्रसमदृक् त्वमाश्रुतः ॥ ८८ ॥

त्वत्सृष्टजात्यहंगुणानुरोधादनुष्ठितं नाथ मया त्विदानीम् । त्वं निग्रहानुग्रहयोः समर्थो यथेच्छमस्मिन् मयि यद्विधेहि ॥ ८९ ॥

या नाद्याप्यसुहृत्पदार्थमवनौ जानाति कोपाङ्कुरो यस्यां नाप्युदितो यया न विदितः स्वप्नेऽप्युपेक्षाविधिः ।
नानादीनजनावनैकनिपुणां तां ते दयाब्धे दयां स्तोतुं के जडजातसंभ्रमजुषः श्रुत्यङ्घ्रिहीना वयम् ॥ ९० ॥

सदयस्य हरेरनुग्रहे सति दोषोऽपि गुणाधिकेष्टदः । अपि वेदविनिन्दितं तमो यदहेरीशपदाप्तिसौख्यदम् ॥ ९१ ॥

समुद्रं याहीति : १०.१६.६०.

स्वभावश्चेत्यक्तो जनुरनुगतो विध्यभिहितं विपर्यस्तं शास्त्रं जगति भवितेत्यत्र वदतः ।
तवावासः कृष्णाजलममृत मेतद्द्वयमहे कथं स्यात्तस्मात्त्वं व्रजजलधिमाप्तैः परिवृतः ॥ ९२ ॥

कृष्णप्रिया

हे विश्वविधाता ! तीन गुणों से विविध प्रकार का यह विश्व आपने एक साथ ही रचा है इस विश्व के प्रकृति धर्म स्वभाव, वीर्य-इन्द्रिय धर्म, ओजः-प्राणधर्म, योनि-मातृधर्म, बीज-पितृधर्म, आशय अन्तकरणधर्म, आकृति-आकार ये सब भिन्न भिन्न ही हैं ॥ ५७ । हे भगवन् ! इस में हम सर्पजाति के जीव, जन्म से ही बडे क्रोधी हैं एवं हम अपने आप मोह को प्राप्त हुए हैं ऐसे क्रोधी और मोहवश हम आप की ज्ञानी जनों के लिये भी दुस्त्यज माया को कैसे छोडे ॥ ५८ ॥ हे नाथ ! क्रोधादि दोषों से भरे हम लोगों की उत्पत्ति में भी कारण आप सर्वज्ञ जगदीश्वर हैं। फिर भी आप हम पर अनुग्रह-कृपा अथवा

निग्रह दण्ड जो योग्य हो वह आप कीजिए ॥ ५९ ॥ श्रीशुकाचार्यजीने कहा राजन्! भगवान् तो मनुष्य नहीं हैं लेकिन कार्य करने के लिए मानुष आकृति को धारण करने वाले भगवान् श्रीकृष्णने केवल कालीय के वचन सुने, अर्थ तो जानते थे उस पर ध्यान देने का प्रयोजन नहीं था। कालीय भक्त है इस लिए स्तुति वचन सुन लिये, पुनः भगवानने तीन आज्ञा की कि कालीय ? तुम यहाँ मत रहो, तुम्हारे जाति जन पत्नी पुत्र आदि परिवार को लेकर विना विलम्व समुद्र की ओर प्रस्थान कर जाओ और रमणद्वीप में निवास करो और यहाँ पर श्रीयमुनाजीका निर्मल जल का यहाँ पशु पक्षी गोवृन्द एवं मनुष्यादि सेवन करें ॥ ६० ॥

य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्। कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद् भयमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

[1]अस्मिन् स्नात्वा [2]मदाक्रीडे देवादींस्तर्पयेज्जलैः। उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥

द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतदुपाश्रितः[3]। यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्[4] ॥ ६३ ॥

श्रीशुक[5] उवाच

[6]मुक्तो भगवता राजन् कृष्णेनाद्भुतकर्मणा। तं पूजयामास [7]मुदा [8]नागपत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

कृष्णप्रिया

अन्वयः— यः मर्त्यः एतत् तुभ्यं मदनुशासनम् उभयोः संन्ध्योः संस्मरेत् कीर्तयन् युष्मद् भयं न आप्नुयात् ॥ ६१ ॥ (यः) मदाक्रीडे अस्मिन् स्नात्वा यज्जलैः देवादीन् तर्पयन् उपोष्य मां स्मरन् अर्चेत् (सः) सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥ यद्भयात् रमणकं हित्वा एतद् ह्रदम् उपाश्रितः सः सुपर्णः मत्पादलाञ्छितं त्वां न अद्यात् ॥ ६३ ॥ राजन् अद्भुतकर्मणा भगवता कृष्णेन मुक्तः (सः) नागपत्न्यः च सादरं मुदा तं पूजयामास ॥ ६४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

न युष्मत्तो भयमाप्नुयात् तस्य युष्माभिर्भयं नोत्पादनीयमित्याज्ञा ॥ इतोऽपि त्वया निर्गंतव्यमित्याह। योऽस्मिन्निति त्वयि स्थिते तन्न संभवतीति भावः ॥ ६१-६२ ॥ न च तव गरुडभयं भवेदित्याह। द्वीपमिति ॥ ६३--६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमे पूर्वार्धे टीकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्वशब्देन तेषां तादृशदुर्विषमयत्वं तदधीनत्वं च सूचितम् यतो गवादिभिर्भुज्यते न तु सर्पैरतस्त्वं याहीति पूर्वेण संबंधः। मत्तोऽनुशासनं शिक्षा दंडोऽप्यत्राध्याये तं मदनुशासनम्। संध्योः सन्ध्ययोः। सायं प्रातरित्यर्थः। तव पादस्पर्शे मम च दंडे इत्यावयोः कीर्तिराचंद्रार्कं स्थास्यतीत्याह य इति न युष्मद्भयमाप्नुयादिति तेन पद्यद्वयमिदं सर्पोच्चाटनमंत्र एव ज्ञेयः। तथा चर्ग्वेदस्य मंत्रांतरम् "यमुना ह्रदे हि सो यातो यो नारायणवाहनः। यदि कालिकदंतस्य यदि काकालिकाद्भयम् ॥ जन्मभूमिपरिक्रान्तो निर्विषो याति कालिकः।" इति ॥ इतोऽप्यस्मादपि हेतोः। ममासमंतात् क्रीडा यत्र तस्मिन् ह्रदे। आदिना ऋषिपित्रादयो ज्ञेयाः। इति भाव इति। तवात्र स्थितौ पूर्ववत्कोऽपि नायास्यति स्नानादि तु दूरापास्तमित्यर्थः ॥ ६१-६२ ॥ तस्य भयाभावं द्योतयति न चेति। यस्य सुपर्णस्य भयात्। नाद्यान्मा भक्षिष्यति, अपि तु मत्पादचिन्हं दृष्ट्वा नंस्यतीति भावः ॥ ६३ ॥ एवमुक्तो नाद्यादित्येवमुक्तः। तं श्रीकृष्णम्। अद्भुतकर्मणेति। कालियाद्व्रजस्थजीवस्य त्राणं कालियस्यापि गरुडात्त्राणमिति हिंस्यहिंसकयोरुभयोरपि कल्याणमित्यद्भुतं कर्म। कृष्णेनेति स्वभक्तगरुडापराधस्य स्वप्रियव्रजस्थजीवापराधस्य च कर्षणं परमभक्तकालियपत्नीप्रीत्यनुरोधात्कृतमिति भावः। सादरमिति। हे प्रभो दुष्टतायाः परमावधिरूपे मयि कृपायाः परमावधिरर्पितस्त्वया प्रकृताऽप्राकृतलोकेषु मदन्यः कोऽपि ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नानि स्वमूर्ध्नि न धत्ते, तदहं साम्प्रतं श्रीमदङ्गानि मद्दत्तदंशोत्थविषतापतप्तानि सुगन्धशीतलचन्दनरसेन सस्त्रीक एव पाणिभिः स्पृशन् लिम्पानि, ततोऽत्र दिव्यासने क्षणमुपविशेत्युपवेश्य स्वाभीष्टं पूरयित्वा लब्धभगवत्प्रसादो निर्जगामेत्याह-दिव्येति सार्द्धद्वयेन ॥ ६४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

त्वां प्रति मदनुशासनं नाऽत्र स्थेयमित्यादिलक्षणमपि अस्तु तावदत्र क्रीडादिकं सन्ध्योः सन्ध्ययोः कीर्त्तयन् यः स्मरेत् तदेवं नात्रेत्यादिपद्यद्वयं सर्पोच्चाटने मन्त्र एव ज्ञेयः तथा च ऋग्वेदस्थमन्त्रान्तरं "यमुनाह्लदे हि सो जातो यो नारायणवाहनः। यदि कालिकदूतस्य यदि काः कालिकाद्भयं। जन्यभूमिपरिक्रान्तो निर्विषो याति कालिकः" इति ॥ ६१ ॥ जलैस्तर्पयेदिति विषा-

1. योऽस्यां स्नात्वा महानद्यां देवा—गो. प्रे. टी.। 2. ममाक्रीडे—विज.; ह्रदे मर्त्यो—च. पु. टी.। 3. मुपाश्रितः—श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। 4. लाञ्छनं—वीर. विज.। 5. ऋषिरुवाच—गो. प्रे. टी.। 6. एवमुक्तो भगवता कृष्णे—श्रीधर. वंशी.; एवमुक्तो भगवता राजन्नद्भुतकर्मणा—इति क्वचित्। 7. तदा—वीर.। 8. नागः पत्नीभिरादरम्—च. पु. टी.।

पगमः सूचितः उपोष्य तीर्थोपवासं कृत्वा मां चिन्तयन् अर्चयेत् स सर्वैस्त्रिविधैः पापैः प्रकर्षेण वासनाराहित्येन मुच्यते ॥ ६२ ॥ रमयतीति रमणं संज्ञायां कन् इति सुखकारित्वं एतच्च तत्प्रोत्साहनार्थम् एतं किञ्चिदधिकयोजनमात्रं तद्द्वीपात् प्रमाणेन स्वल्पतरमित्यर्थः। उपाश्रित इति नित्यावासत्वं निरस्तं नाद्यात् नात्तुं शक्नुयात् यतः मत्पादेति तच्च पूर्वमेव नृत्यगतिविलासेन किम्वा श्रुनैव प्रसादीकृतम् ॥ ६३ ॥ मुक्त इति विससर्जेत्यस्यानुवादमात्रं एवमुक्तो भगवतेति वा पाठः अद्भुतकर्मणेति निजपूर्वसुखवसतिस्थानं प्राप यद्भयात् तत्स्थानं तत्याज तस्यात्तदपगं विशेषतश्च श्रीवैष्णवाग्रस्य तस्य सख्यं सम्मान्यत्वं च श्रीभगवत्पादाब्जचिह्नतो जातं ब्रह्मादिसेव्यलक्ष्मीं प्रार्थ्यतत्पा दाब्जरेणुभिस्तादृशनृत्यलीलया च पर्याचिताः सर्वे मूर्द्धानः सफला बभूवुः ब्रह्माद्यपेक्ष्यं श्रीभगवदनुशासनं लब्धं तेन च साक्षात्तन्मधुरवचनामृतं पीतं पश्चात् परमभक्तवत्पूजादिकं च कृतमितीत्थं वहिर्दृष्ट्या निग्रहस्याप्यनुग्रहविशेषत्वे क्रोधस्यापि परमप्रसादत्व एव पर्यवसानात् अपि च तादृशापराधिनोऽपि तत्र दमितस्यैव सतो हृदा शरणागतिमात्रेण तादृशानुग्रहात् "चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्" इत्यादिगीयमानपरमसौकुमार्यश्रीपादाब्जस्पर्शेन रत्ननिकराचिततन्मूर्द्धवर्गचूर्णनात् तादृशैश्वर्यप्रकटनसमये मुनिसिद्धादिश्रीगोपादिसाक्षादेव महानृत्यकौतुकात् तत्रापि परिभ्रमद्विलोलत्फणगणेषु गतिकलारक्षणाच्चेति दिक्। एतच्च तस्य भगवत्ताविशेषप्रकटनमित्याह भगवतेति। इदं चाशेषं सर्वज्ञत्वात् श्रीशुकदेवोऽवददिति श्रीऋषिः सर्वदर्शी उवाचेति सूतोक्तिः राजन् हे बुद्ध्यादिना प्रकाशमानेति एतदद्भुतकर्मत्वं सहेतुकं त्वया अवबुध्यत एवेति भावः। नागः कालियः मुदेति श्रीभगवत्तत्तदनुग्रहानुसन्धानात् सादरं सप्रेम अतस्तासां हस्तैरेव गन्धानुलेपनादिकं ज्ञेयम् ॥ ६४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्याकर्ण्येति–मया यदादिश्यते तदनेनावश्यं कार्य्यमिति तदभिप्रायं ज्ञात्वेत्यर्थः। यद्वा, इति ईदृशं दैन्याद्यनुगृहीतं वचः कार्यं जगद्धितं तदर्थं मानुषरूपेण प्रकटो यो भगवान्; यद्वा, कार्य्या निजप्रेमभक्तिविस्तारणेन सम्पाद्या मानुषा ,येन, मनुष्यत्वं हि श्रीभगवत्प्रेमभक्त्यैव सम्पद्यते, अतएव देवानामपि तद्दुर्लभं प्रार्थ्यञ्च पूर्व्वं प्रायः प्रेमभक्त्यभावेन मनुष्यत्वं न वृतमिव; अधुना च श्रीभगवता तत् सम्पाद्यमित्यर्थः। अतस्तस्य मूलस्थाने श्रीवृन्दावने सर्पाणां स्थितिरनुचितेति भावः। यद्वा कात् ब्रह्मणोऽपि कार्य्याः पूज्यतमा मानुषाः श्रीनन्दादयो यस्य सः। एवं तेषां सुखार्थमिति भावः। हे सर्प ! इति तत्र स्थित्ययोग्यतां याने शक्तिञ्च दर्शयति। अतएव स्वस्य ज्ञात्यादिभिर्युक्त इति स्वशब्देन तेषां तादृशं दुर्व्विषमयत्वं तदधीनत्वञ्च सूचितम्। त्वमिति पाठेऽपि तस्य महादुष्टत्वादिसूचनेन स एवार्थोऽभिप्रेतः। नदी प्रवाहवती श्रीयमुनेति त्वदवस्थित्या लोकानामपकारः स्यादिति भावः ॥ ६१ ॥ त्वां प्रति मम अनुशासनं "नात्र स्थेयम्" इत्यादिलक्षणमपि, अस्तु तावदत्र क्रीडादिकं सन्ध्योः सन्ध्ययोः कीर्त्तयन् यः संस्मरेत् कीर्त्तयन् यो भवतीति वा। यद्वा, ग्रीष्मवर्षासन्धौ विलतः प्रथमनिर्गमसमये वर्षाशीतसन्धौ च तत्र प्रवेशसमये क्षुधार्त्या क्रुद्धेभ्यः सर्पेभ्यो भयविशेषो भवतीति तदपेक्षया तयोरपि न भयमाप्नुयादित्युक्तम् ॥ ६२ ॥ ननु दुष्टानामस्माकं संगदोषेण ह्रदोऽयं दुष्टामिव गतोऽस्ति कथं गोनृभिर्भुज्यतामित्याशंक्य तच्छोधनाय वरे तस्मै प्रदत्ते—य इति। जलैस्तर्पयेदिति विद्यादिदोषापगमः सूचितः। उपोष्य एकादश्यादावुपवासं कृत्वा मां चिन्तयन् अर्च्चयेत् स सर्व्वैस्त्रिविधैः पापैः प्रकर्षेण वासनाराहित्येन मुच्यते, यद्वा स सर्व्वैः पापैर्मद्विमुखजनैः प्रमुच्यते, अवैष्णवदर्शनादिकं तस्य न स्यादित्यर्थः ॥ ६३ ॥ द्वीपमिति बृहत्त्वं बोधयति, रमयतीति रमणम् संज्ञायां कः इति सुखकारित्वं; एतच्च तत्प्रोत्साहनार्थम्। एतं किञ्चिदधिकयोजनमात्रम्, तद्द्वीपात् प्रमाणेन स्वल्पतरमित्यर्थः। उपाश्रित इति नित्यावासत्वं निरस्तम्। नाद्यात् न भक्षयिष्यतीत्यर्थः, सम्भावनायां वा सप्तमी, स्वयमेव न खादेदित्यर्थः। कुतः ? मत्पादेन लाञ्छितं मूर्द्धसु चक्रचिह्नैः शोभितमित्यर्थः। तच्च पूर्व्वमेव नृत्यगतिविलासेन किंवा अधुनैव प्रसादीकृतम् ॥ ६४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तुभ्यं मत्कर्तृकदण्डनात्मकम् एतच्चरित्रं यः पुमानुभयोस्सन्ध्ययोः संस्मरन् कीर्तयंश्च स्यात् स युष्मत्तो भयं सर्पेभ्यो मृत्युभयं नाप्नुयादित्याज्ञान्तरम् ॥ ६१ ॥ मद्विहारस्थानेऽस्मिन् ह्रदे यः पुमान् स्नात्वा जलैर्देवानादिशब्दात् पितॄनृषींश्च तर्पयेदुपोष्य मां स्मरन्नर्चेच्चेत्र स सर्वैः पापैर्मुच्यते इत्याज्ञान्तरम् ॥ ६२ ॥ ननु, गरुडभयाद्रमणकाख्यं सानुद्रद्वीपं हित्वाऽस्मिन् ह्रदे प्रविष्टः पुनरितस्तत्र गतं मां गरुडोऽद्यात् तत्राह—द्वीपमिति। यस्य सुपर्णस्य भयादेनं ह्रदं त्वमाश्रितः स सुपर्णस्त्वां नाद्यात् तत्र हेतुः मत्पादलाञ्छनमिति ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! इत्थमुक्तो नागस्तं कृष्णं पूजयामास तथा नागस्य पत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सन्ध्योः सन्ध्ययोः ॥ ६१ ॥ ममाक्रीडे क्रीडास्थाने ॥ ६२ ॥ त्वं पूर्वं यस्य सुपर्णस्य भयात् नाम्ना रमणकं द्वीपं हित्वा एतत् ह्रदमुपाश्रितः। अथ सुपर्णो मत्पादलक्षणं मत्पादलाञ्छनमित्र लाञ्छनं यस्य स तथा तञ्च त्वां नाद्यात् न भक्षयेत् ॥ ६३–६४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तव मत्पादस्पर्शं मम च त्वद्दण्ड इत्यावयोः कीर्त्तिराचन्द्रार्कं स्थास्यतीत्याह य इति। न युष्मत्तो भयमाप्नुयादिति तेन पद्यद्वयमिदं सर्पोच्चाटने मन्त्र एव ज्ञेयः। तथा च ऋग्वेदस्य मन्त्रान्तरं "यमुनाह्रदे हि सो यातो यो नारायणवाहनः। यदि कालिकदन्तस्य यदि काकलिकाद्भयम्। जन्मभूमिपरित्रातो निर्विषो याति कालिकः" इति ॥ ६१ ॥ इतोऽपि हेतोस्त्वया निर्गन्तव्यमेवेत्याह—योऽस्मिन्निति। त्वयि स्थिते तन्न सम्भवतीति भावः॥ ६२॥ न च ते गरुडाद्भयं भावीत्याह—द्वीपमिति॥ ६३॥ अद्भुतकर्मणेति कालियाद् व्रजस्यजी वस्य त्राणं कालियस्यापि गरुडात्त्राणमिति हिंस्यहिंसकयोरुभयोरपि कल्याणमित्यद्भुतं कर्म कृष्णेनेति स्वभक्तगरुडापराधस्य स्वप्रियव्रजस्थजीवापराधस्य च च कर्षणं परमभक्तकालियपत्नीप्रीत्यनुरोधात् कृतमिति भावः॥६४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

यतो गोभिर्नृभिश्च नदी भुज्यते तटप्रवाहगततृणफलजलानां भोगौचित्यात् ॥ ६१ ॥ तव सच्चरणस्पर्शो मम च त्वद्दण्ड इत्यावयोर्यशः सदा स्थास्यतीत्याह य इति। न युष्मदिति तेनेदं पद्यद्वयं सर्पोच्चाटने मन्त्ररूपं बोध्यम् ॥ ६२॥ इतोऽपि हेतोस्त्वया निर्यातव्यमित्याह योऽस्मिन्निति। त्वयि स्थिते तन्न सम्भवेदिति भावः॥ ६३॥ न च गरुडात् तव भयं भावीत्याह-द्वीपमिति॥६४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

नैकल इत्यप्याह॥ सज्ञात्यपत्यदाराद्या इति। गावश्च नराश्चेति तैर्लभ्यं यन्मदनुशासनं मर्त्यः संस्मरेत्सन्ध्ययोः सन्ध्ययोर्यश्च कीर्तयन्स युष्माद्भयं नाप्नुयात्॥ ६१॥ आक्रीडे एवंविधे क्रीडास्थाने॥ ६२॥ सुपर्णभयादिहागतस्य पुनस्तत्र गच्छेति वचनं युक्तं नेति वाच्यमित्याह। द्वीपमिति। यद्भयाद्रमणकं द्वीपं हित्वैतं ह्रदमुपाश्रितः। एतदिति पाठेऽव्ययम्। स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्न भक्षयेत्। तत्र तन्त्रं मत्पादलाञ्छनमिति। मम पादयोर्लाञ्छनं चिह्नं यस्मिंस्तं त्वामिति॥ ६३॥ एवमुक्तो मुदा स्वोदवसितवितरणजया तं पूजयामास नागपत्न्यश्च पूजयामासुः॥ ६४॥

श्रीसुबोधिनी

"सर्पजात्युरुमन्यव" इतिवाक्यात् कदाचिद् वैष्णवान् पीडयिष्यतीति भगवानाज्ञानन्तरमाह य एतत् संस्मरेदिति, वैष्णवः सर्पेण न भक्षणीय एव यः पुनरेतावन्मात्रमपि स्मरेत् सोपि न युष्मत्तो भयमाप्नुयात्, एतत् तव निग्रहलक्षणं चरित्रमित्याह तुभ्यं मदनुशासनमिति, तुभ्यं त्वदर्थं मदीयं यदनुशासनमाज्ञा एतावन्मात्रं वा सम्यक् स्मरणं ध्यानपूर्वकं, अथवा कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योः, सायं प्रातरेतच्चरित्रं पठनीयं, उभयं वा कर्तव्यं, न प्राप्नुयादितिविध्यर्थोऽयम्॥ ६१॥ ननु सर्पभक्षणनिमित्तपापे विद्यमाने कथं न सर्पो भक्षयेत्? तत्राह, अस्मिन् स्नात्वेति, योस्मिन्निति वा, अस्मिन् कालीयह्रदे, स्थानान्तरापेक्षया विशेषमाह मदाक्रिड इति, ममाक्रीडा, यत्र स्नानमात्रेणैव तस्य देहसम्बन्धि पापं गच्छति, उपोष्य मां स्मरन्नर्चयित्वोपवासे प्राणसम्बन्धि पापं गच्छति मत्स्मरणेनान्तःकरणपापं, अर्चनेनेन्द्रियपापं, पापकरणदशायां यद् देवानां चक्षुष्यागो जातं तत्र देवा बहुविधा देशकालकर्मसाक्षिणोभिमानिनश्च पितरश्च वंश्याः क्रुद्धा भवन्त्यृषयश्च वेदोल्लङ्घनात्, अतो देवादीन् जलैस्तर्पयेत् मत्क्रीडया चरित्रामृतपूर्णं जलं पीत्वा तृप्ताः सन्तः प्रत्युताशिषमेव प्रदास्यन्ति न तु क्रोधं करिष्यन्तीतिभावः, अनेन पूर्वदिवसेऽपि स्नानतर्पणे विहिते, द्वितीयदिवसेपि, काम्यं वैतत् स्नानं भिन्नमेव॥ ६२॥ नन्वन्यत्र गते गरुडो भक्षयिष्यतीति चेत् तत्राह द्वीपमिति रमणके स पूर्वं स्थितः, ततो गरुडभयादत्रागतः, यद्भयात् त्वमेतद्ध्रदमुपाश्रितः स सुपर्णस्त्वां नाद्यादित्याज्ञा, यद्यप्याज्ञयैव निर्धारो भवति तथापि तस्य विश्वासार्थं हेत्वन्तरमाह मत्पादलाञ्छितमिति॥ ६३॥ एवमुक्तो भगवता स भयान्मुक्तो जातः, भगवानद्भुतकर्मा निग्रहं कुर्वन्ननुग्रहं कृतवान्, अन्यथास्य सञ्चार एव क्वापि नास्ति, कदाचिद् वा गरुडो भक्षयेद्, अनेन यथाकथञ्चिद् भगवत्सम्बन्धः सर्वथा मोचक इत्युक्तं, राजन्नितिसम्बोधनं सर्पभयाभावार्थं, ततो भगवन्तं पूजयामास, दिव्यानि पुष्पाणि वस्त्रचन्दनादीनि न जलेन क्लिन्नानि भवन्ति गरुडभयं निवर्तितमिति महान् प्रमोदो जात इति मुदेत्युक्तं, नागपत्न्यश्च सादरं पूजयामासुः, रमणके तु न प्रेषितः पुनः पूर्वदोषसम्भवात्॥ ६४॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

य एतदित्यत्र यः पुनरित्यवैष्णवोपीत्यर्थः॥ ६१॥ अस्मिन् स्नात्वेत्यत्र योस्मिन्निति वेतिपाठान्तरे मूलस्थनुरूपं अनेनेत्युपोषणात् पूर्वं स्नानादिकथनेन, उपोषणानन्तरं चार्चादिकथनेनेत्यर्थः, एतदिति सर्पजनितभयनिवर्तकं, यत्र ह्रदः सर्वपापनाशकस्तत्र तावन्मात्रपापनाशने कः सन्देह इतिभावः॥ ६२॥ द्वीपमित्यत्र नन्वनुग्रहोत्र कः कृत इत्यत्राहुरन्यथेत्याद्यनुग्रहाभावे, तथा च सर्वत्र सञ्चारो गरुडभयाभावश्चानुग्रह इत्यर्थः॥ ६३॥ मुक्त इत्यत्र सर्पभयाभावार्थमित्ययमर्थो मृत्योर्नित्यत्वात् सर्पद्वारापि मरणे न भयं, किन्तु तया मरणस्य दुर्गतिहेतुत्वाद् भयत्वं तथा च तया सत्यपि तस्य तथात्वाभावान् न तथेति, पूर्वदोष इति स चाग्रिमाध्याये स्पष्टः॥ ६४॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

य एतदित्यत्र ननु दीर्घमन्युपदतात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडाया उक्तत्वात् तत्समाधानार्थमत्र वैष्णवपीडाभाव एव वक्तव्यो न तु स्मरणमात्रेण सर्वेषां तद्भयाभाव इत्याशङ्क्याहुः वैष्णव इति तत्र हेतुः यः पुनरिति, तथा च कैमुतिकन्यायेन वैष्णवपीडाभाव एव समर्थितः, दीर्घमन्युपदे तात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडोक्तत्यत्रापि वाक्यतात्पर्यार्थत्वेन तदभाव उक्त इतिभावः, परीक्षितस्तु न सर्पाद् भयं किन्तु ब्राह्मणाज् जातमितिभावः, प्रथमपक्षे मदनुशासनमित्यत्रानुशासनं निग्रह इत्यर्थः, आज्ञयैव पीडाभावो भविष्यतीति तावत्कथनमनतिप्रयोजनमित्याशयेन पक्षान्तरमाहुस्तुभ्यं त्वदर्थमिति ॥ ६१ ॥ (योस्मिन्नित्यस्याभासे नन्विति वैष्णवेपि यत्र भगवान् प्रारब्धं भोजयितुमिच्छति तत्र तद्भोगार्थं पीडा सम्भवत्यतः पापनिवृत्त्यर्थं वैष्णवेनाप्येतत् कर्तव्यं, "स्वपादमूलं भजत" इत्यत्र तु प्रमेयभक्तिमार्गीयस्य व्यवस्थोक्तेतिभावः), योस्मिन्नित्यत्र अन्नेनेति पूर्वदिवसे तु तीर्थविधिनैव प्राप्तिरित्यनेन द्वितीयेपि दिवसे विहितमितिभावः, तह्यु पवासोपि द्वितीयदिने प्राप्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः काम्यं वेति ॥ ६२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यच्च तत्पत्नीभिः प्रार्थितं 'विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयम्' इति तद्विदधाति–यदेतत् इत्यादि । तुभ्यं मन्मदनुशासनं ममाज्ञा तदुभयोः सन्ध्योः प्रातःकाले सायङ्काले च स्मरेत् कीर्तयश्च भवति स युष्मत्तो भयं नाप्नुयात्, युष्माभिस्तस्य भयं नोत्पादनीयमित्यर्थः ॥ ६१ ॥ इतो निर्गमने हेत्वन्तरमाह–य इति । यः प्राणी उपोष्य तीर्थोपवासं कृत्वा अस्मिन् तीर्थवरे, तत्र हेतुः–मदाक्रीडे इति, मम आक्रीडा यस्मिंस्तस्मिन् स्नात्वा मां स्मरन् एतज्जलैर्देवादींस्तर्पयेत् मां चार्चेत् स सर्वैः कायिकवाचनिकमानसिकैः पापैः प्रकर्षेण वासनाराहित्येन मुच्यते मुच्येत् । अत्र त्वयि स्थिते तत् न स्यादिति भावः ॥ ६२ ॥ ननु "गरुडभयात् स्वस्थानं रमणकं हित्वा अत्रागतोऽस्मि, पुनस्तत्र गमने गरुडो मामद्यात्" इत्याशङ्क्याह–द्वीपमिति । यस्य भयात् स्वस्थानं रमणकाख्यं द्वीपं हित्वा एतं ह्रदं त्वमुपाश्रितोऽसि, स सुपर्णो गरुडस्त्वां नाद्यात् न खादेत् । तत्र हेतुमाह–मत्पादैरिति । ध्वजाङ्कुशादियुक्तेन मत्पादेन लाञ्छितं चिह्नितमित्यर्थः ॥ ६३ ॥ कृष्णेनैवमुक्तः कालियस्तदनुग्रहानुसन्धानात् मुदा हर्षेण सादरं सप्रेम तं श्रीकृष्णं दिव्याम्बरादिभिः पूजयामास, तथा तत्पत्न्यश्च पूजयामासुः । लोकप्रतीत्या निग्रहं कुर्वन्नपि ब्रह्मादिदुर्लभचरणस्पर्शेन गरुडादपि निर्भयत्वसम्पादनेन चानुग्रहमेव कृतवानिति । तत्कर्मणोऽद्भुतत्वमाह–अद्भुतकर्मणेति । तत्र हेतुमाह–भगवतेति ॥ ६४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

य इति ॥ यदेतत् नात्र स्थेयमित्यादि तुभ्यं यन्मदनुशासनं ममाज्ञा तदुभयोः सन्ध्योः प्रातःकाले सायंकाले च स्मरेत् कीर्तयंश्च भवति । स युष्मद् युष्मत्तः भयं नाप्नुयात् । युष्माभिस्तस्य भयं नोत्पादनीयमिति आज्ञा । तेन पद्यद्वयमिदं सर्पोच्चाटने मन्त्र एव ज्ञेयः तथा ऋग्वेदस्य मन्त्रान्तरं "कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्रबलः ॥ यमुनाह्रदे हि सो यातो यो नारायणवाहनः ॥ यदि कालिकदन्तस्य यदि वा कालिकाद्भयम् ॥ जन्मभूमिपरित्रातो निर्विषो याति कालिकः ॥" इति ॥ ६१ ॥ य इति ॥ यः प्राणी उपोष्य तीर्थोपवासं कृत्वा मम आक्रीडा यस्मिन् तस्मिन् अस्मिन् तीर्थवरे स्नात्वा मां स्मरन् एतज्जलैर्देवादींस्तर्पयेत् मां चार्चेत्स सर्वैः पापैः प्रमुच्यते । अत्र त्वयि स्थिते एतन्न स्यादतोऽपि गन्तव्यमिति भावः ॥ ६२ ॥ द्वीपमिति ॥ यस्य भयात्स्वस्थानं रमणकाख्यं द्वीपं हित्वा एतं ह्रदं त्वमुपाश्रितोऽसि । स सुपर्णो गरुडः मत्पादेन वज्रादियुक्तेन लाञ्छितं त्वां नाद्यात् न खादेत ॥ ६३ ॥ एवमिति द्वयम् ॥ कालियाद्व्रजस्थजीवानां त्राणं कालियस्यापि गरुडात्त्राणमिति हिंस्यहिंसकयोरुभयोरपि कल्याणम् । इत्यद्भुतकर्मणा भगवता कृष्णेनैवमुक्तः कालियो मुदा हर्षेण सादरं सप्रेम तं श्रीकृष्णं दिव्यैरम्बरैर्मणिभिः स्रग्भिश्च परार्घ्यैरमूल्यैर्भूषणैः दिव्यैर्गन्धैरनुलेपैश्च महत्या उत्पलानां मालया च पूजयामास । तथा नागपत्न्यश्च पूजयामासुः । प्रायस्तेषां संकल्पसिद्धमिदम् ।६४-६५।

श्रीगोपालानन्दमुनविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अस्मिन्ममाक्रीडे नागदमनरूपक्रीडास्थाने ह्रदे उपोष्य उपवासं कृत्वा ॥ ६१ ॥ रमणकं नाम द्वीपं त्यक्त्वा यद्भयादेतं ह्रदं मत्पादेन लांछितमंकितं नाद्यात् न भक्षयिष्यति ॥ ६२ ॥ सादरं यथा तथा ॥ ६३ ॥ दिव्यांबरादिभिः पूजयित्वा स्रग्पुष्पमाला उत्पलं कमलं ॥ परार्ध्यैरमूल्यः गरुडः गरुडचक्रं ध्वजे ध्वजादंडे यस्य तं ॥ ६४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

य इति ॥ मदाक्रीडे मम विहारस्थाने, अस्मिन् ह्रदे, यः पुमान्, स्नात्वा, जलैः देवादीन् आदिशब्दात्पितॄनृषींश्च, तर्पयेत् उपोष्य उपवासं कृत्वा, मां स्मरन् अर्चेत्पूजयेच्च, सः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥ ननु गरुडभयाद्रमणकाख्यं सामुद्रं द्वीपं हित्वा, अस्मिन् ह्रदे प्रविष्टोऽस्मि पुनरितस्तत्रगतं मां सोऽद्यात्तत्राह ॥ द्वीपमिति ॥ हे कालिय रमणकं रमणकाख्यं, द्वीपं हित्वा, यद्भयाद्यस्य सुपर्णस्य भीतितः, एतं ह्रदं उपाश्रितः, सः सुपर्णः, मत्पादलाञ्छितं त्वां न अद्यात् । मत्पादलाञ्छितत्वाद्धेतोः सुपर्णस्त्वां न खाद्येदित्यर्थः ॥ ६३ ॥ एवमिति अद्भुतकर्मणाऽत्याश्चर्यरूपक्रियेण, भगवता कृष्णेन, एवमुक्तप्रकारेण, उक्तोभिहितः कालियः, तं श्रीकृष्णं मुदा पूजयामास । नागपत्न्यश्चापि, सादरं यथा तथा, पूजयामासुः ॥ ६४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कीर्तयन्निति : १०.१६.६१.

इदं मदनुशासनं श्रवणकीर्तनादप्यहो भवेदहिभयापहं भुवि भवांस्तु तत्संश्रितः।
अतः स्फुटमितः स्थितिस्तव विशेषतो निर्भया तमेवमनुबोधयन् स वरवाचमूचेऽच्युतः॥ ९३॥
उक्तं वचस्तेऽनतिलङ्घ्यमेव तथापि याचे प्रणयेन किञ्चित्।
भाव्या दयाब्धाविव ते दयालो स्थितिर्ममाब्धौ च विशेषनिर्भीः॥ ९४॥

पूजयामासेति : १०.१६.६४.

श्रीनायकानुग्रहसौख्यभाजो लक्ष्मेदमेव स्फुटमित्यहीशः।
संसूचयन्नर्जित सर्ववस्तुजातं हि कृष्णार्पणमेव चक्रे॥ ९५॥

कृष्णप्रिया

दयालु भगवान् वैष्णव वैष्णवेतर सर्व के लिए अनुग्रह करके कहते हैं कि जो कोई भी मनुष्य, मैंने तुम्हें जो आज्ञा सुनाई है उन आज्ञाओंका प्रातः काल एवं सायं काल के सन्ध्याकाल में स्मरण करेगा या तो कीर्तन करेगा उस को तुम्हारा भय नहीं होगा॥ ६१॥ भगवानने कहा कि -मेरे इस विहारस्थान कालीय कुण्ड में स्नान कर जो जन जलों से देव मनुष्य पितृ आदिका तर्पण करेगा तथा उपोषण व्रत कर मेरा स्मरण करते हुए मेरा समर्चन करेगा वह सर्व पापों से सर्वथा मुक्त हो जायगा॥ ६२॥ कालीय पर अधिक कृपा वरसाते भगवान बोले कि - हे कालीय ? जिस गरुडजी के भय से तुम रमणक द्वीप को छोडकर इस कालीय कुण्ड का तुमने आश्रय लिया है वे गरुडजी अब तेरा भक्षण नहीं करेंगे क्योंकि तुम मेरे चरणों के चिन्हों से चिन्हित हुए हो॥ ६३॥ श्रीशुकाचार्यजीने कहा हे राजन् ! कल्पनातीत कर्म करने वाले भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार के अभय वचन देकर जव कालीय को निर्भय वनाया, तव कालीय नाग एवं उसकी पत्नियोंने अत्यन्त भावपूर्वक प्रसन्न चित्त से भगवान का समर्चन किया॥ ६४॥

दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः। दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया॥ ६५॥
पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम्। ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः[1] परिक्रम्याभिवन्द्य[2] च॥ ६६॥
सकलत्रसुहृत्पुत्रो[3] द्वीपमध्ये[4] जगाम ह। तदैव[5] सामृतजला यमुना निर्विषाभवत्।
अनुग्रहाद् भगवतः [6]क्रीडामानुषरूपिणः॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराण पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे [7]कालियमोक्षणं नाम [8]षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः --दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः परार्ध्यैः अपि भूषणैः दिव्यगन्धानुलेपैः महत्या उत्पलमालया च गरुडध्वज जगन्नाथं पूजयित्वा प्रसाद्य च प्रीतः ततः अभ्यनुज्ञातः परिक्रम्य अभिवन्द्य च सकलत्रसुहृत्पुत्रः द्वीपमध्ये जगाम। तदा एव क्रीडामानुषरूपिणः भगवतः अनुग्रहात् सा यमुना अमृतजला निर्विषा अभवत्॥ ६५-६७॥

इति षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

परार्ध्यैः वहुमूल्यैः। नागपत्न्यश्च जगन्नाथं श्रीकृष्णं पूजयामासुरिति वचनव्यत्यासेन योज्यम्। मणिभिरिति। कृष्णप्रादुर्भावकाले तद्वक्षस्स्थ एवासीद् यः कौस्तुभः स एव तस्य नरलीलत्वशोभाव्याघाताऽभावार्थं तदलक्षितं कालियकोशागारे प्रविष्टोऽभूत्। अत एव वहुरत्नालङ्कारप्रदानसमये कालियपत्नीभिरपरिचित एव स्वीयरत्नविशेषज्ञानेन कौस्तुभो दत्तः। तदुक्तम् "कौस्तुभाख्यो मणिर्येन प्रविश्य ह्रदमौरगम्। कालियप्रेयसीवृन्दहस्तैरात्मोपहारितम्॥" इति गणोद्देशदीपिकायाम्॥ ६५॥ ततः भगवत्पूजानंतरम्। अब्धेर्द्वीपं रमणकम् प्रसाद्येति। भगवानपि कालियमूर्द्धस्व मगहृन्मतलनिधानेन तदीयपत्राङ्कतिमनाशयदिति

---

१. नागराजोऽभ्यनु-विज.। २. कृत्वाभिवाद्य तं-विर; क्रम्य प्रणम्य च-विज.। ३. तम्-श्रीधर.वंशी. वीर. विज.। ४ द्वीपमब्धे-विर. ५. मृष्टजला-इति कस्यचित्। ६. मनुज-विज.। ७. पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे-अन्यत्र अयं पाठो दृश्यते। ८. चतुर्दशोऽध्यायः-विज.

भावः। गरुडध्वजं प्रसाद्येति। भो गरुडवाहन प्रभो सम्प्रत्यहं गरुडस्य ज्येष्ठभ्रातृदासोऽभूवमतः कदाचिद्दूरदेशगमनेऽहमपि वाहनत्वेन स्मर्तव्यः, निमेषमात्रेणैव शतकोटियोजनगामी दासानुदास इति तद्भक्तिर्गम्यते। अतः कालियाऽऽरूढ एव कंसनिर्दिष्टः कृष्णो मथुरां जगामेति पुराणान्तरे कथा क्वचिच्छ्रूयत इति ॥ ६६ ॥ तदैव कालियनिर्गमनावसरे सा यमुना अमृतमिव स्वादु जलं यस्याः सा। तत्र हेतुः—निर्विषेति। यद्वा अमृतं मोक्षकरं जलं यस्याः सा निर्गतं विषं विषवद्दुःखहेतुः संसारो यया सा। तथा अमृतस्य विषनाशकत्वप्रसिद्धेः "न जलं यमुनावारि साक्षाद्ब्रह्मैव केवलम्" इत्यादिपुराणाद्ब्रह्मज्ञानवन्मोक्षदायिनीति भावः। क्रीडामानुषरूपिण इति। क्रीडोपयोगिमनुष्यनाटचवत इति विश्वनाथः॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे षोडशोऽध्यायः

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

दिव्येति सार्द्धद्वयम्। दिव्येत्यादिविशेषणैर्मर्त्यलोकिकतो वैशिष्ट्यम् अत एव माल्यादीनां विषदोषास्पर्शादिकं च ज्ञेयं प्रायस्तेषां सङ्कल्पसिद्धत्वं च जगतां नाथं पूजयित्वेति तत्पूजयैवेह लोके परत्र च जगति सर्वत्रैव स्वतो मङ्गलं वृत्तमिति गरुडध्वजं प्रसाद्येति श्रीगरुडादपि भयं निवृत्तमिति भावः। प्रीतः सन्तुष्टमनाः यद्वा तस्मिन् प्रीतः जातप्रीतः यद्यपि तस्य गमनेन कलत्रादिसहितस्यैव तस्य गमनं स्वत एवायाति तथापि सकलत्रेति ज्ञात्यपत्यदाराढ्य इति श्रीभगवन्निदेशानुवर्त्तित्वं ज्ञापितं ह स्फुटमेव सा सर्वोपघातकर्दुर्विषमयजलापि तत्र ह्रदविशिष्टे प्रदेशे निर्विषतापत्यैव तस्या निर्विषत्वमुक्तं न केवलं निर्विषा अमृतजला परममिष्टतोया न श्रीभगवच्चरणसंसर्गेण परमानन्दप्रदजलापि वाऽभवत् तादृशं च सामर्थ्यं तस्य न किञ्चिदपीत्याह, भगवत इति। तत्र प्रयोजनं क्रीडेति क्रीडायुक्तश्चासौ प्रसिद्धमानुषस्यैव यद्रूपमाकारस्तद्विद्यते यस्य स च तस्य तया च सा स्वमानुष्यलीलोपयिको स्यादिति भावेनेत्यर्थः॥ ६५–६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

मुक्तो मूर्द्धतोऽवतरेण परित्यक्तः, यद्वा, विससर्ज्जेति पूर्व्वमेव मुक्तोऽस्ति, तदनुवादमात्रम्। अद्भुतकर्म्मणेति निर्व्वासनदमनादिना निगृहीततया प्रसिद्धोऽप्यासौ निजपूर्व्वसुखवसतिस्थानं प्राप। यद्भयात् स्थानं तत्याज तदपगतम्, विशेषतश्च श्रीवैष्णवाग्रचस्य तस्य सख्यं सम्मान्यत्वञ्च श्रीभगवत्पादाब्जचिह्नितो जातम्, किञ्च, ब्रह्मादिसेव्य-लक्ष्मीप्रार्थ्य-तत्पादाब्जरेणुभिस्तादृश-नृत्यलीलया पर्य्यर्चिताः सर्व्वे मूर्द्धानः सफला बभूवुः, तत्र च सर्व्वे फणास्तन्नृत्यरंगस्थलाः प्रत्येकं वृत्ताः। श्रीब्रह्माद्यपेक्ष्य-श्रीभगवदनुशासनं लब्धम्, तेन च साक्षात्तन्मधुरवचनामृतं पीतम्, पश्चात् परमभक्तवत् पूजादिकञ्च कृतम्, इत्थं बहिर्दृष्टचा निग्रहस्याप्यनुग्रहविशेषे क्रोधस्यापि परमप्रसाद एव पर्य्यवसानात्। अपि च तादृशापराधिनोऽपि तत्र च दमितस्यैव सतो हृदा शरणागतिमात्रेण तादृशानुग्रहात्, किञ्च, श्रीवृन्दावने यमुनातीरे सर्व्वत्र व्रजजनैः सह स्वच्छन्दसुखक्रीडार्थं ततो निःसार्य्यस्यापि तस्य श्रीवृन्दावनावितस्य निःसारणं साधुनामसम्मतमिति तस्य सहजदुष्टताप्रदर्शनाय गोगोपादीनां तद्विषजलपानेन तादृशावस्थायाः स्वस्यैव तादृशतायाः साधुवर्गमूर्द्धन्यपरेषु श्रीनन्दादिषु प्रदर्शनात्, किञ्च तदर्थं श्रीनन्दयशोदादीनां तादृशशोकादिविस्तरणात्, तथा परदुःखकातरस्यापि तस्य मुहूर्त्तं साक्षात्तद्व्रजजनतादृशदुःखसहनात्, किञ्च, (भा. १०।३१।११) "चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्" इत्यादिगीयमानपरमसौकुमार्य्यपादाब्जस्पर्शेन रत्ननिकराचिततन्मूर्द्धवर्ग-चूर्णनात्, तथा तादृशैश्वर्य्यप्रकटनसमये मुनिसिद्धादिसाक्षादेव महानृत्यकौतुकात्, तथापि परिभ्रमद्विलोललक्षणगणेषु गतिकलारक्षणमित्यादिकमपि तस्यैवाद्भुतकर्म्मत्वमेवेति दिक्। अलमतिविस्तरेण। एतदेव तस्य भगवत्त्वाविशेषप्रकटनमित्याह—भगवतेति। इदञ्चाशेषं सर्व्वज्ञत्वाच्छ्रीशुकदेवोऽवददिति श्रीऋषिः सर्व्वदर्शी। उवाचेति सूतोक्तिः। राजन् हे बुद्धचादिना प्रकाशमानेति, एतदद्भुतकर्म्मत्वं सहेतुकतया बुद्धचत एवेति भावः। यद्वा, राजन् श्रीभगवदनुग्रहेण सद्यो रुधिरस्रावपीडादिनिवृत्या तत्पादाब्जस्पर्शविशेषेण देहशोभाभवसम्पत्त्या च द्योतमानः साक्षादित्यर्थः। पूजयामास कालियः 'नागपत्न्यश्च' इति पाठः स्पष्टः। मुदेति श्रीभगवत्तत्तदनुग्रहानुसन्धानात् पूजास्वभावाद्वा, सादरं सप्रेमेति तासां भावविशेषोत्पत्तेः। अतस्तासां हस्तैरेवाम्बरादिपरिधापनं गन्धानुलेपनञ्च ज्ञेयम्॥ ६५॥ दिव्येत्यादि सार्द्धद्वयकम्। दिव्येत्यादिविशेषणैर्मर्त्यलोकीयतो वैशिष्ट्यम्, किंवा तस्य सर्व्वस्वसारार्पणमभिप्रेतम्। पूजयित्वेत्यनुवादः, यद्वा, प्रस्थानार्थं पुनः पुनः पूजयित्वा, जगतो नाथं पूजयित्वेति तत्पूजयैवेह लोके परत्र च जगति सर्व्वत्रैव स्वतो मंगलं वृत्तमिति, तथा गरुडध्वजं प्रसाद्येति तत् श्रीगरुडादपि भयं समयङ्निवृत्तम्, तत्प्रसादोऽपि सुतरामभूद्रमणकद्वीपे च शीघ्रं शुभगमनमिति भावः। ततः पूजानन्तरमेव, प्रीतः सन्तुष्टमनाः, यद्वा, तस्मिन् प्रीतो जगन्नाथे जातप्रेमेत्यर्थः। यद्यपि तस्य गमनेन कलत्रादिसहितस्यैव तस्य गमनं स्वत एवायाति, तथापि सकलत्रेति कलत्राणां श्रीभगवति भावविशेषमालक्ष्य तासां तत्सम्बन्धेन पुत्रादीनामपि तत्रावस्थितिमाशंक्य तैः सहितः संहत्यैव जगाम, (भा. १०।१६।६१)—'ज्ञात्यपत्यदाराढ्यः' इति श्रीभगवन्निदेशात्। ह स्फुटमेव, श्रीकालिन्दीतः कालियो नदी-वर्त्मना गंगया तरसमुद्रगमनस्य सर्व्वैरेव साक्षाद्दर्शनात्॥ ६६–६७॥ तदैव तस्मिन्नेव क्षणे सा सर्व्वोपघातकर्दुर्विषमय-

जलानि तत्र ह्रदविशिष्टे प्रदेशे निर्विषतापत्त्यैव तस्या निर्विषत्वमुक्तम्, न केवलं निर्विषा, अमृतजला परममिष्टतोया च संसारदुःखनिवर्त्तकजलापि वा अभवत्, भगवतो निजभगवत्तां प्रकटयत इत्यर्थः। अतः क्रीड़ायुक्त क्रीड़ार्थं वा यन्मानुषरूपं तद्वतः, अतस्तद्विचित्रक्रीड़ासौभाग्यं सा प्राप्स्यतीति भावः। यद्वा, रूपं सौन्दर्य्यं क्रीड़ायुक्तमनुष्यसौन्दर्य्यवत इत्यर्थः, अतो यमुनापि तदनुरूपैव युक्तेति भावः। यद्वा, क्रीड़ामानुषा व्रजजनास्तानेव रूपयितुं सुखयितुं शीलमस्येति तदेकप्रियता तस्य बोधिता, अतस्तेषां सुखक्रीड़ार्थमिति भावः॥ ६८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीशीलसनातनगोस्वामिपादकृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दिव्याम्बरादिभिः पूजयामासुः परार्घ्यैरनर्घैः ततस्तं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्याभिवाद्य च॥ ६५-६६॥ कलत्रादिभिः सहितः अब्धेः द्वीपं रमणकाख्यं जगाम क्रीडनार्थं न तु कर्मफलभोगार्थं मानुषं रूपमस्यास्तीति तथा तस्य भगवतोऽनुग्रहात्तदैव सा यमुना निर्विषा अमृतजला चाभवत्॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

परार्घ्यैरनर्घ्यत्वेनोत्तमैः॥ ६५-६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां षोडशोऽध्यायः॥ ५२॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोदशः)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सादरमिति पूर्वश्लोकोक्तेर्हे प्रभो! दुष्टतायाः परमावधिरूपे मयि कृपायाः परमावधिरर्पितं त्वया यदहो प्राकृताप्राकृतलोकेषु मदन्यः कोपि ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नानि स्वमूर्द्धनि न धत्ते तदहं साम्प्रतं श्रीमदङ्गानि मद्दन्तदंशोत्पन्नविषदाहतप्तानि सुगन्धसुशीतलचन्दनरसेन सस्त्रीक एव पाणिभिः स्पृशन्ननुलिम्पानि शृङ्गारजानि चेत्यतः क्षणमत्रैव दिव्यासने उपविशेत्युपवेश्य स्ववाञ्छितं पूरयित्वा लब्धभगवत्प्रसादस्ततो निर्जगामेत्याह- दिव्येति सार्द्धद्वयेन। मणिभिरिति कृष्णप्रादुर्भावकाले तद्वक्षःस्थल एवासीत् यः कौस्तुभः स एव तस्य नरलीलत्वशोभाप्रघाताभावार्थं तदैवालक्षितं कालियकोषागारमध्ये प्रविष्टोऽभूत् अत एव बहुरत्नालङ्कारप्रदानसमये कालियपत्नीभिरपरिचित एव स्वीयरत्नविशेषज्ञानेन कौस्तुभो दत्तः यदुक्तम्।

"कौस्तुभाख्यो मणिर्येन प्रविश्य ह्रदमौरगम्। कालियप्रेयसीवृन्दहस्तैरात्मोपहारितः"॥ इति

गणोद्देशदीपिकायां प्रसाद्येति भगवानपि कालिमूर्द्धस्वभयहस्ततलनिधानेन तदीयसर्वाङ्गव्यथामुपशमयामासेति भावः। गरुडध्वज प्रसाद्येति भो गरुडवाहन! प्रभो! सम्प्रत्यहं गरुडस्य ज्येष्ठभ्रातुर्दासोऽभूवम् अतः कदाचिद्दूरदेशस्य गन्तव्यत्वे सत्यहमपि स्ववाहनत्वेन स्मर्तव्यो निमेषमात्रेणैव शतकोटियोजनगामी दासानुदास इति तदुक्तिर्गम्यते अतः कालियारूढ एवं कंसनिर्दिष्टः कृष्णो मथुरां जगामेति पौराणिकी कथा क्वचित् श्रूयते इति क्रीडामानुषरूपिण इति नित्ययोगे इनिः॥ ६५-६७॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। दशमेऽस्मिन् षोडशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ १६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

क्रीडार्थं मानुषेषु यदाविष्कृतमप्राकृतरूपं तदस्यास्तीति। क्रीडामानुषरूपी तस्य॥ ६७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे षोडशाध्यायार्थप्रकाशः॥ १६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अद्भुतकर्मणेति कुसुमसुकुमारयोः पादयोः स्पर्शेन रत्ननिकराचितानां मूर्द्ध्नां चूर्णनात् परिभ्रमविलोलेषु तेषु गतिकलाभिरक्षणाच्च कालियाद्व्रजस्य गरुडात् कालियस्य च परित्राणेन हिंस्यहिंसकयोरुभयोरपि मङ्गलविधानाच्च॥ ६५॥ सादरमिति पूर्वोक्तेः, हे भगवन् अतिदयालो! चेद् ब्रह्मादिदुर्लभानि स्वपादचिह्नानि मन्मूर्द्धस्वर्पितानि तर्ह्यस्मतकरैर्मण्डनं स्वीकुर्विति दिव्यासने प्रभुमुपवेश्यालङ्कृत्य लब्धतत्प्रसादो ह्रदान्निर्जगामेत्याह—दिव्येति सार्द्धाभ्याम्। परार्द्धैरपि भूषणैरिति जन्मवेलायां यः कौस्तुभो वक्षस्यासीत् स एव कालियकोषे प्रवेश्यास्यात्, स च तत्पत्नीभिः स्वरत्नसंसर्गेण प्रभवे निवेदित इत्याहुः—प्रसाद्येति

प्रसादवेलायां तन्मूर्द्धस्वभयहस्तप्रदानेन तद्व्यथायाः क्षतिरासीत्। गरुडध्वजमिति गरुडाद्भयञ्च न्यवर्त्ततेति भावः ॥ ६६ ॥ यमुना निर्विषेति यद्यपि ह्रदो निर्विषस्तथापि तस्य यामुनत्वात्तद्धर्मस्तस्यामुच्यते इति बोध्यं क्रीडाप्रधानो मानुषरूपीति नित्य-योगे मतुबर्थीयः मानुषस्येव रूपमङ्गसंस्थानसौष्ठवलक्षणं सौन्दर्यं यस्यास्ति तस्य ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतश्रीवैष्णवानन्दिन्यां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

परार्ध्यैर्महामूल्यैर्गन्धाः सुगन्धिद्रव्यानुलेपा मल्लिकातैलाद्यास्तैः ॥ ६५ ॥ गरुडध्वजमित्यनेन तन्निश्चिन्ततां ध्वन-यति ॥ ६६ ॥ पूर्वं दाराणामुदारस्नेहपात्रत्वेऽपि कृष्णेन ज्ञात्यपत्यानन्तरमुक्तिस्तत्पक्षपातान्मोचनमिति न प्रकाशयितुमत्र सकलत्रेति तत्पुरस्कृतिस्तुतस्तस्य सर्वापेक्षया मूलस्वादिदानीं स्तुतितः स्वमुक्तिकर्त्रिति निमित्तत इति ज्ञेयम् ॥ ६७ ॥ प्राङ्निर्विषा नितरां विषरहिता यमुना तदैवामृतजला तत्तलसलिलाऽभवत्। क्रीडामनुजरूपिणो भगवतोऽनुग्रहादिति हेतूक्तिः ॥ ६८ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

पूजासाधनान्याह दिव्येति दिव्यान्यम्बराणि स्रजो माला मणयश्च सर्पशिरोरत्नानि परार्ध्यान्यमूल्यानि भूषणानि मुकुटकटककेयूरादीनि, दिव्यो गन्धो येषां एतादृशा अनुलेपाश्च चतुःसमादयो महती चोत्पलानां माला एवमलङ्कारचतुष्टयमपि कृतवान् ॥ ६५ ॥ ततः पूजयित्वा प्रसाद्याब्धेर्द्वीपं जगामेतिसम्बन्धः, ननु पीडितः कथं पूजां कृतवान्? तत्राह जगन्नाथमिति स हि सर्वस्वामी तत्रापि रक्षकः स एवेति युक्तमेव तदाज्ञाकरणं, ततः प्रार्थितवान् प्रसन्नो भवेति, तत्र हेतुमप्याह गरुडध्वजमिति गरुडो ध्वजे यस्य, कोट्यंशेनापि भगवान् न प्रसन्न इति यदि गरुडो जानीयात् तं भक्षयेदेव, अतः प्रसादः करणीय एव ततो भगवत्प्रसादानन्तरं प्रीतः सन्तुष्टो भगवता चाभ्यनुज्ञातः प्रथमतस्तु क्रोधेनाज्ञातेन बुद्ध्या ततोप्यनुज्ञातः परिक्रम्य प्रदक्षिणी-कृत्याभिवन्द्य च सम्भृतिं कृत्वा सर्वसहायोऽब्धेर्द्वीपं सर्वेषामगम्यं जगामेति, हेत्याश्चर्यम् ॥ ६६ ॥ तस्मिन्निर्गत एव तदैव भगवत्कृपया सा यमुना मिष्टोदकाभवत् निर्विषा च, न केवलमत्रामृतत्वं मिष्टतामात्रपरं किन्तु मरणनिवर्तकमपि, सहजोपि यमुनायां यो दोषो विषादिः स्थितः सोपि गतः, तत्र हेतुरनुग्रहाद् भगवत इति, न केवलं कालीयगमनेन निर्विषा जाता किन्त्वनु-ग्रहाद् भगवतः क्रीडायाः करिष्यमाणत्वात् तस्यामनुग्रहः, ज्ञानादिकं तु सूचयति भगवत इति, ननु किमिति क्रीडा तस्यां कर्तव्या? तदाह क्रीडामानुषरूपिण इति, क्रीडार्थमेव मानुषरूपवान्, अतोवश्यं यमुनायां क्रीडा विघातश्चातः प्रसाद इति, अनेन यमुनायाः सर्वदोषनिवृत्तिः सूचिता ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पूजयित्वेत्यत्र ततः प्रीत इति क्रोधे नाज्ञानेन बुद्ध्येति क्रोधेज्ञानेन कृतापराधस्ततो भगवति सद्बुद्ध्या प्रीत इत्यर्थः ॥ ६६ ॥ तदैवेत्यत्र प्रसाद इति स्वधर्माविष्करण, [अनेनेत्यादिप्रसादस्य करिष्यमाणत्वकथनेन निरोधरूपा सर्वदोषनिवृत्तिः सूचितेति ज्ञेयं, पाद्मोत्तरखण्डे तु कालीयदूरीकरणस्य दिनमप्युक्तं "निदाघान्ते तु दश्म्यां कालीयं निरयापय" दिति अयं वीर्याध्यायः स्पष्टः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धश्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

जगन्नाथमित्यत्र सर्वस्वामित्वेपि प्रकृते न कोपि विशेष इत्यत आहुस्तत्रापीति, "स वै पतिः स्या" दितिलक्षणकं नाथत्वमभिप्रेतमिति ज्ञेयम् ॥ ६६ ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दिव्यत्वमलौकिकत्वम्, सङ्कल्पसिद्धत्वात् ॥ ६५ ॥ एवं कलत्रादिभिः सहितः कालियस्तं जगन्नाथं जगतः स्वामिनं कृष्णं पूजयित्वा प्रसाद्य प्रसन्नं च कृत्वा तेनाभ्यनुज्ञातः 'सुखं गच्छ' इति दत्ताज्ञः स्वयमपि प्रीतस्तं परिक्रम्याभिवन्द्य च ततः स्थानाद् अब्धेः समुद्रस्य मध्यस्थं रमणकं द्वीपं जगामेति सार्धान्वयः। भगवच्चरितस्य आश्चर्यं सूचयन्नाह—हेति। "यदि तमप्रसन्नं कृत्वा गच्छेत्तदा 'मत्स्वामिद्रोहमप्ययं कृतवान्' इति कृत्वा क्रुद्धः पूर्ववैरी गरुडो हठादेव तं भक्षयेत्" इति सूचयन्नाह—गरुडध्वज-मिति ॥ ६६ ॥ तदैव तत्क्षणमेव क्रीडामानुषरूपिणः जनोद्धारोपयोगिक्रीडाकरणार्थं मनुष्यरूपेणावतीर्णस्य भगवतः कृष्णस्यानुग्रहात् विषधरस्य कालियस्य निःसारणात् तत्र क्रीडनाच्च सा यमुना निर्विषा विषसम्बन्धरहिता अमृतजला अमृतवत् स्वादु जलं यस्याः सा, यद्वा अमृतं स्नानाचमनपानादिमात्रेणापि जन्मादिहेतुदोषनिरासेन मरणनिवर्तकं मोक्षप्रदं जलं यस्यास्तादृशी चाभवत् ॥ ६७ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना ॥ श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ॥ श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने ॥ षोडशो विवृतोऽध्यायः कालियोद्धासबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पूजयित्वेति सार्द्धम् ॥ एवं कलत्रसुहृत्पुत्रसहितः कालियो गरुडध्वजं जगतां नाथं कृष्णं पूजयित्वा प्रसाद्य प्रसन्नं च कृत्वा तेनाभ्यनुज्ञातः सुखं गच्छेति दत्ताज्ञः स्वयमपि प्रीतस्तं परिक्रम्याभिवन्द्य च ततः स्थानात् अब्धेः समुद्रस्य मध्यस्थं रमणकं द्वीपं जगाम ॥ ६६ ॥ तदैवेति ॥ तदैव तत्क्षणमेव क्रीडार्थं मानुषरूपिणः भगवतः कृष्णस्यानुग्रहात् सा यमुना निर्विषा विषसंबन्धरहिता अमृतजला अमृतवत्स्वादु जलं यस्या तादृशी अभवत् । ह्रददेशाभिप्रायमिदम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् ॥ गङ्गासहायो निरमाद्दशमस्कंधषोडशे ॥

इति श्रीभागवते महापुराणे दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तं श्रीकृष्णमभिवंद्य नत्वा स्वपत्न्यादिसहितः अब्धेः समुद्रस्य द्वीपं रमणकम् ॥ ६५ ॥ क्रीडार्थं असंख्यजीवकल्याणजनकः मानुषं मनुष्यभावयुक्तं रूपमस्ति यस्य तस्य क्रीडामानुषरूपिणः ॥ ६६ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेंद्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने कालियदमनं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यैः पूजां चक्रुस्तद्द्रव्याणि प्राह ॥ दिव्येति ॥ दिव्याम्बरस्रङ्मणिभिः, परार्ध्यैरनर्घ्यैः, भूषणैराभरणैः अपि, महत्या उत्पलमालया सह, दिव्यगन्धानुलेपैश्च, पूजयामासेति पूर्वेण संवन्धः ॥ ६५ ॥ पूजयित्वेति ॥ एवं जगन्नाथं पूजयित्वा, गरुडध्वजं प्रसाद्य च, ततः प्रीतः गरुडभयनिवर्त्तनश्रवणेन प्रसन्नतां प्राप्तः, अभ्यनुज्ञातः श्रीकृष्णेन गमने दत्ताज्ञः, सकलत्रसुहृत्पुत्रः स्त्रीभिः सुहृद्भिः पुत्रैश्च सहितः, स कालियः नागः, तं श्रीकृष्णं, परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, अभिवाद्याभिवादनं कृत्वा, अब्धेः समुद्रस्य, द्वीपं प्रति, जगाम हेति हर्षे ॥ ६६ ॥ तदैवेति ॥ क्रीडार्थं न तु कर्मफलभोगार्थं मानुषं रूपमस्यास्तीति तस्य, भगवतः अनुग्रहात्, तदैव अस्मिन् क्षणे कालियेन त्यक्ता तत्क्षणत एवेत्यर्थः । सा यमुना, निर्विषा सती,अमृतप्रायं जलं यस्यास्तथाभूता अभवत्, ॥ ६७ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसुनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सकलत्रेति : १०.१६.६७

जाते श्रीशानुग्रहे निर्भयः स्यात्प्राणी संसृत्यब्धिवेलास्थितोऽपि । मुक्तिर्भोग्याद्दृष्टभोगं विना नेत्यासीद् व्यक्तं तत्र तत्प्रेषणेन ॥ ९६ ॥

श्रीमान् प्रभो सदय तावदनुग्रहोऽयं कार्योऽस्ति ते मनसि यत्र जने भवाब्धौ ।
यत्नं विधाय भगवन् स्वयमेव तत्र गच्छन् प्रसादसुमुखो भवसीत्यगूढम् ॥ ९७ ॥

भगवत्पदपद्मचिह्नितो यः स हि लोकेष्वकुतोभयः सदैव । स्फुटतादृशकालियप्रमाणादपरं मानमपेक्ष्यते न किञ्चित् ॥ ९८ ॥

जडजातमिदं विशोधितं तत् परमं भुव्यभृतं तदेव भूयात् । निगमान्तरहस्यमेवमस्मिन् यमुनावार्यमृतोक्तितः स्फुटार्थम् ॥ ९९ ॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

कालीय नाग ने अलौकिक दुकूल-अम्बर वस्त्र, दिव्य वनमाला, मस्तक के मणि रत्न, अत्यन्त अमूल्य आभूषण, केसर-कस्तूरी-चन्दन-अरगजा ये चारों जिसमें समान हैं वैसे दिव्य चन्दन का लेपन एवं कमलों की आपादलम्बिनी दिव्य मालाओं से गरुडध्वज जगन्नाथ भगवान का समर्चन किया तब कालीय नाग की भक्ति से भगवान प्रसन्न हुए और कालीय नाग ने आनन्द प्राप्त किया, तदन्तर भगवान की अनुज्ञा प्राप्तकर प्रदक्षिणा की, प्रभु के चरणों में प्रणाम किया पुनः अपनी पत्नियों, पुत्रों ज्ञातिबन्धुजन को साथ लेकर समुद्र के भीतर जो रमणक द्वीप था वहाँ चला गया ॥ ६५-६६ ॥ कीड़ा के लिए मनुष्याकृति धारण करने वाले भगवान श्रीकृष्ण के अनुग्रह से उसी समय (जब कालीय ने निरसन किया) भगवती श्रीयमुनाजी का जल पूर्व की भांति निर्विष एवं अमृतमय यथापूर्व बन गया ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध निरोधलीला तामस प्रकरण के प्रमेय प्रकरण का वीर्य निरूपक नाम का सोलहवाँ अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
२५	२३	२	२	८३२	१०	४०	८८२	२७॥	२

राजोवाच

नागालयं रमणकं कस्मात्तत्याज कालियः । कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

श्रीशुक[1] उवाच

उपहार्यैः [2]सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः । वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ् निरूपितः ॥ २ ॥

स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः [3]पर्वणि पर्वणि । गोपीथायात्मनः[4] [5]सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥

विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालीयः । कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे[6] [7]बली ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—राजा उवाच—कालियः रमणकं नागालयं कस्मात् तत्याज, वा तेन एकेन किं सुपर्णस्य असमञ्जसं कृतम् ॥ १ ॥ श्रीशुक उवाच–हे महाबाहो उपहार्यैः सर्पजनैः इह मासि मासि नागानां यः वानस्पत्यः बलिः प्राङ् निरूपितः ॥ २ ॥ सर्वे नागाः आत्मनः गोपीथाय पर्वणि पर्वणि महात्मने सुपर्णाय स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति ॥ ३ ॥ काद्रवेयः विषवीर्यमदाविष्टः बली कालियः गरुडं कदर्थीकृत्य स्वयं तं बुभुजे ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नागं सप्तदशे नागालयं तं निरयापयत् ॥ बंधूत्स्वदुःखतः श्रांतान्सुप्तांस्तत्र दवादपात् ॥ १ ॥

असमंजसमप्रियम् ॥ १ ॥ उपहार्यैर्भक्ष्यैः सर्पजनैः सर्पायत्तैर्जनैः । वानस्पत्यो वनस्पतेर्मूले देयो नागानां तद्बाधापरिहाराय यो बलिः प्राक् निरूपित उपकल्पितः ॥ २ ॥ ते च नागाः स्वं स्वं भागं जनैर्दत्तं सुपर्णाय प्रयच्छंति ततो भीतः गोपीथाय रक्षणाय ॥ ३ ॥ विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाविष्टः काद्रवेयः कद्रूपुत्रः । गरुडं कदर्थीकृत्याविगणय्य । यद्वा उपहार्यैः सुपर्णभक्ष्यैः सर्पा एव जनास्तैर्नागानां संबंधि यस्मिन्नेकैको नागो दीयते तथाभूतो यो बलिः सुपर्णाय निरूपितस्तत्र स्वं स्वं भागं सर्वे नागाः प्रयच्छंति कालियस्तु न प्रयच्छति किं त्वन्यैर्दत्तमपि तं बलिं स्वयमेव बुभुजे ॥ ४–५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तं नागं कालियम् । निरयापयत् निष्कासितवान् । तत्र कालिंदीतटे । दवात् वनाग्नेः (१) । समञ्जसम् प्रियम् 'प्रिये योग्ये समंजसम्' इति कोशात् । तद्भिन्नम् असमंजसम् ॥ १ ॥ बलिरुपहारः 'बलिः पूजोपहारयोः' इति विश्वः । हे महाबाहो इति । यथा महाराजस्य पराक्रमेण वैरिणोऽपि राजानो बलिं हरंतीति भावः । सर्पायत्ता जनाः सर्पजनाः । शाकपार्थिवादिरयम् । तद्बाधा नागबाधा तन्निवृत्तये । यद्वा—वानस्पत्येऽमायां प्रतिमासं सर्पभीनिवृत्त्यर्थं सर्वे लोकास्तेभ्यो बलिं ददतीत्यर्थः । वनस्पतिं गतः सोमो यत्र स वानस्पत्यो दर्शः "अमायामुडुराजो हि सदा याति वनस्पतिम् । वानस्पत्यं ततस्तस्या नाम वै प्रोच्यते बुधैः ॥" इति कोशात् । उपहार्यैः सर्पभक्ष्यभूतैस्तत्पूजकैर्वा ॥ २ ॥ पर्वणिपर्वणि दर्शेदर्शेऽवसरेऽवसरे वा "पर्व क्लीबे महे ग्रंथौ प्रस्तावे लक्षणांतरे । दर्शप्रतिपदोः संधौ विषुवत्प्रभृतिष्वपि ॥" इति मेदिनी । ततः सुपर्णात् । महात्मने बलवत्तराय ॥ ३ ॥ शास्त्रांतरसंमत्या क्लिष्टकल्पनया च पूर्वव्याख्यानमसंमतमिव मत्वाह–यद्वेति । पुराणांतरे—"एकैकं हि ददुर्नागं नागास्ताक्ष्र्याय रक्षया" इत्युक्तेः तत्र तेषु ॥ ४ ॥

---

१. बादरायणिरुवाच–गो. प्रे. टी. । २. सर्वजने–वीर. । ३. पर्वणि कल्पिते–वीर. । ४. त्मनां–वीर. । ५. भीता–इति कस्यचिद् । ६. स्वयं तां–विज. । बलिम्–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अभीष्टलीलासिद्धया श्रीभगवतस्तदभ्युदयदर्शनेन श्रीव्रजस्य च स्वस्थतामाकर्ण्य स्वस्थः प्रीतमनाः सन् कथामध्य एव कथासौष्ठवाय तत्पूर्ववृत्तं पृच्छति—नागेति । नागानामालयं स्वभावतः सर्पवर्गस्य वसतिस्थानं ननु गरुडस्येत्यर्थः । अतो बहवो नागास्तत्रान्ये निवसन्त्येवेति भावः । ननु यद्भयादिति तत्सूचितमेव तत्राह कृतं किमिति वाशब्दः कटाक्षे ॥ १ ॥ उपेति त्रिकम् । हे महाबाहो ! इति यथा भवतो महाराजस्य पराक्रमेण वैरिणोऽपि राजानो बलिमुपहरन्तीति भावः ॥ २ ॥ पर्वणि पर्वणि प्रति पञ्चदश्यन्तं महात्मने अपरिच्छिन्नशक्तय इत्यर्थः । अयं भागप्रदाने हेतुः ॥ ३ ॥ पश्चात् विषवीर्य्याभ्यां मदाविष्टः सन् काद्रवेय इति भ्रातृत्वं च मदे हेत्वन्तरं ज्ञेयं कदर्थीकृत्य तदनादरेण तच्छ्रुत्वेति वक्ष्यमाणात् तदीयेभ्यो बलाद्ग्रहणेनैव वा कदर्थीकृत्य स्वयं तु स्वयमेव ॥ ४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

श्रीभगवतः स्वस्थतां महादुष्टेऽपि कारुण्यविस्तारणञ्चाकर्ण्य स्वस्थः प्रीतमनाः सन् श्रीवृन्दावनयमुनाश्रयेण कालियस्य तस्मिन् ह्रदे श्रीगरुडाद्भयमपगतम्, अन्येन वा केनापि हेतुमिति तथा तादृशमहातीर्थे तस्य दुष्टस्य निवासे को हेतुरिति च विज्ञातुं कथान्तरे वौत्सुक्येन तत् पूर्व्ववृत्तं पृच्छति—नागेति । नागानामालयं स्वभावतः सदा सर्पवर्गवसतिस्थानम्, न तु गरुड़स्येत्यर्थः । अतो बहवो नागास्तत्र निवसन्त्येवेति भावः । तत् कस्मात् कारणादिति, श्रीवृन्दावनयमुनाश्रयणार्थं किंवान्येन केनापि हेतुनेत्यर्थः । ननु यद्भयादिति तत् सूचितमेव, तर्हि श्रीगरुड़ात् सर्व्वेषामेव नागानां साधारण्येन स्वतो भये वर्त्तमानेऽपि विशेषतस्तस्यैकस्य भये किं कारणमिति पृच्छति कृतमिति । वाशब्दः कटाक्षे, तत् कथयेति शेषः ॥ १ ॥ उपेति त्रिकम् । उपहार्य्यैरिति तैर्व्यञ्जितम् । यद्वा, उपहार्य्यैर्बलिदानयोग्यैः सर्पाणां जनैः सेवकैः कृत्वा तद्वरेत्यर्थः । इह नागालये वानस्पत्यः फलमूलादिर्निर्मितो यो बलिर्नागानां नागैः कर्त्तृभिः प्राक् प्रथमं निरूपितो दातुं निश्चितः । हे महाबाहो, इति यथा भवतो महाराजस्य पराक्रमेण वैरिणोऽपि राजानो बलिमुपहरन्तीति भावः ॥ २ ॥ पर्व्वणि पर्व्वणि प्रतिदर्शम्, महात्मने अपरिच्छिन्नशक्तय इत्यर्थः, अयं भागप्रदाने हेतुः । यद्वा महाशयाय फलादिबलिप्रदानमात्रेणैव सहजवैरिष्वपि सन्तुष्टायेत्यर्थः ॥ ३ ॥ पश्चाद्विषवीर्य्याभ्यां मदाविष्टः सन्, काद्रवेय इति भ्रातृत्वञ्च मदे हेत्वन्तरं ज्ञेयम्, कदर्थीकृत्य तदनादरेण तदीयेभ्यो बलाद्ग्रहणेनैव वा ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

उपहार्यैः निवेद्यभूतैः सर्पजनैर्यो बलिः सर्परूपबलिरित्यर्थः । यो बलिस्तस्य स्थाने निरूपित इत्यर्थः । वानस्पत्यः वनस्पतिरपुष्पफलवृक्षः वृक्षविशेषमूले कल्पितः यद्वा, वनस्पतिगते चन्द्रे अमावास्यायां प्रवर्त्तमान इत्यर्थः ॥ २ ॥ गोपीथाय रक्षणाय ॥ ३-६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुक्तं "द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः । यद्भयात्" इति, तत्र कालियस्य द्वीपत्यागनिमित्तस्य सुपर्णाद्भयस्य निमित्तं बुभुत्सुः पृच्छति राजा—नागालयमिति । नागालयमित्यनेन तद्द्वीपस्थानां नागानां सुपर्णाद्भयमस्तीति सूचितम् । अत एव पृच्छति कृतमिति । तेनैकेन कालियेन स्वस्य भयनिमित्तं सुपर्णस्यासमञ्जसमप्रियं किं कृतम् अन्येषु निर्भयेषु सत्स्वप्यनेन स्वभयनिमित्तं किमप्रियं कृतम् अन्येषां वा भयाभावनिमित्तं च किमिति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥ तावत्तत्रत्यानां नागानां सुपर्णाद्भयाभावनिमित्तमाह—उपहार्य्यैरिति । हे महाबाहो ! प्राक् पुरा काले सर्पजनैः सर्पा नो मा दंशन्त्विति तेषां यो बलिरूपहार्यैर्भक्ष्यैर्मासि मासि वानस्पत्यः वनस्पतिरपुष्पफलवृक्षः तन्मूले देवो वानस्पत्यः वनस्पतिगते चन्द्रे अमावस्यायां प्रवर्त्तमानो वा निरूपितः कल्पितः ॥२॥ तत्र सर्वे नागाः जनैः पर्वणि कल्पिते बलौ स्वं स्वं भागमात्मानं गोपीथाय रक्षणार्थं महात्मने सुपर्णाय प्रयच्छन्ति अतस्तत्रत्यानां न गरुडाद्भयमस्तीत्युक्तम् ॥ ३ ॥ एवं सर्वेषु नागेषु प्रयच्छत्सु एष काद्रवेयः कद्रोस्सुतः कालियस्तु विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाविष्टः सुपर्णं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्याविगणय्येति यावत् तं गरुडाय देयं बलिं भागं स्वयमेव बुभुजे ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

असमञ्जसं अपराधम् ॥ १ ॥ उपहार्यैः उपहारकैः गरुडादीनां पूजकैरन्यजनेन पूज्यैर्वा सर्पजनैरिह यो बलिः मासि प्रतिमासं क्रियत इति शेषः । कीदृशः वानस्पत्यः सोमे वनस्पतिं गते क्रियमाणः अमावास्यायां क्रियमाण इत्यर्थः । यद्वा, वनस्पतौ क्रियमाणः स बलिः प्राङ्नागानामेकमत्येनात्मरक्षणार्थं निरूपित इत्यन्वयः ॥ २ ॥ आत्मनः गोपीथाय गोपनाय आत्मरक्षणाय ॥३॥ कद्रोरपत्यं काद्रवेयः जातिज्ञानार्थमिदमुक्तं कदर्थीकृत्य धिक्कृत्य तां बलिं पूजां बलिशब्दः पूजार्थी स्त्रीलिङ्गः पूजायां स्त्रीबलिर्देत्यभेदेनाकर एव चेति ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

श्रीभगवतो व्रजस्य च स्वस्थतामाकर्ण्य स्वस्थः कथामध्यतः एव तत्सौष्ठवाय पृच्छति—नागेति ॥ १-५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तार्क्ष्याद्भीतिः कालियस्य तार्क्ष्ये सौभरिशापवाक् । कृष्णाप्तिर्गोदुह्यान्दावात्त्राणं सप्तदशोऽभवत् ॥

उपहार्यैः भक्ष्यत्वेनोपहारीक्रियमाणैः सर्परूपैर्जनैः वानस्पत्यः वनस्पतेर्मूले देयः नागानां नागैर्गरुडात्स्वबाधापरिहाराय निरूपितः उपकल्पितः ॥ २ ॥ तत्र सर्वे नागास्तं स्वंस्वम्भागं प्रयच्छन्ति पर्वणि पर्वणि प्रतिपच्चदश्यन्तं गोपीथाय रक्षणाय किन्तु कालियस्तु तं न प्रयच्छति प्रत्युतान्यैर्दत्तमपि स्वयमेव बुभुजे ॥ ३ ॥ कदर्थीकृत्य अनादृत्य ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सप्तदशेऽध्याये श्रीयमुनाह्रदे कालीयवासकरणं वनाग्नितो वन्धुत्राणं च निरूप्यते—नागालयमिति । असमञ्जसमहितम् ॥ १ ॥ हे महाबाहो ! उपहार्यैर्गरुडभक्ष्यैः सर्पजनैः सर्पजनमय इत्यर्थः । वानस्पत्यो वनस्पतेर्मूले देयः नागानां सम्बन्धी यो बलिर्निरूपितः ॥ २ ॥ ते बलिं नागजनमयं स्वं स्वं भागं स्वकुलात् सङ्गृहीतं ते च नागाः आत्मनो गोपीथाय रक्षणाय प्रयच्छन्ति ॥ ३ ॥ कालियस्तु स्वयं बुभुजे ॥ ४-५ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कालियस्य भयं तार्क्ष्याच्छापोक्तिस्तत्र सौभरेः । हृर्याप्तिर्गोदुहां दावाद्रक्षा सप्तदशेऽभवत् ॥

असमञ्जसं अप्रियम् ॥ १ ॥ उपहार्यैर्गरुडस्य भक्ष्यैः सर्परूपैर्जनैः कर्तृभिर्योबलिर्नागानां गरुडाद्बाधापरिहाराय प्राक् निरूपित आसीत् । वानस्पत्यो वनस्पतेर्मूले देयः ॥ २ ॥ तत्र सर्वे नागाः पर्वणि पर्वणि प्रतिपक्षदश्यन्तं, गरुडाय स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति किमर्थम् ? आत्मनो गोपीथाय रक्षणाय ॥ ३ ॥ कालियस्तु न प्रयच्छति प्रत्युत अन्यैर्दत्तं बलिं भुङ्क्ते कदर्थीकृत्य अवज्ञाय ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ श्रुतरमणकवासविरमणककालियो राजा निमित्तं विविच्य वदेति पृच्छति ॥ राजेति । नागालयमित्यनेकेषां तद्द्वीप ओकः सर्पाणामिति सूच्यते उत्तरोक्तिस्वारस्यात् । असमञ्जसमपराधः ॥ १ ॥ सर्पजनैरुपहार्यैरुपायनत्वेन देयैः पदार्थैः सह मासिमासि प्रतिमासं पदमेकं प्राङ्नागानां रक्षणार्थमिति शेषः । वानस्पत्यो बलिर्वृक्षमूले देय इति केचित् । सोमे वनस्पतिं गत इत्यमावास्यायां क्रियमाण इत्यर्थः । निरूपितः कृतसङ्कल्पित ऐकमत्येनात्मरक्षणाय बलिकल्पनं कृतवन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥ तदेवाह ॥ स्वं स्वमिति । नागाः स्वं स्वं भागं यथा गृहमायातं पर्वणि पर्वणि पदमेकं महात्मने सुपर्णायात्मनो गोपीथाय रक्षणाय । निपातितः शब्दः । प्रयच्छन्ति ददति ॥ ३ ॥ काद्रवेयः । कद्रुकमण्ड्वल्वोः संज्ञायामित्यङ् स्त्रियाः कद्र्वा अपत्यं काद्रवेयः स्त्रीभ्यो ढगिति ढक् एयादेशो भानुना देवयोनयोऽमीत्युक्तेर्देवयोनिताऽनेनास्य ज्ञाप्यत इति ज्ञेयम् । कदर्थीकृत्य धिक्कृत्य । तमिति तामित्यपि पाठो । पूजाकररूपयोरर्थयोर्बलिशब्दस्योभयलिङ्गत्वादुपपन्नो । पूजायां स्त्री बलिर्दैत्यभेदे ना कर एव चेति यादवः । स्वयं बुभुजे ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

चतुर्दशे भगवतो दर्शनान्निवृत्तौ व्रजः । अग्नेः संरक्षितः पश्चात् प्रासङ्गिकमिहोच्यते ॥ १ ॥
इन्द्रियप्राणयोर्दोषो निवार्यस्तु सहैव हि । अतः कालीयकथया दाहाभावो निरूप्यते ॥ २ ॥
प्रासङ्गिककथा त्वत्र हरेरद्भुतकर्मताम् । वक्तुं युक्ता सर्वदोषा नान्यथा यान्ति हीति च ॥ ३ ॥

प्रथमं प्रासङ्गिकं पृच्छति नागालयमिति, 'द्वीपं रमणकं हित्वे'ति यद् भगवतोक्तं तस्य परित्यागे हेतुर्वक्तव्यः, नापि तत् स्थानं गरुडस्येति शङ्कनीयं, यतः सहजं नागानामेव, तदाह नागालयमिति, कस्माद् धेतोरिति, यद्यपि भयं पूर्वमुक्तं तथापि तद् भयं साधारणं वासाधारणं ? साधारणं चेत् कथमन्यैर्न त्यक्तमनेन त्यक्तमिति भवति विशेषजिज्ञासा, विशेषभयं चेत् तत्र हेतुं पृच्छति कृतमिति, तेनैवैकेन सुपर्णस्य किं वासमञ्जसं कृतम् ? सुपर्णत्वादक्लिष्टकर्मा, एको वा कथमपराधी ॥ १ ॥ तत्रोपाख्यानमाह, उपहरन्तीत्युपहाराः, उपहाराः समर्प्यन्त यैस्त उपहार्या उपहारसमर्पका इत्यर्थः, ते सर्वे एव सर्पजनाः साधारणसर्पाः सर्पाणां वा जनाः सेवका अतलादिवासिनस्तैः सर्वैरेवेह रमणके मासि मासि बलिः क्लृप्तः, य इति प्रसिद्धः, एवं ह्याख्यायिका, गरुडः सर्वान्नेव सर्पान् भक्षयति सर्वदा मारयति च कांश्चिद् वृथैव मातुर्वैरमनुस्मरन्, ततो वासुकिप्रमुखा गरुडाद् भीता ब्रह्माणं शरणं गताः, ततो ब्रह्मा गरुडं समाहूय सन्धिं कृत्वा दण्डरूपं बलिं कल्पितवान्, अमावास्यायां वृक्षमूले 'नागलोकेषु यद् भवेद् एकस्मिन् दिवसे तावदेकस्त स्थापयन्तु हि ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद् भुक्त्वा नैव पीडये' दितिव्यवस्थयानया सर्पा मासि मासि बलिं बभ्रुः," तदाह

मासि मासीह यो बलिरिति, वानस्पत्यो वनस्पतेर्मूले देयः, महाबाहो इतिसम्बोधनं यथा त्वया सर्वेभ्यः करो गृह्यत एवं गरुडोपि गृह्णातीतिसूचनार्थं, अरयो न केवलं वध्याः किन्तु दण्ड्या अपि, ततः किम् ? अत आह नागानां सम्बन्धी प्राग् दत्त एवंविधो निरूपितः ॥ २ ॥ ततः स्वं स्वं भागं सर्व एव नागा अष्टकुलपरिमिता सर्व एव काद्रवेयाः पर्वण्यमावास्यायां, नैत्यिकनित्यार्थं आत्मनो गोपीथाय रक्षार्थं ननु वैरी कथं दण्डे दत्तेपि विमुञ्चतीत्याशङ्क्याह सुपर्णाय महात्मन इति ॥ ३ ॥ तत्रापि कालियः स्वदेवोपासको जातः, ततो विषवीर्यं जातं, तस्य मदेनाविष्टः काद्रवेयः कद्रूदोषोप्यस्मिँल्लग्नः कालाधिभौतिकरूपोपि कालियः कदर्थीकृत्य दूषयित्वा गरुडसेवकान् मारयित्वा तं बलिं स्वयं बुभुजे, यतोयं महाबलो बलिष्ठः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

चतुर्दशाध्याये प्रकरणतात्पर्योक्तौ, इन्द्रियप्राणयोर्दोष इत्यादि । क्षुद्रूपाग्नेः प्राणधर्मत्वेनात्र चाग्नेः निवृत्त्युक्त्या प्राणदोषनिवृत्तिरेवोच्यते । कालीयकथया सह कथने हेतुः सहैव हीति । अन्यतरदोषसत्त्वेप्युभयकार्यावश्यंभावेन तथा । महतो गरुडस्यापि प्राणदोषादेव शापप्राप्तिर्यतोतः सर्वथा निवर्तनीय इति ज्ञापनाय पूर्वं प्रासाङ्गिकी कथेति भावः । कालस्याप्यगम्यस्थलकर्ता, तद्भयरहितस्यापि भयहेतुश्चेत्यद्भुतकर्ता, मत्स्यरक्षार्थं भक्तापराधे कृते भगवता स तत्रानीतो येन तत्सर्वंनाशोऽभूदित्यप्यद्भुतं कर्म। किञ्च, गरुडस्य प्रभुविहारस्थानत्वेनैव तत्रत्यजीवमात्रापीडनेन शापप्रयुक्तखादनाद्यभावात्सौभरेरपि भक्तापराधदोषनिवृत्तिः। सर्पास्थितिद्विपकार्यादिषु शापस्यैव मूलत्वात् तदुद्वासनादिनापि तथा । यमुनाया अपि दोषनिवृत्तिरनयैव लीलयेति ज्ञापनाय प्रासङ्गिकी कथेत्यर्थः ।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

चतुर्दशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः कालीयदूरीकरणोत्तरं भगवान् किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामग्रिममवसरसङ्गत्या निरूपयतीति वदन्तः प्रासङ्गिकमप्युक्तवानित्याहुश्चतुर्दश इत्यादि, निर्दुष्टैरिन्द्रियैर्भगवतो दर्शनात् निवृत्तो व्रजः पश्चात् तत आगमनानन्तरमग्नेः संरक्षित इत्युच्यते, एष भगवल्लीलाध्यायार्थ इत्यर्थः, अयं च "व्रजे वसन् किमकरो" दितिप्रश्नोत्तरस्यैव प्रपञ्चो ज्ञेयः, इहास्मिन्नध्याये कालीयोपाख्यानं तु विशेषप्रश्नात् प्रासङ्गिकमुच्यते न तु सोध्यायार्थ इत्यर्थः, ननु पूर्वाध्याय इन्द्रियदोषनिवृत्तिः सिद्धा कालीयस्येन्द्रियत्वकथनात्, एवं सत्यत्र तदनुरोधि किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुरिन्द्रियेत्यादि, तदर्थं टिपण्यामाहुः क्षुद्रूपेत्यादि, तथा च प्राणाध्यासनिवृत्तिरत्रोच्यत इत्यर्थः, सहकथनतात्पर्यमाहुरन्यतरेत्यादि, अरोचकस्य मुखविकारत्वेन वैद्यक उक्तत्वाद् रुचेरपि रसनधर्मत्वं, तेन तस्य क्षुत्कार्यत्वमिति स्पष्टं, क्षुधा च रसास्वाद इति तथा, एवं बलस्य प्राणधर्मत्वेन्द्रियकार्यत्व 'मिन्द्रियविषयाकृष्टेश्च तत्कार्यं' मित्यादि च तथेत्यूहनीयं, तथा चेन्द्रियप्राणान्यतरदोषसत्त्वेप्युभयकार्यावश्यम्भाव इत्यतो द्वयोः सहैव कथा निरूप्यत इत्यर्थः, पूर्वं कालीयकथानिरूपणस्यापि तात्पर्यमाहुर्महतो गरुडस्यापीत्यादि, एतेन कालीयस्येन्द्रियदोषरूपत्वमपि स्फुटीकृतं बोध्यं, यथा प्रथमस्य तृतीये पादे पशूद्राधिकरणे जानश्रुतेः क्षत्रियत्वनिश्चायनार्थं द्वितीयसूत्र उत्तरत्र ,चैत्ररथेन लिङ्गा' दित्यनेनांशे 'नाथ ह शौनकञ्च कापेयमभिप्रतारणं च काक्षसेनि' मित्युत्तरग्रन्थोक्तलिङ्गं हेतुत्वेनोक्तं तथात्र गरुडक्षुधा व्रजरक्षुधा च प्राणदोषरूपोत्तरग्रन्थे निर्दिष्टा तत्समभिव्याहारात् तेन लिङ्गेन कालीयस्यापि तथात्वमित्यपि बोधितं, प्रासङ्गिककथायाः प्रयोजनान्तरमप्यस्तीति सुबोधिन्याशयं विवरितुं कारिकांशस्यार्थमाहुः कालस्येत्यादि, अद्भुतकर्तेति सौभरिस्तेनेतिशेषः, तथा च तादृशीमद्भुतकर्मतां वक्तुं तया सहाध्यायार्थकथाकथनमित्यर्थः, सर्वदोषा इत्यादेस्तात्पर्यमाहुः किञ्चेत्यादि, तथा च सर्वदोषा इत्यत्र सर्वेषां दोषा इतिसमासो ज्ञेयः ॥ १ ॥ उपहार्यैरित्यत्रोपहरन्तीत्युप समीप आगताः सन्तोनुयोगिनश्चित्तं क्रोधादिभ्यो निवर्तयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

चतुर्दशेध्याये कारिकायां प्रासङ्गिकमिति निवृत्त्यनन्तरमग्नेः संरक्षित इति प्रासङ्गिकमिहोच्यत इत्यर्थः, संरक्षणस्य प्रासङ्गिकत्वं विशदयन्ति इन्द्रियेति, नान्यथेति एतल्लीलाभावे सर्वेषां सौभर्यादीनां दोषा न यान्ति इति च वक्तुं "अवात्सीद् गरुडाद् भीत" इत्यन्ता प्रासङ्गिकी कथोक्तेत्यर्थः, दोषाष्टिप्पण्यां विवृताः, तथा चाध्यायप्रतिपाद्यं संरवणमेव, अन्यत् तु तदङ्गत्वेनोक्तम् ॥ १ ॥ उपहार्यैरित्यत्र उपहरन्तीति यानितिशेषः, यानुपहरन्ति ते पदार्था उपहाराः, कर्मणि घञ्, समर्प्यन्त इति त्वर्थकथनं उपहारेषु साधव उपहार्या इति विग्रहः वानस्पत्य इति सम्बन्धार्थे पत्यन्तत्वाद् दित्यदित्येतिण्यः ॥ २ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

चतुर्दशाध्यायार्थकथने इन्द्रियप्राणयोर्दोष इत्यादिकालीयदमनेन निरोध्यभक्तानामिन्द्रियदोषो नाशितः, एवं निशीथसमये समागतो दावाग्निर्भगवता दूरीकृतः, स प्राणदोषात्मेति तस्य निवारणमावश्यकमेव, तस्य दवाग्नेर्निरोध्यभक्तदोषरूपता तु "लोभक्रोधादयो दैत्या" इतिकृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारनाम्यानां लोभादिदोषात्मकत्वोक्तेर्युक्ता, तत्र प्राणदोषरूपत्वं तु तत्तद्धर्ममादायेति बोध्यं, एतस्याग्नेरपि दैत्यत्वं भक्तनाशार्थं प्रवृत्तेः, न हि स्वाभाविकदैत्यत्वमात्रेणदैत्यत्वं वा विना कोपि भक्तनाशाय प्रवर्ततेतस्तथा, अतः कालीयकथयेति सहार्थे तृतीया, कालीयकथया सह दाहाभावो निरूप्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

चतुर्दशाध्याये भगवत इति का.१४७३-१४९३। अत्राध्याये भगवतो दर्शनान् निर्वृत आनन्दितो व्रजः पश्चाद्वन्हेः संरक्षितः प्रासङ्गिकं सौभर्युपाख्यानमित्यर्थः, अस्मिन्नध्याये कालीयकथया सह दावाग्निनिवृत्तिकथने हेतुमाहुः इन्द्रियप्राणयोर्दोष इत्यादि, इन्द्रियप्राणयोर्मध्ये एकस्यापि सदोषत्वे द्वितीयस्य निर्दोषत्वमप्रयोजकमिति तयोर्दोषः सहैव निवार्यः अत इन्द्रियदोषात्मककालीयकथया सह प्राणदोषात्मकदावाग्निजनितदाहाभावो निरूप्यत इत्यर्थः, प्रासङ्गिककथेत्यादि, प्रासङ्गिककथा तु हरेरद्भुतकर्मतां वक्तुमुक्ता मत्स्यरक्षार्थं भक्तस्य गरुडस्यापराधे कृते भगवता कालीयस्तत्रानीतो येन सर्वमत्स्यनाशाभूदित्यद्भुतकर्मत्वं, अन्यथैतल्लीलाभावे सर्वदोषाः सर्वेषां सौभर्यादीनां यमुनायाश्च दोषा न यान्तीति ज्ञापनाय प्रासाङ्गिकी कथेत्यर्थः, सौभर्यादिदोषनिवृत्तिप्रकार उक्तष्टिप्पण्याम्। उपहार्यैः सर्पजनैरित्यत्र अमावास्यायां वृक्षमूले नागलोकेषु यद् भवेत्। एकस्मिन् दिवसे तावत् एकत्र स्थापयन्तु हि॥ १॥ ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद्भुक्त्वा नव पीडयेत्। इतिव्यवस्थया सर्पा मासि मासि बलिं ददुः॥ २॥ स्पष्टम्।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अथ सप्तदशे सर्प-स्थानत्यागस्य कारणम्॥ गोपीगोपीगवां रक्षा दावाग्नेश्च निरूप्यते॥ १॥

स्वस्थानं त्यक्त्वाऽत्रागमनस्य कारणं पृच्छति—नागेति। कालियो नागालयं स्थानं रमणकं कस्माद्धेतोस्तत्याज। ननु 'द्वीपं रमणकं हित्वा' इत्यादिना 'गरुडभयस्य तत्कारणत्वमुक्तमेव' इत्याशङ्क्याह—कृतमिति। तेन कालियेनैकेन सुपर्णस्य गरुडस्यासमञ्जसमप्रियं किं कृतम्?' 'एकेनैव तेन कृतम्' इत्यपि सामान्यतो जानामि, अन्यथा अन्योऽपि कश्चिदत्रागच्छेत्॥ १॥ एवं पृष्टः शुकः कालियकृतमपराधं वर्णयति—उपहार्यैरिति त्रिभिः। उपहार्यैः गरुडभक्ष्यैः सर्पजनैर्मासि मासि वानस्पत्यः पुष्पं विनैव यः फलति स वृक्षो वनस्पतिः अश्वत्थादिः, तस्य मूले देयो यो बलिः भक्ष्यविशेषः नागानां बाधापरिहाराय इह रमणकद्वीपे प्राक् पूर्वं निरूपितः उपकल्पितः। अत्रैवं ह्याख्यायिका—"गरुडः सर्वानेव सर्पान् सर्वदा भक्षयति, मातृवैरमनुस्मरन् वृथैव कांश्चिन्मारयति च। ततो वासुकिप्रमुखा गरुडाद्भीता ब्रह्माणं शरणं गताः। ततो ब्रह्मा गरुडं समाहूय सन्धिं कारयित्वा नियमेन बलिं कल्पितवान्"। तथोक्तम्—"अमावास्यायां वृक्षमूले नागलोकेषु यो भवेत्। एकस्मिन् दिवसे तावदेकत्र स्थापयेत्तु हि॥ ततो हि गरुडस्तस्मिंस्तद्भुक्त्वा नैव पीडयेत्। इति व्यवस्थया सर्पा मासि मासि बलिं ददुः" इति॥ 'यथा त्वया सर्वेभ्यः करो गृह्यते, एवं गरुडोऽपि सर्पेभ्य' इति सूचयन् सम्बोधयति—महाबाहो इति॥ २॥ ततःप्रभृति ते नागाः स्वं स्वं देयतया स्वीकृतं भागमात्मनो गोपीथाय संरक्षणाय पर्वणि पर्वणि मासि मासि प्रत्येकामावास्यायां सुपर्णाय प्रयच्छन्ति। अनन्तशक्तित्वेऽपि तदाप्रभृति तन्नियमानुल्लङ्घनात् भगवद्भक्तत्वाच्च तस्य महत्त्वमाह—महात्मन इति॥ ३॥ कालियस्तु गरुडं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य अविगणय्य स्वयं तस्मै बलिं न प्रायच्छत्, प्रत्युत अन्यदत्तमपि तं बलिं बुभुजे इत्यन्वयः। तुच्छीकरणे हेतुमाह—वीषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाविष्टो व्याप्त इति। 'मातृप्रयुक्तं वैरमपि तत्र हेतुः' इत्याशयेनाह—काद्रवेय इति। कद्रूपुत्रः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नागनिःसारणं बन्धुमेलनं रक्षणं दवात्॥ प्रोक्तं सप्तदशे तत्र श्लोकाः पञ्चाद्र्यविंशतिः (२५)॥

द्वे उवाचेति (२)वाक्ये च षड्विंशतिरनुष्टुभः (२६)॥ १७॥

नागालयमिति॥ कालियो नागानामालयं स्थानं रमणकं कस्मात् हेतोः तत्याज। तेन कालियेनैकेन सुपर्णस्य गरुडस्यासमञ्जसमप्रियं किं कृतम्॥ १॥ उपहार्यैरिति॥ हे महाबाहो! उपहार्यैः गरुडस्य भक्ष्यत्वेनोपहारीक्रियमाणैः सर्पजनैः सर्पायत्तैर्जनैः सर्परूपैर्जनैर्वा मासि मासि वानस्पत्यः वनस्पतेर्मूले देयः। पत्युत्तरपदलक्षणो ण्यः। यो बलिः भक्ष्यविशेषः नागैः स्वबाधापरिहाराय कल्पितत्वात् नागानां सबन्धी यस्मिन्नेकैको नागो भागो दीयते स बलिरिति वा। इह रमणकद्वीपे प्राक् पूर्वं निरूपितः उपकल्पितः। अत्रैवं ह्याख्यायिका। गरुडः सर्वानेव सर्पान् सर्वदा भक्षयति मातृवैरमनुस्मरन् वृथैव कांश्चिन्मारयति च। ततो वासुकिप्रमुखा नागाः गरुडाद्भीता ब्रह्माणं शरणं गताः समाहूय सन्धिं कारयित्वा मासि मासि प्रत्येकामावास्यायां महात्मने महाशरीराय मर्यादानुल्लङ्घकाय वा सुपर्णाय प्रयच्छन्ति॥ ३॥ विषेति विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाविष्टो व्याप्तः काद्रवेयः कद्रूपुत्रः मातृवैरप्रयुक्तश्चेत्याशयः। कालियस्तु गरुडं कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य अविगणय्य स्वयं तस्मै बलिं न प्रायच्छत्। प्रत्युतान्यदत्तमपि तं बलिं बुभुजे॥ ३॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं सप्तदशेऽध्याये कालियस्य यमुनागमनादिप्रसंगो वर्ण्यते नागालयं नागनिवासस्थानं तेन एकेन कालियेनासमंजसं अहितं किं कृतं॥ १॥ इह रुद्वीपे उपहार्यैः गरुडभक्ष्यैः सर्परूपैः जनैः स्वपीडापरिहाराय यो नागानां संबंधी बलिर्गरुडभक्ष्य मासिमासि वानस्पत्यो वनस्पतेः मूले देयः प्राक् गरुडाय निरूपितः॥ २॥ पर्वणि पर्वणि मासि मासि नागाः आत्मनः स्वस्य

गोपीथाय रक्षणाय स्वं स्वं भागं गरुडाय प्रयच्छंति ददति ॥ ३ ॥ विषेति । विषवीर्याभ्यां मदाविष्टः मदव्याप्तः काद्रवेयः कद्रुसुतः गरुडं कदर्थीकृत्य तिरस्कृत्य तं नागैर्दत्तमपि बलिं गरुडभोज्यं पदार्थं स्वयं बुभुजे नागसंकेतानुसारेण सर्वे नागाः स्वं स्वं भागं गरुडाय प्रयच्छंति कालियस्तु न प्रयच्छति अन्यैर्दत्तं स्वयं भुक्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्राह सप्तदशे हेतुं सोऽह्वेरात्मालयत्यजेः । दवादावच्च बन्धून् स्वान् सुप्तान् स्वशरणं गतान् ॥ १ ॥

यदुक्तं 'द्वीपं रमणकं हित्वा ह्रदमेतमुपाश्रितः । यद्भयात्' इति तत्र कालियस्य द्वीपत्यागनिमित्तबुभुत्सुः पृच्छति राजा नागालयमित्यनेन ॥ नागालयमिति ॥ कालियः, रमणकं रमणकसंज्ञं, नागालयं सर्वेषां नागानां निवासस्थानभूतं तं द्वीपं, कस्मात् तत्याज । किं च तेन एकेन कालियेन, स्वस्य भयनिमित्तमिति शेषः । सुपर्णस्य गरुडस्य, असमञ्जसमप्रियं, किं वा किं नु कृतम् अन्येषु निर्भयेषु सत्सु स्वभयहेतुकमनेनैकेन किमप्रियं कृतमन्येषां भयाभावनिमित्तं च किमिति प्रश्नाशयः ॥ १ ॥ तत्र तावत्तत्रत्यानां नागानां सुपर्णाद्भयाभावनिमित्तमाह ॥ उपहार्यैरिति ॥ हे महाबाहो, प्राक् पुराकाले, सर्वजनैः, सर्पाः नो मा दशन्तु इति धियेति शेषः । उपहार्यैर्भक्ष्यैः कृत्वा, यः बलिः, इह लोके, मासि मासि, वानस्पत्यो वनस्पतिमूले देयः, यद्वा वनस्पतिं गते चन्द्रेऽमावास्यायां प्रवर्त्तमानः, नागानां निरूपितः कल्पितः ॥ २ ॥ सर्पजनैरपि सः स्वरक्षणाय सुपर्णायार्पित इत्याह ॥ स्वं स्वमिति ॥ सर्वे नागाः अपि, तं स्वं स्वं स्वकीयं स्वकीयं, भागं, आत्मनः गोपीथाय रक्षणाय, पर्वणि पर्वणि, सर्वास्वमावास्यास्वित्यर्थः । महात्मने महानुभावाय, सुपर्णाय गरुत्मते, प्रयच्छन्ति अर्पयांचक्रुरित्यर्थः । अतस्तत्रत्यानां गरुडाद्भयं नास्तीत्युक्तम् ॥ ३ ॥ विषवीर्येति । एवं सर्वेषु नागेषु स्वं स्वं जनार्पितं भागं गरुडाय प्रत्यमावास्यं प्रयच्छत्सु सत्सु इति शेषः । काद्रवेयः कद्र्वाः पुत्रः, कालियस्तु, विषवीर्याभ्यां यो मदस्तेनाविष्टः सन्, गरुडं सुपर्णं, कदर्थीकृत्य तुच्छीकृत्य अविगणय्येति यावत् । तं गरुडाय देयं बलिं, स्वयं बुभुजे ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नागालयमिति : १०.१७.१.

स्वीयावासतया भयं न रमणस्थित्या न चासौष्ठवं कान्तासङ्गितया न चोत्तरवयःक्रोधान्न वैराग्यधीः ।
द्वेषः पक्ष्यधिपेन चेत् स हि समः सर्वोरगैस्तत्कुतरत्यक्त्वा स्वाश्रममभ्यगादहिरिहेत्येवं नृपस्याशयः ॥ १ ॥

कदर्थीकृत्येति : १०.१७.४.

विनयः सकलेष्टकृज्जनेषु विनयाद्वैर्युपयाति मित्रभावम् ।
स हि येन तिरस्कृतः प्रमादान्नियतं तद्गतिरीदृगेव भूयात् ॥ २ ॥

कृष्णप्रिया

राजा परीक्षितजी ने प्रश्न किया कि—भगवन् ? कालीय नाग ने नाग लोगों का निवास-स्थल रमणक द्वीप का क्यों त्याग किया ? एवं इस अकेले कालीग नाग ने श्रीगरुडजी का कौन सा अपराध-अनुचित वर्तन किया था ? ॥ १ ॥ श्रीशुकाचार्यजी ने कहा कि—राजन् ! उपहार-भेंट-बलिदान कर देने वाले वासुकि प्रभृति सर्पजनों ने पूर्व में सन्धि के समयपर प्रस्ताव निश्चित किया था कि प्रत्येक महिने के अन्त में अमावस्या के दिन गरुड जी के निमित्त वृक्ष के मूल में बलि रख आने का करार किया था । श्रीब्रह्माजी इस प्रस्ताव के माध्यम थे ॥ २ ॥ इस प्रस्ताव के बाद, सभी नाग अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक मास की अमावस्या के पर्व दिन अपना-अपना "भाग-बलि" महात्मा सुपर्ण श्रीगरुडजी को देते थे ॥ ३ ॥ कद्रू का पुत्र काद्रवेय कालीय को अपने भयंकर विष नाम के बल का घमण्ड था, जिससे वह कालीय श्रीगरुडजी को सामान्य मानकर बलि के रक्षक को मारकर बलि का स्वयं उपभोग करने लगा ॥ ४ ॥

तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् [1]भगवान् भगवत्प्रियः । विजिघांसुर्महावेगः [2]कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

तमापतन्तं तरसा [3]नखायुधं प्रत्यभ्ययादुत्थित[4]तनैकमस्तकः ।
दद्भिः सुपर्णं व्यदशद् ददायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचनः ॥ ६ ॥
तं तार्क्ष्यपुत्रः स निरस्य [5]मन्युना प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।
पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रुसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥
सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः । ह्रदं विवेश कालिन्द्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥

---

१. गरुत्मान् च. पु. टी. २. महावीर्य-विज. ३. विषायुधः-श्रीधर. वंशी वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. । ४. दुन्छि-श्रीधर. वंशी वीर. दुद्धुत-विज । ५ मन्युमान्-श्रीधर. वंशी वीर. विज.

कर्दमक्षमा

अन्वयः–राजन् ! तत् श्रुत्वा भगवत्प्रियः कुपितः भगवान् (गरुडः) जिघांसुः महावेगः कालियम् समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥ उत्पतितनैकमस्तकः करालजिह्वः उच्छ्वसितोग्रलोचनः ददायुधः नखायुधं तरसा आपतन्तम् तम् प्रत्यभ्ययात् (च) सुपर्णं दद्भिः अदशत् ॥ ६ ॥ उग्रविक्रमः मधुसूदनासनः प्रचण्डवेगः सः तार्क्ष्यपुत्रः तम् निरस्य हिरण्यरोचिषा सव्येन पक्षेण कद्रूसुतम् जघान ॥ ७ ॥ सुपर्णपक्षाभिहतः अतीवविह्वलः कालियः तदगम्यम् दुरासदम् कालिन्द्याः ह्रदम् विवेश ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विषमेवायुधं यस्य सः प्रत्यभ्ययाद्योद्धुं प्रतिजगाम । उच्छ्रितनैकमस्तकः उन्नमितानेकफणः ददायुधो दंतायुधः करालजिह्वश्चासावुच्छ्वसितोग्रलोचनश्च उच्छसितान्युज्जृंभितान्युग्राणि लोचनानि यस्य सः ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः मधुसूदनस्यासनं यस्मिन्सः ॥ ७ ॥ तस्य गरुडस्यागम्यमगाधतया च दुरासदम् ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् निजबलिभक्षणम् । भगवत्प्रियः गरुडः । विजिघांसुः हंतुकामः । हे राजन्निति । बलिप्रदराजविप्रतिपत्त्या भवदादिवदिति भावः ॥ ५ ॥ तम् गरुडम् ॥ ६ ॥ 'तार्क्ष्यौ गरुडकश्यपौ' इत्यमरः । तम् कालियम् । सव्येन दक्षिणेन वामेन वा 'सव्यं दक्षिणवामयोः' इति वैजयंति ॥ ७ ॥ अगम्यम् गंतुमशक्यम् । दुरासदम् अन्येषां नरादीनामित्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

हे राजन्निति बलिप्रदराजविप्रतिपत्त्या भवदादिवदिति भावः । यतो भगवान् सर्वशक्तियुक्तः भगवतः प्रियश्च पार्षदप्रवर इत्यर्थः । अतो भगवद्वद्दृष्टनिग्रहपरतया महावेगः सन् सम्यक् मारणोद्यततया समीप एवागच्छत् तस्य तुच्छत्वेऽपि धाष्ट्यात् तामसत्वेन भगवदनादरस्वभावत्वाच्चेति भावः ॥ ५ ॥ विषायुधः दूरादेव फूत्कारादिना तन्मोचकः सन् प्रत्यभ्ययात् निकटे तु ददायुधस्सन् व्यदशत् कराला दुर्विषमतया स्पर्शमात्रेण हिंसिका जिह्वा यस्य उच्छ्वसितानि प्रसारितानि उग्राणि दृष्टिमात्रेण भस्मीकराणि लोचनानि यस्य स च स च ॥ ६ ॥ तृक्षो मरीचिः ततः शिवादित्वाददन्तादप्यण् ततस्तदनन्तरापत्यस्य तार्क्ष्यस्य श्रीकश्यपस्य महामुनेः पुत्रजन्मना तत्प्रभावसञ्चारः सूचितः तार्क्षीति वा पाठे गर्गादिभ्योयञिति गोत्रापत्यविवक्षया गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यं इत्यप्युच्यते स च कालीयस्तु कियानिति स्वाभाविकविशेषान्तरप्याह मधिविति । कालिये तु तादृशस्वभावे मातुरेव गुणसञ्चार इत्याह कद्रूसुतमिति श्रीगरुडस्य सौन्दर्य्यमप्याह हिरण्येति सव्येनेति अवहेलां बोधयति ॥ ७ ॥ अन्यैरपि दुरासदं दुष्प्रवेशम् ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

हे राजन्निति चक्रवर्तिनो बलिप्रदराजविप्रतिपत्त्या कोपो भवतीति भवता ज्ञायत एवेति भावः । यद्वा, राजमानः कोपेन तेजोभरप्राकट्यात् स्वतो वा विद्योतमानः यतो भगवान् सर्व्वशक्तियुक्तः भगवतः प्रियश्च पार्षदप्रवर इत्यर्थः । सम्यङ्मारणोद्यततया समीप एव वेगेनागच्छत् । तत्र हेतुः—महावेगोऽपरिच्छिन्नजव इति ॥ ५ ॥ विषायुध इति शस्त्रान्तरराहित्यं परममारकत्वं चोक्तम् । दन्ता विषमयत्वेनायुधानि प्रहरणानि यस्य, कराला दुर्विषमयतया स्पर्शमात्रेण हिंसिका जिह्वा यस्य, उच्छ्वसितानि प्रसारितानि उग्राणि दृष्टिमात्रेण भस्मीकराणि लोचनानि यस्य स च स च । एभिर्विशेषणैः परमदुर्ज्जयत्वं तथा श्रीगरुडे विषस्य दन्ताघातादीनामप्यकिञ्चित्करत्वाद् विषवीर्य्यमदस्य व्यर्थत्वं च सूचितम् ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यस्य श्रीकश्यपस्य महामुनेः पुत्र इति महाप्रभावः सूचितः । कालियस्यापि तत्पुत्रत्वे श्रीमधुसूदनाभक्तत्वात्तादृशप्रभावाभावेन तदपुत्रत्वमेवेति भावः । स महाबलवीर्य्यत्वात्तत्रापि श्रीभगवत्पार्षदाग्रचत्वेन वा प्रसिद्धः, तत्रापि मन्युमान् तदपराधेन जातमन्युः, अतः प्रचण्डः परमदुःसहो वेगो जवोऽपि यस्य, यद्वा, स्वभावत एव प्रचण्डवेगः, अतएव मधुनाम प्रसिद्धादिदैत्यहन्तुरासनं यस्मिन् सः, अतएव उग्रः असह्यो विक्रमः पराक्रमो यस्य सः, यथेष्टं वा विशेषणानामेषां हेतुहेतुमदभाव इति, इति महागुणा उक्ताः, सौन्दर्य्यमयी हिरणावद्रोचिः कान्तिर्यस्य तेन, अनेन महाकाठिन्यञ्च सूचितम् । यद्वा अग्निप्रभामीतानां सर्पाणामग्नितुल्यवर्णस्वर्णरोचिषा भयप्रदत्वमेवोक्तम् । सव्येनेति अवहेलां बोधयति । कद्रुसुतमिति सहजपूर्व्ववैरं दर्शितम्, अतस्तं निरस्य पराजित्यापि सुदूरे क्षिप्त्वापि वा, जघान प्राहरत् । यद्वा, पक्षेण जघानैव, न तु मारयामासेत्यत्र हेतुः—कद्रुसुतमिति, भ्रातृत्वेन कद्रुमान्यतापेक्ष्यता वेति भावः ॥ ७ ॥ अतीवविह्वलोऽत्यन्तवेदनातुरः सन् ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः ॥ ७ ॥ तदगम्यं गरुडेनागम्यं ब्रह्मणो वाक्यस्य माननीयत्वात् परमपुरुषेणैव गरुत्मतापि प्रतिघातशक्तिमत्तापि तदनुरोध उपपद्यते ॥ ८–१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे राजन् ! तत्कालियस्य कर्माऽऽकर्ण्य भगवतः प्रियो भगवान् गरुडः कालियं हन्तुम् इच्छुर्महावेगः समुपाद्रवत् ॥ ५॥ तमापतन्तं गरुडं विषमेवायुधं यस्य स कालियस्तरसा बलेन प्रत्यभ्यपतत् दद्भिर्दन्तैर्व्यदशत् दष्टवांश्च, कथम्भूतः ? उच्छ्रितानि उद्धृतानि नैकान्यनेकानि मस्तकानि फणा येन दन्ता एवायुधानि यस्य कराला जिह्वा यस्य उच्छ्वसितान्युदस्तानि उग्राणि लोचनानि यस्य सः ॥ ६ ॥ मधुसुदनस्यासनमुपवेशनं यस्मिन् सः उग्रः विक्रमो यस्य प्रचण्डः वेगो यस्य सः तार्क्ष्यपुत्रो गरुडः क्रोधवांस्तं कद्रूसुतं निरस्येतस्ततः प्रक्षिप्य हिरण्यरोचिषा सव्येन वामेन पक्षेण जघान ताडितवान् ॥ ७ ॥ सुपर्णस्य पक्षेणाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः उद्विग्नस्तेन सुपर्णेनागम्यं गन्तुमशक्य दुरासदमगाधतया अन्यैश्च दुष्प्रवेशं यमुनाया ह्रदं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विजिघांसुः हन्तुकामः ॥ ५ ॥ विषमेवायुधं यस्य स तथा उद्धृतनैकमस्तकः उद्धृतानेकफणः दद्भिः दन्तैः व्यदशत् दंशितवान् दन्ता एवायुधं यस्य स तथा करालजिह्वश्च उच्छ्वसितोग्रलोचनश्च तथा तथा उच्छ्वसिताः दीर्घश्वासोपेताः उग्रे लोचने यस्य स तथा ॥ ६ ॥ जघान अहनत् आत्मपादैस्ताडितवानित्यर्थः ॥ ७ ॥ कालिन्द्याः यमुनायाः तेन गरुडेन अगम्यं दुरासदं पन्नादीनामिति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विषायुधः फूत्कारादिना दूरात् ददायुधो निकटात् ॥ ६-७ ॥ अन्यैर्दुरासदम् दुष्प्रवेशम् ॥ ८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्रत्यकर्णे जपसर्पमुखात्तत् श्रुत्वा ॥ ५ ॥ विषायुधः दूरात् फूत्कारेण तन्मोचकः निकटे तु ददायुधो व्यदशत् कराला जिह्वा यस्य उद्भूतं श्वसितं यस्य उग्राणि लोचनानि यस्य स च सच सच सः ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यस्य कश्यपस्य पुत्रः मधुसुदनस्यासनं यस्मिन् सः ॥ ७ ॥ दुरासदम् अगाधजलत्वेनान्यैरपि दुष्प्रवेशम् ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

विषमेवायुधं यस्य स कालियः तं गरुडं योद्धुं प्रत्यभ्ययात् प्रतिजगाम ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यस्य कश्यपस्य पुत्रः मधुसूदनस्य आसनं यस्मिन् स गरुडः तं कालियम् कद्रूसुतमित्यनेन काद्रवेयैः सह गरुडस्य अतिविरोधः सूच्यते समुद्रमथने उच्चैःश्रवाः कृष्णवर्णः। शुक्लवर्णो वेति कद्रूप्रष्टा तथ्यभाषिणी विनतोवाच शुक्लवर्णः पुनः कद्रूर्यदि शुक्लवर्णस्तर्हि तव दासी अहम्, यदा कृष्णवर्णस्तदा मम दासी त्वमिति समयं कृत्वा स्वपुत्रैः कृष्णवालभूतैः तमश्वं कृष्णवर्णं कारयित्वा विनतां दास्येनायोजयत् तदा काद्रवेयैर्वैनतेयो बहुधा क्लेशितोऽमृताहरणेन दासीभावगर्ते पतितां स्वमातरमुद्धारेति महाभारते द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥ तस्य गरुडस्यागम्यम् ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तच्छ्रुत्वा सूचकात् सर्पात् ॥ ५ ॥ विषायुधो दूराद्विषाणि फूत्कारेण वर्षन् अन्तिके तु ददायुधो व्यदशत् । कराला जिह्वा यस्य उद्भूतं श्वसितं यस्य उग्राणि लोचनानि यस्य सच सच सच सः ॥ ६ ॥ तार्क्ष्यस्य कश्यपस्य पुत्रः मधुसूदनस्यासनं यस्मिन् सः ॥ ७ ॥ तस्य गरुडस्यागमां दूरासदमगाधाम्बुनान्यैर्दुष्प्रवेशम् ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

विजिघांसुर्हन्तुकामः कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥ विषमेवायुधं यस्य स तथाऽभ्यधात्सम्मुखमाययौ । उद्धृतानि नैकान्यनेकानि मस्तकानि यस्य स दद्भिर्दन्तैर्ददायुधो दन्ता एवायुधं यस्य सः । गतं । करालजिह्वश्चासावुदुच्चानि श्वसितानि यस्य स चासावुग्राणि लोचनानि यस्य स च ॥ ६ ॥ मधुमूदनासनो भगवत आसनमुपवेशोऽत्रेति हिरण्यरोचिषा सुवर्णकान्तिमता सव्येन वामेन पक्षेण । यद्यपि सव्यं दक्षिणवामयोरिति विश्वस्तथाऽपि तदलक्ष्यतां द्योतयितुं वामेनेति व्याकरणं युक्तमिति मन्तव्यम्। एतदुपोद्बलकं तु पक्षेणेत्येकवचनम्। कद्रूसुतं जघान । वामं शरीरं सव्यं स्यादित्यमरः ॥ ७ ॥ सुपर्णपक्षेणाभिहतः कालिय इतरैर्दुरासदं मत्वेति शेषः। अतीवविह्वलः संस्तदगम्यं गरुडागम्यं कालिन्द्या ह्रदं विवेश ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तत् सेवकैर्निवेदितो गरुडः श्रुत्वा कुपितो जातः, राजन्निति राज्यस्थितिरेतादृशीति ज्ञापयति, असामर्थ्यं तु तस्य नास्तीत्याह भगवानिति, भगवत्कृपया भगवान्, यतो भगवतोयं प्रियो वाहनरूपः, अतस्तस्य दण्डमप्यस्वीकृत्य विशेषेण जिघांसुरेव कालियं प्रति सम्यङ् महाघोषपूर्वमुप समीप एव शीघ्रमाद्रवत् ॥ ५ ॥ आराधितो विषात्मा हृदये प्रविष्ट इति तस्यापि सम्मुखो जात इत्याह तमापतन्तमिति, नन्वशस्त्रं कथं योधयतीत्याशङ्क्याह नखायुधमिति, तं प्रतिकूलतयाम्ययात् सम्मुखं

गतः; उत्थितान्यनेकानि मस्तकानि यस्य, अयमेकोऽहं बहुरूप इति ज्ञापयितुं, ततः सुपर्णं दद्भिर्दन्तैराशीरूपैर्यतोयं बदायघो दद्या दन्ता आयुधानि यस्य, न केवलं दशमात्रेण तं त्यक्तुमिच्छति किन्तु भक्षयिष्यतीत्याह करालजिह्व इति, कराला जिह्वा यस्य कराला ग्रसनसमर्था क्रूरा, उच्छ्वसितान्युग्राणि लोचनानि यस्य, अनेन तस्य ज्ञानशक्तिः कुण्ठितेति सूचितं, उच्छ्वसितत्वान्मर्यादाभङ्गः, उग्रत्वाद् विपरीतत्वम् ॥ ६ ॥ एतादृशमपि गरुडो मारितवानित्याह तमिति, तं प्रसिद्धं, तुल्यतायामवश्यमारकत्वे च हेतुमाह तार्क्ष्यपुत्र इति, तार्क्ष्यः कश्यपो भावान्तरमापन्नः, रूपान्तरेण चतसृणां विवाहः कृत इत्ययमपि काद्रवेय इति तुल्यता, स इति पूर्वशत्रुः कोपितश्च, निरस्य नितरा 'असु क्षेपणे,' दूरादेव क्षिप्त्वा तिरस्कृत्येत्यर्थः, नन्वाधिदैविकवलेन समागच्छन्तं कथं तिरस्कृतवान् ? तत्राह मन्युनेति, क्रोधेन तिरस्कारं कृतवान्, प्रचण्डो वेगो यस्य, तदपेक्षयाप्यस्य क्रियाशक्तिराधिक्योक्ता, तत्र हेतुर्मधुसूदनस्यासनभूत इति, गमने भगवत आसनं तदर्थं भगवद्दत्ता 'क्रियाशक्तिरस्मिन् वर्तत इति' अतः सव्येन पक्षेण बृहद्रूपेण, तद् ब्रह्मात्मकं भवति तेन, स निरस्तः, तस्य वक्षस्य ब्रह्मत्वाभिव्यक्तिजतित्याह हिरण्यरोचिषेति हिरण्यरूपत्वं भगवद्धर्मः, ननु सोपि कश्यपपुत्रः कथं तं मारितवानित्याशङ्क्याह कद्रुसुतमिति, मातृदोषेण दुष्टं, मातृप्राधान्यात्र बीजमुख्यता ननु दंशापेक्षया प्रहारोल्पीयानिति कथमस्य जयः ? तत्राहोग्रो विक्रमो यस्येति, वाह्योप्ययं विक्रम उग्रो मरणपर्यवसायी ॥ ७ ॥ ततो यज् जातं तदाह सुपर्णपक्षाभिहत इति, सुपर्णस्य गरुडस्य पक्षेणाभिहतस्ताडितः कालियो विह्वलो जातस्ततः कालिन्द्या ह्रदं विवेश, तत् त्वगम्यं गरुडस्य ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तं तार्क्ष्यपुत्र इत्यत्र बृहद्रूपेणेति " छन्दांसि वै सौपर्णेया" इतिश्रुत्या बृहत्सामरूपेणाक्षररूपेण वा ॥ ७ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

करालजिह्वोच्छ्वसितोग्रलोचन इत्यत्र उच्छ्वसितत्वान् मर्यादाभङ्ग इति उच्छ्वसितयुक्तत्वाद् दर्शनशक्तेर्मन्दत्वं सूचितं ज्ञानशक्तिमान्द्ये मर्यादाभङ्गो युक्त इति गरुडवलिभोगरूपो मर्यादाभङ्गः कालीयेन कृत इत्यर्थः, विपरीतत्वमिति स्वमारकस्य गरुडस्य मारणार्थं प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥ पक्षेण सव्येनेत्यस्य विवृतौ ब्रह्मात्मकं भवतीति वेदात्मकमित्यर्थः, हिरण्यरूपत्वं भगवद्धर्म इति य "एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष" इतिश्रुतेः ॥ ७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'राजा अपमानं न सहते, इति तु तव विदितमेव' इत्याशयेन सम्बोधयति–राजन्निति। तत् कालियकृतं बलिभक्षणं श्रुत्वा गरुडः कालियं विजिघांसुः हन्तुमिच्छुः समुपाद्रवत् महाघोषपूर्वकं समीपमाजगामेत्यन्वयः। तत्र हेतुः–कुपित इति। तत्र सामर्थ्यमाह– महावेग इति। तत्र हेतुमाह– भगवानिति, भगवद्दत्तसामर्थ्यः। तत्रापि हेतुमाह– भगवत्प्रिय इति, भगवद्वाहन इत्यर्थः ॥ ५ ॥ तं सुपर्णं आपतन्तं वेगेनागच्छन्तं कालियोऽपि तरसा वेगेन प्रत्यभ्ययात् योद्धुं सन्मुखं गतवान्। तं विशिनष्टि विषमायुधं यस्य सः, उत्थितनैकमस्तकः उन्नमितानेकफणः, दन्ता आयुधं यस्य सः, कराला जिह्वा यस्य स चासौ उच्छ्वसितानि उज्जृम्भितानि उग्राणि लोचनानि यस्य सः समीपं गत्वा च दद्भिर्व्यदशत् ॥ ६ ॥ तं कद्रूसुतं कालियं स प्रसिद्धः शत्रुः तार्क्ष्यपुत्रो गरुडो निरस्य तिरस्कृत्य क्षिप्त्वा सव्येन पक्षेण जघानेत्यन्वयः। तत्र हेतुमाह–मन्युमान् सङ्क्रुद्धः। सामर्थ्यमाह–प्रचण्डोऽसह्यो वेगो यस्य सः। प्रभावातिशयमाह–उग्रविक्रम इति। तत्र हेतुमाह मधुं सूदयतीति तथा तस्यासनं यस्मिन् स इति। वेगेन गमनार्थं भगवतैव दत्तशक्ति' इत्याशयः। 'सव्येन' इत्यनायासत्वं सूचितं, दक्षिणपक्षस्य ततोऽप्यधिकबलत्वात् ॥ ७ ॥ सुपर्णस्य पक्षेणाभिहतः, अत एवातीव विह्वलः व्याकुलः कालियस्तदगम्यं तेन गरुडेन गन्तुमशक्यं दुरासदमगाधजलतया दुष्प्रवेशं च कालिन्द्या ह्रदं विवेशेत्यन्वयः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदिति ॥ हे राजन् ! तत् कालियकृतं बलिभक्षणं तत्रत्यकर्णेजपसर्पमुखात् श्रुत्वा कुपितः भगवान् समर्थः भगवतः प्रियः महावेगः स गरुडः कालियं विजिघांसुः सन् उपाद्रवत् वेगेन आययौ ॥ ५ ॥ तमिति ॥ विषमायुधं यस्य सः दूरात्फूत्कारेण विषं मुञ्चन् उत्थितनैकमस्तकः उन्नमितानेकफणः। उच्छ्रितेत्यपि पाठः। निकटात्तुदतः दन्ता आयुधं यस्य सः दन्तैर्दशन्नित्यर्थः। कराला जिह्वा यस्य स चासौ उच्छ्वसितानि उज्जृम्भितानि उग्राणि लोचनानि यस्य स कालियोऽपि तं सुपर्णम् आपतन्तं वेगेनागच्छन्तं तरसा वेगेन प्रत्यभ्ययात् योद्धं सम्मुखं गतवान् दद्भिर्व्यदशच्च ॥ ६ ॥ तमिति ॥ मन्युमान् प्रचण्डवेगः मधुसूदनस्य हरेरासनमुपवेशनं यस्मिन् स उग्रविक्रमः तृक्षो मरीचिः। ततोऽपत्ये शिवाद्यण्। तार्क्ष्यस्य कश्यपस्य पुत्रः गरुडः। सयकारपाठे तु पर्यायनापत्यविवक्षया "गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्य" इति। तं कद्रूसुतं कालियं निरस्य क्षिप्त्वा हिरण्यस्येव रोचिः कान्तिर्यस्य तेन सव्येन वामेन पक्षेण जघान ॥ ७ ॥ सुपर्णेति ॥ सुपर्णस्य पक्षेणाभिहतः अत एवातीवविह्वलः व्याकुलः कालियस्तदगम्यं तेन गरुडेन गन्तुमशक्यं दुरासदमगाधजलतया दुष्प्रवेशं च कालिन्द्या ह्रदं विवेश ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

जिघांसुः हंतुमिच्छुः गरुडः कालियं उपाधावत् ॥ ५ ॥ तरसा आपतंतं आयांतं गरुडं विषायुधः विषमेव शस्त्रं यस्य प्रत्यभ्ययात् युधाय आययौ ददायुधः दतायुधः सः दद्भिः दतैः सुपर्णं व्यदशत् ददंश कथंभूतः उच्छ्रितानेकमस्तकः उच्छ्रितानि उत्थितानि अनेकानि मस्तकानि फणा यस्य सः कराला भयानका जिह्वा यस्य सः उच्छ्वसितानि वहिर्निःसृतानि उग्राणि लोचनानि यस्य सः स चासौ स च ॥ ६ ॥ तमिति तार्क्ष्यपुत्रः स गरुडः तं नागं निरस्य मधुसूदनस्यासनं यस्मिन्सः हिरण्यरोचिषा सुवर्णकांतिना सव्येन पक्षेण कद्रुसुतं जघान ॥ ७ ॥ कालिंद्या यमुनायाः तेन गरुडेनागम्यं गंतुमशक्यं दुरासदं अगाधजलत्वान्मनुष्यैर्दुःप्राप्यं ह्रदम् ॥ ८-९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदिति ॥ हे राजन्, तत्कालियस्य कर्म श्रुत्वा आकर्ण्य, भगवत्प्रियो भगवतः प्रेमास्पदीभूतः भगवान् गरुडः, कुपितः। अत एव कालियं विजिघांसुः कालियं विहन्तुं समिच्छुरित्यर्थः। अत एव, महावेगः सन्, समुपाद्रवत्। तत्पश्चादधावदित्यर्थः ॥ २ ॥ तमिति ॥ विषमेवायुधं यस्य सः, उत्थितनैकमस्तकः उन्नमितानेकफणः, पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः। दन्ता एवायुधानि यस्य सः, कराला भयंकरा जिह्वा यस्य सः उच्छ्वसितान्युज्जृम्भितानि उग्राणि लोचनानि यस्य स चासौ स च, कालियः, आपतन्तमभ्यागच्छन्तं, तं सुपर्णं गरुडं, तरसा बलेन, प्रत्यभ्ययात्सन्मुखमयात्। दद्भिर्दन्तैः, व्यदशत् दष्टवांश्च ॥ ६ ॥ तमिति ॥ मधुसूदनस्यासनमुपवेशो यस्मिन् सः, उग्रः विक्रमो यस्य सः, प्रचण्डोऽतितीव्रो वेगो यस्य सः, तार्क्ष्यपुत्रः स गरुडः, मन्युमान् क्रोधवान् सन्, तं कद्रुसुतं, निरस्य इतस्ततः प्रक्षिप्य, हिरण्यरोचिषा सुवर्णसमानकान्तिमता, सव्येन वामेन पक्षेण, जघान ताडितवान् ॥ ७ ॥ सुपर्णेति ॥ सुपर्णस्य गरुडस्य पक्षा गरुत्तेनाभिहतः, सुपर्णेन पक्षेण ताडित इत्यर्थः। कालियः, अतीव विह्वलः अत्यन्तमुद्विग्नः सन्, तेन सुपर्णेनागम्यस्तं, दुरासदमगाधतयाऽन्यैर्दुष्प्रवेशं, कालिन्द्या यमुनायाः, ह्रदं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तच्छ्रुत्वेति : १०.१७.५.

नाहिस्मयं विपहते क्वचिदपि भुवनेषु विष्णुपक्षीयः। विनतोद्भवोऽपि कुपितः समभूद्युक्तं निरीक्ष्य तादृगहिम् ॥ ३ ॥

तं तार्क्ष्यपुत्र इति : १०.१७.७.

शत्रोः स्वात्मतिरस्कृति विदधतोऽप्युन्मत्तवृत्तेरपि यच्छ्रेयः करणं सतां हि सहजश्रीशाङ्ग्रिभाजां व्रतम्।
जानन्नेवमुदारधीः स गरुडः सव्येन तेजस्विना पक्षेणामृतरूपिणेव हृतवांस्तच्छं तदा चिन्तयन् ॥ ४ ॥
पक्षपातो न चेदेवं सद्व्रतस्य स कालियः। सत्यप्यस्मिन् पक्षपाते जीवन्मुक्तः स्थितः कथम् ॥ ५ ॥ (युग्मम्)

विशेषवृद्धं रचितो विभागरतं भङ्क्तुकामः स्मयतो य एकः। विशेषवैरी तत एव स स्यान् स्थानच्युतो भात्यहिरत्र मानम् ॥ ६ ॥

ह्रदं विवेशेति : १०.१७.८.

शत्रुच्छिद्रान्वेषणे योऽप्यनिद्रः सद्राक् तस्माज्जायते यातभीतिः। तार्क्ष्यागम्यं यत्पदं वीक्ष्य मङ्क्षु तत्रागत्य स्वास्थ्यमापोरगेशः ॥ ७ ॥

कृष्णप्रिया

हे राजन् परीक्षित्! श्रीगरुडजी भगवान् श्रीकृष्ण के लाडले प्रिय भक्त थे, स्वयं भगवान् के अनुग्रह से भगवान् समान बलशाली थे, उन्होंने रक्षक के मुँह से यह बात सुनी कालीय की धृष्टता से उग्र रोष उत्पन्न हुआ और कालीय को मारने की इच्छा से अत्यंत तेज गति से अपराधी एवं उद्दण्ड उस कालीय के समीप घस आए ॥५॥ तीक्ष्ण नखों के आयुध वाले तेज गति से उड़कर समीप आते गरुडजी को देखकर अनेक मस्तकों को ऊँचा उठाकर खल कालीय सामने आया। विकराल जीभ, ऊंचा उच्छ्वास उग्र नेत्र, दांत के आयुध वाले कालीय ने श्रीगरुड जी को दातों से डसा और गरुडजी को वह ग्रसने को चाहने लगा ॥ ६ ॥ खल कालीय ने जब जोर से गरुड जी को दंश किया, तब मधुसूदन भगवान् के वाहक प्रचण्ड वेग वाले तार्क्ष्य कुमार श्रीगरुड जी अतिशय रोष में आ गए और कालीय को पकड़ कर दूर फेंक दिया, पुनः वेगपूर्वक दौड़े और स्वर्ण सी चमकिली अपनी सव्य पाँख से कद्रू के पुत्र कालीय पर प्रहार किया ॥७॥ दिव्य पंख वाले श्रीगरुड जी के पंख से ताडित कालीय नाग अत्यंत विह्वल बन गया और स्वरक्षण के लिए कालीय ने गरुड जी जहाँ जा नही सकते थे और अगाध जल के कारण प्रवेश भी अशक्य था वैसे कालिन्दी जी के ह्रद में प्रवेश किया ॥ ८ ॥

तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् । निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहरत् ॥ ९ ॥
मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ [1]हते । कृपया सौभरिः प्राह[2] तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥
अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति । सद्यः प्राणैर्वियुज्येत[3] सत्यमेतद्[4] ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥
तं कालीयः परं वेद नान्यः [5]कश्चन लेलिहः । अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तत्र एकदा क्षुधितः गरुडः ईप्सितम् भक्ष्यम् जलचरं सौभरिणा निवारितः (अपि) प्रसह्य अहरत् ॥ ९ ॥ मीनपतौ हृते दुःखितान् मीनान् दृष्ट्वा सौभरिः तत्रत्यम् क्षेमम् आचरन् कृपया प्राह ॥ १० ॥ अत्र प्रविश्य सः गरुडः यदि मत्स्यान् खादति (तदा) सद्यः प्राणैः वियुज्येत अहम् एतत् सत्यम् ब्रवीमि ॥ ११ ॥ तम् कालियः परम् (केवलम्) वेद, अन्यः कश्चन लेलिहः न वेद (अतः) गरुडात् भीतः अवात्सीत् च कृष्णेन विवासितः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तदगम्यत्वे कारणमाह तत्रेति निवारितोऽपि ॥ ९–११ ॥ लेलिहः सर्पः अतस्तत्रावात्सीत् ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र ह्रदे। जलचरं मत्स्यमहरदिति संबंधः ॥ ९ ॥ तत्रत्यानां क्षेमं कल्याणम् ॥ १० ॥ अत्र ह्रदे। ननु सौभरेः शापान्मत्स्याशनार्थं गरुडो मा गच्छतु तत्र कालियभक्षणार्थं गमने को बाध इति चेत्तर्हि मत्स्यशब्दार्थस्त्वित्थं विधेयः—सीयते बध्यंते मांशसिभिरिति स्या जीवाः 'षिञ्-बंधने' अतो घत्रर्थे कः, आर्षत्वादियङभावः माद्यन्तीति मदोऽसावधानाः 'मदी–हर्षे' अतः क्विप् । मदश्च ते स्याश्चेति मत्स्यास्तान् । तथा चासावधानजीवान्यदि खादतीत्यर्थः। यद्वा—माद्यंत्याहितुडिकवाद्यैरिति मदः सर्पाः, स्यंति मारयंति स्वज्ञातिमिति स्याः यादोजीवाः 'यादोभ्यो ज्ञातिघातिभ्यो दीनां माम्' इत्युक्तेः। "जलौकसां जले यद्वन्महांतोऽदन्त्यणीयसः" इत्युक्तेश्च। स्य इति 'षो—अन्तकर्मणि' धातोः आषः खश्। मदश्च स्याश्च मत्स्यास्तान्, तथा च सर्पान्मत्स्यांश्च यदा खादति तदेति संबंधः। यद्वा—मम कोऽर्थो मत्संबंधिनो ये स्या जीवास्ते मत्स्याः। इह समासावस्थायामस्मदो मदादेशो बोध्यः। तथा च—मत्तपःस्थलीभूतयमुनाह्रदे ये तिष्ठति ते मत्संबंधिन एव 'संबंधमाभाषणपूर्वमाहुः' इति न्यायेनाभाषणे यदि संबंधस्यात्तर्हि किमु सहवासादौ, तथा च—तान्यदि स खादतीति योज्यम्। एतेन मदाश्रमवासिजीवभक्षणे तस्य प्राणवियोग इति सिद्धमिति भावः। यद्वा—हे मत्स्य अनति चेष्टंते जीवा एभिरित्यानि जलानि 'अन–प्राणने' अतः क्विप्। "जलं जीवने हेतुर्हि जगतामथ तस्थुषाम्। अतो जीवनमित्युक्तं तेनेदं चेष्टते जगत् ॥" इति कौशिकसंहितोक्तेः। तानि सनति भजतीत्यन्सः 'षण–संभक्तौ' अत्रापि स एव प्रत्ययः। जलचरप्राणिमात्रं मत्स्यशब्देन ग्राह्यम्। क्लीबे नांतोऽयं शब्दो नान्तृत्वादेव नलोपोऽत्र तेनात्र यदि प्राणिमात्र खादति तदा मृतो भावीति भावः। सर्पस्य जलचरता स्थलचरता च द्वये प्रसिद्धं न काप्यत्रानुपपत्तिरिति। यद्वा मत्स्यपदं काकदधिरक्षणन्यायेनोपलक्षणं जीवमात्रस्येति। वस्तुतस्तु—सौभरेः शापस्तत्र गरुडाप्रवेशतात्पर्यकः 'तं कालियः परं वेद' इति वक्ष्यमाणत्वात्। तम् गरुडागम्यत्वरूपम् शापमित्यर्थः। "ह्रदं विवेश कालिंद्यास्तदगम्यं दुरासदम्" इति पूर्वमुक्तत्वाच्च। गरुडस्तु सर्वज्ञत्वादेव तत्र नायातः कालियस्तु तत्रत्यात्मीयसर्पमुखाच्छेषमुखाद्वा गरुडगम्यं ज्ञात्वा तत्रायया। सौभरेस्तु गरुडाय कुप्यतो यस्मिन्मीने कृपाऽजनिष्ट तस्यैव मीनस्य संगादुत्थिता दुर्वासनैवापराधफलम्, यतश्च विप्लुतब्रह्मानंदः स चिरसंचिततपःसृष्ट्यौवनेनैव मूल्येन कामिनीवृंदं क्रीत्वा तत्रैव नरकतुल्ये विषयानदे न्यमज्जत्। अपराधभोगाते श्रीवृंदावनयमुनाश्रयमाहात्म्येनैव पश्चात्रिस्ततारेति नवमस्कंधकथात्रानुसंधेया ॥ ११ ॥ तम् गरुडागम्यं ह्रदम्। परम् केवलम्। ननु समर्थेन गरुडेन शापः कथं स्वीकृत इति शंका तु "विष्णुना विष्णुभक्तैश्च ब्रह्मशापोऽनुवर्त्यते। ब्राह्मणानामपीडार्थं बलिभिरपरैः सदा ॥" इति ब्रह्मांडोक्त्या नोदेति विज्ञानाम्। विवासितः प्रस्थापितः ॥ १ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एकदेति चतुर्विंशचतुर्युगादपि पूर्वत्र श्रीरघुनाथपूर्वजमान्धातृमहाराजे पृथ्वीं शासतीति ज्ञेयं जलचरमिति सर्वेषामेव सत्त्वे साधारणमित्यर्थः। तत्र च भक्ष्यं पक्षिजात्युचितलोलस्य तस्याहारत्वेन प्राप्तम् अत एवेप्सितं तथापि मुनिवाक्यमादरणीयमिति चेत्तत्राह, क्षुधित इति। भगवद्वदेव लीलयाऽङ्गीकृतक्षुदपि क्षुधार्तानां भक्षणानर्हस्यापि भक्षणं दोषास्मृतेः एवं श्रीगरुडस्यापराधः परिहृतः किन्तु तस्य मुनेरेवापराध इति भावः। क्षुधितस्य महत्तमस्य भक्ष्यभक्षणविघ्नाचरणात् ॥ ९ ॥ अन्यमपि महापराधं

१. हृते–गो. प्रे. टी. जीव. ; हृते–श्रीधर वंशी. वीर. विज. । २. तत्र तत्क्षेम–विज. । ३. विमुच्येत–वीर. । ४. तद्–इति कस्यचित्। ५. कश्चित्स लेलिहः–विज. ।

तस्याह—मीनानिति द्वाभ्याम्। दीनान् स्वभावत एव जलचरत्वेन किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्तेः मीनपतौ सर्वमत्स्यरक्षके हृते सुष्ठु दुःखितान् दृष्ट्वा अत्र एतेन तस्यान्यमत्स्यविलक्षणं सज्ञानत्वं ज्ञापयति—दीन इति। सप्तम्यन्तपाठे सदैव गरुडभयेनार्त्तं इत्यर्थः। प्रथमान्तपाठो वा महापार्षदे धाष्टर्यादिना विवेकरहित इत्यर्थः॥ १०॥ अत्र ह्रदे मत्स्यानिति जलचरोपलक्षणं सः मद्वाक्यावमन्ता श्रीभगवत्पार्षदवरोऽपीति वा अहमिति तपोबलाद्यभिमानात् एतेनैव किल श्रीवैष्णवापराधेन तस्य तपो भङ्गादिपरमानर्थः फलितः तच्च नवमस्कन्धे वर्णितं किञ्च तत्रत्यक्षेमार्थसङ्कल्पोपि विपरीत एवाभवत् तत्रास्तु तावज्जलचराणां वार्त्ता कालियनिवासेन तीरवर्तिनां वृक्षादीनामपि तथोपरि गच्छतां खगादीनामपि मरणं प्राप्तमिति केवलं श्रीवृन्दावनयमुनाश्रयमाहात्म्येन श्रीभगवत्कृपयाऽनतिचिरेण तदपराधस्सद्यः फलमिव विवेकिनां नरकतुल्यमेव विषयभोगं कृत्वा तेन पश्चात् निस्तारणमिति॥ ११॥ तत्प्रोक्तवृत्तं कालिय एव परं केवलं वेदेति श्रीगरुडद्वेषेण तद्भीत्या सर्वत्र निर्भयस्थानान्वेषणात् पूर्वजन्मशतकृतभाग्यविशेषाच्च कृष्णेन सर्वानन्दकरेणेति भावः॥ १२॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एकदेति चतुर्विंशचतुर्युगादपि पूर्व्वत्र श्रीरघुनाथपूर्व्वजश्रीमान्धातृमहाराजे पृथ्वीं शासतीति ज्ञेयम्। जलचरमिति कस्यापि स्वभावेन सर्व्वेषामेव सत्त्वे साधारणमित्यर्थः, तत्र च भक्ष्यं भक्षणयोग्यम्, किंवा तदाहारत्वेन विधात्रा विहितमित्यर्थः, तत्रापि ईप्सितं बृहत्त्वात् परिपुष्टत्वाच्च प्रियम्, यद्वा, चिरं भक्षयितुमिष्टम्, तथापि मुनिवाक्यमादरणीयमिति चेत्तत्राह—क्षुधित इति। क्षुधार्त्तानां भक्षणानर्हस्यापि भक्षणे दोषास्मृतेः। एवं श्रीगरुडस्याप्यपराधः परिहृतः, किन्तु तस्य मुनेरेवापराध इति भावः—क्षुधितस्य महत्तमस्य भक्ष्यभक्षणविघ्नाचरणात्॥ ९॥ अन्यमपि महापराधं तस्याह—मीनानिति द्वाभ्याम्। दीनान् स्वभावत एव जलचरत्वेन किञ्चिदपि कर्त्तुमशक्तेः। मीनपतौ मत्स्यश्रेष्ठे सर्व्वमत्स्यरक्षके वा हृते च सुष्ठु दुःखितान् दृष्ट्वा। 'दिने' इति सप्तमान्तपाठे सदैव श्रीगरुडभयेनार्त्तं इत्यर्थः। प्रथमान्तपाठो वा, एवमविवेकेनैव तेष्वासक्तिस्तस्य सूचिता, न तु वृन्दावनकालिन्दीजीवतया कृपया स्नेहेनेत्यर्थः। तत्रत्यानां तद्ह्रदवर्त्तिनां मत्स्यकूर्म्मादीनाम्, यद्वा, मीनासक्तत्वान्मीनानामेव क्षेममाचरन् कर्त्तुम्, हेतौ शतृङ्॥ १०॥ अत्र ह्रदे स मद्वाक्यावमन्ता श्रीभगवत्पार्षदवरोऽपीति वा। अहमिति तपोबलाद्यभिमानात्, एतेनैव श्रीवैष्णवापराधेन तस्य तपोभंगादिपरमानर्थः फलितः, तच्च नवमस्कन्धे वर्णितमेव। किञ्च, तत्रत्यक्षेमार्थे संकल्पोऽपि विपरीत एवाभवत्। तत्र कालियनिवासेन अस्तु तावज्जलचराणाम्, तीर्थवर्त्तिनां वृक्षादीनामपि तथोपरि गच्छतां खगादीनामपि मरणप्राप्तेः, केवलं श्रीवृन्दावनयमुनाश्रयमाहात्म्येन श्रीभगवत्कृपयाऽनतिचिरेण तदपराधः सद्यःफलमिवविवेकिनां नरकतुल्यमेव विषयभोगं कृत्वा तेन पश्चान्निस्तीर्णमिति॥११॥ तत् प्रोक्तवृत्तं कालीय एव परं केवलं वेदेति श्रीगरुडद्वेषेण तद्भीत्या सर्व्वत्र निर्भयस्थानान्वेषणात् पूर्व्वजन्मशतभाग्यविशेषाद्वा, कृष्णेन सर्व्वानन्दकरेणेति भावः॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कुतस्तदगम्यमित्यत्र तत्कारणमाह-तत्रेत्यादिभिस्त्रिभिः। तत्र ह्रदे कदाचित् गरुडः स्वाभीष्टं भक्ष्यं जलचरं मीनपतिं क्षुधितः प्रसह्य बलादहरज्जहार, कथम्भूतः? सौभरिणा निवारितोऽपि॥ ९॥ एवं मीनपतौ गरुडेन हृते सति सुतरां दुःखितान् मीनान् दृष्ट्वा सौभरिः कृपया तत्रत्यानां जन्तूनां क्षेमं भयाभावरूपमाचरन् कुर्वन् प्राह॥ १०॥ किम् अत्र ह्रदे प्रविश्य यदि गरुडो मत्स्यान् खादति तर्हि स गरुडः सद्य एव प्राणैर्वियुज्येत एतदहं सत्यं ब्रवीमीति ब्राह्मणवाक्यस्य माननीयत्वात् परमपुरुषेणैव गरुत्मता तत्प्रतिघातशक्तिमताऽपि तस्यानुरोध उपपद्यते॥ ११॥ तच्छापात्मकं सौभरेर्वचः केवलं कालीय एव वेद तदन्यः कोऽपि लेलिहानः सर्पः न वेद अतोऽयं गरुडाद्भीतः तत्र ह्रदे अवात्सीत् ततः कृष्णेन विवासितः निष्कासितश्चेति कालियदमनात्मकवृत्तान्तोपसंहारः॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गरुडस्याऽगम्यत्वे निमित्तमाह-तत्रेति। भक्ष्यत इति भक्ष्यम्॥ ९॥ तत्क्षेमं तेषां शिष्टानां क्षेमं योग्यरक्षाम्॥ १०॥ खादति भक्षति प्राणवियोगं मरणमाप्नोतु॥ ११॥ लेलिहा लेलिहानः सर्पः छन्दोभङ्गभयादेवमुक्तं गरुडाद्भीत्यैवावात्सीत् सौभरेः शापातिक्रमणसमर्थेन तेन किमर्थं ह्रदं प्रविश्य हननं नाकारीतीयमाशङ्का—

"विष्णुना विष्णुभक्तैश्च ब्रह्मशापोऽनुवर्त्यते। ब्राह्मणानामपीडायै बलिभिः क्षत्रियादिभिः"॥

इत्यादिब्रह्माण्डवचनेन निस्तुषीकर्तव्या एतद्विवक्षया वा लेलिहेत्युक्तम्॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

भक्ष्यं पक्षिजात्युचितलीलस्य आहारत्वेन प्राप्तम्। अत एव ईप्सितम् अत एव लीलया भगवद्वदेव क्षुधितः॥ ९॥ मत्स्यानिति जलचरोपलक्षणम्॥ १०-११॥ वेदेति श्रीनारदद्वारेति ज्ञेयम्॥ १२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गरुडागम्यत्वे कारणमाह—तत्रेति । मा भुङ्क्ष्वेति निवारितोपीति तस्मिन् परममहति गरुडे आज्ञाप्रदानं तद्दिष्टप्रातिकूल्यं चेति सौभरेरपराधद्वयं तदाज्ञालङ्घनं प्राणिहिंसनं चेत्यपराधद्वयं गरुडस्य नाभूत् ततः सकाशादतितेजस्वित्वादिति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥ तत्र तृतीयमपराधं तस्याह—मीनानीति । कृपयेति मीनान् प्रति यथा तस्य कृपा तथा गरुडं प्रति कोपश्च गम्य तत्रत्यानां जीवमात्राणामेव क्षेमं कर्त्तुमिति ततश्च कालियागमनेन तेषां सर्वेषामक्षेममेवाभूदिति महदपराधिनः कृपापि विपरीतफलवं भवेदिति द्योतितम् ॥ १० ॥ अत्र यदीत्यनेन पक्षान्तरमपि लभ्यते तत्रश्चायमर्थः अत्र प्रविश्य यदि मत्स्यान् खादति तदा सद्यस्तत्क्षणमेव प्राणैर्वियुज्येत यदि च मत्स्यान्न खादति तदा त्वसद्यः किञ्चिद्विलम्ब एवेति ह्रदप्रवेशमात्र एव शापः मत्स्यखादने तु शापातिशयः अत्रत्याभिशापं गरुडः सर्वज्ञत्वादेव ज्ञात्वा नागतः कालियस्त्वात्मीयतत्रत्यसर्पमुखाज्ज्ञात्वैवागतः सौभरेस्तु गरुडाय कुप्यतो यस्मिन् कृपा अजनिष्ठ तस्य मीनस्यैव सङ्गादुत्थिता दुर्वासनैवापरावफलं यतश्च विलुनब्रह्मानन्दः सचिरसञ्चिततपस्सृष्टस्वयोवनेनैव मूल्येन कामिनीवृन्दं क्रीत्वा तत्रैव नरकतुल्ये विषयानन्दे निमज्जन्नपराधभोगान्ते श्रीवृन्दावनयमुनाश्रयमाहात्म्येनैव पश्चान्निस्ततारेति नवमे कथा ॥ ११-१२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तदगम्यत्वे कारणमाह—तत्रेत्यादिना ॥ ९-११ ॥ तन्मुनिशाप परं केवलं कालियो वेद नान्यो लेलिहः सर्पः ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तदगम्यत्वे हेतुमाह तत्रेति । एकदा चतुर्विशे चतुर्युगादपि प्राक् श्रीरामपूर्वजे मान्धातरि महीं शासतीति ज्ञेयम् । मा भुंक्ष्वेति सौभरिणा निवारितोऽपि जलचरं भक्ष्यमहरत् । प्रहस्य हठात् ॥ ९ ॥ मीनानां पतौ पालके ह्रदे तत्रत्यानां प्राणिनां क्षेमं कल्याणम् ॥ १० ॥ अत्रेति ह्रदे प्रविश्य यदि मत्स्यान् खादति तदा सद्यः प्राणैर्वियुज्यते, यदि च मत्स्यान्न खादति तदा त्वसद्यः किञ्चिद्विलम्बेनेति तत्प्रवेशमात्रे शापस्तत्खादने तु तदतिशयः इत्यर्थः । ब्रवीम्यहमिति तपोबलाभिमानं सूचयति । अत्र भगवन्नित्यपार्षदे गरुडे सौभरेराज्ञाप्रदानं तदभीष्टप्रातिकूल्यञ्च मीनदयया तत्र कोपश्चेत्यपराधत्रय, तस्मादेव दयनीयमीनसङ्गोत्थैतद्दुर्वासनया चिरार्जिततपः सक्षयो विषयानन्दानुभववपुरभूत् महदपराधिनस्तस्य तत्रत्यक्षेम चिकीर्षा रूपा दयापि विपरीतफला तत्र कालियागमनेन जलतत्तटवर्तिनां तदुपरिगच्छतां विहगानाञ्च विनाशात् विषयभोगान्ते तस्य निस्तारस्तु श्रीवृन्दावनयमुनोपसेवनमाहात्म्यादेव, गरुडस्य तु यदाज्ञालङ्घनं प्राणिहिंसनं चेत्यपराधद्वयं नाभूत्ततोऽप्यतितेजस्वित्वात् तथापि ह्रदाप्रवेशो विप्रर्षिवाक् प्रतिपालनाय हरेरिवेति ॥ ११ ॥ लेलिहः सर्पः ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कुतस्तद्गरुडागम्यमित्यत आह ॥ तत्रेति । ईप्सितमपेक्षितं सौभरिणा तपस्यता प्रसह्य बलात् ॥ ९ ॥ मीनपतौ हते सति मीनांस्तज्ज्ञातीन्सुदुःखितान्दृष्ट्वा तत्र यमुनाह्रदे तत्क्षेमं मीनानानुत्तरत्रोर्वरितानां क्षेममाचरन्कुर्वाणः कृपया प्राह । मीनमिथुनरमणदर्शनजनितकामिनोकामनोपात्तमहामाहात्म्यावहदेहव्यूहग्रहणानुबन्धेनौचितो रचितः सौभरिणा शापो विपत्तेरिति ज्ञेयं ॥ १० ॥ कृपयेत्यारभ्य सार्धश्लोकद्विके सौभरिशापतो विपत्तेर्भीतता प्रतीयते । सा चोच्चतां विनाऽनुपपद्यमानतामाक्षिपति । सा च प्रमाणबाधितेत्यत एतद्व्याजेन सर्वत्रैतत्सजातीये गतिं व्यवस्थापयन्मानमेवाह ॥ विष्णुनेति । ब्रह्मणां ब्राह्मणानामुत्तङ्कभृग्वादीनां शापो हरिणेत्याद्यनभिधानेनाभिधानेन च विष्णुनेति विनाप्णोति गच्छतीति व्युत्पत्त्या यत्स्वाम्यपि ब्राह्मणाननुसरति का कथा गरुडस्येति ध्वनयति । विष्णुभक्तैरप्यनुवर्त्यते तत्फलानुभूत्या वलिभिर्निन्दनं वलस्येनिनाऽऽह । दुष्टबलवद्भिः क्षत्रियादिभिर्ब्राह्मणानामपीडायै अनुपद्रवार्थमुत्तमशापप्रदानेनाधमानां किमित्यत आह ॥ विष्णोरिति । विष्णोर्विष्णुभक्तानां स्वोत्तमानां तत्कर्मकाच्छापादधमस्याखिलं तपो व्येति नश्यति । ऋष्यादिज्ञानिनः कुत आत्मतपोहानिद कुरुते कार्यमित्यत आह ॥ तथापीति । तपः क्षयहेतुत्वेऽपि हरिमपि शेपुः । तत्र तन्त्रं ॥ असुरावेशादिति । अहो तदासुरं माहात्म्यमद्भुतमित्यर्थः । प्रस्तुतोक्त्योपसंहरति ॥ अत इति । एतद्धेतोः सौमरेः शापं खगेश्वरो नात्यवर्तत । देवभूदेवादितरतमभावो मानसिद्ध इति नोच्चयोनावप्रयोजनानि रिक्तफलकानीति वक्ति । अन्यथा ब्राह्मणपीडापीडार्थमित्यनङ्गीकारे । अधमैः शाप उत्तमानां तर्न्येत नाङ्गीक्रियेतात उक्तमेव प्रयोजनं । न निष्प्रयोजन स्वीकार इति सम्भवति । अप्रेक्षावत्त्वप्राप्तेः । एवं शापे गतिं विचिन्त्य प्रसङ्गसङ्गत्योत्तमैरधमे प्रति प्रत्तो वरोऽप्येताहश इति शंसति ॥ वरोऽपीति । उत्तमैर्दत्तोऽधमेभ्योऽधमस्याधिक्यं प्रति कारणं न भवति । ननु भवत्वितरेषामुत्तमानां वरो न वरताकरो हरेरवन्ध्यसङ्कल्पत्वान्न तद्दत्तो विफलं भवितुं योग्य इत्यत आह ॥ विष्णोरपीति । तस्मात्स्वोत्तमात्क्रमशः क्रमाच्छ्रीविरिञ्चादेविष्णोर्वरश्चेदप्याधिक्यं न सम्प्रयच्छति न ददाति । कथञ्चित्केनापि प्रकारेण केनचिद्धेतुना क्वचित्काले देशे वा । कुत इत्यतोऽपीदमुत्तरं । तेभ्यस्तेषामधमानां चित् उत मतोययोगिज्ञानं क्वेतीति । हरिस्ताहक्योग्यतामतिक्रम्य विद्यमानं वरं न दद्यात् । वेति यदर्थे । यदि दद्यात्तद्बलादिकं बाह्यमेव । अर्जनादीनां वैरिजयनादिविषयकमेवेति बाह्यं न स्वरूपमित्यर्थः । स गरुडोऽत्र प्रविश्य

यदि मत्स्यान्खादति सद्यः प्राणैर्वियुज्येत मृतो भवेदिति यावत्। अहमेतत्सत्यं यथार्थं ब्रवीमि ॥ ११ ॥ तत्तत्र पतत्रिराडायात-श्चेन्मरिष्यतीत्येतत्परं रहस्यं कालियो वेदान्यः कश्चिल्लेलिहा लेलिहानः सर्पो न वेदातः स गरुडाद्भीतस्तत्रावात्सीत्कृष्णेन विवासितो निष्कासितः ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

तत्र हेतुं वक्तुमुपाख्यानमाह तत्रैकदेति, यदास्य न भगवद्भावः, सौभर्युपाख्याने सर्वत्र मीनसङ्गः प्रसिद्धः, स हि मीन-हितकारी भवति, पुनर्गरुडो देवागत्या तस्यैव समीप ईप्सितं भक्ष्यं जलचरविशेषं रोहितादिरूपं निवारितोपि सौभरिणा क्षुद्वशाद् वहिर्मुखावस्थां प्राप्तस्तं गृहीत्वान्यत्र गतः, तत्र भक्षण आज्ञोल्लङ्घनाद् विशेषतः खेदजननाच्च मरणमेव भवेत्, जीवन्त-मेवान्यत्र हृतवानिति तत्र तस्याप्रवेश एवोच्यते ॥ ९ ॥ ननु भगवन्निर्मितेर्थे कथं मुनेराग्रहः ? तत्राह मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वेति यथा भगवता मर्यादाशास्त्रं कृतं लौकिकमेवं वैदिकमपि. ततः परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितः कारुणिकस्तदुपायं कुर्यादिति दीनोपेक्षायां दोषस्य श्रवणात् 'स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथे'त्यादिवाक्यात्, अतो दयया लोकमर्यादोल्लङ्घनं कृतवान् तदाह सुदुःखितान् दृष्ट्वेति, नन्वज्ञानादेव तेषां दुःखं कथं प्रतीकारार्थं यत्नः ? तत्राह दीनानिति, विचार्यमाणेपि ते दीना रक्षकाभावात्, अत एव तत्र हेतुर्मीनपतौ हृत इति, स हि मीनानां पतिः अन्यथा गोत्रघातिनस्ते स्वात्मीयानपि भक्षयेयुः. अतः केवलं कृपया सौभरिर्वक्ष्यमाणं प्राह तत्रत्यमीनानां क्षेममाचरन्, वस्तुतस्त्वनर्थ एव कृतः, मीनाः सर्व एव तत्रत्या विषेण दग्धाः, तत्प्रसङ्गादन्येपि जीवाः, अतोन्येन यत् क्रियते तेनानर्थ एव सम्पद्यत इति फलितम् ॥ १० ॥ शापवाक्यमाहात्र प्रविश्येति, अत्र ह्रदे प्रविश्य, जलं तथा भवेदित्येकः शापः, तत्रापि यदि मत्स्यान्, तत्रापि स एव गरुडो न त्वन्यः पक्षी, ततः सद्य एव प्राणैर्वियुज्येतेत्यपरः, तेनान्याहृतस्याप्यत्रत्यमत्स्यस्य भक्षणं निषिद्धं, तथा च न विशिष्टशापः, अत एव कालीयस्य रक्षा. अन्यथा मत्स्यखादने शापाभावान्न सा स्यादितिभावः, अत एव स इति पुनरुक्तं, ब्रह्मवाक्यमाज्ञारूपं, इदमनुवादं वाक्यमित्याशङ्क्याह सत्यमेतद् ब्रवीम्यहमितिप्रमाणं, न हि ब्रह्मवादो मृषा भवति ॥ ११ ॥ तमर्थं कालिय एव परं वेद, गरुडेन सह विरोधं चिकीर्षुस्तस्यागम्यं स्थानं विचारितवान्, अन्येषां त्वेवमध्यवसायाभावात्, नान्यो लेलिहः सर्पो जानाति, अतो गरुडाद् भीतस्तत्रावात्सीत् कृष्णेन च विवासितस्ततो दूरीकृतः ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्र प्रविश्येत्यत्र, इदमनुवादकमिति । सर्पप्रवेशे तीरगानां विषेण तथात्वं स्वत एव भविष्यतीति तदनुवादकत्वशङ्का। अन्यथा विषप्रवेश एव न स्यादिति भावः ॥ ११ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तत्रैकदेत्यत्र यदास्येति यदा सौभरेः, उच्यत इति शापवाक्य उच्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥ अत्र प्रविश्येत्यत्रात एवेति विशिष्टशापाभावादेव, ब्रह्मरूपमिति सत्यपदस्यार्थः, न स स्यादिति स कालीयो रक्षितो न स्यादिरयर्थः । इदमनुवादकमित्येतत्सार्थं टिप्पण्यामाहुः सर्पेत्यादि, सुबोधिन्यां प्रमाणमिति गरुडे विषस्याकिञ्चित्करत्वाद् विषप्रवेशेपि नानुवादकत्वं तस्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अत्र प्रविश्येत्यत्र तत्रापि ह्रदादन्यत्र स्वदेशेपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अत्र प्रविश्य गरुड इत्यत्र तथा भवेदित्येक इति अत्र श्रीयमुनाह्रदे प्रविश्य गरुडः सद्यः प्राणैर्वियुज्येतेत्यन्वयेन ह्रदप्रवेशमात्रेण गरुडप्राणनाशो भवेदित्येकः शापः, अत एव गरुडागम्यं तत्, 'तदगम्यं दुरासद'मितिवाक्यात्, यदि गरुडो मत्स्यान्न खादति तदा प्राणैर्वियुज्येतेति द्वितीयः शापः ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु "भगवद्वाहनस्य महावेगस्य तस्य गतिः कुत्रापि न रुद्धा श्रूयते, तस्य तत्र गमनशक्तौ किं कारणम् ?" इत्यपेक्षाया-माह—तत्रेति । तत्र यमुनायामेकदा सौभरिणा ऋषिणा निवारितोऽपि गरुडः ईप्सितं स्वाभीष्टं भक्ष्यं जलचरं मत्स्य प्रसह्य बलादाहरत्, तदा सौभरिः प्राहेत्युत्तरेणान्वयः । बलाद्धरणे हेतुमाह—क्षुधित इति ॥ ९ ॥ सौभरिशापप्रयोजनमाह—मीनानिति। मीनपतौ हृते सति तदधीनान् मीनान् सुदुःखितान्, अत एव दीनांश्च दृष्ट्वा कृपया तत्रत्यं क्षेमं निर्भयत्वमाचरन् कुर्वन् सौभरिः प्राहेत्यन्वयः ॥ १० ॥ तद्वचनमेव दर्शयति-अत्रेति । अत्र यमुनायां प्रविश्य स गरुडो यदि मत्स्यान् खादति भक्षयिष्यति, तदा सद्य एव प्राणैर्वियुज्येत म्रियेत, एतत् सत्यमेवाहं ब्रवीमीत्यन्वयः । 'मत्स्यान्' इत्युपलक्षणं जन्तुमात्रस्य, अन्यथा कालियग्रहण-प्रतिबन्धो न स्यात् । 'मत्स्यांश्च' इति पाठे तु चकारादेव प्राण्यन्तरग्रहणम् । अत्र यद्यपि "ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां

समुपेक्षकः। स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथा" इति वाक्यमर्यादया तथाकरणं तस्योचितमेव, तथापि गरुडस्य भगवद्भक्तत्वात्तस्य क्षुधितस्य जात्युचितभक्ष्यनिवारणेन शापदानेन च मुनेरपराध एव जातः। अत एव तस्य महातपस्विनोऽपि विवाहादिना तपोविघ्नरूपानर्थः, तत्र कालियनिवासेन तत्रत्यानां जलचराणां तीरवर्तिनां वृक्षादीनामनुपरिगच्छतां खगानां च मरणेन तत्रत्यक्षेमार्थसङ्कल्पवैपरीत्यं चासीदिति बोध्यम् ॥ ११ ॥ तं सौभरिशापं परं केवलं कालिय एव वेद, अन्यः, कश्चनापि लेलिहः सर्पो न वेद। यद्यन्योऽपि वेद, पूर्ववैरस्य सत्त्वात् सोऽपि तेन सह विरोधं कृत्वा तत्रागच्छेत्, अतः स एव गरुडाद्भीतः सन् तत्रावात्सीत्, कृष्णेन च विवासितो निष्कासितः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गरुडागम्यत्वे हेतुमाह–तत्रेति ॥ तत्र यमुनायामेकदा मान्धातरि पृथिवीं शासति सौभरिणा ऋषिणा निवारितोऽपि गरुडः क्षुधितः सन् कञ्चिज्जलचरं मत्स्यम् ईप्सितं भक्ष्यं प्रसह्य बलादाहरत् ॥ ९ ॥ मीनानिति ॥ मीनपतौ हृते सति तदधीनान्मीनान् सुदुःखितान् अत एव दीनांश्च दृष्ट्वा कृपया तत्रत्यं क्षेमं निर्भयत्वमाचरन् कुर्वन्सौभरिः प्राह स्म ॥ १० ॥ अत्रेति। अत्र यमुनायां प्रविश्य स गरुडो यदि मत्स्यान् खादति भक्षयिष्यति। तदा सद्य एव प्राणैर्वियुज्येत म्रियेत। एतत्सत्यमेवाहं ब्रवीमि। मत्स्यानिति जन्तुमात्रोपलक्षणम्। अन्यथा कालियग्रहणनिषेधो न स्यात् ॥ ११ ॥ तमिति ॥ तं सौभरिशापं परं केवलं कालिय एव वेद अन्यः कश्चनापि लेलिहः सर्पो न वेद स्म। यदि विद्यात्तदा सोऽपि तत्रागच्छेत्। अतः कालिय एव गरुडाद्भीतः तत्रावात्सीत्। स च कृष्णेन विवासितः निष्कासितः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्रत्यास्तस्मिन् ह्रदे स्थिता ये मत्स्यास्तेषां क्षेमं कुशलं ॥ १० ॥ प्रवेशे शापमाह अत्र ह्रदे स गरुडः ॥ ११ ॥ तं शापं कालिय एव परं केवलं वेद अन्यः कश्चन लेलिहः सर्पो न वेद अन्यः कश्चन लेलिहः सर्पो न वेद अतो गरुडाद्भीतः तत्रावात्सीत् विवासितो निष्कासितः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कुतस्तदगम्यमित्यत्र कारणमाह त्रिभिः ॥ तत्रेति ॥ एकदा कदाचित्, तत्र ह्रदे, गरुडः, ईप्सितं स्वाभीष्टं, भक्ष्यं भक्षणार्हं, जलचरं मीनपतिं, सौभरिणा मुनिना, निवारितः सन्नपि, यतः क्षुधितः, ततः प्रसह्य, अहरत्। बलाज्जहारेत्यर्थः ॥ ९ ॥ मीनानिति ॥ एवं गरुडेन, मीनपतौ हृते पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। सुदुःखितान् दीनान्, मीनान् दृष्ट्वा, सौभरिः कृपया हेतुना; तत्रत्यक्षेमं ह्रदस्थानां जन्तूनां भयाभावरूपं क्षेमं, आचरन् सन्, प्राह ॥ १० ॥ किं प्राहेत्यत्राह ॥ अत्रेति ॥ अत्र ह्रदे, प्रविश्य, गरुडः यदि, मत्स्यान् खादति भक्षयतीतेत्यर्थः। चकारादन्यांश्च जलचरान् खादिष्यतीत्यर्थः। अत्र खादनं ग्रहणस्याप्युपलक्षणम्। तदा सद्यः, प्राणैर्वियुज्येत। एतत् अहं सत्यं ब्रवीमि। अत्र गरुड इति कर्तृपदे सत्यपि मत्स्यान् स खादतीति पठन्ति, तत्र स इत्यस्य प्रयोजनाभावात् सोऽपपाठ एव। अत्र केचन शङ्कते। मत्स्यपदोपादानात्सर्पग्रहणभक्षणयोर्गरुडस्य को वा बाध इति, तेषां तत्रत्यपदार्थानवबोधः स्फुट एव। किं च तत्रैकदा मीनपतिमिति पाठे वक्तुं युक्तेऽपि सामान्यतो जलचरोपादानां तत्रत्यसकलजलजन्तुमात्रबोधकमिति तोषणीसारटीकाकाराभिप्रायोऽपि तत्रत्यसकलजन्तुमात्रग्रहणभक्षणपरः प्रतिभाति। यदि मीनान् खादतीत्यनुक्त्वा यदि मत्स्यांश्च खादतीत्युक्तेरयं भावः। माद्यति जलेनेति मत्स्यः, मदेः स्यः इति तट्टीका इति। हैमे माद्यतीति मत्स्यः 'ऋतन्यञ्जि' इति स्यः, इति अमरव्याख्यासुधा। तेषां मादनं च जलेनैव प्रसिद्धम्। एवं कोशद्वयव्याख्येक्षयाऽत्र मत्स्यशब्दः सामान्यतो जलचरमात्रपरः इति ॥ ११ ॥ तमिति ॥ तं सौभरेः शापं, पाठान्तरे एतच्छापात्मकं सौभरेर्वचः इति, परं केवलं, कालियः एव वेद। अन्यः कश्चनापि, लेलिहः सर्पः, न वेद। अतोऽयं गरुडात् भीतः सन्, अत्र अवात्सीत्। ततः, कृष्णेन चैव विवासितः निष्कासितः। इति कालियदमनात्मकवृत्तान्तोपसंहारः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अत्रेति : १०.१७.११.

अयं स्वीयः परो वायमिति धीर्न दयावताम्। यत्तार्क्ष्यं स तिरस्कृत्य मुनिर्मीनेष्टधीरभूत् ॥ ८ ॥
श्रेयोऽन्यस्य विधेयमस्ति यदि तत्ताद्दृग्विधेयं बुधैर्यत्स्यात् तत्परिणामसौख्यजनकं निर्दुःखलेशं भृशम्।
कार्यं सौभरिवाक्यवन्न सहसा तत्कालमीनेष्टदं सर्वेषां परिणामतस्तु समभूत् खेदार्थमम्भोजुषाम् ॥ ९ ॥
न चेत्ताद्दृग्वचस्तस्य न तार्क्ष्यागम्यता ह्रदे। न स्थितिः कालिस्यापि न खेदो यादसां ततः ॥ १० ॥
अत एव शास्त्रकारैर्विविच्य भूयोऽपि फलितमुक्तमिदम्। स्थितमेव धर्मतत्त्वं गूढगुहायामितीह विशदमभूत् ॥ ११ ॥ (विशेषकम्)
अन्योन्यमशनं मीनधर्मं इत्यभिजानता। यदुक्तं तदगम्यत्वं तत्कृपावशलक्षणम्।' १२ ॥
यत्त्यक्तं साधुजनैस्तत्त्यक्तं भवति युक्तमखिलजनैः। त्यक्तः सर्वैरपि यद्ध्रदो हि विनतात्मभूपरित्यक्तः ॥ १३ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! वहाँ कालिन्दी दह में किसी एक दिन मत्स्य भक्षण के लिये श्रीगरुड़जी आये, वे बहुत क्षुधित थे, वहाँ सौभरिजी सन्ध्या कर रहे थे, गरुड़जी को मत्स्यहिंसा से रोकने लगे, लेकिन क्षुधावश गरुड़जी नहीं माने और अपने प्रिय ऐसे मत्स्य को बलात् खाने लगे ॥ ९ ॥ सौभरि महर्षि मना करते रहे और गरुड़जी, बड़े मीन को जो मत्स्यपति थे उनको ले गए इससे सर्व मत्स्यो को अतिशय दुःखित कर सौभरिजी के मन में दया आई पुनः वहाँ रहने वालों का हित चाहते स्वयं बोले ॥ १० ॥ महर्षिजी ने कहा कि –यदि यहाँ कालिन्दी दह में गरुड़ आयेंगे, और वे मत्स्य भक्षण करेंगे तब उसी समय उनके प्राण निकल जायेंगे, यह मेरा सत्य वचन है ॥ ११ ॥ श्री सौभरि मुनि के शाप को केवल कालीय ही जानता था, और किसी भी सर्प को इस शाप का ज्ञान नहीं था, इसलिए श्रीगरुड़जी के भय से कालीय यहाँ आ बसा, भगवान् श्रीकृष्णने इस नाग को यहाँ से निकाला ॥ १२ ॥

कृष्णं ह्रदाद् [1]विनिष्क्रान्तं दिव्यस्रग्गन्धवाससम्[2] । महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥
उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा [3]इव प्रजाः । प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥ १४ ॥
यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गोपाश्च कौरव । कृष्णं समेत्य लब्धेहा [4]आसँल्लब्धमनोरथाः ॥ १५ ॥
रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित्[5] । [6]नरा नार्यो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—दिव्य स्रग् गन्ध वाससम् महामणि गण आकीर्णम् जाम्बूनदपरिष्कृतम् ह्रदात् विनिष्क्रान्तम् कृष्णम् उपलभ्य लब्धप्राणाः सर्वे गोपाः प्रजाः (बालाः) इव उत्थिताः (ततः) प्रमोद निभृत आत्मानः प्रीत्या कृष्णम् अभिरेभिरे ॥१३-१४॥ कौरव यशोदा रोहिणी नन्दः गोप्यः गावः च अवशिष्टाः कृष्णं समेत्य लब्धेहाः लब्धमनोरथाः आसन् ॥ १५ ॥ अस्य अनुभाववित् च रामः अच्युतम् आलिङ्ग्य जहास नराः नार्यः वृषाः वत्साः परमां मुदम् लेभिरे ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

जांबूनदं सुवर्णं तेनालंकृतम् ॥ १३ ॥ असव इंद्रियाणि । प्रमोदनिभृतात्मान आनंदपूर्णमनसः ॥ १४ ॥ लब्धेहा लब्धचेष्टाः ॥ १५ ॥ नगा वृक्षा अपि पूर्वं शुष्काः संतः सद्य एव विरूढा इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

विनिष्क्रान्तम् बहिरागतम् ॥ १३ ॥ अभिरेभिरे शिश्लिषुः ॥ १४ ॥ लब्धचेष्टाः पूर्वं तु मृतप्राया इत्यर्थः । कौरवेति । शुद्धवंशोद्भूतत्वात्तव श्रीकृष्णलीलामृतपाने रुचिरिति संबुद्ध्यभिप्रायः । यद्वा—कौ भूमौ रवः श्लाघ्यशब्दो यस्य तत्संबुद्धौ तथा, भगवद्भक्तानां यशःशब्दो भूमंडलं व्याप्नोतीति तात्पर्यम् । यद्वा-त्वयि ब्रह्मास्त्रतो रक्षणाज्जीविते कौरवा युधिष्ठिरादयो लब्धचेष्टा आसंस्तद्वदिति भावः ॥ १५ ॥ इत्यर्थं इति । भगवदमृतदृष्टिपातेन विषांबुपानमृतगोपानामिव वृक्षा अपि जीवनमापुः । तीरे वृक्षाभावाद्वृंदावनस्था दूरस्था अपि कृष्णमदृष्ट्वा शोकाच्छुष्यंतः पुनर्दृष्ट्वा लब्धेहा अंकुरपल्लवपुष्पाद्युद्गमवंतो बभूवुरिति भावः। रामश्चाच्युतं सर्वदा च्युतिवर्जितं जहास–धन्योस्येवं कर्त्तुं युज्यत इत्युपालंभपूर्वं जहासेति कालियनिग्रहेण कश्चित्क्षतश्च नाभूदिति नाभ्यलपदिति ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवमुपोद्घातं समाप्य प्रस्तुतमाह—कृष्णमित्यादिना । तत्र कृष्णमिति युग्मकम् । जाम्बूनदं दिव्यस्वर्णं भवत्या नागवृन्दपरिवृतत्वात् तस्माद्ध्रदात् विशेषेणैव निष्क्रान्तं सन्तमुपलभ्य दृष्ट्वा तावदपि शङ्कया स्तब्धत्वात् निष्क्रमणमपि गतिलाघवेन जलोपर्य्युपरि क्रान्त्वैवेति ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ सर्वे वक्ष्यमाणाः अचेतनानामिव स्तब्धानामपि तेषामेकदोत्थाने हेतुमाह—लब्धप्राणा इति । तत्र मेलने क्रमः प्रमोदेति सार्द्धेन गोपाः सखायः पूर्वत्र एव तीराग्रमवलम्ब्य स्थितत्वात् अभिरेभिरे परिरेभिरे ॥ १४ ॥ ततः श्रीयशोदादयः स्नेहक्रमेणाग्रतोग्रत आगत्य तत्रैव स्थितत्वात् तत्र श्रीयशोदा व्रजात् प्रस्थितानां सर्वेषामग्रगामिनी तस्या

---

१. बहि; क्रान्तम्–इति कस्यचित् । २. मण्डितं–विज. । ३. इवासवः–श्रीधर. वंशी. वीर. विश्व. ; इव प्रधः–विज. । ४. आसन्मुक्ता नगा अपि–इति कस्यचित् । ५. प्रेम्णा तमङ्कमारोप्य पुनः पुनरुदैक्षत–इदमर्धमधिकं वीर. पाठे । ६. गावो वृषा सवत्साश्च–गो. प्रे. टी. ; नरा नार्यो विज. ; नगा गावो वृषा–श्रीधर. वंशी वीर. ।

एवासमोद्ध्वंवात्सल्यात् ततः श्रीरोहिणी तथा सख्येन सवासनत्वेन च तत्सहयोगात् ततः श्रीनन्दस्तदनुगवात्सल्यात् गोप्यो गोपाश्च क्रमेण दम्पत्योर्निकटस्था ज्ञेयाः केषाञ्चित् सवासनत्वात् केषाञ्चिदनुयायित्वाच्च समेत्येति पूर्ववत् तावत् स्तब्धीभूय केवलं द्रष्टार एवासन् पश्चात् सम्भ्रमणोत्थितमात्राः नतु धावितुं शक्ताः समेत्य तु आलिङ्गनादिचेष्टावन्तो बभूवुरित्यर्थः। किंबहुनेत्याह—शुष्का इति। निकटे तावद्वृक्षोत्पत्तिरेव नास्ति दूरतस्तु ये वायुगत्या शुष्काः तदानीमेव तादृशश्रीकृष्णलीलया बाहुःशकुनान्तरवत् शुष्कास्तेपि अङ्कुरादिविकासचेष्टावन्तो बभूवुरित्यर्थः। लब्धमनोरथा इति पाठस्तु स्वाम्यसम्मतः॥ १५ ॥ अथ तादृशदुःखिव्रजजन-सङ्गमाय दत्तावसरेण श्रीरामेण सङ्गमं वर्णयति—रामश्चेति। चकारात्पूर्वं व्रजवासिशोकेन रामश्चान्तः शुष्कः पश्चात् लब्धेहस्त-मालिङ्ग्य जहासेत्यर्थः। अच्युतं न कथञ्चिदपि माहात्म्यात् च्युतं कुतो जहास तदाह अस्य अच्युतस्य अनुभावान् इच्छामात्रेण सर्वं सामर्थ्यं वेत्तीति तथा सः अतो निजव्रजदुःखमयमिदं भद्रं कृतमित्युपालम्भनपूर्वकमेवेत्यर्थः। नगाः अन्येपि सर्वे गावो वृषा वत्सतरा इति पाठः क्वचित्॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवमुपोद्घातं समाप्य प्रस्तुतमाह—कृष्णमिति, श्यामसुन्दरमित्यर्थः, व्रजजनजीवनमिति वा। विशेषेण निष्क्रान्तं तमेव विशेषमाह—दिव्येति पादैस्त्रिभिः, जाम्बुनदं दिव्यस्वर्णम्॥ १३ ॥ उपलभ्य निकटागतं प्राप्य, उत्थिताः पूर्वं मोहने भूवि निपतिता नासिकान्तः प्रविष्टतत्सौरभ्येण सञ्जातसंज्ञाः, सद्य एव भूमेरुत्थिता मोहादुत्थिता इति वा, इति पूर्वं मोहादेव तादृशदिव्यगीतवाद्यादिना श्रीकृष्णनृत्यादिकञ्च किमपि तैर्नावकलितमिति बोद्धव्यम्। अतएवाग्रे तेषां तत् किञ्चिदनुवादादिकं न श्रूयत इति दिक्। ननु मृतानामेव तेषां तदुपलब्ध्यैव कथं सर्वेषामेकदैवोत्थानं सम्भवेदित्याशंक्य दृष्टान्तेन साधयति,—लब्धेति। गोपाः सामान्यतः सर्वे वृद्धादयस्तेषां श्रीयशोदादिभ्यः प्रागुत्थानात्, तं बहुधालिंगितवन्तः॥ १४ ॥ स्नेहविशेषाक्रान्तानां श्रीयशोदादीनां गोपेभ्यो दुःखविशेषेण मोहाधिक्यात्तेभ्यः पश्चादुत्थितानां श्रीकृष्णसंगमेनापि केवलमादौ सचेष्टत्वमात्रमाह—यशोदेति, गोपाः पितृव्यतादिदेहसम्बन्धिन उपनन्दादयः, सखायः श्रीदामादयश्च प्रथमं लब्धचेष्टा आसन्, पश्चात् समेत्याभिरेभिरे चेत्यर्थः, श्रीभगवतः कालियह्रद-प्रवेशेन तद्दुःखेन शुष्का ये नगास्तेऽपि। हे कौरवेति कुरुकुलरक्षाहेतुभूतस्य द्रौण्यस्त्रग्रस्तस्य तव प्राप्त्या श्रीयुधिष्ठिरादयः कौरवा इवेति भावः॥ १५ ॥ एवं स्नेहान्धानां चेष्टितमुक्त्वा तदैश्वर्यज्ञानसम्वलितस्नेहभरस्य श्रीबलदेवस्य समागमादिसुखमाह—रामश्चेति, चकारात् रामश्च पूर्वं शोकेन शुष्कः पश्चाल्लब्धेहस्तमालिङ्ग्य जहासेत्यर्थः। अच्युतं कैशादावपि च्युतिरहितम् यद्वा, न कदाचित् कथञ्चिदपि माहात्म्याच्युत इत्यच्युतस्तम्। ननु कुतो जहास? तत्राह—अस्य अच्युतस्य अनुभावं विचित्रैश्वर्यं वेत्तीति तथा सः, स्वस्य कालाग्निरुद्रजनकस्यापि तत्राकिञ्चित्करत्वात्, अतस्तादृशानुभाववतः क्षुद्रकालियभोगवेष्टनादिस्मरणादिति भावः। यद्वा अनुभावं कालियनिःसारणार्थचातुर्यविशेषमनुसन्दधानः सन्नित्यर्थः। 'नरा' अन्येऽपि सर्वे मनुष्याः, यद्वा, श्रीनन्दानुवर्तिनो गृहदासादयः पुलिन्दादयश्च, 'मृगाः' इति पाठे तेषामादौ निर्देशो गवादिभ्यः प्रागुत्थानाभिप्रायेण। ततश्च सर्वेषामेव परमानन्दो जात इत्याह—नराः श्रीनन्दादयः एवमयमेव पाठः सम्यक्, तादृशस्य तस्य प्राप्त्यावश्यं तेषां परमानन्दोद्भवोक्तेरपेक्ष्यत्वात्॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अभिरेभिरे परिरेभिरे॥ १४-२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ तत उपरितनवृत्तान्तमाह—कृष्णमिति यावदध्यायसमाप्ति दिव्यानि स्रग्गन्धवासांसि नागपत्नीभिः समर्पितानि यस्य तं महतामनर्घाणां मणीनां गणैराकीर्णं सर्वतः समलङ्कृतं जाम्बूनदेन सुवर्णेनालङ्कृतं ह्रदाद्विनिर्गच्छन्तं कृष्णमुपलभ्यालक्ष्य-लब्धप्राणा असव इन्द्रियाणीव सर्वे गोपादयः उत्थितास्ततः प्रमोदेन निभृताः पूर्णा आत्मानो देहा मनांसि येषां तथाभूताः गोपाः प्रीत्या कृष्णमभिरेभिरे आलिङ्गितवन्तः॥ १३-१४ ॥ यशोदादयो गोप्यो नन्दादयो गोपाश्च हे कौरव! कृष्णम् समेत्य सङ्गत्य लब्धचेष्टा लब्धमनोरथाश्च बभुवुः॥ १५ ॥ रामस्तु कृष्णमालिङ्ग्याऽस्य कृष्णस्य प्रभावं जानन् केवलं जहास हसितवांस्ततस्तं कृष्णमङ्कमारोप्य पुनःपुनः प्रीत्योदैक्षत समवैक्षत नन्दादयः परमां मुदं लेभिरे तत्र नगा वृक्षा अपि पूर्वं शुष्काः सन्तः पुनः फल-पुष्पादिभिर्विरूढा इत्यर्थः॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उपलभ्य दृष्ट्वा प्रमोदनिभृतात्मानः आनन्दपूर्णात्मानः अभिरेभिरे आलिङ्गनञ्चक्रुः अभीत्युपसर्गात् मुख्यानुख्यभेदो द्रष्टव्यः॥ १४ ॥ लब्धेहाः लब्धचेष्टा पूर्वं शवप्राया इत्यर्थः॥ १५-१७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विशेषेणैव निष्क्रान्तम् ॥ १३ ॥ उपलभ्य दृष्ट्वा तावदपि शङ्कया स्तब्धत्वात् पूर्वं ईक्षमाणाः सर्वे गोपाः सखायोऽपरे नानाविधाः ॥ १४ ॥ समेत्यैवालिङ्गने चेष्टावन्तो बभूवुरित्यर्थः । तदानीं व्रजवासिसधर्मताप्राप्त्या नगा अपि पूर्वं शुष्काः पश्चाल्लब्धेहा अङ्कुरोद्गमनादिचेष्टावन्त आसन् तद्विषशुष्काणामतिप्राचीनत्वाच्चिह्लान्यपि तदा नासन्निति जहासेत्यत्र हेतुरस्येति अतो निजव्रजदुःखमयमिदं भद्रं कृतमित्युपालम्भनपूर्वकयेवेत्यर्थः । गवादिषु तत्रैव विद्यमानेष्वपि क्षुधादिकर्षितत्वं तेषां विषसम्पर्कशङ्कया श्रीः कृष्णायानुप्रयोजनात् ॥ १५—१९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उपोद्घातं समाप्य प्रस्तुतमाह—कृष्णमिति द्वाभ्याम् । विशेषेण निष्क्रान्तमिति जलोपर्य्यपर्य्येव चरणाभ्यामेव सन्तरणलाघवेनैव कालियादिष्टं कमपि सर्पमलक्षितमारुह्य वेति ज्ञेयम् अन्यथाऽङ्गानां जलाप्लुतत्वे दिव्यस्रग्गन्धवाससमिति विशेषणं साधु नोपपद्यते ॥ १३ ॥ असव इन्द्रियाणि प्रमोदनिभृतात्मानः आनन्दपूर्णमनसः गोपाः सखायः तेषामेव तारल्येन प्रथमौचित्यात् ॥ १४ ॥ ततो हा पुत्र जीवसीति गद्गदस्वरा गुरुलज्जाभयप्रसूयादिनिरपेक्षा अतिविह्वला श्रीयशोदा ततस्तत्सखीच्छति निबिडतया तदभितः प्राप्तासु मध्ये मुख्या रोहिणी ततः प्रेमौत्कण्ठ्य चुलुकितगाम्भीर्य्यो विलम्बासहिष्णुः स्त्रीसम्मर्द्दं मध्य एव प्रविश्य नन्दः ततोऽन्या गोप्यो वत्सला गोपाश्चोपनन्दादयः चकारेणानुरागिण्यः पूर्वरागवत्यो गोप्यश्च दूरतो लोचनाञ्चलैभिरेव समेत्य परिष्वङ्गादिभिः सङ्गतीभूय लब्धचेष्टा लब्धवाञ्छिता मृता इव जीवन्त्यो बभूवुः किं बहुना नगास्तीरे वृक्षाभावाद्दूरे वृन्दावनस्था वृक्षा अपि तत्साधर्म्यप्राप्त्या कृष्णमदृष्ट्वा शोकात् शुष्कास्त पुनर्दृष्ट्वा लब्धेहा अङ्कुरपल्लवपुष्पाद्युद्गमवन्तः ॥ १५ ॥ जहासेति धन्याऽस्येवं कर्तुं युज्यतेत्युक्ता तत्प्रभावज्ञोपि प्रेम्णा पुनः पुनरुत्कर्षेणेक्षतेति कालियहृतकेन क्वचित् क्षतन्तु नाभूरिति न्यभालयत् ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

जाम्बूनदपरिष्कृतं सुवर्णालङ्कृतम् ॥ १ ॥ असव इन्द्रियाणि यथा लब्धप्राणाः उत्तिष्ठन्ति तथोत्थिताः प्रमोदेन निभृतः पूर्ण आत्मा मनो येषां ते ॥ १४ ॥ लब्धेहाः प्राप्तचेष्टाः आसन् नगाः वृक्षा अपि लब्धचेष्टा आसन् ॥ १५—१६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उपोद्घातं समाप्य प्रस्तुतमाह—कृष्णमिति युग्मकम् । विशेषेण निष्क्रान्तं चरणाभ्यामेव सन्तरणलाघवेन जलोपर्युपर्येवागतं कालियादिष्टं कमपि नागमलक्षितमारुह्य वेतिकेचित् अन्यथाङ्गानां जलाप्लुतत्वे दिव्यस्रग्गन्धवाससमिति विशेषणं सुश्लिष्टं न स्यात् । असव इन्द्रियाणि गोप्यः सखायः तेषामेव तारल्येन प्रथमौचित्यात् ॥ १३–१४ ॥ ततो वत्स ! दावविप्लुष्टां लतामिव त्वद्विच्छेदातिविलष्टां मां जीवयन्नम्बुद इव स्वागतोऽसीति गद्गदवाक् हरिमाता यशोदा ततस्तत्सखीषु परितः प्राप्तासु मध्ये तथाभूता रोहिणी च तत्संमर्द एव प्रेमवैवश्या परित्यक्तगाम्भीर्यस्तत्पिता नन्दश्च ततोऽन्या गोप्यश्चोपनन्दपत्न्यादयो वत्सला गोपाश्चोपनन्दादयः कृष्णं समेत्यालिङ्गयेत्यन्वयः । च शब्दादनुरागिण्यः किशोर्यश्च दूरान्नेत्राञ्जलोभिरेव समेत्य लब्धेहाः प्राप्तवाञ्छिता आसन्, वृन्दाटवीस्था नगा वृक्षाः गिरयश्च गोवर्द्धनादयः कृष्णादर्शनाच्छुष्कास्ते पुनस्तत् दृष्ट्वोद्गताङ्कुरपत्रपुष्पनिर्झरा आसन्निति ॥ १६ ॥ जहासेति—हे विचित्रलीलानिधे स्वामिन् ! विधान्तरनागनिर्वासनातिनिपुणस्यापि परिज्ञातव्रजजनभाव परिपाकस्यापि ते स्वजनमहार्तिकरण्यामस्यां लीलायां तदुभयफलायां कथं वृत्तिस्तत्फणाङ्घ्रधरत्वं तु परं मनोज्ञमित्यर्थः । अनुभावविदपि प्रेम्णः स्वभावात् पुनः पुनरुदैक्षत दुष्टेन नागेन श्रीमदम्बे वाध्ये नाभूदिति तदङ्गान्यपश्यदित्यर्थः ॥ नागा इत्यर्द्धकम् ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्रजो माला गन्धाद्याश्च तैर्मण्डितं जाम्बूनदं सुवर्णं तेन परिष्कृतं तन्मयभूषणोपेतं ॥ १३ ॥ लब्धाः प्राणा यासां ताः प्रमोदेन सन्तोषेण निभृतः पूर्ण आत्मा मनो येषां ते तथाऽभिरेभिर आलिलिङ्गतुः ॥ १४ ॥ प्राङ्निश्चेष्ट इदानीं लब्धेहा चेष्टा याभिस्ता लब्धमनोरथा आसन् ॥ १५ ॥ अस्य कृष्णस्य । परमुदमिति पदमेकं परमा च साऽमुचचतामिति च ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह **कृष्णं ह्रदादिति**, निःक्रान्तं भगवन्तं दृष्ट्वोत्थिताः सर्वेभिरेभिर इति द्वयोः सम्बन्धः, **ह्रदाद्** ध्रदमध्यात्, विशेषेण **निःक्रमणमकस्मादाविर्भावः**, पूर्वस्माद् वैलक्षण्यार्थं रूपं वर्णयन्ति, **दिव्यानि स्रग्गन्धवासांसि** यस्येति, अनेन सामान्यतः पूजा निरूपिता, **महामणिगणैराकीर्णमिति** विशेषपूजा, **जाम्बूनदेन च परिष्कृतं**, अनेन लोकत्रयपदार्थैः पूजित उक्तः, तत्र **दिव्यानि** स्पष्टानि, **मणयः** पातालस्थाः, **सुवर्णं** भूमिष्ठं, **अकस्मादुपलभ्य**] भगवत्सन्निधिमात्रेणैव **लब्धप्राणा** जाताः

प्रजा बालका **इवोत्थिताः**, यथा बालका उत्तिष्ठन्त्येवं **लब्धप्राणा** एते महान्तोप्युत्थिताः, परस्परज्ञानरहिताः **प्रजा** लौकिका वा यथा प्राणेष्वागतेषूत्तिष्ठन्त्येवमेते कृष्णे समागत **उत्थिताः**, ततोपि भगवत्सान्निध्ये **प्रमोदेन निभृतः** पूर्ण आत्मान्तःकरणं येषां, आदौ पुरुषास्तरुणाः पुरुषोत्तममपि **प्रीत्यालिङ्गितवन्तः** ॥ १३–१४ ॥ ततो **यशोदा रोहिणी,** स्त्रियो ह्यत्युत्सुकाः. ततो **नन्दो** रोहिणीस्पर्शभयात्, ततो **गोप्यो** नन्दभयात्, ततो **गावोपि,** हे **कौरवे**तिसम्बोधन विश्वासार्थं सर्व एव **कृष्णं समेत्य लब्धचेष्टा** जाताः, **लब्धो मनोरथो** यैस्तादृश **अप्यासन्**, क्रियाज्ञानशक्त्योः सम्बन्ध उक्तः ॥ १५ ॥ **रामश्चा**प्येवंविधो जातः, विशेषमप्याह, **अच्युतमालिङ्ग्य जहासेति, पूर्वं भगवदंशो भगवत्येव स्थितस्तदा सर्वसमानमेव कृतवान्, ततो भगवत्यालिङ्गिते तदीयोत्र समागत इति पश्चाज् जहास**, तुल्यता, सम्पादिता, परीक्षा सम्यक् कृतेति, कालीयनिष्कासनं तु नाश्चर्याय, यतोयमस्या**नुभाववित्**, विश्वमेवान्यथा क्षणेन करोति तस्य किमिदमाश्चर्यमिति, दुःखसुखयोर्मिश्रणप्रतिषेधार्थमाह **नरा नार्य** इति, चतुर्विधा अप्येते परमामेव मुदमापुः ॥ १६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कृष्णमित्यत्रानेनेति पादत्रयेण ॥ १३ ॥ यशोदेत्यत्र तत इति वारत्रयं योज्यं, अत एवेत्यन्यस्याशप्यत्वात् ॥ १५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कृष्णं ह्रदादित्यत्र दिव्यानि स्पष्टानीति 'दिव्यस्रग्गन्धवाससा'मितिवाक्यात् स्रग्गन्धवाससां' दिव्यता स्पष्टेवेत्यर्थः ॥१३॥ यशोदा रोहिणीनन्द इत्यत्र ततो नन्दः रोहिणीस्पर्शभयादिति ततः रोहिणीकृतभगवदालिङ्गनाद्यनन्तर नन्दः कृतवान्, तत्र हेतुः रोहिणीस्पर्शभयादिति, रोहिण्या ज्येष्ठभ्रातृपत्नीत्वेन पूज्यत्वान् नमस्कारार्थं चरणस्पर्श उचितः, तदतिरिक्तसमये पूज्यस्पर्शस्यानुचितत्वाद् भयं, अन्यथा रोहिण्यपेक्षया श्रीनन्दस्य भगवति प्रीत्यतिशयात् श्रीयशोदानन्तरं नन्दमेव वदेत् न तु रोहिण्यनन्तरमतस्तथेत्यर्थः ॥ १५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतमाह—कृष्णमिति 'कालियकृतया पूजया पूर्वतोऽप्यधिका शोभा जाता' इत्याशयेन तं वर्णयति–दिव्येति। दिव्यानि स्रगादीनि यस्य तम्, महतामनर्घ्याणां मणीनां गणैराकीर्णम्, सर्वतः समलङ्कृतम्, तथा जाम्बूनदेन सुवर्णेन परिष्कृतमलङ्कृतम्, ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं निर्गच्छन्त कृष्णम् ॥ १३ ॥ उपलभ्य दृष्ट्वा उत्थिताः प्रमोदेन आनन्देन निभृताः आत्मानो मनांसि येषां ते सर्वे गोपाः प्रीत्या अभिरेभिरे सर्वत आलिङ्गितवन्त इति द्वयोरन्वयः। तत्र दृष्टान्तमाह–लब्धप्राणा इवासव इति। यथा प्राणं विना असव इन्द्रियाणि करचरणादीनि मूर्च्छितानि कार्याक्षमाणि भवन्ति, पुनश्च प्राण प्रतिलभ्य स्वस्वकार्यसमर्थानि भवन्ति तथेत्यर्थः ॥ १४ ॥ यशोदादयश्च कृष्ण समेत्य संङ्गत्य लब्धेहा लब्धमनोरथाश्चासन्। हे 'कौरव!' इति सम्बोधनेन 'कुरुवन्तोस्तव ब्रह्मास्त्रतो रक्षणेन यथा पाण्डवानां सुख जातं तथा श्रीकृष्णदर्शनेन नन्दादीनामपि' इति साम्यं द्योतितम् ॥ १५ ॥ रामश्चाच्युत कृष्णमालिङ्ग्य जहास। 'तस्य तु तद्वियोगदुःखं नाभूत्' इत्याशयेनाह–अस्यानुभावविदिति। नगादयोऽपि कृष्णं दृष्ट्वा परमां मुदं लेभिरे। तत्र नगा वृक्षाः, तेषां मोदः पूर्वं शुष्काणां सद्य एव प्ररोहः ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्णमिति द्वयम् ॥ दिव्यानि स्रजः गन्धाः वासांसि च यस्य तं महतामनर्घ्याणां मणीनां गणैराकीर्णं सर्वतः समलङ्कृतं तथा जाम्बूनदेन सुवर्णेन परिष्कृतमलङ्कृतं ह्रदाद्विनिष्क्रान्तं निर्गच्छन्तं तद्दत्तवस्त्रगन्धाद्यक्लेदाय जलोपरि पादव्रज्ययेत्यर्थः। कृष्णम् उपलभ्य दृष्ट्वा लब्धाः प्राणा यैस्ते असवः इन्द्रियाणीव उत्थिताः प्रमोदेन निभृताः पूर्णा आत्मानो मनांसि येषां ते सर्वे गोपाः प्रीत्या अभिरेभिरे सर्वत आलिङ्गितवन्तः ॥ १३–१४ ॥ यशोदेति ॥ हे कौरव! यशोदादयः कृष्णं समेत्य संगत्य लब्धेहा लब्धचेष्टा लब्धमनोरथाश्चासन् ॥ १५ ॥ राम इति ॥ अस्य अच्युतस्यानुभाववित् रामश्चाच्युतं कृष्णमालिङ्ग्य जहास। नगा गावो वृषाः वत्साश्च परमां मुदं लेभिरे। तत्र नगा वृक्षाः पूर्वं शुष्काः अपि सद्य एव प्ररोहमापुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

विनिष्क्रांतं बहिरागतं जांबूनदेन सुवर्णेन परिष्कृतं सुवर्णाभरणेन भूषितमित्यर्थः ॥ १३ ॥ उपलभ्य श्रीकृष्णं प्राप्य प्रमोदेन आनंदेन निभृताः परिपूर्णा आत्मानो मनांसि येषां ते सर्वे गोपाः लब्धप्राणाः असव इन्द्रियाणीव उत्थिताः संतः अभिरेभिरे मुहुर्मुहुरालिंगनं चक्रुः ॥ १४ ॥ यशोदाद्या गोप्यः नंदाद्या गोपाश्च सर्वे लब्धचेष्टा आसन् विषेण शुष्का नगाः तरवोऽपि सद्य एवांकुरिता आसन्नित्यर्थः ॥ १५–१६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ तत उपरितनं वृत्तान्तमाह कृष्णमित्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति ।। कृष्णमिति ।। उपलभ्येति ।। दिव्यानि स्रगन्धवासांसि नागपत्नीभिः समर्पितानि यस्य तं, महतामनर्घ्याणां मणीनां गणैराकीर्णो वृतस्तं, सर्वतः समलंकृतमित्यर्थः। जाम्बूनदेन सुवर्णेन परिष्कृतोऽलंकृतस्तं, ह्रदात्, विनिष्क्रांतं, कृष्णं उपलभ्यालक्ष्य, लब्धः प्राणो यैस्ते, इन्द्रियाणि इव, सर्वे गोपाः, उत्थिताः अभ्युदियताः, प्रमोदेन निभृताः पूर्णा आत्मानो देहा मनांसि वा येषां तथाभूताः सन्तः, प्रीत्या अभिरेभिरे कृष्णमालिङ्गितवन्तः। द्वयोरेकान्वयः।। १३-१४ ।। यशोदेति ।। हे कौरव, यशोदा, रोहिणी, नन्दः, गोपाः, गोप्यश्च, कृष्णं समेत्य संगत्य, लब्धेहा लब्धचेष्टाः, लब्धः मनोरथो यैस्यथाभूताः, आसन् । अस्य कृष्णस्य, अनुभाववित् महिमाभिज्ञः, रामश्च वलस्तु, अच्युतं आलिङ्ग्य, जहास ।। नगा इति ।। नगा वृक्षाः, गावो धेनवः, वृषा वृषभाः, वत्साः, परमां मुद, लेभिरे। तत्र वृक्षाः पूर्वं शुष्काः सन्तोऽपि पुनः फलपुष्पादिभिर्विरूढा आसन्नित्यर्थः । सकलत्रकाः सभार्याः, गुरवः ते प्रसिद्धाः, विप्राः, नन्दं समागत्य, हे नन्द, तव आत्मजः, कालियग्रस्तः सन्नपि, ततः मुक्तः। दिष्ट्याऽस्माकं तेन महानानन्दो जात इत्यर्थः । इति ऊचुः ।। १६ ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्णं ह्रदादिति : १०.१७.१३.

> यातारिभीतिमनसः किल गोकुलस्य संपश्यतोऽमृतमयं जडजातरूपम् ।
> गोविन्ददर्शन-मनन्तसुखोदयश्च सिद्धं भुवीति विशदं किल तच्चरित्रात् ।। १४ ।।
> अक्षीणकान्तिमभयं बहुहेमरत्नस्रगन्ध-वस्त्रललितं भुजगात्तपूजम् ।
> दृष्ट्वाऽपि कृष्णमभवन् यदहृष्टनिष्ठाः शिष्टाः स गोपतिरपीति तु मोहचेष्टा ।। १५ ।।

रामश्चेति १०.१७.१६.

> यत्कार्यमच्युतकृतं भवता तदेतदावश्यकं किल ममापि विधेयमासीत् ।
> तत्र प्रतारणपरत्वमधारि कस्मादित्याशयेन सरसं स जहास रामः ।। १७ ।।

एतत्कौतुकतस्त्वयेश विहित ज्ञातं च तत्तत्त्वत स्त्वद्वृत्तं मनसा मया न विशदं कृत्वा बहिर्दर्शितम् ।
तेनैतैरखिलैस्तदा व्रजजनैर्योऽवारि कोलाहलो वाच्योऽसाविति सुप्रसन्नवदनं रामः सहासोऽब्रवीत् ।। १७ ।।

कृष्णप्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण कालिन्दी जी के दह से बाहर पधारे। भगवान के श्रीअङ्ग दिव्य वनमाला दिव्यवध, दिव्य पीताम्वर, से अलंकृत थे। पाताल लोक के महामूल्य मणियों की भूमि लाक के जाम्बूनद नाम के सुवर्ण जडित मालाओं को विभूषित करते श्रीकृष्ण जी जव जल से वाहर पधारे तव प्रभु को पाकर सारे गोप गौ आदि भूतल पर गिरे थे वे खड़े हो गए, और जैसे इन्द्रियाँ प्राण पाकर सचेत वन जाय वैसे सारी प्रजा आनन्द परिपूर्ण चित्त होंकर अति अनुराग से भगवान श्रीकृष्ण को समालिङ्गन करने लगी ।। १३-१४ ।। हे कौरव ! परीक्षित ! श्री यशोदा माता, रोहिणी माता नन्द बाबा, गोप गोपी जन, गौओं वछरे वगैरे भगवान श्रीकृष्ण को पाकर सचेत एवं सचेष्ट बने और इनके मनोरथ पूर्ण बने ।। १५ ।। श्रीबलदाऊ भैया जी ने अच्युत श्रीकृष्ण का आलिङ्गन किया। श्रीवलभद्र भगवान की महिमा को अच्छी तरह जानते थे इसलिए हंसने लगे। इधर सारे नर, नारी, वैल वछड़े आदि अत्यंत प्रसन्न हुए ।। १६ ।।

> नन्दं विप्राः [1]समागत्य गुरवः सकलत्रकाः । ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ।। १७ ।।
> [2]देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे । नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ।। १८ ।।
> [3]यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती । [4]परिष्वज्याङ्कमारोप्य मुमोचाश्रुकलां[5] मुहुः ।। १९ ।।[6]
> तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्शिताः । ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्द्या उपकूलतः ।। २० ।।

---

१. समासाद्य-वीर; समागम्य-विज. । २. अयं श्लोको नास्ति-वीर. विज. । ३. यशोदापि-श्रीधर. वंशी. वीर विज. । ४. प्ररि-हं लि. टी. । ५. कणान्वहून्-वीर. विज. ।

६. ततश्चास्तंगते भानौ कृष्णो वासमकल्पयत् । सरामः सह गोपालैर्मात्रा पित्रा सगोजनैः ।।
वीर. विज. पाठे अयं श्लोकोऽधिको दृश्यते ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सकलत्रकाः- गुरवः से विप्रा समागत्य नन्दम् ऊचुः कालियग्रस्तः तव आत्मजः मुक्तः दिष्ट्या ॥ १७ ॥ कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे द्विजातीनाम् दानम् देहि, हे राजन् ? तदा प्रीतमनाः नन्दः गाः सुवर्णम् अदिशत् ॥ १८ ॥ सती महाभागा यशोदा लब्धप्रजा कृष्णम् परिष्वज्य च अङ्कम् आरोप्य मुहुः अश्रुकलाम् मुमोच ॥ १९ ॥ राजेन्द्र व्रजौकसः च गावः क्षुत्तृड्भ्याम् श्रमकर्शिताः अतः ताम् रात्रिम् तत्र कालिन्द्याः उपकूलतः ऊषुः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ते विप्रा ऊचुः ॥ १७-१८ ॥ नष्टलब्धप्रजा नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा यया सा ॥ १९ ॥ श्रमेण च कर्षिताः । उपकुलतः कूलप्रांते ॥ २०-२३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गुरवः सर्वपूज्याः भागुर्यादिपुरोहिता वा "गुरुस्तु गीष्मतौ श्रेष्ठे पितरि दुर्भरे हरे । सर्वपूज्ये हितवदे ज्ञानदेऽपि गुरुः स्मृतः ॥" इत्यनेकार्थवाग्विलासे ॥ १७ ॥ द्विजातीनामिति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, द्विजातिभ्यः । कृष्णस्य निर्मुक्तिः प्रीतिस्तस्याहेतवे 'निर्मुक्तिः प्रीतिमोक्षयोः' इति धरणिः ॥ १८ ॥ यशोदा च गाः सुवर्णं च ददावित्यपि ज्ञेयम् । नष्टा चासौ लब्धा नष्टलब्धा, सा प्रजा संततिर्यस्याः सेति वा ॥ १९ ॥ यस्या रात्र्यागमे कालियो निष्कासितस्तामित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्रैव विशेषतो ब्राह्मणानां हर्षभरेण वाक्यमाह—नन्दमिति । गुरवः पुरोहिताः अन्ये च विप्राः समागत्येति प्रागेव तेन सह व्रजात् निर्गताः अधुना तन्निकटमागत्येत्यर्थः । ते परमवैष्णवत्वादिना प्रसिद्धाः दिष्ट्या भद्रम् अहो तवास्माकं च भाग्यमित्यर्थः । अतोऽतिहृष्टो भूत्वा सुमहोत्सवं विधेहीति भावः ॥ १७-१८ ॥ महाप्रेम्णा पुनः श्रीयशोदया मिलितमित्याह । यशोदेति त्वर्थे चकारः श्रीनन्दतोऽपि विशेषात् महाभागत्वमाह—नष्टेति । यतः सतीति तस्याः कथमन्यथा स्यात् इति भावविशेषणाभिप्रेतम् यद्वा, स्वभावतः श्रीकृष्णस्नेहादिना सर्वोत्कृष्टा यद्वा तादृशीभवन्ती कलां धारां मुहुरिति कदाचित् पूर्ववृत्तस्मृत्या दुःखोदयेन कदाचिच्च प्राप्तानन्देनाश्रुधारामोचनस्य विरामेऽपि उष्णशीततताभेदेन पौनःपुन्यात् ॥ १९ ॥ कथाक्रमेणान्यामप्यद्भुतलीलामाह—तामित्यादिना । रात्रिमिति श्रीकृष्णस्य कालियदमनादिना तेन सह व्रजजनानां प्रत्येकमेलनेन च दिनावसानतः तां तद्दिन-सम्बन्धिनीं तादृशपरमानन्दमयीं वा यत्र कृष्णेन सह सङ्गमस्तस्मिन् प्रदेश एवोषुः तत्रैव हेतुः क्षुत्तृड्भ्यां रोदनादिश्रमेण च यद्वा क्षुत्तृड्भ्यां यः श्रमस्तेन कृशीकृताः दौर्बल्यं प्रापिता इत्यर्थः । तत्र धेन्वादिषु तत्रैव विद्यमानास्वपि क्षुधादिकर्शितत्वं तासां विष-सम्पर्कशङ्कया श्रीकृष्णायानुपयोजनात् ततः स्वयमप्यनुपयोगात् कालिन्द्या उपकूलतः विषजलादिभयेन तद्ध्रदस्य जलान्तिकं परि-त्यज्येत्यर्थः । अन्यथा दावाग्निना सर्वत आवरणासिद्धेः ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्रैव विशेषतः श्रीनन्दसन्तोषार्थं ब्राह्मणानां हर्षभरेण वाक्यमाह—नन्दमिति । गुरवः पुरोहिताः, अन्ये च विप्राः, यद्वा, गुरव इति तेषामेव विशेषणं तादृशोक्तौ योग्यत्वात् । समागत्येति प्रागेव तेन सह व्रजान्निर्गताः, अधुना तन्निकटमागत्येत्यर्थः । सकलत्रका इति ब्राह्मणीनामपि तत्रैवागमनेन स्वत एव तत्साहित्यात्ते परमवैष्णवत्वादिना प्रसिद्धाः । दिष्ट्या—अहो भवास्माकञ्च भाग्यमित्यर्थः, अतोऽतिहृष्टो भूत्वा आशु महोत्सवं विधेहीति भावः । एवं ब्राह्मणानामपि श्रीनन्द-सन्तोषणैकपरता दर्शिता, तद्वाक्यादरेण श्रीनन्दस्यापि तथैव सम्यक् स्वसुतप्रीतिश्च नितरां जातेति ज्ञेयम् ॥ १७ ॥ त्वर्थे चकारः । श्रीनन्दतो विशेषान्महा-भागत्वमाह—नष्टेति, यतः सती पतिव्रता; पातिव्रत्याभिप्रायः पूर्वमपि सूचितः । यद्वा, स्वस्वभावतः श्रीकृष्णस्नेहादिना सर्वोत्कृष्टा, अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव; यद्वा, नष्टा अदर्शनं गता मृता वा प्रजा यस्याः सेव सती भवन्ती; यद्वा नष्टया अदृष्टया पुनर्लब्धया च प्रजया सती वर्त्तमानेत्यर्थः । यद्वा, नष्टापि लब्धा हस्तादिग्रहणेन प्राप्ता प्रजा यया, तथाभूतैव सती; कलां धाराम्, मुहुरिति कदाचित् पूर्व-वृत्तस्मृत्या दुःखोदयेन कदाचिच्च प्राप्तानन्देनाश्रुधारामोचनस्याविरामात् ॥ १९ ॥ अद्भुतलीलाप्रसंगे कथाक्रमेणैवान्यामद्भुतलीला-माह—तामित्यादिना; रात्रिमिति श्रीकृष्णस्य कालियदमनादिना तेन सह व्रजजनानां प्रत्येकमिलनेन च दिनावसानतस्तां तद्दिन-सम्बन्धिनीं तादृशपरमानन्दमयीं वा, यत्र श्रीकृष्णेन संगस्तस्मिन् प्रदेश एवोषुः, तदानीं नन्दीश्वरान्तिके व्रजस्य वृत्तेर्दूरतरत्वेन रात्रौ तत्र गमनाशक्तेः । तत्रैव हेतुः—क्षुत्तृड्भ्यां रोदनादिश्रमेण च; यद्वा, क्षुत्तृड्भ्यां यः श्रमस्तेन कर्षिता व्याप्ताः तालव्यमध्य-पाठे दौर्बल्यं प्रापिता इत्यर्थः । तत्र गवादिषु तत्रैव विद्यमानेष्वपि क्षुत्कर्षितत्वम्, क्षुधार्त्तैर्वत्सैः कृष्णसगत्यनन्तरं लब्धपरमानन्दे-निःशेषेण पीतस्तन्यत्वाद्दोहनपात्राद्यभावाद्वा, तृट्कर्षितत्वञ्च विषजलभयात्, जलपानाद्यभावात्, स्नानाद्यकरणाद्वा । राजेन्द्रेति

परमाश्चर्येण सम्बोधनम्, किम्वा मृगयादिना सम्राजो भवादृशोऽपि तत् सम्भवेदित्यभिप्रायेण कालिन्द्या उपकूलतो विषजलादिभयेन तद्ध्रदस्य जलान्तिकं परित्यज्य ततः किञ्चिद्दूरे श्रीयमुनातीरप्रान्त इत्यर्थः, अन्यथा दावाग्निना सर्वत आवरणासिद्धेः ॥२०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सभार्या विप्रा नन्दं समेत्य कालियेन ग्रस्तस्तवात्मजः मुक्तः तस्माद्विमुक्तः किल दिष्ट्या अयं महानानन्द इत्यूचुः ॥ १७-१८ ॥ नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा पुत्रो यया सा सती यशोदा सुतं परिष्वज्याङ्कमारोप्य च बहूनानन्दाश्रुकणान् मुमोच ॥ १९ ॥ ततस्तां रात्रिं तत्र यमुनायास्तीर एव व्रजौकसो गावश्च ऊषुरुषितवन्तः, कथम्भूताः ? क्षुत्तृड्भ्यां श्रमेण च कर्शिताः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नष्टा च लब्धा च प्रजा यस्याः सा तथा अश्रुकणान् बाष्पबिन्दून् ॥ १९ ॥ क्षुत्तृड्भ्यामुत्पन्नश्रमेण कर्शिताः अभिभवं प्राप्ताः उपकूलतः कूलसमीपे ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

उपकूलतः किञ्चित् कूलं परित्यज्येत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गुरवो भागुर्यादिपुरोहिताः ॥ १७–१८ ॥ आदौ नष्टप्राया पश्चाल्लब्धा प्रजा यया सा अङ्कमारोप्य परिष्वज्येति पूर्वं बहुलोकापेक्षावशात् तादृशपरिष्वङ्गालाभादिति भावः ॥ १९ ॥ अतः परमद्य रात्रौ वयं कृष्णं निर्निमेषं पश्यन्त एव स्थामः भाग्यादागतोऽपि कालियः पुनर्यदि वैरं सिषाधयिषुरायाति तदा मिलितीभूय लकुटैर्वारयामः । नतु दर्शनव्यवधायकं स्वस्वगृहं याम इति सर्वेषां मनोरथमालक्ष्य नन्दाद्या व्रजौकसः उपकूलतः विषजलादिभयात् कूलसमीपं परित्यज्य ऊषुः अन्यथा दावाग्निना सर्वत आवरणासिद्धेः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ते विप्रा ऊचुः ॥ १७–१८ ॥ नष्टप्राया पुनर्लब्धा प्रजा यया सा ॥ १९ ॥ क्षुत्तृड्भ्यां श्रमेण च कर्शिताः कालिन्द्याः उपकूलतः कूलप्रान्ते ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नन्दमिति सार्द्धकम् । गुरवो भागुर्यादयः पुरोहिताः ॥ १७–१८ ॥ आदौ नष्टा मूर्च्छितप्राणा पश्चाल्लब्धप्रजा परिष्वज्याङ्कमारोप्येति पूर्वं बहुजनसंमर्देभीष्टपरिष्वङ्गालाभेन तृप्तेरनुदयात् ॥ १९ ॥ कथाक्रमादन्यां चाद्भुतां लीलामाह—तामिति । व्रजौकसां कृष्णेन सह प्रत्येकमिलने दिवसावसानात् प्राप्तो रात्रिं ते तत्रैवोषुः गतोऽपि कालियश्छेद्वैरं स्मरन्नागच्छेत्तदा तं सर्वे दण्डादिभिर्निवारयामो न तु कृष्णवीक्षणव्यवधायकान् स्वस्वनिलयान् गच्छाम इति भावेन तत्रैवावतस्थुरित्यर्थः । उपकूलत इति विषजलादिभयात्तस्य ह्रदस्य कूलसमीपं परित्यज्येत्यर्थः अन्यथा दावाग्निना सर्वत आवरणसिद्धेः । क्षुत्तृड्भ्यामिति वृन्दाटवी दिव्यफलानि वृन्दादेव्या सङ्कल्पेनाहृतान्याहुः गावश्च तृणानि चेरुरिति बोध्यम् ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ते विप्रा इत्यन्वयः ॥ १७ ॥ नष्टाऽदर्शनं गता सा लब्धा प्रजापत्यं यस्याः सा सती ॥ १८ ॥ सगोधनैर्गोपालैरित्यन्वयः । भानावस्तंगते मित्रः स्वामित्रवंशभवेन तनुजनिनैर्मल्यं जातमिति लज्जया मुखप्रदर्शनेन वातोपभरेण समुद्रपातेन वा जामातरं प्रति तव योषा विषा जातेति वक्तुं वेत्यस्तंगमनमित्यौत्प्रेक्षिका उत्प्रेक्षयन्ति ॥ १९ ॥ क्षुत्तृड्भ्यां ताभ्यामुत्पन्नो यः श्रमस्तेन कर्शिताः कूलतः कूलस्योप समीपे ऊषुः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

नन्वेतावत्कालं ब्राह्मणैः कथमेते नोपदिष्टा इदानीं ब्राह्मणाः कथं तत्सान्त्वनं कृतवन्त इत्याशङ्क्याह नन्दमिति, **विप्रास्त्वत्यन्तमेव महापुरुषाः केवलं कर्मजडा वैश्यगुरवो जीवनार्थं स्थितास्तत्सम्बन्धिनोपि तथा,** अतः सकलत्रा एते **समागत्य नन्दमूचुः, कालियेन सम्बद्धो भगवांस्तवात्मजो दिष्ट्यास्मदादिभाग्यैर्मुक्तः,** एतावतोत्सवे देयमिति सूचितं भवति ॥ १७ ॥ [**अतो द्विजातिभ्यो दानं देहीति कृष्णागमननिमित्तं, ततो नन्दो गाः सुवर्णं च दत्तवान्** ॥ १७अ ॥] यशोदाया विशेषमाह **यशोदा च** तैरुक्ता, **महाभागेति,** तेभ्यो बहु दित्सितवतीति, विशेषकरणाद् वा तस्या भाग्यमभिनन्दति, नष्टादृष्टा **पुनर्लब्धा** प्राप्ता **प्रजा यया,** तथात्वे हेतुर्धर्मः **सतीति,** अतो भाग्योदये जाते **परिष्वज्य** पश्चादङ्कमारोप्याश्रुकलां **मुमोच** ॥ १८ ॥

एतावतार्धरात्रिर्जाता, तस्मिन् दिवसे न केनापि भुक्तं, गावः पूर्वं शुष्कस्तना एवाधुना तु स्तन्यसहिता अपि दोहसाधनाभावान्न दुग्धदा जाताः, भगवदागमनप्रमोदेनैव च निर्वृतास्तत्रैव स्थिता इत्याह **तां रात्रिमिति, श्रम** आगमनश्रमश्चित्तश्रमो वा मध्ये वा मरणाय श्रमः, तेनापि **कर्शिताः, क्षुत्तृड्भ्यां** सहिताः, श्रमस्य कार्यं कृत्वा गतत्वात् कार्यमेव निरूपितं **क्षुत्तृषोः** स्वरूपं च, **व्रजौकस** इत्यत्रोत्पन्नाः, **कालिन्द्याः कूलसमीपे** किंचिद्दूरे कूलं विहाय वनमध्ये शयनं कृतवन्तः ॥ १९ ॥ तदा कालीयाविष्टो दैत्यो दोषाभिमानी सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चैकीभूय वह्निर्भूत्वा गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्गत इत्याह **तदेति, आशु** प्रतीक्रियायाः करणार्थं **विपिने** स्वयमेवोद्भूतो दारुघर्षणजन्यो वा **दावानल**शब्दवाच्यो जातः, सर्वपदार्थानेकीकृत्य ज्वालनात्, **सर्वत** एव **व्रजं सुप्तमावृत्या**र्धरात्रसमये **प्रदग्धुमुपक्रान्तवान्, एवं हि ते स्नेहे परीक्षितास्तं स्नेहं स्थापयंस्तद्देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन् माहात्म्यं** प्रदर्शयति, अन्यथा **लौकिक एव स स्नेहः स्यात्, भगवदर्थं च क्लिष्टा एते न तु गतदेहाभिमाना इति च ज्ञापयितुमिदमुच्यते,** अन्यथा **ज्ञानाधिकारिण एव स्युः शरीराभिमानस्य गतत्वात्** ॥ २० ॥

(३) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नन्दमित्यत्र **महापुरुषत्वमेव विवृतं न केवलमित्यादिना** ॥ १७ ॥ **तां रात्रिमित्यत्र क्षुत्तृषोः स्वरूपं चेति** कर्षकत्वेन भ्रातृव्यत्वलक्षणं स्वरूपमप्युक्तमित्यर्थः, "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इति श्रुते "उभे तीर्त्वाशनायापिपासे" इति श्रुतेश्च ॥१९॥ **तदाश्वि**त्यस्याभासे **मृत्युश्चेति,** अशनाया मृत्युरूपत्वात् सा तथेति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तदाशु विपिनोद्भूत इत्यस्याभासे **सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चेति** प्राणधर्मस्वरूपो क्षुद्रूपोग्निः **सर्वभक्षणार्थं स्थितो** मृत्युरित्यर्थः, क्षुद्रूपाग्नेर्मृत्युरूपत्वं "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुतेः, "अशनया मृत्युरेवे"तिश्रुतौ स्फुटमेव मृत्युरूपत्वोक्तेश्च, **तद्देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन्नि**ति तस्य भगवद्विषयकव्रजवासिस्नेहस्य देहसम्बन्धित्वं दूरीकरिष्यन्नित्यर्थः, दावानलपानेन भगवता स्वस्मिन् देहाभावः प्रदर्शितः, न हि देहवानेवं वह्निं पिबति, तथा च व्रजजनानां गोपदेहप्रयुक्तस्नेहोपि गतः किन्तु वस्तुतो भगवत आत्मत्वादात्मत्वज्ञानाभावेपि प्रमेयबलेन निरुपाधिकः स्नेह उत्पन्न इत्यर्थः ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भगवन्मायामोहितानां विप्राणां चेष्टामाह—नन्दमिति सार्धेन । ये सकलत्रकाः स्त्रीसहिताः गुरवः पुरोहिताश्च विप्रास्ते समागत्य नन्दं प्रत्यूचुः । तदाहुः—कालियेन ग्रस्तस्तवात्मजोऽयं दिष्ट्या भाग्येनैव मुक्तः ॥ १७ ॥ अतः कृष्णस्य कालियाद्या निर्मुक्तिस्तत्र हेतुर्निमित्तं ब्राह्मणसन्तोषः, तस्मै तदथ द्विजातीनां ब्राह्मणानामस्माकं दानं देहीति । तदा प्रीतमना नन्दो हे राजन् ! ब्राह्मणेभ्यो गाः सुवर्णं च आदिशत् ददौ ॥ १८ ॥ यशोदा च महाभागा दानानि ददौ । महाभाग्यमेव स्पष्टयति—नष्टा अदर्शनं गता पुनर्लब्धा प्रजा यया तथाभूता सती तं परिष्वज्य अङ्कमारोप्य अश्रुकलामानन्दाश्रुं मुहुर्मुमोच ॥ १९ ॥ अद्भुतं लीलान्तरमाह—तामिति । तां यस्मिन् दिवसे कालियो विवासितस्तद्दिनसम्बन्धिनीं रात्रिं हे राजेन्द्र ! तत्रैव कालिन्द्या उपकूलतः कूलप्रान्ते व्रजौकसो गोपाः गावश्च ऊषुः वासं चक्रुः । तत्र हेतुमाह—क्षुत्तृड्भ्यां रोदनपरिधावनादिजनितेन श्रमेण च कर्शिता इति ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नन्दमिति द्वयम् ॥ हे राजन् ! ये सकलत्रकाः स्त्रीसहिताः गुरवः भागुर्यादयः पुरोहिताश्च विप्रास्ते समागत्य नन्दं प्रत्यूचुः तदाहुः । कालियेन ग्रस्तस्तवात्मजोऽयं दिष्ट्या भाग्येनैव मुक्तः । अतः कृष्णस्य कालियाद्या निर्मुक्तिस्तत्र हेतुर्ब्राह्मणसन्तोषस्तस्मै द्विजातीनां दानं देहि । तदा प्रीतमना नन्दो ब्राह्मणेभ्यो गाः सुवर्णं च अदिशत् ददौ ॥ १७–१८ ॥ यशोदेति ॥ महाभागा नष्टा अदर्शनं गता पुनर्लब्धा प्रजा यया तथाभूता सती यशोदा च तं कृष्णं परिष्वज्याङ्कमारोप्याश्रुकलामानन्दाश्रुकलां मुहुर्मुमोच ॥ १९ ॥ तामिति ॥ हे राजेन्द्र ! क्षुत्तृड्भ्यां रोदनपरिधावनादिजनितेन श्रमेण च कर्शिताः व्रजौकसो गावश्च तां कालियविवासनादिसंबन्धिनीं रात्रिं तत्रैव कालिन्द्या उपकूलतः कूलप्रान्ते यद्वा उपकूलतः विषजलादिभयात्कूलसमीपं परित्यज्येति "ल्यब्लोपे पञ्चमी" । अन्यथा दावाग्निना सर्वत आवरणासिद्धेः । ऊषुः वासं चक्रुः । धेन्वादीनां सत्त्वेऽपि तासां विषसम्पर्कशङ्कया क्षीराद्यग्रहणात् क्षुदादि ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

विप्राः नंदमूचुः ॥ १७ ॥ आदौ नष्टा पश्चाल्लब्धा प्रजापुत्रो यया सा यशोदा परिष्वज्य आलिंग्य ॥ १८ ॥ क्षुत्तृड्भ्यां श्रमेण रोदनाया सेनकर्षिताः पीडिताः उपकूलतस्तटसमीपे ॥ १९ ॥ तदा तस्मिन् काले शुचिवनात् शुष्कात् ग्रीष्मारण्यात् उद्भूत उत्थितः दावाग्निर्वनानलः निशीथे मध्यरात्रौ सुप्तं व्रजं आवृत्य दग्धुं उपचक्रमे आरंभं कृतवानित्यर्थः ॥ २०–२१ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यशोदापीति ।। नष्टा नष्टप्राया लब्धा पुनः संप्राप्ता प्रजा पुत्रो यया सा, अत एव महाभागा, सती साध्वी, यशोदा स्वयं यशोदापि, कृष्णं परिष्वज्य, अङ्कं आरोप्य, मुहुः अश्रुकलां, मुमोच । क्वचित्त्वत्र मुमोचाश्रुकणान् बहूनित्यपि पाठस्तत्र बहून् अश्रुकणानानन्दाश्रुबिन्दूनित्यर्थः ।। १७ ।। तामिति ।। हे राजेन्द्र, ततः तां रात्रिं तत्र वने एव, क्षुत्तड्भ्यां श्रमेण च कर्षिताः, श्रमशब्देन समस्यमानमपि कर्षितेति पदं क्षुत्तृड्भ्यामित्यनेनान्वयमार्षत्वात् प्राप्तमिति बोध्यम् । व्रजौकसः गावश्च, कालिन्द्याः उपकूलतः, यमुनातीर एवेत्यर्थः । ऊषुरुषितवन्तः ।। १८ ।। तदेति ।। तदा रात्रौ, शुचिर्ग्रीष्मर्त्तुस्तत्संबन्धि यद्वनं तदुद्भूतः, 'शुचिर्ग्रीष्माग्निशृङ्गारे' इति मेदिनी । ग्रीष्माग्निशृङ्गारे इति समाहारद्वन्द्वान्तं, दवाग्निः, सर्वतो व्रजं व्रजस्य परित इत्यर्थः । निशीथेऽर्द्धरात्रसमये, सुप्तं व्रजं आवृत्य, प्रदग्धुं, उपचक्रमे ।। १९ ।। तत इति ।। ततः, दह्यमाना अग्नेर्दाहमनुभूयमानाः, ते व्रजौकसः उत्थाय, संभ्रान्ता व्याकुलचित्ताः सन्तः, मायामनुजमात्मीयसंकल्पेन नृभावं दर्शयन्तं, ईश्वरं प्रत्यक्षपरमेश्वरं, कृष्णं शरणं, ययुः रक्षणोपायत्वेनाध्यासितवन्तः ।। २० ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नन्दं विप्रा इति : १०.१७.१७.

आस्तां कीदृगपि प्रसङ्गवशतश्चेत् प्राप्तमप्रार्थिता विप्रास्तच्छुभकार्यमाशु च पुरस्कृत्य प्रलोभान्विताः ।
कुर्वन्ति प्रसभं धनाढ्यमसकृद्दानोद्यतं श्रीपते तन्नैषोऽभिनवः प्रचार इति न त्वं क्रुध्य मय्याश्रिते ।। १८ ।।

तां रात्रिमिति : १०.१७.२०.

पूर्णान्नैव वसुन्धरा वयमपि प्रायस्तदाकाङ्क्षिणः सत्येवं यदलभ्यमद्य समभूदन्नं लघीयोऽप्यहो ।
तत्प्राग्जन्मनि नार्पितं द्विजमुखेष्वस्मिन् दिने चैत्यभूत् सत्यं रामवचोऽन्यथा सति विभौ तेषां तथात्वं कुतः।। १९ ।।

कृष्णप्रिया

अब श्रीनन्द बाबा के समीप तेजस्वी विप्रों ने आशीर्वाद दिए, एवं जो गुरुजन थे और नित्य वैदिकादि संस्कारादि कर्म कराते थे वे उनकी पत्नियाँ भी साथ आकर जोर और प्यार से कहने लगे बाबा बाबा "बधाई" "बधाई" बड़ी प्रसन्नता की बात है कि कालीय ग्रसित आपके सुपुत्र श्रीकृष्ण चन्द्र जी छूटकर क्षेमकुशल आ गए ।। १७ ।। सती यशोदा मा एवं रोहिणी बड़भागिनी है क्योंकि अपने हाथों से गए हुए और पुनः प्राप्ति की संभावना नथी ऐसे लाडिले निज पुत्र को पुनः प्राप्त किया। माँ यशोदा जी ने पहिले तो नन्दलाल का आलिङ्गन किया, पुनः गोद पधराया, तब तो यशोदा माता के नेत्रों से प्रेम विवश अश्रुधारा बहने लगी ।। १८ ।। राजेन्द्र परीक्षित् ? व्रजनिवासीजन एवं गोधनवृन्द भूख, प्यास, एवं आयास से क्षीण शक्ति बन चुके थे इसलिए सब वहाँ ही श्री कालिन्दीजी के तट निकट ही सो गए ।। १९ ।। तब विपिन में प्रकट दावानल ने, निद्राधीन व्रज को त्वरित गति से चारों ओर घेर कर मध्य रात्रि में सबको जलाना शुरू किया ।। २० ।।

तदा[1]ऽऽशुविपिनोद्भूतो दावाग्निः [2]सर्वतो [3]व्रजम् । [4]सुप्तं निशीथ [5]आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे ।। २१ ।।
तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः । कृष्णं ययुस्ते शरणं माया [6]मानुषमीश्वरम् ।। २२ ।।
कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम । एष [7]घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ।। २३ ।।
सुदुस्तरान्नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो । न शक्नुमस्त्वच्चरणं संत्यक्तुमकुतोभयम् ।। २४ ।।
इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः । तमग्निमपिबत्[8]तीव्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे [9]दावाग्निमोचनं नाम सप्तदशोऽध्यायः ।। १७ ।।

---

१. तदा शुचिवनोद्भूतो—श्रीधर. वंशी. ; तदाऽऽशु विपिनोद्भूतो—वीर ; घोरः शुचिबलोद्भूतो—विज. । २. परितो—वीर. । ३. वृतः—विज. । ४. सुप्तान्निशीथ—वीर. विज. । ५. आसाद्य—इति कस्यचित् । ६. मनुज—श्रीधर.—वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । ७ घोरतरो—गो. प्रे. टी. । ८. तीव्र—श्रीधर. वंशी. विज. जीव. विश्व ; च्छीघ्र—वीर. । ९. बालक्रीडायां दावाग्निमोक्षणं गो. प्रे. टी. ; पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे—अन्यप्रत्यां दृश्यते ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तदा विपिनोद्भूतः दावाग्निः निशीथे सुप्तम् व्रजम् सर्वतः आवृत्य प्रदग्धुम् उप चक्रमे।। २१ ॥ ततः दह्यमानाः सम्भ्रान्ताः व्रजौकसः उत्थाय ते मायामानुषम् ईश्वरं कृष्णम् शरणम् ययुः ॥ २२ ॥ हे कृष्ण हे कृष्ण ! हे महाभाग ! हे अमित विक्रम ! राम ! एषः घोरतमः वह्निः तावकान् नः हि ग्रसते ।। २३ ॥ हे प्रभो ! सुदुस्तरात् कालाग्नेः नः स्वान् सुहृदः पाहि, अकुतोभयम् त्वत् चरणम् सन्त्यक्तुम् न शक्नुमः ॥ २४ ॥ जगदीश्वरः इत्थम् स्वजनवैक्लव्यम् निरीक्ष्य अनन्तशक्तिधृक् अनन्तः तम् अग्निम् शीघ्रम् अपिबत् ।। २५ ॥

इति दशमस्कन्ध निरोधलीलायाः तामसप्रकरणावान्तरप्रमेयप्रकरणे सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १७ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कालाग्नेर्मृत्युरूपादग्नेः । न मृत्योर्बिभीमः किं तु त्वच्चरणवियोगादित्याहुः। न शक्नुम इति ॥ २४–२५ ॥

विमोहानहिदंडेन ततः स्वं शरणागतान् । गोपानपादनंतोऽसावनं तद्वनवह्नितः ।। १ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

शुचौ ज्येष्ठे ग्रीष्मे वा आषाढे वनोद्भूतः । यद्वा—शुचिना पवनेन वनोद्भूतः शुचिपवनशब्दयोरेकार्थत्वात्पर्यायत्वम् 'पवनः पवतामस्मि' इत्युक्तेः । यद्वा—मया कश्चिच्छुचिनामापि मरुदस्ति तेन । 'शुचिवलोद्भूतः' इति पाठो विजयध्वजसंमतः, स सुगमः । पुराणेतिहासादौ पुनरुक्तिर्दोषाय न इति, तस्याः काव्यदोषत्वादिति । दाव इत्युक्तेः पुनरग्निपदोपादानं शुचिवनोद्भूत विशेषणं च । "दावो वनानले चाथ दवश्च विपिनेऽपि च" इति धरणिः । "शुचिर्ग्रीष्माग्निश्रृङ्गारेष्वाषाढे शुद्धमंत्रिणि । ज्येष्ठे च पुंसि धवले शुद्धेऽनुपहते त्रिषु ॥" इति मेदिनी । आवृत्य परिवार्य दावाग्निरयं कंसानुचरः कालियसखः कश्चिदसुर इति केचिदाहुः॥ २१ ॥ ततः अग्निप्रवृत्तेः व्रजौकसः व्रजस्थकृषीवलाद्याः । मायया स्वरूपेणैव मनुजम् "स्वरूपभूतया निजशक्त्या मायाख्यया" इति श्रुतेः । यद्वा - मायया कापट्येनैव मनुजम् । वस्तुतस्तु—नराकृतिपरब्रह्मत्वेन तद्रूपेणैवेश्वरम् । यद्वा—माया कृपा तद्युक्तं मनुजं द्विभुजत्वादिसाम्येन । यद्वा—मायाः लक्ष्म्या ईश्वरं स्वामिनमपि मनुजं मनुष्यलीलं कृष्णं व्रजजनदुःखकर्षकं कालियदमनादिना दृष्टत्वात् । शरणं यः अस्माकं प्राणसंकटेऽस्मिन्नेव बालके स्वप्रसादादुद्भूते नारायण आविश्यास्मान्[illegible]लयति । 'अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमंजस्तरिष्यथ' इति गर्गोक्तेस्तमिमं सप्रति नारायणाविष्टं कृष्णमेव नारायणपरत्वेन विस्रभ्य विपत्तरणार्थं शरणं मम इति भावः ।। २२ ॥ हे रामेति । अस्यापि तद्दिने सर्वज्ञत्वदर्शनेनायमपि कृष्णभ्राता देवाविष्ट इत्यनुमानात् । तावका-नित्युक्तिर्दयोद्रादनार्था ॥ २३ ॥ मृत्योर्नित्यत्वात्ततो न भयमित्याहुः—नेति । तर्हि कुतस्तत्राहुः—किं त्विति । प्रभो हे सर्वं कर्त्तुं समर्थ । न कुतोऽपि भयं यस्मात्तम् । अतो निजचरणपरित्यागभयमस्माकमाशु विनाशयेति भावः ॥ २४ ॥ तम् वनोद्भूतम् । अनंतशक्तिधृगितिवह्निपानशक्तिरपि श्रीकृष्णेऽस्तीत्याह । ननु परमसुकुमारः कथं तीव्रमग्निमपिबत्तत्राह—अनंतेति । तस्य संहारिका शक्तिरेवापिबत्, तस्मिन् शक्तिमति तत्पानोपचारमात्रमिति भावः । 'धृजु–गतौ' भ्वादिः, ततः क्विपि धृगितिरूपम् ॥ २५ ॥ विमोहान् ज्ञातभगवत्तत्त्वान् । अहो येन महाविषः कालियो निरस्तस्सोय साक्षादीश एवेति । तत ईशत्वादेव । अनंतश्चासौ वनवह्निश्चेति (१) ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तदा तद्रात्रावेव शुचिर्ग्रीष्मसमयः तत्सम्बन्धि वनं शुष्कारण्यमित्यर्थः । तत्र उद्भूतः अयं च दावाग्निरूपः कालियसखः कंसानुचरः कश्चिदसुर इति केचिदाहुः ॥ २१ ॥ सम्भ्रान्ताः सद्यस्तत्प्रतिकाराद्यज्ञानात् यद्वा निस्सारणार्थमितस्ततः कृतपरिभ्रमणा इत्यर्थः । यतो दह्यमानाः दग्धुमुपक्रम्यमाणाः मायया कापट्येनैव मनुजत्वेन प्राकृतमनुष्यत्वेन स्फुरन्तं वस्तुतस्तु नराकृतिपर-ब्रह्मत्वेन तद्रूपेणैवेश्वरं किम्वा माया कृपा तदुक्तं मनुजं द्विभुजत्वादिसाम्येन । यद्वा. माया लक्ष्म्या ईश्वरं स्वामिनमपि मनुजं मानुष्यलीलम् इति कारुण्याद्यतिशयः सूचितः तत्रापि कृष्णं तत्र व्रजजनप्राणनाथम् अतः शरणं ययुः ॥ २२ ॥ तत्प्रकारमेवाह—कृष्णेति । वीक्षासम्भ्रमेण स्नेहभरस्वभावेन वा महान् भागो भाग्यमस्मादृशानां यस्मादिति त्वत्साक्षादस्माकं दुःखं नोपयुक्तमिति भावः । अमितः अनन्तो विक्रमः शौर्यं यस्येति बलदेवं प्रति सम्बोधनं तव वीर्येण दावाग्निरपि निर्वातीति भावः एवं तदापि तेषां महाप्रभावत्वज्ञानमेव जातं नत्वैश्वर्यज्ञानमिति भावः । एष इति प्रत्यक्षत्वं शीघ्रत्वं वा बोधयति घोरतमः अप्रतिकार्यत्वात् युष्म-दन्तिकप्राप्तत्वाद्वा ग्रसते निश्शेषेण संहरतीत्यर्थः । तावकानिति कृपाजननार्थं ग्रसनायोग्यत्वबोधनार्थं वा तव "कममकावेकवचनम्" इति तद्धित निमित्तकादादेशसूत्राद्यदत्रैकस्यैव सम्बन्धः प्रतिपाद्यते हि निश्चयं तत्खलु द्वयोरभेदप्रतिपादनार्थमिति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥

स्वान् ज्ञातीन् आत्मीयान् वा सुशोभनं हृत् येषां तान् सद्भावेन तदेकनिष्ठानित्यर्थः। प्रभो हे सर्वं कर्त्तुं समर्थ! न कुतोपि भयं यस्मात्तम् अतो निजचरणपरित्यागभयमस्माकमाशु विनाशयेति भावः। अतः सम्यक् क्षणमपि वियुक्ततया त्यक्तुं न शक्नुम इति ॥ २४ ॥ इत्थं स्वप्रेमैकमूलकानेककाकूक्त्यादिप्रकारकं निरीक्ष्य अनुभूय तं तादृशं अतस्तीव्रं दुस्सहं तथाभूतमपि अपिबत् कारुण्यमयप्रेमावेशेनेति भावः। ननु, भवतु तदावेशस्तेन कथं तत्पानं स्यादित्याशङ्क्य गूढमपि तदैश्वर्यं स्वसमये स्वयमेव व्यक्तीभवतीत्यभिप्रेत्य सिद्धान्तयति—जगतामपीश्वरः सर्वेषु तत्तच्छक्तिप्रद इत्यर्थः। तस्मादेवाग्नेरपि शक्तेः को नाम विस्मय इति भावः। ननु, गोपबालकरूपः समन्तादूर्ध्वमग्निं कथमपिबत् तत्राह, अनन्तः तादृशस्यैव विग्रहस्य विभुत्वेन स्वयमपि समन्तात् प्रकाशमान इत्यर्थः, न च तन्मात्रशक्तित्वमप्याश्चर्यमित्याह अनन्तशक्तिधृगिति अत एव श्रीगोपा अपि निवारयितुं नावसरं लब्धवन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामीकृतवैष्णवतोषिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तदा तद्रात्र्यामेव, शुचिर्ग्रीष्मसमयस्तत्सम्बन्धि वनं शुष्कारण्यमित्यर्थः, तत्र तस्माद्वा उद्भूतोऽयञ्च दावाग्निरूपः कालियसखः, कंसानुचरः कश्चिदसुर इति केचिदाहुः ॥ २१ ॥ सम्भ्रान्ताः, सद्यस्तत्प्रतिकाराद्यज्ञानात्, यद्वा, निःसरणार्थमितस्ततः कृतपरिभ्रमणा इत्यर्थः, यतो दह्यमाना दग्धुमुपक्रम्यमाणाः, पश्चादीषदग्नितापं लभमाना वा, माया कापट्यम्—यथा रासारम्भेऽपि धर्म्मानुशासनम्, किंवा, माया कृपा तद्युक्तं मनुजं द्विभुजत्वादिसाम्येन; यद्वा, मायाया लक्ष्म्या ईश्वरं स्वामिनमपि मनुजं मानुष्यलीलमिति कारुण्याद्यतिशयः सूचितः, तत्रापि कृष्णं व्रजजनप्राणनाथम्, अतः शरणं ययुः ॥ २२ ॥ तत्प्रकारमेवाह—कृष्णेति। वीप्सा संभ्रमेण, स्नेहभरस्वभावेन वा महद्भागम्, 'समूहार्थे अण्' भगशब्दवाच्यमैश्वर्य्यवृन्दं यस्य तत्सम्बोधनम्, अतस्तवाशक्यं किञ्चिदपि नास्तीति भावः; यद्वा, महान् भागो भाग्यमस्मादृशानां यस्मादिति त्वत्साक्षादस्माकं दुःखं नोपयुक्तमिति भावः। अमितोऽनन्तो विक्रमः शौर्य्यं यस्येति बलदेवं प्रति सम्बोधनम्; तव वीर्य्येण दावाग्निरपि निर्वातीति भावः, यद्वा, श्रीबलभद्रं परित्यज्य कथं मामेव शरणं याथेत्याशंक्याहुः—रामादपि रामेणापि वा, अमितो मातुमशक्यो विक्रमो यस्य; यद्वा, रमयतीति रामोऽमितो विक्रमो यस्य सः। एष इति प्रत्यक्षत्वं शीघ्रत्वं वा बोधयति, घोरतमः, अप्रतिकार्य्यत्वात् त्वदन्तिकप्राप्तत्वाद्वा ग्रसते निःशेषेण संहरतीत्यर्थः। तावकानिति कृपाजननार्थं ग्रसनायोग्यत्वबोधनार्थं वा, हि निश्चितम् ॥ २३ ॥ स्वान् ज्ञातीन् आत्मीयान् वा, सुशोभनं हृद्येषां तान्, सद्भावेन तदेकनिष्ठान्नित्यर्थः। प्रभो हे सर्वं कर्त्तुं समर्थ! न कुतोऽपि भयं यस्मात्तमतो निजरक्षयास्माकं भयमाशु विनाशयेति भावः, यद्वा, ननु ममाप्ययं भयंकर इति चेत्तत्राहुः—न कुतोऽपि भयं यस्येति, साक्षाद्धुनैव दर्शनादिति भावः, अतः सम्यक् मरणेनात्यन्तवियुक्ततया न त्यक्तुं शक्नुम इति ॥ २४ ॥ इत्थमनेन काकूक्त्यादिप्रकारेण, निरीक्ष्य साक्षादनुभूयेव; यद्वा, इत्थमीदृशदावाग्निकृतमित्यर्थः। तेषां विज्ञापनात् पूर्वमेवालोच्य तं शुष्कवनोद्भूतं सर्वतो व्यापकमतिवृद्धं चेत्यर्थः, अतस्तीव्रं दुःसहमित्यप्रतिकार्य्यत्वमुक्तम्, तथाभूतमपिबदिव निःशेषेण पानाभिनयादिना नाशयामासेत्यर्थः। तत्र च युक्तिर्नानुसन्धेयेत्याह—जगतां जगत्स्रष्टृब्रह्मादीनामपीश्वरः सर्वशक्तिप्रद इत्यर्थः, तस्मादेवाग्नेरपि शक्तिः, यद्वा, परमेश्वरत्वेन दुर्वितर्क्यलीलत्वादिति भावः, यद्वा, देवतानामग्निर्मुखाग्नयोरभेदेन स्वस्थाने श्रीमुखमध्ये स्थापितवानित्यर्थः। एवमग्नेरपि सुखमकरोदिति ज्ञेयम्, यतो जगदीश्वरः सर्वदेवसुखप्रदश्चेत्यर्थः। ननु तर्हि श्रीमुखान्तरग्नेर्वर्तमानत्वेनास्मादृशां मनसि सन्तोषो न स्यादित्याशंक्याह—अनन्तोऽपरिच्छिन्नः, कस्मिन् श्रीमुखान्तर्भागेऽग्निर्गतः, तमपि लक्षयितुं कश्चिदपि न शक्त इत्यर्थः। ननु परमस्निग्धतरैः श्रीनन्दयशोदादिभिः साक्षात्तदग्निपान कथं सोढम्, कथं वा प्रसह्य न निवारितम्? तत्राह—अनन्तशक्तिधृक्, तथा तत्पानं चक्रे, यथा तैः कथञ्चिल्लक्षयितुं न शक्तमित्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां
श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदा रात्रावरण्यप्रभवो दवाग्निर्निशीथे सुप्तं व्रजं व्रजस्य परितः आवृत्य प्रदग्धुमुपक्रान्तवान् ॥ २१ ॥ ततो दवाग्निना दह्यमाना व्रजौकस उत्थाय सम्भ्रान्ताः व्याकुलचित्ताः मायया आत्मीयसङ्कल्पेन मनुजं साक्षादीश्वरं कृष्णं शरणं ययुः रक्षणोपायत्वेनाध्यवसितवन्तः ॥ २२ ॥ शरणयानप्रकारमेवाह—कृष्णेति द्वाभ्याम्। तावकान् त्वेदक रक्षान्नोऽस्मानेष वह्निर्ग्रसते ॥२३॥ स्वान् स्वान् सुहृदो नोऽस्मान् सुदुस्तरात् कालाग्नेः प्रलयाग्नितुल्याद्दवाग्नेः पाहि, हे प्रभो! नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मात्तं तव चरणं सन्त्यक्तुं न शक्नुमः न वयं मृत्योर्बिभीमः अपि तु त्वच्चरणवियोगादिति भावः ॥ २४ ॥ स्वजनानां वैक्लव्यं निरीक्ष्यानन्तशक्तिभृत् हेतुगर्भमिदं तत्त्वाद् जगदीश्वरः कृष्णः शीघ्रं तमग्निमपिबत् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शुचिः पवनः तस्य बलेनोद्भूतः शुचिनाम्नो मरुतो बलेन वा यतः परिवेष्टितः निशीथे अर्धरात्रे ॥ २१-२४ ॥ अनन्तशक्तिधृक् अनियतशक्तिधृक् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्दशः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अकुतोभयमिति त्वच्छरणप्राप्तिं विना अन्यत् सर्वमेवास्माकं भयहेतुरित्यर्थः। अपिबत् कृपावेशेन पानाभिनयेनैव संहृतवान् तत्र हेतुः जगदीश्वरः अग्न्यादीनां सर्वेषामेव तत्तच्छक्तिप्रवर्त्तकनिवर्त्तकः समन्तादुगताग्निपाने युक्तिः ॥ २४ ॥ अनन्तः सर्वत्र प्रकाशमानस्वविग्रहः तादृशशक्त्यावनद्भूतत्वम् अनन्तशक्तिधृगिति ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ कालियविषाग्निनिर्जयानन्तरं दावाग्निनिर्जय-प्रस्तावे तस्य योगमायावैभवमाह—कृष्णं ययुस्तेश्रवणं मायामनुजमीश्वरम्। माया योगमाया तया अमनुजम्, मनुजाकृतित्वेऽप्यमनुजधर्माणम्। यद्वा, मायया योगमायया अमनुजम्, आकृत्यैव मनुजमित्यर्थः। वस्तुतस्तु श्रीकृष्णविग्रहस्यात्मत्वात्। तथा च—(गी० २।२४) अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम्' इत्यादि। तेन तदविग्रह एवात्मा॥ (२३-२५) ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कृष्णं ययुस्ते श्रवणं मायामनुजं माया योगमाया तया सर्वे परिजना अमनुजा यस्य तम् ॥ २३-२५ ॥

इति सप्तदशः ॥ १७ ॥

एवमष्टादशोनविंशौ ॥ १८-१९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

शुचिर्ग्रीष्मः दावाग्निरयं कंसानुचरः कालियसखः कश्चिदसुर इति केचिदाहुः ॥ २१ ॥ व्रजौकसः व्रजस्थकृषीवलाद्याः मायया स्वरूपेणैव मनुजं स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्ययेति श्रुतेः। शरणं ययुरित्यहो अस्माकं प्राणसङ्कटसमये अस्मिन्नेव बालके स्वप्रसादोद्भूते नारायण आविश्यास्मान् पालयति "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इति गर्गोक्तेस्तमिमं सम्प्रति श्रीनारायणाविष्टं कृष्णमेव नारायणत्वेन विस्रभ्य विपत्तरणार्थं शरणं याम इति त्वमृश्येति भावः ॥ २२ ॥ हे रामेति तस्यापि तद्दिने सर्वज्ञत्वदर्शनादयमपि कृष्णभ्राता देवाविष्ट इत्यनुमानात् ॥ २३ ॥ कालो मृत्युस्तद्रूपादग्नेः मृत्यौ सति त्वच्चरणेन सह वियोगो भवेत् सतु दुःसह इत्याहुः—न शक्नुम इति ॥ २४ ॥ स्वजनवैक्लव्यं दृष्ट्वेति स्वजनविषयकस्तत्प्रेमैव तेषां रक्षणार्थं तमैश्वर्यमनुसन्धापयामासेति भावः। ननु, परमसुकुमारः कथं तीव्रमग्निमपिबत्तत्राह—अनन्तशक्तिधृक् तस्य संहारिका शक्तिरेवापिबत् तस्मिन् शक्तिमति तत्पानोपचारमात्रमिति भावः ॥ २५ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। दशमेऽस्मिन् सप्तदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ननु, श्रमकर्शितानां सुप्तानामुत्थाने को हेतुरत्राह मायामिति। मायां योगमायां प्रति यो मनुजस्तं शरणं ययुः योगमायया स्वलीलासौष्ठवसिद्धये भगवता प्रवर्तितया प्रबोधिता इति भावः ॥ २१-२३ ॥ कालाग्नेः मृत्युरूपादग्नेः ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे सप्तदशाध्यायार्थप्रकाशः ॥ १७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तदा रात्र्यामेव शुचिर्ग्रीष्मस्तत्सम्बन्धि वनं शुष्कमित्यर्थः। तत्रोद्भूतोऽग्निः कश्चित् कालियसखः कंसानुचरो दैत्यो बोध्यः॥ २१ ॥ सम्भ्रान्तास्ततो निःसृतुमितस्ततो भ्रमतः "अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जतरिष्यथे"ति गर्गोक्तिस्मरणात् कृष्णमेव श्रवणं ययुः। कीदृशं मायया स्वरूपशक्त्यैव मनुजं नराकारं "स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युत" इत्यादि श्रुतेः "परं

ब्रह्म नराकृती"ति स्मृतेश्च ॥ २२ ॥ हे रामेति ! धेनुकवधेन तस्यातिविक्रमावगमात् ॥ २३ ॥ कालाग्नेरिति मृत्युरूपाद्वह्नेरित्यर्थः भूतो सति त्वच्चरणाभ्यां सह वियोगः स्यात् स च दुसह इत्याह—न शक्नुम इति ॥ २४ ॥ ननु परमसुकुमारः कथं तीव्रमग्निमपि-बत्तत्राह—अनन्तशक्ति धृगिति तमयति तीषौ सति तस्य दुष्टसंहारिणी शक्तिरेव तमपि वदित्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

शुचिबलोद्धूतः शुचिर्ग्रीष्मस्तस्य यद्बलं सामर्थ्यम् । शुचि शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते । ग्रीष्मे हुतवहे स्यादुपधांशुककर्मणोरिति विश्वः । ग्रीष्मो नामतु रभवदित्युत्तरत्रोक्तेः । सन्निहितत्वाच्छुचिर्ग्रीष्म इत्युचितं । अथवा शुचिर्वायुर्दावाग्निर्वनानलः । दवदावौ वनानलावित्यमरः । सर्वतः परितो वृतो वेष्टितः ॥ २१ ॥ निशीथे निपातितः शब्दो रात्रिसामान्यस्य तथाऽर्धरात्रं स्यादित्युक्तेरर्धरात्रस्य च वाचकः । उपचक्रमे उपपराभ्यामिति क्रमेरात्मनेपदता । आरेभे ॥ २२ ॥ ते गोपाः ॥ २३ ॥ तावकानस्तीव्रपदस्वारस्येनाक्षिपक्ष्मनिमीलनमध्य एवापिबदिति द्योत्यते । अत एवोत्तरत्रैवात्र लोचनानि निमीलयतेत्युक्तिः । ग्रसते ग्रसति पाहि । रामं प्रत्यप्याहुः ॥ अःस्वान्पाहीति । ततोऽस्तावकान्स्वतावकान्स्तोतृनिति वा । स्वानिति विषयभेदान्न पुनरुक्तिः ॥ २४ ॥ अकुतोभयं त्वच्चरणं सन्त्यक्तु न शक्नुमः । एतेन मरणं भविष्यतीति चिन्ताऽपि न कृष्णविरहभीत्या वदन्तीति भावः सूचितो भवति ॥ २५ ॥ अनन्तशक्तिधृक् अपरिमितबलवांस्तीव्रं यथा भवति तथाऽपिवत्पपौ । अथ तत्पानानन्तरं ॥ २६ ॥ अनुगीयमानोऽनुगैरिति शेषः । गोकुलमण्डितं व्रजं न्यशित् ॥ २७ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १०-१५ ॥

श्रीसुबोधिनी

अतस्तेषां व्याकुलतां प्रार्थनां चाह **तत उत्थायेति, सम्यग् श्रान्ता** जाता अतिनिद्रया दिग्देशकालज्ञानरहिता अपि स्वभावतोपि **व्रजौकसः** कालियेन पूजितं भगवन्तं दृष्ट्वा **कृष्णमेव ते शरणं ययुः** ॥ २१ ॥ न तु कृष्णरक्षार्थं यत्नं कृतवन्तः प्रत्युत स्वरक्षामेव कृष्णं प्रार्थितवन्त इत्याह **कृष्ण कृष्णेति**, भयाद् वीप्सा, **महाभागेति** तव शरण्यत्वेस्माकं शरणगमने च हेतुः, **साधारणाः सर्व इति** **राममप्याहुर्हे रामेति, अमितः पराक्रमो यस्येति**, तालवने ज्ञातं, एकवदेवाहुरेष **घोरतमः** शीघ्रभक्षकस्तावकान् वैष्णवान् **नोस्मान् ग्रसते**, ग्रासे सन्देहाभावाद् हिशब्दः, नातःपरमाशा जीवनस्येति ॥ २२ ॥ तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह सुदुस्तरादिति, अयं **कालाग्निः** प्रलयाग्निरेव, अत एव **सुदुस्तरः**, अतः **स्वान्** भक्तान् **सुहृदो** हृदयशुद्धान् सम्बन्धिनो वा भगवच्छास्त्र लौकिकं वा विचार्य **पाहि**, यतस्त्वं प्रभुः, ननु भगवद्भक्तानां किं देहरक्षणेन ? प्रत्युत भगवत्समीपे मरणमेव समीचीनमित्याशङ्क्याहुर्न **शक्नुमस्त्वच्चरणमिति, न हि मरणेस्माकं चिन्ता किन्तु तव चरणवियोगो भविष्यतीति**, दाहस्तु सोढुं **शक्यो न तु चरणवियोगः**, ननु विरोधि कथमङ्गीक्रियते ? दाहो बलिष्ठश्चरणान् दूरीकरिष्यत्येवेति तत्राहाकुतोभयमिति, न विद्यते कुतश्चिद् **भयं** यस्मात्, अनेनेदानीमपि **नास्माकं भयं निश्चितं किन्तु शङ्कामात्रेण प्रार्थ्यंत** इतिभावः ॥ २३ ॥ एवं एवं प्रार्थनायां यत् कर्तव्यं तत् कृतवानित्याहेत्थमिति, समागतस्य वह्नेर्निर्वाणं एतेषां वान्यत्र नयने तावदपि विलम्बं न सहत इत्यन्तःकालीयसम्बन्धकृतदुष्टानां दाहार्थं **तमग्निमपिबत्, मुखमप्यग्निरिति** "नाग्नेर्हि तापः", ननु किमित्येवं कृतवान् ? तत्राह **स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्येति**, स हि सर्वनियन्ता दुष्टश्चाग्निर्वह्निर्न स्थापनीयोन्यथा कालान्तरेप्युपद्रवं कुर्यात्, कालकूटभक्षणेन जातगर्वस्य महादेवस्य गर्वनिवारणार्थं दहनधारणजनितगर्वनिवारणार्थं च दहनं तम**पिबत्**, **शीघ्र**मिति, तेषां प्रतीतिजनितभयाभावाय, स्वतस्तु भयाभावः, **अनन्त** इति प्रकारविशेषेप्यप्रश्नः, उत्तरमाहानन्तशक्तिधृगिति, **अनन्ता एव** शक्तीर्बिभर्ति, यदि वायुरूपो भवेत् तथापि पिबेद् यदि जलरूपो भवेत् तथापि शामयेद् यदि मुखं वा मुद्रयेत् तथापि पिबेत् सर्वमुखत्वात् तत्रैव वा मुखं प्रसारयेत् तथापि पिबेदिति नात्र किमप्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्दशाध्यायविवरणम् ॥ १४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तत उत्थायेत्यस्याभासे तद्देहसम्बन्धित्वमिति तस्य स्नेहस्य **देहसम्बन्धित्वं** स्वस्य **तद्देहसम्बन्धित्वं** वा एते न त्वित्यत्रैत इति भिन्नं पदम् ॥ २१ ॥ **कृष्ण कृष्णेत्यत्र साधारणाः सर्व** इति तथा चासाधारणास्तु नैवं किन्तु भगवद्रक्षार्थमेव प्रयत्नं कृतवन्त इति ध्वन्यते ॥ २२ ॥ **इत्थमित्यत्र यदि वायुरूप** इति "वायोरग्नि"रितिश्रुतेरुत्पत्तिप्रलययोरेकाधिकरणत्वस्योचितत्वात् तथेत्यर्थः, अयं यशोध्याय इति यशोर्थमेवङ्करणमिति प्रतिभाति, एते विकल्पा एतदर्थमेवोक्ता इति च, यद्यपि यशो वीर्यं विना न भवति वीर्यं च यशः प्रकटयत्येवेत्येकत्रोभयमप्यायाति तथापि यत्र यस्य प्राधान्यं तत्र तदेव निर्दिश्यत इति न काचिदनुपपत्तिः ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे चतुर्दशाध्यायविवरणम् । १४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इत्थं स्वजनेत्यत्र अन्तःकालीयेति "तं प्रेक्षणीयसुकुमारे" इत्यनेनोक्तप्रकारे भगवतोपहतपात्मत्वादन्तःस्थिते जगति तद्दोषो जातः, तथा चान्तःस्थिते जगति कालीयसम्बन्धकृतो यो दोषस्तेन ये दुष्टाः पदार्थास्तेषां दाहेन सुवर्णस्येव दोषनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ २४ ॥

इति चतुर्दशोध्यायः ॥ १४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

इत्थं स्वजनेत्यस्य विवृतौ मुखमप्यग्निरिति "अग्निर्मुखं यस्य च जातवेदा" इति वाक्यात् ॥ २४ ॥

इति चतुर्दशोध्यायः ॥ १४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदा तस्यां रात्रौ तत्रापि निशीथे अर्धरात्रिसमये शुचिः ग्रीष्मस्तत्सम्बन्धि यद्वनं तत उद्भूतो दावाग्निः सुप्तं व्रजं गवादिसहितं व्रजवासिजनं सर्वत आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे प्रक्रान्तवान् इत्यन्वयः ॥ २१ ॥ ततो दह्यमाना व्रजौकसः उत्थाय सम्भ्रान्ता दिग्देशकालादिज्ञानरहिता अन्यदुपायमपश्यन्तस्तन्मनस्कत्वादनेकत्र प्रभावस्य दृष्टत्वाच्च मायया स्वेच्छया मानुषतया प्रतीयमानमपि वस्तुतस्तु ईश्वरं श्रीकृष्णमेव ते शरणं ययुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥ शरणगमनप्रकारमाह—कृष्णकृष्णेति द्वाभ्याम् । अतिसम्भ्रमेण वीप्सा । हे कृष्ण सदानन्दरूप ! महद्भाग्यं भक्तानां यस्मात्तत्सम्बोधन हे महाभागेति । हे राम सर्वतो दुःखनिवारणेन रतिजनक ! दुःखनिवारणे सामर्थ्यं सूचयन्तः सम्बोधयन्ति—हे अमितविक्रमेति । एष घोरतमो भयङ्करो वह्निस्तावकान् नोऽस्मान् ग्रसते प्रदहति, भवदग्रे भवदीयानां दुःखं न युक्तमित्याशयः ॥ २३ ॥ हे प्रभो सर्वप्रकारेण समर्थ ! सुदुस्तरात् कालाग्नेर्मृत्युरूपादग्नेः स्वान् स्वकीयान् सुहृदः शोभनं हृत् येषां तान् भक्तान् नोऽस्मान् पाहि । मृत्योर्न बिभीमः, किन्तु त्वच्चरणं सन्त्यक्तुं न शक्नुमः । तत्र हेतुमाह—अकुतोभयमिति । नास्ति भक्तानां कुतोऽपि भयं यस्मात्, सर्वभयनिवर्तकमित्यर्थः । नच 'तर्हि चरणाश्रितानामग्नितोऽपि भयं नैव स्यात्, किमर्थेयं प्रार्थना ? इति शङ्क्यम्, भगवदिच्छायाः प्रबलत्वाद्व्याकुलतावशाच्च प्रार्थना सङ्गच्छते ॥ २४ ॥ इत्थं स्वजनानां वैक्लव्यं व्याकुलतां निरीक्ष्य तमतितीव्रं सुदुःसहमप्यग्निमापिबत् । ननु 'कथमल्पेन तेन सर्वत आच्छादयतो महतो वह्नेः पानं सम्भवति ?' तत्राह - अनन्त इति । वस्तुतोऽपरिच्छिन्न इत्यर्थः ॥ ननु 'तथापि प्रज्वलतस्तस्य पानं कथं सम्भवति ?' तत्राह—अनन्तशक्तिधृगिति । अग्नेरपि शक्तिस्तस्यैव, "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ॥ यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इति वचनात् । तेन तत्पानं नासम्भावितम् । नहि स्वशक्तिः स्वप्रतिकूला भवतीति भावः ॥ अनन्तशक्तित्वे हेतुमाह—जगदीश्वर इति ॥ २५ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना ॥ श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये ॥ श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने ॥ सप्तदशो गतो वृत्ति वह्निपाननिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदेति ॥ तस्यां रात्रौ तत्रापि निशीथे अर्धरात्रिसमये शुचिः ग्रीष्मस्तत्संबन्धि यद्वनं शुष्कं तत उद्भूतो दावाग्निः सुप्तं व्रजं गवादिसहितं व्रजजनं सर्वतः आवृत्य प्रदग्धुमुपचक्रमे प्रक्रान्तवान् । दावाग्निरयं कंसानुचरः कालियसखः कश्चिदसुर इति केचिदाहुः ॥ २१ ॥ तत इति ॥ ततो दह्यमाना व्रजौकस उत्थाय संभ्रान्ता दिग्देशकालादिज्ञानरहिताः सन्तः कालियविषनिष्फलीकरणशक्तिदर्शनेन कृष्णे नारायणावेशमवगच्छन्तो मायया मनुष्याकारमपि ईश्वरं कृष्णं शरणं ययुः ॥ २२ ॥ कृष्णेति ॥ रामकृष्णयोरभेदारोपेण एकत्वे तवकादेशात्तावकानिति स्पष्टं शेषम् ॥ २३ ॥ सुदुस्तरादिति ॥ हे प्रभो ! सुदुस्तरात् दुर्निवारात् कालाग्नेर्मृत्युरूपादग्नेः स्वान् स्वकीयान् सुहृदः नोऽस्मान्पाहि मृत्योर्न बिभीमः । किन्तु अकुतोभयं सर्वभयनिवर्त्तकं त्वच्चरणं सन्त्यक्तुं न शक्नुमः । भक्तानामग्निभयाभावेऽपि व्याकुलत्वात्प्रार्थना सङ्गच्छते ॥ २४ ॥ इत्थमिति ॥ अनन्ताभिः शक्तिभिर्वृणोति इति अनन्तशक्तिधृक् अनन्तो भगवान् इत्थं स्वजनानां वैक्लव्यं व्याकुलतां निरीक्ष्य तमतितीव्रं सुदुःसहमप्यग्निमपिबत् ॥ २५ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् । गङ्गासहायो दशमस्यामुं सप्तदशे व्यवधात् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नोऽस्मान् तवकादेश आर्षः ॥ २२ ॥ दुस्तरात् कालाग्नेः अकुतोभयं त्वच्चरणं ॥ २३ ॥ स्वजनानां वैक्लव्यं भयविह्वलत्वं अनंतः अविनाशिमूर्त्तिः श्रीकृष्णः ॥ २४ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचितेनिगूढार्थप्रकाशकेश्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्यानेकालियनिर्यापणंनामा सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शरणयानप्रकारमेवाह कृष्णेति द्वाभ्याम् ॥ हे महाभाग, हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे अमितविक्रम, हे राम, घोरतमः, एवः वह्निः, तावकान् त्वदेकरक्ष्यान्, नोऽस्मान् ग्रसते दाहयतीत्यर्थः हि ॥ २१ ॥ सुदुस्तरादिति ॥ हे प्रभो, स्वान् स्वकान्, सुहृदः नोऽस्मान्, सुदुस्तरान् कालाग्नेः प्रलयाग्नितुल्यात् दवाग्नेः, पाहि । नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मात् तत्, यत् प्राप्य कुतश्चिदपि भयं न तथाभूतमित्यर्थः । त्वच्चरणं संत्यक्तुं, वयं न शक्नुमः । न वयं मृत्योर्विभीमः किं तु त्वच्चरणवियोगादिति भावः ॥ २२ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थमेवंभूतं, स्वजनवैक्लव्यं स्वजनानां व्याकुलतोपेतं वचनं, निरीक्ष्य श्रुत्वेत्यर्थः अनन्तशक्तिधृत्, हेतुगर्भमिदम् । तत्त्वात् जगदीश्वरः सकलजदेकनाथः, अनन्तः श्रीकृष्णः, तीव्रं तं अग्निं, अपिबत् । दण्डेनाहेर्विमोहान् स्वान् शरणं स्वं ततो गतान् । अनन्तोऽपादसौ गोपान्वनवह्नेरनन्ततः ॥ २३ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दावाग्निरिति : १०.१७.२१

या एतास्तृणजातयः क्वचिदिहस्थाः कालियास्योद्गतक्ष्वेडार्द्र-श्वसनाभिमृष्ट-ततयस्तद्भक्षणं चेत्कृतम् ।
गोभिस्तद्भविताऽत्यनिष्टमिति ता दग्धुं किमाज्ञापयद् वह्निं गोकुलभव्यकृत् प्रभुरसौ दिग्देवतावन्दितः ॥ २० ॥
स्वात्मोच्चच्छक्तिलोलीकृतसकलजलं तद्गतं तत्तटस्थं श्रीगोविन्दं दयाम्भोनिधिमिह हि सदानन्दकन्दाद्यभूमिम् ।
लब्ध्वाऽप्येते विमूढा भुवि पशुपतयः स्वात्मसौख्यं भजन्ते क्षुद्रक्षुद्राभिसेव्यं कथमिति समगादग्निरुद्बोधनाय ॥ २१ ॥
त्वत्पादप्रतिमावभासविशदे यत्कृष्णवर्त्मन्यभूद् दुःखं तद्वचसामगोचर इति श्रुत्वा गिरं गोपतेः ।
मद्दुःखं विनिवेदयत्ययमहो दान्तः प्रभोरग्रतस्तज्जातोऽस्मि सुखीति संभ्रमगतिः किं कृष्णवर्त्माऽगमत् ॥ २२ ॥
यस्तेजोमयमूर्तिरत्र कुरुते तेजस्विनं मां निजैस्तेजोभिः किल तस्य वेदवपुषः सूर्यस्य पुत्रीमिमाम् ।
निर्दोषामनुकम्पयाऽतनुत यः श्रीशस्य तस्याहंणा मे युक्तेति हि संविचिन्त्य किमगान्मित्रप्रियः सोऽनलः ॥ २३ ॥
यद्रक्षणे नरहरिः किल जागरूकः कः शक्नुयात्तदपकारमहो विधातुम् ।
स्पष्टस्तथापि परतापकृतः स्वभावो यत्तापदानमतिरित्यनले स्फुटं तत् ॥ २४ ॥

तत इति : १०.१७.२२.

सदाऽहिमुक्तं जडजातमस्मिन् कृतं हि कृष्णेन कृपार्णवेन । निरीक्ष्य विश्वस्तधियस्तदा ते तमार्थयन्त क्षममात्ममुक्त्यै ॥ २५ ॥
सन्तं भवन्तमपि सन्निधिभुव्युपेक्ष्य सुप्तो वनेऽहमिह केवल एव नास्मि ।
तादृग्व्रजोऽपि यदसावुदितेहिदुःखे प्रातः पदं तव विभो तमिवाव मां च ॥ २६ ॥
सर्वदाऽहं निराकर्तुं सर्वदाऽहंरसाश्रितः । सत्कथं तन्न चेत्कुर्वे सत्कथं स्याद्यशो मम ॥ २७ ॥
स्वपदाम्भोजशरणत्राणदीक्षो दयानिधिः । ईदृशस्वयशःस्थित्यै मन्ये श्रीशस्तथा व्यधात् ॥ २८ ॥ (युग्मम्)
प्रातश्चेदुपकारकृन्निजगृहे तेजःप्रतापाधिकस्तत्तत्प्रत्युपकारतुल्यसुखदां कुर्वीत तत्सत्कृतिम् ।
स्वप्रेयस्यवनात्मिकामुपकृतिं रक्षोगृहेऽर्वाक् समुत्कुर्वाणं तमवेक्ष्य स प्रभुरभूत् तन्मुख्यसत्कारधीः ॥ २९ ॥
यस्मादुत्पद्यते यत्र स्थितिस्तत्रैव तद्गतिः । इति श्रुत्यर्थयोः श्रीशस्तमग्निं मुखतोऽपिबत् ॥ ३० ॥
भवानलं शान्तयितुं न चालं शूद्रादयः क्षुद्रजना जनेऽस्मिन् । किन्तु प्रभुर्ब्राह्मण एक एवेत्यबोधि कृष्णेन मुखाग्निशान्त्या ॥ ३१ ॥
अतिकालजलावगाढजातं परिहर्तुं ननु शैत्यमन्तरस्थम् । अपिबद् बलतोऽनलं सदुष्णं नहि चेच्छान्तिमवापितो न कस्मात् ॥ ३२ ॥
दुरन्तं ज्वलन्तं भवकानलं तं ग्रसिष्येऽत्र तेषामशेषेण ये तु । मदङ्घ्र्येकनिष्ठा इतीशाभ्यधायि निशायां विधात्रा त्वया दावपानम् ॥ ३३ ॥
ज्ञात्वा तादृशशक्तिकं नलमलं कृत्वा स्वमुख्यं पुरा तद्द्वारा जडतारणं कृतमतो माहात्म्यमत्रास्ति किम् ।
इत्यल्पोक्त्यपवादलाघवपरोहाराय मुख्यं प्रभुः कृत्वा भुव्यनलं जडाशयजुषो गोपान् वनेऽतारयत् ॥ ३४ ॥

अहं रामश्च दावोपशान्त्यै सम्प्रति याचितः । अपिवच्चिन्तयन्नेवं तमीशोऽनन्तशक्तिभाक् ॥ ३५ ॥
काननं द्विजहितागमाश्रितं माधवोऽस्मि कृतवानहं पुरा । यत्करोमि न तथाऽधुना भवेत्तन्मृषेत्यकृत तापनाशनात् ॥ ३६ ॥

तापं निवार्य यदहं न वनस्य कुर्यां संरक्षणं सततमत्पदकञ्जभाजः ।
श्रद्धा सतां मयि ततो भविता न जातु पातर्यपीत्यकृत तद्विपिनावनं सः ॥ ३७ ॥

ऋणमग्निरशेषेण नेयः शान्तिमिति स्मृतम् । स्मरंस्तमग्निं श्रीजानिरशेषमपिबत् स्वयम् ॥ ३८ ॥

दाना श्रियोऽयमहमस्मि च तद्ग्रहीना जानन्निति प्रभुरतात्स्वमुखासनं तत् ।
युक्तं च युक्तमभवत्स बलोऽपि तूष्णीं श्रीजानिरेष हि जनेष्वहमस्मि तद्धृत् ॥ ३९ ॥

मायैकाऽपा त्रियामा प्रसृतघनमहामोहजालान्धकारव्रातोदञ्चत्–प्रपञ्चोरुकट–विकटवने स्वैरतः शेरते ये ।
तेषामेषा हि सिद्धाऽरिमितविषय प्रज्ज्वलत्पावकान्तःसंस्थाऽस्त्यस्याश्च शान्तिर्मदनुगततयेतीश्वरेणाऽन्ववोधि ॥ ४० ॥

वनस्थितो दाहकृदास योऽनलः स शीतलस्त्वद्वदनस्थितो–ऽजनि ।
तद्युक्तमीशाखिलशान्तिदा यतः श्रुतादर्मध्या सरसा स्थितिः शुचेः ॥ ४१ ॥

शूरप्रभावपुषि दीप्तिमति प्रतापशालिन्यलं तु विजिते जगति प्रधाने ।
अर्थात्तदेकशरणाः शरणीभवन्तीत्यग्निर्जितो निखिलतन्मुखसज्जयाय ॥ ४२ ॥

कृतविषाग्निजरस्य पुरो हरेरयमितोऽपि कियान् विषयानलः । इति विभाव्य बलो बलवानपि स्वयमभून्न पुरोऽनलशान्तये ॥ ४३ ॥

प्रलयानलोऽतिपिहितोऽस्ति मे मुखे यदयं मया तु गिलनादनायि तत् ।
भृशमुद्धितः स भविता निजक्षणात्तदनिष्टमेतदधिकं परं भवेत् ॥ ४४ ॥

इत्यालोच्याच्युतन्यस्तभारः सङ्कर्षणस्तदा । स्थितिक्षणं स विज्ञाय स्वयमासीत्स्थितिक्षणः ॥ ४५ ॥

श्रीशकल्पतरु० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

कृष्णप्रिया

तब दावानल से जलते हुए व्रजजन उठ पड़े और घबड़ाकर माया से मनुष्य जैसे देखने में आने वाले भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्रजी की शरण आए ॥ २१ ॥ करबद्ध निवेदन करने लगे हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे बडभागी कृष्ण ! हे पूर्ण पराक्रमी दाऊ भैया यह खतरनाक अग्नि आपके सेवक हम सब को जलाती है ॥ २२ ॥ हे नाथ ! हे प्रभो ! हे दयालो ! इस खतरनाक भयानक कालरूप अग्नि से रक्षा कीजिये, हे नाथ ! हम आपके मित्र एवं भक्तजन हैं । भगवन् आप तो सर्वविधि भय से परे हैं, ऐसे निर्भय पुरुषोत्तम के श्रीचरणों का त्याग करने में हम असमर्थ हैं ॥ २३ ॥ इस तरह अपने भक्तों की विकलता को देख अनन्त शक्ति जगदीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रजी ने इस अग्नि का शीघ्र ही पान किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध निरोधलीला तामस प्रकरण के प्रमेय प्रकरण में दावाग्नि पान निरूपक सतरहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥



अथाष्टादशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	वंश.	मि. उ.	रुचि.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
३२	२६	१	१	४	१	११३६	६	३७	११७९	३६॥।	३

श्रीशुक उवाच

अथ कृष्णः परिवृतो [1]बन्धुभिर्मुदितात्मभिः । अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ ॥
व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्म[2]रूपिणोः । ग्रीष्मो नामर्तुरभवन्नातिप्रेयाञ्छरीरिणाम्[3] ॥ २ ॥
स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः । यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः ॥ ३ ॥
यत्र निर्झरनिर्ह्रादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् । शश्वत्तच्छी[4]करर्जीषद्रुममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अथ मुदितात्मभिः बन्धुभिः परिवृतः च अनुगीयमानः कृष्णः गोकुलमण्डितम् व्रजम् न्यविशत् ॥ १ ॥ एवं गोपालच्छद्मरूपिणोः व्रजे विक्रीडतः शरीरिणाम् न अतिप्रेयान् ग्रीष्मः नाम ऋतुः अभवत् ॥ २ ॥ यत्र रामेण सह साक्षात् भगवान् केशवः आस्ते (तेन) सः (ग्रीष्मः) वृन्दावनगुणैः वसन्त इव लक्षितः ॥ ३ ॥ यत्र निर्झर-निर्ह्राद-निवृत्त-स्वन-झिल्लिकं शश्वत् तत् शीकरऋजीष-द्रुम-मण्डलमण्डितम् (विराजते) ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टादशे ततो ग्रीष्मे वसंतगुणलक्षिते । अघातयद्बलेनालं प्रलंबं लीलया हरिः ॥ १ ॥
कृत्वा नृत्यं फणाग्रेषु कालियस्य सकौतुकम् । बलं प्रलंबत्तुंगांसमारोह्यदरातिहा ॥ २ ॥ १ ॥

गोपालच्छद्ममायया गोपालनमेव छद्म यस्यां तया मायया ॥ २–३ ॥ वसंतसाम्यमाह चतुर्भिः । यत्र ग्रीष्मेऽपि निर्झराणां निर्ह्रादेन घोषेण निवृत्तस्वनाच्छन्नध्वनयो झिल्लिकाः कठोरध्वनिसूक्ष्मकीटा यस्मिंस्तथाभूतं वृंदावनं भवति । किं च शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैरंबुकणैरृजीषाः स्निग्धा ये द्रुमास्तेषां मंडलैर्मंडितम् ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः सप्तदशानंतरम् (१) । सकौतुकम् साश्चर्यम् (२) । अथ दावाग्निपानोत्तरम् । ज्ञातिभिः गोपैः । केचिदिमं श्लोकं पूर्वाध्यायांते पठंति ॥ १ ॥ शरीरिणाम् देहिमात्रस्येत्यर्थः । नातिप्रेयान् अभितस्तापजनकत्वात् । गोपालनं छद्म वनगननाय मिषं यस्यां तथाभूता या माया प्रच्छन्नकामनामयी जनवंचना तया विक्रीडतोर्व्रजबालाभिस्सह विहरतोरिति बलदेवस्यापि पृथक् कांता गोप्य आनंदवृंदावने द्रष्टा मूलेऽग्रुपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यति । अत्रातिशब्देन जलकेल्यादीनां किंचित्प्रियतापेक्षया ज्ञेय इति चक्रवर्त्तीतोषिण्यौ ॥ २ ॥ स च ग्रीष्मः । यत्र वृंदावने ॥ ३ ॥ पाठान्तरे मंडपैर्जनस्थितियोग्यस्थलैः 'मंडपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ प्रातः ज्ञातिभिरिति तदापि तद्भावमाधुर्य्यापरित्यागो दर्शितः परितो वृतः स्नेहातिरेकेण सर्वत आवरणतया वेष्टितोऽनुगीयमानश्च गोकुलमण्डितमिति प्राक् गवां प्रवेशात् क्रियाविशेषणं वा प्रातरेव गोप्रवेशनन्तदुपद्रवस्फोरकत्वेन दवदग्धत्वेन च तत्प्रदेशं त्यक्त्वा क्रोशमात्रस्थितस्य व्रजस्य परतश्चारणेच्छयेति ज्ञेयं तादृशकुसमयगततद्यात्रा रिवर्त्तनेच्छयेति वा विशेषतस्तु कारणं मनुष्या इव पशवोऽपि तं व्रजं प्रविशन्तं त्यक्तुं नाशक्नुवन्निति ॥ १ ॥ गोपालनं छद्मेति या माया तस्य छद्मतावादिनां वञ्चनं तया क्रीडतोः तान् वञ्चयित्वा विहरतोरित्यर्थः । यद्वा गोपालनमपि छद्मक्रीडान्तराभिप्रायशालि यत्र तादृशी या माया जनवञ्चनं तया क्रीडतोर्विचित्रक्रीडाविशेषानपि कुर्वतोः नामप्रकाश्ये ग्रीष्म इति ग्रीष्मान्तरअभवदित्यर्थः । नातिप्रेया-

१. ज्ञाति–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. मायया–श्रीधर. वंशी. विश्व. शुक. ; रूपिणोः–विज. । ३. शरीरिणः–विज. । ४. च्छीकरेजुष्टं–वीर. ; च्छीकरेजुष्टं द्रुमपिप्पल–विज. ।

नित्यतिशब्दो जलकेल्यादीनां किञ्चित् प्रियतापेक्षया ॥ २ ॥ सच सोपि तद्गुणानां नित्यवसन्तसान्निध्यकरत्वं कियद्वा माहात्म्यमित्यभिप्रेत्याह-यत्रेति । "यस्मात् त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दन ! तस्मात्केशवनामा त्वं लोके गेयोभविष्यसि" इति श्रीविष्णुपुराणोक्तरीत्या केशवोऽत्र श्रीकृष्ण एव अत एव भगवान् परिपूर्णसर्वभगः आस्ते नित्यमेव विहरति वर्त्तमानप्रयोगस्तु श्रीशुकस्य स्वस्फूर्त्यनुसारेण ॥ ३ ॥ यत्रेति पञ्चकं तद्वनमविशदिति पञ्चमेनान्वयात् तथापि पृथगङ्कयिष्यते वैशद्याय यत्र वृन्दावने सामान्येन सर्वमेव स्थानं निझरेत्यादिलक्षणं शश्वदित्यादिलक्षणं च यद्वा निर्झरनिर्ह्लादेन वर्षाभ्रमजनकेन निवृत्तस्वना य झिल्लयः तैः कं सुख दुःखाभाव इति यावत् तादृशद्रुममण्डलैर्मण्डनं च यत्र भवति भावे निष्ठा अत्र टीकायां तेषामिति षष्ठीनिर्देशान्मण्डलैरित्येव बुद्ध्यते मण्डपैरिति पाठे तु कथञ्चिदेव सा योज्या ॥ ४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथ तद्रात्र्यनन्तरं प्रातर्गोचारणक्रमेणापराह्णे वा, अन्यथा गोभिः सह तेषां सर्वेषां व्रजागमनासम्भवः, ततश्च श्रीयशोदादिभिरादौ त्वरया गृहं गत्वाऽन्नादिकं प्रेषितमिति ज्ञेयम्, परितो वृतः स्नेहातिरेकेण सर्वत आवरणतया वेष्टितोऽनुगीयमानश्च, गोकुलमण्डितमिति प्राक् गवां प्रवेशात्, क्रियाविशेषणं वा ॥ १ ॥ गोपालने गोपालेषु वा छद्म पुरा निजैश्वर्य्याच्छादनेन यत् कार्त्स्न्यं तस्य माया सम्प्रति साक्षादात्मैश्वर्य्यप्रकटनेन मिथ्यात्वम्, तया निजभगवत्ताप्रकटनेनेत्यर्थः, यद्वा, गोपालच्छद्मना गोपालनव्याजेन या माया स्वीयेषु कृपा तया, विशेषेण क्रीडतोः सतोः, शुचिवनोद्भूत इत्यादिना ग्रीष्मर्त्तोः पूर्वमुद्दिष्टेऽप्युद्भवेऽधुना सोऽभवदिति विस्तरतस्तस्य वर्णनार्थमनुवादो ज्ञेयः, नाम प्राकाश्ये, किं वा नाम्नैव ग्रीष्मः, न तु गुणादिनेत्यर्थः । तच्चाग्रेव्यक्तं भावि । नातिप्रेयान्–अनतिप्रियोऽपि तापमयत्वात्, अति-शब्दो जलकेलिस्वच्छन्दवासादिना किञ्चित् प्रियतापेक्षया, तत्र बहुलग्रीष्मवर्षादिष्वपि तेष्वधुना विशेषत एतद्वर्णनमेषु क्रीडाविशेषाभिप्रायेण ॥ २ ॥ च अपि, सोऽपि, कश्च अश्च ईशश्च केशाः, ब्रह्मा विष्णुरुद्राः, तान् वयते स्वत आविर्भावयतीति, केशौ ब्रह्मरुद्रौ वा सेवकतया यस्य स्तः, स केशवः श्रीकृष्णः, अतएव भगवान् निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनपर इत्यर्थः, यद्वा, (वि० पु० ५।१६।२३) 'यस्मात् त्वयैष दुष्टात्मा हतः केशी जनार्द्दनः । तस्मात् केशवानामा त्वं लोके गेयो भविष्यसि ।' इति श्रीविष्णु-पुराणोक्तनिरुक्त्या केशिसूदनः श्रीकृष्ण एव, अत एव भगवान् श्रीवृन्दावनाविष्कृत-मधुरैश्वर्यः । तत्र च साक्षात् प्रकट एव स्वयं यत्र वृन्दावने आस्ते, तथापि बहुधा तं रमयतीति रामस्तेन सहेति साहाय्यसम्पत्त्या विचित्रक्रीडापरताभिप्रेता ॥ ३ ॥ एवं वृन्दावनगुणेषु हेतुरुक्तः । किंवा यत्र येभ्यो हेतुभ्यः, यत्रेति तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, यत्र वृन्दावने सामान्येन सर्वमेव स्थानं तादृशं भवति ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

शीकरैः जुष्टं द्रुमपिप्पलमण्डितं शीकरजुष्टद्रुमावृतपिप्पलद्रुममण्डितं पिप्पलमश्वत्थः ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ बलदेवकृतं श्रीकृष्णकारितं प्रलम्बासुरवधात्मकं कर्माऽनुवर्णयत्यष्टादशेन तावत्तदुपोद्घातत्वेन काश्चित्पौगण्डक्रीडास्तदुपयुक्तं वनं कालश्चानुवर्णयितुं तावद्वृत्तेन सङ्गमयितुं वृत्तशेषमाह—अथेति । अथ तद्रात्रिव्यतिक्रमानन्तरं मुदिता आत्मानो मनांसि येषां तैर्ज्ञातिभिर्गोपैरुपगीयमानो भगवान् गवां समूहेन मण्डितं व्रजं प्राविशत् ॥ १ ॥ गोपालच्छद्मगोपाल इति व्याजो यतस्तया मायया आत्मसङ्कल्पेन इत्थं व्रजे सम्यक् क्रीडतोः सतोः रामकृष्णयोरिति शेषः ग्रीष्माख्यः ऋतुः प्रवृत्तः अनेनोक्ताः क्रीडाः वासन्तिका इति सूचितम् ॥ २ ॥ स च यद्यपि शरीरिणां नातीव सुखकरः तथापि वृन्दावनस्य गुणैर्वसन्ततुल्यो बभूव, के ते गुणाः ? यैर्वसन्त इव लक्षितः ऋतुधर्ममतिक्रम्यापि कुतस्तस्य ते गुणाः इत्यत्राह—यत्रेति । यत्र साक्षाद्भगवान् केशवः रामेण सहाऽऽस्ते भगवदावासप्रभावेन गुणव्यत्यय इति भावः । वृन्दावने भगवानवसत्तस्य गुणैरित्यन्वयः ॥ ३ ॥ ग्रीष्मस्य वसन्ततुल्यतां स्थापयितुं वृन्दावनगुणाननुवर्णयति—यत्रेति । यत्र शब्दानां वृन्दावनसहचरिते ग्रीष्मर्त्तावित्यर्थः । निर्झराणां घोषेण निवृत्तस्वनाः छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटविशेषः यस्मिंस्तथाभूतं वृन्दावनमभवदित्यर्थः । किञ्च, शश्वत् सदा तेषां निर्झराणां शीकरैरम्बुकणैः जुष्टाः स्निग्धाः ये द्रुमास्तेषां मण्डलैर्मण्डितम् ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेर्भूभारहरणस्य यदन्तरङ्गं कर्त्तुमवतीर्णं शेषेण तद्वक्तुमुपक्रमते–व्रज इत्यादिना । गोपालच्छद्मरूपिणोः गोपालाविति कपटशब्दिनोः "रूपं शब्दे पशौ ग्रन्थे शोके वृत्तौ हितादिषु । सौन्दर्ये च स्वभावे च" इति यादवः । नातिप्रेयान्नातिप्रियतरः धर्महेतुत्वात् ॥ २–३ ॥ वसन्ततुल्यत्वे निमित्तमाह—यत्रेति । यत्र वृन्दावने निर्झरस्य निह्लादेन शब्देन निवृत्तस्वनाः प्रतिष्टब्धस्वराः झिल्लिकाः कीटविशेषाः यस्मिन् तत्तथा तस्य निर्झरस्य शीकरैः वायुशीर्णवारिबिन्दुभिः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथ प्रातर्गोकुलेन गोसमूहेन मण्डितं यथा स्यात् ॥ १ ॥ तद्दिने तत्प्रदेशस्य दाहात् व्रजात् परतश्चारणार्थं गोपालनं छद्मेति या माया तस्य छद्मतावादीनां वञ्चनं तया क्रीडतोः तान् वञ्चयित्वा विहरतोरित्यर्थः । तद्गुणानां नित्यवसन्तसान्निध्यकरः माहात्म्यमित्यभिप्रेत्याह—यत्रारत इति । नित्यमेव विहरति ॥ २-३ ॥ यत्र वृन्दावने तद्वनमविशदिति पञ्चभिरन्वयः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ग्रीष्मर्तुं वर्णनं केली कृष्णः श्रीदामवाड्भूत् । रामः प्रलम्बमारुह्याऽहन्नित्यष्टादशे कथा ॥

अथ प्रातः ॥१॥ गोपालनं छद्मवनगमनाय मिषं यस्यां तथाभूता या माया प्रच्छन्नकामतामयीजनवञ्चना तया विक्रीडतोर्व्रजबालाभिः सह विहरतोरिति बलदेवस्यापि पृथक्कान्ता गोप्य आनन्दवृन्दावने दृष्टाः मूलेऽप्युपरिष्टाद्व्यक्तीभविष्यन्ति ॥ २-३ ॥ वसन्तसाम्यमाह - चतुर्भिः । यत्र वृन्दावने ग्रीष्मेपि निर्झराणां निह्रादेन घोषेण निवृत्तस्वना आच्छन्नध्वनयो झिल्लिकाः कठोरभाषिसूक्ष्मकीटा यस्मिन् तथाभूतं स्थलं भवतीति शेषः । शश्वत्तेषां शीकरैरम्बुकणैः ऋजीषाः स्निग्धा ये द्रुमास्तेषां मण्डलैर्मण्डितम् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथाष्टादशेऽध्याये वृन्दावनयोगात् ग्रीष्मस्य वसन्तसाम्यं द्वन्द्वविहारपूर्वकप्रलम्बवधादिकं च निरूप्यते—अथेति ॥ १ ॥ गोपालशब्देनात्र गोपालनं गृह्यते गोपालनं छद्म व्याजो यस्यां सङ्कल्पात्मिकायां मायायां तया ॥ २ ॥ ननु, वृन्दावने एवंभूताः गुणाः कुतोऽत आह—यत्र भगवानास्ते इति । ननु, स अन्यत्रापि प्रादुर्भवति अत्राह—साक्षादिति स्वयमित्यर्थः । अस्मिन् महापुराणे साक्षादित्याद्यभ्यासः श्रीकृष्ण एव परन्तत्त्वं ततः परतरं नेति द्योतयति "मत्तः परतरं नान्यत्" इति स्मृतेः "श्रीकृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत्" इति श्रुतेश्च साक्षाद्भगवत्त्वं स्पष्टयति – केश इति । कश्च ईशश्च केशौ तौ वशयते स तथा ॥ ३ ॥ ग्रीष्मस्य वसन्तसाम्यापादकान् श्रीवृन्दावनगुणानाह—यत्रेत्यादिना । यत्र ग्रीष्मेऽपि निर्झरनिर्ह्रादैः निवृत्तस्वनाश्छन्नध्वनयो झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटाः यस्मिन् वने तत् श्रीकृष्णोऽविशदिति पञ्चमेनान्वयः । कथम्भूतम् ? शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैरम्बुकणैः ऋजीषाणां स्निग्धानां द्रुमाणां मण्डलैर्मण्डितम् ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अष्टादशेऽवहृत कृष्णः श्रीदामानं जितः प्रभुः । बलः प्रलम्बमारुह्य मुष्टिना तममारयत् ॥

अथ प्रभाते मति गोकुलमण्डितमिति प्रागगवां प्रवेशात् प्रातरेव गोप्रवेशनं कुसमययात्रापरिवर्तनेच्छयेति ज्ञेयम् ॥ १ ॥ गोपालनमपि छद्म क्रीडान्तराभिप्रायशालि यस्यां तया मायया प्रच्छन्नकानुकतया वने विक्रीडतो व्रजकिशोरीभिः सह विहरतोरिति बलदेवस्यापि कान्ताः सन्तीति वासन्तिकरासे व्यक्तीभाविनातिप्रेयानिति जलकेल्यादिना किञ्चित् प्रियात्वादति शब्दः ॥ २ ॥ स च सोऽपि तद्गुणानां नित्यवसन्तसान्निध्यकरत्वं कियद्वा माहात्म्यमिति भावेनाह यत्रेति ॥ ३ ॥ वसन्तसाम्यमाह—यत्रेति चतुर्भिः । यत्र वृन्दावने गिरिनिर्झराणां निह्रादिन शब्देन निवृत्तस्वनाः वर्षाश्रमेण तूष्णीम्भूतझिल्लिकाः यत्र तादृशं स्थूलं भवतीति शेषः । कठोरभाषिसूक्ष्मकीटा झिल्यः कथ्यन्ते वृन्दावने खलु गिरिजादान्येऽपि हरिक्रीडाहेतवो लघुवृहद्वपुषो रत्नगिरयः सन्तीति बोध्यम् । शश्वत् सदा तेषां निर्झराणां शीकरैरम्बुकणैः ऋजीषाणां स्निग्धानां द्रुमाणां मण्डलैर्मण्डितम् ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ रूपमाकारस्तद्वतोः । रूपं स्वभावे सौन्दर्ये चालोके पशुशब्दयोः । ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपीति विश्वः । नातिप्रेयांस्तापोपपातात् ॥ १ ॥ स चेतरत्र तेषां तादृशोऽपि वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः । अमुख्यं भूगुणं तद्धेतुमभिधाय मुख्यं हेतुमाह । यत्रास्त इति ॥ २ ॥ वसन्तं कृष्णं सेवितुं । वसन्तं चकारेव तदभिमानी देव इति तत्साम्राज्यं वक्ति । यत्रेति । निर्झराणां झराणां निर्ह्रादो ध्वनिस्तेन निवृत्त आच्छादित इति यावत्स्वनो यासां ताः झल्लिकाश्चीर्यः । भृङ्गारी चीरुका चीरी झल्लिका च समा इमा इत्यमरः । तच्छकिरैः सरिन्नीरबिन्दुभिर्जुष्टं सेवितं द्रुमैरितरैः पिप्पलैरपि मण्डितं द्रूणां मा येभ्यस्तैः पिप्पलैरिति वा मा च शोभा ॥ ३ ॥ सरिच्च नदी सरो देवखातः प्रस्रवणं निर्झर एतेषामूर्मयस्तरङ्गास्तद्वायुना कल्हाराणि सौगन्धिकानि कञ्जानि कमलान्युत्पलानि रक्तानि नीलानि च तेषां रेणवः परागास्तान्हरति तच्छील इति हारी तेन निदाघवह्न्यर्कभवो निदाघसम्बन्धिनो वन्ह्यर्कौ ताभ्यां भवतीति भवो दवो वनहुताशनो वनौकसां यत्र न विद्यते तत्रेदमपि किञ्चित्कपिवद्रामस्य दावतापापनोदे सहकारीतीरयति । अतिशाद्वल इति । नडशादाद्वलजिति वलच् । शाद्वलं स्याद्धरितोरित्यमरः । अति नयितं शाद्वलं यस्मिंस्तस्मिन् ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

उक्तः पञ्चदशेऽध्याये प्रलम्बस्य वधो महान् । आवेशिचरितं वाच्यं बलभद्रकृतं ततः ॥ १ ॥
व्रजे गतस्य क्रीडा च सर्वथा वनगोष्ठयोः । अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यते ॥ २ ॥

एवं पूर्वाध्यायान्ते दावाग्नेर्मोचिता इत्युक्तं, ततः स्वस्थाने कृत्यमहार्थेति भिन्नप्रक्रमेण, प्रातःकाले जाते सर्वैः सह भगवान् क्रीडार्थमेवाविर्भूतः सर्वैरेव **बन्धुभिश्च** वेष्टितः सन्तुष्टैस्तैरेवोप**गीयमानश्च गोकुलेन मण्डितं व्रजमाविशत्**, तस्मिन् दिवसे गावोपि गोकुल एव समानीता न तु कश्चिच् चारणार्थं गतः, एतेन पूर्वं गाः स्वस्थानस्थिताः कारयित्वा पश्चात् स्वय प्रविष्ट इति ज्ञायते, एवमेकेन **प्रत्यापत्ति**रुक्ता, अन्यथा दोषाभावे दोषाणां नियतधर्मत्वाद् धर्म्यपि गच्छेत् ॥ १ ॥ अयं सर्वोपि दोषः कालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवं वर्णयति भूमिगुणेन च स्वसान्निध्यकृतेन तद्दोषपरिहार इति कालकृतोन्तः करणदोषः स्वसान्निधिसहितपदार्थैस्तन्निवृत्तिर्भविष्यतीति सूचयति **व्रजे विक्रीडितोरेवमिति, व्रजे** गोपगवादीनां निवेशस्थाने प्रसिद्धेपि **क्रीडतोः** सतोः **ग्रीष्मो नामर्तुरभवदितिसम्बन्धः**, ननु भगवति विद्यमाने कथमनभिप्रेतो ग्रीष्मस्तत्रागत इत्यत आह **गोपालेति**, गोपाल इतिच्छद्म कपटभूतं **रूपं** ययोः, अन्यतरज्ञानेपि नागच्छेदिति द्विवचनं, **छद्मरूपमनयो**र्वर्तत इतिच्छ**द्मरूपिणो**, भगवतो गुप्तत्वाद् ग्रीष्मप्रवृत्तिः, ग्रीष्मस्य दुष्टत्वमाह **नातिप्रेयाञ् छरीरिणामिति**, शरीरमात्रपरिग्रहवतां **नातिप्रेयान्** केषांचिच् छातभीतानां प्रिय इत्यतितिरदम् ॥ २ ॥ तर्हि तन्निवृत्यर्थं भगवानाविर्भावं कुर्यादित्याशङ्क्य तस्य दोषस्यान्यथैव निवृत्तिमाह **स चेति**, चकारादन्येपि दोषा वातादयो **वृन्दावनस्य** ये **गुणा** वक्ष्यमाणास्तैः कृत्वा **वसन्त इव** तत्रत्यै**र्लक्षितो** ज्ञातः, **वसन्ते शीतोष्णयोः समता, मीनादिषु** शीताधिक्यं **ग्रीष्मादिषु तापाधिक्यं च, सरसो देशः** शीतजनकः **सवातश्च**, तदुष्णकाले शीतजनको देशः समतामापादयति, अतो वसन्तत्वं, **स्वाभाविका** एव वृन्दावनगुणा आधिभौतिकवसन्तत्वं सम्पादयन्ति रामसहिता आध्यात्मिकवसन्तत्वं भगवत्सहिता आधिदैविकवसन्तत्वमिति, अतः सर्वथैव वसन्तत्वं वृत्तं, तदाह **वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित** इति, देशापेक्षया कालस्य प्रबलत्वादिवेत्युक्तं, अन्यथा पृथग् ग्रीष्मप्रवृत्तिर्वक्तव्या स्यात् कालबाधो वा तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुर्यवादयश्च, **यत्र** वृन्दावने ग्रीष्मर्तौ वा **साक्षाद् भगवानास्ते**, षड्गुणान् प्रकटीकुर्वन्, ईश्वरस्थितावेव सर्वकालीना गुणा लोके भवन्ति, वीर्ये सत्यन्यदीया अन्यस्य सम्भवन्तीसि स्पष्टं, यशसि सर्वेषामागमनात् तथा श्रियां च, ज्ञाने सर्वात्मकतायां सर्वं स्पष्टं, वैराग्ये च निरपेक्षत्वात् तुल्यता, यत्र साक्षादेव सर्वैर्गुणैः सह **भगवांस्तत्र** कः सन्देहः ? **केशव** इति ग्रीष्माधिपतेर्महादेवस्य ग्रीष्मवरदातुर्ब्रह्मणश्च भगवानुपजीव्य इति तयोः पक्षपातः परिहृतः ॥ ३ ॥

वृन्दावनगुणानाह **यत्रेति त्रिभिः** ।

राजसः सात्विकश्चैव तामसश्चापि कीर्त्यते ।

तत्र राजसगुणानाह, **यत्र** वृन्दावने **निर्झरनिर्ह्रादैर्झरणशब्दैर्निवृत्तस्वना** गतशब्दा **झिल्लिका** यत्र तादृशवनं **शश्वत्** सर्वदा **तच्छीकरैर्झरणाकणैरृजीषयुक्ता** ये द्रुमास्तेषां **मण्डलैर्मण्डितं** च ग्रीष्मर्तौ सर्वे वृक्षा ऋजीषप्राया भवन्ति, ऋजीषं लक्ष्मात्रं निःसारं, **शश्वत् तच्छीकरैः** सहितमृजीषं तद्युक्ता **द्रुमा** भवन्ति तेषां **मण्डलानि** च भवन्ति, सजातीयविजातीयप्रचययुक्तानि **मण्डलानि, तैर्मण्डितं**, अनिष्टशब्दस्य सुशब्दो बाधको रसहारकस्य रसदायक इति ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

प्रकरणसन्दर्भे, अन्तःकरणदोषश्चेति । तिष्ठतु स्नेहवार्ता दूरे, लोके लौकिकानामपि क्रीडादिष्वप्यारोहणादेर्निमित्ते जातेपि प्रभुपुत्रादौ न तत् कर्तुमन्तःकरणप्रवृत्तिः सम्भवति । इह तु स्नेहवतामप्यनेवंभाव उच्यत इत्यवश्यमन्तःकरणे तादृशो हेतुरस्तीति मन्तव्यम् । प्रलम्बे हते भगवत्यलौकिकत्वबुद्धिः पूर्वस्मात् स्नेहातिशयश्च जातो येन आशीर्दानं विह्वलचेतस्त्वं चाभूदतः सुष्ठूक्तमन्तःकरणेत्यादि ॥ १–४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पञ्चदशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तोवसरः प्रसङ्गो वा कथासङ्गतिरित्याशयेनाहुरुक्त इत्यादि, ननु चरित्रान्तरेषु सत्स्वपि तस्यैव कथने किं बीजमित्यत आहुर्महानिति, तथा च महत्त्वाद् कथनमित्यर्थः, ननु राज्ञा तु "व्रजे वसन् किमकरो"दिति भगवच्चरित्रमेव पृष्टं तत्र बलभद्रचरित्रकथने किं बीजमत आहुरावेशीत्यादि, तथा चाविष्टचरित्रमपि मूलचरित्रमेवेति तस्यापि वक्तव्यत्वादिदमुक्तमित्यर्थः. ननु यद्याविष्टचरित्रमेवात्र वाच्यं महत्त्वात् तदा व्रजे प्रत्यापत्तिकथनस्य किं प्रयोजनमत आहुर्व्रजेत्यादि, तथा च कथाशेषपूरणार्थं तत्कथनमित्यर्थः, तथा च प्रसङ्गोवसरश्च कथासङ्गतिरित्यर्था, ननु भवत्वेवं तथापि स्कन्धप्रकरणार्थाभ्यां कथमस्य सङ्गतिरित्यत आहुरन्तःकरणेत्यादि, अन्तःकरणदोषश्च श्रीहस्ताक्षरेषु विवृतस्तथा ह्यन्तःकरणदोषश्चेति तिष्ठतु स्नेहवार्ता दूरे लोके लौकिकानामपि क्रीडादिष्वप्यारोहणादेर्निमित्ते जातेपि प्रभुपुत्रादौ न तत् कर्तुमन्तःकरणप्रवृत्तिः सम्भवतीह तु स्नेहवतामप्यनेवम्भाव

उच्यत इत्यवश्यमन्तःकरणे तादृशो हेतुरस्तीति मन्तव्यं, प्रलम्बे हते भगवत्यलौकिकत्वबुद्धिः पूर्वस्मात् स्नेहातिशयश्च जातो येनाशीर्दानं विह्वलचेतस्त्वं चाभूदतः सुष्ठूक्तमन्तःकरणेत्यादि, इदमेवात्र महत्त्वं, अत्रेत्येतदध्यायोक्तलीलामात्रे, इदं 'चंवं तौ लोकसिद्धे''तिश्लोके स्पष्टीभविष्यति । अथेत्यत्र भक्तानां मुदितात्मत्व भगवन्मोदोत्तरकालीनमेवेति तदभिप्रायेण सन्तुष्ट इत्युक्तं, प्रत्यापत्त्यकथने बाधकमाहुरन्यथेत्यादि, व्रजगमनानुक्तौ दोषाणां क्षुधादीनां नियतप्राणधर्मत्वात् तेषामभावे जाते सति धर्मिभूतं शरीरमपि गच्छेदतस्तदभावाय प्रत्यापत्तिकथनमावश्यकमित्यर्थः ॥ १ ॥ व्रज इत्यस्याभासेयमिति पूर्वाध्यायद्वयोक्तः, भूमिगुणेन चेति चकारो वक्ष्यमाणेनेतिशब्देन योज्यस्तथा चेति च वर्णयतीत्यर्थः सम्पद्यते, तदुभयवर्णनव्यञ्जितमर्थमाहुः कालेत्यादि, तेनेत्येतावदुन्नेयं, अप्रसिद्ध इति लोकेषु भगवत्क्रीडास्थानत्वेनाप्रसिद्धे, अपेर्भगवत्स्वरूपज्ञानेयं हेतुरित्यर्थः, नन्वित्यादि ननु स्थानेनाज्ञानेपि तज्जन्यज्ञानं भवेदेवेति कथं तत्प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥२॥ स चेत्यत्र तदुष्णकाल इत्यत्र तदिति भिन्नं पदं तस्मादित्यर्थकं प्रबलत्वादिति व्यापकत्वेन प्रबलत्वात्, यस्य वृन्दावन एव तथात्व उपपत्तिमाहुरन्यथेत्यादि, तत्र तथात्वं न स्यात् तदा तथेत्यर्थः, ननु बाधे को दोष इत्यत आहुस्तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुरिति, तथा सत्यग्रे वर्षावैयर्थ्यं तद्रसाभावश्चेतिभावः, कैमुतिकं प्रदर्शयन्तीश्वरस्थितावित्यादि सन्देह इत्यन्तम् ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पञ्चदशेऽध्याये कारिकादौ **उक्त** इति अन्तःकरणदोषनिवृत्तिर्भगवदाविष्टेन भगवदीयेन भवतीति ज्ञापयितुमत्रावेशिचरितं **वाच्यं, ततो** हेतोर्बलभद्रकृतः **प्रलम्बस्य वधः** पञ्चदशेऽध्याये शुकेनोक्त इत्यर्थः, सर्वथेति सर्वप्रकारेण व्रजे गतस्येत्यर्थः । यावन्तो वनस्थितास्तैः सर्वैः सहेतियावत्, दोषाणां नियतधर्मत्वात् तन्निवृत्तौ केषाञ्चिद् धर्मिणामपि निवृत्तिमाशङ्क्यैतदुक्तं वनगोष्ठ्योरिति, तदनन्तरमिति शेषः गोष्ठलीला द्वितीयाध्यायान्ते ''गाः सन्निवर्त्य''त्यनेन (१०-१६-१५) उक्तेतिज्ञेयं, द्वयमप्येकदिनकृत्यमिति सहैवोक्तम् । **अथ कृष्ण** इत्यत्र **अन्यथेति** प्रत्यापत्तिकथनाभावे **दोषाणाम**ध्यासानां **नियतधर्मत्वात्** नित्यसहचरितधर्मत्वाद् **धर्मी** इन्द्रियप्राणादिरपि **गच्छेत्**, सम्भावनायां लिङ्, श्रोतुरितिशङ्का स्यादित्यर्थः, प्रत्यापत्तिकथने तु निर्दुष्टेन्द्रियप्राणादियुक्ता एते इति ज्ञानं भवेत्. लीलासाधकोऽध्यासस्तु न दोषरूप इति भावः ॥ १ ॥ **व्रजे विक्रीडतो**रित्यस्याभासे पूर्वलीलापि निदाघकालीनेत्यधुना ग्रीष्मप्रवृत्तिः कथमुच्यत इत्याशङ्क्य वर्षान्तरसम्बन्धिग्रीष्मः किञ्चिद्ज्ञापनार्थमुच्यत इत्याहुः **अयं सर्वोपी**ति, स्कन्धारोहणादिनिमित्तभूतो वक्ष्यमाणस्तादृशः पूर्वोक्तश्चावतारकालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवस्यावतारकालिकत्वात् तद्वर्णनमित्यर्थः, अवतीर्णो हि भगवाँल्लीलासिद्ध्यर्थं प्राकृतं भावं स्थापयित्वा क्रमेण तं निवर्तयतीति निरूपणात्, तथा च भगवदिच्छयैव मानुषभावस्वीकारात् स्थितोयं **दोष** इति भावः, एतेनैवंविधस्य नैवतारलीलेति ज्ञेयमिति सूचित, **स्वसन्निधौ**ति शुकज्ञापितो **दोष** एवं **सूचयतो**त्यन्वयः, इति सूचनार्थं **कालकृत**त्वं ज्ञापितमितियावत्, भगवत्स्यापि दाषो भगवत्सन्निहितैरेव बलतुल्यैर्गच्छतीति बलेन प्रलम्बमारणमिति भावः ॥ २ ॥ **स चे**त्यस्याभासे आविर्भावमिति मानुषभावाच्छादनं त्यक्त्वा बहिराविर्भावमित्यर्थः. तत्स्वीकारादेव ग्रीष्मप्रवृत्तेः व्याख्याने. **मीनादि**ष्वित्ति मीनादिषु राशिपञ्चकेषु न तु मीने इत्यर्थः, **ग्रीष्मादि**ष्विति ग्रीष्मो वृषस्तदादिपञ्चसु तापाधिक्य मीनमेषयोस्तु समत्वमित्यर्थः, **वृन्दावनगुणा** इति सरसदेशसरित्सरःप्रभृतय इत्यर्थः, **आधिभौतिके**त्यादि भौतिकस्य शरीरस्य तापाजनकत्वरूपमाद्यं, ग्रीष्मे छायाद्यर्थं क्रीडास्थाने प्रतिबन्धकाऽऽगमनशङ्कया योन्तःकरणे सम्भावितस्तापस्तदजनकत्वरूपं द्वितीय प्रतिबन्धकनिरासके रामे विद्यमाने स तापो न भवतीत्यर्थः, विरहतापाजनकत्वरूपं तृतीयं, ग्रीष्मे दिनानां महत्त्वाद् विशेषतः स सम्भाव्येत, भगवति विद्यमाने स न भवतीत्यर्थः, यवादय इति भवेयुरित्यर्थः, पूर्वोक्ता न भवेयुः एते च भवेयुरिति, साक्षादिति न तु प्रियव्रतादिष्विव धर्मद्वारेत्यर्थः ॥ ३ ॥ **यत्रे**त्यत्र अनिष्टेति झिल्लिकाशब्दस्येत्यर्थः. सुशब्दो निझरशब्द इत्यर्थः, उभयोस्तथात्वे हेतुः **रसे**ति, जलरूपो रसः सर्वतो झिल्लिके गच्छति, अतो रसहारकस्य झिल्लिकस्य जलरूपरसदायको निर्झरः, अतस्तौ शब्दौ तत्तत्सम्बन्धात् तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पञ्चदशाध्यायार्थोक्तो **अन्तःकरणदोषश्च महानत्र निवर्त्यत** इति अस्मिन् अध्याये प्रलम्बनाशो वर्णनीयः, स प्रलम्बो निरोध्यभक्तानामन्तःकरणदोषरूपः ''लोभक्रोधादयो दैत्या'' इति कृष्णोपनिषद्भ्यः, कृष्णावतारे नाश्यानां दैत्यानां दोषरूपत्वोक्तेः **प्रत्यापत्तिरुक्ते**ति दवाग्निपानानन्तरं ''अथ कृष्णः परिवृतो ज्ञातिभिर्मुदितात्मभि''रित्यनेन भगवता सह सर्वेषां व्रजे समागमनमुक्तमित्यर्थः । तस्य प्रयोजनमाहुः **अन्यथे**त्यादिना, कालीयदमनदावाग्निपानाभ्यामिन्द्रियप्राणदोषनिराकृतिरुक्तेति तेषां **दोषाणामभावे** दोषयुक्तानां भक्तानामप्यभावः स्यात्, इन्द्रियप्राण**दोषाणां नियतधर्मरूपत्वात्**. नियतधर्मास्तु धर्मिणं विहाय न तिष्ठन्तीति धर्मनाशे धर्मिनाशोपि सम्भाव्येत ततश्च **गोकुलस्थानामिन्द्रियप्राणदोषनिराकृतौ कस्यचिद् धर्मिणो गोकुलवासिनोपि** निवृत्तिर्जातेत्याशङ्का स्यात् तच्छङ्कानिवृत्त्यर्थं **गोकुलवासिन सर्वेपि श्रीकृष्णेन सह व्रजं समागता** इत्युक्तं शुकेनेति भावः ॥ १ ॥ **वसन्त इव लक्षित** इत्यस्य विवृतौ **ईश्वरस्थितावेव सर्वे**ति श्रीकृष्णस्य ईश्वरत्वात् तत्स्थितौ ग्रीष्मेपि वसन्तगुणा आयाताः, वीर्ये सत्यन्य-

दीपा इत्यादि वीर्यवान् हि अन्यस्य वस्त्वपहृत्यान्यस्मै प्रयच्छति, प्रकृतेपि वसन्तगुणा ग्रीष्माय दत्ता वीर्यवता प्रभुणेति ग्रीष्मो वसन्ततुल्यो जात इत्यर्थः, यशसीति यत्र यशस्तत्र, यशस्विनि सर्वे गुणा आयान्तीति यशस्विनि श्रीकृष्णे विराजमाने ग्रीष्मर्तावपि वसन्तगुणानामागमनं युक्तमेव, श्रियां चेति यत्र श्रीस्तत्र सर्वे उत्तमा आयान्तीति साक्षाच्छ्रीमति कृष्णे वसन्तगुणा आगच्छेयुरेव, ज्ञाने सर्वात्मकतायामिति "स सर्वमभव"दितिश्रुत्या ज्ञाने सर्वात्मकता निरूपिता, प्रकृते ज्ञानवान् श्रीकृष्णः सर्वात्मकतयाविर्भूत इति ग्रीष्मस्यापि वसन्तत्वं, वैराग्ये चेति यो विरागी स उष्णमपि शीतं मनुते, प्रकृते वैराग्यवान् कृष्णो ग्रीष्ममपि वसन्तमेव मनुते, यतो विरक्तस्य सर्वत्र तौल्यं, अतो श्रीकृष्णेन यदा ग्रीष्मो वसन्तत्वेन मतस्तदा वसन्तरूपेणैवाविर्भूतः, श्रीकृष्णस्य सत्यसङ्कल्पत्वात्, एवं यत्रास्ते भगवान् साक्षादित्यत्रोक्तस्य भगवत्पदस्य सर्वेर्था निरूपिता इति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

पञ्चदशाध्याये उक्त इत्यादि का०१५०३, १५१३। अशांशिनोरभेदादावेशिचरितमपि मूलचरितमेवेति तदपि वाच्यं वक्तुं योग्यं, अतो बलभद्रकृतः प्रलम्बवधोऽत्राध्याये उक्त इत्यर्थः, व्रजे गतस्येत्यादि, सर्वथेत्स्य व्रजे गतस्येति पूर्वेणान्वयः, यावन्तो वनक्रीडायां स्थितास्तैः सर्वैः सह न तु कमपि वने स्थापयित्वा व्रजं गत इत्यर्थः, तदनन्तरं वनगोष्ठयोर्लीला, वनलीलात्रैवाध्याये, पुनर्गोष्ठलीला तु षोडशाध्यायान्ते "गाः सन्निवर्त्य"त्यनेनोक्तेति ज्ञेयं, द्वयमेकदिनकृत्यमिति हेतोः कारिकायां सहैवोक्तं, अन्तःकरणेत्यादि अत्र प्रलम्बवधलीलायां महानन्तःकरणदोषो निवर्तते, तथा च प्रलम्बस्यान्तःकरणदोषात्मकत्वं बोधितम् ॥ ० ॥ यत्र निर्झरनिर्ह्रादेत्यत्र राजस इति का० १५२३। यत्र 'निझरे'त्यादिश्लोकत्रयेण राजससात्त्विकस्तामसश्च वृन्दावनगुण उच्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ग्रीष्मे तु वनलीलायां दैत्यस्य रामतो वधः । अष्टादशे प्रलम्बस्य गोपरूपस्य वर्ण्यते ॥ १ ॥

अथ वह्निपानानन्तरं प्रातःकाले कालियदमनेन दावाग्नितः परिरक्षणेन च मुदिता आत्मानो मनांसि येषां तैर्ज्ञातिभिर्गोपैः परिवृतस्तैरेवानुगीयमानः कृष्णः गोकुलेन गवां समूहेन मण्डितं व्रजं न्यविशत् ॥ १ ॥ गोपालनमेव च्छद्म व्याजमात्रं यया तया मायया इच्छया एवं व्रजे विक्रीडतोः सतोः रामकृष्णयोः ग्रीष्माख्य ऋतुरभवत्, स च शरीरिणां नातिप्रेयान् । 'जलविहारत्वरादौ प्रियोऽपि भवति' इत्यभिप्रायेण अतिपदप्रयोगः ॥ २ ॥ स च प्राण्यप्रियोपि ग्रीष्मो वक्ष्यमाणैर्वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितस्तत्रत्यैर्जनैर्दृष्टः । 'कथं तत्र तथा गुणा जाता' इत्यत आह—यत्रेति । यत्र वृन्दावने रमन्ते योगिनो यत्र सच्चिदानन्दविग्रहे स रामः, तेन सह केशवो 'ब्रह्मरुद्रयोरपि सुखदाता' भगवान् आविर्भूतषडैश्वर्यः श्रीकृष्णः साक्षादास्ते । अतस्तद्वासमहिम्ना तथा गुणा जाता इति भावः ॥ ३ ॥ वसन्तसाम्यं दर्शयन् वृन्दावनगुणानाह—यत्रेति चतुर्भिः । यत्र ग्रीष्मेऽपि निर्झराणां निर्ह्रादेन घोषेण निवृत्तरवनाः प्रच्छन्नध्वनयो झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्माः कीटविशेषा यस्मिंस्तद्वनमविशदिति पञ्चमेनान्वयः । किं च शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः ऋजीषाः स्निग्धा ये द्रुमास्तेषां मण्डलैः समूहैर्मण्डितम् ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ग्रीष्मोऽप्यष्टादशे जातो वसन्तगुणलक्षितः । जघ्ने प्रलम्बो रामेण श्लोकास्तत्र द्विवह्नयः (३२) ॥
उवाचेत्येकमर्द्धाढ्याः पञ्चत्रिंशदनुष्टुभः (३५॥) ॥ १८ ॥

अथेति ॥ अथ प्रातः मुदितात्मभिः ज्ञातिभिर्गोपैः परिवृतस्तैरेवानुगीयमानः कृष्णः गोकुलेन गवां समूहेन मण्डितं व्रजं न्यविशत् । तङभाव आर्षः । प्रथमं गोगणप्रवेशात् गोकुलमण्डितं क्रियाविशेषणं वा ॥ १ ॥ व्रजे इति ॥ गोपालनमेव छद्म व्याजमात्रं यस्यां तया मायया एवं व्रजे विक्रीडतोः सतोः रामकृष्णयोः ग्रीष्माख्यः ऋतुरभवत् । स च शरीरिणां नातिप्रेयान् जलकेल्यादिना किञ्चित्प्रियत्वान्नातिप्रेयानिति ॥ २ ॥ स चेति ॥ स च प्राणिनामनतिप्रियोऽपि ग्रीष्मो वक्ष्यमाणैर्वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितस्तत्रत्यैर्जनैर्दृष्टः । यत्र वृन्दावने रामेण सह केशवो भगवान् साक्षादास्ते ॥ ३ ॥ वसन्तसाम्यमाह–यत्रेति ॥ यत्र ग्रीष्मे वृन्दावनेऽपि निर्ह्रादेन घोषेण निवृत्तस्वनाः प्रच्छन्नध्वनयो झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्माः कीटविशेषा यस्मिन् शश्वत्तेषां निर्झराणां शीकरैः अम्बुकणैः ऋजीषाः स्निग्धा ये द्रुमास्तेषां मण्डलैः समूहैर्मण्डितं स्थलं भवतीति शेषः । मण्डितं मण्डनं भवतीति भावे क्तो वा ॥४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमष्टादशेऽध्याये निदाघस्य वसंतसादृश्येन निरूपणं वने गोपैः सहनानाविधकृष्णक्रीडनं च बलदेवकृतप्रलंबहननं च कथ्यते गोकुलेन गवां कलापेन मंडितं भूषितम् ॥ १ ॥ गोपालस्य छद्म मिषं यस्यां सा चासौ माया स्वेच्छा च तया क्रीडतो रममाणस्य ॥ २ ॥ यत्र वृंदावने ॥ ३ ॥ चतुःश्लोकैर्वसंत सादृश्यमाह यत्रेति यत्र निदाघेपि निर्झराणां जलप्रवाहाणां निर्ह्रादेन

रवेण निवृत्तस्वनाः आवृतघोषाः झिल्ल्यः कठोरशब्दवंतोल्पकीटा यस्मिंस्तत् एवंभूतं वृंदावनमस्ति पुनः कथंभूतं शश्वत्सदा तेषां जलप्रवाहाणां शीकरैस्तुषारैर्जलकणैरिति यावत् ऋजीषाः किंचिदार्द्राः द्रुमास्तेषां मंडलैर्वृंदैर्मंडितं अलंकृतं भवति ॥ ४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गुणैर्वासन्तिकैर्ग्रीष्मे लक्षितेऽष्टादशे ततः। प्रलम्बं बलभद्रेणाघातयल्लीलया हरिः ॥ १ ॥
कालियाहेः फणाग्रेषु कृत्वा नृत्यं सकौतुकम्। तुङ्गे स्कन्धे प्रलम्बस्याऽरातिहाऽऽरोहयद्बलम् ॥ २ ॥

अथ बलदेवकृतं श्रीकृष्णेन कारितं प्रलम्बासुरवधात्मकं कर्मानुवर्णयंस्तावदुपोद्घातत्वेन काश्चित् पौगण्डक्रीडास्तदुपयुक्तं कालं चानुवर्णयितुं तच्च वृत्तेन संगमयितुं वृत्तशेषमाह ॥ अथेति ॥ अथ तद्रात्रिव्यतिक्रमानन्तरं, मुदिता आत्मानो मनांसि येषां तैः, ज्ञातिभिर्गोपैः 'ज्ञातिस्तातसगोत्रयोः पुमान्' इति मेदिनी। अनुगीयमानः तैरेव, परिवृतः कृष्णः, गोकुलमण्डितं धेनूनां वृन्दैः शोभमानं, व्रजं, न्यविशत् ॥ १ ॥ व्रज इति ॥ गवां पालः पालनं छद्म यस्यां सा चासौ माया च तया, यद्वा गोपालः छद्म यस्यां सा चासौ मायात्मकसंकल्पस्तया, एवमुक्तप्रकारेण, व्रजे विक्रीडतोः सम्यक् क्रीडामाचरतोः सतोः, रामकृष्णयोरिति शेषः। शरीरिणां नातिप्रेयाननतिप्रियः, ग्रीष्मः नाम ऋतुः, अभवत् संप्रवृत्तोऽभूत् ॥ २ ॥ स चेति ॥ यत्र वृन्दावने, रामेण सह, केशवः भगवान्, साक्षात् प्रत्यक्षः, आस्ते। अतः, वृन्दावनगुणैः, स च स ग्रीष्मर्तुरपीत्यर्थः। यद्यपि शरीरिणां नातीव सुखकरस्तथापीति शेषः। वसन्तः इव, लक्षितः वसन्तर्तुतुल्यतया शरीरिणां सुखकरो बभूवेत्यर्थः ॥ ३ ॥ ग्रीष्मस्य वसन्ततुल्यतां ख्यापयितुं वृन्दावनगुणाननुवर्णयति ॥ यत्रेति ॥ यत्र वृन्दावने, ग्रीष्मोऽपीति शेषः। निर्झराणां यो निर्ह्रादो घोषस्तेन निवृत्तस्वनाश्छन्नध्वनयः झिल्लिकाः कठोरध्वनयः सूक्ष्मकीटविशेषा यस्मिन् कर्मणि यथा तथाभूतं, किं च शश्वत्सदा तेषां निर्झराणां शीकरैरम्बुकणैः ऋजीषाः स्निग्धा ये द्रुमास्तेषां मण्डलानि तैर्मण्डितं यथा भवति तथा, वसन्तवदलक्षतेति शेषः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दुर्दान्तं भुवनप्रसारिणमहिं नानामुखोद्भासिनं चित्ताख्यं दमयंस्ततश्च शमयन् सन्तापदावानलम्।
यः स्याद् गोकुलमण्डितोऽस्य भजति प्रारब्धतापोऽप्यलं शान्ति सौख्यमसाविति स्फुटमभूद्ग्रीष्मर्तुतादृक्स्थितेः ॥ १ ॥
स चेति : १०.१८.३.

पिबतोऽनलमद्धाऽस्य पुरः का योग्यता मम। ह्रियाऽनयैव किमभूद्दतुः शैत्यगुणान्वितः ॥ २ ॥
निसर्गतापकृदपि ग्रीष्मोऽभूद्यदतापकः। स्फुटमेव फलं साधुवृन्दावनगुणस्य तत् ॥ ३ ॥

नितान्तं तदा तं त्रितापं हरन्तं वनान्ते वसन्तं समालक्ष्य सन्तः।
तपन्तं निदाघं पुरः संसरन्तं वसन्तं लसन्तं वदन्ति स्म युक्तम् ॥ ४ ॥

यत्र क्रीडति नित्यमेव भगवांस्तत्रत्यतार्णाग्रमप्याक्रष्टुं न च वा प्रदग्धुमवनावीशा दिगीशा अपि।
एतत् स्पष्टमभूत्तदा तृणजलाद्याकर्षणे शक्तिमान् न ग्रीष्मो न च तिग्मरश्मिरनिलो नाग्निर्न चान्योऽपि वा ॥ ५ ॥

कृष्णप्रिया

प्रलम्बासुर उद्धार

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! अब आनन्दित स्वजन सम्बन्धियों से घिरे हुए एवं उनके मुख से अपनी कीर्ति का गान सुनते हुए श्रीकृष्ण ने गोकुलमण्डित गोष्ठ में प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस प्रकार अपनी योगमाया से ग्वाल का सा वेष बनाकर राम और श्याम व्रज में क्रीडा कर रहे थे। उन दिनों ग्रीष्म ऋतु थी। यह शरीरधारियों को बहुत प्रिय नहीं है ॥ २ ॥ परन्तु वृन्दावन के स्वाभाविक गुणों से वहाँ वसन्त की ही छटा छिटक रही थी। इसका कारण था, वृन्दावन में परम मधुर भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और बलरामजी निवास जो करते थे ॥ ३ ॥ झींगुरों की तीखा झंकार झरनों के मधुर झर-झर में छिप गयी थी। उन झरनों से सदा सर्वदा बहुत ही ठंडी जल की फुदियाँ उड़ा करती थी, जिनसे वहाँ के वृक्षों की हरियाली देखते ही बनती थो ॥ ४ ॥

सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कह्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।
न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवह्न्यर्कभवोऽतिशाड्वले ॥ ५ ॥
अगाधतोया ह्रदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।
न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाड्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥
वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् । गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥
क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः । वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सरित् सरः प्रस्रवणऊर्मिवायुना कह्लारकञ्जउत्पलरेणुहारिणा, यत्र अतिशाड्वले वनौकसाम् निदाघवह्नि अर्कभवः दवः न विद्यते ॥ ५ ॥ यत्र अगाधतोया ह्रदिनी तट ऊर्मिभिः पुलिनैः समन्ततः द्रवत् पुरीष्याः भुवः शाड्वलितं च रसम् विषउल्बणाः चण्ड अंशुकराः न गृह्यते ॥ ६ ॥ कुसुमितम् श्रीमत् नदत्चित्रमृगद्विजम् गायत् मयूरभ्रमरम् कूजत् कोकिल सारसम् तत् वनम् क्रीडिष्यमाणः भगवान् कृष्णः वेणुं विरणयन् गोपैः गोधनैः संवृतः बलसंयुतः अविशत् ॥ ७-८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अत्र ग्रीष्मे वने वा । निदाघो ग्रीष्मस्तेन तत्कालीनवह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दवस्तापः । अतिशाड्वलेऽतिहरिततृणाकीर्णे । यद्वा अतिक्रांतशाड्वलेऽपि स्थाने ॥५॥ ननु शाड्वलमेव कुतस्त्यं तत्राह । अगाधेति । अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिः पुलिनैः सह द्रवत्पुरीषं पंको यस्यास्तस्मा भुवः रसं शाड्वलितं शाड्वलरूपतां च विषवदुल्बणा अपि सूर्यरश्मयो न गृह्णते न हरंति ॥ ६ ॥ तद्वनमविशदित्युत्तरेणान्वयः । नदंतश्चित्रा मृगा द्विजाश्च यस्मिन् । गायंतो मयूरा भ्रमराश्च यस्मिन् । कूजंतः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिंस्तदविशत् ॥ ७-११ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सरित्सरसां प्रस्रवणेषु ये ऊर्मयस्तरंगास्तत्संबंधिना वायुना 'भंगस्तरंग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः' इत्यमरः । बहुशाड्वले तु सर्वत्रैव तापाभावस्तत्र किं वृंदावनाधिक्यमित्यरुच्याह-यद्वेति । अतिक्रांतशाड्वले शाड्वलशून्ये ॥ ५ ॥ शाड्वलत्वे शंकते-नन्विति । कुतस्त्यम् कुतो जातम् । तत्र आक्षेपे । अगाधानि गंभीराणि ह्रदिनीनां नदीनाम् 'तटिनी ह्रादिनी नदी' इत्यमरः । ऊर्मिभिस्सहितैः पुलिनैस्तात्कालीनजलोत्थितस्थलैः । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनम्' इत्यमरः । द्रवत्किञ्चिच्चलनवदार्द्रम् 'पुरीषं मलपंकयोः' इति शाश्वतः । उल्बणाश्चण्डाः 'उल्बणं भयदे चंडे संवृते पुंनपुंसकम्' इति धरणिः । यत्र वृंदावने । शाड्वलितमित्याचारार्थक्विबंताद्भावे निष्ठेति रूपगोस्वामिजीवगोस्वामिनौ । विश्वनाथस्तु-शाड्वलयुक्तीकृतम् "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुगित्याह ॥ ६ ॥ तद्वनमविशदिति द्वयोः संबंधः । कुसुमानि संजातानि यत्रेति तथा श्रीमत्त्वं स्वतः विशेषतश्चाह-कुसुमितं प्रफुल्लाशेषपुष्पव्याप्तमिति ग्रीष्मे वसंतगुण उक्तः । द्विजशब्देन गृहीतानामपि मयूरादीनां पृथगुक्तिरन्यत्तुश्रीणामपि संवलनं बोधयति ॥ ७ ॥ कृष्णो जगच्चित्ताकर्षकलीलः । अत एव भगवान् विरणयन् विविधस्वरैर्ध्वनयन् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यत्र च वृन्दावने सरिदित्यादिना वायोः सुखत्वादिकमुक्तं अयमेको दवाभावे हेतुः अतिशाड्वल इत्यन्वयः । तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

"ततस्तत्रातिरूक्षेऽपि धर्मकाले द्विजोत्तम ! । प्रावृट्काल इवोद्भूतं नवशष्पं समन्ततः" ॥ इति ।

शाड्वल इति दकारमध्य एव पाठः नडशाड्वलजिति स्मृतेः ॥५॥ कुतस्तदाह-अगाधेति । अगाधतोयत्वेन सदोर्मीणामुद्भवः स्थौल्यं च सूचितम् ऊर्मिभिरिति निमित्तं पुलिनैरित्युपादानं तत्तन्मयत्वात्तद्रवत् सदार्द्रं पुरीषं मृद्यस्यास्तस्या इत्यर्थः ङीपर्थं गौरादौ पठनीयं शाड्वलितमित्याचारार्थक्विबन्ताभावे निष्ठा अन्यत्तैः । यद्वा, अगाधेत्यादिकं पुलिनविशेषणं समन्तत इत्यस्य परेणान्वयः यत्र च श्रीवृन्दावने सर्वत्रापीत्यर्थः । ह्रदिनीनां बाहुल्यात् ॥ ६ ॥ पञ्चकान्तरेव वनमिति युग्मकम् श्रीमत्त्वं स्वतः विशेषतश्चाह—कुसुमितमित्यादिना । कुसुमितं प्रफुल्लाशेषपुष्पव्याप्तमित्यर्थः । ग्रीष्मेपि वसन्तगुणैः एवं द्विजशब्देन गृहीतानामपि मयूरादीनां

१. ड्वले-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. । २. तोयह्रदि-श्रीधर वंशी. वीर. विज. जीव. शुक. ; तोयाह्रदि-विश्व. । ३. द्रवत्पुरीषैः-वीर. ; द्रवत्पुलिन्याः-विज. । ४. शाड्वलितं-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. शुक. ।

पृथगुक्तिरन्यत्तु श्रीणामपि सम्वलनं वोधयति क्रीडिष्यमाणः क्रीडिष्यन्निति क्रींडाविशेषापेक्षया यतः कृष्णः जगच्चित्ताकर्षकलीलः अत एव भगवान् बलदेवेन सम्यग्युत इति विशेषेणोक्तिरग्रे तेन प्रयोजनविशेषार्थं विरणयन् चिक्रीडिषानन्देन तदुत्साहनेच्छाया च विशेषतो वादयन् अत एव गोपैः गाव एव धनानि तैश्च सम्यग्वृत्तः गोधनानामपि गोपक्रीडायामपि युक्तत्वात् ॥ ७-८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तद्वनमविशदिति पञ्चभिरन्वयः; सरिदित्यादिना वायोः सुशैत्यादिकमुक्तम्, अयमेको दवाभावे हेतुः, अतिशाद्वल इत्यन्वयः, तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।६।३०)—'ततस्तत्रातिरूक्षेऽपि घर्म्मकाले द्विजोत्तम । प्रावृट्काल इवोद्भूतं नवं शस्यं समन्ततः ॥' इति ॥५॥ कुतः ? तदाह—अगाधेति । अगाधतोयत्वेन सदैवोर्मीणामुद्भवः स्थौल्यञ्च सूचितम्, द्रवं इतस्ततः प्रसरत्, पुरीषमिव पुरीषः पंकः, किंवा, द्रवत् सदार्द्रं पुरीषं मृद्यस्यास्तस्याः, ईदन्तत्वमार्षम्, समन्ततो वर्तमानैः पुलिनैश्च हेतुभिः, सहार्थे वा, तैः सहिताया भुवस्तस्यास्तेषाञ्चेत्यर्थः । यद्वा, समन्तत इत्यस्य परेणान्वयः, यत्र सर्वत्रापीत्यर्थः, ह्रदिनीनां बाहुल्यात् ॥ ६ ॥ हे श्रीमन्निति, यथा श्रीकृष्णप्रभावेण भवतो विविधा शोभा, तथा तद्वनस्यापीति भावः । यद्वा, श्रीमदिति वनविशेषणम्, श्रीमत्त्वमेव दर्शयति—कुसुमितमित्यादिविशेषणैः किंवानुक्तामन्यामपि विविधशोभां संगृह्णाति, कुसुमितं प्रफुल्लाशेषपुष्पव्याप्तमित्यर्थः । ग्रीष्मेऽपि वसन्तगुणैः, द्विजशब्देन गृहीतानामपि मयूरादीनां पृथगुक्तिः,—तापाभावेन सुखमधुरगानविशेषात् ॥ ७ ॥ क्रीडिष्यन्निति क्रीडाविशेषापेक्षया, यतः कृष्णो जगच्चित्ताकर्षकलीलः, अतएव भगवान् बलदेवेन सम्यग् युत इति विशेषेणोक्तिः; अग्रे तेन प्रयोजनविशेषार्थम्, विरणयन् कार्य्यक्रीडानन्देन क्रीडायामुत्साहार्थं वा विशेषतो वादयन्; अतएव गोपैः— गाव एव धनानि तैश्च, किंवा तेषां तैः सम्यग् वृतः, अन्येषां पशूनां सत्त्वेऽपि गवामेवोक्तिस्तासां मुख्यत्वात्, धन-शब्देन तासामवश्यपाल्यत्वं सूचितम् । अतोऽयमपि वनप्रवेशे हेतुः, किञ्च क्रीडिष्यमाण इति तत्र क्रीडाया मुख्यत्वमुक्तमेव ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

दवः वनान्ताग्निः ॥५॥ द्रवत्पुरीष्याः आर्द्रशैवलायाः नद्या इत्यध्याहारः ॥६-७॥ विरणयन् विशेषेण रणयन् ॥८-१९॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सरिदिति । सरितां सरसां प्रस्रवणानां निर्झराणां च ये ऊर्मयस्तेषां सम्बन्धिना वायुना कह्लारादीनां रेणून् हरतीति तथाभूतेन यत्रातिशाद्वले अतिहरिततृणाकीर्णे अतिक्रान्तशाद्वलेऽपि वा निदाघो ग्रीष्मस्तेन तात्कालिकवह्न्यर्काभ्यां च भवति यो दवस्तापः स वनौकसां न विद्यते ॥ ५ ॥ ननु, शाद्वलमेव कुतस्तत्राह—अगाधेति । अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिः हेतुभिः पुलिनैः सह द्रवत्पुरीषं पङ्को यस्यास्तस्या भुवो रसं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च विषवदुल्वणा अति सूर्यस्य रश्मयो यत्र न विगृह्णन्ते न हन्ति आशुतरव्याप्तविषदृष्टान्तः तद्वनमाविशदित्युत्तरेणान्वयः ॥ ६ ॥ श्रीमत्फलकिसलयादिसमृद्धिमद्भगवदावासत्वात् लक्ष्मीवद्व नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यस्मिन् गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन् कूजन्त कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् तत् ॥ ७ ॥ एवम्भूतं वनं भगवान् श्रीकृष्णः क्रीडिष्यमाणो बलदेवेन संयुतः वेणुं विशेषेण रणयन् नादयन् गोपैर्गोधनैश्च संवृतः प्राविशत् ॥ ८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सरित् नदी सरो देवखातः एतयोः प्रस्रवणं निर्झरम् ऊर्मिस्तरङ्गः एतत्सम्बन्धि वायुना च कह्लारं सौगन्धिकं कञ्ज पद्मम् नीलोत्पलम् उत्पलम् एषां रेणुभिः परागैः हारिणा मनोहरेण । यद्वा, रेणूनां हारो हरणम् अस्यास्तीति हारी तेन निदाघवह्न्यर्केभ्यो भव उत्पत्तिर्यस्य स तथा दवस्तापः "दव परितापे" इति धातुः । अच्प्रत्यये एतत्सिद्ध्यति वनाग्निरित्यर्थाङ्गीकारे वह्नीत्येतद्व्यर्थं भवति अति शाद्वले कोमलतरतृणोपेते ॥ ५ ॥ विषवदुल्वणाः चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयः यत्र शाद्वलितं बालतृणनिबिडं भुवो गतं रसं जलं न निगृह्णते किं कारणमत्राह—अगाधेति । अगाधं तोयं यस्याः सा अगाधतोया सा च ह्रदिनी नदी तत्तस्यास्तटे रुहैः तीरजातैर्वृक्षैः समन्ततः द्रवन्त्याः स्यन्दमानायाः पुलिन्याः विभक्तनद्याः शाखानद्या इत्यर्थः । पुलिनैर्निमित्तैः सर्वदा द्रवीभूतस्थलत्वादित्यर्थः ॥ ६-७ ॥ विरणयन् विविधैः स्वरैर्ध्वनयन् कृष्णः तद्वनमविशदित्यन्वयः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ऊर्मिभिरिति निमित्तम् ॥ ५ ॥ पुलिनैरित्युपादानं द्रवत् सदार्द्रं पुरीषं मृद्यस्यास्तस्याः शाद्वलितमित्याचारार्थक्विबन्ताद्भावे निष्ठा ॥ ६-१० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सरिदादीनामूर्मयो यतस्तेनेति शैत्यं कह्लारादीनां रेणून् हर्तुं निःशब्दत्वेनालक्ष्यतया चोरयितुं शीलं यस्येति सौगन्ध्यमान्द्ये दवस्तापः अन्यत्र निदाघे दावानलभवस्तापो भवति सोऽत्र नास्तीत्याह—अतिशाद्वले अतिकोमलहरिततृणाकीर्णे ॥ ५ ॥

अर्कभवतापाभावे पूर्वोक्तद्रुममण्डलमण्डितत्वमेव हेतुरस्ति हेत्वन्तरमप्याह–अगाधतोया ह्लदिन्यस्तासां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिर्द्रवत् सदैवार्द्रं पुरीष पङ्कं यस्यास्तथाभूताया भुवो रसं न गृह्णतीत्यन्वयः। गौरादित्वात् ङीष् रसं कीदृशं समन्ततः पङ्किलैः पुलिनैः शाद्वलितं शाद्वलयुक्तीकृतं "त्विन्मतोर्लुक् [५।३।६५] इति मतुपो लुक् ॥ ६–८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यत्र अतिशाद्वले अतिहरिततृणाकीर्णे वने सरित्सरःप्रस्रवणानां ये ऊर्मयस्तत्सम्बन्धिवायुना कह्लारादिरेणून् आहरतीति तया तेन निदाघस्य ग्रीष्मस्य वह्न्यर्काभ्यां भवति यो दवस्तापः स न विद्यते ॥ ५ ॥ यत्र वने अगाधतोयह्लदिनीतटोर्मिभिर्हेतुभिः पुलिनैः सह द्रवत्पुरीष पङ्को यस्यास्तस्या भुवः रसं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च विषोल्वणाः विषवदत्यहिताः अपि चण्डांशुकराः न गृह्णते न हरन्ति ॥ ६ ॥ नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाश्च यस्मिन् गायन्तो मयूराः भ्रमराश्च यस्मिन् कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् ॥ ७–११ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सरिदादीनामूर्मयो यस्मात्तेन वायुनेति शैत्यं कह्लारादीनां रेणून् परागान् हर्तुं निःशब्दतया चोरयितुं शीलं यस्य तेनेति सौगन्ध्यमान्द्यो दवस्तापः अन्यत्र निदाघे दावाग्नितापः स्यात् सोऽत्र नेत्याह अतिशाद्वले अतिकोमलहरिततृणपूर्णे इत्यर्थः ॥ ५ ॥ अर्कतापाभावे हेत्वन्तरमाह–अगाधतोयानां ह्लदिनीनां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिर्द्रवत् सर्वदैवार्द्रं पुरीष पङ्कं यस्यास्तादृश्या भुवो रसं यत्र चण्डांशुकरा न गृह्णते इत्यन्वयः गौरादित्वात् ङीष् रसं कीदृशं समन्ततः पङ्किलैः पुलिनैः शाद्वलितं शाद्वलयुतं तत् करोतीति णिजन्तात्भावे निष्ठा ॥ ६–८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अगाधं तोयं यस्याः सा च ह्लदिनी महानदी तस्यास्तटे रुहैस्तीरोत्पन्नैर्वृक्षैः । वैवक्षिकसंज्ञात्वमङ्गी हलदन्तात्संज्ञायामिति सप्तम्या अलुगिति केचित् । केचिच्च पदभेदं वदन्तो रुहैः कप्रत्ययमाचक्षणाः रुहन्तीति रुहा इत्याचक्षते । अन्ये तु मन्यन्ते तटे स्वप्रसरेण तरणेः ई कोपो यैस्ते सन्तश्च ते रुहाश्चेति । ई दुःखभावने कोप इति विश्वात्तदुपपत्तिमेकपद्ये । किरणाप्रसरणात्तरणेः कोप इति भावस्तत्र । अत एव न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्वणा इत्याद्यनुपदं वक्ष्यतीत्युपपत्तिमाहुः । द्रवत्पुलिन्याः स्वप्रविष्टावान्तरनद्याः पुलिनैः । नलिगुलिभ्यामितीनच् । सिकताभिर्विषवदुल्वणाः क्रूराश्चण्डांशोः सूर्यस्य कराः किरणाः शाद्वलितं सञ्जातशाद्वलमिति । भुवो रसं जलं न निगृह्णते न गृह्णन्ति । स्वरितेत्त्वात्कर्तृगामिनि क्रियाफले आत्मनेपदता ॥ ५ ॥ कुसुमितं । तारकादीतच् । नदच्चित्रमृगद्विजं चित्रं नदन्तो नदच्चित्राः । चैत्र्यं नादे विशेषणे ज्ञेयं । ते च ते मृगाश्च द्विजाश्च यस्मिन्तत् । तद्विशेषमाह ॥ गायन्तो मयूरभ्रमरा यस्मिंस्तदिति । कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिंस्तत् ॥ ६ ॥ तद्वनं कृष्णोऽविशदित्यन्वयः ॥ ७ ॥ प्रवालाः किसलया वर्हाणि पिच्छानि स्तवका गुच्छाः स्रजश्च मालाश्च धातवो गैरिकादयश्च तैः कृतं भूषणं येषां ते ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तापनिवारकं वायुमाह **सरिदिति**, **सरितो** नद्यः **सरांसि** सरोवराणि प्रस्रवा झरणा राजससात्त्विकतामसास्त्रिविधाना-मप्यूर्मिभिर्यं उत्पाद्यते **वायुः**, अनेन मान्द्यं शैत्यं चोक्तं, सौरभ्यमाह, कह्लारपुष्पाणि सन्ध्याविकासीनि कञ्जानि कमलानि दिनविकासयुक्तान्युत्पलानि रात्रिविकासीनि, त्रिविधैरप्येतैः सर्वदा वायुः सुगन्ध एव भवति, तदाह तेषां **रेणुहारिणेति**, अत एव **वनौकसां दवो**रण्याग्निजनितस्तापः, दावस्यारण्यार्थता दवतापयोगादेव, दवदावशब्दावरण्यवाचकाविति**कोशः**, तापवाचकोत्र प्रयुक्तः, क्वचिद् दावोग्निवाचकः प्रयुक्तोतोनेकार्थौ दवदावशब्दौ, तापस्त्वन्तः पित्तादिनापि भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह **निदाघ-वह्न्यर्कभव** इति, निदाघे यौ **वह्न्यर्कौ** ताभ्यां **भवो** यस्य, ननु भूमिकृतस्तापो भवेत् तत्राहातिशाड्वल इति, **शाड्वलं** हरित-तृणभूखण्डो दूर्वायुक्तः, अत्यन्तं शाड्वलं यत्र ॥ ५ ॥ शिष्टानपि गुणानाहागाधं **तोयं यत्र**, एतादृशीनां **ह्लदिनीनां तटसम्बन्धिनीनां** य ऊर्मयस्तोरे जायमानास्तैः कृत्वा **द्रवत् पुरीषं** मृत्तिका यस्याः सा **द्रवत्पुरीषो**, **गौरादित्वान्** ङीष्, तादृश्या **भुवः** समन्ततोपि **रसं शाड्वलितं च यत्र** वृन्दावने **विषादप्युल्वणाश्चण्डांशुकरा न गृह्णते**, **वृन्दावनभूमिः सर्वदा सरसैव तिष्ठति सर्वतश्च पुलिनानि** भवन्ति, तानि च पुलिनान्यगाधह्लदिनीतटोर्मियुक्तानि भवन्ति, **भुव** एव वा स्थानविशेषास्तेषां शीतलत्वायोर्मिभिर्द्र-वत्पुरीषत्वं निरूप्यते, मध्ये शीतलतानिरूपणाय **द्रवत्पुरीषता** निरूपिता, बहिःशीतलतायै **पुलिनानि**, अतो मूलादुपरिभागाच्च रसाधिक्यात् शोषाभावेन भूरसशाड्वलितयोर्नाभावः, एवं सरसता निरूपिता ॥ ६ ॥ अन्यान् वनधर्मानाह **वनमिति**, **आदौ कुसुमितं**, **ग्रीष्मे हि प्रायेण कुसुमानि न भवन्ति**, **शोभायुक्तं च**, कुसुमानि राजसानि, **नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः** पक्षिणश्च यत्र, सात्त्विका एते **गायन्तो मयूरा भ्रमराश्च** यत्र, **कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च** यत्र, **आदौ नादस्तदनु गानं तत उद्रिक्ते रसे** कूजितानीति त्रयमुक्तं, मिथुनत्वाय **द्वौ द्वौ**, नादे हि श्रुतिपूरकोपेक्ष्यत इति **मृगाः** सह निरूपिताः, गाने नृत्यमपेक्ष्यत इति **मयूराः**,

कूजिते परपुष्टोपेक्षित इति **कोकिला**: ॥ ७ ॥ एवं वनगुणानुक्त्वा तत्र भगवतः क्रीडां वक्तुमादौ भगवतः प्रवेशमाह **क्रीडिष्यमाण** इति, क्रीडार्थमेव भगवता तत्र गुणाः सम्पादिताः, **तत्** तस्मात्कारणात् **कृष्णः** क्रीडार्थमाविर्भूतो **भगवान् बलसंयुतो** जातः, षड् गुणाः स्वस्य बलं च तस्य, अतः **सप्तभिः** क्रीडां वक्ष्यति पूर्ववत्, तत्रत्यानां देवानामुद्बोधनार्थं **वेणुं विरणयन्**, गोपा गोधनानि सेवार्थं धर्मार्थमर्थार्थं, **संवृतो** जातः, एतादृशोविशदिति तद्रसप्रारम्भ उक्तः ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

कूजत्कोकिलसारसमित्यत्र, कूजिते परपुष्ट इति । पूर्णे रसे हि कूजितोद्गमः । स च न विवाहिते पुंसि भवति किन्तु परस्मिन्नेवेति कूजिते परपुष्टो भावोपेक्ष्यते । कोकिलश्च पूर्वं काकपोषित इत्येतत्साम्येन कोकिलोक्त्योक्तोर्थो व्यज्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सरिदित्यत्र दवशब्दस्य तादृशतापवाचकत्वं न प्रसिद्धमतोव्युत्पादयन्ति **दावस्येत्यादि**, रूढेरत्र वलिष्ठत्वाभावायाहुस्तापेत्यादि, तथा च **वनौकसामिति**शब्दसान्निध्येनारण्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् तत्तापवाचक एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ **वनं कुसुमितमित्यत्र कूजिते परपुष्ट** इत्यस्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **पूर्णेत्यादि** ॥ ७ ॥ **क्रीडिष्यमाण** इत्यत्र **पूर्ववदि**त्येकादशाध्याय इवेत्यर्थः, 'द्वादशाध्याय इवे'त्यर्थस्तु केवलमेतत्पद्ये प्रतिपाद्यो न तु सर्वेष्विति सम्भवन्नपि न निरूपयितुं शक्यः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अगाधेत्यस्याभासे शिष्टानपीति श्लोकद्वयार्थः, वक्ष्यमाणा गुणा न वसन्तत्वे हेतवः किन्तु रसोद्बोधायोक्ता इति तेषां प्रासङ्गिकत्वबोधनायापिशब्दः ॥ ६ ॥ **वनमित्यत्र** मिथुनत्वं विवृण्वन्ति **नादे हीति, परपुष्ट** इति पोषकात् पत्युः परेण जारेण पुष्टो भाव इत्यर्थः, श्रुतिपूरकपदेपि तादृशो भाव इत्यर्थः, तथा च श्रुतिपूरकभावनृत्यपरपुष्टदेहयुक्तास्त्रयो मृगबर्हिकोकिला उक्ता इति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ **क्रीडिष्यमाण** इत्यत्र **बलं चेति** क्रियाशक्तिरित्यर्थः, **पूर्ववदिति** एकादशेध्याये "अविदूरे व्रजभुव" इति श्लोकत्रयोक्तवदित्यर्थः, **सेवार्थमिति** गोपसाहित्यं तेषां सेवासिद्ध्यर्थं, वेणुनादोर्थार्थं, द्वादशाध्यायेर्थलीलायां गानस्य निरूपितत्वात् ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यत्र वृन्दावने अतिशाद्वले अतिहरिततृणाकीर्णे निदाघो ग्रीष्मस्तेन तत्कालीनवल्लयर्काभ्यां च भवतीति तथाभूतो यो दवस्तापः स वनौकसां न विद्यते । 'तत् केन हेतुना' इत्यपेक्षायामाह—सरिदिति । सरितो नद्यः, सरांसि सरोवराणि, प्रस्रवाः निर्झराः, तेषामूर्मिसम्बन्धेन शीतलेन वायुना । तथा कल्हारकञ्जोत्पलानि यथाक्रमेण सन्ध्यादिनरात्रिविकाशीनि तेषां रेणुहारिणा सुगन्धिना वायुना ॥ ५ ॥ ननु 'ग्रीष्मेऽतिशाद्वलत्वमेव कुत' इत्यपेक्षायामाह—अगाधेति । अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिः पुलिनैः सह समन्ततः सर्वतो द्रवत् पुरीषं पङ्के यस्यास्तस्या भुवो रसं शाद्वलितं शाद्वलतां च यत्र वृन्दावने ग्रीष्मकालीना विषवदुल्वणा अतितीक्ष्णा अपि चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयो न गृह्णते न हरन्ति, अतः शाद्वलत्वमित्याशयः ॥ ६ ॥ कुसुमितं पुष्पितवृक्षव्याप्तम्, श्रीमत् बहुशोभायुक्तम्, नदन्तः चित्रा मृगा द्विजाश्च यस्मिंस्तत्, गायन्तो मयूरा भ्रमराश्च यस्मिंस्तत्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिंस्तत् ॥ ७ ॥ तदेवंभूतं वनं क्रीडिष्यमाणो बलेन संयुतो गोपैर्गोधनैश्च संवृतो वेणुं विशेषेण रणयन् वादयन् भगवान् कृष्णोऽविशत् ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सरिदिति ॥ अतिशाद्वले अतिहरिततृणाकीर्णे यत्र गीष्मे वृन्दावने वा कल्हारकञ्जोत्पलानि यथाक्रमेण सन्ध्यादिनरात्रिविकासीनि तेषां रेणून् चौरवच्छन्नैर्हरति तेन सुगन्धिना मन्देन च सरितो नद्यः सरांसि सरोवराणि प्रस्रवाः निर्झराः तेषामूर्मिसंबन्धेन शीतलेन वायुना हेतुना निदाघो ग्रीष्मस्तेन तत्कालिकवल्लयर्काभ्यां च भवतीति तथाभूतो यो दवस्तापः स वनौकसां न विद्यते ॥ ५ ॥ ननु ग्रीष्मे शाद्वलमेव कुतस्तत्राह–अगाधेति ॥ यत्र वृन्दावने अगाधानि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां नदीनां तटस्पर्शिभिरूर्मिभिः पुलिनैः सह समततः सर्वतोद्रवत् । आर्द्रं पुरोष पङ्को यस्यास्तस्याः गौरादित्वात् ङीष् इत्याहुः वस्तुतो ङीषार्षः । भुवो रसं शाद्वलितं शाद्वलयुक्तीकृतम् । शाद्वलवच्छब्दात्तत्करोतीति णिजन्तात् क्तः । इष्ठवद्भावात् "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक् । ग्रीष्मकालीना विषमिवोल्वणा अतितीक्ष्णा अपि चपि चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयो न गृह्णते न हरन्ति ॥ ६ ॥ वनमिति ॥ यत्र पुनर्वनं कुसुमितं पुष्पितवृक्षव्याप्तं श्रीमत् बहुशोभायुक्तं नदन्तः चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यस्मिंस्तत् गायन्तो मयूरा भ्रमराश्च यस्मिन् कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिंस्तादृशमस्ति ॥ ७ ॥ क्रीडिष्यमाण इति ॥ क्रीडिष्यमाणः क्रीडां करिष्यमाणः कर्मव्यतिहारविवक्षया शानच् । बलेन संयुतो गोपैर्गोधनैश्च संवृतो वेणुं विशेषेण रणयन् वादयन् भगवान् कृष्णस्तद्वनमविशत् ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अतिशाद्वले अतिहरिततृणव्याप्ते यद्वा अतिक्रांतशाद्वलेऽपि प्रदेशे यत्र ग्रीष्मसेवितवृंदावने कल्हाराणां सुगंधिपद्मानां कंजानां कमलानां उत्पलानां कुमुदिनीनां रेणुं हारिणापरागहारिणा प्रस्रवणानां निर्झराणां संबंधवता सरिता नदीनां सरसां तडागानां च ये ऊर्मयस्तैः सह सश्लिष्टे न च वायुना वनौकसां निदाघस्य ग्रीष्मस्य वह्निचर्काभ्यां भव उद्भवो यस्य सः दवस्तापो न विद्यते ॥ ५ ॥ अगाधानि बहूनि तोयानि यासां तासां ह्रदिनीनां नदीनां तटस्पर्शिभिः ऊर्मिभिः समंततः द्रव्यत्पुरीषं पंकायस्या सा द्रवत्पुरीषी तस्याः द्रवपुरीषेति गौरादिगणे पाठात् ङीषूपुलिनैर्नदी तटैः सह भुवोभूमेः शाद्वलितं हरिततृणवत्त्वं रसं आर्द्रतां च यत्र वने विषवदुल्वणादुःसहा अपि चंडांशोस्तिग्मरश्मेः सूर्यस्य कराः किरणाः न गृह्णते ॥ ६ ॥ कुसुमितं पुष्पितं श्रीमत्शोभमानं नदंतः चित्रा अनेकविधाः मृगावनपशवोद्विजाः पक्षिणश्च यस्मिस्तत् ॥ ७ ॥ एवंभूतं तत् वृंदावनं कृष्णोऽविशत् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सरिदिति ॥ कल्हारः सौगन्धिकपद्मविशेषश्च कञ्जं सामान्यपद्मं च उत्पलं नीलकमलं च तेषां रेणवः परागास्तान् हरतीति तेन, सरितो नद्यश्च सरांसि सरोवराणि च प्रस्रवणान्युत्साश्च तेषां ये ऊर्मयस्तेषां संवन्धी यो वायुस्तेन, 'उत्सः प्रस्रवणम्' इत्यमरः। यत्र पानीयं निपत्य बहुलीभवति तथाभूतं स्थानं प्रस्रवणं, युक्ते इति शेषः। अतिशाद्वलेऽतिशयितहरिततृणाकीर्णे, यत्र वृन्दावने, दिवापीति शेषः। निदाघो ग्रीष्मस्तात्कालिकौ यौ वह्निचर्कौ ताभ्यां भवः, दवः तापः, वनौकसां वनवासिनां, न विद्यते ॥ ५ ॥ ननु ग्रीष्मे शाद्वलमेव कुतस्त्यं तत्राह ॥ अगाधेति ॥ अगाधानि अतलस्पर्शानि यानि तोयानि जलानि यासां ताश्च या ह्रदिन्यस्तरङ्गिण्यस्तासां तटोर्मयस्तटस्पर्शिनस्तरङ्गास्तैर्हेतुभिः, 'तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी इत्यमरः। पुलिनैस्तोयोत्थितस्थानविशेषैः सह, समन्ततः परितः, द्रवत्पुरीषं पङ्को यस्यास्तस्याः, भुवः रसं द्रवं शाद्वलितं शाद्वलरूपतां च, यत्र वृन्दावने, विषोल्बणा विषवदतिक्रूराः चण्डांशुकराः सूर्यरश्मयः अपि, न गृह्णते। यत्रत्यां भुव आर्द्रतां शाद्वलरूपतां च चण्डांशुतीव्रभानवोऽपि न हरन्तीत्यर्थः। आशुतरख्यातौ विषदृष्टान्तः ॥ ६ ॥ वनमिति ॥ वनमित्यस्याग्रेऽन्वयः। श्रीमत् फलकिसलयादिसमृद्धिमत्, भगवदावासत्वाल्लक्ष्मीवद्वा, कुसुमितंकुसुमितद्रुमं, वृक्षाणां कुसुमितत्वं वने उपचर्योक्तं, नदन्तः चित्राः मृगा आरण्याः पशवः द्विजाः पक्षिणश्च यस्मिन्, गायन्तः मयुराः भ्रमराश्च यस्मिन्, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यस्मिन् ॥ ७ ॥ क्रीडिष्यमाण इति ॥ तत् उक्तविधं वनं, बलसंयुतः बलभद्रेण सहितः, भगवान् कृष्णः, क्रीडिष्यमाणः, वेणुं वंशीं विरणयन्, गोपैः, गोधनैश्च, संवृतः सन्, अविशत् द्वयोरेकसंवन्धः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

क्रीडिष्यमाण इति : १०.१८.८.

यत्तापकारि भुवि सिद्धमतापकारि तच्चेदसंशयमनेन मनीषिणाऽस्मिन् ।
स्वैरं भवे विहरणीयमिति व्यबोधि रन्त्रा तथर्तुमभिवीक्ष्य रमाधवेन ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

जिधर देखिये, हरी-हरी दूब से पृथ्वी हरी-हरी हो रही है। नदी, सरोवर एवं झरनों की लहरों का स्पर्श करके जो वायु चलती थी उसमें लाल-पीले-नीले तुरन्त खिले हुए, देर के खिले हुए कल्हार, उत्पल, आदि अनेकों प्रकार के कमलों का पराग मिला हुआ होता था। इस शीतल, मन्द और सुगन्ध वायु के कारण वनवासियों को गर्मी के किसी प्रकार का क्लेश नहीं सहना पड़ता था। न दावाग्नि का ताप लगता था और न तो सूर्य का घाम ही ॥ ५ ॥ नदियों में अगाध जल भरा हुआ था। बड़ी-बड़ी लहरें उनके तटों को चूम जाया करती थीं। वे उनके पुलिनों से टकरातीं और उन्हें स्वच्छ बना जाती थी। उनके कारण आस-पास की भूमि गीली बनी रहती और सूर्य की अत्यन्त उग्र तथा तीखी किरणें भी वहाँ की पृथ्वी और हरी भरी घास को नहीं सुखा सकती थीं, चारों ओर हरियाली छा रही थी ॥ ६ ॥ उस वन में वृक्षों की पाँत की पाँत फूलों से लद रही थी। जहाँ देखिये वहाँ से सुन्दरता फूट पड़ती थी। कहीं रंग बिरंगे पक्षी चहक रहे हैं, तो कहीं तरह तरह के हरिन चौकड़ी भर रहे हैं। कहीं मोर कूक रहे हैं, तो कहीं भौंरे गुंजार कर रहे हैं। कहीं कोयलें कुहक रही हैं, तो कहीं सारस अलग ही अपना अलाप छेड़े हुए हैं ॥ ७ ॥ ऐसे सुन्दरवन देखकर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गौरसुन्दर बलरामजी ने उसमें विहार करने की इच्छा की। आगे-आगे गौएँ चलीं, पीछे-पीछे ग्वाल-बाल और बीच में अपने बड़े भाई के साथ बाँसुरी बजाते हुए श्रीकृष्ण ॥ ८ ॥

प्रवालबर्हस्तवकस्रग्धातुकृतभूषणाः । [1]कृष्णरामादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥
कृष्णस्य नृत्यतः केचिज्जगुः केचिदवादयन् । [2]वेणुपाणिदलैः[3] शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे[4] ॥१०॥
गोपजातिप्रतिच्छन्ना[5] देवा गोपालरूपिणः । ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥११॥
भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः । चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित्[6] ॥१२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रवाल-बर्ह-स्तवक-स्रक्-धातु कृतभूषणाः कृष्णराम आदयः गोपाः ननृतुः-युयुधुः जगुः ॥ ९ ॥ कृष्णस्य नृत्यतः केचित् जगुः केचित् वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः अवादयन् अथ अपरे प्रशशंसुः ॥ १० ॥ हे नृप नटाः नृपम् इव, गोपजातिप्रतिच्छन्नाः गोपालरूपिणः देवाः कृष्णरामौ ईडिरे च सिषेविरे ॥ ११ ॥ क्वचित् काकपक्षधरौ भ्रामणैः लङ्घनैः क्षेपैः आस्फोटनविकर्षणैः च नियुद्धेन चिक्रीडतुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

काकपक्षाश्चूडाकरणात्प्राक्तनकेशाः । भ्रामणादिप्रकारैर्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन एवं क्रीडाभेदैश्चिक्रीडतुः ॥ १२-१३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

धातवो गैरिकादयः स्वर्णादयो वा ॥ ९ ॥ प्रशशंसुः श्लाघयामासुः—अहो ते नृत्यकौशलमिति ॥ १० ॥ देवाः इन्द्रवस्वाद्यंशैरवतीर्णत्वात्तेषाम् । यद्वा—गोपजातिकृष्णसखेषु प्रतिच्छन्ना एव नारदादयो भक्तास्तल्लीलास्वादार्थमिति । यद्वा—श्रीकृष्णोपासनपटलादौ तद्वदुपास्यत्वेन प्रसिद्धा श्रीदामवसुदामादय इति समानमहित्वं व्यजितम् । गोपालरूपिणमिति नित्ययोगे इनिः ॥ ११ ॥ त्रिवृत्कृतवेणीधारिणौ कर्णाग्रलं बिवक्रालकाधरौ वा "काकपक्षस्त्रिवृद्वेण्यां मध्यमुंडितकेशके" इति शब्दरत्नाकरे। भ्रामणैः मंडलाकारेण चलनैः । लंघनैः राशीकृतवालुकापुंजोपरि बहुनुल्लंघ्य पतनैः । एकं प्रसारितपादं बालं कराच्छादितनेत्रं कृत्वा तदुपरि लंघनं कृत्वा गच्छति स च को गत इति पृच्छयते यत्र तैर्वा। क्षेपैः आक्षेपवाक्यैः पाषाणगोलकादिप्रक्षेपणैर्वा। आस्फोटनैः एकं हस्तं द्विगुणीकृत्येतरेण पाणिना स्फालनरूपैः, करतलेन भुजमूलाघातैर्वा । नियुद्धेन मल्लयुद्धन च ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गोपा इति गोपक्रीडायां निजाभीष्टत्वं स्पष्टयन् तत्र च रामकृष्णादय इति परमविदुषोपि स्वस्य तदानीमन्यनिर्विशेषतया श्रीरामकृष्णयोर्गोपत्वस्फूर्त्या तयोरपि तदावेशाभिमानौ सम्मन्यमानस्तादृशक्रीडायां परमात्परमानन्दमयत्वं व्यञ्जितवान् अथ तल्लीलावेशादिकमेव व्यञ्जयति – ननृतुरित्यादिना ॥ ९ ॥ तत्र वैदेशिकयोरिव नटवेषेण श्रीदामसभायां सगणमागतयोः श्रीकृष्णरामयोर्मुख्यत्वेन प्रथमतः श्रीकृष्णस्य नृत्यं वर्णयति—कृष्णेति द्वाभ्याम् । अपरे श्रीदामादयः सभापतयः अथ कात्स्न्र्येन साधुसाध्विति प्रशशंसुः एवमन्यतो विशिष्टन्तस्य नृत्यकौशलमुक्तम् ॥ १० ॥ अथ तत्र श्रीदामादीनां सभापतितया निविष्टानामग्रतः समुत्थाय स्थितानन्यान्नटवेषान् प्रशंसकानपि गोपान् प्रशंसनीयश्रीकृष्णादिवैशिष्ट्याय प्रशंसति–गोपेति । देवाः श्रीकृष्णगोपासनपटलादौ तद्वदुपास्यत्वेन प्रसिद्धाः इनि समानमहिमत्वं व्यञ्जितम् । तर्हि कथं ते तादृशमहिमत्वेन न कैश्चित् प्रतीयन्ते कथं वा भवद्भिः प्रतीयन्ते तत्राह—देवा अपि गोपजात्यैव प्रतिच्छन्नाः गुणादिभिस्तु स्पष्टाः अविवेकिनां यत्किञ्चित् साधारण्येन भ्रान्तिर्भवति ननु विवेकिनां प्रत्युत तादृशेन तादृशलीलीपयिकेन परमगुणाविष्कारेण च चमत्कारातिशय एव स्यादिति भावः । ननु, तेषां गोपजातित्वमेव कुतः ? तत्राह—गोपालरूपिणमिति नित्ययोगे मत्वर्थीयः ततस्तदत्यन्ताभीष्टत्वं तस्य रूपस्य दर्शयित्वा तेषां तदनुरूपत्वमेवानुरूपमिति ध्वनितं एवं समानरूपवेषत्वं च व्यक्तं समानगुणत्वं व्यनक्ति नटा इवेति एवमन्येष्वपि गुणेषु ज्ञेयम् अतः सर्वथा तद्योग्यत्वात् देवयन्ति क्रीडयन्ति देवा इति च श्लेषोक्तिः हे नृपेति नरोत्तमत्वेन भवतैवेदं ज्ञायत एवेति भावः ॥ ११ ॥ अथ नृत्यकौतुकानन्तरं कृतं युद्धकौतुकं वर्णयति—अन्योन्यं हस्तग्रहणादिना भ्रामणैर्लङ्घनैरधो निपात्यारोहणैः क्षेपैः प्रतिविनोदनैः आस्फोटनैः करतलेन भुजमूलाघातैः विकर्षणैः आकर्षणैः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन काकपक्षः केशगुम्फितवेणीत्रयमिति केचित् ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गोपा इति गोपक्रीडापेक्षया । यद्वा, स्वत एव सदा परमहृद्यत्व वन्यभूषणत्व-नृत्यादि-कौशलयोग्यत्वादिना, तत्र च रामकृष्णादय इति तयोर्गोपक्रीडाभिनिवेशेन केवलगोपत्वाभिमानस्य, किंवा यथा रामकृष्णैः तथान्येऽपीत्यविशेषस्याभिप्रायेण।

१. रामकृष्णादयो–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. वेणुं–विज. । ३. तलैः–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ४. तथापरे–इति कस्यचित् । ५. प्रतिच्छन्नी–वीर. ; प्रतिच्छन्ना–श्रीधर. वंशी. विज. जीव. विश्व. ; परिच्छन्नी–इति कस्यचित् । ६. धरावुभौ–विज. ।

तत्र च रामकृष्णशब्दप्रयोगो नृत्यादिना सर्वेषां रमणचित्ताकर्षणाद्यभिप्रायेण, एवमग्रेऽपि प्राक् ननृतुः, हर्षभरेण वाद्यानपेक्षया नर्त्तनाद्वादकानामनुक्तिः, पश्चान्मदोद्रेकेण युयुधुः युयुधिरे, बाहुयुद्धं चक्रुः। तत्र च सर्वेषां बलादिना साम्यात्, किंवा जयिन एव परमहर्षाज्जगुश्च, यद्वा केचिन्ननृतुः, केचिद्युयुधुः, केचिज्जगुः,—वक्ष्यमाणस्य केचिदित्यस्य परामर्शात्, केचिद्वादयंश्चेत्यत्रापि ज्ञेयम्, नृत्ये वाद्यस्यापेक्ष्यत्वात्। एवमादौ नृत्यादिकमेवोक्तम्, परमहृष्टानां तेषां स्वभावत एव प्राक् तत्र प्रवृत्तेः॥ ९॥ तत्र श्रीकृष्णस्य विशेषेण तेषां तत्सन्तोषनैकपरतामाह—कृष्णस्येति। अथ कार्त्स्न्ये, 'साधु साध्विति प्रशशंसुः' इति सम्पूर्णस्य नृत्यस्यात्यन्तसाधुत्वमभिप्रेतम्। एवमन्यतो विशिष्टं तस्य नृत्यकौशलमप्युक्तम्॥ १०॥ ननु किंस्वरूपा अमी गोपाः? इत्यपेक्षायामाह—गोपेति। देवाः श्रीगरुडादयः, पार्षदाः केवलं गोपजात्यैव, न तु गुणलीलादिभिः प्रतिच्छन्नाः, यद्वा, गो जातौ प्रतिच्छन्ना लीनाः, अत्यन्तगोपत्वं प्राप्ता इत्यर्थः, इति भगवत इव तेषां माधुर्य्यादिविशेषप्रकटनमभिप्रेतम्। ईडिरे स्तुत्यादिना क्रीड़यामासुरित्यर्थः, अतएव देवयन्ति क्रीड़यन्तीति देवा इत्युक्तम्, चकारेण रामस्य तत्र गौणता बोध्यते। अतएव पृथक् पश्चात्तस्य निर्द्देशः, नटा नटमिवेति क्रीड़ायां सर्व्वथा तेषां तत्सदृशत्वं सूचितम्। हे नृपेति तच्च भवज्ञा नटादिद्वारा ज्ञायत एवेति भावः। यद्वा, तादृशक्रीड़ाकौतुकं दृष्ट्वा भगवदीया देवविशेषा अपि गोपरूपा भूत्वा नभःस्था भूमिष्ठा वा प्रहर्षेण स्तुवन्ति स्मेत्याह—गोपेति। ततश्च रंगे नटानामिव गोपरूपिणं स्तवार्थं तत्र गोपतया साम्याभिप्रायेण नटदृष्टान्तः॥ ११॥ भ्रामणानि यंत्रादीनाम्, अन्योऽन्यं वा हस्तग्रहणादिना, अन्येषां केषाञ्चिद् वा गोपानां तैः क्षेपैः क्षेपणैः कन्दुकादीनां भ्रामणवद्वा, आस्फोटनैः करतलाघातादिभिः, विकर्षणैराकर्षणैः पाशादीनां तद्वद्वा, नियुद्धेन मल्लवद्वायुद्धेन, काकपक्षः केशगुम्फितवेणीत्रयमिति केचिदाहुः, क्वचिदित्यस्य भ्रामणादिभिः सह प्रत्येकमन्वयः। यद्वा, शक्तिविशेषेण युगपदेवान्यालक्षितं तैस्तैश्चिक्रीड़तुरिति पूर्व्ववदैश्वर्य्यं ज्ञेयम्, यद्वा, तैस्तैर्यन्नियुद्धं ततश्च तत्तदर्थीऽग्रे रंगस्थल्यां मल्लयुद्धे व्यक्तो भावि॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः प्रवालादिभिः कृतानि भूषणानि यैः तथाभूताः रामकृष्णादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्मिथो बाहुभिर्जगुश्च॥ ९॥ तत्र कृष्णस्य नृत्यतः सतः केचिद्गोपाः जगुः केचिच्च वेण्वादिभिरवादयन् केचिच्च प्रशशंसुः॥ १०। गोपजातिप्रतिच्छन्नौ साक्षादीश्वरावतारभूतौ रामकृष्णौ गोपालरूपिणौ देवा ईडिरे तुष्टुवुः हे नृप! नटं नटा इव॥ ११॥ भ्रामणादिभिर्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन काकपक्षधरौ रामकृष्णौ क्वचिच्चिक्रीडतुः काकपक्षाश्चूडाकर्मणः प्राक्तनकेशाः तत्र भ्रामणं नाम जिघृक्षतः प्रतिद्वन्द्विजनादात्मानं कौशलेन वञ्चयता परितस्तत्सञ्चारणं लङ्घनमासन्नस्य प्रातस्य ग्रहणस्य वञ्चनार्थं लाघवेनेतस्ततो वलगनं स्वगृहीतस्य भूमौ पातनं क्षेपः करतलमुं जैर्व्याघातः आस्फोटनं बलपरीक्षार्थमन्योन्यमाकर्षणं विकर्षणम्॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

धातुर्गैरिकः॥ ९–११॥ भ्रामणैः मण्डलाकारेण तित्तिरैर्लङ्घनैर्दशपदान्युत्पतनैः क्षेपैः आक्षेपवचनैः पाषाणक्षेपणैर्वा आस्फोटनैः एकं हस्तं द्विगुणीकृत्येतरेण पाणिना स्फालनानि आस्फोटनानि तैः परस्परैः पाणिना पाणिमवलम्ब्याकर्षणं विकर्षणं नियुद्धेन मल्लयुद्धेन काकपक्षधरौ अकृतचौलकेशधारिणौ त्रिवृत्कृतवेणीधारिणावित्यर्थः॥ १२–१३॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

प्रशंसनीयमहिमद्योतनाय प्रशंसकान् प्रशंसति—गोपेति। गोपाः श्रीकृष्णोगासनपटलादौ तद्वदुपास्यत्वेन प्रसिद्धाः श्रीदामसुदामवसुदामादयः इति समानमहिमत्वं व्यञ्जितं तर्हि कथं कैश्चित्तादृशमहिमत्वेन न ते प्रतीयन्ते, कथं वा भवद्भिः प्रतीयन्ते? तत्राह—देवा अपि गोपजात्यैव प्रतिच्छन्ना गुणादिभिस्तु स्पष्टाः ननु, तेषां गोपजातित्वं कुतस्तत्राह गोपालरूपिणमिति नित्ययोगे मत्वर्थीयः ततस्तदत्यन्ताभीष्टत्वं तस्य रूपस्य दर्शयित्वा तेषां त्वदनुरूपत्वं दर्शितम्॥ ११–१५॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गोपा इति रामस्यापि गोपाभिमानत्वात्॥ ९॥ कृष्णस्य नृत्यतः कृष्णे नृत्यति सतीत्यर्थः कृष्णगोपासकैः भक्तैरुपास्यत्वादागमादिषु तथा प्रसिद्ध्या च देवाः किन्तु गोपजात्या प्रतिच्छन्ना इति तेषां देवानामपि गोपजातित्वमित्यर्थः। यद्वा, गोपजातिषु कृष्णसखेषु मध्ये एव प्रतिच्छन्ना नरवेषेण भवनारदादयो भक्तास्तल्लीलास्वादार्थमित्यर्थः गोपालरूपिणमिति नित्ययोगे इति॥ १०–११॥ आस्फोटनैः करतलेन भुजमूलाघातैः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन काकपक्षाश्चूडाकरणात् प्राक्तनाः केशा इति स्वामिचरणाः केशगुम्फितवेणीत्रयमिति केचित् कर्णाग्रलम्बिवक्रालका इत्यन्ये॥ १२–१३॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

काकपक्षधरौ चूडाकरणात्प्राक्तनाः केशाः लोके काकपक्षाः प्रसिद्धाः तदाकारतां नीताः "हिरण्यकेशः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धाः सनातनाः ये केशास्तद्धरौ॥ १२–१३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गोपा इति रामस्यापि गोपत्वाभिमानात् ॥ ९ ॥ तत्र वैदेशिकयोरिव नटवेषेण श्रीदामसदसि सगणमागतयोः श्रीकृष्णरामयोः प्राधान्यादादौ श्रीकृष्णस्य नृत्यमाह—कृष्णस्येति । कृष्णे नृत्यति सतीत्यर्थः । रामेऽपीति च बोध्यम् । वेणुभिः पाणितलैश्च अपरे श्रीदामादयः सदस्यतयः अथ कार्त्स्न्ये प्रशशंसुः कुसुमावतंसादिपारितोषिकञ्च दद्युरिति बोध्यम् ॥ १० ॥ तन्नृत्यदर्शनार्थं शिवनारदादयश्च तत्रागत्य इत्याह - गोपजातिषु कृष्णसखेषु तद्दिवसानागतगोपाकृतिवेषः प्रतिच्छन्नाः पिहिता देवा गोपालरूपिणं शृङ्गवेणुधरं कृष्णं रामञ्च ईडिरे तुष्टुवुः नित्ययोगे इनिः ॥ ११ ॥ अथ युद्धकौतुकमाह—भ्रामणैरिति । मिथो हस्तग्रहादिना भ्रामणैः लङ्घनैरधोनिपात्यारोहणैः क्षेपैः प्रतिलोमविनोदनैः आस्फोटनैः करतलेन भूजमूलाघातैः विकर्षणैराकर्षणैः नियुद्धेन भुजयुद्धेन काकपक्षः केशगुम्फितवेणीत्रयीत्येके कर्णाग्रलम्बिवक्रालका इत्यपरे ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

केचिदवादयन्वेणुं पाणितलैः शृङ्गैरवादयन्नरे प्रशशंसुस्तव वादनं समीचीनमित्यस्तुवन् ॥ ९ ॥ नटानटमिव कृष्णरामावीडिरे । नटमित्येकवचनेन वले कर्मत एतद्घटनं विघटनं च कृष्ण इति सूचयति ॥ १० ॥ भ्रामणैरेकस्य हस्तं गृहीत्वैकेन मण्डलाकारेण परिवर्तनानि तैः लङ्घनैः पादनियतगोप्लवनैः क्षेपैर्गृहीत्वैकं पिण्डीकृत्य प्रक्षेपैरास्फोटनैर्भुजोर्वादिहस्तताडनैर्विकर्षणैराकर्षणैर्नियुद्धेन बाहुयुद्धेन चिक्रीडतुः । उभौ काकपक्षधरौ धरत इति धरौ काकपक्षस्य धरौ । काकपक्षः शिखण्डक इत्यमरः । शिरःपार्श्वद्वयतः कर्णपर्यन्तं धार्यः केशसंवेश इत्यर्थः ॥ ११ ॥ स्वयं रामकृष्णौ ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

सामान्यतः प्रथमतः क्रीडामाह सर्वेषां **प्रवालेति**, **प्रवालानि** पल्लवानि **बर्हस्तबकानि** पुष्पगुच्छानि **स्रजः** पुष्पमाला **धातवो** गैरिकादयस्तैः **कृतानि भूषणानि** यैः, पञ्चधा हि वनभूषणानीति गणितानि, साधारणक्रीडात्वात् **कृष्णरामौ** रामकृष्णौ वादियेषां ते **गोपा ननृतुर्** मनोविलासं कृतवन्तः, **युयुधुर्** देहविलासं **जगुर्** वाग्विलासम् ॥ ९ ॥ भगवतो लीलामाह **कृष्णस्येति**, शिक्षार्थं लोके नृत्यप्रसिद्ध्यर्थं च भगवतो **नृत्यतः** सतो नृत्याङ्गभूते गीतवाद्ये अन्ये कृतवन्तः, **केचिज् जगुः केचिदवादयन्निति**, **वेणुः** श्रुतिपूरकः, **पाणिः** शङ्खवन्नादं करोति, **दलान्य**श्वत्थपत्रादीनि गोमुखवच्छब्दं कुर्वन्ति, **शृङ्गाणि** चावादयन्, **अथापरे प्रशशंसु**र्भिन्नप्रकारेण, नृत्यसम्बन्धप्रशंसातः स्वतन्त्रप्रशंसा भिन्ना ॥ १० ॥ नन्वेते कथं प्रशंसादिकं कृतवन्तो ज्ञाने प्रशंसासम्भवाज् ज्ञाने महतो लीलायां प्रशंसानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह **गोपजातिप्रतिच्छन्ना** इति, यथा भगवान् प्रतिच्छन्न एवं भगवत्सेवका अपि गोपजात्या प्रतिच्छन्ना जाताः, इदानीमेव गोपवेषं कृत्वा समागता इत्याशङ्कां व्यावर्तयति **गोपालरूपिण** इति गोपरूपयुक्तास्तथैवोत्पन्नास्तेष्वाविष्टाश्चातः **कृष्णरामावीडिरे**, तथापि सेवकानां कथमेवं धाष्ट्र्यमत आह **नटा इव नटं नृपेति नटा** हि **स्वामिसेवकभावं परित्यज्यान्योन्यं प्रशंसन्ति** तद्वदित्यर्थः ॥ ११ ॥ पुनर्भगवतो नानाविधक्रीडामाह **भ्रामणैरिति**, मल्लयुद्धे ह्येते प्रकाराः, अन्योन्यहस्तस्पर्शनेन भ्रमन्ति हस्तद्वयं धृत्वा वा भ्रामयन्ति, एतद् बालानामपि भवति, **तथोल्लङ्घनानि**, उच्चैर्भूमौ गर्तादिषु च मल्लानां वोलङ्घनं, **क्षेपः** प्रक्षेपः, तिरस्कारादिर्वा, **आस्फोटनं** बाहुस्फोटनं **विकर्षणं** नियमस्थाने बलान्नयनं, एवं पञ्चविधा लीला, **चिक्रीडतुः** क्रीडां कृतवन्तौ बाहुयुद्धे, **क्वचित् काकपक्षधरौ** कृतचूडाकरणौ, कियत्कालमेव हि चूडाकरणानन्तरं केशांस्तत्तद्देशेषु क्वचित्क्वचित् स्थापयन्ति ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

प्रवालेत्यत्र ते सर्वे इति अतद्गुणसंविज्ञानमादाय गोपा एव न तु भगवानित्यर्थः, भगवल्लीला त्वग्रिमश्लोके वक्ष्यत इति भावः ॥ ९ ॥ कृष्णस्येत्यस्याभासे **भगवत** इति ज्ञानस्य प्रशंसायाश्च वाग्विलासमिति पूर्वोक्तत्वेन वादनस्य च देहविलासमिति पूर्वोक्तत्वेन न ते वाक्यार्थभूते किन्तु कृष्णनृत्यमेव वाक्यार्थः, गानवादने तु तदङ्गत्वेन निरूपिते दध्ना जुहोतीतिवदितिभावः, व्याख्याने, **शिक्षार्थमिति** गोपान् शिक्षयितुमित्यर्थः, **लोके** इति भगवदीयेष्वित्यर्थः, भगवदीया अन्यत्रापि नृत्यं दृष्ट्वा भगवन्तमेव स्मरन्तीतिभावः, **दलैः शृङ्गैरिति** तृतीया द्वितीयार्थे व्यत्ययेनेत्याशयेनाहुः **शृङ्गाणि चेति** ॥ १० ॥ **गोपजातीत्यत्र** देवपदेन नित्यलीलास्था गोपा इत्याशयेनाहुर्**भगवत्सेवका** इति, **तेष्वाविष्टा** इति **प्रतिच्छन्ना आविष्टा** इत्यर्थः । **तथा**ऽपीति नित्यलीलास्थत्वेपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरधरलालकृता बालप्रबोधनी

सुवर्णरत्नादिभिर्मातृभिर्भूषिता अपि प्रवालादिभिः कृतानि भूषणानि येस्तथाभूता रामकृष्णादयो गोपाः ननृतुः, मिथो युयुधुः, जगुश्च ॥ ९ ॥ तत्र श्रीकृष्णस्य मुख्यत्वं सूचयन्नाह–कृष्णस्येति । कृष्णस्य नृत्यतः सतः केचिद्गोपा जगुः । केचिद्वेण्वादीनि

अवादयन्। अपरे च प्रशशंसुः ॥ १० ॥ गोपजातिप्रतिच्छन्ना भगवल्लीलामाधुर्यास्वादनार्थं गोपजातिषु तस्य सखिषु तद्वेषेणावतीर्णा अत एव गोपालरूपिणः देवाः कृष्णरामौ च गोपालरूपिणौ ईडिरे। तत्र दृष्टान्तमाह–नटा इव नर्टमिति। 'भवता बहुशः स्तुतिप्रस्तावोऽनुभूत एव' इति सम्मतिं सूचयन् सम्बोधयति–नृपेति ॥ ११ ॥ एवं नृत्यं वर्णयित्वा युद्धं वर्णयति–भ्रामणैरिति। काकपक्षः कर्णाग्रलम्बिवक्रालकास्तद्धरौ क्वचित्। भ्रामणादिभिः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन च चिक्रीडतुरित्यन्वयः। परस्परकरग्रहणेन भ्रामणैर्गर्तादिलङ्घनैः क्षेपैः प्रतिलोमप्रेरणैः, आस्फोटनैः करतलेन भुजमूलाघातैः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

प्रवालेति ॥ सुवर्णरत्नादिभिर्मातृभिर्भूषिता अपि प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुभिः कृतानि भूषणानि यैस्तथाभूता रामकृष्णादयो गोपाः रामस्यापि गोपालनात् गोपत्वाभिमानाद्वा गोपत्वं ननृतुः मिथो युयुधुः। तङभाव आर्षः। जगुश्च ॥ ९ ॥ कृष्णस्येति। नृत्यतः कृष्णस्य अग्रे केचिद्वेणुपाणितलैः शृङ्गैश्च अवादयन्। कर्मणः करणत्वविवक्षा। अथ अपरे च प्रशशंसुः ॥ १० ॥ गोपेति ॥ हे नृपते! गोपजातिषु भगवता लक्षितेषु प्रतिच्छन्नाः तद्वेषेणावतीर्णाः गोपालरूपिणः देवा नटाः नटमिव कृष्णरामौ गोपालरूपौ कर्मभूतौ ईडिरे। आमभाव आर्षः ॥ ११ ॥ भ्रामणैरिति ॥ काकपक्षाश्चूडाकरणात्प्राक्तनकेशाः कर्णालम्बिवक्रालका वा केशगुम्फितवेणीत्रयमिति केचित् तद्धरौ तौ क्वचित् परस्परकरग्रहणेन भ्रामणैर्गर्तादिलङ्घनैः क्षेपैः आस्फोटनैः करतलेन भुजमूलाघातैः विकर्षणैः नियुद्धेन बाहुयुद्धेन च चिक्रीडतुः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

प्रवालादिभिः कृतभूषणाः ॥ ९ ॥ ताडितैः पाणितलैः शृंगैः शब्दमकुर्वन् ॥ १० ॥ प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ॥ ११ ॥ भ्रामणैरन्योन्यं हस्तग्रहादिभिः लंघनैरधोनिपात्यारोहैः क्षेपैः दूरे प्रक्षेपणैः आस्फोटनैः करतलेन बाहु ताडनैश्च काकपक्षधरौ कर्णसमीपे दीर्घकेशधरौ यद्वा चूडाकरणात्प्राक्केशाः काकपक्षाः ॥ १२–१३ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रवालेति। प्रवालानि किसलयाश्च बर्हाणि मयूरपिच्छानि च स्तबका गुच्छाश्च स्रजश्च धातवो गैरिकादयश्च तैः कृतानि भूषणानि यैस्तथाभूताः, रामकृष्णादयः गोपाः, ननृतुर्नैकधा नृत्यान्याचरन्। युयुधुः बाहुभिर्मिथोऽयुद्ध्यन्त। जगुर्नानाविधतया गानं चक्रुः ॥९॥ कृष्णस्येति ॥ तत्र कृष्णस्य, नृत्यतः सतः, केचिद्गोपाः जगुरगायन्। केचित् वेणुपाणितलैः, शृङ्गैश्च, अवादयन्। अथ अपरे, प्रशशंसुश्च ॥ १० ॥ गोपेति ॥ गोपजातिप्रतिच्छन्नाः, गोपालरूपिणः, देवाः, हे नृप, नटाः नटम् इव, कृष्णरामौ, ईडिरे तुष्टुवुः। क्वचित्तु गोपजातिप्रतिच्छन्नाविति पाठस्तदेतद्रामकृष्णयोर्विशेषणम्। अयमेव पाठः साधीयानिति प्रतिभाति। कुतः गोपजातिप्रतिच्छन्ना इत्यनेनैव गोपालरूपिण इत्यर्थबोधात् कृष्णरामविशेषणस्यैव युक्तत्वात् ॥ ११ ॥ भ्रामणैरिति ॥ काकपक्षधरौ रामकृष्णौ, क्वचित् भ्रामणैः, लङ्घनैः, क्षेपैः, आस्फोटनानि च विकर्षणानि च तैः, नियुद्धेन च, चिक्रीडतुः। तत्र भ्रामणं नाम प्रतिद्वन्द्विजनादात्मानं कौशलेन वञ्चयता परितस्तत्संचारणं, लङ्घनमासन्नस्यात्मग्रहणस्य वञ्चनार्थं लाघवेनेतस्ततो वलगनं, क्षेपो नाम गृहीतस्य भूमौ पातन, स्फोटनं नाम करतलैर्भुजयोराघातः, विकर्षणं नाम वलगनपरीक्षार्थमन्योन्याकर्षणं, केचित्तु भ्रामणैर्मण्डलाकारेण परिभ्रामणैः, लङ्घनैर्दशपदान्युत्पतनैः, क्षेपैराक्षेपवचनैः, पाषाणक्षेपैर्वा। आस्फोटनैः एक हस्तं द्विगुणीकृत्येतरेण पाणिना स्फालनैः, विकर्षणानि परस्परपाण्यवलम्बनपूर्वं समाकर्षणानि तैरित्याहुः। गोपालानन्दस्वामिचरणास्तु भ्रामणैरन्योन्यं हस्तग्राहादिभिः, लङ्घनैरधो निपात्यारोहैः, क्षेपैर्दूरे प्रक्षेपणैः, आस्फोटनैः करतलेन बाहुताडनैः, विकर्षणैराकर्षणैरित्याहुः ॥१२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

काकपक्षधराविति १०.१८.१२.

हंसपक्षाश्रितेनापि काकपक्षावलम्बनात्। व्यक्तीकृतमिहेशेन सर्वेषु समदर्शनम् ॥ ७ ॥

कृष्णप्रिया

राम, श्याम और ग्वालबालों ने नव पल्लवों, मोरपंख के गुच्छों, सुन्दर सुन्दर पुष्पों के हारों और गेरु आदि रंगीन धातुओं से अपने को भाँति-भाँति से सजा लिया। फिर कोई आनन्द में मग्न होकर नाचने लगा, तो कोई ताल ठोंककर कुश्ती लड़ने लगा और किसी-किसी ने राग अलापना शुरू कर दिया ॥ ९ ॥ जिस समय श्रीकृष्ण नाचने लगते, उस समय कुछ ग्वालबाल गाने लगते और कुछ बाँसुरी तथा सींग बजाने लगते। कुछ हथेली से ही ताल देते, तो कुछ 'वाह–वाह' करने लगते ॥ १० ॥ परीक्षित्, उस समय नट जैसे अपने नायक की प्रशंसा करते हैं, वैसे ही देवतालोग ग्वालबालों का रूप धारण करके वहाँ आते

और गोपजाति में जन्म लेकर छिपे हुए बलराम और श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगते ॥ ११ ॥ घुँघराली अलकों वाले श्याम और बलराम कभी एक दूसरे का हाथ पकड़कर कुम्हार के चाक की तरह चक्कर काटते घुमरी-परेता खेलते कभी एक दूसरे से अधिक फाँद जाने की इच्छा से कूदते कूँड़ी डाकते, कभी कहीं होड़ लगाकर ढेले फेंकते तो कभी ताल ठोंक ठोंककर रस्साकसी करते एक दल दूसरे दलके विपरीत रस्सी पकड़कर खींचता और कभी कहीं एक दूसरे से कुश्ती लड़ते लड़ाते। इस प्रकार तरह-तरह के खेल खेलते ॥ १२ ॥

क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् । शशंसतुर्महाराज साधु साध्विति वादिनौ ॥ १३ ॥
क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः[1] । [2]अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४ ॥
क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैरुपहासकैः । [3]कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥ १५ ॥
एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वने । नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु [4]सरित्सु च ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—महाराज क्वचित् अन्येषु नृत्यत्सु स्वयम् गायकौ वादकौ च साधु साधु इति वादिनौ प्रशंसतुः ॥ १३ ॥ क्वचित् बिल्वैः, क्वचित् कुम्भैः, च क्व च आमलकमुष्टिभिः, क्व च अस्पृश्य क्वच नेत्रबन्धाद्यैः क्वचित् मृगखगेहया चिक्रीडतुः ॥१४॥ क्वचित् दर्दुरप्लावैः, च विविधैः उपहासकैः, कदाचित् स्पन्दोलिकया, क्वचित् नृपचेष्टया चिक्रीडतुः ॥ १५ ॥ एवम् तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिः नदी अद्रि द्रोणि कुञ्जेषु काननेषु च सरित्सु वने चेरतुः ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कुंभैः कुंभवृक्षफलैः । अस्पृश्यत्वं नेत्रबंधश्च तदाद्यैः । मृगाणां खगानां च चेष्टया ॥ ४० ॥ दर्दुरप्लावैर्मंडूकप्लुतिभिः । स्पंदोलिकया दोलालंबनेन नृपाणामिव लीलया ॥ १५ ॥ नद्योऽद्रिद्रोणयः कुंजानि च एतेषु ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्वयम् रामकृष्णाविवत्यर्थः ॥ १३ ॥ "कुंभोलूखलके क्लीबे कौशिको गुग्गुलुः पुमान्" इत्यमरः । वर्तुलं कुंभफलम् । पृष्ठतो धावनात्स्प्रष्टुमप्यशक्यं त्वं मां स्पृशेत्युक्त्वा पुरतो लीलया धावति यत्र तद् स्पृश्यक्रीडनम् । वस्त्रेण नेत्रमाच्छाद्य मां स्पृशेति निगद्य तं मुक्त्वा पुरतो भ्रमणं नेत्रबंधलीला । दूरांतरप्रदेशे स्थितं वृक्षं लक्ष्यीकृत्योभाभ्यां प्राग्वृक्षस्पर्शी विजयी स्यादिति क्रीडा धावनसंज्ञेत्याद्यपदाद्ग्राह्या । स्पर्शस्यादित्सा चिकीर्षाभ्यां या क्रीडा, तत्र स्प्रष्टुर्जयोऽस्प्रष्टुः पराजयः, अलक्षितमेव पृष्ठदेशमानाद्य पाणिभ्यां नेत्रबंधकम्, परिचेतुर्जयोऽन्यथा पराजयः । सर्वत्र जयपराययोर्मुरलीवेत्रादिरेव ग्लहः ॥ १४ ॥ कदाचित् श्रावणशुक्लतृतीयामारभ्येत्यर्थः । नृपचेष्टया दानघट्टे नृपस्येव चेष्टा घट्टकरजिवृक्षया व्रजबालानिरोधस्तयः । उपहासकैः—शृणु भो अहं ते पितास्मि त्वं श्यालोसीत्येवमाकारकैर्हास्यजनकैर्वचनैः ॥ १५ ॥ एवम् उक्तविधया । तौ रामकृष्णौ । द्रोणी निम्नसानुस्थलम् । यद्वा द्रोण्योऽद्रिसंधयः "काष्ठाणारेंबुवाहिन्यां शैलसंधौ च योषिति । द्रोणी न स्त्री मानभेदे द्रोणः काके कृपापतौ ॥" इति त्रिकांडशेषात् । अंतर्लतानिबद्धो मंडपः कुंजः "निकुंज कुंजौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" इत्यमरः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ नियुद्धश्रमानन्तरं कौतुकेन स्वयं नाट्यगुरूपमाणाभ्यां गानादिकमपि कुर्वद्भ्यां श्रीरामकृष्णाभ्यां प्रशस्यमानानामन्येषामपि नृत्यमाह—क्वचिति । चकारः पूर्वोक्तश्रीकृष्णनृत्यापेक्षया साधुसाध्विति वादिनौ सन्तौ शशंसतुः तत्तद्गतिविशेषं विशिष्य श्लाघां चक्रतुः एवं निर्भरक्रीडारसो दर्शितः महाराज! हे राजवर्गमध्ये श्रीकृष्णभक्तिविशेषेण परमश्रेष्ठेति भवानेवेदं श्रोतुमर्हतीति भावः । एवं नृत्यमिश्रगानानुसारेण क्रमप्राप्तं तदमिश्रगानमप्यूह्यमिति प्रकरणाभिप्रायः ॥ १३ ॥ अन्या अपि युद्धादिविचित्रलीलाः सङ्गृह्णाति-क्वचिदिति त्रिकेण । बिल्वादिभिः कृत्वा याः क्रीडास्ताभिश्चेरतुः एवं लोकसिद्धाभिरन्याभिश्च क्रीडाभिश्चेरतुरित्यन्वयः ॥ १४ ॥ उपहासकैर्हास्यजनकैः विचित्रानुकरणादिभिः क्वचिदिति द्विरावर्त्तनीयं नृपचेष्टया गिरिशिलासिंहासनासनकौसुमच्छत्रचामरादिपरिच्छदत्वपात्रपुरःसरत्वादिमय्या ॥१५॥ नद्यः अद्रयः द्रोण्यश्चाद्रिसन्धयः "काष्ठागारेऽम्बुवाहिन्यां शैलसन्धौ च योषिति । द्रोणी न स्त्रीमानभेदे द्रोणः काके कृपीपतौ" इति त्रिकाण्डशेषात् वने श्रीवृन्दावने काननेषु तदन्तर्गतेषु काम्यकवनादिषु तत्र तयोर्विहारो वेषविशेषश्चोक्तः श्रीहरिवंशे —

---

१. शुक्तिभिः—वीर. । २. आस्पृश्य—इति कस्यचित् । ३. क्वचित्तथान्दो—विज. ; कदाचिदान्दो—वीर. । ४. सरस्सु—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ।

"चारयन्तौ विवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ। स्फीतशष्पप्ररूढानि वीक्ष्यमाणौ वनानि च॥
क्ष्वेडयन्तौ प्रगायन्त्यौ विचिन्वन्तौ च पादपान्। नामभिर्व्याहरन्तौ च सवत्सा गाः परन्तपौ॥
निर्योगपाशैरासक्तैः स्कन्धाभ्यां शुभलक्षणौ। वनमालाकुलोरस्कौ बालशृङ्गाविवर्षभौ॥
सुवर्णाञ्जनवर्णाभ्यामन्योन्यसदृशाम्बरौ। महेन्द्रायुधसंसक्तौ कृष्णशुक्लाविवाम्बुदौ॥
कुशाग्रकुसुमानां च कर्णपूरं मनोहरम्। वनमार्गेषु कुर्वाणौ वन्यवेषधरावुभौ"॥ इति॥ १६॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पूर्वं गोपानां श्रीकृष्णसन्तोषणपरतोक्ता, इदानीं तयोस्तत्सन्तोषणपरतामाह—क्वचिदिति; स्वयं स्वेच्छयैवेत्यर्थः। एवं निर्भरक्रीडारसो दर्शितः। महाराज हे राजवर्गमध्ये श्रीकृष्णभक्तिविशेषेण परमश्रेष्ठेत्यर्थः। अतः परमाद्भुतं तस्य हृशं भक्तवात्सल्यं भवानेव श्रोतुमर्हतीति भावः॥१३॥ आद्यशब्दात् निलायनसेतुबन्धादयो द्युतकुक्कुटयुद्धादयश्च, तथा मध्याह्ने श्रीभगवतो विश्राम-समये गोरसविक्रयणादिच्छलेनानतिदूरे सगीतं व्रजन्तीनां श्रीवल्लवीनां वर्त्मरोधनदध्यादिकहरणं नौकयोत्तारणादिकञ्चेत्यादि-लोकप्रसिद्धा ज्ञेयाः॥ १४॥ उपहासकैर्हास्यजनकैर्विचित्रबहुरूपधारणविविधानुकरणादिभिर्लोकेषु प्रसिद्धाभिर्वर्त्तमानाभिर्वा, यावत्यो लोकेषु सन्ति, ताभिरेव सर्वाभिरित्यतः किं तत्तत्संज्ञादिविशेषवर्णनेनेति भावः। वने श्रीवृन्दावने, काननेषु तदितरेषु तदन्तर्गतेषु वा काम्यकरनादिषु, तत्र तयोर्विहारवेशविशेषश्चोक्तः श्रीहरिवंशे (विष्णु० प० १४।२–६)—

"चारयन्तौ विवृद्धानि गोधनानि शुभानि च। स्फीतशस्यप्ररूढानि वीक्षमाणौ वनानि च॥
क्ष्वेडयन्तौ प्रगायन्तौ प्रचिन्वन्तौ च पादपान्। नामभिर्व्याहरन्तौ च सवत्सा गाः परन्तपौ॥
निर्योगपाशैरासक्तैः स्कन्धाभ्यां शुभलक्षणौ। वनमालाकुलोरस्कौ बालशृंगाविवर्षभौ॥
सुवर्णाञ्जनचूर्णाभावन्योन्यसदृशाम्बरौ। महेन्द्रायुधसंसक्तौ कृष्णशुक्लादिवाम्बुदौ॥
कुशाग्रकुसुमानाञ्च कर्णपूरौ मनोरमौ। वनमार्गेषु कुर्वाणौ वन्यवेशधरावुभौ॥ इति॥ १६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

क्वचिदन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च भूत्वा हे महाराज! साधुसाध्विति वदन्तौ सन्तौ प्रशशंसतुः॥ १३॥ क्वचिद्विल्वादिभिरित्येवं लोकप्रसिद्धाभिर्बालक्रीडाभिः रामकृष्णौ विचेरतुः सञ्चरितवन्तौ इति त्रयाणामन्वयः। कुम्भो नाम वृक्षविशेषस्तस्य फलैः गुच्छैरिति पाठान्तरम् आमलकैः शुक्तिभिः कालिन्दीपुलिनगतमुक्तास्फोटैश्च अस्पृश्यम् आवां मिथो न स्पृश्यौ इति भाषाबन्धनेन तदनुकूलं कर्म नेत्रबन्ध आगमिष्यतो नामकथनार्थं पाणिभ्यां कस्यचिन्नेत्रप्रच्छादनं मृगाणां खगानां चेष्टया तत्सजातीयचेष्टया॥ १४॥ दर्दुरप्लावैः मण्डूकप्लुतिभिरुपहासकैः परिहासकवाक्यैः आन्दोलिकया तदाकारदोला-लम्बनेन नृपाणामिव लीलया च॥ १५॥ नद्यादिषु रामकृष्णयोर्गोपैः सह पशूंश्चारयतोः गोपरूपी प्रलम्बोऽगादित्युत्तरेणान्वयः। द्रोणः पर्वतसन्धिप्रदेशः तज्जिघांसया रामकृष्णहननेच्छया॥ १६–१७॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कुम्भैः कुम्भफलैः वर्तुलाकारैः "कुम्भोलूखलके क्लीबे कौशिको गुग्गुलः पुमान्" इत्यमरः। पृष्ठतो धावनात्स्प्रष्टुमशक्यं त्वं मां स्पृशेत्युक्त्वा पुरतो लीलया धावतीति यत्तदिदमस्पृश्यक्रीडनं वस्त्रेण नेत्रमाच्छाद्य मां स्पृशेति निगद्य तं मुक्त्वा पुरतो भ्रमणं नेत्रबन्धलीला दूरान्तरप्रदेशे स्थितं वृक्षं लक्षीकृत्योभाभ्यां प्राग्वृक्षस्य स्पर्शी विजयी स्यादितीयं क्रीडा धावनसंज्ञेत्यादिकमादिपद-गृहीतम्॥ १४॥ दर्दुरप्लावैः मण्डूकवदुत्पतनैः॥ १५॥ द्रोणो निम्नसानुस्थलं अन्तर्लतानिविडो ह्रस्वादिकुञ्चः "निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे" इत्यमरः॥ १६–१८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

द्रोण्यश्चाद्रिसन्ध्यः ह्रस्वान्तत्वं विचार्यं काननेषु अन्तर्वनेषु॥ १६–२०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

क्वचिद्विल्वैरिति निःक्षिप्यमाणयोर्बिल्वफलयोः परस्पराघातः एवं कुम्भैः कुम्भवृक्षफलैः अस्पृश्येति स्पर्शस्य अदित्साचि-कीर्षाभ्यां क्रीडा तत्र स्पर्शकर्तुर्जयः स्पर्शकर्मणः पराजयः अलक्षितमेव पृष्ठदेशमासाद्य पाणितलाभ्यां नेत्रबन्धकं परिचिनोति चेत् पराजयः सर्वत्र जयपराजययोर्मुरलीवेत्रादिरेव ग्लहः खगमृगेहयेति खगाद्याकृतिमतां मिथो युद्धकूजितादिकं कदाचित् श्रावणशुक्ल-तृतीयामारभ्य स्पन्दोलिकया दोलान्दोलनेन नृपचेष्टया दानघट्टप्रदेशे नृपस्येव चेष्टाघट्टकरजिघृक्षया व्रजबालानिरोधस्तया द्रोण्य-श्चाद्रिसन्धयः॥ १४–१६॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कुम्भैः कुम्भवृक्षफलैः ॥ १४-१६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ नियुद्धानन्तरमुपविष्टाभ्यां कौतुकेन स्वयं नाट्याचार्यायमाणाभ्यां गानादिकञ्च कुर्वद्भ्यां श्रीरामकृष्णाभ्यां प्रवेश्यमानानां श्रीदामादीनां नृत्यमाह-क्वचिदिति। शशंशतुरिति रत्नहारादिकञ्च ददतुरिति बोध्यम्॥ १३॥ अन्यांश्च युद्धादिलीला संगृह्णाति क्वचिदिति त्रिभिः। क्षिप्यमाणयोर्विल्वफलयोरन्योन्याघातोऽयमाहवः एवं कुम्भैः कुम्भतरुफलैः अस्पृश्येति स्पर्शादित्साचिकीर्षाभ्यां क्रीड़ैकास्पर्शकर्त्तृ कर्मणोः क्रमेण जयपराजयौ नेत्रबन्धेति अलक्षितमेव पृष्ठदेशमासाद्य करतलाभ्यां नेत्रपिधानमेका क्रीड़ा पिधानकर्त्तुः परिचये पराजयः सर्वत्र जयपराजययोर्वेगुवेत्रादिरेव ग्रहः क्वचित् खगेति खगाद्याकृतिमतां मिथो युद्धकूजितादि रूपका क्रीड़ा चिक्रीड़तुरिति सम्बन्धः एवं परत्र ॥ १४॥ दर्दुराणामिव प्लावैर्निर्झराणां कूर्दनैः उपहासकैर्हास्यजनकैः विचित्रानुकरणादिभिः कदाचित् श्रावणशुक्लतृतीयामारभ्य स्पन्दोलिकया दोलान्दोलनेन नृपचेष्टया गिरिशिलासिंहासनाधिष्ठानकौसुमच्छत्रचामरादिपरिच्छदत्वं पात्रपुरःसरत्वादिरूपया ॥ १५॥ अद्रीणां द्रोणयः सन्धयः एषा लीला सर्वेश्वरस्य हरेः स्वसमानगुणैर्भक्तैः सह माधुर्यप्रधानायां वृन्दाटव्यां प्रादुर्भवन्ती परितोषैकहेतुर्वैकुण्ठादिधामस्वैश्वर्यप्रधानेषु तु दुर्लभा निखिलोर्वीपतेरुग्रशासनस्यापि क्वचिदतिरम्ये विजने पञ्चषैर्मित्रैः सहोच्चावचाक्रीड़ातिसुखैकहेतुर्दृश्यते अन्यथाङ्गेषु जीर्यमाणाः कला वैमनस्याय स्युः ॥ १६॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कुम्भैर्वर्तुलाकारफलवान् गुग्गुलवृक्षः। कुम्भोलूखलकं क्लीवे कौशिको गुग्गुलः पुमानित्यमरः। कुम्भेति सङ्घातविगृहीतकार्मुके वारतार्यां च कुम्भः। क्लीवं तु गुग्गुलाविति रभसः। उलूखले गुग्गुली च क्लीव कुम्भमुलूखलमिति रुद्रः। कुम्भोलूखलं कुम्भकुम्भोलूखलकं वरमिति वाचस्पतिः। क्वच क्वाप्यामलकमुष्टिभिरामलकपूर्णमुष्टिभिरस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः पृष्ठतोऽनुगतोऽस्पृश्यं मां स्पृशेति समयबन्धं कृत्वा पुरोगमनक्रीडया स्पृश्येत्येकदेशोक्त्या ग्राह्यः। नेत्राच्छादनादिपदेन हस्तप्रतित्याजनादिकं ग्राह्यम्। क्वापि मृगखगेहया तच्चेष्टया ॥१३॥ दर्दुरप्लावैर्मण्डूकप्लवनैर्मर्कटमुखवन्मुखविकसनादिभिरान्दोलिकया परस्परं द्वयोर्बाह्वोः प्रसरणकृतान्दोलिकया नृपचेष्टयाऽहं नृपो भवानि त्वं ममात्यो भवेत्यादिव्यापारेण ययातिशापेन भूपतित्वाभावादिदमपदेशेन किञ्चित्तत्सुखमनुभविष्याव इति लीलामेलतां लालयामासुरिति भावः॥ १४॥ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिर्नद्यश्चाद्रयश्च द्रोणयः काष्ठाम्बुवाहिन्यः। द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनोति विश्वः। ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोरिति ह्रस्वः। कुञ्जो गुल्मविशेषो लतापिहितस्थानं। निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदर इत्यमरः। चेरतुः॥ १५॥ इदानीं शेषोऽशेषवलत्वे जातः। किञ्चिच्चकार स्मृतहरिचरणः परिचरमिति वक्तुमुपक्रमते ॥ पशूनिति। तज्जिघांसया तयोर्जिघांसा हननेच्छा तया ॥ १६॥

श्रीसुबोधिनी

एवं भगवतो नृत्यमुक्त्वा भगवत्सन्निधानेन्येषां नृत्यमाह **क्वचिन्नृत्यत्स्विति**, अन्येषु **नृत्यत्सु** सत्सु **स्वयं गायकौ वादकौ च**, चकारादन्येषु गायकेषु स्वयं वादकावन्येषु वादकेषु स्वयं गायकाविति, किञ्च स्वयमेव **शशंसतुर्य**दान्यप्रेरणयापि **साधुसाध्वितिवादिनौ** क्वचिद् भवतः क्वचिद् विशेषेण शंसतः स्तोत्रं कुरुतः क्वचिद् विशेषेणानुशासनं वा॥ १३॥ एवं शास्त्रानुसारिलीलामुक्त्वा केवलबालकसम्प्रदायप्रसिद्धां लीलामाह **क्वचिद् बिल्वैरिति**, **बिल्वफलानां** क्रीडा कन्दुकवत् क्षेपणरूपा, **कुम्भ**फलानि सूक्ष्माणि, ततस्तैः क्रीडा लाक्षासूमपिण्डवत् सूक्ष्माण्यामलकानि. **मुष्टि**भ्रामणक्रीडया क्रीडनं, **अस्पृश्य** क्रीडा, कपर्दिकेति प्रसिद्धा वरवर्तिकेति च, **नेत्रबन्ध**क्रीडाक्षिमुद्रिकेति प्रसिद्धा, आदिशब्देन निलायनक्रीडामग्रे वक्ष्यति, आरोहक्रीडैकपदक्रीडा च, तथा काष्ठखण्डैस्तथाकपालैर्जलस्थलयो **क्वचिद्ध**रिणक्रीडा हरिणाकृतिं विधाय नृत्यं कुर्वन्ति, **खग**वन् मयूरादिकवदिहानेकविधा॥ १४॥ एवं स्थललीलामुक्त्वा जले प्रकारविशेषलीलामाह **क्वचिच्चेति**, क्वचित् **दर्दुरवद्** भेकवत् प्लवनं कुर्वन्ति मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य, "निगृह्य चतुरः पद" इतिश्रुतेः, निरन्तरमुत्प्लुत्य गमनं, तच्चातिकठिनं नेदानीं बालकेषु प्रसिद्धं, उत्प्लवाश्चोल्लङ्घनानि च, अतो **विविधै**रित्युभयत्र सम्बध्यते, **उपहास**कान्युपहासवचनानि चेष्टाश्च, **कदाचिद्** भगवान् राजा भवति तदा दोलामारुह्य गच्छति केचन वाहकाः केचन दोलारूपा एव भवन्ति, **स्पन्दोलिका** दोला स्पन्दनरूपा **दोलिका** वा, वृषभाविवाग्रे द्वौ भवतः प्रसारितबाहुरपरो मध्ये बद्धहस्ताश्चत्वारः पश्चात् सर्वे सम्बद्धा भगवन्तं नयन्ति सा **स्पन्दोलिका कदाचित्** पुनर्**नृपचेष्टया** क्रीडति, क्वचिदुपविश्य सिंहासनेक्षादिभिश्च क्रीडत्याज्ञापयति बध्नाति दण्डयति वा॥ १५॥ एवं क्रीडामुक्त्वोपसंहरत्येवं **ताविति**, अत्र प्रमाणं **लोक** एव, एताः **क्रीडा वन** एव काश्चन क्रीडा **नद्याम**द्राव**द्रि**द्रो**णीषु**, उभयतः पर्वता मध्ये निम्ना भूमिर्द्रोणी, तथा **नद्याम**पि भवति, **कुञ्जा**नि तृणसहितानि गह्वरस्थानानि **काननानि** निबिडवनानि, **सरितः** क्षुद्रनद्यः, चकारात् सरस्सु **च**, एवं सर्वलौकिकभावान् बालकानां निवारयन्नन्तःकरणदोषान् निवारितवान्, यावत् तासु स्वयं न प्रविशति तावत् ताः केवला एव स्फुरा भवन्ति न भगवद्विशिष्टा भगवत्स्मारिका वा, अतो **बालकानां प्रपञ्चविस्मरणार्थं सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः**॥ १६॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एवं तावित्यत्र तथा नद्यामपीत्यस्मिन् पक्षे नद्योर्द्रोणीष्वित्येवं समासः, तस्विाति क्रीडासु, संस्काररूपानिति यभंग-वदतिरिक्तं स्मार्यते तान् ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवं तावित्यत्र अत्र प्रमाणमिति एतावल्लीलाज्ञानजनका लोका एवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

क्वचिदन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च भूत्वा हे महाराज ! 'साधु साधु' इति वादिनौ सन्तौ प्रशशंसतुः ॥१३॥ क्वचिद्बिल्वैर्बिल्वफलैः, कुम्भैः कुम्भवृक्षफलैः, आमलकफलपूर्णैर्मुष्टिभिः । एषां फलानां यंत्र मुष्ट्यादिना प्रक्षेपण-क्रीडा बोध्या । तृतीयान्तैः पदैः 'सर्वत्र चिक्रीडतुः' इत्यस्यानुषङ्गेण सम्बन्धो बोध्यः ॥ अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः इति । स्वयं द्वौ मुख्यौ अन्यस्य नेत्रपिधानकर्तारौ, ततोऽन्ये निलीयस्थिता भवन्तु । तत्रोद्घाटितनेत्रेणास्पृष्टा एव ये रामं कृष्णं वा मुख्यं स्पृशन्ति तेषां न पराजयः, यस्तु तेन स्पृष्टस्तस्य पराजयः, यः स्पृशति तस्य जय एवंविधाभिरित्यर्थः । मृगाणां खगानां चेहया चेष्टया ॥ १४ ॥ दर्दुरप्लावैर्मण्डूकप्लुतिभिः । विविधैरुपहासकैः उपहासजनकविचित्रानुकरणैः । स्पन्दोलिकया दोलायामारोहणेन । नृपचेष्टया सिंहासने उपविश्य राजवद्दण्डाद्याज्ञापनलीलया ॥ १५ ॥ लीलान्तरं वक्तुमुक्तां लीलामुपसंहरति—एवमिति । एवं लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिस्तौ रामकृष्णौ वनादिषु चेरतुरित्यन्वयः । द्रोणी उभयतः पर्वतमध्ये निम्ना भूमिः । कुञ्जानि लतापिहितगह्वरस्थानानि । यद्येवं वनादिषु सर्वत्र भगवान् क्रीडा न कुर्यात्तदा तेषां भगवत्स्मारकत्व न स्यात् । अतः स्मरणार्थं सर्वत्र क्रीडाः कृताः । तत्स्मरणस्य परमपुरुषार्थहेतुत्वात् ॥ अत एव पुनः स्मारयन्ति । 'नन्दगोपसुतं वत' इत्यादौ स्मारकत्वमुक्तम् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

क्वचिदिति ॥ हे महाराज ! क्वचिदन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च भूत्वा साधु साध्विति वादिनौ सन्तौ शशंसतुः ॥ १३ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचिद्बिल्वैर्बिल्वफलैः क्वचित् कुम्भैः कुम्भवृक्षफलैः क्व च क्वचित् आमलकफलपूर्णैर्मुष्टि-भिश्चिक्रीडतुः । एषां फलानां यन्त्र मुष्ट्यादिना प्रक्षेपेण क्रीडा । प्रक्षिप्यमाणफलयोर्मिथ आघातश्च अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैरिति स्पर्शस्य अदित्साचिकीर्षाभ्यां क्रीडा । तत्र स्पर्शकर्त्तुर्जयः स्पृष्टस्य पराजयः इत्यस्पृश्यत्वक्रीडा । अलक्षितमेव पृष्ठदेशमासाद्य पाणितलाभ्यां नेत्रबन्धकं परिचिनोति चेत् परिचितस्य पराजयः इति नेत्रबन्धकक्रीडा । केचित्तु स्वयं द्वौ मुख्यौ अन्यस्य नेत्रपिधानकर्तारौ ततोऽन्ये निलीय स्थिता भवन्ति । तत्रोद्घाटितनेत्रेणास्पृष्टा एव ये रामं कृष्णं वा मुख्यं स्पृशन्ति तेषां न पराजयः । यस्तु तेन स्पृष्टस्तस्य पराजयः यः स्पृशति तस्य जय इत्याहुः । एवंविधाभिः क्रीडाभिश्चिक्रीडतुः सर्वत्र जयपराजये मुरलीवेत्रादिग्लहः क्वचिन्मृगाणां खगानां च ईहया चेष्टया चिक्रीडतुः ॥ १४ ॥ क्वचिच्चेति ॥ क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्मण्डूकप्लुतिभिः विविधैरुपहासकैः उपहासजनकविचित्रानुकरणैः कदाचित् स्पन्दोलिकया दोलायामारोहणेन कर्हिचित् नृपलीलया चेष्टयेत्यपि पाठः । सिंहासने उपविश्य राजवद्दण्डाद्याज्ञा नलीलया चिक्रीडतुः ॥ १५ ॥ एवमिति ॥ एव तौ रामकृष्णौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिः नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु कान-नेषु सरःसु च वने च चेरतुः । द्रोणी उभयतः पर्वतमध्ये निम्ना भूमिः । पर्वतसन्धिरित्यप्याहुः । कुञ्जानि लतापिहितगह्वर-स्थानानि ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कुंभैः कुंभतरुफलैः अस्पृश्यत्वं नेत्रबंधश्च तत्प्रभृतिभिः ॥ १४ ॥ दर्दुराणां मंडुकानां प्लावैरुत्प्लवनैः उपहासकैर्हास्य-जनकवाक्यादिभिः स्पंदोलिकया दालालंबनेन भाषाया हिंदालेति प्रसिद्धिः नृपचेष्टया नृपसेव्यानां सिंहासनछत्रचामरादीनां ग्रहणेन नृपवच्चेष्टया चेरतुरिति सर्वत्रान्वेति ॥ १५ ॥ लोके सिद्धाभिः प्रसिद्धाभिः नद्यां अद्रौ द्रोणिषु तद्गुहासु कुंजेषु लतागृहेषु च काननेषु वृंदावनांतर्गतकुशकाशनिाधवनेषु ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

क्वचिदिति ॥ क्वचित् अन्येषु गोपेषु नृत्यत्सु सत्सु, स्वयं गायकौ, वादकौ च भूत्वा, हे महाराज, साधु साधु, इत्येवं, वादिनौ वदन्तौ सन्तौ, शशंसतुः तत्प्रशंसां चक्रतुः ॥ १३ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् बिल्वैः, क्वचित् कुम्भैः गुग्गुलुद्रुमफलैः, कान्तुंके वारनार्यां च कुम्भः क्लीबे तु गुग्गुलौ' इति रभसः । क्व च कुत्रचित्, आमलकमुष्टिभिः मुष्टयाभृदामलकीफलैः, त्वं मां क्वचित्तु क्व चामलकशुक्तिभिरिति पाठस्तत्पक्ष आमलकैर्धात्रीफलैः शुक्तिभिः कालिन्दीपुलिनगतमुक्तास्फोटैश्चेत्यर्थः । क्वचित् अस्पृश्यनेत्रबन्धाद्यैः,

त्वं मां स्पृशेत्युक्त्वा पुरतो लीलया धावतीति यत्तदिदमस्पृश्यक्रीडनम् । वस्त्रेण नेत्रे आच्छाद्य मां स्पृशेति निगद्य तं मुक्त्वा पुरतो भ्रमणं नेत्रबन्धलीला, दूरान्तरप्रदेशे स्थितं वृक्षं लक्ष्यीकृत्योभाभ्यां मध्ये प्राक् वृक्षस्पर्शी विजयी स्यादितीयं क्रीडा धावनसंज्ञेत्याद्यपदेन ग्राह्यम् । क्वचित् खगानां पक्षिणां मृगाणां हरिणादीनां च या ईहा चेष्टा तया, पक्षिसमानचेष्टया मृगसमानचेष्टया चेत्यर्थः । चिक्रीडतुः ॥ १४ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् दर्दुरप्लावैर्मण्डूकसामनप्लुतिभिः, क्वचित् विविधैर्नानाविधैः, उपहासकैः परिहासवाक्यैः, कदाचित् स्यन्दोलिकया दोलावन्धनेन, कर्हिचित्, नृपचेष्टया नृपाणामिव लीलया च, चिक्रीडतुः ॥ १५ ॥ एवमिति ॥ एवमनुना प्रकारेण, व्रजे वसन्ताविति शेषः । तौ रामकृष्णौ, नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु, काननेषु, सरस्सु च, लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिः, क्रिडन्तौ सन्ताविति शेषः, चेरतुः । नद्यो यमुनादयः, अद्रिर्गोवर्द्धनः, द्रोण्यो निम्नसानुस्थलानि, कुञ्जा लतापिहितोदरस्थानानि, पुलिनानीति पाठे तोयोत्थितस्थानानि सरांसि प्रसिद्धानि ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवमिति : १०.१८.१६.

लोकसिद्धाभिरेवाहं क्रीडन् क्रीडाभिरन्वहम् । सद्रञ्जनमसन्नाशं करोमीति समीरितम् ॥ ८ ॥

कृष्णप्रिया

कहीं-कहीं जब दूसरे ग्वाल-वाल नाचने लगते तो श्रीकृष्ण और बलरामजी गाते या बाँसुरी, सींग आदि बजाते और महराज ! कभी-कभी वे 'वाह-वाह कहकर उनकी प्रशंसा करने लगते ॥ १३ ॥ कभी एक दूसरे पर बेल, जायफल या आँवला के फल हाथ में लेकर फेंकते । कभी एक-दूसरे की आँख बंद करके छिप जाते और वह पीछे से ढूँढ़ता । इस प्रकार आँख-मिचौनी खेलते । कभी एक दूसरे को छूने के लिये बहुत दूर-दूर तक दौड़ते रहते और कभी पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का अनुकरण करते ॥ १४ ॥ कहीं मेढकों की तरह फुदक-फुदककर चलते, तो कभी मुँह बना बनाकर एक-दूसरे की हँसी उड़ाते । कहीं रस्सियों से वृक्षों पर झूला डालकर झूलते, तो कभी दो बालकों को खड़ा कराकर उनकी बाँहों के बल पर ही लटकने लगते । कभी किसी राजा की नकल करने लगते ॥ १५ ॥ इस प्रकार राम और श्याम वृन्दावन की नदी, पर्वत, घाटी, कुञ्ज, वन और सरोवरों में वे सभी खेल खेलते जो साधारण बच्चे संसार में खेला करते हैं ।

पशूंश्चारयतोर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः । गोपरूपी प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिघांसया[1] ॥ १७ ॥
तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः । अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥ १८ ॥
तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् । हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥ १९ ॥
तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ । कृष्णसंघट्टिनः केचिदासन् [2]रामस्य चापरे ॥ २० ॥
आचेरुर्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः । [3]यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥ २१ ॥
वहन्तो [4]वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् । भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥ २२ ॥
रामसङ्घट्टिनो ये हि[5] श्रीदामवृषभादयः । क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥ २३ ॥
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः । वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तद् वने गोपैः (सह) पशून् चारयतोः रामकृष्णयोः तत् जिघांसया प्रलम्बः असुरः गोपरूपी अगात् ॥ १७ ॥ सर्वदर्शनः भगवान् दाशार्हः तम् विद्वान् अपि तस्य वधम् विचिन्तयन् अन्वमोदत ॥ १८ ॥ विहारवित् कृष्णः तत्र गोपालान् आहूय प्र आह हे गोपाः ? यथायथम् द्वन्द्वीभूय विहरिष्यामः ॥ १९ ॥ तत्र गोपाः रामजनार्दनौ परिवृढौ चक्रुः, तत्र केचन कृष्णसंङ्घट्टिनः आसन्, अपरे च रामस्य सङ्घट्टिनः आसन् ॥ २० ॥ यत्र जेतारः आरोहन्ति च यत्र पराजिताः वहन्ति (इति) वाह्यवाहकलक्षणाः विविधाः क्रीडाः आचेरुः ॥ २१ ॥ कृष्ण पुरोगमाः एसे एवम् वहन्तः च वाह्यमानाः गोधनम् चारयन्तः भाण्डीरकम् नाम वटम् जग्मुः ॥ २२ ॥ हे नृप ? रामसङ्घट्टिनः हि ये श्रीदामवृषभादयः क्रीडायाम् जयिनः जाताः तदा तान् कृष्ण आदयः उहुः ॥ २३ ॥ पराजितः भगवान् कृष्णः श्रीदामानम् उवाह, भद्रसेनः तु वृषभम् उवाह प्रलम्बः रोहिणीसुतम् उवाह ॥ २४ ॥

---

१. हीर्षया—श्रीधर. वंशी. विश्व. ; घांसया—वीर. विज. । २. केचिद्गोपा रामस्य—विज. । ३. तत्रारोहन्ति—विज. । ४. गर्जमानाश्च—इति कस्यचित् । ५. यर्हि—श्रीधर. वंशी. वीर. ; ये तु—विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चारयतोः सतोः । तद्वने तस्मिन्वने । तयोर्जिहीर्षया ॥ १७–१८ ॥ यथायथं वयोबलाद्यनुरूपं द्वंद्वीभूय ॥ १९ ॥ परिवृढौ नायकौ । तत्र केचन कृष्णसंघट्टिनः कृष्णपक्षीयाः ॥ २०–२१ ॥ वाह्यमानाः पृष्ठेनोह्यमानाः ॥ २२–२४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गोपरूपी यः कश्चिद्गोपस्तद्दिने किञ्चित्कृत्यार्थं गृहे स्थितस्तद्रूपधारी । तयोः रामकृष्णयोः ॥ १७ ॥ तम् प्रलंबम् । तत्सख्यम् प्रलंबसख्यम् । अन्वमोदत स्वीचकार । तस्य प्रलंबस्य । दाशार्ह इति । 'प्रलंबबकचाणूर' इत्यादिना यदुकुलकदने मुख्यतया निर्दिष्टस्य प्रलंबस्य वधेन यदुकुलहितापेक्षया । तद्व्दने हेतुः सर्वदर्शनः सर्वज्ञः । चिंतयन् अनेन प्रकारेण घातयिष्यामीति चिंतयन् ॥ १८ ॥ तत्र तदा ॥ १९ ॥ तत्र विहारे । 'प्रभुः परिवृढोऽधिपः' इत्यमरः ॥ २० ॥ यत्र यस्यां क्रीडायाम् । जेतारः पिहितफलादिज्ञानवंत आरोहंति निजप्रतिद्वंद्विगोपं वाहनत्वे कल्पयंति । पराजिताः पिहितफलाद्यज्ञानवंतो वहंति वाहनानि भवंतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ वहंतः धारयंतः । भांडीरवटोऽवरोहणस्थानत्वेन कल्पित इत्यर्थः । तथाऽऽरोहणस्थानमपि तत्समीपवर्त्येव ज्ञेयम् । स च वटो हरिवंशे वर्णितः "ददर्श विपुलोदग्रशाखिनं शाखिनां वरम् । स्थितं धरण्यां मेघाभं निबिडं दलसंचयैः ॥ गगनार्द्धोत्थिकारं पवनाभोगकारिणम् । नीलं चित्राङ्गवर्णैश्च सेवितुं बहुभिः खगैः ॥ फलैः प्र लैश्च घनैः सेंद्रचापघनोपमम् । भवनाकारविटपं लतापुष्पसुमंडितम् ॥ विशालमूलावनतं पवनांभोदधारिणम् । आधिपत्यमिवान्येषां तस्य देशस्य शाखिनाम् ॥ कुर्वाणं शुभकर्माणं तिरोवर्षमनातपम् । न्यग्रोधं पर्वताग्राभं भांडीरं नाम नामतः ॥" इति ॥ २२ ॥ तांस्तान् श्रीदामादीन् ॥ २३ ॥ उवाह कृष्ण इह व्यत्ययो ज्ञेयः 'उवाह कृष्णं श्रीदामा' इत्यादिहरिवंशादिविरोधात् । व्यत्ययाभावे का हानिरत आह—"बहुमानविरोधे तु व्यत्यासः शब्दतोर्थतः" इति शिष्टोक्तेः । शब्दस्यार्थस्य च विरोधे व्यत्यासो न दोषायेत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

परमैश्वर्यविशेषगर्भां मधुरमधुरां लौकिकलीलामुक्त्वाऽधुना श्रीबलदेवद्वारा विहितां प्रकटैश्वर्यामलौकिकीमाह—पशूनित्यादिना । यः कोपि गोपस्तद्दिने गृहे तिष्ठन् तद्रूपीत्यर्थः ॥ १७ ॥ दाशार्ह इति प्रलम्बबकचाणूरेत्यादिना यदुकुलकदने मुख्यतयाऽऽदौ निर्दिष्टस्य प्रलम्बस्य वधेन यदुकुलहितविशेषापेक्षया तद्व्दने हेतुः सर्वदर्शनः सर्वज्ञः यतो भगवान् विचिन्तयन् वक्ष्यमाणप्रकारेण विचारयन् तस्य सख्यं सख्युः कर्म चेष्टामिति यावत् ॥ १८ ॥ तत्र तद्वधे निमित्ते प्रकर्षेणाह—प्रलम्बस्यापि मनोरमत्वात् विहारवित् यतः स एव तत्र सर्वज्ञोऽभिज्ञ इत्यर्थः ॥ १९ ॥ गोपा इति सत्यपि सख्यसामान्ये वर्गभेदेन तयोः पृथक्पृथक् तद्विशेषवतां तेषामसङ्कोचातिशयवत् क्रीडारसाय वैपरीत्येन परिवृढौ चक्रुः एवमेव च तयोर्मिथः प्रणयोपि विवृतः स्यात् यथा हरिवंशोक्तजलक्रीडायां स्वसुता श्रीबलरामपक्षे तत्सुताश्चात्मपक्षे तेन कृताः अतः श्रीदामादयो रामसङ्घट्टिनो जाताः रामेति रमणाभिप्रायेण जनार्दनेति तत्तत्क्रीडाभिः स्वमनोरथपूरकतया सर्वैर्याच्यमानत्वाभिप्रायेण ॥ २० ॥ विविधाः हरिणा क्रीडनाख्यादयः तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

"हरिणा क्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः । प्रकीडिता हि ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन्" ॥ इति ॥ २१ ॥

वाह्यमाना ऊह्यमानाः स्कन्धारूढाः भाण्डीरकमिति संज्ञायां कन् नाम प्रसिद्धौ स च वर्णितः श्रीहरिवंशे—

"ददर्श विपुलोदग्रशाखिनं शाखिनाम्बरम् । स्थितं धरण्यां मेघाभं निबिडं दलसञ्चयैः ॥
गगनार्द्धोत्थिताकारं पवनाभोगकारिणम् । नीलचित्राङ्गवर्णैश्च सेवितं बहुभिः खगैः ॥
फलैः प्रबालैश्च घनैः सेन्द्रचापघनोपमम् । भवनाकारविटपं लतापुष्पसुमण्डितम् ॥
विशालमूलावनतपवनाम्भोदधारिणम् । आधिपत्यमिवान्येषां तस्य देशस्य शाखिनाम् ॥
कुर्वाणं शुभकर्माणं तिरोवर्षमनातपम् । न्यग्रोधं पर्वताग्रामं भाण्डीरं नाम नामतः" ॥ इति ।

तत्र गमनं निदाघक्रीडौचित्यात् ॥ २२ ॥ यर्हि ये ये श्रीदामवृषभादयः क्रीडायां जयिनो बभूवुस्तर्हि तांस्तान् कृष्णादय ऊहुरित्यन्वयः ॥२३॥ भगवानिति युष्माकं यो भगवान् सोऽस्माकं व्रजवासिभिः पराजित इति नर्म च व्यञ्जितं रोहिण्याः सुतमिति तेन तत्प्रभावाज्ञानस्यापेक्षया ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

परमैश्वर्य्य विशेषगर्भां मधुरमधुरां लौकिकीं लीलामुक्त्वा अधुना श्रीबलरामद्वारा विहितां प्रकटैश्वर्य्यामलौकिकीमाह—पशूनित्यादिना । गोपैः सह तद्वने श्रीवृन्दावने, कृष्णस्यादौ निर्द्देशः, सर्वत्र तस्यैव प्राधान्यात्, विशेषतश्चात्र प्रलम्बवधे तस्यैव प्रयोजकत्वात् ॥ १७ ॥ दाशार्हः श्रीयदुकुलाब्धिचन्द्र इति भ्रातृतया श्रीबलदेवस्य कीर्त्तिविस्तारणे हेतुरुद्दिष्टः, यद्वा (भा० १०।२।१) 'प्रलम्बबकचाणुर' इत्यादिना यदुकुलकदने मुख्यतयादौ निर्दिष्टस्य प्रलम्बस्य वधेन यदुकुलहितविशेषापेक्षया सर्वं पश्यति

साक्षात् करोतीति; किंवा सर्वेषां दर्शनं ज्ञान यस्मात्, यद्वा, सर्वाणि दर्शनानि शास्त्राणि वैशेषिकादीनि वा षट् यस्मिन् तात्पर्य्येतो वर्त्तन्त इति सः। यतो भगवान् साक्षात्परमेश्वरः, अतस्तं विद्वान् जानन्नपि विशेषेण चिन्तयन् अग्रजस्य कीर्त्तिविस्तारणाय तमस्य स्कन्धमारुह्य तेनायं घातयितव्यः, तदर्थञ्च वाह्य-वाहकक्रीडायां कार्य्यायामिमममात्मपक्षे कृत्वा स्वयमहं पराजितो भूत्वेनमपि पराजितं कारयिष्यामीत्यादिकं भावयन्, एवं सर्वदर्शन इत्यस्यात्रैव वान्वयः, यत एवं कृते एवं भविष्यतीत्यादिकं सर्वमेव जानातीत्यर्थः। अतस्तेन आगन्तुकेन दुर्बुद्धिनापि दैत्येन सख्यमन्वमोदत—अन्यथा श्रीबलदेवस्य सुखादुत्तुंगस्कन्धाधिरोहणासिद्धेः॥ १८॥ तत्र तद्वधे निमित्ते तद्वने वा, प्रकर्षेणाह—प्रलम्बस्यापि मनोरमत्वात्, विहारवित्—द्वन्द्वक्रीडयैवाग्रजस्य सुखं प्रलम्बस्कन्धाधिरोहणं भवतीति क्रीडाप्रकारं वेत्तीत्यर्थः, यद्वा, वाह्य-वाहकलक्षणविविधक्रीडाप्रकाराभिज्ञः॥ १९॥ तत्र द्वन्द्वविहारे गोपाश्चक्रुरिति सहजविनयाऽहिंसादिगुण्येन स्वयं ताभ्यां तदभवनात्, जनार्द्दन इति जनं दुष्टमर्द्दयतीति प्रलम्बघातनस्य, किंवा जनैः सेवकैरर्द्यते याच्यत इति परिवृढतार्थं गोपानां प्रार्थनस्याभिप्रायेण, कृष्णसखीनामादौ निर्द्देशः, कृष्णप्रियत्वेन सर्वेषां प्राक् तत्पक्षे भवनात्, अपरे श्रीकृष्णेंगिताभिज्ञास्तत्प्रीत्येकपरास्तत्प्रियतमाः श्रीदामवृषभादयः, यथा श्रीहरिवंशोक्तजलक्रीडायां स्वसुताः श्रीबलरामपक्षे तत्सुताश्चात्मपक्षे तेन कृता इति॥ २०॥ विविधा हरिणाक्रीडनाख्यादयः, तथा च श्रीविष्णुपुराणं (५।९।१२) 'हरिणाक्रीडनं नाम बालक्रीडनकं ततः। प्रक्रीडिता हि ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन्॥' इति; बाह्यवाहकलक्षणत्वमेवाह—यत्रेति॥२१॥ वाह्यमाना ऊह्यमानाः पृष्ठाद्यारूढाश्च अपि गोधनमपि चारयन्तः, संज्ञायां कः, भाण्डीरं नाम भाण्डीराख्यमित्यर्थः। यद्वा। नाम्नैव वटं तत्त्वतस्तु सर्ववृक्षधर्मश्रेष्ठं कल्पद्रुममित्यर्थः। स च वर्णितं श्रीहरिवंशे (विष्णु पु० ११।१८।२२)

'ददर्श विपुलोदग्रशाखिनं शाखिनां वरम्। स्थितं धरण्यां मेघाभं निविडं दलसञ्चयैः॥
गगनार्द्धोच्छ्रिताकारं पर्वताभोगधारिणम्। नीलचित्रांगवर्णैश्च सेवितं बहुभिः खगैः॥
फलैः प्रवालैश्च घनैः सेन्द्रचापघनोपमम्। भवनाकारविटपं लतापुष्पसुमण्डितम्॥
विशालमूलावनतं पवनाम्भोदधारिणाम्। आधिपत्यमिवान्येषां तस्य देशस्य शाखिनाम्॥
कुर्व्वाणं शुभकर्म्माणं निरावर्षमनातपम्। न्यग्रोधं सर्व्वताग्रामं भाण्डीरं नाम नामतः॥'

तत्र गमनं सुप्रसिद्धं तत्स्थानेऽग्रजकीर्त्तिविस्तारणाय, किंवा निदाघे तद्विस्तीर्णशीतलच्छायायां सुखक्रीडार्थम्; यद्वा, स्वप्रियस्य भाण्डीरस्यैव माहात्म्यार्थम्, अतएव कृष्णः सर्व्वाकर्षको भगवान् पुरोगमोऽग्रगामी येषां ते॥ २२॥ वहन्तो वाह्यमानाश्चेति पूर्व्वं सर्व्वेषां मिथो जयपराजयावृद्दिष्टौ, अधुना च भाण्डीरे श्रीबलदेवस्य प्रलम्बस्कन्धारोहणार्थं श्रीकृष्णेच्छया तत्पक्षीयाणां पराजयं वदन् रामपक्षीयाणामेव जयमाह,—द्वाभ्याम्। आदि-शब्दात् सुबलादयोऽर्भका इति बाल्यक्रीडायाः स्वभाव एवासाविति भावः। नृपेति पाठे भक्तवश्यतातिशयेन परमविस्मयात्तत्सम्बोधनम्॥ २३॥ भगवान् भक्तवश्यतादिगुणप्रदर्शक इत्यर्थः। यद्वा, ननु श्रीदामा कुतस्तदसहत? तत्राह भगवान् परमकौतुकीत्यर्थः। किञ्च, कृष्णो निजप्राणेश्वरः, तत्कौतुकसिद्धये तत्प्रीत्येकापेक्षयेति भावः। रोहिण्याः सुतमिति तत्सुतत्वेन तस्य श्रीकृष्णेन सह भेदं मत्वा तयोरन्योन्यस्नेहाद्यविमर्षेण हर्त्तुमवहदिति भावः॥ २४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

सङ्घट्टिनः संसर्गिणः॥ २०–२४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सर्वदर्शनः हेतुगर्भमिदं सर्वज्ञत्वात् तं जिघांसुमागतं गोपरूपिणं प्रलम्बासुरं विद्वानपि सद्यो न ते जघानेति वाक्यशेषः किन्तु उपायान्तरेण तस्य वधं विचिन्तयन् तेन सह सख्यमेवान्वमोदत अन्वमन्यत॥ १८॥ तत्र गोपानाहूय तद्वधोचितविहारक्रमाभिज्ञः प्राह, उक्तिमेवाह—हे गोपा इति। यथायथमाकृतिवयोबलानुरूपं द्वन्द्वीभूय सङ्घद्वयं भूत्वा विहरिष्याम इति॥ १९॥ तत्रैवं भगवतोक्ते सति गोपाः रामकृष्णौ परिवृढौ सङ्घयोः नायकौ चक्रुः ततः केचिद्गोपाः कृष्णपक्षीया बभूवुरपरे तु रामस्य सङ्घट्टिनः॥ २०॥ एवं भूत्वा वाह्यवाहकेतिभावप्रधानो निर्देशः वाह्यत्ववाहकत्वे लक्षणे फले यासु ताः वाह्यवाहकाश्च जयपराजयकृता यास्विति तथाभूता विविधाः क्रीडाश्चेरुः, वाह्यवाहकलक्षणा इत्येतदेव विशदयति—यत्रेति। यत्र यासु क्रीडासु जेतार आरोहन्ति पराजितास्तु वहन्ति इति॥ २१॥ एवं क्रीडायां जयेन हेतुना वाह्यमानाः पराजयेन हेतुना वहन्तश्च गोधनं चारयन्तश्च कृष्णप्रभृतयो गोपाः शनैः भाण्डीराख्यं वटं वृक्षं जग्मुः॥ २२॥ तत्र यर्हि यदा श्रीदामादयो रामसङ्घट्टिनः क्रीडायां जिग्युस्तदा तान् हे नृप! कृष्णादयः ऊहुरूढवन्तः॥ २३॥ तत्र भगवान् श्रीकृष्णः पराजितः श्रीदामानमुवाह चन्द्रसेनस्तु वृषभं तथा श्रीकृष्णसङ्घट्टी प्रलम्बासुरः रोहिणीसुतं बलदेवम् उवाह॥ २४॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यस्य यो विहारस्तं वेत्तीति ।।१६।। परिवृढौ नायकौ कृष्णसङ्घट्टिनः कृष्णपक्षीयाः ।।२०।। वाह्यवाहकत्वं विशदयति–तत्रेति। उवाह कृष्णो भगवानित्यत्र व्यत्ययेन नेतव्यः श्रीदामा कृष्णमुवाहेति कुत एवं विकल्प्यते ? हरिवंशादिवचनात् तथाप्ययं दुराग्रह इति न वक्तव्यम् "बाहुमानविरोधे तु वयत्यासः शब्दतोर्थतः" इत्यादिनिर्णयवचनात् ।। २१–२४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

वाह्यमाना ऊह्यमानाः ।। २२–३२ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः। भक्तवात्सल्यलीलेयं यद्भक्तेषु स्वयमपराजितोऽपि पराजितो भवति। अथवा, अभगवान् कृष्णः स्तोककृष्णः तस्य भगवत्सखित्वमेव, न तु भगवत्त्वम् ।। २५–३२ ।।

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे अष्टादशोऽध्यायः ।। १८ ।। एवमूनविंशश्च ।। १९ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

चारयतोः सतोः गोपरूपी यः कोपि गोपस्तद्दिने किञ्चित् कृत्यार्थं गृहे स्थितस्तद्रूपधारी तयोर्जिहीर्षया ।। १७ ।। विचिन्तयन् अनेनैव प्रकारेण सञ्जातयिष्यामीति चिन्तया निश्चिन्वन् ।। १८–१९ ।। परिवृढौ नायकौ कृष्णस्य सङ्घट्टो यूथस्तद्गताः ।। २० ।। किन्तु वाह्यवाहकलक्षणाः अस्यार्थं विवृणोति–यत्रेति। तेन स्पर्शखेलायां रामसङ्घट्टिनां मध्ये कोऽपि कृष्णसङ्घट्टिनां कमपि यदि स्पृशति तदा रामसङ्घट्टितः सर्व एव पराजिताः यथायथं वहन्ति एवं जयन्ति चेत् कृष्णसङ्घट्टिनस्तान् रामसङ्घट्टिनो वहन्ति एवमेव नेत्रवन्धादिखेलायामपि ।। २१ ।। भाण्डीरकं वटं जग्मुरिति स एव वटो अवरोहणं स्थानं कल्पितः इत्यर्थः। तथैवारोहस्थलमपि तत्समीपवर्ति ज्ञेयम् ।। २२–२४ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कृष्णस्वभावं दृष्ट्वा हनिष्यामीत्याशयेन गोपरूपी अगात् ।। १७ ।। तत्सख्यमन्वमोदतेति निजस्वभावो दर्शितः तथापि कौटिल्यापरित्यागे वधं तस्य विचिन्तयन् ।। १८ ।। यथायथं यथायोग्यम् ।। १९ ।। परिवृढौ यूथनाथौ ।। २०–२४ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चारयतोः सतोः गोपरूपीति तद्वासरे यः कश्चिद्गोपः किञ्चित् कार्यानुरोधात् वेश्मनि स्थितस्तस्य रूपं बिभ्रत् तयोर्जिहीर्षया ।। १७ ।। दाशार्हः कृष्णः तस्य वधं विचिन्तयन्निति अनेन विधिनैनं घातयिष्यामीति चिन्तया निश्चिन्वन् ।। १८–१९ ।। परिवृढौ नायकौ कृष्णस्य सङ्घट्ये यूथस्तद्वर्तिनः ।। २० ।। वाह्यवाहकक्रीडार्थं विवृणोति–यत्रेति। स्पर्शवेलायां रामसङ्घट्टिनां मध्ये चेत् कोऽपि कृष्णसङ्घट्टिनां कमपि स्पृशति तदा रामसङ्घट्टिनः सर्वेऽपि जयिनः आरोहन्ति तान् कृष्णसङ्घट्टिनः सर्वेऽपि पराजिता यथायथं वहन्ति कृष्णसङ्घट्टिनश्चेज्जयन्ति तान् रामसङ्घट्टिनो वहन्तीति ।। २१ ।। भाण्डीरकमिति संज्ञाया कन् स एवावरोहणस्थानं कल्पितः आरोहणस्थानन्तु तदन्तिकवर्त्ति बोध्यम् ।। २२–२३ ।। भगवानिति भवतां भगवानस्माकं व्रजवासिभिः पराजित इति नर्म व्यज्यते ।। २४ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सर्वदर्शनः सर्वज्ञस्तस्य वधस्तत्सङ्ख्यावधिरिति तदन्वमोदताभिमतमतनोत् ।। १७ ।। द्वन्द्वीभूयैतस्य प्रतिभटोऽयं तस्यायमिति द्वयोर्मेलनं कृत्वा विहरिष्यामः ।। १८ ।। परिवृढौ नायकौ कृष्णसङ्घट्टिनस्तत्पक्षस्थाः। सङ्घट्टिन इति विघटितं रामस्य च सङ्घट्टिन इत्यन्वेति ।। १९ ।। वाह्या वाहका इति लक्षणं चिह्नं यासां ता जेतारो ये ते पराजितमारोहन्ति पराजिता जयवन्तं वहन्ति ।। २० ।। वहन्तः स्वयमन्यानन्यैर्वाह्यमानाश्च नाम प्रसिद्धम् ।। २१ ।। श्रीदामा च वृषभश्चादी येषां ते तथा। तथा कृष्णादयश्चैन्येतद्युगमध्ये ये ये क्रीडायां जयिनस्तांस्तान्पराजयिन इति शेषः। ऊहुः। उत्तरस्थतात्पर्यस्वारस्यादेवमन्वयः संलग्नः ।। २२ ।। उवाह कृष्णो भगवानिति श्लोके लोकेशस्य कृष्णस्य पराभवः प्रतीयते स च बहुमानावमानित इत्यतः किञ्चिन्माननामग्रहणपूर्वकं विरोधं प्रदर्श्य विभक्तिव्यत्ययेन चान्वयं लापयित्वा तस्थेम्ने ब्रह्मतर्कवचनमुदाहरति ।। श्रीदामेति। श्रीदामा। अनेन द्वितीया प्रथमार्थे इव प्रथमा कृष्णमिति द्वितीयार्थ इत्युक्तं भवति। हरिवंश आदिर्यस्य तद्धरिवंशादिपुराणं तद्विरोधात्स चाविषह्य तथा मत्वा कृष्णमद्भुतविक्रमं। रौहिणेयवधे यत्नमकरोद्दानवोत्तमः। हरिणा क्रीडनं नाम बालक्रीडनमेव हि। क्रीडिताश्चैव ते सर्वे द्वौ द्वौ युगपदुत्पतन्। कृष्णः श्रीदामसहितः पुप्लुवे गोपसूनुना। सङ्कर्षणस्तु प्लुतवान्प्रलम्बेन सहानघः। गोपालास्त्वपरे द्वन्द्वं गोपालैरपरैः

सह । प्रद्रुता लङ्घयन्तो वै तेऽन्योन्यं लघुविक्रमाः । श्रीदामजयस्कृष्णः प्रलम्बं रोहिणीसुतः । गोपालैः कृष्णपक्षीयैर्गोपालास्त्वपरे जिता इत्यादि । न च भागवतस्यानन्तरोक्ततया व्याख्यारूपतया प्राबल्याद्भारतावाधनं कुतो न स्यादिति वाच्यं । श्रीपरमेश्वरपराजयस्यामरपामरमनोऽनङ्गीकरणीयस्य बहुमानविरुद्धस्य चास्वीकार्यत्वात् । यथा भागवते तूक्तमित्यारभ्य विनेव सर्वंनुनेवमित्यन्तपञ्चमतात्पर्यानुकूल्यं च तत्रैव योजनाभेरत इत्युक्तेश्च । वचनार्थादिव्यत्यासस्य मानाननतोऽनुपपत्तौ कर्तव्यताश्चावकब्रह्मतर्कवचनाद्भागवतार्थो वचनादिव्यस्यासनैवावसेय इत्याह ।। बहुमानेति । तत्रापि नैकलहरिवंशकलहः किन्तु बहूनि मानानि विरोधकानि सन्तीति बलवन्निमित्तं बलवत्त्वं बह्वीत्यनेनोक्तमिति ज्ञेयं । तुरवधारणे बहुमानविरोध एवेति सम्बध्यते । विरोध एव व्यत्यासः प्रस्तुतस्तु शब्दतोऽर्थतो दुःखीत्यादौ कार्यः । केचित्स्कर्षणः कर्तृत्वं कर्तुस्तु कर्मत्वमित्यर्थव्यत्यासमाहुः । अन्यथा विरोधाभावे । अनेन विरोधोपरोध एवंवमिति न किन्तु फललाभोऽप्यस्तीति लपति । अनिरुक्तदेवानां गुणसिद्धया इति च चः समुच्चये । ते चानिरुक्ताः किमाकारा इत्यत आह ।। विष्णुरिति । विष्णुर्ब्रह्मा वायुश्चानिरुक्तास्तथा तेषां त्रयाणां पत्न्यो योषितश्चानिरुक्ता इति सम्बन्धः । परशुक्लत्रयं स्मृतमित्यादेः । तेष्वनिरुक्तेष्वितरेषां शिवादीनां गुणाः पराजयादयः प्रतीता वचनादितस्ते व्यत्यस्या व्यत्यासयितव्या अत्रासंशयः संशयाभावो रक्षोहागमलब्धसन्देहा इति निर्देशादसंशयः सिद्धो नितरां वक्तुमशक्या अनिरुक्ता इति विग्रहः ।। ततश्चायं मूलार्थः ।। श्रीदामानं श्रीरामा पराजितः सन् कृष्णः कृष्णमुवाह वृषभं भद्रसेनो गोप उवाह प्रलम्बो रोहिणीसुतमुवाहेत्यन्वयः । अत्रायं विवेकः कृष्णो रामश्चेति द्वौ नायकौ तत्र प्रलम्बो भद्रसेनश्च कृष्णपक्षगौ बभूवतुः श्रीदामा वृषभश्चेत्युभौ बलपक्षगौ बभूवतुस्तत्र श्रीदामा श्रीदामोदरस्य प्रतिभटः प्रतिभटश्च प्रलम्बो बलस्य वृषभस्य भद्रसेनस्तत्र श्रीदामा पराजितः कृष्णं प्रलम्बस्तथा समबलं भद्रसेनस्तु वृषभमुवाहेति । न च कृष्णस्य पक्षिषु जयस्त्विवति महाभारततात्पर्यनिर्णये कृष्णपक्षस्य सर्वजयोक्तेः कथमिदमिति शङ्क्यं । सर्वेष्विति सर्वविदभाषणात् । द्वित्राणामत्र पराजयस्यैवान्यत्र द्वित्राणां जयस्यापि सम्भवात् । अगत्या प्रलम्बकृतबलोद्वाहनेनेत्थमेव वक्तव्यत्वाच्च । बलबालमेलने प्रलम्बेन बलोद्वाहनं न सम्भवति स्वव्यूहस्थवाहनानौचित्यात् । अत एव व्याचक्रिरे जनार्दनभट्टाः । अत्रायमाशयः कृष्णपक्षिभिः सर्वैर्जितं तत्पक्षस्थैः प्रलम्बभद्रसेनाद्यैर्द्वित्रैरेव पराजितं । रामपक्षीयैः श्रीदामाद्यैः सर्वैः पराजितं वृषभाद्यैर्द्वित्रैर्जितमिति । ननु रावणसमबलः प्रलम्बः प्राक् लक्ष्मणं क्षितौ पतितमुद्धर्तुं न शशाकेति सर्वजनोऽनन्ततनुमेवेमं कथमुन्नीयायं गत इति चेन्न । निद्रितस्त्वं तत्त्वतो यत्प्राक् तृणावर्तेन कृष्णनायकनयने नाप्रान्नीरिति । तत्राचिन्त्याद्भुतशक्तिरिति नानुयोक्ताऽहं निद्रित इति वदसि चेद्धन्त तर्ह्यत्र सस्मार रूपं निजमेव लक्षण इत्युक्तेस्तत्रैव स्वस्वरूपस्मरणस्याभावाल्लाघवतः प्रलम्बबलोन्नीतिर्नीतिमतीति भवान्भवतु वेदिता ।। २३ ।। ननु कृष्णो मुख्यद्विट् तं विहाय विहायोन्नीतिरलक्ष्यस्य बलस्य कुत इत्यत आह ।। अविषह्यमिति । दानवपुङ्गवः कृष्णमविषह्यं मन्यमानो द्रुततरमतिशीघ्रमवरोहणतोऽवरुह्यते जनोऽत्रेत्यवरोहणं । अद आसाद्यावतारयितव्योऽयमिति क्लृप्तस्थानतः परं परतस्तदतिगति दूरमिति यावत्प्रागात् ।। २४ ।।

श्रीसुबोधिनी

एवं क्रियामयान् संस्काररूपांश्च दोषान् निवर्त्यान्तःकरणदोषाभिमानिनीं दैत्यभूतां निवारयितुमुपाख्यानमारभते **पशूंश्चारयतोरिति,** गोपैः सह **पशूंश्चारयतोः** सतोः **प्रलम्बोगात,** अन्तःकरणमेव रूपसमर्पकमिति **गोपरूपो** स प्रकर्षण लम्बो मुक्तिपर्यन्तमनुवर्तमान**स्तज्जिघांसया भगवांस्तं विद्वानपि तत्सख्यमन्वमोद**तेतिसम्बन्धः, गत्वा मारणीयः स तत्र स्वयमागते कः सन्देहः ? अतः प्रथमत एव **जिघांसये**त्युक्तं, **सम्भवत्यविरोधव्याख्याने विरुद्धं न व्याख्येयं, तं** प्रलम्बं दुष्टं **भगवान्** ज्ञात्वा तत्र प्रवेशेनैव तद्वध इति सञ्चिन्त्य तथैव लीलायाः प्रारब्धत्वाद् भगवतः सर्वसखस्य सर्वात्मकस्य दोषत्वेन दैत्यहननावश्यकत्वात् सख्यं कृतवान्, अत एव भगवता न मारितः, **देहोत्पन्नाश्च स्वतो न मार्यन्ते** यथौषधं तथा बलभद्रो व्यवहारे च स कृष्णसम्बन्धी गोपालानां मध्ये कृष्णस्यार्थे तस्य प्रवेशात्, अनेनैव प्रकारेणाक्लिष्टतया वधो भवतीति **विचारयंस्तथा** कृतवान् ।। १७-१८ ।। ततः सख्यकरणानन्तरं वधप्रकारं कृत**वा**नित्याह **तत्रोपाहूयेति,** सर्वानेव **गोपालानुपाहूय** नानाविधक्रीडायां प्रवृत्तान् क्रीडाविशेषमुपदेष्टु **प्राह, तत्रोपाहूयेति,**, यत्र समभूमौ तादृशलीला भवति **तत्र** सर्वा**नुपाहूय**ाग्रे वक्ष्यमाणं **प्राहे**तिसम्बन्धः, यतो भगवानक्लिष्टकर्मा **प्रकर्षेण स्पष्टमेवाह,** गोपालानां विश्वासार्थे स्वज्ञातक्रीडापरित्यागार्थं च विशेषणं **विहारविदिति,** सर्वानेव विहारान् वेत्ति, भगवद्वाक्यमेवाह **हे गोपा विहरिष्याम** इति, अद्वन्द्वभूता अपि **द्वन्द्वीभूय** यथा येन सह यो सह यो द्वन्द्वं प्राप्तस्तथा तेनैव सह स जयं पराजयं वा प्राप्नोतीति यथा तथा **यथायथं** वा यथासुखमित्यर्थः, **यथातथ**मितिपाठेपि क्रियाविशेषणमात्रत्वं विशेषः ।। १९ ।। भगवदुक्तास्तथैव कृतवन्त इत्याह **तत्र चक्रुरिति,** उभौ तत्र क्रीडायां मुख्यौ क्रियेते पश्चाद् द्वौ द्वौ समागच्छतः कृत्रिमसङ्केतं कृत्वा तत्र य एव यमर्थं वृणीते तेन सङ्केतितस्तदीयो भवति, एवं सर्वे गोपालाः प्रकारद्वयेन द्विविधा भवन्ति, तदाह **कृष्ण सङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापर** इति ।। २० ।। तत्रापि प्रथममागतौ मुख्यकार्यं कुरुतः श्रीदामा **प्रलम्बश्चो**भौ समागतौ द्वन्द्वीभूय, तत्रापि **श्रीदामा बलभद्रेण** गृहीतो **बलकार्यं** करोति प्रलम्बो भगवत्कार्यं, एतौ मन्त्रिणाविव, अन्यथा जयपराजययोः कृष्णरामावेवान्योन्यं वाहकौ स्यातां तुल्यत्वात्, नाप्यव्यवस्थिततया वहनं, तया सत्यतिप्रसङ्गात् कलहसम्भवाच्च, नाप्यत्र मुख्यो वाहकत्व-

पक्षः, अन्यथा भगवतोपि वाहकत्वं न स्यात्, मुख्ययोरेकः क्रीडत्येको वहति, अथवा क्रीडाविशेषे सर्व एव सर्वान् वहन्तीति, तत्रैकपादगमने क्रीडान्तरे वा मध्ये द्वितीयपादस्य भूस्पर्शे पराजितो भवति, तत्र प्रतियोगिनस्तान् भ्रामयन्ति यथा स्खलनं भवति, येन प्रतियोगिना भ्रामितः स्पृशति भूमिं तं वहति, तदाहाचेरुर्विविधाः क्रीडा इति, **वाह्यवाहकत्वे** निमित्तमाह **यत्रारोहन्तीति, जेतार आरोहन्ति पराजिता वहन्ति** ॥ २१ ॥ नापि निसर्गतः पराजितः पराजित एव भवति, अतः कदाचित् कश्चिद् वहति वाह्यते च, तदाह **वहन्तो वाह्यमानाश्चेति**, मध्ये सर्वेषामेव क्रीडायां प्रविष्टत्वाद् गवां चारणाभावे चतुर्विधपुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह **चारयन्तश्च गोधनमिति**, गाव एव धनं, चकारात् रक्षामपि कुर्वन्तो **भाण्डीरके** वने मुख्या वटोस्ति तदाख्यातिकरस्तत्र समा च भूमिः प्रलम्बस्य सहायान्तरस्यापि पश्चादागतस्यानागमनं भवत्यतो **भाण्डीरकं नाम वटं सर्व एव जग्मुः**, इममर्थं भगवानेव जानातीति **कृष्णपुरोगमाः**, कृष्ण एव पुरोगमो येषां, तत्र मध्येपि क्रीडां कुर्वाणा एव गताः ॥ २२ ॥ ततो यदा पराजयस्तदा वहनं तदाह **रामसङ्घट्टिनो ये हीति**, त्रयोत्र निरूपिता अन्तःकरणगुणानां त्रैविध्यज्ञापनाय, **रामो यथा तथा श्रीदामा वृषभश्च**, रामो राजसः श्रीदामा सात्त्विको वृषभस्तामसः, यत्र यदा ते **क्रीडायां जयिनस्तांस्तान् कृष्णादय ऊहुः** ।२३।

अक्लिष्टकर्मतासिद्ध्यै हीनत्वं कुरुते क्वचित् । धर्मप्रधानो भगवानिति ज्ञापयितुं तथा ॥ १ ॥

यथा बलभद्रः प्रलम्बारूढो भवेत् तदर्थं **भगवान् श्रीदामानमुवाह**, नाम्ना लक्ष्मीवनमालारूपत्वं तस्यातोलङ्कारार्थं वहनमुचितं, **पराजितो** इतिनिमित्तमन्यस्यापि वहनार्थं, तदाह **वृषभं भद्रसेनस्त्विति**, तुशब्दस्तृतीयस्य तत्पूर्ववद् वहनमिति ज्ञापयति, प्रलम्बस्तु **रोहणीसुतं**, मातृनाम्ना व्यपदेशस्तदज्ञानज्ञापनाय ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पशूनित्यत्रान्तःकरणरूपमेवेति प्रतिपादितं चैतद् **'यतो यतो धावति दवनोदितं मन'** इत्यत्र ॥ १७ ॥ **तं विद्वानित्यत्र** ननु वधोपायचिन्तनं लौकिककार्यमिति कथमत्रैतदित्यत आहुस्तथैवेति लोकवदित्यर्थः ॥ १८ ॥ **रामसङ्घट्टिन** इत्यत्र ननु परवहने स्वस्य हीनत्वं भवतीति भगवान् श्रीदामानं किमित्युवाहेत्यत आहु**रक्लिष्टेत्यादि** तथा च यद्येवं न कुर्यात् क्रीडा क्लिष्टा स्यादिति तदभावार्थं तथेत्यर्थः, ननु तथाप्येवङ्करणे हीनत्वं कथं निवर्तत इत्यत आहु**र्धर्मेत्यादि धर्मा एव प्रधाना मुख्यकार्यकरा** यस्य वाह्यधर्मो वा तथा यस्य तथा चेतादृशस्थले धर्मा एव तथा कुर्वन्तीति न दोष इत्यर्थः, एवं तु यतो **भगवान् स्वयं धर्मप्रधान इति ज्ञापयितुं तथा कुरुत** इत्येवं योज्य, तथा चान्यत्रापीदृग्विधा भगवत्कृतिरेवंरूपा ज्ञातव्येतिभावः, वाह्यधर्मस्तु **नाम्नेत्यादिना** श्रीमदाचार्यैरेव विवृतो ज्ञेयः ॥ २३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पशूनित्यस्याभासे **क्रियामया**निति भगवन्तं विना केवलक्रीडाप्रचुरानित्यर्थः, **संस्काररूपा**निति केवलक्रीडास्मरणजनको यः संस्कारस्तद्रूपानित्यर्थः, तासु भगवत्प्रवेशे भगवता सह क्रिया भवन्ति संस्कारापि भगवत्सहितानामेव भवतीतिभावः, (**उपाख्यान**मिति वाहुलकात् कर्मणि ल्युट्, लीलाप्रकारमित्यर्थः, भगवत्कृतामितिशेषः, तथा च तान् निवर्त्य तां निवारयितुं भगवता कृत लीलाप्रकारं वक्तुं शुक **आरभत** इत्यन्वयः), व्याख्याने, **अन्तःकरणमेवेति** अन्तःकरणं स्मर्तरि स्मर्यमाणस्वरूप**समर्पक**मित्यन्तःकरणे विषयतासम्बन्धेन स्पर्यमाणस्वरूपं वर्तते, अतस्तदभिमानिनस्तादृशं रूपमुचितं यस्मिन्नन्तःकरणे क्रीडानुभवजनितसंस्कारोस्ति विषयतासम्बन्धेन गोपा एव न तु भगवांस्तद्रूपः प्रलम्बः, अतस्तस्य तादृशमेव रूपमितिभावः, साधनचिन्तनहेतुस्तथैवेति ॥ १७ ॥ **तत्रोपाहूयेत्यस्याभासे वधप्रकार**मिति तादृशविहारोपदेशमित्यर्थः ॥ १९ ॥ **तत्र चक्रु**रित्यत्र **प्रतियोगिन** इति स्वसङ्घट्टिनो योगिनः परसंघट्टिनः प्रतियोगिन इत्यर्थः, **नापि निसर्गत** इत्यनेन "वहन्तो वाह्यमानाश्च"तिपदार्थ उक्तः, वाक्यार्थस्तु "जग्मु"रित्यन्तेनोपसंहारे वक्ष्यते ॥ २२ ॥ अग्रिमश्लोकान्ते **ज्ञापयितु**मिति गापेष्वितिशेषः, एवं ज्ञाने केनापि कस्यचित् पशो न कर्तव्यस्तन लीला सम्यक् सिध्यतीतिभावः, **लक्ष्मीवनमालारूप**त्वमिति लक्ष्म्या स्वसमर्पणीयवनमालाग्रथनाधिकारोस्मै दत्त इति सततं तद्भावनया तद्रूपत्वमेवास्य सम्पन्नं परं तत्स्वरूपगोपनाय लोकेभ्यस्तथा न प्रदर्शयति, भगवांस्तु **जानातीति** तद्व्याजेन तदाधिदैविकरूपं मालामुवाह, लोकानां त्वाधिभौतिकरूपप्रतीतिरितिभावः, तथा च श्रियो दाम श्रीदामा, पुंस्त्वं तु परोक्षवादाय लोकप्रतीतिमनुसृत्येति ज्ञेयम्, अत्र श्लोके वहनानुवादेन तत्प्रकारो वाक्यार्थः, अत एवास्याभासः पृथङ् नोक्तः, सप्रकारकं वहनं श्लोकद्वयार्थो ज्ञेयः ॥ २३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

रामसङ्घट्टिनो ये हीत्यस्य विवरणे कारिकायां **धर्मप्रधानो भगवा**निति अक्लिष्टकर्मत्वलक्षणः **स्वधर्मः** प्रधानं यस्येत्यर्थः ॥ २३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

रामसङ्घट्टिनो यर्हीत्यत्र अक्लिष्टेति का० १५३३ । ननु परवहने स्वस्य हीनत्वं भवतीति भगवान् श्रीदामानं किमित्युवाहेत्यत आहुरक्लिष्टेत्यादि, केनापि कस्यचित् पक्षपातो न कर्तव्य इति गोपेषु ज्ञापयितुमित्यर्थः । २३ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधनी

लीलान्तरमाह—पशूनिति । तस्मिन् वने गोपैः सह पशून् चारयतोः सतोः रामकृष्णयोस्तयोर्जिहीर्षया हर्तुमिच्छया गोपरूपी कश्चिद्गोपस्तद्दिने वनं नागतस्तद्रूपी सन् प्रलम्बाख्योऽसुरोऽगादित्यन्वयः ।। १७ ।। दाशार्हकुलोत्पन्नः श्रीकृष्णस्तं प्रलम्बासुरं विद्वानपि जानन्नपि तेन सह सख्यमन्वमोदत् । सख्यानुमोदने हेतुमाह—वधमिति । तेन सह क्रीडयैव तस्य वधं विचिन्तयन्नित्यर्थः । एवं ज्ञाने हेतुमाह—सर्वदर्शन इति । सर्वज्ञ इत्यर्थः । सर्वज्ञत्वे वधसामर्थ्येन च हेतुमाह—भगवानिति ।।१८।। तत्रेति । यत्र समभूमौ तद्वधयोग्या क्रीडा भवेत्तत्र गोपान् उपाहूय 'हे गोपा ! यथायथं वयोबलाद्यनुरूपं द्वन्द्वीभूय वयं विहरिष्याम' इति कृष्णः प्राहेत्यन्वयः। ननु 'तेषां स्वरुच्या नानाविधक्रीडासु प्रसक्तानां तदाह्वानात्तत्त्यागेनागत्य तद्वाक्याङ्गीकारे को हेतुः ?' इत्यपेक्षायामाह—विहारविदिति । यतोऽभिनवचमत्कृतनानाविहाराभिज्ञ स एवेत्यर्थः । अनेन क्रीडायामपि भगवदधीनता प्रदर्शिता ।। १९ ।। तत्रैवं कृष्णेनोक्ते सति गोपा रामजनार्दनावेव परिवृढौ नायकौ चक्रुः । तत्र सङ्घट्टो यूथः । केचित् कृष्णस्य संघट्टिनः यूथगताः पक्षीया आसन् । तथा अपरे रामस्य सङ्घट्टिन आसन् ।। २० ।। वाह्यवाहकेति भावप्रधानो निर्देशः । वाह्यत्वं वाहकत्वं च लक्षणं फलं यासु तथा विविधाः क्रीडा आचेरुः । वाह्यवाहकलक्षणा इत्येतदेव विवृणोति—यत्रेति । अस्पृश्यलीलायां यदि रामसङ्घट्टिनां मध्ये कोपि कृष्णसङ्घट्टिनं कमपि स्पृशति तदा रामसङ्घट्टिनः सर्वे एव जेतारः सन्तस्तान् कृष्णसङ्घट्टिन आरोहन्ति । ते च कृष्णसङ्घट्टिनः सर्वे एव पराजिताः सन्तस्तान् रामसङ्घट्टिनो यथायथं वहन्ति । एवं यदा कृष्णसङ्घट्टिनां मध्ये कोपि रामसङ्घट्टिनं कमपि स्पृशति तदा कृष्णसङ्घट्टिनः सर्वे जेतारः सन्तस्तानारोहन्ति, ते च तान् हन्तीत्यर्थः ।। २१ ।। एवं वहन्तो वाह्यमानाश्च गोधनं चारयन्तश्च कृष्णादयो गोपा भाण्डीरक नाम वटं जग्मुः । यतः स एव वटोऽवरोहणस्थानत्वेन कल्पितः तदुक्तं विष्णुपुराणे—"ते वाहयन्तस्त्वन्योऽन्यं भाण्डीरस्कन्धमेत्य वै । पुनर्निर्वर्तिताः सर्वे ये ये पूर्वं पराजिता" इति ।। एवमारोहणस्थलमपि तत्समीपे क्वचित् कल्पितं ज्ञेयम् ।। २२ ।। यर्हि क्रीडायां रामसङ्घट्टिनः श्रीरामादयो जयिनो जातास्तदा तान् कृष्णादय ऊहुः । 'इयमपि लीला आश्चर्यजनिका, यत्र सर्वेश्वरोऽपि भगवान् पराजितः सन् गोपमुवाह' इति सूचयन् सम्बोधयति—नृपेति ।। २३–२४ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

पशूनिति ।। तस्मिन्वने गोपैः सह पशून् चारयतोः सतोः रामकृष्णयोस्तयोर्जिहीर्षया हर्तुमिच्छया गोपरूपी कश्चिद्गोपस्तद्दिने वनं नागतस्तद्रूपी सन् प्रलम्बाख्योऽसुरोऽगात् ।। १७ ।। तमिति ।। भगवान् सर्वदर्शनः दाशार्हः श्रीकृष्णस्तं प्रलम्बासुरं विद्वानपि जानन्नपि क्रीडयैव तस्य वधं विचिन्तयन् तेन सह सख्यमन्वमोदत ।। १८ ।। तत्रेति ।। विहारवित् क्रीडाभिज्ञः कृष्णः तत्र गोपान् उपाहूय हे गोपाः ! यथायथं वयोबलाद्यनुरूपं द्वन्द्वीभूय वयं विहरिष्याम इति प्राह स्म ।।१९।। तत्रेति ।। तत्र एवं कृष्णनोक्ते सति गोपा रामजनार्दनावेव परिवृढौ नायकौ चक्रुः । तत्र संघट्टो यूथः केचित्कृष्णस्य संघट्टिनः यूथगताः आसन् तथा अपरे रामस्य संघट्टिन आसन् ।। २० ।। आचेरुरिति ।। यत्र यासु क्रीडासु जेतारः आरोहन्ति पराजिताश्च तान् वहन्ति ताः वाह्यवाहकेति भावप्रधानो निर्देशः । वाह्यत्वं वाहकत्वं च लक्षणं फलं यासु तथा विविधाः क्रीडा आचेरुः ।। २१ ।। वहन्त इति ।। एवं वहन्तो वाह्यमानाः पृष्ठेनोह्यमानाश्च । स्वार्थे णिच् । गोधनं चारयन्तश्च कृष्णपुरोगमाः कृष्णादयो गोपाः भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः। यतः स एव वटोऽवरोहणस्थानत्वेन कल्पितः । तत्समीपवर्त्येवारोहणस्थानमपि ज्ञेयम् ।। २२ ।। रामेति ।। हे नृप ! यर्हि क्रीडायां रामसंघट्टिनः श्रीदामवृषभादयः जयिनो जातास्तदा तान् कृष्णादय ऊहुः ।। २३ ।। उवाहेति ।। पराजितो भगवान् कृष्णः श्रीदामानम् उवाह । भद्रसेनस्तु वृषभनामानम् उवाह । प्रलम्बो रोहिणीसुतमुवाह ।। २४ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तस्मिन् वने चारयतोः सतोः तौ हन्तुमिच्छया ।। १७ ।। तस्य सख्यमन्वमोदत कृतवान् ।। १८ ।। यथायथमवस्थाबलादियोग्यं द्वंद्वीभूय ।। १९ ।। परिवृढौ यूथमुख्यौ कृष्णस्य संघट्टिनः पक्षगाः ।। २० ।। वाह्याः स्कंधैर्वोढुं योग्यास्तेषां वाहकाश्चैतेषामुभयविधानां लक्षणं सूचनं यासु ता वाह्यवाहकलक्षणाः ।। २१ ।। अभ्यानुह्यमानान् वहंतो गोपाः तैर्वाह्यमानाः स्कंधैरुह्यमानाः ते द्विविधा गोपाः गोधनं चारयंतः ।। २२ ।। जयिनो जेतारः भवंति हि तान् ऊहुर्वहंति स्म ।। २३–२४ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पशूनिति ।। तद्वने, गोपैः सह, पशून् चारयतोः रामकृष्णयोः, समीपे इति शेषः । तज्जिहीर्षया रामकृष्णयोर्हरणेच्छया, जिघांसयेति पाठे रामकृष्णयोर्हननेच्छयेत्यर्थः । गोपानामिव रूपमस्यास्ति तथाविधः सन्, प्रलम्बः नाम असुरः, अगात् ।। १७ ।।

तमिति ॥ सर्वदर्शनः हेतुगर्भमिदं विशेषणम्। सर्वज्ञत्वात्, तं जिघांसुं समागतं गोपरूपिणं प्रलम्बासुरमित्यर्थः। विद्वान् जानन्नपि, दाशार्हः भगवान् श्रीकृष्णः सद्यः न तं जघानेति वाक्यशेषः। किं तु तस्य वधं, चिन्तयन् उपायान्तरेणेति शेषः। तत्सख्यं तेन सह सखिभावं एव, अन्वमोदतारोचयत् ॥ १८ ॥ तत्रेति ॥ विहारवित् तद्वयोचितविहारक्रमाभिज्ञः, कृष्णः गोपालान्, तत्र यत्र स्वयमुपविष्टस्तस्मिन् स्थाने, उपहूय, स्वसमीपे समाहूय, हे गोपाः, यथायथमाकृतिवयोबलानुरूपं द्वन्द्वीभूय संघद्वयं भूत्वा, विहरिष्यामः, इति प्राह ॥ १९ ॥ तत्रेति ॥ एवं भगवतोक्ते सतीति शेषः। गोपाः, तत्र तस्यां क्रीडायां, रामजनार्दनौ रामकृष्णौ, परिवृढौ संघनायकौ, चक्रुः। तत्र केचिद्गोपाः, कृष्णसंघट्टिनः श्रीकृष्णपक्षीयाः, आसन् बभूवुः। अपरे गोपाः, रामस्य संघट्टिनश्च, आसन् ॥२०॥ आचेरुरिति ॥ एवभूताः भूत्वा, वाह्यवाहकेति भावप्रधानो निर्देशः। वाह्यत्ववाहकत्वे लक्षणे फले यासु ताः, विविधाः क्रीडा आचेरुः चक्रुः। ताः क्रिडा विशदयति। यत्र यासु क्रीडासु, जेतारः आरोहन्ति, पराजिताश्च वहन्ति ॥२१॥ वहन्त इति ॥ एवंभूतासु क्रीडासु प्रवर्त्तमानासु सतीष्विति शेषः। वाह्यमानाः जयेन हेतुना पृष्ठेनोह्यमानाः, वहन्तः पराजयेन हेतुना पृष्ठेन वहन्तश्च, गोधनं चारयन्तश्च सन्तः, कृष्णः पुरोगमोऽग्रेसरो येषां ते गोपाः, भाण्डीरकं नाम भाण्डीरकेति नाम्ना प्रसिद्धमित्यर्थः। वटं न्यग्रोधतरुं, जग्मुः ॥ २२ ॥ रामेति ॥ तत्र यर्हि यदा, श्रीदामवृषभादयः, रामसंघट्टिनः, क्रीडायां जयिनः जेतारः भवन्ति, तदा हे नृप, तान् तान्, कृष्णादयः ऊहुर्वहन्ति ॥ २३ ॥ उवाहेति ॥ अविषह्यमिति ॥ तत्र पराजितः पराजयं प्राप्तः, भगवान् कृष्णः, श्रीदामानं उवाह। पराजितः भद्रसेनः, वृषभं उवाह। प्रलम्बः रामसंघट्टो किं न बभूवेतीमां शङ्कां निराकुर्वंस्तं विशिनष्टि। कृष्णं अविषह्यं मन्यमानः, दानवपुङ्गवः दैत्यश्रेष्ठः, प्रलम्बोऽसुरः, पराजितः अत एव, रोहिणीसुतं बलभद्रं, वहन् सन्, द्रुततरमतिशीघ्रं, अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्यादास्थानं तस्मादिति ततः, परं, प्रागात्। दूरतरमिति पाठे, अवरोहणतः परं दूरतरं, प्रागादित्यन्वयः। यदाहं रामसंघट्टी भवेयं तदा कृष्णेन पराजितस्तं वहेयं, तर्हि व्योमासुरवत् म्रियेयमित्यभिप्रायेण श्रीकृष्णसंघट्टी बभूवेति भावः। उभयोरेकान्वयः ॥ २४–२५ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गोपरूपीति : १०.१८.१७.

अज्ञातो यदि तदयत्नमिष्टसिद्धिर्ज्ञातश्चेच्छरणगिरैव शं लभेय।
इत्यन्तर्निहितविनिश्चयः स दैत्यस्तत्रागात्किमु कृतकात्तगोपरूपः ॥ ९ ॥
योषा वकी पशुमतिर्वत वत्सकोऽपि प्रौढो बकोऽपि सततं जडजातवृत्तिः।
तस्मात्तथा न गणयत्वयमत्र किन्तु गोपानुरूपमिति किं स तदा तथाऽगात् ॥ १० ॥
अतित्वरा नेष्टकरी यदस्या योगात्फलं तादृगवापुरर्वाक्। बकादयस्तन्नहि तां श्रयामीत्यगात्स तादृक्किमु वस्तुकामः ॥११॥
युक्त्याऽनयैव वहुकालकृतावहित्थः स्थाता भवेयमिह तत्र यथावकाशम्।
कंसार्थसाधनमदुःशकमेव भूयादित्याशयेन किमु वा स बभूव गोपः ॥ १२ ॥
यदुपतिसहक्रीडासौख्यं समग्रजनेहितं भवति जगतीत्यस्मिन्नर्थे न मानमपेक्ष्यते।
सहजरिपुरप्यल्पप्रज्ञोऽप्यभक्तमतानुगोऽप्यभवदसुरो यत्प्राप्त्यर्थं स गोपसरूपकः ॥ १३ ॥

तं विद्वानपीति : १०.१८.१८

ज्ञाताऽप्यहं समदृगस्मि शरण्यधामा गोपास्त्विमेऽतिसरलाः खलकैतवाज्ञाः।
तत्कार्यमत्र कथमित्यनुचिन्त्य कृष्णस्तत्सख्यतः स्वविरुद्धं प्रथनं ररक्ष ॥ १४ ॥
अकुर्वाणः सख्यं यदि खलमिमं गोपवमिपं गोपवपुषं निहन्यां तद्भूयाद्ध भृशममीषामृजुधियाम्।
ग्रहो गोपलघ्नोऽयमिति भुवनेऽप्यत्र वितथः स मा भूदित्यद्धा किमुविभुरसौ सख्यमकरोत् ॥ १५ ॥
स्नेहं विना न भविताऽस्य खलस्य भावो व्यक्तो निजेष्वखिल-गोपसुवेषभाजः।
युक्त्यन्तरस्तिमितधीः किमु साधु गर्ह्यमप्यन्वमोदत विभुः खलमुख्यसख्यम् ॥ १६ ॥
दृष्ट्वा गोपसमाकृतिं निरुपमो योऽदर्शि तत्सौहृदेदुष्टो घातकबुद्धिरित्थमवगत्याऽप्यच्युतेऽनादरः।
तेनेदं विशदीकृतं यदवनौ सर्वेश्वरस्यापि मे भक्तस्नेहसुखान्न किञ्चिदपरं सौख्यं मनोमोहकम् ॥ १७ ॥

तत्रेति : १०.१८.१९.

अनेन खलु दुर्हृदा कितवसौहृदं सम्प्रति प्रदर्श्य निखिलेष्वमीष्वपि ममत्वमुत्पादितम्।
अतोऽत्र न मनागितः समुचिता ह्युदासीनतेत्यचिन्त्यचरितः प्रभुः कृतककेलिमारब्धवान् ॥ १८ ॥
ममत्वोच्छेदकार्येको द्वन्द्वीभावः परस्परम्। इत्यालोच्याच्युतः क्रीडां तादृशीं किमु दिष्टवान् ॥ १९ ॥

अद्वैतकेलिविदलं न युवां विनाऽन्यो द्वन्द्वेऽपि केलिकुतुकेऽर्हति गौरवं नः ।
इत्युक्तिमात्मनिहिता-मनुयुक्तियुक्तां तेषां निशम्य स च सोऽप्युररीचकार ॥ २० ॥

तत्र चक्रुरिति : १०.१८.२०

शत्रुश्चेच्छलवर्त्म जाङ्घिकमनास्तत्तज्जयो धीमता तत्कालं कृतकं निजेषु कलहं निर्माय कार्यो ध्रुवम् ।
मन्ये नीतिमिमां विभाव्य भगवान् स्वातोत्तमे निर्ममे रामे तत्परिभूतये प्रथमतः स्वस्य प्रतिद्वन्द्विताम् ॥ २१ ॥
अनेन धरणीधरो धरणिभारभूतेन यद् व्यखेदि बहुधा ततः प्रतिकृतिं विधास्येऽधुना ।
बलं तदुपरि स्थितं बत विधाय शेषात्मक तथा निजविभागतोऽब्वति किनुच्युतेनाशयः ॥ २२ ॥
कश्चिद् दुर्वृत्तबुद्धिः शरणमुपगतस्तस्य सख्यं विधास्याम्येवाहं तादृगेतत् क्वचिदपि न यथा भग्नभावं भजेत् ।
विस्पष्टद्वन्द्वभावेऽप्यसुरमपिहितं तं तदा केलिकाण्डे स्वीयत्वेनाच्युतेनाध्यवनि गणयताऽकार्यगूढः स्वभावः ॥ २३ ॥
यन्मुख्याक्षरमेकमप्यसुलभं श्रोतुं विरञ्चेरपि युद्धस्ताङ्गुलिपल्लवोऽप्यसुलभस्पर्शो मुनीनामपि ।
यद्वक्षः परिरम्भमिच्छति सदा पद्मापि तस्मिन् प्रभौ मैत्र्योपस्थितकृत्स्नकेलिकृदभूद्धन्यो जघन्योऽप्यसौ ॥ २४ ॥

वहन्त इति : १०.१८.२२

प्रारब्धात्कौतुकाद्वाऽप्यधिगतविषयां व्यापृतिं व्यापृतात्मा निम्नां वा चोन्नतां वा हितविहितमनास्तादृशीं संविदध्यात् ।
न स्याद् भ्रंशो यथाऽस्मिन्निखिलनिजगवां तस्य सत्सीमदृष्टेर्न स्याज्जात्वप्यनिष्टं तत इति विभुना तादृशेनाभ्यधायि ॥ २५ ॥
विधतविहितसीमन्यत्र मित्रे च शत्रौ व्यरचि यदि च दण्डो नैष नीतावधर्मः ।
इति मनसि विचिन्त्यारम्भि तादृक् सुसीमं विहरणमपि कृष्णेनाऽर्यधर्मानुगेन ॥ २६ ॥

रामसङ्घट्टिन इति : १०.१८.२३.

एतद्भारयुतावनीधृतिनमन्मौलिः स शेषोऽधुनाऽपि स्याद् भारभृदेव मे यदि जयः संपादितः सर्वदा ।
आलोच्यवमुरीकृतोऽतिकृपया मन्ये जगज्जिष्णुना श्रीकृष्णेन पराजितत्वमधरीभावश्च केलीविधौ ॥ २७ ॥
क्षणार्धमपि कौतुकात् खलसमागमश्चेत्कृतः स चाच्युतविभूतिमप्यधरता नयत्याश्वतः ।
न जातु खलसङ्गतिर्हितदृशा विधेयेति किं स्वमेव तदुदाहृतिं भुवि विवक्तमाधात्प्रभुः ॥ २८ ॥

उवाहेति : १०.१८.२४

श्रीमन्नाम सुदाम धारयति यस्तं च क्वचिद् द्वन्द्वितां प्राप्तं चाप्यहमुद्वहामि सहसा सर्वोत्तमश्रीरपि ।
इत्थं स्वीयजनैकपालन-समुत्साहं तदोद्बोधयन् मन्ये गोपमुवाह तादृशपदं श्रीशः स्वहर्षप्रदः ॥ २९ ॥
अपराजितोऽप्यहमलं पराजितस्तैर्मदुक्तकेलिकृतः । ये श्रीमत्पदलसिता भवेयुरिति तादृशेरितं हरिणा ॥ ३० ॥
परिवृढौ न पराजयशालिनावपि मिथो वहतः खलु किन्तु तौ । विदधतोऽपजयार्थकमभंकं कमपि युक्तमिदं कथमन्यथा ॥ ३१ ॥

कृष्णप्रिया

एक दिन जब बलराम और श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ उस वन में गौएँ चरा रहे थे, तब ग्वाल के वेष में प्रलम्ब नामक एक असुर आया। उसकी इच्छा थी कि मैं श्रीकृष्ण और बलराम को हर ले जाऊँ ॥ १७ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण सर्वज्ञ हैं। वह उसे देखते ही पहचान गये। फिर भी उन्होंने उसका मित्रता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वे मन-ही-मन यह सोच रहे थे कि किस युक्ति से इसका वध करना चाहिये ॥ १८ ॥ ग्वालबालों में सबसे बड़े खिलाड़ी, खेलों के आचार्य श्रीकृष्ण ही थे। उन्होंने सब ग्वालबालों को बुलाकर कहा—'मेरे प्यारे मित्रों! आज हमलोग अपने को उचित रीति से दो दलों में बाँट लें। और फिर आनन्द से खेलें ॥ १९ ॥ उस खेल में ग्वालबालों ने बलराम और श्रीकृष्ण को नायक बनाया। कुछ श्रीकृष्ण के साथी बन गये और कुछ बलराम के ॥ २० ॥ फिर उन लोगों ने तरह-तरह से ऐसे बहुत से खेल खेले, जिनमें एक दल के लोग दूसरे दल के लोगों को अपनी पीठ पर चढ़ाकर एक निर्दिष्ट स्थान पर ले जाते थे। जीतने वाला दल चढ़ता था और हारने वाला दल ढोता था ॥ २१ ॥ इस प्रकार एक दूसरे की पीठपर चढ़ते-चढ़ाते श्रीकृष्ण आदि ग्वालबाल गौएँ चराते हुए भाण्डीर नामक वट के पास पहुँच गये ॥ २२ ॥ परीक्षित्! एक बार बलराम जी के दल वाले श्रीदामा वृषभ आदि ग्वालबालों ने खेल में बाजी मार ली। तब श्रीकृष्ण आदि उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाकर ढोने लगे ॥ २३ ॥ हारे हुए श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को अपनी पीठपर चढ़ाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने बलरामजी को ॥ २४ ॥

अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः । वहन् द्रुततरं 'प्रागादवरोहणतः परम् ॥ २५ ॥

तमुद्वहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।

स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमानुडुपति²मानिवाम्बुदः ॥ २६ ॥

निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरन्³ प्रदीप्तदृग् भ्रुकुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।

ज्वलच्छिखं कटककिरीटकुण्डलत्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥ २७ ॥

अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहाय⁴सार्थमिव हरन्तमात्मनः ।

रुषाहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—दानवपुङ्गवः कृष्णम् अविषह्यम् मन्यमानः बलम् वहन् द्रुततरम् अवरोहणतः परम् प्रागात् ॥ २५ ॥ धरणिधरेन्द्रगौरवम् तम् उद्वहन् विगतरयः स महासुरः (यदा) निजम् वपुः आस्थितः (तदा) पुरटपरिच्छदः सः तडिद् द्युमान् उडुपतिमान् अम्बुद इव बभौ ॥ २६ ॥ अम्बरे अलम् चरन् हलधरः, प्रदीप्तदृक् भ्रुकुटि तट उग्रदंष्ट्रकम् ज्वलत्शिखम् कटककुण्डलत्विषा अत्यद्भुतम् तत् वपुः निरीक्ष्य ईषत् अत्र सत् ॥ २७ ॥ अथ आगतस्मृतिः अभयः बलः, अर्थम् (सार्थम्) इव आत्मनः विहाय सा हरन्तम् रिपुम्, सुराधिपः वज्ररंहसा गिरिम् इव, रुषा दृढेन मुष्टिना शिरसि अहनत् ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कृष्णदृष्टिवंचनाय अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्यादा ततः परं दूरमगात् ॥ २५ ॥ धरणिधरेंद्रवद्गौरवं यस्य तं निजमासुरं वपुरास्थितः । पुरटपरिच्छदः सुवर्णालंकारः । तडिद्द्युमान्विद्युद्दीप्तिमानित्यलंकारोपमा । उडुपतिवाडिति रामोपमा । उडुपतिं वहतीत्युडुपतिवाट् । यदि यथोचितस्थानेषु स्थिता विद्युतो भवंत्युपरि चोडुपतिस्तदा सोम्बुदो यथा भाति तद्वद्बभावित्यर्थः ॥ २६ ॥ अलमतिवेगेन । प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन्वपुषि तत् । भ्रुकुटितटसंलग्ना उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तत् प्रदीप्तदृक् प्रदीप्तनेत्रं भ्रुकुटितटं यस्मिन् उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तच्च तच्चेति वा । ज्वलंत्यः शिखाः केशा यस्मिंस्तत् ॥२७॥ आगतस्मृतिरभय इवात्मनः सार्थं गोपसमूहं विहाय हरंतं रिपुमहनत् । यद्वा विहायसाऽऽकाशमार्गेणात्मनः प्राप्तमर्थमिव हरंतमिति वज्ररंहसा वज्रवेगेन मुष्टिना ॥२८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अविषह्यम् योद्धुमशक्यम् । यद्वा—कृष्णमविषह्यं वोढुमशक्यं मत्वा रामं वहन्नगादिति संबंधः ॥ २५ ॥ धरणिधरेंद्रः सुमेरुः । "पुरटो नगराटे स्यात्क्लीबं हेम्न्यग्रगे शुनि" इति धरणिः । द्युमता सूर्येण वाऽत्र पक्षेऽभूतोपमा ज्ञेया ॥ २६ ॥ पूर्वसमासे दंष्ट्राणां भ्रुकुटिसंलग्नत्वासंभवात्समासांतरमाह–प्रदीप्तेत्यादि । "भ्रुवोर्मध्ये तु कुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्" इति शब्दरत्ने । अत्रसत् उद्विविजे ॥ २७ ॥ अथ श्रीकृष्णकृतबोधानंतरम् । आगतस्मृतिः ज्ञातनिजवैभवः । बलं गृहीत्वा, प्रलंबधावने बलदेवेन कृष्णः प्रार्थितः स च तं न त्वं प्राकृतो बालः किं तु साक्षादनंतोऽसीति बोधितवानिति हरिवंशादवसेयम् । अभयशब्देनेवशब्दसंबंधे श्रीकृष्णबोधितस्याप्यनीशतैवाविर्भवत्यतः प्रकारांतरेण योजयन्नाह–यद्वेति । "मुष्टिर्द्वयोः स्यात्सांगुष्ठे करे संकुचितांगुलौ" इति धरणिधरः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तथापि कंसस्य मुख्यारिं श्रीकृष्णं हन्तुं कथमयं नाचेष्टतेत्याह अविषह्यमिति । श्रीरामद्वारा मारयितुं श्रीकृष्णेन तत्तेज आवृत्य स्वतेजस आविष्कृतेः अत एव कृष्णपक्षियो भूत्वा बलदेवं वहन् सन् यतो दानवेषु पुङ्गवः बलादिना श्रेष्ठः अवरोहणतः भाण्डीरस्कंधात् तथा च श्रीविष्णुपुराणे—

"ते वाहयन्तस्त्वन्योन्यं भाण्डीरस्कन्धमेत्य वै । पुनर्निवर्त्तिता सर्वे ये ये पूर्वं पराजिताः ॥

सङ्कर्षणं तु स्कन्धेन शीघ्रमुत्क्षिप्य दानवः । न तस्थौ प्रजगामैव स चन्द्रः इव वारिदः ॥ इति ॥ २५ ॥

धरणिधरेन्द्रः सुमेरुस्तस्मादपि गौरवं भारो यस्य सीमातिक्रमे जाते विहस्य विस्मित्य विशङ्क्य च क्रमेण भारातिरेकप्रकटनात् उत् उच्चैः स्कन्धे वहन्नित्यर्थः । स महासुरोपि अत एव निजमासुरं वपुरास्थितः तथा च तत्रैव—

१. प्रायाद–गो. प्रे. टी. । २. वाडि–श्रीधर. वंशी. ; मानि–वीर. विज. । ३. चरत्–श्रीधर. वंशी. वीर शुक. ; चरम्–विज. । ४. मार्थमपहरन्त–वीर. ; सोर्थं च हरन्त–विज. ।

"असहन् रौहिणेयस्य स भारं दानवोत्तमः । ववृधे सुमहाकायः प्रावृषीव बलाहकः" ॥ इति ॥ २६ ॥

ईषदत्रसत् बाल्यक्रीडावेशेनेति पूर्ववत् ॥ २७ ॥ अथानन्तरमिति—

"किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते । सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया" ॥

इत्यादिकात् श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तात्तं प्रति श्रीकृष्णस्य वचनात् सद्य एवागता स्मृतिः दैत्यवधार्थनिजावतारप्रयोजनं यस्य सः बलो मुष्टिना रिपुमहनत् अहन् कः केन कमिव मुराधिपो वज्ररंहसा गिरिमिव ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु तथापि कंसमुख्यारिं श्रीकृष्णं हर्तुं कथमयं नाचेष्टनं इत्याशंक्याह—अविसह्यमिति । अतएव कृष्णपक्षीयो भूत्वा बलदेवं वहन् सन्, यतो मानवेषु पुंगवो बलादिनातिश्रेष्ठः; यद्वा, श्रीबलदेवकरणकः तद्वधार्थं श्रीकृष्णेच्छयैव बलदेवं वहन्, अव रोहणतोऽवतारणसीमातः परं परतः प्रकर्षेणावैकल्यादिना गतः; तथा च विष्णुपुराणे (५।८।१५-१६)—

'ते वाहयन्तस्त्वन्योन्यं भाण्डीरस्कन्धमेत्य वै । पुनर्निवर्तिताः सर्व्वे ये ये पूर्व्वं पराजिताः ॥
संकर्षणं तु स्कन्धेन शीघ्रमुत्क्षिप्य दानवः । न तस्थौ प्रजगामैव सचन्द्र इव वारिदः ॥' इति ।

तत्र हेतुः -अविषह्यमिति, श्रीकृष्णस्य दृष्टिगोचरे किञ्चिदस्य कर्त्तुं न पक्ष्यामीति चिन्तयन्नित्यर्थः । दानवोपुंगवोऽपि, तथापि द्वयोर्जिजहीर्षया गतस्यापि तस्य केवलश्रीबलदेवहरणे स एव हेतुरनुसन्धेयः ॥ २५ ॥ धरणीधरेन्द्रः सुमेरुस्तस्मादपि गौरवं भारो यस्य, तादृशत्वं स्वभावतो दैत्यज्ञानेन तदानीं तत्प्रकटनाद्वा, उद्वहन् किञ्चिदुच्छ्वासार्थं पृष्ठात् स्कन्धमारोप्योच्चैर्वहन्, किंवा आकाशमार्गेण वहन् स प्रलम्बमहासुरोऽपि विगतो नष्टो रयो वेगो यस्य सः, अतएव निजं सहजमासुरं वपुरास्थितः, तथा च तत्रैव (विष्णुपुराणे ५।९।१७)—

'असहन् रोहिणेयस्य स भारं दानवोत्तमः । ववृधे सुमहाकायः प्रावृषीव बलाहकः ॥'

इत्यम्बुदोपमया तस्य श्यामो वर्णो ध्वनितः ॥ २६ ॥ कटकादीनां पुरटमयानां त्विषा अद्भुतं देदीप्यमानमित्यर्थः । यद्वा, कटकादित्विषा विशिष्टमद्भुतं विस्मयावहमलौकिकत्वात्; सहसा तथाभूतत्वाच्च ईषदत्रसत्, बाल्यक्रीड़ाकौतुकात्, यद्वा, महादैत्य-वपुस्तं निरीक्ष्यापि श्रीकृष्णात् किञ्चिच्छंकामवाप, दैत्यस्यापि गोपरूपत्वेन वधायोग्यत्वादित्यर्थः; यद्वा, एतादृशं सखिवृन्दे अपरं दानवमाशंक्य स्नेहेन कृष्णं प्रत्यनिष्टशंकया ॥ २७ ॥ अथानन्तरमिति (वि. प. ५।९।२३)—किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवा-वलम्ब्यते ? सर्व्वात्मन् सर्व्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया ॥' इत्यादिकात् श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तात् तं प्रति श्रीकृष्णस्य वचनात् सद्य एवागता स्मृतिर्दैत्यवधार्थं निजावतारप्रयोजनस्मरणं यस्य सः, यद्वा, पश्चादागता स्मृतिः श्रीकृष्णस्य पूतना-वत्सासुर-वधानुसन्धानं यस्य, तथा तेन स्त्रीवधो वत्सवधश्च दैत्यादविहितः, तथायं गोपवेशोऽपि मया हन्तुं योग्य एवेति विचारयन्नित्यर्थः । पक्षद्वये क्रमेणैवं ज्ञेयम् । तृतीये च आगता स्मृतिर्मत्कीर्त्यर्थमेव मद्धस्तेनैतद्वधार्थं तेनैवमनुष्ठितमस्तीत्यादि ज्ञानं यस्येति; अतोऽभयोऽपगतशंकः सन्नथवा निरीक्ष्यापि ईषदप्यत्रसत् किम् ? काक्वा, नैवेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—आगतस्मृतिरतिरोहितज्ञानः, अथ अतोऽभयः । अन्यत् समानम् । दृष्टान्तो मुष्टेर्दार्ढ्य्यैऽवैयर्थ्ये च गिरिणा सह दैत्यस्योपमा, पुरा पक्षसद्भावेन गिरीणामम्बरोत्पतनकठिनतरांग-त्वाद्यपेक्षया ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अविषह्यं कृष्णम् अविष्टभ्यं मन्यमानो बलभद्रं वहन् द्रुततरं प्रागादित्यन्वयः ॥ २५ ॥ विहतरयः नष्टवेगः दूरं गतेन साशङ्कत्वात् अवरोहणतः परस्वं तडिद्द्युमान् विद्युद्दीप्तिमान् उडुपतिवाडम्बुद इव बभावित्यन्वयः ॥ २६-२८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तावद्रामसङ्घट्टी किं न बभूव प्रलम्ब इतीमां शङ्कां निराकुर्वंस्तं विशिनष्टि—कृष्णमविषह्यं सोढुमशक्यं व्योमासुर-वृत्तान्तस्मरणेन दुर्वहं मन्यमानः श्रीकृष्णसङ्घट्टी भूत्वा रामेण पराजितस्तमेवोवाहेत्यर्थः । यद्यहं रामसङ्घट्टी भवेयं तर्हि यदा कृष्णेन पराजितस्तं वहेयं तर्हि व्योमासुरवन्म्रियेयेत्यभिप्रायेण कृष्णसङ्घट्टी बभूवेत्यभिप्रायः । रोहिणीसुतं वहन् अवरुह्यतेऽस्मि-न्नित्यवरोहणं मर्यादास्थानं ततः परं दूरं द्रुततरं यथा तथा प्रागात् ॥ २५ ॥ धरणिधरेन्द्रवत्पर्वतवद्गौरवं यस्य तं बलदेवं वहन् स महासुरः प्रलम्बः निहतरयः नष्टवेगः निजं स्वसाधारणं वपुरास्थितः सन् स्वर्णालङ्कारः बभौ तडिद्द्युमानित्यलङ्कारोपमा उडुपतिमा-निवेति रामोपमा यदि यथोचितस्थानेषु विद्युतो भान्ति उपरिचोडुपतिस्तदा सोम्बुदो यथा भवति तद्वदबभावित्यर्थः ॥ २६ ॥ निरीक्ष्येति हलधरः बलदेवस्तु तद्वपुर्निरीक्ष्य किञ्चदभिभेत्, कथम्भूतम् ? अम्बरेचरदाकाशस्पर्शी अत्युन्नतमित्यर्थः । अलमतिवेगेन

प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन् भ्रुकुटितटलग्ना उग्रदंष्ट्रा यस्मिन् तच्च तच्चेति वा ज्वलन्त्यः शिखाः केशाः यस्मिन् कटकादीनां त्विषा अद्भुतं चित्रम् ॥ २७ ॥ अथागतस्मृतिर्लब्धासुरस्वशक्त्यादिज्ञानोऽत एवाभयः बलदेवः आत्मनः सार्थं सहायं गोपसमूहं विहाय दूरतो हरन्तं रिपुं रुषा शिरसि दृढेन मुष्टिना जघान यथा सुराधिप इन्द्रो वज्ररंहसा वज्रवेगेन गिरिं तद्वत् ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रलम्बः कृष्णं विहाय राममवहत्तत्र किं कारणमत्राह—अविषह्यमिति ॥ २५ ॥ धरणिधरेन्द्रः पर्वतराजस्तद्वद्गौरवम् अतिभारवत्त्वं यस्य स तथा तं पुरटपरिच्छदः स्वर्णालङ्कारः तडिता द्युमता आदित्येन च संयुक्तः तडिद्युमान् उडुपतिश्चन्द्रः तद्वानम्बुद इतीयमाशङ्का अभूतापमा यद्वा, तडिद्द्युमान् तडिता युक्तो मेघस्थाने प्रलम्बः तडित्स्थाने पुरुटपरिच्छदः चन्द्रस्थानीयो रामः ॥ २६ ॥ अम्बरेचरमित्यलुक् ॥ २७ ॥ अथ कृष्णस्तवानन्तरम् आगतस्मृतिः उपात्तमूलस्मरणः वज्ररंहसा वज्रवेगेन ॥ २८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कृष्णमविषह्यं मन्यमान इत्यत एव रामं हर्तुमनाः कृष्णपक्षीयोऽभूदिति भावः । अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्य्यादा-स्थानं कृष्णदृष्टिवञ्चनाय ततः परमपि प्रागात् ॥ २५ ॥ तमुत्कटबलतयैव वहन् यतो धरणिधरेन्द्रः सुमेरुस्तद्वद्गौरवं यस्य तं तस्य सीमातिरिक्तगमनदर्शनेन विस्मित्य स्वभाराधिक्यप्रकटनात् ततश्च वोढुमसामर्थ्यादिव विगतवेगः ततश्च तेन वपुषा स्वमहापराक्रमम् अमितमालक्ष्य स निजं वपुरास्थितः बभौ पुरटपरिच्छदः सुवर्णालङ्कारवान् अम्बुदस्तडितद्युतिमान् उडुपतिं वहतीति सः अत्रासुर-स्याम्बुद उपमा स्वर्णालङ्कारस्य तडिद्द्युतिः बलदेवस्योडुपतिः ॥ २६ ॥ अलमतिवेगेन प्रदीप्ते दृशौ यस्मिन् भ्रूकुटितटसँल्लग्ना उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तच्च तच्च तत् वपुर्निरीक्ष्य ईषदत्रसदिति साक्षात् परमात्मनोऽपि तस्य त्रासोऽयं तदैश्वर्यज्ञानस्य कृष्णेनैव स्वयोग-मायया आवरणात् तत्राम्बुदाकारमसुरवपुरेतत्तथा वर्द्धतां यथा मदग्रजवपुश्चन्द्रप्रदेश एवोत्तिष्ठेदिति कृष्णस्य कौतुकदिदृक्षैव कारणं तदैश्वर्यज्ञानानावरणे तु असुरवपुःप्राकट्यारम्भ एव नायं गोपः किन्त्वसुर एवेति विदुषा बलदेवेन सद्यस्तद्वधे तत्कौतुकं न सिद्ध्येदिति ज्ञेयम् ॥२७॥ लब्धाभीष्टः कृष्णः साग्रजे बिभ्यति सति तत्र पुनरैश्वर्य्यज्ञानं सहसैवार्पयामासेत्याह अथागतस्मृतिरिति—

किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते । सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया ॥

इति विष्णुपुराणोक्तकृष्णवाक्याल्लब्धनिजैश्वर्य्यज्ञानः विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनः प्राप्तमर्थं धनं हरन्तमिव रिपुं मुष्टिना अहनत् कः केन कमिव सुराधिपो वज्ररंहसा गिरिमिव ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं मर्य्यादास्थानम् ॥ २५ ॥ धरणिधरेन्द्रवद्गौरवं गुरुत्वं यस्य तं बलमुद्वहन् विगतवेगः निजमासुरं वपुरास्थितः पुरटपरिच्छदः कनकाभरणः तडित् द्युमानुडुपतिवाडम्बुद इव बभौ तडिद्द्युमान् तडिद्दीप्तिमान् इत्या-भरणोपमा उडुपतिवाडिति बलोपमा ॥ २६ ॥ अलमतिवेगेनाम्बरेचरत् आकाशगतम् प्रदीप्तदृक् भ्रुकुटितटं यस्मिन् उग्रा दंष्ट्रा तच्च तच्च तत् ॥ २७ ॥ विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनोऽर्थं हरन्तमिव वज्ररंहसा वज्रवेगेन मुष्टिना यद्वा वज्रस्य रंहसा गिरिमिवे-त्यन्वयः ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कृष्णमविषह्यं मन्यमान इति रामं हर्त्तुकामः कृष्णसङ्घट्टी बभूवेति भावः । रामं वहन्नवरोहणतः परं प्रागात् अवरुह्यते अत्रेत्यवरोहणं भाण्डीरपिण्डीका ततः परं गमनं कृष्णदृष्टिवञ्चनार्थम् ॥२५॥ स महासुरः प्रलम्बः प्रौढबलतयैव तं वहन् अवरोहणतः परगमने सति धरणिधरेन्द्रस्य सुमेरोरिव गौरवत् यस्य तं प्रकाशितैश्वर्यं वोढुं असामर्थ्यादेव विगतरयः क्षीणवेगः ततश्च तेन वपुषा तत्पराक्रममहान्तमाज्ञाय निजमासुरं वपुरास्थितो बभौ पुरटपरिच्छदः कनकभूषणधरः अम्बुदस्तड्दिद्युतिमान् उडूपतिं चन्द्रं वहतीति सः अत्र प्रलम्बस्याम्बुदः पुरटपरिच्छदस्य तड्दिद्युतिः बलदेवस्योडुपतिरुपमानम् ॥ २६ ॥ प्रदीप्ते दृशौ नेत्रे यत्र भ्रूकुटितटसंलग्नाः उग्रा दंष्ट्रा यत्र तच्च तच्च तद्वपुर्निरीक्ष्य हलधरो बल ईषदत्रसत् बाल्यक्रीडावेषादेव त्रासाभासत्वमकरोत् धरणि-धरेन्द्रगौरवमिति प्रागुक्तेः ॥ २७ ॥ अथानन्तरं जगता लुप्ता स्मृतिर्यस्य सोऽगतस्मृतिः वैष्णवे तु कृष्णवाक्यादागतस्मृतिरित्युक्तः स बलभद्रो दुष्टवधार्थं स्वाविर्भावं विजानन्नित्यर्थः । मुष्टिना रिपुमहन्, कः केन कमिव ? तत्राह सुराधिपो वज्ररंहसा गिरिमिवेति रिपुं कीदृशं विहायसा नभोमार्गेणात्मनः प्राप्तमर्थं धनं हरन्तमिव ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

विगतरयो विगतो रयो वेगो यस्य स महासुरो धरणिधराः पर्वतास्तेषामिन्द्रो मेर्वादिस्तस्य गौरवं यस्य स तमुद्वहत् । अनेन गतरयतायां हेतुरुक्तो भवति । निजं वपुरसुरशरीरमास्थितः । अनेन च मायिकता प्राक्तनस्यैच्छिकीति द्योत्यते । पुरटपरि-

च्छदोऽलङ्कारादिर्यस्य सः । अत्राम्बुदः प्रलम्ब उडुपती रामः परिच्छदास्तटित इति रूपं । तटितो द्यौः प्रकाशस्तद्वान् उडुपतिवाद् उडुपतिं चन्द्रं वहतीति स तथा । उडुपतिमानिति पाठेऽपि स एवार्थः । वाहयतेः क्विप् । अथवा वहेश्चेति । अम्बुद इव दर्पाविल-भूतोपमा ।। २५ ।। तदम्बरे चरं । अलुक् । प्रदीप्ते दृश्यौ यस्य तत् उग्रेति भृकुटितटदंष्ट्रोभयविशेषणं । उग्रं भृकुटितटमुग्रा दंष्ट्रा च यस्य तत् । समासान्तः कप् । आपोऽन्यतरस्यामिति ह्रस्वः । ज्वलन्ती शिखा यस्य तत् कटककिरीटकुण्डलत्विषा चाद्भुतमाश्चर्यवहं निरीक्ष्य हलधरः ईषत्कृष्णप्रवोधात्प्राक् किञ्चिदत्र सन्त्रीतोऽभूत् । यथोक्तं हरिवंशे । स सन्दिग्धमिवात्मानं मेने सङ्कर्षणस्तदा । दैत्यस्कन्धगतः श्रीमान्कृष्णं चेदमुवाच ह । ह्रियेऽहं कृष्ण दैत्येन पर्वतोदग्रवर्ष्मणा । तमाह सस्मितं कृष्णः साम्ना हर्षकलेन वै । अभिज्ञो रौहिणेयस्य वृत्तस्य च बलस्य च । अहोऽयं मानुषो भावो व्यक्तमेवानुपाल्यते । यस्त्वं जगन्मयं गुह्यं गुह्याद्गुह्यतरं गतः । स्मर नारायणात्मानं लोकानां त्वं विपर्यय इत्यारभ्य संस्मारितस्तु कृष्णेन रौहिणेयः पुरातनं । बलेनापूर्य तदा त्रैलोक्यान्तरचारिणं इत्यन्तेन ग्रन्थेन ।। २६ ।। आगता स्मृतिर्यस्य स तथा । सस्मार रूपं निजमेव लक्ष्मण इत्यादेर्लक्ष्मणवत् । अभयो बलो विहायसो-ध्वंमात्मन आत्मानं हरन्तं रिपुमात्मनो दृढेन मुष्टिना वज्ररंहसा वज्रवेगेन सुराधिप इन्द्रो गिरिमिव रुषाऽहनदहन् । सबहुव्रीहिः सद्वत्तरंहसेति मुष्टिविशेषणं च । अथेन निरन्नेन । अन्नन्यमिति हि श्रुतिः । अनश्नन्नन्यः । अन्नो निरन्नोऽपि बलेन भूयानित्यादेः । कृष्णेनागता तद्वोधनेनेति यावत् स्मृतिर्यस्य स इति वा । अथ येनागता स्मृतिर्यस्य इति वा । अकारो वासुदेवः स्यादित्यादेः ।।२७।। सपद्याहतो विशीर्णं शीर्षं यस्य स मुखाद्रुधिरं वमन्नुद्गिरन्नपस्मृतोऽपगतं स्मृतं स्मृतिः । भावे क्तः । यस्य स महारवमन्तकाल्कि समीरयन्त्यन्र्धावत इन्द्रस्यायुधं वज्रं तेनाहतो गिरिर्यथा तथाऽपतत् ।। २८ ।।

श्रीसुबोधिनी

ततो यज् जातं तदाहाविषह्यमिति, प्रलम्बेन हि ज्ञातं भगवता सख्यकरणाद् **भगवानविषह्यो** न केनापि सोढुं शक्यः, अतोन्यतरस्याप्युपद्रवः स्वकार्यफलसाधक इति **दानवपुङ्गवो** दानवानां मध्ये श्रेष्ठो दानवारिं भगवन्तं कृष्णं परित्यज्य रोहिणीसुतं **वहन्नवरोहणतः परमपि द्रुततरं प्रागात्,** शनैर्गमने सर्वैः सह गमनसम्भवात् पश्चान्नयनं न सम्भवेत्, **अवरोहण**पर्यन्तं मर्यादैवेति ततः **परं गतः** ।। २५ ।। स्वार्थसिद्धिं मत्वोपास्यां मायां परित्यज्य तत्कृतं भगवति सख्यं चाहङ्कारदेवतायामपहृतायां दोषो दृढो भवतीति विचिन्त्य दैत्यरूपेणैव हृतवानित्याह **तमुद्वहन्निति, बलभद्रोपि मर्यादातिक्रमे भगवदाविष्टो जातस्ततो धरणिधरेन्द्रवत्** मेर्वादिपर्वतवद् **गौरवं** यस्य, तस्य वहने सामर्थ्यं **महासुर** इति, प्रलम्बो हि मुख्यस्तथापि **विगतरयो** जातस्ततः कृत्रिमवपुषा नयनमशक्यमिति मत्वा **निजं** वपुरासुरं **वपुरास्थितः,** तस्य वपुर्वर्णयति **पुरटपरिच्छदो बभाविति,** पुरटं सुवर्णं तदेव परिच्छदो भूषणादिकं यस्य तादृशः सन् **बभौ,** स्कन्धे बलभद्रः, बलभद्रस्यापि मुकुटादिकं, शीघ्रगमने स्वमुकुटं **तडिद्वद्** भाति बलभद्रमुकुटं द्युमानिव, **द्युमान्** सूर्यः, तडिद् द्युमांश्च यस्य, उडुपश्चन्द्रः, बलभद्रोपि श्वेतश्चन्द्रतुल्यः, तद्वानुडुपतिमानम्बुद इव, स्वयं श्यामो वेगवांश्च, अभूतोपमेयं तडित्सूर्यचन्द्रा एकदैकस्य सम्बन्धिनो न भवन्तीति ।। २६ ।। ततो बलभद्रकृत्यमाह **निरीक्ष्येति** तस्य वपुरत्यर्थं **निरीक्ष्य** स्वयमाकाशे **चरन्** गच्छन्नीषदत्रसदितिसम्बन्धः, तस्य रूपं वर्णयति **प्रदीप्ता दृग्** यस्य, भ्रुकुटितट उग्रा दंष्ट्रा यस्य, आविष्क्रोधमुखविकारयुक्त इत्यर्थः, **ज्वलन्ती शिखा** यस्येत्यारक्तदीप्तशिखायुक्तं, **कटककिरीटकुण्डलानां त्विषाद्भुत-**मेतादृशमपूर्वं दृष्ट्वा **हलधरो**पि गृहीतहलायुधोप्य**त्रसत्,** त्रासे वा हेतुश्छलाद्, अत्र कल्पान्तरे भगवता ज्ञापित इति ।। २७ ।। प्रकृते तु भगवदाविष्टो यत् कृतवांस्तदाह, **आगता स्मृतिर्यस्येति, अथेति** केवलव्युदासार्थः, अत एवा**भयो** भयरहितो जातो **विहायसा**काश-मार्गेण **हरन्तं रिपुमात्मनो** रिपुत्वात् **स्वभावतो** वध्यं **शिरसि दृढेन मुष्टिना रुषाहनन्** मुष्टिप्रहारं कृतवान्, ननु नयनमात्रेण कथं हननं तत्राह **सुराधिपो गिरिमिवेति,** सर्वलोकापकारित्वाद् **वज्र**वेगेन यथेन्द्रेण गिरिर्हतस्तथायमपि लोकापकारित्वादेव हतः, **रंहसे**ति प्रतीकाराकरणार्थः, तावन्मात्रेण तस्याहननशङ्कापि निवारिता ।। २८ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तमुद्वहन्नित्यस्याभासे **सख्यं चेति परित्यज्ये**त्यनेनैव सम्बन्धः, **अहङ्कारदेवताया**मिति सङ्कर्षणरूपायां, **दोष** इत्यसुरत्वम् ।। २६ ।। **निरीक्ष्येत्यत्रच्छला**दिति नयनमितिशेषः ।। २७ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अविषह्यमित्यत्र स्वकार्येति स्वस्य कार्यमुपद्रवस्तस्य फलं भगवदीयानां क्लेशस्तत्साधक इत्यर्थः ।।२५।। **तमुद्वहन्नित्यत्र वपुरास्थितो** जात इति वाक्यार्थः, भानस्य प्रकृते नोपयोग इति मुख्यत्वाभावाद् वपुर्वर्णनाय तदङ्गत्वेनोक्तं, तथा च पदार्थत्वमेव पर्यवसन्नमतो दैत्यरूपग्रहणमेव वाक्यार्थं आभासे हरणमनूद्योक्तः, **तडिद् द्युमांश्च** यस्येति विग्रहे तडिता सह द्युमान् यस्येति बहुव्रीहिः ।। २६ ।। **निरीक्ष्येत्यत्र** केवलकृत्यं त्रासरूपं वाक्यार्थः, भगवदाविष्टकृत्यमग्रिमश्लोके ।। २७ ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तमुद्वहन्नित्यस्याभासे अहङ्कारदेवतायामपहृतायां दोषो दृढ इति अहङ्कारस्य देवता सङ्कर्षणः अतो बलदेवहरणं, यावदहङ्कारस्तिष्ठति तावत् केवलं प्रकृत्यधीनो न भवति पुरुषः, अहमेतादृशः कथमेवं कुर्यामितिबुद्ध्या दोषेभ्यो वैमुख्यबुद्धेरुदयात्, गते त्वहङ्कारे प्रकृतिपरवशो भवति, अहङ्काराभावस्तु अहङ्कारदेवतापहारे भवतीतिहेतोरहङ्कारदेवतारूपस्य श्रीबलदेवस्य हरणमित्यर्थः ॥ २६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दानवेषु पुङ्गवः श्रेष्ठः प्रलम्बः कृष्णमविषह्यं प्रबलत्वेन सोढुमशक्यं मन्यमानस्तद्दृष्टिपथवञ्चनाय रामं वहन् अरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं स वट एव, ततः परं दूरं द्रुततरं शीघ्रमेव प्रागादित्यन्वयः ॥ २५ ॥ ततः स महासुरस्तं राममुद्वहन् शीघ्रतया नयन् यदा विगतरयो वेगरहितो जातस्तदा तेन वपुषा तद्वहनं दुर्घटं मन्यमानो निजमासुरं वपुरास्थितः सन् पुरटस्य सुवर्णस्य परिच्छदा अलङ्कारा यस्य तथाभूतः तडिद्युमानुडुपतिवाड् अम्बुद इव बभावित्यन्वयः। तस्य वेगराहित्ये रामगौरवे हेतुमाह—धरणिधरो मेरुः, तद्वद्गौरवं यस्य तमिति। तडिद्द्युमानिति। विद्युद्दीप्तिमानित्यर्थः। 'तडित्' इत्यलङ्कारोपमा। उडुपतिं चन्द्रं वहतीत्युडुपतिवाट्, उडुपतिरिति रामोऽयम्। महासुर इति मेघोपमा। यदि यथोचितस्थानेषु स्थिता विद्युतो भवन्ति, उपरि चोडुपतिर्भवति तदा सोऽम्बुदो यथा भाति, तद्वद्बभावित्यर्थः ॥ २६ ॥ तद्वपुर्निरीक्ष्य हलधर ईषदत्रसदित्यन्वयः। भयङ्करत्वेन तद्वपुर्वर्णयति—निरीक्ष्येति। अलमतिवेगेनाम्बरे आकाशे चरत्, प्रदीप्ते दृशौ नेत्रे यस्मिंस्तत्, भ्रुकुटितटे संलग्ना उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तत्, ज्वलन्त्य इव रक्ताः शिखाः केशा यस्मिंस्तत्, कटककिरीटकुण्डलत्विषाऽद्भुतम् ॥ २७ ॥ अथानन्तरमेव आगता स्मृतिः श्रीकृष्णवाक्येन स्वरूपस्मृतिर्यस्य सः, "किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते ॥ सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया" इति विष्णुपुराणे भगवद्वाक्येनैव स्वरूपस्मरणस्योक्तत्वात्। अत एव अभयो भयरहितः सन् बल आत्मनः सार्थं गोपसमूहं विहाय हरंतमग्रे नयन्तं, यद्वा विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनः अर्थं प्राप्तमिव हरन्तं रिपुं स्वशत्रुं प्रलम्बं रुषा क्रोधेन दृढेन मुष्टिना शिरस्यहनत् अहन्। तत्र दृष्टान्तमाह—सुराधिप इन्द्रो वज्रवेगेन गिरिमिव ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अविषह्यमिति ॥ तदा दानवेषु पुङ्गवः श्रेष्ठः प्रलम्बः कृष्णमविषह्यं प्रबलत्वेन सोढुमशक्यं मन्यमानः अत एव रामं हर्तुं कृष्णपक्षेऽभूत्। ततश्च कृष्णदृष्टिपथवञ्चनाय रामं वहन् अवरुह्यतेऽस्मिन्नित्यवरोहणं स वट एव ततः परं दूरं द्रुततरं शीघ्रमेव प्रागात् ॥ २५ ॥ तमिति ॥ पुरटस्य सुवर्णस्य परिच्छदा अलङ्कारा यस्य तथाभूतः स महासुरः धरणिधरेन्द्रो मेरुस्तद्वद्गौरवं यस्य तं राममुद्वहन् शीघ्रतया नयन् रामभारं वोढुमशक्नुवन् यदा विगतरयो वेगरहितो जातस्तदा गोपवपुषा रामवहनं दुर्घटं मन्यमानो निजमासुरं वपुरास्थितः सन् तडिद्द्युमान् विद्युत्तुल्यदीप्तिमान् इत्यलङ्काराणामुपमा। उडुपतिं चन्द्रं वहति इति उडुपतिवाट् अम्बुद इव बभौ। यदि यथोचितस्थानेषु स्थिता विद्युतो भवन्ति उपरि चोडुपतिर्भवति तदा सोऽम्बुदो यथा भाति तद्वद्बभौ ॥ २६ ॥ निरीक्ष्येति ॥ अलमतिवेगेनाम्बरे आकाशे चरत् प्रदीप्ते दृशौ नेत्रे यस्मिंस्तत् भ्रुकुटितटे संलग्ना उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तत् प्रदीप्तदृक् प्रदीप्तनेत्रं भ्रुकुटितटे यस्मिंस्तत् उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तच्च तच्चेति वा। ज्वलन्त्य इव रक्ताः शिखाः केशा यस्मिंस्तत् कटककिरीटकुण्डलत्विषाऽद्भुतं तद्वपुर्निरीक्ष्य हलधर ईषदत्रसत् ॥ २७ ॥ अथेति ॥ अथानन्तरमेवागता स्मृतिः "किमयं मानुषो भावो व्यक्तमेवावलम्ब्यते ॥ सर्वात्मन् सर्वगुह्यानां गुह्यगुह्यात्मना त्वया ॥" इति विष्णुपुराणोक्तकृष्णवाक्याल्लब्धं निजैश्वर्यज्ञानं यस्य सः अत एवाभयो भयरहितः सन् स बल आत्मनः सार्थं गोपसमूहं विहाय हरन्तमग्रे नयन्तम्। यद्वा। विहायसा आकाशमार्गेण आत्मनः अर्थं प्राप्तमिव हरन्तं रिपुं स्वशत्रुं प्रलम्बं सुराधिप इन्द्रो गिरिमिव रुषा क्रोधेन दृढेन वज्रस्येव रंहो वेगो यस्य तेन मुष्टिना शिरस्यहनत् अहन्। शब्लुगभाव आर्षः। मुष्टिर्द्विलिङ्गः। इन्द्रो वज्रस्य रंहसा गिरिमिवेति वाऽन्वयः ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इत्थं मधुरश्रीकृष्णस्य मधुरमधुरदिव्यलीलामुक्त्वा सांप्रतं रामकृतलीलामाह दानवपुंगवो दैत्यश्रेष्ठः अविषह्यं सोढुमशक्यं मन्यमानो राहिणीसुतं वहन्सन् अवरोहणतः कृष्णनेत्रप्रसार दूरीकरणाय अवरुह्यते अस्मिन्नित्यवरोहणं मर्यादातत्स्थानीयो भांडीरवटस्ततः परं दूरे ॥ २५ ॥ तमिति धरणीधराः पर्वतास्तेषामिंद्रो महापर्वतस्तद्वत् गौरवं भारवत्त्वं यस्य तं बलदेवमुद्वहन् विगतरयः शांतवेगः सन् निजं स्वकीयमासुरं वपुः शरीरं समास्थितः पुरटस्य सुवर्णस्य परिच्छदा अलंकारा यस्य सः कनकभूषणवानित्यर्थः। असुरः प्रलंबः बभौ क इव तडिद्द्युमान् विद्युत्कांतिमानिति भूषणोपमा रामसदृशं उडुपतिं वहतीति उडुपतिं वोढुं अंबुदो मेघो यथा बभौ यदि कस्मिंश्चित्स्थाने स्थिरा तडिद्भवेत्तदुपरिचंद्रो भवेत्तदाऽसौ मेघो यथा शोभते तथा बभावित्यर्थः अभूतोपमेयम् ॥ २६ ॥ निरीक्ष्येति अलं अतिवेगेन अंबरे गगने चरत् गच्छत् प्रदीप्ते दृशौ नेत्रे यस्मिंस्तत् प्रदीप्तदृक् द्वे भृकुटीतटे नदीतीर-

तुल्ये यस्मिस्तत् भृकुटितटं उग्रा कराला दंष्ट्रा यस्मिस्तत् उग्रदंष्ट्रकं तच्च तच्च भृकुटितटोग्रदंष्ट्रकं ज्वलंत्यः प्रदीप्ताः शिखाः केशा यस्मिस्तत् एवंभूतं तस्य असुरस्य वपुः निरीक्ष्य हलधरो रामः ईषत् किंचित् अत्रसत् त्रासं प्राप्तवान् ।। २७ ॥ अथेति आगता स्मृतिः अहं संकर्षणोस्मीतिज्ञानं यस्य अतएव अभयः बलो रामः आत्मनः स्वस्य सार्थं गोपसमुदायं विहाय त्यक्त्वा हरंतं रिपुं प्राप्तया रुषा हेतुना वज्ररंहसा वज्रवत् वेगेन मुष्टिना शिरसि अहनत् क इव सुराधिप इन्द्रो वज्रेण गिरिमिव यद्वा विहाय सा गगनवर्त्मना आत्मनः स्वस्य प्राप्तमर्थमिव हरंतं रिपुम् अहनत् शेषं पूर्ववत् आद्यपक्षे इव शब्दः पादपूरणे ।। २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ।। धरणीधरेन्द्रवत् पर्वतराजवद्गौरवं यस्य तं, तं रामं, उद्वहन्, महासुरः प्रलम्बः, विगतरयः नष्टवेगः सन्, निजं स्वासाधारणं वपुः समास्थितः, पुरटपरिच्छदः स्वर्णालंकारः सन्, तडिद्द्युमान् विद्युद्दीप्तिमान्, उडुपतिवाट् चन्द्रबिम्बवाहः, अम्बुदः मेघः इव, बभौ । अत्र तडिद्युमानित्यलंकारोपमा । उडुपतिवाडिति रामोपमा । यदि यथोचितस्थानेषु विद्युतो भवेयुः उपरि च उडुपतिः तदा सोऽम्बुदो यथा भाति तद्वद्बभावित्यर्थः ।।२६।। निरीक्ष्येति । अम्बरे चरत् आकाशस्पर्शि, अत्युन्नतमित्यर्थः । अलमतिवेगेन, प्रदीप्ते दृशौ यस्मिंस्तत्, भृकुटितटे संलग्ना उग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तत्, प्रदीप्तदृक् भृकुटितटं यस्मिन्नुग्रा दंष्ट्रा यस्मिंस्तच्च तच्चेति वा, ज्वलन्त्यः शिखाः केशा यस्मिंस्तत्, कटककिरीटकुण्डलानां या त्विट् तया, अद्भुतं चित्रकृतं, तद्वपुरसुरशरीरं, निरीक्ष्य दृष्ट्वा, हलधरो बलदेवः, ईषत् किंचित् अत्रसत् अबिभेत् ।। २७ ।। अथेति ।। अथ कृष्णकारितस्तवद्वारकस्वरूपैश्वर्याद्यवबोधनानन्तरं, आगतस्मृतिः । तथा च विष्णुपुराणे पञ्चमेंऽशे नवमेऽध्याये 'इति संस्मारितो विप्र कृष्णेन सुमहात्मना । विहस्य पीडयामास प्रलम्बं बलवान् बलः' इत्यादिनोक्तम् । अत एव अभयः इवावधारणे । बलो रामः, आत्मनः सार्थं सहायभूतं गोपसमूहं विहाय, दूरतः हरन्तं रिपुं, सुराधिप इन्द्रः, वज्ररंहसा वज्रवेगेन, गिरिं पर्वतं इव, रुषा क्रोधेन, शिरसि दृढेन मुष्टिना, अहनत् जघान ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अविषह्यमिति ः १०.१८.२५

सकलाभयदः श्रीशः कमपि न जन्तुं निहन्ति न द्वेष्टि । किन्त्वात्मगर्ह्यकृतितः स्वतो बिभेतीति मानमसुर इह ॥ ३२॥

तमिति ः १०.१८.२६

वपुः सार्थकं स्वामिकृत्येऽस्तु मा वा स्वनाम त्विहान्वर्थकं संविधेयम् ।
इति भ्रान्तबुद्धिः प्रलम्बः प्रलम्बः प्रकामं बभूवाऽऽत्मदेहावलम्बात् ।। ३३ ।।

महत्सङ्गात् स्वरूपाप्तिरेतद् युक्तमकृत्रिमे । कृत्रिमेऽकृतिमप्राक्स्थ-रूपाप्तिरिति तत्क्षमम् ॥ ३४ ॥

अत्रसदिति ः १०.१८.२७.

गोपश्चेत् कथमीदृगद्भुततनुर्दैत्यो यदि स्यात्कथं श्रीशस्नेहपदं न तद्विदितमप्यज्ञानिताऽस्मिन् कथम् ।
ज्ञात्वा वा कथमात्मसेवनपरे मय्यप्यनाख्यानमित्यन्तः संभ्रमसंभृतो हलधरो युक्तं मनागत्रसत् ॥ ३५॥
वेलोल्लङ्घनदोषाच्छिक्ष्योऽसौ यदि मयाऽधुना तर्हि । नासौ भागवतानामिति स क्षणमात्रमास वित्रस्तः ।। ३६ ।।

अथागतस्मृतिरिति ः १०.१८.२८.

एतावन्नतकन्धरस्त्वमसि यद् भारात् स ते वाहनं जातः संप्रति तद्ध्रुवं प्रतिकृतिं भो राम संपादयः ।
सामान्योक्तिरियं बलाय हरिणा प्रोक्तेति मन्ये यतः श्रीरामो विजहौ भयं तमसुरं ज्ञात्वा स्मरंस्तद्गिरम् ॥ ३७ ॥

मद्योगादेव सबलः खलोऽयमधुनाऽजनि । मत्पुरोऽस्य कियद्वीर्यमिति मुष्ट्याऽभ्यताडयत् ।। ३८ ।।
मत्पक्षीयमहिं वनस्थितममर्यादं विदित्वा मदप्रत्यक्षं प्रभुणा नमद्बहुशिरो दण्डं पुरा प्रापितः ।
तत्पक्षीयमिमं तथास्थितिमहं चापीह तादृक्पदं नेष्यामीत्यहिपेन रामवपुषा नीतः स तादृग्दशाम् ॥ ३९ ॥

यस्मादुदेति दुरहङ्कृतिरत्र जन्तोस्तद्ध्वस्तिकृद्भवति हन्त तदेव लोके ।
यत्स्पष्टमेतदसुरस्य हि तस्य गर्वस्तद्ध्वस्तिरप्यनुपदं बलतस्तदाऽऽसीत् ।। ४० ।।

निरस्य दुःखं सुखयाम्यहं त्वामिति प्रतिज्ञातमपीह केनचित् । तत्र स्वयं चापि यतेत तादृग्योगेष्वदोऽबोधि तदा बलेन ॥ ४१ ॥
अशेषकार्यं भुवि चेन्मयैव कृतं धराभारहरं तदाऽयम् । खिद्येत मत्वा वितथं स्वजन्मेत्यधात्प्रभुस्तद्धतिमस्य हस्तात् ॥ ४२॥
यः स्वत्वेन महद्भिर्गणितस्तं ते न जातुचिद् घ्नन्ति । सर्वविदैवं प्रभुणा युक्ता नाकारि तद्धतिस्तत्र ।। ४३ ॥
कृत्वा सौख्यमसौ निजाग्रजकराद् व्यापादितः श्रीधरेणैवं नापि तु राम एव हतवानुन्मार्गगं वीक्ष्य तम् ।
इत्थं सर्वजनेषु स प्रथयितुं निर्दुष्टतामात्मनो वृक्षं साक्षिणमास्थिरं च जटिनं प्रायोऽच्युतोऽकल्पयत् ॥ ४४ ॥

कृष्णप्रिया

दानवपुङ्गव प्रलम्ब ने देखा कि श्रीकृष्ण तो बड़े बलवान् हैं, उन्हें मैं नहीं हरा सकूँगा। अतः वह उन्हीं के पक्ष में हो गया और बलरामजी को लेकर स्फूर्ती से भाग चला, और पीठपर से उतारने के लिये जो स्थान नियत था, उससे आगे निकल गया॥ २५॥ बलरामजी बड़े भारी पर्वत के समान बोझवाले थे उनको लेकर प्रलम्वासुर दूरतक न जा सका, उसकी चाल रुक गयी। तब उसने अपना स्वाभाविक दैत्यरूप धारण कर लिया। उसके काले शरीरपर सोने के गहने चमक रहे थे और गौर सुन्दर बलरामजी को धारण करने के कारण उसकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो बिजली से युक्त काला बादल चन्द्रमा को धारण किये हुए हो॥ २६॥ उसकी आँखें आग की तरह धधक रही थी और ढाढें भौहोंतक पहुँची हुई बड़ी भयावनी थी। उसके लाल लाल बाल इस तरह बिखर रहे थे, मानो आग की लपटें उठ रही हो। उसके हाथ और पाँवों में कड़े सिरपर मुकुट और कानों में कुण्डल थे। उनकी कान्ति से वह बड़ा उद्भुत लग रहा था। उस भयानक दैत्य को बड़े वेग से आकाश में जाते देख पहले तो बलराम जी कुछ घबड़ा से गये॥ २७॥ परन्तु दूसरे ही क्षण अपने स्वरूप की याद आते ही उनका भय जाता रहा। बलरामजी ने देखा कि जैसे चोर किसी का धन चुराकर ले जाय वैसे ही यह शत्रु मुझे चुराकर आकाश मार्ग से लिये जा रहा है। उस समय जैसे इन्द्रने पर्वतों पर वज्र चलाया था, वैसे ही उन्होंने क्रोध करके उसके सिर एक घूँसा कसकर जमाया॥ २८॥

[1]स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको[2] मुखाद् वमन् रुधिरमपस्मृतोऽसुरः।
महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः॥ २९॥

दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना। गोपाः सुविस्मिता [3]आसन् साधु साध्विति वादिनः॥ ३०॥
आशिषोऽभिगृणन्तश्च[4] प्रशशंसुस्तदर्हणम्। प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः॥ ३१॥
पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः। अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधु साध्विति॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे [6]प्रलम्बवधो [7]नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आहतः सपदि विशीर्णमस्तकः, मुखात् रुधिरम् वमन् महारवम् समीरयन्, अपस्मृतः व्यसुः सः असुरः, मघवतः आयुधा हतः गिरिः यथा अपतत्॥ २९॥ बलशालिना बलेन प्रलम्बम् निहतम् दृष्ट्वा, गोपाः सुविस्मिताः आसन् साधु, साधु इति, वादिनः अभवन्॥ ३०॥ प्रेमविह्वलचेतसः (गोपाः) प्रेत्य आगतम् इव आलिङ्ग्य तद् अर्हणम् च आशिषम् अभिगृणन्तः प्रशशंसुः॥ ३१॥ पापे प्रलम्बे निहते, परम-निर्वृताः देवाः, माल्यैः बलम् अभ्यवर्षन् साधु साधु इति शशंसुः॥ ३२॥

इति दशमस्कन्धे निरोधलीलायाः तामसप्रकरणावान्तरप्रमेयप्रकरणेऽष्टादशोऽध्यायः समाप्तः॥ १८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अपस्मृतो गतस्मृतिः। महारवं समीरयन्॥ २९-३०॥ तदर्हणं प्रशंसार्हम्॥ ३१-३०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायामष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सः प्रलंबः। आयुधाहतो वज्राहतः॥ २९॥ बलेन शालते दीव्यतीति बलशाली बलदेवः। एकार्थकौ बलशालिबलदेव-शब्दौ पर्यायौ। बलेनौजसा 'कालिंदीभेदनो बलः' इत्यमरोक्तेर्बलशब्दस्तु साक्षादेव तद्वाचकोस्ति, यदीत्थं तदा बलशालीति विशेषणम्॥ ३०॥ तं बलम्॥ ३१॥ माल्यैः पुष्पैः (३२) अत्र श्रुतिः—"विष्टंभो दिवो धरुणः पृथिव्या विश्वा उत क्षितयो हस्ते अस्य। असत उत्सो गृणते नियुत्वान्मध्वो अंशुः पवत इंद्रियाय॥" इति। अर्थः—हे सोम ते तव मध्वो ब्रह्मस्वरूपिणः अंशुरिवांशुः अंशः पृथिव्या धरुणः भूमेर्धर्त्ता रामरूपधारीति शेषः। ते त्वया असतः अंतर्यामिणा प्रबोधितो दीप्यमानोऽत एव उत्सस्त्वदाज्ञाकरणे उत्कंठितः। नियुत्वान् जगतः प्राणरूपी सूत्रात्मा सन् गृणते आत्मनः स्वरूपं त्वद्वाक्यादवगतं भावयति। अहं परमेश्वरादनन्योऽस्मि देवकार्यार्थमवतीर्णोस्मीत्यालोचयतीत्यर्थः। ततो हेतोर्दिवः द्युलोकमंडपस्य विष्टंभः स्तंभा इव भवंति ते। विष्टंभः विवंतस्येदं

१. प्राचीनप्रत्यां "स आहत···इत्यारभ्य···तोऽसुरः" पर्यन्त "स एव दैत्योऽय विशीर्णशीर्षो मुखाद्वमन् रुधिरमवध्यातासुरः" इति पाठो दृश्यते। २. शीर्षको–वीर. विज.। ३. सन्न साधु साधुरूपिणम्–गो. प्रे. टी.। ४. राविणः–विज.। ५. स्तं–श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। ६. बाल-क्रीडायामष्टादशोऽध्यायः–गो. प्रे. टी.; पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे–इति कस्यचित्। ७. षोडशोऽध्यायः–विज.।

द्वितीयाबहुवचनम् । अत्युच्छ्रितान् प्रलंबादीन् बहुत्वं विभूत्यर्थे । इंद्रियाय तद्वधेन स्वीयं वीर्यं प्रदर्शयितुं पवते गच्छति । किमस्यायुधं तदाह—विश्वा इति । सर्वाः क्षितयः नाशसाधनानि आयुधानि अस्य हस्ते एव संति अतो मुष्टिमात्रेण तं जघानेत्यर्थः । विष्णोः सर्वदेवतामयत्वादत्र सोमरूपेणैवास्य स्तुतिर्ज्ञेया एवमन्यत्रापीति ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अपस्मृत इति अपस्मारव्याधिनेवातिव्याकुलः सन्नित्यर्थः ॥ २९ ॥ बलशालिनेति तत्प्रभृतिबलविशेषाभिव्यक्तेः तथा च श्रीहरिवंशे—

"वलं तु बलदेवस्य तदा भुवि जना विदुः । प्रलम्बे निहिते दैत्ये देवैरपि दुरासदे" ॥ इति

सुविस्मिताः सन्तः तत्कपटगोपवेषादिना ॥ ३० ॥ आशिष इत्थं चिरं सानुजः सुखं विहरन्नस्मान् पाहीत्यादिप्रकाराः अभि अभितः तत्र तत्र सर्वत्रैव हेतुः प्रेमेति ॥ ३१ ॥ न केवलं त एव सन्तुष्टा बभूवुः देवा अपि परमानन्दं प्राप्ता इत्याह—पाप इति । परमदुष्टे जगदुपद्रावक इत्यर्थः । नितरां हते अपुनरावृत्तिमुक्तिप्राप्तेः तथा च द्वितीयस्कन्धे—

ये च प्रलम्बखरदर्दुरकेश्यरिष्टमल्लेभकंसयवनाः कुजपौण्ड्रकाद्याः ।
अन्ये च साल्वकपिवल्वलदन्तवक्त्रसप्तोक्षसम्वरविदूरथरुक्मिमुख्याः ॥
ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाःकाम्बोजमत्स्यकुरुसृञ्जयकैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीमव्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ इति ।

तत्र केचिदमलदर्शनो ब्रह्मसायुज्यादि केचित्तन्निलयमिति विवेचनीयम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्याम् अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अपस्मृतो मोहितः, किंवा अपस्मारव्याधिनेवातिव्याकुलः सन्नित्यर्थः । महाकायस्य तस्य सद्यो गगनात् पतनादौ दृष्टान्तः-गिरिर्यथेति । आयुधेन वज्रेणाहतः प्रहतः ॥२९॥ बलशालिना बलवतेति तन्महाबलिष्ठदैत्यश्रेष्ठवधेन लोकेषु तत्बलविशेषाभिव्यक्तेः, तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु पु. १४।५८)—'बलं तु बलदेवस्य तदा भुवि जना विदुः । प्रलम्बे निहिते दैत्ये देवैरपि दुरासदे ॥' इति । सुविस्मिताः सन्तः, तत्कपटगोपवेषादिना; यद्वा, श्रीकृष्णस्य शक्त्यैवायं मया हत इत्येवं तस्य बलं शालितुं श्लाघितुं शीलमस्येति तथा तेन; एवं तस्य भक्तिभरेण सुविस्मिताः ॥ ३० ॥ आशिष इत्थं द्वयोर्भ्रात्रोर्युवयोर्मिथः प्रीतिरास्ताम्, चिरं व्रजे सानुजः सुखं विहरन्नस्मान् पाहि, सर्व्वत्र विजयी भव, नित्यं धनवान् पुत्रादिमान् सुखी सपरिवारो भवेत्यादिप्रकाराः, अभितो गृणन्तः प्रयोजयन्त इत्यर्थः । तदर्हणमाशीरादियोग्यम्; यद्वा, तेषां तस्यार्हणमुचितं यथा स्यात्, तत्र तत्र सर्व्वत्रैव हेतुः— प्रेमेति ॥ ३१ ॥ न केवलं त एव सन्तुष्टा बभूवुः, देवा अपि सर्व्वे परमानन्दं प्राप्ता इत्याह—पाप इति परमदुष्टे जगदुपद्रावक इत्यर्थः; नितरां हते अपुनरावृत्तिमुक्तिप्राप्तेः; तथा च द्वितीयस्कन्धे (२।७।३४-३५)—

'ये च प्रलम्बखर-दर्दुरकेश्यरिष्ट-मल्लेभ-कंसयवनाः कुज-पौण्ड्रकाद्याः ।
अन्ये च शाल्वकपिवल्वलदन्तवक्त्र-सप्तोक्ष-शम्बरविदूरथ-रुक्मिमुख्याः ॥
ये वा मृधे समितिशालिन आत्तचापाः काम्बोजमत्स्य-कुरुसृञ्जयकैकयाद्याः ।
यास्यन्त्यदर्शनमलं बलपार्थभीम-व्याजाह्वयेन हरिणा निलयं तदीयम् ॥ इति ।

अनयोरर्थः,—ये प्रलम्बादयस्ते सर्व्वे हरिणा प्राणहरेण हेतुभूतेन, तदीयं तेषां हितं योग्यं वा, अलमदर्शनमपुनरावृत्तिलक्षणम्, अतएव निलयमत्यन्ताभावरूपं मोक्षं प्राप्स्यन्ति, तत्र जन्मत्रयेण मुनिशापान्ते प्राप्तवैकुण्ठलोको दैत्यत्वापेक्षया तथा श्रीभूम्यां श्रीभगवज्जातो नरकः, श्रीरुक्मिणीभ्राता रुक्मी, पाण्डवमित्र-मत्स्यराज-विराटादयश्च, तत्तत्सम्बन्धेन प्राप्तवैकुण्ठलोका अपि संसारदुःखध्वंसमात्रापेक्षयैकत्रोक्ताः । यद्वा, प्रलम्बादयोऽलमदर्शनमपुनरावृत्तिमोक्षं दन्तवक्त्रादयश्च ते तदीयं निलयं श्रीवैकुण्ठलोकं यास्यन्तीति विवेचनीयमिति ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्री श्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्याम् अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अपस्मृतः अपगतस्मृतिः व्यसुः निष्प्राणः ॥ २९-३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सोऽसुरः प्रलम्बः आहतस्ताडितः सपद्येव भग्नशिराः मुखाद्रुधिरं वमन्नुद्गिरन्नपस्मृतः अपगतं स्मृतं स्मृतिर्यस्य सः महारवम् उच्चैः स्वरमीरयन् व्यसुर्गतप्राणो न्यपतत् यथा मघवत इन्द्रस्यायुधेन आहतो गिरिस्तद्वद् ॥ २९ ॥ बलशालिना बलदेवेन हतमसुरं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः ॥ ३० ॥ आशिषः प्रयुञ्जानाः प्रशंसार्हं तं बलदेवं प्रशशंसुः मृतिं प्राप्य पुनरागतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विवलवान्यधृष्टानि चेतांसि येषां ते प्रशशंसुरित्यन्वयः ॥ ३१ ॥ परमनिर्वृताः नितरां हृष्टाः देवाश्च माल्यैः पुष्पैर्बलदेवं पापं सर्वदुःखकरं प्रलम्बे निहते सति अभ्यवर्षन् साधुसाध्विति प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायाम् अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

महारवं समीरयन् व्यसुः गतप्राणः ॥ २९ ॥ बलशालिना रामेण राविणः वादिनः ॥ ३०-३१ ॥ माल्यैः पुष्पैः ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्याम् अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

[विजयध्वजरीत्या पञ्चदशः [

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अपस्मृतः गतस्मृतिः अपस्मारव्याधिग्रस्त इवेत्यर्थः । महारवं समीरयन् ॥ २९-३० ॥ तदर्हणं प्रशंसार्हम् ॥ ३१-३२ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । दशमेऽष्टादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ १८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अपस्मृतः गतस्मृतिः ॥ २९-३० ॥ तदर्हणं प्रशंसार्हम् ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे अष्टादशाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ १८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सोऽसुरोऽस्मृतोऽपस्मार रोगग्रस्तवत् स्मृतिशून्यः महारवं घोरशब्दं समीरयन् व्यसुर्निष्प्राणः सन् अपतत् ॥ २९ ॥ विस्मितास्तच्छद्मगोपवेशादिना ॥ ३० ॥ आशिषोऽभिगृणन्त इति एवमेव सानुजः सुखं विक्रीडन्नस्मान् पाहीत्येवं प्रकाराः प्रकाशयन्त इत्यर्थः । तदर्हणं प्रशंसायोग्यम् ॥ ३१ ॥ देवाश्च तं तुष्टुवुरित्याह—पापे इति । अतिदुष्टे जगदुद्वेजके इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

नागमूर्द्धसु तुङ्गेषु नर्त्तित्वा मधुसूदनः । प्रलम्बस्कन्धमत्युच्चं बलमारोहयत् प्रभुः ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्याम् अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

रावो येषामस्तीति ते तथा ॥ २९ ॥ तदर्हणं तद्योग्यं प्रेम्णाऽऽलिङ्ग्याशिषोऽभिगृणन्तः प्रशशंसुस्तुष्टुवुः प्रेत्य गत्वा गतमिवेति ॥ ३० ॥ यद्भयात्प्राक् परमनिर्वृतास्ते देवा इदानीं परमनिर्वृता इत्यावृत्त्याऽन्वयः । माल्यैः प्रसूनैः ॥ ३१ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १०-१६ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततो यज् जातं तदाह **स आहत** इति आ समन्ताद् हतः **सपद्येव शीर्णमस्तको** जातः ततो **मुखाद् रुधिरं वमन्**नन्तर्गतमपि दूरीकुर्वन् **स्मृति**रहितोपि जातः, एवं देहेन्द्रियमनसां वैकल्पं निरूपितं, तथाप्यसुरत्वात् स्वस्य राजसं भावं कृतवान्, तदाह **महारवं समीरयन् व्यसुः** सन्नपतदिति, प्राणास्त्वन्तरिक्ष एव गताः, पश्चाद् भूमौ पतितः, पुनरुत्थानं पतितस्य नाभूदित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह **गिरिर्यथेति**, **मघवत आयुधेन** व**ज्रेण हतो गिरिर्यथेति**, न कदाचिदप्युद्गतो नापि प्रवृद्धः, तथैवास्थिसमूहो जात इत्यर्थः ॥ २९ ॥ ततो यज् जातं तदाह **दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतमिति**, **बलभद्रः** प्रलम्बं मारयतीति नाश्चर्यं यतो **बलशाली**, तथापि कथं ज्ञातवान् कथं वा शीघ्रमुपायस्फूर्तिः कथं वा सकृत्प्रहारेणैव मृत इति **गोपालत्वाद्** वा सुष्ठु **विस्मिता** आश्चर्ययुक्ता **आसन्**, आदौ

चिन्ताकुला जाता इति हननमात्रेणैव **साधुसाध्वितिवादिनो** जाताः ॥३०॥ ततो देवास्त एव देवभावं प्राप्ता **आशिषोभिगृंणन्तश्च** जाताश्चिरञ्जीवास्मान् पालयेत्यादि **तस्यार्हणं** यथा भवति तथा **प्रशशंसुश्च** पूजां कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः, उत्तमानां हीनानामुत्तमाधमभावौ वा निरूपितौ, समभावकृत्यमाह **प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विह्वलचेतसोपि** जाता इति ॥ ३१ ॥ न केवलं प्रलम्बवधो भूमिष्ठानामेव हितार्थः किन्तु देवानामपीत्याह **पाप** इति, पापरूपेस्मिन् **निहते देवाः** शुद्धसत्त्वात्मकाः **परमनिर्वृता** जाताः कंसादेरपि निर्भयाश्च जाताः, अतो **माल्यैर्बलमभ्यवर्षन्**पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, **शशंसुः** स्तोत्रं च कृतवन्तः **साधुसाध्वितिप्रशंसां** कृतवन्तः, अन्यथाकाशे गच्छतस्तदारूढेन मारणं स्वरक्षां भावयताशक्यमन्यश्च न तत्र प्रकारोतो महासाहसेन कृतमिपि **साधुसाध्वितिकथनं**, प्रशंसा देवत्वज्ञापिका पुष्पवृष्टिर्हर्षज्ञापिका दोषापगतिस्तदभिमानिनामपि सुखदायिनीति ज्ञापितं, एवमन्तःकरणदोषः परिहृतः, तैश्चानुमोदितो देवैश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे पञ्चदशाध्यायविवरणम् ॥ १५ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दृष्ट्वेत्यत्र गोपाः सुविस्मिताः आसन्नितिपादे गोपाः सुविस्मिता देवा इति पाठान्तरं प्रतिभाति तदङ्गीकृत्याहुस्ततो देवा इत्यादि, यद्वाग्रिमश्लोक **'आशिषोभिगृणन्त'** इत्याशीः प्रयोगः स्वहितकर्तृत्वज्ञानानन्तरमेव भवतीति तत्प्रयोगात् तज्ज्ञानवत्त्वं ज्ञाप्यते, स्वहितं चात्रान्तःकरणदोषनिवृत्तिरूपं तत्कर्तृत्वज्ञानं च प्रलम्बस्यान्तःकरणदोषरूपत्वज्ञानं विना न सम्भवतीति तदपि ध्वन्यते, तथा चैवं ज्ञानेन्द्रियादीनामलौकिकभावो भवतीति दोषनिवृत्तौ देवत्वं तेषां जातमिति तथा ज्ञानवन्त इत्यभिप्रायेणाहु**स्ततो देवा** इत्यादि, ननु दोषनिवृत्तिमात्रेण कथं देवत्वं तत्राहु**स्तत एव** निवृत्तदोषा **एव** प्राणादयो यतो **देवभावमाधिदैविकभावं प्राप्ता** "आसन्यस्य हरेर्वापि सेवये"तिशेषः, अतस्तथेत्यर्थः, एतेषामासन्योपासकत्वमग्रिमाध्याये स्फुटीकरिष्यते ॥३०॥ **आशिष** इत्यत्रोत्तमानां **हीनानामित्युत्तमा** भगवदवेक्षका **हीनाः** स्वावेक्षका मध्यमा भावद्वयमिश्राः, उत्तमो भावः सम्यगयमसुरो नाशितोन्यभावः स्पष्ट एव, अयं **श्रीप्रधानोध्याय** इति **वृन्दावनस्य गुणैः** शोभारूपा **श्रीस्तया** तत्र क्रीडा च षोडशश्लोकैः पूर्वमुक्तेति ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे पंचदशाध्यायविवरणम् ॥ १५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

स आहत इत्यत्र **अन्तर्गतमपीति** मस्तकविशरणेन बाह्यदोषनिवृत्तिः, अनेनान्तरस्येत्यर्थः, तेन मुक्तियोग्यता सूचितेतिभावः **अपस्मृत** इत्यत्र अपस्मृतिशब्दादर्शआद्यजित्यभिप्रेत्याहुः **स्मृतिरहितोपीति**, न कदाचिदपि **उद्गतो नापि** प्रवृद्ध इति, कदाचिद्गुरा आगत्य मृतसञ्जीवन्या जीवयेयुरिति तथा सम्भावना ॥ २९ ॥ **आशिष** इत्यत्र **ततो देवा** इति अग्रिमश्लोकस्य 'देव' पदमत्रान्वेति, अत्र भूमिष्ठा उक्ता अग्रे दिविष्ठा इति विभागः, देवभावमन्तःकरणदोषनिवर्तनेन शुद्धसत्त्वात्मकत्वं प्राप्ता इत्यर्थः ॥३०॥ **पाप** इत्यत्र **अन्यथेति** साधुत्वाभावे इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ **तदभिमानिनामपीति** अन्तःकरणाभिमानिनालौकिके प्रवृत्तिहेतुनामित्यर्थः ॥ ३२॥

इति पञ्चदशोध्यायः ॥ १५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

आशिषोभिगृणन्तश्चेत्यत्र उत्तमानां हीनानां उत्तमान्यभावौ वेति, उत्तमानां वृद्धानां आशिषोभिगृणनमुत्तमभावः, **हीनानां** बालानां पूजाकरणानन्तरं स्तोत्राकरणं हीनभाव इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ **पापे प्रलम्बे निहत** इत्यत्र **तैश्चानुमोदित** इति गतदोषैर्गोपैरित्यर्थः, "साधु साध्वि"तिवादिन इतिवाक्यात् ॥ ३२ ॥

इति पञ्चदशोध्यायः ॥ १४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवमाहतः अतः सपदि शीघ्रमेव विशीर्णं मस्तकं यस्य सः, अतएवागता स्मृतिर्यस्य सः, मुखाद्रुधिरं वमन्, महारवमीरयन् महान्तं शब्दं विमुञ्चन्, व्यसुः प्राणरहितः सोऽसुरः प्रलम्बोऽपतदित्यन्वयः। तत्र दृष्टान्तमाह --मघवत इन्द्रस्य आयुधेन वज्रेण आहतो गिरिरिवेति ॥ २९ ॥ बलेन प्रलम्बं निहतं दृष्ट्वा 'साधु कृतं साधु कृतम्' इति वादिनो गोपाः सुविस्मिताः 'कथं सोऽलक्षित एव गोपवेषेणागतः, कथमेनमयं ज्ञातवान्, कथं वा सकृन्मुष्टिप्रहारेणैव मृत' इत्याद्याश्चर्ययुक्ता आसन्। 'ततःप्रभृत्येव रामबलस्य प्रसिद्धिर्जाता' इति सूचयन्नाह–बलशालिनेति। यथोक्तं हरिवंशे—"बलं तु बलदेवस्य तदा भुवि जना विदुः। प्रलम्बे निहते दैत्ये देवैरपि दुरासदे" इति ॥ ३० ॥ तं रामं प्रेत्य प्रकर्षेण एत्य परलोकं गत्वाऽऽगतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विह्वलानि चेतांसि

येषां ते आशिषः 'चिरं जीव, एवमेवास्मान् सर्वदा पाहि' शत्रून् जहि' इत्याद्याकाराः गृणन्तः प्रयुञ्जानाः तदर्हणं प्रशंसायोग्यं प्रशशंसुरित्यन्वयः ॥ ३१ ॥ पापे सर्वोपद्रवकारिण्यपि प्रलम्बे निहते ये च प्रलम्बेत्यादिद्वितीयस्कन्धोक्तेर्नितरां पुनरावृत्तिराहित्येन मुक्तिं प्रापिते सति देवाः परमनिर्वृताः परमानन्दं प्राप्ताः सन्तो माल्यैर्बलमभ्यवर्षन् 'साधु साधु' इति प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । अष्टादशो गतो वृत्तिं प्रलम्बवधबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स इति ॥ एवमाहतः अतः सपदि शीघ्रमेव विशीर्णं मस्तकं यस्य सः अत एवापगतं स्मृतं स्मृतिर्यस्य सः । अपस्मारग्रस्त इवेत्याशयः । मुखाद्रुधिरं वमन् महारवमीरयन् महान्तं शब्दं विमुञ्चन् व्यसुः प्राणरहितः सोऽसुरः प्रलम्बः मघवत इन्द्रस्य आयुधेन वज्रेण आहतो गिरिरिव अपतत् ॥ २९ ॥ दृष्ट्वेति ॥ बलशालिना बलेन रामेण प्रलम्बं निहतं दृष्ट्वा साधु कृतं साधु कृतमिति वादिनो गोपाः सुविस्मिताः आसन् ॥ ३० ॥ आशिष इति ॥ तं रामं प्रेत्य परलोकं गत्वा गतमिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विह्वलानि चेतांसि येषां ते आशिषः अभिगृणन्तः प्रयुञ्जानाः तदर्हणं प्रशंसायोग्यं तं प्रशशंसुः ॥ ३१ ॥ पाप इति ॥ पापे सर्वोपद्रवकारिणि प्रलम्बे निहते सति देवाः परमनिर्वृताः परमानन्दं प्राप्ताः सन्तो माल्यैः कुसुमैर्बलमभ्यवर्षन् साधु साध्विति प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् । गङ्गासहायो दशमाष्टादशे व्यदधादिमाम् ॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तेनाऽऽहतः सन् सपदि विशीर्णं भग्नं मस्तकं यस्य सः विशीर्णमस्तकः अपस्मृतो गतस्मृतिः सः असुरः महारवमीरयन् अपतत् क इव मघवत इन्द्रस्य वज्रेण आहतो गिरिर्यथा तथा ॥२९–३०॥ आशिषः सानुजस्त्वं चिरं सुखं विहरन्सन् नः पाहीत्यादिकानाशीर्वादान् अभिगृह्णतो ददतो गोपाः तदर्हणं प्रशंसार्हंतं बलदेवं ॥ ३१ ॥ परमनिर्वृताः परममुत्कृष्टं निर्वृतं सुखं येषां ते माल्यैः पुष्पैर्ववर्षुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीशुद्धैकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने प्रलंबवधो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स इति ॥ सः प्रलम्बः, असुरः, आहतो रामेण मुष्ट्या संताडितः सन् सपदि तत्क्षणमेव, विशीर्णमस्तकः भग्नशिराः, मुखात्, रुधिरं वमन् उद्गिरन्, अपगतं स्मृतं स्मृतिर्यस्य सः, महारवमुच्चैः स्वनं, समीरयन् उच्चारयन्, व्यसुर्गतप्राणः संश्च, मघवत इन्द्रस्य, आयुधाहत आयुधेन ताडितः, गिरिः पर्वतः, यथा तथा अपतत् ॥२९॥ दृष्ट्वेति ॥ बलशालिना बलेन बलभद्रेण, निहतं प्रलम्बं दृष्ट्वा, सुविस्मिताः सुतरां विस्मयं प्राप्ताः सन्तः, गोपाः, साधु साधु समीचीनं कृतं इत्येवं, वादिनो वक्तारः, आसन् संबभूवुः ॥ ३० ॥ आशिष इति ॥ आशिषः जय जीवेत्याशीर्वचनानि, अभिगृणन्तः उच्चारयन्तः, प्रेम्णा स्नेहेन विह्वलानि चेतांसि येषां तथाभूताः सन्तः, प्रेत्य आगतमिव मृतिं प्राप्य पुनरागतमिव, आलिङ्ग्याश्लिष्य, तदर्हणं प्रशंसार्हं, तं बलदेवं, प्रशशंसु, गोपाः इति शेषः ॥ ३१ ॥ पाप इति ॥ पापे सर्वदुःखकरत्वात् केवलाघमूर्त्तौ, प्रलम्बेऽसुरे, निहिते सति, परमनिर्वृता अतिसुखिनो जाताः, देवाः, बलं रामं, माल्यैर्नन्दनाद्यारामसुमनोभिः, अभ्यवर्षन् । साधु साधु इति, शशंसुः प्रशशंसुश्च ॥ ३२ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अभ्यवर्षन्निति १०. १८. ३२.

बलारातित्वमेतेन पापिना स्वीकृतं बलात् । तत्खण्डितं बलेनेति युक्तं पुष्पमुचः सुराः ॥ ४५ ॥

सबलं त्वा विलोक्योचुर्यद्देवाः साधु साध्विति । युक्तमेतद्यतस्त्वत्तः कल्याणं सततं सताम् ॥ ४६ ॥

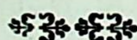
श्रीशकल्पतरुक्रीडा० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

कृष्णप्रिया

घूँसा लगना था कि उसका सिर चूर-चूर हो गया। वह मुँह से खून उगलने लगा, चेतना जाती रही और बड़ा भयङ्कर शब्द करता हुआ, इन्द्र के द्वारा वज्र से मारे हुए पर्वत के समान वह उसी समय प्राण-हीन होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा॥ २९॥ बलरामजी परम बलशाली थे। जब ग्वाल-वालों ने देखा कि उन्होंने प्रलम्बासुर को मार डाला, तब उनके आश्चर्य की सीमा न रही। वे बार-बार 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ३० ॥ ग्वाल-वालों का चित्त प्रेम से विह्वल हो गया। वे उनके लिये शुभ-कामनाओं की वर्षा करने लगे और मानो मरकर लौट आये हों, इस भाव से आलिङ्गन करके प्रशंसा करने लगे। वस्तुतः बलरामजी इसके योग्य ही थे॥ ३१॥ प्रलम्बासुर मूर्तिमान् पाप था। उसकी मृत्यु से देवताओं को बड़ा सुख मिला। वे बलरामजी पर फूल बरसाने लगे और 'बहुत अच्छा किया, बहुत अच्छा किया' इस प्रकार कहकर उनकी प्रशंसा करने लगे॥ ३२॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का अठारवाँ अध्याय समाप्त॥ १८ ॥



अथैकोनविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
१६	१४	२	२	५४०	१२	३६	५६१	१८।	७

श्रीशुक उवाच

क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः । स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥
अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् । [1]इषीकाटवीं [2]विविशुः क्रन्दन्त्यो [3]दावतर्पिताः ॥ २ ॥
तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा[4] । [5]जातानुतापा [6]न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥
तृणैस्तत्खुर[7]दच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् । मार्गमन्वगमन् सर्वे [8]नष्टाजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—श्रीशुक उवाच —गोपेषु क्रीडासक्तेषु दूर-चारिणीः मद् गावः स्वैरम् चरन्त्यः तृणलोभेन गह्वरम् विविशुः ।१। अजाः गावः च महिष्यः वनात् वनम् निविशन्त्यः दावकर्शिताः क्रन्दन्त्यः इषीकाटवीम् विविशुः ॥ २॥ कृष्णरामादयः ते गोपाः पशून् अपश्यन्तः जातानुतापाः विचिन्वन्तः गवाम् गतिम् न विदुः ॥ ३ ॥ नष्टाजीव्याः विचेतसः सर्वे तत् खुरदच्छिन्नैः तृणैः गवाम् गोष्पदैः अङ्कितैः मार्गम् अन्वगमन् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ऊनविंशे निविष्टं तु गोपगोकुलमच्युतः । मुंजारण्यमरण्याग्ने ररक्ष तन्निपातः ॥ १ ॥

दूरचारिणीर्दूरचारिण्यः ॥ १ ॥ वनाद्वनांतरं निर्विशंत्यो दावेन तर्षितास्तृषिताः क्रंदंत्य इषीकाटवीमत्युच्छ्रितघनतृणविशेषारण्यं निर्विविशुः ॥ २ ॥ कृष्णरामावादी येषां ते न तु तौ ॥ ३ ॥ तासां गवां खुरैर्दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैर्गोष्पदैरंकितैश्च भूप्रदेशैस्तृणैर्वा गवां मार्गमन्वगमन् । नष्टाजीव्या गत जीविकासाधनाः ॥ (४) ॥ मुंजाटव्यपि सेव या इषीकाटवी ॥ ४–६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तान्निपानतः अग्निपानतः (१) । दूरचारिणीः दूरचारिण्यः । गह्वरम् यमुनातीरकक्षम् "गुहागहनदंभेषु निकुंजेपि च गह्वरे इति मेदिनी । तद्गावः तेषां गोपानां गावः ॥ १ ॥ इषीकाटवीम् मुंजारण्यम् "इषीका तु शलाकायां मुंजे लक्ष्मीस्त्रियोस्तथा" इति धरणिः । अजा वर्कर्यः, अजादिचारणे गोपालवदजापालादि तस्य नाम कथं नोच्यते, तासामल्पत्वेन गवां प्रचुरत्वाद्गोपालेति नाम। यद्वा–'यशः पुण्यैरवाप्यते' इति न्यायात्तन्नेति । 'गोछागोमहिषीदुग्धादन्यद्दुग्धं तु चामिषम्" इति पाद्मादजामहिष्योः पेयदुग्धत्वात्तद्रक्षणादौ न दोषोऽस्ति । यत्तु, "आजं च माहिषं क्षीरं हंति श्राद्धं न संशयः" इति तत्तत्रैव दुष्टं न त्वत्रेति । किञ्चाज्यं वस्तुतोऽजोद्भवनेवान्यत्र तु सादृश्यात्तत्प्रयोग इति ज्ञेयम् । अथ वा "अजा स्यादप्रसूता गौः सकृत्सूता महिष्यपि । अन्या गाव इह प्रोक्ता इति शब्दार्थवेदिनः ॥" इति शब्दरत्नात् ॥ २॥ ते गोपाः । अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः कृष्णरामादय इति ॥ ३ ॥ विचेतसः इतो गता वात्र गता इत्येवं नानाबुद्धयः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रसङ्गाल्लौकिकत्वेऽप्यलौकिकीमेवान्यां लीलां क्रमप्राप्तामेवाह–क्रीडेत्यादिना । तेषां वा ता असङ्ख्या गावः समासान्तत्वाभाव आर्षः गह्वरं दुर्गमवनं तृणलोभेनेति श्रीगोकुलानन्दकर्तृकचारणानन्दाच्चरणावेशः ततस्तल्लोभस्तेनेति ज्ञेयं "यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः" इत्यादौ तथा प्रसिद्धेः श्रीवृन्दावने यत्र कुत्रापि मुहूर्त्तमात्रेणोदरपूरणस्य शक्यत्वाच्च ॥ १ ॥ न केवलं गाव एवान्येऽपि सर्वे पशव इत्युक्तपोषन्यायेनाह—अजा इति । अजादीनां गमने यथापूर्वं शैघ्र्यापेक्षया तत्क्रमेण निर्देशः इषिकाटवीं प्रागे यमुनातीरपरित्यक्ततद्दूरवर्त्ति रुक्षसैकतजाम् अत एव दावेन अग्निसदृशेन ग्रीष्मकालीनतापेन तर्षिताः तृषं प्रापिताः अत एव

---

१. मुञ्जाटवीं–विज. । २. निर्विविशु । ३. दावतापिताः–गो. प्रे. टी. । ४. स्ततः–गो. प्रे. टी. । ५. जातानुकंपा–वीर. । ६. विविशु–व. पु. टी. । ७. रविच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितं गवाम्–गो. प्रे. टी. । ८ नष्टजीवा–विज. ।

क्रन्दन्त्यो बभूवुः ॥ २ ॥ कृष्णात तैर्व्याख्यातमेव तथापि तयोः साक्षाद्वर्त्तमानयोरपि गोपानां पश्वदर्शनादिकं तयोः कौतुकपरतयेति ज्ञेयं यद्वा, कृष्णरामौ आदी आदौ वर्त्तेते येषामिति "उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः" इतिवद्गवादिस्नेहमयलीलावेशपक्षे तद्गुणसम्विज्ञानः ।। ३ ।। गोष्पदैर्गोभिः सेवितैर्मार्गैः यतोऽङ्कितैः तत्खुरादिभिर्लिखितैः गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेष्विति शब्दस्मृतेः अन्यत्र सुरभावात् ॥ ४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रसंगाल्लौकिकत्वेऽप्यलौकिकीमेवान्यथां लीलां क्रमप्राप्तामेवाह क्रीडेत्यादिना । तेषां ता वा अनन्ता गावः, गह्वरं दुर्गमवनम्, लोभेनेति—श्रीभगवता रक्ष्यमाणा अपि भोगलोभेन ततो दूरनिपतिताः स्वेच्छाचाराद्दुःखमनुविन्दन्त्येवेति श्लेषार्थो ज्ञेयः। तथापि तस्य कारुण्यमहिम्नाऽचिरात् क्षेमं स्यादेवेत्यग्रे व्यक्तं भावि । एवमन्यत्रापि सर्वत्र निजभावानुसारेण तात्पर्य्यमुह्यम् ॥ १ ॥ न केवलं गाव एव, अन्येऽपि सर्वे पशव इत्युक्तपोषण्यायेनाह—अजा इति । अजादीनां गमने यथापूर्वं शैध्र्यापेक्षया तत्क्रमेण निर्देशः, दावेन दावाग्निना, यद्वा अग्निसदृशेन ग्रीष्मकालीनतापेन तर्षितास्तृषां प्रापिता अत एव क्रन्दन्त्यः ।। २ ॥ कृष्णेति तैर्व्याख्यातमेव, तथापि तयोः साक्षाद्वर्त्तमानयोरपि गोपानां पशवदर्शनादिकं तयोः कौतुकपरतयेति ज्ञेयम् । अत एव श्रीकृष्णस्य महाकौतुकित्वापेक्षया आदौ श्रीवलरामस्य च तदनुवर्त्तित्वेन पश्चान्निर्देशः, यद्वा, श्रीकृष्णरामौ आदौ वर्तेते येषाम्, ततश्च तयोरपि पश्वदर्शनादिकं महाकौतुकिस्वभावादेव, विशेषतश्च तल्लीलामनुसन्दधतां श्रीशुकदेवादीनां कौतुकविशेषजननाय, यद्वा, गवादिषु तेपु स्नेहभरेण विचारान्तर्द्धानात् ।। ३ ॥ ततश्च नष्टाजीव्या इत्यादिकं तल्लीलास्वभावेन तादृशत्वापत्तेः, किंवा नष्टाजीव्याश्च विचेतसश्च जना इव, यद्वा, अकारप्रश्लेषेणानष्टाजीव्याश्च ते विचेतसश्च, तथापि यमुनापुलिनादावंकितैरुदितैर्गोष्पदैश्च ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

खुरदच्छिन्नैः खुरैः दद्भिश्च छिन्नैः ॥ १–६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ दवाग्निपानानन्तरं श्रीकृष्णकर्मानुवर्णितुं तावत्प्राक्तनं वृत्तान्तमाह—क्रीडेति । प्रलम्बवधानन्तरमपीत्यादिः गोपेषु क्रीडासक्तेपु सत्सु तेषां गावो दूरचारिण्यो यथेच्छं चरन्त्यस्तृणलोभेन गह्वरं विविशुः ।। १ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—अजा इति। अजादयो वनाद्वनं विशन्त्यः दावेन तापेन तर्षिताः तृषिता आक्रोशन्त्यः इषीकाटवीमत्युच्छ्रितसान्द्रतृणविशेषारण्यं विविशुः इषीकाख्ये वने पूर्वत्र गहनशब्दविवक्षिता ।। २ ॥ ततस्ते क्रीडासक्ताः कृष्णादयो गोपास्तदा पशून् अपश्यन्तोऽत एव जाता अनुकम्पा येषां तथाभूताः गवां गतिं गतिकृतं खुरविन्यासात्मकं चिह्नं विचिन्वन्तोऽपि न विदुः न लक्षितवन्तः ।। ३ ॥ ततः कथञ्चिल्लब्धैः तासां गवां खुरैर्दद्भिर्दन्तैश्च छिन्नैस्तृणैर्गोष्पदैश्चाङ्कितं गवां मार्गमन्वगमन्ननुसृत्य जग्मुः ततः पुनरपि नष्टाजीव्या नष्टो लीनः आजीव्यः जीवनसाधनमार्गो येषां ते अत एव विचेतसः विचाराक्रान्तचित्ताः ।। ४ ।।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वभक्तजनसंसारविनाशनं हरेरेव सुशकं नान्यस्येति निदर्शनाय दावाग्निपानप्रकटितमाहात्म्यमस्य वक्तुमुपक्रमतेऽस्मिन्नध्याये–तेषां गोपानां गावः दूरचारिणीः दूरगामिन्यः स्वैरं स्वेच्छया गह्वरं गम्भीरकक्षम् ॥१॥ मुञ्जाटव्याम् इषिकाटवीं शराटवीं वा उभयं च प्रचुरं तत्रेत्यर्थः । "शरो मुञ्ज इतीरितः" इति हलायुधः । दावेन तापेन तर्षिताः जलं पातुकामाः ।। २ ॥ अपश्यन्तः अनुतापः पश्चात्तापः विचिन्वन्तः अन्वेषमाणाः ॥ ३ ॥ तासां गवां खुरैः दद्भिः दन्तैश्छिन्नैरङ्कितैः भूतलैः नष्टजीवाः जीवन्मृताः विचेतसः इतो गताः अत्र गता इति विविधबुद्धयः वौ दैवे गतं चेतो येषां ते तथा ये दैवमेव चेतसा वचसा च शरणं गच्छन्त इत्यर्थः ॥ ४ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णरामादय इति तद्गुणसंविज्ञानत्वेन लीलावेशः ।। १–९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ऊनविंशे मुद्रिताक्षान् मुञ्जाटव्यां दवानलात् । रक्षन् भाण्डीरमापय्य स्वान् मुक्ताक्षान् व्यधाद्धरिः ॥

तत्तदनन्तरं दूरचारिणीः दूरचारिण्यः ॥ १ ॥ इषीकाणां शराख्यतृणविशेषाणामटवीं दावेन ग्रीष्मसूर्यतपोत्थतापेन तर्षिताः तृष्णां प्रापिताः ॥ २ ॥ जातानुतापा न विदुर्न विविदुः गोविषयकप्रेम्णैवावृतज्ञानाः ।। ३ ।। तासां गवां खुरैर्दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैर्गोष्पदैरङ्कितैर्भूप्रदेशैश्च लक्षितं गवां मार्गं नष्टाजीव्या विगतजीविकासाधनाः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ऊनविंशे मुञ्जाटव्यां प्रज्वलितादग्नेर्गोपगोकुलमरक्षद्धरिरित्याह—क्रीडासक्तेष्विति। दूरचारिणीः दूरचारिण्यः स्वैरं यथेच्छं चरन्त्यः गह्वरं गहनं तृणलोभेन विविशुः ॥ १ ॥ तदेव प्रपञ्चयति—अजेत्यादिना। दावेन तापेन तर्षिताः इषीकाटवी-मुच्छ्रितघनतृणविशेषाटवीं मुञ्जाटवीमित्यर्थः ॥ २ ॥ कृष्णरामावादी येषां ते इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ॥ ३ ॥ नष्टाजीव्या गतजीविकासाधनाः अत एव विचेतसः तत्खुरदच्छिन्नैः तासामजादीनां खुरैर्दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः गोष्पदैरङ्कितैः भूप्रदेशैश्च गवां मार्गमन्वगमन् ॥ ४–६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

दावान्मुञ्जवने रक्षन् पिहिताक्षान् सखीन् हरिः। व्यधाद्माण्डीरमानीय मुक्ताक्षानूनविंशके ॥

तद् तदनन्तरं दूरचारिणीरिति प्रथमार्थे द्वितीया ॥ १ ॥ अजा गुर्जराणां गावो गोपानां महिष्य उभयेषां बोध्या ईषीकाणां शराख्यानां तृणानामटवीं दावेन ग्रीष्मसूर्यतापेन तर्षिताः पिपासां गमिताः ॥ २ ॥ कृष्णरामादय इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। ते गोपाः कृष्णरामेतरे पशून् पश्यन्तो जातानुतापा बभूवुः गवां गतिं न विविदुः गोविषयकेन स्नेहेन परिवृद्धेन ज्ञान-स्यान्तर्निगीर्णत्वात् तद्गुणसंविज्ञानो वाहस्तु ॥ ३ ॥ तेषां पशूनां, खुरैर्दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः गोष्पदैरङ्कितैर्भूमिप्रदेशैश्च लक्षितं गवां मार्गमन्वगमन् नष्टमदर्शनं प्राप्तमाजीव्यं जीविकासाधनं येषां ते ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ तद्गावस्तदित्यव्ययं दूरचारिणीर्दूरचारिण्यो गह्वरमरण्यानीम् ॥ १ ॥ वनाद्वनं परम्परा अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो मुञ्जाटवीमीषिकाकाननं दावतर्षिता दावेन तापेन तर्षिवास्तृष्णायुताः क्रन्दन्त्यो निर्विविशुर्निविशिरे। निर्विविशुरिति पाठस्त्वक्लेशिष्ठः। शरो मुञ्ज इतीरित इति हलः ॥ २ ॥ कृष्णरामादयो गोपास्ते पशूनपश्यन्तोऽनवलोकमाना गावश्च गावश्च गावस्तासाम्। ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्रीति स्त्र्येकशेषः। गवां गतिं तत्स्थानं विचिन्वन्तो न विदुर्यदा तदा जातानुतापा जातोऽनुतापो किं लीलालसैरुपेक्षिताः पशव इति तापो येषां ते तथा बभूवुः ॥ ३ ॥ तासां खुरैर्दद्भिर्दन्तैश्छिन्नै-स्तृणैरङ्कितैर्गोष्पदैः। गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेष्विति निपातितः शब्दः। सर्वेऽपि गवां मार्गेऽन्वगमन्। नष्टाजीव्या इति पाङ्क्तः पाठः। आजीव्यं जीविका तन्नष्टं येषां ते तथा नष्टस्वजीवनोपाया इति यावत्। नष्टजीवा इति पक्षे मृतकप्रतीका इत्यर्थः। विचेतसो विमनस्काः ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणम्। षोडशे प्रोच्यते सम्यङ्निरोधः सेत्स्यते ततः ॥ १ ॥

ततो दासैर्मुदा लीला स्वच्छन्दाग्रे भविष्यति। स्त्रीणां चैव मनःप्रीतिस्तदासक्तिः फलिष्यति ॥ २ ॥

एवं प्रलम्बवधप्रसङ्गेन क्रीडासक्तानां गोपानां विस्मृतपशुधनानां सम्बन्धिन्यो गावो यतः कुतश्चिद् गताः, अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्यासदवस्था भवतीत्यज्ञानं बलिष्ठमिव भवति, उपाधेर्देहस्यासदर्थनिवेशात् तत्प्रसङ्ग आत्मापि तद्दोषसहितो भवति तदा गवां दाहे गोपाला अपि दग्धा उच्यन्ते, एवं **सर्वनाशे समुपस्थिते हरिरेव रक्षकः, तदुपेक्षायां तु सर्वनाश एव भवेत्, शरणागतौ च रक्षा,** अतः **सर्वोपाधिविनिर्मुक्तोपि हरिं शरणमावव्रे**दिति, **क्रीडायामासक्तेषु गोपेषु** सत्सु तत्स-म्बन्धिन्यो **गावो** रक्षकाभावाद् **दूरचारिण्यो** जाताः, ततः **स्वैरं चरन्त्यस्तृणलोभेन गह्वर**मत्यगम्यस्थानं **विविशुः, एवमेव देह** उपेक्षितोत्यशक्यस्थाने **विशेत्** ॥ १ ॥ देहानां त्रैविध्यमिव वक्तुं तस्मिन् दिवसे **अजा** राजस्यो **गावः** सात्त्विक्यो **महिष्य**-स्तामस्यश्च पूर्वं धर्मरक्षायां निरूपितत्वान् न राजसतामसानां निरूपणं, चकारादन्ये हरिणादयश्च लीलार्थं गृहीताः श्वानो वा, एकं **वनं** परित्यज्य वनान्तरं **नितरां विविशुः**, पूर्वोक्तवने हि देवतासान्निध्यं निरुपद्रवश्च, अतस्तद् **वनं** परित्यज्य **वनान्तरं** गताः, तत्रापि रक्षकाभावादिषीकाटवीं **विविशु**र्यत्र प्रवेशनिर्गमौ कठिनौ, ते हि वर्षवृद्धा आसन्नमरणाः स्वयमेव म्रियमाणाः कथमन्यरक्षां कुर्युः ? तत्र प्रविष्टाः **क्रन्दन्त्यो** जाता औष्ण्येन च कृत्वा **तर्षिता**स्तृषायुक्ताश्च जाताः, एवं गवां स्वतः स्वसम्बन्धाभावोनिष्टसम्बन्धश्च कथितः ॥ २ ॥ तादृशीषु निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाह **तेपश्यन्त** इति, ते **गोपालाः पशूनपश्यन्तः कृष्णरामादयो** गत-स्थानपरिज्ञानार्थं भगवत्प्रधानाः सन्तो **मार्गमन्वगम**न्नित्यग्रेण सम्बन्धः, प्रथमं **तदा** क्रीडाव्यवहितदशायां स्मरणानन्तरं **जातानुतापा** जाताः, कृतापि लीलाऽकृता भाविता, अत एव **न विदुर्गवां गतिं विचिन्वन्तोपि, धर्मपरिपालने तु गाव एव मुख्याः** ॥ ३ ॥ ततोनुमानेन ज्ञातवन्त इत्याह **तृणै**रिति, **तासां गवां खुरैः दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः** कृत्वा **मार्गमन्वगमन्**, आरण्यवैलक्षण्यं खुरैर्ज्ञातं रदच्छेदेन सामान्यतो ज्ञातं, अतः सामान्यविशेषज्ञापकैस्तृणैर्गवां सम्बन्धिभिर्गोष्पदैश्चाङ्कितैश्चिह्नितैस्तृणैरेव, त्रिविधानि तृणानि

जातानि मूलतश्छिन्नानि मध्यतश्छिन्नानि पीडितानि च गोमयखुरघातैः, अतस्त्रिविधानामपि ज्ञापकत्वान् नात्र भ्रमशङ्का, ततः **सर्व** एव **मार्गमन्वगमन्** गवां मार्गेण गताः, यतः सर्व एव **नष्टाजीव्याः**, ननु चेतना अचेतनप्रायाणां मार्गे कथं गताः ? तत्राह **विचेतस** इति, विवेकरहिता व्याकुला वा ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

षोडशेध्याये, अजा गावो महिष्यश्चेत्यत्र, ते हि वर्षवृद्धा इत्यादि । 'ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री'त्यनुशासनादत्र स्त्रीप्रयोगादतरुणत्वं ज्ञाप्यत इति तथा ॥ २ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अथ षोडशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तः कथासङ्गतिः पूर्ववदेव ज्ञातव्येति तामनुक्त्वा स्कन्धार्थसङ्गतिमेवाहुर**ज्ञानात्**मेत्यादि, **हि** यतो **हेतोरज्ञानात्मा** स्वरूपाज्ञानात्मकः पञ्चम **आत्मदोषो दवाग्निरा**'त्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन् कस्य वा हेतोः शरीरमनुसञ्ज्वरे''दितिश्रुतावात्माज्ञानेनैव शरीरार्थं 'ज्वर'स्योक्तत्वात् स एवैकीभूतोयम**ग्निस्तन्निवारणं षोडशा**ध्याये **प्रोच्यत** इतरपूर्वंमूलभूतैतन्नाशरूप **उच्यतेतस्तन्निवृत्तेः** साधारणानां **निरोधः सेत्स्यते** भगवल्लीलाया योग्यायोग्यश्रवणाश्रवणकृतिपूर्वको दोषदृष्टिरहितश्च सम्पत्स्यते, तथा च स्वरूपयोग्यतासम्पादनार्थमेतावन् निरूपणमित्यर्थः, नन्वेवं साधारणनिरोधे कृतेपि तस्य मुख्यलीलायां कुत्रोपयोगस्तदभावे चैतत्करणस्य किं प्रयोजनमत आहुस्ततो **दासै**रित्यादि, **तत** आसक्तिलक्षणनिरोधात् **तैः** सहैवं **लीला भविष्यति, एवकारोप्यर्थे च पुनः स्त्रीणामपि** भगवदा**सक्तिः फलिष्यति,** तथा चैतदर्थं तत्करणमित्यर्थः, एतेन वक्ष्यमाणोपोद्घातरूपत्वं पूर्वाध्यायपञ्चकस्य बोधितं, एवं सङ्गतिमुक्त्वाध्यायार्थनिष्कर्षं वदन्तः **पाद्मे** प्रलम्बवधस्य फाल्गुन उक्तत्वादत्र च पूर्वाध्याये ग्रीष्मर्तोर्वर्णितत्वादत्र च तस्यैवर्तोः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् प्रलम्बवधदावाग्निनिवृत्त्योरेकदैव व्रजे गोपैः कथनस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च नात्र पाद्मोत्तरखण्डोक्तः पक्षः किन्तु तस्मिन्नेव दिने प्रलम्बवधो दवाग्निसम्बन्धश्चेति बोधयितुं कथासङ्गतिमाहुरेवं **प्रलम्बे**त्यादि **गता** इत्यन्तं, ननु भवेत्वेवं तथापि पूर्वाध्यायोक्तलीलया निवृत्तान्तःकरणदोषाणां कथमेवम्भावो येन गोधनास्मरणादिरित्यत आहुर**न्तःकरणे**त्यादि, **असदवस्थेति** वैकल्यं, **इतिर्हेतौ, तत्प्रसङ्ग** इति **देहप्रसङ्गे**, तथा चैवमात्मदोषोद्बोधात् तथेत्यर्थः, अत्र च **गवादिपदानि** 'निगीर्याध्यवसाने'न रूपकातिशयोक्तिविधया देहादिलक्षकाणि प्रथमस्य चतुर्थारम्भ आनुगानिकसूत्रे प्रकरणबलेन 'मह'दादिपदवत् प्रकृते निरोधे तदङ्गभूताध्यासादिनिवृत्तेरेव विवक्षितत्वादित्याशयेनाहुस्तदेत्यादि, एतावान् परं विशेषस्तत्र कथाभावाल् लक्ष्या एव मुख्या अत्र तु कथायाः सद्भावाद् वाच्या अपि तेन यथाधिकारस्तेषां तेषां बोधयतीति न कोपि शङ्कालेशः, एवं दोषोत्पत्तिप्रकारमुक्त्वा तन्निवृत्तिप्रकारमाहु**रेवं सर्वे**त्यादि । **क्रीडासक्तेष्वि**त्यत्राध्यायतात्पर्येण सङ्गमयितुं गवाद्युपेक्षया गह्वरप्रवेशस्य तात्पर्यमाहुरेवमित्यादि ॥ १ ॥ **अजा गाव** इत्यत्र ननु पूर्वाध्यायेष्वजादीनां कुतो न निरूपणमित्यत आहुर्देहानामित्यादि, **तामस्यश्चेति** निरूपिता इतिशेषः, **पूर्वोक्तवन** इति **वृन्दावने, ते हीति** मुञ्जाः ॥ २ ॥ **ते पश्यन्त** इत्यत्र तदेति मूलप्रतीकं, **कृतापि लीले**त्यन्तःकरणदोषनिवृत्तिरूपा, **गाव एव मुख्या** इति तेन धर्मोपि गत इति सूचितम् ॥ ३ ॥ **तृणै**रित्यत्रा**चेतनप्रायाणा**मिति कथापक्षे गवां द्वितीयपक्षे शरीराणां, **विवेकरहिता व्याकुला वा** द्वितीयपक्षे **विवेकरहिता** गोपक्षे व्याकुला इति बोध्यम् ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

षोडशेध्याये **अज्ञानात्मेति** भगवदज्ञानरूपो जीवस्य **दोषो दवाग्निरि**त्यर्थः, तत्रार्थापत्तिं प्रमाणयन्ति **सम्य**गित्यारभ्य **फलिष्यती**त्यन्तेन, तन्निवारणानन्तरं "मेनिरे देवप्रवरा"वित्यनेन ज्ञानमुक्तमतोस्य तथात्वमिति युक्तिसूचनाय **हि**शब्दः, **स्त्रीणां चैवेति** एतासामपि लीलां "मार्गा बभूवु"रित्यादिना वक्ष्यतीति चकारः, **प्रीत्यासक्ति**रूपं फलं त्वेतासामेवेत्येवकारः, यद्यपि तदध्यायकारिकायां गोपानामपि तत्फलमुक्तं तथापि सूचितत्वेन, एतासां तु स्फुटमेवोक्तमेतज्ज्ञापनायैव तत्कारिकायां 'स्फुटे'त्युक्तम् । **असदवस्थेति** निश्चितस्वसत्ताकस्य देहादिभावस्याभावाद् वास्तवस्वरूपस्य चाज्ञानादित्यर्थः, **बलिष्ठमिवेति** चतुर्विधाध्यासरूपान्यथाज्ञानस्य निवृत्तत्वादित्यर्थः, तथापि भगवान्निवर्तक इति इवेत्युक्तं, उपाधेरिति अन्यथाज्ञानोपाधिभूतस्य देहस्यासत्पदार्थेषु निवेशाद् देहो नाहमित्याकारकात् तत्सङ्घातनिविष्टस्यात्मनोपि किञ्चिद्दोषसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः, **सर्वोपाधी**ति चतुर्विधाध्यासरहितोपीत्यर्थः ॥ १ ॥ **अजा गावो महिष्यश्चे**त्यत्र **निरुपद्रव** इति तादृशो देशः पूर्वोक्तवने वर्तते इत्यर्थः, **म्रियमाणा** इति ग्रीष्मतापेनेतिशेषः, एतादृशा **अन्यस्मा**दिषीकावनाद् भयहेतोः स्वस्य **रक्षां** स्वयमेव **कथं कुर्युः** किन्तु छायाभ्रमेण तत्र गच्छेयुरेव गोपाश्च रक्षका न सन्ति अतस्तत्र निविष्टा इत्यर्थः, **स्वसम्बन्धाभाव** इति स्वेषु गोपेषु सम्बन्धस्याभावः, स्वतो गोपेषु न सम्बद्धा इति **क्रन्दनस्य** इत्यनेनोक्तं, अनिष्टस्य दावस्य सम्बन्धो **दावतर्षिता** इत्यनेनोक्त इत्यर्थः ॥ २ ॥ **तेपश्यन्त** इत्यस्याभासे **स्मृतिमाहेति** श्लोकद्वयेनेतिशेषः, अयं वाक्ययोस्तात्पर्यार्थः, एकस्मिन्नपि पर्वणि विद्यमाने पर्वान्तरमुदगच्छेदिति सूचनाय पुनर्देहादि-

स्मरणमेव वाच्यं, अनुतापोऽज्ञानं गतिविचयनमनुगमनं च तत्कार्यत्वेनोक्तमितिभावः, व्याख्याने, स्मृतिं विशदयन्ति स्मरणानन्तरमिति स्मरणं विना अनुतापादिकं न सम्भवतीति तेन स्मरणं ज्ञापितमितिभावः ॥ ३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

षोडशाध्यायार्थोक्तौ अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दावाग्निरिति "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः कृष्णावतारे नाश्यानां दोषरूपत्वं, तत्राविद्यायाः पञ्च पर्वाण्यपि नाश्यानि, तेषु देहाध्यासरूपो धेनुको नाशितः, इन्द्रियदोषो दूरीकृतः कालीयदमनेन, प्रथमदवाग्निः प्राणदोषरूपो नाशितः, अन्तःकरणदोषः प्रलम्बो नाशितः, स्वरूपाज्ञानरूपो द्वितीयो दावाग्निस्तन्नाशोऽस्मिन्नध्याये उच्यते, एवं चतुर्धाध्यासः स्वरूपविस्मरणं चेति पञ्चाप्यविद्यायाः पर्वाणि मूर्तिमन्ति निर्वतितानि, ततो दासैर्मु दा लीलेति ततः पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्त्यनन्तरं दासैः गतदोषत्वेन स्वरूपं ज्ञात्वा सेवां कुर्वद्भिः सह लीला भवति, सा सप्तदशाध्याये निरूप्या, स्त्रीणां चैवेति वेणुनादश्रवणेन मनसः प्रीतिं व्रजस्त्रीणां कृतवान्, सा लीला अष्टादशाध्याये निरूपयिष्यते । अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्य असदवस्था भवतीति अन्तःकरणाध्यासेन अहमिदमनुभवामि स्मरामीत्याद्यन्यथाज्ञानपरतन्त्रो जीवः सत्त्वेन भाति, अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे अन्यथाज्ञानाभवादहंवित्ती आत्मा न सम्यक्तया भातीति ज्ञानाभात्र एव बलिष्ठो भवति, तदेतत् "तेऽपश्यन्तः पशून् गोपा" इत्यस्य पञ्चज्ञानस्याध्यात्मिकपक्षेण तात्पर्यमुक्तं, यत् तु तेऽपश्यन्तःपशून् गोपा इत्यस्याभासे निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाहेत्युक्तं तत्तु "विचिन्वन्तो गवां गति"मित्यस्य हार्दार्थं उक्तः, देहानां त्रैविध्यमिवेति इह अजागोमहिषीणां राजससात्त्विकतामसीनां देहतौल्यं निरूपितं तत्तु यत्र यस्याधिका प्रीतिस्तत्रैव देहदृष्टान्तः सुगमो भवति, अज्ञानां देहस्यैव परमप्रीतिविषयत्वात् ॥ १–३ ॥

(५) भगदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अध्यायार्थमाहुरज्ञानात्मेत्यादि का० १५४९, स्वरूपाज्ञानात्मक इत्यर्थः, स्कन्धार्थसञ्ज्ञितमाहुर्निरोध इत्यादि, एवं तत्तद्दोषात्मकतत्तद्दैत्यवधादेस्तत्तद्दोषनिवृत्तिद्वारा निरोधसाधकत्वेनाङ्गाङ्गिभावसङ्गत्या निरोधस्कन्धे निरूपणं ज्ञेयं, तत इत्यादि का० १५५०, ततः आसक्तिरूपनिरोधाद् दासैर्गोपैः सह स्वच्छन्दा लीला सप्तदशाध्यायोक्ता भविष्यति, स्त्रीणां चेति स्त्रीणां च अष्टादशाध्यायोक्ता भगवदासक्तिः फलिष्यतीत्यर्थः ।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ऊनविंशे दह्यमानं मुञ्जारण्ये स्वगोकुलम् । अरक्षद्भगवान् कृष्णो गोपांश्चेति निरूप्यते ॥ १ ॥

लीलान्तरमाह—क्रीडासक्तेष्वित्यादिना । गोपेषु क्रीडायामासक्तेषु सत्सु तेषां गावो दूरचारिणीः दूरचारिण्यः स्वैरं यथेष्टं चरन्त्यस्तृणलोभेन गह्वरं दुःप्रवेशं वनं विविशुरित्यन्वयः ॥ १ ॥ 'न केवलं गाव एव, किन्त्वन्येऽपि पशव' इत्याह—अजेति । अजादयोऽपि वनाद्वनान्तरं निर्विशन्त्यो दावेन ग्रीष्मतापेन धर्षिता अभिभूताः तृषिता अत एव क्रन्दन्त्यः इषीकाटवीमत्युच्छ्रितघनतृणविशेषारण्यं विविशुः ॥ २ ॥ कृष्णरामौ आदिर्येषां ते, नतु तौ । तयोः सर्वज्ञत्वादाप्तकामत्वाच्च । ते गोपाः पशून् अपश्यन्तः जातानुतापा गवां गतिं पदवीं विचिन्वन्तोऽपि न विदुरित्यन्वयः ॥ ३ ॥ नष्टाजीव्या गतजीविकासाधनानि येषां ते, अत एव विचेतसः व्याकुलचित्ताः तासां गवां खुरैर्दद्भिश्चाच्छिन्नैस्तृणैः गोपदैरङ्कितैश्च भूप्रदेशैस्तृणैर्वा गवां मार्गमन्वगमन् ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मुञ्जाटव्यामूनविंशे निविष्टं गोपगोकुलम् ॥ तद्वह्निं पीत्वा जुगोप तत्र श्लोकास्तु षोडश (१६) ॥

द्वे (२) उवाचेति पादोना (१६॥।) दशसप्तेत्यनुष्टुभः ॥ १९ ॥

क्रीडेति ॥ गोपेषु क्रीडायामासक्तेषु सत्सु तेषां गावः । टजभाव आर्षः । दूरचारिणीः दूरचारिण्यः । पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः । स्वैरं यथेष्टं चरन्त्यस्तृणलोभेन गह्वरं दुष्प्रवेशं वनं विविशुः ॥ १ ॥ अजा इति ॥ अजा गावः महिष्यश्च वनाद्वनान्तरं निर्विशन्त्यो दावेन ग्रीष्मतापेन तर्षिताः तृष्णां प्रापिताः । तृषेर्णिजन्तात् क्तः । अत एव क्रन्दन्त्यः इषीकाटवीमत्युच्छ्रितघनतृणविशेषारण्यं विविशुः ॥ २ ॥ ते इति ॥ तदा कृष्णरामौ आदी येषां ते नतु तौ अतद्गुणसंविज्ञानात् गोपाः पशून् अपश्यन्तः जातानुतापा गवां गवादीनां गतिं पदवीं विचिन्वन्तोऽपि न विदुः न विविदुः । सामीप्यविवक्षया लट् ॥ ३ ॥ तृणैरिति ॥ नष्टा आजीव्याः जीविकासाधनानि येषां ते अत एव विचेतसः व्याकुलचित्ताः सर्वे गोपाः तासां गवादीनां खुरैर्दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः गोष्पदैः गोसेवितैः । गोष्पदं सेवितेति सुट् । खुरादिभिरङ्कितैश्च भूप्रदेशैस्तृणैर्वा गवां मार्गमन्वगमन् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमेकोनविंशेऽध्याये गोपानां दावाग्नेर्मोक्षणमुच्यते तेषां गावः गोरतद्धितलुकीति प्राप्तस्य समासांतप्रत्ययस्याभावस्तु तद्विधेरनित्यत्वादवोध्यः दूरचारिणीः दूरचारिण्यः गह्वरमतिघनं वनं ॥ १ ॥ वनात् वनं वनांतरं निर्विशंत्यः दावेन ग्रीष्मतापेन

तर्षिताः तृषिताः क्रंदंत्यः इषीकाटवीं घनतृणविशेषारण्यं विविशुः ॥ २ ॥ कृष्णरामादयः पशून् अपश्यंतः विचिन्वंतो मार्गयंतः गवांगतिं गमनं न विदुः ॥ ३ ॥ नष्टाजीव्या नष्टमाजीव्यं जीविकासाधनं येषां ते अतएव विचेतसो नष्टज्ञानाः तासां गवां खुरैः दंतैश्च च्छिन्नैस्तृणैः गोष्पदैः गोसेवितैः प्रदेशैः कृत्वा अंकितैश्चिह्नितैस्तृणैर्वा गवां मार्गं पंथानमन्वगमन् प्रापुः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मुञ्जारण्यं निविष्टं तु कृष्णो गोगोपवृन्दकम् । ऊनविंशे दवीयाग्नेः पानेनापाद् द्रुतं प्रभुः ॥ १ ॥

अथ दावाग्निपानात्मकं श्रीकृष्णचरित्रमनुवर्णयितुं तावत् प्राक्तनं वृत्तान्तमाह ॥ क्रीडेति ॥ प्रलम्बासुरवधानन्तरमपीति शेषः । गोपेषु क्रीडासक्तेषु सत्सु, स्वैरं चरन्त्यः, दूरचारिणीः दूरचारिण्यः, तद्गावस्तेषां गोपानां धेनवः, तृणलोभेन गह्वरं स्थानं, विविशुः ॥ १ ॥ अजा इति ॥ अजा गावः अप्रसूता धेनवः, महिष्यो गावः प्रसूता धेनवश्च वनात् वनं निर्विशन्त्यः, दावेन तापेन तर्षितास्तृषिताः अत एव, क्रन्दन्त्यः सत्यः, इषीकाटवीमत्युच्छ्रिनसान्द्रतृणविशेषारण्यं, विविशुः इषीकाटव्येव पूर्वत्र गह्वरशब्देन विवक्षिता ॥ २ ॥ त इति ॥ ततः ते क्रीडासक्ताः, कृष्णरामादयः गोपाः, पशून् अपश्यन्तः, अत एव, जातानुतापाः, विचिन्वन्तः पशून् गवेषयन्तः, सन्तोऽपि, तदा गवां गतिं, नविदुर्न लक्षितवन्तः ॥ ३ ॥ तृणैरिति ॥ ततः नष्टाजीव्याः गतजीविकासाधनाः, विचेतसः विचाराक्रान्तचिताः, सर्वे गोपालाः, तासां गवां खुरैः दद्भिर्दन्तैश्च छिन्नानि तैः, तृणैः, गोष्पदैश्च, अङ्कितैर्भूप्रदेशैः, कथंचिल्लब्धमिति शेषः । गवां मार्गं, अन्वगमन् अनुसृत्य जग्मुः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

यत्पादाब्जरजोऽप्यजो गतरजोलेशो मुनीशव्रजो नाकेशः शिरसा समुद्वहति यो विद्वद्वरिष्ठार्चितः ।
तस्यानन्तपतेरनन्तचरितस्यांसे स गोपो यदाऽतिष्ठद्धृष्टपदं तदा तदघदं नासीममासीत् कथम् ॥ १ ॥
इत्थं प्राक्कृतताद्दृगर्थकहरिक्रीडाश्रुतिप्रस्नवत्प्रेमप्रश्नतरङ्गितं स नृपतेर्ज्ञात्वाऽन्तरङ्गं मुनिः ।
आमौञ्जीव्रतमस्य कापि विहृतिर्नाघाय पुण्याय वा स्यादेतत्कथनाय गोवनकथां प्राहोक्तमुख्याश्रमाम् ॥ २ ॥
(युग्मम्)

यद्वा तत्केल्यघेनैव तद्गावस्तेऽपि तापिताः । ततोऽनुतप्ताः सद्यस्ते शरणीभूय माधवम् ॥ ३ ॥
निःसीमं सौख्यमेवापुरेवं तापापनुत्तये । सर्वैर्हितेच्छुभिः कार्यमित्यूचे तत्कथोक्तितः ॥ ४ ॥ (युग्मम्)
प्रारब्धोपात्तकेलिर्भवति भववने योऽस्य बाल्येऽक्षजातं भीशून्यं वैधदण्डादतिचरति यथा काममेवोपभोगे ।
पश्चान्मौञ्जीवृतं सत्प्रचलति सभयं तर्षितं सर्वतोऽसौ पश्चात्संतापभाक् संस्तदनु विचिनुते तद्गतीस्तत्पदार्थैः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा तत्र च खिन्नमाशु च ततः कृत्वा समावर्तनं मत्वा सत्पथ इत्ययोजयदसौ पश्चाद् गृहस्थाश्रमे ।
तत्राप्युग्रभवानलावृतिमलं संवीक्ष्य संभ्रान्तधीः श्रीनाथं शरणं गतोऽथ समभूत् सद्यो महानन्दभाक् ॥ ६ ॥
एवं बाल्यं ब्रह्मचर्यं गार्हस्थ्यमनु भुञ्जतः । सुखं श्रीशाश्रयादेव नान्यथेत्युक्तमूह्यताम् ॥ ७ ॥
(विशेषकम्)
प्रारब्धात् कौतुकाद्वाऽप्यधिगतविषयां केलिमव्याजरूपां निम्नामत्युन्नतां वा सुखनिभृतमनास्ताद्दृशीं यः करोति ।
अध्वभ्रान्तिर्यथास्मिन्नहि भवति गवां तस्य सत्सीमदृष्टेनैव स्यात्क्वाप्यनिष्टं प्रकटमनुपदं ताप एवान्यथा तु ॥ ८ ॥

क्रीडासक्तेष्विति : १०.१९.१.

दुर्मार्गाश्रयणेऽक्षाणां प्रवृत्तिस्तत्र कारणम् । न जीवो नापि भगवान् किन्तु लोभ इति स्फुटम् ॥ ९ ॥
श्रीशोपदेशकजुषामपि तार्णलोभः प्रासूत गोपतिगवां भगवद्वियोगम् ।
किं तत्र वाच्यमवलोकनकादिलोभस्तस्माज्जयोऽस्य कृतिना प्रथमं विधेयः ॥ १० ॥
लोभेन यो वशं नीतः क्लेशोऽनुपदमस्य हि । स्पष्टमेतदभूदस्मिस्ताद्दृग् गोवृत्तितो वने ॥ ११ ॥

तेऽपश्यन्त इति : १०.१९.३.

यद्बलादेव निखिलव्यवहारोपजीवनम् । तस्मिन् वृन्दे गवां भ्रष्टपथे खेदो न चित्रकृत् ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

श्री शुकदेवजी कहते हैं —परीक्षित् उस समय जब ग्वालबाल खेलकूद में लग गये, तब उनकी गौएँ बेरोक-टोक चरती हुई बहुत दूर निकल गयी और हरी हरी घास के लोभ से एक गहन वन में घुस गयी ॥ १ ॥ उनकी बकरियाँ, गायें और भैंसें एक वन से दूसरे वन में होती हुई आगे बढ़ गयीं तथा गर्मी के ताप से व्याकुल हो गयीं, वे वेसुध सी होकर अन्त में डकराती

हुई मुञ्जाटवी (सरकंडों के वन) में घुस गयीं ॥ २ ॥ जब श्रीकृष्ण बलराम आदि ग्वालबालों ने देखा कि हमारे पशुओं का तो कहीं पता ठिकाना ही नहीं है। तब उन्हें अपने खेल-कूद पर बड़ा पछतावा हुआ और वे बहुत कुछ खोजबीन करने पर भी अपनी गौओं का पता न लगा सके ॥ ३ ॥ गौएँ ही तो व्रजवासियों की जीविका का साधन थीं, उनके न मिलने से वे अचेत से हो रहे थे अब वे गौओं के खुर और दाँतों से कटी हुई घास तथा पृथ्वी पर बने हुए खुरों के चिन्हों से उनका पता लगाते हुए आगे बढ़े ॥ ४ ॥

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं [1]च गोधनम्। [2]सम्प्राप्य तृषिताः [3]श्रान्तास्ततस्ते संन्यवर्तयन्[4] ॥ ५ ॥
[6]ता आहुता भगवता मेघगम्भीरया गिरा। स्वनाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥

ततः समन्ताद् वनधूमकेतुर्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम्।
समीरितः सारथिनोल्वणोल्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान्[5] महान् ॥ ७ ॥
तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च[6] गावः प्रसमीक्ष्य भीताः।
[7]ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मुञ्जाटव्याम् भ्रष्टमार्गम् च क्रन्दमानम् गोधनम् सम्प्राप्य, श्रान्ताः तृषिताः ते ततः सन्न्यवर्तयन् ॥ ५ ॥ मेघगम्भीरया गिरा आहूताः ताः स्वनाम्नाम् निनदम् श्रुत्वा प्रहर्षिताः प्रतिनेदुः ॥ ६ ॥ ततः यदृच्छया समन्तात् वनौकसाम् क्षयकृत् सारथिना समीरितः उल्वणोल्मुकैः स्थिरजङ्गमान् विलेलिहानः महान् वनधूमकेतुः अभूत् ॥ ७ ॥ परितः आपतन्तम् तम् दवाग्निम् प्रसमीक्ष्य भीताः गोपाः च गावः यथा मृत्युभयार्दिताः जनाः यथा हरिम् तथा सबलम् कृष्णम् प्रपन्नाः च ऊचुः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

वनौकसां गोगोपानां नाशहेतुर्वनवह्निः सर्वतः प्रादुरभूत्। सारथिना वायुना ॥ ७–११ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ते गोपाः। ततः मुंजाटवीतः। भ्रष्टमार्गम् इतस्ततो गतम्। संन्यवर्त्तयन् गतमार्गमेवागंतुकामा अभवन्नित्यर्थः ॥ ५ ॥ ता गावः। स्वनाम्नां गंगादिरूपाणां स्वनाम्नाम्। प्रतिनेदुः प्रत्याक्रोशं चक्रुः ॥ ६ ॥ 'दुःखादनंतरं दुःखम्' इति संसारिणां बोधयन्नाह–तत इति। ततः गोदर्शनानंतरम्। धूमकेतुः अग्निः। उल्बणोलमुकैः चंडालातैः। लेलिहानः अतिशयेनास्वादयन् ॥ ७ ॥ तम् आविर्भूतम्। प्रपन्नाः शरणं प्राप्ताः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सम्यक् सर्वमङ्गलत्वादिनैकत्रैव प्राप्य सम्यक् त्वया एकीकरणादिना न्यवर्त्तयन् ततस्तृषिताः श्रान्ताश्च बहुलपरिभ्रमणात् अभवन् ॥ ५ ॥ सम्प्राप्येत्युक्तं तत्प्रकारं वदन् श्रीगोपचूडामणिना गोगोपसन्तोषणमाह–ता इति। मेघगम्भीरयेत्यत्र मेघशब्देन मेघगर्जितं लभ्यते, सर्वत्र तु गम्भीरशब्दः खलु दूरदृश्यतलस्य गर्त्तस्य विशेषणं भवति लक्षणया तु तत्रस्थजलमपि विशिनष्टि–तस्मादुत्थितो नादश्च प्रायो गुरुर्भवन् गम्भीरतयोपचर्य्यते मेघस्य नादस्तु तद्वद्गुरुः स्यात् तत् भगवतो गीश्च स्वरतस्तादृशी स्यादित्यभिप्रेत्याह–मेघगम्भीरया गिरेति। ततश्च मेघगम्भीरया गिरा यत् स्वस्वनाम तदुच्चारणं तेनाहूताः सत्यस्तत्सम्बन्धिनं निनदं मधुरतारस्वरविशेषं श्रुत्वा प्रहर्षिताः प्रहृष्टाः सत्यः प्रतिनेदुः प्रत्युत्तरतया शब्दं चक्रुः ॥ ६ ॥ ततस्तस्मिन्नेव समयेऽभूत् उद्भूतः यदृच्छया अकस्मात् अयमपि प्रलम्बसखः कश्चिद्दैत्य इति केचिदाहुः वृन्दावने दवनिषेधात् उल्वणैः उल्मुकैः उल्कासदृशविस्फुलिङ्गैः विलेलिहानः विशेषिणः लेलिहन् दन्दह्यमान इत्यर्थः। यतो महान् व्यापकः ॥ ७ ॥ आपतन्तं वेगेनागच्छन्तं प्रसमीक्ष्य अत्युद्भटं सुदुस्तरं च विचार्येत्यर्थः। अत्र गोपा गोपालनाय नियुक्ताः साधारणा एव श्रीदामादीनां तु तदङ्गसङ्गित्वान्निवेदनापेक्षा नास्तीति

---

१. स्वगोधनम्। २. अप्राप्य–वीर. विज.। ३. याता–विज.।
४. कृष्णः प्रोत्तुङ्गमारुह्य वृक्षं मेघनिभच्छविम्। आर्तास्ता आह्वयामास दर्शयन्गाः स्वनामभिः ॥
इत्यधिकः श्लोकश्चक्रवर्तिसंमतः; वीर. पाठे अयं श्लोकोऽधिकः।
५. जङ्गमं–वीर.। ६. गोपाः सगावः–गो. प्रे. टी.। ७. ऊचुः स्म–विज.।

अतः प्रपन्ना दवसमीपादागत्य शरणमागताः भीतत्वे हेतुः सगावः गोभिः सहिता इति "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" (१।२।४८) ह्रस्वत्वाभाव आर्षः गोपाश्च गावश्च इति पाठे गावश्चोचुरित्यायाति तत्र व्यग्रतयारम्भणात् ता अप्यूचुरित्यर्थः। गोपाः स्म गाव इति पाठे स्म प्रसिद्धौ हरिमिति तस्यैवैश्वर्यांशे दृष्टान्तः मृत्योर्मरणपरम्परालक्षणसंसारात् भयेनार्दिता जना इति सभयेत्युक्तौ दृष्टान्तो नतु मरणमात्रत्राणांशे अतश्च केवलं श्रीभगवद्वियोगात् एव भीता इति पूर्ववद्बोद्धव्यं तच्चाग्रे व्यक्तं भावि ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततो मुञ्जाटवीतः सम्यक् सर्व्वमंगलत्वादिनैकत्रैव प्राप्य सम्यक् त्वरयैकीकरणादिना न्यवर्त्तयन्, यतस्तृषिताः श्रान्ताश्च, बहुलपरिभ्रमणात् ॥ ५ ॥ सम्प्राप्येत्युक्तम्, तत्प्रकारं वदन्, ततश्च श्रीगोपचूडामणेर्गोसन्तोषणमाह— ता इति तत्तन्नामभिराहूताः; निनदं संकीर्त्तनं तेनैव प्रकर्षेण हर्षिताः ॥ ६ ॥ ततस्तदनन्तरः पूर्व्वमेव जातो दावाग्निरिदानीं समन्तादष्टासु दिक्षु अभूद् व्याप्त इत्यर्थः। यद्वा, ततस्तस्मिन्नेव समये स्थाने वा अभूदुद्भूतः, यदृच्छया अकस्मात्, यद्वा, तदग्नेरेव केनापि भाग्योदयेन। अयमपि प्रलम्बसखः कश्चिद्दैत्य इति केचिदाहुः; व्रजौकसां क्षयकृदिव, यद्वा, व्रजौकसां मध्ये निवासचिकीर्षु रिवेत्यर्थः, श्रीभगवन्मुखे प्रविष्टत्वात्। वनौकसामिति पाठे तदग्निस्वभावनिर्द्देशः। उल्वणोल्मुकैरुल्कासदृशालातैः स्थिरान् वृक्षादीन्, जंगमांश्च पशुपक्ष्यादीन्, विलेलिहानः संहर्त्तु मित्यर्थः; यतो महान् व्यापकः ॥ ७ ॥ आपतन्तं वेगेनागच्छन्तं प्रसमीक्ष्यात्युद्भटं सुदुस्तरञ्च विचार्य्येत्यर्थः। भीतत्वे हेतुः—सगावो गोभिः सहिता इति, हरिं सर्व्वदुःखहरं कृष्णं परमानन्दकरञ्च प्रपन्ना रक्ष रक्षेति शरणं गताः सन्त ऊचुः बलेन निजशक्त्या सहितं यथा स्यात्तथा ऊचुरुच्चैश्चुक्रुशुरित्यर्थः। यद्वा, श्रीबलदेवेन सहितं श्रीकृष्णं प्रति विज्ञापने स्वसाहाय्यार्थञ्च। स्म प्रसिद्धौ। यथा मृत्योर्मरणलक्षणसंसारादन्तकाद्वा भयेनार्द्दिता जना इति सभयार्त्युक्तौ दृष्टान्तः। तेन च गोपानां मृत्युभयाभावो ध्वन्यते, ततश्च केवलं श्रीभगवद्वियोगत एव भीता इति पूर्व्ववद् बोद्धव्यम्, तच्चाग्रेऽपि व्यक्तं भावि ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

सारथिना वायुना ॥ ७-११ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मुञ्जाटव्यां भ्रष्टो लीनः मार्गो यस्य तत्क्रन्दमानं गोरूपधनमप्राप्य तृषिता अत एव श्रान्तास्ते गोपाः संन्यवर्त्तयन् प्रत्याजग्मुरन्वेषणाद्विरेमिरे ॥ ५ ॥ तदा भगवता कर्त्रा मेघस्येव गम्भीरया गिरा आहूतास्ता गावः स्वस्वनाम्नां ध्वनिमाकर्ण्य प्रहर्षिताः प्रतिदध्वनुः ततः प्रतिनादेन गोधनानि सञ्जग्मुरित्यर्थतोऽत्र विवक्षितम् ॥ ६ ॥ ततस्तदा यदृच्छया महान् वनधूमकेतुर्दवाग्निरभूत् उदभवत् कथम्भूतः वनौकसां क्षयं नाशं करोतीति तथा सारथिना वायुना समीरितः उद्दीपितः उल्बणैरुल्मुकैर्ज्वालायुक्तैस्तृणकाष्ठादिभिः स्थावरजङ्गमात्मकं भूतजातं विलेलिहानः पुरः पुरः संस्पृशन् ॥ ७ ॥ परित आपतन्तं व्याप्यागच्छन्तं दवाग्निमवलोक्य भीताः सगावो गोपाः सरामं कृष्णं प्रपन्नाः शरणं गताः ऊचुर्यथा मृत्युभयेन संसारभयेनार्द्दिताः पीडिता जनाः हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं प्रपन्नाः स्वदैन्यं विज्ञापयन्ति तद्वत् ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भ्रष्टमार्गं मार्गं हित्वेतस्ततो गतं ततो मुञ्जाटव्याः संन्यवर्त्तयन् गतमार्गमेवागन्तुकामा अभवन्नित्यर्थः ॥५॥ ततः कृष्णेन किमकारीति तत्राह—ता इति। प्रतिनेदुः प्रत्याक्रोशं चक्रुः ॥ ६ ॥ संसारस्तु सदा दुःखाकर इति दर्शनार्थम् एकदुःखशमनानन्तरं दुःखान्तरं वदति–तत इति। ततः गोदर्शनानन्तरं धूमकेतुः अग्निः सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितो वर्धितः उल्बणोल्मुकैः क्रूरतरज्वालाभिः स्थिरजङ्गमान् विलेलिहानः विशेषेणास्वादयन् ॥ ७ ॥ प्रपन्नाः शरणमिति शेषः ॥ ८-९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मुञ्जाटव्यां तत्रैव शरवणे सम्प्राप्य ता गवाद्याः न्यवर्त्तयन्। परावर्तयामासुः ॥ ५ ॥ सम्प्राप्येत्युक्तं तत्केन प्रकारेणेत्याकाङ्क्षायामाह–कृष्ण इति आत्मानं दर्शयन् गा आह्वयामास ता गवादयः ॥ ६ ॥ तदेवं गोभिः सङ्गतीभूय यदैव तद्वनान्निष्क्रमितुमैच्छंस्तदैव ते दावानलेनाव्रियन्तेत्याह–तत इति। दवो वनं तत्सम्बन्धी धूमकेतुरग्निः यदृच्छया आकस्मिक इत्ययमपि प्रलम्बसखः कश्चिद्दैत्य इत्याहुः सारथिना वायुना उल्बणैरतितीव्रै रुल्मुकैः ॥ ७ ॥ ऊचुश्चेति "अनेन सर्वदुर्गाणि" इति गर्गोक्तिमनुस्मृत्येत्यर्थः गोपाश्च गाव इति गोपास्म गाव इति गोपाः सगावः इति त्रयः पाठाः तत्र सगाव इति "गोस्त्रियोः" (१।२।४८) इत्यादिना ह्रस्वत्वाभावः आर्षः ॥ ८-९ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सारथिना वातेन ॥ ७-१२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

मुञ्जाटव्यां तस्मिन्नेव शरवणे भ्रष्टमार्गं विस्मृतपथं स्वगोधनं गवादिसम्प्राप्य न्यवर्त्तयन् परावर्त्तयाञ्चक्रुः ।। ५ ।। कथं संप्राप्येत्यपेक्षायामाह–कृष्ण आत्मानं दर्शयन् गा आह्वयामासेति । ता गवादयः प्रतिनेदुः तामिति प्रत्युत्तरं ददुः ।। ६ ।। ततस्तस्मिन्नेव समये दवधूमकेतुर्वनवह्निर्यदृच्छयाऽकस्मादेवोद्भूदुद्भूतः प्रलम्बसखोयमसुरः कश्चिदित्याहुः सारथिना मरुता समीरितः प्रवर्द्धितः उल्वणैरतितीव्रै रुल्मुकैस्तत् समैर्विस्फुलिङ्ग विलेलिहानो दन्दह्यमान इत्यर्थः । यतो महान् व्यापी ।। ७ ।। ऊचुश्चेति "अनेन सर्वदुर्गाणि" इत्यादि गर्गोक्तिस्मरणादित्यर्थः । गावश्चेति व्यग्रतया अम्बारावस्तासामुक्तिः हरिं विष्णुम् ।। ८-९ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भ्रष्टोऽज्ञातो मार्गो यस्य तद्गोधनम् । मुञ्जाटवीत्यनेन मुञ्जपुञ्जिता महीति खुराद्यनङ्कितता तस्य द्योत्यते । अप्राप्य श्रान्तास्ततो गतमार्गत एव सन्न्वर्तयन्प्रत्यागन्तुकामा अभवन्नित्यर्थः । मनः सन्न्वर्तयन्निति वा ।। ५ ।। आहूतास्ता गावो भगवता कर्त्रा मेघगम्भीरया गिरा करणेन स्वनाम्ना श्रीनिकेतनसङ्केतितस्वनाम्ना निनदन् । वैशिष्ट्यं तृतीयार्थः । नामसमेतं निनदं श्रुत्वा प्रहर्षिताः प्रतिनेदुर्हम्भावं चक्रुः ।। ६ ।। वनौकसां पक्षिवृक्षादीनां क्षयकृन्नाशकरो यदृच्छया वनधूमकेतुर्वनानलो यस्ततस्तेन गतं सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितो वर्धित इति यावत् । अत्रोल्मुकशब्दो ज्वालापरः । उल्वणैरुल्मुकैर्ज्वालाभिः स्थिरजङ्गमान्विलेलिहान आस्वादयन्निवाभूत् प्रसर्पेति भावः ।। ७ ।। गोपाश्च गावश्च परित आपतन्तं तं दावाग्निं प्रसमीक्ष्य भीता भयं तूभयेषां सबलं कृष्णं प्रपन्ना अतिप्रह्वा ऊचुः । मृत्युभयार्दिता जना हरिं यथोचुरिति गोपमात्रान्वयि ।। ८ ।।

श्रीसुबोधिनी

ततः प्राप्य न्यवर्तन्तेत्याह मुञ्जाटव्यामिति, यदि मध्ये मुञ्जाटवी न स्यादग्रेपि गच्छेयुः, अतो मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गा अत एव क्रन्दमाना इति कर्तव्यतामौढ्यात् सुतरां मुञ्जस्पर्शेन सुदुःखिता गावो जाताः, ततस्तादृशं गोधनं सम्प्राप्य स्वयमपि तृषिताः श्रान्ताः गोभिः समानधर्माः क्षणं विश्रम्य तृषां दूरीकृत्य ततस्तदनन्तरं सम्यङ् न्यवर्तयन् निर्वर्तितवन्तः ।।५।। सर्वे निर्वर्तिता न निर्वर्तिता इति सन्देहे भगवता सामान्यतो विशेषतश्च वनमध्यं प्रविष्टास्ता आहूताः, शब्देनैव तासामन्तस्तापवहिस्तापौ गताविति ज्ञापयति मेघगम्भीरयेति, ततो गततापाः स्वनाम्नां निनदं शब्दं श्रुत्वा प्रतिनेदुः तत्रैव स्थित्वा प्रतिशब्दं कृतवत्यः प्रहर्षिताश्च जाताः, निकटे समागताश्चेति ज्ञातव्यं, असमागताश्च काश्चन ।। ६ ।। एतस्मिन्नवसरे दैत्याभिमानिनी देवतोपासिता लौकिकव्यश्रान्तःकरणदेवताः क्रुद्धा एकीभूय दवानलरूपा जाताः स दवानलस्तस्मिन्नवसरे पलायनासमर्थे समन्तात् प्रादुर्भूतो जात इत्याह तत इति, वनसम्बन्धी धूमकेतुरग्निरनिष्टहेतुरिति धूमकेतुपदेनोक्तस्तेषां माहात्म्यज्ञापनार्थं यदृच्छयैवाभूदकस्मात् कालकर्मस्वभावभगवदिच्छाभिर्वा उद्धवे हेतुमाह क्षयकृद् वनौकसामिति, वनसम्बन्धमात्रेणैव सोग्निः पीडयति, सुतरामेव वने स्थानं येषां, तादृशस्य सहायोप्यन्यो जात इत्याह, समीरितः सारथिनेति, वायुरग्नेः सारथी रथप्रवर्तकः, रथो ज्वाला, अत एवोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानो जातः, सर्प इव प्रसन्नागतस्ततो बहुभक्षणेन पुष्टः सन् महान् जातः ।। ७ ।। तादृशो भगवदीयानामपि स्थाने समागत इत्याह तमापतन्तमिति, परित आपतन्तमुपर्यागच्छन्तं दवाग्निमपरिहार्यं सहजदोषरूपं गोपाः प्रतिक्रियानभिज्ञा गावश्च मूढाः प्रकर्षेण समीक्ष्य भीता जाताः, ततो ज्ञातभगवन्माहात्म्या भगवन्तं प्रार्थितवन्त इत्याहोचुश्चेति, बलभद्रसहितमिति प्रकृतोपयोगात् क्रियाशक्तिसाहित्यमुक्तं, कृष्णं सदानन्दं प्रकृते लीलाकर्तारं शरणापन्नाः सन्त ऊचुः, तत्र दैन्यार्थं दृष्टान्तमाह यथा हरिमिति, मृत्युभयेनाप्रतीकार्येणार्दितो यथा कश्चित् कृतपुण्यपुञ्जो जनो गजेन्द्र इव हरिं शरणं गच्छति तथात्यन्तं दीनाः सर्व एव शरणं गताः ।। ८ ।।

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

तत इत्यस्याभास एतस्मिन्नवसर इत्यादि, यदा भगवता गोपानामात्मदोषो निवारयितुं विचारितस्तस्मिन् समये दैत्यस्य हतस्य प्रलम्बस्याभिमानिनी देवता तल्लिङ्गदेहविशिष्टजीवात्मिकोपासिता मोचयितुं भगवता ध्याता लौकिक्याश्चान्तःकरणदेवता "द्वया ह प्राजापत्या" इत्यत्राप्रतिरूपसङ्कल्पजनकपाप्मवेधकर्तृतया सिद्धास्ता उभयविधा अपि दैत्यनाशनेनान्तःकरणदोषनाशनेन चतुर्धैकीभूय दावानलरूपा जाता भगवता द्वयं कृतमित्युभयविधानां क्रोधस्तेन द्वयोरेकीभावः, भगवद्रक्षितान् दोषरहितान् क्षपयितुं तदा दावानलस्तथा जात इत्यर्थः, न च मोचने सन्देहः कार्यः, द्वितीयस्कन्धे "ये च प्रलम्बे"त्यत्र पञ्चाध्याय्यां "यत एतद् विमुच्यत" इत्यत्र च मुक्तेरुक्तत्वादिति सा चात्र दावाग्नेरन्तःप्रवेशनेन बोध्या, दावाग्निश्चात्मदोषसाहित्येन त्रितयरूपो बोध्यः ।। ७ ।। तमापन्तमित्यत्र चतुर्थपादस्याभासे तत्र दैन्यार्थमिति शरणागतौ दैन्यस्याङ्गत्वात् तदर्थमित्यर्थः, प्राणाप्रतीकार्य इति "सप्राणयोश्चित्रममंसतामरा" इति गजेन्द्रमोक्षस्थवाक्यात् तदप्रतीकार्ये ।। ८ ।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तत इत्यस्याभासे एतस्मिन्निति अत्र भगवता द्वयं सम्पादितं दैत्यवधोन्तःकरणदोषनिवृत्तिश्च, तद्द्वयापकारं विवृण्वन्ति उपासितेति, प्रलम्बेनेतिशेषः, लौकिकस्य इति लौकिकप्रवृत्तिहेतव इत्यर्थः, अलौकिकप्रवृत्तिहेतूनां तु पूर्वाध्यायेनुमोदनमेवोक्तमिति भावः, दवानलरूपा इति अज्ञानात्मकस्य दवानलस्य निरूपका उद्दीपका इत्यर्थः ।। ७ ॥ तमापतन्तमित्यस्याभास इत्याहेति इति-हेतोस्तेषां भयं तत्कृतप्रार्थनारम्भं चाहेत्यर्थः ।। ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मुञ्जाटव्यपि इषीकाटव्येव । तस्यां स्वगोधनं सम्प्राप्य ततस्ते संन्यवर्त्तयन् । तत्र प्राप्तौ हेतुमाह—भ्रष्टमार्गमिति । भ्रष्टो विच्छिन्नस्ततोऽग्रे प्रवेष्टुमशक्यो मार्गो यस्य तत् । अत एव क्रन्दमानं स्वयमपि ग्रीष्मातपेन धावनेन च तृषिताः श्रान्ताश्च ।५। ता गवादयो भगवता आहूताः स्वनाम्नां निनदं ध्वनिं श्रुत्वा प्रहर्षिताः सत्यः प्रतिनेदुः उत्तरदानवत् प्रतिशब्दं कृतवत्य इत्यन्वयः। 'यथा तप्ता जना मेघागमे तन्नादं श्रुत्वा हृष्टा भवन्ति, तथा भगवतो गिरं श्रुत्वा ताः प्रहर्षिता' इति सूचयन्नाह–मेघगम्भीरया गिरेति ।। ६ ॥ ततो यदा ते गाः सन्निवर्त्य निवृत्तास्तस्मिन्नेव समये महान् समन्तात् सर्वतो यदृच्छया केनापि प्राणिदुर्भाग्येन वनधूमकेतुः दावानलः प्रादुरभूत् । महत्त्वे हेतुमाह–समीरित इति । सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितः, अत एव उल्वणोल्मुकैः तीक्ष्णविस्फुलिङ्गैः स्थिरजङ्गमैर्विलेलिहानः ग्रसन् वनौकसां गोपालानां च क्षयकृन्नाशकः ॥ ७ ।। तं दावाग्निं परितः सर्वतः आपतन्तमागच्छन्तं प्रसमीक्ष्य गोपा गावश्च भीताः सबलबलेन सहितं श्रीकृष्णं प्रपन्नाः शरणंगताः सन्तः ऊचुश्च रक्षां प्रार्थयामासुरित्यन्वयः । अत्र दृष्टान्तमाह–यथेति । अप्रतीकार्येण मृत्युभयेनार्दिताः पीडिता जनाः हरिं शरणागता यथा प्रार्थयन्ति, तथेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मुञ्जेति ।। मुञ्जाटव्यामिषीकाटव्यां तत्रैव शरवणे भ्रष्टो विच्छिन्नस्ततोऽग्रे प्रवेष्टुमशक्यो मार्गो यस्य तत् अत एव क्रन्दमानम् । शानजार्षः । स्वगोधनं संप्राप्य स्वयमपि ग्रीष्मातपेन धावनेन च तृषिताः श्रान्ताश्च ते ततः गाः संन्यवर्त्तयन् परावर्त्तयामासुः ॥ ५ ।। ता इति ।। कृष्णस्तु आत्मानं दर्शयन् ता आहूतवान् । ततः ता गवादयो भगवता मेघगम्भीरया गिरा आहूताः स्वनाम्नां निनदं ध्वनिं श्रुत्वा प्रहर्षिताः सत्यः प्रतिनेदुः उत्तरदानवत्प्रतिशब्दं कृतवत्यः ॥६।। तत इति ॥ ततः अनन्तरं सारथिना वायुना समीरितः प्रेरितः अत एव उल्बणैरतितीव्रै रुल्मुकैः स्थिरजङ्गमान् विलेलिहानः ग्रसमानः वनौकसां गोपालानां च क्षयकृन्नाशकः महान्समन्तात् सर्वतो यदृच्छया केनापि प्राणिदुर्भाग्येन वनधूमकेतुः दावानलः प्रादुरभूत् । अयं दवाग्निरपि कश्चित्प्रलम्बसखो दैत्य इत्याहुः ।। ७ ।। तमिति ॥ तं दवाग्निं परितः सर्वतः आपतन्तमागच्छन्तं प्रसमीक्ष्य गोपा गावश्च । अत्र गोपाश्च गाव इति पाठो । गोपाः सगाव इति पाठे तु गोस्त्रियोरिति ह्रस्वाभाव आर्षः । भीताः सबलं बलेन सहितं श्रीकृष्णं प्रपन्नाः शरणं गताः सन्तः मृत्युभयेनार्दिताः पीडिता जनाः हरिं शरणागता यथा प्रार्थयन्ते तथा ऊचुश्च रक्षां प्रार्थयामासुः ॥ ८ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अतिशाद्वले अतिहरिततृणव्याप्ते यद्वा अमुंजाटव्यां अत्युच्छ्रितघनतृणविशेषाऽरण्यरूपायामिषीकाटव्यां स्वगोधनं संप्राप्य ततो वनात् ॥ ५ ।। ताः गावः प्रतिनेदुः प्रतिनादं कृतवत्यः ॥ ६ ।। वनौकसां गोपानां क्षयकृत् नाशकर्त्ता वनधूमकेतुर्वनाग्निः सारथिना वा तेन समीरितवृद्धिं प्रापितः समं ततः प्रादुरभूतं कथभूतः उल्वणैरुग्रैः उल्मुकै र्ज्वालाभिर्विलेलिहानोग्रसमानः ॥ ७-८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

मुञ्जाटव्यामिति ।। मुञ्जाटव्यां, भ्रष्टो लीनो मार्गो यस्य तत्, क्रन्दमानं स्वगोधनं अप्राप्य, तृषिताः श्रान्ताः, ते गोपाः, ततः स्थानात्, संन्यवर्त्तयन् गतमार्गमेवागन्तुकामाः, अभवन्नित्यर्थः ॥ ५ ।। ता इति ।। तदा भगवता कर्त्रा, मेघगम्भीरया मेघस्येव गभीरया, गिरा वाचा, आहूताः हे कृष्णे, हे गौरि, हे धवले, हे शवले, इत्येवं तन्नामान्युच्चार्याकारिताः, ताः गावः, स्वनाम्ना निनदं कृष्णोच्चारितस्वनामध्वनिं श्रुत्वा, प्रहर्षिताः सत्यः, प्रतिनेदुः प्रतिदध्वनुः । ततस्तासां प्रतिनादं श्रुत्वा तं लक्ष्यीकृत्य तदन्तिके जगामेत्यर्थंतो विवक्षितम् ॥ ६ ।। तत इति ॥ ततस्तदा, यदृच्छया दैववशतः, महानतिवृद्धिमान्, वनौकसामरण्यस्थानां, क्षयकृत्, सारथिना वायुना, समीरितः उद्दीपितः, उल्वणानि च तान्युमुल्कानि तैः, ज्वालायुक्तैस्तृणकाष्ठादिभिरित्यर्थः । स्थिरजङ्गमान् स्थावरजङ्गमात्मकं भूतजातमित्यर्थः । विलेलिहानः विशेषेणास्वादयन्, वनधूमकेतुर्दवाग्निः, समन्तात्, अभूत् ।। ७ ।। तमिति ॥ परितः समन्ततः, आपतन्तं सर्वतो व्याप्यागच्छन्तमित्यर्थः । तमुक्तविधं दवाग्निं, प्रसमीक्ष्यालोक्य, भीता भयं प्राप्ताः, गोपाः गावश्च सबलं सरामं, कृष्णं प्रपन्नाः शरणं गताः सन्तः, मृत्युभयेन संसारभयेनार्दिताः पीडिताः जनाः, हरिमाश्रितबन्धहरं भगवन्तं, प्रपन्नाः शरणं गताः सन्तः, यथा स्वदैन्यमावेदयन्ति तद्वत्, उचुः च ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सम्प्राप्येति : १०.१९.५.

विषयान्वेषणेनैव कृतमिन्द्रियशोधनम् । धीमता लभते तस्मात्तत्स्थितिं स इति स्फुटम् ॥ १३ ॥

ता आहूता इति : १०.१९.६.

गावो मदेकशरणाः प्रभवन्ति ताभ्यो नाम्नैव दर्शितपदः सुखदो भवामि ।
मह्यं यथा मदनुगो जन इत्युपेन्द्रः प्रोच्चार्य तत्तदभिधानमधात् सहर्षम् ॥ १४ ॥

साधूनामिह वासुदेवसदयप्रेमर्धिभाजामपि तापः संसृतिकाननस्थितिवशादुत्पद्यते भीतिकृत् ।
अन्येभ्यश्च विशेष एष शरणीभूता भवन्त्येव ते तत्कालं न परा इ त प्रमुदितास्ते स्युर्व्यपतातंयः ॥ १५ ॥

तत इति : १०.१९.७.

कालिन्दीपुलिनानुभूतभगवच्छक्तिस्वरूपोऽपि यद्भूयस्तदग्रसनात्तधीः समभवद् वन्यानलो निस्त्रपः ।
तत्प्रायः प्रतिभात्यहंमतिजुषः पुंसः स्वभावस्फुटीभावायेशमुखामृतैकरसत स्तन्मुख्यवासाय वा ॥ १६ ॥

वने निदाघे भवता दवाग्ने स्थेयं सदेति श्रुतिधृष्टमर्वाक् ।
त्वयेश तत्त्वद्वचनानुवृत्तिरस्मीति शंसन् स किमुल्ललास ॥ १७ ॥

जातं जलं तदमृतीकरणात् कृतार्थं त्वं चापि तन्मुखरसोपगमादिहाग्ने ।
स्वत्सारथेर्मम तु का गतिरेवमग्निरागात्पुनः किमिह वायुसमीरितः सन् ॥ १८ ॥

मुहूर्ते कस्मिंश्चिद्यदि निजपराभूतिरजनि तदन्यस्मिंस्तस्मिन् स हि निजजयार्थी प्रयतते ।
स्थितिं तेजोभाजामिति समवधार्यागमदसौ द्विवारं दावाग्निः समयभिदया शौरिपुरतः ॥ १९ ॥

तेजःप्रदोऽपि मिहिरो न पुराऽऽस नापि मद्वृद्धिकृत् पवन इत्ययमाद्धे माम् ।
मुख्याप्रतिष्ठितपदं त्वधुना लसन्तौ तौ द्वावपीति पुनरग्निरगात् किमह्नि ॥ २० ॥

ये चाश्रितश्रीशपदा येषां सोऽस्ति च रक्षकः । कीदृशानपि तान् द्रोग्धुमिच्छेद्यस्त्वनरो हि सः ॥ २१ ॥

कृष्णप्रिया

अन्त में उन्होंने देखा कि उनकी गौएँ मुञ्जाटवी में रास्ता भूलकर डकरा रही हैं। उन्हें पाकर वे लौटाने की चेष्टा करने लगे, उस समय वे एकदम थक गये थे, और उन्हें प्यास भी बड़े जोर से लगी हुई थी, इससे वे व्याकुल हो रहे थे ॥ ५ ॥ उनकी यह दशा देखकर भगवान श्रीकृष्ण अपनी मेघ के समान गम्भीर वाणी से नाम ले-लेकर गौओं को पुकारने लगे, गौएँ अपने नाम की ध्वनि सुनकर बहुत हर्षित हुई, वे भी उत्तर में हुंकारने और रंभाने लगी ॥ ६ ॥ परीक्षित् ! उन गायों को पुकार ही रहे थे कि उस वन में सब ओर अकस्मात् दावाग्नि लग गयी जो वनवासी जीवों का काल ही होती है, साथ ही बड़े जोर की आँधी भी चलकर उस अग्नि के बढ़ने में सहायता देने लगी इससे सब ओर फैली हुई वह प्रचण्ड अग्नि अपनी भयङ्कर लपटों से समस्त चराचर जीवों को भस्मसात् करने लगी ॥ ७ ॥ जब ग्वालों और गौओं ने देखा कि दावानल चारों ओर से हमारी ही ओर बढ़ता आ रहा है तब वे अत्यन्त भयभीत हो गये और मृत्यु के भय से डरे हुए जीव जिस प्रकार भगवान की शरण में आते हैं वैसे ही वे श्रीकृष्ण और बलरामजी के शरणापन्न होकर उन्हें पुकारते हुए बोले ॥ ८ ॥

[1]कृष्ण कृष्ण [2]महावीर्य हे [3]रामामितविक्रम । दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चार्हन्त्यव[4]सीदितुम् । वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ १० ॥

श्रीशुक उवाच

वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः । निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥

[5]तथा मीलिताक्षेपु भगवानग्निमुल्बणम् । पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत ॥ १२ ॥

---

१. गोपाः-च. पु. टी. । २. महावीर ; महावीर्य-बीर. विज. । ३. रामामोघ-विज. । ४. अवसादितुम्-वीर. । ५. तथेति-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—महावीर्य ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण !, अमितविक्रम हे राम ? दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नान् त्रातुम् अर्हथः ॥९॥ हे कृष्ण ! नूनम् वयम् त्वन्नाथाः च हे सर्वधर्मज्ञ ! वयम् त्वद्बान्धवाः त्वत् परायणाः अवसीदितुम् हि न अर्हन्ति ॥ १०॥ बन्धूनाम् कृपणम् वचः निशम्य भगवान् हरिः मा भैष्ट, लोचनानि निमीलयत इति अभाषत ॥११॥ तथा निमीलिताक्षेषु योगाधीशः भगवान् मुखेन उल्बणम् अग्निम् पीत्वा तान् कृच्छ्रात् व्यमोचयत् ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कृच्छ्राद्गह्वरप्रवेशक्षुत्तृट्छ्रमादिजनितात् ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

संभ्रमे वीप्सा कृष्णकृष्णेति ॥ ९ ॥ नूनम् इदानीम् । अवसीदितुम् क्लेशमाप्तुम् । शरणागतरक्षणे महान्धर्मो भवतीति संबुद्ध्यभिप्रायः ॥ १० ॥ कृपणम् दीनम् । निमोल्यतेति तेषामग्निपानदर्शनानौचित्यम् । ततः स्थानात्तेषामतिश्रांतानामलक्षितमेव शीतलसच्छायभांडीरतरुतलप्रापणौचित्यं च परामृश्येति भावः । नन्वहो कौतुकिन् लोचनमीलिने कथमग्निपरिहारस्तत्राह-मा भैष्टेति । अतोऽन्यथा न त्राणहेतुरस्तीति भावः ॥ ११ ॥ भो वयस्याः वह्निविषाद्युपशमकं मणिमंत्रौषधादिकमयं कृष्णो बहु जानातीति तच्च विविक्तं विना न सिध्येदतोत्र जनसंघट्टे नेत्रनिमीलनमेव विविक्तमित्यभिप्रेत्यैवायं ब्रूते तद्वयं दूरतरं स्वनेत्रे मील्याम इत्युक्त्वा ते न्यमील्यन्नित्याह-तथेति । भगवान्महदैश्वर्ययुतः । तीव्रमपि तं पीत्वेति तत्पिपासाया जातायास्तदिच्छाप्रातिकूल्यमाचरितुमसमर्थोऽग्निर्भयात्परमशीतलसुगंधमधुररसपानकीभूय । तदीयकरतले सद्य एव गंडूषमात्रो बभूव । तदैव योगाधीशो मुखेन पीत्वेत्यनेन तदीया योगमाया शक्तिरेव प्रकटीभूय तदप्येतत्स्मरतामनुरागार्द्रचित्तभक्तानां दुःसहदुःखप्रदमित्युक्त्वा तत्करतलादाच्छिद्य सैव मुखेन पपाविति लभ्यते । योगो योगमाया तस्या अधीशत्वात्तस्मिन्नेव तत्पानोपचारोऽभूदिति भावः । तान् गोगोपान् । यद्वा-मुखेनोपायेन पीत्वा । क उपायस्तत्राह-योगाधीश इति । योगैश्वर्यशक्तिरेवेति भावः । "मुखं प्रसरणे वक्रे प्रारंभयोपाययोरपि" इति मेदिनी । कृच्छ्रात् गह्वरप्रवेशतृट्श्रमादिजनितादिति । योगाधीश इति । योगिनां परक्लेशशमने सामर्थ्यमस्ति, किमुत योगाधीशस्येति तात्पर्यम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

महत् वीर्यं प्रभावो यस्येति "अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः" इति दृष्टरीत्या कृष्णं प्रतिसम्बोधनम् अमोघविक्रमेति श्रीबलदेवं प्रति महादैत्यस्य मुष्टिनैकेनैव वधात् अमितेति पाठोऽपि तथाभिप्रायत् एवं त्राणसामर्थ्यमुक्तं प्रपन्नान् शरणागतानिति महाभयस्वभावेन ॥ ९ ॥ एवं तत्कालौचित्यात् प्रथमं द्वावेव प्रार्थ्य स्नेहविशेषेण प्रभावविशेषानुभवेन च श्रीकृष्णमेव विज्ञापयन्ति—नूनमिति निश्चये त्वद्बान्धवास्त्वत्सम्बन्धमात्रवन्तोऽपि चकारोऽप्यर्थे अवसादितुं अवसमन्तात्सादो येषां तेऽवसादाः तद्वदाचरन्तीति क्विप् ततस्तुमुन् दुःखितजनवदाचरितुमपि नार्हन्ति कुतस्तु दावाग्निदाहमित्यर्थः । हि विशेषे वयं तु त्वन्नाथाः त्वदेकाश्रया इत्यर्थः । हि पादपूरणे हेतौ विशेषेऽप्यवधारणे इति विश्वः किञ्च, त्वमेव परमयनमाश्रयो येषां ते त्वदेकनिष्ठा इत्यर्थः । अतस्त्वत्पादाब्जं त्यक्तुं न शक्नुम इति भावः । दावाग्निभयेन गोभिः सममेवात्र वयमागताः आसां जीवनमेव चास्माकं जीवनमित्येव न स्वरक्षार्थं प्रार्थयामह इति स्वानुभवेन स्वयं नो जानासि ततो यथायथं विधास्यसीत्यभिप्रेत्याह—सर्वधर्मज्ञेति । हे स्वस्य चास्माकं च धर्माभिज्ञ इत्यर्थः ॥ १० ॥ स्वभावत एव हरिः सर्वदुःखहर्त्ता तत्र च भगवान् भक्तवात्सल्यादिनिजविशेषगुणप्रकटनपरः तत्रापि बन्धूनां "यन्मित्रं परमानन्दम्" इति न्यायेनात्मैकमित्राणां कृपणं कातर्ययुक्तं वचः लोचनानि निमीलयतेति क्रीडाकौतुकस्वभावेन, वस्तुतस्त्वयं भावः एते मदेकस्नेहाक्रान्तचित्ताः निजक्षेमानपेक्षयापि मत्क्षेममेव निजजीवनतोऽप्यपेक्षन्ते अतो ममाग्निपानं निरीक्ष्य मदनिष्टशङ्कया सहसा दावाग्निमप्येतं किल प्रविशेयुः अतोऽमुमेषामलक्षितमेव पास्यामीति किञ्चालक्षितं क्रीडार्थं भाण्डीरं तान् शीघ्रं नेतुं तथोक्तम् ननु, अहो परमकौतुकिन् ! लोचननिमीलनेन कथमग्निपरिहारः तत्राह-माभैष्ट रक्षितास्मीति भावः ॥११॥ तथा एवमस्त्वित्यर्थः इति एतदुक्त्वेत्यर्थः । ननु, तादृशाग्निः श्रीमुखेनाहो बत कथं पीतः ? तत्राह-योगाधीशः दुर्वितर्क्यैश्वर्यविशेषैकस्वामी तच्छक्त्यापानकगण्डूषतामिव गतमिति भावः । विशेषेणामोचयत् भाण्डीरप्रापणात् मुखेन पानाभिप्रायः प्रागेवोद्दिष्टः ॥ १२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

महद्वीर्यं प्रभावो यस्येति श्रीकृष्णं प्रति सम्बोधनम्, तादृशचातुर्य्या अग्रजहस्तेन साक्षात्प्रलम्बघातनात् । अमोघविक्रमेति श्रीबलदेवं प्रति च महादैत्यस्य मुष्टिनैकेनैव वधात्, अमितेति पाठेऽपि स एवार्थः । एवं त्राणसामर्थ्यमुक्तम् । प्रपन्नाम् शरणागतामिति महाभयस्वभावेन विनयभरेण वा ॥ ९ ॥ एवं सख्यस्वभावेन तत्कालौचित्याद्भयव्याकुलत्वाद्वा प्रथमं द्वावेव प्रार्थ्य

स्नेहविशेषेण प्रभावविशेषानुभवेन च श्रीकृष्णमेव विज्ञापयति—नूनमिति वितर्के निश्चये वा, त्वमेव बान्धवो येषां तव बान्धवा वा, चकार एवार्थे, नैव, यद्वा, अप्यर्थे, अवसादितुं अवसत्तुं किञ्चिद्दुःखं प्राप्तुमपि नार्हन्ति, कुतस्तु दावाग्निदाहमित्यर्थः। अतो वयमेतद्दुःखं नैवार्हाम इति भावः। तद्बान्धवत्वमेव साधयन्ति—वयमिति, हि यस्मात्, त्वदीयाः त्वया स्वीकृता इत्यर्थः। पाठान्तरे त्वमेव नाथ सर्वापत्सु रक्षको येषां ते; किञ्च त्वमेव परमयनमाश्रयो येषां त्वदेकनिष्ठा इत्यर्थः। हे सर्वधर्मज्ञेति आर्त्तत्राणस्यावश्यकता त्वयैव ज्ञायत इति भावः। यद्वा, त्वर्थे हि शब्दः, पूर्वतो विशेषाय यथाकथञ्चित् त्वत्सम्बन्धमात्रवन्तोऽपि अवसादितुं नार्हन्ति, वयन्तु त्वदीया इत्यादि। अन्यत् समानम्। अतस्त्वत्पदाब्जं त्यक्तुं न शक्नुम इति भावः। तच्च त्वया ज्ञायत एवेत्याहुः—सर्वेषां धर्म्मं स्वभावं जानासीति ॥ १० ॥ स्वभावत एव हरिः सर्वदुःखहर्त्ता, तत्र च भगवान् भक्तवात्सल्यादि-निजाशेषगुणप्रकटनपरः, तत्रापि बन्धूनां कृपणं कातर्य्ययुक्तं वचः, लोचनानि निमीलयतेति क्रीडाकौतुकस्वभावेन। वस्तुतस्त्वयं भावः—एते मदेकस्नेहाक्रान्तचित्ता निजक्षेमानपेक्षयापि मत्क्षेममेव निजजीवनतोऽप्यपेक्षन्ते, अतो ममाग्निपानं निरीक्ष्य मदनिष्टशंकया सहसा दावाग्निमप्येतं किल प्रविशेयुः, अतोऽमुमेषामलक्षितमेव पश्यामीति। पूर्वं च श्रीनन्दादीन् प्रति गौरवेण नैवमुक्तम्, एते तु सखायः, एतैः सहेदृशी क्रीडा युक्तैवेति दिक्। किंवा, आलक्षितं क्रीडार्थं भाण्डीरं तान् शीघ्रं नेतुं तथोक्तम्। ननु अहो परमकौतुकिन्! लोचननिमीलनेन कथमग्निपरिहारः? तत्राह—मा भैष्ट रक्षितास्मीति भावः ॥ ११ ॥ तथा एवमस्त्वित्यर्थः। इति एवमुक्तमित्यर्थः। ननु तादृशाग्निः श्रीमुखेनाहो बत कथं पीतम्? तत्राह- योगाधीशो दुर्वितर्क्यैश्वर्य्यविशेषैकस्वामी, तच्छक्त्या पानकगण्डूषतामिव गतमिति भावः, विशेषेणामोचयत् भाण्डीरप्रापणात् मुखेन पानाभिप्रायः प्रागेवोद्दिष्टः, यद्वा, एषां स्नेहेन मम किमप्यकर्त्तव्यं नास्तीति सखिषु स्नेहं ब्रह्मादीन् प्रति दर्शयितुं पानानुकरणं कृतमिति ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

पीत्वेति उत्पत्तिस्थाने लीनं कृत्वेत्यर्थः। "मुखादग्निश्चेन्द्रश्च" इति हि श्रुतिः ॥ १२–१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

उक्तिमेवाह—कृष्णेति द्वाभ्याम् ॥ ९ ॥ त्वमेव बान्धवो येषां ते अवसादितुं दुःखितुं नार्हन्त्येव नूनं ध्रुवं हे धर्मज्ञ प्रपन्नपरिपालनात्मकधर्मज्ञ! वयं त्वमेव नाथो रक्षको येषां त्वमेव परमयनं रक्षणोपायो येषां तथाभूताश्च ॥ १० ॥ हरिराश्रितार्त्तिहरः भगवान् कृपणं बन्धूनां वचो निशम्य आकर्ण्य मा भैष्ट भयं मा कुरुत लोचनानि निमीलयत पिहितानि कुरुतेत्युवाच ॥ ११ ॥ तथेत्यङ्गीकृत्य सर्वेषु गोपेषु मीलितान्यक्षीणि यस्तथाभूतेषु सत्सु भगवानुल्बणमुत्कटमग्निं मुखेन पीत्वा तत्र हेतुर्योगाधीशः आश्चर्यशक्त्यात्मकयोगवतामधीशः मुखेन पीत्वेत्यस्य उत्पत्तिस्थाने लीनं कृत्वेत्यर्थः। "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च" इति श्रुतिः। कृच्छ्राद्वाग्निजात् दुःखात् सगोधनान् गोपान् अमोचयत् ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नूनमिदानीम् ॥ १०–१३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

त्वद्बान्धवाः त्वत्सम्बन्धमात्रवन्तोऽपि चकारोऽप्यर्थे अवसादितुम् अव समन्तात् सादो येषां तद्वदाचरितुमपि ततश्चेति विशेषेण निशाम्य निशम्य योगस्य दुर्घटनाया वीर्यंमाहात्म्यं दावाग्नेः सकाशादात्मनः क्षेमं रक्षाहेतुं वीक्ष्य तद्वीर्यस्यागन्तुकत्वं निरस्यति योगमायया स्वाभाविक्या चिच्छक्त्याऽनुभावितम् ॥ १०–१६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अवसादितुम् अव समन्तात् सादो येषां तेऽवसादास्तद्वदाचरितुमपि नार्हन्तीत्याचारक्विबन्तात्तुमुन् ॥ १० ॥ निमीलयतेति तेषामग्निपानदर्शनानौचित्यं तथैवालक्षितं ततः स्थानात्तेषामतिश्रान्तानामतिसन्तप्तानामलक्षितमेवातिसुशीतलसुच्छायभाण्डीरतरुतलप्रापणौचित्यं च परामृश्येति भावः। नन्वहो कौतुकिन् लोचननिमीलने कथमग्निपरिहारस्तत्राह—मा भैष्टेति। ततोऽन्यथाऽद्य न त्राणहेतुरस्तीति भावः ॥ ११ ॥ भो वयस्या वह्निविषादीनामुपशमकं मणिमन्त्रमहौषधादिकमयं कृष्णो बहुतरं जानातीति तच्च विविक्तं विना न सिद्ध्येदतोऽत्र जनसङ्घट्टे अस्माकं लोचननिमीलनमेव विविक्तमित्यभिप्रेत्यैवं ब्रूते तद्वयं दृढतरमेव स्वस्वनेत्रे निमीलयाम इत्युक्त्वा ते निमीलयन्नित्याह—तथेति। भगवान् महैश्वर्य्यशक्तियुक्तः तीव्रमपि तं पीत्वेति तत्र पिपासायां जातायां तदिच्छाप्रतिकूलमाचरितुमसमर्थः सोऽग्निरेव महाबिभ्यत् सद्य एव परमसुशीतलसुगन्धमधुररसपानकीभूय तदीयकरकमलतले

यदैव गण्डूषमात्रो बभूव तदैव योगाधीशो मुखेन पीत्वेत्यनेन तदीया योगमायैव शक्तिः प्रकटीभूय तदप्ये तत् स्मरतामनुरागार्द्र-चित्तभक्तानां दुःसहदुःखप्रदमित्युक्त्वा तत्करतलादाच्छिद्य सैव मुखेन पपाविति लभ्यते योगा योगमाया तस्या अधीशत्वात् तस्मिन्नेव तत्पानोपचारो ऽभूदिति भावः यद्वा, मुखेन उपायेन पीत्वा कः स उपायस्तत्राह योगाधीश इति योगैश्वर्यशक्तिरेवेति भावः। "मुखं प्रसरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि" इति मेदिनी कृच्छ्रात् गह्वरप्रवेशतृट्श्रमादिजनिता तत्क्षणमेव भाण्डीरं नीत्वा तानमोचयदित्यर्थः। ततश्च भोः सखायो महाग्नेः प्रतीकारो मया कृतः साम्प्रतमक्षीण्युन्मीलयतेति कृष्णेनोक्तास्ते पुनरक्षीण्युन्मील्य आत्मानं मोचितं गाश्च मोचिता निशम्य ज्ञात्वा विस्मिता आसनित्यन्वयः। कीदृशाः भाण्डीरमापिताः तेनैवेति सर्वत्र योज्यम्। १२-१३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नूनं निश्चये हे कृष्ण! त्वद्बान्धवा अवसादितुं दुःखितजनवदाचरितुमपि नार्हन्ति कुतो दावाग्निदाहमनुभवेयुरित्यर्थः। अव समन्तात् सादो येषां तेऽवसादाः। तद्वदाचारन्तीति क्विप् ततस्तुमुद् गाश्च पाहीत्याहुः सर्वधर्मज्ञेति॥ १०॥ नीमिलयतेति भक्तहितार्थिना मया वह्निरपि निपेयः किन्तु तन्निपानमेषामसह्यत्वादलक्ष्यमेव विधेयं परिश्रान्तानां परितप्तानां चातिशीतलभाण्डीर-पिण्डिकायां प्रापणञ्च तथैव कुरुतेत्यवदत् ननु विनोदीचूडामने लोचनमुदनेनैव कथं वह्निविनाशस्तत्राह मा भैष्टेति नेतोन्यस्त्विना-शोपायोऽस्तीति भावः॥ ११॥ भोः सखायः! महापुरुषोऽयं हविर्वह्निविषादेरुपशामकमुपायं वेत्ति स च विजनेन विना न भवे-दतोत्रजनतायां लोचननिमीलनमेव विजनमिति तेषु दृढतरं निमीलिताक्षेषु सत्सु योगाधीशो भगवांस्तमुल्वणमप्यग्निं मुखेन योगमायांशेन उपायेन पीत्वा तान् सखीन् कृच्छ्राद्व्यमोचयत् "मुखं प्रसारणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपी"ति मेदीनि तस्मिंस्तं पातुमिच्छति योगमायया प्रवर्तिता दुष्टसंहारिणी तच्छक्तिरेव तमविवदित्यर्थः॥ १२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

प्रपन्नान् शरणागतान्॥ ९॥ समान्याग्रज इति सह कृष्णो न वलमिदं दवकवलनमेकसाध्यमिति कृष्णमेकं प्रति वदन्ति॥ नूनमिति। त्वं बान्धवो येषां ते तथा त्वन्नाथास्त्वद्वाचकास्त्वत्परायणास्त्वद्रूपमुख्यगतिकाः॥ १०॥ कृपणं दीनं वचनं निशम्य लोचनानि निमीलयत मा भीष्ट चेत्यभाषत॥ ११॥ तथेत्युक्त्वा मीलिताक्षेषु सत्सु गोपेषु भगवानुल्वणमग्निं मुखेन पीत्वा तान्कृ-च्छ्राद्व्यमोचयत्। मुखे पीत्वा नतान्व्यमोचयदिति वा। करादिना शमनं मनसोऽविधाय मुखपानं कुर्वञ्जनकजन्ययोर्मेलनेन स्वस्यैव तयोरपि तोपविशेषं ध्वनयामासेति ज्ञेयम्। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च। स्तुवन्तु सर्वे वनवह्निपानकृतानुभावं न वयं मुरारेः। स्वजन्मभूमि शिखिनि प्रविष्टे क ईशितुस्तेन कृतोऽनुभाव इत्यादेः। एतत्सम्भावकमाह॥ योगधीश इति॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

तेषां विज्ञापनामाह कृष्णकृष्णेति द्वाभ्याम्।

प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतौ॥ १/२॥

कृष्णकृष्णेतिसम्बोधनमादरेण वैकल्याच, महावीर्येति प्रकृतोपयोगिसामर्थ्यं, द्विविधा हि त इति राममप्याहुः परं न द्विरुक्तिः, प्रलम्बादिवधात् प्रकृतोपयोगि सामर्थ्यममितविक्रमेतिसम्बोधनेनोक्तं, विज्ञापनामाहुर्दावाग्निनादह्यमानानिति, रक्षायां हेतुः प्रपन्नानिति, समर्थ एव प्रपन्नरक्षायामधिकारी, अतस्त्रातुमर्हथः॥ ९॥ एवं मर्यादाविचारेणापि स्वरक्षाया आवश्यकत्वं निरूप्य पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षायास्तथात्वमाहुर्नूनमिति, भगवद्विचारेणोक्त्वा स्वविचारेणाहुर्वा कृष्णेति, सदानन्दसम्बोधनं सेवकानां दुःखित्वानौचित्याय, त्वद्बान्धवास्त्वमेव बन्धुर्येषां बन्धुत्वसम्बन्धज्ञानवन्तस्त्वेवसीदितुमवसादं प्राप्तुं नार्हन्ति, चकारादल्पमपि खेदं प्राप्तुं नार्हन्त्येव, अवसादितुमिति वा पाठः, एवकारेण कादाचित्कोप्यवसादो निषिद्धः, भगवद्बान्धवत्वं समर्थयन्ति वयं हीति, धर्मा अनेकविधा लौकिकवैदिकानन्तप्रकारभिन्नाः सर्वे त्वयैव ज्ञायन्ते तेषां बाध्यबाधकता च, अतो येनकेनापि प्रकारेणास्मत्प्रपत्तिः क्वचिद्धर्मे प्रवेशमर्हति, अन्यथा वयं कथं त्वन्नाथस्त्वमेव नाथो येषां तादृशा भवेम? न हि धर्मव्यतिरेकेण विशेषाकारेण त्वं नाथो भवसि, किञ्च वयं त्वत्परायणास्त्वमेव परमयनं स्थानं येषां, नाथत्वेपि तदेक-निष्ठतातिदुर्लभा यथा गावस्त्वन्नाथास्त्वन्निष्ठाः, वयं तूभयविधाः, गवां वा वचनमाद्यं गोपानामग्रिमम्॥ १०॥ भगवांस्तु तेषां प्रार्थितं कृतवानित्याह वचो निशम्येति, कृपणं दीनतरं बन्धूनामुभयविधानां भगवानुपायाभिज्ञः समर्थश्च हरिः सर्वदुःखहर्ता स्वाभाविकोयं धर्मो देवगुह्यं भगवत्कर्माज्ञानां भयजनकं च, रात्रौ तु सम्यग्दर्शनाभावात्र चक्षुर्निमीलनोपदेशो ज्ञानशक्ति-प्राकट्यादेवैतज् जातं, अज्ञाने तु हितमेवैतद् भवेद् यथाग्नौ पतङ्गाः पतन्ति, अन्यत्र वैते नेयाः, तथाप्येतेषां भयं स्यात्, अत सर्व-प्रकारेण भयाभावायाह निमीलयतेति चक्षुर्निमीलनं कुरुत, न च शङ्कनीयमग्निर्धक्ष्यतीत्यत आह मा भैष्टेति, अग्निमयं न कर्तव्यम्॥ ११॥ ईश्वरवाक्यादुपायत्वेनाज्ञातमपि कृतवन्त इत्याह तथेति, निमीलिताक्षेषु सत्सूल्बणमप्यग्निं भगवान् मुखेनैव

पीत्वा पूर्ववत् तान् व्यमोचयत्, उल्बणत्वं दुष्टावेशात्, सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थं पानं तेषामग्निरूपदोषाणां दाहार्थं वा ते ह्याधिदैविका एव दग्धा भवन्तीति, ननु कथं स्वान्तर्गतानामग्निगतानां वा धर्माणां प्रकटीकरणं ? तदाह योगाधीश इति, योगानामधीशः स्वामी, अतो विशेषेणामोचयद् यथा तत्संस्कारोपि न तिष्ठतीति ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

कृष्ण कृष्णेत्यत्र निराकृताविति निमित्तसप्तमी, द्विविधा इत्युभयपक्षपातिनः साधारणा असाधारणा इति वा ॥ ९ ॥ वचो निशम्येत्यत्र ननु समर्थेन भगवता नेत्रनिमीलनोपदेशः कुतः कृत इत्यत आहुर्देवगुह्यमित्यादि तत् करिष्यमाणं कर्म, द्वितीयस्कन्धे "तत् कर्म दिव्य"मिवेति ब्रह्मवाक्याद् देवगुह्यमज्ञानां भयजनकं च सम्यग् ज्ञानाभावाद् भयं स्यादिति तथेत्यर्थः, तर्हि पूर्वदावाग्निपानस्यापि तथात्वात् तत्र तत् कुतो नोक्तमित्यत आहू रात्रावित्यादि, इह तु ज्ञानेन लीला ज्ञानाध्यायत्वादत्रोक्तज्ञानशक्तिर्भगवता प्रकटिता, यदा भयजनकोज्ञानज्वरस्तेभ्यो वहिर्निगतस्तदैव चैतेषां 'वयं च सर्वधर्मज्ञ' 'त्वन्नाथास्त्वत्परायणा' एतद्व्याख्यानाकारकं ज्ञानं जातं, यद्येषामज्ञानमात्रं तिष्ठेत् तदा दोषान्तराणां निवृत्तत्वाद् दावाग्निपतनं हितमेव भवेद् विदेहकैवल्यजनकत्वात् पतङ्गवत्, अतस्तत् तु नाभिप्रेतमेतैः सह लीलायाः करिष्यमाणत्वात्, यदि च दृश्यमानेपि दावाग्नावेतेन्यत्र नेयास्तथापि दवाग्निदर्शनजं भयं स्यादेव संस्कारस्यानिवर्तितत्वादत एतत् सर्वं विचार्य सर्वथा भयाभावाय तथाहेत्यर्थः ॥ ११ ॥ तथेत्यत्र ननु महावृष्टिप्राकट्यकरणेनाप्यग्निनाशसम्भवे किमिति पानमित्यत आहुः सख्येत्यादि, सख्यदशायां प्राप्तो योवज्ञादिरूपो दोषस्तद्दाहार्थं तेषां जलनाश्यत्वासम्भवात् पानमित्यर्थः, नाप्ययं वह्निर्जलेन नश्यत्याध्यात्मिकदोषरूपत्वादतोपि तथेत्यभिप्राहेणाहुस्तेषामित्यादि, दाहार्थमिति निःशेषनाशार्थं वाशब्दः समुच्चये, पानव्यतिरेकेण तेषां दाहाभावे हेतुमाहुस्ते हीत्यादि, नन्वित्यादि ननु कथं केन प्रकारेण स्वान्तर्गतानां स्वे स्वकीयास्तदन्तर्गता ये धर्मा दोषरूपा अग्निगता ये आसुरत्वादयस्तेषां धर्माणां कथं प्रकटीकरणं भिन्नतया स्थापनमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वचो निशम्येत्यस्याभासे भगवांस्त्विति, उभौ प्रार्थितौ तत्र रामस्तूष्णीमास भगवांस्तु कृतवानिति रामव्यावृत्त्यर्थं तु शब्दः, श्लोकद्वयस्य वाक्यार्थोयं, व्याख्याने, उभयविधानामिति रामसङ्घट्टिनां स्वसङ्घट्टिनां चेति प्रथमपक्षे, स्वनाथानां गवां स्वपरायणानां गोपानामिति द्वितीयपक्षेर्थः, एतज्जातमिति स्वदोषरूपदावाग्निदर्शनजभयमित्यर्थः, ज्ञानस्य पूर्वावस्था यत् स्वदोषस्फुरणमतो ज्ञानजनकशक्तिप्राकट्यादेवं जातमित्यर्थः, अज्ञाने त्विति तस्मिन् स्थापनीये तु दावाग्निप्रकटनं हितमेव मानयेयुस्तत्र दृष्टान्तः यथेति, अग्निं हितं मत्वा ते तत्र पतन्ति तथैतेपि पतेयुरेव न तु त्राणं प्रार्थयेयुरित्यर्थः, तथा च ज्ञानपूर्वावस्थासूचनाय दर्शयित्वा चक्षुर्निमीलनं कारितवानन्यथा पूर्वमेव दर्शनं न सम्पादयेदिति भावः, ईश्वरवाक्यत्वादिति आद्यचरणस्यार्थोयं, विशिष्टवाक्यार्थस्तु पूर्वश्लोकाभास एवोक्तः सख्यसम्बन्धेनेति सख्याधिकरणयोः समानशीलत्वनियमात् स दोषो भगवत्यपि प्राप्तस्तस्यापहतपाप्मत्वात् तत्रासम्बद्धस्तदन्तः स्थितजगति पर्यवस्यति तद्दाहार्थमित्यर्थः, तेषामिति लौकिकानामन्तःकरणदेवानां स्वरूपाज्ञानरूपस्य चेत्यर्थः, एते संसारतापजनकत्वाल् लौकिकाग्निरूपाः भगवन्मुखमाधिदैविकाग्निरूपं अतस्तत्र गता एते दग्धा भवन्तीत्यर्थः, संस्कारोपीति औष्ण्यमपीत्यर्थः ॥ ११ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्णेत्यस्याभासे पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षा इति पुष्टिमार्गे देहसम्बन्धस्यापि साधकत्वं "सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो" इति सप्तमस्कन्धे नारदवाक्ये वृष्णीनां देहसम्बन्धेन, भगवत्प्राप्तिकथनात्, प्रकृतेपि श्रीकृष्णस्य नन्दराजकुमारत्वाद् गोपानां देहसम्बन्धोस्तीति पुष्टिमार्गेणापीत्युक्तं सुबोधिन्यां, मूले "त्वद्बान्धवा" इत्यनेन देहसम्बन्धस्य रक्षायां हेतुत्वोक्तेः पुष्टिमार्गोक्तिरितिहार्दम् ॥१०॥ तथा निमीलिताक्षेष्वित्यत्र सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थमिति भगवता सह सख्ये साम्यस्फूर्तेर्हरिदासत्वलक्षणस्वस्वरूपविस्मरणरूपो दोषः प्राप्तस्तस्य दोषस्य दाहार्थं दावाग्निपानं दावाग्निर्हि निरोध्यभक्तानां स्वरूपविस्मरणरूपो दोषः, 'अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारण'मितिपूर्वमध्यायार्थकारिकासूक्तत्वात्, अतस्तस्य दोषस्य दाहार्थं पानं, सख्यस्य परमपुरुषार्थत्वेन लीलायां चिकीर्षितत्वाद् भगवतोभिप्रेतत्वाच्च, तस्य दोषत्वं वक्तुमयोग्यत्वादरुचिं मत्वा पक्षान्तरेण व्याचक्षते, तेषामग्निरूपदोषाणां दाहार्थं वेति दवाग्निरूपा ये दोषा आत्मविस्मरणरूपा अविद्याकार्यभूतास्तेषां दाहार्थमित्यर्थः, दावाग्निमूर्तिमानात्मदोषो ह्यज्ञानात्मा 'लोभक्रोधादयो दैत्या' इति कृष्णोपनिषद्भ्यः, "अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्नि"रितिपूर्वमुक्तत्वाच् च, अतो दोषस्याग्निरूपस्य आधिदैविकाग्निरेव नाशक इत्याधिदैविकाग्निरूपे मुखे दाहः कर्तव्य इति हेतोः पानं ते ह्याधिदैविक एवेति ते सर्वेषामात्मदोषा अग्निरूपत्वादाधिदैविकाग्नावेव दग्धा भवन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

कृष्ण कृष्णेत्यादि श्लोकद्वयवाक्यार्थावाहुः प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतावित्यर्धेन, निराकृतौ दावाग्नि-निराकरणनिमित्तमित्यर्थः ॥ ९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

रक्षायां सामर्थ्यं द्योतयन्तो रक्षां प्रार्थयन्ति—हे कृष्ण हे कृष्ण हे महावीर्य हे राम हे अमितविक्रम दावाग्निना दह्यमानान्, अत एव प्रपन्नान् भवच्छरणमागतान् अस्मान् त्रातुं रक्षितुमर्हथः ॥ ९ ॥ एवं साधारण्येन रक्षायोग्यत्वमुक्त्वा विशेषतोऽपि स्वरक्षाया आवश्यकत्वमाहुः—नूनमिति । हे कृष्ण ! नूनं निश्चितमेतत् । त्वद्बान्धवास्त्वत्सम्बन्धिनोऽप्यवसीदितुं दुःखमनुभवितुं नार्हन्ति । वयं हीति निश्चयेन, त्वन्नाथाः त्वमेव नाथो रक्षको येषां तथाभूताः । तत्र हेतुः—त्वमेव परायणमाश्रयो येषां ते, 'अतः कथमवसीदितुमर्हामि' इति शेषः । 'शरणागतरक्षायाः परमधर्मत्वं तु त्वया ज्ञायते' इति सूचयन् सम्बोधयति—सर्वधर्मज्ञ इति ॥१०॥ हरिः स्वभावतः सर्वदुःखहर्ता भगवान् सर्वथा समर्थः, कृष्णो गोपालानां कृपणं दीनतरं वचो निशम्य श्रुत्वा 'मा भैष्ट, अयमग्निर्धक्ष्यतीति भयं न कुरुत, किन्तु लोचनानि सम्मीलयत' इत्यभाषत ॥११॥ 'तथास्तु' इत्युक्त्वा तेषु मीलिताक्षेषु सत्सु भगवान् उल्बणमप्यग्निं मुखेन पीत्वा तान् भाण्डीरं नीत्वा कृच्छ्रात् अग्निभयात् व्यमोचयत् । तत्र सामर्थ्यमाह—योगः माया, तस्या अधीशः नियन्तेति ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्णेति ॥ स्पष्टम् ॥ ९ ॥ नूनमिति ॥ हे कृष्ण ! हे सर्वधर्मज्ञ ! नूनं निश्चितमेतत् त्वद्बान्धवास्त्वत्संबन्धिनोऽस्मदादयः अवसीदितुं दुःखमनुभवितुं नार्हन्ति । इट्सीदौ आर्षौ । सादितुमिति पाठे अव समन्तात्सादो येषां तेऽवसादास्तद्वदाचरितुमपि नार्हन्ति । आचारक्विबन्तात्तुमुन् । वयं हि त्वन्नाथाः त्वमेव नाथो रक्षको येषां तथाभूताः । तत्र हेतुः त्वमेव परायणमाश्रयो येषां ते अतः कथमवसीदितुमर्हाम इति ॥ १० ॥ वच इति ॥ भगवान् हरिः बन्धूनां गोपानां कृपणं दीनतरं वचो निशम्य श्रुत्वा मा भैष्ट अयमग्निर्धक्ष्यतीति भयं न कुरुत । किंतु लोचनानि संमीलयतेत्यभाषत । यद्येषां प्रत्यक्षेऽग्निं पास्यामि तर्हि एते मां बलान्निवार्याग्निमेव प्रवेक्ष्यन्तीति नेत्रनिमीलनोक्तिः ॥ ११ ॥ तथेति ॥ अयं कृष्णो मन्त्रादिना वह्निं शमयिष्यति । तत्र रहः संपादनमुचितम् । मत्वा तथास्त्वित्युक्त्वा तेषु मीलिताक्षेषु सत्सु योगस्य योगमायाया अधीशः भगवानुल्बणमप्यग्निं मुखेन पीत्वा तान् भाण्डीरं नीत्वा कृच्छ्रात् अग्निभयात् व्यमोचयत् ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अमितविक्रम हे अप्रमेय पराक्रमदावाऽग्निना वनवह्निना ॥ ९ ॥ अवसादितुं दुःखं प्राप्तुं त्वमेव नाथो येषां ते त्वन्नाथाः त्वमेव परं श्रेष्ठं अयनं प्राप्यो येषां ते ॥१०॥ मा भैष्ट यूयं लोचनानि संमीलयत इत्थमभाषत ॥ ११ ॥ कृच्छ्राद्दवाऽग्निप्राप्तमरणात् योगाधीशो योगानां यौगैश्वर्याणामधिपतिः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

उक्तिमेवाह कृष्णेति द्वाभ्याम् ॥ हे कृष्णेति ॥ हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे महावीर्य, हे अमितविक्रमापरिमितपराक्रम, हे राम, दावाग्निना दह्यमानान्, प्रपन्नान् युवयोः शरणं प्राप्तान्, अस्मान् त्रातुं रक्षितुं, अर्हथः ॥ ९ ॥ नूनमिति ॥ हे कृष्ण, हे सर्वधर्मज्ञ त्वं बान्धवो येषां ते, वयं हि वयमपि, त्वमेव नाथो येषां ते, त्वमेव परममयनं रक्षणोपायो येषां तथाभूताश्च, भवाम, अत एव, अवसीदितुं दुःखीभवितुं, न अर्हन्ति । योग्या न भवाम इत्यर्थः । नूनम् ॥ १० ॥ वच इति ॥ हरिराश्रितार्तिहरः, भगवान् कृष्णः बन्धूनां कृपणं वचः, निशम्याकर्ण्य, मा भैष्ट भयं मा कुरुत । लोचनानि, निमिलयत पिहितानि कुरुत । इति, अभाषतोवाच ॥ ११ ॥ तथेतीति ॥ तथेति अङ्गीकृत्य, सर्वेषु गोपेष्विति शेषः । मीलितान्यक्षीणि यैस्तथाभूतेषु सत्सु, योगाधीशः आश्चर्यशक्त्यात्मकयोगवतामधिपतिः, भगवान् श्रीकृष्णः, उल्बणमुत्कटं अग्निं, मुखेन पीत्वा, तान् गोपादीन्, कृच्छ्राद्दवाग्निजात् दुःखात्, व्यमोचयत् ॥१२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्ण कृष्णेति : १०.१९.९

कृष्णवर्माश्रयादस्मात् कृष्णवर्माऽयमुत्थितः । कृष्णवर्त्मानुगानस्मान् पाहि तत्कृष्णवर्मतः ॥ २२ ॥
सकृदपि तव नाम्नि श्रीधरोदीरिते सत्यनुभवति जनोऽस्मिन् सर्वतस्तापशान्तिम् ।
त्वयि सति सदयासमच्चक्षुरालीढरूपे यदि न शममुपेयादेष चित्रं किमस्मात् ॥ २३ ॥

इमा गावो वयं गोपास्त्वं गो गोपालपालकः । तत्कृतं पूर्वमस्माभिस्त्वं द्वयोस्त्राणकृद्भव ॥ २४ ॥

त्वद्बान्धवा इति : १०.१९.१०.

लौकिका अपि न सन्निधाविह स्वात्ममातृपितृबान्धवादयः । तत्त्वमेव सकलोदयोदधे सम्प्रतीत्यमनन्तभाषितैः ॥ २५ ॥

प्रवर्तते यत्र तु कर्मणीशः साक्षात्स्वशस्तिष्ठति तत्र तूष्णीम् ।
तद्धीहरोद्योगमवेक्ष्य कृष्णं तूष्णीं स्थितो राम इतीह युक्तम् ॥ २६ ॥

वचो निशम्येति : १०.१९.११

एते स्थूलदृशोऽखिला अपि गवां पालाः सभीत्यन्तरा वह्निश्चैष दुरन्तकीलकलितस्तत्त्रात्र योगं विना ।
एतच्छान्तिरसाध्वसं भृशममीषां चेत्यलं चिन्तयन् युक्तं मीलितलोचनं ह्यकथयत् सर्वान्तरात्मा प्रभुः ॥ २७ ॥

यद्गावो विषयोपभोगसतृषो मुञ्जौघकोशभ्रमं प्राप्तास्तास्वपि तेषु च स्फुटतमं वन्यानलावेष्टनम् ।
तद्योगापगतस्पृहा यदि तदा त्वानन्दिनः स्युः क्षणादेतत् व्यक्तमभूद् द्वयं तदनलात् तन्नेत्रसम्मीलनात् ॥ २८ ॥

भवाटवीयं विकटस्वरूपा तपोऽपि तस्यां विषयाग्निजातः ।
स्वदृग्गृहीतो न च वास्तवोऽस्तीत्यभूत्स्फुटं नेत्रनिमीलनोक्त्या ॥ २९ ॥

एते च त्रिदशाः सुगोपवपुषो मुख्येन्द्रियाधिष्ठितो वह्निर्यद्विहितस्तथाप्यसुमतां सन्तापदस्तेष्वयम् ।
तस्मान्मत्कृतशासनं भृशमसावर्हत्यथापि ह्रिये स्यादस्यान्यसमक्षमित्यखिलसद्व्यस्तथाऽऽज्ञप्तवान् ॥ ३० ॥

दुरत्ययभवोद्भटप्रसरकीलजालानलप्रशान्तिकृदशेषतो भवति योग एवावनौ ।
जनांस्तदनुतापितानिति तदक्षिसम्मीलनच्छलादतुलवैभवो ध्रुवमवोधयद्वा प्रभुः ॥ ३१ ॥

विधार्यैव नेत्रापिधानं हि तेषां यदैषीत्तदीयं प्रियं कर्तुमीशः ।
दुरन्तार्तिदाग्निप्रशान्त्या तदस्मात् परोक्षाप्रियत्वं स्वमाविश्चकार॥ ३२ ॥

घस्मरस्य बहुविस्मयाकुलद्रष्टृदृग्जनितभीर्यथा तथा । नान्यतः प्रभुरतोऽक्षिमीलनं वह्निभुक्तिकृदुवाच तत्क्षमम् ॥ ३३ ॥

येऽनन्यभावशरणीकृतमत्पदाब्जास्तत्तापभीत्यपहृतावहमस्म्यसुतः ।
तत्र स्वयं ध्रुवमनेत्रपिधानभाजा कारुण्यशालिमनसेदमबोधि बीजम् ॥ ३४ ॥

तथेतीति : १०.१९.१२.

निःशङ्कमग्निं विधुपादभाजः क्षुद्राश्चकोरा अपि भक्षयन्ति ।
अद्धा तु तद्वंशभवोऽस्मि तन्मे का नाम भीरित्यपिबन् मुखेन ॥ ३५ ॥

सख्युर्ममैष हि दधाति धनञ्जयस्य नामेति तद्वदयमप्यतुलप्रियो मे ।
इत्याशयात् स्वजनभक्तिवशंवदात्मा तत्प्राशनात्किमकरोत्तमिह स्वमुख्यम् ॥ ३६ ॥

स्वकारणे कार्यलयस्तु लोके प्रसिद्ध एवेत्यलमाविचारात् ।
लयं निनायेति दयाघनोऽसौ कृशोटयोर्निं वदनाम्बुजाते ॥ ३७ ॥

अग्निमुखा वै देवास्तन्नाथोऽहं तथा कथं नास्मि । इति किं तत्पानमिषादग्निमुखत्वं सविशदमेवमधात् ॥ ३८ ॥

उष्णेन याति शममुष्णमिति प्रसिद्धशास्त्रानुभूतिकुतुकी धृतचित्रकार्यः ।
प्राक्प्राशितानलभवत् तनुदाहशान्त्यै भूयोऽग्निपानमकरोत्किमु वासुदेवः ॥ ३९ ॥

यतो ह्युदयमेति यद्विलयमेति तत्रैव तच्छ्रुतीरितमिति प्रभुः परममर्थमालोचयन् ।
यतो वत दधोऽधुना भवति कानकोत्थः स्वकानने तदुचितोलयस्तदिति किं तथा सन्दधे ॥ ४० ॥

भक्तार्पितप्रेमभक्तिसुधारसभुजो विभोः । अग्निरेवाविशद वक्त्रं तद्रसास्वादलिप्सया ॥ ४१ ॥

सर्वाशितोऽप्यपार्थोऽसावनरत्वादिति प्रभुः । त्यजन् दाहभयं भूयः पपौ जलमिवानलम् ॥ ४२ ॥

सर्वाशाप्रतिरोधिवृत्ति विभयो यः कृष्णवर्त्मा वनस्थायी विष्णुपदाभिमर्शनशिखो भुङ्क्ते यदृच्छागतम् ।
नारीवज्जडसङ्गतिं विषहते नित्यं शुचिः पावको लोकाधीश्वरसम्मुखस्थितिरलं युक्तैव तस्यान्वहम् ॥ ४३ ॥

य आश्रयाशः खलु मां प्रसर्पति महातपश्रीर्मरुदुज्ज्वलस्थितिः ।
तमाश्रितं मुख्यतया करोम्यहमिति प्रभुर्वाञ्छितदस्तथाऽदधे ॥ ४४ ॥

विषग्निरेको वनवह्निरन्यो दावाग्निरेषोऽपि शमं प्रणीतः ।
इति त्रिवह्निप्रशमात्त्रितापहृतावसुप्तोऽस्मि सतामबोधि ॥ ४५ ॥

यदा यदा तापजनिः सतां स्यात्तदैव तच्छान्तिमहं करिष्ये।
न तत्र नक्तंदिनभेदवार्तेत्यबोधि कर्त्रोभयतोऽग्निपानम् ॥ ४६ ॥
त्वां पश्यतां प्रखरतापद-दावपानं तेषामकारि भवता यदपश्यतां च।
तेन त्वया सदयबोधितमात्मभक्तिभाजां परोक्षमपरोक्षमहं हितार्थी ॥ ४७ ॥
त्वत्पादप्रवणैस्त्वदेकशरणैर्गोपैस्त्वदाज्ञानुगैर्यत्स्वाक्षीणि निमील्य चाशु पुनरप्युन्मील्य संवीक्षिते।
नैव प्रागवलोकितो हुतवहो नार्तिस्तदीयाङ्कॆऽप्येयं चित्रचरित्रतोऽध्वनि ददो नैषां निमेषश्रमम्॥ ४८ ॥
वृत्त्या कयाऽप्यजनि साधुसमागमश्चेत् सद्यस्तनोति विषयानलतापशान्तिम्।
गोगोपसङ्गतिजुषः पशुपशिवृक्षाः सौख्यं महद्धुतवहापगमादवापुः ॥ ४९ ॥
सतां यत्नः स्वार्थोऽप्युपकृतिकृदन्यत्र भवति परार्थश्चेद्वाच्यं किमु स हि तथेति स्फुटमिदम्।
भृशं गोपैः स्वार्थार्थितमनलतापोपशमनं तदत्यन्तं सौख्यप्रदमभवदारण्यजनुषाम् ॥ ५० ॥

कृष्णप्रिया

हे महावीर श्रीकृष्ण ! प्यारे श्रीकृष्ण ! परम बलशाली बलराम हम तुम्हारे शरणागत हैं, देखो इस समय हम दावानल से जलना ही चाहते हैं, तुम दोनो हमें इससे बचाओ ॥ ९ ॥ श्रीकृष्ण, जिनके तुम्हीं भाई वन्धु और सब कुछ हो उन्हें तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब धर्मों के ज्ञाता श्यामसुन्दर, तुम्ही हमारे एकमात्र रक्षक एवं स्वामी हो हमे केवल तुम्हारा ही भरोसा है ॥ १० ॥ श्री शुकदेवजी कहते हैं—अपने सखा ग्वालबालों के ये दीनता से भरे वचन सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा 'डरो मत' तुम अपनी आखें वन्द करलो ॥ ११ ॥ भगवान की आज्ञा सुनकर उन ग्वालबालों ने कहा बहुत अच्छा और अपनी आखें मूँद लीं, तब योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने उस भयङ्कर आग को अपने मुँह से पी लिया, और इस प्रकार उन्हें उस घोर सङ्कट से छुड़ा दिया ॥ १२ ॥

ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः[1]। [2]निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥ १३ ॥
कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम्[3]। दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य तं [4]मेनिरेऽमरम् ॥ १४ ॥
गाः [5]सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः। वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः ॥ १५ ॥
गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने। क्षणं [6]युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे[7] दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ततः ते नेत्राणि उन्मील्य पुनः भाण्डीरम् आपिताः च आत्मानं च गाः मोचिताः निशम्य विस्मिताः आसन् ॥ १३ ॥ योगमायानुभावितम् आत्मनः दावाग्नेः क्षेमम् कृष्णस्य तत् योगवीर्यम् वीक्ष्य तम् अमरम् मेनिरे ॥ १४ ॥ सहरामः जनार्दनः गोपैः अभिष्टुतः सायाह्ने गाः सन्निवर्त्य वेणुम् विरणयन् गोष्ठम् अगात् ॥ १५ ॥ गोविन्ददर्शने गोपीनाम् परमानन्दः आसीत् यासाम् येन विना क्षणम् युगशतम् इव आसीत् ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १९ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

क्षणेनैव भांडीरं प्रापिताः ततोऽक्षीण्युन्मील्य विस्मिताः ॥ १३-१८ ॥
श्रीदामादिस्वगोपानां स्वांगमारुह्य हृष्यताम्। स्वैश्वर्यमाविरकरोद्वनवह्निनिपानतः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां दावाग्निपानं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः भांडीरागमनानंतरम्। ते गोपाः। भो वयस्याः महाग्नेः प्रतीकारो मया कृतः सांप्रतमक्षीण्युन्मीलयतेति कृष्णेनोक्तास्ते पुनरक्षीण्युन्मील्यात्मानं मोचितं गाश्च मोचिता निशम्य ज्ञात्वा विस्मिता आसन्नित्यन्वयः। किंभूताः—भांडीरमापिताः प्रापिताः

१. मागताः—वीर. ; माश्रिता—विज. । २. निशाम्य—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ३. भाविता—वीर. । ४. ते मेनिरे ; तं मेनिरे ; तं मेनिरे—वीर. । ५. संनिपत्य—वीर. । ६. युगशतानीव—वीर. ; यथा युगशतं—विज. । ७. बालक्रीडायां दावानलविमोक्षणमेको—अन्यत्र अयं पाठो दृश्यते ; पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे—गो. प्रे. मूलम्।

तेनैवेति सर्वत्र योज्यम् । तत्र श्रीयमुनादक्षिणकूले श्रीवृंदावनमध्ये । स्यारो इति प्रसिद्धशिवालयग्रामतो वायव्यदिशि भांडीर इति यः प्रसिद्धोऽस्माभिर्दृष्टचरो यदंशो यत्संबंधेनाद्यापि तन्नाम्ना ख्यातस्तत्प्रदेशो यमुनाघट्टश्च विस्पष्टः स एव भांडीरनामेति ॥ १३ ॥ योगमायानुभावितं स्वसामर्थ्यंकृतम् । तत् दावाग्न्याक्रांतमुंजारण्यतो भांडीरागमनरूपं तत्पानरूपं च । योगवीर्यमपूर्वसामर्थ्यम् 'योगोऽपूर्वार्थसंगत्ती' इति मेदिनी । तम् श्रीकृष्णम् । अमरम् जरामरणहीनं परमेशम् ॥ १४ ॥ सायाह्ने सन्ध्याकाले ॥ १५ ॥ यासाम् गोपीनाम् । येन कृष्णेन ॥ १६ ॥ तयोः रामकृष्णयोः । तत् श्लोके वक्ष्यमाणम् ॥ १७ ॥ तत् प्रलंबवधादि (१८) वयं कृष्णांगमारूढा इत्येव हृष्यताम् । स्वैश्वर्यम् निजवैभवम् (१) ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततः पानानन्तरं च नूनं श्रीभगवदुक्त्यैवाक्षीण्युन्मील्यात्मानं मोचितं गाश्च मोचिता निशम्य निशाम्य दृष्ट्वा विस्मिता आसन् न केवलं मोचिताः पुनर्भाण्डीरमागिताश्च निशाम्येत्येव पाठः क्वचित् मोचिता इत्यर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामेनोभयोरन्वयः। तत्र श्रीयमुनादक्षिणकूले श्रीवृन्दावनमध्ये स्यारो इति प्रसिद्धशिवालयग्रामतो वायव्यदिशि भाण्डीर इति यः प्रसिद्धोऽस्माभिर्दृष्टचरो यदंशो यत्सम्बन्धेनाद्यापि तन्नाम्ना ख्यातस्तत्प्रदेशो यमुनाघट्टश्च विस्पष्टः स एव भाण्डीरवटो ज्ञेयः तद्दक्षिणतः क्रोशपञ्चकं यावन्मुञ्जाटवी च तन्निकटत अग्निवारेति प्रसिद्धग्रामान्ते ग्राह्या तथा मध्ये चास्य महाशाखो न्यग्रोध इत्यादिना श्रीहरिवंशे वृन्दावन एव भाण्डीरस्य वर्णनं भविष्योत्तरे च मल्लद्वादशीप्रसङ्गे भाण्डीरे यो मल्लरूपी श्रीकृष्णो निरूपितस्तस्य तत्रैव महामल्ल इति प्रसिद्धः अतो वासुदेवेति प्रसिद्धा तद्देवता च सैव ज्ञेया एवमेव "वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम्" इत्युक्तं श्रीवृन्दावनत आरब्धायाः क्रीडायाः अविच्छेदे सङ्गच्छेत अनन्तगवादीनामुत्तारणादिना तदसिद्धेः एवं किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभवने भाण्डीरभूमीरुहि इत्यादिप्राचीनवैष्णवकवीनामपि मतमव्याकुलं स्यात् ततश्च श्रीवराहोक्तं लोके भाण्डहरेति ख्यातं भाण्डह्रदाख्यं तीर्थमेव यमुनाया उत्तरकूले ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ अथापि तेषाम् "इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या" इत्यादिषु सर्वोर्द्धश्लाघितशुद्धमैत्रीमतां तदाच्छादकमैश्वर्यज्ञानं न बभूव किन्तु कथञ्चित् प्रभावज्ञानमेवाजायतेत्याह—कृष्णस्य योगमायया स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या अनुभावितं व्यञ्जितं "योगो पूर्वार्थसम्प्राप्तौ" इति विश्वप्रकाशादपूर्वार्थसम्प्राप्तिसम्पादकं यद्वीर्यं प्रभावस्तद्वीक्ष्य मत्वा तममरं देवविशेषं मेनिरे कीदृशं वीर्यं दावाग्नेः सकाशादात्मनः क्षेमं मङ्गलहेतुमिति यद्वा, न विद्यते मरो मरणं यस्मात् तम् एतदाश्रयेण मरणादपि न विरहं प्राप्स्याम इति भावः । जनार्दन इति व्रजजनैः सदा द्रष्टुं याच्यत इत्यभिप्रायेण ॥ १४–१५ ॥ श्रीगोपानां दावाग्नितो मोचनपूर्वकं स्वप्राप्तिपरमानन्दं यथा ददौ तथा श्रीगोपीनामपि विरहाग्नितस्तत्पूर्वकं तं ददाविति नित्यमपि प्रस्तावसादृश्येन तद्दिनलीलान्त एवाह—गोपीनामिति परमः परां काष्ठामापन्न आनन्द एवासीत् कासां गोपीनां तत्राह क्षणमिति "कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्" इति "त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्" इति च, तासामेव तादृशवचनश्रवणात् "यद्दर्शने दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति" इति ता एवोद्दिश्य श्रीमन्मुनीन्द्रेणापि सर्वातिशयप्रेमदर्शनाय वर्णितत्वात् तत्प्रेयसीरूपाणामित्यर्थः । कीदृशं तस्यानन्दस्य परमत्वं तत्राप्याह, क्षणमिति । अस्मद्वाङ्मनसागोचरत्वात् स्वरूपेण निर्देष्टुं न शक्यते किन्तु कथञ्चित् प्रतियोगिमुखेनैवेति भावः । गोविन्ददर्शन इति सप्तमीनिर्देशस्तथापि तासां निमेषादिव्यवधाने पूर्ववद्विरहावस्थैव दर्शिता क्षणमिति नपुंसकत्वमार्षम् एवमयमासां भावप्रेमप्रणयमानरागानुरागमहाभावाख्यतया सप्तमकक्षामारूढाया रतेः परिपाकः श्रीमन्मदनुजवरैर्विरचितोज्ज्वलनीलमणाववलोकनीयः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्याम् एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततः पानानन्तरञ्च पुनर्भाण्डीरमापिताः पूर्व्वस्थानास्थिता इवालक्षितं नीताः सन्तः श्रीभगवदुक्त्या स्वयमेव वा सपद्यक्षीणि उन्मील्य श्रीयमुनापश्चिमकूले श्रीवृन्दावनान्तः शिवालयतो वायव्यदिशि भाण्डीरो नाम वटो लोके प्रसिद्ध एव, तद्दक्षिणतश्च क्रोशपञ्चकं यावन्मुञ्जाटवी तावेवात्र ग्राह्यौ । तत्र श्रीपराशर-वैशम्पायनयोर्रा सम्मतिर्लक्ष्यते, एकस्मिन्नेवाहनि ताल वनभाण्डीरादिक्रीडोक्तेः; तथा 'मध्ये चास्य महाशाखोन्यग्रोधः' इत्यादि, श्रीहरिवंशे (विष्णु प. ८।३६) श्रीवृन्दावनमध्य एव भाण्डीरस्य वर्णनाच्च, अन्यथा तस्मिन्नेव दिने अनन्तानां गोपानां गवादीनाञ्च मुहुर्यमुनोत्तरणापत्तेः, सा चासम्भाव्यैवेति दिक् । ततश्च श्रीवाराहोक्तं लोके भाण्डहरेति ख्यातं भाण्डह्रदाख्यतीर्थमेव श्रीयमुनायाः पूर्व्वकूले ज्ञेयम्, श्रीवराहपुराणादिषु भाण्डीरस्य पारावरवर्त्तित्वानिर्द्धारणात्; अत्र लोकप्रसिद्धिरेव गतिरिति निशम्य अन्योन्यवार्त्तया श्रुत्वा दृष्ट्वेति वार्थः, निशाम्येत्येव वा पाठः ॥ १३ ॥ योगस्य ऐश्वर्य्यस्य वीर्य्यं प्रभावं माहात्म्यमित्यर्थः । तच्च मायिकमपि सम्भवेदित्याशंक्य तन्निरस्यति—योगमायया सच्चिदानन्द-शक्तिविशेषेणानुभावितं सम्पादितम्; अन्यथा सच्चिदानन्दविग्रहेषु तत्प्रियसखेषु तेषु मायाशक्तेरकिञ्चित्करत्वात् ।

योगवीर्य्यमेवाह—दावाग्नेरिति। क्षेममिति—श्रीकृष्णेन सह चिरं श्रीवृन्दावनादौ साक्षाद्विहारसिद्धेः। न विद्यते मरो मरणं यस्मात्तम्; एतदाश्रयेण कदाचिदपि विरहादिना न मरिष्याम इति भावः॥ १४॥ सहरामो रामसहितो जनार्द्दन इति, व्रजजनैः सदा द्रष्टुं याच्यत इत्यभिप्रायेण वेणुं विशेषतो रणयन् वादयन्॥ १५॥ गोपानां दावाग्निशमनमिव श्रीगोपीनां विरहाग्निमोचनमाह—गोपीनामिति। परमः पराकाष्ठां प्राप्तः, गोविन्दस्य गवामिन्द्रत्वेन गोगोपकुलवृतस्यापि, यद्वा, दावाग्नितो गोपगोकुलरक्षया साक्षात्प्रदर्शितगोकुलेन्द्रत्वस्य दर्शनादेव आसीदाविर्भूत इति; तद्दर्शनमात्रेणापि तासामानन्दविशेषः सम्पन्नः, सम्भाषणादिना च य आनन्दः स कथं निर्व्वाच्य इत्यर्थः। सप्तम्यन्तपाठे दर्शने सति विषये वा, तथापि स एवार्थः। विषय-सप्तमी-पक्षे तु दर्शनस्यैव परमानन्दात्मकताभिप्रेता स्यात्। तच्चौचितमेवेत्याह—क्षणमिति, नपुंसकत्वमार्षम्। इवेति क्षणस्य युगशतत्वाभावेऽपि केवलं विरहदुःखोत्कथनेन तासां तथा-भानात्, तन्निर्द्धारमेव गमयति—यासामल्पतरकालविरहेणेदृशं दुःखं स्यात्, तासां तत्किञ्चिद्दर्शनतोऽपि परमानन्दो घटत एवेत्यर्थः। महाग्निमोचनप्रसंगेऽत्रेदमुक्तम्, किन्तु नित्यमेवैवं बोद्धव्यम्॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्याम् एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

योगवीर्यं योगमायानुभावितमाश्चर्यशक्तियोगज्ञापितं विरणयन् नितरां रणयन्॥ १५-१६॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततस्ते गोपाः लोचनान्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरं प्रत्यागता आत्मानम् आत्मनः प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनं तथा मोचिताः गाश्चालोक्य विस्मिता आसन्॥ १३॥ ततस्तस्य कृष्णस्य योगमाययाऽऽश्चर्यशक्तिरूपया अनुभावितास्तत् प्रभावविषयीकृताः तस्य कृष्णस्य योगात्मकं वीर्यं दवाग्नेरात्मनां क्षेमं च वीक्ष्य तं कृष्णममरं दैवतं मेनिरे॥ १४॥ ततः सायाह्ने गाः सन्निपत्य सङ्घीकृत्य सरामः कृष्णो वेणुं विरणयन्वादयन् गोपैरभिष्टुतो गोष्ठं प्रागात्॥ १५॥ तदा गोविन्दस्य दर्शनं गोपीनां यशोदादीनां परमानन्दकरमासीत् तत्र हेतुं वदन् दर्शनं विशिनष्टि—आसां गोपीनां येन श्रीकृष्णेन विना क्षणमपि युगशतमिव अभवत् अतस्तद्दर्शनं परमानन्दकरं बभूवेत्यर्थः॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायाम् एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

योगमायानुभावितं स्वरूपसामर्थ्येन प्रभावितम् अमरं जरामरणशून्यं नारायणं मेनिरे॥१४॥ सायाह्ने सन्ध्याकाले॥१५॥ यथा यावान्युगशतं कालः यासां गोपीनां येन गोविन्ददर्शनेन विना क्षणः कालस्तावानभवत्॥ १६॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्याम् एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

[विजयध्वजरीत्या षोडशोऽध्यायः]

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तादृशैश्वर्यदर्शनेऽपि तेषां विशुद्धप्रेममैत्रीमतां तदाच्छादकमैश्वर्य्यज्ञानम् अर्जुनादीनामिव न बभूवेत्याह—कृष्णस्य योगमायाशक्त्या अनुभावितुं ज्ञापितयोगवीर्य्यम् "योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ" इति विश्वकोशादपूर्वार्थसम्प्रापकं वीर्य्यं प्रभावं तत् आत्मक्षेमं वीक्ष्य तं कृष्णम् अमरं देवविशेषं मेनिरे नतु तदपि एषां स्वसम्बन्धस्य शैथिल्यगन्धोऽपि ज्ञेयो यतः खल्वयमस्माकं सखा मनुष्याशक्यकर्मणाद्दैव एव न मानुषः इति ततश्चैतत्सखात्वाद्वयमपि देवा एवेत्यतुल्यत्वे सख्यासम्भवादित्यनुमायानन्दमत्तास्ते बभूवुरिति भावः॥ १४॥ जनान् वनस्थस्थावरजङ्गमलोकान् स्वविरहं दित्सुः पीडयति व्रजस्थजनांस्तु स्वसंगमं दित्सुस्तं याचयतीति सः॥ १५॥ गोष्ठप्रवेशसमये व्रजस्थानां सर्वेषामेव तत्सङ्गमादानन्दे सत्यपि व्रजेश्वर्य्यादीनां परमवत्सलानामानन्दाधिक्यं चतुर्दशाध्याये बर्हप्रसूनेत्यादिना "गोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम्" इति पद्येन वर्णितमेवात इदानीं प्रेयसीनां गोपीनामिति परमानन्द इति मुक्तप्रग्रहया वृत्त्या आनन्दजातिप्रमाणाभ्यामाधिक्यमात्यन्तिकमेव नत्वापेक्षिकं ज्ञेयम्, ननु, कास्ता गोप्यस्तदसाधारणलक्षणेन परिचाययेत्यत आह—क्षणमिति। क्लीवत्वमार्षं येन श्रीकृष्णेन विना युगशतमिवेति क्षणस्य युगशतायमानत्वं रतिप्रेमस्नेहमानप्रणयरागानुरागमहाभावानामुत्तरोत्तरप्रेमभूमिकानागन्तिमस्य महाभावस्य लक्षणमित्युज्ज्वलनीलमणौ दृष्टमतस्ता महाभाववत्यो वृषभानुनन्दिनीप्रभृतय एव ज्ञेयाः॥ १६॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। एकोनविंशो दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ १९॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ततो मीलिताक्षा एव क्षणमात्रेण भाण्डीरमापिता अक्षीण्युन्मील्य गाः मोचिताः आत्मानं च मोचितं निशाम्य विस्मिता आसन्नित्यन्वयः ॥ १३–१६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे एकोनविंशाऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ १९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ततश्च हरिणा भाण्डीरमापितास्ते भो मित्राणि कृतो मया दावाग्नेः प्रतीकारो यूयमक्षीण्युन्मीलयतेति तेनोक्तास्तथा भूत्वा आत्मानं मोचितं गाश्च मोचिताः निशाम्य दृष्ट्वा विस्मिता आसन् अतकर्यास्मिन् कृष्णे अस्मत्सखे शक्तिरित्यनुभूय चित्रलिखिता इवाभवन्नित्यर्थः ॥ १३ ॥ तादृशं प्रभावं वीक्ष्यापि तेषां सख्यं स्थिरमेवाभूदित्याह–कृष्णस्येति । कृष्णस्य योगमायया अनुभावितं योगवीर्यमपूर्वार्थसम्प्रापकं प्रभावं ततो दावाग्नेरात्मनः क्षेमं च वीक्ष्य ते सखायः तममरं मेनिरे "योगो पूर्वार्थसम्प्राप्तौ" इति विश्वः । न विद्यते मरो मरणं यस्मादाश्रितानां तादृशमित्यर्थः । साक्षादीश्वरोऽयमस्मत्सखो भजतां भुक्तिहेतुरित्यमन्यन्तेत्यर्थः ॥ १४–१५ ॥ व्रज प्रवेशवेलायां सर्वेषामानन्दे सत्यपि वत्सलानामानन्दाधिक्यं "गोपीदृगुत्सवदृशि"रिति प्राग् वर्णितं अधुना प्रेयसीनां तदाह गोपीनामिति परमोऽतिशोभनो जात्या परिमाणेन च सर्वतोऽधिक इत्यर्थः । आनन्द आसीदभवत् ननु तासां परिचायकमसाधारणं लक्षणं ब्रूहीति चेत्तत्राह क्षणमिति क्लीबत्वमार्षं, येन नन्दसूनुना गोविन्देन विनेत्यर्थः । क्षणस्य युगशतायमानत्वं महाभावेनैव भवेत् तद्वतीनां श्रीमत्यादीनामित्यर्थः "कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड़ उदीक्ष्यतां पक्ष्मकृद्दृशा"मिति त्रुटियुगायते त्वामपश्यताम्" इति च तासामेव तादृशव्यावहारात् "यद्दर्शने दृशिपु पक्ष्मकृतं शपन्ती"ति श्रीमुनीन्द्रेणापि तां एवोद्दिश्य सर्वाधिकप्रेमप्रदर्शनायोक्तेश्च ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्याम् एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तत्र निमीलिताक्षाः पुनस्तदुन्मील्य विलोकमाना भाण्डीरं वटमाश्रिता आत्मानं मोचितं गाश्च मोचिता निशाम्य विस्मिता आसन् ॥ १३ ॥ तस्य योगवीर्यं योगसामर्थ्यं वीक्ष्य दवाग्नेरात्मनो गवां च क्षेमं वीक्ष्य तं कृष्णं योगमायानुभावितं योगमायायाः स्वरूपसामर्थ्यस्यानुभावोऽस्य सञ्जात इति स तथा तममरं श्रीनारायणं मेनिरे । उन्मील्य विस्मिता इति वाऽन्वयः ॥ १४ ॥ सायाह्ने सायंसमय आसन्ने ॥ १५ ॥ येन विना येषां क्षणम् । क्षणलिङ्गमशिष्यमिति भाष्यात् । यथा युगसतं तथाऽभवत् । विना विः पक्षिपरमात्मनोरिति तेन सहितानां यासां युगशतं यथा क्षणस्तथाऽभवदिति वाऽन्वयः ॥ १६ ॥ मोक्षं तद्रूपं गोपा एव स्त्रीभ्यः स्वस्वयोषिद्भ्यः समाचख्युरपृष्टाः स्वयमित्येवार्थः ॥ १७ ॥ रामकृष्णौ देवप्रवरौ मेनिरे । प्रेपरतोवलघुताद्वन्द्वेऽप्रयमोद्दिष्टस्य सावधिकप्रवरतां ध्वनयति । प्रह्वे इति पिङ्गलनागोक्तेः । तन्मुख्यं ज्ञानशब्दयोरितिवद्वा ज्ञेया ॥ १८ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १०–१७ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततो भीताः पीतेऽप्यग्नौ निमीलिताक्षा एव स्थितास्ततो भगवतैवोन्मीलयतेत्युक्तास्तेक्षीण्युन्मील्य पुनरलौकिकेनैव प्रकारेण भाण्डीरवनमापिताः पुनर्गमने तेषां ज्ञानाभावादागतमार्गस्य विस्मृतत्वाज् ज्ञापकानां नूतनैर्नाशनादतिजिज्ञासायां विलम्बाच्च, अतो भगवतैव भाण्डीरमापिताः, निमीलिताक्षा एव समागता इतिविमर्शः, यतो भगवान् हरिः, अतो निशम्य ज्ञात्वा श्रुत्वा वा विस्मिता आसन्, आत्मानं गाश्च मोचिता निशम्य, आत्मानं गा इत्यवयुज्यानुवादः, चक्षुर्निमीलनेन पूर्वसर्वविस्मरणं, पश्चाद् भगवन्मुखाद् बलभद्रमुखाद् वा श्रवणं, तदाह निशम्येति ॥ १३ ॥ ततस्तेषां गताविद्यानां या बुद्धिर्जाता तामाह कृष्णस्य योगवीर्यं तदिति, योगमाययानुभावितं, विस्मारणपुनःस्मारणाभ्यां सहितं तद् भगवद्वीर्यमलौकिकमात्मनो दवाग्नेः सकाशात् क्षेमं वीक्ष्य तं भगवन्तममरं मरणनिवर्तकं कालातीतं वा पुरुषोत्तमं मेनिरे, तेषां देवा एवोत्तमा इत्यनौपचारिकं देवत्वं वा मेनिरे, दावाग्निर्हि लब्धनाशकः, ततः परिपालनं क्षेमो भवत्येव ॥ १४ ॥ एव तान् सर्वथा निर्दुष्टान् कृत्वाग्रे निवर्त्यदोषाभावादत्रैव प्रत्यापत्तिः क्रियते गाः सन्निवर्त्येति, न हि भीतानामेव गमनं किन्तु यथासुखं सायाह्न एव, जनाविद्यानाशितेति जनार्दनः, न केवलं दोषं दूरीकृतवान् किन्त्विष्टमपि कृतवानित्याह सहराम इति, वेणुं विरणयन्निति सर्वसद्गुणोद्बोधनं, गोष्ठमगादिति स्थानस्य पवित्रता निरूपिता, गोपैरभिष्टुत इति गोष्ठसमागमनेपि तेषां माहात्म्यज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम् ॥ १५ ॥ एवं वनगमने गोपानां सौख्यमुक्त्वा गोष्ठगमने गोपीनां सौख्यमाह गोपीनामिति गोविन्ददर्शने तेषामानन्दविर्भा-

वादज्ञाननिवृत्तिरर्थादेवोक्ता, प्रपञ्चविस्मृतिमाह क्षणं युगशतमिवेति, यासां गोपिकानां येन भगवता विना क्षणं युगशतमिवाभव- देकस्मिन् क्षणेनन्तवारमुत्पद्यन्ते म्रियन्ते चेति, एवमानिर्वृत्या संसाराभावो ज्ञापितः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे षोडशाध्यायविवरणम् ॥ १६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

ततश्चेत्यत्र ननु भवतु दोषनिवृत्त्यर्थं पानं तथापि पुनर्भाण्डीरप्रापणस्य किं प्रयोजनमत आहुः पुनरित्यादि, तथा च हरित्वात् तथाकरणमित्यर्थः, अवयुज्यानुवाद इति स्वस्य गोत्वेपि गवांशं पृथक्कृत्यानुवाद इत्यर्थः ॥ १३ ॥ गाः सन्निवर्त्य- त्यत्रात्रेति दिवसपञ्चमभाग एव, सर्वसद्गुणोद्बोधनमिति सर्वासु सतः सदंशस्य यो गुणः सात्त्विकः स्तम्भादिरूपस्तमुद्बोधयन् यद्वा सतो विद्यमानस्योद्बोधनं स्ववियोगाभिभवनिवारणमित्यर्थः ॥ १५ ॥ गोपीनामित्यत्र ननु पूर्वपञ्चाध्यायोक्ता लीला मुख्य- लीलाङ्गभूतेति कारिकासूक्तं तथा सति यासु मुख्यलीला तास्वविद्यानिवृत्तिरवश्यमत्र वाच्या सा कुतो नोक्तेत्यत आहुरज्ञानेत्यादि, तथा न न्यूनतेत्यर्थः, अयं ज्ञानाध्यायः पूर्वमुक्त एव ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे षोडशाध्यायविवरणम् ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

उन्मील्येति अन्तर्भावितणिजर्थोयं नेत्राण्युन्मीलन्ति गोपा भगवांस्तैस्तान्युन्मीलयति, तथा चोन्मीलय्य भाण्डीरमापिता इत्यर्थः, यतो भगवानिति पूर्वं निमीलनोपदेशे हरिपदमुक्तं, विमर्शार्थं तत् स्मारयन्ति, दुःखाभावार्थं हि निमीलनोपदेशः, तत्रैवोन्मीलने दग्धवनदर्शने दुःखं स्यादेवेति भावः ॥ १३ ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

वीक्ष्य तं मेनिरेमरमित्यस्य विवृतौ अमरं मरणनिवर्तकमिति न मरो मरणं यस्मात् स अमर इति व्युत्पत्त्या यस्माद्धेतोः अन्यस्य मरणं नास्तीतिफलितं, तदेतदुक्तं मरणनिवर्तकमिति, कालातीतं वा पुरुषोत्तममिति न मरो मरणं यस्येति "नैत्रेशितुं प्रभुर्भूम्न ईश्वरो धाममानिना"मिति वाक्यात् पुरुषोत्तमस्य कालातीतत्वमतस्तथेत्यर्थः ॥ १४ ॥ क्षणं युगशतमिवेत्यस्य व्याख्याने एकक्षणे अनन्तवारमुत्पद्यन्ते म्रियन्ते चेति 'मृत्युरत्यन्तविस्मृति'रिति वाक्यात् सर्वथा विस्मरणं मृत्युपदवाच्यं, पुनर्देहादिस्मृतिरुत्पत्तिः, तदेतासामत्युग्रविरहवशाद् भूयो भूयो जायते इति तथोक्तं, एकस्मिन् क्षणे अनन्तवारमुत्पत्तिमरणे देह- स्मृतितदभावरूपे भगवद्विरहस्याचिन्त्यप्रभावात् भवत इति ज्ञातव्यं, तथा चानेकोत्पत्त्यनेकमरणाधिकरणत्वाद् भगवद्विरहक्षणस्य युगशतत्वं युक्तमेवेति भावः ॥ १६ ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततश्च ते गोपाः पुनर्भाण्डीरमापिताः अक्षीण्युन्मील्य आत्मानं प्रत्येकाभिप्रायेणैकवचनम्, गाश्च दावाग्नेर्मोचिताः निशाम्य दृष्ट्वा विस्मिता आसन्नित्यन्वयः ॥ १३ ॥ योगमायानुभावितं सम्पादितं तत् कृष्णस्य योगवीर्यमपूर्वं प्रभावं 'योगो पूर्वार्थसम्प्राप्तौ' इति विश्वप्रकाशात्। वीक्ष्य ते गोपास्तं श्रीकृष्णममरं मरणधर्मनिवर्तकं परमेश्वरं मेनिरे इत्यन्वयः। 'किं तद्वीर्यम्?, तत्राह — दावाग्नेः सकाशादात्मनः क्षेमं मोक्षणमिति ॥ १४ ॥ सहरामो रामेण सहितो गोपैरेवमभिष्टुतो जनार्दनः कृष्णः गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सायङ्काले वेणुं विरणयन् गोष्ठं व्रजमगादित्यन्वयः ॥ १५ ॥ यथा गोपानां दावाग्नितो मोचनपूर्वकं स्वप्राप्तिजपरमानन्दं ददौ, तथा गोपीनामपि विरहजाग्नितप्तानां तद्विमोचनपूर्वकं सायङ्काले तं नित्यमेव ददातीति सूचयन् तद्दिनवृत्तमाह—गोपीनामिति। गोविन्ददर्शने सति गोपीनां यशोदादीनां परमानन्द आसीत्। 'कीदृशमानन्दस्य परमत्वम्?' इत्यपेक्षायाम् 'अस्मद्वाङ्मनसयोर- गोचरत्वान्न साक्षान्निर्देष्टुं शक्यते' इति सूचयन् प्रतियोगिनिर्देशमुखेनाह —क्षणमिति। स्पष्टम् ॥ १६ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। ऊनविंशो गतो वृत्तिं दावाग्निमोक्षबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ततश्चेति ॥ ततश्च ते गोपाः पुनर्भाण्डीरमापिताः भगवदाज्ञया अक्षीण्युन्मील्य आत्मानं प्रत्येकाभिप्रायेणैकवचनम् । गाश्च दावाग्नेर्मोचिताः निशाम्य दृष्ट्वा विस्मिता आसन् । अयं भाण्डीरो मुञ्जाटव्याः क्रोशपञ्चके स्थितो ज्ञेयः ॥१३॥ कृष्णस्येति ॥ योगमाययाऽनुभावितं संपादितं दावाग्नेः आत्मनः क्षेमं क्षेमकरं क्षेमशब्दात्तत्करोतीति णिजन्तादच् । तत् कृष्णस्य योगवीर्यं वीक्ष्य ते गोपाः तं श्रीकृष्णममरं देवं मेनिरे ॥ १४ ॥ गा इति । सहरामो रामेण सहितो गोपैरेवमभिष्टुतो जनार्दनः कृष्णः गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सायंकाले वेणुं विरणयन् गोष्ठं व्रजमगात् ॥ १५ ॥ गोपीनामिति ॥ यासां गोपीनां येन श्रीकृष्णेन विना क्षणमपि । कर्तव्यमार्षम् । युगशतमिव अभवत् । तासां गोपीनां गोविन्ददर्शने सति परम आनन्द आसीत् ॥ १६ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् । गङ्गासहायो निरमाद्दशमस्योनविंशके ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ततो मोचनानंतरं पुनर्भांडीरं वटं प्रापिताः ते गोपाः अक्षीणि उन्मील्य मोचितं आत्मानं मोचिता गाश्च निशाम्य दृष्ट्वा विस्मिता आसन् स च भांडीरो मुंजाटव्या उत्तरतः क्रोशपंचके स्थितो ज्ञेयः ॥ १३ ॥ तेन श्रीकृष्णेन योगमायया योगः स्वेप्सित-संकल्पसिद्धिः स एव माया सामर्थ्यंतयानुभावितं प्रकाशितं आत्मनः स्वस्य क्षेमं क्षेमकरं कृष्णस्य यत् योगवीर्यं योगो नित्यमैश्वर्यं स योगस्तस्य वीर्यं पराक्रमः तद्वीक्ष्य तं हरिं अमरं मेनिरे ॥ १४ ॥ सायाह्ने सायंकाले गाः सन्निवर्त्य प्रत्याहृत्य ॥ १५ ॥ यासां गोपीनां येन कृष्णेन विनाक्षणं पलदशकं युगशतमिव ॥ १६ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने दावाऽग्निमोक्षो नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत इति ॥ ततश्च पुनः, भाण्डीरं आपिताः भगवद्योगशक्त्या पुनर्भाण्डीरं प्रापिताः सन्तः, ते गोपादयः, भगवदाज्ञयेति शेषः । अक्षीणि उन्मील्य, आत्मानमात्मन इत्यर्थः । गाश्च मोचिताः वनवह्नेर्भगवतैव सर्वे वयं विमोक्षं कारिताः इति, निशम्य बुद्ध्वा दृष्ट्वा वा, विस्मिताः आसन् ॥ १३ ॥ कृष्णस्येति ॥ तस्य श्रीकृष्णस्य योगमायाश्चर्यशक्तिस्तयाऽनुभावितं प्रकाशतां नीतं, कृष्णस्य योगवीर्यं, योगसामर्थ्यं दावाग्नेः आत्मनः क्षेमं च वीक्ष्य, ते गोपाः, श्रीकृष्णमिति शेषः । अमरं कंचिद्देवं, मेनिरे । केचित्तु तद्योगमायानुभाविता इति ते इत्यस्य विशेषणं कुर्वन्ति, तस्य श्रीकृष्णस्य योगमाययाश्चर्यशक्तिरूपयाऽनुभावितास्तत्प्रभावविषयीकृताः इति समासं च कुर्वन्ति ॥ १४ ॥ गा इति । ततः सहरामो रामेण सहितः, जनार्दनः कृष्णः, सायाह्ने संध्याकाले, गाः धेनूः, संनिवर्त्य प्रत्यावृत्य, वेणुं विरणयन्, गोपैः अभिष्टुतः संश्च, गोष्ठं अगात् आगमत् । पाठान्तरे संघीकृत्येत्यर्थः ॥ १५ ॥ गोपीनामिति ॥ यासां गोपीनां, येन श्रीकृष्णेन विना, क्षणमपि क्षणपरिमितः कालोऽपि, युगशतमिव युगशतप्रायः, अभवत् । तथाविधानां गोपीनां, गोविन्ददर्शने परमानन्दः, आसीत् । दर्शनमिति पाठान्तरे गोविन्ददर्शनं गोपीनां यशोदादीनां, परमानन्दः परमानन्दकरं, आसीत् ॥ १६ ॥

गोपानां हृष्यतां स्वाङ्गमारुह्य सुहृदां हरिः । वनाग्नेः पानतः स्वीयैश्वर्यमाविश्चकार सः ॥ १ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसुनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ततश्चेति : १०.१९.१३.

दिग्भ्रान्तिभाजो विकटाध्ववर्तिनः पुंसः पुनः स्वास्थ्यकृदेकमेव यत् ।
प्रागीक्षितं वस्त्विति तानपीश्वरस्तदर्थमेवाऽनयदाद्यभूरुहम् ॥ ५१ ॥

मत्स्युत्तमोऽयमिति यो गुरुणा निरुक्तः शिष्यैः स एव समये सति माननीयः ।
साक्षीकृतं दितिसुतासुहृतो बलेनेत्यागातमेव सगणोऽप्यपदानशंसी ॥ ५२ ॥

आगन्तुकानलजतापहृतिः कृतैषां स्वाभाविकतुंजनितोऽपि न चास्तु तापः ।
इत्यानयद्वटपदं स हितान् हितार्थी तस्मिन् स शैत्यगुणभागिति शास्त्रसिद्धम् ॥ ५३ ॥

गाः सन्निवर्त्येति ः १०.१९.१५.

सरलोत्तमवंशजस्य वाणी भवतोहोग्रभवाग्नितापहन्त्री।
श्रुतिसद्गुणशालिनीत्यबोधि प्रभुणा वादयता तदा स्ववेणुम् ॥ ५४॥

ज्वलदनलकीलजालप्रभूतनिखिलाङ्गतापशान्तिकृते। स्रवदतुलामृतसारं स युक्तमस्मिन्नवादयद् वेणुम् ॥ ५५॥

येषां कृपारसजुषा स्वदृशा दवाग्निर्नीतः प्रकाममुपशान्तिमिहाच्युतेन।
सानन्दवृत्तिरतुला किल गोकुलेऽपि सिद्धैव तेष्विति तदा विशदार्थमासीत् ॥ ५६॥

गोपीनामिति ः १०.१९.१६.

अतिलङ्घयन्ति युगशतमपि मुनयो यत्प्रसादवासनया। तच्छ्रीमच्छ्रीपतिमुखदर्शनतः सुखमसीम सिद्धमिदम् ॥ ५७॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसुरिविरचिते भक्तिरसायने एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

कृष्णप्रिया

इसके बाद जब ग्वालबालों ने अपनी अपनी आँखें खोलकर देखा, तब अपने को भाण्डीर वट के पास पाया, इस प्रकार अपने आप को और गौओं को दावानल से बचा देख वे ग्वालबाल बहुत ही विस्मित हुए ॥ १३ ॥ श्रीकृष्ण की इस योगसिद्धि तथा योगमाया के प्रभाव को एवं दावानल से अपनी रक्षा को देखकर उन्होंने यही समझा कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं ॥ १४॥ परीक्षित ! सायङ्काल होनेपर बलरामजी के साथ भगवान श्रीकृष्ण ने गौएँ लौटायीं और वंशी बजाते हुए उनके पीछे पीछे व्रज की यात्रा की उस समय ग्वालबाल उनकी स्तुति करते आ रहे थे ॥ १५ ॥ इधर व्रज में गोपियों को श्रीकृष्ण के बिना एक-एक क्षण सौ सौ युग के समान हो रहा था, जब भगवान श्रीकृष्ण लौटे तब उनका दर्शन करके वे परमानन्द में मग्न हो गयीं ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
४९	४९	१	१५६८	६	३७	१६११	५०१	३

श्रीशुक उवाच

[1]तयोस्तदद्भुतं कर्म दावाग्नेर्मोक्षमात्मनः । गोपाः स्त्रीभ्यः समाचख्युः[2] प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥
गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः । मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ ॥ २ ॥
ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा । विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥
सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः । अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोपाः दावाग्नेः आत्मनः मोक्षम् तयोः अद्भुतम् तत् कर्म च एव प्रलम्बवधम् कर्म स्त्रीभ्यः समाचख्युः ॥ १ ॥ गोपवृद्धाः च गोप्यः च जनाः तद् उपाकर्ण्य रामकृष्णौ व्रजंगतौ देवप्रवरौ मेनिरे ॥ २ ॥ ततः विद्योतमानपरिधिः विस्फूर्जित-नभस्तला सर्वसत्वसमुद्भवा प्रावृट् प्रावर्तत ॥ ३ ॥ सविद्युत् स्तनयित्नुभिः सान्द्रनीलाम्बुदैः आच्छन्नम् व्योम, सगुणम् ब्रह्म इव बभौ ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विंशे प्रावृट्छरच्छोभावर्णनेन वनोचिताः ॥ प्रावृट्क्रीडा निरूप्यंते गोपरामयुजो हरेः ॥ १ ॥
हेयादेयोपमानेन प्रावृट्छरदृतुश्रियोः ॥ वर्णनं त्वद्भुतैश्वर्यकृष्णलीलाविवक्षया ॥ २ ॥

तत्र प्रावृड्वर्णनं तत इत्यादिद्वाविंशत्या । सर्वेषां प्राणिनां समुद्भव उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्यां सा प्रावृट् । विद्योत-मानाः परिधयः परिवेषा दिशो वा यस्यां सा । विस्फूर्जितां संक्षुभितं नभस्तलं यस्यां सा ॥ १ ॥ सांद्रैर्निबिडैर्नीलांबुदैर्विद्युद्गर्जित-सहितैराच्छन्नम् । सगुणं गुणैराच्छन्नं जीवाख्यम् । विद्युद्गर्जितांबुदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा ॥ २ ॥ पर्जन्यः सूर्यः । स्वगोभिर्निज-रश्मिभिः । काले यथोचितसमये । अत्र राजोपमा समये करादानतः समये पुनर्दानतश्च सूचिता ॥ ३ ॥ अस्य विश्वस्य प्रीणनमाप्या-यनकरं जीवनमुदकं मुमुचुः कृपालवो यथा तप्तं जनं निरीक्ष्यानुकंपमानास्तदाप्यायनाय स्वजीवनमपि त्यजंति तद्वत् महांतो मेघा-स्तडिन्नेत्रैर्विश्वं तप्तं निरीक्ष्य वायुभिर्वेपिता जीवनं मुमुचुरिति ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गोपरामैर्युज्यत इति गोपरामयुक् तस्य तथा (१) । हेयान्युपमानानि पाखंडादीनि, आदेयानि भक्ताचरितादीनि (२) । तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये । उत्पत्तितो दंशमशकचित्रितपृष्ठबहुपादादीनाम्, जीवनतो जीवनहेतुजलवृष्टेः । "सत्त्वं द्रव्ये प्राणिमात्रे सत्त्वं सत्तास्वभावयोः" इति यादवः । "परिधिः परिखाकाष्ठोपसूर्यशशिमंडले" इति धरणिः ॥ १ ॥ न स्पष्टानि दृश्यानि ज्योतींषि सूर्यादीनि यत्र तत् । गुणैर्गुणकार्यैरिंद्रियादिभिः । प्रकाशकत्वात्सत्त्वसाम्यं विद्युतः, अभिमान्येव गर्जत्यतोऽभिमानस्य रजःकार्य-त्वात्तत्कार्यस्य गर्जनस्यापि रजस्त्वमेवेति, अंबुदानामाच्छादकत्वेन तमः साम्यमूह्यम् ॥ २ ॥ वर्षंतीति पर्जन्यः 'पृषु–सेचने' पृषो-र्यस्य जोन्यप्रत्ययश्चौणादिकः । रविकरा एव मेघाकारेण परिणता वर्षंतीति निरूपितं हरिवंशे । 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इति मनूक्तेश्च । स्वगोभिः मेघाकारेण परिणतैः । अष्टौ मासानिति "कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे" इति द्वितीया । वसु द्रव्यम् । उदमयम् जलरूपम् । अत्र स्वरूपे मयट् ॥ ३ ॥ आप्यायनकरम् तृप्तिकरम् "आप्यायनं पालने च समुद्रे वरुणे तथा । रवौ चंद्रे वारिजीवे धावने प्रियदर्शने ॥" इति ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तयोः श्रीकृष्णरामयोर्दावाग्निमोक्षणरूपं प्रलम्बवधरूपं च यथा स्वं तत्कर्म सामयिकच्युतक्रमनिर्देशः प्राधान्यापेक्षया स्त्रीभ्यः स्वमात्रादिभ्यः असङ्कोचात् ता एव श्रावयितुमित्यर्थः । सम्यक् तत्तद् विशेषत आचख्युः ॥१॥ तत एव सर्वेषामपि श्रुतवतां

१. इमौ द्वौ श्लोकौ १–२ पूर्वाध्यायान्ते वर्तते–विज. । २. चख्युः–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ।

भावमाह-गोपेति । सत्स्वपि युवसु गोपवृद्धा इति तेषामपि चमत्कारातिशयेन रसाधिक्यापेक्षया अतो गोप्योपि तादृश्यो ज्ञेयाः देवेषु प्रवरौ कावपि बन्धुजनोचितप्रेमाक्रान्तचित्ततया निश्चयाभावात् ॥ २॥ क्रमप्राप्तां श्रीभगवतः प्रावृट्शरत्क्रीडां वर्णयितुं श्रीवृन्दावनसम्बन्धेनात्यन्तमुल्लसन्ती तदुद्दीपनरूपां ग्रीष्मवत्त्वात्तद्दतुश्रियमेवादौ वर्णयति—वर्णनालङ्कारायानुषङ्गिकत्वेन सर्वां हेयोपादेयतां च दर्शयति-तत इत्यादिना यावत्समाप्ति । तत्र तयोरारम्भादिक्रमेणैव वर्णनं ज्ञेयम् अन्यत्तैः तत्र दिश इति पक्षे वर्षारम्भे ईषद्वृष्ट्या मरीचिकाहिमधूल्याद्याच्छादनेन दूरतो दृष्टिप्रसरणात् विस्फूर्जितं गर्जितम् ॥ ३ ॥ अस्पष्टं ज्योतिश्चन्द्रसूर्यादि यत्र तादृशं सत् व्योम बभौ तद्द्वारा स्वप्रकाशान्तरं व्यञ्जयामास अस्पष्टज्योतिष्ट्वे हेतुः सान्द्रनीलाम्बुदैराच्छन्नमिति कीदृशैः तैः विद्युद्भिःस्तनयित्नुभिश्च सहितैः स्तनयित्नवोऽत्र कथञ्चिच्छब्दपरत्वाद्गर्जितमेवोच्यते किमिव बभौ तत्राह ब्रह्मेव जीवाख्यब्रह्मेव इव तच्च कीदृशं सगुणं सत्त्वरजस्तमोभिस्तत्कार्यैश्च आवृतस्वरूपज्योतिरित्यर्थः । सत्त्वादिस्थानीयांशास्त्वत्र यथायथं विवेचनीयाः ॥ ४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तयोः श्रीरामकृष्णयोः प्रथक्त्वेन कृतमपि तयोरन्योन्यं साहाय्यादिनैक्याभिप्रायेणैकत्रैव निर्दिष्टम्, यद्वा दावाग्निमोक्षं कृष्णस्य प्रलम्बवधश्च रामस्येति क्रमेण विवेचनीयम् । अद्भुतमलौकिकत्वात्, स्त्रीभ्यः श्रीयशोदादिभ्य इति तासां स्नेहादिविशेषात्, चकाराच्छ्रीनन्दादिभ्यश्च सम्यक् तत्तद्विशेषत आचख्युः, अभ्यर्थे एव शब्दः, प्रलम्बवधस्य श्रीबलदेवकृतत्वेन गौणतयाख्यानात्, अत एव पूर्ववृतस्यापि तस्य पश्चान्निर्द्देशः, यद्वा, दावाग्निमोक्षकर्मणो महत्त्वाद्विशेषतश्च ततः स्वरक्षणाद्वाख्यानम्, ततश्चैव शब्द उक्तसमुच्चये ज्ञेयः ॥ १ ॥ उप तयोः समीप एव, उपांशुत्वेन वा, आकर्ण्य देवेषु प्रवरौ परमश्रेष्ठौ श्रीविष्णुशिवौ व्रजं गतौ प्राप्तौ, जन्मामननश्चभक्तिविशेषोत्पत्त्या जीववज्जन्मानच बोधात्, किन्तु कृपया स्वयमेव साक्षाद्भूताविति, किन्तु निजबन्धुत्वादिना प्रेम्णा भजनीयावेवेति भावः । यद्वा, हे देव हे परीक्षित् ! व्रजं गतौ प्रवरौ व्रजजनश्रेष्ठतरावित्यर्थः । यद्वा, देवप्रवराविव, अतोऽस्मान् सदा परिपालयिष्यत इति भावः । गोपेषु वृद्धाः श्रीनन्दोपनन्दादय इति युवभ्यो भगवतो बालोऽपि तारुण्य इव क्रीडारसाढ्यः स्तत्संगत्या वने विहर्त्तुं यास्तीति बोधयति । यद्वा, तरुणानां गोपानां गोपीनाञ्च रसविशेषयुक्तानां सदा भगवन्माहात्म्यविशेषपरिस्फूर्त्या विस्मयाद्यभावात्ते ताश्चात्र नोक्ताः, अतो वृद्धानां गोपानां साहचर्य्येण गोप्योऽपि वृद्धा एव ग्राह्याः । अत एव चकारद्वयं प्रियतमानां तन्माहात्म्यपरिस्फुर्त्यापि न प्रेम्णा हानिरथच वृद्धिरेवेति पूर्वमुद्दिष्टमेव ॥ २ ॥ क्रमप्राप्तां श्रीभगवतः प्रावृट्शरत्क्रीडां वक्तुं श्रीवृन्दावनस्य प्रावृट्शरदोः शोभा विशेषाविर्भावेन तयोः श्रीभगवतोः क्रीडाविशेषापेक्षया ते वर्णयति—तत इत्यादिना यावत्समाप्ति तत्र तयोरारम्भादन्तावधि क्रमेणैव वर्णनं ज्ञेयम् । विशेषेण द्योतमानाः प्रकाशमानाः परिधयो दिशो यस्याम्, वर्षारम्भे उद्यद्भिर्मेघैः सूर्य्याच्छादनेन दूरतो दृष्टिप्रसरणात्, किञ्च, विस्फूर्जितं सुर्य्यतेजः क्षोमहान्या परिस्फुरितं नभस्थलं यस्याम्, यद्वा, विशब्दो विहीनार्थो, वर्षारम्भे वायुवेगप्रवृत्त्या धूलिप्रसरतोऽप्रकाशमाना दिशो यस्यामित्यर्थः, तथा विस्फुर्जितं धूलिभिः संक्षुभितं नभस्स्थलं यस्यामिति ॥ ३ ॥ सान्द्रनीलाम्बुदैराच्छन्नम्, अतोऽस्पष्टं ज्योतिः सहजप्रकाशः सूर्यतेजो वा यस्मिन् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् तत्रास्पष्टज्योतिष्ट्वादिना जीवाख्यमिति, ततश्च नीलाम्बुदादिसदृशैस्तामसादिकर्म्मभिराच्छन्नम् ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

विद्योतमानपरिधिः विद्युद्भिर्द्योतमानपरिधिः विस्फूर्जिता नभस्तला च ॥ ३ ॥ अस्पष्टत्वहेतुमाह-आच्छन्नं प्रकृत्या तिरोहितं ज्योतिः ज्ञान रूपं ब्रह्मेव ॥ ४-६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं वसन्तग्रीष्मयोर्भगवतः क्रीडा अनुवर्णिताः अथ प्रावृट्शरदोस्ता अनुवर्णयितुं दृष्टान्तैस्तैस्तावद्धेयोपादेयविभागं प्रदर्शयन्नेव प्रावृड्तुं तात्कालिकान् कांश्चिद्विहारांश्चानुवर्णयति विशेनाध्यायेन-तावत्प्रथमं भगवत्क्रीडावृत्तशेषमाह-तयोरिति द्वाभ्याम् । आत्मनः आत्मनां दवाग्नेर्मोक्षणात्मकं तद्रामकृष्णयोरद्भुतं कर्म प्रलम्बवधश्च गोपाः स्त्रीभ्यो यशोदादिभ्यः कथयामासुः ॥ १ ॥ तद्गोपबालैरुक्तमाकर्ण्य विस्मिताः गोपवृद्धा नन्दादयः गोप्यश्च रामकृष्णौ व्रजं गतौ देवश्रेष्ठौ मेनिरे देवश्रेष्ठावेव रामकृष्णरूपेण व्रजे जातावित्यमन्यन्तेत्यर्थः ॥ २ ॥ ततः प्रावृट् वर्षर्तुं तं प्रावृषं विशिनष्टि-सर्वेषां प्राणिनां समुद्भव उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्यां विद्योतमानाः विद्युद्भिर्द्योतमानाः परिधयो दिशो यस्यां विस्फूर्जितं वज्रनिर्घुष्टं नभस्तलं यस्यां सा प्रावृट् प्रावर्त्ततेत्यन्वयः ॥ ३ ॥ सान्द्रैरिति । सान्द्रैर्निविडैर्नीलाम्बुदैर्विद्युद्गर्जितसहितैराच्छन्नम् अत एवास्पृष्टानि ज्योतींषि सूर्यचन्द्रादीनि यस्मिंस्तद्व्योम सगुणं ब्रह्मेव बभौ, यथा प्रकृत्या तिरोहितं ज्योतिर्ज्ञानरूपत्वाद्विषयप्रकाशकधर्मभूतज्ञानं यस्य तत् सगुणं ब्रह्म गुणत्रयवश्यं ब्रह्म गुणतो बृहत्त्वार्हं जीवस्वरूपं भाति तद्वदित्यर्थः । अनेनाकाशस्य यावच्छरदं नीलाम्बुदविद्युत्स्तनयित्नुसम्बन्धवज्जीवस्य यावन्मुक्तिगुणवश्यत्वं सूर्यादिज्योतिस्स्थानीयधर्मभूतस्य सङ्कोचेन प्रसराभावः व्योमवत्स्वतो निर्मलस्यागन्तुकमालिन्यं चेति तदपनोदकमोक्षोपाये यतितव्यमित्यभिप्रेतं ब्रह्मशब्देन मुक्तिदशायां ज्ञानद्वारा बृहत्वमस्तीति सूचितम् ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किं तत्कर्मेति तत्राह—दावाग्नेरिति । चशब्दः समुच्चये दावाग्निमोक्षं प्रलम्बवधं चेति द्वयमेवेत्यर्थः ॥ १ ॥ एकश्चशब्दः समाहारे "चोन्वाचये समाहारः" इति यादवः व्रजं गतौ कृष्णरामौ देवप्रवरौ मेनिरे इत्यन्वयः ॥ २ ॥ नारायणभक्तिवैशद्यवैशद्यदृष्टान्तत्वेन प्रावृडृतुं वर्णयत्वस्मिन्नध्याये ततः ग्रीष्मर्त्वनन्तरं सर्वेषां सत्त्वानां स्थावरजङ्गमलक्षणानां पदार्थानां समुद्भवो यस्यां सा तथा "सत्त्वं द्रव्ये सत्ता स्वभावयोः" इति यादवः विद्योतमानाः तडिदन्तरे प्रकाशमानाः परिधयः परिवेषा यस्यां सा तथा विस्फूर्जितम् अशनिगर्जनोपेतं नभस्तलं यस्याम् एवंविधा प्रावृट् प्रावर्त्तत इत्यन्वयः ॥ ३ ॥ प्रावृड्गुणान्तरं दर्शयति—सान्द्रेति । जलेन सान्द्रनीलाम्बुदैराच्छन्नं व्योम नभो वभौ विद्युता स्तनयित्नुना गर्जितेन सहितैः अत एवास्पष्टसूर्यज्योतिः "परायणं ज्योतिरेकं तमन्तम्" इति श्रुतिः । कथमिव सगुणं चतुर्मुखाख्यं ब्रह्मेव ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विस्फूर्जितं गर्ज्जितम् ॥ १–४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उपमानेन वस्तूनामुपादेयत्वहेयत्वे । विंशे प्रावृट्शरच्छोभा वर्णनेऽद्योतयन्मुनिः ॥

देवप्रवराविति प्रेमप्राबल्येन स्वसम्बन्धस्य दार्ढ्यात् पूर्ववन्माधुर्य्यस्यैव पोषणं नत्वेषामैश्वर्य्यज्ञानं ज्ञेयं तत् कार्य्यस्य स्वसम्बन्धशैथिल्यस्य तत्संयोगे कुत्राप्यश्रवणात् ॥ २ ॥ ततो ग्रीष्मानन्तरं सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां समुद्भव उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्यां सा प्रावृट् वर्षा परिधिश्चन्द्रार्कयोर्मण्डलं विस्फूर्जितं गर्जितं तद्युक्तं नभस्तलं यस्यां सा ॥३॥ सान्द्रैर्निबिडैर्नीलाम्बादैर्विद्युद्गर्जितसहितैराच्छन्नमाच्छन्नत्वेन प्रतीतं सगुणं ब्रह्मसमष्टिविराडात्मा विद्युद्गर्जिताम्बूदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा अत्र व्योम्नो निर्लेपत्वेन वस्तुतस्त्वनाच्छन्नत्वेनाम्बुदाद्यधिष्ठानमात्रत्वाद्ब्रह्मणा सहोपमेयं योगिभिः स्वीयोपास्यदृष्ट्या उपादेया ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

विंशे गोपगोपीभ्यः प्रलम्बवधादिप्रमुकर्मनिवेदनं प्रावृट् शरच्छोभा सखस्य हरेः प्रावृट् क्रीडा च निरूप्यते—तयोः इति ॥ १–२ ॥ सर्वेषां सत्त्वानां सम्यगुद्भवः उत्पत्तितो जीवनतश्च यस्मात् विद्योतमानाः परिधयः दिशो यस्याम् विस्फूर्जितं संक्षुभितं नभस्तलं यस्यां सा ॥ ३ ॥ तदानीं सान्द्रैर्निबिडैर्विद्युद्गर्जितसहितैर्नीलाम्बुदैराच्छन्नं व्योम सगुणं गुणवश्यं ब्रह्म बृहद्ज्ञानगुणं जीवतत्त्वमिव अस्पष्टज्योतिः आभाति यथा वृतज्ञानो जीवस्तथावृतसूर्यादिज्योतिराकाशो वभावित्यर्थः । विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वादिभिरुपमा ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उपादेयत्वहेयत्वे वस्तूनामुपमानतः । बोधयन् विंशके ब्रूते प्रावृट्शरदृतुश्रियम् ॥

गोपास्तस्य सखायः स्त्रीभ्यः स्वस्वमातृभ्यः ॥ १ ॥ गोपाश्च तासां श्वश्र्वः देवप्रवरौ निखिलदेवश्रेष्ठौ साक्षात् प्रभुं मेनिरे न च तत्र वात्सल्यशैथिल्यं किन्तु तत्पुष्टिरेव स्वात्मजे निखिलक्षितीशे सति तन्मात्रादीनां तत्र वात्सल्यपुष्टेरेव प्रतीतेरित्युक्तम् ॥२॥ तत्र तावद् वर्षावर्णनं द्वाविंशत्या, ततो ग्रीष्मानन्तरं प्रावृट् वर्षा प्रावर्त्तत सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां समुद्भव उत्पत्तितो जीवनश्च वृद्धिर्यस्यां सा परिधिश्चन्द्रार्कयोर्मण्डलं विस्फूर्जितं संक्षुभितं नभस्तलं वियद्यस्यां सा ॥ ३ ॥ विद्युद्गर्जितसहितैः सान्द्रैर्नीलाम्बुदैराच्छन्नं व्योम वभौ अस्पष्टानि ज्योतींषि यत्र तत् सगुणं ब्रह्मेव समष्टिजीवचैतन्यमिवेति विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा हिरण्यगर्भोपासकैरुपादेया अम्बुदादिभिर्व्योम्न इव गुणैर्हिरण्यगर्भस्यालेप इति तद्भावः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ ॥ व्यासोच्छिष्टमिदं जगदित्यादेरेतदध्याये वैदिकावैदिकनिदर्शनप्रदर्शनेन प्रावृट्ऋतुवर्णनोपदेशेन कवीनां सरससरणीं करुणातो दर्शयति व्यास इति शुको वक्ति ॥ श्रीशुक इति । ततो ग्रीष्मर्तुगमनानन्तरं सर्वसत्त्वानां नानाविधस्थावरजङ्गमानां समुद्भव उत्पत्तिर्यस्यां सा विद्योतमानाः प्रकाशमानाः परिधयः परिवेषा यस्यां सा विशेषेण स्फूर्जितमशनिध्वनिर्यस्मिंस्तन्नभस्स्थलं यस्यां सा प्रावृट् वर्षर्तुः प्रावर्तत ॥ १ ॥ सविद्युत्स्तनयित्नुभिः । अत्र विद्युतश्च स्तनयित्नुः शब्दश्च तत्सहितैः । स्तेनयित्नुः पयोवाहे तद्ध्वनाविति विश्वः । सान्द्रा जलेन नीलाम्बुदा नीलमेघास्तैराच्छन्नं नभोऽत एवास्पष्टं ज्योतिर्यस्मिन्सूर्यादिस्तत्सत् । सूर्यो ज्योतिरुत्तरमित्यादेः । व्योम सगुणं ब्रह्म नारायणाख्यं दुर्मदजलदैराच्छन्नस्पष्टज्योतिरनाभिव्यञ्जितत्वज्ञानं तथा वभौ । कार्यब्रह्म चतुर्मुखाख्यमिति वेति पूर्वे । हरिस्तु निर्गुणं ब्रह्म श्रीब्रह्म सगुणं स्मृतेति तृतीयतात्पर्योक्ते रमा च ॥ २ ॥ यद्भूम्यास्तद्गतमुदयम् ।

स्वतन्त्रोऽयमुदकवाच्युदशब्दः । तदात्मकं वसु धनं स्वगोभिरार्जनविसर्जनकरणमित्युभयान्वयि । स्वगोभिः स्वकिरणैरष्टौ मासान्निपीतम् कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति द्वितीया । पर्जन्यः परस्य सस्यादेर्जननाद्यथायोग्यतममत्र सूर्यः । काल आगते सति तद्वस्तु मोक्तुमारेभे आरब्धवान् । आदित्याज्जायते वृष्टिरित्यादेः । अत्र पर्जन्यः परैः शत्रुभिर्जन्यं युद्धं येन सोऽथवा परे जन्योत्तरत्रोत्पत्त्यामाना येन सः । अनेनेदानीं मृधे मारिता येनेति यावत् काले ज्ञानवत्यागते सत्यष्टौ मासान्निपीतं नाम सङ्गृहीतं वसु धनं मोक्तुं दातुं यथाऽऽरभते तथेति शत्रुजिद्राजातिदर्शनमत्रेति ज्ञेयम् । पूर्वत्रोत्तरत्र च निदर्शनप्रदर्शनानुगुण्यात् । अन्यथा ततः प्रावर्तत प्रावृडित्यनेनैवाष्टौ मासान्निपीतमित्यनेन च काललाभात्काल आगत इत्यवक्तव्यं स्यात् । वसुशब्दस्वारस्याच्च । जननात्परसस्यादेः पर्जन्यो मेघसन्ततिरिति गीतातात्पर्योक्तेः । पृषोदरादित्वाद्रेफाकारलोपः । पर्जन्य इत्युणादिनिपातितः । पर्जन्य इवेन्द्र इवेति वा रवेर्वासवनिदर्शनमिति वा । पर्जन्यो वासवे गर्जदभ्रे जीमूतनिःस्वन इति शब्दरत्नाकरोक्तेरुक्तेः पर्जन्यो मेघनिर्घोषे वासवे गर्जदम्बुद इति नानार्थरत्नमालायां च । पर्जन्यो मेघशब्दे स्यादध्वनदम्बुदशक्रयोरिति विश्वः ।। ३ ।। तटित्वन्तस्तटितो येषां सन्तीति सौदामिनीयुक्ततामात्रबोधकः । झय् इति मो यत्वं तसाविति भसंज्ञेति न जश्त्वम् । चण्डश्वसनेन वेपिताः कम्पिता महामेघाः प्राणिनामम्बु मुमुक्षुः । करुणाः करुणयन्तीति करुणाः कृपावन्तः प्राणिनां कृच्छ्रजीविनां जीवनं जीवयन्तीति जीवनं ज्ञानमिव पर्जन्य इवेति वा सोऽपि दातोदकस्य करुणा अम्बु भक्तिमिवेत्यम्बुवदग्रहणादिति व्याख्यायां तत्त्वप्रदीपकाख्यायां स्नेहात्मकत्वादम्बुदस्तेन मानसं स्नेहं लक्षयतीत्युक्तेरम्बुपदं स्नेहपदलक्षकं तेन च भक्तिर्लभ्यते मानसिकस्नेहरूपिणीति युक्तमम्बुदपदेन भक्तिग्रहणम् । जीवनं भुवनं वनमित्युक्तेरेतत्पक्षे जीवनमुदकम् ।। ४ ।।

श्रीसुबोधिनी

लीला सप्तदशेऽध्याये निरुद्धैः सहितोच्यते । वर्षाशरत्कालयोगात् सर्वतत्त्वं निरूप्यते ।। १ ।।
दोषापगमन एव सर्वतत्त्वस्य बोधनम् । ज्ञाते च तत्त्वे सक्रीडा प्राजापत्ये निरूप्यते ।। २ ।।
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु स्नेहः कृष्णे हि युज्यते । तादृशैश्च मुदा क्रीडा तच्चाप्यत्र निरूप्यते ।। ३ ।।

पूर्वाध्याये गोष्ठे समागता इत्युक्तं, ततः पूर्वापेक्षया यो विशेषः स वक्तव्यः, तमाह द्वाभ्यां, तयोरिति रामकृष्णयोः प्रलम्बवधाग्निविमोचनलक्षणमद्भुतं सर्वलोकोत्तममश्रुतमदृष्टं च कर्म स्त्रीभ्यः समाचख्युः, तत् कर्म निर्दिशति, दवाग्नेरात्ममोक्षः प्रलम्बस्य च वधः, यथा यथा माहात्म्यं भगवतो ज्ञायते तथा तथा शान्ततया कथ्यत इति गोपालाः शनैः स्वगृहे समागत्य स्त्रीभ्य एवोक्तवन्तः, तासामपि सर्वथा भगवत्परत्वाय, तथा सति तत्सङ्गदोषो न भवेदिति तेषां विमर्शः, प्रसङ्गाद् वृद्धानामपि श्रवणम् ।। १ ।। ततः सर्व एव गोकुलवासिनो भगवन्माहात्म्यं ज्ञातवन्त इत्याह गोपवृद्धाश्चेति चकारादतिमूढा बालाश्च गोप्यश्चकारादन्याः सर्वास्तदुपाकर्ण्य भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा विस्मिता जाताः, तस्मिन् कर्मणि श्रुते भगवति यज् ज्ञानं जातं तदाह मेनिरे देवप्रवराविति, देवानामपि प्रकृष्टा वरा वरणीया देवानां मध्ये प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयौ पुरुषोत्तमरूपावनुवारादित्येतदर्थं कृष्णरामावितिनामग्रहणं, दृष्टानुपपत्तिं परिहरति व्रजं गताविति, व्रजं समागतौ यथा महाराजः कदाचित् क्वचिद् गच्छत्येवं भगवानपि व्रजमागत इति ।। २ ।। एवं तेषां ज्ञानानन्तरं भगवत्क्रीडार्थं प्रावृट् समागतेत्याह तत इति द्वाविंशत्या, आदौ स्वयं प्रावृट् समागता, ननु प्रावृष्यागतायां का भगवल्लीला भविष्यतीत्याशङ्क्याह सर्वसत्त्वसमुद्भवेति, सर्वेषामेव सत्त्वानां सम्यगुद्भवो यत्रेति, सर्वजीवेष्वेद हि भगवत्क्रीडा तदर्थं वा सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद् वा, तदा भगवान् सत्त्वेन सात्त्विकैः सह क्रीडिष्यतीति कार्यतस्तस्या भगवत्क्रीडौपयिकत्वमुक्त्वा स्वरूपतोपि क्रीडौपयिकत्वमाह विद्योतमानाः परिधयो यत्रेति, परिधयः परितो वेष्टनदिशस्ताः सर्वा एवान्यदाप्रकाशमाना अपि वर्षास्वागतास्वेव विद्योतमाना विशेषेण प्रकाशमाना भवन्ति, विस्फूर्जितं नभस्तलं च भवति, अनेन भगवत इयं सम्भृतिरूपा निरूपिता यस्यामागतायामुपयर्धः सर्वतश्च सर्वे गुणा उद्बुद्धा भवन्तीति यथा महाराजसम्भृतौ समागतायां सर्वो ग्राम उद्बुद्धो भवति, भूमेर्गुणाः सर्वे जीवा दिशो विद्युद् गर्जितान्याकाशस्य, एतान्येव तम सत्त्वरजांस्यपि ।। ३ ।। तस्यामागतायां सर्वा भगवच्छक्तयः क्रीडौपयिक्यः समागता इति ज्ञापयितुं दिव्यानेकाविंशतिधर्मानाह सान्द्रेत्यादितावद्भिः श्लोकैः, "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोक" इतिश्रुते "रेकविंशतिर्वै देवलोका" इति च एतेष्वेव सर्वप्रतिष्ठा "द्वादश मासा पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका आसावादित्य एकविंश" इति च, तत्र प्रथममादित्यवत् प्रकाशमानं सगुणं ब्रह्म दृष्टान्तेन प्रावृट् स्पष्टयतीति प्रावृट्कृतं ब्रह्मदृष्टान्तमाह सान्द्रेति, "आकाशशरीरं ब्रह्म"तिश्रुतावाकाशस्य शरीरत्वं निरूप्यते । तत् प्रसिद्धकृष्णस्वरूपतुल्यं न भवतीति श्रुतिबाधायां प्रावृट्कालेन तत्समर्थनं क्रियते, सत्यमियं श्रुतिराकाशोभगवद्रूपतुल्य इति, तल् लोकाः प्रत्यक्षविरुद्धं नाङ्गीकुर्वन्तीति विद्यमानानेव गुणान् समयान्तरे गुप्तान् प्रकटीकरोति, तान् गुणानाह सान्द्राश्चिक्कणाः किर्मीरिता ये नीलाम्बुदाः सजलजलदा अवयवप्रायास्तैः सहितं व्योम, तथापि न शरीरतुल्यत्वं वर्णमात्रेणैव साम्यादिति विशेषमाह सविद्युत्स्तनयित्नुभिरिति, विद्युत् पीताम्बरस्थानीया आभरणस्थानीया च, नानाभूषणगीतवेणुनादादिरूपशब्दसिद्ध्यर्थं स्तनयित्नुसहिताः, गर्जितानि नानाविधानि भवन्ति तेना"काशशरीरं ब्रह्म" भवति, ननु शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयं वहिराच्छन्नतेजो भवति यथा भगवाँल्लोकव्यामोहनार्थं जात इव दृश्यते तदभावात् कथमाकाशस्य भगवद्रूपतुल्यतेत्याशङ्क्याह-

स्पष्टज्योतिरिति, न स्पष्टानि ज्योतींषि सूर्यादीनि यत्र, तथाप्यनेकविधवस्त्रगृहगोपिकाभिर्वेष्टितो भगवान् भवति तदभावात् कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याहाच्छन्नमिति, तदप्यवान्तरमेघैराच्छन्नं भवति, अतः सगुणमनन्तगुणपरिपूर्णं ब्रह्म भगवद्रूपं यथा तथा व्योम बभौ, अतः श्रुतिः प्रमाणमितिभावः, सत्त्वरजस्तमोगुणपक्षेप्याकाशेऽप्यत्रमतःप्रकाशा भवन्ति भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीला प्रबोधनञ्चेति ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

सप्तदशाध्यायार्थकथनं, लीला सप्तदशेऽध्याय इत्यादिना । ननु सर्वा लीला निरुद्धभक्तसहितेत्यत्र को विशेष इति चेत् । उच्यते । प्रलम्बवधदवाग्निमोचनाभ्यां वयस्यानां तदुक्तत्च्छ्रवणेन व्रजस्थानां च पूर्वस्माद्विशिष्टा भगवदासक्तिरेव विशेष इति । अपरञ्च । निरुद्धभक्तसाहित्यं प्रभोरनुक्त्वा लीलाया यदुक्तं तेन दिवा स्वामिनीनामिव रात्रौ वयस्यानामाधुनिक्याप्यासक्त्या मिथो भगवल्लीलागानेन तद्भावापत्तिरेव जाता । एवं सति प्रभुर्यां यां लीलां करोति, सा सा गोपानां हृदये तिष्ठतीति ज्ञाप्यते । सर्वतत्त्वमिति । लीलामध्यपातिनां सर्वेषामित्यर्थः । नन्वितः पूर्वमपि तयोर्भूतत्वादस्माद् ग्रीष्मात्पूर्वमेवैतयोः कथं न निरूपणं, तत्राहुः दोषापगमन इति । सत्क्रीडेति । मारणार्थमपि दैत्यासम्बन्धिनीत्वात्केवलानन्दरूपत्वमेव क्रीडायाः सत्त्वम् । प्राजापत्य इति । 'यो वै सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायत्तं वेदे'तिश्रुतौ यज्ञात्मकप्रजापतेः सप्तदशत्वमुक्तमिति तत्समानसंख्याकेऽध्याय इत्यर्थः । तत्संगदोषो न भवेदिति । गोपालानां प्रभावत्यासक्त्या रात्रावपि निरन्तरं गुणगान एव क्रियमाणे मात्रादयः स्नेहाज्जागरणस्य दुःखत्वं ज्ञात्वा कदाचिन्निवारयेयुस्तासां प्रभावनासक्तिश्चेत्स्यात् । एतल्लीलाद्वयश्रवणेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सुदृढस्नेहो जातस्तासामपीति तासामप्येतदेव रोचत इति न प्रतिबन्धकत्वं स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥ सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद्वेति । अप्राकृते भगवद्धर्मात्मके सत्त्वे यथा भगवदाविर्भावोंऽशावतारे तथा सच्चिदानन्दात्मकतल्लीलाया अपि तत्रैवाविर्भावः । एवं सति सर्वेषां लीलापदार्थानां सम्बन्धी यः सत्त्वगुणस्तस्याविर्भावे यदधिष्ठेयानामपि तत्राविर्भावाल्लीला सम्यक् सम्पद्यत इति कार्यतो लीलोपयोगित्वं प्रावृषः । सत्त्वव्यवधानेन जीवानां साक्षात्प्रभुसम्बन्धाभावमाशङ्क्याहुः तदा भगवानिति । धर्मेण साक्षाद्धर्मिभिरपि क्रीडिष्यतीत्यर्थः । एतान्येवेति । अप्राकृतानि भगवद्धर्मरूपाणीति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥ दिव्यानिति । अस्याः पूर्वं संभृतिरूपत्वमुक्तम् । सा न लौकिकी, किन्तु लोकेऽप्यलौकिको यः स्वर्गो लोकस्ततोऽप्यलौकिकी सच्चिदानन्दरूपत्वादिति ज्ञापयितुं स्वर्लोकं ज्ञापयितुं स्वर्लोकसमसंख्यैः श्लोकैरुच्यत इत्यर्थः । तेनेतरलीलातोपि वैलक्षण्यमायाति । सान्द्रेत्यादि श्लोकसंख्यातात्पर्योक्तौ, एकविंशो वा इत इत्यारभ्य एकविंश इति चेत्यन्तम् । यथास्माल्लोकाद्विलक्षणः सुखरूपो वेदैकसमधिगम्योऽस्त एव अलौकिकश्च स तथा अयमपीति ज्ञापनाय तत्संख्यासमानसंख्याकैः श्लोकैरुच्यत इति भावः ॥ ४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

सप्तदशाध्यायतात्पर्यं निरूपयन्तोऽत्र विशेषरूपां प्रकरणसङ्गतिं बोधयन्ति लीलेत्यादि, ननु विशेषरूपा सङ्गतिः कथमवगन्तव्येत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति नन्वित्यादि, अत्रेति पुनः प्रतिज्ञायां, लीलाया भक्तसाहित्यं व्युत्पादयन्त्यपरं चेत्यादि, तद्भावापत्तिरिति स्वामिनीभावापत्तिः तदेव स्फुटीकुर्वन्त्येवमित्यादि, एवमत्र स्कन्धार्थसङ्गतिरूपं विशेषद्वयमुक्तं, ननु लीलैव चेन् निरूप्या तर्हि तावन्मात्रमस्तु वर्षादिवर्णनस्य किं प्रयोजनमत आहुर्वर्षेत्यादि, तथा च सर्वतत्त्वनिरूपणार्थं तद्वर्णनमित्यर्थः, किं सर्वतत्त्वमित्याकाङ्क्षायां तदर्थं टिप्पण्यामाहुर्लीलेत्यादि, सर्वेषामित्यृतुवर्णन उक्तानां सर्वेषां प्रकरणसङ्गतिरूपमुपजीवकत्वं व्युत्पादयन्ति नन्वितः पूर्वमित्यादि, तथा चाध्यायपञ्चकोक्तलीलाभिः साधारणानां दोषापगमे सति लीलास्थसर्वपदार्थतत्त्वबोधनं, शेषं स्पष्टं, प्राजापत्य इत्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्यो वै सप्तदशमित्यादि, तथा चात्राध्याये वर्षाशरदोर्नूतनसृष्टेर्वक्तव्यत्वादस्य तयात्वमित्यर्थः, सुबोधिन्यां ननु तथापि मुख्यलीलायां कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षयामाहुर्माहात्म्येत्यादि, तच्चाप्यत्रेति तदिति पञ्चम्यन्तमव्ययं चोवधारणे तथा च तस्यामपि लीलायामानन्देनोपयोग इति सोऽप्यत्र द्वाभ्यामुक्त इत्यर्थः । तयोरित्यत्र विशेष इत्यादि लीलायां यो विशेषः स वक्तव्य इति तं द्वाभ्यामाहेत्यर्थः, तथा सति पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञापनं विशेषत्वेन फलिष्यति, तत्सङ्गेत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्गोपालानामित्यादि ॥ १ ॥ तत इत्यत्र सर्वसत्त्वसमुद्भवेत्यस्य तृतीयेऽर्थे सत्त्वगुणोद्बोधस्योक्तत्वात् तस्मिन् सति वार्षिक्या लीलायाः प्राकृतीत्वशङ्का स्यादिति तन्निवारणयात्रत्यसत्त्वगुणस्वरूपं टिप्पण्यामाहुरप्राकृतेत्यादि, इदं ब्रह्मसूत्रभाष्ये तृतीयाध्याये प्रपञ्चितं, जन्मप्रकरणे 'चात्मा कार्यं चे'तिकारिकायां च, अप्राकृतगुणेषु बन्धकत्वरहितं कार्यतो लीलोपयोगित्वं स्फुटीकर्तुं लक्षणं ज्ञेयं तेन न शङ्कालेशः, गीतोक्तमेव तदा भगवानित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुर्धर्मेणेत्यादि, अयं सत्त्वेन सात्त्विकैरित्यस्यार्थः, सुबोधिन्यां वेष्टनदिश इति क्षितिजेन या प्रतीयन्ते ता इत्यर्थः, आगतास्विति सति सप्तमी, विस्फूर्जितमिति गर्जायुक्तं, टु ओ स्फूर्जा वज्रनिर्घोषे, एतानित्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ ३ ॥ सान्द्रेत्यस्याभासे दिव्यानिति तस्यार्थं टिप्पण्यामाहुरस्या इत्यादि, उच्यत इति "स्वर्गः सत्त्वगुणोदय" इति वाक्येन सत्त्वस्य सच्चिदानन्दात्मकलीलाप्रकाशकत्वात् तथा, सुबोधिन्यां ननु सङ्ख्यया कथं दिव्यत्वसूचनमित्यतः श्रुतिं आहुरेकविंशेत्यादि, तथा च सङ्ख्यया सङ्ख्येयसूचनाद् दिव्यत्वसूचनमित्यर्थः, अत्र प्रथमश्रुतावेकस्यैव स्वर्गस्यैकविंशत्वमायाति न त्वेकविंशतित्वमित्यतो द्वितीयश्रुतिः सर्वप्रतिष्ठेति

'सर्व'स्य सत्त्वधर्मस्य प्रतिष्ठेत्यर्थः, देवलोकानां तावत्त्वेप्येकस्या वर्षायास्तावद्धर्मसम्पादकत्वं नायातीत्यतः कालत्वेन रूपेण तस्यास्तथात्वबोधनाय तृतीया श्रुतिरिति ज्ञेयं, एकविंशो वा' इत्यस्य टिप्पण्यामयमिति वर्षतु'रित्यर्थः, सान्द्रे त्यत्र सुबोधिन्यामादित्यवदिति सप्तम्यर्थे वतिः, सगुणमिति साकार स्पष्टयतीति, व्योम्नि स्पष्टयति, आहेति व्योम्न्याहः गुणत्रयसहितं च प्रकटीकरोतीति भगवानिव कदाचित् प्रावृट् प्रकटीकरोति, मूलरूपाभिप्रायेण दृष्टान्तार्थमुक्त्वावताररूपाभिप्रायेणाप्याहुः सत्त्वरज इत्यादि, एवमनेन पद्येनास्याः श्रुतेस्तात्पर्यकथने द्युलोकाधाराकाशस्य तत्त्वं निरूपितं, तेन तस्य वर्षासु सर्वदा भगवत्स्मारकत्वज्ञानं क्रीडोपयोगीति ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सप्तदशेध्याये कारिकासु दोषापगमन इति दोषनिवर्तकलीलाश्रवणेन श्रोतॄणां तत्तद्दोषापगमने इत्यर्थः, अग्रेपि ये भविष्यन्ति कीर्तनात् तेऽपि तादृशा' इति वाक्यादिति भावः, माहात्म्येति लौकिकस्नेहव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः, कृष्णे हीति हि यतो निर्दोषानन्दे तादृश एव स्नेहो युज्यते तादृशस्नेहयुक्तैरेव च क्रीडा युज्यते, अतो हेतोस्तच्चापि देवप्रवरत्वरूपमाहात्म्यज्ञानमपि निरूप्यत इत्यर्थः। गोपवृद्धाश्चेत्यत्र देवानामपीति मध्य इति शेषः, तेषामपि मध्ये ये प्रकृष्टा वरणीयाः ते के इत्यत आहुर्देवानामिति, प्रकृष्टा इति वरा इति शेषः, एतदन्तेन तदेवानूद्य ते इन्द्रादय इत्युक्तं, इदमर्थकथनं ज्ञेयं, विग्रहस्तु देवेषु प्रवरा देवप्रवरास्तेषां सम्बन्धिवरौ देवप्रवरौ एकस्य वरशब्दस्य छान्दसत्वात् पृषोदरादित्वाद् वा लोपः ॥ २ ॥ तत इत्यत्र ननु प्रावृडागमनं प्रथमश्लोके उक्तं तथा च द्वाविंशतिश्लोकानां तथाभासोनुपपन्न इत्यत आहुः आदाविति, द्वाविंशतिश्लोकेष्वादावित्यर्थः, स्वयमिति धर्मिरूपेत्यर्थः तथा च प्रमश्लोके धर्मिरूपेणागमनमग्रिमश्लोकेषु तु धर्मरूपेणेतिविभागेन द्वाविंशतिश्लोकैरागमनमेवोक्तमित्यर्थः, सर्वजीवेष्वेवेति आत्मरतौ क्रीडा न सम्पद्यते अतः स्वरूपव्यावर्तनायैवकारः, हरिलीलायाः शास्त्रार्थत्वेन दुःखनिवारणार्थं क्रीडा, दुखित्वं तु जीवधर्म इति तेष्वेव लीलेतियुक्तिबोधनार्थं हिशब्दः, मण्डूकादिषु विशेषतो लीलाया असम्भवात् पक्षान्तरमाहुः तदर्थं वेति, तद्द्वारार्थमित्यर्थः, द्वाविंशतिश्लोकेषु सर्वत्रजीवोद्भवो नोक्त इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद्वेति, यथा सर्वेषामंशानां समागमनादत्र भगवतः पूर्णत्वं तथा या या अंशरूपा लीलास्तदुपयोगिनश्चांशरूपाः पदार्थास्तासां तेषां च तदधिष्ठानसत्त्वाविर्भावादस्या लीलायाः पूर्णत्वमितिभावः, अंशावतारे सत्त्वस्य तत्तदाकारतया आवरकत्वेन स्थितिः, अत्रास्तरणवदधिष्ठानत्वमिति विभेदः, अत एव सर्वपदं, सर्वेषां ये सत्त्वगुणाः भगवल्लीलाधिष्ठानयोग्या अग्रिमश्लोकोक्तव्योमादिषु तत्सम्पादकत्वं प्रावृष इति तत्सत्त्वमधिष्ठानत्वादिना धर्मो येषां भक्तानां ते सात्त्विका इति ज्ञेयं, दिक्प्रकाशेन स्थलज्ञानाल् लीलाविषयाणामागमनं भवति, गर्जितेन भयात् प्रतिबन्धकानां व्रजाद् बहिरनागमनं च भवति, एवं स्वरूपतः क्रीडोपयोगित्वं ज्ञेयं, अनेनेति पदत्रयेणेत्यर्थः, लीलापदार्थत्वेन सच्चिदानन्दात्मप्रावृषो निरूपणे तत्तद्धर्मनिरूपणार्थं श्लोकान्तरं वक्तव्यं भवेदित्याशङ्क्याहुः एतान्येवेति, जीवेष्वानन्दाविर्भावात् तद्धर्मत्वं, विद्युतां सत्ताज्ञापकत्वात् तद्धर्मत्वं, गर्जनस्य चित्कार्यत्वात् तद्धर्मत्वं, अन्योन्यमन्योन्यधर्मत्वमपि वर्तत इति अपिशब्दः ॥ ३ ॥ एतेष्वेवेति एकविंशतिधर्मेष्वेव सर्वेषां भगवद्धर्माणां प्रतिष्ठेत्यर्थः, प्रकाशमानमिति सर्वपदार्थेष्वितिशेषः, प्रकाशते सर्वत्र परन्तु स्पष्टं दृष्टान्तेनैव भवतीत्यर्थः, ब्रह्मदृष्टान्तमिति भावप्रधानं, आकाशे ब्रह्मदृष्टान्तत्वमाहेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

सप्तदशाध्यायार्थोक्तौ प्राजापत्ये निरूप्यते इति "सप्तदशो वै प्रजापति"रिति श्रुतेः प्रजापतिशब्देन सप्तदश सङ्ख्योच्यते, तथा च सप्तदशाध्याये निरूप्यत इत्यर्थः ॥ मेनिरे देवप्रवरावित्यस्य विवृतौ देवानां मध्ये प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयाविति, देवप्रवरावित्यत्र प्रशब्दमात्रस्य प्रकृष्टवाचकत्वं, निरुक्तव्युत्पत्तौ तथैव व्यवहारात्, "अप्यक्षरसाम्येन निर्ब्रूयात् न संस्कारमाद्रियेत्"दित्यनुशासनात्, अत एव "भाति सर्वेषु वेदेषु रतिः सर्वेषु जन्तुषु तरणं सर्वभूतानां तेन भारतमुच्यत" इति भारतनिरुक्तौ एकाक्षरनिर्देशेन सकलशब्दार्थो बोध्यते, तथा च देवानां मध्ये ये प्रशब्देन प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषां वरणीयौ कृष्णरामावित्यर्थो भवति ॥ २ ॥ सान्द्रनीलाम्बुदैरित्यस्याभासे दिव्यानेकविंशतिधर्मानाहेति "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोक" "एकविंशतिर्वै देवलोका" इति श्रुतेरेकविंशतिविधत्वं स्वर्गलोकस्य तत्समानश्लोकसङ्ख्यया भगवदीयस्वर्गत्वं व्रजस्थप्रावृषः सूच्यते, तथा च स्वर्गे यथा परमोत्कृष्टभोगाः सुकृतिनां तथा शुद्धपुष्टिभक्तानां व्रजस्थप्रावृषीति परमभोगाधिकरणत्वं निरूपितं, अस्पष्टज्योतिरित्यस्याभासे शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयमिति भगवतः आनन्दात्मकशरीरं अन्तस्तेजोमयं मायाजवनिकाच्छन्नत्वात्, अत एव बहिराच्छन्नतेजो भवति आकाशोप्यन्तस्तेजोमयो बहिराच्छन्नतेजस्को यदि भवेत् तदा ब्रह्मशरीरतुल्यो भवेदित्यर्थः, न स्पष्टानि ज्योतींषि रूपादीनि यत्रेति तथा च भगवद्रूपं यथा मायाजवनिकाच्छन्नत्वादस्पष्टतेजस्कं तथाकाशोपि नीलाम्बुदैराच्छन्नत्वादस्पष्टसूर्यादितेजस्को भवतीत्याकाशस्य तौल्यं युक्तमेव, भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीलाप्रबोधनं चेतीति प्रबोधनं सत्त्वगुणकार्यं गोपिकालीला रजोगुणकार्यं लोकव्यामोहनं तमोगुणकार्यं, अयमर्थो "ब्रह्मेव सगुणं बभा"वित्यत्र गुणशब्दस्य सत्त्वादिगुणवाचकतामादायोक्तः ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

सप्तदशाध्याये का० १५६३–१५८३। अध्यायार्थमाहुर्लीलेत्यादि सर्वतत्त्वमिति लीलामध्यपातिनां सर्वेषामित्यर्थः, दोषापगमन इत्यादि दोषाणां देहाद्यध्यासादीनामपगमे सत्येव सर्वतत्त्वस्य लीलामध्यपातिनां सर्वेषां तत्त्वस्य बोधनं, तत्त्वे ज्ञाते सति सत्क्रीडा आनन्दरूपा क्रीडेत्यर्थः, मारणार्थमपि दैत्यासम्बन्धिनीत्वात् केवलानन्दरूपत्वमेव क्रीडायाः सत्त्वं प्राजापत्ये इति सप्तदशेऽध्याये इत्यर्थः, 'मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गता'विति माहात्म्यज्ञानप्रयोजनमाहुर्माहात्म्येत्यादि, निर्दोषानन्दरूपे कृष्णे निर्दोष एव स्नेहो युज्यते युक्तो भवति, तच्चापीति माहात्म्यज्ञानमपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

विंशे प्रावृट्शरच्छोभावर्णनं तत्र चाद्भुता ॥ गोपारामयुजो लीला कृष्णस्य विनिरूप्यते ॥ १ ॥

ततो यज्जातं तदाह–तयोरिति। रामकृष्णयोस्तदद्भुतं कर्म गोपाः स्त्रीभ्यः स्वस्वमातृभ्यो यशोदादिगोपीभ्यः सम्यगसङ्कोचेन आ सर्वतो विस्तृतं चख्युः कथयामासुः। 'किं तत् ?' तत्राह–दावाग्नेरात्मनो मोक्षणं कृष्णस्य कर्म प्रलम्बवधं च रामस्य कर्मेति ॥ १ ॥ तत् गोपैर्वर्णितं तयोः कर्म उपाकर्ण्य श्रुत्वा विस्मिताः गोपवृद्धा गोप्यश्च व्रजंगतौ व्रजे अवतीर्णौ कृष्णरामौ देवप्रवरौ 'देवा ब्रह्मादयः, तेषां प्रवरौ श्रेष्ठौ पूज्यौ' भगवन्तौ मेनिरे। अनेन 'ज्ञातिभिर्मुदितात्मभिः। अनुगीयमान' इत्यादिना भगवत्सखीनां गोपानां तत्प्रभावदर्शनेन अत्यासक्त्या अहर्निशं निरन्तरं तद्गुणगानं सूचितम्। तत्र यदि तत्पित्रादीनां तत्प्रभावज्ञानाभावेन तत्रानासक्तिः स्यात्तदा तैस्तद्गानं विहितं स्यादिति शङ्का निरस्ता। तेषामपि तत्प्रभावश्रवणदर्शनादिना माहात्म्यज्ञानपूर्वकसुदृढसर्वतोऽधिकस्नेहरूपभक्तेः सिद्धत्वात्तद्गुणगानमेव रोचते, अतस्तत्र केषामपि न कोऽपि प्रतिबन्धक इति भावः ॥ २ ॥ तदेवं ग्रीष्मक्रीडां निरूप्य क्रमप्राप्तां प्रावृट्क्रीडां निरूपयितुं तदुद्दीपनरूपां प्रावृट्शोभामादौ वर्णयति–'तत' इति द्वाविंशत्या। ततो ग्रीष्मानन्तरं प्रावृट् प्रावर्तत। सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां समुद्भवः उत्पत्तितो जीवनसाधनतश्च यस्यां सा। विद्योतमानाः परिधयः परिवेषाश्चन्द्रसूर्यमण्डलानि यस्यां सा, यद्वा विद्युद्भिर्विद्योतमानाः परिधयो दिशो यस्यां सा। विस्फूर्जितं क्षुभितं नभस्तलं यस्यां सा ॥ ३ ॥ तदा सविद्युद्भिः स्तनयित्नुभिः गर्जितैश्च सहितैः सान्द्रैः निबिडैर्नीलाम्बुदैर्मेघैराच्छन्नम्, अतएवास्पष्टं ज्योतिश्चन्द्रसूर्यादिरूपं यत्र तादृशं सद्व्योम सगुणं ब्रह्म जीवाख्यं यथा सत्त्वादिभिराच्छन्नमस्पष्टज्योतिर्भाति तथा बभौ। तत्र तमसा मेघानां, सत्त्वेन विद्युतां, रजसा गर्जितानां सादृश्यं ज्ञेयम्। यद्वा सगुणं ब्रह्म श्रीकृष्णो यथा अस्पष्टज्योतिर्भाति तथा तत्र श्यामरूपेण मेघानां, पीताम्बरेण भूषणैश्च विद्युतां, वेणुनादेन मधुरया गिरा च गर्जितानां सादृश्यं ज्ञेयम्। स जीवः श्रीकृष्णो वा सर्वसम्बन्धित्वेन प्रतीयमानोऽप्याकाशवत् सर्वदोषनिर्लेपतयैवोपासनीय इत्यादेयोपमा ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विंशे प्रावृट्शरच्छोभा दृष्टान्तैश्चानुवर्णिता। प्रावृट्क्रीडोच्यते तत्र श्लोका नवपयोधयः (४२) ॥

एकमेवास्त्युवाचेति श्लोकतुल्या (४९) अनुष्टुभः ॥ २० ॥

तयोरिति ॥ दावाग्नेरात्मनो मोक्षं कृष्णस्य कर्म प्रलम्बवधं च रामस्य कर्म इति तयोः तत् अद्भुतं कर्म गोपाः स्त्रीभ्यः स्वस्य मातृभ्यो यशोदादिगोपीभ्यश्च ताः श्रावयितुं गोपवृद्धान् समाचख्युः उत्तरश्लोकस्वारस्यात् ॥ १ ॥ गोपेति ॥ तद्गोपैर्वर्णितं तयोः कर्म उपाकर्ण्य श्रुत्वा विस्मिताः गोपवृद्धा गोप्यश्च व्रजं गतौ व्रजेऽवतीर्णौ कृष्णरामौ देवप्रवरौ मेनिरे ॥ २ ॥ तत इति ॥ ततो ग्रीष्मानन्तरं सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां समुद्भवो वृद्धिः उत्पत्तितो जीवनसाधनतश्च यस्यां विद्योतमानाः परिधयः परिवेषा दिशो वा यस्यां विस्फूर्जितं विक्षुभितं गर्जनयुक्तं वा नभस्तलं यस्यां सा प्रावृट् प्रावर्तत ॥३॥ सान्द्रेति ॥ तदा विद्युद्भिः स्तनयित्नुभिः गर्जितैश्च सहितैः सान्द्रैः निबिडैर्नीलैश्चाम्बुदैर्मेघैराच्छन्नमत एवास्पष्टं ज्योतिश्चन्द्रसूर्यादिरूपं यत्र तादृशं सद्व्योम सगुणं ब्रह्मजीवाख्यं यथा सत्त्वादिभिराच्छन्नमस्पष्टज्योतिर्भाति तथा बभौ। विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वादिभिः सादृश्यम्। अत्राध्याये बह्वय उपमास्तत्र काश्चिदुपादेयविषयाः काश्चिद्धेयविषयाश्च। यथा सान्द्रेत्युपमा ध्येयविषयतया उपादेयविषया अष्टावित्यादिका राजभिरुपादेयविषया ॥ आसन्नुत्पथवाहिन्य इत्यादिका हेयविषया इत्याद्यूह्यम् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं विंशेऽध्याये वर्षाशरच्छोभावर्णनपूर्विकां श्रीकृष्णचंद्रस्य मधुरमधुरदिव्यलीलां वर्णयति तयोः रामकृष्णयोः यं मोक्षं स्त्रीभ्यः स्त्रियः श्रावयितुमित्यर्थः क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन इति कर्मणि चतुर्थी ॥ १ ॥ गोपेषु वृद्धा जरठाः उपाकर्ण्य श्रुत्वा ॥ २ ॥ द्वाविंशतिश्लोकैर्वर्षर्तुं वर्णनमाह तत इत्यादिभिः। ततोग्रीष्मर्त्त्वनंतरं सर्वेषां सत्वानां स्थावरजंगमानां समुद्भवो यस्यां सा वृट्वर्षाऋतुः सा कथंभूता विद्योतमानाः प्रकाशमानाः परिधयः सूर्यचंद्रयोः परितो जलवलयानि ककुभो वा यस्यां सा

विस्फूर्जितं अभ्रविद्युद्गर्जनैः क्षुभितं नभस्तलं यस्यां सा ॥ ३ ॥ सांद्रेति विद्युतः ये स्तनयित्नवो गर्जितानि तैः सहितास्तैः सांद्रैः निबिडैः नीलैः अंबुदैः मेघैः आच्छन्नं आवृतं अस्पष्टं अदृश्यं सूर्यचंद्रादिज्योतिर्वृंदं यस्मिन् तत् व्योमगगनं स गुणं सत्वां दत्रिगुणकार्यैः सहितं ब्रह्म विराट्पुरुषो यथा बभौ विद्युद्गर्जितयुतनीलांबुदानां सत्त्वादित्रिगुणैरुपमा ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रावृषः शरदो विशे शोभासंवर्णनाद्धरेः । क्रीडाः प्रावृट्कृता रामगोपयुक्तस्य कथ्यते ॥ १ ॥
प्रावृट्शरच्छ्रियोर्हेयोपादेयप्रतिमानतः । कृष्णलीलाविवक्षार्थमंश्वयं वर्णितं महत् ॥ २ ॥

एवं वसन्तवल्लक्षितग्रीष्मर्त्तौ भगवतः क्रीडा अनुवर्णिताः, अथ प्रावृट्शरदोस्ता अनुवर्णयंस्तावत् प्रथमं भगवत्क्रीडावृत्तशेषमाह द्वाभ्याम् ॥ तयोरिति ॥ आत्मनः आत्मनामित्यर्थः । दावाग्नेः मोक्षं मोक्षविधानात्मकं, तत् रामकृष्णयोः अद्भुतं कर्म, प्रलम्बवधं च, गोपाः व्रजे, स्त्रीभ्यो यशोदारोहिण्याद्यङ्गनानां पुरत इत्यर्थः । समाचख्युः कथयामासुः एव ॥ १ ॥ गोपेति । तद्गोपालैरुक्तं, उपाकर्ण्य, विस्मिताः, गोपवृद्धाश्च, गोप्यश्च, कृष्णरामौ व्रजं गतौ, देवप्रवरौ मेनिरे ॥ २ ॥ तत इत्यारभ्य द्वाविंशत्या प्रावृड्वर्णनम् । तत इति । ततः ग्रीष्मर्त्त्वनन्तरं, सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां समुद्भव उत्पत्तितो जीवनतश्चोदयो यस्यां सा, विद्योतमाना विद्युद्भिर्द्योतमानाः परिधयः दिशः परिवेषा वा यस्यां सा, विस्फूर्जितं वज्रनिर्घोषं नभस्तलं यस्यां सा, इत्थंभूता प्रावृट् वर्षाऋतुः, प्रावर्त्तत संप्रवृत्ता ॥ ३ ॥ सान्द्रेति । सविद्युत्स्तनयित्नुभिः विद्युद्भिर्गर्जितैश्च सहितैः, सान्द्रा निबिडाश्च नीलाः श्यामवर्णाश्च येऽम्बुदा मेघास्तैः, आच्छन्नं अत एव, अस्पष्टानि ज्योतींषि सूर्यचन्द्रादीनि यस्मिंस्तत्, व्योमाकाशं, सगुणं गुणत्रयवश्यं, अनादिकालसंपृक्ताज्ञानात्मकप्रकृतिकार्यगुणत्रयवशवर्त्तीत्यर्थः । अत एव, अस्पष्टं प्रकृतितिरोहितं ज्योतिर्धर्मभूतज्ञानं यस्य तत्, ब्रह्म मुक्त्यवस्थायां वृहत्त्वार्हं जीवस्वरूपं इव, बभौ । अनेनाकाशस्य यावच्छरदं नीलाम्बुदविद्युत्स्तनयित्नुसंबन्धवत्त्वं, जीवस्य यावन्मुक्ति तमोरजःसत्त्वात्मकगुणत्रयवशत्वं सूर्यादिज्योतिःस्थानीयधर्मभूतज्ञानस्य संकोचेन प्रसराभावः व्योमवत् स्वरूपतो निर्मलस्य धर्मभूतज्ञानावृत्तिरूपमालिन्यं चास्त्येवातस्तदपनोदार्थकमोक्षोपाये यतितव्यमित्यभिप्रेतम् । ब्रह्मशब्देन मुक्तिदशायां ज्ञानद्वारा वृहत्त्वमस्तीति च सूचितम् । विद्युद्गर्जिताम्बुदानां सत्त्वरजस्तमोभिरुपमा । गोपालानन्दस्वामिचरणास्तु सगुणं सत्त्वादित्रिगुणकार्यैः सहितं, ब्रह्म विराट्पुरुषो यथेत्याहुः । प्रावृषीति पदमध्याहार्योत्तरत्रापि योजनीयम् ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

उक्त्वाश्रमाच्छ्रुतिविधेय-निषिद्धधर्मा धर्माद्भवत्सुख तदन्यफलप्रसूतीन् ।
कस्मिन् युगे कथमिहाचरणीयमेवं ज्ञातुं युगस्थितितदुक्तविवक्तधर्मान् ॥ १ ॥
ब्रूयाद्यदि स्फुटमशेषविदेष योगी स्यादेव साध्विति नृपाशयमावितर्क्य ।
वर्षा शरत् समयवर्णनकैतवेन तत्तयुगस्थितिमबोधयदिङ्गितज्ञः ॥ २ ॥ (युग्मम्)
यद्दावाग्न्युपसंहृतिर्वटपदोल्लेखोऽथ नादोदयः सानन्दं व्रजवासिभिः सहचरैर्भूयः प्रवेशो व्रजे ।
यावत्सत्त्वसमुद्भवेति सगुणब्रह्मेति विस्फूर्जिताकाशेत्यादि पदार्थकर्तृकथनाद् व्यक्ता युगाद्यस्थितिः॥३॥
ततश्चतुर्युगोद्भूतिस्तत्तत्कार्यानुमानिका । विज्ञेयेत्यखिलज्ञप्त्यै निदर्शनबहूक्तयः ॥ ४ ॥ (युग्मम्)
तत्तन्निदर्शनार्थानुसारादेव युगस्थितिः । ज्ञेया नात्र क्रमापेक्षा तथा लक्ष्यानुरोधतः ॥ ५ ॥
अथवा प्रत्यहं लोके चतुर्युगगतिस्थितिः । तत्तादृगाशयात्तद्वा युगसम्मिश्रवर्णनम् ॥ ६ ॥

तत इति : १०.२०.३.

दावानलोपशमनं मम कार्यमेव लोके तदद्य विभुना कृतमादरेण ।
हर्षेण कैतवरुषाऽप्यथवा ह्रियेव प्रावर्ततांम्बरधरा किमु प्रावृडेषा ॥ ७ ॥
मधुर्ग्रीष्मोऽप्यलं दृष्टः श्रीशकीर्तिहरौ हि तौ कीर्तिकृत्त्वहमस्म्येके त्यागात्तद्व्यक्तयेऽच्युतम् ॥ ८ ॥

सान्द्रेति : १०.२०.४.

सर्वप्राण्युपजीवनाय सगुणः सन्नेव वृन्दावनक्रीडामत्र करोमि सन्ततमिति स्वं स्वाशयं व्यञ्जयन् ।
श्रीशार्ङ्गीकुरुषे वपुः श्रितगुणं व्योमेव गूढप्रभं स्पष्टं कार्यविधावसीममभवद् दावाग्निपानात्मके ॥ ९ ॥

कृष्णप्रिया

वर्षा और शरद्ऋतु का वर्णन

श्री शुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! ग्वालबालों ने घर पहुँच कर अपनी मा बहिन आदि स्त्रियों को श्रीकृष्ण और बलराम ने जो कुछ अद्भुत कर्म किये थे, दावानल से उनको बचाना, प्रलम्ब को मारना इत्यादि सबका वर्णन किया ॥ १ ॥

बड़े-बड़े बूढ़े गोप और गोपियाँ भी राम और श्याम की अलौकिक लीलाएँ सुनकर विस्मित हो गयीं वे सब ऐसा मानने लगे कि श्रीकृष्ण और बलराम के वेष में कोई बहुत बड़े देवता ही व्रज में पधारे हैं ॥ २ ॥ इसके बाद वर्षा ऋतु का शुभागमन हुआ इस ऋतु में सभी प्रकार के प्राणियों की बढ़ती हो जाती है, उस समय सूर्य और चन्द्रमा पर बार-बार प्रकाशमय मण्डल बैठने लगे, बादल, वायु चमक कड़क आदि से आकाश क्षुब्ध सा दीखने लगा ॥ ३ ॥ आकाश में नीले और घने बादल घिर आते, बिजली कौंधने लगती, बार-बार गड़गड़ाहट सुनायी पड़ती, सूर्य चन्द्रमा और तारे ढके रहते, इससे आकाश की ऐसी शोभा होती जैसे ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी गुणों से ढक जाने पर जीव की होती है ॥ ४ ॥

अष्टौ मासान् निपीतं यद् [1]भूम्याश्चोदमयं वसु । स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

तडित्वन्तो महामेघाश्चण्डश्वसनवेपिताः । [2]प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः करुणा इव ॥ ६ ॥

तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही । यथैव काम्यतपसस्तनूः [3]सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः । यथा पापेन पाषण्डा[4] न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पर्जन्यः अष्टौ मासान् भूम्याः यत् उदमयम् वसु स्वगोभिः निपीतम् तत् च काले आगते मोक्तुम् आरेभे ॥५॥ चण्डश्वसनवेपिताः तडिद्वन्तः महामेघाः, करुणा इव अस्य, हि प्रीणनम् जीवनम् मुमुचुः ॥६॥ तपःकृशा देवमीढा मही, काम्यतपसः तनूः यथा तत् फलम् सम्प्राप्य तथा इव वर्षीयसी आसीत् ॥ ७ ॥ यथा कलौ युगे पापेन पाषण्डाः भान्ति न वेदाः तथा निशामुखेषु तमसा खद्योता भान्ति ग्रहाः न भान्ति ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तपसा ग्रीष्मेण कृशा । देवमीढा पर्जन्यसिक्ता । वर्षीयसी उच्छूना पुष्टा । काम्यं तपो यस्य तस्य तनुः कामान्संप्राप्य । यथेति । सापि देवैः फलदानेन सिक्ता ॥ ५–६ ॥ नित्यकर्मावसाने आचार्यनिनदं श्रुत्वा तच्छिष्या यथाऽधीयते तद्वदिति ॥ ७ ॥ अनुशुष्यतीरनुशुष्यंत्यः । अस्वतंत्रस्येंद्रियपरतंत्रस्य । स्वतंत्रस्य निरंकुशस्येति वा ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

'उष्ण उष्णागमस्तपः' इत्यमरः । काम्यं कामनाप्रधानम् तपो यस्य । तत्फलम् तपःफलं प्राप्य यथा पुष्टिमायाति तथेति योज्यम् ॥ ५ ॥ निशामुखेषु संध्यासु । 'खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः' इत्यमरः । पाखंडा वेदविरुद्धमार्गाः । पापेन जनानां जन्मांतरीय-कुत्सितादृष्टेन । एतेन दुर्जनवृद्धया सज्जनाभिभवोऽपि सूचितः ॥ ६ ॥ नित्यकर्मावसाने संध्याजपादिकर्मणोंते । मंडूका भेकाः "भेके मंडूकवर्षाभूशालूरप्लवदर्दुराः" इत्यमरः । एतेन भगवदनुग्रहमिच्छद्भिः कालो वंध्यो न कार्य इति ध्वनितम् ॥ ७ ॥ क्षुद्रनद्यः फल्गुजलाः । उत्पथवाहिन्यः तोयाधिक्यात्तटमुद्रिच्य यांत्यः । अनु वर्षानंतरं शुष्यंतः । इंद्रियवशवर्त्तिनो देहो हि व्यभिचारादिनो-त्पथगामी, द्रविणमपि तदर्थव्ययेन तादृशमेव, संपदोऽत्र गवाश्वादिरूपाः ता अपि तदर्थमुपयोगात्तादृश एव, तथा नश्यंत्यपि शीघ्रमेव । पूर्वव्याख्याने इंद्रियपदमक्षरार्थालभ्यमतोऽकारप्रश्लिष्यैवाह–स्वतंत्रस्येति । स्वतंत्रस्यापि निरंकुशगजवद्देहादय उत्पथगा नद्याश्च भवंतीति भावः । अनेन रजोगुणस्वभावः सूचितः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सत्त्वादि वसुरूपकमुदकस्य करत्वं व्यञ्जयति, तच्च पर्जन्यस्य राजत्वम् अत एव निपीतमाहृतमित्यर्थः ॥५॥ तडित्वन्त इति तैर्व्याख्यातं तत्र कृपालव इति करुणा इत्यस्य व्याख्यानेन स्वभावकथनम् अनुकम्पमानाः इत्यनुकम्पया तत्कालमुदितया वेपिताः सन्त इत्यर्थः । स्वजीवनमपीति तस्मिंस्त्यक्ते यदि तत्प्राणामाप्यायनं स्यात् तदा तदपि त्यजन्तीत्यर्थः । वायुभिरिति बहुत्वं चण्डशब्देन लभ्यते हि निश्चये । यद्वा, तडित्वन्त इति स्वरूपातिशयद्योतनार्थं करुणा इवेत्युत्प्रेक्षा तस्या घटना तु श्लेषेण चण्डश्वासकम्पयुक्ताः सन्तो रन्तिदेवादिवज्जीवनहेतुजलमपि मुमुचुरिति ॥ ६ ॥ तप इति सान्तत्वमार्षम् ॥ ७ ॥ ग्रहास्तु न भान्ति पाषण्डाः तच्छास्त्राणि ॥ ८ ॥

---

१. भूम्या मुदमयं–वीर. विज. । २. प्राणनम्–इति कस्यचित् ; प्राणिनां जीवनं ह्यंबु वीर. विज. । ३. स्तनुः–श्रीधर. वंशी, वीर विज. शुक. । ४.–पाखण्डा–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ; पाषण्डा–विश्व.

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

उदमयं वस्वित्यनेन राजोपमात्र ध्वनिता आरेभे वृष्टिलक्षणोष्मतादिकं प्राक् प्रवर्तयामासेत्यर्थः ॥ ५ ॥ दार्ष्टान्तिके चण्डेति तैर्व्याख्यातमेव, अनुकम्पमाना इति; यद्वा, जीवितमोचनस्वाभाविकचण्डश्वासः कम्पश्च, यद्वा, करुणत्वेन सात्त्विकभावादिकमिदमुक्तम् हि निश्चये, हेतौ वा, यतोऽस्य प्रीणनम् ॥ ६ ॥ तप इति सान्तत्वमार्षम्, तपेन ग्रीष्मेण कृशा ॥ ७ ॥ ग्रहास्तु न भान्ति, यथा कलौ पाषण्डा नास्तिका जनाः, तच्छास्त्राणि वा, वेदाश्च न भान्ति ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

तपःकृशा सूर्यरश्मितापकृशा देवेन वर्षसिक्ता वर्षीयसी माननीया ॥ ७-९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदष्टौ मासान् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया कार्तिकादारभ्य यावज्ज्येष्ठं स्वगोभिः स्वकिरणैर्नितरां पीतं गृहीतम् उदकात्मकं वसु धनं तत्स्वगोभिरेव पुनरुचितकाले आगते प्राप्ते सति मोक्तुं पर्जन्यो वर्षाधिदेवः सूर्यः प्रारेभे अनेन राज्याधिकृतः शिक्षितः पर्जन्यवद्यथोचितं कालेषु प्रजाभ्यो धनानि गृहीत्वा पुनरर्थिभ्यो दद्यादिति, यावज्ज्ञानोदयं गृहीतान् कामान् सति ज्ञानोदये जह्यादिति मुमुक्षुशिक्षा वा ॥ ५ ॥ तडित्वन्त इति । चण्डश्वसनेन तीव्रवायुना कम्पिताः मेघाः प्राणिनां जीवनं जीवनसाधनमम्बुजलं करुणा इत्यर्थं आद्यजन्तः करुणावन्त इव मुमुचुः प्राणसञ्जीवनं ह्यस्येति पाठान्तरं तदाऽस्य विश्वस्य प्राणसञ्जीवनकरं जीवनं जलं करुणा इव मुमुचुरित्यर्थः । अनेन दुःखितं जनमवलोक्य मेघवत् श्वासेन कम्पित (गात्राः) तान्तःकरणाः करुणावन्तश्च स्वजीवनपर्यन्तदानेनोपकुर्युरिति शिक्षा कृता ॥ ६ ॥ तपःकृशेति । तपसा ग्रीष्मेण कृशा शुष्का देवेन पर्जन्येन मीढा सिक्ता भूमिर्वर्षीयसी प्रवृद्धा बभूव सस्यादिसम्पन्ना बभूवेत्यर्थः । यथा काम्यं तपो यस्य तस्य पुंसः तनुस्तावत्तपोदशायां कृशा सती तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य परिपुष्टा भवति तद्वदनेन काम्यतपसः केवलं देहसुखसाधनत्वमेव न त्वात्मसुखसाधनत्वमिति शिक्षितम् ॥ ७ ॥ निशामुखेष्विति । निशामुखेषु सायङ्कालेषु खद्योता तेजोविशिष्टाः कीटविशेषा एव भान्ति तत्र हेतुः तमसेति एतेन दिवसे तेषां शोभा नास्तीति भावः । न तु ग्रहाश्चन्द्रशुक्रादयः मेघकृततमोवृतत्वाद्गगनस्येत्यर्थः । यथा कलौ युगे पापेन पापप्रचुरेण पाषण्डाः वेदविरुद्धाः आगमा एव भान्ति नतु वेदा भान्ति तद्वदनेन वैदिकधर्माभासरुचिः पापहेतुकेति सूचितम् ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अष्टौ मासानिति द्वितीया सप्तम्यर्थे कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग (२।३।५) इति सूत्रात् सम्वत्सरमधीते क्रोशं कुटिला नदीति प्रयोगः उदमयं जलात्मकं वसु वस्तु भूम्यां विद्यमानं स्वगोभिः स्वरश्मिभिः पीतं ताभिरेव मोक्तुं प्रारब्धवान् पर्जन्यो गर्जन्मेघः अभिमन्यमानेनाभिमानी सविता लक्ष्यते पर्जन्यो गर्जदभ्रेऽभ्रध्वनिशक्रे स्त्र्यंयत्रिक इति स्वगोभिरित्युक्त्या सवितेति गम्यते—

"अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

इति च ॥ ५ ॥ प्रचण्डश्वसनवेपिताः कम्पिताः जीवनं जीवनसाधनं करुणवन्तीति करुणाः । यद्वा, कृष्णस्य करुणा इव अनेन भक्तिसामग्रीमवां ज्ञानाम्बु वर्षन्ति कृष्णकटाक्षा इति सूचितं भवति ॥ ६ ॥ ग्रीष्मे तपःकृशा सूर्यतपनेन कार्श्यं गता देवेन सवित्रा मीढा सेचिता वर्षीयसी वृद्धा अपि वृद्धिं गता का इव काम्यतपसः पुंसः तनुस्तत्फलं काम्यतपःफलं प्राप्य सम्पदा वर्धते अनेन प्रवृत्तिप्रकारमार्गो दर्शितः ॥ ७ ॥ निशामुखेषु सन्ध्यासु सूर्यादिग्रहाः न भान्ति पापेन कर्मणा अनेन दुर्जनवृद्ध्या सज्जनाभिभवो दर्शितः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

वस्विति करादानं तेन च राजोपम्यं ध्वनितम् अत एव पीतमाहृतमित्यर्थः ॥ ५-६ ॥ तप इति सान्तत्वमपि "तपस्तु तपसा सह" इति द्विरुपकोशात् ॥ ७-११ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पर्जन्यः सूर्यः स्वगोभिः स्वरश्मिभिः काले समये अत्र पर्जन्यस्य राजत्वम् उदकस्य करत्वं निपानस्य ग्रहणत्वं मोचनस्य दानत्वं सूचितमिति वस्तुनः स्वप्रजाभ्य आदानतः समये पुनः प्रदानतश्च राजोपमेयं नीतिदृष्ट्या राजभिरुपादेया ॥ ५ ॥ श्वसनो वायुः अस्य विश्वस्य सन्तप्तस्य प्रीणनम् आप्यायनकरम् अत एव जीवनं जीवनतुल्यं जलं करुणाः कृपालवो दातार इव तत् पक्षे श्वासवेपावनुभावौ जीवनं जीवितमपि तप्तं जनं वीक्ष्य ते त्यजन्ति रन्तिदेवादयो जीवनं स्वमात्राप्यायकं जलमपीतीयमुपमा तत्तद्दृष्ट्या दयावीरदानवीरैरुपादेया ॥ ६ ॥ तपसा पक्षे ग्रीष्मेण कृशा ततो देवैरुद्रादिभिः पर्ज्जन्येन च मीढा कामितवस्तुप्रदानेन जलवृष्ट्या च सिक्ता वर्षीयसी पुष्टाङ्गा उच्छूभा च काम्यं तपो यस्य तस्य पुंसस्तनुः कामान् प्राप्य यथेत्युपमेया परिणामदर्शिभिः सद्भिर्हेया । ७ ॥ पाषण्डाः पाषण्डशास्त्राणि हेयेवेयमुपमा ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पर्जन्यो रविः भूप इवेत्युपमा ज्ञेया ॥ ५ ॥ अस्य लोकस्य प्राणनमाप्यायनम् ॥ ६ ॥ तपःकृशाः ग्रीष्मेण शुष्का देवमीढा देवेन पर्जन्येन मीढा सिक्ता वर्षीयसी प्रवृद्धा बभौ काम्यतपसः पुंसस्तनुः यथा ॥ ७–८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पर्जन्यो रविः स्वगोभिः स्वकिरणैः काले यथोचितसमये प्रथमातिशतोक्त्या नृपेणोपमा सूच्यते तेनेयमुपादेया सहि प्रजातः करं गृहीत्वा समये तस्यै दद्यादिति ॥ ५ ॥ श्वसनो वायुः तड़िल्वन्तो विद्युन्नेत्रामेघा जगत् तप्तं वीक्ष्यास्य प्रीडनमाप्यायकं जीवनं जलं मुमुचुः कारुणिका दयालवो यथा तत्पक्षे श्वासवेपावनुभावौ ते हि तप्तं जनं वीक्ष्य जीवनं जीवितञ्च त्यजन्ति यथा रन्तिदेवः स्वमात्राप्यायकं जलं, यथा च दधीचिर्जीवितमत्यजत् इयं दानवीर दयावीरैरुपापादेया ॥ ६ ॥ तपसा ग्रीष्मेण कृशा ततो देवेनेन्द्रेण मीडा जलेन सिक्ता मही वर्षीयसी पुष्टा आसीत् काम्यं तपो यस्य तस्य पुंसस्तनुर्यथा तपःफलं भोग्यं प्राप्येति परिणामदर्शिभिः सद्भिर्हेयेयम् ॥ ७ ॥ पाषण्डा वेदविरुद्धाः सौगतादिपन्थाः हेयैवेयमुपमा ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तपःकृशा ग्रीष्मोष्मकृशा देवमीढा देवेन्द्रेण सवित्रा मीढा सिक्ता महो वर्षीयस्यतिवृद्धियुताऽऽसीत् । इदमस्थिरमित्यनुरूपं निदर्शनं निरूपयति ॥ यथैवेति । काम्यतपसः पुंसः फलमुद्दिश्य तपः कुर्वन्स्तस्तनुस्तत्फलं तत्कर्मफलं सम्प्राप्य वर्षीयसी भवति तथेति ॥ ५ ॥ निशामुखेषु प्रदोषेषु सन्ध्यास्विति यावत् तमसा कारणेन ग्रहा आदित्यादयो न भान्ति । तर्हि के भान्तीत्यत आह ॥ खद्योता इति । खद्योतो ज्योतिरिङ्गण इत्यमरः । यथा पापेनानुष्ठितदुष्कर्मणा कलौ युगे वेदा न हि भान्ति भान्ति च पाखण्डाः पाषण्डिनस्ते च चतुर्थस्कन्धे भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययमित्यारभ्य सेतुविदारणं पुंसामतः पाखण्डमाश्रिता इत्यन्तेन कथिताः । तानि पापस्य खण्डानि लिङ्गम् । लिङ्गं खण्डमित्युक्तेश्च । वर्णस्य लोप इत्युक्तेश्च नामैकदेशग्रहणेन वा । पानां पापानां खण्डानि लिङ्गानि येषामिति निरुक्तिर्ज्ञेया ॥ ६ ॥ पर्जन्यानां निनादं श्रुत्वा मण्डुका भेका गिरो नानाविध्वनीन्व्यसृजन् । तेषामनिमिषानुग्रजाच्छब्दवैचित्र्यम् । यथोक्तं शान्तिपर्वण्यग्निमार्गणप्रस्तावे । अग्निशापादिजिह्वापि रसज्ञाने बहिष्कृताः । सरस्वतीं बहुविधां यूयमुच्चारयिष्यथ । देवास्त्वनुग्रहं चक्रुर्मण्डूकानां भृगूत्तमेति । प्राक् ते कथम्भूता इत्यत आह ॥ तूष्णीं शयाना इति । क इवेत्यतोऽप्याह ॥ शयानाः शूद्रा यद्वदिति । ते यथा तूष्णीकास्तथेति । यथोक्तामेकादशतात्पर्ये । त्रैवर्णिकः सञ्चरस्तु वेदमार्गप्रवर्तनात् । अतत्प्रवर्तनादेव शयानः शूद्र उच्यत इति । यथा प्राक् गुर्वाज्ञाकरणात्पूर्वं शयानाः शिष्या नियमात्यये गुर्वाज्ञायां छात्रेण वर्तितव्यमिति नियमस्यात्यये प्रसक्ते अकारणे कृतेनुत्थाने नियमात्ययः प्रसक्तस्तस्मिन्सति गिरो विसृजन्ति स्वामिन्नायास्याम इति तथेति । एवमन्वये निनदं श्रुत्वा गिरो व्यसृजन्नित्येतद्दार्ष्टान्तिकसमग्रानुरूपता दृष्टान्तस्य भवतीति मन्तव्यम् । नियमात्यये गुरुमौनातिक्रमे तन्निनदं श्रुत्वा ब्राह्मणा वेदेध्ययनशीलाः शिष्या गिरा वेदवाणीर्विसृजन्ति तथेति वा ॥ ७ ॥ अनुशुष्यन्त्यो ग्रीष्मे क्षुद्रनद्यः स्वल्पजलाः क्षुद्रस्रोतसोऽनु ग्रीष्मानन्तरमुत्पथवाहिन्यः स्वतीरमुल्लङ्घ्य वहन्त्य आसन् । शुष्यन्तीर्महानदीरन्वनुसृत्य स्वयं शुष्यन्त्य इति वा । यथास्वतन्त्रस्य स्व धनं तन्त्रमधीनं यस्य स नेत्यस्वतन्त्रस्य दरिद्रस्य पुंसो देहो द्रविणसम्पदा यथा पुष्टो भवति तथेति । अस्वतन्त्रस्यास्वाधीनेन्द्रियादिमतो वा पुंस इति रजःप्रवृत्तिमदधिकारिपरं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं वर्षाकृतमाकाशं निरूप्य तत्सम्बन्धिनं सूर्यं निरूपयत्यष्टौ मासानिति, अयमेव सूर्यः पर्जन्यो "याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती"ति श्रुतेः सूर्यस्याध्यात्मिकं रूपं पर्जन्य आधिभौतिकं आदित्य आधिदैविकः संवत्सरः स प्रजापतिः, अतोयं सूर्य एव पर्जन्यः स्वरश्मिभिरेवाष्टौ मासान् निरन्तरं मासाष्टकपर्यन्तं नितरां पीतं यदुदमयं जलमयं वसु धनं सार्द्रा हि भूमिः सर्वमन्नादिकमुत्पादयति, अतो जलं वस्वेव वसुप्रधानं वा, जलेनैव सस्यादिना धनोत्पत्तिः, अतो दत्तं ग्राह्यमिति पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छति, तस्य किरणा एव मेघा अतो मोक्तुमारेभे प्रावृष्यागतायां, अन्यथा स कालस्तस्याप्युपद्रवहेतुः स्यादत आह काले समागत इति, अतो यथा ब्रह्मशरीरत्वं सम्पादयति तथा सूर्यस्यापि जगत्कर्तृत्वरूपं सवितृत्वं सम्पादयति ॥ ५ ॥ एवमाकाशसूर्ययोः स्वरूपसम्पादकत्वमुक्त्वा 'सूर्योपरिलोकयोर्मध्यमलोकस्याप्यन्तरिक्षस्य स्वरूपसम्पादिका प्रावृड् जातेत्याह तडित्वन्त इति, अन्तरिक्षदेवत्या मेघा वाय्वाधीनाः, बलकार्यं स एवं तद्भेदा एव सर्वं इन्द्रादय इति त्रिदेवतापक्षेः निर्णयः, अतो मेघानां वाय्वधीनत्वमिन्द्राधीनत्वमिति न विरुध्यते, इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेकरूपत्वं वा, यथा पुरुषप्रयत्नेन शरीरचेष्टा तथा वायुप्रेरणया मेघानां कार्ये स्थितिः, ते हि मेघाः सर्वस्वं लोकेभ्यो जलरूपं प्रयच्छन्तोपि नार्वैदिकन्यायेन प्रयच्छन्ति, तथा सति फलं न स्यात्, न हि वृष्टिमात्रं फलं किन्तु ततोन्नोत्पत्तिस्तदग्नौ होमव्यतिरेकेण फलजनकं न भवतीत्यग्निर्होमार्थं विद्युद्रूपो गृहीत इत्याह तडित्वन्त इति, "विद्युदग्निर्वर्षं हविः स्तनयित्नुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोनुवषट्-

कार" इति श्रुतेः, महामेघा इति, सम्यक्शास्त्रार्थकर्तारः, चण्डश्वसनेन च वेपिताः कम्पिताः, प्रचण्डो हि पवनो देहमर्यादां न मन्यते, अतस्तेन कम्पिताः, प्रीणनमाप्यायनजनकं तापनिर्वतकं च जीवनमग्रेऽन्नाद्युत्पत्त्या प्राणधारकं, तदपगमे तेपि रिक्ता भवन्तीति कथमात्मविरोधि दानमित्याशङ्क्याह करुणा इवेति, दध्यङ्शिविप्रभृतयः परार्थं स्वप्राणानपि ददुः, न चैते करुणया प्रयच्छन्ति किन्तु कालवायुप्रेरिता इति करुणा इवेत्युक्तम् ॥ ६ ॥ क्रमप्राप्तां प्रावृट्कृतां भूमिं वर्णयति तपःकृशेति, पूर्वं तपसा सन्तापेन सर्वजलहरणाच् छुष्का कृशा जाता देवेनेन्द्रेण मीढा 'मिह सेचने' सिक्ता, वर्षीयसी स्थूलोच्छूना वर्षाकालसम्बन्धिनी च क्षुद्, भोजने हि पुष्टो भवति, नन्वस्य देवस्य किं प्रयोजनं ? प्रहणत्यागाभ्यां भूम्यर्थमिति चेद् भूम्या अपि न किञ्चित् फलं पश्याम इत्याशङ्क्याह यथैवेति, तपसा शोषिते देहे तत्तपसा या विशेषसम्पत्तिः फलत्वेनायाति तेन सुखं पुष्टिश्च भवति; प्रथमपुष्टिस्तुन सुखं जनयति, अतस्तस्या दूरीकरणं पुनःकरणमिति युक्तमेव भूमेस्तथात्वं, तदाह, काम्यतपसः सम्बन्धिन्यस्तनूस्तत्फलं सम्प्राप्य यथा वर्षीयस्यो भवन्ति, तनुरिति वा पाठः, प्रथमार्थे द्वितीया वा, अथवा तपस्वी तपसः सम्बन्धिनीस्तनूः स्वर्गादिदेहान् प्राप्य तत्फलं प्राप्नोति तद्वत् पृथिवी फलमपि सस्यादिकं प्राप्तवतीत्यर्थः, ननु "न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं गृह्णन्ति" इति पूर्वमुक्तमिति तपःकृशत्वोक्तिस्तद्विरुद्धेति चेन्न, दृष्टान्तेनैव तन्निरासात्, तथा हि यथाग्रिमफलार्थमसहजमपि तपः करोति कामो तेन विना तदसम्भवात् तथाग्रिमसस्यार्थं तदुत्पत्तिस्थले रसं गृह्णन्ति नान्यत्र पूर्वं सारस्यवति देश उप्तस्य बीजस्यापि नाशात् तत्र रसग्रहणस्यावश्यकत्वात्, अत एव जलादिपदं हित्वा रसपदमुक्तं, सस्योत्पादनाशक्ते रसपदार्थत्वादत्र विषादप्युल्बणत्वेन तामपि ज्वालयितुं सामर्थ्यमप्यस्तीति ज्ञापितं, जीवितविरोधित्वाद् विषस्य तादृशैरपि रसाग्रहणं यत् तद् वृन्दावनमाहात्म्यं, एतेन कालादयोपि व्रजवासिविरुद्धं कर्तुं न शक्नुवन्तीति ज्ञापितं अत्र काम्यतपःफलस्य दृष्टान्तीकरणेनात्रत्यसस्यादेस्तद्भिन्नत्वं ज्ञाप्यते, तदेतत्पूर्वमेवोक्तं "तत आरभ्ये"तिश्लोके ॥ ७ ॥ एवं लोकत्रयस्यादित्यसहितस्य स्वरूपमुक्त्वा शिष्टानां स्वरूपं वक्तुमृतवो धर्मे प्रतिष्ठिता मासा धर्मिष्विति प्रथममृतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाह निशामुखेष्वित्यादिपञ्चभिः ।

अर्थः शब्दः फलं चापि त्रिविधं परिकीर्तितम् । अन्तर्बहिस्तथा चाङ्गमान्तरश्चेतिभेदतः ॥ १ ॥
पुष्टिमार्गे हि मर्यादामार्गस्तत्र न शोभते । अतः पञ्चविधस्यापि हानिरत्र निरूप्यते ॥ २ ॥

तत्र प्रथमतो वेदार्थहानिमाह, वसन्ते हि ब्राह्मणानामुपनयनाग्न्याधानादि तस्याभावे वसन्तव्यवस्थोक्ता भवति, ब्राह्मणानामन्यशेषत्व उपनयनानन्तरं यदध्ययनादि ग्रीष्मर्तौ तदन्यार्थमिति तत्स्वरूपमप्युक्तं भवति, ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यं तदप्यसङ्गतमिति तस्यापि स्वरूपं विवृतं भवति, अल्पफलं बाह्यं क्लेशसाध्यं शरत्फलमिति दोषदुष्टत्वात् तस्यापि स्वरूपमुक्तं भवति, ततोल्पसन्तोषस्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्य, प्रावृषि निशामुखेषु खद्योताः कीटविशेषा लोकानां प्रकाशका इव भवन्ति स्वयमपि प्रकाशन्ते तत्र हेतुस्तमसेति, कालकृतं यत् तमो मेघवृष्ट्यादिकृतं तेनैव तेषां प्रकाशस्तदपि प्रथममेव, अग्रे वृष्ट्या तेषामेव मरणसम्भवात् कस्य प्रकाशका भवेयुः ? ग्रहा ये नित्यप्रकाशास्ते न भान्ति एवम्भावे यो हेतुस्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथा पापेनेति यथा यथा पापाधिक्यं तथा तथा वेदविरुद्धमार्गे रुचिः,

वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि । ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः ॥ १ ॥

धर्मे पुष्टे तु तत्र रुचिर्न भवत्येव न ह्युपनयनादिसंस्कृतः पूर्ववदव्यवस्थां कर्तुं वाञ्छत्यतोत्रापि पापेनैव पाषण्डाः, ननु विद्यमाने वेदे जागरूके कथं पाषण्डप्रवृत्तिः ? तत्राह न हि वेदाः कलौ युग इति, त्रियुगो धर्मस्तत्प्रतिपादको वेदोपि तावत्काल एव भवितुमर्हति, तदाह हीति, वेदान्तः कलिर्यतः, युगपदप्रयोगादनुल्लङ्घ्यत्वम् ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अष्टौ मासान्, तडित्वन्तो महामेघा इति श्लोकद्वयेपि वृष्टिनिरूपणेऽन्यतरवैयर्थ्यमिति शङ्काभावाय तद्भेदकं रूपमाहुराभासाभ्याम् । तत्संबन्धिनं सूर्यं निरूपयतीति, सूर्योपरिलोकयोरित्यादि च ॥ ६ ॥ तपःकृशेत्यत्र । ननु 'न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णत' इति वाक्यविरुद्धं भूमेस्तपःकृशत्वकथनमिति चेत् । मैवम् । दृष्टान्तेनैवेतन्निरासात् । तथा हि । पूर्वमप्राप्ततापोपि कामितफलप्राप्त्यर्थं विहितं स्वयमुद्यम्य हि तपः करोति पुरुषस्तद्विना तदसम्भवात् । तथा तरणितापाभावेऽत्यार्द्रायां वृष्टिजलाप्लुतायां भुव्युप्तं बीजमपि नश्यत्यतो येषु क्षेत्रेषु तापापेक्षा तेषां क्षेत्राणां रसं रविकरा गृह्णन्त्येव । तदपि न स्वस्वभाववशात् किन्तूक्तदृष्टान्तन्यायेन गोपालानां विशेषतस्तथेच्छयेति मन्तव्यम् । अत एव ग्रीष्मवर्णने भुवो रसस्यैव ग्रहणमुक्तम्, न तु जलस्यापि । रसशब्देन चान्नोत्पत्तिहेतुभूतार्द्रतोच्यते । एतेन व्रजजनेच्छानुरूपमेव कार्यं भवति, नान्यदिति ज्ञापितं भवति । एतदेव हृदि कृत्वा तपसा शोषितदेह इत्याद्युक्तमाचार्यैः ॥ ७ ॥ निशामुखेष्वित्यादिश्लोकपञ्चकाभासोक्तौ, एवं लोकत्रयस्येत्यादि । द्वादशमासा इति श्रुत्युक्तैकविंशतिपदार्थपूक्तचतुष्टयं निरूप्येत्यर्थः । अग्रे च पञ्चर्तव इति श्रुत्युक्तपञ्चर्तुरूपतोच्यते । द्वादशसु मासेषु प्रत्येकं मासद्वयात्मकत्वेनर्तूनां षोढात्वे सम्भवति पञ्चत्वनिरूपणं यत् तत्तात्पर्यमाहुः ऋतवो धर्म इति । अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमा वैदिका धर्माः पञ्च । ते च 'वसन्तेऽग्नीनादधीते'त्यादिश्रुतिभिरृतूनेवाधिकृत्य विहिताः । तथा चोक्त-

धर्मार्थमेवतु विभाग इति ज्ञापनाय तत्समानसंख्याका एव ते निरूप्यन्त इत्याशयेनाहुः **ऋतवो धर्म प्रतिष्ठिता इति** । प्रतिष्ठितत्वं तत्रोपयुक्तत्वं तन्निमित्तत्वमिति यावत् । वसन्तादिषूपनयनाग्न्याधानज्योतिष्टोमादीनां वर्णभेदेन यागभेदेनापि विधानात्तथा । मासानां द्वादशत्वे हेतुमाहुः **मासा धर्मिष्विति** । धर्मिणो वैदिकधर्मकर्तारः पुरुषास्ते चोक्तधर्मसमुच्चिताः षष्ठा भवन्ति । सकामनिष्कामभेदेन तेपि द्विविधा इति द्वादशविधत्वम्, द्वादशांगत्वेनापि तथा । तेषां चायुः कर्मानुष्ठाने साधनम् । तच्च संवत्सरैर्मितमिति तेषामपि द्वादशमासात्मकत्वमित्याशयेनोक्तं **मासा धर्मिष्विति** । अग्रे जलस्थलौकस इत्यादिद्वादशसु श्लोकेषु जीवादयो द्वादशधर्मिणो ये वाच्यास्तेपि धर्मिपदेन संगृह्यन्ते । निशामुखेष्वित्यादिश्लोकप्रतिपाद्यानर्थान् क्रमेणाहुः **अर्थः शब्द इत्यादिना** । वेदो हि धर्ममूलम् । तत्र वर्णाश्रमधर्मा अर्थः, तत्प्रतिपाद्यत्वात् । अध्ययनं शब्दः, शब्दग्रहणात्मके तस्मिंस्तस्यैव मुख्यत्वात् । निषिद्धं कर्मफलम् । निषिद्धफलप्राप्ती बाह्या सम्पत्तिस्तज्जो मदश्चांगे । अत्र पञ्चस्वपि श्लोकेषु हीनदृष्टान्तोक्तितात्पर्यमाहुः **पुष्टिमार्ग इति** । पुष्टिमार्गे मर्यादामार्गाद्वैलक्षण्यं ज्ञापयितुं तथोक्तिरित्यर्थः । तर्हि धर्मप्रतिष्ठामाहेत्याभासः कथं संगच्छते । इत्थम् । लौकिक्यां सृष्टौ पापेन यथा पाषण्डधर्माणां प्रकाशो, न वैदिकधर्माणाम्, तथात्र प्रावृट्सहजधर्मरूपं यत्तमस्तदन्यत्पापम् । खद्योतप्रकाशातिरिक्तः पाषण्डधर्मप्रकाशश्च, चन्द्राद्यप्रकाशातिरिक्तो वैदिकधर्मप्रकाशश्च नास्तीत्यर्थः । इदं च प्रावृषः शोभाकरं, तेन पूर्णो वैदिको धर्मोत्रास्तीति ज्ञापितं भवति । एतेन लीलासृष्टिस्वरूपज्ञापिकेयं प्रावृडित्युक्तं भवति । अत्रत्यानां क्षुद्राणामपि प्रकाशोऽधुना लीलानुपयोगिनां महतामप्यप्रकाश आवरकस्य प्रकाशकत्वं चेति वैलक्षण्यं च । किञ्च । परोक्षवादेन मर्यादामार्गादन्यदपि वैलक्षण्यमत्र ज्ञाप्यते । तथा हि । खे आकाशे द्योतः प्रकाशो येषां ते तथा । गतिमतामेव च तेषां द्योतः । सोपि न दिवा, किन्तु तमस्येव । एवं सत्येतत्समानधर्मवत्यो भगवदर्थमभिसारवत्यः स्वामिन्यो लक्ष्यन्ते । तासां भानं शोभा निष्प्रत्यूहं भगवत्प्राप्तिरेव । अत एव निशामुखेष्वित्युक्तम् । प्रियप्राप्त्यनन्तरमलौकिकचन्द्रस्यैव प्रकाशनात् । अन्यथा तमसा भान्तीत्येतावदेव वदेत् । ग्रहो ग्रहणं पाणिग्रहणं यासां तास्तथा । परोक्षवादत्वान्न पाणिपदोक्तिः । नहि तादृशं प्रत्यभिसारः सम्भवति । अत एव न भान्ति । गृह्णन्तीति ग्रहास्तदन्वेषणेन तन्निवारकास्तत्पुरुषा इति वा । एवं सति यथा मर्यादामार्गे निषिद्धेनाभिसारेण तानि पापस्य खण्डानि, 'लिङ्गं खण्डमिहोच्यत' इति वाक्यात् । तज्ज्ञापकमत्युग्रं दुःखं प्राप्नुवन्ति, न तु सुखम् । तथात्र । तेन मुक्तानामपि दुर्लभं सर्वश्रुतिमृग्यं भगवत्संगं प्राप्नुवन्तीति महदेव वैलक्षण्यमिति भावः । इदमत्राकूतम् । 'स वै पतिः स्यादकुतोभयः स्वयमि'ति 'त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धे'त्यादिवाक्यैः स्त्रीणां भगवानेव पतिर्न तु जीवः । एवं सति यथा वैदिकेषु कर्मसु विष्णुयाग असुरा यथा न जानन्ति, तथोपांशुरेव क्रियते, उपसदोपि तथा । यद्वा, 'इदमुच्चैर्यज्ञेन चरामः तन्नोसुराः पाप्मानुविन्दन्ति । उपांशूपसदा चराम तथा नोऽसुराः पाप्मानानुवेत्स्यन्ती'ति श्रुतेः । तेषां ज्ञानमेव तद्धर्मरूपपाप्मयोजकत्वेन फलप्रतिबन्धकम् । तथा प्रकटं प्रभुसमीपगमन एतन्मार्गानधिकृताः स्वधर्मेण फलप्रतिबन्धकरणेन योजयिष्यन्तीति तथा गमनमेव तासां स्वधर्म इति मुख्यो धर्मो ज्ञापितो भवत्यत्रेति । यद्वा, सर्वत्र धर्मविरोधदृष्टान्तोक्तितात्पर्यमाहुः **पुष्टिमार्गे हीति** । इदमत्राकूतम् । सर्वसामर्थ्यानि प्रकटीकृत्य स्वयं प्रकटे फलरूपे प्रभावितरसाधनानुष्ठानस्याप्रयोजकत्वेपि व्रजे यद्वेदाध्ययनादिकं तन्न मर्यादामार्गीयम्, किन्तु 'मन्नाथं मत्परिग्रह'मिति प्रभुवाक्यात् तेषां मर्यादामार्गीयत्वासम्भवात् पुष्टिमार्गीयम् । स्वस्त्ययनाशीर्दानादिभिस्तज्जनितसामर्थ्यस्य भगवति विनियोगात् लीलोपयोगित्वाच्च तथा । 'विप्रा मन्त्रविद' इति वाक्यात् तादृशानामेवाशिषामनिष्फलत्वात् तेषां स्वस्मिन् विनियोगस्य चिकीर्षितत्वात् तदिच्छात एव तत्करणात् पुष्टिमार्गीयत्वम् । तेन मर्यादामार्गीयो धर्मोत्र नास्तीति ज्ञापनाय तादृग्दृष्टान्तोक्तिरिति । अथवा, **ऋतवो धर्म इति** । यस्यर्तोर्यो धर्मः पुष्पधर्ममेघादिस्तस्मिन् प्रवृत्ते सम्यगयमृतुः प्रवृत्त इति सर्वैः स्तुतो भवतीतीयमेवतु प्रतिष्ठा । तथा च तमोविशेषः खद्योतप्रकाशो ग्रहाभानं च वर्षर्तुधर्मः शोभाहेतुश्चेति स उच्यते । प्रकाशस्य ग्रहाणां च मर्यादामार्गीयत्वात्तदशोभोच्यते । मर्यादामार्गविरोधांशे च दृष्टान्तः । मण्डूकशब्दोपि वर्षर्तुशोभाकरः । ब्राह्मणास्तु मेघगर्जितं श्रुत्वानध्यायज्ञानेन वेदाध्ययनलक्षणनियमभंगे तदन्या वाचः सृजन्ति, कर्मानुपयोगित्वमुभयोस्तुल्यम् । तेन वेदाध्ययनात्मकमर्यादाशोभाभाव उक्तो भवति । क्षुद्रनदीनां तथात्वमपि (तदा) तथा अविहितप्रकारेण दानभोगाभ्यां मर्यादाभाव उक्तः । अग्रिमश्लोकोक्तधर्मा अपि तदा शोभायै । नृणामिति साधारणवचनात् क्षुद्रार्थजनिता लौकिकी शोभोक्तेति न मर्यादामार्गीयत्वम् । क्षेत्राण्यपि पूर्ववत् । उत्तरार्धे स्पष्टं पूर्ववत् । यथा पापेनेत्याभासे, एवं भावे यो हेतुरित्यादि । मर्यादामार्गतिरोधानमेव हेतुरिति भावः । श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमित्यनेनापि कलिस्थब्राह्मणतुल्या अत्र मण्डूका एव, न तेपीति ज्ञाप्यते । तेनात्र ब्राह्मणानां स्वधर्मनिष्ठत्वं ज्ञापितं भवति । आसन्नुत्पथवाहिन्य इत्यनेनापि क्षुद्रनदीव्यतिरिक्त उत्तरार्धोक्तधर्मविशिष्टः पुरुषोत्र नास्तीति ज्ञाप्यते । एतेनेन्द्रियपरवशत्वाभावेनान्तरमङ्गमुक्तं भवति । हरिता हरिभिरित्यनेनापि नृणां क्षुद्राशयानां क्षुद्रार्थसम्पदो मदजनिका यथा, तथात्रोक्तधर्मत्रयातिरिक्ताः क्षुद्रार्था न सन्तीति ज्ञाप्यते । न ह्येते मदजनकाः । तथा च 'तत आरभ्य नन्दस्ये'ति वाक्यादलौकिकी सर्वार्थसम्पदस्ति, न तु मदजनिकेति ज्ञाप्यते । अपरञ्च । लौकिकमहाराज्यश्रीतुल्यात्र भुवो वर्णादिशोभैव । सापि बाह्यैव । प्रभुपदाम्बुजचिह्नलीलानन्दादिरूपबाह्याभ्यन्तरशोभायास्तु दृष्टान्त एव नास्तीति भावः । क्षेत्राणीत्यनेनापि सर्वजीवनहेतुभूतान्नोत्पत्त्यनुकूलप्रयत्नवतां मुदं स्वदोषेण वस्तुतत्त्वाज्ञानेन च परद्रोहकर्तॄणां

तत्प्रतिबन्धकरणेन दुःखं च क्षेत्राणि जडानि यत्र ददुस्तत्र किमु वक्तव्यं गोकुले चेतनानां सर्वहितकर्तृत्वमन्येनापि परद्रोहचिन्तने तत्प्रतिबन्धकत्वमिति ज्ञाप्यते। तेनात्र पूर्णो धर्मो निरूपितो भवति। अतः सुष्ठूक्तं धर्मप्रतिष्ठामाह पञ्चभिरिति ॥ ८ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

अष्टौ मासानित्यस्याभास आकाशमित्यस्पष्टज्योतिरितिपदाज् ज्योतिरधिष्ठानभूतं द्युलोकात्मकमाकाशमित्यर्थः, अत्र टिप्पण्यां किञ्चिदाशङ्क्य परिहरन्त्यष्टावित्यादि, अत्र **सान्द्रनीलाम्बुदैरितिप्रतीकस्थले तडिद्वन्तो महामेघा** इतिप्रतीकं विवक्षितं ज्ञेयं, सुबोधिन्यां **प्रजापतिरिति** जगत्कारणीभूतकालः "संवत्सरो वै प्रजापति"रितिश्रुत्यन्तराज् ज्ञेयः; ननु भूमौ जलेनैव सर्वं भवतीति तत्तो जलग्रहणस्य पुनर्दानस्य किं प्रयोजनमत आहुरतो **दत्तमित्यादि**, अतः प्रजापतिरूपात् कालात् सूर्येण दत्तं भूम्या ग्राह्यं तदेव सस्योत्पत्तिरिति स पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छतीति पाक एव प्रयोजनमित्यर्थः, इदं च तपःकृशेत्यत्र स्पष्टं भविष्यति, दानस्यावश्यकत्वे हेतुमाहुरन्यथेत्यादि, "भीषास्मा"दितिश्रुतेस्तन्नियमातिक्रमे भगवांस्तमुपद्रावयेदित्यर्थः, अतो यथे-त्याकाशस्येतिशेषः, अस्मिन्नपि पद्ये सूर्यसवितृत्वज्ञाने स्वयमेव लीलार्थं नूतनमुत्पादयतीतिज्ञानं तथेति बोध्यम् ॥ ५ ॥ **तडिद्वन्त इत्यस्याभासे सूर्योपरिलोकयोरित्यादि**; **सूर्यश्चोपरिलोकश्च सूर्योपरिलोकौ** तयोर्निरूपणानन्तरं द्युभुवोर्मध्यमलोकस्य मेघानां वाय्वधीनत्व इन्द्राधीनत्वं कथमित्याङ्काक्षायामाहुर्बलकार्यमित्यादि "ज्ञानबलक्रिया चे"तिश्रुत्युक्तबलशक्तिकार्यं, स एव वायुरेव त्रिदेवतापक्ष इति वृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणे "कतमे त्रय" इति प्रश्ने "इम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा" इत्युत्तरेऽग्नि-वाय्वादित्याधिष्ठितलोकत्रयस्य **देवतात्वपक्षे** सर्वेषां देवानां तेष्वेवान्तर्भावादयं **निर्णय** इत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे लोकानामेव देवतात्वा-दग्न्यादीनां तथाकल्पनमरुच्यमित्यतः पक्षान्तरमाहुरिन्द्रो **देवतेत्यादि** तथा चाधिदैविकादिभेदादेषोपपत्तिः, एतदुपपादयन्ति यथेत्यादि **स्थितिरित्यन्तं**, तडिद्वत्त्वकथनप्रयोजनमाहुस्ते हीत्यादि, एतेन पद्येनान्तरिक्षस्य वाय्वधिष्ठेयत्वात् तद्दीपितमेघद्वारा जगत्प्राणनजीवनसम्पादनेन तत्स्थितिकर्तृत्वरूपं स्वरूपं प्रावृट् सम्पादयतीति तेन मेघा वैदिकप्रकारेण फलदा भवन्तीतिज्ञानं तथेतिभाव उक्तो ज्ञेयः, अत्र **चण्डश्वसनवेपितपदादन्तरिक्षज्ञानं** "वायुरन्तरिक्षस्ये"तिश्रुतेरिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥ तपःकृशेत्यत्र यद्यप्यमरे "स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूरि"त्पूङन्तस्तनूशब्दो देहवाचकः उक्तस्तथापि न जीवदेहवाचकः शक्यवचनः, 'अप्राणिजातेश्चा-रज्ज्वादीनामुपसङ्ख्यान'मितिवार्तिकेप्राणिजातेरित्यनेन प्राणजातिपर्युदासतः ककवाकुशब्दतुल्यत्वात् क्रमवाक्वादिशब्दानां देह-प्राधान्येनैव प्रवृत्तेः, मृतः ककवाकुरित्यादिप्रयोगात्, हैमविश्वमेदिनीषु तनुशब्दमात्रस्यैव कथनाच्चात्र मूले तनूशब्दो न घटत इत्याशङ्क्य तत्प्रयोगमुपपादयन्ति **काम्येत्यादि**, अस्मिन् पक्षे तन्व इति वक्तव्ये तनूरिति जसो रूपं न सङ्गच्छत इत्यतः प्रकारा-न्तरमाहुस्तनुरित्यादि, सर्वत्र **दीर्घान्तपाठदर्शनात्** पूर्वमेव पक्षमुपष्टभ्नन्ति **प्रथमार्थ** इत्यादि, तथा चा'नुशुष्यती'रितिवदयमपि प्रयोगः, अस्मिन् पक्षेपि कल्पनाबाहुल्यादरुच्या पक्षान्तरमाहुरथ वेत्यादि, **अत्रत्यसस्यादेस्तद्भिन्नत्वमिति** व्रजस्थसस्यादेर्लौकिक-सस्यादिभिन्नत्वमित्यर्थः, इदं चाग्निस्थान्नप्रकारकं रेतोमात्रजनकं भगवद्भक्तिजनकत्वेनेति भिन्नत्वं भाति, न यत्रेत्यारभ्य ज्ञाप्यत इत्यन्तेन यदुक्तं तत्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्ननु नेत्यादि, एतेन पद्येन च टिप्पण्युक्तदिशा व्रजजनेच्छानुरूपार्द्रत्वशुष्कत्वादि-वैशिष्ट्यात् स्थितिफलजनकत्वरूपं भुवस्तत्त्वं निरूपितं तथात्वज्ञानस्य लीलोपयोगित्वायेति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ निशामुखेष्वित्यत्रैवं लोकत्रयस्थेत्यादेः सर्वस्याभासस्यार्थं टिप्पण्यामाहुर्द्वादशेत्यादि, **निरूप्येत्युक्त्वेत्यस्यार्थः**, सुबोधिनीस्थां कारिकां विवृण्वन्ति **निशामुखेष्वित्यादिना**, **कर्मफलमिति** सकामकर्तृणां देहेन्द्रियसम्पत्तीनां प्राप्त्युत्पथवाहित्वानुशोषणभेदेन त्रिप्रकारं ज्ञेयमित्यभि-प्रेत्य कारिकायां त्रैविध्यमुक्तं, **आन्तरं चेतिभेदत** इति तु न व्याख्यातं, **आन्तरमेतदुक्तदृष्टान्तव्यङ्ग्यं व्रजसम्बन्धि**, भेदतोस्माद् भिन्नतयोत्तमं च **परिकीर्तितमित्यनेनान्वयः**, तदपि दृष्टान्ततात्पर्यबोधकस्य **पुष्टिमार्गं** इत्यादिग्रन्थस्य व्याख्याने टिप्पण्यां स्फुटी-भविष्यतीत्थमित्यादीत्यर्थ इत्यन्तं, तदेव व्युत्पादयन्तीदं चेत्यादिना **अभिसारेणेत्स्यान्वयोत्युग्रं** दुःखमित्यादिना बोध्यस्तेनेत्यस्य **भगवत्सङ्गमित्यनेन**, यद्'वेद'मित्स्याः श्रुतेरर्थस्तु प्रागाख्यातः, एवमत्र **पुष्टिमार्गे** हीत्यादिग्रन्थव्याख्यानेन कारिकास्थस्यान्तर-पदस्यार्थो व्युत्पादितो ज्ञेयः, तेन श्लोकपञ्चकोक्तहीनदृष्टान्तस्य तद्विपरित उत्तमे तात्पर्यमिति ज्ञापितं, अस्मिन् प्रकारेतिपरोक्षवाद इति न सर्वेषां बोधसौकर्यमतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति यद्वेत्यादि, सर्वत्रेति पञ्चसु श्लोकेषु, आदिकमितिपदेनाग्निहोत्रादिकं, एवं सामान्यतः कथनेपि प्रतिश्लोकार्थो विवक्षितपरत्वे स्फुटो न भवतीति तदर्थं प्रतिश्लोकतात्पर्यं व्यक्तीकर्तुं प्रकारान्तरमाहुरथ वेत्यान्नि **पूर्ववदित्यन्तं**, इदं च कलिपदात् स्फुटति, न हि भगवत्सद्भावे कलिः शक्त इति "तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलि-रन्ववर्त्त"तेतिवाक्यात्, **सुबोधिन्यां वेदार्थहानिमाहेति** व्रजे तस्य प्रतिष्ठां वक्तुमन्यत्र तद्धानिं दृष्टान्तमुखेनाहेत्यर्थः, एतदेव चात्रोक्ता-नामर्थानां तत्त्वं, एवम्भावेन ज्ञानस्य च लीलोपयोगित्वं बोध्यं, तं व्युत्पादयन्ति **वसन्तेत्यादि**, अन्यशेषत्व इत्याद्यपुरुषशेषत्वे, अन्यार्थमिति आत्यक्तसन्माननार्थं, तत् वर्षाकार्यमिति द्रव्यप्राप्त्युत्सेकद्रव्यनिवृत्तिरूपं, **तस्यापीति** वर्षतो, दोषदुष्टत्वादित्यल्प-कालपरिमितत्वात्, **द्विरूपस्येति** हेमन्तशिशिररूपस्य, एवं श्लोकपञ्चकोक्तदृष्टान्ततात्पर्यं पुरःस्फूर्तिकमुक्तं, एतदेव व्यङ्ग्यार्थ-बोधनसहितं टिप्पण्यां व्युत्पादितं, ज्ञेयं, **एवम्भावे यो हेतुरित्यस्यार्थं** टिप्पण्यामाहुर्मर्यादित्यादि, सुबोधिन्यां **वेदान्तः कलिरिति** वेदस्यान्तो येन यत्रेति वा समासो ज्ञेयः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तडित्वन्त इत्यस्याभासे सूर्योपरीति सूर्य उपरिलोकश्च अनयोः सम्बन्धी तदधःस्थितो यो मध्यमोन्तरिक्षलोकस्तस्येत्यर्थः, 'अन्तरेणान्तरिक्षं तदुभयसन्धित'मिति वाक्यात्, व्याख्याने, अत्र मध्यमलोकनिरूपणं साधयन्ति अन्तरिक्षेति, तत्र हेतुः वाय्वधीना इति, अन्तरिक्षवाय्वोरभेदादिति भावः, तथा च मेघानामन्तरिक्षदेवताकत्वात् प्राणनजीवनमोचकत्वरूपमेघस्वरूपनिरूपणेनान्तरिक्षलोकस्वरूपं निरूपितं जातमितिभावः, बलकार्यमिति बलरूपं कार्यं स एव करोतीति शेषः, न तु तत्कार्यार्थं पृथगिन्द्रापेक्षेत्येवकारः, तद्भेदा इति अन्तरिक्षभेदा इत्यर्थः ॥ ६ ॥ निशामुखेष्वित्यत्र त्रिविधमिति अर्थशब्दफलभेदेन त्रिविधं हीनं वस्तु अन्तः परिकीर्तितं त्रिभिः श्लोकैरिति शेषः, तस्य फलस्य बहिरङ्गमान्तरं चाङ्गं तथा च परिकीर्तितमित्यर्थः, श्लोकद्वयेनेति शेषः, इति भेदतः पञ्चभिः श्लोकैर्धर्मप्रतिष्ठामाहेति पूर्वेणान्वयः, अन्यशेषत्वे इति अग्न्यन्वाधानादिव्यतिरेकेण केवलं दानसम्प्रदानत्वे इत्यर्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तडित्वन्त इत्यत्र इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेकरूपत्वमिति इन्द्रस्याधिदैविकत्वं वायोराध्यात्मिकत्वं मेघानामाधिभौतिकत्वमिति त्रयाणामभेद इत्यर्थः ॥ ६ ॥ वसन्तव्यवस्थोक्ता भवतीति "न हि वेदाः कलौ युगे" इत्यनेन वेदाभावकथनादुपनयनाग्न्याधानादीनामभाव उक्तः, अतो वसन्ते यत् कर्तव्यं तन्नास्तीति धर्मरहिता वसन्तव्यवस्थोक्ता 'निशामुख' इति श्लोकेन, ब्राह्मणानामन्यशेषत्वे इत्यारभ्य भवतीत्यन्तं वेदाध्ययनं ग्रीष्मे तत्प्रयोजनं वसन्ते कृताधानस्य यागनिर्वाहः, इह त्वध्ययनं द्रव्यलाभार्थमुक्तमतो ग्रीष्मेपि धर्मराहित्यं "श्रुत्वा पर्जन्यनिनद"मिति श्लोकेनोक्तं, ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यमित्यारभ्य भवतीत्यन्तं 'आसन्नुत्पथवाहिन्य' इति श्लोके वर्षाकार्यमुत्पथवाहित्वमुक्तं, अतो वर्षायामपि धर्मराहित्यं, अल्पफलमित्यारभ्य भवतीत्यन्तं, "हरिता हरिभिः शष्पै"रित्यनेन अल्पफलमुक्तमिति शरद्यपि धर्माभावः, अल्पसन्तोषस्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्येति "क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भि" रित्यनेन कर्षुकाणामल्पसन्तोष उक्तः, अल्पेन सन्तोषः अल्पसन्तोष इति तृतीयातत्पुरुषः, 'मानिनामुपतापं च दैवाधीनमजानता' मित्यनेन सन्तोषाभावो निरूपितः, एकस्मिन्नेव श्लोके द्वयं निरूपितं, यतो हेमन्तशिशिरयोरप्येकत्वं, अतस्तत्सूचनायैकत्रोक्तिः, अत एव पञ्चसु प्रयाजेषु "वसन्तमृतूनां प्रीणामी"त्यत्र ऋतुचतुष्टयं पृथगुक्त्वा "हेमन्तशिशिरावृतूनां प्रीणामी"त्यनेन हेमन्तशिशिरयोरैक्यमुक्तं, अत एव "द्वादश मासाः पञ्चर्तव" इति श्रुतौ ऋतूनां पञ्चत्वोक्तिर्युज्यते, तत्राप्यल्पसन्तोषतदभावाभ्यां हीनत्वोक्त्या धर्माभाव उक्तः, एवं पञ्चसु धर्माभावो निरूपितस्तस्य प्रयोजनं त्वन्यत्र धर्माभावेपि इह व्रजे तु धर्मोस्त्येवेति "खद्योतप्रकाशातिरिक्तः पाषण्डधर्मप्रकाशश्चन्द्राद्यप्रकाशातिरिक्तो वैदिकधर्मप्रकाशश्च नास्तीत्यर्थः" इत्यादिना टिप्पण्यां श्रीमत्प्रभुचरणैर्निरूपितं, अत एव सुबोधिन्यां ऋतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाहेत्युक्तं, "न हि वेदाः कलौ युगे" इत्यस्य व्याख्याने युगपदादनुल्लङ्घ्यत्वमिति, "गृह्णतोनुयुगं तनू"रित्यस्य सुबोधिन्यां "भगवान् जगच्चे"तियुगपदार्थं उक्तः, अतो युगस्य भगवद्रूपत्वादनुल्लङ्घ्यत्वमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

निशामुखेष्वित्यादिश्लोकप्रतिपाद्यानर्थान् क्रमेणाहुः अर्थः शब्द इत्यादिना का० १५९¾–१६१¾ । 'निशामुखे'ष्विति श्लोके वेदप्रतिपाद्यवर्णाश्रमधर्मरूपोर्थः, "श्रुत्वा पर्जन्यनिनद"मिति श्लोके शब्दात्मकमध्ययनं, 'आसन्नुत्पथवाहिन्य' इति श्लोके उत्पथवाहित्वरूपं निषिद्धं फलं, एवमर्थशब्दफलभेदेन त्रिविधं वस्तु त्रिभिः श्लोकैर्निरूपितं, निषिद्धफलप्राप्तौ बाह्या सम्पत्तिः तज्जो मदश्चाङ्गे, तत्र 'हरिता हरिभिः शष्पै'रिति श्लोके बाह्यसम्पत्तेः स्वरूपमुक्तं, "क्षेत्राणी"ति श्लोके आन्तरमुक्तम् ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

पर्जन्यः सूर्यः स्वगोभिः स्वकिरणैः अष्टौ मासान् कार्तिकमारभ्य ज्येष्ठपर्यन्तं यद्भूम्याः उदमयं जलरूपं वसु धनं निपीतं तत् पुनर्वर्षाकाले आगते सति मोक्तुमारेभे । एवमेव "राजभिः सुभिक्षकाले प्रजाभ्यः करादिकं ग्राह्यम्, दुर्भिक्षकाले च ताभ्यो यथोचितं धनादिकं देयमेव" इत्यादेयोपमा ॥ ५ ॥ यथा करुणाः कृपालवो जनाः क्षुदादिना तप्तं जनं नेत्रैर्वीक्ष्य कृपया कम्पितचित्तास्तस्याप्यायनाय स्वजीवनं जीवसाधनमप्यन्नादिकं ददति, तथा महामेघा अपि तडित्त्वन्तस्ताभिर्नेत्रस्थानीयाभिस्तडिद्भिस्तप्तं विश्वं निरीक्ष्य चण्डश्वसनेन खरतरपवनेन वेपिताः कम्पिता अस्य विश्वस्य प्राणनमाप्यायनकरं जीवनसाधनभूतं जलं मुमुचुरिति दानशूरैरियमादेयोपमा ॥ ६ ॥ तपःकृशा तपसा ग्रीष्मतापेन कृशा सर्वजलाहरणात् शुष्का, पुनर्देवेन पर्ज्यन्येन मीढा सिक्ता सती मही वर्षीयसी पुष्टाङ्गासीत् । यथा काम्यं काम्यप्राप्त्यर्थं तपो यस्य तस्य तपस्विनस्तनुः प्रथमं तपसा शुष्का भवति, पश्चात्तस्य तपसः फलं प्राप्य यथेष्टभोजनपानादिना पुष्टा भवति तथैवेति । तथा च पुष्ट्यादेरनियतत्वाद्देहादेरपि नश्वरत्वात्तद्भोगाद्यर्थं तपसा वृथा आयुर्व्ययो विवेकिभिर्न कर्तव्य इति हेयोपमा । ननु "न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाद्वलितं च गृह्णते इति, पूर्वोक्तं विरुद्धं भूमेस्तपः कृशत्वकथनम्" इति चेन्न, पूर्वमार्द्रत्वकथनस्य भगवद्विहारोपयुक्तवृन्दावनभूमिविषयत्वात् । इदानीं कृशत्वकथनं तु

कृष्याद्युपयुक्तसर्वभूमिसाधारणम्, अन्यथा सर्वदा आर्द्रायां पुनर्वृष्टिजलेन चाप्लुतायां मह्यां व्युप्तमपि वीजं नश्येत् सस्याद्युत्पत्तिर्न स्यात्। अतः कृष्याद्युपयुक्तक्षेत्राणां रसं रविकरा गृह्णन्त्येवेति। सर्वभूमिसाधारणत्वादेव वृन्दावने विद्यमानानां नदीसिन्ध्वादीनां वर्णनमपि सङ्गच्छते इति न कोऽपि विरोध इति ॥ ७ ॥ निशामुखेषु रात्रिषु प्रकाशकग्रहाद्याच्छादकमेघजनितेन तमसा खद्योताः कीटविशेषाः भान्ति प्रकाशन्ते, नित्यसिद्धा ग्रहाश्चन्द्रगुरुशुक्रादयस्तु न भान्ति। यथा कलौ युगे विवेकावरकाज्ञानजनितेन पापेन पाखण्डा वेदविरुद्धपाखण्डशास्त्राणि भान्ति, नित्यसिद्धा वेदास्तु नैव भान्ति, तथाच सावधानतया विचार्य विवेकिभिः पाखण्डशास्त्रं हित्वा वेदानुसारेणैव वर्तितव्यमिति हेयोपादेयोभयोपमा ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अष्टाविति ॥ पर्जन्यः सूर्यः स्वस्य गोभिः किरणैः। टजभाव आर्षः। अष्टौ मासान् कार्तिकमारभ्य ज्येष्ठपर्यन्तं यद्भूम्याः उदमयं जलरूपं वसु धनं निपीतं तत्पुनर्वर्षाकाले आगते सति मोक्तुमारेभे। अत्र करमादाय समये पुनः प्रतिदानाद्राजोपमा सूचिता ॥ ५ ॥ तडित्वन्त इति ॥ यथा करुणा दयालवो दुःखितं जनं वीक्ष्य तत्सुखाय स्वजीवनमपि त्यजन्ति तथा महामेघा अपि तडित्वन्तस्ताभिर्नेत्रस्थानीयाभिस्तडिद्भिस्तप्तं विश्वं निरीक्ष्य चण्डश्वसनेन खरतरपवनेन वेपिताः कम्पिताः अस्य विश्वस्य प्राणनमाप्यायनकरम्। प्रीणनमित्यपि पाठः। जीवनसाधनभूतं जलं मुमुचुः ॥ ६ ॥ तप इति ॥ तपसा ग्रीष्मतापेन। सान्तलमार्षमिति तोषणी। "तपः कृच्छ्रादिकर्मणि धर्मे लोकप्रभेदे च" इति हेमाद्रौ। सान्तोऽपि तपःशब्दो धर्मवाची मेदिन्यां दृश्यते। कृशा सर्वजलाहरणात् शुष्का पुनर्देवेन पर्जन्येन मीढा सिक्ता सती मही वर्षीयसी पुष्टाङ्गाऽऽसीत्। यथा काम्यं कामप्राप्त्यर्थं तपो यस्य तस्य तपस्विनस्तनुः प्रथमं तपसा शुष्का भवति पश्चात्तस्य तपसः फलं प्राप्य यथेष्टभोजनपानादिना पुष्टा भवति तथैवेति ॥७॥ निशेति ॥ निशामुखेषु रात्रिषु प्रकाशग्रहाद्याच्छादकमेघजनितेन तमसा खद्योताः कीटविशेषाः भान्ति प्रकाशन्ते। नित्यसिद्धा ग्रहाश्चन्द्रगुरुशुक्रादयस्तु न भान्ति। यथा कलौ युगे विवेकावरकाज्ञानजनितेन पापेन पाखण्डा वेदविरुद्धपाखण्डशास्त्राणि भान्ति। नित्यसिद्धा वेदास्तु नैव भान्ति ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अष्टौमासान् अष्टमासपर्यंतं निपीतं भूम्याः यत् उदमयं जलमयं वसुधनं तज्जलं पर्जन्यो रविः गोभिः किरणैः काले प्रावृषि ॥ ५ ॥ चंडेन महावेगेन श्वसनेन वायुना वेपिताः कंपिताः अस्य जनवृंदस्य प्रीणनं तृप्तिकरं जीवनं जलं करुणाः दयालवो रंतिदेवादयः स्वजीवनं अन्नजलादि इव मुमुचुः ॥६॥ तप इति। तपसा ग्रीष्मतापेन कृशा शुष्कादेव मीढा मेघसिक्तावर्षीयसी प्रफुल्ला पुष्टेति यावत् मही आसीत् अत्र दृष्टांतः काम्यं विषयकामनायुक्तं तपो यस्य तस्य तनूदेहः तस्य तपसः फलं विषयान् संप्राप्य यथा वर्त्तते तद्वत् सा ॥ ७ ॥ व्याप्तेन तमसा पाषंडाः भाति वेदा न ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अष्टाविति ॥ यत् अष्टौ मासान् कार्त्तिकादारभ्य यावज्ज्येष्ठं, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स्वगोभिः स्वकिरणैः, निपीतं नितरां गृहीतं, भूम्याः यत् उदमयमुदकात्मकं वसु धनं, तत्, काले आगते पुनरुचितकाले प्राप्ते सति, पर्जन्यो वर्षाधिदेवः सूर्यः, स्वगोभिरेव, मोक्तुं आरेभे। अनेन राज्याधिकृतः शिक्षितो राजा पर्जन्यवद्यथोचितं कालेषु प्रजाभ्यो धनानि गृहीत्वा पुनरर्थिभ्यो दद्यादिति सूचितम् ॥ ५ ॥ तडित्वन्त इति ॥ तडित्वन्तो विद्युद्युक्ताः चण्डस्तीव्रश्चासौ श्वसनो वायुश्च तेन वेपिताः कम्पिताः, महामेघाः, प्राणिनां जीवनं जीवनसाधनं, अम्बु जलं, करुणाः इव, करुणावन्त इवेत्यर्थः। करुणा इत्यर्शआद्यजन्तः। मुमुचुः हि। प्राणनं जीवनं ह्यस्येति पाठे, अस्य विश्वस्य, प्राणनं जीवनकरं जीवनं जलं, 'जीवनं वर्त्तने नीरप्राणधारणयोरपि' इति मेदिनी ॥ अनेन दुःखितं जनमवलोक्य मेघवत् श्वासेन कम्पिताग्राः करुणावन्तः स्वजीवनदानेनोपकुर्युरिति शिक्षा कृता। यद्वा। कृपालवो यथा क्षुधादिभिः पीड्यमानतयाऽतिप्रतप्तं जनं निरीक्ष्यानुकम्पमानास्तदाप्यायनाय स्वजीवनभूतमप्यन्नादिकं रन्तिदेववत्त्यजन्ति यथा, तद्वन्महान्तो मेघास्तडिन्नेत्रैर्विश्वं प्रतप्तं निरीक्ष्य, वायुभिर्वेपिता लोकजीवनहेतु जलं मुमुचुरिति ॥ ६ ॥ तप इति ॥ तपसि ग्रीष्मे पवा कृशा शुष्का, देवेन, पर्जन्येन मीढा सिक्ता, मही भूः, वर्षीप्रसी प्रवृद्धा उच्छूना इति यावत्। आसीदबभूव सस्यादिसंपन्ना वा बभूवेत्यर्थः। का इव। काम्यं कामनाविषयं तपो यस्य पुंसः, तनुः, तत्फलं काम्यतपःफलं, संप्राप्य, यथा एव परिपुष्टा भवति तद्वत्, काम्यमर्थं लक्ष्यीकृत्य तत्प्राप्तये तपश्चरतस्तनुस्तपोदशायां कृशा सत्यपि तत्फलोपलब्धौ सत्यां यथा हृष्टपुष्टा भवति तद्वद्ग्रीष्मातितप्ता भूमिरपि वर्षोदकसेकमुपलभ्य परिपुष्टा बभूवेति भावः। अनेन काम्यतपसस्तपः केवलं देहसुखसाधनमेव, न तु संसृतिबन्धननिवृत्तिकरमिति शिक्षितम् ॥७॥ निशेति ॥ निशामुखेषु, सायंकालेषु खद्योता ज्योतिरिङ्गणास्तेजोविशिष्टाः कीटविशेषा इति यावत्। त एव तमसा हेतुना, भान्ति। एतेन दिवसे तेषां शोभा नैवास्तीति सूचितम्। न तु ग्रहाश्चन्द्रशुक्रादयः, गगनस्य मेघकृततमोवृतत्वादित्यर्थः। यथा कलौ युगे, पापेन पापप्राचुर्येण हेतुना, पाषण्डाः वेदविरुद्धा आगमाः, हि एव, भान्ति। न तु वेदा भान्ति न तु वेदा भान्ति तद्वत्। अनेनावैदिकधर्माभासरुचिः पापहेतुकैवेति सूचितम् ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अष्टौ इति : १०.२०.५.

सन्तापशान्तिमवगत्य तदा स्वगोभिरानन्दबाष्पमयवृष्टिमसौ ततान।
गोपीजनो भुवि यथा स सुराशनश्रीः सूर्योऽपि खे त्विति सुखं निखिले तदाऽऽसीत् ॥ १० ॥

तडित्वन्त इति : १०.२०.६.

आश्रित्यैव सवादि-साधनमसौ यद्वासवो वर्षति मेघा वा करुणा इवेति वचसा तत्रापि तत्तुल्यता।
त्वं तु श्रीधर नैव साधनलवं पश्यस्यवश्याश्रितांस्तन्निर्व्याजदयापदं त्वमभवद् यद्व्यक्तमन्यादने ॥ ११ ॥

वर्षीयसीति : १०.२०.७.

तनुरपि पृथ्वी भवति हि काम्यतपःफलमवाप्य मह्येषा। पृथ्वी निसर्गतस्तद्युक्तं वर्षीयसी तदाऽऽसेति ॥ १२ ॥
काम्यतपःफलमुक्तं तनुभृत्तनुपुष्टिदं प्रभो मुनिना। त्वत्पदसदातपस्थित्यर्पणमजनि त्रितापहरमर्थात् ॥ १३ ॥
निशामुखेष्विति : १०.२०.८.
यावन्मायाविलासः प्रसरति जगति स्पष्टपाखण्डवादस्तावत्स्वोत्कृष्टभावं श्रयति नहि तदा क्वापि गर्वैकलब्धिः।
एवं वृत्तौ युगेऽन्त्ये कथमिह भविता तापशान्तिर्जनानामित्यालोच्याऽच्युत त्वं शरणमिति वचोमात्रतस्त्राणकर्ता ॥ १४ ॥

कृष्णप्रिया

सूर्य ने राजा की तरह पृथ्वीरूप प्रजा से आठ महीने तक जल का कर ग्रहण किया था अब समय आने पर वे अपने किरण करों से फिर उसे बांटने लगे ॥ ५ ॥ जैसे दयालु पुरुष जब देखते हैं कि प्रजा बहुत पीड़ित हो रही है तब वे दयापरवश होकर अपने जीवन-प्राणतक निछावर कर देते हैं वैसे ही बिजली की चमक से शोभायमान घनघोर बादल तेज हवा की प्रेरणा से प्राणियों के कल्याण के लिये अपने जीवनस्वरूप जल को बरसाने लगे ॥ ६ ॥ जेठ आषाढ़ की गर्मी से पृथ्वी सूख गयी थी अब वर्षा के जल से सिंचकर वह फिर हरी-भरी हो गयी जैसे सकामभाव से तपस्या करते समय पहले तो शरीर दुर्बल हो जाता है परन्तु जब उसका फल मिलता है तब हृष्टपुष्ट हो जाता है ॥ ७ ॥ वर्षा के सायङ्काल में बादलों से घना अन्धेरा छा जानेपर ग्रह और तारों का प्रकाश तो नहीं दिखायी पड़ता परन्तु जुगनू चमकने लगते हैं, जैसे कलियुग में पाप की प्रबलता हो जाने से पाखण्ड मतों का प्रचार हो जाता है और वैदिक सम्प्रदाय लुप्त हो जाते हैं ॥ ८ ॥

श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः। तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥
आसन्नुत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः[1]। पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः[2] ॥ १० ॥
हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः[3]। उच्छिलीन्ध्रकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥
क्षेत्राणि [4]सस्यसम्पद्भिः [5]कर्षकाणां मुदं ददुः। [6]मानिनामुपतापं च दैवाधीन[7]मजानताम् ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—यथा प्राग् तूष्णीम् शयानाः ब्राह्मणाः नियमात्यये यद् वत् गिरः व्यसृजन् तद्वत् पर्जन्यनिनदम् श्रुत्वा मण्डूकाः गिरः व्यसृजन् ॥ ९ ॥ यथा अस्वतन्त्रस्य पुंसः देहद्रविणसम्पदः उत्पथवाहिन्यः आसन् तथा अनुशुष्यतीः क्षुद्रनद्यः उत्पथवाहिन्यः आसन् ॥ १० ॥ हरिभिः शष्पैः हरिता, इन्द्रगोपैः लोहिता, च उच्छीलीन्ध्रकृतच्छा भूः नृणाम् श्रीः इव अभूत् ॥ ११ ॥ क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षुकाणां मुदं ददुः, च दैवाधीनम् अजानताम् मानिनाम् उपतापं ददुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हरिभिर्नीलैः शष्पैर्बालतृणैर्नीलवर्णा क्वचिदिन्द्रगोपैः लोहितवर्णकीटविशेषैर्लोहिता तत्रतत्रोच्छिलीन्ध्रैश्छत्राकारैरुद्भिदैः कृतच्छाया भूर्नृणां राज्ञां श्रीः सेनारूपा संपदिव ॥९॥ क्षेत्राणीति। तदा हि वृष्टे रविच्छेदे लसंतः प्रियंवादयो मुदं ददति विच्छेदे शुष्यंतोऽनुतापं चेति ॥ १० ॥ अविभ्रदविभ्रहः। यथा हरिनिषेवयेति। हरिसेवायां प्रवृत्ता हि सद्य एव सर्वे रुचिरा भवंति तस्याः परमधर्मत्वात्परमसुखत्वाच्च तद्वदिति ॥ ११ ॥ कामाक्तं कामवासनायुक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यम्। गुणैर्विषयैर्युज्यत इति सरित्संगतिसाम्यम् ॥ १२ ॥

---

१. नद्योंबुपूरिताः—वीर.। २. देहो द्रविणसंपदा—विज.। ३. लोहिता—श्रीधर. वीर. विज. विश्व. शुक.; लोहिताः—वंशी.। ४. सस्यवृद्धानि—गो. प्रे. टी.। ५. कर्षकाणां—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. शुक.। ६. धनिनामुपतापं—श्रीधर. वंशी.; मानिनामुपतापं—श्रीधर. वंशी.; मानिनामनुतापं—वीर. विज. विश्व.। ७. विपत्ति तदजानतां—विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कीटविशेषैः प्रथमवर्षणोद्भूतैर्जपापुष्पप्रभैः । लोहिता रक्ता । तत्रतत्र स्थले । यथा राज्ञां सेनायां केचिन्नीलवसनाः केचिद्रक्तांबराः केचिच्छ्वेतांबराः संत्येवमत्रापीति बोध्यम् । एतेन भूमिवदेक एव चेतनो गुणसंगेन नानास्वभावः प्रतीयते तो नानात्वस्वरूपसंसारस्यासारत्वाद्धेयत्वेन हरिभक्तिरेव कार्येति ध्वनितम् ॥ ९ ॥ क्षेत्राणि केदाराः । संपद्भिः फलोद्रेकैः । दैवाधीनम् वर्षणावर्षणञ्च त्यजानताम् । यद्वा—धनिनां क्रीतबह्वन्नानां क्षेत्राणि बहुसस्यैरुपतापम्–अहो दैवेन किं कृतं किमर्थमस्माभिरेतावदन्नं गृहीतमधुना तु मूलमपि नष्टं कुतो लाभ इत्यनुतापो भवतीति भावः । एतेन विषयादिंद्रियकर्षणशीलानां ज्ञानसमुद्रेको क्षेत्राणि शरीराणि मुदं ददति, धनिनां रजोमत्तानामनुतापमहो अस्माभिः कुतो न त्यक्तविषयैर्हरिसेवा कृतेति भावः । 'मानिनाम्' इति पाठे कृषिर्निकृष्टं कर्म, वयं प्रतिष्ठिता न कुर्महे इति गर्ववतामनुतापम् । हंतहंत यदि कृषिं वयमकरिष्याम तदेतादृशीः सस्यसंपदः प्राप्स्यामेति पश्चात्तापं ददुर्मानिभ्य एवेत्यर्थः । यतस्ते मुदनुतापादिकं दैवाधीनं न जानंतीत्यर्थः । यथा निवृत्तिकर्मपराम्ब्रह्मलोकं गच्छतो दृष्ट्वा प्रवृत्तिपराः स्वर्गस्था अनुनयंतीति गम्योपमा भक्तैर्ज्ञेया ॥ १० ॥ यद्वा—जलौकसः पातालस्थाः, स्थलौकसो भूमिष्ठाः । सर्वे अंतरिक्षादिवासिनः । सर्वेषां दुःखं वारयतीति वारि ज्ञानम्, नवं निर्दोषं च तद्वारि नववारि तस्यातितरां सेवयाऽभ्यासलक्षणया । रुचिरं निर्दोषं ब्रह्मरूपमबिभ्रद्विभ्रति । किंभूतया—यथावद्धरिसेवया जातयेति शेषः । यथाश्रुतास्तु स्वामिनैव स्फुटितः ॥ ११ ॥ श्वसनेन वायुना 'श्वसनः स्पर्शनो वायुः' इत्यमरः । एतेन हरिभक्तैर्विषययोगो हेय इति सूचितम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

व्यसृजन् विविधं विस्तारयामासुः प्राक् तूष्णीं शयानाः निद्राणवन्निश्चेष्टत्वेन वृत्ताः मण्डूकाः ब्राह्मणाश्च नित्यध्यानजपाद्यर्थकृतमौनत्वेनेति ॥ ९ ॥ कदाचिदुत्पथवाहिन्य एवासन् कदाचिदनुशुष्यन्त्य एव चासन् नतु सत्पथगामिन्यो नतु वैकल्यरहिताः यथा स्वतन्त्रस्य शास्त्रमनुसरतः पुंसो देहसम्पदो द्रविणसम्पदश्चेति ॥ १० ॥ इन्द्रगोपैः श्रीवृन्दावनेऽत्र इन्द्रचूडेति ख्यातैः कीटविशेषैः हरितादिकत्वं चेदं पटगृहादीनाम् ॥ ११ ॥ समुच्चये वैशब्दः सस्यसम्पद्भिस्तद्भावाभावैरित्यर्थः । मुदनुतापयोर्हेतुः मानिनां तदभिमानवतां दैवाधीनं सर्वमित्यजानतां यथाऽन्येषामपि क्षेत्राणि देहाः अन्याभिः सम्पद्भिरिति ज्ञेयम् ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

व्यसृजन् विविधं विस्तारयामासुः, ससृजुरिति पाठे पाठान्तरेऽपि गिरां, बहुत्वेन तथैवार्थः । प्राक् तूष्णीं शयाना निद्राणवन्निश्चेष्टत्वेन वृत्ता मण्डूकाः, ब्राह्मणास्तूष्णीं सुप्ता इव ॥ ९ ॥ पूर्व्वमनुशुष्यन्त्यः, देहाद्यपि प्राक् क्षुद्रव्ययादिना क्षीणाः पश्चाद्भोगवाणिज्यादिना सम्पन्नाः सत्यो यथा विकर्म्मपरा भवन्ति, तत्र हेतुः—स्वतन्त्रस्य स्वैरवर्त्तिन इति, अतएव क्षुद्रत्वात्तद्देहादीनामपि तादृशत्वेन क्षुद्रनदीभिरुपमा ॥ १० ॥ इन्द्रगोपैः प्रथमवृष्टितो जायमानैरतिरिक्तैः श्रीवृन्दावनेऽत्र वूडेतिख्यातैः कीटविशेषैः, नृणामिति तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, ईश्वराणां परिच्छदसम्पदिव तत्र यथा वस्त्रभूषणादि, हरितत्वादिना हरित्वादि ॥११॥ समुच्चये वै-शब्दः । अनुतापञ्च शोकं ददुः । तत्र दृष्टान्तः—मानिनां देहाभिमानवतां धनादिना गर्व्ववतां वा, अतएव दैवाधीनं देहादीत्यजानताम्, यथा शरीराणि गेहानि वा धनादिसम्पद्भिर्मुदं तदभावे चानुतापं ददति तथत्यर्थः । यद्वा, त्वर्थे वै, मानिनां देशान्तरयात्रामात्रेणास्माकं दिग्विजयादिकं भावीत्येवमभिमानवतान्तु क्षेत्राणि शस्यसम्पद्भिः कृत्वा दिग्विजयप्रतिबन्धानुतापं ददुः । कुतः ? दिग्विजयादिकं शस्यसम्पदादिकञ्च ईश्वराधीनमित्यजानतां ततश्च यथा शस्यानि तत्तदर्थैर्विदुषां मुदं ददति विद्वन्मानिनां मूर्खाणाञ्च तत्तद्विरुद्धाचारत्वाद् दुःखमेवेति दृष्टान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । यद्वा, यथा दैवाधीनमजानतां मानिनामित्येष एव दृष्टान्तः ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अनुशुष्यती शोषरहिताअनुशुष्यतीति पाठे आसन्नशोषा इत्यर्थः ॥ १०–११ ॥ मानिनां परसमृद्धिद्वेषिणाम् अभिमानवताम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

श्रुत्वेति । पर्जन्यस्य निनदं गर्जितमाकर्ण्य मण्डूकाः भेकाः गिरं व्यसृजन् ध्वनिं चक्रुः यथा ब्राह्मणाः शिष्याः आचार्यस्य नित्यकर्मणः प्राक् तूष्णीं शयानाः तस्य नियमात्यये नित्यकर्मावसाने तस्य ध्वनिं श्रुत्वा अधीयन्ते तद्वत् अनेनाचार्यसन्निधावध्ययनावसरं प्रतीक्षमाणाः तूष्णीमासीवेति सूचितम् ॥ ९ ॥ आसन्निति । अम्बुभिर्वर्षजलैः पूरिताः क्षुद्रनद्यः उत्पथवाहिन्य आसन् क्षुद्रनद्यो न शुष्यतोरिति पाठे शोषरहिताः सत्यः उत्पथवाहिन्य आसन्नित्यर्थः । अनुशुष्यतीरित्यपि पाठस्तदा आसन्नशोषा इत्यर्थः । उभयत्रापि विभक्तिव्यत्यय आर्षः, यथा अस्वतन्त्रस्येन्द्रियपरवशस्य पुंसो गेहद्रव्यसमृद्धयो न शुष्यन्त्यः दानभोगयोरभावात् यद्वाऽनुशुष्यन्त्यः धर्मानुपयुक्तत्वेनेति भावः । जितेन्द्रियस्य तु दानभोगाभ्यां शुष्यन्त्यः धर्मोपयोगद्वारा आसन्नशोषाश्च द्रव्यसम्पदां शोषो

नाम तद्वयय एव अम्बुपूरिता इति पाठे तु अजितेन्द्रियस्य यथा द्रव्यसम्पदः वराटिकापर्यन्तैरप्याजनैः पूरितास्ततः पुनर्वृद्ध्यादिभिर्निन्दितैर्वर्द्धन्त एव अपात्रगामिन्यो वा तद्वदित्यर्थः। अनेनैवास्वतन्त्रेन्द्रियसम्पदश्चला व्यर्थाश्चेति सूचितम् ॥ १० ॥ हरितेति। भूमिर्हरिभिर्हरितवर्णैः शष्पैर्बालतृणैर्हरितवर्णाः इन्द्रकोपैः कीटविशेषैर्लोहिताः उद्गतैः शिलीन्ध्रकुसुमैः कृतच्छाया लोहितपीतवर्णा च बभूव नृणां श्रीरिव यथा नृणां राज्ञां श्रीः सेनासम्पत् हरितलोहितपीतवर्णपटैर्विचित्रवर्णा भवति तद्वत् इदं वास्तवार्थकथनं, यद्वा, नृणां स्वदेहालङ्कारमात्रपराणां श्रीर्वस्त्राभरणादिसम्पत्तथेत्यर्थः। अनेन मूर्खाणां सम्पत्स्वोपकारमात्रपर्यवसान्ना न तु परोपकारार्थेति सूचितम् ॥ ११ ॥ क्षेत्राणीति। क्षेत्राणि सस्यसमृद्धिभिः कृषीवलानां मुदं फलमदृष्टाधीनमित्यजानतां मानिनां फलसमृद्धिद्वेषिणामनुतापं च ददुः अनेन परसमृद्धिं दृष्ट्वा हर्षवता भवितव्यमिति शिक्षितम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पर्जन्यनिनदं मन्दगर्जन्मेघनादं प्राक् पूर्वं तूष्णीं शयानाः मण्डूकाः नियमो नाम मौनेन जपादिकस्तस्यात्यये अवसाने वेदाध्ययनशीला भवन्ति अनेन विष्ण्वनुग्रहमाकाङ्क्षमाणैः कालो वन्ध्यो न कर्तव्य इति दर्शितम् ॥ ९ ॥ ग्रीष्मे, शुष्यतीः शोषं गच्छन्त्यः क्षुद्रनद्यः फल्गुनलाः अनु ग्रीष्मानन्तरं वर्षासु उत्पथवाहिन्यः जलाभिवृद्ध्या तीरमुद्रिच्य स्यन्दमाना बभूवुः अस्वतन्त्रस्य विषयरागादिवशङ्गतस्य पुंसो देहो वनितादिभोगेन वर्धते अनेन रजोगुणस्वभावः सूचितः ॥ १० ॥ हरिभिः श्यामैः शष्पैः बालतृणैः हरिता श्यामला इन्द्रगोपैः आषाढसमये उत्पद्यमानैः जपाकुसुमवर्णैः कृमिविशेषैर्लोहिता रक्ता च उत्कृष्टैः उत्पलैः शिलीन्ध्रैः गुल्मविशेषपुष्पैः छत्राकैर्वा कृतच्छाया कृतशोभा भूर्नृणां श्रीरिव सम्पदिव बहुविधाऽभूदित्यन्वयः। अनेन भूमिवदेक एव चेतनो गुणविकारेण नानास्वभावमापन्न इव प्रतीयत इति संसारस्यासारत्वज्ञानेन हेयत्वेन हरौ भक्तिः कर्तव्येति सूच्यते ॥ ११ ॥ कर्षकाणामुल्लेखनादिक्रियया वर्त्तमानानां क्षेत्राणि केदाराः सस्यानां सम्पद्भिः फलोद्रेकाऽभिमुखलक्षणाभिर्मुदं ददुः वाशब्दश्चार्थे तदजानतां कृषिक्रियाविशेषमजानतां मानिनां कृष्याद्यभिमानवतां पुंसां तान्येव क्षेत्राणि अतिवृष्ट्यनावृष्टिमेदुरसामर्थ्याद्यभावादिना सस्यनाशेन विपत्तिमनुतापं च ददुः पुनरुत्पत्तिनाशेन बीजं नष्टमित्यनुतापम् इन्द्रियाणि विषयजलादाकृष्य हरिचरणारविन्द एव मनो निदधांत क्षेत्राणि पुण्यस्थानानि सस्यसम्पद्भिः ज्ञानसमुद्रेकैः मुदं ददति तान्येव पुण्यस्थानानि तदजानतां स्नानादिक्रियाविशेषमबुध्य मानानां मानिनामहङ्कारिणां पुंसां अयोग्यानां विपत्तिं दुःखलक्षणां बहुलवित्तव्ययेन न किमपि फलं प्राप्तम् इत्यनुतापं च ददतीत्यतो मुमुक्षुणा स्वयं विचक्षणेभ्यो वा श्रुत्वा ज्ञात्वा हरिचरणसरोजे भक्तिः कर्तव्येति सूचितम् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

दैवाधीनमजानतामत एव मानिनाम् अहम्ममतापराणां कर्षकाणां सस्यसम्पद्भिः तत्सद्भावात्तावद्वा मुदमनुतापञ्ज ददुः ॥ १२–१९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नित्यकर्मावसाने आचार्याह्वानशब्दं श्रुत्वा तच्छिष्या यथा अधीयन्ते तद्वदिति ब्रह्मचारिभिरुपादेया ॥ ९ ॥ अनुशुष्यतीः अनुशुष्यन्त्यः वृष्यमाणैरल्पैरपि जलैरुत्पथगामिन्यः। स्वतन्त्रस्य शास्त्रशासनममानयतः देहस्य सम्पदो यौवनसामर्थ्यविद्याद्यद्रविणसम्पदः पञ्चषग्रामाधिपत्यंता यथा निकृष्टस्य कुमतेः परोद्वेजिकास्तथेति हेयैवेयम् ॥ १० ॥ हरिभिर्नीलवर्णैः शष्पैः कोमलैः क्वचिन्नीलवर्णा इन्द्रगोपैररुणवर्णकीटविशेषैः क्वचित् लोहिता उच्छिलीन्ध्रैश्छत्राकारैरुद्भिजैः कृतच्छाया कृतश्वेतकान्तिः नृणां राज्ञां श्रीस्सेनासम्पत् हरितादिवर्णपटगेहयुक्ता इयं राज्ञामुपादेया ॥ ११ ॥ मानिनामिति कृषिं निकृष्टं कर्म वयं प्रतिष्ठिता न कुर्महे इति गर्ववताम् अनुतापं हन्तहन्त यदि कृषिं वयमप्यकरिष्याम तदैतादृशी सस्यसम्पदः प्राप्स्याम इति पश्चात्तापं ददुर्मानिभ्य एवेत्यर्थः। यतो यदनुतापादिकं दैवाधीनं ते न जानन्तीत्यर्थः। यथा निवृत्तिकर्मपरान् ब्रह्मलोकं गच्छतो दृष्ट्वा प्रवृत्तिकर्मपराः स्वर्गस्था अनुतपन्तीति गम्योपमा भक्तैर्हेया ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नियमात्यये जपादिसमाप्तौ गुरुशब्दं श्रुत्वा शिष्या यथाऽधीयन्ते तद्वत् ॥ ९ ॥ अनुशुष्यतीः अनुशुष्यन्त्यः ॥ १० ॥ भूर्भूमिः क्वचित् हरिभिः हरितवर्णैः सस्यैर्बालतृणैर्हरिता क्वचिदिन्द्रगोपैः लोहितवर्णैः कीटविशेषैर्लोहिता तत्र तत्र उच्छिलीन्ध्रैश्छत्राकारैरुद्भिदैः कृतच्छाया अभूत् नृणां राज्ञां श्रीर्हरिः हरितलोहितवस्त्रच्छत्रादिसंयुक्ता सम्पदिव ॥११॥ कर्षकाणां क्षेत्रस्वामिनां मुदं ददुः धनिनां धनवतां तत्क्षेत्रसस्यसम्पदसहिष्णूनामुपतापं च ददुः तत्र हेतुमाह—दैवाधीनमजानतामिति स्वसम्पद्दर्शनेन मोदमानाः परसम्पद्दर्शनेनोपतप्यमानश्च मूर्खा इति भावः ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

प्राक् तूष्णीं शयाना निद्राणावन्निश्चेष्टा मण्डूका गिरो व्यसृजन् विविधं व्यस्तरयन् ब्राह्मणा यथा नित्यकर्मान्ते ऋग्ध्यानार्थं कृतमौना आचार्याह्वानं श्रुत्वाधीयन्ते तद्वदिति वर्णिभिरियमुपादेया ॥ ९ ॥ ऋत्वन्तरे अनुशुष्यन्त्यः क्षुद्रनद्यो वृष्यमाणैरल्पैरपि जलैरुत्पथवाहिन्य आसन् स्वतन्त्रस्यातिक्रान्तशास्त्राङ्कुशस्य देहसम्पदो यौवनबलाद्याः द्रविणसम्पदः पञ्चषग्रामाधिपत्याद्याः परोद्वेजिका इति हेयैवेयम् ॥ १० ॥ हरिभिर्नीलैः शष्पैर्बालतृणैः भूः क्वचिद्धरिता नीलवर्णा इन्द्रगोपैररुणैः कीटविशेषैः क्वचिल्लोहिता उच्छीलीन्ध्रैः छत्राकारैरुद्भिजैः कृतच्छाया नृणां राज्ञां श्रीः सेनासम्पदिव हरितरक्तादि पटगेहयुक्तेवाभूदिति राज्ञामियमुपादेया ॥ ११ ॥ क्षेत्राणि मानिनां तदभिमानवतां कर्षकाणाम् वृष्टिसातत्ये लसद्भिः शष्पैर्मुदं तद्विच्छेदेतु शुष्यद्भिरनुतापं ददुः मुदादिकं दैवाधीनमजानतां यथा क्षेत्राणि शरीराणि सम्पद्भिः पुष्टानि सन्ति तदभिमानिनां मुदं सम्पद्विगमे तु कृशानि सन्ति तापमिति गम्योपमा सद्भिर्हेया ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिभिः श्यामैः शष्पैर्बालतृणैर्हरिता श्यामा स्वत एव कृष्णा चेदपि विलक्षणा कान्तिरभूदिति भावः । इन्द्रगोपैर्लोहितवर्णकृमिविशेषैः शकलातीत्यपभ्रष्टभाषया लोहिता रक्ता चोच्छिलीन्ध्रैश्छत्राकैरुत्कृष्टैः शिलींध्रं ः कदलीपुष्पेः । कदल्यां तु शीलध्रस्यादिति शब्दार्णवः । कृता छाया शोभा यस्याः सा नृणां श्रीर्यथा नानाविधा तथेयं भूरभूत् । अनेन सम्पदि गुणानुगुणकार्यं ध्वन्यते ॥ ९ ॥ कर्षकाणां स्वयं भूलेखकानां कृषीवलानां क्षेत्राणि केदाराः सस्यसम्पद्भिर्भाविफलोन्नाहोहिकाभिर्मुदं ददुः । मानिनामहङ्कारेण स्वमपकर्षकाणां तत्प्रकारज्ञानां नास्माभिः कर्षणं कृतमतो न फलं तद्वदासीदिति पश्चात्तापं ददुः । तदजानतामेतत्प्रकारज्ञानहीनानां विपत्ति वाधान्याद्यलाभजनितविपदं च ददुः । सस्यसारत्वात्स इत्युक्तेर्हरेः क्षेत्राणि नानावताराः कर्षकाणां भक्त्या ध्यात्वा मुदं ददुः । मानिनामभिमानिनामनुतापं तद्ध्यानादिसाधनमजानतामज्ञानिनां मिथ्याज्ञानिनां च विपत्तिं नरकतमआदिरूपां ददुरित्यान्तरङ्गिको भावोऽवसेयः ॥ १० ॥ जलौकसः स्थलौकसः सर्वे नववारिणो निषेवया स्नानपानादिरूपसेवया रुचिरं रूपं नैर्मल्येन भासुरं । अविभ्रन्दधुः । जलौजसः स्थलौकसः सर्वे तपस्विनो हरिनिषेवया भगवत्सेवया यथा रुचिरं ज्ञानाद्यात्मकतया मनोहरं रूपं स्वस्वरूपं बिभ्रति तथेति ॥ ११ ॥ श्वसनोर्भिमान् । यद्यपि मादुपधाया इति ऊर्मिवानिति वक्तव्यं तथापि यवादिगणगणिततया वस्य मत्वं ज्ञेयं । सिन्धुः समुद्रः सरिद्भिर्नदीभिः सङ्गतो मिलितो यथाऽऽवक्वयोगिनोऽपक्वः फलपरिपाकमप्राप्तश्चासौ योगश्च सोऽस्यास्तीति स तस्य कामार्तं सरिद्भिरिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन योषिन्निमित्तं मन्मथमथितं गुणयुगुणैर्विषयैर्युज्यत इति तत्तथा । यथा क्षोभं प्राप्नोति तथा चुक्षोभाचलत् ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमर्थतो वेदनिराकरणमुक्त्वा शब्दतोप्याह श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमिति, मण्डूकाः सर्वप्राण्यनुपजीवनीया "एष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्ये"ष्वितिश्रुतेः, तथा चेद् ब्राह्मणाः सर्वोपद्रवकारिणो भवन्ति ततः कथं वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः स्यात् ? तेषां च मण्डूकानां च वचनं सर्वोपद्रवकर्तृकालाधीनं, तदाह पर्जन्यनिनदं श्रुत्वा मण्डूका गिरो व्यसृजन्निति, पर्जन्यनादव्यतिरेकेण न तेषां सहजा प्रवृत्तिः, तदैव तेषामुद्गमात्, अनेनोत्तमा वाणी तस्मिन् काले लुप्ता गर्जनशब्दो वा मण्डूकशब्दो वा उपर्यधश्च ब्राह्मणानां विद्यमानत्वात् कथं नोत्तमशब्द इत्याशङ्क्य दृष्टान्ते ब्राह्मणान् निरूपयति तूष्णीं शयाना इति, पूर्वं कलिस्था ब्राह्मणाः प्राक्शयाना एव भवन्ति ततो नियमस्याप्यत्यये मर्यादायां गतायां प्रभोर्दानादिकं श्रुत्वा तदा गिरो व्यसृजन्, तथा चक्रुः, "ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् अध्वर्यवो धर्मिणः शिश्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्", 'सोम'पानप्रवणा 'ब्राह्मणा' यथासुखं 'वाचमक्रत' कृतवन्तः, 'परिवत्सरीणं' संवत्सरसाध्यं 'ब्रह्मा'न्नादिकं 'कृण्वन्तः'कृष्यादिपरा यथासुखं वेदशब्दान् पठन्तीत्यर्थः, 'केचित्' पुन'रध्वर्यवो'ध्वरयाजका 'धर्मिणः' प्रवर्ग्यकर्तारः 'शिश्विदानाः' प्रकाशमाना 'गुह्याः' सन्तो 'नाविर्भवन्ति', यज्ञा धर्माश्च न वर्षासु प्रभवन्ति, अतो बहिर्मुखा एव कृष्यादिपरा यथासुखं 'वाचमक्रत', अस्यैवार्थस्य भूयसे निर्वचनायापरा ऋक्, "देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवते विसर्गं", ये 'नरः' पुरुषा 'देवहितिं' भगवतः शब्दरूप'मृतुं जुगुपुर्द्वादशस्य' संवत्सरस्य सम्बन्धी ऋतुर्मुख्यो वसन्तस्तं 'न प्र मिणन्त्येते' न जानन्ति, अतोऽज्ञानात् तूष्णीमेव तदा स्थिताः 'संवत्सरे' संवत्सरमध्ये 'प्रावृष्यागतायां' पूर्वं 'तप्ता धर्माः' 'वि'विधमेव 'सर्गमश्नुवते', न तु मूलभूतां वाणीं वदन्ति, यत्किञ्चिद् वदन्तीत्यर्थः, यतो 'धर्माः' परतापकाः स्वयं च 'तप्ताः', तेषां यत्किञ्चिद्वचनान्याहापरा ऋक्, "गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः", वर्षायामुत्पन्नं फलं प्राप्य केनैतत् फलं दत्तमिति पृष्टा आहुर्गोमायुरदात्' सृगालो दत्तवान्, 'अजमायु'र्वृकः 'पृश्नि'र्भूमि'र्हरितो' मेघां 'नो'स्मभ्यं 'वसूनि' दत्तवन्तः, किञ्च 'गवां शतानि मण्डूका ददतः

सहस्रसावे' सहस्रवर्षपर्यन्त'मायुश्च 'प्र तिरन्तः' प्रयच्छन्तो जाताः, किञ्च वृष्ट्यर्थं मण्डूकस्य पत्नीं च प्रार्थय "न्त्युप प्रवद मण्डूकि-वर्षमावदतादुरि मध्ये ह्रदस्य प्लवस्य विगृह्य चतुरः पदः", हे 'मण्डूकि' 'उप' समीपे 'वर्षं प्रवद', 'आ'समन्ता 'दुरि मण्डूको 'वदतात्', तस्यावस्थां चाह 'मध्य' इति, एवं ब्राह्मणा यथा तेषामुपजीव्या मण्डूकास्तथैव ये ब्राह्मणा मण्डूकोपजीविनस्तैः कथं वा वेदरक्षा भवेदिति शब्दतोपि वेदनिवृत्तिः सूचिता ॥ ९ ॥ तर्हि मास्तु वेदः पाषण्डैरेव कार्यं भवत्वित्याशङ्क्य महतां तु ते क्षोभका भवन्त्यल्पानां तु व्यामोहका भवन्तीत्याहासन्निति उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योः वर्षासु जाता अकस्मादेव निषिद्धं फलं वह्नेव प्राप्नुवन्त्यमर्यादत्वात् तद्रक्षणाशक्ता उत्पथवाहिन्यो भवन्ति, ततोनु तत्क्षणमेव शुष्यन्तीर्भवन्ति, प्रकृतोपयोगाय दृष्टान्तमाह यथा-स्वतन्त्रस्येन्द्रियपरवशस्य देहेन्द्रियसम्पदोमार्गवाहिन्योपि भवन्त्यनुशुष्यतीश्च भवन्ति ॥ १० ॥ वाह्यसम्पत्त्याः स्वरूपमाह हरिता इति, इयं सर्वैव भूस्त्रिगुणा सती नृणां यथा राज्यसम्पत्तिर्धनसम्पत्तिर्वा भवति तथा जाता, हरिभिर्हरिद्वर्णैः शष्पैर्धासैर्हरिता श्यामवर्णा भूरिन्द्रगोपैः कीटविशेषैर्लोहितवर्णा उच्छिलीन्ध्रैश्छत्राकैः श्वेतवर्णा कृतच्छायेवैवं लोहितशुक्लकृष्णा, इन्द्रगोपो राजेव छत्रमिव छत्राकं सेनावच् छप्पाणि, अनेन भूमिरपि युद्धसामग्रीव वर्णिता. अतो यथा खड्गजीविका मरणपर्यवसायिन्येव-मियं कृष्यादिजीविकापि मरणपर्यवसायिनी ॥ ११ ॥ शरत्कालो धर्मस्तथैव च भवत्यन्तस्तोषतदभावावाह क्षेत्राणीति, सस्यानां सम्पत्तिभिः कृत्वा कर्षुकाणां कृषीवलानां क्षेत्राणि मुदं ददुः, मानिनामभिमानवतां शत्रुवधार्थं प्रवृत्तानां वर्षा-सस्यादिभिः प्रतिबन्धं ज्ञात्वा विलष्टानामुपतापं च ददुः, जयादिकं सर्वं भगवदधीनं, न हि वर्षाप्रतिबन्धाभावे सर्वथा तेषां जयो निश्चयाभावात्, तदाह दैवाधीनमजानतामिति, जये पराजये च दैवमेव प्रयोजकम् ॥ १२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

श्रुत्वेत्यत्र "एष वा" इति श्रुतिस्तु चयनप्रकरणे 'मण्डूकेन विकर्षती'ति पठिता, दृष्टान्तव्याख्याने शयाना इत्यध्यापनं विहाय तिष्ठन्तः, प्रमोरित्यान्वस्य, उक्तमर्थे श्रुत्योपष्टम्भयितुं ऋच आहुस्तथा चेत्यादि, यथासुखमित्यध्ययनादिनियमं त्यक्त्वा, वाचमक्रतेत्यत्र वाक्शब्दादमोलोपः, वाचं कृतवन्त इत्यर्थः, एवं पूर्वार्धेन कलिस्थकृषीवलब्राह्मणानां व्यवस्थोक्ता अध्वर्यव इत्यादि-नोत्तरार्धेनोत्तमानामेकान्तवासित्वं तादृशकाले निरूप्यते, तदेतद् व्याकुर्वन्ति यज्ञा इत्यादि, उक्तश्रुतौ वर्षा न स्फुटा गीर्विसर्गश्च तदर्थं श्रुत्यन्तरमाहुरस्यैवेत्यादि, भूयसे निर्वचनायेति विशेषकथनाय, देवहितिमित्यादि हिर्गतौ वृद्धौ च देवस्य भगवतो हितिर्गतिर्वृद्धिर्वा येन तादृशं शब्दनिरूपकमृतुं वक्ष्यमाणं जुगुपुर्गोपितवन्तः, तत्रोक्तं धर्मं न चक्रुरितियावत् विविधमेव सर्ग-मश्नुवत इति चित्रवाग्रूपं प्राप्नुवन्ति, ददत इति ददतीत्यर्थः, सूचितेत्येतेन यद् व्यञ्जितं तद् टिप्पण्यामाहुः श्रुत्वेत्यादि, ननु निरुक्त एतच्छ्रुत्युपन्यासात् पूर्वं 'वसिष्ठो वर्षकामः पर्जन्यं तुष्टाव तं मण्डूका अन्वमोदन्त स मण्डूकांस्तुष्टावे'त्युक्तमतः कथमस्याः कलिस्थवहिर्मुखब्राह्मणबोधकत्वमिति चेदुच्यते, सृष्टिदशायां ब्रह्मणस्तत्तच्चिन्तावशादिव तदानीं वर्षकामस्य वसिष्ठस्यापि तत्सम्भवे वाधकाभावात् 'समाननामरूप'सूत्रे कल्पभेदेन भिन्नताया अपि सिद्धत्वात् तथोक्तावपि न कश्चिद् दोषः, एता ऋचः पर्जन्यसूक्तस्था वेदभाष्ये प्रकारान्तरेण व्याख्यातास्तथा निरुक्ते'व्यक्षरसामान्यान् निब्रूया'दित्यनुशासनात् पुराणोपबृंहणत्वाच्च न कोपि शङ्का-लेश इति दिक्, भावमात्रमेव गम्यत इति तथा ।।९।। आसन्नित्यत्र भवन्तीत्येतत्पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुरासन्नित्यादि ।।१०।। हरिता इति पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुर्हरिता इत्यादि ॥ ११ ॥ क्षेत्राणीत्यत्र तदभावायेति, कलिस्थानां कृष्यादिजीविकायां मरणपर्यवसायित्वज्ञानाभावायेत्यर्थः, प्रयोजकमित्येतत्पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुः क्षेत्राणीत्यादि ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्राक् प्रथमं तुष्णीं शयानाः स्थिता मण्डूकाः पर्जन्यस्य मेघस्य निनदं श्रुत्वा गिरो व्यसृजन् । यथा प्रथमं तूर्ष्णीं स्थिता ब्राह्मणाः शिष्या गुरोर्नियमात्यये नित्यकर्मपरिसमाप्तौ तदाज्ञावचनं श्रुत्वा गिरो विसृजन्ति अधीयन्ते तथा । तथा आचार्यस्य नित्य-क्रियायां प्रवृत्तायां स्वाध्यायाध्ययनजनितविघ्ने स्वस्य दुरदृष्टन्तस्य दौर्मनस्यं च स्यात्, तत्परिहाराय प्रथमं तूष्णीं स्थातव्यं तत्क्रियापरिसमाप्त्यनन्तरं तदाज्ञयाध्ययनं कर्तव्यमित्यादेयोपमा ।। ९ ।। क्षुद्रनद्यः प्रथमं वृष्यमाणैर्जलैरुत्पथवाहिन्यः स्वस्थितिमर्यादां हित्वा तीरस्थवृक्षादीनुन्मूलयन्त्यो वहन्त्योऽपि पश्चाद्वृष्ट्यभावे अनन्तरमेव शुष्यतीः शुष्यन्त्यश्चासन् । तत्र दृष्टान्तो यथा—अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियपरतन्त्रस्य यद्वा अस्वतन्त्रस्य शास्त्राज्ञातिवर्तिनः पुंसो देहसम्पदो यौवनेन्द्रियपाटवादयः, द्रविणसम्पदो धनगृह-भूमिपश्वादयः केनचित् पुण्यलेशेन प्रथमं वर्धमाना अपि शास्त्रमर्यादोल्लङ्घनेन परपीडापरस्त्रीद्यूतानृतादिषु वर्तमाना धर्मादीनुन्मूल-यन्त्यः स्वमूलपुण्यक्षये विनश्यन्ति तथा । एवं च न वर्तितव्यमिति हेयोपमा ।।१०।। हरिभिर्हरितैः श्यामैः कोमलतृणैः क्वचिद्धरिता, इन्द्रगोपैः लोहितवर्णकीटविशेषैः क्वचिल्लोहिता, उच्छिलीन्ध्रैः छत्राकारैरुद्भिज्जविशेषैः कृतच्छाया श्वेतवर्णा च भूः नृणां राज्ञां श्रीः सेनासम्पत् यथा नानावर्णवस्त्रादिना नानावर्णा भवति तथाभूदित्यन्वयः । तथा राज्ञ एवमेव स्वयशोवैभवविजयविस्तारार्थं सेना सम्पादनीया, अन्यथा वैमनस्ययुक्तया दुर्बलया सेनया तन्न स्यादित्यादेयोपमा ज्ञेया ।। ११ ॥ वृष्टेरविच्छेदेन लसन्तीभिः शाल्यादि-

सस्यसम्पद्भिः क्षेत्राणि कर्षकाणां मुदं ददुः। पश्चात् वृष्टेर्विच्छेदेन शुष्यन्तीभिस्ताभिस्तेषामेवानुतापं ददुः। वैशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः। उभयत्र हेतुमाह—मानिनामिति। अहंममाभिमानवतामित्यर्थः। 'धनिनाम्' इति पाठे तु धनाद्यभिमानवतामित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—दैवाधीनं सर्वं लाभालाभादिकमित्यजानतामिति। तथा च सर्वं भगवदधीनमिति निश्चित्य लाभालाभयोर्हर्षविषादौ न कर्तव्याविति हेयोपमा॥ १२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

श्रुत्वेति॥ प्राक् प्रथमं तूष्णीं शयानाः स्थिता मण्डूकाः पर्जन्यस्य मेघस्य निनदं श्रुत्वा गिरो व्यसृजन्। यद्वत् यथा प्रथमं तूष्णीं स्थिता ब्राह्मणाः शिष्या गुरोर्नियमात्यये नित्यकर्मपरिसमाप्तौ तदाह्वानवचनं श्रुत्वा गिरो विसृजन्ति अधीयते॥ ९॥ आसन्निति॥ क्षुद्रनद्यः प्रथमं वृष्टिजलैरुत्पथे वहन्ति तच्छीला अपि अनु पश्चात् वृष्ट्यभावे शुष्यतीः शुष्यन्त्यः आसन्। पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः। यथा अस्वतन्त्रस्य इन्द्रियाधीनस्य। यद्वा। स्वतन्त्रस्य निरङ्कुशस्य शास्त्राज्ञोल्लङ्घिनः पुंसो देहद्रविणयोः सम्पदः यौवनादयः धनपशुगृहादयश्च पुण्यलेशेन वर्द्धमाना अपि पापाधिक्याद्विनश्यन्ति तथा॥ १०॥ हरिता इति॥ हरिभिर्हरितैः शष्पैः कोमलतृणैः क्वचिद्धरिता इन्द्रगोपैः लोहितवर्णकीटविशेषैः क्वचिल्लोहिता उच्छिलीन्ध्रैः छत्राकारैरुद्भिज्जविशेषैः कृतच्छाया श्वेतवर्णा च भूः नृणां राज्ञां श्रीः सेना सम्पत् यथा नानावर्णा भवति तथाऽभूत्॥ ११॥ क्षेत्राणीति॥ क्षेत्राणि कर्तॄणि सस्यसंपद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः। दैवाधीनं सर्वं लाभालाभादिकमित्यजानतां धनिनां धनाद्यभिमानवताम् उपतापं कष्टं ददौ। अत्र वृष्ट्या लसद्भिः सस्यैर्मोदः वृष्टेर्विच्छेदेन सस्यशोषणादुपताप इत्याशयमाहुः। परे तु कर्षकाणां सस्यसम्पत्त्या मोदः कृषिं निकृष्टं कर्म मत्वा पूर्वं ताम् अकुर्वाणानां मानिनां धनिनां वा चित्ते कृषित्यागात्स्वस्य तत् सम्पदलाभेनानुताप इत्याहुः॥ १२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

यथा नियमात्यये नित्यकर्मान्ते गुरुशब्दं श्रुत्वा तच्छिष्याः पठंति तद्वत्गिरः व्यसृजन्॥ ९॥ प्रावृषीति पदं प्रतिश्लोकमावर्तनीयं अनुशुष्यतीः वृषेः पश्चात् शुष्यंत्यः उत्पथवाहिन्यः स्वपथं त्यक्त्वा गछंत्यः आसन् अस्वतंत्रस्य इंद्रियाधीनस्य स्वतंत्रस्येति पदछेदो वा तत्र पक्षे निरंकुशस्य त्यक्तशास्त्रमार्गस्येति यावत् नरस्य देहश्च द्रविणं धनं च संपदो धान्यादिसमृधयश्च उत्पथं गछंत्यो यथा तथा॥ हरिभिः शष्पैः नीलैः बालतृणैः हरिता कुत्रचित् नीलवर्णा इंद्रगोपैः रक्तकीटैः लोहिता कुत्रचित् रक्ता यत्र तत्र उछिलिंध्रैः छत्राकृतिभिः श्वेतश्यामोद्भेदैः कृतछाया भूःधनाढ्यानां नृणां श्रीः अनेकविधा संपदिव यद्वा नृणां नृपाणां श्रीः पृतना संपदिव बभूव॥ ११॥ सस्यसंपद्भिः नवीनोत्पन्नधान्यसमृधिभिः युक्तानि कृषिकर्तॄणां धनिनां द्रव्यलोभेन धान्यसंग्रहिणां सर्वंदैवाधीनम्॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

श्रुत्वेति॥ किं च पर्जन्यस्य निनदो गर्जितं श्रुत्वाऽऽकर्ण्य, प्राक् पूर्वं, तूष्णीं शयानाः मण्डूका भेकाः, गिरं व्यसृजन् ध्वनि चक्रुः। यद्वद्यथा, ब्राह्मणाः शिष्याः, प्राक् तूष्णीं शयानाः सन्तोऽपि, नियमात्यये नित्यकर्मावसाने, आचार्यशब्दं श्रुत्वा, अधीयते तद्वत्। यथाऽऽचार्यसमीपेऽध्ययनार्थं गताः शिष्याः स्वाचार्यं नित्यकर्माचरन्तं वीक्ष्य तन्नित्यकर्माचरणपर्यन्तं जोषमासीना अवतिष्ठन्ते ततोऽध्ययनार्थमागच्छतेति तद्ध्वनिं श्रुत्वा तदन्तिकमुपेत्य यथा वेदमन्त्रानुच्चारयन्ति तद्वत्। अनेन 'आहूतश्चाप्यधीयीत' इति स्मृत्यर्थः सूचितः॥ ९॥ आसन्निति॥ ग्रीष्मे अनुशुष्यतीरनुशुष्यत्यः शोषं गच्छन्त्यः क्षुद्रनद्यः फल्गुजलास्तटिन्यः, वर्षासु उत्पथवाहिन्यः जलाभिवृद्ध्या तीरमुद्रिच्य स्यन्दमानाः, आसन् बभूवुः। कथमिव। अस्वतन्त्रस्य विषयरागादिवशंगतस्य, स्वतन्त्रस्येति विच्छेदे निरङ्कुशस्य, पुंसः देहश्च द्रविणं धनं च संपदो धान्यादिसमृद्धयश्च ताः, यथा उत्पथवाहिन्यः भवन्ति तद्वत्। देहः पराङ्गनोपभोगरूपोत्पथगः, द्रविणमपात्रार्पणरूपोत्पथगं, धान्यादिसंपदो नटचारणनर्त्तक्याद्याशनतयोत्पथगं बोध्यम्। अनेनाजितेन्द्रियस्य देहादिकममोक्षमार्गगत्वाद्व्यर्थमेवेति सूचितम्॥ १०॥ हरितेति॥ भूर्भूमिः, हरिभिर्नीलवर्णैः, शष्पैस्तृणैः, हरिता नीलवर्णा, अभूत्। क्वचित् इन्द्रगोपैः आषाढसमयोत्पद्यमानजपाकुसुमवर्णकीटविशेषैः लोहिता रक्ता च, अभूत्। उच्छिलीन्ध्रैरुद्भिदैः छत्राकारैः कृतच्छाया सती, नृणां नृपाणां, श्रीः इव, अभूत्। यथा राज्ञां सेनासंपद्धरितलोहितपीतवर्णपटैर्विचित्रवर्णा भवति तद्वद्भूमिरपीति भावः। राज्ञामिति वक्तव्ये नृणामिति यदुक्तं तेन मूर्खत्वादन्यनृसमानानां राज्ञां संपत् स्वोपकारमात्रपर्यवसाना न तु परोपकारार्थेति सूचितम्॥ ११॥ क्षेत्राणीति॥ क्षेत्राणि सस्यसंपद्भिः वृष्टेरानुगुण्येन वर्द्धमानधान्यसंपद्भिः, लसन्ति सन्तीति शेषः। कर्षुकाणां कृषीवलानां, मुदं हर्षं, ददुः। फलं दैवाधीनं भवति इति, अजानतां, धनिनां धनवतां, उपतापं च, ददुः। भाविनि दुष्काले विक्रयेणाधिकधनलब्ध्यर्थं संगृहीतधान्यानां धनिनां स्वस्यधान्यातिशयप्रदर्शनेन परितापं कारयांचक्रुरित्यर्थः। अनेन परसमृद्धिं दृष्ट्वा हर्षवता भवितव्यं, न तु परितापवतेति शिक्षितम्॥ १२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

श्रुत्वेति : १०.२०.९.

श्रुत्वा श्रौतगिरोऽब्धरौघजननीः पङ्कोद्भवाः पङ्किलाः कुर्मः कर्मं किलेति केऽपि विफलं कुर्वन्ति कोलाहलम् ।
कुर्वन्तोऽपि च केऽपि यज्ञमफला हन्त स्युरापादितानुष्ठानोक्तिगलत्सुकीर्तयं इति त्राता त्वमेवेति सत् ॥ १५ ॥

आसन्निति: १०.२०.१०.

किं वा तद्वसु यन्निजाश्रयवशात् प्रोन्मादयत्याश्रितान् किं वासौ वसुमत्यलं च वसुमान् यौस्वाश्रितोम्मदंकौ ।
किं तेऽप्याश्रयिणो भवन्ति च पुनस्तज्जीवनाकाङ्क्षिणः किं तज्जीवनमध्वगे सति समायाते सपङ्कस्थिति ॥ १६ ॥

धन्यं तद्वसु यद्द्रवत्यविरतं सर्वासुभृज्जीवनं धन्याऽसौ वसुमत्यलं च वसुमान् यौ स्वाश्रितोजःप्रदौ ।
धन्यास्ते तदुपाश्रिता अपि पुनः कुर्वन्ति तत्सेवनं धन्यं सेवनमप्यलं वितनुते सद्यो विपङ्कस्थितिम् ॥ १७ ॥

आद्योदाहरणं निदाघसरितस्तत्रान्त्यमन्वर्थसन्नामानौ वसुमत्यसौ स वसुमान् भूमी रविश्चेत्यमू ।
तत्रैका तु तवप्रियाऽऽश्रितसुखं स्थानं द्वितीयः प्रभो ज्ञात्वैवं सदसत्प्रकारमधुना त्वत्पादमेवाऽऽश्रये ॥ १८ ॥

(विशेषकम्)

चलगति वसुजातं कीदृशेऽपि स्वभावान्नरि भवति मदाय स्त्रीषु तत्र त्ववेलम् ।
इति गतिमवगत्य क्षुद्रनद्या प्रदिष्टां वरद तव दयाब्धे पादपद्मं श्रयेऽहम् ॥ १९ ॥

हरितेति : १०.२०.११.

अगणितवसुसङ्ग्रहापि भूमिर्वहति यदन्यवसुश्रियैव शोभाम् ।
तदितरकथनैरलं दरिद्रैस्तदिह मुकुन्दमहं श्रयाम्युदारम् ॥ २० ॥

क्षेत्राणीति : १०.२०.१२.

निर्यत्नादुपलब्धिमत्यपि वसुन्यद्धाऽर्जितं यत्नतस्त द्वक्तीत्यभिमानतः प्रतिपदं याते तु तस्मिन् पुनः ।
दैवाद्यातमिति प्रतप्तहृदयो भ्रुते परं त्वं ततस्तत्त्वं वेत्ति न साधनं तदुभयोरप्यत्र सैको विधिः ॥ २१ ॥

ज्यायानिहैकविधिरेव धनाप्त्यनाप्त्योर्निर्णीय हेतुरिति यो हि वदान्यभर्तुः ।
तापापहारि वसुदं पदमेकमेव शुश्रूषते स लभते निखिलेष्टजातम् ॥ २२ ॥

कृष्णप्रिया

जो मेढक पहले चुपचाप सो रहे थे अब वे बादलों की गरज सुनकर टर्र टर्र करने लगे, जैसे नित्य-नियम से निवृत्त होने पर गुरु के आदेशानुसार ब्रह्मचारी लोग वेद-पाठ करने लगते हैं ॥ ९ ॥ छोटी-छोटी नदियाँ, जो जेठ आषाढ़ में बिल्कुल सूखने को आ गयी थी, वे अब उमड़-घुमड़ कर अपने घेरे से बाहर बहने लगी, जैसे अजितेन्द्रिय पुरुष के शरीर और धन-सम्पत्तियों का कुमार्ग में उपयोग होने लगता है ॥ १० ॥ पृथ्वी पर कहीं-कहीं हरीयाली थी तो कहीं-कहीं वीरबहूटियों की लालिमा और कहीं-कहीं बरसाती छत्तों (सफेद कुकुरमुत्तों) के कारण वह सफेद मालूम देती थी, इस प्रकार उसकी ऐसी शोभा हो रही थी मानों किसी राजा की रंग-बिरंगी सेना हो ॥ ११ ॥ सब खेत अनाजों से भरे-पूरे लहलहा रहे थे उन्हें देखकर किसान तो मारे आनन्द के फूले न समाते थे, परन्तु सब कुछ प्रारब्ध के अधीन है । यह बात न जानने वाले धनियों के चित्त में बड़ी जलन हो रही थी कि अब हम इसे अपने पंजे में कैसे रख सकेंगे ॥ १२ ॥

जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया । [1]अबिभ्रद् रुचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥ १३ ॥
सरिद्भिः [2]सङ्गतः सिन्धुश्चुक्षोभ[3] श्वसनोर्मिमान् । अपक्वयोगिनश्चित्तं [4]कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥ १४ ॥
गिरयो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः । अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥ १५ ॥
मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः[5] । नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः [6]कालहता इव ॥ १६ ॥

---

१. अबिभ्रन्रुचिरं-वीर. विज. । २. संश्रितः-विज. । ३. श्चुक्षुभे-श्रीधर. वंशी.; श्चुक्षोभ-वीर. विज. । ४. कामार्तं-विज. । ५. असंस्कृताः-विज. । ६. कालेन वा हताः-गो. प्र. टी.; कालेन चाहताः-वीर. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हरिनिषेवया यथा रुचिरम् रूपम् अबिभ्रत्, तथा नव वारिनिषेवया सर्वे जलस्थलौकसः रुचिरम् रूपम् ॥ १३ ॥ अपक्वयोगिनः कामाक्तम् गुणयुक् चित्तम् यथा क्षुब्धं भवति, तथा सरिद्भिः सङ्गतः श्वसनोर्मिमान् सिन्धुः चुक्षोभ ॥ १४ ॥ व्यसनैः अभिभूयमानाः अधोक्षजचेतसः यथा न क्षोभमनुभवन्ति तथा वर्षधाराभिः हन्यमानाः गिरयः न विव्यथुः ॥ १५ ॥ द्विजैः न अभ्यसमानाः, कालहताः श्रुतयः इव, तृणैश्छन्नाः हि असंस्कृताः मार्गाः संदिग्धाः बभूवुः ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अधोक्षज एव चेतो येषां ते ॥ १३ ॥ असंस्कृता अक्षुण्णा नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यम्। कालेन चाहता इति तृणाच्छादनसाम्यम् ॥ १४ ॥ यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः ॥ १५ ॥ निर्गुणं ज्यारहितमपि गुणिनि गर्जितशब्दवति अभादशोभत। गुणव्यतिकरात्मके व्यक्ते प्रपंचेऽगुणवान्निर्गुणः पुरुषो यथेति ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

दिव्यथुः विलीना बभूवुः। गिरणोद्गिरणसमर्थवत्त्वाद्गिरीणां व्यथाभावमात्रे दृष्टांतः, न तु बुद्धिमत्त्वाद्बुद्धिमत्त्वसत्त्वे इति। न विव्यथुर्न विव्यथिरे प्रत्युत रजआद्यपगमादशोभंतैवेत्यर्थः। व्यसनैराध्यात्मिकादितापैः। अधोक्षजचेतस्त्वादेव न व्यथंते "तपंति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः" इति श्रीकपिलोक्तेः। प्रत्युत दैन्यवृद्ध्या गर्वासूयादिमालिन्यरहिता एव भवंतीति सद्भिरुपादेयमिति ॥ १३ ॥ संदिग्धाः इतो यांतीतो वेति संदेहास्पदाः। असंस्कृताः तृणाद्यपनयनहीनाः। कालेन चिरकालेन हता अपठिता एव। अनेन सच्छास्त्रं ज्ञानोत्पत्तये सदैवाभ्यसनीयमिति दर्शितम् ॥ १४ ॥ लोकबंधुषु जलप्रदानेनोपकारिषु गुणिषु विद्वतोपशमादिगुणयुक्तेषु, अनेन विवेकिना हरौ स्थिरा भक्तिर्विधेया न विद्युद्वच्चलेति भावः ॥ १५ ॥ निर्गुणः अनुगतसच्चिदात्मना यथा भाति तद्वदित्यर्थः। एतेन कालेनाभ्यसतां सगुण एव निर्गुणतामापद्यत इति ध्वनितम् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

जलेति तैर्व्याख्यातं तत्र साधनावस्थायां परमधर्मत्वं प्रसिद्धमेव सुखरूपत्वं च—

"कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्। आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु"।

इत्यनुसारेण साध्यावस्थायां तु परमसुखरूपत्वं प्रसिद्धमेवेति विवेचनीयम् ॥ १३ ॥ श्रीवृन्दावनेऽत्रावर्त्तमानस्यापि सिन्धोर्वर्णनं प्रावृट् स्वभाववर्णनात् किम्वा सिन्धुरिव सिन्धुः श्रीमथुरामण्डलपश्चिमसीमायां वर्त्तमानं मानसगङ्गाप्रभवकोटराख्यमहासरो ज्ञेयम् ॥ १४ ॥ वर्षधाराभिरिति गिरिषु वृष्टेराधिक्यात् अभिभूयमानाः अभिभवचेष्टाविषयीक्रियमाणा अपि न विव्यथुः न विव्यथिरे न दुःखं प्रापुः किन्तु ते रज आद्यपगमात् अशोभन्तैवेत्यर्थः। व्यसनैः रोगादिविघ्नैः प्रारब्धस्यावश्यभोग्यत्वात् "त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः" इति न्यायाच्चाभिभूयमाना अपि न व्यथयन्ते प्रत्युताशोभन्तैव दुष्कर्मापगमादिना भगवत्स्मरणविशेषसिद्धेः टीकायामेवकारस्तदव्यथायां हेतुः ॥ १५ ॥ नाभ्यस्यमाना अनभ्यस्यमानाः कालहताः कालेन कलियुगादिना हताः श्रुतय इव एष एव पाठो बहुत्र तेषां व्याख्यादृष्ट्या केचित् कालेन चाहता इति पाठं कुर्वन्ति ॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

जलौकसो मीनमण्डूकादयः, स्थलौकसो गोमृगादयः, नववारीणां नितरां सेवया पानादिना रुचिरं रूपं वर्णं किं वा पुष्ट्यादिसम्पत्तेर्मालिन्याद्यपगमाच्च, उत्तमं सौन्दर्यं दधुरित्यर्थः। हरेर्महामनोहरस्य भगवतो निषेवया कथञ्चिद्भजनारम्भेणेत्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, निषेवया प्रेमलक्षणभक्त्या रूपमश्रुपातादिना सौन्दर्यम्; यद्वा, नित्यपूजया महाप्रसादमालादिधारणादिना ॥ १३ ॥ श्री वृन्दावनेऽत्रावर्त्तमानस्यापि सिन्धोर्वर्णनं प्रावृट्स्वभाववर्णनात्, किंवा, सिन्धुरिव सिन्धुः श्रीमथुरामण्डलपश्चिमसीमायां वर्त्तमानं मानसगंगाप्रभवकोटराख्यमहासरो ज्ञेयम् ॥ १४ ॥ वर्षाधाराभिरिति गिरिषु वृष्टेराधिक्यान्न विव्यथुः, न विव्यथिरे, किन्तु रज आद्यपगमादशोभन्तैवेत्यर्थः। व्यसनै रोगादिविघ्नैः, प्रारब्धस्यावश्यभोग्यत्वात् (भा० ११।४।१०) 'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः' इति न्यायाच्चाभिभूयमाना अपि यथा न, निव्यथिरे, अथवाऽशोभन्तैव दुष्कर्म्मापगमादिनां भगवत्स्मरणविशेषसिद्धेः ॥ १५ ॥ नाभ्यस्यमाना अनभ्यस्यमानाः, कालेन कलिकालादिना, च इवार्थे ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

रुचिरं रूपमिति "वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः" इत्यर्थ उक्तः ॥ १३-१७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

जलस्थलौकस इति । जलौकसः स्थलौकसश्च ते सर्वे नवस्य नूतनस्य वारिणो निषेवया रुचिरं रूपमबिभ्रन् अबिभरुः संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वादार्षत्वाद्वाऽभ्यस्तलक्षणजुसभावः यथा हृदयकमलस्थहरिनिषेवया रुचिरं रूपं बिभ्रति तद्वत् "वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः" इति वचनार्थो ऽत्र उक्तः अनेन हरिसेवया विना न सौम्यतेति सूचितम् ॥ १३ ॥ सरिद्भिरिति । सिन्धु समुद्रः सरिद्भिः सङ्गतः वातोद्धूततरङ्गश्च चुक्षुभे सञ्चचाल यथा अपक्वयोगिनः अनिष्पन्नसमाधेः पुंसश्चित्तं विषयस्पृहायुक्तं गुणयुक् च गुणैर्विषयैर्युज्यत इति तथाभूतश्च सत् क्षुभ्यति तद्वत् कामासक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यं गुणयुगिति श्वसनोर्मिसरित्सङ्गसाम्यं चित्तचाञ्चल्यनिमित्तकामाञ्जनगुणयोगनिवर्त्तकभगवत्समाधिविपाकार्यं यतितव्यमिति सूचितम् ॥ १४ ॥ गिरय इति । वर्षधाराभिरभिहन्यमाना अपि गिरयो न विव्यथुः यथा अधोक्षज एव चेतांसि येषां ते व्यसनैराध्यात्मिकादितापैः पीड्यमाना अपि न व्यथन्ति तद्वद्भगवद्भक्तिरेव तापत्रयविघातिनीत्युक्तं भवति ॥ १५ ॥ मार्गा इति । तृणैश्छन्ना असंस्कृता अक्षुण्णाः वर्षासु पथिकानां प्रायशो गमनाभावादिति भावः । सन्दिग्धाः सन्देहजनका बभूवुः यथा श्रुतयो वेदाः द्विजैरनभ्यस्यमानाः अनावर्त्यमाना इत्यसंस्कृतं साम्यं यतः नाभ्यस्यमानाः अत एव कालेन केनचित्कालेन आहता विस्मृताश्च भवन्ति कालेन चाहता इति तृणाच्छादनसाम्यम् अनेनाधीतानां वेदानामावृत्तिं कुर्वतैव स्थैर्यमन्यथा तु प्रत्यवाय इति सूचितम्, तथा च स्मर्यते—

"आधीतमपि यद्वेदं नानुपालयति द्विजः । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः" ॥ इति ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

जलौकसः पातालवासिनः स्थलौकसः भूलोकवासिनः किञ्च सर्वे अन्तरिक्षादिलोकवासिनां सर्वेषां संसारदुःखं निवारयतीति वारिज्ञानं नवं निर्दोषं वारि तस्य नितरां सेवयाऽभ्यासलक्षणया रुचिरं निर्दोषं रूपमबिभ्रन् बिभ्रति कथङ्कारं जातया यथा यथावद्धरिनिषेवया जातया ॥ १३ ॥ अपक्वयोगिनः अपक्वः परिपाकमप्राप्तः योगोऽस्यास्तीत्यपक्वयोगी तस्य गुणयुक् रजोगुणयुक् यद्वा गुणेषु विषयेषु युक्त इति अत एव कामार्त्तम् ॥ १४ ॥ न विव्यथुः न विलीना बभूवुः, कुतः ? गिरयः गिरणोद्गिरणसमर्थत्वाद्व्ययाभावमात्रे निदर्शनं न तु बुद्धिमत्त्वाबुद्धिमत्त्वविवक्षायाम् अनेन सर्वसहनशक्तिर्हरिभक्तानामेवेति दर्शितम् ॥ १५ ॥ असंश्रिता जनैरनाक्रान्ताः अनेन सच्छात्रं निरन्तरमभ्यसनीयं ज्ञानोत्पत्तये इति व्यतिरेकनिदर्शनम् ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अबिभ्रन् अबिभरुः यथेति हरिसेवायां प्रवृत्ता अपि सद्य एव सर्वे रुचिरा भवन्ति तस्याः परमधर्मत्वात् परमसुखदत्वाच्च तद्वदित्युपादेया ॥ १३ ॥ सिन्धुर्नदीविशेषः पाश्चात्यः विशेषणस्य पुंस्त्वमार्षं कामाक्तं कामवासनायुक्तम् इति श्वसनोर्मिसाम्यं गुणैर्विषयैर्युज्यते इति सरित् सङ्गतिसाम्यमिति ज्ञेया ॥ १४ ॥ न विव्यथुर्न विव्यथिरे प्रत्युत रज आद्यपगमादशोभन्तेवेत्यर्थः । व्यसनैराध्यात्मिकादिभिस्तापैरधोक्षजचेतस्त्वादेव न व्यथन्ते "तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः" इति भगवदुक्तेः प्रत्युत दैन्यवृद्ध्या गर्वासूयादिमालिन्यरहिता एव भवन्तीति सद्भिरुपादेया ॥ १५ ॥ नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं कालहता इति तृणाच्छादनसाम्यम् अत एव मार्गाः श्रुतयश्च सन्दिग्धा इतीयं वटुभिर्ज्ञेया ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नववारिनिषेवया सर्वे रुचिरं रूपमबिभ्रन् हरिभक्त्या यथा सर्वे वर्णाः आश्रमिणश्च रुचिरं रूपं बिभ्रन्ति तद्वदित्यन्वयः ॥ १३ ॥ कामेन विषयसङ्कल्पेनोक्तं गुणैर्विषयैर्युज्यते इति गुणयुक् चित्तं यथा क्षुभ्यति तद्वत् ॥ १४ ॥ व्यसनैस्त्रिभिराध्यात्मिकादितापैरधोक्षजचेतसो भगवद्ध्याननिष्ठा न व्यथन्ति तद्वत् ॥ १५–१७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अबिभ्रदबिभरुः यथेति हरिसेवायां प्रवृत्ताः सर्वे धृतैर्वैष्णवचिह्नैः रूपं मनोज्ञं लभन्ते तद्वदित्युपादेयेयम् ॥ १३ ॥ सिन्धुः पाश्चात्यो नदः कामाक्तं भोगवासनायुक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यं गुणैर्विषयैर्युज्यत इति सरित्संगतिसाम्यमिति हेयेयम् ॥ १४ ॥ गिरयो न विव्यथिरे प्रत्युत धूल्याद्यपगमाच्छुशुभिरे अधोक्षजचेतसो यथा व्यसनैराध्यात्मिकादिदुःखैर्न व्यथन्ते "तपन्ति विविधास्तापानैतान्मदगतचेतसः" इति वचनात् प्रत्युत दैन्याभिवृद्धेर्गर्वासूयादिमालिन्यापगमाच्छोभतरा भवन्तीति रतिमतामुपादेयेयम् ।१५। मार्गास्तृणैश्छन्ना असंस्कृता अक्षुण्णाः सन्दिग्धा बभूवुः नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यं कालहता इति तृणच्छादनसाम्यमिति वटुभिरियं हेया ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

व्यसनैः सांसारिकक्लेशैरभिभूयमानास्तिरस्क्रियमाणा अपि । अधोक्षजचेतसो हरिनिरतमनस्का यथा व्यथां नाप्नुवन्ति तथा वर्षधाराभिर्हन्यमाना गिरयः पर्वता न विव्यथुः ॥ १३ ॥ द्विजैरनभ्यस्यमानाः पक्षग्रन्थत्वात्तासां श्रुतयो वेदाः कालहता यथा

सन्दिग्धपाठा भवन्ति तथा मार्गास्तृणैश्छन्ना असंश्रिता जनैर्वृष्टिकष्टतो नाश्रिता इति केचित्। असंश्रिताः प्रागमिलिता इदानीं तृणैश्छन्ना इति सन्दिग्धा बभूवुः। नाभ्यस्यमाना इति नसमासः॥ १४॥ गुणिषु सौन्दर्यादिगुणयुक्तेषु पुरुषेषु वलं सौहृदं यासां ताः कामिन्य इव यथा स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा लोकबन्धुष्वनिमित्तोपकारिषु मेघेषु विद्युतः स्थैर्यं न चक्रुः। विद्युच्चञ्चला चपलाऽपीति स्वनामानुयातं चक्रुरिति भावः॥१५॥ गुणव्यतिकरे कार्योन्मुखतया गुणानां भवने व्यक्ते प्रवृत्त इति यावत् गुणवान्सत्त्वादिप्रवर्तकतया तद्वान्ज्ञानानन्दादिगुणपूर्ण इति वाऽप्रधानप्रकृत्यादिसंयुत इति वाऽगुणवान्सत्त्वादिभिर्वा स्वभिन्नगुणैर्वा हीन इति वा। एतेन दार्ष्टान्तिके निर्गुणमित्युक्तेरत्र गुणवानिति कथमिति परास्तमिति वदन्ति। यथा पुरुषो नारायणो भाति तथा गुणिनि शब्दगुणके आकाशो नीलिमोद्देतीत्यादेर्नीलिमगुणयुते वा वियत्याकाशे निर्गुणं ज्याविकलं माहेन्द्रसम्बन्धि धनुश्चापं तथाभूत्॥१६॥

श्रीसुबोधिनी

एवमृतुन्यायेन वर्णनामुक्त्वा मासन्यायेन द्वादशधा धर्मानाह जलस्थलौकस इति द्वादशभिः, मासा हि निमित्तं धर्मिणोत्र प्रधानगुणा वाच्याः।

जीवा नद्यः पर्वताश्च मार्गाः कामिन्य एव च। विद्यावांश्चन्द्रमा बर्हीं भक्ता वा तापसास्तथा॥ १॥
गृहिणो वैदिका मार्गा राजानश्चेति कीर्तिताः। त्रिविधाः सर्व एवैते मासभोग्याः प्रकीर्तिताः॥ २॥
सर्वेप्येते वृष्टिकाले सुखं दुःखं च लेभिरे। पुष्टिमार्गस्थिताः सर्वे सुखं प्रापुर्न चापरे॥ ३॥

तत्र क्रमेण सुखदुःखे निरूपयन्नादौ भगवदीयेयं प्रावृडिति ज्ञापयितुं सर्वेषामेव प्राणिनां सुखजनिका जातेत्याह जलस्थलौकस इति, जलं वा स्थलं वौको येषां, भूचरा जलचराश्च राजसास्तामसाश्च, सात्त्विकास्त्वनुक्तसिद्धाः सुखिनो दृष्टान्तार्थं भिन्नतया स्थापिताः, सर्व एव नववारिसेवया नवजलसेवया रुचिरं मनोहरं रूपमबिभ्रत्, दोषादपि रूपवैलक्षण्यं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह यथा हरिनिषेवया, भगवत्सेवया चतुर्भुजादि रूपं प्राप्नोति तेजोविशेषं वा, हरिपदेन तदानीमेव गजेन्द्रस्य रूपान्तरसम्पत्तिः स्पष्टार्थं ज्ञापितेति प्रदर्शितम्॥ १३॥ अभिमानी तु महान् मोहं प्राप्नोतीति समुद्रं निरूपयति, सरितो हि तस्य स्त्रियः, सर्वाभिरेव ताभिः सङ्गतः सिन्धुः समुद्रश्चुक्षोभ क्षोभं प्राप्तवान्, वर्षाकालो हि कामिनां क्षोभकः सुतरां स्त्रीसङ्गिनां, किञ्च श्वसनेन कृत्वोर्मिमांश्च जातः, तरङ्गाश्च गर्भस्थानीयाः, वायुश्च रजोगुणः, एवं तस्यानर्थो निरूपितः, महतः कथमनर्थं इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरत्यपक्वयोगिन इति, न पक्वो योगः फलपर्यवसायी यस्य, "चित्तवृत्तिनिरोधो" हि 'योगः' स चेत् पक्वो भवेत् कुर्याच् चित्तवृत्तिनिरोधं, अपक्वत्वान् निरोधो जात इव प्रतिभाति, परीक्षायां न सङ्गच्छते, तदाह कामाक्तमिति, स्वभावतो गुणयुग् गुणसम्बन्धी स चेत् कामेनाक्तो भवेद् विषयसम्बन्धी भवेत् तदा क्षोभं प्राप्नुयात्, कामलक्षणदोषयुक्तं वा गुणयुग् विषयसम्बन्धि, अतः स्वभावदोषस्यानिवृत्तत्वान् महानपि क्षुभ्यति॥ १४॥ तत्रापि ये पुनर्महान्तो दृढा उच्चा भगवन्निष्ठा न तु ज्ञानिन इव सर्वसमाः समुद्रविलक्षणास्तेषां वर्षाकृतोपद्रवमाह गिरय इति, निरन्तरं वर्षधाराभिर्हन्यमाना अपि गिरयो न विव्यथुर्व्यथां न प्राप्तवन्तो यतस्तेन्तःसाराः, हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयत्यभिभूयमानाव्यसनैरिति, यथा व्यसनैः स्त्र्यादिभिरापद्भिर्वाभिभूयमाना वशीक्रियमाणा अप्यधोक्षजचेतस इन्द्रियातीते भगवति स्थापितचिता न क्षोभं प्राप्नुवन्ति तथा, तदा कन्दरादिष्वन्तर्भगवानस्तीति तत्र वृष्टिधारास्पर्शनिवारकत्वं स्वस्य सम्पद्यत इति तदानन्देन च पूर्णा धाराकठिनस्पर्शमपि सुखत्वेन मानयामासुर्जलद इवातपस्पर्शमित्यर्थः, अधोक्षजपदेनान्याविषयत्वोक्त्या रहश्शयनं सूच्यते, यत्र जडाः कठिना अप्येतादृशास्तत्र चेतनाः किमु वाच्या इति भावः, समुद्रस्तूद्धृतरत्नादिरित्यसारः॥ १५॥ एवं राजसीं सात्त्विकीं व्यवस्थामुक्त्वा तामसीमाह मार्गा बभूवुरिति, सर्व एव मार्गाः सन्दिग्धा जाता यतस्तृणैराच्छन्नाः, युक्तश्चायमर्थः प्रत्यक्षत एव सन्देहदर्शनात्, पूर्वं ये तेन मार्गेण सञ्चरन्ति तान् प्रति सन्दिग्धा अन्येषां तु ज्ञानमेव न यतस्तृणैश्छन्नाः तद्ग्रे मार्गप्रवृत्तिः कथमित्याशङ्क्याहासंस्कृता इति, संस्कारपर्यन्तं सन्देह एव संस्काराभावे तु मार्गस्य लोप एव, बहुधा दृष्टस्य कथं सन्देहजनकत्वमितिशङ्कां दृष्टान्तेन वारयति नाभ्यस्यमाना इति, यथानभ्यस्यमानाः श्रुतयस्तैरेव द्विजैः पुनः स्मृताः सन्दिग्धा भवन्ति, आम्नायश्छन्दसां दण्डः, तदभावे सन्देहः सहजस्तस्य,कालेन महता हताश्च भवन्ति॥ १६॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

जलस्थलौकस इत्यत्र, मासा हि निमित्तमित्यादि। 'द्वादश मासा' इत्यादिश्रुत्युक्तैकविंशतिप्रकारेण प्रावृडुच्यत इत्यादित्यत्रिलोकन्यायेनोक्त्वा ऋतुन्यायेन पञ्चभिः श्लोकैर्धर्मप्राधान्येन निरूपणं कृतम्। अधुना तु धर्मिप्राधान्येन माससमसंख्याकैः श्लोकैस्तत्क्रियते। मासा हि गर्भन्यायेन धर्मिस्वरूपविशेषसम्पत्तौ निमित्तभूताः, अतो वक्ष्यमाणजीवादयो धर्मिण एवात्र प्रधानभूता इत्यर्थः। साक्षाद्भगवत्सेवौपयिकदेहसाधनत्वं वारिमात्रस्य यत्र, तत्र किं वाच्यमन्यस्य वस्तुन इति भावः। एकेनालौकिकगुणाधायकत्वमुक्त्वात्र सदोषवस्तु निकटेपि नास्तीति ज्ञापयितुं दूरस्थं सिन्धुं निरूपितवान्। सिन्धुर्द्वीपमर्यादाहेतुत्वेन मर्यादामार्गीय इति तस्य क्षोभ उच्यते। एतल्लीलानुपयोगिनो महतोप्यनर्थपर्यवसानमेवेति च ज्ञाप्यते। अन्यथा सिन्धोर्व्रजस्थस्य निरूपणमनर्थकं

स्यात्। निरूप्यते चात्र भगवदीयप्रावृष एव कार्यम्। तस्याश्चेतोन्यत्र प्राकट्ये प्रयोजनाभावः। एवं सति स्वाधिष्ठानत्वादाधिभौतिकप्रावृषस्तद्द्वारैव तथा कारितवतीयमित्यस्मिन्प्रकरणे व्रजस्थेतरस्यापि सिन्धोर्निरूपणम्। लीलारसामृतसमुद्रे जागरूकेन्यस्मिन् समुद्रत्वमसहमानया तया स्वप्रौढचेदं कृतमिति ज्ञायते। तथा चास्थैर्यस्वभावा स्त्री, तादृश्याः पतिश्च गोकुले नास्तीति दोषाभावो व्यज्यते। दृष्टान्तेन चात्र भगवदेकनिष्ठत्वेनोभयेषां सिद्धचित्तवृत्तिनिरोधत्वादेकत्रस्थित्या स्वस्त्रीदर्शनादावपि न क्षोभ इति व्यज्यते, तेन 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'निति न्यायः सार्वदिक इति सिद्धम्। अत्र पूर्वं वारिमात्रस्यापि मुख्यभक्तिकार्यकर्तृत्वेन भक्तिरूपत्वमुक्त्वा तदात्मिकानामेव सरितां यत् क्षोभकत्वमुक्तम्, तेन प्रावाहिकभक्तिमन्तो न लीलानिष्ठा भवन्ति, प्रभुस्वरूपनिष्ठाभावाद्यत्संगता भवन्ति तमपि क्षोभयन्तीति ज्ञापयति। ये तु प्रभुलीलोपयिकत्वेन स्वरूपैकनिष्ठया निश्चलत्वेनात्युच्चाधिकारं प्राप्तास्ते त्वभिभावकसम्बन्धेपि नाभिभूता भवन्तीति ज्ञापयितुं गिरीनग्रे निरूपितवान्। यथा यथा वर्षधारासम्बन्धस्तथा तथा स्वगुहाद्यन्तःस्थितप्रभौ तत्सम्बन्धा भावाः स्वेन भवन्तीति ज्ञानेनानन्दातिशय एव भवति, न तु तत्सम्बन्धजं दुःखमपीति दृष्टान्तेन ज्ञाप्यते। इदमेवोक्तं यतस्तेन्तःसारा इत्यनेनाचार्यैः ॥ १३ ॥ अग्रिमश्लोकाभासे **तेषां वर्षकृतोपद्रवमाहेति**। ननु भगवदीयप्रावृषो भक्तोपद्रवकर्तृत्वकथनमनुचितमिति चेत्। अत्रैवं ज्ञेयम्। उपद्रवो हि दुःखदः। वर्षधाराणामतादृशत्वे वक्ष्यमाणरीत्या सुखदत्वाभिमानहेतुत्वं न स्याद्यतः प्रभौ तन्निवारकत्वेनैव स्वस्मिन् कृतार्थताभिमानः। अत एव मूले हननमुक्तमतः सुष्ठूक्तमुपद्रवमाहेति ॥ १५ ॥ 'मार्गा बभूवु'रित्यनेनापि व्रजे लीलोपयोगिवर्षतो मार्गाणमेव तथात्वम्, न तु कदाचिद्वेदानामिति ज्ञाप्यते। अत एव **कालहता** इति विशेषणं मूले। यथा भगवत्प्रापका वेदा अलौकिकरीत्या तथैवैकान्ते भक्तानां भगवत्प्रापका मार्गा इति द्वयोः साम्यम्, तेन सदा व्रजलोकयातायातं यत्र स मार्गो नात्र विवक्षित इति ज्ञायते। अत एव तादृशानामेव भक्तानां तमिस्रायां क्वचिद्दिवापि तत्सन्देहः। अन्येषां तु तदज्ञानमेव। इदमेवोक्तमाचार्यैः **पूर्वं ये तेनेत्यादिना**। अत एव यावत्पर्यन्तं तद्विषयकसंस्कारानुत्पत्तिस्तावत्पर्यन्तमेव सन्देहस्तदुत्पत्तौ तु तमिस्रायामपि न सन्देह इत्याशयेनोक्तं मूले **असंस्कृता** इति। **मार्गलोप एवेति**। स्यादिति शेषः। तेन संस्कारस्यावश्यकत्वमायाति। लोकबन्धुष्वित्यनेनापि व्रजे चलसौहृदा विद्युत एव दृष्टाः, न त्वन्याः स्त्रिय इति ज्ञायते। कदाचित्सत्त्वे हि चलत्वं सौहार्दस्य। अत्र तु प्रभ्वतिरिक्ते तदभावात्प्रभौ च तस्य सार्वदिकत्वात्सौहार्दस्य चलत्वाभाव एव यतः ॥ १६ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

जलस्थलौकसः इत्यत्र **मासा हि निमित्तमित्यादेस्तात्पर्यं** टिप्पण्यामाहुर्द्वादशेत्यादि, सुबोधिन्यां **गुणा** इति धर्मिणां गुणाः, द्वादशश्लोकोक्तान् धर्मिणः कारिकया सङ्गृह्णन्ति **जीवा** इत्यादि, शरीरद्वयविशिष्टास्ते गुणाः कथंवाच्या इत्यत आहुस्त्रिविधा इत्यादि, एते जीवादयः सर्वं एव त्रिविधा वक्ष्यमाणचतुष्करीत्या त्रिःप्रकारा, मासैर्निमित्तैर्भोग्या इत्यर्थः, ननु पूर्वं सुखिनोपि भगवदीयवर्षाकृतसुखाधिक्याय निरूपणीया एवेत्यत आहुर्दृष्टान्तार्थमिति तथा च हरिसेवायां सात्त्विका एव प्रवर्तन्ते ते निषेवया स्वतःपुरुषार्थरूपया तया **'यथे'**तिदृष्टान्तमुखेन तेप्युक्तप्राया इत्यर्थः, दोषादिति चित्तदोषात् कामादेः, एतच्छ्लोकव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुः साक्षादित्यादि ॥ १३ ॥ सरिद्भिरित्यत्रैतच्छ्लोकव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुरेकेनेत्यारभ्य ज्ञापयतीत्यन्तम् ॥ १४ ॥ गिरय इत्यत्र गिरिषु किं समुद्राद् वैलक्षण्यं? अत आहुः **समुद्र** इत्यादि, एतद्व्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुर्ये त्वित्यादि, सुबोधिन्यां **तेषां वर्षे**त्यादिकथने किञ्चिदाशङ्क्य टिप्पण्यां परिहरन्ति नन्वित्याद्याहेत्यन्तम् ॥ १५ ॥ **मार्गा** इत्यत्रैतत्व्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुर्मार्गा इत्यादि ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

जलस्थलौकस इत्यत्र **प्रधानमिति** तात्पर्यार्थ इत्यर्थः, **गुणा इति** सत्त्वादयः शक्यार्था इत्यर्थः, निर्गुणेपि प्रतियोगित्वेन गुणा उक्ता एवेति भावः। **जीवा** इत्यत्र क्वचिद् दृष्टान्तनिरूपणं क्वचिद् दार्ष्टान्तिकनिरूपणं तात्पर्यार्थत्वेन, स च तत्र तत्र स्फुटः, विद्यावानिति भगवद्गुणवान् भगवदीय इत्यर्थः, **त्रिविधा इति** चतुर्विधाः सन्तस्त्रिविधाः, अतो द्वादशविधा इत्यर्थः, **मासभोग्या** इति मासन्यायेन धर्मिप्राधान्येन भगवतो भोग्या इत्यर्थः ॥ १३ ॥ **सरिद्भिरित्यत्र** अभिमानं विवृण्वन्ति **तरङ्ग** इति, रजसा गर्वो जात इतिभावः, **चित्तेति** चित्तवृत्तीर्निरोधयतीति तज्जनको यमाद्यष्टाङ्गः इत्यर्थः, **स चेत् कामेनेति** चित्तरूपः पदार्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥ **गिरय इत्यत्र यत इति** स्वरूपयोग्यता एतेनोक्ता, **हेतुमिति** व्यथाभावहेतुमघोक्षजचेतस्त्वं दृष्टान्तेन गिरिषु स्पष्टयतीत्यर्थः, **यथान्ये भगवति** स्थापितचित्तास्तथैतेपि तत्रैव सेवाभावनया स्थापितचित्ता इत्यर्थः, **तदानन्देन चेति** इति भावनया तदानन्देन चेति समुच्चयार्थश्चकारः, अन्तःसारत्वादेव भगवति चित्तस्थित्या व्यथाभावः, **समुद्रस्त्विति** असारत्वान् नाधोक्षजतेत्स्त्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥ एवमिति गुणातीतव्यवस्था तु ''जले''तिश्लोकेनोक्तेतिज्ञेयम् ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

जीवा नद्यः पर्वताश्चेत्यादि ''जलस्थलौकस'' इतिश्लोके जीवाः, ''सरिद्भिः सङ्गत'' इत्यत्र नद्यः, ''गिरयो वर्षधाराभि''रित्यत्र पर्वताः, ''मार्गा बभूवुः सन्दिग्धा'' इत्यत्र मार्गाः, ''लोकबन्धु''ष्वित्यत्र कामिन्यः, ''धनुर्वियती''त्यत्र विद्या-

वान्, "न रराजोडुपश्छन्न" इत्यत्र चन्द्रमाः, "मेघागमोत्सवा हृष्टा" इत्यत्र बर्हीं भक्ताश्चेति द्वयं, "पीत्वापः पादपा" इत्यत्र तापसाः, "सरःस्वशान्तरोधःस्वि"त्यत्र गृहिणः, जलोघैर्निरभिद्यन्ते"त्यत्र वैदिको मार्गः, "व्यमुञ्चन्नि"त्यत्र राजानः, एवं द्वादशधा, जलस्थलौकस इत्यत्र सात्त्विकास्त्वित्यादि यथा हरिनिषेवयेतिदृष्टान्तार्थं भगवदीया उक्तास्ते सात्त्विकाः, भूचरा राजसा जलचरास्तामसा इति ज्ञेयम् ॥ १३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

जलस्थलौकस इत्यादिद्वादशश्लोकप्रतिपाद्यानधिकारिण आहुर्जीवा इत्यादि का० १६२३-१६४३ । विद्यावानिति "धनुर्वियति माहेन्द्र"मितिश्लोके गुणवानितिपदोक्त इत्यर्थः, बर्हीं भक्ता वेति मेघागमोत्सवान् हृष्टा प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागम" इतिश्लोके बर्हिणो वा भक्ता वा निरूपिता इत्यर्थः, दार्ष्टान्तिके मयूरा दृष्टान्ते भक्ता इतिभावः, त्रिविधा इति समुदायत्रयरूपा इत्यर्थः । चतुर्विधानां चतुर्विधानामेकैकः समुदायः, तादृशत्रिविधसमुदायरूपाः, अतो द्वादशविधा इत्यर्थः, तथा हि "जलस्थलौकस" इत्यादिषु चतुर्षु निर्गुणराजससात्त्विकतामसभेदा उक्ताः, यद्यपि "जलस्थलौकस" इति श्लोकविवरणे भूचरा जलचराश्च "राजसास्तामसाश्चे"त्यादिग्रन्थेन सगुणभेदा उक्तास्ते व्याख्याताः, तत्र "हरिनिषेवये"तिपदेन सात्त्विकभेद उक्तस्तथापि "हरिनिषेवये"तिपदान् निर्गुणभेद एवास्मिन् श्लोके विवक्षाभेदेन ज्ञातव्यः, अत एव "मार्गा बभूवुः सन्दिग्धा" इति श्लोकव्याख्यानान्ते "एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा" इत्युक्तं, अथ "लोकबन्धुषु मेघे"ष्वित्यादि द्वितीयचतुष्के राजससात्त्विकतामसनिर्गुणभेदाः, "पीत्वापः पादपाः पद्भि"रित्यादितृतीयचतुष्के सात्त्विकराजसतामसनिर्गुणभेदाः, एवं द्वादशभिर्मासैर्द्वादशभोग्या इत्यर्थः ॥ १३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

जलौकसो मीनादयः, स्थलौकसो गोवृक्षादयश्च नववारिनिषेवणात् रुचिरं रूपमबिभ्रत् अबिभरुः । अत्र दृष्टान्तमाह— यथा हरिनिषेवया साधनदशायामपि रुचिरा भवन्ति, तत्र तपआदिवत् नखकेशमलादिधारणनियमाभावात् 'अशेषसङ्क्लेशशमं विधत्ते' इत्यादिवाक्येन तस्याः सर्वक्लेशनिवर्तकत्वात्सुखजनकत्वात् । सिद्धावस्थायां तु भगवत्समानरूपप्राप्तेः रुचिरा भवन्त्येव । 'अतः प्रयत्नेन हरिसेवायां प्रवृत्तिरेव युक्ता' इत्यादेयोपमा ॥ १३ ॥ श्वसनः पवनः, तेन जाता ये ऊर्मयस्तद्वान् सरिद्भिः सङ्गतश्च सिन्धुश्चुक्षुभे अतिचञ्चलतां प्राप्तः । तत्र दृष्टान्तमाह—अपक्वेति । गुणैर्विषयैर्युज्यते इति गुणयुक् । तत्र हेतुमाह—कामाक्तमिति । भोगवासनायुक्तमित्यर्थः । तत्र हेतुः—अपक्वेति । चित्तवृत्तिनिरोधो हि योगः, स चेत् पक्वो दृढः स्यात् तदा चित्तं कामाक्तं न स्यादित्याशयः । तच्चित्तं यथा क्षुभितं भवति तथेत्यर्थः । तत्र 'कामाक्तम्' इति श्वसनोर्मिसाम्यम् । 'गुणवत्' इति सरित्सङ्गतिसाम्यम् । 'अतः शिथिलयोगस्य केवलं क्लेशफलकत्वाच्छिथिलतया योगो नानुष्ठेयः' इति हेयोपमा ॥ १४ ॥ एवं सिन्धुदृष्टान्तेन भगवद्विमुखानां मर्यादायां स्थितानां महतामपि चित्तवृत्तिनिरोधाभावेन क्षोभो निरूपितः । तदेकनिष्ठानां तु यत्रकुत्रस्थितानामल्पानामपि चित्तवृत्तिनिरोधेन क्षोभा भवन्तीति दृष्टान्तेनाह—गिरय इति । वर्षधाराभिर्हन्यमाना अपि गिरयो न विव्यथुः पीडां न प्रापुः, किन्तु प्रत्युत रजआदिनिवृत्त्या हरिततृणाद्युत्पत्त्या चाशोभन्तैव । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा अधोक्षजे भगवत्येव चेतो येषां ते व्यसनैराध्यात्मिकादिभिस्त्रिविधैस्तापैरभिभूयमानास्तिरस्क्रियमाणा अपि पीडां न प्राप्नुवन्ति, तदेकचेतस्त्वेन आत्मानुसन्धानाभावात् । प्रत्युत दुःखभोगेन दुरितनिवृत्त्या भगवद्भजनजनितशुभादृष्टोत्पत्त्या च इहामुत्र च शोभन्त एव । तथा च 'विवेकिभिर्भगवत्परत्वेनैव भाव्यम्' इत्यादेयोपमा ॥ १५ ॥ ये बहुशस्तैरेव मार्गैर्गता आगताश्च तेषामपि त एव मार्गाः वर्षाकाले सन्दिग्धाः 'तेषां ग्रामाणामेते एव मार्गा अन्ये वा' इति सन्देहविषया बभूवुः । हि यस्मात् असत्कृताः पादावातैरक्षुण्णा तदा पथिकानां प्रायशो गमनाभावात्, अत एव तृणैराच्छन्नाश्च । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा द्विजैः पठिता अपि श्रुतयो नाभ्यस्यमानाः लुप्तसंस्काराः कालहता विस्मृता अज्ञानावृता इति यावत् तेषामेव सन्दिग्धा भवन्ति तथा, तथाचाधीतानां वेदानामावृत्ति कुर्वतैव स्थेयम्, अन्यथा तु प्रत्यवाय्येव स्यात् । तथा च स्मर्यते—"अधीतमपि यो वेदं नानुपालयति द्विजः ॥ स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः" इति ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

जलेति ॥ यथा सर्वेऽपि हरिनिषेवणाद्रुचिरं रूपं बिभ्रति परमधर्मत्वात् परमसुखदत्वाच्च तथा जलौकसो मीनादयः स्थलौकसो गोवृक्षादयश्च नववारिनिषेवणात् रुचिरं रूपमबिभ्रन् अबिभरुः । जुसभाव आर्षः । निषेवयेति निषेवणादिति च पाठौ ॥ १३ ॥ सरिद्भिरिति ॥ यथा कामेन भोगवासनयाक्तं गुणयुक् विषयासक्तम् अपक्वयोगिनश्चितं क्षुभ्यति तथा श्वसनः पवनस्तेन जाता ये ऊर्मयस्तद्वान् सरिद्भिः सङ्गतश्च सिन्धुर्नदविशेषः समुद्रो वा चुक्षुभे अतिचञ्चलतां प्राप । अत्र सिन्धुर्नदीविशेषः पाश्चात्यः । विशेषणे पुंस्त्वमार्षम् इति चक्रवर्त्ती । तोषणी तु समुद्रपरतया व्याचष्टे ॥ १४ ॥ गिरय इति ॥ यथा अधोक्षजचेतसः

भगच्चित्ता जनाः व्यसनैः कष्टैः अभिभूयमाना बाध्यमाना अपि न व्यथन्ते तथा वर्षधाराभिर्हन्यमाना अपि गिरयो न विव्यथुः पीडां न प्रापुः। तद्भाव आर्षः ॥ १५ ॥ मार्गा इति ॥ यथा द्विजैः पठिता अपि श्रुतयो नाभ्यस्यमानाः लुप्तसंस्काराः कालहता विस्मृताः सत्यः संदिग्धाः भवन्ति तृणैश्छन्नाः असंस्कृताश्च मार्गाः अयं मार्गोऽस्ति न वेति सन्दिग्धाः बभूवुः ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

जलस्थलौकसः तोयभूमिनिवासिनः यथा हरिनिषेवया नराः निष्कामनिर्लोभादि पंचगुणसहितं रुचिरं पार्षदत्वं बिभ्रति तथा सुंदरं रूपं अबिभ्रदबिभरुरिति संबंधः ॥ १३ ॥ श्वसनेन वायुना ऊर्मिमान् तरंगवान् सिंधुः कामाक्तं विषयवासनासहितं समुद्रोर्मितुल्यं चित्तं गुणयुक्नदी संगतसिंधुवत् विषयैर्युक्तं सत् यथा चुक्षुभे तथा ॥ १४ ॥ व्यसनैः नानाविधसंसारक्लेशैः अधोक्षजे नारायणे चेतोऽन्तःकरणं येषां ते न विव्यथुः न विव्यथिरे ॥ १५ ॥ मार्गा इति तृणैः छन्ना आवृताः असंस्कृता नाखनिताः। तृणछन्नमार्गवत् कालेन हताः असंस्कृतमार्गवत् नाभ्यस्य मानाः श्रुतयो यथा तथा संदिग्धा बभूवुः ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

जलेति। जलस्थले ओकसी येषां ते, जलौकसः स्थलौकसश्चेत्यर्थः। सर्वेऽपि प्राणिनः, नवं नूतनं च तद्वारि जलं तस्य नितरां सेवा तया, योगिनः हरिनिषेवया ध्यानातिशयसाक्षात्कृतहृत्पद्मस्थहरिनिषेवया, यथा रुचिरं रूपं बिभ्रति, तद्वत् रुचिरं रूपं, अबिभ्रदबिभरुः। संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वादार्षत्वाद्वाऽभ्यस्तलक्षणजुषभावः। हरिनिषेवयेत्यनेन 'वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमान् जगतोऽस्य सौम्यरूपः' इति वचनार्थोऽत्रोक्तः अनेनैव हरिसेवया विना सौम्यता नेत्यपि सूचितं, तस्याः परमधर्मत्वात् परमसुखरूपत्वाच्च ॥ १३ ॥ सरिद्भिरिति ॥ सिन्धुः समुद्रः, सरिद्भिर्नदीभिः, संगतः, श्वसनोर्मिमान् वातोद्धूततरङ्गश्च सन्, चुक्षुभे संचचाल। कथमिव। अपक्वयोगिनः अनिष्पन्नसमाधेः पुंसः, चित्तं कामाक्तं विषयस्पृहायुक्तं, गुणैर्विषयैर्युज्यते इति तथाभूतं च सत्, यथा क्षुभ्यते तद्वत्। कामाक्तमिति श्वसनोर्मिसाम्यम्। गुणयुगिति सरित्सङ्गसाम्यम्। चित्तचाञ्चल्यनिमित्तकामस्पृहानिवर्त्तकभगवत्समाधिविपाकार्थं यतितव्यमिति सूचितम् ॥ १४ ॥ गिरय इति। वर्षधाराभिः, हन्यमानाः पीड्यमानाः अपि, गिरयः न विव्यथुः। कथमिव। यथा अधोक्षजे एव चेतांसि येषां ते जनाः, व्यसनैराध्यात्मिकादितापैः अभिभूयमानाः पीड्यमानाः अपि, न व्यथयन्ति तद्वत्। अनेन भगवद्भक्तिरेव तापत्रयविघातिनीत्युक्तं भवति ॥ १५ ॥ मार्गा इति। मार्गाः, तृणैः छन्नाः सम्यगाच्छन्ना, असंस्कृताः अक्षुण्णाः, वर्षासु पथिकानां प्रायशो गमनाभावादिति भावः। अत एव, संदिग्धाः संदेहयुक्ताः, बभूवुः हि। यथा द्विजैः श्रुतयोऽधीता वेदाः, नाभ्यस्यमानाः नावर्त्त्यमानाः सत्यः, कालेन हताः इव, संदिग्धाः विस्मृतप्रायाः, भवन्ति तद्वदित्यर्थः। नाभ्यस्यमाना इत्यसंस्कृतसाम्यम्। कालहता इति तृणच्छादनसाम्यम् अनेनाऽधीतानां वेदानामावृत्तिं कुर्वतैव स्थैर्यमन्यथा तु प्रत्यवाय इति सूचितम्। तथा च स्मर्यते। 'अधीतमपि यद्वेदं नानुपालयति द्विजः। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः' इति ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

जलेति : १०.२०.१३.

अनपेक्ष्य यदधिकारं जडमप्यविशेषतोऽत्र पोषयति। सच्चिद्रूपस्त्वयमिति निष्ठा यदि सुलभमिष्टमर्थकृतम् ॥ २३ ॥

सरिद्भिरिति : १०.२०.१४.

क्षमाभृदचलान्तरो भृशमसीमसत्त्वाश्रितो रमापतिपदोल्लसद्धृदयभूः सदैवामृतः।
स चाब्धिरपि चुक्षुभे जडमयाङ्गनासङ्गमैः परस्य तु कथाऽत्र केत्यलमसीम योषिद्बलम् ॥ २४ ॥

गिरय इति : १०.२०.१५.

कर्माण्यनेकविधदुःखफलानि भूयः प्राप्तान्यपीशहृदयेष्वफलीभवन्ति।
वर्षाम्बुवद् गिरिवरेष्विति संविभाव्य सेव्यः सदैव हरिरात्मसुखार्थिनाऽस्मिन् ॥ २५ ॥

मार्गा इति : १०.२०.१६.

अस्त्वस्मिन् योगयुग्वा जपकृदपि तपःसाधको याज्ञिको वा तेष्वध्वैकोऽपि तादृङ् नहि नहि भविता यत्र पङ्कप्रसक्तिः।
जानन्नेवं युगेऽन्त्ये गहनभवपथोल्लङ्घनायैकमेव श्रेयोदं श्रीधराङ्घ्रेर्निखिलमलहरं लक्षयेद्भक्तिमार्गम् ॥ २६ ॥

कृष्णप्रिया

नये बरसाती जल के सेवन से सभी जलचर और थलचर प्राणियों की सुन्दरता बढ़ गयी थी, जैसे भगवान की सेवा करने से बाहर और भीतर के दोनों ही रूप सुघड़ हो जाते हैं ॥ १३ ॥ वर्षा ऋतु में हवा के झोकों से समुद्र एक तो यों ही

उत्ताल तरङ्गों से युक्त हो रहा था, अब नदियों के संयोग से वह और भी क्षुब्ध हो उठा, ठीक वैसे ही जैसे वासनायुक्त योगी का चित्त विषयों का सम्पर्क होने पर कामनाओं के उभार से भर जाता है ॥ १४ ॥ मूसलाधार वर्षा की चोट खाते रहने पर भी पर्वतों को कोई व्यथा नहीं होती थी, जैसे दुःखों की भरमार होने पर भी उन पुरुषों को किसी प्रकार की व्यथा नहीं होती जिन्होंने अपना चित्त भगवान को ही समर्पित कर रक्खा है ॥ १५ ॥ जो मार्ग कभी साफ नहीं किये जाते थे वे घास से ढक गये और उनको पहचानना कठिन हो गया जैसे जब द्विजाति वेदों का अभ्यास नहीं करते तब कालक्रम से वे उन्हे भूल जाते हैं ॥१६॥

लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः । स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु [1]गुणिष्विव ॥ १७ ॥
धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् । व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥ १८ ॥
न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः । अहंमत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥
मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः । गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गुणिषु पुरुषेषु कामिन्यः इव, लोकबन्धुषु मेघेषु चलसौहृदाः विद्युतः स्थैर्यं न चक्रुः ॥ १७ ॥ गुणव्यतिकरे व्यक्ते यथा अगुणवान् पुरुषः भाति, तथा गुणिनि च वियति निर्गुणम् माहेन्द्रम् धनुः अभात् ॥ १८ ॥ स्वभासा भासितया अहम्मत्या पुरुषः यथा न राजते तथा, स्वज्योत्स्नाराजितैः घनैः छन्नः उडुपः न रराज ॥ १९ ॥ गृहेषु तप्ताः निर्विण्णाः अच्युतजनागमे हृष्टाः भवन्ति तथा, मेघागमोत्सवाः हृष्टाः शिखण्डिनः प्रत्यनन्दन् ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स्वभासभासितयाऽहंमत्येति स्वचैतन्येनैव प्रकाशितेनाहंकारेण छन्नो जीवो यथा । यद्वा अहं विद्वान् दाता वेत्ता शूर इति स्वप्रतीत्यैवारोपितया इति ॥ १७ ॥ मेघागमेनोत्सवो येषा मतो हृष्टाः ॥ १८ ॥ नानात्ममूर्तयः अनेकरूपदेहाः ॥ १९ ॥ अशांतानि पंककंटकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां न्यषुर्नितरामवसन् । सारसाश्चक्रवाकाः । अशांतानि घोराण्यनुपरतानि वा कृत्यानि येषु तेष्वपि गृहेषु ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

जीवो यथा वस्त्वात्मना न भाति तद्वदिति । न हि परिछिन्नेनाहंकारेणापरिच्छिन्न आत्माच्छादितुं शक्यते इत्यरुच्याह-यद्वेति । यथाऽहं विद्वानित्यादिरूपेणेति एतेनाहंमतित्यागेन यथार्थात्मज्ञानं भवतीति भावः ॥ १७ ॥ शिखंडिनो मयूराः । कुटुंबपालनादिक्लेशेन तप्ता अत एव निर्विण्णा अहो महाक्लेशदं गृहं हेयमिति निश्चिताः । अनेन स्वकल्याणार्थं हरिभक्ताऽऽगमने आनंद एव कार्यं इति भावः ॥ १८ ॥ पद्भिर्मूलैः । शाखोपशाखापत्रपुष्पफलैरनेकदेहाः । प्राक् ग्रीष्मे । तपसा तापेन । क्षामाः कृशाः । यथा प्राक् कुटुंबावस्थायां कामानामनुसेवया जातेन तपसा श्रमेण श्रांता इन्द्रियदौर्बल्यमाप्ताः पादपाः संतः पादेन हरिपादोपासनेन पांति रक्षंत्यात्मानमिति पादपास्तपस्विनः सद्गतिसाधनत्वात्पद्भिश्शास्त्रैः पद्यंते सर्वपुरुषार्था एभिरिति पदस्तैः । अपः पुरुषार्थावाप्तिहेतून् ज्ञानरसान्पीत्वाऽऽस्वाद्य । नानात्मानो मूर्तयो विग्रहा येषां ते सर्वभूतात्मानो भवंतीति भावः । यद्वा—प्राग्वनिताद्यभावेन तपसा कामाग्निना श्रांताः कामानुसेवया पश्चात्स्त्र्याद्यवाप्त्या सततं कामभोगेन पुत्रतत्पुत्रादिरूपेण नानात्मानो भवंतीति भावः । एतेन विषयत्यागपूर्वकं शास्त्रविचारेण ज्ञानावाप्तिर्भवतीति सूचितम् ॥ १९ ॥ अंग हे नृप । ग्राम्याः प्राकृतजनाः । एतेन संसारिणां स्वभावो ध्वनितः । किं च, सर्वकृत्यावसाने हरिस्मरणादिकं करिष्याम इति न ध्येयम्, किं तु कृत्यानामवसानाभावाद्यदोपरतिस्तदैवेत्यपि सूचितम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गुणिषु वैदग्ध्यादिविविधगुणयुक्तेष्वपि ॥ १७ ॥ अगुणवान् मायागुणातीतोपि पुरुषः ॥ १८ ॥ स्वीयया तुषारमय्या ज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैः सम्वर्धितैश्च ॥ १९ ॥ मेघागम एव उत्सवो येषां ते अत एव हृष्टाः प्रत्यनन्दन् मेघगर्जिताद्यनन्तरमुच्चैर्नादादिकमकुर्वन् यथा वैष्णवगृहस्थाः समागतवैष्णवगीतानन्तरं नृत्यगीतादिकं कुर्वन्ति तथेत्यर्थः । एवं चातका अपि ज्ञेया इति भावः ॥ २० ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गुणिषु वैदग्ध्यादिविविधगुणयुक्तेष्वपि ॥ १७ ॥ अगुणवान् मायागुणातीतोऽपि पुरुषो मायाधिष्ठाता, सृष्ट्यादिना तत्तद्गुणद्वाराभिव्यक्तः, किंवा, परमात्मा चेतयितृत्वादिना प्रपञ्चे यथा, यद्वा, परमेश्वरः कारुण्यादिगुणव्यतिषंगे व्यक्ते प्रकटे सत्येव,

१. गुणेष्वपि—गो. प्रे. टी. ।

यद्वा, पुरुषो जीवतत्त्वतो ब्रह्मत्वान्निर्गुणः भगवच्छ्रवणादिगुणवर्गे व्यक्ते सति, यद्वा, गुणानां सर्व्वसत्त्वादिसम्बन्धिनां व्यतिकरोऽन्योन्यमिश्रणं यस्मिंस्तस्मिन् व्यक्ते सुप्रसिद्धस्थाने श्रीवृन्दावनादौ श्रीकृष्णो यथा भाति, तद्वत् ॥ १८ ॥ स्वज्योत्स्नया राजितैरिति चन्द्राभावः परिहृतः, एवं स्वभासा भासितयेति नास्तिकानां प्राणमयजीवपक्षो निरस्तः, स्वकीयया तुषारमय्या ज्योत्स्नया राजितैः संवर्द्धितैरिति छन्नतायां हेतुविशेषः । एवमहम्मत्येत्यत्रापि अहंकारेणैव जीवतत्त्वास्फूर्त्तेः, तस्य च जीवचैतन्येनैव प्रकाश इति, यद्वा, स्वज्योत्स्नया राजितैरपि न रराज, तैश्छन्नत्वेन सम्यक्प्रकाशाभावात्, स्वभासा निजचैतन्येन भासितयापि अहम्मत्याच्छन्नो यथा जीवो न राजते, निजतत्त्वास्फूर्त्तेः ॥ १९ ॥ उत्सवो नृत्यादिपरिकरश्चित्तोल्लासो वा, हर्षश्च तद्विकारो ज्ञेयः, तत्प्रसादो वा, अतएव हृष्टाः प्रत्यनन्दन् मेघगर्जितायनन्तरमुच्चैर्नादनृत्यादिकमकुर्व्वन्, यथा वैष्णवगृहस्थाः समागतवैष्णवगीतानन्तरं गीतनृत्यादिकं कुर्व्वन्ति तथेत्यर्थः । यद्वा, प्रतिक्षणमनन्दन् सुखिनो बभूवुः, शिखण्डिनां मेघागमोत्सवात्, तत्प्रानाञ्च वैष्णवसमागमस्वभावात् । एवमुत्सवहर्षसुखानां यथोत्तरं हेतुत्वेन वाह्यान्तरत्वादिना भेदः कल्प्यः । चातकाश्च तादृशा अपि परमकरुणस्वरत्वाद्वचक्तं नोक्ताः, तेषां स्मरणेऽपि दुःखविशेषोत्पत्तेः ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

गुणिनि शब्दगुणके निर्गुणः गुणत्रयरहितः ॥ १८ ॥ राजितैः प्रकाशितैः अहंमत्या स्वभासा भासितया स्वज्ञानमूलेन देहात्माभिमानेन ॥ १९-२० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

लोकबन्धुष्विति सर्वप्राणिजीवनभूतजलप्रदानेन महोपकर्तृत्वाल्लोकानां बन्धुषु मेघेषु विद्युतस्तडितश्चलं सौहृदं यासां तथाभूता बभूवुः अनियतदेशमल्पकालं च सङ्गं चक्रुरित्यर्थः । यद्वा स्थैर्यं न चक्रुरित्यपि दार्ष्टान्तिकान्वयि चलसौहृदाः सत्यः स्थैर्यं न चक्रुः यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः गुणिषु सौन्दर्यसौशील्यादिगुणाश्रयेष्वपि निर्द्धनेषु पुरुषेषु चलसौहृदाः स्थैर्यं न कुर्वन्ति तद्वत् अनेन यत्नतः कामिनीनां सङ्गः परिहार्य इति सूचितं भवति ॥ १७ ॥ धनुरिति । गुणिनि शब्दगुणके वियत्याकाशे माहेन्द्रं धनुर्गुणं मौर्वीरहितमभादबभौ यथा गुणव्यतिकरे गुणत्रयपरिणामात्मके व्यक्ते देहे अगुणवान् गुणत्रयरहितः पुरुषो जीवो भाति तद्वत् वियद्धनुषोरिव देहात्मनोर्विलक्षणस्वरूपस्वभावत्वमुक्तम् ॥ १८ ॥ नेति ॥ उडुपश्चन्द्रः स्वज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैर्घनैर्मेघैः छन्नो न रराज घनेभ्यो विलक्षणतया न रराजेत्यर्थः । यथा पुरुषः प्रत्यगात्मा स्वभासा स्वापृथक्सिद्धधर्मभूतज्ञानेन भासितया समुन्नतयाऽहंमत्या देहात्मभ्रान्त्या देहात् पृथङ्न प्राकाशते तद्वत् देहात्मभ्रान्तिरात्मस्वरूपाच्छादनहेतुरिति सापत्न्येन परिहार्येत्युक्तम् ॥१९॥ मेघेति मेघागमे उत्सवो येषामतो हृष्टाः शिखण्डिनो मयूराः प्रत्यनन्दन् यथा गृहेषु तताप्त्रिभिस्तापैरिति शेषः अत एव निर्विण्णा जनाः अच्युतभक्तानामागमने सति प्रतिनन्दन्ति तद्वत् तापत्रयतप्तैरवश्यमच्युतजनसङ्गतिः कार्येत्युक्तम् ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

चलसौहृदाश्चञ्चलस्वभावाः विद्युतः लोकोपकारित्वाल्लोकबन्धुषु मेघेषु स्थैर्यं स्थिरस्थितिं न चक्रुः नापुरित्यन्वयः। कामिन्यः गुणिषु विविधेषु पुरुषेषु इव यथा स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा विद्युद्वच्चञ्चलभक्तिर्न कर्त्तव्या किन्तु पूर्ववत्स्थिरा इति भावः । चलसौहृदाः चलस्नेहाः मानुषस्वभावो दर्शित इति वा ॥ १७ ॥ गुणिनि शब्दगुणोपेते नीलिमगुणयुक्ते वा वियति महेन्द्रस्य विद्यमानं निर्गुणं ज्यारहितं धनुः अभात् भाति कथमिव गुणव्यतिकरे जगत्सर्जने व्यक्ते प्रवृत्ते पुरुषो नारायणो यथा गुणवान् सत्त्वादिगुणैः प्रवर्त्तमानो भाति सृष्टेः पूर्वं निर्गुणः सत्त्वादिगुणप्रवृत्तिशून्यः गुणवान् प्रशस्तज्ञानानन्दादिगुणपूर्णो वा निर्गुणः देहरहितः गुणव्यतिकरे गुणवान् देहवान् पुरुषो हिरण्यगर्भो यथेति वा ॥ १८ ॥ स्वया ज्योत्स्नया राजितैः सन्ध्यारागं प्राप्तैर्घनैश्छन्न उडुपश्चन्द्रः न रराज स्वरूपाभिव्यक्तिं नाप स्वभासा स्वयंप्रकाशज्ञानेन भासितयाऽभिव्यक्तया अहम्मत्याऽहङ्काराख्यया पुरुषः संसारी यथाऽभिव्यक्तस्वरूपो न भवति भगवत्प्रसादानुगृहीतज्ञानलक्षणप्रकाशेनाभिव्यक्तरूपः पुरुषः स्याद्यथा तथा शरदादिलक्षणप्रकाशेन प्रकाशितमण्डलश्चन्द्र इति सूचितं भवति ॥ १९ ॥ शिखण्डिनो मयूराः मेघानामागम एवोत्सवः तेन हृष्टाः रोमाञ्चत्वं प्राप्ताः कुटुम्बभरणादिना तप्ताः सज्जनदर्शनाभावाग्निना वा अत एव निर्विण्णाः विरक्ताः संसारबुद्धियुक्ताः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

मेघागमे एवासवो येषां अत एव हृष्टाः तान् मेघान् प्रत्यनन्दयन् ॥ २०-२१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः गुणिषु पुरुषेषु वैदग्ध्यादिगुणवत्स्वपीति हेयैव ॥ १७ ॥ निर्गुणं ज्यारहितं गुणिनी गर्जितशब्दवति व्यक्ते प्रपञ्चे गुणव्यतिकरात्मकेऽगुणवान् मायागुणातीतः पुरुषो भगवान् भाति विविधलीलाभिरिति भक्तरूपादेयाः ॥ १८ ॥ उडुपतिश्चन्द्रः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैस्तुषारमयैः कुहेडीकाख्यैर्मेघैश्छन्न आच्छन्नत्वाभावेऽप्याच्छन्नत्वेन प्रतीतो न रराज स्वभासा

स्वीयगुणमयच्छविरूपया अहंमत्या अविद्यया स्वशक्त्या कीदृश्या भासितया स्वेनैव प्रकाशितया पुरुषः परमेश्वरो यथा घनच्छन्न-दृष्टिर्घनच्छन्नमर्कमितिवत् छन्नत्वेन प्रतीतिरित्यर्थः। ज्ञानिभिरयमुपादेया ॥ १९ ॥ मेघागमेनोत्सवो येषां ते प्रत्यनन्दन् मेघसमृद्ध-गर्जिताद्यनन्तरमुच्चैरानन्दादिकमकुर्वन् यथा वैष्णवगृहस्थाः समागतवैष्णवसप्रेमानन्दगीतानन्तरमानन्दगीतनृत्यादिकं कुर्वन्तीति। वैष्णवानामुपादेया ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

निर्गुणं ज्यारहितमपि गुणिनि शब्दगुणयुक्ते अभादशोभत यथा गुणव्यतिकरे प्रकृतिगुणपरिणामात्मके व्यक्ते देहे अगुण-वान् प्राकृतगुणरहितः पुरुषो ज्ञातत्त्वो जीवो भाति तद्वत् ॥ १८ ॥ स्वभासा धर्मभूतेन ज्ञानेनैव भासितया स्थूलोऽस्मि कृशोस्मीत्यादि-रूपयाऽहम्मत्या यथा पुरुषो अनात्मको जीवो न राजते तद्वत् ॥ १९-२० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

कामिन्यः पुंश्चल्यो यथा गुणिषु निखिलकलाविज्ञेष्वपि पुरुषेष्विति हेयैवेयम् ॥ १७ ॥ माहेन्द्रं धनुर्निर्गुणमज्यां गुणिनी गर्जितवति वियति खे अभात् पुरुषो विष्णुरगुणवान् मायागुणातीतो व्यक्ते प्रपञ्चे गुणव्यतिकरात्मके विविधलीलाभिर्भाति यथा तद्वदित्युपादेयेयं तत्स्वरूपविदाम् ॥ १८ ॥ उडुपश्चन्द्रः स्वीयया तुषारमय्या ज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैः सम्वर्द्धितैश्च घनैश्छन्नो न रराज यथा स्वभासा स्वधर्मसम्विदा भासितया प्रकाशितया सम्वर्द्धितया च ब्राह्मणोहं स्थूलोहमित्यादिरूपया अहम्मत्या वृतः पुरुषो जीवो न राजते तद्वदिति ज्ञानिभिरयमुपादेया ॥ १९ ॥ मेघागमेनोत्सवो येषां ते शिखण्डिनः प्रत्यनन्दन् यथा निर्विण्णाः सत्प्रसङ्गिनो गृहस्था अच्युतजनानामागमेन हृष्टाः प्रतिनन्दन्ति तद्वदिति सत्सेविनामुपादेयेयम् ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वज्योत्स्नाराजितैः सन्ध्यारागमाप्तैर्घनैश्छन्न उडुपः स्वभासा स्वयंप्रकाशमानेन भासितया व्यक्तताऽहम्मत्याऽभिमत्या पुरुषो जीवो न राजति तथा न रराज। यद्वा स्वभासा स्वप्रकाशेन सहितोऽपि स्वरूपभूतेन पुरुषो जीवोऽहम्मत्याऽभिमत्या भासि-तया विकर्मविशेषात्तदभिभावकतयोज्वलया न ज्ञानादिस्वरूपत्वेन यथा भाति तयोडुपश्चन्द्रस्तैर्घनैश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजिस्वत्वन्तं न विद्यते ज्योत्स्नानां कौमुदीनां राजिः पङ्क्तिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा न रराज न शुशुभे। आनुरूप्यं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक-योरेवमन्वयने लगति नान्यथेति विदांकुर्वन्तु विन्दवः। अखण्डं न रराजेत्यावर्तितं परीक्षितसम्बोधनं च ॥ १७ ॥ गृहेषु भार्यादिषु तप्ताः कुटुम्बपोषणादिनाऽतो निर्विण्णा निर्वेदमाता अच्युतजनागमे भगवदवगमकसज्जनसमासज्जने जाते यथा प्रतिनन्दन्ति तथा मेघागमे तन्निदाघकालिकतापापनोदोदित उत्सवो येषां ते हृष्टा रोमाञ्चनसहिताः शिखण्डिनो मयूराः प्रत्यनन्दंस्तुतुषुः। तप्ता निर्विण्णा अच्युतागमे तज्जनागमे च हृष्टा रोमाञ्चितगात्रा इति वा। उत्सवा हृष्टा इति पाठ उत्सवेनासम्यग्रोमाञ्चिता इति पदार्थाः। उत्सवे हृष्टा इति स्फुटार्थः पाठः। मयूरादिपदं विहाय शिखण्डिन इति वदता गृहेषु तप्तानां स्वतोऽनिर्वाहकत्वात्पुंसक-समता च ध्वनितेति ज्ञेयं ॥ १८ ॥ यथा प्राक् कामानुसेवया विषयसेवनेनानम्रास्तपसा कृच्छ्रचान्द्रायणादिना क्षामाः कृशाः श्रान्ताश्च सन्तो नम्रात्ममूर्तयो भवन्ति तथा तपसा माघाद्यरभ्य ग्रीष्मपर्यन्तं क्षामाः। तपो माघे च शिशिर इति विश्वः। पादपाः पद्भिर्मूलैरप उदकं पीत्वा नम्रा आत्ममूर्तयः स्वगात्राणि येषां ते तथा सन् ॥ १९ ॥ यथायथं मध्यमोत्तमलक्षणानि तत्र तत्रानु-सन्धेयानीति सूचयितुं स्पष्टं नित्यसंसारिसाधर्म्यमाह ॥ सरःस्विति। शेन सुखेनान्तःप्रान्तभागो गम्यो येषां तानि तानि न भवन्तीत्य-शान्तानि रोधांसि येषां तेषु। कूलं रोधश्च तीरं चेत्यमरः। सरस्सु सारसाश्चक्रवाका ऊषुः। तेषां विस्तृतत्वाद्रसवत्कुसुमसमेत-त्वात्तत्र सरसाः सारसा यथाऽशान्तकृत्येष्वसुस्वनिर्णयनकृन्ति कृत्यानि कर्माणि येषां तेषु गृहेषु दुराशया दुर्मनस्का नित्यसंसारिणो ग्राम्या मूर्खास्तथोषुरित्यन्वयः। अङ्ग हे राजन् अशान्तकृत्येषु कदाऽपि तत्कर्मापरिसमाप्तिमत्सु गृहेष्विति वा ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा उक्ताः पुनर्विपरीततया चतुर्धा निरूपयति, द्वितीये राजसाः प्रथमास्ततः सात्विकस्ततस्तामसो गुणातीतश्चेति तामसभावेन चतुर्धाग्रे निरूपयिष्यति, तत्र स्त्रियो राजस्यो मुख्यास्तासां राजसस्तामसो वा चेद् भर्ता तदा स्थिरता सात्त्विकत्वे तु न स्थैर्यं, विद्युतामस्थैर्ये हेतुरनेनोच्यते, लोकबन्धुषु लोकानां सर्वेषां बान्धवा मेघाः, यदि सर्वमेव जलं विद्युत्स्वेव प्रयच्छेयुस्तदा विद्युतः स्थिरा भवेयुस्ते तु लोकहितैषिण इति सर्वेभ्यो दाने तेषु चलसौहृदा जाताः, सौहार्दं तत्प्रकाशकत्वं तत्र शोभाजनकत्वं वा, यत एताः कामिन्यः, अतो लोकेपि कामिन्यः परोपकारनियतेषु स्थिरतां न प्राप्नु-वन्ति, कामिनीपदात् कुलवधूव्युदासः, युक्तश्चायमर्थः, सर्वस्वे दत्ते किं ता भक्षयेयुरिति चेत् तत्राह गुणिष्वपीति, ते हि गुणवन्त-स्ततोप्यधिकं सम्पादयिष्यन्ति, तथापि प्रत्यक्ष एव पर्यवसितमतित्वान् न स्थैर्यं चक्रुः, मेघा अपि गर्जनेन गुणवन्तः ॥ १७ ॥

विजातीया अपि विजातीयेषु शोभां प्राप्नुवन्तीति, प्रावृट्कृतधर्ममाह धनुरिति, वियत्याकाशे माहेन्द्रं धनुर्निर्गुणमपि गुणिन्यपि, विद्यावत्यपि विषयाभावात् प्रकाशं प्राप्तवत्, महेन्द्रोपि वृत्रवधात् 'महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन् महेन्द्रत्वमिति'श्रुतेर्भगवत्सम्बन्धो महेन्द्रे निरूपितः, तस्य सम्बन्धाद् वज्रं निर्गुणमपि सगुणे शोभां प्राप्नोति तथा भगवदीयोपि सर्वत्र शोभां प्राप्स्यतीति फलितं, जीवास्तु त्रिविधाः स्वभावतो भगवद्गुणवन्तो दोषवन्त उभयरहिताश्च, तत्र देवा गुणवन्तो दैत्या दोषवन्तो मानुषास्तूभयरहिताः, तेपि भगवत्कृपया देवा इव गुणवन्तो भवन्ति तदभावेपि कर्मणा व्यक्ते गुणव्यतिकरे संसारे त्रिगुणयुक्ते गुणवानपि पुरुषो योनिबीजवर्णधर्मान् प्राप्य भासते, अगुणत्वाद् गुणातीतो वा भगवत्सेवकः भगवद्धर्मान् दृष्टान्तीकुर्वतेन्द्रधनुषो माहात्म्यं निरूपितं, भगवदीयैव सम्पत्तिर्गुप्तं भगवदीयं प्रकटीकरोतीति, पुरुष इति गुणातिरिक्तत्वख्यापनाय, प्रकृतिस्तु गुणमय्येव ॥ १८ ॥ गुणेष्ववशिष्टं चन्द्रमाह न रराजेति, उडुपः क्षुद्रपोषको नक्षत्राधिपतिः स्वज्योत्स्नयैवाभासितैरपि घनैर्न रराज, तत्र भगवदीयव्यतिरिक्तं पुरुषं साहङ्कारं दृष्टान्तीकरोत्यहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथेति, अहम्मतिरहङ्कारोहमिति या बुद्धिः सापि स्वभासात्मभासैव भाषिता तथापि तया पुरुषो न शोभते ॥ १९ ॥ एवं त्रिविधानुक्त्वा ये केवलं भगवदीया यथा मेघोन्नत्यभिकाङ्क्षिणो बर्हिणस्ते सुखिनो भवन्तीति वर्षाकृतं तेषु सुखमाह मेघागमोत्सवानिति, मेघानामागमे य उत्सवः स येषां सस्यवृक्षलतादीनां तान् दृष्ट्वा मेघोत्सवान् वा वृष्टिविद्युदादींश्च शिखण्डिनो मयूरा प्रत्यनन्दन् भगवता विचित्राः कृता एव भगवदीयोत्सवं मन्यन्त इति, एतन्निरूपणं यदर्थं तदाह गृहेषु तप्ता इति, गृहेषु स्थिता गृहादिचिन्तया तप्ता दुःसङ्करसदिन्द्रियैश्चात एव गृहा बहुविधा उक्ताः, तथाभूता अपि यदा निर्विण्णास्तापेनैव वा निर्विण्णा अच्युतजना जितेन्द्रियाः परमहंसा त्रिदण्डिनो भगवज्जनास्ते हि परिभ्रमन्तो वर्षासु गृहस्थस्य गृहे गच्छन्ति तदा तेषां समागमो भवति तेषु समागतेषु ये निर्विण्णास्ते प्रतिनन्दनं कुर्वन्ति न त्वनिर्विण्णाः, अतः प्रावृट् सर्वेषामेव तप्तानां सुखदायिनी ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

धनुर्वियतीत्यत्र, चक्रं निगुणमपीति । वृत्रवधाय भगवदावेशे जात एवेन्द्रे वज्रसम्बन्धो जातः । वज्रे पीन्द्राविष्टभगवदायुधस्य चक्रस्यावेशः । अत एवायुधानामहं वज्रमित्युक्तम् । तच्च गुणातीतं सगुण इन्द्रे शोभत इत्यर्थः । "वज्रं निर्गुणमपी"ति पाठे स्पष्टम् ॥ १८ ॥ न रराजेत्यस्याभासे, गुणेष्ववशिष्टमिति । तामसमित्यर्थः । अभगवदीयसाहंकारस्य दृष्टान्तत्वादस्य तामसत्वम् । अत एवात्रास्य न शोभेति भावः । न रराजोडुप इत्यनेनाप्युक्तरीत्या यथा प्राकृतः पुरुषो न राजते, तथात्र घनाच्छन्नो लौकिक इन्दुरेव तथा । न तु तदन्यः कोपि पुरुषोपीत्युच्यते । अत एव भगवदीयव्यतिरिक्तमित्याचार्यैरुक्तम् ॥ १९ ॥ मेघागमोत्सवानित्यत्र, पूर्वतापं दूरीकृत्य भगवदानन्ददायिभक्तजनागमदृष्टान्तोक्त्या यदा दिवा परिजननिरोधतश्चिरविरहतापे सति कथञ्चिद्व्याजेन श्रीनन्दगेहे गमने सम्पन्ने सति वनगमने वा प्रियसङ्गे सति मेघास्तादृशीं वृष्टिं चिरं कुर्वन्ति । यतोत्रातिविलम्बेपि स्वगृहीया नोपालभन्ते तदा तन्मेघागमस्य प्रतिनन्दनं भवत्यन्यदा तु न तथा वृष्टिं कुर्वन्तीति ज्ञाप्यते । अयमेवार्थ उक्त एतन्निरूपणं तदर्थं तदाहेत्याभासेन । ग्रीष्मे घर्मादिना गिरिशिखरादिष्वनावृतदेशेषु लीलाया असम्भवात् सर्वत्र भगवदानन्ददातृत्वेनैवं तदभिनन्दनम्, न तु वैषयिकसुखदत्वेनेति ज्ञापनाय निर्विण्णत्वमुक्तं दृष्टान्ते ॥ २० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

लोकबन्धुष्वित्यत्र द्वितीय इति चतुष्क इतिशेषः, तामसभावेनेति तत्प्राधान्येनेत्यर्थः, एतत्पद्यव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुर्लोकेत्यादि ॥ १७ ॥ धनुरित्यत्र विद्यावत्यपि वियतीति "सान्द्रनीलाम्बुदे"रित्यत्र या ब्रह्मशरीरत्वरूपा विद्या प्रतिपादिता तद्वति वियतीत्यर्थः, महेन्द्रे निरूपित इति कौशितकीब्राह्मणे प्रतर्दनाख्यायिकायां निरूपितः, वज्रमिति "नन्वेष वज्रस्तव शक्रतेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजित" इतिवृत्रवाक्यात् 'तेजस्तत्त्वं सुदर्शन'मिन्द्रे भगवदावेशाद् वज्रमाविष्टमतस्तथा, इदमेव टिप्पण्यां व्यङ्ग्यस्थले व्याख्यातं चक्रमित्यादिना, तेपीति मनुष्या आसुरानुगा अज्ञा अपि ॥ १८ ॥ न रराजेत्यत्र गुणेष्वित्यादेरर्थं टिप्पण्यामुक्त्वा पद्यव्यङ्ग्यमर्थमाहुरभगवदीयेत्यादि ॥ १९ ॥ मेघागमोत्सवानित्यत्र पद्यव्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुः पूर्वेत्यादि ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

लोकबन्धुष्वित्यत्र यत इति व्रजे एतासामेव कामिनीत्वं न तु व्रजस्त्रीणामितिभावः, अत इति व्रजस्थानां विद्युद्रूपकामिनीनामस्थिरत्वदृष्टान्तादित्यर्थः, गुणिष्वितिपदस्याभासमाहुः युक्तश्चेति, गुणित्वादेवं न युक्तमिति समाधानम् ॥ १७ ॥ धनुरित्यत्र गुणिन्यपीति "वायुर्वाव गोतम तत्सूत्र"मिति श्रुतेर्वायुरूपसूत्रवतीत्यर्थः । अविद्या दोषरूपा विद्या गुणरूपेति सूत्रमेव विद्येति ज्ञेयं, तस्य सम्बन्धादिति इन्द्राविष्टभगवदायुधावेशादित्यर्थः । फलितमित्यन्तेन वाक्यस्य तात्पर्यार्थ उक्तः, ननु मूले तु प्रकृतिसम्बन्धरहितस्यागुणस्य शोभोक्ता न तु भगवद्गुणवतो भगवदीयस्य अतः कथमयं तात्पर्यार्थं इत्याशङ्क्याहुर्जीवास्त्वित्यारभ्य

भासत इत्यन्तं, तदभावेपीति तादृशगुणाभावेपि भासते तत्र तादृशगुणवतो भाने किं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायेनायं तात्पर्यार्थः सिद्ध इतिभावः, एतदरुच्यैव पक्षान्तरमाहुरगुणत्वादिति, तथा च व्यक्त एवेति भावः, दृष्टान्तीकुर्वतेति दृष्टान्ततावच्छेदकी-कुर्वतेत्यर्थः, सम्पत्तिरिति सम्भृतिरूपा प्रावृडित्यर्थः, भगवदीयमिति धनुरित्यर्थः, तथा च विद्यावत्पदेन दृष्टान्तं दार्ष्टान्तिकं चेत्युभयमपि ग्राह्यं भवति ॥ १८ ॥ मेघागमेत्यस्याभासे केवलमिति निर्गुणत्वाद् गुणसम्बन्धरहिता इत्यर्थः, परोक्षवादे शिखण्डि-पदेन तद्दृष्टान्तककामभावयुक्ताः स्वामिन्य उच्यन्ते, तथा च कारिकास्वपि बर्हीतिपदेनैता एवोच्यन्ते, भक्ता वेति पक्षे तु स्पष्टमेव, एतन्निरूपणमिति मेघागमप्रतिनन्दननिरूपणमित्यर्थः, यदर्थमिति मेघागमस्य भगवदानन्ददायित्वबोधनार्थमित्यर्थः, तच्च टिप्पण्यां विवृतं तदाहेति, दृष्टान्तेन भगवदानन्ददायित्वमाहेत्यर्थः, इदमेवाग्रे सुखदायिनीत्यनेनोपसंहृतं, जितेन्द्रियाः परमहंसास्त्रिदण्डिन इति पदत्रयेण "यदनुचरिते"तिश्लोकोक्तद्वन्द्वधर्मत्यागविहङ्गत्वभिक्षुचर्यारूपधर्मत्रयमुक्तं, एतादृशा भगवज्जना अच्युतजना इत्यर्थः, तापो निर्वेदश्च गृहस्थबर्हिणोः साधारणधर्मः भगवदानन्ददायित्वमच्युतजनमेघयोरिति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

लोकबन्धुषु जीवनहेतुजलप्रदानेन सर्वप्राण्युपकारिषु मेघेषु विद्युतः स्थैर्यं नियतदेशे चिरकालं सङ्गं न चक्रुः। तत्र दृष्टान्तमाह—चलमस्थिरं सौहृदं प्रेम यासां ताः स्त्रियो यथा गुणिषु परोपकारनिरतेषु दातृषु दत्तादप्यधिकसम्पादनसमर्थेष्वपि पुरुषेष्वपि तद्दातृत्वं दृष्ट्वा दारिद्र्यभयात् स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथेति । चलसौहृदत्वे हेतुमाह—कामिन्य इति । यतस्ता धनकामभोगार्थमेव प्रवृत्ता, नतु पतिव्रतावत् पत्येकनिष्ठाः । पुंश्चल्य इत्यर्थः । तथाच चलसौहृदत्वात् "सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारम्पारमारुरुक्षुः" इति निषेधाच्च कामिनीसङ्गस्योभयलोकतो भ्रंशकत्वात् तत्सङ्गः प्रयत्नेन विवेकिभिर्वर्जनीय इति हेयोपमा ॥ १७ ॥ गुणिनि शब्दगुणवति वियति आकाशे निर्गुणं ज्यारहितं माहेन्द्रं धनुरभात् । तत्र दृष्टान्तमाह—अगुणवान् प्राकृतगुणरहितोऽपि पुरुषो जीवो गुणव्यतिकरो गुणकार्ये व्यक्ते प्रपञ्चे देहेन्द्रियादिसङ्घाते यथा भाति तथा । अतो विवेकिभिरादेयोपमा ॥ १८ ॥ स्वज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैरपि मेघैराच्छन्न उडुपश्चन्द्रो न रराज न प्रकाशत । इयमपि ज्ञानिभिरादेयोपमा॥१९॥ पूर्वं ग्रीष्मतापेन तप्ता निर्विण्णाः, अत एव मेघागमेनोत्सवो येषां ते हृष्टाः शिखण्डिनो मयूराः प्रत्यनन्दन् मेघानां नादं श्रुत्वा स्वयमपि नादपूर्वकमनृत्यन् । तत्र दृष्टान्तः—यथा गृहेषु स्थिताः, अतः तापत्रयेण तप्ता, अत एव निर्विण्णाः श्रान्ता विरक्ताश्च जना अच्युतजनस्य भगवद्भक्तस्यागमे सति प्रत्युत्थानपूजानमस्कारस्तुत्यादिपूर्वकं प्रतिनन्दन्ति तद्वत् । तप्ता अपि विषयासक्ताश्चेत्तदा तदागमने धनादिव्ययभयेन खिन्ना एव भवन्त्यवजानन्ति, चात उक्तं निर्विण्णा इति । अतस्तत्तज्जनैस्तापनिरासार्थं भगवज्जनसङ्गतिः पूजानमस्कारादितत्सत्कृतिश्च प्रयत्नेन कार्या इत्युपादेयोपमा ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

लोकेति ॥ यथा चलमस्थिरं सौहृदं प्रेम यासां ताः कामिन्यः पुंश्चल्यः यथा गुणिषु रूपादिमत्स्वपि पुरुषेषु स्थैर्यं न कुर्वन्ति तथा लोकबन्धुषु जीवनहेतुजलप्रदानेन सर्वप्राण्युपकारिषु मेघेषु विद्युतः स्थैर्यं नियतदेशे चिरकालं सङ्गं न चक्रुः ॥ १७ ॥ धनुरिति ॥ यथा वस्तुतः अगुणवानपि पुरुषः गुणव्यतिकरे गुणकार्ये व्यक्ते प्रपञ्चे भाति तथा गुणिनि गर्जितशब्दगुणवति वियति आकाशे निर्गुणं ज्यारहितं माहेन्द्रं धनुरभात् ॥ १८ ॥ नेति ॥ यथा स्वभासा भासितया अहंमत्या स्वचैतन्येनैव प्रकाशितेनाहंकारेण छन्नः पुरुषो जीवो न राजते । यद्वा । अहं विद्वान् दाता शूर इति स्वप्रतीत्यैवारोपितया अहम्मत्येति तथा स्वज्योत्स्नया राजितैः प्रकाशितैरपि मेघैराच्छन्न इव प्रतीयमानः उडुपश्चन्द्रो न रराज न प्रचकाशे ॥ १९ ॥ मेघेति ॥ यथा गृहेषु स्थिताः अतः तापत्रयेण तप्ता अत एव निर्विण्णाः श्रान्ता विरक्ताश्च जना अच्युतजनस्य भगवद्भक्तस्यागमे सति प्रत्युत्थानादिभिः प्रतिनन्दन्ति तथा पूर्वं ग्रीष्मतापेन तप्ता निर्विण्णाः अत एव मेघागमेनोत्सवो येषां ते हृष्टाः शिखण्डिनो मयूराः प्रत्यनन्दन् । मेघानां नादं श्रुत्वा स्वयमपि नादपूर्वकमनृत्यन् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

लोकानां बंधुवत्सुखकरेषु चलसौहृदाः अस्थिरस्नेहाः गुणिषु गुणयुक्तेष्वपि नरेषु यथा कामिन्यः पुंश्चल्यः स्थैर्यं न चक्रुः तथा ॥ १७ ॥ माहेद्रं इंद्रस्य इदं धनुः निर्गुणं प्रत्यंचाहीनमपि गुणिनि मेघशब्दयुक्ते वियति गगने अभात् सुशोभक इव गुणक्षोभात्मके व्यक्ते चेतनाचेतनमिश्रे विश्वे अगुणवान् सत्त्वादिगुणवर्जितः पुरुषः लोकमनोहरः अप्राकृतदेहः श्रीकृष्णो यथा तथा ॥१८॥ एवमीश्वरदृष्टांतमुक्तमिदानीं जीवदृष्टांतमाह नरेति स्वज्योत्स्नाभिः किरणैः राजिताः शोभितास्तैर्घनैरभ्रैः छन्नः चंद्रो न रराज अत्र निदर्शनं स्वभासा स्वप्रकाशेन भासितया प्रकाशितया अहंमत्या स्थूलोऽहं कृशोऽहं वृद्धोऽहं युवाऽहं विद्वानहं मूर्खोऽहं इयं मम माता अयं च मम पिता इत्याद्यनेकविधाहं ममत्वरूपेण अहंकारेण छन्नः पुरुषो जीवो यथा तथा ॥ १९ ॥ मेघागमेन उत्सवो येषां ते अतो हृष्टाः मयूराः केका स्ववाणीमकुर्वन् यथा गृहेषु तप्ता जना अच्युतजनसमागमे सति हृष्टाः संतः प्रश्नं कुर्वंति तथा ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

लोकबन्धुष्विति ।। लोकबन्धुषु सर्वप्राणिनां जीवनभूतजलप्रदानेन महोपकर्तृत्वाल्लोकानां बन्धुभूतेष्वित्यर्थः । मेघेषु, विद्युतस्तडितः, चलं चञ्चलं सौहृदं यासां तास्तथाभूताः सत्यः, स्थैर्यं न चक्रुः । अनियतदेशमल्पकालं च सङ्गं चक्रुरित्यर्थः । कथमिव । गुणिषु सौन्दर्यशीलादिगुणाश्रयेष्वपि, निर्धनेष्विति शेषः । पुरुषेषु, कामिन्यः पुंश्चल्यः स्त्रियः इव, चलसौहृदाः कामिन्यो गुणिष्वपि पतिषु यथा स्थैर्यं न कुर्वन्ति तद्वदित्यर्थः । अनेन मतिमता पुंसा यत्नेन कामिनीनां सङ्गः सर्वथा परिहार्यं इति सूचितम् ॥ १७ ॥ धनुरिति ।। गुणिनि शब्दगुणकेऽपि, वियत्याकाशे, माहेन्द्रं धनुः, निर्गुणं मौर्वीरहितं सदपि, अभाद्बभौ । चोऽवधारणे । कथमिव । यथा गुणव्यतिकरे गुणत्रयपरिणामात्मके, व्यक्ते देहे, अगुणवान् गुणत्रयरहितः, पुरुषो जीवः, भाति, तद्वत् वियद्धनुषोरिव देहात्मनोर्विलक्षणस्वरूपस्वभावत्वमुक्तम् ॥ १८ ॥ नेति ।। उडुपश्चन्द्रः, स्वज्योत्स्नाराजितैः स्वकान्तिप्रकाशितैः, घनैर्मेघैः, छन्नः पिधानं प्राप्तः सन्, न रराज । तेभ्यो विलक्षणतया नाशोभतेत्यर्थः । कथमिव । यथा पुरुषः प्रत्यगात्मा, स्वभासा स्वापृथक् सिद्धधर्मभूतज्ञानेन, भासितया समुन्नीतया, अहंमत्या देहात्मभ्रान्त्या, देहात् पृथक् न प्रकाशते तद्वत् । देहात्मभ्रान्तिरात्मस्वरूपावरणे हेतुरिति सा यत्नेन परिहार्येत्युक्तम् ।। १९ ॥ मेघेति ।। मेघागमेनोत्सवो येषां, अत एव हृष्टाः शिखण्डिनो मयूराः, प्रत्यनन्दन् । यथा गृहेषु तप्ताः, त्रिभिस्तापैरिति शेषः । अत एव निर्विण्णाः विरक्तिं प्राप्ताः जनाः, अच्युतजनागमे हरिभक्तस्य स्वगृहागमने सति, प्रतिनन्दन्ति तद्वत् । अनेन तापत्रयतप्तैरवश्यमेवाच्युतजनसंगतिः कार्येत्युक्तम् ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

लोकबन्धुष्विति : १०.२०.१७.

लोकोपकृत्यविरताश्रित-सद्गुणेषु स्थैर्यं प्रयाति पुरुषेषु न सम्पदेषा ।
मन्ये स्वबन्धचकिता चलतीह यादृङ् मेघ तडिद्गुणिनि पुंसि च वारयोषा ॥ २७ ॥

धनुरिति : १०.२०.१८

महतोऽप्यगुणस्य न प्रतिष्ठा गुणवत्सङ्गतिमन्तरा यदैन्द्रे । धनुषि स्फुटमेव तत्कथं मे भगवंस्त्वद्गुणसङ्गतिं विना स्यात् ॥ २८ ॥

न रराजेति : १०.२०.१९

द्रव्यैर्येन समर्पितैर्द्युतिभृतो लोकाः स्वकान्त्याऽचिरात् तत्तेजः प्रतिरोधिनो भुवि भवन्त्यब्देऽब्जशोभे स्फुटम् ।
चित्रं सोऽपि पुनः स्वकीयवसुभिस्तानेव संशोभयत्यद्धाऽहङ्कृतिजन्यमेव तदिदं हेतुर्न चान्यो मनाक् ॥ २९ ॥

मेघेति : १०.२०.२०.

आदेशो नेति नेति प्रभवति सुखदो भूरिवैराग्यभाजां कामं गार्हस्थ्यभाजामिह स च रिपुवत्त्रासकृत् सर्वदेव ।
तस्मात् किं तेन भूयो निखिलसुखकरोऽजातशत्रुः स एकः सन्तापत्रासहर्ता विलसति सुलभश्रीर्हि साध्वागमोऽत्र ॥ ३० ॥

कृष्णप्रिया

यद्यपि बादल बड़े लोकोपकारी हैं, फिर भी विजलियां उनमें स्थिर नहीं रहती। ठीक वैसे ही जैसे चपल अनुराग वाली कामिनी स्त्रियां गुणी पुरुषों के पास भी स्थिर भाव से नहीं रहतीं ॥ १७ ॥ आकाश मेघों को गर्जन-तर्जन से भर रह था। उसमें निर्गुण बिना डोरी के इन्द्र-धनुष की वैसी ही शोभा हुई जैसे सत्व रज आदि गुणों के क्षोभ से होने वाले विश्व के बखेड़े में निर्गुण ब्रह्म की ॥ १८ ॥ यद्यपि चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी से बादलों का पता चलता था, फिर भी उन बादलों ने ही चन्द्रमा को ढककर शोभाहीन भी बना दिया था, ठीक वैसे ही जैसे पुरुष के आभास से आभासित होने वाला अहङ्कार ही उसे ढककर प्रकाशित नहीं होने देता ॥ १९ ॥ बादलों के शुभागमन से मोरों का रोम-रोम खिल रहा था। वे अपनी कुहक और नृत्य के द्वारा आनन्दोत्सव मना रहे थे। ठीक वैसे ही जैसे गृहस्थी के जंजाल में फंस हुए लोग, जो अधिकतर तीनों तापों से जलते और घबड़ाते रहते हैं। भगवान के भक्तों के शुभागमन से आनन्दमग्न हो जाते हैं ॥ २० ॥

पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन्नानात्ममूर्तयः[1] । प्राक्[2] क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥ २१ ॥
सरस्स्वशान्तरोधस्तु[3] न्यूषुरङ्गापि स रसाः । गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥ २२ ॥
जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे । [4]पाषण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ [5]यथा ॥ २३ ॥
व्यमुञ्चन् [6]वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः । यथाऽऽशिषो [7]विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥ २४ ॥

---

१. सन्नत्रात्ममूर्तयः–विज. । २. क्षुत्क्षामा–च. पु. टी. । ३. तोयेषु–वीर. । ४. ह्यपु–विज. । ५. पाखण्डिनामसद्वाद–श्रीधर. वंशी. वीर.; पाखण्डवामशैवाद्यै–विज. । ६. युगे–विज. । ७. वायु–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ८. विट्पतयः–विज. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तपसा प्राक् क्षामाः श्रान्ताः कामानुसेवया यथा, नाना आत्ममूर्तयः भवन्ति तथा, तथा प्राक् तपसा क्षामाः श्रान्ताः पादपाः पद्भिः आपः पीत्वा नानात्ममूर्तयः आसन् ॥ २१ ॥ हे अङ्ग दुराशयाः ग्राम्याः अशान्तकृत्येपु गृहेपु वसन्ति तथा अशान्तरोधस्सु सरस्सु सारसाः अपि न्युषुः ॥ २२ ॥ पाखण्डिनाम् असद्वादैः कलौ यथा वेदमार्गा भिद्यन्ते, तथा ईश्वरे वर्षति जलौघैः सेतवः निरभिद्यन्त ॥ २३ ॥ द्विजेरिताः विश्पतयः काले काले यथा आशिषः मुञ्चन्ति अथ वायुभिः नुन्नाः घनाः भूतेभ्यः अमृतम् व्यमुञ्चन् ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ईश्वरे इन्द्रे ॥ २१ ॥ नुन्नाः प्रेरिताः । आशिषः कामान् । विश्पतयो राजानः वणिजां पतयो वा । द्विजेरिताः पुरोहितै-रुक्ताः ॥ २२ ॥ प्रावृषि कृताः क्रीडा वर्णयति एवं वनमिति सप्तभिः । वर्षिष्ठं समृद्धम् ॥ २३-२४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नरकहेतुत्वादसद्वादैः । एतेन पाखंडिसंगाद्विहितधर्मत्यागेन नरकावश्यंभावित्वमिति तात्पर्यम् ॥ २१ ॥ विशां प्रजानां पतयः । विट्पतय इति सम्यक्प्रतिभाति । छान्दसत्वाश्रयणे तु विश्पतय इत्यपि साध्वेव । अमृतम् जलम् "अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने । अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरसे ॥" इति यादवः ॥ २२ ॥ प्रावृषि वर्षर्त्तौ । तद्वनं वृंदावनम् । अति-शयेन वृद्धं वर्षिष्ठं समृद्धम् । वर्षं वृष्टिस्तद्विद्यतेऽस्येति वर्षम् । मत्वर्थीयोऽच् । अतिशयेन वर्षं वर्षिष्ठं प्रभूतवर्षोपेतमिति वा ॥२३॥ दुग्धाधारस्थलमूधस्तस्य भारेण । स्नुतस्तनीः क्षरितस्तन्यः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तपसा व्रतादिना क्षामाः कृशाङ्गाः श्रान्ताश्च निर्बलाः एवं ग्रीष्मेण पादपानामप्यूह्यम् ॥ २१ ॥ अशान्तानि तरङ्गाति-शयेन मुहुः पतन्ति रोधांसि येषु सारसाः स्वनाम्नैव ख्याताः पुष्कराह्वयाः ग्राम्या अविवेकिजनाः तत्रापि दुराशयाः गृहमेव सर्वार्थ-प्रदमिति दुष्टाभिप्रायाः अत एव यथा नितरां वसन्तीति निशब्दार्थः अत एव आश्चर्येण खेदेन वा अङ्ग ! हे राजन्निति ॥ २२॥ ईश्वर इत्यतिवृष्ट्या स्वैरताभिप्रायेण तदंशेनैव तस्य पाषण्डिस्थानीयता ॥ २३ ॥ च पुनः अनवच्छिन्नवर्षानन्तरम् अथेति पाठे स एवार्थः भूतेभ्यः काले काले योग्यं योग्यं कालं प्राप्य अमृतं जलं ददुरिति वर्षान्ते जलस्योपादेयत्वादमृतशब्दन्यासः एवं विशब्दो विशिष्टार्थो ज्ञेयः द्विजैः प्रेरिता विश्पतय इत्यन्वयः ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तपसा व्रतादिना, क्षामाः कृशांगाः, श्रान्ताश्च निर्बलाः, एवं ग्रीष्मेण पादपानामप्यूह्यम् ॥ २१ ॥ सारसाश्चक्रवाकाः, स्वनाम्नैव ख्याता वा ग्राह्याः, तेषामपि प्रायो जलचरत्वात्, ग्राम्या अविवेकिजनास्तत्रापि दुराशयाः—गृहमेव सर्वार्थ-सिद्धिपद-मिति दुष्टाभिप्रायाः, अतएव यथा नितरां वसन्तीति नि-शब्दार्थः । अतएवाश्चर्य्येण खेदेन वा, अंग हे राजन्निति ॥ २२॥ ईश्वर इत्यतिवृष्ट्या स्वैरवर्त्तिताभिप्रायेण; अतएव तस्य कलिस्थानीयता ॥ २३ ॥ भूतेभ्यः सर्व्वप्राणिहितार्थं सुशोभनममृतं जलमिति वर्षान्ते जलस्योपादेयत्वात्, एवं, वि-शब्दो विशिष्टार्थे ज्ञेयः, भूतेभ्यश्चामृतमिति पाठे पाठान्तरेऽप्यमृतमिति श्लेषेण स एवार्थः । च तु, भूतेभ्यस्तु, अत्रापि काले काल इति योज्यम्, अयं पूर्व्वतो विशेषः, वर्षान्तेऽविच्छिन्नवृष्ट्यपगमात् ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

रामानुसेवया परस्त्रीसेवया ॥ २१ ॥ अशान्तरोधस्सु सलिलाकुलतीरेषु अशान्ततोयेष्विति वा पाठः ॥ २२ ॥ वेदमार्गाः वर्णाश्रमधर्माः ॥ २३ ॥ प्रेरिताः विशो वैश्याः तेषां पतयः दासदासीजनाध्यक्षाः ॥ २४-२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पीत्वेति । पादपाः वृक्षाः पद्भिर्मूलैः अपो जलानि पीत्वा नानात्ममूर्त्तयः नानाविधा आत्मनां मूर्त्तयः शाखापल्लव-पुष्पफलादिरूपाः येषां तथाभूता बभूवुः यथा प्राक्काम्यतपःफलरूपकामानुसेवातः प्राक् तपश्चर्यादशायां तपसा श्रान्ताः क्षामाः कृशाश्च जनाः कामानुसेवया नानात्ममूर्त्तयो भवन्ति कलत्रपुत्रपौत्रादिपरिजनरूपेणेति तद्वत् अनेन काम्यतपसः शरीरावयवपरि-करादिपुष्टिफलकत्वमात्रं सूचितं यद्वा फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनात्मकतपश्चर्यादशायां तपसा श्रान्ताः कृशाश्च तत्फलानु-भवात्मकमुक्तिदशायां काम्यन्त इति कामाः भगवतः कल्याणगुणास्तेषामनुसेवया "स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधाभवति" इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या नानात्ममूर्त्तिमन्तो भवन्ति तद्वत् अनेन भगवदाराधनात्मकतपसः स्वेच्छानुरूपाप्राकृतानेकशरीरपरिग्रहेण भगवता भोगसाम्यसाधनत्वमुक्तम् ॥ २१ ॥ सरस्स्विति । अङ्ग हे राजन् ! अशान्तान्यनिर्मलानि कलुषितानीति यावत् तानि

तोयानि येषु तथाभूतेष्वपि सरस्सु सारसाः चक्रवाकाः गोनर्दकाख्यपक्षिविशेषो वा न्यूषुः नितरामुषितवन्तः अशान्तरोधस्सु इति पाठे अशान्तानि सलिलाकुलानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरस्सु इत्यर्थः। आशान्तान्यनुपरतानि कृत्यानि येषु तेष्वपि गृहेषु दुराशयाः वैषयिकसुखाभासलेशलिप्सवो ग्राम्याः पामरा इव ते यथा निवसन्ति तद्वत् अनेन ग्राम्याणां विषया दुःखप्रचुरा अल्पसुखाश्चेत्युक्तं भवति ॥ २२ ॥ जलौघैरिति ईश्वरे पर्जन्ये वर्षति सति जलपूरैरुत्कटैः सेतवो जलनिरोधार्थं मृत्पाषाणादिर्निर्मिताः निरभिद्यन्त त्रुटिता बभूवुः यथा कलौ युगे प्रवृत्ते सति पाषण्डानां वेदबाह्यानामसद्वादैर्वेदमार्गा वर्णाश्रमधर्मा निर्भिद्यन्ते तद्वदनेन पाषण्डवादानामश्रोतव्यत्वमुक्तम् ॥ २३ ॥ व्यमुञ्चन्निति। वायुना नुन्नाः प्रेरिताः सन्तो घना मेघा भूतेभ्योऽमृतवज्जीवनहेतुं जलं व्यमुञ्चन् यथा द्विजैः पुरोहितादिभिरीरिताः प्रेरिताः विश्पतयो जनाध्यक्षा राजानः उचितकालेष्वाशिषः कामानर्थिभ्यो विमुञ्चन्ति तद्वत् राजभिरेवं भवितव्यमित्युक्तं भवति ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पद्भिर्मूलैः फलैः पुष्पैः नम्रात्ममूर्तयः शाखोपशाखाभिर्नतस्वरूपाः प्राग् ग्रीष्मे तपसा तपोमासोर्जिततापेन क्षामाः कृशाः यथा कामानामनुसेवया जातेन श्रमेण श्रान्ताः इन्द्रियदौर्बल्यमाप्ताः प्राक्कुटुम्बव्यवस्थायां क्षामाः पादेन ग्रासेन आत्मानं पान्ति रक्षन्तीति पादपाः तपस्विनः गतिसाधनत्वात् पद्भिः शास्त्रैः अपः पुरुषार्थावाप्तिहेतुत्वात् ज्ञानरसान् पीत्वा खाद्यनम्रावरुद्धा वशीकृतात्मनः परात्मानो मूर्तिर्विग्रहविशेषो यैस्ते तथेति भावः। यद्वा, प्राक् क्षामाः वनिताद्यभावेन तपसा कामाग्नितापेन श्रान्ता जनाः कामानुसेवया पश्चादेव वनितादिलाभेन निरन्तरकामभोगेन पुत्रतत्पुत्रपुष्पफलादिना नम्रात्ममूर्तयः परायणनिजशरीरा यथा भवन्ति तथेति ॥ २१ ॥ अङ्ग हे परीक्षित्! सारसाश्चक्रवाकाः अशान्तानि जलैः पूर्णानि रोधांसि तीराणि येषां तानि तथा तेषु सरस्स्वपि ऊषुर्हि जलप्रवाहाभिभूततीरवासस्याशक्यत्वेऽपि तत्रैवोषुरित्यर्थः। दुराशयाः ग्राम्याः प्राकृतजनाः अशान्तकृत्येषु अनुपरतकर्तव्येषु गृहेष्विव यथा वसन्ति अनेन नित्यसंसारिस्वभावो दर्शितः ॥ २२ ॥ पाषण्डादिमतज्ञानं नरकसाधकमिति ज्ञातव्यम् ॥ २३ ॥ वायुभिर्नुन्नाः प्रेरिताः अमृतं जलं द्विजैरीरिताः प्रेरिताः विट्पतयो राजानः विशः प्रजा उद्दिश्य काले काले कालगुणं ज्ञात्वा अमृतं हेमं विमुञ्चन्ति प्रयच्छन्ति—

"अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने। अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरसे" ॥

इति यादवः। यद्वा, षष्ठमंश इति ब्राह्मणोक्तं विशो वैश्या विश्पतिभ्यो राजभ्यः यथाकालममृतङ्करात्मकं धनं ददतीति ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

सारसाः पुष्कराह्वयाः अशान्तानि तरङ्गातिशयेन मुहुः पतन्ति रोधांसि येषु द्विजैः प्रेरिता विश्वत इत्यन्वयः ॥२२–३०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नानाविधा आत्मनः स्वस्य मूर्तयोऽङ्कुरपत्रपल्लवपुष्पपत्राद्या येषां ते पक्षे नाना आत्मानः पानभोजनरमणादिनाना स्वभाववन्त आत्मनो मूर्तयो देहा येषां ते निष्कामाणामियं हेया ॥ २१ ॥ अशान्तानि पङ्ककण्टकभङ्गुरत्वादिदोषयुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि न्यूषुर्नितरामेवाऽऽसन् इयं हेयैव ॥ २२ ॥ ईश्वरे ईश्वरत्वाभिमानवशादतिवर्षोपद्रवं कुर्वति सति इन्द्रे इति कलिसाम्यमियं हेया ॥ २३ ॥ नुन्नाः प्रेरिताः आशिषः कामान् विश्पतयो राजानो वणिजां पतयो वा द्विजैर्विप्रैरीरिताः प्रेरिता इति राजभिरुपादेया ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पद्भिर्मूलैः नाना अनेकविधा आत्मनां शाखापत्रपुष्पादिरूपा मूर्तयो येषां ते तथाभूताः ॥ २१ ॥ सारसाः जलजीविनः पक्षिविशेषाः अशान्तानि अस्थिराणि पङ्ककण्टकादियुक्ततया क्लेशावहानि वा रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि न्यूषः नितरामेवावसन् दुराशयाः दुष्टाभिप्रायाः शिश्नोदरतृषः अशान्तकृत्येषु अस्थिरफलबहुक्लेशोदर्ककृत्येषु गृहेषु यथा निवसन्ति तद्वत् ॥ २२–२३ ॥ नुन्नाः प्रेरिताः यथा विशां प्रजानां पतयः आशिषः कामान् अर्थिभ्यो विमुञ्चन्ति तद्वत् ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पादपास्तरवः पद्भिरपः पीत्वा नानारूपा घनपलाशपुष्पादिमय्यः आत्ममूर्तयो येषां तथासन् यथा सकामतपसा प्राक्क्षामाः कृशाः श्रान्ताश्च पुरुषास्तपोऽन्ते कामानुसेवया तत्फलपानभोजनरमणजोषणेन नानास्वभाववन्तो भवन्ति तद्वदिति निष्कामैर्हेयेयम् ॥ २१ ॥ अशान्तानि पङ्कादिवन्ति रोधांसि येषां तेष्वपि सरःसु सारसाः पक्षिवेदाः न्यूषुर्नितरामवसन् अशान्ता-

न्यनुपरतानि कृत्यानि येषु तादृशेष्वपि गृहेषु यथा ग्राम्या विवेकरहिताः दुराशया गृहमेव सर्वार्थदमिति दुष्प्रभावाः अङ्ग हे राजन् इयं हेयैव ।। २२।। ईश्वरे ईश्वरत्वाभिमानवशादतिवृष्टिकारिणीति कलिसाम्यं इयञ्च हेया ।। २३ ।। नुन्नाः प्रेरिताः आशिषः कामान् विश्पतयो राजानः द्विजैरीरिताः प्रवर्त्तिताः इति राज्ञामुपादेया ।। २४ ।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ईश्वरे सूर्ये इन्द्रे वा वर्षति सति सेतवो जलौघैर्वलवत्तरजलप्रवाहैर्यथा पाखण्डागमशैवाद्यैरित्यत्रागमपदस्य शैवपदोत्तरं योग्यतयाऽन्वयो ज्ञेयः पाखण्डागमैः शैवागमाद्यैः पाशुपतागमाद्यैः। अथवा शैवपदेन पाशुपतागमो ग्राह्यः। पाखण्डागमाश्च शैवाश्चाद्या येषां तैः। पाखण्डवामशैवाद्यैरिति पाठो वामनः। ते वामा महावाममध्यवामाणुवामभेदभिन्नानाच्यं महावाममतं वामैरन्यैरुदीर्यते। अणुवामनतद्युक्तमित्याद्यनुव्याख्यासुधायां शाक्तास्त्रिविधा इत्यादिना सविस्तरमतन्मतमुक्तमनुसन्धेयं। वेदमार्गाः कलौ युगे भिन्ना भवन्ति तथा निरभिद्यन्त। इदं ज्ञानं नरकादिसाधनमिति बोध्यं ।। २१ ।। यथा विशः प्रजा उद्दिश्य विश्पतयो विशां प्रजानां पतयो राजानो द्विजेरिताः पुरोहितादिबोधिताः काले काले विहिते सर्वस्मिन्कालेऽमृतमन्नं विमुञ्चति ददति तथा वायुभिर्नुन्नाः प्रेरिता घना मेघा भूतेभ्योऽमृतं जलं व्यमुञ्चन्। अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने। अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरस इति यादवः। यथाशिषो विश्पतय इति पाठे भूतेभ्य इत्यावृत्त्याऽन्वयः। विश्पतिभ्य इति पाठे विशः प्रजा राजभ्योऽमृतं घनमिति वा ।। २२ ।। वर्षिष्ठं बहुवर्षवच्छ्रेष्ठं। वर्षशब्दादर्श आद्यचि तत इष्ठन्प्रत्यय इति ज्ञेयं। अथवा वर्षिष्ठमतिशयेन वृद्धं। वर्षिष्ठमूर्तये भर इत्यृग्व्याख्यावसरे वृद्धशब्दादतिशायने तमबिष्ठानावितीष्ठन् प्रियस्थिरेत्यादिना वृद्धाशब्दस्य वर्षदिश इत्युक्तः। खर्जूरशब्दो निपातितः। पक्वेत्युभयविशेषणं। पक्वाः खर्जूराः पक्वानि जम्बूनि फलानि चास्य सन्तीति तत्तथा। जम्बुजाम्बव-मित्यमरः। सबलः कृष्णः प्राविशत् ।। २३ ।। ऊधोभारेणोधसां भारस्तेन। ऊधस्तु क्लीबमापीनमित्यमरः। मन्दगामिन्य एता-दृश्योऽपि स्नुतस्तनीः स्नुतस्तन्यः क्षरत्कुचा भगवताऽऽहूता द्रुतं ययुरित्यन्वयः ।। २४ ।।

श्रीसुबोधिनी

प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह पीत्वाप इति, पादपाः सर्वे वृक्षास्तामसेषु सात्त्विकाः, नानात्ममूर्तिर्येषां तादृशा जाताः, पानमप्रत्यक्षसिद्धमिति पद्भिरित्युक्तं पादपशब्दो रूढो वा भवेदिति, तेषां नीरस्यैव जीवनत्वेन पदयोरेव तत्पानसाधनत्वेन स्वच्छाययैवोग्रतापशीतादिभ्यः स्वपादान् पान्तीति वा तथा, नानामूर्तयस्तु स्वभावत एवं भवन्ति वृक्षाणामनियतरूपस्योक्तत्वात्, तन्निराकरणार्थमात्मपदं, यस्य ग्रीष्मर्त्तौ या मूर्त्तिः स्थिता ततो विलक्षणा नानामूर्तिजतिति, एतदपि निरूपणं यदर्थं तदाह प्राक्क्षामा इति, पूर्वं क्षामा दुर्बलास्तपसा न केवलं देहदौर्बल्यमपि तु तपसा श्रान्ताः, इन्द्रियशक्तिरपि कुण्ठिता भवति, ते यदा तपःफलरूपं काममनुसेवन्ते तदा प्रत्यहं नानात्ममूर्तयो भवन्ति, ते वर्षायामेव पुष्टा भवन्तीति प्रकृते निरूपितं, अन्यदा शोषक-बाहुल्यान् न शीघ्रमुपचयः ।। २१ ।। तत्र राजसानामाह सरस्स्विति, सारसा हि सरस्येव रसवन्तः, तानि वर्षाकाले पूरितानि भवन्ति, उपरि बहुदूरे जलं गच्छति ततश्च नीडं कृत्वा स्थिताः कूले, तत् कूलं जलेन प्लावितं भवति, तदुपरि कृते तदपि कदाचित् कूलं पतति, एवमनेकविधदोषदुष्टेष्वपि सरस्सु सारसास्तद्रसाविष्टा व्यूषुः समीपसप्तमीविशेषवशादशान्तरोधसि तिष्ठन्तीति गम्यते, एतद् यदर्थमुक्तं तदाह गृहेष्विति, न शान्तं कदाचिदपि कृत्यं कर्तव्यं येषु, न ह्यामरणं गृहचिन्ता कदाप्यपगच्छति, तेपि ग्राम्या ग्राम एवोत्पन्ना रता इन्द्रियग्रामपोषका वा तादृशा अपि दुराशया अन्तःकरणदोषयुक्ता अपि, बहिर्निर्गतानां खेदेन भगवत्स्मरणं तीर्थदर्शनं सत्सङ्गो वा भवेत् क्रियाव्यापृतौ चिन्ताभावो वा, वर्षायां तु सर्वाभावः ।। २२ ।। एवं राजसानुक्त्वा तामसानाह जलौघैरिति, जलसमूहैः सेतवो नितरामभिद्यन्त भिन्ना जातास्तत्र च प्रतीकारो न शक्यः, ईश्वरे वर्षति पर्जन्य ईश्वरः स हि सर्वसुखार्थं वर्षति, ततोऽशक्यप्रतीकारात् सेतवो भिन्ना एव, एतदपि यदर्थं तदाह पाषण्डिनामसद्वादैरिति, कलौ बुद्धावतारे भगवति तेन प्रवर्धिताः पाषण्डाः तेषामसद्वादैः कुयुक्तिभिः सर्व एव वेदमार्गाः कर्मज्ञानमुक्त्युपासनादिप्रतिपादका सर्व एव निरभिद्यन्त कलौ तेषां प्रयोजनाभावात् ।। २३ ।। गुणातीतस्थानीयमाह व्यमुञ्चन्निति, वायुभिः प्रेरिता घना भूतेभ्योमृतं हस्तादिजलं मघादिजलं वा मुमुचुः, अन्यत् तु जलं गच्छति मघादिजलं बध्यत इति दृष्टान्ते कालपदवीप्सया यदा यत्र जलमपेक्षितं तत्रैव तदैव वृष्टिरिति ज्ञाप्यते भूतेभ्य इति चतुर्थी, एतदपि यदर्थं तदाह यथेति, विश्पतयो देशाधिपतयो ब्राह्मणैः प्रेरिता आशिषो घनादिकं प्रयच्छन्ति, पुरोहितप्रेरिता हि ते दीनेभ्योन्नादिकं प्रयच्छन्ति वर्षासु दीनानां स्वतःकार्यसामर्थ्याभावाद् यस्तु वर्षासु दाता स दातेति ब्राह्मणप्रेरणा प्रत्यक्षकृतोपयोगिता ।। २४ ।।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पीत्वापः पादपा इत्यत्र तेषां निरस्यैवेत्यारभ्य तथेत्यन्तम्। अत्रायं भावः। नीरस्य जीवनत्वेपि तत्सम्पादने स्वयम-शक्तास्तत्सम्बन्धघटकं ये पान्ति ते ह्यतिदीनास्तापतप्तास्तेभ्यो जीवसम्पादकोयमृतुस्तेन यदेकोपजीविनो ये तेषां तद्दातेति ये तादृशा भक्तास्तेषां भगवत्सम्बन्धजनकः, सर्वत्रैव निकुञ्जगह्वरप्रदेशजननादिति। अत एव नानात्ममूर्तित्वं कार्यमुक्तम्। अयमेवार्थ एतदपि

निरूपणमित्याभासेनोक्तः । सरःस्वित्यादिनापि दृष्टान्तीयधर्मसमानधर्मवन्तोत्र सारसा न त्वन्यः कोपीति ज्ञाप्यते । तत्रापि सारसानामेव निरूपणेन सरसा ये भक्तास्तैः सह जलविहारदेशे तद्रसावेशाद्दोषमप्यगणयन्तो भवन्तीति तथा । दोषागणनपूर्वेयमत्यासक्तिर्ग्राम्याणां गृहादिषु भवतीति ते दृष्टान्तीकृताः, तेनात्र गृहवन्तोपि भक्ता एव, न तु प्राकृताः कोप्यस्तीति ज्ञाप्यते । एतज्ज्ञापकोयमृतुरित्येतत्प्रस्ताव इदं निरूपितम् । अयमेवार्थ एतदित्याभासेनोक्तः ॥ २२ ॥ जलौघैरित्यनेनापि जलसेतवतिरिक्तस्य सेतोर्न नाशो व्रजेस्तीति ज्ञाप्यते । तेन वेदसेतोः सातत्यं सूचितं भवति । इदमेवोक्तं तदपीत्याभासेन ॥ २३ ॥ व्यमुञ्चन्नित्यत्र जलमोकोक्तेः पुनरुक्तिशङ्कानिरासायामृतपदं मूले । तदर्थमाहुर्हस्तादीत्यादिना । अन्यथा पूर्ववृष्टेरपि वैयर्थ्यं स्यादन्नासम्पत्तेरित्यस्यामृतत्वम् । तद्धि क्षुत्कृतमृतिनिवर्तकमिति भावः । दृष्टान्तेनात्रत्यसाधारणजनानामपि सर्वसम्पत्तिरितरापेक्षाभावश्च ज्ञाप्यते । प्रभुणैव ह्यत्र सर्वेषां सर्वसम्पत्तिः । एवं सत्युक्तरीत्या भगवत्संभृतिरूपत्वं प्रावृषः सूचितं भवति । एतदेवोक्तमेतदपीत्याभासेन । अपरञ्च, यथान्यप्रेरणयैव विश्पतयो ददति, न स्वतोपि, तथात्र मेघा एव, न त्वन्येपि, यतः स्वत एव श्रीनन्दप्रभृतयः सर्वेभ्यः सर्वं ददतीत्यपि ज्ञाप्यते ॥ २४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

पीत्वेत्यत्र ननु पादपशब्दयोगेनैव पाने प्राप्ते पद्भिरित्यस्य किं प्रयोजनमत आहुः पानमित्यादि, तथा च रूढत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं तथेत्यर्थः, नन्वत्र पीत्वेतिपदसमभिव्याहाराद् योगस्य नापहार इत्यत आहुस्तेषामित्यादि, तथा च योगान्तरस्योपोद्वलनाय तदुक्तिरित्यर्थः, एतद्व्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुरत्रायं भाव इत्यादि ॥ २१ ॥ सरस्स्वित्यत्र पद्यव्यङ्ग्यमर्थं टिप्पण्यामाहुः सरस्स्वित्यादि ज्ञाप्यत इत्यत्र यद्यपि दुराशयपदविवरणं नास्ति तथापि कामभावरूपोन्तःकरणदोषः प्रकरणादेव बोध्यः ॥ २२ ॥ जलौघैरित्यत्र व्यञ्जितमर्थं टिप्पण्यामाहुर्जलौघैरित्यादि ॥ २३ ॥ व्यमुञ्चन्नित्यस्य यद् व्यञ्जितं तट् टिप्पण्यामाहुर्व्यमुञ्चन्नित्यादि ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पीत्वाप इत्यत्र एतदपीति वृक्षाणां नानामूर्तित्वं यस्य दृष्टान्तस्य नानामूर्तित्वबोधनार्थं तद्दृष्टान्तमाहेत्यर्थः, तथा चात्र दृष्टान्त एव तात्पर्यार्थ इति भावः, एवमग्रेपि ॥ २१ ॥ सरःस्वित्यत्र अन्यगृहीवदत्र सारसा एव न त्वत्रत्या गृहिण इति अत्रत्यगृहिस्वरूपनिरूपणमेव तात्पर्यार्थोत्र, सारसानां त्वयं गुण एवेति भावः, तदाहेति दृष्टान्तेनात्रत्यगृहिस्वरूपमाहेत्यर्थः, एवमग्रेपि ।२२।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पीत्वाप स्वपादान् इत्यत्र पान्तीति वेति स्वपादान् पान्ति रक्षन्तीति पादपाः, स्वपादैः पिबन्तीतिविग्रहे पद्भिरिति व्यर्थं स्यात् ॥ २१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्राक् प्रथमं ग्रीष्मतापेन क्षामाः शुष्काः पादपा वृक्षाः पद्भिर्मूलैरपः जलानि पीत्वा नानात्ममूर्तयः नवाङ्कुरपत्रपुष्पपल्लवफलादिना अनेका रूपदेहा आसन् । तत्र दृष्टान्तः–यथा पूर्वं दुरितवशात् यथेष्टभोजनाद्यभावेन तपसा क्षुधादिदुःखेन क्षामाः दुर्बलाः श्रान्ताः शिथिलेन्द्रियाः पुनः पुण्यवशात् कामान् विषयान् प्राप्य तदनुसेवया तेषां निरन्तरभोगेन नानात्ममूर्तयः स्थूलादिप्रकारकदेहा भवन्ति तद्वदिति । तथा च "विषयभोगदुःखसुखादेः प्रारब्धाधीनत्वेन अवश्यंभावित्वात् तथाग्रहं विहाय धैर्यमवलम्ब्य भगवद्भजनं कर्तव्यम्" इत्युपादेयोपमा ॥ २१ ॥ पङ्ककण्टकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरःसु सारसाश्चक्रवाका मत्स्याद्यासक्तमनसो न्यूषुः नितरामवसन् । तत्र दृष्टान्तमाह–यथा अशान्तानि दुःखोदर्काणि कृत्यानि कर्माणि येषु तेष्वपि गृहेषु दुराशया विषयाविष्टचित्ता ग्राम्याः गृहस्था निवसन्ति तथेति । 'विषयाविष्टचित्तानां विष्ण्वावेशः सुदूरतः' इति विषयासक्तिनिषेधात् 'तदासक्त्या भक्तेन गृहे वासो न कर्तव्य' इति हेयोपमा । "हे राजन् ! त्वं धन्योऽसि, यत् अस्मदादिवत्तदासक्तिं त्यक्त्वा गृहाद्विनिःसृत" इति सूचयन् सम्बोधयति–अङ्गेति ।।२२।। ईश्वरे मेघस्वामिनि इन्द्रे वर्षति सति जलौघैर्जलप्रवाहैः सेतवो जलनिरोधार्थं पारगमनार्थं च नद्यादिषु पाषाणादिभिर्विनिर्मिता निरभिद्यन्त । तत्र दृष्टान्तमाह–यथा पाखंडिनां वेदविद्वेषिणामसद्वादैः कुतर्कैर्वेदमार्गा वेदप्रतिपादितवर्णाश्रमधर्माः कलौ युगे भिद्यन्ते तथेति । तथा च 'परमपुरुषार्थहेतुभगवद्गुणश्रवणकीर्तनादिकं विहाय कलौ दुर्जनकुतर्को न ग्राह्यः' इति हेयोपमा ॥ २३ ॥ वायुभिर्नुन्नाः प्रेरिता घना भूतेभ्यः दुःखितेभ्यः प्राणिभ्यः अमृतं जीवनकारणं जलं काले काले यदा यदा अपेक्षितं तदा तदा व्यमुञ्चन् । यथा द्विजैः पुरोहितैरीरिताः प्रेरिताः विश्पतयो धनिनः काले काले तत्तदवसरे आशिषो विषयान् दुःखितेभ्यः प्रयच्छन्ति, तद्वदिति । तथाच 'एवमेव श्रेयोर्थिभिः परोपकारपरतया भाव्यम्' इत्युपादेयोपमा ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पीत्वेति ॥ प्राक् प्रथमं ग्रीष्मतापेन क्षामाः शुष्काः पादपा वृक्षाः पद्भिर्मूलैरपः जलानि पीत्वा नानात्ममूर्तयः नवाङ्कुरपत्रपुष्पपल्लवफलादिनानेकरूपदेहा आसन् । यथा पूर्वं तपसा क्षामा दुर्बलाः श्रान्ताः शिथिलेन्द्रियाः पश्चात्कामानामनुसेवया नानात्म-

मूर्त्तयः स्थूलादिदेहा भवन्ति तथा ॥ २१ ॥ सरःस्विति ॥ अङ्ग हे राजन् ! अशान्तानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि मुहुः पतन्ति वा रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरःसु सारसाः पक्षिणः न्यूषुः न्यवसन् । यथा अशान्तानि दुःखोदर्काणि कृत्यानि कर्माणि येषु तेष्वपि गृहेषु दुराशया विषयाविष्टचित्ता ग्राम्या गृहस्था निवसन्ति तथा ॥ २२ ॥ जलौघैरिति ॥ ईश्वरे इन्द्रे वर्षति वर्षोपद्रवं कुर्वति सति जलौघैर्जलप्रवाहैः सेतवो जलनिरोधार्थं पारगमनार्थं च क्षेत्रनद्यादिषु पाषाणादिभिर्विनिर्मिता निरभिद्यन्त । यथा पाखण्डिनां वेदविद्वेषिणामसद्वादैः कुतर्कैर्वेदमार्गा वेदप्रतिपादितवर्णाश्रमधर्माः कलौ युगे भिद्यन्ते तथा ॥ व्यमुञ्चन्निति ॥ वायुभिर्नुन्नाः प्रेरिता घना भूतेभ्यः दुःखितेभ्यो प्राणिभ्यः अमृतम् अमृतवज्जीवनहेतुं जलं व्यमुञ्चन् । यथा द्विजैः पुरोहितादिभिः ईरिताः प्रेरिताः विश्पतयः विशां प्रजानां पतयो राजानः । वणिजां पतयो वा । षत्वाद्यभाव आर्षः । काले काले दुःखितेभ्यः प्राणिभ्यः आशिषः कामान् प्रयच्छन्ति तथा ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

पद्भिर्मूलैः अपो जलानि प्राक्क्षामाः ग्रीष्मेण कृशाः नानात्ममूर्त्तयः अनेकरूपदेहाः तपसा व्रतादिना कृशाः ततः श्रांताः पुनः कामानां अनुसेवनैः पुष्टाः यथा तथा आसन् ॥ २१ ॥ अंग हे राजन् अशांतानि गर्त्तपंकादिसहिता निरोधांसि पुलिनानि येषां तेषु तडागेषु सारसपक्षिणः अपि शब्दाद्बकादयो न्यूषुः निवासं चक्रुः अत्र दृष्टांतः अशांतानि क्रूराणि अविरतानि वा कृत्यानि येषु तेषु गृहेषु दुराशया मलिनांतःकरणाः ग्राम्या जना यथा न्यूषुरिति संबंधः ॥ २२ ॥ ईश्वरे अमरेंद्रे वर्षति सति असद्वादैरसद्भिः सच्छास्त्रविरुद्धैर्वादैः ॥ २३ ॥ नुन्नाः प्रेरिताः भूतेभ्यः अमृतं जलं व्यमुंचन् ददुः अत्र दृष्टांतः द्विजैरीरिता अवसरे दानार्थे प्रेरिताः विश्पतयो भूपाः अर्थिभूतेभ्यो द्विजादिभ्यः तदभिलषिताः आशिषो द्रव्यादीन् यथा ददति तद्वत् ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पीत्वेति । प्राक् वर्षर्त्त्वागमनात्पूर्वं, ग्रीष्मकाले इत्यर्थः । तपसा ग्रीष्मर्त्तुसंबन्धिना तापेनेत्यर्थः । क्षामाः शुष्कप्रायतां प्राप्ता इत्यर्थः । श्रान्ताः पत्त्रपतनादिना श्रान्ततां प्राप्ताः । येषां सर्वाण्यपि पत्त्राणि संपतितान्यभूवंस्तथाभूता इत्यर्थः । पादपाः शाकादयस्तरवः, पद्भिः स्वमूलप्रदेशैः, अपः जलानि पीत्वा, नाना अङ्कुरपत्त्रपुष्पफललब्ध्या चित्रवर्णाः आत्मनां मूर्त्तयो येषां तथाभूताः, आसन् । यथा प्राक् तपश्चर्याकाले इत्यर्थः । तपसा तपश्चरणेन, क्षामाः कृशतां प्राप्ताः, श्रान्ताः परिश्रमतां प्राप्ताः सन्तोऽपि, तपःफलं संप्राप्येत्यर्थः । कामानुसेवया नानाविधभोगसंसेवनेन, नाना हृष्टपुष्टगौरताद्याप्त्या विचित्रतावत्य आत्ममूर्त्तयः स्वदेहा येषां तथाभूताः, अभवंस्तद्वत् । अनेन सुतपस्तप्त्वा तद्देहादिपोषादौ न यतितव्यमिति मूढतया सूचितम् ॥ २१ ॥ सरस्सु इति । अङ्ग हे राजन्, अशान्तान्यनिर्मलानि कलुषानीति यावत् । तानि तोयानि येषु तथाभूतेष्वपि, सरस्सु सरोवरेषु, अशान्तरोधस्स्विति पाठे अशान्तानि पङ्ककण्टकादियुक्तानि रोधांसि तटानि येषां तेष्वपि सरस्सु, सारसाः, न्यूषुः । केषु के इव । अशान्तान्यनुपरतानि कृत्यानि येषु तेष्वपि गृहेषु, दुराशयाः वैषयिकसुखाभासलेशलिप्सवः, ग्राम्याः पामराः इव, ते यथा निवसन्ति तद्वदित्यर्थः । अनेन ग्राम्यविषयाः दुःखप्रचुरा अल्पसुखाश्चेत्युक्तम् ॥ २२ ॥ जलौघैरिति । ईश्वरे पर्जन्ये, वर्षति सति, जलौघैः जलपूरैः, सेतवो जलनिरोधार्थं मृत्पाषाणादिनिर्मिता आलयः, निरभिद्यन्त त्रुटिता बभूवुः 'सेतुर्नाऽऽली कुमारके' इति मेदिनी । कैः के इव । यथा कलौ, पाषण्डिनां असद्वादैः, कलियुगे प्रवृत्ते सति वेदबाह्यानामसद्वादैरित्यर्थः । वेदमार्गाः वेदोदिता वर्णाश्रमधर्मा निर्भिद्यन्ते तद्वत् । अनेन पाषण्डवादानामश्रोतव्यत्वमुक्तम् ॥ २३ ॥ व्यमुञ्चन्निति । वायुभिः नुन्नाः प्रेरिताः, घना मेघाः, भूतेभ्यः अमृतममृतवज्जीवनहेतु जलं, 'अमृतं व्योम्नि देवान्ने यज्ञशेषे रसायने । अयाचिते जले दुग्धे मोक्षेऽन्ने हेम्नि गोरसे' इति यादवः । अथ कार्त्स्न्येन, व्यमुञ्चन् । के केभ्य इव । यथा द्विजैः पुरोहितादिभिरीरिताः प्रेरिताः, विश्पतयो राजानः, काले काले उचितकालेषु, आशिषः कामान्, अर्थिभ्यः विमुञ्चन्ति, तद्वत् । अनेन राजभिरेवंविधैर्भवितव्यमित्युक्तं भवति ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पीत्वेति : १०.२०.२१.

वृत्तिं सम्पाद्य गुप्ताद्भुतनिजचरितैः प्राक्कृशाः श्रान्तचित्ताः पश्चात्तत्तद्विलासानुभवफलबलाद् विस्तृतस्वाप्तवर्गाः ।
जायन्ते वृक्षवद्यत् तदुचितमिह चेत्तद्वदौदार्यशीला नो चेत्किं तैर्विभोग्यैः सकलसुखकरः स्पष्ट एको द्विजाग्र्यः ॥ ३१ ॥

सरस्स्विति : १०.२०.२२.

वस्त्वृद्धिप्रसरातिलङ्घितबृहद्वेलं विलोक्यापि ये साशास्तस्य जडाशयस्य निकटे तिष्ठन्ति ते सालसाः ।
स्पष्टा एव सरःस्ववृद्धिषु तथा तत्सेविनः सारसास्तत्सेव्यं कृतिना निजेष्टफलदं गाङ्गं तदेकं पदम् ॥ ३२ ॥

जलौघैरिति : १०.२०.२३.

दाता दातुं प्रवृत्तो नयपथविलसद्वर्तनश्चेत्ततस्तं तन्मार्गाद्वाक्प्रजल्पैर्जडमतिकलितैर्भ्रंशयन्त्यप्रतिष्ठाः ।
दुर्वादैर्दुर्वितर्का इव विमतमुधाकल्पितैः श्रोतमार्गं तस्मादस्मिन्युगे सन्नयरसलसितः सेव्य एको दयाब्धिः ॥ ३३ ॥

व्यमुञ्चन्निति : १०.२०.२४.

प्रारब्धतः स्याद्व्वसाप्तिर्वायुनुन्नाम्बुदाम्बुवत् । नान्यथेति विनिश्चिन्वन् धीरो यः स सुखी सदा ॥ ३४ ॥

कृष्णप्रिया

जो वृक्ष जेठ आषाढ़ में सूख गये थे वे अब अपनी जड़ों से जल पीकर पत्ते फूल तथा डालियों से खूब सज धज गये जैसे सकाम भाव से तपस्या करने वाले पहले तो दुर्बल हो जाते हैं, परन्तु कामना पूरी होने पर मोटे तगड़े हो जाते हैं ॥ २१ ॥ परीक्षित् ! तालावों के तल काटें की जड़ और जल के बहाव के कारण प्रायः अशान्त ही रहते थे, परन्तु सारस एक क्षण के लिये भी उन्हें नहीं छोड़ते थे जैसे अशुद्ध हृदय वाले विषयी पुरुष काम-धन्धों की झंझट से कभी छुटकारा नहीं पाते फिर भी घरों में ही पड़े रहते हैं ॥ २२ ॥ वर्षा ऋतु में इन्द्र की प्रेरणा से मूसलधार वर्षा होती है इससे नदियों के बांध और खेतों की मेड़ें टूट-फूट जाती है, जैसे कलियुग में पाखण्डियों को तरह तरह के मिथ्या मतवादों से वैदिक मार्ग की मर्यादा ढीली पड़ जाती है ॥ २३ ॥ वायु की प्रेरणा से घने बादल प्राणियों के लिये अमृतमय जल की वर्षा करने लगते हैं जैसे ब्राह्मणों की प्रेरणा से धनी लोग समय समय पर दान के द्वारा प्रजा की अभिलाषाएं पूर्ण करते ॥ २४ ॥

एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् । गोगोपालैर्वृतो रन्तुं[1] सबलः प्राविशद्धरिः ॥ २५ ॥
धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा । ययुर्भगवताऽऽहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः[2] ॥ २६ ॥
वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः । जलधारा गिरेर्नादानासन्ना ददृशे गुहाः ॥ २७ ॥
क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति । निर्विशन्[3] भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः[4] ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः –एवम् गोपोपालैः वृतः सवलः हरिः, पक्व-खर्जूर-जम्बुमत् तद् वर्षिष्ठम् वनम् प्राविशत् ॥ २५ ॥ भूयसा ऊधोभारेण मन्दगामिन्यः धेनवः भगवता आहूताः प्रीत्या स्नुतस्तनीः द्रुतम् ययुः ॥ २६ ॥ वनौकसः प्रमुदिताः आसन् वनराजीः मधुच्युताः आसन् गिरेः जलधाराः आसन् आसन्नाः गुहाः आसन् (हरिः तत् सर्वम्) ददृशे ॥ २७ ॥ क्वचित् अभिवर्षति मेघे भगवान् वनस्पतिक्रोडे च गुहायाम् निर्विशन् कन्दमूलफलाशनः रेमे ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

वनौकसः पुलिंदीः प्रमुदिता भगवान् ददृशे । तथा वनराजीर्मधुच्युतो मधुस्रवा ददृशे । गिरेः सकाशज्जलधाराश्च तासां नादानासन्ना निकटवर्तिनीर्गुहाश्च । यद्वा वनौकसः प्रमुदिता आसन् तथा वनराजीर्वनराजयो वनपरंपरा मधुच्युत आसन् गिरेर्जलधारा आसन् तानेवंभूतानाददृशे सर्वतो ददर्श भगवान् । तथा धाराणां नादान्गुहाश्चेति ॥ २५–२९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यद्वा–वनौकसो गावः मृगादयश्च । प्रमुदिताः प्रकृष्टानंदाः । आसन्निति क्रियापदं पृथक्कृत्वा सर्वेषां पदानां प्रथमांतता बोध्या । मधुच्युतश्चोतन्मकरंदाः । गोपक्षे मधु मधुरं क्षीरं च्योतंति स्रवंतीति मधुच्युतः ॥ २५ ॥ वनस्पतिक्रोडे वृक्षमूले । यद्वा–वनस्पतीनां क्रोडं सुखं येन स वनस्पतिक्रोडं इंद्रस्तस्मिन्नभिवर्षति सति "क्रोडः शनौ शूकरे ना रक्षोंकसुखसद्मसु" इति धरणिः । स्कंदानि शालूकादीनि, मूलानि मधुरमूलकादीनि, फलान्याम्रजंब्वादीनि ॥ २६ ॥ संभोजनीयैः श्रीदामादिभिर्गोपैः ॥ २७ ॥ वत्सतरान् अल्पवत्सान् ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं वर्षाकालं वर्णयित्वा तत्फलं तत्र श्रीभगवतः क्रीडाविशेषं वक्ष्यन्नादौ वनप्रवेशमाह–एवमिति । उक्तप्रकारेण यथायथाहं वर्णितवांस्तथा वर्णयित्वेत्यर्थः । तदनुसारेणैवाहमवर्णयमिति भावः । वृतः श्रीमुखशोभालोभेन ॥ २५ ॥ क्रीडामाह–धेनव इति षड्भिः । मन्दगामिन्योऽपि प्रीत्याऽऽहूताः प्रीत्यैव द्रुतं ययुश्चेत्यन्वयः प्रीतौ । लिङ्गं स्नुतस्तना इति स्नुतस्तनीरिति पाठे स्नुतस्तन्यः प्रावृट्काले विशेषतो दुग्धादिसम्पत्त्या शोभाविशेषं तत्तद्गोगादिसम्पत्तावपि मिथः प्रेमविशेषश्च क्रीडापरिकरत्वेन दर्शितः ॥ २६ ॥

---

१. वस्तुं–वीर. । २. स्तनाः–जीव. तोष. । ३. निर्विश्य–श्रीधर. वंशी.; निर्विशन्–विज.; निविशन्–वीर. विश्व. । ४. फलाशनैः–विज. ।

वनौकसः पुलिन्द्यादीन् गुहानां दर्शने नादस्य हेतुता दूरवर्त्तिनीनामपि तृणादिभिराच्छन्नानामपि तासां प्रतिध्वन्युदयेनाभिव्यक्तेः ददृशे ददर्श ॥ २७ ॥ क्वचित् कस्मिंश्चित् कदाचिद्वा भगवानपीति अहो अस्या लीलायाः परममाधुर्य्यमिति भावः कन्दमूलयोर्वर्त्तुल-दीर्घताभ्यां भेदो लोके प्रसिद्धः तयोः प्रावृषि कोमलत्वादिना उपादेयत्वात् फलतः प्राङ्निर्देशः ॥ २८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं वर्षाकालं वर्णयित्वा तत्फलं तत्र श्रीभगवतः क्रीडाविशेषं वक्ष्यन्नादौ वनप्रवेशमाह—एवमिति। अनेन उक्तवृष्टि-प्रकारेणेदृशं वा वर्षिष्ठं समृद्धं सश्रीकं शोभया सहितं वा। यद्यपि सर्व्वर्त्त्वाश्रये श्रीवृन्दावने सर्व्वदा सर्व्वपुष्पफलादिसम्पत्तिः, तथापि पक्वखर्ज्जुर-जम्बुमदिति तदानीं तद्बाहुल्याभिप्रायेण, वृत इति वृष्टिनिवारणार्थं छत्रादिधारणाकांक्षया अहमहमिकया सर्व्वैरेव गोपैर्गोभिश्च तृप्त्या स्नुतस्तनतया वत्सेभ्योऽप्यधिकवात्सल्येन स्तन्यं पाययितुमिव किंवा सदा सर्व्वेण श्रीमुखशोभालोभेन परिवेष्ट्यमानत्वादतएव सर्व्वमनोहरणाद्धरिः प्राविशत् प्रविशन्नासीदित्यर्थः। प्र-शब्दो वनादिशोभाविशेषापेक्षया, इति प्रावृषि प्रतिदिनक्रीड़ा सूचिता ॥ २५ ॥ क्रीड़ामाह—धेनव इति षड्भिः। मन्दगामिन्योऽपि श्रीकृष्णेन आहूताः सद्यो द्रुतं ययुः, प्रीत्येत्यस्य आहूता इत्यनेन ययुरित्यनेनैव वान्वयः। स्नुतस्तनीरिति पाठे स्नुतस्तन्य इति; प्रावृट्काले विशेषतो दुग्धादिसम्पत्त्या शोभाविशेषः वात्सल्यविशेषो भगवत्क्रीड़ापरिकरश्च दर्शितः; यद्वा, प्रावृट्कालीनभोगादिविशेषसम्पत्तावपि गवां श्रीभगवदेकप्रियता दर्शिता ॥२६॥ गुहानां दर्शनेनानन्दस्य हेतुः, दूरवर्त्तिनीनामपि तृणादिभिराच्छन्नानामपि तासां प्रतिध्वन्युदयेनाभिव्यक्तेः ॥ २७ ॥ क्वचित् कस्मिंश्चित् कदाचिद्वा, चकारादस्योभयत्राप्यन्वयः। किंवा शक्तिविशेषेणैकदैवोभयत्रापि निर्विशन् प्रविशन् संविशन् वा, यतो भगवान् ततश्च क्वचिदभितो वर्षतीत्यन्वयः। अभि-शब्देन वृष्टेराधिक्यमुक्तम्; एवं लौकिकलीलायामप्यैश्वर्य्येण भगवत्ताविशेषप्रकटनं पूर्व्ववदूह्यम्; तथा क्रोड़स्य गुहायाश्च जातावेकत्वं सुविस्तीर्णत्वञ्च। सहचराश्च कुत्रापि केचित् कतिपये ज्ञेयाः; रेमे चिक्रीड़ सुखी बभूव वा। कथम्? तदाह—कन्देति। कन्दमूलयोर्बाह्यान्तरत्वादिना भेदः; तयोः प्रावृषि बाहुल्येन कोमलत्वादिना चोपादेयत्वात्, फलतः प्राङ्निर्द्देशः ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

ऊधः क्षीराधारस्थानम् ॥ २६ ॥ जलधारागिरेः निर्झरयुक्तगिरेः नादसमदानाः निर्झरनादेन समनादाः ॥ २७ ॥ क्रोडे मध्यभागे ॥ २८-३७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवं वर्षर्तुमनुवर्ण्याथ तदा कृतानि कानिचिद्भगवच्चेष्टितानि वर्णयति—एवमित्यादिभिः सप्तभिः। इत्थं पक्वानि खर्जूरादिफलानि अस्मिन् सन्तीति तद्वत् तद्वर्षिष्ठं वृद्धं प्रभूतमिति यावत् वनं हरिः सबलदेवो गोपालैः सह रन्तुं प्राविशत् ॥२५॥ भूयसा ऊधसः पयःकोशस्य भारेण मन्दगामिन्योऽपि धेनवो भगवता आहूताः स्नुतस्तन्यः सत्यो द्रुतमेव ययुः ॥ २६ ॥ वनौकः-प्रभृतीन् ददृशे इत्यन्वयः। प्रमुदिताः मधुच्युत इति च वनराजीरित्यस्य विशेषणं मधुच्युतः मधूनि स्रवन्त्यः प्रमुदिताः फलपुष्प-समृद्धिभिः मुदिताः इव स्थिताः प्रमुदिताः वनौकसः पुलिन्दीरिति वा गिरेः सकाशाज्जलधारास्तासां नादानासन्ना निकटवर्त्तिनी-र्गुहाश्च ददृशुरित्यर्थः ॥ २७ ॥ कदाचित्पर्जन्ये अभितो वर्षति सति वनस्पतिक्रोडे वृक्षमूले गुहायां वा प्रविशन् भगवान् कन्दानि मूलानि फलान्येवाशनं यस्य तथाभूतो रेमे ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वर्षिष्ठं प्रभूतवर्षेपितम् ॥ २५ ॥ स्नुतस्तनीः क्षरितस्तन्यः ॥ २६ ॥ वनौकसो गावः मृगादयो वा गुहाः ददृशुरित्यन्वयः। कथम्भूताः प्रमुदिताः प्रकृष्टानन्दाः वने राजी राजनं यासां ताः वनराज्यः मधुश्च्युतः मधुवन्मधुरं क्षीरं श्च्यवन्ती मधुश्च्युतः गम्भीरश्चासौ सन्नादश्च गभीरसन्नादः तेन सन्नादेन सह वर्तमानाः। यद्वा, वृष्ट्यभावसमये मधुश्च्युतः वनराजीर्वनपङ्क्तीः ददृशुः वृष्टौ सत्यां गुहा ददृशुरिति वनौकसः किराता वा गिरेर्हेतोः सन्नादा राक्षसाः सन्नादाः भावप्रधानो निर्देशः नष्टराक्षसत्वेन नाद-सहिताः ॥ २७ ॥ अभिवर्षति सति वनस्पतिक्रोडे गुहायां चैव निर्विशन् उपभुञ्जानः ॥ २८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वर्षां वर्णयित्वा तादात्विकीं लीलां वर्णयति—एवमिति सप्तभिः। वर्षिष्ठं समृद्धम् ॥ २५ ॥ स्नुतस्तनीः स्नुतस्तन्य इति प्रीतिचिह्नम् ॥ २६ ॥ तत्र च कृष्णो वनौकसः पुलिन्दीः प्रमुदिताः ददृशे ददर्श वनराजीर्मधुच्युतः मधूनां च्युत् क्षरणं यासु तयाभूता ददर्श गिरेः सकाशाज्जलधारादूरवर्तिनीरपि नादाद्धेतोरासन्ना निकटवर्तिनीः ददर्श गुहाश्च ददर्श ॥ २७ ॥ मेघे अभितो वर्षति सति वृक्षक्रोडे गुहायां वा निःशेषेण द्रुतमभिद्रुत्य विशन् प्रविशन् कन्दमूलयोर्वर्त्तुलत्वदीर्घत्वाभ्यां भेदो ज्ञेयः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ सङ्क्षेपतो भगवल्लीलां प्रावृषिकृतां दर्शयति —एवमिति सप्तभिः। वर्षिष्ठं समृद्धम् ॥ २५ ॥ ऊधसः पयःकोशस्य भूयसा भारेण मन्दगामिन्योऽपि भगवताऽऽहूताः प्रीताः सत्यो द्रुतं ययुः ॥ २६ ॥ प्रमुदितशब्दस्य लिङ्गविपरिणामेन सर्वत्रान्वयः। तथा हि मधुच्युतः मधुश्रवाः वनराजीः प्रमुदिताः ददृशे गिरेः सकाशात् जलधाराः प्रमुदिताः ददृशे नादान् जलधाराणामन्येषां च शब्दान् प्रमुदितान् ददृशे आसन्नाः निकटवर्तीर्गुहाश्च प्रमुदिताः ददृशे—किं बहुना वनौकसः सर्वान् प्रमुदितान् ददृश इत्यर्थः ॥२७॥ वनस्पतेर्महावृक्षस्य क्रोडे मूलभागे विपुलस्थाने ॥ २८–२९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

प्रावृषं वर्णयित्वा तदानीन्तनीं हरेर्लीलामाह—सप्तभिः—वर्षिष्ठं समृद्धम् ॥ २५ ॥ स्नुतस्तनीरिति प्रथमार्थे द्वितीया प्रीतिचिह्नमिदम् ॥ २६ ॥ वनौकसः पुलिन्दीः प्रमुदिताः मधूनां च्युत् क्षवनं यासु ता वनराजीः गिरेर्जलधाराश्च दूरवर्तिनीरपि नादाद्धेतोरासन्नाः समीपवर्त्तिनीर्ददर्श हरिः गुहाश्च ददर्श ॥ २७ ॥ मेघेऽभितो वर्षति सति वनस्पतेस्तरोः क्रोडे गुहायाम्वा निर्विशन् धावित्वा विशन् रेमे कन्दमूलयोर्वर्तुलत्वदीर्घत्वाभ्यां भेदः ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

वनौकसो गोपा मधुश्चुतो वनराजीर्वनपङ्क्तीर्ददृशुस्तेन च प्रमुदिताः। किञ्च गिरेर्गम्भीरसन्नादे सन्नादा गिरेस्तत्सम्बन्धिनिर्झरादीनां सन्नादस्तज्जातस्सन्नादो यासां ता गुहा ददृशुः ॥ २५ ॥ वनस्पतिक्रोडे वनस्पतेर्वृक्षस्य क्रोडे कोटरेऽभिवर्षति मेघे गुहायां च निविशन्भगवान्कन्दमूलफलाशनै रेमे चिक्रीड ॥ २६ ॥ सम्भोजनीयैः समं भोजनीयं भोक्तव्यं येषां ते तैः। संशब्दस्य समार्थत्वं तु सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्। प्रोपाभ्यां समर्थाभ्यां व्यवहृपणोः समर्थयोरित्यत्रैकव्याख्याने दृष्टमित्यत्र समार्थता ज्ञेया। उपानीतं गृहाद्दध्योदनं सङ्कर्षणान्वितः सलिलान्तिके शिलायां सम्भोजनीयैस्सह भोज्यास्तैरिति वा बुभुजे। सलिलाः सलीला केचन। ते क्रीडासक्ता नायाता भुक्त्यै तेषामन्तिके समीप इति। एकदेशविकृतन्यायेन सलिला हि सलीलाः। यथोक्तं बृहद्भाष्ये। सलीलाः सलिल इति वेति ॥ २७ ॥ प्राक् चर्वंतो भक्षयतोऽनन्तरं शाद्वलोपरि संविश्य मीलितेक्षणान् तथा चर्वंतोर्मीलितेक्षणा तृप्तांस्तृप्ता वृषान्वत्सतरानूधोभारेण श्रमो यासां ता गाश्च वीक्ष्येत्युत्तरेणान्वयः ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमेकविंशतिप्रकारेण स्वरूपेण च प्रावृड् वर्णिता, तस्यां प्रावृषि भगवतो गुणानां च रमणमाह सप्तभिः, तत्र प्रथमं रमणार्थं भगवतः प्रवेशमाहैवमिति, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वगुणसम्पन्नं वनं तत् प्रसिद्धं वर्षिष्ठं सर्वोत्तमं जातं, नन्वत्र वने क्रीडायां शीघ्रं गृहागमनं न सम्भवति भुक्त्वा गमनेपि महद् दिनमिति मध्ये क्षुद् भवेदाम्रादिफलानि तु निवृतानि ततः कथं रमणमित्याह पक्वखर्जूरजम्बुमदिति, पक्वानि खर्जूरफलानि जम्बुफलानि च यस्मिन् वने, भगवान् गुणातीतः सत्त्वस्थानीयो बलो रजःस्थानीया गोपाला गावस्तवशिष्टाः, तैः सर्वैरेव भगवदीयैरावृतः प्रकर्षेण क्रीडां कर्तुं स्वसम्पादितनिदुष्टैर्जीवैः सह वनं प्राविशत् ॥ २५ ॥ तत्र प्रथमं धेनूनां शोभामाह प्रवेशो वीर्यशक्तिरियं वैराग्यशक्तिर्वा, ऐश्वर्यशक्तिमाह मन्दगामिन्यो धेनवो जाताः, गर्भेणापि तथा भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहोधोभारेण भूयसेति, क्षीराशयस्यैव महान् भारः, तादृश्योपि भगवताहूता ऐश्वर्यवशाद् द्रुतमागताः, निर्बन्धेनाप्यागमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह प्रीत्येति, प्रीत्याहूताः प्रीत्या च ययुः प्रीत्यैव च स्नुता स्तना यासां ङीप्टापौ व्यत्ययेन भवतः ॥ २६ ॥ गोपानां सुखमाह वनौकसः प्रमुदिता इति, वनवासिनां हि कालान्तरे तापो भवतीदानीं शीतलत्वात् सर्वे प्रमुदिताः, अनेन दोषाभाव उक्तः सहजं च सुखं, भक्ष्यसम्पत्तिमाह, वनराजीर्वनपङ्क्तयः सर्व एव वृक्षा नानाजातीया मधुच्युतः पूर्णे मधुनि ततोपि प्रवाहमधुयुक्ता जाताः, पेयसम्पत्तिमाह जलधारा गिरेरासन्निति, पर्वतसम्बन्धिन्यो जलधारा अकलुषिताः शीतलाः पानयोग्यधाराश्च भवन्ति, वृष्टौ स्थातुं शयनं च कर्तुं स्थानमाहासन्ना ददृशे गुहा इति, आसन्ना निकटस्था गुहा विश्रामस्थानानि, एतत् त्रिविधसामग्रीयुक्तान् वनौकसो गोपालानन्यांश्च ददृशे॥ २७ ॥ बलभद्रस्य तत्र रमणमाह क्वचिद् वनस्पतिक्रोड इति, वृक्षस्य क्रोडे कोटरे गुहायां वाभिवर्षति देवे निर्विशंस्ततोपविशन् भगवान् रामो मूलकन्दफलान्येवाशनं यस्य वनस्थानि सर्वाणि दिव्यानि स्वादिष्टानि च, रेम इति पदाद् रामो ज्ञायते, विशेषं च वक्ष्यति, भगवति क्रोडे पुनर्निर्लीयोपवेशनं फलाहारश्च न सम्यक् सम्पद्यते ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

धेनवो मन्दगामिन्य इत्यस्याभासात्पूर्वं वैराग्यशक्तिर्वेति। विरक्तो हि गृहं हित्वा वनं प्रविशतीति वनप्रवेशमात्रसाम्येनैवमुक्तम् ॥ २६ ॥ क्वचिद्वनस्पतिक्रोड इत्यस्य रामविषयकत्वोक्तौ स्वाशय उद्घाटितः क्रोडे पुनरित्यादिना। यद्यप्येवमप्येका वाञ्छैका सम्भवति, तथापि प्रभुलीलायां सङ्कोचमसहमानैरेवमुक्तम्। उपपत्तिश्चोक्ता, विशेषं च वक्ष्यति भगवतीति ॥२८॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

एवं वनमित्यत्र स्वसम्पादितनिर्दुष्टैरिति स्वसम्पादिताश्च ते निर्दुष्टाश्च तादृशैः ॥ २५ ॥ धेनव इत्यत्र प्रवेशो वीर्यशक्तिरिति बलगोपालानां सहत्वावरणत्वबोधनात् प्रवेशक्रियायाः वीर्यशक्तित्वं बोध्यं, वैराग्यशक्तिर्वेत्यस्यार्थं टिप्पण्यामाहुः विरक्त इत्यादि ॥ २६ ॥ वनौकस इत्यत्र ददृश इति तत्पदाज् ज्ञानशक्तिर्बोध्या, अत्र च कर्ता भगवान् ज्ञेयः ॥ २७ ॥ क्वचिद् वनस्पतीत्यत्र रामलीलाङ्गीकारतात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः क्वचिदित्यादि, अत्र कन्दाद्यशनस्योक्तत्वाद् रामस्य सत्त्वस्थानीयत्वाच्च वैराग्यशक्तिर्ज्ञेया, एवमित्यत्र वैराग्यशक्तिप्रक्षेत्रवीर्यशक्तिर्बलचरित्रत्वाद् भाति ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवं वनमित्यत्र स्वसम्पादितेति स्वसम्पादितैर्धेनुकवधादिभिर्निर्दुष्टा ये जीवास्तैरित्यर्थः ॥ २५ ॥ वनौकस इत्यत्र एतत् त्रिविधेति वनराजिजलधारागुहायुक्तान् देशानित्यर्थः, आसन्नित्यस्यैव गुहास्वप्यन्वयः, ददृशे इति तु भिन्नतयान्वेति, अन्यांश्चेति पुलिन्दादीनित्यर्थः ॥ २७ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

धेनवो मन्दगामिन्य इत्यस्याभासे प्रवेशो वीर्यशक्तिरेवेति "सबलः प्राविशद्धरि"रिति पूर्वश्लोकोक्तो वनप्रवेशो वीर्यशक्तिः, यतो वने वत्सासुरधेनुकादयोसुरा हताः प्रलम्बश्च हतो दावाग्निद्वयं निवारितं, तादृशे सम्भावितभीतिके वने प्रवेशो वीर्यवत एव कार्यमतः प्रवेशो वीर्यशक्तिरित्युक्तं, वैराग्यशक्तिर्वेति "निशामुखेषु खद्योता" इत्यादिषु परोक्षवादरीत्या निरूपिता या रहस्यलीलास्तत्रासक्तो भगवान् "गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरि"रितिवाक्याद् गोपालबलदेवसाहित्येन बहिरङ्गलीलां कर्तुं वनप्रवेशं कथं कुर्यात्, अतो वैराग्यशक्त्यैव कृतवान्, अतो रहस्यलीलासक्तोपि वैराग्यशक्तिं तत्राविर्भाव्य लीलान्तरं करोतीति ज्ञापनाय वैराग्यशक्तिर्वेत्युक्तं तत् सम्यगेव, एतदेव श्रीमत्प्रभुचरणैष्टिप्पण्यां गुप्ततयोक्तं विरक्तो हि गृहं हित्वा वनं प्रविशतीत्यादिना ॥ २६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं प्रावृट्श्रियं निरूप्य तत्कालिकीं भगवत्क्रीडां निरूपयति—एवमिति सप्तभिः। एवमुक्तप्रकारेण प्रावृट्श्रिया युक्तं तत् प्रसिद्धं वृन्दावनं गोगोपालैर्वृतः सबलो हरी रंतुं प्राविशदित्यन्वयः। तत्र विक्रीडतां रामकृष्णादीनां कदाचित् गृहाद्भोजनसामग्र्यागमनविलम्बे क्रीडासक्त्या गृहगमनविलम्बे वा क्षुत्तृड्भ्यां क्रीडायां विघ्नाभावं सूचयन् भोजनसम्पत्तिं च दर्शयन् वनं विशिनष्टि—वर्षिष्ठं समृद्धम्, पक्वखर्जूरजम्बुमत् ॥ २५ ॥ भूयसा महता ऊधोभारेण मन्दगामिन्योऽपि धेनवो भगवता आहूताः स्नुतस्तनीः स्नुतस्तन्यः सत्यः प्रीत्या द्रुतं शीघ्रं ययुरित्यन्वयः ॥ २६ ॥ तदाच तादृशीं भगवच्छोभां निरीक्ष्य वनौकसः पुलिन्दभृङ्गपक्ष्यादयः सर्वे प्रमुदिता आसन्। तथा गिरेः सकाशात् जलधारा आसन्। तदा श्रीकृष्णोऽपि वनराजीर्मधुच्युतो मधुस्रुतो आददृशे, गिरिगुहाश्च रम्या आददृशे। तथा धारायास्तज्जनितान् कीचकपक्ष्यादीनां चानेकविधान् नादान् मनोहरशब्दांश्च शुश्राव। अत्र यथोचितशेषेण सर्वत्रान्वयः ॥ २७ ॥ कन्दमूलानामशनं यस्य स भगवान् देवे वर्षति सति क्वचित् कदाचित् वनस्पतिक्रोडे कदाचिद्गिरिगुहायां वा निर्विशन् रेमे इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति। एवं वर्षिष्ठं समृद्धं पक्वखर्जूरजम्बुमत् तत् वृन्दावनं गोगोपालैर्वृतः सबलो हरिः रन्तुं प्राविशत् ॥ २५॥ धेनव इति ॥ भूयसा महता ऊधोभारेण मन्दगामिन्योऽपि धेनवो भगवता आहूताः स्नुतस्तनीः स्नुतस्तन्यः सत्यः। पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः। स्नुतस्तना इत्यपि पाठः। प्रीत्या द्रुतं ययुः ॥ २६ ॥ वनौकस इति ॥ तदा वनौकसः पुलिन्दमृगपक्ष्यादयः सर्वे प्रमुदिता आसन् तथा गिरेः सकाशात् जलधारा आसन्। तदा श्रीकृष्णोऽपि वनराजीर्मधुच्युतो मधुस्रुत आ सर्वतः ददृशे। तङ्गार्थः। गिरिगुहाश्च रम्या आ ददृशे तथा धाराणां कीचकपक्ष्यादीनां चानेकविधान् नादान्मनोहरशब्दांश्च शुश्राव। अत्र यथोचितशेषेण सर्वत्रान्वयः। यद्वा। तत्र कृष्णो वनौकसः पुलिन्दीः प्रमुदिताः ददृशे। वनराजीर्मधुच्युतो ददृशे। गिरेः सकाशाज्जलधारा दूरवर्तिनीरपि नादाद्धेतोरासन्ना निकटवर्तिनीः ददृशे। गुहाश्च ददृशे। अयं च नादादिति पञ्चम्यन्तपाठेऽर्थः। नादानिति पाठे जलधाराः आसन्नाः गिरेर्गुहाश्च ददृशे। धाराणां गुहानां च नादान् शुश्रावेति शेषः ॥ २७॥ क्वचिदिति ॥ कन्दमूलफलाशनो भगवान् देवे वर्षति सति क्वचित्कदाचित् वनस्पतिक्रोडे कदाचिद्गिरिगुहायां वा निर्विशन्। निर्विश्येति च पाठः। रेमे। कन्दो वर्तुलो मूलं दीर्घम् ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवं प्रावृड्वर्णनं कृत्वाऽधुना सप्तश्लोकी तत्र कृतां हरिलीलां निरूपयति एवमित्यादिभिः वर्षिष्टं वृष्टिना समृद्धं बलेन सहितः ॥ २५ ॥ भूयसा अति बहुना आहूताः संबोधिताः ॥ २६ ॥ वनौकसो वनवासिनः प्रमुदिताः आसन् वनराजीः वनराजयः वन्यः वृक्षाणां पंक्तयः मधुच्युतो मधुस्रवाः आसन् गिरेः पर्वतात् जलधारा आसन् नादात् जलधारा शब्दात् आसन्नाः समीपवर्त्तिन्यो गुहाश्चासन् एवंभूतानि एतानि सर्वाणि हरिर्ददृशे दृष्टवान् यद्वा वनौकसः पुलिंदीताः हृष्टाः ददृशे इति प्रतिवाक्य द्वितीयांतपदानां क्रियासंबंधः कार्यः ॥ २७ ॥ कस्मिंश्चित् समये मेघे अभिवर्षति सति निविडपत्राणां वृक्षाणां क्रोडे महाशाखाधःप्रदेशे भूमिगर्भेऽन्नत्तुं ल-ग्रंथियः कंदाः अन्यनिदर्घाणि मूलानि ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेवं वर्षर्त्तुं मनुवर्ण्याथ तदा कृतानि कानिचिद्भगवतश्चेष्टितानि वर्णयति एवमित्यादिभिः सप्तभिः । एवमिति । एवमित्थं, पक्वानि पचेलिमानि पर्जूरजम्बूनि खर्जूरजम्ब्वोः फलानि अस्मिन् सन्ति इति तत् । वर्षिष्ठं समृद्धं, तत् वनं, हरिः श्रीकृष्णः सबलो बलभद्रेण सहितः, गोगोपालैः वृतश्च सन्, रन्तुं, प्राविशत् ॥ २५ ॥ धेनव इति ॥ भूयसा, ऊधसः पयःकोशस्य यो भारस्तेन, मन्दगामिन्यः धेनवः, भगवता कृष्णेन, आहूताः स्रुतस्तनीः स्रवत्स्तनाः सत्यः, प्रीत्या द्रुतं ययुः । भगवदन्तिके इति शेषः ॥ २६ ॥ वनौकस इति ॥ भगवान्, वनौकसः पुलिन्दीः, प्रमुदिताः सुप्रसन्नाः, ददृशे । वनराजीः मधुच्युतः मधुस्रवाः, ददृशे । गिरेः संबन्धिन्यः, जलधाराः आसन्ना निकटवर्त्तिनीः, गुहाश्च ददृशे । गिरेः सबन्ध्येतत् द्वयं ददर्शेत्यर्थः । नादान् जलधाराणां शब्दांश्च, शुश्रावेति शेषः । यद्वा तदा, वनौकसः प्रमुदिताः, आसन् । तथा वनराजीर्वनराजयः वनपरंपरा इति यावत् । मधुच्युतः, आसन् । गिरेः सकाशात्, जलधाराश्च, आसन् । भगवान् एवंभूतान्, वनौकसः प्रभृतीन् गुहाश्च आ सर्वतः ददृशे । तथा नादान् जलधारा-शब्दान्, शुश्राव ॥ २७ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् कदाचित्, अभिवर्षति पर्जन्ये प्रवर्षति सति, भगवान्, वनस्पतिक्रोडे वृक्षमूले, सघनपत्रादिमद्वृक्षशाखाधःप्रदेशे वा । गुहायां च चकारो वार्थे । निर्विशन् प्रवेशं कुर्वन्, कन्दाः मूलानि फलानि चाप्यशनं यस्य तथाभूतः सन्, रेमे ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवमिति : १०.२२.२५.

एवं तद्व्रजकाननं बहुफलप्राग्भारभोग्यास्पदं वीक्ष्याऽसौ भगवांश्चतुर्युगगतं जीवैः सगोभिः प्रभुः ।
रन्तुं पातुमपि स्वकानथ खलान् हन्तुं च योगान्वितः स्वच्छन्दं प्रविशन् भ्रमत्युपविशत्यत्तीति सोऽब्रोधयत् ॥ ३५ ॥

धेनव इति : १०.२०.२६.

यदावलम्बते श्रीशः साधुवृन्दावनोत्सवम् । युक्तं कामदुघा गावः प्रसन्नास्तन्मुखस्थिताः ॥ ३६ ॥

वनौकस इति : १०.२०.२७.

यदर्थमच्युतः क्रीडासक्तोऽस्मिन् यांश्च वीक्षते । आसंस्ते सुखिनः सर्वे तदा युक्तं वनौकसः ॥ ३७ ॥

क्वचिदिति : १०.२०.२८.

केचित् प्रेमहृदः परे रसविदोऽन्ये भूरि शृङ्गारिणः केचित्तु प्रणवोक्तयो गिरिजडोद्गारप्रवाहाः परे ।
वृद्धिज्ञा अपि केचनेति निखिलान्जीवान् प्रपश्यन्प्रभुः सच्छारीरगुहां विशन्नमृतवत्कन्दानदन् क्रीडति ॥ ३८ ॥

कृष्णप्रिया

वर्षा ऋतु में वृन्दावन इसी प्रकार शोभायमान और पके हुए खजूर तथा जामुनों से भर रहा था, उसी वन में विहार करने के लिये श्याम और बलराम ने ग्वालबाल और गौओं के साथ प्रवेश किया ॥ २५ ॥ गौएं अपने स्थनों के भारी भार के कारण बहुत ही धीरे धीरे चल रही थीं, जब भगवान श्रीकृष्ण उनका नाम लेकर पुकारते तब वे प्रेम परवश होकर, जल्दी-जल्दी दौड़ने लगतीं, उस समय उनके स्थनों से दूध की धारा गिरती जाती थी ॥ २६ ॥ भगवान ने देखा कि वनवासी भील और भीलनियाँ आनन्दमग्न हैं, वृक्षों की पत्तियाँ मधुधारा उडेल रही हैं पर्वतों से झर झर करते हुए झरने झर रहे हैं उनकी आवाज बड़ी सुरिली जान पड़ती हैं और साथ ही वर्षा होने पर छिपने के लिये बहुत सी गुफाएं भी है ॥ २७ ॥ जब वर्षा होने लगती तब श्रीकृष्ण कभी किसी वृक्ष की गोद में या खोड़र में जा छिपते कभी-कभी किसी गुफा में ही जा बैठते और कभी कन्दमूल फल खाकर ग्वालबालों के साथ खेलते रहते ॥ २८ ॥

[1]दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके । सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥ २९ ॥
शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् । [2]तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वो[3]धोभरश्रमाः ॥ ३० ॥
प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतसुखावहाम्[4] । भगवान् पूजयाञ्चक्र[5] आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥ ३१ ॥
एवं निवसतोस्तस्मिन्[6] रामकेशवयोर्व्रजे । शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—संकर्षणान्वितः श्रीकृष्णः सलिलान्तिके शिलायाम् सम्भोजनीयैः गोपैः उपानीतम् दध्योदनम् बुभुजे ॥ २९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णः शाद्वलोपरि संविश्य मीलितेक्षणान् तृप्तान् चर्वतः वृषान् वत्सतरान् च स्वोधोभरश्रमाः गाः (वीक्ष्य) सर्वभूतसुखावहाम् आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ताम् प्रावृट्श्रियम् पूजयांचक्रे ॥ ३०–३१ ॥ एवम् रामकृष्णयोः तस्मिन् निवसतोः स्वच्छाम्बु अपरुषानिला व्यभ्रा शरद् समभवत् ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अथ शरदं वर्णयति एवं निवसतोरित्यष्टादशभिः विगतान्यभ्राणि यस्यां सा । स्वच्छान्यंबूनि यस्यां सा अपरुषः शांतोऽनिलो यस्यां सा च सा च ॥३०॥ नीरजानामुत्पत्तिर्यया तया शरदा कृत्वा । नीरजानामुत्पत्त्या वा ॥३१॥ व्योम्नोऽब्दमिति । व्योमादीनां चतुर्णां चतुरो मलान् शरदहरत् । आश्रमिणां चतुर्णां कृष्णे जाता भक्तिर्यथाऽशुभमसुखं हरति । तथाहि । ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थोदकाहरणादिकष्टं यथा भक्तिर्हरति तया पूर्णस्य तेनानुपयोगात् गुरुभिरपि कृतार्थस्य तस्यानियोगात् एवं व्योम्नोऽब्दं जलदं शरज्जहार । यथा च गृहिणोपत्यादिसांकर्यं भक्तिर्हरति विविक्तवासरुच्युत्पत्तेः । तथाभूतानां शाबल्यं सांकर्यं शरत् । वर्षासु वृष्टिभिय। संकुलानि वसंति यथा च वनस्थस्य मलधारणक्लेशं भक्तिर्हरति एवं भुवः पंकं शरत् । यथा च यतीनां कामादिवासनामलं श्रीकृष्णभक्तिर्हरति एवमपां मलं शरदिति ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ताम् पूर्वोक्ताम् । आत्मशक्त्या माययोपबृंहिताम् ॥ २९ ॥ अपरुषोऽनिष्ठुरः ॥ ३० ॥ प्रकृतिम् स्वरूपं स्वाच्छ्यम् 'संसिद्धिप्रकृती त्विमे । स्वरूपं च स्वभावश्च निसर्गश्च' इत्यमरः ॥ ३१ ॥ शरत् ऋतुः 'अब्दर्त्तू शरदौ स्त्रियाम्' इति कोशात् । आश्रमिणाम् ब्रह्मचार्यादीनाम् । तया भक्त्या । तेन गुर्वर्थोदकाहरणेन । अनुपयोगात् उपयोगाभावात् । तस्य शिष्यस्य । अनियोगात् क्षनाज्ञापनात् । "यावन्मां न विजानीयात्तात्परिचरेद्गुरुम्" इत्याद्युक्तेः । "अकृतार्थं नियुंजीत कृतार्थं तु क्वचिन्मुनिः" इत्युक्तेश्च । अपो ददातीत्यब्दो मेघस्तम् । अपत्यादिभिः सांकर्यं संपर्कम् । "शबलश्चित्रवर्णे ना गवि स्त्री संकरे त्रिषु" इति धरणिः । संकुला मिलिताः । मद्भक्तस्तु 'चरेदविधिगोचरः' इत्युक्तेर्भक्तस्य मलधारणादेरनावश्यकत्वात् । एवं भक्तिवत् । यतीनाम् । संन्यासिनाम् । एतेन हरिभक्तिशून्याः संन्यासिनोऽपि कामादिभिस्ताड्यन्त इति भावः । "तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्" इति पृथुं प्रति सनत्कुमारोक्तेः ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

उपानीतं स्वगृहजनैर्बान्धवजनैर्वा समीपं प्रापितं सम्भोजनीयैः सह भोजयितव्यैः सजातीयैः सह संवासादिशब्दवत् संशब्दोऽत्र सहार्थः सम्भुज्यते एभिरिति तैस्तैमनैः सहेति वा सङ्कर्षण इति तत्र सर्वमेलनाभिप्रायेण ॥ २९ ॥ शाद्वलेति युग्मकम् । चर्वतः रोमन्थायमानान् निरीक्ष्येति परेणान्वयः ॥ ३० ॥ तत्रापि स्वलीलायोग्यतापादनार्थमात्मशक्त्याह्लादिनी नाम्न्या उपबृंहिताम् अतः पूजयाञ्चक्रे साध्वमन्यत अन्यच्च तच्च क्रीडादिकम् उक्तं पराशरेण "उन्मत्तशिखिसारङ्गे तस्मिन् काले महावने । कृष्णरामौ मुदयुक्तौ गोपालैः सह चेरतुः ॥ क्वचिद्गोभिः समं रम्यं गेयतालरतावुभौ । चेरतुः क्वचिदत्यर्थं शीतवृक्षतलाश्रये । क्वचित्कदम्बस्रक्चित्रौ मायूरस्रगलङ्कृतौ । विचित्रौ क्वचिदासातां विविधैर्गिरिधातुभिः । पर्णशय्यासुसुप्तौ च क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ । क्वचिद्गर्जति जीमूते हाहाकारवर्षिणौ" इति ॥ ३१ ॥ एवमुक्तप्रावृट्क्रीडाविशेषेण तत्र व्रजे नितरां परमासक्त्या वसतोः सतोरिति तत्र शरच्छ्रीविशेषसम्पत्तिहेतुरुक्तः अतः सम्यक् अभवत् ॥ ३२ ॥

---

१. दध्योदनं समानीतं ; दध्योदनमुपानीतं—वीर. विज. विश्व. । २. वृषा-वत्सान्वत्सतरान्–विज. ; दृप्तान्वृषान्वत्स–वीर. । ३. स्वोध्नो भर.–गो. प्रे. टी. । ४. मुदावहाम्–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. श्चक्रे–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ६. स्तत्र–विज. ।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

दध्योदनमिति–तदानीं तस्य प्राचुर्य्यान्मिष्टत्वाच्च, उपानीतं श्रीयशोदान्यस्तं गोपैर्यथाकालमन्तिके प्रापितं निजनिजं वोपायनत्वेन समर्थितम्; तस्य च मासृण्यार्थंदधिप्राचुर्य्यात्, वृष्ट्या च शिलानैर्म्मल्यापादनेन सौन्दर्य्यात्, शिलायां पात्रे बुभुजे सलिलान्तिक इति। तदानीं यत्र तत्र जलसद्भावात्, किंवा जलपानापेक्षया सलिलान्तिके वर्त्तमानायामित्यर्थः। सम्भोजनीयैरेकत्रैव भोजनयोग्यैरिति एकस्यामेव शिलायां तैः सह भोजनात्, तांस्तु सर्व्वानेकत्रैवोपवेश्य श्रीरामोऽमेल्यदित्यभिप्रायेणाह–गोपैः सहापृथक्त्वात्तान् सर्व्वानेवीकरोतीति संकर्षणस्तेनान्वित इति! यद्वा, शिलायामिति जातावेकत्वं शिलास्वित्यर्थः, बहूनामेकस्यामसमावेशात्; ततश्च सम्भोजनीयैरिति पूर्व्ववत्, परितः पङ्क्तिशस्तान् मध्ये च श्रीबलराममुपवेश्य स्वयं परिवेषयन् सम्यग्भोजयन् बुभुज इत्यर्थः॥ २९॥ चर्व्वतो रोमन्थायमानान् वीक्ष्येति परेणान्वयः। संवेशादौ हेतुः–तृप्तानिति। तदानीं सर्व्वत्रैव कोमलतृणप्राचुर्य्येनैकत्रैव क्षणेनोदरपरिपूर्त्तिसुखसिद्धेः। चकार उक्तसमुच्चये, तेन तासामपि संवेशादिकं ज्ञेयम्। विशेषतस्तासां संवेशे हेतुः–स्वेति। एवं वृषादीनां यथोत्तरं संवेशादावाधिक्यमूह्यम्, प्राधान्याद्वृषादयोऽत्रोक्ता महिष्यादयाश्च ज्ञेयाः॥ ३०॥ तामुक्तां प्रावृषः श्रियं वनादिशोभाम्, यद्वा, तामनिर्व्वचनीयां प्रावृषः श्रियम्, ततश्च वनादिश्रीः प्रावृष्युपचर्य्यते, इत्यनुक्ताप्यन्या मृगमहिष्या शोभा ग्राह्या, तत्र किञ्चच्छ्रीविष्णुपुराणे (५।६।४२)–'मेघपृष्ठे बलाकानां रराज विमला ततिः। दुर्वृत्तेवृत्तचेष्टेव कुलीनस्यातिशोभना॥' इत्यात्मनः श्रीभगवतः शक्तिः कालरूपा, तयोपबृंहितां सम्वर्द्धितामित्यन्तो विशिष्टतां तथा कालस्यापि तत्र श्रीभगवत्सेवापरतां बोधयति। यद्वा, स्वसामर्थ्येनोपबृंहितामपि पूजयाञ्चक्रे, प्रीत्याऽश्लाघत, साध्वमन्यतेति वा। यतः सर्व्वेषामेव भूतानां प्राणिनां मुदमावहति, अविच्छेदेन प्रापयतीति तथा ताम्। सुखेति पाठेऽपि स एवार्थः, यद्वा, हंसाजादीनां प्रावृषि दुःखमाशंक्य तत्परिहारार्थमाह–स्वसामर्थ्यविशेषेणोपबृंहितामिति। अतस्तेषामपि सुखमभूदिति भावः। अन्यच्च तत्तत्क्रीड़ादिकमुक्तं श्रीपराशरेण (५।६।४५–४८)—

'उन्मत्तशिखिसारंगे तस्मिन् काले महावने। कृष्णरामौ मुदा युक्तौ गोपालैः सह चेरतुः॥
क्वचिद्गोपैः समं रम्यं ज्ञेयनृत्यरतावुभौ। चेरतुः क्वचिदत्यर्थं शीतवृक्षतलाश्रयौ॥
क्वचित् कदम्बस्रक्चित्रौ मायूरस्रगलंकृतौ। विचित्रौ क्वचिदासातां विविधैर्गिरिधातुभिः॥
पर्णशय्यासुषुप्तौ च क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ। क्वचिद्गर्ज्जति जीमूते हाहाकारवेषिणौ॥' इत्यादि।

एवमुक्तप्रावृट्क्रीड़ाविशेषेण तत्र व्रजे नितरां परमासक्त्या वसतोरिति तत्र शरच्छ्रीविशेषसम्पत्तिहेतुरुक्तः, अतः सम्यगभवत्॥ ३२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कदाचित्गृहादानीतं दध्यन्नं सलिलसमीपे स्थितायां शिलायां पात्रभूतायां सह भोजनीयैः गोपैः सह बुभुजे॥ २९॥ क्वचित् शाद्वलोपरि हरिततृणाकीर्णप्रदेशे उपविश्य वृषादीन् वीक्ष्य भगवान् सर्वभूतानां मुदमावहतीति तथा तामात्मशक्त्या स्वसङ्कल्पात्मिकया उपबृंहितां प्रवर्द्धितां तां प्रावृट्श्रियं पूजयाञ्चक्रे बह्वमन्यतेत्यन्वयः। चवंतो मोल्तिेक्षणान् हृष्टानिति च वृषानित्यस्य विशेषणं चवंतः तृणानि खादतः मीलितानीक्षणानि यैस्तान् हृष्टान् गर्वितान् स्वोधसां भरेण भारेण श्रमो यासां ता गाश्च॥ ३०–३१॥ अथ शरदागममाह–एवमिति। तस्मिन् व्रजे इत्थं निवसतोः रामकेशवयोः शरत्समभवत् सम्यक् प्रवर्त्तत, कथम्भूता? विगतान्यभ्राणि यस्यां स्वच्छान्यम्बूनि यस्यामपुरुषः सुखस्पर्शोऽनिलो वायुर्यस्यां ततस्त्रयाणां कर्मधारयः॥ ३२॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सम्भोजनीयैः सह भोक्तव्यैः॥ २९–३०॥ आत्मशक्त्युपबृंहितां सम्वर्धिताम्॥ ३१॥ व्यभ्रा विगतमेघा स्वच्छाम्बुतस्य विप्लुषितेन विप्लुषा बिन्दुना युतः अनिलः स्वच्छाम्बुप्लुषितानिलः स यस्यां सा तथा॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तत्रापि स्वलीलायोग्यायोग्यतापादनार्थमात्मशक्त्या ह्लादिनीनाम्न्या उपबृंहिताम्॥ ३१–३३॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

उपानीतं छाक इत्यख्यया प्रसिद्धं गृहजनैः प्रापितं शिलायां सलिलान्तिक इत्यद्यापि कुण्डतटे भोजनस्थाल्यो दृश्यात् सर्वैरपि जनैः॥ २९–३१॥ शरदं वर्णयति—एवं निवसतोरित्यष्टादशभिः। स्वच्छान्यम्बूनि यस्याम् अपरुषोऽनिलो यस्यां सा च सा च सा॥ ३२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

मीलितेक्षणशब्दोऽपि लिङ्गविपरिणामेन योज्य वृषान् वत्सतरान् मीलितेक्षणान् गाश्च मीलितेक्षणाः वीक्ष्य प्रावृट्श्रियं पूजयाञ्चक्र इति द्वयोरन्वयः ॥ ३०-३१ ॥ अथाष्टदशभिः शरदं वर्णयति-एवमिति । शरत् समभवत् सम्यक् प्रावर्त्तत कथंभूता व्यभ्रा विगतान्यभ्राणि यस्यां सा स्वच्छानि निर्मलान्यम्बूनि यस्याम् अपरुषः मृदुस्पर्शोऽनिलो यस्यां सा च सा च सा च तथा ।३२॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उपानीतं गृहजनैः प्रापितः सम्भोजनीयैः सहभोजयितव्यैर्ज्ञातिभिः सहः संवादशब्दवत् समिति सहार्थकं सलिलान्तिके शिलायामुपविश्य ॥ २९ ॥ चर्वतो रोमन्थायमानात् अत्र पश्यन्निति शेषः । बुभुजे इति पूर्वस्येनानुषङ्गः ॥ ३० ॥ आत्मशक्त्या ह्लादिन्या उपबृंहितां योषितां पूजयाञ्चक्रे श्लाघितवान् ॥ ३१ ॥ अथ शरदृतुं वर्णयति—एवमित्याद्यष्टादशभिः स्वच्छान्यम्बूनि यस्यां अपरुषोऽनिलो यस्यां सा च सा च सा ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भगवानात्मशक्त्युपबृंहितां स्वसामर्थ्योत्तेजितां सर्वभूतमुदावहां प्रावृषः श्रियं च वीक्ष्य तां पूजयाञ्चक्रे पदद्वन्द्वं । परन्तु नियतोऽनुप्रयोगः । तं पातया प्रथमासुरित्यादयस्त्वपभ्रंशा इति शेखराद्याकराः । चकारो वीक्ष्येत्यतीतश्लोकेऽन्वेतव्यमिति सूचयति ॥ २९ ॥ व्रजे एवं निवसतो रामकेशवयोः सतोर्व्यभ्रा विगतान्यभ्राणि मेघा यस्यां सा स्वच्छानि निर्मलान्यम्बूनि जलानि तेषां विप्लुड्भिर्बिन्दुभिरितो युतोऽनिलो वायुर्यस्याः सा विप्लुषाः सञ्जाता अस्येति विप्लुषितः । विप्लुडित इत्यत एव नेति जेदं । शरदृतुः समभवत्प्रादुरभूत् ॥ ३० ॥ भ्रष्टानां योगभ्रष्टानां चेतांसि मनांसि शुकर्मवशात्पुनर्योगनिषेवया योगाभ्यासेन प्रकृतिं यान्तीव । प्राग्वार्युपरि वीथीपथोभिः कश्मलानि जलानि नीरजानां कमलादीनामुत्पत्त्या शारद्या शरत्सम्बन्धिन्या प्रकृतिं नैर्मल्यं ययुः प्रापुः ॥ ३१ ॥ आश्रमिणां प्रशस्ताश्रमचतुष्टयवतां कृष्णभक्तिः कृष्णसम्बन्धिनो भक्तिरशुभममङ्गलं भाव्यन्तरापतितेन दुष्कर्मणा हरति तथा व्योम्नो गगनाद्वन्द्वं मेघसङ्घमभ्राणां शावल्यं चित्रतां भुवः पङ्कमपां मलं च शरज्जहार ॥ ३२॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतो लीलामाह दध्योदनमिति, गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा तदानीमुपनीतं दध्योदनं शिलायां पर्वतसानुनि स्थूल आच्छन्नमेघे वर्षति सति सलिलसमीप एव जलार्थमन्यत्र गमनाभावाय सम्भोजनीयैः सजातीयैर्गोपैः सङ्कर्षणेन चान्वितो बुभुजे, एतद् भोजनं प्रावृषि तस्याः स्वसम्पत्तित्वख्यापनार्थं, अन्ये च गोपाला भिन्नतया बुभुजुर्बलभद्रेण सह फलाहारो वा ॥ २९ ॥ ननु गोपु विद्यमानासु ताभ्योदत्वा कथं भगवान् बुभुज इतिशङ्कां वारयति शाद्वलोपरीति, शाद्वलं हरिततृणवद् भूस्तत्र संविश्य चर्वतो रोमन्थं कुर्वाणान् तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च ददृश इतिसम्बन्धः, रोमन्थसमये न तेभ्यो देयं, त्रिविधा गणिताः, तत्र गोग्रासो देय इत्यधिकशङ्कायामाह स्वोधोभरश्रमा इति, स्वस्योधसो भरेण श्रमो यासां, एव सर्वेषां भोजनपानशयनविहारा निरूपिताः ॥ ३० ॥ एतादृशस्य वनस्य भगवत्कृतमभिनन्दनमाह प्रावट्श्रियमिति, आधिदैविकी प्रावृट्श्रीः स्वकीया तत्र समागता, आधिदैविकीमपि तां वीक्ष्य भगवान् पूजयाञ्चक्रे, पूजायां हेतुत्रयं, सर्वभूतसुखावहत्वमात्मनो यावत्यः शक्तयस्ताभिरुपबृंहितत्वं चकारसूचितामाधिदैविकरूपत्वञ्च, तस्यां क्रीडित्वा तस्या अभिनन्दनं कृतवान् ॥३१॥ इदानीं पूर्वलीलामुपसंहरन् लीलान्तरकथनार्थं शरद्वर्णनमाहैवमित्यष्टादशभिः, सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिरेकेन सप्तदशभिस्तत्कार्याणि, तत्र प्रथमं तस्याः प्रवृत्तिमाह, एवं लीलां कुर्वाणयोस्तस्मिन्नेवं वने निवसतो रामकेशवयोः सतोर्व्रजे च निवसतोः शरत् समभवत्, वर्षासु भगवान् रेम इति ज्ञात्वा शरदपि समागता मय्यपि रंस्यत इति, तस्या वर्षातो वैलक्षण्यमाह व्यभ्रेति, वर्षायां गुणत्रयमुक्तं "मेघा विद्युत् स्तनयित्नव" इति तथास्या अपि गुणत्रयमाहाभ्राभावो जलगतमलनिवृत्तिर्वायोः परुषत्वनिवृत्तिश्चेति, अनेन तदपेक्षया अस्या उत्तमत्वमुच्यते, सा हि प्रवृत्तिधर्मरूपेयं निवृत्तिधर्मरूपा, उपर्याकाशनैर्मल्यमधो जलनैर्मल्यं परितो वायुनैर्मल्यमिति यथा प्रवृत्तावुत्पत्तिर्मुख्या तदपेक्षयोत्पत्त्या नैर्मल्यं मुख्यं भूम्यपेक्षया जलं महत् परिध्यपेक्षया च वायुः, अत एवास्यां भगवान् रतिं करिष्यतीति, स्त्रीणामानन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

शरद्वर्णने सा हि प्रवृत्तिरूपेत्यादि । प्रवृत्तौ मालिन्यं निवृत्तौ नैर्मल्यं भवतीत्येतद्धर्मसाम्यादेवमुक्तम् । व्रजेपि लीलारूपञ्चेव गोचारणकृष्याादिषु सक्ताः केचन भक्ताः, सर्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वरूपमात्रपराः केचन । तथा च विशेषस्तत्तदुपयोगित्वेनापि तथात्वमभिप्रेतम् । तेनात्र प्रवृत्तिनिवृत्ती लीलारूपे ज्ञेये । कारिकाप्रतिश्लोकार्थोक्तौ जलानामित्यारभ्य गोपिकानामित्यन्तेन दशवाक्यानामर्थमुक्त्वाप्यचित्तस्यापीत्यनेनैकस्यार्थमुक्त्वाग्रिमवाक्यानामर्थो भगशब्दार्थो इति सर्वानिशोभयदित्यनेनोक्त्वा गुणरूपत्वेनैव चन्द्रादयो निरूपिता इत्याहुश्चन्द्रमानवा इत्यादिना ॥ ३२ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

दध्योदनमित्यत्र सजातीयैरिति परोक्षवादे भक्तैरित्यर्थः, अत्र श्रीशक्तिः स्वसम्पत्तित्वख्यापनार्थमितिसुबोधिन्युक्तेः ॥ २९ ॥ शाद्वलेत्यत्र यशःशक्तिर्ज्ञेयोधोभारस्यात्यन्ततृप्तिकार्यत्वेन सूचितत्वाद् गोग्रासदानेप्यग्रहणान् न तद्दानमित्यपि ज्ञेयम् ॥ ३० ॥ एवं निवसतोरित्यनेनेति वर्षाविलक्षणगुणत्रयकथनेन, तदुपपादयन्ति सा हि प्रवृत्तिधर्मरूपेत्यादि, एतद्रूपत्वं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति प्रवृत्तावित्यादि, तथात्वमिति प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्व, सुबोधिन्यामुत्पत्तिर्मुख्येति भूमिगुणरूपा सर्वजीवोत्पत्तिर्वर्षासु लीलोपयोगिनी, उत्पत्त्या नैर्मल्यमिति स्वभावत आकाशनैर्मल्यं शरदि लीलोपयोगि, जलं महदिति क्रीडोपयोगित्वात् महत्, परिध्यपेक्षयेति परिधिविद्योतने दृष्टिसुखमात्रं वायुनैर्मल्ये तु स्पर्शसुखमपीति क्रीडोपयोगित्वात् तथेत्यर्थः, अत्र गमकमाहुरत एवेत्यादि त्रिविधनैर्मल्येन क्रीडोपयोगित्वादेव भगवानित्यादिनोक्तं सेत्स्यतीत्येतदेव तद्गमकमित्यर्थः, जलानामित्यादिकारिकासु श्लोकान् विभज्य तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः प्रतिश्लोकेत्यादि, गुणरूपत्वेनेति भगवद्गुणरूपत्वेन, सुबोधिन्यां कारिकासु विमुक्तिनामिति विमुक्तमस्यास्तीति विमुक्ती तेषां, कार्यमेतावदिति शुद्धिलक्षणं, तत्र हेतुर्भगवानित्यादि ॥ ३२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

दध्योदनमित्यत्र भोजनक्रियायां गोपानां सहभाव उक्तः, सङ्कर्षणेन सह स्थितिमात्रमुक्तं तत्तात्पर्यं प्रथमपक्षे विशदं न जातमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरन्ये चेति, भिन्नतयेति भिन्नपात्रे इत्यर्थः, सम्भोजनीयत्वस्य तावन्मात्रेणैव सिद्धेरितिभावः, बलभद्रेण सह तु फलाहारः पूर्वश्लोके उक्त एव, अतोत्र सहस्थितिमात्रमुक्तमित्यर्थः ॥ २९ ॥ एवं निवसतोरित्यत्र वर्षास्विति "वर्षा ऋतूना"मित्यादिवाक्येभ्यो बहुत्वं प्रमाणसिद्धमितिभावः, उत्पत्तिर्मुख्येति विस्फूर्जनस्य रजोरूपत्वं पूर्वमुक्तमतो विस्फूर्जनस्योत्पत्तित्वं, सर्वसत्त्वेत्यनेन पूर्वं भूमिरुक्तेति ज्ञेयं, अत एवेति उत्तमत्वादेवेत्यर्थः, उत्तमत्वाद् रतिकरणमतः स्थ्यानन्दप्रतिष्ठा, तदाऽशुद्धिसम्भावनया शुद्धिर्बोधनीयेत्यतः सङ्ख्यातात्पर्येण सा बोधितेत्यर्थः, प्रवृत्तिरिति वक्तव्येतिशेषः, षोडशेति मनसः षोडशकलत्वात् तत्सहितस्येत्यर्थः, कारिकान्ते एतावदिति भगवत्कृता सर्वशोभेत्यर्थः, तत्र शरदः प्रयोजकत्वात् तत्कार्यत्वम् ॥ ३२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

दध्योदनमित्यस्य विवृत्तौ गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा तदानीमुपनीतमिति णीञ् प्रापणे इत्यस्य धातोः प्रयोज्यकर्तृव्यापाररूपनयनार्थकत्वमादाय गोपैर्गोपिकाभिरित्युक्तं, प्रयोजककर्तृव्यापाररूपप्रेषणात्मकनयनार्थकत्वमादाय यशोदया रोहिण्या वेत्युक्त, तथा च प्रयोजककर्त्र्या श्रीयशोदया रोहिण्या वा प्रेषितं प्रयोज्यकर्तृभिर्गोपैः प्रयोज्यकर्त्रीभिर्गोपिकाभिर्वा तत्र भगवन्निकटे प्रापितमेतावानर्थ उपानीतपदस्येतिवोद्धव्यम् ॥ २९ ॥ प्रावृट्श्रियमित्यस्य विवरणे आत्मनो यावत्यः शक्तय इति इह शक्तिपदेन परोक्षरीत्या व्रजस्त्रीरत्नान्येव ग्राह्याणि, "पुरुषः शक्तिभिर्य"ति शक्तिदृष्टान्तेन तासां भगवच्छक्तिरूपतायाः श्रीशुकैरुक्तत्वात्, अत एवाग्रिमेष्टादशाध्याये "अत्रापि पूर्ववदाधिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्ये"ति वक्ष्यन्ति "पूर्ववत्" वर्षर्तुवत् इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ शरत् समभवद् व्यभ्रे'त्यस्य व्याकृतौ अत एव अस्यां भगवान् रतिमिति साधनसिद्धव्रजसुन्दरीणां फलप्रकरणोक्तां फलरूपां रासक्रीडादिरूपां रतिमित्यर्थः, सामान्यतो रतिस्त्वत्राप्यस्तीतिभावः ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सङ्कर्षणेनान्वितः सहितः श्रीकृष्णः सम्भोजनीयैः सह भोजनयोग्यैः सखिभिर्गोपैः सह सलिलस्यान्तिके समीपे शिलायामुपविश्य गृहादुपानीतं दध्योदनं बुभुजे ॥ २९ ॥ शाद्वलं हरिततृणविशिष्टो देशः । तदुपरि संविश्य चर्वतो वृषादीन् तथा तां वृन्दावनस्थामत्यपूर्वां प्रावृट्श्रियं च वीक्ष्य भगवान् तां पूजयांचक्रे बहुमन्यतेति द्वयोरन्वयः । तेषामुपवेशे हेतुमाह—तृप्तानिति यथेष्टचरणेन तृप्तान् । अत एव सुखेन मीलितेक्षणान् ॥ ३० ॥ श्रियोऽपूर्वत्वमेवाह—सर्वभूतमुदावहामिति । सर्वप्राणिनां परमानन्दजनिकामित्यर्थः। तत्र हेतुमाह—आत्मनः शक्त्या आह्लादनीनाम्न्या उपबृंहितां संवर्द्धितामित्यर्थः ॥ ३१ ॥ एवं प्रावृट्क्रीडां निरूप्य शरच्छियमनुवर्णयति—एवमित्यष्टादशभिः । एवं क्रीडापरत्वेन तस्मिन् व्रजे रामकृष्णयोर्निवसतोः सतोः शरत् समभवत् । तां वर्णयति—विगतानि अभ्राणि यस्यां सा । स्वच्छानि अम्बूनि यस्याम्, अपरुषः शान्तोऽनिलो यस्यां सा च सा च ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

दध्नीति ॥ सङ्कर्षणेनान्वितः सहितः श्रीकृष्णः संभोजनीयैः सह भोजनयोग्यैः सखिभिर्गोपैः सलिलस्यान्तिके समीपे शिलायामुपविश्य गृहादुपानीतं दध्योदनं बुभुजे । अद्यापि कुण्डतटे भोजनस्थल्यो लोकैर्दृश्यन्ते ॥ २९ ॥ शाद्वलेति द्वयम् ॥ शाद्वलं हरिततृणविशिष्टो देशः तदुपरि संविश्य तृणं रोमन्थेन चर्वतः तृप्तान् मीलितेक्षणान् वृषान् वत्सतरान् दम्यान् स्वस्य ऊधसो भारेण श्रमो यासां ताः गाश्च वीक्ष्य तथा सर्वभूतानां मुदावहाम् आत्मनः शक्त्या आह्लादनीनाम्न्या उपबृंहितां संवर्द्धितां तां प्रावृट्श्रियं च वीक्ष्य भगवान् तां पूजयांचक्रे बहुमन्यत ॥ ३०-३१ ॥ एवमिति ॥ एवं क्रीडापरत्वेन तस्मिन् व्रजे रामकेशवयोर्निवसतोः सतोः विगतानि अभ्राणि यस्यां स्वच्छानि अम्बूनि यस्याम् अपरुषः शान्तः अनिलो यस्यां सा च सा च शरत्समभवत् ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

संभोजनीयैः संभोजयितुमर्हैः ।। २९ ।। शारदाः हरिततृणानि विद्यंते यस्यां सा शाद्वला भूमिस्तस्या उपरि भक्षिततृणा पुनश्चर्वतो वृषादीन् संविश्य स्थापयित्वा सम्यक् ऊधोसंभारेण श्रमो यासां भारेण श्रमो यासां ताः गाः ।। ३० ।। आत्मशक्त्या स्वकालशक्त्या उपबृंहितां बृंहिप्रापितां ।। ३१ ।। इदानीमध्यायशेषेण शरच्छोभां वर्णयन्नाह एवमिति व्यभ्रा अभ्रवंजिता स्वच्छं निर्मलजला चासौ अपुरुषानिलाशांतवाता च शरत् ।। ३२ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दध्योदनमिति ।। कदाचिदिति शेषः । उपानीतं स्वगृहादानीतं, दध्योदनं दधिसहितं भक्तं, सलिलान्तिके स्वच्छजलीय-समीपे, शिलायां पात्रभूतायां, संकर्षणान्वितः भगवान्, संभोजनीयैः सहभोक्तव्यैः, गोपैः सह, बुभुजे ॥ २९ ।। शाद्वलोपरीति ॥ प्रावृडिति च ।। क्वचित् शाद्वलोपरि हरिततृणाकीर्णप्रदेशे, संविश्य उपविश्य, चर्वतो रोमन्थं कुर्वाणान्, मीलिते ईक्षणे येषां तान्, तृप्तान् वृषान्, वत्सतरान्, स्वोधोभरेण स्वापीनभारेण श्रमो यासां तास्ताः, गाश्च वीक्ष्य, भगवान्, सर्वेषां भूतानां मुदमावहतीति तां, आत्मशक्त्या स्वसंकल्पात्मिकया शक्त्या उपबृंहितां प्रवृद्धिं गतां तां, प्रावृट्श्रियं वर्षर्त्तुलक्ष्मीं च वीक्ष्य, पूजयांचक्रे बहुमन्यत । इति द्वयोरेकान्वयः ।। ३०–३१ ।। अथ शरदागममाह ।। एवमिति ।। तस्मिन् प्रसिद्धे व्रजे, एवमित्थं, निवसतोः रामकेशवयोः, विगतान्यभ्राणि यस्यां सा, स्वच्छान्यम्बूनि यस्यां सा अपरुषः सुखस्पर्शः अनिलो वायुर्यस्यां सा च सा च, शरत् शरदृतुः, समभवत् प्रावर्त्तत ।। ३२ ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दध्योदनमिति । १०.२०.२९.

क्वचित्स्वयं चापि सुयोगयुक् प्रभुर्जडेऽप्यतिस्वच्छरसेऽतिनिर्मले ।
सहाप जीवैरनुसारभोजिभिर्भुङ्क्ते स्वसत्त्वं स्विति स व्यबोधयत् ।। ३९ ।।

तत्त्वज्ञाद् योगिवर्यादपि भवविपिने प्रीतिदं भूरि मन्ये भक्तं प्रेमामृताक्तं जडमपि हृदयं भक्तिभाजां तवास्मिन् ।
स्पष्टं चैतद् गुहायां तरुवरविवरे कन्दमूलादिवाह्ये श्रीश त्वं भुक्तवानस्यभिलषितमलं चारुदध्योदनं यत् ॥ ४० ॥

शाद्वलेति । १०.२०.३०.

युक्तमक्षीणि सम्मील्य योगिनोऽच्युतचिन्तकाः । चित्रमत्र तु संयुक्ता गावोऽप्यासंस्तथाविधाः ।। ४१ ।।

प्रावृट्श्रियमिति । १०.२०.३१.

सूर्यादिद्विजरोधिनीं जडमयीमत्यन्तपङ्कोद्भवां प्रायः पङ्किलजीवनां कलिमिव प्रावृट्श्रियं श्रीपतिः ।
अस्त्येषाऽपि समस्तमामकविभूत्यन्तर्गतेति प्रभुर्लीलालम्बित-चारुदेहवसितस्तां पूजितामादधे ।। ४२ ।।
भूयः सत्सुखहा निदाघसमयोऽप्यासीद्वसन्ताधिकश्रीः श्रीमाधवनीरदोदित-कृपासारामृतासारतः ।
एषा तु स्फुटमेव सत्सुखगतिर्नित्यामृतेड्यावरा गोपीवन्नयनोत्सवाय समभूत् प्रावृट् तदेतत्क्षमम् ।। ४३ ।।
कान्तोल्लासि भुजङ्गमञ्जुशयनो यः पल्लवालङ्कृतो राकोत्फुल्लतनुकूलगतिमत्सौगन्ध्यरम्यस्थितिः ।
यां सोऽपि प्रसमीक्ष्य सत्त्वविभवां चित्राम्बरां माधवः सर्वर्तुप्रभुरुत्सुको यदभवत्तत्प्रावृडीड्योचिता ।। ४४ ।।
श्रीगोविन्दहगद्वनिः सृतकृपापीयूष-सिताङ्कगाः पाला एव न केवलं सपशवोऽस्तापाश्च जातास्तदा ।
किन्त्वद्रिद्रुमवीरुदश्म-विपिनारामाभिरामाऽवनिः सर्वाऽऽसीत् सरसेत्यबोधि मुनिना प्रावृट्प्रशंसाकृता ।। ४५ ।।
कृत्वा कृष्णकृपामपारसुखदां दावाग्नितापापहां भक्तान् यत्सुर सार्थवृद्धिविभवैः पुष्णासि तृष्णाकुलान् ।
एतत् त्वद्व्रतपालनैक-निपुणप्रज्ञं स यज्ञोद्भवं पर्जन्यं यदवर्णयन् मुनिरिदं युक्तं न को वा वदेत् ।। ४६ ।।

मधुहाऽपि माधवोऽसौ श्रावणरसदो बभूव चित्रमिदम् । निर्मल-गोकुलभाजां चित्रान्तरमपि यदा स भाद्रपदः ।। ४७ ।।
पङ्को वा कीर्तिर्वा वसुविनियोगाद्यथा कलौ भवति । नान्ययुगेषु तथेति प्रायोऽन्तिमयुगमरूपि तन्मिषतः ।। ४८ ।।

एवं व्यङ्ग्यपथा चतुर्युगगतिं प्रादर्श्य भूयः कृताद्यारम्भं प्रविवक्षुणा च मुनिना प्रायः शरद्वर्णनम् ।
तत्तद्धर्मनिदर्शनार्थविलसद्-दृष्टान्तजातं समारब्धं भाति सुधीभिरप्यनुपदं द्रष्टव्यमीर्ष्योज्झितम् ।। ४९ ।।

शरदिति : १०.२०.३२.

नास्त्यधुना मेघांशः पृथक् पृथग् वागुदेति निखिलमुखात् । स्पष्टं यदा तदैव कृतयुगसंस्थेत्यभूत् स्फुटं शरदि ।। ५० ।।
यदा विष्णुपदं भाति शुद्धं भूतगणस्तथा । तत एव स्फुटं ज्ञेया कृतादि-त्रियुगस्थितिः ।। ५१ ।।

कृष्णप्रिया

कभी जल के पास ही किसी चट्टान पर बैठ जाते और बलरामजी तथा ग्वाल-बालों के साथ मिलकर घर से लाया हुआ दही-भात आदि के साथ खाते ॥ २९ ॥ वर्षा ऋतु में बैल, बछड़े और थनों के भारी भार से थकी हुई गौएँ थोड़ी ही देर में भरपेट घास चर लेती और हरी-हरी घास पर जुगाली करती रहती, वर्षा ऋतु की सुन्दरता अपार थी वह सभी प्राणियों को सुख पहुँचा रही थी इसमें सन्देह नहीं कि वह ऋतु, गाय, बैल, बछड़े सब के सब भगवान की लीला के ही विलास थे फिर भी उन्हें देखकर भगवान बहुत प्रसन्न होते और बार-बार उनकी प्रशंसा करते ॥ ३०–३१ ॥ इस प्रकार श्याम और बलराम बड़े आनन्द से व्रज में निवास कर रहे थे। इसी समय वर्षा बीतने पर शरद ऋतु आ गई। अब आकाश में बादल नहीं रहे, जल निर्मल हो गया, वायु बड़ी धीमी गति से चलने लगी ॥ ३२ ॥

[1]शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः। [2]भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥ ३३ ॥
व्योम्नोऽब्दं [3]भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम्। शरज्जहाराश्रिणां [4]कृष्णेभक्तिर्यथाशुभम् ॥ ३४ ॥
सर्वस्वं जलदा हित्वा [5]विरेजुः शुभ्रवर्चसः। यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः[6] ॥ ३५ ॥
गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः [7]शिवम्। यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नीरजोत्पत्त्या शरदा नीराणि, योगनिषेवया भ्रष्टानाम् चेतांसि इव पुनः प्रकृतिम् ययुः ॥ ३३ ॥ कृष्णे भक्तिः आश्रमिणाम् अशुभम् हरति, तथा शरद् व्योम्नः अब्दम् भूतशाबल्यम् भुवः पङ्कम्, अपाम् मलम् जहार ॥ ३४ ॥ त्यक्तैषणाः मुक्तकिल्बिषाः शान्ताः मुनयः यथा शुभ्रवर्चसः भवन्ति तथा जलदाः सर्वस्वम् हित्वा शुभ्रवर्चसः विरेजुः ॥ ३५ ॥ ज्ञानिनः ज्ञानामृतम् यथा काले ददते, न, वा ददते, तथा, गिरयः क्वचित् शिवम् तोयम् मुमुचुः क्वचित् न मुमुचुः ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्यक्तैषणाः त्यक्ताः पुत्रवित्तलोकैषणा यैस्ते ॥ ३३ ॥ गिरय इति। अयं भावः। न ह्यु पाध्यायाः कर्मविद्यामिव ज्ञानिनो ज्ञानामृतं सर्वतो वितरंत्यपि तु कृपया क्वचिदेव। एवं गिरयः शिवं निर्मलं तोयं क्वचिन्मुमुचुः क्वचिन्न। न पुनः प्रावृषीव सर्वत इति ॥ ३४ ॥ गाधे क्षुद्रे जले चरंतीति तथा ते मीनादयः ॥ ३५ ॥ अविदन् लेभिरे ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सर्वस्वम् सर्वेषां स्वं धनं धनोत्पादकं जलम्, जलादेव सर्वधनोत्पत्तेः प्रसिद्धत्वात्। शुभ्रवर्चसः शुक्लवर्णाः 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेत –' इत्याद्यमरोक्तेः। "वर्चो नपुंसकं रूपे विष्ठायामपि तेजसि। पुंसि चंद्रस्य तनये" इति मेदिनी। पुत्रैषणा तु–पुत्रा मे भवेयुस्ते च श्रुतशीलाचारयुक्ताश्चिरजीविनो धनिनो यशस्विनश्च भवेयुरित्येवंरूपा, वित्तैषणा तु–वित्तं मे बहु भवेदव्ययश्चाल्पो भवेद्यथाकथं धनसमृद्धिर्मे भवत्वित्येवंरूपा, लोकैषणा तु–लोका मां सर्वे श्लाघयंतु कोऽपि मां न निंदेत्सुखं च मेऽत्र परत्र च स्यादित्येवंरूपा ज्ञेया। मुक्तकिल्बिषाः त्यक्तवासनाः ॥ ३३ ॥ ननु सर्वदा सर्वेभ्यः किमर्थं न ददतीत्याह–अयं भाव इति। उपाध्याया वेदांतातिरिक्तशास्त्राध्यापका यथा कर्मविद्यां सर्वेभ्यो ददति नैवं ज्ञानिनोपीत्याह–अपीति। प्रावृषीव वर्षंताविव सर्वत्र नेति भावः ॥३४॥ गाधजलेचराः अल्पांबुवासिनो मत्स्यादयः। क्षीयमाणम् शुष्यमाणम्। अविदन् प्रापुः। क्षय्यम् क्षेतुं शक्यं क्षीयमाणमिति यावत् ॥३५॥ शरदर्कः शरदृतुसूर्यः, तज्जम्। एतेन कुटुंबिनो गृहक्लेशं सहंते न तु तत्यजंतीति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तेषामुत्तरपक्षे नीरजोत्पत्त्या सहेति योज्यम् ॥ ३३ ॥ यथा कृष्णे जाता भक्तिरेका सर्वेषामेवाश्रमिणामशुभं महाकष्टमयं तत्तद्धर्मानुष्ठानं हरति—

"तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते" ॥ इत्यादेः।

तथा शरदप्येका व्योमादेरावरकत्वात् कष्टमयमब्दादिकं जहार एवं कष्टमयत्वेनैव साम्यं क्रमरीत्या तत्तद्विशेषयोः साम्यव्याख्यायामपि लक्षणापरम्परया तत्तदनुष्ठानसामान्य एव पर्य्यवासानत् कामादिवासनानां गुरुसेवादिमदाश्रमान्तःपाताभावातद्वासनाक्षयार्थयमनियमाद्यनुष्ठान एव तात्पर्यात् किं बहुना यतीनामव्यक्तासक्तचित्तादित्वमपि कष्टमेव "क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम-

१. शारदा–वीर, । २. यथा भ्रष्टानि चेतांसि–वीर. । ३. ब्दमभ्रमाशाबल्यं–विज. । ४. कृष्णभक्ति–वीर. विज. । ५. न रेजुः–च. पु. टी. । ६. मुक्तकल्मषाः–वीर. विज. । ७. स्वयम्–गो. प्रे. टी. ।

व्यक्तासक्तचेतसाम्" इति श्रीभगवद्गीताभ्यः अन्यत्तैः तत्र गुर्वर्थोदकाहरणकुम्भमिति गुर्वर्थमुदककुम्भाहरणासुखमित्यर्थः। कामादिवासनामलमिति तद्वासनारूपासुखमित्यर्थः। एवं साङ्कर्य्यमित्यर्थः। तज्जनिताऽसुखमित्यर्थः। किन्त्वाश्रमित्वं न हरतीति तस्मात् भ्रंशस्तु न विवक्षितः ॥ ३४ ॥ किल्बिषं संसारहेतुः कर्मतत्त्यागादेव त्यक्तैषणाः तस्मादेव शान्ता अक्षुभितचित्ताः ॥ ३५ ॥ गिरय इति तैर्व्याख्यातं तत्र कृपायां हेतुः पात्रसाद्गुण्यं ज्ञेयं गिरिपक्षेऽपि गङ्गायमुनादिखातरेखास्वेव न तु क्षुद्रखातरेखास्विति क्वचिद्ग्रहणार्थं मोचनविषयस्यैवोभयत्र विवक्षित्वं नतु तदाश्रयस्येति ॥ ३६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भ्रष्टानां केनचिद्विघ्नादिना योगात् स्खलितानामतोऽशुद्धतां गतानि चेतांसि यथा पुनः शुद्धतां यान्तीत्यर्थः। अन्नादीनां हरणाक्रमाद्यपेक्षया तथैवोक्तिः ॥ ३३ ॥ कृष्णे सर्व्वदुःखहरे भगवति, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, यथा कृष्णे जाता भक्तिरेका सर्व्वेषामेवाश्रमिणां ब्रह्मचार्य्यादीनामशुभं तत्तदाचारदुःखं हरति, (भा. ११।२०।९) 'तावत् कर्म्माणि कुर्व्वीत' इत्यादिवचनप्रामाण्यतस्तत्तत्कर्म्मपरित्यागेन तत्तदायासापगमात्, एतच्च श्रीभगवद्भक्तिविलासे एकान्तिलक्षणादौ विवृतमेवास्ति। एवमेकापि शरद् व्योमादीनां चतुर्णां नैर्म्मल्यमापादयदित्यर्थः ॥ ३४ ॥ त्यक्तैषणत्वादेव शान्ता रागादिरहिताः, मुक्तं किल्बिषं भक्तिविघ्नत्वेन किल्बिषतुल्यं शुष्कं ज्ञानं यैः; कल्मषा इति पाठान्तरेऽप्यर्थः स एव। एवं शुभ्रवच्चैः साम्यम्, अतएव विशेषेण पूर्व्वतोऽप्याधिक्येन राजन्ति शोभन्ते यथा ॥ ३५ ॥ गिरय इति तैर्व्याख्यातमेव, यद्वा, शिवं निर्म्मलं क्वचित् कदाचित् मुमुचुः, क्वचिच्च न निर्म्मलं मुमुचुः, किन्तु मलिनमेव, प्रायो वृष्टयभावेनाप्लवमात्रावशिष्टस्यैव रक्षणात्, यथा ज्ञानामृतमुत्तमज्ञानं भक्तिमाहात्म्यविषयकं तत्तत्त्ववेदिनः काले स्वस्य भक्तस्य वा प्रेमोद्रेकसमये तस्मै ददति, अन्यदा त्वात्मादिविषयमेव तुच्छज्ञानं ददतीत्यर्थः ॥३६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ मुमुक्षूणां हितं दर्शयन्निव समीचीनैर्दृष्टान्तैः शारदान् धर्माननुवर्णयति—शारदानित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। पूर्वं शारदानि शरत्सम्बन्धीनि नीराणि जलानि निर्मलान्येव स्थितानि अन्तरा प्रावृषि रजोत्पत्त्या पङ्कप्रादुर्भावेन भ्रष्टानीत्युत्तरस्मादध्याहर्त्तव्यं पुनः प्रकृतिं स्वस्वभावं ययुः यथा योगिनां चित्तानि निर्मलान्येव क्वचिद्योगाद्भ्रष्टान्यपि पुनरपि पुनर्योगनिषेवया प्रकृतिं यान्ति तद्वत् योगभ्रंशेन चित्तकालुष्ये सति पुनर्योगमेव सेवतेति शिक्षितं। शरदा नीरोजोत्पत्त्येति पाठान्तरं नीरजानामुत्पत्तिर्यस्यां तया शरदा हेतुभूतया नीराणि प्रकृतिं स्वच्छत्वाप्रकृतिविकारित्वशान्तत्वादिरूपां ययुः उत्तरार्द्धं तु पूर्ववत् ॥ ३३ ॥ व्योम्न इति। क्रमेण व्योमभूतपृथ्वीजलानां चतुर्णामभ्रशाबल्यपङ्कमलानि चत्वारि शरदहरत् यथा चतुर्णामाश्रमिणामशुभं कृष्णभक्तिर्हरति तद्वत्। तत्राब्दं मेघं भूतानां ज्योतिः सलिलमरुतां शाबल्यं सम्पर्कं वर्षासु तेषां मिथः सम्पर्कात् शरदि तन्निवृत्तेरितिभावः। यथा कृष्णभक्तिः ब्रह्मचारिणो गुरूपदिष्टार्थग्रहणप्रतिबन्धकमज्ञानात्मकमशुभं हरति यथा च गृहस्थस्य विषयसङ्गदोषं वनस्थस्य कदाचिदशक्त्या स्वाश्रमोचितधर्माननुष्ठानप्रयुक्तप्रत्यवायं यथा च यतिनः कृष्णप्राप्तिप्रतिबन्धकं पुण्यपापात्मकं सवासनं कामादिदोषरूपमशुभं हरति तथेत्यर्थः। अनेनावश्यं चतुर्भिरप्याश्रमिभिः कृष्णभक्तिः कार्येत्युक्तम् ॥ ३४ ॥ सर्वस्वमिति। जलदा मेघाः सर्वस्वत्वभूतं जलं हित्वा शुभ्रं वर्चो येषां तथाभूता विरेजिरे यथा मुनयो भगवन्मननशीलास्त्यक्ता दारधनपुत्राणां ईषणाः यैस्तथाभूताः निरस्तपापाः विराजन्ते तद्वत् अनेनावश्यं मुनिभिरीषणास्त्याज्या इत्युक्तम् ॥ ३५ ॥ गिरय इति। पर्वताः क्वचिन्निर्मलं जलं मुमुचुः क्वचित् न मुमुचुश्च ज्ञानिनो यथा क्वचित्तत्त्वत्रययाथात्म्यज्ञानात्मकममृतं केभ्यश्चिच्छ्रुभ्यो ददते केभ्यश्च न ददते अनेन सर्वेभ्योपि प्रष्टृभ्यो नोपदेष्टव्यं ज्ञानिभिर्ज्ञानमित्युक्तं, तथैवोक्तं भगवता—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥" इति ॥ ३६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शारद्या शरत्सम्बन्धिन्या नीरजानां पद्मानाम् उत्पत्त्या प्रकृतिं स्वच्छतां योगभ्रष्टानां पुनर्योगनिषेवया योगाभ्यासेन ।३३। शरद्व्योम्नः अब्दम् अर्थिभ्यो जलस्य दातारं मेघं जहार वर्षाकालो विरत इत्यर्थः। ततोऽभ्रमशाबल्यम् अभ्रं जलं दधत् मेघः न तु वर्षणं कुर्वन् तन्निमित्तं शाबल्यं व्योम्नः निःस्रवणं जहार अभ्रच्छायाभावात् भुवः पङ्कं कर्दमम् अपां मलं कालुष्यं च अहरत् तत्तदाश्रमोक्तानुष्ठानं यथावत्स्थितिसूचनायाश्रमिणामित्युक्तम् अशुभं पातकम् ॥ ३४ ॥ सर्वस्वं जलं शुभ्रवर्चसः धवलवर्णाः त्यक्ताः पुत्रादिदुष्टैषणा यैस्ते तथा ॥ ३५ ॥ शिवं जलं जान्वानूपानूपस्थलभेदाभिप्रायेण निरीक्षेणाञ्जनमोक्षामोक्षौ ज्ञानिनां ज्ञानदानादाने योग्यायोग्यमुहूर्त्तामुहूर्त्तकालभेदविवक्षयेति ज्ञातव्यम् ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

व्योम्नोऽभ्रमिति साधनक्लेशेन तुल्यं क्लेशश्चात्र क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामित्यत्र श्रीगीतासूक्तेः ।३४-४०। नीरजानामुत्पत्तिर्यस्यां तया शरदा हेतुना अत्र भक्तियोगनिषेवया साम्यं शरदः भगवत्स्फुरणेन साम्यं नीरजस्येतीयमुपादेया ॥ ३३ ॥ व्योम्न इति। व्योमादीनां चतुर्णां चतुरो मलान् शरज्जहार यथा आश्रमिणां चतुर्णां सत्सङ्गप्रादुर्भूता भक्तिः

अशुभम् आश्रमानुष्ठेयकृत्यरूपम् अमङ्गलं दुःखं यथा हरति भक्तिमतां वर्णाश्रमधर्मानधिकारादेव तत्तदकरणात् तथाहि ब्रह्मचारिणां कर्मिगुरूपसत्तिप्राप्तगोचारणादिक्लेशं भक्तिर्यथा हरति तथा शरत् व्योम्नोऽभ्रमावरकं मेघम् अभ्रमिति पाठः यथा च गृहिणः श्राद्धादिविधिप्राप्तकुटुम्बादिसाङ्कर्यक्लेशं भक्तिर्हरति तथा शरदि भूतानां शावल्यं वर्षासु वृष्टिभयादेकत्र वसतां सम्मर्दं हरति शरदारम्भ एव तेषां पृथक् पृथक् स्थानगमनात् यथा च वनस्थस्य मलधारणक्लेशं भक्तिर्हरति एवं भुवः पङ्कं शरत् यथा च यतीनां ब्रह्मजीवैक्यभावनाक्लेशरूपं मालिन्यं भक्तिर्हरति "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इति गीतोक्तेः एवमपां मलं शरदित्युपादेया ॥ ३४॥ त्यक्तैषणाः त्यक्ताः पुत्रवित्तलोकैषणाः यैस्ते इतीयमुपादेया ॥ ३५ ॥ ज्ञानामृतं भगवत्तत्त्वोपदेशं ज्ञानिनो नारदभरतप्रह्लादादयः व्याधरहूगणदैत्यबालकादिषु ददते अन्यत्र न ददते इति कृतार्थीबुभूषयैवोपादेया तेषां गिरिणां च स्वभाव एवायमचिन्त्यत्वान्नाऽत्र युक्तिर्योजनीया पात्रसाद्गुण्यादेर्हेतुत्वे तेषां तुल्यदर्शित्वं तत्कृपायाश्च निरुपाधित्वं व्याहतं स्यादित्यवधेयम् ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नीरजानामुत्पत्तिर्यया शरदा कृत्वा नीराणि प्रकृतिं प्रावृट्सङ्गजदोषपरित्यागपूर्वकं स्वकीयनिर्मलस्वभावं ययुः भ्रष्टानां दुष्टसंसर्गेन मलिनचित्तानाम् ॥ ३३ ॥ व्योम्ना इति मुमुक्षोर्ब्रह्मचारिणः समावर्तनमशुभमेव गृहाश्रमे महागर्ते पतितस्यैव प्रायः पुनर्निर्गमासम्भवात् वनितातनयादिवशीभूतस्य वैराग्यासम्भवात् अत एवोक्तं "कौमारे आचरेत् प्राज्ञः" इत्यादि जाता तु कृष्णे भक्तिस्तदशुभं हरति श्रीकृष्णस्वरूपगुणादियाथात्म्योपदेष्टृश्रीगुरुसेवानुरूपे नैष्ठिके ब्रह्मचर्ये श्रीकृष्णसाधने मुमुक्षुं स्थापयति "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद संग्रहेण प्रवक्ष्ये" इति श्रीमुखवचनात् गृहस्थस्य वनितातनयादिसाङ्कर्यं परमात्मस्वरूपादिश्रवणमननादिप्रतिबन्धकतयाशुभमेव तत् सा हरति "मत्कृतेत्यक्तकर्मणः त्यक्तस्वजनबान्धवा" इत्युक्तत्वात् वनस्थस्य मलधारणक्लेशरूपमशुभं सा हरति कृष्णभक्तौ जातायां मालिन्यस्य दूरतो हेयत्वात् यतीनां च एकलत्वेन भ्रमणरूपमशुभं सा हरति बहुकृष्णदाससंयुते तीर्थे तं स्थापयति एवं चतुर्णामाश्रमिणां यथा कृष्णे भक्तिरशुभं हरति तथा व्योमादिनामब्दादीन् शरत् जहार अहरदित्यर्थ ॥ ३४ ॥ शुभ्रं शुभं वर्चो येषां त्यक्ता ऐहिकामुष्मिकभोगेषणा यैस्ते ॥ ३५–३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

नीरजानामुत्पत्तिर्यस्यां तया शरदा हेतुना प्रकृतिं स्वच्छताम् उपादेयेयम् ॥ ३३ ॥ व्योमादीनां चतुर्णां चतुरो मलानब्दादिरूपान् शरज्जहार यथा ब्रह्मारिप्रभृतीनां चतुर्णामाश्रमिणां सत्प्रसङ्गाज्जाता कृष्णे भक्तिस्तत्तदाश्रमगतमशुभं कष्टरूपं मलं हरति तथाहि गुरौ निवसतो वर्णिनस्तदर्थोदकाहरणादिकं कष्टं भक्तिरिव व्योम्नोऽब्दं शरदहरत् गृहस्थस्य ऋणत्रयापनुत्तये कलत्रादिसाङ्कर्यं भक्तिरिव वृष्टिहेतुक भूतानां शावल्यं शरदहरत् वनस्थस्य नखकेशमलादिक्लेशं भक्तिरिव भुवः पङ्कं शरदहरत् यतेः कामादिवासनां भक्तिरिवायां मलं शरदहरत् भक्तौ सत्यामाश्रमधर्मपरित्यागस्तस्यां सर्वानर्थविनाशकत्वात् स्वयं फलरूपात्वाच्चेति प्रसिद्धेरित्युपादेयेयम् ॥ ३५ ॥ त्यक्ताः पुत्रवित्तलोकैषणा यैस्ते इत्युपादेयेयम् ॥ ३६ ॥ गिरय इति आचार्याह्यधिकारिणि ब्रह्मविद्यामुपदिशन्ति न च यत्र क्वापि एवं गिरयः शिवं जलं क्वचिदेव मुमुचुः केचित्तु नेति एवमाह सूत्रकारः "अनाविष्कुर्वन्नन्वयादि"ति कर्मविद्यान्तु सर्वत्रोपदिशन्ति प्रावृषीव वारीत्युपादेयेयम् ॥ ३६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यथा शान्ताः सशमा मुक्तकल्मषास्त्यक्ता ईषणाः पुत्रादित्रिकेषणा इच्छा यैस्ते मुनयो राजन्ते तथा जलदाः सर्वस्वं सर्वं स्वं धनरूपं जलं हित्वा त्यक्त्वा शुभ्रवर्चसः सन्तो विरेजुः ॥ ३३ ॥ यथा ज्ञानिनो ज्ञानामृतं ज्ञानरूपममृतं कालेऽधिकारानधिकारौ विलक्ष्य ददते न वा ददते तथा गिरयः पर्वतास्तोयं क्वचिन्मुमुचुः । यत्र निर्झरास्तत्र क्वचिच्छिवं जलं न मुमुचुरुन्नतप्रदेशे । शिवं मोक्षे सुखे भद्रे सलिलेऽथेति विश्वः ॥ ३४॥ अन्वहं क्षय्यं सत्कर्मभिः क्षेतुं शक्यमायुस्तथा मूढाः कुटुम्बिनो नरा न जानन्ति यथा तया। गाधजले चरा अल्पजलचारिणः । चरेष्ट इति टः । हलदन्तादित्यलुक् । क्षीयमाणं जलं तत्क्षयप्रकारं नाविन्दन् न व्यजानन् । क्षय्यजय्यौ शक्यार्थ इति स्मरणात्क्षेतुं योग्यं क्षय्यं । पाठान्तरं तु क्वाचित्कमिति न धृतमव्याकृतं च ॥ ३५ ॥ यथा दरिद्रः कृपणो दीनोऽविजितानीन्द्रियाणि येन स कुटुम्बी अनेन तत्पोषणानिर्वाहात्तापं विन्दति तथा गाधवारिचरा अपजलकृतालया मत्स्याद्याः शरदर्कजं शरत्सम्बन्धी योऽर्कः सूर्यस्तस्माज्जायत इति स तथा तं तापमविन्दन्नापुः ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

शुद्ध्यर्थमस्याः प्रवृत्तिरिति षोडशकलासहितजीवस्य सप्तदशात्मकस्य शुद्धिस्थले ।

जलानां सर्वभूतानामभ्राणां ज्ञानिनां तथा । कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ॥ १ ॥
योगिनां गोपिकानाञ्च शरत्सम्बन्धतो हरिः । दश दोषान् निवार्याथ चित्तस्यापि निवार्य च॥ २ ॥
सर्वानशोभयद् देवः षड्गुणैश्चन्द्रमानवाः । गावः पद्मानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ॥ ३ ॥
शरदः कार्यमेतावद् भगवानविशद् यतः ॥ ३३ ॥

तत्र प्रथमं जलानां दोषं निवर्तितवतीत्याह शरदेति, अद्भिः सर्वशुद्धिस्ताश्चेन् निर्मलास्तदा सर्वमेव शुद्धं भवेत्, शुद्धौ प्रकार उच्यते शरदेति, कमलोत्पत्तिः शरदैव, निर्गतं रजो यस्मादिति नीरजं, सर्वमेव जलरजो भौतिकं भूमौ विलाप्याध्यात्मिकं स्वरूपभूतं कृत्वाधिदैविकं शुद्धं मकरन्दात्मकं स्वस्मिन् कृत्वा सर्वमेव रजो दूरीकरोत्यतो नीरजमित्युच्यते, तानि चेदुत्पन्नानि तदा दोषस्य निवृत्तत्वान्नीराणि प्रकृतिं ययुः, नीरे जातानीत्यपि व्युत्पत्तिरतः पुत्रे जातेस्वयमपर्णो भवति तदा प्रकृतिं प्राप्नोत्यन्यथा ऋणेन पीडित एव स्यात्, न केवलमेतद् भौतिकदोषनिवृत्त्यर्थं शरदेवं करोति किन्तु भगवत्क्रीडार्थमन्तरपि हृदयकमलविकासेन हृदयं घृणातीतं भवति, तत्र शरद् योगमुत्पादयन्ती तथा करोतीति योगो दृष्टान्तत्वेनोच्यते अथ वा शनैः शनैः शुद्धिर्योगे भवतीति तदर्थं दृष्टान्तः, तदाह भ्रष्टानामिव चेतांसीति, भ्रष्टा योगभ्रष्टास्तेषां चेतांस्यपि भ्रष्टानि भवन्ति, तानि पुनर्योगसेवया वृत्तिरूपस्य रजसो निरोधं प्राप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥ एवं सर्वशुद्धिहेतुभूतस्यान्तःकरणस्य जलस्य च शुद्धिमुपपाद्य महाभूतानां शुद्धिं कथयन्नाश्रमाणां शुद्धिप्रकारमाह महाभूतानि चेच्छुद्धानि तदा देहः शुद्धो भवेदाश्रमशुद्ध्या धर्मः शुद्धः, तदर्थमाह व्योम्नोब्दमिति व्योम्न आकाशस्य मेघा एव मलरूपाः, भूतशबलतामग्निर्वाय्वोर्मलं सर्वार्थि क्षुदर्थं तत्सम्भवाद् भुवः पङ्क एव मलमपामपि पङ्क एवेति, एवं पञ्चमहाभूतानां शरज् जहार, इयं च शरदाश्रमाणामपि मलं दूरीकरोति वर्षासु स्वधर्मस्य निरुद्धत्वान् न्यासिनामेकत्रान्नभोजनेन दोषोत्पत्तिसम्भवाद् ब्रह्मचारिणो गुरुसेवायां सङ्कोचसम्भवाद् गृहस्थस्य कालाज्ञानात् कर्मलोपसम्भवाद् वनस्थस्य च सङ्ग्रहादिना दोषसम्भवात् तत् सर्वं निवर्तयति शरत्, तस्या भगवत्सान्निध्यादाधिदैविकवद् दोषनिवर्तकत्वं जातमिति दृष्टान्तेनाह कृष्णे भक्तिर्यथेति, भक्तिश्च हृदयाकाशशोकं दूरीकरोति नेत्रजलजननादब्दो भूतानां शबलता त्रिविधजीवानां किर्मीरितत्वं भक्तिर्दूरीकरोति, तस्य प्रवर्तक आसन्यो वाग्निर्वेत्येको दूरीकरोत्यपरो ज्वालयति, भुवः पङ्कमपि प्रसाददानाद् दूरीकरोति भक्त्या भावितौ चरणौ भक्तानां हृदये स्नेहेनार्द्रौ जलार्द्रतां दूरीकुरुतः, तावेव हि भूः, अपां सर्वासामेव मलं भक्तो दूरीकरोतीति प्रसिद्धमेव, ब्रह्मचर्ये च गुरवे जलदानमस्ति भक्तिश्च तद् दूरीकरोत्यलौकिकदानसामर्थ्यात्, भूतैः सह शबलता गार्हस्थ्ये भवति भक्त्या तन्निवृत्तिः स्पष्टैव, भूस्थानीयो वनवासस्तत्र मलधारणं धर्मः, भगवद्भक्तिस्तु भगवत्सेवार्थं तद् दूरीकरोति, अपां बहूदकादीनां मलं परिभ्रमणादिक्लेशं भगवदायतने नित्यस्थितिसम्भवात्, किञ्चाशुभं पापमपि दूरीकरोति यदनिवार्यं तत्संस्कारार्थमुत्तरक्रिया ॥ ३४ ॥ एवमेषां दोषान् दूरीकृत्यान्नोत्पादकानां मेघानां दोषान् दूरीकृतवतीत्याह सर्वस्वमिति, यथा मरणकाले न कोपि किञ्चिन् नेतुं शक्नोत्येवं शरत्कालेपि मेघाः किञ्चित् स्थापयितुं न शक्ताः सर्वस्वत्याग एव सर्वप्रायश्चित्तं स्वधर्मवदिति स्वधर्ममाह जलदा इति, हित्वा ज्ञानपूर्वकं ततः शुभ्रवर्चसो भूत्वा विरेजुः, पापस्य हि रूपं नीलिमा पुण्यस्य शुक्लमतो मेघानां नीलं रूपं गतं शुभ्रं च जातं तदाह शुभ्रेति, शुभ्रं वर्चस्तेजो येषामिति, न केवलं शुभ्रत्वमात्रेण सम्यक्त्वं केशादिषु व्यभिचारादत आह विरेजुरिति, विशेषेण दीप्तियुक्ता जाताः कालवशादेवैवम्भूता जाता इति, तदा नापि रमणं नापि दीप्तिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन तद्दोषनिवृत्तिपूर्वकं शान्ततो दीप्तिमाह यथेति, अन्तःकरणं हि चतुर्विधं तत्र चतुर्विधोपि दोषश्चेद् गच्छति तदा बहिस्त्यागादिना दीप्तिमान् भवति, तदभावे न शोभते तत्र चित्तस्यैषणात्रयं दोषो बुद्धेर्घोरविमूढत्वं मनसो बहिर्विषयत्वमहङ्कारस्तु सन्निपातरूपो दोषात्मक एव तदत्र क्रमेणैव तेषां निराकरणमाह त्यक्ता ईषणा यैः, ईषणात्रयं तत्र लोकेषणा द्विविधा भुवनजनभेदाद् वित्तेषणा सर्वविषयरूपा अर्थेषणा नाम दारेषणा पुत्रसहिता, अनेन धर्मार्थकामा उक्ताः, त्रिवर्गपरित्याग ईषणात्रयाभावः शान्तिः सत्त्वादपि भवति तथा सति गुणान्तरोद्भवे सा निवर्तते, अतः शान्ताः स्वरूपेणैव शुद्धसत्त्वरूपेण वा 'मनसैवैतदाप्तव्य'मिति श्रुतेः, आत्मप्रवणं मनो येषां ते मुनयः, मुक्तं किल्बिषमहङ्कारात्मकं यैः, एवं त्यक्तदोषा बहिः सर्वपरित्यागेन शुद्धा अपि भवन्ति प्रकाशमानाश्च, एतच्छरदैव भवति भगवत्सहितया, अत एवाग्रे वक्ष्यति, 'सर्वाः शरत्काव्यकथारसाश्रया' इति ॥ ३५ ॥ एवं शरत्कृतां दोषनिवृत्तिमुक्त्वा गुणानाह गिरयो मुमुचुरिति, ज्ञानं हि गुणोन्तःसारेष्वेवेति तच्च ज्ञानं शुद्धं सर्वदोषनाशकं तदत्र जलं निरूपयन् दृष्टान्तेन निरूपयति, पर्वताः क्वचित् तोयं मुमुचुः क्वचिन् न यत्र झरणादिमार्गो भवति तत्र मुञ्चन्त्यन्तःस्थितं जलं न तु वर्षोद्भूतं तदाह शिवमिति, शान्तं शीतलं सुस्वादु, महतां ह्यन्तस्तापाभावान् न सूर्यादिनापि तेषां तापः शक्यते कर्तुं, तेषामुभयरूपत्वं बुद्धिकृतमाहोस्वित् स्वाभाविकमिति विचिन्त्य स्वाभाविकत्वे शरदो न कापि प्रतिष्ठेति ज्ञानकृतत्वं वदन् शरदस्तत्र प्रयोजकतामाह यथा ज्ञानामृतमिति, ज्ञानमेवामृतं मरणनिवर्तकं काले शुद्धेवसरे पुरुषविशेषे स्वयं ज्ञानपूर्णा अपि देशकालाधिकारिणो दृष्ट्वा ज्ञानयोग्याश्चेदुत्तरत्र सम्प्रदायनिर्वाहका अमार्गरहिता विचार्यैव ज्ञानप्रदाश्चेत् तदा ददतेन्यथा तु न ददत इति, 'विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन्, न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदितिनिश्चयः', शुद्धिः सर्वा शरत्कृतेति शरदः प्रयोजकत्वम् ॥ ३६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

महाभूतशुद्ध्युक्तिप्रस्तावे तन्मध्यपातित्वेन द्वितीयेपि श्लोके अपां मलमित्युक्तमन्यथा पौनरुक्त्यं स्यादित्याशयेनाहुः एवं पञ्चमहाभूतानामिति ॥ ३४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

शरदेत्यत्र नीरजपदव्युत्पत्तौ सकारलोप'श्चक्षोः सूर्य'इतिवद् बोध्यश्छन्दस्त्वात्, अन्तरपीत्यध्यात्मं, अन्तःप्रकृतिभावप्रापणं व्युत्पादयन्ति हृदयेत्यादि तथा च दृष्टान्ते हृदयकमलस्य भगवद्गुणेन विकासे 'मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृत'मितिवाक्यात् सर्वात्मभावे हृदयं गुणातीतं भवतीत्यर्थः, नन्वध्यात्ममेवङ्करणं कथं गम्यत इत्यत आहुस्तत्रेत्यादि तथा च जले कमलयोगमुत्पादयन्ती तथा करोतीत्यध्यात्मं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो'त्र दृष्टान्तीक्रियतेतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकबलात् तथा गम्यत इत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे भ्रष्टानामितिपदस्यानन्वयात् पक्षान्तरमाहुरथ वेत्यादि, वृत्तिरूपरजस इति चेतोवृत्तिरूपस्य वैकल्पिकज्ञानस्य ॥ ३३ ॥ व्योम्नोब्दमित्यत्र यथा पूर्वपद्ये शोधकद्वयमुक्तं तथात्र तच्छोध्यद्वयमेकत्रोच्यत इत्याशयेनाहुर्महाभूतानामित्यादि, मेघा एव मलरूपा इति निर्मेघ आकाश 'निर्मलमाकाश'मितिप्रयोगात् ते तथा, भूतावकाशदातृत्वरूपव्योमकार्यप्रतिरोधकत्वात् तथा, अत्र मलपदमब्दादिषु चतुर्षु विशेषणत्वेनान्वेति, मलत्वं च विविक्ततत्कार्यप्रतिरोधकत्वं न तु स्वसजातीयासारांशत्वमिति बोध्यं, व्योमादित्रयस्य कण्ठोक्तत्वाद् भूतशाबल्यपदे भूतपदमग्निवायू सङ्गृह्णत् तच्छाबल्यस्यैव तन्मलत्वं बोधयतीति तदुपपादयन्ति स्पर्शार्थमित्यादि, बहिःशुष्कस्य स्पर्शार्थं वर्षाकालेग्निवाय्वोः साक्षादपेक्षितत्वेन वर्षासु वातकोपेन क्षुदभावे तदर्थमग्निजनकौषधादेरपेक्षितत्वेनान्तरपि तच्छाबल्यस्य सम्भवात्, एवं पञ्चेत्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहुर्महाभूतेत्यादि, सुबोधिन्यामध्यात्ममाश्रमाशुभहरणेपि शरदन्वयोस्तीत्यभिप्रायेणाहुरियं चेत्यादि, ननु शरद्दृष्टान्ते भूताश्रमयोर्दोषहरणं कथं तयोराध्यात्मिकत्वादित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति भक्तिश्चेत्यादि, 'कोन्योर्थोस्यावशिष्यत' इत्यादिवाक्याद् भक्तिस्तथाब्द इति शोक इतिशेषः, त्रिविधजीवानां किर्मीरितत्वमिति देवमनुष्यासुराणां सात्त्विकराजसतामसानां परस्परसङ्गं, ननु स्वभावभेदे विद्यमाने कथं स भक्त्या च कथं तन्निवृत्तिरित्यत आहुस्तस्येत्यादि, आसन्यो हीन्द्रियबलजननेन लौकिककार्ये प्रवर्तकोग्निश्च वागधिष्ठाता तत्प्रेरणेन सङ्गजनकोतःसङ्गस्य तत्कृतत्वात् तद्दोषत्वं जातायां तु भक्तौ स एव लौकिके कार्ये बलं न जनयति प्रत्युत तत्सङ्गं दूरीकरोत्यग्निश्च तादृशसङ्गार्थं न वाचं प्रेरयति प्रत्युत तद्विरुद्धं वादयन् ज्वालयतीत्यतो भगवत्कृपया जातायां भक्तेः सहायभूतावेताविति तथेत्यर्थः, भुवः पङ्कमिति हृदयभुवः कामादिविकारं, प्रसादस्य तन्नाशकत्वं च 'त्वयोपभुक्तस्रग्गन्ध' इत्यादौ सिद्धं, ननु हृदयभुवो भौतिकत्वेन जलस्यापि सत्त्वात् तन्नाशाभावेवस्थाविशेषादिजनितपङ्कनाशेपि पुनः पङ्कः स्यादित्यत आहुर्भक्त्येत्यादि, जलार्द्रतामिति शोकादिजन्यजलार्द्रतां, तत्रोपपत्तिमाहुस्तावेव हि भूरित्याधिदैविकभूरूपौ वैश्वानरविद्यायां 'पृथिव्येव पादा'वितिश्रुतेः, तथा च तयोः स्वाधिभौतिके पङ्कनिवर्तनमावश्यकमतो मृदाधिक्ये जलाभाववत् ताभ्यामेव तदार्द्रतानिवृत्तिरित्यर्थः, नन्वेवमाध्यात्मिकभूतशोधकत्वमेवायाति न त्वाधिभौतिकभूतशोधकत्वमित्याशङ्क्य भक्तेर्बहिर्जलदोषनिवर्तकत्वमप्याहुरपामित्यादि, प्रसिद्धमिति 'भवद्विधा महाभागास्तीर्थीभूताः स्वयं प्रभोः तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थितगदाभृते'तिवाक्यात् प्रसिद्धं, नन्वेवमप्शोधकत्वेपि कथमन्यभूतशोधकत्वमित्याकाङ्क्षायामाश्रमसम्बन्धि बहिर्भूतशोधकत्वमाहुर्ब्रह्मेत्यादि, जलदानमस्तीत्येके शाखिनो'ग्निमधीयाना उपाध्यायस्योदकुम्भमाहरन्ती'ति शावरभाष्ये 'विद्यायां धर्मशास्त्र'मितिसूत्रेनुवादात्, अलौकिकदानसामर्थ्यादिति 'पत्रं पुष्प'मितिवाक्येन भगवत्प्रीतिजनकार्थदानसामर्थ्यात्, तत्र मलधारणं धर्म इति 'केशरोमनखश्मश्रुमलानि बिभृयाद् दतो न धावे'दितिवाक्याद् धर्मस्तं च 'दन्तकाष्ठमलादित्वाद् यस्तुमामुपसर्पति सर्वकालकृतं कर्म तेनैकेन च नश्यती'त्यादिष्वपराधत्वकथनाद् भक्तिर्दूरीकरोति, स्पष्टेत्युपपादितत्वात् तथा, अपां बहूदकादीनामिति कुटीचकस्य परिभ्रमणाभावादेवमुक्तमतस्तेषां क्लेशात्मकं पङ्कं सा दूरीकरोति तथा चैवमाश्रमसम्बन्धि बहिर्भूतशोधकमिति न दृष्टान्ते कश्चिद् दोष इत्यर्थः, संन्यासिक्लेशस्य पङ्कत्वं क्लिष्टमतस्तन्निवृत्यर्थमाहुः किञ्चेत्यादि, अनिवार्यमिति 'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्कर' इतिवाक्यादन्यथानिवार्यमप्यशुभाख्यं पङ्कं दूरीकरोति, नन्वेतत्कथनं किमर्थमत आहुस्तदित्यादि, आश्रमसंस्कारार्थं पापनिवारणक्रिया तथा चैतदर्थं तत्करणमित्यर्थः, यदिदं दृष्टान्तग्रन्थे व्याख्यातं तत् सर्वमशुभपदेनैव मूले बोधितं ज्ञेयं, यद्वोत्तरक्रियेति वक्ष्यमाणश्लोकोक्ता सर्वस्वदानक्रिया ॥ ३४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

शरदेत्यत्र दृष्टान्ते नीरजस्वरूपमाहुः हृदयकमलेति, गुणातीतमिति चित्तरूपमित्यर्थः, तथा च यथा नीरजोत्पत्त्या हृदयकमलविकासेन चेतांसि प्रकृतिं स्वरूपं चेतस्त्वं यान्तीत्यर्थः, अत्र शरदस्तथाहेतुत्वं नायातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुरथ वेति, तथा च शनैः शुद्धिमात्रे दृष्टान्तः, तदाहेति तत्पक्षद्वयाद्धेतोराह, उत्तरार्धमितिशेषः, प्रथमपक्षमाश्रित्य जलान्तःकरणयोः शरत्कृतां शुद्धिमुपसंहरन्ति एवमिति, द्वितीयपक्षमाश्रित्य कारिकासु जलानामित्येवोक्तम् ॥ ३३ ॥ व्योम्नोब्दमित्यत्र स्पर्शार्थमिति कामार्थमित्यर्थः, कामोग्निमलं, क्षुधः प्राणधर्मत्वात् क्षुद् वायुमलं, उभयार्थं भूतानां प्राणिनामन्योन्यं शबलता भवतीत्यर्थः, इयं चेति चकारादाधिभौतिकी पूर्वार्धोक्तभूतशाबल्यहरणं त्वाध्यात्मिकया एवेतिभावः, "स्थास्याम्यश्चतुरो मासा"निति प्रतिज्ञायाषाढ्यामेव स्थितेः, प्रथमं न्यासिनामेव धर्मविरोधं प्रावृट् सम्पादयतीति प्रथमं तानेवाहुर्न्यासिनामिति, आधिदैविकवदिति तत्सदृशीयं न

त्वियमाधिदैविकीति ज्ञेयं, शोकं दूरीकरोतीति केवलभावलभ्यरसस्यैव तन्निवर्तकत्वादिति प्रभूक्तमनुसन्धेयं, त्रिविधेति सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिविधानां जीवानां किर्मीरितत्वं दूरीकरोति, गुणातीतत्वं सम्पादयतीत्यर्थः, एतद्दूरीकरणस्य वाय्वग्निमलनिवृत्तिरूपत्वं विशदयन्ति तस्येति, किर्मीरितत्वस्येत्यर्थः, ब्रह्मवादे भगवतः सकाशाद् विमुक्तो जीव आनन्दार्थं यतमान आसन्यमाश्रितः सत्त्वादिभावान् प्राप्य प्रपञ्चे रममाणो जात इति निरूपितं, साङ्ख्ये कामाग्निना प्रकृतिमुपगूहमानस्तद्गुणानुरक्तो जात इति निरूपितं, तथा च मतभेदेन किर्मीरितत्वं वाय्वग्न्योर्मलं तद्दूरीकर्तृत्वं भक्तेः, एक इति भक्तौ जातायामासन्य इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य जीवस्य सगुणत्वं दूरीकरोति, कामश्चान्तर्गृहगतानामिव प्राकृतत्वं ज्वालयति देहान्तरमिव सम्पादयतीत्यर्थः, भक्तिकृतां भूमलनिवृत्तिं विवृण्वन्ति भक्त्येति, तया भाविता चरणौ स्नेहार्द्रौ भवतस्तदा स्वस्मिन् स्थितं गङ्गाजलार्द्रतारूपं पङ्कं स्वस्मात् दूरीकुरुतो भक्ते स्थापयत इत्यर्थः, स्नेहस्य चिक्कणत्वाद् तेनार्द्रयोर्जलार्द्रता न भवतीति लौकिको दृष्टान्तः, इदं च तदनन्तरभावित्वाद् भक्तिकार्यं, तावेव हीति अलौकिकदेहसम्पादकरजसस्तत्र विद्यमानत्वात् तयोर्भूरूपत्वं युक्तमिति हिशब्दः, अपां मलनिवृत्तिं विवृण्वन्ति अपामिति, तीर्थरूपाणामपीत्यर्थः, प्रसिद्धमेवेति "साधवो न्यासिनः शान्ता" इत्यादिवाक्येभ्य इतिशेषः, ब्रह्मचर्ये चेति भूतानां मलं निवर्तयति, आश्रमिणामपि निवर्तयतीति तेष्वेव पदेष्वर्थान्तरसमुच्चयार्थश्चकारः, आश्रमिणां मध्ये व्योम्नो ब्रह्मचर्यस्याब्दं जलदानं दूरीकरोतीत्यर्थः, ब्रह्मचर्ये व्योमवन्निर्लेपतास्तीति व्योमत्वं, अलौकिकेति कथाप्रश्नेन वासुदेवं स्मारयतीत्यर्थः, बहूदकादीकामिति बहूदका आदयो येषां हंसनिष्क्रियाणामिति तद्गुणसंविज्ञानः, कुटीचरस्य तु परिभ्रमणं नास्तीति बहूदकादीनामित्युक्तं, यत्संस्कारार्थमिति मशकार्ये धूम इतिवत् पापसंस्कारनिवृत्त्यर्थमुत्तरक्रिया, उत्तरकाण्डोक्तज्ञानसाधनानीत्यर्थः ॥ ३४ ॥ सर्वस्वमित्यत्र शरत्कालेपीति मेघा अपीति योज्यं, दृष्टान्तेनैतस्याः शरद आध्यात्मिकत्वं सूचितमित्याशयेनोत्तरार्धाभासमाहुः कालवशादिति, बुद्धेरिति शान्तघोरविमूढत्वमितिवाक्यादहङ्कारस्वरूपग्रहणमित्यर्थः, श्लोकान्ते शरद आध्यात्मिकत्वस्य स्वरूपमाहुः भगवत्सहितयेति, भगवत आत्मत्वात् तमधिकृत्य वर्तमानाध्यात्मिकीत्यर्थः, देवपदस्य क्रीडाकर्तृवाचकत्वात् तमधिकृत्य वर्तमानां फलप्रकरणीयलीलाधिकरणभूताधिदैविकीति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥ गिरयो मुमुचुरित्यत्र निरूपयतीति तज्ज्ञानं गिरिषु दृष्टान्तेन निरूपयतीत्यर्थः, उभयरूपत्वमिति मोक्तृत्वममोक्तृत्वं च ज्ञानकृतं, यत्र भगवतो जलापेक्षा तत्र मुञ्चन्ति यत्र नापेक्षा तत्र न मुञ्चन्ति एवं ज्ञानं स्वाध्यात्मिकशरदैव भवतीतिभावः, बुद्धिः सर्वेति ज्ञानमित्यर्थः, पूर्वोक्तभूतशुद्ध्या ज्ञानं भवतीति तच्छुद्धिद्वारा बुद्धिः शरत्कृतेत्यर्थः, शुद्धिरितिपाठे पूर्वोक्ता भूतशुद्धिरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

जलानां सर्वभूतानामित्यादिकारिकासु जलादयो गोपीकान्ता दशोक्तास्ते "शरदा नीरजोत्पत्त्ये"त्यारभ्य "मुकुन्दो व्रजयोषिता"मित्यन्तानां दशानां श्लोकानामर्था उक्ताः, चित्तस्यापि निवार्य चेति "खमशोभते"त्यस्यार्थः, "सत्त्वयुक्तं यथा चित्त"मितिवाक्यात्, "अखण्डमण्डल" इत्यादिषु षट्सु श्लोकेषु ऐश्वर्यादयो गुणा वर्ण्यन्त इति षट्श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमुक्तम् ॥ ३३ ॥ व्योम्नोब्दमित्यस्य व्याख्यायां जीवानां किर्मीरितत्वं भक्तिर्दूरीकरोतीति किर्मीरितत्वं सत्त्वादिगुणवैशिष्ट्यं भक्तिर्नाशयति, "तं भजन् निर्गुणो भवे"दितिवाक्यात् नैर्गुण्यं सम्पादयतीत्यर्थः, तस्य प्रवर्तक इति तस्य भक्तस्य नैर्गुण्ये प्रवर्तक आसन्य इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य ब्रह्मभावयोग्यतामापादयति, अग्निर्वेति ज्ञानाग्निरित्यर्थः, एको दूरीकरोतीति आसन्यः दोषं दूरीकरोति अपरो ज्वालयतीति ज्ञानाग्निर्दोषं ज्वालयतीत्यर्थः, "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्याद् भक्त्योत्पन्नज्ञानं सकलदोषं ज्वालयतीति भक्तेस्तत्र प्रयोजकता, अतो भक्तिरेव दोषं हरतीतिसिद्धं, भुवः पङ्कमपीति भुवः पङ्कं दोषमपि भक्तिर्दूरीकरोतीत्यर्थः, अयं भावः, यत्र श्रवणादिरूपा भक्तिर्जायते भगवन्मन्दिरादौ तत्र सा भक्तिर्दीयं प्राकृतभावमपहरति, "मन्निकेतं तु निर्गुण"मितिवाक्यात्, तदेतदुक्तं प्रसाददानादिति, तत्र भक्त्यधिकरणभूमौ सर्वेभ्यः प्रसादो भगवदनुग्रहः भगवता दीयते, अतः प्रसाददानात् भुवो दोषं प्राकृतत्वं भक्तिर्हरतीत्यर्थः, जलार्द्रतां दूरीकुरुत इति, अयमर्थः, भक्त्या चरणारविन्दयोर्भाविते हृदये जायमानेन चरणारविन्दविषयकस्नेहेनार्द्रौ भगवच्चरणौ जलार्द्रतां शोकाश्रुजलसम्बन्धिनामार्द्रतां दूरीकुरुत इत्यर्थः, भक्तिश्च तद् दूरीकरोति अलौकिकजलदानसामर्थ्यादिति, अयं ब्रह्मचर्ये गुरवे जलदानमस्ति, जलं यो न ददाति स ऋणी भवतीति सामान्यव्यवस्था, भक्तस्तु भगवत्सेवां कुर्वाणो जलदानमकुर्वन्नपि न ऋणी भवति, "देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राज"न्निति वाक्यात्, अतो भक्तिस्तद् दूरीकरोति, ननु गुरवे चेज् जलदानं न कुर्यात् तदा फले न्यूनता स्यादित्याशङ्क्याहुः अलौकिकदानसामर्थ्यादिति, "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेञ्जसे"तिवाक्याद् भक्तेरलौकिकदानसामर्थ्यात् फलन्यूनता न भवतीति फलपूरणाज् जलदानं हरति, अनेन "व्योम्नोब्द"मित्यत्र यदब्दं शरद्धरतीत्युक्तं तदब्दं नाम जलदानं भक्तिरपि हरतीत्युक्तं, एवं ब्रह्मचर्ये अब्दहरणं गार्हस्थ्ये भूतशाबल्यं हरति वानप्रस्थे भुवः पङ्कं सन्न्यासे अपां मलं हरतीति चतुर्णामपि आश्रमिणां अब्दादिदोषं यथाक्रमं भक्तिर्हरति, तथा च "व्योम्नोब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलं शरज् जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभ"मितिमूले शरत् व्योम्नोब्दं भूतानां शाबल्यं भुवः पङ्कं अपां मलं यथेत्यन्वयः, कृष्णे भक्तिः अशुभं पापमपि दूरीकरोतीत्यादिना पृथगन्वयः, अत एव सुबोधिन्यां किञ्च अशुभं पापमपि दूरीकरोतीत्यादिना पृथग्व्याख्यातम् ॥ ३४ ॥ सर्वस्वं जलदा हित्वेत्यस्य विवृतौ

चित्तस्य ईषणात्रयं दोष इत्यादि चित्तस्य दोषः ईषणात्रयं बुद्धेर्दोषो घोरविमूढत्वं मनसो दोषो बहिर्विषयत्वं, अहङ्कारस्य सर्वाणि किल्विषाणि तेषां निवृत्तिर्विशेषणचतुष्टयेनोक्ता, तत्र "त्यक्तैषणा" इत्यनेन चित्तदोषनिवृत्तिरुक्ता, "शान्ता" इत्यनेन बुद्धिदोषनिवृत्तिः, "मुनय" इत्यनेन मननशीलतया बहिर्विषयाग्रहणान् मनोदोषनिवृत्तिः, "मुक्तकिल्विषा" इत्यनेनाहङ्कारदोषनिवृत्तिः ॥ ३५ ॥ गिरयो मुमुचुस्तोयमित्यत्र कारिका विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्या"दिति अयुक्ताय विद्यां न दद्यात् किन्तु म्रियेतैव, अयुक्ताय विद्यादानापेक्षया मरणमेव वरमिति भावः ॥ ३६ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

शरदा नीरजोत्पत्त्येत्यस्याभासे जलानामित्यादि १६५३–१६८३ । जलानामित्यारभ्य गोपीकानामित्यन्तेन दशवाक्यानां प्रत्येकमर्था उक्ताः, चित्तस्यापीत्यनेन 'सत्त्वयुक्तं यथा चित्त'मित्यस्यार्थ उक्तः, "अखण्डमण्डला व्योम्नी"त्यादीनामग्रिमवाक्यानामर्था भगशब्दार्था इति सर्वानशोभयदित्यनेनोक्ताः, ऐश्वर्यादिगुणरूपत्वेनैव चन्द्रादयो निरूपिता इत्याहुश्चन्द्रमानवा इत्यादिना, तथा च कृष्णः षड्गुणैः सर्वानशोभयदितियोजना, ते के इत्याकाङ्क्षायां षड्गुणरूपाश्चन्द्रमानवादय उक्ताः, एवं सप्तदशश्लोकानामर्था उक्ताः ॥ ३३ ॥ यथा ज्ञानामृतं काले इत्यत्र विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवाविचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदितिनिश्चयः असत्पात्राय विद्या न दातव्येत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

नीरजानां कुमुदादीनामुत्पत्तिर्यया तया शरदा नीराणि प्रकृतिं स्वच्छतां मधुरतां च निजस्वभावं ययुः । तत्र दृष्टान्तमाह–यथा दुःसङ्गेन योगभ्रष्टानां चेतांसि पुनर्योगस्य प्राणायामाद्यष्टाङ्गस्य नितरां सेवया प्रकृतिं स्वच्छतां यान्ति, तद्वदिति । 'अतो योगिभिर्दुःसङ्गपरिवर्जनपूर्वं योगनिषेवयैव कर्तव्या' इत्युपादेयोपमा ॥ ३३ ॥ यथा चतुर्णामाश्रमिणामशुभं कष्टं श्रीकृष्णे जाता भक्तिः हरति, तथा व्योमादीनां चतुर्णां मेघादिचतुरो मलान् शरदहरदित्यन्वयः । तथा हि—यथा ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थजलाहरणादिश्रमं भक्तिर्हरति, तथा परिपूर्णस्य कृतार्थस्य गुरुणा प्रयोजनाभावात् गुरुभिरपि तथाभूतस्यानियोगात् । एवं व्योम्नोऽब्दं मेघं शरज्जहार ॥ तथाच गृहिणोऽपत्यादिसाङ्कर्यं भक्तिर्हरति, तत्साङ्कर्यस्य भजनविरोधित्वेन विविक्तवासरुच्युत्पत्तेः । तथा भूतानां शाबल्यं साङ्कर्यं शरदहरत् । वर्षाभयेन व्यवहर्तॄणां हिंसाभयेन भिक्षूणां चैकत्र स्थितानां शरदि यथेष्टगमनात् ॥ यथा च वनस्थस्य मलं केशनखादिधारणक्लेशं भक्तिर्हरति, तद्रसिकस्य तत्राग्रहाभावात्, तथा भुवः पङ्कं शरदहरत् । यथा च यतीनां कामादिवासनामलं तद्दूरीकरणार्थप्रयत्नं च भक्तिर्हरति, तथा शुद्धचित्तस्य विरक्तस्य कृतकृत्यस्य कर्तव्याभावात् ॥ तथाऽपां मलं शरदहरत् ॥ 'अतश्चतुर्भिरप्याश्रमिभिः श्रीकृष्णे भक्तियाग एव कर्तव्य' इत्युपादेयोपमा ॥ ३४ ॥ जलदा मेघाः सर्वस्वं सर्वं जलं हित्वा शुभ्रं शुक्लं वर्चः कान्तिः येषां ते तथा सन्तो विरेजुर्विशेषेण दीप्तिमन्तो जाताः । यथा मुक्तं किल्विषं कर्म वासनारूपं येषां ते मुनयो मननशीलाः त्यक्ता पुत्रवित्तलोकैषणा यैस्ते, अत एव शान्ता अक्षुभितचित्ताः राजन्ते तथेति । तयाच 'मुमुक्षुणा सर्वं त्याज्यं, शुद्धता च सम्पादनीया' इति हेयोपादेयोभयोपमा ॥ ३५ ॥ गिरयः शिवं तोयं निर्मलं जलं क्वचिन्मुमुचुः, क्वचिच्च न मुमुचुः । न पुनः प्रावृषीव सर्वतः । यथा ज्ञानिनो ज्ञानामृतं मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानं कस्मिंश्चिदेव काले कस्मैचिदधिकारिणे ददते, उपाध्यायाः कर्मविद्यामिव नहि सर्वेभ्यो ददते । तथाच "ज्ञानस्य दुर्लभत्वात् जिज्ञासुभिः 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' इत्याद्युक्तरीत्या ज्ञानं ग्राह्यम्, गुरुभिश्चोपदेष्टव्यम्" इत्युपादेयोपमा ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

शरदेति ॥ नीरजानां कुमुदादीनामुत्पत्तिर्यया तया शरदा हेतुना नीराणि प्रकृतिं स्वच्छतां मधुरतां च निजस्वभावं ययुः । यथा दुःसङ्गेन योगभ्रष्टानां चेतांसि पुनर्योगस्य भक्तियोगस्य नितरां सेवया प्रकृतिं स्वच्छतां याति तद्वत् ॥ ३३ ॥ व्योम्न इति ॥ यथा चतुर्णामाश्रमिणामशुभं कष्टं श्रीकृष्णे जाता भक्तिः हरति "तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ॥ मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥" इत्याद्युक्तेः । तथा व्योमादीनां चतुर्णां मेघादिचतुरो मलान् शरदहरदित्यन्वयः । तथा हि यथा ब्रह्मचारिणो गुर्वर्थजलाहरणादिश्रमं भक्तिर्हरति तया परिपूर्णस्य कृतार्थस्य गुरुणा प्रयोजनाभावात् गुरुभिरपि तथाभूतस्यानियोगात् । एवं व्योम्नोऽब्दमावरकं मेघं शरज्जहार । अभ्रमित्यपि पाठः । यथा च गृहिणोऽपत्यादिसाङ्कर्यं श्राद्धादौ प्राप्तबन्धुसाङ्कर्यं च भक्तिर्हरति तत्साङ्कर्यस्य भजनविरोधित्वेन विविक्तवासरुच्युत्पत्तेः । तथाभूतानां शाबल्यं संमर्दं शरदहरत् । वर्षासु वृष्टिभयेन सङ्कुला लोका वसन्ति । शरदि तु व्यवहर्तॄणां भिक्षूणां चैकत्रस्थितानां यथेष्टगमनात् । यथा च वनस्थस्य मलं केशनखादिधारणक्लेशं भक्तिर्हरति तद्रसिकस्य तत्राग्रहाभावात् तथा भुवः पङ्कं शरदहरत् । यथा च यतीनां कामादिवासनामलं तद्दूरीकरणार्थप्रयत्नं च भक्तिर्हरति तथा शुद्धचित्तस्य विरक्तस्य कृतकृत्यस्य कर्तव्याभावात् तथाऽपां मलं शरदहरत् ॥ ३४ ॥ जलदा मेघाः सर्वस्वं सर्वं जलं हित्वा शुभ्रं शुक्लं वर्चः कान्तिः येषां ते तथा सन्तो विरेजुः । यथा मुक्तं किल्विषं कर्मवासनारूपं येषां ते मुनयः त्यक्ता पुत्रवित्तलोकैषणा यैस्ते अत एव शान्ता अक्षुभितचित्ताः राजन्ते तथा ॥ ३५ ॥ गिरय इति ॥ गिरयः

शिवं तोयं निर्मलं जलं क्वचिन्मुमुचुः क्वचिच्च न मुमुचुः न पुनः प्रावृषीव सर्वतः। तथा ज्ञानिनो ज्ञानामृतं मोक्षसाधनं तत्त्वज्ञानं कस्मिंश्चिदेव काले कस्मैचिदधिकारिणे ददते। उपाध्यायाः कर्मविद्यामिव नहि सर्वेभ्यो ददते ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नीरजानां पद्मानामुत्पत्तिर्यस्यां तया शरदा शरदृतुना प्रकृतिं स्वच्छस्वावं योगभ्रष्टानां ॥ ३३ ॥ चतुर्णां आश्रमिणां कृष्णे भक्तिः यथा अशुभं हरति तथा व्योमादीनां चतुर्णां अब्दादीन् शरज्जहार तयाहि वर्णिनः कृष्णे प्राप्ता भक्तिः अत्यंतस्नेहः गृहाश्रमस्पृहारूपं अशुभं यया हरति तथा व्योम्नोऽब्दं आकाशस्य मेघं शरज्जहार गृहस्थस्य सा भक्तिः वैराग्योत्पत्त्या पुत्रादिसंकीर्णतारूपं अशुभं यथा हरति तथा भूतानां प्राणिनां शावल्यं वर्षास्वेकत्र निवासेन प्राप्तसंकीर्णतां शरज्जहार वनस्थस्य मलधारणरूपं अशुभं वैष्णवदीक्षाप्राप्तौ सत्यां सा भक्तिः यथा हरति तथा भुवः पंकं शरज्जहार त्यागिनां असच्छास्त्राभ्यासेन जीवात्मपरमात्मनोरेकत्वावबोधनरूपं अशुभं श्रीकृष्णे प्राप्तैकांतिकी भक्तिर्यथा हरति तथा अपां जलानां मलं शरज्जहार ॥ ३४ ॥ सर्वस्वं समग्रजलं त्यक्त्वा श्वेतकांतयः त्यक्ताः सुतधनलोकानामेषणा यैस्ते अतो मुक्तं त्यक्तं किल्विषं सूक्ष्मवासनारूपं पापं यैस्ते ॥ ३५ ॥ शिवं निर्मलं क्वचित्स्थाने मुमुचुः क्वचिन्न मुमुचुः ज्ञानरूपममृतं काले मुमुक्षुसमागमसमये ददते अन्यत्र न ददते ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ मुमुक्षूणां हितं दर्शयन्निव समीचीनैर्दृष्टान्तैः शारदिकान् धर्माननुवर्णयति, शरदा नीरजोत्पत्त्येत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति॥ शरदेति॥ नीरजानां कमलानामुत्पत्तिर्यस्यां सा तया, शरदा हेतुभूतया, नीराणि प्रावृट्कालाविलजलानि, प्रकृतिं स्वच्छत्वाविकारित्वशान्तत्वादिरूपस्वस्वभावं, ययुः। भ्रष्टानां योगभ्रष्टानां योगिनां, चेतांसि चित्तानि, पुनः योगनिषेवया इव, अयं भावः। महासरोवरादौ पूर्वगतशरदा जलानि निर्मलान्यासन्, ततः प्रावृषा तान्येवाविलानि जातान्यपि पुनरागतशरत्संगतः स्वप्रकृतिमाययुः। यथा पूर्वं योगसंशीलनतः शुद्धान्यपि योगभ्रष्टानां चेतांसि भूयोऽपि योगनिषेवया पूर्वप्रकृतिं यान्ति यद्वदिति। अनेन योगभ्रंशेन चित्तकालुष्ये सति पुनर्योगमेव सेवेतेति शिक्षितम्॥ ३३॥ व्योम्न इति॥ व्योम्न आकाशस्य संबन्धिनं, अभ्रं मेघमभ्रवृन्दमित्यर्थः। शवलस्य संकीर्णस्य भावः शावल्यं संकीर्णत्वं भूतानां प्राणिनां शावल्यमेकत्र स्थित्या संकीर्णत्वं तत्। यद्वा। भूतशावल्यं ज्योतिःसलिलमरुतां शावल्यं संपर्कं, वर्षासु तेषां मिथःसंपर्काच्छरदि तन्निवृत्तेः। भुवः पृथिव्याः संबन्धिनं, पङ्कं कर्दमं, अपां तडागादिगतजलानां, मलं कालुष्यं, शरद् जहार। व्योमभूतपृथ्वीजलानां क्रमेणाभ्रशावल्यपङ्कमलानि चत्वारि शरदपाहरदित्यर्थः। कथमिव। यथा आश्रमिणां व्योमादिचतुरुपमानभूतानां चतुर्णामाश्रमिणां, अशुभमशुभानि, कृष्णे भक्तिः, हरति तद्वत्। यथा श्रीकृष्णभक्तिर्ब्रह्मचारिणः गुरूपदिष्टार्थग्रहणप्रतिबन्धकमज्ञानात्मकमशुभं हरति तद्वच्छरद्व्योम्नोऽभ्रं जहार। यथा कृष्णभक्तिः गृहस्थस्य नानाविषयासक्तिदोषं हरति तद्वच्छरद्भूतशावल्यं जहार। यथा श्रीकृष्णभक्तिः वनस्थस्य क्वचिदशक्त्या स्वाश्रमोचितकर्माननुष्ठानप्रयुक्तप्रत्यवायं हरति तद्वच्छरद्भुवः पङ्कं जहार। यथा श्रीकृष्णभक्तिः यतिनः श्रीकृष्णप्राप्तिप्रतिबन्धकं पुण्यपापात्मकमशुभं हरति तद्वच्छरदपां मलं जहार। अनेन चतुर्भिरप्याश्रमिभिरवश्यं श्रीकृष्णभक्तिः कार्येत्युक्तं भवति॥ ३४॥ सर्वस्वमिति॥ जलदा मेघाः, सर्वस्वं स्वेषां सर्वस्वतारूपं जलं, हित्वा त्यक्त्वा, शुभ्रं वर्चो येषां ते तथाभूताः सन्तः, विरेजुः। यथा मुनयो भगवन्मननशीलाः, त्यक्ता एषणा दारपुत्रधनानां प्राप्तिर्वाञ्छा यैस्ते, मुक्तानि निरस्तानि किल्बषाणि पापानि यैस्तथाभूताः, अत एव शान्ता उपशमान्विता जनाः, राजन्ते तद्वत्। अनेन जनैः सर्वथा दुःखदा एषणास्त्याज्या इत्युक्तम्॥ ३५॥ गिरय इति॥ गिरयः पर्वताः, क्वचित् शिवं निर्मलं, तोयं जलं, मुमुचुः। क्वचित् न मुमुचुश्च। यथा ज्ञानिनः, क्वचित् ज्ञानामृतं तत्त्वत्रययाथात्म्यज्ञानात्मकं पीयूषं, केभ्यश्चिच्छुश्रूषुभ्यः, काले ददते, केभ्यश्च न वा ददते तद्वत्। अनेन सर्वेभ्योऽपि प्रष्टृभ्यो ज्ञानिभिर्ज्ञानं नोपदेष्टव्यमित्युक्तं तथैवोक्तं भगवता। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इति॥ ३६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

शरदेति : १०.२०.३३.

भ्रष्टोऽपि योगकलनादुपयाति चेतशुद्धिं यथा हि शरदा विमलत्वमम्भः।
यत्तत्त्वदङ्घ्रिजुषि सज्जनयोगभाजि भ्रष्टो जडस्त्वमिति वक्तुमनर्हमीश ॥ ५२॥

व्योम्न इति : १०.२०.३४.

सर्वेषामाश्रमिणामप्यशुभघ्नो तवेश पदभक्तिः। शरदिव गगनादेरिति सर्वस्पृह्या तु का कथैकस्य॥ ५३॥

सर्वस्वमिति : १०.२०.३५.

वसुसङ्ग्रहादिहाब्दो लभते तव कृष्णरूपमथ शुद्धम्। त्यागाच्चेति न विद्यो ज्यायस्तव मतमिहास्ति कतरदलम्॥ ५४॥

गिरय इति : १०.२०.३६.

न गिरो गिरयो वास्मिन् बह्व्यो बहवश्च तादृशो यत्र। ज्ञानामृतरसलाभस्तस्मात् सर्वेष्टदः प्रभुः सेव्यः॥ ५५॥

कृष्णप्रिया

शरद ऋतु में कमलों की उत्पत्ति से जलाशयों के जलने अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त कर ली–ठीक वैसे ही जैसे योगभ्रष्ट पुरुषों का चित्त फिर से सेवन करने से निर्मल हो जाता है ॥ ३३ ॥ शरद ऋतु ने आकाश के बादल वर्षाकाल के बढ़े हुए जीव पृथ्वी की कीचड़ और जल के मटमैलेपन को नष्टकर दिया जैसे भगवान की भक्ति ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यासियों के सब प्रकार के कष्टों और अशुओं का झटपट नाश कर देती है ॥ ३४ ॥ बादल अपने सर्वस्व जल का दान करके उज्ज्वल कान्ति से सुशोभित होने लगे ठीक वैसे ही जैसे–लोकपरलोक, स्त्री पुत्र, और धन-सम्पत्ति सम्बन्धि चिन्ता और कामनाओं का परित्याग कर देने पर संसार के बन्धन से छुटे हुए परमशान्त संन्यासी शोभायमान होते हैं ॥ ३५ ॥ अब पर्वतों से कहीं कहीं झरने झरते थे और कहीं कहीं वे अपने कल्याणकारी जल को नहीं भी बहाते थे, जैसे ज्ञानी पुरुष समय पर अपने अमृतमय ज्ञान का दान किसी अधिकारी को कर देते हैं, और किसी किसी को नहीं भी करते ॥ ३६ ॥

नैवाविदन्[1] क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः । यथाऽऽयुरन्वहं [2]क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७ ॥
गाधवारिचरास्तापम[3] विन्दञ्छरदर्कजम् । यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
शनैः शनैर्जहुः पङ्कं स्थलान्यामं[4] च वीरुधः । यथाहंममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥
निश्चलाम्बुरभूत्तूष्णीं समुद्रः शरदागमे । आत्मन्युपरते [5]सम्यङ्मुनिर्व्युपरतागमः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मूढाः कुटुम्बिनः नराः यथा, अन्वहम् क्षय्यम् आयुः न विदन्ति, तथा गाधजलेचराः क्षीयमाणम् जलम् न एव अविदन् ॥ ३७ ॥ दरिद्रः अविजितेन्द्रियः कृपणः कुटुम्बी यथा तापम् विन्दते, तथा गाधवारिचराः तापम् अविन्दन् ॥ ३८ ॥ धीराः शनैः शनैः अनात्मसु शरीरादिषु अहम् ममताम् यथा जहति, तथा स्थलानि पङ्कम् च वीरुधः आमम् जहुः ॥ ३९ ॥ मुनिः आत्मनि सम्यग् उपरते यथा व्युपरतागमः भवति तथा शरदागमे समुद्रः निश्चलाम्बुः सम्यक् तूष्णीम् बभूव ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

शनैःशनैरिति । तत्र ममतामिव पंकमहंतामिव आमतामपक्वतां जहुरिति ॥ ३७ ॥ आत्मन्युपरते त्यक्तक्रियो मुनिरिव निश्चलांबुः स एव व्युपरतागमो निवृत्तवेदघोष इव तूष्णीमभूदिति ॥ ३८ ॥ केदारेभ्यो बद्धसेतुशालिक्षेत्रेभ्यो दृढैः सेतुभिरपोऽगृह्णन् ततः परं वृष्ट्यभावात् । प्राणैरिंद्रियैः । तन्निरोधेनेंद्रियप्रत्याहारेण ॥ ३९ ॥ देहाभिमानजं बोध इव व्रजयोषितां तापं मुकुंद इव चेत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र तयोः । स्थलानि भूप्रदेशाः । वीरुधं तत्फलानि ॥ ३७ ॥ आत्मनि मनसि । यद्वा—उपे शर्वपाले हरौरते सति स इव मुनिरिव ॥ ३८ ॥ कर्षकाः कृषीवलाः ॥ ३९ ॥ देहोऽहमित्यभिमानेन जातं तापम् । बोध आत्मज्ञानम् । मुकुंदो व्रजयोषितां तातं यथेति दृष्टांत्तद्वयमत्र इवशब्दाध्याहारेण ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गाधजलचरत्वेन जलक्षयज्ञानयोग्यतोक्ता तथापि नैवाविदन् दृष्टान्ते च कुटुम्बित्वेन कुटुम्बमरणादिदर्शनादायुःक्षयज्ञानं सम्भावितमेव ॥ ३७ ॥ न च तेषां जलक्षयज्ञानेन भयादिराहित्यात् सुखं किन्तु दुःखं महत्त्यादेवेत्याह—गाधेति । शरदर्कजमिति तापस्य तैक्ष्ण्य युक्तं दरिद्रः निर्द्धनः तत्र च कृपणः धनार्थोद्यमक्लिष्टः तत्रापि कुटुम्बी स्त्रीपुत्रादिभरणार्थबहुलधनापेक्षक इत्यर्थः । तत्राप्यविजितेन्द्रियः लोभादिपर इत्यर्थः । अत एव तापं त्रिविधं लभ्यते ॥ ३८ ॥ ममताया बाह्यविषयत्वात् पङ्केन अहन्तायाश्चान्तरविषयत्वादामतया साम्यम् ॥ ३९ ॥ समुद्र इति पूर्वोक्तसिन्धुवत् सम्यगुपरते परित्यक्तक्रिये आत्मनि स्वस्मिन् अन्यत्तः तत्र स एव समुद्र एव तूष्णीं बभूवेत्यन्वयः । व्युपरतेत्यादिद्वयं मुनिविशेषणं ज्ञेयं यद्वा कामादिभ्यो विरते चित्ते यतो मुनिः आत्मारामः अत एव व्युपरतागमः गृहीतमौन इत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गाधजलचरत्वात् क्षुद्रा ज्ञेयाः, अतएवायुस्तुल्यं जलं क्षीयमाणमपि न ज्ञातवन्तः । मूढा अविवेकिनः स्त्रीपुत्राद्यासक्ता इति क्रमेण क्षुद्रत्व-गाधजलचरत्वाभ्यां साम्यं कुटुम्बित्वमेव, तथापि साक्षात् पित्रादिमरणानुमानेनापि नावकलयन्तीत्याशयेन जलचरोऽपि

१. विन्दन्क्षीय–वीर. विज. । २. क्षीणं–वीर. । ३. स्तापमविदन्–विज. । ४. न्यासंच–विज । ५. यद्वन्मुनि–वीर. विज. ।

विशेषमाह—मूढ़ा इति। यद्वा, गाधजलचरत्वेन जलक्षयज्ञानयोग्यतोक्ता, तथापि नैवाविदन्, यतो मूढ़ा निर्बुद्धयः। एवमन्वह-मित्यस्यापि पूर्व्वेणाप्यन्वयः। दृष्टान्ते च कुटुम्बित्वेन कुटुम्बमरणादिदर्शनादायुःक्षयज्ञानं सम्भावितमेव, अन्यत् समानम्॥ ३७॥ न च तेषां जलक्षयाज्ञानेन भयादिराहित्यात् सुखं किन्तु दुःखं महत् स्यादेवेत्याह—गाधेति। पुनस्तदुक्तिस्तथा तेषामेव तापप्राप्ति-दार्ढ्यार्थम्, अगाधजलचारिणां तादृशत्वाभावबोधनार्थञ्च। शरदर्कजमिति - तापस्य तैक्ष्ण्यमुक्तम्; दरिद्रो निर्धनस्तत्र च कृपणो धनायोद्यमक्लिष्टः, तत्रापि कुटुम्बी स्त्रीपुत्रादिभरणार्थं बहुलधनापेक्षक इत्यर्थः तत्राप्यविजितेन्द्रियः शोभापर इत्यर्थः। अतएव तापं त्रिविधं दुःखातिशयं वा लभते॥ ३८॥ स्थलानि वीरुधश्च क्रमेण पंकमामताञ्च जहुः, आदिशब्देन ममताविषयाः पुत्रादयः, अनात्मसु आत्मव्यतिरिक्तेष्विति त्यागे हेतुः, यतो धीरा विवेकिनः, तत्र ममताया बाह्यविषयकत्वात् पंकेन, अहन्तायाश्चान्तर-विषयत्वादात्मतया साम्यम्॥ ३९॥ समुद्र इति पूर्व्वोक्तसिन्धुवत्, सम्यगुपरते परित्यक्तक्रिये आत्मनि देहे स्वस्मिन् वा अन्यत्ते-र्व्याख्यातम्। यद्वा, कामादिभ्यो विरते चित्ते, यतो मुनिः आत्मारामः, अतएव व्युपरतागमो गृहीतमौन इत्यर्थः॥ ४०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

गाधजलेचराः अल्पजलचारिणः॥ ३७-३८॥ आमं जलजाड्यम्॥ ३९॥ मनस्युपरते श्रीभगवद्व्याख्यानरते सति विशेषेण उपरतागमः शास्त्रव्याख्यानरहितो यथा भवतीति॥ ४०-४२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नैवेति। गाधजलेचराः अल्पजलचारिणः क्षीयमाणं जलं नैवाविन्दन्नेव ज्ञातवन्तः यथा मूढाः अज्ञाः कुटुम्बपोषणरताः नरा अल्पायुषस्तथाप्यन्वहं क्षीयमाणमायुः न जानन्ति तद्वत् अनेन कुटुम्बिभिरपि देहात्मनोर्याथात्म्यं परिशीलयद्भिरन्वहमायुः-क्षयानुसन्धाननिमित्तपरितापवद्भिश्च भवितव्यमित्युक्तं भवति॥ ३७॥ गाधेति। गाधवारिचराः क्षुद्रजलचराः शरदि योऽर्कस्तज्जं तापमविन्दन् लेभिरे यथाऽजितेन्द्रियः इन्द्रियपरतन्त्रः कुटुम्बी दरिद्रः धनधान्यहीनः कृपणः दीनः क्षुत्प्रयुक्तं तापञ्जानाति तद्वत् जितेन्द्रियेण भवितव्यमिति सूचितम्॥ ३८॥ शनैश्शनैरिति। स्थलानि शनैः शनैः पङ्कं जहुः वीरुधस्त्वाममपक्वतां जहुः यथा धीराः ज्ञानिनः शरीरादिषु देहेन्द्रियादिषु अनात्मस्वात्मव्यतिरिक्तेष्वहम्ममहन्तां ममतां च जहति तद्वत् तत्राहन्तासाम्यं पङ्कस्य ममतासाम्यमामस्येति विवेकः अवश्यं ज्ञानिभिरहङ्कारममकारौ यत्नेन परिहर्त्तव्यावित्युक्तं भवति॥ ३९॥ निश्चलेति शरदागमे शरदः प्रवृत्तौ सत्यां समुद्रो निश्चलाम्बुधस्तूष्णीं बभूव यथा मुनिः शुभाश्रयमननशीलः व्युपरतः आगमः अन्नपानाद्यागमो यस्य स अनुपनतान्नपानोऽपि आत्मनि शरीरे उपरतेऽपि आदिकर्मणिक्तः उपरन्तुमारब्धवत्यपि देहविपत्तिपर्यन्तं दशायामपि निश्चलस्तूष्णी-मास्ते तद्वत् मुनिनैवं भवितव्यमिति शिक्षा॥ ४०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गाधजलेचराः अल्पजलनिवासिनो मत्स्यादयः प्राणिनः क्षीयमाणं शुष्यमाणं जलं दृष्ट्वा सुखं नैवाऽविन्दन् अन्वहं क्षय्यं क्षीयमाणम् अन्तं गच्छदायुः अनेन संसारस्याऽनित्यत्वेन असारत्वं संसूचितवान्॥ ३७॥ शरदर्कः शरदृतुसम्बन्धी सूर्यः तस्माज्जातः शरदर्क्कजं तं कुटुम्बसम्बद्धं तापम्॥ ३८॥ वीरुधः आसन् अङ्कुरिताः अनात्मव्यतिरिक्तेषु जडेष्वित्यर्थः॥ ३९॥ उपरते उपरत-विषयव्यापारे आत्मनि मनसि। यद्वा, उपे सर्वाधिपे हरौ रते सति उपरतागमः निवृत्तशास्त्रश्रवणादिकः समाधिस्थ इत्यर्थः॥४०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गाधे अल्पप्रमाणे जले चरन्तीति मीनादय इतीयं हेया॥ ३७॥ अविन्दन् लेभिरे यथा दरिद्र इत्यतः पूर्वश्लोके सम्पन्नाः कुटुम्बिनो ज्ञेयाः तेषामेव तत्तापं वर्णयति—गाधेति॥ ३८॥ आत्मा भक्त्यनुकूलो जीवात्मा परमात्मा कृष्णश्च तद्व्यतिरिक्तेषु शरीरादिषु तत्र तत्र तु अहन्ताममते यत्नेन भावयित्वेति भावः इत्युपादेया॥ ३९॥ आत्मन्युपरते त्यक्तक्रिये सति निश्चलचित्तो मुनिरिव निश्चलाम्बुः समुद्रः मथुरापश्चिमदिशि सातोयास इति ख्यातः व्युपरतागमो निवृत्तवेदघोषो मुनिरिव तूष्णीमितीयमु-पादेया॥ ४०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नवाविन्दन् नैव ज्ञातवन्तः॥ ३८॥ आममपक्वभावम्॥ ३९॥ आत्मनि मनसि उपरते ऐहिकामुष्मिकभोगेषणतो निर्विण्णे सति व्युपरतागमः त्यक्तप्रवृत्तिशास्त्रघोषः॥ ४०॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गाधजले स्वल्पाम्बुनि चरन्तो मीनादयो नैवाविदन् कुटुम्बपोषणैकरताः सम्पन्नाः यथायुरिति हेयेयम्॥ ३७॥ अविन्दन् लेभिरे कृपणो दीनः जितेन्द्रियस्य तु दारिद्र्यं भूषणमिति भावः॥ ३८॥ स्थलानि पङ्कं शनैः शनैः जहुः वीरुधश्चाममपक्वतां

यथा धीरा हरिभक्ताः शरीरेष्वहन्तां गृहादिषु ममतां च जहति शरीरादीनामनात्मत्वेनानहमर्थत्वात् गृहादेः परेशस्याधीनत्वादि-त्युपादेयम् ॥ ३९ ॥ शरदागमे समुद्रो निश्चलाम्बुरभूत् यथात्मनि चित्ते भगवत्युपरते समाहिते मुनिस्तूष्णीं सन् व्युपरतागमो निवृत्तवेदघोषो भवति तद्वदित्युपादेयम् ॥ ४० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यथा शरीरादिष्वनात्मस्वस्वसम्बन्धिषु धीरा धैर्यवन्तो योगिनोऽहंममतां त्यजन्ति। वीरुध आसन्नित्यनुरूपमङ्कुरणं कस्येत्यतोऽप्याह ॥ धीरा इति। धियां रता इति। एतेन वीरुद्वीजवद्वुद्धिबीजे सति सुकर्मरूपे तत्प्ररोहणं ज्ञेयं। यथा स्थलानि पङ्कं शनैर्जहुस्तत्र वीरुधस्तृणानि चासन् ॥ ३७ ॥ यथाऽऽत्मनि मनस्युपरते विषयेभ्योऽस्पृहया मुनिरुपरतागम उप एव मनोनि-यामकश्चेन्द्रे हरौ रतास्तन्मात्रपरत्वेन योजितागमास्तदुपलक्षितसर्वे शब्दा अन्तरे च येन सः। व्युपरतागमो विर्भगवानेवोप इति रतागम इति वा। उपरतो निवृत्त आगम इतरत्र गमागमौ यस्येति वा समाधिस्थस्तत्काले वेदाध्ययनाध्यापनादिरहित इति वा। असम्प्रज्ञातसमाधिस्थोऽयं तथा शरदागमे समुद्रो निश्चलाम्बुर्निश्चलान्यम्बूनि जलानि यस्य स तूष्णीमभूत्। शरेण द्यति खण्डयतीति तद्वद्योगवान्। शरदो रामस्तस्यागमे सति यथा समुद्रस्तूष्णीं निश्चलाम्बुरभूत्तथेति वा। प्रत्यक्षसिद्धमिदमेकान्तरामेश्वरे ॥ ३८ ॥ यथा तन्निरोधेन तेषामिन्द्रियाणां निरोधेऽप्रसरणमन्यत्र तेन प्राणैरिन्द्रियैर्योगिनः समाधिस्थाः स्वविज्ञानं स्वज्ञानं परमात्मज्ञानं चाप्नुवन्ति। तथा कर्षकाः कृषीवलाः केदारेभ्य इतरकृषिभ्यश्चतुर्थी च दृढसेतुभिर्मर्यादामार्गं बद्धसेतुभिरपोऽगृह्णन् स्वकृषिं त्यक्त्वा यथा न गच्छेयुरापस्तथा चक्रुरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ शरदर्कश्चांशुरंशुकं च ताभ्यां जात इति स तं तापं भूतानां व्रजयोषितां चोडुपश्चन्द्रो मुकुन्दश्च जहारेति पृथक् पृथगन्वयः। तत्र निदर्शनमाह ॥ बोध इति। सज्ज्ञानं देहाभिमानजं मिथ्याज्ञानमिव यथा तद्धरति तथेति। अंशुः सूत्रादिसूक्ष्मांशकिरणे चण्डदीधितौ। उपादानोपादेययोरभेदात्सूत्रसूक्ष्मांशवाच्यंशुपदेन वस्त्रग्रह इति ज्ञेयं। अथवा आ अंशवो यस्मिन्निति पाठो गृह्यते। तत्परिधानजनितधर्मस्य तन्मोचनेन कृष्णकृतं हरणं ज्ञेयं। रासोत्सवस्मरणलालसमानसानां नासह्य-बन्धमिह मोचयतीत्यपूर्वं। यत्केशपक्षकुचकुङ्कुमरम्यनीवीग्रन्थिं स विश्लथयति व्रजवल्लवीनामित्यादेः। दृष्टान्तद्वयमिति वा ॥४०॥

श्रीसुबोधिनी

एवं शरदो ज्ञानोपयोगित्वमुक्त्वा वैराग्योपयोगित्वमाह **नैवाविदन्निति**, जलस्य क्षयकर्त्री शरज् जलं च गाधं परिमितं, जलचरा जल एव क्रियाशक्तियुक्ता भवन्ति, जले गते गता एव तेन जलेन सह यद्यगाधे जले प्रविष्टा भवेयुस्तदा न कापि चिन्ता स्यात्, जलेपि स्थित्वा जलक्षयं न ज्ञातवन्तः, अत एव न प्रयत्नं कृतवन्तः, एतदपि स्वाभाविकं चेन् न शरदुपयोग इति शाङ्कीयत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह **यथायुरिति**, आयुषा हि पुरुषार्थाः सम्पादनीयास्तच्चायुः परिमितं तादृशेनाल्पायुषा वृथा व्ययस्थानं गृहं परित्यज्य निर्भयं भगवच्चरणं चेद् गच्छेत् तदा न काचित् क्षतिराधिदैविकायुषः पूर्णस्य तत्र विद्यमान-त्वात् सर्वोपेष्टसाधने प्रवर्तत इति प्रवृत्त्यभावे ज्ञानाभाव एव हेतुः, अतोज्ञानं निन्द्यत आयुः क्षीयमाणं न विदुरिति, क्षय्यपदेन शक्यता निरूपिता, यद्ययमक्षयं कर्तुं वाञ्छति तदाक्षयमपि भवति, आयुः प्राणविशेष इति पूर्वमुक्तं 'शतायुः पुरुष' इत्यपि सर्वत्र मृत्यवोप्युक्ताः प्रतीकाराश्च, अत आयुः क्षय्यमित्युक्तं, अन्वहमिति पश्चाज्ज्ञाने पश्चात्तापाभावाय, अज्ञाने हेतुत्रयं नरत्वं मूढत्वं कुटुम्बित्वं च स्वभावतः शाश्वतः सङ्गतश्चेति ज्ञानाभावो निरूपितः ॥ ३७ ॥ ननु क्वचिदज्ञानमपि सुखकरं भवति तथा नरत्वाद-योष्यतो वैराग्याभाव ऐहिकं सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याह **गाधवारिचरा इति**, अल्पवारिचरा विद्यमानेपि जले शरदा कृत्वा खेदं प्राप्तवन्तः, अज्ञानं तदैवोपयोगि यदि कालेन कर्मणा वा न पीड्यते, अतोत्र शरदा मेघा निवर्तिता इति जलशोषकस्य तापजनकस्य सूर्यस्य व्यवधायकाभावाज् जलतापे तप्ता भवन्ति, तत्रापि पूर्ववद् दोषपरिहारायाह **यथेति**, दोषचतुष्टयाभावे दुःखाभावः प्रत्येकसमुदायाभ्यां तारतम्येन, अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाः सुखदातारस्ते सर्वे स्वभावदोषसहिताः, तत्र दारिद्र्यं सर्वविषयनाशकं बहिर्मुखस्य दुःखदायि कार्पण्यमन्तःकरणदोषो लोभात्मकः, दरिद्रोपि भूत्वालुब्धो यदि भवति तदा न प्राप्नुयाद् दुःखं, तत्राप्येकाकी चेन् न काचित् क्षतिः प्रत्युत कुटुम्बी, देहदोषोयं, तथाभूतोपि यदि जितेन्द्रियः स्यान् न काचिच् चिन्ता, न विजितानि विशेषेणेन्द्रियाणि येन ॥ ३८ ॥ एवं शरत्कृतं दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितं केवलान् गुणानाह **शनैःशनैरित्ये-**कादशभिः, शनैःशनैः क्रमेणैव **स्थलानि पङ्कं जहुः**, तामसाः स्वतामसदोषं जहुः, **वीरुधो** लतागुल्मादय आममपक्वतां जहुः, चकाराद् वृक्षा अपि सात्त्विका आममेव जहुः, पूर्ववदेवाह **यथाहम्ममतामिति**, ममता पङ्कस्थानीया, अहन्तामस्थानीया, अहन्ताममतात्यागे यद्यपि शास्त्रं हेतुस्तथापि धैर्याभावात् स्वाभाविकदोषेण पीडिताः शास्त्रीयं न मन्यन्तेतो धैर्यमेव हेतुत्वेनाह महतां ममतैवान्येषामहन्ताप्यतो द्वयमप्युक्तमभेदश्च, केचिदत्रात्मतादात्म्यमात्मसम्बन्धश्चाहुः, अहङ्कारो ब्रह्मवादे नैयायिकादिसिद्धान्ते च नास्ति तत्रात्मबुद्धिरेवेति स्वयमात्मत्वमध्यस्यत इत्यपरे, तादात्म्यमित्यन्ये, सर्वथा त्याज्यमेव, गौणपक्षेपि त्यागमर्हति, करणपक्षे तु ममता कार्यार्थं इति न त्यागः, अत एव धीरा इत्युक्तं न तु भक्ताः, आदिशब्देन पुत्रादयः, तेष्वप्यहन्ता केषाञ्चिद् वैदिके त्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां च शनैस्त्यागस्त्यक्तांशस्य पुनरग्रहणार्थं त्यागे भिन्नत्वं हेतुरिति तदुपपादयत्यनात्म-

स्विति ॥ ३९ ॥ एवं बहिर्दोषं परिहृत्य ततोन्तरङ्गदोषपरिहारार्थं समुद्रं निरूपयति निश्चलाम्बुरिति, पृथिव्यपेक्षया जलमुत्तमं जले च **समुद्रः**, तत्र चाञ्चल्यं दोषो रजःसम्बन्धस्तत्र स्वभावत एव नास्ति शब्दश्च दोषश्चलनेनैवोत्पद्यते, उभयमपि राजसं, तामसं पृथिव्यामेवोक्तं च, तदुभयाभावमाह **निश्चलाम्बुरिति, तूष्णीमभूदिति**, तत्र हेतुः शरदेव, पूर्ववद् दृष्टान्तमाह, आत्मन्यन्तःकरणे **सम्यगुपरते** लयविक्षेपरहिते जाते **मुनिर्मननशील उपरतागमोपि** भवति निवृत्तवेदार्थानुसन्धानो भवति, यतोयं सम्यङ् मुनिनिष्पन्नमनननिदिध्यासनसाधनः, **आगमः** शब्दश्चाञ्चल्याभाव **उपरतिः**, सात्त्विकस्तु तथा दोषो न भवतीति पृथिवीजले एव निरूपिते ॥ ४० ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

नैवाविदन्नित्यत्र नन्वायुर्जीवितकालस्तस्य क्षीयमाणत्वं कालोपाधिभिर्नियतं तथा सति तस्य स्वकृत्या कथमक्षय्यत्वमित्याकाङ्क्षायामायुषः स्वरूपमाहुरायुरित्यादि, 'आयुः प्राण' इतिश्रुतेः स तथा, तथा च श्रुतावनेकमृत्युपक्षस्य तत्प्रतीकाराणां चोक्तत्वात् तत्करणे तस्याक्षय्यत्वं शास्त्रसिद्धमतस्तथेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ **गाधवारीत्यात्राभासे क्वचिदित्यादि** विषयभोगादौ विषयस्वरूपयाथात्म्याज्ञानमेव **सुखकरमित्यज्ञानहेतवो नरत्वादयोपि** तथेति **वैराग्याभावे** तथेत्यर्थः, **पूर्ववदिति** वर्षावर्णन इव, तथा च व्रजे तापतप्ता **गाधवारिचरा** एव न तु दरिद्रादयस्तेषमेवाभावादित्यर्थः ॥ ३८ ॥ **शनैः शनैरित्यस्याभासे दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितमिति दोषत्रयं गुणसहितमुक्त्वेतिसम्बन्धः**, ज्ञानिनां कदाचिद् दातृत्वं कुटुम्बिदरिद्रयोरायुरज्ञानं तापश्चेतिदोषत्रयं ज्ञानोपयोगित्वं वैराग्योपयोगित्वं च **गुणाविति** तत्सहितमित्यर्थः, **पूर्ववदेवाहेति** वर्षावर्णन इव गुणत्रोधनाय शास्त्रीयं दृष्टान्तमाहेत्यर्थः, ननु यद्येवं तदा ज्ञानिन इति वक्तव्यं न तु धीरा इत्याकाङ्क्षायां धीरपदतात्पर्यमाहुर्**हं चेत्यादि, स्वाभाविकदोषेणेति** गुणक्षोभेण सकार्येण, **शास्त्रीयमिति** ज्ञानरूपं साधनं, **अत इति** धैर्यस्यावश्यकत्वात् तथा चावश्यकत्वात् सहकारिणं धैर्यमेव हेतुत्वेनाहेत्यर्थः, **शरीरादिष्वित्यत्रा**दिपदेनेन्द्रियप्राणान्तःकरणान्युच्यन्त इत्यहन्तात्याग एव वाच्य इत्युभयकथनस्य किं प्रयोजनमित्यतस्तत्तात्पर्यमाहुर्**महतामित्यादि, अभेदश्चे**ति वक्ष्यमाणरीत्या गौणात्मबुद्धित्वेनाभेदादेकपदोक्तिरित्यर्थः, ननु तत्रो द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणतायां भेदोपि सङ्गच्छत इति तदङ्गीकारे को दोष इत्यतस्तदुपपादनायाहन्ताममतयोः स्वरूपं विचारयन्ति **केचिदित्यादि**, तदा च ते सम्बन्धविशेषाविति पदार्थान्तरं तत्र तादात्म्यस्याशक्यत्यागत्वादहन्तास्थले तन्मतमयुक्तमित्याशयेन स्वमतमाहुर**हङ्कार इत्यादि, तत्रात्मबुद्धिरिति** गौणी शरीरादिष्वात्मबुद्धिः, मतान्तरमाहुर**ात्मत्वमित्यादि**, अतोहन्तास्वरूपं मतभेदेन नाना ममतास्वरूपं तु सर्वत्रात्मसम्बन्धिबुद्धित्वमेवेति बोध्यं, अत्र यद्यप्यहन्तायां नाना मतान्युक्तानि तथापि बालस्य स्वशरीरेहम्बुद्धिदर्शनेन **बाले** च प्राचीनसंस्कारस्य नष्टतयाध्यासलक्षणस्य तत्राभावाच्छरीरात्मनोर्भेदेन तत्र तादात्म्यस्य वक्तुमशक्यत्वाच्चाध्यासादिविलक्षणा नटे रामादिबुद्धिवदियं त्यागानर्हा स्यादिति व्याख्येयग्रन्थविरोध इत्यत आहुः **सर्वथेत्यादि**, तथा च सानपकारित्वात् त्यागानर्हेयन्त्वपकारिणीत्यस्यास्त्यागो युज्यत इति न व्याख्येयविरोध इतिभावः, नन्वत्रायं दृष्टान्तो न युक्तो भक्तानां भगवति ममतादर्शनेन तस्याश्चाहन्तां विनासम्भवेन ममताद्वारा तस्या निरोधकरजत्वेनोपकारित्वादित्यत आहुः **करणपक्षे त्वित्यादि, त्यागाभावे गमकमाहुरत एवेत्यादि**, तथा चाधिकारिभेदान् न दोष इति **धीरपदमेव गमकमतो** दृष्टान्तस्य नायुक्तत्वमित्यर्थः, नन्वादिपदेन पुत्रादिग्रहणेहन्ताममतयोर्भेद एवायातीति तयोः कथमभेद इत्यत आहुस्**तेष्वित्यादि, केषाञ्चिदिति** प्राकृतानां, **वैदिके त्विति** तुरप्यर्थो ज्ञेय 'आत्मा वै पुत्रनामासी'रिति 'तदेतर्थवृगलमि'वेति श्रुतिभ्यां तस्मादहन्ताममतयोरभेद एव ॥ ३९ ॥ **निश्चलाम्बुरित्यत्र** जलदोषनिवृत्तेः पूर्वं 'नीराणि प्रकृति ययु'रित्यत्रोक्तत्वात् पुनरुक्तिरापतेदिति प्रकृते विशेषमाहुर**न्तरङ्गेत्यादि, रजःसम्बन्ध इति** वेणुसम्बन्ध इत्यर्थः, ननु व्रजाद् दूरस्थत्वेनात्र समुद्रनिरूपणं कुतस्तत्र लीलाभावादिति न शङ्कनीयमिह तत्र तदभावेपि द्वारकालीलायां तदुपयोगस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र हि सार्वत्रिकीर्लीला अभिप्रेत्य तत्र तत्र निरूपणं क्वचिद् दृष्टान्तमुखेन व्यज्यते क्वचिद् दार्ष्टान्तिक उच्यत इति समुद्रनिरूपणस्यापि युक्तत्वादिति ॥ ४० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नैवाविदन्नित्यत्र गत एवेति नष्टा एव भवेयुरिति शेषः, **स्वाभाविकमिति** लोकसिद्धानुवादरूपमित्यर्थः, **शरदुपयोग इति** आध्यात्मिकया इत्यर्थः, **शास्त्रीयत्वेति** तात्पर्यरीत्याऽत्रत्यकुटुम्बिस्वरूपबोधनार्थमित्यर्थः, अत्र दृष्टान्तसधर्मा जलेचरा एव न तु तादृशा नरा अत्रेति भावः, तथा च शास्त्रीयत्वं शास्त्रोक्तलीलासृष्टिस्वरूपबोधकत्वमित्यर्थः, सामान्योक्त्या वैराग्यमपि सिद्धं भवति ॥ ३७ ॥ **गाधवारीत्यत्र** न **पीडचते** इति पुरुष इति शेषः ॥ ३८ ॥ **शनैः शनैरित्यस्याभासे दोषत्रयमिति** विचार्य ज्ञानदानमप्यनिसुजनस्य न भवतीति सोपि दोष एवेत्यर्थः, अत्र तु गुण एवेत्याशयेनाहुः **गुणसहितमिति, केवलानिति** दृष्टान्तेपि दोषरहितानित्यर्थः, **व्याख्याने, केचिदित्यारभ्याहुरित्यन्तं** इदं द्वयमहन्तेत्यर्थः, तत्र हेतुं वदन्त इदमेव विवृण्वन्ति **अहङ्कार इति, यतः** पदार्थान्तरं नास्त्यत इत्यर्थः, साङ्ख्यमते एव तथेति भावः, केचित्पदव्यावर्यं स्वमतमाहुः **तत्रेति**, अहङ्कारस्य पदार्थान्तराभावेनात्मत्वेन ज्ञानमेवाहङ्कार इति **वयं** ब्रह्मवादिनो वदन्तीत्यर्थः, **पूर्वोक्तः** सम्बन्धोध्यासलक्षण इत्याहुः **अध्यस्यत इति, एते**

उभये केचित्पदेनोक्ता इति ज्ञेयं, **गौणपक्षेपीति** साङ्ख्यमते एवाहङ्कारः पदार्थान्तरं तत्पक्षेपीत्यर्थः, **करणपक्षे त्विति** लीलासिद्धयर्थं ममता कर्तव्येतिपक्षे इत्यर्थः, **वैदिके त्विति** "आत्मा वै पुत्रनामासि" "स पतिः पत्नी चाभवता"मित्यादि श्रुतिभ्य इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ **निश्चलाम्बुरित्यत्र पृथिव्यामेवेति** उक्तं पङ्कामतारूपं राजसतामसमुभयमपि पृथिव्यामेव, अत्र तु चाञ्चल्यशब्दरूपं राजसतामसमुच्यत इत्यर्थः, वीरुधोपि पृथिव्येवेत्येवकारः, **तदुभयाभावमिति** चाञ्चल्यशब्दाभावमित्यर्थः, **उपरतागमोपीति** मुनिपदेन चाञ्चल्याभाव उक्त इत्यपिशब्दः ॥ ४० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गाधवारिचरा इत्यस्य व्याख्याने अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाः सुखदातार इति एतैरस्वस्थः प्राणी दुःखी भवति, तत्र दरिद्र इतिपदेन विषयाभाव उक्तः, कृपणपदेनान्तःकरणदोषः, कुटुम्बिपदेन शरीरदोषः, अविजितेन्द्रियपदेनेन्द्रियदोषः, एवं चतुर्भिः दोषैः प्राणी तापं प्राप्नोति ॥ ३८ ॥ **ममता पङ्कस्थानीयेति** स्त्रीपुत्रादौ या ममता सा पङ्कस्थानीया शीघ्रं निर्वर्तितुं शक्येत्यर्थः, **अहन्ता आमस्थानीयेति** शरीरादौ या अहन्ता सा आमस्थानीया चिरकालेन बहुभिरुपायैर्निवर्तितुं शक्येत्यर्थः, अत एव स्त्रीपुत्रादौ स्नेहं बहवस्त्यजन्ति, देहादौ तु स्नेहः केनचिदेव त्यज्यते इति तथा, **महतां ममतैवेति** शास्त्राद्युत्पन्नज्ञानानां तु देहादौ नाहम्बुद्धिः देहव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानात्, किन्तु ममतैवेत्यर्थः, **अन्येषामहन्तापीति** ज्ञानरहितानां तु देहादावहम्बुद्धिरपीत्यर्थः, **अत एव धीरा** इत्युक्तं न तु भक्ता इति, भक्तानां तु भगवत्समर्पितपदार्थेषु ममता रक्षणीयैवेति ममताकरणपक्षो भक्तानामित्यर्थः, धीराणां तु ममता त्याज्यैवेति न ममताकरणपक्षः किन्तु ममतात्यागपक्ष एवेति भावः, **वैदिकेत्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां चेति**, "आत्मा वै पुत्रनामासी"ति श्रुतेः पुत्रेऽहन्ता "आत्मनो वा एष अर्धो यत् पत्नी"तिश्रुत्या भार्यायामहन्ता वैदिके मार्गे इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गाधजलेचराः क्षुद्रजले वर्तमानाः अपि मत्स्यादयो जलचरत्वेन जलक्षयज्ञानयोग्याश्रयि जीवनहेतुभूतं जलमन्वहं क्षीयमाणं नैवाविदन् नैव ज्ञातवन्तः। यथा कुटुम्बिनो नराः कुटुम्बित्वेन कुटुम्बभरणादिदर्शनादायुःक्षयज्ञानयोग्या अपि आयुः अन्वहं क्षय्यं क्षीयमाणं न जानन्ति तथा। यदा अगाधजले समुद्रे वर्तमाना जलक्षयं न जानीयुः, यदा च महदायुष्मन्तो ब्रह्मादयो वा आयुःक्षयं न जानीयुः, तदा प्रलयपर्यन्तं न काचिच्चिन्ता। अतः 'गाधे' इति 'नरा' इति च पदद्वयम्॥ अज्ञाने हेतुमाह—मूढा इति। मायामोहिता इत्यर्थः। 'तथाच मुमुक्षुभिः श्रेयोर्थिभिरेवं प्रमादो न कर्तव्य' इति हेयोपमा॥ ३७॥ गाधे क्षुद्रे वारिणि चरन्तीति गाधवारिचरा मीनादयः शरदर्कजतापमविन्दन् लेभिरे। तत्र दृष्टान्तमाह—यथा दरिद्रः संसारतापं लभते तथेति। अगाधजलस्य बहुतापो न भवति, अतस्तत्रस्थानामपि तथा तापो न सम्भवत्यतो 'गाधे' इत्युक्तम्। तथा धनाढ्यानामपि भोजनाच्छादनादिक्लेशाभावात् तथा उत्कटतापो न भवत्यत उक्तं 'दरिद्र' इति। अत एव धनाद्यभावात् कृपणः दीनः। शरदि हि तापजनकस्य सूर्यस्य व्यवधायकानां मेघरेण्वादीनामभावात्तापाधिक्यसूचनायोक्तं—'शरदर्कजम्' इति। दरिद्रोऽपि यद्येकाकी स्यात्तदापि न तप्येत, अत आह-'कुटुम्बि' इति। तथापि यदि जितेन्द्रियो विवेकी स्यात्तदापि सर्वमीश्वराधीनं मत्वा न तप्येत, अत आह-अविजितेन्द्रिय इति। 'तथेन्द्रियपारवश्यस्य तापजनकत्वात् तदधीनतया न वर्तितव्यम्' इति हेयोपमा॥ ३८॥ यथा धीराः पुरुषाः शनैः शनैः शरीरेऽहन्तां त्यजन्ति तथा वीरुधः आमतामपक्वतां जहुः। यथा च ते पुत्रादिषु ममतां त्यजन्ति, तथा स्थलानि पङ्कं जहुः। यद्यप्यहन्ताममतात्यागे शास्त्रमप्यस्ति हेतुः, तथापि धैर्याभावेन स्वाभाविकप्रवृत्त्या पीडिताः शास्त्रीयं प्रामाण्यं न मन्यन्तेऽतो मुख्यत्वाद्धैर्यमेव हेतुत्वेनोक्तम्। त्यागे हेतुमाह—अनात्मस्विति। तथाच 'सर्वस्य जगतः ईश्वरस्वामिकत्वं मत्वा तत्र सर्वथा अहन्ता ममता त्याज्यैव' इति हेयोपमा॥ ३९॥ आत्मनि मनसि सम्यगुपरते विरक्ते सति मुनिर्यथा व्यपरतागमो निवृत्तवेदघोषो भवति, ततः परमध्ययनाभावात्, तथा शरदागमे सति निश्चलाम्बुः समुद्रस्तूष्णीमभूत्। तथाच 'परमविरक्त्या तूष्णीं भवितव्यम्' इत्युपादेयोपमा॥ ४०॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नेति॥ गाधजलेचराः क्षुद्रजले वर्तमानाः अपि मत्स्यादयो जलमन्वहं क्षीयमाणं नैवाविदन् नैव ज्ञातवन्तः। "विद्लृ लाभे" लुङ्। औचित्यात् ज्ञाने वृत्तिः। वेत्तेर्लङि जुसोऽभाव आर्षो वा। यथा मूढाः कुटुम्बिनो नराः आयुः अन्वहं क्षय्यं क्षीयमाणं न जानन्ति तथा॥ ३७॥ गाधेति॥ गाधे क्षुद्रे वारिणि चरन्तीति गाधवारिचरा मीनादयः शरदर्कजं तापमविन्दन् लेभिरे। यथा पूर्वं सम्पन्नः पश्चात् दरिद्रः कृपणः दीनः कुटुम्बी अविजितेन्द्रियश्च जनः संसारतापं लभते तथा॥ ३८॥ शनैरिति॥ यथा धीराः पुरुषाः शनैः शनैः अनात्मसु शरीरादिषु अहन्तां त्यजन्ति तथा वीरुधः आमतामपक्वतां जहुः। यथा धीरा ममतां जहति तथा स्थलानि पङ्कं जहुः॥ ३९॥ निश्चलेति। आत्मनि मनसि सम्यगुपरते विरक्ते सति मुनिर्यथा व्युपरतागमो निवृत्तवेदघोषो भवति ततः परमध्ययनाभावात्तथा शरदागमे सति निश्चलाम्बुः समुद्रस्तूष्णीमभूत्॥ ४०॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

गाधजलेऽल्पसलिलेचराः मीनादयः ।। ३७ ।। गाधवारिचराः अल्पजलस्थाः मत्स्यादयः शरदर्काज्जातं अविन्दन् प्रापुः कुटुंबी कुटंबयुक्तः ।। ३८ ।। शरीरादिषु देहदैहिकेषु अनात्मसुखजीवात्मभिन्नेषु ।। ३९ ।। आत्मनि मनसि उपरते विषयेभ्यो विरते हरिध्याने च प्राप्ते सति त्यक्तक्रियो मुनिरिव शरदि समुद्रः स्थिरजलोऽभूत् व्युपरतानि निवृत्तान्यागमा निवेदघोषा यस्य स व्युपरतागमो मुनिरिव समुद्रस्तूष्णीमभूत् ।। ४० ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नैवेति ।। गाधजलेचराः अल्पजलसञ्चारिणः, क्षीयमाणं प्रतिदिनं क्षीणतामुपगच्छत्, जलं नैव, अविन्दन् नैव ज्ञातवन्तः। यथा मूढा अज्ञाः, कुटुम्बिनः कुटुम्बपोषणरताः नराः, अन्वहं प्रतिदिनं, क्षय्यं क्षीयमाणं, आयुः न जानन्ति तद्वत्। अनेन कुटुम्बिभिरपि देहात्मनोर्याथात्म्यं परिशीलयद्भिः सद्भिरन्वहमायुःक्षयानुसंधाननिमित्तपरितापवद्भिर्भवितव्यमित्युक्तं भवति।। ३७।। गाधेति ।। गाधवारिचराः क्षुद्रजलचराः, शरदर्कजं शरत्कालीनसूर्यजं, तापं अविन्दन् लेभिरे। यथा अविजितेन्द्रियः परतन्त्रः, कुटुम्बी, दरिद्रः धनधान्यहीनः, कृपणो दीनः, क्षुत्प्रयुक्तं तापं जानाति तद्वत्। अनेन जितेन्द्रियेणैव भवितव्यमिति सूचितम् ॥ ३८ ॥ शनैरिति ।। स्थलानि शनैः शनैः, पङ्कं कर्दमं, जहुः। वीरुधः प्रतानिन्यः, आममपक्ववतां च, जहुः। यथा धीरा ज्ञानिनः, अनात्मस्वात्मव्यतिरिक्तेषु, शरीरादिषु देहेन्द्रियादिषु, अहंममतामहंतां ममतां च, जहति तद्वत्। तत्राहंतासाम्यं पङ्कस्य ममतासाम्यमामस्येति विवेकः। ज्ञानिभिरहंकारममकारौ यत्नेनावश्यं परिहर्त्तव्यावित्युक्तम् ।। ३९ ।। निश्चलेति ।। शरदागमे शरदः प्रवृत्तौ सत्यां, समुद्रः, निश्चलाम्बुः सन्, तूष्णीं अभूत्। यथा मुनिः शुभाश्रयभगवन्मूर्त्तिमननशीलः योगी, आत्मनि मनसि, उपरते उपरतविषयव्यापारे सति, सम्यक् व्युपरतागमः निवृत्तशास्त्रश्रवणादिकः, समाधिस्थः सन्नित्यर्थः। तूष्णीं आस्ते तद्वत्। मुनिनाऽऽत्मनि हरिं ध्यात्वा मनस्तन्मूर्त्तौ स्थिरं कृत्वा सर्वानन्यान् व्यापारांस्त्यक्त्वा तूष्णीभूतेन भवितव्यमिति सूचितम् ।। ४० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नैवेति ः १०.२०.३७.

अत्यल्पवस्वभिनिविष्टपदा न जातु जानन्ति मूढमतयोऽन्वहमीड्यमायुः ।
संक्षीयमाणमपि ये नृषु तेषु को वा पङ्काङ्कगाधजलजन्तुचयाद् विशेषः ।। ५६ ।।

गाधेति ः १०.२०.३८.

प्रतिपदमपि तापं संसृतिव्यापृतिज्ञा विषयसुखमहाशा चण्डमार्तण्डजातम् ।
भृशमिह कलयन्तोऽप्यन्यतो वर्णयन्तोऽण्वपि हृदि न विरक्ताश्चित्रमस्मात् किमन्यत् ।। ५७ ।।

निश्चलेति ः १०.२०.४०.

प्राप्तायतनसमस्तसद्वसुरपि स्वर्णश्रियाऽपि स्वतो युक्तो भव्यदरत्नशोभिहृदयो मुक्तौघराजत्तनुः ।
यः स्यात्सेतुविदुज्झितस्मयभरो विच्युक्तवेलाञ्चितो जागर्त्यन्तर एव तस्य हरिरित्यब्धौ स्फुटं शारदे ।। ५८ ।।
सम्पाद्य वृत्तिं यो धीमान् वसुसङ्ग्रहकारिणीम्। तूष्णीं तिष्ठति तस्येड्या वार्धिवत् कृतकृत्यता ।। ५९ ।।

कृष्णप्रिया

छोटे-छोटे गड्ढों में भरे हुए जल के जलचर यह नहीं जानते कि इस गड्ढे का जल दिन पर दिन सूखता जा रहा है, जैसे कुटुम्ब के भरण-पोषण में भूले हुए मूढ़ यह नहीं जानते कि हमारी आयु क्षण-क्षण क्षीण हो रही है ।। ३७ ।। थोड़े जल में रहने वाले प्राणियों को शरत्कालीन सूर्य की प्रखर किरणों से बड़ी पीड़ा होने लगी जैसे अपनी इन्द्रियों के वश में रहने वाले कृपण एवं दरिद्र कुटुम्बो को तरह-तरह के ताप सताते ही रहते हैं ।। ३८ ।। पृथ्वी धीरे-धीरे अपनो किचड़ छोड़ने लगी और घास-पात धीरे-धीरे शरीर आदि अनात्म पदार्थों से "यह मैं हूँ और यह मेरा है" यह अहंता और ममता छोड़ देते हैं ॥ ३९ ।। शरद ऋतु में समुद्र का जल स्थिर, गम्भीर और शान्त हो गया जैसे मन के निःसङ्कल्प हो जाने पर आत्माराम पुरुष कर्मकाण्ड का झमेला छोड़कर शान्त हो जाता है ।। ४० ॥

केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् [1]कर्षुका दृढसेतुभिः । यथा प्राणैः [2]स्त्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥ ४१ ॥
शरदर्कांशु[3]जांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् । देहाभिमानजं [4]दुःखं मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥ ४२ ॥
खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् । सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥
अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोडुगणैः शशी । यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो[5] भुवि ॥ ४४ ॥

---

१. कर्षका–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. स्वविज्ञानं–विज. । ३. दर्काशुजं तातं–वीर. विज. । ४. बोधो–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. चक्रवृंतो–विज. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः योगिनः प्राणैः स्रवत् ज्ञानम् यथा तन्निरोधेन रक्षन्ति, तथा कर्षुकाः दृढसेतुभिः केदारेभ्यः अपः अगृह्णन् ।४१। मुकुन्दः व्रजयोषिताम् देहाभिमानजम् दुःखम् यथा हरति तथा उडुपः भूतानाम् शरदर्कांशुजान् तापान् अहरत् ।।४२।। शब्द ब्रह्म अर्थ दर्शनम् सत्वयुक्तम् चित्तम् यथा शोभते तथा शरद् विमलतारकम् निर्मेघम् खम् अशोभत ॥ ४३ ।। वृष्णिचक्र आवृतः यदुपतिः कृष्णः भुवि यथा राजते, तथा व्योम्नि अखण्डमण्डलः शशी उडुगणैः रराज ।। ४४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

शरदा विमलास्तारका यस्मिंस्तत् । शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थान्पूर्वोत्तरमीमांसानिर्णीतान्दर्शयतीति तथा तद्वत् ।।४१–४२।। समोऽन्यूनाधिकः शीतश्चोष्णश्च तम् । न तु गोप्यः । कृष्णापहृतचेतस्त्वेन तासां संतापो दुःसह इति । यद्वा नकार उपमार्थः । तदा कृष्णहृतचेतस इति चेतसा कृष्णमाश्लिष्य यथेत्यर्थः ।। ४३ ।। पुष्पिण्यो गर्भिण्यः । अन्वीयमानाः स्वनृपैः स्वपतिभिरनिच्छन्त्योऽपि बलादनुगम्यमानाः । ईश्वराराधनार्थाः क्रिया बलात्फलैरनुगम्यमानाः समस्तभोगगर्भा यथेति ।। ४४ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सत्त्वेन व्यवसायेन गुणेन वा युक्तं यथा शोभते इति । पूर्वमीमांसानिर्णीतार्था विधिनिषेधार्थवादादिरूपाः, उत्तरमीमांसा-निर्णीतार्थाः श्रवणादिसाधनैश्शास्त्रोपदिष्टपंचकोशादिविवेकेन वस्तुतत्त्वावधारणोपयोगिनस्तान् । शुद्धचित्ते एव श्रवणादिना ज्ञानं जायते नान्यथेति तात्पर्यम् ।। ४१ ॥ अखंडमंडलः परिपूर्णकलः ।। ४२ ॥ प्रसूनवनम् पुष्पवनम् । दार्ष्टांतिकाद्वैषम्यं दृष्टांते मत्वा तस्यार्थांतरमाह–तद्वेति । तदा शरदि । इत्यर्थ इति । कृष्णे हृतं प्रापितं चेतो याभिस्तास्तथा । कृष्णध्यानेन संजातानंदा इति तात्पर्यम् ॥ ४३ ॥ यद्वा–ईशक्रियाः सभाग्यकर्माणि यथायत्नेनैव फलंति तद्वदिति भावः ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

भग्नैः सेतुभिः केदारेभ्यः स्रवन्तीरपः दृढैः सेतुभिरगृह्णन् अरक्षन् प्राणैरिन्द्रियैः क्षुभितैर्द्वारभूतैः स्वेभ्यः स्रवज् ज्ञानं प्रत्याहारेण यथा रक्षन्तीत्यर्थः ।। ४१ ।। शरदिति लुप्तोपमेयं व्यवहारिकाणां तादृशतापहरणे उडुपो विशिष्टः पारमार्थिकानां बोध आत्मज्ञानं तदैकानुरक्तानां व्रजयोषितान्तु मुकुन्द एवेति तासां वैशिष्ट्यं बोधितम् आसां तापश्चानिर्वचनीयताविवक्षया प्रसिद्धतया चानुरक्तोऽपि क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवदित्यनुसारेण ज्ञेयः वक्ष्यते च आश्लिष्य इत्यादौ गोप्योऽपि कृष्णहृतचेतस इति ॥ ४२ ॥ खमिति । खस्य स्थाने चित्तं ज्ञेयं निर्मेघतायाः सत्वयुक्तत्वं तेन मेघस्थानीयरजस्तमोनिषेधात् शरदः शब्दब्रह्म तार-काणां तदर्थाः तारकाशब्देन च चन्द्र एव मुख्यत्वेन गृह्यते तदीशत्वात् तदुक्तं "नक्षत्रेशः क्षपाकरः" इत्यादेः तत्र चन्द्रस्य भगवत्त-त्त्वम् अन्येषां त्वन्येऽर्था इति ।। ४३ ।। तथैवाह–अखण्डेति । चन्द्रस्य पूर्णिमापेक्षया श्रीकृष्णस्य च स्वयं भगवत्ताप्राकट्यापेक्षया तत्र यद्यपि वर्षास्वपि शशिनस्तादृशस्य सोडुगणस्य स्वतो राजमानत्वमस्त्येव किन्तु घनाच्छन्नतया न दृश्यते शरदि तु तद्भावात् दृश्यते तथा यदुपतेरप्यप्राकट्यसमयानुसारेण योज्यं यदुपतिरित्यधिकोक्त्या यदुभिः सह तस्य नित्यसम्बन्धो ज्ञाप्यते वृष्णिशब्दनिर्देशोऽत्र यदुषु तेषां प्राधान्यापेक्षया ।। ४४ ।।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

केदारेभ्यो भग्नसेतुभिः स्रवन्तीरपः अगृह्णन् अरक्षन्, प्राणैरिन्द्रियैः क्षुभितैर्वैरीभूतैः स्वेभ्यः स्रवज्ज्ञानं ध्यानादिरूपं मननादि–लक्षणं वा; यद्वा केदारेभ्य इति चतुर्थी, केदारार्थम्, यथा कामलोभादिना स्रवज्ज्ञानमिन्द्रियैः श्रोत्रवागादिभिः कृतेन श्रवण-निरोधेन ज्ञानं गृह्णन्ति ।। ४१ ।। बोधयति उद्धवादिना तत्त्वं ज्ञापयतीति बोधः, मुकुन्दो व्रजयोषितां देहाभिमानजं तापमहरदिति यच्छ्रीस्वामिपादैर्व्याख्यातम्, तेन श्रीगोपीमाहात्म्यविज्ञेभ्यस्तेभ्यस्तद्व्याख्यायै तद्भावाय च नमो नमः । एवमनेकशो महानुभावै-रूह्यमेव तत्र देहाभिमानजतापस्य सदैव बोधेन हरणात् । पक्षान्तरं मुकुन्द इति दिवाविरहजं तापं रात्रौ यथा हरतीति; यद्वा, बोधयति संकेतवेणुनादादिना कुञ्जादिस्थितमात्मानं निजरसविशेषोद्यमं वा ज्ञापयतीति बोधो मुकुन्दः सुखविशेषदाता श्रीभगवान्, व्रजयोषितां देहेषु अभिमानोऽन्यदीयत्वकुलजातत्वादिरूपस्तस्माज्जायमानं तापं श्रीकृष्णप्रत्यादिदुःखविशेषं यथा मोहन-वेणु-वाद्यादिना हरतीति ।। ४२ ।। मेघस्थाने रजस्तमोरूप आवरको ज्ञेयः, अतस्तदभावेन सत्त्वयुक्तम्; अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, तारयति तमसो लोकान्, किंवा, निजोदयतो रासक्रीडाप्रवर्त्तनादिना तारयति संसारात् सर्व्वानेव गोपीर्वा विरहदुःखादिति तारकश्चन्द्रः, शरदा विमलः सुप्रसन्नोऽसौ यस्मिन् तत् शरदिति तस्यां तस्य स्वभावत एव प्रकाशाधिक्याभिप्रायेण, मेघतुल्यरजस्त-मोऽपगमात् प्रकाशमयत्वेन सत्त्वगुणयुक्तम् । शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थः क्वचित् साक्षाद्वृत्त्या, क्वचिच्च तात्पर्य्यवृत्त्या अभिधेयः श्रीकृष्णो विमलचन्द्रोपमस्तस्य दर्शनं साक्षादिव परिस्फुर्त्तिर्यस्मिन् तत् ।। ४३ ।। अखण्डं सम्पूर्णं मण्डलं यस्येति, मेघानामपगमात्त-

मण्डलाच्छादनाभावेन पूर्णिमापेक्षया वा, श्रीवृन्दावने नित्यसम्पूर्णचन्द्रोदयाभिप्रायेण वा, तेन च यदुपतित्वसाम्यम्। तत्र साक्षाच्छ्रीगरुडारोहणादिना सम्पूर्णस्य बाह्यैश्वर्य्यस्य वा प्रकटनात्। एतच्च भाव्यपि श्रीशुकपरीक्षित्सम्वादात् प्राक्तनत्वेनात्र निर्दिष्टम्; यद्वा, यदुवृष्णि-शब्दाभ्यां पूर्व्वलिखित-श्रीस्कन्दपुराणोक्तानुसारेण गोपा एव बोद्धव्याः ॥ ४४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

प्राणैरिन्द्रियैः शब्दब्रह्म वेदः ॥ ४३-४५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

केदारेभ्य इति पञ्चमी कृषीवलाः शालिक्षेत्रेभ्यः प्रवहन्तीरपः जलानि दृढैः सेतुभिर्बन्धनैरगृह्णन्निरुद्धवन्तस्ततः परं वृष्ट्य भावादिति भावः। यथा योगिनः प्राणैरिन्द्रियैः तद्द्वारास्रवत् बाह्यविषयग्रहणप्रवणीभवत् ज्ञानं धर्मभूतज्ञानं तन्निरोधेन प्राणनिरोधेन आत्मस्वरूपगोचरं कुर्वन्ति तद्वत् इन्द्रियनिरोधपरेणात्मस्वरूपरिशीलनपरेण च भवितव्यमिति सूचितम् ॥४१॥ शरदिति। उडुपश्चन्द्रो भूतानां शरदि योऽर्कस्तस्यांशुभ्यो जातांस्तापान् जहार उत्तरार्द्धस्य यथेत्यादि यथा देहाभिमानेन जातं तापं परकृतनिन्दादिप्रयुक्तं देहयाथात्म्यगोचरो बोधो हरति यथा च व्रजयोषितां तापं मन्मथप्रयुक्तं मुकुन्दो जहार तद्वत् 'देहाभिमानजं तापं' इति पाठे बोध इति कर्तृपदमध्याहर्त्तव्यं यथोक्त एवार्थः अनेन हेयत्वज्ञानार्थं देहयाथात्म्यपरिशीलनमपि कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ ४२ ॥ खमिति। निर्मेघं मेघरहितं शरदि विमलास्तारका यस्मिंस्तथाभूतं सन् खमशोभत यथा सत्त्वयुक्तं सत्त्वगुणयुक्तं सत्त्वप्रचुरमिति यावत्तच्चित्तं शब्दब्रह्मणो वेदस्य योर्थोर्थंपञ्चकरूपस्तं पश्यतीति नन्द्यादित्वात्कर्तरिल्युः यद्वा शब्दब्रह्मार्थो लक्ष्यते अनेनेति तथा करणे ल्युट् सत्त्वप्रवणं चेतो रागाद्यकलुषितं सन्निर्मलमतीन्द्रियवेदार्थप्रकाशकं भवति तद्वदित्यर्थः। सत्त्वप्रावुर्याय आहारशुद्ध्या भवितव्यमिति सूचितम् अत्र तारकास्थानीयाः वेदार्थाः परमात्मतदाराधनराधकादिस्वरूपात्मकाः आकाशस्थानीयं विवेकः ॥ ४३ ॥ अखण्डमण्डलेति। शशी चन्द्रो व्योम्न्याकाशे निर्मेघेऽखण्डं पूर्णं मण्डलं यस्य तथाभूतो नक्षत्रसमूहैः सह रराज यथा चेतः मेघस्थानीयरजस्तमश्चेति यदुपतिः श्रीकृष्णो भुवि वृष्णीनां समूहेनावृतो रराज तद्वत् अनेन यदुपतेश्चन्द्रवत्सर्वलोकाह्लादकरत्वमभिप्रेतम् ॥ ४४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

केदारेभ्यः केदारार्थं प्राणैरिन्द्रियैः तेषामिन्द्रियाणां निरोधेन प्रत्याहारेण ॥ ४१ ॥ अहं देह इति देहाभिमानो देहविषयं ज्ञानं तस्माज्जातं देहाभिमानजं तापं बोध आत्मज्ञानं मुकुन्दो यथेति शेषः। दृष्टान्तद्वयम् ॥ ४२ ॥ खमाकाशं शरदा विमलानि विशदानि तारकाणि यस्मिंस्तथा सत्त्वेन व्यवसायेन युक्तं सत्त्वगुणोपेतं वा शब्दात्मकं ब्रह्म वेदस्तस्य मुख्यवाच्यः श्रीनारायणस्तं दर्शयतीति शब्दब्रह्मार्थदर्शनं शब्दब्रह्म हिरण्यगर्भः तस्यार्थो हेतुः कारणमिति वा ॥ ४३ ॥ अखण्डमण्डलं पूर्णमण्डलम् ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

काले प्राप्तसाद्गुण्ययात्रावसरे अन्यथा तदभावे केदारेभ्यः स्रवन्तीरिति लिङ्गविपरिणामेन अत्र प्रणालीभिरिति शेषः स्रवदित्यत्र चात्मन इति शेषः ॥ ४१ ॥ देहाभिमानजमिति शसः स्थाने अमादेशः व्रजयोषितामिति। सन्ध्यादिसमये दर्शनादिना विरहतापानिति ज्ञेयम् ॥ ४२-४५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

केदारेभ्यः स्रवन्तीरपः दृढैः सेतुभिरगृह्णन् ररक्षुः यथा प्राणैरिन्द्रियैरिन्द्रियक्षोभैः स्रवत् ज्ञानं तेषामिन्द्रियाणां निरोधेन प्रत्याहारेणेत्युपादेया ॥ ४१ ॥ यथा देहाभिमानजं तापं बोधः यथा च व्रजयोषितां विरहतापं मुकुन्द इत्युपादेया ॥ ४२ ॥ शब्दब्रह्मणो वेदस्य अर्थाः निवृत्तकर्मज्ञानभक्तियोगास्तेषां दर्शनं ज्ञानं यत्र तत् चित्तं कीदृशं सत्त्वयुक्तं साधुत्वयुक्तं तत्र खस्य चित्तेन साम्यं निर्मेघत्वस्य सत्त्वयुक्तत्वेन शब्दब्रह्मणा शरदः निवृत्तकर्मज्ञानतपोयोगैस्ताराणां भक्तियोगेन तारापदगम्यस्य तारकेशस्येतीयमुपादेया ॥ ४३ ॥ सम्पूर्णमण्डलत्वस्य स्वयं भगवत्त्वेन साम्यं यदुपतित्वेन ओषधीशत्वस्य वृष्णिचक्रैः नन्दोपनन्दवसुदेवाक्रूरादिभिः दृश्यैर्दृश्यानामुडुगणानामितीयं ध्यानार्थमुपादेया ॥ ४४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

केदारेभ्य इति। तादर्थ्ये चतुर्थी तत् सिञ्चनार्थमित्यर्थः। अगृह्णन् विरुद्धवन्तः प्राणैरिन्द्रियैः विषयोन्मुखैः स्रवत् ज्ञानम् तन्निरोधेनीन्द्रयप्रत्याहारेण गृह्णन्ति ॥ ४१-४२ ॥ यथा शब्दब्रह्मार्थं "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति श्रुतिस्मृतिप्रोक्तं वेदैकवेद्यं श्रीकृष्णं दर्शयतीति तत् सत्त्वयुक्तं शोभते तथा शारदा विमला तारका यस्मिन् तत् खमशोभत ॥४३-४४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

केदारेभ्यः स्रवन्तीरपः कर्षका दृढैः सेतुभिरगृह्णन् ररक्षुः यथा योगिनः प्राणैर्विषयक्षुभितैरिन्द्रियैः स्रवज्ज्ञानं तेषां निराधेन प्रत्याहारेणेतीयमुपादेया ॥ ४१ ॥ उडुपश्चन्द्रः शरदर्कांशुजं तापमहरत् बोध इव देहाभिमानजं तापं मुकुन्द इव व्रजयोषितां विरहः तमित्युपादेया ॥ ४२ ॥ शब्दब्रह्मणो वेदस्य येऽर्था निवृत्तकर्मज्ञानभक्तिरूपास्तेषां दर्शनं यत्र तच्चित्तं कीदृक् सत्वयुक्तं साधुत्वविशिष्टं तत्र स्वस्य चित्तेन साम्यं निर्मेघत्वस्य सत्वयुक्तत्वेन शरदः शब्दब्रह्मणा ताराणां निवृत्तकर्मज्ञानाभ्यां तारापद-वाच्यस्य ताराधीशस्य भक्त्येतीयमुपादेया ॥ ४३ ॥ अखण्डमण्डलत्वस्य स्वयं भगवत्त्वेन तुल्यता ओषधीशत्वस्य यदुपतित्वेन उडुगणानां कृष्णचक्रैः नन्दोपनन्दवसुदेवाक्रूरादिभिरितिध्यानार्थमुपादेया ॥ ४४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

शरदा विमलास्तारका यस्मिंस्तन्निर्मेघं निर्गता मेघा यस्मात्तत्स्वमशोभताभात् । सत्त्वेन व्यवसायेन गुणेन च युक्तं चित्तं यथा शब्दब्रह्म वेदस्तदर्थो भगवांस्तं दर्शयतीति तत्तथा । अर्थस्य दर्शनं येनेति वा ॥ ४१ ॥ यथा वृष्णिचक्रैर्यादवसमूहैर्वृतो यदुपतिः श्रीकृष्णो राजति तथा व्योम्नि उडुगणैरखण्डमण्डलं यथा तथा शशी रराज ॥ ४२ ॥ समशीतोष्णं समेऽन्यूनाधिके शीतोष्णे यस्य स तं समं शीतोष्णं यस्येति वा प्रसूनवनानां तत्सम्बन्धी मारुतो वातस्तं जना आश्लिष्य तापं तपनजं जहुः । एतन्मात्रस्य न तापानोद इत्याह ॥ गोप्य इति । कृष्णेन हृतं चेतो यासां ता गोप्यस्तापं कामजं न जहुः । कृष्णाहृतचेतसः कृष्ण आहृतो यस्मिंस्तच्चेतो यासां ता गोप्यो न इवेति वा चक्रं न वृत्रमिति यथा ॥ ४३ ॥ गावो मृगाः खगा नार्यश्च पुष्पिण्यः पुष्पवत्यो गर्भिण्यः कान्तानकामयन्त्यः शरदा निमित्तेन वृषभैः स्वस्वपुरुषा एकत्रापरत्र विवेकविकलतया सर्वत्र विवेकविकलतयेति वा यथायथ-मन्वीयमाना अभवन् । क्वचित्प्राक्तनगर्भस्यानङ्कुरणं क्वचिन्नार्यादौ बलवद्बालाभवनमितीषताऽविहितकाल आहितरेतस्कत्वा-ज्ज्ञेया । ईषत्क्रिया न सम्यक्संसाधितहलमुखविलेखनादिक्रियाः कृषयः फलैरिव क्वचिदुप्तानां ततानामनुत्पत्तिर्बीजानां क्वचिदु-त्पत्तावपि सम्पत्तिर्नाङ्गस्येतीषत्फलैर्धान्यादिभिर्यथा तथेति फलैर्न स्वरैः स्वर्गादिभिरीषत्क्रियाः प्रवृत्तकर्माणीवेति । ईशक्रिया इति पाठे ता यथा फलवत्यो न तथेत्यन्वयः ॥ ४४ ॥

श्रीसुबोधिनी

जलभेदान् निरूपयति केदारेभ्य इति, केदारा धान्योत्पत्तिक्षेत्राणि विभक्तानि तेभ्यो निःसरन्तीरपः कर्षुका अगृह्णन् गमनमार्गमुद्रणेन, तदाह दृढसेतुभिरिति, जलेन सर्वमार्द्रमिति जलगतिनिरोधार्थं दृढत्वमुक्तं, अस्यापि गुणस्य स्वभाविकत्व-परिहाराय दृष्टान्तमाह यथेति, शरदि वृष्टिर्दुर्लभेति जलार्थिनां तन्निरोध उचितस्तथाप्यस्य फलसाधकत्वं साधनीयं जलाभावे सर्वैव कृषिर्व्यर्था भवेदिति रक्षायां दार्ढ्यमपि निरूपणीयं, प्राणादयो वायवो यदा बहिर्निःसरन्ति तदा ज्ञानसहिता एव निःसरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि, ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तो हि भगवान् ज्ञानक्रिययोर्गतयोरपगच्छतीव प्राकट्यं तु निवर्तत एव, ज्ञानं हि प्रकटमुच्यते शास्त्रतो जातं 'स्रवतीन्द्रियलील्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते' इतिवाक्यात्, ज्ञानार्थमेव हि योगशास्त्रं प्रवृत्तं,

"ऊर्ध्वेन्द्रियैस्त विक्षेपे ज्ञानस्याधो विनाशनम् । विरोधे पुञ्जभावेन स्वकार्यं साधयेद् ध्रुवम् ॥"

प्राणेन्द्रियनिरोधेन स्रवज् ज्ञानमगृह्णन्, तत्र योगमार्गा दृढसेतव इति; केदारेभ्य इति चतुर्थी, तुशब्दग्रहणेपि सिद्धि व्यावर्तयति, अतः साधनदशायां योगो नित्यः, आसनप्राणामादिस्थैर्ये ज्ञानं नावकीर्यंत एव योगः शरदि सिध्यतीति च शुद्धि-द्वारा च हेतुः ॥ ४१ ॥ एवमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकीं च जलस्य शुद्धिमुक्त्वाधिदैविकप्रकारेण शुद्धिमाह शरदर्कांशुजानिति, शरत्कालीनो योऽर्कः सोऽत्यन्तं खरस्तस्यांशवोऽपि तथा तज्जनितास्तापा ज्वराद्युत्पादकत्वेनापि खराः, अतस्तापेषु बहुवचनं, भूतानां जातानां, चन्द्रो हि जलाधिपतिर्जलप्रकृतिकस्तदात्मिकानि च भूतान्यतस्तत्तापनिवारकत्वं तस्य युक्तं, उडुप इति, नक्षत्र-द्वारापि तापहारकत्वमुक्तं, उभयत्रापि शरदो हेतुत्वं, पूर्ववद् दृष्टान्तः, यथा चन्द्र आधिभौतिकं तापं हृतवानेवं भगवानाध्यात्मिकं तापं हृतवान्, स तापो देहाभिमानरूपः स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनाद् हृतो देहादीनां भगवति विनियोगाद् न केनाप्यंशेन तापः, व्रजयोषितामिति, तदा ता एव स्थिताः, चन्द्रसमानतया निवारणाद् रात्रावेव देहाभिमानः स्त्रीत्वाभिमानाज्ञानं कामस्तत्कृताश्च तापाः, ननु जात्यादिधर्मनाशकत्वात् कथं तापनिवारकत्वं ? तत्राह मुकुन्द इति, मोक्षदानसमये पूर्वावस्था त्याजनीयैव, अत उपयुक्त एव त्यागः, अन्यथा शरदि ता मृता एव स्युस्तत्र विद्यमाने भगवति मोक्षाभावश्च सर्वभावेन ता गृहीता इति तासां तापाभावः, शरदो विभावकत्वादुपयोगः, केदारदृष्टान्त एव वायोः शुद्धिरर्कचन्द्रमसोर्निरूपण एव तेजसः ॥ ४२ ॥ आकाशस्य शुद्धिपूर्वकं गुणमाह खमशोभतेति, निर्मेघं खमशोभत, शरदा कृत्वा विमलास्तारका यस्य,

मासाष्टकं तथाकाशे तमस्तापैः कृतं रजः । मेघैरपोह्यते सम्यगतः शरदि निर्मलाः ॥ १ ॥
सर्वं नभो दिशश्चैव तारकाश्चन्द्र एव च ॥ १½ ॥

तदाह, शरद्विमलेति, मेघापगमो दोषाभाव आधिभौतिक विमलताध्यात्मिकी तारका गुणाः, आधिदैविकीयं शरदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सत्त्वयुक्तमिति, सत्त्वगुणेन युक्तं चित्तं शब्दब्रह्मणो वेदस्य दर्शनं यत्र तादृशमशोभत, चित्तस्य रजस्तमसी दोषः सत्त्वसम्बन्धेपगच्छति, गुणस्तु सर्वपदार्थानां तत्त्वतो ज्ञानं, ते च पदार्थाः श्रुत्येकसमधिगम्याः शुद्धेन्तःकरणे वेदभावनया स्फुरन्ति, शुद्धिहेतुत्वाच्छरदुपयोग", मेघाभावस्थानीय सत्त्वं विमलस्थानीयं शब्दब्रह्म तदर्थज्ञानं तारकास्थानीयं एतद्व्यावर्त्या दोषा आकाशो बाह्य आभ्यन्तरश्च शुद्धो निरूपितः ॥ ४३ ॥ तत्र हृदये भगवच्छोभां वक्तुं प्रथमत आकाशे चन्द्रशोभामाह महाभूतानन्तरं मनसः क्रमभावित्वाद्, अखण्डमण्डल इति, अखण्डं मण्डलं यस्य तादृशः पौर्णमासश्चन्द्रो भगवदीयो वोडुगणैः सह रराज, भगवदीयव्यावृत्यर्थं शशी निरूपितः, सोपि चन्द्रो गोपिकादिभिर्दृश्यमान एव तथा, अग्रे वा तस्य प्राकट्यं यथा हृदये, यदुभिः सह यदुपतिः कृष्णो भुव्य-खण्डमण्डलो भुव्य राजते यद्यपि यदुपतिः सर्वत्रैव राजते, कृष्ण एवावतारान्तरेष्वपि तथापि वृष्णिचक्रेणावृतोवतीर्णः साक्षाद्भगवानत्रैव शोभते ॥ ४४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अखण्डमण्डलो व्योम्नीत्यत्र, सोऽपि चन्द्रो गोपिकाभिरिति। भगवदीयचन्द्रस्योडुरूपाणि स्वामिनीमनांसीति ताभिर्दृश्यमानस्तन्मनः सहकृतो भवतीति शोभितो भवतीत्यर्थः। एवं सति मूले अखण्डमण्डलपदेन भगवदीयः स उच्यते। शशिपदे लौकिक इति भावः ॥ ४४ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

केदारेभ्य इत्यत्र कथं न स्वाभाविक इत्यत्र आहुः शरदि वृष्टिरित्यादि, तर्हि दृष्टान्तस्य किं प्रयोजनमत आहुस्तथापेत्यादि, निरूपणीय इत्यन्तं तथा चैतदर्थः, इन्द्रियाणीति प्राणशब्दस्यैवेदं श्रौतमर्थान्तरं, किं ज्ञानस्रावेणेत्यत आहुर्ज्ञानक्रियेत्यादि, कथमपगच्छतीवेत्यत आहुः प्राकट्यमित्यादि, ननु मूले प्राकट्यनिवृत्तिर्नोक्तेति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुर्ज्ञानं हीत्यादि, वस्तुतस्तु स्रावमुखेन प्राकट्यनिवृत्तिरप्युच्यत इत्यर्थः, तत्र युक्तिस्तदा ज्ञानशक्तीत्यादिनोक्तंवेति भावः, इति चतुर्थीति तथा च केदारार्थमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ शरदर्कांशिवत्यस्याभास आध्यात्मिकीमित्याणोमयः प्राण' इति श्रुतेस्तथा, शुद्धिमाहेति स्वकार्यक्षमत्वरूपां शुद्धिमाहेत्यर्थः, उभयत्रापीति तापे निवृत्तौ चेत्यर्थः, पूर्ववदिति स्वाभाविकत्वपरिहाराय मोक्षाभाव इति तस्मादिति शेषः ॥४२॥ अखण्डमण्डल इत्यत्र सुबोधिन्यां पूर्ववत् तापत्याजनमात्रं न तापनिवर्तकमतो विशेषमाहुर्भगवदीयेत्यादि, यथा हृदय इतीदानीमिति शेषः ॥ ४४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

केदारेभ्य इत्यत्र तथापीति उचितत्वात् स्वाभाविकत्वं सम्भवति तथाप्यस्य व्रजस्थकर्षुकक्तग्रहणस्य भगवत्सम्बन्धिफलसाधकत्वं साधनीयं, अतो दृष्टान्त उक्त इतिशेषः, प्राकट्यं त्विति बहिर्द्रवन्तः प्राकट्यं निवर्तत इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ शरदर्काशुजानित्यत्र नक्षत्रद्वारापीति कृष्णपक्षे चन्द्राभावात् तथा, उभयत्रापीति स्वतो नक्षत्रद्वारा च तापहरणे इत्यर्थः, तदा ता एवेति यद्यपि मोक्षार्थं सर्वेषामेव तापं हरति तथापि चन्द्रोदयसामयिकलीलायां ता एव स्थिता अतो "व्रजयोषिता"मित्युक्तमित्यर्थः, अन्यदप्याहुः चन्द्रेति, वयं स्त्रियो रात्रौ वनं कथं यास्याम इत्यभिमानो भगवत्स्थित्यज्ञानं कामलीलाभिलाषश्चेति त्रयं देहाभिमानस्तत्कृताश्च तापा अत्र विवक्षिता इतिशेषः, अतोपि "व्रजयोषिता"मित्युक्तमित्यर्थः, अन्यथेति पूर्वावस्थास्थितावित्यर्थः, तत्रैव कामेन स्वपतिभजने मरणाभावेपि तादृशे भगवति मोक्षो भजनानन्दरूपो न स्यादिति तदपि मरणतुल्यमेवेतिभावः, चकारोर्थविशेषे स्यादितिशेषः, अत्राभासेषु वाच्यार्थ उक्तः, सङ्ग्रहकारिकासु तात्पर्यार्थं उक्त इति ज्ञेयम ॥ ४२ ॥ खमशोभतेत्यत्र सर्वं नभ इति नभोदिकतारकाचन्द्रा निर्मला इत्यर्थः, तदाहेति शरत्कृतं तारकानैर्मल्यमाहेत्यर्थः, आधिदैविकीति 'कृष्णे भक्तिर्यथे'त्यस्याभावे उक्तमाधिदैविकसादृश्यमत्राप्युक्तमिति ज्ञेयं, तथा चाधिदैविकवद् दोषनिवर्तिकेत्यर्थः, बाह्य आभ्यन्तरश्चेति दार्ष्टान्तिकदृष्टान्तयोर्यामितिशेषः, प्रथमत इति पूर्वार्धे इत्यर्थः, मनस इति चन्द्रस्य मनोधिष्ठातृत्वादितिभावः ॥ ४३ ॥ अखण्डमण्डल इत्यत्र यथा हृदय इति भगवत्पक्षे मूले व्योम्नि हृदयाकाशे उडुगणैर्यदुभिरित्यर्थः ॥ ४४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

देहाभिमानजं तापमित्यस्य विवृतौ स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनात् इति, क्रमेणेति प्रेमोत्पत्तेः पूर्वं प्रेमवतां सरणिमनुसरन् तत्प्रकारेण भजन् क्रमेण शुद्धपुष्टिभक्तौ प्रविशति, एवं शुद्धपुष्टौ प्रविष्टशुद्धपुष्टेः "शुद्धाः प्रेम्णातिदुर्लभा" इतिवाक्यात् प्रेमप्रधानत्वात् प्रेमवान् भवति, तथा सति प्रेम्णा देहादीनां भगवति विनियोगाद् भगवदीयत्वेन स्वदेहे देहाभिमानस्य विद्यमानत्वेपि न देहाभिमानजस्तापो भवति, तदेतदुक्तं पुष्टिमार्गप्रवेशनात् हृत इति, तदा ता एव स्थिता इति भूतानामुडुपोहरदित्युक्त्वा

मुकुन्दो व्रजयोषितामित्युक्तं, तथा चैककालत्वं चन्द्रकृततापहरणस्य भगवत्कृततापहरणस्य चायाति, एवं सति तदा चन्द्रोदयसमये सायङ्काले ता एव व्रजरमण्य एव भगवद्दर्शनार्थं भगवन्निकटे स्थिता इति तासां तापदूरीकरणं निरूपितमित्यर्थः ।। ४२ ।।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

केदारेभ्यस्त्वपो गृह्णन्नित्यत्र ऊर्ध्वेन्द्रियैरिति का० १६९½ । इन्द्रियाणि यदा बहिर्निःसरन्ति तदा ज्ञानसहितानि निःसरन्ति, तथा च ऊर्ध्वेन्द्रियैर्योगशास्त्रानुसारेणानिरुद्धैरिन्द्रियैर्ज्ञानस्याधो विनाशनं भवति, सच्छिद्रघटाज् जलस्येवेत्यर्थः, निरोधे पुञ्जभावेनेत्यादि सतीन्द्रियनिरोधे ज्ञानस्य स्रवणाभावात् पुञ्जभावेन सञ्चयेन स्वकार्यं साधयेदित्यर्थः ।। ४१ ।। खमशोभत निर्मेघ"मित्यत्र मासष्टकमिति का १७०½–½ शरदि नभआदीनां नैर्मल्ये हेतुमाहुर्मासाष्टकमित्यादिना, वार्षिकमासचतुष्टया-तिरिक्तमासाष्टकपर्यन्तं तापैः सूर्यसम्बन्धिभिस्तथा जलांशशोषणप्रकारेण कृतं रज एवतमो मेघैरपोह्यते दूरीक्रियते अतो हेतोः शरदि नभोदिकतारकाचन्द्रा निर्मला इत्यर्थः, मूले नभःशब्देन दिशामपि ग्रहणं, चन्द्रो द्वितीयश्लोकोक्तः ।। ४३ ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

केदारेभ्यः शालिक्षेत्रेभ्यः क्षरन्तीः अपो दृढैः सेतुभिः तन्निर्गममार्गनिरोधेन कर्षका अगृह्णन् अरक्षन् । ततः परं वृष्टच-भावात् रक्षाभावे ताः शुष्येरन् । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा प्राणैरिन्द्रियैः क्षुभितैर्द्वारभूतैः स्वेभ्यः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन इन्द्रियप्रत्या-हारेण योगिनो रक्षन्ति तथेति । तथा च 'इन्द्रियनिग्रहपूर्वकं विवेकरक्षा सर्वदैव कर्तव्या' इत्युपादेयोपमा ।। ४१ ।। यथा देहाभि-मानजं तापमध्यात्मिकादित्रिविधं दुःखं बोधो देहादिभिन्नात्मयथार्थज्ञानं हरति, यथा च स्वविरहजं व्रजयोषितां तापं मुकुन्दो हरति, तथा शरदर्कांशुजांस्तापान् भूतानां कर्षकादीनामुडुपश्चन्द्रो हरति । तथा च 'संसारतापनिवृत्त्यर्थं ज्ञाने भक्तौ च प्रयत्नः कर्तव्य' इत्युपादेयोपमा ।। ४२ ।। शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थान् पूर्वोत्तरमीमांसानिर्णीतान् दर्शयतीति तथा तत्सत्त्वयुक्तं चित्तं यथा शोभते तथा शरदा विमलाः तारका यस्मिंस्तत्, निर्गता मेघा यस्मिंस्तत्, खमाकाशमशोभत । तत्र चित्तस्थानीयमाकाशम्, रजस्तमोनि-वृत्तिस्थानीया मेघनिवृत्तिः, सात्त्विकसेवास्थानीया शरत्, सत्त्वगुणस्थानीया विमलाः तारकाः, शब्दब्रह्मस्थानीयं जगत्, तदर्थ-स्थानीयाः सर्वे पदार्थाः, सत्त्वाधिष्ठातृश्रीवासुदेवस्थानीयस्ताराधिष्ठाता चन्द्र इति । यतः "सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये" 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' इत्यादि प्रामाण्यात् 'वेदार्थज्ञानाय सात्त्विकसेवया सत्त्ववृद्धिरेव सम्पादनीया' इति उपादेयोपमा ।।४३।। यथा वृष्णिचक्रेण यादवसमूहेन आवृतो यदुपतिः कृष्णो भुवि सुधर्मायां सभायां रराज, तथा अखण्डमण्डलः शशी पूर्णश्चन्द्रो व्योम्नि रराज । तथा च 'एवं सभायां विराजमानो भगवान् भक्तैरुपासनीय' इत्युपादेयोपमा ।। ४४ ।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

केदारेभ्य इति ।। केदारेभ्यः शालिक्षेत्रेभ्यः क्षरन्तीः अपो दृढैः सेतुभिः तन्निर्गमनानिरोधेन कर्षका अगृह्णन् ततः परं वृष्ट्यभावात् अरक्षन् । यथा प्राणैरिन्द्रियैः क्षुभितैर्द्वारभूतैः खेभ्यः स्रवज्ज्ञानं तन्निरोधेन इन्द्रियप्रत्याहारेण योगिनो रक्षन्ति तथा ।। ४१ ।। शरदिति ।। यथा देहाभिमानजं तापमाध्यात्मिकादि त्रिविधं दुःखं बोधो हरति । यथा च स्वविरहजं योषितां तापं मुकुन्दो हरति तथा शरदर्कांशुजांस्तापान्भूतानां कर्षकादीनामुडुपश्चन्द्रोऽहरत् ।। ४२ ।। खमिति ।। शब्दब्रह्मणो वेदस्यार्थान् पूर्वोत्तरमीमांसानिर्णीतान् दर्शयतीति तथा तत्सत्त्वयुक्तं चित्तं यथा शोभते तथा शरदा विमलाः तारका यस्मिंस्तत् निर्गता मेघा यस्मिंस्तत् खमाकाशमशोभत ।। ४३ ।। अखण्डेति ।। यथा वृष्णिचक्रेण यादवसमूहेनावृतो यदुपतिः कृष्णो भुवि सुधर्मायां सभायां रराज तथा उडुगणैः सह अखण्डमण्डलः शशी पूर्णश्चन्द्रो व्योम्नि रराज ।। ४४ ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

शालिक्षेत्राणां भग्नसेतुभ्यः स्रवज्जलेभ्यः केदारेभ्यः ततः अग्रेवृष्ट्या भावात् दृढैर्दृढबंधैः सेतुभिः जलं अगृह्णन् यथा अनवरुद्धैः प्राणैरिंद्रियैः स्रवत्क्षयं प्राप्नुवत् ज्ञानमिंद्रियनिरोधेन योगिनः स्थिरं कुर्वंति तथा कर्षुका इति संबंधः ।। ४१ ।। उडुपश्चंद्रः अंशुजान् शरद्भवो योऽर्कः सूर्यस्तस्य किरणोत्पन्नान् तापान् जहार अत्र दृष्टांतद्वयं यथा देहाभिमानजं तापं बोधो देहात्मविवेकः यथा च मुकुंदस्तद्वत् ।। ४२ ।। शरदि विमलाः स्वच्छास्तारका यस्मिंस्तत् खं गगनं यथा शुद्धसत्वयुक्तत्वात् शब्दब्रह्मणां वेदपुराणा-नामर्थान् तत्र निर्णीतान् धर्मज्ञानवैराग्यभक्तिरूपान् दर्शयति शुद्धतया प्रकाशयतीति तथाभूतं चित्तं तद्वत् ।। ४३ ।। शरदीति पदं प्रतिश्लोकं योज्यं उडुगणैर्नक्षत्रवृंदैः वृतश्चंद्रः वृष्णिचक्रेण यादववृंदेन आवृतो भुवि श्रीकृष्णो यथा तथा रराज ।। ४४ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

केदारेभ्य इति । कर्षुकाः कृषीवलाः तु, अपः प्रवहन्ति जलानि. दृढसेतुभिः सुदृढपालीबन्धनैः केदारेष्वित्यर्थः । अगृह्णन् निरुद्धवन्तः । ततः परं वृष्ट्यभावादिति भावः । यथा योगिनः प्राणैरिन्द्रियैः, तद्द्वारेत्यर्थः । स्रवत् बाह्यविषयग्रहणप्रवणीभवत् ज्ञानं धर्मभूतज्ञानं, तन्निरोधेन, प्राणनिरोधेन आत्मस्वरूपगोचरं कुर्वन्ति तद्वत् । योगिना इन्द्रियनिरोधपरेण सता आत्मस्वरूपशीलनपरेण

भवितव्यमिति सूचितम् ॥ ४१ ॥ शरदिति ॥ उडुपश्चन्द्रः, भूतानां शरदि योऽर्कस्तस्यांशुभ्यो जा जातास्तान्, तापान् अहरत्। यथा देहाभिमानजं देहाभिमानेन जातं, तापं परकृतदेहनिन्दादिप्रयुक्तं परितापं, बोधः देहयाथात्म्यगोचरोऽवबोधः हरति, यथा च, व्रजयोषितां तापं मन्मथप्रयुक्तं परितापं, मुकुन्दो भगवान् अहरत्तद्वत् । देहाभिमानजं तापमिति पाठे बोध इति कर्तृपदमध्याहर्त्तव्यम् । अतो यथोक्त एवार्थः । अनेन हेयत्वज्ञानार्थं देहयाथात्म्यपरिशीलनमपि कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति ॥ ४२ ॥ खमिति ॥ निर्मेघं मेघरहितं, शरदा विमलाः तारका यस्मिंस्तथाभूतं सत्, खमाकाशं, अशोभत । यथा सत्त्वयुक्तं सत्त्वगुणयुक्तं, सत्त्वप्रचुरमिति यावत् । चित्तं, शब्दब्रह्मणो वेदस्य योऽर्थः भगवदक्षरेश्वरजीवमायास्वरूपयाथार्थ्यप्रबोधकतारूपस्तं पश्यति जानातीति तथाभूतं सत् शोभते, तद्वत् नन्द्यादित्वात् कर्त्तरि ल्युः । यद्वा । शब्दब्रह्मार्थोऽर्थपञ्चकरूपो दृश्यते लक्ष्यतेऽनेनेति करणे ल्युट् । सत्त्वप्रवणं चेतो रागाद्यकलुषितत्वान्निर्मलतयाऽतीन्द्रियवेदार्थप्रकाशकं सच्छोभते तद्वदित्यर्थः । अनेन सत्त्वप्राचुर्याहारशुद्धिमता भवितव्यमिति सूचितम् । अत्र तारकास्थानीया वेदार्थाः, आकाशस्थानीयं चेतः, मेघस्थानीयं रजस्तमश्चेति विवेकः ॥ ४३ ॥ अखण्डेति शशी चन्द्रः, व्योम्नि निर्मेघे आकाशे, अखण्डं पूर्णं मण्डलं यस्य तथाभूतः सन्, उडुगणैः नक्षत्रसमूहैः, रराज । यथा यदुपतिः कृष्णः, भुवि वृष्णीनां चक्रं समूहस्तेनावृतः सन्, रराज, तद्वत् । अनेन यदुपतेश्चन्द्रवत् सर्वलोकाह्लादकत्वमभिप्रेतम् ॥ ४४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

केदारेभ्य इति : १०.२०.४१.

चित्तं नीचगति स्वभावतरलं यातुं प्रवृत्तं यदि क्षेत्राम्भोवदलं निरर्थविषये तन्निग्रहोपायधीः ।
युक्तं सेतुभिरागमेडितपदैः क्षेत्रज्ञचेतोहरैर्यः कुर्वीत सुधीरसस्य विभवस्तस्यार्थसिद्धिस्ततः ॥ ६० ॥

खमशोभतेति : १०.२०.४३.

अनुज्जृम्भितापं सदा सत्त्वयुक्तं सुखाभिख्यमत्यच्छतारप्रचारम् ।
शरद्व्योमवद्यस्य चित्तं न तस्य जने दुर्लभः कीदृशोऽप्यर्थलाभः ॥ ६१ ॥

अखण्डेति : १०.२०.४४.

यथा विधुः पूर्णकलो विराजते सुखे सहैवोडुगणैस्तथा भवान् ।
दयानिधे भक्तजनैस्ततस्तव भवेन् मदङ्गीकृतिरप्यलङ्कृतिः ॥ ६२ ॥

कृष्णप्रिया

किसान खेतों की मेड़ मजबूत करके जल का बहना रोकने लगे जैसे योगी जन अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोककर प्रत्याहार करके उनके द्वारा क्षीण होते हुए ज्ञान की रक्षा करते हैं ॥ ४१ ॥ शरद ऋतु में दिन के समय बड़ी कड़ी धूप होती। लोगों को बहुत कष्ट होता परन्तु चन्द्रमा रात्रि के समय लोगों का सारा सन्ताप वैसे ही हर लेते है—जैसे देहाभिमान से होने वाले दुःख को ज्ञान और भगवद्विरह से होने वाले गोपियों के दुःख को श्रीकृष्ण नष्ट कर देते हैं ॥ ४२ ॥ जैसे वेदों के अर्थ को स्पष्ट रूप से जानने वाला सत्त्वगुणी चित्त अत्यन्त शोभायमान होता हैं वैसे ही शरद ऋतु में रात के समय मेघों से रहित निर्मल आकाश तारों की ज्योति से जगमगाने लगा ॥ ४३ ॥ परीक्षित् ! जैसे पृथ्वीतल में यदुवंशियों के बीच यदुपति भगवान श्रीकृष्ण की शोभा होती हैं, वैसे ही आकाश में तारों के बीच पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होने लगा ॥ ४४ ॥

आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् । जनास्तापं जहुर्गोप्यो न [1]कृष्णहृतचेतसः ॥ ४५ ॥
गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः [2]शरदाभवन् । अन्वीयमानाः[3] स्ववृषैः फलैरीश[4]क्रिया इव ॥ ४६ ॥
[6]उदहृष्यन् वारिजानि [7]सूर्योत्थाने कुमुद् विना । राज्ञा तु [8]निर्भया लोका [9]यथा दस्यून् विना नृप ॥ ४७ ॥
[10]पुरग्रामेष्वाग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः । बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥
[11]वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे । वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[12] दशमस्कन्धे प्रावृट्शरद्वर्णनं नाम [13]विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

---

१. न कृष्णाहृत–विज. । २. शरदागमे–वीर. । ३. मानो इति कस्यचित् । ४. ऋषभैः–विज. । ५. रीशक्रिया इव–विज. । ६. उपाहृष्यन्–च. पु. टी. । ७. सूर्येण कुमुदं विना–वीर. विज. । ८. निर्भयो लोको–विज. । ९. आसन्–गो. प्रे. टी. । १०. इवाश्रमिणामिन्द्रयाणमहोत्सवैः–विज. । ११. वणिजो नगरात्स्वीयान्निर्गम्य–विज. । १२. पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे–गो. प्रे. मूलम् । १३. अष्टादशोऽध्यायः–विज. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—समशीतोष्णम् प्रसूनवनमारुतम् आश्लिष्य जनाः तापम् जहुः तथा कृष्णहृतचेतसः गोप्यः तापम् न जहुः ॥४५॥ गावः मृगाः खगाः नार्यः स्ववृषैः अन्वीयमानाः फलैः ईशक्रियाः इव शरदा पुष्पिण्यः अभवन् ॥ ४६ ॥ नृप ! दस्यून् विना लोकाः यथा राज्ञा निर्भयाः उदहृष्यन्, तथा सूर्योत्थाने कुमुद् विना वारिजानि उदहृष्यन् ॥ ४७ ॥ पुरग्रामेषु आग्रयणैः च ऐन्द्रियैः महोत्सवैः पक्वसस्याढ्या भूः हरेः कलाभ्याम् नितरां बभौ ॥ ४८ ॥ वर्षरुद्धाः वणिक्-मुनि-नृप-स्नाताः, यथा सिद्धाः, काले आगते अर्थान् प्राप्नुवन्ति तथा निर्गम्य अर्थान् प्रपेदिरे ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कुमुत्कुमुदम् । कुत्सिता मुद्यस्येति दस्युसाम्यम् ॥४५॥ आग्रयणैर्नवान्नप्राशनार्थैर्वैदिकैरैन्द्रियैरिन्द्रियार्थैर्लौकिकैश्च महोत्सवैः । कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां दर्शनादिमहोत्सवाभ्याम् ॥ ४६ ॥ वणिजो यतयो नृपाः स्नातकाश्च दृष्टादृष्टाभ्यां वर्षरुद्धाः संतो निर्गम्यार्थान्वाणिज्यस्वाच्छंद्यदिग्विजयविद्यादीन्प्रपेदिरे प्रापयंत । यथा मंत्रयोगादिसिद्धाः आयुषा रुद्धाः काले आगते स्वपिंडान्योगादिप्राप्यान्देवादिदेहानिति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कुमुदिति । द्वितीयाबहुत्वे प्रथमैकवचनम् । कुत्सिते चौरजाराद्यवकाशयोग्ये रात्रिकाले मुदानंदो यस्येति । दस्युसाम्यम् चौरतौल्यम् ॥ ४५ ॥ यद्यपि नवान्नानि बहूनि तथापि "गृहमेधी व्रीहियवाभ्यां शरद्वसंतयोर्यजेच्छयामाकर्वनीवर्षासु" इत्यादिश्रुतिवाक्यविहितैर्वैदिकैः पितृदेवार्चनरूपैः, लौकिकैः नानालोकैः संभूय संपादिते रावणादिवप्रलीलारूपैः । हरेः कलाभ्यामित्युक्तेः 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' इत्युक्तिव्याकोपः स्यादिति चेत्, अत्र व्याख्यांतरेण समाधत्ते—किंभूना भूः—हरेः परमेश्वरस्य कला तदेकदेशजातत्वात् "पद्भ्यां भूमिः" इति श्रुतेः । 'भूः पादौ' इति स्मृतेश्च । पुरेषु श्रीमथुरादिषु ग्रामेष्विव ग्रामेषु श्रीनंदावासादिषु । आग्रयणैरिति "नवान्नं नैव नंदायां न च सुप्ते जनार्दने । न कृष्णपक्षे धनुषि तुलायां नैव कारयेत् ॥" इति स्मृतेः । प्रबोधनांते वृश्चिक इति ज्ञेयम् । शरदंतत्वाच्छरद्व्यवहारः । इन्द्रियैरिंद्रदेवताकैः 'इन्द्रमिंद्रियकामस्तु' इत्युक्तेरिंद्रपूजामयैरित्यर्थः । कार्त्तिकमध्ये हि तत्पूजा व्रजादौ पूर्वमासीत्तां खंडयित्वैव श्रीभगवता गोवर्द्धनपूजा प्रवर्त्तितेति । इदं शरद्वर्णनमिंद्रमखभंगात्प्रागिति इंद्रपूजाया लोकपरंपरागतत्वं श्रीव्रजराजेन वर्णितमिति विश्वनाथादयः । आभ्याम् रामकृष्णाभ्याम्, नितरां बभाविति योज्यम् । त्यदादीनां बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात् इदमा रामकृष्णौ परामृश्येते । यद्वा—बलभद्रस्य हरिकलात्वाल्लिंगसमवायेन कृष्णेऽपि तदुक्तिर्न विरुद्धा । बलस्य कला त्वं तु 'वासुदेवकलानंतः सहस्रवदनः स्वराट्' इत्युक्तेः, 'अहं भवो यस्य कला कलायाः' इति तदुक्तेश्च, 'दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतः इति द्वितीयाध्याये देवकृतस्तुतावुक्तत्वाच्च । यद्वा हरेश्चंद्रमसः कलाभ्यां शुक्लद्वितीयासायमुदिताभ्यामुत्सवैं राजकीयपुरुषप्रभृतिकृतैरित्यर्थः । "हरिश्चन्द्रार्कवाताश्वे शुकभेकयमादिषु" इति मेदिनी ॥ ४६ ॥ स्वाच्छंद्यम् स्वेच्छया विचरणम् । काले देवादिदेहप्राप्तिसमये । वर्षेण वृष्ट्या "वर्षो स्त्री भारताद्यंबुवृष्टयचशब्दे प्रावृषि स्त्रियाम् इति यादवः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे विंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु गोप्य इति विशेषोक्तिस्तत्र हेतुमाह—कृष्णेति । ततस्तेनोद्दीपनात् प्रत्युताधिकं तापं प्रापुरित्यर्थः । हृधातुप्रयोगगतमेव स्पष्टीकृतवान् योगिनां मनसि प्रविश्य सम्पदे कल्पितुं आसान्तु मनो हृत्वा विपदे कल्पितु युक्त एवेति भावः । मुकुन्दो व्रजयोषितामिति तासामुत्तरावस्था दृष्टान्तिता अनेन तु पूर्वावस्थेति ॥४५॥ मृगाः खगा इत्यार्षं मृग्यः खग्यः अन्यत्तैः । यद्वा, पुष्पम् ऋतुकारी धातुविशेषस्तद्वत्यः सत्यः स्ववृषैः प्रसवविशेषसम्पादकस्वस्वपुंभिः प्रार्थनां विनाप्यन्वीयमाना बभूवुः फलैः फलविशेषसम्पादकैरपूर्वकैरपूर्वैः ॥ ४६ ॥ वारिजशब्देनात्र वार्युद्भवपुष्पमात्रं गृह्यते ननु कमलमेव कुमुदनिषेधानुपपत्तेर्लोकशब्दवत् सामान्यमेव ग्राह्यमिति कुमुदानां रात्रिविकासित्वाद्दस्युसाम्यं राज्ञा तस्योत्थाने सिंहासनप्रथमारोहे उद्यमे वा लुप्तोपमेयं यथा दस्यूनिति वा पाठः नृपेति दृष्टान्तस्यापि दृष्टान्तसूचना ॥ ४७ ॥ पुरेषु श्रीमथुरादिषु ग्रामेष्विव ग्रामेषु श्रीनन्दावासादिषु आग्रयणैरिति "नवान्नं नैव नन्दायां न च सुप्ते जनार्द्दने । न कृष्णपक्षे धनुषि तुलायां नैव कारयेत्" इत्यनुसारेण वृश्चिके प्रबोधिन्यन्तरमेव इदं ज्ञेयं शरदन्तत्वात्तु शरद्व्यवहारः ऐन्द्रियैश्च महोत्सवैरिति "इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु" इत्युक्तत्वात् इन्द्रपूजामयैरित्यर्थः । कार्त्तिकमध्ये हि तत्पूजा व्रजादौ पूर्वमासीत् तां खण्डयित्वैन श्रीभगवता गोवर्द्धनपूजा प्रवर्त्तितेति इन्द्रपूजायास्तस्या लोकपरंपराप्राप्तत्वञ्च श्रीव्रजराजेन मंस्यते

कीदृशी भूर्हरेः कला शक्तिः आभ्यां रामकृष्णाभ्याम् ॥ ४८ ॥ वर्षशब्दः कालस्यापि वाचीति आयुरिति व्याख्या ततश्च जीवनावधिपरिमितैर्वत्सरैरुद्धा इत्यर्थः स्नातकानामर्थास्तीर्थाटनादिरूपाः सिद्धाः भक्त्यादिसिद्धाः स्वपिण्डान् प्राप्तव्यपार्षददेहान् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

आश्लिष्य प्रीत्या निर्भरमनुभूय, सममिति मान्द्यमभिप्रेतम्, शीतश्चेति निदाघादिवदुष्णतातिशयः, उष्णश्चेति शरच्छेवे जायमानशैत्यातिशयश्च परिहृत इति सुशैत्यम्, मालत्यादिप्रसूनवनस्य मारुतमिति सौगन्ध्यञ्च। एतच्च प्रायो वसन्तवच्छरदः स्वाभाविकमेव तापं शरदर्कजं दिवापि जहुः, न तु गोप्यो विरहजं प्रेमस्वभावजं वोत्तापं कृष्णहृतचेतसां तासां तत्स्मृतिविशेषजनकेन तेन भावविशेषोद्दीपनात, प्रत्युताधिकताप-प्राप्तेरित्यर्थः। इदं प्रसंगाद्भावविशेषोदयनैवात्रोक्तम्, असाधारणत्वाच्छात्रदृष्टान्तो नोक्तः, किंवा उत्तमपानकगनेन यथा सर्व्वेषां सुखं ज्वरो वा वर्द्धत एवेति वाक्यशेषो दृष्टान्तो द्रष्टव्यः ॥ ४५ ॥ मृगाः खगा इत्यार्षम्, मृग्यः खग्यः, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, पुष्पम् आर्त्तवं तद्वत्यः स्ववृषैरन्वीयमाना बभूवुः, ईश्वराराधनक्रिया यथा पुष्पसदृशमान्तरीयकज्ञानादिकं दर्शयन्त्यः प्रेमादिलक्षणैः फलैरनुगता भवन्ति ॥ ४६ ॥ दिवा विकसतां कमलानां रात्रिविकासिकुमुदैः सह प्रतियोगित्वेन वैरितयैव तैर्विना विकसनेन शोभाविशेषो ध्वनितः, अतएव उच्चैरतिशयेनाहृष्यन् सुखं विकसितानीत्यर्थः। राज्ञा हेतुना लोकानां दस्युभिर्लुण्ठकैः सह वैरं व्यक्तमेव, अतस्तान् विना निर्भयाः सन्तो यथोच्चैर्हृष्यन्ति, सूर्य्यस्योदये सत्येव राज्ञश्च सत्तामात्र एवेति, विशेषापेक्षया तु-शब्दः, यद्वा, चार्थे उक्तसमुच्चये; राज्ञि चोत्थिते न सन्तीत्यर्थः। पूर्व्वं राज्ञोऽसत्त्वेन भूता दस्यवस्तस्य वृत्तौ यथा निवर्त्तन्ते, यथा वेनमरणे जाताः, श्रीपृथुप्रादुर्भावे सति निवृत्ता इति; यद्वा, कुमुद्विनेति कुमुदानि च नोदहृष्यन्नित्यर्थः। दस्यून् विनेति—दस्यवस्तु सभया भवन्तीत्यर्थः। हे नृपेति ! भवादृशेनैव राज्ञा तद्भवतीति, किंवा भवता तद्विज्ञायत एवेति भावः ॥४७॥ पुरेषु श्रीयदुपुर्य्यादिषु श्रीनन्दवास-नन्दीश्वरादिषु वा, ग्रामेषु श्रीवृन्दावनवर्त्तिषु श्रीगोपराजपुरोहितशासनादिरूपेषु हरेर्भगवतः श्रीनारायणस्य कलाभ्यां निजाखिलभगवत्ताप्रकटनेन परमशोभारूपाभ्यां श्रीकृष्णरामाभ्याम्; यद्वा, भगवतोंऽशरूपाभ्यां शोभारूपाभ्यामेव वा, कलयतः स्नेहभरेण परिपालयत इति मातापितृभ्यां श्रीयशोदानन्दाभ्यां तत्र तत्र तन्महोत्सवेषु निमंत्रणादिना तयोरेव प्राधान्यात्, कलिहली कामधेनू, अथवा हरेः कलाभ्यां प्रबोधनरथयात्रात्मकमहोत्सवाभ्यां नितरां विशेषतो बभौ ॥ ४८ ॥ वणिगिति तैर्व्यञ्जितार्थमेव। यद्वा, सिद्धा जीवन्मुक्ता भक्त्यर्काच्छादक-वृष्टितुल्याद्वै तज्ज्ञानेन रुद्धा आवृताः; यद्वा, वृष्टितुल्याविच्छिन्नसत्संगानन्देन वशीकृताः, श्रीभगवत्कृपया श्रीवैकुण्ठलोकप्राप्तेर्वा, काले प्राप्ते यथा स्वस्य योग्यान् पिण्डान् सच्चिदानन्दघनपार्षददेहान् प्राप्नुवन्ति ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां
श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

पुष्पिण्यः शोभायुक्ताः ऋतुयुक्ताश्च ॥ ४६-४७ ॥ हरेः कलाभ्यां नितरां सुखिताः ॥ ४८ ॥ यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते यथा तपःसिद्धाः अस्माल्लोकान्निर्गत्य फलकाले स्वपिण्डान् भोग्यजातं प्रतिपद्यन्ते तद्वत् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

आश्लिष्येति। जनाः समं मितं शीतम् उष्णञ्च यस्य तं प्रकृष्टानि सूनानि कुसुमानि यस्य तस्य वनस्य मारुतमाश्लिष्य अनुभाव्य तापं जहुः ग्रीष्मशैत्यप्रयुक्तं दुःखं जहुरित्यर्थः। गोप्यस्तु तापं मन्मथतापं न जहुः तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां तथाभूताः अनेन कृष्णस्य यौवनावस्था गोपीचित्तसमाकृष्टिश्च सूचिता ॥ ४५ ॥ गाव इति। गवादयः स्ववृषैः स्वस्वप्रियैरन्वीयमानाः शरदा निमित्तभूतया पुष्पिण्यो गर्भिण्यो बभूवुः यथा ईश्वराराधकात्मिकाः क्रियाः स्वसाध्यैः फलैः धर्मादिपुरुषार्थैरन्वीयमानाः समस्तभोगगर्भा भवन्ति तद्वत् अनेनेश्वरक्रियाणां फलाविनाभावित्वमुक्तम् ॥ ४६ ॥ उदहृष्यन्निति। कुमुदमिति जात्यभिप्रायमेकवचनं कुमुदान्युत्पलानि विना सर्वाणि वारिजानि सूर्येणोदहृष्यन् विकासेन हृष्टा इव लक्षिता बभूवुः यथा हे नृप दस्यूंश्चोरव्याघ्रादीन् वीन इतरे सर्वे जनाः राज्ञा हेतुना निर्भया हृष्यन्ति तद्वत् अनेन राज्ञा दस्यूनुद्वेजयता भवितव्यमित्युक्तिम् ॥ ४७ ॥ पुरग्रामेष्विति। पुरेषु ग्रामेषु चाग्रयणैर्नूतनव्रीह्यादिभिर्भक्षणाभ्यनुज्ञार्थं आग्रयणाख्ययागरूपैरैन्द्रियैरिन्द्रियप्रीत्यर्थैरन्यैश्च महद्भिरुत्सवैः सर्वसस्याढ्या भूर्बभौ हरेः कलाभ्यां रामकृष्णाभ्यां तु नितरां बभौ छत्रिन्यायेन कलाभ्यामित्युक्तिः वणिगित्यादि वणिगादयस्तावद्वर्षेण रुद्धाः शरदि निर्गम्यार्थान् प्रयोजनानि प्रपेदिरे तत्र वणिजः क्रयविक्रयादिव्यापारिणः मुनयः

संन्यासिनः नृपाः जयिनः स्नातास्तीर्थयात्रापराः एते वाणिज्यस्वच्छन्दचारविजयतीर्थस्नानादिरूपानर्थान् प्रपेदिरे इत्यर्थः । यद्वा सिद्धाः तपःसिद्धाः फलकाले आगते सत्यस्मात् लोकान्निर्गत्य स्वपिण्डान् स्वस्य तपस्साध्यभोग्यजातं प्रतिपद्यन्ते तद्वत् अनेन तपसःफलाविनाभावित्वमुक्तम् ।। ४९ ।।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मारुतं शारदमिति शेषः । अर्कजनितं तापं गोप्यः कामार्कजनितं तापं न जहुः तत्र निमित्तं कृष्णाहृतचेतसः कृष्णेनाहृतं चेतो यासां तास्तथा ।।४५।। पुष्पिण्यः गर्भिण्यः ऋषभैरिति पाठः । वृषभैरिति पाठे मातृसहोदरीविवेकज्ञानशून्यत्वात्तथोक्तमित्यर्थः । फलैर्बीजैरन्वीयमानाः उप्यमानाः ईषत् क्रियाः शनैः क्रियमाणाः कृषिक्रिया इव फलैः स्वर्गादिलक्षणैः अनुगता ईषत्क्रिया ऊनातिरेकपरिहारार्थाः विलम्बमानयागक्रिया इव लाभनिष्पत्तिभोगेषु बीजे फलधने फल इति वा ।। ४६–४७ ।। इन्द्रयागमहोत्सवैः इन्द्रदेवत्याग्रायणेष्टिलक्षणोत्सवैः हरेः कलाभ्यां नितरां बभौ आश्रमिणां अग्निवतां गृहस्थमात्राणां वा ।। ४८ ।। प्रावृषि वर्षेण रुद्धाः शरदि स्वीयान्नगरात्पत्तनान्निर्गत्यार्थान् देयादेयविषयान् प्रपेदिरे वर्षेणाब्देन तल्लक्षितकालेनेत्यर्थः । रुद्धाः साधनसामग्रीसम्पत्तिपर्यन्तकालेन प्रतिबद्धाः सिद्धा मन्त्रौषधतपस्सम्पन्नाः पुरुषाः काले फलदानाभिमुखलक्षणे आगते आसन्ने स्वीयान्नगरात्स्वत्वेनाभिमताद्देहान्निर्गत्य स्वपिण्डान् निजफलानुभावयोग्यान् देहान् यथा प्रपद्यन्त इत्यन्वयः "वर्षो स्त्री भारताद्यब्दवृष्टिषु प्रावृषि स्त्रियाम्" इति यादवः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

[विजयध्वजरीत्या अष्टादशोऽध्यायः]

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

मृगाः मृग्यः खगाः खग्यः पुष्पिण्यः ऋतुमत्यः ताः स्ववृषैरवश्यमन्वीयमाना अभवन् फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६–४७ ॥ हरेः कला पृथ्वी आभ्यां रामकृष्णाभ्याम् ॥ ४८–४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ यद्यपि वृन्दावनं सर्वदा सर्वर्त्तुभिः सेव्यमानम्, तथापि भगवदिच्छावशात् क्रमिकसेवनमपि तेषां दर्शयन् निदाघ–वर्षाविहारवर्णनोपक्रमे ऋतुसन्धिजं मारुतं वर्णयन्नाह—आश्लिष्य समशीतोष्णमित्यादि । समं यथा स्यात्तथा शीतञ्च उष्णञ्च, प्रत्यग्रागच्छन्मेघागमसम्बन्धाच्छीतम्, निर्गच्छन्निदाघसम्बन्धादुष्णमित्यर्थः । प्रसूनप्रधानं यद्वनं तत्सम्बन्धि मारुतम् । प्रसूनेति मल्लिकाकदम्बादि सन्धिजानि प्रसूनानि ज्ञेयानि । तथाभूतमाश्रित्य जनास्तापं जहुः, न तु गोप्यः । कुतः ? जनानां व्रजस्थानामेव समशीतोष्णत्वेन तापनाशकत्वम्, गोपीनां तु केवलोष्णत्वेन दाहकत्वमेवेत्यर्थः । कुतः ? कृष्णहृतचेतसः, कृष्णेन हृतं चेतो यासाम्; एतावन्तं कालम् कौमारदशया भावानुवृत्तेः, सम्प्रति कैशोरावस्थायाम् 'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथम विक्रिया इत्यादि-दिशा तदुत्पत्तौ तथाविधमाह। तस्योद्दीपनविभावत्वाद् भगवदसंयोगे तापद एवासीदिति भावः ॥ ४५–४९ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

आश्लिष्य समशीतोष्णमित्यादि । जना व्रजस्था जनास्तापं जहुः, न तु गोप्यः । कुतः ? कृष्णहृतचेतसश्चेत् तेन मारुतेनोद्दीपनभावरूपेण समशीतोष्णत्वेऽपि तासां केवलमुष्ण एवाभवदित्यर्थः ॥ ४५–४७ ॥ बभौ भूः पक्वशस्याच्चेति । आभ्यां रामकृष्णाभ्यां नितरां बभौ, यत इयं भूः श्री-भू-लीला इत्यादिना भुवो पालितत्वात् ॥ ४९ ॥

इति विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

समः अन्यूनाधिकः शीतश्चोष्णश्च तं न तु गोप्यस्तापं जहुर्यतः कृष्णहृतचेतसो विरहिण्यः प्रत्युत तं मारुतमाश्लिष्य तापं प्रापुरिति भावः । अत्र प्रक्रमभङ्गाभावार्थं केचिदेवं व्याचक्षते गोप्य इत्यनन्तरं कृष्णमिवेति शेषो देयः कीदृश्यः न कृष्णहृतानि अपि तु हृतानि एव चेतांसि यासां ताः शिरश्चालनेन जनैककीर्तिर्नैकयशा इति वन्न लोपाभावः चेतश्चौरात्तस्माद्बलात्स्वस्व चेत

आदातुमिव तमाश्लिष्यन्त्योऽपि तास्तन्न प्रापुरिति भावः ॥ ४५ ॥ मृगा मृग्य खगाः खग्यः स्ववृषैः स्वस्वपातभरन्वायमानाः अनिच्छन्त्योऽपि सम्भोगार्थमनुगम्यमानाः ईशक्रिया भगवदाराधनलक्षणाः क्रिया निष्कामा अपि फलैः सुखभोगादिभिः ॥ ४६ ॥ कुमुत् कुमुदं कुत्सितेषु मुत् यस्येति दस्युसाम्यम् ॥ ४७ ॥ आग्रयणैर्नवान्नपाशनार्थैर्वैदिकैः—

"नवान्नं नैव नन्दायां नच सुप्ते जनार्द्दने । न कृष्णपक्षे धनुषि तुलायां नैव कारयेत्" ॥ इति स्मृतेः ।

प्रबोधिन्यन्ते वृश्चिके इति ज्ञेयं शारदं तत्वत्तु शरद्व्यवहारः इन्द्रियैरिन्द्रदेवताकैः इन्द्रमखभङ्गात् पूर्वस्याः शरदो वर्णनमिदं कीदृशी भूः हरेः कलाशक्तिः आभ्यां रामकृष्णाभ्यां यद्वा हरेश्चन्द्रस्य कलाभ्यां शुक्लद्वितीयासायमुदिताभ्यामुत्सवे राजकीयपुरुषप्रभृति कृतैर्यथा सैव भूरिति व्याख्या यथेति पदस्य शेषत्वे प्रक्रमभङ्गाभावार्थमुपादेया "हरिश्चन्द्रार्कवाताश्वशुकभे-कयमाहिषु, इति मेदिनी ॥ ४८ ॥ वणिजो यतयो नृपाः स्नातकाश्च ये वर्षेण वृष्ट्या रुद्धा आसंस्ते वर्षान्ते निष्क्रम्य अर्थात् वाणिज्य-स्वाच्छन्द्यदिग्विजयविद्यादीन् प्रपेदिरे प्रपद्यन्त यथा सिद्धाः वर्षैः स्वायुर्घटकैर्वत्सरैरुद्धाः काले अन्तसमये आयाते स्वपिण्डान् पार्षदादिदेहान् इयमुपादेया ॥ ४९ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । विंशोऽध्यायोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

समे तुल्ये गुणभूते शीतोष्णे यस्य तमाश्लिष्य जनास्तापं जहुः गोप्यस्तु तमाश्लिष्यापि न जहुः तत्र हेतुगर्भं विशेषणं कृष्णहृतचेतस इति तासां तापापनोदकः श्रीकृष्ण एवेति फलितोर्थः ॥ ४५ ॥ शरदा निमित्तभूतया स्ववृषैः स्वपतिभिरन्वीयमानाः पुष्पिण्यो गर्भिण्यः अभवन् बभूवुः यथा ईश्वराराधनार्थाः क्रियाः फलैरनुगम्यमानाः समस्तभोगगर्भा भवन्ति तद्वत् ईश्वराराधनार्थं कर्म कदाचिदपि निष्फलं न भवतीति भावः ॥ ४६-४७ ॥ आग्रयणैर्नवान्नप्राशनार्थैर्वैदिकैः ऐन्द्रियैरिन्द्रियप्रोत्यर्थैर्लौकिकैश्च महोत्सवैः हरेः कला भूः बभौ आभ्यां राममाधवाभ्यां तु नितरां बभौ यद्वा हरेः कलाभ्यां सोमसूर्याभ्यां यद्वा छत्रिणो यान्तीति वत् हरेः कलाभ्यां राममाधवाभ्यां हरिणा माधवेन तत्कलया रामेणेत्यर्थः ॥ ४८ ॥ वणिगादयो वर्षेण रुद्धाः शरदि निर्गम्य अर्थान् वाणिज्यस्वाच्छन्द्यदिग्विजयदद्यादीन् प्रपेदिरे प्रापद्यन्त यथा सिद्धाः मन्त्रजपादिसिद्धाः प्रारब्धकर्मणा रुद्धाः काले आगते स्वपिण्डान् स्वकीयमन्त्रजपादिसाध्यान् भुक्तिमुक्तिरूपाणि फलानि प्रतिपद्यन्ते तद्वत् ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे विंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

समोऽन्यूनाधिकः शीतश्चोष्णश्च तं प्रसूनवनमारुतमाश्लिष्य गोप्यस्तु तापं न जहुः यतः कृष्णेति विरहिण्य इत्यर्थः किन्तु तापं प्रापुरित्यर्थः ॥ ४५ ॥ मृगाः खगाः इत्यार्षं मृग्य खग्य इत्यर्थः । स्ववृषैः स्वपतिभिरनिच्छन्त्योऽपि बलादनुगम्यमानाः पुष्पिण्यः सगर्भाः अभवन् यथेशक्रिया भगवदर्चनलक्षणा निष्कामा अपि फलैः सुखभोगैरनुगम्यमानास्तद्गर्भा इत्यर्थः । इयमुपादेया ॥ ४६ ॥ सूर्यस्थानेन वारिजानि पद्मान्युदहृष्यन् कुमुद्विनेति विभक्तिलोप आर्षः । "कुमुदेपि कुमुत् स्मृत"मिति विश्वः कैरवाणि विनेत्यर्थः । कुत्सिता मुद्येषां जानीति दस्युभिः सादृश्यं यथा सिंहासनाधिष्ठितेन राज्ञा लोका निर्भरा भवन्ति दस्यून् विनेति राज्ञामुपादेयेयम् ॥ ४७ ॥ आग्रयणैर्नवान्नप्राशनाद्यैर्वैदिकैर्महोत्सवैर्भूर्वभौ –

नवान्नं नैव नन्दायां न च सुप्ते जनार्दने । न कृष्णपक्षे धनुषि तुलायां नैव कारयेत् ॥

इति स्मरणात् बोधिन्यन्ते वृश्चिके इति बोध्यं शरदं तत्वात्तु शरद्व्यवहारः इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैः लौकिकैश्च भूः कीदृशी हरेः कला शक्तिः आभ्यां श्रीरामकृष्णाभ्यां नितरां बभौ ॥ ४८ ॥ वणिजो मुनयो नृपाः स्नातकाश्च ये वर्षेण वृष्ट्या रुद्धा आसन् ते वर्षान्ते निष्क्रम्यार्थान् वाणिज्यस्वच्छन्दादिग्विजय-विद्यादीन् प्रपेदिरे प्राप्ताः यथा सिद्धा वर्षैः स्वायुर्घटकैः सम्वत्सरैरुद्धाः कालेऽन्त-समये आगते स्वपिण्डान् पार्षदविग्रहानित्युपादेयेयम् ॥ ४९ ॥

वर्षा शरदयोः क्रीडन् प्रजहर्ष जनार्दनः । तयोस्तद्वर्णनं विद्वान् विदधौ विविधोपमम् ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

राज्ञा सूर्येण च लोकः सर्वो निर्भयो भवति दस्यून्विना यथा तथा सूर्येण कुमुदं विना वारिजान्युदहृष्यन्विकसितान्य-भवन् । राज्ञा चन्द्रेण वारिजानि विना कुमुदमुदहृष्यत् ॥ ४५ ॥ आश्रमिणां गृहस्थानामिन्द्रयोगमहोत्सवैरिन्द्रोद्देश्येन क्रियमाणा योगा अग्रहायण्येष्ट्यादिलक्षणा ये महोत्सवास्तैः पुरग्रामेषु पक्वसस्याढ्या भूर्हरेः कलाभ्यामाविष्टानाविष्टभ्यां रामकृष्णाभ्यां नितरां बभौ । नितरामिन्द्रयागमहोत्सवैः पक्वसस्याढ्येति च हरेः कलाभ्यामिव बभाविति वा । अन्तिमश्लोकेऽपि निदर्शनप्रदर्शन-

स्वारस्यात् ॥ ४६ ॥ यथाकाले आगते समाधिनिवृत्तौ स्वपिण्डानभिमानिसहिततया स्वान्देहान्प्रपद्यन्ते भोज्यान्नानि वा प्राक् प्राणायामादिनिरोधेनानङ्गस्मरणानन्तरं सिद्धास्तत्सम्पन्ना यथा तथा वर्षरुद्धा वृष्टिप्रतिबद्धा वणिजो वर्षेऽतीते स्वीयात्स्वहितात्तस्मै हितमित्यर्थे प्राक्क्रीताच्छ इति छः आर्थिकं स्वत्वमनुसन्धेयं । निर्गम्य नगरान्नगरान्तरं प्राप्यार्थान्प्रपेदिरे ॥ ४७ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १०-१७ ॥

श्रीसुबोधिनी

शरदो मासान्तरकृत्यमाहाश्लिष्येति, समं शीतमुष्णं च यत्र प्रसूनयुक्ते वने मारुतो यस्य तादृशं शीतोष्णभावमाश्रित्य तापं जहुः, वनमारुतं वा समत्वान्मान्द्यमपि प्रसूनसम्बन्धात् सौगन्ध्यं, एवं सर्वगुणमपि वायुमाश्लिष्य जनास्तापं जहुः अस्य सहजत्वाभावान्न दृष्टान्तः, परं हीनतामाह गोप्यो नेति, तत्र हेतुः कृष्णहृतचेतस इति, कृष्णेनैव हृतं चित्तं यासां, चित्ते हि सुखं भवति तत् कृष्णसम्बन्ध एव देहे तिष्ठति, आश्लेषोपि न कृतः, सामान्यनिषेधात् कृष्णाश्लेषोप्यनेनैव निषिद्धो हरणशब्दाच्च, अत आध्यात्मिकीयं शरन्न सुखदायिनी वृत्ता, आधिदैविकीं तु वक्ष्यति ॥ ४५ ॥ आध्यात्मिक्याः प्रसङ्गादुपयोगान्तरमप्याह गाव इति गर्भाधानकालोयं वर्षाभिर्बीजोत्पत्तेः, गावो मृगाः खगास्तामसादिभेदास्त्रय एव नार्यः स्त्रियोपि स्पष्टार्थं वा ता एव शरदा कृत्वा पुष्पिण्यः, अन्तःप्रविष्टा शरद् रजोविकासं कृतवती तासामृतुकालो जात इत्यर्थः, अभिव्यञ्जकं तु नारीणामेव नैमित्तिकं, स्ववृषैः स्वपतिभिरन्वीयमानाः फलैरप्यन्वीयमाना अभवन्नितियोजना, फलस्यामोघत्वप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाहेशसम्बन्धिन्यः क्रिया इव, ईशसंयोगात् फलयुक्ता अपि भवन्ति, ईशः पतिस्थानीयः, ता अपि फलैरन्विताः फलमभिलषितं सहजं वा दृष्टान्तस्त्वभिलषितसिद्ध्यर्थः, भगवत्सम्बन्धाच्छरद एते गुणाः ॥ ४६ ॥ जङ्गमानामुक्त्वा स्थावराणामाहोदहृष्यन्निति, सूर्योत्थाने कमलान्युदहृष्यन्, कुमुत् कुमुदं तु चन्द्रमसा विना कालेन उदहृष्यत्, कुमुदं विना वा, सुब्लोपः, अनेन सात्त्विकाः सात्त्विकाधिपतावुद्गच्छन्तीत्युक्तं न त्वन्ये, सात्त्विकस्य सर्वसुखदातृत्वेपि न सात्त्विकव्यतिरिक्तानां सुखं यतस्तेषां कुत्सिता मुद्, केवलभौतिकव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह, राज्ञा सर्व एव लोका निर्भया न तु दस्यवः, ते कुमुदाः, नृपेतिसम्बोधनं तत्सम्मत्यर्थं, लोका भुवनान्यपि, शरदि चौर्याभावश्च सूचितः ॥ ४७ ॥ एवं लौकिकं सर्वमुक्त्वा वैदिकमाह पुरग्रामेष्विति, पुराणि सात्त्विकानि ग्रामा राजसा आग्रयणानि श्रौतानीन्द्रसम्बन्धीनि स्मार्तानि महोत्सवा लौकिकाः, चकारात् कुलधर्माश्च, पुरग्रामेष्वितिबहुवचनात् त्रिविधा अपि गृहीताः, सर्वैः कृत्वा भूरेव बभौ, तस्या आधिभौतिकीं शोभामाह पक्वसस्याढ्येति, पक्वैः सस्यैराढ्या, आधिदैविकीमाह कलाभ्यामिति, रामकृष्णाभ्यां सङ्कर्षणकृष्णाभ्यां, भारहरणार्थं हि तावेवागतौ, विशेषमप्याह नितरां हरेरिति, हरेः सम्बन्धिनी भूनितरां बभौ पदैरनुभावैर्लीलाभिश्च, अस्मिन् वाक्ये भूप्रस्तावाद्धरिपदात् तस्या एव दुःखहर्तोच्यते, स च पुरुषोत्तम एव, भारहरणद्वारा सङ्कर्षणोपीति तत्कलारूपत्वं च, केशयोरिति, भूमेर्वा दुःखहर्तुः केशाभ्यां नितरामित्यन्तःकरणसन्तोषाच् चिदानन्दाभ्यां वा, सत् सिद्धैव ॥ ४८ ॥ उपसंहारार्थं शरदः सर्वसाधुकत्वमाह वणिगिति, वणिङ्मुनिनृपा वैश्यब्राह्मणक्षत्रियश्रेष्ठास्ते निर्गम्य पण्यात् प्रदेशान् प्राप्तवन्तः, तदाहार्थान् प्रपेदिर इति, अर्थशब्दो हि लोके प्रसिद्धो वक्तव्यस्ततो वैदिकस्ततः स्मार्त इति, अर्थे तमः प्रधानं ततः सत्त्वं ततो रजः, अनेन स्थितानां न सिद्धिरुक्ता लौकिकोपकारी वैदिकोपकारी चोपकार्ये पूर्वमुक्तौ, स्नाताः स्नातकास्ते हि तीर्थवासिनस्ते यथाभिलषितान् धर्मार्थकामान् प्रपेदिरे, प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा धर्मार्थकामा उक्ताः, अत्रापि पूर्ववद् दृष्टान्तमाह वर्षरुद्धा इति, वर्षैर्बहुभिरेव रुद्धा निरुद्धाः सिद्धाः पश्चात् प्राप्तफलाः स्वपिण्डान् पूर्वंस्थितानेव काल आगते प्रपेदिरे, योगादिना बहुकालं स्वनिरोधं कृत्वा ततः सिद्धाः सन्तः तत्फलमनुभूय पुनः काले प्रलये समागते मोक्षसाधकत्वात् पुनस्तानेव देवदेहान् गृह्णन्ति स्वपिण्डान् फलरूपान् वा, कालः फलकालः पूर्वंकालस्य साधकत्वमस्य फलत्वमित्याधिभौतिकाध्यात्मिकभेदेन निरूपितं कालप्राधान्यार्थमागत इति, एवं सलीला शरद् वर्णिता ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे सप्तदशाध्यायविवरणम् ॥ १७ ॥

(२) श्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीतः श्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः

आश्लिष्येत्यत्र ननु पूर्वश्लोके 'मुकुन्दो व्रजयोषिता'मित्यनेन तापनिवृत्तिरुक्तेति कथं 'न जहु'रित्यत आहुर्देहेत्यादि, देहस्य प्रयोजनं भगवदाश्लेष इति प्रथममासे सम्बन्धेपि मासान्तरे ताप उचित एवेतिभावः, ननु मूले भगवदाश्लेषनामाभावात् कथमयमर्थो लब्ध इत्यत आहुः सामान्येत्यादि ॥ ४५ ॥ गाव इत्यत्र गवादिजातीयाः स्त्रिय एवात्रोच्यन्त इत्यत्र बीजमाहुस्ता एवेति, ननु गवादीनां पुष्पाभिव्यञ्जकाभावात् कथं पुष्पावगम इत्यत आहुरभिव्यञ्जकमिति, तथा चान्यासां वृषान्वीयमानत्वमेव गमकमित्यर्थः ॥ ४६ ॥ उदहृष्यन्नित्यत्र विनेत्यस्यार्थमाहुश्चन्द्रमसा कालेनेति चन्द्रयुक्तेन कालेन, पक्षान्तरमाहुः सुब्लोप इति ॥ ४७ ॥ वणिगित्यत्र वणिजादित्रयाणां नैकोर्थ इति तान् विवृण्वन्त्यर्थशब्द इत्यादि, लौकिकोपकारीत्यादि, उपकार्ये नृपे वक्तव्ये तस्य लौकिकवैदिकोपकारिणौ वणिङ्मुनी पूर्वमुक्तावित्यर्थः ॥ ४९ ॥ अयं वैराग्याध्यायस्तत्र च वर्षावर्णनेन

'निशामुखे'ष्वित्यादिश्लोकेषु दृष्टान्तमुखेन कलिस्थव्यवस्थाबोधनाद् भगवद्भक्तानां वैदिकानां सतां तत्र वैराग्यं स्फुटमेव शरद्वर्णने चा -'श्लिष्टोत्पत्ति'श्लोके स्वामिनीनां तापजनकत्वकथनादितरत्र वैराग्यं स्फुटमेवेति बोध्यम् ॥

इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते दशमस्कन्धसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे सप्तदशाध्यायविवरणम् ॥ १७ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

आश्लिष्येत्यत्र **समं शीतमिति** पक्षद्वयभेदेनोभयत्रापि बहुव्रीहिरुक्तः, प्रथमपक्षे द्वितीयविशेषणे बहुव्रीहिः, आद्यं विशेष्यं द्वितीयपक्षे विपरीतमितिज्ञेयं. **सर्वंगुणमपीति** यद्यप्येतादृशस्तथापि जना एव तापं जहुर्न तु गोप्य इत्यर्थः, कृष्णाश्लेषोपीति कृष्णकृत आश्लेष इत्यर्थः, पूर्वं भक्तकृत उक्तः, **हरणेति** आश्लेषे चित्तं स्वस्थाने एव तिष्ठेदिति हरणं नोक्तं स्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥ **गाव इत्यत्र अभिव्यञ्जकमिति** ऋतुकालाभिव्यञ्जकरजोदर्शनं नैमित्तिकं पित्ताद्युद्रेकजं नीराणामेव न तत्र शरन्नियम इत्यर्थः ॥४६॥ **बभौ भूरित्यत्र** हरेः कलाभ्यामित्यन्वयमभिप्रेत्य पक्षान्तरमाहुः **भारहरणेति**, तदा हरेः सङ्कर्षणस्येत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे नितरामित्यस्यार्थमाहुः **नितरामिति**, **सत्सिद्धैवेति** "पक्वसस्याढ्ये"त्यनेन सत्कला सिद्धैव स्वस्मिन् चिदानन्दसम्पत्त्या नितरां बभावित्यर्थः ॥ ४८ ॥ **वणिङ् मुनीत्यत्र लौकीकोपकारीति** उपकार्ये नृपे पूर्वमुक्तौ वाणिङ्मुनि लौकिकं वैदिकं चोपकारं क्रमेण कुरुत इत्यर्थः, पुनः **काल इति** दैनंदिनाः प्रलयाः प्रतिब्रह्मदिनं जायन्ते तादृशे प्रलये **पुनः समागते** इत्यर्थः, **कालप्राधान्यार्थमिति** तत्तद्वस्तुस्वभावस्थापनपूर्वकं लीलाया रसशास्त्रसिद्धत्वाद् रसार्थमत्र तथाकरणात् कालप्राधान्यस्थापनार्थमागतो भगवानतः कालो निरूप्यत उद्दीपकत्वेनेत्यर्थः, **सलीलेति** 'देहाभिमानजं तापं मुकुन्दो व्रजयोषिता'मित्यादिना लीलापि सूचितैवेतिभावः ॥ ४९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

आश्लिष्य समशीतोष्णमित्यस्य व्याख्याने आश्लेषोपि न कृत इति प्रसूनवनमारुतमाश्लिष्य जनास्तापं जहुरित्युक्त्या तापत्यागे मारुतश्लेषकारणमितिसिद्धं, अग्रे **गोप्यो नेत्युक्तं** गोपिकानां तापस्तिष्ठत्येव, अतो ज्ञायते तात्यागे कारणीभूतवनमारुताश्लेषोपि व्रजरत्नवधूभिर्न कृत इत्यर्थः, युक्तं चैतत्, भगवद्विरहव्याकुलानां मारुताश्लेषे दुःसहखेदजननात् तद्रीत्या न कृत इत्यर्थः, अत एव विरहिणा केनचिद् गीतं "चन्दनं चन्द्रिकामोदो गन्धवाहश्च दक्षिणः सेयमग्निमयी सृष्टिः शीता किल परान् प्रती"ति, **सामान्यनिषेधादित्यादि** "गोप्यो ने"त्यनेन सामान्यनिषेधात् तापत्यागनिषेधवत् कृष्णाश्लेषनिषेधोप्यायाति, अत उक्तं **कृष्णाश्लेषोप्यनेनैव निषिद्ध इति** ॥ ४५ ॥ **उदहृष्यन् वारिजानीत्यस्य व्याख्यायां कुमुत् कुमुदं तु चन्द्रमसा विना कालेनेति** इह कुमुदशब्दः प्रथमान्तः, विनेति विशब्दः कालवाची तृतीयान्तः, तथा च कुमुदनाम कुमुदं तु कालरूपेण चन्द्रमसा उदहृष्यदित्यर्थो भवति, **कुमुदं विना वेति** अस्मिन् पक्षे कुमुदशब्दो द्वितीयान्तः, तथा च वारिजानि उदहृष्यन् कुमुद्विना कुमुदविनेत्यर्थः, वारिजत्वे पि कुमुदस्य सूर्योदये हर्षो नाभूत् ॥ ४७ ॥ **पुरग्राम इत्यस्य विवृतौ सत्सिद्धैवेति** कलाभ्या"मिति द्विवचनेन कलाद्वयनिर्देशात् **कलाभ्यां** चिदानन्दाभ्यां **हरेः** सम्बन्धिनो **भूर्बभौ**, तथा च सच्चिदानन्दरूपासु तिसृषु कलासु द्वयोः कलयोरधुना प्राकट्यं, सद्रूपा कला तु सिद्धैव सर्वदा विद्यमानत्वात्, सदंशः सर्वदा स्फुटोस्ति, चिदानन्दयोस्तिरोभावः, तावपि लीलां कर्तुमुद्यतयोश्चरणसम्बन्धादधुना प्रकटीभूतावित्यर्थो भवति, अत्र श्लोके **हरेः कलाभ्यां भूर्बभावित्युक्ते** रामकृष्णयोः कलात्वमायाति, तच्च "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" "वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः पर" इत्यादिवचः सहस्रैर्बाधितमस्त्यतः केचिदत्रैवं मूलग्रन्थं लापयन्ति कलाभ्यामित्यत्र कलाभ्यामितिपदद्वयं कृत्वा कलेति प्रथमान्तं व्याख्याय आभ्यामितितृतीयाद्विवचनं व्याचक्षते, तथा च आभ्यां रामकृष्णाभ्यां हरेः कला भूर्बभावित्यर्थो भवति, "श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जये"तिदशमस्कन्धीयाक्रूरभगवद्दर्शनप्रसङ्गवाक्यादिलाशब्दवाच्यया भुवः शक्तिरूपत्वात् कलारूपत्वं, अतः कलारूपा भूः आभ्यां रामकृष्णाभ्यां बभाविति सम्यगेव ।४८। **वणिङ् मुनिनृपस्नाता** इत्यत्र **उपकार्ये पूर्वमुक्ताविति**, उपकार्ये इति सप्तमी, नृपविशेषणं, उपकार्ये नृपे वणिङ्मुनि, लौकिकवैदिकोपकारकर्तारौ **पूर्वक्ताावित्यर्थः** ॥ ४९ ॥

इति सप्तदशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

समः अन्यूनाधिकः शीतश्चोष्णश्च यस्तं प्रसूनपरिपूरितस्य वनस्य मारुतमाश्लिष्य जना धर्मजनितं तापं जहुः, गोप्यस्तु तमाश्लिष्यापि तापं न जहुः । तत्र हेतुमाह—कृष्णहृतचेतस इति । कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां ताः । तासां तापस्य कृष्णविरहजत्वात्तथा भूतो मारुतः प्रत्युत दुःसह एवासीदिति । तथा च 'भगवद्भक्तानां सुखं न विषयजनितम्, किन्तु तद्भजनजनितमेव' इति सूचितम् ॥ ४५ ॥ गावो, मृगा मृग्यः, खगाः खग्यो, नार्यश्च शरदा निमित्तेन स्ववृषैः स्वपतिभिरन्वीयमाना बलादनुगम्यमानाः पुष्पिण्यो गर्भिण्योऽभवन् । तत्र दृष्टान्तमाह—यथा ईश्वराराधनार्थाः क्रियाः पतिस्थानीयेश्वरसम्बन्धात् फलैः पुष्पिण्यो भवन्ति धर्मादिसर्वपुरुषार्थजनिका भवन्ति । अत एवोक्तम्—'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ॥ तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत

पुरुषं परम्' इति ॥ तथा च 'सर्वथा सर्वपुरुषार्थलाभाय परमेश्वराराधनमेव कर्तव्यम्' इत्युपादेयोपमा ॥ ४६ ॥ वारिजानि कमलादीनि सूर्योत्थाने सूर्य उदिते सति उदहृष्यन् प्रफुल्लितानि जातानि, परन्तु कुमुत् कुमुदं विना । यथा धर्मात्मना राज्ञा सर्वे लोका जनाः निर्भया हृष्टा भवन्ति, परन्तु दस्यून्विना । रात्रिविकाशित्वात् कुत्सिता मुद् हर्षो यस्य तत् इति दस्युसाम्यम् । नृपेति सम्बोधनं सम्मतिसूचनार्थम् । राज्ञा त्वेवमेव वर्तनीयमित्युपादेयोपमा ॥ ४७ ॥ पुरेषु ग्रामेषु च आग्रयणैर्नवान्नप्राशनार्थैर्वैदिकैर्मन्त्रैः इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैर्लौकिकैश्च महोत्सवैः हरेः कलाभ्यामवताराभ्यां रामकृष्णाभ्यां च पक्वसस्यैराढ्या सम्पन्ना भूः नितरामतिशयेन बभौ अशोभतेत्यन्वयः ॥ ४८ ॥ वणिजो, मुनयो, नृपाः, स्नातका ब्रह्मचारिणश्च वर्षाकाले रुद्धाः सस्यादिना मार्गप्रतिरोधेन हिंसाबाहुल्येन प्रवृत्तौ प्रतिबद्धाः सन्तः शरत्काले आगते सति स्वस्थानान्निर्गम्य अर्थान् यथाक्रमेण वाणिज्यस्वाच्छन्द्यदिग्विजय-विद्यादीन् प्रपेदिरे प्राप्यन्त । तथा दृष्टान्तमाह —यथा यज्ञयोगमन्त्रभक्त्यादिसिद्धाः प्रारब्धैः प्रतिरुद्धास्तत्समाप्तिकाले आगते स्वपिण्डान् स्वयोग्यान् देवभगवत्पार्षदादिदेहान् प्राप्नुवन्ति तथेति । अनेन 'प्रारब्धस्य प्रतिबन्धकत्वात्तत्समाप्तावनुष्ठितक्रियाफलं भविष्यत्येवेति निश्चेतव्यम्' इत्युपादेयोपमा ॥ ४९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । विंशोऽपि विवृतः प्रावृट्कालक्रीडानिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

आश्लिष्येति ॥ समः अन्यूनाधिकः यस्तं प्रसूनपरिपूरितस्य वनस्य मारुतमाश्लिष्य जना धर्मजनितं तापं जहुः । गोप्यस्तु कृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां तादृश्यः अतस्तं मारुतमाश्लिष्य तापं न जहुः । यद्वा नकार उपमार्थः । "तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ॥ अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥" इत्युक्तेः । तदा कृष्णहृतचेतसः चेतसा कृष्णमाश्लिष्य गोप्य इवेत्यर्थः । नेति काकुर्वा जहुरेवेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ गाव इति ॥ गावो मृगाः मृग्यः । पुंस्त्वमार्षम् । खगाः खग्यो नार्यश्च अनिच्छन्त्योऽपि शरदा निमित्तेन स्ववृषैः स्वपतिभिरन्वीयमाना संभोगार्थं बलादनुगम्यमानाः पुष्पिण्यो गर्भिण्योऽभवन् । यथा ईश्वराराधनार्थाः क्रियाः पतिस्थानीयेश्वरसंबन्धात् फलैः भोगादिभिः पुष्पिण्यो भवन्ति धर्मादिसर्वपुरुषार्थजनिका भवन्ति ॥ ४६ ॥ उदहृष्यन्निति ॥ हे नृप ! वारिजानि कमलानि सूर्योत्थाने सूर्य उदिते सति उदहृष्यन् प्रफुल्लितानि जातानि परंतु कुमुत् कुमुदं विना यथा धर्मात्मना राज्ञा सर्वे लोका जनाः निर्भया हृष्टा भवन्ति परंतु दस्यून् विना कुत्सिते मुद्यस्येति व्युत्पत्त्या रात्रौ विकासेन वा दस्युसाम्यम् ॥ ४७ ॥ पुरेति ॥ पुरेषु ग्रामेषु च आग्रयणैर्नवान्नप्राशनार्थैर्वैदिकैर्यज्ञैः । अत्र "नवान्नं नैव नन्दायां न प्रसुप्ते जनार्दने ॥ न कृष्णपक्षे धनुषि तुलायां नैव कारयेत् ॥" इति निषेधात् प्रबोधिन्यन्तरवृश्चिके ज्ञेयम् । शरदनन्तरत्वात् शरद्व्यवहारः इन्द्रियैरिन्द्रियार्थैर्लौकिकैश्च महोत्सवैः हरेः कलाभ्यामवताराभ्यां रामकृष्णाभ्यां च दर्शनादिमहोत्सवैः पक्वसस्यैराढ्या संपन्ना भूः नितरामतिशयेन बभौ अशोभत । यद्वा । इन्द्रियैः इन्द्रदेवताकैः इन्द्रमखभङ्गात्पूर्वस्याः शरदो वर्णनमिदम् । कीदृशी भूः हरेः कला शक्तिः आभ्यां रामकृष्णाभ्यां हरेश्चन्द्रस्य शुक्लद्वितीया सायमुदिताभ्याम् उत्सवैः लोककृतैः यथा सैव भूरिति यथा शेषेण व्याख्याप्रक्रमस्वारस्यात् । "हरिश्चन्द्रार्कवाताश्च" इत्यादि मेदिनी ॥ ४८ ॥ वणिगिति ॥ वणिजो मुनयो नृपाः स्नातका वेदव्रतानुष्ठानोत्तरं कृतसमावर्त्तनाश्च वर्षेण वर्षाकालेन रुद्धाः सस्यादिना मार्गप्रतिरोधेन हिंसाबाहुल्येन च प्रवृत्तौ प्रतिबद्धाः शरत्काले आगते सति स्वस्थानान्निर्गम्यार्थान् यथाक्रमेण वाणिज्यस्वाच्छन्द्यदिग्विजयविवाहोद्यमादीन् प्रपेदिरे प्राप्यन्त । यथा मन्त्रयोगादिसिद्धाः आयुधा प्रतिरुद्धा अन्तकाले आगते स्वपिण्डान् स्वयोग्यान् देवादिदेहान् प्राप्नुवन्ति तथेति । वर्षशब्दः कालस्यापि वाची ॥ ४९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

समेऽन्यूनाऽधिके शीतोष्णे यस्मिंस्तं प्रसूनयुक्तानां वनवृक्षाणां मारुतं स्पृष्ट्वा जना यथा तापं जहुः तथा कृष्णेन हृतमाकृष्टं चेतो यासां ता गोप्यः तद्वा तत्स्पर्शेन विरहजं तापं न जहुः श्रीकृष्णस्पर्शेनैव तासां तापहानिरिति भावः अत्र वैधर्म्येण दृष्टांतः ॥४५॥ मृग्यः खग्य इति वक्तव्ये मृगाः खगा इत्युच्चारणमार्षं मृगाः मृगपत्न्यः खगाः खगपत्न्यः शरदापुष्पिण्यो रजस्वलाः अभवन् अतः स्ववृषैः स्वपतिभिः अन्वीयमाना अनुगम्यमाना बभूवुः यथा ईशक्रियाः परमेश्वराराधनरूपाः श्रवणाद्यानवविधभक्तयः फलैरन्वीय-मानाः स्वेप्सित चतुर्वर्गफलसंपादिका भवन्ति तद्वत् ॥ ४६ ॥ सूर्योत्थाने भानूदये कुमुदं विना पद्मानि उदहृष्यन् प्रफुल्लानि बभूवुः दस्यून् चोरान् ॥ ४७ ॥ आग्रयणैः नवीनान्नभोजनार्थैर्वैदोक्तैर्यज्ञैः इन्द्रियैः इन्द्रियप्रयोजनैः मनुष्यलोकरोचकैश्च महोत्सवैः पक्वैर्नि-ष्पन्नैः सस्यैर्धान्यैः आढ्यायुक्ताभूः बभौ आभ्यां रामकृष्णाभ्यां तु नितरामत्यंतं सा च कीदृशी हरेः कलाशक्तिः ॥ ४९ ॥ वणिजः मुनयः नृपाः स्नातकाः वर्षासु चांद्रायणादि व्रतकारकाश्च वृष्ट्यारुद्धाः संतः ततोनिर्गम्य अर्थान् वाणिज्य स्वतंत्रगमनशत्रुपराजय

सच्छास्त्राध्ययनादीनि स्वप्रयोजनानि प्रपेदिरे यथासिद्धाः योगसिद्धाः आयुषारुद्धाः संतः काले आगते आयुषोऽवसाने प्राप्ते सति स्वदेहेभ्यो निर्गम्य स्वपिंडान् स्वप्राप्यदिव्यदेहान् प्रपेदिरे तद्वत् ।। ४९ ।।

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कंधव्याख्याने ऋतुद्वयवर्णनो नाम विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

आश्लिष्येति ।। जनाः समं मितं शीतमुष्णं च यस्य तं, प्रकृष्टानि सूनानि कुसुमानि यस्य तच्च तद्वनं च तस्य यो मारुतस्तं, आश्लिष्य, तापं जहुः । ग्रैष्मशैत्यप्रयुक्तं दुःखं जहुरित्यर्थः । गोप्यस्तु, यतः श्रीकृष्णेन हृतानि चेतांसि यासां तथाभूताः, अतः तापं, न जहुः मन्मथजतापं न जहुरित्यर्थः । अनेन श्रीकृष्णस्य प्रायो वनावस्थितिः गोपीचित्तसमाकृष्टिश्च सूचिता ।।४५।। गाव इति । गावः, मृगाः, खगाः पक्षिणः, नार्यश्च, स्ववृषैः स्वप्रियैः, अन्वीयमानाः सत्यः, शरदा निमितभूतया पुष्पिण्यो गर्भिण्यः अभवन् बभूवुः । इव यथा ईशक्रिया ईश्वराराधनात्मिकाः क्रियाः फलैः साहचर्यैर्धर्मादिपुरुषार्थैः अन्वीयमानाः सत्यः समस्तभोगगर्भाः, भवन्ति तद्वत् । अनेनेश्वर संबन्धिनीनां क्रियाणां फलाविनाभावत्वं सूचितम् ।।४६ । उदहृष्यन्निति ॥ सूर्योत्थाने सूर्योदये सति तु, कुमुद्विना कुमुदानि विना, वारिजानि पद्मादीनि, उदयहृष्यन् । यथा हे नृप, राज्ञा धर्मिष्ठनृपेण, दस्यूंस्तस्करान्विना, लोकाः इतरे सर्वे जनाः, निर्भयाः सन्तः, जहृषुः तद्वत् । अनेन राज्ञा दस्यून् उद्वेजयता भाव्यमिति सूचितम् ।। ४७ ।। पुरेति ॥ पुरग्रामेषु पुरेषु ग्रामेषु चेत्यर्थः । आग्रयणैर्नवान्नप्राशनार्थकैर्वैदिकैर्यागैः, इन्द्रियैरिन्द्रियार्थकैर्लौकिकैश्च, महोत्सवैः, पक्वानि च तानि सस्यानि च तैराढ्या, हरेः भूः हरेः सर्वाधारतारूपशक्तिमती पृथ्वीत्यर्थः । बभौ । कलाभ्यां सकलशिल्पयुक्ताभ्यां रामकृष्णाभ्यां तु, नितरां बभौ । यद्वा । कलाः षोडशापि सन्त्यस्मिन्निति कलः षोडशकलायुक्तः कलाः अंशः, 'कला स्यादंशशिल्पयोः' इति हैमः । कलश्च कला च कलौ ताभ्यां, 'पुंमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । कृष्णरामाभ्यामित्यर्थः । यद्वा । पक्वसस्याढ्या हरेः कला शक्तिभूता भूः, आभ्यां रामकृष्णाभ्यां, बभाविति ।। ४८ ।। वणिगिति ।। वर्षरुद्धा वर्षेण रोधं प्राप्ताः, वणिजश्च मुनयश्च नृपाश्च स्नाताः स्नातकाश्च ते, शरदि निर्गम्य, अर्थान् प्रयोजनानि, प्रपेदिरे । तत्र वणिजः क्रयविक्रयादिव्यापारिणः, मुनयः संन्यासिनः, नृपा विजयार्थिनो राजानः, स्नातास्तीर्थयात्रापराः, एते यथाक्रमं वाणिज्यस्वच्छन्दचारत्वविजयितातीर्थस्नानादिरूपान् अर्थान् प्रपेदिरे इत्यर्थः । यथा सिद्धास्तपःसिद्धाः, काले फलप्राप्त्यवसरे, आगते सति, अस्मात् लोकात्, निर्गत्य स्वपिण्डान् स्वस्वतपःसाध्यभोगान्, प्रतिपद्यन्ते, तद्वत् । अनेन तपसः फलाविनाभावित्वमुक्तम् । यद्वा स्नाता विद्यार्थिनः विद्यादीनर्थान्, यथा मन्त्रयोगादिसिद्धाः, आयुषा रुद्धाः, काले आगते, देहान् निर्गत्य, स्वपिण्डान् योगादिप्राप्यान् देवादिदेहान्, प्रपद्यन्ते तद्वत् ।। ४९ ।।

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे विंशोऽध्यायः ।। २० ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

आश्लिष्येति : १०.२०.४५.

शीतोष्णद्वन्द्वतुल्यस्थितिरमलगतिः सर्वशाखाग्रभागोल्लासी नित्यप्रवासी भववनभुवि यः कौसुमेयो जितात्मा ।
तत्सङ्गस्तापहास्याच्छरदुदितमरुद्वन् मुमुक्षोर्न जातुभक्तानां श्रीशपादाम्बुजरतमनसामत्र गोप्यः प्रमाणम् ॥ ६३ ॥

गाव इति : १०.२०.४६.

वृषाभिरतिमन्तरा नहि भगवन्त्यवन्ध्या अपि समुल्लसितसत्फलाः सुरगणाश्च गावोऽपि च ।
अतः सुफलाकाङ्क्षिभिः श्रुतिविधेयसत्कर्मवत् सदैव सुकृतान्विता भुवि बुधैर्विधेयाऽऽत्मगौः ॥ ६४ ॥
जायापदार्थकृत-निवर्चनात् िते व पुत्रात्मना भवति भूय इति श्रुतिस्थः ।
अर्थोऽभवत् स्फुटमदो जनताश्च गावो जाता वृषाभिरतितो वृषहेतवो यत् ।। ६५ ॥
योषिद्वोपनिषद्वा स्ववृषरतैवेह भवति सुफलवती । तस्मात् त्रेता जलता युक्तं निखिलाऽपि मखद्गवेवासीत् ।। ६६ ॥
वृषभानुसेवनं यद् वृषयोगं जगति भानुयोगं च । जनयत्यलमिति युक्तं गावो वृषभानुसेवना आसन् ॥ ६७ ॥
वृषाचलपदाश्रयाच्छरदि सर्वं एवाभवन्नभीप्सितफलागमाः स्वगमृगादयो गोकुले ।
इति स्फुटमिहर्षिणा कथयतेदमावोधि यत् कलौ सकलसौख्यदो भवति वेङ्कटेशाश्रयः ॥ ६८ ॥
तस्करार्तिकरः साधुरक्षको मुनिनेरितः । अवतारोऽयमित्यर्थो निरुक्तो युक्तमीक्ष्यताम् ॥ ६९ ।। (युग्मम्)

उदहृष्यन्निति : १०.२०.४७.

निशाचरपदानुगो भवति योऽह्नि सुप्तिप्रियो विचारविधुरश्च यः स्फुटसावसूर्याश्रितः ।
श्रियाश्रितपदः सदा तदपरस्तु नित्यं भवत्यभूश्च कुमुदे स्फुटं प्रथममत्र पद्मे परन् ॥ ७० ॥

पुरस्कृत्य विध्युक्तकर्माणि सूर्यादरे जागरूको दिने योऽपनिद्रः ।
स राज्ञः प्रियोऽन्यो नहि स्वाश्रितोऽपीत्यभूद् व्यक्तमस्माद्युगं तद्द्वितीयम् ॥ ७१ ॥

सध्यानं यजनं च पूजनमुपाख्यानाभिधाकीर्तनं श्रेशं सर्वयुगेष्वपीह कथितं तुल्यं निशेषस्त्वयम् ।
एकं मुख्यममुख्यकानि च पराण्येवं क्रमोऽध्यायतः पद्येष्वप्यवबोधितोऽत्र च तथोदाहृत्यभिव्यक्तितः ॥ ७२ ॥

अथवा भूतगुणवत् संक्रमो ह्युत्तरोत्तरम् । तेन सर्वगुणैरेव कलिः खल्वखिलर्धिभूः ॥ ७३ ॥

एतावता पद्यचयेन सर्वयुगस्थिती रूपकतो न्यरूपि । पद्यद्वयेऽन्त्येऽन्त्ययुगद्वयस्य प्राधान्यतोऽबोधि तदर्थ एव ॥ ७४ ॥

आद्ये कार्तार्थ्यमेतु प्रणवपरिचितिर्यज्ञसन्तानयोगस्त्रेतायां द्वापरे चापचितिरपि हरेस्तत्त्रिकेऽपि त्रयं वा ।
तेषां तद्वासभाजामपि तदनुकृतध्यानयज्ञार्चनानां स्पृह्या रम्येष्टदात्री जयति कलियुगे श्रीपतेर्नामभक्तिः ॥ ७५ ॥

एवं कृतादियुगवृत्तपरम्परानुवृत्तिः पुनः पुनरपीति च तत्र तत्र ।
तादृक्तयाऽऽचरणमित्यपि बोधितं सद्-वर्षा-शरत्स्तुतिमिषान्मुनिनेशभक्त्यै ॥ ७६ ॥

वर्षा-शरद्-विशदवर्णन-निर्णयेन यद्वा प्रवर्तन-निवर्तन-धर्ममार्गौ ।
तत्तन्निर्दर्शित-निदर्शन-योजनेन-स्पष्टौ कृताविति मतं किल वल्लभस्य ॥ ७७ ॥

प्रभोः प्रियतमानङ्ग-रङ्ग-सङ्गमकारिणी याऽग्रे भूयाद्युक्तमृषिस्तच्छतत्स्तुतिकामुकः ॥ ७८ ॥

योऽखिलनिजवसु सकलान्वितीर्य पुष्णाति सोऽत्र विमलतनुः । मज्जति सुखे ह्यनन्ते बोधितमेतच्छरद्घन-स्तुत्या ॥ ७९ ॥

वर्षं शरत्समययोरकरोः सपङ्का-पङ्कात्मनोरपि समानदृशा प्रसादम् ।
तत्प्रार्थयेऽन्यतरशालिनि मय्यपीश दृष्टिं प्रसादफलदां कुरु दीनबन्धो ॥ ८० ॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

कृष्णप्रिया

फूलों से लदे हुए वृक्ष और लताओं से होकर बड़ी ही सुन्दर वायु बहती, वहन अधिक ठंडी होती और न अधिक गरम उस वायु के स्पर्श से सब लोगों की जलन तो मिट जाती परन्तु गोपियों की जलन और भी बढ़ जाती, क्योंकि उनका चित्त उनके हाथ में नहीं था श्रीकृष्ण ने उसे चुरा लिया था ॥ ४५ ॥ शरद ऋतु में गौएँ हरिनियाँ चिड़ियाँ और नारियाँ ऋतुमती सन्तानोत्पत्ति की कामना से युक्त हो गयी तथा साँड़ हरिन पक्षी और पुरुष उनका अनुसरण करने लगे ठीक वैसे ही जैसे समर्थ पुरुष के द्वारा की हुई क्रियाओं का अनुसरण उनके फल करते हैं ॥ ४६ ॥ परीक्षित जैसे राजा के शुभागमन से डाकूचोरों के सिवा और सब लोग निर्भय हो जाते हैं वैसे ही सूर्योदय के कारण कुमुदिनी कुई या कोई के अतिरिक्त और सभी प्रकार के कमल खिल गये ॥ ४७ ॥ उस समय बड़े-बड़े शहरों और गाँव में नवान्नप्राशन और इन्द्रसम्बन्धी उत्सव होने लगे खेतों में अनाज पक गये और पृथ्वी भगवान श्रीकृष्ण तथा बलरामजी की उपस्थिति से अत्यन्त सुशोभित होने लगी ॥ ४८ ॥ साधना करके सिद्ध हुए पुरुष जैसे समय आने पर अपने देव आदि शरीरों को प्राप्त होते हैं वैसे ही वैश्य, संन्यासी राजा और स्नातक वर्षा के कारण एक स्थान पर रुके हुए थे वहाँ से चलकर अपने-अपने अभीष्ट कामकाज में लग गये ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का बीसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २० ॥



अथैकविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	पुष्पि.	मंदाक्रान्ता	वसंत	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
२०	५	१	१	१३	२	१००६	१०	४९	१०६५	३३।	१

श्रीशुक उवाच

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना । न्यविशद् वायुना [1]वातं [2]सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥
[3]कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलजुष्ट[4]सरःसरिन्महीध्रम् ।
[5]मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—इत्थम्, शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना वायुना वातं सगोगोपालकः अच्युतः न्यविशत् ॥ १ ॥ कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुल (कल) घुष्टसरः सरिन्महीध्रम्, सहपशुपालबलः मधुपतिः अवगाह्य गाः चारयन् वेणुं चुकूज ॥ २ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

एकविंशे शरद्रम्यवृंदावनगते हरौ । तद्वेणुस्वनमाकर्ण्य गोपीभिर्गीतमीर्यते ॥ १ ॥

इत्थमेवंभूतं वनम् । तदेवाह । शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिंस्तत् । वायुना वातमनुगतं वनं तदेकव्याप्तमित्यर्थः ॥१॥ ततश्च कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणो मत्ता भृंगा द्विजाः खगाश्च तेषां कुलानि तैर्घुष्टाः सरांसि सरितो महीध्राश्च यस्मिंस्तद्वनं कृष्णोऽवगाह्य प्रविश्य वेणुमवादयत् ॥ २ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

शरदा रम्यं शरद्रम्यम् । तद्वेणुस्वरम् कृष्णवेणुनादम् (१) । तदेव इत्थंभूतत्वमेव । इत्यर्थ इति । मंदसुगंधिशीतलर्मिति भावः । "नैर्विश" इत्यात्मनेपदं तु नार्षत्वात् । अच्युत इति । विनापि वनादिक्रीडां सुखस्थितिं वक्ति ॥ १ ॥ घुष्टा घोषिणः । सरांसि कासाराः, सरितः स्यंदमाना यमुनाद्याः, महीध्रा गोवर्द्धनाद्याः । वेणुकूजनस्य कामोद्दीपकत्वेन गोप्याकर्षणार्थत्वमत्र ज्ञेयम् ॥ २ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं शरदं वर्णयित्वा वर्षावत् तत्र श्रीभगवत्क्रीडाविशेषमाह—इत्थमित्यादिना यावत्समाप्ति । तत्र तदुपकरणत्वेनादौ मनोहरजलवायुसमाश्रयत्वेन स्वतश्च मनोहरतया वनमनुवदति सार्द्धेन । तत्रेत्थमिति यथाऽहं वर्णितवान् प्रायस्तथा वर्णनप्रकारेणेत्यर्थः । सगोगोपालको मधुपतिरित्यन्वयः । यद्वा, हृत्प्राप्तवर्णनीयरूपलीलादिना भावविशेषाविर्भावितो विशेष्यस्यानुच्चारणादुच्चारणाशक्तेर्वा श्रीकृष्ण इति वाक्यशेषो ज्ञेयः एवमग्रे बर्हापीडमित्यादावपि अच्युत इति पाठः चित्सुखस्य सम्मतः अत्र तु वनमिति शेषः ॥ १ ॥ यादवत्वाद्गोपाश्च मधवः तेषां पतिरिति क्रीडायां सामग्र्यं विवक्षितं श्लेषेण मधोर्ऋतुराजस्यापि पतिरिति तत्प्रवेशे सर्वापि वनशोभासमधिकैव दर्शिता अवगाह्य अन्तः प्रविश्येति वनस्य सर्वतः प्रवेशेन तत्त्वज्ञानं ध्वनितं सहपशुपालबल इत्यस्य गाश्चारयन्नित्यनेनैवान्वयो योग्यः नतु चुकूज वेणुमित्यनेन च "तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य इत्युत्तरवाक्ये पूर्वत्रैव सामञ्जस्यप्रतिपत्तेः चुकूजेत्यन्तर्भूतण्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं शरदं वर्णयित्वा वर्षावत्तत्र श्रीभगवत्क्रीडाविशेषमाह—इत्थमित्यादिना यावत्समाप्ति । तत्र तदुपकरणत्वेनादौ मनोहरजलवायुसमाश्रयत्वेन, स्वतश्च मनोहरतया वनमनुवदति सार्द्धेन । तत्र जलस्य मनोहरत्वं स्वच्छत्वेन स्पष्टमेव, निर्मलत्वेनैव सहजगुणाभिव्यक्तेः । वायोश्च—पद्मानामाकरः प्रस्फुटत्पद्ममयः सरोवरादिस्तेन सुगन्धिनेति शैत्येन सौरभ्येण च, वातमिति च मान्द्येन वनस्य च ॥१॥ कुसुमितेति—इदञ्च सर्व्वं कामोद्दीपनत्वेनोक्तम्, वनं न्यविशदिति प्रविशन्नासीदिति पूर्व्ववदेव नित्यमीदृशी क्रीडा ज्ञेया, एवं चुकूजेति अन्ववर्णयन्नित्यादिकमग्रेऽप्यूह्यम् । सगोगोपालको मधुपतिरित्यन्वयः । यद्वा, हृत्प्राप्तवर्णनीयरूपलीलादिना भावविशेषाविर्भावितो विशेषस्योच्चारणाशक्तेर्वा श्रीकृष्ण इति वाक्यशेषो ज्ञेयः । एवमग्रे बर्हापीडमित्यादावपि । अच्युत इति पाठः

---

१. वीतं—विज. । २. सहगोपालको-वीर. । ३. शुष्म ; शुष्मि—वीर. बिज. । ४. घुष्ट—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ५. यदुपति—वीर. ।

श्रीचित्सुखस्यैव सम्मतः। मधवो यादवास्तेषां पतिरीश्वर इति गोचारणाद्यसम्भवेऽपि गोचारणादिना भक्तवात्सल्यादिरसविशेषमभिप्रैति; मधु मादकरसविशेषस्तस्य स्वामीति, श्लेषेण तदानीं समदत्वं मादकत्वञ्च सूचितम्। अवगाह्य अन्तःप्रविश्येति वनस्य सर्व्वतः प्रवेशेन तत्त्वज्ञानं ध्वनितम्। पशुपालैर्बलेन च सहित इति तेऽपि सर्व्वे वेणुं वादयामासुरित्यर्थः। यद्वा, सहपशुपालबलो गाश्चारयन्नित्यन्वयः॥ २॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

वायुना वातं "वागतिगन्धनयोः" व्याप्तं वनमिति शेषः॥ १॥ शुष्मिभृङ्गा मत्तभ्रमराः॥ २-४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं शरदमनुवर्ण्याथ तदा वृन्दावने क्रीडतो वेणुं क्वणयतो भगवतो गोपीचित्तापहारिणः कांश्चिद्विहारान् स्ववेणुगीतान् गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितानाहैकविंशेन—इत्थमिति। इत्थमेवम्भूतं शारद्गुणसम्पन्नं वनमिति विशेष्यमध्याहर्त्तव्यम् इत्थमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकाशयन्विशिनष्टि–शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन् पद्माकरैः शोभनो गन्धो यस्य तेन वातेन वातं व्याप्तं वनं गोभिर्गोपालैश्च सहितोऽच्युतो न्यविशत्॥ १॥ ततश्च कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणां मत्तानां भृङ्गाणां द्विजानां पक्षिणां च कुलैः घुष्टाः शब्दिताः सरांसि सरितः महीध्राः पर्वताश्च यस्मिन् तद्वनं विगाह्य प्रविश्य यदुपतिः कृष्णः पशुपालैः बलदेवेन च सहितः गाश्चारयन् वेणुं चुकूज अवादयत्॥ २॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वयोग्यतानुसारेण हरौ ज्ञानसाधनं भक्तिः कर्तव्येत्यभिप्रेत्यस्मिन्नध्याये, तत्र गोपस्त्रीणां कृष्णे स्नेहातिशयम्वक्तुमुपक्रमते–इत्थं शरत् स्वच्छजलमित्यादिना। पद्माकराणां सुगन्धोऽस्यास्तीति पद्माकरसुगन्धी तेन वायुना वीतम्परिवृतम् इत्यमुक्तविधिना शरदा स्वच्छं निर्मलञ्जलं यस्मिंस्तत्तथा अनेन वायोः शैत्यं सूचितं न्यविशत् वनमिति शेषः "नेर्विशः" (१।३।१७) इति सूत्रेण लौकिकस्यात्मनेपदविधानं नतु छान्दसस्य अच्युत इत्यनेन वनक्रीडाद्यभावेपि सुखच्युतिर्नास्तीति सूचयति॥ १॥ अत्र वनशब्देन वृक्षसमुच्चय उच्यते कुसुमिताः पुष्पितोपेताः वनराजयः वृक्षपङ्क्तयो यस्मिंस्तत्तथा शुष्मिभिर्मत्तैः स्वजातिश्रेष्ठैर्वा भृङ्गद्विजगणैः पक्षिगणैश्च घुष्टानि शब्दितानि सरांसि अखाततटाकाः सरितः स्यन्दमाना नद्यः महीध्राः पर्वता यस्मिंस्तत्तथा मधुपतिर्माधवः एवम्विधं वनमवगाह्य वेणुञ्चुकूजेत्यन्वयः। कूजनं सुरतमन्त्रणकामवर्धनं सीत्कारोद्भवं श्रोत्रीणां गोपीनां कर्षणार्थमेव मुक्तम्॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

प्रवेशे सर्वापि वनशोभा समाधिकैव दर्शिता इत्थमित्यादि॥ १-२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एकविंशे वेणुगीतस्मरार्त्ता गोपिका मुहुः। वेणुवृन्दावनमृगी देव्यादीनां यशो जगुः॥
यद्यद्वनं गतः कृष्णः चरितं मधुरं व्यवधात्। प्रेमनेत्रेक्षितं गोप्यो गोष्ठस्थास्तदवर्णयन्॥

शरदं वर्णयित्वा तादात्विकीं वेणुगानलीलां वर्णयिष्यंस्तन्मधुरिममण्डिते वृन्दावने प्रथमं कृष्णस्य प्रवेशमाह–इत्थमिति पद्माकरसुगन्धिनेति पद्माकरसम्बन्धात्सौगन्ध्यं शैत्यं च ज्ञेयं वायुभिरित्यनुक्तेर्वायुनेत्येकवचनेन वा तस्य मान्द्यं च गोगोपालकसहितोऽत्र मधुपतिरिति विशेष्यपदेनोत्तरश्लोकस्तेनान्वयः॥ १॥ कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणो मत्ता भृङ्गा द्विजाश्च तेषां कुलैर्घुष्टानि सरांसि सरितो महीध्राश्च यस्मिन् तत् वनमधुपतिः कृष्णः अवगाह्येति यस्यावगाहनेन वनं शोभते तस्य मधोर्वसन्तस्यापि पतिरित्यतिशोभाश्लेषेण ध्वनिता चुकूज कूजयामास सह पशुपालबल इति वनावगाहने गोचारणे च साहित्यं न तु वेणुकूजने उत्तरश्लोके कृष्णस्य वेणुगीतमित्युक्तेः॥ २॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एकविंशाध्याये शरद्रम्यं वनं गतस्य श्रीकृष्णस्य वेणुगीतं श्रुत्वा तदेव गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितमित्याह—इत्थमिति। शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन् तत्पद्माकरसुगन्धिना वायुना वातं व्याप्तम् इत्थमेवम्भूतं वनमिति विशेष्यमध्याहर्त्तव्यम् अच्युतः न्यविशत्॥ १॥ ततश्च मधुपतिः श्रीकृष्णः कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणां मत्तानां भृङ्गाणां द्विजानां पक्षिणां च कुलैः घुष्टाः सरः सरिन्महीध्राः यस्मिन् तद्वनमवगाह्य प्रविश्य गाश्चारयन् वेणुं चुकूज अवादयत्॥ २॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीमद्भागवते एकविंशतितमाध्याये श्रीवेणुगीतव्याख्या, श्रीयुक्तः शुक इति भावसमुल्लासेन शोभातिशयाद्वस्तुतस्तु श्रिया शुक इति श्लेषेण पद्माया महालक्ष्म्याः करो हस्तः तेन पुष्पारचयात् संक्रान्तसुगन्धिनेति परमोद्दीपकत्वम् । "राधायमाना सा पद्मा पद्मोद्भवसुधिष्ठिता" इति ब्रह्माण्डोक्तेः ॥ १ ॥ अत्र वेणुं वादितिवानिति वक्तव्ये चुकूजेति सङ्केतव्यक्तिः कूजनं हि कोकिलादिध्वनौ रूढ कोकिलकूजितसदृशं वेणुवाद्यमनुचक्रे तच्चानुकरणं सङ्केतसूचनायेति भावः ॥ २ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एकविंशे वेणुनादमत्ता गोप्यः स्मरार्दिताः । वृन्दाटव्यां जगु कीर्ति मृग्यादीनां मुहुर्मुहुः ॥

शरदं निर्वर्ण्य तत्रत्यां वेणुनादलीलां वर्णयिष्यंस्तद्विभूषितायां वृन्दाटव्यां हरेः प्रवेशस्तावदाह इत्थमिति । पद्मेति सौगन्ध्यशैत्ये वायुनेत्येकवचनात् मान्द्यश्च वातमनुगतं वनं वनं न्यविशन्मधुपतिरित्युत्तरपद्यस्थेनानुषङ्गः ॥ १ ॥ कुसुमितानु वनराजिषु शुष्मिणो मत्ता भृङ्गा द्विजाश्च तेषां कुलैर्घुष्टानि सरांसि सरितो महीध्रो गिरयश्च यश्च तद्वनं मधुपतिं गोपानामपि यादवत्वेन माधवत्वात्तेषां स्वामी नन्दसूनुरवगाह्य प्रविश्य वेणुं चुकुज वादयामास श्लेषेण मधोर्वसन्तस्यापि पतिरिति तत्प्रवेशेन वनशोभायाः कार्त्स्न्यं सह पशुपालेति वन प्रवेशे गोचारणे च तैः साहित्यं न तु वेणुवादने उत्तरत्र कृष्णस्य वेणुगीतमित्युक्तेः ॥ २ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ हरौ रतिमात्रं कण्ठमणिवैकुण्ठाप्तौ मतिमनतिहायेति निरूप्यतेऽत्राध्याये । तत्रादौ गोपीनां नाथे प्रेमप्रवाहं वक्तुमुपक्रमते इत्थमिति । शरदा स्वच्छजलं निर्मलं जलं यस्मिन् शोभनश्चासौ गन्धश्च सुगन्धः पद्माकराणां तटाकानां सुगन्धोऽस्तीति पद्माकरसुगन्धि तेन वायुनाऽवीतं परिवृतं वनमिति शेषः । सगोगोपालको गावश्च गोपालकाश्च तैः सहितः सगोगोपालकोऽच्युतो न मारव्यापारपारवश्येन प्रवेशोऽपि तु स चैच्छिक इति ध्वनयत्यच्युत इत्युच्चरन्निति ज्ञेयम् । न्यविशन्यविशत ॥ १ ॥ कुसुमितानि सञ्जातपुष्पाणि । तारकादिः । वनानां वृक्षाणाम् । वनं काननतोरयोः । प्रवासे निलये चापि वनं प्रस्रवणेऽपि च । बहुवृक्षे नते रौद्रे शुभ्रे काष्ठान्तकीटके । अपक्वमृण्मये पात्रे वनशब्दं प्रचक्षत इति विश्वः । अवान्तरवनानां वा राजयः पङ्क्तयस्ता यस्मिंस्तत् शुष्मिणो बलिनः । यथोक्तमृग्भाष्यटीकाटिप्पणेषु । संयन्मदाय शुष्मिणे बलिनेऽस्मै शुष्मिणे बलिने ओजो वाजः शव इत्याद्यष्टाविंशति-सङ्ख्याकेषु बलनामसु पठितस्य शुष्मशब्दस्य बलमर्थं इति भाव इति । भृङ्गा द्विजा इतरे तेषां कुलेन घुष्टानि गतमद्दमे । शब्दितानि सरांसि सरितो नाद्यश्च महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तत् मधुपतिरेवंविधं वनमवगाह्य विलोड्य सहपशुपालबलो गोपालबलराम-सहितो गाश्चारयन्वेणुं चुकूज ध्वनयामास ॥ २ ॥

श्रीसुबोधिनी

अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा । वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते ॥ १ ॥
प्रवेशकूजने तासामुद्बोधाय निरूपिते । तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि ॥ २ ॥
आसक्तिः प्रेमपूर्वैव प्रेमापि हरिणा कृतम् । उद्बोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचित् ॥ ३ ॥
आसक्त्या वर्णनं तस्माद् विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम् । कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च ॥ ४ ॥
त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृथक् पृथक् ॥ ४½ ॥

भगवल्लीलार्थं पूर्वाध्यायान्ते शरद् वर्णिता ततोत्र लीलार्थं भगवतो वृन्दावनप्रवेश उच्यत इत्थमिति, इत्थम्भूता या शरत् तया स्वच्छं जलं यस्मिन् वृन्दावने तादृशमच्युतो न्यविशदितिसम्बन्धः, अत्रापि पूर्ववदाधिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्या, तत्र नायकोत्कर्षार्थमच्युत इत्याह, तत्रापि गावोनुभाविका गोपालाः सेवकाः, शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिणः, रमणं जलस्थल-भेदेन द्विविधं निर्भररमणे च वायोरपेक्षा जलक्रीडायां तु नैर्मल्यं शीताभावश्च, शरदा नैर्मल्यं शीताभावश्चोक्तः, शरत्स्वच्छजल-मिति, शरदा स्वच्छानि जलानि यत्र विशेषतः कर्मानिर्देशात् क्रीडार्थं जलप्रवेशश्चोक्तः, पद्माकराणां सुष्ठु यो गन्धः शैत्यसहितः स्तद्वान् सुगन्धी, एतादृशवायुना वातं वनं न्यविशत्, गन्धवत्त्वेनैव मान्द्यमुक्तं, एतावदेव क्रीडायामपेक्षितं, विशेषणधर्माणामेव प्राधान्यान्न विशेष्यनिर्देशः, नितरां प्रवेश आधिदैविकपर्यन्तः ॥ १ ॥ प्रवेशमुक्त्वा देवतोद्बोधनमाह कुसुमितेति, मधुपतिर्गा-श्चारयन् वेणुं चुकूज, वसन्ताधिपतिः सरस। शृङ्गारात्मा धर्मं कुर्वन् क्रियाज्ञानशक्तिसहितो देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान्, उद्बुद्धा देवताः सामग्र्यभावान्न रता भवन्तीति भगवतो मधुपतित्वं निरूपितं, विभावादीन् निरूपयति, कुसुमिता या वनराज-यस्ताभिर्वै शुष्मणो मत्ता जाता भृङ्गाः पक्षिणश्च तेषां कुलान्यवान्तरजातिभेदास्तैर्जुष्टानि सरितः सरांसि महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तानेव वा, एकवद्भावः, एवंविधमवगाह्य तत्रत्यानपि त्रिविधानुद्बोधयितुं केवलं शृङ्गारार्थमेव कूजनं कृतवान् ॥ २ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अष्टादशेऽध्याये गोपानामपि सोच्यत इत्यत्र । बालका हि यत्किञ्चिदद्भुतमनुभूय स्वबाल्यस्वाभाव्यादेवोत्साहवशात्सर्वेषामग्रे तद्वदन्ति, तथा नैतैरुक्तं, किन्तु प्रभ्वासक्त्या । तस्यास्त्वयं स्वभावो यत्स्वसमानशीलेष्वेव स्वसर्वस्वतया ज्ञातं प्रभुचरित्रं व्यक्ततया वादयति । तादृक्त्वमेतास्वेवेति गोपाः स्वस्वगृहे ताभ्य एवाचख्युः । इदमेव सम्यक्त्वं चक्षणे । एतेन यथा दिवैतासां गुणगानं तथैतेषां निशीति ज्ञापितं भवति । एतच्च प्रकरणादौ ज्ञापितमिति तदन्ते च ज्ञापितमन्तरङ्गक्रीडार्थं वनप्रवेशे गोपालसाहित्यकथनेन । अन्यथा व्रतवरदानार्थं गच्छन्यथैतान्सङ्गे न नीतवांस्तत्कार्यं कुर्वद्भिः सहितो जातस्तद्वक्ष्य'त्यथ गोपैः परिवृत' इत्यनेन तथात्रापि कुर्यात्तिदेतद्धृदि कृत्वोक्तं गोपानामपि सोच्यत इत्याचार्यैः । यथा स्वामिन्यो गृहेषु स्थिता अपि वने दिवाकृतां लीलां भगवद्भावानुभावेन स्वहृदयेष्वनुभूय गायन्ति, तथैतेपि निशिकृतां लीलामासक्तिभरानुभावेन स्वस्वहृदयेष्वनुभूय गायन्ति, सा चातिगोप्येति शुकैः स्फुटतया नोक्ता, एतद्गानकथनेनैवोक्ता भवति, गानहेतुभूतासक्तेस्तुल्यत्वात्सा च ज्ञापितैवेति तत्कार्यमपि सुतरां ज्ञापितं भवति । तदेतदुक्तं वर्ण्यवर्णकभेदेनेत्यनेन । वर्ण्यं वर्णनीयं रात्रिचरित्रं, वर्णका वर्णनकर्तारो गोपाः । तत्र दिवा चरित्रं स्वामिन्यश्चेति भेदः । आसक्तिनिरूपणमुपपादयन्ति तद्गुणेष्वित्यादिना । अत्रैतज्ज्ञेयम् । गुणासक्तिलक्षणकार्येण भगवदासक्तिर्ज्ञाप्यते । आसक्तिः प्रेमोत्तरभाविनीति तन्निरूपणेन प्रेमापि निरूपितो भवति, स चाद्यश्लोकेन निरूप्यते । स तूद्बुद्ध एवासक्तिं जनयत्ययं तु लौकिकवत्कोकिलादिकूजनेन नोद्बुद्धो भगवत्यलौकिकत्वादतः प्रभुकृतमेव तदुच्यते । फलितमाहुरासक्त्या वर्णनमिति । आसक्तौ सत्यामपि यावद् भगवान् स्वयं न ज्ञापयति तावत्स्वरूपगुणलीला न ज्ञातुं शक्यन्ते यतस्तस्माद्धेतोरेकेन श्लोकेन बर्हापीडमित्यनेन गानोपक्रमान्ते विद्यारूपं सपरिकरं ब्रह्मस्वरूपज्ञानं स्फुटं यथा भवति तथा वर्ण्यत इत्यर्थः । पूर्वं नारदब्रह्मात्मकामूर्तविद्यामन्तरे चानुभावयित्वान्तरेव तत्फलभूतं गानेन स्वरूपानुभवं कारितवान्, अग्रे तु स्वलोकात्मकव्यापिवैकुण्ठस्य बहिरनुभवात्मकविद्यया तत्फलभूतं बहिरङ्गसङ्गेन स्वरूपानन्दानुभवं कारयिष्यतीति ज्ञापनायाप्यत्र विद्यात्वनिरूपणमिति ज्ञेयम् । यद्वा । श्लोकपञ्चकानन्तरं गानारम्भोक्तिव्यञ्जितमर्थमाहुर्विद्यान्त इति । विद्याया अन्त इत्यर्थः । सा हि पञ्चपर्वात्मिका । तथा च गानोक्तेः पूर्वश्लोकेषु तत्समानसंख्योक्त्या तेषु तत्त्वं लक्ष्यते । तथा च ब्रह्मविद्यातोप्याधिक्यं, तस्या अपीदं फलमिति ज्ञाप्यत इत्याशयः । श्लोकसंख्यातात्पर्यमाहुः कालाधिक इत्यादिना । द्वादशमासात्मकः कालो, द्वादशाङ्गः पुरुषश्च इह तदधिकसंख्यया गेये तदधिकत्वं ज्ञाप्यत इत्यर्थः ॥ ० ॥ इत्थं शरत्स्वच्छजलमित्यत्र, शक्तीनां निर्भयत्वायेत्यादि । अलौकिकत्वनित्यत्वस्वाभाविकधर्मत्वज्ञापनायैतदनभिज्ञेषु गोपनाय भगवद्भोग्यसीमन्तिनीषु शक्तिपदप्रयोगः स्वार्थं तदपेक्षारहितः फलभोगसमर्पको यथाधिकारं तत्र प्रवर्तकश्च साक्षी भवति यथा परमात्मा । तादृशत्वमन्तरङ्गत्वाद् गोपेष्वस्तीति साक्षित्वमुक्तम् ॥ १ ॥ कुसुमितेत्यत्र, धर्मं कुर्वन्नित्यादि । धर्मो हि साक्षात्परम्पराभेदेन चतुर्वर्गस्यापि साधकः । अवगाहनं च तत्र तत्र तथा लीलाकरणार्थम् । एवं सति लोकसिद्धं कार्यान्तरं विना तत्र गमनं चिरस्थित्यादिकं च लोकविरुद्धम् । लोके चिकीर्षितलीलाज्ञानं च रसविरुद्धमिति सर्वसमाधानपूर्वकं सम्पादकं गोचारणमिति भावेन धर्मत्वोक्तिः ॥ २ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अष्टादशेऽध्याये तद्गुणेष्विति भगवदासक्ता एव गुणासक्ता भवन्त्यतोत्र गुणासक्त्या भगवदासक्तिर्ज्ञापितेत्यर्थः ॥ ० ॥ इत्थंशरदित्यत्र आधिदैविकेति यत्रागत्य देवा मिलिताः स्वस्वकृतं कार्यं नयनभ्रूवादिभिर्निवेदितवन्तस्तावत्पर्यन्तमित्यर्थः ॥१॥ कुसुमितेत्यत्र स रस इति यतः शृङ्गारात्मा रसः स अतो मधोर्वसन्तस्याधिपतिरित्यर्थः, क्रियाज्ञानेति क्रियाशक्तिरूपा गोपाः अन्तरङ्गकार्यार्थं तत्र तत्र क्रियाशक्तेः स्थापितत्वात् ज्ञानशक्तिरूपो बलः प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं तत्र लीलाज्ञानस्य स्थापितत्वात्, अन्यत्र क्रियाशक्तिस्थापनेप्यन्तरङ्गलीलायां तथाधिकाराभावाज्ज्ञानमात्रस्थापनमितिभावः, सामग्र्यभावादिति नायकस्य सरसत्वाभावे रतिनं सम्पद्यत इत्यर्थः, त्रिविधानिति सरित्सरोमहीध्रस्थानित्यर्थः, शृङ्गारार्थमिति शृङ्गारो रतिः प्रेमेतियावत् तदुद्बोधनार्थमित्यर्थः, मधुपतिपदतात्पर्यार्थोयम्, 'बर्हापीडे'तिश्लोकोक्तयावद्गुणलीलाविशिष्टस्वरूपानुभावकं न भवतीति केवलपदमेवकारश्च, उद्बोधनमुक्त्वेति इत्याहेत्यनेनैतस्य समानकर्तृत्वम्, उद्बुद्धकामा इति कामोभिलाषो रतिः प्रेमेतियावत्, प्रेमैवोद्बुद्धं सदासक्तिपदवाच्यं भवति, तथा चोद्बुद्धकामा आसक्तिमत्य इत्यर्थः, एतेन कूजनेन वनस्थानां शृङ्गारोद्बोधनं मुख्यं व्रजस्थानाञ्च प्रासङ्गिकं सम्पादितवानित्यर्थः, भगवदुद्बोधार्थमिति 'अन्तःप्रविष्टो भगवान्' इत्यत्रेव हृदिस्थितस्य वर्णनेन बहिरुद्बोधनार्थमित्यर्थः ॥ २ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अष्टादशाध्याये कारिकासु तद्गुणेषु प्रसक्ता हीति, नन्वत्राष्टादशाध्याये गोपिकानामासक्तिर्निरूप्यत इत्युक्तं तत् कथं सम्भवत्यासक्तेः स्फुटमकथनादित्याशङ्क्य गुणासक्तिरूपकार्येण भगवदासक्तिरनुमीयत इत्याहुस्तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हीति, हि यतस्तस्मिन् भगवति य आसक्तास्त एव गुणासक्ता भवन्तीत्यतो गुणासक्त्या भगवदासक्तिर्ज्ञाप्यत इतिभावः,

नन्वासक्तेरुद्बोधस्तु कोकिलकूजनादिना भवति तत् स्वयं भगवता किमर्थं कृत इत्याशङ्क्य नात्रोद्बोधनमात्रं भगवता कृतमपि तु सर्वापि सामग्री केवलं प्रभुणा कृतेत्यासक्त्युद्बोधोपि हरिणा कृत इत्याहुरासक्तिः प्रेमपूर्वेवेत्यारभ्य न केनचिदित्यन्तेन, आसक्तेः पूर्वावस्था प्रेम, तदपि प्रभुणैव स्वस्मिन् व्रजभक्तानां कृतं प्रमाणप्रकरणे, ततोस्मिन् प्रमेयप्रकरण आसक्तिः कृता, ततो वेणुकूजनेन तदुद्बोधोपि हरिणैव कृत इति युक्तमेव, यतोङ्गीकारेणैव प्रभुः सर्वं साधयति, तथा च साधनानि स्वयमेव सम्पाद्य फलं प्रयच्छतीति पुष्टिमार्गे प्रभुप्राप्तौ प्रभुरेव साधनम्, "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति श्रुतेः, विद्यान्ते वर्ण्यत इति "विद्ययामृतमश्नुत" इतिश्रुतेर्विद्यां विना न भगवत्प्राप्तिस्ततोत्र व्रजजनेष्वपि सा निरूपणीयातो "वर्हापीडे"त्यन्तश्लोकपञ्चकसङ्ख्यया पञ्चपर्वा विद्या सिद्धेति ज्ञायते, एवं पञ्चपर्वात्मकविद्यासिद्धौ गुणवर्णनलक्षणा भगवत्प्राप्तिरभूदितिभावः, विद्यायाः पञ्च पर्वाणि, "वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशे"दितिवाक्यात्, इदं त्ववधेयम्, लीलास्थजीवानां विद्याप्यलौकिकी, सा घोषसुन्दरीणामपि सम्पन्ना, तथा हि भगवदतिरिक्तेषु रागाभावो वैराग्यम्, रसात्मकत्वेन पुरुषोत्तमज्ञानं साङ्ख्यम्, चित्तस्य भगवदेकपरत्वं योगः, भगवद्विरहे परमक्लेशानुभवस्तपः, मुक्त्यन्तपुमर्थाकाङ्क्षारहिता भगवदासक्तिर्भक्तिरिति पञ्चपर्वा पुष्टिमार्गीयविद्या व्रजसुन्दरीणां सिद्धा, तत्र पञ्चममासक्तिरूपं पर्व, तदत्राध्यायार्थत्वेन निरूपित "मष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटे"त्यनेन, कालाधिक इति "अक्षण्वता"मित्यादित्रयोदशश्लोकैर्निरूप्यमाणो भगवान् कालातीत इति सूचयितुं कालस्य द्वादशात्मकत्वात् तदधिकत्रयोदशसङ्ख्यया कालातीतत्वं सूच्यते, एवं सति कालातीतत्वे तत्र त्रयोदशश्लोकेषु निरूप्यमाणानां स्वरूपगुणलीलादीनां नित्यत्वं सिद्धमेव, पुरुषोत्तम इति पुरुषस्य द्वादशाङ्गत्वात् तदधिकत्रयोदशसङ्ख्यया त्रयोदशश्लोकेषु प्रतिपाद्यस्य पुरुषोत्तमत्वं सूच्यत इतिभावः ॥ ० ॥ इत्थं शरदित्यत्र आधिदैविकपर्यन्तमिति आधिदैविकशब्दोत्र परोक्षवादरीत्या निकुञ्जादिप्रदेशवाचकः ॥१॥ कुसुमितेत्यत्र कुसुमिता ये वनराजयस्ताभिरिति इह ये वनराजय इतिपुल्लिङ्गमुक्त्वा ताभिरिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशाद् वनस्थितवृक्षादीनां स्त्रीभाववत्त्वं ध्वनितम्, तेन चिद्रूपता युक्ता, मधुपतिरवगाह्येत्यत्र मधुपतिर्गाश्चारयन्निति इह मधुशब्दो यादवजातिपरत्वेन केश्चिद् व्याख्यातः, तथा सति तात्पर्यशून्यत्वं स्यादतस्तात्पर्यविशेषलाभाय मधुपतिपदं प्रकारान्तरेण व्याचक्षते वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मेति, क्रियाज्ञानशक्तिसहित इति "यः सर्वज्ञः सर्वशक्ति"रिति श्रुतेः परब्रह्मणः क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिसाहित्यं सर्वदापेक्षितम्, तदत्र क्रियाशक्तिरूपा गोपास्तैर्गोवारणादिक्रिया सम्पाद्यते, अत एव "प्रेमप्रवृद्धमुदित" इत्यस्य सुबोधिन्यां वक्ष्यते "गोपैर्गोवारण"मिति, ज्ञानशक्तिरूपो बलदेवस्तेन लीलाप्रतिबन्धकीभूतानां दैत्यानां मायिकवत्सादिरूपाच्छादितानां यथार्थज्ञानं तन्मारणं भक्त "रक्षा" च, तदेतत् "प्रेमप्रवृद्धमुदित" इत्यस्य विवृतौ वक्ष्यते "बलभद्रेण रक्षे"ति, फलप्रकरणेपि वक्ष्यते "यथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोग" इति, एवं प्रतिबन्धनिवृत्तौ भक्तैः सह भगवान् स्वच्छन्दं क्रीडति, एवमुभयशक्तिसाहित्यप्रयोजनं ज्ञेयम्, देवतोद्बोधनायेति देवताशब्देनात्र सरित्सरोवरमहीध्रनिकटवर्तिन्यो व्रजसुन्दर्यो ज्ञेयाः ॥ २ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अष्टादशाध्यायारम्भे सार्धचतस्रः कारिकाः अष्टादशेति का० १७१३–१७५३ । वर्ण्यवर्णकभेदेनेति 'वर्ण्यं वर्णनीयं रात्रिचरित्रं वर्णका वर्णनकर्तारो गोपाः, तत्र दिवाचरित्रं स्वामिन्यश्चेति भेद' इति विवृतं टिप्पण्यां, प्रवेश इति प्रथमश्लोकोक्तो वृन्दावनप्रवेशः द्वितीयश्लोकोक्तं वेणुकूजनं रूपबोधनं च तासामासक्त्युद्बोधनाय निरूपिते, नन्वत्राध्याये भगवद्गुणासक्तिरेव स्फुटा न तु भगवदासक्तिरित्याशङ्क्याहुस्तद्गुणेष्वित्यादि, भगवद्गुणासक्तिलक्षणकार्येण भगवदासक्तिरनुमीयत इत्यर्थः, भगवद्विषयकप्रेमोद्बोधकयोरलौकिकत्वं बोधयितुं भगवत्कृतत्वमाहुः प्रेमापि हरिणा कृतं उद्बोधकं च हरिणेति, फलितमाहुरासक्त्या वर्णनमिति, आसक्तौ सत्यामपि यावद् भगवान् स्वयं न ज्ञापयति तावत् स्वरूपगुणलीला न ज्ञातुं शक्यन्ते यतः तस्माद्धेतोरेकेन श्लोकेन "बर्हापीड"मित्यनेन गानोपक्रमान्ते विद्यारूपं सपरिकरं ब्रह्मस्वरूपज्ञानं स्फुटं यथा भवति तथा वर्ण्यते इत्यर्थः, यद्वा श्लोकपञ्चकानन्तरं गानारम्भोक्तिव्यञ्जितमर्थमाहुर्विद्यान्त इति, विद्याया अन्त इत्यर्थः, सा हि पञ्चपर्वात्मिका, तथा च गानारम्भोक्तेः पूर्वश्लोकेषु विद्यासमानसङ्ख्यचोक्त्या तेषु श्लोकेषु विद्यात्वं लक्ष्यते, 'तथा च ब्रह्मविद्यातोप्याधिक्यं विद्याया अपि गुणवर्णनं फलमिति ज्ञाप्यत इत्याशय' इति विवृतं टिप्पण्यां, तत्र प्रथमव्याख्यानपक्षे कारिकायोजना यस्माद्धेतोर्वर्णनं "तद् वर्णयितुमारब्धा" इति श्लोकारब्धं वर्णनमासक्त्या केवलया न तु विद्यासहितया तस्माद्धेतोर्विद्या ब्रह्मस्वरूपज्ञानं, अन्ते 'तद् वर्णयितुमारब्धा' इति श्लोकोक्तगानोपक्रमान्ते वर्ण्यते "बर्हापीडे"त्येकेन श्लोकेन वर्ण्यत इति, द्वितीयव्याख्याने तु वर्णनं "अक्षण्वतां फल"मिदमिति श्लोकोक्तं यद् वर्णनं तद् यस्माद्धेतोरासक्त्या क्रियमाणं फलरूपमेव न तु साधनरूपं तस्माद्धेतोर्विद्यान्ते श्लोकपञ्चकात्मकविद्याया अन्ते वर्ण्यत इति, त्रयोदश श्लोकसङ्ख्यातात्पर्यमाहुः कालाधिक इत्यादिना, अत्र वर्ण्यमानो हरिर्द्वादशमासात्मककालादधिको द्वादशाङ्गात् लौकिकपुरुषाच्च उत्तमः पुरुषोत्तम उच्यते इति सङ्ख्यातात्पर्यं, अत एव त्रयोदशविधा लीला उक्ताः ॥ ० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एकविंशे विहर्तुं वै वृन्दारण्यं गतो हरिः। तद्वंशीरवलीलादि गोपीभिर्वर्णितं व्रजे ॥ १ ॥

एवं सामान्यतः शरदं निरूप्य श्रीवृन्दावनशोभां वर्णयन् तत्र प्रविश्य श्रीकृष्णो वेणुवादनं कृतवानित्याह—इत्थमिति द्वाभ्याम्। इत्थमेवंभूतं वनं गोगोपास्तत्सहितोऽच्युतो न्यविशदित्यन्वयः। इत्थंशब्दार्थमेव विवृणोति—शरदा स्वच्छानि जलानि यस्य तत् यस्मिन्निति वा। पद्माकरसुगन्धिना वायुना वातं व्याप्तम् ॥ १ ॥ कुसुमितासु वनराजिषु ये शुष्मिणो मत्ताः भृङ्गाः, द्विजाः पक्षिणश्च तेषां कुलैर्घुष्टा नादिताः सरांसि सरितो महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तद्वनं पशुपालैर्बलेन च सहितो मधुपतिः श्रीकृष्णोऽवगाह्य प्रविश्य वेणुं चुकूज अवादयत् ॥ २ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एकविंशे हरेर्वेणुगीतं श्रुत्वा च गोपिकाः। गीतेन तत्स्तुतिं चक्रुस्तत्र श्लोकास्तु विंशतिः (२०) ॥
उवाचेति द्वयं (२) सार्द्धा एकत्रिंशदनुष्टुभः (३१॥) ॥ २१ ॥

इत्थमिति ॥ इत्थमेवंभूतं शरदा स्वच्छानि जलानि यस्मिन् तत् पद्माकरस्य तडागस्य सुगन्धिना वायुना वातं व्याप्तं वनं गावः गोपालकाश्च तत्सहितोऽच्युतो न्यविशत्। तङभाव आर्षः ॥ १ ॥ कुसुमितेति ॥ कुसुमितासु वनराजिषु ये शुष्मिणो मत्ताः भृङ्गाः द्विजाः पक्षिणश्च तेषां कलैर्मधुरध्वनिभिः। कुलेति च पाठः समूहार्थः। घुष्टा नादिताः सरांसि सरितो महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तद्वनं पशुपालैर्बलेन च सहितो मधुपतिः श्रीकृष्णोऽवगाह्य प्रविश्य गाः चारयन् वेणुं चुकूज। अन्तर्भावितण्यर्थतया अवादयत्। वनावगाहे गोचारणे च पशुपालादिसाहित्यं न तु वेणुकूजने उत्तरपद्ये कृष्णस्य वेणुगीतमित्युक्तेः ॥ २ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमेकविंशेऽध्याये हरेर्वेणुगीतं निगद्यते पद्मानां आकराः समूहास्तेषां सुगंधोऽस्ति यस्मिंस्तेन वायुना वातं अनुस्यूतं व्याप्तमित्यर्थः वनं वृंदावनं अच्युत इति पाठे वनमितिशेषः ॥ १ ॥ कुसुमितेति कुसुमिताः पुष्पितायां वनराजयो वनवृक्षपंक्तयो यस्मिंस्तत् शुष्मिणो मत्ताः भृंगाः द्विजाः पक्षिणश्च तेषां कुलैः कलापैर्घुष्टाः शब्दिताः सरांसि सरितो नद्यश्च महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तद् वृंदावनं मधुपतिः वासंतिकशोभाजनकत्वाद्वसंतपतिः मधुपुरपतिर्वा पशुपैः बलेन च सहितो हरिः अवगाह्य प्रविश्य गाश्चारयन् वेणुं वंशीं मुरलीमिति यावत् चुकूज वादयामास ॥ २ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एकविंशे हरौ याते शरद्रम्यं वनं क्वचित्। तद्वेणोः सुस्वरं श्रुत्वा गीतं गोपीभिरीर्यते ॥ १ ॥

इत्थं शरदमनुवर्ण्याथ तदा वृन्दावने क्रीडतः वेणुं क्वणयतः भगवतः गोपीचित्तापहारिणः कांश्चिद्विहारान् वेणुगीतसहितान् गोपीभिर्मिथो वर्णितान् प्राह ॥ इत्थमिति ॥ शरदां स्वच्छानि जलानि यस्मिंस्तत्, पद्माकराणां कमलसमूहानां सु शोभनो गन्धो यस्य तेन, वायुना वातं व्याप्तं, इत्थमेवंभूतं, शारदिकगुणसंपन्नमित्यर्थः। वनमिति शेषः। गावश्च गोपालाश्च तैः सह वर्त्तमानः सगोगोपालकः, अच्युतः श्रीकृष्णः, न्यविशत् प्रविवेश ॥ १ ॥ कुसुमितेति ॥ ततश्च कुसुमितानि च तानि वनानि च तेषां राजयः पङ्क्तयः यस्मिंस्तत्, अत्र वनशब्देन वृक्षसमुच्चय उच्यते। ततः प्रचुरकुसुमतरुश्रेण्युपेतमित्यर्थः। शुष्मिणो मत्ताश्च ते भृङ्गा भ्रमरा द्विजाः पक्षिगश्च तेषां कुलानि गणास्तैर्घुष्टानि शब्दितानि सरांसि अखाततटाकाः सरितः स्यन्दमाना नद्यः महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तत्, यद्वा। कुसुमितेत्यादिमहीध्रान्तमेकं पदं, तदा कुसुमितवनराजिषु शुष्मिणो मत्ता ये भृङ्गा द्विजाश्च तेषां कुलैर्घुष्टाः सरआदयो यस्मिंस्तत्, घुष्टेत्यत्र जुष्टेत्यपि पाठः। एवंभूतं वनमिति शेषः। मधुपतिः श्रीकृष्णः, अवगाह्य प्रविश्य, पशुपालैर्गोपैर्बलेन बलभद्रेण च सहेति सहपशुपालबलः, गाः धेनूः, चारयन् सन्, वेणुं, चुकूज अवादयत् ॥ २ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वर्षादिवर्णनमिषेण चतुर्युगानामावर्तनक्रममुदीर्य यथाश्रुतार्थम्।
जिज्ञासुमुक्तयुगधर्ममृषिः क्षमेशं श्रीवेणुगीतमिषतः कृतधर्ममूचे ॥ १ ॥
लसद्वादर्दवायौ समुद्भूतनादः सदानन्दभूर्नन्दिने सुप्रदेशे।
युगे त्वादिमे क्रीडति स्वैरलीलः परात्मेति गूढोऽयमर्थोऽवधेयः ॥ २ ॥
श्रुत्वा विश्रुतवेणुनादमबलाः प्रोद्भूतकामाङ्कुरा यद्घोषे हि परोक्षमेव कमलाधीशं समावर्णयन्।
तेनेदं प्रतिबोधितं सदमलाः सत्यं परं संस्तुवंत्येवं हि श्रुतयोऽपि चिन्मयतनुं सन्नादलक्ष्यार्थकाः ॥ ३ ॥
नादेन लक्ष्यो भगवान्नादः श्रुतिगतः सदा। घोष एवोपलब्धार्थस्तत्रात्रैवं समन्वयः ॥ ४ ॥

चुकूज वेणुमिति । १०.२१.२.

बहिरन्तर्यः सरलः श्रुत्यनुकूलध्वनिः स मे प्रेयान् । लोकदृशा जड़पिशुनोऽप्येतद व्यक्तीकृतं सुवेणुभृता ॥ ५ ॥
यस्मिन् मुक्ता जाता वंशोऽसौ कीदृशोऽपि मम मान्यः । इत्याशयेन हरिणा करादवलम्बादसौ समुदधारि ॥ ६ ॥
यस्मादनेकयुक्ता जाताः स त्वं जडः कथं शिष्टः । प्रष्टुमिदं स्वोपमुखं नीतोऽसौ विस्मितेन हरिणा किम् ॥ ७ ॥
मुक्तोदयोऽजनि यतः स जडः कुवंशोऽस्त्येतन्न युक्तमिति दीनदयाकरेण ।
कृत्वा च तन्मुखमुतोपमुखं व्यबोधि सोपांशवनादिगुरुणा निजमुख्यमन्त्रः ॥ ८ ॥
अस्मादविद्यैकनिधेः कुवंशान्मुक्तोदयः स्यात् कथमित्युदीताम् ।
भ्रान्ति जनानामपनेतुकामःश्रुत्यर्थमाधात् स्फुटमस्य वक्त्रात् ॥ ९ ॥
स्यात्कामोद्दीपकोऽपि श्रुतिसुखजनकः सर्वदा यन्निनादो जीवन्मुक्तः स चैको युगपदुभयसत्सौख्यभोक्ता जनेषु ।
इत्यर्थं ख्यापयित्रा जगति भगवताऽधारि तादृक् स वेणुः स्पष्टं यच्छ्रीशमुख्यामृतभुगपि बभावङ्गुलीस्त्रीसमेतः ॥ १० ॥
यां यां यः सप्तभूमिष्वधिचरति शनैरेकवृत्तिर्मुमुक्षुस्तस्यां तस्यां प्रकामं प्रभवति स तथोच्चैस्तरश्रुत्यभिज्ञः ।
एवं व्याख्यातुमर्थं जगदधिगुरुणा वेणुरन्ध्रेषु सप्तस्वारोहाच्छ्रीतमार्गे स्फुटमुपगमितोऽस्युच्चतां मुख्यवर्णः ॥ ११ ॥
धराश्रितोऽसावधराश्रितोऽजनि रसोद्भिदप्यास्यरसानुयोगिकः ।
कूल्पत्तिरप्युत्तमवंशपूजितो हेतुस्तदीशैक-कराश्रयस्तव ॥ १२ ॥
गीतोपदेशेन धनञ्जयस्य कार्तार्थ्यमग्रेऽति मया विधेयम् । ज्ञात्वा तदभ्यासविधानमन्तश्चिन्तावहन्नारभतेव कृष्णः ॥ १३ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित ! शरद् ऋतु के कारण वह वन बड़ा सुन्दर लग रहा था, जल निर्मल था और जलाशयों में खिले हुए कमलों की सुगन्ध से सनकर वायु मन्द मन्द चल रही थी भगवान श्रीकृष्ण ने गौओं और ग्वालबालों के साथ उस वन में प्रवेश किया ॥ १ ॥ सुन्दर सुन्दर पुष्पों से परिपूर्ण हरी हरी वृक्ष पंक्तियों में मतवाले भौंरे स्थान स्थान पर गुनगुना रहे थे और तरह-तरह के पक्षी झुण्ड के झुण्ड अलग अलग कलरव कर रहे थे जिससे उस वन के सरोवर नदियाँ और पर्वत सब के सब गूंजते रहते थे, मधुपति श्रीकृष्ण ने बलरामजी और ग्वालबालों के साथ उसके भीतर घुसकर गौओंको चराते हुए अपनी बांसुरी पर बड़ी मधुर तान छेड़ी ॥ २ ॥

तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं [1]स्मरोदयम् । काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्[2] ॥ ३ ॥
तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् । नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः -स्मरोदयं तत् वेणुगीतम् व्रजस्त्रियः आश्रुत्य काश्चित् परोक्षं (यथा भवति तथा) स्वसखीभ्यः अन्ववर्णयन् ॥३॥ नृप, स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसः कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यः (ताः) तत् कृष्णचेष्टितं वर्णयितुम् आरब्धाः न अशकन् ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तत्कृष्णवेणुगीतं स्मरस्योदयो यस्मात्तदाश्रुत्य श्रुत्वा परोक्षं यथा भवति तथा व्रजे स्थितत्वात् ॥ ३ ॥ विक्षिप्तमनसो व्याकुलचित्ताः ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्मरस्य कामस्य 'कामः पंचशरः स्मरः' इत्यमरः । यद्वा-कासांचिददृष्टश्रुतम् ॥ ३ ॥ आरप्सतेत्यारब्धाः अकर्मकत्वात्कर्तरि क्तः कृतारंभाः । तद् वेणुगीतम् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्तत्र तदेव वा कृष्णस्य वेणुगीतम् अनुगीतानन्तरं निरन्तरं वा अवर्णयन् तत्र हेतुः स्मरस्य उदयः प्राकट्यं यत्र तादृशं यथा स्यात्तथाऽऽश्रुत्य यद्यपि सदा तस्य वेणुवादनविनोदो वर्त्तत एव तथापि तदानीं वयोऽतिशयेन शरल्लक्ष्मीविलासावलोकनेन च दीप्तभावस्य ताः समाक्रष्टुं वेणुविद्यामभ्यसतस्तया तासां तादृशत्वं जातम् अत एव तदानीमेव ताभिस्तदनुवर्णनं च आश्रुत्य दूरतोपि सम्यक् श्रुत्वा कलत्वेपि सर्वव्यापिस्वभावत्वात् ईषदपि श्रुत्वेति वा काश्चिद्भावविशेषयुक्ताः श्रीराधादेव्याद्याः इति

१. महोदयं-विज. । २. ऽन्ववेदयन्-विज. ।

सर्वासामेव व्रजस्त्रीणां तच्छ्रवणेपि सर्वभूतमनोहरमिति वक्ष्यमाणान्मात्रादीनां वात्सल्यादेरेवोदयो नतु स्मरस्येति ताः परिहृताः अतः स्वीयाभ्यः सखीभ्यः श्रीललितादिभ्यः निजमनोवाष्पोद्गिरणाय ता अपि श्रावयितुमित्यर्थः। स्वशब्देन सख्याः सख्योपि व्यावर्त्यन्ते इति तासां परमशालीनत्वं दर्शितं किं बहुना तत्रापि परोक्षम् अर्थान्तराच्छृण्वन् सावहितं यथास्यात्तथेत्यर्थः ॥ ३ ॥ स्मरोदयस्य क्रममेवाह—तदिति। तत्तादृशं परोक्षं यथा स्यात् तथा वर्णयितुम् आरब्धाः आरब्धवत्योपि नाशकन् तथा वर्णयितुं नापारयन्नित्यर्थः। तत्र हेतुः स्मरेति, कुतः ? कृष्णस्य सर्वचित्ताकर्षकस्य चेष्टितं तद्वेणुवादनमयं स्मरन्त्यः अनुसन्दधानाः हे नृपेति तत्कथनेन स्वयमेव भावविशेषप्राप्त्या कातर्येण सम्बोधनम् ॥ ४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्तत्र कृष्णस्य वेणुगीतम्, अनु गीतानन्तरं निरन्तरं वा अवर्णयन्। तत्र हेतुः। तादृशजलादिदर्शनात्तस्यैव स्मरेण कामेन गोपीस्मरणेन वा उदयो यस्य; यद्वा, स्मरस्य उदयो यस्मात्तत्। यद्यपि सदा तस्य तादृश एव स्वभावस्तथापि तदानीं भावविशेषोत्त्या वादनविशेषेण तादृशत्वमुक्तम्। अतएव तदानीमेव ताभिस्तदनुवर्णनञ्च; यद्वा, तदिति कृष्णभावविशेषसूचकं परममोहनमिति वा; यतः स्मरोदयम्। अन्यत् समानम्। व्रजस्य व्रजे वा वर्त्तमाना याः स्त्रियस्ता आश्रुत्य दूरतोऽपि सम्यक् श्रुत्वा कृष्णेच्छाविशेषेण तासां भावबलेनैव वा निवेशितत्वात् 'आ' ईषत् श्रुत्वेति वा, वेणुना गीतं वेणोर्वा गीतं श्रीकृष्णाधरस्पर्शमात्रेण स्वत एव तत्कूजनस्यैव भंगीविशेषेण गीतत्वेनैव परिस्फूर्त्तेः, कूजनेन गीतमेवाभिप्रेतम्। काश्चिद्भावविशेषयुक्ताः श्रीराधादेव्याद्या इति। सर्व्वासामेव व्रजस्त्रीणां तच्छ्रवणेऽपि मान्यानां वात्सल्यप्रसरस्यैवोदयः, न तु स्मरस्येरिताः परिहृताः। परोक्षं तासामेवासाक्षात् निभृतमित्यर्थः, अत स्वीयाभ्यः सखीभ्यः श्रीललितादिभ्य एव, ताः प्रतीत्यर्थः। यद्वा, तादर्थ्ये चतुर्थी, तासां सुखार्थमित्यर्थः, तासां सुखेनैवात्मसुखविशेषात् ॥ ३ ॥ आरब्धा आरब्धवत्यः, इत्यवश्यमारब्धपरिसमाप्तिरपेक्ष्यत्र इति भावः, तथापि न शेकुः। तत्र हेतुः-स्मरस्य श्रीकृष्णस्मृतिविशेषस्य तद्विषयककामस्य सर्व्वचित्ताकर्षकस्य चेष्टितं तद्वेणुवादनात्मकम्, अग्रे वर्णनीयं ना स्मरन्त्यो अनुसन्दधानाः; यद्वा, काश्चिदन्ववर्णयन् काश्चिद्वर्णयितुमारब्धा अपि न शेकुः। हे नृपेति तत्कथनेन स्वयमेव भावविशेषप्राप्त्या कातर्य्येण किंवा तस्यैव भावविशेषोदयमालक्ष्य तत्सम्वरणार्थं सम्बोधनम् ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स्मरस्योदयो यस्मात्तत् कृष्णस्य वेणुगीतमाकर्ण्य काश्चिद्व्रजस्त्रियः तस्य कृष्णस्य परोक्षमसमक्षं स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥ तत्कृष्णस्य वेणुगीतं चेष्टितं वर्णयितुमारब्धाः आरब्धवत्यः तत्स्मरन्त्यो हे नृप स्मरवेगेन व्याकुलितचित्तास्तावद्वर्णयितुमेव ना शक्नुवन् शक्ता न बभूवुः कृष्णश्च तच्चेष्टितं च तयोः समाहारः कृष्णचेष्टितं यादृशस्तदा कृष्णः चेष्टितं च तदुभयं स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्नित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

महः कामः तस्योदयः अङ्कुरीभावः यस्मात्तन्महोदयं स्मरोदयमिति केचित्पठन्ति तद्वेणुं गीतमाश्रित्य काश्चिद्व्रजस्त्रियः परोक्षं कासाञ्चिददृष्टश्रुतं कृष्णस्य चरितं स्वसखीभ्यो न्यवेदयन्नित्यन्वयः ॥ ३ ॥ वर्णयितुं कीर्तयितुम् ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

काश्चित् प्रेयसीरूपास्ता एव इत्यर्थः। सर्वास्तास्वेव सर्वभेदाः ॥ ३-६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत् कृष्णस्य वेणुगीतम् आश्रुत्य परोक्षं यथा स्यात्तथा तासां व्रजे स्थितत्वात् ॥ ३ ॥ तद्वेणुगीतं वर्णयितुमारब्धा आरब्धवत्योपि वर्णयितुं नाशकन् तत्र हेतुः स्मरवेगेनेत्यादि ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कृष्णस्य तद्वेणुगीतमाश्रुत्य तदेव काश्चित् परोक्षं यथा भवति तथा स्वसखिभ्यः अन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥ तदेव वेणुगीतं वर्णयितुमारब्धा अपि कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यः स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसः नाशकन् ॥ ४ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

तत्पूर्वोक्तप्रकारं सङ्केतसूचकमित्यर्थः। यद्वा, तस्य व्रजे वर्तमानायाः स्त्रियः स्वकान्तभावा न तु मातृभावास्तथा प्रौढाः न तु कुमार्य्य इत्यर्थः। स्मरोदयं स्मरस्य कामस्योदयो यस्मात् अत्र कामोऽनुकरणमात्रमेव न तु वास्तवोऽसौ प्रच्छन्नकामुकत्वादासां गोकुलेन्द्रस्य सौख्यादेरित्युक्तेः। यद्वा, प्रेमोदयं तदुक्तं संमोहनतन्त्रे "प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्" इति तदेवमनुकरणेन कोपि विरोधः, तदुक्तं ब्रह्मणा "प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विडम्बयसि भूतले" इत्यादि काश्चिद्भाववशीभूताः परोक्षम्

अथान्तराच्छन्नं । यद्वा, लज्जया निजजनाधारणाय तदग्रजादिवर्णनसहयोगेनाच्छन्नं यथा स्यात्तथेति समुचितवर्णनं हि प्रीतिमात्रं बोधयति न तु कान्तभावमित्यभिप्रायात् । यद्वा, काश्चित्कृष्णस्य व्रजस्त्रिय इति सम्बन्धः यद्वा कृष्णस्य स्मरोदयं कृष्णस्य सम्बन्धि-स्मरस्योदयो यस्मादिति ॥ ३-४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

काश्चिद्व्रजस्त्रियः श्रीमत्याद्याः प्रेयस्यः कृष्णस्य तद्वेणुगीतमाश्रुत्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् सरस्यादयः प्राकट्यं यत्र तद्यथा स्यात्तथेति तदन्या व्यावर्त्यन्ते परोक्षमिति तासां व्रजे स्थितत्वात् ॥ ३ ॥ तद्वेणुगीतं वर्णयितुमारब्धा अपि वर्णयितुं नाशकन्नापारयन् कुतः स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो व्याकुलहृदयाः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

महोदयं महस्योत्सवस्योदयो येन तत् मह उत्सवस्य दया दानं येन तदिति वा वेणुगीतं तद्व्रजस्त्रियस्तद्व्रजस्त्रिय इति वाऽऽश्रुत्य काश्चित्परोक्षं दूरवर्तिनीभ्यः सखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥ कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यस्तद्वर्णयितुमारब्धाः । कर्तरि क्तः । स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नाशकन्न समर्था अभवन् ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमुद्बोधनमुक्त्वा ताभिः सह रमणे कामिनीकामोद्बोधकत्वात् कूजितस्य व्रजस्त्रियोऽप्युद्बुद्धकामा जातास्ताः कामवशाद् भगवदुद्बोधार्थं स्वसखीभ्यः स्वसमानशीलव्यसनाभ्यस्तद्गुणान् वर्णयितुमारेभिर इत्याह तद् व्रजस्त्रिय इति, आसमन्ताच्छ्रुत्वाधिदैविकत्वात्, अन्यथा कथं वनस्थितो वेणुनादो व्रजस्थिताभिर्गोपिकाभिरेव श्रूयते ? यथा सर्वे देवा उत्थिता एवं स्मरोपि, उद्दीपनभावत्वान्नादस्य, तन्मध्ये स्मरेण काश्चन मूर्च्छिता एव काश्चित् पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्य कृष्णस्य परोक्षे विद्यमानाभ्यः स्वसखीभ्योनु भगवत्करणानन्तरमेवावर्णयन् वर्णितवत्यः ॥ ३ ॥ तासामपि पुनः कामोद्बोधे विशेषतो वर्णना-शक्तिर्जातेत्याह तद् वर्णयितुमिति, तत् स्वानुभूतं भगवद्रूपं वेणुगीतं वा वर्णयितुं कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतश्च निरूप-यितुमारब्धवत्यस्ततो मध्ये वर्णनार्थं कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यस्तत्स्मरणजातेन स्मरेण यो जातो वेगश्चित्तचाञ्चल्यं तेन विक्षिप्त-मनसो जाताः, नृपेतिसम्बोधनं धर्मवत्त्वेन जितेन्द्रियत्वाय ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्येत्यत्र, गोपिकाभिरेव श्रूयेतेति । एतदितरश्रवणाभावे प्रमाणापेक्षायामुच्यते । भगवान् हि सप्रयोजनकमेव कार्यं करोति, न त्वन्यथापि जीववत् । अत्र च रमणार्थं भावोद्दीपनमेव प्रयोजनम् । एवं सति यासु तदभावस्तासु तच्छ्रवणं निष्प्रयोजनकमिति प्रभुर्न करोत्येवेति मन्तव्यम् । एतेन श्रुतं सर्वैः, परन्तु स्थायिभावोत्रैवास्तीत्यत्रैव तदुद्दीपनं नान्यत्रेति निरस्तम् । सर्वज्ञस्य तादृक्कृत्यसम्भव इत्युक्तत्वात् । नादनिष्ठामृतस्य स्वप्रवेशमात्रेणैव भगवदीयत्वकरणलक्षणस्वभावहानि-प्रसङ्गश्च । स्वस्वरूपातिरिक्तस्य वपुषोत्राभावात्तद्भरणोक्तिरसङ्गतेत्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुर्भगवांस्त्वित्यादिना । उक्तरीत्योद्बुद्ध-द्विविधरसात्मकं हि वपुः, रसश्च भावात्मकत्वात्स्वप्रियाव्यतिरिक्तेषु भक्तेषु तादृशत्वस्याप्रकटनाच्चामूर्तत्वेन लोके प्रसिद्धः । वपुर्बि-भ्राणस्तु वहिः स्वस्वरूपं प्रकटयन् भवति । तथायमपि कुर्वन् वृन्दारण्यं प्राविशदिति । अत्रैवं ज्ञेयम् । शब्दात्मकत्वेनामूर्तत्वेन लोके प्रसिद्धा अपि 'वेदा यथा मूर्तिधरास्त्रिपृष्ठ' इति वाक्यात् सार्वदिकशब्दब्रह्मात्मकमूर्तिप्राकट्यवन्तो यथा, तथा ब्रह्मणः साकार-त्वात्सार्वदिकमेव रसात्मकं वपुर्वृन्दारण्ये एव प्रकटितवान् । ह्यद्येव प्राकट्ये तु मनोमात्रभोग्यत्वम्, बहिःप्राकट्ये सर्वेन्द्रिय-भोग्यत्वम् । एवं सति चक्षुराद्यविषयत्वे प्रियपदार्थस्य मनोमात्रविषयत्वं दुःखदमित्यनुभवसिद्धमतो भक्तार्थं तथेति । न त्विति । स एव भगवानेव तथा । आत्मभिन्नवपुषो भर्तेत्यर्थः ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तद् व्रजस्त्रिय इत्यत्र स्मरोपीति स्मरस्य लीलोपयोगित्वेन देवत्वादित्यर्थः, स्मरोद्बोधे हेत्वन्तरमप्याहुरुद्दीपनेति, मूले काश्चित्पदसूचितं विभागमाहुस्तन्मध्य इति, पुनरिति गीतश्रवणानन्तरमित्यर्थः, भगवत्सङ्गमिति मूर्च्छितानां त्वज्ञानमेव, अन्यासां गीतश्रवणानन्तरमन्तःस्थितभगवत्सङ्गप्राप्तिरिति भावः । तासामपीति मूर्च्छितानां समुच्चयार्थमपि शब्दः ॥ ३ ॥ तद् वर्णयितुमित्यत्र स्वानुभूतमिति स्वाभिर्लीलास्वनुभूतमित्यर्थः, वेणुगीतश्चेति ताभिर्लीलाः कुर्वद् वेणौ गीतं स्वरूपमित्यर्थः, कार्यत इत्यादि कार्यं देवतानां शृङ्गारोद्बोधः कारणं भगवतो भावोद्बोधः फलं तत्र तत्र लीला, स्वरूपं तत्तत्सङ्केतबोधनमिति ज्ञेयम्, (स्वरूपानन्दस्थापनम् स्वरूपं विवृतावयवत्वादीति ज्ञेयम्), स्मरणजातेनेति स्मरणपदेन व्यापारः, स्मरपदेन तज्जन्या स्मृतिरिति भेदः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तद् व्रजस्त्रिय इत्यस्याभासे भगवदुद्बोधार्थमिति यथा भगवता वेणुनादेन व्रजस्त्रियः उद्बोधिता एवं व्रजस्त्रीभिरपि गुणगानेन भगवानुद्बोधनीयः, उभयत्र शब्दस्यैवोद्बोधकत्वम्, उद्बोधनं नामोद्बोधकाभीष्टकार्यपरतया स्थापनम्, तद् व्रजस्त्रिय इत्यस्य विवरणे एवं स्मरोपीति यथा सर्वे देवा लीलोपयोगिनो व्रजसीमन्तिनीप्रभृतयः उत्थिताः स्वस्वसेवासमयमवधार्य सावधाना जाता एवमाधिदैविकः स्मरोपि लीलासामग्रीमध्यपातित्वादुत्थितो व्रजभक्तानां मानापनोदनादिकार्यार्थं तन्मनसामौत्कण्ठ्यादिसम्पादनेन स्वसेवासमये सावधानोभूदित्यर्थः, तन्मध्ये काश्चन स्मरेण मूर्छिता एवेति मूले काश्चिदितिपदद्वयोक्त्या वेणुनादश्रवणकर्त्रीष्वपि श्रवणानन्तरमनुवर्णनं काभिश्चिदेव कृतं न तु सर्वाभिरिति ज्ञापितम्, वर्णनाकरणे कारणमाहुः स्मरेण मूर्च्छिता एवेति, तत्र कासाञ्चिन् मूर्छा न जाता तत्र किं कारणमित्याहुः काश्चित् पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्येति, तथा च कृपाविशेष एव मूर्छाभावे भगवत्सङ्गे च कारणमित्यर्थः, सङ्गोत्रान्तरो ज्ञेयः, तासामपि पुनः कामोद्बोध इति वर्णनार्थं कृतेन कृष्णचेष्टितस्मरणेन जातो यः कामोद्बोधस्तस्मिन् सति वर्णनाशक्तिर्जातेत्यर्थः, पूर्वं वेणुकूजनं वेणुगीताभ्यां स्मरोदयो जातः कृष्णचेष्टितस्मरणेन च विशेषतो जात इति ज्ञापयितुं पुनःपदं सुबोधिन्यामुक्तम्, अवर्णयन् वर्णितवत्य इति, "अक्षण्वता"मित्यादित्रयोदशभिः श्लोकैरित्यर्थः अत एवा "क्षण्वता"मित्यस्याभासेनुवर्णनमेवाहेत्युक्तम्, इदमत्र वोध्यम्, "अन्वर्णय"न्नित्यनेन व्रजसुन्दरीकर्तृक 'मक्षण्वता'मित्यादित्रयोदशश्लोकोक्तं वर्णनमुक्तं श्रीशुकेन, ततः कथमवर्णयन्निति प्रकारजिज्ञासायां "तद् वर्णयितुमारब्धा" इत्यनेनारम्भदशायां स्मरवेगकृतः प्रतिवन्ध उक्तस्ततो भगवता तासां गुणवर्णनशक्तिसम्पादनार्थं "नटवरे"ति पदद्वयवाच्यं विप्रयोगसंयोगरसात्मकं धृतवर्हापीडत्वेनोद्वुद्धरसस्वरूपं कर्णिकारस्थापनेनोच्छलितरसभावं पीताम्बरधारणेन गुप्ततया सम्पादितरसताकं वैजयन्तीमालावनमालोभयवैशिष्ट्येन शृङ्गाररसोपयोगियावद्रससम्वन्धियशोद्योतकं सुधाज्ञापितस्वीयभोग्यत्वसूचितं स्त्रीभावं स्त्रीभावसूचितभक्तपरतन्त्रताकं शुद्धपुष्टिमार्गीयरसस्वरूपं वेणुरवेण बोधितवान्, तदा श्रोत्रद्वारा नादप्रवेशे नादान्तर्वर्तिसुधासम्बन्धात् पूर्वोक्तप्रकारकं स्वरूपं श्रोत्रीणां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु पूर्णमाविरभूत्, तदेतद् "वर्हापीड"मिति श्लोके श्रीशुकेन वर्णितम्, "वृन्दारण्यं प्रविश"दित्युक्त्या व्रजसुन्दरीणां हृदयेपि प्रवेशकथनादेतासां हृदयस्य वृन्दावनरूपत्वाद् "वृन्दावनं सखि भुव" इत्यस्य सुबोधिन्यां तथा वक्ष्यमाणत्वात्, एवं सुधासंवलितनादद्वारा स्वरूपस्य हृदयप्रवेशे सुधाधिक्याद् गलनरूपवर्णनमभूत्, तदेत''दिति वेणुरवं राज''न्निति श्लोकेन शुकेनोक्तम्, तथा च सिद्धमेतत्, "स्वसखीभ्योन्ववर्णय"न्नित्यनेन उद्देशत उक्तस्य अनुवर्णनस्य प्रकारजिज्ञासायां "तद् वर्णयितुमारब्धा" इत्यनेन वर्णनारम्भे प्रतिवन्धमुक्त्वा "वर्हापीड"मित्यनेन प्रतिवन्धाभावपूर्वकं वर्णनशक्तिहेतुमुक्त्वे"ति वेणुरव"मित्यनेनानुवर्णनं समर्थितमिति सर्वं सुस्थम् ॥ ३ ॥ तद् वर्णयितुमारब्धा इत्यस्य विवरणे कार्यतः कारणतः स्वरूपतः फलतश्चेति वेणुगीतस्य चतुर्धा वर्णनम्, तत्र यद्यपि वर्णनारम्भे प्रतिबन्धोभूत् तथापि प्रतिबन्धनिवृत्तौ चतुर्धा वर्णनं जातमेव, तत्र वेणुगीतस्य कार्यतो निरूपणं "वृन्दावनं सखि भुव" इत्यादिश्लोकेषु, कारणतो निरूपण "मक्षण्वता"मितिश्लोके, वेणुगीतकारणस्य भगवन्मुखस्वरूपस्य निरूपणात्, स्वरूपतो निरूपणं "गोप्यः किमाचरदय"मिति श्लोके फलतो निरूपणं "गागोपकै"रिति श्लोके, स्वरूपं नादेनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगिति गानकर्तॄणां दूरस्थत्वेन भगवद्वियुक्तत्वान्नादद्वारैव स्वरूपानुभव इत्यर्थः ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

स्मरस्य कामस्योदयो यस्मात् तत् कृष्णस्य वेणुगीतमाश्रुत्य तत्समीपं गत्वा तत्रत्यं वृत्तमनुभूयागत्य काश्चित् स्त्रियः परोक्षं यथा भवति तथा स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् । अन्यथा व्रजस्थाभिरननुभूतस्य वनवृत्तान्तस्य वर्णनासम्भवात् ॥ यद्वा निलयानि त्यक्त्वा कदाचिदनुभूतस्यैव तदानीं वेणुरवश्रवणेनोद्गतस्य वृत्तान्तस्य वर्णनमिति ज्ञेयम् । भगवद्वेणुनादस्यालौकिकत्वाद्व्रजस्थानामपि श्रवणं सङ्गच्छते । अन्यथा वने उद्भूतस्य व्रजे श्रवणं न स्यात् । तदपि श्रवणं यथाधिकारमेव कार्यं करोति । अतो मात्रादीनां वात्सल्योत्पादकम्, अन्यासां कामिनीनां स्मरोत्पादकम् । अन्येषामपि यथारुचि, 'सर्वभूतमनोहरम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३ ॥ हे नृप ! तत् कृष्णचेष्टितं वर्णयितुमारब्धाः आरब्धवत्योऽपि वर्णनं कर्तुं नाशकन् समर्था न जाताः । तत्र हेतुमाह — स्मरस्य कामस्य वेगेन विक्षिप्तं व्याकुलं मनो यासां ताः इति । कामवेगे हेतुमाह—स्मरन्त्य इति ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदिति । स्मरस्योदयो यस्मात् तत् कृष्णस्य वेणुगीतमाश्रुत्य तत्समीपं गत्वा तत्रत्यं वृत्तमनुभूयागत्य काश्चित् स्त्रियः परोक्षं यथा भवति तथा स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् । यद्वा । परोक्षमिति तासां व्रजे स्थितत्वात् ॥ ३ ॥ तदिति ॥ हे नृप ! स्मरस्य वेगेन विक्षिप्तं व्याकुलं मनो यासां ताः कृष्णस्य चेष्टितं स्मरन्त्यः ता गोप्यः तत् कृष्णचेष्टितं वर्णयितुमारब्धाः आरब्धवत्योऽपि आदि कर्मणि क्तः । वर्णनं कर्तुं नाशकन् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स्मरस्य हर्यालिंगनाभिलाषस्योदय उद्भवो यस्मात्तत् वेणुगीतं काश्चित् समाधिनिष्ठाः प्रत्यक्षमाश्रुत्य स्वसखीभ्यः परोक्षं यथा तथा ग्रामे स्थितत्वात् ।। ३ ।। विक्षिप्तमनसो विह्वलमानसाः ।। ४ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदिति ।। स्मरस्य कामस्य उदयः अङ्कुरीभावः यस्मात्तत्, प्रसिद्धं, तत् कृष्णस्य वेणुगीतं, व्रजस्त्रियः आश्रुत्याकर्ण्य, काश्चिद्व्रजस्त्रियः, परोक्षं कृष्णस्यासमक्षं, कृष्णस्य वने तासां च वृन्दावने स्थितत्वात् परोक्षं, स्वसखीभ्यः, अन्ववर्णयन् । पूर्वं दृष्टश्रुतकृष्णचरिताः काश्चनाऽदृष्टश्रुतकृष्णचरितानां पुरो निषद्य स्वदृष्टश्रुतं तत्ताभ्यो न्यवेदयन्नित्यर्थः ।।३।। तदिति ।। हे नृप, तच्छ्री-कृष्णस्य सवेणुगीतं चेष्टितं वर्णयितुं आरब्धा आरब्धवत्यः, कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यः कृष्णस्य तच्चेष्टितं च तयोः समाहारः कृष्णचेष्टितं यादृशस्तदा श्रीकृष्णस्तच्चेष्टितं च तदुभयमित्यर्थः । स्मरयन्त्य इति वा । अत एव स्मरवेगेन कामरंहसा, विक्षिप्तमनसः व्याकुल-चित्ताः सत्यः, न अशकन् । तावद्वर्णयितुं शक्ता एव न बभूवुः ।। ४ ।।

कृष्णप्रिया

श्रीकृष्ण की वह वंशीध्वनि भगवान् के प्रति प्रेमभावको उनके मिलन की आकांक्षा को जमाने वाली थी उसे सुनकर गोपियों का हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो गया । वे एकान्त में अपनी सखियों से उनके रूप गुण और वंशीध्वनि के प्रभाव का वर्णन करने लगीं ।। ३ ।। व्रज की गोपियों ने वंशिध्वनि का माधुर्य आपस में वर्णन करना चाहा तो अवश्य परन्तु वंशी का स्मरण होते उन्हें श्रीकृष्ण की मधुर मुसकान आदि की याद हो आयी, उनकी भगवान से मिलने की आकाङ्क्षा और भी बढ़ गयी उनका मन हाथ से निकल गया वे मन ही मन वहाँ पहुँच गयी जहाँ श्रीकृष्ण थे अब उनकी वाणी बोले कैसे ? वे उसके वर्णन में असमर्थ हो गयी ।। ४।।

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः[1] ।। ५ ।।
इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्[2] । श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे ।। ६ ।।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं कनककपिशं वासः वैजयन्तीं च मालां बिभ्रत् अधरसुधया वेणोः रन्ध्रान् पूरयन् गोपवृन्दैः गीतकीर्तिः स्वपदरमणं वृन्दारण्यं प्राविशत् ।। ५ ।। हे राजन् इति सर्वभूतमनोहरम् वेणुरवं सर्वाः व्रजस्त्रियः श्रुत्वा वर्णयन्त्यः अभिरेभिरे ।। ६ ।।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यादृशं कृष्णस्मरणं तासां मनसः क्षोभकं जातं तदाह । बर्हापीडमिति । नटवद्वरं वपुर्बिभ्रद्वृंदावनं प्राविशत् । कथंभूतं वनम् । स्वपदैरंकिते रमणं रतिजनकम् । गोपवृंदैर्गीतकीर्तिः तथा बर्हमयमापीडं शिरोभूषणं बिभ्रत् । बर्हमापीडो यस्मिन्निति वपुषो विशेषणं वा । वेणुवादनमुत्प्रेक्षते । रंध्रान्वेणोरिति । अतो नूनमधरसुधैव पूर्णाद्वेणोरुच्चलंती गीतवत्प्रसर्पितुमर्हतीति भावः ।। ५ ।। अभिरेभिरे वर्णयंत्यः पदेपदे परमानंदमूर्तिं कृष्णं परिरब्धवत्यः ।। ६ ।।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यादृशम् यत्प्रकारकम् । तासाम् गोपीनाम् । क्षोभकम् संचालकम् । तत् स्मरणम् । वरम् शोभनम् । 'आपीडं मुकुटे स्रजि' इति शाश्वतः । संभवत्वाद्वपुर्विशेषणमपि बर्हेत्यादि । कर्णिकारं हयमारपुष्पं तदाकारं चतुर्दलं भूषणं वा "कर्णिकारः पुमानारग्वधद्रौ च द्रुमोत्पले" इति मेदिनी । "कर्णिकारो हयारातिपुष्पे कर्णविभूषणे । चंडातपुष्पसदृशे हैरण्ये च द्रुमोत्पले ।। पारिव्याधतरौ वाने मोहकारे कलादके" इति धरणिः । वैजयंतीमिति । "वैदूर्यमुक्ताफलनीलवज्रैः समाणिकैः संग्रथिता हि माला । वायोरपां भूमिरवते-जसां हि तत्त्वैः प्रदिष्टा खलु वैजयंती ।।" केचित्तु श्वेतैः पीतैस्तथारक्तैर्हरितैर्नीलवर्णकैः । पुष्पैरेभिः सुगंधैश्च वैजयंत्यस्ति मालिका ।।" इति भक्तिसुधार्णवे । क्वचित्तु—"वैजयंती भवेन्मालाष्टधामौक्तिकनिर्मिता" इति । "जीमूतकरिमत्स्याहिवेणुशंखवराहकाः । शुक्तयश्चैव विज्ञेया अष्टौ मौक्तिकयोनयः ।।" इति मल्लिनाथः । उत्प्रेक्षते तदलंकारेण वदति । अन्यनिमित्तिके वस्तुन्यन्यनिमित्ति-कत्वारोप उत्प्रेक्षालंकारः । इति भाव इति । अधरनिमित्तकसुधायां वेणुनिमित्तिकगीतत्वारोपोऽत्रोत्प्रेक्ष्यते इति तात्पर्यम् ।। ५ ।। इति बर्हापीडमित्यादिवर्णयंत्यः । वेणुरवं श्रुत्वा सर्वभूतानां मनोहरं प्रियं श्रीकृष्णं व्रजस्त्रियोऽभिरेभिर इति संबंधः ।। ६ ।।

---

१. बर्हापिच्छो वनचरवपुः कर्णयोः कर्णिकारः सव्ये बाहौ निहितवदनः सञ्जमन्यत्र हस्ते ।
भ्रूविन्यासाङ्गुलिभिरणयन्गापयन्गोपवृन्दान्भूतग्रामं तर्हि रमयन्ब्रह्म गान्धर्वमेव ।।
अयं श्लोकोधिकः विज.।

२. मनोरमम्—गो. प्रे. टी. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्तद्भावविशेषात्तदेव विवृणोति—बर्हेति युग्मकेन। नटवरवपुरिति बहुव्रीहिरभेदेपि भेदोपचारात् यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतं विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परम्पदं भूषणभूषणाङ्गमिति तस्यापि विस्मापकतानिर्णयेन स्वभावत एव तावत्तन्नटवरवपुः सर्वतदीयरूपवृन्दवरिष्ठं तत्रापि तदानीं नटवेषमित्यर्थः। यद्वा, तादृशवपुर्बिभ्रत् शश्वच्छोभाविर्भावनेन पुष्णन् नरवरेति पाठोपि क्वचित् दृश्यते कर्णिकारं पीतवर्णमुत्पलाकारं पुष्पं वैजयन्तीनामपञ्चवर्णपुष्पैर्ग्रथिता माला तां वेणोः रन्ध्राणि अधरसुधया पूरयन्निति तस्या इव तन्नादस्यापि परममोहनत्वं सूचितं वृन्दाया अरण्यमिति तदधिष्ठात्र्या तया श्रीभगवतः क्रीडाविशेषोत्सुकतामभिप्रेत्य विशेषतः संस्कृतमित्यर्थः। अतः स्वैः असाधारणः पदैः सर्वत्राङ्कितैरमणं तस्याः सर्वेषाञ्च सुखकरं यद्वा स्वपादयोः रमणं स्वतः प्रियत्वेन रम्यकोमलधूलीपुष्पपरागपत्रादिमयत्वेन च रतिजनकं व्रजस्यापि वृन्दावनान्तर्वर्त्तित्वेन तद्बहिरेव वनत्वव्यत्यपेक्षया विशेषतस्तत्पदोपादानं गोपवृन्दैर्गीता कीर्तिः विचित्रसौन्दर्यवैदग्ध्यादिप्रशंसारूपा यस्य यद्वा तस्य भावविशेषमालक्ष्य गीता कीर्त्तिः गोपीनां यस्मिन् तासां साक्षादनुक्तिर्लज्जया मौक्तिकहारस्वर्णाङ्गदाद्यलङ्कारस्यावर्णनं स्वत एव तस्य नित्यसिद्धत्वात्। यद्वा, वन्यवेषस्यैव मोहनत्वात् किंवा शरत्प्रथमदिने वन्यविहारवेषार्थं वनप्रान्तमागत्य कृतेन केवलवन्यवेषेणैव वने प्रवेशात् अत्र गोपवृन्दैरपि बलदेवोपि गृहीतः तस्य युगलत्वेनानुक्तिः श्रीगोपीनां श्रीकृष्णैकनिष्ठत्वं तत्परिकरतयैव तु तत्साहित्येन वर्णनमिति व्यञ्जयति ॥ ५ ॥ इति उक्तप्रकारेण सर्वास्तास्वेव प्रौढबालादिभेदेन वर्तमानाः अभिरेभिरे हृदाक्रान्तं श्रीकृष्णं भावनया किंवा भावविशेषोदयसम्मोहेनान्योन्यं तं मत्वा किंवा भावविशेषोदयस्वभावेनैव परस्परं सर्वा एव परिरब्धवत्यः सर्वत्रैव हेतुः सर्वेषामपि भूतानां प्राणिनां मनोहरं किमुत तासामिति अभिरेभिरे इति पाठस्तु चित्सुखसम्मत एव अभितो रतिं प्रापुरित्यर्थः। हे राजन्निति पूर्वोक्तनृपेतिवत् ॥ ६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं भावविशेषाविर्भावेन श्रीव्यासनन्दिनीः श्रीनन्दनन्दनाय तदानीन्तनवेषादिकं स्मरन् तासां तद्वर्णनान्तरमेव स्वयं तद्वर्णयति—बर्हेति। तदभिप्रायो यादृगित्यादिना तैर्व्यञ्जित एव, अथवा तच्चेष्टितस्मरणेन हृदाक्रान्त-तद्वन्यवेषविशेषतो विक्षिप्तमनस्त्वाच्च न शेकुरित्याभिप्रायेण हेत्वन्तरमपि वदन् तद्रूपमेव वर्णयति; यद्वा, पश्चात् कथञ्चित् प्रयत्नेन तास्तदन्वर्णयन्ते वेत्याह—बर्हेति। इतीति निरन्तरश्लोके तथैव श्रीबादरायणिना वेणुरवोक्तेः। नटश्चासौ नरश्चेति तद्विचित्रवेषं वपुः, देवानां सदैव विचित्रवेषत्वेन नराणां च मध्ये नटस्य कालविशेषं एव नृत्यार्थविचित्रवेषग्रहणापेक्षया नरशब्दप्रयोगः। तदेव दर्शयति—बर्हापीडमित्यादिभिः। यद्वा, नटन्ति हर्षभरेण नृत्यन्तीति नटा नरा जीवाः सर्व्वे यस्मात् तद्वपुर्बिभ्रत् प्रकटयन्; यद्वा, तद्वपुर्यस्य सः। नटवरेति पाठोऽपि क्वचिद्दृश्यते। कर्णिकारमित्येकत्वेऽपि कर्णयोर्द्वित्वाद्द्वित्वमेव ज्ञेयम्, तथा वाससश्च, कर्णिकारं पीतवर्णमुत्पलाकारं पुष्पम्, तस्य धारणम्, शरदि वसन्ते च विशेषतः सम्पत्तेः शोभाविशेषापत्तेश्च। वैजयन्ती नाम पञ्चवर्णपुष्पैर्ग्रथिता माला ताम्, वेणोरन्ध्राणि अधरसुधया पूरयन्निति भावविशेषेण वेणुवादनम्, तथा तस्या इव तस्य परममोहनत्वं च सूचितम्। वृन्दाया अरण्यमिति तदधिष्ठात्र्या तया श्रीभगवत्क्रीडाविशेषोत्सुकतामभिप्रेत्य विशेषतः संस्कृतमित्यर्थः। अतः स्वैरसाधारणैः पदैः सर्वत्रांकितै रमणं तस्याः सर्वेषां वा सुखकरम्, यद्वा, स्वपादयोः रमणं रम्यकोमलधूली पुण्यपरागपत्रादिमयत्वेन रतिजनकम्, गोपवृन्दैर्गीता कीर्त्तिविचित्रसौन्दर्य्यवैदग्ध्यादिरूपा यस्य, यद्वा, तस्य भावविशेषमालक्ष्य गीता कीर्त्तिर्गोपीनां यस्मिन्, तासां साक्षादनुक्तिर्लज्जया मौक्तिकहारस्वर्णांगदाद्यलंकारावर्णनं स्वत एव तस्य नित्यसिद्धत्वात्। किंवा शरत्प्रथमदिने वनविहारविशेषार्थं केवलवन्यवेषेण तथैव वने प्रवेशात्, पूर्वमुक्तस्याग्रेऽपि वक्ष्यमाणस्य श्रीबलदेवसाहित्यस्यात्रानुक्तिर्भावविशेषेण गुरुं दृष्ट्वा लज्जाद्युत्पत्तेः। किं वा, वर्ण्यस्य श्रीकृष्णचेष्टितस्यैव परममोहनत्वेन तद्वर्णने चात्र तदपेक्षाधिक्याभावात्, किंवा गोपवृन्दैरिति सोऽपि गृहीत एव, तत्र तस्य गौणत्वेन न स्पष्टो निर्द्देशः ॥ ५ ॥ इति ईदृशम्, अनेन प्रकारेण वा, सर्वा दूरेऽन्तिके वा स्थिताः, यद्वा, प्रौढ-बालादिभेदेन वर्त्तमानाः, यद्वा, सर्व्वा एव संघशो वर्णयन्त्यः सत्यः, वेणुरवमेवान्ववर्णयन्निति पूर्व्वमपि तस्यैव प्रस्तुतत्वात्, अतो यत्रासौ व्यक्तो नास्ति, तत्राप्यूह्य एव। यच्चाग्रे रूपवेषादिवर्णनम्, तच्च तत्साहचर्य्येण प्रसक्तादिति ज्ञेयम्। यद्वा, कृष्णचेष्टितमिति पूर्व्वोक्तमाकर्णयेयं (भा. १०।२१।२०) 'वर्णयन्त्या मिथो गोप्यः क्रीड़ा' इति सर्व्वान्तोक्तेः। 'अभिरेभिरे' हृदाक्रान्तं श्रीकृष्णं भावनया, किंवा भावविशेषोदयस्वभावेन परस्परं सर्व्वा एव परिरब्धवत्यः, किम्वा वेणुनादमेव वा प्रीत्या हृदयसंलग्नं चक्रुरित्यर्थः। सर्व्वत्रैव हेतुः—सर्व्वेषामपि भूतानां मनोहरम्, किमुत तासामिति। 'अभिरेभिरे' इति पाठस्तु श्रीचित्सुखसम्मत एव, अभि अभितो रतिं प्रापुरित्यर्थः। हे राजन्निति पूर्व्वोक्तनृपेतिवत्, यद्वा, हे भावविशेषेण प्रकाशमानेति सम्बोधयन् हस्तग्रहणादिना तमसावुत्थाप्यालिंगितवानिति ज्ञेयम् ॥६॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वपदरमणं स्वपदेन प्रीतिकरम् ॥ ५-६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कीदृशं कृष्णचेष्टितमित्यत्राह — बर्हेति। बर्हात्मकमापीडं शिरोभूषणं द्वितीयान्तानां बिभ्रदित्यनेनान्वयः। कर्णयोः श्रोत्रसन्ध्योः कर्णिकारं लाङ्गलीकुसुमात्मकं कर्णपूरं च तथा कनकवत् कपिशं पिशङ्गं वासः वैजयन्तीं मालां नटात्मकवरस्येव वपुश्च बिभ्रत् नटवरवपुरिति बहुव्रीहिणा कृष्णविशेषणं वा तस्य तत्पुरुषपक्षे तद्विशेषणत्वमपि बर्हापीडमित्यस्य बहुव्रीहिणा सम्भवति अधरस्य सुधया वेणोः रन्ध्रान् पूरयन् साधरसुधेन मुखवायुना वेणुं नादयन्नित्यर्थः। गोपानां वृन्दैः गीता कीर्तिर्यस्य तथाभूतः सन् स्वपदैरङ्कितैः रमणं रतिजनकं वृन्दावनं प्राविशत् उक्तवेषं कृष्णं बर्हापीडादिधारणवेणुरन्ध्रपूरणवृन्दारण्यप्रवेशनात्मकं चेष्टितं च स्मरन्त्यो नाशक्नुवन्निति (भावः) पूर्वेणान्वयः॥ ५॥ एवं तावद्वर्णयितुमशक्तास्ततः शनैर्लब्धाश्वासा वर्णयामासुरित्याह— इतीति। हे राजन्! इतीत्थं तावदेवम्भूताः व्रजस्त्रियः सर्वभूतानां मनोहरं वेणुशब्दमाकर्ण्य तमेव चेष्टितं वर्णयन्त्यः तद्वर्णनात्मकं विहारं चक्रुः अभिरेभिरे इति पाठे वर्णितुं बुद्धौ सन्निधापितं मन्मथमन्मथं भगवन्तं बुद्धया परिरेभिर इत्यर्थः॥ ६॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हरेस्तदाकारदर्शनं च सुखहेतुरिति भावेन तस्य स्वरूपप्रकारं वक्ति—बर्हापीडमित्यादिना। बर्हं पिच्छमेवापीडं शेखरोत्तंसं यस्मिन् तत् नटवत् वरवपुः शुभाकारं बिभ्रदिति प्रत्येकं सम्बन्धयितव्यं स्वपदेन स्वपादेन रमत इति रमणं रमयत् रन्ध्रान् सुषिराणि॥ ५॥ बर्हमेवापिच्छो यस्य स तथा वनचरवपुः किराताकार इवाकारो यस्य स तथा शुभाकारे तनौ वपुरिति च वनचरा गोपा वा कर्णयोः कर्णिकार इत्येकं पदं कण्ठेकाल इतिवत् भ्रूवोर्विन्यासः भ्रूभङ्गविशेषः तेन सहाङ्गुलीभिः अन्यत्र हस्ते सज्जं सक्तं रणयन् वेणुमिति शेषः। अङ्गुलीभीरणयन्निति वक्तव्ये ह्रस्वत्वं छन्दोभङ्गभयात्कृतं गान्धर्वं ब्रह्मेव भरतशास्त्रोक्तप्रकारमेव गोपवृन्दान् गापयन्निति द्विकर्मकोऽयं धातुः भूतग्रामं प्राणिसमूहं रमयन् वृन्दावनं प्राविशदिति पूर्वेणान्वयः॥ ५॥ अभिरेभिरे इत्यत्र या रतिः सा मुख्यतः श्रिय एव तद्गीतरसविशेषज्ञत्वात्तदन्यासां तदभावात्तस्मादौपचारिकमभिरमणं तदुक्तं "श्रीदेवी वेणुमाश्रित्य रेमे कृष्णमुखाम्बुजे" इत्यादि सुरा इतरभाण्डगा इत्यत्र इतरभाण्डानि वेणुमन्तरेणान्यभूषणानि गता आविष्टा इत्यर्थः। इतरेषां रामादीनां वा "वेणुमूले धने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोः" इति यादवः वनचरा गोपा वा॥ ६॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

(१-४) अथ शरदागमे वृन्दावनभुवं वर्णयन्नाह—(भा० १०।२०।४८) बभौ भूः पक्व" इत्यादि हरेः कला पत्नीरूपा, धरण्या च दूर्वादलश्यामलाङ्ग्योत्यभियुक्ताः, श्री भूलीला इत्यादि वा आगमान्तरम्, सा तु भुवोऽधिष्ठात्री, तत्सम्बन्धा भूरपि तथा, आभ्यां श्रीकृष्ण-रामाभ्यां हेतु भूताभ्यां बभौ। पक्वशस्याढ्य ति जात्युक्तिः, नितरामतिशयेन, एवं शरद्वर्णनमुपक्रम्य तत्रैव शरदि पुनः विहारमाह— बर्हापीडमित्यादि। नटवद् वरवद्वपुर्यस्य, वरो विवाहप्रवृत्तः, नटेभ्योऽपि वरमिति वा नटवरवदिति वा। नटनरेति-पाठे नटवत् नरवत् द्विभुजत्वे तात्पर्यम्। यद्वा नटनमानन्दोल्लासविकारस्तद्राति ददातीति नटनरं वपुर्यस्य यद्दृष्ट्वा सर्वेषामेव नटनं जायत इति भावः। कर्णयोः कर्णिकारः सप्तम्या अलुक्, यद्वा कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रत्, बिभ्रदित्युभयत्र योज्यम्। लीलावशादेकमेव कर्णिकारं कदाचिद् वामे कर्णे कदाचिद् दक्षिणे च बिभ्रदिति भावः। जातावेकवचनं वा। वैजयन्ती नाना पुष्प-पत्र रचनामयी माला। वृन्दारण्यं कीदृशम्? स्वपदैः स्वपदचिह्नैः रमणीयम्; यद्वा स्वपदं स्वयोगाधिष्ठानं परमवैकुण्ठं तेन रमणीयं स्वतोऽपि भौम-वैकुण्ठत्वाद्रमणम्, भगवत्प्रादुर्भावे प्रादुर्भूतादुक्तप्रकारवैभवादस्या भौम-वैकुण्ठत्वेन च रमणम्। वैकुण्ठस्य च त्रैविध्यं प्रागुक्तम्, तद्युक्तिश्च। अथवा, स्वपदादपि वैकुण्ठादपि रमणीयम्। किं कुर्वन्? अधरसुधया वेणोरन्ध्रान् पूरयन्; पुंस्त्वमार्षम्। यद्यपि अधर-सुधया वेणोरेकमेव रन्ध्रं पूर्यते, तथाप्यतिशयतया एकं रन्ध्रं प्रविश्य उच्छलद्रूपतया सर्वाण्येव रन्ध्राणि पूरितानीति भावः। वस्तुतस्तु अधरबिम्बस्य घोणं महरेकमेव रन्ध्रं प्रविवेश, तत्रैव बहुलीभूय रन्ध्रान्तर-विवरेभ्य उद्गच्छन्तीत्रैवामृतत्वरूपेण ध्वनेश्च परगतमाधुर्यतया श्रवणयोरमृतत्वादानन्दप्रदत्वं व्यङ्ग्यम्॥ ५॥ तदेव वेणुरवस्य माधुर्यं वर्णयति—इतीत्यादि। इति उक्त-प्रकारम्। राजन्निति विस्मये सम्बोधनम्। एक एव वेणुरवः श्रोतॄणामधिकारभेदेनानन्दवर्धक इत्याह—सर्वभूतमनोहरम्। सर्वशब्दः स्थिरजङ्गमादिपरः मनोहरशब्दो विकारकारिपरः, तेन स्थिराणां चाञ्चल्यम्, जङ्गमानां स्थैर्यं यत इति भावः। सर्वभूतमनोहरत्वं प्रतिपाद्य सर्वभूतवहिर्भूतानां गोपीनां विशेषमाह—श्रुत्वेत्यादि। व्रजस्त्रिय इति सामान्योक्तबहुत्वेनैव सर्ग-सिद्धेः। सर्वा इति तासामेव विविधत्वं वर्णयन्त्यः सत्यः, परस्परमभिरेभिरे आलिङ्गितवत्यः। सर्गभूतमनोहरं यथा स्यात्तथा वर्णयन्त्य इति वा। सर्वा इत्यस्य गणवैविध्यपरत्वम्। गण्यश्च तासां बहव एव; तथाहि—

> नित्यसिद्धेति सिद्धेति प्रथमं भिद्यते द्विधा। नित्यस्वरूपसिद्धत्वादवतीर्णा सहादिमा॥
> उपासनाभिर्बह्वीभिर्बहुभिश्च मनोरथैः। कृष्णप्रसादतः सिद्धा या सा सिद्धा निगद्यते॥
> नित्य-सिद्धा भगेद्द्वेधा अनूढोढा-भेद-दर्शनात्। ऊढा पत्युर्ममत्वैकपात्री नैवास्य सङ्गभाक्॥

अनूढा कन्यकैवात्र भेदो नानाविधोऽनयोः विलासिनः श्रीकृष्णस्य तथैवेच्छावशेन हि ॥
नित्यसिद्धाप्यूढताभाक् जाता रसविशेषतः । कन्याः स्वरूपसिद्धाश्च पुनः कात्यायनीव्रतात् ॥
कृष्णलीलाविशेषार्थं साधकत्वमुपागताः । श्रुतिरूपतया काश्चिन्मुनिरूपतया पराः ॥
पूर्वं स्थिता व्रजे पश्चाज्जाता गोपकुले तथा । कृष्णप्रसादतो यासु सिद्धास्ताश्च द्विधोदिताः ॥
सुरस्त्रियो यावतीर्णास्ताश्च तासां प्रसङ्गतः । सिद्धा एव भविष्यन्ति न तासां पूर्वरूपता ॥
एषु भेदेषु मुनितां या विहायाभवंस्तथा । भौमवैकुण्ठजत्वात्ता भौमा एव प्रिया हरेः ॥
अन्यास्त्वभौमवैकुण्ठप्रियाः सह महीं गताः । एवं भौमाभौमतया तासां भेदाश्च भूरिशः ॥
अपत्यवत्यो याः काश्चिद् भौमास्ता अपि तत्स्पृहाः । तत्तद्वपुर्विहायैव सिद्धास्तं प्रापुरञ्जसा ॥
अतः सिद्धा अपि द्वेधा प्राचीनाधुनिकत्वतः । मुग्धा मध्यादिभेदेन धीराधीरादिभेदतः ॥
अवस्थाभिस्तथाद्याभिस्तासामानन्त्यमिष्यते । मुख्य-गौण-प्रभेदेऽपि पुनरानन्त्यमेव च ॥
शतकोटितया तासां संख्यां कः कर्त्तुमर्हति । अथात्र नित्य-सिद्धानां नित्यं वृन्दावनस्थितिः ॥
अनुरक्ता इमाः सर्वा वत्सलाः सखिमातरः । रसभेदेन संप्राप्ताः कृष्णस्योत्तमभक्तताम् ॥
किं पल्लवेन बहुनाह्यपराश्च तदा स्त्रियः । कृष्णेक्षणपथं प्राप्य रत्या तं प्रापुरञ्जसा ॥

एवं स्थिते व्रजदेवीनां गणभेदे सजातीयाऽसजातीयाभिः सह वर्णयन्त्यः परस्परमभिरेभिर इति प्रकृतस्थितिः । वर्णनोपक्रमे प्रायः प्रतिश्लोकमेव वेणुवादनलीला दृश्यत इति प्रकृतिवैचित्र्याद् विविधानां वक्तॄणामुक्तिर्मन्तव्या । तेनार्थस्यापि वैविध्यमवगन्तव्यमिति, प्रथमश्लोके विविधोऽर्थो बोद्धव्यः । तत्र "सर्वभूतमनोहरम्" इति सर्वेषां चेतनानां भूतानां पृथिव्यादीनामचेतनानामिति द्वन्द्वगर्भो मनोहर-शब्दो विकारकत्वे लाक्षणिकः । तेन सर्वशब्दो वत्सलतापरोऽपि बोद्धव्यः । तेन 'अभिरेभिरे' इत्यन्तं तत्परं वाक्यं 'तन्वर्णयितुमारब्धाः' इत्यारभ्य 'विक्षितमनसो नृप' इत्यन्तमनुरक्तपरम्, अतः स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसः सत्यो वर्णयितुं नाशकन् अयं भावः—अवहित्थादिवैदग्धीपूर्वकं वर्णनं कर्त्तुं नाशकन्, वस्तुतस्तु वर्णनां चक्रुरेव तेन प्रथमं वात्सल्यरसानुगुणं व्याख्यायते ॥ ६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

(१–४) बर्हापीडमित्यादि । नटवत् नरवद् द्विभुजं वपुर्यस्य, यद्वा, नटनमानन्दोल्लासो विकारस्तं रातीति नटनरं यद्दृष्ट्वा प्राणिमात्रमेव नृत्यति, विशेषतो बर्हिणो मेघभ्रमान्निजबर्ह-स्वीकाराद्वा । नटवर इति पाठं नटेभ्योऽपि वरम्, यद्वा, नटवत् वरवत्; वरो विवाहः प्रवृत्तः । कर्णयोः कर्णिकारमित्येकमेव कर्णिकारं कदाचिद्दक्षिणे कदाचिद् वामेकर्णे करोतीति विलासविशेष इति केचित् । वृन्दारण्यं प्राविशत् । कीदृशम् ? स्वपद-रमणं स्वपदानां स्वस्थलानां वैकुण्ठादीनामपि रमणं रतिप्रदम् । रन्ध्रानिति पुंस्त्वमार्षम् । अधरसुधयैव पूरयन् न तु मुखमारुतेन यद्यप्येकमेव वेणुरन्ध्रमधुरसुधया पूर्यते, तथाप्यतिशयामृतपूरणेन सर्वाण्येव रन्ध्राण्युच्छालिततया पूर्यन्त इति भावः ॥ ५ ॥ इति वेणुरवमिति । एक एव वेणुरवः श्रोतॄणामधिकारभेदेनानन्दभेद–वर्धकः, अतएवाह–सर्वभूतमनोहरम्; इति वक्ष्यमाणं वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे, परस्परमालिङ्गितवत्यः । सर्वभूतमनोहरं यथास्यात्तथा वर्णयन्त इति वा । व्रजस्त्रिय इति बहुत्वेनैव सर्वलब्धेः पुन सर्वग्रहणं गणसूचनार्थम् । गणश्च तासां बहुधा–तथा हि वत्सला अनुरक्ताश्चेति प्रथमं द्वेधा वत्सलाश्च पुनर्द्वेधा, श्रीयशोदासहचर्यः, सखि मातरश्च; अनुरक्ताश्च द्वेधा–ऊढ़ा, अनूढाश्च । ऊढाश्च द्वेधा—बालाः सापत्याश्च द्वेधा पुत्रवधवः, केवलगोपाश्च । ऊढमात्राश्च द्वेधा–श्रुतिरूपाः, केवलाश्च । गोप्यः पुनरिमाः प्रौढ़ा मध्या मुख्याश्चेति त्रिधा । अनुढाश्च द्वेधा—सिद्धाः साधिकाश्च । सिद्धाश्च द्वेधा–स्वभावसिद्धास्तत्कालभगवत्प्रसादसिद्धाश्च । साधिकाश्च त्रिधा उत्तममध्यमकनिष्ठभेदात् । पुनरेताः प्रधानकल्पाः, तत्सहचरीरूपाश्चेति द्वेधा । पुनरेता अवस्थाभेदादष्टधा, पुनरेता धीरादिभेदात् त्रिधा इति बहव एव गणाः, बाहुल्यभयान्नोदाह्रियन्ते उक्तान्युदाहरणानि । अतः समानवासनाः समानवासनाभिः सहान्योन्य-परिरम्भणपूर्वकं वर्णनमारब्धवत्य इत्यर्थः । किन्त्वनुरक्तानां सर्वासां मध्ये काश्चित् परस्परावलोकादिमात्रयोग्याः, काश्चित् भोग्याश्च, सर्वं रासविलासे व्यक्तीभविष्यति ॥ ६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तदेव तासां मनोविक्षेपकस्मरवेगजनकं कृष्णचेष्टितं किमित्यपेक्षायां श्रीशुक एव सर्वज्ञत्वाद्वर्णयति–बर्हमापीडः शिरोभूषणं यत्र तथाभूतं नटवरवपुर्बिभ्रत् कर्णिकारमेकमेव कर्णयोः कदाचिद्वामे कदाचिद्दक्षिण इति स्वस्य यौवनमत्ततामभिव्यञ्जयितुं बिभ्रदिति तु कृष्णचेष्टितं तासामतिशयेन स्मरवेगजनकं भवति वैजयन्तीं पञ्चवर्णपुष्पग्रथितां वेणुवादनमुत्प्रेक्षते — रन्ध्रानिति । तेन स्ववेणुं स्वाधरसुधयैव निश्छिद्रीकरोमीति कृष्णस्येच्छा अधरसुधा तु वेणुं निष्प्राणमपि स्वस्पर्शेन चेतयित्वा सप्राणीकृत्य तेन त्रिजगदप्युन्माद्य पश्चात्तं कठोरमचेतनस्वभावमनधिकारिणं ज्ञात्वा तदीयछिद्रेभ्यो निःसृत्य व्रजबालानां कर्णद्वारेण तन्मनःप्रविश्य

स्वं सफलीकृत्य तत्रैव स्वसर्वविक्रमान् दर्शयामासेति द्योतितं स्वपदयोरासलास्यकूर्दनादिभीरमणं यत्र तदिति व्रजाद्वैशिष्ट्यं प्राविशदित्युक्तपोषन्यायेनैव न पुनरुक्तिः ॥ ५ ॥ ततश्च कतिचित्क्षणानन्तरं कृष्णचेष्टितस्मरणोत्थस्मरवेगवैयग्र्यस्योपशमे वृत्ते सति वेणुगीतं वर्णयितुं सम्यगशकन्नपीत्याह इतीति । समाप्त्यर्थकं स्मरवेगविक्षेपे समाप्ते सतीत्यर्थः । "इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु" इत्यमरः । सर्वभूतमनोहरं ननु रासारम्भसमयगतमिव गोपिमात्रमनोहरं वर्णयन्त्यो ऽभिरेभिरे सखि ! त्वं मन्मनः प्रविश्यैवैवं ब्रूषे यतोऽहमप्येवं विवक्ष्ये इति प्रत्येकमनुभवसाम्योपलब्ध्या परस्परालिङ्गनं तासाम् ॥ ६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तासां यच्चेष्टितस्मरणमात्रेणैव मनःक्षोभो जातस्तत्कृष्णचेष्टितं वर्णयति – बर्हापीडमिति । गोपवृन्दैर्गीतकीर्तिः नटस्येव संयत्तं वरं वपुर्यस्य सः । यद्वा, नटस्य नृत्यप्रियस्य श्रीशिवस्य यद्वरमुपास्यं तद्वपुर्यस्य सः श्रीकृष्णः बर्हापीडं बर्हमयमापीडं शिरोभूषणं बिभ्रत् कर्णिकारादिकं च बिभ्रत् अधरसुधया वेणोरन्ध्रान्पूरयन्वेणुं वादयन् स्वपदैर्विन्यस्तैः रमणं प्राविशत् ॥ ५ ॥ तदनन्तरं पुनर्लब्धधैर्याः स्वस्वसखिभ्यः अन्ववर्णयन्नित्याह इतीति । वक्ष्यमाणेन प्रकारेण वेणुरवं वेणुगीतं वर्णयन्त्यः अभिरेभिरे परिरब्धवन्त्यः मनसि स्फुरन्तं श्रीकृष्णमिति शेषः ॥ ६ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

श्रीराधावल्लभो जयति

बर्हापीडमिति । अथ तद्भावावेशेन मुनीन्द्रः स्वयमेव तद्विवृणोति–बर्हेति युग्मकेन । हे सखि ! वृन्दावनं प्राविशत् भावविवशत्वात्कर्तृपदानुपादानम् सखीति राजानं प्रति वा तद्भावावेशादेवात्मनि गोपीभावाच्च अभिनिवेशाच्च किङ्कुर्वन्बर्हापीडं बिभ्रत् कृष्णस्यापि तदेतद्भावात्रावेशेनैव चेष्टितं यथा स्थानमूह्यम् तदुक्तं कृष्णयामले "राधाप्रियमयूरस्य पत्रं राधेक्षणप्रभम् बिभर्ति शिरसा कृष्णस्तस्याश्चूडानिभं यतः" इति श्रीराधिकाया ईक्षणं मम शिरोभूषणं स्यादिति भावनया नष्टोपि सामाजिकरञ्जनार्थं तत्तद्वेषं दधाति तद्वदयमपि स्वेषां विनोदायेति भावः । कर्णिकारं पीतवर्णमुत्पलाकारं पुष्पम् । "कर्णिकारस्तु लकुचे पीतवर्णे तथाम्बुजे" इति हेमः । तदिदं यत्र यत्र सूर्यो भ्रमति तत्र तत्र तत्सम्मुखं भवति मित्राशक्तत्वात्तथा साऽपि मय्यनुरक्ता स्यादिति भावनया पञ्चवर्णपुष्पग्रथितमालां वैजयन्तीम् "तुलसीकुन्दमन्दारपारिजातसरोरुहैः । पञ्चभिः पुष्पैरेतैर्वनमालाप्रकीर्तिता"॥ अधरसुधया पूरयन् तस्या माधुर्यस्यापरिमितत्वमुक्तम् । यद्वा, अधरा नीचीना सुधा यस्याः सति परमालौकिकत्वेनाऽसाधारणत्वं पूरयन्नित्यौदार्य्यम् इदं चातिमधुरस्वरोद्गारादनुमितं सचायं वेणुरपि वाद्यविशेषरूपेण वंशीप्रियसखीति ब्रह्मसंहितोक्तेन नित्यसहचरीरूपेण चानवरतं प्रेमपरतन्त्रस्तमेवानुसरतीति तथा सति तद्रन्ध्राणां मधुरसुधया पूरणमपि भाववशेनैवेति वृन्देति वृन्दाख्या निजसखी स्वयं प्रियतमा वा तस्या अरण्यं स्वैः असाधारणैर्ध्वजादिचिह्नितः रमणं रतिजनकं यद्वा स्वैरसाधारणैर्निकुञ्जप्रदेशैरमणं रतिप्रदम् यद्वा स्वस्याः आत्मभूतायास्तस्याः पदैः क्रीडाविशेषसूचकैः स्थानैरमणमुद्दीपकम् कथम्भूतः ? गोपवृन्दैर्गीता कीर्त्तिर्विचित्रसौन्दर्य्यवैदग्ध्यादिरूपा यस्य सः गोपेति तदभिप्रायानभिज्ञत्वम् अभिज्ञत्वेप्यतिगोपकत्वं चाभिप्रेतमिति ॥५॥ इतीति । उक्तप्रकारेण सर्वाः कान्तभावास्सख्यभावाश्च आद्याः परकीयाभिमानिन्यः स्वकीयाभिमानिन्यश्चेति द्विविधाः तत्राप्याद्याः प्रौढाः पराश्च दुर्गाव्रतपराः धन्या याः कन्याः सर्वा व्रजस्त्रियः वेणुरवं श्रुत्वा तमेव वर्णयन्त्यः भावलब्धं सर्वभूतमनोहर तद्वादकमेवाभिभिरे, यद्वा, भावसमाहिताः परस्परं तमेव मत्वा परिरब्धवत्यः भावाक्रान्तत्वादेवात्र कर्मपदानुपादानं यद्वा वेगुरवस्यैव विशेषणं सर्वत्र निजप्रियतमा स्फुरणात् तावन्मात्रेणैव सर्वासां तासां मनोहरणमिति ताभ्योपि निजभावगोपनमभिप्रेतं वर्णनमात्रेणैवामितो रतिं प्रापुरित्यर्थः । आनन्दमूर्त्तेर्गुणा अप्यानन्दरूपा इति तत्स्वाभाव्यादभेदस्फूर्त्तेरिति ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

रन्ध्रान्वेणोरिति पुंस्त्वनिर्देशात् पुंव्यक्तेरप्यधरसुधापूरणादिनाचिन्त्यं वंशीप्रेमसखी तथेति ब्रह्मसंहितोक्तेर्नित्यसहचारिणीयमात्मनो गोपनायैवात्मानं पुंस्त्वेन ख्यापयति तेन च तस्या अधरपूरणं प्रियतमाभावनया अविरुद्धमेवेतिज्ञेयम् अत्राख्यायिका कृष्णयामले कदाचिच्छ्रीराधिकागुणनामगानव्यग्रस्य स्वयं भगवतो वदनारविन्दाद्भारती देवी समुद्भूता कन्दर्पकोटिलावण्यं तमेवावलोक्य रन्तुं मनश्चक्रे ततश्च मम देहात्समुत्पन्ना मामेव कामितवतीति तेनानादृता जडतामवाप्ता श्रीवृन्दावनतृणराजाख्यवंशरूपतामवाप तथा तद्रन्ध्राणामधरसुधया पूरणं भावावेशेनैवेति सर्वमनवद्यमित्यर्थः । तथा हि श्रीराधानामगानैकव्यग्रगोविन्दवक्त्रतः सरस्वता समुद्भूता पुनः सा वंशिकामतेति संक्षेपः ॥ ५–७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु किं तत् कृष्णचेष्टितं येन तासां मनोविक्षेपकः स्मरवेग इत्यपेक्षायामाह—बर्हेति । कृष्णो गोपवृन्दैः सह वृन्दारण्यं प्राविशदित्यन्वयः । कीदृशः बर्हमापीडः शिरोभूषणं यत्र तादृशं नटवरवपुर्बिभ्रत् कर्णिकारमेकमेव कर्णयोः कदाचिद् वामे कदाचिद्

दक्षिणे च बिभ्रदिति तारुण्यमत्तता सूच्यते कनक कपिशं स्वर्णगौरवाससी वैजयन्तीं पञ्चवर्णैः कुसुमैर्ग्रथितां मालाञ्च बिभ्रत् शश्वच्छोभाविभविन पुष्णन्नित्यर्थः । वधरसुधया तारमन्द्रकलध्वनिरूपया निःसरन्मोहनमन्त्राक्षरया विविधरागतालगानमूर्च्छनानिभृतया अधरपुटनिर्गतया स्वरसम्पदा वेणोरन्ध्रान् पूरयन्निति सा तदधरसुधा वेणुमापूर्य्य तद्रन्ध्रैर्निर्गम्य व्रजाङ्गनानां कर्णैस्तन्मनांसि प्रविश्य येष्वेव स्वविक्रमान् प्रदर्शयामासेतिभावः । वृन्दारण्यं कीदृक् स्वपदयो रमणं मृदुलधूली पुष्पपरागादिमयत्वेन रासलास्यादिना वा रतिकरमिति व्रजाद्वैशिष्ट्यं सुरैर्गीतकीर्तिः प्राविशदिति पुनरुक्तिरुक्तपोषन्यायात् ॥ ५ ॥ इतीति समाप्त्यर्थकं कतिभिश्चित् क्षणैः कृष्णचेष्टित स्मरणहेतुकेस्मरवेगे निवृत्ते सतीत्यर्थः वेणुगीतं वर्णयन्त्यः सर्वा अभिरेभिरे स्व स्व मनोगतं कर्णेषु वदन्त्यः परस्परमालिलिङ्गुः कृष्णं वा मनसेत्यर्थः । तत् कीदृशमित्याह—सर्वं भूतेति । न तु रासारम्भसमयगतमिव प्रेयसीमात्रचित्तचोरमित्यर्थः ॥ ६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

बर्हमेवापीडं शेखरोत्तमं यस्य तत् नटवरस्य वपुः कर्णयोः कर्णिकारं कल्हारं कनककपिशं वासो वैजन्तीं मालां च बिभ्रद्व णो रन्ध्रान्रन्ध्राणि छिद्राणि सन्ति येषु ते प्रदेशा रन्ध्रास्तान् । रन्ध्रं श्वभ्रं वपा सुषिरित्यमरः । अधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दैः सह । वृद्धो यूनेत्यादिवत् । गीतकीर्तिर्देवादिभिः स्वपदरमणं स्वपदैस्तदङ्कै रमयति जनानिति तत् वृन्दारण्यं वृन्दावनं गोपवृन्दैर्गीतकीर्तिरिति वा प्राविशत् । स्वामिन्पुरतः पङ्कादिकं जागृहीति गीता कीर्तिः पङ्कादिर्यस्य स इति वा । कीर्तिः प्रसादयशसोर्विस्तारे कर्दमेऽपि चेति विश्वः ॥ ५ ॥ बर्हैर्मयूरगरुद्भिरापिच्छा वेष्टनं यस्य सः । पिच्छा तु शाल्मले वेष्टे मण्डे चेति विश्वः । तेषां पङ्क्तिर्वा समूहो वा वा यस्य पङ्क्तौ । छटापूगेत्यादिः । एव वनचरवपुर्गोपालकलेवरः । आन्तरङ्गिको भावस्तु नारायणतनुरिति । कर्णिकारो द्रुमोत्पलं सोऽस्यास्तीत्यर्शं आद्यच् । कर्णिकारस्तु शम्याके कर्णिकारे द्रुमोत्पल इति विश्वः । तत्स्थलमाह ॥ कर्णयोरिति । अलुक्त्वेनैकपदं वा सव्ये दक्षिणे वाहौ निहितं वदनं यस्य येन वा स अन्यत्रान्यस्मिन्वामे सज्जं सम्बद्धं वेणुं स्वयं रणयन् भ्रूविन्यासश्चाङ्गुलयश्च भ्रूविन्यास-सहिताश्च ता अङ्गुलयश्च ताभ्यो भीर्यथा भवति तथा गान्धर्वं ब्रह्म भरतशास्त्रं गोपवृन्दान्गोपानां वृन्दं येषु ताञ्जनान् । अथ वृन्दं निकुरम्बं कदम्बकमित्यमरः । गापयन् भ्रूविक्षेपाङ्गुलिसूचनभीत्या गोपा अस्वरतालव्यत्यासं गायन्तीति भावः । द्विकर्मकोऽयं धातुः । भूतग्रामं जनसङ्घं तर्हि तदा रमयन्वृन्दारण्यं प्राविशदित्यन्वयः । अङ्गुलिभी रणयन्नित्यत्र रोरि ढ्लोप इति दीर्घाभावश्छान्दस इति वा । गान्धर्वं ब्रह्म भ्रूविन्याङ्गुलिभिः अणयन्नुत्तानानुत्तानस्वरान्गमयन्ज्ञापयन्निति यावदिति वा । अणतीत्यणः पचाद्यजन्तः । अणं कारयतीत्यणयन् । प्रातिपदिकाद्धात्वर्थं इति णिच् इष्ठवद्भावश्च टिस्थानिवद्भावान्नोपधावृद्धिः । गैशब्दे अस्मदादेच इत्यात्वेति होति पुगागमे गायन्निति भवति शतरीति मन्तव्यम् । ये भीतवद्विद्यमाना भिन्नं गानं कुर्वन्तिकै तान्प्रेरयन्नापयन्नित्युच्यते ॥ ६ ॥

श्रीसुबोधिनी

ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्वज्ञापनाय बर्हापीडमिति, वाक्यार्थोत्र वर्णनीयो न तु रूपमात्रं, तथा सति रूपं वेणुनादः क्रीडा चेतित्रयं वर्णितं स्यादन्योन्यसम्बन्धे प्रकारविशेषश्च, एतादृशं वपुर्बिभ्रद् वेणो रन्ध्रान् पूरयन् वृन्दारण्यं प्राविशदितिसम्बन्धः, स्वरूपगुणलीला उक्ताः क्रमेणैव, बर्हो मयूरपिच्छं स एवापीडः शिरोभूषणं यस्य वपुषः, नृत्यन्मयूरानुकरणञ्च तत्, स चोद्बुद्ध रस एव तथेति भगवतोप्युद्बुद्धरसात्मकत्वं सूचितं भवत्यनेन, अतो युक्तैवाशक्तिरितिभावः, नटवद् वरवच्च वपुः, रसो हि द्विविधो 'धर्मसहितः केवलश्च, केवलो नाट्ये प्रसिद्धो धर्मसहितः सम्भोगे, भगवतो वपुरुभयविधमप्यत उक्तं नटवद् वरवदिति, वरः प्रत्यग्रभोक्ता, भगवांस्तु हृदयेपि वर्तते तावतापि ज्ञानिनामिव न तासां सुखमिति ज्ञापयितुं वपुषो भरणं निरूप्यते, न तु स एव तथा, कर्णयोः कर्णिकारकुसुमं यस्य, अलुक्सप्तमी, बिभ्रदिति वा सम्बन्धः, कर्णिकारस्तु शृङ्गारोद्बोधकः शृङ्गारस्तु संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः, श्रोत्रे तदुभयप्रतिपादके, तयोः कर्णिकारसम्बन्धेन पूर्वं निरूपितो रस उच्छलितो भवति, तादृशस्तु रसो गुप्त एव रसत्वमापद्यत इति पीताम्बरं वर्णयति कनककपिशं वासो बिभ्रदिति, उद्बुद्धे रसे गोपिका वासो न गणयेयुरिति व्यामोहककनकतुल्यता निरूपिता, कनकवत् कपिशं पीतमिति, माया हि सा, अतो यत्र वसनाकृतिरपि न सम्यगवलोकिता तत्र तेन वसनेनाच्छन्नं रसं कथमुद्घाटयेयुः ? ततोप्याच्छादिकामाह कीर्तिमयीं वनमालां वैजयन्तीञ्च मालां बिभ्रदिति, वै निश्चयेन सर्वजयप्रकाशिका वैजयन्ती, एवं रसद्वयं तदुद्बोध आच्छादकं विक्षेपकं च रूपे निरूपितं, नामलीलारूपं वेणुनादं निरूपयति रन्ध्रान् वेणोरिति, रन्ध्रा वेणोः सप्त, सुधा त्रिविधा, देवभोग्या भगवद्भोग्या सर्वाभोग्या च, तत्र हेतुर्लोभात्मकेधरे स्थापिता, तस्याः साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेन सम्भवति, अतः श्रोत्रपेयैव सा, सा हि सर्वेषां भगवदीयत्वं सम्पादयति, आनन्द एव सा प्रकटा द्रवीभूता, ब्रह्मानन्दादप्यधिका, आनन्दसारभूता, सा न कथञ्चित् साधनतामापद्यते स्वतः, अतो नादब्रह्मणि तां योजयितुं नादोत्पत्तिस्थाने वेणौ तत्रापि तद्रन्ध्रेष्वमूर्तत्वात् पूरिता, न हि सा साक्षाद् वेणुमपि स्पृशति, वेणोरित्यसमासाद् वेणुमध्येपि सा न, अतो यदा नादस्तद्द्वारा गच्छति तदा तेन सम्बद्धा गच्छति, ततः कर्णद्वारा हृदये प्रविष्टा वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोति यावच्च रसपूरेण सोप्यंशो नान्तः प्रविशति तावदपि साक्षात् तद्भोगयोग्यता न भवति, एतदर्थमेव वर्णनं, तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः, अतः स्वल्पतरो गोपेषु भोग्यगोपीव्यति-

रिक्तासु सर्वेषु च, अत एव निरोधो भवत्यनन्तरं निरूपितः, सृष्ट्युत्पन्नानां भोग एतत्पर्यवसायी, ततो विमोचनं स्वाश्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः, अन्यथा सृष्टिर्व्यर्था स्यात्, अयं पुनर्ब्रह्मानन्दभावे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने लक्ष्म्या इव मुख्यो रसभोगः सम्भवति तदंशानाञ्च क्रमेण, अतो निरोधो महाफलः, अतोत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते, भगवद्भोगानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति, अतोत्र शुकोपि मुख्यतया स्त्रिय एव वर्णयति, अग्निकुमाराणामप्यत एव स्त्रीत्वं, न हि पुरुषोन्योपभोग्यो भवति स्वोपभोग्यो वा, परं ज्ञात्वा पाने महान् रस इति भगवतोग्रे ज्ञानोपदेशनिर्बन्धः, मुख्यप्रापणार्थं वा, दुःखदूरीकरणार्थं च, अत एवाग्र आधिदैविकीं स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति, अतो रूपेण वशीकृत्याधरामृतं पाययन् स्वच्छन्दतां सम्पादयति, स्वच्छन्दतामाह गोपवृन्दैरिति, वृन्दायाः स्त्रिया अरण्यं प्राविशत्, सर्वं कार्यं कृत्वा स्वच्छन्दतां सम्पादितवान्, ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता ? तत्राह स्वपदरमणमिति, स्वपदानां स्वचरणानां रमणं यत्र, धर्मस्थापनमाह गोपवृन्दैः सहेति, अवशिष्टसर्वपुरुषार्थस्थापनार्थमाह गीतकीर्तिरिति, गीता कीर्तिर्यस्येति, स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमितिकृष्णपदार्थः क्वचिद् विवृतः ॥ ५ ॥ अतः सर्वमेवोपसर्जनीभूतं वेणुनाद एव मुख्य इति तमेव वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इत्याहेति वेणुरवमिति, इतिहेतोर्वेणुरवमेव वर्णयितुं वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितुमारेभिर इतिसम्बन्धः, तत्र प्रथमश्रवणे वर्णनार्थं श्रवणे च सादरं श्रवणं भवति, अमुना प्रकारेणोद्गतं वेणुरवं न तु केवलं; राजन्निति सम्बोधनं तद्रसानभिज्ञत्वज्ञापनाय, अनेनापि स्पष्टोर्थो नोक्त इति ज्ञापितं, तर्हि तत्र कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य प्रमेयबलादेव भविष्यतीत्यभिप्रायेणाह सर्वभूतमनोहरमिति, सर्वभूतानां मनोहरं स्वत एव मनोवशीकरणसमर्थं, अतः सम्यक् श्रुत्वाभिरेभिरे, व्रजस्त्रिय इति कार्यान्तराभावः सूचितः, न हि व्रजस्त्रीणां पुरुषेषु वनं गतेषु सन्ध्यापर्यन्तमागमनसम्भावनारहितेषु प्रातरेव निवृत्तावश्यकेषु किञ्चित् कार्यमस्ति, अतः सर्वा एव वर्णयन्त्यः पौर्वापर्येणाभितो रेमिरे, दुःखात्मकं प्रपञ्चं विस्मृत्य परमानन्दविलासं कृतवत्यः, पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेण कामोद्दीपने चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता, तत उक्तसुधायामन्तःपूर्णायामत्याधिक्येन परितो गलनरूपं वर्णनमिति पश्चात् तदुक्तम् ॥ ६ ॥

बर्हापीडेत्यत्र—नन्वयं श्लोकः पूर्वोत्तरश्लोकानन्वितः, तथा हि पूर्वं वर्णयितुं नाशकन्नित्युक्त्वा वृन्दारण्यं प्राविशदित्युक्तेरत्र चेतिवेणुरवं श्रुत्वा वर्णयन्त्योभिरेभिर इत्युच्यते, एवं सति स्पष्टैवासङ्गतिर्वा मध्यस्थस्यास्य श्लोकस्येति चेदत्रेदं प्रतिभाति, आद्ये प्रसङ्गमात्रमुक्तं न तु विशेषतः कर्मोक्तं, द्वितीये च पूर्वं वेणु चुकूजेत्युक्तं, ततस्तत्कूजितमाश्रुत्येत्युक्तं, तेन कूजनस्वभावादेव भावोद्दीपनं प्राप्तं, पश्चादग्रिमकार्यार्थं लीलाविशिष्टं स्वरूपं वेणुद्वारा प्रियेण गीतमाश्रुत्येत्युक्तं, एवं सत्याश्रुत्येस्यावृत्तिर्ज्ञेया, गीतं हि स्पष्टार्थकं रसनिरूपकं च भवति, तच्छ्रवणेन लीलाविशिष्टस्वरूपानुभवो हृद्यभूदत एव कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्य इत्युक्तं, तदा तस्यानुभवात्, ततस्तद्विना स्यातुमशक्ता-स्तद्भावस्वभावादेव तदेवान्ववर्णयन्नित्युक्तं, एतद्वर्णनं तदा स्याद् यदि गुणलीलाविशिष्टं स्वरूपं सर्वाशिनानुभूतं स्यात्, प्रकृते च स्मरोदयं गीतं प्रियेण कृतमिति न सर्वात्मना तदनुभवोतोशक्तिरभूत्, एव सति चिकीर्षितकार्यासम्पत्ति दृष्ट्वापूर्वं तादृशं नादं प्रकटितवान् यच्छ्रवणेन गुणलीला-विशिष्टमुद्बुद्धरसात्मकं स्वरूपं सर्वेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु पूर्णमाविरभूत् तदा तद्वर्णनमभूदभितो रमणमपि, एवं सति पूर्वं वर्णनाशक्तिमुक्त्वा तच्छक्तिहेतुं चैकेन श्लोकेनोक्त्वा शुका आहुरितिवेणुरवमिति, एवम्भूत पूर्वोक्तश्लोकोक्तरूपं न तु पूर्ववत् केवलं वेणुरवमित्यर्थः, एवं सति तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य तद् वर्णयितुं नाशकन्ननेवम्भूत्पत्वात् तस्य, इति वेणुरवं बर्हापीडेति श्लोकोक्तं वेणुरवमित्यर्थः, श्रुत्वा वर्णयन्त्यो-भिरेभिरे इति श्लोकसङ्गतिर्निःप्रत्यूहा सिद्धा, तारतम्येन रसानां क्रमेणाविर्भावे महान् रसानां क्रमेणाविर्भावे महान् रस इत्येवङ्करणं, दुर्ज्ञेयं चैतस्य रजस्य ज्ञापितं, परमकाष्ठापन्नस्वतन्त्रमहाफलदित्सयैव कृतवान् प्रभुरिति ज्ञेयं, अन्यथा शक्रशर्वादीनामज्ञानेप्युपेक्षावदत्रापि तथा भवेत्, अन्यद् व्याख्याने स्फुटीभविष्यति ।

भावोद्दीपकत्वमात्रत्वं कूजनधर्मं इति तत्कार्ये सम्पन्ने तद्वर्णने जायमाने स्मरवेगजश्चित्तविक्षेपः प्रतिबन्धक उक्तः कृष्णचेष्टितस्मरणं चाशक्तौ स्मरवेगे च हेतुरुक्तस्तद्ध्यग्रेप्यावश्यकत्वात् सार्वदिकत्वाच्च वर्णनं न स्यादेवेति शङ्कामपनुदन्नग्रे वर्णनायामुपपत्तिमाहैकेन बर्हापीडमित्यनेन, अत्रेवं ज्ञेयं, सामोपनिषत्सु 'स्मरो वा आकाशाद् भूयस्तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन् न स्मरन्तो नैव कश्चन शृणुयुर्न मन्वीरन् न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयु'रित्यादिना स्मरणस्यैव स्मरशब्दवाच्यत्वमुच्यते स्मरणं स्मर इति व्युत्पत्तेः, प्रकृते स्वामिनीनां मुखारविन्देषु स्वाधरसुधासम्बन्धः प्रभुणाग्रिमप्रयोजनार्थमवश्यं कारणीयः, स च वर्णनेनैव भवति, तच्च न सुधारसवलितनादान्तःप्रवेशं विना भवितुमर्हति, तत्प्रवेशेपि पूर्ववत् कृष्णचेष्टितस्मृतौ न तत् सम्भवति, अत एव नदीवेगस्येवान्याप्रतिबध्यत्वं स्मरणस्य ज्ञापयितुं स्वरवेगेनेत्यप्युक्तं, अन्यथा न वदेत्, कृष्णचेष्टितं स्मरन्त्यो नाशकन्नेतावतैव चारितार्थ्यात्, अतो नादप्राधान्येनैव नादस्मरणं तद्धेतुत्वेनैव च प्रभुस्मरणं न तु प्राधान्येन चेत् तदा सर्वं सम्पद्यत इति स्वयं विचार्य पूर्वमतथाकृत्वापि तदशक्ति दृष्ट्वोक्तकार्यार्थमुद्बुद्धपूर्णशृङ्गाररसात्मकमुद्बोधकाच्छादकविक्षेपकशक्तिमत्त्वेनाखिलाङ्गयुक्तमपि स्वरूपं नादेनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगित्येवम्भूतं नादं सम्पाद्य शुद्धपुष्टिस्थानं प्राविशत् पुष्टिमार्गाङ्गीकारं प्रकटीकृतवान्, तथा सति ह्येतासां साक्षाद्भोगः सम्भवति, अन्यथैतावत्करणं निःप्रयोजकं स्यात्, यथा वृन्दाङ्गीकारेण दुष्टनिवारणं कृतवानेवमेतदङ्गीकारेणापि कीर्तिद्वारा विश्वस्य सर्वस्यैव दोषं दूरीकरिष्यतीति निर्दोषत्वमप्यस्या लीलायाः ख्यापयितुमन्ते विशेषणं, एवं सति निःप्रत्यूहं रववर्णनमभूत्, अतो वर्णनाशक्तिमुक्त्वा तत्साधनं मध्ये निरूप्यास्याग्रे तदुक्तं, एतेन वेणुरवस्वरूपमेव वर्णितं भवति, अत एवेतिवेणुरवमित्येवात्र उक्तं, तेन पूर्वस्माद् विलक्षणत्वं नादस्य ज्ञापितं भवति ।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

वैजयन्तीं च मालामित्यस्याभासे, ततोप्याच्छादिकामिति । विक्षेपस्यापि वस्तुयाथात्म्यज्ञानाच्छादकत्वमस्तीत्याशयेनेदमुक्तम्, अन्यथाग्रे विक्षेपकं च रूपे निरूपितमिति न वदेयुः । रन्ध्रान्वेणोरित्यत्र गूढाभिसन्धिना हेत्वन्तरमप्याहुर्यावच्चेति । नादो हि रसात्मको धारावत्कर्णद्वारा हृदि प्रविष्टः स एव भगवदीयसर्वेन्द्रियविषयकविविधरसभावैर्निर्झरैः पाथःप्रवाह इव पुष्टो रसपूररूपो जातो, येन समानशीलव्यसनानां परस्परं तद्वर्णनरूपो बहिः प्रकटोऽभूत् । स च सार्वत्रिक इति तत्र हृदयस्थितोऽधररसो मुख्याधररसस्यांश एवेति । स सर्वासां हृदि स्थितः पर्यायेण सर्वासां हृदि प्रविष्टः । तदानिर्वचनीयोत्कटभावोदयेन साक्षात्तदनुभवयोग्यता भवतीत्यर्थः । एवं सति यावदुक्तरीत्या सोंशो नान्तःप्रविशति तावदपि साक्षात्तद्भोगयोग्यता न भवतीति शेषग्रन्थो ज्ञेयः । एतदर्थमेवेति । रसपूरेण तदंशप्रवेशार्थमेवेत्यर्थः । अत्रैवाग्रे अत एवेति । यतो विहितभक्तिमतामप्ययं रसः फलत्वेन प्रार्थनीय एव तिष्ठति, न तु तत्प्राप्त्यैवायं प्राप्तो भवत्यतो वंशद्वयसम्बन्धिभक्तनिरूपणानन्तरं निरोधो निरूपित इत्यर्थः । एतस्यैव तात्पर्यान्तरमप्याहुः सृष्ट्युत्पन्नानामिति भक्तानामिति शेषः । भोगो भक्तिरसभोग इत्यर्थः । एतत्पर्यवसायीति । एतदप्राप्तौ तेषामपि सृष्ट्युत्पत्तिर्व्यर्थेत्यर्थः । एतेनान्येषां कैमुतिकन्यायेनैव जन्मवैयर्थ्यं ज्ञापितं भवति । 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभावे'त्यादिवाक्यैः । तर्ह्येवं फलस्य सिद्धत्वादग्रिमलीलाद्वयं व्यर्थमित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः ततो विमोचनमित्यादि । ये मुक्ताः स्वान्तःस्थिता एव जीवा लीलार्थं सृष्टास्तेषां परमानुग्रहतो नित्यलीलामध्यपातिभक्तैः सहैतद्रसानुभवं कारयित्वा पुनः पूर्वभावं सम्पादयतीति स्कन्धद्वयेन निरूप्यत इत्यर्थः । पुन पूर्वभावसम्पत्तेरेव प्रत्यापत्तिपदार्थत्वात् । लोक एतद्रसप्रकटनस्य तात्पर्यंवदन्तः आवश्यकतां चाहुः अन्यथेति । अस्यैव परमपुरुषार्थत्वेन सृष्टिमध्ये यत्र कुत्रापि प्रकटनेनैव सृष्टेः सार्थकत्वम् । अन्यथा प्राणसम्बन्धरहितदेहसृष्टिवत्सा व्यर्था स्यादित्यर्थः । तदंशानामिति । महिष्यादीनामित्यर्थः । मुख्यप्रापणार्थं वेति, मुख्यः पुरुषोत्तमः । एतासां च स एवापेक्षित इति तस्यात्मत्वेन कथने स एव प्रापितो भवतीति तथा ।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

बर्हापीडमित्यत्र पूर्वोत्तरेति पूर्वश्लोकार्थे वर्णनाशक्तावुत्तरश्लोकार्थे वर्णने वा वृन्दारण्यप्रवेशस्य हेतुत्वं नास्त्यतो मध्येयं श्लोकोनन्वित इत्यर्थः, कर्मोक्तमिति प्रवेशानन्तरं भगवता कृतं कर्म किञ्चिनोक्तमित्यर्थः, चुकूजेति पूर्वमुक्तं न तु जगावित्यतो 'वेणुगीतमाश्रुत्ये'तिकथनमनुपपन्नमित्याशङ्क्याचावृत्तिः कृतेति ज्ञेयम्, 'तत्कूजितमाश्रुत्ये'त्यनेन पूर्वोक्तकूजितानुवादः, तदनन्तरं 'वेणुगीतमाश्रुत्ये'त्यनेन द्वितीया गानक्रियाक्षिप्यते, तथा च तत्कूजितमाश्रुत्य ततो वेणुगीतमाश्रुत्येत्यन्वयः, स्मरोदयमिति उभयोर्विशेषणम्, तत्पदवाच्यकूजितस्य वेणुगीतस्य च पूर्वत्र स्मरोदयः प्रासङ्गिको द्वितीय उद्देश्य इतिविभागः, कूजितगीतयोर्भेदं विवृण्वन्ति गीतं हीति, स्मरन्त्य इति कञ्चित्कालमाविर्भूय तिरोहितोऽतः स्मरणमित्यर्थः, स्वरूपानुभव इति शब्द इतिशेषः, तदनन्तरं तस्य स्मरणमित्यर्थः, तत इति लीलाविशिष्टस्वरूपानुभवान्तरमित्यर्थः, तद्विनेति तादृशस्वरूपं विनेत्यर्थः, स्मरोदयमेवेति स्मरणसिद्ध्यर्थं शब्द एवानुभवः कारितो न त्वनुभावने तात्पर्यमित्यर्थः, सर्वात्मनेति सर्वांशशेनेत्यर्थः, सर्वेन्द्रियेति आन्तररमणे इन्द्रियादिष्वेवाविर्भावो न तु देहे इतिभावः, पूर्वं हृद्येवाविर्भाव उक्तः अधुना इन्द्रियादिष्वपीतिविशेषः, पूर्ववत् केवलमिति पूर्वत्र श्रवणं स्वस्यैव तेन हृदि स्वरूपानुभवः, अधुना त्वर्थविशिष्टस्य श्रवणं तेन श्रोत्रेन्द्रियेपि तदाविर्भावः, तथा च गीतं हि स्पष्टार्थकं इत्यत्र स्पष्टोर्थो यस्मादिति पञ्चमीबहुव्रीहिर्ज्ञेयः, वर्णयितुमशक्यमिति इन्द्रियादिषु पूर्णाविर्भावं विनेतिशेषः, तथात्वज्ञापनायेति तादृशस्वरूपे वर्णनाशक्तेरुचितत्वज्ञापनायेत्यर्थः, शुकस्य त्वेतल्लीलास्यत्वाभावात् वर्णनं सम्भवत्येव, भावोद्दीपकत्वेति स्मरोदयपदस्यार्थोनेनानूदितः, मात्रपदेन 'बर्हापीडे'तिश्लोकोक्त इन्द्रियादिषु स्वरूपाविर्भावो व्यावर्तितः, कूजनपदेनात्र गीतमपि ज्ञेयम्, तस्यापि स्मरोदयत्वोक्तेः, स्मरवेगज इति स्मरकृतचित्तचाञ्चल्यजनितचित्तविक्षेप इत्यर्थः, स्मरवेगे चेति स्मरकृतचित्तचाञ्चल्य इत्यर्थः, व्याख्याने अग्रिमेति मुखेषु भगवद्भोग्यसुधाभोगयोग्यतासिद्ध्यर्थमित्यर्थः, नादेनुभूयमान इति इदं 'विश्रद्वेणो रन्ध्रान् पूरय'न्नितिसमभिव्याहारादेतस्य नादे पूरणमुक्तमिति ज्ञेयम्, तदानुभव एव न स्मरणमतः स्मरवेगाभाव इतिभावः, स्मरपदस्य कामवाचकत्वे तदापि तद्वेगः स्यादतः स्मरणवाचकत्वं व्युत्पादितम्; न पृथगिति पृथगनुभवे बाह्यरमणमेव स्यादितिभावः, साक्षाद्भोग इति न त्वंशावतारेष्विव सत्त्वव्यवधानेनेत्यर्थः, अत एव हि शब्दः, अन्यथेति योग्यतां विनैव भोग इत्यर्थः, एतदङ्गीकारेणेति गोपीकाङ्गीकारेणेत्यर्थः, 'विक्रीडितं व्रजवधूभि'रितिवाक्यादितिभावः, एवं सतीति स्मरणाभावे सतीत्यर्थः, पूर्वोक्तो नादः स्मरोदयोयमनुभावक इति निर्गलितो विभेदः, वाक्यार्थ इति अग्रे वर्णनीयो रूपलीलासहितो वेणुरवोत्र वाक्यार्थ इत्यर्थः, वृन्दारण्यप्रवेशस्याद्यश्लोकेन प्राप्तत्वादत्र तदनुवादेनायमेव वाक्यार्थ इतिभावः, प्रकारविशेषश्चेति वर्णितः स्यादितिशेषः, नादस्य रूपक्रीडयोश्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धः, नादे वाच्यतासम्बन्धेनैतदुभयं वर्तत इत्यनयोरन्योन्यं सामानाधिकरण्यसम्बन्धः, नादेन सह रूपक्रीडयोरप्यनुभवकथनात् त्रयाणामपि सामानाधिकरण्यं च वेण्वाधारत्वमित्यर्थः, स्वरूपगुणलीला इति अग्रे वेणोः षोढा वर्णनीयत्वात् तेन गुणा उक्ता इति ज्ञेयम्, चैतदिति भूषणार्थं धारणमेतत्सूचनार्थं च धारणमिति समुच्चयार्थ-

श्रकारः, आभासे तथात्वज्ञापनायेत्युक्तमुपसंहरन्त्यतो युक्तं वेति, एतादृशस्य सर्वांशेनानुभवाभावेनुबुभूषाया विद्यमानत्वाद्वर्णना-
शक्तिर्युक्तैवेत्यर्थः, बिभ्रदित्यस्य बहिःप्रकटं कुर्वन्नित्यर्थः, प्राकट्यस्य बिभ्रत्पदार्थत्वं विशदयन्ति यथेति, पात्रभरणेन कारणेन कार्यं
रसदानमनुमीयते तथात्र वपुःप्राकट्येन कारणेन भक्तेभ्यो रसदानं कार्यमनुमीयते तथा च रसदानकारणत्वधर्मसाम्येन प्राकट्यं
भरणपदार्थं इत्यर्थः, पात्रस्थानीयो धर्मिरूपो भगवान्, तत्स्थरसस्थानीयस्तासु स्थापनीयो धर्मरूपः (भावात्मकभगवद्रूपः 'स्त्रीभावो
गूढ' इति वक्ष्यमाणः) आनन्दः, भरणस्थानीयं धर्मिरूपस्य वपुःप्राकट्यम्, दृष्टान्ते धारणस्य भरणपदार्थत्वात् कर्तृभिन्नत्वं कर्मणः,
दार्ष्टान्तिके प्राकट्यस्य भरणपदार्थत्वात् 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'इतिवत् स्वरूपस्यैव कर्मत्वं कर्तृत्वञ्चेति, पूर्वं हृद्येव प्राकट्यं तेन
वर्णनाशक्तिरुक्ता, अधुनेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवेषु प्राकट्यमिति बिभ्रत्पदेनोक्तमितिभावः, श्रोत्रे इति संयोगे प्रियावचनश्रवणेन
विप्रयोगे तद्गुणश्रवणेन चोभयविधशृङ्गारानुभावके इत्यर्थः, तयोरिति शृङ्गारानुभावके तदुद्बोधकस्थापनेन भगवतो रसोद्बोधात्
पूर्वं निरूपितः स्वरूपात्मको रस उच्छलितोवयवविकारादिरूपो भवतीत्यर्थः, तादृशस्त्विति आलम्बनरूप इत्यर्थः, कटाक्षाद्यनुभाव-
रूपस्त्वगुप्तोपि तथेति तद्व्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः, गुप्त एवेति प्रकटस्तु रसाभासजनकत्वेन रसपोषको भवेदपि न तु रसत्वमापद्येतेत्ये-
वकारः, पीताम्बरं कटिस्थं ज्ञेयम्, उद्बुद्धे रस इति ज्ञाते इतिशेषः, तथाज्ञाने समयविशेषे तथा जातत्वादधुनापि रसत्वसाधकं
वासोविणय्य तमेवालम्बनं रसाभासं वर्णयेयुर्न तु श्लोकद्वयेन रसद्वयमित्यर्थः, माया हीति हिशब्देन सन्मतिः, धने मदजनकत्वस्य
शास्त्रसिद्धत्वात् तत्सादृश्यकथनेन रूपेपि पीते मदजनकत्वं सूचितम्, तेन सम्यगवलोकनाभावः सूचित इत्यर्थः, आच्छन्नं रसमिति
आलम्बनमित्यर्थः, उद्घाटयेयुरिति जानीयुरित्यर्थः, नादद्वारा पीताम्बरानुभवे भगवदिच्छया तादृशो मदः समजनि येन तदन्तः
स्थितालम्बनादिविचारो न जात इति निर्गलितोर्थः, कीर्तिमयीमिति मूले मालापदेन वनमाला ज्ञेया, तथा च वैजयन्ती
वनमालाञ्च बिभ्रदित्यर्थः, वैजयन्त्याः कीर्तिरूपत्वं योगेन व्युत्पादयन्ति वै निश्चयेनेति, सप्तेति नादे गुणसहितस्वरूपस्यापनं
सङ्ख्यातात्पर्येणापि ज्ञाप्यत इत्याशयः, मूले सुधयेत्येकवचने प्रसङ्गान्नान्ययोरपि स्वरूपं निरूपणीयमतस्त्रैविध्यं विवृण्वन्ति सुधेति,
दीव्यन्तीति देवास्तद्भोग्या सारिदादिषु स्थापिता मुख्यांशभूतेत्यर्थः, मुख्यलीलायां भगवतो भोग्या भगवल्लोभतल्लोभस्थितेत्यर्थः,
सर्वैरपि साक्षादभोग्या परम्परया नादमार्गेणैव भोग्येत्यर्थः, तत्रेति त्रैविध्ये इत्यर्थः, अधरो हि लोभात्मकत्वाद्यथायोग्यं विविच्य
सर्वेभ्यो ददाति, अतस्त्रैविध्यमित्यर्थः, ननु सर्वाभोग्याया अप्यधरे एव विद्यमानत्वात् लीलायां कुतो न तद्भोग इत्यत आहुः तस्या
इति, वर्णनात् पूर्वं तु अयोग्यतैव, तदनन्तरं तु सा पूर्वं वर्णनायां मुखे समागतेति गमनागमने तस्याः प्राधान्यात् मुखं तदुच्छिष्टं
तच्छेषभूतं जातमतः साक्षात् तादृशेन मुखेन तस्या अनुभवो न भवतीत्यर्थः, नादद्वारानुभवस्तु परम्परयेति भावः । (मुखद्वाराश्रोत्रे
हेतुमाहुस्तस्या इति, उत्तरदलात्मकस्वरूपं श्रोत्रद्वारा हृदि प्रविष्टं सदनुभूतं भवति, ततो वर्णने मुखद्वारा निर्गच्छतीति रसमर्या-
देत्यर्थः, उच्छिष्टेनेति ततो निर्गमनादुच्छिष्टं मुखं तेनेत्यर्थः, अन्यमुखतो निर्गतस्य श्रवणेपि तन्मुखस्य परम्परया हेतुत्वं
साक्षात्करणत्वन्तु स्वश्रोत्रयोरेवेति साक्षादित्युक्तम्, अत इति सोत्तरदलात्मिका श्रोत्रपेयैव, मुखद्वारा पाने पूर्वदलत्वमेव स्यादिति
भावः, अत एव न सम्भवतीत्युक्तमेवकारश्चात्रोक्तः), वेणौ स्थापने भगवतस्तात्पर्यमाहुः सा हीति, सर्वाभोग्या देवभोग्या चेत्यर्थः
सर्वेषामिति भोग्यदेहेन्द्रियादीनां देवानाञ्चेत्यर्थः, आनन्दः एवेति द्रवीभूता सर्वांशसम्बन्धार्थं विरलावयवा सर्वांशेन प्रकटा
आनन्दरूपैवेत्यर्थः, आनन्दसारेति आनन्दस्य भगवतोपि सारभूतेत्यर्थः, स्वत इति लोभस्थत्वात् स्वतो न कुत्रापि याति अतो
भगवानेव योजितवानित्यर्थः, वेणुं वादयन्नित्येतावतैव चारितार्थ्येपि मूले सुधापूरणकर्तृत्वोक्तेस्तात्पर्यमिदमिति ज्ञेयम्, अमूर्त-
त्वादिति विरलावयवत्वादित्यर्थः, न हीति रन्ध्रस्तदन्तर्वर्ती अवकाशस्तस्येप्सिततमत्वोक्त्या रन्ध्रद्वारा परम्परया वेणुसम्बन्धे
सम्भवेपि साक्षात् तं न स्पृशतीत्यर्थः, स्वभोगयोग्यमिति स्वस्य भगवद्भोग्यसुधारूपं यत् स्वरूपं तत्कर्मकभोगयोग्यमित्यर्थः,
यावच्चेति तत्रैव विशेषबोधनाय चकारात् निरोधः सिद्ध इति निबन्धे आसक्तेः प्रमेयप्रकरणसाध्यत्वोक्तेस्तद्रूपनिरोधसिद्धिः
प्रकरणान्ते वक्तव्येत्याशयः, अत इति यतो यत्किञ्चिदपि तद्रसप्रवेशं विना निरोधासिद्धिरत इत्यर्थः, देवानाहुर्गोपीष्वित्यादिना,
एते त्रयो देवपदवाच्या इत्यर्थः, तत इति निरोधानन्तरं लीलाद्वयं पूर्वभावसम्पादनरूपं स्कन्धद्वयेनोच्यते, फलं तु निरोध एवेति
भावः, अयमिति निरोधफलरूपो मुख्यो रसभोगः, एकोनविंशाध्यायोक्तवसनदानेन पूर्वं ब्रह्मानन्दभावे जातेपि पुनः पञ्चविंशा-
ध्यायोक्तब्रह्मानन्दभावे जाते तदनन्तरं शब्दब्रह्मकृतपूर्वभावसम्पादनेनाधिदेवक्रीडायोग्ये पूर्वसिद्धप्रसादरूपशक्तिप्रवेशकृतस्त्रीत्वे पुनः
सम्पन्ने सति सम्भवतीत्यर्थः, लक्ष्म्या इवे लक्ष्मीर्हि ब्रह्मानन्दरूपा सती नायिकारूपा, अत्रापि धर्मद्वयसम्पादनेन लक्ष्म्या साम्य-
सम्पादनाद्रसभोगेपि साम्यमितिभावः, लक्ष्मीपदमत्र साक्षात्पुरुषोत्तमस्य स्वकीयारूपालम्बनपरं न त्वत्रत्यमुख्यापारं, टिप्पण्यां
तदंशानामित्यस्य 'महिष्यादीना'मिति व्याख्यानात्, एतासां पतित्वेन प्रार्थनात् तत्साम्यमेव वक्तव्यमिति तदाशयः, अत एव
'विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यतीत्यग्रिमाध्याये वक्ष्यते अत इति यतो लीलाद्वयं प्रत्यापत्तिरूपमतो निरोधो महत् स्वरूपात्मकं
फलं यस्य तादृश इत्यर्थः, अतोत्रेति यतो निरोध एव महाफलस्तच्च फलं स्त्रीष्वेव सिद्धमतस्ता एव तामसप्रकरणान्ते तदन्त-
र्गतप्रमेयप्रकरणान्ते च निरूप्यन्त इत्यर्थः, अत इति यतो भगवत्कर्मकभोगरूपं स्त्रीणाम्माहात्म्यमत इत्यर्थः, न हीति पुरुषो
भोग्यो न भवतीति तत्र भगवत्कर्तृकभोगासम्भवादनुपदोक्तमर्यादया भगवत्कर्मकोपि भोगो न भवेदत एवाग्निकुमाराणामपि

स्त्रीत्वमित्यर्थः, अन्योपभोग्य इति स्त्रीभोग्य इत्यर्थः, इदं तृतीयस्कन्धनिबन्धे विचारितम्, तत्सम्मतिसूचनाय हि शब्दः, स्वोपभोग्य इति पुरुषान्तरोपभोग्य इत्यर्थः, बह्वेवं मुख्यरसभोगे समग्रन्ते ज्ञानोपदेशप्रयासः किमर्थ इत्याशङ्क्याहु परमिति, अत एवेति यतोत्र स्त्रिय एव योग्या अत एवाग्रेऽधिदेवस्य भगवतः सम्बन्धिनीं प्रसादरूपां स्वाधिदैविकरूपां वा स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्तीत्यर्थः अत इति यतो मुख्यो रसो दिदृक्षितोत इत्यर्थः, वृन्दारण्यप्रवेशेन स्वाच्छन्द्यं 'श्लिष्यति कामपो'त्यादिप्रकारकं स्वस्य सम्पादितवानित्यर्थः, नन्विति जगति नायिकासु भक्तिर्भावोद्‌बोधो न कारितोतः कथं तादृशी लीलेत्यर्थः, स्वपदेति तथाचिह्नदर्शनेन स्मृतपूर्वसम्भोगा उद्‌बुद्धभावा भविष्यन्तीति प्रत्यक्षेर्थः, परोक्षवादेन स्त्रिया अरण्यं वनं स्त्रीसङ्घमित्यर्थः, स्त्रिया इति जात्यपेक्षयैकवचनम्, तत्रावेशेन भगवत्कर्मकभोगकर्तृत्वरूपं स्वाच्छन्द्यं भवतीति भावः, पूर्वं गोपवृन्दैः सह स्थितः पश्चात् तत्र प्राविशत्, स्वाच्छन्द्यं मूले उपसर्गस्यार्थं इति ज्ञेयम्, नन्विति जगति स्त्रीसङ्घे भक्तिर्भावोद्‌बोधो न कारित इति कथं तत्कार्यतेत्यर्थः, स्वपदेति स्वकर्तृकभोगे तासु विविधप्रकारैश्चरणस्थापनेन भावोद्‌बोधं कारयित्वा स्वाच्छन्द्यं तत्कर्तृकभोगरूपं सम्पादितवान्, चरणे नानाप्रकारबोधार्थं व्याख्याने स्वपदानामिति बहुवचनम्, तथा च 'गोपवृन्दैः सह स्थितः स'न्नित्यन्तेन पूर्वस्थितिरुक्ता, पश्चात् स्वपदानां रमणं यत्र तादृशं तत्सङ्घं कृत्वा तत्र प्रकर्षेण स्वाच्छन्द्यसम्पिपादयिषया आविशत् स्वावेशेन तासु स्वाच्छन्द्यं सम्पादितवानित्यर्थो ज्ञेयः, अत एव नायिकानां पुम्भावावेशे तथा भवतीति रसशास्त्रम्, एतदाशयेनैव वृन्दारण्यप्रवेशस्य लीलात्वं पूर्वमुक्तम्, एवं पूर्णरसानुभवानन्तरं ताभिर्गीतकीर्तिर्जात इति गानेन रसस्थैर्यं निरूपितम्, अवशिष्टेति वेणुनादेन व्रजस्थितासु सर्वाभोग्यसुधानुभवरूपमोक्षस्थापनम्, गोपसाहित्येन तेषु दास्यरूपधर्मस्थापनम्, वृन्दारण्यप्रवेशेन वनस्थितासु स्वाच्छन्द्यरूपकामस्थापनम्, स्वपदरमणेन तासूद्‌बुद्धभावरूपभक्तिस्थापनमवशिष्टोर्थः, गानरूपस्थापनमपि तास्वेवेति वनस्थितासु त्रयमुक्तम्, व्रजस्थितास्वेकम्, गोपेष्वेकम्, एवं विभागेन पुरुषार्थपञ्चकस्थापनं ज्ञेयम्, अस्मिन् श्लोके सर्वाभोग्यसुधापूरितत्वरूपवेणुरवस्वरूपनिरूपणं वाक्यार्थं इत्युपसंहारे बोधयन्ति स्त्रीभाव इति,स्त्रीणां हृदये नादद्वारा पूरितो भावः सुधारूपो गूढः सर्वाभोग्यः पुष्टिमार्गेनुग्रहमार्गे तत्त्वममनारोपितं मुख्यं फलमितिरूपः कृष्णपदार्थः कृष्णस्वरूपं सर्वत्र किम्बहुना रमणेपि संवृत एव किन्तु क्वचिदेव स्थाने हृदयरूपे वेणुनादश्रवणे सति श्रोत्रद्वारा विवृतः प्रकट इत्यस्मिन् श्लोके निरूपितम्, सर्वाभोग्यसुधारूपं भगवत्स्वरूपं वेणुद्वारैव प्रकटमुक्तमित्यर्थः, अतो नादस्य मुख्यफलानुभावकत्वाद् रूपं वेणु नादः क्रीडा चेति त्रयाणां मध्ये रूपं क्रीडा चेति सर्वमेवोपसर्जनीभूतं गौणमुभयापेक्षया वेणुनाद एव मुख्य इतिहेतोस्त्रयानुभवेपि तद् द्वयं गौणं कृत्वा तं वेणुनादमेव मुख्यतया वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इति हेतोस्तद्वर्णनेनाभिरमणमाहेत्यर्थः ॥ ५ ॥ इतिवेणुरवमित्यत्र श्रवणस्य वर्णनस्य च वेणुरवमित्येव कर्मेत्याहुर्वेणुरवं वर्णयितुमिति, एतस्यैव विवरणं वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितुमिति, तमेव श्रुत्वा तमेव वर्णयितुमारेभिरे इतिहेतोः श्रवणस्य वर्णनस्य चैकनैव कर्मणा सम्बन्ध इत्यर्थः, श्लोकद्वये श्रवणोक्तेस्तात्पर्यमाहुस्तत्रेति, उभयोर्विभेदं वक्तुमाहुरमुनेति, पूर्वश्लोकोक्तं तु केवलमितिभावः, अनेनापीति अर्थः स्वरूपं स्पष्टो नादात् पृथक्कृत्य भगवता व्रजस्थासु नोक्तो न बोधित इति वनस्थासु स्वाच्छन्द्यसम्पादनसूचकेन प्रशब्देन पूर्वश्लोके ज्ञापितम्, अत्र राजन्निति सम्बोधनेनापि तज् ज्ञापितम्, राजानो हि गुप्तकार्यकर्तारो भवन्ति, श्रोतुस्तथासम्बोधनेन श्रवणविषयेपि स धर्मो ज्ञापित इत्यर्थः, तर्हीति स्पष्टम्, स्वरूपानुभवाभाव इत्यर्थः, तत्रेति वेणुरवश्रवणे इत्यर्थः, कामोद्दीपने इति पूर्वं व्याख्यानात् स्मरणरूपभावोद्दीपने इत्यर्थः, अन्तःपूर्णायामिति तथा च मुख्यरसानुभवात्र चेष्टितस्मरणमिति भावः ॥ ६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

बर्हापीडमित्यस्याभासे स्वयं वर्णयतीति शुको वर्णयतीत्यर्थः, तथात्वज्ञापनायेति गोपिकानां वर्णनाशक्तत्वज्ञापनायेत्यर्थः, बर्हापीडमित्यत्र वाक्यार्थो वर्णनीय इति गोपिकाभिर्वर्णनीयो वेणुरवोत्र "बर्हापीडे"तिश्लोके वाक्यार्थो मुख्यत्वेन भवतीत्यर्थः, तथा सतीति वेणुरवस्य वाक्यार्थत्वे वेणुरवप्रतिपाद्यस्वरूपस्य वेणुनादस्य क्रीडायाश्च प्रतिपाद्यत्वं स्यादित्यर्थः, स्वरूपेत्यादि "वपुर्बिभ्र"दित्यनेन स्वरूपं "रन्ध्रान् वेणोः पूरय"न्नित्यनेन गुणः "वृन्दारण्यं प्राविश"दित्यनेन च लीला उक्ता इति ज्ञेयं, नृत्यन्मयूरानुकरणं चेति मुकुटधारणं शोभाधायकं उद्‌बुद्धपूर्णरसात्मकतासूचनाय नृत्यन्मयूरानुकरणं चेति चकारार्थः, केवलो नाट्य इति केवल इति उद्दीपनादिसामग्रीरहितो विप्रलम्भ इत्यर्थः, अभिनये तथैवोपलभ्यमानत्वात्, अभिनेतारो हि पुष्पादिसामग्रीं हस्ताभिनयेनैव प्रदर्शयन्ति, न हि तत्र पुष्पाणि सन्त्यतो विप्रलम्भरसस्य सामग्रीराहित्यात् केवलत्वं, यद्यपि भगवद्विप्रलम्भस्यालौकिकत्वान्मनसा भाव्यमानापि सामग्री सत्यरूपैव तथापि सामग्र्या अनाविर्भावितत्वात् केवलत्वं, तथा चाविर्भूतसर्वसामग्रीविशिष्टत्वं संयोगरसत्वमनाविर्भूतसामग्र्यभिन्नरूपत्वं विप्रयोगरसत्वमितिविवेकः, भगवतो वपुरुभयविधमिति, अत्रेदं ज्ञेयं, लौकिके हि पुरुषाधिकरणो रसो न तु पुरुषो रसरूपः, भगवति त्वलौकिकत्वाद् "रसो वै स" इति श्रुते रसरूपत्वं, अतो भगवद्वपुष एव संयोगविप्रयोगात्मकत्वमुक्तं, युगवद्रसद्वयात्मकतायाः श्रुतिसिद्धत्वेपि युक्त्यगोचरत्वं यद्यपि प्राप्तं तथापि वनस्थितभक्तैस्सह संयोगात् संयोगरसात्मकत्वं व्रजस्थितभक्तैः सह वियोगाद् विप्रयोगरसात्मकत्वमिति युक्तिविरोधो न शङ्कनीयः, रसस्य भगवदभेदाद् भगवद्वपुषोपि भगवदभेदाद् भगवतो वपुरुभयविधमित्युक्तं, नटवरवपूरूप इति नटवद् वरवद् वपुर्यस्येत्युक्ते वपुषः स्वरूपात् पार्थक्य-

मायातीति पार्थक्यनिराकरणाय **वपूरूप** इत्युक्तं, **गोपिका वासो न गणयेयुरिति** रसोद्बोधेनैवात्यार्त्या भगवद्वाससः पीताम्बरस्य गणनामकृत्वावलोकनं कुर्युस्तथात्वे रसस्य प्राकट्याद रसाभासः स्यादतो गोपनार्थं पीताम्बरस्य मायारूपत्वं निरूपितं माया हि भगवत्साक्षात्कारे जवनिकेव तिष्ठति, प्रकृतेपि रसाच्छादिका जातेतिसूचनार्थं व्यामोहककनकतुल्यता निरूपिता, पीताम्बरस्य भगवत्स्वरूपगोपनान्मायत्वं, **वै निश्चयेन सर्वजयप्रकाशिकेति** "साक्षान्मन्मथमन्मथ" इतिवाक्यादाधिदैविकमन्मथजेतृत्वं स्वरूपलावण्यस्य कमलादिजेतृत्वं नयनयोरेवं सर्वजयप्रकाशिका वैजयन्तीति ज्ञेयं, वै निश्चयेनेति व्युत्पत्तिस्तु नैरुक्ती ज्ञेया, तस्याः **साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेनेति** भगवत्कर्तृकं भोगं विना न सम्भवतीत्यर्थः, तथा च यदा फलप्रकरणे भक्तनिष्ठसुधां भगवान् भोक्ष्यते तदनन्तरं रसाधिक्ये भक्ताः साक्षादुच्छिष्टेन भगवत्सुधां भोक्ष्यन्त इतिहृदयं, अतः **श्रोत्रपेयैवेति** प्रकृते फलप्रकरणाभावाद् व्रजस्त्रीणां भगवन्निकटस्थित्यभावाद् वेणुद्वारैवाधरसुधाप्राप्तिः, सुधाया वेणुनादसम्बद्धत्वान्नादस्य श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वात् तत्सम्बद्धसुधाया अपि श्रोत्रमात्रपेयत्वमितिभावः, तथा च संयोगावस्थायां साक्षात्पेयत्वेपि वियोगावस्थायां तु **श्रोत्रपेयत्वमेवेतिविवेकः**, किञ्च भगवद्भोग्याधिदैविकस्त्रीविग्रहप्राप्तानामेवैतस्याः सुधायाः साक्षाद्भोगोन्येषां सरित्सरोलतावृक्षमृगीगोपमेघादीनां तु तादृग्विग्रहाभावाद् वेणुनादद्वारा श्रोत्रेणैव पानमतः सर्वेषां **श्रोत्रपेयैव**, अतः सर्वेषां साक्षात्पानाभावात् सुधायास्त्रैविध्यनिरूपणे यत् सर्वाभोग्यत्वं निरूपितं तत् समर्थितं, **आनन्द एव सा प्रकटेति** साम्प्रतं वियोगावस्थायामित्यर्थः, इदमत्र ज्ञेयं, "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" "तस्माद् वा तस्माद् विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मानन्दमय" इत्याद्यनेकश्रुतिषु पुरुषोत्तमस्यानन्दरूपत्वमानन्दमयत्वं चास्ति, तत्रायं विवेकः, संयोगवस्थायां सर्वसामग्रीसाहित्यात् सामग्र्याश्चानन्दरूपत्वादानन्दमयत्वं भगवतः, वियोगावस्थायां सर्वसामग्र्या भगवदभेदेन स्थितत्वादानन्दरूपत्वं, तथा च सम्प्रति व्रजस्थितगोपिकानां भगवद्वियुक्तत्वात् तद्वियोगात्मकरसात्मको भगवानानन्दपदवाच्यः, तत्रैव सा **सुधा प्रकटेति**, दूरस्थितत्वेन वेणुनादद्वारैव प्राप्या न तु साक्षादितिभावः, **आनन्दसारभूतेति** आनन्दरूपेषु भगवदवयवसम्बन्धिभोग्यपदार्थेषु सारभूता, ननु भगवदवयवसम्बन्धिभोग्यपदार्थेषु सर्वस्यैव सारत्वात् तत्र सारासारविवेकस्य वक्तुमयोग्यत्वात् कथं सारत्वमित्याशङ्क्य स्वोक्तं सारत्वं स्वयमेव व्याचक्षते सा न कथञ्चिदित्यादिना, अन्येषु भगवत्सम्बन्धिषु भोग्यपदार्थेषु साधनत्वं फलत्वं चास्ति, तथा हि यथा भगवद्धस्तो भक्ताह्वाने आनन्दसाधनं स्पर्शे तु फलरूपस्तथाधरसुधायाः साधनत्वं नास्ति किन्तु केवलं फलरूपत्वमेव, न ह्यधरसुधा कस्यापि साधनमस्ति, यद्यपि "मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोती"त्युक्त्या साक्षाद्भोगयोग्यतायां साधनत्वमस्ति तथापि श्रोत्रपेयाया एव साधनत्वं, तत्रापि स्वप्राप्तावेव साधनत्वं न त्वितरत्र, साक्षादुच्छिष्टरीत्या भोग्यायास्तु केवलफलत्वं, इदमेव सारत्वं नाम, भगवतो भोग्यावस्थायामेव भोक्त्रीभिर्लभ्यमानत्वात्, **वेणोरित्यसमासादिति** असमासे ऐकपद्याभावात् पदानां पार्थक्यं, तेन पार्थक्यमेव सूच्यते तद्वाच्यानां, अतो **वेणुमध्ये सा सुधा नेत्युक्तं**, ततः **कर्णद्वारेत्यारभ्य करोतीत्यन्तं** सुधायाः शब्दसम्बद्धत्वाच्छब्दस्य श्रोत्रमात्रग्राह्यत्वात् कर्णद्वारा प्रवेशः, तथैव वर्णनसमये शब्दसम्बद्धाया एव मुखे समागमनं, **तत्राप्याधिदैविकरूप** इति लक्ष्मीसमानस्त्रीविग्रहप्राप्तावित्यर्थः, **मुख्यो रस भोग इति** उच्छिष्टरीत्या भोग इत्यर्थः, **भगवद्भोगानन्तरमेवेति** भगवत्कर्तृकभोगानन्तरमित्यर्थः, भगवान् भोग्य इति रसाधिक्यवशात् स्त्रीभावे जाते सुधाभोगात् ताभिर्भोग्यो भवतीत्यर्थः, **आधिदैविकीं स्त्रियमिति** कात्यायनीमित्यर्थः, **स्वच्छन्दतामिति** भोग्यभक्तानां भोक्तृत्वमित्यर्थः, **स्वच्छन्दतामाहेति** गोपवृन्दसाहित्येन निर्भयत्वसम्पादनात् स्वच्छन्दता सम्पद्यत इत्यर्थः, अत एवोक्तं "शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिण" इति, ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता? तत्राह **स्वपदरमणमिति**, अत्र स्थलत्रये प्रवेशः, "वृन्दारण्यं प्राविश" दित्युक्त्या वृन्दावने वनस्थितभक्तगणे व्रजस्थितव्रजसुन्दरीमनसि च प्रवेशात्, तत्र वृन्दावनभूमेर्भगवच्चरणसम्बन्धेनार्द्रत्वाच्चरणाङ्कितत्वेन **स्वपदरमणत्वं**, वनस्थितभक्तगणस्य रमणसमये हृदये चरणस्थित्या तथात्वं, व्रजस्थितभक्तानां मनस्याविर्भावे चरणानामाविर्भावात् तथात्वं, **धर्मस्थापनमाह गोपवृन्दैः सहेति** वृन्दावनप्रवेशपक्षे गोचारणरूपो धर्मो गोपवृन्दसाहित्येन स्थापितः, वनस्थितभक्तगणप्रवेशपक्षे वनस्थितभक्तानां लज्जाजन्यगोपनादिधर्मो भगवतो गोपवृन्दसाहित्याद् भवति गोपवृन्दस्यान्तरङ्गत्वात्, "एते देवाः साक्षिण" इति पूर्वमुक्तत्वात्, **अवशिष्टेत्यादि** 'स्वपदरमण" मित्यनेन भक्तेरुक्तत्वाद् गोपवृन्दैरित्यनेन धर्मस्योक्तत्वादर्थकाममोक्षाणामवशिष्टत्वं, तच्च "गीतकीर्ति"रितिपदेनोच्यते इत्याहुः **गीतकीर्तिरितीति**, व्रजस्थितसुन्दरीभिर्गीता कीर्तिर्यस्येत्युक्तौ गुणगानमेव तासामर्थरूपः पुरुषार्थः, वनस्थितस्त्रीभिर्गीता कीर्तिर्यस्येतिपक्षे आसक्तिमतीभिस्तादृशरसरूपस्य भगवतो गुणगानेऽनासक्तानामपि गुणश्रवणात् कामरूपः पुरुषार्थः सिध्यति, शुकादिभिर्गीता कीर्तिर्यस्येतिपक्षे तादृक्कीर्तिश्रवणादस्मदादीनां मोक्षः सिध्यति, एवं "गीतकीर्ति"रित्यनेनार्थकाममोक्षस्थापनमुक्तम् ॥ ५ ॥ इति **वेणुरवमित्यस्याभासे स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमित्यादि** भगवतः **स्त्रीभावो** लक्ष्मीसमानत्वं रसोद्रेके भोग्यत्वमितियावत् **स स्त्रीभावः पुष्टिमार्गे तत्त्वं**, भगवतो भोग्यत्वेन भक्ताधीनत्वाद् भक्तानां भोक्तृतया स्वाधीनत्वात्, "कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यत" इति पञ्चमस्कन्धनिबन्धे पुष्टिमार्गलक्षणात्, **इति कृष्णपदार्थ** इति स्त्रीभावापन्नो भगवान् कृष्णपदवाच्य इत्यर्थः, तादृशभावापन्नस्य भगवतः परमानन्दरूपत्वात्, रसशास्त्रे तथोक्तत्वात्, "कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकस्तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत" इतिश्रुतौ परमानन्दरूपतया कृष्णपदनिर्वचनात्, **क्वचिद् विवृत इति**

वेणुनादस्य बहुवारं जायमानत्वेपि नैतादृशसुधासंवलितो जायतेतः क्वचिद् वेणुनादेधरसुधासंवलिते कृष्णपदार्थो विवृत इत्यर्थः, सुधासंवलितत्वकथनात् सुधासार्थक्याय भगवतः स्त्रीभावोपेक्षितः, स एव कृष्णपदार्थः, सोस्मिन् वेणुनादे विवृतः, "अधरसुधया पूरय" न्नित्युक्तेः, स्त्रीभावाभावे भगवदधरसुधाया वैफल्यं स्यादतोधरसुधासाहित्योक्तेः "स्त्रीभावो विवृत" इति ज्ञेयं, अतो वेणुनादस्यैव प्राधान्यात् "तमेव वर्णयितुमारेभिर इत्युक्तं, राजन्नितेति "राजर्षिसत्तम" त्यादिपदान्यनुक्त्वा "राज" पदमात्रमवत्तु, राजपदं तु प्रजापालनादिस्वधर्मनिष्ठतावाचकं, तेन धर्मनिष्ठतामात्रस्यात्र सूचनाद् रसानभिज्ञत्वं सूचितं, तद् व्रजस्त्रिय इत्यादेः सङ्गतिं प्रदर्शयन्ति पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेणेत्यादिना, "तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्ये" त्यनेन प्रथमश्रवणे वर्णनार्थमुद्योग उक्तः, "तद् वर्णयितु"मित्यनेन स्मरवेगेन चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता, ततो "बर्हापीड"मित्यनेन वर्णनशक्तिहेतुः सुधाप्रवेश उक्तः, तत "इति-वेणुरव" मित्यनेन परितः सुधागलनरूपं वर्णनमुक्तं, व्रजस्त्रिय इति कार्यान्तराभावः सूचित इति, व्रजसम्बन्धित्वेनाङ्गीकृतत्वाद् गुणगानातिरिक्तकार्याव इत्यर्थ; तथा च सेवासमये सैव क्रियते, वियोगावस्थायां तु गुणगानमितिविवेकः ॥ ६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'कीदृशस्य कृष्णस्य स्मरणं तासां मनसः क्षोभकं जातम् ?' इत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह—बर्हापीडमिति । द्वितीयान्तानां पदानां 'बिभ्रत्' इत्यनेन सम्बन्धः । बर्हाणां मयूरपिच्छानां आपीडं शिरोभूषणं, नटवरवद्वपुः, कर्णयोः कर्णिकारं कर्णिकारपुष्पं, कनकवत् कपिशंपीतं वासः, वैजयन्तीं पञ्चवर्णपुष्पग्रथितां मालां च । अधरसुधया मुखवायुना वेणो रन्ध्रान् वंशीच्छिद्राणि पूरयन् वेणुं वादयन्नित्यर्थः । 'अधरसुधा' इत्यनेन नूनमधरसुधैव पूर्णाद्वेणोरुच्चलन्ती गीतवत् प्रसर्पितुमर्हतीति गीतस्यालौकिकत्वादित्युत्प्रेक्षासूचनम् । गोपानां वृन्दैः समूहैर्गीता कीर्तिर्यशो दैत्यवधस्वरक्षादिरूपा यस्य सः कृष्णः स्वपदैस्तत्रतत्राङ्कितैः रमणं रतिजनकं वृन्दारण्यं प्राविशत्॥५॥एवंभूतं कृष्णं तच्चरितं च स्मरन्त्यः स्मरवेगेन तं वर्णयितुमशक्ता अपि कतिचिल्क्षणानन्तरं स्मरवेग उपशान्ते सति पुनर्लब्धाश्वासा वर्णयामासुरित्याशयेनाह—इतीति । 'त्वयापीदं वक्ष्यमाणं सावधानतया श्रोतव्यम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—राजन्निति । एवंभूतं सुधारूपेणोत्प्रेक्षितमलौकिकम्, अत एव सर्वभूतानां मनोहरं वेणुरवं व्रजे स्थिताः स्त्रियः श्रुत्वा ताः सर्वा एव पर्यायेण यथासम्भवं श्रीकृष्णस्वरूपमाधुर्यचरितादिकं वर्णयन्त्यो अभिरेभिरे पदे पदे परमानन्दमूर्तिं तं मनसा परिरब्धवत्यः ॥ ६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मनःक्षोभहेतुं कृष्णं वर्णयति—बर्हापीडमिति ॥ द्वितीयान्तानां पदानां बिभ्रदित्यनेन संबन्धः । बर्हाणां मयूरपिच्छानाम् आपीडं शिरोभूषणं बिभ्रत् । बर्हमापीडं यत्रेति वस्तुविशेषणं वा । नटवर इव वपुः बिभ्रत् कर्णयोः कर्णिकारं पद्माभं पीतपुष्पं बिभ्रत् । एवमेव कदाचिद्दक्षिणे इति यौवनमत्ततोक्ता । कनकमिव कपिशं पीतं वासः बिभ्रत् वैजयन्तीं पञ्चवर्णपुष्पग्रथितां मालां च बिभ्रत् अधरसुधया मुखवायुना वेणोः रन्ध्रान् वंशीच्छिद्राणि पूरयन् वेणुं वादयन्नित्यर्थः । नूनमधरसुधा एव पूर्णाद्वेणोरुच्चलन्ती गीतवद्भाति इत्युत्प्रेक्षा सुधाशब्देन व्यज्यते । गोपानां वृन्दैः समूहैर्गीता कीर्तिर्यशो दैत्यवधस्वरक्षादिरूपा यस्य सः कृष्णः स्वपदैस्तत्र तत्राङ्कितैः रमणं रम्यं वृन्दारण्यं प्राविशत् ॥ ५ ॥ इतीति ॥ हे राजन् ! ततः स्वरवैयग्र्ये किंचिच्छान्ते एवंभूतं सर्वभूतानां मनोहरं वेणुरवं व्रजे स्थिताः सर्वाः स्त्रियः श्रुत्वा श्रीकृष्णगुणान्वर्णयन्त्यः अभिरेभिरे । पदे पदे परमानन्दमूर्तिं तं मनसा परिरब्धवत्यः । यद्वा । भगवद्ध्यानानन्दव्याप्ताः मिथः परिरेभिरे तन्मयतयाऽन्योन्यं कृष्णं मत्वा वा ॥ ६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स्वमनसि स्मरणेन गोपीभिः प्रत्यक्षं दृष्टं कृष्णं वर्णयन् शुकः प्राह बर्हेतिबर्हः मयूरपिच्छमय आपीडः शिरोभूषणं यस्मिंस्तत् । नटोनर्त्तकस्तद्वत्वरं श्रेष्ठं वपुर्बिभ्रत् बर्हमयं मयूरपिच्छमयमापीडं बिभ्रदिति वा बिभ्रदिति प्रतिवाक्यं योज्यं कर्णिकारं कर्णिकापुष्पगुच्छं कनकवत्कपिशं पीतवस्त्रं वैजयंतीं पंचवर्णपुष्परचितां । अधरसुधया अधराऽमृतेन वेणोः रंध्रान् रंध्राणि छिद्राणि पूरयन् गोपवृंदैः गीतकीर्त्तिः निक्षितैः स्वपदैः रमणां प्रीतिप्रदं वृंदावनं प्राविशत् ॥ ५ ॥ अथ चित्तं समाधाय वर्णनं कुर्वंत्य इत्याहुः इतोति दिव्यदृष्टिं प्राप्ताः व्रजस्त्रियः श्रुत्वा परस्परं वर्णयंत्यः अनवधिकातिशयानंदजनकं कृष्णमभिरेभिरे मनसा आलिंगयंत्यः ॥६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

कीदृशं कृष्णचेष्टितमित्यत्राह ॥ बर्हेति ॥ नटेषु वरः तस्य वपुरिव वपुर्यस्य स कृष्णः, स्वशिरसीति शेषः । बर्हाणि मयूरपिच्छानि तन्मय आपीडः शिरोभूषणं तं, बिभ्रत्, कर्णयोः श्रवणयोः, कर्णिकारं द्रुमोत्पलकुसुमं, 'अथ द्रुमोत्पलः कर्णिकारः' इत्यमरः । कर्णिकारकुसुमावतंसमित्यर्थः । बिभ्रत्, धन्वन्तरिनिघण्टौ आरग्वधपर्यायः कर्णिकार उक्तः । केचित्तु कर्णिकारं लाङ्गली-कुसुममित्याहुः । कनककपिशं सुवर्णसमपीतवर्णं, वासः पीताम्बरमित्यर्थः । बिभ्रत्, वैजयन्तीं श्वेतरक्तपीतनीलकृष्णवर्णकुसुमरचितां मालां च बिभ्रत्, 'आपादलम्बिनी माला वैजयन्ती प्रकीर्त्तिता' इत्यन्ये । पञ्चवर्णरत्नरचिता माला वैजयन्तीत्यपरे । वेणोर्वंश्या,

रन्ध्रान् अधरसुधया पूरयन्, अघरोपरि वेणुं निधाय वायुपूरणेन तं निनादयन्नित्यर्थः। रन्ध्रशब्दस्य कोशेषु क्लीबत्वेन प्रतीयमानत्वेऽपि ना ननाऽस्त्रियामित्यादिविशेषानुपादानात्तस्य प्रायिकत्वतोऽन्यलिङ्गेऽपि सत्त्वेक्षयात्र पुंस्त्वमुक्तम्। गोपवृन्दैः, गीता कीर्त्तिर्यस्य सः, एवंविधः सन्, स्वपदरमणमूर्द्ध्वरेखादिषोडशलक्ष्मयुतस्वपादन्यासरमणीयतोपेतं, वृन्दारण्यं वृन्दावनं, प्राविशत्। उक्तत्वेवं श्रीकृष्णं बर्हापीडादिधारणवेणुरन्ध्रपूरणवृन्दावनप्रवेशात्मकं तच्चेष्टित्रं च स्मरन्त्यः सत्यः गोप्यः वर्णयितुं नाशकन्निति पूर्वेणान्वयः॥ ५॥ एवं तावद्वर्णयितुमशक्तास्ततः शनैर्लब्धाश्वासा वर्णयामासुरित्याह॥ इतीति॥ हे राजन्, इतीत्थं, सर्वभूतमनोहरं वेणुरवं श्रुत्वा, सर्वाः व्रजस्त्रियः, वर्णयन्त्यः कृष्णं तच्चेष्टितं च वर्णयन्त्यः सत्यः, अभिरेभिरे रमितवत्यः। पाठान्तरे पदे पदे परमानन्दमूर्त्ति श्रीकृष्णं परिरब्धवत्यः। वर्णयितुं बुद्धौ संनिधापितं मन्मथं भगवन्तं बुद्धया आलिङ्गितवत्य इत्यर्थः॥ ६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

बर्हापीडमिति : १०.२१.५.

> सच्चित्सुखात्मकमनन्तमगाधसारं रूपं विभोस्तदवगत्य सदैव चित्ते।
> ध्यानार्थमाकृतिविशेषमशेषसौख्यप्रेमास्पदं कलयते कृतगः क्षमं तत्॥ १४॥

कृष्णप्रिया

वे मन ही मन देखने लगी कि श्रीकृष्ण ग्वालबालों के साथ वृन्दावन में प्रवेश कर रहे हैं उनके सिरपर मयूर पिच्छ हैं और कानों पर कनेर के पीले पीले पुष्प शरीर पर सुनहरा पीताम्बर और गले में पांच प्रकार के सुगन्धित पुष्पों की बनी वैजयन्ती माला है, रंगमञ्चपर अभिनय करते हुए श्रेष्ठ नटकासा स्याही सुन्दर वेष है, बासुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं, उनके पीछे-पीछे ग्वालबाल उनकी लोकपावन कीर्ति का गान कर रहे हैं, इस प्रकार वैकुण्ठ से भी श्रेष्ठ वह वृन्दावन धाम उनके चरण चिह्नों से और भी रमणीय बन गया है॥ ५॥ परीक्षित! वह वंशीध्वनि जड़-चेतन समस्त भूतों का मन चुरा लेती है, गोपियों ने उसे सुना और सुनकर उसका वर्णन करने लगीं वर्णन करते-करते वे तन्मय हो गयीं और श्रीकृष्ण को पाकर आलिङ्गन करने लगी॥ ६॥

गोप्य ऊचुः

> अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः [1]पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
> वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं [2]यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥ ७॥
> चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज[3]मालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ।
> मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रङ्गे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ॥ ८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे सख्यः अनुवेणु अनुरक्तकटाक्षमोक्षम् वयस्यैः पशून् अनुविवेशयतोः व्रजेशसुतयोः वक्त्रं यैः निपीतम् वा इदम् अक्षण्वतां फलं परं न विदामः॥ ७॥ चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालाऽनुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये गायमानौ अलंविरेजतुः यथा रङ्गे गायमानौ नटवरौ (राजेते)॥ ८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनुवर्णनमेवाह अक्षण्वतामिति त्रयोदशभिः। अक्षण्वतां चक्षुष्मतां तावदिदमेव फलं प्रियदर्शनं परमन्यन्न विदाम्रो न विद्म इत्यर्थः। तच्च फलं सखिभिः सह पशून्वनं प्रवेशयतो रामकृष्णोर्वक्त्रं यैर्निपीतं सादरं दृष्टं तैरेव जुष्टं सेवितं नान्यैरित्यर्थः। कथंभूतं वक्त्रम्। अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं तं वादयत्। तथाऽनुरक्तकटाक्षमोक्षं स्निग्धकटाक्षविसर्गम्। अथ वा यैर्निपीतं तयोर्वक्त्रं तैर्यज्जुष्टमिदमेवाक्षण्वतामक्ष्णोः फलमिति॥ ७॥ अन्या आहुः। चूतेति। चूतप्रवालादीनां चित्राभिर्मालाभिरनुपृक्ते ईषदंतरांतरा संयुक्ते परिधाने नीलपीतांबरे ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ क्व च कदाचित्पशुपालगोष्ठ्यां गोपालसभायां मध्ये अलमत्यर्थं विरेजतुः। अहो गोपलानां पुण्यमिति भावः॥ ८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तावत् मुख्यम्। इत्यर्थ इति। वेत्तेरादादिकत्वादार्षः शवादिरित्यर्थः। वक्त्रम् मुखम्। यैः पुरुषैः। तैरेव जुष्टम् नेत्रफलं प्राप्तमिति। इत्यर्थ इति। अन्येषां निष्फलनेत्रत्वमिति भावः। "बर्हायिते ते नयने नराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये"

१. पशूनभि–विज.। २. यैस्थैनिपीत–वीर.; यैर्वैनिपीत–विज.। ३. युक्त–वीर.; रक्त–विज.।

इत्युक्तेः। ननु मनुष्यास्तु भगवद्गुणश्रवणादिद्वारा कर्णादिभिरपि कृतार्था भवंति किमेकेन चक्षुषेति चेत्तदा प्रकारांतरमाह—अथ वेंति। यैश्चक्षुर्भिर्निपीतं तैरेव चक्षुर्भिर्यद्दर्शनं जुष्टं प्राप्तम्। इदमेव कृष्णदर्शनमेव। नेत्रवतां नेत्रयोः साफल्यं न तु प्रियपुत्रादिदर्शनमपि नेत्रयोः साफल्यकरमिति भावः। ब्रजेशसुतयोरिति। 'तातं भवंतं मन्वानः' इति वसुदेवोक्तेः "रामोभिवाद्य पितरौ" इति श्रीशुकोक्तेश्च बलदेवस्यापि व्रजेशसुतत्वं व्रजे प्रसिद्धमेव। अभीप्सितोर्थस्त्वयम्—व्रजेशसुतयोर्मध्येऽनुपश्चाद्वर्त्तिनो यस्य वक्त्रं वेणुजुष्टं तत् यैर्वेति। वाशब्देन यैर्जुष्टं दृष्टं श्रुतमाघ्रातं यैर्वा नितरामतिशयेन पीतम्। 'वै' इति पाठे वै निश्चितमेव लज्जाधैर्ये अपि त्यक्त्वा निपीतं तेषामेवाक्षवतां जनानां चक्षुरादींद्रियाणां साफल्यं नान्येषाम्—तदद्य दीयतां कुलधर्मभयलज्जादिभ्यो जलांजलिरिति भावः। ननु दर्शनश्रवणमस्माकं कुलवतीनां संभवतु नाम वक्त्रकर्मकं निपानं तु ह्रीमतीनां कथं संभवेत्तत्राहुः—अनुरक्तेषु जनेषु कटाक्षस्य मोक्षो येन तत्तथा संधाय, कटाक्षरो मुच्यते यथा तदाघातेन विह्वलीभूय लज्जाधैर्यादिकमपि विस्मृत्य तत्तास्यमेति भावः॥ ७॥ अन्याः भगवत्तत्त्वज्ञाः। चूतप्रवालम् आम्रपत्रम्. बर्हम् मयूरपिच्छम्, स्तवकः पुष्पगुच्छः, उत्पलाब्जा प्रसिद्धौ। रङ्गे नटादीनां नर्तनस्थले "रंगं स्थले नाट्यादियोग्यभूमिके। सीसके चापि कार्पासे पुंभूम्नि नीवृदंतरे॥" इति धरणिः। गाये गाने मानः सर्वेदंत्त आदरो ययोस्तौ। यद्वा—गाये गाने मानो गर्वो ययोस्तौ, स चास्मत्तुल्यस्त्रिलोक्यामपि गायको नास्ति के यूयं वराका गोपा इति प्रकारः। इति भाव इति। यो योगिनां ध्यानपथेनाप्नोति स सर्वेश्वरः। गोपेषु तदानुकूल्येनास्त इत्यद्भुतं गोपादृष्टमिति तात्पर्यम्॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

श्रीगोप्य ऊचुरिति तेषामसम्मतं लक्ष्यते अनुवर्णनमेवाहेति लिखितत्वात् पुनरुक्तत्वेन एकत्वायोग्यत्वेन च तदनर्हात् किन्तु सपाठः सर्वत्रैव दृश्यते "यासां बुद्धयेत वागर्थौ यासामेव प्रसादतः। गोपीः प्रपद्ये ताः याभिः सगम्भीराशयोजितः" अथ पूर्वोक्तानुसारेणाऽवहित्थया रामसहितमेव वर्णयन्त्योपि स्वभावव्यञ्जितार्थविशेषेण तथा न शेकुरिति दर्शयति—अक्षण्वतामिति। अत्र तेषां व्याख्या सङ्गतिः क्रियते चक्षुष्मतां तावदिदमेव फलं विद्मः परमन्यत् प्रियदर्शनमपि फलं न विद्मः नन्विदमिति किन्तत्राह–तच्चेत्यादि। निपीतमनुभूतं जुष्टमास्वादितम् अथवेति यैर्निपीतं तयोर्वक्त्रं तैर्यज्जुष्टं तदिदमेव तेषामक्ष्णोः फलमित्यर्थः। उभयत्र तेषामेनास्वादविषयस्तदिति कथमन्ये बोधयितुं शक्यन्त इति भावः। किञ्च, विशेषतया निर्देशमकृत्वा प्रथममिदं तथैव निर्देशः सुगोप्यत्वेन सहसा नामप्रकाशनायोग्यत्वात्। यद्वा, प्रेमभरोदयवैवश्येन सद्यस्तद्विशेषनिर्देशाशक्तेः परमन्यत् सर्वं पशूनित्यादिना तथा तस्य चान्यैः सहितस्य अन्यदा अन्यथा वा दर्शनमपीति विवक्षितं नच्चाक्ष्णोः फलं न विद्म वयमिति अन्ये जनास्त्वन्यत् जानन्तु नामेत्यर्थः। एषासोल्लुण्ठोक्तिः अतोऽस्माकं चक्षुस्साफल्यं न किमपि वृत्तं तदानीं तथा तद्दर्शनाभावादित्यर्थः। यद्यपि यत्र तत्र यदा तदा येन तेन प्रकारेण तद्वक्त्रजोषणमेव चक्षुःफलं व्रजान्तस्तु तासां तत् सुष्ठुफलत्येव तथापि वनविहारे तथा तद्दर्शनौत्सुक्येन तथोक्तम् अयमेव हि निर्भरप्रेम्णोऽतृप्त्यार्त्तिविशेषलक्षणः स्वभावः हे सख्यः! इति युष्माभिरेतन्नितरां ज्ञायत एवेति भावः। अनु पश्चात् स्थित्वा वनाद्वनान्तरं वा विशेषेण प्रवेशेन सङ्केतमधुरशब्दादिना प्रवेशयतोः व्रजेशौ श्रीनन्दवसुदेवौ "वसुदेव इति ख्यातो गोषु तिष्ठति भूतले" इत्यादि श्रीहरिवंशोक्तानुसारेण वसुदेवस्यामि बहुलगोपसमृद्धे व्रजेशो गोपराजः श्रीनन्द एव तस्य सुतयोः श्रीबलदेवस्यापि तत्सुतत्वव्यवहारो दर्शित एव "भ्रातर्मम सुत" इत्यादौ "तातं भवन्तं मन्वानः" इति श्रीवसुदेवोक्तेः अत एव तस्य पुनर्व्रजागमने "रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः" इति वक्ष्यते अथ "स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्" इति दर्शितम् स्वभावव्यञ्जितार्थो यथा व्रजेशसुतयोर्मध्ये अनुपश्चात् वेणुजुष्टं वक्त्रं यैर्निपीतं श्रीकृष्णस्य वक्त्रमेव वेणुजुष्टतया पश्चात् भावेन कनिष्ठतया च प्रसिद्धम् अत एवैकत्वं नितरां पीतमित्यनेन वक्त्रस्य सुधामयचन्द्ररूपकत्वं ध्वन्यते वै प्रसिद्धं यद्वा छन्दसि "व्यवहिताश्च" (१।४।८२) इति न्यायेन अनुनिरन्तरं वेणुना जुष्ठु सेवितमिति अथवा वै शब्दः समुच्चये "मानिनामनुतापं वै" इति वत् वेति पाठोपि क्वचित् यैर्निपीतं सादरं सम्यक् दृष्टं तथा स्निग्धकटाक्षमोक्षं यथा स्यात् तथा जुष्टं च, यद्वा, अनुरक्तजनानां युष्माकं कटाक्षमोक्षो यस्मिन् (किंवा अनुरक्तजनेषु कटाक्षमोक्षो यस्मिन्) किंवा अनुरक्तजनेषु कटाक्षमोक्षो यस्य तदिति सेवायां सुखविशेषसम्पत्तिहेतुः तेषां अक्षण्वताम् इन्द्रियवताम् इदं निपानं जोषणं चैव फलं सर्वेन्द्रियसाफल्यं विद्मः नचान्यत् किमपि तन्निपानादिरूपस्य परमफलरूपतया सर्वेन्द्रियकर्मसाफल्यसिद्धेः अयमपि निगूढोऽभिप्रायः इदमेव परं केवलं फलं न विद्मः किन्तत् जुष्टं प्रीत्या दृष्टं यत् तर्हि किमन्यत् फलं तदाहुः यैरधरामृतपानद्वारा निपीतं तेषां यन्निपानरूपं फलम् इदमेवेति। यद्वा, वक्त्रञ्जुष्टं निपीतं यत् इदमेव चक्षष्मतां चक्षुः, फलं त्वर्थ वैशब्दः यैस्तु जनैः रसनेन्द्रियैर्वा निपीतं तेषां फलं किं वक्तव्यमिति शेषः। तत्स्मरणमात्रेण वाष्परुद्धकण्ठतया व्यक्तं वक्तुमशक्तेः किंवा विदग्धजनवर्गपूज्यपादानां तासां प्रेमोक्तिगाम्भीर्यस्यैव तादृशस्वभावात् अन्यत् समानम्॥ ७॥ तदेवमप्यर्थान्तरेण निजभावव्यक्तिं वितर्क्य पुनर्बाढावधानेन द्वितीयपद्ये तामपलेपुः पुनस्तु परमस्मरवेगेन तृतीयेन शेकुः चतुर्थादौ न किञ्चिदपि शेकुरित्याह—पञ्चभिः। चूतस्य प्रवालो नवपल्लवः स्तबकः पुष्पगुच्छः तत्र चूतपल्लवो बर्हं स्तबकश्च शीर्षिण उत्पलं तदन्तःकोशः कर्णयोः अब्ज लीलाकमलं दक्षिणकरे एतानि च मालानुपृक्तपरिधानानि च यानि तैर्विचित्रवेषौ पशुपालानां गोष्ठ्यां मण्डल्यां तत्रापि मध्ये अतो विशेषेण तेषु पृथक् पृथक् तत्तच्छोभाप्रकटनेन किंवा विविधं रेजतुः शुशुभाते

यथा नटवरौ रङ्गे विराजेते इत्यादिदृष्टान्तेन तयोर्नृत्यादिकं स्वाच्छन्द्यसुखादिकञ्च गोपानामपि तादृशवेषवैदग्ध्यादिकं वाद्यादिपरत्वं च ध्वन्यते अन्यथा नृत्यादिशोभाया असम्पत्तेः क्वच कदाचित इति क्रीडावशेन सदामध्येऽनवस्थानात् अलमिति व्रजमध्ये तु विविधसङ्कोचेन तादृशगानाद्यभावाद्विराजमानतासम्पत्तेः । अथवा अत्र पद्यपञ्चके सर्वासामेव तासां वाक्यत्वेन क्रमतः सर्वश्लोकानां मिथः सम्बन्धः कार्यः तथा हि अतो गोपानामेव तेषां चक्षुःसाफल्यं तदानीं तथा तद्वक्त्रदर्शनादिति पूर्वश्लोकाभिप्रायः न केवलं तेषां तद्दर्शनमात्र वनमध्ये वन्यविचित्रवेषयोस्तयोर्निजमण्डलीमध्ये स्वाच्छन्द्येन नृत्यगीताद्यनुभवश्च सुखं स्यादित्याहुः—चूतेति । गायमानौ गायन्तौ यद्वा गायेन गानेन मानः पूजा ययोः सर्वतो विशिष्टगानात् क्वचिदित्यस्यात्रैव वान्वयः । नृत्याद्यावेशेन सदा गानाऽकरणात् यद्वा कदाचिद्गायमाने मानः आवाभ्यां समो युष्मासु को गायकोऽस्ति अत्रागत्य हन्त गायत्वित्यादिप्रकारो गर्वो ययोस्तौ अयं च क्रीडामाधुरीविशेषः अतो गोपा एव धन्याः वयं तु नितरामधन्या एव तेन प्रकारेण तयोरस्मन्मध्येऽत्र लोकभयादिना स्वच्छन्दावस्थानाद्यसिद्धेः एवमग्रेऽपि वाक्यशेष ऊह्यः तद्धेतुर्लिखित एव ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

श्रीगोप्य ऊचुरिति तेषां सम्मतं लक्ष्यते, 'अनुवर्णनमेवाह' इति लिखितत्वात्, अन्यथा गोप्य ऊचुरित्यनन्तं वर्त्तमानस्य अक्षण्वतामित्यादेराभाषलिखने आहेति लेखायोग्यत्वात्, किन्तु तत् पाठः सर्वत्रैव दृश्यते ।

यासां बुद्धयेत वागर्थो यासामेव प्रसादतः । गोपीः प्रपद्ये ता याभिः सगम्भीराशयोजितः ॥

इदमित्यस्यादौ निर्द्देशो वक्ष्यमाणार्यस्य परमफलरूप सुगोप्यत्वेन सहसा प्राक् प्रकाशनायोग्यत्वात् यद्वा हृदयमाक्रान्ते तस्मिन् प्रेमभरोदयवैवश्येन सद्यस्तस्य विशेषनिर्देशाशक्तेः परं श्रीवृन्दावनादिपरमाश्चर्य्यदर्शनं तस्य चान्यैः सहितस्यान्यदान्यथा वा दर्शनमक्षणोः फलं न विद्मो वयम्, अन्ये जनास्त्वन्यज् जानन्तु नामेत्यर्थः । एषां सोल्लुण्ठोक्तिः—अतोऽस्माकं चक्षुसाफल्यं न किमपि वृत्तम्, तदानीं तथा दर्शनाभावादिति भावः । यद्यपि यत्र तत्र यदा तदा येन तेन प्रकारेण तद्वक्त्रनिपानमेव चक्षुः फलम्, व्रजान्तस्तु तासां तद्दर्शनं सुष्ठु फलत्येव, तथापि वनविहारे तथा तद्दर्शनोत्सुक्येन तथोक्तम् । अयमेव हि निर्भर-प्रेम्णोऽतृप्त्यार्त्तिविशेषलक्षणस्वभावः, हे सख्यः ! इति युष्माभिरेतन्नितरां ज्ञायत एवेति भावः । अनु पश्चात् स्थित्वा, यद्वा, वनात् वनान्तरं विशेषेण प्रवेशेन संकेतमधुरशब्दादिना प्रवेशयतोः, व्रजेशौ श्रीनन्द-वसुदेवौ 'वसुदेव इति ख्यातो गोषु तिष्ठति भूतले' इत्यादि-श्रीहरिवंशोक्तानुसारेण श्रीबलदेवस्यापि तत्सुतत्वम्, श्रीकृष्णसाहचर्य्यतः पुष्टपुत्रत्वाद्वा । यद्यपि श्रीकृष्णस्यैव वेणुगीतादिवर्णनप्रसंगेऽत्राग्रजस्योपयोगो न स्यात्, तथापि तत्साहित्येन श्रीकृष्णस्य शोभाविशेषविवक्षया, किंवा श्रीकृष्णविषयकनिजभावविशेषस्य स्वाभाविक-स्वलज्जयाच्छादनाय साधारण्येन द्वयोरप्युक्तिः । एवमग्रेऽपि तयोर्द्वित्वेनापि वक्त्रस्यैकत्वं नित्ययुगलत्वादिना वर्त्तमानानामप्यगानां जात्याद्यपेक्षया एकत्वादिनापि स्वत एव युगलत्वादिप्राप्तेः । इदञ्च पूर्व्वमपि विवृतमस्ति 'प्रपिबतोः स्म मुखम्' इत्यत्र; यद्वा, व्रजेशसुतयोर्मध्ये वेणुजुष्टं वक्त्रं यैर्निपीतम्, श्रीकृष्णस्य वक्त्रमेव वेणुजुष्टतया प्रसिद्धम्, नितरां पीतमित्यनेन वक्त्रस्य सुधामयचन्द्ररूपकत्वं ध्वन्यते । वै प्रसिद्धम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, छन्दसि (पाणिनि-सू. १।४।८२) 'व्यवहिताश्च' इति न्यायेन 'परि ये चरन्ति' इत्यादिवत् अनु निरन्तरं वेणुना जुष्टं सेवितमिति, अनुरूपेण वेणुना जुष्टमिति वा, अथवा वै-शब्दः समुच्चये, 'मानिनामनुतापं वै' इतिवत्; वेति पाठोऽपि क्वचित् । यैर्निपीतं सादरं सम्यक् जुष्टं तत् स्निग्धकटाक्षमोक्षं यथा स्यात्तथा जुष्टं च चामरादिवीजनांगसम्मार्ज्जनादिना च सेवितम् । यद्वा अनुरक्तजनानां युष्माकं कटाक्षमोक्षो यस्मिन्, किंवा, अनुरक्तः कटाक्षमोक्षो यस्य तदिति सेवायां सुखविशेषसम्पत्तिहेतुः । तेषामक्षण्वतामिन्द्रियवतामिदं निपानं जोषणं चैव फलं सर्व्वेन्द्रियसाफल्यं विद्मः, न चान्यत् किमपि । तन्निपानेन दृष्टेः साफल्येन साक्षात्कारस्य च परमफलरूपतया सर्व्वेन्द्रियकर्म्मसाफल्यसिद्धेः । विशेषतश्च वीजनस्पर्शनादिसेवया त्वगादिनामपि नितरां साफल्यसुसिद्धेः सर्व्वेन्द्रियाणामिव साफल्यं सिद्धम् । अथवा, इदमेव परं परमं केवलं वा फलं न विद्मः; किं तत् ? जुष्टं प्रीत्या दृष्टं यत् । तर्हि किं परं फलम् ? तदाहुः—यैरधरामृतपानरूपं फलम्; इदमेव परं फलं विद्म इत्यर्थः, (भा. ११। ८।२१) 'जितं सर्व्वं जिते रसे' इत्यादिन्यायेन मुख्यस्य रसनेन्द्रियस्य तन्निपानेन साफल्यसिद्ध्या, विशेषतश्च सर्व्वफलवर्गपूज्यतदधरामृतपान-सम्पत्त्या सर्व्वेन्द्रियाणामेव साफल्यस्य स्वतः सुसिद्धेः । अतस्तदानीमस्माकं तदप्राप्त्या सर्व्वमेव व्यर्थमिति भावः । एतच्चात्यन्तोत्कण्ठयोक्तम् । यद्वा, वक्त्रं जुष्टं यत्, इदमेव चक्षुष्मतां चक्षुःफलम् । त्वर्थे वै-शब्दः, यैस्तु जन रसनेन्द्रियैर्वा निपीतं तेषां फलं किं वक्तव्यमिति शेषः,—तत्स्मरणमात्रेण बाष्परुद्धकण्ठतया व्यक्तं वक्तुमशक्तेः, किंवा, विदग्धजनवर्गपूज्यपादानां तासां प्रेमोक्तिगाम्भीर्य्यस्यैव तादृशस्वभावात् । अन्यत् समानम् ॥७॥ चूतस्य प्रवालो नवपल्लवः, स्तबकः पुष्पगुच्छः, पशुपालानां गोष्ठ्यां मण्डल्यां तत्रापि मध्ये, अतो विशेषेण तेषु पृथक् पृथक् तत्तच्छोभाप्रकटनेन, किंवा विविधं रेजतुः शुशुभाते; यथा नटवरौ रंगे विराजेते इति दृष्टान्तेन तयोर्नृत्यादिकं स्वाच्छन्द्यसुखादिपरत्वञ्च ध्वन्यते; अन्यथा नृत्यादिशोभाया असम्पत्तेः । क्व च कदाचिदिति क्रीड़ावशेन सदा मध्येऽनवस्थानात्; अलमिति कदाचित् पित्रोरस्माकमपि वा अन्तिके तस्यावस्थितावपि विविध-संकोचेन तादृशगानाद्यभावाद्विराजमानसम्पत्तेः । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, प्रतिश्लोकं वक्त्रीभेदमकल्पयित्वा गोष्ठीभेदेन श्लोकानां संगतिः,

क्रियते, तत्राद्यैः षड्भिरेकस्या गोष्ठ्या वाक्यम्, अन्यथा सप्तमश्लोके वर्ण्याभ्यो गोभ्यः षष्ठश्लोकोक्तदेवीनां महात्म्यापत्त्या विवक्षितासिद्धिः। यद्वा, गोष्ठीभेदमप्यकल्पयित्वा सर्व्वासामेव तासां वाक्यत्वेनाक्रमतः सर्व्वश्लोकानां मिथः सम्बन्धः कार्य्यः। तथा हि, अतो गोपानामेव तेषां चक्षुःसाफल्यं तदानीं तथा तद्वक्त्रदर्शनादिति पूर्व्वश्लोकाभिप्रायः। न केवलं तेषां तद्दर्शनमात्रम्, वनमध्ये वन्यविचित्रवेषयोस्तयोर्निजमण्डलीमध्ये स्वाच्छन्द्येन नृत्यगीताद्यनुभवश्च सुखं स्यादित्याहुः—चूतेति। गायमानो गेणुनेव गायन्तौ यद्वा, गायेन गानेन मानः पूजा ययोः, सर्व्वतो विशिष्टगानात्, क्वचिदित्यस्यात्रैव वान्वयः। नृत्यादिश्रमेण सदा गानाकरणात्, यद्वा, कदाचिद् गाये गाने मानः, 'अवाभ्यां समो युष्मासु को गायकोऽस्ति, अत्रागत्य हन्त गायतु' इत्यादिप्रकारो गर्व्वो ययोस्तौ; अयं च क्रीडामाधुरीविशेषः। अतो गोपा एव धन्या वयन्तु नितरामधन्या एव, तेन प्रकारेण तयोरस्मन्मध्येऽत्र लोकभयादिनाऽसंकोचतोऽवस्थानाद्यसिद्धेः। एवमग्रेऽपि वाक्यशेष ऊह्यः तद्धेतुर्लिखित एव ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अक्षण्वतां चक्षुष्मताम् ॥ ७-८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वर्णनामेवाह—अक्षण्वतामित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति। इतीत्यस्य वक्ष्यमाणप्रकारेणेतिवाऽर्थः तदा तमेव प्रकारमक्षण्वतामित्यादिना दर्शयति; हे सख्यः चक्षुष्मतां जनानां चक्षुषामिदमेव फलमन्यत्तु न विद्मः, किं तत् ? व्रजेशस्य नन्दस्य सुतयोरामकृष्णयोर्वक्त्रं मुखं यैर्नितरां पीतमनुभूतं दृष्टमिति यावत् तदेतत् यैर्वा निपीतमिति पाठः यैस्तैर्निपीतमिति च पाठो दृश्यते तदा यैश्चक्षुर्भिः साधनैस्तैरक्षण्वद्भिः कर्तृभिर्निपीतमित्येतदर्थः। कथम्भूतयोर्वयस्यैः समानवयस्कैः गोपैः सह पशूननुविवेशयतोः वनं प्रतिप्रवेशयतोः कथम्भूतं वक्त्रम् ? अनुवेणु वेणुमनुवर्त्तमानं वेणुं वादयदित्यर्थः जुष्टं पश्यतां निरतिशयप्रीतिविषयमनुरक्तानां स्निग्धानां कटाक्षाणां मोक्षो विसर्गो यस्मिंस्तथाभूतम् ॥ ७ ॥ अन्यास्त्वाहुः—चूतेति। एवमुत्तरत्रापि अत एव सर्वत्र वक्तृभेदान्नातीव सङ्गतिरपेक्षिता चूतपल्लवादीनां मालाभिरनुयुक्ते ईषदन्तरान्तरासयुक्ते अनुपृक्तेति पाठे स एवार्थः परिधाने नीलपीताम्बरे ताभ्यां विचित्रौ वेषौ ययोस्तौ क्वच कदाचिद्गायमानौ गोपसभायां मध्ये नितरां विरेजतुः यथा रङ्गे नटश्रेष्ठौ तथा अहो पश्यतां गोपानां महद्भाग्यमिति भावः ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोपस्त्रीणां वर्णनप्रकारं दर्शयति—अक्षण्वतामित्यादिना। यैर्व्रजेशसुतयोः रामकृष्णयोर्वक्त्रं नितरां पीतं दृष्टिभिरिति शेषः। तेषां तेषामक्षण्वतां चक्षुष्मतां चक्षुषामिदं फल लाभं विदामो न परं नान्यत् फलम् अन्यस्य नरकदुःखफलहेतुत्वात् हे सख्यः ! कीदृशयोर्वयस्यैः पशूनभिनिवेशयतोः अनुसन्ध्यं गाष्ठे इति शेषः अनुवेणोः पश्चाद्भागे जुष्टं चुम्बितम् अनुरक्तः स्निग्धः कटाक्षमोक्षो यस्मिंस्तत्तथा ॥ ७ ॥ चूतस्य प्रवालादिभिः अनुरक्तपरिधानेन विचित्रः नानाविधः वेषो ययोस्तौ तथा अनुरक्तम् अनुरागोपेतं पशुपालगोष्ठ्यां गोपगोष्ठ्यां मध्ये गवां समष्टिः संवार्ता गोष्ठ्यशाला च कथ्यत इत्युत्पलमाला क्वच क्वचित्स्थले गायमानौ तिष्ठत इति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गोप्य ऊचुरिति न टीकासम्मतम् अनुवर्णनमाहेत्यत्र पुनरुक्त्यापातात् एकत्वायोग्यत्वाच्च ॥ ७-८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

व्रजस्त्रियः सर्वा इति सर्वशब्दस्य सामान्यवचनत्वान्नात्र विरोधः; तदेव किमित्याह—अक्षण्वतामित्यादि। हे सख्य ! इति समानवासनाः प्रति सम्बोधनम्। अक्षण्वतां चक्षुष्मतामिदं फलमिदमेव फलमिति भावः। न परं नान्यत्। कुतः विदामः ? सर्वानुभव एव प्रमाणम्। किं तदित्याह—पशूनित्यादि। वयस्यैः सह पशूननुविविवेशयतोर्व्रजेशसुतयोर्वक्तुं यैर्निपीतम्, तयोरक्षिकरणकं वक्तुपानमेवाक्षिमतां फलमिति वाक्यार्थः। कीदृशम् ? अनु अनुक्षणं वेणुना जुष्टं सेवितमिति। रामकृष्णयोरेव वात्सल्याद्द्विवचनेनोपपादनमिति। श्रीकृष्णे वनं गते सखिमातरोऽपि पुत्रादिकं विस्मृता वात्सल्यात्तावेव वेणुनादलीलापूर्वकं गाश्चारयन्तावनुस्मरन्त्या ऊचिरे। एवमनुरक्ताश्चानुवर्णयन्ति। तथाहि हे सख्यः ! स्वजातीयाः प्रति सम्बोधनम्। व्रजेशसुतयोर्मध्ये अनुवेणुजुष्टं वक्तुं यैर्निपीतम्, तेषामक्षण्वतामिदं वेणुजुष्टवक्तुपानमेव फलम्। तासां रामे रत्यभावान्निर्धारणेन श्रीकृष्णविषयमात्ररतिमत्त्वं दर्शितम्। अनुगतवेणुजुष्टत्वेन कृष्णवक्त्रस्यैव प्रसिद्धः। एवमनुरक्तानां मध्ये ज्येष्ठ कनिष्ठभेदाद्या द्विधा अन्यांस्तासामेव मध्ये सखीभावेन कनिष्ठाभिमानित्यो राधानुचर्य एव सजातीयाभिरन्याभितीतोभयसंयोगलीलां वनगते कृष्णे तद्गतचित्ततया वर्णयन्ति उभयोः सख्यः। ननु विचित्रमिदमेव अक्षण्वतां फलमिति पूर्ववदेव। किं तदित्याह—व्रजेशसुतयोः, व्रजेशो नन्दः, व्रजेशो वृषभानुः व्रजेशश्च व्रजेशश्च व्रजेशावित्ये-

कशेषः, पुनः सुतश्च सुता च सुतौ पुनः षष्ठीतत्पुरुषः, यथासंख्यतया व्रजेशसुतयोरिति कृष्णराधयोर्वक्त्रं यैर्निपीतम्; एकत्वं जातिविवक्षया। कीदृशम् ? अनुवेणु अनुगतोवेणुर्यत्रेति श्रीकृष्णमुखविशेषणम्; जुष्टं सेवितमर्थात् श्रीकृष्णेनैवेति श्रीराधावक्त्रविशेषणमनुरक्तानां कटाक्षाणां मोक्षो यस्माद्वयोरेव विशेषणम्। कीदृशयोः ? पशुविवेशयतोः अन्योन्यवेषं प्रापयतोः, 'चादयोऽसत्त्वे' इति चादिमध्ये पशुशब्दपाठादसत्त्व इति पश्वादि व्यावर्त्य वेषमेवाभिधत्ते। पशुशब्दोऽव्ययो वेषरचनायां 'पशुर्नरगोमहिष्यादिषु' इत्यादि कोषान्तरम्, प्रयोगश्च 'क्रीडा यत्र प्रकरमकरी पाशुपाल्यं हि वृत्तिः' इति। लोके च पशुपालो वेषकारीति, वयसि भवं वयस्यं यशस्यादिवत्, लावण्यमिति यावत्; अनुरागविकार प्रतिवातैः करणे विशेषणे वा तृतीया॥ ७॥ अन्या वत्सला एवोचुः—चूतप्रवालेत्यादि पशुपाल-गोष्ठ्यां तौ रामकृष्णौ विरेजतुरिति तच्छब्दोऽध्याहार्यः। कस्मिन् काविव ? रङ्गे नृत्यस्थले नटवराविव। कीदृशौ ? चूतेत्यादितुल्यम्, अलमत्यर्थम्; यद्वा, पूर्ववद्राधा सहचर्य एव तौ व्रजेशसुतौ, पूर्ववत् समासः कुत्र ? पशुपालगोष्ठ्यां पशुपाः पशुपाल्यो वेषकर्त्र्यः सहचर्यस्ता लातीति तथा, सा चासौ गोष्ठी चेति पुंवद्भावे पशुपालगोष्ठी तस्याम्। कस्मिन्। काविव ? नठवरौ नटनं नटः, नटे नृत्ये वरो नटवरः, नटवरा च नटवरश्च नटवरौ, ताविव, तुल्यमन्यत्। इदं तु राधायाः परोक्षमेव मन्तव्यम्॥ ८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तत्र प्रथममेव श्री यशोदासहचर्य एवाहुः—अक्षण्वतामित्यादि द्वाभ्याम्। हे सख्यः! अक्षण्वतां चक्षुष्मतामित्यर्थेच्छान्दसम्, अक्षिमतामिदमेव फलं विदामः नापरमित्यर्थः। तत् किम् ? तत्राह—वयस्यैः सह पशूननु विवेशयतोर्व्रजेशसुतयोः श्रीरामकृष्णयोः, रामस्यापि रोहिणी-सुतत्वे प्रसिद्धावपि नन्दसुतत्वं स्नेहतौल्योपचारात्। यैर्निपीतमित्यन्वयः। वक्त्रं विशिनष्टि—अनुवेणुजुष्टं वेणुं लक्षीकृत्य पीतम्, अनुरक्तकटाक्षमोक्षमनुरक्तानां कटाक्षाणां मोक्षो यत्र अनुरक्तानां प्रियजनानां कटाक्षस्य मोक्षो यत्रेति वा। यद्वा, अनुरक्ताः प्रौढा एवाहुः—हे सख्यः! इदमेव अक्षण्वतां फलमिति पूर्ववत्। व्रजेश-सुतयोर्मध्ये अनुवेणु यद्वक्त्रं तद् यैर्निपीतम्, उभयन्तु दृश्यमेव, किन्तु वेणुयुक्तं मुखमेव पीयते, तत्रैवान्यास्तत्समानवासना आहुः—हे सख्यः! सम्यगेवोक्तम्, किन्तु जुष्टं प्रियया सेवितम्, तथाविधा एवान्या आहुः—हे सख्यो युष्माभिरप्यतिसाधूक्तम्, किन्त्विदमप्युच्यताम्—अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्, एवञ्चेत् सर्वं सम्पन्नमेव भवतीति भावः। अथवा श्रीराधायाः सहचर्य एव प्रथममाहुः—हे सख्यः। व्रजेशसुतयोर्वक्त्रं यैः पीतम् तदेव तेषामक्षिफलम्। व्रजेशश्च व्रजेशश्च व्रजेशौ श्रीकृष्ण-राधा-पितरौ स्थले स्थले दर्शनीयौ तयोः सुतश्च सुता च व्रजेश सुतौ श्रीकृष्णराधे, यथा संख्यबलादेकैकस्य सुतश्च सुता चेति नाशङ्कनीयम्, उभयोरेव उभयं वक्त्रं यैः पीतम् वक्त्रं पृथक् पृथक् विशिनष्टि—अनुवेणु अनुगतो वेणुर्यत्र तत्तया जुष्टं श्रीकृष्णेन स्वहस्त—लिखितपत्राङ्कुरादिना सेवितम्। तयोः कीदृशयोः ? वयसि भवैर्वयस्यैर्लावण्यैः पशून् पत्रावली-मकराङ्कुरान् अनु अन्योन्यं विशेषेणवेशयतोः प्रापयतोः। "पशुः पत्राङ्कुरे पुंसि पशुर्भूत गणेऽपि च। वेशमात्रेऽपि च पशु तथा चतुष्पदेऽपि च।।" इति हारावली। तथा च—"क्रीडापत्रप्रकरमकरीपाशुपाला हि वृत्तिः।" लोकेऽपि पशुपाला वेशकर्त्तार इति श्रूयन्ते॥ ७॥॥ चूतप्रवालेत्यादि। यथायोग्यं विचित्रवेशो ययोः। कुत्र ? पशुपाली या गोष्ठी सखिसभा तस्याम्, पशुरत्रापि वेशपर्यायः पुंवद्भावः स्तुल्याधिकरणत्वात्, क्व च गायमानौ गायन्ताविवत्यर्थः॥ ८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वेणुनादमुधावृष्ट्या निष्क्रमय्योक्तिमाधुरीम्। यासां नः पाययामास कृष्णस्ता एव नो गतिः॥

भोः सख्यो! यूयमिह गृहनिगडे स्थित्वा विधात्रा दत्तानि चक्षुरादीन्द्रियाणि केवलं विफलीकुरुध्वे एव तदितोऽद्य वनं द्रुतमेव गत्वा किमप्यद्भुतं वस्तुदर्शनाद्यैरनुभवगोचरीकृत्य सफलजन्मानो भवतेत्याहुः, अक्षण्वतामित्यार्षम् अक्षिमतामक्ष्णामिदमेव फलं ननु परं विदामः विद्म इति अन्यमते अन्यद्भवतु नाम अस्मन्मते तु नान्यत्, किन्तत् ? व्रजेशसुतयोः रामकृष्णयोर्वक्त्रम् अनुकूलवेणुसेवितं यैर्निपीतमिति प्रकटोऽर्थः स्वीयभावगोपनार्थं एव यद्यस्मद्वचसि श्वश्रू ननान्द्रप्रतिवेशिजनाः कर्णौ ददति तर्हि ददतु नाम का तत्र चिन्ता सर्वं एव व्रजवासिस्त्रीपुंसजनाः रामकृष्णयोर्वक्त्रमाधुर्य्यं यथा वर्णयन्ति तथा वयमपि वर्णयाम इति स्वाभिप्रायज्ञापनात् अत्र पशुपक्षिपर्य्यन्तानां सर्वप्राणिनामेव तद्वक्त्रमानन्दप्रदं केवलं दवीयसीनां युष्माकमेवं नेति व्यञ्जितं व्रजेशसुतयोरिति "तातं भवन्तं मन्वानः" इति वसुदेवोक्तेः "रामोऽभिवाद्य पितरौ" इति शुकोक्तेश्च बलदेवस्यापि व्रजेशसुतत्वं व्रजे प्रसिद्धमेव अभीप्सितोऽर्थस्त्वयं व्रजेशसुतयोर्मध्ये अनुपश्चाद्वर्तिनो यस्य वक्त्रं वेणुजुष्टं तत् यैर्वेति वाशब्देन यैर्दृष्टं स्पृष्टं श्रुतमाघ्रातं यैर्वा नितरामतिशयेन पीतं वै इति पाठे निश्चितमेव यैर्लज्जाधैर्य्ये अपि त्यक्त्वा निपीतं तेषामेवाक्षिमतां जनानां चक्षुरादीन्द्रियाणां साफल्यं नान्येषां तदद्य दीयतां कुलधर्मलज्जाभयधैर्य्यादिभ्यो जलाञ्जलिरिति भावः ननु, दर्शनश्रवणादिकमस्माकं कुलवतीनां सम्भवतु नाम वक्त्रकर्मकं निपानं तु ह्रीमतीनां कथं सम्भवेत्तत्राहुः, अनुरक्तेषु जनेषु कटाक्षस्य मोक्षो येन तद् तेन तथा सन्धाय कटाक्षशरो मुच्यते यथा तदाघातेन विह्वलीभूय लज्जाधैर्यादिकमपि विस्मृत्य तत्पास्यथेति भावः॥ ७॥ एतादृशं विडम्बनं स्वस्य

कथं कुर्मस्तस्मात्तत्र न याम इति चेन्मैवम्, बलदेवसाहित्ये सति तत्रास्मज्जिगमिषाया अभावात् तन्न भविष्यत्यतो दूरतो वल्लि-पल्लवरन्ध्रेणैव तस्य स्वरमणस्य सौन्दर्य्यामृतं गानामृतं चास्वाद्य नृत्यादिकं च दृष्ट्वा द्रुतमायास्याम इत्याहुः चूतस्य प्रवालो नव-पल्लवं बर्हं च स्तबकः पुष्पगुच्छश्च चूडायाम् उत्पले तदन्तःकोषो कर्णयोः अब्जं लीलाकमलं दक्षिणकरे मालाश्च गले तथा अनुगुण-तया पृक्तानि गात्रसंलग्नानि परिधानानि नाट्योचितरक्तपीतसितवासांसि च तैर्विचित्रो वेषो ययोस्तौ नटवराविति सखिपु गाःकेपु वादकेपु नृत्यन्तौ क्वच कदाचिच्च गायमानौ ताच्छील्ये शानच् । यद्वा, गाये गाने मानः सर्वैर्दत्त आदरो ययोस्तौ । यद्वा, गाये गाने मानो गर्वो ययोः स चास्मत्तुल्यस्त्रिलोक्यामपि गायको नास्ति के यूयं वराका इति प्रकारः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अनुवर्णनं दर्शयति—अक्षण्वतामित्यादिना । हे सख्यः ! व्रजेशसुतयोः वयस्यैः सह पशून् वनमनुविवेशयतोः अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं वक्त्रं यैर्निपीतं तैरेव जुष्टं सेवितमिवमेवाक्षण्वतां चक्षुष्मतामक्ष्णोः फलम् परमन्यन्न विदामो न विद्मः कथम्भूतं वक्त्रम् ? अनुरक्तकटाक्षमोक्षम् अनुरक्तानां स्निग्धानां कटाक्षाणां मोक्षो विसर्गो यस्मिन् तत् ॥ ७ ॥ अन्या आहुः—आम्रपल्लवादि-निर्मिताभिर्विचित्राभिर्मालाभिरनुपृक्ताभ्यामीषदन्तरान्तरतोयुक्ताभ्यां परिधानाभ्यां नीलपीतपटाभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ क्व च कदाचिद्गायमानौ वेणुनेति शेषः । पशुपालानां गोपालानां गोष्ठ्यां सभायां मध्ये अलमत्यर्थं विरेजतुः अहो पशुपालानां महद्भाग्य-मित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

गोप्य ऊचुः—ताश्चैतास्तावद्द्विविधाः कान्तभावाः सख्यश्च आद्याश्च काश्चित्स्वीयाभिमानिन्यः काश्चित्परकीयाभिमानि-न्यश्च ता अपि वामा दक्षिणाश्च पराः सख्याभिमानिन्यो दास्याभिमानिन्यश्च तत्रास्मिंस्त्रयोदशश्लोकात्मके महावाक्ये आद्यं श्लोकद्वयं द्वीतीयानां ततः परं पद्यद्वयं परकीयानाम् तत्रापि श्रुतिमुनिरूपा सुधन्याः स्मेति पद्यद्वयं मुनिरूपाणां ततः परं पद्यत्रयं श्रुतिरूपाणामिति अथ दृष्ट्वेत्यादिद्वयं सखीनां तदनन्तरं श्लोकद्वयं दास्याभिमानिनीनामिति विवेकः ॥ अथ वेणुगीतं व्याख्यायते ॥ अथ एव तामिति श्रीकृष्णस्य वनप्रस्थानानन्तरं निजनिजोदवसतिं प्राप्ताः कस्मिंश्चिद्विजनप्रदेशे समुपविष्टाः प्रियसखीपरिवेष्टिता विचेष्टिता इव स्थिताः तस्मिन्नेवावसरे वेणुध्वनिमाकर्ण्य प्रिया ध्वनिदत्तचित्ताः किञ्चिदुन्मिषितनयनाः पुरतः स्वैकधनान्परिजनानवलोक्य सानुशयमाहुः—हे सख्यः ! चक्षुष्मतां तावदिदमेव फलं विद्मः सुगोप्यत्वात्प्रथममिदन्तया निर्देशप्रेमवैवश्याद्वा यैः वक्त्रं निपीतं जुष्टं वा पानस्यैकवारमप्यलं बुद्धिजनकत्वात्सेवनस्य पौनःपुन्यधर्मत्वात् जुष्टमिति यतिभावाक्रान्तत्वान्नन्दसुतयोरिति नोक्तं खेदाति-बादारातिशयाद्वा अर्वाहृत्थायां द्विवचनम् यद्वा यत्तयोर्मध्येप्यनुवेणुवक्त्रं परं केवलं विद्मः यद्वा वयं तु विदाम एव नत्वस्माभिः पीतमिति दैन्यम् अल्पभाग्यत्वादस्माभिरनुभूतं यद्वा इदम् एतावदेव विद्मो वयस्यैश्चावृतयोस्तयोर्मध्ये चानुवेणुजुष्टं यद्वक्त्रं न परम् अन्यथा वक्त्रे इत्युच्येत कटाक्षमोक्षम् अनुरक्तेषु स्निग्धेषु तदैकपरेषु कटाक्षमात्रमपि मोक्षाधिकसुखप्रदं यस्य यस्मिन् वा तन्महति संघट्टेऽपि तत्पानेनातिचातुर्यम् कटाक्षस्वकर्त्तृकस्तत्कर्त्तृको वा तत्राद्यसाध्वस्मान्विहाय चिरं वने स्थितमित्यादिरूपः द्वितीय-सूचितेपि वेणुना सङ्केतेन प्रस्थिता गृह एव स्थिता इत्यादि यद्वा ननु भवतीभिर्व्रजान्तर्मुहुर्मुहुर्निपीयते किमेतावता अस्माकं चक्षु-स्साफल्यमपि न वृत्तमिति भावः इदमक्ष्णोः फलं वयं न विदामः गुरुजनावरोधात् अन्ये जानन्तु नाम सामर्थ्यदैन्यं यद्वा अक्षाणीन्द्रि-याणि इन्द्रियवतामिदं सुगोप्यमेव फलं यदलं वक्त्रमनुकटाक्षमोक्षं यथातथा निपीतं यद्वा साहङ्कारमाहुः इदमेव फलं यत्परमन्यत्त-दतिरिक्तं सर्वमपि न विदामः तदेकावेशाद्द्वैधान्तरास्फूर्त्तेः यद्वा ज्ञानकर्मभेदेनेन्द्रियाणां द्वैविध्याज्ज्ञानेन्द्रियैर्निपानं रूपादेः कर्मेन्द्रियैश्च पोषणं तत्तदङ्ग सेवनमिति अस्माकं तु प्रथममपि यथावन्न सम्पद्यते विघ्नबाहुल्यात् विघ्नाश्च पशुवयस्यसम्मर्दादयः अत एव गा इति वक्तव्ये पशूनित्युक्तं परदुःखानभिज्ञत्वेन यद्वा सजातीयेनैव सजातीयहृदयज्ञता प्रसिद्धा कटाक्षमोक्षव्यापारः स चाक्षुषमात्रवेद्यः इत्येतदर्थमेवास्माभिरक्ष्णोः रक्षा क्रियत इति भावः । किमिति मुद्रितनेत्राभिः स्थीयत इति पृष्टे किं पश्यामः तदवलोकलब्धावरा उद्घाटयिष्यामः खञ्जनचेष्टितनेत्रे निर्जने बुभुक्षितखञ्जनाविवपालितौ तद्दर्शने सति निर्मुक्तबन्धनौ तत्कटाक्षसुखमनुभवेतामिति यद्वा निपानमात्रेणैव सकलेन्द्रियानन्दलाभात्परं किं तत् विदामः तूष्णीं स्थेयमितिसोल्लुण्ठम् तत्तु वक्तुं न युक्तं चुम्बनाधरपानयोः साक्षादिति किमिति कृशा इति सखीभिः पृष्टा आहुः अक्षण्वतामिदं फलं यदि चक्षुषी न स्यातां तदा तद्वक्त्रदर्शनमपि न स्याद्येन तां तां दशामनुभवाम इति साभ्यसूयमिति ॥ ७ ॥ चूतेति । तदेव अर्थान्तराच्छन्नमपि सूक्ष्मदृशां व्यक्तं स्यात् प्रवालो नवपल्लवः वन्यवेषस्यैव धारणं तत्तदङ्गस्पर्शसुखायेति सानुरागत्वम् पशुपालेति तदभिप्रायानभिज्ञत्वं तद्वेषश्च गौरश्यामयुग्मशोभानुभवाय न चेदमसम्भावितं विपरीतरतौ राधाकृष्णयोरसरूपिणोः जातावेतौ महात्मानौ दुर्गारामौ जगत्प्रभू या दुर्गा सैव गोविन्दो राधासङ्क-र्षणस्त्वसाविति कृष्णयामलात अंशेन अंशिनस्स्मरणम् गाये गाने मानश्चित्तसमुन्नतिः ययोस्ताविति लीलाख्योऽनुभावो व्यञ्जितः प्रियानुकरणं लीलेत्युक्तेः ॥ ८ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

चन्द्रावती चन्द्रमालां प्रत्याह—चूतप्रवालेति ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

काश्चिदाहुः अक्षण्वतामिति। अक्षिमतां प्राणिनामिदमेव फलं नत्वितः परमस्तीति वयं विद्मः किं तत् व्रजेशसुतयोः बलदेवकृष्णयोर्वक्तुमनुकूलेन वेणुना जुष्टं यैर्निपीतं सतृष्णं वीक्षितमित्यर्थः। "तातं भवन्तं मन्वानः" इति वसुदेववाक्यात् "रामो-भिवाद्यपितरा" वितिशुकवाक्याच्च बलदेवस्यापि व्रजेशसुतत्वं व्रजे ख्यातमेव वक्तुं कीदृक् अनुरक्तेषु स्वजनेषु कटाक्षाणां मोक्षो यस्य तत् कीदृशयोः वयस्यैः सह पशून् अनुविवेशयतोश्चारयतोरिति बलदेवसाहित्येन तद्वर्णनं स्वभावगोपनार्थं विवक्षितोऽर्थस्त्वयं हे सख्यः व्रजेशसुतयोर्मध्ये अनु पश्चाद्वर्त्तिनो यस्य वक्तुं वेणुजुष्टं तदयैर्वा निपीतमिति ननु दर्शनश्रवणे भवेतां वक्तुकमकं निपीतं नः कुलाङ्गनानां कथं स्यात्तत्राह अनुरक्तेति। तेन तथानुसन्धाय कटाक्षवाणो मुच्यते यथा तेन विह्वलास्त्रपाद्यैर्यै विहाय तत्पास्यर्येति भावः ॥ ७ ॥ ताः सख्यस्तस्य बलदेवेन साहित्यादन्तिके गमनं कर्तुं न पारयामः किन्तु लतापल्लवरन्ध्रैरेव तस्य सौन्दर्यगानानाट्या-द्यमृतादतिस्वादून्यनुभूय त्वरयैवागमिष्याम इत्यन्याः काचिदाहुः—चूतेति चूतस्याम्रस्य प्रवालो नवपल्लवः बर्हं च स्तवकः कुसुम-गुच्छः चूडायां उत्पले तत्कर्णिसकर्णयोः अजं लीलाकमलं दक्षिणकरे माला पुष्पस्रक् कण्ठे तथानुगुणतया पृक्तान्यङ्गसंलग्नानि नाट्यो-चितानि नानावर्णानि परिधानानि च वासांसि तैर्विचित्रो विस्मयकरो वेषो ययोस्तौ पशुपालानां स्वतुल्यगुणानां गोष्ठ्या तत्रापि मध्ये विरेजतुः रङ्गे यथा नटवराविति सखिषु गायकेषु वादकेषु च नृत्यन्तौ क्वचन गायमानौ गायन्तौ यद्वा गाये गाने मानः सर्वैर्दत्तः सत्कारो ययोस्तौ जलं विरेजतुरिति व्रजे सङ्कोचात्तादृशगानाद्यभावेन विराजनासम्भवात् ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

इति वेणुरवं राजन्निति श्लोके व्रजयोषितामेव वेणुरवश्रवणमुख्याधिकारः प्रतीयते तथा गोप्यः किमचरदयं कुशलं स्म वेणुरिति श्लोके च केवलं जडवेणोरव माधवाधरोष्ठामृतपानभ्रान्तिश्च भविष्यत्यत एतदुभयनिरासाय तन्त्रभागवतवाक्यं पठन्ति। श्रीदेवीति ॥ श्रीदेवी रमा वेणुमाविश्य कृष्णमुखाम्बुजे रेमे तद्गतं गोतं तद्रूपममृतं पपौ च। अत्र मुख्याधिकारिणी वेणुतनु-श्रीरेवेति भावः। सुरा इतराभाण्डगा इतरदधरसुधानास्पदं साक्षाद्ब्रह्माण्डं वेणुमूलं तद्गच्छन्तीति तद्गाः सुरा देवा इत्यर्थः। वेणु-मूले घने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोरिति यादवः। इतरालङ्कारगा इति वा। इतरेषां बलादीनां भाण्डानि वेणुमूलानीति वा॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ हे राजन् सर्वभूतमनोहरं वेणुरवं श्रुत्वा सर्वा व्रजस्त्रियो वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे। औपचारिकं व्रजनारिणामभिरमणमुक्त-प्रमाणादिति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ व्रजगजगामिनीनां वर्णनप्रकारं वर्णयति ॥ अक्षण्वतामिति। यैर्व्रजेन्द्रदृष्टिभिर्वयस्यैः सखिभिः सह पशून्-गोष्ठेऽनुवेशयतोः प्रवेशयतोर्व्रजेशसुतयो रामकृष्णयोरेकस्य कृष्णस्यैव ग्रहणे कलङ्कमावहेयुरिति तालाङ्कस्यापि ग्रहणमिति ज्ञेयम्। अनुवेणुजुष्टमनुरक्तः स्निग्धः कटाक्षमोक्षो यस्मिस्तत् वक्त्रं निपीतं तेषां हे सख्योऽक्षण्वताम्। श्रौतपदानुकृतिः। अष्टमाष्टकद्वितीया-ध्यायत्रयोविंशतिवर्गीयैवमृग्विधृत्राज्ञानपादानुव्याख्यानऽक्षण्वन्तः कर्णवन्त इत्यादिना व्याख्याता चानोनुडिति सुधायाम्। सार्ङ्ग-व्याकृता वाक्यार्थचन्द्रिकायाम्। तथा हि। तेजसत्वादन्येभ्योऽङ्गेभ्यो व्यक्ततरं दृश्यत इति तथा च श्रूयते तस्मादेते व्यक्ततरे इवेति। तादृशाक्षियुक्ता अक्षण्वतन्तस्तेषामिदं पानमेव फलं परमेतदितरन्नेति विदामः। न परं न विद्यते परं यस्मादित्यनुत्तमं वा विदामः। हे सख्य इत्यप्रतारणीयतां ध्वनयति। तेन चादोऽर्थस्य यथार्थता च ध्वन्यते। अक्षण्वतामिति विलक्षणपदनिधानेना-क्षण्वन्तः कर्णवन्त इति श्रुत्युक्तमुक्तसमतामेतेषां च सूचयामास व्यास इति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

अनुवर्णनमेवाहाक्षण्वतामिति त्रयोदशभिः।

रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकतः । स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथापरः ॥ १ ॥
चतुर्भिः पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम् । द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषः स्याद् वर्णनेऽन्यथा ॥ २ ॥
वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात् तु दूषणम् ॥ २½ ॥

तत्र प्रथमं यद् वर्णयितुमारब्धं तत्राशक्तौ शुकेन यद् वर्णितं चतुर्भिस्तद् वर्णयन्ति, तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकं भगवन्तं वर्णयन्त्यक्षण्वतामिति, अक्षण्वतामिन्द्रियवता चक्षुष्मतां वा, इदमिति स्वहृदये मनोरथप्रकारेण प्रतिभातं,

भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ॥ ३ ॥
आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः । अधरामृतपानं च भोगा रोमोद्गमस्तथा ॥ ४ ॥
तत्कूजिता श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः । तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ॥ ५ ॥
इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा । यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् ॥ ६ ॥
एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि । बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत् ॥ ७ ॥

तदाह न परं विदाम इति, परो मोक्षः सायुज्यादिः, नन्वा"त्मलाभान्न परं विद्यत" इतिश्रुतेः कथं न परस्य पुरुषार्थत्वम्? तदाहुर्विदाम इति, वयमप्युपनिषद्रूपा अतो वयमेव जानीमः, न ह्यनुभवविरुद्धमनुभवापर्यवसायि फलं श्रुत्युक्तं भवति, ततः केवलानां तदेव फलमिन्द्रियवतां त्वेतदितिव्यवस्थितविकल्पः अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तररूपाणां गोपिकानां सम्मतिमाहुर्हे सख्य इति, समानशीलव्यसन एव सख्यपदप्रयोगात्, अतः श्रुत्यन्तरसम्मतिरप्युक्ता, एतत् कासाञ्चिद् गोपिकानामेत्र भवतीति सर्वेषां साधारणं पक्षमाहुश्चक्षुष्मतामिति, अस्मिन् पक्षेक्षण्वत्पदं चक्षुष्मत्पदपरं ज्ञेयं, तेनास्यावृत्तिर्वा ज्ञेया, पशूननु पशूनां पश्चाद्भागे वयस्यैः सह वनं पशून् निवेशयतो रामकृष्णयोर्वक्त्रमेकं यैर्वा निपीतमिति, वेत्यनादरे मुख्यापेक्षयेदं गौणमिति, ये तु कालेन तुल्यास्तैः सह पशूनेतद्रसानभिज्ञान् वनं प्रवेशयति भगवान् निर्गुणावस्थाधिकाराभावे सात्त्विकावस्थाया युक्तत्वात्, भगवतो लीलायां कालो निमित्तं गोपानां लीलायाश्च तदाधारत्वे निमित्तमिति वयस्यता, तदा तैः पशूनां वने निवेशनं तैः सह वा समानकालैर्वने निवेशनार्थं, आविष्टस्य मुखारविन्दं न स्पष्टमिति भगवत एव मुखमुभयरूपस्यापि मुखं चक्षुर्द्वारा यैस्तदन्तःप्रवेशितं "तत सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेन्नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन् मुख" मितिवाक्यात्, किञ्चैता हि स्वहृदि भावितं निरूपयन्ति तथा च साधारणपक्षत्वेन सामान्यतो बलभद्रस्य निरूपणेपि मुखनिरूपणप्रस्तावेन्यमुखमेतासां हृदि नायातीत्येकमेव तन् निरूपितम्, मुखस्यैकत्व प्रतिपादयन्त्य ईश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्यानुरोधबुद्ध्या वा येषां पानं तत् सापेक्षमित्यनादरे हेतुमाहुर्व्रजेशसुतयोरिति, न हि बलभद्रो व्रजेशस्य पुत्रः, आवेशपक्षे तु कृष्ण एवाविशतीति युक्तमेव तयोर्व्रजेशसुतत्वं, अनादरे लौकिकसापेक्षदर्शनं हेतुः, अन्ये पुनर्गीतरसाभिज्ञा वेणुनादश्रवणार्थं भगवन्मुखारविन्दं पश्यन्ति तदाहानुवेणु जुष्टमिति, वेणुमनु लक्ष्यीकृत्य यद् वर्तते तदनुवेणु वेणुवादनपरं तद् यैर्जुष्टं यैर्वा निपीतमिति, सेवनं निदर्शनं पानमन्तःप्रवेशनं, केवलं शब्दग्रहणं मनोहरत्वाच् छिन्नार्थं वेति विकल्पः, अनादरस्तु स्वरादेवायाति, एवं मनोहरत्वान्नादाविष्टत्वाद् वा भजनमुक्तं, कामसम्बन्धादपि भजनं पाक्षिकमिति विशेषणान्तरमाहानुरक्तकटाक्षमोक्षमिति, अनुरक्तानां कटाक्षाणां मोक्षो यत्र, एतच् चक्षुष्मतां फलमिति निर्गुणसगुणभेदा निरूपिताः ॥ ७ ॥ केवलं रसरूपमाह चूतेति, चूतानामाम्राणां प्रवालाः कर्णयोर्बर्हस्तबका बर्हगुच्छानि शिरस्युत्पलाब्जानां माला कण्ठे तैरनुपृक्तं मिलितं परिधानं पीताम्वरादिवस्त्राणि तैर्विचित्रो वेषो ययोरेताद‍ृशावुभावपि पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः, रसाभिनयेवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगाद् द्विवचनम् ।

गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि । अतो रसस्याभिनये चत्वारोर्था निरूपिताः ॥ १ ॥
रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता । धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ॥ २ ॥
वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतॄणां काव्यवद् रसः । रसवत्फलबोधाय प्रथम पल्लवो मतः ॥ ३ ॥
शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत् । ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते ॥ ४ ॥
अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् । रसोत्पत्त्यर्थमेतावन् निरूपितमितिस्थितिः ॥ ५ ॥
आविर्भावे रसास्वादान्नृत्यं शोभा ततो भवेत् । अतोतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

विचित्रवेषाविति सर्वरसाभिनिवेशनार्थं, त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति, एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति मध्ये विरेजतुरिति, पशुपालानां गोष्ठी नात्यन्तं गूढा तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितं, मध्ये गीतवाद्ययोः, त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा, नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तं, कादाचित्कनिषेधार्थमलमिति, शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दृष्टान्तं रङ्गे यथा नटवराविति, रङ्गं शास्त्राधारभूतं स्थानं, रङ्गमण्डपे यथा नटौ शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः, अलौकिकनाट्यार्थं वरपदं, एवं राजसभावनृत्यमुक्त्वा सात्त्विकभावनृत्यमाह क्व च गायमानाविति, देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः, एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अक्षण्वतामित्यत्र, प्रकरणार्थविभागे द्वाभ्यां भक्तेरिति । लोके हीननामपि चरणारविन्दसम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धमात्रेण लक्ष्मीसमानभाग्यवत्त्वं चरणमाहात्म्यमेव । स्पर्शमात्रेण प्रकृष्टमोदजनकत्वं च । चरणश्च भक्तिमार्गरूप इति तद्धर्मप्रकटनं भक्तिस्थापनरूपमित्यर्थः । एवं तत्तात्पर्यानुक्तौ बाधकमाहुः अन्यथेति । प्रकारान्तरेण तात्पर्योक्तावित्यर्थः । पुरुषोत्तमस्य लोकेपि हीनायाः स्त्रियाः सम्बन्धोक्त्या हीननायकत्वमापद्येत । श्रीपतेः कन्दाद्युपयोगश्च तथा । अतस्तत्रैव तात्पर्यमिति भावः । तथापि लोकरीत्या दूषणत्वं तस्य भवत्येवेत्यत आहुः वैपरीत्यात्समाधानमिति । प्रमेयमार्गः प्रमाणमार्गाद्विपरीतो बलिष्ठश्च । अधुना च स एव प्रकटीकृत इति वस्तुस्वाभाव्यादेव तथात्वमिति न दूषणमिति भावः । अत्र मर्यादावैपरीत्यं भूषणमिति सारम् । मर्यादामार्गीयपरमोत्कर्षवद्भ्योप्युत्कर्षसिद्धेः सर्वमवदातम् । अन्यथा वैपरीत्यमात्रेण मार्गोत्कर्षो न सिध्येत् । सेन्द्रियाणामपि तदफलत्वे हेतुमाहुः बाधकानामिति । भगवदतिरिक्तस्य सर्वस्य बाधकत्वात्तत्त्यागे सति प्रतिबन्धकाभावेन मोक्षलक्षणं फलं न भवेदित्यर्थः । मुमुक्षूणां तथात्वेपि न तथात्वमित्याशङ्क्य तत्साधनमाहुः साधकानामिति । सर्वात्मभावेन भजनं साधकत्वम् । यद्यपि सर्वात्मभावेन

सर्वत्यागोप्यन्तर्भवति, तथाप्याधुनिकानां स्वतस्तद्भावरहितानां पूर्वं बुद्धिपूर्वकस्तत्त्याग एतद्भावनं चोपदिश्यत इति पृथगुक्तिः। अत्रैव वयस्यैरित्यत्र, तदाधारत्वे निमित्तमितीति। गोपलीलयोरेककालाधारत्वे प्रभुप्राकट्यं निमित्तमिति तथेत्यर्थः॥ ७॥ चूतप्रवालेत्यत्र, त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभाव इति। स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावानामित्यर्थः॥ ८॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अग्रे त्रयोदशश्लोकार्थोक्तौ रसद्वयार्थमिति रसद्वयनिरूपणार्थं श्लोकद्वितयम्, एकस्माच्छ्लोकाद् वेणुपूरणं निरूपितम्, स्वच्छन्दलीलासिद्ध्यर्थं पादानां चरणारविन्दानां यद् गमनं रमणं तत्र हेतुर्भूमेः कीर्तिविस्तारोपरश्लोकोक्तः, एवं चतुर्भिः पीठिका, सामान्यतः पदार्थत्रयनिरूपणं स्यात्, ततो विशेषतो निरूपणम्, तत्र षड्भिर्वेणोर्वादनं निरूपितं, स्वरूपलीलाव्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः, ततो द्वाभ्यां भक्तिप्रतिष्ठारूपपादगमननिरूपणं, तत एकेन तत्र प्राप्तदोषसमाधानं, लीलायां प्रतिबन्धाभावेपि दूषणं तु स्यादिति तुशब्दः, स्वरूपस्य तु स्पष्टमननुभवस्य सूचितत्वान् न विशेषतो निरूपणमितिभावः, श्लोकाभासे स्वरूपत इति रसस्य स्वरूपं विभावादयस्तत्प्रकारेण रसात्मकमित्यर्थः, द्वितीये तु केवलरसात्मको वक्ष्यते, अग्रे कारिकासु इन्द्रियवतां फलमिति, भक्तिफलत्वेनाभिलषितमित्यर्थः, संलापादिकमेवेन्द्रियवतां तत्तदिन्द्रियप्रकारकरसानुभावकत्वेनेन्द्रियसाफल्यापादकत्वात् फलत्वेनाभिलषितं न तु मोक्षः, तत्र हेतुरन्यथेति, यतो निःप्रकारकरसानुभावकत्वेनेन्द्रियवैफल्यापादकस्तस्मादित्यर्थः, भगवांश्चेत् सेवोपयोगिदेहमात्रमेव फलं ददाति तदेदं न भवति परन्त्वभिलषितमिदमेवेतिभावः, पुरुषोत्तमे प्रवेशरूपे मोक्षे इन्द्रियवैफल्यं दृष्टान्तेन विशदयन्ति यथेति, अन्धकारे स्थितिरिति चेद् भवेदितिशेषः, तदाक्ष्णोः फलं चाक्षुषं ज्ञानं न भवेत्, अतः स्पर्शादिना ज्ञानजननेपि चक्षुर्वैफल्यमेव भवेत्, तथेन्द्रियप्राणान्तःकरणयुक्तानां मोक्षोपि चेद् भवेत् तदेन्द्रियाणां फलं तत्तत्प्रकारकरसानुभवो न भवेदतः स्वरूपतोनुभवेपि संलापाद्यभावेनेन्द्रियवैफल्यमेव भवेत्, अतः साधकानां सर्वात्मभाववतां बाधकानां भगवदतिरिक्तसर्वविषयाणां त्यागे सति तन् मोक्षलक्षणं वस्तु फलत्वेनाभिलषितं न भवेदित्यर्थः, तथा चेन्द्रियवैफल्यापादकत्वेनोभयोरुपमानोपमेयभावः, कदाचिदन्धकारस्थितौ कदाचिद् भावोद्रेकेण देहाद्यस्फूर्त्या भगवद्रूपत्वरूपमोक्षे च वैफल्यं न भवतीति स्थितेर्नियतत्वमुक्तं मोक्षे सर्वथेति च, सायुज्यादिरिति सहयोगः पुरुषोत्तमे प्रवेशस्तदादिरित्यर्थः, उपनिषद्रूपा इति मोक्षस्य विचार्यत्वादुपनिषत्त्वमेवोक्तं, न ह्यनुभवेति श्रुत्युक्तं फलमुपनिषद्रूपाणामस्माकमनुभवेन विरुद्धं विचारेपि कृतेस्मदनुभवे न पर्यवस्यति तादृशं न भवति, इदं त्वनुभवापर्यवसायि दृश्यते, अतो व्यवस्थोच्यत इतिभावः, श्रुतेराप्तत्वादन्यथाकथनं न युक्तमिति हिशब्दः, केवलानामिति 'वाङ् मनसि दर्शनाद्' इतिसूत्रचतुष्टयोक्तप्रकारेण सङ्घातलये सेवोपयोगिदेहो येभ्यो भगवता न दत्तस्तेषामित्यर्थः, एतेषां मोक्षः पुरुषोत्तमे स्थितिरेव फलमित्येवकारः, प्राप्ततादृशदेहानां त्वनुग्रहतारतम्येन त्रयमपि भवतीति भावः, यैर्वा निपीतमिति अनादरान्मुख्यपक्षोन्य आक्षिप्तः सोयमुक्त इति ज्ञेयं, गोपिकानामेवेति, गोपिकानामेव तत्रापि कासाञ्चित् तथाभाववतीनामिदं फलं भवति, एवकारेण गोपव्यावृत्तिः, चक्षुष्मत्पदपरमिति चक्षुष्मत्पदं पिपर्ति स्वार्थेन पूरयतीति परं तेन सहैकार्थमित्यर्थः, तेनास्येति सख्य इत्यन्तस्य वाक्यस्येत्यर्थः, पशूनन्विति अन्वित्युपसर्गस्य सार्थकत्वाय पशूनित्यस्याप्यावृत्तिः, तथा च पशून् गवादीननु पशूनेतद्रसानभिज्ञान् बहिरङ्गगोपान् वनं निवेशयतोरित्यर्थः, निवेशान्यथानुपपत्त्या वनपदार्थोर्थापत्तिलभ्यो न त्वध्याहारः, तथा च निवेशपदार्थाकाङ्क्षापूरणाय निवेशपदार्थान्तर्गत एव वनपदार्थ इति ज्ञेयं, ये तु कालेन तुल्या इति भगवज्जन्मकालीना इत्यर्थः, बहिरङ्गानामेतेषाञ्च वनप्रवेशनहेतुर्निर्गुणेति, अन्तरङ्गलीलाधिकाराभावे सहस्थापने दोषारोपसम्भवोतो वनप्रवेशनमेव युक्तमित्यर्थः, तदेति एककालाधारत्वे सतीत्यर्थः, तादृशलीलाकाले वयस्येष्वपि वनमागतेषु सत्सु इतियावत्, (वयस्यपदस्यार्थान्तरमाहुर्भगवत इति, तदाधारत्व इति तत् प्राकट्यं गोपलीलयोरेककालाधारत्वे निमित्तं, प्राकट्येन हेतुना तादृशलीलाकाले वनमागता इतिभावः), तथा च वयसा भगवत्प्राकट्येन हेतुना लीलया तुल्या लीलाकालाधारा इत्यर्थः, मुख्यवयस्यानां व्रतप्रसङ्गे वाच्यानां भगवता सह स्थितिनियमादत्र चैतेषां वननिवेशनस्योक्तत्वादेवं व्याख्यानं, सप्तदशाध्यायारम्भे एत एवोक्ताः, भगवज्जन्मकालीनास्तु व्रतप्रसङ्गीया इतिज्ञेयम्, (तेभ्यो भिन्ना इत्याशयः पक्षद्वयेपि. तदेति वयस्यपदस्यैवं व्याख्याने सतीत्यर्थः, प्रथमपक्षमुपसंहरन्ति तैः सह चेति), तथा सतीति रसानभिज्ञत्वेन पशूनां बहिरङ्गानामपि गोपानां श्रमे सतीतस्ततः पर्यटनासामर्थ्ये सति 'गता गावो दूरं प्रखरखुरचिह्नान्यपि वने न लक्ष्यन्ते हन्त द्रुततरमिहागच्छत तत' इति प्रकारेण भगवते निवेदने कृते सति श्रान्तगोपस्थाने वयस्यानां निवेशनार्थं वयस्यसहभाव इत्यर्थः, आविष्टस्येति रामाविष्टांशस्य मुखं पृथक् स्पष्टं न किन्त्वावेशाधिकरणसङ्कर्षणमुखसंवलितमेवातो मुख्यप्रकटस्य भगवतः कृष्णस्यैव मुखमुभयरूपस्याविष्टस्य कृष्णस्य च मुखमुक्तमितिशेषः, मुखस्य प्रधानत्वे प्रमाणसम्मतिमप्याहुर्नान्यानीति, अन्यन्मुखमिति राममुखसंवलितं मुखमित्यर्थः, अवयवान्तरस्य द्रष्टव्यत्वेनोपस्थितिर्भवति, मुखस्य तु भोग्यरसवत्त्वाद् भोग्यत्वेनैवोपस्थितिः, ततस्तु रामाविष्टमुखे केवलभगवदुपासकानां न सम्भवतीत्यतोपि न पृथङ् निरूपितमितिभावः, मुखस्यैकत्वमिति आविष्टभगवन्मुखे एव यत्रैवं तत्र सापेक्षपाने किं वक्तव्यमितिभावः, ईश्वरत्वेनेति व्रजराजत्वेनाराधनमनुरोधो वा कर्तव्य इतिबुद्ध्येत्यर्थः, सर्वेषां दर्शनकर्तॄणां साधारणपक्षत्वादेवमुक्तम्, वर्णिकास्तु नेवंविधा इति

ज्ञेयम्, पूर्वपक्षमाहुर्नहीति, समाधानमाहुरावेशेति, अनागेशपक्षे इयमाशङ्का भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं तुशब्दः, लौकिकेति लौकिको भावः, पूर्वोक्ता बुद्धिस्तत्सापेक्षमित्यर्थः, वेणुमन्विति इदमर्थकथनम्, विग्रहस्तु अनुगतो वेणुर्यस्येति ज्ञेयः, जुष्टं निपीतमित्येतयोर्भेदमाहुः सेवनं निदर्शनमिति, केवलं शब्दश्रवणमित्यर्थः, तत्र हेतुमाहुर्मनोहरत्वादिति, पाने हेतुमाहुः शिक्षार्थमिति, स्वस्य तादृशवेणुवाद्यशिक्षणार्थां मूले वेतिविकल्पेन पानमुक्तमित्यर्थः, विशेषणस्य वेणोः प्राधान्याच्छन्दकर्मकमेव क्रियाद्वयमुक्तम्, मूले वापदं कश्चिज् जुष्टं कश्चिन्निपीतमितिविकल्पबोधनार्थां न त्वनादरमात्रबोधनार्थम्, स तु स्वरादेवायातीत्यर्थः, अनुरक्तानामिति अनुरक्ता भक्तास्तेषां ये कटाक्षास्तेषां मोक्षो यत्र भगवन्मुखे इत्यर्थः ॥ ७ ॥

चूतेत्यत्र कर्णयोरिति उपरिभाग इति ज्ञेयम्, तथा सति मुकुटे बद्धः पीताम्बरखण्डः प्रवालेन बर्हस्तबकेन चानुपृक्तो भवति, परिधानीयमुत्तरीयं च मालयानुपृक्तं भवति, परिधीयते ध्रियत इति व्युत्पत्त्या त्रयमपि परिधानम्, तैस्त्रिभिरपि विचित्रो वेषो ययोरित्यर्थः, पीताम्बरादीति आदिपदेन रामस्य नीलाम्बराणि, कारिकासु गुणा इत्यादि अग्रे त्रयाणामित्यनुवादस्य टिप्पण्यां विगाढभावपदस्य विगाढो विलोडितः कटाक्षादिरूपो भावोऽनुभाव इत्यर्थः, तथा च स्थायिभावव्यभिचारिभावानुभावा गुणाः क्रमेण प्रवालस्तवकमालारूपाः, माया च परिधानरूपा, एते चत्वारोऽपि पदार्था वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति, स्थायिभावात्मकस्य स्वरूपस्यैवात्रालम्बनविभावत्वात् स्थायिभावो विभावश्चात्रैक एव ज्ञेयः, तथा च स्वरूपस्य धर्मिरूपस्यालम्बनविभावात्मकस्य वैचित्र्यं धर्मरूपस्थायिभावेन व्यभिचारिभावानुभावाभ्यां च भवतीत्यर्थः, गुणानां मायायाश्च तत्तद्रूपत्वं व्युत्पादयन्ति रसेति, आम्रे मुख्यतया रसस्य प्रतिष्ठितत्वात् तत्प्रवालानां स्थायिभावत्वम्, रसपदं श्लिष्टार्थकं ज्ञेयम्, बर्हे रूपमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वाद् रसव्यभिचारात् तत्स्तबकानां व्यभिचारिभावत्वम्, उत्पले सुगन्धस्य प्रतिष्ठितत्वात् तस्य (तत्सौरभाघ्राणजनितचुम्बनस्य) च रसानुभावभावकत्वात् तन्मालाया अनुभावत्वम्, धर्मिणः स्वरूपस्याच्छादनं तद्बोधाय मायापि निरूप्यते, अतो माया परिधानरूपेत्यर्थः, वैचित्र्यसम्पादकास्तु गुणा एव, परं सम्यग्वैचित्र्यार्थं धर्म्याच्छादनमप्यपेक्षितमिति मायापीत्यपिशब्दः, नन्वत्र शब्दतः सर्वं निर्दिष्टं तावता रसानुभवः कथं भवेत् ? न हि 'शर्करा मधुरे'ति वाक्येन माधुर्यानुभवो भवतीत्याशङ्कयाहुर्वस्त्विति वस्तुनो निर्देशमात्रेणापि रसो जायते, तत्र दृष्टान्तः श्रोतॄणां काव्यवदिति, यथा काव्यस्य "रसवद् वाक्यं काव्य"मित्युक्तत्वेन रसवत्त्वात् तच्छ्रवणे सति तन्निष्ठो रसः श्रोतृभिश्चर्वणयास्वाद्यते तथैतद्वाक्यस्य परितः सुधागलनरूपं वर्णनमित्युक्तत्वे रसवत्त्वादन्योन्यं तच्छ्रवणे सति तन्निष्ठो रसः श्रोत्रीभिरन्योन्यं चर्वणयास्वाद्यतेतो वस्तुनिर्देशमात्रेण रस इत्यर्थः, एवं क्रमेण पदार्थचतुष्टयस्य निरूपणे हेतुमाहू रसवदिति, रसवत्त्वेन फलस्य बोधनाय पल्लव उक्तः, पल्लवदर्शने फलस्य स्वरूपस्य रसत्वेन ज्ञानं भवति तेन कलिकाहेतुः प्राथमिकभावोदयो भवत्यतः प्राथमिकभावहेतुत्वात् प्रथमं पल्लवो मतः, द्वितीयमाहुः शास्त्रेति, रसशास्त्रस्यार्थः फलं तस्य परितो रसवत्त्वेन ज्ञानाद् बोधात् तदनु जातस्य भावस्य कलिकाऽविलम्बेन पुष्पत्वद्वारा रसानुभवज्ञापिका भवेदतस्तदनन्तरं कलिकासदृशा बर्हस्तबका उक्ताः, तृतीयमाहुस्तत इति, तदनन्तरं तस्य कलिकारूपभावस्य चकाराद् वेषस्य वैचित्र्यं भवेदतः पुष्पाणामुत्पलानां स्थानं माला तदनन्तरमिहोच्यते, चतुर्थमाहुरहोरात्रमिति, सर्वदा वासना तदनुभवः स्यात् तदाऽभवत्वाद् रसत्वमेव न स्यात् ततो हेतोस्तदनन्तरमाच्छादनं परिधानं स्मृतम्, पूर्वं पुष्पाण्युक्तान्यतो वासनापदम्, नन्वेवंनिरूपणे धर्मसहितनिरूपणमेव जातमतः "केवलरसरूपमाहे"त्याभासेन विरोध इत्याशङ्कयाहू रसोत्पत्त्यर्थमिति, एतावत् सर्वमेतासु रसस्वरूपाविर्भावार्थं निरूपितं न तु धर्मसहिताविर्भावार्थम्, नन्वेतावद् विनैव रसाविर्भावः कुतो नोक्त इत्यत आहुरितिस्थितिरिति, "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति"रिति वाक्यादियं रसमर्यादा आविर्भावे इत्यग्रिमेणान्वयः, तासु रसाविर्भावक्रम एवमुक्तः, भगवत्येवंक्रमे प्रकारमाहू रसास्वादादिति, रसास्वादानन्तरं नृत्यं तदनन्तरं शोभा भवेद्, अत एतदनन्तरं गुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते, एवमुद्बुद्धस्यागोपने रसाभासत्वं स्यादत एव क्रमेण तत्तत्सूचकपदार्थनिरूपणम्, बर्हस्तबकस्य नृत्यमयूरानुकरणत्वात् तत्सूचकत्वं ज्ञेयम्, एतादृशपरिधानकृतवेषावेतावतैव वैचित्र्यप्राप्तावपि, विचित्रपदोक्तितात्पर्यमाहुः सर्वेति, तर्हि साधनान्यपि न वक्तव्यानीत्यत आहुस्त्रयाणामिति, हासः प्रधानं रतिर्गौणी चेद्धास्यरसः, हासो गौणो रतिः प्रधानं चेच्छृङ्गारः, एवं नवस्वपि, एवम्प्रकारेण त्रय एव नवानामपि साधका भवन्ति, शोभाया धर्म्यन्तर्गतत्वेन तादृशशोभाविशिष्टधर्मिरसनिरूपणं वाक्यार्थः, रसपोषकत्वं तु गीतवाद्ययोरेवेत्याशयेनोत्तरार्धाभासस्तथोक्तः, सुलभत्वमिति गोपिकान्तरगोष्ठ्यां स्थितावस्मद्धृदये नागच्छेदिति भावः, मध्येपदस्याकाङ्क्षापूरणायाहुर्गीतवाद्ययोरिति, गीतवाद्ययोर्मध्ये तत्समय इत्यर्थः, नटदृष्टान्तेन वाद्यमुक्तं नृत्यमपि सूचितम्, गायमानाविति पदेन गानमुक्तं नृत्यमपि सूचितम्, एवं पदद्वयेन पदार्थत्रयमुक्तमित्याशयेनाहुस्त्रयाणामिति, समानतेति यादृशेन निपुणेन गानं क्रियते तादृशेनैव वाद्यं तादृशेनैव नृत्यमेवं नैपुण्येन समानता सैव सर्वोत्तमा न तु न्यूनाधिकता, अतः शोभाकथनेन साम्यं सूचितमिति भावः, नटवरपदस्य नृत्यं वाच्यार्थो वाद्यं सूचितार्थ इत्येव कुतो न भवेदित्यग्रत आहुर्नृत्यस्य त्विति, गीतवाद्ये बहुकालं, नृत्यं तु रसोद्रेके कदाचिज् जायते, अतोऽस्माभिर्वाद्यमेव वाच्यार्थत्वेनोक्तम्, वरपदेन धर्मसहितरसनिरूपणाशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाहुर्लौकिकेति, बर्हस्तबकधारणसूचितं तामसभावनृत्यम्, तस्य तादृशसामयिकत्वात् नटवर-

पदसूचितं राजसभावनृत्यम्, गानसूचितं सात्त्विकभावनृत्यम्, उपविश्य गाने नृत्यं कथं सम्भवतीत्यत आहुर्हंस्तेति, सात्त्विकत्वे हेतुमाहुः श्रमरहितमिति ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवं सङ्गतिं विधाय "स्वसखीभ्योन्ववर्णय"न्नित्यत्रोक्तमनुवर्णनं श्रीगोपिकाभि"रक्षण्वता"मित्यादिभिः कृतमित्याहुरनुवर्णनमेवाहेति, अक्षण्वतामित्यस्याभासे तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकमिति संयोगरसात्मकमित्यर्थः, अनेन "नटवरवपु"रित्यत्रोक्तो "वर"पदार्थ उक्तः, "अक्षण्वता"मित्यादि "अक्षण्वतामधिपतिस्ताभ्यां याति करोति चे"ति पुरञ्जनोपाख्याने नारदवाक्यादक्षण्वत्पदमिन्द्रियवद्वाचकं तथा चेन्द्रियवतामिदमेव पुरुषोत्तमस्वरूपं फलमित्यन्वयः, फलत्वं विवृण्वन्ति भगवता सह संलाप इत्यादिभिः, अत्र सर्वेन्द्रियभोग्यत्वं निरूपितमिति फलत्वं स्वरूपस्य तत्राश्लेषो बाहुकार्यं सेवनं करकार्यमित्येकस्यैव दोरोन्द्रियस्य कार्यद्वयं ज्ञेयं, रोमोद्गमः पायुकार्यं, "सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायन"मितिश्रुते रोमोद्गमस्यापि विसर्गत्वात्, अत एव प्रक्षिप्ताध्यायसुबोधिन्यां "रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्य"मित्युक्तं, द्वितीयपक्षे चक्षुष्मतामिदं स्वरूपमेव फलमित्यर्थः, सम्पूर्णस्वरूपस्यापि दृग्गोचरत्वात्, एवं पक्षद्वये स्वरूपमेव फलमित्युक्तं, रामकृष्णयोर्वक्त्रमिति रामकृष्णयोर्वक्त्रं यैर्वा निपीतं तेषामिदमेव फलं, वक्त्रमित्यर्थः, अस्मिन् पक्षे मुखमात्रस्य फलत्वं ज्ञेयम्, तत्रापीश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्या स्वस्वामिपुत्रत्वेनानुरोधबुद्ध्या वेति पक्षद्वयं, कथम्भूतं वक्त्रमित्यपेक्षायामनुवेणु, अनुवेणु नाम वेणुवादनपरं, एवं सति वेणुनादप्राधान्येन मुखावलोकनकर्तार उक्तास्तेपि द्विविधाः, मनोहरत्वाद् ग्रहीतार एके, अपरे तु भगवत्तुल्यं वयमपि वादयिष्याम इतिशिक्षार्थं वेणुनादं शृण्वन्तो मुखमवलोकयन्ति, एवं मुखमात्रावलोकने आराधनबुद्ध्या अनुरोधबुद्ध्या इतिभेदद्वयं, वेणुनादस्य मनोहरतया शिक्षार्थं वा इति शब्दोपसर्जनं मुखावलोकनमित्येतद् द्वयं, एवं चत्वारो भेदा मुखमात्रावलोकने, अनुरक्तकटाक्षमोक्षमिति कामसम्बन्धादपि भजनार्थं मुखावलोकनमिति पञ्च भेदा भगवन्मुखमात्रावलोकने ज्ञेयाः ॥ ७ ॥ चूतप्रवालेत्यस्याभासे केवलं रसरूपमिति केवलपदेन विप्रलम्भशृङ्गारो ग्राह्यः, स "बर्हापीडे"तिश्लोके "नट"पदेनोक्तः, इह चूतप्रवालबर्हयोः पीताम्बरेण सम्बन्धकथनं शिरोबद्धपीताम्बरखण्डाभिप्रायेण, रसाभिनयेवतारवदित्यादि, बलदेवे यः पुरुषोत्तमावेशस्तस्य रसरूपत्वेन रसाभिनये स्कन्धबाहुधारणादिना स्वामिनीरमणसमयाभिनयकरणाद्यर्थं बलदेवोपयोगादित्यर्थः, गुणा माया चेत्यादि चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमाला रजस्तमस्सत्त्वस्वरूपाः, ते च रसे उपयुज्यन्ते, यतो रजोगुणेन विविधभावोत्पत्तिः, तमसा त्वेकत्र भगवदवयवे प्रीत्याधिक्येन मनसो लयः सत्त्वगुणेन सर्वेषां भगवदीयपदार्थानां रसोपयोगित्वेन ज्ञानं, ननु प्रवालादीनां स्थापने किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामिह स्वरूपे रसरूपसुगन्धानां तादृशभक्तैकभोग्यानां रसगोपनसूचनार्थं प्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालापीताम्बरस्थापनमित्याहू रसरूपसुगन्धानामित्यादि, तत्राम्रस्य रसप्रधानत्वाद् लोभात्मकस्थरसस्य सूचनार्थमाम्रपल्लवाः, बर्हस्तबकस्य सुन्दरत्वाद् रूपसौन्दर्यसूचनाय धारणं, उत्पलाब्जानां सुगन्धबाहुल्यादानन्दमयविग्रहे सहजः सुगन्धः सूच्यते, रसस्य गोप्यत्वं पीताम्बरधारणेन ज्ञाप्यते, नन्वभिनयकरणे आम्रपल्लवादिभी रसादिसूचने कथं रसानुभवस्तत्राहुर्वस्तुनिर्देशमात्रेणेत्यादि, काव्यपदवाच्यस्य "रसवद्वाक्य"स्य श्रवणे श्रोतॄणां रसानुभवो भवति, एवमाम्रपल्लवादिदर्शने तत्सूचितरसस्याप्यनुभवो भवति, व्रजस्थितसुन्दरीणां तु तादृशस्वरूपवर्णने परस्परश्रवणात् तन्निष्ठरसानुभवो भवति, ननु प्रथममाम्रपल्लवधारणमुक्तं तत्र को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाहू रसवत्फलबोधायेत्यादि, अग्रे रसवतः फलस्य स्वरूपानन्दसारभूतसुधानुभवस्य बोधनार्थं पल्लवधारणमित्यर्थः, शास्त्रार्थस्येति रसशास्त्रस्यार्थः प्रयोजनं सुधाभोगस्तस्य पल्लवदर्शनेन भाव्यत्वेन परिज्ञानाद् भावस्य भगवद्विषयस्नेहस्य कलिकासक्तिरूपो भावो भवेदित्यर्थः, प्रेमानन्तरभावित्वादासक्तेः, उचितं चैतत्, प्रमाणप्रकरणलीलया प्रेमात्मकभावस्योत्पादितत्वात् प्रमेयप्रकरणलीलयासक्तिरूपो भाव उत्पाद्यत इति, कलिकायां हि रसरूपसुगन्धादयः सर्वे विद्यमाना अप्यव्यक्ता किञ्चिद्व्यक्ताश्च, तथाऽऽसक्तौ भावकार्यंभूताः कटाक्षस्मितालापादयोप्यव्यक्ताः किञ्चिद्व्यक्ता भवन्तीति कलिकासादृश्यमासक्तेः, अतस्तादृशासक्तिसूचनार्थं कलिकातुल्यबर्हस्तबकधारणमितिभावः, ततस्तस्येत्यादि तस्य भावस्य वैचित्र्यं व्यसनरूपतया फलितस्यालिङ्गनादिकार्यरूपेण विविधविलासरूपत्वं भवेत्, तदेव पुष्पस्थानीयं, पुष्पे हि रसरूपसुगन्धादयो व्यक्ता भवन्ति तथा व्यसनेपि स्फुटा भवन्तीतिभावः, तादृशव्यसनसूचनार्थमुत्पलाब्जमालाधारणमितिभावः, अहोरात्रमिति, पुष्पे जाते वासना स्फुटा भवति तथा व्यसने जाते तत्कार्याणां दर्शनाश्लेषरहोभाषणादीनां प्रत्यहं जायमानत्वाद् वासना लोके ज्ञानं स्यात्, तथा च प्रकटत्वाद् रसाभास एव स्यान्न रसत्वमिति रसत्वसाधनार्थमाच्छादनमपेक्षितं, तदाच्छादनसूचनाय मायारूपपीताम्बरधारणं, तथा चेदं तात्पर्यमत्राकलनीयं, दर्शनाश्लेषादीनां गोपनार्थं चातुर्यविशेषरूपं कापट्यमपेक्षितं, तदत्र मायाशब्दवाच्यं, तेनैव रसगोपनं भवतीति बोध्यं, एवङ्करणे फलं भवतीत्याहू रसोत्पत्त्यर्थमित्यादि, एवं प्रक्रियया रसोत्पत्तिः स्यादतो निरूपणमितिभावः, आविर्भावे रसास्वादान्नृत्यमिति एवमभिनयकरणेभिनयकर्तुर्भगवतो रसास्वादान्नृत्यमभूदिति नट इत्यस्यार्थं उक्तः, शोभा ततो भवेदिति विरेजतुरित्यस्यार्थ उक्तः, रसत्वं प्रतिपद्यत इति "गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत" इतिरसशास्त्रात्, अनेन "रसो वै स" इतिश्रुत्युक्ता रसरूपता समर्थिता ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अक्षण्वतामित्यत्र रसद्वयार्थमिति का० १७६½–१७७½ । रसो हि द्विविधः, धर्मसहितः केवलश्च, धर्मसहितः सम्भोगे केवलो नाट्ये, तत्र 'अक्षण्वता'मिति श्लोके धर्मसहितः 'चूतप्रवाले'त्यत्र केवलः, एवं रसद्वयनिरूपणार्थं श्लोकद्वयं, ततो "गोप्य" इत्येकेन वेणुकूजनं, 'वृन्दावनं सखिभुव" इति श्लोकेन स्वच्छन्दलीलासिद्धयर्थं पादानां चरणारविन्दानां यद्गमनं रमणं तत्र हेतुभूमेः कीर्तिविस्तारो निरूपितः, एवं चतुर्भिः पीठिका ततः षड्भिः श्लोकैर्वेणोर्वादनं निरूपितं, द्वाभ्यामिति 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इति 'हन्तायमद्रि'रिति च द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां चरणमाहात्म्यप्रकटनं भक्तिस्थापनरूपं चरणस्य भक्तिमार्गरूपत्वादित्यर्थः, एवं तात्पर्यानुक्तौ बाधकमाहुरन्यथेति, भक्तिस्थापनातिरिक्ततात्पर्योक्तौ दूषणं स्यादित्यर्थः, पुरुषोत्तमस्य हीनायाः स्त्रियाः सम्बन्धोक्त्या हीननायकत्वमापद्येत, श्रीपतेः कन्दाद्युपयोगश्च हीनत्वापादकः, अतो भक्तिस्थापन एव तात्पर्यमिति भावः, तथापि लोकरीत्या तस्य दूषणत्वं भवत्येवेत्यत आहुर्नैं परीत्यात् समाधानमिति, प्रमेयमार्गः प्रमाणमार्गाद् विपरीतो बलिष्ठश्चेति हेतोर्न दूषणमिति भावः, तथाचोक्तं 'गा गोपकै'रिति श्लोकविवरणे 'विपरीतं हि भगवच्चरित्र'मित्यारभ्य 'गतिमतामस्पन्दनं भवति तरूणां च पुलकः तथास्माकं योग्यानामयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्व'मिति, अत्रैवाग्रे भगवता सह संलाप इत्यादि सार्धचतस्रः, १७८½–१८२½ । अत्र भगवतः सर्गेन्द्रियोपभोग्यत्वं निरूपितं, आश्लेषो बाहुकार्यं सेवनं करकार्यमित्येकस्यैव हस्तेन्द्रियस्य कार्यद्वयं ज्ञेयं, स्पर्शस्त्वगिन्द्रियकार्यं स्फुटं, अधरामृतपानं रसनेन्द्रियकार्यं, पूर्वोक्तः संलापस्तु वाक्कार्यं, भोगा गुह्यकार्यं, पुरुषाणां तु सेवोपयोगिपुत्राद्युत्पादनद्वारा तदुपयोगः, रोमोद्गमः पायुकार्यं, इतरेन्द्रियोपयोगः स्पष्टः, तदुक्तं सुबोधिन्यां दशमस्कन्धे प्रक्षिप्ततृतीयाध्याये 'एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्ता'मिति श्लोकविवरणे रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यमन्येषामुपयोगः स्पष्ट एवेति, दशमः पायुः, इदमेवेन्द्रियवतामित्यादि, इन्द्रियवतामिदमेव फलमन्यथा मोक्षोपि न फलमित्यर्थः, इन्द्रियवतामपि तादृशफलाभागे हेतुमाहुर्बाधकानामिति, मुख्यफलप्राप्तौ बाधकानां भगवद्व्यतिरिक्तपदार्थानां परित्यागे सति साधकानां सर्वात्मभावात्मकसाधनवतां मोक्षलक्षणं फलं न भवेत् किन्तु पुरुषोत्तमदर्शनाद्यात्मकं मुख्यफलमेव भवेदित्यर्थः, तथा च मुख्यफलप्राप्तौ बाधकत्यागविशिष्टसर्वात्मभावः साधनं, मुमुक्षूणां बाधकत्यागेपि सर्वात्मभावात्मकसाधनाभावान् न मुख्यफलं किन्तु मोक्ष एवेति ॥ ७ ॥ चूतप्रवालेत्यत्र गुणा माया च वेषार्थमित्याद्याः षट् का० १८३½–१८८½ । गुणा माया चेति प्रवालः स्तबको माला चेति त्रयं टिप्पण्युक्तप्रकारेण स्थायिभावव्यभिचारिभावविगाढभावात्मकगुणत्रयरूपं पीताम्बरं च मायारूपं, एवं चत्वारोपि वेषार्थमुपयुक्ता भवन्तीत्यर्थः, अत्र श्रीवल्लभगोस्वामिनः "अत्र टिप्पण्यां विगाढभावपदस्य कटाक्षादिरूपोनुभावोर्थः, स्थायिभावात्मकस्वरूपस्यैवात्र आलम्बनविभावत्वात् स्थायिभावो विभावश्चात्र एक एव, तथा च स्वरूपस्य धर्मिरूपस्यालम्बनविभावात्मकस्य वैचित्र्यं धर्मरूपस्थायिभावेन व्यभिचारिभावानुभावाभ्यां च भवतीत्यर्थः, गुणानां मायायाश्च तत्तद्रूपत्वं व्युत्पादयन्ति रसरूपसुगन्धानामिति, आम्रे मुख्यतया रसस्य प्रतिष्ठितत्वात् तत्प्रवालानां स्थायिभावत्वं, बर्हे रूपमात्रस्य प्रतिष्ठितत्वाद् रसव्यभिचारात् तत्स्तबकानां व्यभिचारिभावत्वं, उत्पले सुगन्धस्य प्रतिष्ठितत्वात् तस्य च रसानुभावकत्वात् तन्मालाया अनुभावत्वं, धर्मिणः स्वरूपस्याच्छादनबोधाय मायापि निरूप्यते" इति व्याचख्युः, ननु साक्षादनुभवाभावे वस्तुनिर्देशमात्रेण कथं रसानुभव इत्याशङ्क्याहुर्वस्त्विति, तत्र दृष्टान्तः श्रोतृणां काव्यवदिति, एवं क्रमेण पदार्थचतुष्टयनिरूपणे हेतुमाहू रसवत्फलबोधायेति, रसयुक्तफलबोधार्थं प्रथमं पल्लव उक्तः, पल्लवदर्शने फलस्य स्वरूपस्य रसवत्त्वेन ज्ञानं भवति, तेन कलिकाहेतुप्राथमिकभावोदयो भवति, अतः प्राथमिकभावहेतुत्वात् प्रथमं पल्लवो मतः, द्वितीयमाहुः शास्त्रेति, रसशास्त्रस्यार्थः फलं तस्य परिज्ञानात् भावस्य कलिका रसानुभवज्ञापिका भवेत्, अतः पल्लवानन्तरं कलिकासदृशाः बर्हस्तबका उक्ताः, तृतीयमाहुस्ततस्तस्येति, तदनन्तरं तस्य कलिकारूपभावस्य वैचित्र्यं भवेद्, अतः पुष्पस्थानं पुष्पाणामुत्पलादीनां स्थानं माला तदनन्तरमिहोच्यते, चतुर्थमाहुरहोरात्रमिति, परिधानाभावे सर्वदा वामना तदनुभवः स्यात्, तदाऽगुप्तत्वाद् रसत्वमेव न स्यात्, ततो हेतोस्तदनन्तरमाच्छादनं परिधानं स्मृतं, एतावन्निरूपणप्रयोजनमाहू रसोत्पत्त्यर्थमिति, इति स्थितिरिति स्थितिर्मर्यादा, यद्यप्येतत्प्रणालिकां विनापि भगवान् रसोत्पादनसमर्थस्तथापि रसमर्यादास्थापनाय तथेति भावः, नृत्यं शोभा ततो भवेदिति नटवरावितिपदोक्तं नृत्यं विरेजतुरितिपदोक्ता शोभा ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तदनुवर्णनमेवाह—अक्षण्वतामिति त्रयोदशभिः । 'युष्माकमपीदं संमतमेव' इति सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति—हे सख्यः ? अक्षण्वतां चक्षुष्मतां चक्षुषः फलमिदमेव मुख्यम्, अतः परमन्यदुत्कृष्टं फलं वयं न विदामः न विद्म इत्यर्थः । 'किं तत् फलम्' इत्यपेक्षायामाह—वयस्यैः सखिभिः सह पशूननुविवेशयतोः वनाद्वनान्तरं प्रवेशयतोर्व्रजेशस्य नन्दस्य सुतयो रामकृष्णयोर्वक्त्रं मुखं यैर्निपीतं अक्षिभृङ्गैस्तन्माधुर्यमनुभूतं तैर्यज्जुष्टं सेवितं प्राप्तं तदेवेत्यन्वयः । तच्छोभातिशयं सूचयन्त्यो मुखं विशिषन्ति—अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं तं अवादयत् । तथा अनुरक्तकटाक्षमोक्षमिति स्निग्धकटाक्षविसर्गम् ॥ ७ ॥ अन्या आहुः—चूतेति । अत्र सर्वत्र वक्तृभेदात् पूर्वापरसङ्गतिनपेक्षिता । चूतस्याम्रस्य प्रवालाः कर्णयोः, बर्हस्तवका मयूरपिच्छगुच्छानि शिरसि, उत्पलाब्जानां माला कण्ठे,

तैरनुपृक्ते मिलिते सहिते परिधाने नीलपीतांबरे ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ समकृष्णौ क्व च कदाचित् पशुपालानां गोष्ठ्यां सभायां मध्ये गायमानौ अलमत्यर्थं विरेजतुरित्यन्वयः । तत्र दृष्टान्तमाहुः—रङ्गे इति । रङ्गे मल्लयुद्धस्थानविशेषे, नटसभायां यथा गायमानौ नटवरौ राजेते तथा । अनेन गोपानामपि तथा वेषः सूचितः । अहो ईदृक् स्वरूपं पश्यतां भाग्यमित्याशयः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अत्र गोप्य ऊचुरिति स्वामिपादानां न सम्मतम् । भावगोपनाय रामसहितं वर्णयन्ति—अक्षण्वतामिति ॥ हे सख्यः ! अनुवेणु वेणुमनुवर्तमानं वेणुं वादयत् इत्यर्थः । तथा अनुरक्तेषु कटाक्षाणां मोक्षो यस्मात् तत् वयस्यैः सखिभिः सह पशूननुनिवेशयतोर्व्रजेशस्य नन्दस्य सुतयो रामकृष्णयोर्वक्त्रं मुखं यैर्निपीतम् अक्षिभृङ्गैस्तन्माधुर्यमनुभूतं वाऽवधारणे तैर्यज्जुष्टं सेवितं प्राप्तं यत् इदमेव अक्षण्वतां चक्षुषो मुख्यं फलम् । छन्दस्यपीति टाप्यचं विनापि । अक्ष्णोऽनङ् अनो नुडिति नुट् । अतः परमन्यदुत्कृष्टं फलं वयं न विदामः । न विद्म इत्यर्थः । शबलुगभाव आर्षः । 'तातं भवन्तं मन्वानः' इति वसुदेवोक्तेः । 'रामोऽभिवाद्य पितरौ' इति शुकोक्तेश्च द्वयोरेव व्रजेशसुतत्वं तयोः प्रसिद्धमासीत् । व्रजेशसुतयोर्मध्येऽनु पश्चाद्वर्तिनः कृष्णस्येति वार्थः ॥ ७ ॥ अन्या आहुः—चूतेति ॥ अत्र सर्वत्र वक्त्रीणां भेदात् पूर्वापरसङ्गतिर्नापेक्षिता । चूतस्याम्रस्य प्रवालाः बर्हं पिच्छं स्तवकाः पुष्पगुच्छाः एतानि शिरसि उत्पले तदन्तःकोषौ कर्णयोः अब्जं लीलाकमलं दक्षिणकरे माला कण्ठे तैरनुपृक्ते ईषदन्तरान्तरतः मिलिते परिधाने नीलपीताम्बरे ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ रामकृष्णौ क्व च कदाचित् पशुपालानां गोष्ठ्यां सभायां मध्ये गायमानौ । आर्षः शानच् चानश् वा । अथवा गाये गाने मानः गर्वो ययोः अलमत्यर्थं विरेजतुः । यथा रङ्गे मल्लयुद्धस्थानविशेषे नटसभायां यथा गायमानौ नटवरौ राजेते तथा अहो गोपानां पुण्यमिति भावः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

त्रयोदशश्लोकैर्हरिं वर्णयन्त्य आहुः अक्षण्वतामिति हे सख्यः वयस्यैः समानवयोभिः गोपैः सह पशूनवनं प्रतिप्रवेशयतोः व्रजेशसुतयोः नंदपुत्रयोः वक्त्रं यैः निपीतं नेत्रैर्हृदिनितरां आनीतं तैरेवजुष्टं दर्शनद्वारासेवितं नान्यैः किं च अक्षण्वतां नेत्रवतामिदमेव नेत्रयोः फलं परमन्यत् न विदामः अक्षिशब्दपर्यायोऽक्षन् शब्दोप्यस्ति तस्मात्परस्य मतुप्प्रत्ययस्य अनोनुडिति सूत्रेण नुटिकृतेऽक्षण्वतामिति सिद्धं तद्वक्त्रं किं लक्षणं अनुवेणुं वेणुनादयत् अनुरक्ता भक्तोपरिप्रेमयुक्ताः कटाक्षमोक्षा यस्मिंस्तत् यद्वा अनु निरंतरं वेणुना जुष्टं अनुरक्तकटाक्षमोक्षं वक्त्रं यैः निपीतं प्रेमणादृष्टं तेषामक्षण्वतामिदं वक्त्रदर्शनमेव फलं परं न विदाम तस्य दर्शनं विनाचक्षुः साफल्यं न स्यादिति भावः ॥ ७ ॥ अन्यास्तयोः शोभावर्णनमाहुः चूतेति चूतप्रवालादीनां मालाभिः अनुपृक्ते संलग्ने परिधाने नीलपीतवस्त्रे ताभ्यां विचित्रो वेषः शृंगारो ययोस्तौ क्वच कदाचित् पशुपालानां गोष्ट्यां सभायां मध्ये गीयमानौ रंगे नटरमणस्थाने नटवरौ यथा तथा अलं विरेजतुः अहो अधुना गोपानां महद्भाग्यमस्माकं तु न्यूनमित्यभिप्रायः उत्पलकुमुदिनी अब्जं पद्मं च ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वर्णनमेवाहाक्षण्वतामित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति ॥ अक्षण्वतामिति ॥ हे सख्यः, वयस्यैः स्वसमानवयस्कैर्गोपैः सह, पशून् गाः, अनुविवेशयतोः वनं प्रति प्रविवेशयतोः, व्रजेशसुतयोर्नन्दस्य सुतयो रामकृष्णयोः, अनुवेणु वेणुमनुवर्त्तमानं, वेणुं वादयदित्यर्थः जुष्टं पश्यतां निरतिशयप्रीतिविषयं, 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इति धातोर्जुष्टमिति । अनुरक्तानां स्निग्धानां कटाक्षाणां मोक्षो विसर्गो यस्मिंस्तथाभूतं वक्त्रं मुखं, यैर्वा यैरेवेत्यर्थः । निपीतं नितरामनुभूतं दृष्टमिति यावत् । इदमेतदेव, अक्षण्वतां चक्षुष्मतां, तेषां फलं चक्षुःप्रातिफलं, परं तदतिरिक्तं न इति विदामः विद्मः । यद्वा । व्रजेशसुतयोर्वक्त्रं यैर्निपीतं, चक्षुष्मतां तेषां जनानां, चक्षुर्भिः इदमेव फलं जुष्टं सेवितम् । यद्वा अन्वनुवेलं वेणुजुष्टं वेणुना सेवितं, व्रजेशसुतयोः वक्त्रं यैः निपीतं, इदमेव अक्षण्वतां तेषां, अक्ष्णोः फलं, यद्वा । वक्त्रं यैर्जनैः, निपीतं तैर्जनैरेव, चक्षुःफलं जुष्टं, नान्यैः ॥ ७ ॥ अन्या आहुः ॥ चूतेति ॥ एवमुत्तरत्रापि । सर्वत्र वक्तृभेदान्नातीव संगतिरपेक्षिता । चूतप्रवाला आम्रकिसलयाश्च बर्हाणि मयूरपिच्छानि च स्तबका गुच्छाश्च उत्पलानि चन्द्रविकाशिजलजानि च अब्जानि सूर्यविकाशिपद्मानि च तेषां मालाभिरनुपृक्ते ईषदन्तरान्तरतः संयुक्ते परिधाने नीलपीताम्बरे ताभ्यां विचित्रो वेषो ययोस्तौ, क्व च कदाचित्, गायमानौ रामकृष्णौ, रङ्गे नृत्यस्थाने, नटवरौ नटश्रेष्ठौ, यथा तथा, पशुपालगोष्ठ्यां गोपसभायां, मध्ये मध्यप्रदेशे, अलं नितरां, विरेजतुः । अहो पश्यतां गोपानां महद्भाग्यमिति भावः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अक्षण्वतामिति ॥ १०.२१.७.

यस्मिन् दृष्टे दृष्टमेवाखिलं स्याद्यस्मिंश्चक्षुस्तिष्ठति स्वेष्टदातृ ।
तच्चेद्वक्त्रं श्रेशमैक्षीह येन तस्मादक्ष्णः किं भवेद्धन्यमन्यत् ॥ १५ ॥

चूतप्रवालेति : १०.२१.८.

रङ्गे भवन्ति सुनटा अपि रङ्गभाजामस्मत्स्वभावविशदीकरणेन भूयः ।
चेतोहरा ध्रुवमयं तु नटाधिकश्रीरस्माकमेव सखि मोहनमातनोति ॥ १६ ॥

कृष्णप्रिया

गोपियाँ आपस में बातचीत करने लगी–अरी सखी ! हमने आँखवालों के जीवन की और उनकी आँखों से बस, यही इतनी ही सफलता समझी है, और तो हमें कुछ मालूम ही नहीं है, वह कौन सा लाभ है ? वह यही है कि जब श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण और गोरे सुन्दर बलराम ग्वालवालों के साथ गायोंको हाँककर वन में ले जा रहे हों या लौटाकर व्रज में ला रहे हो, उन्होंने अपने अधरोपर मुरली धर रक्खी हो और प्रेमभरी तिरछी चितवन से हमारी ओर देख रहे हों उस समय हम उनकी मुखमाधुरी का पान करती रहे ॥ ७ ॥ अरी सखी जब वे आम की नयी कोपलें मोरों के पंख, फूलों के गुच्छे रंगविरंगे कमल और कुमुद की मालाएँ धारण कर लेते हैं श्रीकृष्ण के साँवरे शरीर पर पीताम्बर और बलराम के गोरे शरीर पर नीलाम्बर फहराने लगता है तब उनका वेष बड़ा विचित्र बन जाता है । ग्वालवालों की गोष्ठी में वे दोनों बीचोबीच बैठ जाते हैं और मधुर सङ्गीत की तान छेड़ देते हैं, मेरी प्यारी सखी उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दो चतुर नट रंगमञ्चपर अभिनय कर रहे हों मैं क्या बताऊँ कि उस समय उनकी कितनी शोभा होती है ॥ ८ ॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु[1]र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु[2]मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः[3] ॥ ९ ॥
वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं [4]प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोप्यः, अयं वेणुः किं कुशलम् आचरत् यत् गोपीकानाम् अपि दुर्लभां दामोदराधरसुधां स्वयं अवशिष्टरसं यथेष्टं भुङ्क्ते ह्रदिन्यः हृष्यत्वचः तरवः अश्रु मुमुचुः यथा आर्याः ॥ ९ ॥ सखि वृन्दावनं भुवः कीर्तिं वितनोति यत् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि गोविन्दवेणुम् अनुमत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्य अद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥ १० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अन्या ऊचुः । हे गोप्यः अयं वेणुः किं स्म पुण्यमाचरत्कृतवान् । कथम् । यद्यस्माद्गोपिकानामेव भोग्यां सतीमपि दामोदराधरसुधां स्वयं स्वातंत्र्येण यथेष्टं भुंक्ते । कथम् । अवशिष्टरसं केवलमवशिष्टं रसमात्रं यथा भवति तथा । यतो यासां ह्रदिनीनां पयसा पुष्टस्ता मातृतुल्या ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचो विकसितकमलवनमिषेण रोमांचिता लक्ष्यंते । येषां वंशे जातस्ते तरवो मधुधारामिषेणानंदाश्रु मुमुचुः । यथा आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं दृष्ट्वा हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुंचंति तद्वदिति ॥ ९ ॥ काश्चिदाहुः । हे सखि वृंदावनं भुवः कीर्तिं स्वर्गादपि विशेषेण वितनोति । कथंभूतम् । यद्देवकीसुतस्य पदांबुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः शोभा संपद्येन तत् । किं च गोविंदस्य वेणुमनु वेणुनिनादं श्रुत्वाऽनंतरं मंदं गर्जितं नीलमेघं तं मत्वा मत्ता ये मयूरास्तैराचरितं नृत्यं प्रेक्ष्य संघशस्तत्रतत्राद्रिसानुष्वपरतान्युपरतक्रियाण्यन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिंस्तत् । नैतदन्येषु लोकेषु विद्यतेऽतो लोकांतरापेक्षया भुवः कीर्तिं वितनोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्याः अनुरागिण्यः । किम् अनिर्वाच्यम् । कथं ज्ञातमिति शेषः । यतो हेतोः । ह्रदिन्यो नद्यः सरस्यो वा । वृक्षाद्या अपि तत्र भगवदनुरागिणस्तत्र किं चेतनानुरागवार्त्तेति भावः । हे गोप्यो वेणुर्मुरली किं स्वित्कुशलं मंगलमाचरत् अपि तु न किमपि, स्थावरजातित्वेनैव लक्ष्यते इति भावः । तदपि दामोदराधरसुधां भुंक्त इति कथं वयं सोढुं प्रभवाम इति भावः । तत्र हेतुः–गोपिकानामिति । अधरसुधायां हि गोपिकानामस्माकमेव स्वत्वं कृष्णस्य गोपजातित्वान्नित्यं रात्रावस्माभिः संभुज्यमानत्वात् । वेणुस्तु विजातीयः तत्रापि कृष्णरमितत्वमात्मनो मत्वा कृष्णप्रेयसीत्वाभिमानं धत्ते, तत्रापि धाष्टर्येन न पुनः पौरुषमाविष्कृत्य स भुंक्ते, तत्रापि परकीयं धनं, तत्रापि स्वयमेव न त्वन्यं जनं कमपि संगिनं करोति, तत्रापि चौर्येण किं तु धनं स्वामिनोरस्मान्

१. सुधासरसाप्र्यगेयं–विज. । २. रसौघमार्गे हृष्टत्वचो–विज. । ३. स्तरवस्सदर्भाः–विज. । ४. प्रेक्ष्याद्दतानुचरितान्य–विज. ।

फूत्कारेण ज्ञापयित्वैव, किं चायं न फूत्कारः किं तु संभोगोत्थमणितमेव, तच्चास्मान् श्रावयित्वैव, तत्रापि न वशिष्टो नावशिष्टो रसः किञ्चिन्मात्रोपि यत्र तद्यथा स्यात्तथा भुंक्ते। 'वष्टिभागुरिः' इत्यल्लोपः। धन स्वामिनीनामस्माकं कृते स्वभुक्तावशिष्टमपि किञ्चिन्न रक्षतीत्यहो धाष्टर्च्यमिति भावः किं च, अकुशलवर्त्तिनः सर्वे जनास्तादृशा एवेत्याहुः। यद्यतोऽधरसुधाभोगान्नद्योपि हृष्यत्त्वच उत्फुल्लकमलादिमिषेण पुलकवत्यो बभूवुस्तरवोपि मकरंदमिषेणाश्रु मुमुचुर्यथाऽऽर्या भगवद्गुणान् श्रुत्वाश्रुपुलकादिमंतो भवंति तथैव ते वेणोर्मणितं श्रुत्वेति। ह्रदिन्योऽस्य सख्यस्तरवश्च सखायो दूता एवेति सर्वेस्माकं वैरिण एवेति भावः। अतोऽयं गोप्यः निभृतं कुत्रापि रक्षणीयो यथा कृष्णाधरं न प्राप्नुयादित्यसूयाख्यः संचारी व्यंजितः॥ ९॥ काश्चित् स्ववासभुवं श्लाघयंत्य आहुः-विपदेन स्वर्गलाभः। इह देवकीपदं यशोदावाचकम्, गोपीनां वसुदेवपत्नीजत्वस्याज्ञातत्वात्। न केवलं पादांकनसंपत्तिरेव किं त्वन्यदपि लोकांतरापेक्षया वैलक्षण्यमस्ति तदाह-किन्वेति। गोविंदं नीलमेघं वेणुनादं च तद्ध्वनिं मत्वा तत्र तत्र मयूरा नृत्यंतीति। तत्र तत्र स्थले। समस्तानि गोवत्सपक्षिभुजंगादीनि। एतत् गोविंदपादांकनवेणुनादाकर्णनोत्तरमयूरनृत्यादि। अन्येषु स्वर्गादिषु। इत्यर्थं इति। पृथिव्यामपि वृंदावनमेव कुलकीर्तिकरपुत्रवद्वरमिति भावः। 'द्वे नाम्नी नंदभार्याया यशोदा देवकीति च' इति। लब्धा लक्ष्मीर्ध्वजवज्रादि चिह्नमयी शोभा येन तत्। लोके च पृथिवी धन्या तत्र जंबूद्वीपस्तत्र भारतं तत्रार्यावर्तं तत्र माथुरमंडलं तत्रापि श्रीवृंदावनादधिकं न किमपीति। अत्रास्मान्नर्त्तयेति मयूरैः प्रार्थितस्य गोविंदस्य वेणुवादनं तदीयतालगत्येव मंडलीभूय नृत्यतां तेषां मध्ये तस्यापि सनृत्यं वादनम्, ततस्तद्वाद्येन तुष्यतां पारितोषिकस्वीयदिव्यबर्हप्रदानं तस्मै, तेन च वादकलोकरीत्या साह्लाद तद्गृहीत्वा स्वशिरस्युष्णीषस्योपरिधारणमिति॥ १०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो वताऽस्तुतरां गोपानां भाग्यं वेणोरपि भाग्यं किं वक्तव्यमिति महाभावस्फुरदुन्मादतया मिथ्याकल्पनापूर्वकं सेर्ष्याभिलाषमाहुः—गोप्य इति। अयमस्माभिर्दृश्यमान इव नीरसदारुमयो वेणुः अस्मिन् जन्मनि पूर्वस्मिन् वा किङ्कृतमत् पुण्यं कृतवान् तत्पुण्ये ज्ञाते वयमपि तदर्थं यतामह इति भावः। स्मेति विस्मये तल्लिङ्गमाहुः यद्यस्मात् दामोदरेत्यादिदामोदरशब्देन तस्याऽस्माकं च तादृशबाल्यमारभ्य जातेदृशभावाङ्कुरतया स्वाभाविकं सम्बन्धविशेषं सूचयन्ति अत एव गोपिकानामस्माकमेव भोग्यान् अयमिति पुंस्त्वनिर्देशेन तस्य तद्भागा योग्यता चोक्ता तथापि भुङ्क्ते तदेकापभोग्यत्वेन सदा पिबति तस्य तदन्यभोगादर्शनात्। ननु, दामोदराधरस्तत्सङ्गानन्तरमपि सरस एव दृश्यते नतु शुष्कस्तस्मादसौ न किञ्चिदपि भुङ्क्ते तत्राहुः अवशिष्टो रसो रसमात्रं यत्र तद्यथा स्यात् सुधा भुङ्क्तेव केवलं द्रवमात्रमेवावशिष्येतेत्यर्थः। हे गोप्यः! इति तस्माद्वेणुजन्मनैव सौभाग्यं ननु गोपीजन्मनेति कुतो यूयं गोप्यो जाता इति भावः। अस्माकमिति वक्तव्ये गोपिकानामित्युक्तिर्गोकुलवासित्वेनास्मत्कोटिप्रवेशेऽपि गोपिकाविशेषत्वाभावान्न तद्विधस्याधिकार इति निजाभिमानविशेषात् वैदग्धीरसविशेषाच्च श्लेषेण तदेकाशयैव देहादिरक्षिकाणामिति किञ्च तस्य युष्मदीयकान्तस्य करे हृदये वदने च सदा वर्त्ततां नाम अधरसुधामपि स्वयं युष्मत् सम्मतिं विनैव भुङ्क्ते इति भावान्तरम् अथवा तच्च कथं भुङ्क्ते तत्राहुः अवेति वशिष्टं अवशिष्टं वष्टिभागुरिरल्लोपमित्यादेः न वशिष्टम् अवशिष्टम् अनवशिष्टमित्यर्थः। तादृशो रसो यत्र तथाभूतं यथा स्यात् रसमात्रमपि नावशेषयतीत्यर्थः। यद्वा अवशिष्टो रसो रागो यत्र तद्यथा स्यात् रागस्यावशिष्टत्वात् न कदाचिदपि विरमेत् किन्तु मुहुर्भोक्ष्यत एवेत्यर्थः। यद्वा सुधां कथम्भूतामपि गोपिकानामवशिष्टो यो रसः तदेकापेक्षया तदितराशेषरसपरित्यागात् तद्रूपामपि अथवा कुशलाचरणे लक्षणान्तरमप्याहुः ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वच इति तस्य तादृशं भोगे दृष्ट्वा परमपुण्या ह्रदिन्योपि लोभाद्विकसितकमलमिषेण हृष्यत्त्वचो जातरोमहर्षा बभूवुः इत्यर्थः अथवा यदवशिष्ट उच्छिष्टो यो रसो नादरूपन्तं ह्रदिन्योपि भुञ्जते आस्वादयन्ति यतश्च हृष्यत्त्वचो भवन्तीत्यर्थः। किञ्च यस्य स्वजातिसम्भवस्य वेणोस्तादृशं सौभाग्यं दृष्ट्वा सर्वे स्थावरजातयोपि मधुमिषेणाश्रु मुमुचुः तत्र दृष्टान्तः यथाऽऽर्याः पितरः स्वकुलसम्भवस्य तादृशं सौभाग्यमनुभूयाश्रु मुञ्चन्तीत्यर्थः। ईर्ष्यापक्षे तस्मात् समाज एव तादृशस्तस्यैकस्य वा को दोषः अतोऽयं गोप्यः निभृतं कुत्रापि सङ्गोप्यरक्षणीय इत्यर्थः॥ ९॥ अहो किं वक्तव्यं श्रीहस्तादौ वर्तमानस्य वेणोर्माहात्म्यं वृन्दावनस्य सौभाग्यं कियद्वर्ण्यतामित्याहुः—वृन्देति। हे सखि। वितनोति वैकुण्ठेभ्योपि विशेषेण विस्तारयति यद्यस्मात् यद्वृन्दावनमिति या देवकीसुतस्य श्रीकृष्णस्य पदाम्बुजाभ्यां कृत्वा लब्धा लक्ष्म्यः सर्वशोभामहिम्नोः सम्पदो येन तत् तस्यैवासनोर्द्धरूपत्वात् तत्र च साक्षात्पदाम्बुजाभ्यामेव नतु पादुकाभ्यामित्यनेन श्रीवृन्दावनभूमेः परमसौभाग्यं सूचितं तासां देवकीसुतेत्युक्तिं प्रागयं वसुदेवस्येत्यादि गर्गवाक्यानुसारात् तथा चोक्तिर्गोपनाय एवं गोविन्दशब्दोपि गवाध्यक्षेपि गोविन्द इति कोशकारमतमाश्रित्य तस्मिन् सङ्कीर्तितः श्रीगोविन्दाभिषेकानन्तरमेव तन्नाम्नो व्रजे प्रसिद्धेः उत्तरत्र नन्दनन्दनमिति तु गोपनाशक्तेः यद्वा देवकीव्रजेश्वर्येवनाम —

"द्वेनाम्नी नन्दभार्याया यशोदादेवकीत्यपि। अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया"॥ इति।

वृहद्विष्णुपुराणवचनात् विशब्दोक्तं वैशिष्ट्यमाहुः—गोविन्देति। गवामिन्द्रो गोविन्द इति गोपवर्गचूडामणिगोर्गोपालपरिवृतो वन्यभूषणो विचित्रक्रीडारसिकः श्रीयशोदानन्दनो लक्षितः अतो वृन्दावनस्यापि भाग्यमस्माभिरभिलषणीयमेवेति भावः।

अन्यत्तैः तत्र मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वेति मयूराणां मत्तत्वे नृत्ये च हेतुः अन्यथाऽन्येषामिव तेषामप्यवरतत्वमेव स्यात् तथाप्यलौकिकत्वं त्वधिकमस्त्येवेति अथवा तादृशश्रीकृष्णे स्वाभाविकप्रीत्यतिशयवतां श्रीवृन्दावनमयूराणां सम्बन्धेन सर्वस्यामपि तज्जातो भगवत्प्रसादादन्यत्रत्या अपि एतत्सादृश्येनैव मेघे प्रीतिमन्तो ज्ञेयाः ततश्च गोविन्दस्य वेणुमनु तन्नादश्रवणान्तरमित्यग्रेपि सर्वत्रानुवर्तनीयं यद्वा, गोविन्दस्य वेणोर्मनुः नादात्मकपरममोहनमन्त्रस्तेनैव मत्तानां मयूराणां नृत्यं यस्मिन् यद्यपि तद्वेणुनाद एव यथा मयूराणां नृत्ये हेतुस्तथान्येषामवतारत्वेपि तथापि नृत्यरीतिमुत्प्रेक्षितुमेवान्येषां सभासदत्वनिरूपणयोग्यं प्रेक्ष्येत्युक्तं किंवा मुहुः श्रीभगवद्दासनताप्राप्त्या सर्वेषां परमावलोकनीया अद्रिसानवो ये यद्वा प्रेक्ष्यनृत्येक्षणे वृद्धाविति विश्वप्रकाशात् प्रेक्षाम् अर्हन्ति ये तेषु उच्चेषु तद्दर्शनस्थानेषु अवरतानि स्तब्धतां प्राप्तानि अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि प्राणिनो यस्मिन् यद्वा मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्य गोविन्दवेणुमन्विति व्युत्क्रमेण योज्यम् अत्रेदं विवक्षितं बर्हावतंसस्य मयूरप्रियस्य तस्य वनागमनसन्दर्शनमात्रेण प्रीत्या मत्तानां मयूराणां नृत्यं तत्प्रेक्षया हर्षेण गोविन्दस्य वेणुः तेन तद्वादनमित्यर्थः। तमनु अद्रिसानुषु अवरतानि विरतानि अन्यानि श्रीभगवद्दर्शनादिव्यतिरिक्ताशेषप्रयोजनानि येषां तथाभूतानि समस्तसत्त्वानि यस्मिन् ईदृशं श्रीवैकुण्ठेपि नास्तीति तथा ततोऽपि कीर्त्तिविशेषोऽस्याः सिद्ध एव अहो बतास्माकं तत्र तथा तादृश्यवस्था न सिद्ध्येदति वयमधन्या एवेति भावः तच्च तासां प्रेमविशेषस्वाभाविकाऽतृप्त्यार्त्तिलक्षणमेवेति सर्वत्रोह्यम् ॥ १० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो बतास्तु तत्संगि गोपानां भाग्यं किं वक्तव्यमित्याहुः—गोप्य इति। अयं नीरसदारुमयो वेणुः किं कतमत् पुण्यं कृतवानस्मिन् जन्मनि पूर्वस्मिन् वा. तत्पुण्ये ज्ञाते वयमपि तदर्थं यतामह इति भावः। स्मेति विस्मये, तल्लिंगमाहुः—दामोदरेत्यादिना दामोदरशब्देन निजयूथेश्वर्य्याः प्रेमविशेषेणात्मवश्यतां बोधयन्ति, राधादामोदरयोर्द्वन्द्वत्वात्, अत एव गोपिकानां भोग्यम्। अयमिति पुंस्त्वनिर्द्देशेन तस्य तद्भोगायोग्यतोक्ता. तथापि भुङ्क्ते तदेकोपभोग्यकत्वेन सदा पिबति, तस्य तदन्यभोगादर्शनात्। ननु दामोदराधरस्तद्भोगानन्तरमपि सरस एव दृश्यते, न तु शुष्कस्तत्राहुः—यदिति। सुधां भुक्त्वैव केवलं द्रवमात्रमवशिष्येतेत्यर्थः। हे गोप्यः! इति तस्माद्वेणुजन्मनैव सौभाग्यम्, न तु गोपीजन्मनेति, कुतो यूयं गोप्यो भूता इति भावः। अस्माकमिति वक्तव्ये गोपिकानामिति गोपीजात्यैव तद्भोग्यत्वसिद्धेः, निजाभिमानविशेषात् वैदग्धीरसविशेषाच्च. श्लेषेण तदेकाश्रयैव देहादिरक्षिकाणामिति। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। अथवा गोपिकानामेव वश्यः स्वामी वा यो दामोदरस्तस्य करे हृदये वदने च सदा वर्त्ततां नाम, अधरसुधामपि स्वयं युष्मत्सम्मतिं विनैव भुङ्क्ते। अवेति, अवरतादिवद्धीनार्थे, अव हीनं शिष्टं यस्य रसस्य तथाभूतं यथा स्यात्, रसमात्रमपि नावशेषयतीत्यर्थः। यद्वा, अवशिष्टो रसो रागो यथा स्यात्, रागस्यावशिष्टत्वान्न कदाचिदपि विरमेदिति, किन्तु मुहुर्भोक्ष्यत एवेत्यर्थः। यद्वा, सुधां कथम्भूताम्? गोपिकानामत्रशिष्टो यो रसस्तदेकापेक्षया तदितराशेष-रसपरित्यागात्तद्रूपामपि, तामप्ययं भुङ्क्ते। तत्र रसो नाम प्रीत्याख्यरसविषयत्वेऽपि तादात्म्यापेक्षयोपचारेण सुधैव रसः, किंवा रसनीयमधुरद्रव्यविशेष इति। अथवा कुशलाचरणलक्षणान्तरमप्याहुः—यस्य अवशिष्टमुच्छिष्टमेव, तथापि रसं द्रवमात्रम्, न तु सुधाम्, ह्रदिन्यः स्नानपानादिना जगतां पावन्यः सर्वार्थदाश्च श्रीयमुनाद्या नद्योऽपि भुञ्जते, जलविहारादिनाधररागापगमान्नद्यादयोऽधरामृतं पिबन्तीति (साहित्यदर्पणः २।२३) 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरः' इत्यादिवचनतः काव्येष्वनुमानद्वारा प्रसिद्धमेव, तासां तद्भोगे लिंगं 'हृष्यत्त्वचः' इति, तरवश्च मुनय इव तत्तीरवर्त्तिनो जगदुपकारपरा भगवत्स्तुतमाहात्म्या भुञ्जते, पादैस्तन्नदीजलपानतः, तत्र लिंगम्–अश्रु मुमुचुरिति, अन्यथा तादृशहृष्यत्त्वक्त्वाश्रुमोचकत्वानुपपत्तेः। तत्र दृष्टान्तः—आर्य्या महान्तो यथा श्रीभगवद्रसानुभवेनैव हर्षाद्रोमाञ्चिता गलदश्रुमुचश्च भवन्ति, नान्यथेति। यद्वा, हृष्यत्त्वचः सत्य इति परमदुर्ल्लभलाभेनानन्दभरः सूचितः, अतो यस्योच्छिष्टद्रवमात्रपानेनापि तासामीदृशो हर्षः, तस्य पुण्यमाहात्म्यं कथं वर्ण्यमिति भावः। तरवस्तु अश्रु मुमुचुः, तस्याप्यलाभेन शोकादरुदन्नित्यर्थः। किम्भूताः? आर्य्याः, छायादिना जगदुपकारान्महान्तोऽपि, यद्वा, ननु तरूणां तद्भोगे कथमपि सम्भावनापि नास्ति, कथं तदप्राप्त्या रोदनं सम्भवेत्? न हि रंको राज्याप्राप्त्यारोदिति। किं तर्हि क्षुधादिनाऽन्नाद्यर्थमेवेत्याशंक्याहुः–यथा आर्य्याः परमार्य्याः सुधियस्तदधरामृतपानहीना अपि तदप्राप्त्या शोकेनाश्रु मुञ्चन्ति, तद्वदिति। यद्वा, यथा यथावत् तरव आर्य्याः सरलबुद्धयः। अन्यत् समानम्। अतोऽयं गोप्यः, निभृतं कुत्रापि संगोप्य रक्षणीय इत्यर्थः॥ ९॥ अहो किं वक्तव्यं श्रीहस्तादौ वर्त्तमानस्य वेणोर्माहात्म्यम्? श्रीवृन्दावनस्यैव भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः वृन्देति। सखि, हे श्रीराधे! वितनोति स्वर्गादिभ्योऽपि विशेषेण विस्तारयति, यत् यस्मात्, यद्वृन्दावनमिति वा, देवकीसुतस्य श्रीकृष्णस्य पदाम्बुजाभ्यां कृत्वा लब्धा लक्ष्म्यो जगद्विलक्षणवज्रांकुशादि सुलक्षणैः सर्वाः शोभासम्पदो वा, सर्वेषां तत्रत्यानां जनानां सर्वार्थमूलमहानिधिप्रकाशनरूपा येन तत्। तत्र च साक्षात् पादाम्बुजाभ्यामेव, न तु पादुकाभ्यामित्यनेन तथाम्बुजरूपकव्वनित परमसौकुमार्य्य-शीतलत्वादि सहजगुणयुक्तपादस्पर्शेन श्रीवृन्दावनभूमेः परमसौभाग्यं सूचितम्, अलभ्यलाभात्, पदाम्बुजशब्देन च स्वर्गादिषु सपादुक-श्रीविष्णवादिभ्यः स्वत एव माहात्म्येन तत्पदाम्बुजाभ्यां लक्ष्मीविशेषसम्पत्तेः। तासां देवकीसुतेत्युक्तिः (भा० १०।८।१४) 'प्रागयं वसुदेवस्य' इत्यादि गर्गवाक्यानुसारेण, किंवा, स्वत एव, तासु सर्वपरिस्फुर्त्तेः, तत्र च सुतशब्देन केवलं तया प्रसूत एव, पुत्रस्तु श्रीयशोदाया एवेति

भावः। यद्वा, देवकी व्रजेश्वर्य्येव, 'द्वे नाम्नी नन्दभार्य्याया यशोदा देवकीत्यपि। अतः सख्यमभुत्तस्या देवक्या शौरिजायया॥' इति बृहद्विष्णुपुराणवचनात्। अतोऽस्मत्तो वृन्दावनमपि परमधन्यमिति भावः। अहो किं वक्तव्यम्, स्वर्गादिभ्यः श्रीवैकुण्ठलोकादपि विस्तारयतीति विशब्दोक्तं वैशिष्ट्यमाहुः—गोविन्देति, गवामिन्द्रो गोविन्द इति गोपवर्गचूड़ामणिर्गोगोपगणपरिवृतो वन्यभूषणो विचित्रक्रीडारसिकः श्रीयशोदानन्दनो लक्षितः। हे सखीति—श्रीकृष्णप्रदत्ततदाधिपत्येन तव तु परमधन्यतवेति, पूर्वश्लोकेन स्वयं वर्णितादवेणुभाग्याज्जातशोकां भगवतीं श्रीराधां प्रति ललितादि-तदीयसखीवर्गकृतसान्त्वनमिदं ज्ञेयम्। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। तत्र मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वेति, मयूराणां मत्तत्वे नृत्ये च हेतुः, अन्यथाऽन्येषामिव तेषामप्यवरतत्वमेव स्यात्, (भा० १०।४३।१७) 'मल्लानामशनिः' इत्यादिवत् तत्तद्भावानुरूपमेकोऽपि श्रीभगवान् तथा तथैव तेषु तेषु परिस्फुरतीत्यैश्वर्य्यं सुमिध्येदेव। इत्थं कोकिलादिष्वपि वसन्तादिरूपेणास्फुरदित्यप्यूह्यम्, किन्तु श्रीभगवतो मेघविशेषादिरूपेण मयूरादिषु परिस्फूर्त्यां तेषां प्राकृत-मेघादिभ्यो जायमानभावतोऽधिकाधिकभावश्च ज्ञेय इति दिक्। अथवा, गोविन्दस्य वेणुमनु तन्नादश्रवणानन्तरमित्यग्रेऽपि सर्वत्रानु-वर्त्तनीयम्, यद्वा, गोविन्दवेणोर्मनुः—नादात्मकपरममोहनमन्त्रस्तेनैव मत्तानां मयूराणां नृत्यं यस्मिन्, किञ्च, तेनैव प्रेक्ष्यास्तत् प्रतिध्वनिना परमरमणीयाः, किंवा, वनेषु चरतां पशूनां दर्शनाद्यर्थं श्रीभगवदासन्नताप्राप्त्या सर्वेषां परमावलोकनीया अद्रिसानवो यस्मिन्, तत्। किञ्च, तेनैव अवरतानि स्तब्धतां प्राप्तानि अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि प्राणिनो यस्मिन्। यद्वा, प्रेक्ष्यः परमसुन्दरः प्रीत्या व्रजजनैः सदा दृश्यो वा, अद्रेः श्रीगोवर्द्धनस्य सानुः शिखरप्रदेशो यस्मिन्, श्रीगोवर्द्धनपूजायां (भा० १०।२४।३५) 'शैलोऽस्मि' इति वदता श्रीभगवता तद्वलिकुलं भक्षयता लीलाविशेषेणोपविश्याक्रम्यमाणत्वात्। किञ्च, अवरते निवृत्ते अन्ये रजस्तमसी यस्मात्, तथाभूतसमस्तसत्त्वं सम्पूर्णसत्त्वं विशुद्धसत्त्वगुणे यस्मिन् तत्, (भा० १०।३५।९) 'वन-लतास्तरवः' इत्यादिवक्ष्यमाणत्वेन तरूलतादीनामपि सात्त्विकभावोत्पत्तेः। अनेन च (भा० २।९।१०) 'प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च' इत्यादिनोक्तायाः साम्येन स्वर्गादिभ्यो भूकीर्त्तिविस्तारणं सिद्धमेव, तत्र च तदनन्तरमेव (भा० २।९।१०) 'न यत्र माया किमुतापरे' इत्युक्त्या प्राकृतसत्वगुणाभावेऽपि शुद्धसत्त्वप्रवृत्तेरुक्तिगुणातीतस्य सच्चिदानन्दविलासरूपस्य सत्त्वस्याभि-प्रायेण, तच्च श्रीभागवतामृते बहुशो विवृतमेव, अत्रापि तथैवोह्यमिति दिक्। वैकुण्ठतोऽपि कीर्तिवितानपक्षे चावरतान्युपरतानि अन्यानि गोविन्दवेणुश्रवणतद्दर्शनेतराणि चेष्टितानि येषां भूतानि; यद्वा, अवरतान्यन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिन्। यद्वा, प्रेक्ष्या अद्रयः श्रीगोवर्द्धनाद्या यस्मिन् तत्, सानुषु अवरतानि मयूरेतरसमस्तसत्त्वानि यस्मिन्। यद्वा, मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्य गोविन्द-वेणुमिति व्युत्क्रमेण योज्यम्। अयमर्थः वर्हावतंसस्य तस्य वनागमनसन्दर्शमात्रेण प्रीत्या मत्तानां मयूराणां नृत्यं तत्प्रेक्षया हर्षेण गोविन्दस्य वेणुस्तेन तद्वादनमित्यर्थः। तमनु अद्रिसानुषु अवरतानि विरतानि श्रीभगवद्दर्शनादिव्यतिरिक्ताशेषप्रयोजनानि येषां तथाभूतानि समस्तसत्त्वानि यस्मिन्, समस्त-शब्देन मयूरा अपि गृहीताः, ततश्च तेषामादौ श्रीभगवद्दर्शनानन्देन मत्ततया नृत्यम्, पश्चाच्च वेणुनादेनान्येषामिव तद्वेणुनादश्रवणतद्दर्शनेतराखिलोपरामलक्षणा प्रेममूर्च्छा जातेत्यर्थः। ईदृशं श्रीवैकुण्ठेऽपि नास्तीति ततोऽपि कीर्त्तिविशेषोऽस्य सिद्ध एव। अहो वतास्माकं तत्र तथा तादृश्यवस्था न सिध्येदिति वयमधन्या एवेति भावः। एतच्च तासां प्रेमविशेषस्वाभाविकातृप्त्यार्त्तिलक्षणमेव सर्वत्र ऊह्यम्॥ १०॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

हृष्टत्वक् मुकुलितत्वचः अश्रु अश्रुकल्पं पुष्परसम् अस्मद्वंश्योऽयं ध्वन्यत इति धिया तरवोऽप्यश्रु मुमुचुरित्यर्थः॥ ९॥ गोविन्दवेणुमनु प्रेक्ष्य मत्तमयूरनृत्यश्चानुप्रेक्ष्येत्यन्वयः। अद्रिसानुषु अवरतान्यसमस्तसत्त्वं शब्दादुपरतमनुष्यव्यतिरिक्तसमस्त-प्राणिजातम्॥ १०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गोप्य इति। हे गोप्यः! अयं कृष्णकरस्थो वेणुः किं स्म कुशलं पुण्यमाचरच्चकार कुतः यद्यस्माद्गोपिकानामपि अपि-शब्दो दौर्लभ्यद्योतकः गोपिकानामस्माकमपि दुर्लभां दामोदरस्याधरसुधां स्वयं भुङ्क्ते अनेकोपभोग्यां स्वयमेक एव भुङ्क्ते अव-शिष्टरसन्तु ह्रदिन्यो नद्यः तरवश्च भुञ्जते कृत्स्नायामधरसुधायां वेणुनैकेन पीयमानायां यद्गलितमधुरसुधात्मकरसकणजालं ह्रदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते अश्रु इति जात्यभिप्रायकमेकवचनम् अवशिष्टरसभोगप्रयुक्तहर्षाश्रूणि मुमुचुर्हृष्यत्त्वचश्च तत्र ह्रदिन्यो विकसितकमलव्याजेन हृष्यत्त्वचः उदञ्चितरोमाण इव लक्ष्यन्ते तरवस्तु मधुमिषेणानन्दाश्रूणि मुमुचुरिवेति भावः। यथा आर्याः भागवतशेषरसाभिज्ञास्तद्भुक्तावशिष्टमुपभुज्य हृष्यत्त्वचोऽश्रूणि भुञ्जन्तश्च भवन्ति तद्वदित्यर्थः॥ ९॥ वृन्दावनमिति। हे सखि! वृन्दावनं भुवः कीर्तिं वितनोत्यनितरलोकसाधारणीं कीर्तिं जनयतीत्यर्थः। अत्र हेतुं वदन्त्यो विशिषन्ति यद्वृन्दावनं देवकीसुतस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः सौन्दर्यसम्पद्येन किञ्च गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुगीतमनुसृत्य मन्दगर्जितनीलमेघभ्रान्त्या मत्ता ये मयूरा-स्तेषां नृत्तमवलोक्य अद्रिसानुषु उपरतानि वेणुगीततदनुरूपमयूरनृत्तदिदृक्षया निवृत्तस्वस्वव्यापाराणि अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिंस्तथाभूतं न ह्यन्योऽस्त्येवंविधो लोक इति भावः॥ १०॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हे गोप्यः ! अयं वेणुः किं कुशलं तपोलक्षणम् आचरत् स्म स्मरणं कर्त्तव्यं किमप्यस्तीति वृत्तं पूर्वजन्मनि चीर्णं वा "स्मृतौ वृत्ते निषेधेस्म" इति च यो वेणुः दामोदरस्याधरोष्ठः स एव सुधा तया सरसं सरागमग्र्यं गेयं यस्मिन् सः सरागमग्र्यगेयः तं रसं भुङ्क्ते आस्वादयति सदर्भाः दर्भाङ्कुरैः सहिताः तरवः हृष्टत्वचः अस्मद्वंश्योयमिति रोमाञ्चितसर्वगात्रा येन वेणुना पीतोऽवशिष्टो यो रसः तस्यौघः प्रवाहो यस्मिन् स यदवशिष्टरसौघः तस्मिन् मार्गे कृष्णेन सञ्चरितेऽध्वनि अश्रु आनन्दजलं मुमुचुरित्यन्वयः। सदर्भाः सकुशा वा ॥ ९ ॥ भुवो भूमेः हे सखि ! यद्वृन्दावनं देवकीसुतस्य पादाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः श्रीर्येन तत् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि लक्ष्मेति केचित् लक्ष्म चिह्नं गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुस्वरानुकूलमेघनादशङ्कया वेणुस्वरानुकारेण वा मत्तानां मयूराणां नृत्यं दृष्ट्वा आदृताः सादराश्च अनुकूलं चरितं येषां ते तथा कृष्णचरितानुकूलचरिताश्चान्ये मनुष्यविजातीयाः समस्ताः सत्वा जन्तवो यस्मिंस्तदादृतानुचरितान्यसमस्तसत्वं सत्वोऽस्त्रीति वचनात् पुल्लिङ्गोप्ययं शब्दः आदृतौ सादरार्चिताविति च ॥१०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यस्य वेणोरवशिष्ट उच्छिष्टो रसो नादरूपस्तं स्नानपानादौ ह्रदिन्यो जगत्पावन्यो भुञ्जते अहो तद्दर्शनात्तरवोऽपि हृष्यत्त्वचः अङ्कुरादिमिषेण रोमाञ्चिताः सन्तो मधुमिषेणाश्रु मुमुचुः कीदृशा अपि यथाऽऽर्या मुनयस्तद्गुणैस्तथाभूता अपीत्यर्थः ॥ ९ ॥ तस्यां समाज इत्युक्तानुसारेण तयाचोक्तिर्गोपनीया ॥ १० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

मुग्धा मुग्धाभिः सहोचुः—गोप्य इत्यादि । हे गोप्यः ! गोपयतीति गोपी, जानन्त्योऽपि भवत्यो न कथयन्ति; कथयत, अयं वेणुः किं कुशलमाचरत् ? स्मेति वितर्के; यतो यतो दामोदराधरसुधां भुङ्क्ते, भोग्यत्वेनोपपन्नां सुधां पिवतु नाम किं तत्रास्माकमसूयतेत्याशङ्क्याहुः गोपिकानामप्यस्माकमपि भोग्यैषा, तथाप्येष एव पिवतीति परकीयभोग्यभोगो विना तादृशकुशलाचरणे न स्यात् । तत्रास्मदनुज्ञयैव तु नापि तथेत्याह—यदित्यादि । एवमेव मात्रातिरेकेण पिबति, यया यदवशिष्टरसं ह्रदिन्योऽपि भुञ्जत इत्यर्थः । तदेव कथं ज्ञातम् ? तत्राह—हृष्यत्त्वचः फुल्लत्कमलादिरूपास्त्वचो यासाम्, ता अपि यथेष्टं स्वविकारं गोपयितुं न शक्नुवन्तीति भावः । न केवलं ह्रदिन्य एव भुञ्जते, तरवश्चेत्यर्थः । अतिवाहुल्यात् कथमवगतम् ? तत्राहुः—अश्रु मुमुचुः । एषामप्यतिमात्रता जातेत्यर्थः । क इवाश्रु मुमुचुः ? यथार्याः प्रधानभूता राधादयः, अधरपानसम्बन्धस्यान्येषामसंभवात्, सामान्याश्रुपात् विवक्षायां भक्ता वा । यद्वा तस्मादयं वेणुर्गोप्यश्चारयितव्यः । अत्र मौग्ध्य-गर्व-दैन्यानि ॥ ९ ॥ मध्या ऊचुः—वृन्दावनमित्यादि । हे सखि ! वृन्दावनं भुवः कीर्तिं तनोति । आत्मकीर्तिस्तु स्वत एव–आनन्त्याद्विस्तारयितुं न शक्यत इति भावः । एतेन भुवः पृथक्त्वेनाभौमत्वमपि प्रतिपादितम् । तत्र हेतुः—यद् देवकीत्यादि । देवकीसुतेति ज्ञायमानेऽपि यशोदासुतत्वे व्यवहारसम्बन्धस्थगनार्थं तथा चाधुनिककविप्रयोगः—'वड्चन्ते महु-महने सम्बन्धानि ह्लू विज्जन्ति' इति । अथवा, देवकीति यशोदाया एव नामान्तरम्, तस्य पदा चरणेनाम्बुजैरिव लब्धा लक्ष्मीर्येन सर्वतः फुल्लारविन्दमिवेप्यद्भुतोपमा गर्भस्था प्रकृतार्थो वा । वस्तुतस्तु भूरेव तथा, वनन्तु वृन्दावनसम्बन्धादेव भुवस्तादृशत्वमिति समुचितमेव भुवः कीर्ति-तननम् । कीदृशम् ? पुनर्गोविन्दवेणुमनु लक्ष्यीकृत्य मत्तानां मयूरीणां नृत्यं यत्र; अथवा गोविन्दवेणुरेव वेणुध्वनिः, स एव मन्त्रस्तेन मत्तानामिति पूर्ववत्; यद्वा 'गोविन्दवेणुमनु' इति छेदः । गोविन्दवेणुरेव मनुर्धर्मोपदेष्टा यत्र, यस्योक्त्या वयं सकलमेव कुल-शीलादिकमत्यजाम; 'न दोषो मनुरब्रवीत्' इत्यादिवदस्यापि वचसि प्रामाण्यम् तदा मत्तानां मयूराणां नृत्यं यत्र । पुनः कीदृशम् ? क्षेप्याणि दर्शनीयानि अद्रेर्गोवर्द्धनस्य यानि सानूनि तेषु अ ? रतास्तूष्णीम्भूताः अन्यसमस्ताः सत्त्वाः प्राणिनो यस्य; पूर्वसंकेतितस्थलस्मरणं व्यङ्ग्यम्; अथवा मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा अदिसानुपु अपरतान्यसमस्तसत्त्वमिति बहुपदसापेक्षसमासः, मयूराणां नृत्यं प्रेक्ष्य अहो अमी भागवता एव भगवदावेशेन यदेवं नृत्यन्तीति तेषां नृत्यामोदेनान्येषां तत्र स्थितानां पशुपक्षि–मृगादीनामपि सामाजिकत्वेन रसावेशात्तूष्णीकत्वमिति भावः । अहो अतिरम्यं तदासीत् संकेतस्थानमिति स्मृतिभावः ॥ १० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मुग्धा मुग्धाभिः सहाहुः—गोपा इत्यादि । सख्यः ! अयं वेणुः किं कुशलमाचरदाचरितवान्, यतो दामोदराधरसुधां भुक्तियोग्यत्वेनोपसन्नां भुङ्क्तां नाम, किं तेन ? तत्राह गोपिकानामेवेयं भोग्या, स्वयमिति गोपिकानामननुमतावपि, वस्तुतस्तु गोपिकानामिति गोपिकाज्ञयैव भोक्तुं योज्यते, तन्न कृत्वा स्वयमेव भुङ्क्ते इत्यर्थः । तत्रापि परिमिता एव भुङ्क्ताम्, न च तथा मात्राधिक्येन भोक्तुमारभते परकीयत्वाद् यथेष्टमेव भुङ्क्ते । तथा च लोकोक्तिः–"परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे ! मा शरीरे दयां कुरु ।' यथेष्टं भोजनं कथं ज्ञातम् ? तत्राह—यदवशिष्टरसमित्यादि । यद्भोजनावशिष्टरसं ह्रदिन्यो भुञ्जते, तदेव कथं ज्ञातम् ? हृष्यत्वचः फुल्लत् कमलादिरूपास्त्वचो यासां विकारैरेव ज्ञायते । न केवलं ह्रदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते । बाहुल्यादवशिष्टरसस्य ह्रदिन्योऽपि भोक्तुं न शक्नुवन्ति

तदवशिष्टं भुञ्जते कथमवगतम् ? तत्राहुः—अश्रु मुमुचुः क्रन्दन्ति, वर्त्तमानेऽतीतः; यथा आर्या भवत्योऽश्रु मुञ्चन्ति, आर्या भक्ता वा। अथवा, 'तस्मादयं वेणुर्गोपाश्रोरयितव्यः, यथा अपरमेवं न करोतीति भावः। अस्माभिस्तु पातुं न शक्यते, अहो! धिङ्न' इति मौग्ध्यदैन्ययोः साङ्कर्यम् ॥ ९॥ मध्या आहुः—वृन्दावनमित्यादि। हे सखि! वृन्दावनं भुवि कीर्त्तिं तनोति, विशेषेणेत्यर्थः। भुव इत्यस्यायं भावः—वृन्दावनस्तु ब्रह्माण्डातीतं व्यापकश्च, संप्रति भुव्यवतीर्णत्वाद् भुव एव कीर्त्तिं तनोति। आत्मकीर्तेः स्वत एवानन्त्यादविस्तारयितुमशक्यम्। तत्र हेतुः—यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि देवकीसुतेति सम्बन्धस्यगनपरम्, पदाम्बुजलब्धलक्ष्मीकत्वं हि भुव एव, तेनैव वृन्दावनस्यापीताहो परस्परप्रीतिमत्त्वम्। यद्वा, देवकीसुतपदाम्बुज—लब्धलक्ष्मी देवकीसुतचरणेन हेतुनाऽम्बुजैरिव सर्वतो लब्धा लक्ष्मी येन वने सर्वतोऽम्बुजवत्त्वमतिशय-चमत्कारकारि। पुनः कीदृशम् गोविन्दवेणुरेव मनुर्धर्मोपदेष्टा यत्र यस्य निरुक्त्या वयं कुलशीलादि सकलमत्यजाम, मत्तानां मयूराणां नृत्यं यत्र, मेघनादानुलासित्वाद्गर्जतो मेघस्येव वेणुं वादयतः कृष्णस्य दर्शनान्मयूरा यत्र नृत्यन्ति। मनुशब्दस्यायं भावः—"न दोषो मनुरब्रवीत्" इत्यादिवत् मनुवचसः प्रामाण्यवदस्यापि वेणोरवे प्रामाण्यमस्माकमित्यसौ यदा यद्वदति तदेव कुर्म इत्यर्थः। गोविन्दवेणुमनु लक्ष्यीकृत्य मत्तानामिति वा। प्रेक्ष्याणि दर्शनीयान्याद्रिसानूनि तेष्वपरतानि विरत-विषयाण्यान्यानि मयूरातिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि यत्र। अथवा, मयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसानुष्वपरतानि समस्तसत्त्वानि यत्र। अहो! अमी भागवता भगवदावेशेनैवं नृत्यन्तीति सर्व एव तन्नृत्यामोदनेन विरत-व्यापारा बभूवुरित्यर्थः। अथवा, यैतद्वेति, सैव यत्र सङ्केतस्थं कृष्णमभजत, तं देशमुद्दिश्यैव वदति—अस्मद्विलम्बं दृष्ट्वा वेणुं वादितवान्। तेन मेघभ्रमान्मत्ताः शान्ता मयूरा नृत्यं चक्रुः, तद् दृष्ट्वा अद्रिसानुष्वपरतान्यन्यानि समस्त-सत्त्वानि च तत्र आसन्। अहो अतिरम्यमासीत् तत् सङ्केतस्थानमिति स्मृति-भावः ॥ १० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्चास्मान् विडम्बनाब्धौ निक्षिपन्नयं वेणुरेवानर्थकारीत्याह—हे गोप्यः! वेणुः मुरली किंस्वित् कुशलं पुण्यमाचरत् वंशीमुरल्यादिशब्दानां स्त्रीलिङ्गत्वेपि तत्पर्य्यायस्य वेणुशब्दस्य पुंस्त्वं दारशब्दवज्ज्ञेयम् यद्वा, किं मङ्गलमाचरत् अपितु न किमपि स्थावरजातित्वेनैव लक्ष्यत इति भावः। तदपि दामोदरस्याधरसुधां भुङ्क्ते इति कथं वयं सोढुं प्रभवाम इति भावः तत्र हेतुर्गोपिकानामिति अधरसुधायां हि गोपिकानामस्माकमेव स्वत्त्वं कृष्णस्य गोपजातित्वादस्माकं गोपजातिस्त्रीत्वादिति न्यायप्राप्तेः नित्यं रात्रावस्माभिः सम्भुज्यमानत्वाच्च वेणुस्तु विजातीयस्तत्रापि कृष्णरमितत्वमात्मनो मत्वा कृष्णप्रेयसीत्वाभिमानं धत्ते तत्रापि धाष्टर्येन पुनः पौरुषमाविष्कृत्य सम्भुङ्क्ते तत्रापि परकीयं धनं तत्रापि स्वयमेव न त्वन्यं जनमेकमपि सङ्गिनं करोति तत्रापि न तत्रापि न चौर्य्येण किन्तु धनस्वामिनीरस्मान् फूत्कारेण ज्ञापयित्वैव किञ्च नायं फूत्कारः किन्तु स्वसम्भोगोत्थं मणितमेव तच्चास्मान् श्रावयित्वैव तत्रापि नवशिष्टः न अवशिष्टो रसः किञ्चिन्मात्रोपि यत्र तद्यथास्यात्तथा भुङ्क्ते "वष्टिभागुरिरल्लोपम्" इत्यादिना अकारलोपः धनस्वामिनीनामस्माकं कृते स्वभुक्तविशिष्टमपि किञ्चिन्न रक्षतीत्यहो धाष्टर्यमिति भावः। किञ्च तद्देशवर्त्तिनः सर्व एव जनास्तादृशा एवेत्याहुः—यत् यतो अधरसुधाभोगात् तं वीक्ष्येत्यर्थः। ह्रदिन्यो नद्यो हृष्यत्त्वचः उत्फुल्लकमलादिमिषेण उत्फुलकवत्यो बभूवुः तरवो मकरन्दमिषेणाश्रु मुमुचुर्यथा आर्य्याः भगवद्गुणान् श्रुत्वा अश्रुपुलकादिमन्तो भवन्ति, तथैव ते वेणोर्मणितं श्रुत्वेति ह्रदिन्योऽस्य सख्यस्तरवोऽस्य सखायो दूता एवेति वेणुह्रदिनीतरवः सर्वं एवास्माकं वैरिण एवेति भावः। अतोऽयं गोप्यः निभृतं कुत्रापि रक्षणीयो यथा कृष्णाधरं न प्राप्नोतीत्यसूबाध्यः सञ्चारीव्यञ्जितः॥ ९॥ तदेवंतादृशविलासास्पदस्य वृन्दावनस्य सम्प्रति माधुर्य्यमधिकमुल्लसन्त्यस्तस्तदेव दिदृक्षमाणास्तत्र गच्छामो वयं नात्र कोपि दोष इत्यन्या आहुः—वृन्दावनमिति। भुवः कीर्तिं स्वर्गादिभ्यो विशेषेण तनोति यद्यतो देवकीसुतस्य यशोदानन्दनस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः ध्वजवज्रादिचिह्नमयी शोभा सम्पत् येन तत् न ह्येवम्भूतं वैकुण्ठवनमपि सम्भवेदिति भावः—

"द्वे नाम्नी नन्दभार्य्याया यशोदादेवकीति च। अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया"॥

इति बृहद्विष्णुपुराणम् एवम्भूतं गोष्ठस्थलमपि सम्भवेदिति चेदत आहुः—गोविन्दस्य वेणुं वेणुवाद्यं लक्ष्यीकृत्य यन्मत्तानां मयूराणां नृत्यं तत् प्रेक्ष्य अद्रिसानुषु अवरतानि उपरतक्रियाणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यत्र तत् अत्रास्मात्तर्कयेति मयूरैः प्रार्थितस्य गोविन्दस्य वेणुवादनं तदीयतालगत्यैव मण्डलीभूय नृत्यतां तेषां मध्य एव तस्यापि सनृत्यं वादनं ततस्तद्वाद्येन सन्तुष्यतां तेषां पारितोषिकस्वीयदिव्यबर्हप्रदानं तस्मै तेन च वादकलोकरीत्या साह्लादं तद्गृहीत्वा स्वशिरस्युष्णीषस्योपरि तद्धारणं तत्तोऽर्य्यत्रिकमास्वादयतामद्रिसानुषूपविष्टानां सभ्यानां कृष्णसारकपोतादिमृगपक्षिणामानन्दजाड्यमित्यादिकं सर्वं दिदृक्षामहे इति भावः॥ १०॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः। हे गोप्यः! अयं श्रीकृष्णकरपद्मस्थो वेणुः किं स्म कुशलं तपोदानव्रतादि आचरन् कृतवान् तत्र हेतुमाहुः—गोपिकानामस्माकं भोग्यां सतीं दामोदराधरसुधामपि स्वयं स्वातन्त्र्येण यथेष्टं भुङ्क्त इति दामोदरस्य जठरपट्योर्मध्ये हस्तपद्म

च वसन् तत्स्पर्शानन्दं प्राप्य तदधरसुधामपि सेवते इत्यर्थः। किं च यत् यस्य वेणोः जलद्वारोत्पादकतया सम्बन्धिन्यः मातृतुल्याः ह्रदिन्यः अपि अवशिष्टरसस्तानाद्यर्थं प्राप्तस्य दामोदरस्याधरसुधाशेषं भुञ्जते यतः हृष्यत्त्वचः विकसितपद्मनिकरव्याजेन रोमाञ्चिता इव लक्ष्यन्ते पुत्रं वेणुमात्मानं च कृतार्थं मत्वा हृष्यत्त्वचो भवन्ति तद्वत् किं चास्य पितृतुल्यास्तरवोऽपि तदधरसुधाशेषं तत्र तत्र विहारवेलायां भुञ्जते यतस्ते मधुधाराव्याजेनानन्दाश्रु अश्रूणि मुमुचुः अश्विति जातावेकवचनम् यथा आर्य्याः स्वपुत्रमात्मानं कृतार्थं ज्ञात्वा आनन्दाश्रूणि विमुञ्चन्ति तद्वदित्यर्थः॥ ९॥ अन्याः आहुः–हे सखि! वृन्दावनं भुवः कीर्तिम्वितनोति यत् यतः देवकीसुतपदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्मीः शोभा सम्पद्येन तत् किं च गोविन्दवेणुमनु गोविन्दस्य वेणुनिनादमनुसृत्य मन्दगर्जितश्यामघनभ्रान्त्या मत्ता ये मयूरास्तन्नृत्यं प्रेक्ष्य अवलोक्य अद्रिसानुषु अवरता निवृत्तस्वव्यापाराणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिंस्तत् नान्योस्त्येवम्विधो देश इति भावः॥ १०॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

गोप्यः किमाचरदयमिति एता दक्षिणा अधीराश्च। हे गोप्यः! गोपनशीलाः सख्यः गोपनीयमिदं रहस्यमित्यभिप्रायः। अयं प्रसिद्धः श्रूयमाणो वेणुः किं कुशलमाचरत् जानीमश्चेद्वयमपि तदेवाचरामः। स्मेति विस्मये ज्ञातं यत्सवंशे जातः शिरसा धृतश्च तत्सर्वमपि विहाय प्रागुत्तरशुभाशुभसंपर्कमुत्सृज्य शिरोग्रन्थिमात्रशेषः एषोग्निमात्रसाक्षिकं नव छिद्राणि संशोध्यानुरागयोग्यमात्मानं विधाय कृष्णमनुसृतोऽधरामृतैकजीवनस्तेनाप्यतीव नवनवानुरागेण कक्षकटिशय्यादिष्वनुशायितः समये चाधरामृतेनाप्यायितश्च विलसतीति गूढं तद्रहस्यं न कस्यापि प्रकाशनीयं वयमपि तथा चरामस्तर्हि तथैव भवामः दामोदराधरसुधां भुंक्ते न तु पिबतीति तस्मात्त्वम् स्वयमिति धनिनामनुमतिमपि नाकांक्षते पीतामृतगर्जितेन जितेन चक्षते लवणयिवातपयति त्वक्सारोऽयमन्तसारशून्योऽपि दारुखण्डः किं कुर्म्मः? दामोदरेति बाल्यमारभ्य सुधासञ्चयोऽभिप्रेतः। यद्वा, बाल्यचापलेनैव पुंस्त्वेनीयोग्यमपि पाययतीति साभ्यसूयम् यद्वा, दाम्ना निःपीड्योदरमशेषामेव सुधां पाययति नवशिष्टम् अवशिष्टम् अनवशिष्टमित्यर्थः। रसमात्रमपि नावशिष्यते। ननु, स्वरचातुर्य्येण सुषिरं वादयति भवतीभिः कुतो ज्ञातं सुधां पाययति तत्राहुः मातृभावा गम्भीराशयाः ह्लदिन्योपि हृष्यदिति तत्त्वो आर्य्या अपि यथा पित्रादयो हि राजमान्यत्वेन स्वपुत्रस्योदयमालक्ष्य विलक्षणसुखमनुभवन्ति प्राग्भवीनं पुण्यजातमस्य तिष्ठत् सम्प्रत्येवायमतिपुण्यवानिति सदाचारवर्य्यैश्वर्यलाघ्यश्चेतीति॥९॥ वृन्दावनमिति। हे सखि! आस्तां श्रीहस्तादौ नित्यं क्रीडतो वेणुराजस्य भाग्यं तत्पदाम्बुजस्पर्शलब्धपरभागभारतान्तर्गतवृन्दावनाख्यभूमागस्य भाग्यं तावदनुभूयतामित्याहुः यत्सम्बन्धेन कल्पायुषां स्थानजदित्यादिना कल्पवासिभिरपि स्तूयते तत्साघ्यमेव पूर्णं ब्रह्म निजचरणाङ्कैर्निखिलग्रामभ्योपि विशिष्टं सौभाग्यमातनोति राजमुद्राङ्कितवस्तु सर्वतः श्रेष्ठयभाग्भवेदिति न्यायात्॥ १०॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

चम्पावती चम्पकाङ्गीं प्रत्याह–गोप्य इति। बहुवचनं गौरवादिति। यद्वा, गोपनशीलाः सख्य इत्यर्थः। गोपनीयमिदं रहस्यमित्यभिप्रायोक्तम् अयमनर्थकारी वेणुः किं कुशलमाचरत् पूर्वजन्मनि किमनिर्वचनीयपुण्यविशेषं कृतवान् इत्यर्थः यत् सुवंशे जातः श्रीराधावल्लभे प्रेमपात्रमात्मानं विधाय तमेवानुसृतश्चाधरामृतैकजीवनश्च तेन राधावल्लभेन अतिनवनवानुरागेण कक्षकटिस्थानयोः शायितश्च अधरामृतेन पायितश्च श्रीवृषभानुकुमारीवल्लभस्य प्राणतोऽप्यधिकप्रियश्च ततः किं पुण्यविशेष इति भावः। जानीमश्चेत्तद्वयमाचरामस्तथैव भवाम इति भावः। अवशिष्टमित्यत्र नञ्समासस्याकारः नञुपसर्गस्य। यद्वा, स्वयमिति धनस्वामिनीनामस्माकमनुमतिमपि न काङ्क्षते पीतामृतगर्वितक्षते लवणविवार्पयतीति भावः॥ ९॥

चम्पा लतानाम्नीं सखीं प्रत्याह–वृन्दावनमिति–

अलमलमिह योषिद्‌गर्द्दभीसङ्गरङ्गैरलमलमिहवित्तापत्यविद्यायशोभिः॥
अलमलमिह नाना साधनायासजालैर्भवत भवत वृन्दारण्यमाश्रित्य धन्याः॥
सा मे न माता स च मे पिता न। स मे न बन्धुः स च मे सुहृन्न॥
स मे न मित्रं स च मे गुरुर्न। यो मे न वृन्दावनवासमादिशेत्॥
तच्छास्त्रं मम कर्णमूलमपि च स्वप्नेऽपि यायादहो। श्रीवृन्दाविपिनस्य यत्र महिम्न नात्यद्भुतः श्रूयते॥
ते मे दृष्टिपथं न यान्तु नितरां सम्भाव्वतां वै तथा। ये वृन्दावनवैभवस्य श्रवणेऽप्युल्लासिनो नोऽखिलाः॥
रक्षति संसारभयाद्दोषाकरप्यशेषनृद्वन्द्वम्। वृन्दावनमिति तेन प्रथितं तन्नौमि काननं किमपि॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अपराः प्राहुर्गोप्य इति। हे गोप्यः! अयं वेणुः किं कुशलं मङ्गलमाचरत् तस्मिन् ज्ञाते वयमपि तदर्थं यतामहे इति भावः। यतो हेतोर्गोपिकानां धनमपि दामोदराधरसुधां भुङ्क्ते स्त्रीचेदत्यनुरागेणापरासां पत्युरधरसुधां भुङ्क्तां नाम अयं खलु वेणुः

पुरुषः कथं तां भुङ्क्ते इति वेणुशब्दाभिप्रायात्तत्रोपहासः तत्र च स्वयमात्मनैवेति कस्याश्चिदपि गोपिकायास्तल्लेशप्राप्तेरभावस्त-त्राप्याश्चर्यमिति भावः। अन्यच्चान्यायं शृणुतेत्याहुः यस्य वेणोरवशिष्टी भुक्तमुक्तौ यो रसन्तं ह्रदिन्योऽपि पवित्रा यमुनाद्या भुक्त्वा भुक्त्वा च विकचारविन्दवनमिषेण फुल्ला दृश्यन्त इति भावः किञ्च वेणोस्तस्य तादृशमहिमवीक्षणेन तद्गोत्रप्रायास्तरवोऽप्यङ्कु-रोदगमादिमिषेण हृष्यत्त्वचो रोमाञ्चिता मधुधारामिषेणानन्दाश्रु मुमुचुरिति तस्यान्यायमपि न गणयन्तीति भावः। यथायां केचिदात्मगोत्रमहिमदर्शनात्तत्तद्भावं धारयन्तीति तेषामप्यनायत्वं सूच्यते अत्र गोपिकानामिति षष्ठीपदांशः स च स्वस्वामिभाव-सम्बन्धेन जातत्वादधरसुधायां गोपीस्वत्वं व्यञ्जयति ॥ ९ ॥ वृन्दारण्यं तद्विलासास्पदं सदति चारुविभाति तद्दिदृक्षया तत्र गताभि-रस्माभिः स प्रेयान् आराद्द्रष्टव्यश्चेन्न कापि शङ्केति भावेन पराः प्राहुः वृन्दावनमिति। हे सखि वृन्दावनं स्वर्गादिभ्योऽपि सकाशाद्भुवः कीर्ति विशेषेण तनोति यद्यतो देवकीसुतस्य यशोदानन्दनस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्ध्वा लक्ष्मीर्ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नमयी शोभा येन तदिति नह्येतं तेष्वस्तीतिभावः। न त्वादृक् सौष्ठवमपि सम्भवेत्तत्राहुः गोविन्दस्य वेणुं तद्रणितमनु लक्ष्यीकृत्य मत्तानां मयूराणां नृत्यं प्रेक्ष्य अद्रीणां सानुषु कूर्मपृष्ठसमासु उद्धवभूमिषु अवरतान्युपरतक्रियाणि अन्यानि समस्तानि सत्वानि कृष्णसारकपोतादीनि यत्र तत् तत्र गत्वैतत् सर्वमाश्चर्यं द्रक्ष्यामः इति भावः ॥ १० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

चूतानां प्रवालाः पल्लवास्तैर्बर्हस्तबकैः पिच्छगुच्छैः। छन्दोच्छेदाय रेफः पृथगुच्चार्यः। उत्पलानि चाब्जानि च तेषां मालाभिश्चानुरक्तं संसक्तं यत्परिधानं पीतनीलवसनं तेन विचित्रौ वेषौ ययोस्तौ पशुपालगोष्ठ्यां गोपालकसभायाम्। समज्जा परिष-द्गोष्ठी सभासमिति संसद इत्यमरः। गावो वाचो वा तिष्ठन्त्यस्यामिति घञर्थे कः। अम्बाम्बेति षत्वम्। गौरादिङीप्। तत्रापि मध्ये-क्वापि गायमानौ गायन्तौ रङ्गे नटवरौ यथा तथा यौ विरेजतुस्तयोर्वक्त्रमित्यतीतेनान्वयः। मध्येवीत्येकं पदं वीनां पक्षिणां मध्ये मध्ये वि पारे मध्ये षष्ठ्या वेत्यव्ययीभावः। पशुपालगोष्ठ्यां रेजतुरित्यन्वयः। तेऽपि पक्षिणस्तत्र स्वत एवायाता इति वा क्रीडार्थं सङ्गृहीता इति वा तन्मध्य इत्युपपन्नम्। एतेन गोष्ठ्यामिति गोष्ठ्यैव तन्मध्य इति सम्भवत्यर्थे मध्ये इत्यतिरिक्तमिति निरस्तम् ॥ ९ ॥ हे गोप्य इति काश्चित्सम्बोध्य काचिद्वक्ति। अयं वेणुः किं कुशलं सुकृतमाचरत् चचार स्मातीते जन्मनि। स्मातीते इति विश्वः। प्राक्। कुशलं शिक्षिते क्षेमपर्याप्तसुकृतेषु चेति विश्वः। केनेत्यमूहयसि मोहनदेह इत्यत आह ॥ दामोदरेति। दामोद-रस्य यावधरावोष्ठौ तयोः सुधयाऽमृतेन स समो रसः सुधासरसोऽर्थैः श्रेष्ठैर्ग्राह्यार्वैर्गेयो गातुमर्हश्च तमोष्ठसम्बन्धिसुधासमरसगेयं भुङ्क्ते स्वयं पिबतीत्यर्थः। सशब्दस्य समार्थकत्वं कथमिति सखाऽपि सपत्नः सन्नावकाशं दिशेत् तव प्रष्टुं हृष्टत्वचः सन्त इव सदर्भास्ते-षामेव रोमाञ्चरूपता ज्ञेया। ते यथाऽश्रु आनन्दोदकं मुञ्चन्ति तथा तरवो वृक्षा यदेवशिष्टरसौघमार्गे येन वेणुनावशिष्टस्तत्पूरणोर्वरितो यो रसौघो रसप्रवाहस्तद्वान्यो मार्गः पन्थास्तास्मिन्नश्रुरसविशेषं मुमुचुः। अभिमानिनमानन्दोदमोचनं मोचनं च जडानां रसविशेष-स्येति विशेषोऽवसेयः। स्वयं बहुशुभावह इति शोभनीयोर्देवं यस्य तत्कुशलमिति वाऽन्वयः ॥ १० ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं रसं निरूप्य तस्याधिदैविकरूपतासम्पादकं वेणुनादं निरूपयन्ति गोप्य इति, गोप्य इतिसम्बोधनं पूर्वरसाभिज्ञापक-नात्र बोधनीयं वचनीयं वा किञ्चिदस्ति, यद्यपि तेन रसो न पीतस्तथापि मुखे सन्दर्शनादन्यार्थत्वेति भोजनं करोतीति लक्ष्यते पुरुषस्य तद्भोजनं सर्वथासम्भावितमन्यथा भगवतैव भुक्तं स्यादतः स्त्रीणामेतद् भोग्यं, तदाह गोपिकानामिति, अधरसुधा गोपि-कानां सम्बन्धिनी, बहुवचनेन समुदायरूपा लक्ष्मीरप्यनेन सूचिता तदंशाश्च तयैव समागताः, नान्यत्र तद्भोगो लोके प्रसिद्धः तादृशस्य वस्तुनो भोक्ता पुरुष एव न भवति किम्पुनर्योन्यन्तर्गतो जीवस्तत्रापि वेणुः? आधिदैविकस्य चेतनत्वं सूचयन्त्य आहुः सर्वा एव आधिदैविक्य इति स्वगोष्ठ्यां तस्यापि विचारो घटते, सर्वं धर्मफलमितिवैदिकसिद्धान्तोतः कारणभूतं धर्मं विचार-यन्ति किमाचरदिति, धर्मः सर्वोपि वेदसिद्धो वेदरूपाश्च वयमतोऽस्मदज्ञातः कथं धर्मो भवति येन धर्मेण वयं जाताः? परं तत्रापि मर्यादान्यायेन साधनविरोधाभावस्ततोस्मासु स्त्रीत्वं वेणौ तु तदभावस्ततः सन्देहः फलस्य दृष्टत्वाच्च, सम्मत्यर्थं च गोपिका-सम्बोधनं, अयमितिपुल्लिङ्गनिर्देशश्च बाधकः स्मेतिप्रसिद्धिश्च, वस्तुतस्तु [1]न तस्य फलं, तदुपपादितं, तद्यन्तराबाधे कर्तव्ये साधन-बलनिश्चयेन फलाभावः पूर्वपक्षः फलबलविचारेण साधनाभावाभावः सिद्धान्तः, तदाह वेणुपदेन, वश्च इश्च वयौ तावणूकृतौ येनेति, लोकेभ्यस्तथासुखदानाद् धर्मोस्तीति निश्चीयते, अधरसम्बन्धादेव तथात्वमित्यनिश्चयोपि, तथापि साधनं स्वयमेवेतिनिश्चयः, पुष्टिबलमाश्रित्य तस्य सिद्धिरिति ज्ञापयितुं मर्यादायां हीनतामाह दामोदरेति, दामोदरे यस्येति भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचितं, लोभात्मकश्चाधरः, अतः स्वतः परतश्च तस्य साधनाभावः सूचितः, सुधापदेन च रसविवक्षायां रसनेन्द्रियाभावश्च बाधक-त्वेन सूचितः, नादं भुङ्क्त इत्यविवादं सुधामपि भुङ्क्त इति विवादास्पदं "सा वनस्पतीन् प्राविश"दितिश्रुतेः, सुधानधिकारः पूर्वमुपपादितः, किञ्च भगवांश्चेद् दद्यात् कदाचित् सम्भवेदपि व्यभिचारे स्त्रीसिद्धान्तवत्, गोपिकावत् स्वयं भुङ्क्त इत्याश्चर्यं, अधरमुखसम्बन्धे पानमस्माकं सिद्धमस्ति तस्यापि मन्यामहे, किञ्चास्मदपेक्षयापि तस्मिन् विशेषो यस्मिन् भोजनेवशिष्टं रसं

१. लुप्तम्।

ह्रदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते, बालत्वान्मातरपितरावेव पालयति, उभयत्र हेतुमाह यतो ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचो जाता 'अन्तःपूर्णानन्दास्ततोऽप्यानन्दाधिक्ये रोमाञ्चयुक्ता भवन्ति, तत्रायं निर्णयः, रोमाञ्चोऽत्र कमलरूपः, स च जगति सर्वोत्तमः, अतो हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चो न भवति तथा सति शैवालानामेवोद्गमः स्यान् न कमलादीनां, अतो ज्ञायतेऽधरामृतमेव ह्रदिनीभिः पीतमिति, अन्यथा तेषु लक्ष्म्या उद्गमो न स्यात्, "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घना" दितिन्यायात्, लक्ष्म्यास्तदेकभोगित्वमुपपादितं[2], उपलक्षणमेतत, अश्रु च मुमुचुः न हि मकरन्दोऽन्यस्य रसो भवति, तरवश्च तथा, तेषां रोमाञ्चः फलान्यश्रु च मधुधाराः, एतच्चोभयविधं नान्यथा सम्भवति, न चैतद् द्वयं तयोः स्वाभाविकमिति मन्तव्यं, कादाचित्कत्वाद् वेणुनादान्तरमेव तथात्वात् स्वाभाविकवैलक्षण्याच्च, तदाह यथार्या इति, सन्तो हि भगवद्धर्मान्तःप्रवेश एव तथा भवन्तीति, तस्माद् ध्रदिन्यो मातृरूपास्तरवः पितृरूपाश्च तद्भुक्तावशिष्टरसपातारः ॥ ९ ॥ वृन्दावनविहारे चरणानां स्वरूपमाह वृन्दावनमिति, देवानां पादा भूमिं न स्पृशन्ति सुतरां देवोत्तमस्य तत्रापि पुरुषोत्तमस्य, पुरुषोत्तमांशस्य पुरुषस्य मह्याधिभौतिकौ पादावाध्यात्मिकावतीन्द्रियावाधिदैविकावानन्दरूपौ तयोरपि न भूमिसम्बन्धः, भूमावपि दैत्यभूमिरधमा तत्रापि स्त्रीसम्बन्धिनी तद् वृन्दावनं तस्मिन् भगवतः पादा वर्तन्त इति तस्या भाग्याभिनन्दनं स्वस्यौत्कण्ठ्यख्यापकं स्वस्यापि हृदयदेशो भूमिर्भवति स्त्रीणां च हृदयं कठिनमपि भवति पर्वता अपि सन्त्यन्तःप्रवाहा नद्यश्च सन्ति रसपूरा रोमपङ्क्तिर्वनमपि भवति स्त्रीसम्बन्धि च, एवं तुल्यतायामप्यत्र चरणौ न स्थाप्येते तत्र स्थाप्येते इतीर्ष्यया वर्णनं, गुणत्रयेण पूर्वं वर्णनं निर्गुणगोपिका त्वेषेति नात्रासूयेति केचित्, सखीति सम्मत्यर्थं, तादृश्यो न बह्व्य इत्येकवचनं, असूयापक्षेऽपि तथा, ननु भगवत्पदानि यथा व्यापिवैकुण्ठे भवन्त्येवं वृन्दावनेऽपि जातानीति किमाश्चर्यम् ? तत्राह भुवो वितनोति कीर्तिमिति, यदि वृन्दावनं व्यापिवैकुण्ठ एव स्यात् तदा न काचिच्चिन्ता, भूमौ तद् वर्तत इति केवलं भूमेः कीर्तिमेव तनोति धन्या भूर्यत्र वृन्दावनमस्तीति भगवतो नित्यस्थितिममान्यमानाया वचनं, पदानि त्वाधिदैविके नित्यान्येव स्थास्यन्ति प्रदर्शयिष्यति च क्वचिद् भगवांस्त्वपराधीन इति न तत्प्रदर्शने वृन्दावनस्य सामर्थ्यं, भक्तेः सर्वत्रैव तथात्वान् न वृन्दावनप्रतिष्ठा भवतीति प्रतिष्ठाया निमित्तमाह यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मीति, यद् यस्मात् तद् वनं देवक्याः पुत्रस्य पदाम्बुजानां लक्ष्माणि चिह्नानि ध्वजवज्रादीनि तैर्लब्धा लक्ष्मीर्येन, स्वस्य स्वच्छन्दसम्बन्धार्थं देवकीसुतपदप्रयोगः, नन्दगोपसम्बन्धिनी सा, देवक्याः प्रसूतिमात्रं न त्वन्यदिति सुतपदं, स्त्रीप्राधान्यात् स्त्रीषु कृपापि सूचिता, पुष्टिमार्गे तासां प्राधान्यमित्यवोचाम, भक्तिमार्गे चरणौ प्रधानभूतौ, तत्राप्यम्बुजं जलोद्भूतं स्त्रीणामेव हृदये तापहारकत्वेन शोभते, तादृशस्यापि या ध्वजवज्राङ्कुशादिशोभा सा नान्यत्र फलति वृन्दावने सा प्रतिफलितेति 'पाद'त्वमेव सम्पन्नमतो लक्ष्मीरपि तत्र नियततः पदाम्बुजैर्लब्धा लक्ष्मीर्येनेति, भूमिर्यदि सार्द्रा तदैवं भवतीति भूमिकृतैव सा लक्ष्मीप्राप्तिरतो युक्तं च भूमेः कीर्तिं ख्यापयतीति, किञ्च न केवलं लक्ष्मीरेव प्राप्ता किन्तु भक्तिज्ञाने अपि प्राप्ते इत्याह गोविन्देति, यदा भगवान् वेणुनादं करोति तदा नीलमेघो गर्जतीव भाति ततो मयूरा मत्ताश्च भवन्ति ततो नृत्यन्ति, यदैव भगवता वेणुनादः क्रियते तदैव देहविस्मरणं नृत्यं च जायत इति भक्त्युद्रेक उक्तः, मयूरा वनमेवेति वृन्दावनप्रशंसा, तादृशं नृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसानुष्ववरतानि तूष्णीं स्थितान्यन्यानि सर्वाण्येव सत्त्वानि यत्र, सभगवद्भक्तिज्ञानात् तेषां तूष्णीम्भावलक्षणं ज्ञानमुक्तं, एको भक्तोऽन्ये सर्वे ज्ञानिनः, नन्वधोबिलेशयाः स्वभावतः कथंज्ञानिनो

---

१. अतः । मागि । २. अत्रेदं विचार्यते, पूर्वं "रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्नि"त्युक्तं, तस्य रन्ध्रा एव मुखरूपा इति तत्र पूरिता चेत् सा तदानायासेनैव प्रमुकारित एव तद्भोगो भवत्यतः स्वयं भुङ्क्त इत्यनुपपन्नं यद्यपि तथापि स्वप्रियाणां साक्षत्सुधाभोगाधिकारसम्पत्त्यर्थमुक्तरीत्या सुधापूरणं वेण्वर्थं नात एव गोपिकानामित्युक्तं, एवं सति यदस्य तद्भोकनं तत् स्वत एवेति सुष्ठूक्तं स्वयं भुङ्क्त इति, नन्वेवमेतद्भुक्तावशिष्टस्यैव रसस्य पानं प्रभुप्रियाणामप्यायाति रन्ध्रसम्बन्धस्य प्राथमिकत्वात् किञ्चित्कालमभोजने हेत्वभावादिति चेदत्रैवं प्रतिभाति, अत्रत्यं सर्वमलौकिकमतो लौकिकयुक्त्या निर्णेतुं नोचितमन्यथा 'सरःसरिन्महीध्रेषु' कृतं वेणुकूजितं व्रजस्थिताः स्वामिन्य एव कथं शृणुयुर्नान्ये ? एतच्चोपपादितं "तद् व्रजस्त्रिय" इत्यत्र, एवं सति भगवदिच्छाया बलिष्ठत्वात् प्रयोजनस्यातिगुरुत्वाच्चादौ व्रजदेवीकर्णहृदयेष्वेव सा प्रविष्टा, अपरञ्च यथोच्छ्वासदशायामास्यपतितमप्युद्गीर्णमेव वस्तु भवति न निगीर्णं तथा भगवता व्यवहितदेशस्यस्वप्रियाकर्णं हृदयपूरणैकचित्तेन निजास्याम्बुजाविर्भवच्छ्वासो नादब्रह्माविर्भावहेतुस्तादृशः कृतो यो मार्गत्वेन प्रसङ्गतो रन्ध्रेष्वायातस्तत्र च सुधां पूरितामभीष्टदेशेनयदतो न तामितरो भोक्तुं शक्तः, एवं सत्यपि साक्षादधरसम्बन्धो मुखे वेणोस्तीति सम्भाव्यते तत्पानं वेणुत्वेन निश्चयोऽप्यतोऽस्य तद्भोगो व्रजदेवीनां तूक्तरीत्या साक्षाद्भोगस्तस्मान्नैतदवशिष्टं रसस्य, अन्यथा ह्रदिन्यादिषु यथावशिष्टरसपानमुक्तं तथात्रापि वदेयुर्न तु गोपिकानामितिपदेन तासामेवात्र स्वत्वं वदेयुः, अपरञ्च वेणोः स्वातन्त्र्येण सुधाभोगो भगवतो मनीषितोऽन्यथा ह्रदिन्यादिषु सुधासम्बन्धो न स्यात्, तथा सति तेषु लीला न स्यात्, यत एतत्सुधासम्बन्धिष्वेव सा चिकीर्षिताऽतो जलस्थलरमणसम्बन्धिषु तत्सम्बन्धः कार्यते, स च वेणुभुक्तसुधांशो यो नादद्वारा निर्गतस्तेनैवेति सर्वमवदातं, एवं सति व्रजदेवीनां वेणोश्च युगपत्सुधाभोग उपपद्यते, किञ्च दामोदरत्वेन व्रजदेव्यधीनस्तदुपभोगोपयोगिसर्वमवशः सम्पादयतीति किमितोऽधिकं वदामः ? न हि जलधिरुद्वेलः केनापि निरोद्धुं शक्य इति दिक्, इदं वेणुवादनं "रन्ध्राद वेणोरधरसुधये"ति वाक्येन यदुक्तं तददिति जानीमः, यतोऽन्यदापि गवामाह्वाने"नुचरे"रित्यत्र "मा गोपके"रित्यादिषु "नद्यस्तदे"त्यादिषु च लतादीनाञ्च तत्कार्यमुच्यते, तेनादावेवात्राधिकरसम्पत्त्यर्थं वेणुरन्ध्रेषु यद् सुधापूरणं तत्सामयिकमवेदमुच्यत इति ज्ञापनायापि गोपिकानामित्युक्तम् ॥ ९ ॥

भविष्यन्ति ज्ञानस्य फलमूर्ध्वंगमनमित्याशङ्क्याहाद्रिसानुष्विति, यत्र क्वापि स्थितास्तत्रैव गत्वापश्यन्तस्तिष्ठन्तीति दोषाभावः स्वस्थानत्याग ऊर्ध्वंगमनं चोक्तम् ॥ १० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गोप्यः किमाचरदित्यस्याभासे, तस्याधिदैविकरूपतासम्पादकमिति । कामरसो हि सहजः, वेणुनादेन सह सुधान्तः प्रविष्टा सहजं पूर्वकामं दूरीकृत्य भगवदीयं तं प्रकटितं करोतीति तथा । दामोदरेत्यस्याभासे, मर्यादायां हीनतामिति । हीनतां साधनहीनतां, न्यूनतामिति यावत् । नादं भुङ्क्त इत्यत्र प्रमाणमाहुः सा वनस्पतीनित्यादि । 'वाग्वै देवेभ्योपाक्रामद्यज्ञायातिष्ठमाना सा वनस्पतीन्प्राविश'दिति श्रुतिः । सुधाभोगविवादे हेतुः सुधानधिकार इति ॥ ९ ॥ वृन्दावनं सखीत्यस्योभासः । चरणानां स्वरूपमाहेति । अत्रेदमाकूतमिति मे भाति । भगवच्चरणमाहात्म्यं सर्वश्रुतिप्रतिपादितम् । 'तदेव देवानां पादा' इत्युपक्रम्य 'तस्या भाग्याभिनन्दन'मित्यन्तेनोक्तम् । तथा चैताद्दृक्पदसम्बन्धात् वृन्दावनस्वरूपमुत्तमत्वेन निरूपितं भवति । तत् कथमुक्तमत्र विहार-निरूपणेन चरणानां तथेति । अत्रेदमाकूतम् । लोके वेदातीतशुद्धपुष्टिमार्गीयलीलासामग्री हि नान्यत्र प्रसिद्धा । एवं सति तत्कर्तापि तथेति सिध्यति । अत एव "वृन्दावनाद् गतो दूर"मित्यग्रे वक्ष्यति । यतस्तत्र पुष्टिलीलानङ्गीकारो वक्ष्यते । एवं सत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामियं लीलात्रैवेति फलिष्यति । एवं सति यत्रैव शुद्धपुष्ट्यङ्गीकारस्तत्रैतच्चरणलीलेति ज्ञेयम् । अत एव बृहद्वनेपि 'प्रेक्ष्यन्त्य उज्झितगृहा जगृहुः' 'सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम्' 'कृष्णस्य गोप्य' इत्यादिनेयमेवोक्ता । कालीयशिरोनृत्ये नैतच्चरण-प्राकट्यम् । तत्र पुष्टिलीलायामनङ्गीकारात् । अत एव तत्स्तुतिरपि तादृशी । अतो यत्र पुष्टिमार्गीयभक्तिमार्गप्रकटनं लीलायां, तत्रैतच्चरणारविन्दाविर्भाव इति ज्ञेयम् । अतः सुष्ठूक्तं (त्वच्) चरणानां स्वरूपमाहेति । असाधारणधर्मनिरूपणे धर्मिनिरूपण-सम्पत्तिवत् । यतो लीलैव तत्परिचायिका । एवं सति 'देवानां पादा' इत्यारभ्य 'आधिदैविकावानन्दरूपा'वित्यन्तेन यावन्ति चरण-रूपाण्युक्तानि तदतीतत्वमेतच्चरणयोर्ज्ञापितं भवति । उक्तेषु पुरुषोत्तमो लोकवेदप्रथितो ज्ञेयः, अयं तदतीत इति ज्ञेयः ॥ १० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गोप्य इत्यस्याभासे तस्येति स्वहृदये सहजकामत्वेनाविर्भूतस्येति शेषः, वेणुनादमिति सुधामपीत्यपि शब्दस्य "नादं भुङ्क्त" इत्यविवादमित्यर्थं वक्ष्यन्ति, तथा च सुधाया अपिशब्देन गौणत्वसूचनान्नादस्यैव मुख्यत्वेन तन्निरूपणमेव वाक्यार्थ इति भावः, तथा चाधिदैविकतासम्पादकं सुधासहितमित्यर्थः, गोप्य इत्यत्र पूर्वरसेति कामरसस्येत्यर्थः, अत्रेति आधिदैविकतासम्पादक-सुधासाहित्ये इत्यर्थः, सर्वानुभवसाक्षिकत्वादिति भावः, तादृशकुशलाचरणे किमित्यनेनाश्चर्यकथने हेतुमाहुः पुरुषस्येति, गोपिका-पदकथने लक्ष्म्याः सम्बन्धित्वं न स्यात् तस्यां गोपभार्यात्वाभावादित्यत आहुर्बहुवचनेनेति, अनेन बहुवचनेन सापि सम्बन्धित्वेन सूचिता, तत्र हेतुः समुदायरूपेति, समुदाये रूपं स्वरूपं यस्याः, आवेशेनेति भावः, नन्वेमपि गौणत्वं स्यादित्यत आहुस्तदंशाश्चेति चस्त्वर्थे, तदंशा एतास्तु तयैव हेतुभूतया सुधासम्बन्धे समागतास्तद्योग्या जाताः, अतस्तस्यास्तु कैमुत्येन मुख्य एव सम्बन्धः सूचित इति भावः, तत्रापीति स्थावरत्वेपि वेणुर्नीरसो न त्वाम्रादिवत् सरस इत्यर्थः, आधिदैविकस्येति अधरसम्बद्धस्येत्यर्थः, आधि-दैविक्य इति अधरसम्बन्धिन्य इत्यर्थः, सर्वमिति साधनानां सर्वेषां मनोनिग्रहपर्यवसायित्वस्योक्तत्वाद् धर्मस्य च चित्तशोधकत्वा-दित्यर्थः, साधनविचारे एवमेव, अनुग्रहविचारस्तु भिन्न इति वैदिक इत्युक्तम्, वयं जाता इति तादृशो धर्मः सम्भवेदिति शेषः, तत्रापीति अस्मास्वपीत्यर्थः, विरोधाभावं विवृण्वन्ति तत इति, धर्मादित्यर्थः, पुल्लिङ्गनिर्देशश्चेति स्थावरत्वात् स्त्रीत्वाभावो बाधक उक्तः पुंस्त्वं च बाधकमिति चकारः, प्रसिद्धिश्चेति अधरसुधाभोगो रहस्यैवानुभवसिद्धोतः प्रसिद्धिरपि भोगे बाधिकेत्यर्थः, रसविवक्षायामिति रसभोगविवक्षायामित्यर्थः, बाधकत्वेनेति रसभोगकथनेच्छा रसनेन्द्रियाभावज्ञानेन बाधिता भवतीत्यर्थः, तथा च बाधकस्य विद्यमानत्वात् साधनेन रसभोगो वक्तुमशक्य इति भावः, सम्भवेदपीति अनधिकारिण इति शेषः, तत्र दृष्टान्तो व्यभिचारे इति, रसः स्त्रीनिष्ठः, तत्राधिकारी पतिः, स स्वतोपि भुङ्क्ते, अनधिकारी परकीयस्तु तया दत्तमेव प्राप्नोति न तु स्वतः, तथात्राप्यनधिकारी वेणुः पुष्टिबलेनापि भगवद्दत्तमेव प्राप्नुयात्, स्वतोभोजनं त्वाश्चर्यमेव, तथा च रसस्य व्यभिचारेनधि-कारिणि गमने स्त्रीषु सिद्धो योन्तः फलं रसरूपं तद्वत् सम्भवेदपि परं भगवांश्चेद् दद्यात्, स्वतस्त्वाश्चर्यमेवेत्यर्थः, ननु पानं कथं निर्धारितं तत्राहुरधरेति, किञ्चेति ह्रदिनीतरुकृतपानान्यथानुपपत्त्यापि पानं मन्यामहे इत्यर्थः, उभयत्रेति ह्रदिनीनां तरूणां च पानकथने साधकं हेतुमाहेत्यर्थः, अन्यथा तेष्विति कमलानां हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चत्वे तेषु कमलेषु प्रकटेषु सत्सु तस्या उद्गमो न स्यात्, तेषां रसोद्दीपकत्वात् तेपूद्गतेषु लक्ष्मीरायातीति भावः, विचारान्ते इदं वेणुवादनमिति ननु तत् सर्वभोग्यसुधाया रन्ध्रेषु पूरणरूपमिदं तु देवभोग्यसुधाया वेणुकृतभोगरूपमतः कथं तदित्यत आहुर्यत इति, अन्यदाप्युभयरूपं वेणुवादनं जायते, अत इदं द्वयमप्युभयरूपमिति भावः, तत्र स्वामिनीनामधिकारसम्पत्त्यर्थं सर्वभोग्यसुधापूरणं, अत्र वेणुर्देवभोग्यांशं भुङ्क्ते इति विवेकः, तेनेति उभयरूपत्वेन हेतुनेत्यर्थः, अत्रेति स्वामिनीष्वित्यर्थः, अत्रापि 'गोपिकाना'मिति पदादुभयरूपत्वं ज्ञापितं तथा चोभयमुभय-रूपमिति भावः ॥ ९ ॥ वृन्दावनमित्यत्र 'बर्हापीडे'ति श्लोके वृन्दावनप्रवेशस्य प्रथमश्लोकोक्तस्यैवानुवादाद्विशेषणधर्माणामेव

प्राधान्येन स्वपदरमणमिति वृन्दावनविशेषणव्याख्यानरूपत्वादस्य तात्पर्यार्थश्रवणस्वरूपनिरूणमेव वक्तुमुचित इत्याशयेनाभासस्तयोक्तः, तन्निरूपणमुपपादयन्ति **देवानामित्यादिना**, **पुरुषोत्तमस्येति** लोकवेदप्रसिद्धस्येत्यर्थः, (आध्यात्मिकाविति इन्द्रियरूपावित्यर्थः, विराजो गतिर्न दृश्यते, **आधिदैविकौ** 'भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्या'मित्यत्र 'पद्भ्या'मितिपदेनोक्तावित्यर्थः), तयोरपीति आधिदैविकयोः **पुरुषचरणयोरपीत्यर्थः**, कुतस्तरां पुरुषोत्तमचरणयोरिति भावः, 'द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिता'मिति ब्रह्मप्रार्थनया पदस्थापनेपि शुद्धभूमावेव पदस्थापनमुचितमित्याशयेन वृन्दावनस्यातथात्वमाहुर्भूमावपीति, एवं सर्वथाऽयोग्येपि देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मीत्यनेन लक्ष्मीलाभहेतुपदाम्बुजधारणोक्त्या निःसाधनफलात्मत्वेन लोकवेदातीतत्वमेतच्चरणयोर्ज्ञापितं भवति, **भगवत इति** एतैर्लक्ष्मीलाभोक्त्या **लोकवेदातीतस्येत्यर्थः**, ननु तत्र लीलोपयोगिस्थानसद्भावात् पदधारणमुचितमतः स्वस्य कथमभिलाष इत्याशङ्क्य स्वस्यापि तत्तुल्यत्वमाहुः **स्वस्यापीति**, **अन्तःप्रवाहा** इति सरस्वत्यादिनदीनामिव बहिरप्रकटः **प्रवाहो** यासां रसस्य पूरो यासु तादृश्यो नद्य इत्यर्थः, भगवद्रसस्यान्तर्विद्यमानत्वादिति भावः, **केचिदिति** स्वमतं तु निर्गुणत्वेपि तद्रसस्वभावात् कदाचिदसूया सम्भवत्येवेति भावः, **व्यापिवैकुण्ठे** इति अप्रकटितं स्थानं व्यापिवैकुण्ठं भूमौ प्रकटं वृन्दावनमिति भेदः, **केवलमिति** न तु पदाम्बुजेनास्माकमिव तस्य रसानुभव इत्यर्थः, ननु वृन्दावने भगवान् नित्यं तिष्ठत्यतो भगवता लब्धलक्ष्मीत्येव वक्तुमुचितं भवतीत्यत आहुर्**भगवत इति**, **नित्यं स्थिति** प्रकटस्थितिमित्यर्थः, तिष्ठन्नपि प्रकटो न तिष्ठति, पदचिह्नानि तु नियतान्येव प्रकटान्येव स्थास्यन्तीति **तुशब्दः**, **आधिदैविके** तादृशलीलाधारे **स्थास्यन्ति**, प्राकट्ये तत्र हेतुमाहुर्वृन्दावनं कर्तृ, स्वभूमेः सार्द्रताकरणे क्वचित् **प्रदर्शयिष्यति** चेति, आधारस्यापि वृन्दावनस्य 'स्वव्यापारे ह्री'तिन्यायेन कर्तृत्वम्, ननु भगवन्तमेव कुतो न प्रदर्शयति तत्राहुर्**भगवांस्त्विति**, स्वतन्त्रत्वान्न तत्र सामर्थ्यम्, ननु स्वतन्त्रत्वेपि भक्तवश्यत्वाद् भक्तायैव प्रदर्शनीय इत्यत आहुर्**भक्तैरिति**, तया तु सर्वत्रैव भविष्यति वृन्दावने को विशेषः ? चिह्नदर्शनं त्वाधुनिकानामपि जायत इति न भक्तिसापेक्षमिति भावः, (लक्ष्माणीति तथा च **मूले पदस्थितं यदम्बुजं** चिह्नमुपलक्षणेन ध्वजादीन्यपि तैर्लब्धलक्ष्मीत्यर्थो ज्ञेयः) पादत्वमेव सम्पन्नमिति ध्वजादिविशिष्टत्वमेव पादत्वमिति भावः, **युक्तञ्चेति** भूम्योपकृतस्तामुपकरोतीति युक्तं, प्रतिष्ठाया निमित्तं पूर्वमुक्तं, इदमपि निमित्तमिति **चकारः**, **अस्मिन्** पक्षे **मूले यद्** यस्माद् भूमेः सकाशादित्यर्थः, **मत्तानां मयूराणां** नृत्यं यत्र तादृशं वृन्दावनं **गोविन्दवेणुमनु जातमिति** भक्तिप्राप्तिरुक्ता, नन्विदं तु मयूराणामतो वृन्दावनस्य भक्तिज्ञानप्राप्तिराभासे कथमुक्तेत्यत आहुर्**मयूरा इति**, सततस्थित्याऽसाधारणधर्मतापत्तेर्वनभावापन्नाः, अतो वृन्दावनस्यैव स्वासाधारणधर्मे भक्तिप्राप्त्या प्रशंसोक्तेत्यर्थः, **प्रेक्ष्येत्याद्येकं** समस्तं पदम्, तादृशं नृत्यमितिसमभिव्याहारात् कर्म, **तूष्णीम्भावेति** तूष्णीम्भावः कार्यलक्षणं यस्य तादृशं भगवल्लीलाज्ञानमित्यर्थः, **एक इति** मयूर इत्यर्थः, जात्यपेक्षयैकवचनम्, **अन्ये सर्व** इति नानाजातीया इत्यर्थः, तूष्णीम्भावेन दोषाभाव उक्तः, सानुस्थित्या अन्यद् द्वयमुक्तम् ॥ १० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गोप्यः किमाचरदित्यत्र **येन धर्मेणेत्यादि** योस्माभिर्धर्मः कृतः स एव वेणुना कृत इति ज्ञायते सुधारूपैकफललाभादित्यर्थः, तर्हि कः सन्देह इति चेत् तत्राहुः **परं तत्रापीत्यादि**, अस्मत्कृते साधने विरोधो नास्ति, आधिदैविकस्त्रीरूपप्राप्तेः, वेणौ तु विरोधोस्ति तादृशविग्रहाप्राप्तेरित्याहुस्ततोस्मास्वित्यादिना, **स च जगति सर्वोत्तम** इति सर्वेषु जलसम्बन्धिषु कमलपदार्थं उत्तम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्या आहुः—गोप्य इति । 'स्म' इत्याश्चर्यम् । अपिशब्दो दुर्लभताद्योतकः । हे गोप्यः ! अयं वेणुः किं कुशलं पुण्यमाचरत् कृतवान् ? । 'तत् कथं ज्ञायते ?' इत्यपेक्षायामाहुः—यत् यस्मात् गोपिकानामपि दुर्लभां दामोदरस्याधरसुधां स्वयं स्वातन्त्र्येण अवशिष्टरसं केवलं रसमात्रं यथा भवति तथा यथेष्टं भुङ्क्ते । तत्रापि ज्ञापकमाहुः—यासां पयसा पुष्टस्ता मातृतुल्या ह्रदिन्यः हृष्यत्त्वचो विकसितकमलवदनमिषेण रोमाञ्चिता इव लक्ष्यन्ते । तथा येषां वंशे जातस्ते तरवोऽपि मधुधारामिषेण आनन्दाश्रु मुञ्चत इव दृश्यन्ते । तत्र दृष्टान्तमाहुः—यथाऽऽर्या इति । आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं लब्धतत्प्रसादं दृष्ट्वा यथा हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुञ्चन्ति तथेत्यर्थः ॥ ९ ॥ अन्या आहुः—वृन्दावनमिति । हे सखि ! वृन्दावनं भुवः कीर्तिं यशः स्वर्गादिभ्योऽपि विशेषतः आधिक्येन तनोति विस्तारयति । तत्र हेतुं सूचयन्त्यः विशिषन्ति—यत् यस्मात् देवकीसुतस्य पदाम्बुजैस्तत्रतत्राङ्कितैर्लब्धा लक्ष्मीः शोभा येन तत् । किञ्च गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुनिनादं श्रुत्वाऽनन्तरं मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा मत्ता ये मयूरास्तेषां नृत्यं प्रेक्ष्य सङ्घशस्तत्राद्रिसानुष्ववपरतानि उपरतव्यापाराणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिंस्तत् । नैतदन्येषु लोकेषु विद्यते, अतो भुवः कीर्तिं वितनोतीत्याशयः ॥ १० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गोप्य इति ॥ हे गोप्यः ! अयं वेणुः किं कुशलं पुण्यमाचरत् कृतवान् । यत् यस्मात् गोपिकानामपि दुर्लभां दामोदरस्याधरसुधां स्वयं स्वातन्त्र्येण अवशिष्टरसं सुधाभुक्तैव केवलं रसमात्रमार्द्रत्वमवशिष्टं यथा भवति तथा । यद्वा । न वशिष्टो रसोऽपि यत्र

भागुरिमतेऽवस्याल्लोपः। यथेष्टं भुङ्क्ते। यासां पयसा पुष्टस्त मातृतुल्या ह्रदिन्यः हृष्यत्त्वचो विकसितकमलवदनमिषेण रोमाञ्चिता इव लक्ष्यन्ते। यद्वा। यस्य वेणोरवशिष्टरसं ह्रदिन्योऽपि भुञ्जते अतो हृष्यत्त्वचः तथा येषां वंशे जातस्ते तरवोऽपि मधुधारामिषेण आनन्दाश्रु मुमुचुः मुञ्चन्त इव दृश्यन्ते। यथा आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं लब्धतत्प्रसादं दृष्ट्वा यथा हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुञ्चन्ति तथेत्यर्थः॥ ९॥ वृन्दावनमिति॥ हे सखि! वृन्दावनं भुवः कीर्तिं यशः स्वर्गादिभ्योऽपि विशेषतः आधिक्येन तनोति विस्तारयति। यत् यस्मात् देवकीसुतस्य पदाम्बुजैस्तत्र तत्राङ्कितैर्लब्धा लक्ष्म्याः शोभाः येन तत्। बहुवचने उरआदित्वाभावान्न कप्। अत्र यशोदैव देवकीनाम्ना गृह्यते! "द्वे नाम्नी नन्दजायाया यशोदा देवकीत्यपि।" इति वृहद्विष्णुपुराणात्। किंच। गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुनिनादं श्रुत्वाऽनन्तरं मन्दगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा मत्ता ये मयूरास्तेषां नृत्यं प्रेक्ष्य सङ्घशस्तत्र तत्राद्रिसानुष्वपरतानि उपरतव्यापाराणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिंस्तादृशं भवति। नैतदन्यत्र विद्यतेऽतो भुवः कीर्तिं वितनोति॥ १०॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अपराः प्रेमलतां दर्शयंत्य आहुः गोप्य इति हे गोप्यः अयं वेणुः किं कुशलं शुभमाचरत् चक्रे यः गोपिकानामस्माकं योग्यां दामोदराधरसुधामपि स्वयमेक एव भुंक्ते यस्य वेणोः अविशिष्टं रसं ह्रदिन्यो नद्यः श्रीकृष्णस्नानकाले भुंक्त्वा हृष्यत्त्वचः। प्रफुल्लपद्मना रोमांचिता दृश्यंते तरवः येषां वंशे वेणुरुत्पन्नस्ते वृक्षाः मधुधारामिषेण हर्षाश्रु मुमुचुः अत्र दृष्टांतः यथा आर्याः स्वकुटुंबवृद्धाः स्वान्वये हरिभक्तं दृष्ट्वा आनंदाश्रु स्रवंति तद्वत् यद्वा ह्रदिन्यो यासां पयसा वेणुः पुष्टः तामातृसमा नद्यः हृष्यत्त्वचः विकसितपद्ममिषेण हृष्टरोमा अस्माभिर्लक्ष्यंते अतः सकुलो वेणुर्धन्य इत्यभिप्रायः॥९॥ इदानीं काश्चिद्गोप्यः सर्वक्षेत्रेभ्यो वृंदावनस्य श्रेष्ठत्वं वदंति वृंदेति हे सखि देवकीसुतेन निक्षिप्तपादपद्माभ्यां लब्धालक्ष्मीः शोभा समृद्धिर्येन तद्वृंदावनं भुवः कीर्तिं सत्यलोकादपि विशेषेण तनोति तद्विशिनष्टि गोविंदस्य वेणुं अनुवंशीशब्दमाश्रुत्य स गर्जितं नीलांबुदं मत्वा मत्तानां मयुराणां नृत्यं प्रेक्ष्यवृंदशः यत्र अद्रिसानुषु पर्वतशिखरेष्ववरतानि उपरतक्रियाकलापानि अन्यानि मयूरभिन्नानि समस्तसत्वानि सकलप्राणिनो यस्मिंस्तत् एवं परमानंदजनकत्वे नान्यत्र प्राणिनां चित्ताकर्षणं नास्ति अतो वृंदावनं धन्यमिति भावः॥ १०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गोप्य इति॥ हे गोप्यः, अयं कृष्णकरस्थः वेणुः, किं स्म कुशलं किं नु सुकृतमित्यर्थः। आचरत् चकार। कुतः। यद्यस्मात्, गोपिकानामस्माकमेव भोग्यामपि, दामोदराधरसुधां श्रीकृष्णाधरामृतं, स्वयं स्वातन्त्र्येण, यथेष्टमित्यर्थः। अवशिष्टरसं केवलमत्रशिष्टरसमात्रं यथा भवति तथा, भुङ्क्ते। यासां जलपानेनानुपुष्टोऽयं वेणुः ता मातृतुल्या इति शेषः। ह्रदिन्यो नद्यः हृष्यत्त्वचः विकसितकमलवनमिषेण रोमाञ्चिताः, लक्ष्यन्ते। येषां वंशेऽयं वेणुर्जातस्ते इति शेषः। तरवो वृक्षाः, मधुधारामिषेणेति शेषः। अश्रु आनन्दजनेत्रजलानि, आर्याः कुलवृद्धाः, यथा तथा, मुमुचुः। कुलवृद्धाः यथा स्ववंशे जातं भगवत्सेवकं दृष्ट्वा हृष्यत्त्वचः सन्तोऽश्रूणि मुञ्चन्ति तद्वदित्यर्थः। यद्वा हे गोप्यः, अयं भगवतः पाणिसंस्थः वेणुः, किं स्म किं वेत्यर्थः। कुशलं पुण्यं, आचरत् कृतवान्। यद्यस्मात्, गोपिकानां अपि, अपिशब्दो दुर्लभताद्योतकः। गोपिकानामस्माकमपि दुर्लभामित्यर्थः। दामोदरस्य श्रीकृष्णस्य योऽधरसुधाऽधरामृतं तां स्वयमेकाकी एव, भुङ्क्ते। अनेकोपभोज्यां स्वयमेकल एव भुनक्तीत्यर्थः। अवशिष्टरसं तु तत्कृततत्त्यागावशिष्टो योऽधरसुधारसस्तं त्वित्यर्थः। ह्रदिन्यो नद्यः, तरवो वृक्षाश्च, भुञ्जते। कृत्स्नायामधरसुधायां वेणुनैकेनैव पीयमानायां सत्यां यद्गलितमधरसुधात्मकरसकणजालं तु ह्रदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते इत्यर्थः। ननु कथमेतल्लक्षितं तत्राहुः। तरवः एते वृक्षाः, अश्रु मुमुचुः। मुञ्चन्तीत्यर्थः। अश्रु इति जात्यभिप्रायमेकवचनम्। अवशिष्टरसभोगप्रयुक्तहर्षाश्रूणि मुञ्चन्ति। इमाः ह्रदिन्यो नद्यः, हृष्यत्त्वचः जाताः, दृश्यन्ते। तत्र ह्रदिन्यो विकसितकमलव्याजेन उदञ्चितरोमाण इव लक्ष्यन्ते। तरवस्तु मधुस्रवणमिषेणानन्दाश्रूणि मुञ्चन्तो लक्ष्यन्ते। कथमिव। यथा आर्या भागवताधरसुधाशेषरसाभिज्ञा भगवद्भक्ताः तद्भुक्तावशिष्टमुपभुज्य हृष्यत्त्वचः, अश्रूणि मुञ्चन्तश्च भवन्ति तद्वदित्यर्थः॥ ९॥ वृन्दावनमिति। हे सखि, वृन्दावनं, भुवः पृथिव्याः, कीर्तिं, वितनोति जनयतीत्यर्थः। कुतः यद्यस्मात्, देवकीसुतस्य ये पदाम्बुजे ताभ्यां लब्धा लक्ष्मीः सौन्दर्यसंपद्येन तत्, गोविन्दस्य यो वेणुस्तं, अनु वेणुगीतमनुसृत्य, मत्ताः मन्दगर्जितयुक्तनीलमेघभ्रान्त्या मत्ततां प्राप्ता ये मयूरास्तेषां नृत्यं, प्रेक्ष्यावलोक्य, अद्रिसानुष्वपरतानि वेणुगीततदनुरूपमयूरनृत्यदिदृक्षया निवृत्त स्वस्वव्यापाराणि अन्यानि मयूरव्यतिरिक्तानि समस्तानि सत्त्वानि जन्तवो यस्मिंस्तथाभूतं, भवति। नैतदन्येषु लोकेषु विद्यतेऽतो भुवः कीर्तिं वितनोति, तत उक्तविधवृन्दावनवानयं लोको धन्य इति भावः॥ १०॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गोप्य इति। १०.२१.९.

न भवेज्जडडजन्म पुण्यभाजः सुलभोऽपुण्यवतो रसो न चैषः। तदिदं परमद्भुतं जडोऽपि यदयं मुख्यरसं प्रभोर्भुनक्ति॥ १७॥

कस्यापि किञ्चिदपि केनचिदाहृतं चेत् तं स्वीकरोति न परस्तदघावलिप्तम्।
ईशाधरस्थममृतं हरतेऽस्मदीयं योऽस्मै कथं प्रभुरदात् स्वकरावलम्बनम्॥ १८॥

वृन्दावनमिति : १०.२१.१०.

भालं यस्य यथा कथञ्चिदपि चेत्साध्वर्थवर्णावलिप्रान्तं तद्धि करोत्यलं क्षितितले तं कीर्तिमन्तं नरम् ।
साक्षाच्छ्रीपतिसत्पदावलि-लसत्कायं तु वृन्दावनं यद्भूमिं बहुकीर्तिपात्रमकरोत् किं तत्र चित्रं सखि ॥ १९ ॥
वृन्दावनमिदं मन्ये भालमेव धराश्रियः । सौभाग्यभूमिः श्रीकृष्णतिलको यत्र राजते ॥ २० ॥
सार्के सोमवति प्रकामविलसत्तारे च वृन्दावनाकाशे कृष्णनवाम्बुदं समुदितं प्रोद्यत्सुवेणुध्वनिम् ।
दृष्ट्वा हर्षितचेतसो हि शिखिनोऽकालेऽपि केकाकृतः प्रापुर्नृत्यसुखं परे त्वसमयं ज्ञात्वा तटस्थाः सखि ॥ २१ ॥

कृष्णप्रिया

अरी गोपियों यह वेणु पुरुष जाति का होने पर भी पूर्व जन्म में न जाने ऐसा कौन सा साधन भजन कर चुका है कि हम गोपियों की अपनी सम्पत्ति दामोदर के अधरों की सुधा स्वयं ही इस प्रकार पिये जा रहा है कि हम लोगों के लिये थोड़ा सा भी रस शेष नहीं रहेगा, इस वेणु को अपने रस से सीचने वाली ह्रदिनियाँ आज कमलों के सिस रोमाञ्चित हो रही हैं और अपने दश में भगवत्प्रेमी सन्तानों को देखकर श्रेष्ठ पुरुषों को समान वृक्ष भी इसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर आँखों से आनन्दाश्रु बहा रहे हैं ॥ ९ ॥ अरी सखी यह वृन्दावन वैकुण्ठ लोक तक पृथ्वीकि कीर्तिका विस्तार कर रहा है, क्योंकि यशोदा-नन्दन श्रीकृष्ण के चरण कमलों के चिह्नो से यह चिन्हित हो रहा है, सखि जब श्रीकृष्ण अपनी मुनिजन मोहिनी मुरली बजाते हैं तब मोर मतवाले होकर उसकी ताल पर नाचने लगते हैं, यह देखकर पर्वत की चोटियों पर विचरने वाले सभी पशु-पक्षी चुपचाप शान्त होकर खड़े रह जाते हैं, अरी सखी जब प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण विचित्र वेष धारण करके वासुरी बजाते हैं तब मूढ़ बुद्धिवाली ये हरिनियाँ भी वंशी की तान सुनकर अपने पति कृष्णसार मृगों के साथ नन्दनन्दन के पास चली आती हैं और अपनी प्रेमभरी बड़ी–बड़ी आँखों से उन्हें निरखने लगती है । निरखती क्या हैं अपनी कमल के समान बड़ी बड़ी आखें श्रीकृष्ण के चरणों पर निछावर कर देती हैं और श्रीकृष्ण की प्रेमभरी चितवन के द्वारा किया हुआ अपना सत्कार स्वीकार करती हैं वास्तव में उनका जीवन धन्य है, हम वृन्दावन की गोपी होने पर भी इस प्रकार उन पर अपने को निछावर नहीं करपाती हमारे घरवाले कुढ़ने लगते हैं, कितनीविडम्बना है ॥ १० ॥

[1]धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता [2]या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।
[3]आकर्ण्य वेणुरणितं [4]सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥ ११ ॥
कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेषं[5] श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् ।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मूढमतयः अपि एताः हरिण्यः धन्याः याः वेणुरणितं आकर्ण्य उपात्तविचित्रवेषं नन्दनन्दनम् प्रणयावलोकैः विरचितां पूजां सहकृष्णसाराः दधुः ॥ ११ ॥ वनितोत्सवचारुवेषं कृष्णं निरीक्ष्य तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम् च श्रुत्वा विमानगतयः देव्यः स्मरनुन्नसाराः भ्रश्यत्प्रसूनकबराः विनीव्यः मुमुहुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अपरा आहुः । हे सखि मुढमतयस्तिर्यग्जातयोऽप्येता हरिण्यो धन्याः कृतार्थाः या वेणुरणितं वेणुनादमाकर्ण्य नदनंदनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकनैर्विरचितां पूजां समानं दधुः कृतवत्यः । कि च कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहिता एव दधुः । अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः समक्षं तन्न सहंत इति भावः ॥ ११ ॥ अन्या ऊचुः । हे गोप्यः आश्चर्यं शृणुत वनितानामुत्सवो यस्मात्तद्रूपं शीलं च यस्य तं कृष्णं निराक्ष्य तेन वादितवेणोरसंकीर्णं गीतं च श्रुत्वा विमानैर्गच्छंत्यो देव्यो देवानामंकेषु स्थिता अपि स्मरेण नुन्नसाराः परिक्षिप्तधैर्या मुमुहुः । मोहे लिंगमाहुः । भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडा यासां ताः । विगता नीव्यो यासां ताः । अत्र सर्वत्र वक्तृभेदान्नातीव संगतिर्वक्तव्या ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अपराः प्रेमवत्यः । उपात्तः बर्हादिभिर्विचित्रो वेषो येन तम् । अस्मत्तस्ता धन्याः स्वानुकूलपतित्वेनेत्याहुः–किं चेति । इति भाव इति । गोपानां प्रायो बुद्धिहीनतास्तीति तात्पर्यम् । यद्वा–कृष्ण एव प्रीतिविषयत्वेन सारो येषां ते यथार्थनामानस्तासां पतयस्त्व-

१. धन्याश्च–वीर. ; धन्यास्तु–विज. । २. यन्नन्द–विज. । ३. आपीय–विज. । ४. कृष्णसारैः–वीर. । ५. चारुशीलं–वीर. ; रूपसारं–विज. ।

पत्नीः कृष्णानुरागिणीरालक्ष्य स्वगार्हस्थ्यमेव धन्यं मन्यंते स्मेति ।।।। ११ ।। अन्याः कामिन्यः । असंकीर्णम् पृथक्पृथक्परिज्ञात श्रीभैरवादिस्वरम् । परिक्षितं च्युतं धैर्यं मनोधारणसामर्थ्यं यासां ताः । भ्रस्यंति च्यवंति प्रसूनानि कुसुमानि याभ्यस्तास्तथा । 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः । 'प्रसूनं तु प्रसूते फलपुष्पयोः' इति हैमः । 'नीवी वस्त्रांशुकग्रंथ्योः' इति यादवः । नीव्यः कटिबंधग्रंथयः । मुमुहुः विचित्ता बभूवुः । मोट्टायितमिदं तदुक्तम् —"कांतस्मरणवार्त्तादौ हृदि तद्भावभावतः । प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमिदं स्मृतम् ।।" इति । अत्र एषु । सर्वत्र सर्वत्र श्लोकेषु । नातिशयेन संगतिः प्रसंगादिरूपा ।। १२ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तुतरां हरिप्रियसर्वजीवाश्रयस्य श्रीवृन्दावनस्य माहात्म्यं तदाश्रयिकाणां पशुजातीनामपि भाग्यं किं वर्ण्यता मित्याहुः—धन्या इति । मूढाः विवेकहीना गतिर्ज्ञानं यासां तथाभूता अपि मतय इति पाठे तथैवार्थः हरिण्य इति वनचारिण्योऽपि एता दृश्यमाना इव नन्दस्य श्रीवल्लवेन्द्रस्य नन्दनमिति धात्वर्थबलादखिलगुणमहिष्ठत्वं सूचितम् एवं गुरोरपि तस्य नामग्रहण मतिक्षोभवैवश्येन विक्षिप्तमनस इत्युक्तत्वात् उपात्ताः स्वीकृताः विचित्रवेषा वनमाला बर्हापीडगुञ्जावतंसादिरूपा येन तं वेणु विरुतमिति रागत्वेनापर्यवसितं प्रथमफूत्कारमात्रमुक्तम् अनुकरणशब्दो ह्ययं रणितमिति पाठोऽपि क्वचित् अत्र टीका पुनरुक्ता स्यात् कृष्ण एव सारः परमोपादेयो येषामिति श्लेषेण च स्वपतयो निन्दिताः पूजामिति तावतव सर्वोपचारणपूर्णत्वं जातमिति ध्वनितम् अत एव दधुः पुपुषुः सर्वपूजाभ्योऽधिकं चक्रुरित्यर्थः । अतः क्रियातोऽपि वैशिष्ट्यं विशेषेण रचितानीति तत्र सर्वत्र हेतुः प्रणयावलोकैरिति भावमात्रग्राहिणस्तस्य तैरेव पूजासम्पत्तेः बहुत्वं परम्पराविवक्षया स्मेति विस्मये खेदे वा अहो बतास्माकमीदृशं भाग्यं नास्तीति भावः । अन्यत्तैः अथवा वेणोरिफितं यत्र तादृशं सन्तम् आकर्ण्य श्रवणद्वारा ज्ञात्वा उपात्तवेषं सन्तं प्रणयावलोकैरेव वशीकृतवत्यः तैरेव प्रीतिसेवामपि विदधुरित्यर्थः "अभावि भूमिपतिभिः" इत्यारभ्य दधत् दशनचुचुंरशब्दमश्वः" इति माघ काव्यवत् "संश्रृण्वन् वदमानांस्तान् रावणस्य गुणान् जनान्" इति भट्टिकाव्यवच्च श्रीमन्नन्दनन्दनस्य श्रवणक्रियाकर्मकत्वं ज्ञेयम् अन्यत्समानम् ।। ११ ।। अहो आस्तां श्रीवृन्दावनवर्त्तिनीनां श्रीकृष्णान्तिके चरन्तीनामासां माहात्म्यं खेचरीणामपि भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः, कृष्णमिति चित्ताकर्षकं वनिताः तदनुरागयोग्याः स्त्रीजातयः शीलं सुस्वभावः तेन क्वणितस्य वेणोः विविक्तं प्रति कूलरागामिश्रणेन शुद्धं किम्वा श्रृङ्गारादिरसलब्धविभागं गीतं विमानगतय इति स्वपति साहित्यं वैमानिकत्वेनाकस्मात्तत्र श्रीकृष्णसङ्गमायोग्यत्वं चोक्तं तथापि कामहृतधैर्याः सत्यो मुमुहुः अत्र रूपादेर्निरीक्षणोक्तिः ताभिस्तस्या दृष्टचरत्वात् अत एव तद्दर्शनेन विशेषतो वेणुगीतश्रवणेन च तादृशमोहो युक्त एव किं वा यदा यदैव रूपाद्यनुभवस्तदा तदैव मोह इति निरीक्ष्य श्रुत्वा चेति द्वयोरपि मोहे कारणत्वमुक्त्वा तयोर्वैपरीत्यमपि जन्मनि मतं यदैव खलु क्रमप्राप्तं भवतीति मोहेनैव विमानतो अवतीर्य श्रीकृष्णान्तिकमपि गन्तुं न शक्ता इति भावः मोट्टायिताख्यानुभावोयं यथोक्तम्—

कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः । प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमितीर्यते ।। इति

अहो बत परममूढानां हरिणीनां परमविदग्धानां सुरसुन्दरीणामपि सम्मोहनस्यैवम्भूतस्य सर्वसौभाग्यामृतसिन्धोस्तस्य दर्शनमप्यनाप्नुवतीरस्मान् धिगिति किम्वा वनविहारिणः तस्य तत्र तथा दर्शनाद्यभावाद्वयमधन्या इति भावः ।। १२।।

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तुतरां हरिप्रियसर्वजीवाश्रयस्य श्रीवृन्दावनस्य माहात्म्यम्, पशुजातीनामारण्यानां हरिणीनामपि भाग्यं किं वर्ण्यताभित्याहुः —धन्या इति । मूढ़ा विवेकहीना गतिर्ज्ञानं यासां ताः, पशुजातित्वात्, मतय इति पाठेऽपि तथैवार्थः । ता वक्ष्यते एता इति प्रत्यक्षत्वाद्यभिप्रायेण, एताः श्रीवृन्दावनवर्त्तिन्यो वनचर्य्या वा, नन्दस्य श्रीवल्लवेन्द्रस्य नन्दनं कुमारमिति परमसुन्दर वेषरसिकत्वादिकं सूचितम्, श्लेषेण नन्दं साक्षादानन्दमप्यानन्दयतीति परमानन्दघनमूर्त्तिमित्यर्थः । उपात्ताः स्वीकृता विचित्रा वेषाः सखिभिरुपायनतया समर्पिता वनमाला बर्हापीडगुञ्जावतंसादिभूषणानि येन, तं प्रति प्रणयावलोकैरेव विरचितां विशेषेण कल्पितामिति, तासां तदतिरिक्ततत्पूजाद्रव्याभावात्, रसिकशिरोमणेश्च तस्य तैरेव पूजा सम्पत्तेः, बहुत्वं गौरवेण दृष्टिपरस्परा विवक्षया वा, स्मेति विस्मये खेदे वा, अहो बतास्माकमीदृशं भाग्यं नास्तीति भावः । अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव, अथवा वेणुनादमाकर्ण्य मूढा श्रीवृन्दावनविषयक जन्मादिमाहात्म्येन सर्वज्ञानां परमविदग्धानामपि विवेकहीनतां प्राप्ता गतिर्बाह्यान्तरेन्द्रियवृत्तिः, किंवा मूढानां जडानामिव गतिः स्थितिर्गमनमेव वा, इतस्ततः स्खलनादिलक्षणं स्तब्धतालक्षणं वा यासाम्, हरिण्यः सदा वनान्तश्चारिण्योऽपि प्रणयावलोकैर्विरचितामेव पूजां दधुः, काममोहिततया किञ्चिदन्यत् कर्त्तुं विवेक्तुञ्चाशक्ताः, केवलं सादरं पूजयन्त्य इव प्रेम्णा निरीक्षन्त्य इत्यर्थः । अस्मत्सपत्न्यः, अपीत्यस्य कृष्णसारैरन्वयः । कृष्णसारा अपि सह एकदैव तथा चक्रुरित्यर्थः, कृष्ण एव सारः श्रेष्ठः परमोपादेयो येषामिति, श्लेषेण गोपा निन्दिताः, तेषां साक्षात् स्वच्छन्देनात्मनस्तादृश श्रीकृष्णसेवाचरणाशक्तेः । अन्यत् समानम् ।। ११ ।। अहो आस्तां श्रीवृन्दावनवर्त्तिनीनां गोसंगत्या श्रीकृष्णान्तिके चरन्तीनां तासां माहात्म्यम्, खेचरीणामपि भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः—कृष्णमिति चित्ताकर्षकम्, वनिता विदग्धाः सर्वा वा स्त्रीजातयः, शीलं विचित्रक्रीडादिपरस्वभावः, वेष-

मिति क्वचित् पाठः। तेन क्वणितस्य वादितस्य वेणोर्विविक्तं शुद्धं मनोज्ञं वा, किंवा, शृंगारादिरसलब्धविभागं गीतम्, विमानगतय इति स्वपतिसाहित्यम्, वैमानिकत्वेनाकस्मादागमनं श्रीकृष्णसंगमायोग्यत्वं चोक्तम्, तथापि कामहृतधैर्य्याः सत्यो मुमुहुः, अत्र रूपादेर्निरीक्षणोक्तिः, ताभिस्तस्यादृष्टत्वात्, अत एव तद्दर्शनेन विशेषतो वेणुगीतश्रवणेन च तादृशमोहो युक्त एव; किंवा, यदा यदा रूपाद्यनुभवस्तदा तदैव मोह इति, अन्यत्र च व्यक्ततया तदनुक्तिः, श्रीवृन्दावनवर्त्तिनां महाभागानां तेषां स्वतस्तत्सिद्धेः, मोहेनैव विमानतोऽवतीर्य्य श्रीकृष्णान्तिकमागन्तुं न शक्ता इति भावः। अहो बत सुरसुन्दरीणामपि सम्मोहनस्यैवम्भूतस्य सर्वसौभाग्यामृतसिन्धोरस्य दर्शनमप्यनाप्नुवतीरस्मान् धिगिति। किंवा, वनविहारिणस्तस्य तत्र तथा दर्शनाद्यभावद्वयमधन्या एव, तास्तु धन्या इति भावः॥ १२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

वेणुरणितं शब्दितं दधुः आदधुः॥ ११॥ स्मरनुन्नसाराः स्मरनुन्नधैर्याः व्यनीव्यः शिथलनीवीबन्धाः॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

धन्या इति। मूढगतयस्तिर्यग्गतयोऽपि मतय इति पाठे सुन्दरा सुन्दरवस्तुविवेकरहिता अपि गतय इति पाठेऽप्ययमर्थः सम्भवति "गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः" इति न्यायात् एता हरिण्यो धन्याः कृतार्थाः एवं कुत इत्यत्र विशिषन्ति याः हरिण्यो वेणुगीतमाकर्ण्य उपात्तः स्वीकृतो वर्हादिभिर्विचित्रो वेषो येन तं नन्दस्य नन्दनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकैः पूजां सम्मानं दधुः कृतवत्यः किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहिताः एव दधुरसमत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः तन्न सहन्ते न समक्षमिति भावः॥ ११॥ अन्यास्तु हे गोप्यः इदमप्यद्भुतं शृणुतेत्याहुः—कृष्णमिति। वनितानामुत्सवो यस्मात्तच्चारु शीलं यस्य तं कृष्णं निरीक्ष्य तेन वादितस्य वेणोरसङ्कीर्णं गीतं च श्रुत्वा विमानैर्गच्छन्त्यो देवानामङ्केषु स्थिता· स्मरापहृतधैर्या मुमुहुः मोहे लिङ्गमाहुः भ्रश्यत्प्रसूनाः कवराश्चूडाः यासां ताः विगता नीव्यो यासां ताः शिथिलनीवीबन्धनाः॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सुष्ठु मूढा विवेकरहिता मतिर्यासां तास्तथा कृष्णसारानुसारेण पुम्मृगेण कान्तमृगेण वा सहिताः नन्दस्य नन्दनं वेणोरचितं निःसृतं स्वरं चापीयास्वाद्यप्रणयेन सहितैः अवलोकनैः दर्शनैः उन्नतमस्तकत्वाद्द्धुरिति॥ ११॥ वनितानामुत्सवभूतं रूपसारं स्थिरसौन्दर्यं यस्य स तथा तं तत्सौन्दर्ये च स्वभावे चेति "सारो बले स्थिरांशे च" इति यादवः तेन क्वणितात् वा तेन शब्दितादवेणोर्वितं निर्गतं चित्रं सप्तस्वरमिश्रगीतं "वीगतौ" इति धातुः "चित्रमाश्चर्यलेख्ययोः" इति यादवः देव्यो देवस्त्रियः स्मरणे नुन्नं नष्टं सारो धैर्यं यासां तास्तथा भ्रश्यत्प्रसूनकवराः विगलितपुष्पकेशभराः विगताः स्रस्ताः नीव्यः वस्त्राणि वस्त्रग्रन्थयो वा यासां तास्तथा "नीवो वस्त्रांशुकग्रन्थ्योः" इति च॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

उत्तरत्र श्रीनन्दनन्दनमिति तु गोपनाशक्तेः वेणारणितं यत्र तथाभूतम् आकर्ण्य श्रोत्रविषयीकृत्य विचित्रवेषं सन्तं प्रणयावलोकैर्द्धुर्वशीकृतवत्यः तैरेव पूजाञ्च दधुः कृतवत्यः॥ ११-१२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

प्रौढ़ा ऊचुः—धन्या इत्यादिद्वाभ्याम्॥ ११॥ स्मेति विस्मये। हरिण्योऽपि मूढ़गतयः सत्यः प्रणयावलोकैर्या नन्दनन्दनमेताः प्राप्ताः सत्यः पूजाः दधुः। कीदृशीम्? विरचितां विशेषेण रचिताम् प्रणयावलोकैर्विरचितां वा। किं कृत्वा? वेणुरणितमाकर्ण्य, तत्रापि पतिसहिता इत्याहुः—सहकृष्णसाराः, अतो धन्याः, वयन्तु वेणुरणितमाकर्ण्यापि प्रणयावलोकैः पूजयितुं न शक्नुमः। अस्माकं पतयो यतोऽस्य नाम्नापि कुप्यन्तीति तद्वयमधन्या एवेति ऊढ़ानामिदं दैन्यमिति मन्तव्यम्॥ तथैव ऊढ़प्रौढा ऊचुः—कृष्णं निरीक्ष्येत्यादि। हे सख्य इति बोद्धव्यम्। सन्तु हरिण्यः देवीनामपि वैवश्यं पश्यतेत्याशयः। विमानगतय इत्यनेन भर्तृसंहितत्वं द्योत्यते, स्त्रीणां स्वातन्त्र्येणापि विमानकरणकागमनासम्भवात्। तेन देवोऽपि प्रकृष्टज्ञानादिमत्योऽपि कृष्णं निरीक्ष्य मुमुहुः। मोहे लिङ्गमाह—विनीव्यो भ्रश्यत् प्रसूनाः कवराद्यासाम्। दूरस्थानां तासां वनस्थत्वेनास्य कदाचित् कासाञ्चन दर्शनं न सङ्गच्छते, तदाशङ्क्याहुः—श्रुत्वा चेति। या न पश्यन्ति, ता वेणुरवं श्रुत्वैव मुह्यन्तीत्यर्थः। स्वरूपमाह—स्मरनुन्नसाराः, स्मरेण नुन्नः क्षिप्तः सारो धैर्यं यासाम्। कृष्णं कीदृशम्? वनितोत्सवरूप-शीलम् 'वनिता जनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति' तासामुत्सववत् रूपञ्च शीलञ्च यस्य विविक्तगीतमिति विविक्तं रागान्तरेणामिश्रितं विरलं वा, स्वकल्पितत्वात् सङ्केतवहुलं वा, यत् सर्वैर्नावगम्यते, अस्माभिरेव ज्ञायत इति भावः। एवम्बिध-वैवश्येऽप्यासां पतयो नाभ्यसूयन्ति। अस्माकं निश्वसितेऽप्यसूयन्ति पतयः। अतो वेणुविविक्तगीतं श्रुत्वापि न शृणुम इत्यहो नः काठिन्यं पामरता चेति पूर्ववद्दैन्यम्॥ १२॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

पुनश्चोढ़ा ऊचुः धन्या इति द्वाभ्याम् । मूढ़गतयोऽपि हरिण्योऽपि मूढ़गतयो मन्दगतयः सत्यः प्रणयावलोकैः पूजां दधुः स्वच्छन्दमीक्षन्ते स्म, तथा न वयमित्यहो धिगस्मान् । अस्माभिराकर्ण्यत एव वेणुरणितम्, न त्वाकर्णनानन्तरं हरिण्य इव प्रणयावलोकैः पूजां कर्तुं शक्यते, तत्रापि ताः सहकृष्णसाराः पति-सहिताः एवमस्माकन्तु पतयोऽस्य गन्धमात्रेणापि कुप्यन्तीति दैन्यम् ॥ ११ ॥ हे सखि ! सन्तु हरिण्यः उपरि देव्योऽपि धन्याः न पुनर्वयमित्याहुः—कृष्णमित्यादि । 'वनिताजनितात्यर्थानुरागायाञ्च योषिति" इत्यमरः । तासामुत्सववत् रूपं शीलञ्च यस्य, तं निरीक्ष्य तत्क्वणित-वेणुविविक्तगीतञ्च श्रुत्वा विविक्तं रागान्तरेणामिश्रितं विरलं वा विविक्तं सङ्केतबहुलं तदस्माभिरेव बुध्यते, नान्यैरिति वा । विमानगतय इति सभर्तृकत्वं व्यज्यते, भर्तुः समीपेऽपि स्मरनुन्नसाराः, तल्लिङ्गमाह—भ्रश्यन्ति प्रसूनानि येभ्यस्तथाविधाः कवरा यासां विनीव्यश्च मुमुहुः, तथापि तत्तद्भर्तारो नाभ्यसूयन्ति, वयन्तु स्वनिमित्तकविविक्तवेणुगीतं श्रुत्वापि पतिभिया न शृणुम इत्यहो नः पतिवत्त्वमिति दैन्यग्लानी ॥१२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अहो स्वरमणं तमनभिसृत्य वयं बुद्धिमत्योऽपि स्वजन्म विफली कुर्महे यतो मूढा अपि सफलीभवन्तीति दर्शयन्त्य आहुः धन्या इति । स्मेति विस्मये खेदे वा एतादृशं भाग्यम् अस्माकं नाभूदिति भावः या वेणुरणितं वेणुरिफितमिति पाठद्वयं तुल्यार्थं वेणुनादम् आकर्ण्य नन्दनन्दनं प्रति प्रणयपूर्वकावलोकैरेव पूजां दधुः पुपुषुः तासां तैरपि यः आत्मनः पूजां पुष्टां मन्यते स नन्दनन्दनोऽस्माकं तैः पुनः किमुतेति भावः । किञ्च, ताः सह कृष्णसाराः पतिभिः सहिता एव । अयमर्थः कृष्ण एव प्रीतिविषयत्वेन सारो येषां ते यथार्थनामानः तासां पतयः स्वपत्नीः कृष्णानुरागिणीरालक्ष्य स्वगार्हस्थ्यमेव धन्यं मानयन्तोऽतिहृष्यन्तो अन्वनुगच्छन्तस्ताः कृष्णमसारयन्ति अस्मत्पतयस्तु कृष्णगन्धायापि द्रुह्यन्ति धिगस्मज्जीवितमिति ॥ ११ ॥ किञ्चास्माकं गोपीनां गापे कृष्णे रतिर्नातीवानुचिता यतो देव्योऽपि मानुषे तत्रापि गोपे कृष्णे रतिमत्यः सत्य एव स्वदेवत्वमपि सफलयन्तीत्याश्चर्य्यमित्याहुः कृष्णमिति वनितानां स्त्रीमात्राणामेवानुरागिणीनामुत्सवो यस्मात्तथाभूतं रूपं शीलं च यस्य तं देव्यो देवानामङ्के स्थिता अपि विमानगतयः विमानचारिण्यः स्मरेणनुन्नश्चालितः सारो धैर्य्यं यासां ताः मुमुहुः मोहे लिङ्गमाहुर्भ्रश्यत्प्रसूनाः कबरा यासां विगता नीव्यो यासां ताः मोट्टायितमिदं यदुक्तं "कान्तस्मरणवार्तादौ हृदि तद्भावभावतः । प्राकटचमभिलाषस्य मोट्टायितमितोर्य्यते" इति परमविदग्धाः सूक्ष्मधियो देवास्तज्ज्ञात्वापि स्त्रीभ्यो न द्रुह्यन्ति प्रत्युत स्वीयं भाग्यं मानयन्तो नित्यमेव ताः कृष्णं दर्शयितुं विमानमारोह्य आनयन्ति अस्मत्पतयस्तु द्रुह्यन्त्येवेत्यतो निकृष्टामृग्य उत्कृष्टा देव्योऽपि धन्या मध्यस्था मानुष्य एव वयमधन्या इति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—ते सखि ! याः कृष्णसारैः स्वस्वपतिभिः सहिताः वेणोः रणितं निनादम् आकर्ण्य उपात्तविचित्रवेषं नन्दनन्दनम् प्रति प्रणयसहितैरलोकैर्विरचितां पूजां दधुः कृतवत्यः अत एता मूढमतयोऽपि हरिण्यः धन्याः कृतार्थाः कृष्णविमुखा सुमतयोऽपि अधन्या इति भावः । तथाऽऽहुः प्राप्य जन्म यदि मानुषं नरः सेवते न तव पादपङ्कजम् । धिक् च जन्म कुलमादिदेव ! तद्यौवनादिसकलन्न शोभते इति ॥ ११ ॥ अन्या आहुः । हे सखि ! वनितोत्सवं रूपं शीलं च यस्य तं कृष्णं निरीक्ष्य तेन कृष्णेन क्वणितस्य वादितस्य वेणोर्विविक्तमसङ्कीर्णं गीतं च श्रुत्वा विमानगतयः विमानैर्गतिर्यासां ताः देव्यः देवाङ्गनाः स्मरेण उक्तप्रकाराभ्यां दर्शनश्रवणाभ्यामुत्पन्नेन कामेन नुन्नः परिक्षिप्तः सारः धैर्य्यं यासां ताः मुमुहुः तत्र चिह्नमाहुः भ्रश्यत्प्रसूनाः कामाग्निना विभ्रष्टपुष्पाः कवराः चूडाश्च यासां ताः श्रीकृष्णसंयोगदौर्लभ्यात्सद्यः कार्श्यभावेन शिथिलनीव्यः इति ॥ १२ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

धन्या इति एता हिरण्यः जात्यैव हरिसम्बन्धिन्यः वयं तु गोप्यः गोपसामान्यस्त्रिय इति ततोऽपि निकृष्टा इति भावः मूढमतयोऽपीति ततोपहत्यै इति तत्प्रतीत्यभिप्रायेण धन्याः श्लोघनीयाः स्मेति विस्मये एता इति मानससाक्षात्कारेण अहोभाग्यमेतासाम् एता हरिण्यो यदि वयं स्म तर्हि धन्या एताः काः ? या नन्दनन्दनं नन्दमानन्दं नन्दयत्यानन्दयन्तीति आनन्दस्याप्यानन्दमिति साक्षान्मन्मथमन्मथ इति तं पश्यतीति गुरोरपि नामग्रहणं भाववैवश्याद्वा नास्माकं कश्चित्सम्बन्धेति सूचनयेतीर्ष्ययाऽऽकारगुप्त्यैवाहरिणी यूयं दृष्ट्वा तल्लोचनादिसाम्यस्फूर्त्या तस्यापि भावोदयेन स्वभावविनिमयो जातस्तेन वेषपरिवर्त्तनं कृतमिति गृहस्थिताभिरेवैताभिर्भावनाप्रभावादनुभूतम् ननु, हरिण्यो जातिभीरवः कथं तत्र विश्वस्ता इति तत्राहुः-वेणुरणितमाकर्ण्येति । रणितमनुकरणशब्दः स च नूपुरशिञ्जितभावनयेति ध्वनितं तत्रागताः सत्यः कृष्णसारैः सह वर्त्तमाना इति तेषामप्राधान्यं तासां ध्वनिमात्रमोहितानां तादृशमवलोकनमपि प्रणयावलोकनत्वेन पूजा सम्भाविता निजभावसाजात्यात् यतः भावमात्रग्राहिण्यः "जगद्धनमयंलुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्" इति न्यायादिति ॥ ११ ॥ आस्तां वृन्दावनवर्त्तिनीनां कृष्णमनोहारिणीनां वार्त्ता

खेचरीणामपि देवसहचरीणां वृत्तान्तः श्रूयतामित्याहुः—कृष्णमिति। अविशेषेण सर्वचित्ताकर्षकं निरीक्ष्य वनितानां जनितात्यर्थानुरागानामुत्सवश्चित्तसमुल्लासो यस्मात्तादृशं रूपं शीलं च यस्य तं स च स्वभावो रागिजनानुवर्त्तित्वादिः तेन श्रीकृष्णेनैव क्वणितो वीणावादनभङ्ग्या वादितो यो वेणुस्तस्मिन्नक्षरावलीप्रकाशनवैचित्र्येण नानास्वरजात्यादिप्रस्तारविचित्रं गीतं श्रुत्वा च देवाङ्गना विमानगतयः विमानयानाः अकस्मादागताः श्लेषेण विगतमानगतय इति तत्पूर्वं मानत्रय आसन्निति सूचितम् अत्र हेतुः—स्मरेण मुन्नः सारो धैर्येण मानस्थितिर्यासां ताः मुमुहुर्मोहेनैव कृष्णान्तिकमागन्तुं न शक्ताः अहो वेणुगीतस्याचिन्त्यः प्रभावः यतो देवानां सविधे वर्त्तमाना अपि स्मरेण मूर्च्छिता अपि प्रत्युत मानापगमात्प्रीत्या समालिङ्गिता इति मोहे लिङ्गं भ्रंशादिति एवं श्लोकद्वये-नातिमूढानां हरिणरमणीनाम् अतिविदग्धानां देवीनां मोहं सम्भाव्यात्मनि तदभावमालक्ष्य दैन्यं सूचितं सञ्चार्यमोट्टायिताख्योऽनुभावः तदुक्तम्—

"कान्तस्मरणवार्त्तादौ हृदि तद्भावभावतः। प्राकट्यमभिलाषस्य मोट्टायितमितीर्य्यते"॥

भावस्य सजातीयतया वाक्यार्थसङ्गतिः सा चयं प्रेमप्रत्यासक्तिर्योगजप्रत्यासक्तिरिव सर्वविलक्षणेति॥ १२॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

सौदामिनी सखी खण्डितां प्रत्याह—धन्या इति। हे सखीति योज्यं "स्वसखिभ्योऽन्ववर्णयन्" इत्युक्तेः, एता हरिण्यो जात्यैव (धन्या) हरिसम्बन्धिन्यो वयं तु गोप्य इति ततोऽतिनिकृष्टाः गोपसामान्यस्त्रीत्वविशिष्टा इति भावः। मूढमतयोऽपीति तमोहत्यै इति वत् प्रतीत्यभिप्रायेण सुराङ्गनानामिव वर्गगतत्वेन सर्वज्ञत्वात् धन्याः श्लाघनीयाः स्मेति विस्मये आश्चर्य्यमिदं वेणुगीतमिति भावः। खेदेवाऽहो भाग्यमेतासामिति। यद्वा, यतो हरिण्यो यदि वयं स्म तर्हि धन्या इति। एताः का? तत्राहुः—या इति। एता इति मानससाक्षात्कारेण यद्वा, एताः काः? या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषमित्यावेशाद् गृहातप्रियतमावेषमित्यर्थः। पश्यन्तीति दधुरिति भावमात्रग्राहस्तस्य तैरेव पूजा मुख्येति अत एव दधुः पुपुपुरित्यर्थः। इत्युक्तं न तु चक्रुरिति तासां ध्वनिमात्र-मोहितानां स्वाभाविकावलोकनमपि प्रणयावलोकत्वेन सम्भावितं निजभावसायुज्यात् "जगद्धनमयं लुब्धाः कामुकाः कामिनीमयम्" इति न्यायात् सङ्क्षेपः। भाववैवश्येनोक्तं गुरोरपि नाम ग्रहणं तत एव किं वा प्रियतमाकारगुप्तेन स्म किं कश्चित्सम्बन्ध इति सूचनाय प्रियावेषानुकरणमिति "मुहुरवलोकितमण्डनलीला मधुरिपुरहमिति भावनशीला" इति वज्ज्ञेयम्॥ ११॥ आस्तां वृन्दावनवर्त्तिनीनां अस्मन्मनोहारिणीनां वार्ता खेचरीणामपि देवसहचरीणां वृत्तान्तः श्रूयतामिति वल्लवीसखी मधुमती प्रत्याह—कृष्णमिति॥ १२-१३॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सुमतयोऽपि वयं त्रपाधर्मभयात् कान्तमनभिसरन्त्यः स्वजन्म विफलयामस्त्वपादिहीनास्तु मूढमतयोऽपि जन्म सफलयन्तीत्यस्याः प्राहुः—धन्या इति। स्मेति विस्मये खेदे च एता हरिण्यो मूढमतयोऽपि धन्या भवन्ति या वेणुरणितमाकर्ण्य नन्दनन्दनं प्रति प्रणयपूर्वकैरवलोकनैर्विरचितां पूजा मधुः पुपुपुः तासामवलोकैरेवं स स्वपूजां पुष्टां मन्यते किम्पुनरस्माकं तैरिति भावः किञ्च ताः कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहिताः पूजांमधुरिति तासां धन्यत्वं अस्माकन्तु एवम्भावाभावाद् वयमधन्या इति भावः॥ ११॥ पराः काश्चिदाहुः कृष्णमिति। विमानगतयो देवयानैर्नभसि चरन्त्यो देवानामङ्केषु स्थिता इत्यर्थः। देव्यः कृष्णं निरीक्ष्य तेन क्वणितस्य वादितस्य वेणोर्विविक्तममिश्रं गीतञ्च श्रुत्वा स्मरेण नुन्नश्चालितः सारो धैर्यं यासां तादृश्यः सत्यो मुमुहुः कीदृशं कृष्णं वनितानां जात्यनुरागाणां योषितामुत्सवो यस्मात् तादृशं रूपं शीलञ्च यस्य तं मोहे लिङ्गमाहुः भ्रश्यत् प्रसूनाः कवराः केशवेशाः यासां विगता नीव्योऽपि यासां ता इति विजातीया देव्योऽपि चेत् तत्पतिभिरनिवार्यमाणाः कृष्णे अनुरज्यस्ति तर्हि तत्सजातीया वयं कुतो नानुरज्याम इत्युत्साहोव्यज्यते॥ १२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

काश्चित्काश्चित्प्रति कथयन्ति। अथ का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्येतिवदनङ्गबाधयाऽनङ्गस्मरणेन बह्वः प्रत्यप्येका प्राहैवमित्याह॥ सखीति। हे सखि वृन्दावनं यद्यतो देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि देवकीसुतस्य पदाम्बुजे ताभ्यां लब्धा लक्ष्मीर्येन तत्। लक्ष्मेत्यपि लक्षणं लब्धसम्पल्लब्धचिह्नमित्युभयत्रार्थः। गोविन्दवेणुं तत्स्वरमन्वनुसारेण मत्ताः। अनेन गोविन्दस्य मेघसमतासमता तत्स्वरेणैतत्स्वरस्य सूच्यते। ते च ते मयूरास्तेषां नृत्यं च प्रेक्ष्याद्दृतान्यनुचरितमेतदनुसारीणि चरितानि येषां तान्यन्यानि सत्त्वानि प्राणिनो यस्मिंस्तत्। सत्त्वं प्राणिष्विति विश्वः। आदृतो सादरार्चिताविल्यमरः। अतो भुवः कीर्तिं वितनोति विस्तारयति। क्व च गायमानाविति पर्यन्तं किञ्चिन्मर्यादयोक्तवत्योऽस्त उत्तरं निर्लज्जा जनाः किंवा वदन्तु न इत्येकं प्रकृत्य स्तुवन्तीति तात्पर्यमवधेयम्। वनत्वेन पदाम्बुजलब्धसम्पत्कत्वं युक्तं गोविन्देति वदत्सुदतीनां किञ्चिदेप्यज्ञत्वं च सूचितमिति ज्ञेयम्। तत्राम्न उत्तरत्र शचीशवितार्यत्वाल्लोकदृष्टचेति॥ ११॥ एताः हरिण्यः कुरङ्ग्यः सुमूढमतयः पशुत्वात्सुमूढा कार्याकार्यविचारातिमन्दा मतिर्यासां

ताः सत्योऽपि यद्यत उपात्तविचित्रवेषं नन्दनन्दनं वेणुरणितं रणितं रसितमिति समार्थाः पाठाः स्वरसाः । आपीय कर्णपुटैरास्वाद्य सकृष्णसाराः सस्वपतयः । अनेन स्वपतीननागतानागतांश्चेदपि तद्रसहेयुरिति च कटाक्षयन्ति ता इति ध्वनयति । प्रणयावलोकैः सस्नेहनिरीक्षणैर्विरचितां निर्मितां पूजां सपर्यामिदं पर्यायतो दधुः । उद्धृतोत्तमाङ्गतया दधुरित्युक्तिः । अतो धन्याः । धन्या इत्यनेन कृष्णमतित्वेऽपि किन्न हरिमतयस्ता इति शङ्का आतङ्कः । धन्यो हरिर्यासामस्तीत्यर्थं आद्याच कृष्णस्य हर्यात्मकत्वात्तन्मतिमत्त्वे तन्मतिमत्त्वमिति सूच्यते । अनपेक्षो गुणैः पूर्णो धन्य इत्युच्यते बुधैरिति शब्दनिर्णय इति चतुर्थतात्पर्योक्तिः । त्व धन्यस्त्वमाश्चर्यं इत्यादेः । ये नैवमस्मन्नायकादयो धन्या इति परिदृश्यमानाः सुमूढमतय इत्यप्यान्तरङ्गिको भावो भामिनीनां बोध्यः ॥ १२॥

श्रीसुबोधिनी

एवं रूपवर्णनामुक्त्वा षोढा वेणुं वर्णयन्ति धन्यास्त्विवतिषड्भिः ।
हरिण्योप्सरसो गावः पक्षिणो नद्य एव च । मेघाश्चेतिक्रमेणैव कृष्णैश्वर्यादिबोधकाः ॥ १ ॥
ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा । निरूपाधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥
वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः । सान्निध्ये पुरुषाणां च मूर्च्छा तेन ततो महत् ॥ ३ ॥
यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् । स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथा ॥ ४ ॥
तामसा राजसाश्चान्ये गुणातीताश्च रूप्यते । वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः ॥ ५ ॥
गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम् । तद्रताश्चापि लोकेस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि ॥ ६ ॥

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इति श्रुतिन्यायेन सर्व एव विहगा भगवदिया अपि परमां श्रियं प्राप्नुवन्ति,

श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि । ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि ॥ ७ ॥
हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् । उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदा ॥ ८ ॥
भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता ॥ ८½ ॥

तत्र प्रथमं हरिणीनां भाग्यमभिनन्दन्ति धन्या इति, ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतं क्रियोत्कर्षः पूजायां सापि चेज् ज्ञानमयैर्द्रव्यैर्भगवद्विषयिणी भवति, भगवज्ज्ञानं स्वज्ञानं च तस्या अप्यङ्गं तदभावे सर्वं व्यर्थं यद्यन्यत्रापि तद् भवेत् तदा तदेवोत्तममितिपक्षमाश्रित्य पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति धन्यास्त्विवति, तुशब्देन स दोषो न ज्ञायत इत्याशङ्कां परिहरन्त्य आहुर्मूढमतयोपीति, स्त्रीणामेवाभिनन्दनं प्रकरणाद्धरिणानां स्त्रियोत्र विवक्षिता हरिण्यः, सर्वत्रान्या एव वर्णयन्तीति ज्ञातव्यं, स्वस्याकृतार्थताभावनया दैन्याविर्भावे भगवान् कृपया वर्ण्यमानसर्वसामग्रीसहितः प्रकटीभूत इति ज्ञापयितुमेता इत्युक्तं, तासां भाग्ये हेतुमाहुर्या नन्दनन्दनं निरीक्ष्य वेणुरणितमाकर्ण्य भगवत्कृतैः प्रणयावलोकैर्विरचितां पूजां स्वस्मिन् दधुरिति, या इति, पूर्वं भगवदुक्ताः प्रसिद्धाः, नन्दमप्यानन्दयतीति नन्दनन्दनः, भक्तोद्धारार्थमेव ब्रह्मवाक्यात् प्रवृत्त उद्धारप्रकरणात् ता अप्युद्धरिष्यतीत्युपात्तः स्वीकृतो विचित्रो वेषो येन, अनेन रसाभिनयार्थं प्रवृत्तो भगवानुक्तः, एवं स्वरूपतस्तत्कार्यकर्तृत्वं साधनतश्च फलमुक्तं कर्तृत्वमुक्तं, विचित्रपदेन सर्वं एव रसाः परिगृहीताः, समीपे स्वीकारो ब्रह्मानन्दस्य तत्र प्रवेशनार्थः, आकर्ण्येत्येव क्रिया वेणुरणिते भगवति चार्थतः शब्दतश्च, पशुदृष्टिर्विशेषं न गृह्णातीति शास्त्रदृष्टिरुक्ता, पश्चाज् जायमानापि प्रत्यक्षदृष्टिरन्यानुरोधिनीति विद्यमानापि सा न गणिता, तदहाकर्ण्येति, वेणो रणितं सर्वरससाधारणं, यथा रसो बाह्यतो न गच्छति तथा शब्दविशेषो रणितं, तादृशमपि निकटे गत्वा श्रुतवत्यः, अनेन दैहिका धर्मा निवर्तिताः, सहकृष्णसाराः स्वभर्तृसहिताः, अनेन भर्तृनिरोधोपि परिहृतः, सापत्न्याभावश्च कृष्णसारा इत्यनेन, कृष्ण एव सारो येषामिति कृष्णसाराः, अनेन गोपास्तथा न भवन्तीति स्वस्यातथात्वं सूचितमन्यथास्माभिरपि सह गोचारणं कुर्युः, अत एतेभिमानसारा एव धन्यास्ते कृष्णसाराः, स्नेहपूर्वकावलोकनैर्विरचितां भगवति पूजां धारयामासुः, नेत्राण्येव कमलानि ज्ञानवासितानि ज्ञानोद्भवस्थानानि तैः पूजा सर्वोत्तमा तस्याश्च धारणं ततोपि, कृतिरर्थादेवोक्ता, भगवता च प्रतिपूजितमात्मनि वा दधुः, सदयावलोकैरिति वा पाठः, एतावदेव कर्तव्यं प्राणिनां भगवतश्च ॥ ११ ॥ अप्सरसामवस्थामाह कृष्णं निरीक्ष्येति, कृष्णपदार्थात् स्त्रीणां निरोधः सूचितः, आनन्दे दृष्ट आनन्दसाधन आसक्त्यभावो युक्त एव, तत्रापि सदानन्दे, नितरामीक्षणं दिव्यदृष्ट्या, स्वजातीयोद्धारार्थमागत इतिविशेषः, तदाहुर्वनितोत्सवचारुवेषमिति, वनितानामेवोत्सवार्थं चारुर्वेषो यस्य, स उत्सवो ह्यनेकविधस्तत्तदुत्सवे ते ते भूषिता भवन्त्युत्सवरसानुभवार्थं केवलं वनितानामेवोत्सवो यत्र, वनं यौवनमिताः प्राप्ताः प्राप्तवत्यः, वनं सञ्जातमिति वा इतच्प्रत्ययः, न हि तत्र प्रविष्टः पुनरावर्तते, यौवनमित्यत्रापि 'यु' मिश्रणार्थे 'वन'मिति तासामेवोत्सवो भवत्विति भगवता वेषः कृतः, सर्वाभरणभूषिताः सर्वा एव वनिता यथावेषरसं पुरुषार्थमनुभवन्ति, अनेनास्मिन्नुत्सवे यासामलङ्कारादिनोत्सवो न जातस्तासां वनितात्वं व्यर्थमेव यथा रण्डानां तत्रापि चारु मनोहरमन्तरप्यलङ्कारहेतुस्तत्र प्रेमज्ञानादिकमलङ्कारा बहिरिवान्तरपि रसानुभवश्च, अनेनाप्सरसां

भगवदर्थागमने सर्वोप्युपाय उक्तोनुभावकं ततो विलम्बेन प्रस्थापकमाह श्रुत्वा चेति, निकटे समागत्य पूर्ववदेव क्वणितस्य श्रवणं, अत्र वेण्वतिरिक्तकूजितादिक्वणितानां सङ्ग्रहार्थं तस्य भगवतः क्वणितमित्युक्तं, क्वणितश्चवेणुः तादृशवेणावाविर्भावं प्राप्तानि विचित्राणि गीतान्याकर्ण्येतिसम्बन्धः, एकेनैव गीतेन मूर्च्छिता जाता इत्येकवचनं, विचित्राणि सर्वरसार्थानि, शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तः, अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि च कुर्वन्ति तथा शृङ्गार एव सर्वरसा अन्यथा रसिकानां रुचिर्नोत्पद्येत, अत एव विचित्रं गीतं, यद्यपि ता देव्यो देवतारूपा पूज्या एव तत्रापि विमानेनैव गतिर्यासां नापि भोग्या नापि दुःखसहनशीलास्तथापि स्मरेणैव नुन्नः सारो यासां, शरीरेन्द्रियापेक्षया मनो बलिष्ठमिति स्मरेण सारो विवेकः सर्वोप्यपहृतः, भूमावनागमने पद्भ्यामनागमने स्वतोप्यनागमने हेतव उक्ताः, ततो यज् जातं तदाहुर्मुहुरिति, न केवलमन्तरेव हृदयप्रदेशे मोहः किन्तूपर्यधश्चेति, भ्रश्यत्प्रसूनानि कवरे यासां विगता नीवी च यासामिति केशनीवीबन्धयोर्वि श्लेष आमुष्मिकैहिकफलपरित्यागज्ञापकः, देवतात्वान्न मरणं विमानगतित्वान्नाधःपतनं विवेकाभावान्नोपायेनागमनं, भगवदनुपयोगे-न्यस्यापि रसो नोत्पद्यतामिति रसाभासो वर्णितः, देवसहितानामपि प्रायेणात्रावतीर्णानां केवलानां स्त्रियस्ताः स्वपत्यन्वेषणार्थ-मागता भगवन्तं दृष्ट्वा पूर्वावस्थां सर्वामेव विस्मृतवत्यो भगवानेव पतिर्भवत्विति, तदास्माकं तथात्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

धन्यास्त्वित्यत्र, स दोषो न ज्ञायत इति । दोषस्वरूपमाहुः न ज्ञायत इति । मृगीभिर्भगवत्स्वरूपं श्रुत्यादिप्रतिपाद्यत्वेन न ज्ञायत इतिलक्षणो दोष इत्यर्थः । पूजां दधुरित्यत्र, तस्याश्च धारणं ततोपोति । सर्वोत्तममिति शेषः ॥ ११ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

रूपवर्णनमिति वेणोरिति शेषः, वेणुं स्वरूपतो वर्णयित्वा धर्मतो वर्णयन्तीत्यर्थः, वपुर्युक्तत्वं वेणोः स्वरूपमिति "बर्हापीडे"ति श्लोके 'नादेनुभूयमान एवानुभूतं भवति न तु पृथगि'त्यादिना निरूपितमेव, तथा च रसद्वयनिरूपणं चरणनिरूपणमपि वेणुस्वरूपवर्णनमेवेति भावः, षोढेति ऐश्वर्यादिबोधनहेतुत्वप्रकारेणेत्यर्थः, धन्यास्त्वित्यत्र वीर्यमिति 'देवेष्वि'त्यारभ्यैवं मूर्छा जाता तेन कारणेन ततो देवस्त्रीभ्यो हेतुभ्यो महद् वीर्यं बोधितं जातमिति शेषः, वारणादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी, प्रत्यक्षे तृणादौ या आसक्तिस्ततो वारणं सम्पाद्येत्यर्थः, योजयेदिति पीयूषरूपं स्वधर्मं योजयेद् भगवानिति शेषः, नान्यथेति मर्यादामार्गीयमत्रोप-युक्तं न भवतीत्यर्थः, पीयूषयोजनं गोष्वेव न तु शावेष्विति, यशोबोधकत्वकथनेत्र गाव एवोक्ताः, अन्य इति सात्त्विका इत्यर्थः, इह स्थितमिति निरूप्येष्वित्यर्थः, निरूपकाणां स्वरूपमाहुस्तद्व्रताश्चेति उपलक्षणेन तत्तन्निरूपकास्तथा तथेति भावः, तामसराजस-सात्त्विकनिर्गुणाः प्रथमपर्याये, राजससात्त्विकतामसनिर्गुणाः द्वितीये, एवमेव तृतीयेपि क्रमः, लोकेस्मिन्निति भक्तलक्षणे इत्यर्थः, 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति वाक्यसम्मत्या हि शब्दः, भगववीया अपोति धर्मिसम्बन्धात् सामान्यतः श्रीप्राप्तावपि पूर्वोक्तन्यायेन परमां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः, नन्वेवं पक्षिणां श्रीप्राप्त्या भगवद्गुणबोधनं कथं सम्पन्नमित्यत आहुः श्रियो हीति, सेवके तत्सिद्धया स्वामिनि कैमुत्येनैव सिद्धेति भावः, अयं न्यायस्त्रिष्वपि ज्ञेयः हरेश्चरणयोरिति अत्रैवं विभागः, सर्वत्रानासक्तिः सामान्यवैराग्यम्, सैव त्यागविशिष्टा वैराग्ये उत्कर्षः, तत्रापि हरिचरणरतिर्भक्तिमार्गीयं वैराग्यम्, सैव सर्वस्वनिवेदनविशिष्टा तद्वैराग्ये उत्कर्षः, यत्रापि हरेः शीतादिनिवारणरूपा सेवा पुष्टिमार्गीयं वैराग्यम्, सैव भक्तिविशिष्टा तद्वैराग्ये उत्कर्ष इति, तथा चैवमन्वयः, हरेश्चरणयोः प्रीति स्वसर्वस्वनिवेदनविशिष्टा सती वैराग्ये भक्तिमार्गीये उत्कर्षः, पूर्वोक्तसामान्यवैराग्यतदुत्कर्षावप्यत्र सम्पन्ना-वित्यपिशब्दचकारौ, पुष्टिमार्गीयमाहुर्यदि हरेरपि हरिर्भवेत् तादृशत्वं च भक्त्या भवेत् सा सेवकोचिता सेवा पुष्टिमार्गीय-मुत्कृष्टं वैराग्यमित्यर्थः, अत्रापि पूर्वोक्तवैराग्यतदुत्कर्षसमुच्चयार्थं चकारद्वयम्, एवं षण्णां तात्पर्यार्था उक्ताः, आभासेषु तु वाच्यार्था वक्ष्यन्त इति विभागः, तत्रेति हरिण्यदिष्वित्यर्थः, तु शब्देन स्वव्यावर्तनं हेतुमाहुर्ज्ञानं हीति, जानातीच्छतियतते इति क्रमादेवं युक्तमिति हि शब्दः, आकर्ण्येतिल्यपा आकर्णनरूपज्ञानस्य पूजाविषयविषयकस्य गौणत्वमुक्तम्, पूजापदेनोत्कृष्टा क्रियोक्ता, प्रणावलोकैरित्यनेन ज्ञानमयद्रव्याण्युक्तानि, व्यापारेण व्यापारवानाक्षिप्तः, अवलोकनस्य व्यापारत्वात्, करणत्वं तु नेत्राणामेवेति विभागः, स्वावलोकनरचितत्वपक्षे स्वस्य भगवज्ज्ञानमुक्तम्, भगवता प्रतिपूजितमात्मनि दधुरिति भगवदवलोकनरचितत्वपक्षे भगवतो हरिणीज्ञानमुक्तम्, एतेन व्यापारोपि ज्ञानरूप एवोक्तः, एवमस्मासूनास्त्थत स्वव्यावृत्तिः (स्वासामेवोत्तमत्वमिति-पक्षाव्यावृत्तिः), तदेवोत्तममिति तदुत्तममेवेत्यर्थः, पूर्वपक्षमिति सुधाभागित्वाद् गोपिकानामेवोत्तमत्वमितिपक्षमित्यर्थः, हरिणा-नामिति कृष्णसारसाहित्योक्तेरत्र पुंयोगे ङीष् न तु जातिलक्षमिति भावः, सर्वत्रेति गोनिरूपणान्तं केवलाभ्योन्या अन्यपूर्वा वर्णयन्ति, अतस्तासामेव प्रकरणात् सहकृष्णसारा इत्यनेन हरिणसहिताः स्त्रिय उक्ता न तु केवला इति भावः, निरीक्ष्येति अथंत माकर्णनमेवानेन विवृतं न तु पदान्तराध्याहारः, अग्रे निषेधात्, ब्रह्मवाक्यादिति "अस्त्वित्युक्त" इति श्लोकोक्तादित्यर्थः, उद्धार-प्रकरणादिति "प्रकरणं देशकाला"विति निबन्धे लक्षणमुक्तम्, तथा चोद्धारकालादित्यर्थः, अनेनेति वेशे वैचित्र्यकथनान्नृत्य-सामायिकत्वसूचनेनेत्यर्थः, एवमिति नन्दनन्दनपदेन स्वरूपतस्तदुक्तम्, वेशस्वीकारकथनेन साधनत उक्तम्, समीप इति उप समीप

आत्त इत्यनेन हरिणीनां समीपे वेशस्वोकारो हरिणीषु स्वरूपानन्दस्य प्रवेशनार्थः, वेशसमये निरावृतस्वरूपदर्शनेन तथा भवति, वेशानन्तरदर्शनेत्वाच्छादकादिविशिष्टत्वाद् धर्मसहितानन्दानुभवो भवेत्, अत एवात्यनुगृहीतस्यैव समक्षं भगवतः शृङ्गारादिकं कर्तव्यमितिमार्गमर्यादा, आकर्ण्येतिवन्निरीक्ष्येत्येव कुतो नोक्तम् ? तस्यापि द्विधा व्याख्यानसम्भवादित्यत आहुः पशुदृष्टिरिति, **सर्वरसेति** सर्वे रसा असाधारणा यत्र, **सर्वरससाधारणेति**पाठे सर्वे रसाः साधारणा यत्र न त्वेकः कश्चिन्मुख्य इत्यर्थः, अनेनेति भयस्वभावानामपि भगवन्निकटगमनेनेत्यर्थः, अर्थंत आकर्णनरूपस्य निरीक्षणस्य गमने एव सम्भवान्निकटे गत्वेत्युक्तम्, निरधोपीति "ज्ञानं ही"त्यादिना स्वव्यावर्तने हेतुः पूर्वमुक्तः अत्रापि हेतुरुच्यते इत्यपि शब्दः, बहुवचनेन सापत्न्याभाव उक्तः, भगवति पूजामिति स्वकृतावलोकैः प्रियासप्रणयावलोकस्मारणेन भगवतस्तोषणमत्र **पूजा**, ततः (तासु तथा भावजनकं) तादृग्भावेन भगवत्कृतमवलोकनं **प्रतिपूजनं** ज्ञेयं **कृतिरिति** अस्मिन् पक्षे प्रतिपूजितरूपा कृतिरर्थादुक्तेत्यर्थः, तोषणस्य धारणं स्थिरता, तथा सति प्रतिपूजितं भवत्येवेति भावः, तु शब्दकृतपूर्वपक्षव्यावर्तनमुपसंहारेपि बोधयन्त्येतावदेवेति, सुधाभोगादिकं त्वधिकम्, आवश्यकमेतावदेवेत्येवकारः, अत एतस्मिन् पक्षे एतासां धन्यत्वमिति भावः ॥ ११ ॥ **कृष्णमित्यत्र** आनन्दसाधनेः इति आमुष्मिकैहिकफले इत्यर्थः, **दिव्यदृष्ट्येति** मानुषभावराहित्येनेत्यर्थः, अन्यथा वक्ष्यमाणावस्था न स्यादिति भावः, **विशेष** इति उद्धारविषयसजातीयत्वं हरिणीभ्यो विशेषः, अप्सरःस्विति शेषः, तदाहुरिति **तत्** तस्मादेतासु तत्सजातीयत्वबोधनार्थं चारुवेशनिमित्तभूतोत्सववतीनां वनितात्वमाहुरित्यर्थः, तथा चायमवान्तरपदस्याभासोज्ञेयः, केवलमिति यत्र वेशे कृते सति केवलं वनितानामेवोत्सवो भवत्येतादृशो वेश इत्यर्थकथनं न तु विग्रहः, **वनितोत्सवाय** वनिताभूषणार्थं चारुर्वेशो यस्येतिविग्रहः, उत्सवस्य भूषणहेतुत्वादुत्सवपदेन भूषणमुक्तमिति भावः, **कृताभरणेति**, अत्र कृतपदं नूतनवाचकम्, भगवतो वेशान्तरस्वीकारे स्वयमपि नूतनाभरणानि परिहितानीत्यर्थः, **यथावेशेति**, भगवतः पीताम्बरपरिधाने स्वयं नीलाम्बरपरिधानमिति वेशानतिक्रमेण शृङ्गारादिषु मध्ये यं रसं भगवान् प्रकटयति तदनति क्रमेण चेत्यर्थः, **अस्मिन्नुत्सवे** इति अस्मिन् वेशे कृते सतीत्यर्थः, **सर्वोप्युपाय** इति दिव्यदृष्ट्या दर्शनं प्रेम ज्ञानादिरन्तर्भगवदनुभवश्चेति, **अनुभावकमिति** उद्दीपनेन रसानुभावकम्, क्वणितगीतयोः श्रवणमविलम्बेन शीघ्रमेव ततो विमानाद् भगवति प्रस्थापकमित्यर्थः, **क्वणित**पदस्यावृत्तिमभिप्रेत्य क्वणितश्चेति चकारः, तथा च तत् क्वणितं क्वणितवेणुविचित्रगीतञ्चेति समासः, गीतस्य शृङ्गारोद्बोधकत्वेपि सर्वरसार्थत्वमुपपादयन्ति शृङ्गार एवेति, **अन्यस्येति** शृङ्गाराङ्गत्वभावापन्नस्येत्यर्थः, यथेति उपकरणानि चकाराद् भूषणानि सुवर्णस्य आ समन्ताद् भरणं येषु तादृशानि न तु मध्यावकाशे लाक्षायुक्तानि कुर्वन्ति तथा सुवर्णमयोपकरणवच्छृङ्गाराङ्गभूता एव रसा इत्यर्थः, **नापीति** एतादृशेषु स्मस्तत्कृतविवेकापहारश्च न भवति तथापि प्रमेयबलात् तथा जातमित्यर्थः, तृतीयचरणीयविशेषणत्रयतात्पर्यमाहुर्**भूमाविति**, मृत्वा भूमाववतारे इत्यर्थः, देवीनां मरणासम्भवादिति भावः, पद्भ्यामिति, अन्यभयाद् विमानं त्यक्त्वा गुप्ततया पद्भ्यामित्यर्थः, विमानगतीनां भूस्पर्शासम्भवादिति भावः **स्वत** इति उपायचातुर्येण विमानमेव तत्र नीत्वेत्यर्थः, विवेकापहारादिति भावः, अग्रे विवरणादेवमर्थो ज्ञेयः, असावधानता **मोह**पदार्थो ज्ञेयाः देवसहिता अपीति 'देवानां मरणं नास्ती'ति प्रथमाध्याये 'गिरं समाधा'विति श्लोके 'अमरा' इति सम्बोधनेनोक्तमिति व्याख्यातम्, अत एकेन रूपेण योगिन इवात्राप्यवतीर्णाः, पूर्वं रूपं तु तत्र तिष्ठत्येवेति भावः, तथा च देवपदेन तत्र स्थिता ज्ञेयाः, द्वितीयगीते "सहसिद्धै"रिति वक्ष्यते तन्न्यायेनात्रापि देवसाहित्यमुक्तम्, **केवलानामिति** स्त्रियो विहाय स्वयमेवावतीर्णानामित्यर्थः, देवलोकस्थाः सर्वा एव स्त्रियोप्सरस इत्याशयेनाभासे अप्सरसामित्युक्तम्, स्वपत्यन्**वेषणार्थमिति** स्वपत्युरत्रावतीर्णं यद् रूपं **तदन्वेषणार्थमित्यर्थः**; भगवदर्थमागमनं तु भयान् न सम्भवत्यतः प्रायेणैवमित्यर्थः, निर्भयतया भगवदर्शनार्थमागमनं त्विन्द्राभिषेकानन्तरं वक्ष्यते अत एव द्वितीयगीते तथेति भावः ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

धन्यास्त्वित्यादिश्लोकार्थविवृतौ "हरिण्योप्सरसो गाव" इत्यादिकारिकाः, तत्रेश्वरः **पूज्यत** इति अनीश्वरेषु प्रविष्ट ईश्वरत्वसूचकसामग्रीमनाविर्भावयन्नपि **यदा मूढैः पूज्यते** तदा निरुपाधिकमैश्वर्यं सिध्यति, युक्तं चैतत्, ऐश्वर्यसामग्रीसाहित्ये त्वनीश्वरोपि पूज्यो भवेत्, सामग्र्यभावे पूजा तु स्वाभाविकैश्वर्ये एव भवति, किञ्च सामग्रीराहित्येपि बुधः पूजयेदपि स्वरूपज्ञानात्, मूढकृतपूजा तु परमैश्वर्यमेव बोधयति, इदमैश्वर्यं भगवन्निष्ठं भगवत्येव बोध्यते, वीर्ययशसी अपि तथा, **वीर्यं देवेष्वित्यादि** अप्सरसो हि देवताः, भगवांश्च मनुष्यवत् प्रतीयमानोतो भगवति कामस्तासामसम्भावितः, न हि देवाङ्गनावाञ्छितो रसो मनुष्ये भवति, नापि तासामर्थे भगवता स्वस्यालौकिकः प्रभावः प्रदर्शितः, किन्तु वनितोत्सवचारुवेषवेणुक्वणिताभ्यामेव साधारणस्त्रीणामिव तासां मोहोभूत्, अत इदं भगवद्वीर्यमिति **वीर्यं देवेष्वित्यादिना** वीर्यं निरूपितं, **श्रियो हि परमा काष्ठेत्यादि** यदि सेवकाः परमं भोगं कुर्युस्तदा स्वामिनः एव परमं सौभाग्यं स्फुटीभवतीति लोके प्रसिद्धं, पक्षिणो भगवत्कृतं वेणुनादं शृण्वन्ति तत्रापि भगवान् नीचैः स्थितो वेणुं वादयति, ते तु द्रुमभुजानारुह्योपरि स्थिता नादामृतमनुभवन्तीति श्रियो भोगः पक्षिणां सिद्धः, ("यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुतौ **वीणा**पदं मधुरनादानां वेण्वादीनामुपलक्षकमतो वेणुनादश्रवणे श्रियो भोगः पक्षिणां सिद्धः), इह भगवन्निष्ठा श्रीः पक्षिषु समागता भगवच्छ्रियः कार्यभूता, तथा च कार्यभूतया श्रिया कारणीभूता भगवच्छ्रीर्बोध्यते, तथा

ज्ञानमपि नदीषु समागतं कारणभूतं भगवज्ज्ञानं सूचयति, एवं वैराग्यमपि भगवद्धर्मो मेघे कार्यरूपेण समागतः स्वकारणभूतं भगवदधिकरणकं वैराग्यं बोधयति, उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदि भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचितेति हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि यदि हरिः स्याद् दुःखहर्ता स्यात् तदा तस्मिन् वैराग्योत्कर्ष इति ज्ञेयं, यतो हरिदुःखहरणं वैराग्यकार्यं, मोक्षान्तफलेषु रागाभावे प्रभुसुखैकाकाङ्क्षायामेव तादृग्भावोदयात्, स भावः कथं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुर्भक्त्या चेत्यादि, भक्त्या स्नेहेन तादृशत्वं भगवद्दुःखहर्तृत्वभावः स्यादित्यर्थः, एवं वैराग्यस्वरूपं स्नेहेन तत्सिद्धिं च निरूप्योपदिशन्ति सा सेवेत्यादि, सा मेघकर्तृका सेवा भगवद्दुःखहरणरूपा सेवकस्य पुष्टिस्थस्योचिता नाम कर्तव्येत्यर्थः, यथा मेघेन स्नेहवशात् प्रेरणमन्तरेणैवा-तपनिवारणरूपा सेवा भगवतः कृता तथा शास्त्रप्रेरणंविनैव देशकालानुरूपा भगवत्सौख्यसम्पादिका सेवा पुष्टिमार्गीयैः कर्तव्या, सेयं सख्यभक्तिरूपा, "सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्र"मित्यत्र "सखि"पदात्, एतद्यथा तथा मया सेवाकौमुद्यां प्रथमप्रकरणे निरूपितमिति ततोवधेयं, धन्यास्त्वित्यस्य विवरणे ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतमित्यादि ननु हरिणीनां भगवत्स्व-रूपज्ञानाभावाद् भगवदवलोकनात्मकपूजामात्रेण कथं धन्यत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति धन्यास्त्विति तुशब्देन, इह हरिणीनां धन्यत्वकथनात् स्वस्याधन्यत्वसूचनेन न ज्ञानमात्रं धन्यत्वसाधकं किन्तु भगवद्विषयकपूजनक्रिया धन्यत्वसाधिका, ज्ञानसाहित्ये सा सुतरां धन्यत्वसाधिकेत्याहुर्ज्ञानं हीत्यादिना, ज्ञात्वा तदनुरूपं चेत् करोति तदा ज्ञानस्य सार्थक्यमतो ज्ञानस्य क्रियाविशेषणीभूतत्वं, क्रियास्वपि भगवत्पूजात्मिकैव क्रियोत्कृष्टेत्याहुः क्रियोत्कर्षः पूजायामिति, "तत् कर्म हरितोषं यत्" इति चतुर्थस्कन्धवाक्यात्, सा पूजारूपा क्रिया हरिणीभिः कृतेति तासां धन्यत्वं, तत्रापि ज्ञानेन्द्रियाधारत्वेन ज्ञानप्रचुरैर्नेत्रात्मकद्रव्यैः कृतेति सुतरां धन्यत्वमित्याहुः सापि चेदित्यादिना, ज्ञानमयैरिति ज्ञानप्रचुरैर्ज्ञानस्वरूपैर्निवेद्यद्रव्यैरित्यर्थः, अयमर्थः, निवेद्य-पदार्थानां स्वरूपं भगवत्प्रियत्वं देशकालानुगुणत्वं च ज्ञात्वा समर्प्यंते तदा ते पदार्था ज्ञानमया उच्यन्ते, तथेह हरिणीभिः स्वनेत्राणां सौन्दर्यं भगवत्प्रियानेत्रस्मारकत्वेन प्रभुप्रियत्वं च बुद्ध्वा नेत्रैर्भगवान् पूजित इति युक्तं धन्यत्वं, भगवज्ज्ञानमित्यादि यादृशदेश-कालवैशिष्ट्याद् यादृशवस्त्वपेक्षा भगवतोस्ति तादृग्देशकालानुरूपसेवनं मया विधेयमिति सम्प्रति देशकालानुरोधादिदमपेक्षितं भगवत इतिज्ञानं भगवज्ज्ञानमित्यर्थः, मदीयपदार्थेष्वेतस्य वस्तुनः सम्यक्त्वाद् भगवद्विनियोगयोग्यतेतिज्ञानं स्वज्ञानमित्यर्थः, एवमुभयज्ञानस्य पूजाङ्गत्वं, हरिणीभिस्तथैव कृतं यतो भगवते शृङ्गाररसात्मकाय स्वनेत्रसौन्दर्यप्रदर्शनेन प्रियत्वं सम्पादितं, एवं पुष्टिजीवैर्यथोचितं प्रियत्वं सम्पाद्यमितिशिक्षा ह्येतस्य ग्रन्थस्य हार्दं, भगवज्ज्ञानमपीत्यन्वयः, तस्य भगवत्पूजारूपक्रियो-त्कर्षस्य भगवज्ज्ञानमप्यङ्गमित्यर्थः, तदभावे इति तस्याः पूजाया अभावे इत्यर्थः, सर्वमिति ज्ञानादिकमित्यर्थः, अङ्गीभूतायाः पूजाया अभावे अङ्गानां ज्ञानादीनां वैयर्थ्यमितिभावः, समीपे स्वीकार इति, "उपात्तविचित्रवेष"मित्यत्रोपशब्देन सामीप्यकथना-द्धरिणीसमीपे प्रभुणा वेषो धृतः, तथा च वेषधारणसमये भगवदवयवानां हरिणीदृग्विषयत्वाद् भावविशेषोत्पत्तिर्मृगीगणस्याभूत्, तेन भावेन तादृशरससम्बन्धिनी भगवत्प्राप्तिर्भवित्रीतिभावः, ब्रह्मानन्दस्येत्यादि भगवदवयवावलोकनजन्यभावबलेन पूर्वं ब्रह्मानन्द-प्रवेशो हरिणीषु तत आधिदैविकस्त्रीविग्रहप्राप्तिस्ततः स्वरूपानन्दस्य हरिणीषु प्रवेशार्थं हरिणीनां निकटे भगवता वेषधारणं कृतमिति फलितं, तथा चा "यं पुनर्ब्रह्मानन्दे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने" इतिपूर्वफक्किकानिरूपितफलप्राप्तिर्भविष्यतीत्युक्तं भवति, फक्किकास्मारकं ब्रह्मानन्दपदमिति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥ कृष्णं निरीक्ष्येत्यत्र वनं यौवनं इताः प्राप्ताः प्राप्तवत्य इति इह वनिताशब्दान्तर्गतवनशब्देन विपिनं यौवनं च ग्राह्यं, तत्र विपिनपक्षे वनं विपिनमिताः प्राप्ताः पुरुषा वनिताः, भगवदर्थं सकल-त्यागं विधाय केवलं वनं प्रविष्टा भगवदीयास्तेषामुत्सवा चारुर्वेषो भगवता धृतः, तथा च कोटिकन्दर्पलावण्याधिकसुन्दरं तादृश-वेषधारिणं श्रीकृष्णमवलोक्य जातस्त्रीभावाः पुरुषोत्तमं मां प्राप्स्यन्तीत्यभिप्रायकं वेषधारणं भगवता कृतमिति विभावनीयं, यौवन-पक्षे वनं यौवनमिताः प्राप्तवत्यो मृगीदृशस्तासामुत्सवार्थं भावोद्दीपनार्थं वेषधारणं वनितानां पुंसां वनिता सुन्दरीणां च सूचनार्थं प्राप्ताः प्राप्तवत्य इति वारद्वयमुल्लेखः सुबोधिन्यां, अन्यथा "प्राप्ता" इत्युक्ते "प्राप्तवत्य" इत्युक्तिर्व्यर्था स्यात्, धातूपसर्गप्रत्ययार्था-नामैक्यात्, यद्यपि 'प्राप्ता' इत्युक्त्याप्युभयग्रहणं सम्भवति तथापि प्रकरणवशात् स्त्रीणामेव ग्रहणं स्यान्न तूभयोरत उभयग्रहणार्थं प्राप्ताः प्राप्तवत्य इत्युक्तं, तथा च प्राप्ता इत्युक्त्या वनिताः पुरुषा गृहीताः प्राप्तवत्य इत्यनेन वनिताः स्त्रिय उक्ता इति ज्ञेयं, एवं सति पुंसां भावोत्पादनार्थं स्त्रीणां च भावोद्दीपनार्थं वेषधारणमिति प्रयोजनद्वयं फलितं, न हि तत्र प्रविष्ट इति इदं वनिता-शब्दान्तर्गतवनशब्दस्य विपिनवाचकत्वमादाय पुरुषपक्षे ज्ञेयं, तत्र वने प्रविष्टः सर्वत्यागवान् नावर्तत इत्यर्थः, वनशब्देन कथं यौवनग्रहणमित्याकाङ्क्षायामाहुर्यौवनमित्यत्रापि 'यु' मिश्रणार्थे वनमिति, 'यौवन' शब्दे याविति सप्तमी निमित्तार्थे युशब्दो मिश्रणार्थक उकारान्तः, तस्य सप्तम्यां यौ इति रूपं भानौ विष्णावितिवत्, मिश्रणं नायकेन सह विवक्षितं, एवं यौ मिश्रणार्थं वनं यौवनमित्यर्थो भवति, यौवनमेव हि नायकेन सह नायिकां सङ्गमयति, तथा च यौवनत्वस्यापि वनत्वव्याप्यत्वाद् वनविशेषो यौवनमतो वनशब्देन यौवनग्रहणं सुवचं; यौवनस्य वनत्वं तु शृङ्गाररसोपयोगिसामग्रीमत्त्वधर्मसाम्येन ज्ञेयं; यौवनशब्दस्यैतादृशी व्युत्पत्तिस्तु निरुक्तपद्धत्या ज्ञेया, "अप्यक्षरवर्णसाम्येन निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेते"त्यनुशासनात्, यथावेषरसमिति भगवत्कृतवेषं भगवदभिप्रेतरसं चानतिक्रम्येत्यर्थः, अयमत्राभिप्रायः, भगवता वनितानामत्युत्सवार्थे यथा वेषः कृतस्तथा वनिताभिरपि भगवदु-

त्सवार्थे भगवदभिप्रेतवसनभूषणादिकं ध्रियते, भगवदभिप्रायस्तु भगवद्धृतपीताम्बरादिद्युतिजनकनीलवसनरक्तकञ्चुक्यादिधारणे, तथैवैताभिः कृतमिति वेषानतिक्रमो ज्ञेयः, एवं प्रभुचिकीर्षितशृङ्गारादिरसेप्यानुगुण्याद् रसानतिक्रमः ॥ १२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

धन्यास्तु मूढमतय इत्यादि श्लोकषट्कोक्तान् हरिण्यादीनाहुर्हरिण्य इति का० १८९४। षट्सु श्लोकेष्वैश्वर्यादि-निरूपणमुपपादयितुमैश्वर्यादिलक्षणान्याहुरीश्वर इति, का० १९०४-१९६४। ईश्वरः पूज्यत इति मूढैर्हरिण्यादिभिरपि पूजनादैश्वर्यं, वीर्यं देवेष्वित्यादि "कृष्णं निरीक्ष्ये"तिश्लोके मनुष्यत्वेन प्रतीयमानस्यापि भगवतो देवाङ्गनास्वाप पुरुषाणां सान्निध्येपि कामेन मूर्छाजननान् महद्वीर्यं, यशो यदीति "गावश्चे"तिश्लोके विमूढानां गवां प्रत्यक्षे तृणादौ या आसक्तिस्ततो वारणं कृत्वा पीयूषस्य स्वधर्मं यदि योजयेत् भगवान् तदा यशो भवति नान्यथेत्यर्थः, "अक्षण्वता"मित्यारभ्य "हन्तायमद्रि"रित्यन्तद्वादशश्लोकोक्तेषु सगुणनिर्गुणभेदानाहुस्तामसा राजसाश्चेति, अन्ये इति सात्त्विका इत्यर्थः, गुणातीतान् विवेचयन्ति वृन्दावनमित्यादि, "अक्षण्वता"-मित्यादि श्लोकत्रये क्रमेण तामसराजससात्त्विकाः, "वृन्दावनं सखी"तिश्लोके गुणातीतं वृन्दावनं निरूप्यते, ततो "धन्या"स्वि-त्यादिषु त्रिषु हरिण्यादयः सगुणाः, "प्रायो बताम्बे"तिश्लोके पक्षिरूपा मुनयो गुणातीताः, ततो "नद्यस्तदे"त्यादिषु त्रिषु सगुणाः, "हन्तायमद्रि"रित्यत्र गुणातीतो गोवर्धनः, एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वृन्दावनमित्यादि, वृन्दावनं पक्षिरूपा मुनयः गोवर्धनश्चेति त्रयं गुणातीतं, एवं वर्णनीयभेदानुक्त्वा वर्णनकर्त्रीणामपि तद्वदेव सगुणनिर्गुणभेदानाहुस्तद्व्रताश्चापीत्यादिना, अस्मिन् लीलासृष्टिरूपे लोके तद्व्रतास्तेषु वृन्दावनादिषु गुणातीतेषु रतास्तद्वर्णनकर्त्र्योपि गुणातीता भवन्ति, उपलक्षणमेतत्, तेन तत्तन्निरूपकास्तथाविधा इति भावः, एवमैश्वर्यादिस्वरूपमुक्त्वा "प्रायो बताम्बे"तिश्लोकोक्तश्रीलक्षणमाहुः श्रियो हि परमा काष्ठेति, यथा भगवान् "यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुत्युक्तश्रीलक्षणवीणादिशब्दं शृणोति तथा भगवत्सेवकाः पक्ष्यादयोपि वेणुनादं शृण्वन्तीति भगवति श्रियः परमा काष्ठा निरूपिता, ज्ञानोत्कर्ष इति सर्वदा वेगवतीनां नदीनां वेगभङ्गेन स्वभावविजयलक्षणं ज्ञानं सेवकेषु निरूपितं, तथा च सेवकानामपि तादृशत्वे भगवति ज्ञानोत्कर्षः कैमुतिकन्यायसिद्धः, वैराग्यं निरूपयन्ति हरेश्चरणयोरिति स्वसर्वस्वनिवेदनसहिता हरिचरणप्रीतिर्वैराग्यं अन्यत्र वैराग्ये सत्येव हरौ प्रीतिसम्भवात्, तत्रापि वैराग्ये उत्कर्षस्तदा स्याद् यदि हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि हरिर्भवेत् सेवको वस्त्राद्युपचारैः सेवया हरेरपि शीतोष्णादिनिवारणेन दुःखहर्ता भवेदित्यर्थः, 'भगवतः श्रमो नास्तीति केचित्, अस्तीतिसिद्धान्तः,' तदुपपादितं सुबोधिन्यां दशमस्कन्धे युगलगीताध्याये, श्रमवच्छीताद्यपि ज्ञेयं, किञ्च "अनश्नन्नन्योभिचाकशीती"तिश्रुत्या भगवतो मर्यादामार्गे भोजनाद्यभावेपि पुष्टिमार्गे भोजनादिकमस्त्येवेत्युपपादितमष्टमाध्याय-टिप्पण्यां, पूतनामोक्षाध्यायटिप्पण्यां च, भगवति स्नेहहेतुककार्याणां स्वामिनीकर्तृकरक्षाप्रभृतीनां श्रमहेतुकत्वशङ्कापरिहारेण सर्वमुपपादितमिति सुष्ठूक्तं हरेरपि हरिर्यदीति, तथा च "दृष्ट्वातपे व्रजपशू"निति श्लोके मेघस्य स्वसर्वस्वजलवर्षणेन स्ववपुषा छायाविधानेन च सेवाकरणात् वैराग्यं सिद्धं, एवं सेवके वैराग्यसिद्धौ भगवति किं वक्तव्यमितिभावः, एवं श्लोकषट्कतात्पर्यं-निरूपणेनैश्वर्यादिषड्धर्मोपपादनाद् भगवत्त्वं समर्थितम् ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अपरा आहुः-हे सखि ! मूढमतयः तिर्यक्जातित्वेन विवेकहीना अप्येता हरिण्यो धन्याः कृतार्था एव। तत्र हेतुं सूचयन्त्यो विशिषन्ति—या वेणुरणितं वेणुनादमाकर्ण्य श्रुत्वा उपात्तः बर्हापीडादिनां विचित्रो वेषो येन तं नन्दनन्दनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकैर्विरचितां पूजां सन्मानं दधुः कृतवत्यः। किञ्च कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहिता एव पूजां दधुः, अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः तदा पूजां न कुर्वन्ति इति आशयः ॥ ११ ॥ अन्या आहुः—हे गोप्यः ! वनितानामुत्सवो यस्मात्तथाभूतं रूपं शीलं च यस्य तं श्रीकृष्णं निरीक्ष्य तेन क्वणितस्य वादितस्य वेणोर्विचित्रं गीतं च श्रुत्वा विमानगतयो विमानैर्गच्छन्त्यो देव्यो देवाङ्गना अर्थात् पतिसहचरा अपि स्मरेण नुन्नः परिक्षिप्तः सारो धैर्यं यासां ताः तथा सत्यो मुमुहुः। मोहे लिङ्गमाहुः - भ्रश्यत्प्रसूनाः कबराश्चूडा यासां ताः। निगता नीव्यो वासांसि यासां ताः, विगलद्वस्त्रानुसन्धानरहिता इत्यर्थः॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

धन्या इति ॥ हे सखि ! मूढमतयः तिर्यग्जातित्वेन विवेकहीना अप्येता हरिण्यो धन्याः कृतार्था एव। या वेणुरणितं वेणुनादमाकर्ण्य श्रुत्वा। रिफितमित्यपि पाठः। उपात्तः बर्हापीडादिना विचित्रो वेषो येन तं नन्दनन्दनं प्रति प्रणयसहितैरवलोकैर्विरचितां पूजां सम्मानं कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहैव दधुः। अस्मत्पतयस्तु गोपाः क्षुद्राः तथा पूजां समक्षं न सहन्ते इत्याशयः॥११॥ कृष्णमिति ॥ वनितानामुत्सवो यस्मात्तथाभूतं रूपं शीलं च यस्य तं श्रीकृष्णं निरीक्ष्य तेन क्वणितस्य वादितस्य वेणोर्विचित्रं गीतं च श्रुत्वा विमानगतयो विमानैर्गच्छन्त्यो देवाङ्गना अर्थात्पतिसहचरा अपि स्मरेण नुन्नः परिक्षिप्तः सारो धैर्यं यासां ताः भ्रश्यत्प्रसूना गलत्पुष्पाः कवराश्चूडा यासां ताः विगता नीव्यो वासांसि यासां ताः विगलद्वस्त्रानुसन्धानरहिताः सत्यः। कबभाव आर्षः। मुमुहुः॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एवं श्रीकृष्णसंबंधेन तत्स्थपशूनामपि धन्यत्वं प्राहुः धन्या इति हे सखि एताः मूढमतयो विवेकहीनबुद्धयोपि हरिण्यः धन्याः कृतार्थाः एवं कुत इति चेत्तत्राहुः याः वेणुना रणितमुच्चारितं शब्दं आकर्ण्य श्रुत्वा उपात्तविचित्रवेषं गृहीतविचित्रशृंगारं नंदनंदनं प्रतिकृष्णसारैः मृगैः स्वस्वामिभिः सहिता एवं संत्यः प्राणयः प्रेमतद्युक्तैरेवावलोकनैः विरचितां कृतां पूजां यथा सामर्थ्यं सन्मानं दधुः चक्रुः कृष्णसारमृगसदृशा अप्यस्मत्पतयो न संति यतः कृष्णेऽस्माकं प्रणयावलोकं न सहंत इत्यभिप्रायः ॥११॥ काश्चिदन्याः कौतुकांतरं शृणुत इत्याहुः कृष्णमिति हे सख्यः वनितानामुत्सवः परमानंदस्तत्संपादकं रूपं अनवधिकातिशयसौंदर्य सौकुमार्य सौगंध्यलावण्यादियुक्तं स्वरूपं च शीलं अपारकारुण्यवात्सल्यौदार्यादिस्वभाववृंदं यस्य तं कृष्णं निरीक्ष्य तेन वादित वेणोः विचित्रं शृंगारादिरसयुक्ततया नानाविधं गीतं गानं च श्रुत्वा विमानगतयो विमानैर्यांत्यो देव्यः मुमुहुः मोहचिह्नान्याहुः स्मरेणनुन्नसाराः विक्षिप्तधैर्याः अत एव भश्यंति अधः पतंति प्रसूनानि येभ्यस्तथाभूताः कवराः केशपाशा यासां ताः अत एव विगतानीव्योवस्त्रग्रंथयो यासां तथाभूता बभूवुः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

धन्या इति ॥ मूढमतयः सुन्दरासुन्दरविवेकरहिताः अपि, एताः हरिण्यः, धन्याः स्म कृतार्थाः एव । कुत एता एवंविधा इत्यत्राह । या हरिण्यः, वेणुरणितं कृष्णकृतं वेणुगीतं, आकर्ण्य, उपात्तः स्वीकृतः विचित्रः बर्हादिधारणैर्विचित्रतायुक्तः वेषो येन तं, नन्दनन्दनं नन्दसुतं प्रति, प्रणयावलोकः प्रणयसहितैरवलोकनैः, विरचितां कृतां, पूजां सन्मानं कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहेति सह-कृष्णसाराः सत्यः, दधुः कृतवत्यः स्म । क्षुद्रा अस्मत्पतयस्तु गोपा एतत् समक्षं न सहन्ते इति भावः ॥ ११ ॥ अन्यास्तु हे गोप्यः इदमन्यदद्भुतं शृणुतेत्याहुः ॥ कृष्णमिति ॥ वनितानामुत्सवो यस्मात्तच्चारु शीलं यस्य तं, वनितोत्सवरूपशीलमिति पाठे, वनि-तानामुत्सवो याभ्यांते रूपं शीलं च यस्य तं, कृष्णं निरीक्ष्य, तेन कृष्णेन क्वणितो वादितो यो वेणुस्तस्य विचित्रमसंकीर्णं यद्गीतं तच्च श्रुत्वा, विमानगतयो विमानैर्गच्छन्त्यः, देव्यो देवानामङ्केषु स्थिताः स्त्रियः, स्मरणेन कामेन नुन्न आहृतः सारो धैर्यं यासां ताः, भ्रश्यन्ति प्रसूनानि येभ्यस्तथाभूताः कवराश्चूडा यासां ताः, विनीव्यः शिथिलनीवीबन्धनाश्च सत्यः, मुमुहुः भ्रश्यत्प्रसूनकवरत्वं विनीवीत्वं च मोहलिङ्गम् ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

धन्या इति : १०.२१.११.

दुःसाध्यो विदुषामपि क्रतुविधौ यः कृष्णसारः क्षणं तैरेतास्तु सहोपभोगकुशलाः श्रुत्युल्लसद्गीतयः ।
तद्धन्यत्वमनन्यगं स्फुटमिहैवासां मृगीणामहो किं चास्मन्नयनोपमानपदवो सार्थाऽद्य तद्वीक्षणात् ॥ २२ ॥

कृष्णमिति : १०.२१.१२.

देव्योऽपि सुखवासिन्यो यं दृष्ट्वा मुमुहुर्मुहुः । अदृष्टसुखभोगानां तत्रास्माकं तु का कथा ॥ २३ ॥

कृष्णप्रिया

अरी प्यारी सखियाँ देखो तो सही जरा सा आकाश की ओर, कि ये स्वर्ग की देवियाँ, जब वनिताओं का आनन्दित करने वाले वेष को धारण किये हुए भगवान श्रीकृष्ण को देखती है, और सौन्दर्य निधान श्रीकृष्ण ने बाँसुरी पर गाया हुआ मधुर एवं विचित्र संगीत का श्रवण करती है तब विमान में बैठकर जाती हुई ये देवाङ्गनाओं का काम विवशता के कारण इस तरह विवेक नष्ट हो गया है कि वो उतनी सुध-बुध विसर रही है कि उनके गुंथे हुए केशकलाप से कुसुम समूह विखर रहा है और वस्त्रनीवी भी शिथिल हो सरक रही है। देखो सखो प्यारे श्रीकृष्ण की बंसरी तानने कैसा देह गेहानुसंधान विसराया और परमानन्द का अनुभव कराया ॥ १२ ॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणु[1]गीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।
[2]शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि [3]दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः ॥ १३ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—आत्मनि दृशा गोविन्दम् स्पृशन्त्यः "अतएव" अश्रुकलाः, कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषम् उत्तभित-कर्णपुटैः पिबन्त्यः गावः च स्नुतस्तनपयःकवलाः शावाः, तस्थुः स्म ॥ १३ ॥

१. वेणुगीतं–विज. । २. सानन्दनम्रतनवः–विज. ; स्तनस्नुत–इति कस्यचित ; स्नुतस्तन–च. पु. । ३. दृशाऽश्रुकणान्स्पृशन्त्यः–विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

क्षरणशंकयेवोत्तभितैरुन्नमितैः कर्णपुटैः पिबंत्यः सत्यः तथा शावाश्च वत्साश्च स्तनपाने प्रवृत्ताः समनंतरमेव गीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषमुत्तंभितकर्णपुटैः पिबंतः स्नुतस्तनपयःकवलाः केवलं स्तनेभ्यः क्षरितक्षीरग्रासा मुखेषु येषां ते तस्थुर्विस्मृतक्रिया बभूवुरित्यर्थः। तत्र हेतुः। गोविंदं दृशा मार्गेणात्मनि मनसि स्पृशंत्य आलिंगंत्यः अत एवाश्रूणां कला लेशा लोचनेषु यासां ता गावस्ते च शावाः ॥ १३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तदेव गीतमेव। पीयूषम् अमृतम्। इत्यर्थं इति। बालवत्सानामपि महानंदो भवति किमुत विशेषविदामिति भावः। तत्र क्रियाविस्मृतौ। अत एव मनसाऽऽलिंगनादेव ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथान्यस्या गोष्ठ्या वाक्यमाह—गाव इति त्रिभिः। तत्र प्रथमतो निजभावविरोधिमातृभावादीनां गवां वर्णनं पूर्ववद्वहित्थार्थं प्रीतिसामान्यांशे विरोधाभावाद्विवक्षितोपयोगार्थं च अप्यर्थे चकारः लोके सारासारविवेकहीनत्वेन ख्याता गावोऽपि पीयूषरूपकेण मुखस्य चन्द्रत्वम् अतिकोटिचन्द्रताव्यञ्जकेन कृष्णमुखशब्देन पीयूषस्य वैशिष्ट्यं सूच्यते कृष्णः खलु परमानन्दघनमूर्तिरुच्यते स्मेति विस्मये तस्थुः स्तब्धतालक्षणं सात्त्विकविकारं प्राप्ता इत्यर्थः। गोविन्दं निजप्रभुमिति प्रोक्त्या स्पर्शनं बोधयति अन्यत्तैः तदसम्मते स्नुतस्तनपय इति पाठे स्नुतं केषाञ्चिदभिनवानां मुखात् क्षरितं स्तनपयः मातृस्तनक्षीरं केषाञ्चित्तु तृणचराणां पूरितकण्ठाद्यश्रूणामत एव सद्रवतया क्षरितः कवलश्च तृणग्रासो येषां ते। यद्वा, आत्मनि मनसि गोविन्दं स्पृशन्त्यः अर्पयन्त्यः पश्चात् सम्यक् दर्शनाशक्तेः तत्र हेतुमाह—दृशा नेत्रेण अश्रूणि कलयन्ति वर्षन्तीति तथा ताः अश्रुधारया दृष्ट्याच्छादनात् मनसैव पश्यन्त इत्यर्थः। अतस्तद्दर्शनमात्राभावेन वयमधन्या एवेति भावः ॥ १३ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथान्यस्या गोप्या वाक्यमाह—गाव इति चतुर्भिः। यद्वा, पूर्वलिखितानुसारेणैव वाक्यतया व्याख्या, तत्र सर्वश्लोकेष्वेव पूर्वंपूर्वस्मिन् वर्णितात् पदार्थादुत्तरोत्तरस्मिन् वर्ण्यस्य न्यूनत्वं कथ्यते। अतो यद्यपि देवीभ्यः परमार्थतो वा न्यूनत्वं न सम्भवेत्, तथापि प्रेमोल्लासस्य विचित्रगतित्वात् क्वापि किञ्चिद्विशेषमाश्रित्य तत्पदं करोति, तथापि अस्तु तावत् परमविदग्धानां देवीनां भाग्यम्, पशुजातीनां मनुष्याधीनानामपि गवादीनां किं भाग्यं वर्ण्यमित्याहुः—गावश्चेति। त्वर्थे चकारः, पूर्वतो वैशिष्ट्याय पीयूषरूपकेण मुखस्य चन्द्रत्वं कृष्णमुखशब्देन पीयूषस्य वैशिष्ट्यं सूच्यते; कृष्णः परमानन्दघनमूर्त्तिः, अतस्तस्य मुखचन्द्रान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषम्। स्मेति विस्मये निश्चये वा, तस्थुः स्तब्धतालक्षणं सात्त्विकविकारं प्राप्ता इत्यर्थः। गोविन्दं निजप्रभुमिति प्रोक्त्या स्पर्शनं बोधयति, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, शावेषु कथञ्चिन्मिलितेष्वपि न स्तनेभ्यः स्नुतोऽस्तनस्नुतः पयसः कवल एकग्रासोऽपि याभ्यस्ताः, पाठोऽयं तेषामपि सम्मतो लक्ष्यते, वैपरीत्यपाठे सविसर्गपृथक्पदत्वे च 'शावाः' स्नुतं भगवति जातवात्सल्यभरेण क्षरितं स्तनेभ्यः पयः कवलश्च मुखात् तृणग्रासो यासां ताः। शावा वत्सा इति, पक्षे स्नुतं केषाञ्चिदपि नवानां मुखात् क्षरितं स्तनपयो मातृस्तनक्षीरं कवलश्च केषाञ्चित् तृणचराणां तृणग्रासो येषां ते, आत्मनि मनसि गोविन्दं स्पृशन्त्यः साक्षात् सम्यग् दर्शनाशक्तेः तत्र हेतुमाहुः—दृशा नेत्रेण अश्रूणि कलयन्ति वर्षयन्तीति तथा ताः, अश्रुधारया दृष्ट्याच्छदनान्मनसैव पश्यन्त इत्यर्थः। यद्वा, गोविन्दं लेहनादिना स्पृशन्त्यस्तस्थुः, कथम्भूतम् ? आत्मनीति जातावेकत्वम्, गोषु विषये दृशा लक्षितं गवां तादृशभावदृष्ट्या ता निरीक्षमाणमित्यर्थः। अन्यत् समानम्, अतस्तत्स्पर्शनाद्यभावेन वयमधन्या एवेति भावः। हरिणीनां देवीनाञ्च तद्रूपदर्शन-वेणुश्रवणे उक्ते, गवाञ्च वेणुगीतश्रवणमात्रेणैव तादृशभाव इति ताभ्यस्ताभ्यश्चाविशेषः अत एव चकारः ॥ १३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

आत्मनि ये गोविन्दं ध्यात्वेति शेषः ॥ १३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गाव इति। कृष्णमुखान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषममृतम् उत्तम्भितैरवनमनेक्षरणशङ्कयेवोन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्त्यः तस्थुस्तथा शावा वत्साश्च स्तन्यपानप्रवृत्ता गीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषमुत्तम्भितकर्णपुटैः पिबन्तः स्नुतपयःकबलाः केवलं स्तनेभ्यः गलितक्षीरग्रासाः मुखेषु येषां ते तस्थुः विस्मृतव्यापारा बभूवुरित्यर्थः। अत्र हेतुः गोविंददृशा दृष्टिमार्गेण आत्मनि चित्ते स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्य अत एवाश्रूणां कला लेशाः लोचनयोर्यासां ता गावस्ते च शावाः ॥ १३ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उत्तंभितकर्णपुटैः निश्चलकर्णरन्ध्रभागैः कवलाः कवलसहिताः गोविन्दमात्मनि हृदि स्मरन्त्यः दृशा नेत्रेण अश्रुबिन्दून् स्रवन्त्यः शावस्नुतस्तनपयःकवला इति केचित् शावा वत्साः तेषां स्मरणेन स्नुताः संस्रवाः क्षीराणि कवलाः शष्पग्रासाः यासां तास्तथा तस्थुरित्यन्वयः। कवलाः आसां सन्तीति कवलाः अर्श आद्यच् "अजाद्यतष्टाप्" (४।१४) इति टाप्प्रत्यये कृते कवलेति रूपं सिद्धं भवति जावाशब्दवदिति वा ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गाव इत्यादित्रयं गोष्ठान्तरस्य ॥ १३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

हे सख्यः! देव्यः सुवैदग्ध्यवशादेवं भवितुमर्हन्त्येव। न केवलमस्य स्त्रीणामेव मोहकरो वेणुरवः, अपि तु प्राणिमात्रस्यैवेत्यपरा आहुः—गावश्चेत्यादि। उत्तभित्तैरुत्तम्भितैः कर्णपुटैः पिबन्त्य इति शत्रन्तनिर्देशेनातृप्तत्वम्; तस्थुरिति निवृत्तगतयो बभूवुरिति ध्वनितम्। कीदृश्यः? गोविन्दमात्मनि स्पृशन्त्यो दृष्ट्या दृष्टिरन्ध्रेणात्मनि कृत्वा। न केवलं गावः, शावा अपि, सद्यो जातो वत्सा अपि, वस्तुतो वेणुरवेनैव पयः प्रस्नुतम् नतु वत्सवात्सल्येन,—अनन्यमनस्त्वात्। तत्र स्नुते पयसि कवल एव येषामभ्यासवशान्मुखसंपर्क एव, न तु पानम्। अश्रुभिः कला शोभा यासां येषां चेत्युभयविशेषणम्, तदासां पशुत्वेऽपि स्वदेहविस्मृतिः, न त्वस्माकं गेहस्यापि। अहो नः प्रेम! तदस्मान् धिगिति पूर्ववत् दैन्यम् ॥ १३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मध्या ऊचुः—गावश्चेति। गावस्तद्वत्साश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुपीयूषं पिबन्त्यः पिबन्तश्च दृशा आत्मनि स्पृशन्त्यः स्पृशन्तश्च तस्थुः निष्पन्दा एव बभूवुः वयन्तु पशुभ्योऽप्यधमाः यतस्तत् पिबन्त्योऽपि गेहाद्यपि न विस्मराम इति दैन्यम् ॥ १३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

न च स्त्रीजातीनां सर्वासामेतत् कामविजृम्भितमेवैतन्मोहनमिति वाच्यं यतो वत्सलानां गवामपि मोहं पश्यतेत्याहुः, गावश्चेति। क्षरणशङ्कयेवोत्तभितैरुन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्त्य एव तस्थुः नच तत्रापि वात्सल्यभाव एव तस्थुः नच तत्रापि वात्सल्यभाव एव मोहने हेतुरस्तीति वाच्यं यतो भावशून्यानामपि तदीयशावानां मोहनं पश्यतेत्याहुः, शावा वत्साः स्तनपाने प्रवृत्ताः समानन्तरमेव गीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्तः स्तनपानासामर्थ्यात् स्तनेभ्यः स्नुतानां पयसां कवल एव मुखेन तु निमिलनं येषां ते तस्थुः जाड्योदयेन स्तब्धा बभूवुरित्यर्थः ततश्च तन्मातरः गोविन्दं दृशा दृष्ट्यैवाकृष्यानीय नेत्ररन्ध्रद्वारेणैवान्तःप्रवेश्य आत्मनि मनसि पृशन्त्यः स्वमनसः क्रोडे एव वात्सल्यात् स्थापयन्त्यस्तस्थुः तथा अश्रूण्यानन्दात् कलयन्ति धारयन्तीति एवं च सर्वप्राणिनां कृष्णे निरुपाधिरेव प्रेमा किन्तु ते संयोगात् धन्या वयं तु विच्छेदादधन्या एवेत्येतावनिव विशेष इति भावः ॥१३॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—हे सख्यः! न केवलं नार्यो देव्यो वा श्रीकृष्णवादितवेणुगीतेन मोहिताः अपि तु गावश्च उत्तभितैः तच्छ्रवणानुकूलीकृतैः कर्णपुटैः कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषं पिबन्त्यः गोविन्दमात्मनि हृदि दशोऽन्तर्दृष्ट्याप्रशन्त्यः अश्रुकलाः आनन्दाश्रूणां कला मुखेषु यासां ता तस्थुः त्यक्ततदितरसकलव्यापारा बभूवुरित्यर्थः। तथैव शावा वत्साः स्नुतस्तनपर्यास्ता एव कवलाः ग्रासा येषां ते तस्थुः तद्वेणुगीतपीयूषपानाशक्तत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

इदं पशुत्वेनातिमूढानामपि सङ्ग्रहवाक्यं केवलं भावोत्कण्ठ्याभिन्यञ्जकमेव अहो किं वक्तव्यं देवाङ्गनानां यतो एवमपि सारासारविवेकविधुराणां सर्वविलक्षणं भावमनुभवामि इत्याहुः—गाव। इति पीयूषसम्बधान्मुखस्य चन्द्रत्वम् उपमासहत्वाभावात्साक्षान्नोक्तं निर्गतत्वेन प्रभृतत्वं वेणुगीतत्वेन विलक्षणत्वं उत्ताभितेति साश्चर्यं सोत्कण्ठञ्च पिबन्त्य सादरमास्वादयन्त्यः सत्यः स्नुतस्तनपयः कवलाः पीयूषपूरितान्तरावशिष्टं पयोरूपेण बहिर्निस्सृतमिति भावः कवला घासग्रासाः तस्थुर्विरतव्यापारा जाताः एतेनस्तम्भाख्यः सात्त्विकभावः सूचितः ॥ १३ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

न च कामहेतुके एवायमनुरागः किन्तु स्वरूपहेतुक एवेति पराः काश्चन आहुः गावश्चेति। कृष्णमुखाचचन्द्रान्निर्गतं वेणुगीतपीयूषं क्षरणशङ्कयोत्तभितैरुन्नमितैः कर्णपुटैः पिबन्तो जाड्योदयेन स्तनपानासामर्थ्यात् स्तनस्नुतपयःकवलाः स्तनेभ्यः

स्नुतानां पयसां कवलो मुखेषु येषां तादृशास्तस्थुः गावः कीदृश्यः गोविन्दं दृष्ट्वानीय आत्मनि मनसि स्पृशन्त्योऽश्रुकला मुमुचुरेवं शावाश्च तथा च सर्वेषां प्राणिनां कृष्णे प्रेमा तत्स्वरूपहेतुक एव तथास्माकञ्च किन्तु तत्संयोगात्ते धन्याः वयन्तु तद्विच्छेदादधन्या इति भावः ॥ १३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

वनितोत्सवरूपसारं वनितानामुत्सवो येन तद्रूपं येषां तेषु सारं श्रेष्ठं कृष्णं निरीक्ष्य दृष्ट्वा तेन क्वणितः ध्वनितो यो वेणुस्तस्य विचित्रं नानाविधं स्वरोत्तरतानुत्तरतायापनेनाद्भुतं गीतं श्रुत्वा विमानगतयो विमानस्थाः स्मरनुन्नो मन्मथमर्षितः सारो धृतिर्यासां ता भ्रंश्यन्ति प्रसूनानि येभ्यस्ते कबराः केशपाशा यासां ताः । कवरः केशपाशः स्यात्कबरं लवणाम्लयोः । कबरी केशविन्यासशाकयोरिति हैमः । विनीव्यो विगता नीव्यो वस्त्राणि तद्ग्रन्थयो वा यासां ताः सत्यो मुमुहुः । नीवी वस्त्रेंऽशुकग्रन्थ्योरिति यादवः । नारीणां पारवश्यात्र परस्परश्लोकसङ्गमने मनः खेदनीयमिति केचित् । धन्या इति चान्वय इति केऽपि ॥ १३ ॥

श्रीसुबोधिनी

गवां वत्सानां च चरित्रमाह गाव इति, चकाराद् गावोपि तथा जाताः, उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते, असम्भावितत्वान्मोहः, ता हि वेणुमात्र आसक्तास्तथा कुर्वन्तीतिशङ्कां परिहर्तुमाहुः कृष्णमुखेति, कृष्णमुखान्निर्गतं यद् वेणुगीतं, ननु बहूनां वादने मुखादर्शन इतरवैलक्षण्यानवधाने वा कथं भगवन्मुखवेणुगीतमिति ज्ञायते ? तत्राह पीयूषेति, अमृतं हि तत्, तेन व्यञ्जकान्तराभावेपि स्वत एव ज्ञायते, सदानन्दो वाच्यो मुखं वागधिपतिर्निर्गमनं वाग् वेणुरितरविस्मारको गीतं षड्गुणालकमतः सर्वां मामग्रीं वक्तुमेतावदुक्तं, अन्यथा 'कृष्णगीतपीयूष'मित्येव वदेयुः, इतरगोतपीयूषनिवृत्त्यर्थं कर्णानामुत्तम्भन, प्रतिकर्णं नूतनकर्णत्वात् प्रत्येकपक्षेपि बहुवचनं सङ्गच्छते, पुटशब्देन तदर्थमेव कर्णसम्पादनमेति ज्ञापितं न हि पर्णपुटे पुनः कार्यान्तरं भवति चषकादिकं तु बह्वर्यं भवेत्, पुटानां बहुत्वं प्रतिक्षणं नूतनरसतां बोधयति, व्यवस्था तु पूर्वोक्तैव, शावा बालका हरिणादीनामन्यजीवानां वा गवामेव वा, अतिबालका घोषे वा, स्नुतं स्तनाद् पयः कवलरूपं येषां, न तस्य पयसोन्तःप्रवेशः, इदं सन्दिग्धमिति प्रमाणमाहुः स्मेति, तस्थुर्गावः शावाश्च, उभयेषामपि तथात्वे हेतुमाहुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्य इति, तासां न बहिःसंवेदनं यतोन्तर्भगवन्तं स्पृशन्ति, तत्रापि दृशावृत्तचक्षुषा भगवन्तं स्पृशन्त्य इति न भावनामात्रं किन्त्वापि भूंत इति ज्ञापितं, अन्यथा कथं तुल्यता स्फुरति ? बहिरदर्शने हेतुरश्रुकला इति, अश्रूणां कला यासां, गोविन्दपदं गवां हृदय आविर्भावे दोषाभावार्थं यतोयं तेषामेवेन्द्रः ॥ १३ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

कृष्णमुखनिर्गतेत्यत्र, मुखं वागधिपतिरित्यादि । अत्रायं भावः । पूर्वश्लोके देवस्त्रीणां मोह एवोक्तो, वस्तुसामर्थ्यात्, न तु रसपानमपि । गवां भगवदीयत्वात् भगवत्सङ्गत्तरत्वात् प्रियत्वाच्च रसपानमुच्यते । तत्र सुरस्त्रीणां यत्र तथात्वं तत्रैतासां पशुजातीयत्वेन तदसम्भावितमित्याशङ्कानिरासाय नेदं साधारण्येन गानं, किन्तु यथैव तासामपि रसानुभवो भवति तथा सर्वसामग्रीप्रकटनपूर्वकमिति ज्ञापनायेति । अत एवाग्रे हृदि प्राकट्यं स्पर्शश्चोक्तः । आधिदैविकसम्बन्धमात्रेण यत्राध्यात्मिकाधिभौतिकयोरपि कार्यकरणसामर्थ्यं, तत्र साक्षादाधिदैविकस्यैव करणत्वे किं वाच्यं कार्यसम्पत्ताविति वागधिपतित्वाद्युक्तेस्तात्पर्यम् । एतेन शब्दनिष्ठरसप्राप्तौ साधनसम्पत्तिरुक्ता भवति । किञ्च । वाच्यार्थाज्ञाने रसस्वरूपाज्ञानात्तत्कार्यासम्भव इति शङ्का कृष्णपदार्थोक्त्या निरस्ता । स्वरूपात्मकत्वादर्थस्य स्वत एव प्रकटत्वाज्ज्ञानसाधनानामनपेक्षणाद् बलवत्त्वाच्च न पशुत्वादिकं प्रतिबन्धकमतः सर्वंमवदातम् । अपरञ्च । कृष्णमुखान्निर्गतस्य तत्रापि परम्परासम्बद्धस्य पीयूषस्य यत्रैतादृशत्वं, तत्रापि पशुषु, तत्र साक्षान्मुखपानकर्त्रीषु किं वाच्यमित्युत्कण्ठाज्ञापनायापि निर्गमनाद्युक्तिरिति ज्ञेयम् । अन्यच्च, मुखस्याग्नित्वेन साक्षात् तत्पानकर्त्रीणां कदाचित्तत्लीयूषं तापमपुत्पादं जनयति । इदं तु तस्मान्निर्गतत्वेन सदैवानन्दजनकमेव, न तु तथा । तस्माद्भिन्नत्वेन परम्परासम्बन्धाच्च तद्धर्मासम्भवात् । अत एव साक्षात्सम्बन्धानन्तरं यादृशस्तापस्तादृशो न पूर्वम्, किन्तु सहजसम्बन्धात्तद्धर्मवत्त्वस्यापि सहजत्वात्कश्चन तापं जनयतीति ज्ञापनाय तावदुक्तमिति । प्रतिक्षणं नूतनकर्णत्वादिति । पुटत्वोक्त्या तत्र यथैकेन रसेन पूर्णे द्वितीयरसावकाशो न सम्भवति तथैकैकक्षणसम्बन्धिनादरसस्यापि तत्त्वात् तेन पूर्णे पुटे द्वितीयादिक्षणसम्बन्धिनां तेषां प्रवेशासम्भवात्तत्पानार्थं द्वितीयादिपुटापेक्षावश्यकीति तथात्वम् । अन्यथा करणाभावेन नादग्रहणासम्भवाद द्वितीयादिपानमेव न भवेत् । अत्रैवं ज्ञेयम् । भगवत्सम्बन्ध्यर्थो न लौकिकेन्द्रियग्राह्यः, किन्त्वलौकिकैरेव तैः । प्रभुदित्सा च तत्र हेतुः । तथा च तयैव तावत्साधनसम्पत्तिर्भवतीति नानुपपत्तिः काचित् ॥ १३ ॥

(२) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गाव इत्यत्र तथा जाता इति, अभिलषिताप्राप्त्या मुमुहुरित्यर्थः, उत्तमाधमयोरिति, सात्त्विकत्वादुत्तमानां तामसत्वादधमानां देवस्त्रीणां गवां च यथोचितं सायुज्यलक्षणस्य मध्यमस्य सेवाफलस्याभिलाष इत्यर्थः, सायुज्यस्वरूपं सेवाफलविवृतैर-

धार्यम्, देवस्त्रीणामागमनस्याशक्यत्वान् मोह उक्तः, गवां मोहे हेतुमाहुरसम्भावितत्वादिति, स्वाभिलषितसायुज्यस्येतिशेषः, ता हीति गावोऽन्यकृतवेणुनादेऽप्यासक्ताः कर्णोत्तम्भनं कुर्वन्तीतिशङ्कां परिहर्तुं कर्णोत्तम्भनहेतुवेणुनादस्य कृष्णकृतत्वमाहुरित्यर्थः, पशूनां तावद्विशेषज्ञानाभावः प्रसिद्ध इति हिशब्दः, एतेन कृष्णकृतनादे एव कर्णोत्तम्भनं कुर्वन्ति नान्यनादे इति सूचितम्, व्यञ्जकान्तरेति स्वल्पमेव स्वव्यञ्जकमित्यर्थः, एतन्नादे विशेषं वक्तुं पीयूषपदस्यार्थमाहुः सदानन्दो वाच्य इति, अन्यगीतस्य स्ववक्तृवाचकत्व-नियमाभावेऽपि भगवतोऽधिकस्य कस्यचिदभावात् भगवत्कृतं गीतं सदानन्दवाचकमेव भवति, अतः सदानन्दकृतगीतस्य सदानन्द एव वाच्यः, अयमस्मिन्नादे विशेषः, अन्यकृतनादस्तु सरिगमादिरूपः स्वरमात्ररूप इतिभावः, तस्मान्नादनिष्ठरसानुभवार्थमत्रैव नादे कर्णोत्तम्भनं नान्यनादे इत्यर्थः, ननु भगवद्गीतस्य सर्वस्यैव सदानन्दवाचकत्वात् पूर्वश्लोकोक्तदेवस्त्रीणां कथं न रसानुभव इत्यत आहुर्मुखमित्यादि, तत्र सामग्री गुप्तैव स्थापितात्र प्रकटितेति पदत्रयेण सूचितमित्यर्थः, "द्वया ह प्राजापत्या" इत्यत्राधि-दैविकसहितेन्द्रियस्य कल्याणत्वकथनेन तादृशशब्दस्यैव प्रमितिजनकत्वाद् देवता वागिन्द्रियं च शब्दनिष्ठरसप्राप्तौ सामग्री, इतर-विस्मृतौ निःप्रत्यूहं रसानुभवो भवतीति सापि सामग्रीति ज्ञेयम्, शाब्दबोधे शब्दःकरणमतस्तत्सम्बन्धिनो धर्माः सामग्रीतिभावः, टिप्पण्यां वागधिपतित्वाच्च वक्तेरित्यादिपदात् त्रिष्वपि कैमुत्यमुक्तम्, तथा च यत्राधिदैविकस्य करणत्वं वाङ्निर्गमनरूपविष-यत्वेन्द्रियत्वमितरविस्मारकश्च द्वारम्, तादृशशब्दाद् रसानुभवे किं वाच्यमितिकैमुत्येन रसपानं सूचितं भवति, भगवति देवतानां गोलकत्वं विषयाणां चेन्द्रियत्वमिति द्वितीयस्कन्धे व्यवस्थापितम्, अतो मुखपदं देवतावाचकं निर्गमपदं चेन्द्रियवाचकमितिभावः, एवं सामग्रीतो विशेषमुक्त्वा स्वरूपतोऽप्याहुर्गीतमिति, पूर्वोक्तं गीतं विचित्रं सर्वरसार्थमित्युक्तम्, इदं तु पीयूषत्वकथनात् षड्गुणा आत्मनि यस्य तादृशं भगवद्रूपमित्यर्थः, अधरपीयूषस्य षड्गुणत्वमग्रे व्युत्पाद्यम्, अत इति सामग्र्या अपेक्षितत्वात् तां वक्तुं मुखे-त्यादिपदत्रयमुक्तमित्यर्थः, अन्यथेति पदत्रयस्य सामग्रीप्रकटनतात्पर्यकत्वाभावे इत्यर्थः, ननु तथाप्युत्तम्भनं किमर्थमित्यत आहुरि-तरेति, अतिबालका इति किञ्चित्प्रौढा वत्सास्तु गोष्ठ एव तिष्ठन्तीति तेषां तादृशत्वमसम्भावितमित्यतिपदम्, घोषे वेति सायं गवां घोषे समागमनानन्तरं वा वत्सानामेवम्भावः, तदा प्रौढवत्सानामपि तथा सम्भवतीत्यतिपदं न देयमितिभावः, स्तनादिति गृहीतमितिशेषः, तथा च स्तनगृहीतं पयःकवलं स्तनपयःकवलं मध्यमपदलोपी समासः, स्रुतं तद् येषामितिविग्रहः मातॄणां स्तनाद् गृहीतं पयःकवलं येषां मुखात् स्रुतं बहिर्निर्गतं भवतीत्यर्थः, स्रावे हेतुर्न तस्येति, यत इति शेषः, ग्रहणे इव नादश्रवणे गिलनक्रियाया निवृत्तत्वात् तस्य पयसो नान्तः प्रवेशो यतोऽतः स्राव इत्यर्थः, सन्दिग्धमिति, ग्रहणगिलनयोर्मध्ये कालस्य दुर्लक्ष्य-त्वादितिभावः, प्रमाणमाहुरिति स्मपदस्य प्रसिद्ध्यर्थकत्वात् प्रसिद्धिहेतुभूतं प्रत्यक्षं प्रमाणं स्मपदेन सूचितमित्यर्थः, तस्थुर्गाव इति मोहो गवामेव, पयःस्रावश्च शावानामेव, क्रियानिवृत्तिस्तूभयेषामपीत्यर्थः, तथात्वे इति क्रियानिवृत्तौ, दृशात्मनि गोविन्द-स्पर्शो हेतुरित्यर्थः, स्पृशन्त्य इतिस्त्रीलिङ्गप्रयोगेऽपि वत्सानामपि क्रियानिवृत्त्युक्त्या तद्धेतुः किञ्चित्स्पर्शः समभिव्याहारात् प्राप्त एव, गवां तु पूर्वार्धोक्तरसपानत्वात् सर्वथा तथेतिभावः, तुल्यतेति हीनजातीयानां ब्रह्माविर्भावे तुल्यतास्फूर्त्या स्पर्शः सम्भवतीत्यर्थः दोषाभावार्थमिति, हीननिष्ठत्वेन भावाभासत्वाभावार्थमित्यर्थः, तेषामेवेति गवादीनामित्यर्थः, इन्द्रः परमैश्वर्यं प्राप्तः, पुष्टिमार्गीयं, तत्र मर्यादातिक्रमो भवतीतिभावः ॥ १३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गावश्च कृष्णेत्यस्य विवृतौ उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यत इति उत्तमशब्देनात्र हरिण्यः, नेत्रदर्शनेन घोष-सीमन्तिनीनेत्रस्मारकत्वेन भगवत्प्रियतया धन्यत्वोक्तेः, अधमपदेन गावः, शृङ्गाररसानुपयुक्तत्वात्, अत एवोक्तमसम्भावितत्वा-न्मोह इति, मध्यमाभिलाष इति हरिणीनां भगवद्दर्शनमात्राभिलाषः, गवामन्तर्दर्शनस्पर्शमात्राभिलाषः, अप्सरसां पूर्वप्रकारेण रमणाभिलाषः सर्वोत्तम इति तदपेक्षया मृगीणां गवां चाभिलाषो मध्यम इतिभावः, मुखं वागधिपतिरिति भगवन्मुखमग्नि-रित्यर्थः, अग्नेर्वागदेवतात्वाद्, भगवन्मुखस्याग्निरूपत्वाद् वागधिपतित्वं, तादृशमुखपदोक्त्या तापजनकत्वं सूचितं, तेन भगवन्मुख-वेणुगीतपीयूषं पिबतोऽपि तत्पीयूषस्यातिरसालत्वेन तद्विषयकपरमार्त्या बहु पानं सम्भवतीतिप्रयोजनं सिद्धम् ॥ १३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गावश्च कृष्णमुखान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषममृतं क्षरणशङ्कया उत्तभितैरुन्नमितैः कर्णरूपैः पुटैः पानपात्रैः पिबन्त्यस्तस्थुः । तथा स्तन्यपाने प्रवृत्ताः शावा वत्साश्च तद्गीतामृतमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्तः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्तनेभ्यः क्षरितदुग्धग्रासमुखा एव तस्थुः, विस्मृतपानक्रिया बभूवुरित्यर्थः । तत्र हेतुं सूचयन्त्य आहुः—गोविन्दं दृशा नेत्रमार्गेण आत्मनि मनसि स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्य इति, अत एव अश्रूणां कला लेशा लोचनयोर्यासां ता गावस्ते शावाश्चेति ॥ १३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गावश्चेति ॥ गोविन्दं दृशा नेत्रमार्गेण आत्मनि मनसि स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्य इति अत एव अश्रूणां कला बिन्दवो लोचन-योर्यासां ताः गावश्च । चकारादिदं विशेषणद्वयं वत्सानामपि लिङ्गविपरिणामेन कृष्णमुखान्निर्गतं वेणुगीतमेव पीयूषममृतं क्षरण-

शङ्कया इव उत्तभितैरुन्नमितैः कर्णरूपैः पुटैः पानपात्रैः पिबन्त्यस्तस्थुः । तथा स्तन्यपाने प्रवृत्ताः शावा वत्साश्च तद्गीतामृतमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्तः स्नुतपयःकवलाः स्तनेभ्यः क्षरितदुग्धग्रासमुखा एव तस्थुः विस्मृतपानक्रिया बभूवुः ॥ १३ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अन्याऊचुः गाव इति गावः अधः पतनशंकयैवोत्तभितैरुन्नमितैः कर्णपुटैः कृष्णमुखनिर्गतं यद्वेणुगीतं तदेव पीयूष पिबंत्यस्तस्थुः तथा शावावसाश्चस्तनपानार्थं प्रवृत्ताः उन्नतकर्णपुटैः तदेवपीयूषं पिबंतःस्नुतानिमुखेभ्यः स्रवितानि स्तनपयांसि एवकवलाः ग्रासाः येषां एवंभूतास्तस्थुः विस्मृतव्यापारा बभूवुः अतो हेतोः गावः वसाश्च गोविंद दृशा दृष्टिमार्गेण आत्मनि स्वमनसिस्पृशंतः आश्लिष्यंत्यःवसपक्षे विभक्तिविपरिणामेन स्पृशंतश्च अश्रूणां प्रेमबिंदूनां कलाऽमुमुचुः ॥ १३ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गाव इति ॥ कृष्णमुखान्निर्गतं यद्वेणुगीतं तदेव पीयूषममृतम् तत् उत्तभिताः क्षरणशङ्कयैवोन्नमिताश्च ते कर्णपुटाश्च तैः पिबन्त्यः सत्यः, गावो धेनवः, तस्थुः । तथा शावाः मातृस्तन्यप्रवृत्ता वत्साश्च, समनन्तरप्रवृत्तं गीतं श्रुत्वा, तदेव पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्तः सन्त इति शेषः । स्नुतस्तनपयः कवलाः केवलं स्तनेभ्यः क्षरितक्षीरग्रासाः मुखेषु येषां ते, तस्थुः । विस्मृतव्यापारा बभूवुरित्यर्थः । गवां वत्सानां चैवंभूतत्वे हेतुमाह । गोविन्दं कृष्णं, दृशा दृष्टिमार्गेण, आत्मनि चित्ते, स्पृशन्त्य आलिङ्गन्त्य, अत एव अश्रूणां कला लेशाः लोचनयोर्यासां ताः गावः, ते शावाश्च, उक्तविधतया तस्थुः स्म ॥ १३ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गाव इति । १०.२१.१३.

त एव धन्या धरणी स्त्रियोऽपि शिशवोऽपि वा । कृष्णगीतामृतभिज्ञा ये च गोविन्दचिन्तकाः ॥ २४ ॥

कृष्णप्रिया

सखी देवाङ्गनाओं की बात जाने दो लेकिन इन व्रजगौओं की गाथा सुनो ! जब प्यारे श्रीनन्दकुमार अपने मुख कमल से मुरली में–वंशी में स्वर भरते हैं और सारी गौएँ उस वंशी का नाद सुनती हैं तब ये अपने कानों के दोनों खड़े कर लेती हैं और तन्मय होकर रसपान करती है तब ये समाधिमग्न लगती है। उनके नन्हे-नन्हे बछड़े और बछड़ियों की दशा तो देखो ? वेणुपान करती हुई गाएँ जब उन वत्सों को स्तनपान कराने लगी तब उनके स्तनों से टपकते हुए दूध के कवल को मुख में धारण किए हुए बछड़े भी रस समाधि मग्न बन गए और उनके नेत्रों में से स्नेहाश्रु टपकने लगे क्योंकि गौओं के और बछड़ों के अन्तःकरण में श्रीगोविन्द भगवान का समालिङ्गन का आनन्द पा रहें हैं, सखी उस आनन्द के सामने और सुख की कैसे तुलना हो सकती है ॥ १३ ॥

प्रायो बताम्ब [1]विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् [2]कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् [3]शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥ १४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अम्ब ? अस्मिन् वने ये अमीलित दृशः विगत अन्य वाचः रुचिर प्रवालान् द्रुम भुजान् आरुह्य कृष्ण ईक्षितम्, तद् उदितम् कलवेणुगीतं शृण्वन्ति बत ते विहगाः प्रायः मुनयः "सन्ति" ॥ १४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

भो अंब मातरस्मिन्वने ये विहगाः पक्षिणस्ते प्रायेण मुनयो भवितुमर्हन्ति । कुतः । कृष्णेक्षितं कृष्णदर्शनं पुष्पफलाद्यंतरं विना यथा भवति तथा रुचिराः प्रवाला येषां तान्द्रुमभुजान्वृक्षाणां शाखा आरुह्य तेन श्रीकृष्णेनोदितं प्रकटितं कलवेणुगीतं केनापि सुखेनामीलितदृशस्त्यक्तान्यवाचश्च संतो ये शृण्वंतीति । तथाहि । मुनयः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्तकर्मफलपरित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढा रुचिरप्रवालस्थानीयानि कर्माण्येवोपाददानाः सुखिनः संतः श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वंति । अतस्त एवैते भवितुमर्हंतीति भावः ॥ १४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

काचित्किचिद्योगज्ञा स्वमातरं वदति । यद्वा–अम्बेति सखीं प्रति संबुद्धिः, भावाविष्टप्रमदास्वभावत्वात् । हेतुं शंकते–कुत इति । केनापि वक्तुमशक्येनेत्यर्थः ? उपाददानाः स्वीकुर्वाणाः । यतः श्रीकृष्णगीतं शृण्वंति अतो हेतोः । जन्मांतराभ्यासवशा-

१. मुनयो विहगाः-गो. प्रे. टी. । २. कृष्णेक्षणा–विज. । ३. ल्य–श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ; न्ति–विश्व. शुक. ।

दित्यर्थः। त एव मुनय एव एते पक्षिणः। इति भाव इति। न हि जन्मांतराभ्यासं विना भगवद्गीतश्रवणे प्रवृत्तिर्भवति "पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः" इति गीतासूक्तेः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तुतरां श्रीकृष्णपाल्यमानानां गवां धन्यत्वं वन्यानां विहगानामपि भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः—प्राय इति। बाहुल्ये मयूरादीनां केषाञ्चित् प्रेमनृत्यादिना परभक्तसाम्यात् वर्तते विस्मये हे अम्बेति अयं भावाविष्टप्रमदाजनकथास्वभावः यत्खलु तच्छून्ये तत्सम्बोधनं स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन्नित्युक्तत्वात् कृष्णेक्षितं स्वकर्तृकं कृष्णस्य दर्शनं तत्कर्तृकं वा स्वदर्शनं यत्र तत् यथा स्यात् तथा द्रुमभुजानारुह्य रुचिरप्रवालानिति तेषामप्यङ्कुरादिविकारो दर्शितः विहगानामपि तद्दर्शने व्यवधानं सुखभोगसाधनं च दर्शितं तथापि कृष्णक्षितं यथा स्यात्तथा शृण्वन्ति मीलितदृशः अर्द्धमुद्रितदृशः महाप्रेमसम्पत्त्याऽलसदृष्टय इत्यर्थः। विगता मनःश्रवणवागिन्द्रियेभ्यो निर्गता अन्या मुरलीवाग्व्यतिरिक्ता वाचो येषां अतस्त एव धन्या इति भावः। अन्यत्तैः तत्र भावार्थे रुचिरशब्दाद्गूणवदर्पितकर्माणीति बोद्धव्यमिति अथवा प्राय इति वितर्के मुनयः आत्मारामाः श्रीसनकादयोऽस्मिन् वने विहगा एव बभूवुरित्यर्थः। तत्र प्रयोजनमाहुः—कृष्णेत्यादिना कृष्णेन ईक्षितं स्वयमेवोत्प्रेक्षितं कल्पितं पूर्वं तादृशाभावाद् तेनैव उदितम् उत्तरोत्तरप्रकटितगुणं इति वेणुगीतस्य ब्रह्मसमाधितोऽप्याकर्षकता दर्शिता कलयति जगच्चित्तमाकर्षतीति कलं वेणोर्गीतं तादृशमुनित्वे लिङ्गमाहुः-रुचिरप्रवालान् विचित्रोपशाखामयान् द्रुमभुजान् वेदशाखारूपान् आरुह्यातिक्रम्य तदभिनिवेशमपि परित्यज्य मीलिता आवृता दृक् देहादिज्ञानं यैस्तथाभूता अपि विगता अन्येषां कृष्णव्यतिरिक्तानां वाक् कथापि किं पुनर्विचारादिकं येभ्यः॥ १४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तुतरां श्रीकृष्णपाल्यमानानां गवां धन्यत्वम्, वन्यानां विहंगमानामपि भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः—प्राय इति बाहुल्ये, मयूरादीनां केषाञ्चित् प्रेमनृत्यादिना परमभक्तसाम्यात्। वर्तेति विस्मये, हे अम्बेति प्रेमवैवश्येन स्वसखीं प्रत्येव मातृतया सम्बोधनम्, काञ्चिद्वृद्धां प्रति वा, किंवा, अयं भावाविष्टप्रमदाजनकथास्वभावः, यद्विस्मयादौ मातरित्युक्तिः, कृष्णेक्षितं स्वकर्तृकं कृष्णस्य दर्शनं तत्कर्तृकं वा स्वदर्शनं यथा स्यात्तथा द्रुमभुजानारुह्य तदुपरि स्थित्वा, रुचिरप्रवालानिति तद्दर्शनेऽव्यवधानं सुखभोगसाधनञ्च दर्शितम्, तथापि कृष्णेक्षितं यथा तथा शृण्वन्ति, मीलितदृशोऽर्द्धमुद्रितदृशो महाप्रेमसम्पत्त्या अलसदृष्टय इत्यर्थः। विगता अन्याः कृष्ण कृष्णेति व्यतिरिक्ता वाचो येषाम्, अतस्त एव धन्या इति भावः। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्, तत्र भावार्थे रुचिरशब्दाद्गुणवत्कर्म्माणीति बोद्धव्यमिति, अथवा, प्राय इति वितर्के, मुनय आत्मारामाः श्रीसनकादयोऽस्मिन् वने विहगा एव बभूवुरित्यर्थः। तत्र प्रयोजनमाहुः—कृष्णेत्यादिना। कृष्णेन ईक्षितं स्वयमेवोत्प्रेक्षितं पूर्वं तादृशाभावात्, तदनिर्वचनीयमुदितं स्वयमेवाविर्भूतम्, इति वेणुगीतस्य सच्चिदानन्दरूपताभिप्रेता, किंवा स कृष्ण उदितः प्रकटो भवति यस्मात्, वृक्षलताद्यावृतस्यापि तस्य विज्ञापकमित्यर्थः। कलयति जगच्चित्तमाकर्षतीति कलं वेणोर्गीतम्, द्रुमस्य भुजान् उच्चदीर्घपृथुशाखास्तत्रापि तदुपरि स्थितान् कोमलत्वादिना रुचिरान् प्रवालानारुह्येति सम्यक् श्रवणासिद्ध्यर्थं प्रेमवैवश्येन पातपरिहाराय च मीलिता मुद्रिता आच्छन्ना दृक् बाह्यतत्त्वादिज्ञानं येषां तथाभूताः सन्तः, विगता अन्येषां कृष्णव्यतिरिक्तानां वाक्, तथापि किं पुनर्विचारादिकं येभ्यः, पूर्ववदेव वा, अन्यत् समानम्॥ १४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

द्रुमभुजान् द्रुमशाखाः॥ १४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अम्ब इति। अम्ब हे मातः अमातरमपि पूजार्थं सम्बोधयन्ति अस्मिन् वने विहगाः पक्षिणः प्रायशो मुनयो भवितुमर्हन्ति कुतः ये विहगा रुचिराः प्रवालाः पल्लवाः येषां तान् द्रुमभुजान् तरुशाखाः आरुह्य स्वभोज्यं फलादिकं विहाय केवलं कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यस्मिंस्तद्यथा भवति तथा तेनोदितं प्रकटितं मधुरं वेणुगीतं केनापि सुखेन मीलितदृशः त्यक्तान्यवाचः सन्तः शृण्वन्ति तथा हि मुनयः वेदद्रुमशाखाश्रिताः कृष्णदर्शनं यथा भवति तथा वेदोक्तकाम्यकर्मफलत्यागेन भगवदेकदृष्टयः सुखिनस्तन्महिमानमेव शृण्वन्ति अत एवैते भवितुमर्हन्तीति॥ १४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

विगतास्त्यक्ताः स्वजातिसिद्धा वाचो यैस्ते विगतान्यवाचो धृतमौना इत्यर्थः। बत आश्चर्य्यमिदं हे अम्ब! पक्षिणां मुनिनां च मौनत्वसामान्यादेवमुच्यते॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णेक्षितं तेनैव प्रथममवगतं तस्मादुदितं व्यक्तञ्च रुचिरेति द्रुमाणामपि विकारः सूचितः॥ १४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

पुनर्मुग्धा ऊचुः–प्रायो बतेत्यादि। बत खेदे। अद्य आश्चर्ये; अस्मिन् वने प्रायः साकल्येन विहगा मुनयो मननशीला विगतरजस्तमस्काः, यतः कृष्णेक्षितं यथा भवति यत्र स्थिते कृष्णेन दृश्यन्ते, कृष्णो वा दृश्यते, तत्र द्रुमभुजान् शाखा आरुह्य तदुदितं तद्वचः कलवेणुगीतश्च शृण्वन्ति। कीदृशाः ? विगता अन्याः कृष्ण कृष्णेति वागतिरिक्ता वाचो येषाम्; समये यदा तदुदितं कलवेणुगीतं वा न शृण्वन्ति, तदा कृष्ण कृष्णेत्येवं भाषन्त इत्यन्यशब्दरहिताः। द्रुमभुजानारुह्येति आसनम्, मुनय इति ध्यानम्, कृष्णेक्षितमिति दर्शनम्, शृण्वन्तीति श्रवणम्, विगतान्यवाच इति मौनं कीर्तनञ्चेति मुनिधर्मैरेभिरमी मुनय एव। कदा वयमेवं वनस्था भूयास्म हेतोत्सुक्यविषादाद्युतानां शावल्यम् ॥ १४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मुग्धा ऊचुः–प्रायोवतेत्यादि। वतेति खेदे, अस्माभिरेवं भवितुं न शक्यत इति खेदः। अस्मिन् वने विहगाः प्रायो मुनयः, यतः कृष्णेक्षितं यथा भवति तथा स्थिताः कृष्णेन कृष्णे वा दृश्यते, तथा द्रुमभुजानारुह्यासनं कृत्वा मीलितदृश आनन्दातिशयेन चमत्कारातिशयात् मध्ये मध्ये कृष्ण कृष्णेति मात्रं वदन्ति अन्यदा तु मौनिन एव, अतो मुनयः, आसनध्यानमौनादयो हि मुनिधर्माः कदा वयमेवं भविष्याम इत्यभिलाष-स्मयविषादानम् शावल्यम् ॥ १४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वत्सा अपि विषयग्राहिण्यो विषयरस एव तत्रोपाधिरस्तीत्यत आत्मारामा मुनयो ज्ञानेन सर्वानेव भावांस्त्यक्तवन्तो निर्विकाराः कृष्णेन क्षोभयितुं न शक्या इत्यपि न वाच्यं यतस्तानपि स्वमाधुर्येणाकृष्य सम्मोहयतीत्याहुः–प्राय इति। बतेति विस्मये अम्बेति सखीन् प्रत्यपि सम्बोधनं भावाविष्टप्रमदानां स्वभाव एवैषः विहगा मुनय एव भवेयुरित्यर्थः। वनवासदृङ्निमीलनमौनाद्यल्याद्यसाधारणधर्मदर्शनात् यद्द्रुमभुजान् आरुह्य वेणुगीतं शृण्वन्ति रुचिरप्रवालानिति द्रुमभुजानामपि वेणुगीतानन्दात् मुनिचरणस्पर्शानन्दाच्चाङ्कुरादिविकारो दर्शितः कलयति जगच्चित्तं क्षोभयतीति कलवेणुगीतं कीदृशं कृष्णेक्षितं कृष्णे एव ईक्षितं नु शक्रपरमेष्ठिरुद्रविष्णुषु गानस्रष्टृष्वपि दृष्टं मुनीनामेषामतिप्राचीनत्वात् तत्र तत्र सर्वत्रावारितगतित्वात् बहुशोऽवकलिततत्तद्गीतत्वाच्च तत्कृतसङ्गीतशास्त्राभिज्ञात्वाच्चेति भावः। न चास्य गानस्य कोऽप्यन्यः स्रष्टा सम्भवेदित्याहुः, तदुदितं तस्मात् कृष्णात् उदितम् आविर्भूतं कृष्ण एवास्य स्रष्टेति गीतस्यानन्यवेद्यत्वं व्यञ्जितम् अत एव ब्रह्मारुद्रादिभिरिव कृष्णेन स्वसङ्गीतशास्त्रं ग्राहकासम्भवादेव न कृतमिति ज्ञेयम् अत एवात्यपूर्वगीतरसास्वादवशान्मीलितदृशः विगता अन्यस्य ब्रह्मानन्दानुभवस्यापि वाक् परस्परकथनं येषां ते इति सम्प्रति तमपि परित्यज्यामी कृष्णानन्दमत्ता एवाभूवन्निति भावः ॥ १४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—प्राय इति। हे अम्ब, मातः! अस्मिन् वने विहगाः पक्षिणो मुनयः सन्ति यतः कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यथा स्यात्तथा द्रुमभुजान् आरुह्य रुचिरप्रवालानिति विशेषणेनात्र श्रीकृष्णश्चिरं स्थास्यतीति तेषामाशयः सूच्यते मीलितदृशः त्यक्तान्यदर्शना विगतान्यवाचः त्यक्तान्यकथाः तदुदितं वेणुगीतं शृण्वन्ति ॥ १४ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

अहो आस्तां तत्पाल्यमानानां गवां वार्ता वन्यविहगानामपि वेणुगानामृतास्वादः समाकर्ण्यतामित्याहुः—प्राय इति। स्वसखीबाहुल्ये मयूरादीनां प्रेमभक्तत्वात् वत विस्मये हे अम्बेति भावाविष्टप्रमदाजनालापस्वभावः हे सखीत्यर्थः। स्वसखीयर्थः। स्वसखीष्योन्वर्णयन्निर्युक्तेः तत्रैव सहसाऽऽगतां व्रजेश्वरीं प्रति वा सम्बोधनम् अस्मिन्निति बुद्धिस्थं स्वकर्तृकं तत् कर्तृकं कृष्णेक्षितं यथा स्यात्तथा द्रुमशाखा आरुह्य अर्द्धमुद्रितदृग्द्वयः सन्तः शृण्वन्ति अन्येऽपि मननशीला विहगा आकाशचारिणो व्रजाः "आकाशस्तल्लिङ्गात्" (१।१।२३) इति वेदशाखाशिरोभागम् आरूढाः "वर्णाश्रमविहीनस्तु वर्त्तते श्रुतिमूर्द्धनि" इत्यभियुक्तोक्तेः सकामास्तु वेदशाखासमाश्रिता भवन्ति परतन्त्रत्वात् रुचिरप्रवालान् रुचिप्रदनवनवक्रियाकलापप्रतिपादकान्वेदमार्गान् ते मुनयस्तानाकम्य स्थिताः कलं मधुरास्फुटम् "सदेव सौम्येदम्" इति मधुरम् अतन्निरसनाच्चास्फुटं वेणुगीतमिव श्रुतिसुखं तदुदितं "तस्य महतो भूतस्य निश्वसितम्" इति। सच्चिदानन्दपरब्रह्मकृष्णसाक्षात्कारो यथा भवति तथा शृण्वन्ति मुनय इति मननं मीलितदृश इति निदिध्यासनमुक्तम्। यद्वा, मीलिता व्यावृता देहदैहिकादिभ्यो दृक् दृष्टिर्यैस्ते विगतान्यवाच इति तदेकपरत्वं "नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्" इति एवं वेणुगीतस्य ब्रह्मसमाधितोप्याकर्षकत्वमुक्तम् अत एव कलयति चित्तमाकर्षयतीति कलं तद्वेणुगीतमिति ॥ १४ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

ऋतुमतीं कान्तिमतीं प्रत्याह—प्राय इति। अम्बेति सम्बोधनं प्रेमवैवश्यादिति भावः ॥ १४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तत्स्वरूपहेतुकत्वं तत्प्रेम्णो द्वयन्त्योऽन्याः प्राहुः—प्राय इति । बतेति विस्मये अम्बेति सखीं प्रति सम्बोधनं हे सखि ! अस्मिन् वने विहगाः पक्षिणस्ते प्रायेण मुनय एव भवेयुः ये कृष्ण एव नतु ब्रह्मरुद्रादावीक्षितं दृष्टं तस्मात् कृष्णादेवोदितं प्रादुर्भूतं कलवेणुगीतं शृण्वन्ति रुचिराः प्रवाला येषां तान् द्रुमभुजानारुह्यालम्ब्य तत्सुखेन मीलितदृशः विगता अन्यवाचो येषां ते तूष्णींस्तुत्वा इत्यर्थः । मुनयः खलु वेदोक्तकर्मफलपरित्यागेन वेदद्रुमशाखारूढास्तदुक्तानि निष्कामकर्मण्येव रुचिरप्रवालस्थानीयानि कथञ्चिदुपाददानाः श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्तीति तल्लक्षणाक्रान्तत्वान्मुनय एव स्युः श्रुतिश्च "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैव सेतुः" इति तथा च स्वरूपहेतुकस्तेषां प्रेमेति ॥ १४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गावः शावाः स्ववत्सास्तत्स्मरणेन स्रुतं स्तनपयःस्रुतां कवलाः मुखस्थापितयवसग्रासा यासां ताः । ग्रासस्तु कवलः पुमानित्यमरः । गोविन्दमात्मनि स्वमनसि प्रस्थाप्य दृशा अश्रूणी स्रवन्त्य उत्तभितकर्णपुटैरुत्तभितानि स्तब्धीकृतानि कर्णपुटानि तद्रूपत्राणि तैः । प्रसितस्तभित्तोतभितेति निपातनादिडागमो वैदिके तत्रायतत्वादत्रानुवादस्तस्यैवेति ज्ञेयः । पिबन्त्यः सत्यस्तस्थुः कर्तव्यमूढा अवतस्थिर इति भावः स्म स्मरन्त्य इति वा । शावा इति पाठे तेऽपि पिबन्तोऽश्रुकणान्दृशा स्रवन्तो गोविन्दमात्मनि स्म सरन्तस्तस्थुरिति योजना ॥ १४ ॥

श्रीसुबोधिनी

पक्षिणां श्रवणं सङ्गाभावाज् ज्ञानाभावाच्चासम्भावितं मत्वा सम्भावनानिरूपणपूर्वकमुपपादयन्ति प्राय इति, एता निर्गुणा अत एव यशोदया सह स्नेहस्तद्गृहकन्यका वा, यथा गवां धनस्य रत्नानां सङ्ग्रह एवमेवोत्तमकन्यकानामपि, द्रव्येण क्रीतास्ता गृहे परिपाल्यन्त राज्ञां दानार्थे, ता यशोदनन्दगोपकुमारिका अम्बेत्याहुः सिद्धवन्निरूपणे का एना इतिसन्देहो भवेदत प्रायः इत्याहुः. प्रायः प्रायेण, बत इति खेदं कथमेतादृशी योनिं प्राप्ता इति, हर्षे वा साधु तैरयमुपायः कृतइति, अम्बेतिसम्बोधनं दयार्थं, भगवदाविर्भावादिति केचित्, अतस्तासां वाक्याद् विहगा मुनय एव बाहुल्येन, ते हि मुनयो मननशीला जानन्त्यत्र भगवानाविर्भविष्यतीति, अत एवास्मिन् वने कृष्णेक्षणाः कृष्णार्थमेव क्षणो येषां कृष्ण एव वेक्षणं येषां, भगवन्तं पश्यन्त एव तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजानारुह्य शृण्वन्ति यावद् भगवतो वेणुनादो न श्रुतस्तावद् रूपमेव पश्यन्त स्थिता यदा पुनर्वेणुनादमारब्धवांस्तदोभयं कृतवन्तो यदा पुनस्ततो भगवान् दूरे गतस्तदोड्डीयान्यत्रगमने वेणुनादरसो गमिष्यतीति तत्रैव स्थिताः कदाचित् स रसो रसान्तरमुत्पादयिष्यति रसान्तरेण वा प्रतिबन्धो भविष्यतीति नाशङ्कनीयं यतः कलमव्यक्तमधुरं वेणुगीतं, ततो भगवतः सकाशादुदितं नादब्रह्मात्मकं वेणरप्यव्यक्तमधुरस्ततो मधुर एव रस उत्पद्यत इति, गीतं वा भगवदुक्तपरमार्थप्रतिपादकं तदा तदुदितमिति विशेष्यं, वेदशाखा इव द्रुमभुजानारुह्य पतनमारणादिशङ्काभावान् निश्चिन्ताः शृण्वन्ति, मनसो विषयान्तरसञ्चाराभावाय भगवति दूरे गते दर्शनाभावान् मननाभ्यासाच्च मीलितदृशो जाताः, विशेषेण गता या अन्यविषयिका वाचो येभ्यः, भगवदुपयोगिवाक्त्यागज्ञापनायान्यपदं, एतच्च सार्वदिकमिति ज्ञेयं, अन्यथा श्रवणकाले वाचस्तत्प्रतिबन्धकत्वेनैवाभावः सिद्ध इति तदुक्तिनिरर्था स्यात्, तथा च सदैतद्रसानुभवो हृदीति ज्ञापितं भवति एतेनास्य नादस्यालोकिकत्वं दुर्लभत्वं चोच्यते, न हि मुनीनामतादृशेर्थे आसक्तिः सम्भवति, तेषां शरादिभयाभावार्थमाह रुचिरप्रवालानिति, पल्लवा उत्तमाः कोमलपत्राण्याम्रादिस्थितानि दृष्टिमुद्रणेपि हेतुरन्यथा प्रवालदर्शनं स्यात् मुखमुद्रणेपि हेतुरन्यथा तेषां भक्षणं स्यात्, कोलाहलश्च सम्भवति शकुनभाषणमन्योन्यं पदार्थनिरूपणं वा ॥ १४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

प्रायो बताम्बेत्यत्र, सम्बोधनं दयार्थमिति । दयया भगवान्निकट एव स्थापयेदिति भावः । तेषां शरेति । पल्लवैरेवावृताङ्गत्वेनान्यदर्शनाभावाच्छरादिभयाभाव इति केचित् ॥ १४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

प्राय इत्यस्याभासे श्रवणमिति नादनिष्ठरसानुभवः शक्तितात्पर्यनिर्धार इत्यर्थः, अत एवानुवादे 'सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्त' इति वक्ष्यते, सङ्गेति मृगीणामिव कृष्णसारसङ्गाद् गवामिव कृपया स्वत एव ज्ञानसामग्रीप्रकटनेन ज्ञानसम्पादनाद् वा तथा भवतीति भावः, सम्भावनेति मुनित्वनिरूपणपूर्वकमित्यर्थः, व्याख्याने, भगवदाविर्भावादिति सर्वात्मकस्य भगवतो माता सर्वेषामेव मातेत्यता अप्यम्बेत्युक्तवत्य इत्यर्थः, एतद्विषकपतित्वस्य वक्ष्यमाणत्वादेवंव्याख्यानमसमञ्जसमिति केचिदित्युक्तम्, स्वयं तु गृहकन्यकापक्षे तत्त्वेनाम्बेतिव्यवहारो भिन्नपक्षेपि "दयार्थं तथे"त्युक्तमेव, मुनित्वं श्रोतॄन् प्रति स्वयमुपपादयन्ति अत इति, वक्त्रीणां कुमारि-

कात्वेन ऋषित्वादित्यर्थः, ते हीति ये विहगास्त इत्यर्थः, मूले ये इति पदस्य ये विहगास्ते मुनयोऽत एवं एवतीति पूर्वेणान्वयो ज्ञेयः, उत्तरत्रान्वये श्रवणं मुनित्वे हेतुः स्यान्न तु मुनित्वं श्रवणे तथा चाभासो विरुध्येत, अत्रेति अत्र नादे सुधारूपो भगवानाविर्भविष्यतीत्यर्थः, अत एवेति मुनित्वादेव पूर्वोक्तं ज्ञात्वैवं शृण्वन्तीत्यन्वयः, कृष्णार्थमेवेति येषां क्षणः कृष्णार्थमेव भगवद्भावनमेव यातीत्यर्थः, यावदित्यादि द्रुमभुजानारुह्य पूर्वं कृष्णेक्षणास्ततस्तादृशा एव शृण्वन्ति, ततो मीलितदृशः शृण्वन्ति कृष्णेक्षणकाले मीलितदृक्त्वं न सम्भवतीत्येवंविभागेन व्याख्यानम्, तत्रैव स्थिता इति मीलितदृश इतिशेषः, रसान्तरमिति नादः स्वनिष्ठस्वरूपदृक्षामव्यक्तत्वान्नोत्पादयिष्यतीत्यर्थः, तथा सत्युड्डीय गमनं स्यादितिभावः, रसान्तरेण वेति पूर्वानुभूतेन कृष्णेक्षणरसेनोड्डीय गमनं नादस्य मधुरत्वान्न भविष्यतीत्यर्थः, वेणोः कलरवं व्युत्पादयन्ति तत इति, गीतं वेति मधुरमेवोत्पद्यत इति पूर्वेणान्वयः, गीतनिष्ठं माधुर्यमाहुर्भगवदुक्तेति, गीतस्य विशेष्यत्वपक्षे उदितमुदतं प्राप्तमित्यर्थः, द्वितीये उदितं कथितमित्यर्थः, मुखमुद्रणे हेत्वन्तरमाहुः स्वयमाहुः कोलाहलैश्चेति, स्यादितिशेषः ॥ १४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

प्रायोबताम्ब विहगा इत्यस्य विवृतौ तदा तदुदितमितिविशेष्यमिति प्रथमपक्षे तु द्रुमभुजानारुह्य कलवेणुगीतं शृण्वन्तीत्यर्थः, कथम्भूतं कलगीतम् ? तदुदितं तेन भगवतोदितं बोधितं, एवं "कलवेणुगीत"मितिविशेष्यं अस्मिन् पक्षे तु द्रुमभुजानारुह्य तदुदितं शृण्वन्तीत्यन्वयः, कथम्भूतं तदुदितं कलवेणुगीतमिति विपरीतो विशेष्यविशेषणभावः इत्यर्थः ॥ १४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्या आहुः—हे अम्ब मातः ! अस्मिन् वने ये विहगाः पक्षिणस्ते प्रायेण मुनय एव भवितुमर्हन्ति । तत्र हेतुमाहुः—ये विहगाः रुचिराः प्रवालाः पल्लवा येषां तान् द्रुमभुजान् तरुशाखा आरुह्य स्वभोग्यफलादावनासक्ताः कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यथा भवति तथान्यदर्शनवर्जनार्थं मीलितदृशः सङ्कुचितनेत्राः त्यक्तान्यवाचश्च सन्तस्तेनोदितं प्रकटितं मधुरं वेणुगीतमेव शृण्वन्ति । मुनयोऽपि वेदद्रुमशाखामारुह्य तदुक्तकर्मफलपरित्यागेन रुचिरप्रवालस्थानि यानि कर्माणि तान्येव उपाददानाः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा मीलितदृशश्च सन्तः श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति । अत एते त एव भवितुमर्हन्ति इति भावः ॥ १४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

प्राय इति ॥ हे अम्ब मातः ! इदं सखीः प्रत्यपि संबोधनम् । भावाविष्टप्रमदानां स्वभाव एवैषः अस्मिन्वने ये विहगाः पक्षिणस्ते प्रायेण मुनय एव भवितुमर्हन्ति । ये विहगा रुचिराः प्रवालाः पल्लवा येषां तान् द्रुमभुजान् तरुशाखा आरुह्य स्वभोग्यफलादावनासक्ताः कृष्णस्येक्षितं दर्शनं यथा भवति तथाऽन्यदर्शनवर्जनार्थं मीलितदृशः सङ्कुचितनेत्राः त्यक्तान्यवाचश्च सन्तस्तेनोदितं मधुरं वेणुगीतमेव शृण्वन्ति । मुनयोऽपि वेदद्रुमशाखामारुह्य तदुक्तकर्मफलपरित्यागेन रुचिरप्रवालस्थानीयानि कर्माणि एवोपाददानाः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा मीलितदृशश्च सन्तः श्रीकृष्णगीतमेव शृण्वन्ति । अत एते त एव भवितुमर्हन्ति ॥ १४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अत्र ऋक्भेदाच्छ्लोकानां परस्परमर्थसंगतिर्नास्ति प्राय इति हे अंबमातः अस्मिन् वने विहगाः पतत्रिणः प्रायो मुनयो भवेयुः यतः ये रुचिरा मनोहराः प्रवाला येषां तान् द्रुमाणां भुजान् शाखा आरुह्य अमिलितदृशः मुरलीश्रवणसुखेन विगतालस्या अन्यावाक्यैः एवंभूताः संतस्तेन श्रीकृष्णेन उदितं उच्चारितं कलं ब्रह्मभूतानामपि मनोहरं वेणुगीतं कृष्णेक्षितं यथा भवति तथा शृण्वंति पुनस्तदेवदर्शयंति मुनयः रुचिरप्रवालस्थानीयकर्मयुक्तानां वेदानां शाखारूढाः अखंडभगवत्स्मृतिमंतः स्वर्गादिफलजनकवाणी वर्जिताः सन्तः कृष्णोदितं धर्मज्ञानवैराग्यसहितैकांतिकभक्तिरूपं गीतं स्वस्मिन् कृष्णेक्षितं यथा स्यात्तथा शृण्वंति अतः पक्षिणोपि धन्या इति भावः ॥ १४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्राय इति ॥ वतेति हर्षे । अम्ब हे मातः, अमातरमपि पूजार्थं संबोधयन्त्यम्बेति । अस्मिन् वने, विहगाः पक्षिणः, प्रायशः, मुनयः भवितुं अर्हन्ति । कुतः । ये विहगाः रुचिराः प्रवालाः पल्लवा येषां तान्, द्रुमभुजांस्तरुशाखाः, आरुह्य, स्वभोग्यं फलादिकं विहाय केवलमिति शेषः । कृष्णस्येक्षितं स्वहृदि दर्शनं यथा भवति तथा, तदुदितं तेन कृष्णेन प्रकटितं, कलवेणुगीतं मधुरवेणुगीतं, मीलितदृशः केनापि सुखोदयेन मीलितलोचनाः, विगतान्यवाचः त्यक्तान्यवाचः सन्तः, शृण्वन्ति । तथाहि मुनयो वेदद्रुमशाखावस्थिताः सन्तः श्रीकृष्णदर्शनं यथा भवति तथा काम्यकर्मफलत्यागेन भगवदेकदृष्टयः सुखिनः तन्महिमानमेव शृण्वन्ति, अत एव त एवैते भवितुमर्हन्तीति भावः ॥ १४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

प्राय इति ः १०.२१.१४.

अनेकशाखानवलम्ब्य चागमान् निमीलिताक्षा लसदात्मसद्गिरः ।
तद्युक्तमेते मुनयो विहङ्गमाः पिबन्ति गीतामृतमीशदृग्व्ययः ॥ २५ ॥

कृष्णप्रिया

अब श्रीनन्द नन्द की सेवा रत नन्दालय की कन्यकाएं और निर्गुण गोपियों जो नित्य महतारी श्रीयशोदा जी की निकटवर्तिनी थी वे कह रही है अरी यशोदा भैया ? इस वृन्दावन में जो पक्षीवृन्द है वह तो प्रायः सब मुनिवृन्द ही है क्योंकि माता ? उन्होंने आपके दुलारे प्यारे लालन के दर्शन किए और आनन्द रस में निमग्न होते ही नेत्र बंध हो गए पुनः तन्मय बनकर कोमल कोंपलो से सुरम्य तरुवरों की डालियों रूप भुजाओं पर आसन लगाकर मौनी होकर श्रीनन्दनन्दजी के हृदयंगम वेणु के सुगीत सुन रहे है । माता ऐसा लगता है कि ये तरुवर सारे निगम है शाखाएँ वेदों की शाखा है, पर्ण वेदों के मन्त्र है और पक्षीगण मुनिगण है । उनको वेदों की माधुरी से भी अधिक माधुर्य वेणुगीत में मिला ॥ १४ ॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थ[1]गितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १५ ॥
दृष्ट्वाऽऽतपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनु वेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध[2] उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—"यदा भगवता वेणुनादद्वारा मुनयोऽनुगृहीताः" तदा नद्यः तत् मुकुन्दगीतम् उपधार्य आवर्त लक्षित मनोभव भग्नवेगाः आलिङ्गन स्थगितम् ऊर्मिभुजैः कमलउपहाराः मुरारेः पादयुगलम् गृह्णन्ति ॥ १५ ॥ सहरामगोपैः आतपे व्रजपशून् संचारयन्तम् "च" वेणुम् उदीरयन्तम् "कृष्णम्" दृष्ट्वा प्रेमप्रवृद्धः उदितः अम्बुदः कुसुमावलीभिः च स्ववपुषा सख्युः आतपत्रम् व्यधात् ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आस्तां चेतनानां कथा नद्योऽप्यावर्तैः परिभ्रमैर्लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ता आलिंगनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलोपहाराः कमलान्युपहरंत्यो मुरारेः पादयुगलं गृह्णंति धारयंति ॥१५॥ लोकार्तिहरणशीलत्वादिसाम्यात्सख्युः श्रीकृष्णस्यांबुदस्तदुपर्युदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धः सन्कुसुमावलीभिः पुष्पसमूहैस्तत्तुल्यैस्तुषारैर्वा सह स्ववपुषा छत्रं विहितवान् ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तदा वेणुवादनकाले । तत् वेणुगीतम् । उपधार्य प्राप्य । यद्यप्यचेतनेषु कामवेगो वक्तुमशक्यस्तथापि तदधिष्ठातॄणां देवानां चेतनत्वं गंगादिभ्यो भीष्माद्युत्पत्तिश्रुतेः । अत एवोक्तम्—मनोभवभग्नवेगा इति । 'स्थगे-आच्छादने' धातुः । यदंगमालिंग्यते तदालिंगकांगेनाच्छादितं भवतीति प्रसिद्धमेव । उपहरंत्यः समर्पयंत्यः । तदांबुकमलादर्शनादर्थांतरमाह—'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरोक्तेः कमलस्य जलस्योपहारः पादादिप्रक्षालनार्थं यासां ताः इति ॥१५॥ कुसुमसमूहैः तदंतर्गतवाय्वानीतनंदनवनाद्युत्पुष्पैः । मेघकर्तृकपुष्पवर्षणासंभवादर्थांतरमाह—तत्तुल्यैरिति । मेघच्युतजलकणेऽपि 'मेघपुष्पं घनरसः' इति पुष्पशब्दप्रयोगान्मेघोऽपि चेतनाहीनस्तं सुखयति, वयं सचेतना अपि तं सुखयितुं न प्राप्ता अतो धिगस्मानिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं पूर्ववदवहित्थामपि कर्तुमशक्नुवत्यः स्वरसानुरूपमेवानुवर्णयन्त्यो रागोत्कण्ठ्येन स्वम्भावमचेतनेष्वुत्प्रेक्षन्ते—नद्य इति । श्रीकालिन्दीमानसगङ्गाद्याः तदा तत्क्षण एव तत्तादृशपरममोहनम् उपधार्य स्वत एव निकटायातं सावधानं श्रुत्वेत्यर्थः । सर्वानन्दशिरोमणिना निजसङ्गमेन सर्वदुःखात् मुक्तिं ददातीति मुकुन्दस्तस्य गीतं परमानन्दजनकं रागम् आवर्तैस्यतिक्षोभो दर्शितः ऊर्मिभुजैः कमलोपहाराः सत्यस्तैरेवालिङ्गनेन स्थगितमानृतं यथा स्यात तथा तैरेव मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्तीत्यन्वयः । तत्र चायं

१. प्रमुदितोर्मि—विज. । २. हृषितः—विज. ।

क्रमः प्रथमं तावदावर्तैश्छिन्नानि कमलान्युपहरन्ति तत्पश्चात्पादयुगलं गृह्णन्ति तदनन्तरं च प्रवृद्धतया वक्षःस्थलपर्यन्तमपि वेष्टयित्वाऽऽलिङ्गयन्तीति। एतदुक्तं भवति नद्यो मोहनवेणुगीतं श्रुत्वा सहजां स्वपतिसमुद्राभिगमनत्वरां विसृज्य जात्यैव श्रीकृष्णप्रियापि विशेषतश्च श्रीवृन्दावनजातानि कमलान्येवोपहारो यासां तथाभूताः सत्य ऊर्मिभिरेव दीर्घैर्बहुभिर्भुजैः मुरारेः पादयुगलं ग्रहणालिङ्गनाभ्यां स्वस्मिन् सुस्थिरो कुर्वन्तीति तत्र च मुरारेरिति वामनपुराणोक्तस्य प्राचीनस्य दैत्यविशेषस्य मुरस्य हन्ता नारायणेन समोऽयमिति नास्य भजने पातिव्रत्यभ्रंश इति विभावयन्तीति च अतस्ता एव परमधन्याः वयं तु दुर्भगा एव यतो न तद्वेणुगीतश्रवणं सिद्धयेत् न च स्वपतिगृहकृत्यप्रवाहोपरमः नाप्यस्माकं बहवो भुजा दीर्घा वा यैः तत्पादपद्ममेकमपि सुस्थिरीकृत्य स्तनादिषु गाढमालिङ्गामः। इतीदमत्र तत्त्वं यदा श्रीकृष्णचन्द्रस्तादृशं वेणुगानमाचरति तदा शुष्कशाखाङ्कुरशिलाद्रवप्रवाहस्तम्भादयो भवन्ति ततो जलस्तम्भेन प्रवृद्धजला नद्यस्तस्मिन् उच्चप्रदेशेऽपि सकमलतरङ्गाः समागत्य तत्पादकमलं स्पृशन्ति तच्च दृष्ट्वा ताः सचेतनादित्वेन प्रतियन्तीति ॥ १५ ॥ अथ दृष्ट्वेत्यादिद्वयेन पूर्ववदवहित्थातदशक्तिभ्यां गोष्ठ्यन्तरं तत्र पूर्ववदचेतने भावं कल्पयन्त्योऽपि सख्यमयरसवर्णनयानिजरसमाच्छादयन्त्य इवाहुः—दृष्ट्वेति। विद्युन्मयचक्षुषेति शेषः। आतप इति तापाधिक्यं व्रजपशूनिति तद्बहुल्यात् तृणबाहुल्यात् तृणवाहुल्यापेक्षयाऽवश्यं तत्र स्थितिः सहेति बहुलच्छायापेक्षा अनु पश्चात् मेघाकर्षणार्थमुच्चरीरयन्तं ततः एव प्रेमप्रेमाणं व्याप्य उदितः प्रवृद्धश्च उत्फुल्लतनुत्वात् कुसुमं मेघपुष्पं जलम् "मेघपुष्पं घनरसम्" इत्यभिधानात् तस्यावलीभिः विन्दुनिकरैः सहितेनेत्यर्थः। सख्युरिति वर्णादिसाम्यात् स्वस्य वपुषा सजलदेहेनैव अम्बुदेत्युक्तेः स्ववपुरेव छत्रं कृतवान् इत्यर्थः। छत्रमपि कुसुमावलीयुक्तं भवत्येव एवं सख्येन निजं देहं धनं चार्पितवानित्यर्थः। अतोऽसौ परमधन्योऽस्माकं च तदानीं दर्शनस्यापि सम्पत्तेर्भाग्यहीनतैवेति भावः। अत्र चेदं तत्त्वं यदाऽऽतपे गाश्चारयन्तः सखायः खिन्ना भवन्ति गावश्च विक्षिप्तगतयो भवन्ति तदा तासां मेघानां चाकर्षणाय तत्तन्नाम्ना मल्लारराग वादयति ततस्तादृशलीलास्फूर्त्या काश्चिदेवमुत्प्रेक्षन्त इति ॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो अस्तुतरां सचेतनानां माहात्म्यम्, अचेतनजलमयीनामपि नदीनां भाग्यं किं वर्ण्यतामित्याहुः—नद्य इति। श्रीकालिन्दीमानसगंगाद्याः, तत्परममोहनुपधार्य्य स्वत एव निकटायातं सावधानं श्रुत्वेत्यर्थः। तदा तत्क्षण एवेत्यस्य आवर्त्तितपदेन गृह्णन्तीत्यनेन वान्वयः। मुरारेरिति मुरो नाम महादैत्यः श्रीशिववरतो वक्षसि हस्तार्पणमात्रेण सर्वप्राणहरो देववर्गभयंकरः श्रीवामनपुराणे प्रसिद्धः, तस्यारिर्नारायणः; (भा० १०।८।१९) 'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते नारायणसमो गुणैः' इति गर्गोक्तेस्तन्नामभिन्ने कृष्णस्य व्यपदिश्यमानत्वाद्गुणसाम्याच्च। मुरो यथा तेन पूर्वं लीलया हतस्तथास्माकं वधोद्यतो मारोऽपि त्वया निरस्यतामित्यभिप्रायेण तस्य पादाब्जयोर्युगलमेव परमार्त्या गृह्णन्ती, कमलान्यपहरन्त्यस्तत्प्रियपुष्पाणि बलित्वेनार्पयन्त इत्यर्थः। अतस्तदभावाद्वयमधन्या एवेति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, तद्वेणुनादामृतमयं मुरारेर्मुकुन्दं परमसुखप्रदं मोहनत्वादिना तत्सदृशं वा गीतम्; आवर्त्ताः कामविकारभंगास्तेषां लक्ष्म, तारकादित्वादितच्, तद्युक्तो यो मनोभवस्तेन; यद्वा, मुकुन्दगीतस्य मा लक्ष्मीः सम्पत्तस्या आवर्त्तः परिवृत्तिः परम्परा वा, तेन लक्षितो दर्शितोऽभिव्यञ्जितो यो मनोभवस्तेन भग्नस्रोतवेगाः सत्यः, भगवद्विषयकगाढभावेन तत्रैव परिभ्रमन्त्यः, न तु परतो गन्तुं शक्नुवत्य इत्यर्थः। ततश्च तदित्यनेन कलवेणुगीतमेव परामृष्टम्, व्यक्तञ्च तन्मोहशंकया नोक्तम्; आलिगने स्थगितं स्तब्धमादररहितमपि; यद्वा, सदा विचित्रगत्या चञ्चलमपि आलिंगनेन तदर्थं वा स्थगितं सुस्थितम्। इत्थं कमलया लक्ष्म्यापि उपहारः बल्यर्पणं यासु तस्या अपि पूज्या इत्यर्थः। उक्तप्रकारेण ततोऽपि सौभाग्याधिक्यात्, अन्यत् समानम्; उपहारादिशब्देन श्लेषत इदमपि सूच्यते नद्यो मोहनवेणुगीतं श्रुत्वा सहजां स्वपतिसमुद्राभिगमनत्वरां विसृज्य मूर्त्तिमत्यो भूत्वा मणिमौक्तिकादिदिव्यहारवत्योऽपि जात्यैव श्रीकृष्णप्रियाणां विशेषतश्च श्रीवृन्दावनजातानां कमलानामुपहारैः उपरि विन्यस्तैर्हारैर्भूषिताः सत्य ऊर्म्मिसदृशैर्दीर्घैर्बहुभिर्भुजैर्मुरारेः पादयुगलं सुस्थिरीकृत्य सम्यगालिंगन्तीति। अतस्ता एव परमधन्याः, वयन्तु दुर्भगा एव, यतो न तद्वेणुगीतश्रवणं सिध्येत्, न च स्वपतिसेवादिगृहकृत्यप्रवाहोपरमः, नापि प्राकट्येन तत्तोषणार्थं भूषादिधारणम्, नाप्यस्माकं बहवो भुजा यैस्तत्पादमेकमपि सुस्थिरीकृत्य वक्षःस्तनादिषु गाढमालिंगाम इति ॥ १५ ॥ आस्तां तावच्छ्रीकृष्णस्य विचित्रविहारप्राप्तायाः श्रीवृन्दावनवर्त्तिन्याः श्रीकालिन्द्याः श्रीमानसगंगायाश्च तथा तत्साहचर्य्येणान्यासामपि जगत्पावनीनामन्यकालीनानां नदीनां तादृशं भाग्यम्; धूमोद्भवस्याचेतनप्रायस्याकाशवर्त्तिनो मेघस्यापि भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः—दृष्ट्वेति। आतपे शरत्कालीनेऽपि व्रजस्य पशून् सर्व्वानिव गोमहिषादीन् सर्व्वैरेव गोपैः सहैकत्र तच्चारणात् सम्यक् तत्तदिच्छानुसारेण इतस्ततश्चारयन्तं तेषामनन्तानां बहुलदूरप्रदेशं व्याप्य चरतां सम्मेलनार्थं प्रहर्षार्थञ्च वेणुम् अनु बारम्बारम् उत् उच्चैः ईरयन्तं वादयन्तं श्रीकृष्णमिति शेषः। इति श्रमविशेषः सूचितः। छान्दसत्वाद्व्यवधानमदुष्टम्। यद्वा, वेणुमनु तद्वादनानन्तरमित्यर्थः। उदीरयन्तमनुवेणुमित्यस्यात्रैव वान्वयः, वेणुनादेनैवोदीरयन्तमित्यर्थः। प्रेम्णा प्रवृद्धः सन् सहचराणामपि तापनिवारणाय, कुसुमं मेघपुष्पं जलं 'मेघपुष्पं घनरसम्' इत्यभिधानात्, तस्य आवलीभिर्बिन्दुनिकरैः सहितेनेत्यर्थः। विशेषणे वा तृतीया, ताभिर्विशिष्टमातपत्रं स्वस्य वपुषा सजलदेहेनैव अम्बुदेत्युक्तेः। स्ववपुरेव छत्रं कृतवानित्यर्थः। छत्रमपि कुसुमावलीयुक्तं भवत्येव; एवं सख्येन निजदेहं घनं चार्पितवानित्यर्थः। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। यद्वा, प्रवृद्धे आतपे अस्माकं सख्युः प्रियस्य स्वस्य वपुषा आतपत्रं

व्यधात्, कुसुमावलीभिश्च प्रेम प्रीतिं व्यधात्, इति अम्बुदत्वेन प्राप्तं वृष्ट्यादिदुःखं निरस्तम्, अतोऽसौ परमधन्योऽस्माकञ्च तदानीं दर्शनाद्यसम्पत्तेर्भाग्यहीनतैवेति भावः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

आवर्त्तलक्षितो ज्ञापितो मनोभवेन भग्नो वेगो यासां ताः ॥ १५ ॥ सख्युः कृष्णस्य तुल्यवर्णत्वात्सखित्वम् ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अस्तां चेतनानां कथा इत्यभिप्रायेण काश्चिदाहुः—नद्य इति। तथा यया चेतनास्तद्वदचेतना नद्योऽपि तन्मुकुन्दस्य गीतं वेणुगीतम् उपधार्य श्रुत्वा उत्प्रेक्षामात्राभिप्रायकमिदम् आवर्त्तैः परिभ्रमैः लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन मन्मथेन भग्नो वेगो यासां ताः आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा ऊर्मय एव भुजास्तैः कमलान्युपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति ॥ १५ ॥ दृष्ट्वेति। तीरे यमुनातीरे आतपे इतिपाठान्तरं तदा तस्मिन् रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तम् अनुगवां पश्चाद्भागे वेणुम् उदीरयन्तम् वादयन्तं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा अम्बुदो मेघः उदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धः सख्युः श्रीकृष्णस्य लोकार्त्तिहरत्वनीलवर्णत्वादिसाम्यात्सखित्वव्यपदेशः उपरि इति शेषः कुसुमसमूहतुल्यैस्तुषारैः सह स्ववपुषा आतपत्रं व्यधात् चकार ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यद्यदा मुकुन्देन गीतं तदा तदुपधार्यं हृद्यवधार्यं आवर्त्तनाम्भसाम्भ्रमेण लक्षितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां तास्तथा ऊर्मय एव भुजाः आलिङ्गनेन स्पर्शलक्षणेन प्रमुदिता ऊर्मिभुजाः आलिङ्गनप्रमुदितोर्मिभुजाः तैः कमलमेवोपहारा यासां तास्तथा ॥ १५ ॥ अम्बुदः श्यामवर्णसाम्यात्सख्युः मुरारेः स्ववपुषाऽऽतपत्रं व्यधात् कुसुमावलीभिः नन्दनवनपुष्पराजिभिः सह। यद्वा, जलकणनिकरैः सह पुष्पं मेघपुष्पमित्यभिधानात् प्रेम्णा प्रवृद्धं समुद्रिक्तं हृषितं हृष्टं रोमाञ्चलक्षणं यस्य स तथा अभिमान्यपेक्षयैतत् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नद्य इति वेणुवाद्यमाधुर्येण जलस्तम्भोदेर्जलवृद्ध्या तत्चरणपीठपर्यन्तागमनात् एवमम्बुदागमनमपि ॥ १५-१६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

हे सखि ! नदीनां प्रवाहो हि स्वभावेन वेगवानेव। सोऽपि कृष्णवेणुगीतं श्रुत्वा स्तब्धो भवति; वयन्तु न तथेत्यात्मनोऽतिकाठिन्यं मन्यमानाः प्रौढा एवाहुः —नद्यस्तदेत्यादि। तदा तस्मिन्नेव समये यदा वेणुं वादयत इत्यर्थः। तन्मुकुन्दगीतं तन्मुकुन्दस्य गानमुपधार्य ऊर्मिभुजैः कमलोपहाराः सत्यः पादकमलं गृह्णन्ति कमलान्युपहारीकृत्य कमलैः पूजयित्वेत्यर्थः। कीदृश्यः ? आवर्त्तेन पयसां भ्रमेण लक्षितोऽनुमितो मनोभवस्तेन भग्नो वेगो यासां ताः। कीदृशम् ? आलिङ्गनेन नदीनामूर्मिभुजाश्लेषेण स्थगितं पुलिनेषु केवलपयः समीपे व्रजत ऊर्मिभुजाश्लेषणं यज्जायते, तत्सुखानुभवेन स्थगितमिति भावः। अतः स्वभावमपि नद्यो दूरीकुर्वन्ति, वयन्तु कुल-शीलादिस्वभावमद्यापि न त्यजाम इति विषादग्लानिर्दैन्यानि ॥ १५ ॥ हे सखि ! अस्माकं हृदयमश्मसारम्, यतो वने गाश्चारयन्तमातपेन क्लिश्यन्तं स्मृत्वापि न विदीर्यति तदनुकूलसेवां कर्तुं न शक्नुमः। मेघैः सह तस्य कः स्नेहानुबन्धः ? तथापि ते तत्कालोचितां सेवां कुर्वन्ति, न पुनर्वयं मन्दभाग्या इति मध्यमा ऊचुः—दृष्ट्वेत्यादि। आतपे धर्मे व्रजपशून् सञ्चारयन्तं दृष्ट्वा स्ववपुषा आतपत्रमम्बुदो मेघो व्यधाद् विदधे, गाश्चारयन् यत्र यत्र याति तत्र तत्र तदुपरि गच्छन्नात त्रायते स्म। कीदृशः ? प्रेम्णा प्रवृद्धोऽत एवोदितः प्रफुल्लः पुलकितः। सख्युर्मित्रस्य श्यामत्वात् सह रामगोपैः। न केवलमेकस्यैव, तस्य तत्सम्बन्धात् रामादीनामपि छत्रायते स्मेत्यर्थः। कुसुमावलीभिर्जलकणैरुपलालितमित्यातपत्र विशेषेणं मुक्ता-प्रालम्बशोभितं छत्रमिव। उदित उच्चं गतो वा, निकटश्चेत्तदा उपरिस्थितानां विमानचारिणां देवानां दर्शनबाधात्। कीदृशम् ? अनुमेघगर्जितसदृशं वेणुमुदीरयन्तम्; हर्षेण मेघो यथा मन्दं मन्दं गर्जति, तत्समानं वेणुं वादयन्तमित्यर्थः। अनु सदृशार्थः, तदस्य प्रेमैव प्रेमा यत् स्वदेहमेवातपत्रीकरोति। अस्माकं प्रेमाणं तु धिगिति निर्वेदः ॥ १६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

हे सखि ! नदीनां प्रवाहः स्वभावेन वेगवानेव, तमपि नद्यो विष्टम्भयन्ति, स्वभावमपि दूरीकुर्वन्ति, अस्माकं धैर्यलज्जादित्यागे का शङ्केति सोदाहरणं पुनः प्रौढा ऊचुः-नद्यस्तदेति। तदिति सर्वनाम्नो बुद्धिस्थवृत्तित्वेऽस्मदविधार्य यत्शङ्केति तमित्यर्थः। आवर्त्तलक्षितो यो मनोभवो मनोरथः कामो वा तेन भग्ना वेगा यासाम्, ऊर्मय एव भुजा उत्कण्ठातिशयादभुजानां बाहुल्यमुचितमेव। पादकमलं विधिनष्टि-आलिङ्गन-स्थगितम्, कृष्णोऽपि तदभिप्रायं ज्ञात्वा पादपद्मं स्थगितं करोति। कमलान्येवोपहारा

उपायनानि यासाम् तस्माद्वयमतिप्रवाहरूपगेहाद्यावेशं स्थगयित्वा निःसङ्कोचमेवास्य चरणमर्चयाम इति वस्तुमत्यभिलाषोत्सुक्यानां साङ्कर्यम् ॥ १५ ॥ हे सखि ! अस्माकं हृदयमतिकठिनम् वने गोश्चारयन्तमातपे क्लिश्यन्तं स्मरन्त्योऽपि न दीर्याम इति मध्या ऊचुः—दृष्ट्वातप इत्यादि । मेघानामनेन सह कः सम्बन्धः, केवलं वर्णसाम्येन सौहृदम्, तथापि स्ववपुषेवातपत्रायते; अस्माकन्तु विविध एव सम्बन्धः तथापि स्ववपुरस्य सेवोपयिकं नाकारीत्यहो दौरात्म्यमस्माकम् । ननु कथमेव तथा न क्रियते ? तत्राहुः—सहरामगोपैर्गुरुगौरवं त्यक्त्वैव वा सहैव वनं गत्वा सेवामहे, तदपि लयं गच्छन्ति, यतो रामश्च गोपश्च सङ्गे तिष्ठन्तीति भावः । कुसुमप्रायैः शीकरैर्जलस्य मेघपुष्पत्वात् । स्ववपुषेत्यस्य हेतुः—प्रेम्णा प्रवृद्ध उदित उत्फुल्लः पुलकित इत्यर्थः । सख्युरिति केवलस्य तस्यैवं प्रेम्ण एकनिष्ठत्वात्; अथवा तत्सम्वत्धात् सहरामगोपैरित्यनुषङ्गः । तदस्माकमनुरागमपि धिक् यदत्र सति गुर्वादिगौरवमिति निर्वेदग्लान्यभिलाषोत्कण्ठ्यानां शावल्यम् ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च, कृष्णस्य सर्वमोहनत्वेपि नारीजातिमात्रमोहनत्वमत्यधिकमित्याहुः—नद्य इति । आवर्त्तैः परिभ्रमैर्लक्षितेन । मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ताः अत एव धैर्य्यलज्जाद्यपगमनात् समुद्रं स्वपतिं प्रत्यगमनाज्जलातिवृद्ध्या ऊर्मय एव भुजास्तैर्यदालिङ्गनं तेन स्थगितं सम्वृतं निश्चलीभूतं कूलस्थितस्य मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति स्वाङ्गेषु धारयन्ति कमलं पद्मामुपहरन्त्यः । यद्वा, सुशीतलं सुगन्धजलं "सलिलं कमलं जलम्" इत्यमरः स्वीयजलेन क्षालनार्थं पाद्योपहारं प्रददत्य इवेत्यर्थः । किम्वा कमलं स्वसर्वसम्पत्तिस्तामपर्यन्त्यः स्वमरणं प्रीणयितुमिति भावः । तासां पतिः समुद्रोऽपि तानेव द्वेष्टि यथाऽस्मत्पतयोऽस्मानित्यहो वयमेवाधन्या इतिभावः ॥ १५ ॥ हन्तहन्त सख्यभाववन्त्योऽप्यात्मानं कृतार्थयन्तीत्याहुः—दृष्ट्वेति । प्रेम्णैव प्रवृद्धः यावत्या स्ववृष्ट्या गोगोपालसहितस्य तस्य तापनिवारणं भवेत्तावतीवृद्धिं प्राप्त इत्यर्थः । कुसुमावलीभिरिति "मेघपुष्पं घनरस" इत्यभिधानात् जलकणावलीभिः सह वपुषा सख्युः कृष्णस्येति रसवृष्ट्या च सन्तापहारित्वेन सवर्णत्वेन स्वीमविद्युद्गर्ज्जनाभ्यां पीतवस्त्रवेणुनादयोः साम्यदृष्ट्या च सखिभावमभिमन्यमानः आतपत्रं तुषारवर्तिच्छत्रं व्यधादित्याकाशस्थो मेघोपि सुखयति केवलं वयमेव तं सुखयितुं न प्राप्नुम इति धिगस्मानिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—हे सख्यः ! नद्यस्तदाभिमानिन्यो देवताः यदा तासांतीरे श्रीकृष्णो वेणुना गायति तदा वेणुनिसृतं मुकुन्दगीतमुपधार्य्य श्रुत्वा आवर्तलक्षितेन भ्रमणद्योतितेन मनोभावेन भग्नो वेगो यासां ताः आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथाऊर्मिरूपैर्भुजैः कमलोपहाराः कमलान्युपहरन्त्यः मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति अहो ता धन्या इति भावः ॥ १५ ॥ अन्या आहुः—रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तं व्रजात् पशून् वने निवेशयन्तम् वेणुमुदीरयन्तम् अत एव आतपे दृष्ट्वा उदितोऽम्बुदः प्रेम्णा प्रवृद्धः सन् मौक्तिकादिविलम्वस्थानीयाभिः कुसुमावलीभिः सह स्ववपुषा सख्युः श्रीकृष्णस्य घनश्यामत्वेन सोपमस्य स्वतनुरूपमातपत्रम् व्यधात् ॥ १६ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

एवं वर्णयन्त्यो रागौत्कण्ठ्येन विवशा स्वकीयमेव भावमचेतनेष्वपि समारोपयन्त्य आहुः—नद्य इति । अथ तृतीये यामे वयस्यानां सुखविशेषं जलक्रीडां विधाय वन्यपुष्पैः शृङ्गाररचनाः निर्माय व्रजगमनोन्मुख उत्थाय तत्रैव स्थितो गवां सङ्कलनाय निजरूपावलोकजीवनानां परमासक्तानां नानाविनोदजननाय तत्तन्नामग्राहं निजवेणुं वादयति—

हिही गङ्गे यमुने ! सरस्वति शुभे कालिन्दि सन्नर्मदे हिही । रोहिणी मोहिनी सदयिते ही धर्मदे शर्मदे ! ॥

कालिन्दीमानसगङ्गाद्याः तदा वादनसमकालमेव परममोहनता उक्ता इति सर्वा अपि लोकवेदमर्य्यादा मोचयतीति मुक्तं ददातीति तादृशं वेणुगीतं वैवश्याद्वेणुपदानुपादानम् उपधार्य सावधानं श्रुत्वा आलिङ्गने स्वेषामयोग्यतामनास्थगितत्वम् । यद्वा, तटगतस्य प्रतिविम्वमात्मगनमालिङ्ग्य स्थगितत्वम् यद्वा, म्रियते विधुरजनोऽनेनेति मुरः कामस्तस्यारिः कोटिकन्दर्पजयी साक्षान्मन्मथमन्मथः श्रीकृष्णः नायं च कामवतीनां वशवर्त्ती किन्तु प्रेमवतीनां नद्योहि मोहनगीतमाकर्ण्य स्वभावेन समुद्रपतिसम्मुखं धावन्त्योऽपि ततः परावृत्य आवर्त्तेन अम्भसां चक्रेण भ्रमेण लक्षितं मनोभवेन भग्नो वेगो यासां ताः सकामा इव स्वकीयानि हृदयकमलान्येव उपहरन्त्य आलिङ्गनोन्मुखाः सत्यः मुरारितया तस्यौदासीन्यमालक्ष्य विलज्जिताः पादयुगलं गृह्णन्ति इयं सिद्धविषयोत्प्रेक्षा अयमभावः श्रीकृष्णवेणुगतिप्रभावान्नीरसास्तरुलतादयः सरसा भवन्ति सरसाश्च मधु स्रवन्ति शिला अपि द्रवन्ति नद्यश्च स्तम्भमनुभवन्ति आवर्त्तेन द्विगुणं प्रवाहमभिवर्द्धयन्तीति ॥ १५ ॥ अथ पूर्वोक्ताभ्यो विशिष्टा सख्यरसाविष्टा गोष्ठी सङ्गुप्तहते तत्र श्रीकृष्णविषयं सख्यं प्रशंसन्ति—दृष्ट्वेति । अथातीते तृतीये यामे यामेव रीतिमुद्दिश्य साक्षा क्रीडा विरचिता तद्भाववत्वतया

चावश्यकतया च गवां सङ्कलनमपि कर्त्तुमुचितं मत्वा वन्यकुसुमादिभिः कृतानल्पाकल्पो गिरिशिखरमारुह्याधित्यकायां वा कदम्बस्कन्धशाखामवलम्ब्य त्रिभङ्गभङ्ग्याऽवस्थितव्रजाभिमुखो वनशोभां निभालयति—तदेकजीवना निमेषासहाः सहचराश्च तद्रूपमाधुरीमास्वादयन्तोऽप्यतृप्ततया तदग्रेऽवस्थिता दिवातप्तशिलातापमपि न गणयन्ति स्म तदसहमानतदेकप्राणः श्रीकृष्णो दिवाकरतापोपशमनाय ससुखं व्रजगमनाय नित्यदा कृतसाचिव्यं सुहृद्विशेषं वारिदमाकारयन्नुच्चैर्मेघमल्लारमालपयन्वेणुं वादयति तेनाकृष्टो वारिवाहस्तावदेवाभिवर्षति यावता गिरिशिलाशैत्यं भवेदिति व्रजपशूनिति चारणावश्यकत्वं तदनुरोधेन शनैर्गमनं तापभूयस्त्वञ्च दृष्ट्वा विद्युन्नेत्रैः रामेण गोपैस्सहेति बहुतरच्छायापेक्षा महोभाग्यमम्बुदस्य येन वर्णोऽपि तादृश एव लब्धः समये साहाय्यमप्याचरति, अयमपि घनश्यामः सोऽपीत्यादि साम्यात्सख्युरिति ॥ १६ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

सुखदा हंसानिकामाह—नद्य इति । म्रियते मधुरजनोऽनेनेति मुरः कामः तस्यारिः "साक्षान्मन्मथमन्मथः" इति वक्ष्यमाणत्वात् कन्दर्पदर्पहेति स्वामिनाऽपि वक्ष्यते एवं च नायं कामवतीनां वशवर्त्ती किन्तु प्रेमवतीनामिति सूचितम् आलिङ्गनायोत्थापितभुजानां तासां कामकृतं स्थगितत्वमध्यवस्यारिपदोपादानमनादरात् इदमत्र कृतं नद्यो हि स्वभावेन समुद्राख्यपतिमभिधावन्त्यो मोहनगीतमाकर्ण्य ततः परावृत्य स्वकीयानि हृदयानि एव रागवन्ति कमलानि उपहृत्य आलिङ्गनोन्मुखाः सत्यः मुरारितया तस्यौदासीन्यमालक्ष्य लज्जितास्तदा पतिं त्यक्त्वा न वयं कामवत्यः किन्तु प्रेमवत्य इति सूचयन्त्यः पादयुगलं गृह्णन्तीति सिद्धविषयोत्प्रेक्षा । यद्वा, मुरारेरिति "नारायणसमो गुणैः" इति गर्गोक्तेः । यद्वा, मुरो नामासुरः सदाशिवं समाराध्य यस्य यस्योरसि हस्तं विदध्यात् स म्रियेतेति लब्धवरो लोकभयङ्करो यदासीत् तदा छद्मवेषेण श्रीभगवता पृष्टः तेन स्वहृदये हस्तं निधाय मुरोऽहमिति तेनैव हत इति वामनपुराणे प्रसिद्धम् तद्वामनयोक्तम्—

"मुरः क्लेशे च सन्तापे कामभोगे च कर्मणाम् । दैत्यभेदे ह्यरिस्तेषां मुरारिस्तेन कीर्त्यते" ॥

इति ब्रह्मवैवर्तोक्तवासनयोक्तं मुरारिः कामजन्यसन्तापनाशकस्य पादयुगलमिति सम्बन्धः—

"मुकुं भक्तिरसप्रेमवचनं वेदसम्मतम् । यः स्वं ददाति भक्तेभ्यो मुकुन्दः सो हि कीर्त्तितः" ॥

तदा तत्क्षणमेव वादनसमकालमेवेति परममोहनतोक्ता उपधार्य्य सावधानं श्रुत्वा वैवश्याद्वेणु पदानु पादानमिति यावत् यद्वा, आलिङ्गनेन आश्लेषाभिलाषेण स्थगितं यथा स्यात्तथा यद्वा. तटगतस्य तस्य प्रतिबिम्बमात्मगतमालिङ्ग्य स्थगितत्वं यद्वा, आलिङ्गनाद्धेतोः स्थगितं पादयुगलमिति सम्बन्धः यद्वा, एवं वर्णयन्त्यो रागोत्कण्ठयात् विवशाः स्वकीयमेव भावमचेतनेष्वपि समारोपयन्त्य आहुः-नद्य इति । अयं भावः श्रीकृष्णवेणुगीतप्रभावात् नीरसास्तरुलतादयः सरसा भवन्ति सरसाश्च मधु स्रवन्ति शिला अपि द्रवन्ति नद्यश्च स्तम्भमनुभवन्ति परिवर्त्तनेन द्विगुणप्रवाहमभिवर्द्धयन्ति तदा तद्गतकमलान्यपि तद्गतपादयुगलं स्पृशन्ति तत्रेदमवसितम् ॥ १५ ॥ तिलोत्तमा विचित्रवसनामाह-दृष्ट्वेति ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पराः प्राहुः—नद्य इति । आस्तां ज्ञानवतां कथा नद्योऽप्यम्बुप्रवाहात्मानस्तदा मुकुन्दगीतं तदुपधार्य श्रुत्वा आवर्तैरम्बुपरिभ्रमैर्लक्षितेन मनोभवेन स्मरेण भग्नो वेगो यासां ताः अत एव धैर्यलज्जादिविगमात् स्वपतिमर्णवं प्रत्यगमनाज्जलाभिवृद्ध्या ऊर्मय एव भुजास्तैर्यदालिङ्गनं तेन स्थगितं निश्चलीभूतं तटस्थितस्य मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति स्वदेहेषु धारयन्ति कमलानि उपहारो यासां तान्युपायनानि ददत्य इत्यर्थः । तथा च लज्जादियोगात्तद्वञ्चिता वयं मन्दभाग्या इति ॥ १५ ॥ अन्याश्चाहुः दृष्ट्वेति, अम्बुदो मेघोऽप्यातपे रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तं कृष्णं दृष्ट्वा तदुपर्युदितः प्रेम्णैव प्रवृद्धो यावत्या तदातपनिवृत्तिः स्यात्तावतीं वृद्धिं प्राप्तः सन् रसवर्षित्वेन तापहारित्वेन सवर्णत्वेन च सख्युर्मित्रस्य कृष्णस्य स्ववपुषा आतपत्रं छत्रं व्यधात् कीदृशं कुसुमावलीभिः "मेघपुष्पं घनरस" इत्यभिधानात् सूक्ष्माभिरम्बुकणाभिर्विशिष्टमित्यर्थः । तथा चाकाशस्थो मेघोऽपि तमनुकूलयति वयन्तु तदानुकूल्यहीना निर्भाग्या इति ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे अम्ब मातरस्मिन्वने ये कृष्णेक्षणा विहगाः । विहायसो विह चेति विहादेशो गमेर्डच् । विहायसो विहादेशो वक्तव्य इति विहगो रुचिरप्रवालान्मनोहरपल्लववतो द्रुमभुजान्वृक्षस्कन्धानारुह्य मीलितदृशो विगतान्यवाचो विगतास्त्यक्ता अन्या वाचो वाण्यो यैस्ते तथा तदुदितं कृष्णोद्भूतं कलं मधुरं वेणुगीतं शृण्वन्तीति प्रायो मुनयो बताश्चर्यं । कृष्णेक्षणत्वविगतान्यवचस्त्वादिभिः साम्यात्तत्त्वोत्प्रेक्षणं युक्तमिति भावः ॥ १४ ॥ यदा मुकुन्देन गीतमिति मुकुन्दगीतं तत्तदा नद्य उपधार्यावर्तेनाम्भसां भ्रमेण लक्षितः सूचितो मनोभवस्तेन भग्नो वेगः प्रवाहो यासां ता आलिङ्गनप्रमुदितोर्मिभुजैः । आलिङ्गनमत्र स्पर्शनमात्रं । तेन प्रमुदिता ऊर्मय

एव भुजास्तैर्मुरारेः पादयुगलं कमलोपहाराः कमलान्येवात्मोत्थान्युपहाराः पूजासाधनानि यासां ता गृह्णन्ति भक्त्या अप्येवमिति तथा नद्यो व्यदृश्यन्तेति भावः ॥ १५ ॥ अम्बुदो मेघः सख्युः कृष्णस्य सावर्ण्यस्वरादेरातपे रामश्च गोपास्तदितरे च तैः सह व्रजपशूं श्चारयन्तं दृष्ट्वा वेणुरवाकर्णनमपि भाविकार्यहेतुरिति ज्ञेयं । प्रेमप्रवृद्धं हृषितं यस्य स समञ्चितरोमाञ्चो हृषेर्लोमस्वितीट् । कुसुमावलीभिः स्वेन सह नभस्वदानीतपुष्पपङ्क्तिभिः सह स्ववपुषा पूषाच्छादकेनातपत्रं व्यधाच्चकार ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाह नद्यस्तदेति, यदा मुनयो भगवतानुगृहीता वेणुद्वारा सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्तस्तदा नद्योपि वयमपि कृतार्था भविष्याम इति तदुपधार्य मुनीनां ज्ञानोपदेशं निश्चित्य तत् प्रसिद्धं मोक्षदातुर्गीतं श्रुत्वावर्तेन भ्रमणेन मूर्च्छया लक्षितो योयं मनोभवस्तेन स्तम्भजनकेन भग्नो वेगो यासां, स्वाभाविकी गतिः कुण्ठिता, मनोभवोत्र विवेकः, अचेतनप्रायाणामपि भगवत्सम्बन्धाकाङ्क्षेत्याहुः, न स्थितिमात्रेण तदासक्तिर्भवत्यौषधादिनापि तथा सम्भवादत आहालिङ्गनार्थं स्थगितं स्थिरीभूतं भगवतः पादयुगलं कमलोपहाराः सत्य ऊर्मिरूपैर्भुजैर्गृह्णन्ति, स्वहृदयकमलं भगवच्चरणारविन्दे दत्वा तत् स्वयं गृह्णन्ति नदीनामपि देवतात्वात् ताभिः सह नान्या लीला सम्भवत्यत आलिङ्गनार्थमेव स्थितिः, प्रयोजनार्थमुक्तं मुरारेरिति, मुरो हि जलदोषात्मकाविद्यारूपस्तस्यारित्वादवश्यं चरणसम्बन्धे नदीगतामविद्यां नाशयिष्यति ॥ १५ ॥ मेघानामाहुर्दृष्ट्वेति आतपे शरत्कालसम्बन्धिनि व्रजपशून् सर्वदा चाभ्यासयुक्तान् सर्वदा रञ्जका गोपा अभितो रतिवर्धको राम एतैः सहितमेतैर्वा सञ्चारयन्तं सर्वसामग्रीसहितं देवतावेदसहितं धर्मसहितं तदनु वेणुमुदीरयन्तं सर्वेषामाधिदैविकानुद्दीपयन्तं, सर्वशक्तिसहितो हि ताभिः सह क्रीडति तदावश्यं छायापेक्षितेति प्रेम्णा भगवत्स्नेहेन सख्यपर्यन्तं गतेन तादृशेन प्रवृद्धो मेघः स्ववपुषा सख्युरातपत्रं व्यधात् प्रवृद्धमुदित इतिपाठे प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्च, प्रेम प्रवृद्धं यथा भवति तथा वोदितः, अतः कुसुमावलीभिः सूक्ष्मस्वकणिकाभि"र्मेघपुष्पं घनरस" इतिकोशात्, पूर्वमनेन सख्यपर्यन्तं भक्तिः कृतेदानीमात्मनिवेदनं कृतवान्, प्रेम्णैव प्रवृद्धः श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तमागतः स्नेहवशाद् वा स्थूलो जातः, कामरूपिणस्ते यथाभिलषितं रूपं कुर्वन्ति, प्रकृते भगवत्स्नेहाद् यथाभिलषितं रूपं कृतवान् यावता सर्वेषां छाया भवति, ननु स्वस्यापि क्लेशो भवतीति किं दुःखेन तथा कृतवान् ? नेत्याह मुदित इति, यावज्जन्म यो भक्त्यैव वर्धते सोन्ते कृतात्मनिवेदो भवति, लोकोपकारित्वान् नोलत्वाज् जीवनदातृत्वाच्च सख्यमिति केचित्, सर्वस्वमपि दत्तवानिति ज्ञापयितुं कुसुमावलीभिः सहेत्युक्तं, अनेन साक्षाल्लक्ष्म्या सह भगवतः क्रीडा सूचिता, अत एवाग्रे पुलिन्दीनां स्तोत्रं भविष्यति, गोपैर्गोचारणे वलभद्रेण रक्षा वेणुनादेन प्रबोधनं पश्चाद् रमणमिति शेषवदस्यापि सखित्वात् तादृशेपि समये छायाकरणं युक्तमेव ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नद्यस्तदेत्यत्र, सर्वतत्त्वं ज्ञातवन्त इति । भगवत्स्वरूपात्मकरसतत्त्वं ज्ञातवन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नद्यस्तदेत्यत्र तदुपधार्येत्येतावत आवृत्तिरित्याशयेनाहुर्निश्चित्येति, श्रुत्वेति अत्रत्यकामस्वरूपमाहुर्मनोभवोत्र विवेक इति, विवेकसहितोत्र, मनोभवो न तु देवस्त्रीणामिव नुन्नसारत्वजनकः, तथा सति तासामिव नदीनामपि भगवत्यनागमनं स्यादिति भावः, विवेक इति "अर्श आद्य"जन्तम्, विवेकसहित इत्यर्थः, नदीनामपि देवतात्वादिति स्वीकृतमानुषभावस्य तासामपि मानुषत्वेनावतारं विना भोग्यत्वाभावादित्यर्थः, अप्सरसामपि देवीत्वात्देवानागमनमुक्तमित्यपिशब्दः नदीगतामविद्यामिति भगवदनुपयोगिदेहसम्वन्धमित्यर्थः ॥ १५ ॥ दृष्ट्वेत्यत्र सर्वशक्तीति ज्ञानक्रियाशक्तिसहित इत्यर्थः ॥ १६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नद्यस्तदेत्यस्याभासे भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाहेति नद्यादिष्वित्यत्रादिपदेन सरोवरह्रदा गृह्यन्ते, यद्यपि मूले नदीपदमात्रमस्ति तथापि व्रजे नद्यन्तरस्याप्रकटत्वात् केवलं श्रीयमुनाया एव विराजमानत्वान् नद्य इतिबहुवचनेन सरोवरादीनां ग्रहणमिति ज्ञापयितुं नद्यादिष्वित्युक्तम् ॥ १५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'आस्तां चेतनकथा, अचेतनवृत्तं श्रृणुत' इत्याशयेनान्या आहुः—नद्य इति । तदा नद्यः वेणुनादसमये मुकुन्दस्य वेणुगीतमुपधार्य श्रुत्वा आवर्तैः परिभ्रमैर्लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ताः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा ऊर्मय एव भुजाः तैः कमलोपहाराः कमलान्यपहरन्त्यः, मुरारेः श्रीकृष्णस्य पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति ॥ १५ ॥ आतपे घर्मे रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् संचारयन्तमनु गवां पश्चाद्भागे वेणुमुदीरयन्तं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा प्रथमं तदुपरि उदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धश्च अम्बुदो मेघः कुसुमावलीभिः पुष्पवृष्टिभिः सह सख्युस्तस्य वपुषा आतपत्रं व्यधात् छत्रं विहितवान् । लोकार्तिहरणशीलत्वश्यामत्वादिसाम्यात् मेघस्य कृष्णसखित्वं बोध्यम्, तथा देवैः कृता पुष्पवृष्टिर्मेघकृतत्वेनोक्तेति च बोध्यम् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नद्य इति ॥ आस्तां चेतनानां कथा। नद्योऽपि तदा वेणुनादसमये मुकुन्दस्य वेणुगीतमुपधार्य श्रुत्वा आवर्त्तैः परिभ्रमैर्लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगो यासां ताः आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा ऊर्मय एव भुजाः तैः कमलोपहाराः कमलान्युपहरन्त्यः मुरारेः श्रीकृष्णस्य पादयुगलं गृह्णन्ति धारयन्ति। त्यक्तलज्जाधैर्यतया समुद्रं स्वं पतिं प्रत्यपि न गच्छन्ति॥ १५॥ दृष्ट्वेति॥ आतपे घर्मे रामेण गोपैश्च सह व्रजपशून् सञ्चारयन्तमनु गवां पश्चाद्भागे वेणुमुदीरयन्तं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा विद्यमानैरिति शेषः। प्रथमं तदुपरि उदितः पुनः प्रेम्णा प्रवृद्धश्च अम्बुदो मेघः कुसुमावलीभिः पुष्पवृष्टिभिः सह सख्युः कृष्णस्योपरि स्वस्य वपुषा आतपत्रं व्यधात् छत्रं विहितवान्। लोकतापहरणादिसाम्यात् मेघस्य कृष्णसखत्वम्। देवैः कृता पुष्पवृष्टिर्मेघकृतत्वेनोक्ता। यद्वा। "मेघपुष्पं घनरसः" इति जलस्य मेघपुष्पत्वकथनात् जलकणा एव पुष्पत्वेनोक्ताः॥ १६॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

संप्रति चेतनाचेतनानामपि परमचेतकेन श्रीकृष्णस्वरूपेण तच्छब्दस्पर्शादिना च स्थावराणामपि जंगमभावं सूचयंत्यः धन्याः प्राहुः नद्य इति नद्यः तन्मुकुंदगीतं उपधार्य आकर्ण्य तदा श्रवणसमये आवर्त्तैः जलभ्रमरैः लक्षितः सूचितो यो मनोभवः कंदर्पस्तेन भग्नो वेगः प्रवाहरंहो यासां ताः कमलोपहाराः कमलान्येवोपहारा उपायनानि यासां ताः उपहारान् अर्पयन्त्यः सत्यः ऊर्मयस्तरंगा एव भुजास्तैः मुरारेः पादयुगलं आलिंगनेन स्थगितं वेष्टितं यथा भवति तथा गृह्णंति बिभ्रति अतो नद्योऽपि पुरुषोत्तमस्संबंधेन धन्या इत्यभिप्रायः॥ १५॥ श्रीकृष्णे मेघस्यापि प्रेमोद्गमं वर्णयंत्यः प्राहुः दृष्ट्वेति। आतपे रामगोपैः सह पशून् चारयंतं वेणुं वंशीं उदीरयंतं वादयंतं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा अनु पश्चात् अतिसुकुमारमूर्तिं प्रात्यातपव्यथाऽसहनतया लोकपालनादिस्वभावसादृश्यात् सख्युः श्याममूर्त्तेर्वसुदेवनंदनस्योपरि उदितः प्रादुर्भूतः अंबुदो मेघः प्रेम्णा प्रवृद्धः सन्। कुसुमावलीभिः प्रसूनपंक्तिसदृशैर्जलबिंदुभिः सह स्ववपुषा अभ्रैः छत्रं व्यधात् कृतवान् अतो मेघस्यापि परमभाग्यमित्याशयः॥ १६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

आस्तां चेतनानां कथा इत्यभिप्रायेणाहुः॥ नद्य इति॥ तदा तस्मिन् समये, नद्योऽपि, यथा चेतनास्तद्वदचेतना न्यपीत्यर्थः। तन्मुकुन्दगीतं श्रीकृष्णसंबन्धि वेणुगीतं, उपधार्य श्रुत्वा, उत्प्रेक्षामात्राभिप्रायकमिदम्। आवर्त्तैः परिभ्रमैः लक्षितः सूचितो यो मनोभवः कामस्तेन भग्नो वेगो यासां ताः एवंभूताः सत्यः, आलिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा, ऊर्मयस्तरङ्गा एव भुजास्तैः, कमलोपहारा कमलान्युपहरन्त्यः सत्यश्च, मुरारेः श्रीकृष्णस्य, पादयुगलं, गृह्णन्ति धारयन्ति॥ १५॥ दृष्ट्वेति॥ आतपे रामश्च गोपाश्च तैः सह, व्रजपशून् संचारयन्तं, अनु गवां पश्चाद्भागे, वेणुं उदीरयन्तं, कृष्णं दृष्ट्वा, अम्बुदो मेघः, उदित उदयं प्राप्तः, तदुपरीति शेषः। पश्चात् प्रेमप्रवृद्धः स्नेहेन वृद्धिं प्राप्तः, एवंभूतः सन्, सख्युः श्रीकृष्णस्य, लोकार्त्तिहरत्वनीलवर्णत्वव्यपदेशात्सख्युरिति कथनम्। कुसुमावलीभिः कुसुमसमूहतुल्यैस्तुषारैः सह, स्ववपुषा आतपत्रं छत्रं, व्यधाच्चकार॥ १६॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नद्य इति। १०.२१.१५.

> नद्यस्त्विमा बहुजडस्थितयोऽपि जाता अस्मन्मनोभिलषिताऽतुलभोगभाजः।
> याः श्रीशगीतमविगीतमगाधसारं ज्ञात्वैव तत्पदयुगं द्रुतमन्वगृह्णन्॥ २६॥

दृष्ट्वेति। १०.२१.१६.

> दृष्ट्वाऽऽतपस्थितमथाच्युतमात्मरूपं स्वात्मातपत्रमकरोदिति युक्तमब्दः।
> कामातपत्रमपि कृष्णघनं वयं तु प्राप्याप्यनातपजुषो न सखीति चित्रम्॥ २७॥

कृष्णप्रिया

प्रिय सखी! श्रीवृन्दावन के पक्षीवृन्द की महिमा सुनो! अब सरिताओं की स्थिति को सुनिए। जब श्रीविहारी वंशी बजाते हैं और नदी संज्ञक गौओं को, अयि यमुने! अयि सरस्वती! अयि गङ्गे! यह नाम लेकर बुलाते हैं तब समान संज्ञक नदियाँ, श्रीमुकुन्द भगवान के मुख कमल से निज निज नाम सुनकर और अति मधुर वेणुनाद सुनकर उनके हृदयों में उत्पन्न हुई कृष्णमिलन की एवं श्रीकृष्ण समालिङ्गन की उत्कट लालसा का दर्शन होता है, इसी वेगावेश के ही कारण उनका प्रवाह अटक गया, प्रवाह रूकने से उसमें होने वाले पानी के भँवर स्थिर हो गए। अब ये सरिताएँ अपनी तरङ्गों के हस्तो से प्रभुजी के चरणकमलों को पकड़कर कमल-पुष्पों की पूजा चढ़ती है और श्रीठाकुरजी का आलिङ्गन कर रही है। सखी री! मुझे तो ऐसा लगता

है कि प्रभु के श्रीचरणों में अपने हृदयों को ही निछावर करती है ॥१५॥ चलो सखी ! और बात सुनो, कविवृन्द कहते हैं कि मेघ संत है, उनका सर्वथा सुयोग्य है, देखो ? जब श्रीमेघ ने देखा कि श्रीव्रजविहारीजी और श्रीबलरामजी ग्वाल-बालों के साथ तेज धूप में गौएँ चरा रहे हैं और वंशी बजाते जा रहे हैं, तब उन बादलों के हृदय में प्रेम उमड़ आता है। वे मेघ मंडराने लगते हैं और वे श्यामल मेघ मेघश्याम श्यामसुन्दरजी के श्रीविग्रह पर अपने शरीर को ही छत्र बनाकर आकाश में तंबु की नाई तान देते हैं। सखी मैं मेघ की अधिक क्या स्तुति करूँ ! बलभद्रजी श्री श्याम सुन्दर जी के श्री अङ्गों की और गो-गोपवालों के शरीर की शीतलता के लिए नन्हो नन्ही फुहियों की वृष्टि करते हैं तब तो ऐसा मालुम हो रहा है कि उन सबके उपर वकुल कुन्द आदि श्वेत कुसुमों की वृष्टि हो रही है ॥ १६ ॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥ १७ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—दयितास्तनमण्डितेन तृणरूषितेन उरुगायपदाब्जरागश्रीकुंकुमेन तद्दर्शनस्मररुजः पुलिन्द्यः आननकुचेषु लिम्पन्त्यः तद् आधि जहुः "तदा ताः" पूर्णाः ॥ १७ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

साहंकारमाहुः । पूर्णा कृतार्थाः पुलिन्द्यः शबरांगनाः । कथमित्यत आहुः । प्रथमं दयितानां स्तनेषु मंडितेनानुलिप्तेन पुनः रतिसमये उरुगायस्य श्रीकृष्णस्य पदाब्जयो रागेणारुण्येन श्रीः कांतिर्यस्य तेन कुंकुमेन । पुनस्तस्य वनस्थलीषु चंक्रमणेन तृणे रूषितेन लग्नेन तद्दर्शनेन तथाभूतस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुकु तापो यासां तास्तेन कुंकुमेनाननेषु कुचेषु च कामतः लिंपंत्यस्तदाधिं कामव्यथां जहुः । अतस्ताः कृतार्था धिगन्या मादृश्यो या एवंभूतमप्याधिशमनं न लभंत इति भावः ॥ १७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

साहंकारम् सेर्ष्यम् "परेश्वरे नाहंकार ईर्ष्याहंक्रिययोः स्त्रियाम्" इति शाश्वतः । कथमस्याग्रे ज्ञातमिति योज्यम् । इत्य इत्यत्र । आहुरित्यस्य प्रकारमिति शेषः । तस्य श्रीकृष्णस्य । चङ्क्रमणेन पुनःपुनर्गमनेन । तद्दर्शनेन तदाधिमित्यादिषु व्यवहितस्यापि स्मरपदस्य तच्छब्देन परामर्शः "दर्शते राजमातंगास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः" इतिवद्धयेयः । अतः कामव्यथात्यागात् । ताः पुलिन्द्यः कृतार्थाः कृतकृत्याः । एवम्भूतम् कामव्यथारूपम् आधिशमनं मनःपीडाशांतिम् । इति भाव इति । आधिनिवृत्त्यैव शांतिर्नान्यथेति तात्पर्यम् ॥ १७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ निजभावप्रकटनमयेन पद्येन निजरसवर्णनं सङ्गतिस्त्वेवम् आस्तां तावत्तत्सखस्य मेघस्य भाग्यम् अन्त्यजस्त्रीपार्श्वे किम्वर्ण्यमित्याहुः—पूर्णा इति । तत्र पूर्णा इत्यनेन अहो वयमपि यथा कथञ्चित्तत्सम्बन्धेन तथा भवितुं पारयामः । किन्तु नास्ति तादृग्भाग्यमिति पुलिन्द्य इत्यनेन तादृशीभ्योपि शोच्या वयमिति उरुधा वेणुना गायतीत्युरुगाय इत्यनेन निजाधैर्ये तत्कर्तृकत्वं विशेषोप्यस्तीति पादाब्जयोः रागरूपं यत्तत एव हेतोरस्माद्दृशैकगम्यकान्त्यामोदादि श्रीविशेषयुक्तं च यत् तेन कुङ्कुमेनेत्यनेन तादृशपदाब्जस्पर्शाय मनः स्पृहयतीति दयिता तादृग्नागरस्य तादृशीं विना स्थितेरसम्भवात् या काचित् प्रेयसी निगूढं विहरेत् तस्याः स्तनाभ्यां मण्डितं शोभाविशेषमानीतचरं यत्तेनेत्यनेन तस्यास्तु तत्तद्विलासात्मकं तादृशं भाग्यमस्माकमतिदूराद्दूरतरमेवेति तद्दर्शनेत्यनेन तत्सम्बन्धिनोपि झटिति तत्तल्लीलानुसन्धापनेन स्वभावेनैव वा तादृशमोहनत्वं किं पुनस्तस्येति तृणेत्यनेन तादृग् जन्माप्यस्माकं भवत्विति लिम्पन्त्य इत्यादिना अहो हर्षभरस्तासामिति च बोधयन्ति प्रथमं तादृशलोभनस्वभावाकृष्टतया घ्राण दर्शनार्थं मुखसंनिहितं नीतं ततस्तत्र लिम्पन्त्यः पश्चात् स्मरवेगेन कुचेषु लिम्पन्त्य इत्यर्थः । श्रीकृष्णाङ्गसङ्गिवस्तुदर्शनेन तद्वस्तु मात्रस्यापि प्रसङ्गो भवत्विति जातः स्मराधिस्तत्प्राप्त्या तदंशेन शान्तो भवत्येव ततस्तासामभवदस्माकं तु न तदंशेनापीत्यर्थः ततस्ता अप्यस्मदपेक्षया पूर्णा इत्यहो दुर्भाग्यमिति भावः । अत्र तदुक्तं भवति तदिदं तासामखिलं वचनं भावमात्रावगतमपि यथावदेव तादृशगाढभावस्य दूरतोपि स्वविषयसाक्षात्कारहेतुत्वात् "यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना" इत्यादिभ्यः अतस्तदेतद्धि वदिष्यते पट्टमहिषीभिरपि "कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः । कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्द्ध्ना वोढुं गदाभृतः । व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः" इति तत्र सत्युरुगायपदाब्जरागेत्यनेन सह दयितास्तनमण्डितेनेत्युक्त्या तत्कुङ्कुमं दयितास्तन तत्स्वस्य पदे लग्नमिति गम्यते सा च दयिता श्रीपदेनानूदिता तदिदं वर्णयन्तीषु तास्वपि विशिष्टा "रुक्मिणी द्वारवत्यां तु

राधा वृन्दावने वने" इति मात्स्यादिप्रसिद्धा श्रीराधैव लभ्यते "श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः" इति ब्रह्मसंहितादर्शनात् व्रज-देवीमात्राणां श्रीत्वे प्राप्ते—

"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता। सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा"॥

इति बृहद्गौतमीये तु तदाधिक्यं दृश्यते अन्यस्याः श्रियः "कस्यानुभावोऽस्य न देव! विद्महे" इत्यादौ निरस्तत्वात् रुक्मिण्याश्च तदानीमसम्बन्धादिति सङ्गमश्चायं दिवस एवेति सम्भाव्यते तत्रैव पुलिन्दीनां भ्रमणात् कुङ्कुमानां लेपनकर्मणार्द्रत्वाव-गमाच्च द्वयोः सम्बन्धश्चायं न सम्भोगविशेषरूपः रासप्रसङ्गे "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः। वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे" इति तत्रैव नवसङ्गमस्य प्रतीयमानत्वात् अन्यथा तत्र परीक्षार्थं पुनस्तेनोपेक्षावचनस्य असङ्गतत्वापत्तेः तदिदं वेणुप्रकरणे भणितत्वाद्वेणुसम्बन्धेनैव गम्यते उरुगायेत्यनेनैष एव हि सूचितः तस्मात् कदाचिद्वेणुकृताकर्षायास्तस्या लब्धमूर्च्छायाः मूर्च्छा-शान्तये सकुङ्कुमे स्विन्ने वक्षसि सम्भ्रमतः केवलेन चरणसञ्जीवनीपल्लवेन स्पृशन्न वाद्यापि सम्यक् सङ्कोचानपगमात् द्रुतमेव स तस्मात् निश्चक्रामेति बुध्यते "काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य" इत्युक्तत्वात् यास्तु तदन्यास्तासामेव पूर्णाः पुलिन्द्य इति वचनं तासां च प्रायो जातपूर्वानुरागाणामीर्ष्यानवसरत्वादन्यसङ्गमस्फुरणेऽपि राग एव द्विगुणितः "यर्ह्यम्बुजाक्ष! तव पादतलम्" इत्याद्युक्तिस्तु कुमारीणां स्वस्मिंस्तत् स्वीकृतत्वमेव ह्यत्र तत्स्पर्शतया निर्दिष्टम् अभिरमिता आनन्दिता इत्यर्थः॥ १७॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अथापरस्या गोष्ठ्या वाक्यं त्रिभिः। यद्वा, पूर्ववदेकवाक्यतया व्याख्यानम्, तथा हि आस्तान्तावत् सर्वोपकारादिना सख्य-प्राप्तस्य तादृशसेवाकारिणो मेघस्य भाग्यम्, अस्पृश्यत्वादिना दूरतो वर्ज्यानामप्यन्त्यजस्त्रीणां भाग्यं किं वर्ण्यमित्याहुः—पूर्णा इति। पुलिन्दीभिः सर्वा एव वनचर्य्या भिल्लाद्यन्त्यजस्त्रियः साहचर्य्येणोपलक्ष्याः, उरुधा गीयते गोपैः स्वयं वा गायति वेणुनेत्युरुगायः, दयितानां कासाञ्चित् स्तनेषु मण्डितेन भूषणतया गृहीतेन, तृणेत्युपलक्षणं शिलादिष्वपि रूषितेन, तत्तत्प्रकारश्च व्यक्तं लज्जया नोक्तं, श्रीस्वामिपादैर्व्यञ्जित एव। तदाधिं कामव्यथाम्, यद्वा, तदा तस्मिन्नेव क्षणे आधिं मनोव्यथामर्थात् स्मरकृतामेव, यद्वा, तमनिर्वचनीयमाधिं श्रीकृष्णप्राप्तिमनोदुःखं जहुः। श्री-शब्देन मण्डितशब्देन च श्लेषेणेदं ध्वन्यते, श्रीकृष्णवल्लभानां स्तनेरनुलेपन-द्वारा भूषितेन सौन्दर्य्यातिशयं नीतेन, पुनः श्रीकृष्णपदाब्जसम्पर्केण कान्तिविशेषं प्राप्तेन, कुंकुमेन, तृणादिभ्यः, समुद्धृत्य स्वाङ्गेषु लिप्यमानेन सता प्रायो भूषणहीनाः कान्त्यादिरहिताश्च काष्ठशाकाद्याहरणाय वनान्तर्भ्रमन्त्यः पुलिन्द्यस्तेनैव महाभूषादिसम्पत्ते-र्योग्यतां प्राप्य सर्वविधमाधिं जहुः, अन्यत्तैर्व्यञ्जितमेव, यद्वा, अहो बत श्रीवृन्दावनेऽत्र वयमेव केवलं भाग्यहीना इत्याहुः—पूर्णा इति, उरुगायपदाब्जयो रागोऽनुरागो यस्यास्तस्याः श्रियः कुंकुमेन श्रीभगवद्विषयकप्रेम्णा तत्सन्तोषणार्थं तोषोत्पादितेन कुंकुम-जातिविशेषेणेत्यर्थः। अतः स्वसन्तोषणार्थमेव दयितानां युष्माद्दृशीनामपि स्तनेषु प्रथममण्डनतयानुलिप्तेन, यद्वा, उरुगायपदाब्ज-रागवदरुणा श्रीर्यस्य कुंकुमस्य तेन, तत्पादाब्जराग-सादृश्येन प्रीत्या दयिताभिः स्वस्तनेषु मण्डनतया गृहीतेन, पश्चात्तस्योरु-गायत्वेन विचित्रवेणुगीतेन वनान्तः समाकृष्टानामितस्ततो भ्रमन्तीनां तदप्राप्तिवैकल्येन वनेषु विलुठन्तीनां स्तनेभ्यस्तृणेषु रूषितेन पूर्णा भूतगात्रा अपि श्रीभगवता स्वयमेव वा ताभिस्तृणद्वारा स्तनमण्डनात्, तृणेषु रूषितेनेति केचित्, तस्य कुंकुमस्य दर्शनमात्रेण तादृशत्वविचारतस्तत्स्वभावतो वा स्मररुजो यासां तथाभूताः सत्यस्तृणेभ्यः समुद्धृतेन तृणसहितेनैव कुंकुमेन प्रथमं सौरभ्य-ग्रहणाद्यर्थमाननेषु पश्चात् स्मरवेगेन कुचेषु लिम्पन्त्यो लेपमात्रं कुर्वन्त्यः सत्यस्तत्कुंकुमं जहुः, कुतः? आधिमाधिहेतुत्वादेवाधि-रूपमित्यर्थः। प्रेमभरोत्पादनेन व्याकुलतया तद्दुःखपरिहाराय वाऽत्यजन्निति भावः। अहो बत कष्टम्, ईदृश्यो वयमधन्याः परमार्त्तिसिन्धुमग्नाः, यासामीदृशेनापि सम्बन्धेनान्येऽपि जना ईदृशीमार्त्तिं लभमाना अस्मद्गात्रगन्धसम्पृक्तद्रव्यमपि शंकया परित्य-जन्तीति तात्पर्य्यम्, तत्कुंकुमसम्बन्धेन तासु महालक्ष्म्या आवेशाच्छ्रीभगवदनुग्रहविशेषेण तदाधिं ता जहुः। अत एव पूर्णाः कृतार्था इति श्रीवल्लभचरणाः। यद्वा, अब्जरागः, पद्मरागः, तस्य श्रीरिव श्रीः कान्तिर्यस्य तेन; यद्वा, अब्जस्य राग इव रागो यस्य तेन श्रीकुंकुमेन, कथम्भूतेन? दयितास्तनमण्डितेन; पुनः कथम्भूतेन? उरुगायपदा उरुगायं पद्यते प्राप्नोतीत्युरुगायपत् तेन। शेषं प्रथमार्थवदेव, श्लेषेणेदमप्युक्तं स्यात्, तादृशकुंकुमदर्शनेन श्रीभगवत्स्मरणतस्तदप्राप्त्या तादृशी पीडा अभूद्, यत्राशेषदुःखातिरे-कोऽन्तर्भूतः, तत्कुंकुमस्पर्शेन च तादृशं सुखं जातं येनाशेषानन्दसम्पन्माधुर्य्यं तत्रान्तर्भूतम्, अत एवाशेषाधिं जहुः, भगवतस्तदीयानां वा तासां सम्बन्धेन पूर्णाश्च बभूवुरिति। एवं तासां निजाधिः शान्तः, अस्माकञ्च निजाधिर्वर्द्धत एव, अतस्ताभ्योऽप्यतिन्यूनत्वेन सर्वथा सर्वेभ्यो जीवेभ्यो भाग्यहीना वयमेवेति॥ १७॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

पूर्णाः कृतार्थाः पुलिन्द्यः वनचरस्त्रियः दयितास्तनमण्डितेन गोपीस्तनमण्डितत्वात् कृष्णपदाब्जसङ्गः॥ १७॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

शबराङ्गनानामपि भाग्यं वयं न लेभिमहे इति ससीत्कारमाहुः—पूर्णा इति। पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः पुण्याः कृतार्थाः कुतः? तत्राहुः उर्वधिकं गीयते मुनिभिरित्युरुगायः कृष्णः तस्य पदाब्जयो रागेणारुण्येन श्रीरौज्ज्वल्यं यस्य तेन श्रीकुङ्कुमेन कथम्भूतेन

दयितायाः महालक्ष्म्याः स्तनयोर्मण्डितेनालङ्कृतेन तथा क्रीडासमये उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमस्य भक्त्या स्तनयोर्निहितस्या-दुरुगायपदाब्जयोः कुङ्कुमसंबन्धः उरुगायपदाब्जाभ्यां वनसञ्चारदशायां तृणेषु रूषितेन लिप्तेन आननेषु कुचेषु च लिम्पन्त्यः कथम्भूताः सत्यः तस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् यासां तथाभूताः सत्यः आननेषु कुचेषु च लिम्पन्त्यस्तदाधि कामव्यथां जहुः अतस्ताः पूर्णा इति भावः ॥ १७ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

पुलिन्द्यः शबरस्त्रियः तस्मात्कामादुत्पन्नमाधिं मनोदुःखं जहुरित्यन्वयः । कीदृशाः पूर्णाः कृतकृत्याः तस्य कृष्णस्य दर्शनेन जातस्मर एव रुक् रोगो यासां ताः क्रीडासमये तृणेषु रूषितेन दिग्धेन दयितायाः प्रियतमायाः गोप्यास्तनमण्डितेन स्तनयोः घट्टितेन उरुगायस्य हरेः पादाब्जयोः स्वतः अरुणयोरपि रागजननार्थं लिप्तेन श्रीमता कुङ्कुमेनाननकुचेषु लिम्पन्त्यः ॥ १७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

पूर्णाः पुलिन्द्य इति । अत्र दयिताः काश्चिद्वेणुनाकृष्टाः मूर्च्छिताश्च तासां मूर्च्छाशान्तये येन चरणपल्लवेन स्पर्शमात्रं कृतमिति विवेचनीयं स्वभावसङ्गोपनाशक्तिपक्षे रमणं रामः क्रीडा तद्युक्तस्य कृष्णस्य चरणयोः स्पर्शेन प्रमोदो यस्य तयोश्चरणयोः ॥ १७–१८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत् क्रमसन्दर्भः

हे सखि ! अस्मिन् पुलिन्द्योऽप्यतिधन्या इति पुनः प्रौढा एव, राधासख्य एवोचुः—पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यादि । पुलिन्द्य इति भौमवैकुण्ठोपलक्षणम् अन्यथा अभौमे तासामसम्भवात् । एतेनोक्तप्रकाराणां व्रजे देवीनामतिरिक्ता अपि भौमस्त्रियोऽपि तत्र वर्तन्ते । ता अपि कृष्णे अनुरक्ता मन्तव्याः । अतो भाषागीतादौ जलाहरणदधिदुग्धादिविक्रयपराणामपि यदनुरागकथाः श्रूयन्ते, न ता अवधीरयितव्याः । सर्वमेव सम्भवत्यधिकारभेदात्, प्रेमैवास्वाद्यः । पुलिन्द्यः पूर्णाः कृतार्थाः । कुतः ? इत्याहुः -उरुगाय पदाब्जयोर्यो रागस्तत्र यत् श्रीकुङ्कुमं श्रीयुक्तं कुङ्कुमम्, अथवा उरुगाय–पदाब्जराग–जनकं यच्छ्रीकुङ्कुमं तेनाननकुचेषु लिम्पन्त्य आत्मनामित्यर्थः । तदाधि स्मररुक्कृतमाधिं जहुः । अतः पूर्णाः । कीदृशेन ? दयितायाः श्रीराधायाः स्तनाभ्यां स्तनयोर्वा मण्डितेन, पक्षे–भावे क्तः, दयितेति वक्त्रीणां राधासखीत्वं स्पष्टम् । ननु ताभिस्तत् कुतो लब्धमित्याहु–तृणरूषितेन तृणलग्नेन । अयं भावः–दयितास्तनकुङ्कुमं यच्चरणयोर्लग्नं तत्प्रेम्णा तन्न प्रक्षाल्यते चरणराग एवं तल्लीनं जनैश्च न लक्ष्यते; तत्तु वृन्दावने पादत्राणं विनैव व्रजतश्चरण-स्पर्शेन तृणान्यपि स्निह्यति, तेन तेषु लग्नं भवति । तदन्वेषणपराः पुलिन्द्यो हि तन्मर्यादां जानन्तीति, तथा वयन्त्वपूर्णा इति निर्वेदः ॥ १७ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

पुनर्मुग्धा ऊचुः—हे सख्यः ! अस्मभ्यः पुलिन्द्योऽपि धन्याः पूर्णाश्च, वयन्तु ताभ्योऽधमा इत्याहुः-पूर्णा इत्यादि । दयिता राधा तस्याः स्तनयोर्मण्डितेन मण्डनेन 'भावे क्तः', उरुगायपदाब्जयो रागस्तेन श्रीर्यस्य तेन कुङ्कुमेन आननकुचेषु लिम्पन्त्यः तद्दर्शनेन स्मररुक् यासां तास्तथाभूताः सत्यस्तदाधिं स्मररुजा य आधिस्तं जहुः । अतः पूर्णाः तासां तत्प्राप्तिः कुतः ? इत्याहु–तृण-रूषितेन तृणलग्नेन तथाविधान्याननेषु कुचेषु च कुर्वन्त्यः खेदेन, तेषु तेष्वेव तृणेषु कुङ्कुमस्य सञ्चार इत्यर्थः । तेनैव ताः श्रीकृष्ण-लिङ्गिता इति मन्यमानाः कृतार्थाः, वयन्तु तथा कर्त्तुमपि न शक्नुमः, स्वातन्त्र्याभावात्, तदस्मान् धिगिति निर्वेद-ग्लानि-शङ्कादैन्यानि ॥ १७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

इदानीं सौन्दर्य्यादिवेणुगानादिरूपगुणावप्यनपेक्षमाणं किञ्चित् सम्बन्धमात्रेणैव तन्मोहनत्वं प्रतिपादयन्त्यः प्रेम्णः सप्तम्या भूमिकाया महाभावस्य मादनाख्यं महासारं भागमभिव्यञ्जयन्त्यः श्रीवृषभानुकुमारीचरणपङ्कजद्यूतय आहुः – पूर्णा इति । पुलिन्द्यः शबराङ्गना एव पूर्णाः वयं त्वपूर्णा एवेत्यतस्तदीयं तयोर्जिज्ञासमानाश्चिकीर्षामि इत्यनुरागो ध्वनितः । ननु, केन पूर्णास्त-त्राहुः उरुगायपदाब्जस्य रागो रञ्जनं यत्र तेन श्रीकुङ्कुमेन ननु तत्पदाब्जगतं तत्कुङ्कुमं कुतस्त्यन्तावत्तत्राहुः दयितास्तनमण्डितेव-अतस्तदीयपरमसौभाग्यस्य स्तुतावभिलाषे च साहसं कर्तुमशक्नुवतीभिरस्माभिः पुलिन्द्य एव स्तूयन्त इति भावः । यद्यप्यत्र दयिता सेव स्वयं श्रीवृषभानुकुमार्य्येव तदप्यनुरागाधिक्येनैव तदमाननम् ननु, तेन पुलिन्दीनां तासां किं तत्राहुः तृणेषु रूषितेन लग्नेन दयितासम्भोगानन्तरं कृष्णस्य वनविहारादिति भावः । ननु, ततोपि किं तत्राहुः तस्य तृणलग्नकुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मररुक् कन्दर्प-पीडा यासां ताः न जानीमहे कृष्णदर्शने तासां किमभविष्यदिति भावः । ततश्च कृष्णाङ्गसौरभ्यजिघृक्षया आननेषु तत्कृतसम्भोग-लिप्सया कुचेषु लिम्पन्त्यः सत्यः कृष्णसम्भुक्तम्मन्यास्तदाधिं कन्दर्पपीडां जहुः अहो तत्कुङ्कुमस्याप्ययं कोपि शक्तिविशेष इति भावः । वयं तु तच्चापि जन्ममध्येपि सकृदपि न प्राप्नुम इति भावः । पद्यमिदं श्रीमदुज्ज्वलनीलमणौ मादनमधिकृत्य सदा भोगेपि तदन्य-

मात्राधारस्तुतिर्यथैत्यत्रोदाहृतम्। सदा भोगेपीति मादनस्य भावसमष्टित्वात् एव सम्भोगाः सर्वे विहाराश्च मादने वर्त्तन्त एव अत्र विहारोपि सम्भोगादीनां सहसैव कृष्णस्याविर्भावात् तेन सह ज्ञेयः अत एवात्र प्रकृते वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे इत्यत्र सहसैवाविर्भूतं कृष्णमालिङ्गितवत्य इत्यप्यर्थमाहुः—

"सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः। राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा" ॥ इति

तत्रैवोक्तेरन्यवक्तृकत्वेनापि नेदं व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—हे सख्यः पुलिन्दानां शवराणां स्त्रियः पूर्णाः प्राप्तसर्वपुरुषार्थाः पूर्णत्वे हेतुमाहुः प्रथमं दयितानां प्रियाणां स्तनेपु मण्डितेनानुलिप्तेन पुनश्च स्तनपदाब्जसंयोगतः उरुगायस्य उर्वधिकं गायते यः श्रीकृष्णस्तस्य पादाब्जयोः रागेणारुण्येन श्रीः कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन पुनस्तस्य वृन्दावने चङ्क्रमणेन स्तनेपु रूषितेन लग्नेन आननेषु कुचेपु च कामतप्तेषु लिम्पन्त्यस्तस्य कामस्याधि व्यथां जहुः, तादृशाध्युत्पत्तिस्तासां कुत इत्यत आहुः—तद्दर्शनस्मररुज इति। तस्य तृणरूषितस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मररुक् कामतापो यासां ताः ॥ १७ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

श्रीभगवदवतारावसरे खलु श्रीवृन्दावनक्रीडा द्विविधा एका रहोविहारात्मिका द्वितीया गोपाललीलात्मिका च तदुक्तं कृष्णयामले—

"एकेन वपुषा गोपप्रेमबद्धो रसाम्बुधिः। अन्येन वपुषा वृन्दावने क्रीडति राधया ॥
गोपवेषधरो गोपैर्गोपीभी रसविग्रहः। शृङ्गाराचितवेषाढ्यः श्रीमान् गोपालनारतः ॥
एवं प्रकाशद्वैविध्ये स्थिते नित्यविहारिणाम्" ॥

प्रकटप्रकाशेन सहैकां गच्छता प्रकटप्रकाशेन स्वेच्छया परिजनेच्छया वा तत्तदभिमानेन सा सा क्रीडा सम्पाद्यते परिजना अपि तथाविधा एव नित्यसिद्धास्तां तां क्रीडां प्रकाशैक्येन प्रकाशभेदेन वा समास्वादयन्ति सम्पादयन्ति च कदाचित्साधकानुग्रहाय विप्रलम्भेनापि निजाभिलाषं वर्द्धयन्तस्तामेव पुष्णन्ति राधाकृष्णावपीति तथैव सुधानिधौ श्रीहितचरणैः "श्रीमद्राधे त्वमथ मधुरं श्रीयशोदाकुमारे प्राप्ते कैशोरकमतिरसमर्हती साधुयोगम्। इत्थं बाल्ये महसि कथया नित्यलीलावयः श्रोर्जातावेशप्रकटसहजा किन्तु दृष्टा किशोरी" ॥ इति भविष्ये कार्त्तिकप्रसङ्गे।

बाल्येऽपि भगवान्कृष्णः कैशोरं रूपमाश्रितः। रेमे विहारैर्विविधैः प्रियया सह राधया ॥ इति ॥

पूर्णा इति पुलिन्द्यः "भृङ्गी मल्ली मतल्ली च पुलिन्दकलकन्यकाः" इति कृष्णयामलोक्तेः पूर्णाः पूर्वोक्तप्रेमसम्पन्नाः उरुधा वेणुना गायतीत्युरुगायः उरुगीयो यस्येति वा वस्तुत उरुधा गीयतेऽस्माभिरिति यद्वा उरुरसमद्धृदयङ्गमो गायो निजप्रियानुगतिरूपं यशो यस्येति काचिदियं नववधूः श्रीकृष्णेन प्रागपरिचिता श्वश्र्वादिभिः पतिमन्त्रादिकं दत्त्वैकाकिन्यैव वनं प्रेषिता न चानयापि कृष्णपरिचयः कृतः दूरतरा वा यान्ती तां निभाल्य काननान्तर्निकुञ्जे निलीय वेणुवादितः सचमत्कारं तथाऽवलोकितः ततः मूर्च्छिता सा तद्गतिगमनात्प्रागेव परमदयालुना तत्र समागत्य उरसि पदाब्जमर्पितं किमियं जीवति न वेति आयान्तं पतिं दृष्ट्वा द्रागन्तर्हितेन परमहितेन स्थितं तेन चैवं तर्हि तमियमत्र मूर्च्छिता कयापि वनदेवतयाक्रान्तेयमिति तदाराधनेन प्रसादनीया सा इति दधिभक्तबलिमादाय सङ्कल्पयति यद्वा इह यो वसति स तृप्यतु मम दयिता यद्विलोकने ज्वरिता इति बलिमुरुतिगोपे विहसिति विटपान्तरे कृष्णः ततः सेकादिना सा प्रबोधिता तदिदं पुलिन्दीभिर्दृष्टं यद्वा कस्मिंश्चिद्विहारे पुरुषायितकेलिमनुशीलयन्त्या श्रीराधया विहारश्रान्तस्य नायिकानुरूपमनुभवतः श्रीहरेः पुरुषायितत्वाभिमानेनैव तदनुकुर्वत्या तत्कर्त्तव्यमखिलमप्यनुष्ठितम् यथा तेन तस्याश्चरणपरिचरणं क्रियते तथा तया तस्यापि कृतम् अभिलाषश्चोभयोर्दर्शितं श्रीसुधानिधौ "त्वयि श्यामे नित्यप्रणयिनि विदग्धे रसनिधौ प्रिये भूयो भूयः सुदृढमनुरागो भवतु मे। इति प्रेष्ठेनोक्ता रमण मम चित्ते तव वचो वदन्ती सुस्मेरा मम मनसि राधा विलसतु" यद्वा सुरतश्रान्तं प्रियतमं दयते तदनुकरणेनानुगृह्णातीति दयिता एवं च तदनुकरणेन पादसंवाहनमप्यविरुद्धं, तदाह भरतः "प्रवृत्ते रतिचक्रे तु न वा शास्त्रं न वा क्रमः" इति, एवं च श्लिष्टैः पदैः पिशुनेन च रहस्यस्तित्यालङ्कारिकानुमतिमाश्रित्य वास्तवार्थोऽयम् उरुर्नानाप्रकारः कामबीजादिरूपेण श्रीराधेति साक्षान्नाम्ना वा गायो गानं वेण्वादौ यस्याः सा उरुगाया श्रीराधैव तस्याः पदाब्जयो रागस्य श्रीर्यस्मिंस्तत्कुङ्कुमं तेन तथा दयित एतद्दयिता रूणस्तस्य स्तनाभ्यां मण्डितेन इति दाम्पत्यास्थोपि सूचितः तथा पट्टमहिषीणामभिलाषोपि यथा—

कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः। कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्द्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥
व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्द्यस्तृणवीरुधः। गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥

अनयोरर्थः श्रीमत् नित्यं नवनवायमानसुषमावत् श्रिय इति श्रीरत्र परमरमा श्रीराधैव "आत्मना रमया रेमे" इति गोपालपटले तामुद्दिश्यैव रमादिशब्दप्रयोगात् सामान्यायाः श्रियो "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता" इत्यादिना साधककोटचनुप्रवेशात्तदलाभश्रवणात् रुक्मिण्याद्यास्तु तत्रैव वर्त्तमानाः व्रजस्त्रीभिरवाञ्छितत्वाच्चानुपयोगेन पारिशेष्यात् तत्सम्बन्धस्य ताभिः सापत्न्याभासेनेर्ष्योदयात् मूर्ध्नि धारणानर्हत्वाच्च गदेति व्यक्तं राधानाम गायतीति गदा वंशी तां बिभर्त्ति तस्य व्रजस्त्रियश्चैताः पुलिन्दीसहपाठात्पूर्वनिर्दिष्टा नित्यसख्य एव व्यञ्जिताः एवं च वक्रीणामपि तत्समानभावापन्नत्वात् सत्यमेवाभिमतं स्कान्दभागवतमाहात्म्यादौ श्रीकालिन्द्यपदेशेन तासां तल्लाभश्रवणाच्चेति ॥ १७ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

रङ्गवल्ली सारङ्गीं प्रत्याह—पूर्णा इति । "भृङ्गी मल्ली मतल्ली च पुलिन्दकुलकन्यकाः" इति कृष्णयामले उरुधा वेणुना गायतीति उरुगायः उरुर्गायो यस्येति वा । यद्वा, उरुः अस्मद्धृदयङ्गमो गायः प्रियानुगतिरूपं यशो यस्येति वा यद्वा उरुधा गीयतेऽस्माभिरिति वा तस्य पदाब्जयोः रागस्य श्रीः शोभा यस्मिन् तत् कुङ्कुमं तेन परिपूर्णा इति सम्बन्धः ॥ १७ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अथ मादनाख्यं महाभावमभिव्यञ्जयन्त्यः श्रीमत्याः सख्यः परस्परमाहुः—पूर्णा इति । हे सख्यः ! पुलिन्द्यः शबराङ्गना एव पूर्णा वयन्तु अपूर्णा इत्यर्थः । तथा च तदीयं तपश्चिकीर्षाम इति भावः । ननु केन ताः पूर्णा इत्यत्राहुः उरु बहुविधं वेणुना गायतीत्युरुगायो नन्दसूनुस्तत्पदाब्जयो रागो रञ्जनं यत्र तेन श्रीकुङ्कुमेन शोभनजा गुडेनेत्यर्थः । ननु तत्पदाब्जगतं तत्कुङ्कुमं कुतस्त्यं तत्राहुर्दयितेति अतस्तत्प्राप्तिरहिताभिरस्माभिस्ताः पुलिन्द्य एव स्तूयन्त इति भावः । ननु तेन पुलिन्दीनां किं तत्राहुः तृणेषु रूषितेन लग्नेनेति दयितासम्भोगोत्तरं कृष्णस्य वने विहारात् तेषु तल्लग्नता ननु ततोऽपि किं तत्राहुः तस्य तृणरूषितस्य कुंकुमस्य दर्शनेन स्मररुक् कन्दर्पपीडा यासां ताः कृष्णाङ्गसौगन्ध्यलिप्सया आननेषु तत्सम्भोगलिप्सया कुचेषु च लिम्पन्त्यस्तत् सम्भोगं मन्यमानास्तदाधि स्मरपीडां जहुरित्यहो तत्कुंकुमस्यापीयं काचिच्छक्तिरिति भावः । वयन्तु तन्मध्येऽपि सकृदपि तन्न लभामहे इति सर्वदा तत्सम्भोगेऽपि सति तदाभासमात्राधारस्तुतिर्मादनभावस्य कार्यम् ॥ १७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

पुलिन्द्यः पुलिन्दानां शबराणामिमाः पुलिन्द्यः प्राग्रामफलार्पणेनास्मदार्यासपर्यां चचाराप च सतीं गतिमिति श्रुमः कथाः त एवायमिति वयमप्येतद्दृष्ट्या धन्यमूर्धन्याः स्यामेति ता आगता इति द्योतयितुं पुलिन्द्य इति ग्रन्थकृन्न्यभांत्सीदिति तात्पर्यमवधेयं। तद्दर्शनस्मररुजस्तस्य कुङ्कुमस्य यद्दर्शनं तेनाविर्भूतो यः स्मरस्तदुपद्रवरूपो रुग्रोगो यासां ताः स एव रुग्यासां ता दयितायाः कस्याश्चिद्गोपयोषितः स्तनयोर्मण्डितेन भूषणतया संबद्धेनोरुगायो महत्स्तुत्यस्तस्य पदाब्जाभ्यां रागोऽरुणिमा यस्य स चासौ श्रीमांश्चासौ कुङ्कुमश्च तेन । स क्व क्व चैता इत्यतो घटनप्रकारमाहुः ॥ तृणरूषितेनेति । तृणेषु मार्गगेषु रूषितेन सम्बद्धेनाननकुचेषु लिम्पन्त्यः सत्यस्तदाधि तन्मनोभवभवमनोव्यथां यतो जहुस्तत एताः पूर्णाः कृतकृत्यास्तत्पदाब्जयो रामार्थं लितः श्रीमान्कुङ्कुमस्तेनेति वा क्रीडासमये रूषणं तृणानां मन्तव्यं । नन्वधुनाऽपि मधुनाथस्य विधुमुखीमुखानवलोकनाद्दयितास्तनमण्डितताकथनं कथमिति चेत्। सत्यं । एकान्ततः कान्तासङ्गतिसम्भवात् । न चैतद्व्यापृतस्य बादरायणस्यैतदनुक्तौ कारणाभावादिदमनुपपन्नमेवेति वाच्यं । दयिता च योग्यतयावनिस्तस्याः स्तनाश्च पर्वता गिरावस्थाय गिरा गा आह्वयत उरुगायस्य पदाब्जरागश्रीमत्कुङ्कुमेन तत्र मण्डितेन तथा तृणरूषितेन च ता अपि पर्वतकृतनिकेता इति सम्भवीदं लेपनं । समुद्रे वसने देवि पर्वतस्तनमण्डिते । विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे इत्यादेरिति समादधते ॥ १७ ॥

श्रीसुबोधिनी

वनवासिक्षुद्रजातीयाः पुलिन्दास्तेषां पत्न्यः पुलिन्द्यः, भगवन्नैकट्यात् तासामपि भक्तिजातेत्याह पूर्णा इति, सर्वापेक्षया पुलिन्द्य एव पूर्णाः, तासां साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दरजस्सम्बन्धो वर्तत इति, उरुभिर्गीयत इत्युरुगायो भगवान् सर्वप्रमाणसिद्धः सर्वगुणपूर्णस्तस्य पदाब्जं चरणारविन्दद्वयं तत्र यो रागस्तत्सहिता श्रीः, महता विचारेण हि लक्ष्मीर्भगवन्तं वव्रे, तच्चरणारविन्दः भक्ता या लक्ष्मीस्तस्या यत् कुङ्कुमं तयैव निष्पादितं दिव्यं कुङ्कुमं, अर्थात् तयैव भगवच्चरणारविन्दे दत्तं तत् पुनर्बन्धविशेषे शक्तिलक्ष्म्या एव दयिताया रसदातृत्वेन प्रियायाः स्तनयोर्मण्डितं तया वा स्वहृदि स्थापितं, अथ वा लक्ष्म्या दत्तमाधिदैविकीषु तदा तत् स्तनेषु मण्डितं ततश्चरणारविन्दे समागतं, अथ वा तृणरूषितेन तृणेन कृत्वा कुङ्कुममेव मकरिकापत्रवद् रूषितं तदा दर्शनेन कुङ्कुमसहितं तृणं भगवद्धस्तस्थितं भूमौ पतति, तृणेषु वा रूषितं संलग्नं चरणारविन्दात्, तादृशस्य कुङ्कुमस्य कुङ्कुमेन लक्ष्म्या ताभिर्वा सह भगवत्सम्भोगदर्शनेन वा स्मरकृता रुग् यासां तास्तद्दर्शनस्मररुजः, तदा तच्छान्त्यर्थमाननकुचेषु

लिम्पन्त्यस्तदाधिं जहुः तत् कुङ्कुमं मुखे स्तनयोश्च दत्त्वा ता अपि यदोपस्थितास्तदा तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्तास्तदाधिं जहुरतस्ताः पूर्णाः, इयमलौकिकी भगवत्कथा, उरुगायेतिवचनात् ताभिरपि भगवान् श्रुत इति लक्ष्यते, एतद् वनगमने भवतीत्यस्माकं तदभावादपूर्णत्वमिति, कामस्तु वस्तुतो मनःपीडारूपः ॥ १७ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पूर्णा इत्यत्र साक्षादिति अलौकिकदेहक्रमेण फलत्रयस्य सेवाफलोक्तस्य सम्पत्तिस्तु रजसैव भवतीति ता एव पूर्णाः, वृन्दावनस्य देवकीसुतपदाम्बुजत्वं पूर्वं व्युत्पादितम्, एतासां सततं तत्र स्थितिरतः साक्षाद्व्रजःसम्बन्धात् पूर्णा जाताः, पूर्णतास्वरूपं श्लोकान्ते निरूपयिष्यन्ति, एतासां त्वाराधनेन फलसिद्धिरतः साधनानुरूपमेव फलं, तद् वक्ष्यन्त्यग्रिमाध्याये "यातावला" इति श्लोके, उरुगायेत्यस्यावान्तरपदद्वयार्थमाहुः सर्वेति, रागोनुराग इत्यर्थः, एतल्लक्ष्म्या दाम्पत्याभावाद् दयितात्वं व्युत्पादयन्ति रसदातृत्वेनेति, तया वेति लक्ष्म्या स्वालङ्कारार्थमेव निर्माय स्वहृदये लिप्तमित्यर्थः, अथवेति शक्तिषु लक्ष्म्या प्रसादत्वेन दत्तं ताभिः स्वस्तनेषु मण्डितम्, तदा लक्ष्म्या दयितानां प्रियाणां शक्तीनां स्तनेषु मण्डितेनेतिमूलार्थः, तत इति लक्ष्मीस्तनाच्छक्तिस्तनाद्वा वन्यविशेषे भगवच्चरणारविन्दे समागतमित्यर्थः, एतमेव पक्षमाश्रित्य तृणेषु रूषितमिति वक्ष्यते, आद्यपक्षेषु लक्ष्म्या शक्तिभिर्वा स्वस्तनस्थितं पुलिन्दीभ्यो दत्तं ताभिः स्वस्तने 'तृणेन रूषित'मिति तृणरूषितपदस्यार्थः, एतस्यैव पदस्यार्थान्तरमाहुरथवेति, अस्मिन् पक्षे भगवता दयिताया लक्ष्म्याः शक्तीनां वा स्तनेषु मण्डितेनेत्यर्थः, 'कुङ्कुमेन कुचान् लिम्पन्त्य' इतिवक्तव्येपि क्वचिदप्यवयवेषु तल्लिम्पनमाधित्यागहेतुरिति कुचानामीप्सिततमत्वाभावात् कुचेष्वित्युक्तम्, आननकुचेषु स्वात्मानं लिम्पन्त्य इत्यर्थः, लक्ष्मीप्रवेशादिति लक्ष्म्यावेशादित्यर्थः, एतस्य कुङ्कुमस्य लक्ष्म्यसाधारणधर्मत्वात् तद्धारणे लक्ष्म्यावेशादयोगोलकन्यायेन लक्ष्मीत्वमेव सम्पन्नमितिभावः, अत इति रजसा योग्यतासिद्धौ कुङ्कुमधारणेन लक्ष्म्यावेशे जाते सत्युपभोगेन त्यक्ताधित्वादित्यर्थः, अस्माकं त्वाधिरस्तीतिभावः, अलौकिकीति अग्रिमश्लोके तथासूचनादुत्थापनभोगसामयिकीयं कथेति तत्समये तादृशकुङ्कुमप्राप्तिस्ततो लक्ष्म्यागमने सत्येताभिः सह रमणमित्येतद्रमणकथा लक्ष्म्याप्यज्ञातेत्यर्थः, भगवान् श्रुत इति तावत्पर्यन्तं लक्ष्मीसख्यः पुलिन्दीभिः सह भगवत्कथां कथयन्तीतिभावः, कामस्याधिजनकत्वं व्युत्पादयन्ति कामो हीति, पीडानिरूपकस्तज्जनक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पूर्णाः पुलिन्द्य इत्यस्य विवरणे तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्ता इति, इह पुलिन्दीभिः सह रमणं भगवतः "जहुस्तदाधि"मितिवाक्येनाधित्यागोक्तेः, अन्यथा श्रीसम्बन्धिकुङ्कुमस्याननकुचेषु सम्पर्के कामाधिसम्भव एव स्यान्न तु पीडानिवृत्तिः, अत आधित्यागकथनान्यथानुपपत्त्या रमणं ताभिः सह बोध्यं, रमणस्यैव कामाधिनिवर्तकत्वात्, ननु गोपिकानामपि भगवद्विषयककामवत्त्वेन धन्यत्वात् कथं पुलिन्द्य एव पूर्णत्वेन स्तूयन्त इत्याशङ्कायां न कामस्य धन्यताहेतुत्वं, संयोगं विना कामस्य दुःखदत्वान् नास्माकं धन्यत्वमिति तासामाशयः, तं स्फुटयन्ति कामस्तु वस्तुतो मनःपीडारूप इति, वियोगावस्थायां भगवद्विषयकः कामः प्रचुरपीडामेव जनयतीति केवलं दुःखानुभवान् न धन्यत्वं, न हि क्षुत् सुखहेतुरपि तु क्षुधि सत्यामन्नभोगः सुखकरस्तद्वदितिभावः ॥ १७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्याः साहङ्कारमाहुः—पूर्णा इति । पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः पूर्णाः कृतार्था एव । 'कथम् ?' इत्यपेक्षायामाहुः—उरुगायेत्यादिना । प्रथमं दयितानां प्रियाणां स्तनेषु मण्डितेन अनुलिप्तेन पुनश्च ताभिः क्रीडासमये उरुगायस्य 'उरुधा गीयत इति उरुगायः' श्रीकृष्णः, तस्य पदाब्जयो रागेण आरुण्येन श्रीः कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन आननेषु स्वमुखेषु कुचेषु च कामतप्तेषु लिम्पन्त्यस्तदाधिं कामव्यथां जहुरित्यन्वयः । 'कुङ्कुमं ताभिः कथं प्राप्तं ?' तत्राहुः—तृणेति । तस्य वनस्थलीषु चङ्क्रमणेन तृणेषु लग्नेन । 'तासां कामोद्दीपनं कथम् ?' तत्राहुः—तद्दर्शनेति । तस्य तृणलग्नस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मरकृता रुक् पीडा तापो यासां ताः ॥ अतस्ताः कृतार्थाः, धिगन्या मादृशीर्या एवंभूतं मन्मथाधिशमनं न लभन्त इत्याशयः ॥ १७ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पूर्णा इति ॥ पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः पूर्णाः कृतार्थाः । यतः प्रथमं दयितायाः प्रियाया गोप्याः स्तनयोर्मण्डितेन लिप्तेन ततश्च रतिसमये पादाभ्यां स्तनौ स्पृशतः । उरुगायस्य हरेः पदाब्जयो रागेणारुण्येन श्रीर्यस्य तादृशेन कुङ्कुमेन ततश्च हरेर्वनेषु चङ्क्रमणात् तृणरूषितेन तृणेषु लग्नेन तेन कुङ्कुमेन तस्य तृणलग्नकुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मररुग् यासां ताः पुलिन्द्यः आननकुचेषु तत्कुङ्कुमं लिम्पन्त्यः तदाधिं तस्य स्मरस्याधिं व्यथां जहुः । अतः पुलिन्द्य एव कृतार्थाः । मादृश्यस्तु तादृशमाधिशमनमलभमानाः तदपेक्षयापि शोच्याः ॥ १७ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अधुना शबरांगनानां कृतार्थत्वद्योतनेन स्वकृतार्थतां व्यंजयन्त्यः अन्याः प्राहुः पूर्णा इति पूर्वं दयितानामस्माकं गोपिकानां स्तनेषु मंडितेन लिप्तेन भूयश्च संभोगकाले उरुगायस्य पुण्यकीर्तेर्हरेः पादाब्जयोः रागेण रक्तत्वेन श्रीः शोभा यस्य तेन कुंकुमेन तदनंतरं वनस्थानेषु श्रीकृष्णपादन्यासात् तृणेषु रूषितेन संलग्नेन हेतुना तस्य कुंकुमस्य दर्शनेन स्मरजनिता रुक् पीडा यासां ताः पुलिंद्यः किरातयुवत्यः तत्कुंकुमं आननकुचेषु मुखेषु स्तनेषु च लिंपंत्यः सत्यः आधिं स्मरपीडां जहुः अतस्ताः पूर्णाः कृतार्थाः संति एवं श्रीकृष्णपादस्पृष्टकुंकुमस्पर्शनेन तासां पूर्णत्वं तन्नित्यसंबंधवतीनामस्माकं तु किमु वक्तव्यमिति तद्गतोभिप्रायः ॥ १७॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शबराङ्गनानामपि भाग्यं वयं न लेभिमहे इति ससीत्कारमाहुः ॥ पूर्णा इति ॥ पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः, पूर्णाः कृतार्थाः। कुतः। दयितायाः महालक्ष्म्याः स्तनयोर्मण्डितेनालंकृतेन, क्रीडासमये कृतकुङ्कुमावलेपनयोः स्तनयोः लक्ष्म्या भक्त्या उरुगायपदाब्जयोर्निहितत्वादुरुगायपदाब्जयोर्लक्ष्मीस्तनगतकुङ्कुमसंबन्धः तथाविधकुङ्कुमयुक्तपदाब्जाभ्यामुरुगायस्य या वनसंचारदशा तस्यां, तृणरूषितेन तृणेष्ववलेपं प्राप्तेन, उरवंधिकं गीयते मुनिभिरिति उरुगायः श्रीकृष्णः तस्य पदाब्जयोः सहजरक्तयोश्चरणकमलयोः राग आरुण्यं तेन श्रीरौज्ज्वल्यं यस्य तच्च तत् कुङ्कुमं च तेन, आननकुचेषु आननेषु कुचेषु चेत्यर्थः। तत्तृणरूषितकुङ्कुमं, लिम्पन्त्यः, तस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन स्मररुजः कामकृता व्यथा, यासां तथाभूताः सत्यः, आधिं मानसीं व्यथां, जहुस्तत्यजुः। अतस्ताः पूर्णा इति भावः। केचित्तु दयितानामस्माकं ये स्तनास्तेषु मण्डितेनालंकृतेनेत्याहुः। तत्पक्षे, उपभोगकाले शोभार्थं कृतकुङ्कुमावलेपनेषु स्तनेषु गोपीभिरत्युत्साहेनोरुगायपदाब्जयोर्गृहीतत्वाद्भगवत्पदपद्मयोर्गोपीस्तनगतकुङ्कुमसंबन्धः, ततो गोपीस्तनगतकुङ्कुमयुक्तपादाभ्यां सतृणवनगतभगवतः पादस्पृष्टतृणानि सकुङ्कुमानि जातानि तथाविधकुङ्कुमेक्षणसंजातमदनव्यथाः पुलिन्द्यस्तृणगतकुङ्कुमं मुखेषु स्तनेषु चालिप्य स्मरोद्भूताधिं तत्यजुरिति संकलितोऽर्थः ॥ १७॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

पूर्णाः पुलिन्द्य इति । १०.२१.१७.

यल्लग्नेशपदाब्जरागघुसृणं प्रादाय याः स्वस्तने लिम्पन्ति स्वमुखे च ता अपि परां कोटिं पुलिन्द्यो गताः।
साक्षाच्छ्रीपदपद्मसङ्गतिजुषः पुष्टस्य वृन्दावनस्थेम्नस्तस्य तृणस्य भाग्यमतुलं वर्ण्यं किमस्मात्परम् ॥ २८॥
यासां पुण्यविचारणेऽनिपुणधीर्ब्रह्माऽपि ताश्चेद्वयं यासां पुण्यमगण्यमित्यनुपदं ब्रूमः पुलिन्द्यस्तु ताः।
निःसीमाधमकोटिगा अपि महानिःसीमकोटिं गतास्तद्बीजं सखि सिद्धमेव भगवत्पादाब्जरागस्थितिः ॥ २९॥

कृष्णप्रिया

प्यारी सखी ! सुनरी ! हम तो श्रीवृन्दावन की भीलनियों को बड़भागिनी एवं कृतार्थ मानती है। क्योंकि श्रीबिहारी जी का जब ये सब दर्शन करती है तब इनका श्रीप्यारे लाडिलेश जी से समालिङ्गन के मनोरथ जग जाते हैं, लेकिन यह सुलभ कहाँ ?। अन्ततो गत्वा इस कामना की पूर्ति के लिए वे श्री लक्ष्मीजी और व्रज की गोपियाँ निज वक्षःस्थल के भूषणरूप कुङ्कुम केशर का चन्दन लेप लगाती है, वह चन्दन लेप श्रीनन्दनन्दन जी के श्रीचरणों में लगा होता है, और श्रीकृष्णचन्द्र जी जब गोवृन्द चराने के लिए श्रीवृन्दावन के घास-पात पर विचरते हैं, तब वह गन्ध लेप तृणपुञ्ज में लग जाता है। श्रीपुलिन्दीनियाँ उस चन्दन को उन तृण-पात में से उठाकर निज वक्षःस्थल में और वदनकमलों पर मल देती है और निज उरपीडन का निवारण कर लेती है ॥ १७॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे अबलाः ! हन्त, अयम् अद्रिः यत् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः सहगोगणयोः तयोः यत् मानं तनोति "यतः अयं गोवर्द्धनः" हरिदासवर्यः "अस्ति" ॥ १८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हंतेति हर्षे। हे सख्यः अयमद्रिर्गोवर्धनो ध्रुवं हरिदासेषु श्रेष्ठः। कुत इत्यत आहुः। यस्माद्रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः। तृणाद्युद्गमनिभेन रोमहर्षदर्शनात्। किं च यद्यस्मान्मानं तनोति सह गोभिर्गणेन सखिसमूहेन च वर्तमानयोस्तयोः पानीयैः सूयवसैः शोभनतृणैः कंदरैः कंदैर्मूलैश्च यथोचितम्। अतोऽयमतिधन्य इत्यर्थः ॥ १८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

हरिभक्तपरा ऊचुः। "दासो भृत्ये च कैवर्ते भक्ते प्रक्षेपके परे" इति धरणिः। श्रेष्ठत्वे हेतुं शंकते—यस्मादिति। निभेन छद्मना 'निभः स्यात्तुल्यछद्मनोः' इति वारतांतविः। अस्य सत्यपि प्रमोदं नानवधानतेत्याह—किं चेति। यद् यतः। वैकल्पिकत्वान्न सहस्य सादेशः। तयोः रामकृष्णयोः। 'यवसं तृणमर्जुनम्' इत्यमरः। 'यवसं घासहोमयोः' इति धरणिः। कं जलं दीयंत एभीरिति कंदरास्तैस्तथा, पर्वतांतर्गतैरुभयतश्छिद्रैर्गृहैः। "कंदोऽस्त्री सूरणे सस्यमूले जलधरे पुमान्" इति मेदिनी। "मूलमाद्ये शिफायाञ्च समीपे मूलके च भे। तालमूल्यां गर्जरादौ बंधनच्छेदकारिणि॥" इति धरणिः। यतो रामकृष्णयोर्मानदोऽतो हेतोरयं गिरिरति-धन्योतीव भागवतः। इत्यर्थ इति। दूरतोऽपि भगवन्नामश्रवणादिना जना धन्या भवंति साक्षात्तन्मूर्तिसेविनां तु धन्यतमत्वमु-चितमेवेति भावः। हंत सख्यो महदाश्रयणं विना नैव मनोरथः फलति, महत्त्वं च हरिभक्तानामेव, तेषां मध्ये श्रीगोवर्द्धनो गिरींद्र एव मुख्य इति गार्गीमुखाच्छ्रुतं तदस्य तत्रत्यमानसगंगायां स्नात्वा तदधिदैवतस्य श्रीहरिदेवनाम्नो नारायणस्य दर्शनार्थं याम इत्यत्र गुरुजनानामपि नैव विप्रतिपत्तिः, कृष्णोऽपि तत्रैव खेलतीति युक्तिं निश्चितवत्यः। स्वरमणं तमभिसिषर्षवः श्रीगोवर्द्धनमेव सगणकृष्णवांछितसाधकं स्ववांछितसिद्धयर्थं स्तुवंति—हंतेति विस्मये। हरिदासेषु नारदादिष्वपि मध्ये मुख्या ये त्रयो हरिदासा युधिष्ठिरोद्धवगोवर्द्धनास्तेष्वपि मध्येऽयमद्रिरेव हरिदासवर्य्यः, "हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम्" इति युधिष्ठिरे, 'कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्' इत्युद्धवे, हंतायमद्रिरबला हरिदासवर्यः इत्यस्मिन्पर्वतेऽपि हरिदासपदप्रयोगात्। यद्रामकृष्ण-योश्चरणस्पर्शेन शिलाद्रवादभिव्यंजितः प्रमोदो यस्य सः। चरणस्पर्शे सति शिलानां पंकसाधर्म्यप्राप्त्या ध्वजवज्रांकुशादिमच्चरण-चिह्नं निर्झरतृणोद्गमादयोऽश्रुपुलकादयोऽपि प्रमोदव्यंजका ज्ञेयाः। अत्र रामपदप्रयोगो भावगोपनार्थः। श्लेषेण रामः "हये च पशुभेदे च त्रिषु चारौ सितेऽसिते" इति मेदिन्युक्ते रमणीयो यः कृष्णस्तस्य। हे अबला इति। पतिपारवश्यवतीनां युष्माकं तदाश्रयणमेव बलं युष्मत इति भावः। यद्यतः प्रमोदादेव मानं तत्प्रसादनीं पूजां तनोति। सह गोभिर्गणेन सखिसमूहेन च वर्त्तमानयोस्तयोः पानीयानि पाद्याचमनीयपानार्थं सुगंधशीतलनिर्झरजलानि तथा नैवेद्यार्थं पानीयाः पेया मध्वाम्रपील्वादिरसाश्च सुयवसानि अर्घ्यार्थं दूर्वा गवां ग्रासार्थं सुगंधकोमलपुष्टिवर्द्धनदुग्धसंपादकतृणानि च। दीर्घस्त्वार्षः। यद्वा—पानीयं सुवत इति पानीयस्वो निर्झराश्च कंदरा उपवेश-शय्याविलासाद्यर्थं शीतोष्णसमयसुखदा गुहाश्च, भक्षणार्थं कंदमूलानि च, तत्रत्यरत्नपर्यङ्कपीठप्रदीपादर्शादयोप्युपलक्षकास्तैः॥१८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गोष्ठ्यन्तरवार्त्तापि तथैव रसान्तराच्छन्ना यत एवमाहुर्द्वाभ्याम्—हन्तेति। अयमिति तदानीं श्रीगोवर्द्धनान्तिक एव तासां निवासेन साक्षादङ्गुल्या दर्शनात् जगतोऽशेषं पापं दुःखं चित्तं च यथायथं हरतीति हरिः तदधिष्ठाता देवः शास्त्रे लोके च प्रसिद्धः तत्स्वभावकेषु तस्य दासेषु मध्ये श्रेष्ठः तद्वर्य्यत्वमेव फलाभिव्यक्तिद्वारा दर्शयति यद्रामेति प्रकृष्टो मोदो हर्षः रोमाञ्चस्वेदानन्दाश्रुवा-दिस्वरूपतृणाद्युद्गमार्द्रताजलबिन्दुस्रावादिलक्षणः तनोतीति सर्वैरन्यैरपि क्रियमाणं मानमयं विस्तारेण करोतीत्यर्थः। पानीयानि पेयानि जलमध्वादीनि दीर्घत्वमार्षं छन्दोनुरोधात् सुयवसानि कोमलानि पुष्टिवर्द्धनानि दुग्धसम्पादकानि। यद्वा, पानीयं सुवते क्षरन्ति पानीयसुवो निर्झराः भू इति क्वचित् पाठः उपवेशाद्यर्थं सुन्दरस्थानमित्यर्थः। कन्दराः गुहाः तैश्च तत्रत्यरत्नपर्यङ्कपीठ-प्रदीपादर्शादयोप्युपलक्ष्याः यथासम्भवं च तैस्तेषां मानो ज्ञेयः हे अबलाः इति तत्र तत्र युष्माकं शक्त्यभावेन एतादृशसेवाभाग्यं न घटेत इत्यहो बताभाग्यवैभवमिति भावः। अन्यत्तैः अत्र चाक्षण्वतामितिवदवहित्थायामप्यर्थान्तरव्यक्तिर्यथा रामो "नीलचारुसिते त्रिषु" इत्यमरकोशात् रामो रमणीयो यः कृष्णस्तस्य चरणयोः स्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः तयोश्चरणयोः यद्वा तादृशकृष्णचरणयोः स्पर्शप्रमोदो यस्मात् ऋत्वनुरूपशैत्यादिगुणकत्वेन स्वशिलानां विधानात्। यद्वा, रामं क्रीडारूपं यच्छ्रीकृष्णस्य चरणम् आचरणं तस्य स्पर्शेन स्पर्शनेन दानेन प्रमोदो यस्य सः "विश्राणनं वितरणं स्पर्शनम्" इत्यमरः। सर्वदा सदा तत्क्रीडासम्पादनोत्सुक इत्यर्थः। यद्वा, तेन प्रमोदयति तमस्मान् जगच्चेति तथा सः यद्वा तादृशकृष्णचरणयोरिव स्पर्शप्रमोदो यस्य एतत्स्पर्शनेन तत्स्पर्श-नानन्दस्यैव सिद्धेः निरन्तरविचित्रप्रेमविहारश्रेणीभिस्तच्चरणस्पर्शमयता इवास्मिन् सम्पत्तेः तस्येति वक्तव्ये तयोश्चरणयोरि-त्यादरेण॥१८॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो यत्र यत्र कृष्णः प्रयाति, तत्र तत्र प्रयाणसमर्थानां पुलिन्दीनामासां भाग्यं दूरेऽस्तु, स्थिरोऽप्ययं श्रीगोवर्द्धनः परम-भाग्यवानित्याहुः—हन्तेति। अयमिति तदानीं श्रीगोवर्द्धनान्तिक एव तासां निवासेन साक्षादंगुल्या दर्शनात्। यद्वा, श्रीकृष्णप्रियत-मत्वेन तस्य तासु सदा साक्षादिव परिस्फूर्त्तेः, किंवा परमादरेण तन्नामाग्रहणात्, जगतोऽशेषं पापं दुःखं चित्तञ्च यथायथं हरतीति हरिः, तत्स्वभावकेषु तस्य दासेषु मध्ये श्रेष्ठः, प्रकृष्टो मोदो हर्षो रोमाञ्चस्वेदानन्दाश्रुवादिस्वरूपतृणाद्युद्गमार्द्रताजलबिन्दुस्रावादि-लक्षणः, तनोतीति सर्व्वैरन्यैरपि क्रियमाणं मानमयं विस्तारेण करोतीत्यर्थः। गोशब्देनान्येऽपि पशवस्तदुपलक्ष्याः, पानीयानि

पेयानि जलमध्वादीनि, सुयवसानि कोमलानि पुष्टिवर्द्धनानि दुग्धसम्पादकानि; दीर्घत्वमार्षम्, छन्दोऽनुरोधात्; यद्वा, पानीयं सुवते क्षरन्ति पानीयसूनि मृदूनि यवसानि, यद्वा, सूसवः प्रसवः पुष्पफलादि; 'भूः' इति क्वचित् पाठः। भूः—उपवेशार्थं सुन्दरस्थानमित्यर्थः। कन्दरा गुहाः, तैश्च तत्रत्यरत्नपर्य्यङ्कपीठप्रदीपादर्शादयोऽप्युपलक्ष्याः। कन्दमूलयोरवान्तरभेदः पूर्व्वं लिखित एव। यथासम्भवं तैस्तेषां मानो ज्ञेयः। तत्र पशूनां जलैः सूयवसैः सदा कन्दरैश्च कदाचित् कन्दमूलैरपि तेषां क्वचिद्भक्ष्यैः गोपानाञ्च सर्व्वदा सर्व्वैरेव तत्र जेमनोपवेशाद्यर्थं सूयवसानि ज्ञेयानि। हे अबलाः! इति तत्र तत्र युष्माकं शक्त्यभावेन कथञ्चिद्दास्यमात्रमपि न घटेतेत्यहो बताभाग्यवैभवमिति भावः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, अथवा रमते सदा क्रीडतीति, रमयति सुखयतीति वा रामो वा कृष्णः; यद्वा, तथैव रामौ यौ कृष्णचरणौ निजस्पर्शेन पादाब्जविन्यासपदेषु सद्यो नवनीतीकृतशिलाभिः सुकोमलेन तत्र चोष्णकाले सुशीतलेन शीतकाले चोष्णेनेत्यादिबहुविधेन प्रकर्षेण मोदयतीति तथा सः। किञ्च, तयोरसङ्ख्येयत्वादिना सुप्रसिद्धयोः गोगणयोः जातावेकत्वम्, गोश्च गणश्च श्रीबलरामश्रीदामादिसहचरवर्गस्तयोः सह तेन सहितयोः। किंवा, एकदैव यदा तं प्रति तदैव तौ प्रति चेत्यर्थः। यद्वा, रामं जगन्मनोरमं यद् कृष्णस्य चरणमाचरणं विहारस्तस्य स्पर्शेन स्पर्शनेन दानेन प्रमोदो यस्य सः,—'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनम्' इत्यमरः; सर्व्वथा सदा तत्क्रीडासम्पादनोत्सुक इत्यर्थः। यद्वा, तेन प्रमोदयति तमस्मात् वा जगदेव वेति तथा सः; तत्क्रीडासम्पादनतस्तच्छ्रवणादिना सर्व्वदुःखहरणात् सेवाविस्तारणाच्च सर्व्वेषामेवानन्दभरसिद्धेः। यद्वा, रामयोः कृष्णचरणयोरिव स्पर्शप्रमोदो यस्य, एतत्स्पर्शेन तत्स्पर्शनानंदस्यैव सिद्धेः। हरिदासवर्य्यत्वेन निरन्तरविचित्रप्रेमविहारश्रेणीभिस्तच्चरणस्पर्शमयताया इवास्मिन् सम्पत्तेरिति दिक्; अलमतिविस्तरेण॥ १८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

हरिदासवर्यः भागवतश्रेष्ठः सूयवसं सम्यग्यवसम्॥ १८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हन्तेति। हे अबलाः! अयमद्रिर्हरिदासश्रेष्ठः अहो अचराणामपि हरिदास्याभिरुचिरिति विस्मियते हन्तेति, कुतः? यद्यस्माद्रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः उदञ्चितैस्तृणैः रोमहर्षमालक्ष्य तेन रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोद आलक्ष्यते किञ्च गोभिः सखिगणैः सहितयोः रामकृष्णयोर्यः गोवर्द्धनाद्रिः पानीयादिभिर्यथोचितं मानं पूजामातिथ्यात्मकं करोति सुयवसानि शोभनानि तृणानि सुशब्दे दीर्घ आर्षः सम्यवसेति पाठान्तरं तदापि स एवार्थः कन्दरेषु कन्दानि मूलानि च तैः॥ १८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हन्त आश्चर्यम् अयमद्रिर्गोवर्धनो हरिदासवर्यः भगवद्भक्तश्रेष्ठः कुतः? ययोः रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शादिविषु तत्प्रमोदो योद्रिः सहगोगणयोस्तयोः पानीयादिभिः मानं पूजां तनोति यद्यस्मादिदमेव हि भक्तश्रेष्ठत्वं सुयवसं शोभनो ग्रासः दैर्घ्यं छान्दसं सूयवसादभगवतीहीति दर्शनात् कन्दरं गुहागृहं वृष्टौ स्थातुं योग्यं कन्दं सूरणं मूलम् अकण्डूयमानं दीर्घाकारं कन्दम्॥ १८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

हे सखि! कृष्णानुग्रहो विना महदनुग्रहं न स्यात्। महान् गोवर्द्धनादन्योऽपि नास्ति, तदस्माभिरयमेवाराध्य इत्याशयेनान्या ऊचुः—हन्तेत्यादि। हे अबलाः। हन्त हर्षे। अयमद्रिर्गोवर्द्धनो हरिदासानां मध्ये वर्यः श्रेष्ठः। कथमनुमितमित्याहुः—यदिति। यद् यस्मात् राम-कृष्ण-चरण-स्पर्शेन प्रमोदो यस्य तदेव कथमवगतम्? तत्राहुः—मानं तनोति। कयोः? तयोः, न केवलं तयोरेव, सहगोगणयोः। कैः? पानीयञ्च सूयवसाश्च सुतृणानि च, दीर्घ आर्षः; कन्दराणि कन्दाश्च मूलानि च कन्दमूलयोरवान्तरभेदः। कन्दाः कसेरुकादयः, मूलानि तदितराणि भक्षणयोग्यानि, अथवा तर्वादिमूलानि छायादानात्तैः। अत एवंविधसेवापरो हि महान् भवतीति॥ १८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

हे सख्यः! कृष्णानुग्रहे तदनुग्रह एव हेतुः उदयं गोवर्धन एव परमभागवतस्तेनैवास्यानुग्रहो वाञ्छनीय इति तस्य भागवतत्वं निरूपयन्त्यः काश्चिद् पुनः प्रौढा एवोचुः—हन्तेत्यादि। हन्त हर्षे! अयमद्रिर्हरिदासवर्यो हरिदासानां मध्ये श्रेष्ठः, यद् यतो रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः, तयोः सहगोगणयोः—गावश्च गणश्च गोपबालानां गणस्तैः सह वर्तमानयोः पानीयादिभिर्मानं पूजां तनोति। मत्युन्मादो॥ १८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हन्त सख्यो महदाश्रयणं विना नैव मनोरथः फलति महत्त्वं च हरिभक्तानामेव तेषामपि मध्ये श्रीगोवर्द्धनो गिरीन्द्र एव मुख्य इति गार्गीमुखात् श्रुतं तदद्य तत्रत्यमानसगङ्गायां स्नात्वा तदधिदैवतस्य श्रीहरिदेवनाम्नो नारायणस्य दर्शनार्थं याम इत्यत्र गुरुजनानामपि नैव विप्रतिपत्तिः कृष्णोऽपि तत्रैव खेलतीति युक्ति निश्चितवत्यः स्वरमणं तमभिसिषेविषवः श्रीगोवर्द्धनमेव सगणकृष्ण-वाञ्छितसाधकं स्ववाञ्छितसिद्धयर्थं स्तुवन्ति । हन्तेति, विस्मये हरिदासेषु नारदादिष्वपि मध्ये मुख्या ये त्रयो हरिदासा युधिष्ठि-रोद्धवगोवर्द्धनास्तेष्वपि मध्ये अयमद्रिरेव हरिदासवर्य्यः "हरिदासस्य राजर्षे राजसूयं महोदयम्" इति युधिष्ठिरे "कृष्णं सस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्" इत्युद्धवे "हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्य्यः" इत्यस्मिन् पर्वतेऽपि हरिदासपदप्रयोगात् यस्माद्रामकृष्ण-योश्चरणस्पर्शेन शिलाद्रवाद्यभिव्यञ्जितः प्रमोदो यस्य सः चरणस्पर्शे सति शिलानां पङ्कसाधर्म्यप्राप्त्या ध्वजवज्राङ्कुशादिमच्चरण-चिह्नं निर्झरतृणोद्गमादयोऽश्रुपुलकादयोऽपि प्रमोदव्यञ्जका ज्ञेयाः अत्र रामपदप्रयोगो भावगोपनार्थः श्लेषेण रामो "नीलचारुसिते त्रिषु" इत्यमरकोशाद्रमणीयो यः कृष्णस्तस्य हे अबला इति पतिपारवश्यवतीनां युष्माकं तदाश्रयणमेव बलं बुद्धयते इति भावः । यत् यतः प्रमोदादेव हेतोः मानं तत्प्रसादनीं पूजां तनोति सह गोभिर्गणेन सखिसमूहेन च वर्तमानयोः तयोः कैः पानीयानि पाद्या-चमनीयपानार्थं सुगन्धशीतलनिर्झरजलानि तथा नैवेद्यार्थं पानीयाः पेया मध्वाम्रपील्वादिरसाश्च सूयवसानि अर्घ्यार्थं दूर्वा गवां ग्रासार्थं सुगन्धसुकोमलपुष्टिवर्द्धनदुग्धसम्पादकानि तृणानि च दीर्घत्वमार्षम् यद्वा । पानीयं सुवते इति पानीयसुवो निर्झराश्च कन्दरा उपवेशशय्याविलासाद्यर्थं शीतोष्णसमयसुखदा गुहाश्च भक्षणार्थं कन्दमूलानि च तत्रत्यरत्नपर्य्यङ्कपीठप्रदीपादर्शादयो-ऽप्युपलक्ष्यास्तैः ॥ १८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अन्या आहुः—हे अबलाः ! अयमद्रिः श्रीगोवर्द्धनाख्यः हरिदासवर्य्यः हरिदासेषु श्रेष्ठः स्वपरमप्रियदासश्रेष्ठे स्वप्रीतिं द्योत-यितुमाहुः—हन्त इति । श्रीगोवर्द्धनस्य हरिदासवर्यत्वे हेतुमाहुः यत् यस्मात् रामकृष्णचरणस्पर्शेन प्रकृष्टो मोदो यस्य सः किं च यतः गोभिः गणेन सखिसमूहेन च सहितयोः रामकृष्णयोः पानीयादिभिर्मानं तनोति सूयवसैः शोभनैस्तृणैः सू इति दैर्घ्यमार्षम् ॥ १८ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

इदं देव्यशानां परिचारिकाभिर्मानिनीनां वाक्यं हन्तायमिति । हन्तेतिहर्षे अट्टालिकारूढा यूथेश्वरीभिरुद्दिश्योक्तम् अद्रिरिति नई व्रयत इति युवत्यास्वधर्मादविचलैः अभिभूयमाना व्यसनैरिति ईदृशं सेवाभाग्यमस्माकं स्यादिति अबलात्वाद्बहिर्गन्तु-मशक्ताः कथवान्निवस्परिचरितुं शक्नुमः अयं परमोपकारी सख्यादिभिरानीतैर्वन्यफलादिभिः भोजनमण्डलीं कल्पयन् हरिदासवर्यत्वेन पानीयादिभिः पूजां तनोति तथाहि परमरमणीयशिलाभिः समासनं खगावलीकलितकालीभिः स्वागतं स्वागतं श्यामाकदूर्वाब्ज-विष्णुक्रान्तापर्य्यगाक्रान्ततिर्य्यङ्निर्झरीनिष्पन्नं पाद्यम् एवमर्घ्यं जाजीलवङ्गकक्कोलसङ्गतपल्लवैराचमनीयम् शेखरशिलासरित्प्रस्रव-धारापातैरम्बुक्तस्नपनं दुकूलवदनुकूलस्वर्णवर्णवृक्षविशेषवल्कलैः कलितसुखवसनं सुगन्धिहरिचन्दनादिभिस्तिलकं प्रफुल्लमालती-क्वामिनन्दितसुमनसः गव्याखुरव्याहृतिजातागरुदारुधूमैर्धूपं दिवापि विद्योतितमणिनिकरज्योतिभिः सर्वसम्पदुद्दीपं दीपं मञ्जुल-गुञ्जापिच्छादिगुच्छनिर्म्माणैः कृतसुषमाभरणमाभरणम् अभिलाषानुकूलफलमूलैः सुखमाहारं पुष्पवासितशीतलजलैः पुनराचमनं परिमलतुलतुलसिकादिभिर्मुखवासनं मरुदुच्चलस्फुरत्पुष्पसम्पचम्पकदीपावल्या स्फुटमारात्रिकं यत्किसलयवलयसङ्कुलवकुलमुख-शाखिनिकरैः शोभान्तरितमातपत्रं मलयमरुल्लवचलत्पल्लवविशालशालैः व्यजनम् निजस्वरविवेकिनां केकिनामनेकाङ्गकेकाभिः कलितलास्यं शय्यायमानपुष्पपातपर्य्यायैः कृतसर्वातिशयनं शयनं काकलीकलितकलकोकिलकुलैर्लब्धसज्ञानं गानमपीत्यादिकमूह्यम् हरिदासवर्य्यतां पर्यापयन्नास्त इति पानीयानि पेयानि जलमध्वादीनि । यद्वा, पानीयं सुवन्ते क्षरन्तीति पानीयसुवो निर्झराः कन्दरानिभृतगृहाः कन्दा मालित्याद्याः मूलानि च नानाप्रकारविरचनं भक्त्यनुभावः तदहं भवत्युपहृतमिति यथालाभोपहरण-मप्युक्तमिति ॥ १८ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

सूर्य्यकान्तिका सखी चन्द्रकान्तिकां प्रत्याह—हन्तेति । अबला इति बहुत्वगौरवादिति भावः । हन्तेति हर्षे ईदृशं सेवा-भाग्यमस्माकं स्यादिति अनुकम्पाया अयं परमोपकारी अधित्यकासु शिलास्वारोहयित्वा श्रीकृष्णभोजनमण्डलीं कल्पयन् हे अबला ! गुहादविचला दूरस्थिता अस्मान् युष्मान् वा प्रदर्शयति अत एवोच्चतरो न तु गर्वविशेषेण विद्यावत् रामे रमणसमयेऽपि कृष्णस्येति व्याख्या तयोरिति द्विवनेन पूर्णाः पुलिन्द्यश्च पूर्वोक्ता दयितास्तनमण्डितेन इत्यतो दयिता च परामृश्यते ॥ १८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

हन्त सख्यः सत्तमाश्रयणाद्विना स नन्दसूनुः सतां प्रेयान्नलभ्यते स च गिरिराज एवातस्तद्दर्शनाय गच्छामस्तत्रैव तं प्राप्नुम इति भावेन पराः काश्चिदाहुः—हन्तायमिति। अयमद्रिः गोवर्द्धनो हरिदासवर्यः "हरिदासस्य राजर्षे राजसूयं महोदयम्" इति युधिष्ठिरः "कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसा" मित्युद्धवश्च हरिदासः हन्तायमित्यत्र गोवर्द्धनो हरिदासवर्योऽभ्यधायीत्यर्थः। कुतस्तद्वर्यत्वं तत्राह यतो रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शेन शिलाविद्रवादिसूचितः प्रमोदो हर्षो यस्य सः यद् यतः प्रमोदाद्धेतोः गोभिर्गणेन च सखिवृन्देन सहितयोस्तयोर्मानं पूजां तनोति कैरित्याहुः पानीयेति। पानीयानि पाद्याचमनपानार्थानि सुगन्धशीतलमधुराणि निर्झरजलानि नैवेद्यार्थाः पानीयाः पेया मध्वाम्रादिरसाश्च तैः सुयवसान्यर्घ्यार्थानि दूर्वाङ्कुराणि गोग्रासार्थानि पुष्टिकराणि दुग्धवर्द्धनानि च मृदूनि तृणानि तैः दैर्घ्यमार्षं कन्दराश्चोपवेशविलासार्थाः शीतोष्णसमयसुखदा गुहाश्च ताभिः भक्षणार्थानि चामृतस्वादूनि कन्दमूलानि तैरिति स्वतनुविभवैरेव स्वामिनः पूजाविधानादयं तद्वर्य इति भावः॥ १८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

पुनः सर्वाः सम्बोध्यैका कथयति॥ हन्तेति। अबला अयमद्रिर्हरिदासवर्य इव दृश्यते हन्ताश्चर्यं। कुत इत्यत इत इत्याह॥ यद्रामेति। इत आयान्ता इति यन्तौ तौ च तौ रामकृष्णौ च तयोः रामकृष्णयोश्चरणानां स्पर्शाज्जातः प्रमोदो यस्य सः। किञ्च सह गोगणयोस्तयोर्मानं सत्कारं तनोति तत्सत्कारसाधनमभिधत्ते॥ पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैरिति। पानीयं निर्झरवारि। ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके तृतीयाध्याये एकविंशतिमवर्गे। सूयवसाद्भगवतीति। तथा यजुर्वेदे प्रथमाष्टकसप्तमप्रपाठके सूयवसं सोदकमिति प्रयोगात्तदनुकृतिः। माधवेन च शोभनानि यवसानीति व्याख्यातत्वाच्च सूयवसमिति सम्भवति। यद्वा सु शोभनानि तथा उ ऊर्ध्वं प्ररोहाणि यवसानि तृणानि कन्दरो गुहागृहं कन्दमूलैः सूरणोशीराद्यैर्यत्तत इति हरिदासा अप्येवं सभाजयन्ति भगवन्तमिति तत्तत्द्रैरिति मन्तव्यं। यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदो यन्मानं तनोतीति यच्छब्दद्विकान्वयो वा॥ १८॥

श्रीसुबोधिनी

निर्गुणा आहुर्हन्तेति, कथं पुलिन्द्य एतादृश्यो जाता इत्याशङ्कायां भगवद्भक्तसङ्गात् तथात्वं जातमिति गोवर्धनस्य भगवद्भक्तत्वमाहुर्हन्तेति खेदे, यद्यस्माभिरपि गोवर्धने स्थितं स्यात् तदास्माकमपि तथा भवेत् तदभावात् खेदः, अयमद्रिर्गोवर्धनो हरिदासानां मध्ये वर्यः, तत्र हेतुर्यद् यस्मात् कारणाद् रामकृष्णचरणारविन्दस्पर्शे प्रकृष्टो मोदो यस्येति, स एव भगवदीयेषु श्रेष्ठो यो भक्तिमार्गस्य स्पर्शेप्यानन्दयुक्तो भवति, किञ्च सात्त्विकोयं गुणातीतो वातो निर्धनोथापि तयोर्मानं करोति सहगोगणयोः, गावश्च गणा देवरूपा बालकाश्च, तयोः पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैश्चतुर्भिरातिथ्यं करोति, पानीयसूयवसे गवां, कन्दरा स्थानं, कन्दमूलानि भक्ष्याणि, "तृणानि भूमिरुदक" मितिवाक्याच् चतुष्टयसम्पत्तिरुक्ता; तत्र कोमलदूर्वा गवां भक्षणार्थेन्येषामास्तरणार्थे चोपयुज्यन्ते, भूमिः कन्दरव, प्रायेणेदानीं वर्षतीति लक्ष्यते, वाक्स्थाने कन्दमूलानि, सर्वाभावे वाचो गणना, सन्तोषो भक्तस्याधिकः, अबला इतिसम्बोधनं, सर्वासामप्यस्माकं तत्र गमने सामर्थ्याभाव उक्तः, कन्दा भर्जनसापेक्षा मूलानि तु तथैव भक्ष्याणि, एकरसाभावाय चोक्तमन्नव्यञ्जनभावार्थं वा, तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, अनेनावलाक्रोशोपि प्रदर्शितो या नवनीतादिभक्षणे विमनस्का जाताः, अतो युक्तमेवापूर्णत्वं, पूर्वोक्ताः पुलिन्द्य इति पर्वतप्रेरणया कन्दमूलादिकं ताभिः समानीयत इति लक्ष्यते॥ १८॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

हन्तेत्यत्र भगवद्भक्तसङ्गादिति पर्वतप्रेरणया कन्दमूलसमानयने कुङ्कुमप्राप्तिर्जातेति भावः, तथा भवेदिति स्पर्शादिकं भवेदित्यर्थः, अथापीति दासो हि मानं तनोतीति यावता दासत्वं सिध्यति न तु तद्वर्यत्वमित्येवं व्याख्यानं, व्रजस्य सर्वसमृद्धिमत्त्वेप्ययं गुणातीतत्वान्निर्धनस्तादृशस्य पानीयकन्दादिकं स्वार्थं सङ्ग्राह्यमेव भवति तथापि प्रयच्छतीत्यर्थः, एवमपि धर्मिष्ठत्वं सिध्यति न दासत्वमित्याशङ्क्याद्यविशेषणसहितेन तत् सिध्यतीत्याहुः सन्तोष इति, अन्ते पर्वतप्रेरणयेति गोवर्धने कामरूपित्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् केनचिद्रूपेण प्रेरयतीति भावः॥ १८॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैरित्यस्य व्याख्याने तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनमिति कन्दमूलेष्ववान्तरभेदानां बाहुल्यात् तेषां सर्वेषामेव भगवते निवेदनात् तेषां सङ्ग्रहार्थं, कन्दमूलपदयोः कन्दानि च मूलानि चेति बहुवचनेन विग्रहः कार्य इति भावः, तथा च नात्र समस्तपदगत"कन्दमूलै"रितिबहुवचनाभिप्राय उक्तः किन्तु लौकिकविग्रहे कन्दमूलपदयोर्बहुवचनान्तत्वेन विवक्षितार्थसिद्धिरिति बोधितं, तथा च नानाप्रकारककन्दमूलानां समर्पणं हरिदासवर्येण क्रियत इति सिद्धम्॥१८॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'हन्त' इति हर्षे। हे अबलाः! अयमद्रिर्गोवर्धनो ध्रुवं हरिदासेषु वर्यः श्रेष्ठः। तत्र हेतुमाहुः—यद्यस्माद्रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः, तृणाद्युद्गममिषेण रोमहर्षदर्शनात्। यस्माच्च गोभिर्गणेन सखिसमूहेन च सह वर्तमानयोस्तयो रामकृष्णयोः पानीयादिभिर्मानं सत्कारं तनोति। पानीयैर्जलैः, सुयवसैः शोभनतृणैः, कन्दरैः, कन्दैः, मूलैश्च ॥ १८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

हन्तेति ॥ हन्तेति हर्षे। हे अबलाः! अयमद्रिर्गोवर्धनो ध्रुवं हरिदासेषु श्रेष्ठः यद्यस्माद्रामकृष्णयोश्चरणस्पर्शेन प्रमोदो यस्य सः तृणाद्युद्गममिषेण रोमहर्षदर्शनात्। यस्माच्च गोभिर्गणेन सखिसमूहेन च सह वर्तमानयोस्तयो रामकृष्णयोः पानीयैः जलैः सूयवसैः शोभनतृणैः। सुशब्दे दैर्घ्यमार्षम्। यद्वा। पानीयं सूयन्ते पानीयस्वः निर्झराः तैः कन्दरैः कन्दैर्मूलैश्च मानं सत्कारं तनोति करोति ॥ १८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अत्रेर्हरिभक्तत्वं सूचयन्त्यो जगदुः हन्तेति हे अबलाः तत्कृतकृष्णसेवनसदृशसेवनानुपयोगित्वादबला इति संबोधनम् अयम् अद्रिर्गोवर्द्धनः हरिदासेषु वर्यः श्रेष्ठोऽस्ति कुतः यद्यस्मात् रामकृष्णयोः चरणस्पर्शेन प्रमोदः प्रकृष्टो मोदो हर्षो यस्य एवंभूतः सन् गोगणः गोभिर्गणैः गोपसमूहैश्च सहितयोस्तयोः पानीयादिभिः मानं पूजया सत्कारं तनोति अतस्तस्यानवधिकातिशयभाग्यमिति भावः सूयवसं सुयवसं समीचीनतृणं निपातस्य चेत्यनेन सु इति निपातस्य दीर्घत्वं कंदरा गुहा ॥ १८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

हन्तेति ॥ हे अबलाः, अयम् अद्रिः, हरिदासवर्यः भगवद्भक्तजनश्रेष्ठः। हन्तेति विस्मये। अहो अचराणामपि हरिदास्यामिरूचिरिति विस्मयन्ते। कुतः। यद्यस्मात्, रामकृष्णयोर्यश्चरणस्पर्शस्तेन प्रमोदो यस्य तथाविधो लक्ष्यते। उदञ्चिततृणच्छद्मना रामकृष्णचरणस्पर्शजः प्रमोद आलक्ष्यत इत्यर्थः, किं चायं गोवर्द्धनः, सहगोगणयोः गोभिः सखिगणैश्च सहितयोः, तयोः रामकृष्णयोः, पानीयं च सूयवसं च कन्दराश्च कन्दाश्च मूलानि च तैः, यद्यथोचितं, मानं पूजाम् आतिथ्यात्मकसन्मानमित्यर्थः। तनोति करोति। सूयवसानि शोभनतृणानि। सुशब्दे दीर्घत्वमार्षम्। संयवसेति पाठेऽपि स एवार्थः। अतोऽयमपि धन्य इत्यर्थः ॥ १८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

हन्तायमद्रिरिति। १०.२१.१८.

योनित्यं रचयत्यनन्यविषयो भूभृत्सदभ्यर्चनं तस्यैवानिशमीशपादजलजस्पर्शोऽखिलार्थप्रदः।
निर्यत्नं धरणीतलेऽतिसुलभो निर्णीतमेतत्सखि प्राप्तेशाङ्घ्रिसुखोऽद्रिरेष कुरुते प्राप्तुं पुनः सत्कृतिम् ॥ ३० ॥

यः सर्वदाऽतिथिजनार्चनसक्तचित्तः पूर्णः स एव धरणौ हरिदासवर्यः।
आस्तां स कीदृगपि लोकदृशा जडोऽपि क्रीडापदं स हि हरेरिह मानमद्रिः ॥ ३१ ॥

कृष्णप्रिया

अब निर्गुण गोपीजन अन्य गोपीजन को कहती हैं कि हे अबलाओं! क्या करे? हम सब अबलाएँ है यह ही हमारे लिए संकोच की गाथा है। देखिए यह श्रीगिरिराज गोवर्द्धन जी परम भागवत है। वे कृतकृत्य है और बडभागी है। हमारे जीवन सर्वस्व नन्दकुमार श्रीकृष्ण जी और नयनाभिराम श्रीबलरामजी के श्रीचरणों का पावनस्पर्श प्राप्त करके कितने प्रमुदित रहते हैं। वह परम भागवत है कि जो भगवान के स्नेह पात्र भगवज्जनों की सेवा शुश्रुषा सराहना करते है, सत्कार एवं स्वागत करते हैं। श्रीगिरिराज महाराज का यह परम औदार्य है कि गोवृन्द और ग्वाल वालों के साथ श्रीनन्दनन्दन एवं श्रीबलभद्र भैयाजी की नित्य अनन्यभाव से सेवा सत्कार करते हैं। स्नान-पान के लिए मधुर शीतल सुवासित सुपेय जल, गोवृन्द के लिए सुकोमल हरी-हरी घास, शीतोष्णादि ऋतु में सुखावह कन्दराएँ सर्व के लिए खाने के लिए सुखद कन्द मूल फल फूल अंकुर आदि भक्ति से देते हैं। सखी री! वास्तविक में श्रीगिरि महाराज बहुत सन्मान भाजन है ॥ १८ ॥

गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु [1]सख्यः ।
[2]अस्पन्दनं गतिमतां [3]पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् [4]॥ १९ ॥
एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः । वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[5] दशमस्कन्धे दावाग्निपानं [6]नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

समाप्तं तामसप्रमेयप्रकरणम् ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे सख्यः ! गोपकैः— सह—अनुवनम—गाः— नयतोः—निर्योगपाशकृत—लक्षणयोः—"तयोः" कलपदैः—उदारवेणुस्वनैः—तनुभृत्सु—गतिमताम्—अस्पन्दनम्, तरूणाम्—पुलकः—"जायते" "अहो" विचित्रम् ॥१९॥ वृन्दावनचारिणः—भगवतः—एवंविधाः याः—"लीलाः"—क्रीडाः—मिथः—वर्णयन्त्यः—गोप्यः—तन्मयताम्—ययुः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणान्तर्गतप्रमेयप्रकरणे एकविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २१ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हे सख्यः ! इदं त्वतिचित्रम् गोपैः सह वनेवने गाः संचारयतोस्तयो रामकृष्णयोर्मधुरपदैर्महावेणुनादैः शरीरिषु ये गतिमंतस्तेषामस्पंदनं स्थावरधर्मस्तरूणां पुलको रोमांचश्च जंगमधर्म इति । निर्युज्यंते गाव आभिरिति निर्योगाः पादबंधनरज्जवोऽघृष्याणां कर्षणार्थाः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः । शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कंधस्थपाशेन च गोपपरिवृढश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः ॥ १९-२० ॥

गोपीनां कामतः कृष्णे निःसीमप्रेमसंगमः । कात्यायन्यर्चनोद्भूततत्प्रसादमहोदयः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे वेणुगीतवर्णनं नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

सकौतुका आहुः । अस्पंदनं चलनाद्यभावः । पुलकः रोमोद्गमः "रोमोद्गमस्तु पुलकः प्रेम्णि वृद्धेऽग्रगे तथा" इति शब्दरत्ने । अघृष्या अनम्रा या गावस्तासां कर्षणमेवार्थः प्रयोजनं येषां ते पाशाः पाशवद्रचिता रज्जवः । 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः । गोपेषु परिवृढा अधिपास्तेषां श्रिया शोभया । इत्यर्थ इति । अतीव शक्ता ये गोपास्त एवाविशस्तगवाकर्षणे योग्या नान्य इति तात्पर्यम् । निर्योगाख्यः पाशो निर्योगपाशः । स च चपलस्वभावानां वत्सानां दोहनसमये गोवामजंघासंगता गलबंधनरज्जुस्तेन कृतलक्षणयोः सौन्दर्यविशेषलाभेन ख्यातयोः "गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ" इत्यमरः । ततश्चायं मुक्तास्तवकजुष्टाग्रद्वयः पीतपट्टमय उष्णीषबंधभूषणविशेष इव गोपालकत्वव्यंजको द्रष्टॄणां मनोमोहन एव ज्ञेय इति चक्रवर्त्तितोषिणीकाराः ॥ १९ (२०) कामतः स्मरात् । निस्सीमप्रेम्णोऽमर्यादस्नेहस्य संगमः संप्राप्तिः । किंभूतः सः—कात्यायन्यर्चनेनोद्भूतो यस्तत्प्रसादः कृष्णप्रसादस्स एव महोदयो महाफलं यत्र स तथा । वर्ण्यंते—अग्रे इति शेषः (१) ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो किं वक्तव्यो हरिदासवर्य्यत्वेन यथार्थनाम्नोऽस्याद्रिपतेर्महिमा किन्तु सर्वेऽप्यत्रत्याश्चराचराः परमधन्या इत्याहुः—गा इति । अनेन तासां गवामसङ्ख्येयत्वात् दूरगामित्वेन विस्तीर्णदेशगजीवगणसुखदातृत्वं विवक्षितम् अनुवनमिति तत्रापि अवान्तरभेदेन ततः स्वेषामेव तद्वञ्चनेन सर्वतः पुण्यहीनत्वं गोपकैरिति दयायां कन् तत्परिवारत्वेन स्नेहविषयत्वात् अतो गोपयन्ति दुःखभयस्थानात् श्रीकृष्णं रक्षन्तीति श्लेषश्च अस्माकं तु न तादृशप्रेमसेवायोग्यतेति भावः । नयतोरिति तत्र तत्र गमने तयोः स्वाच्छन्द्यं घटते हा कष्टं न त्वस्मत् सन्निधावित्येतत् उदारेति तत्र तत्रत्येषु तु तस्य परमानन्ददातृत्वं वेण्विति तदीयस्वनैर्ध्वनिवैशिष्ट्यं कलपदैरिति "ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कले" इत्यभिधानात् माधुर्येणैव तावन्मनोहरत्वं तत्र चास्फुटत्वात् कैर्यं सङ्केतोक्तिरिति नानाभावाक्रान्त्या तदतिशयित्वम् यद्वा, नूपुरकलशब्दयुक्तैः पदैः पादक्षेपैः इति तद्विलासस्मरणं बहुत्वं गौरवेण तनुभृत्स्विति एककस्तनुभृत् यस्तद्वशेन पतेदित्येतत् सख्य इति इदं भवत्योपि जानन्तीत्येतत् अस्पन्दनं किञ्चित् चलनस्याप्यभावः गतिमतां प्रशस्ततच्छक्तियुक्तानामपि नित्यतत्स्वभावानां नद्यादीनामपि वा अतः किमुतास्माकं दूरगमनमित्येतत् पुलकस्तरूणामिति अरोमकाणां [illegible]

---

१. सख्यं—विज. । २. आस्पन्दनं—च. पु. टी. । ३. पुलकं—विज. । ४. श्री शुकः उवाच—च. पु. टी. । ५. पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे—गो. प्रे. पु. । ६. एकोनविंशोऽध्यायः—विज. ।

मयङ्कुरोद्भेदमिषेण रोमरोमाञ्चौ युगपदेव जायेत इत्येतत् अतः कम्पोपलक्षितस्तेन स्थावरजङ्गमयोर्द्वैमवैपरीत्यमपि निर्योगेति सर्वासामेव गवां सुशीलत्वेन पाशान्तरानुपयोगात् निर्योगाख्यः पाशो निर्योगपाशः स च चपलस्वभावानां वत्सानां दोहनसमये गो-वामजङ्घसङ्गता गलवन्धनरज्जुः तेन कृतलक्षणौ "गुणे प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ" इत्यमरकोषात् परमसौन्दर्यगुणेन प्रतीतौ ततश्चानेन मुक्तास्तवकजुष्टाग्रद्वयपट्टमयत्वं तस्य ध्वनितं सोऽयं चोष्णीषाद्युपरि शोभां दधानो गोपवेषः सर्वेषां मनोहर्त्तापि तासां श्रीगोपसुन्दरीणां तु विशेषतो ज्ञेयः। स्वदेशजातिवयस्सदृशं वेषादिकं हि सर्वेष्वतीव रोचकं स्यादिति विचित्रमिति तत्रतत्र स्वेषां विस्मयमोहः इदं यथायोग्यं बहुत्र योजनीयम् अथ पूर्ववत्केवलश्रवणैकविषयभावव्यञ्जकश्चायमर्थः। अहो सख्यः! स्फुटं गोचारणमिषेण सगणः सभ्रातृकोऽसौ वनं भ्रमन् कितव इव लक्ष्यते इत्याहुः—गा इति। निर्योगपाशाभ्यां कृतं सिद्धं लक्षणं कितवो-चितपदबन्धनचिह्नं ययोस्तथाभूतयोः गोपकैस्तदधिपस्य स्तेयवस्तूनां च रक्षकैः पृष्ठपालाख्यैः सहानयोर्गा वनाद्वनं नयतोर्मध्ये य उदारः सर्ववरीयान् तस्य वेणुस्वनैर्जङ्गमानामस्पन्दनमभूद् स्थावराणां च पुलकोऽभूत् कीदृशैः मोहनमन्त्रवन्मनोहराव्यक्तपदैः अतो महावैणविक एवात्र कितवमुख्यः अन्ये तु तदनुयायिन एव तस्मादस्माभिरिव तस्य तु मोहनविद्यात्मको वेणुर्भवतीभिर्न श्रोतव्यः। अन्यथा ताभ्यां निर्योगपाशाभ्यामेव नूनं भवन्मनो बद्धं भविष्यतीति भावः एवं सर्वथा स्वमोहदुःखमेव विवक्षितमिति स्थितम् ॥१९॥ एवं बहुलीला वर्णयामासिरे कति वा मया वर्णनीया इत्युपसंहरति—ईदृश्यो जगन्मोहिन्यो याः क्रीडाः एवंविधत्वे हेतुः भगवतः निजाशेषमाधुर्यं प्रकटयतः तत्र वृन्दावनचारिण इति ताच्छील्येन तस्य नित्यतादृशलीलत्वं तासां च नित्यतादृशभावत्वं व्यञ्जितं व्यक्तं वृन्दावनविहारिण इति पाठे तु तद्वैशिष्ट्यं तस्य ताः सर्वा एव क्रीडाः वर्णयन्त्यस्सत्यः तन्मयतां क्रीडामयतां तदा-विष्टतां ययुः॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्याम् एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

किं वक्तव्यो हरिदासवर्यत्वेन यथार्थनाम्नोऽस्याद्रिपतेर्महिमा, अहो श्रीव्रजभूमौ श्रीवृन्दावने स्थिताः सर्व्वेऽप्य-त्याश्चराचराः परमधन्या इत्याहुः—गा इति। गोपकैरिति स्नेहविवक्षया क-प्रत्ययः; यद्वा, गोपयन्ति रक्षन्तीति गोपकाः गोपालाः, यद्वा, गोपानां कं सुखं येभ्यस्तैर्वेणुस्वनैरनुवनं प्रतिवनमिति श्रीमाधुराणि सर्वाण्येव वनानि गृहीतानि; उदारैर्महद्भिरुच्चैः सर्व्वा-नन्दप्रदैर्वा, कलानि मधुरस्वराणि पदानि गोतांगानि येषु, यद्वा, मधुरास्फुटध्वनियुक्तैः पदैश्च पादाब्जैः तेषां सनूपुरत्वात् कल-युक्तत्वम्; अस्पन्दनं स्तब्धतेति स्थावरधर्मः तरूणामित्युपलक्षणम्, सर्वेषामपि स्थावराणां पुलक इति चोपलक्षणम्, कम्पादि च ज्ञेयम्, तेन जंगमधर्म इति वैपरीत्यम्, अतो विचित्रमद्भुतम्; यद्वा, अस्पन्दनस्य विशेषणं जगद्विलक्षणमित्यर्थः। ततश्च लिंगव्यत्य-येन पुलकस्यापि विशेषणमूह्यम्, एवं सर्वेषामेव प्रेमविशेषोदयः सूचितः; निर्योगेत्यनेन च तदद्भुत—रम्यवेषदर्शनमप्येका हेतुरस्पन्द-नादावूह्यः, वृक्षादीनामपि सूक्ष्मा दृष्टिरस्तीति 'तस्मात् पश्यन्ति पादपाः' इत्यादि महाभारततो ज्ञेयम्; यद्वा, न केवलमस्पन्दना-दिकमेव, अन्यश्च विविधप्रेमविकारो भवतीतिव्यक्तमेवाहुः। निःशेषेण योगः संगमो यस्मात्, किंवा निर्गतो योगः प्रेमसम्पद्विरोधी निर्विकल्पकसमाधिर्यस्मात्; स चासौ पाशश्च प्रेमलक्षणः साक्षात् तदनुक्तिर्दुःखविशेषात्, तस्य कृतं लक्षणं मोहादिना निपातादिकं रोदनादिकञ्च याभ्याम्, तनुभृत्स्विवत्यस्यात्रैव वान्वयः। एवं चराचराणां वैपरीत्येनैक्येन च विविधप्रेमलक्षणानि भवन्तीत्यर्थः; यद्वा, चराचराणां तेषामेव निर्योगपाशेन तादृशप्रेमोदयेन कृतं ज्ञापितं लक्षणं स्थितिगमनादिचिह्नं ययोस्तेषामस्पन्दनादिदर्शनेन ज्ञायेत; अत्र तौ तिष्ठतः, अनेन पथा वा गतौ स्त इत्यादिकमित्यर्थः। द्वयोरपि निर्द्देशः पूर्वोक्ताभिप्राय एव। हन्त चराचराणामेषां भाग्यं यन्निर्योगपाशादिमधुरवेषं तं पश्यन्त्यमी, मादृशीनान्तु तद्दर्शनमात्रमपि सुदुर्ल्लभमहो दौर्भाग्यमिति भावः॥ १९॥ ईदृशा-न्यन्यान्यपि तच्चेष्टितानि बहुलानि वर्णयामासुः, तानि च कति मया वक्तुं शक्यानीत्युपसंहरति—एवमिति। ईदृश्यो जगन्मोहिन्यो याः क्रीडाः। एवंविधत्वे हेतुः—भगवतो निजाशेषैश्वर्य्यं विशेषेण प्रकटयत इत्यर्थः। तत्रापि वृन्दावनचारिणः स्वच्छन्दविहारिण इत्यर्थः। यद्वा, वृन्दावनचारिण इति तत्रत्य—क्रीडा एवावर्णयन्, न तु व्रजान्तश्चारिण इति तत्र भगवद्दर्शनादिना निजसौभाग्यस्या-पत्तेः, पाठान्तरेऽपि स एवार्थः। विहारिण इति वा पाठः, ताः सर्वा एव क्रीडा वर्णयन्त्यः सत्यः, तन्मयतां भगवन्मयतां सदा तत्कीर्तनश्रवणादिपरतामित्यर्थः, यद्वा, सन्ततमेव तदनुभवानन्दमिति; यद्वा क्रीडामयतां सदैव तेन सहाक्रीडन्नित्यर्थः; यद्वा तच्छब्देन प्रेमाग्निदाहदुःखविशेषोत्पत्तेः; साक्षात्तन्नामाग्रहणम् पूर्ववत् सदैव प्रेमभरोदयेन परमार्त्ता बभूवुरित्यर्थः। गोप्य इति तासां स एव स्वभावः, इति सर्वथैव तासां प्रेमसम्पद्वृद्धया सर्वातिशायि-सौभाग्यं वर्णितमिति॥ २०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां

श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्याम् एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

गतिमतामस्पन्दनं जङ्गमानां स्थावरधर्मभजनं तरूणां पुलकः स्थावराणां जङ्गमधर्मभजनञ्च विपरीतत्व विचित्रम् ॥१९-२०॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धे श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे गोप्यः ! इदन्त्वतिचित्रमिति काश्चिदाहुः—गा इति । हे सख्यः ! सह प्रतिवनं गाः चारयन्तो निर्योगो नियुंजन्ते गाव एभिरिति निर्योगाः दोहनवेलायां गवां पादबन्धनार्थं रज्जवः पाशास्तु दुष्टगवाकर्षणार्थाः तैः कृतं चिह्नं लक्षणं ययोः शिरसि निर्योगवेष्टनस्कन्धयोः पाशधरणेन च गोपश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः । एवंम्भूतयोस्तयोः रामकृष्णयोः कलान्यव्यक्तमधुराणि पदानि शब्दाः येषु तैरुदारवेणुस्वनैर्महावेणुरवैर्हेतुभिः देहिनां मध्ये चराणामस्पन्दनम् ईषदप्यचलनं तरूणां स्थावराणां तु पुलको रोमाञ्चश्चेति चित्रं जङ्गमानां स्थावरधर्मः स्थावराणां जङ्गमधर्मश्चेत्येतदतिचित्रमित्यर्थः ॥ १९ ॥ क्रीडावर्णनमुपसंहरति—एवमिति । वृन्दावनचारिणो भगवत इत्थम्भूता अन्याश्च याः क्रीडास्ताश्च मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां कृष्णप्रचुरतां कृष्णविषयवुद्धिप्राचुर्यं ययुरित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायाम् एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः सञ्चारयतो तनुभृत्सु शरीरिषु जन्तुषु सख्यं विचित्रमिदं चित्रमपि चित्रं किं तदिति कलपदैरुदारवेणुस्वनैः विवशानां गतिमतां जङ्गमानाम् अस्पन्दनं स्थावरधर्मभजनं तरूणां स्थावराणां पुलकं जङ्गमधर्मं रोमाञ्चाख्यं विचित्रं पश्यतेति शेषः कथमेतद्युज्यत इति तत्राह निर्योगेति नितरां योगपाशेन योगशक्तिलक्षणपाशेन कृतं लक्षणम् अस्पन्दनसन्मानाख्यं ययोस्तौ तयोः यद्वा निर्योगपाशः क्षेपणाख्यः तेन कृतं योगचिह्नं ययोः ॥ १९ ॥ वृन्दावनचारिणो हरेरेवंविधाः याः क्रीडास्ताः मिथो वर्णयन्त्यो गोप्यः तन्मयतां तत्स्वामितां ययुरित्यन्वयः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्याम् एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नयतोः ततोः उदारेति विशेषणात् श्रीकृष्णस्यैव वेणुर्बोध्यते सर्वतोऽपि गुणगमत्वात्तस्य तन्मयतां क्रीडामयताम् ॥१९-२०॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

उपसंहारेऽपि वत्सला एवोचुः—गा गोपकैरित्यादि अहो विचित्रमिदं यत्तनुभृत्सु मध्ये गतिमतामस्पन्दनं स्थावराणां तरूणां पुलकः । कैः ? उदारवेणुस्वनैः । कयोः ? रामकृष्णयोरित्यर्थः । कीदृशयोः ? अनुवनं वृन्दावनादिवनमनु गोपकैर्गोपालकैः, अनुकम्पायां कः, गायतोः । कीदृशैः ? कलपदैः । कीदृशयोः ? निर्योगपाशो गोच्छन्दनरज्जुस्तेन कृतं लक्षणं शोभा चिह्नं याभ्यां ययोर्वेति हर्षः ॥ १९ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

पुनर्वत्सला ऊचुः—गा इत्यादि । अनुवनं वनं वनं कदाचिद्वृन्दावने कदाचिद् भाण्डीरवन इत्यादि गोपकैः अनुकम्पायां कः, रामकृष्णयोर्मध्ये यस्योदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु प्राणिमात्रेषु गतिमतामस्पन्दनं स्थावरत्वं तर्वादीनां पुलकस्तत् किं विचित्रम्,—कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुं समर्थत्वात् । वेणुस्वनः श्रीकृष्णस्येति प्रसिद्धिः । कीदृशयोः ? निर्योगपाशो गोच्छन्दनरज्जुस्तत्कृतं लक्षणं ययोः, वेशानां साम्येऽपि कृष्णस्यैवायमाकर्षकत्वम् परिपूर्णत्वात् । मतिः ॥ १९ ॥ एवंविधा इत्यादि । भगवतः श्रीकृष्णस्य न तु द्वयोः मिथो रहसि अन्योन्यं वा तन्मयतां तदेकमात्रस्फूर्त्यां सान्द्रानन्दसम्भोगम् ॥ २० ॥

इति एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च तत्राभिसरणे विलम्बो न कार्य्यः तस्यानुगवीनस्य वनान्तरगमनसम्भवादित्याहुः—गा इति । गोपकैरित्यनुकम्पायां कन् अतो गोपायन्ति कृष्णं स्नेहात् पालयन्तीति श्लेषश्च प्रतिप्रातरेव श्रीयशोदया तथैव तन्नियोगात् वने वने गास्तयोर्नयतोः सतोरिदं विचित्रं भवतीत्यन्वयः । किं तत् हे सख्यः ! तनुभृत्सु शरीरिषु मध्ये ये गतिमन्तस्तेषां वेणुस्वनैरस्पन्दनं स्थावरधर्मः तरूणां

पुलको जङ्गमधर्मं इति नियोंगाख्यः पाशो नियोंगपाशः सच चपलानां वत्सानां दोहनसमये गोवामजङ्घासङ्गतागलबन्धनरज्जुः तेन कृतलक्षणयोः सौन्दर्य्यविशेषलाभेन ख्यातयोः "गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ" इत्यमरः। ततश्चायं मुक्तास्तबकजुष्टाग्रद्वयः पीतपट्टमयः उष्णीषबन्धभूषणविशेष इव गोपालकत्वं व्यञ्जको द्रष्टॄणां मनमोहन एव ज्ञेयः ॥ १९ ॥ उपसंहरति—एवमिति वृन्दावनचारिणो भगवत एवंविधा अन्या अपि याः क्रीडाः वर्णयन्त्यो बभूवुस्तन्मयतां तत्प्रचुरतां क्रीडाप्राचुर्यं ययुः प्रापुः स्वकान्तमभिसृत्य तत्तत्क्रीडावत्यो बभूवुरित्यर्थः। यद्वा, अयन्ते अभिसरन्तीत्ययाः गोप्यः एवंविधाः भगवतः क्रीडाः भगवत्कर्तृकाः भगवत्कर्मकाश्च मिथो रहसि ययुः प्रापुः क्रीडयन्त्यः क्रीडयन्त्यश्च बभूवुरित्यर्थः। ततः परं तन्मयतां क्रीडाः तादात्म्यमानन्दमोहं च प्रापुः व्याख्येयमवश्योपादेया अग्रिमग्रन्थे यह्यम्बुजाक्षेत्यत्र त्वयाभिरमिता इत्युक्तेः ॥ २० ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। एकविंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २१ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

काश्चिदिदं चित्रं शृणुतेत्याहुः—गा इति। हे सख्यः! गोपकैर्गोपैः सह गा अनुवनं प्रतिवनं नयतोः नियुंज्यन्ते दोहनवेलायां गावः आभिरिति नियोंगाः पादबन्धनार्थाः ताभिः शिरस्थवेष्टिताभिः पाशास्त्वघृष्यगवां कर्षणार्थास्तैश्च स्कन्धस्थैः कृतं लक्षणं गोपालचिह्नं ययोः कलानि मधुराणि पदानि येषां तैरुदारैर्वेणुस्वनैः शरीरिषु मध्ये गतिमतां जङ्गमानामस्पन्दनं स्थावरधर्मस्तरूणां स्थावराणां पुलको जङ्गमधर्मश्चेति विचित्रमित्यर्थः ॥ १९ ॥ एवंविधाः वेणुगीतादिक्रीडाः वर्णयन्त्यस्तन्मयतां तत्प्रचुरतां तत्तादात्म्यं श्रीकृष्णसाधर्म्यं ययुरित्यर्थः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे एकविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २१ ॥

श्रीरामकृष्णकृता प्रेममञ्जरी

गागोपकैरिति। अथातीतप्रायेऽह्नि विरहवह्नितापितहृदयाः सत्यो दूरत एवावलोक्याट्टालकादौ स्थिताश्चानुवनं विचरतो रामनुविलम्बमसहमानां परस्परमेवाहुः—हे सख्यः! गोपकैः प्रयोज्यकर्तृभिर्गाः अनुवनं नयतोः सेयं तेषां वञ्चनासङ्केतसूचनायैव उदारैर्विधुरजनसमुत्कण्ठासन्धानधुरन्धरः कलैर्मधुरास्फुटैः तत्र मधुरत्वेन सर्वमोहनता अस्फुटत्वेन च सङ्केतसूचना ज्ञेया निजप्रियतमाभिधानसमुदायैः कृत्वा तनुभृत्सु गतिमतां मृगपक्षिनद्यादीनाम् अस्पन्दनं जडीभावः स्थावराणां पुलकः अङ्कुराद्युद्गम इति विचित्रं परमाश्चर्यपदमिति भावः। नियोंगा दुष्टगवादिबन्धनरज्जुः तेन कृतं लक्षणं विभ्राजकचिह्नं याभ्यां तयोः यद्वा, नितरां योगसंयोगस्तत्सूचकः पाशः सङ्केतबन्धडोरकं तेन इति ॥१९॥ एवंविधा भगवत इति एवं विधा इति दिङ्मात्रं दर्शितं भगवतः श्रीमतः अत एव तस्य नित्यनिवासे वृन्दावने विचरितुं शीलं यस्य तस्य क्रीडाः बाह्या आभ्यन्तराश्च यास्स्वतन्त्रचेष्टा मिथः स्वस्वगोष्ठ्यां वर्णयन्त्यः गोप्यः तन्मयतां ययुः स्वरूपे मयट् यद्वा तदादीनां वुद्धिस्थे शक्तेस्तन्मयतां भगवन्मयतामित्यर्थः। तदेवं नित्यसिद्धानां तत्रापि प्रौढानां पूर्वानुरागो वर्णितः साधनसिद्धानां प्राग्भवीयभावनासमृद्धानां कन्यानां दुर्गाव्रतापदेशेनाच्छादितः सोऽयं प्रतिपादितः तदेवमत्र नयनप्रीतिप्रभृतयः स्मरदशाः प्राचीनैर्दर्शिताः यथानयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽयं सङ्कल्पः निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युरिति तासु यथास्थानं प्रदर्शितासु त्रपानाशस्य नायिकाकर्तृकस्यानौचित्यमवधार्य श्रीभगवता कृतमेव हृढ प्रलब्धा इत्यादिना मुनीन्द्रो दर्शयामास अन्यथा तद्वर्णनं रसाभासतां प्रकाशयतीति स्वयमवसेयम् ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे मिश्रश्रीरामकृष्णविरचितायां प्रेममञ्जरीटीकायाम् एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीमत्कृष्णदासकृता श्रीगणदीपिका

चन्द्रतिलका सखी विचित्रचरितां प्रत्याह—गा इति ॥ १९–२० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीकृष्णदासकृतश्रीगणदीपिकायाम् एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तत्र गमने विलम्बो न युक्तस्तस्यानुगवीनस्य ततोऽन्यत्र गमनसम्भवादित्यन्याः काश्चनाहुः—गा इति। गोपकैरित्यनुकम्पायां कन् तत्कृपाभाजनैरित्यर्थः। पक्षे गोपायन्ति स्नेहात् पालयन्ति कृष्णमिति तैः सखिभिः सहानुवनं वने वने गा नयतोश्चारयतोः सतोरिदं विचित्रमाश्चर्यं भवतीत्यनुषङ्गः। किं तत्? कलपदैः मधुरालापैरुदारैर्यदानन्ददातृभिर्वेणुगीतैस्तनुभृत्सु देहिषु ये गतिमन्तो मृगादयस्तेषामस्पन्दनं स्थावरधर्मः तरूणां गतिहीनानां पुलको जङ्गमधर्म इत्येतत् कीदृशयोरित्याह—नियोंगेति। नियुंज्यन्ते गावोऽनेनेति नियोंगः स च पाशश्चाधृष्यगवां पादबन्धनार्था रज्जुर्मुक्तागुच्छजुष्टाग्रद्वयी पीतपट्टमयी उष्णीषे बन्धभूषेव शोभाधायिनी तेन कृतं लक्षणं चिह्नं ययोरिति गोपपरिवृढश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः ॥ १९ ॥ उपसंहरति एवमिति। ननु नन्दनृपसूनोर्हरेर्गोपसुभ्रुवाञ्च वृन्दावनचारिणो भगवतो या एवंविधा क्रीडास्ता वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां तदावेशं ययुः।

शास्त्रार्थविदामपि कुलाचारानुपयुक्ता मिथोऽनुरक्तिरियं दौःशील्यमेवेति चेन्मन्दमेतत् तथात्वे शास्त्राभावात् प्रत्युत तस्य "भक्त-वत्सलता तासां परमाभक्ति"रिति शास्त्राच्च सिद्धान्तस्तु पञ्चाध्यायीमध्ये प्रदर्शयिष्यते ॥ २० ॥

यद्यच्चकार गोविन्दो वृन्दारण्ये विचेष्टितम् । प्रेमनेत्रैस्तदालोक्य प्रोचुर्गोप्यो गृहस्थिताः ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्याम् एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः कलपदैरुदारवेणुस्वनैर्नियोगपाशकृतलक्षणयोर्नियोगपाशः क्षेपणीरज्जुस्तेन कृतं लक्षणं चिह्नं ययोस्तयोः स्कन्धद्वन्द्वासज्जिततद्रज्ज्वोर्गतिमतां जङ्गमानामस्पन्दनं तत्परवशतया किञ्चिच्चलनाभावः । तथा तरूणां स्थावराणाम् । पुलक इति पाठः । "पुलकः कृमिभेदे स्यात्तल्पेऽश्वमणिदोषयोः । गजात्तपिण्डे रोमाञ्चे हरिताले शिलान्तरे" इति विश्वः । पुलको रोमाञ्चनमिति तनुभृत्सु सख्यं विचित्रं चेतनाचेतनीभवनं भवनमचेतनस्य चेतनधर्मतयेति चित्रं सख्यं पश्यतेति सखीः प्रति सखी वदति ॥ १९ ॥ या वृन्दावनचारिणो भगवत एवंविधाः क्रीडा मिथः परस्परं वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां सो मयं प्रधानं येषां ते तथा तेषां भावस्तन्मयतां तां तत्स्वामिकतां ययुः । प्रधानमुद्दिष्टमिति बृहदारण्यकभाष्यतृतीयस्कन्धतात्पर्यावृत्तेः । स मयं प्रधानं यासां ता इति वा तन्मयास्तासां भावः ॥ २० ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु तथापि वयं सजातीया योग्यारता विहाय तस्मिंस्तासु च कथं कृपेत्याशङ्क्याहुर्गा गोपकैरिति, विपरीतं हि भगवच्चरित्रं साक्षाद् भगवान् न किञ्चित् करोति किन्तु साक्षिमात्रेणैव गतिमतामस्पन्दनं भवति तरूणां च पुलकं तथास्माकं योग्यानामयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्वमिति, विपरीतसम्पादने हेतुत्रयमाह गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः सतोरित्येकः, वेणुस्वनैरित्यपरः, कलानि पदानि यत्रेतिविशेषणेन चापरः पदैश्चरणैर्वा, गावो वने वने नीयन्ते सर्वेषामेव वनानां शुद्धिः सम्पाद्यतेतो वनानि निर्दुष्टानि भवन्ति, गवां गोपानां च तत्सम्बन्धो भवति, एतदीया शुद्धिधर्मश्च तत्र गच्छतः, तत उदारो यो वेणुस्वनो वेणुर्वोदारस्ततो वेणुमुक्तशेषं ते भुञ्जते, अतस्तेषां पुलक उचित एव, ये पुनर्गतिमन्तस्ते दोहार्थं भगवति समागते मनःपूर्वकं स्वामृतदानार्थं तत्र विघ्नाभावार्थं च सर्व एव तूष्णीं भवन्ति, शब्दशङ्कया चलन्त्यपि न, अत एव भगवतोऽव्यक्तमधुराणि पदानि भवन्ति शनैर्गमनात्, दोहकालोऽयम्, सख्य इति सम्बोधनं तत्र गतानां दर्शनेन सम्मत्यर्थम्, अत-स्तनुभृत्सु स्थावरजङ्गमेषु चित्रं भवति, तामवस्थां ज्ञापयति निर्योगपाशकृतलक्षणयोरिति, नितरां योगो याभ्यां गोवत्सयोस्तौ पाशौ निर्योगपाशौ निदाने ताभ्यां कृतं लक्षणं ययोः, हस्तेन तदुभयग्रहणं पादयोर्योजनं वा, अतो भीताः सर्व एव जङ्गमा अस्मानपि बध्नीतेति, स्थावराणां तु भयात् स्वत एव मधुधाराः ॥ १९ ॥ उपसंहरत्येवंविधा इति, अयमेकप्रकार उक्तः एवंविधाः कोटिशः सन्ति लीलाः, तत्र हेतुर्भगवत इति गुणानां भगवतश्च मिश्रणे कोटिशः प्रस्तारा भवन्ति, किञ्च मर्यादायां परिमिता अपि भवन्ति या पुनर्वृन्दावनचारिणः स्वेच्छागतिमतो भगवतोऽतो मर्यादाभावादसङ्ख्याता एव, अत एवं वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां ययुः क्रीडामय्य एव जाता जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्त्य आसक्तिभ्रमन्यायेन, ययुरिति न पुनस्तेषां संसारे समागमनम् । एवं सप्तभिर्मध्यमो निरोधो निरूपितः पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्तिपूर्वकमन्तर्भगवत्प्राप्तिरूपः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणेऽष्टादशाध्यायविवरणम् ॥ १८ ॥

---

१. इति तदा° । २. °कः । ३. येन । ४. °स्स पाशो त्निर्योगपाशो । ५. अथ वात्र विवक्षितलीलां गुप्ततया निरूपयन्ति गोपकैर्गवां वने निवशनेन प्रियस्य व्यासङ्गाभावः सूचितः, तत्र स्वच्छन्दरमणार्थं तादृग्भक्तागमनार्थं वेणुस्वनो दूरस्थागमनार्थमादौ तारस्ततो निर्गतानां प्रियस्थिति-स्थानज्ञापको मध्यमस्ततो निकटे समागततदर्थं मन्द्रः, तत्तद्भक्तनामग्रहणेनापि स्वनानां बहुत्वम् अन्याज्ञापनादव्यक्तानि स्वनामत्वेन ज्ञापनान्मधु-राण्यतः कलानि नामरूपाणि पदानि यत्र तादृशैः स्वनैर्गतिमतामस्पन्दनं तरूणां च पुलकमेतच् चित्रम्, एतदागमनं दिवसे, तच्च सर्वसमक्षमशक्यं भवति, वेणुस्वनैः सर्वेषां तथात्वे निःप्रत्यूहं तद् भवति, उक्तवेणुस्वनैस्तनुभृत्सूक्तभक्तेषु सत्सूक्तस्वनैरस्पन्दनादिकं चित्र-मित्युदारवेणुस्वनैः कलपदैरितिपदयोरावृत्त्या पदसम्बन्धो ज्ञेयः, प्रियसङ्गमाभावदशायां तन्वनुसन्धानाभावाद् तैरेव तदनुसन्धानात् तथात्वं स्वगोष्ठ्यां सर्वा एतादृश्य एवेत्युक्तार्थसम्मत्यर्थं सख्य इतिसम्बोधनम्, उदारो हि पात्रापात्रविवेकराहित्येन ददात्यल्पेऽपि बहु चातस्स्थावरेभ्योऽपि दानेन वस्तुसामर्थ्यात् तेषां तत्त्वं युक्तमतस्तरूणां रसोपयोगिपुष्पमधुधारावत्त्वं, गवां वने निवेशनोक्त्या दिवासम्बन्ध्येतच् चरित्रमुक्तं, तत आगम-नानन्तरं सन्ध्यासम्बन्धि निरूपयन्ति निर्योगेत्यादिना, लक्षणपदेन गोदोहनारूनुपस्तत्सामयिकस्सर्वोऽपि वेष उच्यते, एतादृशयोस्सतोरर्थाद्दर्श-नेनैवोक्तकार्यद्वयं पूर्वस्मादपि विशिष्टं चित्रम्, औदार्येणोक्तरीत्या वेणुनादेनापि तेषां तथात्वं यद्यपि चित्रं तथापि परनिष्ठरसमादातुमुद्यतयोस्तयो-स्तथात्वं ततोऽपि विशिष्टं, स्वाभाविकस्यापि ज्ञानस्य तिरोधानसम्भवादत एवोपसर्ग उक्तः वेणुत्वेन ब्रह्मानन्दतुच्छकरणाद् तनुरहितेभ्यो मुक्तेभ्योऽपि

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गा गोपकैरित्यत्र, सर्वेषामेव वनानामित्यारभ्य तत्र गच्छत इत्यन्तम् । शुद्धिपदेनाशुद्धिनिवृत्तिरुच्यते । वस्तुतत्त्वाज्ञानहेतुभूततरुत्वस्वभावोऽशुद्धिपदार्थोऽत्र विवक्षितः । पूर्वं 'कृष्णमुखनिर्गते'त्यादिना पशुत्वेपि सति तदुल्लङ्घ्यैतद्रसानुभाविका सामग्र्युक्तेति तत्फलवत्यो गाव इति तत्सम्बन्धे सति वनस्थापि तरुत्वादिस्वभावोल्लङ्घनपूर्विका रसप्राप्तिर्भवति । गोपेषु रसिकत्वं स्पष्टम् । तदेव धर्मपदेनोच्यते । तदेतदुक्तमेतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छत इत्यनेन । गोपु तस्थुरितिपदेन क्रियानिवृत्तेरप्युक्तत्वात्तत्सम्बन्धादत्रापि तथा । वेणुस्वनयोरौदार्योक्त्या प्रासङ्गिकमिदं नादकार्यं वस्तुस्वभावजम्, न त्वेतदुद्दिश्य भगवतायं नादः कृत इति ज्ञाप्यते । प्रासङ्गिककार्यकथनेन यत्रैतेष्वेवैतादृश्यं तत्रैतन्नादविषयेषु किं वाच्यमिति ज्ञाप्यते । अतो भीता इत्यादि । गोनिष्ठरसग्रहणार्थं वन्धनादिप्रयासं करोति तथास्मासु प्रयासं मा करोत्वित्याशयेन प्रभुप्रयासाद्भीताः स्वत एव समर्पयन्तीत्यर्थः । निदाने इति पाशनामोक्तिः ॥ १९ ॥

इति प्रमेयप्रकरणम् ॥ १८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुवोधिनीलेखः

गा गोपकैरित्यस्याभासे तस्मिन् कथं कृपेति अस्मन्निष्ठरसं परित्यज्य तन्निष्ठकन्दादिभोग इत्यर्थः, व्याख्याने विपरीतं हीति प्रमेयमर्यादानाशकमित्यर्थः, नयतोः सतोरेवं स्वत एव भवतीत्युक्तेरर्थमाहुः साक्षादित्यादि, तथा च यत्र गोवर्धने पुलिन्दीषु च साक्षात्कृतिस्तत्र वैपरीत्ये किं वक्तव्यमिति कैमुत्यपुरःसरं दृष्टान्तो ज्ञेयः, हेतुत्रयमिति कारणत्रयमित्यर्थः, गवां वने नयनं ज्ञानजननद्वारा परम्परया हेतुः पुलके, वेणुस्वनः साक्षाद्धेतुः, वेणुनिष्ठानि कलपदानि पक्षान्तरे भगवच्चरणानि च गतिमतामस्पन्दने हेतुरितिविभागः, चरणैर्वेति अस्मिन् पक्षे कलपद"मर्श आद्यज"न्तं कलसिञ्जितनूपुरवत्त्वात् पदानां कलत्वं विवरिष्यन्ति अत इति वने गवां नयनादित्यर्थः, वनानां निर्दुष्टत्वे हेतुमाहुर्गवामिति, गोगोपसम्बन्धेन तन्निष्ठशुद्धिधर्मौ वनेषु गच्छतस्तदा निर्दुष्टानि भवन्तीत्यर्थः, ततो वेणुमुक्तशेषभोगात् पुलको भवति पुष्पमधुधारारूपः, वेणुनिष्ठकलपदानां श्रवणार्थं गतिमतामस्पन्दनं सर्वानुभवसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवच्चरणानां हेतुत्वं साधयन्ति ये पुनरिति अत एवेति चलनाभावाद्धेतोः, तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः, तामवस्थामिति कलचरणावस्थामित्यर्थः, गा नयतोर्वेणुस्वनैस्तरूणां पुलकः निर्योगपाशकृतलक्षणयोः कलपदैर्गतिमतामस्पन्दनम्, इदं तनुभृत्सु विचित्रं भवतीत्यन्वयः, वेणुनिष्ठकलपदपक्षे वेणुस्वनैरित्यस्यावृत्तिर्विशेषणेन विशेष्यलाभो वा ज्ञेयः, सर्वे एवेति गोपिकादय इत्यर्थः, वध्नीत इति रामकृष्णौ वध्नीतस्तदा तयोः प्रयास इतिलक्षणकभययुक्ताः अस्पन्दनपूर्वकं रसं समर्पयन्तीतिशेषः, तरुषु विशेषमाहुः स्थावराणां त्विति, जङ्गमानामस्पन्दनेन प्रतिबन्धाभावमात्रं, रसप्राकट्यं तु भगवदुद्यमेनैव भवति स्थावराणां तु भगवति वनं गते प्रभुप्रयासभयात् स्वत एव भगवदुद्यमं विनैव मधुधारा भवन्तीत्यर्थः, द्वितीयव्याख्याने तत्त्वं युक्तमिति पुलकवत्त्वमित्यर्थः, अत इति पुलकस्य युक्तत्वादित्यर्थः, अन्ते तच्चेति दोहनसमये कलपदामृतवेणुगीताभावात् स्वरूपनिष्ठेन महिम्ना महत्त्वेन निर्योगपाशादिनैव रूपज्ञानमित्यर्थः, सर्वमिति निर्योगपाशादिकमपीत्यर्थः निर्योगेत्यस्यार्थमाहुस्तत्रापीति, रूपज्ञानेऽपि रसवद्भ्यः सकाशाद् रसजिघृक्षा प्रभोर्जतिति प्रभुमनोधर्मज्ञानमतिचित्रमित्यर्थः, एवं सतीति तादृशमनोधर्मज्ञाने सतीत्यर्थः, तृतीयव्याख्याने परित इति पदानां कादाचित्कं दर्शनमितिहेतोस्तेषां सिञ्जितानामव्यक्तता भगवदीयत्वनिश्चयाभाव इत्यर्थः, श्लोकव्याख्यानान्ते अत इति "वर्हापीडे"तिश्लोकस्यैव त्रयोदशश्लोकैर्विवरणकथनेन तादृशस्य भगवतो वृन्दारण्यप्रवेशकथनादित्यर्थः ॥ १९ ॥

इत्यष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

द् ददातीति ज्ञायते परन्तु तेषां तनुराहित्यान् नोक्तकार्यसम्भव इति वेणुपदतनुभृत्पदसमभिव्याहारादवगम्यते, गविष्ठं भोग्यं रसमादातुमुद्यतं प्रभुं दृष्ट्वा ताभ्यः स्वप्रयत्नपूर्वकं गृह्णाति वयं तु प्रभुप्रयत्नं विनैव स्वयमेव स्वनिष्ठं रसं समर्पयिष्याम इति तथा कुर्वन्ति आदौ तरूणां रूपज्ञानं चित्रं "निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगा" इतिवाक्याद् तेषां रूपज्ञानं मन्तव्यं तच्च दोहनसमये रूपमहिम्नैव, एतेन स्वरूपसम्बन्धि सर्वं प्रमेयमर्यादानाशकं स्वरूपानन्ददायकं चेति चित्रमिति ज्ञाप्यते, तत्रापि रसवद्भ्यो रसजिघृक्षाज्ञानमतिचित्रम्, एवं सति प्रभो रसवदपेक्षाज्ञानेन स्वस्यापि तथात्वेन स्वोपयोगज्ञानेनापि प्रमुदिताः स्वनिष्ठं प्रकटीकुर्वन्तीति ज्ञायते, अन्तःपूर्णरसस्याधिक्ये स्थानाभावेन प्रतिरोमकूपं वहिर्निस्सारणे रोम्णामपि तथात्वं वहिःपुलकस्सोऽत्र प्रत्यवयवं मधुधाराः पुष्पफलानि चेति ज्ञेयम् । ६ ततः ।

१. अतःपरं २. पुलक ए° । ३. तन् । ४° श । ५° योस्तयो° । ६. लुप्तम् । ७. गोनि° । ८. अथ वा गा गोपकैरनुवनं नयतोर्वेणुस्वनैर्निर्योगपाशकृतलक्षणयोः कलपदैरुक्तकार्यद्वयं चित्रमिति प्रत्येकं सम्बन्धः, दोहनार्थमतिशनैश्चलनेन नूपुरसिञ्जितमप्यव्यक्तं मधुरं च भवतीति वदत्वं पदानां कलत्वं परितो गोवृन्दवेष्टनेन पदाम्बुजानां कादाचित्कं दर्शनमिति वा तेषामव्यक्तता, लक्षणपदेनोक्तपाशाभ्यां गोपादयोर्योजनेन तासां न गतिराहित्यं किन्तु कलपदैरेव, तद् तु गोदोहनचिह्नत्वेनैव कृतमिति ज्ञाप्यते, पुलकपदमावृत्त्या पूर्वापरसम्बन्धीति ज्ञेयम्, अतः सर्वरसभोक्ता भगवान् वृन्दावने विजयत इति निरूपितम् । इदं स्वतन्त्रद्वयं श्रीमत्प्रभुचरणकृतं श्रीसुबोधिन्यन्तःसंश्लिष्टमेव क्वचित् पुस्तकेषु दृश्यते ॥ १९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे सख्यः ! इदं तु विचित्रमित्यन्वयः । तत् स्पष्टयन्ति—गोपकैः सह प्रतिवनं गाः नयतोश्चारयतोर्नियुज्यन्ते गावः आभिरिति निर्योगा दोहनवेलायां गवां पादबन्धनार्था रज्जवः, पाशास्तु दुष्टगवामाकर्षणार्था रज्जवः, तैः । कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः। शिरसि निर्योगवेष्टनेन, स्कन्धयोः पाशधारणेन च गोपपरिवृढश्रिया विराजमानयो रामकृष्णयोः कलानि मधुराणि पदानि येषु तैः। अत एव उदारैः श्रोतॄणां परमानन्दप्रदैर्वेणुस्वनैः तनुभृत्सु शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषाम् अस्पन्दनम् ईषदप्यचलनं स्थावरधर्मः, तथा तरूणां पुलको रोमाञ्चश्च जङ्गमधर्मं इति ॥ १९ ॥ क्रीडावर्णनमुपसंहरति—एवमिति । एवंविधा अन्याश्च या भगवतः कृष्णस्य क्रीडास्ताश्च मिथः परस्परं वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां श्रीकृष्णैकानुसन्धानपरतां ययुरित्यन्वयः। लीलानां वैचित्र्यं बहुत्वं च सूचयन्नाह— वृन्दावनचारिण इति ॥ २० ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥

श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥

रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । एकविंशो गतो वृत्ति वेणुगीतनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गा इति ॥ हे सख्यः ! गोपकैः सह प्रतिवनं गाः नयतोश्चारयतोः नियुंज्यन्ते गावः आभिरिति निर्योगा दोहनवेला गवां पादबन्धनार्था रज्जवः पाशास्तु दुष्टगवामाकर्षणार्था रज्जवः तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कन्धयोः पाशधारणेन च गोपपरिवृढश्रिया विराजमानयो रामकृष्णयोः कलानि मधुराणि पदानि येषु तैः अत एव उदारैः श्रोतॄणां परमानन्दप्रदैर्वेणुस्वनैः तनुभृत्सु शरीरिषु ये गतिमन्तस्तेषाम् आ अस्पन्दनम् ईषदप्यचलनं स्थावरधर्मः । अस्पन्दनमित्यपि पाठः। तथा तरूणां पुलको रोमाञ्चश्च जङ्गमधर्मं इति इदं विचित्रमाश्चर्यम् । चक्रवर्ती तु निर्योगाख्यः पाशो निर्योगपाशः स च चपलानां वत्सानां दोहसमये गोवामजङ्घासङ्गता गलबन्धनरज्जुः तत्सदृशत्वादुष्णीषबन्धवस्त्रमत्र निर्योगपाशः । स च मुक्तास्तवकजुष्टाग्रद्वयः पीतपट्टमयो गोपालधार्यः ॥ १९ ॥ एवमिति ॥ एवंविधा अन्याश्च वृन्दावनचारिणो भगवतः क्रीडास्ताश्च मिथः परस्परं वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां श्रीकृष्णैकानुसन्धानपरतां ययुः । यद्वा । क्रीडाः वर्णयन्त्यः क्रीडामयतां क्रीडाप्राचुर्यं प्रापुः रहसि भगवता रेमिरे । अस्यां व्याख्यायां मूलं तु अग्रिमग्रन्थे यह्यम्बुजाक्षेति श्लोके स्वयमभिमिता इत्युक्तिः ॥ २० ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम् । गङ्गासहायो दशमस्यैकविंशे व्यधादिमाम् ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स्थावराणामपि वेणूनां जंगमधर्मं द्योतयन्त्योऽन्या आहुर्गा इति हे सख्यः ! गोपैः सह गाः अनुवनं प्रतिवनं नयतोः प्रापयतोः निर्योगपाशकृतलक्षणयोः गोदोहनकाले निर्युज्यन्ते गाव आभिरिति निर्योगाः पादबंधनरज्जवश्च तिरस्कृत्य उन्मत्तानांगवामाकर्षणार्था रज्जवः पाशाश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं ययोः शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कंधस्थापितपाशेन च गोपप्रधानश्रिया शोभनयोरित्यर्थः तयोः रामकृष्णयोः कलपदैर्मधुरोच्चारणयुक्तैरुदारैर्महद्भिर्वेणुस्वनैः यद्वा कलपदैर्मधुरपादनिक्षेपैश्च तनुभृत्सु देहिषु ये गतिमंतो जंगमास्तेषाम् अस्पदनं स्थावरजातिवृक्षाणां पुलकः रोमहर्षो जंगमस्वभाव इत्येतत्तयोर्विचित्रम् अत्याश्चर्यकर्मास्ति ॥१९॥ याः क्रीडाः मिथो वर्णयंत्यस्ताः तन्मयतां स श्रीकृष्ण एव प्रधानं यासां ताः तन्मयास्तत्तासां पार्षदतां ययुः प्रापुः ॥ २० ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने वेणुगीतनामा एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

हे गोप्यः ! इदं त्वतिचित्रमिति काश्चिदाहुः ॥ गा इति ॥ हे सख्यः ! गोपकैः सह, अनुवनं प्रतिवनं, गाः धेनूः, नयतोश्चारयतोः, नियुंज्यन्ते गाव एभिरिति निर्योगाः, दोहनवेलायां गवां पादबन्धनार्था रज्जवश्च पाशा अधृष्यगवां कर्षणार्था रज्जवश्च तैः कृतं लक्षणं चिह्नं याभ्यां तयोः शिरसि निर्योगवेष्टनेन स्कन्धयोः पाशधारणेन च गोपपरिवृढश्रिया विराजमानयोरित्यर्थः। एवंभूतयोः रामकृष्णयोः कलान्यव्यक्तमधुराणि पदानि शब्दा येषु तैः, उदारवेणुस्वनैर्हेतुभिः, तनुभृत्सु देहिषु मध्ये, गतिमतां जङ्गमानाम्, अस्पन्दनमीषदप्यचलनं स्थावरधर्मः, तरूणां स्थावराणां तु, पुलको रोमाञ्चः, इत्येतत्, विचित्रमाश्चर्यं, जङ्गमानां

स्थावरधर्मः, तस्थुषां जङ्गमधर्मश्चेत्येवंविधायाः क्वाप्यदृष्टपूर्वत्वादेतदतिचित्रमिति भावः ॥ १९ ॥ क्रीडावर्णनमुपसंहरति ॥ एवमिति ॥ वृन्दावनचारिणः भगवतः, एवंविधाः क्रीडाः, या अन्याश्च क्रीडाः, ताश्च, मिथः परस्परं, वर्णयन्त्यः गोप्यः, तन्मयतां श्रीकृष्णप्रचुरतां, श्रीकृष्णविषयबुद्धिप्राचुर्यमित्यर्थः । ययुः ॥ २० ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गा गोपकैरिति : १०.२१.१९.

वेणुस्वनोऽयमतनोदिह चेतनानामस्पन्दनं स्थितिमतां पुलकं तरूणाम् ।
नैतावदेव सखि चित्रमनङ्गरूपं साङ्गं सरूपमकरोत् स्मरमत्र चित्रम् ॥ ३२ ॥

एवंविधा इति : १०.२१.२०.

सवेणुगीतं तव चिन्तनं हरे सकृत् कृतं येन कृती स तत्पुरः ।
सवेऽणुगीतं फलमागमेन यद् भवत्यतः साधुगिरो व्रजस्त्रियः ॥ ३३ ॥

धर्मार्येणकुलस्य सर्ववयसामर्थाय च श्रीपते कामायामरयोषितां च यमुनादीनां नदीनामपि ।
अद्रिद्रुप्रमुखस्य जाड्यजनुषो ज्ञानाय चाभूदिति व्यासोक्तीरवगत्य गीतममलं श्रीवेणुगीतं प्रभो ॥ ३४ ॥

अनन्यभावेन रमेशचिन्तनं सुदुःशकं प्रावसुलभं हि यस्य तत् ।
न दुर्घटास्तस्य तदात्मरूपतेत्यबोध्युदाहृत्य सुघोषयोषितः ॥ ३५ ॥

स्वमङ्गीकुरुषे यं तु स जडश्छिद्रभागपि । त्वद्रूपदो भवत्यत्र प्रमाणं वेणुरेव हि ॥ ३६ ॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

कृष्णप्रिया

प्यारी सखियाँ ! सुनिये श्याम राम दोनों की गति ही निराली है, मैं क्या कहूँ । जब ये दोनों अपने मस्तक पर निर्योग पोदहन वेला गाय के पैर से बछडे को बांधने की रस्सी जिसको 'नोचना' कहते है उसको सिरपर लपेट कर और पाश भागने वाली गौओं को पकडने की रस्सी फंदा को कंधो पर रखकर अथवा तो निर्योगपाश-गौओं के साथ बछडों को बांधने की रस्सी को हाथ में लेकर, एक वन से दूसरे वन में गौओंको हाँककर ले जाते हैं, साथ में गोपबाल भी हैं और सुरीली बंशी की तार छेड़ते हैं, तब चेतन मनुष्यों की बात तो छोडो, किन्तू देहधारियो में चलने वाले पशु-पक्षीयों और अचेतन जड सरिताऐं आदि तो स्थिर हो जाते है तथा तरुवरों को रोमाञ्च कर देते हैं। सखी इस अधिक नन्दलाल की क्या तारीफ करूँ ॥ १९ ॥ राजन् परीक्षित ! श्रीवृन्दावन में निर्बाध विहार करने वाले श्रीबिहारीजी इस प्रकार की अनन्त लीलाओं का प्रतिदिन परस्पर वर्णन करती गोपियाँ तन्मय बन गयीं। गोपियाँ बड भागिनी थीं क्योंकि उनके हृदय में भगवल्लीलाओंका आविर्भाव होता था ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का एकेसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	इ. वं.	मंदाक्रान्ता	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
३८	३५	१	१	२	३	१२८०	१९	५१	१३५०	२४	६

श्रीशुक उवाच

हेमन्ते प्रथमे मासि [1]नन्दगोपकुमारिकाः । चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥ १ ॥

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे । कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥

कर्दमक्षमा

श्रीशुक उवाच– नन्दगोपकुमारिकाः– हविष्यम्–भुञ्जानाः हेमन्ते–प्रथमे मासि–कात्यायनी–अर्चन–व्रतम्–चेरुः ॥१॥ हे नृप ! अरुणे–उदिते- कालिन्द्याः–अम्भसि–आप्लुत्य–च–जलान्ते-सैकतीम्–प्रतिकृतिम्–कृत्वा,देवीम्–आनर्चुः ॥ २ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

द्वाविंशे गोपकन्यानां वस्त्राहरणलीलया । वरं दत्त्वा गतः कृष्णो यज्ञशालामितीर्यते ॥ प्रथमे मासि मार्गशीर्षे ॥१-२॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

वस्त्राणामाहरणं स्वीकारस्स एव लीला तया (१) । मार्गशीर्षे "हेमंतः शिशिरश्चैव वसंतो ग्रीष्म एव च । वर्षा शरच्च ऋतवो मार्गाद्याः स्युर्द्विमासकाः" इति पंचांगदर्शने । "षडमी ऋतवः पुंसि मार्गादीनां युगैः क्रमात्" इत्यमरोऽपि । कुमार्य एव कुमारिकाः । स्वार्थे कस्ततष्टाप् । "केऽणः" इति ह्रस्वः । 'कुमारी कन्यकानार्योः' इति धरणिः । अत्र कुमारिकाशब्देन प्राप्तयौवना नार्यो ज्ञेयाः, अन्यथा "यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः" इति वक्ष्यमाणविरोधः स्यात् । न हि कन्यानां रमणसंकल्पोऽस्ति, तासां संकल्पानुसारेणैव भगवता ताभ्यो वरदानं कृतम् 'संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनाम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् । स्वामिचरणा अपि 'श्यामसुंदर ते दास्यः' इत्यत्र तथैव व्याख्यास्यंतीति । हविष्यं यवाद्यन्नम् । हविष्यं तु सनत्कुमारसंहितायामुक्तम्—"हैमंतिकं सितास्विन्नं धान्यं मुद्गा यवास्तिलाः । कलायकंगुनीवारवास्तूकहिलमोचिकाः ॥ षष्टिकाः कालशाकं च मूलकं केमुकेतरत् । कंदः सैंधवासामुद्रे गव्ये च दधिसर्पिषी ॥ पयोऽनुद्धृतसारं च पनसाम्रे हरीतकी । पिप्पली जीरकं चैव नागरंगं च तिन्तिणी ॥ कदलीलवलीधात्रीफलान्यगुडमैक्षवम् । अतैलपक्वं मुनयो हविष्यान्नं प्रचक्षते ॥" इति । सितमस्विन्नमनूष्मपक्वम् । धान्यम् तंडुलाः । प्राच्ये केमुआ इति केमुकस्य नाम । कलायः मटरीति । हेमाद्रौ तु —"हविष्येषु यवा मुख्यास्तदनु व्रीहयः स्मृताः । माषकोद्रवगौरादीन्सर्वाभावे विसर्जयेत् ॥" आग्नेये तु—"व्रीहिषाष्टिकमुद्गाश्च कलायः सलिलं पयः । श्यामाकाश्चैव नीवारा गोधूमाद्या व्रते हिताः ॥ कूष्मांडालाबुवार्त्ताकपालक्यज्योत्स्निकास्त्यजेत्" इत्युक्तम् । कात्यायन्यर्चनमेव व्रतं नियमम् । "व्रतं तु नियमे कृच्छ्रादौ संकल्पापवासयोः" इति धरणिः । चेरुः चक्रुः धातूनामनेकार्थत्वात्करणेऽपि चरिरस्तीति ॥ १ ॥ जलांते जलसमीपे । अरुण उदिते "उदयात्प्राक् चतस्रस्तु घटिका अरुणोदयः" इति माधवः । सैकतीं मृण्मयीम् । प्रतिकृतिम् प्रतिमाम् "प्रतिकृतिरथार्चायां प्रतिनिधिप्रतिकारयोश्च स्त्री" इति मेदिनी ॥ २ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं प्रायो व्रजान्तरादागतानां व्यूढानां पूर्वानुरागं शरत्प्रसङ्गे वर्णयित्वा हेमन्तप्रसङ्गे कुमारीणां पूर्वानुरागप्रक्रियामाह— हेमन्त इत्यादिना । तदिदं वर्गद्वयं श्रीहरिवंशे विविक्तं "युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सङ्काल्यकालवित्" इत्यनेन । ननु, तत आरभ्य नन्दस्येत्यादिना श्रीराधिकादीनां परमरमात्वं स्थापितं "यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः" इत्यनेन च श्रीव्रजेन्द्रनन्दनस्य तदेकप्रेयसीत्वं दर्शितं "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादिना दर्शयिष्यते च "दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्" इत्यनेन च तदेव दृढीकृतं रासप्रसङ्गे कृष्णवध्व इति वक्ष्यते आगमे चान्यास्पृष्टतन्नित्यप्रेयसीत्वेन च तदुपासना विधीयते श्रीमद्दशाक्षरस्य तन्नामव्याख्यासु गौतमीये श्रीनारदेन गोपिकानां पतिरेवेति पर्यापनं कृतं ब्रह्मसंहितायां "श्रियः कान्ता कान्तः परमपुरुषः" इत्यादिना तथैव निश्चीयते तापनीश्रुतौ च "स वो हि स्वामी भवति" इति तदेव साक्षात् श्रूयते तथा "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृत" इत्यादिना तत्पितृभिः श्रीकृष्णादन्यत्र तदेकयोग्यानां तासां दानं न श्रद्धीयते दाने च सति "जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्" इत्यादिश्रीरुक्मिणीवचनवत्तदेकालम्बनं जीवनमपि न सम्भाव्यते अन्यपुरुषसम्बन्धेन तु सुतरां तर्हि कथमुच्यते व्यूढानामिति अत्र समाधीयते तत्तच्छ्रुतार्थानुप-

---

१. व्रज–श्रीधर, वंशी, वीर, विज. ; गोप–विश्व. ।

पत्यार्थापत्तिप्रमाणेन लीलाशक्त्यैव मायादिद्वारा मिथ्यैव तत्प्रपञ्चितं यत्र तत्पितरश्च ताश्च सर्वे व्रजवासिनश्च तथाभूता भ्रान्ता तथापि स्वाभाविकवासनामय्या श्रीकृष्णैकप्रत्याशया ता अपि जीवनं ररक्षुः पुरुषान्तरसम्बन्धश्च तासां सद्यःकल्पनया माययैव बभुवुः निवारित इति लभ्यते तथा च

"नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया। मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः"॥

इत्युपलक्षणी करिष्यते तदेतदपि "यथाऽधनो लब्धधनो विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्नभृतो न वेद" इति वत्तासामुत्कण्ठावर्धनार्थमेव अत्र च व्यूढाकुमारीभेदेन द्विधा स्थितिस्तु वैचित्री पोषार्थमेवेतिदिक् रासप्रसङ्गे तु विशेषतः स्थापयिष्यते अथ प्रस्तुतमनुसरामः श्रीनन्दस्य व्रजे याः कुमारिका इत्यौदासीन्येनैव निर्देशात् सगोत्रसपिण्डत्वादिसम्बन्धरहिता गृहीताः पाठान्तरे च श्रीमन्नन्दस्य ये गोपास्तेषां कुमारिका इति स एवार्थः तदुक्तं "युवतीर्गोपकन्याश्च" इति कन् प्रत्ययो बाल्यविवक्षयार्थे कात्यायनी वैष्णवीशक्तिः तस्या अर्चनरूपं व्रतम्॥ १॥ तासां तादृशीं तदनुरागचेष्टां दर्शयन् तच्चिकीर्षुं जनानपि बोधयन् तत्प्रकारमेवाह—आप्लुत्येति सार्द्धैस्त्रिभिः। तत्राप्लुत्येति युग्मकम् अम्भसीत्यादिना हेमन्तव्रते कृच्छ्रं दर्शितं कालिन्द्या एव जलान्ते अद्यापि घट्टवासिनीदेवीनाम्ना प्रसिद्धं व्रजघट्टे अरुणे सूर्यसारथौ देवीं कात्यायनीं सैकतीं प्रतिकृतिं कृत्वा तदभिन्नत्वेन प्रतिष्ठाप्येत्यर्थः। सैकतीमित्यचिरात् साध्यसाधनत्वेन हे नृपेति अप्राप्तयौवना अपीदृशेन रागेण भजन्तीति विचारय श्रीकृष्णमोहनतामिति भावः। सुरभिरिति यथापेक्षं सर्वैरपि योज्यं बहुत्वं तत्तद्बाहुल्यात् बलिभिः वस्त्रभूषणनैवेद्याद्युपचारैः उच्चावचैरन्यैश्च बहुविधैस्तैः तानेवाह—प्रवालेति। अत्र क्रमभङ्गः श्रीकृष्णहृतमनस्त्वात्तासां तद्विस्मृतेः श्रीबादरायणैरेव वा तद्वृत्तकथने सम्मोहात्॥ २-३॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं वर्षाशरत्क्रीडामुक्त्वाधुना क्रमप्राप्तां हेमन्तकालक्रीडामाह—हेमन्त इत्यादिना व्रजमित्यन्तेन। नन्दस्य गोपराजस्य व्रजे याः कुमारिकास्ता इति तेन साक्षात्सम्बन्धरहितास्ता गृहीताः श्रीकृष्णपतित्वायोग्यास्तत्पितृव्यकन्यादयस्तु परिहृताः; यद्वा, नन्दति हृष्यतीति नन्दो व्रजो याश्रयस्ताः कुमारिका इति सर्वथा श्रीभगवत्परिग्रहयोग्या इत्यर्थः। कप्रत्ययः प्रायो बाल्यविवक्षया अल्पार्थे; यद्वा, स्वार्थे श्रीभगवद्विवाहापेक्षयापि अन्यत्र विवाहसम्मत्या, स्वयञ्च व्रजेवं प्रति लज्जया तत्प्रसंगाकरणात् तास्तु, कासाञ्चित् प्रौढतापत्तेः कुत्सितो मारः कामदेवः सौन्दर्येण याभ्य इति, श्लेषार्थेनापि श्रीभगवदयोग्यतैवोक्ता, हविष्यं हैमन्तिकसिन्धान्यादिसहितं गव्यदधिदुग्धादिकम् कात्यायनी परमवैष्णवी श्रीशिवप्रिया पार्वती, तस्या अर्चनव्रतं नियमम् अर्च्चनरूपं वा व्रतम्, तच्च मासमात्रसमाप्यमिति केचिदाहुः॥ १॥ तत्प्रकारमेवाह—आप्लुत्येति सार्द्धैस्त्रिभिः। अम्भस्याप्लुत्येति—परमपावनशीतलजले विवस्त्रतया निमज्य स्नात्वेत्यर्थः। अनेन जलान्त इत्यादिनापि व्रते कृच्छ्रं दर्शितम् कालिन्द्या इत्यस्य पूर्वापराभ्यामेवान्वयः। अरुणे सूर्यसारथौ सूर्ये वा उदिते सतीति व्रतापेक्षया, ततः प्रागेवाप्लवनं ज्ञेयम्, सैकतीं बालुकामयीम्, प्रतिकृतिं प्रतिमां कृत्वेति, अचिरात् कामितविशेषसंसिद्धये। हे नृपेति जगत्पूज्याभिरपि ताभिः श्रीकृष्णार्थं सापि तथाच्चर्यत इति वैयग्रयमाहात्म्यमहो पश्येति भावः॥ २॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

हेमन्तप्रथमे मासि मार्गशीर्षे मासि हेमन्तपूर्वभाविनीकार्त्तिके कात्यायनी दुर्गा प्रतिकृतिं प्रतिमां सैकतीं बालुकामयीम्॥ १—१०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितानि शारत्कालिकानि कानिचिद्भगवच्चेष्टितानि उक्त्वाऽथ कानिचिद्विवक्षुस्तावदन्तरा सिंहावलोकितन्यायेन पौगण्डवयसो भगवतः कानिचिच्चेष्टितानि हैमन्तिककालिकान्युपवर्णयति सप्तभिरध्यायैः, तत्र किञ्चिच्चेष्टितं वक्तुम् उपोद्घातमाह—हेमन्त इति। हेमन्ते ऋतौ तत्रापि प्रथमे मासे मार्गशीर्षे मासि नन्दव्रजस्थाः गोपकुमारिकाः कात्यायन्याः दुर्गायाः अर्चनात्मकं व्रतं चेरुरनुष्ठितवत्यः, कथम्भूताः? हविष्यं भुञ्जानाः नियताहारा इति भावः॥ १॥ कथं चेरुरित्यत्राह—आप्लुत्येति। अरुणे उदिते सत्यरुणोदयवेलायां यमुनाया अम्भसि स्नात्वा जलान्ते तटे प्रतिकृतिं बालुकामयीं कात्यायनीं प्रतिमां विधाय हे नृप॥ २॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तिरेव भगवत्प्रसादजननीति दर्शयितुं गोपकुमारीणां कृष्णे भक्तिं निरूपयत्यस्मिन्नध्याये, तत्र तासां हरेः सर्वकार्याणामन्तरङ्गत्वात्कात्यायनीति तदर्चनव्रतकरणेन श्रीकृष्णः प्रसन्नो भवतीति तदर्चनाविधिं कथयति—हेमन्त इति। कार्त्तिकमार्गशीर्षमासौ हेमन्तऋतुः तत्र प्रथमे मासि कार्त्तिकमासे व्रतं नियमम्॥ १॥ कालिन्द्याः यमुनायाः जलान्ते जलसमीपे च शब्द एवार्थः उदिते अरुणे अरुणोदय एव सैकतीं सिकतानिर्मितां प्रतिमामानर्चुः पूजां चक्रुः॥ २॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एवं व्यूढानां पूर्वानुरागं शरत्प्रसङ्गे वर्णयित्वा हेमन्तप्रसङ्गे तद्व्रजकुमारीणां वर्णयति–हेमन्त इत्यादिना व्रतमित्यन्तेन ॥ १–३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथोढानामनुरागं वर्णयित्वाऽनूढानामरागचेष्टामाह–हेमन्ते प्रथमे मासीत्यादि । हेमन्ते ऋतौ प्रथमे मासि मार्गशीर्षे, अनयैव लीलया मासोऽप्यसौ तस्य प्रिय आसीत्, अतएव वक्ष्यति–(भा. ११ । १६ । २७) मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि इत्यादि । कात्यायन्यर्चनव्रतमित्यस्यायं भावः । वयं कन्यकाः पितृ–मातृ–सङ्कोचात् दूत्यन्तरं कर्तुं न शक्यते । तादृश्यः प्रौढा वयस्या अपि न सन्ति, सन्तु वा तासु स्वानुरागं प्रकटयितुञ्च न शक्यते । ताश्च कन्यानामस्माकमनुरागः कृष्णविषयो जात इति च न विदन्ति । तदास्माकमनुरागः कात्यायन्यैव दूतीभावेन चेत् सफलीक्रियते, तदेव स्यादिति दूतीत्वेन त्वामाराधयितुं तद्व्रतमारब्धम्, न तु तत्प्रसादलिप्सया स्वतःसिद्धत्वात् । सिद्धत्वेनावतीर्णा अप्यग्रिमवयस्यतादृशस्वभावतया स्वतः प्राकट्ये ग्राम्यतापत्तेः परकृसाहाय्यमौचित्येनैवोपलब्धन्ति ॥ १–३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

इदानीमूढानामनुरागमुक्त्वा अनूढानामनुरागमाह हेमन्त इति । हेमन्ते प्रथमे मासि मार्गशीर्षे, अनया लीलयैव मासोऽप्यसौ तत्प्रिया बभूव; अतएव वक्ष्यति - (भा. ११ । १६ । २७) "मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि" इति ॥ १–३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

द्वाविंशे चण्डिकापूजा गोपिभिर्वाससां हृतिः । सन्तापो वरदानन्तु स्तुतिः कृष्णेन कीर्त्यते ॥

व्यूढानां शरदि कृष्णानुरागं वर्णयित्वाऽनूढानामपि गोपीनां तमनुवर्णयंस्तासां नित्यसिद्धकृष्णप्रेयसीभावानामपि कृष्णप्राप्तिकामनया लोकरीत्यैव हेमन्ते देवीपूजामाह-हेमन्त इति । प्रथमे मार्गशीर्षे तासां कृष्णकान्तानां भेदद्वयमिदं श्रीहरिवंशविष्णुपुराणब्रह्मपुराणादावपि दृष्टं "युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ सङ्कल्पकालवित्" इत्यादिभिः ॥ १—२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

द्वाविंशे कन्यकावस्त्रहरणादिलीलां वर्णयति—हेमन्त इति । प्रथमे मार्गशीर्षे ॥ १ ॥ सैकतीं प्रतिकृतिं वालुकामयीं प्रतिमाम् ॥ २ – ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

द्वाविंशेऽभ्यर्चिता दुर्गा कन्याभिर्वाससां हृतिः । कृष्णेन वरदानञ्च तत्स्तोत्रञ्च कथ्यते ॥

ऊढानां व्रजसुभ्रुवां शरदि कृष्णानुरागमुपवर्ण्यानूढानां तमाह हेमन्त इति । प्रथमे मार्गशीर्षे मासि यद्यप्येतास्तन्नित्यप्रियास्तथापि लोकरीत्यैव कात्यायनीपूजेयं नारदपञ्चरात्रे "जानात्येकापरा कान्त" मित्यादिना या पराशक्तिरुक्ता सैवेह कात्यायनी बोध्या ॥ १ ॥ सैकतीं प्रतिकृतिं प्रतिमां कृत्वा देवीमानर्चुः ॥ २ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ ॥ भगवद्भजनमेव तत्प्रसादजननं तदपि न वेदादिकवेदितृकृतमेवेति नियम इत्यावेदयितुं सुदत्यस्तत्कृपाप्रसादमापुरिति प्रतिपाद्यते । तत्रादौ मनोनियामिका भवानीति तत्स्थिरतायै पूर्वमनन्तरमनन्तप्राप्तिमङ्गलदा सर्वमङ्गलेति तदर्चनप्रकारमाह ॥ श्रीशुक इति । हेमन्ते मार्गशिरःपुष्यमासात्मके ऋतौ प्रथमे मार्गशीर्षमासि नन्दव्रजे विद्यमानाः ताः कुमारिकाश्च हविष्यं संयावाद्यन्नं होमशिष्टं भुञ्जानाः कात्यायन्या अर्चनव्रतं चेरुः । कतस्यापत्यं कतेति दक्षस्य नामान्तरं हिमवदाह्वयान्तरं वा गर्गादित्वाद्यञ् सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्य इति ष्युषित्वाङ्ङीप् । उमा कात्यायनी गौरीत्यमरः । उमा कात्यायनी दुर्गा काली हैमवतीश्वरी । सती कालञ्जरी गोत्रेति वाचस्पतिः ॥ १ ॥ कालिन्द्या अम्भस्याप्लुत्य स्वयं स्नात्वा । अनेन सावर्ण्यादिव तत्कृतोपकारा सर्पासर्पणादियमपि कामितकृष्णलक्षणमतिदात्री स्यादिति भावो भामिनीनां सूच्यते । अरुणे उदिते तस्यैव सिद्धिसमयत्वात् । हे नृप कालिन्द्या जलान्ते स्वपुलिने लीला कल्पेद्भगवतेति सैकतीमित्युक्त्या ध्वन्यते । तटे सैकतीं सिकतामयीं प्रतिमां कृत्वा देवीं तदन्तरावाहितामानर्चुरपूजयन् ॥ २ ॥

श्रीसुबोधिनी

अतः सप्तभिरध्यायैर्निरोधोऽत्र निरूप्यते । उत्तमः फलपर्यन्तो विद्यानिर्णयपूर्वकः ॥
विद्यापञ्चकमत्रापि तस्मिन् जाते सुरेक्षणम् । इहैव गमनं चापि वैकुण्ठावधि वर्ण्यते ॥
ज्ञान कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकमिति स्थितिः । अविद्याकार्यसम्बन्धो नात्रेति विनिरूप्यते ॥

स्त्रीपुंसोः सह भावेन तुल्यत्वाच्च निरूपणम् । लोकानुसारिणी विद्याकर्मज्ञानात्मिका पुरा ॥
निरूप्यते गोपिकानां गोपानां च विभेदतः । एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ॥
अन्तःस्थानां कुमारीणां तथा ज्ञानमिहोच्यते ॥

पूर्वाध्याये स्त्रीणां गोपिकानां भगवत्क्रीडायां परमासक्तिर्निरूपिता ताश्च द्विविधाः अनन्यपूर्वाः अन्यपूर्वाश्च अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्काराः तासां त्यागोऽङ्गं तदुत्तरत्र वक्ष्यते अन्यासामसंस्कृतानां तत्संस्कार एव निरूप्यते विद्यायामयमेव त्यागात्यागनिर्णयः अत्यागस्त्यागादुत्तम इति निरूपयितुं परीक्षां नन्दगोपो मुख्य इति तत्रैव भोग्याः कन्यका भवन्ति ता दैवगत्या एकजातीया एव ऋषयः षोडशसहस्रमिति पुराणान्तरादवसीयते ता अप्यम्बेति सम्बोधनात्पूर्वं निरूपिताः तासाम् ऋषित्वादन्यत्र दानमन्यथाभोगं चाशङ्क्य व्रतार्थं प्रवृत्तिः पूर्वं शरदि तासां चित्तस्थितिर्निरूपितेति हेमन्ते व्रतप्रवृत्तिः तत्रापि "मासानां मार्गशीर्षोऽहम्" इति भगवद्वाक्यात् प्रथमे मासि व्रतारम्भः इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्धं कात्यायनी आधिदैविकी तामसीशक्तिः दुर्गा पार्वती च राजसी ब्राह्मणाः सात्त्विकाः तेषां प्रसादरूपाशक्तिः स्त्री भवति भगवानेव वा गुणातीतः तदर्थं सेव्यत इति अतो हेमन्ते पञ्चम ऋतौ पञ्चमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रथमे मासि मार्गशीर्षे नन्दगोपस्य कुमारिकाः सम्पादिताः संरक्षिताः हविष्यान्नमेव भुञ्जानाः कात्यायनीपूजालक्षणं मासं समाप्य व्रतं चेरुः नित्यं कातययनी पूजनीयेति नियमः ॥ १ ॥ तत्र पूजाप्रकारमाह—आप्लुत्याम्भसीति । कालिन्द्या अम्भसि स्नात्वा सा हि भगवत्पतित्वकामनया तपः करोति तेन चाग्रे फलं भाव्यतः सफलतपःसम्बन्धित्वेनेतदम्भोपि तादृशमिति व्रतानुकूलं सफलं च तत्र स्नानमिति ज्ञापनाय कालिन्दीपदं तस्याश्चिरेण फलं भाव्यत्र तु शीघ्रमिति ज्ञापनाय पदन्यासः जलान्ते जलसमीपे चकारादागत्य गृहेऽपि देवीं प्रतिमारूपां कृत्वा सिकतामयीम् अरुणे उदिते प्रातः सन्ध्यायां सर्वकामनाप्रदायां देवतां तामानर्चुः नृपेति सम्बोधनम् ॥ २ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

एकोनविंशाध्याये प्रकरणार्थनिरूपणे विद्यापञ्चकमत्रापीत्यादि । साक्षादसम्भवे परम्परयापि भगवानेव सेव्यः । देहेन्द्रियादिकं च तदर्थमेव विनियोक्तव्यं, न स्वार्थमपीति निर्णयरूपैका । देहनिर्वाहार्थं प्राणादिधर्मनिवृत्त्यर्थमपि स्वतः सम्भवेऽपि प्रभुरेव प्रार्थनीयः, न त्वन्योऽपि । प्रभुश्च लोके नालौकिकं करोति, भगवद्भावे चानुग्रह एव नियामकः, न तु साधनमपि शास्त्रीयमिति निर्णयरूपा द्वितीया । इतरभजनं न कार्यं पारम्पर्यागतमपि, धर्मं भगवदिच्छायां सत्यां विसृजेतेतिरूपा तृतीया । सर्वावस्थासु हरिरेव सेव्यः, भगवांश्चाक्लिष्टकर्मा रक्षत्येव स्वानिति च तुरीया । माहात्म्यज्ञानपूर्वकः परमस्नेहो भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति पञ्चमी । एतत्पञ्चकसम्पत्तौ पूर्णो निरोधः सिद्ध इति स्वकार्ये सम्पन्ने जाते पश्चादिन्द्रादिविषयिणीं दृष्टिं कृतवान् । अत एव पश्चान्निरूपितम् । व्रजेन्द्रस्य च भवदुत्कर्षज्ञानहेतुभूतवरुणदर्शनं कारितवान् । इदमेवोक्तं तस्मिन् जाते सुरक्षणमित्यनेन । एतन्निरूपणतात्पर्यमाहुः अविद्याकार्येति । अविद्या तत्कार्यं चेति ज्ञेयम् । स्त्रीपुंसेति । तयोस्तथानिरूपणे हेतुस्तुल्यत्वादिति । अविद्यासम्बन्धाभावस्य तुल्यत्वादित्यर्थः । निरोधस्य वा ॥ ० ॥ एकोनविंशाध्यायार्थनिरूपणसन्दर्भे, अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्कारा इति । अत्रेदं ज्ञेयम् । स्त्रीणां विवाह एव मुख्यः संस्कारः, समन्त्रकत्वात् । स च स्वर्गादिफलकाग्निहोत्रादावधिकारित्वसम्पादको लोके । प्रकृते चातथात्वाद्भगवत्सम्बन्धस्य च फलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् तत्र चास्याप्रयोजकत्वादेतत्कथनमत्राप्रयोजकं स्यादिति विवक्षितफलप्रयोजक एव कश्चन धर्मः संस्कारशब्दवाच्योत्र वाच्यः । स च विवाहजनितः तृतीयपुरुषार्थरसविशेषानुभवहेतुरेव । स दम्पत्योर्न सम्भवतीति यतस्तद्रसमर्यादा । अत एवान्यथैवेत्युक्तम् । भगवदीयानामन्यत्र विवाहस्यानुचितत्वात् । परन्तु तैः सह सम्बन्धाभावाद् भगवद्रसपोषकत्वाच्चास्य संस्कारत्वम् । एतेनायुक्तत्वमपि परिहृतम् । न ह्यनुचितः संस्कारो भवतीत्यनवद्यमखिलम् । किञ्च, 'लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा निरूप्यत' इति वाक्याल्लोकानुसारेणात्र कर्म निरूप्यते, न तु भगवच्छास्त्रानुसारेण । भगवदर्थं भगवानेव सेव्य इति यतस्तत्र मर्यादा । लोके हि प्रियप्राप्त्यर्थं तदीया दूतिका प्रार्थ्यते, तथात्रापि कात्यायनी प्रार्थ्यते । अन्यभजनदोषोपि नैवं सम्भवति भगवत्तोषलौकिकी सा यथा द्रव्यादिदानेन तोष्यते, तथेयमलौकिकीत्यलौकिकप्रकारेणेति । विवाहितानां तु प्रौढात्वेन जातभावाङ्कुराणामनुदिनमेधमानप्रेमार्द्रार्द्रप्रियेक्षणेहेतुस्ववपुर्मण्डनतुल्यकक्षत्वेन रसपोषकत्वात् । स च 'निशम्य गीत' मित्यारभ्य 'न न्यवर्तन्त' क्षणप्ररूढतद्रसपूरमत्तत्वेनान्यस्फूर्तिरहितानां समयविशेषे समागम एवापेक्षितः । स च 'निशम्य गीत' मित्यारभ्य 'न न्यवर्तन्ते' इत्यन्तेन निरूपयिष्यते । एतदेवाभिसन्धायोक्तं तासां त्यागोऽङ्गमिति । ननु कुमारीणां व्रतप्रसङ्गो प्रौढानां कथं प्रसङ्गः । इत्यम् । मूले 'कुमारिका व्रतं चेरु' रिति कथनेन तदितरासां व्यावृत्तिः सूच्यते । तत्र व्यावर्त्यानां स्वरूपं वाच्यम् । व्यावर्त्यत्वे हेतुश्चेति युक्तं तदुभयकथनमिति दिक् । एतदग्रे अन्यासामसंस्कृतानामित्यादि । आदौ भगवदर्थव्रतजक्लेशजभावविशेषलक्षणः संस्कारः । अनायासेन प्राप्तात् क्लेशेन प्राप्ते स्नेहातिशयस्यानुभवसाक्षिकत्वात् । ततः 'कृष्णचेतस' इति पदोक्तानवरतानेकविधसङ्गममनोरथरूपस्तज्जनितो भावविशेषश्च सः । ततः प्रियागमने येनाग्रे भगवत एव प्रार्थना । तत 'उपशी'त्यादिना वक्ष्यमाणप्रकारकः सः ।

सति विविधरसभावगर्भपरस्परवाग्व्यवहारजप्रमोदविशेषजभावः सः। ततो 'यूयं विवस्त्रा' इति वाक्ये श्रुतेऽग्रिमवाक्यनिरूपितो भावविशेषः सः। ततो वसनदानतत्सामयिकभावोद्गारिदृष्टिविविधस्पर्शजातो भावविशेषः सः। स एव 'दृढं प्रलब्धा' इति श्लोकेन शुकेनोक्तः। अत एवासूयाहेतुषु सत्स्वपि न तदुत्पत्तिः, संस्कारस्य दोषजनकत्वात्। ततोऽग्रिमवाक्यनिरूपितस्तद्विशेषः सः। ततोऽतितुष्टप्रियावलोकनवरदानवाक्यश्रवणजसङ्गमविशेषनिश्चयजः सः। ततो गृहगमनाज्ञानजनितदुःखभरेणेष्टप्राप्तिसुखभरेण च शबलो भावविशेषश्च सः तत एकैकस्य क्षणस्यानेककल्पतुल्यत्वभानं सर्वतः सङ्गोपनेन च स्वहृद्येव प्रवर्धमानभावरसपूरतया क्वचिदन्योन्यं तत्कथामृतोद्गिरणनिर्वृत्या सततमनोरथैश्चानुक्षणं साक्षादुपभोगमिव मन्यमाना भवन्तीत्यनेकविधसंस्कारः। अन्तःसाक्षात्सम्बन्धो बहिर्न तथेति च। एवं हि सत्यग्रिमभगवत्सङ्गे मुख्यरसास्वादयोग्यतेत्येषां संस्कारत्वम्। एतदेवाभिसन्धायोक्तं संस्कार एव निरूप्यत इति। यद्यपि भगवत्यस्ति सर्वं सामर्थ्यं तथापि तद्रसस्वरूपमेव तथेति तथोच्यत इति भावः। विद्यायामयमेव त्यागात्यागनिर्णय इति। अयं त्यागपदार्थः, अयमत्यागपदार्थः, स चैवं कार्यः, अन्यथा न कार्य इति निर्णयरूपः अयमेव। उक्तरूपसंस्कारनिरूपणलक्षण इत्यर्थः। तथाहि। 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजे'दिति श्रुत्या प्रावाहिकाश्रममर्यादायां रागाभावमात्र एव त्याग उपदिश्यते, भक्तिमार्गे न तथेति ज्ञापनाय विद्यायामिति। सात्र भक्तिमार्गीयोच्यते। अन्यत्र विद्यात्वमेव नाभिमतमिति सामान्यपदम्। एतासां विषयरागाभावेऽपि फलरूपो भगवान् गृह एवास्तीति बहिर्गमने प्रयोजनाभावात् बाह्यो न त्यागः, किन्तु गृह एव स्थित्वा तत्प्राप्त्यनुकूलो यत्नः। यथा यथा भगवद्भावप्राचुर्यं तथा तथा बहिरङ्गसाधनत्यागोऽन्तरङ्गतत्कृतिश्च। भगवत्सङ्गमभावस्वाभाव्येन यत्त्यक्तं भवति वैदिकमपि, तद् भवतु नाम, न तु स्वबुद्धिपूर्वकः कस्यचित्त्यागः। प्रियतोषार्थमशक्यत्यागा अपि दैहिकान्तःकरणधर्मास्त्याज्याः। फलप्राप्तावपि यदा भगवदिच्छा तदैव त्यागः कार्यः, नत्वन्यदापीति व्रतभगवत्प्रार्थनवसनत्यागाञ्जलिबन्धगृहगमनैर्निर्णीयत इति तथा। अत एवाग्रे त्याग उक्तः। उक्तरूपादन्यथा कृतस्त्यागस्त्याग एव न भवति, फलरसाननुभावकत्वादित्यत्यागवदस्य तात्पर्यं ज्ञेयम्। साधनदशायां तु त्यागो न युक्त इति निर्गलितोऽर्थः। एतासां फलप्राप्तावपि पूर्वोक्तसंस्काररीत्या साधनदशैव। वस्तुतस्तु फलप्राप्तिनिश्चय एवाधुना, प्राप्तिस्त्वग्रे। अतो युक्तं गृहगमनम्। ननु 'नीवीं प्रति प्रणिहिते च करे' इति न्यायेन तदा स्ववस्त्रमोकार्थमपि तदनुसन्धानं कथं घटते। इत्थम्। सङ्गमभाव एव स्वस्मिन्भगवतोऽतिप्रीत्या स्वान्तरायासहिष्णुत्वभावनयेति बुध्यस्व। अत एव प्रियेण 'बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्नी'ति तद्भावपरीक्षैव कृता। उक्तभावेनैव चेदेवं कृतं भविष्यति, तदा दृष्ट्यन्तरायमपि दूरीकरिष्यन्तीति, देवहेलनहेतुकथनेन वसनत्यागे स्वारुचिः सूचिता। साक्षात्तथात्व एव तथाकरणं युक्तम्। न तु तथा भावनायामपीति यतो भगवदाशयः। एतदेवाभिसन्धायोक्तं—अत्यागस्त्यागादुत्तम इति ज्ञापयितुं परीक्षेति। अत एव मूले 'तत्पूर्तिकामा' इत्युक्तम्। पूर्णाङ्गदृष्ट्या पूर्तिं मन्वानस्यातथात्वे सति भवत्यपूर्तिरिति पूर्वोक्तरीत्या तत्पूर्तिकामा एव तथा कृतवत्य इत्यर्थः। वसनात्यागे शीघ्रमेव प्रियान्तिकागमनं स्यात्त्यागेन च विलम्बोऽभवदित्यप्युत्तमत्वे हेतुरिति ज्ञेयम्।

एतदग्रे 'ब्राह्मणा सात्त्विका' इत्यारभ्य सेव्यत इत्यन्तम्। पद्मपुराणे गीयते। दण्डकारण्यवासिनः षोडशसहस्रमृषयः स्वाश्रमान्तिकागतकोटिकन्दर्पाधिकलावण्यश्रीकोसलेन्द्रदर्शनजरिरंसाभावभरेण तं प्रार्थितवन्तस्तदीयस्त्रीत्वम्। तदा भगवानेकपत्नीव्रतधरोऽहमधुना, व्रजे वो मनोरथः सम्पत्स्यत इति प्रसादं कृतवान्। त एवैता इति हृदि कृत्वोक्तं ब्राह्मणा इत्यादि। आदिवाराहे 'कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश। गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्राक्रीडन्त केशवम्,। महाकौर्मे 'अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्तारं च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्॥' अत एवैकजातीया ऋषयः षोडशसहस्रमिति पुराणान्तरादवसीयत इत्याचार्यैरुक्तम्। अत्रैवं ज्ञेयम्। पुरुषशरीरे सति स्त्रीभावोत्पत्तिरसंभाविता, विरोधात्। एवं सत्येतानतिशुद्धान् कृतपुण्यपुञ्जान् दृष्ट्वा हरिस्तथा प्रसन्नोऽभवद्यनादेयतमसाक्षात्स्वरूपानन्ददित्साविरभूत्। तदनुभवस्तु न पुंस्त्वे केवलस्त्रीत्वे वा, मानाभावात्, द्विजस्त्रीषु तथा प्रपन्नास्वप्यदानात्, क्षुद्रास्वपि पुलिन्दीषु दानात्। किन्त्वचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतः प्रसादरूपा अपि शक्तयो बह्व्यः सन्ति। तत्राप्यन्तरङ्गतमा सैकाऽस्ति यत्सम्बन्धिजीवे भगवत्स्वरूपानन्दानुभवोऽवश्यंभावी। सा चोक्तरूपस्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपैव। अतस्तामेतेषु स्थापितवानिति युक्तस्तदा तेषां स भावः, तदनुरूपो देहः परमधुना सम्पन्नस्तथा भगवदिच्छा यतः। एतदेवाहुः तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवतीति। स्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपापि स्त्रीरूपा कात्यायनीरूपेत्यर्थः। सैव तदर्थं फलपर्यवसानार्थं सेव्यत इत्यनेन सम्बध्यते। अथ तेषां स भावो भगवद्भाव इति निश्चितम्। दृष्टिद्वारा हृद्यागत एव भगवति तदुत्पत्तेः। 'रसो वै स' इत्यादिश्रुत्या च भावरूपत्वेनैव निरूपणान्न धर्मरूपत्वम्, किन्तु धर्मिरूपत्वमेवेत्याशयेन पक्षान्तरमाहुः भगवानेवेति। सेव्यो हि सेवके स्वं रूपं सम्पादयति। हृद्यागतेन भावरूपेणास्माकं देहादिकमेवं सम्पादितमिति तद्रूप एव भगवान्सेव्यते। बहिरस्मद्रमणार्थं प्रकटो भवत्वित्येतदर्थं नायिकाभावत्वेन स्त्रीत्वमुच्यते। नैतावता काचिन्न्यूनता सगुणत्वं वेत्येतदाशङ्कानिरासायैव गुणातीत इत्युक्तम्। यथाब्धिजामृतदायकं तद्रूपम्, तथा स्वीयलोभामृतदायकमिदमिति ज्ञेयम्। एतेन 'दिव्यं ददामि ते चक्षु'रिति वाक्याद् भगवदीयचक्षुर्वै यथा भगवान् दृश्यः, तथा स्त्रीत्वेनापि तादृशेनैव भगवान् भोग्य इति ज्ञापितम्। अत्रैवाग्रे चित्तदोषस्य गतत्वादिति। भ्रमजनको हि दोष इत्युच्यते। एतासां तु पूर्वमपि केवलं भगवदीयत्वाद् व्रताचरणहेतुभूतसंशयहेतुद्वितीयकोटिस्फूर्तिस्तद्रूपैवेति ज्ञायते।

कृष्णचेतस्त्वे भगवत्पतित्वनिश्चयेनेतरकोटिस्फूर्तिरपि गतेत्येतदभिसन्धायेदमुक्तम्। दोषस्त्वमत्रानिश्चयस्यैव। तत्र च तादृक्स्नेहो हेतुः। तादृक्स्वभावत्वात्स्नेहस्य। अग्रे स्नेहसत्त्वेपि कृष्णचेतस्त्वहेतुकतत्प्रतियोग्युपस्त्या तन्नाश एवेति सर्वं सुस्थम्। सार्वदिकत्वेपि पुनः कृष्णचेतस्त्वोक्त्या कश्चन विशेषो वाच्यः। व्रतानन्तरमेवोक्तत्वेन तत्फलत्वमेव विशेष इत्याशयेन फलत्वमुक्तम्। अग्रे पुनः साधनोक्त्या चावान्तरफलत्वमिति विवेकः। तेन पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं प्राप्यते ॥ १-४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एकोनविंशाध्याये अत इति एतदनन्तरमित्यर्थः, अत्र तामसप्रकरणे इत्यर्थः, फलपर्यन्त इति फलं वैकुण्ठे नयनलक्षण-मात्मसमर्पणं तत् पर्यन्ते यस्येत्यर्थः, अत्रापीति साधनमार्गीयेषु विद्यापञ्चकं निरूपितमत्रापि लीलास्थभक्तेष्वपि निरूप्यत इति-पूर्वेणान्वयः, तस्मिन् जाते सति व्यसनान्तनिरोधसिद्धचा भगवत्कर्तृकमिन्द्रदर्शनं भक्तकर्तृकवरुणदर्शनं च सुरेक्षणं वर्ण्यत इतिसम्बन्धः, एतेनेतन्निरोधपर्यन्तमन्यत् कार्यं किमपि न कृतवान् किन्तु तदनन्तरमिन्द्रविषयिणीं दृष्टिं कृतवानित्यस्यां लीलाया-मतिभरो ज्ञापितो भवति, तथा चास्य प्रेक्षणे प्रतिबन्धाभावत्वेन हेतुता भगवल्लोकदिदृक्षाजनकत्वाद् वरुणदर्शनस्य तत्र स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वेन हेतुतेतिज्ञेयं, इहैव वरुणदर्शनाध्याय एवेत्यर्थः, चकाराच् शब्दब्रह्मात्मकत्वं च एतद्विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुमाहुः ज्ञानमिति, एतद्विद्यायां सत्यां टिप्पण्युक्तपञ्चविधो निर्णयस्तदुत्तरं तथा कृतिश्च भवतीतिस्थितिर्मर्यादा विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुरित्यर्थः, अविद्ये ति अविद्याकार्यसम्बन्धोत्र नास्तीतिहेतोरितिज्ञापनार्थं विद्यानिरूपणानन्तरं सुरेक्षणं विनिरूप्यत इत्यर्थः, तुल्यत्वाच् चेति चकाराद् धर्मान्तरैरतुल्यत्वमपि, अन्तःस्थानामिति, अन्तरङ्गलीलास्थानामित्यर्थः, यथा तथेति लोकानुसा-रेणेत्यर्थः ॥ ० ॥ अन्यथैवेति विवाहेनैवेत्यर्थः, अत्र टिप्पण्यां विवाहस्य संस्कारत्वं कर्तृयेणमभिप्रेत्योक्तं धर्मस्य संस्कारत्वं भावे घञमभिप्रेत्योक्तमिति बोध्यं, तासां त्यागोङ्गमिति अत्र किञ्चेति शेषमभिप्रेत्य टिप्पण्यां किञ्चेत्युक्तं, तथा चान्यपूर्वाणामन्यथैव कृतसंस्कारत्वात् त्यागमात्रस्याङ्गत्वेन संस्कारानपेक्षणाच् चान्यासां संस्कारो निरूप्यत इत्यर्थः, तत्संस्कार इति भगवत्सम्बन्ध-प्रयोजकः संस्कार इत्यर्थः, अत्र संस्कारमात्रनिरूपणं सम्बन्धस्तूभयोरपि सहैव वक्ष्यत इत्येवकारः, टिप्पण्यामनुदिनमिति अनुदिन-मेधमानो यः प्रेमा तेनार्द्राद्रं यत् प्रियेक्षणं तेन यदुक्षणं तेन प्ररूढः प्रवृद्धो योनङ्गवृक्षस्तस्य यो रसपूरस्तन्मत्तत्वेनेत्यर्थः, अत्र तत्पदेनानङ्गवृक्षो ज्ञेयः, सुबोधिन्यामाधिदैविकीति आधिदैविकप्रतिबन्धनाशिकेत्यर्थः, इदं मन्त्रव्याख्याने स्फुटं वक्ष्यते, तामसीति तामसानां भगवत्प्रापिकेत्यर्थः, दुर्गेति अत एव राजसप्रकरणे ततो भगवत्प्राप्तिः, पक्षान्तरमाहुर्ब्राह्मणा इति, ये इतिशेषः, येऽत्र सात्त्विका ब्राह्मणाः कुमारिकास्तेषां ब्राह्मणानामित्यन्वयः, विषयताषष्ठचर्थः, ब्राह्मणविषयकप्रसादनिरूपिकेत्यर्थः, अत्र व्रत-प्रसङ्गात् सात्त्विकत्वमुक्तं, गुणातीत इति अस्यापि स्त्री भवतीत्यनेनान्वयः, अत्र टिप्पण्यां स्त्रीत्वेत्याद्युक्तं तत्राकृतिः स्त्रीत्वं देहः स्त्रीतिविनेदः, तथा च देहं विना केवलाकृतेस्तादृशभावरूपभगवतश्च केवलस्य बाह्यपूजा न सम्भवत्यतः स्त्री भवति प्रतिमाया-माविर्भवतीत्यर्थः, उभयविधापि सा तदर्थं सेव्यत इत्यर्थः ॥ १ ॥ आप्लुत्येत्यत्र सफलेति कालिन्द्या इतिशेषः, सा सफलतपः-सम्बन्धिनी सफलं तपोस्या अस्ति सफलतपस्विनीत्यर्थः, अम्भोपि स्वस्नातस्य तपः स्नानादिरूपं सफलं करोतीति सफलतपः-सम्बन्धीत्यर्थः ॥ २ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

साधनप्रकरणारम्भे प्रकरणार्थनिरूपणकारिकासु उत्तमफलपर्यन्त इति प्रमाणप्रकरणे प्रेमात्मको निरोध उक्तः स प्रथमः, प्रमेये आसक्त्यात्मकः स मध्यमः, साधनप्रकरणे व्यसनात्मकः स उत्तमः, अव्यवहितसाधनरूपत्वात्, "यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव ही" तिशास्त्रात्, अतो व्यसनात्मकत्वादुत्तमो निरोधोत्र साधनप्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः, फलपर्यन्त इति ब्रह्मानन्दानुभवात्मकावान्तरफलपर्यन्त इत्यर्थः, विद्यापञ्चकमत्रापीति विद्यापञ्चकस्वरूपं टिप्पण्यामुक्तं श्रीमत्प्रभुचरणैः, तस्मिन् जाते सुरेक्षणमित्यस्याप्यर्थष्टिप्पण्यामुक्तः, ज्ञानं कर्म च विद्यायामिति पञ्चप्रकारकं टिप्पण्युक्तं ज्ञानं ततस्तदनुकूलं कर्म चेति, कर्मणोपि पञ्चविधत्वं, तथा हि कात्यायनीव्रतार्चनादि कर्म भगवत्कामनया परम्परया भगवत्सेवनरूपमेव कृतमित्येकं कर्म, गोपैः क्षुत्पीडितैर्भगवानेव क्षुच्छान्त्यर्थं प्रार्थितः अतस्तादृक् प्रार्थनरूपं द्वितीयं कर्म, श्रीनन्दादिभिः परम्पराप्राप्त इन्द्रयागस्त्यक्तो गोवर्धनयागः कृत इति तृतीयं कर्म, वासवदृष्टिव्याकुलैर्जजनैर्हरिरेव सेवित इति शरणगमनाख्यं कर्म चतुर्थं, माहात्म्यज्ञानपूर्वक-स्नेहयुक्तं कर्म पञ्चमं श्रीनन्दवाक्येभ्यो गतसन्देहैर्गोपैः कृतं, स्त्रीपुंसोरिति कुमारिकातदपुम्भावरूपवयस्ययोरित्यर्थः, तुल्यत्वादिति रहस्यलीलानुभवो हि कुमारिकाणां तत्पुम्भावसहितानामेव फलप्रकरणे भाव्यतः फलानुभवस्य तुल्यत्वात् साधनेपि सहभावेन निरूपणं "वयस्यैरागतस्तत्रे" त्यादावित्यर्थः, लोकानुसारिणी विद्येत्यादि विभेदत इत्यन्तं गोपिकानां कर्मात्मिका विद्या कात्यायनीव्रतरूपा निरूप्यते गोपानां ज्ञानात्मिका विद्या "अहो एषां वरं जन्म" त्यादिवाक्यैर्भगवदुपदिष्टा निरूप्यते इत्यर्थः, एवं गोपिकागोपभेदेन कर्मात्मिका ज्ञानात्मिका विद्या च निरूपिता, तदेतत् स्फुटमाहुरेकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानमिहोच्यत इति, अन्तःस्थानां निरोध्यभक्तानामिन्द्रियेषु तदधिष्ठातृरूपेणान्तःस्थितानां

कृष्णस्तोकादीनामित्यर्थः ॥ ० ॥ हेमन्ते प्रथमे मासीत्यस्य विवृतौ कात्यायन्याधिदैविकी तामसीशक्तिर्दुर्गा पार्वती च राजसी ब्राह्मणाः सात्त्विकाः तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवतीति तेषां पूर्वजन्मनि श्रीरामावतारे स्थितानामग्निकुमाराणामुपरि यो भगवत्प्रसादस्तद्रूपा कात्यायनी शक्तिरित्यर्थः, अत एवाधिदैविकीत्युक्तं, न च कात्यायन्याः शिवपत्नीत्वेन शिवशक्तित्वेन प्रसिद्धत्वाद् भगवच्छक्तित्वस्य कुत्राप्यसिद्धत्वान् नेयं भगवच्छक्तिरिति वाच्यं, भौतिक्याः शिवशक्तित्वेप्याधिदैविक्याः भगवच्छक्तित्वात् "श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गा" मित्युपनिषत्सु एतस्या भगवच्छक्तित्वनिर्धारात्, औपलामुपलस्य पाषाणस्य सम्बन्धिनीं पार्वतीमित्यर्थः, "रासमण्डले पार्वती भगवता शिवाय दत्ते" ति ब्रह्मवैवर्ते स्फुटमभिधानाच् च "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति श्रुतेः शक्तीनां बहुत्वात् तत्तत्कार्यार्थं तत्तच्छक्तीनामुपयोग इति तामसानां व्रजस्थानां भगवत्प्राप्तौ कात्यायनी तामसी भगवच्छक्तिर्हेतुरिति ज्ञेयम्, "यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सती" रितिवाक्यात्, राजसानां भगवत्प्राप्तौ दुर्गा पार्वती च राजसी भगवच्छक्तिः कारणं, "नमस्ये त्वामम्बिकेऽभीक्ष्ण" मिति श्रीरुक्मिणीप्रार्थनावाक्ये "भूयात् पतिर्मे भगवान् कृष्ण" इत्युक्तेः, स्यमन्तकमणिप्रसङ्गे "उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धय" इतिवाक्याच् च कात्यायनीदुर्गापार्वतीशब्दवाच्या अस्त्रोपि शक्तयो भगवदीयाः परस्परभिन्ना धर्मविशेषभेदाद् भिद्यन्ते, तथा च कात्यायनीदुर्गापार्वतीभिस्तामसराजसभक्तानां भगवत्प्राप्तिरिति युक्तैव भक्तिमार्गीया पद्धतिः, एतेन कात्यायनी नाम शिवशक्तिः स्वतन्त्रा देवता स्वसेवनसंतुष्टा सेवकेभ्यः श्रीकृष्णमपि ददातीति वदन्तः प्रत्युक्ताः, श्रीकृष्णप्राप्तये कुमारिकाभिरन्यदेवताश्रयणं कृतमिति वन्दतोऽपि निरस्ताः, कात्यायन्यादीनां पूर्वोक्तोपनिषद्ब्रह्मवैवर्तपुराणवाक्यैश्च भगवच्छक्तित्वनिश्चयादिति दिक्, भगवानेव वा गुणातीत इति भगवच्छक्तिः कात्यायनीति पक्षे तामसीत्वं कात्यायन्या उक्तं, पक्षान्तरमाहुर्भगवानेव वेति, आधिदैविकस्त्रीविग्रहरूपो भगवानेव कात्यायनीत्यर्थः, तस्य रहस्यलीलौपयिकस्त्रीविग्रहरूपस्य भगवतः स्वरूपमाहुर्गुणातीत इति, अत एव सात्त्विकराजसतामसगुणातीतानां व्रजसुन्दरीणां लीलौपयिकविग्रहोनया साध्यते ॥ १ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकोनविंशाध्यायारम्भे सार्धपञ्च अत इत्यादि १९७३-२०२६ । उत्तम इति प्रमाणप्रकरणोक्तो निरोधः प्रेमात्मकः प्रथमः, प्रमेयप्रकरणोक्त आसक्तिरूपो मध्यमः, एतस्मिन् साधनप्रकरणे उच्यमानो व्यसनात्मको निरोध उत्तम इत्यर्थः, फलपर्यन्त इति पञ्चविंशाध्यायोक्तब्रह्मानन्दानुभवात्मकफलपर्यन्त इत्यर्थः, विद्यापञ्चकमत्रापीति साधनमार्गे यथा वैराग्यसांख्ययोगतपोभक्तिरूपं विद्यापञ्चकं तथात्र लीलास्थभक्तेष्वपि विद्यापञ्चकमित्यर्थः, विद्यापञ्चकस्वरूपं च अध्यायपञ्चकतात्पर्यभूतं टिप्पण्यामुक्तं स्फुटं, तद्यथा "साक्षादसम्भवेऽपि परम्परयापि भगवानेव सेव्यो देहेन्द्रियादिकं च तदर्थमेव विनियोक्तव्यं न स्वार्थमपीति निर्णयरूपैके" ति, एतेन एतदध्यायोक्तं कात्यायनीद्वारा भगवद्भजनं वृक्षदृष्टान्तेन गोपेषु परार्थतोपदेशश्च विवृतः, अथ विंशाध्यायतात्पर्यमभिप्रेत्य द्वितीयां विद्यामाहु"र्देहनिर्वाहार्थं प्राणादिधर्मनिवृत्त्यर्थमपि स्वतः सम्भवेऽपि प्रेरेएव प्रार्थनीयो न त्वन्योपि, प्रभुश्च लोके नालौकिकं करोति भगवद्भावे चानुग्रह एव नियामको न तु साधनमपि शास्त्रीयमिति निर्णयरूपा द्वितीये" ति, एतेन गोपैः क्षुधानिवृत्यर्थं भगवानेव प्रार्थितः भगवांश्च लोकरीत्या याचनमेवोपदिष्टवान् न तु अलौकिकोपायेन ज्ञानादिना क्षुधां निवर्तितवान्, निःसाधनास्वपि विप्रपत्नीषु भगवदनुग्रहो न तु ससाधनेष्वपि पुरुषेष्विति विंशाध्यायोक्तोर्थो व्याख्यातः, तृतीयां विद्यामाहु"रितरभजनं न कार्यं पारम्पर्यागतमपि धर्मं भगवदिच्छायां सत्यां विसृजेदितिरूपा तृतीये"ति, अनेन पारम्पर्यागतमपीन्द्रयागं नन्दादयस्त्यक्तवन्त इति एकविंशाध्यायतात्पर्यमादायोक्तं, चतुर्थविद्यामाहुः "सर्वावस्थासु हरिरेव सेव्यो भगवांश्च क्लिष्टकर्मा रक्षत्येव स्वानितितुरीया," श्रीगोवर्धनधारणेन भगवान् रक्षितवानिति द्वाविंशाध्याये स्फुटमेव, पञ्चमविद्यामाहुः "माहात्म्यज्ञानपूर्वकः परमस्नेहो भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति पञ्चमी"ति, गर्गोक्तानुवादरूपैर्नन्दवाक्यैर्माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेहः "मुदिता नन्दमानचु"रित्युक्त भक्तेष्वाधिक्यज्ञानं चेति त्रयोविंशाध्यायार्थमभिप्रेत्योक्तमिति अध्यायपञ्चकोक्तविद्यापञ्चकं विवृतं टिप्पण्यां, तस्मिन् जाते सुरेक्षणमिति तस्मिन् विद्यापञ्चके सम्पन्ने सत्येव सुरेक्षणं भगवत्कर्तृकमिन्द्रदर्शनं, भक्तेषु विद्यापञ्चकसम्पादनस्यावश्यकत्वात् तावत्पर्यन्तमिन्द्रादिविषयिणीं दृष्टिं न कृतवान्, किन्तु विद्यापञ्चके सम्पन्ने पश्चादेव कृतवान्, किञ्च तस्मिन् जाते सुरेक्षणमित्यस्य श्रीनन्दकर्तृकं वरुणदर्शनमिति चार्थः, विद्यापञ्चके सम्पन्ने सति भगवदुत्कर्षज्ञानहेतुभूतवरुणदर्शनं कारितवान्, इहैव गमनं चापीति इह वरुणदर्शनाध्याये एव गोपानां वैकुण्ठगमनं वर्ण्यते, एतद्विद्यायाः पञ्चत्वे हेतुमाहुः ज्ञानं कर्म च विद्यायां पञ्चात्मकमिति स्थितिरिति, पञ्चाग्निविद्यादौ अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिषु च ज्ञानकर्मणोः पञ्चात्मकत्वं प्रसिद्धमिति प्रमाणमर्यादामाश्रित्य अत्रापि ज्ञानकर्मणोः पञ्चविधत्वाक्तिरित्यर्थः, भक्तेषु विद्यानिरूपणप्रयोजनमाहुरविद्याकार्यौ इति, अविद्या च तत्कार्यं च तयोः सम्बन्धो लीलास्थभक्तेषु नास्तीतिभावः, अस्मिन्नध्याये स्त्रीणां पुरुषाणां च सहभावेन निरूपणे हेतुमाहुः स्त्रीपुंसोरिति, स्त्रीणां कुमारीणां पुंसां वृन्दावनतरुप्रशंसाप्रसङ्गे वक्ष्यमाणानां गोपानां च सहभावेन निरूपणे हेतुस्तुल्यत्वादिति, अविद्यासम्बन्धाभावस्य निरोधस्य वा तुल्यत्वादित्यर्थः, लोकानुसारिणी विद्येति लोकानुसारेणात्र कर्म निरूप्यते न तु भगवच्छास्त्रानुसारेण, भगवदर्थं भगवानेव सेव्य इति हि भगवच्छास्त्रे मर्यादा, लोके हि प्रियप्राप्त्यर्थं तदीया दूतिका प्रार्थ्यते, तथात्रापि

कात्यायनी प्रार्थ्यते, अत्राध्याये अवान्तरप्रकरणविभागमाहुरेकोनविंश इति, अत्राध्याये कर्मप्रकरणं ज्ञानप्रकरणं चेति द्वे प्रकरणे, तत्राद्ये कुमारीणां व्रतं द्वितीये अन्तःस्थानामन्तरङ्गलीलामध्यपातिनां कृष्णस्तोकादीनां गोपानां ज्ञानं वृक्षप्रशंसाप्रसङ्गे उच्यते इत्यर्थः, यद्यपि साक्षादसम्भवेपि परम्परयापि भगवानेव सेव्य इतिज्ञानं कुमारीणामपि तथापि तद् व्रतात्मककर्माङ्गमेव न तु प्रधानमिति तत् कर्मप्रकरणमेव, गोपानां तु वृक्षप्रशंसाप्रसङ्गे ज्ञानोपदेश एवोक्तो न तु परोपकारात्मकं गोपकर्तृकं कर्मोक्तमिति ज्ञानप्रकरणमेव तदित्यवधेयं, अत्र कर्मप्रकरणे कर्तृदेशद्रव्यमन्त्रकालात्मकानि पञ्च कर्माङ्गान्युक्तानि, ज्ञानप्रकरणे च पञ्च पर्वाणि भक्तिधर्मार्थकाममोक्षात्मकानि पञ्चभिः श्लोकैरुक्तानि, तत्र "हे कृष्ण स्तोके" तिश्लोके भक्तिरूपं महत्पर्वोक्तं, चतुर्भिः श्लोकैर्धर्मादिमोक्षान्तानि चत्वारीतिस्पष्टं सुबोधिन्यामिति ॥ ० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

कन्याभिरर्चनं देव्या वरदानं तथैव च । हरिणा च तरुस्तोत्रं द्वाविंशे विनिरूप्यते ॥ १ ॥

एवमूढानामनुरागं निरूप्य अथानूढानामनुरागचेष्टितमाह—हेमन्त इति । हेमन्ते ऋतौ तस्यापि मासद्वयात्मकत्वात् प्रथमे मार्गशीर्षे मासि नन्दस्य व्रजराजस्य ये वशवर्तिनो गोपास्तेषां कुमारिका हविष्यान्नं नीवारादि भुञ्जानाः स्वीकृताहारादिनियमाः सत्यः कात्यायन्या देव्या अर्चनं व्रतं चेरुः 'अद्यप्रभृति कृष्णप्राप्त्यर्थं कात्यायनी पूजनीया' इति नियमं चक्रुरित्यर्थः ॥ १ ॥ तत्पूजाप्रकारमाह—आप्लुत्येति । अरुणे उदिते अरुणोदयवेलायां कालिन्द्याः श्रीयमुनायाः अम्भसि आप्लुत्य स्नात्वा जलान्ते जलस्य तीरे सैकतीं वालुकामयीं प्रतिकृतिं कात्यायनीप्रतिमां कृत्वा तां देवीं गन्धपुष्पादिभिः आनर्चुः पूजयामासुः । 'इदमपि लीलारहस्यं त्वया सावधानेन श्रोतव्यम्' इति सूचयन् सम्बोधयति – नृपेति ॥ २ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

द्वाविंशे गोपकन्यानां वासो हृत्वा वरप्रदः । यज्ञशालामगात्कृष्णः श्लोकाः सार्द्धा गजाग्नयः (३८) ॥

त्रीण्युवाचेति वाक्यानि चत्वारिंशदनुष्टुभः (४०) ॥

व्यूढानां गोपीनां कृष्णेऽनुरागमुक्त्वाऽनूढानामप्याह । वर्गद्वयं चेदम् "युवतीर्गोपकन्याश्च रात्रौ संकल्प्य कालवित्" । इत्यादिना हरिवंशे स्पष्टम् । हेमन्त इति । हेमन्ते ऋतौ तस्यापि मासद्वयात्मकत्वात् प्रथमे मार्गशीर्षे मासि नन्दस्य व्रजराजस्य ये वशवर्तिनो गोपास्तेषां कुमारिकाः सगोत्रत्वादिसंबन्धहीनाः कन्याः । नन्दव्रजेत्यपि पाठः । हविष्यान्नं नीवारान् भुञ्जानाः स्वीकृताहारादिनियमाः सत्यः कात्यायन्या देव्या अर्चनं व्रतं चेरुः ॥ १ ॥ आप्लुत्येति द्वयम् ॥ हे नृप ! अरुणे उदिते अरुणोदयवेलायां कालिन्द्याः अम्भसि आप्लुत्य स्नात्वा जलान्ते जलस्य तीरे सैकतीं वालुकामयीं प्रतिकृतिं कात्यायनीप्रतिमां कृत्वा तां देवीं सुरभिभिरिति यथोचितं सर्वत्रान्वेति । गन्धैश्चन्दनादिभिः माल्यैः पुष्पैः वलिभिरिति यान् अग्रे निधाय प्रणामः क्रियते तैर्नालिकेरादिभिः धूपदीपकैश्च उच्चावचैरुत्तममध्यमैरन्यैश्च यथासम्भवप्राप्तैर्वस्त्राभरणादिभिः उपहारैर्नैवेद्यैः प्रवालैर्नवपल्लवैः फलैः तण्डुलैश्च आनर्चुः पूजयामासुः ॥ २–३ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं द्वाविंशतितमेऽध्याये हरेः कुमारिकावस्त्राहरणलीलामाह हेमंते हेमंततौ प्राप्ते सति प्रथमे मासि मार्गशीर्षे नंदव्रजे याः कुमारिकाः कृष्णस्य वसुदेवोत्पन्नत्वात् सगोत्रसपिंडत्वादिसंबंधहीनाः कन्याः नंदगोपकुमारिका इति पाठे नंदस्य ये गोपास्तेषां कुमारिकाः कात्यायनीदेव्याः पूजनरूपं व्रतं चेरुः चक्रुः ॥ १ ॥ जलांते जलसमीपे अरुणे सूर्यसारथौ सैकतीं वालुकामयीं प्रतिकृतिं प्रतिमाम् ॥ २ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

लीला वस्त्राहृतेर्गोपकन्यानामीरिता वरम् । दत्वा कृष्णो गतो यज्ञशालां द्वाविंशके स्फुटम् ॥

इत्थं गोपीभिर्मिथोऽनुवर्णितानि शरत्कालिकानि कानिचिद्भगवतश्चेष्टितान्युक्त्वाथ कानिचित्तानि विवक्षुस्तावत् सिंहावलोकितन्यायेन पौगण्डवयस एव भगवतो हैमन्तिकानि चेष्टितान्युपवर्णयति, तत्र हैमन्तिकं किंचित्तस्य चेष्टितं वक्तुमुपोद्घातमाह ॥ हेमन्त इति ॥ हेमन्ते ऋतौ, तत्रापि प्रथमे मासि, मार्गशीर्षमासे इत्यर्थः । केचित्तु कार्त्तिकमार्गशीर्षौ हेमन्तः ऋतुस्तत्र प्रथमे मासि कार्त्तिके इत्याहुः । नन्दव्रजकुमारिकाः नन्दव्रजस्थानां गोपानां कुमारिकाः, कात्यायन्यर्चनव्रतं कात्यायन्या दुर्गाया अर्चनात्मकं व्रतमित्यर्थः । हविष्यं भुञ्जानाः नियताहाराः सत्य इत्यर्थः । चरुरनुष्ठितवन्त्यः ॥ १ ॥ कथं चेरुरित्यत्राह ॥ आप्लुत्येति ॥ अरुणे उदिते सति, अरुणोदयवेलायामित्यर्थः । कालिन्द्या यमुनायाः, अम्भसि जले, आप्लुत्य स्नात्वा, हे नृप, जलान्ते तस्यास्तटे, सैकतीं वालुकामयीं, प्रतिकृतिं प्रतिमां कृत्वा च, देवीं तां कात्यायनीप्रतिमां, आनर्चुर्गन्धादिभिस्तां सम्यक् पूजयामासुः ॥ २ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

नादप्रधानमीशस्य ध्यानमात्मस्वरूपदं । प्रोक्तं कृते तृतीये तु श्रीपदार्चनमुच्यते ॥ १ ॥

कुर्वन्तो विविधोपभोगमपि ये श्रीपादपद्मार्चनं कुर्वन्ति प्रविधाय साधुविहितं सत्कर्म नानागमैः।
तेषामत्र न दूर्लभा प्रभुपदप्राप्तिर्न चान्यापि वा स्वेष्टप्राप्तिरितीयमुक्तसरणिः स्याद् द्वापरस्याऽध्वनि ॥ २॥

हेमन्त इति : १०. २२.१.

स्वानिष्टकृत्-समयजन्य-फलाङ्कुरत्यत्यै सुखाय च सुधीः कुरुते व्रतादीन्।
हेमन्त एव तदिमा विदधुः क्षमं तद् यन्म्लानिकृत् स ऋतुरेव हि पद्मिनीनाम् ॥ ३ ॥

मासानां मार्गशीर्षोऽस्मीत्युक्तं तद्युगशालिना । कृष्णेनेति तदाप्त्यै तन्मासे युक्तं तदर्चनम् ॥ ४ ॥

वहुधान्यभावहृद्यं विविक्तसेव्यं स्वकायपुष्टिकरम् । ज्ञात्वा तमिव हविष्यं तद्भुञ्जानास्तदेति युक्तममूः ॥ ५ ॥

सङ्गः क्वापि परेण चेद्विधिवशाज्जातोऽप्यषट्कर्णकस्तत्कान्तानुमतिं विना न घटते निर्विघ्नमित्यङ्गनाः।
मायाधीश-समागमोत्सुकहृदो युक्तं तदार्चामिषान्मायामेव परेषु सत्स्वपि सुरेष्वभ्यार्थयन्तेष्टदाम् ॥ ६॥

भव्यप्रदा हि वहवो भुवि सन्ति यद्यप्यातास्तथापि कतमोऽपि न मातृतुल्यः ।
जानन्त्य इत्थमपरानपहाय देवानानर्चुरिष्टवरदां जनमातरं वा ॥ ७ ॥

सैकतीमिति : १०.२२.२.

सन्त्वन्या अपि कनकप्रमुखाः प्रतिमाः प्रभूतफलदात्र्यः ।
जडधृतिसुरुचिः सिकतैवेत्यबलास्तां हि तन्मयीं चक्रुः ॥ ८ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकाचार्यजी महाराजश्री ने कहा कि राजन् परीक्षित् ? हेमन्तऋतु के प्रथम मार्गशीर्ष मास में श्रीनन्दरायजी के व्रजकी कुमारिकाओं ने हविष्यान्न का ही भोजन करते हुए श्रीकात्यायनी देवीका अर्चन एवं व्रत करने लगी ॥ १ ॥ महाराज! पूर्व दिशाका भगवान् सूर्य लाल होते होते श्री कालिन्दीजी के जल में स्नान करके यमुनातट पर ही बालू रेतकी प्रतिमा बनाकर देवी की पूजा करने लगी ॥ २ ॥

गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः । उच्चावचैश्चोपहारैः[1] प्रवालफलतण्डुलैः ॥ ३ ॥

कात्यायनि महाभागे[2] महायोगिन्यधीश्वरि । नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

सुरभिभिः-गन्धैः-माल्यैः-धूपदीपकैः-वलिभिः-च-उच्चावचैः-उपहारैः-च-प्रवालफलतण्डुलैः-"देवीम्-आनर्चुः" ॥ ३॥ हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे अधीश्वरि ! हे देवि ! नन्दगोपसुतं मे-पतिम्-देहि,-ते-नमः इति-मन्त्रं-जपन्त्यः-ताः-कुमारिकाः पूजाम्-चक्रुः ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

महामाये इत्यादिसंबोधनैस्तव न किंचिदशक्यमिति सूचयंत्यः प्रत्येकं प्रार्थयंते ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बलिभिः परिवारदेवतापूजाभिः सह "बलिर्दैत्ये परीवारदेवतापूजने करे । जठरावयवे गेहदारुणि पूजने तथा ॥ उपहारे समर्थे च जरया श्लथचर्मणि ।" इति मेदिनीशाब्दिकौ ॥ ३ ॥ देव्याः सर्वसामर्थ्यं समर्थयन्त्य आहुः—महामायेत्यादि । कं सुखं तत्कव इति कतानि मंगलानि तेषां समूहः कात्यं तस्यायनं स्थानं यस्यां सा तथा । महापूज्या माया सामर्थ्यं यस्यास्सा तथा । महान् योग उपायः परकार्यसाधने यस्याः सा तथा । ईश्वरैः शंकराद्यैरधिष्ठितेत्यधीश्वरीति । देवि देवयति द्योतयति सर्वं जगदिति देवीति । अत्र विश्वनाथः—हे कात्यायनि नंदगोपसुतं मे पतिं कुरु । ननु कुर्विति मय्येव किमिति स्वातंत्र्यमर्प्यतेऽहं तु तदर्थं स्वपितरो प्रेरयिष्या

1. चोपचारैः—विज. । २. मायें—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. ।

स्यतः कारयेति प्रयुज्यतामित्याशंक्य सर्वैकल्यमाह—हे महायोगिनीति। तेन संयोगस्त्वयैव शीघ्रं संपाद्यतां न तु पित्रादिव्यवधानोपद्रवेण, परमोत्कंठावतीनामस्माकं कालविलंवस्यासह्यत्वात् कृष्णस्य संप्रत्यनुपनीतत्वेन विवाहायोग्यत्वात्। हे देवि मुख्यं विवाहं विनैव केवलगांधर्वविवाहेनैव मे पतिं कुर्वित्यर्थः। अधीश्वरीति। तत्र तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः। ननु तव कृष्णे पतिभावस्य त्वत्पितृभ्यामज्ञानत्वे त्वदभीष्टः कृष्णसंगमः कथं साधु सेत्स्यतीत्यत आह—महामाये। मायया मत्पितरौ तथा मोहय यथा कदाचिदपि गोपांतरेण मद्विवाहस्ताभ्यां न भाव्येत कृष्णांगसंगरहस्यं च न ज्ञातुं शक्येत। यद्वा—दीव्यति क्रीडति देवयति क्रीडयतीति देवी, स चासौ पतिश्चेति तं, तादृशं पतित्वं विवाहं विनैव सिध्यतीति मम गोपांतरव्यूढत्वेऽपि न कापि क्षतिरिति भावः। इत्येवं प्रत्येकं मंत्रार्थं पृथक्पृथग्विचिंत्येत्यर्थः। इयं ताभिरुपासिता चिच्छक्तिवृत्तिस्वरूपभूता योगमायैव न तु वहिरंगा माया। तदुक्तं नारदपंचरात्रे श्रुतिविद्यासंवादे—"जानात्येका परा कांतं सैव दुर्गा तदात्मिका। या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥ यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः। मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥ एकेयं प्रेमसर्वस्य स्वभावा श्रीकुलेश्वरी। अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥ अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥" इति। अतः "सर्वेषु कृष्णमंत्रेषु दुर्गाधिष्ठातृदेवता" इत्यागमे शुद्धसत्वस्वरूपा चिच्छक्तिवृत्तिः कृष्णभगिन्येकानंशाभिधाना योगमायैव मंत्राधिष्ठात्री सैव त्वत्वाभिरुपासिता। दुर्गामहामायेत्यादिनामसाम्येनैव लोकानां भ्रमो भवतीति ज्ञेयम्। व्रजस्य लोकवल्लीलत्वान्मायोपासनेऽपि न दोषः। अत्र ये केचिदनन्यंमन्या यदन्यथा मन्यंते न ते तदीयप्रेमगंधसंवंधगंधवातमपि स्पृशंतीति वैष्णवतोषिणी। इति मंत्रं पूर्वोक्तं कात्यायनीत्यादिसंबोधनात्मकं मंत्रम्॥ ४–५॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कारयेति सार्द्धकं, कात्यायनीति तन्मुनिवंशप्रकाशकत्वात् महाधर्मदातृत्वं सूचितम्। हे महामाये! हे श्रीभगवतो महाशक्तिरूपे! इत्यभीष्टप्राप्तियोग्यां शक्तिमसमभ्यमपि दातुं समर्थासीत्यर्थः। अत्र कापि दुर्घटता चेत्तत्राप्याहुः—हे महायोगिनि! दुर्घटघटनासमर्थे! नन्वन्यां काञ्चिद्देवतां भजध्वमिति स्वनिष्ठां परीक्षमाणां प्रत्याहुः—हे अधीश्वरि! न त्वत्त ऊर्द्धं काचिद्देवतेत्यर्थः। नन्दगोपसुतं श्रीमन्नन्दराजकुमारमिति निजभावानुरूपालम्बननिर्देशः तेन तस्यैव सर्वोपादेयत्वेन स्फुरणमपि सूचितम्। अत्र नन्देति साक्षान्महागुरुनामग्रहणं गोपेति विशेषणदानं च तत्तच्छब्दस्यान्यगतित्वशङ्कया ननु, मत्प्राप्तये तमेव राधयत् तत्राहुः हे देवि! क्रीडारसाभिज्ञे! तदर्थं साक्षात् तत्प्रार्थनं न रसावहमिति जानास्येवेत्यर्थः। मे इत्येकत्वः प्रतिस्वं पृथग्जपात् इति एतं मन्त्रम् अतः प्राक्सिद्ध एवासौ श्रीकृष्णलक्षणपतिप्रदो मन्त्रः ततश्चास्या देव्याः स्वरूपशक्तित्वमेव मन्तव्यं न बहिरङ्गजगत्कारणशक्तित्वं पूर्वस्याः "न विष्णुना विना लक्ष्मीर्न हरिः पद्मजां विना" इति भगवदैक्यात् उत्तरस्याः "यस्यांशांशांशभागेन" इत्यादिना तदपेक्षयाऽतितुच्छत्वात्—

"याऽतीतगोचरा वाचां मनसां च विशेषणा। ज्ञानिज्ञानापरिच्छेद्या वन्दे तामीश्वरी पराम्॥
सर्वभूतेषु सर्वात्मा या शक्तिरपरा तव। गुणाश्रया नमस्तस्यै शाश्वतायै सुरेश्वर"॥

इति विष्णुपुराणपद्याभ्यां तादृशभेदप्राप्तेः तथा च श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासम्वादे—

"जानात्येका परा कान्तं सैव दुर्गा तदात्मिका। या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः। मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा श्री (गो)कुलेश्वरी। अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः॥
अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाखिलेश्वरी। यया मुग्धं जगत्सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः॥" इति

अतः प्रथमैवाष्टादशाक्षराद्यधिष्ठात्रीति गम्यते दुर्गामहामायेत्यादिनामादिसामान्येनैव तु भ्रमो भवतीति ज्ञेयम् अथवा मन्त्रेऽस्मिन्स्तृतीयः पादो निजाभीष्टनाम्ना योज्य इत्येव विधिः स्यात् ततो व्रजस्य लोकवल्लीलत्वान्मायोपासनमेव लभ्यते तासां च परमप्रेमोल्लासविलसितमेव तथोपासनं प्रेम्णैव च तथा तत्प्राप्तिर्न तथोपासनेनेति विवेक्तव्यम् अत्र केचिदनन्यम्मन्या यदन्यथा मन्यन्ते तेन तदीयप्रेमगन्धसम्बन्धगन्धवातमपि स्पृशन्ति सर्वत्र शुद्धभगवत्प्रेमैव हि पुरुषार्थः सर्वमनन्यदेवतोपासनादिकं तु तत्साधनमेवेति श्रीमद्भागवतसिद्धान्तः स च तासां सिद्धः सर्वं समुद्रिक्तश्चेति किं साधनविचारेण परमसाध्यस्वरूपप्रेमविचारे तु स च प्रेमा केवलमाधुर्यानुभावाविर्भावी अनन्यभक्तिप्रवृत्तिकारणेन पारमैश्वर्यानुभवेन तु सम्भ्रमात् सङ्कोच्यंत एव प्रेम्णैव च भगवानपि वशीक्रियते ननु तेन तथैव "नेमं विरञ्च" इत्यादौ "इत्थं सता"मित्यादौ "नायं श्रियोऽङ्ग" इत्यादौ श्रीव्रजवासिन एव सर्वोपरि प्रशस्यन्ते यथैवात्रोक्तं नन्दगोपसुतमिति न तु श्रीभगवन्तमिति तस्मात्तासां शुद्धमधुरप्रेम्ण एव विलासोयं नान्यदिति सर्वोपर्य्येव स्थितमिदम्॥ ४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सुरभिभिरिति यथापेक्षं सर्वैरपि योज्यम्, बहुत्वं गन्धादिबाहुल्यात्, बलिभिः—वस्त्रभूषणनैवेद्याद्युपचारैः, तानेवाह-प्रवालेति। अत्र क्रमभंगः श्रीकृष्णहृतमनस्त्वेन तासां क्रमविस्मृतेः, श्रीबादरायणेरेव वा तद्व्रतकथने परमौत्सुक्येन क्रमातीक्रमात्। यद्वा, बलिभिः पूजोपकरणैर्गन्धादिभिरिति तत्तत्संस्कारादिसाद्गुण्यमभिप्रेतम्; ततश्च उपहारैर्नैवेद्यादिभिः, अन्ते नीराजनार्थं प्रवालादिभिरिति, उच्चावचैरिति सर्वेषामेव विशेषणम् ॥३॥ हे महामाये ! श्रीभगवतः सच्चिदानन्दशक्तिरूप इति श्रीकृष्णप्राप्तियोग्यानामस्माकमपि सर्वशक्ति दातुं समर्थासीत्यर्थः। ननु, असावत्र पल्यनपेक्षश्च तत्राहुः,—हे महायोगिनि ! दुर्घटमपि त्वया सुघटयितुं शक्यत इत्यर्थः। ननु, महालक्ष्मीतो बिभेमि; तत्राहु— हे अधीश्वरि, अशेषैश्वर्य्यसम्पन्नत्वात् त्वं ततोऽप्यधिकतरा निर्भयासीत्यर्थः। ननु तर्हि यूयं तमेवाराधायतेति च तत्राहुः—हे देवि ! तदेकभक्त्या द्योतमान इत्यर्थः। तत्साक्षादर्च्चनादपि तत्प्रियतमजनाराधनमेव वरमिति भावः। इति सर्वथाऽस्मन्मनोरथस्त्वया परिपूरयितुं शक्यत इति तात्पर्य्यम्। नन्दश्चासौ गोपश्चेति तस्य सुतं कुमारमिति गोपकन्यानामस्माकं तत्पत्नीत्वयोग्यतास्तीति सूचितम्; यद्वा, गोपो भूपोऽस्माकं राजेत्यर्थं इति तस्य सुदुर्लभता सूचिता, तथापि पतिं स्वामिनं कुरु, तत्र शक्तिरुद्दिष्टैव, यद्वा, नन्दगोपसुतमिति तस्य गोपवेशक्रीडादीनां मनोहरतया पतित्वेन प्रार्थनायाः कारणम्, तथा सदैव तादृशत्वप्रकटनमप्यभीष्टम्; मे ममेति सापत्न्यभयेन तत्परिहारार्थं प्रत्येकं सर्वा एव स्वचित्तान्तः प्रार्थयन्त इत्यूह्यम्। यद्वा, महामुनिश्रीनारदादि-दृष्टोऽयं प्राचीनो मन्त्रस्तादृश एवेति तदर्थकल्पनाविशेषेणालम्, ताभिरेवायं मंत्रो दृष्टोऽस्तीति केचिदाहुः,—पद्मपुराणोक्तानुसारेण पूर्वजन्मनि श्रीरघुनाथावतारे तासामेव ऋषित्वादिति। एतं मन्त्रम्, ताः श्रीनन्दव्रजस्त्रियः श्रीकृष्णैकापेक्षिका वा पूजां चक्रुरित्यनुवादेन तत्रान्यमन्त्राद्यभावेनान्यकामादिकं निरस्तम्; एवमग्रेऽपि ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गन्धादिभिस्सम्यगानर्चुः सुरभिभिः गन्धैर्माल्यैः पुष्पैश्च धूपैर्दीपकैश्चान्यैर्नानाविधैर्बलिभिः पूजासाधनैर्नानाविधैरुपहारैर्नैवेद्यैः पल्लवादिभिश्च ॥ ३ ॥ तथा कात्यायनीत्यादिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः कुमारिकाः पूजां चक्रुः हे महामाये अत्याश्चर्यशक्त्यधिष्ठात्रि महायोगिनि स्वाराधनात्मकमहायोगनिर्वाहके अधीश्वरि ! आराधकसमीहितफलदानसमर्थे हे देवि ' नन्दगोपसुतं मम पतिं कुरु तुभ्यं नमः इति प्रत्येकाभिप्रायकमेकवचनम् एवम्भूतायास्तव न किञ्चिदप्यशक्यमिति सम्बोधनानामभिप्रायः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

बलिभिः परिवारदेवताविषयपूजाभिः ॥ ३ ॥ कात्यायनि कृत्यानामुत्पादके ! महती माया माहात्म्यं यस्यां सा तथा तस्याः सम्बुद्धिः महामाये महान् योग उपायोऽस्या अस्तीति महायोगिनी तत्सम्बोधनं महायोगिनि ! अधीश्वरि अधिगतेश्वरि ते तुभ्यं नमोऽस्तु इति समाप्तम् एवं प्रकारं वा ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कात्यायनी वैष्णवीशक्तिः इत्येवं मन्त्रः अतः प्राक् सिद्ध एवासौ तत्र यदि तृतीयपादाभीष्टनाम्नो योजनीय इत्येव विधिः स्यात्तदा लोकवल्लीलया मायोपासनमेव यदि तु सोऽपि पूर्वसिद्धस्तदा स्वरूपशक्त्युपासनमेवेदम् ॥ ४-५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

व्रताचरणे स्वकृतमेव मन्त्रं जपन्त्यः प्रार्थयन्ते कात्यायनीत्यादि। हे देवि कात्यायनि ! ते तुभ्यं नमः। ननु किमर्थोऽयं नमस्कारः ? तत्राह—नन्दगोपसुतं पतिं मे कुरु कारय। प्रत्येकमन्त्रपाठादेकवचनम्। अथवा, प्रीतिवशादभिन्नता वा ननु दुर्घटोऽयमर्थः, कथमस्मच्छक्त्या भवितुमर्हति ? तत्राह—महायोगिनि महायोगो भक्तियोगः स विद्यते यस्या इति तथा। सा त्वं परमवैष्णवी तथा च 'धन्यासि कृतपुण्यासि विष्णुभक्तासि पार्वति' इति श्रीरुद्रवाक्यम्। तेन तत्प्रसादादेवायमर्थः सुघटः। एवं चेदनयैवोपासनया किमहं परितुष्टो भवानीत्याशङ्क्याह - हे अधीश्वरि ! ईश्वरीणामधिके, त्वं सर्वेश्वरी, तव किमस्मद्वृत्तबहुवित्तसाध्योपचारैः ॥ ४-५ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कात्यायनीत्यादि। ते नमः, कति कति अयनानीति वा तेषां निवास इत्यर्थेऽण् सार्वभौमादिवत् उभयपदवृद्धिः। कात्यायनि सर्वत्र सुलभे,—व्यापकत्वादिति भावः। ननु किमर्थोऽयं नमस्कारः ? तत्राह— नन्दगोपसुतं देवि ! पतिं मे कुरु इत्येकवचनं समानवासनत्वादैक्यप्रतिपादनार्थम्। ननु दुर्घटोऽयमर्थः। कथमस्मदाराधनेन सम्पद्यताम् ? तत्राह—महामाये दुर्घट-घटना पटीयसी माया, महती माया यस्या सा त्वम्, नायं ते दुर्घटोऽर्थः ननु मायाबलेन किमयमर्थः संभावयितुम् शक्यते, विना तस्य वा तज्जनस्य वा प्रसादम् ? तत्राह—महायोगिनि ! महायोगो भक्तियोगः, स विद्यते यस्याः सा त्वं परमवैष्णवी, त्वत्प्रसादेनैवायमर्थो घटते॥ एवञ्चेदनयैवोपासनया परितुष्टोऽहमिमं दुर्घटमर्थं सम्पादयिष्ये ? तत्राह—हे अधीश्वरि ! त्वं सर्वेश्वरि ! तव किमस्मद्दत्तैर्बहुभिरुपचारैः ? ॥ ४-५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

बलिभिः वस्त्रभूषणनैवेद्याद्युपचारैः ॥ ३ ॥ हे कात्यायनि ! नन्दगोपसुतं पतिं कुरु । ननु, कुर्वित्यनेन मय्येव किमिति तत्र स्वातन्त्र्यमर्प्यते अहं तु तदर्थं त्वत् पितरौ प्रेरयिष्यामि मात्रं तस्मात् कारयेति देहीति वा प्रयुज्यतामित्याशङ्क्य सर्वकल्पयाह—हे महायोगनीति । तेन संयोगस्त्वयैव शीघ्रसम्पाद्यो नतु पित्रादिव्यवधानोपद्रवेण परमोत्कण्ठावतीभिरस्माभिः कालविलम्बस्यासह्यत्वात् कृष्णस्य सम्प्रत्यनुपनीतत्वेन विवाहायोग्यत्वात् हे देवि ! मुख्यं विवाहं विनैव केवलगान्धर्वविवाहेनैव मे पतिं कुर्वित्यर्थः । अधीश्वरीति तत्र तव किमप्यशक्यं नास्तीति भावः । ननु, तव कृष्णे पतिभावस्य त्वत्पितृभ्यामज्ञातत्वे त्वदश्रीघ्रः कृष्णाङ्गसङ्गः कथं साधु सेत्स्यतीत्यत आह—महामाये मायया मत्पितरौ तथा मोहय यथा कदाचिदपि गोपान्तरेण मद्विवाहस्ताभ्यां न भाव्यते कृष्णाङ्गसङ्गरहस्यञ्च नच ज्ञातुं शक्यत इति यद्वा, दीव्यति क्रीडति देवयति क्रीडयतीति वा देवी सचासौ पतिश्चेति ते तादृशपतित्वं विवाहं विनैव सिद्ध्यतीति मम गोपान्तरव्यूढत्वेपि न कापि क्षतिरिति भावः । इत्येवं प्रत्येकं मन्त्रार्थं पृथक्पृथक् विचिन्त्येत्यर्थः, इयं ताभिरुपासिता चिच्छक्तिवृत्तिः स्वरूपभूता योगमायैव नतु वहिरङ्गमाया यदुक्तं नारदपञ्चरात्रे श्रुतिविद्यासम्वादे —

"जानत्येकापरा कास्तं सैव दुर्गा तदात्मिका । या परा परमा शक्तिर्महाविष्णुस्वरूपिणी ॥
यस्या विज्ञानमात्रेण पराणां परमात्मनः । मुहूर्त्ताद्देवदेवस्य प्राप्तिर्भवति नान्यथा ॥
एकेयं प्रेमसर्वस्वस्वभावा श्रीकुलेश्वरी । अनया सुलभो ज्ञेय आदिदेवोऽखिलेश्वरः ॥
अस्या आवरिका शक्तिर्महामायाऽखिलेश्वरी । यया मुग्धं जगत् सर्वं सर्वे देहाभिमानिनः" ॥ इति ।

अतः सर्वेषु कृष्णमन्त्रेषु दुर्गाधिष्ठातृदेवतेत्यागमे शुद्धसत्त्वस्वरूपा चिच्छक्तिवृत्तिः कृष्णभगिन्येकानंशाभिधाना योगमायैव मन्त्राधिष्ठात्री सैव खल्वाभिरुपासिता दुर्गा महामायेत्यादि नामादि साम्येनैव लोकानां भ्रमोभवतीति ज्ञेयं व्रजस्य लोकवल्लीलत्वान्मायोपासनेऽपि न दोषः अत्र केचिदनन्यम्मन्या यदन्यथा मन्यन्ते न ते तदीयप्रेमगन्धसम्बन्धगन्धवाहमपि स्पृशन्तीति श्रीवैष्णवतोषणी ॥४॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उच्चावचैः नानाविधैर्वस्त्रादिभिः उपहारैर्नैवेद्यैः प्रवालैर्विद्रुमैः पल्लवैश्च "प्रवालोऽस्त्री किसलये वीणादण्डे च विद्रुमे" इति मेदिनी एभिरानुचुरिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३ ॥ वृतिनीनां तासां जप्यं मन्त्रमाह—कात्यायनीति सार्द्धकम् । हे कात्यायनि ! तन्मुनिरंशप्रकाशिके ! परमधर्मदात्रि ! नन्दगोपस्य नन्दनाम्नो राज्ञः सुतं मे पतिं पाणिग्राहकं कुरु । ननु मत्प्रेरितौ तव पितरौ तथा करिष्यतस्तत्राह - हे महायोगिनीति । स योगस्त्वयैव त्वरया विधेयो नतु पित्रादिव्यवधानेन कालविलम्बस्य दुःसहत्वात् ततो गन्धर्वेणैव विधिना तं मे पतिं कुर्विति भावः । न च तद्विधानेन तवासामर्थ्यमस्तीत्याह—अधीश्वरीति । ननु गुरुविप्राग्निसाक्षिकत्वेन विना तस्मिन् पतिभावः स्वच्छन्दतरसङ्गाय न स्यात्तत्राह —हे महामाये इति । तथा मायां विस्ताराय यथा गोपकुमारेणान्येन सह मद्विवाहं मत्पित्रादयो न भावयेयुर्मेनन्दसुतेन सह सङ्गञ्च विद्युरिति भावः । हे देवीति इयमेका क्रीडा सम्पाद्यतामित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अर्चनं च नमेतैरित्याह ॥ गन्धैरिति । माल्यैर्मालाभिः पृथक्कुसुमैश्च सुरभिभिरिति योग्यसर्वान्वयि । बलिभिः कात्यायनीभूत्यपूजाभिरेवमुच्चावचै रनेकप्रकारैः प्रवालाः किसलयाः फलानि तण्डुलाश्च तैरुपहारैरानचुरित्यतीतेनान्वयः ॥ ३ ॥ तत्र मन्त्रमिममिमा समाः उमामुद्दिश्य जेपुरित्याह ॥ कात्यायनीति । महामाये महती च साम्रायाऽकपटप्रवृत्तिर्यस्याः सा तत्सम्बुद्धिः । महाशक्तिमतीति वा श्रेष्ठोपायवतीति महायोगिनी स्वामिनीत्यधीश्वरे हे देवि नन्दगोपसुतं मे पतिं कुरु । मम युष्माभिः क्रियमाणोचितापचितिः केत्यत आहुः ॥ ते नम इति । म इति प्रतिस्विकमेकैकस्याः प्रार्थनेत्येकवचनोपपत्तिः । आन्तरङ्गिको भावश्च तरस्या अस्तु वा माऽस्त्वित्येवानेन ध्वन्यते । सापत्न्यं स्नेहापवाहकमिति लोकप्रसिद्धेरिति केचित् । आन्तरङ्गिको भावश्च नैतन्मात्रप्रार्थना किन्तु रमामपि । हे मे इति सम्बोध्य प्रार्थयामासुरिति वाऽवसेयः । तदावेशं विना श्रीशसम्बन्धासम्भवात् । ऋते रमां जातु ममाङ्गसङ्गयोग्याङ्गना नैव सुरालयेऽपीत्याद्युतेः ते मः शिवो न इव पतिं नन्दगोपसुतं कुरु । मः शिवे मा रमायां च मा निषेधेऽप्ययं मतं । मासे च समये चन्द्रे यमे वेधसि मं विष इति विश्वः । यथा तव धवो भवस्तथा नन्दनन्दनं मे पतिं कुरु ते नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एतावता क्लेशेन भगवान् प्राप्त इति ज्ञापयितुम् पूजासाधनान्याह—गन्धैरिति । माल्यानि पुष्पाणि सुरभिभिरित्युभयेषां विशेषणं बलिभिरर्हिस्रैः ऋषित्वात्तासां परिज्ञानं धूपो दीपावलयश्च पङ्क्तिरूपा दीपाः दीपकाः उच्चावचानि सर्वाण्येवानेकरूपाणि उपहारा नैवेद्यद्रव्याणि प्रवालाः पल्लवाः फलानि तन्दुलाश्च एवं नवविधा निरूपिताः एव कर्तृदेशद्रव्याणि निरू-

पितानि ॥ ३ ॥ मन्त्रमाह—कात्यायनीति । ऋषित्वान्मन्त्रदर्शनं मन्त्रे प्रसिद्धदेवतामन्त्रोपासनायां साक्षात्कृता अर्थस्यापि दृष्टत्वादतः कात्यायनीति परिज्ञानसम्बोधनं कार्यं त्याजयतीति कात्या संहारिका शक्तिः तस्या आधिदैविकं रूपं कात्यायनीफलिरूपं पूर्वं भगवान्न प्राप्तः तत्रावश्यं दुरदृष्टमेव प्रतिबन्धकमिति मन्तव्यं तपस्तु सिद्धमेव साधनम् अन्यथाऽग्रेपि न स्यात् अतः प्रतिबन्धस्याधिदैविकस्य नाशने इयमेव समर्था । ननु, प्रतिबन्धकमाधिदैविकं यदि भगवदिच्छयैव स्यात् तदा कथं निवर्त्तत इत्याशङ्क्याह—महाभाग इति । अल्पभाग्यत्वे भगवान्नाज्ञापयेत् यशोदायाश्च जन्म न स्यात् भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात् त्वयाप्रार्थितः प्रियः स्वेच्छामप्येतदनुगुणां करिष्यति, अतो महाभाग्यं तव आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनो भवसि ज्येष्ठा अत उपकारोपि कर्त्तव्यः । न च मन्तव्यं तादृशदोषो न मया परिहर्तुं शक्यत इति यतस्त्वं महायोगिनी गर्भसङ्कर्षणादिकार्यकरणात् नन्वाधिदैविकं कथं परिहर्त्तव्यं कालादिभ्यो वलिष्ठाहि सा प्रतिबन्धकशक्तिः तत्राह, अधीश्वरीति । ईश्वरं भगवन्तमधिकृत्य वर्त्तसे अतोऽन्तरङ्गा त्वं शक्तिः कात्यायिन्या गुणत्रयं चोक्तं पदत्रयेण अतः सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीया नन्दगोपसुतं मे पतिं कुरु प्रत्येकं भर्त्तारं कुरु भगवानशक्य इति न मन्तव्यं यथा नन्दगोपस्य पुत्रो जातः तथाऽस्मत्पतिरपि भविष्यति । किञ्च' त्वं देवतारूपा अलौकिकेनापि प्रकारेण भगवन्त पतिं करिष्यसि प्रत्युपकारस्तु तुभ्यं नमनम् अनङ्कारस्तुभ्यं दत्तः त्वदीय इति अन्यत्सर्वं भगददीयं प्रतिन्धके निवृत्ते स एव भविष्यति तथापि वक्तव्योऽपि स हि मायायवनिकामाच्छाद्य क्वचिदल्पोद्धाटनेन तिष्ठति अतोऽस्मदर्थं तत्रतत्रोद्घाटिका भवेत्यर्थः । अपराधस्तु न भविष्यति यतस्त्वं पतिं करिष्यसि कन्यावरयोर्विवाहे यवनिका दूरीक्रियत एव अयमर्थो नित्यः प्रत्यगाशीर्मन्त्रत्वात् जप एवास्य न कर्माङ्गकरणं प्रत्यगाशिषो मान्त्रान् जपत्यकरणानिति कल्पात् अतः परं तेषां प्रसादरूपा शक्तिस्त्रीभवति भगवानेव वा गुणातीत इति पक्षद्वये मन्त्रार्थं उच्यते भगवतः स्त्रियः कतीति प्रश्नविषयाः कात्याः अत एव परीक्षितो

राज्ञः प्रश्ने "पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः" इति वचनं ता अयनं यस्याः सा कात्यायनी ङीवत्र छान्दसो ज्ञेयः नन्वेतस्या भगवद्भोग्यतासम्पादकत्वैकस्वभावायाः स्वस्मिंस्थितिं चेज्जानन्ति तदा भगवत्सम्बन्धस्यावश्यं भावित्वेन ज्ञानञ्च भविष्यत्येवेति कथं व्रतारम्भः न च विलम्बाभावार्थं इति वाच्यम् एतस्याः सर्वतोधिकत्वेनान्या प्रतिबाध्यसामर्थ्यत्वेन च स्वस्य रसयोग्यवयः सम्पत्तौ सा स्वत एव विलम्बासहिष्णुर्यतः न च तादृग्वयस्सम्पत्त्यर्थमेव व्रतारम्भः इति वाच्यं प्रमाणाभावात् पतित्वकरणस्यैव मन्त्रे श्रूयमाणत्वात् तस्य चैतच्छक्तेरेतद्रूपस्य भगवतो वा प्रवेशो नैव सिद्धत्वादेतत् प्रयोजनं न विद्यः । अथ स्वस्मिंस्तत्स्थितेरज्ञानाद्व्रतारम्भः इति वाच्यं तथापि वस्तुतस्तत्प्रयोजनं न सिद्धयतीति चेदुच्यते मन्त्रे पठ्यमानमेव फलं प्रयोजनं नचोक्तन्यायेन तत्सिद्धमिति वाच्यं तत्तात्पर्यानवगमात् तथा हि साक्षात्पुरुषोत्तमरमणे ह्येतासामिच्छामये मां रंस्यथ क्षपाः "यदुद्दिश्य व्रतमिदञ्चेरुरार्यार्चनं सतीः" इति भगवद्वचनात् एवञ्च सत्युक्तरूपशक्तेर्भगवतो वा प्रवेशस्य प्रयोजनमावेशरमणेनैवान्यथासिद्धं कदाचिद्भगवान्मन्येत सर्वं सर्वत्र योजयितुं शक्तो यतः तथाचावेशेनांशावतारेण वा सम्बन्धो माभूदिति तदर्थं व्रतलक्षणं तदाराधनमारब्धं यथान्यसम्बन्धराहित्येन पुरुषोत्तमसम्बन्धो भवेत् अत एव भगवता सतीत्वं विशेषणमुक्तमेतदभिप्रायेणैव नन्दगोपसुतपदमप्यत एव तत्रैव पुरुषोत्तमाविर्भावो यतः एतच्च यथा तथाद्य प्रकरणे निरूपितं यथा कंसादिभिया तदज्ञानार्थं गुप्तस्थाने स्थापितो नन्दपुत्रो भवत्तथात्वयैकान्तस्थलेऽन्या ज्ञाततया प्रापितोऽस्मद्रमणकर्त्ता भवत्वित्यप्यस्य यदस्य तात्पर्यं ज्ञेयम् अत एव वलदेवादिव्यावृत्तिरपि अत एव तथैवाग्रे करिष्यतीति भगवान् उद्देश्यपतित्वविधानप्रार्थनावाचकयोः पदयोर्मध्ये देवीति सम्बोधनेन मध्यस्थतया कदाचिद्दूतीत्यायेनापि तथाकरणं द्योत्यते एतदेव तव परमानन्दजनकं तव क्रीडैवेति देवीशब्देन द्योत्यते गावो हि स्वतः शुभाशुभयोः प्रवृत्तिनिवृत्तिरहिताः किं वहुना स्वभक्ष्येपि स्वरक्षकप्रेरणायां प्रवृत्तिनिरोधे तूष्णींभाव एव तासां तथा चैतादृशीनां पालकस्य सुत इत्यस्माकमप्येतादृशफलसम्बन्धे साधकवाधकज्ञानराहित्येन कदाचित्स्वतोऽन्यथा चिकीर्षायामपि स्वयमेव कृपया ततो निवर्त्तक इष्टसम्पादकश्च भविष्यतीति गोपपदेन ज्ञायते अपरञ्च गोपजातीया हि लोके न महत्त्वेन गण्यन्ते तथा च ब्रह्मवाक्सत्यत्वार्थं स्वयं तादृशस्य पुत्रत्वमङ्गीकृतवान् यः स स्ववाक्सत्यत्वार्थमस्मत्पतित्वमप्यङ्गीकरिष्यत्येव निमित्तमात्रस्त्वं भवेति ज्ञापनायापि गोपपदं तेनात्र तव नाधिकः प्रयासो भवितेति सूचितम् । स्वस्याभिमानाभावश्च एतादृक् फलसम्पादिकायास्तव प्रत्युपकारस्तु नास्माभिः कर्त्तुं शक्यः किन्तु यथा "किमासनं ते गरुडासनाय" इतिवाक्यात् नमोनम इत्येतावत्सदुपशिक्षितमिति वाक्याच्च भगवति जीवैर्नमनमेव कर्त्तव्यं भवति कर्त्तुं शक्यं च तथाऽस्माभिरपि तुभ्यं नमनमेव कर्त्तुं शक्यमित्याशयेनाहुः, ते नम इति नमनातिरिक्ताशक्यत्वे तन्महत्त्वं हेतुरिति तदुक्तं महाभाग इत्यादिना भगवता सह योगोऽस्यास्तीति योगी योगेन महत्त्वन्तु नायिका भावपूर्वकत्वं तथा च तादृशे पुरुषे अधीश्वरिअङ्गीकृतस्वामित्व इत्यर्थः । तेन साधारणाप्राप्यत्वेन महत्सम्बन्धित्वेन च महत्त्वमुक्तं भवति एतादृशस्येश्वरो हि भगवानेव भवति त्वन्त्वेतादृशी यदीश्वरोपि त्वदधीनस्तस्मै फलं ददातीत्युपसर्गः पक्षद्वयेप्येतस्माद्भगवत्स्वरूपात्मकत्वात्तदधीनत्वेपि नेश्वरे काचिन्न्यूनता शङ्कनीया महायोग वत्वे हेतुभूतं पुरुषे विशेषणमाहुः महाभाग इति । भक्तिमार्गेऽङ्गीकार एव भाग्यरूपः तत्रापि पुष्टिपुष्टावङ्गीकारो महत्त्वम् अतस्तं मन्त्रं जपन्त्यस्तूष्णी मेव पूजां चक्रुरित्याह, इतीति । इयमेव मन्त्रं जपन्त्यः ताः प्रसिद्धाः तूष्णीं पूजां चक्रूः यतः कुमारिकाः स्त्रीणां विवाहोत्तरमेव मन्त्रसम्बन्धः अयं तु मन्त्रः ताभिरेव दृष्ट इति युक्तं तासां जपकरणम् अनेन क्रियोक्ता ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गन्धैरित्यत्र अर्हिस्र्ररिति वाहुलकात् कर्मण्यौणादिको रक् ॥ ३ ॥ कात्यायनीत्यस्याभासे एवं कत्रिति त्रिभिः श्लोकैस्त्रयं निरूपितं, अनेन मन्त्र उच्यते अग्रिमेण कालो वक्तव्यः, एवं पञ्चभिः श्लोकैः पञ्चात्मकं कर्मं निरूपितमिति ज्ञेयं, व्याख्याने, साक्षात्कृतेति मध्यमपुरुषप्रयोगादितिभावः, परिज्ञानेति त्वत्स्वरूपमस्माभिर्ज्ञायत इति स्वपरिज्ञानस्य सम्यग् बोधनमित्यर्थः, तत्रेति भगवत्प्राप्तौ, अदृष्टं भगवदाच्छादनादिरूपाधिदैविकविसामग्रीहेतुत्वादाधिदैविकं प्रतिबन्धकं, तथा चायं भगवत्कृत इति तन्नाशने नान्यः समर्थः, किन्त्वियमेव, यतो भगवता लीलाप्रतिबन्धनिवारणसामर्थ्यमस्यै दत्तमिति भावः, अत्रादृष्टं न कर्मजन्यं किन्तु भगवदीयतत्तदवयवाच्छादका योगमायांश इतिज्ञेयं नन्विति भगवदिच्छया चेत् स्यात् तदा प्रवलत्वाद् कथं निवर्तेत इत्यर्थः, महाभाग्ये अर्थापत्ति प्रमाणयन्ति अल्पेत्यारभ्य न प्राप्नुयादित्यन्तेन भाग्यकार्यमुपक्रान्तमाहुस्त्वयेति, अत इत्यस्य पूर्वेणान्वयः, नव महाभाग्यं हेतुत्रयेण निश्चितं यत इतिशेषः, अतो हेतोस्त्वया प्रार्थितं एवं करिष्यतीत्यर्थः, एवं प्रतिवन्धनिवारणं प्रार्थितं, अनेनैव फलदानमपि प्रार्थितमित्याहुः आभिमानिकसम्बन्धेनेति, भाग्यसाधनहेतुना यशोदायां जन्मनेत्यर्थः, अयं भाग्यकार्यत्वेनोक्तः, अत्रोपकारकभगिनीत्वकारणत्वेनोच्यत इति पुनः पदं, दासीनां प्रमुपत्न्यां मातृत्वव्यवहारस्तत्पुत्र्यां ज्येष्ठभगिनीत्वव्यवहारो लोकसिद्धः, अत्रापि 'प्रायो वताम्बे'त्यनेन यशोदायां मातृत्वव्यवहार उक्त इति तत्पुत्र्यामपि ज्येष्ठभगिनीत्वव्यवहारः सिद्ध इतिभावः, नन्वाधिदैविकं कथमिति केन प्रकारेणेत्यर्थः, अन्तरङ्गत्वाद् भगवन्तं प्रार्थयित्वेत्युत्तरं, कात्यायन्या गुणत्रयमिति 'अधीश्वरि महायोगिनि महाभागे' इतिपदत्रयेणैश्वर्यवीर्ययशांस्युक्तानीत्यर्थः, सर्वप्रकारेणेति भगवद्धर्मवत्त्वेनापित्यर्थः, वक्तव्योपीति आज्ञां विना तथाकर्तुमशक्यत्वादितिभावः, प्रतिबन्धनिवर्तनं विशदयन्ति स हीति, अयमर्थ इति रमणरूपोर्थो नित्यो न तु कादाचित्क इति पतिपदेन ज्ञाप्यत इत्यर्थः, पत्या सह रमणं सर्वदा भवति जारेण कदाचिदितिभावः, प्रत्यगाशीरिति ऋचस्त्रिविधाः प्रत्यक्षकृताः परोक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च ताः क्रमात् मध्यमपुरुषप्रथमपुरुषोत्तमपुरुषप्रयोगयुक्ता इति निरुक्ते निरूपितं तथा चायं मन्त्रः प्रत्यक्षकृतरूप इत्यर्थः, अवश्यं भावित्वेनेति प्रकारता तृतीयार्थः, स्थितिज्ञाने एवं प्रकारकभगवत्सम्बन्धज्ञानमप्यासां भविष्यत्येवेतिनिर्धार इत्यर्थः, अन्यथासिद्धमिति भवत्वितिशेषः, प्रयोजनं रमणमावेशरमणप्रकारेण सिद्धं भवत्वित्यर्थः, अंशावतारेणेति वामनादिनेत्यर्थः, तत्रैवेति अदितिरोहिणीव्यावृत्त्यर्थमेवकारः, तत्राविभूते, बले तु पुरुषोत्तमस्यावेशः, तथा च वलदेवेन रमणं मा भवत्विति तदाशय इतिभावः उद्देश्येति नन्दगोपसुतमुद्दिश्य पतित्वं विधीयते, तथा चोद्देश्यवाचकं नन्दगोपसुतपदं पतित्वविधानस्य तत्प्रार्थनस्य वा बोधकं पतिपदं, तयोर्मध्य इत्यर्थः, गोपपदव्याख्यानान्तरे तेनेति गोपसुतस्य पतित्वकरणप्रार्थननेत्यर्थः, स्वस्येति प्रार्थनयैवं जातं न तु स्वसाधनबलेनेत्यभिमानाभाव इत्यर्थः, अधीश्वरीति अधिका चासावीश्वरी चेत्यर्थः, अत इति यतोस्य न कर्माङ्गं करणमत इत्यर्थः, पूर्वेणास्यैकवाक्यता मध्ये तु व्याख्यानान्तरम् ॥ ४ ॥ इतीत्यत्र यत इति अतस्तूष्णीं चक्रुरित्यर्थः, तर्ह्येतन्मन्त्रजपोपि न स्यादत आहुः अयं त्विति, अनेन मन्त्रेण पूजा तु प्रत्यगाशीर्मन्त्रत्वान् न भवतीत्युक्तमेव, क्रियोक्तेति व्रताङ्गभूतं पूजालक्षणं कर्मोक्तमित्यर्थः, ॥ ४३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गन्धैरित्यत्रो च्चावचैश्चोपहारैरित्यस्य विवृतावुच्चावचानि सर्वाण्येवानेकरूपाण्युप-हारा नैवेद्यद्रव्याणीति, अत एव हेमन्तर्तौ अनेकनैवेद्यद्रव्याणि भगवते समर्प्यन्ते अस्मत्सम्प्रदाये भगवानेव वा गुणातीत इति पक्षे कात्यायन्या भगवद्रूपत्वात् ॥ ३ ॥ कात्यायनीत्यत्र मन्त्रोपासनया साक्षात्कृतेति 'पतिं मे कुरु ते नम' इति युष्मच्छब्दप्रयोगाद्देवतासाक्षात्कारो ज्ञायते, भगिनी भवसि ज्येष्ठेति यशोदायामुत्पन्नत्वादाभिमानिकसम्बन्धेन भगवतो भगिनी भवसीत्यर्थः 'अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजे'तिवाक्यात्, ज्येष्ठेति गुणैः कृत्वा ज्येष्ठा सर्वतो महती भवसीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सुराभिभिरिति। यथापेक्षितं सर्वत्रान्वयः। गन्धैश्चन्दनादिभिः। बलिभिरिति। यान् अग्रे निधाय प्रणामः क्रियते तैर्नारिकेरादिभिर्द्रव्यैरित्यर्थः। उच्चावचैरुत्तममध्यमैरन्यैश्च यथासम्भवप्राप्तैर्वस्त्राभरणादिभिः। उपहारैर्नैवेद्यैः। स्पष्टमन्यत् ॥ ३ ॥ पूजामन्त्रमाह—कात्यायनीति। हे कात्यायनि। नन्दगोपसुतं मे मम पतिं कुरु, ते तुभ्यं नमः। इति एवं प्रार्थनापूर्वकनमस्कारात्मकं मन्त्रं जपन्त्यस्ताः कुमारिकाः पूजां चक्रुरिति सार्धान्वयः प्रत्येकं मन्त्रपठनात् 'नम' इत्येकवचनम्। ननु 'दुर्लभोऽयं मनोरथः कथं मया सम्पादनीय' इत्याशङ्क्य तत्र सामर्थ्यं सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति-अधीश्वरीति। तत्रापि हेतुं सूचयन्त्य आहुः-महामाये इति। भगवतोऽचिन्त्यकार्यसम्पादनशक्तिरूपे! "एवमपि भगवदाज्ञया सर्वसम्पादनसमर्थापि तस्यैव युष्मत्पतित्वसम्पादने कथं समर्था? तदधीनत्वात्" इत्याशङ्क्याहुः-महायोगिनीति। महायोगो भक्तियोगः स विद्यतेऽस्या इति तत्सम्बोधनम्। तद्भक्तत्वात्त्वत्प्रसादे सोऽपि प्रसन्न एव सन् मनोरथं पूरयेदित्याशयः। "महामाये" इत्यत्र 'महाभागे' इति पाठेऽपि 'भगवत्प्रसादात्मकं महद्भाग्यं तवास्तीति, अस्मन्मनोरथसम्पादने समर्थाऽसि' इति सूचितम्। तत्रापि हेतुर्भक्तिरेवेति 'महायोगिनि' इत्यनेनोक्तं ज्ञेयम्। 'क्रीडारहस्यं च तव विदितमेव' इति सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति—हे देवीति। 'तत्र प्रत्युपकारे चास्माकं सामर्थ्यं नास्त्येव' इति सूचनाय अन्ते नमस्कार प्रयोगः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कात्यायनीति सार्धम् ॥ हे कात्यायनि महामाये महायोगिनि अधीश्वरि देवि ! नन्दगोपसुतं मे मम पतिं कुरु ते तुभ्यं नमः । मे इति प्रत्येकं पाठाभिप्रायेणैकत्वम् । एभिर्विशेषणैस्त्वं कृष्णेन सह गान्धर्वं विवाहं कारय । पित्रादयो यथा न जानीयुस्तथा नित्यमङ्गसङ्गं च सम्पादयेति बोध्यते । इति एवं प्रार्थनापूर्वकनमस्कारात्मकं मन्त्रं जपन्त्यस्ताः कुमारिकाः पूजां चक्रुः ॥ ४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कात्यायनीत्यादिसंबुद्धिभिः स्वमनोरथः प्रार्थयते ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तास्तां यैरपूजयंस्तानाह ॥ गन्धैरिति ॥ सुरभिभिः गन्धैर्घृष्टचन्दनैः, माल्यैः पुष्पमालाभिः, धूपदीपकैर्धूपदीपैश्च, बलिभिः पूजासाधनैः, उच्चावचैर्नानाविधैः, उपहारैर्नैवेद्यैः, प्रवालाः पल्लवाश्च फलानि च तण्डुलाश्च तैः च ॥ ३ ॥ कात्यायनीति ॥ हे कात्यायनि, । हे महामाये हे आश्चर्यशक्त्यधिष्ठात्रि हे महायोगिनि स्वाराधनात्मकमहायोगनिर्वाहिके, हे अधीश्वरि स्वाराधकसमीहितफलदानसमर्थे, हे देवि, नन्दगोपसुतं, मे मम पतिं कुरु ते तुभ्यं नमः । मे इति प्रत्येकाभिप्रायमेकवचनम् । इत्येवंभूतं मन्त्रं जपन्त्यः सत्यः; ताः कुमरिकाः, पूजामर्चनं कात्यायन्या इति शेषः । चक्रुः ॥ ४ ॥

कृष्णप्रिया

सुन्दर गन्ध वाले चन्दन आदि द्रव्यों से सुवासित मालाओं से विविध प्रकार के बलि नैवेद्यों से, धूप और दीपावलियों से' नाना प्रकार के भोजन के पदार्थों से नव पल्लवों से, फलों से और चावलों से नव प्रकारकी सामग्रियों से श्री कात्यायनीजी का अर्चन किया ॥ ३ ॥ हे कात्यायनि ! हे वडभागिनि ! हे अधीश्वरि ! हे देवि ! आप कृपया नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिए । हे भगवति ! आपके श्रीचरणों में हमारा प्रणाम है इस मंत्र का जप करती हुई वे सब कुमारिकायें कात्यायनी देवीका अर्चन करने लगी ॥ ४ ॥

[1]एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः । भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ॥ ५ ॥
उषस्युथाय[2] गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः । कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्[3] ॥ ६ ॥
[4]नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् । वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा ॥ ७ ॥
भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः । वयस्यैरागतस्तत्र[5] [6]व्रतस्तद्व्रतसिद्धये ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः-एवं-मासम्-व्रतम्-चेरुः,-"तेन"कुमार्य्यः-कृष्णचेतसः-"जाताः", "पुनः" भद्रकाली१-समानर्चुः-"यत्" नन्दसुतः-पतिः भूयात् ॥ ५ ॥ उषसि-उत्थाय-स्वैः गोत्रैः-"उत्थाय",अन्योन्य-आवद्ध-बाहवः-अन्वहम्-कालिन्द्याम्-स्नातुम्-यान्त्यः-उच्चैः-कृष्णम्-जगुः ॥ ६ ॥ कदाचित्-नद्याम्-आगत्य-पूर्ववत्-तीरे-वासांसि-निक्षिप्य-कृष्णम् गायन्त्यः-मुदा-सलिले-विजह्रुः ॥ ७ ॥ योगेश्वरेश्वरः | भगवान्-कृष्णः-तद्-अभिप्रेत्य-वयस्यैः-आवृतः-तत् कर्मसिद्धयेः-तत्र-गतः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कृष्णचेतस्त्वमेवाह । भूयान्नंदसुतः पतिरित्यानर्चुरिति ॥ ५ ॥ व्रतस्य पूर्वांगमाह । उषसीति । गोत्रैर्नामभिः । अन्योन्याबद्धबाहवः परस्परं गृहीतपाणयः ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ योगेश्वराणामीश्वर इति प्रत्येकं तादृङ्मनोरथपूरणसामर्थ्यं दर्शयति । तासां कर्मणः सिद्धये फलदानायेति ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

उषसि घटिकाचतुष्कावशिष्टरात्रौ । क्वचित्तु 'उषः कालोऽष्टपञ्चाशत्' इत्युक्तम् । तदत्र 'उदितेऽरुणे' इति पूर्वोक्तिविरोधादुपेक्ष्यम् । 'गोत्रं कुलाख्ययोः' इति मेदिनी । गोत्रैर्नामभिर्धन्ये कुत्रासि किमिति विलंबस इत्येवमाहूता इत्यर्थः ॥ ६ ॥ पूर्ववत् नित्यवत् । वासांसि निक्षिप्य संस्थाप्येति सार्द्धेनान्वयः । कदाचिदिति व्रतपूर्णदिने पूर्णिमायामेव 'एवं मासव्रतं चेरुः' इत्युक्तत्वात्

---

१. अयं श्लोक उपसीति श्लोकानन्तरं वर्तते । २. उषस्युत्थाय ता गोत्रैः-वीर,; उपस्यभ्येत्य ताः स्वैर- विज. । ३. मुदिताः-वीर. ।
४. नदीं-विज. । ५. वृतस्तत्र श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । ६. गतस्तत्कर्म-श्रीधर. वंशी. वीर विज. ।

अत एवोत्सवार्थं कुमारीभिस्ताभिः समानवासनत्वेन प्रणयास्पदीभूता वृषभानुनंदिन्याद्या अपि निमंत्र्यानीताः, पूजासमाप्त्यनंतरं कृष्णं मुदा गायंत्यस्तद्गानानंदेन हेमंतजलेपि शीताद्यस्फूर्त्तेः ॥ ७ ॥ तत् 'भूयान्नंदसुतः पतिः' इत्येवंरूपं मतम्। अभिप्रेत्य ज्ञात्वा। तत्र कालिंदीतटे ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मासेति। स्वल्पेनैव कालेन तासां तादृश्यपि सिद्धिरिति भावः। कृष्णे चेतो यासामिति तस्याः समर्चनमपि कृष्णार्चनमेवेत्यभिप्रेतम् अत एवाग्रे च वरदानाय श्रीकृष्णस्यैवागमनं वक्ष्यति भूयादिति पूजादौ सङ्कल्पः ॥ ५ ॥ प्रेम्णा विस्मृतमपि पुनस्तासामनुरागपरिपाटीमयं व्रतपूर्वाङ्गं स्मरन्नाह–उषसीति। उषस्युत्थायेति तासानुत्कण्ठा गोत्रैर्नामभिः स्वैरिति परस्परकार्य्यसाधकत्वं हेतौ तृतीया मिथस्तत्तन्नामभिराहूता इत्यर्थः। स्वैर्वर्गैः सहेति वा अन्योन्या इति श्रीकृष्णरागमयैकमत्येन मिथः स्नेहविशेषः कृष्णमिति चेतोवद्वचनस्यापि तदेकनिष्ठता तत्राप्युच्चैरिति तदावेशः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहमिति दूरगमनं नित्यमेकरसत्वं च दर्शितम् एवमनुरागवैशिष्ट्यमेव सर्वथापि वर्णितमिति ॥ ६ ॥ कदाचित् तन्मासान्ते पौर्णमास्यां पूर्ववदिति सदैव नग्नतया स्नानमित्यादिकं बोध्यते तच्च बाल्यभावादेव मुदा विहारे हेतुः कृष्णं गायन्त्य इति तद्गानानन्देन हेमन्तजलेऽपि शीताद्यस्फूर्त्तेः। यद्वा, मुदेति व्रतस्य तद्दिने पूर्णत्वात् अत एव कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः इति देहाननुसन्धानेन च कृष्णचेतस्त्वमेव विशेषितम् एवं मानसवाचिककायिकैकतानत्वं दर्शितम् ॥ ७ ॥ योगेश्वराणां लब्धसार्वज्ञ्यादिसिद्धीनामाराध्यः अतएव भगवान् नित्यस्वाभाविकसार्वज्ञ्यादिशक्तियुक्तोपि तत्तस्य व्रतस्यात्मैकार्थत्वम् अभिप्रेत्य निजगानादिरीतिविशेषेणानुमीयैवेति तस्य तादृशतत्प्रेममयलीलामाधुर्यविशेषो दर्शितः तथापि देवतान्तरोपासकेभ्योपि स्वयं फलदाने युगपदखिलवस्त्रहरणे च शक्तिर्दर्शिता तत्र हेतुः कृष्णः तादृशत्वेनैव प्रसिद्ध इत्यर्थः। बालैरिति वक्ष्यमाणात् वयस्यैरिति बालकैरेव सखिभिरिति ज्ञेयं तैर्वृतः सन्नागत इति तेच परमान्तरङ्गा दामसुदामवसुदामकिङ्किणयो ज्ञेयाः यथोक्तं गौतमीतन्त्रे—

> "दामसुदामवसुदामङ्किकणीर्गन्धपुष्पकैः। अन्तःकरणरूपास्ते कृष्णस्य परिकीर्तिताः ॥
>
> आत्माभेदेन ते पूज्या यथा कृष्णस्तथैव ते"। इति

अन्तः करणरूपा इति क्रमेण बुद्ध्यहङ्कारचित्तमनोरूपा इत्यर्थः। तैर्वृत इति हासादिविलासार्थं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

स्वल्पेनैव कालेन तासां तत्फलं सुसिद्धमित्यभिप्रायेणाह—एवमिति। मासमेकं मार्गशीर्षं व्याप्या (गी. १०।३५) 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' इति भगवद्विभूतित्वेन व्रते कालस्य साद्गुण्यं दर्शितम्, भद्रकालि– मंगलचण्डी-अप्रसिद्धां कात्यायनीमेव श्लेषेण भद्रमुत्तमं कं सुखं तस्यालिः पङ्क्तिर्यस्याः सकाशादित्यर्च्यदेवतासाद्गुण्यं दर्शितम्। सम्यक् नित्यं नियमरक्षापूर्वकं यथविधि आनर्चुः, कृष्णे साक्षात् सर्वेश्वरे चेतो यासामिति, तस्याः समर्च्चनेऽपि कृष्णार्च्चनमेवाभिप्रेतम्। तएवाग्रे वरदानाय श्रीकृष्णस्यैवागमनं वक्ष्यति। यद्वा, कृष्णचेतस्त्वेन परमशुद्धयवत्या, किंवा, स्वत एव कृष्णचेतसस्ताः विशेषतश्च 'भूयान्नन्दसुतः पतिः इति 'भद्रकालीं समानर्च्चुः' इत्येवं व्रतस्य परमसाद्गुण्योक्त्या अचिरात् सम्यक् फलसिद्धिरभिप्रेता। यद्वा, नन्वीदृशे परमदुर्लभेऽर्थे अतिलालसा सुबुद्धीनामयुक्ता ? तत्राह कृष्णे सर्व्वचित्ताकर्षके चेतो बुद्धिर्यासामिति चेतसस्तद्गतत्वेन विचारानुदयादिति भावः। एषा प्रेमात्युक्तिस्तत्तद्वाच्येन व्रतसन्निष्ठताबोधनार्थम् ॥ ५ ॥ न केवलं कृष्णचेतस एव, किन्तु तत्संकीर्त्तनपरा अपीति अर्च्चनपरमसाद्गुण्यमेवाह। यद्वा, तदर्च्चनस्य समग्रप्रकारे विज्ञाते अन्यैरपि कैश्चिज्जनैस्तद्व्रतं क्रियेतेति निजकृपया श्रीपरीक्षिदभिप्रायं चालक्ष्य तद्व्रतस्य मुख्यांगमाह—उषसीति। प्रत्युष एवोत्थायेति दूरे श्रीयमुनायां सूर्य्योदयात् प्रागेव स्नानार्थं स्वैर्गोत्रैरन्योन्यं तत्तन्नामभिराहुयेत्यर्थः। अन्योन्यम् आसम्यक् बद्धा दृढं गृहीता बाहवो याभिस्ताः, रात्रिशेषेन्धकारे पथि स्खलनभयात्, कृष्णसंकीर्त्तनप्रेममोहनिपातशंकया वा, अन्योन्यस्नेहविशेषाद्वा। एवमन्योन्यस्नेहेन व्रतसम्यक्त्वमेव दर्शितम्, उच्चैरिति सर्वासामेकत्र सम्मेलनार्थं गानावेशविशेषेण वा, नित्यं कालिन्द्यां स्नातुमिति पुनरनुवादः, तत्स्नानस्य तत्र प्राशस्त्यबोधनार्थम् ॥ ६ ॥ नद्यां कालिन्द्यामेवेति नदीशब्देन प्रवाहोऽभिप्रेतः। कदाचित् मार्गान्ते द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा; पूर्ववदित्यनेन सदैव नग्नतया स्नानादिकं बोध्यते। मुदा विजह्रुः। तत्र हेतुः—कृष्णं परमानन्दघनमूर्त्तिं परमचित्ताकर्षकं वा गायन्त्य इति तद्गानेन हेमन्तमध्ये सुशीतलोदके श्रीकालिन्दीप्रवाहेऽपि शीतादिबाधाभावात्; यद्वा, मुदेति समग्रमासं निर्विघ्नतया व्रताचरणात्, अतएव कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः ॥ ७ ॥ तत्पतित्वेनात्मप्राप्तये तासां कात्यायन्यर्च्चनव्रतमभिप्रेत्येति परमविदग्धावर्गपूज्यपादानां तासां भावस्य साक्षादनभिव्यक्तेः, कथञ्चित् कार्य्यद्वारानुमानेन ज्ञात्वेत्यर्थः। तथापि दुर्ज्ञेयस्य विज्ञाने तत्रैव हेतुः- भगवान् सर्व्वज्ञः सर्वैश्वर्य्ययुक्तो वेति, तत्रैवागतः, यतः कृष्णः रसिकशिरोमणिजंगच्चित्ताकर्षकलील इति। वयस्यैर्वृत इति तासां बह्वीनां बहुलवस्त्रजातस्य सद्यः शीघ्रं युगपद्धरणार्थं येषां तासु मध्ये भगिन्यादयः स्युस्तद्व्यतिरिक्तैरिति ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं मासं व्रतं कृष्णचित्ताः कुमार्यश्चेरुः चक्रुः मासमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया कृष्णचेतस्त्वमेवाह भूयान्नन्दसुतः पतिरित्यानर्चुरिति ॥ ५ ॥ इत्थं मासं व्रतं चरित्वाऽथ कदाचिदुषसि नामभिर्गोत्रैश्च प्रबोध्य परस्परं गृहीताः पाणयो याभिस्ताः कालिन्द्यां स्नातुमुद्यताः ॥ ६ ॥ आगत्य पूर्ववन्नद्यास्तीरे वस्त्राणि निक्षिप्य कृष्णमेव गायन्त्यः सलिले मुदा विजह्रुः ॥ ७ ॥ तदा सर्वज्ञो भगवांस्तत्कर्म तासां विहरणं च ज्ञात्वा तासां कर्मणो व्रतस्य सिद्धये तत्कर्म सफलीकर्तुं वयस्यैः सह तत्र आगतस्तत्र ॥ ८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

उषसि ब्राह्मे मुहूर्ते नन्दस्नुषा भूयाः स्म इत्येवं सङ्कल्प्य नदीमागत्य नदीं प्राप्य भूयान्नन्दसुतः पतिरिति पाठः ॥ ५-७ ॥ योगेश्वरेश्वर इत्यनेन दूरश्रवणदर्शनादिशक्तिः सूच्यते तासां कर्मसिद्धये सङ्कल्पव्रतसिद्धयर्थम् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भः

स्वैर्गोत्रैः वर्गैः सह ॥ ६—१७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

व्रतक्रियायामानुपूर्व्येणाह—उषसीत्यादि । स्वैर्गोत्रैः सह यान्त्यः स्वकीयैर्गोत्रैः स्वगोत्रोद्भवैः कनीयोभिर्बालकैः सह, लोकेऽधुनापि तथा दर्शनात् । अतस्तेषां साक्षाद्देशाचारतो विवसनीभूय जलमवगाहमानानां ह्री ह्रासः । उच्चैरिति बालिकालेनास्मार्कं गुरुजनसङ्कोचो नास्तीति । स्फुटमेव कृष्णं गायन्त्यः । अन्वहं प्रतिदिवसम् ॥ ६-७ ॥ सिद्धानां तासां व्रताद्यपेक्षाभावादविलम्बेनैव मनोरथ-सिद्धिरासीत्, व्रतं तूपलक्षणमिति दर्शयति—भगवानित्यादि । योगेश्वरेश्वरत्वेन भगवत्त्वेन च हेतुना कथितेनापि तत्ताद्व्रतमभिप्रेत्य तत्कर्मसिद्धयेवृत आसीदितिशेषः । वयस्यैर्गोपबालकैः' असम्यक् अवगतः एकोऽपि वयस्यः सङ्गे नानीत इत्यर्थः । समानलक्षणदीर्घः । तथा सति अनौचित्यापत्तेः । अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् । अथवा, वयस्यैर्वयसि भवैश्चापल्यकौतुकचिकीर्षादिभीरागतो हेतो रागादित्यर्थः ॥ तत्कर्मसिद्धयेवृतः । भगवानपि योगेश्वरेश्वरोऽपीति शेषः ॥ ८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

व्रतप्रकारमाह—उषस्युत्थायेत्यादि । स्वैर्गोत्रैः सह यान्त्यः स्वस्वगोत्रोद्भवैः कनीयाभिर्भ्रातृभिः स्तोकवयोभिः लोकेऽप्यधुना तथा तथा दर्शनात्, यतस्तेषां देशाचारतो विवसना भूत्वा जलावगाहने ह्री-ह्रासः । उच्चैरिति सङ्कोचाभावात् कृष्णं जगुः ॥ ६-७ ॥ भगवानित्यादि । तद्व्रत भगवान् श्रीकृष्णो योगेश्वराणामपि ईश्वरः, तस्य विशेषणद्वयस्य तात्पर्यं वयस्यैरागत्यापि तत्र तस्मिन् देशे वृतः संवृतो बभूवेत्यर्थः । कथम् ? तत्कर्मसिद्धये । यद्वा, वयस्यैर्वयसि भवैः कैशोरचेष्टितैर्विशिष्टः 'विशेषणे तृतीया', तत्कर्मसिद्धये वृतः । यद्वा, वयस्यैः कैशोरचापलैर्वृतः, यद्वा, तत्र वयसि कौमारे अर्थात् तासां यत्तत्कर्म तत्सिद्धये । अस्यापत्यम् इः कामः 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' आ एः एरिति पञ्चम्येकवचनम्- आपाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः' इतिवत् । आकामात् कामं त्यक्त्वा तत्कर्म-सिद्धये वृत इत्यर्थः । कुमारीणां कामाभावात् प्रेमैव, तेन तत्कर्मसिद्धये वृतः । अथवा वयस्यैः सहचरैः सह आ सम्यक् अवृत एकोऽपि वयस्यः सङ्गे नानीत इत्यर्थः । अकारः केवलो नञर्थोऽपि वर्त्तते । 'अभावे ह्य नो ना' इति । अथवा वयसि भवैर्लीलावैचित्र्यविशिष्टः रागतोऽनुरागतो हेतोस्तत्र वृतः । वयस्यैः सहागमने रसाभासो भवति, (ध्वन्यालोके तृतीये) "अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्" इति ॥ ८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नन्दसुतः पतिर्भूयादिति सङ्कल्पेति शेषः ॥ ५ ॥ आप्लुत्याम्भसीत्युक्तं तत्पूर्वक्रममनुस्मृत्याह—उषसीति । स्वैः स्वैर्गोत्रैर्नामभिरपि धन्ये कुत्रासि किमिति विलम्बसे इत्येवमाहूता इत्यर्थः । कदाचिदिति व्रतपूर्णदिने पौर्णमास्यामेव एवं मासं व्रतं चेरुरित्यनन्तरोक्तत्वात् अत एवोत्सवार्थं कुमारीभिस्ताभिः समानवासनत्वेन प्रणयास्पदीभूताः वृषभानुनन्दिन्या अपि निमन्त्र्य नीताः पूजासमाप्त्यनन्तरं ताभिः सहैवावभृतस्नानदेशोयं जलविहारो ज्ञेयः ॥ ६-७ ॥ योगेश्वराणामपीश्वर इत्यनेन सार्वज्ञं तासां प्रत्येकं तादृङ्मनोरथपूर्णसामर्थ्यं ताभिः स्वेक्षणपथे एव स्थापितानामखिलानामपि वस्त्राणां चौर्य्यसामर्थ्यं प्राणत्यागादपि तादृशलज्जात्यागमधिकं निश्चिन्वतीनां तासां कुलकुमारीणां जलादुत्थापनस्वप्रणमनादिसामर्थ्यं दृष्टसर्वाङ्गीनां रहः प्राप्तानां स्ववयस्यानामपि तासां तादात्विकसम्भोगाभावसामर्थ्यं च द्योतितं वयस्यैर्वृतं इति बालैरिति वक्ष्यमाणत्वात् द्वित्रीवर्षीयाः स्त्रीपुंसभेदविवेकशून्या दिग्वाससः पृथुकाः एव सखित्वेनाभिमताः गोचारणादावपि कृष्णसङ्गमन्यजन्तो ज्ञेयाः यदुक्तं क्रमदीपिकायां—

"जङ्घान्तपीवरकटीरतटीनिबद्धव्यालोलकिङ्किणिघटाघटितैरटद्भिः ।
मुग्धैस्तरक्षुनखकल्पितकण्ठभूषैरव्यक्तमञ्जुवचनैःपृथुकैःपरीतम्" ॥ इति

वैष्णवतोषिण्यां तु दामसुदामवसुदामकिङ्किण्यः कृष्णान्तःकरणरूपास्ते गोतमीयतन्त्रदृष्टा इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उषसि प्रातः काले गोत्रैर्नामभिरन्योन्यतः उच्चारितैरुत्थाय अन्योन्यं परस्परमाबद्धा बाहवः पाणयो याभिस्ताः ॥ ५-६ ॥ कर्मसिद्धये तद्व्रतफलदानाय ॥ ७ ॥ नीपं कदम्बविशेषं बालैः सह सत्वरमारुह्य परिहासं परिहासवाक्यमाह ॥ ८-९ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

एवमिति नन्दसुतः पतिर्भूयादिति सङ्कल्प्य ॥ ५ ॥ आप्लुत्याम्भसीत्युक्तं तत्पूर्वक्रममनुस्मृत्याह–उषसीति । स्वैर्गोत्रैर्नामभिराहूय हे धन्य ! किं विलम्बसे त्वरयागच्छेत्येवमादिविधमाकार्य अन्योन्यम् आबद्धाः स्कन्धेष्वर्पिता बाहवो याभिस्ताः कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यस्त्रपां विहायोच्चैः कृष्णं जगुः ॥ ६ ॥ कदाचिदिति । एवं मासव्रतं चेरुरित्युक्तेः पूर्णिमायामित्यर्थः । तदानीं निमन्त्र्यानीताभिः स्वतुल्यवासनाभिः श्रीमत्यादिभि सह दुर्गार्चापूर्त्यनन्तरमवभृथस्नानदेश्ययें जलविहारो बोध्यः ॥ ७ ॥ भगवानैश्वर्यादिभिर्वैराग्यान्तैः षड्भिः समग्रैर्भगैर्विशिष्टः, नित्ययोगे मतुप्, तत् स्वफलकं तासां व्रताचरणमभिप्रेत्य विज्ञाय वयस्यैस्त्रिचतुरवर्षीयैः स्त्रीपुंसभेदधीशून्यैः दिग्वसनैरिति बोध्यं बालैरित्यग्रिमात्—

जङ्घान्तपीवरकटीरतटीनिबद्धव्यालोलकिङ्किणिघटाघटितैरटद्भिः । मुग्धैस्तरक्षुणखकल्पितकण्ठभूषैरव्यक्तमञ्जुवचनैः पृथुकैः परीतम् ॥

इति क्रमदीपिकोक्तेः अन्यथा रसाभावात् तैरावृतस्तत्रागतः तस्य कर्मणः सिद्धिः फलं तस्यैतत् प्रदातुमित्यर्थः । भगवत्त्वादेव योगेश्वराणामपीश्वरः तासां सर्वासां हृद्वृत्तिज्ञाने वाञ्छितपूर्त्यै दृष्टिपथस्थापितानां वाससां हरणे कुलवतीनां त्रपापनयने जलनिर्गमनप्रणामादिविधाने दृष्टसर्वावयवानां रहः प्राप्तानां स्ववश्यानां तदानीन्तनालिङ्गनविहाने च समर्थ इत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कुमारीका इत्येवंरूपं मन्त्रं जपन्त्य उषसि प्रातः स्वैरं यथेच्छं । स्वादीरेरिणोरिति वृद्धिः । अन्योन्यमाबद्धा बाहवो यासां ता गतमन्योन्येत्यभ्येत्य कालिन्दीं तास्ता इव पूजाश्चक्रुः तासां ता एवोपमानरूपा इत्यन्वयः । तच्छब्दस्य यद्विभक्तिकवचनान्तं यत्पदं तदन्तं तल्लिङ्गविभक्तिकस्यैवार्थकता प्राक् प्रथमस्कन्धगततद्वै धनुस्त इषव इति श्लोकतात्पर्योदाहृतिपूर्वकमुपपादिताऽनुसन्धेया अन्यथा तच्छब्द एक एवालमतिरिच्यत एक इति स्यात् । यदा कदचिद्वृषस्यन्त्यैति कृष्ण इति स्वयमन्ता गता इति वा ॥ ५ ॥ कालिन्द्यामन्वहं स्नातुं यान्त्य उच्चैः कृष्णं जगुः । अनेन निर्लज्जता द्योत्यते । उच्चैर्गुणयुतमिति वा । एवं मासव्रतं कृष्णचेतसः कुमार्यश्चक्रुः ॥ ३ ॥ नन्दसुतः पतिर्भूयादिति भद्रकालीं सामानर्चुः । भूयान्नन्दस्नुषा इतीति क्वचित्कः पाठः । तत्र नन्दस्नुषा नन्दनभार्या भूयाद् भूयस्मेत्यर्थः । पुरुषवचनव्यत्यासो बहिः स्नुषा इत्यन्तस्त्वेकाऽहमेव स्नुषा स्यामितीत्येकवचनबहुवचनोपपत्तिश्च ज्ञेया । कदाचिन्मासमध्य एव वासांसि तीरे निक्षिप्य कृष्णं मुदा गायन्त्यः सलिले विजह्रुः । पूर्ववदिति निक्षिप्येत्यत्र गायन्त्य इत्यनेन विजह्रुरित्यनेनाप्यन्वेति ॥ ७ ॥ भगवान्कृष्णस्तत्स्वपतित्वमुद्दिश्य व्रताचरणादिकमभिप्रेत्य ज्ञात्वा । को वाऽवादीत्तादृग्वेदं प्रतीयत आह । योगेश्वरेश्वर इति । योगेश्वरा ब्रह्माद्यास्तेषामीश्वरोऽतीतानागतवेदितृत्वात्स्वयमेवावेत्यायात आयताक्षीः प्रतीति भावः । वयस्यैर्वृतस्तत्रागतः । प्रयोजनमिदमित्याह ॥ तत्कर्मसिद्धय इति । तासां यत्कर्मोपास्त्यादिस्तस्य सिद्धिः साफल्यं तस्यै । अनेन न तत्सङ्गेन कृष्णस्योत्कृष्टता किन्तु तासामेवाभीष्टावाप्तिरिति ध्वन्यते । यदर्थं ताभिर्वृतस्तत्कर्मसिद्धय इति वा वयस्यैः सहेति वा ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवमप्रत्यक्षप्रकारेण मासपर्यन्तं व्रतं कुमार्यश्चक्रुः, अनेन कालोऽप्युक्त उपसंहृतश्च, एवं षडङ्गसहिता व्रतरूपा क्रिया निरूपिता, एतस्य व्रतस्य फलं जातमित्याह कृष्णचेतस इति, कृष्ण एव चेतो यासां तादृश्यो जाताः, तदा नान्या प्रार्थिता, अतोऽग्रे भगवन्तमेव प्रार्थयिष्यन्ति चित्तदोषस्य गतत्वात्, आरब्धस्यावान्तरफले जातेपि परमफलं न जातमिति पुनर्मासान्तरेपि व्रतं कृतवत्य इत्याह भद्रकालामिति, कात्यायन्यामेवावस्थाविशेषो देवताविशेषो वा वर्तते यतो भगवत्सम्बन्धलक्षणो भद्रः कालो भवत्यस्तामेव भद्रकालीरूपां समानर्चुस्तत्रान्यो मन्त्रः पश्चात् दृष्टो भूयान् नन्दसुत पतिरति, नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भूयात् निमित्तं काल इति कालाभिमानिनी पूज्यते कादाचित्कत्वाद्, अतः कदाचित् सम्बन्धो न सर्वदा जातः, नन्दस्य पुत्रः कृपालुरिति मुख्यावितिप्रार्थना, भगवन्तमेव प्रार्थयन्ति, अत्र प्रत्येकं प्रार्थनाभावात् समुदायेनापि रमणं अतोऽग्रेपि वक्ष्यत "एकैकशः प्रतीच्छन्तु सहैवो"तेति, फलवाचकत्वात् पूजयामाशेषत्वादस्याङ्गत्वाभावाय स्वरूपेणैव कीर्तनं कृतं, इतिशब्दप्रयोगे गौणता स्यात् प्रार्थनया भगवान् स्वतो वृत इत्यन्तःकरणधर्मत्वाद् भगवान् पतिर्जातः, परमन्तरेव "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इतिवाक्यात् तदान्तःस्थितभगवद्गुणा निःशङ्का जाताः ॥ ५ ॥ ततः प्रकटतया पूजां परित्यज्य भगवद्गानं कुर्वन्त्यः कालिन्द्यां कामनास्नानार्थं गता इत्याहोषस्युत्थायेति, अधुना निःशङ्कतयारुणोदयात् पूर्वमेवोत्थाय स्वैर्गोत्रैः कृत्वा कृष्णमुच्चैर्जगुः अत्र गोत्रशब्देन नामाप्युच्यते, ततः स्वस्वनामग्रहणेन बोधनं प्रथमतः प्रबुद्धा अन्यास्तद्गोत्रैः प्रबोधयन्तीति व्यावहारिकोर्थः, ते हि सर्वे गोत्रप्रवर्तका ऋषयो यज्ञे प्रवृत्ता अत

आर्षज्ञानेन स्वगोत्रैः कृत्वा निर्भयाः सत्यः कृष्णं सदानन्दं स्वतः पुरुषार्थरूपं जगुः, मध्ये भगवन्तं परिकल्प्यान्योन्यावद्धबाहवो भवन् यथा रासे, अतः प्रकटमेव तासां तथात्वं जातमतो जलक्रीडार्थं गोपिकाभिः परिवेष्टितं कृष्णं गायन्त्य एव कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यो जाताः, गानं मुख्यं स्नानगमने गौणे, अन्वहमेवं, अनेन हेमन्तनियमो गतः· अन्यान्यपि व्रतानि निवृत्तानि, सर्वमेव यत्रे प्रतिष्ठितं, कलिं द्यतीति कालिन्दस्तस्य पर्वतस्य कन्याकापि तद्विधा, अनेन दोषत्रयं परिहृतं भविष्यतीत्युक्तं, अन्योन्यं कलहो भगवता सह कलहः कलिकालदोषश्च, एतदर्थमेव कालिन्द्यां स्नानं पुनः शुद्धभावाय, उषः सर्वकार्येषु प्रशस्तमिति भगवत्क्रीडार्थं "पुष्पः प्रशंसते गर्ग" इतिवाक्याद् गमनं अन्वहमिति नात्र कालोपरिच्छिन्नः, अतो व्यक्ततया भगवत्स्थितिर्गानमन्योन्यस्पर्धाभावोसङ्गाभावो दोषाभावश्च सर्वदैव जातो न कदाचिदपि कोप्यंशो निवृत्तः ॥ ६ ॥ एवं जाते स्वयमपि भगवान् प्रकटो जात इति वक्तुमुपाख्यानमारभते नद्यामिति, कदाचिदिति यदा पुनर्भद्रः कालः, कालिन्द्याः प्रयोजनं वृत्तमिति नदी निरूपिता, पूर्ववदेव गानं कृत्वा तेन गानेन मत्तविस्मृतात्मानः स्वपरिहितानि वासांसि तीरे निक्षिप्य भगवता सह जलक्रीडार्थमेव प्रविष्टा मुदा सलिले विजह्रुः, स्नाने मौनवस्त्रपरित्यागौ दोषद्वयं क्रीडा च नियमस्थानां देहविस्मरणं च मुदेत्यनेन सूचितम् ॥ ७ ॥ एवं चत्वारो दोषा जाताः कर्मपार्थे भक्तौ तु गुणा अतस्तद्दोषपरिहारार्थं कर्मण्यपगते भगवान् स्वयमागत इत्याह भगवांस्तदभिप्रेत्येति तासामपराधं ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं समागतः, किञ्च कृष्णः स्त्रीणां हितकारी, आनन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति, परं सदानन्द इति दोषो निवर्तनीयः, अन्तःस्थितदोषनिवृत्तौ सामर्थ्यमाह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वरा हि योगबलेनान्तः प्रविश्य तत्र तत्र स्थितं दोषं दूरीकुर्वन्ति तस्याप्ययमीश्वर इति नास्य प्रवेशोपेक्ष्यते, एते हि बालकाः पूतनायां प्रविष्टाः पुनः स्वस्मिन्नागता एतासामाधिदैविकरूपाः, अत एव पुरुषरूपा एव, अनधिकाराः पुनः स्वच्छन्दभोगयोग्या न भविष्यन्तीति दृष्टिद्वारा तेषामपि प्रवेशनं, तद्भोगार्थं च तैरपि वृतः प्रार्थितः, तत्रैव स्थाने तानितरैः वृतो 'भूयान् नन्दसुत' इति, एतदपि सर्वमभिप्रेत्य वयस्यैः सहागतस्तत्रैव वृतश्च, अतस्तस्य व्रतस्य सिद्धिः फलं तदर्थम् ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

भूयान्नन्दसुत इत्यत्र, फलवाचकत्वादित्यारभ्य कृतमित्यन्तम् । अत्रायं भावः । पूर्वं माससमाप्यव्रतोपसंहारस्य कृत्वात्पुनः पूजापूज्यनामभेदभिन्नमन्त्रकालभेदानां कथनाद्धृतव्रता इति प्रभुवाक्याच्चेदं व्रतान्तरमिति गम्यते । अपि च भगवत्पतित्वमात्रार्थत्वाद् व्रतस्य कृष्णचेतस्त्वेन चान्तस्तन्निश्चयेन भगवदेकसाध्यत्वज्ञानाच्च तदर्थं तत्करणासंभवः । किन्त्वतः परं बहिरपि तथात्वमेवापेक्षितम् । तत्र च तादृक्कालस्यैव निमित्तत्वमिति तदभिमानिदेवता चेयमेवेति तथात्वेनैतस्या एवात्र पूजोच्यते । अत एव भगवतैव तस्याश्चतुर्दशनामस्विदं नामोक्तम् मन्त्रेपि बहिः प्रकटतया पतित्वभवनमेव प्रार्थ्यम्' अन्यथान्तस्तन्निश्चयसत्त्वे तत्प्रार्थनानुपपन्ना स्यात् । अत एव न पूजाङ्गत्वमस्य, भिन्नविषयकत्वात् । अपरञ्च, पूर्वमन्यप्रार्थना हि कृता । तथा च तन्निर्वन्धे तथात्वे स्वतोऽतथात्वे नीरसत्वं स्यादित्येवं प्रार्थना । अत एव न पृथग्भगवतः पूजा कृता, पतित्वेन भावनात् । न चैवं पूर्वमन्त्रस्य प्रयोजकत्वेन मन्त्रत्वानुपपत्तिः, भावक्रमस्य तथात्वेनोत्तरभावप्रयोजकत्वात् । अत एव व्रतफलत्वेन कृष्णचेतस्त्वमुक्तम् । एतन्न यथा तथोपपादितम् अस्मिन्मन्त्रेर्थभावनैव मुख्या, न तु जपोपि । अतः स नोक्तः । स्वेष्टप्रकारेण प्रियभावनमेवात्र पूजारूपम् । अस्मिन्पक्षे इदमेव भगवता 'मदर्चना'दित्येनेनोक्तमिति दिक् । किञ्च, भगवानेव वा गुणातीत इति पक्षे तु सर्वमवदातम् । अस्मिन्पक्षे उभयोरैक्येप्युत्तरस्या गुणविशिष्टत्वेन पूर्वस्याः सकाशाद् भेदः सिध्यति । तेन व्रतभेदोपि तथा । न चाचार्योक्तावान्तरफलत्वे परमफलत्वानुपपत्तिः, एककार्यत्व एव तत्सम्भवादिति वाच्यम् । स्वाभिन्युद्देश्यत्वेन फलस्य परमत्वस्य तन्नान्तरीयकफलत्वे परमफलत्वमितरत्वस्य च विवक्षितत्वात् । एवं सत्येककर्मसाध्यत्वमप्रयोजकमिति ज्ञेयम् अत एव पुरुषभेदेनावान्तरफलस्यैव परमफलत्वमपि भवति । अत एव ज्ञानमार्गीयमोक्षेच्छर्योगेन दोषनिवर्तनं, च मोक्षसम्पादनं सङ्गच्छते ॥ ५-७ ॥ अत्रैवाग्रे वयस्यैरागत इत्यस्य विवरणे, एते हि बालका इत्यारभ्य तद्भोगार्थं चेत्यन्तम् । अत्रेदं ज्ञेयम् । भगवान्सृष्टिं कुर्वन् कांश्चन जीवान् पुंप्रकृतिकान् कांश्चन स्त्रीप्रकृतिकानसृजत् शरीरस्यातथात्वेपि तेषां तेषां प्रकृतिस्तथैव भवति । पुंप्रकृतिकास्तु हरिं भजन्ते, पुरुषांशप्रवेशात् । नेतरे, केवलस्त्रीप्रकृत्यंशवत्त्वात् । अत एव भगवद्भजनविधाने 'को नु राजन्निन्द्रियवा'नित्यादौ सर्वत्र पुंल्लिङ्गेनैवाधिकार्युक्तः । अन्यथा स्त्रीणां हरिभजनमकर्तव्यं स्यात्, अविहितत्वात् । तेन शरीरगतपुंस्त्वस्त्रीत्वे अविवक्षदुक्तरूपमेव विवक्षच्छास्त्रं भजनं विधत्त इति मन्तव्यम् । तथा च जीवेष्वपि पुंस्त्वस्त्रीत्वे स्त इति ज्ञायते । एवं सति पूर्वोक्तधर्मयोपि पुंस्त्ववन्तः स्थिताः । ते चात्यन्तं प्रिया इति तत्सम्बन्धि सर्वं प्रियमिति महानुग्रहेण तद्धर्माणामप्यङ्गीकाराच्च तत्सम्बन्धि यत् किञ्चित् तद्वैयर्थ्यं न युक्तमिति तदीयपुंस्त्वाख्यं धर्ममप्येतासु स्थापयितुं तत्र तत्रावतारितवान् । इदमेवाधिदैविकत्वम् । अत एवर्षित्वदशायामुक्तं वचनं सत्यं कृतमित्येते जानन्तीति तान् माक्षिकत्वेन वक्ष्यति । 'तदिमे विदु'रिति । स्त्रीप्रेक्षणादौ सति विकारवत्त्वं सहजस्तद्दोषः, तस्मिन्सत्यपराधः स्यात्' तेन चानर्थसम्बन्धः स्यादिति क्षारेण मलनिवृत्तिवदतिक्रूरायां स्त्रियां पूतनायां प्रथमं सम्बन्धं कारितवान् । एतेषां महापुरुषत्वेपि तदा साप्येयं भगवानयं वा भगवानिति भाववतीति तानन्तर्निनाय अत एव तदन्तः·स्थितावपि नासुरभावप्रवेशः तथा सति तत्सम्बन्धजक्लेशेन तपसेव तद्दोषनिवृत्तौ स्वकृते च तेषां भक्षणमिति स्वानन्ददानाय तत्प्राणैः सह तानप्यानीतवान् स्वस्मिन् । कुमारीपूक्तरीत्या प्रसादरूपायाः शक्तेर्भगवतो वा प्रवेशेन तादृग्भोगयोग्यता परं सम्पादिता सहजं पुरुषत्वं त्वेतासु स्थापितमेव । अन्यथा 'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घना'दिति

न्यायेन कामभाव एव स्यात्, न तु सर्वात्मभावः, स्त्रीस्वभावस्यैव तादृशत्वात् । अत एव प्रौढभावोत्पत्तिः, येन लोकवेदनैरपेक्ष्येण भजनम् । भगवतोपि स्वच्छन्दभोग एतस्वेतासां च । यद्यपि भगवान् विनैव साधनं सर्वं कर्तुं समर्थं इति शक्यं वक्तुं तथापि तत्तद्वस्तुमर्यादास्थापनपूर्वकं भोगे महान् रस इति भगवतैव सर्वरसभोक्त्रा तथा क्रियते । अन्यथा विनापि स्त्रीत्वं स्वानन्दं दातुं समर्थ इति तथैव कुर्यात् । अत एव वात्स्यायनीयानुसारेणैव रमते । 'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्र' इति वक्ष्यते केति सर्वमवदातम् ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवमित्यत्र एवमिदं चेरुस्ततः कृष्णचेतसः सत्योऽग्रिमं कृतवत्य इत्यन्वयः, भद्रकालीमित्यत्र भगवत्सम्बन्धेति भगवत्सम्बन्धो लक्षणं यस्य, यस्मिन् काले भगवत्सम्बन्धो भवत्येव तादृशः काल इत्यर्थः । निमित्तमिति पतित्वे इतिशेषः, तत्र हेतुः कादाचित्कत्वादिति, लक्ष्मीवत् सदा दाम्पत्येन स्थापनेच्छाभावादित्यर्थः, अत इति पतित्वस्य कालनिमित्तकत्वादित्यर्थः-प्रार्थयन्तीति 'पतिं मे कु'र्वित्यत्र पतित्वसाधको व्यापारोऽन्यनिष्ठो भवति, अत्र तादृशो व्यापारोपि भगवन्निष्ठ एवेतिभावः, फलवाचकत्वादिति पूर्वमन्त्रस्य 'पतिं मे कु'र्विति पतित्वफलस्य देवतां प्रति प्रार्थनात् पूजाशेषत्वं, अस्य तु स्वयमेव पतिर्भू'यादिति फलस्वरूपमात्रवाचकत्वान् न पूजाशेषत्वमित्यर्थाः, तथा च फलवाचकः फलस्वरूपवाचक इत्यर्थः, मन्त्रवदिति तथा च तच्चोदकेषु मन्त्राख्येतिलक्षणादेतस्य मन्त्रत्वमेव नास्तीतिभावः, अन्तःकरणधर्मत्वादिति प्रार्थनाया इतिशेषः ,अन्तरेव तथास्वभवनेऽयं हेतुः ॥ ५ ॥ उषसीत्यत्र अरुणोदयादिति अरुणत्वेन प्रतीयमानः सूर्यस्तदुदयान् न तु षट्पञ्चाशन्नाडिकारूपादित्यर्थः, पूर्वत्र स्नानं प्रातःसन्ध्यायामुक्तं, अत्र ततः पूर्वमितिविभागः, (अरुणोदयादिति अरुणोदयात् पूर्वमेव उत्थाय गानं तत उषसि जाते स्नानार्थं गमनमितिविभागः), गोत्रैः कृत्वेति प्रबोधनमितिशेषः, तथात्वमिति भगवत्पतिकात्वमित्यर्थः, अत इति एतदनन्तरं प्रातरित्यर्थः, मूले एवं जगुस्तत अन्वहं स्नातुं यान्त्यो जाता इत्यन्वयमभिप्रेत्याहुर्गायन्त्य एवेति, गानं मुख्यमिति कालापरिच्छिन्नमित्यर्थः, स्नानगमने गौणे इति कालपरिच्छिन्ने इत्यर्थः, अनेनेति अन्वहमितिपदेनेत्यर्थः, अन्यथा पूर्ववन् मासवतमिति वदेदितिभावः, अन्योन्यं कलहः सापत्न्यरूपः, भगवता सह कलहो मानादिरूपः, कलिकालजनितश्चित्ताशुद्धया भगवत्येतावत्कष्टेपि नागत इति क्रौर्यादिदोषारोपरूपः, नात्रेति अन्वहमित्यस्य यान्त्य इत्यनेनैवान्वयाद् गमनेऽपरिच्छिन्नः कालो न किन्तु दिनैः परिच्छिन्न एवेत्यर्थः, अत इति गमनस्यैव परिच्छिन्नत्वाद्, वक्ष्यमाणास्तु सर्वदैव जाता इत्यर्थः, अत एवाभासे गमनमेव परिच्छिन्नत्वेन विधेयत्वाद् वाक्यार्थ उक्तः, असङ्घाभाव इति सङ्घः समूहो भगवता सहस्थितिरितियावद्, न सङ्घो येन तादृशो भगवता सह कलहस्तदभाव इत्यर्थः ॥ ६½ ॥ नद्यामित्यत्र मत्ता इति वस्त्रत्यागो मत्तानामेव भवतीतिभावः, आभासेऽवान्तरप्रकरणार्थं उक्तः, वाक्यार्थमाहुः स्नान इत्यारभ्य गुणा इत्यन्तेन ॥ ७½ ॥ कर्मणीति हेमन्तनियमादिरूपेत्यर्थः, तस्मिन्नपि विद्यमाने एतच्चतुष्टयसम्पत्तौ तु केवलकर्ममार्गीयत्वेन सर्वथा दोषत्वादुपेक्षामेव कुर्यादितिभावः, स्वयमिति पूर्वं भाव्यमानः समागतोऽधुना स्वयमित्यर्थः, भगवानित्यत्र आनन्दस्तत्रे'ति रसादीनामन्नादिष्विवोपस्थविषयस्यानन्दस्य स्त्रीसु प्रतिष्ठे'त्यर्थः, भगवत्त्वात् समागतः कृष्णत्वाच् चेतिमूलवासनया किञ्चे'त्युक्तं, पुनरिति नायिकारीत्या भोगे सिद्धेपि नायकरीत्या पुनर्भोगार्थमित्यर्थः, दृष्टिद्वारेति- 'तास्तथावनता दृष्ट्वे'त्यत्रोक्ता या सर्वाङ्गविषयिणी दृष्टिस्तद्द्वारेत्यर्थः ॥ ८½ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवं मासमित्यत्र भूयान् नन्दसुतः पतिरित्यस्य विवरणे फलवाचकत्वादिति नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भू'यादित्यर्थाद स्य मन्त्रस्य फलवाचकत्वं पतिभवनस्य फलत्वात्, पूजयामशेषत्वादिति 'भूयान् नन्दसुतः पति'रितिवाक्ये देवतां प्रति प्रार्थना नास्ति किन्तु 'नन्दसुतः पतिर्भू'या'दित्याशय भद्रकालीं समानर्चु'रतः पूजाशेषत्वं नास्तीत्यर्थः, मन्त्रवदिति कात्यायनीमन्त्रवदस्य मन्त्रस्य पूजाङ्गत्वाभावायेत्यर्थः, स्वरूपेणैव कीर्तनमिति पतिर्भू'यादिति पतिस्वरूपेणैव भगवतः कीर्तनं न तु भगवत्पतित्वकरणप्रार्थना देवतां प्रतीत्यर्थः, इतिशब्दप्रयोगे गौणता स्यादिति "भूयान् नन्दसुतः पति',रित्यस्याग्रे इत्युच्चार्येतिजप्त्वेत्यादिनेतिशब्दप्रयोगं कुर्यु'स्तदा मन्त्रद्वारा देवतां प्रति प्रार्थनाद् देवताप्रसादादेव भगवल्लाभे स्वकीयस्नेहात्मकभक्तेर्गौणता स्यादित्यर्थः, तदेवाग्रे स्फुटीकुर्वन्ति प्रार्थनयेत्यारभ्य पतिर्जात इत्यन्तेन ॥ ५½ ॥ नद्यां कदाचिदागत्येत्यत्र भक्तौ तु गुणा इति तत्र मौनपरित्यागो भगवत्कीर्तनार्थं कर्तव्य एव, शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पत' इतिदशमस्कन्धे गर्भस्तुतिवाक्यात् क्रियामात्रे भगवत्कीर्तनस्यावश्यकत्वमतो मौनत्यागो गुण एव ,वस्त्रपरित्यागस्तु भक्तिजन्यं मदं सूचयन् गुणो भवति 'परस्परं त्वद्गुणवादसीधुपीयूषनिर्यापितदेहधर्मा' इतिवाक्याद् परमभक्तौ देहधर्मा निवर्तन्ते, प्रकृते। देहधर्मानिवृत्तिर्मदेन सूचिता, मदश्च वस्त्रत्यागेन सूचितः, अतो भक्तिजन्यमदाद् वस्त्रत्यागो गुण एव विजह्रु रितिपदेनोक्ता क्रीडापि गुणः, "तुष्यन्ति च रमन्ति चे"ति भक्त्युत्कर्षे क्रीडाकथनात्, देहविस्मरणं च गुणः, तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरु'रितिवाक्यात्, एवं चत्वारोपि भक्तौ गुणाः ॥ ७½ ॥ भगवानि-

त्यत्र वयस्यैरागत इत्यस्य विवृतावेते बालका इत्यारभ्य तद्भोगार्थं चेत्यन्तमेतासामाधिदैविकरूपा इतिएतासां पुम्भावरूपा इत्यर्थः, अत्रोपपत्तिस्तु मया प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीयोजनायां दृढतया निरूपितास्ति अनधिष्ठिता इत्यादि एताः कुमारिका एतैस्तत्पुम्भावरूपैरनधिष्ठिता विपरीतरसक्रीडायां यः स्वच्छन्दभोगस्तद्योग्या न भवन्तीति तद्रसानुभवार्थमेतास्वेते पुम्भावरूपाः स्थापिता इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'दुर्लभोऽपि तासां मनोरथो भगवदनुग्रहेण स्वल्पेनैव कालेन सिद्ध' इत्याशयेनाह— एवमिति । कृष्णे चेतांसि यासां ताः कुमार्यः एवमुक्तप्रकारेण मासपर्यन्तं व्रतमाहारादिनियमं चेरुः चक्रुः, भद्रकालीं कात्यायन्यपरनाम्नीमानर्चुश्च । कृष्णचेतस्त्वमेव स्पष्टयति—नन्दसुतोऽस्माकं पतिर्भूयादिति ॥ ५ ॥'आप्लुत्य' इति स्नानादिप्रकार उक्तः । ततः पूर्वं तत्रागमनप्रकारमाह—उषसीति । अन्वहं प्रतिदिनमुषसि प्रातःकाले उत्थाय स्वैः गोत्रैस्तत्तन्नामभिरन्याः 'प्रतिबोध्य' इति शेषः । यद्वा स्वैः गोत्रैर्वर्गैः सह अन्योन्याबद्धबाहवः परस्परं गृहीतहस्ताः कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यो गच्छन्त्यः उच्चैः कृष्णं जगुरित्यन्वयः ॥६॥ कदाचित् पूर्ववन्नद्यामागत्य तत्तीरे वासांसि निक्षिप्य संस्थाप्य मुदा हर्षेण कृष्णमेव गायन्त्यः सलिले विजह्रुरित्यन्वयः ॥ ७ ॥ कृष्णस्तत् तासां स्वप्राप्त्यर्थं व्रताचरणपूर्वकं देव्याराधनमभिप्रेत्य ज्ञात्वा तासां कर्मसिद्धये स्नानपूजादिक्रियाफलदानाय वयस्यैः सखिभिर्वृतस्तत्रागत इत्यन्वयः । तदाराधनज्ञाने प्रत्येकं तासां तादृङ्मनोरथपूरणे सामर्थ्ये च हेतुमाह—योगेश्वराणामपीश्वर इति । ननु "कात्यायन्याराधनफलं तया देयम्, कृष्णस्तत्कथं दातुं गत ?" इत्याशङ्क्याह—भगवानिति । 'नहि भगवान् देव्यधीनः, येन तया तस्य तासां पतित्वं सम्पादनीयम्, स्वतन्त्रत्वात्' । अतः "अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्" इति स्वयमेव देव्यै वरप्रदानात् तस्य यथार्थत्वसम्पादनार्थं स्वयमेवागत इत्याशयः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति ॥ कृष्णे चेतांसि यासां ताः कुमार्यः एवं मासपर्यन्तं व्रतमाहारादिनियमं चेरुः चक्रुः । नन्दसुतोऽस्माकं पतिर्भूयादिति वाञ्छन्त्यः इति संकल्प्येति शेषो वा । भद्रकालीं कात्यायन्यपरनाम्नीमानर्चुश्च ॥ ५ ॥ व्रतस्य पूर्वाङ्गमाह—उषसीति । अन्वहं प्रतिदिनमुषसि प्रातःकाले उत्थाय स्वैः गोत्रैस्तत्तन्नामभिरन्याः प्रतिबोध्येति शेषः । यद्वा । स्वैः गोत्रवर्गैः सह अन्योन्याबद्धबाहवः परस्परं गृहीतहस्ताः कालिन्द्यां स्नातुं यान्त्यो गच्छन्त्यः उच्चैः कृष्णं जगुः ॥ ६ ॥ नद्यामिति ॥ कदाचिदिति व्रतपूर्तिदिने पौर्णमास्यां पूजासमाप्त्यनन्तरमवभृथस्नानादिनस्यायं जलविहारः पूर्ववन्नद्यामागत्य तत्तीरे वासांसि निक्षिप्य मुदा कृष्णमेव गायन्त्यः सलिले विजह्रुः ॥ ७ ॥ भगवानिति ॥ योगेश्वरेश्वरो भगवान् कृष्णः तत् तासां स्वप्राप्त्यर्थं देव्याराधनमभिप्रेत्य ज्ञात्वा तासां कर्मसिद्धये फलदानाय वयस्यैर्वृतस्तत्रागतः । वयस्या अत्र हसद्भिः प्रहसन् बालैरित्युत्तरश्लोकोक्ता बाला एव द्वित्रिवर्षवयस्काः स्त्रीपुंभेदविवेकशून्या दिग्वाससः गोचारणे प्रेम्णा कृष्णसङ्गमत्यजन्तो ज्ञेयाः । यदुक्तं कर्मदीपिकायाम्—"जङ्घान्तपीवरकटीरतटीनिबद्धव्यालोलकिङ्किणिघटाघटितै रटद्भिः ॥ मुग्धैस्तरक्षुनखकल्पितकण्ठभूषैरव्यक्तमञ्जुवचनैः पृथुकैः परीतम् ॥" इति । तोषण्यां तु श्रीकृष्णस्यान्तःकरणरूपा दामसुदामवसुदामकिङ्कणयो गौतमीयतन्त्रोक्ताः इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अस्माकं नंदसुतः पतिर्भूयादस्तु इत्यभिप्राययुक्तप्रार्थनेन सहतां पूजयामास ॥ ५ ॥ व्रतस्य प्रथमांगं वदति उषसीति प्रातः काले गोत्रैः स्वनामभिः परस्परं संबोधनेनोत्थाय अन्योन्यगृहीतहस्ताः अन्वहं प्रतिदिनं यमुनायां स्नातुं यांत्यो गछन्त्यः ॥ ६ ॥ विजह्रुः विहारं चक्रुः ॥ ७ ॥ योगेश्वराणामपीश्वरः अतो गोपीनां प्रत्येकं मनोरथं पूरयितुं समर्थ इत्यर्थः, तासां कर्मसिद्धये कर्मणः फलार्प्पणाय ॥ ८-९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

॥ एवमिति ॥ एवमित्थं, कुमार्यः कृष्णचेतसः श्रीकृष्णैकसमासक्तचित्ताः सत्यः, मासं मासपर्यन्तं, व्रतं चेरुश्चक्रुः ; मासमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया । नन्दसुतः पतिः, अस्माकमिति शेषः । भूयात् । इति विनियोगं कृत्वेति शेषः । भद्रकालीं समानर्चुः ॥५॥ व्रतस्य पूर्वाङ्गमाह ॥ उषसीति ॥ उषसि उत्थाय स्वैः स्वैः, गोत्रैर्नामभिः, आहूय, अन्योन्यमाबद्धा गृहीता बाहवो हस्ता याभिस्ताः, एवंभूताः सत्यः, अन्वहं प्रतिदिनं, कालिन्द्यां यमुनायां, स्नातुं यान्त्यः गच्छन्त्यः कुमारिकाः, कृष्णं उच्चैरुच्चस्वरेण, जगुरगायन् ॥ ६ ॥ नद्यामिति ॥ कदाचिद् नद्यां आगत्य पूर्ववत् वासांसि, तीरे निक्षिप्य, कृष्णं गायन्त्यः सत्यः, मुदा सलिले, विजह्रुः ॥ ७ ॥ भगवानिति ॥ भगवान् योगेश्वरेश्वरः कृष्णः, तत्तासामभिप्रेतं, अभिप्रेत्य ज्ञात्वा, वयस्यैः स्वसवयोभिः, आवृतः सन् तत्कर्मसिद्धये तद्व्रतं सफलीकर्त्तुं, तत्र गतः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

भद्रकालीमिति : १०.२२.५.

देवो वा देवी वा पूज्यः कतमोऽपि तत्र न विशेषः। फलमेकमीशपादप्रसाद एवेति सर्वतो ध्येयम् ॥ ९ ॥

उषसीति : १०.२२.६.

देवीप्रसादादुदिते समिष्टे सापत्नभावं न मिथो वहामः। इतीशमुच्चैर्जगुरेकवृत्त्या चक्रुस्तथाऽन्योन्यभुजावलम्बम् ॥१०॥

वासांसीति : १०.२२.७.

नान्यः कोऽपि समेतु जातुचिदिह स्वेच्छाविहारोऽस्त्ययं कर्णं कस्यचिदप्युपस्पृशतु नेत्यव्याजवृत्ति नरम्।
तद्भूप्रान्तभुवि प्रकामचतुराः संस्थापयन्त्यादरादेवं ता अपि गुह्यगोपनचणं वस्त्रौघमस्थापयन् ॥ ११ ॥

नैवात्यवसुविहारः कार्यः क्वचिदपि विना विनिक्षेपम्। इति किं तद्वसुविहृतौ चक्रुस्तत्र स्ववस्त्रनिक्षेपम् ॥ १२ ॥

तटे वासो जले वासः श्रीशस्येवात्मनामपि। दर्शयन्त्योऽधिकारार्थं चक्रुः स्नानविधिं तथा ॥ १३ ॥

यः क्रीडति जडे भूत्वा निरावरणकञ्चुकः। तस्य श्रीशाश्चिरचिरादिति ज्ञात्वा तथाऽऽचरन् ॥ १४ ॥

वृद्धाऽपि रात्रिर्द्विजराजपत्न्यपि वार्द्धौ विशत्यन्वहमुज्झिताम्बरा।
सूर्यादयोऽपीति विधिस्तथा भवेदित्याशयात्ता अपि किं तथा व्यधुः ॥ १५ ॥

वयस्यैरावृत इति : १०.२२.८.

नग्निकाहितमिदं व्रतमद्धा लग्नकं मधुपभोगफलाप्त्यै।
भग्नतां व्रजति चेज्जनभावो भुग्न एव स विचिन्त्य समागात् ॥ १६ ॥

अहं योगेश्वरस्त्वेताः सदा संयोगचिन्तकाः। तद्वश्येन मयाऽवश्यं भाव्यमित्याययो प्रभुः ॥ १७ ॥

यैः संसृत्युरगस्तिरस्कृतिपदं नीतः सुभक्तोत्तमैर्ब्रह्मानन्दरसः समाधिविधिना यैश्चानुभूतः पुरा।
संलीनावरणं रसेषु परमं सद्धंसदीक्षासुखं तेऽर्हा द्रष्टुमिति श्रियःपतिरसौ तैः सार्धमेवाऽऽययौ ॥ १८ ॥

तादृक् तद्व्रतपूर्तिदिष्टमभितः संवीक्ष्य मन्येऽग्रजं श्रीकान्तः पशुपालकैः सह कयाप्युक्त्या वनेऽवञ्चयत्।
गोपालैः सह धेनुपालनविधिः प्रोक्तः पुराऽग्रेऽपि च मध्ये एव सबालकः प्रभुरगादित्यन्यथैतत् कथम् ॥ १९ ॥

कृष्णकामृत–मग्नकायरसनाश्चित्तेऽप्यनङ्गोन्मुखास्त्यक्तप्रावरणास्तिरस्कृतसदाक्षेपा मदेकस्पृहाः।
मत्प्राप्तौ भुवि तादृशां न सुदृशां हंसस्थितीनां मनाग् योगोऽपेक्ष्यत इत्यरामसहितेनाबोधि विश्वात्मना ॥ २० ॥

ये यथा मामिति स्वोक्तिं स्मरन् प्रभुरुदारधीः। अबलानां प्रसादार्थं युक्तमेवाबलोऽभ्यगात् ॥ २१ ॥

भक्तानुरक्तिकरसङ्गमसौख्यदानात् क्षिप्रं कृतार्थय मदम्बरमीश्वरि त्वम्।
ज्ञात्वा तदर्थितमिति प्रभुराशु पूर्वं चक्रे तदम्बरचयं करतः कृतार्थम् ॥ २२ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! निर्दिष्ट विधि से उन कुमरिकाओं ने श्रीकृष्णमय चित्त बनकर भगवान ही पति मिले ऐसा संकल्प के साथ एक मास पर्यन्त श्री भद्रकाली भगवतीजी का अर्चन व्रत किया और "भूयान्नन्दसुतः पति" श्री नन्द कुमारजी हमारे पति हो इस मंत्र का जप एवं इस मन्त्र से अर्चन किया ॥ ५ ॥ वे सूर्योदय से पूर्व उठकर प्रतिदिन अपनी सखीओं का पृथक् पृथक् नाम लेकर पुकार ती और एक एक का हाथ पकड़ कर श्रीयमुनाजी में नित्य स्नान करने जाती हुई, ऊँचे स्वर से भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं एवं भगवन्नामों का गान् करती थी ॥ ६ ॥ किसी एक दिन वे कुमारिकाएँ, श्रीयमुनाजी के तटपर आकर नित्य की भाँति, अपने–अपने वस्त्रों को उतार कर श्रीकृष्ण के गुणों का गान करती हुई जल में आनन्द पूर्वक विहार करने लगी ॥ ७ ॥ राजन् परीक्षित् ! भगवान श्रीकृष्ण शुक-सनकादि योगियों के और भगवान् शङ्कर प्रभृति योगेश्वरों के भी ईश्वर है। उन्होंने उनके मनोरथों को जान लिया एवं विवस्त्र यमुना स्नान का दोष भी जान लिया, उन दोषों के निवारणार्थ, पुनः उन्हे उस व्रत का फल देने के लिए अपने सखा ग्वालवालों के साथ स्वयं यमुना तट पर पधारे ॥ ८ ॥

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरम्[1] । हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥ ९ ॥

अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् । सत्यं[2] ब्रुवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकर्शिताः ॥ १० ॥

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः । एकैकशः प्रतीच्छध्वं[3] सहैवोत सुमध्यमाः ॥ ११ ॥[4]

तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः । व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

तासाम्-वासांसि-उपादाय-सत्वरम्-नीरम्-आरुह्य-हसद्भिः बालैः-सह-प्रहसन्-परिहासम्-उवाच-ह ॥ ९ ॥ हे अबलाः-अत्र-आगत्य-कामम्-स्वं स्वम्-वासम् प्रगृह्यताम्,-सत्यं-ब्रवीमि नर्मं-न यत् यूयम् व्रतकर्शिताः ॥ १० ॥ मया अनृतम् उदितपूर्वं-न वा-इमे-तद्-विदुः,-हे-सुमध्यमाः ? एकैकशः उत-'यूयम्' सहसा-प्रतीच्छध्वम् ॥ ११ ॥ तस्य तत्-क्ष्वेलितम्-दृष्ट्वा-गोप्यः-प्रेम-परिप्लुताः च-व्रीडिताः,-अन्योऽन्यम्-प्रेक्ष्य-जातहासाः-न-निर्ययुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नीपं कदंबम् । बालैः सह ॥ ९ ॥ हे अबलाः नो नर्म न परिहासः यस्माद्यूयं व्रतकर्शिताः व्रतश्रांताः ॥ १० ॥ एकैकशो वा आगत्य वासांसि स्वीकुरुत सहैव वा । न तत्रास्माकमाग्रह इत्यर्थः ॥ ११ ॥ क्ष्वेलितं परिहासम् । प्रेमपरिप्लुताः प्रेमरस-निमग्नाः ॥ १२-१३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृष्णः परिहासवाक्यं वक्ष्यमाणमुवाच हेति । हसद्भिर्बालैरित्यतिबाल्यान्निष्कारणहासवद्भिः सह प्रकर्षेण हसन्निति परिहासमाह—भो व्रजबालिका अत्र कदंबशाखास्वेतावंति वस्त्राणि केन निबध्य स्थापितानि यूयं किं जानीथ न वा मया तु गाम्भारयता दूरादेव दृष्ट्वा किमयं मामकीनः कदंबोऽद्य विचित्रवासांस्येव पुष्पफलानि दधारेत्यद्भुतदर्शनोत्सुकेन द्रुतमागत्यारुह्यतेति । ननु भो अस्मदीयान्येवैतानि वासांसि, मैवम्, ताह कथमेतावदुच्चकदंबशाखास्वारूढानि । ननु भो त्वयैव चोरयित्वारोहितानि, सत्यम् । सत्यमेतावंतमपि परिवादं दातुं बलं दध्वे नंदस्य राज्ञः पुत्रोऽहं चौरस्तदद्य यूयं मथुरास्थकंसराजस्य पार्श्वं यियासथेत्यनुमीयते । ननु भो मा क्रुध्य वस्त्राण्येव निभाल्य विचारय किमेतानि स्त्रीवस्त्राणि पुंवस्त्राणि वा, सत्यम् । अयि धीमत्यो निभालितान्येतानि स्त्री-वस्त्राण्येव, तत्किं जगत्यस्मिन्यूयमेव स्त्रियः स्थ अन्या न सन्ति । ननु भोः सत्येव किं त्वस्मिन्निर्जने वनेऽस्मान्व्रजबाला विना काः खल्वत्र आयांति, अयि रहःसंचारिण्यः किं भवत्य एव नान्याः । ननु भो अन्यथा विद्धन्वयमत्र खेलितुं नैवागच्छामः किं तु कदंबदेवतां दुर्गां पूजयितुम् । किं भो दुर्गापूजिका यूयमेव नान्याः, सत्यम्, नान्या एव । अयि मुग्धाः प्रतिनिशीथमत्रागत्य वैमानिकीभिर्देवीभिर्दुर्गा पूज्यते । ननु भो पूजयंतु नाम देवीम्, ता वस्त्राणि त्यक्त्वा कथं गताः, अयि बालास्तत्त्वं न जानीथ अत्र रजन्यां पुनः पूजयिष्यंतीभिस्ताभिः स्नात्वा परिधातुं रक्षितानि । भोः कृष्ण त्वमेव तत्त्वं न जानासि अद्य दिन एव पूजयिष्यंतीभिरस्माभिरेव स्नात्वा परिधातुं वनदेवता द्वारोच्चशाखोपरि वस्त्राणि रक्षितानीति ॥ ९ ॥ अत्र कदंबाधोभागे । कामम् निश्चितम् 'कामो निश्चयवांछयोः' इति शाश्वतः ॥ १० ॥ पूर्वस्मिन्काले उदितमुदितपूर्वम् । आहिताग्न्यादिवत्समासः । तत् मत्कर्तृकसत्यभाषणरूपं वृत्तम् । इमे गोपाः । आग्रहो हठः । इत्यर्थं इति । मम तु भवतीनां शुद्धभावदर्शन एवाग्रह इति तात्पर्यम् । प्रतीच्छध्वमित्यत्रात्मनेपदमार्षम् । स्वीकारार्थश्चानेकार्थत्वात् ॥ ११ ॥ तस्य कृष्णस्य । तद् वचः । क्ष्वेलितम् "क्ष्वेलितं सिंहनादे च परिहासे विषप्लुते" इति पदरत्नाकरे । न निर्ययुः बहिर्नायाताः । जलादिति शेषः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

बालैः सह सत्वरं भीत इव त्वरायुक्तं परस्परं तूष्णीमासाद्य तासां वासांसि प्रयोजनविशेषाय उपादेयत्वेन गृहीत्वा नीपमारुह्य च स्वैरः सन् तैरेव हसद्भिः सह स्वयं च प्रहसन् तेन च हासेन कृतानुसन्धानाः सप्रणयेर्ष्यं ज्ञात्वैवाज्ञात्वेव चाब्रुवाणाः प्रति परिहासमिति कथ शीतलजले चिरं व्रत कम्पमानास्तिष्ठथ उत्थायार्द्रं परित्यज्य शुष्कमेव वासः परिधीयतामिति तदेवं कर्म तर्हि भवानेव भवानिवेति न्यायेन नायुक्तमित्यादिमिथः सम्वादपुरस्सरं सनर्मवाक्यमित्यर्थः । ह स्फुटमेवोवाचेत्यर्थः । बालैरिति तल्ले-लनार्थं पुरैव प्रौढानां तन्निकटसम्बन्धिनाञ्च परित्यागेन बालकैरेव सखिभिः ततो नावद्यम् ॥ ९ ॥ परिहासोक्तिमेवाह—अत्रेति द्वाभ्याम् । अत्रागत्येति निर्भरस्वदृष्टिविषयं दर्शयति अत्रैव वस्त्रपक्षे पर्याप्तिरिति व्याजेन कामं यथेष्टं प्रकर्षेण गृह्यतामिति

१. सत्वरः—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. ब्रवाणि—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ; ब्रुवाणि—विश्व. । ३. प्रतीच्छन्तु—विब. । ४ अत्र शुक उवाचेति क्वचित् ।

प्रटित्यागमनाय ताः प्रोत्साहयति तथा स्वस्योदासीन्येन चौर्य्येप्यौदासीन्यमत्र चेमानि केनचित् चोरेणापहृत्यापहृत्य कदम्बेऽस्मिन् गोप्यमानानि मया दूरात् दृष्ट्वा समागतमिति सूचयति—स्वंस्वमिति। सर्वाभिरेवागत्य निजं निजं गृह्यतां न त्वेकया द्वित्राभिः कतिभिश्चिद्वा सर्वासामेव गृहीतव्यं कदाचिद्युष्मासु कपटयुवतीभिः परिवर्त्तितापीति भावः गूढो भावस्त्वन्य एवोह्यः। ननु, तवोक्तौ न प्रतीमस्तत्राह, सत्यमिति। ब्रु वाणीत्यार्षं ब्रवाणीत्यर्थः। ब्रवाणीत्येव क्वचित्पाठः ननु नर्मणा मिथ्यापि ब्रूयाः तत्राह, न नर्मेति। नन्वेतदपि तव नर्मैवेत्याशङ्क्याह—हे अबलाः! यद्यूयमिति अबलासु तारुण्याद्यप्राप्त्या बलमप्राप्तासु तत्रापि व्रतकृशासु तपस्विनीषु नर्मणोऽप्ययोग्यत्वादिति भावः। अनेन च स्वयं न चोरितं किंत्वन्येनैवेति व्यज्य पुनरौदसीन्यव्यञ्जकनर्मणा तासां मनः क्षोभयति अधुना किं कर्त्तुं शक्नुयेति भीतिदर्शननर्मणा सान्त्वयति च यद्वा, यदि नर्म न भवति तर्ह्यम्बराणि कथं गृह्णीयादिति चेत्तत्राह, अबलाः यूयमबलाः तत्रापि व्रतकृशाः अतो यद्यत्र दुष्टो नरो वानरो वा आगत्य क्रीडारसपराणामनवहितानामंशुकान्यादद्यात् तदा मम राजपुत्रत्वात् महती लज्जा स्यादित्यभिप्रेत्य गृहीतानि तानि नतु नर्मणार्थमिति भावः॥ १० ॥ ननु, सप्रहासोक्तेरसत्यतैवावगम्यते, तत्राह–नेति। उदितपूर्वं पूर्वपूर्वम् उक्तं यत् तदनृतं मिथ्या नैव भवति। यद्वा, अनृतं न मया उदितपूर्वं कदाचिदप्यनृतंपूर्वं नोदितमित्यर्थः। तच्च इमे मम सहचरा विदुः एषामेव मदीयाशेषवृत्तिज्ञानात्। ननु, त्वद्वयस्या अपि त्वत्सदृशा एवेति चेत्तत्राह—एकैकश आगत्य स्वीयं वस्त्रं गृह्णीत यदि पूर्वपूर्वस्यामन्यथा स्यात्तदैव उत्तरोत्तराभिर्मद्वचनं मिथ्या मत्वा नागन्तव्यमिति भावः। अहो प्रथमोत्थाने सर्वासामसम्मतिः स्यात् उत्थितायां च कस्याञ्चिदन्यासां क्रमघटनादुर्घटा स्यादिति किमेत्रं विलम्बाचरणेन वा मम वचसि मनसि च कापि वक्रता नास्त्येवेति बोधयन् पक्षान्तरमाह, सहेति। उत वाशब्दार्थे हे सुमध्यमाः! इति कृशमध्यानां युष्माकं शीताम्भसि चिरमूर्ध्वंस्थितिर्मां कृपयतीति भावः। युष्माकं मध्यभागादिसौन्दर्यमेव द्रष्टुमिष्यते न च वस्त्रैरेते मत्प्रयोजनमिति तु निगूढो भावः॥ ११ ॥ प्रेमपरिप्लुता इति गोपीविशेषत्वेन स्वभावत एव प्रेमविशेषवत्यः सम्प्रति तु तत् क्ष्वेलितं परिहासोक्तिं दृष्ट्वा ज्ञात्वा अधिकप्रेमरसे निमग्ना इत्यर्थः। तत्र च जातिस्वभावेन व्रीडिताः व्रीडया हर्षेण चान्योन्यं प्रेक्ष्य जातहासाश्च सत्यो न निर्ययुः॥ १२ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

उपादाय समीपत एव गृहीत्वा, हसद्भिस्तच्चेष्टयोच्चैर्हासं तन्वद्भिर्बालैः सह त्वरयान्वितः सन् नीपमारुह्य चौर्य्येण ताभ्यो भयात्, तत्र तासामदर्शनं तदुच्छ्रायत्वाच्च, बालैरिति तत्क्ष्वेल्यर्थं पूर्व प्रौढानां त्यागेन बालकैरेव वयस्यैर्वृत इति ज्ञेयम्। यद्वा, सप्तमाब्दवयोऽन्ते कृतश्रीगोवर्द्धनधारणात् प्रागस्या लीलायाः कथनेनाधुना प्रकटितषडब्दवयसः श्रीभगवतः सवयस्त्वेन सर्वेऽपि ते बाला एव, तथापि प्रौढ़वल्लीलेयं श्रीभगवतो बाल्येऽपि तादृशत्वसम्भवात्, तच्च सर्व्वत्र प्रसिद्धं प्रागुक्तमेव, एवमग्रेऽपि श्रीयज्ञपत्न्यनुग्रहलीलापि ज्ञेया। ततश्च तेषां बाल्ये सर्वमनवद्यमेव! यद्वा, लीलाद्वयमिदं कैशोर एव। ततश्च श्रीगोवर्द्धनधारणात् प्रागेतदुक्तिः। शारदवेणुगीतवर्णनाभिव्यञ्जित श्रीगोपीभावविशेष-प्रसंगेऽस्या लीलायास्तथा तत्प्रसंगे श्रीयज्ञपत्न्यनुग्रहलीलाया अप्यनुपक्तत्वात् लीलाक्रमश्च श्रीबादरायणिना प्रायो नापेक्षित एव,—कुत्रापि प्रसंगानुसारात्, कुत्रापि स्वस्मात् क्वचिद्रसविशेषोदयात्। एतच्च प्राक् अग्रेऽपि व्यक्तमेव, परिहासं नर्म्मैवोवाच, तासां कर्षणार्थम्, अतएव प्रकर्षेण हसन्, ह हर्षे, स्फुटमिति वा॥ ९ ॥ परिहासोक्तिमेवाह अत्रेति द्वाभ्याम्। अस्मिन् मन्निकटे नोपतले, हे अबला इत्यधुना युष्माकं शक्त्या किञ्चदपि न स्यादिति भावः। कामं यथेष्टं प्रकर्षेण गृह्यताम्, पुनर्मया तत्र कश्चिदन्तरायो न कार्य इत्यर्थः। स्वं स्वमिति सर्व्वाभिरेवागत्य निजनिजं प्रत्येकं गृह्यताम्, न त्वेकया द्वित्राभिः कतिभिश्चिद्वा आगत्य सर्व्वासामेव ग्रहीतव्यमित्यर्थः। ननु स्त्रीषु मिथ्योक्तेरदोषत्वाद्विशेषतश्च परिहासशीलत्वात् तवोक्तौ न प्रतीतिः? तत्राह—सत्यमिति, ब्रु वाणीत्यार्षम्, ब्रवाणीत्यर्थः। करवाणीत्येव क्वचित् पाठः। ननु चैतदपि नर्म्मैवेत्याशंकनीयमित्याह–यद्यूयमिति। व्रतकृशासु तपस्विनीषु नर्म्मणोऽयोग्यत्वादिति भावः। एषा परमपरिहासोक्तिरेव भक्तिविशेषस्वभावेन,सदा परमहृष्टानां तासां व्रतकृशत्वाद्यदर्शनात्॥ १० ॥ ननु सप्रहासोक्तेरसत्यतैवावगमाते! तत्राह—नेति। उदितपूर्वं पूर्वं पूर्वमुक्तं यत् तदनृतं मिथ्या नैव भवति; यद्वा, अनृतं न मया उदितपूर्वम्, कदाप्यनृतं पूर्वं नोदितमित्यर्थः। वै प्रसिद्धौ तच्च इमे मत्सहचरा विदुः, सर्वत्र सदैकत्र चारित्वेनैषामेव मदीयाशेषवृत्ताभिज्ञानात्। ननु त्वद्वस्या अपि त्वत्सदृशा एवेति चेत्तत्राह—एकैकश आगत्य स्वकीयवस्त्रं गृह्णीत, यद्येकयात्रागतया स्ववस्त्रं न प्राप्यते, तदा मद्वचनं मिथ्यैवेति मन्तव्यमिति भावः। अहो किमेव विलम्बाचरणेन वा, मम वचसः सत्यता हृदि च कलुषता काचिन्नास्त्येवेति बोधयन् पक्षान्तरमाह—सहेति। उत वा-शब्दार्थे, हे सुमध्यमाः! इति युष्माकं मध्यभागादिसौन्दर्यमेव द्रष्टुमिष्यते, न च वस्त्रैरेतैर्मत्प्रयोजनमिति गूढोऽभिप्रायः॥ १२॥ क्ष्वेलितं परिहासोक्तिम्, प्रेमपरिप्लुता इति गोपीत्वेन स्वभावत एव तस्मिन् प्रेमवत्यः विशेषतश्च तत्क्ष्वेलितं श्रुत्वा अधिकं प्रेमरसे निमग्ना इत्यर्थः। जातहासाश्च सत्यो न निर्ययुः, यतोऽन्योन्यं प्रेक्ष्य व्रीडिताः यद्वा, प्रेमपरिप्लुतत्वादेव व्रीडिता जातहासाश्च जातस्मिताः, अनिर्याणे ऐकमत्यार्थमन्योन्यं प्रेक्ष्य, यद्वा, निर्यातुकामा अपि अन्योन्यं प्रेक्ष्य नग्नत्वेन व्रीडिताः, तेनैव अन्योन्यं प्रेक्ष्य जातहासाश्च न निर्ययुः॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

क्ष्वेलितं क्रीडितम्॥ १२—१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तासां वासांसि गृहीत्वा सत्वरं नीपं कदम्बमारुह्य हसद्भिः बालैः सहितः प्रहसन् परिहासवाक्यमुवाच ॥ ९ ॥ तदेव दर्शयति– अत्रेति । हे अबलाः ! इदं सत्यमेव ब्रुवाणिं नो नर्म न परिहासं यद्यस्माद्यूयं व्रतेन कर्शिताः श्रान्ताः ॥ १० ॥ स्ववचनप्रामाण्यं ससाक्षिकमाह –नेति । मयानृतं नोदितपूर्वं नोक्तपूर्वं कदापि मयाऽनृपं नोक्तमित्यर्थः । तदनृतस्यानुक्तपूर्वत्वम् इमे गोपा विदुः अतो हे सुमध्यमाः ! एकैकशो वाऽऽगत्य स्वीकुरुत सह वा नास्माकमाग्रहः ॥ ११ ॥ एवं कृष्णस्य क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा प्रेक्ष्य व्रीडिताश्च हसन्त्यो न निर्ययुः ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नोपमर्जुनं परितो हासो यस्मिन् तद्वचनं परिहासम् ।। ९–११ ॥ क्ष्वेलितं सिंहवन्नादितं परिहासेनोदितं वा न निर्ययुः जलादिति शेषः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

तत्रागत्य यदकार्षीत्तदाह–तासां वासांसीत्यादि । पूर्वंपूर्वंदिनवत्तीरे निक्षिप्तानि वासांसि सत्वरः सन् उपादाय द्रक्ष्यन्तीति भिया त्वरया सर्वाणि वासांसि युगपदादायेत्यत्रापि योगैश्वर्यं प्रकटितम् । हसद्भिर्वासोरक्षकेः स्वैर्गोत्रैरित्युक्तप्रकारैः शिशुभिः सह हसन्, ते च बालका जहसुरेव;न तु कृष्णो वासांस्यपहरतीति वदन्ति स्म । प्रहसन्निति तेषां हास्येन स्वयमपि हसन्नेवासीत् । तत्रायं भावः । एतेऽतिशिशवोऽपि मय्येवं विश्वस्ता यतोऽस्मिन् वासोहरणे कौतुकमेव ज्ञातवन्तः, न तु चौर्यम्, यतो जहसुरेव । न गदितवन्त इति स्वस्य च प्रहासः । नीपमारुह्य परिहासः परिहासपूर्वमुवाच । ह स्फुटम् ॥ ९ ॥ किं तदित्याह—अत्रागत्येत्यादि । हे अबलाः मया कौतुकेन वो वासांस्यपहृतानि, अत्रागत्य स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् । ननु अपहृतानि चेत् कथं दास्यसि ? मृषैव भाषसे, तद्वयं न यास्याम इत्याह – सत्यं ब्रवाणि, न नर्म परिहासः । परिहासो नायमिति कथमवगन्तव्यम् ? तत्राह–यदिति । यद्यस्माद् यूयं व्रतकर्षिता व्रतस्थाः ॥ १० ॥ प्रतिपरिहासो न क्रियते । यद्येवं तर्हि यत्रासन् वासांसि तत्रैव स्थापयित्वा भगवान् गच्छतु ? नेत्याह–न मयेति । अहं तु सत्यवाक् मयोदितपूर्वम् (१० म-श्लो.) "अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्" इति यत् तत्रानृतम्, तत् सत्यमेव । तदन्यथा कर्तुं न शकयते । सत्यवागिति स्वमर्यादां कथं स्वयमेव दूरीकरिष्यते ? तन्मम सत्यवाक्त्वं इमे सर्वे लोका विदुर्जानन्ति, अन्यथा (१०म श्लो०) "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म" इत्यनेनैव सिद्धः । पुनःनं मयोदितपूर्वमित्यादिना पौनरुक्त्या वक्तृदोषप्रसङ्गः । अतोऽयमेव पक्षः साधीयान् रसदः । तत् तस्मादेकैकश एव वा प्रतीच्छध्वम् उत सहैव वा ॥ ११ ॥ तदाकर्ण्य तास्तदा यथासन् तद्दर्शयति–उत्येत्यादि । तस्य भगवतस्तत क्ष्वेलितं क्ष्वेलां लीलामिति यावत्, गोप्यो गोपकुमार्यः प्रेमपरिप्लुताः सत्यो न निर्ययुः । अन्योन्यं प्रेक्ष्य जातहासा व्रीडिताश्च । प्रीतिरसोऽत्र स्थायी, आलम्बनं श्रीकृष्णः, उद्दीपनं तस्य वासश्चौर्यक्ष्वेलितादि, अन्योन्यप्रेक्षणमनुभावः । जातहास इति हासः, व्रीडिता इति व्रीडा च व्यभिचारिणी प्रेमाख्योऽयं रसः, तेन प्रेमरस भक्ताः कुमारिका इत्यायातम् ॥ १२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तासां वासांस्युपादायेत्यादि । वासांसीति प्रत्येकं वाससां बहुत्वम्, अन्तरीय–कूर्पासकोत्तरीयादि–भेदात् । सर्वेषां ग्रहणे सत्वरः, हसद्भिरिति वासोरक्षकैः स्वैर्गोत्रैबालकैर्वासोऽपहारं दृष्ट्वा ते नाचचक्षुः, किन्तु जहसुरेव । अतः स्वयञ्च प्रहसन् अमी बालकाश्च नोचुः अहञ्च नाभिहृष्टः, किन्तु वासांस्यदृष्ट्वा शङ्कां लप्स्यन्ते । किमनयासां शङ्कया ? अविलम्बतरमेवाहं निगदामित्याह परिहासमुवाच च; परिहासयुक्तं यथा स्यात् ॥ ९ ॥ परिहासमेवाह – यद् यूयं व्रत-कार्शिताः' इति व्रत–पराभिः सह परिहासो न युज्यते इत्येव परिहासः ॥ १० ॥ न मयोदितपूर्वमित्यादि । मयोदितपूर्वं वै न अनृतं मृषा, तदिमे तावका एव विदुः ॥ ११ ॥ तस्य तदित्यादि । क्ष्वेलितं खेलां दृष्ट्वा गोप्यो गोपकुमार्यः प्रेमपरिप्लुताः सत्यो न निर्ययुः सलिलान्नोक्त रुः । अयं हि प्रेमाख्यो दशयो रसः, तथाहि ममकारोऽत्र स्थायी भावः, अलम्बनं श्रीकृष्णः, उद्दीपनं तत् क्ष्वेलितादि । अनुभावः अन्योन्यं प्रेक्षणादि व्यभिचारी व्रीडिता इति वीडा | एभिः परिपुष्टो मनकारः स्थयी रसतामापन्न इति प्रेमाख्यो रसः । अतः कुमारीणां प्रेमाख्य एव रसः, न शृङ्गारः, यत्तु (भा. ७।१।३०) "गोप्यः कामाद्" इति तदन्यपरमः (भा. ११।१२।८) "केवलेन हि भावेन" इति यत्तदेव कुमारिकापरम् ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हसद्भिर्बालैरित्यतिबाल्यान्निष्कारणहास्यवद्भिस्तैः सह प्रकर्षेण हसन्निति हास्यशब्देनैव ताः स्वमवधापयन्निति भावः परिहासमिति भो व्रजबालिकाः अत्र कदम्बशाखास्वेतावन्ति वस्त्राणि केन निबद्ध्य स्थापितानि यूयं किं जानीथ न वा ? मया तु गाश्चारयता दूरादेव दृष्ट्वा किमयमस्माकीनः कदम्बोद्य विचित्रवासांस्येव पुष्पफलानि दधारेत्याश्चर्यदर्शनोल्लसितेन द्रुतमागत्याद्य

तेति। ननु, भो अस्मदीयान्येवैतानि वासांसि मैवं तर्हि कथमेतावदुच्चकदम्वशाखामारूढानि, ननु भोस्त्वयैव चोरयित्वा आरोहितानि सत्यं सत्यमेतावन्तमपि परिवादं दातुं वलं दद्ध्वे नन्दस्य राज्ञः पुत्रोऽहं चोरस्तदद्य यूयं मथुराजस्य कंसराजस्य पार्श्वं यियासथेत्यनुमीयते, ननु भो माक्रुध्य वस्त्राण्येव निभाल्य विचारय किमेतानि स्त्रीवस्त्राणि पुंवस्त्राणि वा सत्यमपि धीमत्यो निभालितान्येतानि स्त्रीवस्त्राण्येव तत् किं जगत्यस्मिन् यूयमेव स्त्रियः स्थः अन्याः स्त्रियो न सन्ति ननु भोः सन्त्येव किन्त्वत्र निर्जने घने अस्मान् व्रजवाला विना काः खल्वन्या आयान्ति अयि रहः सञ्चारिण्यः किम्भवत्य एव रहसि खेलन्ति नान्याः, ननु भो अन्यथा विद्वन् वयं खलितुमत्र नैवागच्छामः किन्तु कदम्वदेवतां दुर्गां पूजयितुं किं भोः दुर्गा पूजिका यूयमेव नान्याः सत्यं नान्या एव, अयि मुग्धाः प्रतिनिशीथमेव वैमानिकोभिर्देवीभिरत्रागत्य दुर्गादेवी पूज्यते ननु भोः पूजयन्तु नाम देवीं वस्त्राणि त्यक्त्वा ताः कथंगताः अयि वालाः ! तत्त्वं न जानीथ अद्य रजन्यां पुनःपूजयिष्यन्तीभिस्ताभिः स्नात्वा परिधातुं रक्षितानि भोः कृष्ण त्वमेव तत्त्वं न जानासि अद्य दिन एव पूजयिष्यन्तीभिरम्भाभिरेव स्नात्वा परिधातुं वनदेवता द्वारा उच्चशाखोपरि वस्त्राणि रक्षितानीति ॥९॥ हृशब्दोक्तं स्पष्टं परिहासमाह-अत्रेति । सत्यं युष्माकमेवैतानि वस्त्राणि चेत् कामं यथेष्टमेवात्रागत्य स्वं स्वं परिचित्य मत्प्रत्ययार्थं शपथं कृत्वा धनरक्षकाय मह्यं पारितोषिकमेकैकं हारं दत्वा वासो गृह्यतां स्वं स्वमिति सर्वाभिरेवागत्य नत्वेकया द्वित्राभिर्वा आगत्य वस्त्रलोभवतीनां स्त्रीणामधिकग्रहणस्यापि सम्भविष्णुत्वात् ननु, गन्तुं न शक्नुमस्तत्र सहासमाह—हे अवलाः ! मन्ये व्रतकार्श्यादेवात्रागन्तुं न शक्नुथेति भावः । यद्वा तर्हि न दास्यामि प्रवलस्यं मम किं कर्तुं शक्नुथेति भावः । ननु कपटिनस्तवोक्तौ न प्रतीतिस्तत्राह सत्यं तथ्यमेव ब्रूवाणी त्यार्षं ब्रवाणीत्यपि क्वचित्पाठः यद्वा, सत्यं शपथं कृत्वा ब्रवीमि "सत्यं शपथतथ्ययोः" इत्यमरः । ननु नर्मयतो व्रतेन कृशीकृता यूयं तपस्विनीषु युष्मासु दयाभक्तिश्च धर्मभयं चोत्पद्यत इति भावः ॥ १० ॥ ननु, मिथ्यावादिनस्तव शपथेपि न विश्वसिम इति तत्र सरसनादंशमाह—नेति । उदितपूर्वमिति सुपसुपेति समासः अनृतं न पूर्वमुदितमिति एतज्जन्मनि एतावद्वयःपर्य्यन्तं तु अनृतं न परिचिनोमि अत्र किं प्रमाणमिति चेदिमे वाला एव वालानां यथा दृष्टग्राहित्वस्वभावादार्जवाच्चेति भावः । ननु दूरतोऽत्र जले वस्त्राणि क्षिप्यन्तां वाल्द्वारा वा दीयन्तां तत्र हन्त हन्त एतानि युष्मदीयान्यन्यदीयानि वा मया ज्ञातुमशक्यानि कथं दीयन्ताम् अस्मद्विधैर्धार्मिकैः परद्रव्याणि नखाग्रेणापि न स्पृश्यन्ते तस्मात् यूयमत्रागत्य प्रतीच्छत स्वं स्वं परिचित्य गृह्णीत यतः पारक्यं वस्तु न गृह्णामि न ददामि नापि स्पृश्यामीति मम नियमः । ननु त्वया धृष्टेन करिष्यमाणाद्विडम्वनाद्भीत्यैव कुलकुमार्यो वयं त्वत्समीपं न यामस्तत्राह—एकैकश इति प्रथमं युष्माकमवरा काचिदिहागच्छतु तस्यामविडम्वतायां सत्यामन्या अन्या यप्यायान्तु सहैवोतेति युगपद्वह्वीनामागमने स्त्रीणां विडम्वनासम्भवाच्चेति भावः । हे सुमध्यमाः ! इति शिरांसि खलूत्तमाङ्गशब्देनोच्यन्ते तान्यतिसुन्दराणि भवत्यः कृपया मां यदि दर्शयन्त्येव तदा मध्यमाङ्गान्यपि सुन्दराणि मां दर्शयितुं का लज्जेति भावः ॥ ११ ॥ क्ष्वेलितं रहस्यपरिहासं दृष्ट्वा प्रेमपरिप्लुता इति मन्यामहे इयमेकं कान्तं सुखयति तु अस्माकमहन्तास्पदान्यनुरूपाणि किं भविष्यन्तीति मनोनुलापानन्देन मग्ना वहिस्त्वन्योन्यं प्रेक्ष्याव्रीडिता इत्ययि कमलेक्षणे त्वामाह्वयत्ययं तथा हि अयि सुधामुखि त्वमेव याहि सुधां पाययन्तीत्यन्योन्यं जातहासाः परिजहसुरेव नतु निर्ययुः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एकैकशो वाऽऽगत्य प्रतीच्छध्वं स्वीकुरुत ॥ १० ॥ क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा प्रेमपरिप्लुताः प्रेम्णा परितो व्याप्ता ॥ ११ ॥ नर्मणा तत्क्ष्वेलितेनाक्षिप्तानि गृहीतानि चेतांसि यासां ताः ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सत्वरस्तद्दृष्टिवञ्चनाय शीघ्रं सन् हसद्भिरित्यतिबाल्यान्निर्निमित्त हास्यवद्भिस्तैर्वालैः सह प्रहसन्निति हासशब्देन ताः स्वयमववोधयन्नित्यर्थः । परिहासमुवाच हेति भो भोः व्रजकुमारिकाः ! आसु नीपशाखास्वमूनि वासांसि केन निवद्धानि, किं यूयं वेत्थ न वा, मयि तु विदूरादेव विलोक्य किमयमस्माकं नीपतरुर्विचित्राणि वासांस्येव पुष्पफलानि दधानोऽस्तीत्याश्चर्यदर्शनप्रहृष्टेन शीघ्रमासाद्यारुह्यतेति नन्वस्मदीयान्यमूनि वासांसि इति चेत् कथमत्युच्चासु शाखास्वरूढानि । ननु भोः क्रोधस्ते माभूदमूनि स्त्रीवासांस्येव किं न परिचिनोषीति चेत्, किमिह विश्वस्मिन् यूयमेव स्त्रियः स्थः नत्वपराः सन्ति । ननु व्रजकुमारीरस्मान् विनास्मिन्निर्जने काः स्त्रियो विहर्तुमागच्छेयुरिति चेत् युस्मान् विना किमन्या निर्जन विहारिण्यो न भवेयुः । नन्वत्र विहर्तुं वयं नागच्छामः किन्तु नीपदेवतां दुर्गामर्चितुमिति चेत् किं तदर्चिका नान्याः सन्तीति तस्मादप्सरोभिः प्रतिनिशीथं दुर्गार्चनीभिरद्यतने निशीथे तामर्चिष्यन्तीभिः स्नात्वा परिधातुममून्यासु शाखासु स्थापितानीति ॥ ९ ॥ ननुरसिकमौले ! अमून्यस्माकमेव वासांसि अस्मदभीष्टया दुर्गया सङ्कल्पेनैव नीपशाखस्वारोहितानि दिवसे तदर्चनीभिरस्माभिः पुनः परिधेयानीति चेत्तत्राह-अत्रेति । चेदमूनि तावकानि तर्हि अत्रागत्य स्वं स्वं वासः परिचित्य प्रगृह्यतां ननु मुद्रितनेत्रश्चेत्तानि दद्यास्तर्ह्यागच्छामः किन्तु कपटिनस्तवोक्तौ न प्रतीतिरिति चेत् तत्राह—सत्यं शपथं कृत्वा ब्रुवाणि नो नर्म्म करोमि तथैव दद्यामिति भावः । यद् यूयं व्रतेऽतितपस्विनीषु युष्मासु मे दयाभक्तिर्धर्मभयञ्चोत्पद्यते इति भावः ॥ १० ॥ ननु मिथ्याभिशंसिनस्तवोक्तौ न विस्रम्भ इति चेत्तत्र सरसनादंशमाह—न मयेति । वै निश्चयेन मया अनृतं नोदितपूर्वं सुप्सुपेति समासः । अनृतं न पूर्वमुदितं अत्र किं मानमिति चेत्तत्राह—हे वाला यथादृष्टग्राहिणस्तद् विदुर्जा-

नन्ती एवमपि विवसनानां नस्त्वदन्तिके गमनं न युक्तं ततो दूरादेवास्मद्वासांसि प्रक्षेप्याणि बालैर्वदियानीति चेत्तत्राह—एकैकश इति । कस्याः कानीति मया परिचेतुं न शक्यन्ते ततो यूयमेवेहागत्य तानि प्रतीच्छध्वं नयत मया मुद्रितनत्रतयैव देयानीति भावः । मद्वचस्यनास्था चेदेकस्यांवस्त्राणि नीत्वा निर्वाह्य गतायां सञ्जातास्थाः सर्वाः सहैवागत्य नयन्त्वित्यर्थः । सुमध्यमा इति तन्मध्यवीक्षाभिलाषः सूच्यते ॥ ११ ॥ तस्य नन्दसुनोः स्वनाथस्य तत् क्ष्वेलितुं रहस्यपरिहासं दृष्ट्वा तत्प्रेम्णापरिप्लुता दिग्धास्तदर्थमनसस्था गोप्योऽन्योन्यं प्रेक्ष्य त्वमादौ याहि त्वय्येव निहितचित्तोऽसौ त्वमेवादौ याहीत्यन्योन्यं जातहासा एव तस्युर्नतु जलान्निर्ययुः ॥ १२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तासां सलिलसलीलानां ललनानां दुकूलानि वासांसि नीरतीरस्थापितान्युपादाय । अनेन वसनापहारेण भवद्भवदज्ञानाच्छादनमप्येवं हरामीति हरिरसूचयदिति मन्तव्यं । सत्वरो नीपमर्जुनवृक्षमारुह्य हसद्भिर्बालैः सह स्वयमपि प्रहसन्परिहासं परितो हासो यस्मिस्तद्वचनं यथा भवति तथोवाचेति वा ॥ ९ ॥ हे अबला अत्रागत्य कामं यथेच्छं स्वं स्वं पदमेकं वासः प्रगृह्यतां यद्यस्माद्यूयं व्रतकर्शितास्तच्छ्रान्तास्तन्नो नर्म महाव्रतयुताः प्रति नर्म न धर्मं इति भावः । सत्यं ब्रुवाणि वच्मि । ब्रूञ् व्यक्तायामस्माल्लोट्यानि गुणे सार्वधातुके वादेशे कुप्र्येति णत्वे ब्रवाणीति रूपं । ब्रुवाणीत्यपपाठः । अष्टमाष्टकीयपञ्चमाध्याये चोर्वशीवाक्ये प्रतिब्रवाणि वर्तय तेऽश्रु इत्युक्तेः ॥१०॥ मयाऽनृतं नोदितपूर्वं पूर्वं नोदितं तत्र साक्षिणः सारसाक्षीः प्रति बोधयति ॥ तदिति । ममाननृतवाक्त्वमिमे बाला विदुरेकैकशः पृथगुत हे सुमध्यमाः सहैव प्रतीच्छन्तु प्रतिगृह्णन्तु भवत्यो नोभयथापि ममा सम्मतिरिति भावः । सुमध्यमा इत्यनेन सु सार्वजनीनतया दृश्यमानो मध्ये मकरो यस्मिञ्छब्दे स शब्दः कुमार्य इति शब्दस्तेन तदर्थः स्वोकार्य इति हे कुमार्य इत्यपि सम्बुद्धिः । ननु कान्तैकान्तसङ्केतनिकेतं प्रति वयस्यनयनं न यस्यापनयनमित्यतोऽप्याह । ये सुमध्यमा इति । साक्षित्वेन दर्शितैरनृतोक्तेः कथमित्यतो वाऽऽह ॥ सुमध्यमा इति । अत्यन्तं प्रोक्तकारिण इति न कार्यद्वयप्रतिबन्धकता तेषामिति ॥ ११ ॥ एवं गोविन्दे ब्रुवति सति तस्य तत्क्ष्वेडितमित्येकान्वयः श्लोकद्विकस्य ज्ञेयः । इति परिहासवचनं दृष्ट्वा श्रुत्वा तदर्थं चानुभूयेत्यर्थः । प्रेमपरिप्लुतास्तत्फलितमिति प्रेम्णा परिप्लुता अन्योन्यं प्रेक्ष्य जातहासा व्रीडिताश्च सत्यो न निर्ययुर्यमुनाजलादिति शेषः । किञ्चास्य नर्मणाक्षिप्तचेतसः शीतोदे आकण्ठमग्ना अत एव वेपमानास्तमब्रुवन्निति । तस्य यामुनजलस्य सकाशान्न निर्ययुरिति वा एवमन्वये तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वेत्यनन्तरमेवं ब्रुवति गोविन्द इत्यवक्तव्यत्वादसाङ्गत्यापत्तेः ॥ १२–१३ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततो भगवान् स्वस्य तासां च मध्ये यदन्तरा स्थितं तद् वस्त्रमिति तानि हृतवानित्याह तासां वासांसीति, उपादाय स्वसमीपे नीत्वा स्वान्तःस्थितजगतो महतोप्याच्छादनार्थं तैराच्छाद्य सत्वरं भगवान् नीपमारूढः, नीपः कदम्बः, अन्यथान्तःस्थितेष्वाच्छादितेषु दैत्यप्रवेशः स्यात्, 'वैष्णवा वनस्पतय' इति न प्रवेशः, अत एव सत्वरं यथा भवति तथारोहणं, तासामावरणमत्र स्थापितमित्यर्थः, नितराम् इं कामं पीबतीति नीपः, पातीति वा, अनेन तासु कामः स्थापित एव, अन्यथा निष्कामा एव भवेयुः कामरक्षकश्चेद् भगवता समारूढो नातः परं निष्कामता तत्रत्यानां शङ्कनीया, किञ्च हसद्भिर्बालैः सह प्रहसंस्तासां सहजं कामं दूरीकृत्य स्वस्याधिदैविकं कामं प्रहसन् रूपं तत्र योजितवान्, बालाः पुनर्भगवच्चातुर्यं शौर्यं च दृष्ट्वा स्वकृतार्थतां परिज्ञाय हसन्तो जाताः सन्तोषेण यतो बाला वल्कार्यार्थमेव तत्र नीताः, अत एव पुनस्तेषु ज्ञानशक्तिं दास्यति, तेषामपि मायाधिदैविकी तत्र प्रविष्टेति प्रथमाकारणेनागमनं एवं कृत्वा परिहासं परितो हास्यं यथा भवति तथा सर्वतोभिमाननिवृत्त्यर्थमुवाच, भगवान् सर्वेश्वरः कथमेवं वदतीत्याश्चर्यमाह हेति ॥ ९½ ॥ भगवतो वाक्यमाहात्रागत्येति, अस्मदीयः कामस्तत्र न गच्छत्यतोत्रैवागत्य कामं वास आच्छादकं वस्त्ररूपं काममयत्वाद् यथेच्छमिति लोकप्रसिद्धिः, सर्वस्यैव कामस्याधिदैविकमत्र तिष्ठतीतिः अतो वस्त्रसम्बन्धात् पूर्वं निष्कामा एव ताः, पुनरपि पूर्वकामवत् वस्त्रवद् वा हरणे ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह प्रकर्षेण गृह्यतामिति, दाने प्रयोजनमबला इति, बलमस्मादेव भवतीति, अत एव निरिन्द्रियाः स्त्रियोबला इत्युच्यन्ते, बहुव्रीहावपि निमित्ततायां स्वार्थं कामदानं वस्त्रदानं च अन्यथा मर्यादाभङ्गः स्यात्, वासोपि मयि स्थितं प्रगृह्यतामितिध्वनिः, अस्मादीयाभिरेव वापूर्वपरिग्रहः कर्तव्य इति, अन्यथातिः स्यात्, बालकानां मायया च व्याप्ता इति स्ववाक्येप्रामाण्यं ज्ञास्यन्तीत्यत आह सत्यं ब्रुवाणीति, सत्यं वदामीत्यर्थः, अनेन स्त्रीष्वनृतं वक्तव्यमित्यपि निराकृतं, नन्वनृतं न भवति दास्यसि परं नग्नदर्शनेनोपहासार्थं वदसीत्याशङ्क्याह नो नर्मेति, नर्म नो न भवति, यद्यपि लोकदृष्ट्या नर्मवद् भाति तथापि वस्तुतो न नर्म, युक्तिमप्याहानर्मत्वे यद् यस्माद् यूयं व्रतेन कर्शिताः न हि व्रतिभिः सह नर्मोचितं नापि क्लिष्टैः, अन्यथा नर्म, वैरजनकं भवेत् ॥ १०½ ॥ किञ्चास्मत्स्वरूपविचारेणापि नानृतमेतद् भवतीत्याह न मयोदितपूर्वमिति, वेत्यनादरे समुच्चयार्थं च, मया वा कदाचिदप्युदितपूर्वमनृतं न भवति उदितमुक्तं पूर्वमुदितपूर्वं मया वा जगत्कर्त्रा हेतुनोदितः पूर्वः स्वजातीयो यस्य मत्तः कदाचिदप्यनृतं नोत्पन्नमिति वै निश्चयेन वा, तत्रैत आधिदैविका ऋषयः साक्षिणोत इमे विदुः, त्यक्ताधिदैविकत्वात् तन्मायामोहितत्वाच्च परं भवतीनां सन्देहः, आगमने प्रकारमाहैकैकशः प्रतीच्छध्वमिति एकैकश एकैका समागत्य 'स्वं स्वं' वस्त्रं गृह्णातु तदा प्रत्येकं भोगः, अथ वा सर्वथा निर्मत्सराः अत्यन्तभक्ताश्चेत् तदा सहैव वोतापि

अयं पक्षः साधीयान्, नन्वकर्तव्यं भगवान् कथमुपदिशतीत्याशङ्क्याह सुमध्यमा इति, शोभनं मध्यमस्थानं यासां, सुमध्यमा इति शुद्धान्तःकरणाः सर्वबन्धनसिद्ध्यर्थं च पूर्णज्ञानदृष्ट्या दृष्टाः सर्वतो भद्रा भवन्तीति ॥ ११½ ॥ एवं भगवतोक्ता अपि नागता इत्याह तस्येति, तस्य निरोधकर्तु र्भगवतस्तत् प्रसिद्धं क्ष्वेलितं दृष्ट्वा, अनेन वाक्यार्थो न विचारितः. किञ्च तस्य तमवसरं दृष्ट्वा तस्य क्ष्वेलितत्वं निश्चित्य रसमध्ये स्वप्रवेशं नत्वा गोप्यो विशेषविचाररहिताः केवलं प्रेम्णा परिप्लुता जाता प्रथमतः स्नेहेनैव निमग्नाः, ततो जातान्तःसम्बन्धा बहिःसंवेदने जाते व्रीडिता जाताः, तदा प्रत्यक्षतो भुक्ता इवात्मानं मन्यमानाः संवादार्थमन्योन्यप्रेक्षणं कृतवत्यः, तदान्योन्यसम्बन्धसंवेदनाभावात् कौतुकं तद्रसं विदित्वा जातहासा जाताः, लोकरीत्यापि जातहासाः, तदा न निर्ययुर्न निर्गता जलाद् बहिः ॥ १२½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्रैवाग्रे तासां वासांस्युपादायेत्यस्य विवरणे, उपादायेत्यारभ्यान्यत्र स्थापितमित्यर्थं इत्यन्तम् । अत्रायमाशयः । वस्त्रग्रहणोक्तेरादायेत्येतावतैव सम्भवेपि गृहीतस्य ग्रहीतृसामीप्ये अन्यतः प्राप्तेपि सामीप्यवाच्युपसर्गकथनं तद्विशेषाभिप्रायकमिति मन्तव्यम् । स एव स्वान्तःस्थितेत्यादिना निरूप्यते । तच्चिन्त्यते । 'यः पृथिव्यां तिष्ठ'न्नित्यादिश्रुतिनिरूपितत्वेन तस्य नैसर्गिकब्रह्मधर्मत्वाद् वस्त्रैस्तदाच्छादनकथनं न युक्तिगम्यम् । भगवता सह व्यवधानासम्भवाच्च । अत एव तेषु दैत्यप्रवेशोपि तथा । प्रयोजनं चाच्छादनस्य न विद्मः । तदभावार्थं नीपारोहणोक्तिरपि तथा । तत्र हि स्वयमारूढः । स्वनिष्ठत्वेन स्वद्वारा जगतस्तत्सम्बन्धो वाच्यः । एवं च सति भगवन्निष्ठत्वेनैव तत्प्रवेशासम्भवे तदारोहणं किमर्थम् । उच्यते । एके हि शास्त्रार्थत्वेन हरिं ज्ञात्वा तन्माहात्म्यं च भजन्ते । तदपि न साक्षात्, किन्तु श्रवणादिधर्मद्वारा । वस्तुतस्तु धर्मानेव भजन्ते, तेन वैदिकास्ते । अन्ये च पुत्रत्वादि धर्मपुरःसरमिति लौकिकधर्मद्वारा । अतस्तदनुरूपमेव फलं तेभ्यो हरिर्ददाति । एता हि धर्मिमात्रे पर्यवसितमतयः, न तु तद्धर्मेष्वपि । न वा धर्मद्वारा । नारदादिवद् यशोदादिवच्च । अत एव भगवताग्रे वाच्य'मेवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वाना'मिति । अत एव स्वभाविकलज्जात्यागोपि । एवं सति 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यादेतदनुरूपमेव भगवतापि कार्यम्, सर्वमर्यादात्यागपूर्वकमेतद् भजनमिति । भगवतापि स्वस्वरूपमर्यादाप्येतदर्थं त्यक्ता । अत एव 'आत्मारामोपी'ति वक्ष्यते । 'साधवो हृदयं मह्य'मित्यत्र 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'त्यपि भगवतोक्तम् । अन्यथा अकुण्ठितज्ञानशक्तेस्तदन्याज्ञानकथनमनुपपन्नं स्यात् । एषा हि पुष्टिलीला । अत्र मर्यादामार्गवैपरीत्यं न दोषाय किन्तु गुणाय, मार्गस्यैव तथात्वात् । एवञ्च सत्येतावद्दर्शनं स्वातिरिक्तस्य यथा न भवति तथाच्छादनं कृतमिति बुध्यस्व । 'नाहं तेभ्य' इति वाक्याद्यथा ज्ञानं नान्यविषयकम्, तथा स्वरूपमप्येतदर्थं प्रकटीभूतमेतदितरासम्बद्धमिति भगवता सह व्यवधानमपि सम्भाव्यते । अलौकिकश्चायमर्थो वचनबलेन भक्तिभावितान्तर्हृदयेन चावगन्तव्यः । अतो न व्यापकत्वेन तदसम्भवः शङ्कनीयः । अन्यथा 'हृदिस्थं कुरु केशवम्' 'विसृजति हृदयं न यस्ये'त्यादिकमनुपपन्नं स्यात् । श्रुतिरपि 'तद्दूरे तदन्तिक' इत्येतदभिप्रायिकैव । धर्मिग्राहकमानसिद्धं वस्त्वेव तथेति नानुपपत्तिः काचित् । यत्तु 'नीपारोहणानुपपत्ति'रिति तत्रोच्यते । भगवान् हि लीलां कुर्वन् शास्त्रार्थमपि बोधयति । एतद्भाववतामिव साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धः, अन्येषां दूरतरः । तेष्वासुरधर्मप्रवेशश्चावश्यकः । स च भगवदधिष्ठितैर्वैष्णवैस्तदुक्तधर्मैः श्रवणादिभिश्च शीघ्रं निरस्य इति ज्ञापनार्थत्वमाच्छादनारोहणयोरित्येतत्तात्पर्यकोयं ग्रन्थ इति नोक्तानुपपत्तिः । ननु सेवकेषु सत्सु स्वयमीश्वरः कुतो वस्त्राणि जगृहे । अगृहीत्वैव तन्निकट एव वा कथं नाकारितवांस्तत्राह तासामावरणमिति । नह्यत्र वसनग्रहणमुच्यते । किन्त्वेतासां साक्षाद्भगवत्सम्बन्धेन्तरायस्य हरणम्, तच्च नान्यशक्यमिति वस्त्रव्याजेन तद्धृत्वान्यत्र पूर्वोक्ते स्थापितमित्यर्थः । भगवत्कृतिर्लौकिकवत् प्रतीयते, परं वस्तुतस्त्वलौकिकी । तत्त्वेन भानं च भगवद्दृशैव भवति, नान्यथेति भावः । एतदग्रे हसद्भिः प्रहसन्बालैरित्यत्र, तेषामपि मायाधिदैविकीत्यादि । यदि बालान् स्वसम्बन्धित्वेन जानीयुस्तदा पुरुषान्तरत्वज्ञानाभावेन तद्दृष्टिपातेपि भयाभावज्ञानाभावात् प्रथमाकारण एवागच्छेयुः । ते च तथा न ज्ञापयन्त्यन्यथा च ज्ञापयन्तीति तत्कापट्यं माया । तथा च पुरुषान्तरत्वज्ञानेन स्वस्य चानन्यत्वेन तच्छङ्कया नागता इति एतेषामधिदैविकत्वेन भगवदिच्छानुसारित्वेन च तत्राधिदैविकत्वम् । प्रभोरिच्छा तु रसविशेषार्थं परीक्षासम्पत्त्यर्थं चेति ॥ ९ ॥ अस्मदीयः काम इति । लोके हि क्रियाफलस्य स्वसामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यविवक्षयैव गतिक्रियायामागमनगमनशब्दौ प्रयुज्येते वक्त्रा, तथा चागत्येत्येतावतैव स्वनिकटदेशप्राप्तावत्रेतिपदं किमर्थम् । न चाभिमुख्यस्यैवाङ्र्थत्वेन देशविशेषाकांक्षापूरकत्वेनात्रपदं सार्थकमिति वाच्यम् । 'स्वं स्वं वासः प्रगृह्यता'मिति वाक्यादागमनस्य तदर्थत्वादन्यत्र स्थितौ ग्रहणासम्भवात् तत एव तद्योग्यतत्प्राप्ते । दण्डेन घटं कुर्वित्यत्र दार्ढ्यस्येव । अपरञ्च । आभिमुख्यपदार्थोपि विचारणीयः । न च सांमुख्यमात्रं सः । सम्मुखं स्थित्वा पश्चाद्गच्छत्यप्यागच्छतीति प्रयोगापत्तेः । किन्तु वक्तृनिकटदेशसंयोगफलकक्रियाजनकप्रयत्नः सः । इतोपि नात्रपदं सार्थकम् । न च तत्रागत इतिप्रयोगान्न तथेति वाच्यम् । तत्र प्रयोगद्वयमपि लोके दृश्यते । उक्तरूपाभिप्रायवतस्तु नियमत आङ्प्रयोगो दृश्यत इत्याङोऽत्र शक्तिः । तत्रागत तु इत्यादौ तु वक्ष्यमाणदेशस्याभीष्टत्वेन तत्र स्वस्थितिमिवमन्यमानस्यौपचारिकः प्रयोग इति त्वयाप्युररीकर्तव्यमिति चेत् । उच्यते । एतावत्पर्यन्तं भावनयैवैताः सर्वं कृतवत्यः, न तु साक्षाद्भगवत्प्राकट्येन । तच्च साक्षादप्राप्तावेवोचितम्, न तु प्राप्तावपि, एतदतुल्यत्वात् । जातेपि प्राकट्ये पूर्वोक्तस्थितिर्नोचितेति भावितं तत्कार्यं

च त्यक्त्वा अत्र प्रकटे मय्यागत्य वासः प्रगृह्यतामित्यर्थः। किञ्च,, एतावत्कालपर्यन्तं भावनयैव कामपूर्तिरासीत्। स च न मुख्यः कामः, किन्तु तदाभासः। अतो मुख्यं काममेव ददामि वासोरूपेण लोके परिदृश्यमानं परं वस्तुतस्तु मदीयकामरूपमिति सामानाधिकरण्यमुक्तं कामं वास इति। अत एवाग्रेन भावनामात्रेण कामपूर्तिः साक्षात्सम्बन्धं विना। एतदेवाभिसन्धायोक्तमाचार्यैः रस्मदीय कामः' इत्यादि। तत्र भावनायां मुख्यः कामभावो न भवतीत्यर्थः। अन्यथेति। ईश्वरत्वेन तन्निमित्तकवलाभावस्याभावे रसमर्यादाभङ्गः स्यादित्यर्थः। दत्तस्यादानं ग्रहणम्। तत्र प्रियस्य रसवशात् स्वाधीनत्वे सति तदीयस्यादत्तस्यापि रसाधिक्येन ग्रहणं ससो ग्रहणं प्रकर्षः प्रशब्देन ध्वन्यत इत्यभिप्रायेणाहुः वासोपीत्यादि। अत्र स्वं मदीय स्वं स्वकीयं यथा भवति तथा प्रगृह्यतामित्यर्थः। एतेन भवतीषु नादेयं किञ्चिदस्तीति सूचितम्। सम्बोधनेन पूर्वं बलरहिता अपि मन्निकटे समागत्योक्तरूपबलवत्यो भवत्यो भवन्त्वित्यप्यर्थः सूचितः। वाच्येर्थे वासासमेतदीयत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेन तदुक्तिवैयर्थ्यमाशंक्येत, तदपनोदनाय तद्ध्वनितमर्थं पक्षान्तरत्वेनाहुः अस्मदीयाभिरित्यादिना। अधुना ह्येता वस्त्रवत्कामभावमपि त्यक्त्वा विहरन्ति, मुदेति मदाद्भावनयैव पूर्णमनोरथा इति ज्ञापनात् तथा च सम्बोधनेन स्वातन्त्र्याभावात् स्वानधीनत्वेन स्वकीयत्वं ध्वन्यते, तेन ग्रहणेऽधिकार उक्तो भवति स्वपदाभ्यां च पूर्वसिद्धं स्वत्वमनूद्यत इति ऋषिस्वदशायां प्रार्थनाहेतुर्यः कामः पूर्वं इहैव वा पूर्वकालीनो यः स ध्वन्यते। एतदेवोक्तमस्मदीयाभिरेव पूर्वपरिग्रहः कर्तव्य इत्यनेन। पूर्वपरिग्रहस्त्यक्तार्थपरिग्रह इत्यर्थः। अन्यथेति। अस्माभिर्व्रतबलेनैतावत्साधितम्। तेनैव अन्यदपि साधयिष्यत इति भावे सति भगवदधीनत्वाभावेनोक्तरूपाधिकाराभावात् कर्मफलस्याल्पत्वेन तथाफलत्वेन दत्तवस्त्रग्रहोऽनिष्टः स्यात्। सर्वभावप्रपत्त्यैकलभ्यो रसो हीष्टः। तदितरोऽनिष्ट स स्यादित्यर्थः। एतेन पूर्वं स्वं स्वकीयमेवाधुना त्वाधारं पुनः स्वं यथा भवति तथा गृह्यतामित्यर्थो मूलस्य ध्वन्यते। पूर्ववत् प्रचुरभावयुक्ता भवन्त्विति भावः। भगवतो हि स एवेष्टः। अन्यथा रसाभासः स्यात्। एतदेवान्यथानिष्टः स्यादित्यनेनोच्यते। अथवा। वीप्सया नायिकाभेदेन यादृश्या यादृशो भावस्तादृशी तादृशमेव तं गृह्णातु, न विजातीयमित्यर्थो ज्ञाप्यते। विजातीयग्रहणे रसपोषो न स्यात्। एतदेवोक्तमन्यथेत्यादिना। उच्छलिते रसे त्वन्या व्यवस्थेति न काचिदनुपपत्तिः। तदर्थमेवैतत्करणं यतः। यद्वा। त्यागात्यागनिर्णयरूपत्वादेतत्प्रकरणस्य तन्निर्णयोपयोगि ध्वन्यत इत्याहुः अस्मदीयाभिरित्यादि। अत्रायमाशयः। अधुनैतासां भाव्यवस्थान्तरस्फूर्तौ हि स्वत्वानुसन्धानपूर्वकं वसनस्थापनं तीरे स्यात्, किन्तु रसभरवशेनेयमेवावस्था मे सार्वदिकी कदाचित् तदपेक्षायां प्रियस्योत्तरीयमेव ग्रहिष्य इति प्रत्येकं भावोत्पत्तेर्वसनानां त्याग एव कृतः, न तु स्थापनमात्रम् एवं सति त्यक्तार्थपरिग्रहत्वेन तद्ग्रहणं न युक्तं स्यादिति। तन्निषेधकवाक्यस्य मर्यादामार्गीयपरत्वात् धर्मिपराणां वचनानधीनत्वेन केवलं तदधीनत्वात् तद्दत्तस्य त्यक्तस्यापि ग्रहणं युक्तमेवेति। अन्यथा मर्यादामार्गीयत्वमित्यर्थः। किञ्च, केवलवस्त्राणां त्यागोऽभूत्, भगवांस्त्वधुना स्वकीयकामरूपाणि तानि ददातीति त्यक्तार्थतापि नात्र। आचार्यैस्तु लोकदृष्टिमपेक्ष्य समाहितम्, त्यागनिर्णयकथनार्थं च। वा पूर्वपरिग्रह इत्यत्र नञ्प्रश्लेषो वा कार्यः। यद्वा। पूर्वपदेन पूर्वः पुंस्त्वाख्यो धर्म उच्यते। तदभावे सर्वभावप्रपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्। तेन पूर्वं दण्डकारण्ये पुरुषा एव गोकुले समागत्य स्त्रियो जाता इति पूर्वसम्बन्धं स्वस्य स्मारयन्नत्रागत्याबला इत्यनेन सम्बोध्य कर्तव्यमाह। सः तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वः पुंस्त्वाख्यो धर्मं प्रगृह्यतामिति। अत्र स्वशब्दस्याव्ययरूपस्य कथनात् तद्विशेषणत्वम्। ध्वनितेर्थे लिङ्गादेरविवक्षितत्वेनापि तथा। क्रियाविशेषणं वा। सर्वभावप्रपन्नाभ्य एव स्वानन्दं शृङ्गाररसरीत्यैव दास्यति। स च मानखण्डितादिभावैरेव पूर्णो भवति। सर्वात्मभावस्फूर्तौ च न तत्सम्भव इति कदाचित् तत्सम्भवः कदाचिन्नेति विकल्पेन गृह्यतामित्याह वाशब्देन। विसर्गलोपश्छान्दस इति मूले ध्वनितोर्थो ज्ञेयः॥ १०-१/२॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अन्तरास्थितमिति प्रतिबन्धनिवृत्तेः प्रार्थितत्वात् कन्यावरयोर्विवाहे जवनिका दूरीक्रियते इतिविवृतत्वात् च तदवं वस्त्राणि हृतवानिति ज्ञापयितुमेवमाभास उक्तः, तासां वासांसीत्यत्र किञ्चेति नीपारोहणेन निष्कामताशङ्काभाव उक्तः, प्रहसन्रूपकामयोजनेन च तदभाव इतिसमुच्चयः, बलकार्यार्थमेवेति तासु स्थापनेन पुंस्त्वप्रकारकरसानुभवार्थमित्यर्थः, अत एवेति दृष्टिद्वारा स्थापनेन यथोचितभोगानुकूलां ज्ञानशक्तिं बालेषु दास्यतीत्यर्थः॥ ९१/२॥ अत्रागत्येत्यत्र काममयत्वादिति "सोमाय वास" इत्यत्र 'क इदं कस्मा ददात् कामः कामाये' तिश्रुतेरित्यर्थः, आधिदैविकमिति स्वरूपमित्यर्थः, अत्र वस्त्रेष्वित्यर्थः, निरिन्द्रिया इति इन्द्रियं सामर्थ्यं तद्रहिता असमर्था इत्यर्थः, बहुव्रीहावपीति असमर्थानां भोगासम्भवाद् बलसम्पादनमपि मदर्थमेवेति स्वार्थमेवेतद्द्वयदानं षष्ठ्यन्तबहुव्रीहावपि सिद्धं न वलं याभ्यो यन्निमित्तकं बलं मम नास्त्यहं भवदधीनोऽतो ददामीत्यर्थः, एवं निमित्ततायां बहुव्रीहौ निमित्ततावोधनार्थकचतुर्थ्यन्तबहुव्रीहावपि तथैव सिद्धमित्यर्थः, मायया चेति परिहासकथनं चकारार्थः॥ १०१/२॥ न मयोवितेत्यत्र मया वेति मत्कर्तृकं जगन् नान्ततं किन्तु सत्यमेवेत्यर्थः॥१११/२॥ तस्येत्यत्र अनेनेति क्ष्वेलितत्वकथनेनेत्यर्थः, तथा च विचाराभावात्, क्ष्वेलितत्वज्ञानं, हेत्वान्तरमप्याहुः किञ्चेति, अन्योयेति अन्योन्यं सम्बन्धसंवेदनाभावस्तस्मात् तस्याः सम्बन्धस्तया तस्याः सम्बन्धस्तया न ज्ञायत इत्यर्थः, कौतुकमिति स्वस्या एवान्तःसम्बन्धो नान्यासामिति मत्वेत्यर्थः॥ १२१/२॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तासां वासांस्युपादायेत्यस्य विवृतौ स्वान्तःस्थितेत्यारभ्य अन्यत्र स्थापितमित्यादेरर्थष्टिप्पण्यां प्रपञ्चितोऽस्ति, उपपत्तिश्च नितेरां इ कामं पिबतीति नीप इति, इकारस्य कामबीजत्वं मन्त्रशास्त्रे सिद्धं, तथा च इं कामं पिबति कामभोगं करोतीतियावत्, बलकार्यार्थमेव तत्र नीता इति पुम्भावरमणरूपबलकार्यार्थं तत्र वस्त्रग्रहणस्थले नीता इत्यर्थः, अस्मिन्नध्याये सुबोधिनीफक्किका बह्व्यो गूढार्था सन्ति ता यद्यपि व्याख्येयास्तथापि श्रीमत्प्रभुचरणैर्विस्तरेण टिप्पण्यां व्याख्याता इति ततोवधेयम् ॥ ९½ ॥ अत्रागत्याबला इत्यस्य विवृतौ बहुव्रीहावपि निमित्तत्तायामिति निमित्तत्तायां बहुव्रीहावपीत्यन्वयः, निमित्तताज्ञापकं बहुव्रीहौ न बलं याभ्य इतिविग्रहे यन्निमित्त मयि बलं नास्ति, सर्वेभ्यो मम बलं, भवतीभ्यस्तु मयि बलं नास्ति, "अहं भक्तपराधीन" इत्यारभ्य "वशे कुर्वन्ति मां भक्त्ये"तिवाक्याद् "यथा भक्तिमतामिहे"त्यादिवाक्याच् च भवदधीनोहं न भवतीषु मद्बलमितिभावः, अन्यथेत्यादि यदि कामं वस्त्रं वा न दद्यां तदा अबलात्वमेव तिष्ठेन् न बल, तथा सति मदीयकामं विना मया सह रमणे योग्यताया अभावाद् रसन्यूनतैव तिष्ठेत्, तथात्वे रसमर्यादाभङ्गः स्यादित्यर्थः, अथ वा ये मद्भक्तास्ताहयं मदानन्दानुभवायोग्यास्तेषु योग्यतामपि सम्पाद्यानन्दानुभवं चेन् न कारयेयं तदा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इतिवाक्योक्तभक्तिमार्गमर्यादाभङ्गः स्यादित्यर्थः, वासोपि मयि स्थितमित्यादीनामर्थष्टिप्पण्यां स्फुट एव, बालकानां माययेति "हसद्भिः प्रहसन् बालै"रितिवाक्याद् बालकानां हास्यरूपया मायया व्याप्ताः, अस्माकं परिहासो भगवता बालैश्च क्रियते इतिज्ञानाद् भगवद्वाक्ये प्रामाण्यबुद्धिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य सत्यं ब्रुवाणीत्युक्तं भगवतेतिभावः ॥ १०½ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्रागत्य च तासां वासांस्युपादाय गृहीत्वा सत्वरः त्वरया सहितो नीपं कदम्बमारुह्य हसद्भिर्बालैः सह स्वयमपि प्रहसन् परिहासवचनमुवाच । भगवल्लीलाया आश्चर्यं सूचयति—हेति ॥ ९ ॥ तद्वचनमेव दर्शयति—अत्रेति । हे अबलाः ! अत्रागत्य कामं यथेष्टं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् । इदं सत्यमेव ब्रवाणि, नो नर्मं न परिहासम् । तत्र हेतुमाह—यत् यस्मात् यूयं व्रतेन कर्शिताः श्रान्ताः । एवंभूतासु नर्मवचनं नोचितमित्याशयः ॥ १० ॥ स्ववचने ससाक्षिकं प्रामाण्यमाह—नेति । मया अनृतं नोदितं पूर्वम्, मया पूर्वं कदाप्यनृतं नोक्तमित्यर्थः । तत् अनृतस्यानुक्तपूर्वत्वं इमे गोपा विदुर्जानन्ति । परिहासमेव सूचयन् सम्बोधयति—सुमध्यमा इति । अतः एकैकशोऽत्रागत्य, उत अथवा सहैवागत्य वासांसि प्रतीच्छध्वं स्वीकुरुत । अत्र नास्माकमाग्रहः ॥ ११ ॥ तदेवं वस्त्रहरणादिरूपं तस्य क्ष्वेलितं दृष्ट्वा प्रेम्णा परिप्लुता व्याप्ताः अन्योन्यं वीक्ष्य व्रीडिताश्च, जातो हासो यासां ता गोप्यो जलाद्बहिर्निर्ययुः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तासामिति ॥ तत्रागत्य च तासां वासांस्युपादाय सत्वरः नीपं कदम्बमारुह्य हसद्भिः बाल्यान्निष्कारणहास्यवद्भिः बालैः सह स्वयमपि प्रहसन् परिहासवचनमुवाच ॥ ९ ॥ अत्रेति ॥ हे अबलाः ! अनेन मद्वचनाकरणे युष्माभिः किं कर्तुं शक्यमित्युक्तम् । अत्रागत्य कामं यथेष्टं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् । इदं सत्यमेव ब्रुवाणि । उकारस्वरवानार्षः पाठः । ब्रवाणीत्यपि पाठः । नो नर्मं नेदं परिहासवाक्यम् । यत् यस्मात् यूयं व्रतेन कर्शिताः श्रान्ताः एवंभूतासु नर्मवचनं नोचितमित्याशयः ॥ १० ॥ नेति ॥ हे सुमध्यमा ! मया अनृतं नोदितपूर्वं मया पूर्वं कदाप्यनृतं नोक्तमित्यर्थः । उदितपूर्वमित्यत्र सुप्सुपेति समासः । तत् अनृतस्यानुक्तपूर्वत्वम् । इमे गोपा विदुर्जानन्ति । बालानां यथा दृष्टग्राहिस्वभावत्वादेते पृच्छ्यन्ताम् । अतो यदि मत्तः शङ्कध्वे तर्हि एकैकशोऽत्रागत्य वासांसि प्रतीच्छध्वम् । तद्भावः । स्वीकुरुत । प्रथममवरा काचिदागच्छतु ततः क्रमेणान्य इति । यदिप्रथमायै न दद्यां तर्ह्यन्याभिर्नागन्तव्यमिति । उत अथवा सहैवागत्येति अत्र नास्माकमाग्रहः ॥ ११ ॥ तस्येति ॥ तत् वस्त्रहरणादिरूपं तस्य क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा प्रेम्णा परिप्लुताः व्याप्ताः अन्योन्यं प्रेक्ष्य व्रीडिताश्च जातो हासो यासां ता गोप्यो जलाद्बहिर्निर्ययुः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

सत्वरः शीघ्रं नीपं कदंबं परिहासं उपहासवाक्यं ॥ ९ ॥ हे अबलाः कामं स्वेच्छया स्वं स्वं । स्वकीयं स्वकीयं वस्त्रं युष्माभिः प्रगृह्यतां नो नर्मं नोमहासः यद्यतः यूयं व्रतेन कर्शिताः क्षमाः ॥१०॥ अनृतं उक्तपूर्वं नास्ति तत् सत्यस्वभावत्वं इमेगोपाः एकैकशः सहैव वा आगत्य प्रतीछध्वं गृह्णीध्वं ॥ ११ ॥ क्ष्वेलितं परिहासोक्ति प्रेमपरिप्लुताः प्रेमरसनिर्भताः ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तासामिति ॥ तासां कुमारिकाणां, वासांसि उपादाय गृहीत्वा, सत्वरस्त्वरान्वितः सन्, नीपं कदम्बतरुं, आरुह्य, हसद्भिः बालैः सह, प्रहसन् सन्, ह स्फुटं यथा तथा, परिहासं परिहासवाक्यं, उवाच ॥ ९ ॥ तदेव दर्शयति ॥ अत्रेति ॥ हे अबलाः, अत्र आगत्य, स्वं स्वं वासः, कामं यथेष्टं, प्रगृह्यताम् । एतत् सत्यमेव, ब्रवाणि । नर्मं परिहासं, नो नैव । यद्यस्मात्, यूयं व्रतकर्शिताः

व्रताचरणेन श्रान्ताः। व्रतिनां पुरोऽनृतभाषणस्यायुक्तत्वात् ॥ १० ॥ स्ववचनप्रामाण्यं ससाक्षिकमाह ॥ नेति ॥ मया अनृतं न वा नैव उदितपूर्वं नोक्तपूर्वं, कदापि मयाऽनृतं नोक्तमित्यर्थः। तदनृतस्यानुक्तपूर्वत्वं, इमे गोपाः, विदुः। अतः हे सुमध्यमाः, एकैकशः आगत्य, प्रतीच्छध्वं स्वीकुरुत। उताथवा, सहैव प्रतीच्छध्वम्। नास्माकं तत्राग्रहः ॥ ११ ॥ तस्येति ॥ एवं तस्य श्रीकृष्णस्य तदुक्तविधं, क्ष्वेलितं परिहासं दृष्ट्वा, प्रेमपरिप्लुताः प्रेम्णा परितो व्याप्ताः, अन्योन्यं प्रेक्ष्य च व्रीडिताः, गोप्यः, जातहासा हसन्त्यः सत्यः, न निर्ययुः। जलादिति शेषः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वासांस्युपादायेति : १०.२२.९.

यन्मह्यमर्पणीयं तदनिशमभिरक्षितं किलामीभिः। इति तत्मूल्यमिवासौ करतः स्वानुग्रहं चकार विभुः ॥ २३ ॥
यन्मां भूतादिकरं वदति जनेष्वागमाखिलेषु भवान्। तत्पश्य पश्यतु जनस्त्वदविश्रम्भीति सोऽम्बरकरोऽभूत् ॥ २४ ॥
गच्छन्नेव स भगवांस्तत्पटनिचयं जहार युक्तमिदम्। यद् गोकुले विहरतः सिद्धाऽस्य विभोः सदाधिकपटरुचिः ॥ २५ ॥
यद्वस्तु स्ववशे विधेयमिति यश्चित्ते चिरं चिन्तयत्यारात् तेन तदीयरक्षकगणो दानेन भेदेन वा।
नेयः पूर्वमधीनतां नयमिमं जानन् प्रभुस्तत्कृते चक्रे भूरि करार्पणं पटचये तद्रक्षके सक्षणम् ॥ २६ ॥
सत्यावरणे सुदृशामपि न मदीयप्रसादसौलभ्यम्। इति किं तदनुजिघृक्षुः पटहृतिमिषतोऽहरत्तदावरणम् ॥ २७ ॥
अस्मच्चेतो वासो विलसतु भगवति सदेति तत्कामम्। प्रभुणा पूरयता तन्मिषतः स्वस्मिन् न्यधायि तद्वासः ॥ २८ ॥
गुणिजनसङ्ग्रहकामो भवति गुणज्ञः स्वतश्च गुणवान् यः। तदुचितमनेकगुणवत्पटसङ्ग्रहमकृत सकलगुणकीर्तिः ॥ २९ ॥
अम्बरकरता सिद्धा तथाम्बरावरणमपि जगति। आगमशाखाविलसनमपीति विभुना न्यदर्शि निजरूपम् ॥ ३० ॥
परगुह्यगोपनचणा गुणिनः सद्रागरञ्जिता नितराम्। तानागमपदकलितांश्चकार करतः प्रभुर्हि तद्युक्त्या ॥ ३१ ॥
व्रतं वा जपो वा तपो वाऽध्वरो वा विना दानमस्मिन् वृथैवाखिलं तत्।
अतस्तद्व्रतं पूरयन् प्रत्यगृह्णात् स्वयं तानि कृष्णार्पणं कल्पयन् सः ॥ ३२ ॥

हसद्भिरिति :

जडजातविहृतिसाधनमेकं स्मृतिजातसिद्धमावरणम्। तस्मिन् हृतेऽपि जडगतमतयोऽद्यापीति जहसुरखिलास्ते ॥ ३३ ॥
यावदवरणमस्ति दुर्लभं तावदेव मम दर्शनं भुवि। बोधयन्निति समुज्झिताम्बरा वीक्ष्य ताः प्रभुरदात्स्वदर्शनम् ॥ ३४ ॥
गूढार्थकोपदेशो यत्र विधेयोऽस्ति धीमता तत्र। बाह्यदृशा परिहासो यथाऽवभासेत तादृगिह वाच्यम् ॥ ३५ ॥
अम्बरं जितमिदं मम चेतो येन तुष्यति तदेव दिशत्वम्। सर्ववित्त्वमनुबोधयिताऽसौ प्राक् तदुक्तगिरमेवमवादीत् ॥ ३६ ॥
निःशेषावरणं गतं यदि तदा भूयस्तदासक्तिभिर्भाव्यं नैव जनैरिति श्रुतिगतः पक्षोऽस्ति मुख्यो मम।
तत्सङ्ग्राहकवासना यदुदिता तत्क्षणे धीमता सन्त्याज्या जडजातसङ्गतिरिति श्रीशः सदेवाब्रवीत् ॥ ३७ ॥

सत्यमिति-१०.२२.१०.

न बुद्धिभेदं जनयेदितीरितं मयैव तस्मान्नहि नर्मभृद्वचः अवोचमेवं न पुरो वदामि वेत्यङ्कमायात जडाद्धृतव्रताः ॥ ३८ ॥
अवोचमनृतं पुरा क्वचिदपीति मे न स्मृतिर्लसत्स्मृतिभुवां च वो यदिह सास्ति तद्भण्यताम्।
इमानपि च पृच्छत स्वागतसंशयोच्छित्तये यतः स्मृतिमदन्तरा इति भवत्प्रसिद्धा इमे ॥ ३९ ॥

एकैकश इति—१०.२२.११.

एकैकशश्च सह वाऽऽगमनेऽपि तुल्यं पक्षद्वयं मम तु चिन्तयताऽऽस्मभावम्।
बुद्ध्वा परस्परमकृत्रिमहार्दधर्मं कामं यथेच्छत तथा कुरुतोत्तमाङ्ग्यः ॥ ४० ॥
योऽनङ्गधीस्त्यक्तरसोऽप्यस्मिन् भूयाद्रसाश्रितः। स मत्प्रेमेक्षणार्हः स्यादित्युक्तं मन्मतं मया ॥ ४१ ॥
तद्व्रतफलदेनापि प्रभुणा ब्रुवता ससाक्षिकं तत्र। आबोधि स्वाचरणादैकान्तिकयुवतिभाषणनिषेधः ॥ ४२ ॥

व्रीडिता इति : १०.२२.१२.

प्रभुचरित्रमवाङ्मतिगोचरं समवलोक्य तदा श्रुतयोऽखिलाः। निजनिजात्मसमन्वयकामुका जडगता नितरामवतस्थिरे ॥ ४३ ॥
निजां जडात्रस्थितिमेष माधवो दर्याद्रदृष्ट्या परिहर्तुमागतः। ध्रुवं विदन्त्योऽपि ततो न निर्ययुर्वहिर्युवत्यो विरसत्वशङ्कया ॥ ४४ ॥
नैवालक्षि यदीयरूपममलैर्वेदैश्च यो नेक्षितो ब्रह्माद्यैरमरैरपीति कतमस्तादृक् परः पुण्यवान्।
सोऽयं श्रीपतिरेक्षि यस्य बहुशोऽध्यासात्तमेतं रसं त्यक्तुं नाम यतेत का युवतिरित्यालोच्य तस्थू रसे ॥ ४५ ॥
यास्ते गिरो यदुपते वयमेव ताः स्मस्तन्नर्म वा सदिति वा किमु शोधनेन।
वाग्वृत्तिदूरतरकेलिपदस्य तेऽमूर्वाचः कुतूहलकृता इति सिद्धमेव ॥ ४६ ॥

कृष्णप्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण, स्वयं गोपकुमारिकाओं के वस्त्रों को अपने पास लेकर, उठाकर वडी फुर्ती से एक कदम्ब के पेड पर जा बैठे और कृष्ण के साथी ग्वाल वाल ठठ्ठा-ठठ्ठाकर हँसने लगे, श्रीकृष्ण भी स्वयं हँसने लगे और हँसते हुए यों हँसी के वचन बोले॥ ९॥ हे अवलाओं! हे कुमारिकाओं! आप यहाँ स्वयं आकर यदि चाहो तो अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। मैं आप सब को सत्य बात ही कह रहा हूँ, हंसी नहीं करता, क्योंकि आप सब व्रत करते-करते निर्वल एवं कृश हो रही हो॥ १०॥ अरी कुमारियों! मेरे सब सखा साक्षी हैं, वे जानते हैं कि, मैंने अबतक, प्रथम जो कुछ कहा वह झुठ नहीं है। हे सुमध्यमाओं! हे सुन्दरीओं! आप एक एक करके आकर अपने अपने वस्त्र ले लीजिए अथवा सब एक ही साथ आओ और वस्त्र ले जाओ॥ ११॥ भगवान के उस हँसी भरे कार्य को देखकर गोपियाँ प्रेम में सरावोर हो गई एवं लज्जान्वित भी हो गई। पुनः वे एक दूसरी की ओर देखकर मुसकराने लगी और जल से बाहर नहीं निकली॥ १२॥

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः। आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन्॥ १३॥

[1]मानयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्। जानीमोऽङ्गव्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥ १४॥

[2]श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम्। देहि वासांसि धर्मज्ञ नो[3] चेद् राज्ञे ब्रुवामहे॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ। अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु [4]शुचिस्मिताः॥ १६॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोविन्दे एवम् ब्रुवति, नर्मणा आक्षिप्तचेतसः शीतोदे आकण्ठमग्नाः वेपमानाः तम् अब्रुवन्॥ १३॥ हे अङ्ग! भोः! अनयम् मा कृथाः त्वाम् तु नन्दगोपसुतम् प्रियम् व्रजश्लाघ्यं "जानीमः", हे अङ्ग वेपिताः "वयम्" वासांसि देहि॥ १४॥ श्यामसुन्दर! ते दास्यः, तव उदितम् करवाम, हे धर्मज्ञ! वासांसि देहि, नो चेत् राज्ञे ब्रुवामहे॥ १५॥ भवत्यः यदि मे दास्यः, मया उक्तम् वा करिष्यथ, "तर्हि" हे शुचिस्मिताः अत्र आगत्य स्वस्व वासांसि प्रतीच्छन्तु॥ १६॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तत्र मुग्धा ऊचुः। अंग भोः श्रीकृष्ण अनयमन्याय्यं मा कृथाः॥ १४॥ प्रौढा ऊचुः। नो चेद्राज्ञे नंदाय कंसाय वा ब्रुवाम ब्रवाम हे कृष्णेति॥ १५-१६॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवम् उक्तरीत्या। वेपमानाः कंपमानाः। तम् श्रीकृष्णम्॥ १३॥ तत्र तासां मध्ये। मुग्धाः,—अंकुरीतयौवना मुग्धाः। अंकुरादेर्वृक्षधर्मत्वेन यावनवाधात्प्रत्यग्रत्वं लक्ष्यते, तेन शोभातिशयो व्यज्यते। एवं च पतिमात्रानुरागवत्त्वे सति प्रत्यग्रयौवनत्वमिति फलितं मुग्धा लक्षणम्, तेन सामान्यवनिताप्रतिपालितास्वंकुरितयौवनासु नातिव्याप्तिः॥ १४॥ प्रौढाः—पतिमात्रविषयकेलिकलापकोविदाः प्रौढाः। पत्यतिरिक्तकेलिकलाभाववत्त्वे सति केलिकलाप्रावीण्यमित्यर्थः। वेश्यायां कुलटायां च पतिमात्रविषयत्वाभावान्नातिव्याप्तिरिति। नंन्दस्य पितृत्वात्ततो न मे भयमित्यस्वारस्यादाह—कंसाय वेति। केचित्त्वत्र वर्णचतुष्टयजास्ता इत्यूचुः। दास्य इत्युक्तवंत्यः शूद्रजाः, करवामेत्यादिवचना वैश्यजाः, देहीत्यादिवचना विप्रजाः, नो चेदित्यादिवचनाः क्षत्रियजा इति। "न जारजातस्य ललाटशृंगं कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मम्। यथायथा मुंचति वाक्यजालं तथातथा तस्य कुले प्रमाणम्॥" इत्यभियुक्तोक्तेः परीक्षा सुलभैव। अत्र च जातिनिर्णयार्थं राजांतरप्रेषिततुल्यरूपविद्यादिगुणाः चतस्रः कन्यका यथा कालिदासेन तद्वचनानुसारेण भोजसभायां पृथक्पृथग्जात्या निर्णीताः सापि कथाऽनुसंधेया। लोकरंजनार्थं तद्वाक्यपद्यं च—"अभूत्प्राची पिंगा रसपतिरिव प्राश्य कनकं गतच्छायश्चंद्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि। क्षणात्क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा न दीपा राजंते द्रविणरहितानामिव गुणाः॥" इति। अत्र क्रमेण शूद्रविप्रक्षत्रवैश्यजास्ता इति ध्येयम्। ब्रूवामेति भिन्नम्। हे इत्यनेन कृष्ण आक्षिप्यते 'यद्येन विनानुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' इति न्यायेन। कथनफलस्य दंडादेः कृष्णगामित्वात्परस्मै पदमेव युक्तमिति मत्वाह—ब्रूवामेति॥ १५॥ हे शुचिस्मिताः शोभनेषद्धासवत्यः॥ १६॥

१. मानयन्त्यो वयं त्वां तु—विज.। २. स्याम—विज.; चित्सुख०। ३. देहि वासांसि धर्मज्ञ 'वेपितानां महाबल'। "शीतार्दितानां" बालानां नोचेद्राज्ञे ब्रुवामहे॥ इदं पादद्वयमधिकं विज.। ४. सुमध्यमाः—विज.। "नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति"—विज. पाठे इदमर्धमधिकं दृश्यते।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवं ब्रुवतीति पुनः पुनस्तथैव नानाप्रकारं वदतीत्यर्थः । गां वाचं निजवश्यतया विन्दतीति गोविन्दस्तस्मिन्निति परमवाग्मिता अभिप्रेता नर्माकृष्टचेतस्त्वेनैवाब्रुवन् अन्यथा नावदिष्यन्नित्यर्थः । किञ्च, वेपमानाः तत्र हेतुः लज्जया शीतोदकेप्याकण्ठमग्नाः ॥१३॥ आदौ साम्नाऽऽहुः-मेति । प्रागेव माशब्दनिर्देशो व्यग्रतया अनयाऽकरणदार्ढ्यार्थं वा भो इति अङ्गेति च सप्रेमार्त्तिसम्बोधने अत एव द्विरुक्तिः नन्दगोपस्य सुतं जानीम इति त्वं गोपकुमारः वयञ्च गोपकन्यका इति अस्मान् प्रत्येताद्दृशमन्याय्यं कर्त्तुं नार्हसि श्लेषेण नन्दयति व्रजमिति नन्दो यो गोपः व्रजराजस्तस्य सुतमिति प्रजास्वस्मासु युवराजस्य तव न्याय एवोचितः नतु स्वपितृप्रतिकूलं दुःखदानादिकर्मेति । यद्वा, नन्दस्य गोपं सुतमिति सर्वव्रजजनाजीव्यरक्षकस्य तव विरुद्धाचरणं न युक्तमिति भावः । अत एव तन्नामग्रहणं संरम्भस्यौदासीन्यस्य च व्यञ्जनाय तच्च स्वभावव्यक्तौ लज्जया तत्र च प्रिय प्रिय इति जानीमः अतोस्माकमप्रियाचरणमन्याय्यमेवेति भाव । किञ्च व्रजे व्रजमध्ये व्रजेन वा श्लाघ्यं च जानीमः अतो व्रजनिन्द्यैतत्कर्माचणमयुक्तमेवेति भावः । दाने हेतुः वेपिता वयं यद्वा वेपिताः प्रति इति कृपां जनयन्ति ॥ १४ ॥ अधुना दानं प्रदर्शयन्ति–स्यामेति । दास्यः स्याम भवेमेति चित्सुखसम्मतः पाठः एवं दास्येनात्मसमर्पणादिकमेव दानमूह्यं तत्रापि तवोदितं करवामेति विशेषोक्तिर्भावविशेषं व्यञ्जयति, श्यामेति तालव्यादिः क्वचित् तत्र दास्यः सत्य इति योज्यं किन्तु भगवान् पृथगेवानुवादं करिष्यति अधुना भेदं प्रयुञ्जते धर्मज्ञेत्यादिना अन्यथा नग्नस्त्रीसंदर्शनेन परस्वहरणादिना चाधर्मतो भयमिति भावः । अदृष्टात्तस्य भयमनालोच्य दृष्टभयमुत्पादयन्ति नोचेदिति इति द्विविधो भेदः राज्ञे गोपराजाय श्लेषेण नन्दगोपसुतम् अर्थात् तस्यैव प्रियमिति प्रियत्वेन न त्वं किञ्चिद्बलाच्छिक्षितोसि तथा अङ्गैरेव व्रजे श्लाघ्यं नतु गुणैः धर्मज्ञेति सोल्लुण्ठोक्त्या धर्मपारत्याग इति अत्र तस्य तत् क्ष्वेलितमित्यारभ्यैतत्पर्यन्तेन किलकिञ्चिताख्योऽनुभावोऽनुसन्धेयः यथोक्तम्—

"गर्वाभिलाषरुदितस्मितासूयाभयक्रुधाम् । सङ्करीकरणं हर्षादुच्यते किलकिञ्चितम्" ॥ इति ॥ १५ ॥

तासां तथाङ्गीकारेणैव पराजयं करोति भवत्य इति आदर व्यञ्जकभवच्छब्दप्रयोगः । अयं प्रोत्साहनार्थं स्वशब्देन च निजपरिधानमवश्यमाशुगृहीतुमुपयुज्यत इति भावः । हे शुचिस्मिताः ! इति ईदृशेन शुद्धस्मितेनावगम्यते शीतादिदुःखं नास्ति वेपनं च कपटेनैवेति । यद्वा, शुचिस्मिताः सत्यः प्रतीच्छत मुखम्लानौ च सत्यो न दास्याम इति भावः नोचेदित्यर्द्धं क्वाचित्कं न प्रदास्ये प्रकर्षेण न दास्यामीति यदि वा किञ्चिद्दद्यां तदा खण्डशो विदार्य्यं किञ्चित् किञ्चिदेव काञ्चित्प्रत्येव दास्यामीति सूच्यते राजा गोपराट् क्रुद्धोऽपि सन् किं करिष्यति अपि तु न किञ्चिदेवेत्यर्थः । पुत्रे मयि स्नेहविशेषात् इत्यूक्त्वा कानिचित्तासां वस्त्राणि स्वस्यासनानि कृत्वा कानिचित् शय्यां रचयित्वा कानिचिद्ध्वजपताकावितानादितयानीय शाखोपशाखादिषु बद्ध्वा कानिचिद्दोलां रचयित्वा दोलयन् कानिचिदितस्ततो रक्षितवानित्यूह्यं स्कन्धे निधायेति विचित्यैकत्र निधानस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं ब्रुवतीति पुनः पुनस्तथैव वदतीत्यर्थः । गां वाचं निजवश्यतया विन्दतीति गोविन्दः, तस्मिन्निति परमवाग्मितामभिप्रेता, नर्मणा आक्षितान्याकृष्टानि चेतांसि यासां ताः, अतोऽब्रुवन्, अन्यथा व्रीडया नावदिष्यन्नित्यर्थः किञ्च, वेपमानाः, तत्र हेतुः शीतोदे शीतलजले आकण्ठमग्ना लज्जया वक्षःस्थलाच्छादनाय कण्ठपर्यन्तं चिरं प्रविष्टाः ॥ १३ ॥ आदौ साम्ना आहुः—मेति । प्रागेव मा-शब्दनिर्द्देशोव्यग्रतया अनयाकरवदार्ढ्यार्थं वा भो इति, अंगेति च प्रेमसम्बोधने, अतएव द्विरुक्तिः । नन्दगोपस्य सुतं जानीम इति त्वं गोपकुमारः, वयञ्च गोपकन्या इत्यस्मान् प्रत्येतादृशमन्याय्यं कर्तुं नार्हसीति । किंवा, नन्दयति व्रजमिति नन्दो यो गोपो व्रजराजस्तस्य सुतमिति प्रजास्वस्मासु युवराजस्य तव कृपैवोचिता, न तु स्वपितृप्रतिकूलं दुःखदानादिकर्मेति । यद्वा, नन्दगोपस्य सुतमिति सर्वव्रजजनाजीव्यरक्षकस्य तव विरुद्धाचरणं न युक्तमिति भावः । तत्र च प्रियं प्रिय इति जानीमः, अतोस्माकमप्रियाचरणमन्याय्यमेवेति भावः । किञ्च, व्रजे व्रजमध्ये व्रजेन वा श्लाघ्यश्च जानीमः, अतो व्रजनिन्द्यैतत्कर्म्माचरणमयुक्तमेवेति भावः । यतो वेपिता वयम्, यद्वा' वेपिताः प्रति इति कृपां जनयन्ति; यद्वा, त्वां प्रियंव्रजश्लाघ्यश्च जानीमः, यत् त्वया वस्त्रहरणाच्छीतोदे आकण्ठमग्नतया वेपिताः कम्पं प्रापिता इति सोत्प्रासनर्म्मोक्तिः ॥ १४ ॥ अधुना दानं प्रदर्शमन्ति—श्यामेति । श्यामश्चासौ सुन्दरश्चेति; यद्वा, श्यामेषु सुन्दरस्तस्य सम्बोधनम् अतएव तव दास्यो वयम्, विशेषतश्चेतत्–प्रभृति तव उदितं त्वदुक्तं करवाम; यद्वा, 'उदितम्' उदयमुत्कर्षं स्थापयामेत्यर्थः । दास्यः सत्य इत्यत्रैव वा योज्यम्, दास्यः स्याम भवेमिति श्रीचित्सुखसम्मतमेव । एवं दास्येनात्मसमर्पणादिकमेव दानमूह्यम् । अधुना भेदं प्रयुञ्जते धर्मज्ञेत्यादिना, अन्यथा नग्नस्त्रीसन्दर्शनेन परस्वहरणादिना चाधर्मतो भयमिति भावः । अदृष्टात्तस्य भयमनालोच्य दृष्टभयमुत्पादयन्ति—नोचेदिति । इति द्विविधो भेदः, इदञ्च सर्वं पूर्वं श्लाघनीयगुण इत्यत्र विवृतमस्ति, राज्ञे गोपराजाय; श्लेषेण नन्दगोपस्य सुतं प्रियमिति प्रियत्वेन न त्वं किञ्चिद्बलाच्छिक्षितोऽसि, किंवा युवराजपक्षे तवेदृशी मत्ततोचितैवेति गोपसुतमिति,पक्षे गोपत्वेन गोसंगत्या तादृश एवेति । तथा अंगव्रजैः सर्वावयवैरेव, किंवा नन्दगोपसुतमिति अंगैरेव व्रजे श्लाघ्यम् न तु गुणैः । धर्मज्ञेति च सोल्लुण्ठोक्त्या, धर्मपरित्याग इति तत्त्वतश्चायं गूढाऽभिप्रायः ।

विशेषणत्रयेण पतित्वयोग्यतया आत्मनः पतित्वेन कामनायां हेतुः। तथा श्यामसुन्दरेति च; दास्य इति वयमपि तव पत्नीत्वयोग्याः, तत्र च दासीशब्देन करवाम तवोदितमित्यनेन च भक्तिविशेषः। धर्मज्ञेति ईदृशाश्रितजनानामुपेक्षानुपयुक्ता, अन्यथा राज्ञे धर्मराजाय ब्रूवाम मरिष्याम इत्यर्थं इति ॥ १५ ॥ भवत्य इत्यादौ भक्ताद्यपेक्षयादरात्, अत्रागत्येति न तु मया प्रक्षिप्यमाणानि जलान्तः स्थित्वा ग्राह्याणीत्यर्थः। स्वशब्देन निजपरिधानमवश्यमाशु ग्रहीतुमुपयुज्यत इति भावः। हे शुचिस्मिता इति ईदृशेन शुद्धस्मितेनावगम्यते शीतादिदुःखं नास्ति, वेपनं कपटेनैव; किञ्च मदुक्तमंगीकृत्यात्रागत्य युष्माभिर्वस्त्राणीमान्यधुनैव ग्राह्याणीति चातुर्यविशेषेण जलादाकर्षति। यद्वा, शुचिस्मिताः सत्यः प्रतोच्छत। मुखम्लानौ च सत्यां न दास्य इति भावः। एष रसिकताविशेषः; न प्रदास्य प्रकर्षेण न दास्य इति प्रशब्देन यदि वा कथञ्चिद्द्यां तदा खण्डशो विदार्य किञ्चित् किञ्चिदेव काञ्चित् प्रत्येव वा दास्यामीति सूच्यते। राजा गोपराजः क्रुद्धोऽपि सन् किं करिष्यति ? अपि तु न किञ्चिदेवेत्यर्थः पुत्रे मयिस्नेहविशेषात्। अत्र च प्रस्तुतत्वेन श्लेषार्थोऽयं ज्ञेयः। शुचिस्मिता इति परमसौन्दर्योक्त्या तासां निजपरिग्रहयोग्यता सूचिता। अतो विवाहं विनापि स्वीकारेण मयि युष्मासु च क्रुद्धोऽपि सन् धर्मराजः किं कर्तुं शक्नुयात्, इत्युक्त्वा कानिचित्तासां वस्त्राणि स्वस्यासनानि कृत्वा कानिचिच्छायां रचयित्वा कानिचिद्ध्वजपताकावितानादितया नीपशाखोपशाखादिषु बद्ध्वा कानिचिद्दोलां रचयित्वा आन्दोलयन् कानिचिदितस्ततस्तदुपरि चिक्षेपेत्यूह्यम्, (१८ श श्लो.) 'स्कन्धे निधाय' इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अनयमिति पदं वेपिताः कम्पिताः वयं जानीम इत्यन्वयः ॥ १४-१८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

गोविन्दे एवं ब्रुवति सति नर्मणा परिहासेनाक्षिप्तं गृहीतं चेतो यासां ताः शीतोदके आकण्ठमग्नाः अत एव कम्पमानाः कृष्णमब्रुवन् ॥ १३ ॥ किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां सामादिचतुर्विधोपायपूर्वकं भगवज्ज्ञानसम्पन्नं गोप्युक्तमाह-द्वाभ्याम्। भोः कृष्ण ! अनयमन्यायं मा कृथाः त्वां नन्दराजस्य सुतमत एव तस्य प्रियं च जानीमः नन्दराजोऽपि प्रेम्णा त्वामनयकारिणमपि न शिक्षयतीति भावः। नवनीतचौर्यादिषु धौर्त्यं प्रसिद्धमवेत्यभिप्रायेण विशिषन्ति, श्लाघ्यमिति। यद्वा, अस्मदनुष्ठितव्रतेन नन्दराजसुतं त्वां श्लाघ्यं प्रियं भविष्यन्तं जानीम एव किन्त्वधुनैवानयं मा कृथाः वयं तु शीतोदकवेपिताः अतो वासांसि प्रयच्छ ॥ १४ ॥ हे श्यामसुन्दर ! ते तव दास्यो वयं तवोदितं त्वयोक्तमन्यत् किञ्चित्करवाम भावगर्भमिदं निरतीशयत्वत्सौन्दर्यादिभिस्त्वद्दास्यः सत्यः त्वदभिप्रेतं करवामैवेत्याभिप्रायः। हे धर्मज्ञ ! अनेनैकान्ते नग्नस्त्रीदर्शनाकरणरूपधर्मज्ञ ! स्त्रीणां लज्जास्वभावरूपधर्मं जानातीति तथेति वा वासांसि प्रयच्छ मुग्धभावादनुपपन्नमपि त्रासयन्त्य इवाहुः नोचेन्न प्रयच्छसि नोचेद्राज्ञे नन्दाय कंसाय वा ब्रूवामहे ॥ १५ ॥ एवमुक्तो भगवान् यदुक्तं "नोचेद्राज्ञे ब्रूवामहे" इति तदिदमनुपपन्नं नहि जलान्निर्गत्य वासांसि गृहीतुमेव लज्जन्तीनां राज्ञे ब्रूवामहे इत्युक्तिरुपपन्ना नग्नानां राजसन्निधौ गमनासम्भवाच्च न चान्यप्रेषणया निवेदनसम्भवः प्रेषणीयजनस्यात्राभावादिति तदुक्तेरुत्तरं न देयमेवेत्याभिप्रेत्य "ते दास्यः करवाम तवोदितम्" इत्यस्योत्तरमाह—भवत्य इति। हे शुचिस्मिताः ! नहि स्वामिनोक्तं किञ्चिदेव स्वसम्मतं दासीभिः कर्त्तव्यमिति नियमः किन्तु सर्वमपि तदभिमतं कर्त्तव्यमिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नर्मणा गर्हितस्नेहविनोदवचनेन ॥ १३ ॥ शीतजले स्थित्या वेपिताः वयम् ॥ १४ ॥ ते तव दास्यः श्याम भवाम राज्ञे नन्दगोपाय ॥ १५-१६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

(१२श श्लो०) "न निर्ययुः" इति यदुक्तम् तत्पश्चात् किं चक्रुरित्याशङ्क्याह—एवं ब्रुवतीत्यादि। एवं पुरा यद् भणितम् (१०म श्लो०) अत्रागत्य इत्यादि. तदेव पुनर्वदति सति गोविन्दे आकण्ठमग्नाः सत्य एव तमब्रुवन्, ऊचुः। पूर्वं नाभिदघ्ने जले आसन् अत्रागत्येति तस्य वचः श्रुत्वा पुनः कण्ठदघ्नः जलं गता इति भावः। शीतोद इति वेपमाना इत्यस्य हेतुः। वेपमानत्वमालोक्य करुणया वसनानि शीघ्रं दास्यतीत्याशयेन नोपात्तम्, स्वभावोक्तिर्वा, नर्मणा तत्परिहासोक्त्या आक्षिप्तमान्दोलितं चेतो यासाम् ॥ १३ ॥ यदब्रुवंस्तदाह—माऽनयं भो इत्यादि। प्रथमतः सामपूर्वकमेव वक्तुमुचितमिति वचनपरिपाटी। तद् यथा, भो भोः कृष्ण ! मा अनयं कृथाः, त्वां तु जानीमः अनीतिकारी न भवसीति, यतो नन्दगोपसुतः व्रजराजसुतमिति ताभिरुक्तस्य तत् प्रतिशब्देन कवेरेवेयमुक्तिः। व्रजराजकुमारस्य त्वनयो मास्त्येव परन्तु अनयकारिणां निवारकर्त्तृत्वमेव। तत्रापि प्रियं सर्वोत्तमम्, यतो व्रजश्लाघ्यम्। अनयकारिणं हि न कोऽपि श्लाघते तस्मादनयं मा कृथाः ॥ १४ ॥ किं करिष्यामि, तदुच्यतामित्याशङ्क्याह—देहि वासांसि। क्षणं तिष्ठत, विलम्बेन दास्यामीत्याशङ्क्याह —वेपिताः, कम्पितास्म इत्यर्थः। तत्रैवान्यः सदैन्यमूचुः श्यामेत्यादि। हे सुन्दर ! ते दास्यः स्याम भवाम, वसनैव किं वा चरितेनेत्याशङ्क्याहुः—करवाम तवोदितम्, करिष्याम इत्येवास्माकमभिप्रायं

इत्यर्द्धोक्ते काश्चिदन्याः सामपुद्रां परित्यज्य भयप्रदर्शनेन मुद्रान्तरमुद्भाव्याहुः—नो चेत् । एवं साम्ना विनयेनापि यदि वासांसि न ददासि, तदा राज्ञे व्रजराजाय ब्रूवामहे ज्ञापयिष्यामः। इत्यासां त्रैविध्यमुक्तं भवतिमध्या, मृद्वी, मुखरा चेति । तत्र मानयं भो इति मध्याः, श्यामसुन्दरेत्यत्र मृद्वयः नो चेदित्यादौ मुखराः । धर्मज्ञेति विपरीतलक्षणया परिहासश्च व्यङ्ग्यः । नहि धर्मज्ञो दासीनां वासांसि पहरति, वरन्तु ददात्येव तेन त्वमधर्मज्ञ एवेति चतुरा वा, न तु मृद्वयः ॥ १५ ॥ अथ (१५श श्लो.) "ते दास्यः करवाम तवोदितम्" इति तासां वचनेनैव ता जिगीषुर्भगवानाह-भवत्य इत्यादि सार्द्धेन । भवत्यो यदि मे मम दास्यः, मयोक्तमवश्यं करिष्यथ, तत्कथं न क्रियते ? तत् किमित्याह-अत्रागत्येत्यादि । हे सुमध्यमाः ! इदन्तु अस्माकमशक्यमिति चेद् भवतु, मयापि तर्हि न दातव्यमित्याह—नो चेदित्यादि । यद्यत्रागत्य न नयथ, तदाहं न दास्ये । तदा वयं राज्ञे निवेदयिष्याम इत्याशङ्क्याह—किमित्यादि। यदि राज्ञे निवेदयथ, तदासौ क्रुद्धो भविष्यति, क्रुद्धः सन् किं करिष्यति ?॥ १६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एवं ब्रुवतीत्यादि । एवं पूर्वोक्तप्रकारम् । आकण्ठमग्ना इति पूर्वं वक्षोदघ्नजलस्था एवासन् श्रीकृष्णस्वरं श्रुत्वा आकण्ठमग्ना बभूवुरिति भावः । वेपमानाः शीतेन भावेन वा ॥ १३ ॥ प्रथमतः पूर्वसिद्धाः सामपूर्वकमाहुः—मानयं भोः कृथा इत्यादि । त्वां जानीमः, अद्य ज्ञातव्य इति न हि । अङ्ग सादर सम्बोधनेऽङ्गशब्दः । व्रजश्लाघ्यमङ्ग व्रजे श्लाघ्यमिति वा सर्वाङ्गसुन्दरमिति भावः। प्रियं प्रियाकारम् प्रीणातीति प्रीतं वा, तस्माद् वासांसि देहि, प्रियत्वेनास्माकं दुःखदः कथं भवसि ? पश्य वयं वेपिताः, अतः परं हि मोदे स्थातुं न शक्यते ॥ १४ ॥ अन्या ऊचुः—हे सुन्दर ! सुन्दरेति निजाभिलाषसम्बोधनम्, ते दास्यः स्याम, तवोदितञ्च करवाम, तस्माद् वासांसि देहि, यस्माद् धर्मज्ञोऽसि, दासीनां वासांसि नापह्रियन्ते, अपितु दीयन्ते एव, इयं हि धर्मस्य रीतिः, धर्मज्ञ इति काकुक्तिर्वा । अन्यास्तत्र मुखरा ऊचुः—नो चेदित्यादि । यदि वासांसि न ददासि, तदा राज्ञे नन्दाय ब्रूवामहे । आशयस्य कोमलकोमलादेः कुमारिका एव विविधाः तेनैवं काश्चिदूचुः । विवस्त्रतया जलेभ्य उत्थानशक्तेः कथं राज्ञे निवेदनम्, तर्हि भयप्रदर्शनमेतत् । अथवा, ब्रूवामहे इत्यन्तभूतण्यर्थं राज्ञेऽभीतिः स्वगोत्रवालकैं ज्ञापयिष्याम इति ॥ १५ ॥ अहं हि सत्यवृक् तत् (११ श्लो.) "न मयोदितपूर्वं वा" इत्यादिना पूर्वमेवोक्तम्, भवत्योऽसत्यवाचः यतः (१५ श श्लो.) श्यामसुन्दर ! ते दास्यः करवाम तवोदितम्" इत्युक्तं यत्, तदधुनैव न सङ्गच्छते । कथं न सङ्गच्छते इत्याह-भवत्यो यदि मे इत्यादि । नो चेदत्रागता वासांसि चेन्नयथ, तदाहं दास्ये; अहमिति स्वातन्त्र्यसूचकम्, धर्मज्ञ इति यद्भवतीभिरुक्तोऽस्मि, तन्ममायमिति धर्मः मदाज्ञां ये न प्रतिपालयन्ति, तदभीष्टमहं न करोमि । यद्वा, भवतीभिरुक्तम्-राज्ञे ब्रूवामहे इति, तत्रापि नाहं बिभेमि । अतो भवतीभिर्गत्वा स्वच्छन्दमुच्यतामित्याह-किं क्रुद्ध इत्यादि ॥ १६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवं नानाप्रकारं नर्म ब्रुवति सति गोविन्दे गा नर्ममधुरवाचो विन्दतीति तस्मिन् तच्चेदं नर्म भोः खञ्जनाक्ष्यः ! यदि यूयं नागच्छत तदा एतैरेव वासोभिः शाखानिबद्धैर्हिन्दोलिकानुपधानादिकं च विरचय्य मया शय्यते रात्रावद्य कृतजागर मां निद्रा सम्प्रत्यायाति भो गोपाल ! तव गावः तृणलोभेन गह्वरं प्रविष्टास्ततस्ताः परावर्त्तयितुं द्रुतमितो याहि भो गोपबालाः ! द्रुतमितो गृहकृत्यार्थं व्रजं व्रजत पित्रादिगुरुजनान् मा समञ्जसमभ्यूहयथ भोः पिच्छचूड ! वयमितो मासं व्याप्य गृहं न यामः पित्रादिगुरुजनादेशेनैव कात्यायनीव्रतं समाप्य मासमात्रमुदवासवृतं कुर्मः भोस्तपस्विन्यः ! अहमपि युष्मद्दर्शनप्रभावादुद्भूतगृहवासवैराग्य सम्प्रति मासं व्याप्य अत्रैव न भावासव्रतं चिकीर्षामि यदि चानुकम्पध्वे तदात्विताऽवरुह्य युष्माभिः सममुदवासव्रतमेव कर्त्तुं प्रयामीति नर्म्मणा आक्षिप्तचेतसः शङ्कया ततोऽप्यधिकजले आकण्ठमग्नाः वेपमानाः शीतेन शङ्काहर्षौत्सुक्यादिभिश्च ॥ १३ ॥ प्रथमं साम्ना आहुः—अनयमन्याय्यं मा कृथाः । ननु मुग्धाः यूयं मां नैव परिचिनुथ यथो मय्यप्यनीतिकलङ्कं दातुं न शङ्कध्वे तत्राहुः-त्वमिति अन्यान् व्रजस्थानपि न जानीम एव त्वां त्वतिप्रसिद्धं नन्दराजस्य सुतं जानीम एव "गोगोभूपेपि दृश्यते" इत्यभिधानात् तथापि व्रजस्थमात्रस्यापि श्लाघ्यं तत्रापि प्रियं ननु, भो निर्बुद्धयः ! यद्यहं राज्ञः पुत्रस्तर्हि कथं मय्यनीतिः राजपुत्र अपि कश्चिदनीतिमान् इति चेत् कथमहं व्रजश्लाघ्यः प्रियश्च नह्यनीतिमत्सु श्लाघा प्रीतिर्वा सम्भवेदिति भावः । ननु, सत्यं स्त्रियो वयं वक्तुमनभिज्ञा स्तस्मात् कृपयैवापराधं क्षान्त्वा वासांसि देहि वेपिता वयमिति कृपां जनयन्ति ॥ १४ ॥ पुनरपि साम्नैवाहुः-श्याम दास्यो भवामेति दन्त्यसकारपाठश्चिरसुखसम्मतः श्यामेति तालव्यशकारपाठे दास्यः सत्यस्तवोक्तं करवामेति राज्ञि त्वयि प्रजानामस्माकं दास्यं समुचितमेवेति भावः । वस्तुतस्तु तन्मिषेणैव स्वात्मानमर्पयामासुः सुन्दरस्य तवास्माभिर्यद्दास्यं सम्भवेत्तत्र तवोक्तं करवामेति नोचे काश्चित्प्रखराभेदं प्रयुञ्जते हे धर्मज्ञेति स्त्रीधनहरणात्तवाधर्मो भावीति भावः । तस्याधर्माद्भयमनालोच्य दृष्टं भयं दर्शयन्ति इति । प्रथमं राज्ञे इति द्विविधो भेदः राज्ञे नन्दाय कंसाय वा ॥ १५ ॥ तासां वचोभिरेव ताः पराजित्य निर्वचनीकुर्वन्नाह-भवत्य इति । यद्यत्र धर्मपरीक्षायां मतेनैव भवतीनां सत्यं परीक्षसत्यात् प्रचुरताभ्यस्त भवतीभ्यो नैव प्रदास्ये इति भावः । शुचिस्मिताः सत्य इति यद्यत्र भावं ज्ञापयति । किञ्च, मुखम्लानिः स्यात्तदपि नैव दास्ये इति भावः । वस्तुतस्तु शुचिः शृङ्गारस्तन्मयस्मिता इति स्वस्मिन्नुद्भूतं भावं ज्ञापयति । मयि प्रबले सामैव वः कार्य्यसाधकं नतु भेद इत्याह नोचेदिति ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्रानुनयकोविदा आहुः–भोः अङ्ग ! नन्दगोपसुतं स्वज्ञातिप्रधानस्य श्रीनन्दगोपस्य सुतं व्रजश्लाघ्यञ्च किं वहुना प्रियं च त्वां जानीमः सर्वथा त्वय्यादरणीये स्नेहवद्धा वयमिति भावः। तुशब्दो अन्ययोगव्यवच्छेदार्थः त्वदन्यं कमपि न जानीम इत्यर्थः। अत आहुः अनयमनुचित्तं हास्यादिकं मा कृथाः ॥ १३ ॥ तास्वप्यतिस्निग्धाः आहुः -श्यामसुन्दरेति नो चेत् राज्ञे गोपराजाय श्रीनन्दाय ब्रुवामहे इत्यतिस्नेहगर्भं वाक्यम् ॥ १४ ॥ अनुनयकोविदाभिरनुनीतोऽतिस्नेहयुक्ताभिः प्रार्थितस्तासां स्वानन्यकिङ्करीत्वं प्रकटीकारयितुमाह भगवान्–भवन्त्य इति ॥ १५ ॥ तत आज्ञापनानन्तरं दारिकाः कुमारिकाः उत्तेरुर्निर्गताः ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गा रुचिरनर्मवाचो विन्दतीति तस्मिन् गोविन्दे एवमीदृशं विविधं नर्म ब्रुवति तेन नर्मणा भाश्चन्द्रमुख्यः यदि भवत्यो नायान्ति तर्हि एतैर्वासोभिर्नीपशाखानि वद्धैः हिन्दोलं निर्माय तैरेव निर्मितशय्योपधानेन मया निशि जागरितेन सम्प्रति जातनिद्रेण सुप्यते भो गोपाल चूडामणे ! गावस्ते तृणलोभाद् गह्वर प्रविविशुस्ताः सम्भालय, भो गोपकुमार्यः ! स्व गृहं व्रजतातिविलम्वे पित्रादिभिर्विपरीतं सम्भाव्येत भो रसिकमौले ! पित्राद्यनुशासनारब्धव्रताभिरस्माभिर्मासमेकमुदवासः करिष्यते भो व्रतिन्यः ! युष्मद्दर्शन प्रभावात् सञ्जातस्वगृहविरागो निवृत्तक्षुत्पिपासोमासमेकमिहैव नभोवासव्रतं चिकीर्षामि कृपा चेदितोऽवरुह्य साकं भवतीभिरुदवासमित्येवम्विधेनाक्षिप्तानि चेतांसि यासां तादृश्यः सत्यस्ततोऽधिके आकण्ठमग्नाः शीतोदे तस्मिन् वेपमानाः शङ्काहर्षौत्सुक्यादिभिश्च सकम्पा इत्यर्थः ॥ १३ ॥ आदौ साम्नाहुः भोः अनयमनीतिं मा कृथाः। ननु मय्यनीतिकलङ्कमर्पयथ तत्राहुः त्वां नन्दाभिधानस्य गोपस्य राज्ञः सुतं व्रजमात्रस्यापिश्लाघ्यं तत्रापि प्रियं जानीमः नन्वीदृशश्चेदहं तर्ह्यनीतिर्मयि कथमुक्ता तत्राह वेपिता वयमस्मदपराधं क्षान्त्वा वासांसि देहीति दयामजनयन् स्त्री प्रज्ञयाऽनयं माकुर्वित्युक्तिरिति भावः ॥ १४ ॥ दानं दर्शयन्ति श्यामेति। हे सुन्दर वयं ते दास्यः स्याम भवेन क्वचित्तालव्यादिपाठः। राजपुत्रे त्वत्प्रजानां नो दास्यमेव युक्तमिति भावः। वस्तुतस्तु ते दास्यस्त्वयि निवेदितात्मानः स्याम वयं सुन्दरस्य नेऽस्माकं यद्दास्यं स्यात्तत्र तवोक्तं करवामेति तासु प्रखराः काश्चिद्भेदं प्रयुञ्जानाः प्राहुः–हे धर्मज्ञेति ! स्त्रीस्वापहारादधर्मस्त्वयि भवेदिति भावः। यदि न विभेष्यधर्मात्तर्हि दृष्टं भयं भावीत्याहुः चेद् वासांसि नो दीयन्ते तदा राज्ञे त्वत्पित्रे नन्दाय ब्रुवामहे इति द्विविधो भेदः प्रियेऽयुक्तत्वाद्दण्डो नोद्दिष्टः इह तस्य तत् क्ष्वेलितमित्यारभ्यैतत्पर्यन्तेन किलकिञ्चिताख्योऽनुभावोनुचिन्त्यः—

"गर्वाभिलाषरुदित स्मितासूयाभयक्रुधाम्। सङ्करीकरणं हर्षादुच्यते किञ्चितम् ॥" इति तल्लक्षणः ॥ १५ ॥

तास्तद्वाचैव निर्जित्य निरुत्तराः कुर्वन्नाह–भवत्य इति। इयमेव भवतीनां धर्मपरीक्षा यदि सत्याद्विच्युतिर्नस्यात् शुचिस्मिता इति तत्परीक्षायां यदि मुखम्लानिश्च न स्यात् सत्याद् विच्युताभ्यो म्लानमुखीभ्यश्च न देयानीति भावः। वस्तुतस्तु "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वलः" इत्यभिधानात् शृङ्गारमयस्मिता इति स्वस्मिन्नुदितोभाः सूच्यते ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

तत्र सहसा नान्तरं देयमित्यालोचनचतुराः सुलोचनावचनप्रसूनमालां मालाल्यचरणाय भक्तिसूत्रजटिलां वहिः किञ्चित्कुटिलामार्पयन्निति सार्धश्लोकद्विकेनाह ॥ मानयन्त्वं कृधा इति। अङ्ग हे कृष्णानयमन्यायं कन्यानामपाणिगृहीतानां वसनापहाररूपं मा कृधा न कुरु व्रजश्लाघ्यं नन्दराजस्य नन्दगोपभूपस्य सुतं प्रियं जानीमः। चेत्किमित्यत आहुः ॥ वेपिता इति नो वासांसि देहि। मानयं भोः कृधा इति पाठे भोः कृष्णानयं मा कृधाः। अङ्गव्रजश्लाघ्यमिति पदं। अङ्गं च शरीरं च व्रजस्य श्लाघ्यं यस्य व्रजेन श्लाघ्यं यस्य स तमिति वाऽर्थः। नो चेदङ्गेति वा भोरिति वाऽतिरिच्यत इति ज्ञेयं। मानयन्त्यो वयमिति न सरसः पाठः। प्रयोजनं वर्तते गृहं प्रति गच्छामीत्यतोऽप्याहुः। वासांसि देहि अनन्तरं व्रज श्लाघ्यं सर्वश्लाघ्यं। एतेन सर्वसुपर्वश्लाघ्यस्य व्रजमात्राश्लाघाविषयत्ववचनं कियदिति निरस्तं ॥ १४ ॥ अनयं मा कृधा इत्युक्तिमुखत आयातेत्यायताक्ष्यः क्षमापयन्ति तमित्याह ॥ स्यामेति। हे सुन्दर ते दास्यः स्याम। ननु सुन्दरेत्यस्यामन्त्रितत्वेनाविद्यमानवद्भावात्कथं त इत्यादेशः स्यादिति चेन्न। तस्यापरत्वेन पदात्परत्वाभावेऽपि गृणन्ति विप्र ते धिय इत्याद्यलौकिके लौकिके च सर्वदा रक्ष देव न इत्यादि दृष्टमिति स्यामेत्यस्य पदत्वात्तत्परताश्रयणेन त इत्यादेशसम्भवात्काऽत्र कथन्ता अव्ययतया समाधिस्तु मातर्म इत्यादिनिर्गतिकस्थल एवेति विजानीहि। दासीनां मध्य आसीना एवं ललना जले जलजलाचनं प्रति कृत्यं विज्ञापयन्ति ॥ करवामेति। तवोदितं त्वयोक्तं करवाम। त्वयोदितमिति वक्तव्ये तवोदितमिति वचनेन तवोदितमपरस्याद्युत्पत्तिद्वारोदयं। भावे क्तः। करवामेत्यपि ध्वनयन्ति वठ्र इति वोध्यं। हे महावला धर्मज्ञवेपितानां शीतार्दितानां वालानामङ्गस्मरणाभावाद्वेपितानां शीतार्दितानामिति चोक्ती ज्ञेये नो वासांसि देहि नो चेन्न रासि चेद्राज्ञे नन्दाय शीतार्दितानां बालानां नो वसनानि न दत्तवांस्तव शावक इति ब्रुवामह इत्यन्वयो वा ॥ १५ ॥ कुमारीकोदीरितं श्रुत्वा किमकरोद्धरिरित्यत एवमसूच इति सुचेता आह ॥ श्रीभगवानुवाचेति। भवन्त्यो भवत्य इति भवतः पाठौ। पूर्वस्मिंश्छ-

न्नन्तता नमुचा परस्मिनुचतुप्रत्ययान्ततेति विवेकः। यदि मे दास्यो यदि वचो मयोक्तं करिष्यथ तह्यंत्रागत्य स्ववासांसि स्वस्ववासांसि प्रतीच्छन्त स्वीकुरुत ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवांस्तासामन्तर्भावं दृष्ट्वा पुनः पूर्ववदेवाह, तदा पुनरेवं ब्रुवति भगवति सति नर्मणा परिहासवचनेनापातत एव प्रतीतेन हास्यरसजनकेनाक्षिप्तचेतस एव भूत्वार्थमविचार्य बहिर्निर्गते भगवान् कोपं करिष्यति निर्लज्जा इति वा ज्ञास्यतीत्याकण्ठमग्ना जाता यथा न कोप्यवयवो दृष्टो भवतीति, ततो लौकिकरसभयाभ्यामाविष्टचित्ता जाता जातबहिःसंवेदनत्वाच्छीतोदे वेपमाना जाताः, ततो देहभावस्य दृढत्वे विस्मृतपूर्वभावाः साक्षिभिश्च व्यमोहितास्तं भगवन्तं प्रति किञ्चिदब्रुवन् ॥ १३½ ॥ तासां वाक्यमाहु मानयं भो कृथा इति, भर्तृत्वान् न नामग्रहणं, भो इति सम्बोधनं बालकव्यावृत्त्यर्थं च, नयो न्यायोन्यायं मा कार्षीः, वयमवारि कुलस्त्रियः पुरुषान्तरदृष्ट्या न दृष्टाङ्गा अतः साम्प्रतं बालानां दृष्ट्या न द्रष्टव्यास्त्वद्वाक्येन चागन्तव्यं तथा सति यद्यपीश्वरवाक्यकरणे ना धर्मस्तथाप्यन्यायो भवति नीतिलोकविरुद्धमित्यर्थः, नैवं मन्तव्यं मःमेता न जानन्तीति तथा सत्यविचार्यकरणादेता एव दुष्टा इति तत्राहुस्त्वां तु जानीम इति, परमार्थतो ज्ञानमस्माकं हितकारि न भवतीति तुशब्दस्तं पक्षं व्यवर्तयति किन्तु नन्दगोपस्य सुतं जानीमः, तेन प्रभुपुत्रत्वमुक्तं, न हि प्रभुपुत्रोनीतिं करोति, किञ्चास्माकं प्रियो भवान् परमप्रीतिविषयः, अनेन त्वद्दृष्ट्या न दृष्ट्या इति नास्मकमभिप्रायः, अङ्गेतिसम्बोधनं च स्वस्याङ्गतां ज्ञापयति, नन्वस्त्वन्याय इयि चेत् तत्राहुर्व्रजश्लाघ्यमिति, व्रजे सर्वत्र भवानेव श्लाघ्य एवं सत्यपकीर्तिः स्यात् केषाञ्चिच् चित्ते स्त्रियो धर्षयतीति केषाञ्चित् त्वयुक्तं प्रदर्शयतीति, अतःकारणान् निर्बन्धनात् पूर्वमेव वासांसि देहि, दयार्थमाहुर्वेपिता इति ॥ १४½ ॥ दण्डमप्यङ्गीकुर्वन्ति श्यामसुन्दर ते दास्य इति सुन्दरेतिसम्बोधनान् न प्रतारणा, अतुल्यत्वात् स्त्रीत्वं परित्यज्य दासीत्वमाहुस्ते न तु त्वत्सम्बन्धिन एतेषां वा, ननु दर्शनाकाङ्क्षा दास्येन निवर्तत इति चेत् तत्राहुः करवाम तवोदितमिति, दास्य एव यद् वक्ष्यसि केवलस्तत् करिष्याम इत्यर्थः, अतस्तवेत्येकवचनमिदानीमुक्तं तु बहूनां वाक्यमित्यभिप्रायः, तर्हि दास्योपि भवतेति चेत् तत्राहुर्देहि वासांसीति, दासीत्वसिद्ध्यर्थं वा वासांसि देहि दास्यसिद्ध्यर्थं वा, किञ्च धर्मशास्त्रे "कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीं उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकये"दिति नग्नाया दर्शननिषेधात्तत्र आहुर्धर्मज्ञेति, एवमप्यदानेतिक्लेशे सति निर्गता अप्यनिर्गता वा बहुकालमपि कष्टमनुभूय पश्चाद् राज्ञे ब्रुवामहे नन्दं ज्ञापयिष्यामः, नवविधा वा नवपदैरुक्ताः, राजसराजस्या वचनंमानयं भो कृथा इति, राजसतामस्या वा, राजसराजस्था नन्दगोपसुतमिति प्रियमिति राजससात्त्विक्याः, व्रजश्लाघ्यमिति सात्त्विकराजस्याः, वेपिता इति सात्त्विकसात्त्विक्याः, श्यामसुन्दर ते दास्य इति सात्त्विकतामस्याः, करवाम तवोदितमिति तामससात्त्विक्याः, धर्मज्ञेति तामसराजस्याः, अतिरिक्तं शिष्टाया इति ॥ १५½ ॥ एवं तासां वचनानि श्रुत्वा दैविकमोहिता इति तदवगणय्य स्वेच्छया तथा जातेति लौकिकयुक्त्या ताः प्रबोधयति भवत्य इति यद्यस्मद्वाक्यानुसारेण न प्रवृत्तिस्तदा स्ववाक्यानुसारेण वा प्रवृत्तिरस्तु भवतीनामपि स्वात्मानं प्रति वाक्यद्वयं 'श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवादित'मिति दासीत्वे दास्ये वा न लोकानौचित्यं भावनीयं, तत्रैव चेद् वाक्यं कर्तव्यं तर्ह्यत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु, उभयोरपि वाक्याकरणेसत्याभिनिवेशान् नाश एव, दासीत्व ईश्वरसुखमेव कर्तव्यं न तासां काचिद् मर्यादातोन्यदर्शनमपि न दोषाय, मनसि निष्ठैषा वाक्यकरणे तु वाङ्निष्ठान्यथा देहनिष्ठा तथा सति नाशः, 'पतिं मे कु'र्विति प्रभौ पतित्वस्य प्रार्थितत्वात् स्वस्य भार्यात्वमभिमतं पूर्वमित्यधुना यदित्युक्तम् ॥ १६½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

माऽनयं भोः कृथा इति श्लोकस्य विवरणे उक्ता राजसादयो ये गुणास्ते स्वामिनीभावानामन्योन्यं वैजात्यं ज्ञापयितुं दृष्टान्तरीत्या, न तु प्राकृततद्वत्त्वाभिप्रायेण। अथवा 'न तदस्ति पृथिव्यां वा' इति वाक्याद् गुणरहितं वस्तु त्रिलोक्यां न सम्भवतीति ग्रहिलवादिनं प्रत्युच्यते। अत्रैते भावा एव तद्रूपाः, न तु प्राकृता अत्र सन्तीति। एतेनात्र प्रकृतिरपि भिन्नैवेति ज्ञाप्यते। सा च स्थायिभावरूपैवेति ज्ञेयम्। अत एव भगवता पृथिव्यादय उक्ताः, न तु सामान्यतः। लीलाया अलौकिकत्वेनाजन्यत्वेन च पृथिव्यादिमध्यपातित्वाभावाद् ब्रह्मवत्! एतद्विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितमस्माभिः ॥ १५ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

श्यामसुन्दरेत्यत्र तर्हीति उक्तकरण इत्यर्थः, दास्योपीति मत्सम्बन्धिनामपीतिशेषः, इदं तु न करिष्यामो वासांसि देहीत्युत्तरं, एवं सत्युक्तकारित्वं नाथातीत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः दासीत्वसिद्ध्यर्थं चेति, वस्त्रपरिधाने द्वयमपि सेत्स्यतीतिभावः, दासीत्वं धर्मविशेषः, दासस्य कर्म दास्यं कर्मणि यक् उक्तकारित्वमित्यर्थः ॥ १५½ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवं ब्रुवति गोविन्द इत्यत्र साक्षिभिश्च व्यामोहिता इति एतासां पुम्भावरूपा एते बाला एतासु सर्वापेक्षारहिता भगवत्येतासां स्वाच्छन्द्यसम्पादनेन भगवत्कार्यसाधका अतः साक्षिशब्देन व्यवह्रियन्ते, तैः साक्षिरूपबालैर्हास्यं कृत्वा व्यामोहिता

भगवान् बालाश्चास्मान् हसन्तीति ज्ञात्वा यथार्थज्ञानरहिता जाता इत्यर्थः ॥ १३ ॥ श्यामसुन्दरेत्यस्य विवृतौ दासीत्वसिद्ध्यर्थं वेति भोग्यदासीत्वसिद्ध्यर्थं वासांसि देहि वस्त्रभूषणादियुक्तानामेव भोगौचित्यात्, इदं च महतोनुग्रहस्य कार्यं, एतावाननुग्रहश्चेद्धुना न क्रियते तदा सामान्यानुग्रहः कर्तव्य इत्याशयः, तमुद्घाटयन्ति दास्यसिद्ध्यर्थं वेत्यनेन, परिचर्याकरणार्थं वा वस्त्राणि देयानि, न हि परिचारिका वस्त्ररहिताः शोभन्तेतो वस्त्रदानं कार्यमित्याशयोस्मिन् पक्षे ॥ १५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गोविन्दे श्रीकृष्णे एवं ब्रुवति सति नर्मणा तत्परिहासवाक्येन आक्षिप्तं आकृष्टं चेतो यासां ताः, शीतोदके आकण्ठं मग्नाः, अत एव वेपमानाः सञ्जातकम्पा गोप्यस्तं कृष्णमब्रुवन् ॥ १३ ॥ तासां वाक्यान्याहु—मानयमिति द्वयेन । तेन स्वाभेदं सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति—भो अङ्गेति । अनयमन्याय्यं मा कृथाः । वहुभिर्गोपैः सह वर्तमानेन कुलस्त्रीणामङ्गदर्शनमन्याय्यमेवेत्याशयः । "यदि कश्चिदज्ञातः पुरुष एवमन्याय्यं कुर्यात्तदा तस्याज्ञातत्वादेव तथाऽयशो न स्यात्, तव तु ज्ञातत्वात् तत् स्यादेव" इत्याशयेनाहुः-त्वां तु वयं जानीम इति । ज्ञाने हेतुमाह—व्रजश्लाघ्यमिति । तत्रापि हेतुमाहुः—नन्दगोपसुतमिति । राजपुत्रत्वादित्यर्थः ॥ "गोपानामग्रे एवं नग्नदर्शनादेतैर्व्रजे कथनेन तवापकीर्तिः स्यादेव, साचास्माकं दुःसहा, प्रियत्वात्" इति सूचयन्त्य आहुः-प्रियमिति । अतोऽस्मद्वासांसि देहि । दययाऽपि तद्दानं युक्तम्, यतो वयं शीतेन वेपिताः कम्पिता इति ॥ १४ ॥ अन्या आहुः-श्यामसुन्दरेति । सम्बोधनेन 'अस्मद्वाक्ये न त्वया प्रतारणतोद्भावनीय, तव सौन्दर्येण वशीकृतत्वात्' इति सूचयन्ति । वयं च तव दास्यः अतस्तवोदितं त्वदुक्तं सर्वं करवाम करिष्याम एव । वासांसि देहि 'वस्त्रदानं तव युक्तमेव, धर्मज्ञत्वात् । धर्मशास्त्रे च—"कन्यायोनिं पशुक्रीडां नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीम् ॥ उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेत्" इति नग्नदर्शननिषेधादित्यभिप्रेत्य सम्बोधयन्ति—धर्मज्ञेति । अन्या आहुः-नो चेदिति । हे कृष्ण ! यदि वासांसि न ददासि, तर्हि राज्ञे व्रजराजाय नन्दायेदं वृत्तं ब्रूवामहे कथयिष्याम इत्यर्थः ॥ १५ ॥ 'मत्प्राप्त्यर्थं व्रतार्चनादिकं कृत्वा साक्षान्मत्प्राप्तौ सत्यां लज्जाप्रतिबन्धको न युक्त' इति सूचयन् सम्बोधयति—शुचिस्मिता इति । भवत्यो यदि मे दास्यो मदुक्तं च करिष्यथ तदा नहि स्वामिनोक्तं किञ्चित् कार्यं किञ्चिन्न कार्यमिति युक्तम्, किन्तु सर्वमेव कार्यम् । अतोऽत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु गृह्णन्तु ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति ॥ गोविन्दे श्रीकृष्णे एवं मुहुर्ब्रुवति सति नर्मणा तत्परिहासवाक्येन आक्षिप्तम् आकृष्टं चेतो यासां ताः शीतोदके आकण्ठं मग्नाः अत एव वेपमानाः गोप्यस्तं कृष्णमब्रुवन् ॥ १३ ॥ मा इति ॥ तत्र मुग्धाः प्राहुः स्म । यद्वा । प्रथमं साम्ना प्राहुः स्म । अङ्ग भोः कृष्ण ! अनयमन्याय्यं मा कृथाः । नन्दगोपसुतं प्रियं व्रजे श्लाघ्यं त्वां तु वयं जानीमः । अतोऽस्मद्वासांसि देहि यतो वयं शीतेन वेपिताः स्मः ॥ १४ ॥ श्यामेति ॥ हे श्यामसुन्दर ! वय ते दास्यः स्मः । दन्त्यसकारवान् पाठश्चित्सुखसम्मतस्तत्र हे सुन्दर ! ते दास्यः स्यामेति स्वात्मार्पणं कृतवत्यः अतः तवोदितं करवाम एव । अतो हे धर्मज्ञ ! स्त्रीधनहरणे तवाधर्मो भवितेत्याशयः । "न नग्नां स्त्रीयमीक्षेत" इति निषेधाच्चेति । अतः वासांसि देहि इति काश्चित्प्रौढा आहुः । यद्वा । भयं दर्शयन्ति हे इत्यव्ययम् । चेद्यदि वासांसि नो दास्यसि तर्हि राज्ञे कंसाय नन्दाय वा इदं वृत्तं ब्रूवाम कथयाम । उकारवान् पाठस्त्वार्ष एव ॥ १५ ॥ तदुक्त्यैव ता निरुत्तरयति—भवत्य इति ॥ हे शुचिस्मिताः ! भवत्यः यदि सत्यमेव मे दास्यः स्थ मदुक्तं च सत्यमेव करिष्यथ तदा अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु गृह्णन्तु । एतेनैव भवतीनां सत्यपरीक्षा भविष्यति । सत्यं त्यजन्तीभ्यस्तु न दास्य इत्याशयः । शुचिस्मिताः भूत्वा प्रतीच्छन्तु मुखे म्लाने तु न दास्यामीति च ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नर्मणा परिहासेन क्षिप्तं श्रीकृष्णे आकृष्टं चेतो यासां ताः तं कृष्णं ॥ १३ ॥ मुग्धा ऊचुः हे अंग । अनयं अन्याय्यं वेपिताः शीतेन कंपिताः वयं स्म अतो वस्त्राणि देहि ॥ १४ ॥ प्रौढा ऊचुः ते दास्यः स्याम भवेमतालव्यादिपाठे संबोधनं न दद्याश्चेत्तर्हि राज्ञे नंदाय ते इति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं व्याख्येयमिति तोषणीसारे ॥ १५ ॥ हे शुचिस्मिताः प्रतीछतगृह्णीध्वं ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति ॥ गोविन्दे श्रीकृष्णे, एवं पूर्वोक्तरीत्या, ब्रुवति वदति सति, नर्मणा परिहासेन आक्षिप्तं गृहीतं चेतश्चित्तं यासां ताः, शीतोदे शीतोदके आकण्ठमग्नाः, अत एव वेपमानाः कम्पमानाः सत्यः, तं श्रीकृष्णं, अब्रुवन् ॥ १३ ॥ किमब्रुवन्नित्यपेक्षायां सामादिचतुर्विधोपायपूर्वकभगवज्ज्ञानसंपन्नं गोप्युक्तमाह द्वाभ्याम् ॥ मेति ॥ भोः हे पूज्य, अङ्ग हे कृष्ण, अनयमन्याय्यं, मा कृथाः । त्वां तु नन्दगोपसुतं नन्दराजतनयं, तस्य प्रियं च, जानीमः व्रजश्लाघ्यं च जानीमः । अतः वासांसि, देहि । यतो वयं वेपिताः शीतकम्पिताः, भवामः । नन्दराजस्य प्रियं जानीमः इत्यस्यायं भावः । नन्दराजोऽपि त्वयि प्रेमातिशयहेतुना सर्वापकारिणमपि त्वां न

शिक्षयतीति तव धौर्त्यं च नवनीतचौर्यादिषु प्रसिद्धमेवेति ॥ १४ ॥ श्यामेति ॥ श्यामश्चासौ सुन्दरश्च तत्संबुद्धिः वयं, ते तव, दास्यः तव उदितं, करवाम । त्वयोक्तमन्यद्यत्किंचित्तदपि करवामेत्यर्थः । भावगर्भमिदम् । निरतिशयसौन्दर्यादिभिस्त्वद्दास्यः सत्यः स्त्वदभिप्रेतं करवामैवेत्यभिप्रायः । हे धर्मज्ञ अनेकान्ते नग्नस्त्रीदर्शनाकरणरूपधर्माभिज्ञ, स्त्रीणां लज्जास्वभावरूपधर्मं जानासीति वा । वासांसि, देहि प्रयच्छ । नो चेन्न प्रयच्छसि चेत्, राज्ञे नन्दाय कंसाय वा, ब्रूवामहे ॥ १५ ॥ एवमुक्तो भगवान् ताभिः 'नोचेद्राज्ञे ब्रूवामहे' इति यदुक्तं तदनुपपन्नं जलान्निर्गत्य वासांसि गृहीतुमेव लज्जन्तीनां नग्नानां राजसंनिधौ गमनासंभवात्, न चात्र प्रेषणया निवेदनसंभवः, प्रेषणीयजनस्याभावादिति तदुत्तरं न देयमित्यभिप्रेत्य 'ते दास्यः करवाव तवोदितम्' इति यदुक्तं तदुत्तरमाह ॥ भवत्य इति ॥ हे सुचिस्मिताः, भवत्यः यदि, मे मम दास्यः, मयोक्तं वा मदुक्तमेव, यदा करिष्यथ, तर्हि अत्र आगत्य, स्ववासांसि प्रतिच्छध्वम् । हि दासीभिः स्वामिनोक्तं किंचिदेव स्वसंमतं कर्त्तव्यमिति नियमोऽतः सर्वमपि तदभिमतं कर्त्तव्यमिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मानयमिति ः १०.२२.१४.

आस्तां तदेतद् व्रजशोभनाय तवावतारः प्रथितः पृथिव्याम् ।
तन्नैव चार्वीश तवाऽधुनैतद्व्रजावमानोऽयमभूतपूर्वः ॥ ४७ ॥
विनाम्बरालम्बनमम्बुजाक्ष यन्न कृष्णमेघोदयदर्शनं क्वचित् ।
प्रसिद्धमेतत् स्फुटमेतदप्यहो सदैव तस्मिन् सरसत्वमुज्ज्वलम् ॥ ४८ ॥
सरसं जनमालोक्यस्वभावादप्रगल्भधीः । करोति विरसं तद्वन्न भव त्वं कुमार्गधीः ॥ ४९ ॥
धर्मप्रवक्ता त्वमिति श्रुतिश्रुतः प्रत्यक्षतस्त्वेवमिहेश वक्षि नः ।
किं वाऽनयोर्धर्म्यमधर्म्यमन्ततो ज्ञस्त्वं तदस्मान्न वृथा विमोहय ॥ ५० ॥

श्यामसुन्दरेति ः १२.२२.१५.

सदास्यस्थितयो नित्यं स्म एव वमयच्युत । ज्ञातं कुर्मस्त्वदिष्टं तदलमेतद्बहिर्गिरा ॥ ५१ ॥
एवमप्यर्थितेऽस्माभिर्न वासो यदि दीयते । ब्रूमस्तमस्ति यच्छास्ता राजाऽन्यायानुवर्तिनाम् ॥ ५२ ॥
स्वमप्रगल्भत्वमिहाधुना मयि सदागमोल्लासिनि चाम्बरत्विषि ।
भृशं यदभ्यासितमत्र विस्मयो न तादृशो हि प्रकृतेः प्रभोदयः ॥ ५३ ॥
चन्द्रो राजा चेदयं मेऽन्वयाद्यो नन्दोऽसौ चेत् स स्वलं तात एव ।
कंसश्चेत् किं तद्भयं तद्रिपोर्मे क्रुद्धादाखोराखरेः का नु भीतिः ॥ ५४ ॥

कृष्णप्रिया

भगवान गोविन्द ने फिर भी इसी प्रकार के वचन कहे तब प्रभुके परिहास पूर्ण मधुर वचनों से व्रज कुमारियों का मन और भी उनके प्रति अनुरक्त हो गये। ठंडे जल में कंठ तक डुबी हुई एवं कांपती हुई कन्यकाएँ भगवान को कहने लगी ॥ १३॥ हे श्री कृष्ण ! आप अनीति न करो। हम आप को जानती है ! आप हमारे नन्द बाबा के पुत्र एवं हमारे प्यारे हो। हे नाथ ! हे अङ्ग । प्रियतम् ? सम्पूर्ण व्रजजन आप को सदा यशोगाथा गाते हैं। कृपया हमारे वस्त्र हमे दीजिए। देखिए ठंडके मारे हम सब कांप रही है ॥ १४ ॥ हे श्याम सुन्दर ! हम तो आप की दासी है। आप की आज्ञा का पालन करने को तत्पर है। हे कृष्ण आप धर्म के मर्म को ठीक तरह जानते हो हमारे वस्त्र हमे दे दो। यदि आप नहीं दोगे तो हम नन्द बाबा के समीप जा कर फरियाद करेगी ॥ १५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, यदि आप मेरी दासी हो या मेरी बात सुनती हो मेरा कहा करती हो तो हे पवित्र मुस्कराहट वाली कुमारियों ! तो यहाँ आकर अपने अपने वस्त्र ले जाओ ॥ १६ ॥

ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः । पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः [1]शीतकर्शिताः ॥ १७ ॥
भगवानाहता[2] वीक्ष्य [3]शुद्धभावप्रसादितः । स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच [4]सस्मितम् ॥ १८ ॥
यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा [5]नमो वो वसनं प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥
[6]इत्यच्युतेनाभिहिता[7] व्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्[8] यतः ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ततः शीतकर्षिताः शीतवेपिताः सर्वाः दारिकाः पाणिभ्याम् योनिम् आच्छाद्य जलाशयात् प्रोत्तेरुः ॥ १७ ॥ शुद्धभावप्रसादितः भगवान् स्कन्धे वासांसि निधाय प्रीतः आहता आ अहताः सर्वतः निर्दुष्टाः सस्मितम् प्रोवाचः ॥ १८ ॥ यूयम् धृतव्रताः विवस्त्राः यत् अपः व्यगाहत तत् उ एतत् देवहेलनम् "जातम् अतः" अंहसः अपनुत्तये मूर्ध्नि अंजलिम् बद्ध्वा अधः नमः कृत्वा वसनम् प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥ इति अच्युतेन अभिहितम् विवस्त्राप्लवनम् व्रतच्युतिम् मत्वा तत् पूर्तिकामाः व्रजाबलाः तद् अशेषकर्मणाम् साक्षात् कृतम् "श्रीकृष्णम्" नेमुः यतः अवद्यमृग् सर्वदोषनिवृत्तिः जाता ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रोत्तेरुर्निर्गताः ॥ १७ ॥ आहताः ईषदक्षतयोनीर्वीक्ष्य ॥ १८ ॥ धृतव्रताः सत्यो विवस्त्रा अपो व्यगाहताप्सु स्नाता इति यत्तदेतत् उ एव देवहेलनमपराध एवेत्यर्थः । व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तमिवाह । अस्यांहसः पापस्य निवृत्तये मूर्ध्न्यंजलिं बद्ध्वाऽधो नमः प्रणामं कृत्वेति ॥ १९ ॥ इति दोषस्त्वेताच्युतेनाभिहितं विवस्त्राप्लवनं व्रतस्य च्युतिहेतुं मत्वा तस्य पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां तस्य व्रतस्यान्येषामशेषकर्मणां च साक्षात्कृतं फलभूतं तमेव नेमुः । स एवावद्यमृक् पापमार्जकः ॥ २०–२१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः कृष्णोक्तिश्रवणोत्तरम् । दारिकाः दारा एव दारिकाः 'स्त्रियो दाराः पुंभूम्नि च स्त्रियाम्' इत्युक्तेर्दारशब्दात्स्वार्थिककांताट्टाप् । योनिम् स्मरमंदिरम् "योनिर्द्वयोः स्मरागारे जातावा करजन्मनोः" इति धरणिः ॥ १७ ॥ अक्षतयोनीः कृताल्पनिधुवनाः । शुद्धभावः परमप्रेमा तेन जातप्रसादः । आहता आगताः । यद्वा आहताः शीतपीडिताः । तथा च विश्वः—"आहतं गुणितेऽपि स्यात्ताडितेऽप्यानकेपि च" इति संदर्भः । विश्वनाथस्तु—आ सम्यक् प्रकारेण हता मृता इव वीक्ष्य कुलजानां मरणादप्यधिक ईदृशो लज्जात्यागः सोपि मदनुरोधेनैवाभिः कृत इति मनसैवाधिगतो यः शुद्धो निरुपाधिर्भावः प्रेमा तेन प्रसादितः । स्कंधे निधायेति—भवतीनामधोवस्त्राण्यपि मया स्वस्कंधे धार्यंत इति तासु स्वप्रणयादरौ दर्शितौ । प्रकर्षेण परामर्शपूर्वमुवाच । परामर्शश्च—स्त्रीजातिमात्रेणापि दुष्करमाभिर्मत्प्रेमोपरोधेन कृतम् । किञ्च, इतोप्यन्यदात्यन्तिकदुष्करं कृत्यमस्ति तदेताभिः शक्यमशक्यं वेति मद्विषयकप्रेम्णः शक्तेरियत्तां परीक्षे इति सस्मितमिति—भोः स्वमुखेनैवांगी कृतमद्दास्यः 'करवाम तवोदितम्' इति युष्मद्वचनस्याधुनाहं परीक्षां करिष्ये, ततो यद्युत्तीर्णा भवितुं शक्नुथ तदैव युष्मद्वसनानि मदीयात्ममनः प्राणशरीरैः सहितान्येव कृत्वा दास्यामीति भावः ॥ १८ ॥ देवहेलनम् देवस्य वरुणस्य हेलनमपराध एव । इत्यर्थ इति । उशब्दोऽत्रैवार्थक इति ध्येयमिति । यादवे तु 'उ तापेऽव्ययमीशे च' इत्युक्तम् । तथा च—उ कोर्थः तापकरं देवहेलनमिति योज्यम् । "प्रायः पापं समाख्यातं चित्तं तस्य विसर्जनम्" इति तत्त्वबोधिन्याम् । क्वचित्त्वेतच्छ्लोकद्वयं ग्रंथांतरीयमपि लिखितं दृश्यते तथाहि—"एकेन पाणिना नेमुरेकेनाच्छाद्य योनिकम् । ता वीक्ष्योवाच भगवान्भूयो धर्म्यमिदं वचः ॥ १ ॥ एकेन पाणिना यो वै प्रणमेद्देवमच्युतम् । तस्य दंडः करच्छेद इति धर्मविदो विदुः ॥" इति । शातातपस्तु—"जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत् । तत्सर्वं निष्फलं याति एकहस्ताभिवादनात् ॥" इति । एतच्चाप्रयागत्वादत्रानुसंधेयमेव ॥ १९ ॥ विवस्त्राप्लवनम् नग्नीभूय स्नानम् । "स्नानं दानं तथा होमं शयनं गमनं भुजिम् ।

१. तीरमङ्गनाः—वीर. विज. ; व्रतकर्शिता—इति पाठः । २. नथ ताः—विज. । ३. मुग्ध—विज. । ४. सस्मितः—विज. । ५. अधो—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ६. "इत्येतद्वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तं महात्मनः"—अयमर्धश्लोकोधिकः वीर. पाठे ।
"एकेन पाणिना नेमुरेकेनाच्छाद्य चाङ्गनाः । ता वीक्ष्योवाच भगवान्भूयो धर्म्यमिदं वचः ॥
एकेन पाणिना यो वै प्रणमेद्देवमच्युतम् । तस्य दण्डः करच्छेद इति वेदविदो विदुः ॥
तस्मादुभाभ्यां पाणिभ्यां प्रणमेत्स्वामिनं नरः । तथा च यूयं कुरुत तन्मे प्रियतरं भवेत् ॥"
इत्यधिकः पठ्यते वीर. विज. ।

७. भिहितं—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. । ८. मुग्धतः—वीर. ; मुज्झितुं—विज. ।

विवस्त्रो न प्रकुर्वीत कुर्वाणः पापकृद्भवेत् ॥" इति स्मृतेः सर्वफलस्वरूपे तस्मिन्नेव तुष्टे किं फलमवशिष्टं स्यादिति भावेन नेमुः। न हि तत्प्रसादविषयीभूतानां प्रत्यवायादिलक्षणः कोपि दोष इत्याह—अवद्यमृगिति। अवद्यानिर्माष्टीति तथा 'अवद्यं पापदोषयोः' इति शाश्वतः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ततस्तं तदाग्रहं दृष्ट्वेत्यर्थः। दारिका बालाः शीतेनैव वेपिताः कम्पितदेहा अपि पाणिभ्यामाच्छाद्य वेपनं च सात्त्विकमेव प्रेमस्वभावजं प्रोत्तरणे हेतुः शीतेन कृशीकृताहीनबलत्वमापादिता इत्यर्थः ॥ १७ ॥ शुद्धेन भावेन प्रेम्णा प्रसादितः पूर्वत एव अधुना च आहताः हन्तेर्गत्यर्थत्वादागता वीक्ष्य प्रीतः सन् वासांसि सर्वाण्येवावचित्य वृक्षस्य स्कन्धे निधाय प्रकर्षेण शिक्षणार्थमिव न्यायप्रदर्शनेनोवाच सस्मितमिति तासां चिरं तथा स्थापने वक्ष्यमाणेपि नर्मसंस्पर्शात् नन्वाहृता इत्यत्रागता इत्यर्थो न युक्त अप्रयुक्तत्वात् उच्यते काव्यकूपवर्त्तिनामिदं मतं नतु वेदादिशब्दमहोदधिवर्त्तिनां यथाह महाभाष्ये "सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या अनेकधा भिन्ना एकशतमध्वर्य्यंशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहासपुराणानि वैद्यकमित्येतावन्तं शब्दप्रयोगमनिशम्याप्रयुक्ताः शब्दाः" इति वचनं केवलं साहसमित्यादिकोपकारमतेप्याह—ता इत्यस्यान्यार्थो घटते यथा विश्वप्रकाशे "आहतं गुणितेऽपि स्यात्ताडितेप्यानकेऽपि च" इति गुणितत्वं चात्र द्वित्रादिगुणतया पूर्वस्याङ्कस्य डोरिकादेर्वा सङ्कुरीकरणं तद्वदत्रापि लज्जातः स्वयमात्मसु तादृशी करणमिति किञ्च आहतशब्दस्य व्याख्यायां क्षीरस्वामी आहतमुद्घोषितमिति प्राह, अत्र च तासां विख्यातत्वं गम्यते तच्च तासां तथा वीक्षणे चमत्कारातिशयद्योतकमित्यलमेतया कल्पनया ॥ १८ ॥ ननु बाल्ये न दोष इति चेत्तत्राह—धृतव्रता इति। यदेतदिति। साक्षान्मयाऽनुभूतत्वादत्र प्रतारणं न किञ्चित् सम्भवेदिति भावः। देवस्य जलाधिष्ठातुर्वरुणस्य नारायणस्य वा हेलनमवज्ञा अञ्जलिं बद्ध्वा तं च मूर्द्ध्नि नत्वन्यत्रेति भिन्नाभिप्रायं ततश्च नमः कृत्वेत्युक्ते एकपाणिना नमनोद्यममालक्ष्य एकहस्तप्रमाणश्चेत्यादिवचनपाठेनाञ्जलिं बद्ध्वेति तत्राप्यधोऽञ्जलिबन्धनमभिप्रेत्य मूर्द्ध्नीत्युक्तमित्यूह्यम् अधो वसनं परिधानवस्त्रमेव उत्तरीयवस्त्रं च तथापि न प्राप्तव्यमेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥ अच्युतेनेति कदाचित् कथञ्चिदपि तद्वाक्यस्य सदर्थाच्युतिर्नास्तीति तासामभिप्रायः सूचितः यतो व्रजस्य अबलाः स्त्रियः तत्र च अबलाशब्देन कथञ्चिदपि तद्वाक्यमत्येतुमशक्ता इत्यर्थः! प्रेमवशत्वादिति भावः। मत्वेति वस्तुतो देशाचारबाल्याचारप्राप्तत्वेनादोषात् अत एव प्रलब्धा इति वक्ष्यते साक्षात्कृतं पतिरूपं फलं तद्रूपत्वादेवावद्यमृगितितु तासामभिप्रायः ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततस्तदनन्तरं तदाग्रहं दृष्ट्वेत्यर्थः। जलाशयात् जलमध्यतः। दारिका बालाः, प्रायः श्रीकृष्णेन समवयस्कत्वात् शीतेनैव वेपिताः कम्पितदेहा अपि पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य, वेपनञ्च सात्त्विकमेव प्रेमस्वभावजम्, प्रकर्षेण उत्तेरुर्निःसृताः। तत्र हेतुः—शीतेन कर्षिता बहिरस्तश्च व्याप्ता इत्यर्थः ॥ १७ ॥ शुद्धेन भावेन प्रेम्णा पतित्वकामनया वा, प्रसारितः पूर्व्वत एव, अधुना च आहताः, हन्तर्गत्यर्थत्वादागता वीक्ष्य प्रीतः सन् वासांसि सर्व्वाण्येवावचित्य स्वस्कन्धे निधाय तासां सर्व्वासां प्रत्येकं प्रीतिसम्पत्तये प्रकर्षेण शिक्षणार्थमेव न्यायप्रदर्शनेनोवाच—सस्मितमिति, वक्ष्यमाणेऽपि नर्म्मसंस्पर्शात्। यद्वा, स्कन्धे निधायेत्यत्र हेतुः—शुद्धेति। सस्मितं प्रोवाचेत्यत्र हेतुः—प्रीत इति; प्रीत इत्यनेन नर्म्मोक्तिः सूचितैव, प्रीत्यैव तस्या अवश्यमुदयात्, एवमेकस्मिन्नेव स्कन्धे बहुतराणां तावतां वाससां निधानाल्लौकिकलीलायामपि पूर्व्ववदैश्वर्य्यं प्रदर्शितम्, अतएवादावुक्तम् (८ म० श्लो०)—'योगेश्वरेश्वर' इति ॥ १८ ॥ ननु न बाल्ये दोष इति चेत्तत्राह—वृतव्रता इति। यदेतदिति साक्षान्मयानुभूतत्वादत्र प्रतारणं न किञ्चित् सम्भवेदिति भावः। देवेति देव्यर्च्चनेऽपि पुंस्त्वेन निर्द्देशः, सर्व्वदेवतास्वपि तदवहेलनस्य सामान्यविवक्षया दार्ढ्यापादनाय। यद्वा, देवस्य जलाधिष्ठातुर्वरुणस्य हेलनमवज्ञा; यद्वा, देवहेलनशब्देन पारिभाषिकतया व्रतच्छिद्ररूपोऽपराध एवाभिहितः। अञ्जलिं बद्ध्वा तच्च मूर्ध्नि, न त्वन्यत्रेति रसिकशिरोमणेस्तस्येष्टविशेषपरिपूर्त्त्यै, तत्र च नमः कृत्वेत्युक्ते एकपाणिना नमनोद्यममालोक्य (ह० भ० वि० ८।४०६ विष्णुस्मृतिवचनम्) 'एकहस्तप्रणामश्च' इत्यादिवचनपाठेन अञ्जलिं बद्ध्वेति तत्राप्यधोऽञ्जलिबन्धनमभिप्रेत्य मूर्द्ध्नीत्युक्तमित्युह्यम्। अधः नीरतले स्थिताभिः सतीभिरिति निकटागमनेन सम्यग्दर्शनसिद्धेः। अस्य च नमस्कृत्वेत्यनेन प्रगृह्यतामित्यनेन वान्वयः। यद्वा, अधोवसनं परिधानवस्त्रमेव, उत्तरीयवस्त्रञ्च तथापि न प्राप्तव्यमेवेत्यर्थः। अतएव वसनमिति उत्तरीयाभावेन प्रत्येकमेकैकग्रहणविवक्षयैकत्वम् ॥ १९ ॥ अच्युतेनेति कदाचित् कथञ्चिदपि त्वद्वाक्यस्य सदर्थाच्च्युतिर्नास्तीति तासामभिप्रायः सूचितः। स्त्रियस्तत्र च अबलाशब्देन कथञ्चिदपि तद्वाक्यमत्येतुमशक्ता इत्यर्थः। अभिहितमुक्तं श्रुत्वेति शेषः। व्रतस्याच्युतिमपि च्युतिं छिद्रं मत्वेत्यर्थः। अच्युतिश्च तत्त्वतो बाल्ये विवस्त्रतया व्रतस्थानामपि स्थाने दोषाभावात्, एतच्च श्रीस्वामिपादैरपि व्यञ्जितमेव (२२ श० श्लो०)—'दृढमत्यर्थं प्रलब्धा वञ्चिता यूयं विवस्त्रा इत्यादिना' इति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा तदित्यस्य विवस्त्राप्लवनमित्यनेन परेण वान्वयः। तेषां स्वकृतानां देव्याराधनलक्षणानामशेषकर्म्मणां पूर्त्तिकामाः सत्यो नेमुः, यतोऽशेषकर्म्मणां स एवावद्यमृक् छिद्रपूर्त्तिकारकः ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

देवहेलनं देवस्यापराधः अञ्जलिं बद्ध्वेति युक्तकरछन्दं कृत्वा ॥ १९ ॥ साक्षात्कृच्छन्दो द्वितीया साक्षात्कृतमिति साक्षात्कर्तारम् अनवद्यमृग्यतः अवद्यमार्जनायनियताः ॥ २० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स्वाम्यभिमतकरणं दासीनामुचितमेवेत्यभिप्रेत्य शीतेन कम्पिताः कुमारिकाः कालिन्दीह्रदात् प्रोत्तेरुर्निर्जग्मुः ॥ १७ ॥ ततो भगवानाहृताः ईषदप्यक्षतयोनीर्वाल्ययौवनसन्धिस्थाः ताः कुमारिकाः अवलोक्य शुद्धभावेन निष्कपटभावेन यथोक्तानतिक्रमशीलेन भावेन हेतुना प्रसादितः प्रसादोऽत्रानुग्रहः अस्य सञ्जात इति तथा अनुग्रहयुक्तः स्कन्धे वृक्षशाखायां वासांसि निधायारोप्य प्रीतः सस्मितश्च पुनरुवाच ॥ १८ ॥ तदेवाह–यूयमिति । धृतव्रताः सत्यो विवस्त्रा यूयमपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत्तदेतद्देवहेलनमुत अपराध एवेत्यर्थः । व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तविधानमाह–अस्यांहसः पापस्य अपनुत्तये अपनोदाय मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा नमस्कृत्य वसनं प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥ इत्थमच्युतेनाभिहिताः अङ्गनाः एकेन वामेन पाणिना योनिमाच्छाद्य इतरेण पाणिना नेमुः । पुनरपि भगवांस्ता वीक्ष्येदं वक्ष्यमाणं धर्म्यं धर्मादनपेतं वाक्यमाह; तदेवाह–एकेनेति सार्द्धेन । एकेन पाणिना नेमुरित्यादिसार्द्धश्लोकद्वयं क्वचिन्न दृश्यते । तस्मादिति । हस्तद्वयसम्पुटस्यैवाञ्जलिशब्दार्थत्वादिति भावः । इत्थमच्युतेनाभिहिताः व्रजकुमारिकाः विवस्त्रस्नानप्रयुक्तां व्रतच्युतिं व्रतभ्रंशं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्तिमवैगुण्यं कामयमानास्तस्य व्रतस्यान्येषां कर्मणाञ्च साक्षात्कर्तारमच्युतं नेमुः हस्तद्वयेन मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा नेमुरित्यर्थः । कुतः ? यतः केवलमशेषकर्मणां न साक्षात्कर्तृदेवापितु अवद्यमुक् अवद्यं कर्मवैगुण्याऽऽपादकं पापं तस्मान्मोचयतीति तथा ण्यर्थगर्भोऽत्र मुचिः अतः प्रणेमुरित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दारिकाः कुमार्यः ॥ १७ ॥ मुग्धभावेन मधुरस्वभावेन प्रसादितः प्रसादं गमितः ॥ १८ ॥ यूयं वस्त्रहीना अपो जलं व्यगाहतेति यत्तदेतत् उ तापकारणं देवहेलनं देवतापराधः अतस्तस्यांहसः अपराधस्य परिहाराय "उ तापेऽव्ययमीशे च" इति यादवः ॥ १९ ॥ विवस्त्राप्लवनं दिगम्बरस्नानं व्रतच्युतिं नियमभ्रंशं तत्पूर्त्तिकामाः तस्य व्रतस्य पूर्णतां कामयमानाः तासामशेषकर्मणां साक्षात्कृतं साक्षीभूतं कृष्णं नेमुः । अनेन किं प्रयोजनमत्राह अवद्यमिति । उज्झितुम् उन्मूलयितुम् ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आहृता आगताः यद्वा आहता शीतपीडिताः तथाच विश्वः "आहतं गुणितेऽपि स्यात्ताडितेप्यानकेऽपि च" इति ॥ १८ ॥ अधोवसनं परिधानवस्त्रमेव नत्वन्यदिति काठिन्यमिव ॥ १९ ॥ साक्षात्कृतं पतिरूपं फलं तद्रूपत्वादेवावद्यमृगिति तु तासामभिप्रायः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

इति निर्बन्धं तस्य ज्ञात्वा अकर्तव्यमपि भगवदाज्ञया तत्प्रीतिहेतोश्च तथा कृतवत्य इत्याह–तत इत्यादि । ततस्तस्य तथा निर्बन्धज्ञानानन्तरं दारिकाः कन्यका जलाशयादुत्तेरुः । शीतेन वेपिताः कम्पिताः, शीता अलसाश्च कर्शिताः; स्तब्धभूताः । पाणिभ्यामिति लज्जाधिक्येन द्विवचनम् ॥ १७ ॥ तथाभूतास्ता आगता वीक्ष्य यदुवाच तदाह–भगवानित्यादि । आहतास्तथाप्रकारेणागता वीक्ष्य, हन हिंसागत्योरित्यत्रायं गत्यर्थ एव । अप्रयुक्तदोषस्तु काव्यादावेव, नात्रार्षवाक्ये । यद्वा, आहताः–त्रपयोपहताः । यद्वा, आसम्यगाहताः, अतएव आसम्यग् वीक्ष्यो दर्शनीयः । अतएव शुद्धो निरुपाधिर्यो भावस्तेन प्रसादितः । प्रसादितः प्रसादं प्रापितः । किंवा भगवान् ता वीक्ष्याह, किं तदित्याह–शुद्धभावप्रसादितः । शुद्धभावेन यः प्रसादितोऽहमिति पुनः स्कन्धे वासांसि निधाय प्रकर्षेणोवाच वक्ष्यमाणमिति शेषः । स्कन्धे निधाय अंशे कृत्वा प्रथमं त्वरया सर्वाणि वासांसि चोरयित्वा नीपशाखास्वेव स्थापितानि; सम्प्रति प्रेम्णो महिम्ना तासामङ्गसौरभसुरभीणि तानि स्कन्ध एव निहितानि । तत स्पर्शात्तासामङ्गस्पर्शसुखानुभूतेः । अतः स्कन्धे निधाय प्रीत इति प्रीतेः पूर्वकाले ल्यप्, सस्मितं यथा स्यात्तथा प्रकर्षेणोवाच । स्वामि-व्याख्या तु चिन्त्या त्रपाकरत्वात् पाणिद्वयच्छोदनेन दर्शनाभावाच्च ॥ १८ ॥ किं तदित्याह–यूयमिति, महाकुलप्रसूता इत्यर्थः । युष्माकमिदं नोचितम् । किं तदित्याह–यदित्यादि । यद्धृतव्रता भूत्वा विवस्त्राः सत्योऽपो जलानि व्यगाहत । नन्वस्माकं देशाचारोऽयमत्र किं दूषणमित्याशङ्क्याह – एतदित्यादि । भोः कुमार्यः ! एतद्देवहेलनम्, देवस्याधिष्ठातुर्वरुणस्य; अथवा देव्या यमुनायाः मयूराण्डमित्यादिवत् पुंवद्भावः । तर्हि अस्य पापस्य किं प्रायश्चित्तम् ? प्रायश्चित्तमनायाससाध्यम्, तदेव क्रियताम्, नो चेद् देवहेलनेन व्रतफलसिद्धिरपि दुर्लभेति प्रायश्चित्तं दर्शयन् स्मार्तत्वं प्रकटयति । बद्धाञ्जलिमित्यादि । नमः कृत्वा मां नमस्कृत्य वो युष्माकं वसनं प्रगृह्यताम् । एवं चेच्छिरोनमनेनैव 'नमो नमस्ते' इति वाचनिकमेव नमस्कारं कुर्मः ? नैवम् प्रायश्चित्तादौ मुख्य एव कल्पः क्रियते, न तु गौणः । एवं चेच्छिरोनमनेनैव कायिकः कर्तव्यः । स्वापकर्षबोधानुकूलो व्यापारविशेष एव नमस्कार इत्यस्य नियमान्नैवं करशिरःसंयोगो हि मुख्यो नमस्कार

इत्याह—मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा । अधोवसनमिति पाठे तथापि अधोवसनान्येव दातव्यानि न तूत्तरीयाणीति प्रहास विशेषः ॥ १९॥ इति व्रतफलच्युतिभिया तथैव कर्त्तुमारब्धवत्य इत्याह इत्यच्युतेनेत्यादि । अथ यथोपदेशं कृतनमस्कारासु तासु स्वाज्ञाप्रतिपालनप्रीतः सन् भगवान् प्रससादेत्याह—तास्तथेत्यादि तथा यथा स्वयमुपदिष्टमित्यर्थः । तेन प्रणामेन तोषितः स्वभावत एव करुणः करुणावान् भगवानप्रतर्क्यैश्वर्यदेवकीसुत इति पूर्ववत् । यद्वा, करुणश्च स्तेनश्चोरश्च तोषितश्च स्वार्थे णिच्, तुष्ट इति यावत् । यद्वा, स्तेनता चौरता-तयोषितः पश्चाद्बद्धः; वस्त्रापहारकत्वेन स्थितः तथा च गोपीवस्त्रापहारक इति ॥ भगवानपि देवकीसुतोऽपि करुणोऽपि स्तेनतोषितः वैकल्पिको विसर्गलोपः ॥ २०-२१ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

शीतवेपिताः शीतेन कम्पिताः, शीतकर्शिताः, शीता अलसा अतएव कर्शितास्तनूभूता आनन्दजनितभावविशेषेणालसाः कर्शिताः 'शीतोऽलसः' इति पर्यायात् ॥ १७ ॥ भगवानिति । आहता आनन्दवेगेन सम्यक् हृताः शीतादिना ग्लान्यादिना लज्जया वा; यद्वा, आहता आगता, 'हन् हिंसागत्योः' इति गत्यर्थात् । यद्वा, आ अहतः सम्यगक्षुण्णाः. अतएव आसम्यक् वीक्ष्यः प्रेक्षणीयः, अतएव शुद्ध उपाधिशून्यो यो भावस्तेन प्रसादितः, सस्मितं यथा भवति तथा प्रोवाच । किं कृत्वा ? स्कन्धे वासांसि निधाय; स्कन्धे स्वांसे; अयमभिप्रायः-संप्रति साक्षात् स्पर्शो न जातः, परस्परास्पर्शो भवत्विति स्कन्धे निधापनमालिङ्गनं सुखाभिव्यञ्जकम् ॥ १८॥ यूयमित्यादि । यूयं समाजकुमारिकाः तत्रापि व्रजस्थाः सत्यो विवस्त्रा यत् अपो व्यगाहत, तत् 'उ' सम्बोधने देवहेलनम् । 'उ' इति एवार्थे वा, देवहेलनमेवैतत् तत् तस्मादंहसः पापस्य नुत्तये मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा नमस्कृत्वा अधोवसनं प्रगृह्यताम् । अथवा आदौ मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा दण्डवन्नत्वा; अधोवसनमित्यस्यायं भावः-एवञ्चेन्नमस्कारं करोषि, तथाप्यधोवसनमेव दास्यामि, न तूत्तरीयादीनीति परिहासः । अधो नमस्कृत्वेति अधो भूमितल इति वा, यन्नमस्कारेणैव देवतान्तरहेलनमपि यास्यतीति । वस्तुतस्तु अधिष्ठातृवरुणदेवतायामेव वा हेलनमभूत्, तेन तत्रैवापराधोऽपि जातः, यन्नमस्कारात् मयि प्रीते सति सोऽप्यपयातीति भावः ॥ १९-२०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ततश्च अयि सख्यः स्ववाचैव पराभूता वयमभूमैव यदि पुनरथापि विलम्बिष्यामहे एतन्मध्य एव कश्चिदन्यो मनुष्यश्चेदायाति तदा स्फुटमितोपि महाविडम्बनाम्बुधौ पतिष्यामः किञ्च, एतदङ्गस्पर्शप्राप्त्याशा महाबलवती दुर्वारा बभूव या खल्वत्र निमज्य मर्त्तुमपि न ददाति तदेतद्विधात्राऽस्माकं ललाटे लिखितमन्यथा न भवेदित्यताऽस्य प्रियतमस्यैव हठं पुरस्कृत्य स्वहठं रसातले प्रस्थाप्य लज्जायै जलाञ्जलीर्दत्वा नेत्राणि मुद्रयित्वा प्रान्तैरन्धकारैरेव स्वस्वशरीराण्याच्छाद्य जलादस्मात्तटं गच्छाम इति मन्त्रयां मिथो दृढीकृत्य ताः कृष्णसमीपं जग्मुरित्याह, तत इति प्रोक्तेः निर्जग्मुः ॥ १७ ॥ आसम्यक् प्रकारेणैव हृता मृता इव वीक्ष्य कुब्जानां मरणादप्यधिक ईदृशो लज्जात्यागः सोऽपि मदनुरोधेनैवाभिः कृत इति मनसैवाधिगतो यः शुद्धो निरुपाधिर्भावः प्रेमा तेन प्रसादितः स्कन्धे निधायेति तासामङ्गसौरभ्यप्राप्तिलोभादेव अथ च भवतीनामधोवस्त्राण्यपि मया स्वस्कन्धे धार्य्यन्ते इति तासु स्वप्रणय आदरश्च दर्शितः प्रकर्षेणोवाच सपरामर्शमुवाचेत्यर्थः । तत्रायं परामर्शः स्त्रीजातिमात्रेणापि दुष्करं कृत्यमाभिर्मत्प्रेमोपरोधेन कृतं किं चेतोऽप्यन्यदात्यन्तिकं दुष्करं कृत्यमस्ति तदेताभिः शक्यमशक्यं वेति मद्विषयकप्रेम्णः शक्तेरियत्तां दिदृक्षे इति सस्मितमिति धीः स्वमुखेनैवाङ्गीकृतमहास्यं करवाम तवोदितमिति युष्मद्वचनस्य परीक्षामधुनाहं करिष्ये ततो यद्युत्तीर्णा भवितुं शक्नुथ तदैव युष्मद्वसनानि मदीयात्ममनः प्राणशरीरैः सहितान्येव कृत्वा दास्यामीति भावः ॥ १८ ॥ हन्त हन्त गूढोऽयमपराधो युष्माकं व्यक्तोऽभूदित्याह, यूयं विवस्त्राः सत्यो यदपो व्यगाहत व्यगाहध्वं तदेतत् उ एवार्थे देवस्य जलाधिष्ठातुर्वरुणस्य नारायणस्य वा हेलनमपराधः । ननु, देशाचारोऽयं विशेषतो बालानां नापराधस्तत्राह, धृतव्रता इति । अनुष्ठितस्यास्य व्रतस्य फलाभावस्त्ववश्यम्भावीति भीषयते हन्त हन्तैतादृशं विडम्बनमभूदव्रतफलञ्च न भविष्यत्यतो मृता अपि वयं विशेषतः सुष्ठु मृतास्तदलं प्राणत्यागविलम्बेनेति मनोऽनुतापवतीः विशीर्णसर्वाङ्गीर्विवर्णा अतिविह्वला वीक्ष्य हन्तासां मा प्राणाः प्रयान्त्विति सद्य एवातिकृपया स्वयमेव तस्य प्रायश्चित्तं वदन् भोः कृशाङ्गघः ! मा भैष्टेत्याश्वासयति, बद्ध्वेति स्त्रियो हि यस्य दास्यो भवन्ति स एव तासां सर्वदेवमयो नारायण इति शास्त्रादेशात् "नारायणसमो गुणैः" इति गर्गादेशाच्च सम्प्रत्यहमेव युष्माकं नारायणस्तन्मदभिमुखे एव स्थिताः अंहसोऽपराधस्यानुत्तये निवृत्तये नमः कृत्वाऽधोवसनम् अन्तरीयवस्त्रं गृह्यतां त्रीण्यन्तरीयवासोभिः पुंसो मम प्रयोजनाभावात्तान्येव दास्यामि उत्तरीयाणि तु स्वस्यैवोत्तरीयाणि करिष्यामीति भावः । ततश्च शिरोभिरेव प्रणामे क्रियमाणे हंहो केवलशिरः प्रणामो गौण एवेत्युक्तम् एकपाणिना नमनोद्यममालक्ष्य एकहस्तप्रणामश्चेति वचनगठेन प्रत्यवायं दर्शयित्वा अञ्जलिं ताः कारयामासेरे तत्राप्यधोऽञ्जलिमभिप्रेत्य मूर्द्ध्नीत्युक्तमित्याद्यूह्यम् ॥ १९ ॥ ततश्च व्रतवैगुण्य मा भवतु भवत्वस्माकं जातिकुलधर्मलज्जादिसर्वनाशोपीति निश्चयवतीभिः स्वामियथा यथैव प्रेयान् प्राह तथैव कृतमित्याह-इति ताष्स्त्रेर अच्युतेनाभिहितं विवस्त्राप्लवनं व्रतस्य च्युतिहेतुं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्त्तिकामास्तस्तदशेषकर्मणां तस्य व्रतस्यान्येषामशेषकर्मणां च साक्षात्कृतं साध्यफलस्वरूपमेव तं नेमुः सर्वफलस्वरूपे तस्मिन्नेव सन्तुष्टे किं फलमवशिष्टं स्यादिति भावः । ननु, फलप्राप्तिरस्तु दोषापि भविष्यतीत्यत आह, यतोऽच्युतादेव अवद्यमृक् सर्वदोषनिवृत्तिरित्यर्थः । नहि तत् प्रसादविषयीभूतानां प्रत्यवायादिलक्षणः कोपि दोष इति भावः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ताः आज्ञानुसारेण निर्गताः वीक्ष्य भगवानाह, भवतीनां शुद्धेन भावेन प्रसादितोऽस्मीति एवं प्रीतः सन् स्कन्धे नीपशाखायां वासांसि निधाय सस्मितं प्रोवाचेत्यन्वयः। यद्वा, "आहतं गुणितेपि स्यात्" इति विश्वप्रकाशादाहता गुणिताः सञ्जातभक्तिगुणा वीक्ष्य प्रोवाचेत्यन्वयः ॥ १७ ॥ यूयं घृतव्रताः सत्यो विवस्त्राः अपो व्यगाहत अप्सु स्नाता इति यत्तद्देवहेलनं देवापराधः अतः अस्यांहसः देवहेलनस्य अपनुत्तये निराकरणाय मूर्द्धन्यञ्जलिं वद्ध्वाऽधो नमः कृत्वा वसनं प्रगृह्यताम् ॥ १८ ॥ अच्युतेन प्रकृतिकालकर्मादिच्युतिरहितेन स्ववशेन सर्वेश्वरेण इतीत्थं देवहेलनहेतुत्वेनाभिहितं विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिं व्रतस्य च्युतिहेतुं मत्वा तत्पूर्तिकामाः तस्य व्रतस्य पूर्णताकामा तदशेषकर्मणां तासाम् अशेषाणां ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तानां च यानि कर्माणि तेषां साक्षात्कृतं फलभूतं सर्वात्मानं तमेव श्रीकृष्णं नेमुः यतः स एव अवद्यमृक् दोषमार्जकः ॥ १९ ॥ तेन प्रणामेन ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु सख्यः स्ववाचैव वयं निर्जिताः किं कुर्मः इह कस्मिन् चित् पुंसि समागते त्रपासिन्धौ निमंक्ष्यामः किञ्च यदर्थं व्रतमाचरितं तस्य प्रेष्ठस्यैव हठमभिरक्षन्त्यस्त्रपायै जलाञ्जलिं प्रदाय निमीलितनेत्रतयैव लब्धैस्तिमिरप्रच्छदैर्देहानावृत्य जलात् तीरमासादयाम इति मिथो निश्चित्य प्रियन्तिकमागता इत्याह—तत इति। प्रोत्तेरु निर्जग्मुः ॥ १७ ॥ आहता आगतास्ता वीक्ष्य यद्वा लज्जात्यागेनाहताः सम्यक् ताड़िता इत्यर्थः। शुद्धेन स्वमात्रफलकेन भावेन प्रसादितो भगवान् वासांसि स्कन्धे निधायेति तदङ्गैः स्वाङ्गानामद्वैतं बोधयितुमित्यर्थः। तदङ्गसौरभ्यलाभेन इमा मदेकजीवातवो भवन्तीत्यवगमेन च प्रीतः सन् प्रोवाच—सस्मितमिति। स्वमुखस्वीकृतमद्दास्यानां "करवाम तवोदितम्" इत्युक्तवतीनामहं परीक्षां कुर्वे तदुत्तीर्णाभ्यस्तु स्वमनसा सहैव वासांसि दास्यामीति भावः ॥ १८ ॥ ननु स्वामिन्! सापि परीक्षा क्रियतामिति चेत्तत्राह यूयमिति। विवस्त्रा यूयं यदपो व्यगाहत व्यगाहध्वं तदेतत् उ निश्चये देवस्य जलेशस्य वरुणस्य हेलनमपराधः। नन्वयं देशाचार इति चेत् तत्राह—धृतेति। व्रतफलं न स्यादिति भावः। अतिविमनस्का वीक्ष्य कारुणिकस्तस्य सद्य एव लघु प्रायश्चित्तं दर्शयति—अंहसो जलदेवतापराधस्य अपनुत्तये निवृत्तये नमः कृत्वाऽधोवसनमन्तरीयं प्रगृह्यतां तेन पुंसो मे प्रयोजनाभावात्तदेव देयमुत्तरीयस्तु मयैवधार्यमिति भावः। तत्र मूर्ध्नैकहस्तेन वा प्रणाममालक्ष्याद्यस्य गौणत्वात् द्वितीयस्य प्रत्यवायकरत्वान्मूर्द्ध्न्यञ्जलिमित्युक्तं अधोऽञ्जलि विधानन्तु मूर्ध्नि इत्यनेन निरस्तम् ॥ १९ ॥ अपयातु त्रपा व्रतवैगुण्यन्तु माभूदिति निश्चित्य स्वनाथस्याज्ञा ताभिः पालितेत्याह—इतीति। इति प्रत्यवायत्वेनाच्युतेनाभिहितं कर्मणां साक्षात् कृतं फलस्वरूपं तं स्वनाथमेव नेमुः नतु वरुणं तत्त्वविद्वरेण्यत्वात्तासां "किमलभ्य भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने" इत्यादि स्मृतिभ्यः न च नमस्कारमात्रान्निःशेषनिवृत्तिर्न भवेदिति वाच्यं यतोऽच्युतनमस्कारादपराधानां सर्वेषां दोषाणां मृग निवृत्तिरित्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

इदमेकं विहाय हे यदुनाथ काऽन्यत्किञ्चिदाज्ञापय तत्परिज्ञाय कुर्म इत्यतः क्रोश एवाक्रोशेन बहुलं लुण्ठनमनन्तर रामराज्यमितिवत्प्रथमग्रासे मक्षिकापात इव च न वदत सुदत्य इत्याह। नो चेदिति। नो चेदधुनासमीपसमापतनं तर्हि नाहं दास्यामि न दास्योऽपि भवत्थः। नो चेदिति नाहं प्रदास्यामीति वचनादादौ संयोज्यस्य राज्ञे ब्रूवामह इत्यस्योत्तरमाह ॥ क्रुद्ध इति। क्रुद्धो युष्मद्भाषोद्भूतरोषो राजा नन्दः किं करिष्यति स्वप्रदर्शितदण्डे खण्डिते स्वानुकूलमेवेदमिति दुकुलानि वा लातुमनुकूलं कालिन्द्या आयाताः पुनर्भगवद्भारतीशुश्रूषा इमामेकां घाटीमटीकन्तकान्ता इत्याह ॥ तत इति। दारिकाः कुमारिका अङ्गना गतिमत्यः। अगेः कर्तरि युच्। अतो न दारिकातिरेकः। पाणिभ्यां स्वस्वहस्ताभ्यां गतम्। तीरं प्रति प्रोत्तेरुः। यद्यप्येकेन शयेन शक्यमाच्छादनं तथा चेद्वः शय एकस्मिन्वसनं क्षिपेच्चेन्नास्मदभिलषितसम्पत्तिः स्यात्स्याच्चैतावान्यत्नः कृतो विफल इत्याशयेन शयद्वयमयूयुजंस्तनीयस्यपि कार्ये नार्यसु चातुर्यं इति भावः ॥ १७ ॥ मुग्धभावो मनोहरचेष्टाभिप्रायो वा तेन प्रसादितो लीला वा। भावः स्वभावाभिप्रायचेष्टासत्तात्मजन्तुषु। लीलारदार्थष्विति विश्वः। तेन प्रसादितः प्रसादं प्रापितः स्कन्धे तरुशाखासु सस्मितः प्रीतस्तदुपरि प्रोवाच ॥ १८ ॥ स्वेन धर्ममवश्यं वाच्यमिति ताभिरेव कुमारीभिर्धर्मज्ञेति प्रागात्मानं बोधयित्रीभिर्व्रीजावापः कृतोऽतो मया तत्प्ररोहित्रा भाव्यमिति यथा तन्मनसे रुच्येत तथा धर्मपथं नर्मपूर्वकं दर्शयन्कान्ताः श्रीकान्तस्ता वशयति ॥ यूयमिति। यूयं धृतव्रता आमासान्तं सङ्कलितसतोप्रसत्तिजनकवतनिष्ठाः सत्यो विवस्त्रा वस्त्रहीना आपो व्यगाहतेति यत्तत् उ उत्कृष्टं देवहेलनं देवतातिरस्क्रियोत्तापकं का कुत्सितमिति वा। उत्तापे व्ययमीशेना चेति यादवः। उ उत्कर्षे कुत्सायामिति रन्तिदेवः। उ वाच्ये चैव कुत्सायामम्बायां स्यादनव्ययमिति विश्वः। अस्मदोषव्रतं मोघं न भवेद्भवेच्चाघपरिहारस्तथा कथय स्वामिन्यामः कामिन्यस्तेन पथेति तदाशयं जानन् जगन्नाथः स्वयमाह। बद्ध्वेति। हे वध्वोऽञ्जलिं बद्ध्वेतदंहसोऽपनुत्तये परिहारार्थं नमःकृत्वा वो वसनं प्रगृह्यताम्। नीवीग्रन्थग्रन्थनस्य तच्छ्लथनस्य च शयद्वयहेतुकत्वात्तत्सम्पुटीकरणेन यदपराधस्तदुपरोधोऽनुरोद्धव्यो भवतीति बद्ध्वाञ्जलिमिति जजल्पानल्पमतिरिति तात्पर्यमवधेयम् ॥ १९ ॥ तदभिहितमेवाभितो हितं न तत्प्रत्याययितुं शक्यमित्यच्युतेनेत्यभिहिता व्रजबाला विवस्त्राप्लवनं विवस्त्राभिः स्वाभिः कृतं यदाप्लवनं व्रतस्य च्युतिभ्रंशस्तां मत्वा

तत्पूर्तिकामा व्रतसाङ्गतां कामयमानास्तदवद्यं पापमुज्झितुं हातुमशेषकर्मणां साक्षात्कृतं साक्षात्करोतीति स तं नेमुः। कर्मसाक्षात्कृतः पुरतः। करौ च तत्कर्मकरावित्यादेः करसम्पुटीकरणं युक्ततरमित्यनेन ध्वन्यते। अभिहितम्। तथा व्रतच्युतीत्यपि पठन्ति। तत्र व्रतस्य च्युतिर्यस्मात्तद्व्रतच्युतीति द्विकमपि विवस्त्राप्लवनविशेषणमिति मन्तव्यम् ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

ईश्वरभावेन भगवतोक्तमिति वाक्यार्थापरिज्ञानेपि समागता इत्याह तत इति, जलानामाशयाज् जडानामाशयाज् जलानामभिप्रायो न गन्तव्यमित्यज्ञानां मर्यादायां यतो शुद्धिसम्भावना तदपेक्षया गर्भवद्वाक्यनिष्ठा श्रेष्ठाः, सर्वा इतीश्वरवाक्येन सर्वगुणतिरोभावः, दारिका इति शुको बालत्वं ज्ञापयितुं, अन्यथा सदसो राज्ञश्च भावोन्यथा भवेदिति, नन्वत्यन्ततामस्यः कथं वाक्यनिष्ठा जातास्तत्राह शीतवेपिता इति, बहिःकम्पोन्तः शीतेन कर्शिताश्च स्वभावाधीना एवोत्थिताः, अतो जातिर्वर्णिता परीक्षार्थं प्रमेयं निरूप्यमिति, अकथने शुकस्य मूर्धा विपतेत् ॥ १७३ ॥ ततो भगवान सर्वत आह ता न केनाप्यंशेन दुष्टा वीक्ष्य, अभिविधौ सन्धिरार्षः, अन्यार्थं सङ्गृहीता इतीषद्धता वा ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्यतस्त्याज्या इति मत्वापि शुद्धभावेन तासां शुद्धान्तःकरणे प्रसादितो जातः, ततः पुनर्ज्ञानशक्तिमाविर्भाव्य वृक्षस्य स्कन्धे वासांसि स्थापयित्वा तासामावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वाल्पमोहं कृत्पा स्मितसहितोन्यथा मुक्ता एव भविष्यन्तीति प्रकर्षेणोवाच यथा वाक्यमङ्गीकुर्युः ॥१८३ ॥ भगवद्वाक्यमाह यूयमिति, "अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठन्त्यतो नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यान् न निष्ठीवेन् न विवसनः स्नायाद् गुह्यो वा एषोग्निरेतस्याग्नेरनतिदाहाये"तिश्रुतेर्विवस्त्रस्नाने तत्र स्थिताग्नेर्देवताभ्यो वा व्रतादिसर्वनाशो भवेदिति तत् प्रतिविधातव्यं, भगवान् हि तत्कर्मसिद्धये समागत इति स्वतन्त्रतया फलदानात् कर्मसाद्गुण्यार्थमाह यतो यूयं धृतव्रतास्तथाभूता अपि विवस्त्रा यदपो व्यवगाहत विशेषेण विलोडितवत्यः क्षोभमुत्पादितवत्यः क्रीडया वस्त्राभावेन च दृष्टादृष्टाभ्यामेतदालोडनं तत् प्रसिद्धमेव देवहेलनं, उ इति निश्चये, एवं दोषं निरूप्य प्रायश्चित्तं निरूपयत्यञ्जलिं बद्ध्वा मूर्ध्नि स्थापयित्वांहसोपनुत्तये पापनाशाय नमः कृत्वा वो युष्माकमेतद् वसनं प्रगृह्यतामिति या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता सापराधनिवृत्तये योजनीया तत्रापि ज्ञानसहिता; एतावतैव देवता तुष्यति क्रियामूलस्यापि ज्ञानशक्तिव्याप्तेः, एषैव प्रौढरूपा शक्तिरिति तद्विदः, सा चेज् ज्ञानेन व्याप्ता फलं सिद्धं कृतार्थोपि भवति ॥१९३॥ ताः पुनर्भगवदभिप्रायमपि ज्ञात्वोक्तादप्यधिकं कृतवत्य इत्याहेत्यच्युतेनाभिहिता इति केनाप्यंशेन च्युतिरहितेन पूर्णशक्तिमताभिहिता उक्ता वचनद्वारा प्राप्तज्ञाना व्रजाबलाः स्वभावतश्चातुर्यादिदोषरहिता विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिं मत्वा हृदयेपि संवादं प्राप्य तत्पूर्तिकामा न तु देवतापराधनिवृत्तिमात्रपरास्तादृशेर्थे तस्य वा व्रतस्याशेषकर्मणां च साक्षात् कृतं कर्मभिरयं साक्षात् फलरूपेण सम्पादितः, फले जाते साधनन्यूनता व्यर्थेति फलदृष्टयस्तादृशं भगवन्तं नेमुर्भगवते नमस्कारं कृतवत्यः, साष्टाङ्गप्रणाममिति केचित्, तथा करणे हेतुर्यतोवद्यमृगवद्यमार्जनं यतो नमस्काराद् भवति, देवतापराधे शान्तेपि कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात् फलं न भविष्यतीत्युभयमेकेन यथा भवेत् तथा कृतवत्यः, यद्वा तस्य भगवतः पूर्तिकामा इत्यर्थः, न च व्रतच्युतिमिति पूर्वोक्तत्वेन तत्परामर्श एव तत्पदेनाकारीति वाच्यं, व्रततदन्याशेषकर्मफलत्वेन भगवन्निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च 'दृढं प्रलब्धा' इत्याद्यसूयाहेतूक्त्यनुपपत्तिः, व्रतपूर्तिपक्षे तदर्थमेव सर्वमुक्तं भगवता कारितं चेत्यसूयाहेतुत्वाभावात् तेषां, न हि स्वहितवाचा कृत्या वा तदारोपः सम्भवति प्रत्युत तद्वैपरीत्यमिति, ननु व्रतच्युतिं मत्वा कथं तदुपेक्षां कृत्वा प्रियमेव नेमुः? तत्राह तदशेषेति पूर्ववत्, न चैवं व्रतच्युतिं मत्वेतिकथनवैयर्थ्यमिति वाच्यं, तत्कालीनभावप्रौढिनिरूपणार्थत्वात्, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरित्युक्तमेव ॥ २०३ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्रैव ततो जलाशयादित्यत्र मूले तत इत्यानन्तर्यमात्रमुक्तम्, न तु श्रुत्वेत्यादिज्ञानवाचकम्। तत उक्तं वाक्यार्थपरिज्ञानेपीति। स चेश्वरवाक्यमेव कर्तव्यमित्यादिनोक्तः। ईश्वरवाक्येनेत्यादि। माऽनयं भोः कृथा इति श्लोकविवरणे वै राजसराजसादयो गुणा उक्तास्तद्भाववशात् तादृशवचनान्येवोक्तवत्यो, न त्वागताः, तदा प्रभुणा दासीत्वादेवागन्तव्यमित्यनुक्त्वा, यदीत्युक्तं यत्, तेनानागमने दासीत्वमपि न सेत्स्यतीति ज्ञापितम्। तच्चानिष्टमिति भयरस उत्पन्नः। सर्वान् भावांस्तिरोहितान् करोदितीश्वरवाक्येन तेषां तिरोभावे सर्वासामेकरूपत्वेनैकेनैव रूपेण सर्वा आगता इत्यर्थः। नन्वत्यन्ततामस्य इति। परपुरुषत्वाभावेपि तथात्वेनात्मनं बालेभ्यो न दर्शयिष्यामो; भगवदुक्ता अपीत्याग्रहस्तमश्शब्देनोच्यते, बालेषु स्वधर्मत्वेन पुरुषान्तरत्वाज्ञानात्। एवं सति भगवद्वाक्यादागमनं न सम्भाव्यत इति कथमागता इत्यर्थः। एतत्समाधानेऽयमाशयः। स्वनिकटे समानेयाः, सर्वथा परीक्षार्थं बालकस्वरूपं च न ज्ञापनीयम्। एवं सति तदुभयसम्पत्त्यर्थं लीलोपयोग्याधिदैविकः कालो मुख्यः सेवकः स्वधर्मं शीतमत्यर्थं हिम्श्चाविश्चकार जलान्तःस्थितौ बाधकम्। अत एवैतः पूर्वं जलविहारेपि न शीतमभूत्। तेन तत्र स्थातुमशक्ताः कर्शननोत्या पूर्वोक्ताहस्यापि तिरोधानादागता इति। एतदेवोक्तं स्वभावाधीना एवेत्यनेन। नन्वेवं कालाधीनत्वं स्यान्न भगवदधीनत्वमिति चेद्। स्यादेवं यद्याज्ञया नागत स्यात्। नत्वेवम्। पूर्वं स्वोक्त्योः पश्चाद् भगवदनूदितयोर्दास्योक्तकारित्वयोः सिद्ध्यर्थमेवागमनाद्, यतो

भगवता तथैवोक्तम्, यदि पदेनाधुनानागमने पूर्वोक्तं द्वयमपि न सेत्स्यतीति ज्ञापनात्। अतोऽग्रेपि भगवदुक्तकरणं सम्पद्यतामिति मत्वा यत्रागमनं तत्रैतत्सामयिकोक्तकरणं स्वतःसिद्धमिति बुध्यस्व। शीतोक्तिरुक्ताग्रहदार्ढ्यज्ञापनायेति ज्ञेयम्। एवंभूता अपि पूर्वं न निर्गता इति। ततः एवंभूतोक्त्यनन्तरं स्वागता एवेत्यर्थः। यदीति पदं श्रुत्वा स्वाग्रहविपरीते प्रियाग्रहं ज्ञात्वा स्वेष्टप्रतिबन्धं च ज्ञात्वा तथा चक्रुः। तत्रापि स्वप्रधानाङ्गमाच्छाद्येति निगूढाशयः। तेन कश्चन स्वाग्रहमत्यक्त्वैवागता इति स्वभावाधीना एवेत्युक्तमाचार्यैः। भगवदनभिमतकरणे कालधर्मो बाधन्त इत्यपि ज्ञापनाय शीतोक्तिर्ज्ञेया। सम्भवदुक्तिकः पूर्वमस्माभिरुक्त आशय इति सर्वमवदातम्। ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेत्यादि। अत्रेदं ज्ञेयम्। भगवत एतत्सर्वाङ्गदिदृक्षातिप्रचुरेपि तत्प्रतिघाते रोषोऽभवदिति तद्भावव्वर्णनं कृतमतस्त्याज्या इत्यनेन। मध्ये प्रसादितत्वोक्त्यायमर्थो लभ्यते। यत्र पाण्यन्तरायमपि न सहते, तत्र वस्त्राणि कथं ददातीतिशङ्काऽभावाय वृक्षस्कन्धनिधानतात्पर्यमाहुः तासामावरणानीत्यादि। अत्रायमाशयः। पूर्वं भगवदन्तरायत्वेनान्यत्र स्थापितमित्युक्तम्। अत परं यथा वैष्णवसङ्गो भगवत्प्रापकस्तथैतद्वस्त्राणामपीति वृक्षस्कन्धे निधानेन तादृग्धर्मयुक्तान् कृत्वेत्यर्थः। तेषां परार्थता भगवतैवानुपदं वक्ष्यते यत इति भावः। एतेषां तत्प्रापकत्वं रसोद्बोधकत्वेन। तेन तादृक्संस्थानविशेषकृतिरपि लक्ष्यते। तदानीं प्रीतियुक्तत्वे विशेषहेत्वपेक्षायां तमाहुः तासां निदानं श्रुत्वेति। वयस्यसहिते त्वयि सति वाक्यादनागमनमागमनं वा साध्वसाधु वेति वयं न विद्मः। केवलं त्वदीयाश्च वयम्, अतः किं कृते किं मनुते भवानिति शङ्कितहृदयासु यथोचिता रक्षा त्वयैव कार्येत्यादिरूपं श्रुत्वानन्यत्वं ज्ञात्वा तथा जात इत्यर्थः। यद्वा निदानं निजं स्वरूपमित्यर्थः। तथा च पद्मिनीनां नीवीषु पद्मगन्धो भवतीति यदा वृक्षस्कन्धे विविच्य स्थापितास्तास्तदा मधुपकुलाकुलतया तदीयपद्माङ्ककृतिश्रवणमेव निदानश्रवणम्, तेन स्वानुरूपनायिकोत्तमत्वज्ञानेन रसभावोद्बोधात्तासु प्रीतोऽभवदित्यर्थः। बद्ध्वाञ्जलिमित्यत्र। क्रियाशक्तिर्बाहू इत्यर्थ। क्रियामूलस्यापीति। बाहुमूलस्यापीत्यर्थः। वस्त्रदान लोके वेदे च मुक्तेरेव परमफलत्वप्रसिद्धिरिति तस्या भक्तिमार्गेऽल्पत्वं प्रकटीकर्तुमाहुः ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यादित्यादि। सर्वदुःखाभावरूपत्वेन मुक्तेरुक्तरूपकरणत्वस्य तदैवोपपत्तेरिति भावः। एतददाने हेतुत्वेन विशेषणव्याख्यानेन येषु नायं तोषस्तेभ्य एव मुक्तिदानम्, न त्वेवंभूतेष्वपीति भावः सूचितः। तथा च तदल्पत्वं स्पष्टमेव ॥ १९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तत इत्यत्र परीक्षार्थमिति परित ईक्षा विचारस्तदर्थं, प्रमेयं निरूप्यमिति अतो हेतोर्जातिः स्वरूपं तथाच्छाद्येत्यनेन वर्णितमित्यर्थः, ननु तथापि स्वभावाधीनत्वविचारः प्रकारन्तरेण वक्तव्यो न तु सभायामेवं वक्तव्यमित्यत आहुः अकथन इति, "सर्वभेदादन्यत्रेमे" इतिन्यायेन लीलास्था भगवद्रूपास्तेषु लौकिकत्वमानेन सङ्कोचेन सभायां तदकथनं स्यात् तथा सति ब्रह्मणो लौकिकत्वमानेन शाकल्यस्येव शुकस्यापि भवेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ भगवानाहृता इत्यत्र अन्यार्थमिति बालदृष्टचयं सङ्ग्रहज्ञानात् स्वभावाधीनत्वेन सर्वत्र ज्ञानदृष्टिव्याप्त्यभावादीषद्दोषयुक्ता इत्यर्थः, ततः पुनरिति पूर्वं पश्यन्नपि तथाच्छादनं दृष्ट्वा रोषेणापश्यन्निव जातस्ततः शोभनमध्यं दृष्ट्वा प्रसन्नः पुनः पश्यन् जात इत्यर्थः ॥ १८ ॥ यूयमित्यत्र तत्रापीति योजनेपि मज्ज्ञानशक्तिसहिता कर्तव्या, मूर्धपर्यन्तं योजने तथा भवतीतिभावः, एषैवेति क्रियाशक्तिरेव प्रकृष्ट ओघः प्रवाहस्तद्रूपा प्रवाहिकी शक्तिरितियावत्, तद्विद इति कर्मणां बहुफलत्वस्य शास्त्रसिद्धत्वादितिभावः, ज्ञानशक्तिश्च मुख्यफलेति तद्व्यावर्तनायैवकारः, सा चेज् ज्ञानेन व्याप्ता भवति तदा मोक्षरूपं मुख्यं फलं सिद्धं भवति 'ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद् भवे'दितिसिद्धान्तात्, अत्रापि प्रवाहिकाभिमानरक्षिका क्रियाशक्तिर्मज्ज्ञानशक्त्या व्याप्ता चेद् भवति तदा प्रवाहिकत्वत्यागेनानन्यत्वसिद्ध्या फलं भगवत्सम्बन्धलक्षणं सिद्धं भवति, कर्मसाद्गुण्यमपि भवतीत्याहुः कृतार्थोपीति, कृतः साधितः अर्थो व्रतरूपो येन तादृश इत्यर्थः, सामान्यविवक्षया पुंस्त्वम् ॥ १९ ॥ अभिप्रायमपीति वाक्यश्रवणमपिशब्दार्थः, उक्तादप्यधिकमिति उक्तकरणं किञ्चित् सङ्कोचेनापि भवति तथा सति सर्वथा दर्शनं न स्यादतस्तथा दिदृक्षां ज्ञात्वा तत्पूर्तिकामा निःशङ्कतया तथा कृतवत्य इत्यर्थः, साष्टाङ्गप्रणामपक्षे तदेवाधिकं ज्ञेयं, इत्यच्युतेनेत्यस्य व्याख्याने, तादृशेर्ये इति तथा च तरादं सत्यम्न्तमथ्ययमितिभावः, पक्षान्तरमाहुस्तस्य येति, अस्मिन् पक्षे तत्तदस्याग्रिमपदेन सह द्वन्द्वः, फले जाते इति भगवति समागत इत्यर्थः, एतस्य तादृशं नेमुरित्यनेनान्वयः, व्यर्थेति विरुद्धोर्थः फलं यतः पतित्वलक्षणे फले प्रतिबन्धिकेत्यर्थः, तादृशमिति तादृक्फलसम्पादकमित्यर्थः, कर्मच्छिद्रस्येति क्रीडया कर्मण्यन्तरायस्य जातत्वादित्यर्थः ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

ततो जलाशयात् सर्वा इत्यस्य विवृतावकथने शुकस्येति, यदि लौकिकभावं तासु मत्वा रहस्यवर्णनं शुको न कुर्यात् तथा सति शुकस्य मूर्धा तथा भवेत्, शुकस्तु तासां साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकत्वं ज्ञात्वा पुरुषोत्तमस्य सर्वाङ्गवर्णने दोषाभावददेतासामपि गूढाङ्गवर्णनं कृतवानतो न दोषः, वस्तुत एताः साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूपाः 'न स्त्रियो व्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किले'ति भृगुं प्रति ब्रह्मवाक्यमनुसन्धाय श्रीशुकेन रहस्यवर्णनं कृतं, अन्यथा मूर्ध्नोन्यथाभावः स्याद् 'मूर्धा ते विपतिष्यती'तिश्रुतेः ॥ १७ ॥ भगवा-

नाहृता इत्यस्य विवृतौ आ सर्वतः अहता न केनाप्यंशेन दुष्टा इति आ सर्वत इति इह अभिविधावाकारः, स च ङित् आङ् इत्यर्थः, ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङि'दितिमहाभाष्योक्तेरभिविधावाकारस्य ङित्वं, तथा च ङित्वान् 'निपात एकाजनाङ्' इतिसूत्रस्य प्राप्त्यभावान् न प्रगृह्यसञ्ज्ञा, ततश्च आ अहता इतिदीर्घः सुखेन भवतीति ज्ञेयं, अभिविधौ सन्धिरार्ष इति 'मर्यादाभिविधौ च यः एतमातं ङितं विद्या'दितिवाक्यात्, अभिविधावाकारस्य ङित्वान् 'निपात एकाजनाङ्' इतिसूत्रप्राप्तिनिषेधात् सन्धिः, स च सन्धिरार्षः ऋषिणा महाभाष्यकारेणाभिविधावाकारस्य ङित्वोक्तेः, प्रगृह्यसञ्ज्ञानिषेधादृषिप्रणीतत्वादार्षं इत्यर्थः, ज्ञानदृष्टिः सर्वत्र न व्याप्तेति एतदर्थंष्टिप्पण्यां स्फुट एव, तदावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पश्चात् तासां निदानं श्रुत्वेत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां विस्तरेणोक्तः ॥ १७½ ॥ यूयं विवस्त्रा इत्यस्य विवृतौ या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापितेति करयोः क्रियाशक्तिरूपत्वाद् यौ करौ लज्जारक्षार्थं स्थापितौ तौ नमस्कारकरणे मूर्ध्नि स्थापनेन विनियुज्यापराधनिवृत्तिः कर्तव्येतिभावः, तत्रापि ज्ञानसहितेति मज्ज्ञानसहितेत्यर्थः, मूर्ध्नि हस्तयोजने मज्ज्ञानविषयता भवतीतिभावः, क्रियामूलस्यापीति हस्तयोर्मूर्ध्नि स्थापने क्रियामूलस्य दोर्मूलस्यापि भगवज्ज्ञानशक्तिव्याप्तत्वं भवतीत्यर्थः, एवं सति सम्यङ्निरीक्षणाद् भावविशेषो भगवत्याविर्भवतीतिभावः, एषैवेति एषा लज्जारक्षार्थं स्थापिता पाणिरूपा क्रियाशक्तिः प्रौघरूपा प्रकृष्ट ओघः प्रवाहस्तद्रूपा भगवदनभिप्रेतकरणात् प्रवाहसम्बन्धिनी संसारमेव जनयेदिति हार्दं, सा चेज् ज्ञानेन व्याप्तेति सा क्रियाशक्तिः, इयं भगवत्सेवायामेव योजनीयेत्याकारकज्ञानेन युक्ता भवति तदा प्रवाहगतिं परित्यज्य भगवत्सम्बन्धादलौकिकी भवन्ती पुष्टिमार्गफलं साधयतीत्यर्थः ॥ १९½ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'सत्यं यदर्थो व्रतचर्यादिश्रमस्तदाज्ञोल्लङ्घनं न युक्तम्' इत्यभिप्रेत्य पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य बहिः शीतेन वेपिताः कम्पयुक्ता अन्तश्च शीतेन कर्शिताः विलष्टाः सर्वा दारिकास्ततो जलाशयात् कालिन्दीसलिलात् प्रोत्तेरु निर्जग्मुः ॥ १७॥ ततस्तासां शुद्धभावेन परमया भक्त्या प्रसादितः, अत एव तासु प्रीतः प्रीतियुक्तो भगवान् आहताः हन्तेर्गत्यर्थकत्वात् आगताः कुमारिका वीक्ष्य वासांसि कदम्बस्कन्धे निधाय सस्मितं यथा तथा प्रोवाचेत्यन्वयः ॥ १८ ॥ भगवद्वचनमाह—यूयमिति। धृतव्रताः सत्योपि यूयं विवस्त्राः सत्यो यदपो व्यगाहत विशेषेण आलोडितवत्यः तदेतत् देवानां हेलनं व्रतवैगुण्यसम्पादकः अपराध एव। 'उ' इत्येवकारार्थः। "अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठन्ति अतो नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यान्न ष्ठीवेन्न विवसनः स्नायात् गुह्यो वा एषोग्निः" इति श्रुतेः। अतः अंहसः पापस्यापनुत्तये निवृत्त्यर्थं मूर्धन्यञ्जलिं बद्ध्वा अधो नमः कृत्वा वसनं प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥ इत्येवमच्युतेन पूर्णगुणेन कृष्णेनाभिहितं कथितं श्रुत्वा विवस्त्राप्लवनं नग्नस्नानं व्रतस्य च्युतिं च्युतिहेतुं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्तिकामाः तस्य व्रतस्य अशेषाणामन्येषां च कर्मणां साक्षात्कृतं फलरूपं तं कृष्णमेव नेमुः। तत्प्रणामे हेतुमाह—अवद्यमृग्यत इति। यतः यस्मात् स एव अवद्यमृक् सर्वपापनिवर्तकः। 'इत्यच्युतेनाभिहिता' इति पाठान्तरम् ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत इति ॥ ततः कृष्णस्याग्रहं दृष्ट्वेत्यर्थः। मनुष्यान्तरागमनशङ्कयाऽपि चेति। बहिः शीतेन वेपिताः अन्तश्च शीतेन कर्शिताः क्लिष्टाः सर्वा दारिकाः स्वस्वपाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य ततो जलाशयात् प्रोत्तेरु निर्जग्मुः ॥१७॥ भगवानिति ॥ ततस्तासां शुद्धभावेन प्रसादितः अत एव तासु प्रीतो भगवान् आहताः। हन्तेर्गत्यर्थकत्वात्। आगताः कुमारिका वीक्ष्य वासांसि कदम्बादादाय स्वस्कन्धे निधाय भवतीनामधोवस्त्राण्यप्यहं स्कन्धे निदधामीति दर्शयन् सस्मितं यथा तथा न्यायनिष्ठुरमिव प्रोवाच। आहृता लज्जात्यागेन आ सम्यक् मृता इव वीक्ष्येति परे। अर्थान्तरं त्वश्लीलम् ॥ १८ ॥ यूयमिति ॥ धृतव्रताः सत्योऽपि यूयं विवस्त्राः सत्यो यदपो व्यगाहत विशेषेण आलोडितवत्यः। तङभावः आर्षः। तदेतत् देवस्य हेलनं व्रतवैगुण्यसम्पादकः जलाधिष्ठातुर्वरुणस्य अपराध एव। उ एवार्थे। तस्य प्रायश्चित्तमिवाह। अतः अंहसः पापस्यापनुत्तये निवृत्त्यर्थं मूर्ध्न्यञ्जलिं बद्ध्वा अधो नमः प्रणामं कृत्वा वसनं प्रगृह्यताम्। यद्वा। नमः कृत्वा अधोवसनं प्रगृह्यताम्। उत्तरीयाणि तु स्वयं धारयिष्यामीति हासः। मूर्ध्नीति अञ्जलिमिति च एकहस्तमात्रेण केवलं मूर्ध्ना च प्रणामं निरस्यति। अधो नम इति लज्जाहानप्रह्वीकाराद्यर्थम्। यद्यपि देशाचारात् द्वाल्याद्वा दोषाभावस्तथापि व्रतभङ्गदोषनिवृत्तिः कार्यैव ॥ १९ ॥ इतीति ॥ इत्येवं दोषत्वेन अच्युतेनाभिहितं कथितं विवस्त्राप्लवनं नग्नस्नानं व्रतस्य च्युतिं च्युतिहेतुं मत्वा व्रतस्य तस्य पूर्तिकामाः तस्य व्रतस्य अशेषाणामन्येषां च कर्मणां साक्षात्कृतं फलरूपं तं कृष्णमेव नेमुः। यतो यस्मात् अवद्यमृक् सर्वदोषमार्जनं भवति। भावे क्विप्। मृजेः षत्वाभाव आर्षः। स एवावद्यमृक् दोषमार्जक इति कर्त्तरि वा क्विप् ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

दारिकाः कुमारिकाः जलाशयात् जलस्थानात् योनिं गुह्यांगं प्रोत्तेरुर्बहिर्निर्गताः ॥ १७ ॥ शुद्धभावेन प्रसादितः प्रसन्नः कृतो हरिः आहताः वहिरागताः हंति धातोर्गत्यर्थे प्रयोगप्रवृत्त्यभावेस्यत्र गत्यर्थं प्रयोग आर्षः सस्मितं यथा प्रोवाच ॥१८॥ धृतव्रताः

यूयं विवस्त्राः सत्यः अपो जलानि व्यगाहत प्राविशत इति यत् तत् एतत्कर्म वरुणदेवस्य हेलनं अपराधोऽस्ति अस्य अंहसः पापस्य अपनुत्तये नाशाय मूर्द्ध्नि अंजलिं वद्ध्वा अधो नमः कृत्वा वसनं स्वकीयं स्वकीयं वस्त्रं प्रगृह्यतां ॥ १९ ॥ अच्युतेन अभिहितं कथितं नग्नस्नानमेव व्रतस्य च्युतिं नाशहेतुं मत्वा तस्य व्रतस्य पूर्त्तिकामाः पूर्णतामिच्छंत्यः तस्य व्रतस्य इतरेषामशेषकर्मणां च साक्षात्कृतं फलरूपं हरिं नेमुः कुतो यतः स एवावद्यमृक्दोषनिवर्त्तकोऽस्ति ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत इति ॥ ततः शीतवेपिताः, सर्वाः दारिकाः, शीतकर्शिताः सत्यः, योनिं पाणिभ्यां आच्छाद्य, जलाशयात् कालिन्दीह्रदात्, प्रोत्तेरुर्निर्जग्मुः । स्वाम्यभिमतकरणं दासीनामुचितमेवेत्यभिप्रेत्य निर्गता इति भावः ॥ १७ ॥ भगवानिति ॥ भगवान् श्रीकृष्णः, ता दारिकाः, आ ईषदपि, अहता अक्षतयोनोः वाल्ययौवनसंधिस्था इति यावत् । वीक्ष्यावलोक्य, शुद्धभावप्रसादितः तासां निष्कपटभावप्रेक्षणेन प्रसन्नतां प्राप्तः, अत एव, वासांसि तासां वस्त्राणि, स्कन्धे अंसे शाखायां वा, निधाय, प्रीतः सस्मितश्च सन्, प्रोवाच ॥ १८ ॥ तदेवाह ॥ यूयमिति ॥ हे कुमारिकाः, यूयं धृतव्रताः सत्योऽपि, विवस्त्राः निर्वस्त्राः भूत्वा, अपः जलानि, व्यगाहत अप्सु स्नाताः, इति यत्, एतत् उत एतत्त्वित्यर्थः । देवहेलनं देवतापराध एव । व्रतवैगुण्यभीतानां प्रायश्चित्तमपि स्वयमेवाह । अंहसोऽस्य पापस्य, अपनुत्तयेऽपनोदार्थं, मूर्द्ध्नि स्वस्वमस्तके, अञ्जलिं वद्ध्वा, अधः नमः कृत्वा, वसनं स्वं स्वं वासः, प्रगृह्यताम् ॥ १९ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, अच्युतेन श्रीकृष्णेन, अभिहिताः कथिताः, व्रजावला व्रजाङ्गनाः कुमारिका इति यावत् । विवस्त्राप्लवनं नग्नोभूत्वा स्नानविधानं, व्रतच्युतिं व्रतच्युतिहेतुभूतं मत्वा, तस्य व्रतस्य पूर्त्तिः पूर्णता तस्याः कामो यासां ताः, व्रतस्यावैगुण्यं कामयमानाः सत्य इत्यर्थः । तदशेषकर्मणां तस्य व्रतस्य अशेषकर्मणां तदितरेषां समस्तकर्मणां च, साक्षात्कृतं साक्षात् फलहेतुभूतं श्रीकृष्णमित्यर्थः । नेमुर्हस्तद्वयेन मूर्द्ध्नि अञ्जलिं वद्ध्वा नमश्चक्रुरित्यर्थः । यतः कृष्ण एव अवद्यमृक् पापमार्जकः भवति, अतः प्रणेमुः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तत इति : १०.२२.१७.

यज्जगत्कारणं तच्चाव्यक्तमित्यर्थदृष्टयः । युक्तं योनिं समाच्छाद्य तस्थुः फलवराशयाः ॥ ५५ ॥
व्रतमनङ्गनिशान्तपदं प्रभुर्भृशमवेक्ष्य फले यदि चालसः । तदिह सर्वमिदं भविता वृथेत्युपगता निखिला अपि तादृशाः ॥५६॥

स्कन्धे निधायेति : १०.२२.१८.

एतावत्संशयेऽधारि वासः संशयितात्मनाम् । आसामितो निश्चितार्था जाता इत्यन्यतो दधे ॥ ५७ ॥
यौ वराभयदौ सद्भ्यस्तयोः प्रावरणस्थितिः । गोपीप्रसादवेलायां नोचितेत्यन्यतो न्यधात् ॥ ५८ ॥
अचिरादुपस्थितोऽस्ति पुरतोऽसमशररणप्रसङ्ग इति । निजवाहुमूलमंसं वस्त्राभरणैरलञ्चकार हरिः ॥ ५९ ॥

यूयमिति : १०.२२.१९.

यद्यावृतः सुमनसामपि जात्वनङ्गभावः सदाशयवरैरपि तद्यनङ्गः ।
पूर्णोऽवनौ न भवतीत्यकृत स्फुटार्थं श्रीशः स्मरालयपिधाननिराकरिष्णुः ॥ ६० ॥

इत्यच्युतेनेति : १०.२२.२०.

कृष्णामृतजुषां का नः प्रसक्तिरधुनांहसः । विधिवन्द्यामीशवाचं मत्वा चक्रुस्तथैव ताः ॥ ६१ ॥
सर्वथाऽनङ्गमेवेदं व्रतमस्मत्कृतं प्रभो । तथापि कृपया तूर्णं पूर्णतां नय ते नमः ॥ ६२ ॥
सर्वथाऽनङ्गमेवेदं ... ॥ स्याच्चेदथापि दोषस्तं सूर्यं मार्जय ते नमः ॥ ६३ ॥
वयं तथा स्थिता हि त्वां विभाव्यानाश्रिताम्बरम् । स्याच्चेदथापि दोषस्तं सूर्यं मार्जय ते नमः ॥ ६३ ॥
दोषापनुत्तये कस्माद्याचध्वे मामिहेति मा । वदार्क यत्त्वमेवैको भुवि दोषापहारकः ॥ ६४ ॥

दोषाकरोऽपि द्विजराजतामगाद् यस्याश्रयात्तस्य रवे वयं तव ।
पादान् वहामः शिरसेत्यपाहरेरघं यथाऽस्मासु भवेत् कृपा हरेः ॥ ६५ ॥

सर्वतोमुख सन्तोषप्रदामेतास्तु मत्सुताम् । आश्रिता इति सम्बन्धं ज्ञात्वा पाहि नमोस्तु ते ॥ ६६ ॥
सर्वतोमुख सन्तोषप्रदामेतास्तु मत्सुताम् । आश्रिता इति सम्बन्धं ज्ञात्वा पाहि नमोस्तु ते । श्रीमद्विष्णुपदप्रकाशकवपुपास्योऽप्यर्क एवावनौ हंसानामिति भाति बोधित इहाप्येतन्मिषात् तद्विधिः ।
श्रीमद्विष्णुपदप्रकाशकवपुपास्योऽप्यर्क एवावनौ हंसानामिति भाति बोधित इहाप्येतन्मिषात् तद्विधिः ॥ ६७ ॥
नो चेत्पापमवस्त्रकाप्लवनतः सञ्जातमित्यादराद् वक्त्रा तेन दयाब्धिनाऽर्कनतये युक्तास्तथाऽमूः कथम् ॥ ६७ ॥
नो चेत्पापमवस्त्रकाप्लवनतः सञ्जातमित्यादराद् वक्त्रा तेन दयाब्धिनाऽर्कनतये युक्तास्तथाऽमूः कथम् । एता गोपसुतास्त्वदभ्रसमयापेक्षिप्रपुष्पोद्गमा मत्संभोगफलप्रदं सुचरितं कात्यायनीसद्व्रतम् ।
कंसध्वंसनहेतुनाऽहमचिराद् यातास्मि चेतस्ततः कर्तव्यः कतमोऽभ्युपाय इह वाऽऽनृण्यं यथा स्याद् व्रते ॥ ६८ ॥

इत्यालोच्य विभाव्य चार्ककिरणस्पर्शोम्बुजोल्लासकृन्मन्ये तेन तदा तदीयमदनावासाम्बुजोल्लासनम् ।
कर्तुं तत्फलदित्सुना हरिनतौ तास्तत्क्षणे योजिता नो चेद्धर्मविदग्रणीः कथमिदं कुर्यादनार्याथितम् ॥ ६९ ॥
(युग्मम्)

माया प्रावरणः सदागमलसद्रूपोऽहमस्मिञ्जगत्यन्तर्यामितयैवमेव चरिते प्राक् तत्सदिष्टप्रदः ।
वृत्तीर्गोकुलवर्तिनीरनुपदं व्यापारयामीति किं वृक्षस्थः पटभृत्प्रभुस्तदबला व्यापारतोऽदर्शयत् ॥ ७० ॥

कृष्णप्रिया

राजन् परीक्षित् ! कुमारियाँ अति ठंड से ठिठुरती और काँपती थी । लेकिन भगवान की आज्ञा का पालन करती, अपने गुह्य अङ्गों को अपने दोनों कर कमलों से आवृत करके वे श्रीयमुनाजी से बाहर निकली, उस समय कुमारिकाओं को ठंड बहुत सता रही थी ॥ १७ ॥ भगवान् उन कुमारीकाओं को सर्व प्रकार निर्दोष जानकर उनके विशुद्ध एवं निर्मल भाव से प्रसन्न हो गए और तरुवरों की शाखा पर वस्त्रों को रखकर प्रसन्नता पूर्वक स्मितहास्य करते हुए यों कहने लगे ॥ १८ ॥ हे कुमारियों ! आपने कात्यायनी व्रत अच्छी तरह पाला है इसमें कोई शक नहीं । लेकिन आपने व्रत के अवसर आपने श्रीयमुनाजी के जल में बिना वस्त्र स्नान किया इससे श्रीयमुना महारानीजी का, वरुणदेव का, दिशाओं की देवताओं का एवं सूर्य भगवान का अनादर या अपराध हुआ है । उस अपराध निवृती के लिए आप अपने दोनों हाथों की शिरसावन्द्य अञ्जली बांध कर झुक कर प्रणाम करें, पुनः अपने अपने वस्त्र सुख से ले जाइये ॥ २० ॥ श्री अच्युत भगवान के द्वारा इस प्रकार कही गई, व्रत भङ्ग की बात जानकर, उन व्रज की अबलाओं ने वस्त्ररहित स्नान को व्रत भङ्ग का दोष मानकर, और भगवान को अपने हितदर्शक समझ कर भगवान की आज्ञा का पालन करने के लिए और व्रतापराध की विशुद्धि के लिए, सर्व कर्मों के साक्षात् फल स्वरूप प्यारे पुरुषोत्तम को नमस्कार किया, प्रभु के श्रीचरणों में प्रणाम सर्व प्रकार के पापों त्रुटियों और दोषों का विनाश करता है ॥ २० ॥

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः । वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् [1]करुणस्तेनः तोषितः ॥ २१ ॥

[2]दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं[3] ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥ २२ ॥

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः । गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्ल[4]ज्जायितेक्षणाः ॥ २३ ॥

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया । धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ताः तथा अवनताः दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः तेन तोषितः करुणः ताभ्यः वासांसि प्रायच्छत् ॥ २१ ॥ दृढम् प्रलब्धाः, च त्रपया हापिताः, प्रस्तोभिताः क्रीडनवत् कारिताः च वस्त्राणि अपहृतानि, एव अथ अपि, प्रियसङ्गनिर्वृताः ताः अमुम् न अभ्यसूयन् ॥ २२ ॥ स्ववासांसि परिधाय प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः, तस्मिन् गृहीत चित्ताः, लज्जायितेक्षणाः नो चेलुः ॥ २३ ॥ स्वपादस्पर्शकाम्यया धृतव्रतानाम् तासाम् सङ्कल्पम् विज्ञाय भगवान् दामोदरः आह हे अबलाः ! ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

दृढमत्यर्थं प्रलब्धा वंचिता यूयं विवस्त्रा इत्यादिना । त्रपया लज्जया च हापितास्त्याजिता अत्रागत्य स्ववासांसीत्याग्रहेण । प्रस्तोभिता उपहसिताः सत्यं ब्रवाणि नो नर्मेत्यादिना । क्रीडनवत्कारिताश्च बद्धांजलिमित्यादिप्रायश्चित्तच्छलेन । एवमपराधेऽपि ता नाभ्यसूयन् दोषदृष्ट्या नापश्यन् ॥ २२ ॥ प्रेष्ठसंगमेन सज्जिताः वशीकृता अतो ग्रहीतचित्ताः सत्यो नो चेलुः । गृहीतचित्तत्वमाह । तस्मिन्कृष्णे लज्जायितेक्षणा लज्जाविलसितमीक्षणं यासां ता इत्यर्थः ॥ २३ ॥ दामोदर इति भक्तवात्सल्यं दर्शयति । अबलाः प्रति ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ता व्रतपूर्त्तिकामाः । तथावनताः हस्तद्वयसंपुटं मूर्ध्नि धृत्वा कृतप्रणामाः । करुणः दयालुः । तेन मूर्द्धकृतांजलिप्रणामेन ॥ २१ ॥ अथापि तथापि अमुम् कृष्णम् । नाभ्यसूयन् प्रियत्वादेव, प्रियकृतं दुःखप्रदानमपि सुखत्वेनैवाऽनुभवंत्य इति भावः । क्रीडनवत् दारुयंत्रवत् । प्रियस्य श्रीकृष्णस्य संगेन संभाषणरूपेण निर्वृताः प्राप्ता नंदाः ॥ २२ ॥ इत्यर्थं इति लज्जितेक्षणावां

1. तरुणस्तेन–वीर.; करुणः स्नेह–विज. । 2. इत्थं–वीर. । 3. प्यमुस्तं नाभ्य–वीर ; प्यमुं मैवाभ्य–विज. । 4 लज्जेक्षितेक्षणाः–विर.।

चलनादिकमतिहठेनापि कर्तुमशक्यं भवतीति भावः। सज्जितास्तस्मिन्नेवात्यधिकमासक्तीकृताः। यथा कृष्णेन तासां वसनानि गृहीतानि तथा गृहीतं तस्यापि चित्तं याभिस्ता इति परस्परप्रेमाश्रयत्वमुक्तम्। अत्र मध्येताः परमासक्ता इति कृष्णेन यथा ज्ञातं तथैव कात्यायनीप्रसादादस्मास्वप्ययमासक्त इति ताभिरप्यवगम्य तस्मिन्कृष्णे लज्जायितं प्राप्तमीक्षणं यासां तथाभूताः सत्यो भावोत्थजाड्यादेव न चेलुः। या खलु कृष्णेन निष्कासिता ताभिररि तिरस्कृता तदंगेभ्यो निस्सृत्य दूरंगताभूत्सा लज्जा पुनः परावृत्यायांती नयनेन कृततत्साहाय्येन कृष्णसमीपं नीयमाना कृष्णाल्लब्धातिप्रसादा पुनस्तासामंगेषु पूर्वतोप्यधिकमधिकारं प्रापेत्युत्प्रेक्षा ध्वनिता॥ २३॥ तासाम् व्रजकुमारिकाणाम्। अबला इति। निर्बलानां कार्यं सबलेभ्यः श्रेष्ठं करोमीति संबुद्धयभिप्रायः। यद्वा—अः वासुदेवोऽहंमे बलं यासां तास्तथा भक्ता इत्यर्थः। बलमत्र सामर्थ्यमाच्छादनं वा। वासुदेववस्त्रवतां न हि प्राकृतवस्त्रे इच्छोदयतीति। अत एव यूयं मद्वाक्यात्यक्तवस्त्रा जाता इति भावः। दामोदर इति। भक्तोऽत्र नारदो नलकुबरावपि भविष्यभक्तौ यशोदादिर्गोपीजनोऽप्यत्र भक्तपदेन ग्राह्यः, तदनुग्रहार्थंमुदरे दामबंधं स्वीचकारेति भावः। नारदे तु तद्वचःसत्यकरणमनुग्रहः, नलकुवरयोर्भक्तिदानमनुग्रहः, यशोदादीनामानंददानमनुग्रहः, 'प्रसादं लेभिरे गोप्यः' इत्याद्युक्तेः। विजयध्वजस्तु–पादस्पर्शः शरीरस्पर्श इत्याचष्ट "उत्तमानां शरीरं तु पादशब्देन भण्यते" इति शिष्टोक्तेः। अत एव भगवत्पूज्यपादविष्णुपाद इति व्यवहारो लोके शास्त्रे च दृश्यते। पादशब्देन पादपर्यायस्तेन स्वामिचरणतातचरण इत्यादयः प्रयोगा। श्रूयंते। 'अंगेनांगिग्रहणम्' इति न्यायो वाऽनुसंधेयः॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तथा तेन स्वोक्तेन प्रकारेण वासांसि सर्वाण्येव परिधानीयोत्तरीयादीनि प्रकर्षेण प्रेमसम्बोधनादिना नीपाग्रादवरुह्य सन् इति ज्ञेयं यतः करुणाः स्वत एव सर्वत्र दयालुः विशेषतश्च तेन तोषितः यद्दर्शनोत्कण्ठया नागराजनोचितभावाविभावेपि प्रकृतबाल्यचापल्यमिवेदमाविष्कृतं तेन तासामभिमानलज्जाच्छेदकरूपेण पूर्वानुरागजेन परमार्त्तिभयेन दशाविशेषेण लब्धमनोरथ इत्यर्थः। देवकीसुत इति श्रीपरीक्षितं प्रति मुनीन्द्रोक्तिः साहि तत्रोचिता श्रीकुन्तीप्रपौत्रस्य श्रीसुभद्रापौत्रस्य तस्य तद्रूपालम्बनत्वेनैव सुखविशेषात् तथैव भवतां प्रपितामहीति श्रीशुकोक्तिः तथैव च दशमारम्भे तत्प्रश्न इति तस्मात् योऽसौ भवतामालम्बनीभूतः सोपि यासां प्रेम्णैवं चपलीकृतस्तासां महिमा विचार्यतामिति भावः। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्॥ २१॥ तेनेत्युक्तमेव विवृणोति—दृढमिति। क्रीडनं क्रीडोपकरणं यन्त्रपुत्रिकादि प्रियस्य तस्य सङ्गेन सङ्गत्येव निर्वृताः। यद्वा, प्रियस्य सङ्गेन प्रत्युत निर्वृता बभूवुः अहो पश्य गाढप्रेममाहात्म्यमिति भावः॥ २२॥ स्ववासांसि निजवस्त्राणि तेन परिवर्त्य दत्तान्यपि परिचित्यान्योन्यस्वीयस्वीयान्येव परिधायेत्यर्थः। अन्यत्तैः यद्वा प्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य सङ्गमेन सज्जिताः तस्मिन्नेवासक्तीकृताः अत आकृष्टभगवच्चित्ताः अत एव मिथो भावविशेषोदयेनोश्वासवाक्यप्रसादेन च सलज्जदृष्टयः सत्यस्तस्मिन् स्थाने कृष्णे वा स्थिरा न चेलुस्तत एवेत्यर्थः। पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी। यद्वा, वासः परिधानानन्तरं लज्जातिशयापगमे सति गृहीतचित्ता उदितभावाः अत एव प्रेष्ठसङ्गमाय तदैव रहः पाणिग्रहणाय सज्जिताः सज्जा इव वर्त्तमाना अत एव तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः सत्यो न चेलुः लज्जते लज्ज इति पचाद्यजन्तं लज्जयितेति क्यन्तान्निष्ठायां रूपं विकृताख्योऽयमनुभावो ज्ञेयः यथोक्तम्—

"ह्रीमानेर्ष्यादिभिर्यत्र नोच्यते स्वविवक्षितम्। व्यज्यते चेष्टयैवेदं विकृतं तद्विदुर्बुधाः॥" इति॥ २३॥

सङ्कल्पं विज्ञाय पूर्वोक्तभावाभिव्यक्त्या साक्षादनुभूय सङ्कल्पमेव दर्शयति, स्वस्य पादयोः स्पर्शः पत्नीत्वेन भक्त्यात्यन्तसान्निध्यमित्यर्थः। यद्वा, स्पर्शः स्पर्शनं पतित्वेन तासु स्वसमर्पणं तत् सत्योपपादनं तस्य काम्यया घृतं नियमेनानुष्ठितं रक्षितं वा व्रतं याभिस्तासां स्वपादस्पर्शेच्छामयं सङ्कल्पं तत्र पादस्पर्शशब्देन प्रेमविशेषेण पतित्वं सूचितं दामोदर इति दामोदरत्वमारभ्यैव तासु प्रेमवानित्यर्थः अबलाः कन्यात्वादिना स्वातन्त्र्यहीनाः प्रति इत्यात्मैकसाध्याभीष्टत्वं वितर्क्य तासु तस्य तादृशी कृपा युक्तैवेति भावः॥ २४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता वृहद्वैष्णवतोषिणी

तथा तेन स्वोक्तेन प्रकारेणावनताः कृताञ्जलित्वेन प्रणताः वासांसि सर्वाण्येव परिधानोत्तरीयादीनि, प्रकर्षेण यथायथं प्रेमसम्बोधनादिपूर्वकम्; यद्वा, कौतुकेन तासां प्रीत्यर्थमन्योन्यवस्त्रपरिवर्तनविनोदेनायच्छत्, नीपाग्रात् अवरुह्य सन्निति ज्ञेयम्, यतः करुणः, स्वत एव प्रीतस्तत्रापि भगवान् निजाशेषगुणादिप्रकटनपरः, यतो देवक्याः सुतस्तदर्थमेव तस्यां जात इत्यर्थः। देवकीशब्दार्थः पूर्वमेवोक्तोऽस्ति, विशेषतश्च तेन तासां व्रतेन निजवचनप्रतिपालनेन वा तोषितः॥ २१॥ अहो राजन्! पश्य गाढप्रेममाहात्म्यम्, किंवा श्रीकृष्णस्य मोहनत्वमिति वदन् ताः प्रति साभ्यसूयमिवाह–दृढमिति। क्रीडनं क्रीडोपकरणं यन्त्रपुत्रिकादि, यतः प्रियस्य तस्य संगेन संगत्यैव निर्वृताः यद्वा प्रिय संगेन निवृताश्च बभूवुः॥ २२॥ स्ववासांसि निजनिजवस्त्राणि यथा स्वयमेव तेन परिवर्त्य दत्तान्यपि परिचितान्यन्योन्यं परिवर्तनेन स्वीयस्वीयान्येव परिधायेत्यर्थः। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्, यद्वा, प्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य संगमेन वासज्जितास्तस्मिन्नेवासक्तीकृताः, अत आकृष्टभगवच्चित्ताः, अतएव मिथो भावविशेषोदयेनाश्वासवाक्प्रसादलाभेन वा सलज्जदृष्टयः सत्यः, तस्मिन् स्थाने कृष्णे वावस्थिता नो चेलुस्तत एवेत्यर्थः। पञ्चम्यर्थे वा सप्तमी॥ २३॥ संकल्पं विज्ञाय भावविशेष-

दृष्ट्या साक्षादनुभूय संकल्पमेव दर्शयति-स्वस्य पादयोः स्पर्शः पत्नीत्वेन भक्त्यात्यन्तसान्निध्यमित्यर्थः। यद्वा, स्पर्शः स्पर्शनं पतित्वेन तासु समर्पणं तत्स्वत्वोपपादनं तस्य काम्यया धृतं नियमेन यत्नतोऽनुष्ठितं वा व्रतं याभिस्तासां स्वपादस्पर्शरूपमेव संकल्पमित्यर्थः। तत्र पादस्पर्शशब्देन प्रेमविशेषेण पतित्वविशेषः सूचितः अबलाः कन्यात्वादिना स्वातन्त्र्यहीनाः; (१८ श. श्लो.) 'प्रोतः' इति तासु तस्य तादृशी कृपा युक्तैवेति भावः। किंवा अनुत्तमादिवत् न बलमन्येषां याभ्यस्ता महाबलिष्ठा इत्यर्थः, श्रीभगवद्वशीकरणात् ॥२४॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

करुणः करुणावान् ॥ २१ — २५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ भगवांस्तदा अवनतास्ता दृष्ट्वा तेन प्रणामेन तोषितः तरुणश्च करुण इति पाठे करुणावांस्ताभ्यः कुमारिकाभ्यः वासांसि प्रददौ ॥ २१ ॥ इत्थमिति। यद्यपीत्थं प्रलब्धा "यूयं विवस्त्राः" इत्यादिना अधिक्षिप्ताः त्रपया लज्जया हापिताः बध्वाञ्जलीन् इत्यादिना प्रायश्चित्तव्याजेन यन्त्रपाञ्चालिकावत्प्रवर्तिताः वासांसि चापहृतानि तथाप्यमूः कुमारिकाः तं कृष्णं नाभ्यसूयन् गुणेषु सत्स्वप्युक्तान् दोषानाविश्चक्रुः तत्र हेतुः निरतिशयप्रियस्य कृष्णस्य सङ्गेन निर्वृताः सुखिताः तत्सङ्गनिर्वृत्या विस्मृतदोषा इति भावः। नाभ्यसूयन् ॥ २२ ॥ किन्तु स्ववासांसि परिधाय धृत्वा प्रेष्ठस्य सङ्गमेन वशीकृताः अत एव तदपहृतचित्ता नोच्चेलुः चलितवत्यः, गृहीतचित्तत्वमेवाह —तस्मिन् कृष्णे लज्जायितं लज्जाविलसितम् ईक्षणं यासां ताः ॥ २६ ॥ ततो भगवान् दामोदरः स्वपादस्पर्शकाम्यया स्वपादस्पर्शशब्देनात्र तात्पर्यतः स्वेन सह क्रीडा विवक्षिता तत्काम्यया धृतमनुष्ठितं व्रतं कात्यायन्यर्चनात्मकं याभिस्तासां सङ्कल्पमभिसन्धिविशेषं विज्ञाय प्राह ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

करुणः दयाशीलः ॥ २१ ॥ तासां कृष्णे भक्त्यतिशयं कथयति—दृढमिति। प्रलब्धाः वञ्चितवत्कारिताः हापितास्त्याजिताः मुक्तलज्जाः कारिताः प्रस्तोभिताः चाटुवचनजालं प्रापिताः क्रीडनवद्दारुयन्त्रवत् अथापि तथापि अमुं कृष्णं प्रति गुणेषु दोषाविष्करणमसूया तत्र हेतुमाह, प्रियेति। प्रियेण कृष्णेन सह सङ्कथनलक्षणसङ्गेन निर्वृताः ॥ २२ ॥ प्रेष्ठस्य कृष्णस्य सङ्गमे सज्जिताः सन्नद्धाः न उच्चेलुः स्थितप्रदेशादिति शेषः। लज्जया ईषन्निमील्य प्रेषितानीक्षणानि यासां ताः यद्वा लज्जया इषितानि गतानीक्षणानि यासां तास्तथा "इषु गतौ" इति धातुः २३ ॥ पादं शरीरं "उत्तमानां शरीरं तु पादशब्देन भण्यते" इति ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

देवकीसुत इति श्रीपरीक्षितं प्रति मुनीन्द्रोक्तिः मदालस्यपरूपात्तरूप्येण एवमन्यत्रापि दृढम् ॥ २१—२८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवं भगवता अकार्यमपि कृतं कारितञ्च, तथापि तस्मै नासूयन्तीत्याह—दृढं प्रलब्धा इत्यादि। दृढं गाढं प्रलब्धा उपहसिताः त्रपयावहापितास्त्याजिताः, प्रस्तोभिता अपराद्धीकृता, क्रीडनवद् दारुपुत्रिकावत् कारिता नर्तिताः, वस्त्राणि चंवतहृतानि इति प्रागेवान्वेतव्यम्। न केवलं वस्त्राण्येवापहृतानि, दृढं प्रलब्धाश्चवमेव योजना। तथापि ताः कुमारिका नाभ्यसूयन्। कुतः ? प्रियसङ्गनिर्वृताः प्रियोऽयं यया तथा करोतु, अस्य सङ्ग एव नः काम्यः स तु भवन्नास्ते, किमेतस्याकार्यकल्पनयेति निर्वृताः सुखिताः ॥२२॥ अथ भगवतैव सर्वज्ञशिरोमणिना परिचीय परिचीय प्रत्येकमुन्नीय करतलेन दत्तानि वासांसि ताः परिदधुरित्याह न केवलं परिधाय स्ववासांसीत्यादि स्वस्ववासांसीत्यर्थः। नो चेलुः, वसनप्राप्तिरेव न पुरुषार्थः, तस्मिन् सति तदैव चलनं शोभते। न केवलं तेन वासांस्येवापहृतानि, अपि तु चित्तान्यपि, अत आह—गृहीतचित्ताः। गृहीतचेतस्त्वं दर्शयति—प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः, प्रेष्ठसङ्गमे धृताशाः। अतएव तस्मिन् श्रीकृष्णे लज्जायितेक्षणा जाताभिलाषतया व्रीडितलोचनाः लज्जयाऽयिते प्राप्ते ईक्षणे यासाम् ॥ २४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तास्तथावनता इत्यादि। तथा तदुक्तप्रकारेणावनताः कृतनमस्काराः पूर्वं मूर्ध्नि अञ्जलिं बद्ध्वा पश्चाद्भूमौ निपत्य नमस्कृत्वेति भावः। करुणः करुणावान् तेन तोषितः, करुणश्च स्तेनश्च तोषितश्चेत्येकमेव वा पदम्, स्तेनश्चौरः ॥ २१ ॥ क्रीडनवच्च क्रीडनं दारुपुत्रिकादिः, दारुपुत्रिकाः सूत्रग्रथिता यथा नर्त्यन्ते, तथा कारिताः, यतः प्रियसङ्गनिर्वृताः प्रियसङ्गमात्रं निर्वृतिहेतुर्यासां ताः ॥ २२-२४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वासांसि सर्वाण्येव यतस्तेन प्रणामेन स्ववाञ्छितार्थसाधकेन तोषितः ॥ २१ ॥ तिरस्कुर्वतोपि स्वप्रियस्यानुकूल्यं तासिकृतमन्यैर्दुष्करत्वाद्विस्मयेनाभिनन्दति दृढमित्यर्थं प्रलब्धा वञ्चिता यूयं विवस्त्रा इत्यादिना त्रपया चावहापितास्त्याजिताः अप्रतारं

स्ववासांसीत्याग्रहेण प्रस्तोभिता उपहसिताः "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म" इत्यादिना क्रीडनं क्रीडोपकरणं यन्त्रपुत्रिकादि तद्वत् कारिताः कृताः बद्ध्वाञ्जलिमित्यादि प्रायश्चित्तच्छलेन नाभ्यसूयन् दोषदृष्ट्या नापश्यन् प्रियस्य तथा कृतवतोपि सङ्गेन निर्वृताः प्रियत्वादेव प्रियकृतं दुःखप्रदानमपि सुखत्वेनैवानुभवन्त्य इति भावः ॥ २२ ॥ प्रेष्ठस्य सङ्गमेन सज्जितास्तस्मिन्नेवात्यधिकमासक्तीकृता यथा कृष्णेन तासां वसनानि गृहीतानि तथा गृहीतं तस्यापि चित्तं याभिस्ता इति परस्परप्रेमाश्रयत्वमुक्तम् अत्र मय्येताः परमासक्ता इति कृष्णेन यथा ज्ञातं तथैव कात्यायनीप्रसादादस्मास्वपि अयमासक्त इति ताभिरप्यवगम्य तस्मिन् श्रीकृष्णे लज्जायितं प्राप्तम् ईक्षणं यासां तथाभूताः सत्यो भावोत्थजाड्यादेव न चेलुः याः खलु कृष्णेन निष्कासिता ताभिरपि तिरस्कृता तदङ्गेभ्यो निस्सृत्य दूरं गताऽभूत् सा लज्जा पुनः परावृत्या यान्ती नयनेन कृततत्साहाय्येन कृष्णसमीपं नीयमाना कृष्णाल्लब्धातिप्रसादा पुनस्तासामङ्गेषु पूर्वतोप्यधिकमधिकारं प्राप्तेत्युत्प्रेक्षा ध्वनिता ॥ २६ ॥ भो रसिकशेखर ! अस्माभिव्रतफलं प्राप्तमेव यदसाधारणं विडम्बनं त्वया कृतं तेनापि प्राणा न निर्यापिताः प्रत्युत त्वदनुरोधेन सन्तोषिता एव । किञ्च, जलादस्मानुत्थाप्य नानाचातुर्यसृष्ट्या अस्मत्सर्वाङ्गानीक्षित्वा अस्मत् परिधानीयवासांसि स्वीयस्कन्धधृतानि कृत्वैवास्मभ्यं स्वमनोरत्वेन सार्द्धं दत्तवता त्वया यत्किञ्चिदुक्तं तस्य च प्रत्युत्तरतयास्माभिः सलज्जावलोकनमेव तुभ्यं दत्तम् अनेनास्माकं त्वय्यपराधो वा त्वत्प्रीणनं वेत्यजानतीरस्मान्मुग्धाः प्रति त्वंविवक्षितं तत् खलु देश कालपात्राभिज्ञस्त्वं ब्रूहि तत् श्रुत्वैव गृहं याम इति तत्र प्रत्युत्तरयिष्यतो भगवतः सर्वाभिज्ञत्वमेकेन ततस्तत् प्रत्युत्तरं चाह, त्रिभिः तासामिति ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तासां श्रीकृष्णेत्यासक्ति दर्शयति दृढमिति द्वाभ्याम् । यद्यपि दृढमत्यर्थं प्रलब्धाः अधिक्षिप्ताः यूयं विवस्त्रा इत्यादिना त्रपया लज्जाया च हापितास्त्याजिताः अत्रागत्य स्ववासांसीत्यादिना प्रस्तोभिता उपहसिताश्च "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म" इत्यादिना क्रीडनवत्कारिताश्च बद्ध्वाञ्जलिमित्यादिप्रायश्चित्तव्याजेन वस्त्राणि चापहृतानि तथापि ताः कुमारिकाः अमुं श्रीकृष्णं नाभ्यसूयन् सर्वात्मानं सर्वलोलं सर्वदा स्वभावतोपास्तसमस्तदोषदृष्ट्या नापश्यमित्यर्थः । तत्र हेतुमाह प्रियसङ्गनिर्वृताः प्रियस्य निर्दोषतया प्रीतिविषयस्य स्वभक्तदोषनिराकरणार्थमधिक्षेपादिकर्तृत्वे प्रतीयमानस्य सङ्गेन निर्वृताः सुखिता इत्यर्थः । अस्मत् स्वभावानुसारेणास्मद्धितायैव पूर्णानन्दः सर्वदा स्वभावत एवावाप्तसमस्तदोषोयं चेष्टते इति विवेकेन श्रीकृष्णसङ्गजानन्दसमुद्रे निमग्ना बभूवुरिति भावः ॥ २१ ॥ परिधाय धृत्वा प्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य सङ्गमेन सज्जिताः वशीकृताः गृहीतचित्ताः सत्यः नो चेलुः न चलितवत्यः तत् समीपे एव लज्जायितं लज्जाविलसितमीक्षणं यासां ताः तस्थुरित्यर्थः ॥ २२ ॥ अबलाः प्रत्याह ॥ २३ ॥ हे साध्व्यः ! भवतीनां मदर्चनं मत्सेवनं मया सह रमणं प्रति वः सङ्कल्पः मनोरथः स लज्जया युष्माभिरकथितोपि मया विदितो अनुमोदितश्चातः सत्यो भवितुमर्हति ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

देवकीसुतो यशोदात्मजस्तास्तथा स्वोक्तविधयैवावनता दृष्ट्वा ताभ्यः सर्वाणि वासांसि प्रायच्छत् शीतेन कम्पं वीक्ष्य करुणः तेन प्रणयेनैकान्तिकेन तोषितः ॥२१॥ विडम्बयतोपि प्रियस्यान्यैर्दुष्करां ताभिः कृतामनुवृत्तिमभिनन्दति दृढमिति । दृढमत्यर्थं प्रलब्धाः प्रस्ताविता "यूयं विवस्त्राः" इत्यादिना त्रपया च हापितास्त्याजिताः "अत्रागत्य स्ववासांसि" इति हठेन प्रस्तोभिताः परिहसिताः "सत्यं ब्रुवाणि नो नर्मे" त्यादिना क्रीडनवत् यन्त्र प्रतिभावत् कारिताः कृताः स्वार्थे णिच् बद्ध्वाञ्जलिमित्यादिप्रायश्चित्तछद्मना तथाप्यमुं कृष्णं ता नाभ्यसूयन् दोपदृष्ट्या नापश्यन् किन्तु तथा कृतवतोपि तस्य प्रियस्य सङ्गेन निर्वृताः प्रहृष्टाः प्रियत्वादेव तत्कृतं सर्वं पुमर्थत्वेन मेनिरे इति भावः । इह पूर्णानन्दस्य हरेः स्त्रीरूपादि विषयानन्दापेक्षा जीववन्न सम्भवेदिति स्थूलधियां शङ्का तत्स्त्रीणां तत्स्वरूपशक्तित्वात् परास्ता तच्चानन्दं चिन्मयरस प्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव "निजरूपतया कलाभिः" इति ब्रह्म संहितोक्तेः कलाभिर्विधोः मूर्त्तिर्हि भवेत् ॥ २२ ॥ प्रेष्ठस्य सङ्गमेन सज्जिता आसक्तिं प्रापिताः गृहीतं तस्य चित्तं याभिस्ता इति मिथः प्रेमा सूचितः तस्मिन् प्रेष्ठे लज्जामागितानि प्राप्तानीक्षणानि यासां तादृश्यः सत्यो नो चेलुः स्तम्भोदयाच्चलितुं न शेकुः हरिरस्मास्वासक्तिमानिति प्रतीतेर्निर्गमितापि लज्जा पुनस्तदङ्गेष्वस्यर्थं प्रविष्टेतिभावः ॥ २३ ॥ अत्र दासिकाम्योऽस्मभ्यम् दास्यमादिशयत्रिशम्य गृहान् प्रयाम इति तासां वाचमालक्ष्य तत्सङ्कल्पं प्रकाशयामासेत्याह—तासामिति । स्वपादस्पर्शकाम्यया पत्नीभावस्पृहया सङ्कल्पं विनायेति सम्बन्धः दामोदर इति तल्लीलात आरभ्य तासु प्रेमवानित्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भगवान्देवकीसुतस्तथा स्वोक्तवर्त्मनाऽमूर्नताः कृतनमना दृष्ट्वा स्नेहेन स्वभवत्या तोषितः करुणः गतम् । ताभ्यो वासांसि प्रायच्छद्दवौ । भगवानित्यनेन स्वपार्श्ववर्तिवयस्यलोचननिभालनाकलनस्वमात्रदृष्टिविषयतायापनसामर्थ्यं द्योत्यते ॥२१॥ तद्भक्तिरेव व्यक्तीकृत्य वक्ति ॥ दृढमिति । दृढं यथा तथा प्रलब्धा वञ्चितास्त्रपयाऽपत्रपया हापितास्त्याजिताः । प्रस्तोभोऽत्र प्रस्तुतापहासपरः । तथा चापहसिताः क्रीडनं तत्साधनं पुत्तलिकादि तद्वत्कारिता वस्त्राणि चापहृतान्यथाऽप्यमुं श्रीकृष्णं नाभ्यसूयन्नासूयाञ्चक्रुः । तत्र

तन्त्रम्। प्रियसङ्गनिर्वृता इति। प्रियस्य कृष्णस्य सङ्गः सङ्कथननिभालनादिरूपस्तेनैव निर्वृताः सुखिता इति। मनसि वा न किञ्चित्कालुष्यं योषितामिति सूचयितुं न चतुर्थीति ज्ञेयम्। शब्दशक्तिप्रकाशिकायां शिष्यमीर्ष्यतीत्याद्युदाहृत्य द्वितीयाद्युपपन्ना इत्युक्तेर्द्वितीया वा ॥ २२ ॥ स्ववासांसि वस्त्राणि। स्वस्ववस्त्राणीत्युक्तौ तन्मार्गणे समयगमनं स्यात्। किञ्च सर्वासामेककान्तकामुकमनस्कत्वेनापि भाविकार्यगुरुतया च न देवयानीशर्मिष्ठावद्दुर्गोष्ठीभाविनीति यस्याः कस्याश्चिद्याचका च पर्यधादिति ध्वनयितुं स्वेत्येवोक्तिरिति ज्ञेयम्। नियमो नास्तीति सूचयितुं वा। प्रेष्ठस्य सर्वत ईष्टस्य सङ्गमे सज्जिताः सन्नद्धास्तेन गृहीतं चित्तं यासां तास्तस्मिन्नेव लज्जयेषितानि प्रेषितानीक्षणानि याभिस्ता लज्जा ईषिता प्रेषिता च येन स तस्मिन्कृष्णे क्षण उत्सवोऽस्ति यासां ताः। अर्शआद्यच्। ईकरः क्षणो यासामिति लज्जेषितेक्षणा इति पदमेकं वा। ई च सौभाग्यं येर्मन्मथस्येक्षणो यासामिति वा। नोच्चेलुस्तद्देशान्नागच्छन् ॥ २३ ॥ स्वपादस्पर्शकाम्ययेति मर्यादावचनम्। स्वाङ्गसङ्गकामनया पादस्पर्शः पादसवाहनं तच्च योषित्सु प्रायो भार्याकार्यमिति वैवं वचनम्। धृतव्रतानां तासां सङ्कल्पं विज्ञाय दामोदरोऽब्रवीत् प्रत्याह ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

तदा भगवान् सन्तुष्टः प्रादादित्याह तास्तथेति, यदि चातुर्येणावनताः स्युस्तदा सन्तुष्ट एव भवेत् परं तथावनता न तु चातुर्यार्थमतस्तथा दृष्ट्वा तथा ज्ञाने हेतुर्भगवानिति, प्रसादे हेतुर्देवकीसुत इति, तदा वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्, चतुर्थ्या सम्प्रदानादपूर्वदानं सूचितं, [अत एवार्थविशेषेपि 'दाञ् दाणो'रत्र दाण एव प्रयोगः कृतो यतास्य पूर्वनिवृत्तिरपूर्वयच्छादेशेनापूर्वरूपवत्त्वमेवमत्रापि देवेषु केवलवस्त्रत्वनिवृत्तिमपूर्वभगवद्भावात्मककामरूपतां च सम्पाद्यतानि दत्तवानिति ज्ञाप्यतेत एव 'प्रेष्ठसङ्गम' सज्जने वस्त्रदानमेव हेतुत्वेनोक्तं 'परिधाय स्ववासांसी'ति, अत एव 'स्व'पदमप्युक्तं नायिकानां प्रियविषयकोत्कटभावस्यैव स्वकीयत्वादन्यथा न वदेत् प्रयोजनाभावात्,] अर्थात् तासामेव प्रकर्षेण दत्तवान् यथा तासु पूर्वोक्तः कामः सिद्धो भवत्यत एव जलक्रीडादिषु वस्त्रोत्तारणपरिधाने नापेक्षिते, नन्वेवंविधवस्त्रदाने को हेतुः ? तत्राह करुण इति, परमकरुणया दुःखप्रहाणेच्छानन्दाविर्भावनरूपा तासूत्पन्ना, ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात् कुतो वस्त्राणि दत्तवान् ? तत्राह तेन तोषित इति, तेन मुख्यमात्रेण साष्टाङ्गनमस्कारेण तोषं प्रापितः, अतस्तोषः सञ्जातः, ततो ब्रह्मभूतानामेव तासां भगवता सह रमणमपि भविष्यति, रसरक्षार्थमेव वस्त्रदानं, अनेनान्यादर्शनमपि सेत्स्यति ॥ २१ ॥ ननु ता अनेकविधा वस्त्रपरिधानानन्तरं पूर्ववासनयाक्षिप्तो दोषः कथं नोत्सन्न इत्याशङ्क्याह दृढं प्रलब्धा इति, लौकिकदृष्टिस्तासां जाता न वेति विचार्यते भगवद्वचने च विश्वासो भगवति च स्नेहस्तस्य च परमाप्तत्वं स्वस्य च दोषस्फूर्तिस्तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वं चान्यथा सर्वथा निरभिमानानां पुनर्जिज्ञासा नोपपद्येत, दृढमत्यन्तं प्रलब्धा 'यूयं विवस्त्रा यदप' इति, 'अत्रागत्य स्ववासांसी'तिवाक्यात्, त्रपया च ह्रापितास्त्याजिता लज्जा हि तासां सर्वस्वं, दोषारोपो गुणाभावश्चोक्तः, चकारादपत्रपया च ह्रापितास्त्याजिताः, 'भवत्यो यदि मे दास्य' इति तद्वाक्यमेव पुरस्कृत्य ता निर्जिता इति प्रस्तोभिताः, स्तोभवाक्यं वृथावाक्यं, प्रकर्षस्तस्यापकारहेतुत्वं, अतः प्रस्तोभिता 'मूर्ध्नि बद्ध्वाञ्जलि'मिति क्रीडनवच्च कारिता यथा बालो यथैव कार्यते तथा कारिताः, तासां च पुनर्वस्त्राण्यपहृतान्येव, एवं पञ्चविधदोषैरपि ता भगवन्तं नाभ्यसूयन्, अभ्यसूया ह्यन्तर्दुःखे भवति, तानि च वाक्यानि महाग्नौ जलमिव, भगवता स्वरूपेणैवानन्दं प्रापितासु न तैर्दुःखमुत्पादयितुं शक्तं स्वानन्देनैव निर्वृताः, भगवदीयैरप्याधिदैविकैर्वाक्यैर्नापकारः कर्तुं शक्यः, तत्र हेतुः प्रियस्य भगवतः सङ्गेन वस्त्रद्वारा प्रियस्य सङ्गस्तेन निर्वृताः, प्रमेयबलेन प्रमाणं दुर्बलं जातमित्यर्थः, अनेन 'प्रायच्छदि'ति 'प्र'शब्देन परिधापनमप्युक्तं 'करुणा'-पदेन च तदानीन्तनोऽन्यो योग्योप्युपचारः सूचितोतो निर्वृता भगवति स्वस्मिन् दोषाभावाद् दोषं नारोपितवत्यः ॥ २२ ॥ ततो यज् जातं तदाह परिधायेति, स्वस्ववासांसि परिधाय प्रेष्ठस्य सङ्गमे तृतीयपुरुषार्थे सज्जिता जाता रसाकरा जाता इत्यर्थः अन्यथाश्रयभङ्गः क्षीणरसता वा स्यात्, एवं देहव्यवस्था निरूपिता, अन्तःकरणव्यवस्थामाह गृहीतचित्ता इति, गृहीतं चित्तं याभिर्यासामिति वा, सम्बन्धिनः कर्तुश्चापेक्षितत्वाद् भगवच्चित्तं ताभिर्गृहीतमभिप्रायो ज्ञातो वस्त्रपरिधानेनैव भगवता च तासां चित्तमपहृतं 'तोषित' इति, एवं चित्तव्यतिषङ्गेऽङ्कुर उत्पन्ने ततः क्रियाशक्तिः कुण्ठिता जातेत्याह नो चेलुरिति, अन्यत्र ज्ञानशक्तिरपि कुण्ठितेति वक्तुं तस्मिन् रस एव तस्या विनियोगमाह, लज्जायितेक्षणा लज्जां प्राप्तानीक्षणानि यासां भगवति लज्जयार्पितानि वा, पूर्वस्वदोषानुसन्धानादिति केचित्, वस्तुतस्तु तदेयं भावदृष्टिः, एवं तासां शरीरान्तःकरणेन्द्रियवृत्तय उक्ताः ॥ २३ ॥ तदा यदुचितं तद् भगवान् कृतवानित्याह तासां विज्ञायेति, तासां सङ्कल्पं विज्ञायाहेतिसम्बन्धः, भगवानिति सर्वसामर्थ्ययुक्तो न हि ता तेन ज्ञात्वा यथोचितं तत् करिष्यतीति सिद्धं, उत्पत्त्या चोपपत्त्या च ज्ञातवानिति विशब्दार्थः, तत्र विषयनिर्धारमाह, न हि ता लौकिका इव विवाहार्थमागता नापि लोकविरोधेन नापि ज्ञानार्थं किन्तु सर्वथा विचारेण भक्त्यर्थमेवागतास्तदाह स्वपादस्पर्शकाम्ययेति, स्वस्य भगवत एव तत्रापि भक्तिरेव भक्तावपि स्पर्श एव न तु श्रवणादिसख्यपर्यन्ता तस्या एव कामना, न केवलं कामनामात्रं तदर्थं देहेन्द्रियादीनामपि विनियोगं कृतवत्य इत्याह धृतव्रतानामिति, धृतं कात्यायन्यर्चनव्रतं याभिः, धारणे व्रतनिवृत्तिर्निराक्रियतेन्यथा कृतव्रतानामित्येवोक्तं स्यात्, सङ्कल्पो मानसो नियमः, अनेन सर्वोपि सङ्घात एतासामुत्तमभक्त्यर्थमेवेति निश्चित्य पश्चादाह यथा भक्तिर्भवति तथोपायं, नन्वेवं निर्बन्धकथने को हेतुः ? तत्राह दामोदर इति, अनेन गोपिकावश्यता

निरूपित। यत्र तथा वश्यो जातस्तत्रैवमपि वश्यो भविष्यतीति, प्रथमतस्तासां सम्बोधनमाहाबला इति, रससम्बोधनमेतदुभयोरन्योन्यवशत्वज्ञापकं भगवान् दामोदरस्तास्त्वबला इति ॥ २४½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

दृढं प्रलब्धा इत्यत्र, लौकिकदृष्ट्यभावस्याविचार्यत्वे बाधकमाहुः अन्यथेति। असूयाहेतुत्वेन लोके ये धर्माः प्रसिद्धास्तेष्वनुभूयमानेष्वपि तदसम्भवश्चेत्- तदा सिद्धमलौकिकत्वं भावस्येति तात्पर्येण मूले ते निरूपिताः। न च स्नेहमात्रमेतेनोक्तमिति वाच्यम्, तद्वतीनामपि खण्डिताकलहान्तरितादीनामसूयासम्भवात्, ईश्वरेऽसूयानिष्टहेतुरिति शास्त्रज्ञानवतां स्नेहरहितानामपि तदसम्भवाच्च। न च खण्डितादीनां सङ्गाभावात्तथात्वमत एवात्राप्यन्ते विशेषणं तथेति वाच्यम्। यदा प्रलम्भनादिस्तदा वक्ष्यमाणसङ्गाभावात् तत्सम्भवात् खण्डितादीनां प्रियं प्रत्येव तथोक्तेः सङ्गाभावाभावश्च। न च पूर्वकालीनः स तथा, उत्तरेण सङ्गेन तद्बाधात्। न च पूर्वकालाधिकरणकसङ्गाभावस्तदाप्यस्ति, तस्यात्यन्ताभावरूपत्वाद्विशिष्टाप्रसिद्धावपि खण्डशः प्रसिद्धेरिति वाच्यम्, उत्तरकालीनातिरिक्तस्य सङ्गस्य प्रतियोगित्वे मानाभावात् गौरवाच्चात्यन्ताभावत्वाभावात्। न चैतेन दोषमात्राभाव उपलक्ष्यते एतास्विति वाच्यम्, दोषाणां हि मूलमभिमानस्तदभावश्चाञ्जलिबन्धपर्यन्ताज्ञाकरणेनेवोक्त इति पुनस्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः। तदेतदुक्तं सर्वथा निरभिमानानामित्यनेन एवं च सति सङ्गे सत्यपि लौकिकरीत्या भावे सत्यसूया भवतीति तदभावोक्त्या लौकिकदृष्ट्यभाव एवोक्तो भवति। स च न रूक्षः, किन्तु महारस इति ज्ञापनाय प्रत्येकविशेषणनिर्धारणीयार्थानाहुर्भगवद्वचने चेत्यादिना। एतासामेतादृशो विशुद्धभावो येन वसनद्वारापि सम्बन्धं साक्षादिवान्वभवन्निति प्रियसङ्गनिर्वृता इत्यनेनोक्तं तदभावहेतुभूतेन। अन्यथा हेतुत्वेनोक्तदृढप्रलम्भाद्यव्यवहितोत्तरक्षणेऽसूयोत्पत्तौ प्रतिबन्धकाभावादुक्तानुपपत्तिरिति भावः ॥ २२॥ परिधायेत्यस्य विवरणे, रसाकारा जाता इति। रसः शृङ्गाररसः, स हि स्वयोग्येष्वेवाङ्गेषु प्रकटीभवतीति स्वशास्त्रे सिद्ध इत्यङ्गानामतादृक्त्वे रसाश्रयत्वमपि न स्यादिति तादृशत्वमत्र जातमिति ज्ञापनायैव धनुःकवचादिसम्पन्नाः रणार्थं सज्जिता वीरा प्रेष्ठसंगमसज्जिता जाता इत्युक्तमित्यर्थः। वाससां कामरूपत्वात् तदनन्तरं तथात्वमुक्तम्। ननु कुमारीणां तदैवोक्तरूपत्वमनुपपन्नमित्याशङ्क्य विपक्षे बाधकमाहुः अन्यथेति। तादृक्त्वेऽङ्गादिसम्पत्त्यभावे कामशास्त्रोक्तनखदन्तताडनादिव्यापारोद्बोधनीयरसानामाश्रयाभावः स्यादित्यर्थः। तथाच मूलोक्तसंगमपदार्थबाधप्रसंग इति भावः। उक्ताभावेपि यथाकथञ्चित्संगमे पूर्णरसाभावेन क्षीणरसत्वं वा स्यादित्यर्थः। पूर्वं दारिकात्वकुमारीत्वोक्त्याधुना च रसाकारत्वनिरूपणेन भगवानेव गुणातीत इत्यादिनोक्तभगवत्स्वरूपात्मिकैवासां देहेन्द्रियान्तःकरणादिरूपा सामग्रीति ज्ञाप्यते। कालक्रमं विनैव तदैव तथात्वादिति। लज्जायितेक्षणा इत्यत्र, पूर्वस्वदोषेति। प्रथमाकारणेऽनागमनं दोषः। वस्तुतस्त्वधुना प्रियप्रकटितरसभरभरितत्वेन तदन्यानुसन्धानमसम्भावितमिति तत्समयोचितभावदृष्टिरेवैषेत्याहुः तदेयं गावबृष्टिरिति ॥ २३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तास्तथेत्यत्र तथा ज्ञाने इति मदभिप्रायं ज्ञात्वा मत्पूर्तिकामा एवं कृतवत्य इत्यान्तरभावज्ञाने इत्यर्थः, भगवत्त्वादेवं ज्ञात्वा देवकीसुतत्वात् तुष्टो जातः, अतस्तथा प्रादादित्यर्थः, करुण इत्यत्र अतिशायने मत्वर्थीयमभिप्रेत्याहुः परमेति, दुःखप्रहारणस्यानन्देषत्तिरोभावरूपत्वात् परमत्वेन सर्वथानन्दाविर्भावार्थमाहुरानन्दाविर्भावेनेति, तन्निरूपिका तज्जनिकेत्यर्थः, ततो ब्रह्मभूतानामिति आविर्भूतानन्दानामित्यर्थः, एवंविधतोषाभावे ब्रह्मभावमात्रसम्पादनेन मुक्त्यैव तत् सम्पादयेत्, अत्र तु ततस्तोषाद्धेतोस्तासां रमणमपि भविष्यति, अतो रमणोपयोग्यवयवादिसामग्रीसम्पादकैवंविधवस्त्रदानेन ब्रह्मभावं सम्पादितवानित्यर्थः ॥ २१½ ॥ दृढमित्यस्याभासेपूर्ववासनयेति 'भवत्यो यदि मे दास्य' इतिवाक्यश्रवणात् पूर्वं तासामनेकविधत्वं भावैरुक्तं तद्वासनयेत्यर्थः, अत एवैतद्विव्याख्याने, वस्त्राण्यपहृतानीति परोक्षार्थं क्रिडनवत्कृतिबोधकवाक्योक्त्यनन्तरमपि नमस्कारं विना न दत्तानीत्यर्थः, अत एवैतद्विशेषणस्य तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वमित्यर्थ उक्तः ॥ २२½ ॥ परिधायेत्यत्र अङ्कुरे उत्पन्ने इति स्मरस्य द्वितीयदशायां जातायामित्यर्थः, अग्रे सङ्कल्पादिदशासु क्रियानिवृत्त्यभिप्रायेणाहुः क्रियेति ॥ २३½ ॥ तासामित्यत्र तत्रेति उत्पत्त्युपपत्तिभ्यां ज्ञाने जाते इत्यर्थः, लोकविरोधेनेति स्त्रीणां पुरुषान्तरसख्ये लोकविरोधो भवति न तु चरणस्पर्शं इत्यर्थः, एतत्कामनया ज्ञानार्थत्वाभावो ज्ञेयः, सम्बोधनमाहेति स्वरूपस्य सम्यग् बोधनं येन, तासां स्वरूपबोधकमबला इतिपदं भगवद्वाक्यात् प्रथमत आहेत्यर्थः ॥ २४½ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गृहीतचित्ता इत्यस्य विवृतौ सम्बन्धिनः कर्तुश्चापेक्षितत्वादिति कस्य चित्तं गृहीतमिति सम्बन्धिजिज्ञासायां गृहीतं चित्तं यासामितिविग्रहेण सम्बन्धियो गोपकुमार्यो निरूपिताः, केन चित्तं गृहीतमिति कर्तृजिज्ञासायां गृहीतं चित्तं याभिरितिविग्रहेण चित्तग्रहणकर्त्र्यो गोपकुमारिका उक्ता इत्यर्थः, एवमुभयोश्चित्तग्रहणे उभयोः परस्परहेतुतेतिभावः, तस्मिन् लज्जायितेक्षणा इत्यस्य विवृतौ भगवति लज्जयार्पितानि वेति अस्मिन् पक्षे 'लज्जार्पितेक्षणा' इतिपाठो ज्ञेयः, शरीरान्तःकरणे-

न्द्रियवृत्तय उक्ता इति, परिधाय स्ववासांसी' त्यनेन शरीरवृत्ति 'गृहीतचित्ता' इत्यनेन अन्तःकरणवृत्तिः 'लज्जायितेक्षणा' इत्यनेनेन्द्रियवृत्तिरुक्ता ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तथा स्वोक्तप्रकारेणावनतास्ताः कुमारिका दृष्ट्वा तेन प्रणामेन तोषितो भगवान् देवकीसुतः कृष्णस्ताभ्यो वासांसि प्रायच्छत् प्रददौ। 'कथं प्रणाममात्रेणैव सन्तोषः' तत्राह— करुण इति ॥ २१ ॥ गोपीनां शुद्धभावमेव स्पष्टयति—दृढमिति। यद्यपि दृढमत्यर्थं प्रलब्धाः 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिनाऽधिक्षिताः, त्रपया लज्जया अवहापिताः त्याजिताः, 'अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु' इत्यादिना प्रस्तोभिताः, सत्यं ब्रवाणि नो नर्म' इत्यादिना उपहसिताः, क्रीडनवच्च कारिताः 'बद्ध्वाञ्जलिम्' इत्यादिना, प्रायश्चित्तव्याजेन वासांसि च तासां अपहृतानि, तथापि ताः कुमारिका अमुं कृष्णं नाभ्यसूयन् उक्तदोषदृष्ट्या नापश्यन्। प्रत्युत प्रियस्य तस्य कृष्णस्य सङ्गेन निर्वृताः परमानन्दयुक्ता एव जाताः ॥ २२ ॥ ततः स्वस्ववासांसि परिधाय तस्मिन् श्रीकृष्णविषये लज्जायितं लज्जाविलसितमीक्षणं यासां तथाभूताः सत्यस्ततः स्थानान्नो चेलुरित्यन्वयः। तत्र हेतुमाह—गृहीतचित्ता इति। श्रीकृष्णमाधुर्येण गृहीतं वशीकृतं चित्तं यासां ताः। एतदेव स्पष्टयति—प्रेष्ठेति। प्रेष्ठस्य अतिशयप्रीतिविषयस्य तस्य सङ्गमेन सज्जिता वशीकृता इत्यर्थः ॥ २३ ॥ भूयान्नन्दसुतः पतिः, इत्युक्तत्वात् पतिभावेन स्वपादस्पर्शेच्छया धृतं व्रतमाहारादिनियमपूर्वकं देव्यर्चनं याभिस्तासां सङ्कल्पं स्वेन सह सम्भोगविषयकं भगवान् कृष्णो विज्ञाय ता अवलाः प्रत्याहेत्यन्वयः। 'अबला' इति पदेन तासां दीनता सूचिता। भक्तिस्तु व्रतकरणात् स्पष्टैव। भगवानपि भक्तप्रेमवश्यतया बन्धनमपि प्राप्तः, ततः किमधिकम्?' इति तस्य भक्तवात्सल्यं सूचयन्नाह—दामोदर इति ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

ता इति ॥ तथा स्वोक्तप्रकारेणावनतास्ताः कुमारिका दृष्ट्वा तेन प्रणामेन तोषितः करुणो दयालुर्भगवान् देवकीसुतः कृष्णो नोपादवरुह्य प्रेम्णा सम्बोध्य ताभ्यो वासांसि प्रायच्छत् प्रददौ ॥ २१ ॥ दृढमिति ॥ यद्यपि दृढमत्यर्थं प्रलब्धाः यूयं विवस्त्राः इत्यादिनाऽधिक्षिताः त्रपया लज्जया अवहापिताः त्याजिताः अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्त्वित्यादिनाऽऽग्रहेण प्रस्तोभिताः सत्यं ब्रवाणि नो नर्मेत्यादिना उपहसिताः क्रीडनवच्च कारिताः बद्ध्वाञ्जलिमित्यादिना प्रायश्चित्तव्याजेन वासांसि च तासाम् अपहृतानि। तथापि प्रियस्य कृष्णस्य सङ्गेन निर्वृताः परमानन्दयुक्तास्ताः कुमारिकाः अमुं कृष्णं नाभ्यसूयन् उक्तदोषदृष्ट्या नापश्यन्। प्रियकृतं दुःखदानमपि सुखत्वेनैवानुभूयते ॥ २२ ॥ परिधायेति ॥ ततः स्वस्ववासांसि परिधाय तस्मिन् श्रीकृष्णविषये लज्जायितं लज्जाविलसितमीक्षणं यासां तथाभूता। लज्जायितमिति लज्जतेः पचाद्यजन्तात् क्यङ् क्तः। कृष्णेन गृहीतचित्ताः प्रष्ठस्यातिप्रियस्य कृष्णस्य सङ्गमेन सज्जिता वशीकृतास्ताः ततः स्थानान्नो चेलुः। यथा कृष्णेन तासां स्वस्मिन्नासक्तिर्ज्ञाता तथा ताभिरपि आत्मसु कृष्णस्याप्यासक्तिः कात्यायनीप्रसादात् ज्ञातेति लज्जोत्पत्तिः ॥ २३ ॥ तासामिति ॥ दामोदरो भक्तवत्सलो भगवान् पतिभावेन स्वपादस्पर्शकाम्यया तदिच्छया धृतव्रतानां तासां सङ्कल्पमभीष्टं विज्ञाय ताः अबलाः प्रति प्राह स्म ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अवनताः नम्राः तेनस्ववचनाऽनुसारवर्त्तनेन तोषितः प्रसादितः वासांसि परिधानि योत्तरीयाणि सर्वाणि वसनानि ॥ २१ ॥ दृढमत्यंतं प्रलब्धाः वंचिताः त्रपयालज्जया हापितास्त्याजिताः लज्जाहीना कृता इत्यर्थः। प्रस्तोभिताः परिहासिता क्रीडनवत्काष्ठपुत्रिकावत्कारिताः प्रायश्चित्तमिषेण वचनद्वारा कृताः अथापि प्रिये श्रीकृष्णे संगः आसक्तिस्तेन निर्वृताः शांति प्राप्ताः ताः अमुं हरिं नाभ्यसूयन् दोषदृष्ट्यानावलोकयन् ॥ २२ ॥ प्रेष्ठसंगमे सज्जितारताः अतो गृहीतचित्तानचेरुः न जग्मुः ॥ २३ ॥ स्वपादस्पर्शकाम्यया धृतव्रतानां तासां संकल्पं विज्ञाय अबलाः प्रति हरिराह ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ता इति ॥ देवकीसुतः करुणः भगवान् श्रीकृष्णः, ताः कुमारिकाः, तथा यथा स्वेनोक्तं तेन प्रकारेणैव, अवनताः कृतनमस्काराः दृष्ट्वा, तेन तत्कृततथाविधप्रणामेन, तोषितः प्रसन्नतां प्राप्तः सन्, ताभ्य कुमारिकाभ्यः वासांसि प्रायच्छत् प्रददौ ॥ २१ ॥ दृढमिति ॥ दृढमत्यर्थं, प्रलब्धाः 'यूयं विवस्त्राः' इत्यादिनाऽधिक्षिताः, त्रपया लज्जया च, हापिताः 'अत्रागत्य स्ववासांसि' इत्यादिना त्याजिताः, प्रस्तोभिताः 'सत्यं ब्रवाणि नो नर्म' इत्यादिनोपहसिताः, क्रीडनवच्च कारिताः 'बद्ध्वाञ्जलिं' इत्यादिना प्रायश्चित्तमिषेण यन्त्रपाञ्चालिकावत् प्रवर्त्तिताः, वस्त्राणि वासांसि च, अपहृतानि एव, अथापि तथापि, ताः कुमारिकाः, अमुं कृष्णं, प्रियसङ्गनिर्वृताः निरतीशयप्रीयश्रीकृष्णसङ्गेन सुखिताः सत्यः, न अभ्यसूयन् गुणेषु सत्स्वप्युक्तान् दोषान्नैवाविष्कृ॰ः। श्रीकृष्णसंदर्शनभाषणादिसङ्गजातनिर्वृत्यतिशयतो विस्मृततद्दोषवत्त्वतः सर्वथाऽसूयां नाचरन्निति भावः ॥ २२ ॥ परिधायेति ॥ केवलं नाभ्यसूयन्नेवेति

न, किं तु, स्ववासांसि परिधाय, प्रेष्ठस्य श्रीकृष्णस्य संगमेन सज्जिता वशीकृताः गृहीतचित्ताः, तस्मिन् श्रीकृष्णे, लज्जायितं लज्जाविलसितमीक्षणं यासां ताः, एवंभूताः सत्यः, नो चेलुर्न चलितवत्यः ॥ २३ ॥ तासामिति ॥ ततः दामोदरः भगवान्, अनेन् भक्तवात्सल्यं सूचितम् । स्वपादस्पर्शकाम्यया, स्वपादस्पर्शेनात्र तात्पर्यतः स्वेन सह क्रीडा विवक्षिता, तत्काम्ययेत्यर्थः । धृतमनुष्ठितं व्रतं कात्यायन्यर्चनात्मकं याभिस्तासां, तासां कुमारिकाणां, संकल्पमपि संघिविशेषं विज्ञाय, अवलाः प्रति आह ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तास्तथेति : १०.२२.२१.

मदङ्गसौख्यं मदनङ्गसौख्यमर्थ्यं तदीयं मनसाऽवधार्य । ददौ गृहीत्वाऽऽवरणं दयालुस्तदेति मन्ये चतुरर्थदाता ॥ ७१ ॥

कृष्णप्रिया

देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने उन कुमारिकाओं को अपनी आज्ञानुकूल शिरसावन्द्य श्रद्धा से प्रणाम करती हुई देखकर अत्यंत सन्तुष्ट होकर, कुमारिकाओं को अपूर्व वस्त्रों का प्रदान किया ॥ २१ ॥ राजन् परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ने इन कुमारिकाओं के साथ ठीक ठीक छलपूर्ण वातें करी; उन सबको लज्जा त्याग के लिए विविश किया; "यदि तुम मेरी दासी हो" इत्यादि उनके ही वाक्यों को लेकर उनको निरूत्तर किया उनको मूक बनाया; उनके वस्त्र उठा लिए और उनको कठपुतली की तरह भाँति भाँति के नाच नचाए फिर भी उन गोपिकाओं के मन में भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति असूया नहीं हुई, कुभाव नहीं आया, परन्तु प्यारे नन्दनन्दन के समागम से और भी प्रसन्न हुई ॥ २२ ॥ राजन् ! कुमारिकाओं ने अपने अपने वस्त्र परिधान किए और परम प्रिय भगवान् श्रीकृष्ण के समागम के लिए तत्पर हो गई। इनके चित्त प्रभु के श्रीचरणों में ऐसे संलग्न हो गये थे कि वे वहाँ से एक कदम भी न चल पाई। वे श्रीकृष्ण की ओर लजीली चितवन से निहारने लगी ॥ २३ ॥ अपने चरणों के स्पर्श करने की अभिलाषा से व्रत को धारण करने वाली गोपकुमारिकाओं के विशिष्ट मनोरथ को जानकर भगवान् दामोदर ने उन सबसे कहा ॥ २४ ॥

संकल्पो विदितः [1]साध्व्यो भवतीनां [2]मदर्चनात् । मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥ २५ ॥

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते । [3]भर्जिताः क्वथिता [4]धाना प्रायो बीजाय [5]नेष्यते ॥ २६ ॥

[6]यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः । यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः ॥ २७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः । ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ॥ २८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः -हे साध्व्यः ! भवतीनाम् मदर्चनम् संकल्पः विदितः, असौ सः, मया अनुमोदितः सत्यः भवितुम् अर्हति ॥२५॥ मयि आवेशितधियाम् कामः कामाय न कल्पते, भर्जिताः क्वथिताः धानाः प्रायः बीजाय न इष्यते ॥ २६ ॥ हे अबलाः व्रजम् यात, सिद्धाः, सतीः, यद् उद्दिश्य आर्यार्चनम् इदम् व्रतम् चेरुः, "अतः" मया, इमाः क्षपाः रंस्यथ ॥ २७ ॥ इति भगवता आदिष्टाः, लब्धकामाः कुमारिकाः तत्पदाम्भोजम् ध्यायन्त्यः कृच्छ्रात् व्रजम् निर्विविशुः ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

भोः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनमेव संकल्पो मनोरथः स च लज्जया युष्माभिरकथितोऽपि मया विदितः स मयाऽनुमोदितः सत्यो भवितुमर्हति । अर्हतीति संभावनामात्रोक्त्या आत्यंतिको न भविष्यतीति सूचितम् ॥ २५ ॥ तत्कुत इत्यत आह । न मयीति । कामाय पुनः कामभोगाय । विषयमहिम्ना कामस्यापि शांतिहेतुत्वादिति भावः । कामाप्ररोहे दृष्टांतः । भर्जिता दग्धा क्वथिता पक्वा धाना यवादि । बीजायांकुरोद्गमाय । प्राय इति स्वेच्छया पुनः प्ररोहमपि सूचयति । ध्रुवादीनां तथा दर्शनात् ॥२६॥ सिद्धाः पूर्णमनोरथाः । तदाह । इमा आगामिनी रात्रीर्मया रंस्यथेति । आर्या कात्यायनी । सतीः सत्यः । भक्त्याऽनुकंप्य कन्यास्तास्तद्विवर्जितयज्वनाम् ॥ पत्न्यनुग्रहतस्तेषामहन्कर्ममहामदम् ॥ १ ॥ २७—३१ ॥

1. सौम्याः—गो. प्रे. टी. । 2. मदर्चनम्—श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. ; मदर्चने—वीर. विज. । 3. भर्जिता—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. ; भर्जिताः—विश्व. । 4. धानाः—विश्व. । 5. नेष्यते—वीर. विज. चित्सुख ; नेशते—श्रीधर. वंशी. विश्व. । 6. यात बाला—वीर. ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भवतीनाम् युष्माकम् । मदर्चनं पतिरूपेण पूजनम् । अनुमोदितः अनुज्ञातः । यतोऽनुमोदितोऽतो हेतोः । "संभावनाकल्पनायामनात्यंतिकसंभवे" इति निरुक्तिकारः । आत्यंतिकः सार्वकालिकः ।। २५ ।। तत् अनात्यंतिकम् । इत्यत इत्यत्र । विषयमहिम्ना आत्यंतिकविषयसंगेन ! इति भाव इति । "विरज्येत तथा चित्तं कामनामतिसेवया" इत्युक्तेः । अपरोहः अनाविर्भावः । तथा दर्शनात् प्ररोहदर्शनात् । प्राय इति यथार्थे "प्रायश्चानशने मृत्यौ प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः" इति । "धाना भृष्टयवे प्रोक्ता धान्याकेऽभिनवांकुरे" इति विश्वः । गवाः खलु पंकिलभुव्युप्ताः प्ररोहंति त एव सूर्यकांतरत्नभुव्युप्तास्तापेन भर्जिता भवंति ततो वृष्ट्यंबुसिक्ताः क्वथिता रंधिताः, बीजायांकुरोद्गमायेति विश्वनाथः । तोषिण्यां तु—धानाः स्वत एव भृष्टाः पुनः स्वादविशेषाय घृतादिना भर्जिता गुडादिना क्वथिता निष्पक्वाश्च बीजाय फलांतरोत्पादनाय न संपादनीया भवंति किं तु स्वयमवास्वाद्या भवंति, तथा भवतीनामपि कामनांतररहीतभावविशेषसंस्कृतमत्प्रेमसेवाकामोपीत्यर्थः । एतादृशी मम कापि माधुरीति भावः । तथा च ताभिरेवानुभूय वक्ष्यते च-'सुरतवर्द्धनं शोकनाशनम्' इति । 'वांछति यद्भवभियो मुनयो वयं च' इति न्यायेन परमशांतानां तेषां वांछादिषयस्यास्य कथं शांत्यंतरापेक्षा स्यात् । तस्मात्सत्यो भवितुमर्हंतीत्येवेति निर्गमितम् । एषा स्वगुणविख्यापनमयी मोहिनी नागरचर्य्यापि भगवत्संबंधित्वेन पारमार्थिक्येव गम्या । कचिद्भर्जितेत्यादय एकवचनांता नेष्यते इति, स च पाठश्चित्सुखसंमतस्स्पष्टार्थश्च ।। २६ ।। तत् पूर्णमनोरथत्वम् । आगामिनीः शरत्संबंधिनीः । तदानीं हेमंतत्वासंवत्सरपूर्तेः प्रागित्यर्थः । "भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः" इति वक्ष्यमाणत्वात् । यत् मत्संगमम् । उद्दिश्य संकल्प्य 'भूयान्नंदसुतः पतिः' इत्युक्तेः । आर्याचंनम् व्रतमिति योज्यम् । यातेति युष्मदभीष्टमंगीकृतमिति भावः । तच्च मयैव संपाद्यमित्याह—अबला इति । कुत्र यामेत्यत्राह—व्रजमिति । एवं चेत्कथमबलासु कारुण्यं, तत्स्फुटमेव संपादयति – सिद्धा इति । यथासंकल्पं मयांगीकृता एवेत्यर्थः । एवमंगीकारमयं विवाहमेव संपाद्य तदंगभूतं फलविशेषमपि संपादयति—मयेति । इमाः सन्निहिता एव तादृशप्राप्तावशक्यत्वप्रत्यायनार्थं साधनसाधुवादेनैवोपसंहरति–यन्मे तत्पलीलं चेरुर्भवत्य इति शेषः । सतीः हे सत्यः । अत एव ता अप्याग्रहेण पत्यंतरं नांगीकृतवत्य एवेति । तथापि रहोव्यूढत्वेनान्यव्यूढावद्गूढमेवावमंतेति च वुच्यते । एनदन्या एव हि परकीयायमाना इति, तदेवमुक्तं युवतीर्गोपकन्याश्चेति । ननु 'नग्नां नेक्षेत्परस्त्रियम्' इति स्मृतेर्भंगव्रताप्यन्याय्यं कुतः कृतमितिचेत्–शृणु, न हि ताः परस्त्रियस्ताभिर्भगवते समर्पितदेहत्वात्पूर्वावतारेषु तथैव भगवतापि प्रतिज्ञातत्वाच्च । ताः कात्यायन्यर्चिकाः । तद्विवर्जिताः भक्तिविवर्जिताः । ये यज्वानः विधिना यज्ञकर्त्तारः 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । तेषाम् विप्राणाम् । कर्मसु महामदः–नास्मत्सदृशाः कर्मठा लोके संतीत्येवंरूपस्तम् (१) ।। २७ ।। इत्यादिष्टाः पूर्वोक्तरीत्याज्ञप्ताः । तत्पदांभोजम् कृष्णचरणारविंदम् । इति–व्रजं यातेत्यादिष्टाः । लब्धः कामो निजवांछितं याभिस्ताः, अत एव देवीतद्व्रतोद्यापनादिकमपि परमानंदाद्विस्मृत्येति भावः । लब्धकामत्वेऽपि कृच्छ्राद्दुःखेनेव व्रजमाविशन्, कुतः—तत्पदांभोजं ध्यायंत्य एव न तु साक्षात्पश्यंत्यस्तद्विच्छेदादित्यर्थः । पदांभोजमिति विशेषनिर्देशः पतिभावेन गौरवात् तदानीं लज्जया नम्रीभूय स्थितानां तन्मात्रदर्शनेन तदनुस्मृतेरेव प्रकृतत्वाद्वा । निःशब्दः पुनर्न्नंतार्थं व्रजाद्यमुनागमनाभिप्रायेणेति तोषिणी ।। २८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र तदभीष्टप्राप्तिं तथाप्यन्यवैलक्षण्यं च प्रतिपादयति, हे साध्व्यः ! परमप्रेमव्यवसायगुणरूपवत्यस्तेन च मदेकापेक्षिता इत्यर्थः यद्वा, साध्व्यो मदेकापेक्षिका भवतीनां मदर्चनं मद्विषयकपतिभावमयप्रेमसेवात्मकसङ्कल्पो मया विदितः ज्ञातस्सर्वांशः सचानुमोदितः भद्रं कृतमिति स्वाभिलाषसिद्धया समास्वादितः अतो भवतीनां कामनान्तराभावात् मयानुमोदितत्वाच्च सचासौ सत्यः सदाप्यव्यभिचार्य्येव भवितुं युज्यत एव किन्तत्र ममान्यस्य वा वरादिप्रयासेनेत्यर्थः । सम्भावनं योग्यताध्यवसानम् अर्हत्वं योग्यत्वमिति काशिकायां सम्भावनेऽलमितीति अर्हे कृत्येति सूत्रयोर्भेदोविविक्तोऽस्ति अभ्यवसानमारोपणं रूपकालङ्कारादौ प्रसिद्धमेवेति सम्भावनार्थत्वे च कल्पिते महतां सम्भावितं सत्यमेवेति तथा व्याख्यातम् ।। २५ ।। युक्तत्वमेवाह—न मयीति । मय्यावेशितधियां मनसापि तथा मां सेवमानानां तन्मात्राणां कामो राज्यस्वाराज्यादिविषयः कामाय कामत्वाय न कल्पते किन्तु निष्कामभक्तत्य एव कल्पते पर्यवस्यति "सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणाम्" इत्यादौ श्रीकर्दमादौ च श्रीविष्णूपासनावत् किं पुनर्मत्प्रेमसेवैकपुरुषार्थानां भवतीनामित्यर्थः । कामत्वाकल्पने दृष्टान्तः भर्जिता इति प्रायो वितर्के धानाः भ्रष्टयवाः "धाना भ्रष्टयवे प्रोक्ता धन्याकेऽभिनवाङ्कुरे" इति विश्वः । ताः स्वरूपत एव भर्जिताः पुनः क्वथिता रन्धिताश्चेत्यतिशयविवक्षया बीजाय बीजत्वाय नेशते न कल्पते अथवा मय्यावेशितधियां मदेकपुरुषार्थमात्राणामित्यर्थः । तेषां यः कामः मत्प्रेमसेवैकविषयः स कामाय कामानान्तराय न कल्पते किन्तु स्वयमेवास्वाद्यो भवतीत्यर्थः ! किं पुनर्भवतीनामिति भावः । तत्र योग्यो दृष्टान्तः धानाः स्वत एव भ्रष्टाः पुनः स्वादविशेषाय घृतादिना भर्जिता गुडादिना क्वथिता निष्पक्वाश्च बीजाय नेशते फलान्तरोत्पादनाय न सम्पादनीया भवन्ति किन्तु स्वयमेवास्वाद्या भवन्ति तथा भवतीनामपि कामनान्तररहितभावविशेषसंस्कृतमत्प्रेमसेवाकामोपीत्यर्थः । एतादृशी मम कापि माधुरीति भावः तथा च ताभिरेवानुभूय वक्ष्यते—

"सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् । इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर ! नस्तेऽधरामृतम्" ।। इति

एवमासां भावस्य परमपुरुषार्थशिरोमणित्वं श्रीभागवतामृते विवृतमस्ति श्रीभागवतसन्दर्भे च किञ्च "वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च" इति न्यायेन परमशान्तानां तेषां वाञ्छाविषयस्यास्य कथं शान्त्यन्तरापेक्षा स्यात् तस्मात् सत्यो भवितुमर्हत्येवेति निर्गमितम् एषा स्वगुणविख्यापनमयी मोहनीनागरचर्यापि भवत्सम्बन्धित्वेन पारमार्थिक्येव गम्या क्वचित् भजितेत्यादय एकवचनान्ता नेष्यत इति च स च चित्सुखसम्मतः स्पष्टार्थश्च ॥ २६ ॥ अभीष्टं सम्पादयति–यातेति। युष्मदभीष्टमङ्गीकृतमिति भावः। तच्च मयैव सम्पाद्यमित्यभिप्रायेणाह, हे अबला ! इति पूर्ववत् तर्हि कुत्र यामेत्यपेक्षायामाह–व्रजमिति। एवं चेत्तर्हि कथमबलास्वस्मासु कारुण्यम् इत्याशङ्क्य स्फुटमेव तत्सम्पादयति सिद्धा इति यथा सङ्कल्पं मयाङ्गीकृता एवेत्यर्थः। एवमङ्गीकारमयं विवाहमेव सम्पाद्य तदङ्गभूतं फलविशेषमपि सम्पादयति मयेति इमाः सन्निहिता एव तादृशप्राप्त्यावश्यकप्रत्यापनार्थं साधनसाधुवादेनैवोपसंहरति, यन्मत्पत्नीत्वं चेत्भवत्य इति शेषः ! सतीः हे सत्यः ! अत एव ता अप्याग्रहेण पत्यन्तरं नाङ्गीकृतवत्य एवेति तथापि रहोव्युढात्वेनान्यव्युढावद्गूढमेवा ऽवमन्तेति च बुध्यते एतदन्या एव हि परकीयायमाणां इति तदेवमुक्तं युवतिर्गोपकन्याश्चेति ॥ २७ ॥ इति व्रजं गातेत्यादिष्टाः लब्धः कामो निजवाञ्छितं याभिस्ताः अत एव देवीं तद्व्रतोद्यापनादिकमपि परमानन्दाद्विस्मृतवत्य इति भावः। लब्धकामत्वेपि कृच्छ्रात् दुःखेनैव व्रजं प्राविशन्, कुतः ? तस्य पादाम्भोजं ध्यायन्त्य एव न तु साक्षात् पश्यन्त्यः तद्विच्छेदादित्यर्थः पदाम्भोजमिति विशेषनिर्देशः पतिभावेन गौरवात् तदानींलज्जया नम्रीभूय स्थितानां तन्मात्रदर्शनेन तदनुस्मृतेरेव प्रकृतत्वाद्वा निःशब्दः पुनर्न तार्थं व्रजात् यमुनागमनाभावाभिप्रायेण ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

हे साध्व्य इति परमोत्तमसंकल्पात्, श्लेषेण सर्व्वथा रूपगुणादिना साधुत्वेन यूयं मदपेक्ष्या एवेति भावः। संकल्पमेवाह–ममार्च्चनं पत्नीत्वेन भक्त्या सेवनम्, तद्रूपः सत्यः सुसिद्धफलः, अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् ॥ २५ ॥ नेति च व्याख्यातं तत्र, वक्ष्यमाणानुसारेण वाक्यशेषोऽयं ज्ञेयः। यद्यप्येवं तथापि भवतीनामसौ सत्यो भविष्यति, तदतीतफलञ्च भाव्येव, व्रतविशेषात् ॥ २६ ॥ अतएवाह–यातेति। क्षपा व्याप्य रंस्यथ रासक्रीडादिना क्रीडिष्यथ, सुखविशेषं वा प्राप्स्यथ इति स्वप्रयोजनं तथा (भा०१०।४७।६०) 'नायं श्रियोऽङ्ग' इत्युद्धववचनप्रामाण्यतो लक्ष्मीतोऽपि प्रसादविशेषलब्ध्या तदधिकमपि दर्शितम्। तत्र च इमाः क्षपा इत्यनेनाचिरात्तत्सिद्धिश्च सूचितेति, अथवा अर्हंतीति मयासौ किं साधयितव्यः, तस्यैव तत्राखण्डपरमानन्दप्राप्तौ स्वतएव योग्यतेति परमसद्गुणनिर्धेविनयोक्तिः। ननु कामसुखस्य कथमेवम्भूतत्वं तस्यामैकान्तिकत्वादित्याशंक्याह—नेति। मय्यावेशितधियामिति अन्यविषयकः कामस्तथा तस्मिन्नेव रसान्तरकामश्च निरस्तः, कामाय ग्राम्यकामसुखाय न योग्यो भवति, तस्य परमप्रेमसुखात्मकत्वेन सर्व्वपुरुषार्थशिरोमणित्वात्, यद्वा, काम्यत इति कामाय सम्भोगाय न कल्पते किम् ? काक्वा, कल्पत एवेत्यर्थः। तत्र हेतुः—मय्यावेशितधियामित्येव मदावेशितधीत्वेन तस्य कामस्यापि परमप्रेमपरिपाकविलासरूपत्वात्, तच्च श्रीभागवतामृते बहुधा विवृतमस्त्येव। यद्वा, प्राकृतः कामोऽपि तावत् कामाय न कल्पते, मद्विषयकत्वेन तस्यापि नैर्गुण्यसारत्वात्, किमुत भवादृशीनां प्रेमेति प्रकारमहिम्ना। तथासम्पत्तौ दृष्टान्तः—प्रायो भर्जिजताः सूर्य्यतापेन दग्धवच्छुष्कतां नीताः, पश्चात् क्वथिताश्च जलेन रन्धितवत् क्लेदितां, वीजाय अंकुरोद्गमाय नेशते किम् ? अपि तु समर्था भवन्त्येव। यद्वा, किं वक्तव्यम्, कामितफलमात्रं भवतीति मत्कामोऽधिकफलमपि ददातीत्याह—कामाय कामितफलमात्राय न कल्पते, किन्तु तदतिरिक्तफलयापि कल्पत इत्यर्थः, वाञ्छातीतफलप्रदत्वात्; अतः प्रतित्वादप्यधिकेनौपपत्यसुखेन मां प्राप्स्यथेति भावः। यतः प्रायो बाहुल्येन भर्जिजता दग्धाः क्वचिता रन्धिताश्चैव वीजाय नेशते, किन्तु सूर्य्यातपेन शुष्कीकृताः पश्चाद्वपनसमये जलेनार्द्रीकृता अंकुरोद्गमायाधिकं समर्था भवन्त्येवेत्यर्थः; यद्वा, कामाय विविधफलभोगायापि मय्यावेशितधियां कामो न कल्पते, कामिताकामिताखिलप्रदानाय समर्थो न भवति किम् ? –काक्वा, भवत्येवेत्यर्थः। किंवा योग्यो न भवति किम् ? अपि तु योग्यो भवत्येव, यथाकथञ्चिदपि मद्भजनेन मत्तो वाञ्छिततदतीतफलसिद्धेः। अतएवाग्रे वक्ष्यते (भा० १०।२९।१९) 'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च। नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥' इति सप्तमस्कन्धे; तस्मात् चोक्तं (भा० ७।१।३१) 'येन केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' इति। यच्च श्रीभगवता श्रीरुक्मिणीदेवीं प्रति वक्ष्यते (भा० १०।६०।५२)—'ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्य्यया। कामात्मनोऽपवर्गेशं मायया मोहिता हि मे ॥' इति; अस्यार्थः–दाम्पत्ये दम्पत्युपभोग्यसुखार्थम्, स्त्री तु पत्युपभोगसुखार्थं पुरुषश्च जायोपभोगसुखार्थमिति कामात्मानोऽपवर्गेशम्, पञ्चमस्कन्धोक्तानुसारेण अपवर्गः प्रेमभक्तिस्तस्य दातारमपि मां ये भजन्ति, ते मम मायया मोहिता एव, यच्च क्वचित् सकामनिन्दनं तत् कृष्णविषयकव्यतिरिक्तस्य कामस्यान्तरायरूपत्वेन मुख्यफलासिद्धया भक्तिरसिकैः क्रियत इति इदमपि तत्रैव विवृतमस्ति, युष्माकन्तु मत्पतित्वकामः सर्व्वथाकल्पत एवेति भावः। अथवा, यः कोऽपि कामः कामान्तरभोगाय न कल्पते, किन्तु स्वयमेव मत्प्रेमरूपेण परिणमन् परमानन्दाय कल्पत इत्यर्थः। तथा च तां प्रत्येवायं वक्ष्यति (भा० १०।७।५०)—यान् यान् कामयसे कामान् मय्यकामाय कामिनि ! सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥' इति। अस्यार्थः—न विद्यते कामः फलान्तरवाञ्छा यस्मिन् सोऽकामः प्रेमा तस्मै, तव ते, कामाः सन्त्येव, तं विस्तारयिष्यन्तीति; यतः भर्जिजता दग्धाः पुनः

क्वथिताश्च रन्धिताः किंवा भर्जिताः क्वथिता वा बीजाय फलान्तरोत्पादनाय नेशते, किन्तु स्वयं भोग्यतापत्त्या सद्य एव परमसुखाय समर्था भवन्तीत्यर्थः। इति पतित्वेन प्रेमविशेषासिद्धेरुपपतित्वेनैव तत्संसिद्धेस्तथैव मां प्राप्स्यथेति भावः। तदेवाह—यातेति। हे अबला! इत्यतिबाल्यं सूचयति, अतोधुना रत्ययोग्या इति भावः। यद्वा, पूर्व्वोक्तन्यायेन सर्व्वतोऽधिकशक्तिमता इत्यर्थः। प्रकारविशेषेण मद्वशीकरणविशेषात्, यतः सिद्धाः सम्पन्नकामिततदतीतफला इत्यर्थः। इमाः निकट एवैष्यच्छरत्कालीना इति तासां विदुरवर्त्तित्वेऽपि इमा इति सन्निहिततयोक्तिः सान्त्वनार्था; अन्यत् समानम्। इमा हेमन्तस्योत्तरमासविवर्द्धिनीरागामिनीः क्षपा मया सह रमणं प्राप्स्यथ। ननु, अस्मत्संकल्पितं त्वयोद्वहनसुखं सिध्यतु, तेन रासक्रीडादिसुखञ्च घटताम्, तत्राह—यदिति। यदुद्दिश्य आर्य्याया अर्च्चनं व्रतं चेरुर्भवत्यः, तदिदं मयोक्तमौपपत्येन रासक्रीडादिसुखमेवेत्यर्थः। विवाहेन पतित्वे रासक्रीडादिसुखविशेषो न सम्पद्येतेति भावः। सतीः हे सत्य इति औपपत्येऽपि यूयं सर्व्वथा साध्व्य एवेति भावः,—तत्त्वतोऽनौपपत्यात्, विवाहिताभ्योऽप्यधिकप्रियत्वात् यद्वा, सतीरिति क्षपाविशेषणं उत्तमाः, रासानन्दाविर्भाविकाः, शारदाः शीतोष्णत्वादिरहिता ज्योत्स्नीश्चेत्यर्थः। यद्वा, तत्क्रीडामाहात्म्यमेवाह—यद्यस्मात् सत्यो लक्ष्मीधरण्यादय इदं रासक्रीडासुखमुद्दिश्यैव आर्य्यार्च्चनमार्य्यायाश्चिच्छक्तेरर्च्चनं व्रतं चेरुरेव, न तु तत्सुखं प्रापुरित्यर्थः। यद्वा, मद्रमणमिति इदं व्रतम्। अन्यत् समानम् ॥ २७ ॥ इति व्रजं यातेत्यादिष्टाः, भगवतेति रासक्रीडासम्पत्त्यादेशेन भगवत्तासारसर्व्वस्वाभिव्यक्तेः। लब्धः कामो निजवाञ्छितं याभिस्ताः, प्रायस्तासां तादृशादेव भावात्। तत्र च सत्यप्रतिज्ञस्य तथादेशप्राप्तेः, तथापि कृच्छ्रात् दुःखेनैव व्रजं प्राविशन्। कुतः? तस्य पादाम्भोजं ध्यायन्त्य एव, न तु साक्षात् पश्यन्त्यः, तद्विच्छेदादित्यर्थः। निःशब्दात् पुनर्व्रतार्थं व्रजाद्यमुनागमनाभावाद्यभिप्रायेण यद्यप्यर्च्चितायाः श्रीकात्यायन्याः साक्षाद्भूतायाः सत्या वरणैव निजकामितसिद्धितां मन्तुमर्हन्ति, न तु तस्य विचित्रप्रभावानुभवेन तत्र तासां प्रतीतिर्जाता। अतएवोक्तं भगवतेति, तथापि तस्याः समाराधनं तस्मादपि तत्प्रियजनस्याराधनोत्कर्षादिवेति दिक्। यद्वा, अकारप्रश्लेषेण न लब्धः कामः सद्य एव तेन सह क्रीडाविशेषो याभिः, अतएव कृच्छ्रात्। अलब्धकामत्वे हेतुः—कुमारिका अत्यन्तबाल्येन तदानीं तत्क्रीडायामयोग्या इत्यर्थः। श्रीभगवत्कृतानुग्रहप्रभावेन व्रजस्त्रीस्वभावेन बाल्यकालेनैव तद्योग्या भविष्यन्त्येवेति दिक्। ननु तर्हि कथं निर्व्विविशुः? तत्राह—ध्यायन्त्य इति सर्व्वतापोपशमनपरमानन्दरसस्रावितच्छ्रीचरणद्वयध्यानेनैव हृत्तापोपशान्तेरित्यर्थः। यद्वा, तत्पदाम्भोजं तत्कार्य्यंक्रीडादिकं प्राप्यं चिन्तयन्त्यः ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

धाना व्रीह्यादयः ॥ २६ ॥ आर्या दुर्गा ॥ २७—३८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवाह—अबला इत्यादिना। हे अबलाः हे साध्व्यः मदर्चनं मयासह क्रीडात्मके अर्चने निमित्ते यो भवतीनां सङ्कल्पः स मया विज्ञातः मोदितोऽप्यनुज्ञातश्चेत्यर्थः सोऽसौ सङ्कल्पः सत्य एव भवितुमर्हति ॥ २५ ॥ केनापि व्याजमात्रेणानुजिघृक्षैकशीलत्वान्महोदारत्वच्च देहान्ते तासां मुक्तिमपि सङ्कल्पयति मय्यावेशिता धियोभिस्तासां भवतीनां कामः मद्विषयकोऽभिलाषः कामाय केवलं विषयभोगायैव न कल्पते न भवति किन्तु मुक्तयेऽपीत्यर्थतोत्र विवक्षितं विषयवैलक्षण्यमहिम्ना मद्विषयककामस्यापि संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्तिहेतुत्वादिति भावः। यद्वा, मय्यावेशिताया धियो विषयवैलक्षण्यादविप्लुतत्वेन यावद्देहपातानुवर्तित्वात्तस्य संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्तिहेतुत्वान्मद्विषयकः कामः केवलं न कामायैव कल्पते इति भावः। निर्वीर्यं संसृतिबीजं न पुनः संसृतये भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह प्रायो भर्जिताः भ्राष्ट्रे निक्षिप्ता क्वथिताः निष्पक्वाश्च धाना बीजाय नेष्यते अङ्कुरोद्गमाय नेष्यते नेष्यन्ते वचनव्यत्यय आर्षः प्राय इत्यस्य भर्जिताः क्वाथिता इत्याभ्यामन्वयः ॥ २६ ॥ यत एवमतो हे बालाः! यूयं सिद्धाः पूर्णमनोरथाः व्रजं यात गच्छत सिद्धत्वमेवाह—मया सहेमा आगामिनीः रात्रीः शारदीः रंस्यथ देवताराधनं न मुधा भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाह यदिति। सतीः हे सत्यः! यन्मया सह क्रीडनात्मकं प्रयोजनमुद्दिश्य भवत्य इदमार्यायाः कात्यायन्या व्रतं चेरुश्चक्रुः ॥ २७ ॥ एवं भगवता कृष्णेनादिष्टाः कुमारिकाः! लब्धप्रायाः कामाइष्टार्थाः याभिस्तथाभूतास्तस्य भगवतः पदाम्भोजं ध्यायन्त्यस्तमेवानुचिन्तयन्त्य इत्यर्थः कृच्छ्रात्कथंचिद्व्रजं निर्विविशुः तद्विश्लेषासहिष्णुत्वादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यन्मदर्चनं तस्मिन् कृतः नन्दसुतः पतिर्भूयादिति सङ्कल्पं अनुमोदितः अनुज्ञातः ॥ २५ ॥ मत्सम्भोगलालसानां भवतीनां विषयौत्सुक्यं पुनः संसारवर्तनाय स्यात् अतोऽस्मत्सङ्कल्पो निन्द्य इति शङ्कमाभूदित्याशयेनाह—नेति, कामाय विषयेच्छाप्ररोहाय तत्र दृष्टान्तमाह, भर्जितेति। धाना बीजं बीजाय अङ्कुरोत्पादनशक्तिमते ॥ २६ ॥ आर्यार्चनं कात्यायनीपूजां सतीः सत्यः ॥ २७-२९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

तासां तादृशमाशयं ज्ञात्वा भगवान् वदति—सङ्कल्प इत्यादि। हे साध्व्यः! इति योग्यसम्बोधनम्। यतो यूयं नित्यप्रिया इत्यान्तरीणानां भवतीनां मदर्चनं मदर्चनरूपः संकल्पो विदितो मया ज्ञातः। अथवा, भवतीनां सङ्कल्पो विदितः यदर्थं मदर्चनम्,

स च मयानुमोदितः स्वीकृतः। अतः सत्यो भवितुमर्हति, नित्य एवेत्यर्थः, सत्योकृतत्वात्। किं वा भवतीनां सङ्कल्पो विदितः मयानुनमोदितो भवितुमर्हति; यतः मदर्चनरूपत्वात्। मदर्चनं प्रतित्वेन मत्पूजा ॥ २५ ॥ नन्वङ्गसङ्गरूपः सङ्कल्पः कथं भवतु ? तत्राह—न मयीत्यादि। मय्यावेशितधियां मयि निवेशितचित्तानां कामः सङ्कल्पः कामाय सङ्कल्पाय न कल्पते सङ्कल्पो न भवतीत्यर्थः। सङ्कल्पस्य मनोधर्मत्वादनित्यत्वमेव। स च मयि चेद् भवति, तदास्य नित्यत्वमेवेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। भर्जिता भ्रष्टाः, क्वथिताः स्विन्ना वा धाना यवादयः प्रायो बीजाय बीजत्वाय न कल्पते पुनर्न प्ररोहन्तीत्यर्थः। तथा मय्यावेशितधियां सङ्कल्पो मयि भवन् मय्येव विश्रान्तो भवति, न ततः पुनः प्ररोहति, अतएव नित्या भवति, अनित्यस्य हि विकारापत्तिः। अथवा, कामः कामाय न कल्पते, पुनः सङ्कल्पाय न भवति, कामः कृत एव सफलो भवतीत्यर्थः। अथवा, कामाय पुनर्न भवति मय्यावेशितधीत्वेन परिपूर्णभावादिच्छान्तरप्ररोहो न भवति, नित्यतृप्तत्वात्। तेषां हृदये सङ्कल्पान्तरं न भवतीत्यस्मिन्नर्थे दृष्टान्तः ॥२६॥ तदत्र संदेहो न कार्यः, सफल एव वो मनोरथः। तदधुना व्रजतेत्याह—यातावला इत्यादि। हे सिद्धाः! व्रजं यात। अद्य व्रतादिना सिद्धा इति न पूर्वमेव स्वतः सिद्धा एव यूयमित्यर्थः। तथा न चलन्तीर्वीक्ष्य स्पष्टमाह—हे अबलाः कुमार्यः! इमा अद्यतनीं क्षपामारभ्य यावतीः क्षपा मया रंस्यथ, यत्मया सह रमणमुद्दिश्येदं व्रतमार्यार्चनरूपं चेरुर्भवत्य इत्यर्थः। हे सतीः हे सत्यः! अथवा, तीरणं तीः समाप्तिः, तया सह वर्तमानं ससमाप्तमिति यावत्, इति व्रतविशेषणम्। पारतीरसमाप्ताविति तीरेः क्विप्, अतः परं दीक्षातो बभूव ॥ २७-२८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

सङ्कल्पो विदित इत्यादि। हे साध्व्यः खलु भवत्य एव, यतः पतित्वेनाहं वृतः, अन्यपतित्वं हि व्यभिचारित्वम्, स्त्रीणां मदर्चनमङ्गमङ्गेन पूजनम्। स सङ्कल्पो मयानुमोदितः स्वीकृतः। कुतः ? सत्यः सत्ये मयि कृतत्वात् सत्यमेव मयानुमोदनाहं भवति, यतः सत्य एव भवितुमर्हति। आरम्भ एव फलवान् भवितुमर्हति ॥ २५ ॥ कुतः ? तत्राह—मय्यावेशित-धियामित्यादि। कामः सङ्कल्पः कामाय पुनः कामाय कल्पते,—सकृतककरणेनैव सिद्धत्वात्। सिद्धत्वं हि पुनः पुनः प्ररोहाभाववत्त्वम्। तत्र दृष्टान्तः—भर्जिता क्वथिता इति प्रायो बाहुल्येन बीजाय बीजत्वाय। मयि कृतो हि कामः पुनः प्ररोहाय न भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ तदा कथं तत्कालमेव सङ्कल्पसिद्धिर्नाभूदिति ? तत्राह—यातावला इत्यादि। कुमार्यश्च द्वेधा—पूर्वसिद्धा व्रतसिद्धाश्च : पूर्वसिद्धा अपि कौतुक-वशादपराभिः सह व्रतं चेरुः। हे अबला हे सिद्धा हेत्युभय-सम्बोधनम्। व्रजं यात, सङ्कल्पसिद्धिं विना कथं यास्याम इति मानसं ज्ञात्वाह—मयेमा इत्यादि। इमा अद्यतनीं रात्रिमारभ्य यावती रात्रिरित्यर्थः। इदानीन्तु यौष्माकीणां वाससां सङ्गे एवाङ्गसङ्ग इति मन्तव्यम् ॥ १७-२८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हे साध्व्यः! भवतीनां मदर्च्चनं मदीयसुखोत्पादकमद्विषयकाराधनमेव सङ्कल्पो मनोरथः स च लज्जया युष्माभिरकथि-तोऽपि मया विदितोऽनुमोदितश्च निष्कैतवत्वात् सत्यश्च अतएव भवितुमर्हत्येव भवतीनां मत्सुखतात्पर्यात् ममापि प्रेमवश्यत्वात् कात्र खल्वसम्भावनेति भावः। अत्र कृपाशक्तिरेव तास्वधिकसमुद्भवितं तत्प्रेमवशमपि तत्तल्लीलाविष्टमपि भगवन्तमैश्वर्यं स्फोर-यित्वा तत्प्राप्त्यर्थकात्यायन्यर्चनकृच्छ्रं ज्ञापयामास तत्फलं च प्रदापयामास तास्तु नारायणसम इति गर्गोक्त्यैवायं स्वं नारायणं मन्यते स्मेति जानन्ति स्मेति ज्ञेयम् ॥ २५ ॥ यच्च क्वाचित्कं मदर्च्चनं सकैतवत्वादसत्यमयथार्थं तदपि मया स्वसाद्गुण्यात् सत्यमेव भवितुमर्हमेवं कर्त्तुं शक्यते किं पुनः परमशुद्धमहोत्तमप्रेममयो भवतीनां मदाराधनमनोरथ इत्याह—नेति। कामः सकामत्वलक्षणं कैतवं कामाय तत्फलाय अयथार्थाय कामभोगाय न कल्पते किन्तु विषयमहिम्ना कामशान्तय एव अत्र दृष्टान्तः भर्जिता इति अत्र धानाशब्देन यवा एवोच्यन्ते ते च यवाः खलु पङ्किले भूमावुप्ताः प्ररोहन्ति त एव सुर्यकान्तरत्नभूमावुप्तास्तापेन भर्जिताः भवन्ति ततो वृष्टिजलेन सिक्ताः क्वथिता रन्धिता बीजाय अङ्कुरोद्गमाय नेशते न समर्थाः स्युः प्राय इति यथेत्यर्थः। यथाह, विश्वप्रकाशः "प्रायश्चानशने मृत्यौ प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः" इति "प्रायो वरणानशने मृत्यौ बाहुल्यतुल्ययोः" इति मेदिनी च, नेष्यत इति पाठश्चित्सुखसम्मतस्तत्रैकत्वमार्षम् ॥ २६ ॥ प्राथमिकस्य रमणस्य शुभः समयो रात्रिरेवेत्यभिप्रेत्याह—यातेति। सिद्धा एव यूयं माधुर्यपोषकेण नरलीलत्वेनैव साधकत्वाभिमान इति भावः। इमाः सन्निहिताः रंस्यथ रंस्यथेत्रे यद्रमणम् आर्या दुर्गा सतीः सत्यो भवत्यः ॥ २७ ॥ कृच्छ्रादिति तेन तासां मनोनेत्राद्याहरणात् ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ननु, एकस्मिन् पदार्थे कृतः सङ्कल्पस्तदितरपदार्थविषयकान् बहून् सङ्कल्पान् जनयति अतो जीवः स्वसङ्कल्पप्रवाहेन तत्पदार्थसंयोगलक्षणे संसारे परिभ्रमत्येव त्वयि कृतस्य सङ्कल्पस्यापि त्वदितरपदार्थविषयकसङ्कल्पोत्पादकत्वं प्राप्नोतीत्यत आह, नेति। मय्यावेशितधियां यः कामः मयि कृतः सङ्कल्पः स कामाय मदितरपदार्थविषयकसङ्कल्पाय न कल्पते मत्कामो जनः संसारं न प्राप्नोति मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः। तस्येतरसङ्कल्पानुत्पादकत्वे दृष्टान्तः भर्ज्जिता क्वथिता धाना बीजायाङ्कुरोद्गमाय नेष्यते

दृष्टान्ते कदाचिद्वैपरीत्यं भवतु न तु दार्ष्टान्ते इति प्रायोग्रहणाभिप्रायः ॥ २५ ॥ हे अबलाः ! यन्मया सह रमणमुद्दिश्य सङ्कल्पः सतोः सत्यः भवत्यः आर्यायाः कात्यायिन्याः अर्चनरूपं व्रतं चेरुश्चक्रुः तस्मादेवोद्देशान्निमित्तात् इमाः आगामिनीः शारदीः रात्रीः मया सह रंस्यथेत्थं सिद्धाः पूर्णमनोरथाः व्रजं यात गच्छत सतीरिति क्षपाविशेषणं वा भगवत्प्रयुक्तविभक्तेरन्यथात्वासम्भवात् ॥ २६ ॥ कृच्छ्रात् श्रीकृष्णविश्लेषजात् ॥ २७-२८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

हे साध्व्यः ! भवतीनां मदर्चनं मत्सुखार्थकात्मार्पणलक्षणं सङ्कल्पो मनोरथस्त्रपयानुक्तोऽपि मया विदितोऽनुमोदितश्च कैतवाभावात् सत्यश्चातो भवितुमर्हति भवतीनां मत्सुखतात्पर्यान्मम भवत्प्रेमाधीनत्वाच्च नात्र सन्देह-गन्ध इति भावः ॥ २५ ॥ भवदुक्तिरेवफलं नतु तस्याः फलमन्यदस्तीत्याह— नेति मय्यावेशिता मामेव पुरुषार्थं विज्ञाय प्रसज्जिताधीर्यैस्तेषां कामो मत्प्रेमसेवैकविषयः सकामाय फलान्तराभिलाषाय न कल्पते किन्तु स्वयमेवास्वाद्यो भवतीत्यर्थः । किं पुनर्भवतीनामिति भावः । तत्र दृष्टान्तः—भर्ज्जिता इत्यादि "धाना भ्रष्टयवे प्रोक्ता धन्याकेऽभिनवाङ्कुरे" इति विश्वः । ताः स्वरूपत एव भ्रष्टः पुनर्घृतादिना भर्ज्जिताः क्वथिताः सिताक्वाथेन निष्पक्वास्ताः प्रायो यथा बीजाय फलान्तरोत्पादनाय नेष्यते एकवचनमार्षं "प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः" इति विश्वः ॥ २६ ॥ वाञ्छितं सम्पादयति—याता इति । हे अबला ! यूयं व्रजं यात यूयं सिद्धा एव व्रताचरणनु लोकरीत्या लीलारूपं सिद्धिमाह, इमाः सन्निहिताः क्षपा रात्रीर्मया सह रंस्यथ रंस्यध्वे यत् पत्नीभावेन रमणमुद्दिश्य हे सत्यः आसां गन्धर्वविधिना विवाहो भूदिति बोध्यम् ॥ २७ ॥ कृच्छ्रादिति—तेन तासां मनोनयनाद्याहरणादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे साध्व्यो भवद्भिर्लज्जया न प्रकाशितोऽपि मया भवतीनां सङ्कल्पो विदितः । न हि प्राज्ञज्ञानमात्रं प्रयोजकमित्यत आह ॥ मयेति । अनुमोदितः सम्मतीकृत इति सः सत्यो भवितुमर्हति । किञ्चासौ मदर्चनं मत्पूजेति सत्यो भवितुमर्हति । गृहे गृहिणी वर्तेव चेन्न परप्रणयिनीपरिणयनं सम्भवति भवतस्तु वक्षस्येव लक्ष्मीरास्ते कथमस्मन्मनोरथः स्यात्कथयेत्यतोऽप्याह । मया रमया चानुमोदितोऽतः सत्यो भवितुमर्हतीति । तव तु तदेकसङ्गित्वात्कथमनुमतः सङ्कल्प इति भगवन्वञ्चनवचनमित्यतो वाऽऽह । मया युष्मत्सन्निहितया निमितेनानुमत इति ॥ २५ ॥ अयं कामो नासारसंसारप्रापक इति हेयो हे योषित इत्याह । नेति । मय्यावेशिता धीर्धिषणा यासां तास्तासां कामः कामाय पुनः संसारसाधकविषयेच्छोत्पत्त्यै न कल्पते । अत्र दृष्टान्तमाचष्टे ॥ भर्जितेति । भर्जिता भ्राष्ट्रे क्वथिता पक्वीकृता धान्यं धाना बीजाय पुनरङ्कुरजननाय प्रायो नेष्यते । दावदग्धवेत्रबीजानां कदलीकाण्डाङ्कुरजनकता दृष्टेत्यतः प्रायः सदृशाङ्कुरजननायेति । प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपीति विश्वः । यथा तथेत्यध्याहारः । धाना भ्रष्टयवे प्रोक्तेति सत्यभिधानेऽत्र धानाशब्दोऽप्य इवेमा धाना इति श्रुतेः सामान्यधान्यमात्रपरोऽवसेयः । प्रायो बीजाय नाशिष्यत इति वा ॥ २६ ॥ सतीः सत्यो बाला यदुद्देश्यार्याया दाक्षायण्या व्रतं चरथ मया सहेमा बुद्धिसन्निहिताः सद्यस्तनीः क्षपा रात्री रंस्यथेति सिद्धा व्रजं यात गच्छत ॥ २७ ॥ भगवतेत्येवमादिष्टा आज्ञप्ता आदिष्टं दैवं यासां ताः । सुदैवा इत्यावर्तिता इत्यादिष्टपदार्थः । लब्धकामा लब्धमनोरथाः कुमारिकास्तत्पदाम्भोजं ध्यायन्त्यः कृच्छ्राद्विरहसहिष्णुतायातकष्टाद्व्रजं निर्विविशुः ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तासां हृदये स्वाभिप्रायो ज्ञापनीय इति यदासीत् तत्राह सङ्कल्पो विदित इति, भवतीनामभिप्रायो विदितः, अनेन न वक्तव्य इति ज्ञापितं, अन्यथा रसस्त्वपुष्टः स्यादत एव भगवानपि नोच्चारयति तत्रायुक्तः सङ्कल्प इतिशङ्कां वारयति साध्व्य इति, साध्वी सर्वदोषविवर्जिता पतिव्रतेति यावत्, अतोधिकारिणा कृतः सङ्कल्पः सफलो भवति; अनेनान्यस्मै देयाः केनाप्यंशेन विनियोगान्तरं च निवारितं, भवतीनां च सर्वासामेव ज्ञातस्वरूपाणां, यद्यपि कात्यायन्यर्चनेनायमर्थः सिद्धस्तथापि मदर्चनात् द्वितीयवारमहमेवार्चितः, प्रबुद्धा हि देवताच्यर्त इति तदेव ज्ञानं परमर्चनं मत्स्पर्शि न भवतीत्यसत्यो भवति देवताज्ञाव्यतिरेकेण च कृतेति फलदोपि न भवति, तदिदानीं सन्तोषाद् द्वयं पूर्यते, मयानुमोदित इति, तत्र मयानुमोदित इति सङ्कल्पोनु पश्चात् मोदित इति मोदं प्रापितः स प्रसिद्धः पूजायामभिव्यक्तो भावपूर्वकदृष्टिपूर्वकपुष्पादिपदार्थानां भाविते भगवति समर्पणरूपः स त्ववस्तुसमुदायरूपा इत्यसत्य एव स्वरूपतो ज्ञापकः परं जातः, तज्ज्ञापितमाहासाविति, इदानीमहं प्रत्यक्षोन्तःकामश्च दत्तो भावोद्गारिणी दृष्टिश्चेयं, निवेद्यं तु सर्वमेवातः पूर्वाकृतितुल्यमेतत् साम्प्रतं जायमानं सर्वमेवासावित्युच्यते, स स्वरूपतः सत्योपि फलतोपि सत्यो भवितुमर्हति, सत्यात् सत्यं फलमुचितमिति, अतो योग्यतादेव फलं भविष्यति न चिन्ता कर्तव्येतिभावः, अनेन कार्याधीनत्वाद् गोपिकाधीनमेव फलमिति वाचनिकोपि सन्देहो निवारितः ॥ २५½ ॥ ननु कालान्तरेन्यां सामग्रीं प्राप्येयं सामग्री विशकलिता पूर्वावस्थामेव प्राप्स्यति न त्वेवम्रूपा स्थास्यतीत्याशङ्क्य सामान्यन्यायेन परिहरति न मयीति, अयं सामग्र्याः संस्कारो यथा संस्कृतो ब्राह्मणोसंस्कृतैरपि सहितो नासंस्कृतो भवति नापि पुनःसंस्कारो भवत्यतो भगवति समर्पिता सर्वा सामग्री भगवदीया जाता, कोटिसूर्याधिकज्ञानाग्निरूपो भगवांस्तत्र सर्वं बुद्ध्यधीनमिति बुद्धिश्चेत् समर्पिता तदा सर्वमेव समर्पितमिति

बुद्धिसमर्पणमेवाह मय्यावेशितधियामिति, न केवलं समर्पिता किन्त्वावेशिता तदुपर्येव स्थापिता बुद्धयधीनः काम इच्छा हि ज्ञानाधीनेति "कामः सङ्कल्प" इत्यादिश्रुतौ "सर्वं मन एवे"तिनिरूपणं मनोधर्मत्वात् "मनसस्तु परा बुद्धि"रतो बुद्धयधीनं सर्वं, यथा राजनि निगृहीते राज्यमेव तदधीनं भवत्येवं बुद्धौ निवेदितायां सर्वमेव निवेदितमतः पूर्वावस्थायां यद् रूपं तत् तेषां न भवति, कामो हि पुरुषात्मकः "काममय एवायं पुरुष" इतिश्रुतेः, यदि कामः कामाय न क्लृप्तस्ततोऽग्रे तस्मात् सङ्घातात् न सङ्घातान्तरमुत्पत्स्यते किन्तु स एवान्तिमः सङ्घातो भवति धिया सह कामस्यापि दग्धत्वात्, काममयश्च सङ्घातः, तत्र दृष्टान्ते-नावेशनमात्रेण तस्याकार्यत्वं साधयति भर्जिता इति, यवादयो हि भर्जिता धाना भवन्ति धानास्तु भ्रष्टयवा इति, धनं हि धनोत्पादकं तथा यवा यवोत्पादका न तु धानावस्थायां, अतः पूर्वावस्थां परित्यज्य ये सम्बन्धमात्रेण तदीया भवन्ति ते न तत्कार्यं कुर्वन्ति, केषाञ्चिद् बीजानां केवलाग्निना बीजशक्तिर्न गच्छति तेषां जलाग्निसंयोगेन गच्छतीति क्वथिता इत्युक्तं, उपलक्षणमेतद् यावता यस्य बीजशक्तिर्गच्छति ततस्तदनन्तरं तत् कार्यक्षमं न भवतीत्यतो धाना जाता भूयो बीजाय नेशते न समर्था भवन्ति, "अथ वान्नं धानासु लीयते धाना भूमौ प्रलीयन्त" इत्यत्र 'धाना' शब्देन बीजात् तण्डुलानीत्वत्रापि तथैवेति ज्ञेयं, तेन 'भर्जिता' इत्युक्तिः, अतो मयि समर्पितः कामः पुनः कामान्तरं न जनयिष्यति, सुतरां पूर्वावस्थां न प्राप्स्यति, तथा सति जनयेदेवा'धकं तत्रानुप्रविष्ट'मिति ॥ २६३ ॥ यत्र क्वापि तिष्ठन्तु न प्राक्तत्वं भविष्यत्यतो गच्छतेत्याह यातावला इति, पुनः स्वकीयत्वेन सम्बो-धनं स्नेहं सूचयति सह पर्यटनं तु बलकार्यं यथा भूमिर्नान्यत्र नीयते भौमा एव च नीयन्ते तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इति भवानेव वा स्थित्वा तथा करोत्वित्याशङ्क्याह सिद्धा इति, न भवतीषु किञ्चित् साध्यमस्ति किन्तु सिद्धा एव भवत्यः, अतो व्रजं यात गच्छत, अलौकिकीं च दृष्टिं दत्वाह मयेमा रंस्यथ क्षपा इति, इमाः परिदृश्यमाना क्षपा मय्येव विद्य-मानाः क्षपा रात्रिर्मया सह रंस्यथ रमणं करिष्यथ, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, रमणसहितास्ताः प्रदर्शिता इति न सन्देहः, नन्वेतदेव कथं फलं नित्यसम्बन्धोन्यो वाहोरात्रसम्बन्धः कथं नोच्यते इत्याशङ्क्याह यदुद्दिश्येति, रमणमेवोद्दिश्येदं व्रतं चेरुरार्यायाः कात्यायन्या अर्चनलक्षणं, स्वार्चनस्य तु सत्यत्वे विनियोगो रमणं तु तद्व्रतफलं तत्र तु मास एव नियामको रात्र्यन्ते च पूजनमतो रात्रावेव परिमितकाले .रमणं न दिवसे नाप्यपरिमितकाले, किञ्च सतीर्हि सतीरूपाः, पूर्वसवर्णोत्र, सतीनां न दिवसे रमण नापि सर्वदा यथेष्टमिति, अतो विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यतीतिभावः, प्रथमवाक्यसमागमने तु भगवदाज्ञाकरणादक्षयमेव फलं भवेत् कर्मफलं तु क्षयिष्णु ॥ २८३ ॥ ततो भगवताज्ञता आज्ञोल्लङ्घनभीता व्रजं गता इत्याह इत्याविष्टा इति, यद्यपि कामो महांस्त-थापि भगवदिच्छया बाध्यते मनोरथश्च प्राप्तः परं साक्षाद्विवाहाभावात् कुमारिका एव, तासां रसान्तरव्यावृत्त्यर्थं भक्तिमाह ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजमिति, हृदि भगवच्चरणं कमलं ध्यायन्त्यः, कृच्छ्रादिति कष्टं प्राप्य मध्ये गन्तुमशक्ताः कथञ्चिद् व्रजं निर्वि-विशुः गमनाज्ञया तादृशस्तापो वृत्तो येन जीवनमपि तत्कालीनं न सम्पद्येत यदि पदाम्भोजध्यानं न स्यात् तस्मिन् सति तद्विष-यस्याम्भोजत्वेन तापहरणाज् जीवनसम्पत्तिरभूत् तथापि कृच्छ्रादित्युक्तेस्तद्ध्यानं तापकार्यप्रतिबन्ध एवोपक्षीणं न तु तद्धरणेपीति ज्ञाप्यते, एवं साधिकैस्तत्त्वैस्तासामर्धभक्तिनिरूपिता तत्त्वातिक्रमश्च ॥ २८३ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

सङ्कल्पो विदित इत्यत्र, भवतीनामित्यस्य विवृतिः सर्वासामेवाज्ञातस्वरूपाणामिति स्वरूपतो धर्मतश्चेति द्वेधा वेदनं सम्भवति, इह तु भवतीनां सङ्कल्प इति पदन्यासेन सङ्कल्पस्यैव वेदनम्, न तु स्वरूपस्यापीति ज्ञाप्यते । स्वरूपस्य रसात्मकत्वेना-नुभवैकवेद्यत्वादग्रे वेदनं भावि । संप्रति तु सङ्कल्प एव विदित इति रसोक्तिः । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्य'मिति न्यायाद्रसमर्यादयैव भगवानेतत्स्वरूपानुभवं करिष्यतीत्याशयेनैवमुक्तम् ॥ २५ ॥ मयानुमोदित इत्यत्र, अनेन कार्याधीनत्वादित्यादि । असावितिपदे-नोक्तोऽर्थः कार्यपदेनोच्यते । फलं च भगवद्रमणम् । तच्चैतन्निवेदितदेहेन्द्रियादिभोगरूपमेव । तच्चोक्तकार्यमध्यपाति । कार्यं चैतत्कर्तृकत्वेनैतदधीनमिति तथा । असाविति पदोक्तपूजाया भगवति विविधरसभावजनकत्वेन तत्पूर्वकस्मितविलासेक्षणादिभि-रेतद्भावः पूर्यते, नान्यथेति परस्परं भोग एवाद्भुतः सम्पद्यते । इदं चोक्तपूजामध्यपाति, पूज्यकर्तृकनिवेदितभोगस्य पूजामध्य-पातित्वात् । एतस्या एव रसमर्यादाक्रमेण पुष्टाया अग्रिमफलसाधत्वमिति सुष्ठूक्तं गोपिकाधीनमेव फलमिति । अत एवाधुना न रमणम् । तेन कृष्णचेतस्त्वेन मानसनिश्चये सत्यपि 'यदि मे दास्य' इति वचनेन 'यूयं विवस्त्रा' इत्यादिवचनेन च जनितो या फले संशयः सोपि निवारित इत्यर्थः ॥ २६ ॥ अत्रैव यातावला इत्यस्य विवरणे, यथा भूमिरित्यादि । अस्य कामस्य कामान्त-रानुत्पादकत्वेन दृष्टान्तीकृता धाना इति तद्व्यञ्जितोऽर्थोऽत्रोच्यते । ते हि पूर्वावस्थायां भूमावुप्ता अङ्कुरोत्पादकाः । तत्र न हि विजातीयाङ्कुरानुत्पत्त्यर्थं रक्षार्थं भूरन्यत्र नीयते, किन्तु तदुत्पादका भौमा दोषा एव निरस्यन्ते । प्रकृते तु भगवानस्मानतः परं यत्र कुत्रापि स्वसङ्ग एव नयत्वित स्वामिनीनां हृदयम् । तच्चाधुना रसपोषाय लौकिकविरोधाद्रसाभाससम्भवाच्च न कर्तव्यमत एवमाज्ञेति । यद्वा । भौमा एवं भूसम्बन्धिनो हलादय एव परं भूसमीपं नीयन्त इत्यर्थः । तेन यथासम्भवं भवतीरुद्दिश्य सन्ध्यादि-यद्वहमेव व्रजमागमिष्य इति भावः ॥ २७ ॥ मयेमा रंस्यथेत्यत्र, रमणसहितास्ता इति । आसां क्षपाणामेतन्मात्रभोगार्थमेवावि-

भावादेतज्ज्ञापको धर्मविशेषः क्षपासु वर्तत इति तद्दर्शनेन स्वरमणनिश्चयोऽभूदित्याशयेनेदमुक्तमिति ज्ञेयम् । अत्रैवोपसंहारे तासामर्धं भक्तिरिति । अङ्गसङ्गाभावादर्धत्वम् ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सङ्कल्प इत्यत्र तदैव ज्ञानमिति प्रवुद्धाया एवार्चने देवतायाः पूजकसङ्कल्पज्ञानं भवतीत्यर्थः, परमर्चनमिति अर्चनस्य भावनासिद्धत्वात् साक्षात्स्पर्शाभावेन स सङ्कल्पोऽसत्यः स्वरूपतो भवेद् देवताज्ञां विनापि कृतेऽर्चने सति स सङ्कल्पोऽतिफलवोऽपि न भवति फलतोऽप्यसत्यो भवेत्, द्वयं पूर्यत इति सङ्कल्पस्य स्वरूपतः फलतश्च सत्यत्वमसौ सत्य इतिपदाभ्यामुच्यत इत्यर्थः, तत्रेति श्लोकोत्तरार्धे इत्यर्थः, पूर्वमुक्तं प्रतीकमुत्तरार्धस्य ज्ञेयं, सङ्कल्पस्य फलदत्वं विवृण्वन्ति स सङ्कल्प इत्यारभ्येतिभाव इत्यन्तेन, स त्ववस्त्विति स तु सङ्कल्पो भावनासिद्धत्वाद् वस्तुसमुदायो रूपे यस्य तादृशो न भवति अतः स्वरूपतोऽसत्यः परं त्वधुना स्वरूपतः सत्यः सन् फलज्ञापको जात इत्यर्थः, तद्ज्ञापितमिति फलजननमित्यर्थः, असावित्ति अर्हतीत्यन्तस्य प्रतीकमिदं न तु पदमात्रस्य, कार्याधीनत्वादिति फलस्येतिशेषः, फलं कार्याधीनं, कार्यं च गोपिकाधीनमतः फलस्यापि गोपिकाधीनत्वं सम्पन्न-मित्यर्थः ॥ २५३ ॥ नन्विति भगवति निवेदितः सङ्घातोऽनिवेदिभिः सङ्गं प्राप्यानिवेदितो भविष्यतीत्यर्थः, न मयीत्यत्र अर्थमिति भगवति बुद्ध्याद्यावेश इत्यर्थः, अत इति बुद्ध्यावेशस्य संस्कारत्वादित्यर्थः, जातेत्यत्र तथाऽसंस्कृता न भवतीतिशेषो ज्ञेयः, अकार्यत्वमिति न कार्यं कामान्तरं यस्मात् तादृशत्वमित्यर्थः, धनस्यावस्थाविशेषो धानं तस्येदमित्यण् धानावस्थायां यवा यवो-त्पादका न तु भ्रष्टत्वेन धानावस्थायां, तस्यामवस्थायां धनसम्बन्धिनो यवा न तु धनरूपा इत्याहुः सामान्येन अत इति, सुतरा-मिति कदाचित् कामान्तरजननेऽपि मत्सम्बन्धिनमेव जनयिष्यति न तु पूर्वसिद्धमित्यर्थः ॥ २६३ ॥ याताबला इत्यत्र क्षपारमणयो-रत्यन्तसंयोगस्यार्थमाहुः रमणेति, अत्र करणे ल्युट् इतिहेतोः सन्देहो न स्थित इत्यर्थः, अक्षरार्थोऽयमितिज्ञेयं, नित्यसम्बन्धः सर्वदा सम्बन्धोऽन्तर्गृहगतानामिव, तथा सति तासामिवासामपि द्वितीयरसानुभवो न स्यादित्यरुच्याहुः अहोरात्रेति, कदाचिदह्नि कदाचिद् रात्रावेवं प्रत्यहमित्यर्थः ॥ २७३ ॥ इत्यादिष्टा इत्यत्र यावत्कामस्याजातत्वाल्लब्धकामत्वं कथमित्यत आहुः यद्यपीति, मनोरथश्चेति पतित्वं च प्राप्तं सिद्धा इतिवचनादित्यर्थः ॥ २८३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

याताबला इत्यस्य विवृतौ तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इतीत्यादि यद्यपि भौमा एवात्यत्र नीयन्ते भूमिस्तु नान्यत्र नीयते तथापि भूमिः कर्षणादिक्रियया व्याप्रियते तथा वयमपि भजनोपयोग्यतासम्पादनेन संस्कार्या इत्यर्थः, मयेमा रंस्यथ क्षपा इत्यस्य विवृतौ इमाः परिदृश्यमानाः क्षपा मय्येव विद्यमाना इति, अत्रेदं ज्ञेयं, इदं वस्त्र-हरणलीला हेमन्ततौ दिवा जाता तत्र इमाः क्षपा इत्युक्तिः कथं सङ्गच्छेत, रात्रौ चेद् रात्रिसाजात्यात् शरत्कालसम्बन्धिन्यो रात्रयो गृह्येरन्, शरदि ऋतौ चेद् दिवा कथनेऽपि शरत्सम्बन्धिनीनां रात्रीणां ग्रहणं स्यात्, प्रकृते तु हेमन्ततु दिनं चेतीमाः क्षपा मया सह रंस्यथेत्युक्तिविरुद्धा, शरत्कालसम्बन्धिरात्रिषु रमणस्य जायमानत्वाद्, 'भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिका' इतिवाक्यात्, एवं सती 'माः क्षपा' इति कथं भगवतोक्तमित्याशङ्क्याहुरिमाः परिदृश्यमानाः क्षपा मय्येव विद्यमाना इति, इमाः क्षपा अलौकिक्यो भगवद्रमणैकाधिष्ठानभूता रमणसहिता नित्याः प्रापञ्चिकरात्रिभ्यो भिन्ना अलौकिकी या शरत् तत्सम्ब-न्धिन्यः अतो हेमन्ततौ दिवापि ता रात्रयः प्रदर्शिता 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इत्यत्रेदंशब्दप्रयोगात्, 'इदमस्तु सन्निकृष्टं समीप-तरवर्ति चैतदोरूपं अदसस्तु विप्रकृष्टं तदतिपरोक्षे विजानीया'दितिवाक्यादिदंशब्दस्य सन्निकृष्टवाचकत्वात् ॥ २७३ ॥ इत्याविष्टा भगवतेत्यत्र साधिकैस्तत्त्वैरिति सार्धैरष्टाविंशतिभिः श्लोकैरित्यर्थः, तासामर्धंभक्तिरिति अङ्गसङ्गाभावादर्धत्वमिति भगवता टिप्पणीकारेणोक्तम् ॥ २८३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

मदर्चनं मत्प्राप्त्यर्थं कात्यायन्यर्चनं तथा भवतीनां सङ्कल्पः पतित्वेन मया सह रमणविषयको मनोरथश्च युष्माभि-र्लज्जया अकथितोऽपि मया विदितः, मयाऽनुमोदितः, अङ्गीकृतश्च । अतः सोऽसौ सङ्कल्पः सत्यो यथार्थः सफलो भवितुमर्हतीत्यन्वयः ॥२५॥ 'स च मोक्षपर्यवसायी भविष्यति' इत्याशयेनाह–न मयीति । मयि आवेशिता धीर्यैस्तेषां कामः विषयभोगसङ्कल्पः कामाय पुनः संसारविषयभोगाय न कल्पते । अन्येषां सङ्कल्पो यथा पुनः संसारविषयभोगहेतुर्भवति तथा तद्धेतुर्न भवतीत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह–भर्जितेति । भर्जिता दग्धा, क्वथिता रन्धिता वा धाना यवादिरूपा यथा प्रायो बीजाय पुनरङ्कुरोत्पादनाय नेष्यते नाङ्गीक्रियते, तथा मदावेशिताचित्तानामपि सकलमर्मवासनानां दग्धत्वान्न पुनः संसारागम इत्यर्थः । 'धानाः' इति बहुवचनान्तपाठः, तथा 'नेष्यते' इति पाठश्च दृश्यते, तत्र समर्था न भवन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥ हे अबलाः ! यूयं व्रजं यात गच्छत, यतः सिद्धा पूर्णमनो-रथाः । ननु 'भवत्सम्बन्धस्य अजातत्वात् कथं सिद्धमनोरथत्वम् ?' अत आह–यदिति । 'पतिव्रतानां मनोरथः कथं न सिद्ध्येत् ?'

इति सूचयन् सम्बोधयति—सतीरिति । हे सत्यः ! यत् मया सह रमणमुद्दिश्य सङ्कल्प्य इदं व्रतमार्यायाः कात्यायन्याः अर्चनं च चेरुः कृतवत्यस्तत् इमाः आगामिनीः शरद्रात्रीर्मया सह रंस्यथ रमणं प्राप्स्यथेत्यन्वयः ॥ २७ ॥ इत्येवं भगवता आदिष्टा आज्ञप्ताः लब्धकामाः वरदानेन प्राप्तमनोरथाश्च कुमारिकाः तत्पाश्वंस्य दुस्त्यजत्वात् कृच्छ्रात् महता कष्टेन तस्य पदाम्बुजं ध्यायन्त्यो व्रजं निर्विविशुरित्यन्वयः ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

संकल्प इति ॥ हे साध्व्यः ! मदर्चनं मदङ्गसङ्गरूपो भवतीनां सङ्कल्पः । युष्माभिर्लज्जया अकथितोऽपि मया विदितः मयाऽनुमोदितः अङ्गीकृतश्च । अतः सोऽसौ सङ्कल्पः सत्यः सफलो भवितुमर्हति । अर्हतीति सम्भावनोक्त्या आत्यन्तिको न भविष्यति इति सूचितम् ॥ २५ ॥ न मयीति ॥ मयि आवेशिता धीर्यैस्तेषां कामः विषयभोगसङ्कल्पः कामाय पुनः संसारविषयभोगाय न कल्पते । विषयमहिम्ना कामस्यापि शान्तिहेतुत्वात् । यथा भर्जिता दग्धा क्वथिता रन्धिता वा पूर्वं भर्जिता ततो रन्धिता वा धाना यवादिरूपा यश्च प्रायो बीजाय पुनरङ्कुरोत्पादनाय नेष्यते नाङ्गीक्रियते किं त्वास्वादमात्रार्था भवति । धाना इत्येकत्वमार्षमाहुः । धाना इति नेशते इति च बहुवचनपाठे नेशते न समर्था भवन्ति । प्राय इति स्वेच्छया प्ररोहमपि सूचयति । ध्रुवादीनां तथा दर्शनात् इति स्वामिपादाः ॥ २६ ॥ यातेति ॥ हे अवलाः ! हे सतीः सत्यः ! पूर्वसवर्णदीर्घं आर्षः । यूयं सिद्धाः पूर्णमनोरथाः स्थ । यत् मया सह रमणमुद्दिश्य संकल्प्य भवत्य इति शेषः । आर्यायाः कात्यायन्या अर्चनरूपम् इदं व्रतं चेरुः कृतवत्यस्तत इमा आगामिनीः शरद्रात्रीर्मया सह रंस्यथ रमणं प्राप्स्यथ । रासानन्तरमेव तासां सायुज्यं बोध्यम् ॥ २७ ॥ इतीति ॥ इत्येवं भगवता आदिष्टा आज्ञप्ताः लब्धकामाः प्राप्तमनोरथाश्च कुमारिकाः तत्पाश्वंस्य दुस्त्यजत्वात् कृच्छ्रात् महता कष्टेन तस्य पदाम्भोजं ध्यायन्त्यो व्रजं निर्विविशुः ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

हे साध्व्यः युष्माकं मदर्चनं प्रतिसंकल्पो मनोरथः ह्रियानोक्तोऽपि मया विदितः अनुमोदितः संमतश्च अतः सत्यो भवितुमर्हति ॥ २५ ॥ युक्तत्वमेवाह मय्यावेशितचित्तानां मया सह कामो विषयभोगः कामाय पुनर्विषयभोगाय न कल्पते किं तु विषयांतरनाशाय भवतीत्यर्थः । भर्ज्जिताः ईषदग्निनादग्धाः क्वथिता रंधिता धाना गोधुमचणकादयो बीजाय पुनरुद्भवकारणाय नेष्यते क्षुधा नाशाय भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥ हे अवलाः सिद्धाः प्राप्तमनोरथा व्रजं गच्छत इमाः आगामिनीः क्षपाः क्षपासु निशासु अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गंतव्योऽध्वावाचककर्मसंज्ञक इति वाच्यमिति कर्मसंज्ञाया द्वितीया मया सह यूयं रंस्यथ विहरिष्यथ सतीः हे सत्यः आर्या कात्यायनी ॥ २७–२९ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

संकल्प इति ॥ हे साध्व्यः अवलाः, मदर्चने मया सह क्रीडाचरणात्मकेऽर्चने निमित्ते, यः भवतीनां संकल्पः, स मया विदितः । अनुमोदितोऽभ्यनुज्ञातश्च, अतोऽसो, सत्यः एव, भवितुं अर्हति ॥ २५ ॥ केनापि व्याजमात्रेणानुजिघृक्षैकशीलत्वात् महोदरत्वाच्च देहान्ते तासां मुक्तिमपि संकल्पयति ॥ नति ॥ मयि आवेशिता धीर्याभिस्तासां, कामो मद्विषयकोऽभिलाषः; कामाय केवलं विषयभोगायैव, न कल्पते, किं तु मुक्तयेऽपीत्यर्थतो विवक्षितम् । विषयवैलक्षण्यमहिम्ना मद्विषयकामस्यापि संसृतिबीजभर्जनद्वारा मुक्तिहेतुत्वादिति भावः । निर्वीर्यं संसृतिबीजं न पुनः संसृतये भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह । प्रायः भर्जिता भ्राष्ट्रे क्षिप्त्वा भर्जिताः, क्वथिता जलपक्वाश्च, धाना यवादिबीजानि, बीजायाङ्कुरोद्गमाय, न इष्यते ॥ २६ ॥ यातेति ॥ यत एवमतः, हे अबलाः, यूयं सिद्धाः, संपूर्णमनोरथाः, स्थ । व्रजं यात गच्छत । मया सह इमा आगामिनीः, क्षपा रात्रिः, शारदीर्निशा इत्यर्थः । रंस्यथ । देवताराधनं न मुधा भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाह । यदिति । सतीर्हे सत्यः, यत् मया सह क्रीडनात्मकं प्रयोजनं उद्दिश्य, भवत्यः इदं आर्यार्चनं कात्यायन्यर्चनात्मकं, व्रतं चेरुश्चक्रुः ॥ २७ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, भगवता कृष्णेन, आदिष्टाः स्वस्वगृहगमनाय दत्ताज्ञाः, कुमारिकाः, लब्धकामाः संप्राप्ताभीष्टार्थाः, तत्पदाम्भोजं कृष्णपादपद्मं, ध्यायन्त्यः सत्यः, कृच्छ्रात् कथंचित्, व्रजं निर्विविशुः । तद्विश्लेषासहिष्णुत्वादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सङ्कल्प इति ; १०.२२.२५.

सर्वज्ञेन मया चित्तजातं वो जानतोच्यते । अत्रामुत्राप्यनङ्गाग्निर्मत्प्रसादाद् भविष्यति ॥ ७२ ॥

न मयीति ; १०.२२.२६.

मां पश्यत्यत्र योऽद्धागमशिखरगतं वीक्षितो यो मयाऽपि मन्मात्रध्येयचेता मदनुमतिधृताऽज्ञानकार्यानुषङ्गः ।
न स्याज्जन्मान्तराप्त्यै सततमविकृता कीदृगप्यस्य केलिः प्रस्यातुर्गोकुलेऽपीत्यकृत यदुपतिः स्पष्टमुक्तिष्टवाचा ॥ ७३ ॥

यातेति : १०.२२.२७

व्रतमेतदभूत् परीक्षितं तत्फलभाजोऽपि भविष्यथाद्य रात्रौ। इति देवगिराऽवदत्स कृष्णः फलितोऽब्दान्तरोऽर्थतस्तदर्थः ॥ ७४ ॥

अर्थिप्रार्थित-तत्क्षणार्पणसमर्थोऽपि प्रभुर्यत्तदा कामं तद्व्रततोषितोऽपि विदधे कालान्तरं तद्विधौ।
तद्बीजं बहुधेदमेव भविता यत्ताभिरभ्यर्थितं तच्चाह्नि प्रतिषिद्धमात्मदिनमप्यालोचयद्दैवतम् ॥ ७५ ॥

कामोद्रेकः पद्मिनीनां तुरीये भागे रात्र्यास्तत्र तासां हि तृप्तिः।
जानन्नित्थं श्रीपतिः शारदेऽसौ मासे मन्ये कल्पयत् तत्प्रसादम् ॥ ७६ ॥

एवमीशाशयो युक्तो भाति गीरन्यथा क्षपाः। मयेमा रंस्यथ इति स्यात् सत्योभयतोऽपि न ॥ ७७ ॥

आभिः कामसुखं मदर्थितमहं तु ब्रह्मचारि ततः कर्तव्यं कथमत्र येन भविता स्वार्थो ममासामपि।
आलोच्यैवमियेष तत्सुखकरीं राकारतिं तत्परित्यागे दोषमथाक्षतं व्रतगुणं सङ्गे किमीशः स्मरन् ॥ ७८ ॥

आगमदृश्यो भगवानयत्नतो भूद्यदीय-वाग्विषयः। किं किं न तस्य साङ्गं साङ्गोऽनङ्गोऽप्यभूत्पुरस्तासाम् ॥ ७९ ॥

इत्यादिष्टा : १०.२२.२८.

त्यक्त्वा लज्जां सर्वभूतादिसङ्गां कृष्णं गायन्त्यन्तरेऽनन्यभावाः।
तेषां श्रीशप्राप्तिकृत् स्याज्जडेऽपि क्रीडेत्यत्रोदाहृति-र्गोपकन्याः ॥ ८० ॥

कृष्णप्रिया

हे साध्वियों ! हे सदाचार सम्पन्न कुमारियों ! आपने अनन्य निष्ठा से, जिस मनोरथ से मेरा अर्चन और व्रत किया है उसको मैंने अच्छी तरह जान लिया है। हे कुमारियों, मैं उस मनोरथ का अनुमोदन करता हूँ, इसलिए वह पूर्ण होने योग्य है ॥ २५ ॥ हे कुमारियों ! जिन्होंने अपनी बुद्धि-प्राण इन्द्रियादि मुझे समर्पित किए हैं — मुझमें निविष्ट कर रक्खे हैं उनकी कामना अन्य कामना को उत्पन्न नहीं कर सकती है। भुवि उबाली हुई या पकी हुई धाणी फिर अङ्कुर को उत्पन्न नहीं कर सकती ॥ २६ ॥ हे अबलाओं ! अब आप सब व्रज में जाओ। आपका संकल्प-व्रत सिद्ध हो गया। हे सतियों ! हे शुद्धशीला कुमारियों ! जिस मनोरथ से आपने श्रीकात्यायनी व्रत अर्चन किया है वह अभिलाष आनेवाली शरद ऋतु की रात्रियों में रास रमण से पूर्ण होगा ॥ २७ ॥ श्रीशुकाचार्यजी ने कहा — भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी के वरदान वचनों से अपने मनोरथ को सिद्ध हुआ मानने वाली वे व्रज कुमारिकाएँ पुरुषोत्तम के श्रीचरणों का ध्यान करती हुई बड़े कष्ट से व्रज की ओर लौट गईं ॥ २८ ॥

अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकीसुतः। वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥ २९ ॥
निदाघार्कातपे [1]तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः। आतपत्रायितान् वीक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥ ३० ॥
हे [2]कृष्णस्तोक हे [3]अंसो श्रीदामन् सुबलार्जुन। [4]विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥ ३१ ॥
पश्यतैतान् महाभागान् परार्थैकान्तजीवनान्[5]। वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः — अथ गोपैः परिवृतः सहाग्रजः देवकीसुतः भगवान्, गाः चारयन् वृन्दावनात् दूरम् गतः ॥ २९ ॥ तिग्मे निदाघार्कातपे स्वाभिः छायाभिः आत्मनः आतपत्रायितान् द्रुमान् वीक्ष्य व्रजौकसः आह ॥ ३० ॥ हे कृष्ण ? हे स्तोक ? हे अंसो ? हे श्रीदामन् ? हे सुबल ? हे अर्जुन ? हे विशाल ? हे ऋषभ ? हे तेजस्विन् ? हे देवप्रस्थ ? हे वरुथप ? ॥ ३१ ॥ एतान् परार्थ एकान्तजीवनान्, महाभागान् पश्यत, वात वर्षा आतप हिमान् सहन्तः नः वारयन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

विप्रभार्यानुग्रहाय यज्ञवाटं गच्छन्विप्राणां काठिन्यमभिप्रेत्य तेभ्योऽपि द्रुमाः श्रेष्ठा इति तानभिनंदति चतुर्भिः। पश्यतेति। हे स्तोककृष्णादयो गोपाः एतान् द्रुमान्पश्यत। परार्थमेवैकांतेन जीवितं येषां तान्। तदाह। वातवर्षादीन्स्वयं सहंतः सहमाना अस्माकं वारयंति ॥ ३२ ॥

---

[1]. तीक्ष्णे—वीर। २. स्तोक कृष्ण—श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। ३. अंशो—श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। ४. विशालवृषभोजस्विन्देव॰ इ॰— वीर.। ५. जीवितान्—श्रीधर. वंशी. वीर. ; जीविनः—विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अथ तासां गमनानंतरम्। श्रीतोषिण्यां तु इदानीं गोपकन्यासु प्रसादमुक्त्वा तत्प्रस्तावसादृश्याद्यज्ञपत्नीषु प्रसादं वक्तुमारभते। अथ लीलांतरारंभे। स च निदाघसमय एवेति ज्ञेयम् 'निदाघार्कातपः' इति वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव सहाग्रजः श्रीवलदेवसहितः। वस्त्राहरणदिने तत्साहित्याभावात्। गोपैः परिवृत इति प्रागुक्तिर्वक्ष्यमाणलीलायां तेषामपेक्षाविशेषात्। देवकीसुत इति। पूर्वस्मादेव हेतोः 'वृंदावनाद्गतो दूरम्' इति प्रथमं तावद्गिरिव्रजमयं काम्यकवनं गतः तत एवास्य धातुरागमयवेशो वर्णयिष्यते, पश्चान्निदाघतृष्णागमितधेनुजलपायनार्थं व्रजं दक्षिणे विधाय यमुनामागतः। तत्र व्रजादागच्छन्मध्याह्ने भोज्यवंचनार्थम्, तत्र श्रीयज्ञपत्नीष्वन्नप्रार्थनारूपकृपार्थमिति ज्ञेयम्॥ २९॥ 'निदाघः उष्णोपगमः' इत्यमरान्निदाघो ग्रीष्मर्तुः तत्स्वीकारे 'हेमंते प्रथमे मासि' इत्युपक्रमो विरुध्येतातोत्र निदाघपदेन स्वेदांबु ज्ञेयम्॥ 'निदाघ ऋतुभेदे स्यादुष्णस्वेदांबुनोरपि' इति मेदिनी। निदाघ स्वेदांबु तत्करोऽर्को निदाघार्कः। मध्यपदलोपी समासः। तस्यातापो निदाघातपस्तस्मिन् तीव्रे मध्याह्ने सति। द्रुमान्वीक्ष्येत्यन्वयस्ततो न विरोध इति। आनपत्रमिवाचरंतीत्यापत्रायंते, आतपत्रायितास्तान्। आचारार्थक्यङंतात्कर्त्तरिक्तः। व्रजौकस इति द्रुमविशेषणम्। आत्मन इत्युपलक्षणं स्वस्य स्वेषां च॥ ३०॥ संबुद्ध्यात्मकपद्यम् हे स्तोकोऽल्पः कृष्णः कृष्णवर्णो यस्येति तथा सर्वेषां संबोधनानामग्रिमेण पश्यतेति क्रियापदेन संबंधः। गोपगणनाक्रमोयम् यथादृष्टिप्राप्तमेव ज्ञेयः। एते दश श्रीकृष्णस्य दशदिक्षु रक्षणार्थं प्रेम्णा वर्तंत इति केचित्संभावयंति दशसंख्याकत्वात्, तत्र स्तोककृष्णादयोऽष्टावष्टदिक्षु देवप्रस्थवरूथौ छत्रधारणवर्त्मशोधनादिनोर्द्ध्वाधोदेशयोर्ज्ञेयो एकादेशो भद्रसेनस्तु गोपसेनाध्यक्षः रामश्च सर्वापेक्षकस्तदानीं दूरे स्थित इति लभ्यते॥ ३१॥ एकांतेन निश्चयेन "निश्चये च रहःस्थाने एकांतमेकनाशने" इति नैरुक्तः। वारयंति अपाकुर्वंति। महान् भागो भाग्यं येषां तान्। तल्लक्षणमाह—परेति। नोऽस्माकम् केचिद्वातादीन् स्वयं सहंते तपस्विनो न त्वन्येषां वारयंति स्निग्धाशया दयालवो वा केचित् परेषां वारयंति स्वयं तु न सहंते किं तु तत्प्रतीकारं कुर्वंते, एते च स्वयं सहमानाः परेषां वारयतीति महाभागत्वम्॥ ३२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अधुना श्रीगोपकन्यासु प्रसादमुक्त्वा ततः तत्प्रस्तावसादृश्यात् यज्ञपत्नीषु प्रसादं वक्तुमारभते, अथ लीलान्तरारम्भे सच निदाघसमय इति विज्ञेयं निदाघार्कातपे तिग्म इति वक्ष्यमाणात् अत एव सहाग्रजः श्रीवलदेवेन सहितः गोपकन्यावस्त्रहरणदिने तत्र तेन साहित्याभावात् गोपैः परितो वृत इति प्रागुक्तिर्वक्ष्यमाणलीलायां तेषामपेक्षाविशेषात् देवकीसुत इति पूर्वस्मादेव हेतोः वृन्दावनाद्गतो दूरमिति प्रथमं तावद्गिरिव्रजमयं काम्यकवनं गतः तत एवास्य धातुरागमनवेशो वर्णयिष्यते पश्चात् निदाघतृष्णागमितधेनुजलपायनार्थं व्रजं दक्षिणे विधाय यमुनामागतः तत्र व्रजादागच्छत् मध्याह्ने भोज्यवञ्चनार्थं तत्र श्रीयज्ञपत्नीष्वन्नप्रार्थनारूपकृपार्थमिति ज्ञेयम्॥ २९॥ तत्र वृन्दावनक्रमणप्रकारमाह—निदाघेति सप्तभिः आत्मन इत्युपलक्षणं स्वस्य स्वेषां च छत्रायितान् व्रजौकसो व्रजजनवर्त्तिनो द्रुमान् वीक्ष्याह वक्ति स्म॥ ३०॥ अथ प्रार्थयितव्यान् याज्ञिकानप्यनादरणीयतयाऽवज्ञाय सखिमुख्यानभिमुखीकृत्य तान् द्रुमानस्तुवदित्याह—हे स्तोकेति युग्मकेन। सम्बोधनक्रमोयं यथा दृष्टिप्राप्तमेव ज्ञेयः एते दश श्रीकृष्णस्य दशदिक्ष्ववेक्षणार्थं प्रेम्णा वर्त्तन्त इति केचित् सम्भावयन्ति दशसङ्ख्याकत्वात् तत्र स्तोककृष्णादयोऽष्टावष्टदिक्षु देवप्रस्थवरूथपौ छत्रधारणवर्त्मशोधनादिनोर्द्ध्वाधोदेशयोः एकादशो भद्रसेनस्तु गोपसेनाध्यक्षः सर्वापेक्षकस्तदानीं दूरे स्थित इति लक्ष्यते॥ ३१॥ महान् भागो भाग्यं येषां तान् तल्लक्षणमाह—परेति। नोऽस्माकं केचिद्वातादीन् स्वयं सहन्ते तपस्विनः नत्वन्येषां वारयन्ति स्निग्धाश्च दयालवो वा केचित् परेषां वारयन्ति स्वयन्तु न सहन्ते किन्तु तत्प्रतीकारं कुर्वते एते च स्वयं सहमानाः परेषां वारयन्तीति महाभागत्वम्॥ ३२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधुना श्रीगोपकन्यासु प्रसादमिव यज्ञ-पत्नीषु प्रसादं प्रस्तावाद्वक्तुं तत्प्रसंगमारभते—अथेति। कालान्तरे कदाचित् ग्रीष्मसमय इत्यर्थः, (भा. १०।२२।३०) 'निदाघार्कातपे तिग्म' इति वक्ष्यमाणत्वात्, अतएव सहाग्रजः श्रीवलदेवेन सहितः, गोपकन्यावस्त्रापहरणदिने तत्र तेन साहित्याभावात्, गोपैः परितो वृत इति प्रागुक्तिर्वक्ष्यमाणलीलायां तेषामपेक्षाविशेषात्। देवक्याः सुत इति यज्ञपत्नीषु माथुरिषु तथैव प्रतीतेः, अतस्तासां भावेनाकर्षणात् तद्गृहान्तिके यातुं वृन्दावनाद् दूरं गत इत्यर्थः, यतो भगवान् परमदयालुः। यद्वा, देवकी श्रीयशोदेति व्याख्यातमेव, ततश्च दूरे गमनं श्रीयज्ञपत्न्यनुग्रहार्थमेव। श्रीस्वामिपादव्याख्यामते च तदानीं श्रीवलदेवस्य तत्रागमतस्यायोग्यत्वादसौ पश्चादागत्य मिलित इति पोषे कदाचिद्वृष्टीच्छया निदाघार्कस्येवण्तप इति ज्ञेयम्॥ २९॥ कथं दूरं गतस्तदाह—निदाघेति सप्तभिः। आत्मनः श्रीभगवतो व्रजौकसो गोपानाह, प्रायो वन्यानां गोपानामेव ग्रहैर्हिताचरणात्, तथा सख्येन तेष्वेव प्रियाप्रिय-वृत्तस्य वर्ण्यत्वाच्च, यद्वा, आत्मनो ये व्रजौकसो गोपगवादयस्तान् प्रति आतपत्रायितान्; यद्वा, आत्मनः प्रति बहुत्वं परमप्रियतया भेदाभावेन स्वीकृतानां गोपानामात्मरूपत्वात्॥ ३०॥ तत्र मुख्यतमान्

प्रत्येकं प्रीत्या सम्बोधयति—हे स्तोकेति ! श्रीदाम्नो मुख्यत्वेऽपि स्तोककृष्णस्यादौ सम्बोधनं सनामत्वेन मित्रत्वात्, सम्मुखे वर्त्तमानत्वाच्च; एते दश श्रीकृष्णस्य दशदिक्ष्ववेक्षणार्थं श्रीयशोदया राज्ञ्या नियुक्ताः, श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डोक्तानुसारेण ज्ञेयाः। तत्र स्तोककृष्णादयश्चत्वारः क्रमेण पूर्व्वादिचतुर्दिक्षु, अञ्जु नादय ऐशानादिकोणेषु, देवप्रस्थ-वरूथपौ छत्र-धारण-वर्त्मशोधनादिनो-दूर्ध्वाधोदेशयोः, एकादशो भद्रसेनस्तु गोपसेनाध्यक्षोऽभितो बहिरवेक्षक इति तस्येतस्ततः सदा परिभ्रमणेन तदानीं तदन्तिकवृत्तेस्तद-सम्बोधनम् ॥ ३१ ॥ महान् भागो भाग्यम्, यद्वा, सर्व्वजीवप्राप्येषु त्वंशो येषां तान्; तल्लक्षणमाह—परेति। नोऽस्माकं गोपानां सर्वप्राणिनां वा; केचित् वातादीन् स्वयं सहन्ते तपस्विनः, न त्वन्येषां वारयन्ति, स्निग्धाश्च दयालवो वा, केचित् परेषां वारयन्ति, स्वयन्तु न सहन्ते किन्तु तत्प्रतीकारं कुर्वन्ति, एते च स्वयं सहमानाः परेषां वारयतीति महाभागत्वम् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चरित्रान्तरमाह-अथेति। कदाचिद्वृन्दावनाद्दूरं गतः साग्रजो गाश्चारयन् ॥२९॥ तीक्ष्णे निदाघार्कस्य ग्रैष्मार्कस्यातपे आत्मनः स्वस्य स्वाभिः छायाभिरातपत्रवदाचरितान् द्रुमानवलोक्य व्रजौकसो गोपानाह ॥ ३० ॥ तदेवाह—हे स्तोककृष्णेत्यादिभिः पञ्चभिः। स्तोककृष्णाख्यः कश्चिद्गोपबालः ॥ ३३ ॥ एतान् द्रुमान् पश्यत कथम्भूतान् परार्थं परोपकारार्थमेवैकान्त नियतं जीवितं येषां तान् तदेवाह-पश्यतेति। स्वयं वातादीन् सहमानाः नोऽस्माकं तान्वारयन्ति हिमानिति पुंस्त्वमार्षम् ॥ ३२ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्रजौकसः आहेत्यन्वयः। तिग्मे तीव्रे ॥ ३०-३१ ॥ परार्थाय परोपकाराय एकान्तेन नियमेन जीवनं स्वायुरक्षणं येषां ते तान् नः वारयन्ति क्षुधितानस्मांस्तर्पयन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यथेति लीलान्तरारम्भे स च निदाघसमय एव ॥ २९ ॥ निदाघार्कातप इति वक्ष्यमाणात् ॥ ३० ॥ अथ गोपैः व्रजौकसो निजसहवासिन इत्यर्थः। अथ पूर्ववद्विनोदवाक्यमेवेदं श्रीभगवदीयत्वेन परमार्थतामपि वहतीति भावः। अतो विनोदेनैव प्रत्येकं मुख्यत्वात् सम्बोधयति हे स्तोकेति ॥ ३१-३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ वस्त्रहरणलीलया कुमारीभ्यः प्रसादं कृत्वा पश्चाद्वयस्यैः सह सङ्गतो बभूवेति दर्शयति-अत्र गोपैः परिवृत इत्यादि। अथ वस्त्राहरणलीलानन्तरं वृन्दावनाद्दूरं गतः सन् गोपैः परिवृतः सहाग्रजश्च सन् गाश्चारयन् द्रुमान् वीक्ष्य आहेति परेणान्वयः। अतो (८ म. श्लो०) "वयस्यैरगतस्तत्र" इत्यत्र यथाश्रुतं व्याख्यानमसङ्गतम्। ननु गोपैः परिवृतो भगवान्, अत वस्त्राहरणानन्तरं गाश्चारयन्नित्येवान्वयः कार्यः? नैवम् तदा सहाग्रज इत्यसङ्गतम्, 'एकयोविनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः' इति न्यायात्। तथा सत्यतीवानौचित्यम्। अत एकाकी सन् तत्रागत इत्येव मन्तव्यम् ॥ २९ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अथ गोपैरित्यादि। अथानन्तरं वृन्दावनात् दूरं गतः सन् गोपैः सह परिवृतः सहाग्रजो गाश्चारयन् द्रुमान् वीक्ष्य आहेति परेणान्वयः। एतेन गोप-परिवृतत्वं सहाग्रजत्वञ्च वस्त्राहरणात् पश्चात्तनमेव। ननु गोपैः परिवृतो भगवान् अथ गाश्चारयन्नित्यादिरन्वयः कार्यः नैवम्, सहाग्रज इत्यासङ्गः, तेन हि पूर्वं भवन्मतेऽप्यग्रज आसीत्, नाप्यधुना क्व आगतः। अतोऽग्रजेन वयस्यबालकैश्च गाश्चारयितुं गताः, भगवान् एक एव तत्कर्म सिद्धये गत इति मन्तव्यम्। अतएव (८ म. श्लो०) "वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तत्कर्मसिद्धये" इति पूर्वं तथा व्याख्यातम् ॥ २९-३८ ॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

गोपकन्याप्रसादस्य प्रस्तुत्यारोहितः स्मृतौ। यज्ञपत्नीप्रसादोऽतस्तं विवक्षुरभून्मुनिः ॥

अथेति समयान्तरव्यञ्जकं कदाचिन्निदाघार्कावित्यर्थः ॥ २९ ॥ वरमुदारवृक्षयोनावपि जन्म सद्भिः प्रार्थ्यं न तु कृपणत्वविप्रजातावितिमर्थ ज्ञापयितुं वृक्षान् स्तौति, सखीन् सम्बोध्य पश्यतेति चतुर्भिः। स्तोककृष्णादयोऽष्टावष्टदिक्षु कृष्णस्य रक्षणकर्मसु स्थिताः देवप्रस्थवरूथपौ छत्रधारकवर्त्मशोधकावित्यूर्ध्वाधो देशकृत्ययोः स्थितौ एकादशो भद्रसेनस्तु गोपसेनाध्यक्षः सर्वावेक्षकः ॥ ३०-३१ ॥ तदानीं दूरेस्थित इति लक्ष्यते ये वातवर्षादीन् स्वयं सहमानान् अस्माकं वारयन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

व्रजौकसः तोककृष्णादीनाह ॥ २९–३० ॥ परहितकारिणो द्रुमा अपि धन्या इति तानभिनन्दति–हे स्तोककृष्णेति चतुर्भिः। परार्थमेवैकान्तं नियतं जीवितं येषां तान् एतान् द्रुमान् हे स्तोककृष्णादयः पश्यत परार्थैकान्तजीवितत्वमेवाह—वातादीन्स्वयं सहन्तो नोऽस्माकं वारयन्ति ॥ ३१–३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

व्रजकन्या प्रसादप्रसङ्गेन हृद्यारोपितं यज्ञपत्नीप्रसादं विवक्षुर्निराह—अथेति समयान्तरे ग्रीष्मर्त्ताविल्यर्थः ॥२९–३०॥ पशुघ्न कर्मठ विप्रेभ्यो अमी वृक्षाः परोपकारत्वाच्छ्रेष्ठा इति भावेन तान् स्तोकं हे स्तोक कृष्णेत्यादिना सखीन् सम्बोधयति अष्टावमी महावीरा राजपुत्रस्य कृष्णस्य रक्षणायाष्टासु दिक्षु तिष्ठन्ति देवप्रस्थवरूपा तु छत्रधारणमार्गशोधनादिनोर्ध्वाधोदिशोः भद्रसेनस्त्वेकादशः सर्वगोपसेनापतिः सर्वावेक्षी विदूरे स्थित इति बोध्यम् ॥३१॥ ये वातादीन् स्वयं सहन्तोऽस्माकं तान् वारयन्ति ॥३२॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

वृन्दावनात्तत्सन्त्यज्य ॥२९॥ तिग्मे तीक्ष्णे आत्मनः स्वान् आतपत्रायितान् छत्रायितान्वीक्ष्य तान्द्रुमान्वीक्ष्य व्रजौकसो गोपान्प्रति आह ॥ ३० ॥ कृष्ण तन्नामन् ॥ ३१ ॥ परेषामर्थो एवैकान्तं नियतं यथा तथा जीवितं शीलं येषां ते परार्थैकान्तजीविनः। णि-निरयम्। वातवर्षातपहिमानातपश्च हिमं च ते वर्षेण सहिते आतपहिमे येषां ते च ते वाताश्च वातवर्षातपहिमान्। अनेन हिमशब्दस्य नपुंकत्वाद्धिमानिति कथमिति शङ्कापरासोऽवसेयः। सहन्तः। धात्वन्तरस्य चुरादौ पठितस्य परस्मैपदत्वात्स एवायं नागः सहति कलमेभ्यः परिभवमित्यादेः। तान्वतादीन्नो वारयन्ति स्वयं साढ्वाऽस्मान्रक्षन्तीति भावः ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

अथ ज्ञानं निरूप्यतेन्यथा गोपालानामनर्थपर्यवसानं स्यात् तैर्यद्यन्यार्थता बुध्येत तदा क्रमेण भगवदर्थमेव सर्वमिति ज्ञातं भवेदतस्तेभ्यः परार्थतां विद्यां प्रथमपर्वरूपां भगवान् बोधयितुं स्थानान्तरे जगमेत्याहाथेतिदशभिः अथ भिन्नप्रक्रमेण गोपैर्वृतो भगवान् भक्तोद्धारार्थं प्रवृत्तो वृन्दावनाद् दूरं गतो वृन्दावनं परित्यज्याग्रे गतो वृन्दावनस्य तु स्त्रीप्राधान्याज् ज्ञानं न भविष्यतीति, तत्र गतानां ज्ञानार्थं प्रथमतो धर्ममाह चारयन् गा इति, पूर्वं न तु गोभिः सहितो नापि गोपालसहितो नापि बलभद्रसहितः पश्चादेव च ते मिलितास्तस्मिन्नेवावसरे तदुक्त्वा ज्ञापितमथ गोपैरिति ॥ २९½ ॥ तदा कियद् दूरे गत्वा श्रान्तेषु सर्वेषु क्वचिच्छायामुपविष्टेषूपदेशार्थं किञ्चिदाहेत्याह निदाघेति, निदाघकाले योर्कस्तस्यातपे तिग्मेपि स्वाभिच्छायाभिरात्मनः स्वस्यातपत्रायितान् श्वेतच्छत्राकारेण समागच्छतः पूर्ववर्णितान् वृक्षान् वीक्ष्य व्रजौकसो गोपान् प्रत्याह व्रजजातापेक्षया वनजाता एव वृक्षाः समीचीना इति, पञ्चपर्वा विद्यां बोधयिष्यति वृक्षदृष्टान्तेन, वृक्षेषु चतस्रो विद्याभेदा गोपेष्वेका, यथा ता अपि चतस्रो भवन्ति तदर्थमुपदेशः, यद्यपीदानीं न निदाघकालो नाप्येत आतपत्रायिताः किन्तु तेषां पूर्वावस्थामेव स्मृत्वा साम्प्रतं तान् द्रुमान् दृष्ट्वाह ॥ ३०½ ॥ अत्रैकादशमुख्याधिकारिणो गोपा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृरूपास्ते चेत् परार्थास्तदा सर्वं सिद्धमिति तान् सम्बोधयति हे कृष्णेति, भगवतो नामकरणे अन्या अपि गोपिकाः स्वपुत्रनाम तथा कृतवत्यः, स्तोको द्वितीयः, अंसुरपरः, श्रीदामा सुबलोर्जुनो विशाल ऋषभस्तेजस्वी देवप्रस्थो वरुथपथ, वरुथपो मनसस्तन्निकटस्थानि निकटस्थस्यैव, कृष्णो वाचः, स्तोकी रसस्य, एकत्रोभयसत्त्वात्, पुनरन्येषां भिन्नतया सम्बोधनं, अंसुर्घ्राणस्य, श्रीदामा चक्षुषः, सुबलो बाह्वोः, अर्जुनः श्रोत्रयोः, विशालस्त्वचः, ऋषभः पादयोः, अवशिष्टस्तेजस्वी पाकज्ञापकत्वात्, एतेषां भगवता सह संव्यवहार इति महत् पर्व सिद्धं तत् सम्बोधनेन निरूपितम् ॥ ३१½ ॥ द्वितीयमाह पश्यतेति, धर्मः प्रथमं सर्वपरित्यागेन परार्थता द्वितीयं सर्वत्र भगवद्बुद्धिस्तृतीयं तस्य ज्ञापिका सर्वसेवा, अकामश्चतुर्थो भगवदीयानां चेदेतच्चतुष्टयं तदा कृतार्थता भवतीति, प्रथमो यादृशो धर्मोपेक्ष्यते तादृशमाह पश्यतेति, आदौ धर्मसन्देहे धर्मात्मानो द्रष्टव्या धर्मो हि भाग्यवतामेव फलति, अन्यथा विघ्नः स्यात्, भाग्यं च महतः, तस्य ज्ञापकं वचः, सर्वैरुच्यमानं, तदाह माहाभागानिति, धर्मस्वरूपमाह परार्थेति, जीवनं तदुपकरणं च स्वस्य तत्र परार्थमेव चेज् जीवितं तदान्ते धर्मो निरूपितः स हि मुख्योऽन्ते या मतिः सा गतिरितिसामान्यपक्षं व्यावर्तयति, परार्थमेवैकान्ततो जीवनं वर्तते येषामिति, एकान्तजीवनत्वान् न स्वार्थपरार्थत्वरूपमध्यमत्वं, स्वार्थं स्वधर्मं, एवं स्वरूपतोन्ततो धर्मं निरूप्य बाह्यधर्ममाह वातवर्षेति, जीवनेन विवर्धते शरीर सा वृद्धिः परेच्छयैव, यदि च परो वृद्धिं न मन्यते तावतैव दारुणा कार्यमिच्छति, एवं जीवनं चेत् परार्थता भवति तथा धर्मोपि यदि परार्थ एव भवेत्, केवलश्चेद्धर्मः, उभयार्थश्चेत् काम्यो मध्यमो यथोपवाताः विद्यमानमन्नमन्येभ्यो दत्वा तदभावे रन्तिदेवस्येव ते मोक्षहेतवः, स्वतोप्यभावेन्यतः पोषणे तेषां दुःखाभावाय मध्यमः, तदुभयाभावे क्लेशात्मकः, निर्हेतुश्चेद्धर्मोपि महान्, सकामश्चेन् मध्यमः, अन्यापकारी स्वधमाधमः, तत्रोत्तममाह, वातवर्षा आतपो हिमश्च त्रयः कालगुणाः, आद्यःगुणो सहकारी, एतान् सहन्तोन्येषामेतान् वारयन्ति तत्रापि नोस्माकं, अनेन प्रमाणं प्रत्युपकाराभावश्चोक्तः, बाह्यमेतदेव तपः, अनशनादिकं तु प्रायश्चित्तमिति न धर्मत्वेन परिगणितं, अन्ये सर्वे भेदा हीनाः ॥ ३२½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्रैवाग्रिमप्रकरणार्थनिरूपणे, अन्यथा गोपालानामनर्थपर्यवसानं स्यादिति। अत्राथ गोपैरित्यनेनोक्ता गोपाला उच्यन्ते, न तु पूर्वोक्ताः, विनियुक्तत्वात्। गोपपदेनैव च तद्व्यावृत्तिः, तेषु तदभावात्। अत एव मूले तेषु वयस्यत्वादिकमेवोक्तम्, न तु गोपत्वमपि। स्तोकादयो यदि व्रजस्थं वस्तुमात्रं न केवलं भगवदर्थं किन्त्वन्यार्थमपीनि जानीयुस्तदा पूर्ववृत्तान्तं श्रुत्वा प्रभौ दोषारोप कुर्युः। स एव चानर्थरूपः। यदि तदर्थमेव सर्वमिति जानीयुस्तदोक्तवैपरीत्यमित्यर्थः। अत्रैव वृन्दावनाद् गतो दूरमि- त्यस्य विवरणे, वृन्दावनस्य स्त्रीप्राधान्यादित्यादि। अत्रोपक्रान्तत्वात् परार्थताज्ञानमेव, ज्ञानपदेनोच्यते। भगवदीयव्रजरक्षणं तु रसभावभरेणास्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमिति ज्ञानं दृढम्। अत एव वक्ष्यन्ति च 'व्यक्तं भवन् व्रजजनार्तिहरोऽभिजातः' इति। एवं सति तद्वने तद्विपरीतज्ञानं न सम्भवतीत्यर्थः। भगवदतिरिक्त वस्तुनि तूपेक्षेति तस्मिन् तदर्थत्वात्तदर्थत्वज्ञाने अपि न सम्भव इति भावः॥ २९॥ निदाघार्कातप इत्यत्र, व्रजजातापेक्षयेति। भगवदन्तिकागमने निवारकत्वाद् वृक्षाणां चैतद्रमणानुकूलतास- थात्वमिति भावः। यद्वा, व्रजजाता वृक्षा एवात्रोच्यन्ते। तेषु लीलाविशेषानुपयोगात्तथात्वम्॥ ३०॥ परार्थैकान्तजीवनानित्यत्र, परार्थजीवनानित्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि यदेकान्तपदयोः कथनं तत्तात्पर्यमाहुः तदा अन्ते धर्म इत्यादि। जीवनस्य परार्थ- साधनत्वेन तत्पूर्वकालीनस्य तस्य तथात्वं वाच्यम्। तथाचोत्तररक्षणे जायमानः परार्थः पूर्वक्षणीयजीवनस्यान्ते भवति। स च प्रासङ्गिकस्तथा, किन्तूद्देश्यत्वेन मुख्यः। एतदर्थमेकपदम्। एतदेवोक्तमन्ते या मतिरित्यादिना। एवं सति परार्थ एवैको मुख्योऽन्य यस्येति मूलार्थः सम्पद्यते। अस्मिन्नेव पक्षे योजनान्तरमभ्याहुः एकान्तत इति। यथोपवासा इत्यादि। एतस्यैव विवरण विद्यमानमित्यादिना क्रियते। तथाहि। तद्दत्वा स्थितस्य रन्तिदेवस्य तदभावे अन्नाभावे सति ये जाता उपवासास्ते तस्य मोक्ष- हेतवो जाता इत्यर्थः। तथा चैतादृशास्त उत्तमा इति भावः। स्वत इति। स्वत एवान्नाभावे सति न तु दानप्रयुक्त इत्यर्थः। ईदृ- स्यान्यतोऽन्नप्राप्तिसम्भवेपि स्वस्यापेक्षासत्त्वेपि तत्पीडाभावाय तद्दत्तान्नाग्रहणेन य उपवासः स मध्यम इत्यर्थः। तदुभयाभाव इति। स्वतः परतश्चान्नाभावे सत्यन्नकामनायां सत्यां य उपवासः स तथेत्यर्थः। निर्हेतुश्चेदिति। ईदृशोऽपि चेदनेनोपवासेनाभीष्टं स्वतं वा करिष्य इति संकल्पं न कुर्यात्तदा स उत्तमः। तस्मिन्सति मध्यमः। अग्रं स्पष्टम्॥ वालवर्षातपहिमानित्यत्र, आद्यश्चतुर्णामिति। चतुर्णां मध्य आद्यत्रयाणां सहकारीत्यर्थः। यद्वा। मन्दोऽनिलः स्वसजातीयानेकसहकारेण महत्कार्यमपि करोतीत्याशयेनेदमुक्तम्। तथा च यथाश्रुत एव ग्रन्थो बोद्धव्यः॥ ३२॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अथेत्यस्याभासे प्रथमपर्वरूपामिति 'विद्यापञ्चकमत्रापी'त्यत्र टिप्पण्यामुक्तं यत् प्रथमं पर्व तद्रूपामित्यर्थः॥ २९॥ हे कृष्णेत्यस्याभासे इन्द्रियाधिष्ठातृरूपा इति इन्द्रियाधिष्ठातारो रूपेषु येषामित्यर्थः, व्याख्याने, पाकज्ञापकत्वादिति अग्न्याद्यु- पायुकार्यं तैरन्तः खेदपाको जायते तेजसाप्योदनादिपाको जायते इति भावः॥ ३१॥ पश्यतेत्यत्र प्रथमं पर्वेति वृक्षेषु चतुष्टयमध्ये प्रथममित्यर्थः, वातवर्षेत्यत्र पूर्वार्धे आन्तरो धर्मो निरूपित इत्यान्तरमेव जीवनं निरूपितं, अत्र बाह्यो धर्मो निरूपणीय इति जीवनमपि बाह्यं निरूपणीयमिति तमाहुः जीवनेन हीति, वृद्धिर्बाह्यं जीवनमितिभावः, न मन्यते इत्यत्र तदेतिशेषः, वृद्धि तेषां वातादिसहनेन तद्वारणं न मन्यते तदा तावतैव कार्यमिच्छति तदा तथैव भवतीशेषः, तथेति यदीत्यस्यानन्तरं "भवेद" "तदे"तिपदद्वयं शेषः, यावदन्नदानादिकं परो मन्यते तावच् चेद् भवेत् तदा परार्थ एव भवेदित्यर्थः, केवलश्चेदिति स्वार्थं एव चेदित्यर्थः, निर्हेतुश्चेदित्यादिना अधर्मेपि त्रैविध्यं विवृतम्॥ ३२॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अथ गोपैः परिवृत इत्यस्याभासे विद्यां प्रथमपर्वरूपामिति "वैराग्यं साङ्ख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति- यथा विद्वान् हरिं विशेदितिवाक्ये वैराग्यं प्रथममुक्तः प्रथमपर्वरूपामित्यस्य वैराग्यरूपामित्यर्थो ज्ञेयः, वैराग्ये जाते परोपकारा- र्थता फलिष्यति॥ २९॥ निदाघार्कातप इत्यत्र व्रजजातापेक्षया वनजाता एवेत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां पक्षद्वयेन स्फुटमुक्तः॥ ३०॥ हे कृष्ण स्तोकेत्यस्याभासे अत्रैकादश मुख्याधिकारिणो गोपा इति कृष्णसज्ञकगोपादयो वरूथपान्ता एकादशेत्यर्थः, इन्द्रिया- धिष्ठातृरूपा इति निरोध्यभक्तानामेकादशेन्द्रियाणामधिष्ठातृरूपा इत्यर्थः, 'सुमावुक्तारितं सर्वं वैकुण्ठमिति कृष्णोपनिषद्- कृष्णावतारपरिकरस्य वैकुण्ठस्थत्वोक्तेरेते सखायो वैकुण्ठवासिनो व्रजस्थनिरोध्यभक्तानामेकादशेन्द्रियाधिष्ठातारो भगवता सहैवाव- तीर्णा इति बोध्यं, व्रजध्यानामलौकिकत्वेन प्रपञ्चातीतत्वात् तदिन्द्रियाधिष्ठातृता प्रपञ्चातीतवैकुण्ठस्थपरिकरभूतानामेवोचितेति॥ ३१॥ परार्थैकान्तजीवनानित्यत्र अन्ते धर्म इत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, वातवर्षेत्यत्र सा वृद्धिः परेच्छयैव यदि च परो वृद्धिं न मन्यते तावतैव दारुणा कार्यमिच्छतीति सा वृक्षाणां वृद्धिः परेच्छयैव परस्य रथकारादेरिच्छया भवति, तदेव स्पष्टयति यदीत्यादिना, परः काष्ठाद्याकाङ्क्षी वृद्धिं न मन्यते नेच्छति किन्तु सूक्ष्मस्यैव वृक्षस्य छेदनमिच्छति तदा वृद्धिर्न भवत्यतो वृक्षवृद्धिः परेच्छयैवेत्यथः, उभयार्थश्चेति स्वार्थत्वपरार्थत्वोभयविशिष्टश्चेदित्यर्थः, निर्हेतुश्चेदिति एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः,

आद्यश्चतुर्णामिति चतुर्णां मध्ये इति टिप्पण्यां, चतुर्णां वातवर्षातपहिमानां मध्ये आद्यो वातः वर्षातपहिमानां सहकारी अतो वर्षापि वातेन सहकृता पीडयति, एवं ग्रीष्मे आतपः शीतकाले हिमं चेति वातस्य सहकारित्वम् ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अथेति कालान्तरं लीलान्तरं च ज्ञापयति । न चेयं तद्दिनलीला, 'निदाघार्कातपे तिग्मे' इति ज्ञापकात् पूर्वं हेमन्तस्योक्तत्वात् ॥ गोपैः परिवृतः सहाग्रजश्च भगवान् देवकीसुतः कृष्णो गाश्चारयन् वृन्दावनाद्दूरं गत इत्यन्वयः ॥ २९ ॥ तिग्मे तीक्ष्णे निदाघार्कातपे स्वाभिः छायाभिरात्मनः स्वस्य आतपत्रायितान् छत्राकारेण स्थितान् वृक्षान् वीक्ष्य भगवान् व्रजौकसो गोपान् प्रत्याहेत्यन्वयः ॥ ३० ॥ तत्र गोपांस्तत्तन्नाम्ना सम्बोधयति—'हे स्तोक कृष्ण !' इत्यादिना ॥ ३१ ॥ एतान् महाभागान् वृक्षान् पश्यत । 'कथमेषां महाभागत्वम् ? तत्राह—परार्थमेव निश्चयेन जीवितं येषां तान् । एतदेव स्पष्टयति—वातेति । स्वयं वातादीन् सहन्तः सहमाना अपि नोऽस्माकं वातादीन वारयन्तीति ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अथेति ॥ अथ हेमन्तादिऋतुत्रयात्परं ग्रीष्मे आगते गोपैः परिवृतः सहाग्रजश्च भगवान् देवकीसुतः कृष्णो गाश्चारयन् वृन्दावनाद्दूरङ्गतः काम्यकवने गाश्चारयित्वा गाश्चारयित्वा गवां जलपानार्थं व्रजोत्तरभागे यमुनां गतः । तच्च मध्याह्ने व्रजादानेयभोज्यवस्त्वन्नार्थम् तदपि यज्ञपत्नीनामनुग्रहार्थम् ॥२९॥ निदाघेति ॥ तिग्मे अत्युष्णे निदाघार्कस्यातपे स्वाभिः छायाभिरात्मनः स्वस्य आतपत्रायितान् छत्राकारेण स्थितान् वृक्षान् वीक्ष्य भगवान् व्रजौकसो गोपान् प्रत्याह स्म ॥ ३० ॥ हे स्तोकेति ॥ हे स्तोक कृष्ण इत्यादि दश संबोधनानि । अत्र स्तोककृष्णादयोऽष्टावष्टसु दिक्षु कृष्णरक्षणे स्थिताः । देवप्रस्थवरूथपौ छत्रधारकवर्त्मशोधकौ एकादशः भद्रसेनस्तु गोपसेनाध्यक्षः सर्वावेक्षकरतदा दूरे स्थित इति ॥ ३१ ॥ वक्ष्यमाणानां यज्ञस्थविप्राणां दौष्ट्यमभिप्रेत्य वृक्षान् स्तौति—पश्यतेति ॥ परार्थमेवैकान्तेन निश्चयेन जीवितं येषां तान् एतान् महाभागान् वृक्षान् यूयं पश्यत एते स्वयं वातवर्षातपहिमान् । पुंस्त्वमार्षम् । सहन्तोऽपि नोऽस्माकं वातादीन् वारयन्ति ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तिग्मे तीक्ष्णे निदाघस्य आगामिग्रीष्मसूर्यतापे आत्मनः स्वस्य छत्रवदाचरितान् वीक्ष्य गोपानाह ॥ ३०–३१ ॥ वातवर्षातपहिमाम् स्वयं सहंतो नोऽस्माकं वातादीन्निवारयंति तानेतान् परार्थमेव एकांतेनावश्यकतया जीवनं येषां तान् द्रुमान् ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चरितान्तरमाह ॥ अथेति ॥ अथ कदाचित्, सहाग्रजो बलभद्रसहितः, गोपैः परिवृतः संवेष्टितः देवकीसुतः भगवान् कृष्णः, गाः चारयन् सन्, वृन्दावनात् दूरं गतः ॥ २९ ॥ निदाघेति । तिग्मे तीक्ष्णे निदाघार्कस्य ग्रैष्मार्कस्यातपस्तस्मिन्, आत्मनः स्वस्य, स्वाभिः छायाभिः, आतपत्रायितान् आतपत्रवदाचरितान्, द्रुमांस्तरून्, वीक्ष्यावलोक्य, व्रजौकसो गोपान् प्रति, कृष्णः आह ॥ ३० ॥ यदाह तदेवाह पञ्चभिः । हे स्तोककृष्णेति । हे स्तोककृष्ण, स्तोककृष्णाख्यः कश्चिद्गोपालबालकः । हे अंशो, हे श्रीदामन्, हे सुबल, हे अर्जुन, हे विशाल, हे ऋषभ, हे तेजस्विन्, हे देवप्रस्थ, हे वरूथप ॥३१॥ पश्यतेति। परार्थं परोपकारार्थमेवैकान्तं नियतं जीवितं येषां तान्, अत एव महाभागान् एतान्, द्रुमान् पश्यत । स्वयं वातास्तीव्रवायवश्च वर्षं धारासंपातेन मेघप्रवर्षणं च आतपश्च हिमश्च तान्, सहन्तः सन्तः, नोऽस्माकं, तान् वातादीन्, वारयन्ति । हिमान्निति पुंस्त्वमार्षम् ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अथ गोपैरिति : १०.२२.२९.

भवेयुर्ये येऽस्यां भुवि किल परानन्दफलदव्रतास्तेऽनुग्राह्या स्वयमभिमुखे नैव हि मया ।
इतीव श्रीजानिर्युवतिविहितानुग्रहविधिर्यमौ दूरं तादृक् तरुवरकृपानुग्रहकृते ॥ ८१ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! अब भगवान की और लीला सुनिए ! एक दिन श्रीदेवकीनन्दनजी, बड़े भैया श्रीबलराम और गोपवृन्द के साथ गौओं को चराते हुए श्रीवृन्दावन से दूर निकल गए ॥ २९ ॥ उष्णकाल था, सूर्य की किरण ज्यादातर तीव्र हो रही थी । उस अवसर सघन वनराजि राजीवलोचन भगवान श्रीकृष्ण के उपर शीतल छाया से शैत्य प्रदान कर रही थी । उन तरुवरों को देख भगवान श्रीकृष्ण ने व्रजकुमारों से कहा ॥ ३० ॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे अंसु ! हे श्रीदामा ! हे सुबल ! हे अर्जुन ! हे विशाल !

हे ऋषभ ! हे तेजस्वी ! हे देवप्रस्थ हे वरूथप ! हे मित्रो ! सुनो !...भगवान् के ये ग्यारह सखा हैं। ये सब भगवान् के सेवक और इन्द्रियों के अधिष्ठाता है। कृष्ण वाणी का, स्तोक रस का, अंसु घ्राण का, श्रीदामा नेत्र का, सबल भुजाओं का, अर्जुन कानो का, विशाल त्वचा का, ऋषभ पैरों का, तेजस्वी पचाने का, देवप्रस्थ उपस्थ का और वरूथप मन का, ये ग्यारह भगवान के सेवक थे ॥ ३१ ॥ प्रिय मित्रो ! इन परम भागवत बड़भागी तरुवरों को देखो, इनका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है। ये स्वयं आँधी, वर्षा, धूप, और पाला-हिम आदि सहकर उन आँधी आदि सब उपद्रवों से हम सबकी रक्षा करते हैं ॥३२॥

अहो एषां वरं जन्म सर्वप्राण्युपजीवनम् । सुजनस्येव येषां वै विमुखा यान्ति नार्थिनः ॥ ३३ ॥

पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः । गन्धनिर्यासभस्मास्थितोक्मैः[1] कामान् वितन्वते ॥ ३४ ॥

एतावज्जन्मसाफल्यं[2] देहिनामिह देहिषु । प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय[3] एवाचरेत् सदा ॥ ३५ ॥

इति प्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः[4] । तरूणां [5]नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अहो ! एषाम्, सर्वप्राणिउपजीवनम् जन्म वरम्, येषाम् अर्थिनः सुजनस्य इव विमुखा न एव यान्ति ॥३३॥ पत्र-पुष्प-फलच्छाया मूल वल्कल दारुभिः, गन्ध निर्यास भस्म अस्थि तोक्मैः कामान् वितन्वते ॥ ३४ ॥ देहिषु प्राणैः अर्थैः धिया च वाचा सदा श्रेयः एव आचरेत्, एतावत् देहिनाम् जन्मसाफल्यम् इति ॥ ३५ ॥ इति प्रवाल स्तवक फल पुष्प दल उत्करैः, नम्रशाखानाम् तरूणाम् मध्येन यमुनाम् गतः ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सुजनस्य कृपालोरर्थिन इव ॥ ३३ ॥ निर्यासो घनरसः । तोक्माः पल्लवाद्यंकुराः ॥३४-३५॥ इत्यभिनंदन् प्रवालादीनां समूहैर्नतशाखानां तरूणां मध्येन यमुनां प्राप्तः ॥ ३६-३७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अर्थिनः कार्यार्थिनः ॥ ३३ ॥ "तोक्मं कर्णमले पुंसि हरिते च यवे हये । स्वरेंकुरे" इति धरणिः ॥३४॥ यत्सदा देहिषु श्रेयआचरणमेतावदिति संबंधः । श्रेयः शुभं तस्याचरणम् "श्रेयो मुक्तौ शुभे धर्मेतिप्रशस्ते तु वाच्यवत्" इति मेदिनी । प्राणैरिति । प्राणानादरेण कर्मभिरित्यर्थः । धिया सदुपायचिंतनादिना, वाचा उपदेशादिरूपया एषां समुच्चयःशक्त्यभावे परपरोपादानं च ज्ञेयम् ॥ ३६ ॥ उत्करः समूहः "समूहे ऊर्ध्वहस्ते च देशे करविवर्जिते । उत्करः शौर्यसंपन्न उदारे" इति धरणिः । स्तवकाः पुष्पगुच्छाः ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

न च केवलं वातादिदुःखात् रक्षन्ति सर्वार्थं च सम्पादयन्तीत्याह—अहो इति द्वाभ्याम् । अहो इति विस्मये हर्षे वा वरं सर्वतः श्रेष्ठं कुतः सर्वेषां प्राणिनाम् उपजीवनं जीविनाहेतुः जीविकामिति पाठे स एवार्थः हेतुणिजन्ताण्णिनिः तदेवाह–येषां येभ्यो विमुखा न यान्ति जनाः वै प्रसिद्धौ ॥ ३३ ॥ तदेवाह—पत्रेति । गन्धः रसादिभवः अस्थिसारांशः ॥ ३४ ॥ फलितमाह—एताव-दिति । देहिनां विचित्रबहुलदेहभृतां कर्तृभूतानां प्राणादिभिः कृत्वा देहिषु जीवेषु श्रेय आचरणं यत् पाठान्तरे श्रेय एवाचरेत् तदेति यत् "एतावत् जन्मसाफल्यम्" इति तत्र प्राणैरिति प्राणानादरेण कर्मभिरित्यर्थः । धिया सदुपायचिन्तादिना वाचा उपदेशादि-रूपया एषां समुच्चयः शक्त्यभावे परपरोपादानं च ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥ स्तबकाः पुष्पाणां गुच्छकाः मध्येन मध्यवर्त्तिवर्त्मनेत्यर्थः । एवं तिग्मतापाऽप्राप्तिः ॥ ३६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

न च केवलं वातादिदुःखादूरक्षन्ति, सर्व्वार्थञ्च सम्पादयन्तीत्याह–अहो इति द्वाभ्याम् । विस्मये हर्षे वा । वरं सर्व्वतः श्रेष्ठम् । कुतः ? सर्व्वेषां प्राणिनामुपजीवन जीविका यस्मात्तत् । यद्वा, अत्यन्ताभेदविवक्षया उपजीवनमेव तद्रूपमित्यर्थः जीविनामिति पाठेऽपि स एवार्थः । तदेवाह—येषां येभ्यो विमुखा न यान्ति जनाः, वै प्रसिद्धौ, सुजनस्य कृपालोरर्थिन इवेति याचकत्वमेवासौ कामं पूरयेत्, एते च अयाचकानामपीति ध्वनितम् ॥३३॥ तदेवाह–पत्रेति । कामान् इच्छाः, वितन्वते विस्तरेण

१. स्थितोकैः—वीर. ; स्थिभोगैः-गो. प्रे. टी. । २. सामग्र्यं-गो. प्रे टी. । ३. श्रेय आचरणं सदा-वीर. विज । ४. मूल-विज. । ५. रम्य-वीर. ।

परिपूरयन्तीत्यर्थः । मूलमौषधाद्यर्थं जटा, न तु वृक्षाधारः, तं विना नाशापत्तेः, गन्धः रसादिभवः, भस्म दार्व्वादिजमंगारादि, अस्थि सारांशः; यद्वा, दारु इन्धनं स्वयंशुष्यदुपशाखादिभवं वाह्यम्, अस्थि च विदार्य्यमान्तरं काष्ठम्, किंवा स्तम्भाद्यर्थं वृहच्छाखादिकमिति भेदः । तत्र केषाञ्चित् पत्रैः, केषाञ्चित् पुष्पैः, केषाञ्चिदुभयैः, केषाञ्चन त्रैभिः, केषामपि वहुभिः, केषाञ्चिच सर्व्वैरेवेति विवेचनीयम् । यद्वा, पत्रादीनामेकतमेनैव कामान् सर्व्वान् वितन्वते, तेषां कस्मिंश्चित् प्राप्ते सति तत एव सर्व्वाभीष्टसिद्धेः । एवं कल्पद्रुमवन्माहात्म्यं दर्शितम् ॥ ३४ ॥ फलितमाह एतावदिति । देहिनां विचित्रवहुलदेहभूतां प्राणादिभिः कृत्वा देहिषु जीवेषु सदा श्रेयस आचरणं यत्, तत्र प्राणैरिति प्राणानादरेण कर्म्मभिरित्यर्थः । यद्वा, दधीच्यादिवत् प्राणार्पणैरपीत्यर्थः । ततश्च कर्म्मभिरिति स्वत एव सिध्येतद्धिया सदुपायचिन्तनादिना; वाचा उपदेशादिरूपया, एषां समुच्चयेन, किंवा, पूर्व्वपूर्व्वत्राशक्त्या परपरेणेति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥ स्तवकाः पुष्पाणां पत्राणाञ्च गुच्छकाः पुष्पाणि दलानि च केवलानि, मध्येन मध्यवर्त्तिवर्त्मनेत्यर्थः । एवं तिग्मतापप्राप्तिस्ताद्दशवृक्षवर्गतो दूरगतिश्च सूचिता, अतएव क्षुधार्त्ता इति वक्ष्यति; अन्यथा तेषां फलादिनैव क्षुच्छान्तिसम्भवात्, अतएवानुपभोग्यफलादिकैरशोकतरुभिर्मण्डित इति ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अहो सर्वप्राणिन उपजीवयतीति तथा तदेषां द्रुमाणां जन्म वरं मनुष्यजन्मनः श्रेष्ठं किञ्च सुजनस्य वदान्यस्येव येषामर्थिनो विमुखा न यान्ति किन्तु छायाफलादिभिः सत्कृता एव भवन्ति ॥ ३३ ॥ तदेवाह–पत्रेति । पत्रादिभिरर्थिनां कामान्वितन्वते विस्तरेण ददत इत्यर्थः । निर्यासः घनीभूतरसः अस्थीनि शान्ताग्नयोङ्गाराः तोकाः पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३४ ॥ अनुपकारिणां जन्म वृथैवेत्यभिप्रयन्नाह – एतावदिति । इह लोके देहिषु मध्ये देहिनां जन्मनः साफल्यमेतावदेव कियत् प्राणादिभिः श्रेय आचरणं भूतहितकरणमित्येतावत् ॥ ३५ ॥ इतीत्थमभिनन्दन् प्रवालादीनामुत्करैः समूहैरम्याः शाखाः येषां तेषां तरूणां मध्येन यमुनां गताः ।३६।

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सुजनस्य जन्मनः साफल्यमेतावत् अर्थिनो येषां विमुखा न यान्तीति ये अस्थ्यासारेण तोक्मैः अङ्कुरैः साफल्यमेतावत् ॥ ३३–३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

(विजयध्वजरीत्या विंशोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अस्थि सारांशः ॥ ३१–३६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सुजनस्य आतिथेयस्य अर्थिनो वाचकाः ॥ ३३ ॥ निर्यासो निविडरसः अस्थिसारांशः तोक्माः पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३४ ॥ जन्मनः साफल्यमेतावदेव ॥ ३५ ॥ प्रवालादिभिर्नतशाखानाम् ॥ ३६–३८ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । द्वाविंशो दशमेऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सर्वान् प्राणिनः उपजीवयतीति सर्वप्राण्युपजीवनम् परोपकारित्वेन शोभनो जनः सुजनस्तस्यार्थिन इव येषामर्थिनो विमुखा नैव यान्ति ॥ ३३ ॥ पत्रादिभिरर्थिनां कामान् वितन्वते तत्र निर्य्यासोघनरसः अस्थीनि शान्ताग्नयोङ्गारा तोक्माः पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३४ ॥ प्राणादिभिः देहिषु श्रेयस्तद्धितं सदाचरेत् एतावद्देहिनां जन्मसाफल्यम् ॥ ३५ ॥ इत्येवं वदन् प्रवालाद्युत्करैः समूहैर्नम्रशाखानां मध्येन मध्यतः यमुनां गतः प्राप्तः ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

सुजनस्यातिथिभक्तस्य येषां येभ्यः अर्थिनो याचकाः ॥ ३३ ॥ निर्यासः सान्द्रो रसः अस्थिसारांशः तोक्मा पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३४–३५ ॥ जन्मनः साफल्यमेतावदेव प्राणादिभिः कृत्वा देहिषु जीवेषु श्रेय आचरणं यत् स्यात् प्रवालादिभिर्नतशाखानाम् ॥ ३६–३७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

एषां वृक्षाणां सर्वप्राण्युपजीवनमिति जन्म वरं सुजनस्य समीपे आयाता अर्थिनो यथा न विमुखा यान्ति तथाऽर्थिनो विमुखा न यान्ति फलादिभिः प्रीणयन्तीति तात्पर्यम् । व्यः पक्षिणो मुखं येषां ते विमुखाः पक्ष्यादयोऽर्थिनो निवृत्तिमन्तो न यान्ति फलं विना न गच्छन्तीत्यर्थः । विमुखा इत्यस्यावृत्तिर्वा ॥३३॥ तदेव देवो विशदयति ॥ यत्रेत्यादिना । निर्यासो हि द्रढिमरसस्तोकमाण्यङ्कराः

शष्पाणि च। तोक्मानि चेत्यष्टमपञ्चकाष्टमखण्डव्याकृतौ तोकमाण्यङ्कुराः इत्युक्तेः। कामानपेक्षितान्वितन्वते कुर्वन्ति ददतीति यावत् ॥ ३४ ॥ देहिष्वितरेषु प्राणिषु प्राणैस्तद्व्ययेन। दध्यङादिवत् अर्थैं रन्तिदेवादिवद्धिया वाचा विदुरादिवच्छ्रेय आचरणं श्रेयसः करणमिह नृलोके देहिनां जन्मसाफल्यम् ॥ ३५ ॥ इत्येतावदेवेति गोपान्प्रति तद्भाग्यं वदन्भगवान्। प्रवालस्तवकफलमूलदलोत्करैर्नम्रशाखानां तरूणां मध्येन यमुनां गतः सन् ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं धर्मं निरूप्य परोपकारलक्षणमर्थरूपं निरूपयत्यहो इति, एषामेव वरं जन्म देहग्रहणानन्तरजीवितं येषां न स्वार्थापेक्षा, तदुपपादयति सुजनस्येवेतिदृष्टान्तेन, अहो इत्याश्चर्यं, एतादृशमपि जन्म जायत इति, यत्र स्वकार्यं नास्त्येव भगवतोप्यवतारे लीला भवति यद्यपि सा परार्था तथापि लोकप्रसिद्ध्यमतार्थापि भवत्यतो भगवतोप्याश्चर्यं, केवलं कर्मफलभोगे मण्डूकानामिव परार्थता न स्यादत एषामेव जन्म वरं, तत्र हेतुः सर्वप्राणिनामुपजीवनं यस्मिन्निति, ये हि सर्वान् जीवयन्ति ते सफलजीवनाः, तद् येन भवति तत् सुजनेषु प्रसिद्धं यथा सतां गृहे समागतोर्थी याचको विद्यमानेर्थे विमुखो न गच्छति तादृशो दुर्लभ इत्येकवचनं, येषामिति सर्वनाम्ना वृक्षाः सर्वे तद्विधा एवेत्यधिकं निरूपितं, वै निश्चयेन ग्रहीतुं योग्याः, तत्रार्थित्वे सम्पन्ने विमुखा न भवन्ति, अग्रेपि वीनां मुखे न प्रविशन्ति यदि दारूणि भवन्ति नापि कालमुखे पतन्ति यदि वृक्षभिक्षुका एव भवन्ति ॥३३॥ एवमर्थोत्तमतां निरूप्य कामोत्तमतां निरूपयन्नेतेषां कामजनितमपि सर्वं परार्थमेवेत्याह पत्रेति, पत्राणि संयोगिद्रव्याणि यथा केशा दन्ताश्च तत्र पत्राणां सर्वोपयोगो न केशानां कथञ्चन, पुष्पाणि रजोरूपाणि तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि स्त्रीणां तु तासामप्युपकारजनकानि, फलानि पुत्रा इव, तेषामर्थे परमन्यान् घातयन्ति न तु तान् प्रयच्छन्ति, छाया गृहमिव न तत्र सर्वः प्रविशति प्रविष्टोपि तापयुक्तो भवति शीतवद् भयं च प्राप्नोति व्यसनानि च वृष्टिवत्, मूलं तेषां धर्म एव प्राणिनां धर्मे पशवो हन्यन्तेत्र तु मूलमन्येभ्यः, प्रयच्छन्त्यौषधार्थं, तथा वल्कलानि च परिच्छदा घटपटादय इव दारूणि काष्ठानि शुष्काणि, उपभुक्तशेषमपि नान्यस्मा उपकरोति स्त्रीशरीरादिषु तथा प्रसिद्धिः, गन्धश्चन्दनादिषु कीर्तिवत् प्रसिद्धनामानोपि नाम्नापि नोपकुर्वन्ति, निर्यासस्तदन्तःसारो वाक्यरूपः, भस्म तदभाववन् मृतोपि प्रेतवच् श्राद्धादिकारणाद् वापकरोत्येव, इदं तु क्षालनादावुपयुज्यते, अस्थीङ्गालास्ते सर्वत्र तैजसेपूपकुर्वन्ति, एतेषां त्वस्थि न कस्याप्युपकरोति प्रत्युत दोषे निमित्ततामापाद्यते "नारं स्पृष्ट्वेत्यादौ, तोक्माः सूक्ष्मवृक्षाः शाखारूपा दासादिवत्, एवं सर्वैरेव सर्वेषां कामान् वितन्वते ॥ ३४½ ॥ किञ्च न केवलं परार्थं कुर्वन्ति स्वार्थमपि किन्तु परार्थमेवातो मोक्षरूपा विरक्ता ज्ञानिनः पूर्णस्वार्था इति वक्तुमाहैतावदिति, एतावद्धर्मवज् जन्म तत सफलमेव एतावदेव वक्ष्यमाणरूपमेव जन्मसाफल्यं, देहिनां गृहीतदेहानां देहिषु गृहीतदेहेषु देहग्रहणं भगवदिच्छया स्वस्यान्येषामपि तत्र न स्वक्रिया काचित्, ततः संस्कारैः सिद्धे ज्ञाने यदि सर्वतुल्यता तदा न कोपि पुरुषार्थः, भगवान् पुनः सर्वार्थं सर्वं सृष्टवांस्ततः स्वयमपि सर्वं स्वकीयं सर्वार्थं कुर्यात् तदा भगवानिव भवेदित्यवतारतुल्यतया जन्म सफलं भवति नो चेत् प्रवाहतुल्य एव, परार्थमेव स्वमिति स्वार्थता न सम्भवत्येव, तदाह प्राणैरर्थैरिति, एते चत्वारः प्राणादयः सर्वपुरुषार्थोपयोगिनोपि धर्मादिषु प्रत्येकं स्वातन्त्र्येण क्लृप्ताः, अतः प्राणैर्यः, साध्यो धर्मस्तं परार्थमेव कुर्यात्, अर्थाः स्पष्टा एव, बुद्धिः कामरूपा सविषयत्वात्, वागुपदेशरूपा मोक्षदायिनी, एवं सर्वेषां चतुर्भिः सर्वपुरुषार्थाः साधनीयाः, एतदपि सदा, इतीति समाप्तिः, एवमुपदिश्येति नोक्तं पूर्ववत्, अन्यथैवं लीला न स्यात्, यथा भगवतः क्रिया वर्णितैवं वाक्यान्यप्युक्तानि ॥ ३५½ ॥ ततो यत् कृतवांस्तदाह इति प्रवालेति, तेषां परार्थत्वं यत् प्रसिद्धं तत् प्रदर्शयंस्तेषां मध्येन मार्गेण यमुनां गत इतिसम्बन्धः, येषु वृक्षेषु पञ्चाङ्गानामुत्करा वर्तन्ते राशयः प्रवालाः कोमलपत्राणि स्तबकाः पुष्पाणां पत्राणां वा फलानि पुष्पाणि च दलानि च केवलानि तैः पञ्चविधैरपि समूहैर्नम्राः शाखा येषां, एतावदपि दत्वा विनीतास्तेषां मध्ये गमनं तद्धर्मसम्बन्धाय यमुनापि पुनरेतादृशधर्मवतीति तत्र गतः ॥ ३६½ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

विमुखा यान्ति नार्थिन इत्यत्र, अग्रेपि वीना मुखे न प्रविशन्तीत्यादि। अग्रेपि देहत्यागानन्तरमपीत्यर्थः। वीनां पक्षिणां गृध्रादीनां मुखानि भक्षणार्थं भवन्ति येषु ते विमुखास्तादृशाः सन्तो न यान्ति, दारुषु सत्सु देवस्य भस्मीभावत्। विशब्दस्य कालवाचकत्वेपि तथा। वृक्षमात्रभिक्षुकाः परमहंसाः ॥ ३३ ॥ एतावज्जन्मेत्यत्र, यदि सर्वतुल्यतेति। ज्ञाने जातेऽप्यज्ञवत्स्वार्थपरता चेत्तदा तथैत्यर्थः। अत्रैव एतावज्जन्मेत्यस्य विवरणे यथा पुमान् कुण्डलवान् कुण्डली भवति। न हि तत्र कुण्डलातिरिक्तं कुण्डलित्वमस्ति, तस्यैव विशेषणत्वात् तथात्रापीत्याशयेनाहुः एतावदित्यादि ॥ ३५ ॥

इति एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो इत्यत्र तद्येनेति तत् सफलजीवनत्वं येन सर्वोपजीवनेन भवतीत्यर्थः, सर्वनाम्नेति महासञ्ज्ञाकरणे अन्यर्थत्वाशयस्वीकारादितिभावः, ग्रहीतुमिति स्वसाधर्म्येणेतिशेषः ॥ ३३½ ॥ पत्रेत्यत्र शीतवदिति छाया तापशीतवृष्टिनिवारिका भवति, गृहे

तु त्रयमपि जायते तत्र शीतस्थानीयं भयं वृष्टिस्थानीयानि व्यसनानि ॥ ३४ ॥ एतावदित्यत्र सामान्यतो देहिनां मध्ये विशेषतो देहिषु गृहीतदेहेष्वित्यर्थः, विशेषं विवृण्वन्ति देहग्रहणमिति, स्वस्यान्येषां पुत्रादीनां च देहग्रहणं येषां भगवदिच्छयैव न तु स्वक्रियया स्वप्रारब्धेन तादृशेषु देहिविशेषेष्वेतावत्साफल्यमित्यर्थः, तत इति भगवदिच्छया देहग्रहणात् सिद्धेपि ज्ञाने जन्मसाफल्यं वक्ष्यमाणधर्मेणैव भवतीत्यर्थः, ॥ ३५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

विमुखा यान्ति नार्थिन इत्यत्र अग्रेपि वीनां मुख इत्यादेष्टिप्पण्यां स्फुटोर्थः ॥ ३३ ॥ इति प्रवालेत्यत्र पञ्चाङ्गानामिति प्रवालस्तवकफलपुष्पदलानामित्यर्थः ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

परोपकारिणां जन्म श्रेष्ठं भवति, तत्राप्येषां तु जन्म अहो आश्चर्यं वरं श्रेष्ठम् । तत्र हेतुमुपकारमाह–सर्वप्राणिनामुपजीवनं जीविकासाधनमिति । एतदेव सदृष्टान्तमाह—सुजनस्येति । यथा सुजनस्य कृपालोर्गृहे आगता अर्थिनो जना विमुखा निष्फला न यान्ति, तथा येषां वृक्षाणां स्थाने आगता अपि जना विमुखा नैव यान्तीत्यर्थः । 'वै' अवधारणे ॥ ३३ ॥ एतदेव स्पष्टयति–पत्रादिभिर्जनानां कामान् मनोरथान् वितन्वते पूरयन्ति । निर्यासो घनरसः, अस्थि काष्ठम्, तोक्माः पल्लवाङ्कुराः ॥ ३४ ॥ यत् सदा प्राणादिभिर्देहिषु श्रेय एवाचरेत् । एतावतैव इह संसारे देहिनां जन्मन साफल्यमित्यन्वयः ॥ प्राणैः प्राणानामादरणकर्मभिः । अर्थैर्धनादिभिः । धिया हितचिन्तनेन । वाचा हितोपायोपदेशेन ॥ ३५ ॥ इत्येवं वृक्षानभिनन्दन् भगवान् प्रवालादीनामुत्करैः समूहैर्नम्रा शाखा येषां तेषां तरूणां मध्येन मध्यवर्तिमार्गेण यमुनां गतः । तत्र प्रवालाः कोमलपत्राणि, स्तवकाः पुष्पगुच्छाः, दलानि पुष्पपत्राणि ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अहो इति ॥ अहो सर्वप्राणिनामुपजीवनं जीवनसाधनमेषां जन्म वरम् । जीविनामिति पाठेप्यन्तर्णिणिनिः । यथा सुजनस्य कृपालोर्गृहे आगताः अर्थिनो जना विमुखा निष्फला न यान्ति तथा एषां वृक्षाणां स्थाने आगता जना विमुखा नैव यान्ति ॥ ३३ ॥ पत्रेति ॥ एते वृक्षाः पत्रपुष्पादिभिर्जनानां कामान् मनोरथान् वितन्वते पूरयन्ति । निर्यासो घनीभूतो रसः अस्थिसारांशः तोक्माः पल्लवाद्यङ्कुराः ॥ ३४ ॥ एतावदिति ॥ यत्सदा प्राणैः अर्थैः धिया हितचिन्तनेन वाचा च देहिषु श्रेय एवाचरेत् । एतावत् एवेह संसारे देहिनां जन्मनः साफल्यम् ॥ ३५ ॥ इतीति ॥ इत्येवं वृक्षाभिनन्दन् भगवान् प्रवालादीनामुत्करैः समुहैर्नम्राः शाखा येषां तेषां तरूणां मध्येन । एतेन आतपाभावः सूचितः । यमुनां गतः तत्र प्रवालाः पल्लवाः स्तवकाः पुष्पादिगुच्छाः फलपुष्पाणि तथा दलानि पुष्पपत्राणि ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

एषां वृक्षाणां उपजीवनं जीवनहेतुः येषामर्थिनः सुजनस्य याचका इव विमुखा अप्राप्तदाना न यांति ॥ ३३ ॥ पत्रादिभिर्जनानां कामानिष्टवसूनि तरवो वितन्वते निर्यासः शुष्करसोऽस्थीनि स्थूलकाष्ठानि अष्टीति पाठे बीजानि तोक्मानवांकुराः ॥ ३४ ॥ देहिषु प्राणादिभिः श्रेयो हितमेव ॥ ३५ ॥ इति प्रशंसां कुर्वंस्तेषां मध्यगमनेन यमुनां प्राप्तः उत्करैः समूहैः ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अहो इति ॥ अहो सर्वान् प्राणिनः उपजीवयतीति तत्, एषामेतेषां द्रुमाणां, जन्म वरं मनुष्यजन्मनः श्रेष्ठं, किं च सुजनस्य वदान्यस्य इव, येषां अर्थिनः विमुखाः, न यान्ति वै । किं तु छायाफलादिभिः सत्कृताः सन्त एव यान्ति ॥ ३३ ॥ तदेवाह ॥ पत्रेति ॥ पत्राणि च पुष्पाणि च फलानि च छाया च मूलानि च वल्कलानि च दारूणि काष्ठानि च तैः, गन्धश्च निर्यासो घनरसश्च भस्म च अष्टिर्बीजं च तोक्माः पल्लवाद्यङ्कुराश्च तैः, अर्थिनां कामान्, वितन्वते ॥ ३४ अनुरकारिणां जन्म वृथैवेति समभिप्रयन्नाह ॥ एतावदिति ॥ इह लोके, देहिषु मध्ये, देहिनां जन्मनः सफलत्वं एतावदेव । तत् कियत् । प्राणैः, अर्थैर्धनैः, धिया बुद्धया, वाचा वाण्या, सदा देहिनां श्रेयः एव चाचरेत्, एतावदेव ॥ ३५ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, अभिनन्दनकृष्णः, प्रवालानि च स्तवकाश्च फलानि च पुष्पाणि च दलानि च तेषामुत्कराः समूहाः तैः, नम्रशाखानां तरूणां मध्येन, यमुनां गतः ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहो एषां वरं जन्मेतिः १०.२२.३३.

स्वतः सोढ्वा क्लेशानहरह-रनेकानुपगतान् भृशं येऽन्यत्राणुव्रत–विरचित–स्वाखिलप्रदाः ।
तदीयः संसारोऽप्यमृतमधुरस्तज्जनिरपि जगन्नाथस्यापि स्तुतिपदमिति व्यक्तमभवत् ॥ ८२ ॥

ये स्वैश्चर्मभिरम्बरं किसलयैः शय्यां सुमैरर्हणां छायाभिर्विततातपत्र-ममृतास्वादैः फलैर्भोजनम्।
निस्तन्द्रं परिकल्प्य नित्यमतिथीनभ्यागतानध्वगान् सत्कुर्वन्ति सदागमप्रवचनं तेष्वच्युतस्योचितम् ॥ ८३ ॥
कर्णश्चर्म शिविः पलं बलिरलं कायं कलेशः कलामब्दोजीवनमर्थिनेऽस्थि सकलं प्रादाद् दधीचिः पुरा।
जातास्ते भुवि तावतैव कविसद्वाग्वर्ण्य-वादान्यकाः सर्वस्वार्पणकारिणस्तु तरवस्तद्युक्त-मीशस्तुताः ॥ ८४ ॥
अतिथिसत्कृति-तुल्यमिहापरं मम मुदावहमस्ति न साधनम्।
विशदयन्निति वाऽऽस निजाशयं स सकृपः स्तुत-तरकृतसत्कृतिः ॥ ८५ ॥
यावत्स्वीयपदार्थजातमपि यैरन्योपकारव्रतैराकल्प्यार्थिकृते नराः कुजनुषोऽपि स्युः स्मृतौ ते मम।
इत्थं श्रीजगदीश्वरो विशदयन्स्वान् स्वाशयं प्रायशश्चक्रेऽन्येष्वपि सत्सु वस्तुषु तरुद्विवर्णनं प्रेमतः ॥ ८६ ॥
दृष्टाश्चेददिदानशौण्डनिचया निस्तन्द्रदानोद्यताः स्तव्या भूरितरं परोपकृतये स्पृह्यामनाङ्क्स्वतः।
इत्थं निःस्पृहपज्जनानुचरणं श्रीशो निजान् व्यञ्जयंस्तुष्टाव द्रुमराजराजिमभितो जग्राह नैकं फलम् ॥ ८७ ॥
न तत्र प्रभुणाऽन्यैर्वाऽग्राहि भुक्तं च तत्फलम्। इत्यर्थो व्यक्त एवास्मिन्नग्रे क्षुद्बोधकोक्तितः ॥ ८८ ॥ (युग्मम्)

कृष्णप्रिया

अहो! वृक्ष देह धारण किये हुवे इन वैष्णववरों का जन्म धन्य है सर्व श्रेष्ठ है। क्योंकि इनका जीवन सर्व प्राणियों को जीवन प्रदान के लिए ही है। देखो! मेरे प्यारे मित्र! सज्जन पुरुष के पास जाकर कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटता कोई भी याचक विमुख नहीं लौटते, वैसे ही इनके पास जाकर कोई भी प्राणी कुछ न कुछ पाकर ही लौटता है यही वृक्षों की धन्यता है ॥ ३३ ॥ देखो! प्यारे दोस्त! ये तरुवर परमोदार दानी है। वे अपने बारह अङ्गों से सद्गृहस्थ की तरह परोपकार करते हैं। सुनो? पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूलजड़, छाल, काष्ठ, गन्ध, गोन्द, भस्म, कोयला और शाखा-अङ्कुर पल्लव आदि से सर्व के मनोरथों को पूर्ण करते हैं ॥ ३४ ॥ सुनो मेरे मित्र! इस संसार में देह धारियों में उन ही देह धारियों की यही जीवन सफलता है कि जहां तक हो सके अपने प्राणों से, धन से पदार्थों से, बुद्धि से और वाणी विवेक व्यवहार से निरंतर दूसरों का कल्याण करते रहे ॥ ३५ ॥ राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार वैष्णववर वृक्षों का यशोगान गाते गाते, नूतन पल्लवों के गुच्छ, फल, फूल और दलों के अपार ऐश्वर्यों से जिनकी शाखाएं डालियां भूमि पर्यन्त झुक रही थी, उन परोपकारी वृक्षों के नीचे नीचे चलते भगवान् यमुना तट पर पहुंचे ॥ ३६ ॥

तत्र गाः पाययित्वापः सुमृष्टाः शीतलाः शिवाः। ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥ ३७ ॥
तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप। कृष्णरामावुपागम्य[1] क्षुधार्ता इदमब्रुवन् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[2] दशमस्कन्धे गोपीवस्त्रापहारो नाम द्वाविंशोऽध्यायः[3] ॥ २२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नृप!, तत्र गाः सुमृष्टाः शिवाः शीतलाः अपः पाययित्वा ततः च गोपाः स्वयम् स्वादु जलम् कामम् पपुः ॥३७॥ हे नृप! तस्याः उपवने पशून् कामं चारयन्तः क्षुधार्ताः कृष्णरामौ उपागम्य इदम् अब्रुवन् ॥ ३८ ॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कुमारिकाभ्यः पूर्वमेव तन्नर्माकुलतया अगृहीतभोज्यानामेव निर्गमात्क्षुधार्ता इत्युक्तम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत्र यमुनायाम्। ततः गोजलपानानंतरम् ॥ ३७ ॥ अत्र केचिदित्यादिश्लोकः क्वचिदधिकः। तस्याः कालिन्द्याः। नित्यं तु गृहीतभोज्या एव वनमायांति तद्दिने कुमारिकाहास्यकरणार्थं विस्मृतभोज्या एवागता इति क्षुधार्ता इत्यस्य तात्पर्यम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

---

१. वुपामन्त्य–वीर.। २. पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे–गो. प्रे. पु.। ३. विंशोऽध्यायः–विज.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्र तस्यां सुमृष्टा अतिस्वच्छाः शिवाः आरोग्यकरत्वेन पुण्यप्रदत्वेन च मङ्गलकराः ततस्तदनन्तरमेव यतो गोपाः तादृशधर्मा एव हे नृपेति तव प्रजापालनवत्तेषामपि गोपालनं धर्म इति भावः स्वादु बहु पशुसङ्घैस्तत् क्षोभेऽपि सुमृष्टत्वादिगुणयुक्तमेवेत्यर्थः। इति जलमाहात्म्यमुक्तम् अतः कामं यथेष्टम् अत एव पुनर्जलपदं सार्थकम् ॥ ३७ ॥ उपवने प्रायोऽशोकतरुमण्डित इति ज्ञेयम्। अग्रे तथोक्तेः अतः फलाद्यभावोऽपि सूचितः कामं पशूनामिच्छानुसारेणेत्यर्थः। क्षुधार्त्ता इति श्रीरामकृष्णयोरपि क्षुदनुमानेन विशेषार्त्तिर्ज्ञेया निजतद्दुल्लेखस्तु प्रेमपरिपाटी याज्ञिकान् प्रति तु वक्ष्यते "रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ" इति दिनान्तरवत् तद्दिने दध्योदनाद्यनानयनं च केनचिन्मिषेण यज्ञपत्नीनामनुग्रहाय श्रीभगवतैव घटितं यासाम् उत्कर्षार्थमेव याज्ञिकानां निकर्षो दर्शयिष्यते तेषां तद्दर्शनार्थमेव वृक्षाः श्लाघिता इति ज्ञेयम्। उपसमीपे आगत्य वक्ष्यमाणार्थस्य गौरवाय इदं वक्ष्यमाणम् अत्रानवसरे ध्यायापातो वक्ष्माणलीलाविशेषस्मृत्या पूर्ववत् क्षणं श्रीबादरायणेः स्तब्धतया तत्कथाविच्छेदात् एवमन्यत्राप्यूह्यं हे नृपेति! वक्ष्यमाणाश्चर्यलीलाश्रवणेऽप्यावधानार्थम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

स्वभावेन यमुनाया आपो मधुरा एव, तत्र च वृन्दावनसम्बन्धेन परममधुरा इत्यर्थः। शिवाः सुखकरीः मंगलरूपा वा, ततस्तदनन्तरमेव, यतो गोपाः स्वयमिति स्वसुखादपि तैर्गोसुखस्याधिकमननात्; यद्वा, स्वयं भगवान् गोपाश्च, यद्वा, स्वयमिति पात्रादिव्यवधानं विना अञ्जलिभिरित्यर्थः। ननु 'अपो नाञ्जलिना पिबेत्' इति निषेधः श्रूयते ? तत्राह—गोपा इति, तेषां तद्युज्यत एवेति भावः, विधिनिषेधानधीनत्वात्। हे नृपेति यथा तव प्रजापालनमेव मुख्यम्, तथा तेषां गोपालनमेव मुख्यमिति निजसुखानपेक्षया, पश्चात् तत्पानं युक्तमेवेति भावः। सुमृष्टा इत्याद्युक्त्या स्वादुत्वादौ सर्व्वस्मिन् गुणे सिद्धेऽपि पुनः स्वादुजलमित्युक्तिः। कामं यथेष्टं पपुरित्यत्र हेतुत्वेन; यद्वा, श्रीयमुनायां विदूरतो बहुलप्रदेशं व्याप्यादौ गवामनन्तानां चिरं क्रमशो जलपानेन जलक्षोभाच्छीतलत्वस्वच्छत्वयोस्तथा सुमृष्टत्वस्य चापगमनसम्भवेऽपि स्वाद्वेव पपुरिति जलमाहात्म्यमुक्तम् ॥ ३७ ॥ उपवने प्रायोऽशोकतरुमण्डित इति ज्ञेयम्, अग्रे तथोक्तेः। कामं पशूनामिच्छानुसारेणेत्यर्थः। अतः परिभ्रमणेन क्षुदुद्बोधयन् यामुनजलपानेन च तदुपवने च फलाद्यभावेन क्षुधा च, बुभुक्षया आर्त्ता दुःखिता व्यग्रा वा सन्तः, यद्यपि तया तत्र च श्रीभगवत्साक्षात् तेषामार्त्तता न सम्भवेत्, तथापि ओदनयाचनादिद्वारा यज्ञपत्न्यनुग्रहाय श्रीभगवतैव तथाचरितमिति ज्ञेयम्। तत्त्वतस्तु श्रीभगवत एव काले क्षुधामनुमाय तद्भोगार्थं व्याजेन तैरेव तथा कृतमिति। उप समीपे आगत्य, दूरोक्तौ लज्जापत्तेः। किंवा, वक्ष्यमाणार्थस्य गौरवाय इदं वक्ष्यमाणम्। अत्र मध्येऽध्यायापातो वक्ष्यमाणलीलाविशेषस्मृत्या पूर्व्ववत् क्षणं श्रीबादरायणेः स्तब्धतया तत्कथाविच्छेदात्; यद्वा, तस्य सुगोप्यताबोधनाय क्षणं मौनात्। एवमन्यत्राप्युह्यम्। हे नृपेति, वक्ष्यमाणाश्चर्य्यलीलाश्रवणाभ्यन्तावधानार्थम्। यद्वा, सद्यो वारम्बारं सम्बोधनस्य कारणमिति श्लोके पूर्व्वं विवृतमेव ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत्र यमुनायां मधुराः शीतला निर्मलाश्चापः जलानि गाः पाययित्वा हे नृप! गोपाः कृष्णादयः स्वयमपि शुद्धञ्जलम्पपुः ॥ ३७ ॥ ततस्तस्या यमुनायाः समीपे वने पशुंश्चारयन्तो गोपाः हे नृप कृष्णरामावुपामन्त्र्याहूय सम्बोध्य वा उपगम्येति पाठे समीपमेत्य इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् कथम्भूताः क्षुधाऽऽर्त्ताः प्रातर्भुक्तवन्तोऽपि विप्रपत्नीरनुजिघृक्षता भगवतोत्पादितया क्षुधा पीडिता इति भावः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भः

सुमृष्टाः अतिस्वच्छाः स्वादु पशुसङ्घैस्तत्क्षोभेऽपि सुमृष्टत्वादिगुणयुक्तमेवेत्यर्थः। अथ कामं यथेष्टम् अत एव पुनर्जलपदं सार्थकम् ॥ ३७ ॥ क्षुधार्त्ता इति श्रीकृष्णरामयोरपि क्षुदनुमानेन विशेषार्त्तिर्ज्ञेया निजतदुल्लेखस्तत्प्रेमघटित इति ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

शिवाः श्रेयस्कराः ॥ ३७–३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे द्वाविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तस्या यमुनाया उपवने प्रायोऽशोकतरुमण्डित इति बोध्यम् अग्रे तथैवोक्तेः अतः फलाद्यभावः क्षुधार्त्ता इति श्रीकृष्णरामयोरपि क्षुदनुमानेन विशेषार्त्तिर्ज्ञेया निजतदुक्तिस्तु प्रेमपरिपाटी याज्ञिकान् प्रति तु वक्ष्यते रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षिताविति एषां हरेस्तन्मित्राणाञ्च क्षुदभक्त ब्राह्मणीच्छोदिता तदन्नरुचिरूपैव नान्या "विजिघत्सोपिपास इति प्रतिषेधात् तद्दिने गृहाद्भोजनानयनं केनचिन्मिषेण भगवतैव घटितं तदिच्छयैव वृन्दाश्रयि फलादिनार्पितं तच्च यज्ञपत्नीप्रसादफलकमिति बोध्यम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सुमृष्टाः शीतलाः शिवा मङ्गलदा अपो गाः पाययित्वा स्वयं पपौ हे नृप गोपाश्च पपुः ॥३७॥ क्षुधार्ताः पदमेकमनेकं च। आद्ये पक्षे हलन्ततया टाबन्तः शब्दः ॥ ३८ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

तत्र गतस्य कृत्यमाह तत्रेति तत्र 'यमुनायां गा अपः पाययित्वा ततो गोपाः स्वयमपि भगवान् कामं यथेच्छं जलं पपुः प्रातरेव गृहान् निःसृता भोजनाभावात् क्षुधिता भगवदिच्छया च लब्धभक्षा अपि गृहगमनप्रत्याशारहिताश्च जलमेव पपुः, आपः स्त्रीप्रकृतिका अतः स्वजातीयाः पायिताः सुमृष्टा उज्ज्वलाः पङ्कादिदोषरहिताः शीतला गुणवत्यः शिवाः परिणामत आरोग्यकराः, जलं नपुंसकमपि कामरूपं स्वादु स्वादिष्टमनेनाधिकमपि पातुं शक्यत् इत्युक्तम् ॥३७३॥ एवं जात आपातत एव क्षुन् निवृत्तेति विशेषं प्रार्थयितुं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह तस्या इति, कालिन्द्या उपवने पशूंश्चारयन्त्य एव कृष्णरामावुपागम्य तालफलन्यायेन किञ्चिद् वचनमब्रुवन्, गोपा इत्यविवेकिनः, सर्वत्र राजन्निति सम्बोधनं स्नेहेन कथायां रसोत्पादनार्थं, राजन्निति सम्बोधनेन महत्त्वं सूच्यत इति सर्वार्थे भगवानेव वक्तव्य इति विद्याफलमन्त्रे सूचितम् ॥ ३८३ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे प्रथमः स्कन्धादित एकोनविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ १९ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तत्र गाः पाययित्वाप इत्यस्य विवरणे आपः स्त्रीप्रकृतिका इत्यादि तत्र हरिधना आह[1]'यमुनायां वृक्षवत् परार्थतामात्रधर्मवत्त्वं निरूपितं, गवां तत्सम्बन्धेनापि तादृशज्ञानमुदेष्यति तच्च चानुचितं, तासां स्वामिनीसजातीयभाववत्त्वात्, एतच्च 'गावश्च कृष्णमुखे'तिश्लोके तादृशसामग्रीविशेषप्रकटनेन प्रभुणा स्वबलेन तथाभावसम्पादनं स्पष्टमभिहितं, तद्रसस्य प्रभुयोग्यत्वात्, न हि तद्विजातीयभावानां सम्बन्धिरसं प्रभुर्भुङ्क्ते 'गन्धो रूप'मितिजन्मोत्सवाध्यायीयकारिकायां स्वामिनीष्वेव भगवद्भोग्यविषयपञ्चकरूपत्वनिरूपणात्, अत एव 'रसो नवनीतस्ये'त्युक्तमाचार्यैः, परार्थताज्ञानं तु स्वामिनीविजातीयभाववतामेव, तासां स्वस्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमितिज्ञानेन तद्वस्तुषु स्वीयत्वबोधस्य दृढत्वादतः पानकर्मवाचकजलस्यैकत्वेपि तद्वाचकपदद्वयतात्पर्यमाचार्या निरूपयन्ति स्त्रीप्रकृतिका इति. यमुनाजले द्वैविध्यमस्ति स्वामिनीसहितक्रीडासम्बन्धित्वेन तद्भावजनकत्वं, अत एव 'यं तव कथाधिके'त्युक्तं तत्स्तुतावाचार्यैः, दोषमात्रनिवर्तनेन सादृश्यात् स्वरूपेण भगवद्भावजनकत्वं, अत एवोक्तं 'स्मरपितुः श्रियं बिभ्रती'मिति, विवृतं च तथैव प्रभुचरणैः, अतो या आपः स्त्रीप्रकृतिकाः स्त्रीस्वभावाः स्वप्रवेशेन स्त्रीस्वभावसम्पादिकास्तास्तत्सजातीयभावा गाः

---

१. तत्र हरिधना आह'यमुनायां वृक्षवद् परार्थतामात्रधर्मवत्त्वं निरूपितं, गवां तत्सम्बन्धेनापि तादृशज्ञानमुदेष्यति तच्चानुचितं तासां स्वामिनीसजातीयभाववत्त्वादेतच्च "गावश्च कृष्णमुखे"तिश्लोके तादृशसामग्रीविशेषप्रकटनेन प्रभुणा स्वबलेन तथाभावसम्पादनं स्पष्टमभिहितं तद्रसस्य प्रभुयोग्यत्वाद् न हि तद्विजातीयभावानां सम्बन्धिरसं प्रभुर्भुङ्क्ते "गन्धरूप"मिति जन्मोत्सवाध्यायीयकारिकायां स्वामिनीष्वेव भगवद्भोग्यविषयपञ्चकरूपत्वनिरूपणादत एव 'रसो नवनीतस्ये'त्युक्तमाचार्यैः परार्थज्ञानं तु स्वामिनीविजातीयभाववतामेव तासां स्वस्मदर्थमेव प्रभुप्राकट्यमितिज्ञानेन तद्वस्तुषु स्वीयत्वावबोधस्य दृढत्वादतः पानकर्मवाचकजलस्यैकत्वेपि तद्वाचकपदद्वायतात्पर्यमाचार्या निरूपयन्ति स्त्रीप्रकृतिका इति, यमुनाजले द्वैविध्यमस्ति स्वामिनीसहितक्रीडासम्बन्धित्वेन तद्भावजनकत्वमत एव 'तव कथाधिके' त्युक्तं तत्स्तुतावाचार्यैर्दोषमात्रनिवर्तनेन सादृश्याद स्वरूपेण भगवद्भावजनकत्वमत एवोक्तं "स्मरपितुः श्रियं बिभ्रती"मिति विवृतं च तथैव प्रभुचरणैः, अतो या आप स्त्रीप्रकृतिकाः स्त्रीस्वभावाः स्वप्रवेशेन स्त्रीस्वभावसम्पादिकास्तास्तत्सजातीयभावा वा गाः पायितवान् यथा तासां स एव स्वीयत्वाभिमानरूपो भावः स्थिरीभवति, गोपेभ्यस्तु जलमात्रं कामरूपत्वाद् भगवद्भावजनकं नपुंसकत्वाद् भगवद्विषयकदोषारोपमूलभूतपुम्भावरूपदुःस्वभावविजयसाधकं पायितवानिति नात्र प्रभुविवृतौ बाधामावेन चित्तमुन्मथयितव्यं सद्भिरितिसङ्क्षेप इति ।

पायितवान् यथा तासां स एव स्वीयत्वाभिमानरूपो भावः स्थिरीभवति, गोपेभ्यस्तु जलमात्रं कामरूपत्वाद् भगवद्भावजनकं नपुंसकत्वाद् भगवद्विषयकदोषारोपमूलभूतपुम्भावरूपदुःस्वभावविजयसाधकं पायितवानिति नात्र प्रभुविवृतौ बोधाभावेन चित्तमन्यथयितव्यं सद्भिरितिसङ्क्षेप" इति ॥ ३७½ ॥ गोपा इतीति 'विशेषतश्चेदाज्ञा स्या'दितिसिद्धान्तो दैहिकभिन्नकार्ये इतिविवेकाभावो गोपलादित्यर्थः ॥ ३८½ ॥

इति एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तत्र गाः पाययित्वाप इत्यस्य विवृतावापः स्त्रीप्रकृतिका इति स्त्रीणां प्रकृतिर्याभिस्ताः स्त्रीप्रकृतिका इति बहुव्रीहिर्व्यधिकरणपदः स्त्रीशब्देन व्रजसुन्दर्यो ग्राह्याः, प्रकृतिपदं स्वभाववाचकं, तथा च व्रजरत्नरूपगोपनितम्बिन्यस्तासां प्रकृतिभंगवद्विषयकपरमस्नेहजन्यो भावविशेषस्तत्सम्पादिका याः श्रीयमुनाया आपस्तास्तु गाः पायितवान्, तत्पानेन गवां भावविशेषो भगवति जातः, यच्छ्रीयमुनायां नपुंसकप्रकृतिकं जलं तद्गोपान् पायितवान् तत्पानेन गोपानां भगवदन्तरङ्गलीलावलोकनादौ पुम्भावरूपो दोषो न भवेत्, अयं विवेकस्तत्र गाः पाययित्वाप इत्यत्र स्त्रीलिङ्गेन सूच्यते, कामं स्वादु पपुर्जलमिति नपुंसकलिङ्गेन सूच्यते, अन्यथैकस्यैव जलस्य गवां गोपानां च पाने पाययित्वापः पपुर्जलमितिपर्यायपदद्वयं न ब्रूयात् ॥ ३७½ ॥

इति एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे नृप ! तत्र यमुनायां गोपा गाः अपः पाययित्वा ततस्तदनन्तरं स्वयमपि स्वादु जलं कामं यथेष्टं पपुः । सुमृष्टाः स्वच्छाः, शिवाः आरोग्यकराः ॥ ३७ ॥ तस्या यमुनाया उपवने कामं यथेच्छं पशून् चारयन्तः क्षुधार्ता गोपाः कृष्णरामावुपागम्य हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् ॥ ३८ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । द्वाविंशो विवृतचीरहरणस्य निरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्रेति । हे नृप ! तत्र यमुनायां गोपाः सुमृष्टाः स्वच्छाः शीतलाः शिवाः आरोग्यकरीः अपः गाः पाययित्वा ततस्तदनन्तरं स्वयमपि स्वादु जलं कामं यथेष्टं पपुः । पुनर्विशेषयितुं जलस्य पुनरुक्तिर्न दोषः ॥ ३७ ॥ तस्या इति ॥ हे नृप ! तस्या यमुनाया उपवने कामं यथेच्छं पशून् चारयन्तः क्षुधार्ता गोपाः कृष्णरामावुपागम्य इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् । कुमारिकाभ्यः पूर्वमेवागृहीतभोज्यानामेव गृहान्निर्गमात् । अत्रानवसरेऽध्यायसमाप्तिः श्रीशुकस्योत्तरलीलास्मरणेन स्तब्धीभावात् । एवमन्यत्रापि ॥ ३८ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

शिवाः आरोग्यकराः सुमृष्टाः स्वच्छाः अपो जलानि कामं यथेच्छं ॥ ३७ ॥ तस्या यमुनायाः समीपवने कामं स्वेच्छया कुमारिकाणामभिलषितः संपादनाय ऋषिपत्नीनामनुग्रहाय च सत्वरनिर्गमनात् अगृहीतभोज्यानां गोपानां क्षुधार्त्तत्वमभूत् ॥३९॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने वस्त्रहरणनामा द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तत्रेति ॥ तत्र यमुनायां, सुमृष्टाः मधुराः, शीतलाः शिवा निर्मलाश्च, अपो जलानि, गाः पाययित्वा, ततः हे नृप, गोपाः श्रीकृष्णादयः, स्वयं कामं स्वादु जलं, पपुः ॥ ३७ ॥ तस्या इति ॥ हे नृप, ततः तस्या यमुनायाः, उप समीपवर्त्तिनी वने, कामं पशून्, चारयन्तः गोपाः, क्षुधा आर्त्ताः पीडिताः सन्तः, कृष्णरामौ, उपागम्य समीपमेत्य, इदं वक्ष्यमाणं, अब्रुवन् । क्षुधार्त्ता इत्यस्यायं भावः । प्रातः कृतभोजना अपि विप्रपत्नीरनुजिघृक्षता भगवतोपादितबुभुक्षा अब्रुवन्निति ॥ ३८ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसुनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तत्र गा इति । १०.२२.३७

भक्तत्राणकृते भूयान् श्रमोऽस्मिन् सह्यतें मया । किमिदं बोधयन्कृष्णः सतृष्णोऽम्बु पपौ स तैः ॥ ८९ ॥

क्षुधार्ता इति । १०.२२.३८

स्त्रीणामनुग्रहकृतेऽद्य गृहीतदीक्षो युष्मत्सखोऽस्त्ययमिहेति समग्रगोपाः ।
मत्तृप्तये कुरुत यत्नममुं निवेद्य सेत्याशयादुदरगाऽदयति स्म तान् क्षुत् ॥ ९० ॥

योगी वास्तु व्रतस्थो वा यो वा को वा भवत्विह । तृट्क्षुदार्तिस्तु सर्वेषामविशेषादिति स्फुटम् ॥ ९१ ॥

उदन्याहरणेऽपीश नावकाशोऽस्ति तेऽवितुः । भक्तानां यत्पयःपाने प्राप्तं क्षुद्धृतिचिन्तनम् ॥ ९२ ॥

यत्तस्मिन्नहनि प्रभुर्न जगृहे पाथेयमस्मादपि तत्ताद्दग्युवतिव्रताच्च विशदोऽभूद्धंसदीक्षाविधिः ।
यत्तस्मिंस्तरुभूस्थितिर्निगदिता भिक्षापि तात्कालिकी नो चेत्त्रित्यविधिः कथं तदहनि प्रेष्ठोऽखिलैर्विस्मृतः ॥ ९३ ॥

दृष्टा चेत् परकामिनी विवसनोपोष्यं तदेकं दिनमेवं स्मार्तगिरं स्मरन् व्रतजुषां तासां तथा दर्शनम् ।
जानन् भावि स सर्वविन्न जगृहे पाथेयमस्मिन् दिने यत्प्राप्तं हविषोऽदनं निरशनप्रायं प्रसिद्धं हि तत् ॥ ९४ ॥

यस्मिन् कृष्णमुदीरयन्त्युषसि ते तस्मिन् सपाथेयका निर्यान्ति स्म गृहाद्यदा तु भगवांस्तानाह्वयत्लाघु ते ।
निर्गच्छन्ति तदा तु सम्भ्रमवशाद् विस्मृत्य तच्छम्बलं भात्येवं निखिलैर्न गोपयुवभिः पाथेयमग्राहि यत् ॥ ९५ ॥

गोपीव्रतफलोद्बोधि दिष्टात्-सम्भ्रमधीः प्रभुः । तदाह्वानाच्च तेऽपीति युक्ता पाथेयविस्मृतिः ॥ ९६ ॥

आकारितोऽप्यनिशमेष समग्रगोपैस्तस्मिन् दिने तु संकलानपि तान् स एव ।
आकारयद् ध्रुवमिदं क्षममेव यस्माद् गोपीव्रतेप्सित-फलार्पण-दत्तदृष्टिः ॥ ९७ ॥

ऋक्षाण्यनन्तान्यभितो वसन्तु लसन्तु वाऽनन्तपदे नितान्तम् ।
आह्लादसौख्यं न यथा विनेन्दुं तथान्तराऽन्नं विफलं फलादिकम् ॥ ९८ ॥

सर्वर्तुफलसन्दोहशोभने विपिनेऽपि तैः । क्षुच्छान्तिरर्थिता कृष्णं यत्तेनेदमभूत् स्फुटम् ॥ ९९ ॥ (युग्मम्)

गोपीनामभिलाषिताप्तिरचनेन वृक्षाणामतिथिसमर्हणप्रशंसा ।
यद्भूयोऽकृत भगवांस्तदित्यबोधि स्यादर्चाविधिरिह मे युगे प्रधानः ॥ १०० ॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा० ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! श्रीयमुनाजी के तट पहुँच कर श्रीकृष्ण प्रभु ने और गोपों ने गौओं को स्वच्छ, शीतल और कल्याणकारी जल पिलाया और सब ने मधुर जल पिया ॥ ३७ ॥ अहो राजन् ! श्रीयमुनाजी के उपवन में गायों को चराते-चराते सर्व ग्वालबाल क्षुधा से व्याकुल हुए और श्रीकृष्ण एवं श्रीबलदाऊ जी के समीप इस प्रकार कहने लगे ॥ ३८ ॥

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध का बाइसवाँ अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

अथ त्रयोविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	वसं.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अ.
५२	४७	१	४	५	१७७६	२७	४१	१८४४	५७।	४

गोपा[1] ऊचुः

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण । एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथ[3] ॥ १ ॥

श्रीशुक उवाच

इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् [4]देवकीसुतः । भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः । सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥ ३ ॥
तत्र गत्वौदनं गोपा याचतास्मद्विसर्जिताः । कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः -राम ! राम ! महावीर्य, दुष्ट निवर्हण हे कृष्ण ! एषा क्षुध् नः वै बाधते, तत् शान्तिम् कर्तुम् अर्हथः ॥ १ ॥ इति गोपैः विज्ञापितः भगवान् देवकीसुतः, भक्तायाः विप्रभार्यायाः प्रसीदन् इदम् अब्रवीत् ॥ २ ॥ देवयजनम् प्रयात स्वर्गकाम्यया ब्रह्मवादिनः ब्राह्मणाः आङ्गिरसम् नाम सत्रम् हि आसते ॥ ३ ॥ हे गोपाः तत्र गत्वा मम च आर्यस्य अभिधाम् कीर्तयतः अस्मद् विसर्जिताः ओदनम् याचत ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

त्रयोविंशे ततो गोपैरन्नयाच्ञापदेशतः ॥ तत्पत्न्यनुग्रहात्कृष्णो दीक्षितानन्वतापयद् ॥ १ ॥

भक्ताया इत्येकवचनं सद्यः सायुज्याभिप्रायेण ॥ १-३ ॥ अस्मद्विसर्जिता आवाभ्यां प्रहिताः संतो याचध्वम् । युष्माकं का तत्र लज्जा । ननु तथाऽप्यपात्रत्वादस्मभ्यं किमिति दास्यंतीति चेत्तत्राह । कीर्तयंत इति ॥ ४-६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः जलपानोत्तरम् । तदंपत्नीनां दीक्षितभार्याणामनुग्रहात् । अपदेशः छद्म (१)। दुष्टान्निबंर्हति हतीति तथा 'बर्ह-हिंसायाम्' अतो ल्युप्रत्ययः । क्षुत् भोक्तुमिच्छा । तस्याः क्षुधः शांति प्रशमम् 'शांतिः प्रशममंगले' इति यादवः । "क्षुत्खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः" इति श्रुतेरस्माकं महाशत्रुमधुना क्षुद्रूपं चेद्धंतुं शकुथ, तदेव युवयोर्महाबलदुष्टहंतृत्वे सार्थके ज्ञास्येते इति नर्म व्यंजितम् ॥ १ ॥ अन्यासां कालांतरे मोक्षादेकत्वम् ॥ २ ॥ आंगिरसम् अंगिरसा बृहस्पतिनोक्तं बृहस्पतीसवमिति वा ॥ आसते कुर्वते, आसत इति प्रथमे व्याख्यातम् ॥ ३ ॥ तत्र यज्ञशालायाम् । युष्माकं गोपानाम् । तत्र याचने । आर्यस्य श्रीरामस्य । आर्यस्य बलदेवस्य प्रथमामभिधां कीर्त्तयंत इति मत्तो वैश्यजातेः सकाशादार्यं क्षत्रियजातिं किंचिदभ्यर्हितत्वेन दानपात्रं मत्वापि यदि ते बहिर्मुखत्वो वः किंचिद्दास्यंति तदपि भद्रमिति भावः । अभिधाम् नाम 'अभिधानं च नाम च' इत्यमरः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अथ ते क्षुधार्त्ता अपि सख्यस्वभावान्नर्मविशेषमवलम्ब्य तेन प्रस्तुतां वृक्षाणां सर्वार्थदत्वाममन्यमानाः सर्वार्थदानार्थं मनुष्याणां प्रचारं परित्यज्य यस्मान्निहानीतमेवप्रार्थयन्ते; रामेति । अस्मानपि रमयेति भावः । वीप्सा क्षुधार्त्या हे महाबाहो इति सामर्थ्यमुक्तं महावीर्येति पाठेपि स एवार्थः कृष्ण ! परमानन्दघनमूर्त्ते ! अतस्त्वदीयानां क्षुद्दुःखमयुक्तमिति भावः । विशेषतश्च हे दुष्टनिबर्हणेति "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः" इति श्रुतेः । न अस्माकं दुःखप्रदमेतं क्षुदरिमपि नाशयेति भावः । स्नेहविशेषेण

---

१. श्री शुकः—तत्र गत्वोपविष्टास्ते गोपाला यमुनातटे । ऊचुर्बुभुक्षिता राजन्कृष्णरामौ जगत्पती ॥
—इत्ययं श्लोकोऽधिकोऽन्यत्र दृश्यते ।

२. महाबाहो—विज. । ३. मर्हथः । ४. जगदीश्वरः—वीर. विज. ।

तयोरभेदात् द्वौ प्रत्येव प्रार्थनं तत्रादौ रामसम्बोधनं तत्रैवाम्रेडितं च लोकमर्यादानुरूपेण तद्गौरवेणैव श्रीकृष्णस्य सुखात् स्वयं च वक्ष्यते कीर्त्तयन्त इत्यादि एषा दुस्सहत्वेनानुभूयमाना अर्हथः योग्यौ भवथः इत्यावश्यकत्वमपि सूचितं वस्तुत इयमप्येका क्रीडैव ॥१॥ भगवान् सर्वशक्तिमानपि इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्, कुतः ? विप्रभार्य्याया इति। जातावेकत्वं सर्वासां तासामविशेषेणोपादानार्थं ताः प्रति प्रसीदन् अनुग्रहं कर्त्तु तत्र हेतुः भक्तायाः चिरं भगवति जातरतेः तथाप्यादौ विप्रेषु वाचनं तासामेव माहात्म्यप्रदर्शनार्थं तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। ननु, तासां भक्तत्वं कथं जातं तत्राह, जगदीश्वरः तदानीं जगत्यपि मधुरमैश्वर्यं प्रकाशयति तस्मिन् परमकृपे मलहृदयानां तासां भक्तिः कथं न जायतामिति भावः। देवकीसुत इति पाठे स एव भावः॥ २॥ देवयजनं यज्ञवाटं ब्रह्मवादिनः वेदघोषणशीलाः नतु वेदार्थविद इति गूढोऽभिप्रायः अत एव स्वर्गकाम्यया सत्रं यज्ञमासते अनुतिष्ठन्तीत्युक्तं हि निश्चितम्॥३॥ यदि तु सङ्कोचं मन्यध्वे तर्ह्यावयोरेव निदेशकारित्वेनात्मानं रूापयत नतु पित्रादिनाम्नेत्यभिप्रेत्याह—अस्मद्विसर्जिता इति। तत्र च विशेषमाह– कीर्त्तयन्त इति। भगवतो महाप्रभावस्येति तत्र युक्तिश्चोक्ता मम च तत्सम्बन्धेनेत्यर्थः॥ ४॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

रमयति सर्व्वानेव सुखयतीति रामस्तत्सम्बोधनम्, अस्मानपि सुखयेति भावः। वीप्सा क्षुधार्त्त्या, हे महाबाहो इति सामर्थ्यविशेषं तत्र सूचयन्ति, महावीर्येति पाठेऽपि स एवार्थः। कृष्ण हे परमानन्दघनमूर्त्ते! अतस्त्वदीयानां क्षुद्दुःखमयुक्तमिति भावः। विशेषतश्च, हे दुष्टनिवर्हणेति 'क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य-शत्रुः' इति श्रुतेः। अस्माकं दुःखप्रदं क्षुदरिमपि नाशयेति भावः। एषा अधुना साक्षात्, किंवा मुखशोषादिलक्षणैः प्रत्यक्षा, वै निश्चितम्, अर्हथ इति विनयोक्त्या अवश्यकृत्यता बोध्यते। यद्वा, योग्यौ भवथः, योग्यता चान्वर्थसम्बोधनैरेव सूचिता। स्नेहविशेषेण तयोरभेदाद् द्वौ प्रत्येव प्रार्थनम्; तत्र लोकव्यवहारापेक्षयादौ ज्येष्ठस्य सम्बोधनम्; यद्वा, रामस्यानादरेण कृष्णप्रीत्यसम्पत्तेः, अतएव तं प्रति द्विसम्बोधनञ्च॥ १॥ इत्यनेन प्रकारेण वा पूर्व्वोक्तं विशेषेण स्तुत्यादिना क्षुधार्त्तिव्यञ्जनेन च ज्ञापितः सन्, जगदीश्वरः सर्व्वशक्तिमानपि इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्, कुतः? विप्रभार्य्याया इति जातावेकत्वम्, ताः प्रति प्रसीदन् अनुग्रहं कर्त्तुमिच्छन्; तत्र हेतुः—भक्तायाश्चिरं भगवति श्रद्धादरादियुक्तायाः कृतभजनाया वा; तथाप्यादौ विप्रेषु याचनं तासामेव माहात्म्यप्रदर्शनाय, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। ननु तासां भक्तत्वं कथं जातम्? तत्राह—भगवान् तस्य भगवत्ताविशेषप्रकटनेनेत्यर्थः। यद्वा, भक्तवत्सल इत्यनुयाचनादिद्वारेण प्रसादविशेषे हेतुः। अतो द्वौ प्रति प्रार्थनेऽपि तेनैवोत्तरितम्, सर्व्वथा तत्र तस्यैव योग्यत्वात्॥ २॥ देवयजनं यज्ञवाटम्, ब्रह्मवादिनो वेदघोषणशीलाः, न तु वेदार्थविद इत्यर्थः। यद्वा, ब्रह्मणि वेदे ते न वादशीला न तु तत्सारं विदन्तीत्यर्थः, अतएव स्वर्गकामया सत्रं यज्ञमासते अनुतिष्ठन्तीत्युक्तं। हि निश्चितम्, कीर्त्तयन्त इत्यादुक्तिर्यद्यपि सर्व्वसद्गुणनिधेस्तस्य विनयादिस्वभावत एव, तथापि तेषां स्वर्गकाम्ययात्मत्वादाभावादरमभिप्रेता; मम चेति गौणतया निर्द्दिष्टम् अन्यत्तैर्व्याख्यातम्॥ ४॥ ननु तर्हि वैष्णवानामस्माकं तदोदनयाच्ञ्यालम्, तत्राह—अस्मद्विसर्जिता आवयोः प्रेरकत्वान्न तद्दोषो युष्मासु प्रसज्जेतेत्यर्थः। ननु अनुगेष्वपि दोष प्रसक्तः स्यादेव, तत्राह—कीर्त्तयन्त इति। अस्मन्नामकीर्त्तनेन तद्दोषो नङ्क्ष्यतीति भावः। कुतः? भगवतः सर्व्वशक्तिमतः। एवं याचकान् प्रति भगवन्नामकीर्त्तनपूर्व्वकयाचनप्रकारश्च शिक्षितः॥ ४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थमब्रुवन्नित्युक्तं किन्तदित्यत्राह— रामरामेति। नोऽस्मानेषा क्षुद्बाधते तस्याः क्षुधः शान्ति कर्तुमर्हथः॥१॥ विप्रभार्याया इत्येकवचनं जात्यभिप्रायकं विप्रभार्याणां प्रसीदन् ता अनुजिघृक्षुरिदमब्रवीत्॥ २॥ तदेवाह—प्रयातेति। ब्रह्मवादिनो ब्राह्मणाः देवा इज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजनमाङ्गिरसाख्यं सत्रमासतेऽनुतिष्ठन्ति॥ ३॥ हे गोपास्तत्र यज्ञवाटे गत्वाऽस्मद्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रेषिताः वयमिति वदन्तोऽन्नं याचत याचध्वम् अस्मद्विसर्जिता इत्येतदेवोपपादयति भगवत आर्यस्याग्रजस्य रामस्य मम चाभिधां नामधेयं कथयन्तो याचतेत्यन्वयः॥ ४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृष्णभक्तौ योग्यतैव बलीयसी न शास्त्रज्ञानमित्येतत्कथयत्यस्मिन्नध्याये, तत्र गोपानां कृष्णस्य च प्रश्नप्रतिवचने कथयति–शुक इति। दुष्टनिवर्हण, दुष्टजनोन्मर्दन! क्षुत् भोक्तुमिच्छा बाधते क्लिश्नाति अस्याः क्षुधः शान्ति प्रशमं "शान्तिः प्रशममङ्गले" इति यादवः॥ १॥ विप्रभार्यायाः पतित्यक्तायाः जातावेकवचनं भक्ताः वा इति छेदो वा॥ २॥ देवयजनं यज्ञवाटं सत्रं बहुकर्तृकम् आङ्गिरसम् अङ्गिरसा बृहस्पतिकथितं बृहस्पतिसवनमित्यर्थः। आसते कुर्वते अनेकार्थत्वाद्धातूनां हिशब्दो हेतौ यस्मात्सत्रे अन्नं देयं तस्मात्प्रयात॥ ३॥ अस्मद्विसर्जिता नियुक्ताः निर्मुक्ता वा युष्माकं का वा तत्र लज्जा ननु, अस्माकं गोपालके नापात्रत्वात्किमिति दास्यन्तीति तत्राह—कीर्तयन्त इति। आर्यस्य श्रेष्ठस्य रामस्याभिधां नाम॥ ४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

॥ १॥ भक्ताया इति जातावेकवचने स्वभावतः कृष्णप्रधानचेतस्त्वेनाहुः॥ २–५॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ यज्ञपत्नीजनानुकम्पालीलामवतारयितुं क्षुत्पीडितगोपबालोक्ति प्रपञ्चयति–राम रामेत्यादि। एषेति दुःसहेत्यर्थः। यद्यपि भ्रातरावेव विज्ञापितौ गोपार्भकैस्तथापि रामस्तत्समाधानं चिन्तयितुं नाशक्नत्; समर्थोऽपि भगवतः समीपे सामर्थ्यं न प्रकटयतीति। भगवांस्तु तत् समाधत्त इत्याह—इतीत्यादि। इति गोपैर्विज्ञापितो भगवानिदमब्रवीत्। जगदीश्वरोऽपि भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्, सर्वसमोऽपि भक्तप्रिय इत्यर्थः। भक्ताया इति जातावेकवचनम् अथवा, त्यक्ष्यमाणदेहां प्रति। यद्यपि तदन्याः साक्षाद्ददृशुः, तथापि तस्याः प्राकृतदेहत्यागेनाप्राकृतदेहमासाद्य गोपाङ्गनाभिः सह तत्कालाङ्ग-सङ्गभाजनत्वात्। तास्तु विलम्बेनैव प्राप्स्यन्तीति ताभ्योऽस्याः सौभाग्यातिशय इत्यर्थः॥ १–२॥ किं तदित्याह—प्रयातेत्यादि द्वाभ्याम्। भगवत आर्यस्याग्रजस्य मम चाभिधां कीर्तयन्त इति द्वयोरभिधानं सन्तारार्थकम्। तद्यथा, ममाभिधामित्युक्ते ज्यायसो गौरवहानिः, आर्यस्येत्युक्तेः कदाचिन्न प्रयच्छन्तीति यद्यपि ते न दास्यन्तीति स्वयमेव सार्वज्ञ्ज्जानाति, तथापि कर्मनिष्ठाः प्रायो बहिर्मुखा इति लोकान् प्रत्याययितुं तथाह। अतएवोक्तं स्वर्गकामायेति॥ ३–४॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यद्यपि उभावेव गोपैर्विज्ञापितौ, तथापि भगवान् श्रीकृष्ण एवोवाच। कुतः? तत्राह भक्ताया इत्यादि। भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्॥ १–४॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

त्रयोविंशेऽन्नयाच्ञानाद्दत्तैर्गोपैः पुनश्च सा। पत्नीनां प्रेम विप्राणामनुतापश्च वर्ण्यते॥

क्षुन्न इति "क्षुत् खलु इति वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः" इति श्रुतेरस्माकं क्षुन्महाशत्रुमधुना हन्तुं चेत् शक्नुथस्तदैव युवयोर्महाबलदुष्टहन्तृत्वे सार्थके ज्ञास्येते इति नर्म व्यञ्जितम्॥ १॥ विप्रभार्याया इति जातावेकत्वं भक्ताया इति तासां भक्तिमनुस्मृत्य सद्य एव प्रसीदन् किञ्च तास्वेकस्यास्तु भविष्यन्तीं दशमीं दशामनुस्मृत्य प्रकर्षेण सीदन् शोचमानश्चेत्यर्थद्वयलाभार्थमेकत्वमिति केचित्॥ २॥ तपोविद्याधर्मादिमत्स्वपि विप्रेषु भक्त्यभावान्न मे प्रसादस्तप आदिरहितास्वपि तत्पत्नीषु भक्तिसद्भावान्मत्प्रसाद इत्यर्थद्वयमेकस्यां ब्राह्मणजातावेव क्रमेण ज्ञापयितुं प्रथमं गोपान् ब्राह्मणसन्निधौ प्रस्थापयन्नाह—प्रयातेति॥ ३॥ याचत याचध्वं कीर्तयन्त इति आवाभ्यामपि स्वनाम्नापि प्रबोधयितुमशक्या ईदृशी तेषां विदुषां निद्रेति ज्ञापयितुमुक्तम् आर्य्यस्य बलदेवस्य प्रथममभिधां कीर्तयन्त इति मत्तो वैश्यजातेः सकाशादार्य्यं क्षत्रियजातिं किञ्चिदभ्यर्हितत्वेन दानपात्रं मत्वापि यदि ते बहिर्दर्शिनो वः किञ्चिद्दास्यन्ति तदपि भद्रमित्यभिप्रायेण॥ ४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

त्रयोविंशेऽध्याये कर्मफलाशक्ताः तदर्थकर्मानुष्ठानव्यग्राः न हरिभक्त्यधिकारिणो यद्यपि तथापि हरिभक्तिसङ्गस्तेपि हरिभक्ता भवन्तीति दीक्षितविप्रतत्पत्नीवृत्तान्तेन वर्णयति—रामरामेति॥ १॥ विप्रभार्यायाः भक्तायाः प्रसीदन् जातावेकवचनम् या सद्यो मुभाभूत्तत्प्राधान्यविवक्षया वा॥ २॥ देवयजनं देवाः ईज्यन्ते यत्र तत् यज्ञवाटं प्रयात तत्राङ्गिरसं नाम सत्रं बहुकर्तृकं यागं ब्राह्मणे आसते अनुतिष्ठन्ति॥ ३॥ तत्र देवयजने ओदनं यूयं याचत याचध्वम्। ननु, अनधिकारिभिस्तत्रापि अकृतपूर्वा याच्ञाऽस्माभिः कथं कर्तुं शक्या इत्यत आह–अस्मद्विसर्जिताः आवाभ्यां प्रहिताः आर्य्यस्य बलस्य मम च अभिधां नामधेयं कीर्त्तयन्त इति॥ ४–६॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

त्रयोविंशेऽन्नयाच्ञा गोपैर्विप्रान् प्रति प्रभोः। तत्पत्नीनां परा भक्तिस्तेषां तापश्च वर्ण्यते॥

एषा क्षुन्नो बाधत इति अस्या विनाशे कृते युवयोस्तादृशत्वं विद्म इति नर्म व्यज्यते॥ १॥ विप्रभार्याया इति जात्यैकत्वं सर्वासु तत्प्रसादात्॥ २॥ उपवीतसंस्काराद्यैः केवलैर्धर्मैः प्रसादो न भवेत् किन्तु भक्त्यैवेत्येकस्यामेव ब्राह्मणजातौ क्रमाद्बोधनायादौ तद्विशिष्टान् विप्रान् प्रति गोपान् प्रेषयन्नाह प्रयातेति। देवयजनं यज्ञस्थानं ब्रह्म वेदस्तद्वादिनः॥ ३॥ आवाभ्यां विसर्जिताः प्रेषिताः सन्तो याचध्वम् ननु गोपेभ्यः कथं ब्राह्मणा दद्युर्द्दत्तं वा कथं ग्रहीष्यामः प्रतिग्रहापात्रत्वात्तत्राह, आर्यस्य बलदेवस्य मम चाभिधां कीर्त्तयन्त इत्यावयोः पात्रत्वात्—

अतः पात्रतरः कोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते। कृष्णात् कमलपत्राक्षात् देवदेवाज्जनार्दनात्॥

इति स्मृतेः॥ ४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरि ॐ ॥ भगवद्भक्तिरेव मुक्तिसाधनं न तन्त्रं श्रुतिश्रवणादिकमिव पुंस्त्वमपीति प्रतिपादयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ गोपालगोविन्दकथां तदुपयोगिनीं कीर्तयति श्रीशुक इवि वक्ति ॥ श्रीशुक इति । तस्या क्षुधः शान्ति प्रशमम् । शान्तिः प्रशममंगल इति यादवः । शान्तिः शमेऽपि कल्याण इति विश्वः ॥ १ ॥ भक्ताया विप्रभार्याया उपरीदं वक्ष्यमाणं । सैका प्रतिप्रविघृता पदमाप विष्णोरित्यादेस्तदेवैकस्याः कायत्यागे ससद्गतिवितरणमित्येमवचनं युक्तं । या विप्रभार्यास्तासु च प्रसीदन्नित्यप्यान्तरङ्गिकोऽपि भावो विभाव्यः ॥ २ ॥ देवयजनं देवा इज्यन्ते यत्रेति देवानां यजनं यस्मिन्निति वा यज्ञवाटं प्रति यात । ब्रह्मवादिनो वेदवादिनो ब्राह्मणाः सत्रं बहुदिनसाध्यं बहुकर्तृकं च तन्नामानमाङ्गिरसं बृहस्पतिसवनमिति नामप्रसिद्धं स्वर्गकाम्यया तदिच्छयाऽऽसते कुर्वन्ति। धात्वनेकार्थ्यात् । हि यतस्तत्र प्रयात । तत्राभ्यागतेभ्योऽन्नवितरणं विहितं मयाऽभिहितमित्यभिहिते तु सुमिलं तदिति भावः। आवाभ्यां विसर्जिता नियुक्ता आर्यस्य मम चाभिधां च कीर्तयन्तस्तत्र गत्वौदनं याचत । तद्दिनमारभ्य यायावयंचर्यं रामकृष्णाय नम इत्युच्चार्य याचना प्रववृत इति मन्तव्या । तत्र प्रथमत आर्यस्येति रामस्योक्तिश्च न तेऽन्नं दास्यन्ति किन्तु मत्सन्निधिमागत्य पुनर्गमनानन्तरं वत्मन्तिरेणान्नलाभ इति द्योतयितुं मम चेत्यन्तरमनन्तेन स्वनामोक्तिश्चानुगुणेति निपुणता निस्सीमेति मन्तव्यम् ॥ ३-४ ॥

श्रीसुबोधिनी

कर्मज्ञाने वैदिके तु विशत्यध्याय उक्तवान् । उभयोर्निर्णयो यादृक् सोप्यत्र विनिरूप्यते ॥ १ ॥

साक्षाद्भगवतोक्तं हि यथापूर्वं न भासते । परम्परोक्तमप्येवं स्त्रिया भावस्तथापरः ॥ २ ॥

पूर्वाध्याये विद्या पञ्चपर्वोपदिष्टा तेन मोहः सर्वोप्यपगतो दैहिका धर्मास्तु नापगतास्तेपि चेदपगता भवेयुस्तदा कृतार्था भवन्तीति तद् विनिश्चित्य सर्वे गोपालाः परमाधिकारिणो विज्ञापयन्ति राम रामेति, आदरे वीप्सा, नाम्ना "रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते"तो यथात्मनि रतिर्भवति तथा कर्तव्यमितिप्रार्थना तत्र सामर्थ्यमाह महावीर्येति, अयं हि ज्ञानात्मकः श्रुतिरूप आवेसी च, भगवन्तं च प्रार्थयन्ति कृष्ण दुष्टनिबर्हणेति 'क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य' इतिश्रुतेः सदानन्दतिरोभावरूपा सदानन्दादेव गच्छतीति कृष्णेतिसम्बोधनं, यदीयं क्षुद् बाधिका मृत्युरूपापि भवति तथापि निवारणीयेति ज्ञापयितुमाहुर्दुष्टानिबर्हणेति, सर्व एव दुष्टास्त्वया निवार्यन्त इति, स्त्रीनिवारणे नास्माकं सामर्थ्यं, न हि विद्यया स्त्रिया क्षुद्रूपा स्त्री निवर्तते, तदाहुरेषा वै बाधते क्षुन् न इति, ननु तदभावे सद्यः शरीरपातः स्यात् ततो लीला भगवता सह न स्यादित्याशङ्क्याहुस्तच्छान्ति कर्तुमर्हथेति, तस्याः शम एव कर्तव्यो यथा न बाधते यथाज्ञानादिदोषनिवृत्तौ शास्त्रमुपायस्तथा क्षुन्निवृत्तावपि ज्ञानरूप एव कश्चनोपायो वक्तव्य इतिभावः ॥ १ ॥ भगवांस्तु संसारस्याग्रश्राद्भावेन गमनं स्यादिति विचिन्त्य सुतरां स्त्रीणामुपकारार्थं तत्रापि ब्राह्मणस्त्रीणां पुरुषाधिकाररहितानां धर्ममार्गमपि स्थापयितुं प्राप्तज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति विचिन्त्य प्रथमं पुरुषभिक्षामुक्तवान् द्रव्ये हि तेषां स्वाम्यमिति, अलौकिकैरुपायैः स्त्रीमुक्तिर्न स्यात् सर्वेषां च सत्सङ्गो न स्यात् ततः सम्प्रदायोच्छेदश्च स्यादभिमानाभावाद् दीनता तु नास्त्येव भगवत्कृपया नापि लोकेतो भगवान् याचनमेवोपदेष्टुकाम उत्तरं दत्तवान् नित्याहेतीति एवं गोपैर्विज्ञापितोपि भगवान् सर्वसमर्थोपि देवकीसुतः परमकृपालुः सुतरां स्त्रीषु कृपावान् भक्तिमार्गप्रवर्तको भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदंस्तस्याः प्रसादं करिष्यन्निदं वक्ष्यमाणं याचनरूपमब्रवीत् ॥ २ ॥ ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकं बीजरूपं तद् ब्रह्मणैव चेत् परिपुष्यते तदा ब्रह्मयोग्यं भवति यथा बीजं ब्राह्मण्यामेव पुष्टं ब्राह्मणान्नेनैव वृद्धिं गतं ब्रह्मसंस्कारैर्ब्रह्मणा वेदेन च व्याप्तं ब्रह्मभावाय कल्पते तथेदानीमपि जातं ज्ञानं ब्राह्मणान्नेनैव चेत् पुष्टिमेति तदा कार्यक्षमं भवति तत्रापि ब्राह्मणाः पूर्णज्ञानकर्मनिष्ठा न तु यादृशास्तादृशाः, अन्नमूलकमेव हि ज्ञान'मन्नेन प्राणा' इत्यादिपरम्पराश्रुतौ 'विज्ञानेनात्मानं वेदयती'त्यन्तभूतायां तथैव निरूपणात् "तस्मादन्नं ददत् सर्वाण्येतानि ददाती"ति च ब्राह्मणदत्तमेवान्नं भुक्तं सज् ज्ञानं जनयति तद्द्वारा सर्वदानाय ज्ञानं ब्राह्मण एव प्रतिष्ठितमिति, अन्यान्ने तु ज्ञानादिकमन्योक्तमेव स्यात् ततश्च न तद् ब्रह्मज्ञानं भवेदतो भगवान् प्रथमं ब्राह्मणस्वरूपमाह पश्चाद् याचनं वक्ष्यति प्रयातेति, देवा इज्यन्तेस्मिन्निति देवयजनं यज्ञभूमिस्तेषां भेदाः श्रुतावनेके, अयथाभूते देशे यज्ञो न कर्तव्य इतिज्ञापनार्थाः, ब्राह्मणा एव सर्वे न तु याज्यः कश्चित् क्षत्रियस्ते च स्वधर्मैरवदाताः, तदाह ब्रह्मवादिन इति ब्रह्मवदनशीलाः, ब्रह्म वेदो वेदार्थश्च, तादृशा मुख्याधिकारिण आङ्गिरसं सत्रं चतुर्विशतिरात्रं चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धं स्वर्गकाम्यये"त्यङ्गिरसो वै सत्रमासत ते सुवर्गं लोकमाय"न्नितिश्रुतेः स्वर्गो भगवत आनन्दांशो भगवदवतारो 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभव'दित्यत्र निर्णीतोतस्ये सर्वोत्तमाः सत्रिणः ॥ ३ ॥ तत्र गत्वा याचनं कर्तव्यमित्याह तत्र गत्वेति, अस्मद्विसर्जिता अस्मत्प्रेषिता न तु स्वतन्त्रतयान्यथा गमनेप्यपराधः स्यात्, स्वनाम्ना याचनीयं, तदाहार्यस्य बलभद्रस्य मम चाभिधां नाम कीर्तयन्तो याचत ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

विंशतितमेऽध्यायेऽध्यायार्थसन्दर्भे, उभयोर्निर्णयो यादृगित्यादि । उभयोर्ज्ञानकर्मणोः । भगवत्सम्बन्धं विना कर्मापि न सत्त्वशोधकम् । अन्यथा गोपवाक्यैरेव भगवद्भावः स्याद्विप्राणाम् । तथापि कर्मणो वैदिकत्वात् तस्य च भगवत्येव तात्पर्यवत्त्वात् पर्यवसानं भक्तावेव । तदपि न स्वतः, किन्तु भक्तसङ्गादेव । भक्त्यभावे वैयर्थ्यं च । भक्ताया इति वचनादेकस्याः प्रसङ्गेनान्यासामप्यङ्गीकारः । तादृशीनामपि सङ्गेन पुंसां भक्तिः । 'गृह्णन्ति नो न पतय' इतिवाक्यं श्रुत्वा हि तत्समाधानपूर्वकं प्रभुर्गमनमेवोक्तवान् । सम्पन्नं च तदेव । तेनाप्यशेषतया भजनं प्रभुर्न मनुते । तेन च भगवदन्तराय एव भवति । अतो न पुरुषार्थसिद्धिरिति ज्ञाप्यते । अन्यासामपि स्नेहवत्त्वेऽपि प्रसादविषय एव तद्धेतुत्वेन भक्तत्वोक्त्याऽन्यभावतो वैलक्षण्यमेतद्भावे ज्ञाप्यते । तच्च सर्वात्मभावत्वमेवेति ज्ञेयम् । पुष्टिलीलायामङ्गीकार एवात्र प्रसादः, न तु शीघ्रं मुक्तिः । पूतनादिसाधारण्येन प्रसादविशेषोक्तिरत्र विरुद्धा भवेत् । शरीरस्य मर्यादामार्गीयत्वेन तन्नाशपूर्वकं देयं दत्तवानिति हृदयम् । एवंरूपस्योर्निर्णयोऽप्युच्यत इत्यर्थः । ननु 'त्वय्यद्धा मयि कुर्वन्ती'ति प्राणबुद्धिमनःस्वात्मे'त्यादिना च स्वस्मिन्सहजप्रियत्वोक्त्या स्वेतरेषु प्रीतेरौपाधिकत्वेनापुरुषार्थत्वं स्फुटमेव भगवतोक्तमिति तच्छ्रुत्वापि कथं पत्न्यो गृहान् गता इत्यत आहुः साक्षाद्भगवतोक्तं हीति । यथा यथावत् तात्पर्यज्ञानपूर्वकं पूर्वमेव न भासत इत्यर्थः । गोपद्वारा ब्राह्मणेभ्यो यदुक्तं तत्परस्परोक्तम् । उत्तमाधिकाररहितानामिति शेषः । एतच्च 'प्रायःश्रुते'तिश्लोकविवरणे स्फुटीभविष्यति । ननु देहत्यागोत्तराधिकोत्कटभावोऽवश्यं पूर्वमप्यन्येषामपि ज्ञातः सम्भवतीति कथं प्रतिबन्धकरणमुपपद्यत इत्यत आहुः स्त्रिया भाव इति । परः सर्वासां पत्नीनां भावेभ्य उत्कृष्टः सर्वात्मभाव इति यावत् । स्त्रिया उत्तमनायिकाया भावस्तथा । यथापूर्वं न भासत इत्यर्थः । वस्तुन एव तथात्वादिति भावः । यद्वा । तर्हि पत्नीनां परम्परोक्तभानं कथमित्यत आहुः स्त्रिया भाव इति । यथा प्रभुवाक्यं दुर्बोधम्, तथा स्त्रीणां भाव एवोत्कृष्ट इत्यर्थः । तथा च प्रियसम्बन्धिवार्ताश्रवणजनितोत्कटभावेनैवागताः, न तु वचनतात्पर्यं ज्ञात्वेति भावः । जात्यभिप्रायेणैकवचनमुक्तम् । यद्वा । ननु 'प्रसीद'न्निति वाक्यात्प्रसादस्तस्यामवश्यं वाच्यः । स च देहत्यागः सद्योमुक्तिर्वेति न वक्तुमुचितम् । एतयोः पूतनादिसाधारणत्वादन्यस्य स्पष्टतयानुक्तत्वात् तत्कार्यं न किञ्चित्पश्याम इत्यत आहुः स्त्रिया भाव इति । यथा व्रजसीमन्तिनीनां तथास्या अपि भावः परः सर्वोत्कृष्टः सर्वात्मभावरूप इत्यर्थः । तथाच यथैतासु लीलां कृतवानेवमेवास्यामपीति । मर्यादामार्गीयत्वाद्देहो नाशितः । यदीयमत्रागता स्यात्तु निवर्तेतैव, सर्वात्मभाववत्त्वात् । अतोऽत्र प्रतिबन्धकं मर्यादादेहं नाशयित्वा नीतवानित्ययमेव प्रसादः । अन्यथा 'ये यथा मा' मिति प्रतिज्ञा न संगच्छेतेति भावः । यद्वा । नन्वेकस्यामेव प्रसादे को हेतुरत आहुः स्त्रिया इति । परः सर्वासां भावेभ्य उत्कृष्टोऽस्या भावोऽस्तस्तथेत्यर्थः ॥ ० ॥ भक्ताया विप्रभार्याया इत्यस्य विवरणे, ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकमित्यारभ्य कार्यक्षमं भवतीत्यन्तम् । अत्रायमाशयः । पूर्वाध्याये हि सर्वमत्रत्यं भगवदर्थमिति ज्ञानमुपदिष्टम् । एवं सति स्वविनियोगानर्हत्वज्ञानेन वस्तुमात्रे तथाकरणे व्यवहारविरोधेन च लीलाविरोधः स्यात् । अत एव क्षुन्निवारणस्यावश्यकत्वेन भगवदीयवस्तूपयोगभिया नूतनप्रार्थनम् । अन्यथा फलादिभ्य एव तत्सम्भवेप्रार्थनं व्यर्थं स्यात् । तेन यदुपयोगकरणे प्रभोरिङ्गितमस्ति तस्य तथाकरणम् । यत्रातथात्वं, न तत्र तथेति ज्ञानमपेक्षितम् । तत्रापि यदीदं मयैव भोक्तव्यमित्याग्रहः स्यात्तदैव बाललीलायां रसः स्यात्, अन्यथा शान्तरसमध्यपातित्वेन रसाभासः स्यात् । इदं चोपदिष्टज्ञाने जाग्रति न सम्भवतीति प्रथमं लोकानुरूपं पर्यवसानतो भगवद्गामि यज्ज्ञानं तद्यतो भवति तदिदमन्नमिति तथोक्तवान् । अन्नस्वामिनां बहिर्मुखत्वात् समर्पणकर्त्रीणां च भक्तत्वादुभयरवं तस्येति । अन्नस्य ज्ञानपोषकत्वं श्रुतिसिद्धम् ॥ २ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

विंशेऽध्याये कारिकायां कर्मेति विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधे कर्मज्ञाने उक्तवानित्यर्थः ॥ ० ॥ राम रामेत्यस्याभासे कृतार्था भवन्तीति कृतः साधितः सर्वं परार्थं कुर्यादिति भगवदुपदिष्टोर्थो यैस्तादृशा भवन्तीत्यर्थः, व्याख्याने, अयं हीति प्रथमचरणीयपदत्रयस्यार्थत्रयमुक्तं, प्रथमरामपदेन योगिरमणस्थानत्वाद् ज्ञानात्मक उक्तः, द्वितीयेन सङ्कर्षणत्वाच् श्रुतिरूपः, महावीर्यत्वेनेनावेशयुक्तः महासामर्थ्यस्यावेशकार्यत्वात्, सदानन्देति भातृत्वेन दुष्टत्वात् सत्तिरोभावो दुःखस्वरूपत्वादानन्दतिरोभावः, अभावः प्रतियोगिनैव नाश्यो भवतीति एवकारः, अस्याः दुष्टत्वे प्रमाणत्वेन श्रुतिरुक्ता, एषेत्यत्र स्त्रीत्वमक्षरार्थस्तदाभासमाहुः स्त्रीनिवारणे इति, विद्यया स्त्रियेति सर्वं भगवदीयमितिज्ञानमुपदिष्टं, तथा च पारतन्त्र्यं तथेतरदितिवाक्याद् भगवदधीनत्वलक्षणलीत्वं ज्ञाने प्रकारतया वर्तते, तथा च ज्ञानस्य विषयाकारत्वात् स्त्रीत्वर्थः, अप्रपञ्चाद्भावेनेति पूर्वस्य संसारस्य नाश उत्तरस्य चानुत्पादः स्यादित्यर्थः ॥ १ ॥ इतीत्यत्र ज्ञानाद्युपायेन शान्तिविज्ञापितत्वात् तदनुरूपं सामर्थ्याननुरूपं च याचनोपदेशनमिति तत्र विशेषणयोर्हेतुत्वं न सम्भवतीति अपिशब्दार्थपरतया व्याचक्षते विज्ञापितोपीति, विज्ञापनसामर्थ्ययोरननुरूपमपि याचनोपदेशं देवकीसुतत्वाद् भक्तायाः प्रसादार्थं कृतवानित्यर्थः ॥ २ ॥ प्रयातेत्यत्र अतस्ते सर्वोत्तमा इति, स्वर्गकामनायामपि तस्य भगवदानन्दांशत्वेन कर्मणो विकृतत्वाभावादित्यर्थः ॥ ३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

विंशत्यध्यायार्थोक्तौ कर्मज्ञाने वैदिके त्विति 'इत्युक्ता यज्ञपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ते चानसूयवः स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारय'न्निति वाक्योक्तं वैदिकं कर्म, 'देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः देवता यजमानश्च क्रतुधर्मश्च यन्मय' इति वाक्योक्तं वैदिकं ज्ञानं विंशत्यध्याये उक्तवानित्यर्थः । साक्षाद् भगवतोक्तं हीति इदं स्फुटं टिप्पण्यां, स्त्रिया भाव इति एतत् बहुप्रकारेण स्फुटीकृतं टिप्पण्याम् ॥ ० ॥ राम राम महावीर्येत्यत्र रामपदनिरुक्तौ 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते' इतिश्रुतिरुपन्यस्ता, यद्यपीयं श्रुतिः रामतापनीये वर्तते इति रघुवरविषयकास्ति न बलरामविषयका तथापी'ति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयत' इतिपरब्रह्मवाचकत्वमस्याः श्रुतेर्दृश्यते, प्रकृते बलरामे पूर्णपुरुषोत्तमावेशात् पुरुषोत्तमत्वमेवास्तीत्यस्याः श्रुतेर्बलदेवेऽप्युपन्यासो युक्त एवेत्याकलितव्यं, बलरामे पुरुषोत्तमावेशे किं प्रमाणमिति चेच्छ्रूयतां भगवता बलदेवं प्रति वृन्दावनस्य वृक्षपश्वादिस्वरूपं निरूपयता गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्री'रितिभगवदेकभोग्यायाः श्रीलक्ष्म्याः स्पृहानिरूपणं मानं भगवदेकभोग्यानां श्रीगोपिकानां भुजान्तःसम्बन्धनिरूपणं च मानमितिबोद्धव्यं, अतो यथात्मनि रतिरित्यादि आत्मनि स्वस्मिन् रामस्वरूपे यथास्माकं रतिर्भवति तथा कर्तव्यं, यतस्त्वयि रामे रतिर्योगिनामेव भवत्यतो वयमपि योगयुक्ताः कर्तव्याः, योगे हि क्षुत्पिपासापारतन्त्र्यं निवर्तिष्यत इतिभावः ॥ १ ॥ संसारस्याग्रपश्चाद्भावेनेति ज्ञानोपदेशेन संसारे निवर्तनीये अग्रपश्चाद्भावेन संसारगमनं भविष्यति न तु युगपदितिक्रमेण संसारधर्मा निवर्तनीया इतीच्छया ज्ञानोपदेशं न कृतवानपि तु पुरुषभिक्षामुपदिष्टवानित्याहुर्भगवांस्त्वित्यारभ्य उक्तवानित्यन्तेन, ततः सम्प्रदायोच्छेदश्चेति सत्सङ्गाभावे भक्तिमार्गसम्प्रदायोच्छेदो भवेदित्यर्थः, 'सत्सङ्गेन विनोद्धवे'त्येकादशस्कन्धे उद्धवं प्रति भगवद्वाक्यात्, ननु भिक्षार्थगमने गोपानां दीनता भविष्यतीत्याशङ्क्याहुरभिमानाभावाद् दीनता तु नास्त्येवेति, समानस्याग्रे याचने दीनता भवति अभिमानस्य विद्यमानत्वात्, एतेषां दीक्षितानां पूज्यत्वात् पूज्ये चाभिमानस्याभावाद् दीनता नास्तीत्यर्थः, ननु वस्तुतो दीनताया अभावेऽपि लोके तथा प्रसिद्ध्या दीनता स्यादित्याशङ्क्याहुर्भगवत्कृपया नापि लोके इति, भक्ताया विप्रभार्याया इत्यस्य विवरणे ज्ञानं हि ब्रह्मात्मकमित्यारभ्य कार्यक्षमं भवतीत्यन्तं एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ २-३ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

विंशाध्यायारम्भे कर्मज्ञाने इति का० २०३३-२०४३ । कर्मज्ञाने इति विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादापुष्टिभेदेनद्विविधे कर्मज्ञाने उक्तवानित्यर्थः, ननु "नन्वद्धा मयि कुर्वन्ती"त्यादि भगवद्वाक्यं श्रुत्वापि कथं पत्न्यो गृहान् गता इत्यत आहुः साक्षाद्भगवतोक्तं हीति, यथा यथावत् तात्पर्यज्ञानपूर्वकं पूर्वमेव न भासते इत्यर्थः, गोपद्वारा ब्राह्मणेभ्यो यदुक्तं तत् परम्परोक्तं तदपि उत्तमाधिकारहीनानां पूर्वं न भासते इत्यर्थः, ननु पत्नीनां भगवद्विषयकार्त्यतिशयं दृष्ट्वा देहत्यागसम्भावनायामपि कथं प्रतिबन्धकरणमुपपद्यते इत्यत आहुः स्त्रियाभावस्तथापर इति, परः सर्वासां पत्नीनां भावेभ्य उत्कृष्टः स्त्रिया उत्तमनायिकाया भावो यथा पूर्वं न भासत इत्यर्थः, वस्तुन एव तथात्वादितिभावः, एतच्च टिप्पण्यां प्रकारचतुष्टयेन व्याख्यातम् ॥ ० ॥ राम राम महावीर्येत्यत्र रमन्ते योगिनो ह्यस्मिन् चिदानन्दे परात्मनि इति रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते यद्यपीत्थं श्रुतौ रामतापनीस्था दाशरथिविषया तथापि बलदेवेऽपि पुरुषोत्तमावेशेन परब्रह्मत्वादुदाहृता, पञ्चमस्कन्धनिबन्धे 'रामः कदाचित् पुरुषोत्तम' इत्यादिना दाशरथेरपि पुरुषोत्तमत्वं निर्णीतं, नवमस्कन्धेऽपि "अथवा रघुनाथो हि पुरुषोत्तम उच्यत" इति ॥ १ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

त्रयोविंशे स्वपूर्णस्य कृष्णस्य जगदीशितुः । कृपया विप्रपत्नीभ्यो ह्यन्नयाच्ञा निरूप्यते ॥ १ ॥

गोपवाक्यमाह - रामरामेति । ज्येष्ठत्वात् प्रथमं रामसम्बोधनम् । वीप्सा आदरार्था । 'बाधानिवर्तने सामर्थ्यं तवास्ति' इत्याशयेन सम्बोधयन्ति —हे महावीर्येति । 'क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य' इति श्रुतेः 'क्षुधोऽपि शत्रुत्वात् सर्वशत्रुविनाशकस्य तव क्षुन्निवर्तकत्वमप्यावश्यकम्' इत्याशयेन कृष्णं सम्बोधयन्ति—हे कृष्ण ! हे दुष्टनिबर्हणेति । एषा क्षुत् नोऽस्मान् बाधते पीडयति, अतस्तस्याः शान्तिं निवृत्तिं कर्तुं युवामर्हथः ॥ १ ॥ इत्येवं गोपैर्विज्ञापितः क्षुन्निवृत्त्यर्थं प्रार्थितो भगवान् देवकीसुतः कृपालुः कृष्णः भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् । 'भक्ताया' इति प्रसादे हेतुः सूचितः । एकवचनं तु सद्यः सायुज्यं गता तदभिप्रायेण, जात्यभिप्रायेण वा ॥ २ ॥ भगवद्वचनमाह—प्रयातेति द्वयेन । हे गोपाः ! ब्रह्मवादिनः वेदार्थोपदेष्टारो ब्राह्मणाः स्वर्गकाम्यया स्वर्गप्राप्तीच्छया आङ्गिरसं नाम सत्रं यागमासते अनुतिष्ठन्ति, तद्देवयजनं यज्ञवाटं प्रयात गच्छत । तत्प्रसिद्धिं द्योतयति—हीति ॥ ३ ॥ तत्र गत्वा च तेभ्य ओदनं याचत । एवमुक्तेऽपि याचने विलज्जमानान् दृष्ट्वाऽऽह—अस्मद्विसर्जिता इति । आवाभ्यां प्रहिताः, अतो युष्माकं का तत्र लज्जेत्याशयः । ननु 'एवमपि युवां को वा जानाति ? याचनं तु साक्षादस्माकमेव, अतो लज्जा कुतो न ?'' तत्राह—आर्यस्य रामस्य मम चाभिधां नाम कीर्तयन्त इति । 'तथाप्यपात्रत्वं मत्वा कथं दास्यन्ति' इत्याशङ्क्याह—भगवत इति ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्रयोविंशे यज्ञपत्न्यनुग्रहोन्नार्थंनामिषात् । अनुतापस्तत्पतीनां तत्र श्लोका मुजेषवः (५२) ॥
उवाचपञ्चकं (५) सार्द्धाः शरबाणा (५५॥) अनुष्टुभः ॥ २३ ॥

रामेति ॥ हे रामेत्यादिसम्बुद्धयः । एषा क्षुत् नोऽस्मान् बाधते अतस्तस्याः शान्ति कर्तुं युवामर्हथः ॥ १ ॥ इतीति ॥ इत्येवं गोपैर्विज्ञापितः प्रार्थितो भगवान् देवकीसुतः भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् । एकत्वं जात्यभिप्रायेण सद्यः सायुज्याभिप्रायेण वा । एकस्यास्तु भविष्यन्तीं दशमीं दशामनुस्मृत्य प्रकर्षेण सीदन्निति द्वितीयस्याप्यर्थस्य लाभाय एकत्वमिति केचित् ॥ २ ॥ प्रयातेति ॥ हे गोपाः ! यत्र ब्रह्मवादिनः ब्राह्मणाः स्वर्गकाम्यया स्वर्गप्राप्तीच्छया आङ्गिरसं नाम सत्रं यागमासते अनुतिष्ठन्ति तत् देवयजनं यज्ञवाटं प्रयात गच्छत ॥ ३ ॥ तत्रेति ॥ हे गोपाः ! आवाभ्यां विसर्जिताः प्रहिताः अतो युष्माकं का लज्जा । यूयं तत्र गत्वा भगवत आर्यस्य बलदेवस्य मम च अभिधां नाम कीर्तयन्तः सन्तः ओदनं याचत ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं त्रयोविंशाध्याये ऋषिपत्नीनामनुग्रहस्तत्पतीनां पश्चात्तापश्च प्रोच्यते । दुष्टानां निबर्हणनाशक क्षुत्क्षुधा रामेति वीप्स्या तु क्षुत्पीडनेन बोध्या ॥ १ ॥ विप्रभार्याया इत्येकवचनमार्षं ॥ २ ॥ देवानां यजनं यज्ञोऽस्त्यस्मिस्तत् देवयजनं यज्ञस्थानं प्रयात यत्र ब्रह्मवादिनः ब्रह्मणि वेदे वादाः ये फलवादास्तद्वंतः वेदकर्मफलासक्ताः अतः स्वर्गस्य काम्यया इच्छया आंगिरसं नाम सत्रं यज्ञमासते कुर्वंतीत्यर्थः ॥ ३ ॥ आवाभ्यां विसर्जिताः प्रेषिताः आर्यस्य रामस्याभिधां माम् ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अन्नयाच्ञापदेशेन त्रयोविंशेऽथ गोपकैः । द्विजपत्न्यनुग्रहाद् कृष्णो दीक्षितांस्तानतापयद् ॥ ॥

इदमन्नं वन्निति यदुक्तं किं तदित्यत्राह । राम रामेति । हे महावीर्य, हे राम हे राम, हे दुष्टनिवर्हण दुष्टजनविनाशकारक, हे कृष्ण, नोऽस्मान्, एषा क्षुद् बाधते वै । तच्छान्ति तस्याः क्षुधः शान्ति कर्त्तुं, अर्हथः युवां समर्थौ भवथः ॥ १ ॥ इतीति । इतीत्थं, गोपैः विज्ञापितः विबोधितः, देवकीसुतः भगवान् कृष्णः, भक्तायाः विप्रभार्यायाः, विप्रभार्याया इत्येकवचनं जात्यभिप्रायम् । विप्रभार्याणां, प्रसीदन् ता अनुजिघृक्षुरित्यर्थः । इदं अब्रवीत् ॥ २ ॥ तदेवाह । प्रयातेति । ब्रह्मवादिनः ब्राह्मणाः, देवा इज्यन्ते पूज्यन्तेऽस्मिन्निति देवयजनं, आङ्गिरसं नाम आङ्गिरसाख्यं, आङ्गिरसेन बृहस्पतिना प्रोक्तं वा, सत्रं बृहस्पतिसवनाभिधं यागमित्यर्थः । स्वर्गकाम्यया स्वर्गप्राप्तीच्छया, आसते अनुतिष्ठन्ति हि । तत्र प्रयात गच्छत ॥ ३ ॥ तत्रेति । हे गोपाः, तत्र यज्ञवाटे गत्वा, अस्मद्विसर्जिता आवाभ्यां प्रेषिताः सन्तः, आर्यस्य बलस्य, भगवतः मम च, अभिधां नामधेयं, कीर्त्तयन्तः रामकृष्णाभ्यां वयं प्रेषिता भवाम इति कथयन्तः सन्तः, ओदनं भक्तं, याचत याचध्वम् ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

आद्ये ध्यानमबोधि भूरि यजनं त्रेता युगे द्वापरेऽर्हर्चा चरमे प्रशस्तमनिशं श्रीशाभिधाकीर्तनम् ।
तेषामाद्यतृतीययोर्निगदितौ धर्मौ स्फुटं प्राक्तनेद्वयध्यायेऽत्र कलिस्थसत्पथसमुल्लेखो बुधैर्बुध्यताम् ॥ १ ॥

राम रामेति । १०.२३.१.

ये येऽस्मानपकर्तुमुद्गतधियो दुर्दानवा नाशतस्ते सर्वेऽपि विभो सपद्यपशमं नीता बलेन त्वया ।
भूयो नाशितयाऽनया तु बहुधा बाधा क्षुधा दीयते तत्तच्छान्तिकृतेऽपि चिन्तय तथोपायं विना नाशनम् ॥ २ ॥
यच्छान्तावस्ततन्द्रं भुवि सकलजनो यत्नवानप्यनीशो यां जेतुं मुग्धचित्तास्तृणजलपवनाभ्भक्षिणस्तापसौघाः ।
तामेतां दुष्करान्तां क्षुधमतनुमपाकर्तुमेको न चालमित्यन्तश्चिन्तयन्तस्तदुभय-पुरतश्चक्रु रभ्यर्थनां ते ॥ ३ ॥
नैषा क्षुद्वैरिरूपा यदुदरगतया स्थीयतेऽस्मासु नित्यं यत्तुष्टौ पुष्टिभाजो वयमपि च सदा या जगद्वृत्तिहेतुः ।
मित्रीभूताऽपि साऽस्मिन् यददयहृदया पीडयत्यस्ततन्द्रं तत्तत्त्वज्ञो बलः स्याद् यदुपतिरथवेत्याशयात्ती समूचुः ॥ ४ ॥

प्रसीदन्निति । १०.२३.२.

क्षुधो निर्वाणार्थं कृतबहुलयत्ना ब्रजजनाः क्षुधार्तोऽपि श्रीशो द्विजवरवधूक्षेमहृदगभूत् ।
स्फुटं तद्वात्सल्यं स्वकमकृत भूमौ यदनिशं न मे क्षुद्वा तृड् वा निजजनपरित्राणसमये ॥ ५ ॥

प्रयातेति । १०.२३.३.

कालिन्दीपुलिनोत्थितस्य च वनोद्भूतस्य वह्नेः पुरा नासीच्छान्तिरनाशनात्तदधिकक्रूरस्स्वयं जाठरः ।
शान्तः स्यान्न विनाशनं क्वचिदपीत्यालोच्य मत्ये प्रभुस्तच्छान्त्यै कृतवांस्तदा तदशनोद्योगं वयस्यैः सह ॥ ६ ॥

हृद्वासनाशनायैकः शक्तो भक्तसमागमः । स्फुटीकुर्वन् प्रभुर्भक्तप्राप्त्यैतान् विनियुक्तवान् ॥ ७ ॥
अस्मास्वियं रतिरिहास्य जघन्यभाक्षु विप्रेषु साऽस्य कियतीति न तर्कयामः ।
तद्भ्रान्तिमेवमपहर्तु-मचिन्त्यशक्तिस्तान् प्राहिणोत् कलयितुं स्वमिहात्मवश्यम् ॥ ८ ॥
जानन्नप्यन्तरात्मा द्विजवरकरतो लभ्यते नान्नमेभिर्यत्तत्र प्राहिणोत्तान् द्विजसदसि सखींस्तत्र भात्याशयोऽयम् ।
वक्तारो ब्रह्मवार्तां सदसदमतयो ये च यज्ञध्वजा ये तेषां श्रद्धा न कुस्मितफलमपि न मत्प्रीतिरित्यत्र बोधः ॥ ९ ॥
तत्र गत्वेति ः १०.२३.४.

प्रणवाद्या दमध्यात्ता नान्तवर्णावलिर्द्विजैः । ज्ञाता न वेति विज्ञातुमूचे ह्योदनमेव तान् ॥ १० ॥
भोगिनश्चेद्रामनाम्नि भक्ताश्चेन्नाम्नि ते मम । श्रद्धालवो भविष्यन्तीत्यवोचन्नामनी द्वयोः ॥ ११ ॥
न मे ज्ञानं लोके कलियुगभवे व्यापकतया न वा सङ्गित्वेन स्फुटमपि न वै चित्सुखतया ।
कदाचिज्ज्ञाता चेत्कलयति स मामीशमभिधास्वरूपेणैवेति स्फुटमकृत विप्रेष्वपि हरिः ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

ग्वालबाल कहने लगे--हे हमारे प्यारे बलराम ! आप तो महाबली हो, और प्यारे श्रीकृष्ण बड़े-बड़े दुष्ट दैत्यों के निकंदन करने वाले हो । हमको इस समय बड़ी भूख लगी है । कृपा करके इस भूख की शान्ति का कुछ उपाय कीजिए ॥ १ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा—महाराज ! गोपों के यह प्रार्थना करन पर, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भक्त विप्रभार्या पर अनुग्रह करने के लिए इस प्रकार कहा ॥ २ ॥ प्यारे मित्र ! यहाँ से थोड़ो ही दूरी पर वेद निपुण विप्रवर स्वर्ग की कामना से आङ्गिरस नाम का यज्ञ कर रहे हैं। तुम लोग उस देवयजन शाला में जाओ ॥ ३ ॥ हे प्यारे गोप ! हमारे द्वारा भेजे हुए आप उस यज्ञस्थान में जाकर, मेरे बड़े भैया श्रीबलभद्रजी का और मेरा नाम लेकर कुछ थोड़ा सा भात भोजन के लिए माँग लाओ ॥ ४ ॥

इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा । कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥ ५ ॥
हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः । 'आप्ताञ्जानीत भद्रं वो गोपान् नो रामचोदितान् ॥ ६ ॥
गाश्चारयन्तावविदूर[2] ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।
तयोर्द्विजा ओदनमर्थिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥ ७ ॥
दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः । अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—इति भगवता आदिष्टाः ते तत्र गत्वा भुवि दण्डवत् पतिताः कृताञ्जलिपुटाः विप्रान् अयाचत हे भूमिदेवाः शृणुत नः गोपान् कृष्णस्य आदेशकारिणः रामचोदितान् प्राप्तान् जानीत, वः भद्रम् अस्तु ॥ ५-६ ॥ हे धर्मवित्तमाः ! अविदूरे गाः चारयन्तौ बुभुक्षितौ रामाच्युतौ वः ओदनम् लषतः, हे द्विजाः ! यदि वः श्रद्धा न (स्वकीयश्चान्नं भवेत्) अर्थिनोः तयोः ओदनम् यच्छत ॥ ७ ॥ हे सत्तमाः पशुसंस्थायाः दीक्षायाः सौत्रामण्याः च दीक्षायाः अन्यत्र, दीक्षितस्य अपि अन्नम् न दुष्यति ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अविदूरे वर्तमानौ संतौ वो यदन्नं तल्लषतोऽभिलषतः । वः ओदनं श्रद्धा च यद्यस्ति तर्हि यच्छतेति ॥ ७ ॥ दीक्षिता वयमभोज्यान्ना इति वदिष्यंतीति स्वयमेवाशंक्याहुः । दीक्षाया आरभ्याग्नीषोमीयपश्वालंभनात्पूर्वं दोषः न ततोऽन्यत्र । तथा सौत्रामण्याश्चान्यत्रान्यदा ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ते गोपाः । यथा भगवतोक्तं तथा तेन प्रकारेण ॥ ५ ॥ 'भूमिदेवो द्विजोत्तमः' इति हलायुधः । आदेश आज्ञा ॥ ६ ॥ ननु तौ न ब्राह्मणौ कथं ब्राह्मणभोजनात्पूर्वं ताभ्यां दास्यामस्तत्राहुः—बुभुक्षितौ । 'अन्नस्य क्षुधितः पात्रम्' इति स्मृतिं जानीथेति भावः । किमप्यवदतस्तान्पुनराहुः—हे द्विजास्तयोरर्थिनोर्वो यदि श्रद्धा तर्हि यच्छत नो चेन्नेति ब्रूत, वयं परावृत्य याम इति भावः । धर्मवित्तमा अत्रान्वयव्यतिरेकयोर्धर्माधर्मौ वयं पुनः किं ब्रूम इति भावः । श्लेषेण ययोर्नाम्नैव सर्वजगदप्यतिद्रुतीभूयानुरज्यति तौ रामकृष्णावतिक्षुधार्त्तावादिनावपि श्रुत्वा यत्तूष्णीं भवथ अतो यूयं द्विजाः पितृद्वयजाता एवेत्याक्षेपश्च । धर्मवित्तमा इति

१. प्राप्ता—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. न्तौ न विदु—गो. प्रे. टी. ।

विपरीतलक्षणया। यद्वा—'धर्मो धर्मविदुत्तमाः' इति सहस्रनामसु धर्मविद्वरिस्तस्य तमोऽज्ञानं येषां ते तथा। सान्तानामदन्तत्वादापत्वाद्वा रूपसिद्धेः हरिविमुखा इत्यर्थः। 'श्रद्धास्तिक्याभिलाषयोः' इति यादवः॥ ७॥ 'दीक्षितान्नं न भोक्तव्यम्' इति शास्त्रादभोज्यान्नाः। आरभ्य प्रारभ्य। ततोन्यत्र पश्वालंभात्परत्र कर्मांतरे। "आग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इति विहिता पशुसंस्था, "सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति" इति विहिता सौत्रामणिस्ताभ्यामन्यत्रेत्यर्थः। दीक्षानंतरं पशुसंस्थायाः आग्नीषोमीयपश्वालंभनात्पूर्वमेव दोषः न ततोन्यत्र "कर्मांतरे प्रवृत्तस्या अन्नमश्नन्न दुष्यति" इति। पशुसंस्था चेदानीं जातैवेति भावः। सौत्रामण्यां तु सर्वदैव दुष्यतीत्यर्थः॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

इत्यादिष्टा इति तदादेशगौरवेणैवेत्यर्थः। याज्ञिकानां दौश्शील्यं विशेषयितुं तेषां सौशील्यमाह—कृतेति॥ ५॥ हे भूमिदेवाः! इति भक्त्या सम्बोधनं स्वभावतः कृष्णप्रधानचेतस्त्वेनाहुः-कृष्णस्येति। श्रीकृष्णोक्तिक्रमविस्मृतिमभिनीयाहुः रामेति। तत्र प्रेषणे तु रामादेश एव मुख्य इत्यर्थः। अत एव तत्सम्वरणार्थं मध्यं भद्रं व इति स सम्भ्रमादरोक्तिः॥ ६॥ किमर्थं प्राप्ताःस्थ तत्राह—गा इति। ननु, कथमविदूरे तौ तदाहुः गाश्चारयन्ताविति। मानरक्षार्थं तत्रान्नार्थाऽऽगमनं परिहृतं अन्नमिति स्वामिपाठः ओदनमिति पाठो बहुत्र अर्थस्तु समानः भिस्साग्त्री भक्तमन्धोन्नमोदनो स्त्री स दीदिविः" इत्यमरः यद्वा कुतो बुभुक्षितौ तत्राहुः गाश्चारयन्तौ गोचारणेन तत्र च दूरागमनेन परिश्रमादित्यर्थः। बुभुक्षिताविति तयोरेव बुभुक्षयान्नप्राप्तिसिद्धेः। यद्वा, तौ कुतोऽत्र नायातौ तत्राहुः, गा इति। तौ विना गवां रक्षा न भवेदिति भावः। ननु, सम्प्रति कुत्र तौ तिष्ठतः तत्राहुः अविदूरे प्रायो निकट एवेत्यर्थः। इदं निजवचनप्रामाण्याय तेषां सङ्कोचनाय च रामाच्युताविति ब्राह्मणेभ्यो भयेन ज्येष्ठक्रमेण निर्द्दिष्टं लोकरमणात् रामः सर्वगुणात् च्युतिरहित इति माहात्म्यमन्नलब्धये ध्वनितं वो युष्माकमेवान्नमिति तदितरान्नं निरस्तम्। ननु, तथापि सत्रं परित्यज्य गन्तुं न शक्यते तत्राहुः यच्छत अस्मास्वेव समर्प्पयतेति यद्यस्तीति विनयः अथ च सतोऽर्थिभ्योऽप्रदानमधर्मं इति गूढो भावः अत एवाहुः धर्मवित्तमा इति तमप्प्रत्ययः स्तुत्यर्थमेव नतु तत्त्वतः धर्मतत्त्वाज्ञानात् एवमग्रे सत्तमा इति च॥ ७॥ दीक्षाया इत्याद्युक्तिः तेषां स्वाभाविकपाण्डित्यं व्यनक्ति अतः पशुसंस्था च जातेति अनुष्ठानविशेषेण परिचितं हीति शास्त्रप्रसिद्धया निश्चिन्वन्ति स्म दीक्षामारभ्य पशुसंस्थातः पूर्वं दुष्यति ततोऽन्यत्र ततःपरं न दुष्यति सौत्रामण्याश्चान्यत्र न दुष्यति सौत्रामण्यां तु दुष्यतीत्यर्थः। तदेवमपरमपि समयासमयादिविचारं जानन्तं एव याचामह इति भावः॥ ८॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इति भगवतादिष्टा इति तदाज्ञापालनस्यावश्यकत्वादित्यर्थः। तथेति यथा तेनादिष्टं तेनैव प्रकारेणेति गोपानां तेष्वनादरमालक्ष्य ब्राह्मणान् प्रति भक्त्या प्रणामादिकमपि तेनैवादिष्टमिति बोधयति; यद्वा, श्रीवैष्णवप्रवराणां तेषां स्वभावतो विप्रेषु भक्तिरस्त्येव, ततश्च तथा तेन नामकीर्त्तनादिप्रकारेण अयाचन्तेति॥ ५॥ तदेवाह—हे भूमीति! हे भूमिदेवा इति भक्त्या विप्राणां सम्बोधनम्, यद्यपि आर्य्यस्येति श्रीकृष्णेनादौ निर्द्दिष्टं तथापि तेषां स्वभावतः कृष्णे भक्तिविशेषेण कृष्णस्यादेशकारिणः सेवकानिति प्राग्युक्तिः, प्राप्तान् आगतान् तच्छ्रवणे आदरमनालक्ष्य तेषां महापराधं मत्वा कृपया क्षेममाशासते—वो भद्रमस्त्विति। यद्वा, भवत्युक्तिस्वभाव एव याचकरीत्यनुसाराद्वा। ननु कृष्णसेवका यूयं कथमत्रागताः? तत्राहुः—रामेति। कृष्णाज्ञया रामेण प्रेषणादित्यर्थः। एवमात्मनां श्रीकृष्णरामानुगत्वं तथा कृष्णे भक्त्याधिक्यं तथा कृष्णस्य माहात्म्यञ्च रामतोऽधिकं बोधितम्। यद्वा, कृष्णस्यादेशकारिण इति कृष्णादेशेन रामेण चोदिता इति रामप्रेरणया च प्राप्तानित्यर्थः। एवं द्वाभ्यामेव प्रेषणं ज्ञापितम्, तथापि कृष्णादिष्टक्रमातिक्रमस्तेषां कृष्णे भक्तिस्वभावादेव कृष्णरामनाम्नोरन्वर्थतया, किंवा, तत्तत्संज्ञयैव माहात्म्यभरेण सर्व्वत्र सुप्रसिद्धया तयोरैश्वर्यं सूचितम्। अतस्तत्सेवका वयं तदाज्ञयैवागताः स्मः, न तु स्वयमित्यर्थः॥ ६॥ किमर्थं प्राप्ताः स्थ? तत्राहुः—गा इति। ननु कथमविदूरे तौ? तत्राहुः गाश्चारयन्ताविति। इति मानरक्षार्थं तत्रान्नार्थागमनं परिहृतम्, अन्नमित्यत्र ओदनमिति पाठः। क्वचित्। तथापि यदन्नमिति तेषां व्याख्यापि संगच्छेतैव, अन्नमात्रानुसारात्, ओदनशब्देन प्रायो भक्तमेवोच्यते, तस्यैव सुखभोज्यत्वात्। यद्वा, कुतो बुभुक्षितौ? तत्राहुः—गाश्चारयन्तौ गोचारणेन तत्र च दूरागमनेन श्रमादित्यर्थः। यद्यपि त एव बुभुक्षिताः न च तौ क्षुधार्तौ इत्युक्तेः, तथापि बुभुक्षिताविति तयोर्बुभुक्षयैवान्नप्राप्तिसिद्धेः। किंवा, स्नेहविशेषेण निजक्षुधया तयोरपि क्षुदनुमानादेव; यद्वा, तौ कुतोऽत्र नायातौ? तत्राहुः—गा इति। तौ विना गवां रक्षा न भवेदिति भावः। ननु सम्प्रति कुत्र तौ तिष्ठतः? तत्राह—अविदूरे प्रायो निकट एवेत्यर्थः। रामाच्युताविति द्वन्द्वसमासतो ब्राह्मणेभ्यो भयेन ज्येष्ठक्रमेण निर्दिष्टः, लोकरमणाद् रामः, सर्व्वगुणात् च्युतिरहितोऽच्युतऽच्युत इति माहात्म्यमन्नलब्धये ध्वनितम्। वो युष्माकमेवान्नमिति तदितरान्नं निरस्तम्। ननु तथापि सत्रं परित्यज्य गन्तुं न शक्यते, तत्राहुः—यच्छत अस्मास्वेव समर्पयतेति। चकारादोदनश्च यद्यस्ति, सतोऽर्थिभ्योऽप्रदानमधर्म्म इति भावः। अतएवाहुः—हे धर्म्मवित्तमा इति। यद्वा, ननु दानस्य पात्रं विप्र एव, न त्वन्यः? तत्राहुः—'अन्नस्य क्षुधितः पात्रम्' इति धर्म्मो धर्म्मशास्त्रं वा भवद्भिर्नितरां ज्ञायत एव, अन्यथा त्वधर्म्मं एवेत्यर्थः। तमप्रत्ययः स्तुत्यर्थमेव,

न तु तत्त्वतः, धर्म्मतत्त्वाज्ञानात् । एवमग्रे सत्तमा इति च ॥ ७ ॥ दीक्षाया इत्याद्युक्तिस्तेषां स्वतःपाण्डित्यादेव, तत्र सौत्रामण्याश्चेति दृष्टान्तत्वेनोक्तम्, हीति शास्त्रप्रसिद्धया निश्चिन्वन्ति स्म ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

लषतः अन्नमिच्छतः ॥ ७ ॥ दीक्षाया इति दीक्षापूर्विकायाः अग्निषोमीयपशुसंस्थायाः ऊर्ध्वं सौत्रामण्या अन्यत्र अनन्तरेषु दीक्षितस्य यजमानस्यान्नं न दुष्यतीत्यर्थः ॥ ८-९ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

भगवतेत्थमादिष्टास्ते गोपास्तत्र गत्वा यथोक्तमयाचन्त, याच्ञाप्रकारमेव दर्शयति—कृताञ्जलिपुटाविति। तावद्विप्रानुदिश्य भुवि दण्डवत्पतिताः कृतान्यञ्जलिपुटानि यैस्ते तथाभूतास्ते गोपाः ॥ ५ ॥ हे भूमिदेवाः ! शृणुत किं कृष्णस्याज्ञाकारणशीलान् रामेण चोदितानिह प्राप्तानस्मान् गोपालान् जानीत वो युष्मभ्यं भद्रमस्तु ॥ ६ ॥ किमर्थं चोदिता इह प्राप्ताश्चेत्यत्राह—गाव इति । इतोऽविदूरे समीपे गाश्चारयन्तौ रामकृष्णौ बुभुक्षितौ क्षुधितौ वः युष्माकमोदनं लषतोभिलषत इच्छत इति यावत् यल्लषत इतिपाठे यद्यस्माल्लषतः अतो हे द्विजाः वः युष्माकं श्रद्धा वर्तते चेत्तर्ह्यर्थिनोस्तयोः ओदनं यच्छत दीक्षितानामस्माकमन्नं न भोज्यमिति इमां शङ्कां निराकुर्वन्तः सम्वोधयन्ति, हे धर्मवित्तमाः इति ॥ ७ ॥ तदेवोपपादयन्ति—दीक्षाया इति । हे सत्तमाः! दीक्षायाः दीक्षापूर्विकाया अग्निष्टोमीयपशुसंस्थाया ऊर्ध्वं सौत्रामण्या अन्यत्रानन्तरे च दीक्षितस्य यजमानस्यान्नमश्नन्न दुष्यति वुभुक्षिरिति कर्तृपदमध्याहर्त्तव्यं दीक्षितशब्दोऽत्र यजमानपरः सौत्रामण्यां दीक्षणीयेष्टिपूर्वकसङ्कल्पाभावात् ॥ ८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

निराधारो दण्डो यथा पतति ॥ ५ ॥ हे भूमिदेवाः ब्राह्मणाः "भूमिदेवो द्विजोत्तमः" इति हलायुधः ॥ ६ ॥ लषतोऽभिलषत इच्छतः श्रद्धा आस्तिक्यम् अभिलाषो वा "श्रद्धास्तक्याभिलाषयोः" इति यादवः ॥ ७ ॥ ननु, दीक्षितान्न न भोक्तव्यमिति शास्त्रविरोधं परिहरति दीक्षाया इति । दीक्षायाः व्रतसङ्ग्रहरूपायाः वर्त्तमानायाः सत्यः पशुसंस्थायाः अग्नीषोमीयपश्वालम्भादूर्ध्वं दीक्षितस्यान्नमश्नन् सौत्रामण्यास्तथा सौत्रामणीनाम्न्या इष्टेश्चान्यत्र कर्मान्तरे दीक्षितस्य चान्नं न दुष्यिति ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

कृष्णस्येति श्रीकृष्णोक्तिः क्रमविस्मृतिमभिनीय तत्सस्मरणार्थं सादरं किञ्चिदाहुर्भद्रमिति श्रीकृष्णादेशवदाहु रामेति ॥ ६-७ ॥ दीक्षामारभ्य पशुसंस्थानतः पूर्वं दुष्यति सौत्रामण्याश्च सर्वदैव दुष्यति ततोऽन्यत्र न दुष्यतीत्यर्थः ॥ ८-१० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवं विश्वस्ताः सन्तो व्रजवालास्त्वरितमेव तत्र जग्मुरित्याह—इत्यादिष्टा इति द्वाभ्याम् । कृष्णस्यादेशकारिणस्तत्रापि रामप्रेरितान् नोऽस्मान् प्राप्तान् जानीत, स्वतो वयं प्राप्ता इति न जानीतेति भावः ॥ ५-१० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

यद्यपि (४ र्थं-श्लो०) "आर्यस्य मम चाभिधाम्" इति द्वयोर्नाम्ना याचतेति भगवतोक्तम्, तथापि 'हे भूमिदेवाः ! शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः' इति प्राधान्येन कृष्णस्यैव नामाभिदधुः, रामेण चोदितान् प्रेरितान् रामेण च उदितानिति वा रामस्य नाम पश्चादेवाभिदधुः—तेषां तं प्रति सिद्धसङ्कल्पतया शतशोऽनुभवात् ॥ ६-१० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कृताञ्जलिपुटा इति स्वेषां सौशील्यमभिव्यञ्जयितुं तच्च तदानीं भिक्षाप्राप्त्यर्थकमेव दण्डवत्पतिता इति स्वीयव्रजस्य विप्रेभ्योऽपि सकाशात्तानतितेजस्विनो मत्वेत्यर्थः ॥ ५ कृष्णस्यादेशकारिण इति तस्य नन्दराजपुत्रत्वेन रामतः सकाशादैश्वर्याद् रामचोदितानित्यस्मद्द्वारा राम एवान्नं प्रथमं भिक्षते इत्यभिप्रायेण ॥ ६ ॥ वो युष्मान् लषतः भिक्षेते ओदनम् अन्नं चेति पाठद्वयं तुल्यार्थम् । ननु, तौ ब्राह्मणौ न भवत इति ब्राह्मणभोजनात् पूर्वं कथं दास्यामस्तत्राहुः—बुभुक्षितौ "अन्नस्य क्षुधितः पात्रम्" इति प्रमाणं जानीथेवेति भावः । किमप्यप्रतिवदतस्तानालक्ष्य पुनराहुः हे द्विजाः! तयोरर्थिनोर्वो यदि श्रद्धा अस्ति तर्हि यच्छत नोचेन्नेति ब्रूत वयं परावृत्य याम इति भावः धर्मवित्तमा इति खल्वन्वयव्यतिरेकयोर्धर्माधर्मौ वयं पुनः किं ब्रूम इति भावः श्लेषेण पितृद्वयजाता ययोर्नाम्नैव सर्वजगदप्यतिद्रुतौ भूयानुरज्यति तौ रामकृष्णौ क्षुधार्त्तावर्थिनावपि श्रुत्वा यत्तूष्णीं भवथ अतो यूयं द्विजाः इति बहिष्कृत एवेत्याक्षेपक्ष धर्मवित्तमा इति विपरीतलक्षणया ॥ ७ ॥ "दीक्षितान्न न भुञ्जीत" इति वचनाद्दीक्षिता वयमभोज्यान्न इति

तीति स्वयमेवाशङ्क्याहुः—दीक्षाया दीक्षानन्तरं पशुसंस्थायाः अग्नीषोमीयपश्वालम्भात् पूर्वं दोषः न ततोऽन्यत्र ततः परन्तु अन्नमश्नन्न दुष्यतीति पशुसंस्थाचेदानीं जातैवेति भावः तथा सौत्रामण्यां च अन्यत्र न दुष्यति सौत्रामण्यान्तु सर्वदैव दुष्यतीत्यर्थः ॥८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

इतोऽविदूरे गाश्चारयन्तो वः युष्माकमोदनं लषतोऽभिलषितः यदि वो युष्माकं श्रद्धा चेत्तर्हि तयोरर्थिनोः ओदनं यच्छत ॥७॥ ननु, दीक्षतावयमभोज्यान्ना इत्यत आहुः-दीक्षाया आरभ्याग्निष्टोमीयपश्वालम्भात्पूर्वं दोषः ततोऽन्यत्र तथा सौत्रामण्याश्चान्यत्रान्यदा दीक्षितस्य यजमानस्य अन्नमश्नुन्न दुष्यति भोक्तेति कर्तृपदमध्याह्रियते ॥ ८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

भुवि दण्डवत् पतिता इति सौशील्यात् तेषु तेषां भक्तिभरः ॥ ५ ॥ हे भूमिदेवा ! विप्रा ! रामेण प्रेपितान् कृष्णस्याज्ञावहानस्मान् जानीत ॥ ६ ॥ वो युष्माकमोदनं लषतो वाञ्छतः भिक्षेते इत्यर्थः । यतो बुभुक्षितौ ब्राह्मणभोजनात् पूर्वं ताभ्यामोदनः कथं देय इति न वाच्यम् "अन्नस्य क्षुधितः पात्रम्" इति वाक्यादिति भावः । श्लेषेण हे द्विजाः निखिलानन्दकरौ तौ क्षुधार्त्तावर्थिनावपि निशम्य तूष्णीं भावाद् भवन्तो द्विपितृकाः प्रतीयन्ते इति व्यज्यते धर्मवित्तमा इति जहत्स्वार्थया ॥ ७ ॥ ननु दीक्षतावयमभोज्यान्ना "दीक्षितान्नं न भुञ्जीत" इति वाक्यादिति वदिष्यतो विभाव्याहुः—दीक्षाया इति । दीक्षामारभ्य पशुसंस्थाया अग्नीषोमीयपश्वालम्भात् पूर्वं दोषो न ततोऽन्यत्र ततः परन्तु अन्नमश्नन् न दूष्यतीति पशुसंस्था त्वभूदेवेतिभावः । तथा सौत्रामण्याश्चान्यत्र न दूष्यति तस्यान्तु सर्वदैव दूष्यतीत्यर्थः अत्रैषामनधीतशाखाणामपि भगवत् पार्षदत्वात् स्वयं प्रमातः शास्त्रत्वं सूच्यते ॥८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

भुवि दण्डवद्दण्डा इव पतिताः । अनेन देहनिस्त्राणतेव भक्तिपरवशता च व्यज्यते ॥ ५ ॥ हे भूमिदेवाः शृणुत वाणीमस्माकमिति शेषः । वो भद्रमस्तु कृष्णस्यादेशकारिण आज्ञाधारकान् तथा रामचोदितान्प्राप्तान्गोपान्नो जानीत वित्त । हरिणाऽऽर्यस्य मम चाभिधामित्युक्तत्वात्तथाऽनुक्त्वा मुरहरपुरस्कृत्या वचनं तेषामभ्यासवशाद्भवदपि विप्राणां योग्यत्वाज्झटिति दुष्प्रतिपत्तिप्रत्यावृत्तिजनकं च भविष्यतीति मन्तव्यं । रामनामग्रहणे दिशन्ति वा नेति क्षुत्क्षान्त्वा विपर्यासं चक्षुरिति वाऽवसेयं ॥ ६ ॥ क्व वा कृष्णः क्व च वा रामः क्व युयं वयं क्वेत्यतः सङ्गतिं वदन्ति । गा इति । अविदूरे समीपे गाश्चारयन्तौ बुभुक्षितौ रामाच्युतौ वो युष्मत्त ओदनमन्नं लषतः काङ्क्षतस्तयोरर्थिनोर्धर्मवित्तमा धर्मज्ञोत्तमा हे द्विजा यदि वः श्रद्धा तर्हि ओदनं यच्छत दिशत । तद्यच्छतेत्यनेन पूर्वावपि यत्पुनरोदनवचनं लोके लोकानामन्नमन्नमित्यायतास्या आयाता इत्याभाणकं समूलमिति ध्वनयितुमिति ज्ञेयं ॥ ७ ॥ दीक्षिता वयं न भक्ष्यान्ना इति वचनस्यावसरमददानाः प्रस्तुतमोदनादनातुमोदनं युक्तं मधुसूदनादेरिति सत्रिणाः श्रावयन्ति । दीक्षाया इति । दीक्षायाः पशुसंस्थायाः पशूनां संस्थाऽऽलम्भनं यस्यां सा तस्या दीक्षाया अग्नीषोमीयदीक्षायाः पश्वालम्भनात्पूर्वं नोदनानन्तरं न दोषः । यद्यपि सौत्रामणीयागः स्वतन्त्रः कश्चित्सूत्रामदेवताकोऽन्यस्त्वङ्गभूत इति याज्ञिकास्तत्र नोदनादननिपेधइत्यभ्युघुस्तथाऽप्यत्र सौत्रामण्याश्चेति ग्रहणात्स्मृतिकृद्वचनं वर्ततेति सम्प्रदायज्ञाः । पूर्वमेव यावत्सर्वोपयोगि पृथक् सङ्ग्राह्योर्वरितपदार्थे स्वत्वमदीक्षितस्य कारितं चेत्तन्न भुञ्जाना न दूष्यन्तीति च ज्ञेयं । तथा च धर्मसूत्रं । दीक्षितोऽक्रीतराजकोऽग्नीषोमीयसंस्थाया एव हुतायां वपायां दीक्षितस्य भोक्तव्यं । यज्ञार्थे वा निर्दिष्टे शेषाद्ब्राह्मणा भुञ्जीरन्निति ब्राह्मणमिति । एतदन्यत्र दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन्हि यतो न दूष्यति ततश्चौदनं यच्छत । गोपाला अपि धर्मज्ञा इति जानन् जनार्दनः प्रागेवमाशङ्कं रस्त इदमुत्तरं देयमिति नान्यज्ञादिति तात्पर्यमवधेयम् । तथा हि ब्राह्मणे द्वितीयपञ्चके खन्डे स वा एष पशुरित्यारभ्य सर्वाभिर्वा एष देवताभिरालब्धो भवति यो दीक्षितो भवति तस्मादाहुर्न दीक्षितस्याश्नीयादिति स यदग्नीषोमावसुचितं गृभीतानिति वपायै यजति सर्वाभ्य एव तद्देवताभ्यो यजमानं प्रमुञ्चन्ति तस्मादाहुरशितव्यं वपायां हुतायां यजमानो हि स तर्हि भवतीत्यन्तेनोक्तं ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तथैव कृतवन्त इत्याहेत्यादिष्टा इति, भगवतादिष्टा नान्यथा कर्तुं शक्ता अतस्तत्र गत्वा तथैव ते याचितवन्तः, तेषां याचने प्रकारमाह कृताञ्जलिपुटा इति, कृतोञ्जलिपुटो यैः, अगर्वार्थमेतत्, दण्डवत् पतिता भुवि ब्राह्मणानयाचन्तेतिसम्बन्धः ॥ ५ ॥ तेषां याचनवाक्यान्याह त्रिभिर्हे भूमिदेवा इति, भूमौ प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः, शृणुतेति श्रवणार्थं प्रार्थयन्ते, के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः कृष्णस्यादेशकारिण इति सदानन्दस्य भगवतः फलरूपस्य वयमाज्ञाकारिणः, तथापि किं प्रमाणं भगवद्वाक्य इत्याकाङ्क्षायामाहुराप्तान् जानीतेति, आप्तवाक्यं शब्दः प्रमाणं, यथादृष्टार्थवादिन आप्ताः, किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुर्भद्रं व इति, प्रथमत आशिषो याचकैर्वक्तव्या इति, अथ वा यदुच्यते तद् भवतां भद्रमेव वयं च जात्या गोपा रामेण बलभद्रेण च प्रस्थापिताः; भगवान् सदानन्दो न हि भक्तान् याचने प्रवर्तयते, यदपि भगवतोक्त 'मस्मद्विसर्जिता' इति तदपि वाक्यत्वाद्

वेदमध्ये प्रविष्टं बलभद्र एव प्रविशत्यतो रामचोदितानिति युक्तम् ॥ ६ ॥ एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा याचनमाहुर्गाश्चारयन्ता विति, गाश्चारयन्तौ धर्मप्रवर्तकाववि‌दूरे निकट एव स्थितौ रामाच्युतौ ब्रह्मपरमानन्दौ वो युष्माकमन्नं लपतः, तत्र हेतुर्बुभुक्षिताविति, अन्यथा न याचेयातां, न हि कश्चिद् याकं याचचते, बुभुक्षिताविति भगवद्वाक्यात् 'कीर्तयन्तो भगवत' इति भगवद्वचनात्, अभिप्रायमज्ञात्वा क्षुधामेव ज्ञातवन्तः, अभिप्रायस्तु तैर्भगवानेव याचत इति ज्ञातो यथा महान् प्रभुः सेवकं याचयित्वा ददाति तथा ब्राह्मणयाचनं कृत्वा देयमिति, अत उक्तं बुभुक्षिताविति, द्विजा इतिसम्बोधनमज्ञानाद् रूढ्या वा, तयो रामकृष्णयोरोदरं यच्छत, क्षुधैव पात्रता निरूपिता, अर्थित्वमपि द्वितीयमङ्गं, अन्यथैकादश्यामपि क्षुधितायान्नं देयं स्यात्, तत्रापि यदि श्रद्धास्तिक्यबुद्धिस्तदा देयं एतयोर्दाने वयं कृतार्था भविष्याम इति, चकाराद् यद्योदनोस्ति यदि वा वो युष्माकमेव न त्वन्यप्रसङ्गादागतः, अत्र सर्वत्र विधिनिषेधपरिज्ञानं भवतामेव वर्तत इत्याहुर्हे धर्मवित्तमा धर्मविदां मध्येतिशयिताः ॥ ७ ॥ ननु दीक्षितानामन्नमभोज्यं 'न दीक्षितवसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन् नान्नमश्नीया'दिति तत्राहुर्दीक्षाया इति, दीक्षातः पूर्वं भोक्तुं शक्यते ततो दीक्षादिवसेषु न भोक्तव्यं पशुसंस्थादिवसेषु च न भोक्तव्यं, सौत्रामण्याश्च सुत्येहनि न भोक्तव्यं यदा सुराग्रहाः, अथ वा दीक्षाया दीक्षामारभ्य पशुसंस्थाया अन्यत्र पशुसंस्थापर्यन्तं न भोक्तव्यं सौत्रामण्यां च, 'संस्थिते वाग्नीषोमीये हुतायां वा वपाया'मितिवाक्यात् सौत्रामण्यां तु सुराप्राधान्या'दन्नस्य वा एतच्छमलं यत् सुरे'ति शमलसम्बन्धान्न भोक्तव्यं, द्रव्यनिर्देशः कृतो न वेतिसन्देहात् स पक्षो नोक्तः, अन्यत्रैतद्व्यतिरिक्तस्थले दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन् न दुष्यति, हि युक्तश्चायमर्थः, तदुपपादितं श्रुतिप्रदर्शनेन ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गाश्चारयन्तावित्यत्र अत इति क्षुधाज्ञानादित्यर्थः ॥ ७ ॥ दीक्षाया इत्यत्र पशुसंस्थाया अन्यत्रेति भोक्तव्यमितिशेषः, अश्रवणमिति ग्राह्यत्वेनाश्रवणमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

'गाश्चारयन्ता'वित्यत्र ब्रह्मपरमानन्दाविति ब्रह्मेति रामपदस्यार्थः, 'रमन्ते योगिनोनन्त' इति श्रुतेः, परमानन्द इति अच्युतपदस्यार्थः, अच्युतपदेन कृष्णाभिधानात्, कृष्णस्य परमानन्दत्वं 'कृषिर्भूवाचक' इति श्रुतेः ॥ ७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इत्येवं भगवता आदिष्टा आज्ञप्तास्ते गोपास्तत्र गत्वा कृताञ्जलिपुटा भूत्वा प्रथमं दण्डवत् भुवि पतितास्ततस्तथा भगवदुक्तप्रकारेण विप्रान् अयाचतेत्यन्वयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रथमं तेषां महत्त्वं स्वदैन्यं च सूचयन्तस्तान् सावधानीकुर्वन्ति—हे भूमिदेवाः! शृणुतेति । अस्मद्वाक्याङ्गीकारे वो युष्माकं भद्रं कल्याणमेव 'भविष्यति' इति शेषः । 'यूयं के' इत्यपेक्षायामाहुः—कृष्णस्यादेशः आज्ञा, तत्कारिणः रामेण चोदितान् युष्मत्सन्निधौ प्राप्तान् नोऽस्मान् गोपान् जानीतेत्यन्वयः ॥ ६ ॥ 'किमर्थं प्राप्तास्तत् कथयत' आहुः—गा इति । इतोऽविदूरे निकट एव वर्तमानौ रामाच्युतौ वो युष्याकमोदनमन्नं लपतः अभिलषतः । अत्र हेतुमाहुः—बुभुक्षिताविति । समीपागमने हेतुमाहुः—गाश्चारयन्ताविति । 'क्षुधितेभ्योऽन्नप्रदानं धर्म इति तु युष्माकं विदितमेव' इति सूचन्तः । सम्बोधयन्ति—धर्मवित्तमा इति । धर्मविदां मध्ये अतिशयिताः । तत्र हेतुत्वेन पुनः सम्बोधयन्ति—द्विजा इति । अतो वो युष्माकं यदि ओदनं श्रद्धा चास्ति तर्हि अन्नार्थिनोस्तयो रामकृष्णयोर्यच्छत ॥ ७ ॥ "दीक्षितान्नं न भुञ्जीत" इति वचनात् 'वयं दीक्षिता अभोज्यान्ना' इति वदिष्यन्ति इत्याशङ्क्य स्वयमेवाहुः—दीक्षाया इति । दीक्षानन्तरं पशुसंस्थायाः अग्नीषोमीयपश्वालम्भात् पूर्वमेव तदन्नभक्षणं निषिद्धम्, तथा सौत्रामण्यमिष्टयां चाश्नन् दुष्यति । अन्यत्र पशुसंस्थानन्तरं सौत्रामण्या अन्यदा च दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन्न दुष्यति ॥ हीति शास्त्रं प्रमाणं सूचयन्ति । तथा च पश्वालम्भस्य जातत्वान्न यूयमभोज्यान्ना इति भावः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति ॥ इत्येवं भगवत आदिष्टा आज्ञप्तास्ते गोपास्तत्र गत्वा कृताञ्जलिपुटा भूत्वा प्रथमं दण्डवत् भुवि पतितास्ततस्तथा भगवदुक्तप्रकारेण विप्रान् अयाचन्त ॥५॥ हे इति ॥ हे भूमिदेवाः ! शृणुत वो युष्माकं भद्रं भूयात् । कृष्णस्यादेशः आज्ञा तत्कारिणः कृष्णस्य नन्दराजपुत्रत्वात् तदाज्ञाकारिणः ततोऽप्यभ्यर्हितेन रामेण चोदितान् युष्मत्सन्निधौ प्राप्तान् नोऽस्मान् गोपान् जनीत ॥६॥ गा इति ॥ धर्मवित्तमाः धर्मविदां श्रेष्ठाः हे द्विजाः ! इतः अविदूरे निकट एव वर्त्तमानौ बुभुक्षितो "अन्नस्य क्षुधितः पात्रम्" इत्युक्तेर्ब्राह्मणापेक्षया प्रथमं दानेऽपि दोषाभाव इत्याशयः । गाश्चारयन्तौ वो युष्माकमोदनमन्नं लषतः अभिलषतः अतो युष्माकं यदि ओदनं श्रद्धा चास्ति तर्हि अन्नार्थिनोस्तयो रामकृष्णयोर्यच्छत । यदि क्षुधितयोरपि तयोरन्नं न दास्यथ तर्हि यूयं द्विजाः पितृद्वयजाता इत्याक्षेपः सूच्यते । तत्र धर्मवित्तमा इति विपरीतलक्षणा ॥ ७ ॥ ननु दीक्षितान्नं न भुञ्जीतेति निषेधात् दीक्षिता वयमभोज्यान्ना इति चेत्तत्राहुः—दीक्षाया इति । हे सत्तमाः ! दीक्षायाः दीक्षणीयेष्टिमारभ्य पशुसंस्थायाः अग्निषोमीयपश्वालम्भपर्यन्तम् अन्नमश्नन्

दुष्यति। अन्यत्र पशुसंस्थानन्तरं दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन्न दुष्यति। पशुसंस्था च जातैवातो दोषाभावः। तथा सौत्रामण्याश्चान्यत्र दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन्न दुष्यति। सौत्रामण्यास्तु सर्वथाऽन्नमश्नन्दुष्यतीत्यर्थः। अत्र सौत्रामण्यभावान्न दोषः इति अत्र शुष्कयाज्ञिकेभ्यो भियं दधाना अपि क्लिष्टकल्पनानिवृत्तये वयमित्थं व्याचिख्यासामः। हे सत्तमाः! हिंसादिपराङ्मुखाः पशुसंस्थायाः दीक्षायाः यस्यां यज्ञदीक्षायां पशुर्हन्यते तस्याः अन्यत्र विषये दीक्षितस्याप्यन्नमश्नन्न दुष्यति एवं सौत्रामण्या अन्यत्रापि इति। पशुहिंसायुक्तयागानुष्ठातुः सौत्रामण्यनुष्ठातुश्च दीक्षितस्यान्नभक्षणे दोषः। युष्माकं सत्तमानां तु पशुहिंसा सौत्रामणी च नास्त्यतो न दोषः॥ ८॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तत्र गत्या तथा उक्तप्रकारेण विप्रान् अयाचत॥ ५॥ आदेशकारिणः आज्ञाकारकान्नोऽस्मान्॥ ६॥ अविदूरे समीपे बुभुक्षितौ क्षुधितौ वो युष्माकं ओदनं लपत इच्छातः वो युष्माकं यदि श्रद्धा चेत्तर्हि हे धर्मवित्तमाः द्विजाः अर्थिनोस्तयोर्भोज्यं ओदनं यच्छत ददीत॥ ७॥ ननु यज्ञदीक्षितानामन्नमभोज्यमिति चेत्तत्राहुः दाक्षेति पशुसंस्थायाः पशूनां संस्थाहननं यस्यां तथाविधायाः। दीक्षायाः यज्ञदीक्षायाः सकाशादन्यत्र सौत्रामण्याः सुराघ्राणरूपायाः यज्ञदीक्षायाश्च सकाशादन्यत्राहिंस्रयज्ञेषु दीक्षितस्य दीक्षां प्राप्तस्य यजमानस्य अन्नं अश्नन्नपि जनो न दुष्यति॥ ८॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीति॥ भगवता, इतीत्थं, आदिष्टाः ते गोपाः, तत्र गत्वा, तथा यथा शिक्षितं तेन प्रकारेणैव, अयाचन्त। याच्ञाप्रकारमेव दर्शयति। तावत् विप्रान्, उद्दिश्येति शेषः। भुवि दण्डवद् पतिताः, ततः कृताञ्जलिपुटाः सन्तः, अयाचन्त॥ ५॥ तत्र गत्वा ते यदूचुस्तदाह॥ हे भूमिदेवाः, शृणुत। किमित्यत्राहुः। कृष्णस्य आदेशकारिण आज्ञाकरणशीलान्, रामचोदितान् इह प्राप्तान्, नोऽस्मान् गोपान्, जानीत। वो युष्मभ्यं युष्माकं वा, भद्रं मङ्गलं, अस्तु॥ ६॥ किमर्थं नोदिता इह प्राप्तास्तत्राहुः॥ गा इति॥ इतः अविदूरे समीपे गाः चारयन्तौ, रामाच्युतौ रामकृष्णौ, बुभुक्षितौ क्षुधितौ, भवतः। अतः, वो युष्माकं युष्मत्तो वा, ओदनं भक्तं लषतः। अतः, हे द्विजाः, हे धर्मवित्तमाः, यदि वो युष्माकं श्रद्धा वर्त्तते, तर्हि, अर्थिनोः केवलमोदनमात्रार्थिनोः, तयोः, ओदनं च भक्तमात्रमपि, यच्छत॥ ७॥ ननु दीक्षितान्नं न भोक्तव्यमिति निषेधः पशूपालम्भवद्यागदीक्षितान्नविषयः, सुराग्रहवत् सौत्रामणीदीक्षावदन्नाशनविषयश्च। न च भवतामयं याग उक्तविधयाद्वयात्मकस्ततो दीक्षितानामपि भगवतामन्नमदूषितमेवास्तीति हृदयवधायोचुः। दीक्षया इति॥ पशोः संस्था आलम्भनं यस्यां तस्याः, दीक्षायाः, सौत्रामण्याः सुराग्रहवत्सौत्रामणीयागतश्च, अन्यत्र उक्तविधयागद्वयं विहायान्येषु यागेष्वित्यर्थः। हे सत्तमाः, दीक्षितस्यापि, अन्नं अश्नन्, न दुष्यति हि॥ ८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृताञ्जलीति : १०.२३.५.

दाता शठो भवतु वा भुवि वन्द्य एव विप्रः सदेति कृतनम्रमनान् विविक्तम्।
अर्थिस्वरूपमथवा निखिलानुभूतं दीनाक्षरं कृतनति प्रकृताञ्जलीति॥ १३॥

हे भूमिदेवा इति : १०.२३.६.

अभ्यर्थना प्रभुकृताऽपि चरैर्न वाच्या दातुः पुरो यदि च तेन न तत्प्रदत्तम्।
स्यात्स्वामिनोऽतिलघुतेति विचिन्त्य नीतिं युक्तं तदोचुरिति रामगिराऽऽगताः स्म॥ १४॥

रामः शेषावतारः स च धरणिधरेत्याख्ययाऽत्र प्रसिद्धो यस्यां देवेति नाम्ना व्यवहृतिविषयाः संवसामो वय हि।
सद्धर्मैकप्रतिष्ठापनधृतविरुदाः सोऽत्र सर्वेष्टकारात्यालोच्यापि प्रदद्युःक्वचिदिति पशुपा अब्रुवन् रामवाक्यम्॥ १५॥
सत्यानृताभ्यां जीवेतेत्यर्थयाथार्थ्यदृष्टयः। अप्यरामप्रेरितास्ते प्रोचुर्यद्रामचोदनाम्॥ १६॥
यद्वो गोपा वयं तस्माद्भवद्भद्रैकहेतवः। जानीतेदमितो वाच्यमस्ति किं धर्मवित्पुनः॥ १७॥

गाश्चारयन्ताविति : १०.२३.७.

यद्गो निग्रहतोऽस्ति तत्र भवतां मानो मयाऽसौ कृतस्ता गाः पालयति प्रभुः प्रतिपदं निस्यान्तरङ्गस्थिः।
यच्चेन्नोत्तरम्॥ १८॥ --

कृष्णप्रिया

भगवान् की आज्ञा के अनुसार वे वहाँ गए और हाथ जोड़कर पृथ्वी पर दण्डवत् प्रणाम करके विप्रों से भोजन माँगने लगे ॥ ५ ॥ भूमि के साक्षात् मूर्तिमान् हे विप्र देवो ! हमारा निवेदन सुनिए, आपका कल्याण हो, हम व्रज के ग्वाले हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्रीवलरामजी की आज्ञा से आप की सेवा में उपस्थित हुए हैं ॥ ६ ॥ भगवान् वलभद्रजी, एवं श्रीकृष्ण, गौए चराते हुए यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर पधारे हैं। उन्हें। इस समय बड़ी भूख लगी है और उनकी अभिलाषा है कि आप श्रद्धा से ओदन भोजन सामग्री देना चाहें और यदि निजी सामग्री हो तव हमें दीजिए। क्योंकि आप धर्मज्ञों में श्रेष्ठ जन है ॥ ७ ॥ भगवान ने कहा मुनिवर सुनिए कि यदि आप कहेंगे कि श्रुति में कहा है-कि "न दीक्षितस्य वसन परिदधीत, नास्य पापं कीर्तयेत्, नान्नमश्नीयात्" जो दीक्षित वना उसका वस्त्र धारण न करें, उसका पाप का कीर्तन न करें, उसके अन्न का भोजन न करें ? ऐसी श्रुति आज्ञा होने पर भी आप अन्न की याचना क्यों करते हो तव समाधान सुनिए—दीक्षा के पहिले वलिप्रदान के दिन और सौत्रामण्य होम के दिनों में दीक्षितों का अन्न खाने का निषेध है। इन दिनों को छोड़ कर अन्य दिनों में दीक्षितों का अन्न खाने का शास्त्रों में निषेध नहीं है इसलिए हे सज्जनवर विप्रवर्यो ! आप को वर्तमान में अन्न देने में और हमें खाने में दोष नहीं है इसलिए हमें अन्न दीजिए ॥ ८ ॥

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः । क्षुद्राशा भूरिकर्माणो वालिशा वृद्धमानिनः ॥ ९ ॥

[1]देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रद्विजाऽग्नयः[2] । देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ १० ॥

[3]तद्ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम् । मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न [4]मेनिरे ॥ ११ ॥

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परंतप । गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥ १२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—क्षुद्राशाः भूरिकर्माणः वालिशाः वृद्धमानिनः ते इति भगवद् याच्ञाम् शृण्वन्तः अपि न शुश्रुवुः ॥ ९ ॥ देशः कालः पृथग् (भिन्नाभिन्ना सामग्री) द्रव्यम् मन्त्र तन्त्र द्विजातयः देवता च यजमानः क्रतुः च धर्मः यन्मयः ॥ १० ॥ तत साक्षात् परमम् व्रह्म अधोक्षजम् भगवन्तम्, दुष्प्रज्ञाः मर्त्यात्मानः मनुष्यदृष्ट्या पश्यन्तः) न मेनिरे ॥ ११ ॥ हे परन्तप ! ते (विप्राः) न यद् ओम् इति प्रोचुः न ते नेति (न इति) प्रोचुः, गोपाः निराशाः प्रत्येत्त्य कृष्णरामयोः तथा ऊचुः ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

क्षुद्रे स्वर्गादावाशामात्रं येषाम्। भूरीणि क्लेशाधिकानि कर्माणि येषाम् अतोऽज्ञा वृथज्ञानाः वृद्धा इति मानवंतः ॥ ९ ॥ ननु कर्मक्रममुल्लंध्यादेशकालेन्यार्थमन्नमन्यस्मै कथं देयं तत्राह। देश इति। पृथक् चरुपुरोडाशादि द्रव्यम्। तंत्रं प्रयोगः। धर्मोऽपूर्वम् ॥ १० ॥ मनुष्योऽयमिति दृष्ट्या मर्त्यात्मानो व्राह्मणा वयं महांत इति मन्यमानाः ॥ ११-१२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ते विप्राः। इति गोपोक्तिप्रकारेण। वालिशाः मूर्खाः 'वालिशो वालमूर्खयोः' इति ॥ ९ ॥ देशः कृष्णसारसंचारविषयः। कालो वसंतादिः। मंत्रो देवताप्रसादजनकप्रणवादिः। ऋत्विजः षोडश। तथाहि-ब्रह्मा १, उद्गाता २, होता ३, अध्वर्युः ४, ब्राह्मणाच्छंसी ५, प्रस्तोता ६, मैत्रावरुणः ७, प्रतिप्रस्थाता ८, प्रतिहर्त्ता ९, पोता १०, अच्छावाकः ११, नेष्टा १२, आग्नीध्रः १३, सुब्रह्मण्यः १४, ग्रावस्तोता १५, उन्नेता १६। एतेषां कर्माणि तु यज्ञविद्यातोऽवसेयानि। अग्नयः-आहवनीयगार्हपत्यदाक्षिणात्यसभ्यावसथ्यादयः। देवताः इंद्रादयः। यजमानः यज्ञकर्त्ता। क्रतुर्यज्ञोगी ॥ १० ॥ तम् श्रीकृष्णम् ॥ ११ ॥ ते विप्राः। ॐमिति अंगीकृतमिति 'ॐमित्यंगीकारे ब्रह्मणि च' नेति न दास्याम इति च। प्रत्येत्य प्रत्यागत्य। तथोभयम् ॐमिति नेति च ते न ब्रुवतीत्यूचुः। ॐमिति न प्रोचुरिति—संप्रति ब्राह्मणभोजनात्पूर्वमेव गोपालकेभ्यः कथं दास्याम इति भावः। नेति च न प्रोचुरिति—ब्राह्मणभोजनोत्तरं यद्यन्नान्युर्वरितानि भविष्यंति तर्हि दास्याम इति भावः। क्षुधाया अपि 'प्राणप्रहारी क्षुधा' इत्युक्तेः शत्रुकार्यप्राणहरणकर्त्रीत्वेन शत्रुत्वम्। त्वं तु परंतपोसीति क्षुद्व्याकुलो न भवसीति संबुद्ध्यभिप्रायः। यद्वा—राज्ञः क्रोधाविर्भावमालक्ष्य श्रीशुकः -हे परंतपेति। तदानीं यदि त्वं राजा भविष्यस्तदा ब्रह्मण्यचूडामणिरपि तान्ब्राह्मणान् शत्रूनिवावश्यमदंडयिष्य इति भावः ॥ १२ ॥

---

१. देशकालपृथग्द्रव्य-विज. । २. त्विजोऽग्नयः-श्रीधर. वंशी. विज. ; त्विगग्नयः-वीर. । ३. तं ब्रह्म-श्रीधर. वंशी. वीर. विज. विश्व. । ४. न ते विदुः-वीर. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

इतीति श्रीशुकोक्तिः भगवतः सर्वैश्वर्यपरिपूर्णस्यापि कृपया याच्ञां तेनैवान्नार्थं प्रेषितत्वात् न शुश्रुवुः महाभिमानेन तां नादृतवन्त इत्यर्थः। तत्र श्रीभगवत्यनादरेण तान् विप्रान् सक्रोध निन्दति, क्षुद्रेति सार्द्धद्वयेन। क्षुद्राशा अपि भूरिकर्माणः यतो बालिशाः अल्पबुद्धयः तथापि वृद्धमानिनः यद्वा स्वल्पश्रमेणापि भगवद्भक्त्या महार्थः सिद्ध्येत् तदज्ञानाद्बालिशा एवेति। ननु, कथं तत्त्वं नान्विष्यन्ति तत्राह, वृद्धेति आत्मानं ज्ञानवृद्धं मन्यन्त इति ॥९॥ अथ तत्त्वदृष्ट्या तेषामज्ञत्वं ज्ञापयन्नाह—देश इति युग्मकेन। पृथग्बहुविधम् ॥ १० ॥ भगवतो देशादिमयत्वे हेतुः परमं ब्रह्मेति अतो भगवन्तं सर्वैश्वर्यपरिपूर्णम् अतोऽधोक्षजम् इन्द्रियागोचरमित्यर्थः। तथापि कृपया साक्षाद्भूतं तमपि मनुष्यदृष्ट्या मनुष्यबुद्ध्या न मेनिरे नादृतवन्त इत्यर्थः। कुतो दुष्प्रज्ञाः ? विचारहीनाः तदपि कुतः मर्त्यात्मानः ॥ ११ ॥ ओमिति स्वीकारे दास्याम इति न प्रोचुः न दास्याम इति च न प्रोचुः दुरभिमानग्रस्ततया अत्यन्तावज्ञानात् हे परन्तपेति परं मदलक्षणं शत्रुं भवादृगेव नियन्तुं शक्नोति न त्वन्य इति भावः तथेति निजोक्तादिकं विप्रचेष्टितं चोचुः ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

भगवतः षडैश्वर्य्यपरिपूर्णस्यापि कृपया याच्ञां तेनैवान्नार्थं प्रेषितत्वात्, न शुश्रुवुः—महाभिमानेन तं नादृतवन्त इत्यर्थः। श्रीभगवत्यनादरेण तान् विप्रान् सक्रोधं निन्दन्ति—क्षुद्रेति सार्द्धद्वयेन। क्षुद्राशा अपि भूरिकर्म्माणः, तथा बालिशा अल्पबुद्धयः, तथापि वृद्धमानिनः। यद्वा; स्वल्पप्रमेणापि भगवद्भक्त्या महार्थः सिध्येत्, तदज्ञानाद्बालिशा एवेति। ननु स्वर्गाद्यर्थ भावात् कर्म्म श्रुत्या विधीयत एव, तत्राह—वृद्धेति। आत्मानं ज्ञानवृद्धं मन्यन्ते, न तु तादृशा इत्यर्थः, तत्त्वार्थाज्ञानात् ॥ ९ ॥ तत्त्वार्थमेवोपदिशन्निव तेषामज्ञत्वं प्रदर्शयन् तान् शोचन्निवाह—देश इति द्वाभ्याम्। पृथक् बहुविधम्। (११) भगवतो द्वेषादिमयत्वे हेतुः—परमं ब्रह्मेति। अतो भगवन्तं सर्व्वैश्वर्य्यपूर्णम्, अतोऽधोक्षजमिन्द्रियागोचरमित्यर्थः। तत्रापि कृपया साक्षाद्भुतम्, यद्वा, ब्रह्मेत्यनेनैव द्वेषादिमयता दर्शिता, तत्र च परममिति सच्चिदानन्दघनमूर्त्तिं श्रीनारायणम्, तत्र च साक्षात् स्वयमेव न त्ववतारादिरूपेण, तत्रापि भगवन्तं निजाशेषभगवत्ताप्रकटनपरं श्रीमथुरानाथमित्यर्थः। तत्राप्यधोक्षजं शकटाधस्तात् पतनशंकटात् पुनर्जातमिव, एतन्निरुक्तिविस्तरश्चतुर्दशाध्याये तन्निरूपणे (भा० १०।१४।१२) 'गर्भगतस्य' इत्यत्र प्रोक्त एव, श्रीगोकुलमहोत्सवमित्यर्थः। तमपि मनुष्यदृष्ट्या न मेनिरे नादृतवन्तः, कुतः ? दुष्प्रज्ञा विचारहीनाः, तदपि कुतः ? मर्त्यात्मनः, तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, मर्त्त्योऽनुभाव्यमाणमरणलक्षणसंसारक आत्मा स्वरूपं येषां ते, अन्यथा संसारमहाघोरदुःखभ ग्रापत्तिः। एतैरेव विप्रैरग्रे वक्ष्यमाणस्य पद्यस्यैव तथा प्रायस्तदग्रापद्यार्थस्य चात्रोक्तिस्तेषामेवोक्तानुवादेन प्रमाणविशेषसिद्धेः, यद्वा, यज्ञैकपराणां तेषां तत्तदपेक्षयैकवाक्यतापत्तेः ॥११॥ ओमिति स्वीकारे, दास्याम इति न प्रोचुः, न प्रत्युत्तरं ददुः, न दास्याम इति च न प्रोचुः, दुर्म्मानग्रस्ततयात्यन्तावज्ञानां। हे परन्तपेति परं मदलक्षणं शत्रुं भवादृगेव नियन्तुं शक्नोति, न त्वन्य इति भावः। यद्वा, तादृशमवैष्णवरूपशत्रुं राज्यान्निःसारय दण्डय चेत्यर्थः। यद्वा, तान् प्रति राज्ञोऽन्तःक्रोधमालक्ष्य तदुपशमनार्थं सम्बोधयति—परमिति। क्रोधं संहरेत्यर्थः। प्रत्येत्य निवृत्त्य, तथेति निजोक्तादिकं विप्रचेष्टितं चोचुः। कृष्णरामयोरिति कृष्णेन प्रेषितत्वादादौ कृष्णं प्रति पश्चाद् रामं प्रति। यद्वा, कृष्णानादरेण रामस्य क्रोधशंकया तं प्रति गौणत्वेनाक्त्या तस्य पश्चान्निर्देशः, यद्वा, सर्व्वथा श्रीकृष्णस्यैव प्राधान्यात् ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

दीक्षितशब्दो यजमानपरः सौत्रामण्या दीक्षणीयेष्टिपूर्वकसङ्कल्पाभावात् पृथक् द्रव्यं पुरोडाशादिद्रव्यम् ॥ १०-१८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भगवतो याच्ञां ते ब्राह्मणाः शृण्वन्तोऽपि नाद्रियन्त तत्र हेतुं वदन्विशिनष्टि क्षुद्रे स्वर्गादावाशामात्र तदर्थं येषां भूरीणि क्लेशावहानि कर्माणि येषां ते स्वयं बालिशा मूर्खा अपि वृद्धमानिनः वृद्धं ज्ञानाधिकमात्मानं मन्यन्त इति तथा ॥ ९ ॥ देशादिर्यन्मयः यत्प्रचुरः भवति तं कृष्णं साक्षात्परब्रह्मभूतं षाड्गुण्यपूर्णमधोक्षजं न मेनिरे किन्तु मनुष्यबुद्ध्या केवलं प्राकृत मनुष्यमेवामन्यत तत्र हेतुः दुष्प्रज्ञाः कर्ममीमांसोचितज्ञानाः मर्त्त्यात्मजमर्त्त्ये मरणशीले देहे आत्मा आत्मबुद्धिर्येषां ते तत्र देशः समे यजेतेत्याद्युक्तः कालो वसन्तादिः पृथग्द्रव्यं चरुपुरोडाशादिकं धर्मोऽपूर्वम् एतेषां भगवत्प्राचुर्यं तच्छरीरत्वेन तन्निर्वाह्यत्वेन चेति ज्ञेयम् ॥ १०-११ ॥ शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुरित्येतदेव विशदयति—नेति। ते ब्राह्मणाः हे परन्तप। ओमिति न प्रोचुर्नापि नेति ओमित्यङ्गीकारद्योतकमव्ययं ततो गोपाः निराशाः प्रत्यागत्य तद्विप्राणामनादरणं रामकृष्णयोरूचुः ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इति हेतुपूर्वां भगवद्याच्ञाम् अश्रवणे तेषां बुद्धिविशेषमाह, क्षुद्राशाः इति। क्षुद्राशाः तुच्छफलेच्छवः तदर्थं भूरिकर्माणः क्रियते भ्रान्ता इति सत्यमित्याह, बालिशा इति बालिशा मूर्खाः "बालिशो बालमूर्खयोः" इति एतदेव दृढयति वृद्धेति वृद्धा

इत्यभिमानो येषामस्तीति ॥ ९ ॥ देशः कृष्णसारसञ्चारविषयः कालः वसन्तादिः पृथग्द्रव्यं चरुपुरोडाशादि मन्त्रो देवताप्रसाद-प्रकाशकोङ्कारादिः तन्त्रमनुष्ठानविधिः ऋत्विजोऽध्वर्युप्रभृतयः अग्नयः आहवनीयादयः देवता इन्द्रादिशब्दवाच्याः क्रतुः सकलः यजमानोधिकारो धर्मोऽदृष्टं-यन्मयः यत्प्रधानप्रतिपाद्यः ॥ १० ॥ मर्त्यात्मानः देहोहमिति बुद्धियुक्ताः न मेनिरे न ज्ञातवन्तः ॥११॥ तथोभयं ओमिति न नेति च ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो क्रमसन्दर्भः

प्राङ्गमित्येकदेशदृष्टान्तः ॥ ११-३० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तेषां निवेदितं श्रुत्वापि ते न शुश्रुवुरिति तान् निन्दन्नाह—तं ब्रह्मेत्यादि। तं श्रीकृष्णं साक्षादपरोक्षं परमं ब्रह्म परममिति साकारपरम्, अन्यथा सर्वं ब्रह्मेति न सङ्गच्छते। ते मर्त्यात्मानो मर्त्या विप्रा न मेनिरे परमब्रह्मत्वेन न विदुः। कुतः? मनुष्यदृष्ट्या मनुष्याकारदृष्ट्या, अतएव दुष्प्रज्ञा मूर्खाः, नराकृति परं ब्रह्मेत्यविद्वांसः। वस्तुतस्तु भगवदनुग्रहाभावान्न तत्तत्त्वज्ञाः,-तत्तत्त्वज्ञाने तदनुग्रहजन्यज्ञानस्यैव प्रमाणत्वे निर्णीतत्वात्, (भा० १०।१४।२९) तथापि ते देव पदाम्बुजद्वय,-प्रसादलेशानुगृहीत एव इत्यादेरुक्तत्वात् ॥ १२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तं ब्रह्म परमं साक्षादपरोक्षमनुपहितं भगवन्तं सर्वैश्वर्यशालिनमधोक्षजमधः कृतमक्षजमिन्द्रियज्ञानं यत्र, सानुकम्पान्यथा रूपं मर्त्यात्मानो मर्त्यधर्माणो मनुष्यदृष्ट्या अज्ञानेन न मेनिरे ॥ १२-१३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ननु, ते शास्त्रज्ञा अपि कथं न शुश्रुवुस्तत्र वस्तुतः शास्त्रज्ञाः प्रत्युत शास्त्रमधीत्याध्याप्य च मूर्खा एवेति सक्रोधं तानाक्षि-परि—सार्द्धद्वयेन क्षुद्रे स्वर्गादावाशामात्रं येषां ते वृद्धमानिन एव नतु ते ज्ञानवृद्धाः ॥ ९ ॥ ननु, शास्त्रविदितदेशकालपात्रादिक्रम-मुल्लङ्घ्य कथमन्यार्थमन्नमन्यस्मै देयं तत्राह—देश इति। पृथग्बहुविधं चरुपुरोडाशादिद्रव्यं तन्त्रं प्रयोगः धर्मोऽपूर्वं यन्मयः यदंशांश-विभूतिरूपः तं परमं ब्रह्म अधोक्षजम् इन्द्रियागोचरमपि कृपया प्रत्यक्षीभूतमित्यर्थः। मनुष्यो जीवविशेषोयमिति दृष्ट्या मर्त्यात्मानो देहाभिमानिनः ॥१०-११॥ ओमिति न प्रोचुरिति सम्प्रति ब्राह्मणभोजननिष्पत्तेः पूर्वमेव गोपालकेभ्यः कथं दास्याम इति भावः। नेति च न प्रोचुरिति यदि ब्राह्मणादिभोजननिष्पत्त्यनन्तरमन्नान्युर्वरितानि भविष्यन्ति तदा दास्यामोऽपीति भावः। तदा राज्ञोपि क्रोधमुद्भूतमालक्ष्य सम्बोधयति—हे परन्तपेति। तदानीं यदि त्वं राजा भविष्यः तदा ब्रह्मण्यचूडामणिरपि तान् ब्राह्मणान् शत्रूनिव अवश्यमदण्डयिष्य इति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ते इत्थं याचिता अपि भगवद्याच्ञां नाद्रियन्त बालिशत्वादित्याह—इतीति। इत्थं ते भगवतो याच्ञां शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुः यतः क्षुद्रेऽनित्ये स्वर्गादौ कर्मफले एवाशा येषां ते तदर्थकानि भूरीणि येषां ते अतो वृद्धमानिनः ज्ञानवृद्धा वयसिवि वृथा मानवन्तस्ते बालिशा एव अफलभूरिकर्मनिष्ठत्वात् महत्फलाल्पश्रमभगवदाराधनविमुखत्वादित्यर्थः ॥ ९ ॥ भगवदनादरे कारणभूतां परे ब्रह्मणि श्रीकृष्णे मनुष्यत्वभ्रान्तिमनात्मनि देहे आत्मभ्रान्तिम् आत्मन्यब्रह्मात्मकत्वभ्रान्तिं च वर्णयति—देश इति, द्वाभ्याम्। देशादिर्यन्मयः यत्प्रधानः यत्प्रचुरो वा तम् पृथक् द्रव्याणि चरुपुरोडाशादीनि ॥ १० ॥ ब्रह्म बृहत्स्वरूपगुणं परमं सर्वोपास्यं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजं सर्वकरणनिरपेक्षज्ञाननिधिं श्रीकृष्णं मनुष्योयमिति दृष्ट्या कुदृष्ट्या मर्त्यात्मानः मर्त्ये मरणधर्मके देहे आत्माभिमानो येषां ते ब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य सर्वात्मनामात्मत्वमात्मनश्च ब्रह्मात्मकत्वमजनान्तो मूर्खाः दुष्टे तुच्छे स्वर्गादौ प्रज्ञा येषां ते न मेनिरे नादृतवन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुरिति पूर्वोक्त तत्प्रमादं प्रपञ्चयति—न ते इति ॥ १२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु ते वेदज्ञा अपि भगवद्-याच्ञां कुतो न शुश्रूवुस्तत्राह—अधीताध्यापितवेदा अपि मूर्खास्ते इति सक्रोधं तानाक्षिपति क्षुद्रेति। क्षुद्रे स्वर्गादावेवाशा येषां ते वृद्धमानिनो न तु ज्ञानवृद्धाः ॥९॥ ननु वेदविहितदेशकालपात्रादिक्रममनुल्लङ्घ्य कथमन्यार्थं मन्नमन्यस्मै दातव्यं तत्राह—पृथग् बहुविधं द्रव्यं चरु पुरोडाशादिः तन्त्रं प्रयोगः धर्मोऽपूर्वं यन्मयो यद्विभूत्यंशांशः ॥१०॥ भगवतो देशादिमयत्वे हेतुः परमं ब्रह्मेति शक्तिमतस्तस्य तत्तद्रूपत्वात् तदायत्तवृत्तिकत्वतद्व्याप्यत्वाभ्यां वा देशादीनां भगवन्तं पूर्णषडैश्वर्यं अधोक्षजमिन्द्रियागम्यमपि कृपया प्रत्यक्षमित्यर्थः। मनुष्यदृष्ट्या जीवविशेषबुद्ध्या मर्त्यात्मानो देहाभिमानिनः ॥११॥ ओमिति स्वीकारे "ओमित्यनुमतौ प्रोक्तम्" इति विश्वः। दास्याम इति न प्रोचुः न दास्याम इति च न प्रोचुः दुरभिमानग्रस्ततया अत्यन्ताव-ज्ञानात् तथेति निजोक्त्यादिकं विप्रचेष्टां चोचुः ॥ १२ ॥

क्षुद्राशाः स्वर्गादिनश्वरफलाभिलाषा भूरिकर्माणो वृथा कायक्लेशसम्पादककर्मयुता वृद्धमानिनस्तत्कार्यं तु महदप्रश्नो मूर्खा इति । एवं ते भगवद्वाक्यं गोपोपपादितं शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः । अतदनुष्ठानादश्रुतप्राया सेति भावः । वालिशौ वृद्धमानिन इति छेदः । वृद्धमानिनः सम्पन्नत्वेनाभिमानवन्तो वालिशौ रामकृष्णाविति तद्वाक्यं न शुश्रुवुरिति वा ॥ ९ ॥ ग्रन्थकृद्वालिशतां प्रकाशयति ॥ दे शेति । गङ्गासिन्धुसङ्गमादिर्देशो वसन्तादिः कालः पृथग्द्रव्यं चक्षुर्भूत्यादिकामनानुकल्येन होम्यदध्यादिनानाद्रव्यं मन्त्रास्तत्तद्देवताप्रसादसाधकमंत्रास्तन्त्रंकरक्रिया ऋत्विजश्च यथासम्भवमध्वर्युप्रमुखा अग्नय आह्वनीयादयो देवता इन्द्राद्या अमुख्या यजमानो दीक्षितः कर्ता क्रतुः सङ्कल्पो धर्मोऽपूर्वं यन्मयो यत्प्रधानकः । यन्मया इति वक्तव्य एतत्प्रधानभागवतरूपाणां भेदशङ्का स्यात्तदपनुत्त्यै यन्मय इत्येकवचनं । यन्माधवप्रधानकस्तस्मा अदनीनादानमेतन्निदानकमित्याह ॥ तमिति । परमं ब्रह्म साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजं मर्त्यात्मानो मर्त्ये मरणशिरस्के शरीरे आत्मा स्वरूपमिति मतिर्येस्ते मनुष्य इति दृष्टिर्धीस्तया । दृष्टिर्धार्दर्शनाक्षिष्विति विश्वः । अत एव दुष्प्रज्ञास्तत्त्वेन न मेनिरे न व्यजानन् ॥ १०–११ ॥ का कथा प्रवृत्तोचरत्रेति परीक्षिन्मानसीं शङ्कां शुकः परिहर्तुं वक्ति ॥ नेति । ते विप्रा यद्वा ॐमित्यन्नं दास्याम इति न प्रोचुर्नेति च न प्रोचुस्तदा निराशा इतः परं दपुरेत् इत्याशा शून्यारतौ प्रत्येत्य यथा तैरुदितं तथैव रामकृष्णयोरूचुः । तौ प्रत्यूचुर्यत्रकुत्र वा स्वयं भुक्त्वा याता दूता इत्यपि नेत्याह ॥ निराशा इति । न विद्यते आशोऽशनं येषां ते तथा प्रातराशययाचित इतिवदुचितमिदं ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सोपपत्तिके याचने कृतेपि ते न दत्तवन्तस्तत्र हेतुरश्रवणं तत्रापि हेतुर्बालकोक्तमिति, 'असंस्कृता न परिभाष्या' इति 'न स्त्रिया न शूद्रेण सम्भाषे'ति च, तथापि भगवन्नाम्ना याचितवन्त इत्यादाने तेषां दोष एवेति मन्यमानः शुक आहेतीति, ते हि भगवद्वाक्यं शृण्वन्तोपि सन्तो न शुश्रुवुर्दत्तचित्ता न जाताः, तत्र हेतवः क्षुद्राशा इत्यादिपदोक्ताश्चत्वारः, क्षुद्रेल्पेर्थ आशा येषां, स्वर्गानन्दो हि क्षुद्रः परमानन्दापेक्षया, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ती'तिश्रुतेः, साङ्गदेव वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावः, ते ह्येवं मन्यन्ते प्रमाणवलनिष्ठा भगवान् हि सर्वात्मकः सर्वत्रैव वर्तते विशेषेणाभिव्यक्तिपक्षेपि यज्ञोपि भगवान् सर्वस्यापि प्रारब्धमूर्तिरेव सन्तोषणीया ततो यथा यज्ञापराधो न पतति तथा विधेयमन्यथा विधिनिषेधौ न स्यातां प्रायेणैतैर्द्रव्यनिर्देशः कृत 'आज्यं पशवः पुरोडाशीया एते मे यज्ञार्था यावद् यज्ञ उपयोक्ष्ये तावन मे यज्ञार्थं शेषाद् ब्राह्मणा भुञ्जीर'न्निति, अतो 'ब्राह्मण'पदश्रवणाद् भगवतेपि न दत्तवन्तो रूपान्तरपरिज्ञानात्, एवं तेषां क्षुद्राशा, किञ्च ते हि भूरिकर्माणः, यद्यल्पे कर्मणि तावानपि स्वर्गः स्यात् तथापि न कुर्युरतो महतापि यज्ञेन यावान् स्वर्गो भवति तावान् भगवतेन्नदानेनापि भवत्यधिकोपि सर्वयज्ञात्मकत्वात् तथापि न कृतवन्तः कर्मतारतम्येन फलतारतम्यमितिन्यायादन्यथा पूर्णाहुत्या सर्वे लोकाः सिद्धा इति सत्रारम्भ एव व्यर्थः स्यादतो यथा समानफलान्यपि नाल्पानि कर्माणि क्रियन्ते तथैतदपि न कृतवन्तो 'न ददाति न पचत' इतिवाक्याच्चातो भूरिकर्माणः स्थूल एव कर्मण्यासक्तास्तत् कर्म नष्टं भवेदितिशङ्कया न दत्तवन्तो यतो बालिशा अज्ञाः, कर्म हि देवताप्रीतिहेतुस्ताश्च देवता आधिदैविकभूता भगवति सन्तुष्ट एव सन्तुष्यन्ति नान्यथा'तोर्के चेन् मधु विन्देते'तिन्यायेन सर्वफलरूपे भगवति सर्वदेवतारूपे चोपस्थितेल्पसाधनेनैव परितुष्यमाणा आदरमकृत्वा वस्तुज्ञानाभावेभिव्यक्त्यभावाद् यज्ञस्य च स्वरूपानभिज्ञानादन्यथा मूलेनादरासम्भवात् कर्मणो बह्वन्तरायत्वात् केवलं भ्रान्त्येदमेव कर्तव्यमिति प्रवृत्ता बालिशा एव, किञ्च यथंतन सर्वं न जानन्ति तथा स्वदोषमपि न जानन्त्यन्यथान्यो वा बोधयेत्, स्वस्य मौढ्याज्ञाने हेतुर्वृद्धमानिन इति, वयमेव त्रयीवृद्धा वेदार्थं जानीम इत्यसदाग्रहाः ॥ ९ ॥ तेषामज्ञानं सर्ववस्तुयाथात्म्यनिरूपणेन प्रकटयति देश इति, देशादय एकादश द्वादश वा कस्यापि ते स्वरूपं न जानन्ति, ज्ञात्वा हि कर्म कर्तव्यं, तत्र देशा देवयजनानि, कालो वसन्तादिः, पृथगिति सर्वत्र भेदः पृथग् द्रव्याणि वा, मन्त्र ऋगादि, तन्त्रमानुपूर्वी क्रियासमुदायो वा, द्विजा ब्राह्मणा 'भार्गवो होता भवती'त्यादिभेदाश्च, अग्नयो बहुधा भिन्ना आह्वनीयादयः, देवता अग्न्यादयः, यजमानो ब्राह्मणादिः 'सिक्थरेता' इत्यादिभेदाश्च, ऋतुर्यज्ञाधिष्ठात्री देवता, धर्मो यज्ञः, चकारात् तदङ्गादिकं सर्वमेव, आध्यात्मिकभेदेन वा ऋतुर्यज्ञो धर्मस्तज्जनितमपूर्वमिति ॥१०॥ नन्वेतत् सर्वं ब्रह्मात्मकमतः प्रकृते कथमुपालम्भः ? तत्राह तद् ब्रह्मेति, यदेतत् सर्वं तद् ब्रह्म तत्रापि परमं, ब्रह्मशब्देन चत्वार उच्यन्ते वेदो ब्राह्मणजातिश्च चतुर्मुखः परब्रह्म च, अतोन्यव्यावृत्त्यर्थं परमशब्दः, स एवायं साक्षात्, औपचारिककार्यांशसगुणा रक्षा व्यावर्तिताः, ततोप्याधिक्यमाह भगवन्तमिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नं पुरुषोत्तमं, भगवच्छब्दवाच्यस्य प्राकृतत्वव्युदासायाहाधोक्षजमिति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मात्, तथैं तादृशे वस्तुनि प्रकटे स्वप्रकाशे कथं तेषामज्ञानम् ? तत्राह मनुष्यदृष्ट्येति, अन्यथाज्ञानादज्ञानं यद्यन्यभावस्फूर्तिर्न स्याद् विचारे ज्ञानोपाये च प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथाज्ञाने हेतुमाह दुःप्रज्ञा इति, दुष्टा प्रज्ञा येषां, बुद्धिदोषात् सर्वत्रैव तेषामन्यथाज्ञानं तथा प्रकृतेपि जातमित्यर्थः, नन्वत्रान्यथाज्ञानं भवितुं नार्हति समानधर्माभावात् विषयत्वाभावादारोपायोग्यत्वात् स्वप्रकाशत्वाद् विषयः सर्वथा शुद्ध इति कथं तत्रान्यथाबुद्धिरिति चेत् तत्राह मर्त्यात्मान इति, न ह्यत्र तेषां बुद्धिविपर्ययं स्पृशति किन्तु मध्यममेवा-

वलम्बते यथा भ्रमदृष्टेर्भूम्यादयः, न हि कदाचिदपि भूम्यादीनामावर्तोऽस्ति, अतोऽन्तरेव दृष्टिभ्रमणं स्वाधिकाराद् आरोप्यते, विषयधर्माणां हेतुत्वे रजतभ्रमवदन्यः स्यात् तस्यापि कालान्तरे स्यात्, अत एव ते मानुषभावेनैव व्याप्ता मनुष्या एव वयमिति मन्यमाना भगवन्तमपि तथैव मन्यन्ते, यथा चौरः सर्वानेव चौरान् जानाति तथा मूर्खो देवमप्यागतं स्वसमानमेव मन्यन्ते, यथा व्याधस्तपस्विनं, इतरवैलक्षण्याज्ञानात्, तस्मात् स्वदोषादेव निर्दुष्टे विषयेऽन्यथास्फूर्त्तिः, अत एते मर्त्यात्मान आत्मानमपि मर्त्यं कृतवन्तः परमात्मानस्तथाकरणे कः प्रयासः ? अतो भगवच्छास्त्रं दृष्ट्वापि न मेनिरे नाङ्गीकृतवन्तः ॥ ११ ॥ ततो यज्ञ् जातं तदाह न ते यदोमिति प्रोचुरिति, ओमित्यङ्गीकारे नेति निषेधे, निषेध उपायान्तर एव प्रवृत्तिः स्यात् तेषां धर्मेण वा तुष्टा भवेयुः, नेत्यसत्ये सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वात्, अतो निराशाः, परन्तपेतिसम्बोधनं स्वाधिदैविकशुकं प्रति कोपनिषेधार्थमागतं, राज्ञो वा, महद्भाग्ययोगे ह्यतिथिर्विमुखो न गच्छतीति तद्भाग्याभिनन्दनार्थं, प्रत्येत्य व्याघुट्य समागत्य कृष्णरामयोः पुरतस्तथोचुः ।।१२।।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इति ते इत्यत्र दत्तचित्ता इति श्रवणेपि चित्ते ग्राह्यत्वेन न गृहीतवन्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तद्ब्रह्मेत्यत्र अन्यथाज्ञानासम्भवे हेतुमाहुः समानेति, समानः स्वाधिकरणवर्ती स्वसमानाधिकरणो धर्म इत्यर्थः, रजतत्वं स्वसमानाधिकरणधर्मस्य चाकचिक्यस्य शुक्तौ सत्त्वात् तत्रारोपयोग्यमतो बुद्ध्या रजतत्वारोपेण शुक्तेस्तत्प्रकारकज्ञानविषयत्वं, मनुष्यत्वं तु स्वसमानाधिकरणधर्मस्य भगवत्यभावान् न तत्रारोपयोग्यमतो बुद्ध्या मनुष्यत्वारोपासम्भवेन भगवतो मनुष्यत्वप्रकारकज्ञानविषयत्वाभावात् तदसम्भव इत्यर्थः, अन्यथाज्ञानकथनादन्यथाख्यातिपक्षेणैव व्याख्यातं, समानधर्माभावे हेतुमाहुः स्वप्रकाशत्वादिति, स्वप्रकाशत्वाद्धेतो विषयो ब्रह्मरूपः सर्वथा सर्वप्रकारेण शुद्धः, न तत्र केनापि प्रकारेण मनुष्यत्वसमानधर्मः सम्भवतीतिभावः, कथमिति तदेतिशेषः, असम्भवे सतीत्यर्थः, विषयं स्पृशति विषयौत्पत्तिकधर्मान् न विचारयतीत्यर्थः, तद्विचारे हि समानासमानधर्मविचारो भवतीतिभावः, मध्य एवेति मध्यधर्मानेव विचारयतीत्यर्थः, भूम्यादयः प्रतीयन्त इतिशेषः, भूम्यौत्पत्तिकधर्मविचारो न जायत इत्यर्थः, स्थिरत्वस्य भूम्यौत्पत्तिकत्वमाहुः विषयेति, विषये चेदावर्तः स्यादित्यर्थः, अन्यस्यापि अभ्रगतोपीत्यर्थः, तस्यापीति भ्रमतोपीत्यर्थः, मनुष्या एवेति जीवं देहरूपं मन्यमाना इत्यर्थः, मर्त्यं कृतवन्त इति जीवं देहरूपं मानितवन्त इत्यर्थः, अत इति स्वधर्मस्य मानितस्य मर्त्यत्वस्य विचारका न तु भगवद्धर्मस्य स्वप्रकाशत्वस्य, अतो भगवति मनुष्यदृष्ट्या तद्वाक्यं न मेनिरे इत्यर्थः, भगवच्छास्त्रमिति वेदादिकं दृष्ट्वापि तत्तात्पर्याज्ञानान् मर्त्यात्मत्वमित्यर्थः, मर्त्यो मर्त्यत्वेन मानित आत्मा येषामितिविग्रहः ॥ ११ ॥ न ते यदोमित्यत्र निषेधाभावे निराशत्वं कथमित्याशङ्क्याहुर्नेतीति, असत्याभिनिवेशे वस्तुयाथात्म्यज्ञानाभावे नेतिवदेयुः, सत्यनिवृत्तिस्त्ववचनेपि सिद्धैव, तादृशाज्ञाने अवचनं कथं स्यादिति, अतो नेतिवचनाभावेपि तेषामज्ञानं निश्चित्य निराशा जाता इत्यर्थः, परन्तपेति इदं राज्ञः सम्बोधनं, निरोधलीलारम्भे स्वस्मिन्नागतं स्वाधिदैविकशुकं भगवन्तं प्रति कोपनिषेधार्थं, उक्तमितिशेषः, त्वं परन्तपत्वान् मदाविष्टं भगवन्तं पश्यसि, अतः प्रत्यक्षत एव तत्र कोपाभावं पश्येतिभावः, राज्ञः शुकाविष्टभगवद्दर्शनं स्फुटं कुत्रापि नोक्तमित्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः राज्ञो वेति, कोपनिषेधार्थमितिशेषः, तद् व्युत्पादयन्ति महदिति, तव तादृशं भाग्यं वर्तते तेषां नास्तीतिभाग्याभावादेवं कृतवन्तः, अतो मूढेषु न कोप उचित इतिभावः ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

मनुष्यदृष्ट्या दुःप्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे इत्यत्र न ह्यत्र तेषां बुद्धिर्विषयं स्पृशतीति इदमत्र ज्ञेयं, भ्रमो द्वेधा सोपाधिको निरुपाधिकश्च, तत्र सोपाधिको भ्रमो घटादौ शङ्खः पीतः सिता कट्वीत्यादौ, तत्र ह्यधिष्ठानस्य घटस्य चक्षुषा ग्रहणे भ्रमरिकोपाधिं पुरस्कृत्य माया भगवतः शक्तिस्तत्र घटे मिथ्याभूतं भ्रमणमुत्पादयति, तन् मायिकं भ्रमणं सत्यो घटश्चेत्युभयं चक्षुषा गृह्यते, तदुक्तं "ऋतेर्थं यत् प्रतीयेत" इत्यस्य सुबोधिन्यां 'विषयता मायाजन्या विषयो भगव"निति विषये घटे भ्रमणरूपो धर्मो विषयताशब्दवाच्यः, तदुक्तं तत्रैव सुबोधिन्यां "विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्ये"ति, सा विषयता भ्रमणरूपा मायाजन्या, विषयो घटो भगवानिति फक्किकार्थः तत्रायं घट इतिज्ञानं विषयजन्यं, भ्राम्यतीतिज्ञानं, तत्र चक्षुरिन्द्रियं विषयं विषयतां च स्पृशति, ततो घटो भ्राम्यतीतिप्रत्ययः, तत्र ये बालास्तेषां मनस्यस्माकं भ्रमरिकोपाधिवशान् मायाकल्पितं भ्रमणं प्रतीयते न स्वतो भ्रमणमस्तीति ज्ञानाभावः, तेषां बुद्धेस्तमोगुणाभिभूतत्वाद् वस्तुतोयं घटो भ्राम्यतीतिप्रतीतिरुत्पद्यते, भागवतसिद्धान्ते ज्ञानमात्रं प्रति बुद्धेः कारणत्वाद् बुद्धिदोषेण तथाप्रतीतिः, तथा च तमोगुणाभिभूता बुद्धिर्घटं भ्राम्यन्तमेव निर्धारयति, तथा सति तेषां बुद्धिः शुद्धं घटं न गृह्णाति किन्तु स्वकल्पितं भ्राम्यन्तमेव घटं गृह्णाति, चक्षुरिन्द्रियं तु शुद्धमेव घटं मायिकभ्रमणसहितं स्पृशति तत्सामान्यज्ञानं भवइन्द्रियन्यं, तत्र घटो भ्राम्यतीति अन्यथाप्रतीतिः, मनः सहितेनेन्द्रियेण घटो भ्राम्यतीतिप्रतीत्यनन्तरं तमोगुणविशिष्टा बुद्धिर्बालानां भ्राम्यन्तमेव घटं निश्चिनोति, स घटो बुद्धिकल्पितो बुद्धावेव तिष्ठति न तु बहिः, बहिस्तु शुद्ध एव घटो मायोत्पादितभ्रमणयुक्तोस्ति, स चक्षुषा गृह्यते न तु बुद्ध्या, अतो न चक्षुषा गृहीतस्य मिथ्यात्वं किन्तु बुद्धिकल्पितस्यैव मिथ्यात्वं, एवं सतीन्द्रियाणां शुद्धघट-

सम्बन्धेऽपि तमोगुणाभिभूताया वालबुद्धेर्न शुद्धघटसम्बन्धः, तदेतदुक्तं न ह्यत्र तेषां बुद्धिविषयं स्पृशतीत्यारभ्य स्वाधिकारादारोप्यत इत्यन्तेन, तेषामज्ञानां बुद्धिविषयं न स्पृशति इन्द्रियाणि तु विषयं स्पृशन्ति मन इन्द्रियेण संयुक्तं विषयं गृह्णदपि न संशयं भ्रमात्मकं निश्चयात्मकं वा ज्ञानमुत्पादयितुं शक्नोति अपि तु सामान्यज्ञानमुत्पादयति, विशेषज्ञानं तु बुद्धिरुत्पादयति 'संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथ'गिति तृतीयस्कन्धे कपिलवाक्ये संशयादिज्ञानानां बुद्धिवृत्तित्वकथनात् तत्र सत्त्वगुणसहिता बुद्धिर्निश्चयात्मकं ज्ञानं जनयति, रजःसहिता संशयात्मकं, तमःसहिता भ्रमात्मकमितिविवेकः, निरुपाधिके भ्रमे शुक्ताविदं रजतमित्यादौ तु न रजतं मायाजनितं किन्तु तमोगुणयुक्तबुद्धिकल्पितं, तद् रजतं बुद्ध्यैव गृह्यते अन्तरेव तिष्ठति न चक्षुषा गृह्यते मनःसंयुक्तचक्षुर्गृह्यमाणायां शुक्तौ सत्यां रजतसंस्कारप्राबल्यात् तमोगुणयुक्ता बुद्धी रजतं निर्मीते, तद् बौद्धं रजतं बुद्ध्या गृह्यते, तदुक्तं वेदस्तुता'वन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरस इत्यस्य सुबोधिन्यां 'रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते चेति', अत इन्द्रियेण शुक्तिरेव गृह्यते, बुद्ध्या रजतं विषयीक्रियते, अत इन्द्रियेण संयुक्तायाः शुक्तेः सकाशादन्यस्य रजतस्य ख्यातिः अन्यख्यातिरितिसिद्धान्तः, सोपाधिकभ्रमे शङ्खः पीत इत्यादौ न विषयधर्माणां भ्रमहेतुत्वमपि तु काचकामलादिरूपोपाधिना भ्रमहेतुत्वमित्याहुर्विषयधर्माणां हेतुत्व इत्यादि, रजतभ्रमवदन्यस्यापि स्यादिति यथा रजतभ्रमो विषयनिष्ठचाकचक्यधर्ममादायोत्पद्यते न तथा शङ्खः पीत इत्यादौ विषयधर्मेण भ्रमः, तथा सति यथैकस्योत्पन्नो रजतधर्मोऽपरस्याप्युत्पद्यते, न तथैकस्योत्पन्नः शङ्खे पीतिमभ्रमोऽपरस्य कामलदोषरहितस्याप्युत्पद्यते, विषये पीतत्वाभावात्, तदेतदाहुः रजतभ्रमवदन्यस्यापि स्यादिति, किञ्च यस्य शङ्खः पीत इतिभानं जातं तस्यापि कामलोपाधिनिवृत्तौ न जायते, यदि विषयधर्माणां हेतुत्वं स्यात् तदा विषयधर्माणां सर्वेषां तुल्यत्वात् कालान्तरेऽपि कामलादिनिवृत्तावपि स्यादित्याहुस्तस्यापि कालान्तरे स्यादिति, स निरुपाधिकभ्रमोऽधिष्ठानज्ञाननाश्यः, सोपाधिकभ्रमः पीतः शङ्ख इत्यादिरूपस्त्वधिष्ठानस्य पीतरूपाभाववत्त्वज्ञाने सत्यपि जायमानत्वान् नाधिष्ठानज्ञाननाश्यः किन्तूपाधिनाशनाश्य इतिविभेदः, प्रकृते भगवदिच्छया प्रदर्शितानामवास्तवमनुष्यधर्माणां भक्तिराहित्येन बुद्धिदोषाद् भगवति प्रतीयमानत्वाद् भगवति मनुष्यबुद्धिः, तथा चायं सोपाधिकभ्रम इतिज्ञेयं, यदा भगवदिच्छया भगवद्भक्तिराहित्यरूपोपाधिनाशस्तदा अयं भ्रमो निवर्तिष्यते इतिबोध्यं, भ्रमस्वरूपस्य विशेषविचारस्तु मया प्रमेयरत्नार्णवे ख्यातिविवेके स्फुटीकृत इति विशेषजिज्ञासायां ततोऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥ न ते यदोमिति प्रोचुरित्यस्य विवृतौ नेत्यसत्ये सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वादिति ब्राह्मणा यत् ओमिति नोचुस्तत्तु सत्ये तथैव ब्राह्मणानामभिप्रायात्, यत् नेति नोचुस्तत् तु असत्ये यतस्तेषामदानेऽभिप्रायस्ततो नेत्येव कथनस्य युक्तत्वं, तथापि नेति नोचुरतो निषेधकरणाभावस्य ज्ञापको यो नकारः स असत्ये इत्यर्थः, निषेधस्य ब्राह्मणाभिप्रेतत्वात्, तथा च नेतीतिनिषेधस्य निषेधबोधको नेत्यसत्य इतिभावः, एवं निषेधनिषेधो ब्राह्मणानां हृदये असत्याभिनिवेशं बोधयति, तथा सति सिद्धमाहुः सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वादिति, असत्ये सति सत्यनिवृत्तिः सिद्धा, यत्र असत्यं तत्र सत्यावलम्बिना सत्यैव निवृत्तिः न तु तत्र स्थितिः, अतो गोपा निराशाः प्रत्यागता इत्यर्थः, परन्तपेतिसम्बोधनं स्वाधिदैविकशुकं प्रति कोपनिषेधार्थमागतमिति दशमस्कन्धीयलीलानिरूपणाय शुके भगवानाविष्टः "वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरात"मितिवाक्यात्, भगवता सह वर्तमानः "सभगवा"निति विवरणात्, तथा च शुके आविष्टो भगवानाधिदैविक शुक उच्यते, आधिदैविकं शुकं भगवन्तं प्रति परन्तपेतिसम्बोधनमित्यर्थः, शुकेन परन्तपेतिसम्बोधनं स्वाविष्टं भगवन्तं प्रत्युक्तं, तत्र प्रयोजनमाहुः कोपनिषेधार्थमागतमिति, "गोपा निराशा आगता" इति शुकमुखात् श्रुत्वा शुकाविष्टो भगवान् क्रोधं कुर्यात् तस्य क्रोधस्य निषेधार्थमित्यर्थः, परं क्रोधात्मकं शत्रुं तापयतीति परन्तपः, तस्मात् परन्तपत्वात् क्रोधो न कर्तव्य इतिहार्दं, ननु स्वाविष्टं भगवन्तं प्रति सेवकः शुकः क्रोधो न विधेय इति कथमुपदिशेदित्याशङ्क्याहुः आगतमिति, शुकस्य तत्सामयिकलीलाभावनापारवश्यादागतं निःसृतं न तु शुकेन विचार्योक्तमित्यर्थः, राज्ञो वेति राज्ञः परीक्षितो वा परन्तपेतिसम्बोधनमित्यर्थः, प्रयोजनं तु कोपनिषेधार्थमागतमिति पूर्वोक्तमेव, राजा हि परमवैष्णवो गोपा निराशाः प्रत्यागता इतिश्रुत्वा क्रोधं कुर्यात्, तं निषेधति शुकः, यतस्त्वं परं शत्रुं क्रोधरूपं तापयसीति परन्तपोसि अतो ब्राह्मणानामनयेऽपि क्रोधो न कर्तव्यः ब्रह्मण्यदेवत्वात् श्रीकृष्णस्य तत्सेवकत्वात् तवेतिभावः ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इत्येवं गोपमुखेन भगवतो याच्ञां ते ब्राह्मणाः शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः दत्तचित्ता न जाताः। तत्र हेतुमाह–क्षुद्राशा इति। क्षुद्रे तुच्छे स्वर्गादावेवाशा मात्रं येषां ते। तथाप्यन्नमात्रप्रदानेन भगवतः सन्तोषे महत्फलं भवेत् 'तत् कुतो न कृतवन्तः ?' तत्राह—भूरिकर्माण इति। भूरिण्येव कर्माणि येषां ते। महत्सु कर्मस्वेव श्रद्धायुक्ताः॥ तत्र हेतुमाह –बालिशा अज्ञा इत्यर्थः। न च ते शिक्षायोग्याः, यतो वृद्धमानिनो 'वयं ज्ञानवृद्धा' इत्यभिमानवन्तः॥ ९॥ ननु 'कर्मक्रममुल्लङ्घ्यादेशेऽकाले देवतार्थमन्नमन्यस्मै कथं देयम्' इत्याशङ्क्याह–देश इति। पृथक् चरुपुरोडाशादि द्रव्यम्, तन्त्रः प्रयोगः धर्मोऽपूर्वम् ॥ १०॥ देशादिप्रत्येकं यन्मयः यद्विभूतिरूपस्तत्साक्षात् परमं ब्रह्म, अत एवाधोक्षजं इन्द्रियजन्यज्ञानागोचरमपि कृपयाविर्भूतं भगवन्तमैश्वर्यादिगुणपूर्वं ते ब्राह्मणा 'मनुष्योऽयम्' इति दृष्ट्या न मेनिरे, नादृतवन्त इति द्वयोरन्वयः। तत्र हेतुमाह—मर्त्यात्मान इति। मर्त्ये देहे आत्माभिमानिनो 'ब्राह्मणा

वयं महान्त' इति मन्यमाना इत्यर्थः। तत्र हेतुमाह-दुष्प्रज्ञा इति। दुर्बुद्धय इत्यर्थः॥ ११॥ 'त्वमेव देहाद्यभिमानमदपरित्यागे समर्थोऽसि इति सूचयन् सम्बोधयति—परंतपेति। यदा ते ब्राह्मणाः 'सम्प्रति ब्राह्मणभोजननिष्पत्तेः पूर्वमेव गोपालकेभ्यः कथं दास्याम' इत्यभिमानेन 'ॐ दास्याम' इति नोचुः, तथा "यदि ब्राह्मणभोजननिष्पत्त्यनन्तरमन्नमुर्वरितं भविष्यति तदा दास्यामः, इदानीं तु न" इति भावेन 'न' इति च न प्रोचुस्तदा अन्नलाभे निराशा गोपा रामकृष्णौ प्रत्येत्य आगत्य तथा यथा तत्र वृत्तं तत् ऊचुरित्यन्वयः। षष्ठी द्वितीयार्थे॥ १२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति॥ क्षुद्रे स्वर्गादावेव आशामात्रं येषां भूरीणि क्लेशाधिकानि कर्माणि येषां ते बालिशा मूर्खा अपि आत्मानं वृद्धं मन्यन्ते। तादृशास्ते ब्राह्मणाः इत्येवं गोपमुखेन भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः॥ ९॥ ननु शास्त्रक्रममुल्लङ्घ्य अन्यस्मै देयं मन्यस्मै कथं देयमत आह—देश इति द्वयम्॥ देशः कालः पृथक् चरुपुरोडाशादि द्रव्यं मन्त्राः तन्त्रं प्रयोगः ऋत्विजः अग्नयः देवता यजमानः क्रतुर्धर्मः अपूर्वात्मकश्च प्रत्येकं यन्मयः यद्विभूतिरूपस्तं साक्षात् परमं ब्रह्म अधोक्षजं भगवन्तं दुष्प्रज्ञाः दुर्बुद्धयः मर्त्यात्मानः मर्त्ये शरीरे ब्राह्मणा वयमित्यात्माभिमानवन्तः ते ब्राह्मणा मनुष्योऽयमिति दृष्ट्या न मेनिरे नादृतवन्तः॥ १०-११॥ नेति॥ हे परन्तप! यदा ते ब्राह्मणाः ओम् दास्याम इति नोचुः। तथा न दास्याम इत्यपि च नोचुः। "ओमाङ्गीकारे" इति पररूपम्। तदा अन्नालाभे निराशा गोपा रामकृष्णयोः। शेषे कर्मणि षष्ठी। कृष्णरामयोरिति च पाठः। तौ प्रत्येत्य आगत्य तथा यथा तत्र वृत्तं तत् ऊचुः॥ १२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

याच्ञां याचनां क्षुद्रे स्वर्गपुत्रादिसुखे एव आशा येषां ते॥ भूरीणि क्लेशबहुलानि कर्माणि येषां ते अतोबालिशाः ज्ञानहीनाः वृद्धमानिनः वयं वृद्धा इति मानवंतः॥९॥ नन्वग्निब्राह्मणादिभ्योऽदत्तमन्नं अन्येभ्यः कथं देयमिति चेत्तत्राह देश इति देशादिर्यन्मयो यस्य हरेरवयवोंगभूतः अत्र प्रमाणानि यस्य पृथिवी शरीरमिति यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरमित्यादिश्रुतयः सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वं इति स्मृतिश्चेत्यादीनि पृथक् चर्वादि द्रव्यं तंत्रं प्रयोगः धर्मस्तत्र नियमरूपेण धारिणियः एतत् सर्वं श्रीकृष्णस्य शरीरभूतं अतस्तस्मै अन्नदाने कृते सति परमधर्मः स्यादितिभावः॥ १०॥ अधोक्षजं अयं मनुष्य इति दृष्टिर्मनुष्यदृष्टिस्तया। दुःप्रज्ञाः न मेनिरे कथंभूताः मर्त्येमरण धर्मेदेहे आत्मा वयं ब्राह्मणाः श्रेष्ठा इत्यभिमानो येषां ते॥११॥ ॐ भवदुक्तं सत्यं वयं दास्याम इति यद्वचनं तन्न प्रोचुः न वयं दास्याम इति च न प्रोचुः रामकृष्णयोः समीपं प्रत्येत्य पुनर्गत्वा॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीति॥ इतीत्थं, क्षुद्रे स्वर्गादावाशामात्रं येषां ते, तदर्थं भूरीणि कर्माणि येषां ते, बालिशा मूर्खाः सन्तोऽपि, वृद्धं ज्ञानाधिकमात्मानं मन्यन्ते तथाभूताः, ते ब्राह्मणाः, भगवतः याच्ञा तां, शृण्वन्तः सन्तोऽपि, न शुश्रुवुः नाद्रियन्तेत्यर्थः॥ ९॥ ननु कर्मक्रममुल्लङ्घ्यादेशकाले अन्यार्थमन्नमन्यस्मै कथं देयं तत्राह॥ देश इति॥ देशः 'मये यजेत' इत्यादिनाऽभिहितः, कालो वसन्तादिः, पृथक् द्रव्यं चरुपुरोडाशादिकं, मन्त्रो देवताप्रसादप्रकाशक ओंकारादिः, तन्त्रमनुष्ठानविधिः, ऋत्विजोऽध्वर्यु प्रभृतयः, मन्त्रादीनां द्वन्द्वः। अग्नय आहवनीयादयः, देवता इन्द्रादिशब्दवाच्या देवाः, यजमानोऽधिकारी, क्रतुः संकल्पश्च धर्मोऽदृष्टं च अपूर्वं वा, यन्मयः यत्प्रधानप्रतिपाद्यः॥ १०॥ तमिति॥ परमं ब्रह्म परब्रह्मभूतं, भगवन्तं षाड्गुण्यपूर्णं, अधोक्षजमन्तर्दृष्टं इदानीं अपि साक्षात् निरवधिकातिशयकरुणया जननयनविषयतां गतं, तं श्रीकृष्णं, दुष्प्रज्ञाः मर्त्यात्मानः ब्राह्मणा वयं महान्त इति मन्यमाना विप्राः, मनुष्यदृष्ट्या हेतुना, न मेनिरे। किं तु केवलं मनुष्यमेवामन्यन्त, न तु परमेश्वरमिति भावः॥ ११॥ 'शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः' इत्येतदेव विशदयति॥ नेति॥ हे परंतप राजन्, ते ब्राह्मणाः, केवलं कर्ममीमांसोदितज्ञानास्ते विप्रा इत्यर्थः। यदा ओमिति च न प्रोचुः, नेति च न प्रोचुः, ओमित्यङ्गीकारद्योतकमव्ययम्। तदा निराशाः गोपाः, प्रत्येत्य प्रत्यागत्य तद्विप्राणामनादरणं रामकृष्णयो पुनः ऊचुः तथेति पाठे यथा तत्र स्वानादरणं जातं तथेत्यर्थः॥ १२॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तं ब्रह्मेति : १०.२३.११

मनुष्यदृष्ट्या स्वात्मानं पश्यन्तस्ते सदा द्विजाः। अपश्यन् कृष्णमप्येवं युक्तमैक्यं द्वयोर्यतः॥ २२॥
स्वदृष्ट्या तत्स्वरूपेक्षा तद्दृशा वा स्ववीक्षणम्। आद्यमज्ञानमन्त्यं तु ज्ञानमाद्यं द्विजेषु हि॥ २३॥
सन्ति सत्कर्मकर्तारो योगिनो ब्रह्मवादिनः। तत्सूक्ष्मतत्त्ववेत्ता तु नैकोऽपीत्यभवत् स्फुटम्॥ २४॥

कृष्णप्रिया

हे राजन्! क्या कहा जाये? स्वर्गादि तुच्छ फलों की कामना करने वाले—इच्छा रखने वाले, और कष्टसाध्य यज्ञकर्म करने वाले, बडपन के और पांडित्य के अभिमान वाले, वैदिक ज्ञान की दृष्टि से सर्वथा अज्ञात, बेसमझ इन विप्रों में, गोपों के

माध्यम से की गई श्रीकृष्णचन्द्रजी को सुनकर भी अनसुनी कर उस याच्ञा पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया ॥ ९ ॥ हे परीक्षित्! महाराज! यजनयोग्य देश, वसन्त आदि यज्ञीयकाल, भिन्नभिन्न यज्ञीय सामग्री, देवता और द्रव्यादि के मंत्र, तन्त्र आनुपूर्व कर्म-पद्धति, ब्रह्मा-होता-अध्वर्यु उद्‌गाता आदि यज्ञीय ब्राह्मण, जिसमें "भार्गव होता" होता है, अग्नि-आहवनीय आदि अनेक प्रकार की होती है, देवता अग्नि इन्द्र आदि, यजमान, क्रतुयज्ञ को अधिष्ठात्री देवता, धर्म-यज्ञ, च अव्यय से यज्ञ के सर्व अङ्ग, ये बारह पदार्थ भगवन् मय है और भगवत् स्वरूप है ॥ १० ॥ उन साक्षात् नयन गोचर परब्रह्म इन्द्रियातीत सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण को उन मन्दमति द्विजों ने मनुष्यरूप सामान्य ग्वालवाल मानकर सन्मान नहीं किया ॥ ११ ॥ अये परंतप परीक्षित्! उन द्विजवरों ने जब हाँ, या, ना, कुछ भी उत्तर न दिया, तब वे ग्वालवालों की आशा नष्ट हो गई, वे निराश होकर वापस लौट गए और जो बात बनी वह सारी बात भगवान श्रीकृष्ण को एवं श्री बलराम जी को सुनाई ॥ १२ ॥

तदुपाकर्ण्य भगवान्[1] प्रहस्य जगदीश्वरः। व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ॥ १३ ॥

मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससंकर्षणमागतम्। दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥ १४ ॥

गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वाऽऽसीनाः स्वलङ्कृताः। नत्वा द्विजसतीर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥ १५ ॥

नमो वो विप्रपत्नीभ्यो निबोधत वचांसि नः। इतोऽविदूरे चरता कृष्णेन प्रेपिता[2] वयम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—तद् उपाकर्ण्य प्रहस्य जगदीश्वरः भगवान् लौकिकीम् गतिम् दर्शयन् पुनः गोपान् व्याजहार ॥ १३ ॥ (हे मित्राणि) ससंकर्षणम् आगतम् माम् पत्नीभ्यः ज्ञापयत, (ताः) धिया मयि उषिताः वः कामम् अन्नम् दास्यन्ति ॥ १४ ॥ अथ गत्वा पत्नीशालायाम् स्वलङ्कृताः आसीनाः द्विजसतीः दृष्ट्वा च नत्वा प्रश्रिताः गोपाः इदम् अब्रुवन् ॥ १५ ॥ विप्रपत्नीभ्यः वः नमः न वचांसि निबोधत इत अविदूरे चरता कृष्णेन वयम् प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

लौकिकीं गतिं न हि कार्यार्थिनो निर्विद्यंते को वा याचको न पराभूयत इत्यादिलोकस्थितिं दर्शयन् ॥ १३ ॥ केवलं देहेन गृहे वसंति धिया वा मय्येवोषिता यतो मयि स्निग्धा अतो दास्यंतीति ॥ १४-१५ ॥ ईषिताः प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् गोपवचः। निर्विद्यंते विरज्यंते। पराभूयते तिरस्क्रियतेऽपि तु सर्व एवेति भावः। प्रहस्येति। अज्ञविप्रेषु कोपानौचित्यादिति भावः। लौकिकीं गतिमिति। यत्र पुरुषेषु याचितं न सिध्येत्तत्र तत्पत्न्यो याच्या इति शिक्षयन्निति भावः ॥ १३ ॥ उषिताः कृतनिवासाः। मां चिंतयंत्यः सदेत्यर्थः। मामागतमेव ज्ञापयत न तु विवक्षितं, बुभुक्षा लक्षणमद्‌-ःखश्रवणस्य सद्य एव तदतिसंतापकत्वात्। ननु त्वद्बुभुक्षाज्ञापनं विना कथमन्नं ता दास्यंति, तत्राह—वो युष्मभ्यं मत्संबंधेनैव युष्मद्बुभुक्षादर्शनेनैव दास्यंति। ननु तत्पतयो वारयिष्यंति, तत्राह—मयि स्निग्धाः स्नेहवत्यः पतिवारणं न मानयिष्यंति। यतो मय्येव धिया उशिताः केवलं देहेनैव पतिगृहे वसंतीत्यर्थ इति विश्वनाथः ॥ १४ ॥ अथ भगवत्प्रेषणोत्तरम्। द्विजसतीः ब्राह्मणपत्नीः प्रश्रिता नम्राः संतः इदम् वक्ष्यमाणम् ॥ १५ ॥ ईष-प्रेरणेऽपि भौवादिक आत्मनेपदी ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यद्यपि द्वावेव प्रति गोपैरुक्तं तथापि श्रीरामः श्रीकृष्णाज्ञानादरजातक्रोधात् श्रीकृष्णाभिप्रायज्ञानाद्वा नैवावदत् श्रीकृष्ण एव प्रत्याहेत्याह तदिति। उपसमीप एवाकर्ण्य तदनादरदुःखेन गोपैः शनकैरेवोक्तेः प्रहस्य उच्चैर्हसित्वा तत्र हेतुः जगदीश्वरः सर्वनियन्ता भगवान् सर्वैश्वर्यपूर्णश्च अतः कौतुकमात्रार्थं तथा याचनं तन्निराशे च हास एवोचित इति भावः। अन्यत्तैः। यद्वा, यत्र पुरुषेषु याचितं न सिद्ध्येत्तत्र तत्पत्नीषु याचितव्यमिति याचकान् शिक्षयन्नित्यर्थः सेयमप्येका कौतुकमयी लीलैव वस्तुतस्तु पूर्व-निर्जोक्तरीत्या वृक्षेभ्यो मनुष्याणां निकर्षे ज्ञापिते विशेषोप्यत्रास्तीत्यभिप्रेत्य स्वस्मिन्नभक्तानां वेदपाठ्यागैकपरत्वादिकं दुरभिमानादिदोषाय दुःखायैव च कल्पते नच क्षेमाय अतस्तद्रहिता अपि मद्भक्ताः परमोत्तमा इति तद्विप्रतत्पत्नीव्यवहारेण लोके दर्शयितुमित्यर्थः ॥ १३ ॥ ममागतमेव ज्ञापयत नच बुभुक्षितं नापि अन्नयाचनादिकमपि कुरुत यतो मदागमनज्ञापनादेव दास्यन्तीत्यर्थः। पत्नीभ्यः तेषां यज्ञसम्बन्धिनीभ्यो भार्याभ्यः पत्युर्नो यज्ञसंयोग इति स्मरणात् अनेन धर्मसम्बन्ध एव तैः सह तासामवशिष्टोऽस्ति

१. प्रहस्य जग—वीर.। २. कृष्णेन प्रेषिता—वीर. विज. विश्व.; कृष्णेनेहेपिता—श्रीधर. वंशी.।

नतु कामसम्बन्धः मयि गाढभावत्वादिति मतम् किञ्च, स्वस्मिन् तासां भावविशेषेण तत्र श्रीबलदेवस्य गौणतया सङ्कर्षणसहित-मित्युक्तं सङ्कर्षणेति तस्य महिमनामत्वात् साक्षात् ग्रहणम्। ननु, पतीनामनुज्ञां विना कथं ता अपि दद्युः कथं चिद्ददाना अपि पतिभिर्वारयितव्या एव तत्राह–स्निग्धा इति। मदपेक्षया तासां तेषु नादर इति भावः ॥ १४ ॥ अथ स्निग्धा इत्यादि श्रीभगव-द्वचनानन्तरमेव अन्यथा पुनर्याचनार्थं यानमयुक्तं स्यात् तासां सदवसर एव च तेषां गमनं जातमित्याह–आसीना इति। सम्भाषणं खलु त्रिधा सुखाय स्यात् अव्यग्रचित्तत्वेन सुवेषत्वेन सद्व्यवहारवत्वेन च तत्रासीना इति पतिपारवश्येनावश्यकं पाकादिवैयग्र्य-मुत्तीर्य स्नानादिपूर्वकं परस्परं श्रीभगवत्कथावेशेन निश्चलतया कृतोपवेशा इत्यर्थः। स्वलङ्कृता इति सधवाहंव्यवहारात् तावद-लङ्कृता एव श्रीभगवत्प्रेमावेशमयपुलकादिभिस्तु सुष्ठ्वेवालङ्कृता इत्यर्थः। परमसत्तमायां द्विजजातावपि सतीरिति भगवद्भक्त्या जातेन सर्वगुणोदयेन परमसद्व्यवहारगुणयुक्ताश्चेत्यर्थः। प्रश्रितास्ते स्वभावत एव किं वा तासां श्रीकृष्णविषयकस्नेहविशेष-श्रवणेन ॥ १५ ॥ स्निग्धा मय्युषिता धिया इति श्रीकृष्णवचनवदेव वीक्ष्य ताः समवधापयन्ति नमो वो युष्मभ्यमिति विप्रपत्नीभ्य इति नमस्कारयोग्यतोक्ता तथापि पूर्ववदेव नातिवहिश्चित्ताः प्रत्याहुः निबोधतेति वचांसीति बहुत्वमर्थगौरवेण अविदूरे निकट एव कृष्णेन युष्मच्चित्ताकर्षकेणेति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यपि द्वावेव प्रतिगोपैरुक्तम्, तथापि कृष्णज्ञानादरेण रामः क्रोधान्नैवावदत्, श्रीकृष्ण एव प्रत्याहेत्याह—तदिति। उप-समीप एवाकर्ण्य तदनादरदुःखेन गोपैः शनैरेवोक्तेः। यद्वा, सहचराणां दुःखानुत्पत्तये उपहासतया श्रुत्वा प्रहस्य उच्चैर्हसित्वा तेषां दुष्प्रज्ञत्वं-दुरभिमानत्वादिमहिम्ना गोपानां दुःखनिवृत्तये वा, जगदीश्वरोऽपीति तेषां विप्राणां नियन्तापि नापराधममन्यतेत्यर्थः, यतो भगवान् सर्व्वज्ञः, मम मायया मोहितानां तेषां को नाम दोष इति भावः। यद्वा, परमदयागुणयुक्त इति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, यत्र पुरुषेषु याचितं न सिध्येत्तत्र तत्पत्नीषु याचितव्यमिति याचकान् शिक्षयन्नित्यर्थः; यद्वा, निजभक्तेष्टसिद्धयर्थं कथञ्चिदपि न निर्विण्णेन भाव्यमवश्यञ्च यतितव्यमिति लोकान् शिक्षयन्नित्यर्थः। अतएव पूर्व्वं गोपानां क्षुधार्त्त्युक्तिश्रवणमात्रेणैव व्यग्रतया दुष्प्रज्ञेषु तेषु तेष्वपि सर्वज्ञशिरोमणिनाप्यनुगानां प्रस्थापनं पश्चाच्च विचारोदयान्निजभक्तजनेषु। यद्वा, कामिनां वेदपाठ्यागैक-परत्वादिकं दुरभिमानादिदोषाय दुःखायैव च कल्पते, न च क्षेमाय, अतस्तद्रहिता एव परमोत्तमा इति तद्विप्रपत्नीव्यवहारेण लोके दर्शयिस्वमित्यर्थः। यद्वा, प्रायो मयि योषितां तादृशभाववताञ्च जनानां यथा भावो न तथा पुंसामिति लौकिकतत्त्वं दर्शयितुम्, अतएव पूर्व्वं तेषु प्रस्थापनमिति ॥ १३ ॥ मामागतमेव ज्ञापयत, न च बुभुक्षितम्, नापि अन्नयाचनादिकमपि कुरुत, यतो मदा-गमनज्ञापनादेव दास्यन्तीत्यर्थः। पत्नीभ्यः, तेषां यज्ञस्य चेति च न निर्दिष्टम्, तेषां तासु तत्सम्बन्धायोग्यत्वात्। किञ्च, स्वस्मिन् तासां भावविशेषेण तत्र श्रीबलरामस्य गौणतया संकर्षणसहितमित्युक्तम्, संकर्षणशब्देन तासां तस्मिन् भक्त्यर्थमात्मना सह तस्या-पृथग्भावोऽपि सूचितः। ननु पतीनामनुज्ञां विना कथं ता अपि ददुः, कथञ्चिद्ददाना अपि पतिभिर्वारयितव्या एव, तत्राह–स्निग्धा इति। मदपेक्षया तासां तेषु नादरः, विशेषतश्चाधुना तेषां दुर्व्यवहारेण तानुपेक्ष्य देहेनापि मयि समागमिष्यन्त्येवेति भावः। स्निग्धा इति यज्ञपत्नीनां मधुररतियुक्तत्वेऽपि सामान्यतयोक्तिः, श्रीरामादिलज्जातस्तासां स्वस्मिंस्तादृशभावाप्रकाशनात्, किंवा स्वस्य तासु तादृशभावाभावात् ॥ १४ ॥ अथ श्रीभगवद्वचनानन्तरमेव, आसीना इति न पतिवत् कर्म्मव्यग्राः, किन्तु श्रीभगवद्भक्तेः सुखेन सुस्थ-तया वर्त्तमाना इत्यर्थः। स्वलंकृता इति तासां यज्ञपत्नीत्वलक्षणं सूचितम्; यद्वा, भगवन्मुद्रादिसदलंकारभूषिताः, द्विजानां विप्राणां तेषां सतीः पत्नीः, सती-शब्देन तेषां पत्नीत्वेऽप्यासां साध्वीत्वमेव सूचितम्, भगवद्भक्तेः; किंवा द्विजेभ्योऽपि तेभ्यः सर्व्वथा साध्वी-रिति भावः। विनीताः स्वभावत एव, किंवा तासां श्रीकृष्णविषय-स्नेहविशेषश्रवणेन; प्रश्रिता इति पाठेऽपि न एवार्थः ॥ १५ ॥ नमो वो युष्मभ्यमिति वाचा प्रणामः, तासां भावपरीक्षणार्थं स्ववाक्यश्रवणेऽभिमुखीकरणार्थं वा। विप्रपत्नीभ्य इति नमस्कारयोग्यतोक्ता, पुनर्नमस्कारो भक्त्यतिशयेन निवेदनार्थं वा वचांसीति बहुत्वं गौरवेण, निबोधत शृणुतेति विनयभरस्वभावतः; किंवा सादर-श्रवणार्थं प्रियवार्त्ताश्रवणहर्षेण वा अविदूरे निकट एव, कृष्णेन युष्मच्चित्ताकर्षकेणेति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततो भगवान् लौकिकीं गतिं नहि कार्यार्थिनो निर्विद्यन्ते "तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः" इत्युक्तरूपां लोकपरि-पाटीं दर्शयन्निव पुनर्गोपान् व्याजहारोवाच ॥ १३ ॥ तदेवाह –मामिति। सङ्कर्षणसहितं मामागतं पत्नीभ्यः द्विजानामिति शेषः। अथ गोपा ज्ञापयत ताश्च केवलं देहेन गृहे वसन्ति धिया तु मय्येवोषिताः मयि स्निग्धा अतः कामं यथेष्टमन्नं दास्यन्ति ॥ १४ ॥ विप्रपत्नीभ्यो पत्नीशालायां गत्वा स्वलङ्कृता आसीनाश्च द्विजसतीर्दृष्ट्वा प्रश्रिता नम्राः सन्तः इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् ॥ १५ ॥ वो युष्मभ्यं नमः नोऽस्माकं वचांसि निबोधत शृणुत किम् ? इत समीपे सञ्चरता कृष्णेन प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

लौकिकीं गतिं लोक सिद्धां रीतिम् ॥ १३ ॥ दाने कारणमाह मयीति । धिया मय्युषिता मामेव चिन्तयन्त्य इत्यर्थः । द्विजसतीः द्विजपत्नीः ॥ १४–१५ ॥ चरता बुभुक्षितेन ताच्छीलिकस्तृन्प्रत्ययः चर गतिभक्षणयोः इति धातोः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

इममेवार्थं व्यतिरेकेण दर्शयितुं निराशतया शुष्यन्मुखान् प्रत्यागतान् बालान् पुनर्भगवानाह तदुपाकर्ण्येत्यादि द्वाभ्याम् । प्रहस्येति तेषां द्विजानामज्ञत्वमाज्ञाया हास एवोचितः, भिक्षुकाणामियमेव रीतिः—सकृदसिद्धे कामे न हि निरध्यवसायैर्भवितव्यम् पुनरप्यध्यवसायः कार्यं इति लौकिकरीतिशिक्षा । ननु ते न दास्यन्त्येव, पुनः क्व गन्तव्यमित्याज्ञापयेत्याशङ्क्याह मां ज्ञापयेत्यादि । पत्नीभ्यो द्विजपत्नीभ्यः । अत्र प्राधान्येनात्मानमेव ख्यापयामास । कदाचित् समुचितमन्नं न ददतीत्याशङ्क्याह स-सङ्कर्षणमागतमिति । सङ्कर्षणभोग्ययोग्यञ्च यथानयन्तीत्यर्थः । अथवा, सङ्कर्षणेन सह मयागतम्, अत्रागत्य समुचितमेव वक्तव्यमिति च तात्पर्यद्वयमेव । ननु ता एव दास्यतीति किं प्रमाणम्? तत्राह स्निग्धा मयीति । तथैव कुतः? धिया उषिता मयीति काकाक्षिन्यायेन ॥ १६–२२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मां ज्ञापयतेत्यत्र प्राधान्येनात्मानं निर्दिशति,—तासां तत्रैवानुरक्तत्वात् ॥ १५–२२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

प्रहस्येति अज्ञविप्रेषु कोपानौचित्यादिति भावः । लौकिकीं गतिमिति नहि कार्य्यार्थिनो निर्विद्यन्ते को वा याचको न परा भूयते इति लोकस्थितिं दर्शयन् ॥ १३ ॥ मामागतमेव ज्ञापयत न तु बुभूक्षितं बुभुक्षालक्षणमद्दुःखश्रवणस्य सद्य एव तदपि सन्तापकत्वात् । ननु, त्वद्बुभुक्षाज्ञापनं विना कथमन्नं ता दास्यन्ति तत्राह—वो युष्मभ्यं मत्सम्बन्धेनैव युष्मद्बुभुक्षा दर्शनेनैव दास्यन्ति । ननु, तत्पतयो वारयिष्यन्ति तत्राऽऽह—मयि स्निग्धा स्नेहवत्यः पतिवारणं न मानयिष्यन्ति यतो मय्येव धिया उषिताः केवलं देहेनैव पतिगृहे वसन्तीत्यर्थः ॥ १४–१५ ॥ ईषिताः प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ततस्तेषां विप्राणां गोपवाक्यैः स्वापमानमुपाकर्ण्य श्रुत्वा अत एव प्रहस्य—

"अपमानं पुरस्कृत्य कृत्वा मानं तु पृष्ठतः । स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यनाशे तु मूर्खता" ॥

इत्यादिरूपां लौकिकीं गतिं दर्शयन् पुनर्व्याजहारोवाच ॥ १३ ॥ पत्नीभ्यः विप्रपत्नीभ्यो मां ज्ञापयत ता केवलं शरीरैः पतिसमीपे वसन्तीति धिया मय्येवोषिताः यतो मयि स्निग्धा अतः कामं यथेष्टं वा युष्मभ्यमन्नं दास्यन्ति ॥१४॥ प्रश्रिताः नम्राः सन्तः ॥१५॥ वो युष्मभ्यं नमः नोऽस्माकं वचांसि निबोधत शृणुत ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

प्रहस्येति । अज्ञेषु विप्रेषु क्रोधायोग्यादिति भावः । दर्शयन्निति कार्यार्थिनां निर्वेदो न युक्तः याचकस्य क्वचित् पराभवः स्यादेवेति लोकस्थितिं शिक्षयन्नित्यर्थः ॥ १३ ॥ मामागतमेव ज्ञापयत न तु क्षुधित तच्छ्रवणे तासामतिसन्तापप्रसङ्गात् । ननु तद्विना कथं दद्युस्तत्राह मयि स्निग्धा मत्सम्बन्धेनैव वः कामं यथेष्टमन्नं दास्यन्ति ननु पतयो निवारयेयुस्तत्राह धिया मय्येवोषिताः केवलेन देहेनैव पतिगृहेषु निवसन्तीति तन्निवारणं न मन्येरन्निति भावः ॥ १४ ॥ प्रश्रिता विनीताः ॥ १५ ॥ उषिताः प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

लौकिकीं गतिं स्वयमत्रैव वितरितुं शक्तोऽप्येकत्रालाभेऽन्यत्र गन्तव्यमिति लौकिकीं गतिं तदेतदुक्तमुपाकर्ण्य पुनर्गोपान्प्रति व्याजहार ॥ १३ ॥ हे गोपास्तत्पत्निभ्यः सङ्कर्षणमन्नप्राप्तिर्भवतीति स्वपुरस्कृतिरिव बलस्योपसर्जनतया प्रहस्येति ध्येयं । काममपेक्षितमन्नं दास्यन्ति ता मयि धियोषिता मद्बुद्धयः किञ्च मयि स्निग्धाश्च सहजस्नेहवत्य इति । सराममित्यनुक्त्वा ससङ्कर्षणमित्युक्त्या सम्यक् तत्कर्षणेन सहितं मां ज्ञापयतेत्यप्यूचे सुचेता इति ज्ञेयः ॥१४॥ अथ कृष्णोक्तिश्रवणसमनन्तरं गोपा गत्वा पत्नीशालायां तदुपवेशस्थले आसीनाः स्वलङ्कृता द्विजसतीर्नत्वा प्रश्रिता नम्रा इदमब्रुवन् ॥ १५ ॥ द्विजपत्नीभ्यो वो नमोऽस्तु नो वचांसि निबोधत । प्रातिस्विकतया सर्वाः प्रति सम्बोध्योक्तेर्वचांसीति बहुवचनं । इतो युष्मत्स्थलादविदूरे समीपे चरता सञ्चरता कृष्णेन वयं प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

गोपानां खेदादिकं दृष्ट्वा भगवद्वैमुख्ये क्रोधं च तन्निवृत्त्यर्थं हास्यं कृतवान्, ननु क्रोधः कर्तव्य आज्ञोल्लङ्घनात् कथं हास्यं ? तत्राह जगदीश्वर इति, जगतः स एवेश्वरः, तथैव स ते प्रतिबोधिताः, तेषां पूर्वखेदस्य विस्मृतत्वात् पुनराह, तेषां गमनाङ्गीकारार्थं प्रबोधनं च कृतवान्, लौकिकीं गतिरेतादृशी क्वचित् प्राप्यते क्वचिन्न क्वचिदुत्तराभावश्च ॥ १३ ॥ भगवद्वाक्यमाह मां ज्ञापयतेति, यज्ञे यजमानपत्न्यः पत्न्य एवोच्यन्ते निर्दुष्टत्वज्ञापनाय 'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्ती'तिश्रुतेः, अतो निर्दुष्टत्वान् मां पत्नीभ्यो ज्ञापयत ससङ्कर्षणं बलभद्रसहितमागतं, याचनं तु न कर्तव्यमयाचिता एव दास्यन्तीत्याह दास्यन्तीति कामं यथेष्टं तद् वो युष्मभ्यं तस्मान्नदोषो निरूपितः कामपदाद् वइतिपदाच्च, दाने हेतुः स्निग्धा इति, मयि ताः स्निग्धाः प्रेमवत्योतो मदागमने ज्ञापिते परितुष्टा एव दास्यन्ति यथा प्रियवार्ताहर्त्रे दानं, किञ्च धिया पुनर्मय्येवोषितास्ताः सङ्घाते बुद्ध्या मयि तिष्ठन्ति शेषेण तत्र बुद्ध्येत्युपलक्षणं ज्ञानशक्त्यान्तःकरणेन चात्र तिष्ठन्ति बाह्यक्रियया देहेन च तत्र, अतो ज्ञानशक्तिर्मय्येव तिष्ठतीति दास्यन्ति ॥ १४॥ ते पुनर्बालाः पूर्ववदेव गत्वा तथैव याचितवन्त इत्याह गत्वेति, अथ भिन्नप्रक्रमेण येन मार्गेण यथा रीत्या पूर्वं गता न तथेति, पत्नीशाला भिन्नैव प्राग्वंशे सदसि वा भवति परं प्राग्वंश एव यत आसीना निष्क्रान्ताः सुष्ठ्वलङ्कृताश्च, अनेन सौभाग्यसहितास्ता निरूपिताः पूर्ववेदनत्वाद् प्रश्रिता विनोताः सन्त इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् ब्राह्मणसम्बन्धाक्षमनं सतीत्वाद् विनयः ॥ १५ ॥ तेषां वाक्यमाह द्वयेन, नम इति, वैदिकार्थापरिज्ञानाद् विप्रपत्नीभ्य इत्युक्तं, तत्राप्यनवधानतानिवृत्त्यर्थं निबोधतेत्याहुः, के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुरितो निकट एव चरता परिभ्रमता लीलाकर्त्रा कृष्णेन सदानन्देन वयं प्रेषिता इति कार्यनिवेदनं वा ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

मां ज्ञाप्यतेत्यत्र, तस्यान्नदोषो निरूपित इति। पूर्वं यथेष्टमिति कामपदं व्याख्यातम्, अधुना तस्यान्नविशेषणत्वमभिप्रेत्य तत्तात्पर्यमुच्यते। दोषः स्वभोगे ज्ञेयः स कथं निरूपित इत्यत आहुः कामपदादिति। अत्रेदमाकूतम्। अन्नं हि पुरुषस्वामिकं भवतीति तदन्नं तैः स्वर्गकामनया यज्ञसंबन्धिदेवतान्तरोद्देशेन सङ्कल्पपूर्वकं निष्पादितत्वात् सकाममपि कामप्राचुर्यात् कामरूपमेव जातमिति ज्ञापनाय तथा विशेषणम्। तेन तेषामभक्तत्वं सूचितम्। तथा चान्योद्देशेन कृतमभक्तसंबन्धि स्वभोगयोग्यं न भवतीति दोषोक्तिः। किञ्च, 'मां ज्ञापनाय पत्नीभ्यः' इत्युक्त्वा दानसमयेपि 'मह्यं दास्यन्ती'ति पात्रान्तरोक्त्या चोक्तदोष एवान्नस्य स्फुटीभवतीत्याशयेनोक्तं व इति पदाच्चेति। न च पूर्वोत्तरवाक्ययोः कथं संगतिरिति वाच्यम्। तासां भक्तत्वात् मदागमने ज्ञापिते मत्संबन्धित्वं ज्ञात्वा वो युष्मभ्यमपि दास्यन्तीति ज्ञापयितुमादौ स्वकथनम्, अग्रे दोषत्वमन्नस्य ज्ञापयितुं व इति कथनमित्युपपत्तेः। अन्यथा यथा भगवतोक्तं वो दास्यन्ति तथा ता अपि तेभ्य एव दद्युः, न तु स्वमत्रानयेयुः। तर्हि कथं तदन्नमेताभिरानीतं भगवानङ्गीकृतवानिति चेत्। अत्रैवं प्रतिभाति। पत्न्या आत्मनोऽर्धत्वात्तदन्ने तासामंशो भवितुमर्हति। स च तासां भक्तत्वादुक्तदोषरहित एवेति मन्तव्यम्। तथा सति तस्य पूर्वमपृथग्भावात् समुदिताभिप्रायेण दोषोक्तिः। ततस्ताभिर्भगवदर्थं स्वांशे पृथक्कृते तदङ्गीकरणमावश्यकं प्रभोः, 'भक्त्युपहृतमश्नामी'ति वचनात्। यद्वा। 'अन्नमादाय भाजनै'रिति। भाजनोक्त्या पृथग्भावासंभवेपि यथा तदन्ने पूर्वमन्योद्देशो दोषहेतुरभूत्, एवं पश्चाद्भगवदुद्देशस्तस्मिन्निवृत्तिहेतुरभूत्। अतः सर्वमान्नमङ्गीकरणयोग्यमित्युपपद्यते। न च तासां भक्त्या पुमंशः कथमदुष्टो भवतीति शङ्कनीयम्, तत्संबन्धात्तेषामपि भक्तत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अथवा, कामं यथेष्टमिति पक्षेपि तत्तात्पर्योक्तिस्तस्यान्नस्य दोष इति। अत्रायमर्थः। आधिदैविकं यज्ञं संपादयितुं पुंभिराधिदैविकयज्ञात्मकस्य भगवतस्तदाध्यात्मिकानां गोपानां याच्ञाभङ्गः कृतः। सोत्र दोषपदेनोच्यते। तथा सति कथमाधिभौतिकोपि स संपत्स्यत इति ज्ञात्वा साक्षादाधिदैविके दातुमशक्यत्वादाध्यात्मिकेभ्यो वो युष्मभ्यं यावता तृप्तिर्भविष्यति, तावद् दास्यन्ति तेन चाधिदैविकस्य तृप्तिर्भविष्यति, आधिभौतिकश्च संपत्स्यत इत्याशयेनोक्तं कामपदाद्व इति पदाच्चेति। अन्यथा यज्ञीयान्नस्य यथार्थमस्थापयित्वा यथेष्टदानकथनानुपपत्तेः। तास्तु 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेने'ति ज्ञानेनाधिदैविकद्वारेणैव सर्वं तत्रैव भवत्विति सर्वमन्नमानीतवत्य इति सर्वमवदातम् ॥ १४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मां ज्ञापयतेत्यत्र निर्दुष्टत्वेति पत्युः स्त्रीं पत्नीतिपुंयोगेन पतिव्रतात्वज्ञापनायेत्यर्थः, ताः सङ्घाते इति निर्धारणे सप्तमी, सङ्घातमध्ये बुद्ध्या अन्तःकरणेन मयि तिष्ठन्ति, शेषेण देहेन्द्रियप्राणैस्तत्र तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥१४॥ नमो व इत्यत्र वैदिकार्थेति यज्ञे यजमानपत्न्यः पत्न्य एवोच्यन्त इतिज्ञाने पत्नीपदमात्रमेव वदेयुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत् गोपैर्वर्णितं ब्राह्मणदुश्चेष्टितमुपाकर्ण्य श्रुत्वा, भगवान् खिन्नान् गोपान् परिसान्त्वयन् प्रहस्य लौकिकीं "को वा याचको न पराभूयते ? तथापि कार्यार्थिनो न निर्विद्यन्ते, भक्तिहीनाः पण्डिता अपि मुह्यन्त्येव" इत्यादिलोकस्थितिं दर्शयन् गोऽव

प्रति पुनर्व्याजहार उक्तवानित्यन्वयः। ननु 'सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् दुष्टेषु तेषु कोप एव युक्त' इत्याशङ्क्य 'जगत्पालकत्वेन धर्ममर्यादारक्षणार्थं तेन ब्राह्मणेषु क्षमैव कृता' इत्याशयेनाह—जगदीश्वर इति ॥ १३ ॥ तद्वाक्यमाह—मामिति। अत्रागतं ससङ्कर्षणं क्षुधितं मां ब्राह्मणपत्नीभ्यो ज्ञापयत, ता वो युष्मभ्यं कामं तथेष्टमन्नं दास्यन्ति। यतो देहमात्रेणैव गृहे वसन्ति, धिया तु मय्येवोषिताः। तत्र हेतुः-मयि स्निग्धा इति ॥ १४ ॥ अथ भगवदाज्ञानन्तरं ते गोपाः पुनर्यज्ञवाटं गत्वा तत्र पत्नीशालायामासीना उपविष्टाः स्वलङ्कृता द्विजसतीः ब्राह्मणपत्नीर्दृष्ट्वा नत्वा प्रश्रिता नम्रीभूताश्च सन्त इदं वचनमब्रुवन्नित्यन्वयः॥ १५ ॥ तद्वाक्यमाह-नम इति। विप्रपत्नीभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। नोऽस्माकं वचांसि निबोधत। एवं सावधानीकृत्याहुः-इतः अविदूरे समीपे विचरता कृष्णेन वयमिह युष्मन्निकटे ईषिताः प्रेषिताः स्म ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तदिति ॥ तत् रामकृष्णौ प्रति गोपैर्वर्णितं ब्राह्मणदुश्चेष्टितमुपाकर्ण्य रामे क्रोधात्तूष्णीं स्थिते जगदीश्वरः कृष्णः अज्ञविप्रेषु कोपानौचित्यात् प्रहस्य लौकिकीं गतिं को वा याचको न पराभूयते तथापि कार्यार्थिनो न निर्विद्यन्ते। विवेकहीनाः पंडिता अपि मुह्यन्तीत्येवमादिकां लोकस्थितिं दर्शयन् गोपान् प्रति पुनर्व्याजहार उक्तवान् ॥ १३ ॥ मामिति। अत्रागतं ससंकर्षणं मां ब्राह्मणपत्नीभ्यो ज्ञापयत। ननु तत्र क्षुदादिकथनमावश्यकम्। ताश्च मयि स्निग्धाः देहमात्रेण गृहे वसन्त्योऽपि धिया बुद्ध्या मय्येव उषिताः अतो वो युष्मभ्यं कामं यथेष्टमन्नं दास्यन्ति ॥ १४ ॥ गत्वेति ॥ अथ गोपाः पुनर्यज्ञवाटं गत्वा तत्र पत्नीशालायामासीना उपविष्टाः स्वलङ्कृता द्विजसतीः ब्राह्मणपत्नीर्दृष्ट्वा नत्वा प्रश्रिता नम्रीभूताश्च सन्त इदं वचनमब्रुवन् ॥ १५ ॥ नम इति ॥ विप्रपत्नीभ्यो वो युष्मभ्यं नमः। नोऽस्माकं वचांसि निबोधत शृणुत। इतः अविदूरे समीपे विचरता कृष्णेन वयमिह युष्मन्निकटे ईषिताः प्रेषिताः स्म ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

लौकिकीं गतिं के याचकानपराभूताः अतो निर्वेदो न प्राप्यः एवंरूपां लोकस्थितिं दर्शयन् पुनराह ॥१३॥ पत्नीभ्यस्तेषां स्त्रीभ्यः आगतं मां यूयं ज्ञापयत कथयत। मयिताः धिया उषिताः स्थिताः देहेनैव गेहस्थिताः अतः वो युष्मभ्यं दास्यंति ॥ १४ ॥ प्रश्रिताः नम्राः ॥ १५ ॥ वो युष्मभ्यं यूयं निबोधत अत्र ईषिताः प्रेषिताः ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदिति ॥ जगदीश्वरः भगवान् श्रीकृष्णः, तद्गोपवाक्यं, उपाकर्ण्य श्रुत्वा, प्रहस्य, लौकिकीं गतिं, 'न हि कार्यार्थिनो निर्विद्यन्ते' 'तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः' इति 'को वा याचको न पराभूयते' इत्यादिरूपां लोकपरिपाटीमित्यर्थः। दर्शयन् सन्, गोपान्, पुनः व्याजहारोवाच ॥ १३ ॥ तदेवाह ॥ मामिति ॥ हे गोपाः, ससंकर्षणं संकर्षणेन सहितं, आगतं समायातं, मां श्रीकृष्णं, पत्नीभ्यः द्विजानामिति शेषः। ज्ञापयत। ताश्च स्निग्धाः मयि गाढानुरागयुक्ताः, गृहे तु केवलं देहेनैव वसन्तीति शेषः। धिया बुद्ध्या तु, मयि एव उषिताः विहितावासाः, सन्ति। अतः, वो युष्मभ्यं कामं यथेष्टं अन्नं दास्यन्ति ॥ १४ ॥ गत्वेति ॥ अथ गोपाः, पत्नीशालायां गत्वा, स्वलंकृताः स्वाङ्गपरिधृताभरणाः. आसीनास्तत्रोपविष्टाः, द्विजसतीर्ब्राह्मणीः दृष्ट्वा, प्रश्रिता नम्राः सन्तः, नत्वा, इदं वक्ष्यमाणं, अब्रुवन् ॥ १५ ॥ नम इति ॥ विप्रपत्नीभ्यः वो युष्मभ्यं, नमः। हे सत्यः, नोऽस्माकं, वचांसि निबोधत शृणुत। किमित्यत्राहुः, इतोऽस्मात् स्थानाद्, अविदूरे समीपे एव, चरता संचरता कृष्णेन, वयं, इह ईषिताः प्रेषिताः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तदुपाकर्ण्येति : १०.२३.१३.

न मन्त्राग्नि श्रद्धा न च हृदयतोषोऽतिथिजने न दानेहाऽन्नानामिह भवति येषां कुजनुषाम्।
न तेषामाज्याद्यैर्हवनमनले मौनमनिशं फलाय स्याद् ब्रह्मध्वनिरपि विभोरध्वनि हसात् ॥ २५ ॥
यस्मिन्नभ्यासदार्ढ्यं वचसि तदवशादास्यतो निष्प्रयत्नं निर्गच्छत्येष सर्वानुभव इह यदोम्नेति वा नोचुरेते।
तत्कीदृक् स्यादमीषां प्रणवपरिचितिर्नेति नेतीति वस्त्वादेशस्यालोचनं वेत्यकृत स सदयो विस्मयात्तत्र हास्यम् ॥ २६ ॥
लोकोक्तिरस्ति स्फुटा।
देयं चेन्मनसा यदर्थ्यभिहितं तद्देयमेवाविराज्ञा चेत्सत्वरमेव नोत्तरमियं लोकोक्तिरस्ति स्फुटा।
कल्पित इत्यहो सकलवित्त्वं तज्जहासाच्युतः ॥ २७ ॥
तस्याः सम्प्रति बुद्धिमद्भिरिह यन्नैवोत्तरं देयमित्यर्थः। कल्पित इत्यहो सकलवित्त्वं तज्जहासाच्युतः ॥ २७ ॥
तस्याः सम्प्रति बुद्धिमद्भिरिह यन्नैवोत्तरं देयमित्यर्थः। सद्य प्रहास्यः प्रभोरिति स्पष्टम् ॥ २८ ॥
देयं वाऽदेयं वा सत्वरमेकं तदुत्तरं देयम्। यो न ब्रूयाद् द्वयमपि सद्य प्रहास्यः प्रभोरिति स्पष्टम् ॥ २८ ॥
सर्वांशतो ये जनतः प्रतिष्ठां महान्त इत्युत्कलितां वहन्ति। अज्ञानमप्युच्छ्रितमस्ति तेषामहो इतीवाहसदच्युतः सः ॥ २९ ॥
योगज्ञैर्यज्ञज्ञैर्ह्यज्ञैरपि मनागनाकलिता। भाविकजनहृदयगता मयि रतिरेवंविधेत्यलमकथयत् ॥ ३० ॥

मद्भक्तिमात्रमनसामितराधिकारशून्यात्मनामपि मदङ्घ्रिपराङ्मुखेभ्यः।
स्वस्वाधिकृत्युपगताखिलकर्मकृद्भ्योप्येवं विशेष इति काममदर्शयत्तान् ॥ ३१ ॥

वेदज्ञा अपि सर्वशास्त्रविशदप्रज्ञा अपि ख्यातिमत्संज्ञा अप्युरुसत्कृताखिलमहायज्ञाः कृतज्ञा अपि।
मज्ज्ञातिप्रतिबोध्यमानसरणावज्ञा यदि स्युर्न तेऽभिज्ञा भक्तिसुखस्य विज्ञमुनयस्तत्र स्फुटोदाहृतिः ॥ ३२ ॥

यावान्येष्वधिकारिताग्रह इह प्रध्मातमानोऽस्त्यलंतावांस्तेष्वधिकारिता ग्रह इति प्रायो ममाप्यस्ति हि।
यावन्तोऽनधिकारिताऽऽग्रहजुषस्ते स्युर्हि मन्मित्रतापात्राणीह युगे स्फुटामिति चकारेशो गतिं लौकिकीम् ॥ ३३ ॥

गुरव इति समाख्यां ये वहन्तोऽभिमानाद् गतिरियमनुभूता तादृशामीदृशी यत्।
तदुचितमिह मानं पिङ्गलोऽस्त्येव वक्रो गुरुरिति स ऋजुः स्याद्यो लघुश्चेति वक्ता ॥ ३४ ॥

मां ज्ञापयतेति : १०.२३.१४.

तद्यात निःशङ्कमितोऽन्नलाभो भवेदभीष्टो भृशमङ्गनाभ्यः।
तदङ्गनावीक्षणतो हि यूयं तीर्णाः क्षुधाब्धौ बहुधा भविष्यथ ॥ ३५ ॥

यैर्नोत्तरं शुष्कगिरापि दत्तं तेषा स्त्रियस्तास्तदलं गतेन। तत्रेति तत्तर्कितमार्जनाय तत्प्रेम निःसीममवोचदीशः ॥ ३६ ॥

गत्वेति : १०.२३.१५.

न सर्वतन्त्राधिकृतः पुमान् रमापतेः प्रियः श्रीहरिरस्य वा प्रियः।
किं त्वेकतद्भक्तिसुधार्द्रिताशयः स्फुटं त्विदं तद्गतिमात्रतोऽभवत् ॥ ३७ ॥

स्वतोऽपि वन्द्या निजमातृतुल्याः सद्विप्रपत्न्यः सततागिनहोत्र्यः। तत्रापि कृष्णप्रणुता इतीशानुगाः प्रणेमुर्निखिलाः क्षमं तत् ॥ ३८ ॥
अनादृतेश चित्तानां दण्डोऽस्त्वाच्युतचेतसाम्। प्रणाम इति ते तादृक् कृत्योभयमबोधयन् ॥ ३९ ॥

नमो व इति : १०.२३.१६.

हठेनैवात्र कृष्णेन प्रेषिता इति का क्षतिः। तन्नामग्रहणेऽस्माकमित्यूचुस्तस्य चोदनाम् ॥ ४० ॥
यद्वा भृशं मन्यमाना विफलां रामचोदनाम्। कृष्णसङ्कीर्तनं चक्रुस्तत्र भक्तोपलब्धये ॥ ४१ ॥

कृष्णप्रिया

उन गोप बालकों की बात सुनकर जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने मन्दस्मित किया। पुनः भगवान ने ग्वाल-बालकों को कहा कि यह लौकिक परिस्थिति है उसमें सफलता भी मिले एवं निष्फलता भी मिले। निराश होने का कोई कारण नहीं सुनो भैया ! ॥ १३ ॥ मेरे प्यारे मित्र ! अब तुम उन द्विजवरों की पत्नियों के पास जाओ, और अञ्जलिबद्ध उनसे निवेदन करो कि बलदाऊ भैया मैं उनके निवास के समीप आया हूँ। वे बिना माँगे ही तुम जितना चाहो उतना अन्न अवश्य देंगी। वे ऋषि पत्नियाँ मुझसे अधिक स्नेह रखती हैं। उनका मन सदा मुझमें रहा है ॥ १४ ॥ राजन् ! भगवान की आज्ञा पाकर वे ग्वाल-बाल यजमान पत्नी शाला में गये। वहाँ दिव्यवस्त्रालंकार से विभूषित होकर सजी-धजी बैठी हुई विप्राङ्गनाओं का दर्शन किया और नमस्कार किया। पुनः नम्रतापूर्वक निवेदन करने लगे ॥ १५ ॥ हे माताओं ! हे ऋषि पत्नियों ! आपके चरणों में नमस्कार है। हमारे वचनों को सुनिए। यहाँ अत्यंत समीप में गौओं चराते परिभ्रमण एवं क्रीडा करते भगवान् श्रीकृष्ण ने हमें आपके समीप भेजे हैं ॥ १६ ॥

गाश्चारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः। बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥ १७ ॥
श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं[1] नित्यं[2] तद्दर्शनोत्सुकाः। तत्कथाक्षिप्तमनसो बभूवुर्जातसम्भ्रमाः ॥ १८ ॥
चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः। अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥ १९ ॥
निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः[3] सुतैः। भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः[4] ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सः गोपालैः गाः चारयन् सरामः दूरम् आगतः सानुगस्य बुभुक्षितस्य तस्य अन्नम् प्रदीयताम् ॥ १७ ॥ नित्यम् तद्दर्शनोत्सुकाः अच्युतम् उपायान्तम् श्रुत्वा तत् कथाआक्षिप्तमनसः जातसम्भ्रमाः बभूवुः ॥ १८ ॥ सर्वाः (ताः) निम्नगाः समुद्रम् इव, प्रियम् भाजनैः चतुर्विधम् बहुगुणम् अन्नम् आदाय अभिसस्रुः ॥ १९ ॥ पतिभिः भ्रातृभिः बन्धुभिः सुतैः निषिध्यमानाः उत्तमश्लोके भगवति दीर्घश्रुतधृत आशयाः ॥ २० ॥

१. यातं—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. तास्तु—वीर. । ३. पितृभिः—विज. । ४. मृता—विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स कृष्णो गोपालैः सह ॥ १७ ॥ तत्कथाक्षिप्तमनस्त्वात्तद्दर्शनोत्सुकाः अत एव तमुपागतं श्रुत्वा जातसंभ्रमा बभूवुरिति ॥ १८ ॥ भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यभेदैश्चतुर्विधम् । बहुगुणं संस्कारविशेषैर्बहवो गुणा रससौरभ्यादयो यस्मिंस्तत् । भोजनैरमत्रैर्भांडैर्वा । पत्यादिभिर्वार्यमाणा अपि प्रियं श्रीकृष्णमभिसस्रुरभिजग्मुः । अप्रतिबंधे दृष्टांतः । समुद्रं निम्नगाः नद्य इवेति ॥ १९ ॥ अत्र हेतुः । भगवतीति । दीर्घं बहुकालं श्रुतेन श्रवणेन धृत आशयो याभिस्ताः ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तस्य श्रीकृष्णस्य ॥ १७ ॥ तच्छब्दोऽत्र कृष्णपरामर्शी, तस्य कथया बुभुक्षावार्त्तया आक्षितानि–अरे पामर मनः कथं प्रियतमस्य बुभुक्षाश्रवणेनापि न मूर्छितं जागर्षि धिक्त्वामित्येवं तिरस्कृतानि स्वस्वमनांसि याभिस्ताः । यतस्तद्दर्शनोत्सुका अत एव हेतोः । तम् कृष्णम् जातसंभ्रमाः । जातादराः "संभ्रमः साध्वसेऽपि स्यात्संवेगादरयोरपि" इति मेदिनी ॥ १८ ॥ अमत्रैः पात्रैः 'भाजनं योग्यपात्रयोः' इति मेदिनी । भांडैस्तूदादिशाखावंशत्वगादिनिर्मितैर्वा । भक्ष्यादयः पूर्वं व्याख्याताः । संस्कारो जीरकैलादिभिर्घृतादिना क्रियत इति ॥ १९ ॥ आशयः कदा श्रीकृष्णं द्रक्ष्याम इत्यभिप्रायः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

सदा श्रीकृष्णं रमयतीति तस्मात् सङ्कोचो निरस्तः स्वयं भगवता माहात्म्यख्यापनाय पूर्वं सङ्कर्षणनाम्नोक्तम् एभिस्त्वेतन्नाम्ना तदभिरुचिनत्वख्या पनायेति यत्तद्युक्तमेव पूर्वत्र गौरवाधिक्यस्यैवौचित्यात् उत्तरत्र तु तथैव पत्नीनामभिरुचेः दूरं गृहादिति ततोऽन्नमाश्चानयितुं न शकुरिति भावः । यद्वा, अदूरमितः पुनरुक्तिः अतिनैकट्येन तासामागमनार्थं सानुगस्य श्रीरामगोपवर्गसहितस्य प्रकर्षेण सरनमिष्टान्नपानभृतपात्रादिद्वारा दीयतां पूर्वं तदादेशेन केवलं द्वयोरेवान्नप्रार्थनम् अधुना तु तदादेशं विनापि तत्रापि सानुगस्येति । तत्रापि प्रकर्षेणेति तासां भगवति भक्तिविशेषश्रवणादिः सनर्मैव त्वया अन्नत्यागेनाप्यागमनसम्भावनपूर्वकं च ॥ १७ ॥ हृदयात् कदाचिदपि न च्युतो भवतीत्यच्युतस्तम् उपायातं समीप एव साक्षादागतम् अन्यत्तैः । यद्वा, विशेषतश्च तत्कथया तस्य बुभुक्षावार्त्तयाऽऽक्षिप्तमनसः ॥ १८ ॥ चतुरिति युग्मकं भाजनैः भोजनपात्रैः पाकपात्रैर्वा कृत्वा अन्नोष्णतादिस्थित्यर्थं सम्भ्रमादेव वा अभिसस्रुरित्यादिना तदेकाभिमुख्यं सूचितं टीकायां भक्ष्यं चर्व्यं चोष्यं चूष्यमिति पतिभिरित्यादिकं यथा निकटं ज्ञेयं निषिध्यमाना इति तस्मै देयं चेदन्नं प्रस्थाप्यतां स्वयन्तु मा यातेति तासां गमनमेव वर्ज्यते स्मेत्यर्थः । श्रीभगवता तदन्नस्वीकारात् ॥ १९–२० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

सदा कृष्णं रमयतीति राम इति तस्मात् संकोचो निरस्तः; दूरं गृहादिति ततोऽन्नमानेतुं न शक्यत इति भावः । यद्वा, अदूरमिति पुनरुक्तिरतिनैकट्येन तासामागमनार्थम्, सानुगस्य श्रीरामगोपवर्गसहितस्य प्रकर्षेण सरसमिष्टान्नपानभूतपात्रादिद्वारा दीयताम्, पूर्वं केवलं द्वयोरेवान्नप्रार्थनम्, अधुना च सानुगस्य, तत्रापि प्रकर्षेणेति तासां श्रीभगवति भक्तिविशेषश्रवणात्; श्रीभगवदनादिष्टमप्यन्नयाचनं निजक्षधार्त्या अनुगानामपि भक्ष्यप्राप्त्यर्थं वा, अन्नलब्ध्यर्थमेव वा, अन्यथा तदागमनश्रवणमात्रेण त्वरयान्नपरित्यागेनाप्यागमनसम्भवात् ॥ १७ ॥ हृदयात् कदाचिदपि न च्युतो भवतीत्यच्युतस्तम्, उपायातं समीप एव साक्षादागतम्, अन्यत्तैर्व्यञ्जितम् । यद्वा, विशेषतश्च तत्कथया तद्बुभुक्षावार्त्तयाक्षिप्तमनसः ॥ १८ ॥ भाजनैः भोजनपात्रैः पाकपात्रैर्वा कृत्वा, सहितमिति वा, अभिसस्रुरित्यादिना तासां श्रीकृष्णे भावविशेषः श्लेषेणोक्तः ॥ १९ ॥ प्राक् पतिभिस्तासां तद्वश्यत्वात् पश्चात्तेषां वचोऽनादरेण त्याज्यत्वशंकया पितृभिः, ततोऽप्यधिकस्निग्धत्वाद्भ्रातृभिः, ततोऽपि स्नेहादिनाधिकापेक्षकैः सुतैरिति विवेकः । मातॄणामनिर्देशः साहचर्येण पितृष्वेवान्तर्भावात्, किंवा, श्रीभगवति तादृशभावेनानिषेधनात्, अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । यद्वा, दीर्घं बहुकालं श्रुतं श्रवणं शास्त्रं वा यस्येति श्रीपरीक्षित्सम्बोधनम्; दीर्घश्रुतत्वस्यायमेव व्यवहारो युक्त इति भावः । यद्वा, दीर्घश्रुतेनापि भवतेदृचो भक्तिः कुतोऽपि किं श्रुतास्ति, अपि तु नैवेति भावः । धृताशयान्यस्तचित्ताः, किंवा भावविशेषेण सदा कृतदृढमनोरथाः ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

चतुर्विधम् भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मकम् ॥ १९–२१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स तु सरामो गोपैः सह दूरमागतः व्रजादिति शेषः । अधुना बुभुक्षितस्य सानुगस्य गोपसमूहसहितस्य तस्य श्रीकृष्णस्य वो यदि श्रद्धा तर्ह्यन्नं प्रदीयतां प्रकर्षेण दीयतां न त्वस्माकमाशाभङ्गः कार्यं इति भावः ॥ १७ ॥ पूर्वमेव तस्य कृष्णस्य कथया

आक्षिप्तान्याहृतानि मनांसि यासां ताः अत एव तद्दर्शनतत्पराः तदा तमागतं श्रुत्वा जातोत्सवा बभूवुः ॥ १८ ॥ चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मकं बहुगुणं रससौरभ्यादिबहुगुणकमन्नं पात्रैरादाय सर्वां द्विजपत्न्यः प्रियं निरतिशयप्रीतिविषयं भगवन्तमभिजग्मुः कथम्भूताः ? पत्यादिभिर्निवार्यमाणा अपि भगवति दीर्घं बहुकालं श्रवणेन धृतः आशयो यासां ताः अत एव नद्यः समुद्रं प्रतीव अप्रतिबन्धाः प्रियं अभिसस्रुरित्यन्वयः ॥ १९-२० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

॥ १७-१८ ॥ चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपानात्मकं बहुगुणं मधुरादिगुणोपेतम् ॥ १९ ॥ दीर्घश्रुतेन बहुकालश्रवणेन भगवति धृत आशयो याभिस्ताः कदानु द्रक्ष्याम इत्यभिप्राय आशयः ॥ २०-२१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अहो हन्तैताः कृष्णनाम्नैवानन्दमूर्च्छिता अभूवंस्तदिमाः प्रबोधयितुं तद्वृत्तान्तमुक्तमेव तं किञ्चिद्विशिष्य पुनरप्युच्चारयाम इत्यभिप्रेत्याहुः—गा इति । अदूरे निकटमेवायातः तदपि सम्यगप्रबुद्ध्वा आलक्ष्य तस्यान्नाकांक्षां श्रावयित्वा अतिस्नेहवतीस्ताविह्वलयामासुरित्याह बुभुक्षितस्येति ॥ १७ ॥ तस्य कथया बुभुक्षावार्त्तया आक्षिप्तानि अरे पामर मनः कथं प्रियतमस्य बुभुक्षाश्रवणेनापि न मूर्च्छितो जागर्षि धिक् त्वामित्येवं तिरस्कृतानि स्वस्वमनांसि याभिस्ताः ॥ १८ ॥ भक्ष्यचर्व्यचूष्यलेह्यभेदैश्चतुर्विधं संस्कारविशेषैः बहवो गुणाः रससौरभ्यादयो यस्मिंस्तम् अभिसस्रुरिति तासां तदानीं कृष्णं प्रति सर्वासां नायिकालाभिमानमालक्ष्योक्तं तत्र प्रतिबन्धकागणने दृष्टान्तः समुद्रं निम्नगा नद्य इव तत्र हेतुः भगवति दीर्घं बहुकालं श्रुतेन श्रवणेन धृत आशयो याभिस्ताः ॥ १९-२१ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

गोपालैः सह सरामः सः श्रीकृष्णः ॥ १७ ॥ क्षिप्तान्याकृष्टानि मनांसि यासां ताः ॥ १८ ॥ चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यम् संस्कारविशेषैर्बहवो रससौरभ्यादयो गुणा यस्मिन् तदादाय प्रियं श्रीकृष्णम् अभिसस्रुः अभिजग्मुः ॥१९॥ ताः विधिनिषिद्धा निषिध्यमाना इति । दीर्घं बहुकालं श्रुतेन श्रवणेन धृत आशयो याभिस्ताः ॥ २० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

श्रीकृष्णनामैव श्रुत्वानन्दमूर्च्छितास्ताः प्रबोधयितुं विशिष्याहुः—गा इति । अदूरं युष्मन्निकटम् ॥ १७ ॥ तत्कथया तत्क्षुद्वार्त्तया क्षिप्तुं प्रभोः क्षुधं श्रुत्वापि कथं मूर्च्छातो न जागर्षीति तिरस्कृतं मनो याभिस्ताः ॥ १८ ॥ चतुर्विधं भक्ष्यचर्व्यचूष्यलेह्यरूपं रसमयं बहवो गुणाः उष्ण्यशैत्यमार्दवसौरभ्यादयो यत्र तत् प्रियमभिसस्तुरिति कान्तभावोदयात् प्रतिबन्धकागणने दृष्टान्तः समुद्रं निम्नगा नद्य इवेति ॥ १९ ॥ निषिध्येति । अभिसस्तुरिति सम्बन्धः । तत्र हेतुर्भगवति दीर्घं बहुकालं श्रुतेन धृत आशयो याभिस्ताः ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स रामो गोपालैः सह गाश्चारयन्दूरं स्वव्रजादागतस्तस्यान्नं दीयतां । अवश्यमनालस्येन दाने कारणमाहुः ॥ बुभुक्षितस्येति । एकोदरपूर्तिमात्रममत्रेदिशेयुर्मृगदृशा इति भीता आहुः ॥ सानुगस्य सभृत्यस्येति । कदौदनमानयन्तीति स उत्कृष्टास्ति तिष्ठन्मार्गं निरीक्षत इत्यप्यवगमयन्ति ॥ सानुगस्येति । सानो गच्छतीति स तया प्रदीयतां ॥ १७ ॥ नित्यं तद्दर्शने उत्सुका इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक इत्यमरः । तत्कथाभिराक्षिप्तं मनो यासां ता अच्युतमुपायान्तं श्रुत्वा जाताः सम्भ्रम आदरो यासां ताः । सम्भ्रमस्त्वादरे भय इति वचनात् ॥ १८ ॥ निम्नगा नद्य समुद्रं यथा गच्छन्ति तथा सर्वा भाजनैः पात्रैश्चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मना बहुगुणं मधुरादिरसोपेतमन्नमादायाभिसस्रुः । अहं वैश्वानरो भूत्वेत्याद्यावेदितचतुर्विधं भुक्तभक्तपाकं कुर्वन्तं प्रति चतुर्विधान्योनयनं सारत्नयनानां युक्तमिति ज्ञेयं ॥ १९ ॥ उत्तमश्लोके भगवति दीर्घं बहुकालं श्रुतं तन्माहात्म्यश्रवणं तेन धृत आशयोऽन्तःकरणं यासां ता वा पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिर्जामात्रादिभिः । वैष्णवे बन्धुसत्क्रियेति टीकायां बन्धुजमितित्युक्तेः । सुतैर्जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीतेति श्रुतेर्दीक्षोपयोग्येकैकतोकैस्तत्र भगवदङ्गसङ्गाशात एतदागमावगमाद्बहुप्रसवे तदसम्भवादेवमर्थं कृते तत्तात्पर्यं सिध्यतीति ज्ञेयं । यद्वा जातपुत्रः कृष्णकेश इत्यादौ योग्यवयोमात्र लक्षयित्वाऽधिकारकथनात्सुताः पतिभ्रातृसुता इति वार्योक्तितारुण्यं द्योतितं भवतीति वा सुतैरित्युक्तिः । निषिध्यमाना अपीममभिसस्रुरित्यन्वयः ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

प्रयोजनमाहुर्गाश्चारयन्निति, ते. त्वन्यान्नं न गृह्णन्त्यतो भगवतोक्तमपि स्त्रीभिर्दत्तमप्यन्नं स्वयं न गृहीतवन्तः किन्तु भगवदर्थमेव याचन्ते तेषां स एव धर्म इति, दोषकीर्तनं त्वज्ञानाद्, गवां चारणमावश्यकमिति तदनुरोधेन तृणवति देशे समागतो

गोपालैश्च सहितः, अनेन स्वागमने सर्वं एवागच्छेरन्निति वाधकमुक्तं सराम इति आदरार्थे कार्यान्तराभावार्थे च, अतो दोष-कीर्तनं, अतो बुभुक्षितस्य तस्य ससेवकस्य तस्यैवान्नं तत्र गत्वा दीयतामिति प्रकर्षो यथायोग्यम् ॥ १७ ॥ ततो यज् जातं तदाह श्रुत्वाच्युतमिति, 'चरते'तिवचनात् सोपि पश्चादागच्छतीत्युक्तं, अत आहोपायान्तमिति, उप समीप आगच्छन्तं, पूर्वं तु तास्तत्र गता इदानीमत्र भगवान् समायाति मनोरथस्तु पूर्वशेष इति समागमन इतिकर्तव्यतानभिज्ञाः ससम्भ्रमा जाताः, किञ्च नित्यं तद्दर्शनार्थमुत्सुकाः, अतः शीघ्रमपि गन्तव्यं, क्षुधित इति सामग्र्यपि नेयातोपि सम्भ्रमः, किञ्च तस्य भगवतः कथाभिराक्षितं मनो यासां, यत्र क्वापि स्थितं मनस्तत आ समन्ताद् दूर एव क्षिप्तमतो भगवति गतमतो मनोरथबाहुल्यात् किं कर्तव्यमिति ससम्भ्रमाः ॥ १८ ॥ इदानीन्तनं बलिष्ठमिति विचार्य ससामग्रीका आगता इत्याह चतुर्विधमिति भक्ष्यं पेयं चोष्यं लेह्यमित्यन्यथा भोजनं न स्यात्, भक्ष्ये दन्तानां विनियोगोन्यद् गौणं चोष्ये परितः स्थितांशानां लेह्ये जिह्वाया, पेयेन्यः-स्थितस्य वक्त्रस्यातश्चतुर्विध-मेव सर्वं भोजनं भवति गुणा व्यञ्जनानि धर्मा वा, बहवो गुणा यत्र, अन्न साधारणं, अपेक्षितादप्यधिकं, भाजनैर्येष्वेव स्थितं न तूद्धृत्य, अभिसस्रुरभिसरणं कृतवत्य आभिमुख्येन गमनं, समुदायशक्त्या सर्वथा गमनं प्रतीयते, तत्र हेतुः प्रियमिति प्रियं प्रति हि सर्वेषां गमनं, अतः सर्वा एव, बह्वीनां कथमेकत्र गमनमेकदेत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरन् प्रतिबन्धाभावमाह समुद्रमिव निम्नगा इति, निम्नगा नद्यो मध्ये पर्वतादीनामपि प्रतिबन्धं न मन्यन्ते, न हि तासां देवाः पतयो भवन्ति किन्तु समुद्र एव तथात्रापि, निम्न एव गच्छन्तीत्युच्चरहङ्कारे स्थिताः पतयो नाङ्गीकृताः ॥ १९ ॥ प्रतिबन्धाभावमाशङ्क्याह निषिध्यमाना इति उदासीनानां भाषण निषिद्धमतः सम्बन्धिभिरेव निषिद्धाः, बलवद् बाधकं च तत्, पितरोत्र नोक्ता अन्यथोत्पत्तिविरोधः स्यात्, उपपत्तिविरोधे तु शास्त्रं बलिष्ठं, तासां चतुर्विधपुरुषार्थाश्चतुर्भिर्देया धर्मदः पतिरर्थदो भ्राताभिलषितार्थदातारो बान्धवाः सुता मोक्षदाः, तेषां निषेधे तत्तत्पुरुषार्थहानिस्तथापि पञ्चममेव पुरुषार्थं मन्यमाना गता एवेत्याह भगवतीति, भगवांस्तु षड्गुणः स्वयं चैकोतः सप्तपुरुषार्थास्तत्र सिध्यन्ति, किञ्चोत्तमश्लोक इति, उत्तमैः सिद्धपुरुषार्थैरपि श्लोक्यतेतो भक्तिरप्यष्टमः पुरुषार्थः, किञ्च कामितो हि पुरुषार्थो भवति न त्वकामितोतो धर्मादीनामपुरुषार्थतैव किन्तु भगवानेव पुरुषार्थ इत्यभिप्रायेणाह दीर्घश्रुतधृताशया इति, दीर्घकालपर्यन्तं यः श्रुतो यद्वा श्रुतं तस्मिन् तेन वा धृत आशयो याभिः, यथा फलश्रवणेन फले चित्तं भवति तथा भगवति चित्तं न त्वन्यत्र, निषेधोत्र वाचनिक ऋत्विजां कर्मवैयर्थ्यात्, न ह्यन्यभार्या अन्येन स्प्रष्टुं शक्या यागनाशश्च स्यादतो यजमानपत्नीव्यतिरिक्ताः सर्वा एव गता एकरूपाश्च ऋत्विजां मिश्रप्रतिषेधात् 'यूनः स्थविरान् वे'ति यजमानस्तु विसदृशोपि भवत्यतो गता एव ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गाश्चारयन्नित्यत्र अन्यान्नमिति भगवत्सम्बन्धरहितमित्यर्थः, स्त्रीभिर्दत्तमपीति सम्भावनयामपिशब्दः, सम्भावितदान-विषयीभूतमपीत्यर्थः, दोषकीर्तनमिति भगवतो बुभुक्षाकथनमित्यर्थः ॥ १७ ॥ श्रुत्वाच्युतमित्यत्र मनोरथस्त्विति अस्माभिस्तत्र गत्वैवमेवं कर्तव्यमितिमनोरथस्तु पूर्वं चिन्तितस्य स्वगमनस्य शेषभूतः, समागतस्तु भगवानतो मनोरथं विस्मृत्य ससम्भ्रमा एव जाता इत्यर्थः ॥ १८ ॥ चतुर्विधमित्यत्र धर्मा वेति मधुरत्वादय इत्यर्थः साधारणमिति सर्वासां साधारणं न तु पृथक्कृतमित्यर्थः, समुदायेति अभिसरणपदस्य समुदायार्थेनेत्यर्थः ॥ १९ ॥ निषिध्यमाना इत्यास्यान्ते यजमानस्त्विति सर्वेषां यजमानत्वेप्याति-देशिकं तत्, मुख्योत्र यजमानपदेनोच्यत इतिज्ञेयम् ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गाश्चारयन्नित्यत्र दोषकीर्तनं त्वज्ञानादिति "बुभुक्षितस्य तस्यान्न"मित्यनेन भगवति बुभुक्षितत्वदोषकथनं तु अज्ञा-नात्, "मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्" "गूढः कपटमानुष" इत्यादिवाक्यैर्मनुष्यासाधारणधर्माणां भगवति मायया प्रतीतिर्न तु वस्तुतो भगवति मनुष्यधर्माः सन्त्यतः "क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य" इतिश्रुतेः क्षुधो मनुष्यासाधारणधर्मत्वान् न भगवति बुभुक्षितत्वमित्याकारकशास्त्रार्थस्याज्ञानादित्यर्थः ॥ १७ ॥ श्रुत्वाच्युतमुपायान्तमित्यत्र पूर्वं तु तास्तत्रागता इति ता यज्ञपत्न्यः पूर्वं स्वमनोरथेन तत्र भगवत्समीपे आगता इत्यर्थः, मनोरथस्तु पूर्वशेष इति रमणमनोरथः पूर्वं विचारितस्य भगवन्निकट-गमनस्य शेषभूतः, भगवन्निकटे यदा गमनं स्यात् तदा रमणमनोरथः सिध्येत्, भगवांस्त्वत्र आयात्यतः परं कथं मनोभिलाषः सेत्स्यतीतिससम्भ्रमा जाता इतिहार्दम् ॥ १८ ॥ भगवत्युत्तमश्लोक इत्यस्य विवृतौ पञ्चममेव पुरुषार्थमिति स्वतन्त्रभक्तिरूपं पुष्टिमार्गभजनाख्यं पुरुषार्थमित्यर्थः ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'किमर्थम्' तत्राहुः—सः कृष्णः गोपालैः रामेण च सहितो गाश्चारयन् गृहात् दूरमत्रागतः, अतो बुभुक्षितश्च । अतः सानु-गस्य अस्मदाद्यनुगैः सहितस्य बुभुक्षितस्य तस्यान्नं प्रदीयतामित्यन्वयः ॥ १७ ॥ ताश्च अच्युतं कृष्णमुपायातं समीपमागतं श्रुत्वा जातसम्भ्रमाः अनवस्थितिचित्ता बभूवुः । तत्र हेतुमाह—नित्यं तस्य दर्शने उत्सुकमुत्साहो यासां ता इति । तत्रापि हेतुमाह—तस्य

कथाश्रवणेन आक्षिप्तमाकृष्टं मनो यासां ताः ॥ १८ ॥ बहुगुणं संस्कारविशेषैर्बहवो रससौरभ्यादयो गुणा यस्मिंस्तत् भक्ष्यादि-भेदैश्चतुर्विधमन्नं भाजनैः पृथक्पात्रैरादाय पत्यादिभिर्वार्यमाणा अपि प्रियं श्रीकृष्णमभिसस्रुः अभिजग्मुः । प्रतिबन्धानुल्लङ्घ्य गमने दृष्टान्तमाह–समुद्रमिव निम्नगा नद्य इति । यत्र दन्तानां विनियोगोऽस्ति तत् भक्ष्यं चर्वणादि, यत्र दन्तविनियोगो नापेक्ष्यते तद्भोज्यमोदनादि, लेह्यं दध्यादि, चोष्यं इक्षुदाडिमाम्रादि ॥ १९ ॥ तथागमने हेतुः–भगवतीति । उत्तमश्लोके उत्तमयशसि दीर्घं बहुकालं श्रुतेन यशःश्रवणेन धृतः आशयश्चित्तं याभिस्ताः ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गा इति ॥ स कृष्णः गोपालैः रामेण च सहितो गाश्चारयन् गृहात् दूरमागतः । अतः सानुगस्य अस्मदाद्यनुगैः सहितस्य बुभुक्षितस्य तस्यान्नं प्रदीयताम् ॥ १७ ॥ श्रुत्वेति । नित्यं तस्य हरेः दर्शने उत्सुकाः तस्य हरेः कथाश्रवणेनाक्षिप्तमाकृष्टं मनो यासां ताः द्विजपत्न्यः अच्युतम् उपायातं समीपमागतं श्रुत्वा पूर्वमनुरक्ता एव बुभुक्षाश्रवणेन अधिकं जातसम्भ्रमाः अनवस्थितचित्ता बभूवुः ॥ १८ ॥ चतुर्विधमिति द्वयम् ॥ बहुगुणं संस्कारविशेषैर्बहवो रससौरभ्यादयो गुणा यस्मिंस्तत् भक्ष्यभोज्यलेह्यचूष्यभेदैश्चतुर्विधमन्नं भाजनैः पृथक् पात्रैरादाय पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः निषिध्यमाना वार्यमाणा अपि उत्तमश्लोके भगवति दीर्घं बहुकालं श्रुतेन यशःश्रवणेन धृतः आशयश्चित्तं याभिस्ताः सर्वा द्विजपत्न्यः समुद्रं निम्नगा इवेति प्रतिबन्धकागणने दृष्टान्तः । प्रियं श्रीकृष्णम् अभिसस्रुः अभिजग्मुः । तदानीं सर्वासां कृष्णं प्रति नायिकात्वाभिमानमालक्ष्येदम् । यत्र दन्तानां विनियोगो नापेक्ष्यते तद्भोज्यमोदनादि शेषं भक्ष्यं लड्डुकादि लेह्यं दध्यादि चूष्यम् इक्षुदाडिमाम्रादि ॥ १९-२० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स हरिः गोपैः सहितः अदूरं चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव समीपमागताः ॥१७॥ दध्यादि क्रीणनार्थमागताभिर्गोपीभिः ऋतया तस्य श्रीकृष्णस्य कथया आक्षितं कृष्णे आकृष्टं मनो यासां ताः अतएव तस्य दर्शनेनुत्सुकाः जाताऽभिलाषाः आगतं श्रुत्वा जातसंभ्रमाः प्राप्तानंदभरा बभुवुः ॥ १८ ॥ चतुर्विधं भक्ष्यभोजलेह्यचोष्यभेदैश्चतुःप्रकारं बहुगुणं बहवः संस्कारभेदैरनेके गुणाः स्वादुत्वसौगंध्यादयो यस्मिंस्तदन्नं भाजनैः पात्रैरादाय भर्त्रादिभिर्निवार्यमाणा अपि प्रियं हरिं अभिसस्रुः अभ्याययुः अप्रतिरोधे दृष्टांतः निम्नगाः नद्यः समुद्रमिवेति ॥ १९ ॥ कुत इति चेत्तत्राह्हरौ दीर्घकाल श्रुतेन गोपीभ्यः श्रवणेन धृतांतःकरणाः ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गा इति ॥ सरामः संकर्षणसहितः, सः कृष्णस्तु, गोपालैः समं, गाश्चारयन् सन्, दूरं आगतः । व्रजादिति शेषः । अधुना बुभुक्षितस्य, सानुगस्य गोपसमूहसहितस्य, तस्य श्रीकृष्णस्य, अन्नं प्रदीयताम् । यदि वः श्रद्धा, तर्हि प्रकर्षेणान्नं प्रदीयतां, न त्वस्माकमाशाभङ्गः कार्यं इति भावः ॥ १७ ॥ श्रुत्वेति । तस्य श्रीकृष्णस्य कथया कथाश्रवणेन क्षिप्तान्याहृतानि मनांसि यासां ताः, प्रथमत एव श्रीकृष्णकथाश्रवणतस्तद्दर्शनाक्षिप्तमनस्तया वर्त्तमाना इत्यर्थः । अत एव, अच्युतं उपायातं समीपागतं श्रुत्वा, नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ब्राह्मण्यः, जातसंभ्रमाः संजातोत्सवाः, बभूवुः ॥१८॥ चतुर्विधमिति । निषिध्यमाना इति च । भगवति, उत्तमश्लोके श्रीकृष्णे, दीर्घं दीर्घकालं श्रुतेन श्रवणेन धृत आशयोऽन्तःकरणं याभिस्ताः, सर्वाः द्विजपत्न्यः, पतिभिः स्वस्वामिभिः, भ्रातृभिः स्वसहोदरैः, बन्धुभिर्ज्येष्ठदेवरादिभिः, सुतैः पुत्रैः, निषिध्यमानाः अपि, भाजनैः स्थाल्यादिभिः, बहुगुणं रससौरभ्यादिबहुगुणकं, चतुर्विधं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यभेदेन चतुष्प्रकारं, अन्नं आदाय, निम्नगाः समुद्रं इव, प्रियं निरतिशयप्रीतिविषयं भगवन्तं, अभिसस्रुरभिजग्मुः । इति द्वयोरेकान्वयः ॥ १९-२० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अन्नमिति : १०.२३.१७.

> श्रौत्वान्नासामधिकृतिः प्रणवे त्विति जानता । अन्नमित्युक्तमीशेन गोपा अपि तथाऽब्रुवन् ॥ ४२ ॥
> पूर्णकामस्य तस्यास्मिन् वने चारयतस्तु गाः । नापेक्ष्यमन्यत् किं त्वेका भक्तेहा सैव पूर्यताम् ॥ ४३ ॥

श्रुत्वेति : १०.२३.१८.

> यदेव पुरतोऽब्रुवन् सदसि यज्वनां धेनुपास्तदेव सवयोषितामपि पुरः समूचुर्वचः ।
> न ते विदुरजं विदुः पुनरिमाः स्त्रियोऽप्यञ्जसेत्यलं बहुविशोधनैरजवशीकृतिर्भक्तितः ॥ ४४ ॥
> भक्तानां मनसः संसृत्याक्षिप्तस्यापि माधवे । अलमावर्तनायास्य नाम्नः श्रुतिरिति स्फुटम् ॥ ४५ ॥
> क्रतुः किमेतैः क्रियते क्रतुभुक् तु क्षुधाकुलः । पतिकल्याणमिच्छन्त्यस्तत्तृप्त्यैता धृतोत्सवाः ॥ ४६ ॥

चतुर्विधमिति : १०.२३.१९.

दात्रे चतुर्विधपुमर्थमयान्नराशेर्भक्ताल्लसद्रसपुपे भगवत्पदाय।
अन्नं चतुर्विधमनन्तगुणं प्रदानयोग्यं सुभक्तरसमित्युचितं तथाऽगुः ॥ ४७ ॥
भक्तप्रियो हि भगवानिति भक्तियुक्ताः स्पष्टं वदन्ति निगमागमवेदिनोऽपि।
तद्भक्तिलुब्धमनसामपि भक्तयुक्ताग्रुक्ता गतिर्न इति ता निरगुः सभक्ताः ॥ ४८ ॥
आजन्मसम्बन्ध्यपि नामरूपं स्वभावगं दुस्त्यजमप्यमोचि।
याभिर्न तासामतिदुस्त्यजोऽस्मिन्नाप्तादिवर्गस्त्विति चोपमार्थः ॥ ४९ ॥

निषिध्यमाना इति : १०.२३.२०.

आप्तातिलङ्घनमघं हि तमस्तदेतत् कोटिद्युरत्नसमकृष्णकृपाप्रकाशे।
नाम्नापि वस्तुमलमत्र न तास्तु साक्षात् तद्दृष्टिभाज इति पुण्यमसीम सिद्धम् ॥ ५० ॥
वृत्तिभिर्भगवान् ध्येयः सगुणश्चेत् तदेदृशः। एवं सम्बोधयन् विप्रपत्नीद्वाराऽवदन् मुनिः ॥ ५१ ॥

कृष्णप्रिया

सुनिये ! माताजी ! गौओं को चराते हुए श्रीकृष्ण जी हम सब ग्वाल-बाल एवं श्रीबलभद्र जी, यहां तक आ गये हैं। हम सब ही को बहुत भूख लगी है। इसलिए हम सेवक सहित उनके लिए भोजन दीजिये ॥ १७ ॥ राजन् ! ये सब ऋषि पत्नियाँ भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य गुणों का श्रवणकर प्रभु के दर्शनों के लिये अत्यन्त उत्कंठित थी। आज श्रीकृष्णचन्द्र जी समीप आये हुए जानकर सबको श्रीकृष्ण दर्शन की चटपटी लगी ॥ १८ ॥ जैसे सरितायें समुद्र की ओर वेग से अभियान-अभिसरण कर देती है वैसे ही द्विजपत्नियां स्वादिष्ट एवं हितकर पथ्य भक्ष्य भोज्य-चोष्य-लेह्य चारों प्रकार के भोजन को बर्त्तनो में भरकर प्रियतम पुरुषोत्तम के दर्शन के लिये चल पड़ी ॥ १९ ॥ पतियों, भाईयों, बन्धुओं एवं पुत्रों ने उनको जाने से रोका, फिर भी वे नहीं रुकी। सुदीर्घ काल से द्विजगृहिणीओं ने भगवान श्रीकृष्ण के गुणों का श्रवण किया था, इससे द्विजपत्नियों के चित्त उत्तम श्लोक भगवान श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट था ॥ २० ॥

यमुनोपवनेऽशोकनवपल्लवमण्डिते। विचरन्तं वृतं गोपैः[1] साग्रजं ददृशुः स्त्रियः ॥ २१ ॥
श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमालिबर्ह[2]धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥ २२ ॥
[3]प्रायः श्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन् निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रैः।
अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहुर्नरेन्द्र ॥ २३ ॥
तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया। विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा[4] प्राह प्रहसिताननः ॥ २४ ॥[5]

कर्दमक्षमा

अन्वयः—मिथः (तत्र) नव पल्लवमण्डिते यमुनोपवने गोपैः वृतं विचरन्तम् साग्रजम् श्रीकृष्णं ददृशुः ॥ २१ ॥ अनुव्रतांसे विन्यस्तहस्तम् इतरेण अब्जम् धुनानम् कर्ण उत्पल अलक कपोल मुख अब्ज हासम् वनमालि बर्ह धातु प्रवाल नट वेषम् हिरण्यपरिधिम् श्यामम् ददृशुः ॥ २२ ॥ हे नरेन्द्र यस्मिन् निमग्नमनसः प्रायः श्रुत प्रियतत उदय कर्णपूरैः अक्षिरन्ध्रैः तम् अन्तः प्रवेश्य परिरभ्य सुचिरम् विरहजम् तापम्, अभिमतयः यथा प्राज्ञम् तथा विजहुः ॥ २३ ॥ आत्मदिदृक्षया प्राप्ताः त्यक्तसर्वाशाः ताः तथा विज्ञाय अखिलदृक् दृष्ट्वा प्रहसिताननः प्राह ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तथागताः सत्यो ददृशुः ॥ २१ ॥ हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तं पीतांबरमित्यर्थः। वनमाल्यैर्बर्हैर्धातुभिः प्रवालैश्च नटवद्वेषो यस्य तम्। अनुव्रतस्य सख्युरंसे विन्यस्तो निहितो हस्तो येन तम्। इतरेण हस्तेन लीलयाऽब्जं धुनानं भ्रामयंतम्। कर्णयोरुत्पले यस्य अलकाः कपोलयोर्यस्य मुखाब्जे हासो यस्य तं च तं च तं च ॥२२॥ वृत्तेरपि लयेन सामरस्यमाह। प्राय इति। बहुशः

१. गोपैः—श्रीधर, वंशी, वीर, विज. । २. माल्यबर्ह—श्रीधर, वंशी, वीर, विज, विश्व, शुक. । ३. दीर्घश्रुत—विज. । ४. दृष्ट्वा—वीर. ; दृष्ट्या—विज. । ५. प्राचीनप्रत्यां अत्र "श्री भगवानुवाच" पाठो वर्तते।

श्रुता ये प्रियतमस्योदया उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयंति कृतार्थौ कुर्वंतीति तथा तैः कर्णाभरणैरिति वा। यस्मिन्कृष्णे निमग्नमनस आविष्टचेतसस्तं लोचनद्वारैरंतः प्रवेश्य सुचिरमुपगुह्य तापं जहुः। अभिमतयोऽहंवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्तिप्राक्षिणं परिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य ययेति ॥ २३ ॥ अखिलदृशां द्रष्टा सर्वबुद्धिसाक्षी। तास्तथा प्राप्ता विज्ञायापि। तथेत्येतद्विवृणोति। त्यक्तसर्वाशाः स्त्यक्ताः सर्वा आशा याभिस्ताः केवलमात्मनः स्वस्यैव दिदृक्षयेति ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अशोको वृक्षविशेषः ॥ २१ ॥ हिरण्यपरिधिं नटवेशमिति वक्ष्यमाणत्वात् सुवर्णरसरंजितभक्तिच्छेदकुंचितकटिवेष्टनवस्त्रं नटोचितमेव। वनमाल्यं वन्यविविधपुष्पैरचितं दक्षिणवामस्कंधादारभ्य वैकक्षिकद्वयम्। बर्हाणि प्रवालाश्च मौलिभूषणानि। धातवः सौगंधिकनाम्नः काम्यकवनपर्वतविशेषाल्लब्धाश्चित्रांगतया रचितास्तैर्नटवेशधरं कमलं धुनानं लीलाकमलघूर्णनमिषेण स्वहृद्घूर्णमेव दर्शयामीति निह्नुतेति भावः। "परिधिः परिधाने स्यात्कांचीपरिखयोस्तथा। मंडले द्रुमशाखाग्रे भूषायां वाहनेऽपि च।" इति धरणिः ॥ २२ ॥ वृत्तिश्चेतोवृत्तिस्तसत्त्वे समक्षदर्शने यथा तापहानिस्तथा तल्लयेऽपि ध्यानावस्थायामपि तापहानिरिति। समरस्य भावः सामरस्यं सादृश्यम्। उत्कर्षा दुष्टदलनादिरूपयशःपुंजाः। यद्वा–प्रायः श्रुतप्रियतमोदयाश्च कर्णपूराः कर्णभूषाः ताश्च तैः। यद्वा–अभितो मतिर्येषां तेऽभिमतयो निपुणाः। प्राज्ञम् विद्वांसम्। "रिक्तमापूर्णतामेति मृत्युरत्यमृतायते। आपत्संपदिवाभाति विद्वज्जनसमागमात् ॥" इत्युक्तेः ॥ २३ ॥ ताः विप्रपत्नीः। तथा कथमित्याकांक्षायां–तथेति। तथाभूताः पुरोऽवस्थाप्य स्थापयित्वैव मूर्च्छिता दृष्ट्वा। आशा अभिलाषाः 'आशादिगभिलाषयोः' इति यादवः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

यमुनेति युग्मकम् ददृशुः कृष्णमिति शेषः। न तिष्ठति शोको यस्मात् इति श्लेषेण तस्य वनस्य तासां तदप्राप्तिशोकहारित्वं च ध्वनितं विचरन्तं क्रीडन्तं गोपैस्तत्रैव स्थितैरन्यैः वृतमिति शोभाविशेषः सूचितः किंवा वृतमपि ददृशुः तत्सर्वाधिकं प्रकाशमानत्वात् साग्रजमिति सर्वसुन्दरान् ततोपि तस्य सौन्दर्य्यविशेषं ज्ञापयति, अग्रजेन सहेति। विग्रहे सहार्थयोगे तृतीयाया अप्रधाने विहितत्वात् त्रिय इति तत्पतीनामभाग्यं सूचितम् ॥ २१ ॥ हिरण्यपरिधिं नटवेषमिति वक्ष्यमाणात् सुवर्णरसरञ्जितभक्तिच्छेदकुञ्चितकटिवेष्टनवस्त्रं नटोचितमेव वनमाल्यं वनसम्बन्धिमाल्यं वन्यविविधपुष्पैरचितं दक्षिणवामस्कन्धादारभ्य वैकक्षिकद्वयं बर्हाणि प्रवालाश्च मौलिभूषणानि धातवः सौगन्धिकनाम्नः काम्यकवनपर्वतविशेषाल्लब्धाश्चित्राङ्गरागतया रचिताः तैर्नटवेषधरम् अनुव्रतस्य निरन्तरपार्श्वस्थस्निग्धसखिविशेषस्य स्कन्धे विन्यस्तहस्तम् इतरेण दक्षिणहस्तेन लीलाकमलं भ्रामयन्तं कर्णोत्पलयोरलकानां कपोलयोर्मुखाब्जस्य च हासः प्रकाशो यत्र तमिति ॥ २२ ॥ अथानन्तरं सद्य एवाक्षिरन्ध्रैः रूपग्रहणे साधकतमनेत्ररन्ध्रैन्द्रियैर्द्वारभूतैरन्तर्मनसि प्रवेश्य तेनैव मनसा सुचिरं परिरभ्य लज्जया नेत्राणि तानि द्वाराणीवावृण्वानाः स्वाच्छन्द्येन तस्मिन्निलीयेत्यर्थः। तापं तदस्पर्शजं क्लेशं विजहुः विशब्देन पुनस्तदापातो निरस्तः हा न स्पृष्टोऽसावित्यंशस्य ध्वंसात् अन्यत्तैः तत्र सामरस्यं यथापूर्वरसत्वमित्यर्थः। वृत्तेरपीति बहिर्वृत्तेरपीत्यर्थः। यद्वा, अभिमानाऽभिमुखी मतिर्येषां ते यथा प्राज्ञं परमभागवतं परिरभ्य नेत्रादिभिराश्लिष्य तापं सर्वं जहति तद्वत् ॥ २३ ॥ आत्मदिदृक्षयेति प्रथमं तन्मात्राभिलाषात् अखिलदृशां सर्वबुद्धानां द्रष्टा साक्षीति विज्ञायेत्यत्र हेतुः। यद्वा, अखिलदृशां बुद्धयादिद्रष्टॄणां जीवानामपि द्रष्टा प्रहसिताननं इति माधुर्यमयवञ्चनचातुर्य्यम् ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ततश्च यमुनोपवने ददृशुः, कृष्णमिति शेषः। न तिष्ठति शोको यस्मादिति, श्लेषेण तत्तरुदर्शनादपि तासां तद्विरहशोकोऽपगत इत्यर्थः। विचरन्तं परिभ्रमन्तं क्रीडन्तं वा गोपैरिति तेषामानन्त्येन केषाञ्चित् प्रथमतस्तत्संग एव सम्भवात्; यद्वा, तासामागमनविज्ञापनाय पूर्वं वेगेन तैरेव तत्र गतैरेव वृतमिति शोभाविशेषः सूचितः। किंवा, वृतमपि ददृशुः, तस्यैव स्वशोभाविशेषेण सर्व्वतोऽधिकं प्रकाशमानत्वात्, यथा नक्षत्रगणैर्वृतं चन्द्रमिति। साग्रजमिति तत्साहित्येन शोभाभरोदयात्, किंवा, तासामागमनेन तस्य संकोचावस्थित्या तासामेव तस्मिन् भावविशेषाभावेन वा गौणत्वात्; त्रिय इति सभावदर्शनं सूचितम् ॥ २१ ॥ परिधानहिरण्यशब्देन ईषद्रक्तपीतपट्टाम्बरं लक्ष्यते, तत्र चाच्छादनवाचकेन परिधिशब्देन परिधानोत्तरीयसम्वरणात्, परिधानमेवैकं वनमाल्यादीनां सन्निवेशो यथाशोभमूह्यः। तत्र वनमाल्यं वनमाला वक्षसि, बर्हं केशपाशे रत्नखचितसौवर्णमुकुटोपरि वा, तन्मयं वा मुकुटं शिरसि, गैरिकादिधातुस्तिलकादौ, प्रवालः केशपाशाग्रे मुकुटाग्रे च; यद्वा, (विष्णु॰ पु॰ ११।०) 'दर्कैर्नमलपत्रेण कण्ठसूत्रावलम्बिना। रराज बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना ॥' इति श्रीहरिवंशोक्तानुसारेण बर्हं कण्ठाद्यो ज्ञेयम्, मुकुटस्य तन्मयं सदास्त्येव, किंवा पट्टपीतवस्त्रोष्णीषोपरि प्रवाल इत्येवं नटवद्वेशम्, अनुव्रतांसे विन्यस्तहस्तमिति लीलाविशेषेण स्वतोऽस्थानात्; यद्वा, गोपैः सहात्मनोऽत्यन्तस्नेहभरात्; इतरेण दक्षिणहस्तेन अब्जं लीलाकमलं भ्रामयन्तमिति वैदग्धीविशेषस्वभावात्, किंवा तासामशेषतापापनोदबोधनम्; विशेषणानामेषां सौन्दर्य्यं यथोत्तरमाधिक्यमूह्यम्। वेणोः परममोहनत्वेन ब्राह्मणीषु तदयोग्या-

तद्ग्रहणमूह्यम् । अन्यत्तैर्व्याख्यातम् । तत्रालककपोलेति केनचिदभिप्रायेण, कयापि लीलया क्रीडाश्रमेण वा, अलकानां ललाटोपरि वर्तमानानामपि कपोलयोः पातादिति ॥ २२ ॥ अथानन्तरं सद्य एवेत्यर्थः । अस्य परेणान्वयः, विशब्देन पुनस्तापोदयो निरस्तः । दृष्टान्तश्चैकदेशे अक्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य आसक्त्या साक्षान्निरीक्ष्य सुचिरं परिरभ्य प्रेम्णा तस्मिन् निलीयेत्यर्थः; मनसैव वा साक्षादिवालिङ्ग्य तापं सांसारिकं तद्विरहजं वा, विशेषेण सम्यक्तया जहुः । अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, अभिमतयो मूर्त्तिमदभिमानाः, विद्यादिना महागर्व्ववन्त इत्यर्थः । ते यथा प्राज्ञं परमभागवतं तत्कृपया परिरभ्यैव तापं सर्व्वं विजहतिः, हे नरेन्द्रेति नरश्रेष्ठत्वात् त्वया तद्विज्ञायत एवेति भावः । यद्वा, तद्वार्तया प्रेमक्षुभितचित्तमालक्ष्य तमवधापयति, यद्वा, तासां तादृशभावेन विस्मयात् सम्बोधनम् ॥ २३ ॥ अखिलदृशां सर्व्वबुद्धीनां द्रष्टा साक्षीति विज्ञायेत्यत्र हेतुः; यद्वा, विज्ञायापि प्रकर्षेण युक्तिप्रदर्शनादिना प्राहेत्यत्र सर्व्वज्ञानाभिज्ञः, ब्राह्मणीनामासां दास्यादिस्वीकारो न मे युक्त इति; यद्वा, व्रजे वसतो ममान्यपरिग्रहो नैव युक्त इति विचारयन्नित्यर्थः । अतस्तासां परित्यागेनान्तस्तासां दुःखचिन्तया केवलं मुख एव हासात् प्रहसिताननः; यद्वा, वक्ष्यमाणप्रकारेणैवासामेतत्प्रतीनाञ्च क्षेमं स्यादिति विचारयन्नित्यर्थः । ततश्च प्रहसिताननत्वं श्रीमुखप्रसक्तिस्वाभाविकमेवेति ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अनुव्रतस्य कस्यचिदंसे कर्णोत्पलालककैर्जुष्टं कपोलं यस्य तत् कर्णोत्पलालककपोलं मुखाब्जं तस्मिन् हासो यस्य तमित्यर्थः ॥ २२ ॥ कर्णपूरैः शब्दैः अतिमतयः ज्ञानाधिकाः ॥ २३–२६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यमुनासमीपवने कथम्भूतेऽशोकानां तरूणां नवैः पल्लवैः मण्डिते विचरन्तमग्रजेन सहितं गोपैश्चावृतं कृष्णं स्त्रियः द्विजपत्न्यो ददृशुः ॥ २१ ॥ कीदृशं श्यामं हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तं पीताम्बरमित्यर्थः वनमाल्यैः वन्यैः पुष्पैश्च बर्हैर्धातुभिर्गैरिकादिभिः प्रवालैः पल्लवैश्च नटवद्वेषो यस्यानुव्रतस्य सख्युरंसे स्कन्धे विन्यस्तो हस्तो वामकरो येन इतरेण हस्तेनाब्जं धुनानः लीलया भ्रामयन्तं कर्णयोरुत्पले यस्यालकाः कपोलयोर्यस्य मुखाब्जे हासो यस्य तं च तथाविधं ददृशुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥ बहुशः आकर्णिताः प्रियतमस्योदया उत्कर्षास्त एव कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थीकुर्वन्ति तथा तैः कर्णाभरणैरिति वा यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनसः आविष्टचित्तास्तं कृष्णम् अथ दर्शनानन्तरमक्षिरन्ध्रैर्लोचनद्वारैरन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य उपगूह्य तापं तद्दर्शनाभावजं जहुः हे नरेन्द्र ! अभिमतयः भगवद्भक्तानां तद्दिदृक्षात्मिका बुद्धयः प्राज्ञं परमात्मानं "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" इति श्रुतेः । तं दृष्ट्वा यथा तद्दर्शनाभावजं जहुः तापमाध्यात्मिकादिकं वा जहति तद्वत् अतिमतय इति पाठे ज्ञानाधिकाः ॥ २३ ॥ तदा भगवानात्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्तास्ता दृष्ट्वा त्यक्ताः सर्वा आशाः पत्यादिविषयाः याभिस्तथाभूता विज्ञाय तत्र हेतुरखिलं पश्यतीति तथा प्रहसितमाननं यस्य सः प्राह ॥ २४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किं गुणविशिष्टं ददृशुरिति, तत्राह—श्यामं हिरण्यपरिधिं सुवर्णमेखलं सुवर्णवत्पीताम्वरं वा वनमाल्येन वनपुष्पेण बर्हेण मयूरपिच्छेन धातुना गैरिकेण प्रवालेन नटवेषवद्वेषो यस्यासौ तथा तम् अनुव्रतांसे कस्यचिद्वयस्यस्य स्कन्धे कर्णयोरुत्पले अलकः कुन्तलं कपोले च मुखाब्जे हासो यस्य स तथा तं धुनानं परिकम्पयन्तम् ॥ २२ ॥ दीर्घकालमारभ्य श्रुतः प्रियतमस्योदयो दीर्घश्रुतप्रियतमोदयः स एव कर्णपूराः कर्णालङ्करणानि तैः यस्मिन् कृष्णे निमग्नमनसः अवगाह्य दृढवद्धहृदयाः पूर्वं ताः स्त्रियोऽथ तं कृष्णम् अक्षिविवरैरन्तः प्रविश्य सुचिरं परिरभ्य आलिङ्ग्य तापं स्मरनिमित्तं ज्वरं जहुः कथमिव यथा प्राज्ञाः सुषुप्त्यवस्थासाक्षिणः प्राज्ञं प्राप्ताभिमतयः इन्द्रियवृत्तयः तापं त्यजन्ति "सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" इति श्रुतेः । यद्वा, भगवत्तत्त्वज्ञाननिपुणाः प्राज्ञाः प्राज्ञमिति पाठे परिरभ्येति सम्वन्धः ॥२३॥ त्यक्तसर्वाशाः त्यक्तसर्वातितृष्णाः "आशादिगतितृष्णयोः" इति च दृष्ट्वा अपरोक्षज्ञानेन तासां भक्तिं विज्ञाय अखिलदृक् अखण्डज्ञानी ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ तथैव तैस्तत्र गत्वा निवेदिते सति तासां कृतिमाह प्राय इत्यादि । प्रायो निरन्तरं श्रुत्वा ये प्रियतया उदया विहारास्त एव कर्णपूराः कर्णालिकारवत् कर्णसंयुक्तत्वात् । तैर्यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनस आसन् । अथ तमेव श्रीकृष्णमक्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य प्रविष्टं कारयित्वा परिरभ्यालिङ्ग्य तापं विजहुः । पुनः पुनः श्रवणेन कर्णयोः सौभाग्यमालोक्य तासामक्षिणी दुःखिनी एव स्थिते तयोर्दुःखमपनेतुं ताभ्यामेव तं प्रवेशयामासुरेव । भगवानपि एकोऽपि सर्वासां नयनरन्ध्रैरेव प्रविश्य चित्तेष्वपि बहिरिव प्रकट आसीत् । अतोऽन्तः स्फुरन्तमान्तरेणैवात्मना परिरेभिरे; बहिः स्फुरन्तं नयनैरेवेत्यन्तर्बहिरेकरूपमासीदिति भावः ॥ २३ ॥ तदनन्तरं भगवानाह यत्तदवधारयति—तास्तथेत्यादि । अखिलदृक् सर्वसाक्षी स श्रीकृष्णस्तास्तथा विज्ञाय अन्तर्गतं स्वं परिरभमाणा विज्ञाय

प्रहसिताननः सन् प्राह । कीदृशीः ? आत्मदिदृक्षया प्राप्ता अपि हृदये तथा आत्मानं परिरभन्त्य इति हास उचित एव । पुनः कीदृशीः ! कृष्णातिरिक्तेषु त्यक्ताशा इत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

तमथाक्षिरन्ध्रैरित्यादि । यथाभियमतिक्रम्य अभीता एव सत्यो मनयो मननशीला अक्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं जहुः । तं कीदृशम् ? प्राज्ञं सर्वज्ञमालिङ्गितोऽहममूभिर्मनसेति तदा तदालिङ्गनसुखज्ञमिति यावत् ॥ २३ ॥ एतमेवार्थमुत्तरश्लोकेन प्रपञ्चयति–तास्तथेत्यादि । अखिलदृक् तत्तन्मानसालिङ्गनादिवेत्ता, यतो द्रष्टा उदासीनश्च, अतः प्रहसिताननः प्राह ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हिरण्यं हिरण्यरसाक्तं वस्त्रं परिधिः परिधानं यस्य तं वनमाल्येन पत्रपुष्पमयेन चरणपर्यन्तलम्बितेन बर्हेण चूडोपरिस्थेन धातुभिरङ्गरागत्वेन कल्पितैः प्रवालैः श्रवणचूडातुन्दवन्धान्तरस्थैर्नटस्येव वेषो यस्य किञ्च स्वामियोगमपि ता अनुभावयामासेत्याह अनुव्रतस्य प्रियसखस्यांसे स्कन्धे विन्यस्तः आश्लेषपरिपाट्या अर्पितो वामहस्तो येन तम् इतरेण दक्षिणहस्तेन अब्जं लीलाकमलं धुनानं घूर्णयन्तम् एतादृशदर्शनप्रदानेन भाववतीनां भवतीनां हृदयकमलं स्वहस्तगत कृत्वा औत्सुक्येन घूर्णयामीति जानीतेति द्योतयन्तं यद्वा भवतीर्भाववतीः पश्यतो मम हृदयकमलमौत्सुक्येन घूर्णते इति लीलाकमलघूर्णनमिषेण स्वहृदयघूर्णमिव भवतीर्दर्शयामीति मत्कृतात् स्वाभियोगादेव निश्चिनुतेति व्यञ्जयन्तं कर्णोत्पलयोश्चञ्चला अलका यस्य कपोलयोः प्रसृतो मुखाम्बुजस्य हासो यस्य तं च तञ्च तम् ॥ २२ ॥ प्रायो बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्य उदया उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः कर्णालङ्काराः कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थयन्तीति तया तैर्यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनस एव एतावद्दिनपर्यन्तं आसन् तं सम्प्रति नेत्रद्वारैरन्तःकरणकमलतल्पे प्रवेश्य सुचिरं स्वच्छंदेनेव दृढं परिरभ्य परिरम्भदार्ढ्येनैवानन्दमूर्च्छास्तास्तेन सहैक्ये सति तापं तदङ्गस्पर्शाभावजनितं क्लेशं विजहुः तत्र दृष्टान्तः अभिमतयोर्वृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं परिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य यथा ॥ २३ ॥ तास्तथाभूता अग्रस्थालीः पुरः स्थापयित्वैव मूर्च्छिता भवन्तीर्दृष्ट्वा अखिलानामपि दृशां बुद्धीनां द्रष्टा ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ताः स्त्रियः साग्रजं सरामं श्रीकृष्णं ददृशुः ॥ २१ ॥ कथम्भूतम् ? श्याममिति । हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तम् वनमाल्यैर्वनपुष्पैर्बर्हैर्मयूरपिच्छैर्धातुभिर्गैरिकादिभिः प्रवालैः पल्लवैश्च नटवद्वेषो यस्य तम् अनुव्रतांसे सख्युः स्कन्धे विन्यस्तो निहितो हस्तो येन तम् इत्युत्तरेण हस्तेनाब्जं धुनानं भ्रामयन्तम् कर्णयोरुत्पले यस्य अलकाः कपोलयोर्यस्य मुखाब्जे हासो यस्य तञ्च तञ्च तम्ददृशुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥ अथ दर्शनानन्तरं प्रायो बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्य श्रीकृष्णस्योदया उत्कर्षाः त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थौ कुर्वन्तीति तथा तैः तस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नान्याविष्टानि चेतांसि यासां ताः तमक्षिरन्ध्रैर्लोचनद्वारैरन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्योपगुह्य तापं जहुः "यथा प्राज्ञं प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" इति श्रुतिप्रसिद्धं भगवन्तं प्राप्य अभिमतयो जीवबुद्धिवृत्तयस्तापं त्यजन्ति तद्वत् ।' २३ ॥ त्यक्तसर्वाशाः श्रीकृष्णं विहाय क्वापि न गमिष्याम इत्येवं कृतनिश्चया इत्यर्थः । अखिलं दृग्द्रष्टा सर्वबुद्धिसाक्षीः ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

आगतास्ताः कृष्णं सद्यो ददृशुः ॥ २१ ॥ हिरण्यरसाक्तः परिधिः परिधानं यस्य तत् वनमाल्येन पत्रपुष्पमयेन पादलम्बिना बर्हेण चूडोर्ध्वगते धातुभिरतिसुगन्धिभिरङ्गरागत्वेन कल्पितैः प्रबालैश्च श्रवणगतैर्नवपल्लवैर्नटस्येव वेषो यस्य तं अनुव्रतस्य प्रियसखस्यांशे स्कन्धे विन्यस्तः परिरम्भपरिपाट्यार्पितो वामहस्तो येन तमित्यनुभावविशेषं ताः प्रत्यवबोधयन्तमित्यर्थः । इतरेण दक्षिणहस्तेनाब्ज लीलाकमलं धुनानं भवद्यानेन मेऽपि घूर्णत इति ताः प्रति ज्ञापयन्तमित्यर्थः । कर्णोत्पलयोश्चपला अलका यस्य कपोलयोः प्रसृतो मुखाब्जस्य हासो यस्य तञ्च तञ्च तम् ॥ २२ ॥ प्रायो बहुधा श्रुता ये प्रियतमस्य नन्दसूनोरुदया महोत्कर्षास्त एव कर्णपूराः श्रोत्रभूषास्तैर्यस्मिन्निमग्नमनसोऽभूवन् तमथ सम्प्रत्यक्षिरन्ध्रैरन्तर्हृत्कमले प्रवेश्य सुचिरं गाढतया परिरभ्य तापं तद्विरहजातं जहुः ॥ २३ ॥ तत्र दृष्टान्तः प्राज्ञमिति यथाभिमतयो देहगेहादिष्वहम्ममेत्यभिमानाः सुषुप्तौ प्राज्ञं परमात्मानं प्राप्य जागरतापं जहतीति तद्वत् ॥ २४ ॥ तास्तथाभूताः पुरोऽन्नस्थालीर्निधाय मूर्च्छन्तीर्विज्ञाय अखिलानां दृशां धियां द्रष्टा साक्षी प्रहसितेतिमाधुर्यमयवञ्चनचातुरी ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अशोकनवपल्लवमण्डिते यमुनोपवने यथा स्वासां कृष्णापेक्षा न तथा कृष्णस्येत्याह ॥ यमुनेति । अमुना कृष्णेन सहैव वर्तत इति । गोपैर्वृतं सहितं साग्रजं प्रचरन्तं स्त्रियो ददृशुः । वृतमित्युक्तिः कदा द्रक्ष्याम इति स्ववृत्तमित्यपि स्फोरयत्यर्थः ॥ २१ ॥

किं रूपं ददृशुरित्यत आह ॥ श्याममिति । वर्णेन हिरण्यं हिरण्यवद्विद्यमानः परिधिर्वसनं पीतमिति यावत् सुवर्णमयमेखलमिति वा वनमाल्यं वनमाला वर्हाणि च धातवो गैरिकाद्याः प्रवालाः पल्लवा एतैर्नटवद्वेषो यस्य तमनुव्रतः कश्चिद्गोपस्तस्यांसे स्कन्धे विन्यस्तहस्तमितरेण हस्तेनाब्जं कमलं धुनानं कम्पयन्तं कर्णयोरुत्पले यस्य तथा । आ सम्यगलकाश्चूर्णकुन्तलाः समीचीनौ कपोलौ च यस्य । उत्पलं शुष्कमांसे स्यात्कुष्ठेन्दीवरयोरपीति विश्वः । अलकाश्चूर्णकुन्तला इत्यमरः । गण्डकपोलाविति च । तच्च तन्मुखाब्जं च तस्मिन्हासो यस्य स तं ॥ २२ ॥ दीर्घश्रुतः प्रियतमस्य कृष्णस्योदयः स एव कर्णपुरः कर्णालङ्कारास्तैर्यस्मिन्प्राङ् निमग्नमनसस्तमेव । अथ दर्शनान्तरमक्षिरन्ध्रैस्तद्द्वाराऽन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं तदसहवाससमुद्भूतं जहुः । तत्र निदर्शनमाह ॥ प्राज्ञं यथेति । यथाऽभिमतयोऽभितो मतिरनुसन्धानं येषां ते विवेकिनः प्राज्ञं तन्नामकं भगवन्तं परिरभ्य । प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवतीत्यादेः । तापं जहाति तथेति ॥ २३ ॥ दृष्ट्वा दर्शनमात्रेणाखिलदृक्सर्ववित्तास्त्यक्ताः सर्वेषामाशा भर्त्रादीनां यासां ता आत्मदिदृक्षया प्राप्तास्तथा तथैव विज्ञाय प्रहसिताननः प्राह ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

गतानां समागमनप्रकारमाह यमुनेति, यमुनोपवने विचरन्तं स्त्रियो ददृशुरितिसम्बन्धः, जलस्थलक्रीडायोग्यभूमिः सूचिता, उपवने पुष्पाणि फलानि च सर्वदा भवन्ति तथाविधान्येवारोप्यन्त इति, यमुना क्रूरेत्युपवनरक्षा यमभागाभावश्च, गतानामुभयपरित्यागे शोकः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाहाशोकानां नवपल्लवैर्मण्डित इति, अनेन शय्या अपि निरूपिताः, तादृशे विभावादियुक्ते गोपैर्मुग्धैर्वृतं विशेषेण हंसगत्यादिना गच्छन्तं साग्रजं क्रियाशक्तिसहितं सर्वतो रक्षणसमर्थं ददृशुः स्वाभिलषितप्रकारेण दृष्टवत्यो यतः स्त्रियः ॥ २१ ॥ स्त्रीदृष्टं भगवन्तं वर्णयत्यन्यथा भगवच्चरित्रं न भवेदन्योपसर्जनत्वाद् वर्णिते तु भगवतैव तथा क्रियत इति तादृशरूपप्राकट्येन निश्चीयते, श्याममिति, आदौ वर्णः शृङ्गाररसात्मको गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च शुक्लो जलप्रकृतिकोव्यक्तरसोन्नमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं च केवलं तद् रसजनकं न भविष्यतीति तयोरपि सम्बन्धो निरूप्यते, हिरण्यपरिधिं वनमालिनमिति, सुवर्णमेखलैव परिधिरूपा कुण्डलमुकुटकण्ठाभरणानि च पीताम्बरं कङ्कणाङ्गदादीनि च, अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः, वनमाला वर्ततेस्येति, सर्वपुष्पमयी सा शुभ्रा, अन्येपि सर्वे रसास्तत्र सन्तीति ज्ञापयितुं साधनत्रयमाह बर्हधातुप्रवालेति, त्रयाणामन्योन्यसम्बन्धात् सर्व एव रसाः, बर्हश्चित्र एव धातवोनेकविधाः । शुभ्रादयो मिश्राः, प्रवाला आरक्ता एव, एतैरपि कृत्वा नटवेषो यस्य, केवलं रसं धर्मिसहितमपि रसं दातुमुपस्थितः, किञ्च लीलामपि सामग्रीरूपां स्वयमेव करोतीत्याहानुव्रतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जमिति, लीलायाः प्राधान्यख्यापनार्थं स्वस्य परवशत्वं बोध्यते, स्वातन्त्र्ये रसो गुप्तो भवतीत्यनुव्रतस्य स्वसमानधर्मशीलास्यांसे स्कन्धे हस्तं विन्यस्य युग्मरसं ख्यापयन् विश्वमेव कमलात्मकं भ्रामयति सर्वमेवान्यथा करिष्यामीति ज्ञापयन् निर्भयतां सम्पादयति, परमनुव्रतत्व एवाणुमात्रान्यथाभावेपि नैवमयं रसः क्रियापर्यवसायीति स्कन्ध एव कृतिर्निरूपिता, उभयोरेकत्र व्यापृतौ रसो न स्यादितीतरेणेत्युक्तं कम्पने मकरन्दः स्रवतीति रसार्थमेव तथाकरणं, ज्ञानक्रिययोर्मर्यादायाः शास्त्राणामङ्गानां भक्तेर्विरोधमाशङ्क्य परिहरति कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासमिति, कर्णयोरुत्पले येलका नालसहितकमलस्थितभ्रमरा इव कपोलयोर्मुखे च हास्यं यस्येति, तेष्वपि हाससम्बन्धः कपोलयोर्मुखे च, सर्वेषामेव कमलत्वं कपोलयोर्मुखस्यैव वा, कर्णयोर्योगसाङ्ख्यत्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रत्वं च, उत्पलानां मर्यादारूपत्वं, अलकानां शास्त्रत्वं विद्वत्त्वं वा, कपोलयोर्भक्त्यङ्गत्वं मुखस्य भक्तित्वं, सर्वेषामेव सरसत्वायाब्जत्वं, तत्र हासो यस्येति सर्वव्यामोहात् सर्वविरोधः परिहृतो भवति ॥ २२ ॥ एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र तासां स्वरूपमाह प्राय इति, प्राचुर्येण श्रुताः प्रियतमस्याभ्युदयरूपा गुणास्त एव कर्णपूराः कर्णाभरणानि तद्द्वारा भगवत्यन्तः प्रविष्टे यस्मिन् निमग्नमनसो जाता यथा गृहे गङ्गापूरे समागते गृहं निमग्नं भवति, तमेव भगवन्तमन्तःस्थितं पुनः प्रकारान्तरेणाक्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य तापं जहुः, पूर्वं शब्दात्मकः प्रविष्टः कर्णद्वारा, इदानीमक्षिद्वारा रूपात्मकः प्रविशत्यतोथेतिभिन्नप्रक्रमः, तेन तु सांसारिका एव तापाः परिहृता न त्वलौकिका अनेन त्वलौकिकाः परिहियन्ते, तदाह तापं जहुरिति, ननु तापः सर्वाङ्गेषु प्रविष्टः कथमन्तःप्रवेशनमात्रेण शान्त इत्याशङ्क्याह सुचिरं परिरभ्येति, अन्तर्बहुकालमालिङ्गितवत्यस्ततः सर्वतापपरित्यागः, ननूपशान्ता एव तापा न तु नष्टा इति चेदित्याशङ्क्य तास्तत्रैव लीना इति वदन् स्वरूपतोपि तापनाशमाह दृष्टान्तेन प्राज्ञं यथाभिमतय इति, प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं स्वात्मानमेव भगवद्रूपमहङ्कारवृत्तयः प्राप्य तत्रैव लीना भवन्त्येवमेता भगवत्येव सायुज्यं प्राप्तवत्यः परं संस्कारशेषा अतः पुनर्बहिर्गमनमन्यथा सायुज्यमेव स्यात्, प्रायग्रहणेन सर्वे भगवदीया गुणा न श्रुता अन्यथा मोहयतीतिज्ञानेन मुग्धा भवेयुः, किञ्च श्रुत एव न दृष्टः कोप्यनुभावः, किञ्च प्रियतमत्वेनैव श्रुतो न तु साधनत्वेन, उदय इति कोमला एव भावाः श्रुताः, तेपि कर्ण एव प्रवाहत्वेन प्रविशन्ति न तु सर्वाङ्गे दृष्टानन्तर्यभावादतो मन एव निमग्नं न तु देहादिः, इदानीमप्येता ज्ञाननिष्ठाः अन्तरेव सत्कारं कृतवत्यः सायुज्यं च प्राप्तवत्यः, ज्ञानं हि तमोरूपं रजोरूपा भक्तिः सत्त्वरूपः सङ्गः इत्यतः सुषुप्तिदृष्टान्तः, तापनिवृत्तिः फलमन्यथा गततापा नेत्रपेयमेव भगवल्लावण्यामृतं पपुः, नरेन्द्रेतियम्बोधनं ध्यानार्थममोहार्थं च ॥ २३ ॥ ततो भगवता यत् कर्तव्यं तदाह तास्तथेति, तथा पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्ता ऐहिकपारलौकिकाशा याभिः, आत्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्ताः केवलं भगवान् द्रष्टव्यः, मर्यादायां ह्येतावदेव. श्रुतो हि

भगवान् मनोनिदिध्यासितव्यश्च साक्षात्कर्तव्य इति, तत् त्वेतासां जातमतो रूपप्रकारविलक्षणं वचनमाह विज्ञायेति, तासां स्वरूपं विज्ञाय प्रहसिताननो भूत्वा प्राह दर्शनानन्तरभावव्यामोहार्थं हासः प्रकर्षेण कथनमबाधितस्य, नन्वेवं कथनमयुक्तमिति चेत् तत्राहाखिलदृग्द्रष्टेति, अखिलदृशां सर्वबुद्धीनां द्रष्टा सधर्माणां धर्मिणां यत्र प्रवृत्तिः, केवलधर्मिणां प्रवाहवत् सर्वत्र गच्छतां धर्मिणां बाधकसहितानां सधर्माणां पश्चादेवोत्पन्नबाधवतां सर्वामेव प्रवृत्ति जानाति, अत एता अन्तिमपक्षनिमग्ना इति तथोक्तवान् ॥ २४॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अत्रैव श्यामं हिरण्यपरिधिमित्यस्य विवरणे, ज्ञानक्रिययोरित्यारभ्य सर्वविरोधः परिहृतो भवतीत्यन्तम्। ननु स्वरूपस्योक्तरूपत्वे तासां व्याघुट्य गमनं सर्वथा विरुद्धम्। तथाहि। ज्ञानं हि क्रियापर्यवसायि। तथा च बर्हधातुप्रवालेत्यादिविवरणे केवलधर्मसहितरसदानार्थोपस्थितिपरवशत्वयुग्मरसख्यापनादिक्रियया तदनुरूपमेव भगवज्ज्ञानमपीति ज्ञायते। तथा च व्याघुट्य गमनमेतदुभयविरोधि। इत एव मर्यादाविरोधः। न हि भगवज्ज्ञानादि विरुद्धं भवितुमर्हति। 'कृष्णाङ्घ्रिपद्ममधुलिण् न पुनर्विसृष्टगेहे'ष्वित्यादि भागवतं शास्त्रं रसशास्त्रं च तादृशमतस्तद्विरोधः। अङ्गानि भगवत्प्रेम्णः प्राचीनश्रवणादीनि विभावकानुभावकादीनि च। भगवत्सङ्गतानामन्यत्रापि पतित्वेन भजनमिति भक्तेर्विरोधः। व्यामोहेन समाधानस्यायमाशयः। यदि पूर्वोक्तरूपे कस्यापि स्फूर्तिः स्यात्, स्यात्तत्कार्यमेव। किन्तूक्तानां मूलरूपे मोहकसम्बन्धात् कस्यापि न स्फूर्तिरिति न तत्कार्यसम्भव इति। यद्वा। भगवतो ब्रह्मत्वेन तज्ज्ञानशक्तेरपि सर्वसमत्वेन विकाराजनकत्वादुक्तरीतेश्च तज्जनकत्वात् तथा। तत्क्रियाशक्तिरपि योगशास्त्रादिनिरूपिता मनःसमाधिहेतुत्वेनोक्तरूपैवेति तथा। ब्राह्मणेष्वेवंभावप्राकट्यं मर्यादाविरोधि। शास्त्राणि स्वस्वाधिकारानुसारेण भगवद्भजनं विदधते। तथा सति शुभं फलम्, विपरीते विपरीतमिति। एतासां विवाहितपुंभजनस्यैव तथात्वादुक्तरीतेश्चातथात्वहेतुत्वेन तथा। शास्त्रोक्तरीत्यैव भजनं भक्त्यङ्गमिति तद्वैपरीत्येन भावजनकरीतिप्राकट्यमङ्गविरोधि। जारत्वेन ह्यत्र भजनं स्यात्, तच्च भक्तिविरोधि। व्यामोहसमाधेरयमाशयः। लोके यो हि येन यदर्थं व्यामोहितः क्रियते स तदनुगुणमेव करोति, न तु स्वानुगुणम्। तथाच पूर्वोक्तानामेवंभावेन भजन एव तात्पर्यमधुना सम्पन्नमिति तेषां पुष्टिमार्गीयत्वकरणान्न विरोधगन्धोपीति। यद्वा। ननु स्वरूपस्योक्तरूपस्योक्तरूपत्व इत्यादिनास्मदुक्ताशङ्कानिरासायाहुः सर्वव्यामोहादिति। सर्वासां पत्नीनां सर्वांशे वा तासामेव व्यामोहो भगवता कृत इति पूर्वोक्तभगवदीयज्ञानक्रियादेः कार्यसम्पत्तिरभवदेतासु, तेन गेहं गताः। अत्रेदमाकूतम्। तासां गृहगमनोक्त्या भगवदीयज्ञानक्रियादिकार्यसम्पत्तिः स्पष्टैवेति ज्ञानाद्युक्तिर्निरर्थ्यैति शङ्कानिरासायावश्यं तत्प्रयोजनं वाच्यम्। तच्च मर्यादादेहं त्याजयित्वा पुष्टिमार्गीयं तं प्रापयित्वा समानीता या, तन्निमित्तं प्रभुणा तादृशा धर्माः प्रकटीकृता इति तस्यां तत्कार्यं सम्पन्नम्। एतदर्थमप्राकट्यादेतासु तत्कार्यासम्भवेऽपि न विरोधः। अत एवैतद्दर्शनमस्मिन् श्लोके नोक्तम्, किन्तु पूर्वस्मिन्नेव। परन्तूभयदृष्टं रूपमेकमेवेति पूर्वेणास्य श्लोकस्य संगतिः कृता। प्रतीयमानानामपि धर्माणामेतद्धृदयानारोहो व्यामोहादिति। पूर्वमप्रतीतिरेव धर्माणामुक्ता, संप्रति प्रतीतावपि हृदयाप्रवेश उच्यत इति विशेषः॥ २२॥ प्रायःश्रुतेत्यत्र, कर्णपूरपदतात्पर्योक्तौ, दृष्टानन्तर्याभावादिति। दृष्टं दर्शनम्। तदानन्तर्यभावादित्यर्थः। यद्युक्तानां भावानां तदनुरूपस्वीयभावैः साक्षादनुभवानन्तरं श्रवणं स्यात्, तदा पूर्वानुभवसंवादेन सर्वाङ्गे तद्रसाविर्भावः स्यात्, अत्र तु तथात्वाभावान्न तथेति भावः॥ २३॥

(२) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

यमुनेत्यस्याभासे एतासां सर्वात्मभावाभावात् पूर्वोक्तमभिसरणमेव मुख्यं, दर्शनं तु तत्प्रकारत्वेन गौणमित्यभिप्रेत्य प्रकार एव वाक्यार्थं उक्तः, व्याख्याने, क्रूरेति तनुनवत्वोपलक्षणेन प्रतिबन्धकमात्रनिवर्तिकेत्यर्थः, अतस्तदुपवने प्रतिबन्धका नायास्यन्तीतिभावः, तात्पर्यान्तरमाहुः यमेति, तद्दोषपरिहारार्थमेव यमुनोत्पादनात्, सामान्यतोपि भगिन्यां न भ्रातुर्भयं, अतस्तत्र गतानां भगवत्सम्बन्ध एव भवति न तु पुनः संसारे समागत्या यमसम्बन्ध इतिभावः, उभयपरित्यागे इति भगवत्प्राप्त्या बुद्धया यत्र स्थितास्तत्परित्यागः, गृहत्यागाच्छेषेण यत्र स्थितास्तत्परित्यागः, अप्राप्तावपि तादृगवस्थित्या प्राप्तिनिश्चयात् न शोक इतिभावः॥ २१॥ अन्योपसर्जनत्वादिति दर्शनस्याभिसरणाङ्गत्वादित्यर्थः, तथा क्रियते इति स्वरूपं तद्दर्शनविषयीभूतं क्रियत इत्यर्थः, श्याममित्यत्र रजोरूप इति रसोद्दीपिका सामग्री रजःपदेनोच्यते इति टिप्पण्यां पूर्वमुक्तं, तथा च रसोद्दीपको न तु रसरूप इत्येवकारः, गौरस्य शृङ्गारोद्दीपकत्वात् शृङ्गारस्य च श्यामत्वादितिभावः, तैजसश्चेति श्रुतौ तेजसो लोहितत्वादिति भावः, केवलमिति रसपक्षे उद्दीपकरहितं गुप्तरसरहितं च अन्यस्य रसजनकं न भवतीत्यर्थः, केवलमिति "बर्हे"त्यनेन नटवेषकथनात् केवलो रस उक्तः, पूर्वविशेषणत्रयेणेतरसम्बन्धविशिष्टशृङ्गाररसात्मकत्वकथनाद् धर्मसहित उक्तः, सामग्रीरूपामिति तादृशलीलां दृष्टवा रस उद्बुद्धो भवतीति रसोद्बोधे लीलासामग्री, स्वातन्त्र्ये इति रसस्य स्वातन्त्र्ये प्राधान्ये सति गुप्तो रक्षितो रसो भवतीत्यर्थः, उत्पलानामिति कमलस्य ब्रह्माण्डात्मकत्वेन रूपमर्मदाहेतुत्वादितिभावः॥ २२॥ प्रायःश्रुतेत्यत्र अलौकिका इति भगवद्विरहजा इत्यर्थः, ननूपशान्ता एवेति। परिरम्भस्य भेदघटितत्वात् प्रियपरिरम्भे तद्विरहजतापशान्तिवदत्रापि

त्स्यादित्यर्थः, अत्रैतत्परिरम्भेभिमतीनां प्राज्ञप्राप्तिदृष्टान्तः, तथा च भेदाघटितपरिरम्भाद् तापनाश इतिभावः, प्रियतमत्वेनैवेति तथा च कामभाव एव न तु भक्तिसाधनत्वज्ञानेन शुद्धभाव इत्यर्थः, इदानीमपीति भक्तिनिष्ठायामपीत्यर्थः, ज्ञानं हीति एतासामितिशेषः, मनोनिमज्जनं ज्ञानं कामभाववत्त्वात् तमोरूपत्वं युक्तमिति हिशब्दः अत एवाभिमतिदृष्टान्त इतिभावः, सादरावलोकनं मुखविषयकत्वाद् भक्तिः, तत्र हाससम्बन्धाद् रजोरूपत्वं, सुचिरं परिरम्भः सङ्गः तस्य शान्तिरूपत्वात् सत्त्वरूपत्वं अन्यथेति ज्ञानभक्तिसङ्ग रित्यर्थः, एतेनैतच्छ्लोकार्थं उपसंहृतः, महावाक्यार्थमाहुः नेत्र ेति, तथा च "ददृशुः स्त्रिय" इत्यत्रोक्तन्याभिसाराङ्गदर्शनस्य भगवच्चरित्रत्वकथनायेदं श्लोकद्वयमितिभावः, नरेन्द्र ेति ध्याने नरस्य विशेषतोधिकारात् तच्छ्लेषस्य च मोहाभावादित्यर्थः ॥ २३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

यमुनोपवन इत्यस्य विवृत्तौ यमुनापदतात्पर्यमाहुः यमुना क्रूरेति, भगवत्सम्बन्धे यावन्ति प्रतिबन्धकानि तेषां विनाशिकेत्यर्थः, तथा च स्वोपवनस्य भगवदेकक्रीडौपयिकत्वात् तद्वनविनाशकस्य विनाशं कथं न कुर्यादित्यर्थः, यमभागाभावश्चेति यमस्य कालरूपत्वात् कालस्य सर्वभक्षकत्वादेतदुपवनमपि कदाचिदन्यथा कुर्यात् तदत्र यमुनासम्बन्धान् न करोत्येव भगिनीसम्बन्धेन तद्रक्षाकरणस्यैवोचितत्वादिति यमुनापदतात्पर्यम् ॥ २१ ॥ श्यामं हिरण्यपरिधिमित्यस्य विवृतौ वर्णः शृङ्गाररसात्मक इति शृङ्गाररस्य श्यामरूपत्वात्, गौरो रजोरूप इति हिरण्यपरिधिमित्यनेनोक्तानां सुवर्णमेखलाद्याभरणानां गौरत्वात् तत्स्वरूपमाहुः गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्चेति, वनमालिबर्हेत्यनेनोक्तायाः वनमालायाः स्वरूपमाहुः शुक्लो जलप्रकृतिकः अव्यक्तरस इति, सुवर्णमेखलादिरूपतैजसैः वनमालारूपजलप्रकृतिकैः सहितस्य श्यामवर्णस्य स्वरूपमाहुः अन्नमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं चेति, "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्ये"तिश्रुतावन्नस्य श्यामत्वोक्ता अन्नशब्देन पृथिव्युच्यते, प्रकृते श्यामं हिरण्यपरिधिमित्यनेन स्वरूपस्य श्यामत्वोक्तेरन्नरूपतोक्ता, अन्नशब्देन पृथिवी, पृथिव्यां च सर्वे रसाः सर्वेषां भोग्यत्वं च, अतोत्रापि श्यामत्वकथनात् सर्वरसात्मकत्वं सर्वभोग्यत्वं च सिद्धं, तत्र स्वरूपस्य शृङ्गाररसात्मकत्वात् तद्भाववतीनामेव भोग्यमितिगूढाशयो बोध्यः, अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपि इति, अनेनेति श्यामं हिरण्यपरिधिमितिविशेषणविशिष्टश्यामस्वरूपकथनेनेत्यर्थः, परिधिसहित इति परिधिरूपसुवर्णमेखलामुकुटकण्ठाभरणपीताम्बरकङ्कणाङ्गदादिसहित इत्यर्थः, सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्र इति परिधिपदात् सूर्याचन्द्रमसोर्द्वयोः प्राप्तावपि श्यामवर्णत्वेन शृङ्गाररसरूपताया उक्तत्वात्, शृङ्गाररसे च चन्द्रस्यैव योग्यत्वाच्चन्द्रत्वमेवेति तथोक्तं, सहस्रमूर्तित्वं तु सुवर्णमेखलादीनां स्वरूपविचारेणोक्तं द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां ये वराहादयोवतारास्ते सर्वे भगवतः प्रादेशमात्रत्वादिधर्माणामवताररूपा इत्युपपादितं, तत्र मेखलाया वामनावतारत्वं, पीताम्बरस्य पृथ्ववतारत्वं, एवं सर्वेषां आभरणानामवतारेष्वभिनिवेशः, तथा च मेखलादयो वामनादिमूर्तयस्ताभिः सहितः श्रीकृष्णश्चन्द्र इति फलितं, तत्र "अवतारा ह्यसङ्ख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजा" इतिसूतवाक्यादवताराणामनन्तत्वं, अनन्तावताराणामाभरणादिमूर्तित्वं, एवं सहस्रमूर्तिसाहित्यं, केवलं रसं धर्मसहितमपीति बर्हेतिपदेन नाट्यानुसारिवेषककथनात् केवलरस उक्तः, "केवलो नाट्ये प्रसिद्ध" इतिवेणुगीताध्यायसुबोधिन्यां निर्धारितत्वात्, केवलशब्देन विप्रयोगशृङ्गाररसो ज्ञेयः, श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमालीत्येभिर्विशेषणैर्धर्मसहितो रस उक्तः, धर्मसहितस्तु संयोगशृङ्गाररसो बोध्यः, "धर्मसहितः सम्भोगे" इति वेणुगीतसुबोधिन्यामुक्तत्वात्, ज्ञानक्रिययोरित्यारभ्य विरोधः परिहृतो भवतीत्यन्तग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, कर्णयोरुत्पले ये अलका इत्यादि-नालस्थानापन्नौ कर्णौ तत्र ये उत्पले तत्र अलका भ्रमरस्थानीया इत्यर्थः ॥ २२ ॥ प्रायःश्च तैतस्य व्याख्याने ज्ञानं हि तमोरूपमिति यज्ञपत्नीनां भगवज्ज्ञानं तमोरूपं भगवति कामित्वेन बोधात्, रजोरूपा भक्तिरिति एतासां भक्तिः रजोरूपा राजसीत्यर्थः, सत्त्वरूपः सङ्ग इति सुचिरं परिरभ्येत्यनेनोक्तः परिरम्भरूपः सङ्गः सत्त्वरूपः सात्त्विक इत्यर्थः ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अशोकवृक्षाणां नवपल्लवैर्मण्डिते शोभिते यमुनाया उपवने गोपैर्वृतं साग्रजं रामेण सहितं विचरन्तं कृष्णं ताः स्त्रियो ददृशुः ॥ २१ ॥ ताभिर्दृष्टं शोभातिशययुक्तं भगवन्तं वर्णयति—श्याममिति। मेघवच्छ्यामवर्णम्। हिरण्यवत् परिधिः परिधानं यस्य तं पीताम्बरम्। वनमाल्यैः कण्ठस्थितैः पुष्पमालाभिः, बर्हैः शिरसि धारितैः मयूरपिच्छैः, धातुभिः गैरिकादिभिः, प्रवालैः शिरस्येवोभयतो धारितैः कोमलपत्रैश्च नटवद्वेषो यस्य तम्। अनुव्रतस्य सख्युः अंसे स्कन्धे विन्यस्तः स्थापितो हस्तो येन तम्। इतरेण हस्तेन लीलया अब्जं धुनानं भ्रामयन्तम्। कर्णयोरुत्पले यस्य, अलकाः कपोलयोर्यस्य, मुखाब्जे हासो यस्य, तं च तं ष॥२२॥ 'तस्य दर्शनेन तासामलौकिकयवस्था जाता, सा सावधानेन श्रोतव्या' इत्याशयेन सम्बोधयति—नरेन्द्रेति। प्रायः बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्य कृष्णस्य उदया उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः सतां कर्णाभरणभूतास्तैर्यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनसः आविष्टचित्ताः विप्रभार्याः। अथ दर्शनानन्तरमक्षिरन्ध्रैः द्वारभूतैर्लोचनच्छिद्रैस्तं कृष्णमन्तःकरणे प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य उपगूह्य संसारतापं

जहुस्त्यक्तवत्यः। तत्र दृष्टान्तमाह—अभिमतयोऽहंवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं पारिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य यथा तापं त्यजन्ति तथेति ॥ २३ ॥ ताः स्त्रियस्तथा प्राप्ता विज्ञाय प्रहसिताननो भगवानाहेत्यन्वयः। विज्ञाने हेतुमाह—अखिलदृग्द्रष्टेति, सर्वबुद्धिसाक्षी। 'तथा' इत्येतद्विवृणोति—त्यक्ताः सर्वा गृहापत्यपत्यादिविषया आशा याभिस्ताः, अतः केवलमात्मनः स्वस्य दिदृक्षयैव प्राप्ता इति ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

यमुनेति ॥ अशोकवृक्षाणां नवपल्लवैर्मण्डिते शोभिते यमुनाया उपवने गोपैर्वृतं साग्रजं विचरन्तं कृष्णं ताः स्त्रियो ददृशुः ॥ २१ ॥ हरिं विशिनष्टि—श्याममिति ॥ मेघमिव श्यामवर्णं हिरण्यमिव हिरण्यरसाक्तो वा परिधिः परिधानं यस्य तं पीताम्बरं वनमाल्यैः पत्रपुष्पमयैरापादलम्बिभिः कण्ठस्थितैः बर्हैः शिरसि धारितैः मयूरपिच्छैः धातुभिरङ्गरागतया कल्पितैर्गैरिकादिभिः प्रवालैः शिरस्येवोभयतो धारितैः कोमलपत्रैश्च नटवद्वेषो यस्य तमनुव्रतस्य सख्युः अंसे स्कन्धे विन्यस्तः हस्तो येन तम्। इतरेण हस्तेन लीलया अब्जं धुनानं भ्रामयन्तं कर्णयोरुत्पले यस्य अलकाः कपोलयोर्यस्य मुखाब्जे हासो यस्य तं च तं च ॥ २२॥ वृत्तेरपि लयेन सामरस्यमाह—प्राय इति ॥ हे नरेन्द्र ! प्रायः बहुशः श्रुता ये प्रियतमस्य कृष्णस्य उदया उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः सन्तः कर्णाभरणभूतास्तैर्यस्मिन् श्रीकृष्णे निमग्नमनसः आविष्टचित्ताः विप्रभार्याः। अथ दर्शनानन्तरमक्षिरन्ध्रैः द्वारभूतैर्लोचनच्छिद्रैस्तं कृष्णमन्तःकरणे प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य उपगुह्य अभिमतयोऽहंवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं परिरभ्य तस्मिन् लयं प्राप्य यथा संसारतापं जहुस्त्यक्तवत्यः॥ २३ ॥ ता इति ॥ त्यक्ताः सर्वा गृहापत्यपत्यादिविषया आशा याभिस्ताः स्त्रियः केवलमात्मनः स्वस्य दिदृक्षयैव प्राप्ताः तथा विज्ञाय अखिलदृग्द्रष्टा सर्वबुद्धिसाक्षी प्रहसिताननः भगवानाह स्म ॥ २४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अशोकवृक्षाणां ये नवपल्लवास्तैर्मंडिते भूषिते ॥ २१ ॥ हरिशोभां वर्णयन्नाह श्याममिति हिरण्यतुल्यः परिधिः परिधानवस्त्रं यस्य तं वन्यविविधपुष्परचितमालादिभिर्नटतुल्यो वेषो यस्य तं अनुवृत्त्यस्य प्रियस्य मित्रस्य अंसे स्कंधे विन्यस्तो धृतो हस्तो येन तं इतरेण पाणिनाऽब्जपद्मं धुनानं कंपयंतं कर्णयोरुत्पल्ये यस्य अलकाः केशाः कपोलयोर्यस्य मुखपद्मे हासो यस्य तं च तं च तं च ददृशुः ॥ २२ ॥ तद्दर्शनेन तासां समाधिमाह प्राय इति प्रायो बहुशः श्रुताः प्रियतमस्य ये उदयाः अलौकिकैश्वर्यरूपा उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयंति सफलौ कुर्वंतीति तथाभूतास्तैः कर्णाऽलंकारैः कृत्वा यस्मिन् हरौ निमग्नमनसः प्रविष्टांतःकरणाः सत्यः तं श्रीकृष्णं नेत्रद्वारैरंतः हृदि प्रवेश्य सुचिरं दीर्घकालं परिरभ्य आलिंग्य तापं विजह्रुः यथा अभिमतयः इन्द्रियांतःकरणवृत्तयः प्राज्ञं सुषुप्तौ प्रकर्षेणाज्ञं कारणदेहाऽभिमानिनं जीवं प्राप्य जाग्रद्भावोत्पन्नं दुःखं विजह्रुः तथा ॥२३॥ आत्मनः स्वस्य द्रष्टुमिच्छया प्राप्ताः आगताः त्यक्तसर्वाशाः ऋषिपत्न्यः अखिलदृक् द्रष्टा सर्वांतःकरणसाक्षी हरिः विज्ञाय प्राह ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

यमुनेति ॥ अशोकानां वञ्जुलतरूणां ये नवपल्लवास्तैर्मण्डिते, यमुनोपवने यमुनायाः समीपवर्त्तिवने, विचरन्तं, साग्रजमग्रजेन सहितं, गोपैः वृतं च कृष्णं, स्त्रियो द्विजाङ्गनाः ददृशुः ॥ २१ ॥ कीदृशं ददृशुरित्यत्राह ॥ श्याममिति ॥ श्यामं घनवन्मेचकं, हिरण्यवत्परिधिः परिधानं यस्य तं, सुवर्णमेखलमिति वा। वनमाल्यानि वनपुष्पाणि च बर्हाणि मयूरपिच्छानि च धातवो गैरिकादयश्च प्रवालाः पल्लवाश्च तैर्नटवद्वेषो यस्य तं, अनुव्रतांसे स्वसख्युः स्कन्धे, विन्यस्तो हस्तो वामकरो येन तं, इतरेण दक्षिणहस्तेन, अब्जं कमलं, धुनानं लीलया भ्रामयन्तं, कर्णयोः श्रवणयोः उत्पले पद्मे यस्य अलकाः कपोलयोर्यस्य मुखाब्जे मुखपद्मे हासो यस्य तं च तं च तं च, ददृशुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥ प्राय इति ॥ प्रायो बहुशः, श्रुताः ये प्रियतमस्योदया उत्कर्षास्त एव कर्णपूराः कर्णौ पूरयन्ति कृतार्थौ कुर्वन्तीति तैः कर्णाभरणैरिति वा। यस्मिन् कृष्णे, निमग्नमनस आविष्टचित्ताः, आसन्। अथानन्तरं, अक्षिरन्ध्रैर्लोचनद्वारैः, तं कृष्णं, अन्तः प्रवेश्य, सुचिरं परिरभ्योपगुह्य, हे नरेन्द्र, अभिमतयः भगवद्भक्तानां तद्दिदृक्षात्मिका बुद्धयः, प्राज्ञं परमात्मानं, परिरभ्य, यथा तथा, तापं विजह्रुः। 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मना हृष्ट' इत्यादिश्रुतिषु प्राज्ञशब्दः परमात्मगमकः प्रसिद्ध एव। भक्तजनभगवद्दिदृक्षामतयो भगवन्तं दृष्ट्वाऽध्यायात्मिकादिपरितापं यथा जहति, तद्वद्ब्राह्मण्योऽपि भगवन्तं दृष्ट्वा तमुपगुह्य तद्दर्शनाभावजं परितापं जहुरित्यर्थः ॥ २३ ॥ ता इति ॥ तदा भगवान्, आत्मनः स्वस्य या दिदृक्षा तया, प्राप्ताः ता ब्राह्मणीः दृष्ट्वा, तथा त्यक्ताः सर्वाः आशाः पत्यादिविषया याभिस्तास्तथाः, विज्ञाय, अखिलं पश्यतीत्यखिलदृक्, हेतुगर्भमिदम्। अखिलदृक्त्वादित्यर्थः। प्रहसितमाननं यस्य तथाभूतः सन् प्राह ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

श्याममिति : १०.२३.२२.

वराभयकरस्थितिमंम न दुर्लभामामनुव्रतस्य विशदं व्यधादिति निजां स राजत्करः।
मदङ्घ्रिधरणागतेक्षणसुखोत्सवात् सौख्यदं रमागृहमपि स्फुटं न च ममेति तत्कम्पनाद् ॥ ५२ ॥

प्राय इति । १०.२३.२३.

मनः स्पृष्टं वस्तु प्रियमखिलसाधारणमपि क्वचिच्चक्षुर्दृष्टं यदि तदतिसौख्याय भवति ।
प्रियेभ्योऽपि प्रेयानतुल-परमानन्दजनको ध्रुवं दृष्टो याभिस्तदुचितमतापा यदभवन् ॥ ५३ ॥
गोपालक-प्रणव-गोपविलासभाजो दृक्सौख्यमच्युतपदस्य मुनीन्द्रगम्यम् ।
स्त्रीत्वान्न नस्तदधिकार इति स्म तप्तास्तापं पुनस्तदनुभूय जहुः क्षमं तत् ॥ ५४ ॥
मास्त्वधिकारः प्रणवेऽस्मान् हीना इति वदन्तु वा लोकाः । तद्गतपदार्थदर्शनसुखमनुपधिकं तु लब्धमस्माभिः ॥ ५५ ॥
तापं जहति मुनीन्द्राः कृत्वैकप्रणवचिन्तनं चित्ते । युक्तमनन्तप्रणवप्रत्यक्षेक्षणाज् जहुस्तापम् ॥ ५६ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकदेवजी महाराज ने कहा—कि राजन् वहाँ उन ऋषि पत्नियों ने श्रीयमुनाजी के तट पर अशोक वृक्षों के नये नये कोपलों से सुशोभित निकुंज में विचरण-भ्रमण करते हुए गोपों के साथ बलभद्रजी और भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन किए ॥२१॥ राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण साँवरे स्वरूप थे, उनके श्री अङ्ग पर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है। कृष्ण के कंठ में वैजयंती माला लटक रही थी। श्रीमस्तक पर मयूर पंख का मुकुट धारण किया है। गेरूकादि धातुओं के रंगबेरंगी रङ्गो से और नवीन कोपलों से सुसज्जित नटवर वेष से मनोहर थे। अपने एक सखा के कन्धे पर एक हस्त रखकर दूसरे हस्त में लिए हुए कमल को नचा रहे थे। कानों में कमल पुष्प के अथवा कमलाकृति कुण्डल धारण किया है, दोनों कपोलों पर श्याम घुंघराली अलक लटें लटक रही हैं और मुख सरोज मन्द मन्द मुसकान की रेखा से प्रफुल्लित हो रहा हैं, ऐसे सुन्दर वर श्याम सुन्दर का दर्शन किया ॥ २२ ॥ राजन् परीक्षित्, पुनः पुनः श्रवण किये हुए प्रियतम श्रीकृष्ण के गुण-लीला रूप कर्णों के आभरण के रङ्ग से जिनका मन रञ्जित हो गया था, जिनका मन उनमें तल्लीन बना था, वे द्विज पत्नियाँ, भगवान् श्रीकृष्ण को समीप में उपस्थित देखकर निज नयन द्वार द्वारा हृदय में पधारकर, सुसुप्ति के साक्षी प्राज्ञपुरुष भगवत् स्वरूप का समालिङ्गन कर, जैसे अहंकार की समग्र वृत्तियाँ शान्त होकर आनन्दलीन हो जाती है, उसी तरह वे द्विज पत्नियाँ अपने ताप को दूर करके श्रीकृष्णचन्द्रजी के स्वरूप में लीन हो गई ॥ २३ ॥ राजन् ! श्रीश्याम सुन्दर भगवान् तो मर्मज्ञ धर्मज्ञ एव सर्वज्ञ है, वे जानते हैं कि श्रीद्विजाङ्गनाएँ निज परिवार एवं सर्वप्रकारकी आशाओं का त्यागकर केवल मेरे दर्शन की तीव्र लालसा से ही मेरे पास आयी है तब श्रीकृष्णजी ने उन द्विजपत्नियों से मुस्कराते हुए कहा कि ॥ २४ ॥

स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् । यन्नो दिदृक्षया [1]प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥
[2]नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः । अहैतुक्यव्यवहितां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥
प्राणबुद्धिमनः[3]स्वात्मदारापत्यधनादयः । यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः ॥२७॥
तद्[4] यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः । स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहमेधिनः ॥२८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे महाभागाः ? वः स्वागतम्, आस्यताम्, वः किम् करवाम, यत् नः दिदृक्षया प्राप्ताः (तत्) इदम् व हि उपपन्नम् ॥ २५ ॥ यथा स्वार्थदर्शनाः कुशलाः आत्मप्रिये यथा अहैतुकीम् अव्यवहिताम् भक्तिम् अद्धा ननु कुर्वन्ति ॥ २६ ॥ यत् सम्पर्कात् प्राणबुद्धिमनः स्व आत्मा दारागृह आदयः प्रियाः आसन् ततः कः नु अपरः प्रियः ॥ २७ ॥ हे ऋषिपत्न्यः ? तत् देवयजनम् यात, गृहमेधिनः द्विजातयः वः पतयः, युष्माभिः स्वसत्रम् पारयिष्यन्ति ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

हे महाभागाः व स्वागतं शुभमागमनम् । तदेवाह । यद्यस्मात्प्रतिबंधतिरस्कारेणास्माकं दिदृक्षया प्राप्ता इति । इदं व उत्पन्नं संपन्नं युक्तमिति वा ॥ २५ ॥ युक्तत्वमेवाह । नन्विति । आत्मप्रिये आत्मा चासौ प्रियश्च तस्मिन्मयि कुशला विवेकिनोऽत एव स्वस्यात्मनोर्थं पुरुषार्थं पश्यंति ये ते यथा यथावद्भक्तिं कुर्वन्ति । यथावत्त्वमाह । अद्धा साक्षात् । अत्र हेतुः । अहैतुक्यव्यवहितां फलाभिसंधिरहितामत एवाव्यवहितां निरंतराम् ॥ २६ ॥ आत्मनः सर्वतः श्रेष्ठत्वमुपपादयति । प्राणेति । स्वा ज्ञातयः आत्मा देहः एते सर्वे यत्संपर्काद्यस्याध्यासेनोपकरणत्वेन वा ॥ २७ ॥ तत्तस्मात्कृतार्था यूयं देवयजनं यज्ञवाटं यात गच्छत । ननु कृतार्थाः किमिति यास्याम इति चेत्तत्राह । पतय इति । पारयिष्यंति समापयिष्यंति । पतीनामनुग्रहायेत्यर्थः ॥ २८ ॥

१. याम्येता—गो. प्रे. टी.; दिदृक्षयायाता—वीर.; दिदृक्षयाऽभ्येताविज. । २. न श्रद्धामधिकुर्वन्ति कुशलार्थनिदर्शनाः—विज. । ३. स्वात्मदारा—विज. । ४. प्रयात साध्व्यो यजनं—विज ।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

संपन्नम् शोभनम्। स्वरुच्यनुरोधादशोभनमपि कामुकस्य व्यभिचारवच्छोभनं प्रतीयतेऽत आह - युक्तं वेति। यद्वा प्रतिबंधकोटीरपि तिरस्कृत्य मद्दर्शनार्थमागता अतो हे महाभागा एतद्व उपपन्नं, मम तु प्रत्युपकारासमर्थत्वान्न किमप्युपपन्नम्। किं करवाम ऋणी भवाम इति भावः ॥ २५ ॥ ननु निश्चये। अर्थम् परलोकहितम्। अत्र साक्षाद्भक्तो। अत एव फलाभिसंधिरहितत्वादेव। फलाभिसंधौ तु यावत्फलं क्रियते न निरंतरमिति भावः। 'अहमात्मा गुडाकेश' इति स्मृतेः, "आत्मा तदेतत्प्रे यः" इत्यादिश्रुतेः प्रियश्चाहमेवेति ॥ २६ ॥ यस्य आत्मनः। अनात्मन्यात्मत्वारोप आत्माध्यासः। विचारेणाध्यासनिवृत्तावप्युपकरणत्वनिवृत्तिर्न देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वित्युक्तेर्देहादेरुपकरणत्वम्। "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" इति श्रुतिरत्रानुसंधेया ॥ २७ ॥ यतो मद्भक्तास्तत्तस्माद्धेतोः। विप्रपत्न्यः शंकंते—नन्विति। इत्यर्थं इति। अग्निसाध्ये कर्मणि सपत्नीकस्यैवाधिकारादन्यथा कृतमप्यकृतं स्यादिति भावः। सत्रादिकर्मापि वेदरूपेण मयैवोक्तमतो मत्कार्यानुरोधादेव यात, तत्रैवस्कृतं मां द्रक्ष्यथेति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तथैव सादरमाह-स्वागतमिति। आस्यतां विश्राम्यतां ततश्च किं करवामेति आदिश्यतामित्यर्थः। तथाच करवामेति नोऽस्माकमिति च बहुत्वनिर्देशः साधारण्यापादनेन स्वैकनिष्ठताच्छादनार्थम् औदासीन्यार्थं च दिदृक्षयेति दर्शनाज्जातमिच्छान्तरं निरस्यति ॥ २५ ॥ तत्र तासां निजसङ्गतिप्राप्तीच्छां सम्प्रति वञ्चयन्नाह-नन्वद्धेति। अद्धा साक्षादेव विशुद्धामित्यर्थः। यतः अहैतुकीत्यादिना तत्र भक्तेर्यथावस्त्वमेवाह-अहैतुकीति। आत्मनः सकाशादपि प्रिये परमात्मत्वात् परमात्मत्वेन च मम निरन्तरयुष्मत्सङ्गित्वान्न सर्वप्रत्यक्षसङ्गायाग्रहः कर्त्तव्य इति भावः ॥ २६ ॥ परमात्मन एवात्मनः सकाशात् प्रियत्वं साधयति, प्राणेति। आत्मात्र जीवः यस्य मम परमात्मनः सम्पर्कात् आत्मनोपि मदंशत्वेनैव तथात्वादिति भावः ॥२७॥ तद्यात देवयजनमिति पाठस्तेषां सम्मतो लक्ष्यते तथैव पाठधारणात् तद्यात साध्व्यो यजनमिति तु पाठः प्रायः सर्वत्र स्वसत्रं स्वीयत्वात् अवश्यसमापनीयं स्वीयं सत्रं यज्ञं पारयिष्यति आरब्धं समापयिष्यन्ति स्वशब्देन अन्यथा कथञ्चित् परकीयमेव कारयितुमर्हन्ति न त्वात्मन इत्यर्थः। यतो गृहमेधिनः युष्माभिर्विना गार्हस्थ्याभावेन यज्ञानुपपत्तेः अत एव तदपेक्षया देवयजनं यातेत्युक्तं न च गृहानिति अतः श्रीभगवदाज्ञयैव तासां बहिर्मुखपतिपार्श्वे गमनं तथा च तदाज्ञा च सर्वसुहृत्त्वात् गोब्राह्मणहितत्वात् तासां सम्बन्धेनानुजिघृक्षुत्वाच्चेति ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

आस्यतां मदन्तिके विश्रम्यताम्, ततश्च किं करवामेति आदिश्यतामित्यर्थः। एतच्च कृपालुतयैवेति ज्ञेयम्, तथा करवामेति नोऽस्माकमिति च बहुत्वनिर्देशः, स्वस्य साधारण्यापादनेन लज्जया स्वैकनिष्ठताच्छादनार्थमौदासीन्यार्थं वा। यद्वा ता दास्यार्थमेवागताः, तच्चाग्रे व्यक्तमेव, तथापि दिदृक्षयेति ब्राह्मणीनां भावविशेषस्य सदसि लज्जया सम्वरणार्थम्, यद्वा, सदा तस्यैव दर्शनेच्छयेति स एव सूचितः। दिदृक्षयेति इच्छान्तरं निरस्यति, ब्राह्मणीत्वेनोपेक्ष्यत्वात्, यद्वा, दिदृक्षयापि, किं पुनः सर्व्वपरित्यागेन मदेकापेक्षया ॥ २५ ॥ ननु भूदेव्यः! निश्चितमिति वा, अद्धा साक्षादेव विशुद्धामित्यर्थः, यतः अहैतुकी, यद्वा, साक्षान्मयि न च गुणावतारादिषु। भक्तेर्यथावत्त्वमेवाह—अहैतुकी आत्मनः सकाशादपि प्रिये, परमात्मत्वात्। यद्वा, स्वार्थं दर्शयितुं शीलमस्येति स्वार्थदर्शी गुरुः, तस्मात् तदुपदेशाद्धेतोरित्यर्थः। अतएव अहैतुकीति। यद्वा, स्वार्थदर्शिनो जना यथा कुशलाः पतिव्रताः स्त्रिय आत्मप्रिये। अन्यत् समानम् ॥ २६ ॥ परमात्मत्वेन परमप्रियत्वं साधयितुं प्रथममात्मन एव प्रियत्वमाह—प्राणेति। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, परमात्मन एवात्मनः सकाशात् प्रियत्वं साधयति—प्राणेति। यस्य मम सम्पर्कात् समर्पणादि-सम्बन्धेनैव आसन् भवन्तीत्यर्थः। यद्वा, पूर्वेषां बभूवुः, आदिशब्दात् ज्ञातिबान्धवादयो गृहक्षेत्रपश्वादयश्च गृहीता एव ॥ २७ ॥ स्वकीयं सत्रं यज्ञं पारयिष्यन्ति, आरब्धं समापयिष्यन्ति। स्वशब्देन कथञ्चित् परकीयमेव कारयितुमर्हन्ति, न त्वात्मन इत्यर्थः। यतो गृहमेधिनः, युष्माभिर्विना गार्हस्थ्याभावेन यज्ञानुपपत्तेः। अतएव तदपेक्षया देवयजनं यातेत्युक्तम्, न च गृहमिति। 'तद्यात देवयजनम्' इति पाठस्तेषां सम्मतो लक्ष्यते, तथैव पाठधारणात्। ननु ते त्वदनादरादुपेक्ष्या एव, तत्राह—द्विजातयो ब्राह्मणा मद्भक्त्यातेऽवश्यम्मान्या इत्यर्थः। अतएव नृगोपाख्याने स्वयमेव वक्ष्यति (भा. १०।६४।४१)—विप्रं कृतागसमपि मैव द्रुह्यत मामकाः। घ्नन्तं बहु शपन्तं वा नमस्कुरुत नित्यशः ॥ इत्यादि ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

प्राणेति आत्मशब्दः शरीरपरः ॥ २७ ॥ सत्रं यागं पारयिष्यन्ति ॥ २८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवाह—स्वागतमित्यादिभिः पञ्चभिः। हे महाभागाः! अस्मदनुग्रहविषयतारूपमहाभाग्यशालिन्यः वः स्वागतं शोभनमागमनं भर्त्रादिभिरनिर्बद्धाः कुशलमागताः किं, आस्यताम् उपविश्यतां वो युष्माकं किं कार्यमत्रागमनप्रयोजनं किमिति प्रश्नः यदि

किञ्चिदस्ति तदवश्यं वयं करवाम सर्वज्ञत्वात्तदभिप्रेतं विज्ञाय तस्यौचित्यमाविष्करोति यदिति नोऽस्माकं दिदृक्षयाऽभ्यागता इति यत्तदिदं वो युष्माकम् उपपन्नम् उचितमेव ॥ २५ ॥ औचित्यमेवोपपादयति —नन्विति । ननु हे द्विजपत्न्यः कुशलाः आत्महिता-हितविवेकिनः स्वार्थदर्शनाः स्वप्रयोजनाभिज्ञा जना आत्मनः स्वस्मादपि प्रिये मय्यद्धा मय्येव अद्धेति स्फुटावधारणयोः अहैतुकीं फलाभिसन्धिरहितामप्यवहितामविच्छिन्नां भक्तिं विवेकिनो यथा मयि महानुभावा भक्तिं कुर्वन्ति तथा भवत्योपि कृतवत्य इति वार्थः कुर्वन्ति यथावत् कुर्वन्ति ॥ २६ ॥ आत्मप्रिय इत्येतदेव काक्वोपपादयति–प्राणेति । स्वात्मा स्वदेहः । स्वः जीवः आत्मा देहो वा प्राणादयो यत्सम्पर्काद्यत्सम्बन्धात्प्रिया भवन्ति ततः मत्तः प्रियोऽन्योऽस्ति कोनु न कोपि निरतिशयप्रियोहमेवेतीत्यम्भूते मय्य-हैतुक्यव्यवहिता भक्तिर्भवतीनामुचितैवेति तत्कारितामद्दिदृक्षोचितैवेति भावः । यत्सम्पर्कात्प्रिया इत्यनेन "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय" इत्यादि श्रुत्यर्थो विवक्षितः तदर्थस्तूक्तः पुरस्तात् ॥ २७ ॥ तत्तस्मादागमनप्रयोजनस्य मद्दर्श-नस्य जातत्वाद् देवयजनं सत्रवाटं गच्छत तं वो युष्माकं पतयो ब्राह्मणाः गृहमेधिनः गार्हस्थ्यधर्मपरायणाः युष्माभिरेव सहायभूताभिः स्वसत्रं पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति दम्पत्योः सहाधिकारादिति भावः ॥ २८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अभ्येताः अभ्यागताः यद्यस्मादिदं वः उपपन्नं युक्तम् ॥ २५ ॥ एवं कुशलं पुण्यमेवार्थः कुशलार्थस्तस्य नितरां दर्शनं येषां ते कुशलार्थनिदर्शनाः "अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते" इति वचनात् कुशला निपुणाश्च अर्थनिदर्शनाश्च ते तथा यद्वा, कुशलार्थो भगवान्निदर्शनमुदाहरणं येषां ते तथा कुशलाः स्वार्थदर्शना इति पाठः एते श्रद्धां विषयाभिलापं न कुर्वन्ति किन्तु आत्मप्रिये भगवति अहैतुकीं निर्निमित्ताम् अव्यवहितां निरन्तरीभूतां भगवद्भक्तिमधिकुर्वन्ति अधिकाङ्कुर्वन्ति कथमिव यथात्मप्रिये स्वभर्तरि भगवतीति शेषः । तथाशास्त्रविहितप्रकारेण "तदेतत्प्रेष्ठ" इति श्रुतेः । देहादिभ्योऽतिप्रियत्वं हरेरेवेति प्रतिपादयति–यद्वा, स्वार्थदर्शनाः स्वर्गादिफलार्थदृष्टयः कुशलाः यज्ञविद्यानिपुणाः अहैतुक्यव्यवहितां श्रद्धामास्तिक्यबुद्धिम् अत्याधिके ईश्वरे न कुर्वन्ति व्यतिरेकदृष्टान्तमाह—अहैतुकीति । भक्ता आत्मप्रिये मयि यथा भक्तिं कुर्वन्ति न तथेति ॥२६॥ तव सर्वस्मादाधिक्यं कुत इत्यत्राह–प्राणेति ॥ २७ ॥ यस्मादखण्डेश्वरे मयि भक्तिं कुर्वन्ति नान्यत्र तस्मात् मदाज्ञां कुरुतेत्याह —तदिति । मन्तव्ये निमित्तमाह—पतय इति' वः पतयः द्विजातय इति अतः कालक्षेपो नोचितः निमित्तान्तरमप्यस्तीत्याह—स्वसत्रमिति । पारयिष्यन्ति सम्पादयिष्यन्ति ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

किं तदित्याह–स्वागतमित्यादि बहुभिः । सुखेनागतम्; यद्वा, सुष्ठु आगतं यत्, तत् साधु । ममापि दिदृक्षासीत्, सान्यथा न घटत इति सु-शब्दस्यार्थः । आस्यतामुपविश्यताम् भवतीभिरित्यर्थः । किं करवाम, करवाणीत्यर्थे आत्मानं प्रति गौरवादेकत्वेऽपि बहुवचनम् । भवतीनामनुरागानुरूपं कर्तुं न शक्यत इत्यर्थः । यद् यस्मात् नो मम, पूर्ववत्बहुवचनम्, बहिरवहित्थया सामान्य-वन्निर्देशः । उपपन्नमिदं हि वः, युष्माकं तदुपपन्नमेव, सम्यग्दृष्ट एवाहम् ॥ २५ ॥ यद्दर्शनं तु भवतीनामुचितमेवेत्याह–नन्वित्यादि । ननु भो विप्रभार्याः ! कुशलाः साध्व्यः स्त्रियः स्वात्मदर्शिनः पुरुषाश्च मय्यहैतुक्यव्यवहितां भक्तिं कुर्वन्ति । कीदृशे ? आत्मप्रिये, यथा यथावत् । अहैतुकी च सा अव्यवहिता चेति कर्मधारयः पुंवद्भावाभाव आर्षः । अथवा, हैतुक्यां हेतुभावः, न तथा तत् तत्र व्यवहिता विशेषणावहिता; तदुचितैवेयं मयि वो भक्तिरिति भावः ॥ २६ ॥ इममेवार्थं विशदयति–प्राणबुद्धीत्यादि । यस्य मम सम्पर्कद्धेतोः प्राणादयः प्रिया आसन्, भवन्तीत्यर्थः । मत्सेवार्थमेव प्राणाः प्रिया भवन्ति । एवं बुद्ध्यः, एवं मनांसि, एवं स्वात्मानो देहाः, इति पुंसयोरेव दारापत्यादयः । पुंसां मत्सेवार्थममी दारा यदि भवन्ति, तदैव प्रियाः । अतो भवन्तीर्भर्तारो नाभ्यसूचयन्तीति भावः । एवमपत्यानि धनानि च । ततो मत्तः कोऽपरः स्त्रीणां वा पुंसां वा प्रियोऽस्ति ? न कोऽपि । प्राणादयो येऽस्मो सन्तीति वक्तव्यम्, ते मत्सम्पर्कादिवेत्युक्तमेव, तद्यदागतं तच्छोभनमेवेति पूर्वानुवादः ॥ २७ ॥ तस्माद्यदागतं तद् साध्वेव यदहञ्च दृष्टस्तदति साधुतरम्, योऽयं मय्यनुरागः स च साधुतमम् एव । अतः परं यातेत्याह—तद्देवयजनमित्यादि । हे द्विजातयः ! द्विजातिस्त्रीत्वात् पुंयोगेऽपि प्रकृतिरेव, ब्राह्मण्य इति स्वाभिप्रायं सम्बोधनम् । वो युष्माकं पतयः स्वसत्रं युष्माभिरेव पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति, यतो गृहमेधिनः ॥ २८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

स्वागतं सुष्ठु आगतम्, आगतं यत् तत् साधु; आस्यतामुपविश्यतामित्यर्थः । 'आस उपवेशने' इति प्रणयोक्तिः, किं कर-वाम, युष्माकमभीष्टं किमपि कर्त्तुं न शक्नुम इत्यर्थः । यद् यस्मात् नोऽस्मान् आत्मानं प्रति परमदुर्लभत्वेन बहुवचनं प्राप्ताः दिदृ-क्षया दर्शनेच्छयैव हेतुभूतया, न तु साधनान्तरैः, 'त्यक्त-सर्वाशाः' इति पूर्वश्लोकश्रुतत्वात् सर्वत्यागेनैव मां प्राप्ता इत्यर्थः । 'किं करवाम' इति यदुक्तम्, अस्यायं भावः—समुचितकरणाय न शक्नुम, यदिदानीं तन्नाभूदिति युष्माकमेवेदमुपपन्नं विदितम् । यद्वा,

वो युष्माकमिदमुपपन्नमिदं शरीरं ब्राह्मण-वंशे उपपन्नमुत्पन्नं, उपपन्नमुपपत्तिरिति वा भावेक्तः ॥ २५ ॥ भवतीभिर्यथा सर्वाणि परित्यज्य अहं प्राप्तः, तथा वयं वः प्राप्तुं न शक्नुमः, अतो मनसा यन्मां परिरब्धवत्यस्तदेव करणीयमित्याशयेनाह—नन्वद्धेत्यादि। ननु भोः कुशलाः स्त्रियः। आत्मप्रिये प्राणनाथे मयि भक्तिं रतिः कुर्वन्ति, अद्धा साक्षाद्, अपरोक्षेऽपि मयि यथा स्वार्थदर्शिनो जनाः परमार्थिनो भागवताः। भक्तिं विशिनष्टि—अहैतुक्येत्यादि। हैतुक्ये सोपाधिकत्वे व्यवहिता सा न तथेति, अहैतुक्यव्यवहिता ताम्। एतेन भवत्यः कुशला अभिज्ञा मयि भक्तिमेव कुर्वन्तं, अङ्गसङ्गस्तु मनसैव कार्यं इत्यर्थः ॥ २६ ॥ आत्मन आत्मप्रियत्वं दर्शयति—प्राणबुद्धीत्यादि। अतो मत्तो प्रियो नास्त्येव, युष्माभिः साधुकृतमायातम्, दृष्टश्चाहं मनसा परिरब्धः, अतः परं कृतार्था एव यूयम् ॥ २७ ॥ अतः परमत्र स्थित्वा प्रयोजनाभाव इत्याह—तद् मातेत्यादि। वो युष्माकं पतयः, न तु प्रियाः, प्रियत्वस्त्वहमेवेति भावः। स्वसत्रं पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति 'पारती समाप्तौ', इदमपि मयैवाम्नातम्, स्वाज्ञाभङ्गो मया न कार्यते ॥ २८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

रासाभिसारिणीर्गोपीरिव महाप्रेमवतीस्ता अप्याह—स्वागतमिति। वः शुभमेवागमनं यत् तस्मात् प्रतिबन्धकोटीरपि तिरस्कृतवत्या दिदृक्षया नः प्राप्ताः इदं व उपपन्नम् उपपद्यतेस्मैवेत्यर्थः। मम एतत् प्रत्युपकरणासामर्थ्यात् न किमप्युपपन्नमिति भावः। अतो वः किं करवाम केवलम् ऋणी भवामेत्यर्थः। अत एव महाभागाः मत्तोऽपि महाभागवत्यः आस्यतां क्षणमिहोपविश्यतां मद्दर्शनार्थमेवेत्यर्थः ॥ २५ ॥ परमप्रेमवतीनामपि तासां तदानीमेव मनोरथपूर्त्तिर्न रसपुष्टिं वहति रसपुष्ट्या च विना लीला न चमत्कर इत्यतो भगवतस्तत्प्रेमवश्यस्यापि तद्दर्शनोत्थया रत्या स्वाभियोगं कृतवतोपि मनस्यकस्मादेव लीलाशक्त्यैव स्फोरितमैश्वर्यं तासां स्वगृहं प्रति परावर्तने कारणमभूत् यद्यपि प्रायः प्रेमवज्जनसन्निधावैश्वर्यं नाविर्भविष्णु भवेत्तदपि लीलाशक्त्यावे विरहोत्कण्ठवर्द्धनया तासां प्रेमवर्द्धनार्थं चाविर्भवेदेव तद्भगवतो रत्याख्यं भावं शमयित्वा विवेकमुत्पादयामासेत्यतो भगवांस्तदनुकूलमेवाह—नन्विति द्वाभ्याम्। न केवलं मयि भवत्य एवासज्जन्ते किन्तु बहवोऽन्येपि मयि परमेश्वरे भक्तिं प्रीतिं कुर्वन्ति के ते कुशलाश्चतुराः चातुर्यमेवाह—स्वार्थदर्शिनः लोके हि स्वार्थसाधका एव चतुरा उच्यन्त इति भावः। अहैतुकीं लीयफलाभिसन्धिरहिताम् च अव्यवहिता प्रीतिव्यवधायकज्ञानकर्मादिरत्वन्तरशून्या च ताम् यत्र दृष्टान्तः आत्मप्रिये देहापत्यादौ यथा ॥ २६ ॥ बुद्धिप्रवेशार्थमेव दृष्टान्तो दर्शितः वस्तुतस्तु दृष्टान्ताद् हादेः सकाशादपि दार्ष्टान्तिकः परमात्माहमतिप्रिय एवेति युक्त्या संबोधयति—प्राणेति। स्वं देहः आत्मा जीवः यस्य परमात्मनः सम्पर्कात् सम्बन्धात् ततः परमात्मनः ॥ २७ ॥ यस्मात् स च परमात्मा अहमेव युष्माभिर्गर्गादिमुखात् श्रुत एव युष्मदङ्गान्याश्लिस्य सदा वर्त्त एव तत्तस्मात् देवयजनं यज्ञवाटं यात। ननु तदापि साक्षान्मूर्त्तं परमात्मानं त्वां हित्वा कथं गृहं यामस्तत्राह—पतय इति। पारयिष्यन्ति युष्माभिः सहैव समापयिष्यन्ति सत्रादिकर्मापि वेदरूपेण मयैवोक्तमिति मत्कार्यानुरोधादेव यात तत्रैव स्फुरन्तं मूर्त्तं मां द्रक्ष्यथेति भावः ॥ २८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वः युष्माकं स्वागतं शुभमागमनं जातम् ॥ २५ ॥ उपपन्नमिदं हि व इत्युक्तं तदुपपादयति—ननु, हे सत्यः! आत्मनि प्रिये मयि ये यथावद्भक्तिं कुर्वन्ति ते एव कुशलाः स्वार्थदर्शिनश्च यथावत्त्वमाह—अद्धा स्फुटमिति। अहैतुक्यव्यवहितामिति च अहैतुकीं मत्प्रीतीतरप्रयोजनरहिताम् अव्यवहितामविच्छिन्नाम् ॥ २६ ॥ आत्मप्रियत्वयात्मनः प्रपञ्चयति—प्राणेति। स्वः स्वं जीव आत्मा देहः यत् यस्य मम सम्पर्कात्प्रियाः आसन् ततो मत्तः परोऽन्यः को भवति न कोऽपीत्यर्थः ॥ २७ ॥ तत्तस्माद्भवतीनां कृतार्थत्वात् याम गच्छत पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति ॥ २८ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गोपीरिव महाप्रेमवतीस्ता अप्याह—स्वागतमिति। हे महाभागाः वः स्वागतं शुभमागमनं यत् सुदुस्त्यजपत्यादितिरस्कारेण नो दिदृक्षयात्र प्राप्तास्तदिदं व उपपन्नं युक्तं इहास्यतामस्मद्दर्शनार्थं क्षणमुपविश्यतां वयं किं करवाम तदादिश्यताम् ॥ २५ ॥ इह करवामेति न इति च बहुत्वेन निर्देशः स्वैकनिष्ठाच्छादनार्थमौदासीन्यार्थश्च दिदृक्षयेति दर्शनजामन्येच्छां निवारयितुम् ॥ २५ ॥ युक्तत्वं स्फुटयति—नन्विति। कुशला विवेकिनोऽत एव स्वार्थज्ञा मय्येवाद्धा साक्षाद्भक्तिं कुर्वन्ति अहैतुकीं फलानुसन्धिरहिताम् एवाव्यवहितां निरन्तरां यथा रागिण आत्मप्रिये स्वातिवल्लभे विषयानन्दे प्रीतिं कुर्वन्ति तद्वत् ॥ २६ ॥ धीप्रवेशाय दृष्टान्तः स्थूलो दर्शितः वस्तुतस्तु ततोपि विशुद्धत्वादमितत्वाच्चानन्दमयोऽहमति प्रिय इति बोधयति—प्राणेति। स्वः देह आत्मा जीवः यस्य मे सम्पर्कादानुकूल्येनोपस्थापनात् सम्बन्धादित्यर्थः। प्राणादिषु प्रियत्व हेत्वानुकूल्य सम्पादकोऽहमेवाति प्रियइति भावः ॥ २७ ॥ तत् तस्मान्मदनुरागात् कृतार्था यूयं देवयजनं यज्ञस्थानं यात ननु कृतार्थाः किमिति यामस्तत्राह वः पतयो गृहमेधिनो युष्माभिर्गार्हस्थ्यहेतुभिः सहैव सत्रं पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्तीति पतीनुपकुरुत सत्रादीनां कर्मणां वेदवपुषामयैवाम्नातत्वान्मत्कार्यानुरोधात् यात तत्रैव स्फुरन्त मां द्रक्ष्यथेति भावः ॥ २८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे महाभागा व आगतं स्वागतमास्यतां किं करवाम यन्नो दिदृक्षयाऽभ्येता अभि आङ् । एतत्पूर्व इण् धातुः । सम्मुखं सम्यगायाता अभि भर्त्रादींस्तिरस्कृत्यादरेणायाता इति वा । अभिप्रेयस इति काठकविवृतावभिरवज्ञानार्थक इत्युक्तेः । इदं हि व उपपन्नं युक्तम् ॥ २५ ॥ नन्वद्धा मयि कुर्वन्तीति सरलः पाठः । कुशलार्थनिदर्शना नित्यक्षेमवानर्थो मोक्षस्तस्यापि निदर्शनं दर्शममनुसन्धानं भवत्विति तन्न विद्यते येषामधिकारिणां ते तथा मय्यद्धा सर्वत्यागेनेति सम्यगहैतुक्यव्यवहिताम् । विशेषणयोरेव समासः । हैतुकी फलादिनिमित्ता यत्ता सः नेत्यहैतुकी सा च सा व्यवहिताऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धेति निर्व्यवधाना तां भक्तिमात्मप्रिये स्वदेहादौ यथा तथा कुर्वन्ति । आन्तरङ्गिको भावस्तु पत्याविति । न श्रद्धामाधिकुर्वन्तीति पाठे श्रद्धां विषयेषु नाधिकुर्वन्ति व्यतिरेकनिदर्शनं वेति पूर्वे । कुशलाः स्वार्थदर्शना इति पाठः स्फुटार्थः ॥ २६ ॥ आत्मप्रिय इत्युक्तं वितस्य वक्ति । तत्रापि न देहादिकं स्वतन्त्रं प्रीतिहेतुः किन्तु मत्सन्निधेरतः सर्वप्रेयानहमितीदमुपपन्नमित्याह ॥ प्राणबुद्धीति । प्राणाः पञ्च बुद्धिर्मनः खानीतराणीन्द्रियाण्यात्मा स्वयं देहोऽपत्यानि च धनादयश्च यत्सम्पर्कात्प्रियास्ततो मत्तोऽपरः प्रियः को नु न कोऽपीति युक्तं कृतम् ॥ २७ ॥ यस्मान्मदाज्ञा नावज्ञेया तत्तस्मात् हे साध्व्यो यजनं यातः वः पतयो द्विजातयो गृहमेधिनस्तदादिकमेव प्रियमिति मेधावन्तो वहिर्मुखादिबहिर्मुखा न मन्निष्ठा अतोऽन्नं न ददुरिति कटाक्षयति हरिरनेनेति ज्ञेयम् । अन्यथा वः पतय इत्यनेन गृहस्थत्वलाभादिदमतिरिक्तं स्यादिति मन्तव्यम् । युष्माभिः सह स्वसत्रं पारयिष्यन्तीति यत्तद्यातेति वा ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतो वाक्यमाह स्वागतमितिचतुर्भिः,

पूर्वानुवादस्तत्रैव उपपत्तिश्च तद्विधाम् । मर्यादायां प्रवेशश्च ततो गन्तव्यबोधनम् ॥ १ ॥

आदौ जातमनुवदति लौकिकन्यायेन वो युष्माकं स्वागतं सुष्ठागमनं जातमितिकुशलप्रश्नः, वाह्यं तु देयं किमपि नावशिष्यत इत्याह महाभागा इति. महत्त्वमान्तमपि भाग्यं सूचयति तेन सर्वसमृद्धिः साक्षात्कारश्च सिद्धो निरूपितः, समागतानां खेदाभावायाहास्यतामिति, उद्देश्यमर्थं पृच्छति करवाम किमिति. अनेनासङ्ग्रहे सङ्ग्रहः कारणीयोन्ते च शुद्धा गतिः, तद् वक्ष्यति 'यज्ञपत्न्यस्तथापर' इति. वैष्णवैः सह सङ्गश्च, अतस्तेषां याज्ञिकानां ज्ञानं ततः शुद्धानां समागमने सर्वथैव प्रपत्तिः स्यात् तदा तद्द्वारा एता अप्यन्यथा भवेयुरतो यावद् युक्तं तावत् करिष्याम इत्याह. ननु नाधिकं किञ्चित् कर्तव्यं किन्तु द्रष्टुमेवागता इति चेत् तत्राह यन् नोऽस्माकं दिदृक्षया समागतास्तदुपपन्नं व इतिबहुवचनेन केवलो भावो निवारितः, अत आहोपपन्नमिदं हि व इति, सर्वसामग्रीसहितो भगवान् द्रष्टव्य इति ॥ २५ ॥ ननु मर्यादायां ज्ञानमार्गे चेतद् भवत्यस्माकं तु प्रेमाधिकमस्तीति कथमेतावन्मात्रत्वं युक्तं तत्राह नन्वद्धेति, नन्विति कोमलसम्बोधने स्नेहोपि मर्यादायामेव युक्तोत एवाद्धा साक्षात् न तु कामनार्थं भक्ति कुर्वन्ति, मयीत्यनेनात्मता निरूपिता, एकवचनेनान्ये व्यावर्तिताः कुर्वन्तीति नेदमपूर्वं किन्तु परम्परयैव तत् सिद्धं यतस्ते कुशलाः सर्वाणि साधनान्यनेन प्रकारेणानायासेन सिद्धानि भवन्ति फलं च, किञ्च स्वार्थकुशलास्तेन्यत् सर्वमिन्द्रियादिगामि भवतीदमेव परमात्मगामीति यावन् न भगवति प्रेम तावन् नात्मनि तत एव तत्रायातीति यावन् नात्मनि स्नेहस्तावदन्यरागो न गच्छत्यतस्ते स्वार्थदर्शिनः, अत एवाहैतुकीमव्यवहितां देहेन्द्रियादिभिर्व्यवधानम गतां भक्ति प्रेमलक्षणां यथात्मनि प्रीतिविषये कुर्वन्ति तथैव कुर्वन्ति ज्ञानिनामात्मा दृष्टान्तस्तनोग्रिमकक्षाभावाल् लोके स्वस्य प्रीतिविषये भर्त्रादौ, लोके हि पदार्थो ज्ञानार्थं सिद्ध इति ।२६। एतदुपपादयति प्राणेति, प्राणादयः सर्वे आत्मसम्बन्धान् प्रिया आत्मापि परमात्मसम्बन्धात् परमानन्दो ह्यात्मरूपः प्रियो न केवलमात्मनः प्रियत्वं नाप्यानन्दस्य परानन्दे दुःखत्वभावे च व्यभिचारात्ततः प्राणादिषु स्नेह औपाधिकः सहजो मयि, अतः को वापरः प्रियो भवेत् ? प्राणा इन्द्रियाणि प्राणाश्च बुद्धिर्मनोनियामिका मनश्च स्वं शरीरं धनादिकं वात्मा देह आत्मैव वा दाराः स्त्रियोपत्यानि पुत्रा धनं पश्वादयो यावत्किञ्चिदात्मसम्बन्धि यस्यात्मनो मम सम्बन्धात् प्रिया आसंस्ततो मत्तो न्विति वितर्के को वा प्रियः स्यात् ? अपरश्च नियम्यस्त्वप्रियो भवति ॥ २७ ॥ अतः कार्यस्य सिद्धत्वाद् गृहं यातेत्याह तद् यातेति, यद्यप्यहमात्मा तथापि वहीरमणे बुद्धिरन्यथा भविष्यतीति न तत् कर्तव्यं यतो भवत्यः साध्व्यः पतिव्रताः संस्कारैश्च संस्कृता अतो देवयजनं यात, किञ्च वो युष्माकं पतयो द्विजातयो ब्राह्मणजातीया अतः सम्बन्धनाशे यज्ञो न सिध्येदतस्ते स्वसत्रं युष्माभिः कृत्वा पारयिष्यन्ति पारं नेष्यन्ति यतो गृहमेधिनो गृहस्था भार्यासहिता एव कर्माधिकारिणस्तस्मात् कार्यस्य सिद्धत्वात् स्वरक्षासम्भवात् परोपकारात् तेषां च जातियज्ञगार्हस्थ्यसम्पादकत्वाद् गन्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नन्वद्धा मयीत्यत्र, यावन्न भगवति प्रेमेत्यादि । अत्रायं भावः । भक्तिमार्गे स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वं भगवत एवेति निरुपधिस्नेहस्तद्विषयक एव भवति । तदुपयोगित्वेन स्वात्मादेः परं तथात्वमिति वस्तुस्थितिः । अत एव 'यह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं

जह्यामसू'निति महिषीवचनं गीयते। एवं यथा विषयिणामात्माध्यासप्रयुक्तस्नेहविषयस्त्वेषु देहेन्द्रियादिषु स्वात्माज्ञानेपि परमस्नेहः, तथा भगवत्स्नेहरहितानामपि मुमुक्षूणां विषयवैराग्यमिति ज्ञेयम् ॥ २६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नन्वद्धेत्यस्य टिप्पण्यां एवं सतीति भक्तिमार्गे भगवति स्नेहात् तदुपहिते आत्मनि स्नेहः तेनान्यरागाभावः सम्भवति, मुमुक्षोस्तु भगवति स्नेहाभावात् तदुपहिते आत्मनि कथं स्नेहः सेत्स्यति, तथा च वैराग्यमपि कथं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह यथेति, यथा विषयिणामात्मनो अज्ञानेन तत्र स्नेहाभावेपि तदुपहिते देहादौ स्नेहः तथा मुमुक्षूणां भगवति स्नेहाभावेपि तदुपहिते आत्मनि स्नेहस्तेन विषयाणामात्मनाशकत्वात् तत्र वैराग्यं विषयिणां देहोपघातके द्वेषवदित्यर्थः, तथा चोपहितज्ञानमेव स्नेहे हेतुस्तथापि मूलास्पर्शात् तद् वैराग्यं दृढं न भवतीत्याशयेन सुबोधिन्यां तथोक्तमत एव भरतस्य पुनर्विषयासक्तिरितिभावः, सुबोधिन्यां, भर्तादाविति आत्मा दृष्टान्त इतिशेषः, ज्ञानार्थमिति दृष्टान्तेनालौकिकज्ञानार्थमित्यर्थः, अत एव "न वा अरे पत्युः कामाये"त्यादिना पत्यादिदृष्टान्तेनात्मा बोधित इति लोके हीति हिशब्दः ॥ २६ ॥ अपरश्चेति परो नियामकः न परो नियम्य इत्यर्थः, अन्यस्त्वेतादृशः, अतोऽप्रियो भवतीत्यर्थः ॥ २७ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नन्वद्धा मयीत्यत्र मयीत्यनेनात्मतेति "अहमात्मात्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रिय" इति तृतीयस्कन्धे ब्रह्माणं प्रति भगवद्वाक्यात्, यावन् न भगवति प्रेमेत्यादीनानर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ २७ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

स्वागतं वो महाभागा इत्यादि श्लोकचतुष्टयवाक्यार्थानाहुः पूर्वानुवाद इति का० २०५½। एकेन पूर्वानुवादः, द्वाभ्यामुपपत्तिः, "तद्यात साध्व्यो यजन"मित्येकेन गन्तव्यबोधनं, अतो विप्रपत्नीनां मर्यादायां प्रवेशो बोधितः ॥ २५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

भगवद्वचनमाह—स्वागतमिति चतुर्भिः। स्वभक्त्या तासां भाग्यमभिनन्दन् सम्बोधयति–महाभागा इति। वो युष्माकं स्वागतं शुभागमनम्, आस्यताम् अत्र क्षणं विश्राम्यताम्, अन्यच्च युष्माकं कार्यं वयं किं करवाम तदुच्यताम्। आगमनस्य शुभत्वे हेतुमाह–यदिति। हि यस्मात् यत् नोऽस्माकं दिदृक्षया प्राप्तास्तदिदं वो युष्माकमुपपन्नं युक्तमेव ॥ २५ ॥ युक्तत्वमेवोपपादयति–नन्विति। ननु निश्चितमेतत्, नात्र सन्देहः। कुशला निपुणा मयि अद्धा साक्षादेव भक्तिं प्रीतिं कुर्वन्तीत्यन्वयः। 'के ते कुशला' इत्यपेक्षायां तानाह–स्वार्थदर्शना इति। स्वस्यात्मनोऽर्थं फलं पश्यन्ति ते। लोकेऽप्येवंविधानामेव नैपुण्यं प्रसिद्धम्। भक्तेः साक्षात्त्वमेव स्पष्टयति–अहैतुकव्यवहितामिति। अहैतुकीं फलाभिसन्धिरहिताम्, अव्यवहितां निरन्तराम्। ननु "अन्यस्मिंस्त्वय्येवं निरुपाधिकी भक्तिः कथं स्यात्' इत्याशङ्क्य स्वस्य सर्वात्माभेदमभिप्रेत्य दृष्टान्तमाह- आत्मा चासौ प्रियश्च तस्मिन् यथेति ॥ २६ ॥ आत्मनः सर्वतः प्रेष्ठत्वमुपपादयति—प्राणेति। प्राणादयो यस्यात्मनः सम्पर्कात् सम्बन्धादेव प्रिया आसंस्ततः सकाशादपरः को नु प्रियः स्यादित्यन्वयः। स्वाः ज्ञातयः, आत्मा देहः ॥ २७ ॥ तत् तस्मान् मद्दर्शनं भक्त्यादिना कृतार्थत्वाद्यूयं देवयजनं यज्ञवाटं यात गच्छत। ननु 'कृतार्था वयं किमर्थं गच्छामः' इत्याशङ्क्याह पतय इति। वो युष्माकं पतयो युष्माभिस्तत्र गताभिः सह स्वसत्रं पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्तीति पतीनामुपकाराय गच्छतेत्यर्थः। सहसत्रपारणे हेतुमाह–द्विजातयो गृहमेधिन इति। द्विजातीनां गृहस्थानां भार्यासाहित्येनैव कर्मस्वधिकारादित्याशयः ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स्वागतमिति ॥ हे महाभागाः! वो युष्माकं स्वागतं शुभागमनम्। आस्यतामत्र क्षणं विश्रम्यताम्। अन्यच्च युष्माकं कार्यं वयं किं करवाम तदुच्यताम्। हि यस्मात् प्रतिबन्धतिरस्कारेण यत् नोऽस्माकं दिदृक्षया प्राप्तास्तदिदं वो युष्माकमुपपन्नं युक्तमेव ॥ २५ ॥ नन्विति ॥ ननु निश्चितम् ये स्वार्थं सम्यक् पश्यन्ति ते कुशला निपुणाः आत्मा चासौ प्रियश्च तस्मिन् मयि यथा यथोचितम् अद्धा साक्षादेव अहैतुकी चासावव्यवहिता चेति फलेच्छारहितामन्तररहितां च। "न कोपधायाः" इति पुंवद्भावाभावः। भक्तिं कुर्वन्ति। केचित्तु आत्मप्रिये पुत्रमित्रादौ यथेति दृष्टान्तत्वेन व्याचक्षते ॥ २६ ॥ आत्मनः सर्वतः श्रेष्ठत्वमुपपादयति–प्राणेति ॥ प्राणादयः यस्यात्मनः सम्पर्कात् अध्याससंबन्धादेव प्रिया आसंस्ततः सकाशादपरः को नु प्रियः स्यात्। स्वाः ज्ञातयः आत्मा देहः ॥ २७ ॥ तदिति ॥ तत् तस्माद्यूयं देवयजनं यज्ञवाटं यात गच्छत। द्विजातयः गृहमेधिनः वो युष्माकं पतयो युष्माभिस्तत्र गताभिः सह स्वसत्रं पारयिष्यन्ति समापयिष्यन्ति। अतस्तदनुग्रहाय मदनुरोधेनैव यात। युष्मान् विना तेषामधिकाराभावात् ।२८।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

हे महाभागाः वः स्वागतं शोभनमागमनं । कुतः यतोनोऽस्मान् द्रष्टुमिच्छया प्राप्ताः इदमागमनं वो युष्माकं उपपन्नं उचितम् ॥२५॥ तदेव योग्यत्वमाह नन्विति स्वार्थदर्शनाः स्वस्यार्थमक्षरधामनि दिव्यविग्रहेण हरिसेवकत्वरूपं प्रयोजनं पश्यंतीति तथाभूताः विवेकिनः मयि परमेश्वरे अहैतुकीफलाऽनुसंधानहीना अतएव अव्यवहिता विघ्नेनापहता सा चासौ सा च तां कुर्वन्ति अत्र दृष्टांतः अञ्जा यथा आत्मनो मनसः प्रिये स्वस्य देहे दैहिके पुत्रधनकलत्रादौ च दृढां प्रीतिं कुर्वन्ति तथा ॥ २६ ॥ संप्रति स्वस्य सर्वश्रेष्ठत्वमाह प्राणेति स्वज्ञातिः आत्मा देहः एते प्राणादयः यत्संपर्कात् यस्यांतर्यामिशक्त्या सर्वत्र स्थितस्य श्रीकृष्णस्य संबंधात् जनानां प्रियाः आसन् बभूवुः । ततो मत्तः कृष्णादपरोऽन्यः प्रियः प्रेमास्पदः कोऽस्ति न कोपीत्यर्थः । अतो मय्येव स्नेहो विधेय इति भावः ॥ २७ ॥ तत्तस्मान्मद्दर्शनेन कृतार्थाः यूयं देवयजनं यज्ञस्थानं यात प्रयात पतीननाहृत्यागता वयं किमर्थं तत्र गच्छाम इत्याशंकायामाह वः पतयः युष्माभिः कृत्वा स्वयज्ञं पारयिष्यंति समापयिष्यंति ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेवाह पञ्चभिः ॥ स्वागतमिति ॥ हे महाभागाः अस्मदनुग्रहविषयतारूपमहाभाग्यशालिन्यः, वो युष्माकं, स्वागतं शोभनमागमनं, भर्त्रादिभिरनिर्बद्धाः सत्यः कुशलमागताः किमित्यर्थः । आस्यतामुपविश्यताम् । वो युष्माकं, किं कार्यं अत्रागमनप्रयोजनं किमिति प्रश्नः । करवाम, यदि किंचित् कार्यमस्ति तद्वयमवश्यं करवामेत्यर्थः । सर्वज्ञत्वात्तदभिप्रेतं विज्ञाय तस्यौचित्यमाविष्करोति यदिति । नोऽस्माकं, दिदृक्षया प्राप्ताः अभ्यागताः यत्, तदिदं, वः उपपन्नं युष्माकमुचितमेव हि ॥ २५ ॥ औचित्यमेवोपपादयति ॥ नन्विति ॥ ननु हे द्विजपत्न्यः, कुशला आत्महिताहितविवेकिनः, स्वार्थदर्शनाः स्वप्रयोजनाभिज्ञाः, आत्मप्रिये स्वात्मनोऽप्यतिप्रिये, मयि अद्धा मय्येव, अद्धेति स्फुटावधारणयोः । अहैतुकी फलाभिसंधिरहिता सा चासावव्यवहिताऽविच्छिन्ना तां, भक्तिं यथा यथावदेव, कुर्वन्ति ॥ २६ ॥ आत्मप्रिये इत्येतदेव कात्स्न्योपपादयति ॥ प्राणेति ॥ प्राणाश्च बुद्धिश्च मनश्च स्वा ज्ञातयश्च आत्मा देहश्च दाराः स्त्री च अपत्यानि च धनानि च आदयो येषां गृहक्षेत्रादीनां ते, यत्संपर्कात्यत्संबन्धात्, प्रियाः आसन्, ततो मत्तः, अपरोऽन्यः, को नु प्रियः, न कोऽपि यत्संपर्कादित्यनेन 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय' इत्यादिश्रुतेरर्थोऽनेन विवक्षितः तदर्थस्तूक्तः प्राक् ॥ २७ ॥ तदिति ॥ हे साध्व्यः, तत्तस्मात्, आगमनप्रयोजनस्य मद्दर्शनस्य जातत्वादेवेत्यर्थः देवयजनं सत्रवाटं, यात गच्छत । वो युष्माकं पतयः, द्विजातयो ब्राह्मणाः, यतः गृहमेधिनः गार्हस्थ्यधर्मपरायणाः, सन्ति । अतः युष्माभिरेव सहायभूताभिः, स्वसत्रं पारयिष्यन्ति संपादयिष्यन्ति । दंपत्योः सहाधिकारात् पतीनामनुग्रहाय यातेति भावः ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

स्वागतमिति : १०.२३.२५.

अहं भक्तप्रियो भक्ताभ्यर्थी भक्तैकवल्लभः । यूयमप्यतिभक्तास्तद् ब्रूतेष्टं किं ददामि वः ॥ ५७ ॥

नन्वद्धेति : १०.२३.२६.

उपदेष्टुं तदा तासां भक्तिमव्यभिचारिणीम् । तदीयेष्वात्मनो वासं वक्तुं चक्रे स्ववर्णनम् ॥ ५८ ॥

तद्यातेति : १०.२३.२८.

न बुद्धिभेदं जनयेदित्युक्तिं स्वां स्मरन् प्रभुः । तद्यज्ञपूर्तिमन्विच्छन्नवोचद् व्रजताध्वरम् ॥ ५९ ॥

कृष्णप्रिया

हे बड़भागिनियाँ, हे द्विजपत्नियाँ! आप का हार्दिक स्वागत हो, आईए यहाँ विराजिए आप बताईए मैं आप का क्या सत्कार करूँ? यदि आप सब मेरे दर्शन के लिये आयी हो तब तो आपने बहुत अच्छा किया। मेरे दर्शन के लिये आना सर्वथा समुचित ही है। आपने योग्य ही किया है ॥ २५ ॥ भगवान ने कहा कि हे विप्रपत्नियाँ! इस विषय में सन्देह नहीं कि, इस जगत में अपने सच्चे स्वार्थ-हित को जानन वाले जो कुशल-विचक्षण पुरुष हैं वे अपने प्रेम के परम अधिष्ठान मुझमें निष्काम और देह-इन्द्रियादि के आवरण-सम्बन्ध से रहित निर्विकार भाव से अनन्य भक्ति करते हैं ॥ २६ ॥ प्राण, बुद्धि, मन अपनी आत्मा देह, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन आदि सर्व पदार्थ मेरे नाते से प्रिय लगते हैं। इसलिए मुझसे अधिक कोई दूसरा प्यारा नहीं है ॥२७॥ आप यहाँ आयी वह योग्य किया। मेरा दर्शन हो गया। अब आप देवयजन स्थान में पधारिये। आपके पतिदेव द्विजवर वे गृहयज्ञ यानी आहिताग्नि है। वे आपके सान्निध्य से ही यज्ञ पूर्ण कर सकते हैं ॥ २८ ॥

पत्न्य ऊचुः

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।
प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुम[1]तिलङ्घ्य समस्तबन्धून् ॥ २९ ॥
गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।
[2]तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि ॥ ३० ॥

श्रीभगवानुवाच

पतयो [3]नाभ्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः । लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥ ३१ ॥
न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह । तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ[4] ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे विभो ! भवान् ! एवम् नृशंसम् गदितुम् मा अर्हति, तव निगमम् सत्यम् कुरुष्व, समस्तबन्धून् अतिलङ्घ्य वयम् पदावसृष्टम् तुलसीदामकेशैः निवोढुम् प्राप्ताः ॥ २९ ॥ हे अरिन्दम !, नः पतयः, पितरौ, वा सुताः न गृह्णन्ति, भ्रातृबन्धुसुहृदः न गृह्णन्ति, च अन्ये कुत एव गृहिष्यन्ति, हे अरिन्दम ! तस्मात् भवत् प्रपदयोः, पतित आत्मनाम् अन्या गतिः न भवेत्, (अतः) तद् विधेहि ॥ ३० ॥ हे ऋषिपत्न्यः ?, पतयः पितृभ्रातृ सुत आदयः, च लोकाः, न अभ्यसूयेरन्, मया उपेताः, (वः भवतीः) देवाः अपि, अनुमन्वते ॥ ३१ ॥ इह, अङ्गसङ्गः, नृणाम् प्रीतये न, अनुरागाय न, (भवति) तत् मयि मनः युञ्जानाः माम् अचिरात् अवाप्स्यथ ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

नृशंसं परुषम् । निगमं प्रतिज्ञां 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इति वेदं वा 'न स पुनरावर्तते' इति । पदावसृष्टमवज्ञयापि दत्तम् । बहुमानेन केशैर्निवोढुं दासीभवितुम् ॥ २९ ॥ किं च । न गृह्णंति नोऽस्मान् । हे अरिंदम कामलोभपापादिदमन भवतः प्रपदयोः पादाग्रयोः पतितदेहानामन्या स्वर्गादिमतिरपि न भवेत्मा भक्तस्तस्माद्दास्यमेव विधेहीति ॥ ३० ॥ मयोपेता अनुज्ञाताः। प्रत्यक्षं देवान्प्रदर्श्याह । देवा अपीति ॥ ३१ ॥ तथापि त्वां त्यक्तुं न शक्नुम इति चेत्तत्राह । नेति । प्रीतये सुखाय । अनुरागाय स्नेहवृद्धये । अंगसंगो गाभ्यां संगः ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

"नृशंसः कठिने क्रूरे हिंसके नरशंसके" इति निरुक्तिकारः । 'निगमो वेदवैश्ययोः । प्रतिज्ञाने नागरे च' इति धरणिदेवः। न प्रणश्यति अदृश्यो न भवतीत्यर्थः । यः परमेशं प्राप्तः स पुनः संसारे नायातीत्यर्थः । दास्यो हि यथाकथंचिद्दत्तमप्यादरेण गृह्णंतीति भावः । ननु भवतीभिर्विप्रजात्यभिमानो दुस्त्यजस्तत्राहुः --तव गोपरूपस्यापि पादमूलं वयं प्राप्ताः, न हि विप्रजात्यभिमाने सत्येवं वक्तुं शक्यते । अस्मद्वाक्येनैव निश्चिनु, सत्यम् तदपि गोपस्य मम गोप्य एव दास्यो योग्या यूयं ब्राह्मण्यो वंद्या एव, तत्राहुः—यदि ब्राह्मणीदासीकर्त्तुं जिह्रेषि कथं तर्हि त्वां ह्रेपयामस्त्वत्पुरो नैव यामः, वृंदावन एव वनदेवता इव वर्तिष्यामहे त्वत्संबंधगंधेनैव कृतार्थीभविष्याम इत्याहुः—वयं तु दूरे स्थितास्त्वत्पदावसृष्टं त्वत्प्रेयसीपदसंसर्गात् त्रुटितं शय्यार्धस्थितं त्वद्दासीदत्तं तुलसीदाम केशैर्धर्तुं प्राप्ताः, नास्माकं दुर्लभदास्येपोच्छेति भावः । निवोढुम् धर्त्तुम् । अतिलंघ्य त्यक्त्वा ॥ २९ ॥ताननाहत्येहागतास्ते पुनर्नं स्वीकुर्वंतीत्याहुः—किञ्चेति । अन्ये संबंधीतरे । संबंधित्यक्तमितरे स्वत एव त्यजंतीति तात्पर्यम् । यतोऽस्माकमन्या गतिर्नाकांक्षिता तस्मात् । तत् दास्यम् । किं च, त्वन्नगरस्थमालिकतांबूलिकादिवनिताजनास्याच्छ्रुतत्वद्रूपगुणमाधुर्य्या यदवधि वयं वयस्संधिमारभ्यैवाभूम, तद्दिनत एव त्वत्प्रेमवतीगृंहकर्मंस्वप्युदासीना अस्मान्व्यभिचारिणीरिव दृष्ट्वा संदिहानाः पत्यादयो नैव प्रायो व्यवहरंतीत्याहुः गृह्णन्तीति । सुताः सपत्नीपुत्राः । अन्ये प्रतिवेश्यादयः । ततश्चातिवैयग्र्येण रुदत्यः पदाग्रे मूर्ध्ना प्रणमत्यः ससगद्गदमाहुः--तस्मादिति । अस्माकं यथान्यागतिर्न भवेत्तथा विधेहि । हे अरिंदम त्वत्प्राप्तिप्रतिबंधकीभूता दुरितादय एवारः

---

१. निरोद्धुमभिलङ्घ्य–गो. प्रे. टी. । २. तस्मात्प्रसीदपदयोः–विज. । ३. न ह्यभ्य–गो. प्रे. टी. ; नाभ्यसुयेरन्नित्यं भ्रा०–विज. ।
४. एतदग्रे—

"श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥ १ ॥
अयं श्लोकोऽधिकः वीर. पाठे।

यस्तानन्दमय कृपया त्वमेवेति भावः ॥३०॥ लोकाः संबंधिभिन्नाः। निजयोगेन प्रदर्श्य दर्शयित्वा। अनुमन्वते आदरं कुर्वंतीति मयि प्रमवत्यो यूयं मत्सुखपरा एवातो मदनभिप्रेतं चेष्टितुं नार्हथ स्वहठं मा कृढ्वं गृहान गच्छतेत्युक्ते भो अभिज्ञशिरोमणे असूर्यंपश्याः कुलवत्यो वयं वचनोल्लंघनात् यांस्तृणीकृत्य पुराद्वहिर्भूय एतावद्दूरे स्थितस्य लंपटत्वेन व्रजे ख्यातस्य तव समीपमागताः स्म पुनस्तत्रैव गच्छंतीरस्मांस्ते पत्यादयः पुरेषु प्रवेष्टुमप्यददानाः कोपादद्य वधिष्यंत्येवेति जानीमस्तत्राह—पतय इति। वो युष्मभ्यं नाभ्यसूयेरन् दोषदृष्टिमपि न कुर्युः, किमुतानिष्टं शंकध्वे इति भावः। किमुत पुत्रादयः, अन्ये च लोकाः। कीदृशीः मया सहोपेताः संगता अपि किमुत संप्रत्यसंगता एवेति भावः। अहमीश्वर इति तैरपि ज्ञातत्वादिति भावः। यतो देवा अपि यज्ञकर्मणि प्रत्यक्षीकृता अत्रार्थे पृष्टा भवतीरनुमन्वतेऽनुमंस्यंत एव, मां सर्वेश्वरं विदुषां देवानामप्यत्रार्थेऽनुमतिरेव न त्वननुमतिरित्यर्थं इति विश्वनाथः।३१। यद्यपि तेस्मानंगीकरिष्यंति तथापीति। अंगाभ्याम् शरीराभ्याम्। मे प्रीतये नेति मे इति शेषः। भक्त्यैवाहं तुष्यामि न त्वन्योपायेनेति भावः। नन्वंगसंगोऽप्यस्तु, तत्राह—अहो ब्राह्मणजन्मनि भवतीनां मयांगसंगो नृणां प्रीतये सुखाय न भवति। अनुरागादयस्तु सुतरां नेत्यर्थः। "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगेयुगे" इति 'ब्राह्मण्यो लोकमातरः' इत्युक्तेर्भवतीनां मयि यशोदादिवदनुराग एवोचित इति ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवम् ईदृशं विभो ! हे वहिरन्तर्व्यापकेति अस्माकं बाह्यमान्तरञ्च सर्वं त्वमेव वेत्सीति भावः। भवानिति अन्यो वदतु नाम कृपाकोमलचित्तो भवांस्तु वक्तुमपि योग्यो न भवतीत्यर्थः। यतो नृशंसं क्रूरम्। यद्वा, रसार्णवचन्द्रो भवान् नृशंसं कठिनं नीरसं वक्तुं नार्हत्येवेत्यर्थः। न च केवलमेवं तव वचसो नृशंसतामिथ्यात्वमपि स्यादित्याशयेनाहुः—सत्यमिति। करवाम किमित्येव वा निगमो ज्ञेयः। प्राग्भवानिति भक्त्याऽनुनयार्थं पश्चात् कुरुष्व त्वमिति प्रेम्णेति ज्ञेयम्। अत्र ताभिर्भगवतो ब्राह्मणा-वतिक्रमरूपा निगममर्यादा तूत्कण्ठया नावहितेति ज्ञेयम्। ननु, मदर्थं कथमिव कुटुम्बानि त्यक्ष्यन्ते तत्राहुः—अतिलङ्घ्येति। तत्तु जातमेवेति भावः। ननु, ब्राह्मणीनां युष्माकं पत्यादिपरित्यागो न युक्त इत्यत आहुः प्राप्ता इति। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनिरयं वाच्यार्थं परित्यज्य व्यङ्ग्यार्थमेव बोधयति, ततश्च सर्वं त्यक्त्वा दास्यमेवाङ्गीकृतवत्य इत्यर्थः। तत्र तुलसीदाम्नः पदावसृष्टत्वं तस्मिन्नैश्वर्यं निश्चित्य "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इत्येतद्विधतद्वाक्यरीत्या स्वदोषः प्रत्याख्यातः॥ २९ ॥ ननु, "साधवो दीनवत्सलाः" इति तेषां हितार्थं यात। यद्वा, मदाज्ञातोऽकृत्यमपि कर्त्तुमुपयुज्यते तत्राहुः—गृह्णन्तीति निजनिषेधोल्लङ्घनात् तत्र गता अप्यस्मान् त एव न स्वीकरिष्यन्तीत्यर्थः। अन्येतु प्रतिवेश्यादयः सम्भाषामपि न करिष्यन्तीत्यर्थः। तस्मात्पत्यादिभिर ग्रहणात् प्रपदयोः पदाग्रसमीपे पतितात्मनामनन्यगतित्वेन त्वदकाश्रितानामित्यर्थः॥ ३० ॥ वो युष्मानिति युष्यमभ्यमित्यर्थः। नाभ्यसूयेरन् दोषदृष्टिमपि न कुर्युः कथं न गृह्णीयुरित्यर्थः। अन्ये सर्वे लोकाश्च नाभ्यसूयेरन् किमुत स्निग्धास्तेपीत्यर्थः। कीदृशीः मया उपेता अनुज्ञाताः ममानुज्ञाप्रभावेनैवेति भावः अन्यत्तैः। तत्रानुज्ञाता इति सङ्गे दोषस्यैव भगवता स्वीकारात् तादृशस्यैव चार्थस्य युक्तेः प्रत्यक्षमपि सम्भावनामयप्रकृतिलिङ्परित्यागेन वर्त्तमानमय--लट् प्रयोगात् प्रत्यक्षमिवेत्यर्थः। यद्वा, मया सह उपेताः समीपं सङ्गता वो युष्मान् पत्यादयो नाभ्यसूयेरन् अहमीश्वर इति तैरपि ज्ञास्यमानत्वादिति भावः। यतो यज्ञकर्मणि तैः प्रत्यक्षीकृता देवा अपि अनुमन्वते पृष्टाः सन्तो मामीश्वरत्वेन मन्यन्त इत्यर्थः॥ ३१ ॥ नन्वस्मत्प्रार्थितस्य का वार्त्तेत्याशङ्क्य समाधत्ते—इह ब्राह्मणजन्मनि युष्माभिर्ममाङ्गसङ्गो युष्मदुद्दिष्टादास्यमयसान्निध्यं नृणां जीवमात्राणां प्रीतये सुखमात्राय न भवेत् नितरामनुरागायेत्यर्थः। तत् तस्मात् लोकविद्विष्टत्वात् मयि निजभावेन मन एव युञ्जानाः अचिराद्दहान्त एवेति अत्रेदं तु विवेक्तव्यं श्रीकृष्णस्य भक्ताः खलु द्विविधाः तटस्थाः लीलान्तःपातिनश्च तत्र तटस्थाः परोक्षस्यापि तस्य पारमैश्वर्यमालम्ब्य अष्टविधासु तत्प्रतिमास्वेकवरां सेवमाना जानन्तो वा जानन्तो वा च ते ब्राह्मणाद्यास्ते चरणसेवा चरणोदकग्रहणादिनिजभक्तिषु परोक्षमनुमोद्यन्ते लीलान्तःपातिनश्च द्विविधाः तत्र प्रथमास्तस्य पारमैश्वर्य्यमालम्बमाना देवाद्यास्तेन पारमैश्वर्येणैव व्यवह्रियन्ते अथ पारमैश्वर्यानुभवेऽपि तस्य नरलीलामवलम्बमाना ब्राह्मणाद्या नराः पित्राद्याश्च नरलीला यथा स्वस्वमर्यादां व्यवहरन्तस्तेन च तद्यवह्रियन्ते तस्मात् नरलीलाकृष्टचित्तानां ब्राह्मणीनामासां स्वयोग्यमेव तत्परिचरणं कर्त्तुं तत्सङ्गं प्राप्तुमिच्छूनां सम्प्रत्युपेक्षा युक्तैवेति ॥ ३२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

माशब्दस्यादौ निर्द्देशः, परमव्यग्रतया निषेधनात्; एवमीदृशं पतीनां यज्ञसमापनार्थं यज्ञस्थानं यातेति—लक्षणम्, विभो हे वहिरन्तर्व्यापकेति अस्माकं बाह्यमान्तरञ्च सर्व्वं त्वया विज्ञायत एवेति भावः। वच इति पाठः सुगम एव। भवानिति अन्यो वदतु नाम, कृपाकोमलचित्तो भवांस्तु वक्तुमपि योग्यो न भवतीत्यर्थः। यतो नृशंसं क्रूरम्; यद्वा, भवान् रसार्णवचन्द्रः कठिनं नीरसं वक्तुं नार्हत्येवेत्यर्थः। न च केवलमेवं तव वचसो नृशंसता, मिथ्यात्वमपि स्यादित्याशयेनाहुः—सत्यमिति। प्राक् भवानिति भक्त्या अनुनयार्थं पश्चात् कुरुष्व त्वमिति प्रेम्णेति ज्ञेयम्। यद्यपि तासां स्वीकारेण मर्य्यादोल्लङ्घनात् वेदसत्यता न सिध्येत्, तथापि

'न स पुनरावर्त्तते' इत्यादि श्रुतेः; (भा० ११।५।४१) 'देवर्षिभूताप्तनृणाम्' इत्यादिस्मृतेश्च, भक्तानां विधिनिषेधातीतत्वात्तस्य च साक्षाद्भगवत्त्वात् सा सम्पद्येतैव। ननु युष्माकं गोकुलान्तर्नयनाद्गोप्यो मामवज्ञास्यन्ति, युष्मासु च सापत्न्यमिव धास्यन्ति, तत्राहुः—भवेति। तुलसीति ह्रस्वत्वमार्षम्, तूलस्या दामेति प्रियत्वेन सदा त्वच्चरणाब्जयोः संलग्नत्वात् सापत्न्येन लक्ष्म्यादीनामपेक्ष्यत्वाच्च तदेव नितरां भक्तिविशेषेण नित्यं वोढुं तदेकनिवहनमात्रदास्येन तास्त्वां नावज्ञास्यन्ति, न चास्मासु सापत्न्यं धास्यन्तीति भावः। यद्वा, त्वद्दास्येन तासामपि दास्यं करिष्याम इति भावः। समस्तबन्धून् पतिपुत्रादीनतिलङ्घ्येति वान्ताशित्वम्, तेषां पुनः स्वीकारो न युक्तमिति भावः॥ २९॥ ननु 'साधवो दीनवत्सलाः' इति तेषां हितार्थं यात; यद्वा, मदाज्ञया भक्तामपि कर्त्तुमुपयुज्यते, तत्राहुः—गृह्णन्तीति। तत्र गता अप्यस्मान् त एव न स्वीकरिष्यन्तीत्यर्थः, यद्वा, त्वय्यस्माकं भावदर्शनात् प्रथमत एव न ते स्वीकुर्व्वन्त्येवेत्यर्थः। पितराविति कासाञ्चिन्मातुर्वृद्धत्वेन गमनाशक्त्या गृहेऽवस्थानां श्रीभगवति भावविशेषेण संगेऽगताया अपि तथा पूर्व्वमकृतनिषेधाया अप्यत्र मातुरुक्तिः, पित्रा अगृह्यमाणानां तद्भयेन मात्राप्यग्राह्यत्वात्; यद्वा, निजानन्यगतिकताबोधनाय तत्र धर्म्माद्यपेक्षया पतिभिरस्वीकृताः, स्नेहेन पित्रोर्गृहं यातास्तावपि न गृह्णीतः, लोकादिभयात्, ततोऽपि स्नेहाधिक्येन पुत्रान् प्रति गतास्तेऽपि न गृह्णन्त्येव, लोकलज्जादिना, अतो न भ्रात्रादयोऽपि गृह्णन्त्येव, अन्ये च प्रतिवेश्यादयः कुतो गृह्णन्तीति विवेचनीयम्। तस्मात् पत्यादिभिरग्रहणात् प्रपदयोः श्रीचरणाब्जयोरग्रतोऽदूरत इत्यर्थः; इति परमदैन्यात् पतितात्मनामनन्यगतिकत्वेन तदेकाश्रितानामित्यर्थः। अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, तस्मादिति तद्विधाने हेतुरुक्तः,—तस्य दीनानाथैकशरणतया सर्व्वत्यक्तानां तदेकशरणत्वात्। किञ्च, पतितदेहानां दण्डवत् प्रणम्य पतित्वा प्रार्थयमानानामित्यर्थः; यद्वा, पतितानामिव बाल्यस्वभावो यासां तासामपीति दैन्योक्तिः। भवत्प्रपदयोस्तत् पूर्व्वोक्तं केशैस्तुलसीदामनिवहनम्, तस्य च दुर्ल्लभत्वात्, सुगोप्यत्वान्न व्यक्तमनिर्द्देशः। यद्वा, तत्तथा, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्, यथान्या त्वद्दास्येतरा गतिः फलं न भवेत्, तथा विधेहि। ननु तथापि श्रीगोपिकानां सापत्न्यादहं शंके, तत्राहुः—हे अरिन्दम! तासामीर्ष्यादिलक्षणं शत्रुं त्वमेव नाशयिष्यसीत्यर्थः। यद्वा, कंसादीनिव दमयसि, भक्तानान्तु दमनं कर्त्तुं नार्हसीति परित्यागेन मास्मान् मारयेत्यर्थः। यद्वा, पतितात्मनां मृतानां सतीनाम्, तयोरेव म्रियामहे, गतिश्चान्या न भवेदिति विधेहीत्यर्थः। ननु कामः संवरितुमेव युज्यते, तत्राहुः—हे अरिन्दमेति, कामलक्षणशत्रुमिमं त्वमेव नियन्तुं शक्तोऽसि, न तु वयं त्वत्काममोहिता इत्यर्थः॥ ३०॥ नाभ्यसूयेरन् दोषदृष्टिमपि करिष्यन्ति, किमुत न ग्रहीष्यन्तीत्यर्थः। अन्ये सर्व्वे लोकाश्च नाभ्यसूयेरन्, मद्भक्तिप्रभावात्, मया उपेता अनुज्ञाता अन्तर्य्यामिरूपेण साक्षाद् वाधुनादिष्टा इति सात्त्विकानां मद्भक्तिमतां देवानां मद्भक्तासु युष्मास्वसूया न भवेदेव। विशेषतश्च मद्भक्तिमेव इमे साक्षादभिश्लाघन्ते, तत्रापि मयादिष्टा इत्यर्थः, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। यद्वा, अहो किं वक्तव्यं पत्यादय इति, देवा अपि पुण्यदेहाः पुण्यापेक्षका यज्ञभागभुजः पतियज्ञादित्यागेनापि नाभ्यसूयेरन्। अहो बत किं वाच्यं पत्यादयो नाभ्यसूयेरन्निति, अथ च अनुमन्वते, विशेषतोऽधुना आदरं करिष्यन्तीत्यर्थः। यद्वा, मया उपेताः संगता युष्मान् देवा अप्यनुमन्वते, किं पुनः पत्यादयोऽभ्यसूयेरन्निति॥ ३१॥ हि यतः, अंगसंगो मैथुनलक्षणः सदैकत्रावस्थितिर्वा। नृणामिति श्लेषेण मर्त्यदेहस्य जरामरणादिबाधया सम्यक् प्रीत्यनुरागासिद्धेः, तथापि इह कर्म्मक्षेत्रे भारतवर्षे कर्म्माधीनत्वादल्पयुष्काच्च तदसंसिद्धेः; श्रीवैकुण्ठलोके सच्चिदानन्दविग्रहतस्तत्सुसिद्धेस्तत्रैव युष्मन्मनोरथः सम्पत्स्यत इत्यर्थः। एतच्च तासां पञ्चनार्थमुक्तम्, न च तत्त्वतः, यथाकथञ्चिदपि तेन सह सम्बन्धतोऽपि कृतार्थतासिद्धेः। यद्वा, इह गोकुले नृणां गोकुलवासीतरमनुष्याणां युष्मदादीनां प्रीतये आनन्दानुभवाय योऽनुरागो मयि प्रेमा तस्मै न भवति, गोपगोप्यादिष्वेव ममासक्तेः। यद्वा, इह एषु ब्राह्मणीदेहेषु युष्माभिः सह ममांगसंगो नृणां गोपगोप्यादीनां प्रीतये सुखाय मयि युष्मासु वा अनुरागाय च न भविष्यति। इदमपि वञ्चनमेव, तत् तस्मात् मनो युञ्जाना मनसैव मया सह संगं कुर्व्वाणा इत्यर्थः। अवाप्स्यथ देहान्तररीतिशेषः। यद्वा, अव अवसाने देहान्ते प्राप्स्यथेत्यर्थः। स्पष्टतया तथानुक्तिस्तासां दुःखानुत्पत्तये। अतएवाचिरादिति तच्चास्वासनार्थमेव, वस्तुतः कालस्य महादीर्घत्वात् तज्जन्ममात्रानन्तरप्राप्त्याप्यविलम्बतासिद्धेः। एवं श्रीगोपीनामिव देहभावयोः समतातास्विवानुग्रहविशेषसिद्ध्यर्थमासां ग्रहेषु प्रस्थापनम्, न तु ब्राह्मणीत्वेनोपेक्षणमिति तत्त्वार्थः। अन्यथा लोकधर्म्मापेक्षया प्रेम्णा प्रपन्नेषु तस्य केवलं लोकधर्मापेक्षयोपेक्षणायोगात्॥ ३२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

तव निगमम् "प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः" "न मे भक्तः प्रणश्यति" इत्यादि वचनम्॥ २९॥ प्रपदयोः पादाग्रयोः॥ ३०-३१॥ नृणामङ्गसङ्गः शरीरयोगः न प्रीतये न वैषयिकसुखाय अपि तु मय्यनुरागाय जन्मनः फलं मद्भक्तिरित्यर्थः। नृणां चेतनानां मदङ्गसङ्गस्तदात्विकारागाय नतु कालान्तरप्रीतये विश्लेषस्तु कालान्तरेऽपि प्रीतिवर्धक इत्यभिप्रायः॥ ३२-३३॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स्वमनोरथानुगुणोक्तिश्रवणान्निर्विण्णा आहुः पत्न्यः—मैवमिति। हे विभो! भवानेवं तद्यात देवयजनम् इत्येवं नृशंसं परुषं वचो वक्तुं नार्हति किन्तु वो निगमः "प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं स च मम प्रियः" "न मे भक्तः प्रणश्यति" इत्यादिवचन-

रूपस्तं सत्यं कुरुष्व नित्यमितिपाठेऽपि स एवार्थः वयन्तु समस्तबन्धूनतिलङ्घ्य पदावसृष्टमवज्ञयापि दत्तमिति भावः तत्तुलसिदाम केशैर्बहुमानेन वोढुं प्राप्ताः दासीभवितुं प्राप्ताः इति भावः ॥ २९ ॥ किञ्चातिलङ्घितबन्धूरस्मान्न पत्यादय एव परिगृह्णन्ति कुतोऽपरे गृह्णीयुः तस्मात् हे अरिन्दम ! भवतः प्रपदयोः पदाग्रयोः पतिताः आत्मानो देहा यासां ताः पतिताः समर्पिता आत्मानः प्रत्यगात्मानः याभिस्तासां वा नोऽस्माकं नान्या गतिरस्मत्समीहितोपायोऽन्यो नास्त्यतः त्वमेव तदस्मदभिमतं विधेहि यद्वा अन्या गतिः स्वर्गादिर्पि माभूत्किन्तु त्वदविश्लेषेण त्वद्दासीत्वमेवास्माकं सम्पादय ॥ ३० ॥ एवमुक्तो भगवान् तावद्यदुक्तं पत्यादयः केपि नास्मान् गृह्णन्तीति तत्रोत्तरमाह । पतय इति–वो युष्मान् पत्यादयोऽन्ये लोकाः जनाः किमुत मयोपेता मत्प्रभृतयो देवाश्च नाभ्यसुयेरन् न दोषदृष्ट्या द्रक्ष्यन्ति किन्त्वनुमन्वतेऽमोदन्ते ॥ ३१ ॥ यदुक्तं तद्विधेहेति तत्रोत्तरमाह–नेति । इह लोके नृणामङ्गसङ्गः देहयोगः न प्रीतये न वैषयिकसुखायापितु मय्यनुरागाय जन्मनः फलं मद्भक्तिरेवेत्यर्थः । यद्वा नृणां चेतनानामङ्गसङ्गस्तादात्मिकरागाय न तु कालान्तरप्रीतये विश्लेषस्तु कालान्तरेऽपि प्रीतिवर्द्धक इत्यभिप्रायः तस्मात्परोक्षमपि मयि मनो युञ्जाना अचिरादेव मामवाप्स्यथ संसृतिबन्धान्मुक्ताः नित्यं मद्दास्यं करिष्यथेति भावः । स्मरणादिना यथा मयि भावः तथासन्निकर्षेण न इति ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यातेति नृशंसं पुरुषं गदितुं निगमं "न मे भक्तः प्रणश्यति" इति वचनं सत्यं कुरु पदावसृष्टं श्रीपादच्युतं तेन दत्तं वा तुलसीदाम श्रीतुलसीमालां केशैर्नितरां वेति वोढुं पादमूलं प्राप्ताः ॥ २९ ॥ कालक्षेपात् द्विजातय अस्मान्न गृह्णन्तीति सूचितम् । तत्र तत्सहायाभावात् पुनर्गमने ते नैव गृह्णन्तीत्याहुः—गृह्णन्तीति । ततः शरणं विधेहि कुरु ॥ ३० ॥ कुत एव चान्य इत्यत्राह लोकाश्चेति ॥ ३१ ॥ तव पादमूलं प्राप्ता इत्यत्राङ्गसङ्गः सूचितस्तत्राह—नेति । नृणामङ्गसङ्गो मम प्रीतये न भवति ममानुरागाय च न तस्मान्मयि मनो युञ्जानाः यूयं क्षिप्रं मामवाप्स्यथेत्यन्वय अनेनाहं भक्त्यैव तुष्टो भवामि नान्येनेति सूचितम् ॥ ३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

मया उपेता अनुज्ञाताः वा वो युष्मान् अहमीश्वर इति तैरपि ज्ञातत्वादिति भावः । यथा यज्ञकर्मणि तैः प्रत्यक्षीकृता देवा अपि अनुमन्वते पृष्टाः सन्तो मामीश्वरत्वेन मन्यन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ ननु, तह्यङ्गसङ्गोऽपि भवतु तत्राह—अहो ब्राह्मणजन्मनि भवतीनां मयाऽङ्गसङ्गो नृणां प्रीतये सुखाय न भवति अनुरागाय तु सुतरां नेत्यर्थः ॥ ३२–३३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

ततस्तदाकर्ण्य द्विजपत्न्यो यदूचुस्तदाह—मैवं विभोऽर्हतीत्यादि । हे विभो ईश्वर ! भवान् सत्यप्रतिज्ञ एवं गदितुं नार्हति, न योग्यो भवति । यतः (भा० ९।४।६५) "ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥" (श्रीरामायणे) "सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" इति तव प्रतिज्ञा । वयं तु सर्वं त्यक्त्वैव त्वां शरणं गताः, तत् कथमेवं वदसि ? एवमिति किं नृशंसं क्रूरं कठिनमित्यर्थः । अथवा, नृवत् शंसः कथनं मनुष्यवत् कथनम् । भवानीश्वर एव, अतः स्वनिगमं स्वप्रतिज्ञां सत्यं कुरु, निगमं सत्यं कुरुष्वेति वा । वयं तव पादमूलं प्राप्ताः । किं कृत्वा ? समस्तबन्धूनुल्लङ्घ्य । किमर्थम् ? पादावसृष्टं तुलसिदाम केशैर्निवोढुम्, दासीभवितुमित्यर्थः ॥ २९ ॥ एवं चेत्तदा युष्माकं पत्यादयो युष्मान्न ग्रहीष्यन्तीति चेत् न तावद्गृह्णन्तु इत्याहुः—गृह्णन्ति नो न पतय इत्यादि । पतयो नोऽस्मान्न गृह्णन्ति, न गृह्णन्त्वित्यर्थः । (पा० ३।४।८६) 'एरुः' इति उत्वाभाव आर्षः, विभक्तिव्यत्ययो वा लोडर्थे लडेव । एवं पितरो सुता वा, एवं भ्रातृबन्धुसुहृदश्च, अस्माभिरेव सर्वे त्यक्तास्ते, कथं तेषां ग्रहणोपेक्षास्माकम् ? ततः किं कर्तव्यमित्याह—तस्मादित्यादि । तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या गतिर्भवेत्, हे अरिन्दम विपक्षक्षयकारिन् ! तद् विधेहि; तदिति (२९ श० श्लो०) "तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुं" इति यदुक्तम् तदेव विधेहीत्यर्थः ॥ ३० ॥ (२९ श० श्लो०) "सत्यं कुरुष्व निगमम्" इति यदुक्तं भवतीभिस्तदेव कर्तव्यम्, किन्तु मद्वच एव निगमस्तस्मात् (२८ श–श्लो०) ''तद्यात देवयजनम्" इति यदुक्तम् तदपि मद्वच एव, तच्चापि सत्यं कर्त्तुमर्हम् । तस्मान्ममाज्ञाप्रतिपालनमपि भवतु मम वचः सत्यं भवतु; भवत्योऽधुना देवयजनमेव यात, पतयोऽपि नासूयान् करिष्यन्तीत्याह—पतयो नाभ्यसूयेरन्, न च पितृभ्रातृसुतादयः । कुतः ? इत्याह—लोकाश्चेत्यादि मयोपेता मया सह कृतसम्भाषा भवतीर्लोका देवाश्चानुमन्वतेऽनुमोदयिष्यन्ति श्लाघिष्यन्त एव, किं पुनः पत्यादयः । अतो गृहं त्यक्त्वा स्वातन्त्र्येण समागताः, पुनर्गृहं गताः सतीरस्मानवमंस्यन्ते' इत्याशङ्का न कार्येति, साम्प्रतं गृहमेव यातेति वाक्यार्थः ॥ ३१ ॥ तथापि न गच्छन्तीः प्रति पुनराह -- न प्रीतय इत्यादि । यदि वा यदङ्गसङ्गार्थं कामयध्वे, स तु इह जन्मनि न भवति, प्रीतये चानुरागाय नेत्यर्थः । नृणां मानुषीणां भवतीनां हि जानीत । नृणामिति सामान्यत्वाज्जातिपरनिर्द्देशः, नृजातीनामिति भावः । तर्हि किमस्माकं भवतु ? तत्राह—तदिति । तस्मान्मयि मनो युञ्जाना, सत्योऽचिरादेव मामवाप्स्यथ । नृशरीरं त्यक्त्वा अप्राकृतशरीरमासाद्य मां प्राप्स्यथेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मैवमित्यादि । तद्देवयजनं यातेति नृशंसं क्रूरं गदितुं भवान् मार्हति; इदं नोक्त्वा किं कर्तव्यम् ? तत्राह—सत्यं कुरुष निगमं प्रतिज्ञां सत्यं कुरुथ । स्वनिगमं स्वप्रतिज्ञामिति वा । तर्हि न सत्याभावः, 'सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वदा तस्मै ददाम्येतद्व्रतं मम ॥' इति या ते प्रतिज्ञा तां सत्यां सर्वभूतमयरूपे गृहे गन्तुं कथमुपदिशसि, गृहे न गत्वा किं कर्तव्यम् ? तत्राह—पदावसृष्टं तुलसो दाम केशैर्निवोढुं समस्तबन्धूनतिविलङ्घ्य तव पादमूलं प्राप्ताः, तव पादमूल एव स्थास्याम इत्यर्थः ॥ २९ ॥ अधुना चेद्भवतीभिर्देवयजनं न गम्यते, तदा विलम्बे सति पतयो नाङ्गीकरिष्यन्ति, एवञ्चेद् भवत्स्वेवमेवेत्याहुः—गृह्णन्ति नो न पतय इत्यादि । नोऽस्मान् पतयो नो न गृह्णन्त्वित्यर्थः, पञ्चम्यां वर्त्तमाना । यद्वा, पतयो नो न गृह्णन्ति, अपि तु गृह्णन्त्येव भविष्यति वर्त्तमानः । त्वदनुरक्तत्वादधिकमेवास्मासु आदर करिष्यन्ति, तथापि तस्मात् पतिपुत्राद्यैर्बहिर्भूय भवत्पदयोः पतितात्मनां नोऽस्माकं नान्या गतिर्भवेत्, भवत्वित्यर्थः । नो न गृह्णन्तीति द्वौ नञौ प्रकृतार्थं गमयतः । एवं न मातृबन्धुसुहृद इत्यादावपि नो इत्यनुवर्त्तनीयम् । अतस्तेषां ग्रहणाग्रहणयोः कोऽपेक्षा ? ॥ ३०-३१ ॥ ननु भवतीभिरुक्तम् (३० श-श्लो०) "गृह्णन्ति नो न पतयः" इत्यादि, तत्र (३१ श-श्लो०) "पतयो नाभ्यसूयेरन्" इत्यादिना मयैव समाधा कृता, तथापि भवत्यो न गच्छन्ति चेत्तच्छ्रयतामित्याह—न प्रीतये इत्यादि । तत्र स्थितानां वो मदङ्गसङ्ग एवाभिलषितः, स तु नोचित एवेति वदति—इह देहे विप्रभार्यारूपे इति भावः, अङ्गसङ्गो नृणां श्रोष्यता पश्यताञ्च न प्रीतये नानुरागाय च । अथवा, नृणामिह देहे नरभूतानां भवतीनां देहेऽङ्गसङ्गोऽङ्गैः सङ्गः, मनसा सङ्गस्तु प्रीतयेऽनुरागाय च । स च भवतीभिः कृतः करिष्यते च । यच्छ्रयते गोपीसङ्गलाभेऽपि नरभूता न भवन्ति, मया सह ता ह्यवतीर्णा इतीह—शब्दद्योत्यं वस्तु । किन्तु देहान्तरे भवतोऽपि मामवाप्स्यथ इत्याह—अचिरादित्यादि ॥ ३२-३३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

रासारम्भे महाप्रेमवत्यो गोप्य इवाहुः—मैवमिति । नृशंसं परुषं निगमं "न च पुनरावर्त्तते" इति वेदवाक्यं "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति निगमरूपं स्ववाक्यं च सत्यं कुरुष्व ननु, भवतीभिर्विविप्रजात्यभिमानो दुस्त्यजस्तत्राहुः तव गोपस्यापि पादमूलं वयं दास्यार्थं प्राप्ताः न हि विप्रजात्यभिमाने सत्येवं कोऽपि जनो वक्तुं शक्नोत्यतोऽस्मद्वाक्येनैव निश्चीयताम् नास्त्यस्माकं जात्यभिमाना इति भावः । ननु गोपस्य मम गोप्य एव दास्यः प्रेयस्यश्च समुचिता भवन्ति ताश्च बह्व्यो वर्त्तन्ते तं सत्यं वर्त्तन्तां विराजन्तां नाम यदि त्वं ब्राह्मणीर्दासीः कर्तुं बन्धुभ्यो जिह्रेषि तर्हि कथं त्वाङ्गोपयामस्त्वत्पुरं नैव यामो वृन्दावन एव वनदेवता इव वर्तिष्यामहे त्वत्सम्बन्धेनैव कृतार्थी भविष्णवो वयमित्याहुः—वयं तु दूरे स्थित्वा पदावसृष्टं त्वत्पदात् त्वदाश्रिता प्रेयसीनां पदसंसर्गाद्वा त्रुटिनीभूय अवसृष्टं पर्यङ्काधोविसृष्टं तुलसीदामत्वद्दासीभिरेव कृपया दत्तं केशैर्निवोढुं प्राप्ताः न तु तव प्रेयसीभावाय दासीभावाय वा दुर्लभभावास्माकमाकाङ्क्षेति भावः । ननु, तर्हि भवद्बन्धवः किं वदिष्यन्ति ? तत्राहुः अतिलङ्घ्येति ॥ २९ ॥ किञ्च, त्वन्नगरस्थमालिकताम्बूलिकादिवनिताजनमुखादाकर्णितत्वद्रूपगुणमाधुर्य्याय यदवधि वयं वयःसन्धिमारभ्यैवाभूम तद्दिनत एव त्वयि भाववतीर्गृहकर्मण्यप्युदासीना अस्मान् व्यभिचारिणीव दृष्ट्वा सन्दिहानाः पत्यादयो नैव भावं हरन्तीत्याहुः—गृह्णन्तीति । सुताः सपत्नीपुत्रा अन्ये प्रतिवेश्यादयः ततश्चातिवैयग्र्येण रुदत्यः पदाग्रे मूर्द्ध्ना प्रणमन्त्यः सगद्गदमाहुः—तस्मादिति अस्माकम् अन्या गतिर्यथा न भवेत्तथा विधेहि । हे अरिन्दम ! त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धकीभूता दुरितादय एवारयस्तान् त्वमेव कृपया दमय ॥ ३० ॥ मयि प्रेमवत्यो यूयं मत्सुखपरा एवातो मदनभिप्रेतं चेष्टितु नार्हथ स्वहठं मा कुरुध्वं गृहं गच्छतेत्युक्ते भो अभिज्ञशिरोमणे ! असूर्य्यंपश्याः कुलवत्यो वयं वचनोल्लङ्घनात् यांस्तृणीकृत्य पुरादबहिर्भूय एतावद्दूरे स्थितस्य लम्पटत्वेन व्रजे ख्यातस्य भवता समीपमागच्छामः स्म पुनस्तत्रैव गच्छन्तीरस्मांस्ते पत्यादयः पुरेषु प्रवेष्टुं मध्यवदना कोपादेव वधिष्यंस्येवेति जानीमस्तत्राह—पतय इति । वो युष्मभ्यं नाभ्यसूयेरन् दोषदृष्टिमपि न कुर्य्युः किमित्यनिष्टं शङ्कध्वे इति भावः । किमुत पित्रादयः अन्ये च लोकाः कीदृशीर्मया सह उपेताः सङ्गता अपि किमुत सम्प्रत्यसङ्गता एवेत्यर्थः । अहमीश्वर इति तैरपि ज्ञातत्वादिति भावः । यतो देवा अपि यज्ञकर्मणि तैः प्रत्यक्षीकृता अत्रार्थे पृष्ठा भवतीरनुमन्वते अनुसंस्यते एव मां सर्वेश्वरं विदुषां देवानामप्यत्रार्थे अनुमतिरेव नत्वननुमतिरित्यर्थः ॥ ३१ ॥ अस्मिन्मनो वाञ्छितं कदापि सेत्स्यति न वेति साशङ्कं यत्पृच्छथ तत्रोत्तरं शृणुतेत्याह—नेति । प्रीतये प्रीतिं सम्पादयितुं अनुरागं च सम्वर्द्धयितुमित्यर्थः । किन्तु मद्विरहोत्कण्ठ्यमेवानुरागातिशयवर्द्धकमिति भावः । तत्तस्मात् ॥ ३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे विभो ! यातेति नृशंसं परुषं गदितुं भवान्नार्हति किन्तु "मां प्राप्य न निवर्त्तन्ते" इति "न च पुनरावर्त्तते" इति वा निगमं सत्यं कुरुष्व वयन्तु समस्तबन्धूनतिलङ्घ्य पदावसृष्टं तुलसीदाम तुलसीमालां केशैर्निवोढुं प्राप्ताः नित्यं संनिहिता भवितुमागता

इति भावः ॥ २९ ॥ किञ्च, त्वत्समीपमागन्तुमुद्यताभिरतिलङ्घिताः पत्यादयो नोऽस्मान्न गृह्णन्ति अतः कुतो गृह्णीयुः तस्माद्भवत्पदयोः पतिता आत्मानो देहा यासां तासां नोऽस्माकमन्या स्वर्गादिरूपा गतिरपि न भवेन्माभूत् अतस्त्वद्दास्यमेव त्वदविश्लेषेण विधेहि ॥ ३० ॥ मयोपेता अनुज्ञाताः ये पत्यादयः अन्ये लोकाश्च किं बहुना देवाः ब्रह्मशिवादयोपि नाभ्यसूयेरन् दोषारोपं न कुर्वन्ति किन्त्वनुमन्वते अनुमोदन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ तत्र गत्वा च देहादिष्वासक्तिर्न कर्त्तव्या किन्तु मम ध्यानमेवेत्युपदिशति । नेति । नृणामङ्गसङ्गः अङ्गं शरीरं तत्सङ्गः तत्प्राप्तिः प्रीतये देहगेहादिक्षुद्रसुखाय न भवति किन्तु मयि अनुरागाय तत्तस्यान्मयि मनो युञ्जानाः अचिरात् मामवाप्स्यथ ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

गोप्य इवाहुर्मैवमिति । हे विभो ! भवानेवं नृशंसं कठोरं वचो गदितुं नार्हति स्वनिगमं "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इति स्ववाक्यं सत्यं प्रमाणं कुरु । ननु भवत्यो ब्राह्मण्यः कथं मयि स्थास्यन्ति ? तत्राहुः वयं समस्त बन्धून् अतिलङ्घ्य तव पादमूलं प्राप्ता नहि अस्माकं कुलाभिमानोऽस्तीति भावः । ननु वः क्वोपयोगस्तत्राह पदावसृष्टं त्वत्पदा त्वदाश्लिष्टकान्तापदसंसर्गाद्वा त्रुटितं मदवसृष्टं त्वत्पर्यङ्कतले निक्षिप्तं तुलसिदाम ताभिः कृपया दत्तं केशैर्निबोढुमिति तद्धारणमेवास्माकं सेवेति तथा च माभूत्तवाङ्गसङ्गो वनदेवताभिः सह वृन्दारण्ये निवसन्तीनां नस्तन्मात्रमस्तु पुलिन्दीनामिव श्रीकुङ्कुमधारणमिति भावः । इह पदावसृष्टं तुलसिदामेति तस्मिन् पारमैश्वर्यं व्यज्य त्वद्दास्यमेव नोऽभीप्सितमिति सूच्यते जीवस्वरूपञ्च त्वद्दास्यवदेव "दासभूतो हरेरेव" इति पाद्मे तल्लक्षणात् न च गार्हस्थ्यधर्मत्यागो नोचितः सर्वधर्मान् परित्यज्य" इत्यादित्वदुक्तेरेव ॥ २९ ॥ किञ्च वयःसन्धितस्त्वदतिरम्यगुणश्रवणेन त्वन्मनस्का वयमभूम तत्त्वादेव पतयोऽस्मानुपभोगाय न गृह्णन्तीति वयं यज्ञसिद्ध्यर्थास्तत्पन्यः आह यथा पाणिनिः "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" इति तत्कर्तृकस्य यज्ञस्य फलन्तु न भोक्ष्यामहे तत्रानभिलाषात् पित्रादयोऽपि सम्भाषणेऽपि न गृह्णन्ति वातूला इमा इत्याक्षिपन्ति सुताः सपत्नी पुत्रांः अन्ये तटस्थाः कुतः 'तद्याात देवयजन'मित्यनुस्मृत्य व्यग्रा प्राहुः । तस्मात् पत्यादिपरित्यागात् तं विधाय भवतः प्रपदयोश्चरणाग्रयोः पतितात्मनां साष्टाङ्गप्रणमन्तीनां नो यथा त्वत्तोऽन्या गतिः श्रवणं न भवेत् तथा विधेहि अरिन्दम ! हे स्वप्राप्तिप्रतिकूलनिवासिन् ! कारुणिक ॥ ३० ॥ अथ पत्यादीनवज्ञाय त्वामागता नस्ते न स्वीकुर्युरपितु क्रुद्धास्तिरस्कुर्युरेवेति वदिष्यन्तीरालक्ष्याह-पतय इति । पत्यादयस्ते नाभ्यसूयेरन् मद्दर्शनसम्भाषणभोजनार्पणेषु गुणेषु दोषारोपं न कुर्वीरन् मयोपेता अनुज्ञाता युष्मान् देवाश्च यज्ञे तैः प्रत्यक्षीकृता अनुमन्वते साधु कृतमभिरित्यनुमोदिष्यन्त इत्यर्थः । मदुक्ता वः इन्द्रादयोऽपि सत्करिष्यन्ति का कथान्येषामित्यर्थः ॥ ३१ ॥ ननु त्वां विहातुं न शक्नुम इति चेत्तत्राह-इहास्मिन् ब्राह्मणीजन्मनि भवतीनां ममाङ्गसङ्गो नृणां प्रीतये सुखायानुरागाय च न भवेत् तत्तस्मान्मयि मनो युञ्जाना गृहान् यात अचिरादेव देहान्तरैर्मामवाप्स्यथेति मर्यादासेतुरहं मर्यादां नातिवर्त्ते यूयञ्च मदुक्ता मत्प्रतीपं नाचरत मत्प्राप्तिस्तु शीघ्रमेव गोपीरूपेण भाविनीति ॥ ३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे विभो भवानेवं नृशंसमस्मर्द्धिसासाधकमिति परुषं गदितुं नार्हसि निगमम् । न मे भक्तः प्रणश्यति । तांस्तथैव भजामि । न स पुनरावर्तत इत्याद्यागमम् । सत्यं कुरुष्वास्मत्प्रेषणे निगम उक्तोऽसत्यो भवतीति भावः । वयं समस्तबन्धूनतिलङ्घ्य लङ्घयित्वा पदावसृष्टं निर्माल्यतया पदत्यक्तं यत्तुलसिदाम । ङ्यापोः संज्ञा छन्दसोरिति ह्रस्वः । तुलस्यादाम मालां केशैर्निबोढुं धर्तुं तव पादमूलं प्राप्तास्ताः प्रति ॥ २९ ॥ स्वसत्रं युष्माभिः सह विप्राः पारयिष्यन्ति यातेत्युक्तं तत्रोत्तरमीरयन्ति ॥ गृह्णन्ति न इति । न पतयः इतो गता नो न गृह्णन्ति तदाज्ञाऽवज्ञानात् । तर्हि मातृपितृलालितास्तदालये वर्तध्वमित्यत आहुः । न पितरौ पिता मात्रेत्येकशेषः । मातरपितरौ न च सुता भ्रातृबन्धुसुहृदश्च नान्ये कुत एव न गृह्णीयुरिति । भवत्पदयोरिति शुभवत्पतितात्मनां पतितः पातित आत्मा देहो याभिस्तासामुपरि प्रसीद प्रसादं कुरु । हे अरिन्दम अरिश्चक्राभिमानी कामो महतेश्चतुर्मुखादिवत् तं दमयतीति स यथा मत्वर्थे इकारप्रत्ययः । यथाऽन्या गतिरस्माकं मृत्यनन्तरं प्राप्यान्या गतिर्न भवेद्भवधस्तथा विधेहि स्वर्गादिकं न लभाम इति भावः । सर्वचेष्टके त्वयि दृष्टेन्याऽनितुं त्वया चेष्टयितुं योग्या विधिभवादिरूपिणी त्वन्नियम्येति यावत् सा गतिर्न भवेद्यथा तथा विधेहीत्यान्तरङ्गिकः कुरङ्गनयनानां भावोऽवसेयः । ऋहलोर्ण्यदितिण्यत्प्रत्ययः ॥ ३० ॥ पतयो नो न गृह्णन्त्यादेरुत्तरमाह ॥ पतय इति । नित्यमित्यनेनारुन्तुदवादराहित्यं द्योतयति । युष्मभ्यमिति शेषः । कुत एवान्य इत्युत्तरयति ॥ लोकाश्चेति । नाभ्यसूयेरन्मयोपेताः । एवं सङ्गताश्चेद् वा अप्यनुमन्वते सम्मानयति का कथा भूदेवानामिति भावः ॥ ३१ ॥ पादमूलं प्राप्ता इत्यनेनाङ्गसङ्गाशा शशीमुखीभिः सुचिता । हृदयसङ्गम एव सुसङ्गमो न तनुसङ्गम एव सुसङ्गम इति तत्रोत्तरमाह ॥ नेति । यद्यतो नृणां नार्यश्च नरश्च नरस्तेषां परस्परमङ्गसङ्गः प्रीतये सुखायानुरागाय स्नेहविवृद्धये च नेह भवति । तर्हि कथा सेवया न उद्धृतिर्भिंगवन्नित्यत आह ॥ तदिति । मयि मनो युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ । अनेन बालिशस्य बालस्य मनोजस्य न वशवर्तिन्यो न भवन्तु भवत्यः किन्तु तज्जनकं मन आश्रयं कृत्वा तस्य मयि योजने प्रयोजनं यौष्माकीणं सेत्स्यतीति ध्वनयामास श्रीश इति ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

पत्न्यस्तु सर्वपरित्यागेन समागताः कृतसाक्षात्कारा पुनः पूर्वावस्थां प्राप्तुमयुक्तंति सञ्चिन्त्य गमनाभावं प्रार्थयन्ति मैवमिति, गृहगमनं त्वनुचितमेव कर्तव्यं च, तथापीश्वरवाक्यात् कर्तव्यं चेत् तदा कर्तव्यताया वान्ताशित्वेन महद् भयमाशङ्क्य विज्ञापयन्ति विभो हे समर्थ सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थैवं गदितुं भवान् नार्हति, अनर्हे हेतुमाह नृशंसमिति, इदं हि क्रूरं वाक्यं स्वरूपतः फलतोर्थतश्च, आदौ पुष्टिमार्गप्रवर्तनार्थं भगवानवतीर्णः कथं मर्यादां स्थापयति ? नापीयं मर्यादा त्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणविधानात्, यद्यपि स्त्रीणां त्यागो नोक्तस्तथापि त्वय्यवतीर्णे उचितः, स्त्रीणामर्थ एवानन्दस्य प्रकटितत्वादन्यत्र फलरूपानन्दाभावाद् भोग्यत्वेन तासामन्यगामित्वावश्यकत्वात् त्यागोनुचितो भवतु नाम प्रकृते तु तद्वैपरीत्यात् तस्यैव भोगपर्यवसानादुचित एव त्यागस्तथा सति पुनः परिग्रहः क्रूरो भवति, किञ्च दयाभावाच्च संसारदवानलान् निर्गतं पुनस्तत्र प्रवेशयतीति, अथ यदि तेनैव प्रकारेण पुरुषार्थसिद्धिस्तथापि न प्रेषणीया यतस्त्वं सर्वसमर्थः, अत्रैव तथाप्रकारं सम्पादय स्वयं तद्रूपो भूत्वा क्वचित् तिष्ठास्मान् वान्यथा प्रदर्शयात्मनि वा प्रवेशय वृक्षादिभावं वा प्रापयादृश्यान् वा कुरु, एवं सर्वोपायेषु विद्यमानेषु स एव कुतः क्रियते ? सिद्धत्वादिति चेत् तत्राहुः सत्य कुरुष्व निगममिति, निगमो वेदस्त्यागे न पुनर्ग्रहणमिति, "तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहु" "र्न च पुनरावर्तते" "न च पुनरावर्तत" इति, "मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यत" एवमनेकविधो निगमोसत्यो भवेद् यदि त्यागानन्तरं त्वयैव चेद् ग्राहितः स्यादतः स्वनिगमं सत्यं कुरुष्व, ननु "मामुपेत्ये"तिवाक्याद् न भवतीनां परावृत्तौ दोषो भिन्नतया तिष्ठन्तीति चेत् तत्राहुस्तव पादमूलं प्राप्ता वयमिति, प्राणिनस्त्वेतावद्दूरे स्वप्रयत्नो यत् तव चरणयोर्मूलं प्रेम रजश्छाया चित्ते तदवलम्बिनि स्थितिर्वाधोभाग इति सेवानिवेशो वा, एवं कृते शिष्टं त्वयैव कर्त्तव्यं न त्वधः पातनीयं, ननु भिन्ना भवत्यः कामयुक्तास्तथा सत्यमुचितं लोकशास्त्रावतारविरुद्धं कथं कुर्यामतो व्याघुट्यगमनमेवोचितमिति चेत् तत्राहुस्तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निवोढुमिति, न वयमनुचितकर्माभिलाषिण्यः किन्तु सम्पूर्णं दिनं सेवां विधाय स्वामिनो निद्रासमये निद्रिते वा पादसंवाहने क्रियमाणे पादयोः समर्पितं तुलसीदाम प्रसादत्वेन त्वया दत्तमस्पर्शे वा दूरादुत्सृष्टं परमपुरुषार्थत्वेन प्राप्यमहाप्रसादरूपं केशैः केशसम्बन्धिभिर्वेण्यापीडादिभिर्नितरां वोढुं तव पादमूलं प्राप्ता इतिसम्बन्धः, नन्वेतावदेव चेत् तत्रैव तुलसिदाम प्रेषयिष्यामि तत्राहुरतिलङ्घ्य समस्तबन्धूनिति, सर्वे बान्धवाः पतिपुत्रादयस्त्यक्ता अतस्तद्विरोधादपि न तत्र स्थितिः सम्भवति ॥ २९ ॥ किञ्च तेषामुपकारार्थं गन्तव्यमिति यदुक्तं तदपि न सम्भवतीत्याहुर्गृह्णन्तीति, ते परिग्रहमेव न करिष्यन्ति तद्वाक्योल्लङ्घनेनागतत्वाद् भर्तुरग्रहणे पितृगृहे स्थातव्यमित्यपि पक्षो निराक्रियते पितराविति सुता वा भिन्नतयान्नं दास्यन्तीति बान्धवा वा स्वमध्ये स्थापयिष्यन्तीति सुहृदो मित्राणि वोपकरिष्यन्तीति प्रत्यक्षं बन्धुसाहसस्य कृतत्वादन्ये सुतरामेव न ग्रहीष्यन्ति अथ यदि जातिपरित्यागेन यत्र क्वचित् स्थातव्यं तर्ह्यत्रैव स्थातव्यं, अत्र स्थितानां स्वर्गो न भविष्यतीति चेन् मास्त्वित्याहुर्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नान्या गतिर्भवेदिति, पादाग्रे पतितानां पादगतिरेव गतिर्यथोपानहः प्रपदपतितवस्त्राणां वा, तथास्माकमपन्या स्वर्गादिगतिर्मा भवतु भर्तृभिः सहितातः पादगतिमेव विधेहि दास्यो भूत्वा त्वत्सङ्गे सर्वत्र पर्यटनं, भर्त्रादिभयं तु तव नास्त्येव, तदाहुर्हे अरिन्दम शत्रुनाशक तद् गमनमेव विधेह्याज्ञापय ॥ ३० ॥ एवम्प्रार्थनायां बाधकादेवं वदन्तीति सर्वसञ्जातबाधकं प्रति समाधत्ते पतय इति, त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्त्यभ्यसूयामपि न करिष्यन्ति पित्रादयोपि पूर्वपूर्वोपाधिरहिताः, न हि पितुः कामोस्ति न हि भ्रातुर्लोभोस्ति, किञ्च लोकाः सर्व एव न दोषारोपं करिष्यन्ति तत्र हेतुर्मयोपेता भवतिर्देवा अप्यनुमन्वते सन्माननं करिष्यन्ति, अशास्त्रेयुक्ते हि सर्वेषामसम्मतिर्न त्वात्मनि कस्याप्यसम्मतिः, अन्यथा स्वस्पर्शे स्वार्थगमनेपि त्यागः स्यात् ॥ ३१ ॥ नन्वेवं सति लोकवेदविरोधाभावात् सङ्गोप्यस्त्विति चेत् तत्राह न प्रीतय इति, इहास्मिन्नवसरेङ्गसङ्गो नृणां प्रीतये न भवति, अङ्गे न सङ्ग आत्मनैव सङ्ग उचितो मनसा वा न त्वङ्गे नाङ्गयोरिति न वक्तव्यं बाधितत्वादतो लोकविरुद्धत्वान्न कर्तव्यं, किञ्चैतद्धि भक्त्यर्थं कर्तव्यं यथाधिकः स्नेहो भवतीति, तदपि न भविष्यतीत्याहानुरागायेति, भवतीनामप्येतदनुरागाय न भविष्यति नृणामप्येतज्ज्ञाने, किञ्च सङ्गः परं प्रतिबन्धकः सायुज्येतो मय्येव मनो युञ्जाना अचिराच्छीघ्रमेव मामवाप्स्यथ, अनेनान्या गतिरपि निवारिता, ऋजुमार्गेण सिध्यतोर्थस्य वक्रेण साधनमयुक्तमित्येवमुक्तम् ॥ ३२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पतयो नाभ्यसूयेरन्नित्यत्र, पित्रादयोपि पूर्वपूर्वोपाधीत्यादि। पतिपितृभ्रातृसुतादीनां मध्ये पूर्वस्यैतन्निषेधप्रयोजको यो धर्मः स उत्तरे नास्तीत्यर्थः। एतदेव विवृतं नहीत्यादिना। पितुस्तत्सुतदत्तपिण्डे लोभादेतन्निषेधः सम्भवति, स न भ्रातरि। भ्रातुः स्वसृसौभाग्येच्छा भवति तथा। सुते तु न सा। अस्य मातुर्निर्दोषत्वमपेक्ष्यम्। अन्येषां तदपि नेत्यर्थः। यद्यप्यन्यधर्माभावोऽनसूयायां न हेतुः, तथापि स्वनिष्ठतादृग्धर्माणामप्यधुना नाशात् तदुपलक्षकोऽयं ग्रन्थ इति ज्ञेयम्। एवं सत्यागमनसमये प्रतिबन्धकृतिहेतुभूतपत्यादिनिष्ठधर्मा एव पूर्वपूर्वोपाधिशब्देनोच्यन्त इत्यपि ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

मैवं विभोर्हतीत्यत्र आदाविति प्रकारत्रये आदौ स्वरूपतः क्रूरत्वे इत्यर्थः, फलत आहुः नार्पीयमिति, विरुद्धविधानात् फलतः क्रूरत्वमित्यर्थः, अत इति अवतीर्णे सत्युचितत्वादित्यर्थः, अन्यदा फलरूपानन्दाभावेऽयं हेतुः, उचित एवेति फलानुभावकत्वादितिभावः, अर्थतः क्रूरत्वमाहुः किञ्च दयेति, दयाभावबोधकत्वादित्यर्थः, दयाभावं विवृण्वन्ति संसारेति, तद्रूप इति पतिरूप इत्यर्थः, अन्यथेति गोपिकादिरूपा अस्मानन्येभ्यः प्रदर्शयेत्यर्थः, मूलपदार्थमाहुः प्रेमेति, प्रेमप्राप्ता इत्यर्थः, रजः रजोधारितवत्य इत्यर्थः, छाया छायामाश्रित्य तदनुगा इत्यर्थः, त्रयमुक्तं, मूलप्राप्तिं प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति चित्ते इति, चरणावलम्बिनि चित्ते स्थितिस्तन्निष्ठतेत्यर्थः, अध इति चरणाधोभागे स्थितिं स्वामिनो निद्रासमय इत्यादिना विवरिष्यन्ति, पादयोः समर्पितमिति चरणाभरणस्थले पुष्पाभरणवत् बद्धमित्यर्थः, मुक्तेषु केशेषु तुलसिदाम स्थापनं न सम्भवतीत्याशयेन केशपदस्यार्थमाहुः केशसम्बन्धिभिरिति, न तत्र स्थितिरिति तदा तुलसिदामप्रेपणे कुत्रेतिभावः ॥ २९ ॥ गृह्णन्तीत्यत्र सर्वत्र पर्यटनमिति कुर्वन्त्यो भवामेतिशेषः ॥ ३० ॥ पतय इत्यत्र त्यागेति नास्त्येवेत्ययोगव्यवच्छेदक एवकारः ॥ ३१ ॥ न प्रीतय इत्यत्र बाधितत्वादिति भगवत्यङ्गाङ्गिभावाभावादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गृह्णन्ति नो न पतय इत्यत्र गमनमेव विधेहीति भगवद्गमनेऽस्माभिरपि तत्र च भगवत्सङ्गे गन्तव्यमितिभावः ॥ ३० ॥ पतयो नाभ्यसूयेरन्निति त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्तीति भवतीनां पतयोऽभ्यसूयामपि न करिष्यन्तीत्युक्तौ त्यागस्य अग्रहणस्य च सम्भावनैव नास्तीत्यर्थः, त्यागश्च अग्रहणं च त्यागाग्रहणे त्यागाग्रहणयोः सम्भावना त्यागाग्रहणसम्भावनेतिसमासः, त्यागो नाम पुनरस्वीकारः अग्रहणं तात्कालिकोऽस्वीकारः, पूर्वंपूर्वोपाधिरहिता इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यामुक्तः ॥ ३१ ॥ न प्रीतयेऽनुरागायेत्यत्र अङ्गयोरिति न वक्तव्यमिति यज्ञपत्नीनामङ्गवत्त्वेपि भगवतोऽङ्गवत्त्वाभावात् सिद्धान्ते भगवदङ्गस्य भगवदभेदाङ्गीकारात् "केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिदृ"गितिवसुदेवस्तुतौ उक्तत्वात् ॥ ३२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवमुक्ता विप्रपत्न्य आहुः—मैवमिति द्वयेन । एवं नृशंसं परुषं वचो भवान् गदितुं मार्हति नैव योग्यो भवति, परमाप्तत्वात् । अंतः स्वाज्ञारूपं निगमं न पुनरावर्तत इति वेदवाक्यं सत्यं कुरुष्व । ननु 'महासानामेव अपुनरावृत्तिः श्रूयते, न संसारिणाम्' इत्याशङ्क्याहुः—तवेति । समस्तबन्धून् पतिपुत्रादीन् अतिलङ्घ्य तिरस्कृत्य त्वया यदवसृष्टमवज्ञाऽपि दत्तं तुलसिदाम बहुमानेन केशैर्निवोढुं दासीं भवितुं वयं तव पादमूलं प्राप्ता इत्यन्वयः । अतो न पुनर्गमनं युक्तमिति भावः ॥ २९ ॥ यदुक्तं 'पत्युपकाराय गच्छत' इति तत्राहुः—गृह्णन्तीति । नोऽस्मान् पत्यादयो न गृह्णन्ति, तानतिलङ्घ्यागतत्वान्नैव ग्रहीष्यन्तीत्यर्थः । बन्धवो ज्ञातयः, सुहृदो मित्राणि, अन्ये अपरिचिता जना गृहाद्विनिःसृता अस्मान् कुत एव गृह्णीयुः ? । प्रतिबन्धकदोषनिवर्तनेऽपि त्वं समर्थोऽसि इति सूचयन्त्यः सम्बोधयन्ति—अरिन्दमेति । तस्मात् भवतः प्रपदयोः पादाग्रयोः पतितात्मनां पतितदेहानां नोऽस्माकं त्वत्तोऽन्या गतिर्न भवेत् नास्त्येव, अतस्तत् स्वदास्यमेव विधेहि सम्पादय ॥ ३० ॥ एवं सम्प्रार्थितो भगवानाह—पतय इति । मयोपेताः भक्ततयाङ्गीकृता युष्मान् पत्यादयो ये चान्ये लोका जनास्ते केऽपि नाभ्यसूयेरन् दोषारोपेण न पश्येयुः अङ्गभागिनो देवा अप्यनुमन्वते निर्दोषतयाङ्गीकरिष्यन्ति, अन्यस्य तु का वार्तेत्यर्थः ॥ ३१ ॥ यदास्यं प्रार्थितं तत्राह—नेति । हि यस्मात् इह संसारे अङ्गसङ्गः देहानां निकटवर्तित्वं नृणां प्रीतये सुखाय अनुरागाय स्नेहवृद्धये च न भवति, अनादरहेतुत्वात् । तस्मादित्यादि स्पष्टम् ॥ ३२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

मैवमिति ॥ हे विभो ! एवं नृशंसं परुषं वचो भवान् गदितुं मार्हति परमाप्तत्वात् । अतः स्वाज्ञारूपं निगमं "न पुनरावर्तते" इति वेदवाक्यं सत्यं कुरुष्व । यतः समस्तबन्धून् पतिपुत्रादीन् अतिलङ्घ्य तिरस्कृत्य त्वया पदावसृष्टमवज्ञयाऽपि दत्तं तुलसीदाम बहुमानेन केशैर्निवोढुं दासीभवितुं वयं तव पादमूलं प्राप्ताः ॥ २९ ॥ गृह्णन्तीति ॥ हे अरिन्दम शत्रुनाशक ! नोऽस्मान्नतः पितरौ सुता वा गृह्णन्ति न ग्रहीष्यन्ति तथा भ्रातृबन्धुसुहृदश्च न गृह्णन्ति । तदा अन्ये अपरिचिता जनाः गृहाद्विनिःसृता अस्मान् कुत एव गृह्णीयुः । तस्मात् भवतः प्रपदयोः पादाग्रयोः पतितात्मनां पतितदेहानां नोऽस्माकं त्वत्तोऽन्या स्वर्गादेरपि गतिर्न भवेत् मा भूत् नास्त्येव वा अतस्तत् स्वदास्यमेव विधेहि सम्पादय ॥ ३० ॥ पतय इति ॥ मयोपेताः भक्ततयाऽङ्गीकृताः वो युष्मान् पतयः पितृभ्रातृसुतादयश्च ये चान्ये लोकाः जनास्ते केऽपि नाभ्यसूयेरन् दोशारोपेण न पश्येयुः । प्रत्यक्षं देवान् प्रदर्श्याह । इमे यज्ञभागिनो देवा अप्यनुमन्वते निर्दोषतयाऽङ्गीकुर्वन्ति । अन्यस्य तु का वार्तेत्यर्थः । एवं हि लट्प्रयोगस्वारस्यम् ॥ ३१ ॥ अङ्गसङ्गाभिलाषं दृष्ट्वाऽऽह—नेति ॥ हि यस्मात् इह संसारे ब्राह्मणीभिर्युष्माभिः मम अङ्गसङ्गः नृणां प्रीतये सुखं सम्पादयितुं न स्यात् ।

नतराम् अनुरागाय स्नेहं वर्द्धयितुं च भवति। लोकविद्विष्टत्वेन अनादरहेतुत्वात्। तस्मान्मयि मन एव युञ्जानाः सत्यः अचिरान् मामवाप्स्यथ ॥ ३२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

मैवमिति हे विभो भवान् एवं नृशंसं क्रूरं गदितुं मार्हति निगमं न मे भक्तः प्रणस्यतीति स्ववचनं न स पुनरावर्त्तेत इति वेदवचनं वासत्यं कुरुष्व तव पदावसृष्टं तिरस्कारेणापि दत्तं तुलस्याः दाममालां केशैर्निर्वोढुं धारयितुं समस्तवंधूनअतिलंघ्य अतिक्रम्य वयं तव पादमूलं प्राप्ताः ॥ २९ ॥ नोऽस्माकं यत्पादयो न गृह्णंति अन्ये तु कुतः हे अरिंदम कामक्रोधादिनाशनभवतः प्रपदयोः तवचरणसमीपे पतितदेहानां नोऽस्माकं अन्या त्वदन्या गतिर्न भवेत्। तथा तत्तवदास्यं विधेहि ॥ ३० ॥ मया उपेता अनुज्ञाताः देवा अपि अनुमन्वते युष्माकं सत्कारं कुर्वंति ॥ ३१ ॥ तथापि त्वां त्यक्त्वा वयं गंतुमसमर्था इत्याशंकायामाह इह संसारे नृणां सर्वजनानां अंगसंगो निरंतरं मम सान्निध्यं यत्तत्प्रीतये सुखाय न भवति अनुरागाय मयि स्नेहायापि नास्ति अतिपरिचयादवज्ञा स्यादिति भावः तस्मात् दूरे स्थिताः सत्यः मनो मयि युंजानाः गुणगानेन संलग्नं कुर्वाणाः ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्वमनोरथाननुगुणोक्तिश्रवणान्निर्विण्णा आहुः ॥ मैवमिति ॥ हे विभो श्रीकृष्ण, भवान् एवं 'तद्यात देवयजनम्' इत्येवं नृशंसं परुषं, वचो वचनं, गदितुं वक्तुं, मा अर्हति त्वमेवं वक्तुं योग्यो न भवसीत्यर्थः। निगमं प्रतिज्ञां, 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इत्यादिवचनरूपं प्रतिज्ञापरपर्यायं निगममित्यर्थः। यद्वा। 'न स पुनरावर्त्तते' इत्येवंरूपं निगमं वेदं, सत्यं कुरुष्व। वयं तु समस्तवन्धून् अतिलङ्घ्यातिक्रम्य, पदा पादेन, अवसृष्टमवज्ञया दत्तमपीत्यर्थः। तुलसिदाम तुलसिकामालिकां, केशैर्मूर्द्धजैः बहुमानेनेत्यर्थः। निवोढुं नितरां धत्तुं तव पादमूलं, प्राप्ताः। तव दासीभवितुमायाताः स्मेति भावः ॥ २९ ॥ गृह्णन्तीति ॥ किं च नोऽस्मान्, सांप्रतं, पतयः नो गृह्णन्ति, पितरौ न गृह्णीतः, सुता वा पुत्रा अपि, न गृह्णन्ति। भ्रातरश्च बन्धवश्च, न गृह्णन्ति, अन्ये चापरे तु, कुत एव गृह्णीयुः। तस्माद्धेतोः, हे अरिंदम, भवत्प्रपदयोस्त्वच्चरणारविन्दयोः पतिता आत्मानो देहा यास तासां, यद्वा। पतिताः समर्पिता आत्मानः प्रत्यगात्मानो याभिस्तासां, नोऽस्माकं, अन्या गतिः, न भवेत्। असमत्समीहितोपायोऽन्यो नास्तीत्यर्थः। अतः, त्वमेव तदस्मदभिमतं, विधेहि। यद्वा। अन्या गतिः स्वर्गादिरपि, न भवेन्मा भूदित्यर्थः। किं तु तत् त्वदविश्लेषेण त्वद्दासीत्वमेव, विधेहि। त्वमेवास्माकं वाञ्छितं संपादयेत्यर्थः ॥ ३० ॥ एवमुक्तो भगवांस्तावदयदुक्तं 'पत्यादयः केऽपि नास्मान् गृह्णन्ति' इति तत्रोत्तरमाह ॥ पतय इति ॥ हे साध्व्यः, वो युष्मभ्यं, पतयः न अभ्यसूयेरन्। पितृभ्रातृसुतादयश्चापि, नाभ्यसूयेरन्, ये लोकाश्चान्ये जना अपि, नाभ्यसूयेरन्। यतः मयाऽन्तर्यामिणा, उपेता अनुज्ञाताः सन्तः, अनुमन्तारो भवेयुः। प्रत्ययार्थं ताभ्यो देवान् प्रत्यक्षं प्रदर्शयाह। इमे देवा अपि, अनुमन्वते ॥ ३१ ॥ यदुक्तं 'तद्विधेहि' इति तत्रोत्तरमाह ॥ नेति ॥ इह लोके, नृणां अङ्गसङ्गः देहयोगः, प्रीतये वैषयिकसुखोत्थप्रीत्यर्थं, न युक्तः। अपि तु अनुरागाय मयि प्रीत्युत्पादनाय, युक्तो हि। जन्मनः फलं मद्भक्तिरेवेत्यर्थः। यद्वा नृणां चेतनानां, अङ्गसङ्गः, अनुरागाय तादात्विकरागाय एव, न तु प्रीतये कालान्तरे प्रीतिकृन्नेत्यर्थः। विश्लेषस्तु कालान्तरेऽपि प्रीतिवर्द्धक इत्यभिप्रायः। तत्तस्मात्, परोक्षमपीति शेषः। मयि, मनः युञ्जाना नियोजयन्त्यः सत्यः, अचिरात् एव, मां अवाप्स्यथ। संसृतिबन्धाद्विमुक्ताः सत्यो नित्य मदन्तमेव करिष्यथेति भावः। अत्र श्रीगोपालानन्दस्वामिचरणास्तु अङ्गसङ्गो निरन्तर मम सांनिध्यं, यत्तत्, प्रीतये सुखाय, न भवति। अनुरागाय मयि स्नेहायापि, न भवति 'अतिपरिचयादवज्ञा' इति अभियुक्तोक्तेरित्याहुः ॥ ३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

मैवमिति : १०.२३.२९.

शिरस्याधायैव व्रजत पुनरित्युक्तिमिह ते व्रजामः स्वं गेहं स्वमतिसरलानन्यगतिकाः।
पदं ते प्राप्तानां भुवि न पुनरावृत्तिरिति या तया श्रुत्या क्वेतः संदय वद गन्तव्यमधुना ॥ ६० ॥

गृह्णन्ति न इति : १०.२३.३०.

स्त्रीत्वात् कृतापराधत्वादनन्याः सम्प्रति प्रभो। चिरमेवं समालोच्य ब्रूह्यच्युत यदच्युतम् ॥ ६१ ॥

पतय इति : १०.२३.३१.

क्रूरः कृतान्तोऽपि भवेन्न तस्मिन् यो मत्कृपानुग्रहपात्रभूतः।
तद्भ्रातृभर्त्राप्तजनः कुतः स्यात् तद्यात निःशङ्कहृदः स्वगेहम् ॥ ६२ ॥

न प्रीतय इति : १०.२३.३२

अनङ्गसङ्गोत्सुकमानसानां मदङ्गसङ्गः सुतरामयोग्यः। क्वचिन्मनोजातसुखस्पृहा चेत्तत्त्वं मनोजातमिहानुयुङ्क्त ॥ ३२ ॥

कृष्णप्रिया

ऋषि पत्नियों ने निवेदन किया कि - हे समर्थ स्वामिन्! अब आप ऐसे कठोर स्नेहशून्य वचन हमें कृपया न सुनावे। भगवन्! सर्वधर्मान् परित्यज्य यह आप की प्रतिज्ञा है, यद्गत्वा न निवर्तन्ते यह भी आप का वाक्य है, "यमेप वृणुते" यह निगम का निर्देश है। ये सर्व वचन आप के ही वचन हैं, वेदतुल्य हैं अब आप आप इन वचनों को सत्य करें। हम सब आप के श्रीचरणों कमलोमें शरणागत वन कर आये हैं। हम हमारे पति पुत्र वन्धु आदि परिवार को छोडकर आपके चरणों में आये हैं हमारी कामना है कि आप के श्रीचरणों से निर्माल्य रूपमें खिलग की गई (वडी की हुई) उच्छिष्ट श्री तुलसीजी की माला को प्रसादी रूपमें हमारे केशों में धारण करना चाहते हैं। इस लिये ही आप के चरण सरोज मूलमें आयें हैं ॥ २९ ॥ अब भगवन् आप हमारी परिस्थिति को सुनिए, औरों की बात तो कौन लेकिन हमारे हैं वे हमारे पतिदेव, माता पिता, पुत्र भाई वन्धुजन और सुहृज्जन हमें स्वीकार नहीं करेंगे क्यों कि हमने उन सब की वाते टाल दी और यहां आये। अये शत्रु संतापक श्यामसुंदर अब तो आप हो हमारी गति है, आप ही हमारे आश्रय हैं, आपके समीप ही हमें रख लीजिए ॥ ३० ॥ भगवान् श्रीकृष्णने कहा, हे द्विज पत्नियाँ! आप अपने घर जाइये आप चिन्ता न करे, तुम्हारे पति, पुत्र, भाई वन्धु आदि कोई भी तुम्हारा न तिरस्कार करेंगे न दोषारोपण करेंगे क्योंकि तुम मेरे पास आई हो अधिक क्या कहा जाय। मेरे पास आने से देवता भी आदर करेंगे, सच कहो तो जो मेरे पास आ जाते हैं उनका देवता भी सम्मान करते हैं ॥ ३१ ॥ हे ऋषिपत्नियाँ इस संसारमें भगवत्स्नेह तो आत्मस्नेह है मनुष्यों को इस स्नेहमें अङ्गसङ्ग या अनुराग मुझमें स्नेह कभी उत्पन्न नहीं करेगा। इस लिए आप घर लौट जाईये। आप अपने घरमें ही रहकर मुझमें अपना मन निरुद्ध कीजिए। इसी से मुझे शीघ्र प्राप्त करेंगे ॥ ३२ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्ता [1]द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः। ते चानसूयवः [2]स्वाभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥ ३३ ॥

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्। हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥ ३४ ॥

[3]भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान्। चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥ ३५ ॥

एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्। रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् [4]रूपवाक्कृतैः ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे राजन् इति उक्ताः, ताः द्विजपत्न्यः पुनः यज्ञवाटम् गताः च ते अनसूयवः जाताः, ताभिः स्त्रीभिः सत्रम् अपारयन् ॥ ३३ ॥ तत्र एका भर्त्रा विधृता, यथा श्रुतम् भगवन्तम् हृदा उपगुह्य, कर्म अनुबन्धनम् देहम् जहौ ॥ ३४ ॥ भगवान् गोविन्दः अपि तेन एव चतुर्विधेन अन्नेन गोपान् आशयित्वा, प्रभुः स्वयम् च (बलभद्रः) बुभुजे ॥ ३५ ॥ इत्थं लीलानरवपुः नृलोकम् अनुशीलयन् रूपवाक्कृतैः गोगोपगोपीनाम् रमयन् रेमे ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनसूयवः तासु अदोषदृष्टयः ॥ ३३ ॥ देहमिति। तदीयं देहं तत्र विहाय चैतन्येन भगवंतं प्रापेत्यर्थः ॥ ३४–३५ ॥ अनुशीलयन्ननुकुर्वन्। गोगोपगोपीनामिति कर्मणि षष्ठी। रूपवाक्कृतैः रूपेण वाचा कृतैश्चरित्रैश्च रमयन्। तान् रमयितुं रेम इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

याः समागतास्ताः। इतीत्थम्। ते विप्राः। अपारयन् समापयामासुः। 'पार-कर्मसमाप्तौ' चुरादिः ॥ ३३ ॥ तत्र तासु विधृता रज्ज्वादिनाऽऽवध्य स्थापिता। तदीयम् भर्त्रा ममत्वेन स्वीकृतम्। तत्र तत्पार्श्वे। इत्यर्थ इति। देहे एव तस्य स्वत्वं न त्वात्मनीति तस्यगोचरत्वेन स्वत्वाविषयत्वात्। अतस्तत्स्वत्वाधिकरणं तत्रैव त्यक्त्वा तीव्राभिलापेण भगवंतं प्राप्तेति। भगवद्ध्यानादिना कर्मणां क्षीणत्वादिति भावः ॥ ३४ ॥ तेनैव विप्राभिरानीतेन। आशयित्वा भोजयित्वा ॥ ३५ ॥ एवमुक्तप्रकारेण। लीलावरवपुरिति ब्राह्मणीगमने तु लीलावैगुण्यं स्यादिति भावः। तान् गोपादीन्। रमयन्निति तुमर्थे शतृप्रत्ययः। इत्यर्थ इति। तदर्थमेव भगवतो रमणं न स्वार्थमाप्तकामत्वादिति ध्वनितम् ॥ ३६ ॥

१. मुनि–श्रीधर. वंशी. वीर. विज.। २. स्वाभिः–वीर. विज.। ३. भगवानथ–वीर.। ४. न्नुर–वीर.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ताभिः श्रीभगवदनुगृहीताभिः इति सत्रस्य श्रीभगवदुपेक्षया दोषः परिहृतः साद्गुण्यविशेषश्चाभिप्रेतः स्वाभिरिति पाठे निजनिजाभिः ॥ ३३ ॥ अचिरान्मामवाप्स्यथेत्युक्तं तच्च केवलं नाश्वासनायैव किन्तु वाढमङ्गीकारायेति दृष्टान्तेनाह—तत्रेति। तत्र यज्ञवाटे एका सर्वासामिति पश्चात् स्थिता विशेषेण वालाद् धृता भगवन्तमिति सर्वातिशयगुणरूपादिकं सूचितं यथाश्रुतमिति तत्रापि श्रीकृष्णरूपत्वं हृदा प्रेममयसङ्कल्पसिद्धेन देहान्तरेणोपगुह्य भयार्त्ततया सङ्कोचपरित्यागेन शरणागतां मां रक्षरक्षेति गृहीत्वेत्यर्थः। तस्य च देहस्य भगवत्प्रेममयत्वेन भगवत्सम्वन्धिसिद्धेस्तदनुयायित्वात् सिद्धत्वमपि ततः कर्मानुवन्धनमेवेदं देहं विजहाविति सविशेषणोक्तेर्नतु तदालिङ्गनसाधनं प्रेमानुवन्धनमपीत्यर्थः। विशब्दः पुनरावृत्तिं निषेधयति—अतः पतिसम्वन्धिनं देहं पत्य एव दत्वा श्रीभगवत्प्रेमसिद्धेन देहेन तं प्राप्तेति विवक्षितम् "यं यं चापि स्मरन् भावम्" इत्यादेः "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इत्यादेश्च श्रीगीतातः। प्राप्तिश्चेयं गोलोकाख्ये गोकुलस्यैव प्रकाशविशेषे ज्ञेया पूतनामोक्षे निरूपितत्वात् अग्रे च निरूपयितव्यत्वाच्चेति ॥३४॥ इत्थं तासां भक्तिविशेषो व्यञ्जितः तासु श्रीभगवदनुग्रहविशेषं चाह—भगवानिति। तत्रैवं वृत्तं जातं श्रीभगवानप्येवमकरोदित्यपि शब्दार्थः गोविन्दः श्रीगोकुलेन्द्र इति गोपपालने युक्तता तेनैवेति गोपापेक्षया अन्नस्याल्पत्वं वोध्यते तथापि पूर्त्तौ हेतुर्भगवान् सर्वसम्पत्त्याश्रयः गोपकानिति तदनुकम्पितत्वं वोधयति तेषु श्रीरामोऽपि गृहीतः तेष्विव तस्मिन्नपि तदाग्रहसम्भवात् यतः प्रभुरलङ्घ्यच्छ इत्यर्थः। स्वयं च तान् प्रति परिवेष्य स्वयमपीति तासु तादृशप्रसादे श्रीमुनीन्द्रस्य चमत्कारः अत्राप्यर्थे हेतुः प्रभुः निरर्गलानुग्रह इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ एतच्च यज्ञपत्न्यनुग्रहादिकं तस्याखिलचेष्टितं सौन्दर्य्यादिकं च श्रीव्रजजनप्रमोदनायैवेत्युपसंहरति—एवमिति। अनेनेदृशवहुललीलान्तरमप्यस्तीति सूचितं लीलामयनराकारवपुः अनुशीलयन् अनुशिक्षयन् मनुष्यलोके निजभक्तिं प्रवर्त्तयन् इत्यर्थः। यद्वा, नृलोकं तद्व्यवहारम् अनुशीलयन् सदाचरन्नित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ताभिः श्रीभगवदनुग्रहीताभिः, इति सत्रस्य साद्गुण्यविशेषोऽभिप्रेतः। स्वाभिरिति पाठे निजाभिः, अन्यथा यज्ञसमापनासिद्धेः। अनसूयव इति नाभ्यसूयेरन्निति श्रीभगवदुक्तिप्रसादेन, किंवा, श्रीभगवदनुगृहीतानां तासां समागमप्रभावेणैव ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥ पूर्वमेव तासां श्रीभगवति भक्तिविशेषदर्शनेन तेषां तासु भक्तिरेव जातास्तीत्यासयेन तासां तामुपलक्षणेन दर्शयति, यद्वा (भा १०।२३।३२) 'अचिरान्मामवाप्स्यथ' इत्युक्तम् तच्च केवलं नाश्वासनायैव, किन्तु तत्त्वतोऽपि साक्षादेकस्यास्तथा सिद्धेरित्याह—तत्रेति यज्ञवाटे तासु मध्य इति वा, विशेषेण वलाद्धस्तग्रहणपादवन्दनाद्याग्रहेण धृता सती देहं विशेषेण पुनस्तादृशजन्माभावप्रकारेण जहौ। कुतः ? कर्मभिरनुवध्यत इति तथा तत्, कर्माधीनदेहेन भगवदप्राप्तेः। अतो गुणातीतं सच्चिदानन्ददेहं तदानीमेव गोकुले प्रापेत्यर्थः। एतदभिप्रायेणैव तैर्व्याख्यातम्, भक्ताया इत्येकवचनं सद्यः सायुज्याभिप्रायेणेति, सायुज्यञ्च श्रीभगवता सह सच्चिदानन्ददेहेन नित्यसंयोगः, अत्रापि तदीयमित्यादि, तत्र तदीयमिति भर्त्तृसम्वन्धिनम्, चैतन्येनेति चिद्रूपेणेत्यर्थः। इत्थं तासां भक्तिविशेषोऽभिव्यञ्जितः ॥ ३४ ॥ तासु च श्रीभगवदनुग्रहविशेषमाह—भगवानिति। प्रकटसर्वैश्वर्य्यसम्पूर्णोऽपि, इति तस्यान्नाभावस्तथा तस्य तदीयानाञ्च क्षुद्वाधो निरस्तः। तथापि तेन यज्ञपत्न्यानीतेनैव, एवं तस्य चातुर्य्यमप्युक्तम्। गोपकानिति कप्रत्ययः, स्नेहाभिप्रायेण, आशयित्वा स्वयमेव परिवेषणपूर्वकं भोजयित्वा पश्चाद्बुभुजे तत् यतो गोविन्दो गोपचूडामणिर्गोपेषु परमवत्सल इत्यर्थः। चकारात् श्रीवलरामोऽपि, श्रीकृष्णापेक्षया तस्यादावभोजनात्; यद्वा गोपेष्विव श्रीवलदेवस्यान्तर्भावः। ततः श्रीकृष्णप्रीत्या पूर्ववत् पद्मपत्रालिवन्मगुलिकयोपविष्टानां मध्ये कर्णिकावन्निविष्टस्य तस्यादौ तैः सह भोजनं ज्ञेयम्। अत्यर्थे चकारः। प्रभुः सर्वथा परिपूर्णोऽपि स्वयमपि वुभुजे, तास्वनुग्रहविशेषात्। यद्वा, ननु वहूनां भोजनमेकेनैव युगपदचिरात् कथं सिध्येत् ? तत्राह प्रभुः सर्वशक्तिमानित्यर्थः। अतस्तासु कृपया वहुलमप्यभुङ्क्तेति ज्ञेयम् ॥ ३५ ॥ एतच्च यज्ञपत्न्यनुग्रहादिकं तस्याखिलचेष्टितं सोन्दर्यादिकञ्च श्रीव्रजजनप्रमोदायैवेत्युपसंहरति एवमिति। अनेनेदृशं वहुलं लीलान्तरमप्यस्तीति सूचितम्। लीलामयनराकारवपुरनुशीलयन् अनुशिक्षयन् मनुष्यलोके निजभक्तिं प्रवर्त्तयन्नित्यर्थः। यद्वा, नृलोकव्यवहारमनु निरन्तरं शीलयन् स्वाभाविकत्वेनाचरन्नित्यर्थः, लौकिकलीलयैव प्रायो निजप्रेमसम्पत्तेः ॥ ३६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

विधृताः अप्रेपिताः ॥ ३४–३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थं भगवतोक्ताप्ता द्विजपत्न्यो यज्ञवाटं पुनर्जग्मुस्ततः ते द्विजाः अनसूयव एव ताभिः सह सत्रम् अपारयन् समापितवन्तः ॥ ३३ ॥ तत्र द्विजपत्नीनां मध्ये काचिद्भर्त्रा विधृता निवारिता सती यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगूह्य संश्लिष्य कर्मानुवन्धनं कर्मायत्तं स्वदेहं तत्याज ॥ ३४ ॥ अथ भगवांस्तेनैव द्विजपत्नीसमर्पितेनैव अन्नेन गोपकान् भोजयित्वा तच्चतुर्विधमन्नं स्वयमपि

बुभुजे ॥ ३५ ॥ लीलया न तु कर्मणा नरस्येव वपुर्यस्य सः भगवानित्यं रूपादिभिः कृतानि चेष्टितानि तैश्च नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् गोगोपगोपीनाम् इति कर्मणि षष्ठी गवादीन् रमयन् स्वयमपि रेमे। यद्वा नृलोकमनुशीलयन्ननुरञ्जयंश्च गोगोपगोपीनां मध्ये रेमे ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

इति शब्दो हेतौ ॥ ३३ ॥ विधृता पृथक्कृता त्यक्तेत्यर्थः "विनिषेधे पृथग्भावे" इति यादवः कर्मानुबन्धनं कर्मानुगम् ॥ ३४–३५ ॥ वाग्भिः कृतैः कर्मभिश्च गोगोपगोपीनां मनांसि रमयन् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यथाश्रुतं तादृशमेव तं प्रापेत्यर्थः। तच्चाप्रकटलीलायामेवेति ज्ञेयम् ॥ ३४–३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवमासां साक्षादागत्यं पश्यन्तीनां कथामुपसंहृत्य पत्या धृतायाः कस्याचित् कथां प्रथयति—तत्रैकेत्यादि। तत्र देवयजने भर्त्रा पत्या विधृता अवरुद्धा निर्गन्तुमसमर्था यथाश्रुतं लोकमुखेन यथाकर्णितं भगवन्तं हृदोपगुह्य कर्मानुबन्धनं देहं जहौ। कर्म शुभाशुभं कर्म प्रारब्धम्, तदेवानुबन्धनं यस्य तथाभूतं देहं जहौ। अतथाभूतं देहमासाद्य तदङ्गसङ्गमङ्गलयोग्या बभूव। सद्य एव शुभाशुभकर्मक्षयादविलम्बाभावः। गोपाङ्गनानां मध्ये काचिद्भूत्वातदङ्गसङ्गिनी बभूवेत्यर्थः ॥ ३४–३५ ॥ उपसंहरति—एवमित्यादि। एवमनेन प्रकारेण सर्वप्रेमास्पदेन विलासेन नृलोकमनुशीलयन्ननुकुर्वन् रेमे। गोगोपगोपीनां रूपवाक्कृतै रमयन्नात्मानमिति शेषः। गवां रूपैर्गोपानां वाचा गोपीनां कृतैश्चरितैर्लीलानरवपुर्लीलाप्रधानं नरवद्वपुर्यस्य, लीलया आननं आनः प्राण इति यावत्। 'अन प्राणने' इत्यतो लीलानरं रातीति लीलानरं वपुर्यस्येति वा ॥ ३७–४० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

देहं कर्मानुवन्धनमिति। तस्य ध्यानलब्धालिङ्गनेनैव सर्वकर्मनाशो जात इति भावः। नन्वेवं चेत् साक्षाद्भूतानां मनसा कृतालिङ्गनानां कथं कर्मनाशो नाजनीति नाशङ्कनीयम्—"अचिरान्मामवाप्स्यथ" इति स्वयमेवोक्तत्वात्, कर्मनाशे कथं तत्प्राप्तिः ? किन्तु दग्धपटवत्तासां देहः कियन्तमेव कालं स्थित इति भावः ॥ ३५ ॥ एवं लीलानरवपुः—लीलानामननम् आनः प्राणनमित्यर्थः। तम् रातीति आनरः प्राणप्रदस्तथाविधं वपुर्यस्य ॥ ३७–४० ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

इत्युक्तास्ताः कृष्णस्याभिप्रायं ज्ञात्वैव गताः रासारम्भे गोप्यस्तु तदभिप्रायं ज्ञात्वैव स्थिता इति प्रेम्णि न कापि कापि हानिरिति ज्ञेयम् ॥ ३३ ॥ तत्र यज्ञवाटे एका सर्वासामपि पश्चात् स्थिता अत एव विशेषेण बलात् धृता कर्मानुबन्धनमेव देहं जहौ नतु प्रेमानुबन्धनं देहं तदानीमेव महाविरहौत्कण्ठ्यप्रवृद्धमनोरथेनोद्भावित भगवता स्फूर्तिप्राप्तेनोपगृहितं च तस्मात्तेन देहेन चिन्मयेन सर्वजनालक्षितेन युक्ता सती सा शीघ्रमेव ततः स्थानादभिसृत्य श्रीभगवन्तं प्रापेति कर्मानुबन्धनमिति पदस्य वैयर्थ्यादेवं व्याख्यातम्। किञ्च, ममतास्पदान् पत्यादीस्त्यक्त्वेति किं चित्रम् अहन्तास्पदं देहमपि त्यक्त्वा काचित्स्वं प्रियं कृष्णमभिसंसारेति प्रेम्णः प्रभावज्ञापनार्थं भगवत्कृपा तामेकामभिसारसमये कर्मानुबन्धं देहं त्याजयित्वैव प्रेमानुबन्धं चिन्मयदेहं ग्राहयामास तदन्यासां सर्वासां तु कर्मानुबन्धानेव देहान् स्पर्शमणिन्यायेन प्रेमानुबन्धांश्चिन्मयानेव चकारेति तद्दिनतस्तासां न स्वस्वपत्याश्लेष इति किमशक्यं भगवत्कृपायाः तस्यामेकांशेनोत्कर्षस्तदन्यास्वप्यन्येनांशेनोत्कर्ष इति तासां तारतम्यं तु भक्तिशास्त्रेष्वनिर्णीतत्वान्न शक्यते वक्तुं सर्वासामेव तासां भगवत्कृपा सिद्धमेव यदुक्तं "कृपासिद्धा यज्ञपत्नीवैरोचनिशुकादयः" इति ॥ ३४ ॥ भगवानपीत्यपिकारात् सा देहं जहौ भगवानपि गोविन्दः तस्या गाः सर्वेन्द्रियाणि रमणार्थमलक्षितं तदैव विन्दति स्मेत्यर्थो व्याख्येयः। ततश्च तेनैवेत्येवकारेण गोपापेक्षया अन्यस्याल्पत्वं बोधितं प्रभुरिति तदपि तेनैव सर्वेषामुदराणि पूरयामासेत्यर्थः। गोपकानित्यनुकम्पायां कन् चकारेण स्वयं भोक्तुमनिच्छन्नपि बुभुजे इति लभ्यते अनिच्छा च प्रेमवतीनां तासां स्वकृतेन सङ्कल्पभङ्गे न पश्चात्तापोदयात् ॥ ३५ ॥ एवं याज्ञिकपत्नीर्न रमयामास गोपस्त्रीस्तु रमयामासेत्याह, एवमिति लीलामयनरवपुरिति सर्वाभ्योपि सत्यसङ्कल्पतादि शक्तिभ्यो लीलाशक्तेरभ्यर्हितत्वाद्ब्राह्मणीजनरमणे लीलासौष्ठवाभाव एव हेतुरिति भावः। अनुशीलयन् अनुसरन् गोगोपगोपीनामिति कर्मणि षष्ठी वत्सलागोपीनामप्रासङ्गिकत्वादसामयिकत्वाच्च गोप्योऽत्र युवतय एव लभ्यन्ते रूपेण वाचा कृतैश्चेष्टितैश्च रमयन् रेमे इति रासात्पूर्वं व्रजदेवीभिः सह न रमणमिति मतं परास्तमित्येवविधा यद्यप्योऽन्या अपि व्रजलीलामयानुक्ता वर्तन्ते इति भावः ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तत्सन्निकर्षोऽस्माकं भवतु किं गृहैरित्यत्र साधनभूमौ मत्प्राप्तिसाधनं भक्तिः कर्त्तव्या सा तु स्मरणादिना भवतीत्याह— स्मरणादिति ॥०॥ अनसूयवः अदोषदृष्टयः ॥३३॥ कर्मानुबन्धनं देहं विजहौ पाञ्चभौतिक देहं विहाय भगवन्तं प्राप्तेत्यर्थः ॥३४–३५॥ लीलास्वपि अनरवपुः अचित्यानन्तानन्दस्वाभाविकविग्रहः नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् रूपवाक्कृतः रूपेण वाचा कृतैश्चरितैश्च गवादीन् रमयन् स्वय रेमे कर्मणि षष्ठी ॥ ३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

इत्युक्तास्ता भगवद्भावं ज्ञात्वैव यज्ञवाटं यागस्थलं गत "वाटो मार्गवृद्धिस्थाने" इति मेदिनी। गोप्यस्तु तद्भावं ज्ञात्वैव स्थास्यन्तीति प्रियचित्तानुवृत्तिरेव प्रेम्णः पद्धतिः ॥ ३३ ॥ तच्चाश्वासनमात्रं हरिणां तासां कृतमपितु स्वोऽर्पयिष्य त इत्यत्र दृष्टान्तत्वेनाह तत्रेति। तत्र यज्ञवाटे एका सर्वासां पश्चान्निर्गता तत एव भर्त्रा विधृता यथाश्रुतं भगवन्तं नन्दसूनुं हृदोपगुह्य आलिङ्ग्य तद्विरहवह्निना दग्धं कर्मानुबन्धनं प्रारब्धहेतुकं देहं जहौ सद्य एव गोपकिशोरी भूत्वा तं प्राप "ये यथा माम्" इति तदुक्तेः ॥ ३४ ॥ भगवानपि स्वयं बुभुजे इति अहोभाग्यं तासाम् ॥ ३५ ॥ लीलाप्रधानो नराकारवपुर्भगवान् गोगोपगोपीनामिति कर्मणि षष्ठी गोप्योऽत्र तरुण्यः ता एव रमयन् रेमे नतु ब्राह्मणीः तद्रमणे लीलासौष्ठवाभावादिति भावः। रूपेण नटवरवेषेण वाचा मधुरया कृतैश्च लौकिकैश्चरितैः नृलोकमनुशीलयन्ननुसारयन् तदरीत्येत्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

इत्युक्ता भगवतेति शेषः। ते च द्विजास्तेऽप्यनसूयवस्ताभ्यस्ताभिः स्त्रीभिः सह सत्रमपारयन्समापयन् ॥ ३३ ॥ भर्त्रा पत्या विधृता यथा नागच्छेत्तथा बलात्स्थापितावला यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगूह्यालिङ्ग्य कर्मानुबन्धनं कर्मायातं देहं विजहौ तत्याज कर्म चानुबन्धो भक्तिः कर्मभिर्व्यक्तोऽनुबन्धस्तौ नौ नियामकौ स नो नियामको यस्य तं देहं तत्रैष्यति काले विधृतं विशेषेण धृतिर्धारणं यस्याः साऽभवत् ॥ ३४ ॥ आशयित्वा स्वयं च बुभुजे तत्रत्यमप्राकृतरसं बुभुजे। अवतारे स्थूलभोजनमपि जनार्दनस्य सम्भवति। यथोक्तं प्रमेयदीपिकायाम्। अवतारेषु स्थूलमपि भुङ्क्त इति। गीतातात्पर्यबृहदारण्यकब्रह्मभाष्यासुदाहृत सत्तत्त्वरत्नमालोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ३५ ॥ एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन्ननुकुर्वन्गोगोपगोपीनाम्। कर्मणि षष्ठी गौश्च गोपाश्च तैः सहिताश्च ता गोप्यश्च ता रमयन्स्वयं रेमे। गवि गोपा गोगोपा दिवि तु देवा एव त गोगोपाश्च तथा गावश्च ताभिः पीनां पुष्टां प्रजां रमयन्निति वा रूपवाक्कृतै रूपं च वाक् च तानि कर्माणि च तै रमयन्रेमे। नृपवाक्कृतैरित्यपि पठन्ति ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

भगवतोनुल्लङ्घ्य वाक्यं तथैव कृतवत्य इत्याहेत्युक्ता इति, अयं यज्ञः प्राथमिक इति सर्वत्र द्विजग्रहणमत एवाग्रे जन्मत्रय वक्ष्यन्ति समाप्तिपर्यन्तं तु द्विजत्वमेव, ननु दीक्षितविमितादन्यत्रगमने यज्ञनाशश्रवणात् कथं प्रवासो 'गर्भो वा एष यद् दीक्षितो योनिर्दीक्षितविमितं यद् दीक्षितो दीक्षितविमितात् प्रवसेद् यथा योनेर्गर्भः स्कन्दति तादृगेव तद् यानि दीक्षितव्रतानि तानि पत्न्या' इतिश्रुतेः कथं यज्ञपूर्तिरिति चेत् सत्यं, मुख्या न गता नापि तेषामपि स्वर्गप्राप्तिः किन्तु 'पद'प्राप्तिरेवाग्रे तेषामपि भक्तत्वेन निरूपणात् संस्कारा एते फलोपकारिणो न तु यज्ञोपकारिणः, 'विवदमान आर्त्विज्यं बलीय' इतिन्यायेनापि न तासां मुख्यत्वं कर्मसमर्थता आगता एवेत्याह यज्ञवाट पुनर्गता इति, भगवदुक्तं तथैव जातमित्याह ते चेति अनसूयव एव ताभिरेव पत्नीभिः स्वसत्रमपारयन् समाप्तं कृतवन्तः ॥ ३३ ॥ मुख्या न गतेत्याह तत्रैकेति, तासु मध्य एका धृता स्वभर्त्रा यजमानेन ततोनर्थ एव जात इत्याह यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगुह्य देहं विजहाविति, त्यागे हेतुः कर्मानुबन्धनमिति, कर्मबन्धनं यस्मात्, अपकारित्वात् त्याग आत्मनोधिकारार्थमेतत्परिग्रह उपकारस्त्वेतावानेव स चान्यथैव सिद्धो भगवानेवोपगूढ इति भगवदालिङ्गिताया न स्थानान्तरं प्राप्तव्यं तच्छनुक्तीनामिव, यदेव पुनः कर्मसम्बन्ध आत्मनस्तदैव तेन बध्यत इति कर्मार्थं तत्र न गन्तव्यमवसरस्तु कर्मण इति तस्मात् त्याग एव श्रेष्ठो यज्ञ इदानीं समारूढ इति कर्माधीनत्वाभावात् न कर्मभोगो वक्तव्यो गोपिकानामिव, देवतारूपायाः पत्न्या अधिष्ठानात् कालकर्मस्वभावानिवृत्ता भगवानालिङ्गित इति भगवानपि, अतस्तस्या मुक्तिः सिद्धा ॥ ३४ ॥ तस्यामन्तःसमागतायां तां बालकांश्च भोजितवानित्याह भगवानपीति, यद्यप्यन्यथापि सर्वसामर्थ्यमस्ति, आज्ञयापि क्षुन् निवर्तयितुं शक्या, तथापि गवां सर्वस्य धर्मस्यापीन्द्र इति धर्मरक्षार्थं भक्तिरक्षार्थं स्ववाक्यरक्षार्थं च तेनैवान्नेन भक्ष्यादिचतुर्विधेन सम्पूर्णरसात्मकेन गोपकानाशयित्वा भोजयित्वा स्वयं च बुभुजे, चकाराद् बलभद्रोपि, स्वस्य भोजनं पूर्ववत्, इदानीं पत्न्या मुक्तमतो 'वा' इतिवचनं न विरुध्यते, नन्वेतदपूर्वं कथं कृतवान् ? तदाह प्रभुरिति ॥ ३५ ॥ वैदिके ज्ञानकर्मणी निरूप्योपसंहरत्येवमिति, लीलार्थमेव नरवपुर्न लोके सर्वमेव लौकिकं वैदिकमनुशीलयन् स्वधर्मैर्योजयन्नुभयविधानपि भगवच्छास्त्रानुसारिणः कुर्वन् गोगोपगोपीनां मध्ये रेमे, सम्बन्धी वा भूत्वा, द्वितीयार्थे वा षष्ठी ता रमयन् स्वयमपि रेमे रूपेण गा वचनेन गोपान् कृतैर्गोपीः, सर्वत्र सर्वं वा, सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता रमणकरणरूपाः स्वस्य रमण त्रयोपि सम्बन्धिनः ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सत्रमपारयन्नित्यत्र एकस्याः मरणेपि सत्रे यजमानस्यापि मरणे तत्प्रतिनिधिः षष्ठस्य तृतीये व्यवस्थापित इति प्रतिनिधिस्थापनेन सत्रपूरणमिति भावः ॥ ३४ ॥ तत्रैकेत्यत्र स्थानान्तरमिति देहान्तरमित्यर्थः, देवतारूपाया इति दिवुधातोः क्रीडार्थत्वादन्तर्भगवदालिङ्गिताया इत्यर्थः, भगवानपीति अन्तर्यामिरूपोपि निवृत्त इतिशेषः, अतः कृष्णे मुक्तिः सिद्धेति भावः ॥ ३४ ॥ भगवानपीत्यत्र धर्मेति प्राप्तज्ञानानां भिक्षयैव निर्वाह इतिधर्मरक्षार्थमित्यर्थः, भक्तीति भक्तायाः प्रसादार्थमित्यर्थः, स्ववाक्येति आज्ञया क्षुन्निवारणे प्रेषणवाक्यमयथार्थं स्यादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तत्रैका विधृतेत्यत्र अपकारित्वात् त्याग इति देहस्य पतिनिरोध्यत्वेन भगवत्सम्बन्धे प्रतिबन्धकत्वादपकारित्वमवगत्य त्यागः कृत इत्यर्थः, आत्मनः अधिकारार्थं एतत्परिग्रह इति, भगवदीयानां देहपरिग्रह आत्मनो जीवस्य भगवत्सेवाधिकारार्थं, न हि देहरहितेन केवलजीवेन हरिसेवां कर्तुं शक्यते अतो देहपरिग्रह इत्यर्थः, उपकारस्त्वेतावानेवेति जीवे देहकृत उपकारस्तु भगवत्सेवारूपः स उपकारः शरीरेण चेत् सिध्येत् तदा देहः समीचीनो यदि न सिध्येत् तदा तु देहः सर्वदोपनिधिः परमापकारकर्तेति, तदेवाहुरेतावानेवेति, स चान्यथैव सिद्ध इति अन्येन प्रकारेण मानसिकालिङ्गनेनैव सिद्धः "हृदोपगुह्य विजहौ" इतिवाक्यात्, तदेवाहुः भगवानेवोपगूढ इति, स्थानान्तरमिति भगवन्निकटस्थानेतरस्थानं भगवदालिङ्गिताया न भवितुमर्हति, यावद् देहास्तावत् पत्या सह कर्मसम्बन्ध आवश्यकः, कर्मणि कृते पुनर्बन्धसम्भावना, अतो देहत्याग एव श्रेष्ठ इति तं कृतवतीत्यर्थः, यज्ञ इदानीं समारूढ इत्यारभ्य वक्तव्यः इत्यन्तं, यज्ञे जायमाने मध्ये भगवतौदनयाचनाद् यजमानैरदत्ते यज्ञपत्नीभिः सर्वां सामग्रीं विधाय भगवन्निकटगमनाय प्रस्थिते भर्त्रा निरुद्धैका देहं जहौ, अतो यज्ञात्मककर्मणोऽसिद्धत्वादसिद्धस्य नियामकत्वाभावान् न कर्माधीनताः अतो न भोगो वक्तव्यः, तत्र विलक्षणो दृष्टान्तः, गोपिकानामिव, फलप्रकरणे वक्ष्यमाणानामन्तर्गृहगतगोपिकानां यथा भगवद्विरहजन्यदुःखानुभवेन पापक्षयो भगवदालिङ्गनजन्यपरमसुखानुभवेन पुण्यक्षयो निरूपितस्तथैतस्या न निरूपित इत्यर्थः देवतारूपायाः पत्न्या इत्यादि "यज्ञो वै यजमान" इतिश्रुतेराधिदैविकयज्ञस्याधिष्ठानं यजमानस्तथाधिदैविकयज्ञपत्न्या अधिष्ठान यजमानपत्नी, अतो देवतारूपाया आधिदैविकयज्ञपत्न्या अधिष्ठान यजमानपत्नीदेहस्तस्मात् कालकर्मस्वभावा निवृत्ता इत्यर्थः, तत्र हेतुर्भगवानालिङ्गित इतीति, यज्ञात्मककर्मण असिद्धत्वात् तत्कृतप्रतिबन्धाभावं निरूप्य कालकर्मस्वभावानां निवृत्तिमुक्त्वा भक्तिमार्गीयत्वादन्तर्यामिणि लयासम्भवादन्तर्यामी भगवानपि निवृत इत्याहुः भगवानपीति, निवृत्तस्तिरोभूत इति यावत्, अतः सा परमभक्ता पुरुषोत्तमे मुक्तिं प्राप्तेतिसिद्धम् ॥ ३४ ॥ रमयन् रूपवाक्कृतैरित्यस्य विवृतौ सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता इति त्रयः पदार्थाः रूपवाक्कृतरूपाः सच्चिदानन्दा इत्यर्थः, त्रयोपि प्रत्येकं सच्चिदानन्दरूपा न तु रूपादिष्वेकैकमितिज्ञेयम् ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ते च ब्राह्मणाः अनसूयवः तासु स्वाज्ञोल्लङ्घनादिदोषदृष्टिरहिता एव, स्पष्टमन्यत् ॥३३॥ तत्र यज्ञवाटे पूर्वं गमनसमय एव एका ब्राह्मणी भर्त्रा विधृता गृहीता सती यथाश्रुतं भगवन्तं हृदा मनसा उपगुह्य कर्मानुबन्धनं यस्य तथाभूतं स्वदेहं विजहौ, विहाय च शुद्धस्वरूपेण भगवन्तं प्राप्तेति ज्ञेयम् ॥ ३४ ॥ भगवानपि ऐश्वर्यादिगुणवत्त्वेन सङ्कल्पमात्रेण अन्नादिसम्पादनसमर्थोऽपि तथा प्रभुरपि राजवदाज्ञयापि तत्सम्पादनसमर्थोऽपि गोविन्दः श्रीकृष्णस्तेनैव भक्तवात्सल्यप्रदर्शनाय विप्रभार्याभ्यो याचितेनैव चतुर्विधान्नेन गोपकान् आशयित्वा स्वयं च तदेव बुभुजे इत्यन्वयः ॥ ३५ ॥ 'एवंविधा अनेका भगवल्लीलाः स्वभक्तानां व्रजवासिनां प्रमोदायैव' इति वदन् उपसंहरति—एवमिति। लीलार्थं स्वीकृतनरवपुः श्रीकृष्णः एवं नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् गोगोपगोपीनाम् इति कर्मणि षष्ठी। रूपवाक्कृतैः रूपसौन्दर्येण वाङ्माधुर्येण कृतैर्नानाविधचरितैश्च गोपादीन् रमयन् रमयितुं रेमे इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

श्रवणादिति ॥ श्रवणादित्यसार्वत्रिकः श्लोकः। यथा श्रवणात् दर्शनात् ध्यानात् अनुकीर्त्तनात् च मयि भावः स्यात् तथा बहुकालं सन्निकर्षेण न स्यात्। ततो हेतोर्यूयं गृहान् प्रतियात ॥ ३३ ॥ इतीति इत्युक्तास्ता यज्ञपत्न्यः पुनर्यज्ञवाटं गताः। ते ब्राह्मणा अनसूयवः स्वाज्ञोल्लङ्घनादिदोषदृष्टिरहिता एव स्वाभिः स्त्रीभिः सह। ताभिरित्यपि पाठः। सत्रं यज्ञम् अपारयन् समापितवन्तः ॥ ३४ ॥ तत्रेति ॥ तत्र यज्ञवाटे एका ब्राह्मणी भर्त्रा विधृता बलाद् गृहीत्वा रुद्धा सती यथाश्रुतं भगवन्तं हृदा मनसोपगुह्य कर्मानुबन्धनं यस्य तथाभूतं पतिस्वभूतं देहं विजहौ। विहाय च श्रुतस्वरूपेण भगवन्तं प्राप्ता ॥ ३५ ॥ भगवानिति ॥ भगवान् प्रभुरपि गोविन्दः तेनैव द्विजपत्नीभिरानीतेनैव चतुर्विधेनान्नेन गोपकान् आशयित्वा स्वयं च तदेव बुभुजे ॥ ३६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कृष्णेऽनन्यभक्त्या यज्ञस्य विष्णोरेव पत्न्याः न तु विप्राणामित्यर्थः। यज्ञवाटं यज्ञस्थानं अनसूयवः दोषारोपणरहिताः ताभिः यज्ञं समापयन् ॥ ३३ ॥ तत्र तासु एका विधृता गृहे रुद्धा हृदा मनसा उपगुह्य आलिङ्ग्य कर्मणा अनुबंधनं संस्था यस्य तं देहं विजहौ ततो भागवतीं तनुं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ ते ऋषिपत्नीदत्तेनान्नेन नाशयित्वा भोजयित्वा ॥ ३५ ॥ अनुशीलयन्ननुसरन् रूपवाक्कृतैः रूपेण देहेन वाचा च कृतैश्चरितैः गोगोपगोपीनामिति कर्मणि षष्ठी ताः रमयन् रमयितुं तत्सुखं कर्तुं रेमे। न तु स्वप्रयोजनायेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स्मरणादिति ॥ स्मरणात्, दर्शनात्, ध्यानात्, अनुकीर्त्तनात्, यथा मयि भावः तिष्ठति, तथा संनिकर्षेण न तिष्ठति। ततः, गृहान् प्रतियात ॥ ३३ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, उक्ता भगवताभिहिताः, ताः विप्रपत्न्यः द्विजपत्न्यः, पुनः पुनःशब्दोऽत्रत्यर्थः। यज्ञवाटं यज्ञपथं, गताः। ते यज्ञकर्त्तारो ब्राह्मणाश्चापि, अनसूयवोऽसूयावर्जिताः सन्तः, ताभिः स्त्रीभिः स्वस्वाङ्गनाभिः सहिताः भूत्वा, सत्रं यागं, अपारयन् समापितवन्तः ॥ ३४ ॥ विप्रपत्नीनां भगवदन्तिकागमनकाले कस्याचित् विप्रपत्न्या जातं वृत्तं संस्मृत्य मुनिराह ॥ तत्रेति ॥ तत्र द्विजपत्नीनां मध्ये, एका काचिद्ब्राह्मणी, भर्त्रा स्वस्वामिना, विधृता गृहाभ्यन्तरे निरुद्धा निवारिता वा। सा तु यथाश्रुतं, भगवन्तं हृदा स्वमनसा, उपगुह्याश्लिष्य, कर्मानुबन्धनं देहं, विजहौ ॥ ३५ ॥ भगवानिति ॥ अथ गोविन्दः भगवान् अपि, चतुर्विधेन तेन द्विजान्नसमर्पितेन एव अन्नेन, गोपकान् गोपालान्, आशयित्वा, प्रभुः श्रीकृष्णः स्वयं च स्वयमपि, बुभुजे ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इत्युक्ता इति : १०.२३. ३३.

वन्द्याः साध्व्यः स्वभावाद् द्विजवरवनितास्तत्र तत्राग्निहोत्र्यस्तत्राप्यन्नप्रदात्र्योऽखिलजगति यशोदानदक्षा गरिष्ठाः।
इत्थं सन्मार्गशैली स सदयहृदयो दर्शयन् मातृतुल्यं कृत्वा तासु प्रसादं पतिपरिचरणेऽयोजयद् वेदवक्ता ॥ ६४ ॥

तत्रैकेति : १०.२३.३४.

भक्तप्रियो हि भगवानिति मत्सखीभिर्भक्तं समर्प्य निजजन्मकृतं कृतार्थम्।
भक्तोत्तमं तदहमप्यचिरात् स्वमेव रुद्धापि सम्प्रति करोमि तदग्र एव ॥ ६५ ॥
इत्याशया समर्प्य स्वं रुद्धा काचिद् दयालुप्रः। सर्वबन्धविनिर्मुक्तिं प्रतिमूल्यमिवाऽऽददे ॥ ६६ ॥ (युग्मम्)
सदाशयालम्बितभक्तभावाः सखीर्मनोजातसुखेन याताः।
निरीक्ष्य साऽपीशपदाब्जमागात् तथैव तत्साधुविमुक्तबन्धा ॥ ६६ ॥
स्वान् भर्तॄ नतिलङ्घ्य विप्रवनिता याताः परं पूरुषमित्याभासकलङ्कभाजनमपि स्यां नाहमित्याशयात्।
देहं भर्तृगृहीतपाणिमचिरादालोच्य भर्त्रे स्वकं दत्वा भागमदात् सुभक्तिचतुरा सांशं परस्मै परम् ॥ ६८ ॥

भगवानपीतिः १०.२३.३५.

यन्मुक्त्यर्थमियान् यत्नो यद्योगात् सत्कृताः स्त्रियः। सा क्षुत् स्थिता तथैवेति भुक्त्या निर्वाणमापिता ॥ ६९ ॥
विप्रपत्नी क्षुधा चापि भक्तभावार्थकाङ्क्षिणी। निर्वाणं द्वे अपि प्राप्ते युक्तं भोग्योपभुक्तितः ॥ ७० ॥
त्वत्पादम्बुजसेविनोऽतिलघवोऽप्यस्मिन् परानुग्रहे त्वत्तोऽपि प्रतिभान्त्यनामयसुखे निःसीमशक्त्याश्रिताः।
या क्षुच्छ्रान्तिरपीश तत्र तु तवासाध्याऽऽस सैकक्षणाद्भक्तेन प्रकटीकृतातिलघुनाऽप्यस्माद् विनिश्चीयते ॥ ७१ ॥
न मन्त्रिणां वा न च तन्त्रिणां वा न सत्रिणां वा सुलभस्तथाऽहम्।
मद्भक्तिभाजां च यथेत्यदर्शि विज्ञेषु तत्स्त्रिषु च दीनबन्धो ॥ ७२ ॥
आम्नायाभ्यसनेन किं फलमलं कृच्छ्राद्यनुष्ठानतः किं योगेन जपेन वा सुतपसा त्यागेन यागेन च।
एकः शुद्धतरो न चेद्बत मनोभावो हरौ सोऽस्ति चेत् स्यात्तेनैव कृतार्थता किमपरैरत्र प्रमाणं हि ताः ॥ ७३ ॥
अन्नेन द्विजयोषितोऽप्यवनि यं कृत्वा सकृत्सत्कृतं प्रापुः सौख्यमलं बभुरपि ताः सद्वर्ण्यभाग्यान्विताः।
तस्मिन् श्रीयदुनायके विदधतां नित्यं सदिष्टार्पणं भाग्यं वक्तुमशेषतो व्रजजुषां तेषां न शेषोऽप्यलम् ॥ ७४ ॥

कृष्णप्रिया

श्रीशुकाचार्य महाराज ने कहा—राजन् परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्णजी के विवेकपूर्ण वचन सुनकर वे द्विजपत्नियाँ यज्ञशाला-यजमान पत्नीशाला की ओर लौट गयी। वहाँ जाने पर उन ऋषियों ने अपनी पत्नियों में लेशमात्र न असूया की न

तो दोषारोपण किया। उन पत्नियों के साथ मिलकर विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त किया ॥ ३३ ॥ राजन्! उन सब ऋषिपत्नियों में जो मुख्य यजमान पत्नी थी उसके पति ने उसको रोक लिया जिससे वह श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शन के लिए न जा सकी। उसने जिस स्वरूप से भगवत्स्वरूप श्रवण किया था, भगवान का उस स्वरूप का मानसिक ध्यान करके हृदय से आलिङ्गन किया और कर्म का बन्धन करने वाले अपने शरीर को छोड़ दिया। भगवत्कृपा से वह ऋषिपत्नी सब पत्नियों से पहले भगवान को मिला ॥३४॥ प्यारे श्रीकृष्ण प्रभु गोविन्द ने, भक्ष्य-भोज्य-चोष्य और लेह्य चारों प्रकार के अन्न से सर्व ग्वालवालों को भोजन कराया और श्रीबलभद्रजी के साथ आपने भी भोजन किया ॥ ३५ ॥ भक्तजनों के निरोध के लिये विविध प्रकार की लीला करने वाले मनुष्य रूप धारण करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार नरलोक के सभी धर्मों का अनुशीलन करते हुए, अपने स्वरूप, वचन और कर्मों के माध्यम से गौओं गोपों एवं गोपीजन-सभा को रमण कराते थे और स्वयं भी रमण करते थे ॥ ३६ ॥

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः। यद् विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म[1] नृविडम्बयोः ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्। आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥ ३८ ॥
धिग्[2] जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्। धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥३९॥
नूनं भगवतो माया [3]मायिनामपि मोहिनी। यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥ ४० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अथ ते विप्राः, नृविडम्बयोः विश्वेश्वरयोः यत् याच्ञाम् अहन्म, इति अनुस्मृत्य कृतागसः अन्वतप्यन् ॥३७॥ भगवति कृष्णे स्त्रीणाम् अलौकिकीम् भक्तिम् दृष्ट्वा, च आत्मानम् तया हीनम् दृष्ट्वा अनुतप्ताः व्यगर्हयन् ॥ ३८ ॥ नः त्रिवृत् जन्म धिग्, नः विद्याम् धिक्, नः व्रतम् धिक्, नः बहुज्ञताम् धिक्, नः कुलम् धिक्, नः क्रिया दाक्ष्यम् धिक्, न तु अधोक्षजे विमुखाः ॥ ३९ ॥ नूनम् भगवतः माया मायिनाम्, अपि मोहिनी, यद् वयम् द्विजाः, नृणाम् गुरवः स्वार्थे मुह्यामहे ॥ ४० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनुस्मृतिप्रकारमाह। नरानुकरणवतोर्विश्वेश्वरयोर्याच्ञां यदहन्म हतवंतस्तत्कृतागसो वयमित्यनुस्मृत्येति ॥ ३७ ॥ तदा च भार्या गुरूनिव मानयंतो भगवद्भक्तिरहितमात्मानं न्यनिंदन्नित्याह। दृष्ट्वेति। अलोकिकीं लोकातीताम् ॥ ३८ ॥ त्रिवृत् शौक्लं सावित्रं दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म। व्रतं ब्रह्मचर्यम्। क्रियाः कर्माणि दाक्ष्यं च क्रियादाक्ष्यमित्येकं वा पदम्। धिगित्यधिक्षेपे। ये वयं त्वधोक्षजे विमुखास्तेषां जन्मादि तत्सर्वं धिगिति न्यगर्हन्नित्यर्थः ॥ ३९–४० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नन्वेते विप्राः समीचीना न वा। अनुभवासत्त्वान्नाद्यः, हरिभक्तस्त्रीसंबंधान्न द्वितीय इति राज्ञो मानसाक्षेपं परिहरन्नाह अथेति। ते विप्राः। अथ कोऽर्थो मंगलाः। कुतो—यतोऽन्वतप्यन्, तदपि कुतः—यतः कृतागसः, तत्र किं मानमिति चेदाह—अनुस्मृत्येति। अनुस्मरणं मानम्। किमपराद्धं तत्राह—अहन्मेति। तिरस्कृतवंत इत्यर्थः। स्वामिव्याख्याने अनुकरणशब्दार्थः तद्भिन्नत्वे सति तत्तुल्यत्वमिति ॥ ३७ ॥ तदा चानुस्मरणावसरे। अलौकिकीं लोकमर्यादामपाकृत्य कृताम्। तया भक्त्या ॥ ३८ ॥ शौक्लं शुद्धमातापितृतः, सावित्रम् उपनेतुः, दैक्ष्यम् देवदीक्षारूपम्। पृथक्कृत्य व्याख्याने हरिसेवारूपकर्मणां तत्रैव दाक्ष्यस्य च बोधादशोभनतां मत्वाह—एकपदमिति। क्रियादाक्ष्यं व्यावहारिककर्मकौशलं यागादिक्रियाकौशलं वा। इत्यर्थ इति। "तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ॥" इत्युक्तेः ॥ ३९ ॥ शास्त्रज्ञानमपि फलावसरे फलाकरणादकिञ्चित्करमेव। भगवदनुग्रह एव ज्यायानित्याशयवंत आहुः—नूनमिति। योगिनाम् ज्ञानिनाम्। यद्यतः। द्विजा द्विजोत्तमाः। गुरुपदसान्निध्याद्द्विजपदेन ब्राह्मणग्रहः। गुरवः "वर्णानामाश्रमाणाञ्च मुख्योऽभूद्ब्राह्मणो गुरुः" इत्युक्तेः, "आचार्यत्व गुरुत्वञ्च विप्रस्यैव वरानने" इति स्कांदोक्तेः। स्वार्थे भगवत्प्राप्तिरूपे "स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यद्धरेर्दर्शनादिकम्" इत्युक्तेः ॥४०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पतयो नाभ्यसूयेरन्नित्यादिना लब्धतादृशभगवत्प्रसादानां पत्नीनां सङ्गप्रभावेन तत्पतीनामपि सद्बुद्धिर्जातेति तासां माहात्म्यमेव दर्शयितुमाह—अथेत्यादिना यावत्समाप्ति। अथ तत्प्रघट्टकानन्तरं ते दुरभिमानग्रस्ता अपि अन्वतप्यन्। ननु, विश्वेश्वरयोर्याच्ञा कथं सम्भवेत्तत्राहुः नृविडम्बयोर्लौकिकलीलां विस्तारयतोरित्यर्थः। यद्वा, नूनं अस्मान् तद्भक्तिहीनान् विडम्बयत

---

१. महन्मर्त्यविडं–विज.; महनन्नृविडं–विज.। २. धिग्जन्म नः सुहृद्वृतं–वीर.; धिग्जन्म नस्तु धिग्बुद्धिं धिग्वृतं–विज.; धिग्जन्म नस्त्रिवृतम्–इति कस्यचित्। ३. योगिनामपि–श्रीधर. वंशी. वीर. जीव. विश्व.; मायिनामपि–विज.।

उपहसत इति तथातयोः अस्मद्वाच्यप्रयोगस्तदानीमपि ' दुरभिमानगन्धानुवृत्तेर्लज्जातो वा ॥ ३७ ॥ भगवति साक्षात्परमेश्वरे तत्रापि श्रीकृष्णे निजाशेषैश्वर्यप्रकटनेन सर्वचित्ताकर्षके न केवलमन्वतप्यन् किन्त्वनुतप्ताः सन्तो विशेषेण निजाशेषाभिमानत्यागादिना अगर्हयंश्चेत्यर्थः अलौकिकीं लोकद्वयापेक्ष्यात्यागात् कृष्णाप्राप्त्या सद्यो देहत्यागाच्च ॥ ३८ ॥ ये अधोक्षजे प्रत्यग्वृत्तौ प्रादुर्भाविनि परमात्मन्यपि विमुखास्तेषां जन्मादीनि धिगिति शौक्लस्य जन्मनः "किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा" इति न्यायेन तद्भक्तौ उपयुक्तत्वेष्यनुयोजनात् सावित्रस्य तदभिधायित्वेन गायत्र्यज्ञानात् गायत्र्यास्तत्परत्वं च तदर्थविस्तररूपस्य श्रीमद्भागवतस्य तत्परत्वात् तदुक्तं गायत्रीं भगवत्परत्वेन व्याख्यायाग्निपुराणेपि "यत्राधिकृत्य गायत्रीं कीर्त्यते धर्मविस्तरः" इत्यादि दैक्ष्यस्यापि—

"अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते" ॥ इति

तत्त्वाज्ञानात् एवं व्रतादीनामपि कुलं वंशपरम्परां अहो कष्टं मायामोहितानामयमेवेत्याहुः नूनमिति निश्चितं योगिनां कर्माष्टाङ्गज्ञानयोगनिष्ठानामपि इत्यात्मनो योगित्वाभिमानात् यद्वा योगिनामपि किमुत कर्मिणामस्माकमिति नृणां योगत्रयजिज्ञासूनां सर्वेषामपीत्यर्थः। तदुक्तं तानुदिश्य श्रीशुकेन "बालिशा वृद्धमानिनः" इति गुरवः श्रेष्ठा अपीत्यर्थः "वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" इति न्यायात् उपदेष्टारोपीति वा मुह्याम मोहं प्राप्नुम हे द्विजा इत्यनुतापेनान्योन्यं सम्बोधयन्ते यद्वा द्विजा वयं मुह्यामहे इत्यात्मनेपदमार्षम् ॥ ३९-४० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पत्नीनां संगप्रभावेण तत्पतीनामपि सद्बुद्धिर्जातेति तासां माहात्म्यमेव दर्शयितुमाह—अथेत्यादिना यावत्समाप्ति। अथ तदनन्तरं तत्प्रघट्टकानन्तरमेव, पत्नीनां संगतो दुर्वासनाक्षयात्; यद्वा, यज्ञसमापनानन्तरं श्रीभगवद्भुक्तशेषेण यज्ञसमापनतो यज्ञस्य सत्फलोत्पत्त्या चित्तविशुद्धिसम्पत्तेः। यद्वा, श्रीभगवतो भोजनानन्तरं तेन तदन्नस्वीकारतस्तद्भक्त्युत्पत्तेः, किंवा तासां यज्ञस्थानगमनानन्तरमेव तासां सन्दर्शनप्रभावादिति दिक्। अनुस्मृत्य अनुसन्धाय, ते दुरभिमानग्रस्ताः, अन्वतप्यन् अशोचन्, विश्वेश्वरयोरिति न केवलं भगवदवतारस्य श्रीसंकर्षणस्य, अवतारिणः श्रीकृष्णस्यापीत्यर्थः। ननु तर्हि तयोर्याच्ञा कथं भवेत्? तत्राहुः—नृविडम्बयोर्लौकिकलीलां विस्तारयतोरित्यर्थः। यद्वा, नृन् तद्भक्तिहीनानस्मान् विडम्बयत उपहसत इति तथा तयोः, अस्मच्छब्दाप्रयोगस्तदानीमपि दुरभिमानगन्धानुवृत्तेः, लज्जातो वा। किंवा ब्राह्मणाभिमानत्यागेन केवलमात्मनो नृत्वमात्रदृष्टितः ॥ ३७ ॥ भगवति साक्षात् परमेश्वरे, तत्रापि कृष्णे निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनेन सर्व्वचित्ताकर्षके, विशेषेण निजाशेषाभिमानत्यागादिना गर्हयन्; अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, न केवलमन्वतप्यन् आत्मानमनिन्दंश्चेत्याह—दृष्ट्वेति। अलौकिकीं लोकद्वयापेक्षात्यागात् कृष्णाप्राप्त्या सद्यो देहत्यागाच्च; यद्वा, (भा० ११।२।४०) 'हसत्यथो रोदिति' इत्याद्युक्तलोकातीतप्रेमसम्पत्तिलक्षणोदयात् ॥३८॥ जन्मादीनामुत्तरोत्तरमुत्तमतामभिप्रेत्य क्रमेणाधिक्षिपन्ति—धिगिति। जन्म धिक् तत्र च विशुद्धमातापितृभ्यां शौक्लं जन्म, सावित्रमुपनयनाख्यम्, दैक्ष्यं यज्ञादिदीक्षासम्बन्धि, अधोक्षजे श्रीयशोदानन्दनेऽपीत्यर्थः। एतन्निरुक्तिः पूर्व्वमेव लिखितास्ति ॥३९॥ अहो कष्टं मायामोहिता नाम वयमेवेत्याहुः। नूनमिति निश्चितम्, योगिनां ज्ञानयोगवतामित्यात्मनो योगित्वाभिमानात्; यद्वा, योगिनामपि किमुत कर्म्मिणामस्माकं गुरवः श्रेष्ठा अपीत्यर्थः। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' इति न्यायात् उपदेष्टारोऽपीति वा; मुह्याम मोहं प्राप्नुम; हे द्विजा इत्यनुतापेनान्योन्यं सम्बोधयन्ति; यद्वा, द्विजा वयं मुह्यामह इत्यात्मनेपदमार्षम् ॥ ४० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अहन्म वितथीकृतवन्तः ॥ ३७-३८ ॥ कुलं कुलपुरुषान् ॥ ३९-४० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथेति। अथ विप्राः अनुस्मृत्य भगवान् यदुष्ववतीर्ण इति श्रुतत्वादनुस्मृत्येत्यर्थः। कृतागसो हेतुगर्भमिदं तच्चादन्वतप्यन् किं तदागः यतोऽन्वतप्यंस्तत्राह—ययस्मान्मर्त्यमनुकुर्वतोर्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन् वभञ्जुः ततः कृतागसः अहन्निति यतवेवागः इति वा ॥ ३७ ॥ ततः भगवत्यनन्तो भगवद्भक्तिरहितमात्मानं व्यनिन्दन्नित्याह—दृष्ट्वेति। अलौकिकीम् अनितरजनसाधारणी तया कृष्णभक्त्या हीनं रहितम् ॥ ३८ ॥ गर्हाप्रकारमेवाह—धिगिति। नोऽस्माकं जन्म धिक् 'उभसर्वतोः कार्याधिक्' इत्यादिवचनेन शेषपष्ठ्ययवादकत्वेन जन्मादीनां द्वितीया धिक्शब्दो निन्दाद्योतकः। अस्माकं जन्मादयो निन्द्याः इत्यर्थः क्रियाः यज्ञादिरूपाः दाक्ष्यं तदनुष्ठानसामर्थ्यं तत्र हेतुं वदन्तो विशिंषन्ति ये वयमधोक्षजे विमुखाः त्रिवृदिति पाठे जन्मनो विशेषणं शौक्लं सावित्रं दैक्ष्यमिति त्रिगुणीकृतं जन्मेत्यर्थः। नस्तु धिक् बुद्धिमिति पाठे स्पष्टोऽर्थः व्रतं ब्रह्मचर्यम् ॥ ३९ ॥ भगवन्मायातरणहेतुस्वप्नकरेव

न तूकजन्मादयः इत्यभिप्रायेणाहुः –नूनमिति द्वाभ्याम्। नूनं मायिनामपि मोहिनी यच्चरमाद्वयं द्विजा अपि उक्तजन्मादिमन्तोपि तत्रापि नृणां गुरवोपि स्वार्थेष्वहिते विषये मुह्यामहे भगवन्मायया मोहिता एवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नन्वेते विप्राः समीचीनाः ? उतासमीचीनाः ? नाद्यः अनुभवादर्शनात् न द्वितीयः कृष्णपरायणानां स्त्रीणां पाणिग्रहण-सम्बन्धदर्शनात् अथ कथं निर्णय इति राज्ञो मानसीं शङ्कां परिहरति–अथेति। ते विप्रा अथ मङ्गलाः कुतोन्वतप्यन् यतः कृतागसः कृतापराधत्वात् अपराधसद्भावे किं प्रमाणमिति तत्राह–अनुस्मृत्यति अनुस्मरणं प्रमाणमित्यर्थः। कोसावपराधः ? इति तत्राह यदिति अहनन् हिंसितवन्तः तिरस्कृतवन्त इति यतस इत्यर्थः। नृविडम्बयोः मनुष्यमनुकुर्वतोः ॥ ३७ ॥ तेषामनुतापः कथमभूदिति तत्राह दृष्ट्वेति ॥ ३८ ॥ किमाकारोसावित तत्राह—धिगिति। ततो जन्मादिकं धिक् कुत्सितं"धिग्भर्त्सने कुत्सने" इति च ॥ ३९ ॥ शास्त्रज्ञानमप्रयोजकं प्राप्ते काले फलाभावादतो भगवदनुग्रह एव वरीयानित्याशयेनाहुः नूनमिति। मायिनां ज्ञानिमपि अत्र हेतुमाह यद्वयमिति गुरवो द्विजातय इत्येतद्द्वयं मोहासम्भवे हेतुः ॥ ४० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एवं तस्य सर्वमपि श्रीगोकुलसौख्यायैवेत्याह –एवमिति। अथेति। पतयो नाभ्यसूयेरन्नित्यादिना लब्धभगवत्प्रसादेनानुस्मरणं ज्ञेयम् ॥ ३७–५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अथानुस्मृत्येति तेषामनुस्मरणनिर्वेदादिकं तासां दर्शनभाग्यादिति ज्ञेयम्। तेषामनुतापप्रकारमाह–यद्यस्माद्विश्वेश्वरयोरपि याञ्चामहन्म हतवन्तो वयं तस्मात् कृतागसोऽभूम कीदृशयोः नृन् अस्मान् विडम्बेते इति तयोः अन्नप्रार्थनेनैवास्मान् वञ्चितव-तोरित्यर्थः ॥ ३७ ॥ ततश्च स्वभार्य्या अपि गुरूनिव मानयन्तो भक्तिरहितमात्मानं व्यनिन्दन्नित्याह–दृष्ट्वेति। अलौकिकीं लोकेष्व-सम्भवाम् ॥ ३८ ॥ त्रिवृत् शौक्लं सावित्रं दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्मनोऽस्माकं यत्तत् धिक् व्रतं ब्रह्मचर्य्यं क्रियाः नित्यनैमित्तकादि-कर्माणि ये वयमधोक्षजे श्रीकृष्णे तु विमुखा एव ॥ ३९ ॥ योगिनामष्टाङ्गयोगवतामपि किं पुनरस्माकं कर्मणां गुरवः परेषां नृणा-मर्थोपदेष्टारोऽपि स्वार्थे मायया मुह्यामहे ॥ ४० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नृविण्डवयोः क्षुधार्दितत्वादिनान्दन् अनुकुर्वतोः विश्वस्य सर्वेश्वरयोः याञ्चाम् अहन्म हतवन्तः इत्यनुस्मृत्य अथानन्तरं कृतागसो वयमित्यन्वतप्यन् ॥ ३७–३८ ॥ आत्मगर्हामेवाविष्कुर्वन्त आहुः—धिगिति। ये अधोक्षजे विमुखास्तेषां नोऽस्माकं शौक्लं सावित्रं दैक्ष्यमित्येवं त्रिवृत् त्रिर्गुणितमपि यज्जन्म तत् धिक् यद्व्रतादिकं तच्च धिक् ॥ ३९–४० ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

पत्नीनां दर्शनाद्विप्राणां निर्वेदोऽभूदित्याह—अथेति। यस्माद् विश्वेश्वरेऽपि याञ्चामहन्म अतः कृतागसोऽपराधिनो वयं कीदृशयोरित्याह नृन् अस्मान् विडम्बेते अन्नप्रार्थनेन प्रतारयत इति तयोरित्यनुस्मृत्य तेऽन्वतप्यन् पश्चात्तापमभजन् ॥ ३७ ॥ अतः स्वपत्नीः गुरूनिव सत्कुर्वन्तो भक्त्या हीनमात्मानं व्यनिन्दन्नित्याह—दृष्टेति। अलौकिकीं लोकेष्वसम्भवाम् ॥ ३८ ॥ त्रिवृत् श्लोकं सावित्रं दैक्षञ्चेति त्रिगुणितं नो जन्म धिक् व्रतं ब्रह्मचर्यादि बहुज्ञतां वेदार्थव्युत्पत्तिं कुलं मातृतः पितृतश्च विशुद्धं क्रियायां नित्यनैमित्तिकलक्षणायां दाक्ष्यं तदनुष्ठानं चातुर्यमित्येतत् सर्वं शोच्यमभूत् ये वयमधोक्षजे विमुखाः येन हरिस्तुष्येत्तदेव सफल-मन्यत्तु विफलमिति भावः ॥ ३९ ॥ नूनं निश्चितं हरेर्मायैवात्रहेतुः यतो वयं ब्राह्मणा नृपं गुरवस्तत्वोपदेष्टारोऽपि स्वयं स्वार्थं न विद्मः ॥ ४० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अथ ते विप्रा नृविडम्बयोर्विश्वेश्वरयो रामकृष्णयोर्यद्यतो याञ्चाऽहन्म। अहनन्निति पाठे छन्दसो विकरणव्यत्यय इव पुरुषव्यत्ययोऽपीति स न सरलः। नाशितवन्तस्तस्मादनुस्मृत्य तदीश्वरत्वं स्मृत्वा कृतागो यैस्ते तथेत्यन्वतप्यन्पश्चात्तापं प्रापुः। इदं दिनमादीकृत्य विप्राः पश्चिमबुद्धय इति प्रसृतमाभाणकमिति किंवदन्ती ॥ ३७ ॥ किं दृष्ट्वाऽनुतापो विप्राणामित्यत आह। भगवति कृष्णेऽलौकिकीं स्वादिविलक्षणां भक्तिं दृष्ट्वा तया तादृश्या हीनमात्मानं स्वमनुतप्ता व्यगर्हयन्ननिन्दन्नितं ॥ ३८ ॥ येऽधोक्षजे विमुखास्तेषां नो जन्म धिक् परनिन्दनमिव स्वनिन्दनमेवमिति तत्प्रकारं निरूपयन्ति ॥ धिग्जन्मेति। न इति सर्वान्वयि।

निधत्ता तस्येत्यर्थः बहुज्ञता समस्तसमयज्ञता कुलम्। पत्न्यस्तु कुलान्तरायाता इति स्वकुलं ग्राह्यम्। क्रिया दाक्ष्यं कर्म समर्थताः। तु समुच्चये वर्तते॥ ३९॥ मायिनां ज्ञानिनामप्यायिनामकुलचेतसामपि शिखादिर्माया मोहिनी मोहिका यद्यतो नृणां गुरवो द्विजा अपि वयं स्वार्थे मुह्यामहे। हे द्विजा इति कांश्चित्सम्बोध्य केचिद्वदन्तीति वा॥ ४०॥

श्रीसुबोधिनी

एवं ज्ञानकर्मणि द्विविधे निरूप्य तयोः फलं भक्तिं निरूपयत्यथेति, एका हि भगवतः कृतिरनेककार्यसाधिका तेषां द्विजानां प्रबोधनं बालकशिक्षार्थं पत्न्या मुक्त्यर्थं तेषां प्रबोधार्थं मर्यादास्थापनाद्यर्थं चातो वाक्येन प्रबोधितानां द्विजानां वाक्यान्याह भक्तिबोधकानि,

> पश्चात्तापो विगर्हा च हेतुरतस्य च रूप्यते। तथात्वे चापि हेतुर्हि स्वहीनत्वं च कर्मभिः॥ १॥
> संस्काराणामहेतुत्वं भक्तेरन्यच्च साधनम्। स्वभक्तेर्बोधनं हेतुरन्यथा नोपपद्यते॥ २॥
> तथात्वसाधनं तस्य कर्मवैयर्थ्यबोधनम्। द्वाभ्यां रूपद्वयोक्त्यैव स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थता॥ ३॥
> क्षमापनं नमस्कारैः प्रार्थनाभिर्निरूप्यते। अनागमनमिच्छातो भक्त्यैवेत्थम्मतिर्भवेत्॥ ४॥

प्रथमतोनुतापमाहाथानुस्मृत्येति, भगवदीयानां वाक्यं स्मृत्वा तन्मूलभूतं भगवद्वाक्यं तद्द्वारानुस्मृत्य कर्मजडतां विहाय भक्त्यनुसारिणो भूत्वा विप्राः पश्चादेव जायमानज्ञानाः कृतागसो भूत्वा पत्नीनिरोधेन निषेधेनावाच्यकथनेन भक्तमार्गेण जातापराधा अनुतापं कृतवन्तः, सर्वापराधापेक्षयेश्वरवाक्योल्लङ्घनं महान् दोष इति तं निरूपयन्ति यद् विश्वेश्वरयोरिति, विश्वेश्वरयोरितिद्विवचनं कालपुरुषोत्तमपरं शब्दब्रह्मपरब्रह्मपरं वा, याच्ञा बालद्वारौदनविषयिणी, वस्तुतो भगवतैवाज्ञाभङ्गः कारितः प्रथमतो भक्तकृपया तथोक्त्वापि बलिवाक्यात् परम्परयापि दूरीकृतवान् 'न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हती'ति,

> ब्राह्मणानामयं धर्मः स्नेहाच्चापि न बाध्यते। भिक्षारूपेण सा याच्ञा बाध्यते न तु लौकिकी॥ १॥

'न्यासभूतौ प्रयच्छ मे' तथापि याचे तन्नः प्रयच्छे'ति 'तत्तन्निवेदये'दित्यादिवाक्यानि न विरुद्धानि भवन्ति न वा तेषामयुक्त वा किञ्चिद् गृहीतं, नन्विमौ बालकौ कथमीश्वरौ तत्राहुर्नृविडम्बयोरिति, नृणां विडम्बं विडम्बनं याभ्यां, केवल मनुष्यसमभिनयेन प्रदर्शयतः, एवं स्वस्यापराधित्वं निरूपितम्॥ ३७॥ तस्य दण्डं कुर्वन्तः स्वगर्हां कुर्वन्ति दृष्ट्वेति, स्त्रीणां कृष्णेलौकिकीं भक्तिं दृष्ट्वा तया हीनमात्मानं व्यगर्हयन्, पुष्टिभक्तेरेषैव स्थितिः भगवान् षड्गुणैश्वर्योपि कृष्णः सदानन्द एव जातो धर्मोपसर्जनत्वेन धर्म्येव जात फलरूपत्वात् स्त्रीणां तत्र भक्तिः, पुरुषास्तु धर्मपरा अतस्तया रहिताः, तदुभयमाह स्त्रीणां कृष्णे भक्तिमिति, दोषाभावायाहालौकिकीमिति, तारतम्यपरिज्ञानं पदार्थयाथात्म्यं भक्तिभावाभावौ च यो जानाति स भक्तः अत एते तद्विधा इति निन्देषा स्तुतिरेव, न केवलं ज्ञानं तेषां बाधकमुत्पन्नं किन्तु क्रियापि, तदाह अनुतप्ता इति॥ ३८॥ ननु कथमात्मविगर्हात्मनि सत्पदार्थानां विद्यमानत्वादन्यथा सद्विरोधे तेषामनिष्टमेव स्यादित्याशङ्क्य स्वस्मिन् विद्यमानानां सत्त्वेन प्रतिभासमानानां बीजाभावादसत्त्वमेवेति ख्यापयन्ति धिग् जन्मेति धिक्कारो दह्यतामित्यर्थे प्राणेगते शरीरं दह्यत एव तथा जन्मादीनां प्राणभूता भक्तिस्तदभावे दाह एवोचितः, त्रिवृज् जन्म शुक्लसावित्रयाज्ञिकरूपं विद्यामपि धिक् सापि त्रिवृद् विद्या वेदत्रयसहिता, व्रतं 'न देय'मित्यादि तदपि धिक् बहुज्ञतामिति धर्मसूक्ष्मपरिज्ञाने ये बहुज्ञास्ते लोकविरुद्धमपि कुर्वन्ति तथैव कृतं तां च बहुज्ञतां धिक्, अथ कुलीना इति वंशे कलङ्कसम्बन्ध इति स्त्रीणां निवारणं तत् कुलमपि धिक्, क्रियादक्षतामपि धिक् यया भगवत्यवहेला भवत्यन्यथा पुरुषार्थं साधयिष्यामोशक्तरैव हि भक्तिरिति यथान्धपङ्ग्वादयः क्रियायामसमर्था अन्यत्र युज्यन्ते तथा भक्तावपीति, एवं यत् क्रियादाक्ष्य तदपि धिक् तत्र बीजाभावं हेतुमाह ये वयमधोक्षजे विमुखाः, नन्वेतदेव कर्म यज्ञोपि भगवानेवातो ये यज्ञपराः कथं भगवद्विमुखा इतीमं पक्षं तुशब्दो व्यावर्तयति, तत्र हेतुरधोक्षज इति, अधोक्षजं यस्माद्दिति, ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कारः कर्मणि च क्रियारूपेलौकिके च रूपे ज्ञानवतां भक्तौ तु न साक्षात्कारः फल जायमानमप्यकृतामापद्यते केवलरसभक्षका इक्षुभक्षकेभ्योपि सरसा अत एतादृशो भक्तिमार्गो भगवता प्रकटित इति रूपान्तरपुरःसरं ये पश्चात्ते सर्व एव पूर्वपक्षाः॥ ३९॥ ननु वैमुख्ये ज्ञानवतां को हेतुस्तत्राह नूनं भगवत इति, मायया हि पूर्वस्थितं ज्ञानादिकमाच्छादितो ये शिष्याः प्राकृतास्तेषां तज् ज्ञानमाच्छाद्य नूतनमुत्पादनीयमन्यथा पूर्वविरोधान्नोत्पद्यते ज्ञानं, अतो गुरवः सर्व एव मायाविनः तदत्र विपरीतं भगवन्मायया कृतं, ते स्वमायया स्वबुद्धिमेवाच्छादितवन्तः प्राकृतीं च बुद्धिं गृहीतवन्तः, तदाह नूनं निश्चयेन भगवतो माया मायिनामपि व्यामोहजनिका यद् वयं लोकानां गुरवः प्राकृतां बुद्धिमाच्छाद्य स्वबुद्धिदातारस्ते स्वबुद्धिमेवाच्छाद्य प्राकृतीं बुद्धिमेव गृहीतवन्तः, भगवन्मायायाश्चैतत् कार्यं प्राकृत्यामेव बुद्धौ तथात्वमाच्छाद्यातथात्वं प्राकृत इति, अन्यथा भगवान् भगवच्छास्त्रं वा किं ग्राहयेद् भक्तिं वा कथं ग्राहयेद् ज्ञानेन प्रतिरोधात्, सहजं प्राकृतं भक्तिनाशयितुमसमर्था सूक्ष्मा हि सातो गुरुमाययाच्छादिते लौकिके च ज्ञाने सम्पन्ने तस्मिन्नपि ज्ञाने लब्धपदे भगवन्मायया पश्चादाच्छादित आत्मा प्राकृतत्वममूलकमिति भगवच्छास्त्रेण भक्त्या वा तन् निराकृत्य स्वकीयं तत्र स्थापयत इति भगवन्माया मायिनां व्यामोहिकेति नूनं नात्र पूर्वपक्षसम्भवः, द्विजा इतिसम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकवैमुख्येनासम्पन्नत्वात्॥ ४०॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अथानुस्मृत्येत्यस्याभासे, एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे इति। विप्रतत्पत्न्योर्मर्यादापुष्टिभेदेन द्विविधे ते निरूप्यते इत्यर्थः। यद्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामित्यत्र, विश्वेश्वरपदतात्पर्यमाहुः वस्तुतो भगवतैवेत्यादि। विश्वस्यैवेश्वरो नियामकः प्रवर्तको निवर्तकश्च यत इति भावः। बलिवाक्यात् परम्परयापीत्यादि। यद्यपि मामितिपदात् बलिना स्वविपयकमेवोक्तमिति न भगवद्धर्मनिरूपकं तद्वाक्यमिति भाति, तथापीश्वरस्यैवेदृशं वाक्यं भवतीत्यैश्वर्यधर्मरूपत्वात् तस्य च भगवदीयस्यैव बलौ सत्त्वाद्भगवद्वाक्यमेव पर्यवस्यतीति भावः। ननु याच्ञाभङ्गश्चेद् भगवत्कर्तृक एव, तदा विप्रापराधत्वेनास्य कथनं कथम्। अपरञ्च। पत्नीनां दीक्षित-विहितात् प्रवासं न ददातीति विध्युल्लङ्घनं च कारितवानिति, प्रत्युत विप्रापकारकृतिरापद्यत इत्याशङ्क्याहुः ब्राह्मणानामयमिति। अयं सत्रलक्षणो धर्मोऽन्नसमर्पणेन न बाध्यते। 'शेपाद् भुञ्जीर'न्निितिविधेरन्नदानस्य विहितत्वाद्यज्ञार्थनिर्दिष्टाज्यादेः शेपभूतान्नाति-रिक्तवस्तुदानस्यैव निपेधस्य कृतत्वा'दन्नहीनं दहेद्राष्ट्र'मितिवाक्यादावश्यकत्वाच्चेति भावः। किञ्च, अग्रे फलदर्शनादपि साधन-वैगुण्यं न वक्तुं शक्यमित्याहुः स्नेहाच्चापाति। यद्यपि तदीयान्नस्वीकारेण भक्तसङ्गेन च तेपां भक्तिर्जाता, तथाप्यग्रे तेपां कर्मफलासम्भवाद्वैदिककर्मणो वैयर्थ्यासम्भवादेतत्फलत्वेनापि भगवता भक्तिरेव सम्पादितेति ज्ञापनायापिशब्दः। यच्चोक्त याच्ञाभङ्गश्चेदित्यादि, तत्राहुः भिक्षारूपेणेति। भगवता विहितैव सा बाध्यत इत्यर्थः। लौकिकी तु विप्रैरेवेति युक्तमपराधत्वेन कथनं याच्ञाभङ्गस्येति भावः। अतो याच्ञापराणि भगवद्वचनानि लौकिकतत्परत्वान्न विरुध्यन्त इत्याहुः न्यासभूतावित्यादि। यद्वा। ननु भक्तवाक्यपरिपालकत्वाद्भगवतः कथं बलिवाग्विरुद्धं स्त्रीपु याचनं कृतवानित्यत आहुः ब्राह्मणानामिति। बलिवाक्येन वर्णाश्रमधर्मत्वेनोक्ता स्नेहप्रयुक्ता च या याच्ञा सा न बाध्यते, कन्यादिविपयिणी सा लौकिकी, सापि तथा। किन्तु दैन्यप्रयुक्तैव सा बाध्यत इत्यर्थः। प्रकृते च न दैन्यप्रयुक्ता सा, 'भक्तायाः प्रसीद'न्निितिवाक्यादिति भावः। अत एव तादृग्वचनैरविरोध इत्याहु-र्न्यासभूतावित्यादि ॥ ३८ ॥ विमुखा ये त्वधोक्षज इत्यत्र, ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कार इत्यादि। इन्द्रियजन्यज्ञानस्य पुरुपोत्तमा-विपयत्वं प्रदर्शयन्ति ज्ञानेपीत्यादिना। मनोजन्यात्मसाक्षात्कारफलकज्ञानमार्गस्य तन्मात्रपर्यवसायित्वम्। कर्ममार्गस्याधिकारि-भेदेन द्वैविध्यम्। बहिर्मुखानां तु क्रियारूपे भजनम्, तेनैवादृष्टद्वारा फलसिद्धिरिति यतस्तन्मतम्। श्रुतितात्पर्यज्ञानवतां त्वलौकिके यज्ञरूपे भजनमितीन्द्रियजज्ञानकृत्यविपयत्वेनाधोक्षजत्वं सिद्धमित्यर्थः। भक्तिमार्गे भगवत्साक्षात्कारो 'नाहं वेदै' 'र्न तु मां शक्यसे द्रष्टु'मित्यादिवाक्यैर्नेन्द्रियजन्य इति भावः। दृष्टेपि भगवति यावत्सर्वेन्द्रियैः साक्षान्नानुभूयते, न तावत्स्वारस्यमिति, न साक्षात्कारमात्रं फलम्। 'दर्शयन् मुहुर्मनसि स्मरं यच्छसी'ति वाक्याद् दर्शनस्याग्रे तनमोगोपयोगित्वेनाङ्गत्वम्। यथेक्षुदण्डस्य रससम्बन्धाद् भक्ष्यत्वम्, तथा भगवदानन्दलेशसम्बन्धेनान्येपां रूपाणां भजनीयत्वमित्याशयेनेक्षुदृष्टान्तः। केवलरसात्मकः स्वयमधुनैव प्रकट इतीति। पूर्वमेव ते पक्षाः कर्तव्यत्वेन स्थिताः, नत्वतः परमपीत्याहुः अत एतादृश इत्यादि ॥ ३९ ॥

इति विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अथेत्यत्र प्रबोधनमिति वाक्यैः प्रबोधनरूपाकृतिरित्यर्थः, कारिकासु तस्य चेति विगर्हणस्येत्यर्थः, तथात्वे इति वैमुख्ये इत्यर्थः, स्वभक्तेरिति स्वस्य विप्राणां भक्तेर्बोधनमुद्बोधो भगवतो याचने हेतुरित्यर्थः, तथात्वेति तस्य भगवतो याचनार्हत्वं साधनमित्यर्थः, कर्मेति द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां देशादिभिः कर्मस्वरूपं भगवत्स्वरूपं चेति रूपद्वयोक्त्या स्वकृतकर्मणो वैयर्थ्यबोधनं, तर्हि भक्तिरपि कथं सिद्धेत्याशङ्क्य स्वयमेव समादधते स्त्री-मुद्रा न विग्रह इत्यनेन ज्ञानरूपफलाजनकत्वबोधनमित्यर्थः, ततो द्वाभ्यां नमस्कारैः सम्बन्धादिति, भक्तिजनकत्वेन कृतार्थता भक्तसम्बन्धान् न तु केवलकर्मणस्तत्फलमित्यर्थः, अत आभासे भक्तिर-प्रार्थनाभिश्च अपराधक्षमापनं, तत एकेनानागमनं, एवं चतुर्दशप्रकारापि मर्तिर्भक्तस्यैव भवेत्, हेतुभूतया पुनः वान्तरप्रकरणार्थ उक्त इति भावः, यद् विश्वेश्वरयोरित्यत्र तथोक्त्वापीति याचनवाक्यमुक्त्वापि भक्तकृपया प्रेषणेन भक्तायाः प्रसादार्थं प्रथमत आज्ञाभङ्गः कारितः, द्वितीयवारं पत्नीपु प्रेपणे त्वाज्ञा सिद्धैवेति भावः, बलिवाक्यादिति तथा च बलियाचनानन्तरं भगवतो याचनमनुचितमत इयमाज्ञैव न तु याचनमिति भावः, एतस्य टिप्पण्यां न ददातीति विध्युल्लङ्घनं चेति 'प्रवासं न ददाती'ति वाक्योल्लङ्घनं, 'न ददाति न पचत' इति अन्नदानविध्युल्लङ्घनं च कारितवानित्यर्थः, द्वितीयविध्युल्लङ्घ-नस्य समाधानमाहुः ब्राह्मणानामिति, अन्नदानविधिं व्यवस्थया स्थापयन्ति अयमित्यारभ्येति भाव इत्यन्तेन, प्रथमस्य समाधान-मर्थापत्त्या निरूपयन्ति किञ्चाग्रे इति, यदि विध्युल्लङ्घनं स्यात् तदा भक्तिरूपं फलं नोत्पद्येतेत्यर्थः, द्वितीयस्यापीदं समाधानं सम्भवतीति किञ्चेति समुच्चयः, प्राप्तज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति भिक्षारूपाया विहिताया याच्ञाया अयुक्तत्वात् तद्बाधो भगवतेति, तथा च भिक्षांशो अदानसम्पादनेन भगवता सम्पादनीयो लौकिक्यास्त्वयुक्तत्वाभावाद् तद्बाधो विप्रैरेव कृत इत्याहुः भगवता बाधितो लौकिकांशो विप्रैरिति भावः, सुबोधिन्यां न वेति मर्यादामार्गीयत्वेन स्वस्य ग्रहणे अयुक्तं तेपां सम्बन्धि देहादिकं सोपयुक्तं न कृतं किन्तु व्याघुट्य प्रेपिता एव, अतोपि न बाध्यते विध्युल्लङ्घनं न जातमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ दृष्ट्वेत्यस्याभासे गर्हा

कुर्वन्तीति वयं दुष्टा इत्यादिरूपा गर्हा ग्रन्थाद् बहिरेवेति ज्ञातव्यं, अतोत्र श्लोके गर्हैव वाक्यार्थः, अग्रिमश्लोके गर्हाहेतुवाक्यार्थो न तु गर्हाविवरणं, तत्र तथैव व्याख्यास्यते, व्याख्याने पुष्टीति स्वदोषपरिज्ञानं भगवदनुग्रहाद् भवेदित्यर्थः, अयोगव्यवच्छेदक एवकारः, षड्गुणैश्वर्यं इति षड्गुणेष्वैश्वर्यं यस्येत्यर्थः, परिज्ञानमिति करणव्युत्पत्त्या परिज्ञापकं धर्ममित्यर्थः, बाधकमिति स्वस्यैव कृतार्थताभिमाने बाधकमित्यर्थः, क्रियापीति अश्रुपातादिरूपेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ बीजाभावादिति सत्त्वबीजस्य भगवत्साम्मुख्यस्याभावादित्यर्थं अधोक्षजे इत्यस्याभासे तत्रेति यज्ञपरायणामपि भगवद्वैमुख्ये इत्यर्थः ॥ ३९ ॥ नूनमित्यत्र अतो ये इति मायया मूलज्ञानाच्छादनाद्धेतोः प्राकृता लौकिकज्ञाना इत्यर्थः, अन्यथा भगवानिति प्राकृत्यां बुद्धौ प्राकृतत्यानाच्छादने इत्यर्थः, ज्ञानेनेति प्राकृतज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ४० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अथानुस्मृत्येत्यादीनामर्थनिरूपकासु कारिकासु पश्चात्तापो विगर्हा चेत्यादि 'अथानुस्मृत्ये'तिश्लोके पश्चात्तापः, "दृष्ट्वा स्त्रीणा" मित्यस्मिन् विगर्हा, तस्य विगर्हणस्य हेतु "धिग्जन्म न" इत्यस्मिन्, तथात्वे भगवद्वैमुख्ये माया हेतुरिति "नूनं भगवत" इत्यस्मिन् उक्त, "अहो पश्यत नारीण"मित्यनेन तासामुत्कर्षो भक्त्या बोधित इति, स्वस्य भक्त्यभावात् हीनत्व कर्मभिरित्युक्तं, "नासां द्विजातिसंस्कार" इत्यादिना संस्काराणां व्यतिरेकव्यभिचारदर्शनात् संस्काराणां भक्तिं प्रति न कारणतेति तदेवाहुः संस्काराणामहेतुत्वमिति, भक्तिं प्रत्यहेतुत्वमित्यर्थः, "अथापि ह्युत्तमश्लोके "इत्यनेन भक्तेः साधनं अन्यत् संस्कारादित-दित्यर्थः, तदाहुः भक्तेरन्यच्च साधनमिति, संस्कारादिभ्योन्यत् भगवदनुग्रहरूपमित्यर्थः, मूले संस्कारादिमतामप्यस्माकं न भक्तिरित्युक्त्वान्वयव्यभिचारो दर्शितः, अतोन्वयव्यतिरेकोभयव्यभिचारदर्शनान्न संस्कारादीनां भक्तिकारणत्वमिति सिद्धं, स्वभक्तेर्बोधन हेतुरिति स्वभक्तेर्बोधन भगवत्कर्तृकयाचने हेतुरित्यर्थः, यजमानानां भगवद्विषया या भक्तिस्तस्या उद्बोधनमेव याच्ञाप्रयोजनमिति भावः, अन्यथा नोपपद्यत इति यदि भक्तेरुद्बोधनं न कर्तव्यं स्यात् तदा भगवान् न याचेत, तदुक्तं "अन्यथा पूर्णकामस्ये"ति श्लोकेन, तथात्वसाधनं तस्येति तस्य भगवत्कर्तृकयाचनानर्हत्वस्य साधनं उपपादनं "हित्वान्यान् भजते यं श्री"रिति श्लोकेनेत्यर्थः, कर्मवैयर्थ्यबोधनमिति द्वाभ्यां कर्मवैयर्थ्यबोधनमित्यन्वयः, रूपद्वयोक्त्यैवेति "देशः कालः पृथग् द्रव्य"मित्यनेन कर्मस्वरूपं, "स एष भगवान् साक्षादि"त्यनेन भगवत्स्वरूपमुक्तं, एवं रूपद्वयोक्त्या स्वकृतकर्मणो वैयर्थ्यमुक्तं "अपि मूढा न विद्महे" इत्यनेनेत्यर्थः, स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थतेति "अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रिय" इति श्लोके स्त्रीसम्बन्धात कृतार्थतोक्तेति ज्ञेयं, क्षमापनं नमस्कारैरिति "नमस्तुभ्यं भगवते" इति श्लोके नमस्कारैः क्षमापनमुक्तं, प्रार्थनाभिरिति प्रार्थनाभिः क्षमापनमित्यन्वयः, "स वैष आद्यः पुरुष" इति श्लोके प्रार्थनाभिश्च क्षमापनमित्यर्थः, अनागमनमिच्छात इति यद्यपि भगवद्दर्शनार्थमिच्छारित तथाप्यनागमनं कंसभयादिति "इति स्वाघमनुस्मृत्ये"ति श्लोकेनोक्तमित्यर्थः भवत्यैवेत्यं मतिरिति पश्चात्तापं कृत्वा भगवद्वैमुख्यनिन्दादिरूपा भगवद्भक्तस्वस्त्रीसङ्गसभाजनापराधक्षमापनादिरूपा मतिर्भवत्यैव भवेद् यतः पूर्वमप्येते ब्राह्मणा भक्ताः स्थिता अतः एतादृशी सद्बुद्धिर्जातेत्यर्थः, यद्विश्वेश्वरयोरित्यस्य विघृतौ वस्तुतो भगवतैवेत्यारभ्य न विरुद्धानि भवन्तीत्यन्तग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ ३७ ॥ दृष्ट्वा स्त्रीणामित्यस्य सुबोधिन्यां धर्मोपसर्जनेन धर्म्यैव जात इति ऐश्वर्यादिधर्मान् गौणीकृत्य तेषामस्फुरणं कृत्वा यज्ञपत्नीनां हृदये धर्म्यैव "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजाना"दिति श्रुतेरानन्दरूप एव स्फुरितः, कोटिकन्दर्पाधिकलावण्य एव तासां हृदये स्फुरित इति भावः, स्त्रीणां तत्र भक्तिरिति केवलधर्मिणि साक्षान्मदनमोहनस्वरूपे श्रीकृष्णचन्द्रे काकभावेन स्त्रीणां भक्तिरित्यर्थः ॥ ३८ ॥ विमुखा ये त्वधोक्षज इत्यस्य विवृतौ ज्ञानेप्यात्मसाक्षात्कार इत्यारभ्य ते सर्वे पूर्वपक्षा इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ ३९ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

अथानुस्मृत्य विप्रास्ते इत्यादीनामध्यायसमाप्तिपर्यन्तानां चतुर्दशानां श्लोकानां वाक्यार्थानाहुः पश्चात्ताप इत्यादिभिश्चतुर्भिः का० २०६६–२०९६। पश्चात्ताप इत्यादि "अथानुस्मृत्य विप्रास्ते" इत्येकेन पश्चात्तापः, 'दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवती'त्यनेन स्वनिन्दा, धिग् जन्मे'त्यनेन तस्य विगर्हणस्य हेतुः, "नूनं भगवतो माये"त्यनेन तथात्वे वैमुख्ये मायामोहरूपो हेतुः स्वहीनत्वं च कर्मभिरिति स्वशब्दो विप्रपरः, तथा च भगवद्वैमुख्येन कर्मणामाधिदैविकत्वासम्पत्त्या कर्मरहितत्वमेव विप्राणामित्यर्थः, एतदपि "नूनं भगवतो माये"त्यस्मिन्नेव श्लोके बोधितं, तदुक्तमेतच्छ्लोकव्याख्याने सुबोधिन्यां "द्विजा इति सम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकवैमुख्येन असम्पन्नत्वा"दिति, "अहो पश्यत नारीणा"मिति श्लोकस्तु प्रक्षिप्तः, सुबोधिन्यां व्याख्यानाभावात्, संस्काराणामहेतुत्वमिति 'नासां द्विजातिसंस्कार' इति "तथापि ह्युत्तमश्लोक" इति श्लोकद्वयेन संस्काराणां भक्तिहेतुत्वं नास्ति, किन्तु भक्तेः संस्कारेभ्योन्यदनुग्रह एव साधनमित्युक्तं, स्वभक्तेर्बोधनमिति "ननु स्वार्थविमूढाना"मिति श्लोके स्वभक्तेर्विप्राणां भक्तेर्बोधनमुद्बोधनं भगवतो याचने हेतुरित्युक्तं, "अन्यथा पूर्णकामस्ये"तिश्लोकार्थमाहुरन्यथेति, अन्यथा विप्राणां प्रबोधस्य याचनफलत्वाभावे याचनं नोपपद्यत इत्यर्थः 'हित्वान्यान् भजते यं श्री'रिति श्लोकार्थमाहुः तथात्वसाधनं तस्येति तस्य भगवतो याचनानर्हत्व-

साधनमित्यर्थः, कर्मवैयर्थ्यमिति 'देशः कालः पृथग् द्रव्य'मिति श्लोकेन कर्मस्वरूपमुक्तं, 'स एष भगवान् साक्षा'दित्यनेन भगवत्स्वरूपमुक्तमित्येवं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां रूपद्वयोक्त्या स्वकृतकर्मणो वैयर्थ्यबोधनमित्यर्थः, तर्हि भक्तिरपि कथं सिद्धेत्याशङ्क्याहुः स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थतेति एतच्च 'अहो वयं धन्यतमा' इति श्लोकार्थकथनं ज्ञेयं, यद्यप्ययं श्लोको विगीतस्तथापि सुबोधिन्यां व्याख्यात इति तदर्थोऽपि कारिकायां सङ्गृहीतः, सहस्रनामादौ प्रक्षिप्ताध्यायार्थसङ्ग्रहवत्, तथा च भक्तसङ्गादेव भक्तिर्न तु स्वकृतकर्मणेति कर्मणो वैयर्थ्यमेवेति भावः, क्षमापनमित्यादि 'नमस्तुभ्यं भगवत' इति श्लोकेन नमस्कारैः क्षमापनं, 'स वैष आद्यः पुरुष' इत्यनेन प्रार्थनाभिः क्षमापनमित्यर्थः, अनागमनमिच्छात इति इच्छात इति ल्यब्लोपे पञ्चम्यर्थे तसिल् सप्तम्यर्थे वा, तथा च भगवद्दर्शनेच्छां प्राप्य वा इच्छायां सत्यामप्यपराधक्षमापनार्थं विप्राणां व्रजे अनागमनं कंसभयादेवेत्यर्थः, तदुक्त"मिति स्वाघमनुस्मृत्ये"ति श्लोकेन, कंसभयप्रकारश्च व्याख्यातः सुबोधिन्यां, एतच्छ्लोकविवरणे एव ब्राह्मणानामिति का० २१०३ । इदं टिप्पण्यां पक्षद्वयेन व्याख्यातं, तथा हि ब्राह्मणानामिति अयं सत्रलक्षणो धर्मो अन्नसमर्पणेन न बाध्यते अन्नदानस्यावश्यकत्वादिति भावः, किञ्च विप्राणां भगवद्विषयकस्नेहात्मकफलदर्शनादपि साधनवैगुण्यं न वक्तुं शक्यमित्याहुः स्नेहाच्चापीति, "अथानुस्मृत्य विप्रास्ते" इत्यादिना भगवति स्नेहदर्शनादपि धर्मबाधो न जात इति ज्ञायत इत्यर्थः, अत्र "न पुमान् मामुपव्रज्य भूयो याचितुमर्हती"ति बलिवाक्यसत्यत्वार्थं भगवतैव आज्ञाभङ्गः कारित इत्युक्तं सुबोधिन्यां, एतट्टिप्पण्यां च, ननु याञ्चाभङ्गश्चेत् भगवत्कर्तृक एव तदा याञ्चाभङ्गस्य विप्रापराधत्वेन कथनं कथमित्याशङ्क्याहुर्भिक्षारूपेणेति, भगवता विहितैव याञ्चा बाध्यत इत्यर्थः, बलिवाक्यसत्यत्वाय ब्राह्मणांस्तथा प्रेरयित्वा भगवतैवाज्ञाभङ्गः कारितो यद्यपि तथापि भिक्षारूपेण अदानेपि लोकरीत्या गोपेभ्यो दानमुचितमेवेति लोकरीत्याप्यदानाल्लौकिकी याञ्चा विप्रैरेव बाध्यत इति युक्तमपराधत्वेन कथनं याञ्चाभङ्गस्येति भावः, ननु सर्वापि जीवकृतिर्भगवत्प्रेरणाधीनैवेति को विशेष इति चेत्, सत्यं, भगवत्प्रेरणं हि द्विविधं, एकं जीवादृष्टानुरूपं अपरं स्वातन्त्र्येण विशेषेच्छयेति, प्रकृते भिक्षारूपेण याञ्चाभङ्गो भगवता स्वतन्त्रप्रेरणया कारित इति तस्मिन्नंशे न विप्रापराधः, लौकिकयाञ्चाभङ्गस्तु स्वादृष्टानुरूपप्रेरणया भगवता कारित इति विभेदः, अथ टिप्पण्युक्तद्वितीयव्याख्यानानुसारेण व्याख्यायते, ननु भक्तवाक्यपरिपालकत्वाद्भगवतः कथं बलिवाग्विरुद्धं स्त्रीषु याचनं कृतवानित्यत आहु' ब्राह्मणानामिति, याञ्चा हि चतुर्विधा वर्णाश्रमधर्मरूपा स्नेहप्रयुक्ता लौकिकी दैन्यप्रयुक्ता चेति, तत्र बलिवाक्येन वर्णाश्रमधर्मरूपा स्नेहप्रयुक्ता च या याञ्चा सा न बाध्यते, कन्यादिविषयिणी लौकिकी याञ्चापि न बाध्यते, किन्तु दैन्यप्रयुक्तैव सा बाध्यत इत्यर्थः, प्रकृते च न दैन्यप्रयुक्ता सा "प्रसीदन्निदमब्रवीदिति वाक्यादिति भावः ॥ ३७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अथानन्तरं यत् यस्मात् मर्त्यविडम्बयोः नरानुकरणवतोर्विश्वेश्वरयोर्याञ्जामहन् हतवन्तः, अतः 'कृतागसो वयम्' इत्यनुस्मृत्य ते विप्रा अन्वतप्यन्नित्यन्वयः ॥ ३७ ॥ स्त्रीणां भगवति कृष्णे अलौकिकीमत्युत्कटां भक्तिं दृष्ट्वा आत्मानं च तथाभक्त्या हीनं दृष्ट्वा अनुतप्ताः सन्तः आत्मानं व्यगर्हयन् अनिन्दन् ॥ ३८ ॥ निन्दाप्रकारमाह—धिगिति । धिगिति अधिक्षेपे । अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात् सः अधोक्षजः अतीन्द्रियः तथाभूतोऽपि कृपया प्रत्यक्षो जातः, तस्मिन् श्रीकृष्णे ये तु वयं विमुखास्तेषां नोऽस्माकं यज्जन्मादि तत् सर्वं धिक् अकिञ्चित्करम् अतितुच्छमित्यर्थः । जन्म विशिनष्टि—त्रिवृदिति । शौक्लं, सावित्रं, दैक्ष्यं चेति त्रिगुणितम् । विद्यां वेदविद्याम् । व्रतं ब्रह्मचर्यम् । बहुज्ञतां चातुर्यम् । कुलं प्रसिद्धम् । क्रियाया दाक्ष्यं चातुर्यम् ॥ ३९ ॥ "नूनं निश्चितमेतत् भगवतो माया योगिनां ज्ञानयोगचेष्टानामपि मोहिनी, कर्मनिष्ठानां शास्त्रमर्यादारहितानां च मोहिनी, इति तु किं वक्तव्यम्" इति सूचयितुमपिशब्दः । यत् यस्मात् वयं नृणां गुरवः उपदेशकर्तारोऽपि स्वार्थे स्वप्रयोजने मुह्यामहे मुह्यामः । गुरुत्वे हेतुमाहुः—द्विजा इति । "जन्मना ब्राह्मणो गुरुः" इति वाक्यात् ॥ ४० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति । लीलार्थं स्वीकृतनरवपुः श्रीकृष्णः एवं नृलोकमनुशीलयन् अनुकुर्वन् रूपवाक्कृतैः रूपसौन्दर्येण वाङ्माधुर्येण च कृतैर्नानाविधचरितैश्च गोगोपगोपीनामिति । कर्मणि शेषे षष्ठी । "नौ वयोधर्म" इति सूत्रे मूलमूलेति निर्देशादेकशेषशास्त्रमनित्यम् । गोपादीन् रमयन् रमयितुं रेमे । हेतौ शता । ब्राह्मणीरमणे लीलासौष्ठवाभावान्न रेमे । एतेन रासात्पूर्वमपि गोपीभिः रमणं सूचितम् ॥ ३७ ॥ अथेति । अथानन्तरं यत् यस्मात् नृविडम्बयोः नरानुकरणवतोर्विश्वेश्वरयोर्याच्ञामहन्म वयं हतवन्तः । अतः कृतागसो वयमित्यनुस्मृत्य ते विप्रा अन्वतप्यन् ॥ ३८ ॥ दृष्ट्वेति । स्त्रीणां भगवति कृष्णे अलौकिकीमत्युत्कटां भक्तिं दृष्ट्वा आत्मानं च तया भक्त्या हीनं दृष्ट्वा अनुतप्ताः सन्तः आत्मानं व्यगर्हयन् अनिन्दन् ॥ ३९ ॥ धिगिति । अधोक्षजे कृष्णे ये तु वयं विमुखास्तेषां नोऽस्माकं यत्त्रिवृत् शौक्लं सावित्रं दैक्ष्यं चेति त्रिगुणितं जन्म धिक् । विद्यां वेदविद्यां व्रतं ब्रह्मचर्यं बहुज्ञतां चातुर्यं कुलं प्रसिद्धं क्रियायां कर्मणि दाक्ष्यं चातुर्यं क्रियाः दाक्ष्यं चेति पदद्वयं वा तत्सर्वं धिक् ॥ ४० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नृविडंबयोर्नरानुसृतो याचनां यतः अहन्म हतवंतः ततो वयं कृतागसः कृताऽपराधाः अभवाम इत्यनुस्मृत्य ते अन्वतप्यन् मुहुरनुतापमकुर्वन् ॥ ३७ ॥ आत्मानं स्वजीवं तया भक्त्या व्यगर्हयन् निंदयामासुः ॥ ३८ ॥ नोऽस्माकं त्रिवृत् शौक्लं सावित्रं यज्ञदैक्षमिति त्रिविधं यज्जन्म तद्धिक् अतिगर्हितं व्रतं ब्रह्मचर्यादियमरूपं क्रियादाक्ष्यं यज्ञकर्मकौशल्यम् ॥ ३९-४० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति ॥ लील्या न तु कर्मणा नरस्येव वपुर्यस्य स भगवान् एवममुना प्रकारेण, रूपं च वाक् च कृतानि चेष्टितानि च तैः, नृलोकं मानुष्यं, अनुशीलयन् अनुकुर्वन् सन्, गावश्च गोपाश्च गोप्यश्च तासां, कर्मणि पष्ठी। गवादीनित्यर्थः। स्वयमपि, रेमे ॥ ३७ ॥ अथेति ॥ अथानन्तरं, ते पूर्वोक्ताः विप्राः अनुस्मृत्य भगवान् यदुष्ववतीर्ण इति संश्रुतं स्मृतिपथमानीयेत्यर्थः। कृतागसः, हेतुगर्भमिदम्। तत्त्वात् अन्वतप्यन्। किं तदागो यतोऽन्वतप्यंस्तत्राह। यद्यस्मात्, मर्त्यविडम्बयोः मर्त्यमनुकुर्वतोः, विश्वेश्वरयोः याञ्चां अहन् संबभञ्जुः। एतदेव तत्कृतागस्त्वमिति भावः। अहन्म नृविडम्बयोरिति पाठे अपि अहन्म इति क्रियापदमात्रे भेदः ॥ ३८ ॥ तथा भार्या मानयन्तस्ते भगवद्भक्तिरहितमात्मानं स्वयमेव व्यनिन्दन्नित्याह ॥ दृष्ट्वेति ॥ स्त्रीणां स्वस्वाङ्गनानां, भगवति कृष्णे, अलौकिकीमनितरसाधरणीं, लोकातीतामित्यर्थः। भक्तिं दृष्ट्वा, आत्मानं च, तया श्रीकृष्णभक्त्या, हीनं रहितं च दृष्ट्वा, अनुतप्ताः संजातान्तःपरितापाः सन्तः, व्यगर्हयन्। स्वकुत्सां चक्रुरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ गर्हाप्रकारमेवाह ॥ धिगिति ॥ नोऽस्माकं, त्रिवृत् शौक्लं सावित्रं दैक्ष्यमिति त्रिगुणितं जन्म, धिक्। अस्माकं विद्यां धिक्, व्रतं ब्रह्मचर्यं, धिक्, बहुज्ञतां धिक्, कुलं धिक्, क्रिया यज्ञादिरूपा तत्र दाक्ष्यं तु तदनुष्ठानसामर्थ्यं च, धिक् 'अभिसर्वतसोः कार्या धिक्' इत्यादिवचनेन शेषषष्ठ्यपवादकत्वेन जन्मादीनां द्वितीया। धिक्शब्दो निन्दाद्योतकः। अस्माकं जन्मादयो निन्द्या इत्यर्थः। तत्र हेतुं वदन्तः स्वात्मानं विशिंषन्ति। ये वयं, अधोक्षजे भगवति विमुखाः। अत्र धिग्जन्म नस्त्रिवृदिति, धिग्जन्म नस्तु, धिग्बुद्धिर्मिति, धिग्जन्म नस्तत्त्रिवृतमित्यादयो बहवः पाठाः सन्ति। तत्र यो व्याख्यातः स एव साधीयान् ॥ ४० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अथानुस्मृत्येति : १०.२३.३७.

ज्ञानेनैव निवर्ततेऽमतिरिति स्यादाग्रहश्चेदसौ तेषामस्तु सुखेन मे त्वनुमतं श्रीशाङ्र्गिभाजां सताम्।
हेतुर्वीक्षणमेव यद्द्विजवरा वेदार्थविज्ञा अपि तादृक् तन्निजयोषिदीक्षणजुषः श्रीशस्वरूपं विदुः ॥ ७५ ॥
यदि नैवंविधं वाच्यमज्ञानज्ञानयोर्जनिः। प्रागुत्तरं च निर्हेतुकैव तेषामितीक्ष्यताम् ॥ ७६ ॥

दृष्ट्वेति : १०.२३.३८.

ज्ञातोपनिपदर्थानां द्विजानामात्मगर्हणम्। स्त्रियो भक्तिमतीर्वीक्ष्य तत एवोपयुज्यते ॥ ७७ ॥
यज्ज्ञातिष्वपराङ्मुखीभवनजं यच्चाच्युताज्ञानजं यच्चाहं कृतिजं यदध्वरगतं स्याद्यच्च यच्चापरम्।
तत्सर्वावविनिष्कृतिर्विधिवशाज्जातानुतापेन नः प्रायश्चित्तमशेषकिल्बिषहरं नेदृग्विधं क्वापि यत् ॥ ७८ ॥

धिग्जन्मेति : १०.२३.३९.

शुद्धं जन्म बहुज्ञता निरवधिर्यज्ञक्रियापाटवं शङ्काशून्यमखण्डितो व्रतविधिर्वंशोऽपि सम्यग्विदितः।
नैकेनापि निजाश्रिता ध्रुवममीत्युद्बुद्धभावेन यन्नीताः श्रीपतिसम्मुखं तदखिलान्वच्मो न धिग्धिक्कथम् ॥ ७९ ॥

नूनमिति : १०.२३.४०.

वक्तारो वयमेव सर्वविषये प्रज्ञाततत्त्वा अपि धर्माधर्मनिरूपणैकधिषणा लोकेषु निष्कल्मषाः।
सम्पाद्यं प्रणिपाततोऽस्मदतनुज्ञानं जनैर्वागियं स्त्रीगोपप्रसृतोपहासलतिकावृद्ध्यै न भूयात्किमु ॥ ८० ॥

कृष्णप्रिया

राजन्, उधर वह ऋषिवृन्द, मनुष्यलोक का अनुकरण करने वाले जगदीश्वर भगवान श्रीकृष्ण और बलभद्रजी की याचना का अवहेलन का बार बार स्मरण कर, अपने किया हुआ असाधारण अपराध का परिताप करने लगे ॥ ३७ ॥ यज्ञादि सर्व कुशल कर्मों के फल स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में अपनी पत्नियों की अलौकिक भक्ति को और अपने में कृष्णभक्ति के अभाव को देखकर परिताप करते हुए अपनी आत्मा की निन्दा करने लगे ॥ ३८ ॥ राजन्! वे ऋषिवर कहने लगे कि, हमारे शुक्ल-सावित्र और यज्ञ दीक्षित तीन जन्मों को, वेदों के ज्ञान को, हमारे चान्द्रायणादि व्रत को हमारा बहुज्ञता एवं तत्वज्ञान को उत्तम कुल को और अग्निहोत्रादि कर्मनिपुणता को भी धिक्कार हो क्योंकि हम अधोक्षज भगवान से विमुख है ॥ ३९ ॥ यह

बात निश्चित है कि, भगवान कि माया बड़े-बड़े मायावी पुरुषों को भी मुग्ध कर देती है, अहो खेद की एवं आश्चर्य की बात है कि हम ज्ञानी एवं लोकगुरु कहलाते और काफी गुरु पद से ख्यातनाम हैं, वे हम भगवत्सेवा भगवद् भक्ति नाम के हमारे परमहित से वञ्चित हुए और भगवद् भक्ति मार्ग को चूक गए ॥ ४० ॥

अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ । [1]दुरतं भावं [2]योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥ ४१ ॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि । न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥ ४२ ॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे । भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥ ४३ ॥
[3]ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया । अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥ ४४ ॥

कर्वमक्षमा

अन्वयः—अहो कृष्णे जगद्गुरौ नारीणाम् अपि दुरन्तम् भावम् पश्यत, यः, गृहाभिधान् मृत्युपाशान् अविध्यत् ॥४१॥ आसाम् द्विजातिसंस्कारः न, गुरौ अपि निवासः न, तपः न, आत्ममीमांसा न, शौचम् न शुभाः क्रियाः न ॥ ४२ ॥ अथ अपि, हि योगेश्वरेश्वरे उत्तमश्लोके कृष्णे दृढा भक्तिः, च संस्कारादिमताम् अपि, अहो ? अस्माकम् कृष्णे भक्तिः न ॥ ४३ ॥ ननु स्वार्थविमूढानाम् गृहेहया प्रमत्तानाम् अहो सताम् गतिः (श्रीकृष्णः) गोपवाक्यैः नः स्मारयामास ॥ ४४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

योऽविध्यदच्छिनत्तं दुरंतं भावं भक्तिं पश्यतेति ॥ ४१ ॥ द्विजातिसंस्कार उपनयनम् । क्रियाः संध्योपासनादयः ॥ ४२-४५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अहो अद्भुतम् । कृष्णे दुरंतभावमव्यवहितभक्तिम् । यः दुरंतभावः । अविध्यत् 'व्यध ताडने' छेदनमपि यथाकथंचित्ताडने पर्यवस्यति ॥ ४१ ॥ गुराविति । सामीपिकाधारे सप्तमी, वटे गाव इति वत् । विद्यावाप्तये गुरुकुलवासो न कृत इत्यर्थः । तपः ब्रह्मचर्यादि । आत्ममीमांसा ब्रह्मविचारः । शौचम् बाह्याभ्यंतरशुद्धिः । शुभाः क्रिया यागादिलक्षणाः ॥ ४२ ॥ यद्यप्यासां संस्कारादयो न संति तथापि कृष्णे भक्तिर्दृढा सत्यपि वारणकारणेऽवार्येत्यर्थः ॥ ४३ ॥ स्मारयामास अहो यूयं विद्वांसोऽपि किमिति मां न स्मरतेति विज्ञापयामास । तत्र हेतुः सतां गतिः ॥ ४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अहो बत स्त्रीभ्योऽपि वयं निकृष्टा इति शोचन्ति अहो इति त्रिभिः । अहो आश्चर्ये । ननु, स्त्रीणां पत्युरितरस्मिन् भावोऽनुचितः तत्राहुः जगद्गुरौ पतिभ्योऽप्यसौ परमापेक्ष्य इति भावः । दुरन्तं सर्वबाधकं भावं प्रेम अविध्यदिति अतीतनिर्देशस्तासां सद्य एव गृहाद्यासक्त्यपगमाऽभिप्रायेण ॥ ४१ ॥ आश्चर्यत्वमेव व्यनक्ति-तासामिति युग्मकेन । द्विजातिसंस्कार उपनयनादिस्तद्धर्मद्वारं तथा शौचं सामान्यधर्मः गुरुनिवासादयश्च क्रमेण ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतिगृहधर्माः तत्र च शोकावेशेन क्रमातिक्रमः किंवा गार्हस्थ्यधर्मस्य बहुमानेन पश्चात् निर्देशः । अत एव शुभा इत्युक्तिः अथापि तत्तद्रहितत्वेऽपि कृष्णे दृढा भक्तिरासां जाता तस्य माहात्म्येन तद्भक्तेरपि माहात्म्यं बोधयितुं तं विशिंषन्ति उत्तमश्लोके वैरिणामपि मोक्षादिदानात् परमसत्ख्यातिमिति योगानामीश्वराः भक्तियोगमन्तस्तेपामीश्वरे सेव्यत्वेन लभ्ये भक्तिर्दृढा कृतविरोधैरस्माभिरपि परिच्छेत्तुमशक्त्या पुनराश्चर्यमेव व्यतिरेकेण द्रढयन्ति, नचेति अत्र । द्विजातिसंस्कारादयः स्वयं भक्तेः कारणानि न भवन्त्येव तद्गुणकसस्सङ्गस्त्वासां तत्कारणतया नामीभिरनुमातुं शक्त इति श्रीशुकदेवाभिप्रायः ॥ ४२-४२ ॥ उत्तमश्लोकत्वमेव दर्शयन्ति । नूनं, निश्चितं "सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्" इति न्यायेन तद्भक्तिं विना सर्वस्याप्यर्थस्यासिद्धेः स्वार्थे विमूढानामत्यन्ताज्ञानां यतो गृहेहया गृहकृत्येन प्रमत्तानाम वहितानां नः अस्मान् स्मारयामास आत्मानं यतः सतां स्वस्वाधिकारप्राप्तवेदोक्ततत्पराणां गतिः यद्वा, सतां भक्तानां गतिरपि केवलकारुण्येनैवेत्यर्थः । यद्वा, सन्त एव तावत्परमदयालवः स तु तेषामपि गतिराश्रय इति अहो आश्चर्यम् उत्तमश्लोकत्वात् तेन बोधिता अपि वयमविवेकान्न बुद्धवन्त इति भावः ॥ ४४ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अहो बत स्त्रीभ्योऽपि वयं पुरुषा निकृष्टा इति शोचन्ति-अहो इति त्रिभिः खेदे । ननु स्त्रीणां पत्युरितरस्मिन् भावोऽनुचितः ? तत्राहुः—जगद्गुरौ पतिभ्योऽप्यसौ परमापेक्ष्य इति भावः । दुरन्तमपरिच्छिन्नं ह्रासशून्यं वा, भावं रतिं प्रेम वा,

१. दुरन्त—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. । २. यच्छिन्द्यान्मृत्यु—विज. । ३. नूनं—गो. प्रं. टी. ।

अविष्यदिति अतीतनिर्देशस्तासां सद्य एव गृहाद्यासक्त्यपगमाद्यभिप्रायेण। एवम् 'अचिरान्मामवाप्स्यथ' इति भगवदुक्तस्य सिद्धमिति सूचितम्, तत्साधनापत्तेः! तथा तासां गृहस्थितिप्रकारश्च दर्शित इति ॥ ४१ ॥ नारीणामपीत्यपि शब्देन सूचितं पुरुषेभ्यो न्यूनत्वमभिव्यञ्जयन्ति तासामिति द्विजातिसंस्कारः सामान्यतो द्विजत्वमात्रविषयको धर्मः, तथा शौचं सामान्यधर्मः; गुरुनिवासादयश्च क्रमेण ब्रह्मचारि-वानप्रस्थ-यतिगृहिधर्माः। तत्र च शोकावेशेन क्रमातिक्रमः किंवा गार्हस्थ्यधर्मस्य बहुमानेन पश्चान्निर्देशः, अतएव शुभा इत्युक्तिः। यद्वा द्विजातेः संस्कारविशेषो विष्णुदीक्षादिः; तपः श्रीविष्णुस्मृतिः 'तत्तपो यद्धरिस्मृतिः' इति वचनात्, शौचं विशुद्धचित्तता, क्रियाः शुभा यज्ञे यज्ञेश्वरपूजाद्याः स्थण्डिलादौ वा हरिपूजादयः आत्ममीमांसा आत्मनो हरेर्विचारः ॥ ४२॥ तथापि तत्तद्रहितानामपि कृष्णे दृढा भक्तिर्ज्जाता, आसां तस्य माहात्म्येन तद्भक्तेरपि माहात्म्यं बोधयितुं तं विशिंषन्ति—उत्तमः सर्वतः श्रेष्ठः श्लोकः कीर्त्तिर्यस्य, अवतारित्वान्निजाशेषभगवत्ताप्रकटनाच्च। यद्वा, उद्गतं तमोऽज्ञानं संसारलक्षणं वा यस्मात् स श्लोको यस्य तस्मिन्, यतः कृष्णे किंवा तत्रापि कृष्णे उत्कार्थमेवेदम्। अतएव योगेश्वराणां सनकादीनामपि किमुतास्माकं ईश्वरे सेव्ये। निश्चयार्थेन हि-शब्देन तत्र शास्त्रप्रामाण्यादिकं बोधयति दृढेति। अस्माकं चपलापि भक्तिर्नास्तीति सूचयन्ति ॥ ४३॥ ननु तर्हि कथमन्नयाचनादिकमस्मासु? तत्राहुः नन्विति वितर्के! यद्वा, उत्तमश्लोकत्वमेव दर्शयन्ति, ननु निश्चितं स्वार्थे तद्भक्तिलक्षणे विमूढानामत्यन्ताज्ञानाम्, यतो गृहकृत्येन प्रमत्तानामनवहितानाम्, यद्वा, गार्हस्थ्येन प्रकर्षेण मत्तानां महागर्वयुतानामपि नोऽस्मान् स्मारयामासात्मानम्; यतः सतां धार्मिकाणां गतिः इत्यात्मनो यज्ञपरतया धार्मिकाभिमानाद्युक्तम्; यद्वा, सतां भक्तानां गतिरपि, अहो आश्चर्यम्, उत्तमश्लोकत्वात्तेन बोधिता अपि वयमविवेकान्न बुद्धवन्त इति भावः ॥ ४४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

दुरन्तभावं विश्लेशाऽसह भावबन्धनम् ॥ ४१ ॥ शौचम् अघमर्षणादिभिः शुद्धिः ॥ ४२-४५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अहो नारीणामप्युक्तजन्मादिमद्ध्ये केनापि रहितानामपीति भावः। कृष्णे दुरन्तभावमनवधिकभक्तिं पश्यत यो दुरन्तभावः गृहाभिधान् मृत्युपाशान् भगवन्मायाप्रयुक्तानविद्ध्यत् अच्छिनत् तं दुरन्तभावं पश्यतेत्यन्वयः ॥ ४१ ॥ द्विजा अपि नारीणामपीत्यनेनाभिप्रेतं स्पष्टयन्ति—नेति द्वाभ्याम्। आसां नारीणां न द्विजातिसंस्कारः गोपनयनान्तसंस्कारः न च गुरुकुलवासः नापि तप आदयः आत्ममीमांसा देहविलक्षणप्रत्यगात्मविचारः क्रियाः सन्ध्योपासनादिरूपाः ॥ ४२ ॥ अथाप्येषामभावेपि कृष्णे दृढा भक्तिर्भिद्यते द्विजातिसंस्कारादिमताप्यस्माकं सा न विद्यते ॥ ४३ ॥ अस्माकं विवेकोदयार्थमेव भगवतो याच्ञाऽन्यथा सा अवाप्तसमस्तकामस्यासङ्गतेत्याहुः—स इत्यादिभिस्त्रिभिः। गृहेहया गृहव्यापारेण प्रमत्तानामत एव स्वहितेषि विमूढानामप्यस्माकमहो सतां गतिर्हेतुगर्भमिदं सतां गतित्वाद्गोपवाक्यैः स्मारयामास साधुपरित्राणार्थमवतीर्णं निरतिशयपुरुषार्थस्वरूपमात्मानं याच्ञाव्याजेन स्मारयामासेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

दुरन्तभावम् अव्यवहितभक्तिं गृहाभिधानान्मृत्युपाशान् छिन्द्यात् छिनत्ति ॥ ४१ ॥ आसां स्त्रीणां द्विजातिसंस्कारः उपनयनलक्षणगुरौ गुरुकुलनिवासो विद्याध्ययनार्थमिति शेषः। आत्ममीमांसा ब्रह्मविचारः शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः शुभाः क्रियाः यागादिलक्षणाः ॥ ४२-४४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ त्यक्तदेहाया द्विजपत्न्याः सौभाग्यमालोक्य द्विजानां विस्मयमाह—अहो इत्यादि बहुभिः। जगद्गुरौ कृष्णे नारीणां दुरन्तभावं पश्यतेत्यन्योन्यपरामर्शः। अपिशब्दः शास्त्राद्यनुशीलनरहितानाम्; बहुवचनं सर्वजनाभिप्रायेण। तस्या यथा देहत्यागो विस्मयकरस्तथान्यासाञ्च गुरुगौरवादित्यागः। यो दुरन्तभावो गृहाभिमान् मृत्युपापाशानविध्यत् चिच्छेद तस्मादेता एव कृष्णानुग्रहयोग्या इत्यर्थः। यतः स्त्रियः खलु भावमात्रेणैव सद्य एव श्रीकृष्णं लभन्ते। अन्ये तु शमदमतितिक्षोपरतिमिश्रितेणापि ज्ञातुमपि न समर्थाः भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१-४२ ॥ इममर्थं स्वाचरितेन निर्णयन्ति अथापीत्यादि। अथापि एतद्द्वयस्य संस्कारादिमतामपि अस्माकं कृष्णे भक्तिश्च न अस्तु भक्तिकार्यम्; यदि वा ईषदङ्कुरिताभूत् सापि न दृढा ॥ ४४-५२ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

अहो! पश्यत नारीणामित्यारभ्य अथापि ह्युत्तमश्लोके भक्तिर्नचास्माकमित्याद्यन्तं सतात्पर्यकञ्च। तथा हि स्त्रियस्तत्कालमेव भावमात्रेणैव तं तथा लभन्तेन तथा शमदमादिशीला मुनयो विवेकिनोऽन्ये-वेति बहुत्र व दृश्यते इत्यादि ॥ ४१-५२ ॥

इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

यासां पतिश्वशुरादिरूपेण वयं गुरवस्ता इमाः कृतार्था अभूवन् वयम् अन्धकूपे पतिता एवेत्याहुः–अहो इति। दुर्गमोऽस्माभिरनुभवितुमशक्योऽत इयत्ता यस्य तथाभूतं भावं हा प्राणरमण! कृष्णेत्यादिगद्गदाक्षरवचनकम्पाश्रुपुलकवैवर्ण्याद्यनुभावज्ञापितं कृष्णे प्रेमाणं पश्यत। ननु, स्त्रीणां पत्युरितरस्मिन् भावोऽनुचितस्तत्राह, जगद्गुरौ यदारोपादेव पत्यौ स्त्रीणां गुरुत्वं विहितं साक्षाद्भूते तस्मिन् खलु को विचार इति भावः यो भावः मृत्युपाशान् अविध्यत् सद्यश्चिच्छेद गृहाभिधानिति गृहपत्यपत्यादिष्वसमासक्तिगन्धोपि सम्प्रति न दृश्यत इत्याद्यारभ्य एता एवास्माकं गुरव इति पतिभिरप्यद्यारभ्य कृष्णानुरागिण्य इमा आदरणीया एव न तु मनसा भार्या एव मन्तव्या इति भावः॥ ४१॥ न त्वासां कृष्णानुरागे हेतुरस्मद्गम्य इत्याहुः - नासामिति। योगेश्वरे इति स एव स्वभक्तेर्हेतुं जानात्युपपादयति च नान्य इति भावः। तेन कृष्णरूपगुणप्रख्यापिव्रजस्थमालिकादिवनिताजनसत्सङ्गरूपो मूलहेतुस्तैरज्ञातत्वान्नोक्त इति शुकदेवाभिप्रायः॥ ४२-४३॥ क्व भगवतः कारुण्यं क्व वाऽस्माकं दौरात्म्यमित्याहुः नन्विति॥ ४४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

योऽविध्यत अच्छिनत तं दुरन्तमपारं भावं भक्तिं पश्यत॥ ४१॥ क्रिया सन्ध्योपासनादयः॥ ४२-४५॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अहो इत्याश्चर्ये नारीणामयोग्यानामपि हरौ दुरन्तं दुर्गममस्मद्दुर्बोधं भावं कृष्णेतिगद्गदाक्षराश्रुपुलकादिलक्षितं भावं पश्यत ननु नारीणां पत्युरन्यत्र भावोऽनुचितस्तत्राह–जगद्गुराविति यदादेशात्तासां पतौ गुरुत्वं तस्मिन् साक्षाद्भूते को विमर्श इति भावः। यो भावो गृहाभिधान् मृत्युपाशानविध्यत् सद्यश्चिच्छेदेति गृहपत्यादिप्रीतिविगमादेता अस्मद् गुरव इति भावः॥ ४१॥ न त्वासां कृष्णानुरागे हेतुर्ज्ञातुं शक्यते इत्याह नासामिति। द्विजातिसंस्कार उपनयनं गुरौ निवासस्तत्सेवा तपः शास्त्रालोचनम् आत्ममीमांसा त्वात्मयाथात्म्यविचारः शौचं त्रिषवणस्नानादि क्रियाः सन्ध्योपासनादयः॥ ४२॥ संस्कारादिमतामुपनयनादिविशिष्टानामपीति संस्कारादीनां तदुक्तिहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां निराकृतं तासां तद्धेतुश्च नन्दीश्वरान्मथुरां प्रयान्तीनां मालिकादियोषितां तद्गृहबहिः प्रकोष्ठेषु विश्राम्यन्तीनां कृष्णगुणान् कीर्तयन्तीनां प्रसङ्ग एव दीर्घश्रुतेत्याद्युक्तेः स च तैरज्ञातत्वान्नोक्त इति बोध्यम्॥ ४३॥ क्व हरेः कारुण्यं क्व च नो दौरात्म्यमित्याह–नन्विति गोपवाक्यैर्निजरूपं स्मारयामास॥ ४४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अहो पश्यतेति स्वारस्यात्। अपिरुत्तरत्र वक्ष्यमाणैतद्दुर्मिलताहेतूत्कटाक्षयति। जगद्गुरौ कृष्णे नारीणामपि दुरन्तोऽप्रतिबद्धो भावो भक्तिस्तं पश्यत। अहो यो गृहाभिधांस्तन्नाम्नो मृत्युपाशाश्छिन्द्याच्चम्॥ ४१॥ तान्हेतूनाह॥ नेति। आसां द्विजातिसंस्कारः साक्षादुपनीतिरतो न स्त्रीणां प्रदानकर्मैव यथोपनयनं तथेति विरोधः। गुरावपि न निवासो विद्यार्थमिति शेषः। न तपः स्वातन्त्र्येण तत्रानधिकारादात्ममीमांसा ब्रह्मविचारो न शौचमस्मद्वदन्तर्बहिःशुद्धिर्नः शुभाः क्रिया यागाद्याः॥ ४२॥ एताश्चर्यं किं न्वलोकि भवद्भिरित्यत आहुः॥ अथाऽपीति। संस्कारादिमतां संस्कारादिशुभक्रियादिसम्पन्नानामप्यस्माकं न दृढा भक्तिः॥ ४३॥ उपदेशकाभावादियं दशाऽऽसीदित्यपि नास्मान्सूचयामास स तेनापि नास्माकं धीरुदियायेति वर्णयन्ति॥ नन्विति स्वार्थविमूढानां गृहेहया प्रमत्तानां नो गोपवाक्यैः सतां गतिः स्मारयामास॥ ४४॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्चाहो इति, अहो इत्याश्चर्ये, नरेषु दुर्लभं नारीषु भवति भावं पश्यत, घुणाक्षरन्यायेन कादाचित्कं व्यावर्तयति दुरन्तमिति, ननु स्त्रीणां पुरुषेषु भावो भवत्येवेति किमाश्चर्यमित्याहुः कृष्णे जगद्गुराविति, सदानन्दो जगद्गुरुश्च तस्मिन् नारीणां भावो कामिष्वेव वर्तते न तु भगवत्यत आश्चर्यं, ततः किमत आह योऽविध्यदिति, यो भावो गृहसंज्ञकान् मृत्युपाशानविध्यदच्छिनत् तं भावं भक्तिं पश्यतेति॥ नन्वस्य यज्ञस्य मुख्यफलाभावेप्युत्तरमीमांसान्यायेन चित्तशुद्धिपरत्वं भवत्वतो विकारोनुचित इति चेत् तत्राहुर्नासामिति, संस्काराणामहेतुत्वमन्वयव्यतिरेकव्यभिचारात्, संस्काररहितासु स्त्रीषु भक्तिसम्भवात् संस्कारवत्स्वस्मासु तदभावात्, तदाहुरासां स्त्रीणां द्विजातिसंस्कार उपनयनं नास्ति नापि गुरौ निवासो वेदाध्ययनं तपः स्वधर्मः श्रौतस्मार्तकर्माणीन्द्रियनिग्रहो वा स्नानादिना क्लेशसहनं वा नाप्यात्ममीमांसात्मविचारो नापि शौचं नापि शुभाः क्रिया अग्निहोत्रादयः॥ ४१॥ एवं भक्त्यधिकरणे साधनाभावं निरूप्य भक्तिमाहुरथापीति, नन्वस्या भक्तेः संस्कारा न साधनभूता यथा जार इतीमामाशङ्कां व्यावर्तयन्त्युत्तमश्लोक इति, उत्तमैरपि व्यासवाल्मीकिपराशरादिभिः श्लोक्यते कीर्त्यत इत्यनेन प्रमाणोत्कर्ष उक्तः, प्रमेयोत्कर्षमाह कृष्ण इति, फलोत्कर्षोऽप्युक्तः, साधनोत्कर्षमाह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वराणामपीश्वरे

नियन्तरि, सापि भक्तिर्दृढा पत्यादिभिः प्रतिबद्धापि न विहतेति तैलधारावदनवच्छिन्ना सर्वतोधिका, अन्वयव्यभिचारमाहुर्न चास्माकमित्यष्टचत्वारिंशत्संस्कारवतामपि ॥ ४२ ॥ ननु तासां जन्मान्तरे संस्काराः सिद्धाश्चर्षण्य एता अन्यथा भर्तृपरित्यागो न स्यादतः पुरुषा एवैते पूर्वजन्मनि गोपिका इव भवतां च 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिर्नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायत' इत्यतो भवतां बहुजन्मसंस्कारा न जाता इत्याशङ्क्याश्चर्येण तस्य समाधानमाहुर्नन्विति कोमलसम्बोधने, ननु सत्य-मेवमेव स्वार्थविमूढानां गृहेहया प्रमत्तानां नास्माकं गोपवाक्यैः पूर्वस्थितिं स्मारयामास, वयमपि भगवदीया एव पूर्वं स्थिता-स्ततो दैत्यावेशाद् दैत्यप्रभुदेशे स्थित्या तैः पाल्यमानास्तदन्नभोजिनो विस्मृतस्वरूपा जातास्तच्च भगवान् गोपवाक्यमिषेण स्मारयामासान्यथान्यान्नं किं भगवान् याचते ? अस्मांश्च पुनः स्वकीयान् जानाति, अहो अत्याश्चर्यमेतत् कथं वाक्यमात्रेण प्रबोध इति, अलौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः, अहो इति तस्यानुकरणं, अनेन पूर्वोक्तपक्षा निराकृताः, स्त्रियोप्येताः स्वस्यैव भगवतो दास्यो वयं च दासा नात्र सन्देहः, अन्यथा प्रतिकूलतर्कं वक्ष्यन्ति स्वार्थे भगवत्सेवायां विमूढा गृहेहया इति कृत्यचिन्ता गृहधर्मास्-तत्रापि प्रमत्तास्तच्चिन्तया भगवत्सेवायां वा प्रमत्ता अतः स्वसेवकान् स्मारितवान् साक्षाद्दुपदेशेनाधिकारिणो मत्वा गोपवाक्यैः, तथाकरणे हेतुः सतां गतिरिति सतामयमेव गतिः, यद्येवं भगवानुपेक्षेत तदा सन्तो नष्टा एव भवेयुः ॥ ४३ ॥ एतत् सर्वं याच-नान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते तत्रान्यथोपपत्तिं कल्पयित्वा परिहरन्त्यन्यथेति, भगवतस्तु नापेक्षितं किञ्चिन् नापि दुःखनिवृत्तिस्तत्साधनं वा नापि सुखं तत्साधनं वा पूर्णकामत्वात्, तस्य हि कामाः पूर्णा उत्पन्ना विपर्ययेन पूर्यन्ते लौकिकवत् किन्तु पूर्णा एवाविर्भवन्ति अतो नित्यविषयास्ते, तथा सति यान्नकामनाभगवत्याविर्भूता सान्नसहितैवेति सिद्धेर्थे याचनमनुपपन्नं परमुद्रे शान्तरं चेत् तदा सिद्धमपि दूरीकृत्य साधनान्तरं करोति, असाधनं वा बोधयति, तस्मादात्मप्रबोध एव याचनफलं, किञ्च कैवल्याद्याशिषां पति-र्भगवान्, कैवल्यं केवलता सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिः प्रत्यापत्तिरूपं तत् प्रथमं फलं ततः पूर्वं दुःखमेवातः कैवल्ये प्राप्ते ततः स्वरूपेण भजनं तत आनन्दाविर्भावस्ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा तदनन्तरं धर्मा भगवदीया भगवदाज्ञापनरूपा अर्थाश्च तदीयाः कामाश्च, एवं कैवल्याद्या या आशिषस्तासां पतिरयं दाता नियामकः, तथा सति गोपानां क्षुदेव न स्यान् नापि तैः प्रार्थ्येत, लोकानामपि कैवल्यादिदाता, न हि तान् सङ्घाते स्थापयति येन क्षुद् भवेदतः क्षुधमप्युत्पाद्य विद्यमानेप्यन्ने तदद्त्वा बोधनार्थ-मेवात्र प्रेषितवान्, किञ्चेशितव्यैरस्माभिः किं स्यात् ? वयमीशितव्या दासा न हि दासान्नं भुज्यते, तेभ्यो दीयत एव, न हि महाराजस्य दिनमात्रव्यवस्थामपि कश्चिद् दासः सम्पादयितुं शक्तः, नाप्यस्माभिस्तथाग्रे कृत्यमत ईशस्यैतदनुकरणमात्रं न तु याचनं, अनुकरणं तु रसोत्पत्त्यर्थमितिनिश्चयः, न हि नटस्य योगिभावप्रदर्शने किञ्चित् कृत्यमस्ति विना रसोत्पादनं तथा भगवद्याच्यानुकरणमपि बोधनार्थमेव ॥ ४४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अथापीत्यत्र अष्टाचत्वारिंशदिति अधुना अपरसंस्काराभावेप्युत्तमदेहान्यथानुपपत्त्या पूर्वजन्मनि सिद्धा एवेत्यर्थं चर्षण्य इति "यज्ञपत्न्यस्तथापरे" इति वाक्येन तादृशलीलाविषयत्वादेता अपि वक्ष्यमाणशक्तिमत्य इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कैवल्याद्याशिषां पतेरित्यस्य विवरणे ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वेति कैवल्यप्राप्त्यनन्तरं स्वरूपेण शुद्धजीवरूपेण भजनं, ततस्तिरोहितस्य स्वकीयानन्दस्याविर्भावः, ततः पक्षद्वयं मर्यादाभक्तानां भगवति प्रवेशः, पुष्टिमार्गीयाणां तु फलरूपा भक्ति-रित्याहुः भगवति प्रवेशो भक्तिर्वेति, इदं त्ववधेयं, धर्मादयः कैवल्यान्ताः पुरुषार्था इति सर्वत्र प्रसिद्धिः, श्रीमद्भागवते तु "कैवल्याद्याशिषां पते"रिति वाक्यात् कैवल्यं प्रथमकक्षा, तत्स्वरूपं सुबोधिन्यां कैवल्यं केवलता सङ्घातनिवृत्त्येत्यादिना कामाश्चेत्यन्तेन विवृतं, अत एव कैवल्यं ज्ञानादेव श्रुतौ निरूपितं "ज्ञानादेव हि कैवल्य"मिति, नैतावता भक्तः काचित् क्षतिः, सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिस्वरूपं कैवल्यं ज्ञानादेव भवति, अध्यासनिवर्तकत्वात् ज्ञानस्य, न हि कैवल्यमात्रं परमपुरुषार्थः, स च कैवल्यस्य प्रथमकक्षात्मकत्वात् "कैवल्याद्याशिषां पते"रिति वाक्यात्, परमपुरुषार्थस्तु पुरुषोत्तमनित्यलीलाधामप्रवेशः, स च पुरुषोत्तमानुग्रहजन्यपुष्टिभक्त्यैकलभ्यः, "मत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत"मिति भगवद्गीतासूक्तत्वात्, "एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोपि सन् बहुधा यो विभाति तं पीठगं ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषा"मित्याथर्वणिके गोपालतापनीयोपनिषद्भ्यश्च, "पीठगं" सिंहासनस्थमित्यर्थः, "भजन्ती"त्यनेन सेवा उक्ता भज सेवायामितिधात्वर्थात्, गीतासु "स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वत"मित्यत्र शाश्वतपदात् गोपालतापिन्यां "सिद्धिः शाश्वती"त्युक्त्या नित्यलीलाधामप्रवेशो भक्तानां फलत्वेन निरूपितः, शाश्वतशब्दस्य नित्यशब्दपर्यायत्वात् ॥ ४४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अहो आश्चर्यमेतत्, नारीणामपि कृष्णे दुरन्तमस्माभिः प्रतिरोधे कृतेऽप्यप्रतिबद्धं भावं भक्तिं पश्यतेत्यन्वयः । अपि-शब्देन तासां संस्कारादिराहित्येन हीनत्वं सूचयन्तस्तद्धक्तेः प्रत्यक्षसिद्धं माहात्म्यमाहुः - य इति । यो भावः गृहसंज्ञान् मृत्युपाशान्

अविध्यत् अच्छिनत्। एवंप्रभावे हेतुं सूचयन्नाहुः—जगद्गुराविति। ब्रह्मादिसर्वपूज्य इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ तासां हीनत्वमेव स्पष्टयन्ति—नेति। द्विजातिसंस्कारः उपनयनं, शौचं शुद्धता चैतद्द्वयं सर्वद्विजातिसाधारणधर्मः। गुरौ निवासः गुरुगृहनिवासपूर्वकवेदाध्ययनं ब्रह्मचारिधर्मः। तपो वनस्थधर्मः। आत्ममीमांसा आत्मविचारो यतिधर्मः। शुभाः क्रियाः सन्ध्योपासनयज्ञादिरूपाः गृहस्थधर्मः। यद्यप्यासां संस्कारादयो न सन्ति ॥ ४२ ॥ अथापि तदभावेऽपि कृष्णे दृढा भक्तिरस्ति। अस्माकं सस्कारादिमतामपि सा नास्तीत्याश्चर्यम्। कृष्णभक्तेर्दुर्लभत्वं सूचयन् विशिंषन्ति—उत्तमश्लोके इति। अविद्यानिवर्तकयशसीत्यर्थः। तत्र हेतुमाहु:—योगेश्वरेश्वरे इति ॥ ४३ ॥ भगवद्याच्ञाप्रयोजनं निश्चिन्वन्त आहुः—नन्विति। ननु निश्चये निश्चितमेतत् स्वार्थेस्वपरमप्रयोजने विमूढानाम् अज्ञानाम्, अत एव गृहरयेहया व्यापारेण प्रमत्तानां विचारेऽप्यसमर्थानां नोऽस्माकं परमफलभूतमात्मानं गोपवाक्यैः स्मारयामासेत्यन्वयः। तदनुग्रहस्याश्चर्यं सूचयन्ति–अहो इति। तत्र हेतुमाहुः–सतां गतिरिति। सदाचाराणां फलभूत इत्यर्थः ॥४४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नूनमिति ॥ हे इति मिथः संबोधयन्ति। नूनं भगवतो माया योगिनामपि मोहिनी। यत् यस्मात् वयं द्विजाः अत एव नृणां गुरवः उपदेशकर्तारोऽपि स्वार्थे स्वप्रयोजने मुह्यामः ॥ ४१ ॥ अहो इति ॥ अहो नारीणामपि जगद्गुरौ कृष्णे दुरन्तं सर्वबाधकं भावं भक्तिं पश्यत। यो भावः गृहाभिधान् गृहनाम्नः मृत्युपाशान् अविध्यत् अच्छिनत् ॥ ४२ ॥ नेति ॥ आसां द्विजातिसंकारः उपनयन न गुरौ निवासोऽपि न आत्ममीमांसा न शौचं शुभाः क्रियाः संध्योपासनादयश्च न। अत्र शौचं सामान्यधर्मः द्विजातिसंस्कारो धर्माधिकारहेतुः गुरुवासादयः क्रमाद्ब्रह्मचारिवनस्थयतिगृहस्थधर्माः ॥ ४३ ॥ अथापीति ॥ यद्यप्यासां संस्कारादयो न सन्ति तथापि उत्तमश्लोके योगेश्वराणामीश्वरे कृष्णे दृढा भक्तिरस्ति। अस्माकं तु संस्कारादिमतामपि भक्तिर्नास्ति ॥ ४४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अहो दुरंतं भावं भक्तिं पश्यत यो भावो भक्तिः अविध्यत् व्यदारयत् ॥४१॥ आसां स्त्रीणां द्विजातिसंस्कारो यज्ञोपवीतादिः गुरौ गुरुगेहे पठनार्थं आत्ममीमांसा देहात्मविचारो नाऽभूत् शौचं यथा शास्त्रोक्तं बाह्यमाभ्यंतरं चेति द्विविधं क्रियाः संध्यावंदनादयः ॥ ४२-४३ ॥ स्वस्यार्थे मोक्षमार्गे विमूढानां विपरीतज्ञानानां गृहेहया गेह कर्मकलापेन मोक्षयत्ने प्रमत्तानामसावधानानां नोऽस्माकं स्वरूपं स्मरयामास स्वस्वरूपस्मृतिं दत्तवानित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

भगवन्मायातरणहेतुस्तद्भक्तिरेव न तूक्ता जन्मादय इत्यभिप्रायेणाहुर्द्वाभ्याम्। नूनमिति। भगवतः माया मायिनां अपि, मोहिनी नूनम्। ज्ञानिनामपि निश्चयेनैव मोहोत्पादिकेत्यर्थः। 'माया वयुनं ज्ञानम्' इति निघण्टुः। यद्यस्मात्, नृणां गुरवः वयं द्विजाः अपि, उक्तविधजन्मादिमन्तोऽपि, स्वार्थे स्वहितविषये, मुह्यामहे। भगवन्मायया मोहमेव यायाम इत्यर्थः ॥ ४१ ॥ अहो इति। अहो नारीणामुक्तविधजन्मादिहीनानां स्त्रीणां अपि, जगद्गुरौ सर्वहितोपदेष्टरि कृष्णे, दुरन्तभावं अनवधिकभक्तिमित्यर्थः। पश्यत। य एतासां कृष्णे दुरन्तभावः, गृहाभिधान् मृत्युपाशान्, अविध्यत्। भगवन्मायाप्रयुक्तानपि पाशानच्छिनदित्यर्थः ॥४२॥ द्विजा अपि नारीणामपीत्यनेनाभिप्रेतं स्पष्टयन्ति नासामिति द्वाभ्याम्। नासामिति। आसां नारीणां, द्विजातिसंस्कार उपनयनसंस्कारः, न विद्यते। गुरौ अपि निवासः, न, गुरुकुलनिवासोऽप्यासां न भवतीत्यर्थः। तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं, न। आत्ममीमांसा देहविलक्षणप्रत्यगात्मविचारः न। शौचं न बाह्याभ्यन्तरेति द्विविधशौचमध्ये एकमपि यथार्थतया न विद्यते इत्यर्थः। शुभाः क्रियाः संध्योपासनादिरूपाः, न भवन्ति ॥ ४३ ॥ अथापीति। अथापि एतासां द्विजातिसंस्कारादीनामभावे सत्यपि, योगेश्वराणामपीश्वरस्तस्मिन्, उत्तमश्लोके श्रीकृष्णे, दृढा भक्तिः, जातास्ति हि। संस्कारादिमतां अपि, अस्माकं सा भक्तिः, न च नैव विद्यते ॥ ४४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अहो इति : १०.२३.४१.

नित्याम्नायविविक्तता स्मृतिचयाभ्यासः सदाचारदृक् श्रेयः श्रौतपरिश्रमश्च सदसद्वस्तुग्रहत्यागधीः।
प्रत्येकं भववार्धि तारकमिति प्रोद्घुष्टमाद्यैर्षिभिराश्चर्यं युगपत्कथं तदखिलं मग्नं प्रमादार्णवे ॥ ८१ ॥

नासामिति : १०.२३.४२.

गुरोर्गेहेवासः सुचिरपरिचर्या चरणयोर्व्रतेष्वत्यासक्तिः शमदमविधौ जागृतिरपि।
ततो विद्यावाप्तिर्भवति भगवत्प्राप्तिकृदिति कृतो घण्टाघोषः किमु न गतगर्वो युवतिभिः ॥ ८२ ॥

अथापीति : १०.२३.४३

अस्मत्सेवनमात्रकृद्भिरधुना स्त्रीभिः स सर्वेश्वरो दृष्टः स्पष्टमकाण्डताण्डवचणैर्नास्माभिरप्यंशतः।
स्याद्वाऽस्मत्पदसेवनं किमखिलो हेतुः प्रभोरीक्षणे किं कर्तव्यमहो स्वसेवनविधिः कुत्रापि नोट्टङ्कितः ॥ ८३ ॥

नन्विति: १०.२३.४४.

युष्मद्धृदिन्द्रियावनचणो युष्मत्क्रतुप्रीतिमानत्रासौ समुपागतोऽस्तिभगवान्युष्मासु कर्तुं कृपाम्।
तन्मान्धर्स्थितिवासना भवत भो भक्ताशया याचकानस्मान् पूजयतात्ममार्जयत तत्प्रीतिं प्रसङ्गोदिताम् ॥ ८४ ॥
इति भूरितरं गोपैर्व्यक्तमप्युक्तमुक्तिभिः। नार्थोऽग्राहि न चाश्रावि प्रमादोऽयं कियानहो ॥ ८५ ॥ (युग्मम्)
अस्मांल्लालयितुं स्खलत्पदगतीनत्यल्पबालान् स्वकानूर्वंशो हि पुरस्कृतो भगवता तत्प्रेषणच्छद्मना।
वृद्धाहङ्कृतिभागभिरद्य तु तिरस्कुर्वद्भिरेतान् बलाद् बालादप्यलमल्पता किमिह वा नाकल्पमाकल्पिता ॥ ८६ ॥

कृष्णप्रिया

आश्चर्य की बात तो यह है कि, इन स्त्रियों की जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण में कैसी सुदृढ भक्ति है, इन्होंने निरक्षर नारी होने पर गृहस्थों की ममता रूप कठिन मृत्युपाश को भी काट दिया ॥ ४१ ॥ आश्चर्य कहानी तो यह है कि, जैसे हम शिक्षा दीक्षा आदिसे संस्कृत हैं वैसे इन स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ न वेदाध्ययन के लिये इन्होंने गुरुकुलमें निवास किया, न कृच्छ्रचान्द्रायणादि तप किया, न आत्ममीमांसा व आत्मचिंतनादि किया, न ये शौच दृढ आचारों की पवित्रता से रहती है, और न इन्होंने त्रिकालसन्ध्या षट्कर्मानुष्ठान अग्निहोत्रादि आदि वेदोक्त कुशल कर्म किए है फिर भी श्रीउत्तम-श्लोक समर्थ योगेश्वरों के नियामक भगवान् श्रीकृष्णमें इनकी सुदृढ भक्ति रही। परन्तु संस्कारसम्पन्न हमलोगों की भगवान श्रीकृष्णमें भक्ति नहीं बनी। सचमुच हम लोग भगवत्सेवा नाम के स्वार्थ परम पुरुषार्थ से विमूढ हैं और गृहस्थाश्रम के लौकिक सुखों में पूर्णमस्त हैं। कितनी आश्चर्य की बात है कि कृपालु भगवान् श्रीकृष्ण ने गोप वाक्यों के माध्यम से हमें स्मरण कराया सज्जनों के रक्षक तो वे ही हैं ॥ ४२-४४ ॥

अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः। ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥ ४५ ॥
हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शाशया सकृत्। [1]आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्ञा जनमोहिनी ॥ ४६ ॥
[2]देशः कालः पृथग्द्रव्यं मन्त्रतन्त्रर्त्विजोऽग्नयः। देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥ ४७ ॥
स [3]एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः। जातो [4]यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥ ४८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अन्यथा पूर्णकामस्य, कैवल्य आदि आशिषाम् पतेः, ईशितव्यैः अस्माभिः किम् ? एतत् (याचनम्) ईशस्य विडम्बनम् ॥ ४५ ॥ श्रीः आत्मदोष अपवर्गेण पादस्पर्श आशया अन्यान् हित्वा, यम् श्रीकृष्णम् भजते तत् याच्ञा, जनमोहिनी ॥ ४६ ॥ देशः कालः, पृथक्, द्रव्यम्, मन्त्र तन्त्र ऋत्विजः, अग्नयः, देवता, यजमानः, क्रतुः, च धर्मः यन्मयः ॥ ४७ ॥ स एष योगेश्वरेश्वरः विष्णुः साक्षात् भगवान्, यदुषु जातः इति अशृण्म अपि मूढाः न विद्महे ॥ ४८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

आत्मनो दोषापवर्गेण चांचल्यगर्वादित्यागेन ॥ ४६-४७ ॥ इत्यशृण्म एवं सर्वत्र श्रुतवंतो वयं हि तथाऽपीति ॥ ४८-५१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अन्यथा सतां गतित्वानंगीकारे। ईशितव्यैः अनीशैः, प्रेष्यैरिति यावत्। सहार्थे तृतीया। किम् स्मारणे। किं प्रयोजनम् न किमपीत्यर्थः। प्रयोजनाभावे किमर्थं स्मारणं कृतं तत्राह—ईशस्य एतत्स्मारणमस्मत्श्रीष्वनुकंपनं च विडंबनं कृपैव "विडंबनं मतकर्ये चानुकारकृपयोर्हसे" इति धरणिदेवः ॥ ४५ ॥ यम् श्रीकृष्णम्। श्रियाः भगवति त्यागकारणानां शौर्यौदार्यविद्वत्तानां सत्त्वे वासकारणस्य मौढ्यस्य चासत्त्वेपि न त्यजतीति भावः। "शूरं त्यजामि वैधव्यादुदारं मध्यनादरात्। विद्यावंतं च सापल्यान्मूढो मेऽतिप्रियस्ततः ॥" इति शिष्टोक्तेः। तस्य याच्ञा जनमोहिनी जनेषु निजैश्वर्याच्छादनकरीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ पूर्वोक्तं स्मारयति—देशेति ॥ ४७ ॥ स एष कृष्णो यन्मयो देशादिरित्यर्थः ॥ ४८ ॥

---

१. स्वात्मदोषापवर्गेण–वीर. विज.। २. देशकालपृथग्द्रव्यमन्त्र–विज.। ३. स एव–वीर. ; स एवं–इति कस्यचित्। ४. यदुष्वित्यशृण्म अपि–वीर. ; श्रुवीति शृण्वाना ये विमूढा–विज.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, गोपवाक्यैरन्नमेवास्मास्वायाचत न च स्मारयामास तत्राहुः—अन्यथा अनुग्रहमयात्मस्मारणमन्तरेण। ननु, पूर्णकामत्वेन तस्यान्ने प्रयोजनं मास्तु क्षुधार्त्तगोपनिमित्तं युज्यत एव तत्राहुः—कैवल्येति। कैवल्यं मोक्षः प्रेम वा फलान्तरान्दसम्बन्धेन शुद्धभावरूपत्वात् तदादीनाम् आशिषाम् अर्थानां पतेः पत्युरीश्वरस्य तत्तत् प्रदाने समर्थस्येत्यर्थः। ईशितव्यैः नियम्यैः किञ्चित् कर्त्तुमप्यशक्तैः किं न किञ्चिदपि प्रयोजनमित्यर्थः। किन्त्वीशस्यापि एतत् विडम्बनं दयामात्रेणानुकरणमेव भवतीति ॥ ४५ ॥ ननु, यद्यसौ स्मारयामास तर्हि भवन्तः कथं न सस्मरुः तत्राहुः हित्वेति। अन्यान् हित्वेति क्षीरोदमथनान्ते तस्यानवमिवाविर्भूतायाः स्वयम्वरलीलानुकरणदृष्टया प्रोक्तम् असंकृत् भजते स्म स्वं स्वयमेवात्मा यस्यास्तस्यास्तदंशाभासभूताया जगल्लक्ष्म्या ये दोषास्तदस्पर्शेनेत्यर्थः। एवं कथमपि तद्याञ्चा न घटेतैवेति वोधितं तथापि तस्य याञ्चाजनानामस्मद्विधानां सर्वेषामेव जीवानां मोहिनी नायमीश्वर इति मोहमुत्पादयतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥ स्वतोऽपि मोहं दर्शयन्ति देश इति, युग्मकेन। स एव साक्षात् भगवान् श्रीनारायणः तस्य देशादिमयत्वे हेतुः विष्णुः सर्वव्यापक इति तस्य च सर्वैरेवोपास्यत्वमाहुः योगेश्वराणां मुक्तानामपीश्वरः अतो यज्ञादिना अस्माकमपि स एव सेव्य इति भावः। यद्वा, स एव साक्षाद्भूत एव अत एव भगवान् सर्वैश्वर्य्यपूर्णः तत्राप्यशेषैश्वर्य्यप्रकटनेन विश्वव्यापकत्वाद्विष्णुः अतो योगेश्वराणामपीश्वरः सेव्य इत्यर्थः। यद्वा, किमर्थं जातस्तत्राहुः योगेश्वराः सुसिद्धभक्तियोगाः तेषामीश्वरः निजभक्तसुखार्थमित्यर्थः। हिशब्देन तत्र शास्त्रादिप्रामाण्यं सूचयन्ति—तच्च प्रसिद्धमेव मद्भक्तानां विनोदार्थमित्यादिवचनेभ्यः मूढाः शास्त्रार्थानभिज्ञाः आभ्यां वाक्याभ्यां यथा पूर्वमस्माभिर्निरूपितं तथा तैरपि विचारितमिति श्रीशुकदेवाभिप्रायः ॥ ४७-४८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु गोपवाक्यैरन्नमेवास्मास्वयाचत, न च स्मारयामास, तत्राहुः—अन्यथेति। ननु पूर्णकामत्वे तस्यान्नेन प्रयोजनं मास्तु, क्षुधार्त्तगोपनिमित्तं युज्यत एव, तत्राहुः—कैवल्येति। कैवल्यं मोक्षः प्रेमा वा, फलान्तराद्यसम्बन्धात्, तदादीनामाशियामर्थानां पतेः पत्युरीश्वरस्य तत्तत्प्रदानसमर्थस्य ईशितव्यैर्नियम्यैः किञ्चित् कर्त्तुमप्यशक्तैरित्यर्थः। ननु तर्हि कथमयाचत ? तत्राहुः—एतद् याचनादिकं विडम्बनं लौकिकलीलाप्रदर्शनमित्यर्थः। यद्वा, डलयोरेकत्वात् विलम्बनं लोकानां संसारतरणावलम्बनमित्यर्थः। यद्वा, अस्माकं विडम्बनमुपहसनम् ॥४५॥ ननु, इच्छामात्रेण संसारात्तारयितुं शक्तेन तेन किमर्थमनीश्वरवद्याचनादिकं क्रियते ? तत्राहुः—हित्वेति। सकृदपि पादयोः पादस्यैकस्यापि वा स्पर्शाशया; यद्वा, असकृद्भजते सेवते, एवं कथमपि तद्याचना न घटेतैवेति वोधितम्, तथापि तस्य याच्ञा जनानां सर्व्वेषामेव जीवानां मोहिनी मोहमुत्पादयतीत्यर्थः। को नाम तच्चेष्टितं वोद्धुं शक्नुयादिति भावः। यद्वा, अभक्तानां मोहार्थं भक्तानाञ्च भक्तिवृद्ध्यर्थमेवेत्याहुः—जना अभक्ता ये जीवा इत्यर्थः। किंवा, अकारप्रश्लेषेण अजनाः तद्भक्तेतरा अभक्ता इत्यर्थः, तेषां मोहिनी, भक्तानान्तु तया मोहो न स्यादेव, प्रत्युत भक्तिरेव विवर्द्धेत इत्यर्थः, परमेश्वरस्य लौकिकलीलया भक्तिविशेषोत्पत्तेः। यद्वा, जनानां तद्दासानां मोहिनी चित्ताकर्षिकेत्यर्थः। अतएव श्रीमदुद्धवेन श्रीविदुराग्रे उदितम् (भा० ३।२।१६)—'मां खेदयतोतदजस्य जन्म, विडम्बनं यद्वसुदेवगेहे। व्रजे च वासोऽरिभयादिव स्वयं पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्य्यः ॥' इति; अस्यार्थः—जन्मनो विडम्बनं स्वीकारः, वसुदेवस्य बन्धनागारे अरेः कंसस्य भयादिव व्रजे वासश्च, स्वयमनन्तवीर्य्योऽपि पुरात् मथुरातः पलायतेति। अतएव तत् मां खेदयति, ईदृश्या लौकिकलीलयैव भक्तिविशेषवर्द्धनेन मादृशां हृदि पीडां जनयति, अन्यथा श्रीनृसिंहादिवत् साक्षान्निजैश्वर्य्यदर्शनेन भक्तिविशेषानुदयान्मादृशामेतादृशं दुःखं नाभविष्यदित्यर्थः। एवं (भा० ३।२।१७) 'दुनोति चेतः स्मरतो ममैतत्' इति, (भा० ३।२।२२) 'तत्तस्य कैङ्कर्य्यमलं भृतान् नो, विग्लापयत्येव यदुग्रसेनम्' इत्यादिकमपि तत्रैव तदुक्तं तथैव बोद्धव्यमिति ॥ ४६ ॥ जनमोहिनीत्वमेव दर्शयन्ति—देश इति द्वाभ्याम्। स एव साक्षात् भगवान् श्रीनारायणः, तस्य देशादिमयत्वे हेतुः—विष्णुः सर्व्वव्यापक इति। तस्य च सर्व्वैरेवोपास्यत्वमाहुः—योगेश्वराणां मुक्तानामपीश्वरः, अतो यज्ञादिनास्माकमपि स एव सेव्य इति भावः। यद्वा, स एवं साक्षाद्भूतः, एव शब्देनांशत्वादिकं निरस्तम्, अतएव भगवान् सर्वैश्वर्य्यपूर्णः, तत्राप्यशेषैश्वर्य्यप्रकटनेन विश्वव्यापकत्वाद्विष्णुः, अतो योगेश्वराणामपीश्वरः सेव्य इत्यर्थः। एष इति पाठे एष प्रत्यक्षतां प्राप्तः साक्षात् स्वयं किंवा, एषोऽधुनैव जात इति कालाव्यवधानमुक्तम्; यद्वा, किमर्थं जातः ? तत्राह—योगेश्वराः सुसिद्धभक्तियोगास्तेषामीश्वरः, निजभक्तसुखार्थमित्यर्थः, हिशब्देन तत्र शास्त्रादिप्रामाण्यं सूचयन्ति, तच्च प्रसिद्धमेव, 'मद्भक्तानां विनोदार्थम्' इत्यादिवचनेभ्यः; मूढाः शास्त्रार्थानभिज्ञाः ॥ ४७-४८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

आत्मदोषोऽपवर्गेण चञ्चलरूपस्वदोषप्रहाणेन स्थिरतरेत्यर्थः ॥ ४६-५० ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अन्यथा कैवल्यादीत्यादिशब्दो भोगमोक्षसंग्राहकः कैवल्यादिपुरुषार्थदस्येश्वरस्य सर्वनियन्तुरीशितव्यैरस्माभिः किं न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः। अत एव तद्याचनं विडम्बनमनुकरणमात्रं तात्पर्यन्त्वस्मदनुजिघृक्षायामिति भावः॥ ४५॥ पूर्णकामत्वमेव व्यञ्जयितुमाहुः—हित्वेति। श्रीमहालक्ष्मीः अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वायं कृष्णं सकृदपि पादस्पर्शेच्छयात्मदोषापवर्गेण चञ्चलत्वरूपस्वदोषप्रहाणेन भजते एवं श्रियाप्यनुवर्त्त्यस्य पूर्णकामत्वं किमु वक्तव्यमिति भावः। अतस्तस्यैवम्भूतस्य याञ्चा केवलं जनमोहिनी जनानामश्रुतावतारणामात्ममहिमाच्छादनी श्रुतावतारणामध्यस्माकन्तु तत्स्मारिणीति भावः॥ ४६॥ श्रुतावतारणामप्यस्माकं तावद्विमोहिन्येवाभूत् किमुताश्रुतावतारणामित्यभिप्रायेणाहुः—देश इति द्वाभ्याम्। देशादयो यन्मया स एव भगवान् साक्षाद्यदुषु जातोऽवतीर्ण इति आश्रुत्यापि तावन्न विद्महे न ज्ञातवन्तः स्मः॥ ४७-४८॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अन्यथा स्मारयितृत्वेनाऽपि तर्हि स्त्रीणां किमर्थं कृतमिति तत्राह—ईशस्येति॥ ४५॥ स्वात्मदोषापवर्गेण अन्यत्र चञ्चलत्वादिस्वकीयदोषपरित्यागेन स्थैर्यस्वभावेनेत्यर्थः॥ ४६-५१॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अन्यथा निरुपाधिकारुण्यं विना पूर्णकामस्य अस्माभिः किं प्रयोजनं न किमपीत्यर्थः। ईशस्य एतत् अन्नप्रार्थनं खलु विडम्बनं लाघवमेव यस्मादित्यर्थः। यद्वा, तस्मादेतत् ईशस्य ईशकर्तृकम् अस्मत्कर्मकं विडम्बनं तिरस्कारः॥ ४५॥ ननु, क्षुधार्तत्वादेवेदमन्नप्रार्थनं नतु कारुण्यं नापि पूर्णकामत्वादिकं गोचारणाद्यनुपपत्तेरतत्राहुः-हित्वेति। असकृत् मुहुः श्रीः सम्पल्लक्ष्मीः स्वात्मनो दोषस्य अञ्चल्यस्य अपर्वेण त्यागेन विशिष्टचाञ्चल्यं परित्यज्येत्यर्थः। तस्यापि याच्ञादिकं जनान् अस्मद्विधान् मोहयति नायमीश्वर इति प्रत्याययति॥ ४६॥ मोहमेव विवृण्वन्ति, देश इति॥ ४७-४९॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

श्रीः महालक्ष्मीः अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा यं श्रीकृष्णं सकृदपि पादस्पर्शाशया स्वात्मदोषापवर्गेण शोभनस्य सर्वगुणसम्पन्नस्यात्मनो मनसो ये दोषाः दूषकाः भजनवैमुख्यकराः आलस्यादयस्तेषामपवर्गेण त्यागेन भजते तस्य याच्ञा जनमोहिनीत्यर्थः॥ ४६-४७॥ इत्येवम् आश्रृण्म सर्वत्र श्रुतवन्तो वयं हि तथाहि न विद्महे न ज्ञातवन्तः॥ ४८-५१॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अन्यथा कारुण्यं न चेत् पूर्णकामस्य तस्यास्माभिः किं न किञ्चित् प्रयोजनं तस्मादीशस्यैतदन्नप्रार्थनं विडम्बनमस्मत्तिरस्करणमेव॥ ४५॥ न च क्षुधार्त्ततयान्नयाचनं न तु कारुण्यं गोचरणादि सत्त्वात् पूर्णकामत्वञ्च नेति वाच्यमित्याहु-हित्वेति। श्रीः सम्पदरूपा यमसकृत् सर्वदा भजते अन्यानिन्द्रादीन् हित्वा स्वात्मदोषश्चापल्यं तस्यापवर्गेण त्यागेन स्थिरा सतीत्यर्थः। जन्मोत्सवादिपु धेनुनियुतद्वयादिदानादिति भावः। तस्य याञ्चा जनानस्मद्विधान् मोहयति नायं सर्वेश इति प्रत्याययतीत्यर्थः॥ ४६॥ मोहं विवृण्वन्ति—देश इति। यन्मयो यद्व्याप्यो यदधीनवृत्तिको वा॥ ४७॥ अश्रृण्म श्रुत्वापि मूढाः सन्तो न विद्मः॥ ४८-४९॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

नन्वोदनार्थं गोपा न प्रेषयत्स कथं तत्स्मारणं युष्माकमित्यत आह॥ अन्यथेति। पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां मोक्षादिसकलकाम्यानां पतेरुक्ता गतिरनुसन्धेया। तत्काले यदभीप्सितमेषां तद्वितरणधुरीणस्येशितव्यैः सूत्रपुत्तलिकातुल्यैः स्वप्रयैस्तस्य किमीशस्यैतद्विडम्बनं लोकानुकृतिः॥ ४५॥ आत्मदोषापवर्गेणात्मनो दोषाश्चाञ्चल्यं तस्यापवर्गो वर्जनं त्यागस्तेन स्थैर्येणेत्यर्थः। पादस्पर्शाशया पादस्पर्शेनाशयोऽन्तः करणं यस्याः सा सती पादस्पर्शस्याशाऽभिलाषस्तया वा श्रीर्योऽन्यान्हित्वा। एष ब्रह्माऽविद्यञ इत्यादिप्रतिपादितदोषांश्चतुराननादीन्हित्वा भजते। तद्याञ्चाऽस्मदन्नयाचनं जनमोहिन्यस्मदादिपामरमोहिका॥ ४६-४७॥ श्रुत इति श्रृण्वाना ये वयम्॥ ४८॥

श्रीसुबोधिनी

ननु पूर्णोप्यवतारं कृत्वा लीलया नट इव लौकिकं सम्पादयत्यतो याच्ञा युक्तेति चेत् तत्राहुर्हित्वान्यानिति, यदि याचनीयं लक्ष्मीरेव वक्तव्या किं भिक्षुकैः? न च मन्तव्यं लक्ष्मीः कार्यान्तरव्यापृतेति, यान्यान् सर्वानेव हित्वासकृद् भजते तत्रापि पादस्पर्शं आशामात्रं; सा चेदाज्ञां प्राप्नुयात् कृतार्थैव भवेत् तां विहायान्ययाचनमन्यार्थमेव, ननु लक्ष्म्यां चाञ्चल्यमस्त्य-

तत्तदा न स्थितेति चेत् तत्राहुरात्मदोषापवर्गेणेति, आत्मनो दोषश्चाञ्चल्यं तस्यापवर्गो निवृत्तिः पुनरुत्पत्तिरहिता, एवमेव हि भगवत्सेवकानां धर्मः, ननु लोकाः पूर्वमप्याहुर्वैलिर्याचितो भगवतेति तथेदानीमपि भविष्यतीति चेत् तत्राहुस्तद्याञ्चा जनमोहिनीति जनानेव व्यामोहयत्यन्यथा स्वस्मिन्नेव शरीरे त्रैलोक्यं प्रदर्शितं व्यर्थं स्यात् स्वस्यैव सिद्धत्वान्न याचनमिति स ज्ञापितो लोकास्तु व्यामोहिताः ॥ ४५ ॥ किञ्च देशादयः सर्वे तदात्मका एव तथा सति तत्रादानबुद्धिर्मोहनव्यतिरेकेण कथं भवेदत इदमपि याचनं मोहनार्थमेव, 'पुरुष एवेदं सर्व'मितिश्रुत्यनुसारेण सर्वे पदार्था भगवदात्मका इति ज्ञायन्ते तथापि यो मोहः स याच्ययैव ॥ ४६ ॥ ननु स पुरुषो यदात्मकं जगदस्मिन्नप्येतस्मिन्नज्ञानाद् दानमुचितमेवेत्याशङ्क्याहुः स एष इति, स पुरुष एवायं भगवांस्ततोप्यधिकः पुरुषोत्तमः, किञ्च साक्षादयं यज्ञ आधिदैविको विष्णुर्ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेपि योगेश्वराणामप्ययमीश्वरः स्वामी, एतादृशो यदुषु जात इत्यभ्रूणम श्रुतवन्तो वयं तथापि पूर्वसंस्कारलोपाद् विशेषमौढ्याद् भगवन्तं न विद्महे, एवं स्वपराधः समर्थितः ॥ ४७ ॥ तस्यापराधस्य क्षमापनार्थं नमन्ति नम इति, अत्रैकः श्लोको विगीतः सोपि व्याख्यायते, अहो इत्याश्चर्यं, वयमिति श्लाघायां धन्यतमाः कृतार्था येषामस्माकं तादृश्यः स्त्रियो यासां भवत्या स्मारकत्वेनोपस्थितयास्माकमपि हरौ मतिर्निश्चला जातेति ॥ ४८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

स एव भगवानित्यस्य विवृतौ साक्षादयं यज्ञ आधिदैविकविष्णुरिति अयमर्थः, यदि यज्ञ एवास्माकं परमेश्वर इतिबुद्धिस्तदाप्ययं श्रीकृष्ण आराधनीयः, आधिदैविकयज्ञरूपत्वात्, आधिदैविकयज्ञस्य विष्णुरूपत्वात्, "यज्ञो वै विष्णु"रितिश्रुतेः, ननु ब्राह्मणेभ्य एव भोजनार्थमन्नं देयं नान्येभ्य इति कथं गोपेभ्यो देयमित्याशङ्कायामाहुः ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेपीति, ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पे "एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः त्रींल्लोकान् व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः" इतिपद्यते, तत्रापि विष्णुशब्द एतस्य श्रीकृष्णस्यैव वाचकोतः श्रीकृष्णार्थं गोपेभ्यो देयमेवेतिहार्दम् ॥ ४७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अन्यथा उक्तास्मत्प्रयोजनं विना पूर्णकामस्यास्माभिः किं फलं साधनीयम् ? न किञ्चिदित्यर्थः । तत्र हेतुः–ईशितव्यैरिति । तत्परवशतया समर्थैरित्यर्थः । पूर्णकामत्वे ज्ञापकमाहुः–कैवल्येति । मोक्षादिचतुर्विधपुरुषार्थप्रदस्येत्यर्थः । अत ईशस्य सर्वथा समर्थस्यापि एतत् अन्नयाञ्चादिविडम्बनमस्मदनुग्रहार्थमनुकरणमात्रमेवेत्यर्थः ॥ ४२ ॥ लक्ष्मीसेव्यत्वेनापि भगवतः पूर्णकामत्वमेव सूचयन्तस्तद्याञ्चा अपि स्वमोहकत्वमाहुः–हित्वेति । अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा तथा स्वात्मनो दोषाः चाञ्चल्यगर्वादयः, तेषां अपवर्गेण त्यागेन यस्य पादस्पर्शाशया चरणसेवामनोरथेन यमसकृत् निरन्तरं श्रीर्लक्ष्मीर्भजते, तस्य या ओदनयाञ्चा सा जनानां विज्ञजनानामपि मोहिनीत्यन्वयः ॥ ४६ ॥ स्वमोहमेव स्पष्टयन्ति–देश इति । देशादिपदार्थः प्रत्येकं यन्मयः यद्विभूतिरूपः ॥ ४७ ॥ स एव साक्षात् पूर्णो भगवान् ऐश्वर्यादिगुणपूर्णः योगेश्वराणां ब्रह्मादीनामपीश्वरो विष्णुर्यदुषु जात इति आश्रृण्म सर्वत्र श्रुतवन्तोऽपि वयं मूढा मूर्खा न विद्महे तदनुसन्धानं न कृतवन्त इत्यर्थः । 'तच्छ्रवणे तु सन्देहो नास्ती इत्याशयेनाहुः–हीति ॥ ४८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नन्विति । अहो सतां गतिः भगवान् स्वार्थे विमूढानां गृहस्येहया व्यापारेण प्रमत्तानां विचारेऽप्यसमर्थानां नोऽस्माकं परमफलभूतमात्मानं गोपवाक्यैः स्मारयामास ॥ ४५ ॥ अन्यथेति । अन्यथा उक्तास्मत्प्रयोजनं विना पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः "षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" इति पत्युर्घिसंज्ञा । ईशस्येश्वरस्य ईशितव्यैः ईशनकर्मीभूतैः अधीनैः अस्माभिः किं फलं साध्यम् तथा प्यन्नयाच्ञादिकर्मापि विडम्बनं लोकानुकरणमात्रम् ॥ ४६ ॥ हित्वेति । अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा तथा स्वात्मनः दोषाः चाञ्चल्यगर्वादयस्तेषाम् अपवर्गेण त्यागेन यस्य पादस्पर्शाशया यम् असकृत् श्रीर्लक्ष्मीर्भजते तस्य या ओदनयाच्ञा सा जनानां विज्ञजनानामपि मोहिनी ॥ ४७ ॥ देश इति । प्राग्व्याख्यातम् ॥ ४८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

कैवल्यमोक्षादीनामाशिषामसंख्यसमृद्धीनां ईशितव्यैः नियम्यैः किं प्रयोजनं तस्यै तद्याचनं विडंबनं नृलोकानुकरणमात्रम् ॥ ४५ ॥ अन्यान् ब्रह्मादीन् असकृतमुहुर्मुहुः पादस्पर्शाशया हेतुना स्वात्मनि ये दोषाः चांचल्य-स्वातंत्र्य-गर्वादयस्तेषामपवर्गेण त्यागेन श्रीः यं श्रीकृष्णं भजते ॥ ४६ ॥ देशादिः यन्मयो यदंगभूतः ॥ ४७ ॥ स एषः श्रीपतिः वैकुंठं गोलोकब्रह्मपुरनिवासी यदुषु साक्षाज्जात इति जनमुखेभ्यः अश्रृण्म वयं श्रुतवंतोपि ॥ ४८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अस्माकं स्वरूपज्ञापनार्थमेव भगवतो याञ्चाऽन्यथाऽवाप्तसमस्तकामस्य तस्य साऽसंगतैवेत्याहुः ॥ नन्विति ॥ गृहेहया गृहव्यापारेण; प्रमत्तानामनवधानतावतां, अत एव स्वार्थविमूढानां स्वहिते विमूढतावतां अपि, नोऽस्माकं, अह सतां गतिः,

हेतुगर्भमिदम्। सद्गतित्वाद्धेतोर्भगवान्, गोपवाक्यैः, स्मारयामास ननु। स्मृधातोः क्रियायोगे कर्मणि षष्ठी। साधुपरित्राणार्थमवतीर्णं निरतिशयपुरुषार्थस्वरूपमात्मानं याञ्चाव्याजेनास्मत्स्मृतिविषयं कारयामासेत्यर्थः॥ ४५॥ ननु कृष्णस्त्वन्नार्थी सन्नेव गोपान् प्रेषयामास न युष्मान् स्मारयितुमित्यत्राहुः॥ अन्यथेति॥ अन्यथा स्मारणाभावे; पूर्णकामस्य कैवल्याद्याशिषां पतेः, कैवल्यादीत्यादिशब्दो भोगमोक्षसंग्राहकः। कैवल्यादिपुरुषार्थस्वरूपस्येत्यर्थः। ईशस्य सर्वनियन्तुः, ईशितव्यैर्नियम्यैः, अस्माभिः, किं किं प्रयोजनमित्यर्थः। अत एव एतद्याचनं, विडम्बनमनुकरणमात्रं, तात्पर्यं त्वस्मदनुजिघृक्षैवेति भावः॥ ४६॥ पूर्णकामत्वमेव व्यञ्जयितुमाहुः॥ हित्वेति॥ श्रीः स्वयं महालक्ष्मीः, अन्यान् ब्रह्मादीन् हित्वा, यं श्रीकृष्णं, सकृदपि, पादस्पर्शस्याशा तया एकवारमपि भगवत्पादस्पर्शस्तु भवेदितीच्छया, स्वात्मदोषापवर्गेण चञ्चलत्वस्वदोषप्रहाणेन, भजते। एवं स्वयं श्रियाऽप्यनुवर्त्यस्य पूर्णकामत्वं किमु वक्तव्यमिति भावः। अतः तद्याञ्चा तस्यैवंभूतस्य यदन्नयाञ्चा, सा जनमोहिनी केवलं जनमोहोत्पादिका। अश्रुतभगवदवताराणां केवलमात्ममहिमाच्छादिनी, शास्त्रतः श्रुतावताराणामप्यस्माकं तु तत्स्मारिणीति भावः॥ ४७॥ श्रुतावताराणामप्यस्माकं तावद्विमोहिन्येवाभूत्, किमुताश्रुतावताराणामित्यभिप्रायेणाहुर्देश इति द्वाभ्याम्॥ देश इति देशः, कालः, पृथक् द्रव्यं, मन्त्रतन्त्रर्त्विजः, अग्नयः, देवताः; यजमानश्च, क्रतुः, धर्मश्च, यन्मयः। व्याख्यातोऽस्त्ययं प्राक्॥ ४८॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अन्यथेति : १०.२३.४५.

यत्तुष्ट्यै मुनिभिर्वितन्द्रमतिभिर्यज्ञाद्यनुष्ठीयते यत्प्रीत्यै च तपो जपोऽनुमननध्यानादि चाधीयते।
सोऽस्मद्भाग्यवशेन वा स्वदयया दातुं क्रतोर्वा फलं सम्प्राप्तोऽपि तिरस्कृतो नृपशवः के वा पुरो नः परे॥ ८७॥

हित्वाऽन्यानिति : १०.२३.४६.

यद्दृक्पद्मपरागगन्धकलितो लोको धनी सन् स्वयं भोक्ताऽन्नादिभिरुत्तमैरतिथिसत्कारं विधत्ते सदा।
सा श्रीरप्यनिशं यदङ्घ्रिजलजस्पर्शाशया तिष्ठति तस्येशस्य यदन्नयाचनमिदं नास्मद्विमोहाय किम्॥ ८८॥

स एष इति : १०.२३.४८.

भूभारक्षपणाय पद्मजनुतो जातोऽवनौ चिन्मयः श्रीस्वामीतिदृशासमाधिविधयाश्रुत्या च दृष्टं श्रुतम्।
एवं सत्ययमुद्भ्रमः समुदितः कस्मान्न विज्ञायते येनास्मिन्नधमाधमं पदममी सर्वे वयं प्रापिताः॥ ८९॥
अस्मिन् कर्मणि जानीमो निःसीममभवत् द्वयम्। प्रभोर्वात्सल्यमस्माकं मूर्खत्वं च गतोपमम्॥ ९०॥

कृष्णप्रिया

अब भगवत् कृपा से कुछ विनोदय होने से ऋषि लोग कहने लगे कि, भगवती श्री लक्ष्मी जी अपने सहज चांचल्य नाम के दोष से मुक्त होकर प्यारे श्रीकृष्णचन्द्रजी के श्री चरणों के स्पर्श करने की लालसा से अन्य सब देवताओं को छोड़कर जिन भगवान श्रीकृष्ण की निरंतर सेवा करती है, वैसे पूर्ण पुरुषोत्तम की अन्नयाचना यह तो अवश्य जन मोहिनी लीला ही है॥ ४५-४६॥ अधिक क्या कहा जाय! देश, काल, भिन्न भिन्न सामग्री, द्रव्य-पदार्थ, मन्त्र, तन्त्र पद्धति, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ, और धर्म ये बारह पदार्थ सब श्रीकृष्णस्वरूप ही है॥ ४७॥ सच पूछो तो यह बात निश्चित है कि योगेश्वरों के भी ईश्वर श्रीविष्णु पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् ने यदुवंश में अवतार लिया है ऐसा जानने पर भी हम अज्ञानी अबुध उन पुरुषोत्तम को नहीं पहिचान सके॥ ४८॥

[1]'अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः। भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ॥ ४९॥
नमस्तुभ्यं[2] भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे। यन्मायामोहितधियो [3]भ्रमामः कर्मवर्त्मसु॥ ५०॥
स वै न आद्यः पुरुषः स्वमायामोहितात्मनाम्। अविज्ञातानुभावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम्॥ ५१॥
इति [4]स्वाघमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः। दिदृक्षवो व्रजमथ[5] कंसाद् भीता न चाचलन्॥ ५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे [6]दशमस्कन्धे यज्ञपत्न्युद्धरणं नाम [7]त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

१. प्राचीनप्रत्यां तथा वीर विज. पाठे अयं श्लोको नास्ति। २. नमस्तस्मै–गो. प्रे. टी.। ३. दृशो–विज.। ४. कृष्णमनुस्मृत्य विप्रास्ते–विज.। ५. ऽपि स्वस्थानात्कंसा–वीर.; ऽप्यच्युतयोः–श्रीधर. वंशी. विज.। ६. पारमहंस्यां संहितायां दशमस्कन्धे पूर्वार्धे–गो. प्रे. पु.। ७. एकविंशोऽध्यायः–विज.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः —अहो वयम् धन्यतमाः येषाम् नः तादृशीः स्त्रियः, यासाम् भक्त्या अस्माकम् हरौ निश्चला भक्तिः जाता ॥४९॥ अकुण्ठमेधसे भगवते कृष्णाय तुभ्यम् नमः, यन्माया मोहित धियः कर्मवर्त्मसु भ्रमामः ॥ ५० ॥ सः एष वा आद्यः पुरुषः, स्वमाया मोहित आत्मनाम् अविज्ञात अनुभावानाम् अतिक्रमम् क्षन्तुम् अर्हसि ॥ ५१ ॥ कृष्णे कृतहेलनाः ते इति स्व अघम् अनुस्मृत्य, दिदृक्षवः अपि च कंसाद् भीताः अथ व्रजम् न अचलन् ॥ ५२ ॥

इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

न चाचलन् तयोर्दर्शनाय न जग्मुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

स्त्रीभाग्यमहिम्नात्मानं श्लाघयंत ऊचुः-अहो इति। तादृशीस्तादृश्यः श्रीकृष्णानुरागिण्यः। यासां स्त्रीणाम् ॥ ४९ ॥ अनुतप्ता नमस्कुर्वन्तीत्याह—नम इति। कर्मवर्त्मसु यजनयाजनादिमार्गेषु ॥ ५० ॥ स्वापराधं क्षमापयंतः प्रोचुः—स इति। सः कृष्णः। अज्ञेषु महतां क्षमैवौचित्येति भावः ॥ ५१ ॥ स्वाघम् गोपद्वारान्नार्थनापराकरणरूपम्। ते विप्राः। अच्युतयोः सर्वदेकरसयो रामकृष्णयोः। अस्माकं तत्र गमने कंसो ज्ञास्यत्ययमेव कृष्णो रामश्चेति, ततश्च तन्मारणे यत्नं करिष्यति। यद्वा कुबुद्धित्वात्कंसस्य यूयं किमर्थं मच्छत्रु पार्श्वे गता अतो वध्या यूयमिति भीता वा। यद्वा—श्रुतास्मद्गमनवृत्तांतः कंसोऽस्माकं वृत्त्यादिकं हरिष्यतीति भीताः। यद्वा—ऐकमत्याभावेन न गता इति भावः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मूढत्वमेव दर्शयन्तस्तत्कारणमायाप्रभावेन विस्मिताः सन्तः तदपगमाय भक्त्या सर्वज्ञं तदीश्वरमेव प्रणमन्ति—नम इति। भगवते अचिन्त्यानन्तैश्वर्याय अकुण्ठमेधसे अलुप्तज्ञानाय स्वेषां तद्वैपरीत्यमाहुः—यन्माययेति। भ्रमामः पुनः पुनरतत्रं वाभिनिवेशं प्राप्नुम जलावर्त्तादिवत् कदाचिदपि ततो निर्गन्तुं न शक्नुम इत्यर्थः ॥ ५० ॥ एवं परमदैन्यं गताः श्रीभगवन्तं क्षमापयन्ति—स इति स कृष्णो नोऽस्माकम् अतिक्रममपराधं क्षन्तुमर्हति योग्यो भवति तत्र हेतुः स्वस्य तस्यैव मायया मोहितचित्तानाम् अत एव न विज्ञातोऽनुभावः तन्माहात्म्यं यैस्तेषां यदि चास्माकमपराधः तथापि स आद्यः पुरुषः सहस्रशीर्षादिरूपः तन्मुखादेवोत्पन्नानां विप्राणां पितृवदपराधक्षमायुक्तेति भावः। यद्वा, आद्यः सर्वश्रेष्ठः अतो निकृष्टानामस्माकमपराधं क्षन्तुमर्हत्येव। किञ्च, पुरि शयानात् पुरुषोऽन्तर्यामी अतस्तेन यथा नियुक्ताः स्मः तथैव कृतवन्तो वयमिति। यद्वा, आद्यः पुरुषः पुरुषोत्तम इत्यर्थः। दीनवात्सल्यब्रह्मण्यदेवत्वादिनिजस्वाभविकमाहात्म्यात् क्षन्तुमर्हत्येवेति भावः ॥ ५१ ॥ स्वम् असाधारणम् अघमपराधं तदेव दर्शयति—कृतं हेलनं मनुष्यदृष्ट्याऽवज्ञा यैस्ते अत एव दिदृक्षवोऽपि स्वाघक्षमापनाय मिलितुमिच्छवोऽपि व्रजं प्रति न चाऽचलन् सकृदपि पादविक्षेपं न कृतवन्त इत्यर्थः। तत्र हेतुः अथ कार्त्स्न्ये कंसात् भीताः श्रीभगवति दृढविश्वासानुत्पत्त्या निजानिष्टशङ्कयेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

मूढत्वमेव दर्शयन्तस्तत्कारणमायाप्रभावेण विस्मिताः सन्तस्तदपगमाय भक्त्या तदीश्वरमेव प्रणमन्ति—नम इति। भगवतेऽचिन्त्यानन्तैश्वर्याय, इत्यात्मनस्तज्ज्ञानं दुर्घटमित्यभिप्रेतम्, निजाशेषभगवताप्रकटनपरायेति वा। यतः कृष्णाय, अन्यथा गोपालनाद्यसम्भवात्, यद्वा, अन्यथा अस्मास्वन्नयाचनाद्यनुग्रहासम्भवात्; यद्वा, कृष्णायेति पत्नीनां चिताकर्षणाभिप्रायेण; अकुण्ठा अनवच्छिन्ना मेधा स्मृतिर्यस्मात् तस्मै, पत्नीनां गृहकृत्यादावपि सदैव तत्संस्मरणात्। यद्वा, अलुप्तज्ञानाय, अतोऽन्येषामस्मादृशानां मूढत्वञ्च युक्तमेवेति, अतो निजमायावैभवमस्माकं निजकारुण्यमहिमादिकञ्च स्वयं जानात्येवेति भावः। भ्रमामः पुनः पुनस्तत्रं वाभिनिवेशं प्राप्नुमः, जलवेगभ्रमरिकाया इव कदाचिदपि ततो निर्गन्तुं न शक्नुम इत्यर्थः। यद्वा, तदर्पणं तस्मिन् विश्वासेन निश्चित्य कर्त्तुं न शक्नुम इत्यर्थः ॥ ५० ॥ स्वमसाधारणमघमपराधम्, तद्दर्शयति—कृतं हेलनमाज्ञाभंगः, किंवा मनुष्य-

दृष्ट्यावज्ञा यैस्ते, यद्वा, अकारप्रश्लेषेण न कृतं श्रीकृष्णेनावहेलनं येषां ते, यज्ञसमापनव्याजेन पत्नीनां प्रस्थापनात्; अतएव दिदृक्षवोऽपि; अप्यर्थेऽथशब्दः, व्रजं न जग्मुः। तत्र हेतुः—कंसाद्भीताः, श्रीभगवति दृढविश्वासानुत्पत्त्या निजानिष्टशंकयेत्यर्थः ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अविज्ञातानुभावानाम् अविज्ञातभगवदनुभावानाम् ॥ ५१-५२ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धीये श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्थमनुतप्ताः प्रणाममन्तरेण स्वापराधक्षमानिमित्तमनुपलभमाना नमस्कुर्वाणाः क्षमापयन्ति—नम इति द्वाभ्याम्। अज्ञानकृतमपराधं जानात्येवेत्यभिप्रायेण विशिंषन्ति अकुण्ठमेधस इति। प्रतिहता मेधा धिषणा यस्य तस्मै "नित्यमसिच् प्रजामेधयोः" (५।४।११२) इति असिच् स्वयं त्वकुण्ठमेधाः वयं तन्मायामोहितधियः अतः क्षन्तुमर्हत्येवेत्यभिप्रायेणाहुः—यन्मायेति। कर्मवर्त्मसु तद्भक्तिविधुरेषु केवलं यज्ञादिकर्ममार्गेषु भ्रमामः पुरुषार्थसाधनबुद्धिं कुर्मः यद्वा "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्" इत्याद्युक्तविधगमनागमनमार्गेषु पुण्यपापात्मककर्मायत्तस्वर्गनरकादिमार्गेषु वा भ्रमामः ॥ ५० ॥ अतः स्वमायया मोहितचित्तानामत एवाविज्ञातोऽनुभावो महिमा यैस्तेषां नोऽस्माकं व्यतिक्रममपराधं क्षन्तुमर्हति ॥ ५१ ॥ इत्यन्तावत्कृष्णे विषये कृतं हेलनमपराधो यैरतथाभूताः शनैः स्वकृतमपराधमनुस्मृत्य ततस्तं श्रीकृष्णं दृष्टुमिच्छवोऽपि कंसाद्भीताः स्वस्थानान्न चलितवन्तः दृष्टुं न जग्मुः किन्तु तं ध्यायन्तः स्वस्थान एव तस्थुः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अथापि अनुतप्ता अपि हरिं दिदृक्षवो द्रष्टुकामाश्च नाचलन् नागच्छन् कुतः कंसाद्भीता इति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(विजयध्वजरीत्या एकविंशोऽध्यायः)

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अपराधादतिव्यग्रा प्रणमन्ति। नम इति ॥५०॥ अतिदैन्यग्रस्ताः भगवन्तं क्षमापयन्ति स वै इति अतिक्रमममपराधम् ॥५१॥ ननु, तर्हि तदानीमेव तत्राशोकवने गत्वा विलम्ब्य व्रजं वा गत्वा कथं भगवन्तं शरणं न गतास्तत्राह—दिदृक्षव इति। तदानीं शोकानुतापादिमत्त्वात् सर्वैकमत्याभावाच्चाशोकवनं न गताः विलम्बे सति सायाह्ने व्रजं प्रति गतावैकमत्ये सति न चाचलन्निति चकाराच्चलन्तोऽपीत्याक्षेपलब्धं तत्र हेतुः सर्वेषामपि मनस्येकः सहसैवोद्भूत इत्याह—कंसाद्भीता इति। सूचकैरुक्तारसद्वृत्तान्तः कंसोऽद्यैवास्माकं जीविका हरिष्यतीति भयव्याकुला इत्यर्थः। अतः पत्यादिकर्तृकवधत्यागादिलक्षणं भयं ब्राह्मणीनां कृष्णदर्शने किल न प्रति बध्नाति स्मेत्यत्र प्रेमैव हेतुः ब्राह्मणानां तु मनःकल्पितो भयाभास एव तत्र प्रतिबध्नाति स्मेत्यत्र भगवन्मायैव हेतुर्ज्ञेयः ॥ ५२ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। त्रयोविंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २३ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तद्दर्शनाय न अचलन्न जग्मुः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे त्रयोविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २३ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अपराधादतिव्यग्रास्तं प्रणमन्ति नम इति ॥ ५० ॥ अपराधं क्षमापयन्ति—स इति। अतिक्रममपराधम् ॥ ५१ ॥ ननु कृष्णं द्रष्टुं ते कथं न जग्मुस्तत्राह—इतीति कृष्णे कृतहेलनान्ते विप्राः स्वापराधमनुस्मरन्तः पत्नीदर्शनाज्जातश्रद्धाभक्तयोऽच्युतयोर्दिदृक्षवोऽपि प्रेमानुदयान्न चाचलन्नागच्छन् तत्र हेतुः कंसादिति चारसूचितारसत् कृष्णानुवृत्तिकः कंसोऽस्मद्वृत्तिं छिन्द्यादिति भीतिमन्तो गृह एव तिष्ठन्तः कृष्णमभजन्नित्यर्थः। पत्नीनां जातप्रेमत्वात् प्रतिबन्धागणनं पत्नीनान्तु तदभावाच्चद्गणनमिति ॥५२॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सञ्चिन्तितं प्रणमन्ति ॥ नम इति । यन्मायामोहिता दृग्धीर्येषां ते कर्मवर्त्मसु प्रवृत्तकर्ममार्गेष्वकुण्ठमेधसे गतम् । यस्त्वम-कुण्ठं यथा तथैधसे नित्यमभिवृद्धो भवसि तस्य या च याचना जनमोहिनीति वा ॥ ४९ ॥ स्वमायामोहितात्मनामित्यविज्ञातानु-भावानां नोऽतिक्रमम् । अध्योपजीव्यः पुरुषः क्षन्तुमर्हति योग्यो भवति ॥ ५० ॥ कृतं हेलनमात्मनामात्मनैव यैस्तेऽच्युतयोर्मुख्या-मुख्यतच्छब्दवाच्ययोस्ते दिदृक्षवोऽपि कंसाद्भीता न चाचलन्स्वस्थानान्नोच्चलुः ॥ ५१ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

श्रीसुबोधिनी

तुभ्यं भगवते नम इति, अपराधेन दीनभावे जात आविर्भूतो भगवानिति लक्ष्यते, अन्यथा तुभ्यमिति न वदेयुः, अनेन तेषामपराधो गत इति निश्चितं, तस्य षड्गुणान् दृष्ट्वा नमस्यन्ति भगवत इति, दृष्टादृष्टयोः साङ्कर्याभावार्थमेवमुच्यते, स्वरूपमपि ज्ञातवन्तः कृष्णायेति, तस्य पूर्णज्ञानशक्तिं दृष्ट्वाहुरकुण्ठा मेधा बुद्धिर्यस्येति, यद्यपि भगवच्छब्देनैव नित्यज्ञानवत्त्वं प्राप्तं तथापि यथा 'सर्वस्येशान' इति श्रुतेरैश्वर्यं साधारणं तथा 'सर्वज्ञ' इति श्रुतेर्ज्ञानमपि तादृशमेव भगवत्पदेनोच्यते, एवं सति 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपी'ति वाक्यात् केवलभक्तविषयकं स्वीयत्वेन यज् ज्ञानं पुष्टिमार्गीयं तदत्र मेधाशब्दे-नोच्यते, तदस्मद्विषयकं पूर्वमासीन् मध्येस्माकं बहिर्मुखयेपि तस्याकुण्ठितत्वेन तत्कार्यमेव याच्ञारूपं प्रबोधं कृतवान्न तूपेक्षामिति भावः, नाप्यस्माकमयमपराधो भ्रान्तत्वादिति वदन्तो भ्रमस्त्वत्कृत एवेत्याहुर्यन्माययेति, भगवन्माययैव व्यामोहितबुद्धयः कर्म-मार्गेषु भ्रमामोन्यथा ज्ञाने भक्तौ वा मतिः स्याच्छुद्धे वा वैदिके कर्मणि यत् कर्मवर्त्मस्वेवाभासरूपेषु तत्रापि निश्चयाभावात् केवलं भ्रमामोतो मोहिता एव ॥ ४९ ॥ वाचापि क्षमापयन्ति स वैष इति, क्रियया स्वापराधक्षमापनं न भवति दुर्बलत्वादतः स वा भगवानेव वा यस्यास्माभिरपराध कृतः स एवैषोग्र आविर्भूतः, अनेन ज्ञायते क्षमां करिष्यतीति, किञ्चाद्योयं सर्वेषां पितातः पुत्राणामपराधमिव सहिष्यति, किञ्च पुरुषोयमन्तर्याम्यतस्तत्प्रेरणयैव कृतमिति युक्तमस्य सहनं; किञ्च स्वमायामोहितात्मनाम-ततस्त्वयं मायया मोहितचित्तानामत एव न विज्ञातो भगवदीयोनुभावो यैस्तादृशानामतिक्रममपराधं क्षन्तुमर्हति, स्वधर्म-विचारेणापि क्षमा युक्तेत्यर्थः ॥ ५० ॥ एवमपराधक्षमां कारयित्वा निवृत्तव्यापारा जाता न तु स्वयं तत्र गत्वा लोकन्यायेन क्षमां कारितवन्तः, तत्र हेतुमाहेतीति, स्वाघं स्वापराधमनुस्मृत्य ते ब्राह्मणाः कृष्णे विद्यमानेपि कृतहेलना अपि दिदृक्षवोप्युदवसायाथ भिन्नप्रक्रमेण व्रजं प्रति न चाचलन्, तत्र हेतुः कंसाद् भीता इति, तत्र गते कंसो भगवानयमिति ज्ञात्वा कदाचिदपकारं कुर्याद् व्रजस्य तदा महानयमपराधो भवेदतो व्रजं प्रति न गताः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे द्वितीयस्य स्कन्धादितो विंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ २० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

यन्मायामोहितधिय इत्यस्य विवरणे शुद्धं वा वैदिककर्मणीति निष्कामतया क्रियमाणेऽग्निहोत्रादिसोमान्ते नित्य-कर्मणीत्यर्थः, तस्य पञ्चविधस्य नित्यकर्मणो भगवत्प्रापकत्वात्, एतच्च तत्त्वदीपे सर्वनिर्णयप्रकरणे जागरूकम् ॥ ४९ ॥

इति विंशोध्यायः ॥ २० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

आत्मानमेवं विगर्ह्य भगवद्भक्तस्वस्त्रीजनसङ्गत्याऽऽत्मनः कृतार्थतामप्याहुः अहो इति । वयं लोके इति धन्यतमाः कृतार्था एव । तत्र हेतुमाहुः—येषामिति । येषां नोऽस्माकं तादृशीः स्त्रियः । 'कीदृश्य' इत्यपेक्षायामाहुः—यासां भक्तिप्रभावेण अस्माकमपि हरौ निश्चला मतिर्जातेति ॥ ४९ ॥ एवमवज्ञारूपेऽपराधे उपायान्तरस्याभावात् प्रणमतस्तमेव क्षमापयन्ति—नम इति । कृष्णाय तुभ्यं नमः । 'सर्वज्ञत्वस्याग्रे किं बहु वक्तव्यम्' इत्याशयेनाहुः—अकुण्ठमेधसे इति । अकुण्ठा सर्वत्र प्रसृता मेधा बुद्धि-र्यस्य यस्मै । तत्र हेतुमाहुः—भगवत इति त्वन्मायामोहितानामस्माकमपराधस्त्वयाऽवश्यं सोढव्य' इत्याशयेनाहुः—यस्य मायया मोहिता विवेकरहिता धीर्येषां तेषां वयं कर्ममार्गेषु भ्रमाम इति ॥ ५० ॥ स वै सर्वशास्त्रप्रसिद्धः आद्य सर्वकारणभूतः पुरुषः सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णः स्वमायया मोहित आत्मा अन्तः करणं येषां तेषाम्, अत एव न विज्ञातस्तस्यानुभावो यैस्तेषां नोऽस्माक-मतिक्रमं स्वाज्ञोल्लङ्घनापराधं क्षन्तुमर्हतीत्यन्वयः ॥ ५१ ॥ कृष्णे कृतं हेलनमवज्ञानं यैस्ते ब्राह्मणा इत्येवं स्वाघं स्वपराधमनुस्मृत्य अच्युतयोः 'कर्मणि षष्ठी' रामकृष्णौ दिदृक्षवो द्रष्टुमिच्छवोऽपि कंसात् भीताः दर्शनार्थंगमनेन कंसो 'मम वैरी विष्णुरमयमेव

इति ज्ञात्वा कदाचित् कंचिद्व्रजेऽपकारं कुर्यात्तदा तस्य 'अस्मन्निमित्तत्वादन्योऽपि महानपराधः स्यात्' इति शङ्किताः न चाचलन् तद्दर्शनार्थं नैव जग्मुः। स्वाश्रमस्था एव तमभजन्नित्यर्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। त्रयोविंशो गतो विप्रभार्यानुग्रहबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स इति ॥ स एष साक्षात्पूर्णो भगवान् योगेश्वराणामीश्वरो विष्णुः यदुषु जात इति अशृण्म सर्वत्र श्रुतवन्तोऽपि वयं मूढा मूर्खा न विद्महे न ज्ञातवन्तः आर्षः प्रयोगः ॥ ४९ ॥ अहो इति ॥ अहो येषामस्माकं स्त्रियः तादृशीः तादृश्यो विष्णुभक्ताः। पूर्वसवर्णदीर्घ आर्षः। सन्ति ते वयम् अहो धन्यतमाः। यासां स्त्रीणां भक्त्या हेतुना अस्माकमपि हरौ निश्चला मतिर्जाता ॥ ५० ॥ नम इति ॥ भगवते न कुण्ठा मेधा यस्य तस्मै। असिजार्षः। तुभ्यं कृष्णाय नमः। यस्य मायया विवेकरहिता धीर्येषां ते वयं कर्ममार्गेषु भ्रमाम इति ॥ ५१ ॥ स इति ॥ सर्वप्रसिद्धः आद्यः स पुरुषः कृष्णः स्वमायया मोहिता आत्मानो येषां तेषाम् अत एव न विज्ञातस्तस्यानुभावो यैस्तेषां नोऽस्माकमतिक्रमं स्वाज्ञोल्लंघनापराधं क्षन्तुमर्हति ॥ ५२ ॥ इतीति ॥ कृष्णे कृतं हेलनमवज्ञानं यैस्ते ब्राह्मणाः इत्येवं स्वाघं स्वापराधमनुस्मृत्य अच्युतयोः। शेषे षष्ठी। अशोकवनस्थौ रामकृष्णौ दिदृक्षवो द्रष्टुमिच्छवोऽपि कंसाद्भीताः नाचलन् कृष्णदर्शनार्थं सायाह्ने व्रजमपि नैवागमन्। तत्रस्था एवाभजन्। यदि ब्राह्मणा वयं तद्दर्शनार्थं व्रजेम तदा कंसः श्रीकृष्णं विष्णुं मत्वा कमपि हन्तुं कुर्यात्तस्य हेतवो वयं स्यामेति ॥ ५३ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अकुण्ठदेशकालादिभिरप्रतिहता मेधा असंख्यैश्वर्य्यस्मृतिमज्ज्ञानं यस्य तस्मै यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वत इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥ न विज्ञातः अनुभावो महिमा यैस्तेषां अतिक्रममपराधम् ॥५०॥ स्वाघं स्वदोषं कृतहेलनाः कृतं हेलनं मनुष्यदृष्ट्यावज्ञा यैस्ते अच्युतयोः रामकृष्णयोः दर्शनार्थं न चाचलन्न ययुः ॥ ५१ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने यज्ञपत्न्यनुग्रहोनाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

स एष इति ॥ योगेश्वरेश्वरः, विष्णुः सर्वान्तरात्मा, स उरुक्रमहिमः, एषः कृष्णनामा भगवान्, यदुषु साक्षात् सर्वजननयनविषयतायाततया, जातः सम्यगवतीर्णः। इति शृण्वानाः अपि श्रुतवन्तोऽपि वयं, यतो मूढाः, ततः, न विद्महे न तं ज्ञातवन्तः ॥ ४९ ॥ अहो इति ॥ यद्वा अहो, वयं धन्यतमाः, येषां नः, तादृशीः साक्षाद्भगवद्भक्तिमत्य इत्यर्थः। स्त्रियः, भवन्ति। यासां स्त्रीणां, भक्त्या हेतुना, अस्माकं हरौ, निश्चला मतिः, जाता। असंधितार्षा ॥ ५० ॥ इत्थमनुतप्ता विप्राः प्रणाममन्तरेण स्वात्मापराधक्षमानिमित्तमनुपलभमाना नमस्कुर्वाणाः क्षमापयन्ति द्वाभ्याम् ॥ नम इति ॥ अकुण्ठा अप्रतिहता मेधा धिषणा यस्य तस्मै, 'नित्यमसिच् प्रजामेधयोः' इत्यसिच्। भगवते कृष्णाय, तुभ्यं नमः। स्वयं त्वं त्वकुण्ठमेधाः, वयं तु, यस्य तव मायया मोहितधियः सन्तः, कर्मवर्त्मसु भ्रमामः। त्वद्भक्तिविधुरेषु केवलं यज्ञादिकर्ममार्गेष्वेव भ्रमन्तः सन्तस्तत्रैव पुरुषार्थबुद्धिं कुर्मस्ततो विस्मानिति भावः ॥ ५१ ॥ स वा इति ॥ आद्यः पुरुषः, स कृष्णः, स्वमायामोहितात्मनां स्वनिष्ठानाद्यज्ञानमोहितचित्तानां अत एव अविज्ञातोऽनुभावो महिमा यैस्तेषां, नोऽस्माकं, अतिक्रममपराधं, क्षन्तुं अर्हति वै ॥ ५२ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, कृष्णे विषये, कृतं हेलनमपराधो यैस्ते, ते ब्राह्मणाः, स्वाघं स्वकृतमपराधं, अनुस्मृत्य तं श्रीकृष्णं दिदृक्षवः द्रष्टुमिच्छन्तः सन्तोऽपि यतः कंसाद् भीताः तस्मात् न चाचलन्। स्वस्थानान्न चलिता द्रष्टुं न जग्मुरित्यर्थः। किं तु तं ध्यायन्तः स्वस्थान एव तस्थुरिति भावः ॥५३॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

द्दो वयमिति : १०.२३.४९.

पत्युः सज्ञादर्थसिद्धिः पृथङ् न स्त्रीणामेतत् सिद्धमासर्वलोकम्।
चित्रं धातुश्चेष्टितं यत्कृतः स्मः सम्प्रत्येते ह्यन्यथाऽर्थे प्रमाणम् ॥ ९१ ॥

याः स्वयं प्रमदा युक्तं जाता विप्रमदापहाः। चित्रं प्रचेतः क्लेशान्नोऽमोचयन् विप्रचेतसः॥ ९२॥
अपरिग्रहस्थितिरितस्तैः स्तुत्या स्यादसंशयं यैर्नः। स्त्रीयोगादनघत्वं धन्यत्वं च श्रुतं न जातु नरैः॥ ९३॥
अमुकानां स्त्रियो जाताः प्रभुभक्तिपरायणाः। इति लोकोक्तितः प्राप्ता धन्यता तु स्फुटैव नः॥ ९४॥

अस्माकमच्युत सतीर्युवतीः प्रकल्प्य द्वारं कृतः करुणया भवतोपदेशः।
साध्वेतदप्यजनि नाथ न चेत्परस्मात् स्याद्वा न वाऽप्युभयतोऽपि विडम्बनैव॥ ९५॥

यद्यत्कृतं पुराऽस्माभिस्तदसत्स्त्रीभिरर्थतः। इदं तत्कृतमस्माभिः कृतमेवेत्यवेश नः॥ ९६॥

नोक्तं नोमिति वा तदा यदुपते सत्यं परं त्वं ततो दृष्टे त्वत्कृतमेव कृत्यमखिलं यद्ब्राह्मणास्यो भवान्।
तस्मात् स्वद्विजदंशितापि रसना न क्रोधहेतुर्भवत्येवं सम्प्रति सद्द्विजा वयमपि श्रीशाङ्गसम्बन्धिनः॥ ९७॥

क्षन्तुमर्हतीति : १०.२३.५१.

यन्निम्नोन्नतचार्वचारुविविधक्रीडाविधौ वेनुपानाकुर्वंस्तव मन्तुमेकमपि वेत्त्येवं न सम्भाव्यते।
तद्वत् कृत्यमयुक्तमेतदपि नः क्षन्तव्यमरमत्कृतं यस्मात्ते च वयं च तुल्यकृतयस्तुल्येक्षितुस्तेऽङ्गजाः॥ ९८॥

इति स्वाघमिति : १०.२३.५२.

यतो मुनिभिराश्रितो भवति नन्दपुत्रस्ततः स एव भविता रिपुर्मम नभोगिरा दर्शितः।
प्रभाविति विभाव्य स प्रसभकृत्यमरमासु वा करिष्यति किमप्यलं त्विति तथैव तेऽवस्थिताः॥ ९९॥

अज्ञात्वा त्वां त्वदीयार्थितमपि मुनयोऽस्माभिरज्ञातमेतन्मायानैश्यमैशं त्विति कृतमतयो हन्त गायन्त्वशङ्कम्।
ज्ञात्वाऽपि त्वामजादिस्तुतमसुररिपुं क्षुद्रकंसप्रभीता यन्नाजग्मुस्त्वदीक्षासुखमनुभवितुं ह्येष मायाविलासः॥ १००॥

निर्णीतमेतत्किल गोकुले द्वयं युगान्तरालभ्यसुखप्रसाधकम्।
सदातिथिभ्योऽन्नसमर्पणं मुदा मुकुन्दसानन्दपदानुकीर्तनम्॥ १०१॥

श्रीशकल्पतरुक्रीडा०॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

कृष्णप्रिया

अहो हमारे लिये एक संतोष की बात है कि हम वडभागी है कि-हमारे घरों में श्रीकृष्णचन्द्रचरणों में अनन्य अनुरक्त-भक्त स्त्रियाँ है। इन अनन्यानुरक्त स्त्रियाँ की दृढ भक्ति से ही हम लोगों की श्रीकृष्णप्रभु में निश्चल एवं निश्छल सुदृढ हुई है॥ ४९॥ अकुण्ठित्त मति भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणों में हमारा नमस्कार है जिनकी विलक्षणमाया से मुग्ध मतिवाले हमलोग कर्म मार्ग में भटक रहे हैं॥ ५०॥ वह श्रीकृष्ण आदिपुरुष है। उनकी माया में मोहित हो जाने से हम उनके प्रभाव को नहीं जान सके इसी कारण हमारा यह अपराध वना। वह भगवान् हम सेवकों के इस अपराध को क्षमा करें॥५१॥ भगवान् श्रीकृष्ण के अनादर रूप अपने इस अपराध का अनुशीलन कर उन ऋषियों ने इस प्रकार वहुत पश्चाताप किया। यद्यपि उनके मनमें भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शनों की वडी लालसा थी परंतु कंसराजा के भय से वे भगवान श्रीकृष्ण चन्द्रजी के समीप नहीं गए॥ ५२॥

श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध निरोधलीला तामसप्रकरण में तेइसवाँ अध्याय समाप्त॥ २३॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अल.
३८	३८	५	१२१६	३०	३२	११७८	३९॥	६

श्रीशुक[1] उवाच

भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः । अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥ १ ॥
तदभिज्ञोऽपि भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः । प्रश्रयावनतोऽपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान् ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

कथ्यतां मे पितः कोऽयं सम्भ्रमो व उपागतः । किं फलं कस्य [2]चोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥ ३ ॥
एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः । न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—भगवान् अपि बलदेवेन संयुतः, तत्र एव निवसन्, इन्द्रयाग कृत उद्यमान् गोपान् अपश्यत् ॥ १ ॥ सर्वात्मा सर्वदर्शनः भगवान् तद् अभिज्ञः अपि, प्रश्रय-अवनतः नन्दपुरोगमान् वृध्धान् गोपान् अपृच्छत् ॥ २ ॥ श्रीभगवान् उवाच-पितः ! अयम् नः कः सम्भ्रमः उपागतः इति मे कथ्यताम्, अस्य किम् फलम् ? कस्य अयम् सम्भ्रमः ! वा कः उद्देशः, ! वा, केन (हेतुना) अयम् मखः साध्यते ! ॥ ३ ॥ हे पितः ! शुश्रूषवे मह्यम् एतद् ब्रूहि, हि (मम) महान् कामः, इह साधूनाम् कृत्यम् सर्वात्मना गोप्यम् हि न, भवति ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

चतुर्विंशे महेंद्रस्य मखं व्यावर्त्य हेतुभिः ॥ कृष्णः प्रवर्तयामास गोवर्धनमखोत्सवम् ॥ १ ॥
भूसुराणां क्रियागर्वं निरस्य स्वःसुरेषु च ॥ मघवन्मदभंगाय तन्मखं समवारयत् ॥ २ ॥

ब्राह्मणाः कंसाद्भीताः स्वाश्रमस्था एव भगवंतमभजन् भगवानपि तत्रैव निवसन्निंद्रयागे कृत उद्यमो यैस्तान्गोपानपश्यदिति संबंधः ॥ १-२ ॥ वृथा संभ्रमो न भवति मखोऽयमित्येवं चेत् किमत्र फलं का देवता केनाधिकारिणा केन वा साधनेन साध्यते ॥ ३ ॥ एतद् ब्रूहि महान्कामो मम श्रवणे वर्तते । यद्वा तव महान्कामो दृश्यत इति । तूष्णीं स्थितं प्रत्याह । नेति । सर्वात्मनां सर्वत्रात्मदृष्टीनाम् ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

हेतुभिः हेतुवाक्यैः 'रजसा चोदिता मेघा वर्षंत्यंबूनि' इत्यादिलक्षणैः (१)। निरस्य अपाकृत्य । तन्मखम् इंद्रयज्ञम् (२)। इंद्रयागनिवृत्त्या गोवर्द्धनोत्सवं श्रुतिविहितं प्रवर्त्तयितुं श्रुतिमाह—"आग्रावभिरहन्येभिरक्तुभिर्वरिष्टं वज्रमाजिघर्ति असक्तुभिर्मायिनि शतं वा यस्य प्रचरन् स्वेदमेसंप्रवर्तयंतो विवर्त्तयन्नह" इति । अस्या अर्थः—यस्य वज्रिणः स्वेदमे वायुर्वेन्द्रो वांतरिक्षस्थान इत्युक्तेरंतरिक्षे शतं वा ततोऽधिकं वासं वर्त्तयंतः संवर्तं प्रलयं कुर्वंतः सांवर्तका नाम मेघाः प्रचरन्प्राचरन्संचारं कृतवंतः समायिनि मायामनुष्ये श्रीकृष्णे वरिष्ठं श्रेष्ठतमं वज्रमशनिं तद्वतीं महावृष्टिमाजिघर्त्ति क्षरति अक्तुभिः रात्रिभिः । सप्तभिरिति पुराणतः सप्तरात्रं वज्रधारेण पर्जन्येन ववर्षेत्यर्थः । तत्र हेतुमाह—आग्रावभिरहन्योभिरिति । ग्रावभिरिति समुदायिभिः ग्रावसमुदायः शिलोच्चयो लक्ष्यते तैः । अहन्येभिः अहः क्रतुमर्हतीत्यहन्यास्तैः पर्वते क्रतुभाजि सतीत्यर्थः । मायी पुनः किं चकारेत्यत आह—विवर्तयन्नहेति च । अनंतरं मायी अहाक्रतून् विवर्त्तयन् विपरीतं वर्त्तयन्नास्त इति शेषः । इंद्रयागार्थमाहृतैः संभारैर्गिरियागं प्रवर्त्तयति मायिनि इंद्रो महतीं वृष्टिं चकारेत्यर्थः । अत्र दृष्टांत उपरितो नेयः । यथास्माकं जाठराग्निः प्राणसहायो जलं शोषयति तच्चास्माभिर्बलसाध्ये कर्मणि क्रियमाणे रोमकूपद्वारा प्रस्वेदरूपेण वमति, एवं वायुसहायः सूर्यं भूम्यादिगतं तोयं शोषयति तच्चेंद्रेण बलसाध्ये निरंतरभ्रमिरूपे कर्मणि प्रयुक्तः सन् किरणद्वारा चर्मकोशरूपेषु मेघेषु वमति ततस्तानिंद्रो भिंदन्वृष्टिं प्रवर्त्तयतीत्यर्थः ॥

---

१. बादरायणि—प्रा. पा. । २. अन्यत्र न । ३. चो—श्रीधर. वंशी. जीव वीर. विज. विश्व. रा. शु. ध. सु. ।

स्वाश्रमास्थाः यज्ञशालास्थाः स्वगृहस्था वा । तत्रैव गोकुले ॥ १ ॥ तदभिज्ञः इंद्रयागार्थमयमुद्यम इति जानन्नपि । तत्र हेतुद्वयम्- सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शनः सर्वज्ञः । दृशिरत्र ज्ञाने ॥ २ ॥ मे मह्यम् । संभ्रमः उद्यमः । कोयम् किंविषयः "संभ्रम उद्यमेऽपि स्यान्मंडलेन गतौ भये" इति शाश्वतः । किं फलम् दृष्टफलमदृष्टफलं वा । कस्य देवस्य चोदेशः, कां देवतामत्रोद्दिश्य द्रव्यत्यागः । 'मखः स्याद्दानयागयोः' इति हलायुधः । श्लेषेण संभ्रमः सम्यक् भ्रम एव वो युष्माकं मयि सर्वेश्वरे सति यदिन्द्रयागोद्योगः ॥ ३ ॥ एतत् यदर्थं संभ्रम इत्येतत् । ननु बालकस्य तव किमेतत्प्रश्नेन तत्राह—एतच्छ्रवणे मे महन्कामो महात्याकांक्षा । मदिच्छया न वदसि चेत्तर्हि स्वेच्छयैव वदेत्याह—यद्वेति । तवात्र महानभिलाषो निरीक्ष्यते । किमिदमिति उत्तरमददतं प्रत्याह—नेति । हिद्वयं साधुकृत्य सर्वथा प्राकट्यमाह ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पूर्वं व्रजकुमारीः प्रति "याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमारंस्यथ क्षपाः" इति हेमन्तगतया निजाङ्गीकृतास्तासु शरद्वात्रिषु ताभिः सह श्रीभगवान् अरमत ताः खलु शरदन्तरा व्यवहितशरत्सम्बन्धिन्य एव सम्भवन्ति तद्रमणारम्भश्च शरत्पूर्णिमायामेव निर्देक्ष्यते सा च शरन्मध्यस्थाश्विनपूर्णिमैव सम्बध्यते कार्त्तिकशुक्लप्रतिपदित्येषा गोवर्द्धनपूजा सा च रासलीलायां व्रजदेवीभिरुक्ता गोवर्द्धनपूजानन्तरमेव वरुणलोकगमनं ततः पूर्वां शरदमेवारभ्यागामिनीं यावत् क्रमात् गोवर्द्धनपूजा वरुणलोकगमनवस्त्रहरण-यज्ञपत्न्युपचर्याग्रहणरासक्रीडा ज्ञेयाः तत्र तत्तद्वर्षनिर्णयः कंसवधान्ते करिष्यते वैपरीत्योक्तिस्तु प्रेमवैवश्यात् क्वचित् सजातीयत्वाच्च अथ भगवानपि तत्रैवेत्यस्यायमर्थः यत्र तद्यागयोग्ये गोष्ठनिकट एव स्थानविशेषे सङ्गम्य निवसन्तो गोपाः कृतोद्यमा बभूवुः भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतो निवसन् इन्द्रयागकृतोद्यमान् गोपान् अपश्यत् पश्यन्नेवासीन् तद्द्रव्येण यागान्तरसाधनेच्छया न्तु प्रथमं किञ्चिदुक्तवानित्यर्थः । यत्तु श्रीविष्णुपुराणे –

"विमलाम्बरनक्षत्रे काले चाभ्यागतो व्रजम् । ददर्शेन्द्रमहारम्भायोद्यतास्तान् व्रजौकसः" ॥ इति ।

श्रीहरिवंशे—

"व्रजमाजग्मतुस्तौ तु व्रजे शुश्रुवतुस्तदा । प्राप्तं शक्रमहं वीरौ गोपांश्चोत्सवलालसान् ॥ इति ।

तत्खलु सामान्यतो दर्शनमत्र तु विशेषत इति भेदः एषा च क्रीडा कार्तिकशुक्लप्रतिपदि कार्तिकविधानस्य मध्यदेशीयानामाचारस्य च तत एव प्रवृत्तेः "अपवर्त्यत्युल्बणं वर्षम्" इति वक्ष्यमाणाच्च तथा चोक्तं पाद्मे दीपान्वितामावास्याकृत्यान्ते "प्रातर्गोवर्द्धनः पूज्यो रात्रौ द्यूतं प्रवर्त्तते" इति तस्मात् श्रीहरिवंशे वर्षाशरत्सन्धिप्रायवर्णनं समुद्रतीरादिवन्मध्यदेशेपि तदानीं वर्षाणां बाहुल्येन कदाचित्सर्वाश्विनव्याप्त्यपेक्षया ॥ १ ॥ ततश्च तस्य पूर्वपूर्वदृष्टस्येन्द्रमखस्य तथा श्रीव्रजराजेन प्रत्युत्तरयिष्यमाणस्य तदधिकस्य चार्थस्याभिज्ञोऽपि अपृच्छत् तत्र च भगवानपि सर्वसद्गुणनिधित्वेन विनयावनम्र एव सन्नपृच्छत् अभिज्ञाने हेतुः सर्वस्यात्मा परमात्मेति प्रश्ने हेतुः सर्वान् दर्शयति स्वार्थं प्रावर्त्तयतीति तथा सः भवतु नाम पूर्वेषामद्यव्यवहितानां मद्बहिरङ्ग-देवतापूजादिकं किन्त्वेषां मत्सन्निहितानां मदन्तरङ्गपूजैव मत्सुखकरी मत्पित्रादीनां तु "तद्भूरिभाग्यम्" इत्यादिलक्षणमहामहिमत्वादतिक्षुद्रस्य तत्रापि महागर्वस्येन्द्रस्य पूजा मम दुःखकरीति सम्प्रति परमान्तरङ्गगोवर्द्धनपूजाप्रवर्त्तनेच्छयैव वृद्धेषु तत्रैव मुख्यतात्मीयतापेक्षया विशेषतः स्वपितरि प्रश्न इति ज्ञेयः ॥ २ ॥ कथ्यतामित्यर्द्धकम् । मे मह्यं कथ्यतामिति सर्वेऽन्ये जानन्ति केवलं मयैव न ज्ञायत इति मां प्रत्येव कथ्यतामिति भावः । एषा च पितृसन्तोषार्थमौग्ध्यप्रायलीलैव आवश्यकतच्छ्रवणाय वः युष्माकं सर्वेषामेव ननु केषाञ्चित् तत्र च सम्भ्रमः त्वराविशेषः वैयग्र्यं वा श्लेषेण सम्यक् भ्रम एवेत्यर्थः । उपागतः दूरे स्थातुं योग्योऽपि समीपं प्राप्तः उपर्यापतित इति वा ॥ ३ ॥ केनेति तृतीयान्तपदेन कर्तृकरणयोः प्रश्नः एतद्ब्रूहीति पुनरुक्तिर्निजशुश्रूषातिशयबोधनाय मह्यं मां प्रीणयितुमित्यर्थः यद्वा, ननु बालके त्वयि तत्कथनेन किं तत्राह—शुश्रूषवे पुत्रस्येच्छावश्यं पूरयितुं युज्यत इति भावः । श्लेषेण शुश्रुषुं धर्ममाब्रूयादिति न्यायेनावश्यकतोक्ता पितरिति पुनः सम्बोधनं स्नेहविशेषजननाय पूर्वपूर्वमध्ययं जानात्येव तथापि यत्पृच्छति तत्र च सोल्लुण्ठमिव यत्पृच्छति तत् पुनरिन्द्रं प्रत्यानादरेणैवेति गम्यते नारायणसमगुणत्वात् तज्जयिदानववृन्दघातित्वाच्चेति संशय्य तूष्णीं स्थितं प्रत्याह – नहीति । सार्द्धकेन तत्र नहीत्येकम् उदासीन इत्यर्द्धकं साधूनामिति तेषां विकर्मस्वप्रवृत्त्या गोप्यत्वभावात् साधूनामेव लक्षणं सर्वात्मनामित्यादिविशेषणत्रयेण परमात्मा तद्दृष्टीनाम् इह जगति कुत्रापीत्यर्थः । अतः तत्तल्लक्षणवद्भिर्भवद्भिर्न गोपयितुं युज्यत इति भावः । ननु निजहितार्थं देवताराधकानां कुतः सर्वात्मतोक्ता अतोऽस्वपरदृष्टित्वादिकं तव च नास्त्येवेति भवतु, तथापि मयि गोपयितुं न युज्यत एवेत्याह उदासीन इति वर्ज्यः मन्त्रभङ्गभयात् अहं तु सुहृत्सु परमान्तरङ्गः पुत्र एवेत्यतो न वर्ज्य एवेति भावः ॥ ४-५ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं गोपालनप्रवृत्तिमारभ्य प्रायः षष्ठसप्तमाब्दवयसि कृतां लीलामुक्त्वा अधुनाष्टमारम्भे च तां चतुर्विंशाद्यध्यायचतुष्केण वदन् तत्र च तत्तद्वयसि प्रायो मुख्यमुख्यलीलाया एव वर्णनादत्रापि तथैवाह—भगवानपीत्यादिना । व्रज एव नितरा-

मासक्तिपूर्व्वकं वसन्निति तस्य व्रजैकक्रीडापरता, तत्रत्यानाञ्च परमधन्यता पूर्व्ववत् सूचिता। अपिशब्दः पूर्व्वोक्तापेक्षया, तदर्थश्च व्यञ्जित एव। यद्वा, विप्राः स्वस्थात् नाचलन्, भगवानपि तेषां सान्त्वनार्थं नाययौ, किन्तु व्रज एव निवसन् इत्यपि-शब्दार्थः। वलदेवेन संयुत इति न च तेषामाश्वासनार्थं तमपि प्रेषयामासेति भावः। भगवान् निजकारुण्यादिगुणप्रकटनेन जगद्धितार्थमव-तीर्णोऽपीति तेषामपि हितसिद्धियोग्यतोक्ता। यद्वा, अपि निश्चये, वलदेवेन सह तत्रैव निवसन्नित्यत्र हेतुः—भगवानिति; तेन सहान्यत्र निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनस्यानुपपत्तेरसम्पत्तेश्चेत्यर्थः। तदेव दर्शयंस्तत्प्रसंगमारभते—इन्द्रयागकृतोद्यमानपश्यदिति श्रीगोवर्द्धनपूर्वदिग्वर्त्तीन्द्रध्वजाख्यकुण्डे इन्द्रध्वजोत्थापनादिना गोपानामिन्द्रपूजार्थं विविधद्रव्याहरणाद्युद्योगमद्राक्षीदित्यर्थः। यद्यपि प्रत्यब्दमेव तेषां तदर्थोद्यमस्तद्यागश्च वृत्तोऽस्ति, भगवता च दृष्टोऽस्त्येव, तथाप्यपश्यदित्यधुना विशेषोक्तिः श्रीगोवर्द्ध-नोद्धरणक्रीडाया इन्द्रयज्ञमखभञ्जनलीलाया वा योग्यकालापेक्षया पूर्व्वं तत्रौदासीन्यात्। एषा च क्रीडा वर्षान्ते शरदि प्रवृत्तेत्या-मेव (विष्णु. प. १६।१२-१३)—

'तं शरत्कुसुमापीडाः परिवार्य्य प्रदक्षिणम्। गावो गिरिवरं सर्व्वास्ततो यान्तु पुनर्व्रजम्॥
प्राप्ता किलेयं हि गवां स्वादुतोयतृणैर्गुणैः। शरत् प्रमुदिता रम्या गतमेघजलाशया॥'

इत्यादि श्रीहरिवंशोक्तेः, (भा० १०।२५।१५) 'अपर्त्तवत्युल्वणं वर्षम्' इत्यत्रैव वक्ष्यमाणत्वाच्च॥ १॥ तस्योद्यमस्या-भिज्ञोऽप्यपृच्छदिति तेषामुत्तरद्वारैव तदनुरूपपरिहारार्थं तदभिज्ञत्वे हेतुः, सर्व्वात्मा सर्व्वव्यापकः, यद्वा, सर्व्वेषामात्मा चेतयिता, अतएव सर्व्वं दर्शयतीति तथा सः, यतो भगवान् सर्व्वैश्वर्य्ययुक्तः; यद्वा, सर्व्वात्मेतिपदद्वयेन तेषां तत्र प्रवृत्तौ हेतुरुक्तः, तथाप्य-पृच्छत्, यतो भगवान् विचित्रलीला इत्यर्थः। यद्वा, प्रश्ने हेतुः—सर्व्वस्यात्मा प्रवर्त्तक इति शक्रयागभंगेन श्रीगोवर्द्धनयाग-प्रवर्त्तनार्थम्; कुतः? सर्व्वं श्रीगोवर्द्धनस्य हरिदासवर्य्यस्य सेवादिकं पश्यत्यनुभवतीति तथा सः; तदपि कुतः? भगवान् भक्त-वात्सल्याद्यशेषसद्गुणयुक्तः, यद्वा, निजाखिलैश्वर्य्यविशेषप्रकटनपर इति हेत्वन्तरम्, प्रश्रयावनतः सन्निति सर्व्वसद्गुणनिधित्वेन, यद्वा, वक्ष्यमाणार्थग्रहणाय पूज्येषु प्रश्नरीत्यनुसारचातुर्य्यो निजविज्ञताबोधनार्थम्। वृद्धानिति तेषामेव तद्विज्ञानात्, तथा तेषां प्रबोधने सति सर्व्वेषामेव तत्सम्पत्तेश्च। तत्र च नन्दः पुरोगमो मुख्यो येषामिति तस्य प्रबोधे सति स्वत एव वृद्धानां तत्सिद्धेः, विशेषतश्च गूढोऽयमभिप्रायः—ततोऽयं सरलस्वभावः परमवत्सलो मत्स्नेहाक्रान्तचित्तो मदिच्छां कदापि नात्येष्यति। अन्ये चैते सर्व्वे तदधीनाः; अतोऽमुं प्रत्येव प्राधान्येन प्रश्नो युक्त इति॥ २॥ अतएव नन्दपुरोगमानित्युक्तेऽपि हे पितरिति, मे मह्यं कथ्यतामिति सर्व्वेऽन्ये जानन्ति, केवलं मयैव न ज्ञायत इति मां प्रत्येव कथ्यतामिति भावः। एषा च पितृसन्तोषणार्था मौग्ध्यलीला आवश्यकतत्श्रवणाय; यद्वा, अन्यं प्रति कथिते तस्य तत्त्वाज्ञानान्न किमपि प्रयोजनम्, अतो मां प्रत्येव कथ्यतामितीन्द्रमख-निरसनार्था सगर्व्वप्रौढोक्तिः। यद्वा, हे मत्पितरिति सस्नेहसम्बोधनम्, सन्याययथार्थकथनाय; वः युष्माकं सर्व्वेषामेव, न तु केषाञ्चित्; तत्र च सम्भ्रमस्त्वराविशेषो वैयग्र्यं वा, श्लेषे सम्यक् भ्रम एवेत्यर्थः। उपागतो दूरे स्थातुं योग्योऽपि समीपं प्राप्त उपर्य्युपतित इति वा॥ ३॥ केनेति तृतीयान्तपदेन कर्त्तृकरणयोः प्रश्नः। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। यद्वा, सम्भ्रमरूपः कोऽयं क्रियामा अयं मख उपगतः, तस्य च किं फलमित्यादिकं समानमेव। एतद् ब्रूहीति पुनरुक्तिर्निजशुश्रूषातिशयबोधनाय; मह्यं माम्, यद्वा, मत्प्रीत्यर्थमित्यर्थः, तत्र च शुश्रूषव इति 'शुश्रूषुं धर्म्ममाब्रूयात्' इति न्यायेन प्रत्युत्तरावश्यकतोक्ता। यद्वा, ननु बालके त्वयि तत्कथनेन किम्? तत्राह—शुश्रूषवे, पुत्रस्येच्छावश्यं पूरयितुं युज्यत इति भावः। यद्वा, एषापि पूर्व्ववत् सगर्व्वोक्तिरेव; पितरिति पुनः सम्बोधनं स्नेहविशेषजननाय, तदभिप्रायश्च लिखित एव॥ ४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथेन्द्रप्रीतिकरयागभञ्जनं ततः सङ्क्रुद्धेन्द्रचोदितमहावातवर्षपीडितशरणागतव्रजवासिरिरक्षितोपयुक्तगोवर्द्धनधारणोद्धरणात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति—द्वाभ्यामध्यायाभ्याम्; भगवानपीति; तत्रैव वृन्दावन एव निवसन्निन्द्रयागार्थं कृत उद्यमः प्रयत्नो यैस्तान् गोपानपश्यत्॥ १॥ सर्वात्मा सर्वदर्शनश्चेति च हेतुगर्भम् अतस्तदभिज्ञोपि उद्यमस्येन्द्रयागार्थत्वं जानन्नप्यज्ञ इवावनतो नम्रः नन्दप्रभृतीन् वृद्धानपृच्छत्॥ २॥ प्रश्नप्रकारमेवाह—कथ्यतामिति। हे पितः! वो युष्माकं कः संभ्रमः उपस्थितः संभ्रमो न भवति मखोऽयमित्यत्राह—किं फलमिति। मखश्चेत् किमत्र फलं कस्य सम्बन्धी उद्देशः का देवतेति प्रश्नः केन साधनेन साध्य इति साधनप्रश्नः॥ ३॥ हे पितः श्रोतुमिच्छवे मह्यमेतत् मत्पृष्टं ब्रूहि अत्र महान् कामः शुश्रूषा वर्त्तते गोप्यत्वात् वक्तुं श्रोतुं च न योग्यमित्याशङ्कां निराकरोति—नहीति। साधूनां कृत्यं न हि गोप्यं तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि सर्वात्मनां सर्वेष्यात्मानः आत्म-तुल्या येषां ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वेप्यात्मान एकरूपा एवेति जानतामित्यर्थः॥ ४॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्वमहिमानं प्रकटयितुमुत्पथवर्ती पुरुषः सन्मार्गोपदेशेन शिक्षणीय इति शास्त्रशासनं पश्यन् कृष्णः सन्मार्गं दर्शयितु-मुपक्रमत इत्याह—शुक इति। तत्र व्रज एव निवसन्॥ १॥ सर्वात्मा सर्वदर्शन इत्येतद्द्वयं तदभिज्ञत्वे हेतुः प्रश्रयः सेवा-

शीलता ॥ २ ॥ कोऽयं किंविषयः मखविषयश्चेत्तत्राह–किं फलमिति। दृष्टमुतादृष्टं फलम् यद्वा, किमर्थं सम्भ्रमः अस्य सम्भ्रमस्य किं फलं साध्यं मखश्चेदत्राह–कस्येति। कां देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागलक्षणः केनाधिकारिणा हेतुना वा ॥ ३ ॥ तदेतत्पृष्टं सर्वं मह्यं ब्रूहि। किमर्थं ? महान् कामः मम तस्मिन् कार्ये महत्याकाङ्क्षा वर्तते तुशब्दो भेदार्थः इह वाच्यव्यवहारविशेषे यत्सर्वात्मा कीर्त्यं वक्तुं योग्यं तत्साधूनां गोप्यं न हि कुत इत्थं सङ्कल्पयत इत्यतः प्रसिद्धत्वादित्याह, हीति ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

भगवानपीति अत्रापिशब्देन तत्रैव निवसन्निितीत्थं चैवं लभ्यते एवं ते पत्नीसम्बन्धेनातिविश्वस्ता असन्निहिता नाचलन् चकाराद्यत् किञ्चित् तत्साम्मुख्येन यज्ञमेव कुर्वन्तोऽतिष्ठन् अथ किञ्चित्कालान्तरे भगवानपि बलदेवेन संयुतस्तत्रैव निवसन् स्वयं यत्र निवसति तत्रापीत्यर्थः। इत्यभिलाषसमञ्जसत्वं दर्शितं ब्रह्मादिदुर्ल्लभं तत्संवासमहेतुमेभ्यस्तेभ्य इन्द्रस्यातिक्षोदियस्त्वात् बलदेवेन संयुत इति स कदाचित् सोढुं शक्नोति बलदेवस्तु तत् परमभक्तौ नैवेत्यर्थः। तस्य यज्ञस्य अभि सर्वतोभावेन सिद्धान्तानुष्ठानादिप्रकारेण जानातीति तदभिज्ञस्तादृशोऽपि पूर्वपूर्वमप्ययं जानात्येव तथापि यत् पृच्छति तत् पुनरिन्द्रं प्रत्यनादरेणैवेति गम्यते ॥ १–४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वपित्रा सह संलप्य मखं व्याधूय वज्रिणः। चतुर्विंशे गिरीन्द्रस्य मखं प्रावर्त्तयद्धरिः ॥

गोष्ठस्यास्थान्यां निवसन् स्वभ्रातृभिः सह नन्द इन्द्रयागसम्भारसिद्ध्यर्थं गोपानुद्योजयामास भगवानपि तत्रैव निवसन् इन्द्रयागकृतोद्यमान् गोपान् अपश्यदिति सम्बन्धः ॥ १ ॥ पूर्वपूर्ववर्षदृष्टत्वात्तस्याभिज्ञोऽपि सर्वात्मेति यद्यप्यन्तर्यामिस्वरूपेणेन्द्रयागे स्वयमेव प्रेरयति तदपि लीलाकौतुकार्थमित्यर्थः। सर्वम् इन्द्रगर्वखण्डनसप्तरात्रपर्य्यन्तप्रियजनसहवासविलासादिकमुदर्कं पश्यतीति सः ॥ २ ॥ मखो भविष्यति तत्सिद्ध्यर्थमयं सम्भ्रम इति चेत् किमत्र फलं कस्य चोद्देशः को देवोऽत्र पूज्यत्वेन निर्दिष्ट इत्यर्थः। केन कर्त्रा करणेन वा ॥ ३ ॥ ननु, बालकस्य तव किमेतत् प्रश्नेन तत्राह–महान् कामोऽभिलाषो ममात्र वर्त्तते। यद्वा, महान् कामो युष्मदादीनामत्र दृश्यते अत एव तं मह्यं शुश्रूषवे शुश्रूषुं मां प्रीणयितुमित्यर्थः। रहस्यत्वादनतिकोविदबालकादिषु वक्तुमनर्हमिति चेत्तत्र स्वस्यातिकोविदत्वमुक्तिवैचित्र्यैव द्योतयन्नाह–नहीति। सर्व एवात्मान आत्मतुल्या येषां तेषाम् अत एवायं स्वोऽन्तरङ्गः अयं परो बहिरङ्ग इति न विद्यते दृष्टिर्येषां तेषाम् अत एव तद्भेदा मित्रोदासीनविद्वेषा न सन्तीत्याह–अमित्रेति। तुल्यार्थकगृहस्था वयमेवंभूताः साधवो भवितुं न शक्नुम इति चेत्तदपि मय्येतद्गोपयितुं न युज्यत इत्याह–उदासीनोऽरिवदिति। तुल्यार्थकवति प्रत्ययेनारिणा तुल्य उदासीनो वर्ज्यं इत्यर्थः। अरिसाधर्म्यञ्चास्यारिमित्रत्वेनापचिकीर्षापत्त्वान्न त्वपकारकत्वादिति ज्ञेयमत एव "यो विपक्षः सुहृत्पक्षः स तटस्थो निगद्यते" इत्युज्ज्वलनीलमणौ तल्लक्षणं दृष्टं यस्तूदासीनो नारिणो तुल्यो नापि सुहृदा तुल्यः स तु न वर्ज्योनाप्युपादेयः स्वकृत्येष्वित्यत एव सनोटृङ्कितः सुहृदात्ममित्रत्वादात्मवद्विश्वास्य इत्यर्थः। अहं तु पुत्रः सुहृदः सकशादप्यन्तरङ्ग इत्यर्थः ॥ ४–५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

चतुर्विंशे इन्द्रमखानिकरणपूर्वकं श्रीकृष्णप्रवर्त्तितं गोवर्द्धनमहोत्सवं वर्णयति–भगवानपीति ब्राह्मणाः कंसाद्भीताः स्वाश्रमेभ्यो न चाचलन् तेष्वेवस्थिताः भगवन्तमभजन् भगवानपि तत्रैव वृन्दावने निवसन् इन्द्रयागाय कृतः उद्यमो यैस्तान् गोपानपश्यदित्यन्वयः ॥ १ ॥ तदभिज्ञोऽपीन्द्रयागोद्यमाभिज्ञोऽप्यपृच्छत् ॥ २ ॥ हे पितः ! वो युष्माकं कः सम्भ्रमः उपागतः उपस्थितः एतन्मे कथ्यताम् सम्भ्रमः किन्तु मखोऽयमित्यत्राह–किमिति। मखश्चेदत्र किं फलम् कस्य चोद्देशः कां देवतामुद्दिश्यायं क्रियत केन साधनेन साध्यते च एतत् मह्यं शुश्रूषवे ब्रूहि ॥ ३ ॥ हे पितः ! महान् कामो दृश्यते तवेति शेषः। तं काममहं स्वमतानुसारेण साधयिष्यामीति भावः। गोप्यं कृत्यं न कथयामीत्यत्राह–नहीति, सार्द्धेन। साधूनां कृत्यं गोप्यं न ह्यस्ति तत्र हेतुगर्भं विशेषणं सर्वात्मनामिति सर्वं सर्वात्मनामिति सर्वे सर्वात्मनि वासुदेवे आत्मा मनो येषां सर्वं वासुदेवात्मकमिदमित्येवं ज्ञानवतामित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

चतुर्विंशे विनिर्धूय पूजामिन्द्रस्य हेतुभिः। प्रावर्त्तयत् स्वभक्तस्य गिरिराजस्य तां हरिः ॥

सभायां भ्रात्रादिभिः सहोपविष्टो नन्दराज इन्द्रपूजासम्भारसिद्धये गोपानादिशत् तत्रैव निवसन् भगवानपि गोपानिन्द्रयागोद्यतानपश्यत् ॥ १ ॥ तदभिज्ञोऽपि पूर्वपूर्ववर्षदृष्टत्वादिन्द्रपूजार्थकोऽयमुद्यम इति जानन्नपि सर्वात्मान्तर्यामिवपुषा तत्र तेषां प्रवर्त्तकोऽपि प्रश्रयेण विनयेनावनतः सन्नपृच्छत् सर्वमुदर्कमिन्द्राभिमानापनयनसप्तरात्रपर्यन्तप्रियजनसहवासविलासादिकं

पश्यतीति सः भगवान्नित्यसिद्धषडैश्वर्यस्तदभिमानापनयादिषु समर्थः ॥ २ ॥ संभ्रमो महोद्योगः मखो भावी तत्सिद्धयेऽयं संभ्रमः इति चेत् किमत्र फलं कस्य वोद्देशः को देवोत्र पूज्यत्वेनोद्दिष्ट इत्यर्थः केन कर्त्रा करणेन वा साध्यते ॥ ३ ॥ ननु त्वं बालः स्वसखैः क्रीडस्व किं तवानेन प्रश्नेनेति चेत् तत्राह–एतदिति सार्धकेन। मे महान् कामो वाञ्छन्ति अतः शुश्रूषवे मह्यमेतद् ब्रूहि शुश्रूषुं मां प्रीणयितुमित्यर्थः। ननु रहस्यत्वादेतद्बाले य वाच्यमिति चेत्तत्रोक्तिवैचित्र्येण विज्ञत्वं स्वस्य सूचयन्नाह–नहीति। सर्वेष्वात्मा मनो येषां अत एव स्वोऽन्तरङ्ग इति नास्ति दृष्टिर्येषां तत एव तद्भेदा मित्रोदासीनद्विषोऽपि न सन्तीत्याह–मित्रेति। ईदृशां साधूनामिह लोके गोप्यं कृत्यं नास्ति ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ ॥ सर्ववित्स्वमहिमानं किञ्चिद्व्यक्तीकर्तुमिन्द्रमददमनं कुर्वन्नजानन्नि वनन्दादीन् प्रच्छेति शुकः शंसति ॥ श्रीशुक इति। तत्रैव गोकुल एव निवसन्निन्द्रमुद्दिश्य क्रियमाणो याग इन्द्रयागस्तत्र किं कृत उद्योग उद्यमो येषां ते तानपश्यद्दर्शः ॥ १ ॥ सर्वात्मा सर्वदर्शन इति तदभिज्ञताहेतुप्रश्रयो भक्तिस्तेनावनतः प्रवणः सन्नन्दादीन्वृद्धान्। तत्रापि न प्रलोभः कर्तुं शक्य इति तमेव सम्बोध्य पृच्छति। कथ्यतां मे पितरिति। मे पितर्मे कथ्यतामित्यन्वयः। अयं कः सम्भ्रम उत्सव उपायातः। अकरणे च किं भयमुपागतमेतादृशो दुर्भ्रमो मयि सति कुत आयात इत्यान्तरङ्गिकोऽपि भावो भगवतो ज्ञेयः। न दृश्यते किमिति तत्राह ॥ किं फलमित्यादिना। कस्योद्देशः कां देवतामुद्दिश्य केन साधनेनायं मखः साध्यते केनाधिकारिणा वा ॥ ३ ॥ शुश्रूषवे श्रोतुकामाय मह्यं तदेतत्पृष्टं ब्रूहि। किं तवानेनेत्यत आह। महान्कामः श्रवणनिबर्हणीयोऽभिलाषो वर्तत इति हि यतः साधूनां सर्वात्मनां सव कीर्त्यं गोप्यं गोपनीयं नेति हि प्रसिद्धं। अन्यथा तव साधुताऽसाधुता स्यादिति भावः। न त्वं साधुरतो गोप्यमित्यपि नेत्याह। साधूनामस्माकं कीर्त्यं न हि गोप्यं। तुशब्दो वचने वचनेन मया ज्ञातमेव सर्वमित्यान्तराङ्गिकविशेषसूचकः। सविशेषं ब्रूहीति सूचको वा ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एकविंशे हेतुकस्य कर्मणो विनिवारणम्। कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते ॥ १ ॥
यथा प्रबोधिता विप्रा एवं देवा अपि स्वयम्। महतां महती शिक्षा उत्तरोत्तरमुत्तमा ॥ २ ॥
स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे विप्राणां तु स्त्रियः सतीः। देवानां तु हवींष्येव येषु ते सुप्रतिष्ठिताः ॥ ३ ॥
तामसान् राजसांश्चैव समुद्धृत्य मनीषया। सात्त्विकोद्धरणेयं तु यागभङ्गं चकार ह ॥ ४ ॥

पूर्वाध्याये ब्राह्मणा नागता इत्युक्तं, तथा सति गोकुले वैदिको यज्ञो न प्रवर्तत इत्याशङ्क्य भगवानपि सर्वनिरपेक्षोऽपि स्वार्थं तत्र यज्ञं कारितवानित्याह भगवानपीति, एवम्प्रकारेण तत्रैव गोकुले बलभद्रसहितो नितरां वसन् निरोधं कुर्वन्नन्यथा प्रवर्तमानान् दृष्टवान्, तदाह गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमानिति, इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमो यैर्वृद्धैर्गोपैस्तानपश्यत्, एतेन शुकस्याश्चर्यमपि ज्ञापितं भवति, तथा हि यत्र विहितत्वेनापि कृतः श्रवणादिपरम्पराभगवत्सम्बन्धी धर्मस्तिष्ठति न तत्रान्यधर्मसम्बन्धः सम्भवतीह तु नैसर्गिकैश्वर्यादिमान् साक्षाद्धर्मी वसन्नन्यधर्मासहिष्णुषु स्वैश्वर्यादिषु जागरूकेषु सत्स्वपि तत्रापि स्वमन्यधर्ममपश्यत् स्वकिरणनाश्यं तमःपुञ्जं तरणिरिव, अत एव निवासोक्तिरपिपदं भगवत्पदं च, क्रियाशक्तिप्रधानेन देवत्वेन भजनधर्मविरोधिनाशकेन साहित्यमप्याश्चर्यहेतुः, एतावत्पर्यन्तं निवासमात्रं कृतवान्न त्वन्यधर्मबाधनमप्यत एतावत्कालपर्यन्तं यागकरणमित्यभिप्रेत्यापि निवासोक्तिः, शनैःशनैर्निरोधं कर्तुमिच्छा न त्वेकदैव सर्वप्रकारकं तं कर्तु तथा सति लीलारसो न स्यादत इयदवधि नैतत्करणमिति चिरकालवर्तमानताबोधकशतृप्रत्ययेन ज्ञाप्यते, यद्यपि वर्तमानत्वमात्रमर्थस्तस्य तथाप्यखण्डदण्डायमानो वसन्निरकालीन इति तस्य वर्तमानत्वबोधने यादृशः स तादृशस्य तथात्वमायातीति तथा, इदं दर्शनं तेषु स्वज्ञानशक्तिस्थापनरूपमन्यथा पारम्पर्यागतत्वेनोपपत्तिमत्त्वेन चाकरणे सुखाप्तिहेतुत्वेन चेन्द्रयागं जानतां लोकरीतिपरिनिष्ठितबुद्धीनां बालभाषितेन कथमेतादृशं कर्म त्याज्यमित्येव ज्ञानं स्यान्न तु भगवदुक्ताङ्गीकारः, अतः पूर्वमेतादृशीं स्वज्ञानशक्तिं बीजवद् गुप्ततया तेषु स्थापयित्वा तदुद्बोधकानि वचनानि वदिष्यति तेन सर्वेष्टसिद्धिरिति ज्ञेयम् ॥ १ ॥ तच्च भगवद्भक्तैर्भगवता निरुद्धैर्न कर्तव्यमिति तन्निषेधार्थं तन्मतं पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तं वक्तुं प्रस्तावनामाह तदभिज्ञ इति, भगवान् हि 'सर्वज्ञः', लोकन्यायेनापि पूर्ववर्षे कृतत्वात् तदभिज्ञः सर्वेषामन्तरात्मत्वाच्च सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वाच्च सर्वेष्वेव दर्शनं यस्येति, एवम्भूतोपि प्रश्रयेण विनयेनावनतो भूत्वाजानन्निव नन्दपुरोगमान् वृद्धानपृच्छत् ॥ २ ॥ प्रश्नमेवाह कथ्यतामिति, पितरितिसम्बोधनमुत्तरत्रयपरिज्ञानार्थं, अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेत्यत एव मे मह्यं कथ्यतां कोयं सम्भ्रमो व उपागत इति, सम्यग् भ्रमो यत्र तादृशः को वा पदार्थः समागत इति सम्भ्रम उत्सवप्रयत्नो वा ? अलौकिकश्चेत् तस्य विधानं वक्तव्यमित्याह किं फलमिति, आदौ कर्मणः फलं ज्ञातव्यमन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात् 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इतिन्यायात्, किञ्च कस्य वोद्देशः कमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तमिति ?

का देवतेत्यर्थः, केन वा द्रव्येण साध्यत इति ? सर्वत्र हि द्रव्यदेवताफलानि वक्तव्यानि, महान् सम्भ्रम इति प्रायेणायं मखो महान् यागः, वेदे त्वप्रसिद्ध इति तदुपहासोपि ॥ ३ ॥ एतत् सर्वं विशेषाकारेण वक्तव्यमिति पुनराहैतद् ब्रूहीति, किं ततः स्यात् ? तत्राह महान् कामो मह्यमिति, अथ महानेव कामोभिलपितोर्थः, तद्विषयिणीच्छा वा, अतः शुश्रूषवे मह्यं वदेति, अज्ञत्वज्ञापनाय पुनः पितरितिसम्बोधनं, बाला हि पितरं बहुधा सम्बोधयन्तीति, ननु गोप्यमेतन् न बालेभ्यो वक्तव्यमिति चेन् तत्राह न हि गोप्यं हीति, इदं न गोप्यं प्रतिभाति महान् 'सम्भ्रमो' दृश्यत इति, किञ्च साधूनां न किञ्चिद् गोप्यं, अन्यथा साधुत्वमेव न स्यादतो हि द्वयं युक्तं, किञ्च साधूनां कृत्यमेव नास्ति कुतः पुनर्गोप्यं कृत्यं भविष्यति ? साधवोत्र शास्त्रीयाः 'कृपालुरकृतद्रोह' इत्यादिधर्मयुक्ताः, तेषामगोप्यकार्यत्वे हेतुः सर्वात्मनामिति, सर्वेष्वेवात्मा हृदयं येषां, ते हि 'सर्वहिते रताः', तत्रापीहास्मिँल्लोके न तेषां कृत्यं गोप्यं, अनेन भगवच्छास्त्रं कदाचिन्न वदेयुरपि न तु लौकिकं किञ्चित् ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

एकविंशाध्याये, एतद् ब्रूहि महान्काम इत्यत्र, शुश्रूषव इत्यग्रे कथनात् सम्प्रत्ययेनेच्छैवोक्तेति कामपदार्थमन्यमाहुः अभिलषितोर्थ इति। यद्यप्यन्यद्वारा कथनेपि शुश्रूषानिवृत्तिः सम्भवति, तथापि शुश्रूषवे मह्यं साक्षाद्भगवत्कथनलक्षणोर्थो महानिति प्रातीतिकोर्थः । वस्तुतस्तु यागभङ्गलक्षणोर्थस्तथेति हृदयम्। तथाप्यन्यभजननिवारणपूर्वकस्वभजन एव प्रभुतात्पर्यमिति पक्षान्तरमाहुः तद्विषयिणीच्छावेति । स्वयागविषयिणी सेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एकविंशेध्याये न हि गोप्यं हीत्यत्र अतो हि द्वयमिति मूलोक्तं हिशब्दद्वयमित्यर्थः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एकविंशाध्यायार्थोक्तौ हैतुकस्य कर्मणो विनिवारणमिति इन्द्रो वृष्टिं करोति तयान्नान्युत्पद्यन्ते तैर्वयं जीवाम इतिहेतोरिन्द्रसाभिर्यष्टव्य इतिज्ञानेनेन्द्रयागस्य कृतत्वाद् विधिस्पर्शाभावाद्धैतुकत्वं एतस्येन्द्रयागस्य, तं निवारयित्वा गोवर्धनयागः कृतस्तत्र गोवर्धनस्य भगवद्रूपत्वाद् भगवद्यागस्य सर्ववेदविहितत्वाद् वैदिकत्वमतो गोवर्धनयागं कारितवानित्यर्थः, अत एव श्रीनन्देन भगवन्तं प्रत्युत्तरदाने स्वकृतेन्द्रयागस्य हैतुकत्वमेवाभाणि "पर्जन्यो भगवानिन्द्र" इत्यादिना, भगवतापि श्रीनन्दकृतेन्द्रयागस्य वेदमूलकत्वाभावात् केवलयुक्तिसिद्धत्वात् तन्निवारणे "कर्मणा जायते जन्तु"रित्यादिना युक्तीः प्रदर्श्य श्रीगोवर्धनयागकरणेपि "वयं वनौकसस्तात नित्यं शैलनिवासिनः" इत्यनेन युक्तय एव प्रदर्शिताः, तदेतदाहुः कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते यथा प्रबोधिता इत्यादि यज्ञपत्नीनामनुग्रहात् तद्भर्तारो बोधिता एवं इन्द्रमानभङ्गे न सर्वे देवाः शिक्षिता इत्यर्थः, एकोनविंशविंशैकविंशाध्यायलीलया सिद्धाननुग्रहानाहुः, स्त्रीणां वस्त्राणीति, स्त्रीणां कुमारिकाणां वस्त्राणीति जगृहे वस्त्रग्रहणद्वारा ता अङ्गीकृतवान्, विप्राणां यजमानानां स्त्रियः जगृहे तद्द्वारा ब्राह्मणानङ्गीचकार, देवानां हवींषि गोवर्धनस्थरूपेण जगृहे हविर्ग्रहणद्वारा देवाननुजग्राहेत्यर्थः, तामसान् राजसानित्यादि जीवविशेषणानीमानि तामसान् जीवान् कुमारिकारूपान् राजसान् ब्राह्मणान् सात्त्विकान् देवानित्यर्थः, एवमध्यायत्रयसिद्धं प्रमेयमुक्तं, ब्राह्मणानां राजसत्वं कर्मणत्वात् "कर्मश्रद्धा तु राजसी" तिभगवद्वाक्यात् ॥ ० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एकविंश इत्यादि का० २११८–२१४४ । एकविंशाध्याये हैतुकस्य "पर्जन्यो भगवानिन्द्र"इत्याद्युक्तप्रकारेण नन्दादियुक्तिसिद्धस्य कर्मण इन्द्रयागस्य विनिवारणं कृत्वा भगवान् युक्त्यैव "वयं गोवृत्तयोनिश"मित्याद्युक्तप्रकारेण तत् कर्म गोसवात्मकं वैदिकं चक्रे इति निरूप्यते इत्यर्थः, गोसवस्य वेदाप्रसिद्धत्वेपि भगवदुक्तत्वेन वैदिकत्वं ज्ञेयं, यथा प्रबोधिता इत्यादि स्पष्टं, शिक्षाधिक्यं प्रदर्शयन्ति स्त्रीणां वस्त्राणीत्यादि, वस्त्रहरणात् पत्नीहरणस्याधिक्यं ततो हविर्हरणस्येति, तदेवाहुर्येष्विति, देवानां प्रतिष्ठाया हविरधीनत्वात्, तामसानित्यादि तामस्यः कुमारिकाः पुंस्त्वमविवक्षितं राजसा विप्राः सात्त्विका देवाः ॥ ० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इन्द्रपूजा चतुर्विंशे हेतुभिः सन्निवर्तिता । कृता गोवर्धनपूजा कृष्णेनेति निरूप्यते ॥ १ ॥

गोवर्धनमखोत्सवं सप्रसङ्गं निरूपयति –भगवानिति । बलदेवेन संयुतो भगवान् कृष्णस्तत्रैव गोकुले निवसन् इन्द्रयागाय कृतोद्यमान् गोपान् अपश्यदित्यन्वयः । अपिशब्देन "निरपेक्षस्यापि भगवत इन्द्रमदनाशाय तद्यागनिवर्तने व्रजवासिजनानां परमसौभाग्यलाभाय च गोवर्धनपूजामिषेण स्वपूजने प्रवृत्तिः" इति सूचयति ॥ १ ॥ भगवान् कृष्णस्तदभिज्ञोऽपि 'इन्द्रयागार्थोऽयमुद्यम' इति जानन्नपि प्रश्रयेण विनयेन अवनतः सन् नन्दादीन् वृद्धानपृच्छदित्यन्वयः । तज्ज्ञाने हेतुमाह—सर्वदर्शन इति, सर्वसाक्षीत्यर्थः । तत्रापि हेतुमाह—सर्वात्मेति, सर्वेषामन्तरात्मेत्यर्थः ॥ २ ॥ तत्प्रश्नमेवाह - कथ्यतामिति । 'अनुशिष्टेर्नैव भाव्यं

पितुः पुत्रेण' इत्याशयेन सम्बोधयति—पितरिति। सम्यक् भ्रमो यत्र स सम्भ्रमः उत्सवविशेषः कोऽयं वो युष्माकमुपागतः स मे मह्यं कथ्यताम्। 'यागविशेषोऽयम्' इति चेत्तर्हि "अस्य किं फलम्, कस्य च देवविशेषस्य उद्देशः, कं देवमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तम्" इति देवताप्रश्नः। "केन वा साधनेन केन वाऽधिकारिणाऽयं मखः साध्यते" इति द्वयो प्रश्नः॥ ३॥ अज्ञत्वं ज्ञापयन् पुनः सम्बोधयति–पितरिति। महान् कामः श्रवणे महतीच्छा वर्तते, अतः शुश्रूषवे मह्यमेतत् मत्पृष्टं सर्वं ब्रूहि। 'गोप्यत्वाद्वक्तुं श्रोतुं च न योग्यम्' इत्याशङ्क्याह—नहीति। अत्रैको हिशब्दो हेत्वर्थकः, द्वितीयो हिशब्दोऽवधारणे। हि यस्मात् इह व्यवहारभूमौ साधूनां कृत्यं कर्म गोप्यं नैव भवति। 'के ते साधव' इत्यपेक्षायां सर्वात्मनामिति। सर्वत्रैकात्मकदृष्टीनामित्यर्थः॥ ४॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

चतुर्विंशे शक्रयागव्यावृत्तिर्हेतुकल्पनैः॥ गोवर्द्धनमखोद्भूतिस्तत्र श्लोका गजाग्नयः (३८)॥
अनुष्टुभोऽपि (३८) तावत्यस्तथोवाचेति पञ्चकम् (५)॥ २४॥

अथ गोवर्द्धनपूजनोत्सवः स चायं कार्तिकशुक्लप्रतिपदि प्रवृत्तोऽपि आश्विनपूर्णिमाप्रवृत्तरासक्रीडायाः पूर्वभावी ज्ञेयः। रासलीलायां गोपीभिरनुकृतत्वात्। रासश्च वस्त्राहरणानन्तरशरदन्तराव्यवहितशरदि इमा रंस्यथ क्षपा इत्यव्यवधानोक्तेः। तत्र चायं क्रमः। अष्टमवर्षस्याश्विने वेणुगीतम्। कार्तिके गोवर्धनोद्धरणम्। कार्त्तिकशुक्लैकादश्यां गोविन्दाभिषेकः। द्वादश्यां वरुणलोकगमनम् 'तत्पूर्णिमायां ब्रह्महृदावगाहः। ततो हेमन्ते वस्त्राहरणलीला। तत्रैव निदाघे यज्ञपत्नीप्रसादः। नवमवर्षस्य शरदि रासलीलेति वैपरीत्योक्तिः प्रेमावेशात्। भगवानिति॥ बलदेवेन संयुतः भगवान् कृष्णस्तत्रैव गोकुले निवसन् इन्द्रयागाय कृत उद्यमो यैस्तान् गोपान् अपश्यत्॥ १॥ तदिति॥ सर्वात्मा सर्वदर्शनः सर्वज्ञः भगवान् कृष्णः तदभिज्ञोऽपि इन्द्रयागार्थोऽयमुद्यम इति जानन्नपि प्रश्रयेण विनयेनावनतः सन्नन्दपुरोगमान् नन्दादीन् वृद्धानपृच्छत्॥ २॥ कथ्यतामिति॥ हे पितः! वो युष्माकम् अयं संभ्रमः उत्सवः वैयग्र्यहेतुः कः उपागतः स मे मह्यं कथ्यताम्। अस्य किं फलम्? अत्र कस्य देवस्य उद्देशः? कं देवमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तमिति देवताप्रश्नः। केन साधनेन अधिकारिणा वाऽयं मखः साध्यते॥३॥ एतदित्यर्द्धम्॥ हे पितः! मम महान् कामः श्रवणे महतीच्छा वर्तते। यद्वा। भवतामपि महान् कामो दृश्यते। अतः शुश्रूषवे मह्यं मां बोधयितुमेतन्मत्पृष्टं ब्रूहि॥४॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अधुना चतुर्विंशेऽध्याये इन्द्रमानभंगाय सद्धेतुभिः श्रीकृष्णकृतस्तद्यज्ञभंगो गोवर्धनयजनोत्सवश्चोच्यते ऋषिपत्न्युग्रहानंतरं पुनर्व्रजमागतो हरिस्तत्र निवसन्सन् कश्चित् इंद्रयागकृतोद्यमान्॥ १॥ प्रश्रयेण विनयचातुर्येण अवनतो नम्रः सन्॥२॥ कोयं संभ्रम उत्सवः वो युष्माभिः प्राप्तः अस्य किं फलं अत्र कस्य देवस्योद्देश इज्यत्वेनाऽभिधानमस्ति केन साधनेन कर्त्रा वा मखो यज्ञः॥ ३॥ महान् कामः मम महती श्रवणेच्छाऽस्ति अतो हे पितः एतत्सर्वं मह्यं ब्रूहि सर्वत्र संबंध्य संबंधिषु जीवात्मा स्थिता इति दृष्टिर्येषां तेषां अतएव अस्य परदृष्टीनां अयं स्वकीयः अयं च परकीय एवंभूता दृष्टिर्येषां नास्ति तेषां अतएव अमित्रो दास्त विद्विषां साधूनां कृत्यमिह गोप्यं नास्ति॥ ४॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

व्यावर्त्य हेतुभिर्यज्ञं चतुर्विंशे मरुत्वतः। गोवर्द्धनोत्सवं कृष्णो भूमौ प्रावर्त्तयच्छुभम्॥ १॥
निरस्य भूमिदेवानां क्रियागर्वं युवासिषु। मदं मघवतो भङ्क्तुं वारयामास तन्मखम्॥ २॥

अथेन्द्रप्रीतिकरयागभञ्जनं ततः संक्रुद्धेन्द्रचोदितमहावातवर्षपीडितशरणागतव्रजवासिरिरक्षिषोपयुक्तगोवर्द्धनाचलोद्धरणात्मकं भगवच्चेष्टितमनुवर्णयति। भगवानपीति। तत्रैव वृन्दावने एव, बलदेवेन संयुतः, निवसन्, भगवान् अपि, इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमो यैस्तान्, इन्द्रयागं विधातुं विहितप्रयत्नानित्यर्थः। गोपान्, अपश्यत्॥ १॥ तदिति। सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी, सर्वदर्शनः सर्वजनान्तःकरणवृत्तीनां साक्षात् द्रष्टा, भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः कृष्णः, तदभिज्ञोऽपि उद्यमस्येन्द्रयागार्थत्वं जानन्नपि सर्वथाऽज्ञ इवेत्यर्थः। प्रश्रयावनतः विनयेन नम्रः सन्, नन्दपुरोगमान् नन्दप्रभृतीन्, वृद्धान् अपृच्छत्॥ २॥ प्रश्नप्रकारमेवाह। कथ्यतामिति। हे पितः, वो युष्माकं, अयं कः संभ्रम उत्सवः, उपागतः, मे मम, कथ्यताम्। संभ्रमोऽयं न भवति मखोऽयमि त्यत्राह। किं फलं यद्ययं मखश्चेत् किमत्र फलं, कस्य अत्र उद्देशश्च, कां देवतामुद्दिश्यायं मखः प्रवर्त्तते इत्यर्थः। अस्य का देवतेति प्रश्नः। अयं मखः, केन साधनेन वा, साध्यते इति साधनप्रश्नः। हे पितः, एतत् शुश्रूषवे श्रोतुमिच्छवे, मह्यं ब्रूहि। अत्र महान् कामः, मम महती शुश्रूषा वर्त्तते इत्यर्थः॥ ३॥ गोप्यत्वाद्वक्तुं श्रोतुं च न च योग्यमित्याशङ्कां निराकुर्वन् पृच्छति। न हीति। हि यस्मात्, सर्वे आत्मान आत्मतुल्या येषां तेषां सर्वात्मनां, ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वेऽप्यात्मान एकरूपा एवेति जानतामित्यर्थः। अस्ता रहिता स्वपरेषु स्वपराभिमतदेहेषु दृष्टिर्युष्मदस्मद्दर्शनं येषां तेषां, देहात्मनोर्याथात्म्यज्ञानामित्यर्थः। पाठान्तरे न विद्यते स्वः पर इति दृष्टिर्येषां तेषां, अत एव, न विद्यन्ते मित्राणि च उदास्ता उदासीनाश्च विद्विषः शत्रवश्च येषां तेषां, मित्रोदासीन

शत्रुतारहितत्वात्समदर्शिनामित्यर्थः। साधूनां, इह लोके, कृत्यं कार्यं, गोप्यं, न हि नैवेत्यर्थः। अस्ति। एषा तु समदर्शिनां रीतिः, विषमदर्शिनामपि स्वसुहृद्विषये तु गोप्यं न ह्यस्तीत्याहोदासीन इति। विषमदृष्टिमतामपि, उदासीनस्तु, अरिवद्वर्ज्य एव। अनेनोदासीनामित्रयोर्गोप्यश्रावणप्रतिषेध उक्तः। सुहृत्तु, स्वात्मवत् स्वात्मसमानः, उच्यते। अतः, नाहमुदासीनामित्रान्यतमः किं तु पुत्रत्वात्सुहृदतो गोप्यमपि श्रावयितुं योग्य एवास्मीति भावः॥ ४॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

उक्ता युगत्रयनिसक्तविशेषधर्मास्त्रेतायुगे युजनमेव हि मुख्यधर्मः।
गोवर्द्धनाध्वर-निरूपणकैतवेन सोऽप्यत्र बोध्यत इति प्रविविक्तमूह्यम्॥ १॥

भगवानपीति : १०.२४.१.

एते ह्येव न केवलं मदधियो विप्राः स इन्द्रोऽपि यद् येनाद्यावगणय्य मामुपकृतेः कर्त्तारमात्तं हविः।
का चिन्तास्त्यरमेव तन्मदधियं नेष्यामि लोपं क्षणा–दित्यभ्यन्तर चिन्तनाञ्चितमना आसीत् स यावत्प्रभुः॥ २॥

तावद् यज्ञममेशेषघोषणजनैरारब्धमैक्षिष्ट तन्मुख्यं तत्र चिकीर्षितार्थकृतधीः प्रायोन्यपेधत् क्रतुन्।
नो चेदस्य न सर्वथा समुचितो निर्मलन्तुलेशात्मनो दण्डो नापि पुराऽऽस तद्धृदि परेशाज्ञानभावोदयः॥ ३॥

तस्मिन् क्रतुप्रकरणे प्रकटेन्द्रमतो तिष्ठन् द्विजातिवदलं भगवानपीति।
एवापि तत्र निवसन्निितिशब्द जातं व्याख्येयमेवमिह नान्वयिताऽन्यथा तु॥ ४॥ (विशेषकम्)

यत्रर्षिस्त्रीप्रसादोऽभूत् तत्रैवेत्यादियोजनम्। कुर्वन्त्येके व्रजेत्वन्ये प्राहुस्तत्र सदीच्यताम्॥ ५॥

शक्तोऽस्म्यहं मदधियं परिहर्तुमस्येत्येतद्विबोधजितुमास तदा बलाढ्यः।
सर्वेन्द्रियेष्वधिबलं मदधीनमेवेत्येतद्विवेक्तुमथवा बलदेवयुक्तः॥ ६॥

मदध्वंसमस्याध्वरप्राप्तिमद्रेस्तदुद्धारतस्त्राणमप्यात्मभाजाम्।
करिष्येऽहमत्रात्मयोगेन कृत्स्नमिनिशस्तदासीत् ससङ्कर्षणो वा॥ ७॥

तदभिज्ञ इति : १०.२४.२.

इन्द्रोद्देश्यकमध्वरं व्रजजनैरारब्धमन्तर्विदन्नप्यज्ञानिवदच्युतः प्रवयसो गोपानपृच्छत्तदा।
तद्बीजंत्विदमस्मि सर्वविदपि श्रुत्वैव हार्दाशयं स्वानां तद्वचनैर्भवाम्यविरतं भव्याधरागेष्टकृत्॥ ८॥

कृष्णप्रिया

निरोध लीला का तामस प्रकरण का यह तीसरा अध्याय है। इस अध्याय में भगवान के तृतीय भग यशः का निरूपण किया जायगा। जब-जब व्रज भक्त भगवान से विमुख होते थे और अन्याश्रय करने लगते थे तब तब भगवान् मधुर शिक्षा देकर, व्रज-भक्तों को स्वाभिमुख करते थे। कुमारिकाओं को शिक्षा देने के लिये उनके चिर उठा लिये एवं ऋषियों को ज्ञान देने के लिये उनकी स्त्रियों से भोजनार्थ सामग्री मंगवा ली थी। अब इस अध्याय में देवों को शिक्षा देने के लिये उनकी हवि बन्द कर दी, क्योंकि ये देव लोग हविष्य में ही प्रतिष्ठित हैं। इस अध्याय में ३८ श्लोक है। प्रथम तामस कुमारिकाओं का उद्धार कर, पुनः राजस ऋषि जनों का उद्धार कर अब सात्त्विक देवों का उद्धार करने के लिये इन्द्रयाग का प्रतिषेध करेंगे। श्रीशुक मुनि ने कहा—राजन् परीक्षित्! श्रीबलभद्र जी के साथ व्रज में विराजते हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी ने एक दिन श्रीनन्द राय जी के साथ गोपों को इन्द्र याग करने का उद्योग करते देखा॥ १॥ राजन्! भगवान तो सर्वज्ञ सबके अन्तर्यामी और सर्व की आत्मा है। पुरुषोत्तम से कोई वस्तु अज्ञात नहीं। आप सर्व जानते हैं, फिर भी नन्दादि वृद्ध गोपों से नम्रतापूर्वक भगवान् पूछने लगे॥ २॥ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने कहा कि–हे पूज्य पितृचरण! आप कृपया बताओ तो सही, कि आप सर्व, किस विषय की अपूर्व तैयारी कर रहे हैं! कौन सा महोत्सव प्राप्त हुआ है। इस यज्ञ का फल क्या होगा? पुनः किस उद्देश्य को लेकर यह क्या किया जा रहा है और कौन सी सामग्रियों से यह यज्ञ सम्पन्न होगा?॥ ३॥ पूज्य पितृचरण! आप सब कुछ मुझसे कहिये! मेरा मन सुनने के लिये अत्यंत उत्कंठित है मुझे तो इस यज्ञ के विषय में कोई बात गोप्य जान नहीं पड़ती। पुनः सज्जन जन तो सबके हृदय ही होते हैं। इसलिये उनका यहाँ कुछ कर्त्तव्य ही नहीं होता॥ ४॥

'अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोदास्तविद्विषाम्[२] । उदासीनोऽरिवद् वर्ज्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥ ५ ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति[३] । विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत् ॥ ६ ॥
तत्र तावत् क्रियायोगो[४] भवतां किं विचारितः । अथवा लौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥

नन्द उवाच[५]

पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः । तेऽभिवर्षन्ति भूतानां [६]प्रीणनं जीवनं पयः ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अस्त स्वपर दृष्टीनाम् अमित्र उदास्त विद्विषाम् उदासीनः अरिवद् वर्ज्यः सुहृद् आत्मवद् उच्यते ॥५॥ अयं जनः ज्ञात्वा च अज्ञात्वा कर्माणि अनुतिष्ठति, विदुषः यथा कर्मसिद्धिः स्यात् तथा अविदुषः न भवेत् ॥ ६ ॥ तत्र तावत् भवताम् विचारितः क्रियायोगः किं वैदिकः अथ किं लौकिकः तत् पृच्छतः मा साधु भण्यताम् ॥ ७ ॥ पर्जन्यः भगवान् इन्द्रः मेघाः तस्य आत्ममूर्तयः ते भूतानाम् प्रीणनम् जीवनम् पयः अभिवर्षन्ति ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अत एव न विद्यते स्वः पर इति दृष्टिर्येषामिति स्वपरदृष्ट्यभावादेव तत्तद्भेदा अमित्रादयोऽपि तेषां न संतीत्याह। अमित्रेति। न मित्रमुदास्त उदासीनो विद्विड् येषां तेषां कृत्यं सर्वं कर्म नैव गोपनीयं किंचिदस्तीत्यर्थः। सत्यपि भेददर्शने उदासीनः शत्रुवद्वर्ज्यं आत्मतुल्यत्वात्सुहृन्मंत्रेषु न वर्जनीय इत्याह। उदासीन इति ॥ ५ ॥ किं च सुहृद्भिः सह विचार्य ज्ञात्वैव कर्म कर्तव्यं न तु गतानुगतिकत्वमात्रेणेत्याह। ज्ञात्वेति। अज्ञात्वा च तत्र विदुषो यथा तत्कर्मफलं स्यात्तथा नाविदुषः ॥ ६ ॥ भवतामयं क्रियायोगः शास्त्रतोऽपि किं विचारितः प्रवृत्तो लौकिक आचारप्राप्तो वेति साधु सोपपत्तिकं भण्यतां कथ्यतामिति ॥ ७ ॥ आचार प्राप्त एवेति सहेतुकमाह। पर्जन्य इति। आत्ममूर्तयः प्रियमूर्तयः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अत एव सर्वात्मत्वादेव। तद्भेदाः स्वपरदृष्टिभेदाः। स्वदृष्टिभेदः शत्रुः, परदृष्टिभेदो मित्रम्, उभयदृष्टिभेद उदासीनः। इत्यर्थ इति। गोप्यकरणे साधुत्वमेव भज्येतेत्यर्थः। उपकर्त्ता मित्रम्, अपकर्त्ता शत्रुः, उभयहीन उदासीनः। यद्यपि साधूनां वस्तुतो भेददर्शनं नास्ति तथापि यथाकथंचित्सत्यपि शत्रुर्यथापकारित्वेन वर्ज्यस्तथोदासीनोप्युपकारित्वाभावाद्वर्ज्य एव ॥ ५ ॥ विचार्यकरणे फलमाह—किञ्चेति। गतानुगतिकमात्रेण पारंपर्यागतत्वमात्रेण। विदुषः विचार्य कर्त्तुः। अविदुषः पूर्णफलं न स्यादंगादिवैगुण्याद्यज्ञानादित्यर्थः ॥ ६ ॥ तत्र देवकर्मणां मध्ये ज्ञात्वा करणे वा। किमिति प्रश्ने। सोपपत्तिकं हेतुसहितम्। तावत् प्रथमम्। क्रियायोगः अनुष्ठानप्रकारः ॥ ७ ॥ पर्जन्यः वर्षणशीलः। ननु वर्षणशीलास्तु मेघा नेंद्र इत्याह - मेघा इति। प्रिय-मूर्त्तयः आत्मा देहो यथा प्रेष्ठस्तथा तन्मूर्त्तयो मेघा अपीति भावः। ततस्तन्मघः किं प्रयोजनमतआह—ते मेघाः। प्राणनम् चेष्टा-करणम्। जीवनम् शरीराप्यायनम्। 'पयः स्यात्क्षीरनीरयोः' इति विश्वः। पयः जलम् ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अज्ञात्वा च दृष्टपरम्परयेत्यर्थः। कर्माणि दृष्टादृष्टफलानि कृष्यादियागादीनि यथा यथावत् ॥ ६ ॥ तत्र तेषु कर्मसु क्रियायोग इदमदृष्टफलं कर्म भवतां किं खलु विचारितः शास्त्रैकप्रमाणत्वात्तद्विचारप्राप्तः किमथवा लोकपरम्परयैव प्राप्त इति साधुसोपपत्तिकं भण्यतां तावदिति प्रश्नान्तरं पश्चात् कर्त्तव्यमित्यर्थः। अनेन तत्तदभिज्ञत्वमपि सूचितं निजोक्तिग्रहणाय ॥ ७ ॥ पर्जन्यो वृष्टिद्वारा भगवान् ईश्वर इति भक्तिविशेषेण प्रीणनं सन्तर्पकं जीवनं मृतप्रायाणां तृणादीनां प्राणदम् ॥ ८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु निजकृत्यं नहि सर्वत्र प्रकाशयितुं युज्यते, तत्राह—नहीति सार्द्धेन। साधूनामिति तेषां विकर्म्मस्वप्रवृत्त्या गोप्यत्वा-भावात् साधूनामेव लक्षणं सर्वात्मनामित्यादि विशेषणत्रयेण, अतस्तत्तल्लक्षणवद्भिर्भवद्भिर्न गोपयितुं युज्यत इति भावः। तत्रापि इह गोकुले सर्वेषामेवात्रत्यानां वैष्णवप्रवरत्वेन खललोकाभावात्। यद्वा, ननु साधुभिरपि धर्म्मो गोप्यत एव, तत्राह—सर्वात्मनां सर्व्वात्मदृष्टीनाम्। तल्लक्षणमेवाह—अस्वपरेत्यादिविशेषणद्वयेन। ननु निजहितार्थं देवतार्थं देवताराधकानां कुतः सर्वात्मता

१. अस्त–चोर ; अस्त्य–श्रीधर. वंशी. जीव. विज. विश्व. शुक. मु. ध. रा. । २. अमित्रोदास–विज. । ३. तिष्ठत्वे–विज. ४. यो भवता किं विचारितः–विज. । ५. नन्दगोप–प्रा. पा. । ६. प्री–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. रा. शु. मु. ध. ; प्राणसं–व. पु. टी. ।

युक्ता ? अतोऽस्वपरदृष्टित्वादिकञ्च नास्त्येवेति । भवतु, तथापि मयि गोपयितुं न युज्यत इत्याह—उदासीन इति । वर्ज्यः मंत्रभंगभयात्; अहन्तु सुहृदतो न वर्ज्यं इति भावः ॥ ५ ॥ ननु सत्यं प्राणाधिकः सुहृद्भवान्, किन्तु बालोऽसि, मंत्रेषु न योग्यस्तत्राह—ज्ञात्वेति । अज्ञात्वा च दृष्टपरस्परयेत्यर्थः । यथा यथावत् यादृशीति वा, उभयथाप्यज्ञस्य स्वल्पफलं सूच्यते, तदभावे च सत्कर्म्मसु श्रमस्य वैयर्थ्यापत्तेः । ननु 'वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः' इति न्यायेन मयापि सह विचार्य्य कर्त्तुं युज्यत इति भावः ॥ ६ ॥ ननु पूर्व्वपूर्व्वतरैरस्मदीयैरन्यैश्चायं यागः प्रवर्त्तितोऽतीत्यधुना किं तत्र विचारणेन ? सत्यम्, त एव कथं प्रवृत्ता इति पृच्छति—तत्रेति । तस्यां कर्मसिद्धौ, यद्वा, तयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्विचारितः शास्त्रविचारसिद्ध इत्यर्थः । यदि शास्त्रीयस्तर्हि शास्त्रन्यायेनैव, यदि च लौकिकस्तर्हि लौकिकन्यायेनैव परिहार्य्य इति भावः । अनेन तत्त्वाभिज्ञत्वञ्च सूचितम् निजोक्तिग्राहणाय साधु सोपपत्तिकं यथा स्यात् ॥ ७ ॥ पर्ज्जन्यो वृष्टिद्वारा जगत्पालनाय वृष्टिकारकः, भगवान् ईश्वर इति भक्तिविशेषेण प्रीणनं सन्तर्पकं जीवनं मृतप्रायाणां तृणादीनां प्राणदम्, उद्भवादिकत्वात् ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अस्तस्वपरदृष्टीनां स्वपराभिमतदेहेषु आत्मदृष्टिरहितानाम् अमित्रोहास्तविद्विषां मित्रोदासीनशत्रु रहितानाम् उदासीनोऽरिवद्वर्ज्यः हिताहितश्रवणानर्हत्वात् शत्रु तुल्य इत्यर्थः ॥ ५-६ ॥ क्रियायोगः शास्त्रीयः ॥ ७ ॥ पर्जन्यो वर्षाधिदेवतेति इन्द्र एव विशेष्यः ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अस्तस्वपरदृष्टीनामस्तारहितास्वपरेषु स्वपराभिमतदेहेषु दृष्टिर्युष्मदस्मदर्शनं येषां देहात्मनोर्याथात्म्यज्ञानामित्यर्थः । अत एव मित्रोदासीनशत्रु रहितानां नहि समदर्शिनां गोप्यमस्तीति भावः । विषमदर्शिनामपि सुहृद्विषये न गोप्यमस्तीत्याह—उदासीन इति । अरिवदुदासीनोपि वर्ज्य एव अनेनोदासीनामित्रयोर्गोप्यश्रवणप्रतिषेध उक्तः सुहृत्त्वात्मवत् स्वतुल्य उच्यते अतः सुहृदहं श्रोतुं योग्य एवेति भावः ॥ ५ ॥ किञ्च सुहृद्भिः सह ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्विचार्यैवायं लौकिको जनः कर्माण्यनुतिष्ठतीति लोकपरिपाटी प्रदर्श्यते गतानुगतमात्रेणानुष्ठाने त्वन्धपरंपराप्रसङ्ग इति भावः । किञ्च यथा विदुषः कर्मसिद्धिर्नाविदुषस्तथाभवेत् ॥ ६ ॥ तत्र वंसति भवतामयं क्रियायोगः किं विचारितः सुहृद्भिः शास्त्रतः किं विचारित इत्यर्थः । आहोस्वित् केवलं लौकिक एवाचारप्राप्त एव भ्रान्तिमूलकोप्याचारोस्तीति भावः तदेतत् पृष्टं साधु यथा भवति तथा पृच्छतो मम भण्यतां कथ्यताम् ॥ ७ ॥ आचारप्राप्त एवेति वदन् तस्य कर्त्तव्यत्वं सहेतुकमाह नन्दः—पर्जन्य इत्यादिभिश्चतुर्भिः । पर्जन्यो वर्षाभिदेवता साकेन्द्र एव यद्यपि—

"अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु । स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥

इत्यादिषु पर्जन्यः सूर्य इति प्रतीयते तथापीन्द्रशासनानुवर्त्ती मेघद्वारकं तस्य वपु कत्वमित्यविरोधः अस्त्विन्द्रः पर्जन्यः ततः किमत आह—मेघास्तस्येन्द्रस्य आत्ममूर्त्तयः स्वशरीरतुल्याः तद्वन्नियाम्य इत्यर्थः । तेच मेघा भूतानां जीवानां जीवनं प्राणधारणसाधनभूतं प्राणनमाप्याधिकं प्राणाप्यावनद्वारा तद्धारणसाधनं पयः जलं वर्षन्ति ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कथमेतदवगतमिति तत्राह—अस्तेति । निरस्तस्वकीयपरकीयबुद्धीनां शत्र्वादिसद्भावेऽयं विशेषो दुर्घट इति तत्राह, अमित्रेति । न विद्यत मित्रम् उदासीनः विद्विट् येषां ते तथा तेषां मित्रादिविशेषाभावात् स्वकीयत्वादिबुद्ध्यभावेन साधूनां गोप्यं नास्तीति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः । ननु, चेतनानां चित्तस्य प्रमितत्वेन साधूनां मित्राद्यभाववचनं कण्ठोपरिगतवदौपचारिकं परोक्षप्रिया इव हि देवाः "प्रत्यक्षद्विषः" इति श्रुतेः "षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः" इतिस्मृतेः । अतः कथं गोप्यं नास्तीत्याशङ्क्य योग्यतातिरेकेण मित्रादिकं नास्तीति तत्त्वं न तु सर्वात्मना अतो गोप्यं नास्त्येवेति शत्रुः सर्वथा वर्ज्यः मित्रविषये उदासीनोऽपि तथा तस्य शात्रौ कथनसम्भवादरिवदसुहृद्वर्ज्य आत्मवत्सुहृदवर्ज्य इत्यभिप्रायेणाह—उदासीन इति । अतस्त्वत्सुहृत्त्वाद्गोप्यमपि मह्यं ब्रूहीति भावः ॥ ५ ॥ अस्तु तव वक्तव्यम् अथाप्यस्माकं फलज्ञानाभावेऽपि सन्ध्योपासनादिवदनुष्ठानं घटत इत्याशङ्क्य सत्यं ज्ञानाभावे युष्माकं फलप्राप्तिर्न स्यादित्याह—ज्ञात्वेति कश्चित् । ज्ञात्वाऽनुतिष्ठतेकश्चिदज्ञात्वा तत्र विदुषः कर्मसिद्धिः अनुष्ठानफलं स्यात् अविदुषः कर्मानुष्ठानमजानतः पुंसः यथावत्फलं न भवेत् मन्त्रावृत्त्या द्रव्यसम्पत्त्या च ऋत्विग्गुणेन वा किञ्चित्सम्भवेऽपि पूर्णफलं न स्यादित्यर्थः । यथाऽविदुषो न स्यात् तथा विदुष इति वा ॥ ६ ॥ अस्त्वन्यत्र प्रकृते किमित तत्राह—तत्रेति । तत्र देवतानां मध्ये तावत्प्रथमं क्रियायोगाः कर्मानुष्ठानप्रकाराः लौकिकवृद्धव्यवहारादवगताः गतानुगतवद्वा ॥ ७ ॥ पर्जन्यशब्दस्य कर्मणां मध्ये ... मेघाभिमानित्वविशेषद्योतनार्थं गर्जन्मेघेपि वर्त्तनात्तद्व्यावृत्त्यर्थम् इन्द्र इति तर्हि इन्द्र इत्येवालमिति चेन्न, अस्य पर्जन्यशब्दस्य मेघाभिमानित्वविशेषद्योतनार्थं ... यथाभिमन्यमानत्वेन प्रेष्ठस्तथा मेघा अपीति भावः । मेघैः किं त्वात् तत्कथमत्राह, मेघा इति । आत्मवत् देहवन्मूर्तयः देहाः स्वदेहो

प्रयोजनं लोकस्येत्याशङ्क्य "मिह् सेचने" इति धातुनिष्पन्नमेघशब्दार्थसूचनपूर्वकं तत्प्रयोजनमाह—अभिवर्षन्तीति। प्राणनं चेष्टाकरणं जीवनं शरीराप्यायनम् अनेन प्राणशब्दविवरणं कृतं प्राणिनामिति पाठे पयसो गतेर्हेतुत्वेन यः शब्दवाच्यत्वे जलस्य "पय गतौ" इति धातोरर्थः ।। ८ ।।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नारायणसमगुणत्वात् तज्जयिदानववृन्दहननाच्चेति संशय्य तूष्णीं स्थितं प्रत्याह—उदासीन इति ।। ५ ।। कर्माणि दृष्टादृष्टफलानि ।। ६ ।। तत्रादृष्टफलः क्रियायोगो विचारितः शास्त्रद्वारा ज्ञातः ।। ७–१२ ।।

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

किञ्च, बुद्धिमदन्तरङ्गजनेन सह विचार्य्य ज्ञात्वैव कर्म कर्त्तव्यम् नतु गतानुगतिकन्यायेनेत्याह—ज्ञात्वेति। अज्ञात्वा च कर्माणि दृष्टादृष्टफलानि कृष्यादियागदीनि ।। ६ ।। विचार्य्य ज्ञात्वैव क्रियत इति चेदत आह—तत्र कर्मसु मध्ये क्रियायोगो भवता भयनदृष्टफल एव किं शास्त्रप्राप्तत्वेन विचारितः अथवा लौकिकः लोकाचारप्राप्तत्वेन ।। ७ ।। लोकाचारप्राप्त एवेति सोपपत्तिकमाह—पर्जन्य इति। प्रीणनं सन्तर्पकं जीवनं मृतप्रायाण्यपि तृणादीनि जीवयतीति तत् ।। ८ ।।

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अत एवास्वपरदृष्टीनाममित्रोदारतविद्विषाम् उक्तज्ञानाभावे तूदासीनोऽरिवच्छत्रुवद्वर्ज्यः आत्मवदुच्यते अतो न वक्तव्यमित्यर्थः ।। ५ ।। किञ्चायं कर्मनिष्ठः प्रसिद्धो जनः फलतः देवतातः साधनतश्च ज्ञात्वा कर्माणि योऽनुतिष्ठति स विद्वान् यस्त्वज्ञात्वाऽनुतिष्ठति स अविद्वान् तत्र विदुषो यथा कर्मसिद्धिस्स्यात्तथाऽविदुषो नेत्यन्वयः ।। ६ ।। तत्र भवतामयं क्रियायोगः शास्त्रतः किं तावद्विचारितः फलदेवतासाधननिर्णयेन चिन्तितोऽथवा लौकिकः लोकाचारात् एव प्राप्तः तन्मे मम साधु यथा स्यात् तथा भण्यतां कथ्यताम् ।। ७ ।। जीवनफलकः इन्द्रदेवताकस्तदुत्पाद्य द्रव्यसाध्यः लोकाचारतः एव प्राप्त इत्युत्तरमाह—पर्जन्य इति चतुर्भिः। पर्जन्यः वृष्ट्यधिष्ठात्री देवता भगवानिन्द्रः "स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते" इति सूर्यस्य पर्जन्यत्वं मेघद्वारेन्द्राज्ञयैवेति ज्ञेयम्। तस्येन्द्रस्य मेघाः आत्ममूर्त्तयः स्वनियम्यमूर्त्तयः अतस्ते मेघाः प्राणनं तृप्तिकरं जीवनं जीवनहेतुं पयोऽभिवर्षन्ति ।। ८ ।।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

ननु वयं साधवोऽपि गृहित्वाद् रहस्यं वक्तुं न शक्नुमस्तत्राह—उदित्यर्धकेन उदासीनश्चेदरिवद्वर्ज्यः अरिसाधर्म्यं चास्यारिमित्रत्वेनापचिकीर्षावत्त्वान्न त्वपकारित्वादिति बोध्यम्। अतएव "यो विपक्षः सुहृत्पक्षः स तटस्थो निगद्यते" इति लक्षणं य उदासीनस्तद्द्वयपक्षो न स्यात् स तु न वर्ज्यो नाप्युपादेय इति ज्ञेयं सुहृत्तु आत्मवद्ग्राह्यः ममत्वात्मजत्वात्तद्गोपनं नैव युक्तमिति भावः ।।५।। सुहृद्भिः सह विचार्य ज्ञात्वाऽयं जनः कर्मण्यनुतिष्ठति केचित्तु अविचार्याज्ञात्वा तत्र विदुषो यथा कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषः अतः सुहृद्भिरवश्यं विचार्यम् ।। ६ ।। भवतःमयं क्रियायोगः किं शास्त्रतो विचारितः किं वा लौकिकः कुलाचारप्राप्तः साधु सोपपत्तिकं मह्यं पुत्राय कथ्यताम् ।। ७ ।। कुलाचारप्राप्त इति सहेतुकमाह—पर्ज्जन्य इति पृपु सेचने" पर्जन्यः आत्मतुल्या मूर्त्तयो येषां ते ते यत् पयो वारि वर्षन्ति तद्भूतानां प्रीणनं सन्तर्पकं जीवनं शुष्यतां तृणादीनां जीवकं प्ररोहकम् ।।८।।

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

साधूनां साधुस्वभावोऽयमिति न गोप्यमस्तीत्याह। अस्येति। अस्वपरदृष्टीनां स्वः पर इति दृष्टिः सा न विद्यते येषां तेषां योग्यतातिरेकेण न विद्यन्ते मित्राण्युदासा उदासीना विद्विषश्च येषां तेषां साधूनां। उदासीनः कश्चिद्वर्तेत चेत्स चारिवदेव वर्जनीयः सुहृच्चात्मवदुच्यते। स्वस्मिन्यथा स्वेन न किञ्चिद्गोप्यं तथा सुहृदि सुहृद्भिर्गोप्यं नास्तीति तव सुहृत्त्वान्ममापि तत्त्वात् गोप्यं नास्तीति ब्रूहीति भावः। उदासीनस्य सर्वसमतया विमतबोधनसम्भवाद्वर्ज्यता योग्यतातिरेकेणेति पूरणेन प्रत्यक्षादिः षट्कर्णैर्भिद्यते मन्त्र इत्यादेर्गतिरुदिताऽनुसन्धेया ।। ५ ।। अस्माकमियज्ज्ञानं न किन्तु सन्ध्याद्युपास्तिर्वाल्य इवास्मभिरनुष्ठीयते तातेत्यत आह। ज्ञात्वेति। यो जनः कर्माणि ज्ञात्वा तद्देवताफलादिकं ज्ञात्वा विज्ञाय। अनुतिष्ठतीत्यपि पाठः। अनुतिष्ठति तस्य विदुषः कर्मसिद्धिः कर्मफललाभस्तथाऽज्ञात्वा कर्माणि च योऽयं जनोऽनुतिष्ठति तस्याविदुषः कर्मसिद्धिर्न भवेत् ।। ६ ।। त्वमनयोः कतर इत्यादौ वद पितरित्याह। तत्रेति। भवता क्रियायोगास्तत्र देवताद्यन्यतममध्ये विचारिताः किं ते च कर्मानुष्ठानोपाया अथवा लौकिका गतानुगतिको लोक इतिवदज्ञात्वा करणीयाः। पृच्छतो मे तत्साधु भण्यताम् ।। ७ ।। पुत्रानुयुक्तेन पित्रा क्रियकारीत्वमीरयति। नन्द इति। भगवान्पूज्यः पर्जन्यस्तच्छब्दवाच्यः पुरस्तात्तस्यात्ममूर्तय आत्मनो मूर्तयो शरीराणीव शरीराणि तदभिमन्यमानत्वात् कलेवरतुलता ते च मेघा भूतानां प्राणनं चेष्टाप्रदं जीवनं जीवनसाधनं पय उदकं पयः प्रसरज्जीवनमुदकं वाऽभिवर्षन्ति। इन्द्रः समर्थः शचीशः पर्जन्यो मेघध्वनिर्यस्तेन सहितं पयो वर्षन्ति ध्वनिं मुञ्चन्तः पयो वर्षन्तीति यावत्। पर्जन्यो मेघशब्दः स्यादिति विश्वः। अतो नेन्द्रपदातिरेकः ।। ८ ।।

श्रीसुबोधिनी

ननु 'नव गोप्यानि सर्वथे'तिशास्त्रात् कथमगोप्यमिति चेत् तत्राहास्तस्वपरदृष्टीनामिति, अस्ता गता स्वः परश्चेत्यवान्तरभेददृष्टिर्येषां, परबुद्धौ सत्यां गोप्यशास्त्रं न तु तदभावे, किञ्च न मित्रमुदासीनो विद्वेषो च येषां, तेषु बुद्धिभेदाभावात् तत्कृता मित्रोदासीनरिपवोपि न सन्ति तस्मात् सर्वत्र तुल्यबुद्धिरेव कर्तव्येत्युपदेशोपि, अथ यदि नास्मिन् ज्ञानेधिकारस्तस्मिन्नपि पक्षे द्वयी गतिः कर्तव्या त्याज्यात्याज्यभेदेन त्रिविधगतौ तु बुद्धिरतिनष्टा स्यात् सगुणापि भवेदतो द्वयमेव कर्तव्यमिति चतुर्णां भेदद्वयमेवाहोदासीन इति, आत्ममित्रोदासीनरिपव इति चतुर्धा तत्रात्मा मित्रं चैकनुवासीनोरिश्चैकोतः कार्येपुदासीनोरिवद् वर्ज्यः शत्रुवन्निराकार्यः सुहृन् मित्रं त्वात्मवदुच्यत इति प्रमाणम् ॥ ५ ॥ ननु वक्तव्यं भवति परं न ज्ञायत इति चेत् तत्राह ज्ञात्वाज्ञात्वेति, यमर्थं ज्ञात्वा जनोनुतिष्ठत्यज्ञात्वा चानुतिष्ठति तत्रापि कर्माणि वैदिकानि तत्र ज्ञानमावश्यकं, कर्माणि ज्ञात्वा तत्सम्बन्धिपदार्थोनुष्ठेयो नान्यथा, ततः किं स्यादत आह विदुषः कर्मसिद्धिः स्यादिति, यस्तु जानाति तस्यैव कर्मसिद्धिः कर्मफलं स्याद् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुतेः, 'वीर्यवत्तर'मेव फलजनकं, अथ वा सम्पूर्णं फलं ज्ञानेन भवत्यल्पं तु फलमज्ञात्वापि भवतीत्याह तथा नाविदुषो भवेदिति, अविदुषस्तथा फलं न भवेत् ॥ ६ ॥ आदौ चैतद् वक्तव्यं किमेतत् कर्म वैदिकं स्मार्तं लौकिकं वेति ? एतदभावेकर्तव्यमेवेत्याशयेनाह तत्रेति, तत्रान्यकथनापेक्षया प्रथममेतद् वक्तव्यं, अयं विचारितः क्रियायोगः किं वैदिकः स्मार्तो वाथ वा लौकिकः कुलदेशधर्म इव, एतषामवान्तरनिर्णयरूपं पृच्छतो मे साधु यथा भवति तथा भण्यतां युक्तिपूर्वकं प्रमाणपूर्वकं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥ एवं भगवता पृष्टो यादृशज्ञानेनेन्द्रयागं कृतवन्तस्तं प्रकारमाह पर्जन्य इति चतुर्भिः, हैतुकं शास्त्रमाश्रित्य भौतिकेन्द्राय लोकतः । क्रमात् परम्पराप्राप्तं कुर्वन्तीति निरूप्यते॥१॥ हेतुशास्त्रमूलत्वात् प्रथमं हेतुमाह पर्जन्यो नाम वृष्टिकर्ता देवः स भगवानेव, अन्यथा तद्रेतसान्नादिकं जायत इति भगवतो जगत्कर्तृत्वं न स्यादतः पर्जन्यो भगवानेव, मेघाः पुनस्तस्यात्मनो देहस्य मूर्तयोवयवाः, त एव हि सर्वेषामेव भूतानां प्राणनरूपमाप्यायनजनकं जीवनजनकं पयो जलं वर्षन्ति, अतः सर्वजगद्रक्षकः पर्जन्य एव, जलान्नाभ्यामेव हि जीवन्ति सर्वे प्राणिनः, अत उपकारी परमैश्वर्यं प्राप्त इन्द्र एव सर्वोपास्यः ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पर्जन्यो भगवानित्यत्र, अन्यथा तद्रेतसेत्यादि । भगवदतिरिक्तस्यैकस्याखिलजगदुत्पत्तिस्थितिहेतुत्वं न सम्भवतीत्येतत्परोऽयं ग्रन्थः ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अतस्वपरेत्यत्र द्वयी गतिरिति बुद्धेरितिशेषः, त्रिविधगताविति तथा सति संशयरूपत्वान् मनस्त्वं भवेत्, बुद्धेश्चित्तत्वे स्थितिः, बुद्धिमात्रत्वे कश्चित्कालेन नाशः मनस्त्वे तु तदैव नाश इतिबुद्धिरतिनष्टा भवेदित्यर्थः, सगुणापीति चित्तत्वे निर्गुणत्वं गतिद्वये निश्चयात्मकत्वाच् चित्तत्वं भवेदपि, तृतीयगतौ तु मनस्त्वाच् चित्तत्वसम्भावनापि नास्तीति सगुणा भवेत्, नाशसमुच्चयार्थमपिशब्दः ॥ ५ ॥ पर्जन्य इत्यस्याभासे यादृशज्ञानेनेति यत्प्रकारकज्ञानेनेत्यर्थः ॥ ८ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

पर्जन्यो भगवानिन्द्र इत्यत्र हैतुकमिति का० २१५८ । भौतिकेन्द्रायेति आधिदैविकेन्द्रस्य भगवद्बाहुरूपत्वादयमिन्द्र आधिभौतिक इत्यर्थः ॥ ८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एतदेव स्पष्टयति—अस्तेति । अस्ता निरस्ता 'स्वः पर' इति दृष्टिर्येषां तेषामित्यर्थः । पर इति दृष्ट्यभावादेव 'तद्भेदा मित्राद्योऽपि येषां न सन्ति' इत्याह—अमित्रेति । न विद्यते मित्र, उदास्त उदासीनो, विद्विट् येषां तेषामित्यर्थः । 'विपयदर्शिनामपि सुहृद्विषये कृत्यं न गोप्यम्' इत्याह—उदासीन इति । अरिवत् उदासीनोऽपि मन्त्रेषु वर्ज्यः । सुहृत् मित्रं तु आत्मवत् स्वतुल्य एवोच्यते, अतः सुहृत्त्वादहं श्रोतुं योग्य एवेत्याशयः ॥ किञ्च ज्ञात्वा सुहृद्भिः सह विचार्य तद्रहस्यं ज्ञात्वा तथा अज्ञात्वा गतानुगतमात्रेणाप्ययं जनः कर्माण्यनुतिष्ठति । तत्र यथा विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा अविदुषः फलं न भवेत् । तत्रैवं सति तावदयं क्रियायोगोपायो भवतां किं सुहृद्भिः सह शास्त्रतो विचारितः, अथवा लौकिकः लोकव्यवहारत एव प्राप्तस्तदेतत् पृच्छतो मम साधु सत्यं भण्यताम् ॥५–७॥ आचारप्राप्त एव, तथापि तस्य कर्तव्यत्वं सहेतुकमाह–पर्जन्य इति । भगवान् इन्द्रः पर्जन्यो वर्षाधिपतिः, यतो मेघास्तस्येन्द्रस्यात्मवत्प्रियस्वरूपाः । ते भूतानां प्रीणनमाप्यायनकरं जीवनकरं च पयो जलमभिवर्षन्ति । नच 'अष्टौ मासान्निपीतं यत्' इत्यत्र 'कथं सूर्यस्य वृष्टिकर्तृत्वमिति' शङ्क्यम्, सूर्यरश्मिविशेषाणामेव मेघत्वात् तेषां चाधिष्ठातेन्द्र इति न विरोधः । तदुक्तं वैष्णवे—"भौममेतत्पयो दुग्धं गोभिः सूर्यस्य वारिदैः ॥ पर्जन्यः सर्वलोकस्य भवाय भुवि वर्षति" इति ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नहीति सार्द्धम् ॥ हि यस्मात् इह सर्वात्मनां सर्वत्रात्मदर्शिनाम् अविद्यमाना सः पर इति दृष्टिर्येषामतो न विद्यन्ते मित्राणि उदास्ताः उदासीनाः । इडभाव आर्षः । विद्विपश्च येषां तेषां साधूनां कृत्यं गोप्यं नहि अस्ति । नहीत्येकं पदं निषेधे तथापि मन्त्रकार्ये उदासीनो जनः अरिवत् वर्ज्यः मन्त्रभङ्गभयात् । यद्वा । यः अरिवत् अरिणा तुल्यः उदासीनः सोऽपि वर्ज्यः । यस्तु उदासीनो नारिणा तुल्यो न सुहृत्तुल्यः स तु न वर्ज्यो नाप्युपादेयः । अत एवासौ नोट्टङ्कितः सुहृत्तु आत्मवदुच्यते । अहं तु पुत्रत्वात्सुहृदपेक्षयाऽप्यन्तरङ्गः ॥ ५ ॥ ज्ञात्वेति ॥ तत्र अयं कश्चिज्जनः ज्ञात्वा सम्यग्विचार्य कर्माण्यनुतिष्ठति । कश्चिच्च अज्ञात्वैव गतानुगतिकत्वमात्रेणानुतिष्ठति । तत्र यथा विदुषः कर्मसिद्धिः फलं स्यात्तथा अविदुषः क्वचित् फलं न भवेत् ॥ ६ ॥ तत्रेति तत्र विषयेऽयं भवतां क्रियारूपो योग उपायः किं सुहृद्भिः सह शास्त्रतो विचारितः अथवा लौकिकः लोकव्यवहारत एव प्राप्तस्तदेतत्पृच्छतो मम साधु सोपपत्तिकं भण्यतां कथ्यताम् ॥ ७ ॥ आचारप्राप्त इत्याह—पर्जन्य इति ॥ भगवान् इन्द्रः पर्जन्यो वर्षाधिपतिः यतो मेघास्तस्येन्द्रस्यात्मवत्प्रिया मूर्त्तयः स्वरूपाणि ते भूतानां प्रीणनमाप्यायनकरं जीवनकरं च पयो जलमभिवर्षन्ति ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ज्ञाने प्रयोजनमाह साधुनामपि उदासीनः अरिवच्छत्रुवद्वर्ज्यस्त्याज्यः सुहृन्मित्रमात्मवद्ग्राह्य उच्यते अरिस्तुत्याज्य एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥ अतो मित्रैः सह विचार्य कर्मकर्त्तव्यं नान्यथेत्याह ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च । अनुतिष्ठति करोति तत्र विदुषः सच्छास्त्रोदितकर्मणां कर्त्तव्यता प्रकारे फलं च ज्ञातुः यथा कर्मणां सिद्धिः फलं स्यात् अविदुस्तथा फलं स्यात् अविदुषस्तथा फलम् ॥ ६ ॥ भवतो अर्थक्रियायोगः भवद्भिः शास्त्रेण विचारितः किं वा लौकिको लोकरुढ्नाज्ञातः तदेतत् पृच्छतः मे साधुसाम्यक् यथा तथा भण्यतां कथ्यतां ॥ ७ ॥ सप्रयोजनं तमाह पर्ज्जन्य इति आत्ममूर्त्तयः तदधीनत्वात्तद्रूपाः प्राणनं तृप्तिकरं जीवनं जीवनकरम् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

किं च यद्यत् कर्त्तव्यं भवेत्तत्तत् स्वसुहृद्भिः सह विचार्य ज्ञात्वैव कर्त्तव्यं, न तु गतानुगतिकमात्रेणेत्याह ॥ ज्ञात्वेति ॥ सुहृद्भिः सहेति शेषः । ज्ञात्वा ज्ञात्वा पुनः पुनर्विचार्यैव, अयं जनः, कर्माणि अनुतिष्ठति, गतानुगतिमात्रेणानुष्ठाने त्वन्धपरंपराप्रसङ्ग इति भावः । किं च यथा विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्, तथा अविदुषः, न भवेत् । 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत ह्यकुर्वाणो विनश्यति' इति मार्कण्डेयपुराणोक्तेः ॥ ५ ॥ तत्रेति ॥ तत्र तावदेवं सतीत्यर्थः । भवतां, भवद्भिरित्यर्थः । अयं क्रियायोगः, किं विचारितः । सुहृद्भिः शास्त्रतश्च विचारितोऽस्ति किमित्यर्थः । अथवा आहोस्वित्, लौकिकः केवललोकपरिपाटीप्राप्त एवास्तीत्यर्थः । लोके भ्रान्तिमूलकोऽप्याचारः प्रवर्त्तते इति भावः । तदेतत्, साधु स्पष्टं यथा भवति तथा, पृच्छतः मे मम, भण्यताम् ॥ ६ ॥ आचारप्राप्त एवेति वदन् तस्य कर्त्तव्यत्वं सहेतुकमाह नन्दः पर्जन्य इत्यादिभिश्चतुर्भिः ॥ पर्जन्य इति ॥ भगवान् इन्द्रः, पर्जन्यो वर्षाधिदेवता, यद्यपि 'अष्टौ मासान्निपीतं यद्भूम्याश्चोदमयं वसु । स्वगोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते' इत्यादिषु पर्जन्यः सूर्य इति प्रतीयते, तथापीन्द्रशासनानुवर्त्तिमेघद्वारकं तस्य वपु कत्वमित्यविरोधः । मेघाः, तस्य आत्ममूर्त्तयः प्रियमूर्त्तीभूताः, ते मेघाः, भूतानां प्राणनमाप्यायनं जीवनं च पयः, अभिवर्षन्ति ॥ ७ ॥ अस्त्विन्द्रः पर्जन्य, ततः किमत आह ॥ तमिति ॥ हे तात अनुकम्पवामुचां मेघानां, पतिं पालकं, ईश्वरं नियन्तारं च, तमिन्द्रं वयस्मत्प्रभृतयः, अन्ये च नराः, तद्रेतसा तस्येन्द्रस्य रेतःस्थानीयेन जलेनेत्यर्थः । सिद्धैर्निष्पत्तिं प्राप्तैः, द्रव्यैर्द्रव्यसाधनकैः क्रतुभिर्यज्ञैः, यजन्ते ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अस्तीति १०.२४.५.

येर्नाज्ञायि मनाक् सुहृद्द्विषदुदासीनत्वभेदोऽवनौ तेषामन्यहितार्थकं समदृशां गोप्यं न किंचित् क्वचित् ।
गोपानेवमुपादिशस्तदुचितं स्वात्माऽप्युपादिश्यताम् यो ह्यस्मद्धितकृत्कृपाप्रकटने श्रीशालसः सम्प्रति ॥ ९ ॥

पर्जन्य इति : १०.२४.८.

दृष्टादृष्टफलप्रदर्शकतया द्वेधा गतिः कर्मणां प्रायस्तत्र कलौ तु कर्मणि जनोऽश्रद्धालुरामुष्मिके ।
श्रद्धालुश्च भवेददीर्घहितदृक् सद्यःफले कर्मणीत्येतद् व्यक्तमभूदुपस्थितमखस्यात्राप्फलोत्कर्तनात् ॥ १० ॥

कृष्णप्रिया

पिताजी ! संतजन सर्व को अपने समान देखते है, सबको अपनी आत्मा समझते हैं, इसलिये इनको अपने पराये का भेदज्ञान नहीं होता, इनके हृदय में यह मित्र है और यह शत्रु है ऐसा भाव नहीं है। उन्हें संतजनों ने उदासीन का शत्रु की नाईं त्याग कर देना चाहिये एवं मित्र को अपनी आत्मा की तरह मानना चाहिये, ऐसा कहा गया है ॥५॥ पिताजी ! इस संसार

में प्रायः प्रत्येक मनुष्य, जानकर अथवा अज्ञान से ऐसे दो प्रकार से धर्मकर्मों का अनुष्ठान करते हैं; इनमें ज्ञानपूर्वक कर्म करने वाले विद्वान् को कर्म के फलों की अवश्य प्राप्ति होती है, अविद्वान को कर्मफल मिलता नहीं और मिलता भी है तो अल्प ही मिलता है ॥ ६ ॥ अब पिताजी ! आप आप्त जनों के साथ जो याग-कर्म कलाप करने जा रहे हैं वह याग वैदिक है ! या स्मार्त्त है ! अथवा तो केवल लौकिक है । नम्रतापूर्वक मेरा निवेदन है कि मेरी इस विषय की जिज्ञासा की आप पूर्ति कीजिये ॥ ७ ॥ श्रीनन्दबाबा ने कहा—सुनो प्यारे कृष्ण ! "पर्जन्य" वृष्टि करने वाला देव इन्द्र ही भगवान् है, और सारे मेघ उनके शरीर के अङ्ग हैं । वे प्राणियों को तुष्टि करने वाले एवं पुष्टि करने वाले और सर्व को जीवन देने वाले जल को वरसाते हैं !! ८ ॥

[1]तत्तात वयमन्ये च वार्मुचां पतिमीश्वरम् । द्रव्यैस्तद्रेतसा सिद्धैर्यजन्ति[2] क्रतुभिर्नराः ॥ ९ ॥
तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे । पुंसः[3] पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥ १० ॥
य एवं[4] विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः। कामाल्लोभाद्भयाद्द्वेषाद् स वै नाप्नोति शोभनम् ॥११॥

श्रीशुक[5] उवाच

वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां [6]व्रजौकसाम् । इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥ १२ ॥

कर्वमक्षमा

अन्वयः –तत् तात ! वयम् च अन्ये नराः, वार् मुचाम् पतिम् ईश्वरम् तद् रेतसा सिद्धैः द्रव्यैः क्रतुभिः यजन्ति ।९। तत् शेषेण त्रिवर्गफलहेतवे उपजीवन्ति,- पुंसः पुरुषकाराणाम् पर्जन्यः फलभावनः ॥ १० ॥ यः नरः एवम् पारंपर्य्यागतम् धर्मं कामात् लोभात् भयात् द्वेषात् विसृजेत् सः वै शोभनम् न आप्नोति ॥ ११ ॥ नन्दस्य अन्येषाम् व्रजौकसाम् वचः, निशम्य केशवः इन्द्राय मन्युम् जनयन् पितरम् प्राह ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततः किमित्यत आह । तमिति । तमिंद्रं वार्मुचां मेघानां पतिं स्वामिनमीश्वरं नियंतारम् । तद्रेतसा तद्वृष्टिपयसा ॥ ९ ॥ उपजीवंत्युपजीविकां कल्पयंति धर्मार्थकामसिद्धये । ननु कृष्यादिभिर्जीवंति किमिंद्रेण तत्राह । पुंसामिति । फलभावनः फलसाधकः । पर्जन्यं विना कृष्यादिवैफल्यादित्यर्थः ॥ १०–११ ॥ इंद्राय मन्युं जनयन्निति कोपजननद्वारा गर्वपर्वतादिंद्रमवतारयितुं देवता-निराकरणं न त्वयमेवाभिप्राय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

रेतोवत्क्षरणशीलत्वाद्रेतो जलम् । तात प्रिय 'ततोऽनुकंप्ये जनके' इति मेदिनी । तत एव तातस्तत्संबुद्धौ । तथा तादृश-पूज्यदेवानुग्रहत एव त्वमेतादृशः पुत्रो लब्धोऽस्यतस्तत्पूजाप्रत्याख्यानं नोचितं तवेत्याह—तातेति ॥ ९ ॥ तच्छेषेण यज्ञावशिष्टेन । आशंकते—नन्विति । तत्र आक्षेपे । पुरुषकाराणामपराक्रमसिद्धकर्मणाम् । इत्यर्थ इति । विना वृष्टिं तृणान्नाद्यसिद्धेः कोऽपि पुरुषार्थ आहारं विना न सिध्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥ विपक्षे बाधकमाह—कामात् दुर्विषयाभिलाषात् । लोभात् धनव्ययशंकया । भयात् राजादिभयतः । द्वेषात् देवेषु व्यर्थविरोधात् । स नरः ॥ ११ ॥ वचः इंद्रयागविषयम् । अयमेव देवतानिराकरणरूपः । इत्यर्थ इति । सात्त्विकत्वाद्देवानां गर्वरूपराजसधर्मे प्रवृत्तिं बाधयितुमिति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तातेति सलालनं निजोक्तौ श्रद्धार्थं तदर्थाऽवगमार्थं च वयं गोपालनार्थं केवलं वयमेव किन्तु अन्ये च नराः सर्वे । ननु, "सूर्यः स्वरश्मिभिर्भौमं रसमाकृष्य वर्षति" इत्यादिवचनात् सूर्याद्वृष्टिः प्रसिद्धा तत्राह – वार्मुचां मेघानां पतिं मेघरूपाणां सूर्यरश्मीनामपि स एवेश्वर इत्यर्थः । तथा च श्रीविष्णुपुराणे "भौममेतत्पयोदुग्धं गोभिः सूर्यस्य वारिदैः । पर्जन्यः सर्वलोकस्य मवाय भुवि वर्षति" इति कुतः ईश्वरः देवेन्द्रत्वादित्यर्थः । अन्यथा भयमुत्पादयेदपीति भावः । यद्वा, वैष्णवप्रवराणां भवतां नान्य-देव पूजा युक्ता तत्राह—ईश्वरम् अन्तर्यामिदृष्ट्य वेत्यर्थः । अन्यत्समानं तद्रेतसा सिद्धैरिति तत्त्वतस्तेष्वस्माकं स्वाम्याभावेनादौ तैस्तत्पूजैव युक्तेति भावः । अन्यथा अकृतज्ञत्वादिदोषप्रसक्तेः यजन्त इति प्रथमपुरुषत्वमापं यजामः एवमग्रे चोपजीवन्तीति । यद्वा, पुत्राभिप्रायज्ञानेन तद्वागुल्लङ्घनभवान्निजदोषपरिहारार्थमन्येषां प्राधान्यविवक्षया तैः सह विशेषसम्बन्धेन प्रथमपुरुषत्वम् ॥ ९ ॥

१. तत्तात–विज. ; तं–श्रीधर. वंशी. जी. वीर. विश्व. रा. ध. शु. सु. । २. न्ते–श्रीधर. वंशी. जी. वीर. विज. विश्व. शु. सु. ध. रा । ३. पुंसा–श्रीधर. वंशी. जी. वीर. विज. विश्व. शु. सु. ध. रा. । ४. एनं–वीर. । ५. बादरायणि–प्रा. पा. । ६. वनो–वीर. ।

ननु, तर्हि तैरस्माकं को नामोपकारः? तत्राह—तच्क्षेपेणेति। त्रिवर्गः धर्मार्थकामाः स एव फलं तस्य हेतवे सिध्यर्थम् एवं दृष्टा-दृष्टफलहेतुतोक्ता पुंसामिति तैर्व्याख्यातम् यद्वा, ननु पुरुषप्रयत्नैर्द्धर्मादिकं सेत्स्यति तत्राह—पुंसामिति। देवताप्रसादेनैव धर्मादि-सिद्धेः पर्जन्यस्य च देवराजत्वादिति भावः पुरुषकाराणाम् उद्यमानाम् ॥१०॥ व्यतिरेके दोषमप्याह–इति। कामात् अदृष्टविषयात् द्वेषात् देवताविषयात् तदुपासकविषयाद्वा भयात् विरोधिजनहेतुकात् लोभात् दृष्टविषयात् वा शब्दोऽत्राध्याहार्यः शोभनं नाप्नोति इहामुत्र च तस्य क्षेमं न स्यादित्यर्थः। अत्रैषां श्रीव्रजवासिनां त्रिवर्गलिप्सा तद्दोषजिहीर्षा च श्रीकृष्णैकनिवन्धनेति प्रतिपादितमेव ततः सर्वसद्वासनाशिरोमणितामेव धत्त इति विवेचनीयम् ॥ ११ ॥ तथान्येषां व्रजौकसां वचो निशम्येति तेऽपि स्वयं श्रीनन्देनैव प्रमाणिता वा तथैवोचुरिति इन्द्राय मन्युं जनयन्निति तस्य वहिरङ्गत्वमनादरणीयत्वं च ज्ञापितं पितरमिति अस्य परमान्तरङ्गत्वं परमादरणीयत्वं च व्यञ्जितं को ब्रह्मा ईशो रुद्रस्तौ वयते निजमहिम्ना व्याप्नोतीति कस्तत्र वराकः इन्द्र इति वोधयति ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तातेति सलालनं सम्बोधनं निजोक्तौ श्रद्धार्थम्, यद्वा, तदर्थावगमार्थम्, वयं गोपा न च गोपालनार्थं केवलं वयमेव, किन्तु अन्ये च नराः सर्व्वे। ननु 'सूर्य्यः स्वरश्मिभिर्भौमं रसमाकृष्य वर्षति' इत्यादिवचनात् सूर्य्याद्वृष्टिः प्रसिद्धा, तत्राह—वामुचां मेघानां पतिमेघरूपाणां सूर्य्यरश्मीनामपि स एवेश्वर इत्यर्थः। तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।१०।२३)—'भौममेतत् पयो दुग्धं गोभिः सूर्य्यस्य वारिदैः। पर्ज्जन्यः सर्व्वलोकस्य भवाय भुवि वर्षति ॥' इति। कुतः? ईश्वरो देवेन्द्रत्वादित्यर्थः। यद्वा, ननु तर्हि मेघा एव पूज्यन्ताम्, तत्राह—वामुचां पतिं वृष्ट्यादिशक्तिप्रदानेन पालकमीश्वरञ्च, अनावृष्ट्यतिवृष्ट्याचरणे शास्तारम्, अतः स एव पूजार्ह इति भावः। यद्वा, पतिं प्रभुमीश्वरमिति, अन्यथा क्रोधेनास्माकं भयमुत्पादयेदपीति भावः। यद्वा, वैष्णव-प्रवराणां भवतां नान्यदेवपूजा युक्ता, तत्राह–ईश्वरं भगवद्दृष्ट्यैव तदीयत्वेनैव वा ईश्वरवुद्ध्याच्चर्यत इत्यर्थः। अन्यत् समानम्। द्रव्यैर्दुग्धादिभिः, तद्रेतसा तद्वृष्टिपयसा, तच्छक्त्यैव वा सिद्धैरिति, तत्त्वतस्तेष्वस्माकं स्वाम्याभावेनादौ तैस्तत्पूजैव युक्तेति भावः; अन्यथा अकृतज्ञत्वादिदोषप्रसक्तेः; यजन्त इति प्रथमपुरुषत्वमार्षम्। यजामः, एवमग्रे चोपजीवन्तीति; यद्वा, पुत्राभिप्राय-ज्ञानेन तद्वागुल्लङ्घन–भयान्निजदोषपरिहारार्थमन्येषां प्राधान्यविवक्षया तैः सह विशेषसम्वन्धेन प्रथमपुरुषत्वम्, क्रतुभिर्विविधै-र्यज्ञैरिन्द्रध्वजोत्थापनादिकर्मभिर्वा ॥ ९ ॥ ननु तर्हि तैरस्माकं को नामोपकारः? तत्राह—तच्छेषेणेति। त्रिवर्गो धर्म्मकामार्थाः, स एव फलं तस्य हेतवे सिद्ध्यर्थम्, मुक्तिभक्त्याद्यनुक्तिस्तच्छेषोपजीवनेन तदसिद्धेः; यद्वा, फलं भक्तिः, अन्यथोपजीवनस्य वैयर्थ्यात्, मोक्षस्यानुक्तिः प्रायो भक्तिविघ्नत्वेन वैष्णवप्रवराणां तेषां तदनादरात्, एवं दृष्टादृष्टफलहेतुतोक्ता, पुंसामिति तैर्व्या-ख्यातमेव; यद्वा, ननु पुरुषप्रयत्नैर्धर्मादिकं सेत्स्यति, तत्राह—पुंसामिति। देवतानुग्रहं विना पुरुषप्रयत्नानां वैयर्थ्यापत्तेर्विघ्नो-पस्थितेश्च, किंवा वृष्टिं विना न द्रव्यसिद्धिः, तां विना च न जीविका, ताञ्च विना वलाद्यभावेन न पौरुषम्, तद्विना तु न धर्मादि-कमितीन्द्रः पूज्य एवेति भावः ॥ १० ॥ ननु केवलमेतद्दृष्टविचारत एव, न तु शास्त्रतः। तस्याप्यस्वातन्त्र्यात् फलदानाशक्तेश्च; यद्वा, गोपालनादस्माकं स्वयमेव धर्म्मादिकं सिध्येत्, गवाञ्च सदा शाद्वलादियुक्ते श्रीवृन्दावने सुखचार एवेति, किमिन्द्रेण? यद्वा, भगवति दृढविश्वस्तानां नान्यापेक्षा युक्ता, सत्यम्, तथापि पूर्व्वपूर्वाचरितं कथञ्चिदपि त्यक्तुं नोपयुज्यत इत्याह—य इति। कामात् धनरक्षणालाभात्, कर्म्मान्तरेण फलान्तरेप्सातो वा, द्वेषात् अनावृष्ट्यादिनेन्द्रेऽनादरात् तद्भक्तजनैः सह द्वेषोदयाद्वा, भयात् देवतान्तरपूजया वैष्णवधर्महानेः, धनव्ययाद्वा वाक्याप्रतिपालनेन प्रियमान्यजनाद्वा द्रव्येषु प्रतिष्ठादिषु वा लोभात्, वाशब्दोऽत्रा-ध्याहार्य्यः। शोभनं नाप्नोति इहामुत्र च तस्य क्षेमं न स्यादित्यर्थः। तत्र हेतुः—पारम्पर्य्यागतमिति, सदाचारातिक्रमणादित्यर्थः। वै प्रसिद्धौ निश्चये वा, इति तत्र निजदार्ढ्यं वोधितम् ॥ ११ ॥ चार्थे तथाशब्दः, अन्येषां चेति श्रीगोपराजोक्तौ गर्व्वेणामेवानु-मोदनात् सम्मतेर्वा, यद्वा, स्वयं वक्ष्यमाणार्थं सर्व्वानेवैकमत्येन ग्राहयितुं पृथक् पृथक् प्रश्नेन तथैव तेषामप्युत्तरप्राप्तेः; व्रजौकसां सर्व्वेषामेव व्रजवासिनामित्यर्थः। यद्वा, अनेन वने गतास्तत्सहचरा व्यवच्छिन्नाः, तेषां सर्व्वथा तदेकमतानुसारात्, इति विकाले व्रजमागतेन श्रीभगवता यागोद्यमं दृष्ट्वा पृष्टमिति श्रीविष्णुपुराणाद्युक्तानुसारेण ज्ञेयम्; तथा श्रीविष्णुपुराणे (५।१०।१६)— 'विमलाम्बरनक्षत्रे काले चाभ्यागतो व्रजम्। ददर्शेन्द्रमहारम्भायोद्यतांस्तान् व्रजौकसः ॥' इति; श्रीहरिवंशे च (विष्णु प० १५।२)— 'व्रजमाजग्मतुस्तौ तु व्रजे शुश्रुवतुस्तदा। प्राप्तं शक्रमहं वीरौ गोपांश्चोत्सवलालसान् ॥' इति। इन्द्राय मन्युं जनयन्निति देवता-निराकरणकर्म्मवादेन मखभञ्जनेन वा, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्। पितरमित्यस्याभिप्रायः पूर्व्वं पितरित्यत्र विवृत एव; यद्वा, परमंतस्य हितं कर्त्तुं युज्यत इत्यर्थः। प्रकर्षेण विविधदृढन्यायप्रदर्शनादिनाह—को ब्रह्मा ईशो रुद्रस्तौ वाति, 'वा गतिगन्धनयोः' इति; यद्वा, 'व्येञ् तन्तुसन्ताने' इति वयते निज महिम्ना व्याप्नोतीति; यद्वा, अस्त्यर्थे वः, तौ प्रकृष्टसेवकतया यस्य स्त इति। एवमशेषदेवता-धीनस्य देवतानिराकरणं केवलं कौतुकस्वभावेनैवेति भावः। यद्वा, तयोः प्रीत्यर्थमेव ऐश्वर्य्यमदमत्तेन्द्रस्य मखभञ्जनेन मदनिर-सनात्; यद्वा, केशवः श्रीमथुराधिष्ठाता, अतो माथुराणां श्रीगोवर्द्धनादीनां माहात्म्यविस्तारणाय तदुक्तमेवेति ॥ १२ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

तद्रेतसा तज्जलेन ॥ ९–१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः किमत आह—तमिति। हे तात! तं वारिमुचां मेघानां पतिं पालकमीश्वरं नियन्तारं चेन्द्रमस्मत्प्रभृतयः सर्वे नराः तस्येन्द्रस्य रेतसा रेतःस्थानीयेन जलेन सिद्धैर्नानाविधैर्द्रव्यैर्द्रव्यसाधनकैः क्रतुभिर्यजन्ते॥ ९॥ एवमिष्ट्वा तच्छेषेण यागविशिष्टद्रव्येण उपजीवन्ति जना इति शेषः जीविकां कल्पयन्ति किमर्थं त्रिवर्गफलहेतवे धर्मार्थकामहेतवे सिद्धये तं यजन्तीत्यन्वयः! त्रिवर्गफलहेतवे उपजीवन्तीति वा एवमिन्द्रयागावशिष्टेन जीवनं ततस्त्रिवर्गसिद्धिरस्त्युक्तम्। ननु, वृष्ट्यादिभिरुपजीवनं ततस्त्रैवर्गसिद्धिरिति। किमिन्द्रेणेत्यत आह पुंसामिति; पुरुषं कुर्वन्ति त्रिवर्गफलयुक्तं कुर्वन्तीति, पुरुषकारास्त्रिवर्गप्रापका इति यावत् तेषां मध्ये पर्जन्यः इन्द्र एव पुंसां फलभावनः फलप्रापकः स्वायत्तवृष्ट्यादिद्वारेति भावः॥ १०॥ अतस्तदाराधनात्मकमिदं वृद्धाचारपरंपराप्राप्तं यः पुमान् कामाद्यदन्यतमाद्धेतोस्त्यजेत् स शोभनं सुखं नाप्नोति किन्तु दुःखमेव प्राप्नोतीति भावः॥ ११॥ इत्थं नन्दस्य तथाऽन्येषां गोपानामपि वचो निशम्य भगवानिन्द्राय मन्युं जनयन् क्रोधजननद्वारा गर्वं वारयितुं नन्दं प्राह॥ १२॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

यतो मेघा लोकोपकारिणः तत्तस्माद्वार्मुचां जलदानां मेघानामित्यर्थः। ईश्वरम् अष्टृयणां शिक्षणसमर्थं तेषां मेघानां रेतसा रतिकरलक्षणेन जलेन सिद्धैः उत्पन्नैः अन्ये च नराः॥ ९॥ तच्छेषेण इष्टावशिष्टेन त्रिवर्गफलहेतवे धर्मार्थकामलक्षणपुरुषार्थसिद्धये पुरुषकाराणां पराक्रमसिद्धकर्मणां फलभावनः फलसाधकः॥ १०॥ विपक्षे बाधकमाह–च एवमिति। कामाद्दुर्विषयाभिलापात् लोभाद्वित्तव्ययशङ्कया भयात् राजभयात् द्वेषाद्देवताद्वेषात्॥ ११॥ मन्युं क्रोधम्॥ १२॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तातेति सलालनसम्बोधनेन तादृशपूज्यदेवतानामेवानुग्रहेणैतावद्गुणवान् त्वं पुत्रः प्राप्तोऽस्यतस्तत् पूजाप्रत्याख्यानं त्वया शुभंयुना न कर्त्तव्यमिति द्योतितम् वस्तुतस्तद्यज्ञे कर्तृत्वाभिमानोपि नोचित इत्याह—तद्रेतसा तद्वृष्टपयसा सिद्धैः॥ ९॥ तच्छेषेण तद्यज्ञशिष्टेनान्नेन उपजीवन्ति जीविकामुपकल्पयन्ति न च जीविकापि यथेष्टविषयभोगार्थेत्याह—त्रिवर्गेति। पुरुषकाराणां त्रिवर्गार्थमुद्यमानानां फलं यत्त्रिवर्ग एव तस्य भावनः साधकः पर्जन्याद्वृष्टिर्वृष्टेरन्नम् अन्नाज्जीविका जीविकातो धर्मो धर्मादुद्यम इत्यर्थः। यतो वस्तुतः पर्जन्य एव त्रिवर्गे मूलहेतुरतः पर्जन्य एवेज्यत इति भावः॥ १०॥ व्यतिरेके दोषमाह—य इति। कामात् स्वेच्छातः लोभात् द्रव्यव्ययाभावविषयात् भयात् भीषणालोकहेतुकात् द्वेषात् देवताविषयकात्॥ ११॥ इन्द्राय इन्द्रमन्युजननस्य प्रयोजनं तद्गर्वखण्डनप्रतिवर्षगोवर्द्धनोत्सवप्रवर्ततनदुद्धरणनिखिलप्रियजनसहवास—लीलाविलासादिकमुपरिष्ठाद्व्याख्यास्यते॥ १२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे तात! कृष्ण! तं वार्मुचां मेघानां पतिमिन्द्रं तद्रेतसा वृष्टि पयसा सिद्धैर्द्रव्यैः साध्या ये क्रतवस्तैर्यजन्ते॥ ९॥ तच्छेषेण क्रत्ववशिष्टेन द्रव्येण उपजीवन्ति जीविकां कल्पयन्ति। ननु, कृष्यादिभिः पुरुषकारैर्जीवन्ति किं पर्जन्ययजनेन तत्राह–पुंसां ये पुरुषकाराः पुरुषं कुर्वन्तीति पुरुषकाराः कृष्यादिरूपाः जीवनोपायाः तेषां भावयति साधयतीति फलभावनः पर्जन्यः पुरुषकाराः दैवनिरपेक्षा न फलदा इत्यर्थः॥ १०॥ मन्यूत्पादनद्वारा स्वप्रावण्यविरोधिशक्रगर्वं वारयितुं मन्युं जनयन् पितरं प्राह–"कालात्मना भगवता शक्रदर्पजिघांसता" इति वक्ष्यमाणात् यथाऽन्येषां तथैव तदनुरोधेनैव नन्दस्य वचो निशम्य ननु श्रीनन्देन स्वमतं प्रकटितम् यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत तस्य तदिति शास्त्रानुरोधेन गतानुगतिकानां स्वबन्धूनामेव मतं महाभागवतेन भगवदिच्छानुसारिणा श्रीनन्देनोक्तम्॥ ११॥ अथ सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः सर्वकारणकारणः श्रीपुरुषोत्तमो जिज्ञास्यस्तद्विवित्सोपयोगिनिवृत्तकर्मयोगः तस्यान्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्तिः फलं सर्वात्मा देवदेवः यदर्चनेन सर्वमर्चितं स्यात् स पुरुषोत्तमः क्रियायोगस्य भोक्ता प्रभुश्च "अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" इति वचनात् तत्र वासुदेवाङ्गतया यथायथमीज्यानामिन्द्रादीनां न निराकारणम् तत्साधनं च शास्त्रीयं प्रसिद्धम् सत्क्रियायोगः "तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः" इत्यनेन भगवता पृष्टो मुमुक्षु विषयः "गतानुगतिको लोको न लोकस्तत्त्वचिन्तकः" इत्येवं गतानुगतिकैर्गोपैः परमभागवतैरपि कालगत्या विस्मृतः मोक्षधर्मे कालगत्या भगवदीयस्य क्रियायोगस्य लोपो नारायणीयोपाख्यानेऽपि प्रसिद्ध एव यत्र सर्वशास्त्रार्थभूतवासुदेवनैरपेक्ष्येण "तृप्त एवैनमिद्रस्तर्पयति" इत्यादिवाक्यार्थभूताः शास्त्रार्थानभिज्ञैः वाक्यार्थज्ञानबलेनेन्द्राद्या एव स्वातन्त्र्येणेज्या वरदाश्चेत्येवंविद्भिर्लौकैः इन्द्रादयो देवा एव स्वातन्त्र्येण इज्यन्ते स बुभुक्षुविषयः प्रकृतकर्मयोगांतर्गतः क्रियायोगो लौकिकः अथवालौकिकस्तन्मे पृच्छतः साधु भण्यतामित्यनेन भगवता पृष्टः सच गोपैः स्वीकृतः तत्रैवंविधात्, क्रियायोगा तु मदाश्रितगिरिविप्रादिमख एव श्रेष्ठ इत्याह भगवान् कर्मणेति षोडशैः केचिदत्राहुः प्रथमं, तावत् कर्मवादेन देवान् निराकरोतीति यदुक्तम् अत्र कर्मवादश्रवणपूर्वकदेवनिराकरणाभावात् "धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे" इति श्रीमुखवचनात् धर्मस्थापनायावतीर्णत्वात् नहि

निरीश्वरस्वर्गकर्मभावादिस्थापनाय निराकरणाय नैवं भगवतः प्रवृत्तिः किन्तु स्वचरणांकितगिर्य्यादिपूजनविधानेन स्वचरणाराधनरूपकर्मयोगस्थापनायैव शोधनायैव शक्रदर्पजिघांसयेति वक्ष्यमाणत्वात् कर्मणैवेत्यत्र एवकाराभ्यां कर्माभावे जन्माद्यभावः प्रतिपाद्यते नतु निरीश्वरत्वं कर्मणः सूच्यते ॥ १२-१३ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तमिन्द्रमीश्वरं वार्मुचां मेघानां पतिं तद् रेतसा तत्पयसा सिद्धैर्द्रव्यैः क्रतुभिरस्मदादयो नरा यजन्ते ॥ ९ ॥ तच्छेषेण तद्यज्ञशिष्टेनान्नेन नरा उपजीवन्ति जीविकां कुर्वन्ति न च जीविकापि यथेच्छविषयभोगार्थेत्याहत्रिवर्गेति। धर्मार्थकामसिद्धये इत्यर्थः। ननु ते कृष्यादिभिरुपजीवन्ति किमिन्द्रेण इति चेत्तत्राह पुंसां पुरुषकाराणां त्रिवर्गार्थकोद्यमानां फलं त्रिवर्गस्तस्य भावकः साधकः पर्ज्जन्य एव पर्ज्जन्याद्वृष्टिस्ततोऽन्नं ततो जीविका ततो धर्मः तथा च पर्ज्जन्यस्य मूलहेतुत्वादेवेज्यत्वमिति भावः ॥ १० ॥ विपक्षे दोषमाह—य इति। कामान्निजेच्छातः लोभात् द्रव्यव्ययाभावविषयात् भयाद्भीषणलोकहेतुकात् द्वेषाद्देवता विषयात् शोभनं कुशलम् ॥ ११ ॥ इन्द्रायेति। इन्द्र निगर्वयितुं तस्य मन्युं जनयन् यद्यपीन्द्रोऽग्न्यादिवत् परेशेन सृष्टा वेदोक्ता देवता तेन दत्तभागा च तथापि तस्मिन् गर्वोदयात् तत्परिहारेण तद्विशुद्धयेऽसाववमन्यते स्वयं प्रभुत्वात् "शक्रदर्पजिघांसया" इति वक्ष्यति स्वभक्तवर्धनगिरेः प्रतिवर्षोत्सवाय चेति बोध्यम् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे तात, तमिन्द्रं वार्मुचां पतिं घनानां घनमीश्वरमकरणे बाधाक्षमं। ततत्वात्तदिति प्रोक्तो यानात्सर्वत्र यद्धरिरिति तात्पर्यान्तरोक्तेस्तस्य भगवतो रेतसा। अम्भस्तु यद्रेत उदारवीर्यमित्यादेः। नदपतौ पीतेन जलेन सिद्धैर्द्रव्यैर्व्रीहियवादिभिर्नराः क्रतुभिर्यजन्तेऽत इन्द्रयागोऽनुष्ठेय इति भावः ॥ ९ ॥ तच्छेषेण सवावशिष्टेन धर्मार्थकामरूपं यत्फलं तद्धेतवे तत्सिद्धये उपजीवन्ति नराः पुरुषकाराणां कर्मणा फलसम्पादनपौरुषवतां पुंसां जनानां पर्जन्य इन्द्रः फलभावनः फलं भावयति साधयतीति स तथा ॥ १० ॥ यो नर एवं पारम्पर्यागतं कुलपरम्पराप्राप्तं धर्मं विसृजेत्त्यजेत्तत्र निमित्तं कामाद्विषयान्तराभिलाषाल्लोभाद्दीनताया भयाद्भूपतिभीतेर्द्वेषात्परस्परं ज्ञातिद्वेषात्स शोभनं मङ्गलं प्राप्नोति नो प्रसिद्धमेतत्। विपक्षे दण्डोऽयं दर्शित इति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥ न केवलं नन्द एकल एवोवाच किन्तु व्रजौकसोऽपि तथैवावदन्नित्याह ॥ तथेति। तथा व्रजौकसां च वचो निशम्य बहुसंवादेन दृढिमैतद्धर्मस्य सूचितं इन्द्रायमन्युं क्रोधं ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

अतस्तद्भजनं सर्वे कुर्वन्तीत्याह तत् तातेति, स्नेहेन सम्बोधनमप्रतारणाय, वयं वैश्या अन्ये क्षत्रिया ब्राह्मणाश्च सुतरां ये केचित् सस्योपजीविनस्ते सर्वे वार्मुचां मेघानां पतिमिन्द्रं पोषकत्वेनेश्वरं तद्रेतसैव बीजभूतेन जलेन सिद्धैर्व्रीह्यादिभिः क्रतुभिर्नानाविधैरेव यागैर्नराः सर्व एव मनुष्या यजन्ति मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्त ॥ ९ ॥ ततस्तच्छेषेण यज्ञशिष्टान्नेन त्रिवर्गफलसिद्ध्यर्थं जीवन्तीत्याह तच्छेषेणेति, तस्येन्द्रस्य यज्ञस्य वा शेषेण शिष्टान्नेन शेषत्वं वा प्राप्योपजीवन्ति तच्छेषमन्नमुपजीवन्ति, त्रिवर्गफलस्य हेतुर्जीवनं जीवनार्थमन्नं, तदास्यं चोपजीवन्तीत्यर्थः, ननु स्वपौरुषेणान्नमुत्पाद्य स्वत एव जीवन्ति किमिन्द्रेण कार्यमित्याशङ्क्याह पुंस इति, पुरुषस्य ये पुरुषकाराः पौरुषाणि कृष्यादिव्यापारास्तेषां पर्जन्य एव फलं भावयति, अन्यथा वृष्ट्यभावे पुरुषप्रयत्नो व्यर्थ एव स्यादतः स्वसामर्थ्ये विद्यमानेप्युपजीव्य इन्द्रः ॥ १० ॥ किञ्च परम्परया प्राप्तोयं धर्मोतः कर्तव्योकरणे प्रत्यवायमिदं वानिष्टं स्यादित्याह य एवमिति, यथा ग्रामदेवता अपूजितास्तत्कालमेव ग्रामं दहन्त्यतः पूजनीयाः 'प्राप्तसेवापरित्यागो ह्यपमूलमिदं स्मृतम्' इति, एवम्प्रकारेण पारम्पर्यागतं धर्मत्वेन क्रियमाणं स्वयं नरो भूत्वा यो विसृजेत् स शोभनं शुभफलं न प्राप्नोति, त्यागे हेतुचतुष्टयं कामक्रोधलोभा अन्यभयात् प्रतिबन्धश्च, तानाह कामादिति कामे कर्तुरस्वास्थ्यं यावता कालेन यागः क्रियते तावान् कालो भोग एव व्याप्रियत इति कालसङ्कोचादकरणं कामहेतुकं लोभो द्रव्यगतो दोषः, द्रव्यं स्वार्थे तिष्ठत्वित्यकरणं, भयमन्यस्मात् क्लेशभयं वा, द्वेषो देवताविषयकः प्रमाणविषयको वा, एवं चतुर्भिर्हेतुभिरभजनेनिष्टमेव फलं शुभफलाभावो वा शुभफले प्रतिबन्धो वा भवेत् एवं हेतुवादमाश्रित्य लौकिकस्मार्तवैदिकानां सम्बन्धरहितमपि कर्म कर्तव्यमिति निरूपितम् ॥ ११ ॥ तद् भगवान् सर्वधर्मरक्षकः पाखण्डधर्मनिराकरणकर्ता दूषितवानित्याह वचो निशम्येति, नन्दस्य वचो निशम्य तथान्येषां सम्मत्यर्थं पुरोहितानामपि, व्रजवासिनः सर्वे मूर्खा एवेति विचिन्त्याधिभौतिक इन्द्रो वृथा भक्षयतीति दृष्टो धर्मो न भवतीतीन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं नन्दं प्रति भगवान् प्राह, ननु, देवद्रोहं कुतः कृतवान् जाते वा भगवतः किं स्यात्? तत्राह केशव इति, ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदाता कोयं वराक इन्द्रः? ततः पापण्डधर्मैर्ब्रह्मादीनां देवत्वमेव गच्छतीति तन्निवृत्त्यर्थमेव कृतवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वचो निशम्येत्यत्र वृष्टे धर्म इति इदमग्रिमाध्यायकारिकायां स्फुटीकरिष्यते ॥ १२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

वचो निशम्येत्यस्य व्याख्याने भौतिक इन्द्र इति वेदेनाविहिते युक्तिकल्पिते कर्मणि वेदोक्तकर्मणेज्यमान आधिदैविक इन्द्रो बलिं न गृह्णाति, श्रद्धया क्रियमाणत्वाद् ग्रहणमप्यावश्यकमतो भौतिकरूपेण भक्षयतीति तथोक्तं, किञ्च वेदस्यापि वेदत्वं भगवद्वाक्यादतः श्रीनन्दं प्रति गोवर्धनयागकरणार्थं यानि वाक्यानि हरिणोक्तानि तानि वेदरूपाण्येव भगवद्गीतावत्, तथा सति तदुक्तत्वादन्नकूटयागस्य वैदिकत्वम् ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ततः किमत आह—तमिति । 'पुत्रत्वान्नात्र मद्वाक्ये प्रतारणा शङ्कनीया, सत्यमेवोच्यते' इति सूचयन् सम्बोधयति—तातेति । वयं वैश्याः अन्ये च ब्राह्मणक्षत्रियादयो नरास्तमिन्द्रं क्रतुभिर्यज्ञैर्यजन्ते आराधयन्तीत्यन्वयः । आराधने हेतुमाह—ईश्वरमिति । तत्र हेतुमाह—वामुचां मेघानां पतिमिति । नच तदाराधनेऽस्माकं धनादिव्ययः, तज्जलेनैव सिद्धत्वात् । 'अतो न तत्र स्वकर्तृत्वाभिमानोऽपि युक्त' इत्याशयेनाह—तस्य रेतसा जलेन सिद्धैर्द्रव्यैः अन्नादिभिः सम्पादितैः क्रतुभिरिति ॥ ९ ॥ 'तस्य महानुपकारो मन्तव्य' इत्याशयेनाह—तच्छेषेणेति । इन्द्रयागावशिष्टेनान्नादिना नरा उपजीवन्ति जीविकां कल्पयन्ति । एवमिन्द्राराधनपूर्वकजीवनस्य फलमाह—त्रिवर्गफलहेतवे इति । धर्मार्थकामसिद्धये जीवन्तीत्यर्थः । ननु 'कृष्यादिव्यापारेणैवान्नादिसिद्धिदर्शनात् किमिन्द्राराधनेन ?' तत्राह—पुंसामिति । पुंसां पुरुषकाराणां कृष्यादिव्यापाराणां पर्जन्य इन्द्र एव वृष्टिद्वारा फलभावनः फलसाधकः, अन्यथा वृष्टिं विना कृष्यादिवैफल्यदर्शनादित्यर्थः ॥ १० ॥ अतएव वृद्धाचारपरम्परया आगतं धर्मरूपं यागं यो नरः कामाद्यन्यतमाद्धेतोर्विसृजेत् त्यजेत् स शोभनं सुखं नाप्नोति । "प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृतम्" इति वचनाद्देवताद्वेषविषयत्वेन दुःखमेव प्राप्नोतीत्याशयः । तत्र कामः भोगासक्तिः, लोभो धनादिविषयः, भयं तद्विद्वेषिपुरुषात् कायक्लेशाच्च, द्वेषो देवतायामकिञ्चित्करबुद्ध्या प्रमाणे अप्रामाण्यबुद्ध्या वा ॥११॥ 'इन्द्राय मन्युं जनयन्' इति कोपजननद्वारा गर्वपर्वतान्द्रमवतारयितुमेव देवतानिराकरणम्, न त्वत्रैव तात्पर्यम् । यज्ञाङ्गभूतानां देवतानामप्यनादिवेदप्रमाणसिद्धत्वेन तन्निराकरणे तद्वैगुण्यापत्तेरित्यर्थः ॥ ननु 'सुरेश्वरस्येन्द्रस्य गर्वनिराकरणे कथं कृष्णः समर्थ' इति शङ्कानिरासाय केशवपदप्रयोगः । को ब्रह्मा, ईशो रुद्रः, तयोरपि सुखं यस्मात् स तथा । तस्येन्द्रगर्वनिराकरणं किं दुर्घटमित्याशयः ॥ अन्यत् स्पष्टम् ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति ॥ हे तात ! वयं वैश्याः अन्ये च ब्राह्मणाद्यास्तं वामुचां पतिमीश्वरमिन्द्रं तस्य रेतसा जलेन सिद्धैः द्रव्यैः अन्नादिभिः सम्पादितैः क्रतुभिर्यज्ञैर्यजन्ते आराधयन्ति । प्रथमपुरुष आर्षः । यजामह इत्यर्थः ॥ ९ ॥ तदिति ॥ तच्छेषेण इन्द्रयागावशिष्टेनान्नादिना त्रिवर्गफलहेतवे धर्मादिसिद्धये नरा उपजीवन्ति उपजीविकां कल्पयन्ति । यतः पुंसां पुरुषकाराणां कृष्यादिव्यापाराणां पर्जन्य इन्द्र एव वृष्टिद्वारा फलभावनः फलसाधकः । अन्यथा वृष्टिं विना कृष्यादिवैफल्यदर्शनात् ॥ १० ॥ य इति ॥ अतः यो नरः एवं पारंपर्येण परम्परया आगतम् इमं धर्मं कामात् भोगसङ्गात् लोभात् भयात् तद्द्वेषिभयात् द्वेषान्नास्तिक्यप्रयुक्तदेवताद्वेषादनादरात् हेतोः विसृजेत् स शोभनं सुखं नाप्नोति ॥ ११ ॥ वच इति ॥ केशवः नन्दस्य वचो निशम्य तथा अन्येषां व्रजौकसां च वचो निशम्य इन्द्राय इन्द्रस्य मन्युं जनयन् पितरं नन्दं प्राह स्म । एतेन इन्द्रस्य गर्वापहाराय कोपजनन एव तात्पर्यम् । ननु देवतानिराकरण इति सूचितम् ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वामुचां जलदानां पतिं ईश्वरं त्रिलोकेश्वरं इंद्रं तद्रेतसा तद्दत्तजलेन सिद्धैर्निष्पन्नैः द्रव्यैरन्नादिभिः कृत्वा साधितैर्यज्ञैः नरा यजंते वयं च यजाम इति पुरुषव्यत्ययेन योज्यं ॥९॥ तदिति तच्छेषेण तस्य यज्ञस्य शेषेण अवशिष्टान्नादिना नराः उपजीवंति जीविकां कुर्वंति । अतः त्रिवर्गफलहेतवे त्रिवर्गाः धर्मार्थकामा एव फलानि तेषां सिध्यर्थं पुंसां ये पुरुषकाराः कृष्यादिपुरुषप्रयत्नास्तेषां फलभावनः फलोत्पादकः पर्जन्य इंद्रोस्ति तं विना कृष्यादीनां वैफल्यं स्यादिति भावः ॥१०-११॥ पितरं नंदं ॥१२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तच्छेषेणेति ॥ तच्छेषेण तद्यागावशिष्टद्रव्येण, त्रिवर्गफलहेतवे धर्मार्थकामसिद्धये, उपजीवन्ति जनाः स्वस्वजीविकां कल्पयन्तीत्यर्थः । एवमिन्द्रयागावशिष्टेन जीवनं ततस्त्रिवर्गसिद्धिश्चेत्युक्तम् । ननु नराः कृष्यादिभिरेवोपजीवन्ति ततस्त्रिवर्गस्यापि सिद्धिर्जायते, तत्र किमिन्द्रेणेत्यत्राह । पुंसामिति । पुंसां, पुरुषकाराणां कृष्यादीनां, फलभावनः फलसंपादकः, पर्जन्यः एव । तदायत्तमेघप्रवर्षणं विना कृष्यादिवैकल्यादिति भावः ॥ ९ ॥ य इति । किं च यः नरः, पारंपर्यागतं वृद्धाचारपरंपराप्राप्तं, इमं तदाराधनात्मकं, धर्मं, कामात्, लोभात्, भयात्, द्वेषाद्वा, विसृजेत् कामाद्यन्यतमाद्धेतोः परित्यजेत्, सः शोभनं सुखं, न

आप्नोति वै। केवलं दुःखमेव तत्त्यागात् प्राप्नोतीति भावः ॥१०॥ वच इति। केशवः श्रीकृष्णः, नन्दस्य तथा अन्येषां, व्रजौकसां च, वच उक्तविधवचनं निशम्य, इन्द्राय, मन्युं क्रोधं जनयन् सन्, पितरं नन्दं, प्राह ॥ ११ ॥ तत्र प्रथमं तावत् कर्मवादेन देवान् निराकुर्वन् यदुक्तं 'तेऽभिवर्षन्ति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः। तच्छेषेणोपजीवन्ति' इति तत्राह। कर्मणेति। जन्तुः प्राणी, कर्मणा जायते, कर्मणा एव, हि निश्चितं, लीयते च। लीयते इति दृष्टान्तार्थं वा। यथा कर्मणा लीयते तथैव तेन जायते इत्यर्थः। सुखं, दुःखं, भयं, क्षेमं, कर्मणा एव, अभिपद्यते। तत्र कोशेषु सुखक्षेमयोः पर्यायत्वेऽपि सुखमैहिकं, क्षेमं पारलौकिकमिति तयोर्भेदः। ननु जडात् केवलात् कर्मणः फलसिद्धिः कथं स्यादिति चेत्, अहो अशीलितमीमांसाशास्त्राणां कर्मजडत्वमिति स्वमतिविलसितैषा श्रद्धा कीदृशी, परं नैतदेवं, किं तु मीमांसावचनतः कर्मणामेव फलस्य कारणत्वेऽवगते कर्मत एव फलसिद्धौ निर्णीतायां सत्यां कर्मतः किमनुपपन्नं नामेति भावः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

य एवमिति : १०.२४.११.

शुभफलोपगमस्पृहया यथा भवति कर्मणि वृत्तिरतोऽधिका।
अकरणे हि तदन्यफलोद्गमोत्थितभयादिति तत्कथितं द्विधा ॥ ११ ॥

वचो निशम्येति १०.२४.१२.

यावन्मत्तो न शरणमीहते मदधीरयम्। तावन्मन्मन्तुपात्रं स नैषामिति तथाऽवदत् ॥ १२ ॥
अज्ञाततत्त्वविषयाः प्रायः प्रारब्धवादिनः। भविष्यति कलौ लोका इत्यनूद्याह स प्रभुः ॥ १३ ॥

कृष्णप्रिया

हे प्यारे लालन्! इसलिए, हम सब लोक, सर्वशक्तिमान, तथा मेघों के स्वामी इन्द्र का पूजन किया करते हैं, क्योंकि उसके रेतस्—"वीर्य स्वरूप जल से सिद्ध हुए पदार्थों से, हम तृतीयाश्रमी वैश्यगण, एवं ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि सभी लोग उनका अर्चन करना चाहिए यह मानकर पूजन-अर्चन करते हैं ॥ ९ ॥ प्यारे वत्स! यज्ञ करने के बाद जो यज्ञशिष्ट अन्नादि पदार्थ रहते हैं, उन पदार्थों से, धर्म-अर्थ-काम नाम के पुरुषार्थों की सिद्धि करते हुए अपने जीवन का निर्वाह करते हैं, क्योंकि पुरुषों के पुरुषकारों के फल देने वाला भगवान पर्जन्य है। देखो वत्स! लोगों की वृत्तियाँ-आजिविकायें एवं व्यवसायों का आश्रय वृष्टि ही है। बिना वृष्टि खेती नहीं हो सकती और खेती सबके जीवन के लिये मूल कारण है॥१०॥ लालन्! यह इन्द्र यज्ञ नाम का वैश्यावश्यक धर्म हमारी कुलपरंपरा से चला आ रहा है। कोई मनुष्य परम्परा प्राप्त धर्म का काम-लालच-भय अथवा द्वेषवश त्याग करता है वह यह जान ले कि वो कभी मङ्गल नहीं प्राप्त कर सकता है ॥११॥ श्रीशुकाचार्य जी महाराज ने कहा राजन्! ब्रह्मा रुद्रादि देवताओं के नियामक भगवान केशव ने श्रीनन्दराय जी और अन्य व्रजवासियों की यह बात सुनकर उनके मन में इन्द्र पर कोप भाव को उपजाते हुए कहा ॥ १२ ॥

श्रीभगवानुवाच

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते। सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥ १३ ॥
अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्[2]। कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥ १४ ॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्व[1]कर्मानुवर्तिनाम्। अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥ १५ ॥
स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते। स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जन्तुः कर्मणा जायते, कर्मणा एव प्रलीयते, सुखम् दुःखम् भयम् क्रोधम् कर्मणा एव अभिपद्यते ॥ १३ ॥ अन्यकर्मणाम् फलरूपी कश्चित् ईश्वरः अस्ति चेत् सः अपि कर्तारम् भजते हि अकर्त्तुः सः प्रभुः हि न ॥ १४ ॥ इह स्वम् स्वम् कर्मानुवर्तिनाम् भूतानाम् अनीशेन इन्द्रेण किम्? नृणाम् स्वभावविहितम् अन्यथा कर्त्तुम् इन्द्रः कः प्रभुः? ॥ १५ ॥ हि स्वभावतन्त्रः जनः स्वभावम् अनुवर्तते, सदेव असुर मानुषम् सर्वम् इदम् स्वभावस्थम् ॥ १६ ॥

१. विली—श्रीधर. वंशी. जी. वीर. विज. विश्व. शुक. सु. घु. रा.; ह्लिली. प्रा. पा.। २. फलरूप्यस्य—वीर.; फलरूपः स कर्मणः विज. ८. स्वस्व—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर विज. विश्व.।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

प्रथमं तावत्कर्मवादेन देवान्निराकरोति। कर्मणेति। ननु जडात्कर्मणः केवलात्कथं फलसिद्धिः स्यादिति चेत् अहो अशीलितमीमांसानां स्वमतिविलसिता श्रद्धा कर्मणां फलकारणत्वे वचनतोऽवगते किं ततोऽनुपपन्नं नाम ॥ १३ ॥ केचित्पुनरतिसाहसभीताः कर्मपरतंत्रमीश्वरं मन्यंते तन्मतमनूद्य निराकरोति। अस्ति चेदिति। स्वयं कर्मभिरलिप्तोऽन्येषां जीवानां कर्मणां फलरूपी फलदाता कर्तारं भजते तत्तत्कर्मफलदानेन ॥ १४ ॥ अतः कर्मण एव फलसिद्धेस्तत्पारतंत्र्ये चाजागलस्तनतुल्यत्वान्न देवतया कृत्यमित्याह। किमिंद्रेणेति। ननु कर्मणोऽपि प्रवृत्तिरंतर्याम्यपेक्षैव कथं सर्वथा देवताया अनुपयोग इत्याशंक्याह। स्वभावविहितमिति। स्वभावेन प्राक्तनसंस्कारेणैव विहितं यत्कर्म तदन्यथा कर्तुमनीशेन ॥ १५ ॥ एतद्विवृणोति स्वभावतंत्र इति। प्रवृत्तेः संस्काराधीनत्वात्किमंतर्यामिणेत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

भयक्षेमयोर्यद्यपि दुःखसुखांतर्गतत्वं तथापि भेदेन कथनम्। भयं संसारं क्षेमं मोक्षमपि कर्मणैवेति, आसक्त्यनासक्तिभ्यां कृतं कर्मैवोभयहेतुरिति भावः। कर्मण्याशंकते—नन्विति। अशीलिताऽविचारिता मीमांसा जैमिनीयशास्त्रं यैस्तेषाम्। स्वमतिविलसिता निजबुद्धिप्रकाशिता। श्रद्धा फलदातेश्वरः कर्मभिन्नोस्तीत्येवंरूपा। वचनतः 'कर्मणा जायते' इत्यादिशास्त्रतः। अवगते ज्ञाते सति। ततः कर्मणः। किं नामा कि कार्यम्। अनुपपन्नम् असिद्धम्। न किमपीत्यर्थः ॥ १३ ॥ अतिसाहसम् अतिविचारासामर्थ्यम्। कर्मपरतंत्रम् कर्माधीनम्। फलं सुखदुःखादिलक्षणं रूपयति ददातीति तथा, सहायकल्पः न स्वतंत्र इति यावत्। स ईश्वरोऽपि। कर्त्तारं कर्मण इति शेषः। अकर्त्तुः कर्मणः। स ईश्वरः न प्रभुः तत्र कारणासत्त्वादित्यर्थः। इमं श्लोकं विजयध्वजस्त्वित्थमवतारयति—ननु प्रवृत्तेर्बुद्धिपूर्वकत्वेन कर्मणोऽचेतनत्वेन तदयोगान्न जगत्तदधीनमिति। किन्तु चेतनाधीनम्। चेतनोऽपि न देवदत्तादिसाधारणः किं तु विशिष्ट एव कश्चिदस्तीति कृष्णस्वाहार्दोनभिज्ञनंदगोपस्य मानसीं शंकां गूढाभिसंधिः परिहरति—अस्ति चेदिति ॥ १४ ॥ यतः कर्मानुयायीश्वरोऽतो हेतोः। तत्पारतंत्र्ये कर्माधीनत्वे केश्वरस्याजागलस्तनतुल्य स्वाव्यर्थत्वात्। पुनरत्राशंकते—नन्विति। अंतर्यामिणमपेक्षत इत्यंतर्याम्यपेक्षेति। अनुपयोगः प्रयोजनाभावः। आह श्रीकृष्णः। स्वभावेति—स्वेन भवनं स्वभावः। अन्यथा कर्तुम् परावर्त्तयितुम्। अनीशेन असमर्थेन ॥ १५ ॥ एतत् स्वभावाधीनत्वम्। इत्यर्थ इति। प्रवृत्तिः पयस्स्यंदनादिवत्संस्कारानुरोधिन्येवेति, न त्वंतर्याम्यधीनेति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एषां मत्पित्रादिरूपनित्यपरिकराणां पूजाग्रहणे को नाम इन्द्र इति तन्मदहरणं यद्यपि मनसि वर्तते तथापि नरलीलापालनाय तदनुद्घाट्य कर्मवादस्य सर्वत्रातिप्रसिद्धत्वात् तन्मताश्रयणेनैव प्रथमं परिहरति, कर्मणेति। प्रमीयते म्रियते अत्र तु कर्मणेत्यत्र कर्तरि तृतीया प्रलीयत इति पाठेपि स एवार्थः हि नीयते इति पाठे तु ह्यतावेव हि निश्चये एवं जन्ममरणे उक्ते जन्ममरणानन्तरञ्च कर्मणैव सुखादिकमाह सुखमिति क्षेमम् अभयं कर्मणेति पुनःपुनरुक्तिः तदेकहेतुताविवक्षया दार्ढ्यार्थमेव शब्दद्वयञ्च ॥१३॥ फलं रूपयितुं दर्शयितुं दातुं शीलम् अस्येति फलरूपी भजते अनु सरति कर्मानुसारेणैव फलदानात् व्यतिरेकेण द्रढयति नेति हि यतः कर्माभावे फलं दातुं न शक्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अत्रापि भूतानां प्राणिमात्राणां कर्मानुवर्तिनां प्राक्तनकर्मानुसारेण सुखदुःखं भुञ्जानानामिन्द्रेण किं कर्मण एव तत्तद्भोगकारणत्वात् तेषु नृणाञ्च कर्मान्तरोपार्जकानां स्वं स्वं स्वभावविहितमन्यथा कर्तुमनीशेन तेन किं स्वभावस्यैव तत्तत्कर्मप्रवृत्तिकारणत्वात् ॥ १५ ॥ सर्वमित्यनेन गृहीतानामपि देवादीनां पृथगुक्तिर्विचारादिसद्भावेऽपि तदतिक्रमणाशक्तेः ॥ १६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कर्म्मवादस्य सर्व्वत्रातिप्रसिद्धत्वात्तन्मताश्रयणेनैव प्रथमं पित्रोक्तं परिहरति—कर्म्मणेति; कर्म्मणा प्रायः प्रारब्धेन तस्यैव नियतफलप्रदत्वात्, जन्तुः सर्व्वोऽपि जीवः प्रमीयते म्रियते, 'विलीयते' इति पाठेऽपि स एवार्थः। एवं जन्ममरणे उक्ते, जीवने चेह लोके मरणेऽप्यमुत्र कर्म्मणैव सुखादिकमाह—सुखमिति। क्षेमं अभयम्, कर्म्मणेति पुनः पुनरुक्तिर्जन्मादीनां तदेकहेतुताविवक्षया तद्दार्ढ्यार्थमेव शब्दद्वयञ्च ॥ १३ ॥ फलं रूपयितुं दर्शयितुं दातुं शीलमस्येति फलरूपी, भजते अनुसरति आश्रयति वा, कर्म्मानुसारेणैव फलदानात्, तदेवाह—नेति। हि यतः कर्म्माभावे फलं दातुं न शक्त इत्यर्थः। हि निश्चितम् ॥ १४ ॥ स्वं स्वं कर्म्मानुवर्त्तिनामिति 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म्म' इत्यादिन्यायेन तत्रापि प्रारब्धस्यावश्यभोग्यत्वात् नृणां विचारादिना स्वभावं क्रमितुं समर्थानामपि किं पुनरन्येषामित्यर्थः ॥ १५ ॥ सर्व्वमित्यनेन गृहीतानामपि देवादीनां पृथगुक्तिः, नृणामितिवत् ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

कर्त्तारं भजते सोऽपि देवः स चैतदेवोपपादयति—तस्य कर्मणीत्यनुषङ्गः ॥ १४–१५ ॥ स्वभावतन्त्रः स्वभावविहितकर्मतन्त्रः कर्मस्वभावस्थम् इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १६–२१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

यदुक्तं "पर्जन्यः फलभावनः" इति तत्प्रतिक्षेप्तुकामस्यावदीश्वरराधनभूतकर्मणामवश्यकर्त्तव्यतां वक्तुकामफलसाधनत्व-व्युदासाय प्राधान्येन पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखादिहेतुत्वमाह कर्मणेति। सुखमैहिकं क्षेम पारलौकिकं जायते प्रलीयते इति दृष्टान्तार्थं यथा कर्मणैव हेतुना जायते प्रलीयते च तथा सुखदुःखादि च कर्मणैव प्राप्नोति एवकारेण केवलदेवता निरासो गूढमभि-संहितः॥ १३॥ ननु, क्षणिकस्य जडस्य च कर्मणः कथं कालान्तरभावि विचित्रफलहेतुत्वम्? नत्वपूर्वद्वारा, तस्य स्थिरत्वेऽपि जड-त्वाविशेषादतः "तृप्त एवैनम् इन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" इत्याक्तरीत्या कर्मजनितनिग्रहानुग्रहवर्ती देवतैव सुखदुःखादिहेतुरत आह अस्तिचेदिति। अस्य कर्तुः कर्मणां फलं रूपयति कल्पयतीति तथा फलदाता कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेत्तर्हि हे पितः! सोऽपि ईश्वरः कर्तारमेव भजते यस्त्वराधनरूपं कर्मानुतिष्ठति तमेवानुवर्त्तते तस्मा एव फलं ददाति नह्यकर्तुः प्रभुः फलदः एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एव फलसाधनत्वम् ईश्वरस्य तत्तत्कर्मानुवर्त्तित्वेन तत्पारतन्त्र्यञ्चोक्तं कश्चिदीश्वरोऽस्तिचेदित्यनेनेन्द्रस्यानीश्वरत्वमभिप्रे-सम्भावितस्येश्वरस्यैकत्वं हि विवक्षितम् अयं भावः क्षणिकत्वाज्जडत्वाच्च केवलकर्मणः फलदत्वं न सम्भवतीति देवतैव फलदेति ब्रूषे; तर्हि सा किम् इन्द्रवाय्वादिरूपेणानेका? उतैका? नाद्यः, इन्द्रादीनां कार्यत्वकर्मत्वकर्मवश्यत्वदुःखित्वादेः प्रतिपन्नत्वेन फलदत्वा-सम्भवात् न हि स्वदुःखनिराकरणेष्टापादनासामर्थस्यान्येष्टानिष्टप्रापणपरिहारसामर्थ्यम्; अत इन्द्राद्यन्तर्याम्यकर्मवश्यो निरस्ताभ्य-धिकः कश्चिदीश्वर एक फलदः सोऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मानुवर्त्तित्वेन तत्परतन्त्र इति, नचैवमीश्वरस्य स्वातन्त्र्यादिभङ्गः जन्म-मरणसुखदुःखादेः कर्मायत्तत्वेऽपि ईश्वरस्य पूर्वपूर्वकर्मवासनानुरोधेन जीवप्रेरकत्वात्तस्य मूलकारणत्वात् ईश्वरस्य हि स्वकेव्वपि व्यापारेषु स्वयं ज्ञानचिकीर्षायाः प्रयत्नवत्त्वात्तत्कर्तृत्वं, चेतनप्रवृत्तिहेतुत्वात्कारयितृत्वं, स्वयं सर्वकार्यहेतुत्वेन सामान्यकारणत्वादु-दासीनत्वं, प्रवृत्तस्य चेतनस्योत्तरोत्तरं प्रवर्त्तकत्वादनुमन्तृत्वं सर्वव्यापारसाक्षात्कर्तृत्वात्साक्षित्वं, विशेषकारणभूततत्तत्कर्मसाहित्ये-नैव विशेषकार्यहेतुत्वात्सहकारित्वं कर्मभिराराधितस्यैव फलहेतुत्वात्फलदत्वं, चेतनशेषित्वात्तच्चेतनफलोपभोगस्यापि स्वोपभोग-शेषत्वात्फलित्वं कर्मानुरोधेनैव फलप्रदानादविषयत्वं सहकारिसन्निधिक्रमानुरोधेनैव परदुःखनिराचिकीर्षाशालित्वाद्दयालुत्वं; तत्तत्कर्मानुरोधेन निग्रहानुग्रहसद्भावेऽपि किञ्चिदानुकूल्यमवलोक्य निश्शेषनिग्रहप्रणाशेन यावदात्मभाविमोक्षप्रदानादनुग्रहप्रावण्यम्; अत एव परमोदारत्वं चेत्यादिसर्वमुपपन्नमेव, तस्मादीश्वरस्य कर्मपारतन्त्र्यकथनमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मणः फलसाधनत्वाभ्युप-दासार्थं नचैतावता "ईश्वरस्य फलदत्वव्युदासः" कर्तारं भजते सोपीत्यनेन तस्यापि फलदत्वावगमात् नचान्यतरसाधनत्वमन्यतरेण प्रतिबद्ध्यते कर्मणामीश्वरानुग्रहनिग्रहद्वारा सुखदुःखादिफलसाधनत्वादीश्वरस्य तु साक्षादिति विरोधाभावाच्चेदिति सम्भावने-श्वरास्तित्वे वादिविप्रतिपत्तिः सूचिता अस्तीति तदभ्युपगमेन तस्य कर्मानुवर्तित्वकथनेन चेश्वरानभ्युपगमवादो धर्मिग्राहकमानविरुद्ध इति दर्शितम्॥ १४॥ तदेवमीश्वराराधनभूतकर्मणोऽवश्यानुष्ठेयत्वं फलितम् ईश्वर इत्येकवचनेनेन्द्रवह्न्यादीनामनीश्वरत्वमवगतं तदेव व्यञ्जयन्नाह–किमिति। स्वस्वकर्मानुवर्तिना राजसादिस्वस्वभावानुगुणपुण्यपापात्मककर्मानुवर्तिना भूतानाम् इन्द्रेण किं स्वभावानुगुणकर्मणामेव सुखदुःखादिहेतुत्वे सतीन्द्रस्य न तद्धेतुत्वमिति भावः। स्वस्वकर्मानुवर्त्तिनामित्यनेन कर्मवैचित्र्ये तत्तत्-कर्तृस्वभाववैचित्र्यमेव निमित्तमित्यभिप्रेतम् ननु भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्त्तित्वेपि स्वस्वकर्मजनितनिग्रहानुग्रहवानीश्वर एव फलद इति चेदस्त्वेवमीश्वरः किमिन्द्रेणानीशेनेत्याह—अनीशेनेति। नृणां स्वभावविहितं स्वभावानुगुणकर्मविहितं सुखदुःखादिकमन्यथा-कर्तुमप्रभुणा इन्द्रेण किं नकिञ्चिदपीत्यर्थः। अन्यथाकर्तुमनीशेनेत्यनेन सर्वेश्वरस्तु साध्वसाधुकर्म कारयितृत्वद्वाराऽन्यथा च कर्तुं प्रभुरिति सूचितम्॥ १५॥ स्वस्वकर्मानुवर्तिनामिति। स्वभावविहितमिति च भूतानां स्वस्वभावानुवर्तित्वं सूचितम्। तदुपपादयति स्वभावतंत्र इति स्वभाववशं सर्वं जगत् स्वभावानुगुणप्रवृत्तिमदित्यर्थः। अथवा जगदन्तर्भूतं देवादिवस्तु निस्स्वभावं नास्तीत्यर्थः। तथा च गीतं अथवा—

> न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः॥ इति॥ १६॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कर्मफलदातृत्वेन कर्मप्रेरयितृत्वेन कर्मशब्दवाच्यत्वेन च नारायण एव सर्वस्य कर्त्तेत्यभिप्रेत्य सर्वस्य कारणं कर्मैवेत्याह-कर्मणेति॥ १३॥ ननु, प्रवृत्तेर्बुद्धिपूर्वकत्वेन कर्मणोऽचेतनत्वेन तदयोगाज्जगदधीनमिति वक्तुं न युक्तं किन्तु चेतनाधीनमेव चेतनोऽपि न देवदत्तवत्साधारणो भवति अपितु विशिष्ट एव कश्चिदिति श्रीकृष्णहार्दानभिज्ञस्य नन्दगोपस्य मानसीं शङ्कां गूढाभि-सन्धिः परिहरति–अस्ति चेदिति। यदि कश्चिदीश्वरोऽस्तीति मतं तर्हि स ईश्वरः कर्मणः फलं सुखादिलक्षणं रूपयति। अनुकूलं करोति ददातीति फलरूपः सहायकल्पः न स्वतन्त्र इत्यर्थः। तदेव द्रढयति, कर्तारमिति, फलरूपत्वेन प्रयोजकत्वाज्जगतस्तदधीनत्व-मायातम् इत्यतोवाह-कर्तारमिति, सत्वदभिमत ईश्वरोऽपि कर्मकर्तारं भजते फलदातृत्वेनानुवर्त्तते नाकर्मकर्तारं कुत इत्यत आह— न हीति। स ईश्वरः कर्माकर्त्तुः फलदाने प्रभुः समर्थो न हि कस्मात्सामर्थ्याभाव इत्यत्राह–हीति। उद्रेके कारणाभावात्॥ १४॥ अवान्तरेश्वरत्वमभ्युपगम्येदमुदितम् इदानीमीश्वर एव त्वदभीष्टो नापेक्षितः वस्तुतस्तु स्वभावविहितकर्मण एव फलदातृत्वोपपत्तेः

पयःस्यन्दनादिवदित्याशयेनेश्वरमाक्षिपति–किमिन्द्रेणेति। स्वस्माद्भावः सत्ता यस्य स तथा न पराधीनसत्ताकः यद्वा, स्वतन्त्रो भावः स्वभावः तेन नारायणेन विहितं कथितम् अन्यथाकर्तुमनीशेनासमर्थेन ॥१५॥ ननु, यदि स्वभावेनैव कर्म क्रियते तर्हि कर्ता मृद्दण्डसलिलादिवाह्यद्रव्यं किमर्थमपेक्षत इत्याशङ्क्य तदपि स्वभावनियतमित्यतः सर्वं स्वभावाधीनमित्याह–स्वभावेति। हि शब्देन पयःस्यन्दनादिकमपि नारायणकृतमित्यभिप्रैति "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते" इति श्रुतेः स्वभावादिशब्दवाच्यस्य हरेरधीनमिदं सर्वमित्यभिप्रायेणावान्तरेश्वर एवात्र निषिध्यते न तु मुख्येश्वर इत्यत्र आचार्यैः फलरूपः सकर्मण इत्याद्यवान्तरेश्वरविषयमित्यभिधायि—

"स्वभावे कर्मणि च यः सत्वादिषु गुणेषु च। स्थितो विष्णुः सर्वकर्ता पृथक्संस्थश्च सर्वगः" ॥

इत्यादिप्रमाणं च कृष्णहार्दतात्पर्यार्थम् उदाहारि, यद्वा, स ईश्वरः कर्मणो हरेः फलरूपो ज्ञानात्मा कर्त्तारं कर्म भजते अकर्त्तुः अकर्मणः प्रभवतीति प्रभुः तदुक्तम् "तेन जातं फलं यस्मात्कर्मणः फलमीर्यते" इति अस्त्ववान्तरेश्वरः कर्मफलरूपः प्रकृते किमायातमिति तत्राह—किमिति। स्वस्वकर्मज्ञानविषयं बिम्बभूतं भगवन्तम् अनुवर्तिनां प्रतिबिम्बानाम् ननु, त्रैलोक्येश्वरमिन्द्रं कथं कर्मफलभागिति तुच्छीकरोषीति तत्राह–अनिशेनेति। अस्मदभिमतं कर्मशब्दवाच्यं वस्तु कर्मफलभाक् न भवतीत्याशयेन स्वभावेत्युक्तं स्वः स्वाधीनः भावः क्रिया यस्य स स्वभावः तदुक्तं "नचासौ कर्मफलभाङ्नास्य किञ्चिन्न शक्यते" इत्यादि, एतदेवोपपादयति—स्वभावतन्त्र इति। हिशब्देन तेषामवान्तरेशानां विष्णुवशत्वमन्तरेणान्यकर्मवशत्वं नास्तीति दर्शयति, "नान्यकर्मवशत्वं तु तेषां विष्णुविना क्वचित्" इति, स्वभावस्थमिदं सर्वम्" इत्यनेन सर्वशब्दवाच्यत्वं स्वभावस्य हरेरिति सूचितम् "स च ब्राह्मणगिर्यानामाविष्णुरजः परः" इत्यादि स्मृतेः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एषां मत्पित्रादिरूपनित्यपरिकराणां पूजाग्रहणे को नाम इन्द्र इति मन्मदहरणं यद्यपि मनसि वर्त्तते तथापि नरलीलापालनाय तदनुद्घाट्य कर्मवादमेवावलम्ब्याह–कर्मणेति ॥ १३–१४ ॥ भूतानां प्राणिमात्राणां कर्मानुवर्त्तिनां प्राक्तनकर्मानुसारेण सुखदुःखं भुञ्जानानामिन्द्रेण किं कर्मण एव तद्भोगकारणत्वात् तेषु नृणाञ्च कर्मान्तरोपार्ज्जकानां स्वं स्वं स्वभावविहितमन्यथाकर्त्तुमनीशेन तेन किम् ॥ १५ ॥ स्वभावस्यैव तत्तत्कर्मप्रवृत्तिकारणत्वात् ॥ १६–१७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नरलीलत्वयैव इन्द्रमखभङ्गे कर्त्तव्ये युक्तिमुत्थापयन् सद्भिर्विगीतमपि कर्मवादमाश्रित्य देवतां निराकरोति, कर्मणेति ।१३। ननु, जडात् कर्मणः केवलात् कथं फलसिद्धिरतः कर्मफलदाता ईश्वरोऽवश्यापेक्ष्य इत्यपि केषाञ्चिन्मतं तत्राह—अस्तिचेदिति। फलरूपी अन्यकृत् कर्मणां फलदाता सोऽपि कर्तारं भजते अनुसरति कर्मानुसारेणैव फलदानात् व्यतिरेकेण द्रढयति, नेति। हि यतः कर्माभावे फलं दातुं न शक्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥ अतोऽजागलस्तनतुल्यत्वान्न देवतया कृत्यमित्याह। किमिन्द्रेणेति। ननु, कर्मण्यपि प्रवृत्तिरन्तर्याम्यपेक्षयैव कथं सर्वथा देवताया अनुपयोग इत्याशङ्क्याह—स्वभावविहितमिति। स्वभावेन प्राक्तनसंस्कारेण विहितं कर्त्तव्यत्वेनोपस्थापितं यत्कर्म तदेव कर्तुमन्तर्यामी जीवं प्रेरयति न त्वन्यदित्यतः स्वभावविहितमेव कर्म अन्यथा कर्तुमसमर्थेन इन्द्रेण पूजनीयेन किं न किमपि फलमित्यर्थः ॥ १५ ॥ एतद्विवृणोति— स्वभावतन्त्रः प्राक्तनसंस्काराधीनः अतः स्वभावमनुलक्षीकृत्य तत्तत्कर्मणि स्वयमेव प्रवर्तते इत्यन्तर्यामिणापि न किमपि फलमिति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कर्मफलदमीश्वरं कालगत्या विस्मृत्य "स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः" इत्यादिशास्त्रोक्ता एव गतानुगतिकाः "वृष एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" इत्यादिवाक्यमाश्रित्य कर्मफलदाने इन्द्रादीनेव स्वतन्त्रान्मत्वा कर्मभिः पूजयन्ति तानुपशिक्षयितुमिन्द्रादीनां जीवानामीश्वरनैरपेक्ष्येण न कर्मफलदातृत्वं घटते इति वदन् ईश्वरः कर्मफलदोऽस्तीति सूचयति—अस्ति चेदिति द्वाभ्याम्। कर्मणो जडत्वात्स्वफलदातृत्वं नैव घटेत अतः फलं रूपयतीति फलरूपी फलदाता कश्चिज्जीव ईश्वरोऽस्ति चेत् स अन्यः अन्यकर्मणां स्वतोऽस्यन्ततोऽन्येषां यानि कर्माणि तेषाम् प्रभुर्न भवति नापि लोकान्तरगतः लोकान्तरगतानां कर्माणि ज्ञातुं शक्नोति। किञ्च, कर्तारं सोऽपि भजते वृथैव कस्यचित्कर्म कर्तुर्वेलिं सेवते इत्यर्थः। ननु फलं दातुं शक्नोति। किञ्च, नाकर्तुः प्रभुर्भवति विहिता कर्तुः सांसारिकफलदानेन सर्वकर्मफलत्यागेन कर्तृत्वाभिमानत्यागेन च योऽकर्ता शास्त्रेण निर्णीतस्तस्य मोक्षदानेनेति भावः ॥ १४ ॥ अतः स्वभावविहितं स्वभावेन अनादिकर्मप्रवाहवशवर्ति जीवस्वभावेन प्राक्तनसंस्कारेण विहितं यत्कर्म तत्फलभूतसुखं दुःखं चान्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थेन जीवमात्रेणेत्यर्थः। अनेनेश्वरः सर्वं कर्तुं समर्थोऽस्ति कर्मफलद इति सूचितम् ॥ १५ ॥ अनादिकर्मप्रवाहपतितजीवस्य स्वभावमपि वर्णयति स्वभावतन्त्र इति ॥ १६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

वेदमूर्त्तिः परेशो नन्दसूनुर्वेदोक्तां देवतामन्तः स्वीकुर्वन्नेव पित्रोक्तामिन्द्रदेवतां कर्मवादादिभिर्निराकर्त्तुं प्रवर्त्तते तत्र कर्मवादिनस्ते देवतापक्षमेवमवमन्यन्ते इत्याह—कर्मणेति। "यथाकारी यथाचारी तथा भवती"ति श्रुतेरिति भावः। न च जडस्य कर्मणः कथमुत्पत्त्यादिकर्त्तृतेति वाच्यं चलति जलं फलति तरुरित्यादौ जडेऽपि कर्त्तृत्व-दर्शनात् ॥ १३ ॥ देवतां फलदां केचन मन्यते तामेवं ते निराकुर्वन्तीत्याह—अस्ति चेदिति! अस्मदीयकर्मणां फलरूपी फलार्थकश्चेदीश्वरोऽस्ति सोऽपि कर्मापेक्षः सन् कर्मकर्त्तारं भजते हि यतः स कर्माकर्त्तुः प्रभुः फलदो न भवनान्यथा वैषम्यापत्तेः तथा च कर्मणैव फलोपपत्तौ किमन्तर्गडुना देवतयेति-देवताकाण्डन्तु कर्मस्वातन्त्र्यानास्थान् देवतास्वातन्त्र्यव्यपदेशेन कर्मसु प्रवर्त्तयितुं ज्ञानकाण्डवद् यजमानस्वरूपावगमेनेत्याहुः ॥ १४ ॥ ननु फलदात्री देवता मा भूत् प्रवृत्तये तु सङ्गीकार्येति चेत्तत्राहुः—स्वं स्वं कर्मानुवर्त्तिनां नृणां स्वभावेन प्राक्तनसंस्कारेणाशीलशब्दितेन विहितं कर्मान्यथाकर्तुमनीशेनेन्द्रेण किं न किमयं "स्वभावः प्रकृतिः शीलम्" इति धनञ्जयः। तथा च पूर्वसंस्कारादेवोत्तरकर्मणि प्राणिनां प्रवृत्तिस्ततः कर्म ततः फलमिति किं देवतया चेतनतया जडे प्रवृत्तेरुक्तेश्च ॥ १५ ॥ एतदेव विवृण्वन्ति स्वभावतन्त्र इति कर्मसु प्रवृत्तेः पूर्वसंस्कारायत्तत्त्वात्तदभ्युपगमो न चारुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सति तत्फलोपलम्भके कर्मणि सर्वं सम्पद्यते तच्च भगवन्नियतमिति किमन्तर्गडुना शचीशेनेत्याह ॥ कर्मणेति। ईशेरितेन कर्मणा जन्तुर्जायते कर्मणैव प्रलीयते लयमाप्नोति सुखदुःखं भयं मोक्षं कर्मणा हरिणा। उक्तं बृहद्भाष्ये। कर्मनामा तु भगवान्फलदातृत्वतो हरिरिति। अभिपद्यते ॥ १३ ॥ अस्ति चेदीश्वरः कश्चिदिति श्लोके लोकेशो भवतीश्वरपदार्थश्चेद्प्रभुत्वादिकं न सम्भवति किञ्च फलं मुख्यमिति च प्रतीयत इत्यत ईश्वरपदार्थोऽत्रायमित्याह ॥ फलरूपः सकर्मण इत्याद्यवान्तरेश्वरविषयमिति। फलरूपः स कर्मण इत्यत्र पद्ये आदिभूतमस्ति चेदीश्वरः कश्चिदिति वाक्यमवान्तरो मुख्य ईश्वर एव विषयो यस्य तत्तथाऽतो प्रभुत्वं फलमुख्यता च सम्भवत इति व्याकुर्वते। फलनिरूपकतामात्रं प्रतीयते तच्च निरवधिकेश्वरतां बवाध इत्यत आह ॥ फलरूप इति। फलरूपः स कर्मण इत्यादिपादत्रयं प्रथमपादोदितावान्तरेश्वरविषयमिति वाऽन्वयार्थौ ज्ञेयौ। ततश्चायं मूलार्थः ॥ कर्माणि तानि च पृथक् चेतनान्येव सर्वशः। अचेतनशरीराणि स्वकर्मफलभाञ्जि चेत्युक्तेरचेतनानां स्वतोऽप्रवर्तकमिव चेतनानामस्वतन्त्रतया प्रवर्तकत्वेन कश्चिदीश्वरोऽणुरोद्धव्यः स च न निरवधिक एवेति स्वाभिप्रेतमेयमजानतो नन्दस्य स्वाभिप्रेतमनाविष्कुर्वन्पातनिकाशङ्कां परिहरति ॥ अस्ति चेदिति। ईश्वरः कश्चिदवान्तरोऽस्ति चेत्तर्हि स कर्मणः फलरूपः फलं रूपयति सुखदुःखादिकं निरूपयति वा प्रतिष्ठापयति वैतस्य कर्मण एतत्फलमिति स फलरूपः सोऽपीश्वरोऽपि कर्तारं भजते फलदातृत्वेन वर्तते हि यतः सोऽकर्तुर्न कर्मकर्तस्य प्रभुः फलदाने न समर्थ उक्तानुष्ठाने न फलप्रापणाशक्तः स इत्यर्थः ॥१४॥ किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वभावतन्त्रो हि पुमानित्यत्र स्वभावस्य स्वातन्त्र्यमुच्यते। तथा देहानुच्चावचानिति श्लोके च कर्मैव गुरुरीश्वर इति कर्मणः स्वतन्त्रतोच्यते। अपि च सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतव इति पद्ये च सत्त्वादीनामेव स्वातंन्त्र्यमुच्यत इति भाति न च तद्युक्तं। द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपक्षयेत्यादिमानावमानितत्वादिति स्वयं मानेन तत्तात्पर्यमाह ॥ स्वभाव इति। स्वभावे योग्यतायां कर्मणि पुण्यापुण्यप्रापके सत्त्वादिषु च गुणेषु चात्प्रकृतौ स्थितो विष्णुः सर्वकर्ता न तु स्वभावादिकं स्वतन्त्रं किन्तु तदन्तर्गतो भगवान्कर्ता तेभ्यः स्वभावादिभ्यः सर्वशः सर्वभेदकधर्मैः पृथक् संस्थस्तत्तदन्तर्गतस्य तत्खेदादिवेदवतेति वाऽऽह ॥ सर्वशः पूर्णसुख इति। गुणकर्मस्वभावादिशब्दवाच्यः। सर्वनामा सर्वकर्मेत्यादेः। अपिपदेन फलरूपादिपदवाच्यताऽपि ग्राह्या। तत्र फलरूपपदार्थः किं फलात्मकता किंवा फलवत्ता न द्वयमपि सर्वविलक्षणस्य तत्त्वानुपपत्तेः। अपूर्णतापत्तेश्चेत्यतः फलरूपपदार्थं निरूपयन्मानमुदाहरति ॥ तेनेति। येन कारणेन यस्माद्धरेस्तत्करुणया वा। कर्मण इत्यावर्तते। कर्मणः करोऽस्मिन्नावर्त इति कर्म जीव उदाहृत इति गीतातात्पर्याज्जीवजातस्य। तथा कर्मणः कृतस्य फलं जातं तेन कारणेन कर्मणो भगवानफलमितीर्येन तद्ध दात्तद्धत्त्वाद्धेति। तथा च कर्मफलं रूपयतीति कर्मफलरूप इति विग्रह इति सूचितं भवति। असौ भगवानवान्तरेशवत्कर्मफलवान् न च पूरैव पूर्णत्वादिति भावः। न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि स इत्यवान्तरेश्वरविषयोक्तमप्रभुत्वादिशङ्कां कर्मापेक्ष्यैव वितरति फलमयं किंवाऽनपेक्ष्य। नाद्यः। स्वातन्त्र्यहानिः स्यात्। द्वितीये सर्वसर्वदानं वाऽऽदानमेव वा स्यादिति प्रापय्य तामपाकरोति॥ नास्य किञ्चिन्न शक्यत इति। अस्यानेन किञ्चिन्न शक्यमिति न सर्वं शक्यं कर्म कारयित्वैव तत्तद्योग्यं फलं यच्छति न कुर्यामित्यवस्थानं दुःखस्थं। न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्मेत्यादेः। तर्हि तथा तत्तथा कर्म कारयितुर्भगवतोऽन्ततो वैषम्यादिदोषानुषङ्ग इति तु वैषम्यनैर्घृण्ये नेत्यादिसूत्रे न वैषम्यनामकमित्यादिना निराकार्यम्। अवान्तरेश्वरे कर्मफलरूपत्वं रूपशब्दप्रवृत्तिं निरूपयति ॥ तदन्येति। भगवदितरावान्तरेशानां सदा यतस्तद्वशत्वं तत्तत्कर्माधीनत्वं। अतस्तेषां कर्मणः फलरूपत्वं तदप्येतत्कर्ममर्म मत्वा फलं दिशेतीतिशशासनादेव तत्तद्वशत्वमीशानामवान्तराणामित्याह। तेषां विष्णुं विना कश्चिदप्यन्यत्कर्मवशत्वमपि न नास्तीति। तुश्च स्वस्वोत्तमज्ञाप्यधर्मैरपेक्षणीयेति विशेषसूचकः। अन्यकर्मवशत्वं जडकर्मवशत्वं न तदन्तर्गतस्वोत्तमवशत्वं तेषां तु। तेषां तु तेषामुत्तमानामपि विष्णुं विनेति कृष्णेनोच्यमाना न तत्सत्क्रिया युक्ता। न चाघुक्तं वदति यदुनाथः स

इति सम्भवतीत्यतः प्रमाणेन तत्तात्पर्यमाह ॥ स चेति। ब्राह्मण इति गीरित्यादी येषां तानि च तानि नामानि यस्य सः। अज उत्पत्तिरहितः परः क्षराक्षरविलक्षणो विष्णुरेतस्माद्ब्राह्मणादिनामवत्त्वहेतोः कृष्णः शक्रस्य कारणात्। ल्यब्लोपनिमित्ता पञ्चमी। कारणं तदस्वातन्त्र्यादिकमिव स्वस्वातन्त्र्यादिकं च प्रदर्श्य विमदाय मदाभावाय गिर्यादिस्थितमात्मानं स्वयमेव वल्लवैर्गोपालैः पूजयामास। एतस्मात्कारणादित्यन्वयने कारणशब्दो व्यर्थ इति सत्येवमन्वयने सार्थक इति ज्ञेयं। इति च तन्त्रभागवत इति शेषः॥ ततश्चायमस्ति चेदीश्वरः कश्चिदित्यारभ्याध्यायावसिति मूलार्थः॥ अवान्तरेश्वरप्रभावं प्रतिपिध्य स्वप्रभावमर्थात्साधयति॥ किमिति। इन्द्रेणेह भूतानां क उपकारस्तानि भूतानि किमधीनानि भूतानीत्यत आह॥ स्वस्वेति॥ स्वानि स्वानि यानि कर्माणि तान्यनुवर्तितुं शीलं येषां तानि नृणां स्वभावविहितं योग्यतायातमन्यथाकर्तुं सुखदुःखं वा स्वेच्छानुसारेण योजयितुं त्याजयितुं वाऽनीशेनासमर्थेनावान्तरेश्वरेण किं न किमपि प्रयोजनं। स्वभावादिपदानि तत्स्थत्वात्तत्स्वाम्याद्वा माधवाभिधानानीति ज्ञेयं। तत्पक्षे स्वस्मिन्भावः स्थितिर्यस्य स स्वभावः। स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति श्रुतेः। स्वाख्यो भावोऽनन्यापेक्षनित्यसत्तावान्वा॥ १५॥ हि यतो जनः स्वभावतन्त्रः स्वभावो हरिस्तन्त्रं कारणं यस्य सः। तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात्कारणं च परिच्छद इति विश्वः। अतः स्वभावं हरिमनुवर्तते। इदं सदेवासुरमानुषं सर्वं। स्वभावे तिष्ठतीति तत्तथा। हिशब्दोऽस्य सर्वस्यार्थस्य तन्त्रभागवतावगतत्वसूचकः॥ १६॥

श्रीसुबोधिनी

प्रथमतो भगवान् हेतुपक्षं वारयति कर्मणेति, हेतुवादे हृदयारूढे साक्षाद्ब्रह्मवादो न वक्तव्य इति तेषां तन्निष्ठात्याजनार्थं कालकर्मस्वभाववादा उपपन्नाः, तत्रापि कालवादो गूढः शीघ्रं हृदयारूढो न भवत्यतो ज्योतिर्विद एव तत्र निपुणाः कर्मस्वभाववादौ तूपपत्तावुत्पत्तौ चोपयुज्येते अत उपपत्त्यर्थं प्रथमतः कर्मवादमाह कर्मणा जायत इति, यादृशं हि शुभाशुभं कर्म तेन कृत्वा प्राणी देवस्तिर्यङ् मनुष्यो वा भवति यतः सर्वं जायते यस्मिन् प्रतिष्ठितं येन च लीयते तदेवोपास्यं भवत्यतः प्राणी कर्मणा जायते कर्मणैव च म्रियते, शुभाशुभभोगे समाप्ते विपरीते कर्मणि म्रियते, स्थितावपि कर्मैव हेतुरित्याह सुखं दुःखमिति, जीवन् प्राणी कदाचित् सुख प्राप्नोति कदाचिद् दुःखं प्राप्नोति कदाचिद् भयं कदाचिद् क्षेममिति एतत् सर्वं कर्माभावे नोपपद्यते ॥१३॥ ननु कथं कर्मणः कारणत्वं जडं हि कर्म फलं हि चेतनस्य चेतन एव प्रयच्छति स्वामिसेवकयोस्तथादर्शनात् तस्मादीश्वरवाद एव सत्यो न कर्मवाद इति चेत् तत्राहास्ति चेदिति, आदावीश्वर एव नास्ति प्रयोजनाभावत्, कर्मसिद्धान्तानभिज्ञो हि मूर्ख ईश्वरं मन्यते, वेदो हि बोधयति कर्म फलसाधनत्वेन कृते च कर्मणि फलं भविष्यतीति, यथा भोजने तृप्तिर्यथा वीजावापे फलं यथा शयने निद्रैवमलौकिकेपि कर्मणैव फलं भवति, न चानधिष्ठितं कथं साधयेदिति वाच्यं, चेतनो हि जीवस्तस्याधिष्ठाता, न च कर्मानित्यमिति कथं फलसाधकं? कर्मणो नित्यत्वात् तदानीमेव सूक्ष्मस्वर्गजननाद् वीजाद् गर्भाधानवददृष्टद्वारा वा, अन्यथानुपपत्त्या कल्पितमदृष्टं तादृशमेव कल्पनीयं यदितरानधिष्ठितमेव फलं जनयतीति; अस्तु वेश्वरः कल्प्यमानोप्यकिञ्चित्कर एव सूपकारवज् जीवशेष एव भवेद् यादृशं यस्य कर्म तादृशं तस्मै सिद्धं कृत्वा प्रयच्छतीति, तदाहान्यकर्मणां जीवकर्मणां फलनिरूपकः ईश्वरः कश्चिदस्ति चेत् सोपि कर्तारमेव भजति तत्कर्मफलं तत्कर्त्रे प्रयच्छति नान्यस्मै, सोपि न ह्यकर्तुः प्रभुः, स्वतन्त्रेश्वरवादे तु वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामातः सर्वथेश्वरवादः समीचीनो न, हैतुकोयमीश्वरो निषिध्यते न प्रामाणिकः, तस्य हेतुनापि निषेधासम्भवात्॥ १४॥ न ह्यप्रयोजकोपि भर्ता निषेद्धुं शक्यते तस्मात् प्रमाणाभावे हेतुसिद्ध ईश्वरो नाङ्गीकर्तव्यः, तदाह किमिन्द्रेणेति इह कर्मफलदाने स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनां भूतानामिन्द्रेण किं कार्यम्? कर्मानुवृत्तिरीश्वरेणापि निषेद्धुं न शक्यत उपजीव्यत्वादत ईश्वरं साधयन्ननीश्वरमेव साधयति तदाहानीशेनान्यथा कर्तुमिति, अन्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थेनेश्वरेण किं प्रयोजनम्? ननु कर्मकरण ईश्वरो हेतुर्भविष्यति 'तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति तमसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषती'तिश्रुतेः, अयमपि पक्षो नाङ्गीकर्तव्योन्यथोपपत्तेः, कर्मकरणे स्वभाव एव हेतुः, यदि सत्त्वमभिव्यक्तं साधु कर्म करोति रजश्चेन् मध्यमं तमश्चेदधममिति ततो नृणां स्वभावविहितमेव कर्म स्वभावेनैव सिद्धं, अन्यथा कर्तुं समर्थो न भवतीश्वरोतो नाङ्गीकर्तव्य इत्यर्थः॥ १५॥ ननु स्वभावप्रबोधनार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्य इति चेत् तत्राह स्वभावतन्त्रो हि जन इति, यदि स्वभावः परिच्छिन्नो देशतः कालतश्च स्यात् तदा तत्प्रबोधार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्यः स्यात् स्वभावस्त्वादौ जीवं वशीकरोति तदा जीवः स्वभाववशगो भवति तदा बन्धे पतित इव स्वभावतन्त्रः सन् स्वभावमेवानुवर्तते यस्य यः स्वभावो भवति सात्त्विकादिः, नन्वस्वभाववशानामर्थ ईश्वरोङ्गीक्रियतां तत्राह स्वभावस्थमिदं सर्वमिति, सर्वमेव जगत् स्वभाव एव तिष्ठति, देवाः सात्त्विका असुरा राजसा मानुषास्तामसाश्त्रिविधैरपि जीवैः सहितं जगत् स्वभावस्थमेव॥ १६॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कर्मणेत्यत्र उत्पन्ना इति वक्तव्यत्वेन भगवन्मनसीतिशेषः॥ १३॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यदुक्तं 'पर्जन्यः फलभावनः. इति; तत् प्रतिक्षेप्तुकामस्तावज्जन्मादिसर्वस्य कर्माधीनत्वमाह– कर्मणेति। जन्तुर्जीवमात्रं उत्पद्यते, लीयते म्रियते, सुखादिकं च कर्मणैवाभिपद्यते प्राप्नोति। एवकारेणान्यस्य तत्र हेतुत्वं निराकरोति। क्षेमं निर्भयत्वम्।

'शास्त्रेषु युक्तिसिद्धोऽयमर्थ' इत्याशयेनाह—हीति ॥ १३ ॥ ननु 'कर्मणा तज्जनितापूर्वस्य च जडत्वात् कथं तत एव केवलाद्विचित्रफलसिद्धिः, अतः कर्मफलदाता सर्वज्ञ ईश्वरोऽवश्यमपेक्ष्य' इत्याशङ्क्याह—अस्ति चेदिति। अन्यतमस्य कर्मणां फलं रूपयति कल्पयति ददातीति तथाभूतः कश्चिदीश्वरोऽस्ति चेत्तर्हि सोऽपि कर्तारमेव भजते, यो यत्कर्म करोति तस्मा एव तत्फलं ददाति स ईश्वरः। कर्माकर्तुः प्रभुः फलदाता तु नैव भवति। हिशब्दद्वयमवधारणे ॥ १४ ॥ अतः सर्वस्य कर्माधीनत्वात् स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनां भूतानामिह लोके इन्द्रेण किं प्रयोजनं सिद्ध्यति ? न किमपीत्यर्थः तत्र हेतुमाह—अनीशेनेति। नृणां स्वभावेन पूर्वसंस्कारेण विहितं कारितं कर्म तदधीनं सुखदुःखादिकं च अन्यथा कर्तुं विपरिवर्तयितुमनीशेन असमर्थेनेत्यर्थः॥ १५॥ स्वभावाधीनत्वमेव स्पष्टयति --स्वभावतन्त्र इति। अयं जनः प्राणिमात्रं स्वभावतन्त्रः स्वभावाधीन एव। हीति एवार्थे। अतः स्वभावमेवानुवर्तते स्वभावानुसारेणैव लौकिकालौकिकधर्माधर्मादिक्रियासु प्रवर्तते इत्यर्थः। नच "कश्चिदेवैवं स्वभावाधीनः' किंतु सर्वमपि जगत्' इत्याह—स्वभावस्थमिति ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कर्मणेति ॥ जन्तुर्जीवमात्रं कर्मणा जायते कर्मणैव लीयते म्रियते सुखं दुःखं भयं क्षेमं च कर्मणैवाभिपद्यते। मीमांसाशास्त्रप्रामाण्याज्जडादपि कर्मणः फलाङ्गीकारः ॥ १३ ॥ केचित् कर्मफलदमीश्वरं मन्यन्ते तान्निराकरोति—अस्तीति ॥ स्वयं कर्मभिरलिप्तोऽप्यन्यस्य कर्मणां फलं रूपयति ददाति। तादृशः ईश्वरः कश्चिदस्ति चेत् तर्हि सोऽपि कर्त्तारमेव भजते। यो यत्कर्म करोति तस्मा एव तत्फलं ददाति। हि यतः स ईश्वरः कर्माकर्तुः प्रभुः फलदाता तु नहि नैव भवति ॥ १४ ॥ किमिति ॥ अतः स्वं स्वं कर्मानुवर्त्तिनां भूतानामिह लोके नृणां स्वभावेन पूर्वसंस्कारेणैव विहितं कारितं कर्म तदधीनं सुखदुःखादिकं चान्यथा कर्तुं विपरिवर्तयितुमनीशेनासमर्थेन इन्द्रेण किं प्रयोजनं सिद्ध्यति न किमपीत्यर्थः ॥ १५ ॥ एतद्विवृणोति—स्वभावेति ॥ अयं जनः प्राणिमात्रं स्वभावतन्त्रः स्वभावाधीन एव। हीति एवार्थे। अतः स्वभावमनुवर्त्तते अनुसरति। अतः सदेवासुरमानुषं देवादिसहितमिदं सर्वं जगत् स्वभावस्थं स्वभावाधीनम्। प्रवृत्तेः संस्काराधीनत्वात् किमन्तर्यामिणापि इति भावः ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं वेदविरुद्धेन कर्मवादेन देवानामसमर्थत्वं कर्मणस्तु समर्थत्वं च निरूपयन्नाह कर्मेति शुभेनाशुभेन च कर्मणा ॥ १३ ॥ अन्यकर्मणां अन्येषामीश्वराद्भिन्नानां जीवानां यानि कर्माणि तेषां फलरूपी फलानि रूपयति प्रकटीकरोतीति तथाभूतोजीवकर्मफलप्रदाता यः कश्चिदीश्वरोस्ति चेत्तर्हि सोऽपि कर्त्तारं भजते कृतानां कर्मणां फलप्रदानेन कर्मकर्त्तुः सुखदुःखजनको भवतीत्यर्थः कर्मणामकर्त्तुः स ईश्वरः प्रभुः सुखदुःखदो न भवति ॥१४॥ कर्मपराधीनत्वाज्जीवानां देवैः किमुत्स्यादित्याह किमिति। इह लोके स्वं स्वकीयं स्वकीयं कर्मानुवर्त्तिनां तदनुसृत्य वर्त्तमानानां भूतानां देहिनामिन्द्रेण किं स्यात् कथंभूतेन तेन नृणां स्वभावविहितं स्वभावेन प्राचीनसंस्कारेण विहितं निर्मितं यत्सुखदुःखं तदन्यथा कर्त्तु अनीशेनासमर्थेन ॥ १५ ॥ तदेव विस्तरेणाह स्वे ते स्वभावतंत्रः स्वस्मिन्भावः सात्त्विकादिकर्मानुसारिणी वासना स्वभावस्तस्य तंत्रो धीनो जनः स्वभावं प्राचीनसंस्कारानुसारिणीं प्रकृतिमनुवर्त्तते अनुसृत्य वर्त्तते देवादिसहितं सर्वमिदं विश्वं स्वभावस्थमेवास्ति ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अथ केचित् पुनः कर्मतः फलसिद्धिप्रतिपादनरूपातिसाहसभीताः कर्मपरतन्त्रमीश्वरं मन्यन्ते तन्मतमनूद्य निराकरोति॥ अस्ति चेदीश्वर इति ॥ अन्येषामीश्वराद्भिन्नानां जीवानां यानि कर्माणि तेषां, फलानि रूपयति प्रकटीकरोतीति फलरूपी फलप्रदाता, यः कश्चित्, ईश्वरः स्वयं कर्मभिरलिप्तः कश्चनेश्वर इत्यर्थः। अस्ति चेत्, अस्तु स ईश्वरोऽपि, कर्त्तारं हि कर्मकुर्वाणमेव, भजते। फलदानेनेति शेषः। कृतकर्मभ्य एव फलं ददातीत्यर्थः। स चेश्वरः सन्नपि, अकर्त्तुः प्रभुः, न हि नैवास्ति। अकर्तृभ्यः फलं दातुं न प्रभवेदित्यर्थः ॥ १३ ॥ एवं कर्मण एव फलसिद्धेः सत्त्वाज्जीवानां तत्पारतन्त्र्येण वर्त्तमानत्वात् तादितरस्याजागलस्तनतुल्यत्वाभाक्त्वाच्च न देवतया कृत्यमस्तीत्याह ॥ किमिन्द्रेणेति। नृणां, स्वभावविहितं प्राक्तनसंस्कारेणैव विहितं यत्कर्म, तदन्यथा कर्तुं, अनीशेन इन्द्रेण, इह संसारे, स्वं स्वं कर्म, अनुवर्त्तिनां, भूतानां प्राणिनां, किम्। इन्द्रेण किं कृत्यमस्ति न किंचित् ॥ १४॥ नन्विन्द्रस्यैवमकिंचित्त्वं भवतु नाम कर्मणोऽपि प्रवृत्तिरन्तर्याम्यपेक्षिकैवास्त्यतः कथं सर्वथा देवताया अनुपयोग इत्युच्यते इत्याशङ्क्याह ॥ स्वभावतन्त्र इति ॥ अयं जनः, स्वभावतन्त्रः प्राक्तनसंस्काराधीनः, हि अतः, स्वभावं, अनुवर्त्तते स्वभावमनुरुध्य प्रवर्त्तते। अतः सदेवासुरमानुषं देवासुरमनुष्यसहितं सर्वं, इदं विश्वं, स्वभावस्थं एव देवा अपि प्राक्तनसंस्काराधीना यतोऽतः प्रवृत्तेः संस्काराधीनत्वात्किमन्तर्यामिणेत्यर्थः। अस्यायं भावः। अन्तर्यामीतीश्वरः सोऽपि कर्मणैव यमयन् साक्षीति। संस्कारस्यापि कर्मजन्यत्वादाद्यः कश्चित्प्रवर्त्तकोऽपेक्ष्यते एवेति चेत्, प्रपञ्चस्यानादित्वान्न तदपेक्षा ॥ १५ ॥ तस्मात् स्वभावतो निष्पन्नत्य कर्मण एव सर्वकारणत्वात् कर्मणैव सृज्यमित्याह देहानिति सार्द्धेन ॥ देहानिति ॥ जन्तुः, उच्चावचान्, देहान्, कर्मणा प्राप्य, उत्सृजति।

पूर्वं शत्रुः, पश्चात् मित्रं, दृश्यते, मित्रमपि उदासीनः, दृश्यते। अतः तत्कर्म एव कर्मनिमित्तकमेवेत्यर्थः। गुरुरपि, ईश्वरोऽपि, कर्मैव ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कर्मणेति : १०.२४.१३.

सुखं वा दुःखं वा धनमधनता वा स्वसुहृदां सदास्थाऽनास्था वा सुहृदरिपदैर्वा व्यवहृतिः ।
तथा प्राप्त्यप्राप्ती समभिलषितस्यैवमखिला व्यवस्थाऽहं मन्ये भवति भुवि भोगाय विधितः ॥ १४ ॥
पत्नी संसृतितारणी गुणवती पुत्रः कुलोद्धारको वर्ष्मानामयमिष्टमन्नमुचितं वासोऽपि पश्वादयः ।
विद्याद्रव्यमजातशत्रुवसतिः पूर्णायुरेतद् ध्रुवं प्रारब्धैकनिदानमेतदवनौ नैवानुमन्यते कः ॥ १५ ॥
विधौ सति च केवले स्फुटललाटलेखे भवत्यभीप्सितमनिष्टतोऽप्यरमिहेष्टतोऽप्यन्यथा ।
स राहुरगमत् सुधाभुगपि यत्तदा पञ्चतां पिबन्नपि विषं भवो भुवि बभूव मृत्युञ्जयः ॥ १६ ॥
अहो जनक हे जना विदितमस्ति वः सर्वमप्यथापि भृशमुच्यते निखिललोकदृष्टं यतः ।
गुरोर्निपतनं लघोरुपरि यानमुच्चावचं क्रिया दिशति तत्क्षितौ फलमितीव मे निर्णयः ॥ १७ ॥
असाधौ दुष्टत्वं सति सुजनता योषिति तथा सतीधर्माधर्मौ मनसि चलताऽद्रौ च गुरुता ।
समभ्यस्तं नैतेरकथि न च वा कैरपि परैस्ततो मन्ये गोपा निखिलमपि नैसर्गिकमिदम् ॥ १८ ॥
अग्नावौष्ण्यमनौष्ण्यमप्सु धरणौ सर्वंसहत्वं सदागामित्वं पवने यथा च सहजं क्षाराम्बुधेर्वारिणः ।
पीयूषाधिकमाधुरीकरणमप्यब्देऽपि तद्वत्पितः सिद्धा वपुष्कता स्वभावत इतीन्द्रेणात्र किं साध्यते ॥ १९ ॥

अस्ति चेदिति : १०.२४.१४.

इन्द्रः प्रभुर्यदि सहस्रभगप्रयुक्तं कस्माद् भुनक्त्यसुखमङ्ग सुदुःसहं तत् ।
अन्वीहते कृपणवत्किमु वाऽन्नमस्मत् तत् तात कर्मकलितः सकलोऽपि लोकः ॥ २० ॥
स्वातन्त्र्यादुत कर्मणा सुरपदं भुङ्क्ते स युष्मन्मतमाद्यं चेदसुरात्पराभवमहो प्राप्नोति विभ्यत्कुत ।
अन्त्यं चेत्समुपागतं मम मतं कर्मैव पूज्यं ततो यः स्यादत्र शतक्रतुः स भविता शक्रः सुराधीश्वरः ॥ २१ ॥

किमिन्द्रेणेति : १०.२४.१५

उत्पत्तावथवनेऽथवाऽस्य विलये कर्तृत्वमस्मिञ्जने कुत्राश्रावि शतक्रतोर्यदधुना यत्नस्तदीयार्जवे ।
पर्जन्याद्यमौषधीर्जनयतीत्येष ग्रहश्चेत्तदा भोक्तृप्राक्तनकर्मभिः स्वफलदैः स्थेयं विधायात्र किम् ॥ २२ ॥
स्वोपकारिणि स चेदुपकारोऽस्याग्रहस्तदिह किं न करोति । रत्नदायिनि किलामृतदेऽब्धौ क्षारचिह्नहरणादुपकारम् ॥ २३ ॥

कृष्णप्रिया

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—पिताजी ! प्राणीमात्र निज निज कर्म के अनुसार उत्पन्न होते हैं और मृत्यु पाते हैं। सुख दुःख, भय कल्याण, उन्हें कर्म के अनुसार ही मिलते हैं ॥ १३ ॥ पिताजी ! यदि जीव को कर्मों का फल प्रदाता ईश्वर है तो भी वह परमेश्वर कर्म करने वाले को ही कर्म के अनुसार फल देता है जो मनुष्य कर्म नहीं करता उसका वह नियन्ता नहीं है ॥ १४ ॥ इसलिये जब जीवों को निज निज कर्मों का अनुसरण करना पड़ता है, तब उनको अल्पवीर्य इन्द्र से क्या प्रयोजन ? पूर्व संस्कार के अनुसार मनुष्यों के भाग्य में जो लिखा है उस फल को इन्द्र कभी पलट नहीं सकता अथवा तो विपरीत नहीं कर सकता ॥ १५ ॥ मनुष्य मात्र स्वभाव के अधीन है। स्वभाव पूर्व संस्कारों का ही स्वरूप है। जीवमात्र स्वभाव का ही अनुगमन करेंगे। सात्विक देवलोग, राजस असुर लोग एवं तामस मनुष्य लोग ये सब मिल कर स्वभाव के वशीभूत है और स्वभाव के अनुसार ही चलता है ॥ १६ ॥

देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा । शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः ॥ १७ ॥
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् । अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥ १८ ॥
'आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपधावति' । न तस्माद् विन्दते क्षेमं 'जारान्नार्यसती यथा ॥ १९ ॥
वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः । वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २० ॥

१. "आजाव्यैक" श्लोकः "न नः पुरो" श्लोकस्य पश्चाद् वर्तते । २. धावति—वीर. विज. ; जीवति—श्रीधरादयः । ३. जारं वा—श्रीधर. वंशी जीव. वीर. विज. विश्व. रा. च. मु. सु. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—जन्तुः कर्मणा उच्चावचान् देहान् प्राप्य उत्सृजति, कर्मणा शत्रुम् मित्रम् उदासीनः भवति, कर्म एव गुरुः एवम् ईश्वरः ॥ १७ ॥ तस्मात् स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् कर्म सम्पूजयेत्, येन अञ्जसा वर्तेत तत् एव हि अस्य जीवनम् ॥ १८ ॥ यः तु आजीव्यैकतरम् भावम् अन्यम् उपजीवति, सः, यथा असती जारात् नरात् क्षेमम् न विन्दते तथा तस्मात् क्षेमम् न विन्दते ॥ १९ ॥ विप्रः ब्रह्मणा वर्तेत, राजन्यः भुवः रक्षया वर्तेत, वैश्यः तु वार्तया वर्तेत शूद्रः तु द्विजसेवया जीवेत् ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्मात्स्वभावतो निष्पन्नस्य कर्मण एव सर्वकारणत्वात् कर्मैव पूज्यमित्याह। देहानिति सार्धेन ॥ १७ ॥ संपूजयेत्सं मानयेत्। ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वात्कर्मणः कथं देवतां विना सिद्धिरित्याशंक्य कर्मागमात्रं देवतेति पक्षमुपसंहरन्नि हेतुवादमाश्रित्यान्यामेव देवतां समर्थयते। अंजसेति ॥ १८ ॥ हेतुवलेनैव विपक्षे दोषमाह। आजीव्येति। उपजीवति सेवते ॥ १९ ॥ स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टांतत्वेन वर्णानां वृत्तिभेदमाह। वर्त्तेतेति। ब्रह्मणा वेदाध्यापनादिना ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यतः स्वभावायत्तं सर्वं तस्माद्धेतोः। शुभं कर्म मित्रम्, अशुभं शत्रुः, उभयविलक्षणविपणाक्षक्रीडादि उदासीनः। अंतःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वाद्गुरुः "कषायपक्तिः कर्माणि ततो ज्ञानं प्रवर्तते" इति श्रुतेः। यागादिरूपमैश्वर्यहेतुत्वादीश्वर इति विवेकः ॥ १७ ॥ यतः कर्मैव मुख्यं सर्वतः तस्मात्। स्वभावस्थः प्राक्तनसंस्कारानुविधेयः। स्वकर्मकृत् विहितकारी सन्। पुनः जडत्वात्केवलकर्मणः फलदातृत्वमघटमानं मत्वा शंकते—नन्विति। अंगं देवतांगि कर्मेति पक्षे, तुष्यतु दुर्जनः इति न्यायमाश्रित्येयचशब्दं प्रयुंक्ते—उपसंहरन्निवेति। वस्तुत उपसंहारस्तु यागांत एवेति हेतुवादं तर्कबलेन हेत्वंतरं संभाव्य, अन्यां शैलगवादिरूपाम्। अंजसा तत्त्वेन। 'अंजसा त्वरिते तत्त्वे' इति यादवः। येन अनिरुक्तेन कर्मणा वर्तेत सदा तिष्ठेत्। अस्य पुरुषस्य तदेव सदा स्थितिहेतुः। {दैवतम् कुलदैवम्। हि प्रसिद्धम् ॥ १८ ॥ विपक्षे एतत्पक्षानंगीकारे। आजीव्य आश्रित्य। एकतरं मुख्यं भावं देवादिरूपम्। अन्यम् गौणम्। तस्मात् गौणात् ॥ १९ ॥ स्ववृत्तिम् निजजीवनम्। आदिना यागाध्ययनादिग्रहः। यद्वा—ब्रह्मणा तपसा कृच्छ्रचांद्रायणादिरूपेण 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः। वार्तया कृष्यादिरूपया ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्राप्योत्सृजति प्राप्नोति त्यजति चेत्यर्थः। शत्र्वादयोऽपि कर्मैव एकस्यैव कदाचिच्छत्रुतायाः कदाचिन्मित्रतायाः कदाचिदुदासीनतायाश्च दर्शनात्। ननु, ज्ञानं विना कर्मसु अप्रवृत्तेः ज्ञानार्थमुपदेष्टारमवश्यमपेक्ष्यते तत्राह—गुरुरिति। अदृष्टं विनोपदेशाप्राप्तेः प्राप्तेऽप्युपदेशे तत्फलासिद्धेः। ननु, कर्मणो जडत्वेन तत्फलदाता प्रभुरपेक्ष्यते तत्राह—ईश्वरश्चेति। ईश्वरस्यापि कर्मानुगत्वात् तस्यैव तादृशशक्तेः ॥ १७ ॥ तस्माद्गुरुत्वेश्वरत्वादेर्हेतोः स्वभावस्थः संस्कारत एव स्वयं कर्म निष्पद्यते इत्येतद्दृष्टिः सन्निस्यर्थः। यद्वा, यस्मात् स्वभाव एव कर्मान्तरप्रवर्तकः कर्मैव च फलदात् तस्मात् केनचिद्दोषेण ब्राह्मणाद्यनर्हभावान्तरात्प्राप्तेऽपि यत्नात् स्वभावस्थस्तदर्हभावस्थ एव सन् स्वकर्मकृत् तदर्हकर्मकृदेव च सन् कर्मेति कर्माजीव्यमेव सम्पूजयेत् ननु बहिरङ्गदेवादीनित्यर्थः। अग्रे तथैव व्यक्तेः तदेवाह—अञ्जसेति। हि यतः सुखपूर्वकं येन या वर्त्तेत यत् य आजीव्येत् तदेवास्य जनस्य दैवतम् ॥ १८ ॥ एकतरं भावम् एकं पदार्थम् आजीव्य जीवनोपायं कृत्वा तस्मादन्यस्मात् जारादिति तत्सामानाधिकरण्येन दृष्टान्तः जारमिति क्वचित्पाठः तथापि तदेव तात्पर्यं पित्रादिष्वरयन्तौद्धत्यमिदं तत्कर्तृकनीचाराधनजेन कोपेनैवेति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥ अधुना स्वकर्माजीव्यपूजामेव साधयितुमादावात्मनो गोवृत्तिमाह—वर्तेतेति द्वाभ्याम् ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्राप्योत्सृजति प्राप्नोति त्यजति चेत्यर्थः। देहोत्सर्ज्जनस्य मुख्यतयोक्तिर्जीवनकालस्याल्पत्वबोधनाय, तच्च तेषां निर्व्वेदोत्पादनेनाग्रहत्याजनार्थं (भा० १०।२४।१३) 'कर्म्मणा जायते जन्तुः' इत्यादिना पूर्व्वमुक्तस्याप्युपपुनरुक्तिर्जन्ममरणयोः कर्म्माधीनत्वदार्ढ्याय, देहवैचित्र्यमपि तदधीनमेवेति बोधनाय वा, शत्र्वादयोऽपि कर्म्मैव, एकस्यैव कदाचिच्छत्रुतायाः कदाचिन्मित्रतायाः कदाचिदुदासीनतायाश्च दर्शनात्, ईदृग्नियमो विचित्रकर्म्महेतुक एवेति कार्य्यकारणभेदतस्ते कर्म्मैवेत्यर्थः। ननु ज्ञानं विना कर्म्मस्वप्रवृत्तेर्ज्ञानार्थमुपदेष्टावश्यमपेक्ष्यते, तत्राह—गुरुरिति अदृष्टं विनोपदेशाप्राप्तेः, प्राप्तेऽपि तत्फलासिद्धेः ॥ १७ ॥ तस्मात् कर्म्मणो जडत्वेन तत्फलदाता प्रभुरपेक्ष्यते, तत्राह—ईश्वरश्चेति। कर्म्मण एव शक्तिमत्त्वात् तत्प्रतिपादितमेव ॥ १७ ॥ तस्मात् गुरुत्वेश्वरत्वादेर्हेतोः, स्वभावस्थः संस्कारत एव स्वयं कर्म्म निष्पाद्यते इत्येतद्दृष्टिः सन्नित्यर्थः। इत्थमन्तर्यामिप्रेरणनिराकरणदार्ढ्याय, यद्वा, संस्कारार्थं कर्म्माभिनिवेशाय, ननु तर्हि संस्कारेणैव कर्म्मपूजापि स्यात्, किं तत्र सम्पूजयेदिति विधिना ? तत्राह—

स्वकर्म्मकृत् कर्म्मण एव सर्व्वकारणत्वबुद्ध्या निजकर्म्मकृत् सन्नित्यर्थः। अन्यथानभिनिवेशेन कर्म्मासम्पत्त्या फलासिद्धेः इति कर्म्मानुष्ठानस्यावश्यकताभिप्रेता, यद्वा, सात्त्विकादिस्वभावे वर्त्तमानस्तदनुरूपं स्वकर्म्म कुर्व्वाणोऽपि कर्म्मैव सम्पूजयेत्, न तु तत्तत्स्वभावदेवतादिकमित्यर्थः। यद्वा, स्वभावस्थः स्वकर्म्मकृच्च सन्निति निजस्वभावातिक्रमणप्रयासस्य तथान्यकर्म्मशिक्षाप्रयत्नस्य च परिहारेण देवतापूजनात् कर्म्मपूजनस्य सुकरत्वं दर्शितम्, यद्वा, संपूजयेदित्यत्र हेतुः—स्वभावस्थः, संस्काराधीनः, अतः संस्कारजन्यस्य संस्कारमूलस्य वा कर्म्मणः पूजोपपन्नेति भावः। स्वकर्म्मकृच्च स्वकर्म्मैकभोगकर्त्तेत्यर्थः। अतो निजोपजीव्यपूजा युक्तैवेति भावः। तदेवाह—अञ्जसेति। हि यतः, येन यः सुखं वर्त्तेत, तदेवास्य जनस्य दैवतम्॥ १८॥ एकतरं भावमेकं पदार्थमाजीव्य जीवनोपायं कृत्वा अन्यस्मात् सुखभोगादिकं करोतीत्यर्थः। तस्माद्धेतोः, तस्मादित्यन्यस्माद्वा क्षेमं सुखं मंगलं वा स नाप्नोति, अतोऽस्माभिर्निजोपजीव्यानां गवां तदुपजीव्यस्य च श्रीगोवर्द्धनस्य पूजा कार्य्येति भावः। इति (८ श्लो०) 'पर्ज्जन्यो भगवान् इन्द्रः' इत्यादिकं परिहृतम् तेऽभिवर्षन्तीत्यादेरन्ते परिहारेणैव सर्व्वापेक्ष्यसमाप्तेः॥ १९॥ अधुना (१० म० श्लो०) 'तच्छेपेण' इत्यादिकं परिहरन् निजोपजीव्यपूजामेव सुसाधयितुमादावात्मनो गोवृत्तित्वमाह—वर्त्तेतेति द्वाभ्याम्। यद्यपि द्विजास्त्रैवर्णिकास्तथापि प्राधान्याद् विप्रा ज्ञेयाः, त्रैवर्णिका एव वा॥ २०॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

स्वभावमनुवर्त्तेत इत्यनेन प्रवृत्ताख्यकर्मणः स्वभावानुवर्तित्वमुक्तं कर्मणा जायते जन्तुरित्यनेन कर्मणोपि जन्मादिनिमित्तत्वमुक्तं तदुभयमुपपादयन् कर्मैव बहुमन्तव्यमित्याह—देहानिति। जन्तुर्जीवः कर्मणा स्वभावानुगुणेनेति शेषः। नानाविधान् कर्मानुरूपान् देहान् प्राप्य त्यजति अरिमित्रादिकञ्च कर्मैव कर्मकृतमेवेत्यर्थः। ईश्वरः इन्द्रादिगतं सावधिकमीश्वरत्वमपि कर्मकृतमेवेति भावः॥ १७॥ यतः कर्मैव सुखदुःखादिहेतुस्तस्मात्स्वभावस्थः पुमान् स्वकर्मकृत् स्वस्वभावानुरूपकर्मशीलः कर्म पूजयेद्बहुमन्येत कर्मेति द्वितीयान्तम् अहो कर्मणो वैभवमिति श्लाघेतेत्यर्थः। किञ्च वयं केवलं वनौकसः द्विजानामाशिषः गाः पर्वतं चोपजावामस्ततस्त एवाराध्या इत्यभिप्रयन्नन्यथा सदृष्टान्तमनर्थमाह—अञ्जसेति सार्द्धेन। येन अञ्जसा सुखं वर्त्तेत जीवेत तदेवास्य जिजीविषोर्दैवतं दैवतत्वेन द्रष्टव्यं तद्वदाराधनीयमिति यावत्॥ १८॥ यस्त्वेकमन्यतरं भावं पदार्थमुपजीव्य अन्यतरमुपधावत्यनुवर्त्तते भजत इति यावत्। स तस्मादुपजीव्यबुद्ध्या आराध्यमानात् क्षेमं न विन्दते असती पुंश्चली नारी पतिमुपजीव्यमनाराध्य जारमनुवर्त्य यथा न तस्मात् क्षेमं विन्दते तद्वत्॥ १९॥ किञ्चास्मद्वृत्तिरिन्द्रियागानपेक्षा चेति विवक्षुस्तावत्स्ववृत्तिं वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्तिभेदमाह—वर्त्तेतेति। विभो ब्रह्मणा वेदेन वर्त्तेत वेदाध्ययनादिनोपजीवेदित्यर्थः। राजन्यो भुवः रक्षया वार्त्तया वैश्यो वर्त्तेत द्विजसेवया त्रैवर्णिकसेवया शूद्रः वर्तेत॥ २०॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ननु, विष्णोः सर्वनामवत्त्वे एकस्यैवोच्चनीचदेहयोगवियोगप्राप्त्या देवदत्तादिशेषाभावेन सर्वं तदधीनमिति वक्तुं न शक्यते इति तत्राह—देहानिति। दुःखयतीति दुःखी तद्दुःखस्वातन्त्र्यात्तच्छब्दवाच्यत्वं न तु तदनुभवतः अतः सर्वनामत्वं युज्यते उत्सृजति त्यजति सृजति आपादयति जातस्य शत्र्वादिभावश्च हरिणैवेत्याह—शत्रुरिति "सुखं दुःखं भवो भावः" इत्यादिस्मृतेः। यद्वा, यथा तत्तच्छक्तिप्रेरकत्वेन ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं हरेस्तथा शत्रुत्वादिशब्दवाच्यत्वमित्याह, शत्रुरिति। कर्मशब्दवाच्यो हरिरेव शत्रुत्वादिः पूज्यत्वात्तत्त्वोपदेशेन गुरुरैश्वर्यादियोगादीश्वरः॥ १७॥ यस्माद्गिरति सर्वमिदमिति गिर्यादिनामा हरिरतस्मात्स्वविहितकर्मकृत् स्वभावस्थः नारायणार्पितसर्वेन्द्रियवृत्तिः पुरुषः "क्रियापतनयोः कर्म" इत्यभिधानात् क्षितिधृत्यादिक्रियाश्रयत्वेन जगत्सर्जनादिक्रियाश्रयत्वेन वा परोक्षापरोक्षज्ञानविषयत्वेन वा कर्मसु पूजयेदित्यन्वयः। तदुक्तम्—

"एतस्मात्कारणात्कृष्णः शक्रस्य विमदाय च। गिर्यादिस्थितमात्मानं पूजयामास वल्लवैः"॥ इति

स्वकर्मकृदित्युक्तं विवृणोति अञ्जसेति येनाञ्जसा तत्त्वेन यो वर्त्तेत अस्य तदेव दैवतं कुलदैवं हि लोकप्रसिद्धम् "अञ्जसा त्वरिते तत्त्वे महदद्भुतखेदयोः" इति यादवः। अनेन यच्छास्त्रे विघ्नेश्वरादिनामाख्यातं तदप्यस्य हरेर्नामेति सिद्धम्॥ १८॥ एकतरं बहूनां सिद्धान्तानां मध्ये एकं भावं सिद्धान्तमाजीव्योपजीव्यान्यं भावमुपधावति उपास्ते स पुरुषः तस्माद्भावात् क्षेमं सुखं न लभते यौवनं जरयतीति जारः असती बहुभर्तृका॥ १९॥ यस्य यत् किं किमिति तत्राह—वर्त्तेतेति। ब्रह्मणा वेदेन विहितेन यागादिना यद्वा, यो येन कर्मणा अञ्जसा सहितो वर्तेत अस्य तदेव कर्म दैवतं मान्यं हि तर्हि विप्रादेः किं कर्मविहितमित्यत्राह—ब्रह्मणेति। कृच्छ्रचान्द्रायणादिलक्षणेन तपसा "ब्रह्मवेदस्तपस्तत्त्वम्" इत्यमरः। वार्त्तया कृष्यादिलक्षणया चतुर्विधया॥ २०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यस्मात् स्वभाव एव कर्मान्तरप्रवर्त्तकः कर्मैव च फलदातृ तस्मादारोपेण ब्राह्मणाद्यनर्हभावान्तरानुगमनेऽपि यत्नात् स्वभावस्थस्तदर्हभावस्थ एव सन् स्वकर्मकृत् तदर्हकर्मकृदेव च सन् कर्मेति कर्माजीव्यमेव सम्पूजयेत् ननु बहिरङ्गदेवादिमित्यर्थः।

अग्रे तथैव व्यक्तेः ॥ १८ ॥ तस्मादन्यस्मात् जारादिति तत्सामानाधिकरण्येन दृष्टान्तः पित्रादिष्वप्यौद्धत्यमिदं तत्कर्तृकनीचारा- धनजेन क्रोधेन इति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥ स्वकर्माजीव्यपूजामेव साधयितुमात्मनो गोवृत्तित्वमाह—द्वाभ्याम् ॥ २०-२३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तस्मात्स्वभावतो निष्पन्नस्य कर्मण एव सर्वकारणत्वात् कर्मैव पूज्यमित्याह—देहानिति सार्द्धेन ॥ १७ ॥ सम्पूजयेत् सम्मानयेत् कर्मसामान्यस्यापि पूज्यत्वेपि कर्मविशेषकरणे शास्त्रमेव प्रमाणमित्याह—स्वभावस्थः ब्राह्मणादिवर्णस्थः स्वस्वविहितं कर्म करोतीति सः। ननु, तदप्यत्र देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वात् यागस्य कथं देवतां विना सिद्धिरित्याशङ्क्य कर्माश्रयात्र देवतेति मतमङ्गीकुर्वन् हेतुवादमाश्रित्यान्यामेव देवतां समर्थयते अञ्जसा सुखेन वर्त्तेत जीवेत ॥ १८ ॥ हेतुबलेनैव विपक्षे दोषमाह—आजीव्येति। उपजीवति सेवते ॥ १९ ॥ तस्मादस्माकं य एवाजीव्यः सैव देवतेति वक्तुं दृष्टान्तत्वेनान्येषामप्याह— वर्त्तेतेति। विप्रस्य वेदशास्त्राण्येव दैवतानि रक्षया भुव इति भूरेव तस्य देवता वार्त्तयेति वार्त्तैव तस्य देवता द्विजशुश्रूषयेति द्विजा एव तस्य देवता इत्यर्थः ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

स्वभावानुरूपेण कर्मणा जन्तुर्जीवः उच्चावचान् देवमनुष्यादिनामकान् देहान् प्राप्योत्सृजति, तेषु जन्तुषु क ईशः कर्माधिकोऽन्यः इति भावः। कर्मणैव शत्र्वादिर्भवतीति कर्मैव शत्रुर्मित्रमुदासीनश्च इति प्रवृत्तं कर्म दर्शितं सङ्क्षेपतो निवृत्तं कर्म दर्शयति, कर्मैव गुरुर्ब्रह्मनिष्ठगुरुप्रापकत्वात् कर्मैवेश्वरः ज्ञानशक्त्युत्पादकतयेश्वरप्रापकत्वात् ॥ १७ ॥ एवं स्थिते मदीयैर्भवद्भिर्मदर्पिताङ्गि- गिर्य्योद्युद्देशेन स्ववृत्त्यनुरोधेन कर्मानुष्ठेयमित्याशयेनाह—तस्मादित्यादि। सम्पूजयेत्सम्मानयेत् तदेव दैवतं तत्रैव परमेश्वरः फलं ददातीति भावः ॥१८॥ एकतरं भावं पदार्थमाजीव्यसुसेव्यं अन्यं तदितरमुपजीवति सेवते ।१९। ब्रह्मणा शब्दब्रह्माध्ययनादिना ।२०।

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

तस्मात् स्वभावनिष्पन्नेन कर्मणैव निखिलार्थसिद्धेरतदेव वहुमानेन सेव्यमित्याहुः—देहानिति। उच्चावचत्वादिकं सर्वं कर्माधीनमेवेत्यर्थः ॥ १७ ॥ तस्मादिति स्वभावस्थः विप्रादिवर्णस्थः स्वकर्मकृत् स्व स्व विहितकर्मानुष्ठायी कर्म सम्पूजयेत् स्वीकुर्यात् न तु देवतां चेत्यर्थः। ननु यागादिकर्मणो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपत्वात् कथं देवतां विना तस्य सिद्धिरित्याशङ्क्याहुः— अञ्जसेति। येन भिक्षा विजयकृष्यादि सेवारूपेण कर्मणा जनोऽञ्जसा अनायासेन वर्तेत जीवेत तदेवास्य दैवतं न ततोऽन्यथा देवता दृश्यते इत्यर्थः कर्मैव गुरुरीश्वर इति पूर्वोक्तेः इन्द्रादिदेवतास्वीकारस्तु कर्मस्वरूपमविदुषामेवेति भावः ॥ १८ ॥ जीविको- पायस्यैव हेतुबलाद्दैवतात्वमाश्रित्य विपक्षे ते दोषमाहुरित्याह—आजीव्येति। एकतरं जीविकोपायं भावमर्थमाजीवमालम्ब्य योऽन्यमिन्द्रादिमुपजीवत्याश्रयति स तस्मात् क्षेमं न विन्दति कृतघ्नत्वात् ॥ १९ ॥ जीविकोपायभूतां वृत्तिं ते विभजन्ति—वर्तेतेति। ब्रह्मणा वेदाध्ययनाध्यपनादिना ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

यस्मादवान्तरेशानामनीशत्वं न तत्सभाजनेन कृत्यमतो हरिरेवार्हणीयः स च सर्वत्र वर्तत इति नगभिदि न प्रवणं तथा कुशलोऽत इदं तनुतेति वदति ॥ देहानिति। जन्तुर्जन्म्युच्चावचाननेकविधान्देहान्कर्मणा श्रीहरिणा प्राप्यते नैवोत्सृजति। शत्रुर्मित्र- मुदासीन इत्येतेऽपि कर्मैव श्रीहरिरेव शत्र्वादिशब्दवाच्यः शातयितेति मित्वा त्रातीत्यन्यत्रोक्तेः सर्वोपर्यासीन इति शत्रुमित्रो- दासीनशब्दैरुच्यते। गुरुरीश्वरश्चोपदेशक ईश्वरो योगैश्वर्यवानिति। मूलकृदपि शत्रुरुदासीनो गुरुरीश्वर इति पुंल्लिङ्गनिर्देशं कुर्वन् कर्मपदं व्यापारपरं किन्तु हरिवाचकमिति सूचयन्प्रमाणतात्पर्यभूमिकां वाध्वनयामासेत्यवसेयं। तत्तन्निविष्टस्य तत्तद्दुर्भगवत्ता भगवतो नेति दर्शयितुमीश्वर इति ॥ १७ ॥ स्वभावस्थो हर्याश्रयोऽनन्यथाभवत्स्वत्वभावाश्रयश्चेति बहिः कर्मान्ततो हरिर्बहिः क्रियां तस्मादितरेषामनीशत्वादेः सुपूजयेत्स्वकर्मकृद्विहितविहितं व्यापृतिर्येन ज्ञानात्मकेनाञ्जसा श्रीहरिरूपतत्त्वेन वर्तेत। उपासनादिभि- रतत्त्वं हरिरेवास्य हि यतो दैवतमतस्तत्कर्मसु पूजयेत्। अञ्जसा स्वरिते तत्त्व इति यादवः। न च सर्वनामा हरिरिति यदि सभा- जनीयोऽहं तर्हि कः प्रद्वेषः शचीशे तदपचितिरपि स्वापचितिर्भवतीति वाच्यं। शक्रो न वक्रीभूय नश्येदिति दयात एवमावतान काञ्चन लीलां लीलामानुष इति ज्ञेयं। तच्च तात्पर्यं शक्रस्य विमदायेति प्रकटितमाचार्यैः ॥ १८ ॥ अस्मदादीनां न स्म शचीशसेवोप- युक्तेति वक्तुं तत्तज्जातिजीविकाधर्मानाह ॥ वर्तेतेति। ब्राह्मणो ब्रह्मणा वेदेन तदुक्तयुक्तानुष्ठानेन वर्तेतेति राजन्य इत्यत्रानुवर्तते। राज्ञ्यां राज्ञा जातो राजन्यो भुवो रक्षया वर्तेत वैश्यस्तु वार्तया कृषिगोरक्षादिना शूद्रस्तु द्विजानां सेवया जीवेदित्युभयान्वयि। ब्रह्मणा तपसेति वा। ब्रह्मवेदस्तपस्तत्त्वमित्यमरः ॥ १९ ॥ वार्ता चैतत्प्रकारेति स्ववृत्तिरिति विविच्य कृषिभू लेखनं वाणिज्यं पदार्थ- विक्रियादि गोरक्ष्यं गोपालनं कुसीदं तुर्यं चतुर्थं वृद्ध्याऽधिकधनसम्पादनमेवं वार्ता चतुर्विधा। तत्रैतन्मध्ये वयमनिशं गोवृत्तयो गोभिरेव वृत्तिर्जीविका येषां ते तथा। अनेन समाहारासमाहाराभ्यां वैश्यवृत्तिर्वार्तासमग्रचतुष्टयवैशिष्ट्य नैवेत्यभिप्रैति ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु लोकान्तरगमनार्थमीश्वरोपेक्ष्यतेन्यथा गते देहे मार्गापरिज्ञानात् फलदेशे कथं गच्छेदित्याशङ्क्याह देहानुच्चावचानिति, उच्चावचाननेकविधान् देहानयं जन्तुर्जीवः प्राप्यप्राप्योत्सृजति अव्यवहितकर्मणा देहान्तरं प्राप्य पूर्वं त्यजतीत्यर्थः, तत् कर्मणैव, ननु समानेपि देहे कश्चित् कदाचिच् छत्रुर्भवति मित्रं भवत्युदासीनश्च तत्र को हेतुरिति चेत् तत्राह शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैवेति, अन्यथा तेभ्योशुभाशुभफलभावा न स्युः, किञ्च गुरुरपि कर्मैव, न हि तादृशादृष्टाभावे गुरुरुपदिशति फलति वा, ईश्वरोपि कर्मैव फलदानात् ।। १७ ।। अतस्तमेव पूजयेदित्याह तस्मादिति, कर्मैव सम्पूजयेत् सम्मानयेत्, तस्य सम्माननप्रकारमाह स्वभावस्थः सन् स्वकर्मकृद् भवेदिति, यस्य यः स्वभावो ब्राह्मणादिस्तदनुसारेण स्ववर्णाश्रमविहितं कर्म कर्तव्यमन्यथा पतितः स्यात् फलं प्रयच्छतु मा वेश्वरोस्तु न वा कर्म कर्तव्यमेव, एवं सत्यञ्जसा सामस्त्येनानायासेन येनैवोपायेन प्रकारेण वर्तेत जीवेत तदेवास्य दैवतं, युक्तश्चायमर्थः, सद्वासद्वा यत्र प्रतिष्ठितस्तद् दैवतमिति ।। १८ ।। अन्यथात्वे बाधकमाहाजीव्येति, एकतरं भावमाजीव्य प्रथमं तदनुवृत्तिं कृत्वा पश्चाद् योन्यमुपधावति तत्र परितोषमकृत्वाधिकफलार्थमन्यं चेत् पक्षमवलम्बते तदा न तस्मात् क्षेमं विन्दते सोपि मन्यते मामपि त्यक्ष्यतीति, अमन्यमानं प्रति दृष्टान्तमाह जारान्नार्यसती यथेति, न हि जारो भरणपोषणादिकं करिष्यति नापि सम्भोगं सर्वदा, परलोकस्तु नास्त्येव, तस्मात् कर्मण आवश्यकत्वात् स पक्षो न त्याज्यः ।। १९ ।। किञ्च कर्मोपजीवका एव सर्वे यतो ब्राह्मणो ब्रह्मणा वेदेन वर्तेत तस्य वेदाध्ययनादिनैव जीवनं, राजन्यो भुवो रक्षया जीवेत, वैश्यस्तु वार्तया जीवेत, शूद्रस्तु द्विजसेवया, तेषां सेवायां क्रियमाणायां ते यद् दद्युस्तेन जीवेत, तुशब्देनान्यपक्षा निराक्रियन्ते ।। २० ।।

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

अतः 'कर्मणा जायते' इत्युक्तमेवोपपन्नमित्याह–देहानिति। जन्तुः जीवः कर्मणा उच्चावचान् उत्कृष्टापकृष्टान् देहान् प्राप्य कर्मसमाप्तौ तान् उत्सृजति परित्यजति। तथा शत्रुरपि स्वकर्मैव, स्वापकारे वर्तमानस्याप्यन्यत्र मित्रतादर्शनात् ।। अतो न हि परस्य स्वस्मिन् शत्रुता स्वतःसिद्धा, किन्तु स्वदुरितप्रयुक्तैव। तथा मित्रमपि सुखप्रदं स्वकर्मैव, स्वपकारे वर्तमानस्याप्यन्यत्र शत्रुतादर्शनात्। तथोदासीनोऽपि कर्मैव, कुत्रचित् शत्रुतया मित्रतया वा वर्तमानस्याप्यन्यत्रोदासीनतादर्शनात्। तथा गुरुरपि कर्मैव, शुभादृष्टंविना नित्यस्य सर्वत्र विद्यमानस्यापि तस्य प्रसादादर्शनात् ।। १७ ।। तस्मात् जन्मादेः कर्माधीनत्वात् कर्मैव सम्पूजयेत् सन्मानयेत्। सत्सन्मानप्रकारमाह—स्वभावेति। यस्य यः स्वभावः स्वभावाधीनो वर्णाश्रमादिः, तत्र स्थितः सन् स्वानुरूपकर्मकृद्भवेत्। एवं कर्मणैव फलसिद्धेर्देवता निराकृता। 'यदि देवतैव प्रसन्ना फलं ददातीति सवाराधनीया' इत्याग्रहस्तदा 'तदपि विचारपूर्वकमेव कर्तव्यम्' इत्याशयेनाह—अञ्जसेति। येन दैवतविशेषेणाञ्जसा सुखेनासौ जनो वर्तेत जीवेत् तदेवास्या दैवतं सेव्यम्। 'लोकवेदव्यवहारे प्रसिद्धोऽयमर्थः' इत्याह—हीति ।। १८ ।। विपक्षे दोषमाह–आजीव्येति यस्तु पुरुष एकतरं भावं देवताविशेषमाजीव्य जीवनोपायत्वेनोपसेव्यत् तत्रापरितोषात् अन्यमुपजीवति सेवते स तस्मात् सेवितात् अन्यस्मात् क्षेमं सुखं न विन्दते, तस्य स्वस्मिन् विश्वासाभावात्। तत्र दृष्टान्तमाह–जारमिति। असती पुंश्चली नारी यथा पतिं विहाय जारमुपसेव्य ततोऽपि सुखं न प्राप्नोति, पतिपरित्यागदर्शनेन विश्वासानास्पदत्वात्, तथेत्यर्थः ।। १९ ।। 'जीविकासम्पादको ह्यवश्यमाराधनीय' इत्याशयेन स्वजीविकां वक्तुं तावत् सर्वजीविकामाह–वर्तेतेति। विप्रो ब्राह्मणो वेदाध्ययनादिना वर्तेत जीविकां सम्पादयेत्। स्पष्टमन्यत् ।।२०।।

अन्वितार्थप्रकाशिका

देहानिति ।। जन्तुः जीवः कर्मणा उच्चावचान् उत्कृष्टापकृष्टान् देहान् प्राप्य कर्मसमाप्तौ तान् उत्सृजति परित्यजति तथा शत्रुर्मित्रमुदासीन इति त्रयमपि कर्मैव तेषामपि स्वदुरितपुण्यमिश्रकर्मप्रयुक्तत्वात्। एवं गुरुरीश्वरश्च कर्मैव तत् कृपायाः पुण्यकर्मायत्तत्वात् ।। १७ ।। तस्मादिति'।। तस्माज्जन्मादेः कर्माधीनत्वात् कर्मैव संपूजयेत् सम्मानयेत्। अतः स्वभावे तत्स्वभावाधीने वर्णाश्रमादौ स्थितः सन् स्वानुरूपकर्मकृद्भवेत्। एवं च देवताऽपि कर्मण एवाङ्गं न स्वतन्त्रा। यदि तु देवतैवाराध्येत्याग्रहस्तत्रापि नेंद्रस्योपास्यत्वमित्याह। अञ्जसेति। हि यस्मात् येन दैवतविशेषेणाञ्जसा सुखेनासौ जनो वर्तत जीवेत्तदेवास्य दैवतं सेव्यम् ।। १८ ।। आजीव्येति ।। यस्तु पुरुष एकतरं भावं देवताविशेषमाजीव्य जीवनोपायत्वेनोपसेव्य तत्रापरितोषात् अन्यमुपजीवति सेवते स विश्वासाभावात् तस्मात् भावात्सुखं न विन्दते। यथा असती पुंश्चली नारी जारमुपसेव्य सुखं नाप्नोति तथा। जारादिति क्वचित्कः पाठः ।। १९ ।। वर्तेतेति ।। विप्रो ब्रह्मणा वेदाध्ययनादिना वर्तेत जीविकां सम्पादयेत्। एवं राजन्यः क्षत्रियो भुवः रक्षया वर्तेत। वैश्यस्तु वार्तया जीवेत् वर्तेत। शूद्रस्तु द्विजसेवया जीवेत्! एतेन ब्राह्मणस्य वेदादिशास्त्राण्येव देवता क्षत्रियस्य भूरेव वैश्यस्य वार्तैव शूद्रस्य द्विजा एव देवता इत्युक्तम् ।। २० ।।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

उच्चावचान् श्रेष्ठकनिष्ठान् वा महतोऽल्पान् अतः शत्रुप्रभृतयः कर्मैवारिति ।।१७।। स्वभावस्थः सात्विकादि प्रकृतौ स्थितः अतः स्वकर्मकृत् स्वकीयं वर्णाश्रमोचितं कर्म कुर्वन् कर्मैव पूजयेत् बहुमानयेत् अंजसा यथा सुखं जनो ये न वस्तुनावर्ततत्तदेववस्तु

तस्य पुरुषस्य दैवतं देवः ॥१८॥ विपक्षे दोषमाह आजीव्येति एकतरं एकं भावं पदार्थं आजीव्य आजीविकारूपं कृत्वा ॥ अन्यमुप-
जीवति ते तथा विप्रः ब्रह्मणो वेदाध्यापनयाजनादि स्ववृत्त्या वर्त्तेत जीवेत् राजन्यः ते तथा ॥ १९ ॥ इतरं पदार्थं जीविकारूपं मत्वा
सेवते इत्यर्थः यथा असती नारी पतिं त्यक्त्वा जारं सेवते विप्रः ब्राह्मणो वेदाध्यापनयाजनादि स्ववृत्त्यावर्त्तेत् जीवेत् राजन्यः क्षत्रियः
भुवो रक्षया भूस्थितानां गोविप्रादी ां रक्षणेन द्विजानां त्रिवर्णानां सेवया ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तस्मादिति ॥ तस्मात्, स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् पुमान्, कर्मैव संपूजयेत् संमानयेत्। ननु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो हि कर्म, तत् कथं देवतां विना कर्मसिद्धिरित्याशङ्क्य, कर्माङ्गमात्रं देवता इति पक्षेणोपसंहरन्निव हेतुवादमाश्रित्यान्यामेव देवतां समर्थयते। अञ्जसेति। येन, अञ्जसा सुखेन, वर्त्तेत जीवेत्, तदेव वस्तु, अस्य जिजीविषोः देवतं देवता हि ॥ १७ ॥ हेतुबलेनैव विपक्षे दोषमाह आजीव्येति ॥ यस्तु पुमान्, सर्वमतिशयित एव एकतरस्तं, भावं पदार्थं, आजीव्य सर्वोत्कर्षेणोपास्यतयाऽऽश्रित्य, अन्यं भावं, उपजीवत्याश्रयति सेवते इति यावत्। सोऽन्यभावसेवको जनः, तस्मादन्यभावसेवनात्, क्षेमं सुखं, न विन्दते न लभते। कथमिव। यथा असती असाध्वी पुंश्चलीति यावत्। नारी, जारं सेवमाना सती, क्षेमं न विन्दते तद्वत् ॥१८॥ स्ववृत्ति वक्तुं दृष्टान्तत्वेन वर्णानां वृत्तिभेदमाह ॥ वर्त्तेतेति ॥ विप्रो ब्राह्मणः, ब्रह्मणा वेदाध्ययनादिना, वर्त्तेत। वेदाध्ययनादिनोपजीवे-दित्यर्थः। राजन्यः क्षत्त्रियः, भुवः पृथिवीस्थप्रजानां रक्षणेनैवेत्यर्थः। वर्त्तेत। वैश्यस्तु, वार्त्तया कृष्यादिचतुर्विधान्यतमवृत्त्या-श्रयेणेत्यर्थः। जीवेत्। शूद्रस्तुरीयवर्णस्तु, द्विजसेवया त्रैवर्णिकानां परिचर्याविधानेन, जीवेत् ॥ १९ ॥ तत्र वैश्यानां वृत्तिभूताया वार्त्तायाश्चातुर्विध्यमाह ॥ कृषीति ॥ कृषिः कर्षणं च वाणिज्यं व्यापारश्च ताभ्यां सहिता गोरक्षा, एतत्त्रयं, कुसीदं वृद्धिस्तेन जीवनं तु तुर्यं चतुर्थं, उच्यते। एवं चतुर्विधा वार्त्ता, तत्र, वयं अनिशं गोवृत्तयः गवां पालनेनैव वृत्तिर्जीविका येषां तथाभूताः भवामः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तस्मादिति : १०.२४.१८.

> कर्मारम्भो धर्ममालोच्य कार्यः सद्भिः स्वीयं स्वेष्टदृग्भिः सदैव।
> सभ्यं ब्राह्मं कर्म चेदत्यभीष्टं स्याद्वा शूद्रानुष्ठितं ब्रूत विज्ञाः ॥ २४ ॥
> इहानुचितकर्मजं स्पृशति नैनमेनो जनं स्वधर्मपरिनिष्ठितो भवति यः सदेति स्फुटम्।
> निजाप्तपितृबान्धवानपि रणेऽरिभावं गतान् निहन्ति नियतं तथाप्यधमता न भूमीभुजः ॥ २५ ॥

कृष्णप्रिया

जीव निज कर्मों के अनुसार उत्तम और अधम शरीरों को धारण करता और त्याग करता है। कर्म के अधीन रहकर ही, यह जीव शत्रु मित्र उदासीन-तटस्थ बनता है इसलिये कर्म ही मुख्य है एवं ईश्वर है ॥ १७ ॥ पिताजी! यदि इस बात का निश्चय है कि, स्वभावसिद्ध कर्म ही फल देने वाला है, तब केवल उसी का ही आदर-समर्चन करना चाहिए। प्राणियों को स्वभाव के अनुसार अपने कर्मों का पालन करना चाहिए और उसी का सन्मान करना चाहिए। जिससे सुखपूर्वक आसानी से जीविका चले वही प्राणियों के इष्ट देव है ॥ १८ ॥ जैसे अपने विवाहित पति को छोड़कर पर पुरुष से प्यार करने वाली कुलटा नारी, जीवन में कभी सुख नहीं पा सकती, वैसे ही जो मनुष्य प्रथम किसी एक पक्ष-देव मार्ग का आश्रय लेकर पुनः उसका त्याग कर दूसरे देवपक्ष आदि की ओर दौड़ता है उसे दूसरा भी सुख नहीं प्राप्त होगा ॥ १९ ॥ उचित है कि विप्र वेदाध्ययन अध्यापन यजन याजन से, क्षत्रिय पूजा पालन से, वैश्य वार्ता खेती व्यापार से और शूद्र द्विज सेवन से अपनी जीविका का निर्वाह करे ॥ २० ॥

कृषिवाणिज्यगोरक्षा[1] कुसीदं तुर्यमुच्यते। वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम् ॥ २१ ॥
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः। रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥ २२ ॥
रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः। प्रजास्तेनैव[2] सिद्ध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥ २३ ॥
न नः पुरो जनपदा न[4] ग्रामा न गृहा वयम्। नित्यं वनौकसस्तात [5]वनशैलनिवासिनः ॥ २४ ॥

१. रक्ष्यं-प्रा. पा.। २. स्तेरेव-श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. रा. शु. घ. सु.। ४. न ग्रामगृहिणो वयम्-विज.। ५. काननादि-विज.।

कर्दमक्षमा

अन्वयः—कृषि वाणिज्य गोरक्षा कुसीदम् तुर्यम् इति चतुर्विधा वार्ता उच्यते, तत्र वयम् अनिशम् गोवृत्तयः ॥ २१ ॥ सत्वम् रजः तमः इति स्थिति उत्पत्ति अन्त हेतवः रजसा विश्वम् उत्पद्यते एवम् अन्योन्यम विविधम् जगत् उत्पद्यते ॥ २२ ॥ रजसा चोदिताः मेघाः सर्वतः अम्बूनि वर्षन्ति, तेन एव प्रजाः सिध्यन्ति, महेन्द्रः किम् करिष्यति ? ॥ २३ ॥ न नः पुरः जनपदाः न न ग्रामाः न गृहाः न हे तात ? वयम् नित्यम् वनौकसः वनशैलनिवासिनः ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

वैश्यवृत्तेश्चातुर्विध्यमाह। कृषीति। कृषिवाणिज्यसहिता गोरक्षा एवं त्रयम। कुसीदं वृद्धिजीवनं चतुर्थम ॥ २१ ॥ ननु गवामपि वृत्तिर्महेंद्राधीनवेत्याशंक्य निरीश्वरसांख्यमताश्रयेण निराकरोति। सत्त्वमिति श्लोकद्वयेन। अन्योन्यं स्त्रीपुरुषयोगेन ॥ २२ ॥ सर्वत इति। समुद्रशिलोषरादिष्वपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। तैरेव मेघैरेव सिध्यंति जीवंति ॥ २३ ॥ तथापि योगक्षेमार्थं देवतापेक्षेति चेदत आह। न नः पुर इति। पुरः पत्तनानि। जदपदाः देशाः। अस्माकं योगक्षेमहेतुर्वनशैलादय एवेति भावः ॥ २४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कृषिः भुवो हलादिनोल्लेखनरूपा क्रिया, वाणिज्यं तु सत्यानृतरूपम्। निर्णयसुधाकरे तु—"समर्घं पण्यमादाय महर्घं यत्प्रदीयते। तद्वाणिज्यमिति प्रोक्तं क्रयविक्रयसंज्ञकम् ॥" इत्युक्तम्। गोरक्षा पशुपालनम्। तल्लब्धवस्त्वित्यर्थः। कुसीदम् वृद्ध्यर्थं धनप्रयोगः। तत्प्रकारं तु मनुराह—"आशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्द्धुषिकः शते। द्विकं शतं वा गृह्णीयात्सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ द्विकं शतं हि गृह्णानो नभवत्यर्थकिल्विषी। द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च शतं समम् ॥ मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः। न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात् ॥" इति। व्याख्येयम्—शते प्रयुक्ते अशीतिभागं शताशीतिभागं प्रतिमासं गृह्णीयात्। पणशते प्रयुक्ते पणद्वयं वा प्रतिमासं गृह्णीयात्। साधुधर्मत्वादेकशते द्विकग्रहणस्य तेन किल्विषी पापी न स्यात्। ब्राह्मण.दिक्रमेण द्विकं त्रिकं चतुष्कं पंचकं च शतं सममेवेतोधिकां मासवृद्धिं न गृह्णीयात्। नन्वशीतिभागो लघुः द्विकं शते गुरु कथमिमौ ब्राह्मणस्य विकल्पौ, अत्राह याज्ञवल्क्यः—"आशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासिमासि सबंधके। वर्णक्रमाच्छते द्वित्रिचतुः पंचकमन्यथा ॥" इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन। कौ भूमौ सीदति वर्द्धते ग्रहीता तपति दाताऽनेनेति कुसीदम्। कुत्सितान्मुखतः कृत्वाऽदातॄन्सीदति पीडयतीति वा कुसीदम्। औणादिकशप्रत्यये रूपम्। यद्वा—"कुसेरुं भोमेदेताः" इति 'कुस-संश्लेषणे' अस्मादौणादिके दप्रत्यये वा रूपम्। 'कुसीदं वृद्धिजीवनम्' इत्यमरः ॥ २१ ॥ पुनर्नंदः शंकते—नन्विति। निरीश्वरसांख्या हि गुणेभ्य एव सृष्ट्यादिमन्वते इत्येते। विविधम् स्थावरजंगमात्मकमंडजाद्यात्मकं वा ॥ २२ ॥ प्रेक्षावत्पूर्वकत्वम् बुद्धिमत्त्वपूर्वकत्वम् "प्रेक्षोपलब्धिश्चित्संवित्प्रतिपज्ज्ञप्तिचेतनाः" इत्यमरः। इति भाव इति। बुद्धिपूर्वकत्वे तु समुद्रादिपु प्रयोजनाभाव.द्वृष्टिः कदापि नो भवेदिति; विनैवेश्वरं जगदुत्पत्त्यादिसिद्धेरित्यर्थः ॥ २३ ॥ यद्यपि विनैव देवं जगदुत्पत्त्यादि भवति तथापि योगक्षेमार्थम् अप्राप्तप्रापणप्र.तरक्षणाय। नः अस्माकम् पुरः योगक्षेमावहा न संति। इति भाव इति। वनशैलस्थानां वनादिदेवादयः पूज्या न जानपदाद्या इति तात्पर्यम् ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अनिशमिति वैश्येष्वपि गोपत्वान्न कृष्यादि कापि वृत्तिरिति भावः ॥ २१ ॥ पूर्वंपूर्वं कारणरूपं विविधं विश्वमन्योन्यं स्त्रीपुरुषादियोगेन विविधं जगद्रूपं सदुत्पद्यते सत्त्वादीनां स्थित्यादिहेतुत्वं स्वभावत एवेति ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ महेन्द्र इति सोपहासं मेघानां तस्यापि रजोधीनत्वात् ॥२३ ॥ वनान्येव ओकांसि येषां तथाभूता जात्यैव वयम् अत एव न कदाप्यन्यत्र प्रयाम इत्याह—नित्यमिति। हे तातेति तमार्द्रयति एवं श्रीगोवर्द्धनसमीपे निजवासश्च सूचितः ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यद्यपि 'वार्द्धुषिर्नरकं याति' इति वचनेन कुसीदं निषिद्धम्, तथापि वैश्यानां तस्य विहितत्वात् तद्वचनं नियताधिकवृद्धिग्रहणपरम्, किंवा, आपदा वैश्यवृत्तिकविप्रविषयकं ज्ञेयम्, अनिशमिति कदाचिदपि वृत्त्यन्तराभावात् सदा गाव एकाश्रयाकमुपजीव्याः, तत्पालनाच्च स्वत एव त्रिवर्गोऽपि सम्पत्स्यत इति भावः ॥ २१ ॥ तेऽभिवर्षन्तीत्यादिकं परिहरति—सत्त्वमिति द्वाभ्याम्। विश्वं समस्तं विविधं देवासुरादिभेदेन जरायुजत्वादिभेदेन च यद्यपि वृष्टेः स्थितिहेतुत्वात् सत्त्वेन चोदिता इति वर्षायोग्यम्, तथापि वृष्ट्या प्रायोगवाजीवाहरितृणादिजन्मापेक्षया रजसेत्युक्तिः ॥ २२ ॥ महेन्द्रः सर्वेषां देवानां मेघादीनाञ्च प्रभुरपि किं कर्त्तुं तत्र शक्नोति ? अपि तु न किञ्चिदित्यर्थः, मेघानां तस्यापि रजोऽधीनत्वात्, यद्वा, त्रिलोकीश्वरोऽपि किमपरं

तत्र साहाय्यं करिष्यति ? प्रजा इति तासां तत्प्रतिपाल्यता सूचिता। तथापि मेघैरेव तत्सुसिद्धेस्तेन किमिति भावः। अनेन (९ म० श्लो०) 'वाम्मुचां पतिमीश्वरम्' इत्यादि परिगृह्यम् ॥ २३ ॥ पुंसःमित्यादिकं परिहरति–नेति वनान्येवौकांसि गृहा येषां तथाभूता वयम्, हे तातेति जात्यैतादृशा वयमिति बोधयति, न च कदाप्यन्यत्र प्रयाम इत्याह; गोपानां बहवो देशाः, पुरोहिता-दीनां ग्रामश्च, पुर्य्याञ्च तस्यां मणिस्तम्भादिरचिताः प्रासादाः सन्ति, तत्राह—नित्यमिति। पुर्य्यादिषु वर्त्तमानेष्वपि वनशैलेष्वेव नित्यं नितरां वासेन तत्तदनपेक्षणात् सन्तोऽपि ते न सन्त्येवेति भावः। एवं शैलश्रेष्ठे श्रीगोवर्द्धने निजनिवासश्च सूचितः ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अध्यात्मदृष्ट्या च मतमुपपादयति–सत्वमिति ॥ २२–३८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

वर्णान्तराणामपि प्रतिनियतस्वस्ववृत्तिलाभे वार्त्तैव वृत्तिरित्यभिप्रयन्नेतत्स्वरूपं दर्शयितुं तस्याश्चातुर्विध्यमाह–कृषीति। कृष्यादीनां द्वन्द्वः कृष्यादयस्तिस्रः कुसीदं वृद्धिजीवनं तुरीयं चतुर्थमेवं वार्त्ता चतुर्विधोच्यते कृषिगोरक्षवाणिज्या इति त्वपाठः रक्षशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् इत्थं वृत्तिरभिधायाथ स्ववृत्तिमाह–तत्रेति। तत्र वार्त्ताभेदानां चतुर्णां मध्ये गोवृत्ता गोरक्षा वृत्तिर्येषां तथाभूता वयम् ॥ २१ ॥ अथ स्ववृत्तेरिन्द्राराधेनानपेक्षत्वमाह–सत्वमिति त्रिभिः। तत्र तावद्गवां वृत्तेर्महेन्द्राधीनत्वशङ्कां निराकुर्वन्ना द्वाभ्यां सत्वादयो जगतः सृष्टिस्थित्यन्तहेतवः तत्र रजसा हेतुभूतेनान्योन्यं स्त्रीपुंयोगेन जगदुत्पद्यते ॥ २२ ॥ ततः किमत आह–रजसेति रजसा रजः स्वभावेन प्रेरिताः सर्वत्र नदीसमुद्रपर्वतादिषु वर्षन्ति समुद्रष्वेपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। प्रजाः गवादयः तैर्मेघैरेव सिद्ध्यन्ति जीवन्ति व्रजा इति पाठे गोसमूहा इत्यर्थः। एवं सति महेन्द्रः किमप्यनिष्टं न करिष्यति किञ्चिदपि नोपकरिष्यति चेत्यर्थः ॥ २३ ॥ नोऽस्माकं पुरः पत्तनानि जनपदा देशा ग्रामागृहाश्च न सन्ति पुरादयो वा संस्थानानि पुरादयो वा न सन्तीत्यर्थः। किन्तु हे तात ! वयं नित्यं वनादिनिवासिनः ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

कृषिर्भुव उल्लेखनादिक्रिया, वाणिज्यं सत्यानृतलक्षणक्रियादि, गोरक्षा पशुपालनं, वृद्ध्यर्थं द्रव्यप्रयोगः कुसीदं, तत्र कृष्यादिषु गोभिर्वृत्तिराजीवनं येषां ते तथा ॥ २१ ॥ प्रकारान्तरेणेन्द्रमाक्षिपति, सत्त्वमित्यादिना। विश्वं समस्तम् अन्योन्यं निमित्तीकृत्येति शेषः ॥ २२ ॥ मेघानामिन्द्रो नियोजक इत्यत्राह–रजसेति। रञ्जयति सर्वमिति रजो भगवानभिहितः न ह्यचेतनस्य रजोगुणस्य मेघे प्रेरकत्वं सङ्घाघटीति सिद्ध्यन्ति सम्पन्नकार्या भवन्ति किं करिष्यति न किमपीत्यर्थः "प्रश्ने क्षेपे विकल्पे किम्" इति यादवः ॥ २३ ॥ इतोप्यस्मत्कुलदेवतात्वाभावादिन्द्रयागो नोचित इत्याशयेनाह, न न इति। पुरः पुराणि ग्रामास्थितिमुपादाय गृहिणः सपत्नीकाः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

न न इति द्वाभ्यां तदानीं श्रीगोवर्द्धनसमीप एव व्रजं बोधयति ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्वस्य वैश्यत्वादुक्तामपि वैश्यवार्त्तां विशिष्याह—कृषीति। कृषिवाणिज्याभ्यां सहिता गोरक्षा कुसीदं वृद्धिजीविका गोवृत्तयः गोरक्षणवृत्तयः अनिशमिति कदाप्यापत् कालेऽपि कृष्यादिकमस्माभिर्नक्रियत इति गाव एवास्माकं दैवतत्वात् पूज्या इत्यर्थः ॥ २१ ॥ ननु, गवामपि वृत्तिर्महेन्द्राधीनैवेत्याशङ्क्य निरीश्वरसाङ्ख्यमताश्रयेण निराकरोति–सत्त्वमिति द्वाभ्याम्। अन्योन्यं स्त्रीपुरुषयोर्योगेन ॥ २२ ॥ सर्वत इति समुद्रशिलोवरादिष्वपि वृष्टिदर्शनान्नप्रेक्षा पूर्व कत्वं वृष्टेरिति भावः। तैरेव मेघैरेव सिद्ध्यन्ति जीवन्ति ॥ २३ ॥ किञ्च, गा वर्द्धयतीति गोवर्द्धन इति व्युत्पत्त्यर्थाथाध्येनैवान भूयमात्वाद्गवां वृत्तिगोवर्द्धनाधीनैवेति गोवर्द्धनश्च पूज्य इत्याह, नेति द्वाभ्याम्। पुरः पत्तनानि जनपदा देशाः किन्तु गोधनचारकत्वाद्वनौकसः ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वार्तायाश्चातुर्विध्यमाह—कृष्यादीनां द्वन्द्वः कुसीदं वृद्धिजीवनम् ॥ २१ ॥ ननु, गोवृत्तीनामस्माकं जीवनमिन्द्राधीन-मित्यत्र परमेश्वरे सति तदा यत्तेषु प्रकृतितद्गुणतत्कार्यं सूर्ये इमेमजलादिषु बहुषु जीवनहेतुषु सत्सु इन्द्र एव एकलः जीवनहेतुरिति कोऽयं दुराग्रह इत्याशयेनाह—सत्त्वमिति द्वाभ्याम् ॥ २२ ॥ महेन्द्रः वृष्ट्याधिष्ठात्री देवता इन्द्र एव एकलः किं करिष्यति न किमपीत्यर्थः ॥ २३ ॥ तथापि प्रबलाद्भेतव्यमत्राह–नेति। पुरः पत्तनानि जनपदा देशाः वनशैलेषु अगतिकगतिनेश्वरेण विहितेषु निवासो येषां ते ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

वैश्यवृत्तेरवान्तरभेदमाहुः—कृषिवाणिज्याभ्यां सहिता गोरक्षा कुसीदं कलावृद्धिस्तुर्यमिति चतुर्विधा वैश्यस्य वार्त्ता वृत्तिः तत्र तासु वयं गोरक्षावृत्तयो वैश्यत्वात् अनिशमित्यापद्यपि कृष्याद्यकरणकरण्यात् तथा च कर्मवादिभिरप्यस्माकं गोपालनमेव वृत्तिरुक्ता अतः किमिन्द्रेणांति प्रजेशाचरणैरङ्गीकृता देवता कर्मवादिभिरेवमवमन्यते ॥ २१ ॥ अथ गवां पालनमिन्द्राधीनमिति चेत्तातपादै रुच्यते तदिदं दूषयन्तीत्याह—सत्वमितिद्वाभ्याम्। अन्योन्यं स्त्रीपुरुषसंसर्गेण ॥ २२ ॥ सर्वत इति सागरशिलोपरादिष्वपि वृष्टेर्वीक्षणान्न तस्याः प्रेक्षापूर्वकत्वं तैर्मेघैरेव प्रजाः सिध्यन्ति जीवन्ति तथा च कर्मिभिः कापिलैश्च विद्वद्भिर्निराकृतत्वात् स्वजीविकार्था महेन्द्रपूजा पितृचरणैरुक्ता न युक्तेति ॥ २३ ॥ ननु वत्स आयुष्मन्! वैष्णवपुत्रेण वेदमूर्तिना स्वयं भगवता त्वया किमयं वेदविरुद्धः कर्मवादः प्रधानवादश्च प्रस्तूयते तस्य तस्य च वादरायणेन परमर्षिणा चतुर्लक्षण्यनिरस्तत्वात् तस्मात् परेशेन सृष्टा दत्तभागा च वेदोक्ता देवता त्वया स्वीकार्येति चेन्न मया निरीश्वरः स च स च वादः स्वीक्रियते, किन्तु साक्षात्फलदात्रीं देवतां विहाय ततोऽन्या अप्रत्यक्षा देवता तातपादैरभिमता, तेन तेन वादेनाक्षिप्यते, ननु साक्षात् फलदात्रीं तां देवतां त्वमादिशेति चेन्मदभिमता सा तु गिरिराजोऽयमिति भावेनाह—न न इति। नोऽस्माक बृहद्वननन्दीश्वरादिगताः पुरस्तत्सम्बद्धाः कालिन्दीपारावारभूषणजनपदास्तद्वर्त्तिनो ग्रामास्तत्स्था गृहाश्च नोपजीव्या इति शेषः। तेषां करैर्नो राजावामः, किन्तु तन्निवासिनामंजलियोजनमेव करत्वेन स्वीकुर्महे इति सुखिन्योऽस्मत्प्रजा इति भावः। हे तात! वयं नित्यं वनौकसः गोचारणाय गिरिराजवनेषु प्राचणावस्थितेः वनशैलेन रत्नमयेन कल्पतरुमण्डितेन ततोऽखिलवाञ्छितदात्रा गिरिराजेन हेतुना निवासस्तेषु पुरादिषु सुखस्थितिर्विद्यते येषां तादृशा वयमिति योगक्षेमकारित्वात् शैलोऽयमस्माकं देवतापदर्शितान् दिव्यपुष्पादिभोगान् भुञ्जामह यदुपाश्रयणात् दुर्दान्तान् रिपून् जयाम इति भावः। आपातार्थग्रहस्तु मन्द एव नन्दे व्रजपतित्वोक्तेर्विचित्रतूर्यरथमणिस्वर्णविभूषणकुङ्कुमाद्यतैलपभागोक्तेर्व्रजे सर्वसमृद्धिमत्त्वोक्तेश्च व्याकोपात् "चिन्तामणि प्रकरसद्म" इत्यादि ब्रह्मवाक्यव्याच्यान्यत्र ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

सर्वथा न मघवत्कृत्यमिति भगवान्प्रकारान्तरेणाह ॥ सत्त्वं रजस्तम इति। स्थितिश्चोत्पत्तिश्चान्तश्च तेषां हेतवः कारणानि विविधं विश्वं समस्तं जगद्रजसाऽन्योन्यं कारणकार्यतामापन्नमुत्पद्यते। विश्व मामाश्रित्य स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतव इत्यप्यन्वयः ॥ २१ ॥ रजसा रञ्जकेन हरिणा चोदिता मेघाः सर्वतोऽम्बूनि वर्षन्ति तैरम्बुभिः प्रजाः सिध्यन्ति तत्र परस्परं भविष्यति किं करिष्यति मघवेति भावः ॥ २२ ॥ केवलं वनवासिनां नः पुरो न सन्ति जनपदा देशाश्च न वयं च ग्रामाश्च गृहाणि चैषां सन्तीति ते तथा न वनौकसस्तपस्विन इव नित्यं काननाभिनिवासिनस्तात वयं वनवासिनो वनौकसः। न च शचीशो दूरेऽस्तीति वचनमिदं समीपमुपयातश्चेत्तदपेक्षावश्यकीति जनको न जल्पेति वाऽऽह ॥ केति। आननाभिनिवासिन आननमसन्मुखमभिनिवसतीति स तथा तस्यापि नः काऽपेक्षेति शेषः ॥ २३ ॥ एकतरं परतरशब्दवदयमखण्डः। एकं भाव्यमाजीव्योपजीव्य। उपधौ अतीति वा छेदः। उपधौ व्याजे सति योऽन्यमतिविन्दते स क्षेमं न विन्दते। भक्तिपूर्वकमित्यर्थं छन्दस्त्वाद्व्यवहितस्याप्यतेरन्वयः। तरन्त्यनेनानिष्टनिचयमितितर एकश्चासौ तरश्चेत्येकतररतं तारकमेकं भावमुपजीव्यति वा। ऋदोरबित्यप्प्रत्ययः। अन्यं भावमुपधावत्युपास्ते स तस्माद्भावात्क्षेमं न विन्दते आशामात्रं न काङ्क्षितं प्राप्नोति। असती पुंश्चली जारं प्राप्य यथा सार्वकालिकं क्षेमं न प्राप्नोति तथेति। अस्मज्जीवनं वनादिभिरिति नात्र वासे वासवसव आवश्यक इति भावः ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं सर्वेषामेव वर्णानां स्वकर्मणैव जीवनमिति निर्धार्य वार्तायामिन्द्रो हेतुभिरपेक्षित इत्युक्तात्तन्निराकरणार्थं वार्तां विभजति; कृषीति, कृषिः कर्षणं वाणिज्य व्यापारो गोरक्षा गोचारणं कुसीदं वृद्धिजीविका तत् तुर्यं चतुर्थं पूर्वाभाव एवोपजीव्यमिति, अन्यथा तन् निन्दितमुपपातकमध्ये गणनात्, एवं चातुर्विध्यमुपपाद्य तस्य प्रकृतोपयोगमाह वार्ता चतुर्विधेति, तत्र प्रकारेषु वयमनिशं सर्वदैव गोवृत्तयोतः कृष्यभावान् नेन्द्रेण प्रयोजनमितिभावः ॥ २१ ॥ अस्तु वा कृषिस्तथापि नेन्द्रस्योपयोग इत्याह सत्त्वमिति, उत्पत्तिस्थितिप्रलयार्थं रजःसत्त्वतमांसि स्वीकृतानि सन्त्यतस्त्रयोपि गुणाः स्थित्युपत्त्यन्तहेतवः, समुदायेन निरूपयति रजसोत्पद्यते विश्वमिति; अवश्यं हि रजो जगदुत्पादयति, यदि मेघान् रजो न प्रेरयेत् तदा कथमुत्पादयेत्? यदीन्द्रादयोप्यङ्गीकर्तव्यास्तेपि गुणाधीना इति न तेषां स्वातन्त्र्यं; किञ्चान्योन्यं चैतदुत्पद्यते सर्वत्र रजः प्रविष्टमित्यतो बीजादङ्कुरोङ्कुराद् बीजं पितुः पुत्रः पुत्रात् पुनः पिता "प्रजामनु प्रजायन्त" इतिश्रुतेः, किञ्च विविधमपि जगदुत्पद्यतेचित्राच् चित्रं चित्रादप्यचित्रं विकलात् सकलः सकलाद् विकल इति, अत एतत् सर्वं रजस एवोत्पद्यत इति वक्तव्यं, एकस्यैव तथाङ्गीकारे लाघवं स्यादतो जीवसृष्टिः कर्मणा जडसृष्टी रजसेति जडसृष्ट्यर्थमपि नेश्वरापेक्षा, एवं सामान्यत ईश्वरवादो निराकृतः, श्रुतिसिद्धस्तु न निराकृता इत्यवोचाम ॥२२॥ इदानीं वृष्ट्यर्थमिन्द्रोपेक्षित इतिमतं विशेषाकारेण निराकरोति रजसा चोदिता इति, मेघा वर्षन्ति तेषामन्ता रजोगुणोऽति स हि विक्षेपकोतस्तेन विक्षिप्ता वर्षन्त्येव यथा राजानः कौतुकिनः, अन्यथेन्द्राज्ञया वर्षणपक्षे जलेयुक्तभूमौ च वृष्टिर्न स्यादतो रजोविक्षेपा-

देव यथासुखं वर्षन्त्यत आवश्यकत्वाल्लाघवाच्च नाज्ञा नियामिका किन्तु रज एव, अतस्तेनैव रजःप्रेरणवर्षणेन प्रजाः सिध्यन्ति जीवन्ति, एवं सति महेन्द्रः किं करिष्यति ? तत्कार्यमन्यथैव सिद्धमिति ॥ २३ ॥ अस्तु वा 'तुष्यतु दुर्जन' इतिन्यायेन महेन्द्रस्य तथापि नास्माकं तदुपयोगस्तदाह न नः पुरो जनपदा इति, नोऽस्माकं पुरो नगराणि न सन्ति न वा जनपदा देशा न वा ग्रामा हट्टा नापि गृहाः, इन्द्रस्य हि लोकपालकत्वं वृष्टिसाधकत्वं यागभोक्तृत्वं दिग्देवतात्वं च चतुर्विधत्वमप्यस्माकं नोपयुज्यते पुराभावात् न तेन रक्षा कर्तव्या नापि तस्याधिपत्यं देशाभावान् न कृष्यादौ तदुपयोगो ग्रामाभावादाहिताग्नेरिवेन्द्रो हविर्न गृह्णीष्यतीति न भवं गृहाभावान्न दिगादिपरिज्ञानापेक्षा, किञ्च वयं वनौकसः, अस्वाभाविकं वनमितिशास्त्रं, तातेतिसम्बोधनं स्नेहार्थमप्रतारणार्थं च, किञ्च नित्यं सर्वदा शैले निवसामः, 'वैष्णवा हि वनस्पतयः' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः, अतो वैष्णव एव याग उचितः ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

सत्त्वं रजस्तम इत्यत्र जीवसृष्टिरिति जीवस्य देहयोगवियोगौ सुखादिप्राप्तिश्चेत्यर्थः ॥ २२ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

रजसा चोदिता मेघा इत्यस्य विवृतौ यथा राजानः कौतुकिन इति यथा रजोगुणेन विक्षिप्ता राजानः कौतुकिनो द्रव्यं प्रयच्छन्ति एवं रजोगुणेन विक्षिप्ता मेघा अम्बूनि वर्षन्ति ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

वैश्यवृत्तेश्चातुर्विध्यमाह—कृषीति । कृष्यादयस्तिस्रः, कुसीदं वृद्धिजीवनं तुर्यं चतुर्थम्, एवं वार्ता चतुर्विधोच्यते। तत्र तासु अनिशं सर्वदैव गोवृत्तयः गोपालनमेव वृत्तिर्येषां तथाविधा वयम् । कृषिवाणिज्यसहिता गोरक्षा इति समासः ॥ २१॥ ननु "तर्हि गवां तृणजलादिसम्पत्त्यर्थं वृष्ट्यधिष्ठातेन्द्रोऽवश्यमाराधनीयः" इत्याशङ्क्याह—सत्त्वमिति । सत्त्वादयः त्रयो गुणाः यथाक्रमं जगतः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः । तत्र रजसा गुणेन हेतुभूतेन अन्योन्यं स्त्रीपुरुषयोगेन विविधं देवमनुष्यतिर्यगादिरूपं विश्वं सर्वं जगदुत्पद्यते ॥ २२ ॥ रजसा रजःस्वभावेन प्रेरिता मेघाः सर्वत्र नदीसमुद्रोषरपर्वतादिषु जलप्रयोजनरहितेषु देशेष्वप्यम्बूनि वर्षन्ति, तैरम्बुभिरेव प्रजाः सिद्ध्यन्ति सम्पादितान्नादिप्रयोजना भवन्ति। एवं सति महेन्द्रः किं करिष्यति ? यदीन्द्रेण बुद्धिपूर्वकं वृष्टिः कृता स्यात् तदा तदाराधकानां देश एव स स्यात् । न सर्वत्रेति भावः ॥ २३ ॥ तथापि 'योगक्षेमनिर्वाहार्थमिन्द्र आराधनीय' इत्याशङ्क्याह —नेति । 'वृद्धानामग्रे मया किं बहु वक्तव्यम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—तातेति। नोऽस्माकं पुरादयो न सन्ति, येषां रक्षाद्यर्थमिन्द्रोऽपेक्षितः स्यादिति शेषः । यतो नित्यं वयं वनौकस इति । दिवसेऽपि वनशैलनिवासिनः । पुरः नगराणि, जनपदाः देशाः, ग्रामाः हट्टाः ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृषीति ॥ कृषिवाणिज्याभ्यां सहिता गोरक्षा इति त्रयं बहुत्वपाठे द्वन्द्व एव । कुसीदं वृद्धिजीवनं चतुर्थमेवं वार्ता चतुर्विधोच्यते । तत्र तासु वार्तासु वयम् अनिशं सर्वदैव गोवृत्तयः गोपालनमेव वृत्तिर्येषां तथाविधाः स्मः । अतो गाव एवास्माकं दैवतत्पूज्याः । गोपत्वाच्च नास्माकं कृष्यादिर्वृत्तिः ॥ २१ ॥ ननु गवां वृत्तिरपीन्द्राधीनैवेत्याशङ्क्य निरीश्वरसाङ्ख्यमताश्रयेण निराकरोति—सत्त्वमिति ॥ सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः यथाक्रमं जगतः स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः । तत्र रजसा गुणेन हेतुभूतेनान्योन्यं स्त्रीपुरुषयोगेन विविधं देवमनुष्यतिर्यगादिरूपं विश्वं सर्वं जगदुत्पद्यते ॥ २२ ॥ रजसेति ॥ रजसा रजःस्वभावेन प्रेरिता मेघाः सर्वतः सर्वत्र नदीसमुद्रोषरपर्वतादिषु जलप्रयोजनरहितेषु देशेष्वप्यम्बूनि वर्षन्ति । अतो न प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। तैरम्बुभिरेव प्रजाः सिध्यन्ति सम्पादितान्नादिप्रयोजना भवन्ति । एवं सति महेन्द्रः किं करिष्यति । यदीन्द्रेण बुद्धिपूर्वकं वृष्टिः कृता स्यात्तदा तदाराधकानां देश एव सा स्यान्न सर्वत्रेति भावः ॥ २३ ॥ नेति ॥ हे तात ! नोऽस्माकं पुरः नगराणि न सन्ति न च जनपदाः देशाः नापि ग्रामा नापि गृहाः । यतो वयं नित्यं वनौकसः अतो वनशैलनिवासिनः । अतोऽस्माकं योगक्षेमहेतवो वनशैलादयः ! गोवर्द्धनसमीपे वासश्च व्यज्यते ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वैश्यजीविकायाश्चतुर्विधत्वमाह कृषीति । कृषिवाणिज्याभ्यां युक्ता गोरक्षा इति त्रयं चतुर्थं कुशीदं वृद्धिजीवनं अनिशं निरंतरं ॥ २१ ॥ ननु गोजीवनमिंद्राधीनमित्याशंक्य न नास्तिकानां निरीश्वरवादमाह सत्वमिति द्वाभ्यां अन्योऽन्यं स्त्रीपुंसप्रसंगेन ॥ २२ ॥ तैर्जलैः ॥ २३ ॥ नोऽस्माकं पुरोनगरं न जनपदाः देशाश्च न गृहाः सौधान संति हे तात वयं तु वनौकसो वनस्थाः अतः वनादिवासिनः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु गवामपि वृत्तिर्महेन्द्राधीनैवेत्याशङ्क्य निरीश्वरसांख्यमताश्रयेण निराकरोति सत्त्वमिति श्लोकद्वयेन ॥ सत्त्वमिति ॥ सत्त्वं, रजः, तमः इत्येते गुणाः, स्थितिश्च उत्पत्तिश्च अन्तश्च तेषां हेतवः कारणभूताः। तत्र रजसा रजोगुणेन हेतुभूतेन, अन्योऽन्यं स्त्रीपुंससंयोगेन, विविधं विश्वं कृत्स्नं जगत्, उत्पद्यते ॥ २१ ॥ ततः किमत आह ॥ रजसेति ॥ रजसा रजःस्वभावेन, चोदिताः प्रेरिताः, मेघाः, सर्वतः सर्वत्र नदीसमुद्रपर्वतादिषु, अम्बूनि जलानि, वर्षन्ति। समुद्रेऽपि वृष्टिदर्शनान्न प्रेक्षावत्पूर्वकत्वं वृष्टेरिति भावः। प्रजा गवादयः, तैर्मेघाम्बुभिरेव, जीवन्ति। प्रजा इति पाठान्तरे गोसमूहा इत्यर्थः। एवं सति, महेन्द्रः शक्रः, किं किं वा करिष्यति। रजोनोदितमेघानां चातुर्मास्ये जलप्रवर्षणस्वभावत्वात् ततः प्रजासिद्धिसत्त्वे सति महेन्द्रस्तत्रानिष्टमिष्टं वा किमपि कर्तुं न शक्यतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ तथापि योगक्षेमार्थं देवताऽपेक्ष्यते इति चेदत आह ॥ न नः पुर इति ॥ नोऽस्माकं, पुरः पत्तनानि न, जनपदा देशाः, न, ग्रामाः संवसथाः, न, गृहा गेहानि च, न सन्ति। वासस्थानभूताः पुरादयो न सन्तीत्यर्थः। किं तु हे तात, वयं नित्यं, वनमेव ओकः स्थानं येषां ते, अत एव, वनानि अरण्यानि च शैलाः पर्वताश्च तेषु निवसन्तीति तच्छीलाः भवामः। अस्माकं योगक्षेमहेतुर्वनशैलादय एवेति भावः। तत्र योगस्त्वलब्धलाभः, क्षेमं लब्धस्य परिरक्षणम् ॥ २३ ॥ अत्र ब्राह्मणसंमतिं विना नैते स्वीकरिष्यन्तीति मत्वा तानपि संगृह्णन्निगमयति, तत्र स्वयमुत्प्रेक्षितयागप्रयोगकल्पनामाह ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात्, गवामस्मज्जीवनहेतुभूतधेनूनां, अद्रेः तज्जीवनजलतृणादिहेतोर्गोवर्द्धनस्य, ब्राह्मणानां च, मखः तत्तुष्ट्यर्थो यागः, आरभ्यताम्। तत्र ब्राह्मणानां यजनं तु तत्प्रियभोजनविधापनं पुष्कलदक्षिणाप्रदानं च। अनेन 'अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्' इत्यभिप्रेतं स्पष्टीकृतम्। कथमयमारम्भणीय इति आकाङ्क्षायामाह। हे पितः, ये इन्द्रयागार्थाः सामभ्यः तैः, अयं मखो वक्ष्यमाणविधो यागः साध्यतां संपाद्यताम्। अनेन द्रव्यान्तराव्ययद्वारा यागसाधनसौकर्यमपि प्रदर्शितम् ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृषिवाणिज्येति : १०.२४.२१.

यद्यारब्धं भवद्भिर्विदितमविदितं वा यदन्त्यं फलाप्तिर्नावश्यं स्याद्यदाद्यं वदत तदखिला वैदिकं लौकिकं वा।
अन्त्यं चेद्यत्र कुत्रास्तु च यदचरमं धर्मतोऽधर्मतो वा नान्त्यं चेदिष्टमाद्यं यदि च तदखिलैर्दृश्यतां वैश्यधर्मः ॥ २६ ॥

रजसेति : १०.२४.२३.

तस्मात्तु येनोदयमेति विश्वं विश्वं स एवालमिहाब्दवृष्टौ। रजोगुणस्तात विभाति युक्तं महेन्द्रकृत्यं तु न चाण्वपीह ॥ २७ ॥
तात त्वं वृद्ध एव श्रुतविपुलकथाः सर्व एतेऽपि गोपास्तत्प्राज्ञेनापि किं वस्तदपरमुपदेष्टव्यमिष्टार्थजुष्टम्।
सत्यप्येवं वदामि स्वमतिविलसितं सावधानाः शृणुध्वं यत् सिद्धा बालवाणी श्रुतिसुखजनिका शब्दतोऽप्यर्थतश्च ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

पिताजी, हम तो वैश्य हैं, वैश्यों की वृत्ति आजीविका, खेती, व्यापार, गोपालन और ब्याज-बट्टा इन चार प्रकार के साधनों से चलती है। हम ग्वाल लोग नित्य गौओं को चराते अपनी आजीविका चलाते हैं। हमारी यही आजीविका है, इसलिए हम लोगों को इन्द्र से कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २१ ॥ सत्व गुण, रजो गुण और तमो गुण ये तीन माया के गुण हैं। इन तीन गुणों से विश्व की रचना, रक्षा और संहार होता है, यह विविध प्रकार का चराचर जगत् रजोगुण की प्रेरणा से आपस में उत्पन्न होता है ॥ २२ ॥ पिताजी ! इस त्रिगुणात्मक व्यवहार से ये सारे मेघ रजोगुण की प्रेरित होकर सर्वत्र जल की वृष्टि करते हैं। जल से धान्यादि उत्पन्न होता है और उसी धान्यादि से सबका पालन होता है। इस में इन्द्र क्या करेगा ॥ २३ ॥ हे तात ! हम सब खेतवासी ग्वाल गण हैं न हमारे नगर हैं न जनपद हैं न गाँव है या तो घर है, हम तो केवल वनवासी व्रजजन हैं, पर्वत और वन ही अपना निवास है ॥ २४ ॥

तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः। य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मखः ॥ २५ ॥
पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः। संयावापूपशष्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥ २६ ॥
हूयन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः। अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥ २७ ॥
अन्येभ्यश्च श्वचण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः। यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥ २८ ॥

१. मख-प्रा. पा. । २. गुणं-वीर. विज. । ३. दीयताम्-विज. । ४. श्याद्य वाः-श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. ; श्याद्य श्वच-वीर. विज. ।

कर्दमक्षमा

अन्वयः— तस्मात् गवाम् ब्राह्मणानाम् च अद्रेः मखः आरभ्यताम् ये इन्द्रयागसम्भाराः तैः अयम् मखः साध्यताम् ॥२५॥ संयाव अपूप शष्कुल्यः सूपअन्ताः पायसआदयः विविधाः पाकाः पच्यन्ताम् च सर्वदोहः गृह्यताम् ॥ २६ ॥ ब्रह्मवादिभिः ब्राह्मणैः सम्यग् अग्नयः हूयन्ताम्, तेभ्यः बहुविधम् अन्नम्, देयम् वः युष्माभिः धेनुदक्षिणाः देयाः ॥ २७ ॥ अन्येभ्यः च श्वचाण्डाल-पतितेभ्यः यथार्हतः देयम्, च, गवाम् यवसम् दत्त्वा, गिरये बलिः दीयताम् ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ब्राह्मणानपि संगृह्णन्निगमयति । तस्मादिति । स्वयमुत्प्रेक्षितयागप्रयोगकल्पनामाह य इंद्रयागसंभारा इति सार्धपंचभिः। संभाराः साधनानि ॥ २५ ॥ सूपं मौद्गम् । पायसं केवले पयसि पक्वम् । संयावादयो गोधूमादिविक्रियाः । क्रमश्च सूपपायसयोः श्रुत्या दोहस्यार्थतोऽन्येषां पाठतः ॥ २६ ॥ यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाह । हूयंतामिति । धेनुदक्षिणाः धेनुसहितादक्षिणाः ता एव वा दक्षिणा वो युष्माभिः ॥ २७ ॥ यवसं तृणम् ॥ २८-२९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ब्राह्मणान् विना कर्ममात्रं न सेत्स्यतीत्यभिप्रेत्याह—ब्राह्मणेति । निगमयति बोधयति । यतो वयं वनौकसस्तस्माद्धेतोः। आरभ्यताम् अद्यारभ्य प्रवर्त्यताम् । संभारः सामग्री 'संभारः साधनोपाये पालसंधार्यभूषगे' इति निरुक्तिकारः । स्वयमुत्प्रेक्षितः स्व-कल्पितः२५।मौद्गम् मुद्गपाकः । संयावः गोधूमसारोघृतखंडनिर्मितः पाकः, दलितगोधूमादिपाको वा । अपूपः गोधूमपिष्टनिर्मितबहुछिद्रो मंडलाकृतिः सखंडः घृतपाकः । शष्कुली च मंडलाकृतिर्घृतपक्वा गोधूमविकृतिः । श्रुत्या श्रवणेन । आदौ पायसमंते सूपः । दोहस्य दुग्धस्य: । अर्थतः प्रयोजनतः । यत्र यस्य दुग्धादेरपेक्षा तत्रैव तदादेयमिति । सर्वपदेन समग्रदुग्धस्य वा दधितक्रादेर्ग्रहः। अन्येषाम् संयावादीनाम् ॥ २६ ॥ होमं विना यागशोभा श्रद्धा च न भवतीत्याशयेनाह—हूयंताम् । अग्नयः गार्हपत्यादयः । बहुविधम् लेह्यादिरूपम् । यज्ञे केवलगवामपि दक्षिणात्वेन विधानम्, अत एव ता गावः ॥ २७ ॥ यथार्हतः श्वभ्यो बहिः, चांडालेभ्यस्श्वपचादिभ्यश्च ततोऽपि बहिः, पतितेभ्यः सुरापादिभ्यस्ततोपि बहिरित्यर्थः । यवसम् तृणादि । बलिः पायसादिभागः ॥ २८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तस्मात् आजीव्यत्वात् तत्र ब्राह्मणानां गवादिवत् प्रागनुक्तिः सर्वाजीव्यतया सामान्यत एव प्राप्तेरिति भावः । तथा च मनुः—

"उत्तमाङ्गोद्भवा ज्येष्ठ्यात् ब्रह्मणश्चैव धारणात् । सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः" ॥ इति

आजीव्यतयोक्तत्वेपि वनस्थानुक्तेर्देवतात्वाप्रसिद्धेः तत्राद्रेरेव वा । मुख्यत्वात् यथा स्कान्दे "अहो वृन्दावनं रम्यं यत्र गोवर्द्धनो गिरिः"इति अत्र देवानां समुच्चयात् मखस्य चैकवचनोक्तेर्देवतात्रयाराधनात्मक एक एवायं मखो ज्ञेयः वक्ष्यते च तद्द्रव्यैप गिरिद्विजानित्यादि इत्यद्रिगोद्विजमखमिति च तथापि "कृष्णस्त्वन्यतमं रूपम्" इत्यादिना तस्यैव महिमदर्शनात् तदभेददर्शनाच्च शैलस्यैव मुख्यत्वमवगम्यते यद्यपि श्रीवृन्दावनभूमौ नन्दीश्वराष्टकूटवरसानुधवलगिरिसौगन्धिकादयोबहवोऽद्रयो वर्त्तन्ते तथाप्यत्र अद्रिः श्रीगोवर्द्धन एव तन्नामनिरुक्तिबलात् पञ्चमे कुलाचलमध्ये गणनेन तत्पादस्वरूपतत्तदद्रेस्तस्यैव मुख्यत्वात् लोकशास्त्रयोः तस्यैव पूजनप्रसिद्धेः पूजितस्य तस्याग्रे समुद्धरणात् तत्रैकदेशे स्वेवान्नकूट इत्यादिप्रसिद्धेश्च तन्नाम्ना ग्रहणम् अतिसन्निहितत्वेन व्रजाग्रिमदेशे तस्यैव ज्ञेयत्वात् तैरेव साध्यतामिति देवतानिराकरणेन इन्द्रस्याप्रयोजकत्वोक्तेः एवं द्रव्याहरणपरिश्रमाभावश्च सूचितः एतच्च तस्याधिककोपजननार्थमेव एवं पारम्पर्यागतधर्मपरिपालनमपि वृत्तम् अयोग्यप्रदानपरित्यागपूर्वकयोग्यसम्प्रदानमात्रग्रहणेना-विशेषात् प्रत्युत वैशिष्ट्यात् ॥ २५ ॥ महेन्द्रयागादप्ययं मखो विशेषतः सम्पाद्य इत्याशयेन तद्विधिविशेषमुपदिशति, पच्यन्तामिति चतुर्भिः । पाकाः पचनीया अन्नव्यञ्जनादयः सूपा व्यञ्जनानि आदिशब्देन गृहीतानामपि संयावादीनां पृथगुक्तिः प्राचुर्यापेक्षया सर्वदोहस्य विवरणं यथा हरिवंशे "त्रिरात्रं चैव सन्दोहः सर्वघोषस्य गृह्यताम्" इति अन्यत्तैः तत्र श्रुत्या आद्यन्तशब्दश्रवणानुरूप-मित्यर्थः दोहस्य दुग्धस्य अर्थतः प्रयोजनवशात् प्रथमत इत्यर्थः ॥ २६ ॥ क्रमविधिमाह—हूयन्तामिति । वेदाभ्यासपरैर्ब्राह्मणैरग्नयः सम्यक् हूयन्तां यद्वा, सम्यग्भिर्ब्राह्मणैर्वैष्णवविप्रैरित्यर्थः । बहुत्वं गार्हपत्यादिद्वयापेक्षया दक्षिणाग्नेरपि तत्र रक्ष आदिहननापेक्षया ग्रहणं बहुगुणमिति बहुविधमिति वा पाठः ॥ २७ ॥ अन्येभ्य ऋत्विगितरेभ्यः विप्रेभ्यो वैष्णवेभ्यो दीनेभ्यो याचकेभ्यश्च किं विशेषनिर्देशेन श्वादीनभिव्याप्यैवान्नादिकं देयं यथार्हतो यथायोग्यं देयं केवलमिन्द्रं वर्जयित्वेति भावः गवां गोभ्यः बलिः गन्धपुष्पाद्युपचारः ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ब्राह्मणानामिति ब्रह्मण्यदेवत्वात्, अन्यथा देवानामिव तेषामप्यपूज्यत्वप्रशक्तेः तैर्विना यागासम्पत्तेश्च, अद्रिः श्रीगोवर्द्धन एव, मुख्यत्वात्, लोकतः शास्त्रतश्च तस्यैव पूजनप्रसिद्धेः, पूजितस्य तस्यैवाग्रे उद्धरणाच्च, तन्नामाग्रहणं तत्र तस्यैव

सुप्रसिद्धत्वात्, अतिसन्निहितत्वेन तदेकज्ञेयत्वाद्वा, तैरेव साध्यतामिति देवतानिराकरणेनेन्द्रस्याप्रयोजकतोक्तेः द्रव्याहरणपरिश्रमाभावाच्च: एतच्च तस्याधिककोपजननार्थमेव। एवं पारम्पर्य्ययोगतधर्म्मप्रतिपालनमपि वृत्तम्, पूज्यपूजार्थं काले संभूतानां द्रव्याणां तदर्थं तदानीमेव सम्यग्विनियोगात्, केवलं गड्डरिकाप्रवाहन्यायेनाविचारतः पूज्यस्येन्द्रस्य परित्यागेन योग्यपूज्यान्तरस्यैव पूजाप्रवर्त्तनात्, अतो विशिष्टपूज्यसम्पत्तेः॥ २५॥ महेन्द्रयागादप्ययं मखो विशेषतः सम्पाद्य इत्याशयेन तद्विधिविशेषमुपदिशति पच्यन्तामिति चतुर्भिः। पाकाः वचनीया अन्नव्यञ्जनादयः, आदिशब्देन गृहीतानामपि संयावादीनां पृथुगुक्तिस्तेषां प्र.चुर्य्यापेक्षया, अन्यत्तैर्व्याख्यातप्। तत्र दोहस्यार्थत इति दोहस्य गोरसस्य दुग्धदधिघृतैस्तत्क्रम इति। चकार एवार्थे, तस्यैव; यद्वा, उक्तसमुच्चये अधिकश्च चक्रुरित्यर्थः। सर्वो निःशेषः; यद्वा सर्वेषामेव पशूनां सर्व्वस्य घोषस्य वा, दुह्यत इति दोहो दुग्धम्; तथा च हरिवंशे (विष्णु प० १६।११) 'तत्र हत्वा पशून् मेध्यान् वितत्यायतने सर्व्वघोषस्य सन्दोहः क्रियतां किं विचार्य्यते'॥ इति॥ २६॥ वेदाभ्यासपरैर्ब्राह्मणैरग्नयः सम्यक् हूयन्ताम्, यद्वा, सम्यग्भिर्ब्राह्मणैर्वैष्णवविप्रैरित्यर्थः। बहुत्वं गार्हपत्यादित्रयापेक्षया, होमबाहुल्येन गौरवापेक्षया वा। वो युष्माभिः, किंवा, वो युष्माकं याः प्रिया धेनवस्ता दक्षिणाश्च देयाः। हूयन्तामिति श्रीगोवर्द्धनस्याग्निमुखत्वसूचनेनान्यदेवतावत्तस्यापि देवतात्वं बोधयति॥ २७॥ अन्येभ्य ऋत्विगितरेभ्यो विप्रेभ्यो वैष्णवेभ्यो याचकेभ्यो दीनेभ्यश्च' किं विशेषनिर्देशेन, श्वादीनाभिव्याप्यैवान्नादिकं देयम्' यथार्हत इति विचारेण यस्मै यद्दातुं युज्यते तदनतिक्रमेणेत्यर्थः। गवां गोभ्यः, बलिः गन्धपुष्पाद्युपचारः॥ २८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तस्माज्जीवनहेतूनां गवां ब्राह्मणानामस्मत्कुलमाशासानामद्रेस्तृणजलादिभिर्नित्यं गोवर्द्धनस्याद्रेश्च तुष्टयर्थो मखो याग आरभ्यताम् अनेन "अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्" इत्यभिप्रेतं स्पष्टीकृतं कथमारम्भणीय इत्यत्राह—य इति। सम्भाराः साधनानि तैरयं वक्ष्यमाणविधिः साध्यताम्॥ २५॥ अयमित्यनेनाभिप्रेतं प्रकारं दर्शयति—पच्यन्तामिति चतुर्भिः। पाकाः पच्यन्तां क्रियन्तां सूपपायसादिशब्दास्तत्पाकपराः यद्वा पाकशब्दोऽत्र बहुलग्रहणादसंज्ञायामपि "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" (३।३।१९) इति कर्मणि घञन्तः पक्तव्याः पच्यन्तां इत्यर्थः सूपान्ताः पायसादय इति पित्रर्थपाकक्रमविपर्ययद्योतनार्थमुक्तं तत्र सूपादयः पायसान्ता हि पच्यन्ते सम्यावादयो गोधूमादिविक्रियाः सर्वदोहः व्रजे कृत्स्नं क्षीरं गृह्यतां पायसाद्यर्थमेकत्र समुद्ध्रियतामित्यर्थः॥ २६॥ तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं षड्रसोपेतमन्नं वः युष्माभिः देयं यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थञ्चाह—हूयन्तामिति। श्वादिभ्योऽपि ब्रह्मवादिभिः ब्राह्मणैः सम्यक् यथावत् अग्नयः हूयन्ताम् धेनुसहिता दक्षिणाः ता एव दक्षिणा वा देयाः॥ २७॥ श्वादिभ्योऽपि यथायोग्यमन्नादिकं देयं श्वपर्यन्ताः अन्नादिभिस्तर्पणीया इत्यर्थः। तथा गवां यवसं तृणं दत्वा गवामिति सम्प्रदानस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी गिरये गोवर्द्धनाय बलिर्दीयताम्॥ २८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

॥ २५॥ सूपो मुद्गान्नम् अन्धः केवलान्नं संयावः भिन्नयवकृतः मुद्गभिन्नौदनो वा अपूपं पिष्टकृतं शष्कुली पैष्टिका मण्डलाकृतिः सर्वदोहः क्षीरदधितक्रादिकः॥ २६॥ बहुगुणं षड्रसोपेतम्॥ २७॥ यवसं तृणचूचिका गिरये गिरिसन्निहिताय तन्नाम्ने हरये॥ २८–३०॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तस्मादाजीव्यत्वात् अत्र सर्वत्र प्रसिद्धेः ब्राह्मणा अपि संग्रहीता देवतानां समुच्चयात् मखस्य चैकत्वात् देवतात्रयाराधनात्मक एवायं मखः तथापि गोवर्द्धनस्य माहात्म्यविशेषदर्शनात्तदीयता प्रसिद्धिः॥ २५–२६॥ क्रमविधिमाह—हूयन्तामिति। स्वलङ्कृता इत्यादिकानि प्ररोचनार्थमुपलक्षणानि ननु विशेषणानि तानि विनापि फलसिद्धेः अतस्तत्तत्पूजानन्तरं तत्तत्प्रदक्षिणाभोजनानन्तरं श्रीगोवर्द्धनपरिक्रमः गोधनानि पुरस्कृत्येत्यादि पृथगुक्तेः॥ २७–२९॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

ब्राह्मणानामाशिषोऽस्माकं प्रत्यक्षफला इति तेऽपि पूज्या इति स्वमते तानप्यनुकूलयन्नाह—तस्मादिति। सम्भाराः साधनानि॥ २५॥ पाका अन्नव्यञ्जनादयः सूपान्ता इति सूपस्यौष्ण्यं पायसादय इति पायसस्य शैत्यमपेक्षितं भवतीति भावः। संयावादयो गोधूमादिविक्रियाः सर्वेषामेव व्रजवासिनां दोहः दोहोत्थदुग्धदध्यादिसञ्चयः॥ २६॥ यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाह—हूयन्तामिति। धेनुसहिता दक्षिणाः वो युष्माभिः॥ २७॥ स्वमते अन्त्यजपर्यन्तान् सर्वानेव व्रजवासिनोऽनुकूलयन्नाह—अन्येभ्य इति। बलिः गन्धपुष्पाद्युपचारः॥ २८–२९॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तस्मात् गवादीनां मखः आरभ्यतां सम्भाराः साधनानि॥ २५॥ पच्यन्तां क्रियन्ताम्॥ २६॥ वो युष्माभिः॥ २७॥ यवसं तृणम्॥ २८–२९॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

स्वाभिमता देवताः स्फुटयन् निगमयति–तस्मादिति ताभ्यः फलानि तु दुग्धादिन्याशीर्वादैर्गवादिसम्पदां वृद्धयस्तृणजल-दिव्यपुष्पफलादीनि च वोध्यानि। न च मदुक्ते मखे पृथग्द्रव्यव्ययोभावीत्याह–इन्द्रेति। सम्भाराः सामग्र्यः॥ २५॥ पाक्याः अन्नव्यञ्जनादयः सूपं मोदगमस्ते येषां पायसं केवले पयसि पक्वमादौ येषां ते सूपे उष्णस्य पायसे शैत्यस्य चोपेक्ष्यत्वात् संयावादयो गोधूमादिविक्रियाः सर्वदोहश्च सर्वेषां व्रजौकसां दोहत्थदुग्धदध्यादिसमूहः॥ २६॥ मखशोभायै श्रद्धोत्पादनाय चाह-हूयन्तामिति। धेनुसहिता दक्षिणाः वो युष्माभिः॥ २७॥ स्वमते ब्राह्मणाननुकूलान् कृत्वान्यानपि व्रजस्थान् सर्वाननुकूलयन्नाह-अन्येभ्य इति। "अन्नस्य क्षुधितः पात्र"मित्युक्तेर्नत्विन्द्रायेति भावः। यवसं तृणं वलिर्गन्धपुष्पाद्युपहारः॥ २८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अग्रत एव जाग्रता भगवन्भवता भाव्यं संसाराः सम्भृता वृथा भविष्यन्तीत्यत आह॥ तस्मादिति। यद्वा नेह साहिती विहिता हातुं शक्या तस्या एवमवश्यं विनियोगः कार्य इत्यर्थान्प्रति वक्ति॥ गवां ब्राह्मणानामिति। स्वयं गोगोप इति तत्पुरस्कृतिः। अद्रेरान्तरङ्गिको भावोऽद्रिरादरणीयत्वादित्यादेः सर्वत्रापि सर्वैराद्रियमाणस्य ममेति। गवां मखो ब्राह्मणानां च मखोऽद्रेश्च मख आरभ्यामिति मखपदस्य पृथक् पृथगन्वयसूचनार्थं पुनर्मख इत्युक्तिः। अन्यथा मख इत्यतिरिक्तत्वादिति ज्ञेयं। उखवखिमखिगतौ हलश्चेति घञ् संज्ञापूर्वकत्वान्न वृद्धिः। क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति भवं(?)वपयेऽपि पुंसीति घो वा। तस्मादिन्द्रकृत्याभावादिन्द्रयागसम्भाराः पदार्था एतैरयं मदुक्तो मखः साध्यतां। ये इन्द्रयागसम्भारास्तैर्गवां ब्राह्मणानामद्रेश्च मखः साध्यतां। अयं चारभ्यतां भिया तन्तीति भ्यतस्ते चाराश्च तेभ्यस्तश्च तेषां मध्ये मखो गतो दूतमध्ये निविष्ट इति तदिष्टिं त्यक्त्वाऽयं मखः साध्यतामिति मखरत्वया मखपतित्वेन सम्मतोऽयं चारभ्यतां मध्ये मखो गत इत्यावृत्त्याऽन्वयो वा चारभ्यतां चारभ्यतः प्रति गति इति वा। यथोक्तं चतुर्थतात्पर्ये त्वत्वंचतुर्पुष्ट.ति सूत्रादिति। मख सहस्वदर्चतीत्यृभाष्यटीकयो-र्मखात्मा पुरुहूतो वा मखात्मा मखाभिमानीत्युक्तेः॥ २५॥ विविधा नानाप्रकाराः सूपो द्विदलपदार्थोऽन्धो भक्तं पायसं क्षीर-विकृतान्नादिर्येषां ते पाकाः पाक्या भाविनीं संज्ञां गृहीत्वा पादसादीत्युक्तिः। संयावो गोधूमान्नमपूपः पोलिकादिः शष्कुल्यः पिष्ट-कृतमण्डलभक्ष्याणि पच्यतां सर्वदोहाश्च क्षीरादिगृह्यतां पाका अर्भकाः पाकाननुकूलाभिर्ललनाभिर्गृह्यतामित्यर्थः। अगनयादौ पातः पोतानां स्यादिति कक्ष्यः निक्षिप्तरोदन ओदनसिद्धिर्वा न भवेदिति तद्ग्रहणमपि युक्तमिति सूचयितुं पाक्या इत्यनुक्त्वा पाका इत्युक्तमिति मन्येन स्यान्नेयं। मदुदितकृतौ दास्याम्यहमहर्मोक्षमपरोक्षप्रेक्षां वा तद्गृह्यतां। न तादृशी शक्तिस्तवेति नेत्याह॥ सर्वद इति। अहमुहूर्तं विज्ञेयायमोक्षोऽपि भण्यते। अहर्दिनं प्रकाशश्च क्वचिज्ज्ञानं वलं तथेति बृहद्भाष्योक्तेः प्राग्ज्ञानमनन्तरं मोक्षश्चेत्तत्फलत्वेन गृह्यतामिति वा॥ २६॥ ब्रह्मवादिभिर्ब्राह्मणैरग्नयो हूयतां। सम्यगित्यनङ्गभङ्गमाह। तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं सषड्सं धेनवश्च दक्षिणाश्च ता दीयतां धेन्वात्मका दक्षिणा इति वा॥ २७॥ आश्वचण्डालपतितेभ्यः श्वानश्च चण्डालाश्च पतिताश्च तेभ्यस्तान् आ अभिव्याप्य द्वे पदे। दीयतां यथार्हतो यथायथायोग्यतां गवां यवसं च दत्वा गिरये पर्वताय वलिर्दीयतां। अगायेत्यनुक्त्वा गिरय इति वदन्स्वस्मै सर्वनाम्ने वायवे चेत्यभिप्रैति। चतुर्थतात्पर्ये यथोक्तं। गिरिः प्राणः समुद्दिष्ट इति॥ २८॥

श्रीसुबोधिनी

तत्र विष्णोर्द्वयमङ्गं ब्राह्मणा गावश्च, मन्त्रा एकत्र प्रतिष्ठिता हविरेकत्र, अद्रिर्गोवर्धनः स्वयमेव देवतातो वैष्णव एव यागः कर्तव्य इति वक्तव्ये गवां ब्राह्मणानामद्रेश्च मख आरभ्यतामित्याह तस्मामिति, यदि युक्तिरेव प्रमाणं तदा श्रुत्यनुसारिण्येषा भवतीति गिरिवनेचराणामेष एव याग उचितः, चकारादङ्गदेवताः सर्वा एव वैदिक्यः परिग्राह्याः, अयमिति गोसवात्मकः, 'अथा-जयद् गोसवेने'तिवाक्याद् गोसत्रादयमतिरिक्त एव लौकिकोस्य विधानं भगवानेव वक्ष्यति, अनेनैतज् ज्ञापितं युक्तिसिद्धमपीश्वर-युक्तिसिद्धमेव ग्राह्यं न तु लौकिकयुक्तिसिद्धमिति, नन्विन्द्रार्थे द्रव्याणि सम्पादितानि कथमेतैरन्यसाधनं ? तत्राह य इन्द्रयाग-सम्भारा आज्यादयस्तैरेवायं मखः साध्यतां, मखपदेन च सर्वदेवोपकारो ज्ञापितस्तत्र त्वेक एवेन्द्रस्तुष्यतीति, अज्ञानात् कृते सर्व-त्रैवं व्यवस्था, अन्यस्मै दत्तमपि हविराच्छिद्यान्यस्मै देयमिति, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्र' इत्याद्यभ्युदयेष्टौ कालभ्रमात् प्रवृत्तेष्टिर-न्यथा क्रियते तथा प्रकृतेपि युक्तिभ्रमादिन्द्रार्थमपि सम्भृता अन्यार्थमेव कर्तव्याः॥२५॥ तस्माद् यागादत्र विशेषमाह पच्यन्तामिति, लौकिकोत्सवपुरःसरे तु प्राकृतानां महानुत्साहो भवतीति स्त्रीणामप्यत्रोपकारो भवतीति च, विविधाः पाका भर्जनजकपचनतैलघृत-दुग्धदध्यादिषु च पाकाः परिगृहीतास्तेन नानाविधानि भक्ष्याणि सेत्स्यन्ति, तेषां सर्वेषामन्ते सूपः कर्तव्यः पक्वान्नादीनां करणे भूयान् कालो लगत्यतः प्रथमतः सूपकरणे सोमलतामापद्यते, पायसं हि वहुदुग्धेल्पीयांसरतण्डुला दत्ता अल्पाग्नावेव पच्यमाना महता कालेन पच्यन्त इति पायसमादौ कर्तव्यं, अथ वा देवानां प्रथमतः पाको मध्ये लौकिकनां महतां प्राकृतानां सूपमात्रर्भाति, ततो यत् कर्तव्यं तदाह सयावो गोधूमचूर्णसारांशाः पूर्वदिवस एव पच्यमाना महता कालेन सिद्धा भवन्ति सोपि ग्राह्यः, अपूपा गुडमि-

श्रितचूर्णनिष्पादितपाकः स्नेहद्रव्येषु, शष्कुल्यो नालाकारेण भ्रमद्वर्तुला भक्ष्यविशेषाः, सर्वं एवाद्यतनो दोह्यो गृह्यतां दुग्धस्य विक्रयादिविनियोगो न कर्तव्यः, चकारादशक्यं वत्सेभ्य एव देयमिति ॥ २६ ॥ ततोऽलौकिको देवानामर्थे होमः कर्तव्य इति सम्य-विधानपूर्वकं ब्राह्मणैः स्वरूपत उत्तमा ब्रह्मवादिनो ज्ञानतः, ततो होमानन्तरं 'प्रत्यक्षदेवता ब्राह्मणा' इति तेभ्योऽन्नं बहुविधं पक्वान्नादिसहितं देयं वो युष्माभिः, युष्माकं वैतत् कर्तव्यं ब्राह्मणान् प्रति वो युष्मभ्यमिति, धेनवश्च दक्षिणात्वेन देयाः ॥ २७ ॥ ततोऽन्येभ्यो देयमित्याहान्येभ्य इति, क्षत्रियवैश्यादिसर्ववर्णेभ्यस्ततः श्वचाण्डालपतितेभ्यश्च, एते वह्निर्बलिभुजोऽतोऽन्ते दैवतत्वान्निरूपिताः, श्वचाण्डालपतितवायसेभ्यो बलिरिति, परं यथायोग्यं, ततो गोभ्यो यवसं देयं चारणार्थं न प्रस्थापनीयास्ततो गिरये पर्वताय बलिर्देयः, सर्वमेवान्नमुत्तमं पर्वतसमीपे राशीभूतं कर्तव्यम् ॥ २८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तस्माद् गवामित्यस्याभासे अद्रिर्गोवर्धनः स्वयमेव देवतेति देवता नाम विष्णुरित्यर्थः, नन्दग्रामवरसानुपर्वतौ शिवब्रह्मरूपौ गोवर्धनो विष्णुरूप इति पुराण उक्तत्वात् ॥ २५ ॥ हूयन्तामग्नय इत्यत्र अलौकिकोदेवानामर्थे होम इति लौकिकशब्दः स्मृतिपुराणोक्तवाचकः, अतो ह्यलौकिकशब्देन वेदोक्तो गृह्यते, तथा च वेदोक्तहोमः कार्य इति फलति, देयं वो धेनुदक्षिणा इत्यस्य विवृतौ वो युष्माभिरिति वो युष्माभिरित्यत्र तृतीयायां व इति वैदिकप्रक्रियया साध्यं ब्राह्मणान् प्रति वो युष्मभ्यमितीति नन्दादीन् प्रति यदा भगवत उपदेशस्तदा तु वो युष्माभिरित्येवं ज्ञेयं, यदा पुनः पुरोहितादीन् ब्राह्मणान् प्रत्युक्तिस्तदा वो युष्मभ्यमिति चतुर्थी ज्ञेयेत्यर्थः ॥ २७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यस्मादिन्द्रेण न कश्चिदुपकारस्तस्मात् जीवनहेतूनां गवां प्रत्यक्षभूदेवानां ब्राह्मणानां कन्दमूलफलतृणजलादिभिर्नित्यं योगक्षेमनिर्वाहकस्याद्रेर्गोवर्धनस्य च मखो यागः अद्यप्रभृति आरभ्यताम्। अनेन "अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्" इति यदुक्तं तत् स्पष्टीकृतम्। ननु 'अस्य यागस्याननुभूतपूर्वकत्वात् कथं कर्तव्य' इति प्रकारापेक्षायामाह—य इति सार्धैश्चतुर्भिः। इन्द्रयागस्य ये सम्भाराः साधनानि तैरेवायं मखः साध्यताम् ॥ २५ ॥ विविधाः पाकाः पक्वव्यपदार्थाः पच्यन्ताम्। तेष्वेव कांश्चिद्दर्शयति—सूपान्ता इति। सूपं मौद्गं तदन्ते कर्तव्यम् तत्करणे विलम्बो न भवति, तस्योष्णता चापेक्षिता। पायसं वदुग्धे अल्पीयांसः प्रक्षिप्तास्तण्डुला अल्पाग्निना पच्यमाना महता कालेन पच्यन्ते तत्, तस्य शीतता चापेक्षितेति, तदादौ कर्तव्यम्। संयावः गोधूमचूर्णसारांशाः सितामिश्रा दुग्धे घृते वा पक्वाः। अपूपाः गुडमिश्रितगोधूमचूर्णनिष्पादिता घृतपक्वाः। शष्कुल्यो नालाकारेण भ्रमद्वर्तुला भक्ष्यविशेषाः। दोह्यो दुग्धदध्यादिः सर्वो गृह्यताम्। विक्रयादिविनियोगो न कर्तव्यः ॥ २६ ॥ 'अयाजयद्गोसवेन' इत्युद्धवोक्तेरस्योत्सवस्य गोवर्धनपूजाप्रधानत्वेऽपि यागत्वसिद्ध्यर्थमाह—हूयन्तामिति। ब्रह्मवादिभिर्वेदज्ञैर्ब्राह्मणैरग्नयः आहवनीयादयः सम्यक् हूयन्ताम्। वो युष्माभिस्तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं षड्रसोपेतमन्नं देयम्, धेनुसहिता दक्षिणाश्च देयाः ॥ २७ ॥ अन्येभ्यश्चाश्वादिभ्यो यथार्हतः यथा योग्यमन्नादिकं देयम्, तथा गवां यवसं तृणं च दत्त्वा गिरये गोवर्धनाय बलिर्नैवेद्यं पक्वान्नादिकं सर्वं दीयताम् ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तस्मादिति ॥ तस्मात् जीवनहेतूनां गवां प्रत्यक्षभूदेवानां सर्वकर्मकाण्डसंपादकानां च ब्राह्मणानां कन्दमूलफलतृणजलादिभिर्नित्यं योगक्षेमनिर्वाहकस्याद्रेर्गोवर्धनस्य च मखो यागः अद्यप्रभृति आरभ्यताम्। वनस्यात्रानुक्तिर्दैवतात्वप्रसिद्धेः। अतत्रयाणामयं मखः तत्रापि शैलो मुख्यः शैलोऽस्मीत्याद्युक्तेः। तत्रापि गोवर्धनो मुख्यः। इन्द्रयागस्य ये संभाराः साधनानि तैरेवायं मखः साध्यताम् ॥ २५ ॥ पच्यन्तामिति ॥ सूपोऽन्ते येषां ते सूपस्योष्मत्वमपेक्षितमित्यर्थः। पायसमादौ येषां ते पायसस्य शैत्यमपेक्षितम् इत्यर्थः। विविधाः पाकाः भोजनार्हद्रव्याणि पच्यन्तां संयावा अपूपाः शष्कुल्यश्च पच्यन्तां दोह्यो दुग्धदध्यादिः सर्वो गृह्यतां विक्रयादिविनियोगो न कर्तव्यः। अत्र सूपं मौद्गं पायसं केवले पयसि पक्वं संयावः मोहनभोग इति प्रसिद्धः। अपूपः मालपुवा इति ख्यातः। शष्कुली सुहाली पूरी मठडी इत्यादि संज्ञा अन्ये तु कर्णाकारा मध्ये द्रव्यान्तरैः पूरिता गूँजा इति ख्याता इत्याहुः। क्रमश्च सूपपायसयोः श्रुत्वा दोहस्य यत्र यत्रोपयोग इत्यर्थतोऽन्येषां पाठतः ॥ २६ ॥ हूयन्तामिति ॥ ब्रह्मवादिभिर्वेदज्ञैर्ब्राह्मणैरग्नयः आहवनीयादयः सम्यक् हूयन्तां वो युष्माभिस्तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो बहुगुणं षड्रसोपेतमन्नं देयं धेनुसहिता दक्षिणास्ता एव वा दक्षिणाश्च देयाः ॥ २७ ॥ अन्येभ्य इति ॥ अन्येभ्यः आश्वश्चाण्डालपतितेभ्यः श्वचाण्डालपतितपर्यन्तेभ्यः यथार्हतः यथायोग्यमन्नादिकं देयं तथा गवां गोभ्यः यवसं तृणं च दत्त्वा गिरये गोवर्धनाय बलिर्नैवेद्यं पक्वान्नादिकं सर्वं दीयताम् ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इन्द्रयज्ञस्य संभाराः सामग्र्यः मखो यज्ञः वृंदावनभूमौ नंदीश्वरायनेकाद्रिसत्वेप्यत्रादिपदेन गोवर्द्धन एव ज्ञेयः कुलाचलमध्ये गणितत्वात् ॥ २५ ॥ पाकाः पचनीयाः भोज्यपदार्थाः पायसादयः दुग्धादयः सूपांताः द्विदलांताः तेके संयावः गुडशर्करा-

दिमिश्राः गोधुमविकाराः अपूपाः भाषायां पुडा इति ख्याताः शष्कुल्यः कर्णाकाराघृतपक्वाः शर्करामिश्रितगोधुमविकृतयश्च सर्वदोहः समग्रं दधि दुग्धं च तथाहपरिवंशेत्रिरात्रं चैवं संदोहं सर्वघोपस्य गृह्यतामिति ।। २६ ।। वो युस्माभिः धेनुयुक्ताः दक्षिणाः देयाः ।। २७ ।। अन्येभ्य ऋत्विगितरेभ्यो विप्रेभ्यःश्वादीनभिव्याप्य यथा योग्यं अन्नादि देयं यवसंतृणं गोवर्धनाय वलिर्नैवेद्यं पूजन-सामग्रीं च एकं इंद्रं वर्जयित्वेति भावः ।। २८ ।।

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अयमित्यनेनाभिप्रेतं तत्प्रकारं दर्शयति पच्यन्तामिति चतुर्भिः ।। पच्यन्तामिति ।। सूपान्ताः पायसादयः, विविधाः नाना-विधाः, पाकाः, पच्यन्तां क्रियन्ताम् । अत्र सूपपायसादयः शब्दास्तत्पाकपराः । अत्र केचित्तु वहुलग्रहणात् 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायां' इति पाकशब्दं कर्मणि घञन्तं कृत्वा पक्तव्या' पक्तुं योग्या इत्यर्थ इत्याहुः । सूपान्ताः पायसादय इति पित्रर्थपाकक्रमविशेष-यद्योतनार्थमुक्तम् । पित्रर्थपाके सूपादयः पायसान्ता हि पच्यन्ते । अनेनाभिप्रायेण श्रीधरस्वामिनः क्रमश्च सूपपायसयोरित्याहुः । तत्र सूपो मौद्गः पायसं केवलपयसि पक्वं, संयावश्च अपूपाश्च शष्कुल्यश्च ता गोधूमादिविकाराः, तेऽपि पच्यन्ताम् । सर्वदोहः व्रज-संवन्धि सर्वं क्षीरं च, गृह्यतां पायसाद्यर्थमेकत्र समुदीयतामित्यर्थः । दोहशब्दो दुग्धदधिघृततक्रघोलादिगमकः । तच्च यथाप्रयोजन-मुपादेयम् । संयावादयो यथापाठं वोध्याः ।। २५ ।। यागशोभार्थं श्रद्धोत्पादनार्थं चाह ।। हूयन्तामिति ।। ब्रह्मवादिभिः, ब्राह्मणैः, सम्यक् अग्नयः, हूयन्ताम् । तेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः, वहुविधं षड्सोपेतत्वाद्वहुगुणमन्नं च, वो युष्माभिः, देयमधिनुदक्षिणाः धेनुसहिता दक्षिणाः ता एव दक्षिणाः, देयाः ।। २६ ।। अन्येभ्य इति ।। अन्येभ्यः, आश्वचाण्डालपतितेभ्यश्च, यथार्हत, यथायोग्यं, अन्नं देयम् । श्वादयोऽप्यन्नादिभिस्तर्पणीया इत्यर्थः । गवां धेनूनां, संप्रदानस्य शेपत्वविवक्षया गवामिति षष्ठी । गोभ्य इत्यर्थः । यवसं तृणं च, दत्त्वा, गिरये गोवर्द्धनाय, वलिः दीयताम् । गिरिराजायापि नैवेद्यं दीयतामित्यर्थः ।। २७ ।। स्वलंकृता इति ।। यूयमपि, स्वलंकृताः स्वाङ्गधृतशोभनालंकाराः, स्वनुलिप्ता उत्तमचन्दनानुलिप्तस्वदेहाः, सु शोभनानि वासांसि येषां ते, परिहितोत्त-मवसनाः, भुक्तवन्तः विहितोत्तमान्नभोजनाः सन्तः, गावश्च विप्राश्च अनलोऽग्निश्च पर्वतो गोवर्द्धनश्च तान्, प्रदक्षिणं च, कुरुत ।। २८ ।।

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तस्माद् गवामिति १०.२४.२५

सोऽर्च्योऽन्वर्थाभिधो योऽस्मिन् गोवर्द्धन इतीरितः । मम चेद् गिरिप्रामाण्यं गिरि प्रामाण्यमस्तु वः ।। २९ ।।

गोरक्षकेऽर्पणमिहास्य मखस्य कार्यमित्यावर्यमनसो दृढनिश्चयश्चेत् ।
एकां स गामवति चायमनेकशोऽद्रिः सिद्धस्ततोऽप्यधिकसारभृदेष एव ।। ३० ।।

विमानी प्राचीनः सुभगसुमनःसंघरुचिरः सुधर्मेड्यः स्वस्थो विविधवहुगोरक्षणचणः ।
शुभोहल्याक्रीडो भवति सुकृतालङ्कृतपदः सहस्राक्षोऽप्यद्रिस्तदयमपि तेनैव सदृशः ।। ३१ ।।

भुक्त्वाऽस्मत्कृतयज्ञकल्पितहविर्भागं स पर्जन्यतः शक्रोऽस्मानवतीति तात भवतश्चित्ताशयश्चेत् तदा ।
तृप्तः सन्नयमद्रिरप्यनुपदं पर्जन्यतो रक्षिता स्यादेवेति मदुक्तसद्गिरिफलश्चद्धारं स्थाप्यताम् ।। ३२ ।।

भूदेवाः प्रकृतीन्द्रमिन्द्रमवनीपालाः स्वराराधयन्त्युर्वीं देवमिहेन्द्रमङ्घ्रिजनुषः क्षोणीभृदिन्द्रं विशः ।
श्रुत्युक्तेन्द्रपदार्थ एवमृषिभिर्व्याख्यायि वर्णक्रमात् तत् ते वैश्यपते भवेत्सुफलदं क्षोणीधराराधनम् ।। ३३ ।।

स्वभूभृदनुसेवनाद्भवति यच्च यच्च द्विषद्विशेषपरिचर्यया भवति कीदृशं तत्सुखम् ।
द्वयोरपि तयोस्तवास्त्यनुभवः पितस्तत्स्फुटं विचिन्तय चिरन्तनश्रुतिसुखप्रदां मद्गिरम् ।। ३४ ।।

प्रमा गेभ्योऽन्येभ्यः प्रवलमपरोक्षं तदपि चेच्छ्रुतिप्रत्यासन्नं प्रवलतरमेवं सति पितः ।
नगेन्द्रं गोपालं सततमनुभूयागमशतैर्लसन्तं हित्वैकश्रुतिपरिचिते का रतिरहो ।। ३५ ।।

भूभारोद्वहनश्रमाकुलमनाः शेषोऽपि यस्मिंश्चिरं भारं स्वं विनिधाय विश्रमतनुः क्रीडारसे मज्जति ।
किं चानेकतपस्विनोऽपि कवयोऽप्यस्मिन् स्वरावासिनो मन्यध्वं न तदेव भूधरपतिः स्यादन्यसाधारणः ।। ३६ ।।
अहयोऽपि सदा यत्र नाकुलीनतया स्थिताः । तस्याद्रेरतत्कुलीनत्वमुच्चत्वं च वदामि किम् ।। ३७ ।।

सहस्रकर्णोऽक्षसहस्रकान्वितःसहस्रपादोरुविराजितो महान् ।
विराट् स्वरूपोऽप्यपरोक्षतां गतो नगात्मनाऽनादृतिरत्र वः कथम् ।। ३८ ।।
गोपानस्मान् मित्रभूतान् सत्कुर्यादिति नाद्भुतम् । सत्करोतीशवद्यो हि विपक्षानागतानपि ।। ३९ ।।

माहात्म्यं विदितं न ते व्रजपते नित्यं गृहस्थायिनो यस्मादिन्द्रमहिम्नि भद्रगदिते श्रद्धा विवृद्धा क्रमात्।
तस्याद्रेस्तु सहस्रनेत्रकलितो दृष्टो मया पाकपद्भ्रान्तः क्रीडनकारिणा सहचरा एतेऽपि तत्साक्षिणः ॥ ४० ॥
इन्द्रोद्देशाद्यदि कृतः सवः केवल एव सः। यदि गोवर्द्धनोद्देशादुत्सवः स्यादितीक्ष्यताम् ॥ ४१ ॥

अन्येभ्य इति : १०.२४.२८.

मत्प्रीतिकृद्यदि मतिर्भवतां तदा तु गो-ब्राह्मणानलवितीर्णहविर्विभागः।
देयो बलिर्गिरिवराय झटित्यमुष्मै वाञ्छा क्षणार्पितफलाय निजाङ्घ्रिभाजाम् ॥ ४२ ॥

कृष्णप्रिया

हे पिताजी ! मेरी तो यह राय है कि, हम लोग गौओं, ब्राह्मणों और गोवर्धन गिरिवर का ही यजन करने की तैयारी करें। हम लोगों ने इन्द्र यज्ञ की जो सामग्री इकट्ठी की है उससे इस गिरिराज का पूजन यजन आराधन करें ॥ २५ ॥ पिताजी ! यज्ञ का प्रकार बताता हूँ, खीर, पूआ, पूरी, जलेबी आदि पकान्न बनायें जाय। सब से प्रथम पायस-खीर बनायीं जाय और मूंग की दाल शाक आदि सामग्री बनाई जाय। आज का सारा ही दूध सामग्री आदि बनानें के लिये लिया जाय, आज दूध न बेचें उपयोग में लगा दें। सामग्री सिद्ध करने से जो दूध बच चाय उसको अपने बछड़ों को पिला दें ॥२६॥ वेदविद् विप्रों द्वारा विधि पूर्वक भली-भांति हवन करवाया जाय और अग्निदेवता को तृप्त करें। विप्रवरों को स्वादिष्ट भोजन करवावें, उनको अनेक प्रकार के अन्न गौएँ और दक्षिणाएँ दी जायँ ॥ २७ ॥ हे पिताजी ! क्षत्रिय वैश्यादि को भी यथोचित दिया जाय, साथ साथ चाण्डाल पतित पातकी और श्वान पर्यन्त सबको यथोचित वस्तुएँ भली-भाँति देकर, हमारी गौओं को हरी हरी घास खिलाकर गिरिवर श्रीगोवर्धन जी की पूजा कीजिए, एवं भोग लगाइए ॥ २८ ॥

स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः। प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥ २९ ॥
एतन्मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते। अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥ ३० ॥

श्रीशुक उवाच

कालात्मना भगवता शक्रदर्पं[1] जिघांसता। प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त[2] तद्वचः ॥ ३१ ॥
तथा च व्यदधुः[3] सर्वं यथाऽऽह मधुसूदनः। वाचयित्वा स्वस्त्ययनं[4] तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥ ३२ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पुनः भुक्तवन्तः स्वलङ्कृताः सुवाससः च स्वनुलिप्ताः गो विप्र अनल पर्वतान् प्रदक्षिणम् कुरुत ॥ २९ ॥ हे तात ! एतत् मम मतम्, यदि रोचते क्रियताम्, अयम् गो ब्राह्मण अद्रीणाम् च मह्यम् मखः दयितः मखः ॥ ३० ॥ काल आत्मना भगवता, शर्कदर्प जिघांसया गोक्तम्, निशम्य, नन्द आद्याः तद् वचः साधु अगृह्णन्त ॥ ३१ ॥ मधुसूदनः यथा आह, सर्वम् तथा व्यदधुः, च, स्वस्त्ययनम् वाचयित्वा, तद् द्रव्येण गिरिद्विजान् च आनर्चुः ॥ ३२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सर्वोञ्छिरःकंपेनानुमोदयन्नाह। गोब्राह्मणाद्रीणामिति। मह्यं मम च ॥ ३०–३१ ॥ तद्द्रव्येण तेन महेंद्रमखद्रव्येण। गिरं द्विजान्प्रति यथायथम् ॥ ३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गिरिपूजानंतरं ब्राह्मणान्संभोज्य पश्चात्स्वयं भुक्त्वालंकृताः संतः ॥ २९ ॥ अनुमोदयन् आनंदयन्। अयम् मत्प्रोक्तो मखः। दयितः प्रियः ॥ ३० ॥ कालस्य सर्वदर्पहरत्वाद्भगवतोऽपींद्रदर्पहरणात्तद्रूपत्वेन विशिनष्टि—कालात्मनेति। काल आत्मा चेष्टारूपो यस्य तेन। 'योयं कालस्तस्य ते व्यक्तबंधो चेष्टामाहुः' इत्याद्युक्तेः। यद्वा'—कालश्यामलमेचकाः' इत्यमरोक्तेः कालः श्यामल आत्मा देहो यस्य तेन। यद्वा—कलयत्याकर्षति सर्वचित्तमिति कालः स आत्मा स्वभावो यस्य तेन तथा। आत्मानस्तु मनोबुद्धिस्वभावधृतिजीवात्मपरमात्मान इति। तद्वचः कृष्णवाक्यम् ॥ ३१ ॥ मधुसूदन इति शक्रात्तेषां भयाभावं बोधयति। यद्वा—भ्रमरवत्सारम्र ही मिष्टरसस्य विशेषेण भोक्तेति। तथा मधुसूदनोक्तिप्रकारेण। यथायथम् यथास्वमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

१. दर्पंजीघांसया–बिज. । २. तद्विदः–वीर. । ३. सर्वं–विज. । ४. द्रव्यंगोंविप्रप्रभृताम्–विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

न चान्यकृत्यवदिदं दुःखसाध्यं किन्तु परमसुखमयमेवेत्याह, स्वलमिति। भुक्तवन्त इत्यत्र प्राक् पश्चादिव सुशब्दप्रयोगो दरिद्रं प्रत्येव तद्वचनौचित्यात् यद्यप्येकदैवात्र गवादीनां परिक्रमविधानं तथापि तत्तत्पूजान्ते पृथक् पृथगेव ज्ञेयं पूजान्तकर्त्तव्यत्वात् तस्य अत एव "गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम्" इति गिरेः परिक्रमः पृथगेव वक्ष्यते उदाहरिष्यमाण हरिवंशवचनेन च नान्यथार्थः कल्पयते स्वलङ्कृता इत्यादिकानि तु न विषेषणानि किन्तु प्ररोचनार्थमुपलक्षणानि ततो नाङ्गत्वे प्रविशन्ति तदभावेपि तन्निःस्पृहत्वेपि तत्सिद्धेः तस्मात् गवादीनां भोजनात् पूर्वमेव परिक्रमः मद्रेस्तु महाभोजनसमाधानायैव तत्पश्चादिति गवां च पूजा न सर्वासाम् असङ्ख्यत्वात् किन्तु मुख्यानामेव तयःतासां परिक्रमश्चाल्प इति॥ २९॥ हे तातेति यदि मयि स्नेहो वर्त्तते तर्हि क्रियतामिति गूढो भावः यदि रोचत इति पूज्येषु तथैवोक्तेर्योग्यत्वात् तेन च विनयविशेषेण तत्कृत्यतामेव सम्पादयति। किञ्च अयं गोब्राह्मणाद्रीणा सखा मह्यं च दयितो हित इत्यर्थः। हितार्थयोगेहि चतुर्थी भवति कथमपि स्वहितं ज्ञात्वा मद्धितस्यैव च मदेककर्त्तव्यतामनुभूय भवतामिदं प्रार्थये न केवलं युक्ततामेव निश्चित्येति भावः॥ ३०॥ कालस्यापि आत्मना प्रवर्त्तकेनेति सर्वेषां तदेकाधीनत्वं सूचितम् अय च तद्वचो ग्रहणे हेतुः यद्वा, परमशक्तिमत्त्वम् अत इन्द्रदर्पहतिस्तस्येषत्कर इति भावः यद्वा, यदा शक्रयागः प्रवर्तितः तदानीं स एव प्रवृत्तः अधुना चायमेवेति तदिच्छयैव सर्वं प्रवर्त्तते तामतिक्रमितुं कः शक्नोतीति भावः यद्वा कालः श्यामल आत्मा देहो यस्येति श्यामसुन्दरेणेत्यर्थः। तत्सौन्दर्येण सर्वे वशीकृताः किं पुनर्वचनेनेति भावः यद्वा, कलयति जगच्चित्तमाकर्षतीति कालः आत्मा स्वभावो यस्य तत्तद्वचनाङ्गीकरणमिदं न चित्रमिति भावः। शक्रस्य यो दर्पः पूज्यमानस्यापि स्वपित्रादिषु प्राकृतदृष्ट्या तेषां सम्बन्धेन स्वस्मिन्नपि मर्त्यदृष्ट्या बाढमनादरात्मकः य एव "अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम्॥ इति प्रकटय्य लप्स्यमानः तस्य स्वयम् ज्ञायमानस्य जिघांसया अत एव मन्युंजनयन्नित्युक्तम् अन्यथा भयमेव स्यात् न मन्युजननं चेदं तत्सम्बन्धेनवैतदत्यन्तकदर्थनेच्छयेति॥ ३१॥

अत एवाह—तथा चेत्यर्द्धकेन। तद्विशेषश्च श्रीहरिवंशे—

"आनन्दजननो घोषो महान् मुदितगोकुलः। तूर्य्यप्रणादघोषश्च वृषाभाणां च गर्जितैः॥
हम्भारवश्च वत्सानां गोपानां हर्षवर्द्धनः। दध्नो ह्रदः सरावर्त्तः पयःकुल्यासमाकुलः"॥

इत्यादि मधुसूदन इति परमसामर्थ्यसूचनेन शक्रात्तेषां भयाभावं बोधयति श्लेषेण मधुपवत् सारग्राहीमिष्टरसस्य विशेषेण भोक्ता चेति तस्य प्रियतमदासवर्गेम वप्रवर्त्तनं तत्र च वक्ष्यमाणतद्बलिभोजनादिकं युज्यत एवेति भावः। वाचयित्वेति सार्द्धद्वयकेन सङ्क्षेपेणैवानूद्यते क्रमस्तु श्रीकृष्णोक्तविध्यनुसारेणैव ज्ञेयः॥ ३२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पश्चान् सुष्ठ्वलंकृतास्तच्छेषं भुक्तवन्तश्च सन्तः, यद्वा, न चान्यकृत्यवदिदं दुःखसाध्यम्, किन्तु सानन्दमहोत्सव एव कार्य्य इति। प्रीतिविशेषार्थमुपदिशति—स्वलङ्कृतेत्यादि। भुक्तवन्त इत्यत्र प्राक् पश्चादेव सुशब्दप्रयोगस्तेषां गोरसप्रधानभोजनेन स्वत एव तत्सौष्ठवसद्भावात्॥ २९॥ हे तातेति पुत्रे मयि यदि स्नेहो वर्त्तते, तर्हि क्रियतामिति गूढो भावः। यदि रोचत इति पूज्येषु तथैवोक्तेर्योग्यत्वात्, तेन च विनयविशेषेण तत्कृत्यतामेव सम्पादयति। यद्वा, अकरणे निजान्तरवैवश्याभिव्यञ्जनेन स्वमतमेव साधयति—न केवलं मयि स्नेहेन मन्मतादरतः कार्य्यः, किन्तु सर्व्वेषां प्रियचिकीर्षयापीत्याह—अयमिति। गवादीनां मम च प्रियः, यद्वा, गवादीनां सखोऽयं मम, चकारादन्येषाञ्च सर्व्वेषामत्रत्यानां प्रियः, ब्राह्मणादीनामिति वा पाठः। आदिशब्देन सर्व्वे व्रजजनाः, अयं पाठस्तेषामपि सम्मतो लक्ष्यते, सर्व्वान् शिरःकम्पेनानुमोदयन्नाहेति व्याख्यानात्, अन्यथा अद्रेः शिरः कम्पासम्भवात्, तथा सर्व्वानित्यनुपपत्तेश्च॥ ३०॥ कालस्यापि आत्मना प्रवर्त्तकेनेति सर्व्वेषां तदेकाधीनत्वं सूचितम्, अयं तद्वचोग्रहणे हेतुः, यद्वा, परमशक्तिमत्त्वम्, अत इन्द्रदर्पहतिस्तस्येषत्करेति भावः। यद्वा, शक्रयागः प्रवर्त्तितस्तदानीं स एव प्रवृत्तः, अधुना चायमेवेति तदिच्छयैव सर्व्वं प्रवर्त्तते, तामतिक्रमितुं कः शक्नोतीति भावः। यद्वा, कालः श्यामल आत्मा देहो यस्येति श्यामसुन्दरेणेत्यर्थः, यद्वा, कलयति जगच्चित्तमाकर्षतीति काल आत्मा स्वभावो यस्य। किञ्च, तत् महामधुरम्, यद्वा, साधु प्रोक्तमर्थं तस्य परमस्निग्धस्य प्रियतमस्य वचः, तत्रापि साधु शब्दतोऽर्थतश्चोत्तमम्; यद्वा, साध्विति वदन्तु इति शेषः, यद्वा, साधु यथा स्यात्तथा प्रीतिपूर्व्वकमनुमोद्य परमोत्साहेन स्वीचक्रुरित्यर्थः॥ ३१॥ अत एव तदनुरूपमेव सर्व्वे चक्रुरित्याह—तथेति द्वाभ्याम्। चकार एवार्थे तथैव, यद्वा, अनुक्तसमुच्चये, अधिकञ्च चक्रुरित्यर्थः। तद्विशेषश्च श्रीहरिवंशे श्रीवैशम्पायनेनोक्तः (विष्णु प० १७–१६–१८)—

'आनन्दजननो घोषो महान्मुदितगोकुलः। तूर्य्यप्रणादघोषैश्च वृषभाणाञ्च गर्ज्जितैः॥
हम्भारवैश्च वत्सानां गोपानां हर्षवर्द्धनः। दध्नो ह्रदः सरावर्त्तः पयः कुल्यासमाकुलः॥
मांसराशिप्रकृष्टौघः प्रकाशौदनपर्व्वतः। संप्रावर्त्तत यज्ञोऽस्य गिरेर्गोभिः समाकुलः॥' इति।

तत्र दध्नां ह्रद इत्यादिकं गोपवर्गैः प्रहर्षेण दिनत्रयं सर्व्वघोषस्य दोहग्रहणात्, तथा च तेषां वाक्यं तत्रैव (विष्णु० पु० १७।१४) 'त्रिरात्रञ्चैव सन्दोहः सर्व्वघोषस्य गृह्यताम्' इति। मधुसूदन इति परमसामर्थ्यसूचनेन शक्रात्तेषां भयाभावं बोधयन् श्रीपरीक्षितमाश्वासयति। यद्वा, मधुपवत् सारग्राही मिष्टरसविशेषोपभोक्ता चेति तस्य प्रियतमदासवर्ग्य-मखप्रवर्त्तनं तत्र च वक्ष्यमाणतद्बलिभोजनादिकं युज्यत एवेति भावः ॥ ३२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

शोभनानि वासांसि येषां तथाभूताः गवादीन् प्रदक्षिणं कुरुत ॥ २९ ॥ हे तात! एतदेवम्विधं कर्मास्माभिः कर्त्तव्यत्वेन मम सम्मतं यदीदं रोचते तर्हि क्रियताम् अयं मदुक्तो मखो गवादीनां मह्यं मम च दयितः प्रियः गवाद्यन्तरात्मनो मम प्रीतिकर इति गूढोऽभिप्रायः ॥ ३० ॥ शक्रस्य दर्पनाशं चिकीर्षता कालात्मना कालरूपेण वहिः कालरूपेणान्तःपुरुषरूपेण च नियमयतेति भावः। तेन भगवता प्रोक्तं निशम्यातद्विदः शक्रदर्पजिघांसामजानाना अपि नन्दाद्यारतत् साध्वगृह्णन्नभ्युपजग्मुः ॥ ३१ ॥ ततो यथोक्तं चक्रुः तदेवाह—वाचयित्वेति। स्वस्त्ययनं पुण्याहं तद्द्रव्येण इन्द्रयागार्थद्रव्येण गिरिं द्विजांश्चोद्दिश्य ॥ ३२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

शक्रदर्पजिघांसया शक्रादिदेवानाम् असुरावेशाद्दर्पादिकं भवति तदनुग्रहार्थं तद्दर्पादिहननेच्छया तदुक्तम् अत्यल्पस्त्वसुरावेशो देवानां च भविष्यतीति ॥ ३१–३२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अयं गवादीनां मखो मह्यं मम च दयितो हितः शक्रस्य दर्पोऽयं श्रीगोकुले श्रीकृष्णे च अवज्ञात्मकः अहो श्रीमदमाहात्म्यमित्यादिना व्यक्तीभावितत्वात् ॥ ३०–३१ ॥ वाचयित्वादिकम् अनुवादमात्रं न क्रमतात्पर्यकम् ॥ ३२–३४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ गोवर्द्धनोद्धरणलीलां दर्शयन्नाह—कालात्मनेत्यादि। कालात्मना कालस्य नियामकेन इन्द्रस्य मदभङ्गस्य समयोऽयमिति तथाविधं कालं प्रेरयामासेति भावः। प्रोक्तमुक्तप्रकारं मखभङ्गरूपं वचनं, साधु अवितर्कं यथास्यात्तथा अगृह्णन्त ॥ ३१–३३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कालात्मना भगवतेत्यादि। कालात्मना कालस्य नियन्त्राप्रेरकेण ॥ ३१–३३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

मह्यं मम ॥३०॥ कालात्मना इन्द्रमखसंहारकेण ॥३१॥ तद्द्रव्येण इन्द्रमखद्रव्येण गिरिद्विजान् गिरये द्विजेभ्यश्च ॥३२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उपदिष्टार्थमुपसंहरत्ति—एतदिति। परमां सर्वयज्ञदेवतां शनैः सूचयति—मह्यमिति ॥३०॥ कालात्मना कालशक्तिना ॥३१॥ गिरिद्विजान् प्रति ॥ ३२ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

उपस्करत्वमाह—स्वलङ्कृता इति ॥ २९ ॥ सर्वैकमत्यं प्रकाशयितुमाह—एतदिति। मह्यं मम ॥ ३० ॥ कालात्मना इन्द्रमखसंहारेण तथाचेत्यर्द्धम् ॥ ३१ ॥ तद् द्रव्येणेन्द्रमखसम्भारेण गिरिद्विजान् बलिमुपहृत्य गिरये द्विजेभ्यश्च दत्त्वा कृष्णेनादृताः गवां गोभ्यो यवसं तृणमुपहृत्य ॥ ३२–३३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स्वनुलिप्ता गन्धादिना यूयं गोविप्रानलपर्वतान्प्रदक्षिणं च कुरुत ॥ २९ ॥ रोचते तुभ्यं मह्यं मम दयितः ॥ ३० ॥ कालात्मना विनाऽन्यान्स्वयं काकुपूरकैश्च। शक्रदर्पजिघांसा तु तदुद्दिधीर्षयेति ज्ञेयं ॥ ३१ ॥ यथोक्तं तद्वचः साधुः अगृह्णन्त जगृहुः। गावश्च विप्राश्च भूभृत्पर्वतश्च तेषां स्वस्त्ययनं विदधुः ॥ ३२ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततः सर्वं वयं स्त्रियोश्च बालाश्च स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः कृतभोजनास्ततश्चन्दनादिलेपनयुक्तास्तत उत्तमकञ्चुकादिवस्त्राणि परिधाय गोवर्धनस्य प्रदक्षिणं कुरुत चकाराद् वृन्दावनस्यापि गवां विप्राणामग्नीनां च प्रदक्षिणं कर्तव्यं, पर्वता अन्येपि तत्समीपस्थाः, आचाराद् गोवर्धन एव वा ॥२९॥ ननु किमेतद् वैदिकं वैदिकादिष्वन्यतरदाहोस्विद् युक्तिसिद्धत्वे केवलयुक्तिसिद्ध पूर्वयुक्तिसिद्ध इन्द्रयाग एव कथं न क्रियत इत्याशङ्क्याहैतन् मम मतमिति, भवद्भिरिन्द्रो वाहं वा परिग्राह्यो मत्परिग्रह एतन् मम मतं कर्तव्यमिन्द्र-

परिग्रहे त्विन्द्रयागः कर्तव्यस्तात इतिसम्बोधनादत्र स्नेहोऽप्यधिकः सेत्स्यत्यतः क्रियतां तथापि निर्बन्धेन न कर्तव्यं तथा सत्यश्रद्धया कृतमकृतं स्यात्, किञ्चायं यागो गवां ब्राह्मणाद्रीणां मम च दयितः, चकाराद् देवानामपि प्रियश्चायं यागो यतो मद्व्यत्सम्प्रदानकमेव, एवं सर्वथा तत्परित्यागेनैतत् कर्तव्यमिति ज्ञापितम् ॥ ३० ॥ हृदयपूर्वकं भगवताज्ञापितमिति तेषां हृदये समागतमिति वदन् तथा कथने हेतुमाह कालात्मनेति, अयं दुष्टनिराकरणार्थं कालात्मा जातः कालस्यात्माधिदैविकरूपोऽन्तर्यामी वा जातः, तादृशोपि न स्वरूपात् प्रच्युत इत्याह भगवतेति, तथाकथने हेतुः शक्रदर्पं जिघांसतेति, गर्वस्तस्य दूरीकर्तव्यस्तदुक्तकार्ये समागते भगवति तेनावश्यमनुवृत्तिः कर्तव्या तथा सति लीला पुष्टा भवति भूयांश्च निरोधः कर्तव्यो न भवति, अनुवृत्त्यकरणं च गर्वात्, ऐश्वर्यं च तत्र हेतुः, आधिकारित्वात् तन्न निराकर्तव्यमतो भ्रमशास्त्रप्राप्तमेव तस्य निराकृतवान्, अतस्तेन प्रोक्तं निशम्य साधनं श्रुत्वा मुख्या एव नन्दाद्याः साधु तद्वाक्यं यथा भवति तथागृह्णन्त तदुक्तोर्थोऽङ्गीकृतः ॥ ३१ ॥ ततस्तथैव कृतवन्त इत्याह तथा चेति, विधानपूर्वकं कृतवन्त इति वक्तुं वाचयित्वा स्वस्त्ययनमित्युक्तवान्, स्वस्तिवाचनं पुण्याहवाचनं ततः पूज्यानामर्चा ग्रहाणामिव निमन्त्रणप्रायमेतत् ॥ ३२ ॥

गोस्वामीश्रीगिरधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सुखसेव्यत्वं दर्शयन्नाह–स्वलङ्कृता इति। स्वनुलिप्ताः चन्दनादिलेपनयुक्ताः ॥ २९ ॥ 'पुत्रस्य मम प्रियाचरणं तव पितुर्युक्तमेव' इति सूचयन् सम्बोधयति–तातेति। एतत् एवंविधं कर्म मम मतं कर्तव्यत्वेन सम्मतं तत् हठात् अश्रद्धया कृतमपि निष्फलमेव स्यात्, अतो यदि भवतां रोचते तर्हि गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं मम च दयितः प्रियोऽयं मखः क्रियतामित्यन्वयः ॥ ३० ॥ एवं भगवता प्रोक्तं वचनं निशम्य श्रुत्वा नन्दाद्याः साधु सादरं यथा भवति तथा तद्वचः अगृह्णन्तः अङ्गीकृतवन्तः। भगवतस्तत्पूजाविधानेऽभिप्रायमाह—शक्रदर्पजिघांसतेति। इन्द्रदर्पहननसामर्थ्ये नन्दाभिस्तद्वाक्याङ्गीकारे च हेतुं सूचयन्नाह–कालात्मनेति। पूर्वमपि शक्रयागः कालेनैव प्रवृत्तः, इदानीमपि तेनैव स निवर्तितो गोवर्धनयागश्च प्रवर्तितः, सर्वं प्रति साधारणकारणत्वादित्याशयः ॥ ३१ ॥ ततश्च मधुसूदनः कृष्णः यथा आह तथैव सर्वं व्यदधुः कृतवन्तः। तदेव स्पष्टयति–वाचयित्वेति। स्वस्त्ययनं पुण्याहं ब्राह्मणैर्वाचयित्वा तद्द्रव्येण इन्द्रयागार्थसम्पादितपक्वान्नादिना गिरिं द्विजांश्च प्रति सर्वान् बलीन् नैवेद्यानि तथा गवां यवसं तृणं चोपहृत्य समर्प्य आदृता आदरयुक्ताः सद्विजाशिषाः लब्धब्राह्मणाशीर्वादास्ते नन्दादयो गोपाः, तथा स्वलङ्कृताः कृष्णवीर्याणि गायन्त्यो गोप्यश्च गोधनानि पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा अनडुद्भिर्युक्तानि अनांसि शकटान्यारुह्य गिरेः प्रदक्षिणं चक्रुरिति त्रयाणामन्वयः ॥ ३२–३४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

स्वलङ्कृता इति ॥ सुष्ठु अलंकृताः भुक्तवन्तः सुष्ठु चन्दनाद्यैः अनुलिप्ताः सुवाससश्च यूयं गोविप्रानलपर्वतान् प्रदक्षिणं कुरुत ॥ २९ ॥ एतदिति ॥ हे तात! एतत् मम मतं कर्त्तव्यत्वेन संमतम्। अतो यदि भवतां भवद्भ्यः। शेषे षष्ठी। रोचते तर्हि गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं मम च दयितः प्रियोऽयं मखः क्रियताम् ॥ ३० ॥ कालेति ॥ शक्रस्य दर्पं जिघांसता कालात्मना भगवता प्रोक्तं वचनं निशम्य श्रुत्वा नन्दाद्याः साधु सादरं यथा भवति तथा तद्वचः अगृह्णन्त अङ्गीकृतवन्तः ॥ ३१ ॥ तथा चेति त्रयम् यथा मधुसूदन आह स तथा सर्वं व्यदधुः कृतवन्तः। तथा स्वस्त्ययनं पुण्याहं ब्राह्मणैर्वाचयित्वा तद्द्रव्येण इन्द्रयागार्थसम्पादितपक्वान्नादिना गिरिं द्विजांश्च प्रतिबलीन् नैवेद्यानि तथा गवां यवसं तृण चोपहृत्य समर्प्य आदृताः आदरयुक्ता सद्विजाशिषः लब्धब्राह्मणाशीर्वादास्ते नन्दादयो गोपास्तथा स्वलङ्कृताः कृष्णवीर्याणि गायन्त्यो गोप्यश्च गोधनानि पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा अनडुद्भिर्युक्तानि अनांसि शकटान्यारुह्य गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः ॥ ३२–९४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

स्वलंकृताः घृतभूषणाः कृतभोजनाः स्वनुलिप्ताः शोभनतया चंदनचर्चितांगाः ॥ २९ ॥ दयितः प्रियः ॥ ३० ॥ कालात्मना-कालप्रवर्त्तकेन शक्रदर्पं इंद्रगर्वं हंतुमिच्छया साधु समीचीनं तस्य कृष्णस्य वचः जगृहुः ॥ ३१ ॥ व्यदधुः चक्रुः तद्द्रव्येण महेंद्रयज्ञवस्तुनागिरिद्विजान् पूजयांचक्रुः ॥ ३२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

सर्वान् शिरःकम्पेनानुमोदयन्नाह ॥ एतदिति ॥ हे तात, एतदेवंविधं कर्म, अस्माभिः कर्त्तव्यमिति शेषः। ममापि, मतं ममाप्येतदेव संमतमस्तीत्यर्थः। यदि रोचते, भवतां रुचिकरं स्याद्यदि तर्हीत्यर्थः। इदमेव, क्रियताम्। अयं मदुक्तैतत्कर्मात्मकः, मखो यागः, गोब्राह्मणाद्रीणां, मह्यं च, दयितः प्रियः। गवाद्यन्तरात्मनो ममातिप्रीतिकरोऽस्तीति गूढोऽभिप्रायः ॥ २९ ॥ कालेति ॥ शक्रदर्पमिन्द्रस्य गर्वं जिघांसया, कालात्मना बहिः कालरूपेणान्तः पुरुषरूपेण च नियमयतेति भावः। भगवतोक्तविधिना श्रीकृष्णेन,

प्रोक्तं युक्त्या कथितं वचनमित्यर्थः । निशम्याकर्ण्य, तद्वचो भगवद्वचनं, नन्दाद्या भगवद्विधेयशक्रदर्पजिघांसामजानन्तो नन्दप्रभृतयः, साधु यथा तथा, अगृह्णन्त अगृह्णन् ॥ ३० ॥ ततो भगवता यथोक्तं तथैव चक्रुरित्याह ॥ तथा चेति ॥ उपहृत्येति ॥ मधुसूदनः श्रीकृष्णः, यथा आह, तथा च तेन प्रकारेणैव सर्वं व्यदधुर्नन्दादयोऽकुर्वन्नेव । किंचित्तत्क्रममाह । स्वस्त्ययनं पुण्याहं वाचयित्वा, तद्‌द्रव्येण, गिरिद्विजान् उद्दिश्य, सर्वान् बलीन् उपहृत्य यथायथं दत्त्वा, आदृता आदरयुक्ताः सन्तः, गवां यवसं घासं च, उपहृत्य, गोधनानि पुरस्कृत्याग्रतः कृत्वा, गिरिं प्रदक्षिणां चक्रुः । इति द्वयोरेकसंबन्धः ॥ ३१-३२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एतन्ममेति : १०.२४.३०.

बुद्धिमहो यदनिवार्यतरोऽस्ति लोके यद्यूयमिच्छत यथा कुरुतैव गोपाः ।
तत्पादसेवनमहं तु कृतं करिष्ये भूयोऽपि तात शृणु मन्मतिनिश्चितार्थम् ॥ ४३ ॥
एवमिन्द्राय वाङ्मन्युं निर्माय जगदीश्वरः । गिरिं समन्युमाधातुं गिरमूचेऽतिनिर्मलाम् ॥ ४४ ॥

अनेकपाकपालकस्य पाकवैरकारिणा विभन्युचेतसः सदैव यन्युसक्तचेतसा ।
सुगोत्रधारिणो मिथः स्फुटाऽस्ति गोत्रभेदिना बलाभ्यसेविनो बलद्विषा निसर्गवैरिता ॥ ४५ ॥

यावद्भारतभूवन्नवनवानेकाध्वरोत्थं हविर्दायं मामपि दायभागिनमनादृत्योपभुङ्क्ते स्वयम् ।
इत्यन्तर्जनितक्रुधा भगवतोपेन्द्रेण मन्ये व्रजारव्योऽसौ क्रतुरात्मसाद्गिरिवरोद्देशापदेशात्कृतः ॥ ४६ ॥
स्वस्थः सन् वसुवृद्धिकृत्सुरचितस्वीयालयः सन्मणिः सन्तानाश्चितनन्दनोदितसुखः स्वर्णाचलाधिश्रितः ।
सत्येवं शतमन्युरस्म्यहमिति स्वस्मिन् सदा मन्यते वक्त्यन्यानपि यः सदा न उचितो नेत्यच्युतस्तं जहौ ॥ ४७ ॥

उद्दिश्येन्द्रमसौ यदीह विहितस्तन्मात्रगामी भवेन्मन्युर्नोऽचलगः स तं यदि समुद्दिश्य व्रजेद् द्वावपि ।
आलोच्यारभतेति तन्नगसमुद्देशेन यज्ञं प्रभुः स्पष्टं मन्युयुतावुभावभवतां रोपात्सवाच्चापि तौ ॥ ४८ ॥
दत्तं वित्तमकिंचनाय भवि चेद् यत् किञ्चिदप्यादरात् तत्स्यात्कोटिगुणाधिकं नहि तथा स्वस्थाय चाढ्याय च ।
मन्येऽसो शतमन्युरिन्द्र इति तं हित्वा तमेवाध्वरं श्रीनाथो वनवासिने तृणजुषे गोवर्द्धनायादिशत् ॥ ४९ ॥
पूर्णानुग्रहमापिताः प्रतिपदं संरक्ष्यमाणा मया तेषामल्पसुराजवैरल्मलं तेभ्यश्च भीशङ्कया ।
इत्थं स्वीयमिहाशयं विशदयन्नीशस्तदानीं पुनर्मन्ये वासवतोषदंनिजकुलप्राप्तं न्यषेधत् क्रतुम् ॥ ५० ॥

कालात्मनेति : १०.२४.३१

यद्भागांशावलम्बेन संचरत्यभयो विधिः । श्रुत्वा तस्योक्तिमचलां साध्वगृह्णन्न चाद्भुतम् ॥ ५१ ॥
प्राणिमात्रप्रियो विष्णुस्तत्प्रियो योऽखिलप्रियः । सोऽर्थोदेवेति तद्युक्तं स सवः सकलप्रियः ॥ ५२ ॥

तथा चेति : १०.२४.३२.

कृत्वेद्दे श्यविधेयभावकलितं संकल्पमन्तर्जनैः कर्तव्यः शुभकांक्षिभिः सति समुद्योगः सदा कर्मणि ।
भूयात् तस्य हि कर्मणः परिणतिः कीदृङ् नियोगः क्वा तद्विच्छ्रीपतिरेव तत्त्वत इति स्पष्टार्थमेतत्कृतौ ॥ ५३ ॥
तत्वेन्द्रिराधिपकृपः समुपासनाद्यः स स्वैरमुज्झितविधिर्भवति प्रमादात् ।
वाच्यं न चैवमखिलेश्वर एव तावत् तादृक्प्रवर्तयति यत्स्फुटमिन्द्रयागे ॥ ५४ ॥

कृष्णप्रिया

यह पूजन यजन अर्चन आदि विधि समाप्त होने के बाद खूब प्रसाद खा-पीकर उत्तम प्रकार के वस्त्र आभूषण धारण कर सुवासित चन्दन इत्र आदि लगाईए । पुनः, विप्रों की, गौओं की, अग्नि नारायण की एवं गिरिवर गोवर्धन की प्रदक्षिणा कीजिए ॥ २९ ॥ हे तात ! यह तो मेरा मन्तव्य है । यदि आप सबको यह मत रुचें तो इसके अनुसार महोत्सव मनाईए । इस प्रकार का गोवर्धन याग, गौओं को, ब्राह्मणों को एवं श्रीगिरिराजजी को तो प्रिय लगेगा ही, लेकिन मुझे तो अत्यंत प्रिय ही है ॥ ३० ॥ श्रीशुकाचार्य जी ने कहा—राजन् परीक्षित ? कालरूप भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्र के घमण्ड को मिटाने की इच्छा से जो कहा, उस बात का श्रवण कर, श्रीनन्दराय जी एवं गोपवृन्द भगवानकी प्रशंसा करने लगे और अत्यन्त प्रसन्न मन से भगवदिच्छा का स्वीकार किया ॥ ३१ ॥ भगवान् मधुसूदन के कथनानुसार सारा कार्यक्रम गोपों ने बनाया और वैसा ही किया । प्रथम सर्वविप्रवरों से स्वस्ति पुण्याह वाचन विधि कराया, पुन उसी द्रव्य एवं सामग्री से श्रीगिरिराज महाराज जीका और विप्रवर्यों का समर्थन एवं सत्कार किया ॥ ३२ ॥

उपहृत्य बलीन् सर्वानादृता यवसं गवाम् । गोधनानि पुरस्कृत्य गिरिं चक्रुः प्रदक्षिणम् ॥ ३३ ॥
अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः । गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥ ३४ ॥
कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः । शैलोऽस्मीति वदन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ॥ ३५ ॥
तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रे आत्मनाऽऽत्मने । अहो पश्यत शैलोऽसौ रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥ ३६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—पुनः सर्वान् बलीन् उपहृत्य, आदृताः गोपाः गवाम् यवस उपहृत्य गोधनानि पुरस्कृत्य, गिरिम् प्रदक्षिणम् चक्रुः ॥ ३३ ॥ स्वलङ्कृताः ते गोपाः च गोप्यः अनडुद् युक्तानि अनांसि, आरुह्य, च गोप्यः कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः प्रदक्षिणम् चक्रुः च सताम् द्विजानाम् च आशिषः जाताः ॥ ३४ ॥ कृष्णः तु गोप विश्रम्भणम् अन्यतम् बृहद् वपुः रूपम् गतः अहम् शैलः असि इति वदन् भूरि बलिम् आदत् ॥ ३५ ॥ कृष्णः व्रजजनैः सह आत्मने तस्मै आत्मना नमः चक्रे, अहो ! पश्यत, असौ शैलः रूपी नः अनुग्रहम् व्यधात् ॥ ३६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

बलीनुपहृत्य दत्त्वा । आदृताः सादराः ॥ ३३ ॥ अनडुद्युक्तानि उत्तमवृषभैर्युक्तानि । सद्विजाशिषो द्विजाशीर्भिः सहिताः ॥ ३४ ॥ गोपविश्रंभणं गोपानां विश्वासजनकं रूपं गतः प्राप्तः सन्बलिमुपहारमाददभक्षयत् ॥३५॥ तस्मै आत्मने आत्मना स्वयं व्रजजनैः सह नमश्चक्रे अहो इति सार्धं श्लोकं पठन् ॥ ३६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बलीन् उपहारान् पुष्पधूपदीपादिरूपान् ॥ ३३ ॥ अनड्वाहो युक्ता वहनोचिता येषु तानि तथा । न त्वत्र युक्तशब्दो योजनार्थकोऽपि तु योग्यार्थकः 'युक्त योजनयोग्ययोः' इति शब्दार्णवः । अत एव स्वामिचरणैरुक्तमुत्तमानडुद्युक्तानीति । ते गोपाः । चात्पुरोहिताद्याः । कृष्णवीर्याणि पूतनादिवधरूपाणि बालचरितानि ॥ ३४ ॥ अन्यतममिति । तमप्प्रत्ययेनान्यान्यपि तत्तत्संधनार्थं रूपाणि कृतानीति लभ्यते । उक्तरूपापेक्षया नवीनम् । बृहद्वपुः गिरितुल्यशरीरः । गोपविस्रंभणम् पर्वत एवायमिति गोपविश्वासजनकं रूपं प्राप्तः । शैलोस्मीति । एतद्देशाधिपतिरहमेव युष्मद्भक्त्या प्रादुरासं स्वस्वाभिमतं वरं वृणुतेति वदन् बलिं नैवेद्यं दूरस्थैर्निकटस्थैर्नंदग्रामादिवर्तिभिरपरोक्षतः परोक्षतो वा ध्यानेन समर्प्यमाणं सहस्रकोटिहस्ततस्ततः स्थानादर्तादीर्घानतिदीर्घीकृतपाणिभिरादाय तांस्तानानंदयन्नादत् बुभुजे इति विश्वनाथः ॥३५॥ आत्मना कृष्णरूपेण । आत्मने गोवर्द्धनस्थहरिदर्पहारिणे । चक्रेऽत्मना इह पूर्वरूपमार्षम् । रूपी स्वीकृतिप्रशस्तरूपः । अत्र प्रशंसायामिनिः । नः अस्मभ्यम् ॥ ३६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

आदृता इति कर्तव्यार्थम् ॥ ३३ ॥ कथं चक्रुस्तदाह—अनांसीति । तद्विशेषश्चोक्तो हरिवंशे—

"ततो नीराजनार्थं वै वृन्दशो गोकुलानि वै । परिवव्रुर्गिरिवरं सवृषाणि समन्ततः ॥
ता गावः प्रद्रुता हृष्टाः सापीडकनकाङ्गदाः । सस्रगापीड शृङ्गाग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥
अनुजग्मुश्च गोपालाः कालयन्तो धनानि च । भक्तिच्छेदानुलिप्ताङ्गाः रक्तपीतासिताम्बराः ॥
मायूरचित्राङ्गादिनो भुजैः प्रहरणावृतैः । मयूरपत्रचित्रैश्च केशबन्धैः सुयोजितैः ॥
बभ्राजुरधिकं गोपाः समवाये तदा तु ते । अन्ये वृषानारुरुहुर्नृत्यन्ति स्म परे मुदा ॥
गोपालास्त्वपरे गावैर्जगृहुर्वेगगामिनः ।" इति ।

अत्र गोकुलानीति गोकुलस्था जना इत्यर्थः । सवृषाणीति तानि च निजनिजश्रेष्ठैः सह वर्त्तमानानीत्यर्थः । गोप्यश्चानांस्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रुः चकाराभ्यामुभयेषामपि प्राधान्येन परिक्रमणे निर्विशेषमुक्त्वा श्रीगोपीनां कश्चिद्विशेषमाह कृष्णस्य वीर्याणि श्रीगोवर्द्धनयज्ञप्रवर्त्तनान्तानि गायन्त्य इति सद्विजाशिष इत्यनेन विप्रा अपि सस्त्रीकाः प्रदक्षिणं चक्रुरिति सूच्यते ॥ ३४ ॥ इन्द्रयागादपि स्वप्रवर्त्तितयागस्यास्य परमोत्तमत्वं दर्शयन् तस्मिन् विश्वासं नितरां जनयन् गोवर्द्धनमिषेण पृथक् स्वयं तन्मूर्तिराविर्भूय तद्बलिस्वामिनं निजदासवर्यं तं गोपांश्च सर्वानान्दयन् बलिदानानन्तरमेव साक्षात् तद्बलिं बुभुज इत्याह—कृष्णस्त्विति । तुशब्दः पूर्वतो विशेषे अन्यतममिति बहूनां प्रकर्षेण मद्विधानात् अतस्तदा सर्वकर्मसमाधानार्थं सर्वगोपगोष्ठीसन्तोषार्थमलक्षितं बहूनि रूपाण्याविष्कृतानि इति लभ्यते तस्मिन् प्रकर्षश्च बृहत्त्वापेक्षयेति रूपमाकारम् अत एव बृहद्वपुर्यस्य तम् अत एव भूरि प्रचुरतरमपि

१. व्र.वद्—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. शुक. स. रा. घ. ।

बलिं तं सर्वमेव अभुङ्क्त एवं सर्वगोकुलवासिनां तादृशप्रेमेच्छातस्तस्य च तथालालसातस्तथा भोजनमिति च ज्ञेयम्। तदुक्तं हरिवंशे—

तं गोपाः पर्वताकारं दिव्यस्रगनुलेपनम्। गिरिमूर्द्धि्न स्थितं दृष्ट्वा हृष्टाः जग्मुः प्रधानतः" ॥ इति ॥ ३५ ॥

तस्मा इत्यर्द्धकम्। कृष्ण इत्यनुवर्त्तते व्रजजनैः सहेति व्रजजनानामप्राधान्यं व्यज्य कृष्णस्य भक्त्यतिशयव्यञ्जकत्वं व्यञ्जितं चक्रे आत्मनेति आकारेऽपि परे पूर्वरूपत्वमार्षम् आत्मना स्वयमेव तत्र नानाजनवचनं अहो इति सार्द्धकम् रूपी प्रत्यक्षः सन्नित्यर्थः। अनुग्रहं व्यधात् रूपित्वेन साक्षाद्वल्यादनादिना च ॥ ३६ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तेन तदुपदिष्टेन द्रव्येण महेन्द्रमखार्थं सम्भृतेनान्येन च तदधिकेन सर्व्वघोषदोहेन विविधपाकादिसाधितेनेत्यर्थः। गिरेरादौ निर्देशस्तस्यैव यागे मुख्यत्वात्, तन्नामग्रहणं गौरवेण, किञ्चात्मप्रभुश्रीकृष्णोक्तानुसारेण, तच्च प्रागुक्तमेव। एवमग्रेऽपि सम्यक् यथाविधि श्रद्धयोपहृत्य, यद्वा, सम्यगादृताः परमादरयुक्ताः सन्तः श्रीभगवता नितरां श्लाघिता सम्मानिताश्चेति वा; यद्वा, श्रीगोवर्द्धनमूर्द्धि्न स्थितेन वक्ष्यमाणेन बृहद्वपुर्द्धरेण तेन सम्यगादृताः सन्त इति श्रीहरिवंशोक्तानुसारेण ज्ञेयम्, तथा च तत्र (विष्णुः प० १७।२७-३१)—

'अद्य-प्रभृति चेज्योऽहं गोषु चेदस्ति वो दया ॥
अहं वः प्रथमो देवः सर्व्वकामकरः शुभः। मम प्रभावाच्च गवाममृतान्येव भोक्षाय ॥
शिवश्च वो भविष्यामि मद्भक्तानां वने वने। रंस्येऽहं सह युष्माभिर्यथा दिवि गतस्तथा ॥
ये चेमे प्रथिता गोपा नन्दगोपपुरोगमाः। एषां प्रीतः प्रयच्छामि गोपानां विपुलं धनम् ॥
पर्य्याप्नुवन्तु क्षिप्रं मां गावो वत्ससमाकुलाः। एवं मम परा प्रीतिर्भविष्यति न संशयः" ॥ इति ॥

कथं चक्रुः? तदाह—अनांसीति। ते श्रीनन्दादयो गोपाः, चकारात् केचिद्वृषानारुह्येत्यादिकं ज्ञेयम्। यद्वा, कृतभोजनादिका इति। तद्विशेषाश्चोक्ता हरिवंशे (विष्णु प० १७।३२।३७)—

'ततो नीराजनार्थं हि वृन्दशो गोकुलानि वै। परिवव्रुर्गिरिवरं सवृषाणि समन्ततः ॥
ता गावः प्रद्रुता हृष्टाः सा पीडकनकांगदाः सस्रगापीड़शृंगाग्राः शतशोऽथ सहस्रशः ॥
अनुजग्मुश्च गोपालाः पालयन्तो धनानि च। भक्तिच्छेदानुलिप्तांगा रक्तपीतासिताम्बराः ॥
मायूरचित्रांगदिनो भुजैः प्रहरणावृतैः। मयूरपत्रचित्रैश्च केशबन्धैः सुयोजितैः ॥
वभ्राजुरधिकं गोपाः समवाये तदा तु ते। अन्ये वृषानारुरुहुर्नृत्यन्ति स्म परे मुदा ॥
गोपालास्त्वपरे गाश्च जगृहुर्वेगगामिनः ॥'

इति गोप्यश्चानांस्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रुः; चकाराभ्यामुभयेषामपि प्राधान्येनादौ परिक्रमणे निर्विशेषमुक्त्वा पश्चाद्भगवत्प्रियतमानां श्रीगोपीनां तदिष्टसिद्धया परमहृष्टानां विशेषमाह—कृष्णस्य वीर्य्याणि श्रीगोवर्द्धनयज्ञप्रवर्त्तनादीन्यद्भुतचरितानि गायन्त्य इति, सद्विजाशिष इत्यनेन विप्रा अपि सस्त्रीका गोपगोपीनां संगतया प्रदक्षिणं चक्रुरिति सूच्यते ॥ ३४ ॥ इन्द्रयागादपि स्वप्रवर्त्तितयज्ञस्यास्य परमोत्तमत्वं दर्शयन् तस्मिन् विश्वासञ्च नितरां जनयन् श्रीगोवर्द्धनमिषेण पृथक् स्वयं तन्मूर्ध्नि आविर्भूय तद्बलिस्वामिनं निजदासवश्यं तं गोपांश्च सर्व्वानानन्दयन् साक्षात् तद् बलिं बुभुज इत्याह—कृष्णस्त्विति। तु-शब्दः पूर्व्वतो विशेषे, अन्यत् समम्, गोपवर्गमध्ये वर्त्तमानान्निजरूपादितरत्, तमप्रत्ययोऽत्यन्तभेदविवक्षया, गोपान् विस्रम्भयति विश्वासयतीति तथा तत्, अत एव बृहद्वपुराकारो यस्य तत्, अत एव भूरिं प्रचुरतरमपि बलिं तं सर्व्वमभुङ्क्त, तदुक्तं हरिवंशे (विष्णु प० १७।२४) 'तं गोपाः सर्व्वताकारं दिव्यस्रगनुलेपनम्' गिरिमूर्ध्नि स्थितं दृष्ट्वा हृष्टा जग्मुः प्रधानतः ॥' इति। अतः श्रीकृष्णोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा गोपानां नाजनीति बोधितम् ॥ ३५ ॥ आकारलोप आर्षः। आत्मना स्वयमेव ॥ ३६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

बलिं गवां यवसं च समर्प्य सर्वे नन्दादयः आदरयुक्ता गोधनान्यग्रतः कृत्वा प्रदक्षिणं च चक्रुः ॥ ३३ ॥ अनडुद्युक्तानि वृषभयुक्तान्यनांसि शकटान्यारुह्य ते नन्दादयस्तथा स्वलङ्कृताः गोप्यश्च द्विजानामाशीर्वादसहिताः कृष्णस्य चेष्टितानि गायन्त्यो गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुरित्यन्वयः। कथमयमचेतनो गिरिर्बलिं गृह्णाति कथन्तरामस्माननुगृह्णाति चेत्यादिरूपां नन्दादीनामाशङ्कामपनुदन् कृष्णः स्वयं गोपानां विश्वासकरं तन्मध्यगतमेकमन्यच्च रूपं प्राप्तस्तत्र बृहद्वपुष्मान् गिरेर्मूर्ध्नि स्थित्वा शैलोस्मीति ब्रुवन्बलिं स्वीकुर्वन् ॥ ३४-३५ ॥ पुनर्गोपमध्यगतेन रूपेण अहो इत्यादिना सार्द्धश्लोकं पठन् गोपजनैः सह महात्मने बृहद्वपुषे स्वस्मा एव तस्मै गिरिरूपाय नमश्चक्रुरित्यन्वयः। अहो इति अहो गोपाः पश्यतासौ शैलः रूपी अस्मदुपहृतबल्यादानोपयुक्तरूपधरः नोऽस्माकमनुग्रहं व्यधादकरोत् ॥ ३६ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासकरम् आदत् भक्षितवान् ॥ ३५ ॥ तस्मै आत्मने पर्वतरूपिणे सङ्कल्प्य नमनमिति तत्राह- अहो इति ॥ ३६-३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥
(विजयध्वजरीत्या द्वाविंशोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अन्यतममिति तमप्रत्ययेन तदानीं तत्तत्समाधानार्थं अन्यान्यपि बहूनि रूपाणि प्रादुष्कृतानीति लभ्यते बहूनां प्रकर्षे तम- प्रकृष्टत्वञ्च बृहत्त्वमात्रेण ॥ ३५-३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

गोपाश्च कृष्णवीर्याणि । अयमर्थः । गोपीनामन्योन्यमेवं कथासीत्,—'असौ व्रजराजकुमारः शत्रुमखभङ्गं कृतवान्। शत्रुस्तु कुपितः सन् यदि गोकुलनाशाय वर्षति, तदानेनैव सर्वं समर्थयिष्यते । अस्य किमपि दुष्करं नास्ति' इति पूतनामोक्षावधि यद् यद् वीर्यम्, तदेव गायन्ति स्मेत्यर्थः । द्विजा अपि तत् श्रुत्वा ताभ्य आशिषं चक्रुरित्याह—सद्विजाशिषः ॥ ३४-३८ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः । अयं भावः अन्योन्यं गोपीनामेवं कथासीत्—असौ कृष्णः शत्रुमखभङ्गं कृतवान्। शत्रुः खलु कुपितः सन् यदि गोकुलनाशाय सज्जते, तदाऽनेनैव सर्वं लक्ष्यिष्यते, अस्य किमपि दुष्करं नास्ति, यदनेन शैशव एव पूतनादयो नाशिता इति पूर्व-पूर्वतराणि यानि वीर्याणि तानि गायन्त्यो गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुरित्यन्वयः ॥ ३५-३८ ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तद्द्रव्येण इन्द्रमखद्रव्येण गिरिद्विजान् गिरये द्विजेभ्यश्च उपहृत्य दत्वा आदृताः कृष्णेन गवां गोभ्यः अनडुद्भिरनोवाहै- कैर्वृषैर्युक्तानि ते गोपाश्च गोप्यश्च प्रदक्षिणं चक्रुः सद्विजाशिषः गीयमानाभिर्द्विजाशीर्भिः सहिता द्विजकर्तृकाशिषोपि गायन्त्य इत्यर्थः ॥ ३३-३४ ॥ स्वप्रवर्त्तितयागस्यासाधारणमुत्कर्षं दर्शयंस्तत्र सर्वेषां विश्वासं जनयन् स्वयमेव देवतारूपेण प्रत्यक्षीबभू- वेत्याह—कृष्णस्त्विति । अन्यतमं गोवर्द्धनपर्वतोपरि द्वितयं पर्वतमिव सर्वेन्द्रियवत् स्वरूपं गतः प्राप्तः गोपानां विश्रम्भणं पर्वत एवायमिति विश्वासो यत्र तत् शैलोऽस्मीति एतद्देशाधिपतिरहमेव युष्मद्भक्त्या प्रसन्नः प्रादुरभूवं स्वस्वाभिमतं वरं वृणुतेति ब्रुवन् वलिं नैवेद्यं दूरस्थैर्निकटस्थैः नन्दग्रामादिवर्त्तिभिर्वा व्रजवासिजनैरपरोक्षतः परोक्षतो वा ध्यानेन समर्प्यमाणं सहस्रकोटिहस्तस्तत्तत् स्थानादतिदीर्घोन्नतिदीर्घीकृतपाणिभिरादय स्तांस्तानानन्दयन्नादत् भुङ्क्ते स्म ॥ ३५ ॥ ततश्च तस्मै आत्मने आत्मना देहेन स्वयं व्रजजनैः सह चक्रे आत्मने इत्याकारलोप आर्षः अहो इति सार्द्धश्लोकं पठन् ॥ ३६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

उपहृत्य दत्त्वा ॥ ३३ ॥ सद्विजाशिषः द्विजाशीर्भिः सहिताः ॥ ३४ ॥ गोपविस्रम्भणं गोपविश्वासकरं गतः प्राप्तः भूरि वलिं बहूपहारम् आदत् अखादत् ॥ ३५-३६ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अनडुद्भिर्युक्तान्यनांसि रथानारुह्य ते नन्दादयो गोपाः गोप्यश्च श्रीयशोदादयो गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः सद्विजाशिषो द्विजाशीर्भिः सहिताः ॥ ३४ ॥ अथ स्वक्ते मखे लोकविश्वासाय तदर्चितां गोवर्द्धनदेवतां प्रादर्शयदित्याह—कृष्ण इति । व्रजजन- मध्यवर्ती कृष्णः अन्यतमं गोवर्द्धनाद्रेरुर्ध्वगतं रूपं प्रकटितवान् कीदृक् बृहद्वपुः सर्वतोपमं दिव्यनेत्रश्रोत्रादिमत् सहस्रभुजमति- दीप्तं गोपानां विश्रम्भणं गिरिरयमिति विश्वासो यत्र तत् शैलोऽहमस्म्येतद् देशाधिपतिरर्चनतुष्टान्मत्तोभीष्टानि वृणुतेति तेनैव रूपेण ब्रुवन् सर्वैरर्पितं भूरिवलिमादत् भुङ्क्ते स्म ॥ ३५ ॥ ततश्च तस्मै शैलरूपायात्मने आत्मना देहेनैव व्रजजनैः सह नमश्चक्रे आत्मनेत्याकारलोपः गूढोत्सेतिवत् पृषोदरादित्वात् ॥ ३६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

आदता बलीनुपहृत्य गवां यवसं तृणं चोपहृत्य गोधनानि च पुरस्कृत्य गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः ॥ ३३ ॥ अनडुद्भिर्वृषभैर्युक्तान्यनांसि शकटानारुह्य सद्विजाशिषस्ताभिः सहिता गोप्यः कृष्णवीर्याणि गायन्त्योऽभवन्निति शेषः ॥ ३४ ॥ गोपान्विस्रम्भयंतीति तत्तथा गोपानां विश्रम्भणं येन तद्वाऽन्यतममन्यत्। स्वार्थे तनप्। अन्यतमो मुकुन्दादित्यादिवत्। दृश्यमानान् गतः। शैलोऽहमस्मीति ब्रुवन् भूरिबलिं महान्नराशिं बृहद्वपुश्च सन्नादनभक्षयत्। रूपं दृश्यमानं ततोऽन्यतममन्यद्वपुर्गत इत्यन्वयो वा ॥ ३५ ॥ व्रजजनैः सहात्मनाऽऽत्मने नमश्चक्रे असौ शैलरूपी सन्नोऽनुग्रहं व्यधात्। अहो पश्यत ! रुशब्द इत्यस्मादौणादिकड्डुप्रत्यये रुरिति भवति। रुणाशब्देनोत्कृष्टतया पीनोरूपीनः। यथोक्तं प्राक्। शैलोऽस्मीति ब्रुवन्भीरीति स्वारस्यात् ॥ ३६ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततः सर्वानेव बलीनुपहृत्य प्रदेभ्यो दिग्देवताभ्यस्तदङ्गेभ्यश्च यथोक्तप्रकारेण बलीन् दत्वा पूजाप्रकारानुपहारांश्च, ततः स्वयमत्यादरयुक्ता गोधनान्यग्र कृत्वा गिरिं प्रदक्षिणं चक्रुः प्रकर्षेण दक्षिणो यथा भवति तथा, यद्यपि सामान्यकथनेनैव विशेषः समायाति तथाप्यन्यूनानतिरिक्तं कृतमिति वक्तुं विशेष उच्यते ॥ ३३ ॥ प्रदक्षिणायां विशेषमाहानांसीति, अन्यथा क्लेशः स्याद् भगवत्परता च न स्यादतोनांस्यनडुद्युक्तानि कृतानि, ततोनांस्यलङ्कृतान्यनडुहश्च ते गोपालास्तान्यारुह्य चकारादनारुह्याप्यन्यानारोप्य सुष्ठ्वलङ्कृता जाता येलङ्कारा अधो न भवन्ति, गोप्याप्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रुरितिसम्बंधः, चाकातादन्याश्च स्त्रियः कृष्णस्य सदानन्दस्य स्वार्थमेवावतीर्णस्य वीर्याणि पूतनानिराकरणादीनि गायन्त्यो जाताः, अनेन कर्मणङ्गवकल्यं च निराकृतं सत्यो द्विजाशिषश्च जाताः सतां द्विजानां सतां वा भगवदीयानां द्विजानां च, अनेनास्मिन् यागे ब्राह्मणानामतिसन्तोषः स्त्रीणां चेति निरूपितम् ॥ ३४ ॥ ते हि प्राकृता गोपाला दृष्टमेव मन्यन्तेतो विश्वासार्थं रूपान्तरं कृतवानित्याह कृष्णस्त्विति, अत्यन्तमन्योन्यतमोस्याद् रूपादतिविलक्षणोतिस्थूलो रूपान्तरमेव, तत् पर्वतस्याधिदैविकं रूपमितिपक्षं व्यावर्तयति तुशब्दः, गोपानां विश्रम्भणं विश्वासं गतः विश्वासो यत्र तादृशे रूपे दृष्ट एव तेषां विश्वास इति विश्वासो भगवद्विषयक इति नमःदत् तं बलिं बुभुजे तदा गोपैः कस्त्वमिति पृष्टः शैलोस्मीति वदन्नितिशब्दः प्रकारवाचो कञ्चित् प्रति गोवर्धनोस्मीति कञ्चित् प्रति शैलोस्मीति कञ्चित् प्रति पर्वतोस्मीत्येवं वदन्, एवं भूरिबलिमादन् पक्वान्नादिकं बहु भक्षितवान् पर्वतस्थान् सर्वानेव तर्पितवान् ॥ ३५ ॥ ततः केषाञ्चित् सन्देहोपि भवेदिति सर्वान् प्रदर्श्य नमस्कारं करोति, व्रजजनैः सह तस्मै नमश्चक्र आत्मना स्वनैवात्मने स्वस्मै, आकारस्त्वत्र वैदिकप्रक्रियया लुप्तः, आत्मनेति द्वारान्तरनिषेधाय स्वरूपस्य करणता, तत्र तत्र स्थिता मायाप्रसारितेति ज्ञापयितुमात्मन इत्युक्तं, सर्वथा 'तदेवैत'दितिवचनमप्याहाहो पश्यतेति, असौ शैलः सर्वात्मकत्वाद्ानन्दमयस्य बीजत्य तथात्वादतस्तन्नाम्नैव व्यपदिश्यते, पश्यतेतिप्रबोधनं विशेषज्ञापनार्थं प्रमाणवस्तुपरतन्त्रेपि सावधानार्थं विधियुक्त एव, ननु शैलो गोवर्धनः पृथग् दृश्यते कथमसौ शैल इति ? तत्राह रूपीति, असौ रूपवान् कामरूपो ह्ययं; अतो भवतां सन्तापार्थमेतादृशरूपं कृत्वा भुङ्क्त इत्यर्थः, एतदप्यामन्द एव सङ्गच्छते, किञ्च नोस्माकमनुग्रहं व्यधाद् दत्तार्थस्वीकारात्, अन्यथा प्रदर्शयेदेवात्मानं न तु भुञ्जीत, न इति सामान्योक्तिर्णमस्कारवत् समर्थनीया ॥ ३६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

अहो पश्यत इत्यत्र आनन्दमस्येति तथात्वात् भगवत्त्वादित्यर्थः, "आनन्दाद् ध्येवे"त्यादिश्रुतेरानन्दमयः सर्वबीजं स च भगवद्रूप इति सर्वैरपि नामभिर्भगवान् व्यपदेष्टव्यः, एतदपीति आनन्दे बीजे सति तस्य सर्वतः सूक्ष्मत्वात् तत्कार्यस्य कामरूपत्वं सङ्गच्छत इत्यर्थः, नमस्कारवदिति यथात्मनात्मने नमनं तथा स्वेनैव स्वस्यानुग्रह इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

अनांस्यनडुद्युक्तानीत्यस्य विवरणे अनडुहश्चेति आरुह्येत्यनेनान्वयः तथा सति द्वितीयान्तमेव कर्म युक्तमिति अनडुहश्चेत्युक्तं, अनांसि अलङ्कृतानि अनडुहश्च अलङ्कृतानिति फलितम् ॥३४॥ कृष्णस्त्वन्यतमं रूपमित्यत्र तत्पर्वतस्याधिदैविकं रूपं इति पक्षं व्यावर्तयति तु शब्द इति पर्वतस्याधिदैविकं रूपमिदं न भवत्यपि तु श्रीगोवर्धनस्थायिशुद्धपुष्टिपुरुषोत्तमस्वरूपमिदमित्यर्थः, अत्र गोवर्धनस्थायिपुरुषोत्तमस्वरूपेण सह नन्दराजकुमाररूपपुरुषोत्तमस्य सहैव भोजनं, रूपद्वयस्यैकत्वात्, तथा च एकं नन्दराजकुमारात्मकं रूपं गोपान् प्रति गोवर्धनस्थायिस्वरूपपूजां शिक्षयन् स्वयं गोवर्धनं पूजयति, तस्मिन् शिक्षकस्वरूपे नन्दस्य पुत्रभावदाढर्यात् मत्पुत्रस्यायं देवः कल्याणं करोत्वितिबुद्ध्या श्रीनन्दः स्वयं गोवर्धनं पूजयन् स्वबालकेन श्रीकृष्णेन पूजां कारयति, अत एनां लीलामेनं भावं च समाश्रित्यास्मन्मार्गे श्रीनवनीतप्रियो भगवान् गोवर्धनं पूजयति, नन्दराजकुमारस्य गोवर्धनस्थस्वरूपस्य च सहभोजनात् गोकुलस्थगोवर्धनस्थस्वरूपयोः एकत्र भोजनलीलां प्रदर्शयितुं भगवदाज्ञां प्राप्य श्रीविट्ठलेश्वरैः श्रीनवनीतप्रियादिस्वरूपाः श्रीगोकुलतः समानीय श्रीगोवर्धनधरेण महान्नकूटोत्सवसमये सह स्थापितः सहैव भुञ्जते,

श्रीमद्भागवतरीत्या गोकुलस्थगोवर्धनस्थपुरुषोत्तमस्वरूपयोः सहभोजनात्, रूपद्वयस्यात एव पृथग्दर्शनमुक्तं "तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेत्मनात्मने" इति, अतोत्रैकं रूपं नन्दराजनिकटे तिष्ठत् गोवर्धनस्थस्वस्वरूपं नमस्करोति, तथा च व्रजस्थानां सर्वे भावाः श्रीकृष्ण एव स्थिताः, परं नन्दराजकुमारत्वेन, श्रीकृष्णे देवभावो न स्थित इति देवभावेनान्यस्य भजनं करिष्यन्ति, तथा सति निरोधो न सेत्स्यत्यतो देवभावस्यापि स्वस्मिन् स्थापनार्थं श्रीगोवर्धनस्थायिस्वरूपस्य पूजनं कारितवान्, तेषां हृदि माहात्म्यज्ञानजननार्थं स्वयमपि पूजितवान्; अनया लीलया व्रजस्थानां देवो गोवर्धनस्थायी भगवान् पुरुषोत्तम इति सिद्धं, अत एव गोवर्धनस्थायी श्रीगोवर्धननाथोस्मत्सिद्धान्ते पुष्टिमार्गे देव इति तत्र देवत्वव्यवहारो देवमन्दिरवत् तत्र ध्वजस्थापनादीनि पुष्टिस्थैर्विभावनीयम् ॥ ३५ ॥ अहो पश्यतेत्यत्र ननु भगवता स्वस्वरूपस्य "असौ शैल" इति शैलत्वं कथमुक्तमित्याकाङ्क्षायामाहुः असौ शैलः सर्वात्मकत्वादिति असौ भगवान् शैलः, तत्र हेतुः सर्वात्मकत्वादिति, "एतदात्म्यमिदं सर्वं" "पुरुष एवेदं सर्वं" 'स सर्वं भवती'त्यादिश्रुतेः, तदेवोपपादयन्ति आनन्दमयस्य बीजस्य तथात्वादिति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामती"तिश्रुतेरस्यानन्दमयत्वं, आनन्दमयस्य बीजत्वं कारणत्वात्, कारणत्वं "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत" इत्यादि श्रुतेः, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त" इत्यत्र आनन्दमयस्य कारणत्वोक्तेर्बीजत्वं ज्ञेयं बीजस्य समवायिकारणत्वात् कार्यस्य तदात्मकत्वं, अतः कारणरूपो भगवान् शैलरूप इति शैलत्वकथनं युक्तमेव, रूपी नोऽनुग्रहं व्यधात् इत्यत्र नमस्कारवत् समर्थनीयेति यथा स्वेन स्वस्मै शैलरूपिणे नमस्कारः कृतस्तेषां व्रजवासिनां तस्मिन् स्वरूपे माहात्म्यज्ञानजननार्थं नोनुग्रहं व्यधादिति अनुग्राह्याणां मध्ये न इति पदेन स्वस्यापि निवेश उक्त इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

कृष्णस्तु गोपानां विश्रम्भणं गोवर्धने दैवतविश्वासकरमन्यतमं रूपान्तरं गतः प्राप्तः, अत एव बृहद्वपुश्च सन् गिरेर्मूर्ध्नि स्थितः 'शैलोऽभिमानी देवोऽस्मि' इति ब्रुवन् गोपैरर्पितं बलिमादत् अभक्षयत् ॥ ३५ ॥ अहो आश्चर्यं पश्यत । युष्माभिर्बहुकालमिन्द्रपूजा कृता' परन्तु कदापि प्रत्यक्षः स नाभूत् ॥ असौ शैलस्तु रूपी प्रत्यक्षस्वरूपः सन् अनुग्रहं व्यधात् अनुग्रहेणास्मद्दत्त बलिं बुभुजे । एष गिरिः कामरूपी यथेष्टरूपग्रहणसमर्थोऽतोऽवजानतः अवज्ञां कुर्वाणान् वनौकसो मर्त्यान् मनुष्यान् सिंहव्याघ्रसर्पादिरूपेण हन्ति । यस्मादेवं तस्मादात्मनः गवां च शर्मणे क्षेमायास्मै गोवर्धनदेवाय वयं नमस्यामः इति वदन् व्रजजनैः सह श्रीकृष्णः आत्मना स्वयमेव तस्मै गृहीताभिनवस्वरूपाय आत्मने नमश्चक्रे इति द्वयोरन्वयः ॥ ३६-३७ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्ण इति ॥ कृष्णस्तु गोपानां विश्रम्भणं गोवर्धने दैवतत्वविश्वासकरमन्यतमम् अन्येषु भगवद्रूपेषु अतिशयितं रूपान्तरं गतः प्राप्तः । अत एव बृहद्वपुश्च सन् गिरेर्मूर्ध्नि स्थितः शैलः शैलाभिमानी देवोऽस्मीति ब्रुवन् गोपैरर्पितं बलिमादत् अभक्षयत् । बृहद्वपुरिति दूरतोऽपि तत्तद्ग्रामवासिभिर्दत्त दूरादेवादाय अभक्षयदिति ॥ ३५ ॥ तस्मै इति द्वयम् ॥ अहो आश्चर्यं पश्यत युष्माभिर्बहुकालमिन्द्रपूजा कृता परंतु कदापि प्रत्यक्षः स नाभूत् । असौ शैलस्तु रूपी प्रत्यक्षस्वरूपः सन् नः अनुग्रहं व्यधात् अनुग्रहेणास्मद्दत्तं बलिं बुभुजे । एष गिरिः कामरूपी यथेष्टरूपग्रहणसमर्थोऽतोऽवजानतः अवज्ञां कुर्वाणान् वनौकसो मर्त्यान् मनुष्यान् सिंहव्याघ्रसर्पादिरूपेण हन्ति । हि यस्मादेवं तस्मादात्मनो गवां च शर्मणे क्षेमायास्मै गोवर्धनदेवाय वयं नमस्यामः । इति सार्धश्लोकं वदन् व्रजजनैः सह श्रीकृष्णः आत्मना स्वयमेव तस्मै गृहीताभिनवस्वरूपाय आत्मने नमश्चक्रे । सह चक्रेऽऽत्मनेति पाठे मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मन इत्यालोपः । स चक्रे आत्मनेति पाठेऽपि सन्ध्यभाव आर्षः ॥ ३६-३७ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तेभ्यः सर्वान् बलीन् नैवेद्यादीन् उपहृत्यदत्वा आदृताः सादराः संतः पुरस्कृत्य अग्रे कृत्वा गिरिप्रदक्षिणं दक्षिणभागे गिरेः परिक्रमण चक्रुरित्यर्थः ॥ ३३ ॥ बलीवर्दसंयोजितानि अनांसि रथान् शकटानि च आरुह्य सद्विजाशिषः द्विजाशीर्वादैः सहिताः प्रदक्षिण व्यदधुरिति पूर्वेण संबधः ॥ ३४ ॥ गोपानां विश्रंभणं विश्वासजनकं द्वितीयं रूपं प्राप्तः शैलोस्मीति ब्रुवन् सन् बलिमादत् भुंक्ते स्म ॥ ३५ ॥ आत्मनास्वयं मंत्रेष्वाङ्यादेरात्मन इति छांदस सूत्रेणआत्मन् शब्दस्याकारलोपः व्रजजनैः सह तस्मै द्वितायरूपाय स्वस्मै नमश्चक्रे अहो इति सार्धश्लोकेन गोपान् श्रीकृष्णः प्राह रूपी मनुष्याकृतिः नोस्माकम् अनुग्रहं व्यधात् चकार ॥ ३६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रदक्षिणाचरणप्रकारमाह ॥ अनांसीति ॥ अनडुद्युक्तानि उत्तमवृषभयुक्तानि, अनांसि शकटानि आरुह्य, स्वलंकृताः ते नन्दादयो गोपाश्च, गाप्यश्च, सद्विजाशिषः द्विजानामाशीर्वादसहिताः, कृष्णवीर्याणि श्रीकृष्णचेष्टितानि, गायन्त्यः सत्यः, गिरिं प्रदक्षिण चक्रुरित्यन्वयः ॥ ३३ ॥ तदानीं गोपविश्रम्भाय यच्चित्रं चरित्रं चकार तदाह ॥ कृष्ण इति ॥ कृष्णस्तु गिरये दीयतां बलिरित्युक्तेरचेतनोऽयं गिरिः कथं बलिं गृह्णाति कथंतरामस्माननुगृह्णाति चेत्यादिरूपां नन्दादीनां शङ्कामपनुदन् श्रीकृष्णः स्वयमपि,

गोपविश्रम्भणं गोपानां विश्वासकरं गिरिमध्यगतं, अन्यतमं स्वमापमूर्तेरन्यत्, रूपं गतः प्राप्तः, बृहद्वपुः बृहद्वपुष्मान् गिरेमूर्द्धिन स्थितः, शैलोऽस्मि, इति ब्रुवन् सन्, भूरि प्रचुरं बलिं, आदत् अभक्षयत् ॥ ३४ ॥ तस्मा इति ॥ पुनर्गोपमध्यगतेन रूपेणेति शेषः। महात्मने तस्मै गोवर्द्धनाय, व्रजजनैः सह, नमः चक्रे। अहो इति वक्ष्यमाणसार्द्धश्लोकं पठन् स्वयं स्वस्मै नमस्कृतवान्। हे गोपाः, अहो आश्चर्यमिदम्। असौ शैलः, रूपी मूर्त्तिमान् सन्, नोऽस्माकं, अनुग्रहं व्यधात्। अतः, पश्यत ॥ ३६ ॥ एष इति ॥ कामरूपी यथेष्टरूपग्रहणसमर्थः, एषः गिरिः, अवजानतः अवहेलनं कुर्वाणान्, व्रजौकसो व्रजवासिनः मर्त्यान्, हन्ति। अतः, आत्मनोऽस्माकं, गवां हि गवां च, शर्मणे सुखाय, अस्मै गिरये, नमस्यामो नमस्करवाम ॥ ३६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

उपहृत्येति : १०.२४.३३.

यस्याङ्गीकरणं देव करोषि त्वं स पूजितः। दृषन्मयोऽपि सर्वैः स्यात् किं नाद्रिस्तदुदाहृतिः ॥ ५५ ॥

कृष्णस्त्विति : १०.२४.३५.

वस्तुगचेतनजडते स्वेष्टाप्त्यनवाप्तिकारणे न स्तः। किं त्वेकहार्दभावो यत्स्फुटमद्रिस्तदाऽऽस सन्मूर्तिः ॥ ५६ ॥

नाविष्णुर्भूभृदिति स्मृतिं यथार्थां विधातुमखिलेशः। गोवर्द्धनभूभृति स स्फुटं किमाविश्चकार निजरूपम् ॥ ५७ ॥

व्याप्तिं चराचरजगत्यखिलेऽपि वेदवेद्यां प्रकाशयितुमेवमधोक्षजोऽसौ।
भक्तानुरञ्जितपदे विशदां स्थितिं स्वां कृत्वाऽऽस तज्जडगिरिप्रकटस्वरूपः ॥ ५८ ॥

कृत्वा वपुर्बृहत्प्रागप्यन्वग्राहि बलिर्मया। बलिग्रहणमत्रापि प्राप्तमित्यभवत्तथा ॥ ५९ ॥

दुर्धर्ष एष जठरानल एव तत्र बाह्यानलद्वयमपि प्रकृते प्रविष्टम्।
तत्ताद्दगन्नबहुभक्षणमन्तरा स्यान्नास्योपशान्तिरिति तं बलिमाददे किम् ॥ ६० ॥

जडे वा चेतने वापि प्रकटीभूय सर्वदा। भक्तैर्मयार्पितं सम्यगश्नामीत्यास तादृशः ॥ ६१ ॥

कृष्णप्रिया

राजन्! भगवान की आज्ञानुसार सर्वग्रहों का, दशदिशा के देवताओं का अर्चन करके, गौओं को हरी-हरी घास खिलाकर प्रसन्न किया। अर्चन विधि समाप्त कर, गौओं और बछड़ों को अग्रसर बनाकर श्रीगिरराज महाराज की प्रदक्षिणा करने लगे ॥ ३३ ॥ वस्त्रालङ्कारों से समलङ्कृत हुए गोपालों ने बैलों के छकड़ों को सुसज्जित किया। तरह तरह के वस्त्र तथा आभूषणों को धारण कर गोपियाँ उन सजेधजे शकटों पर सवार होकर प्यारे नन्द दुलारे श्रीकृष्ण की लीलाओं को गाती हुई, श्रीगिरिराज महाराज की प्रदक्षिणा करने लगी। व्रज के विप्रवर भी प्रमुदित होकर सफल सुमङ्गल आशीर्वाद देने लगे ॥ ३४ ॥ राजन् परीक्षित! गोपवृन्द को विश्वास प्राप्त कराने के लिये, भगवान श्रीकृष्ण, श्रीगोवर्धन के शिखर ऊपर, दूसरे विशाल काय स्वरूप से प्रकट होकर विराजित हुए। अये गोपवृन्दः "मैं ही गिरिराज हूँ" आप पर प्रसन्न हूँ ऐसा कहते हुए पुष्कल पक्वान्न आरोगने लगे ॥ ३५ ॥ श्रीनन्द बाबा के साथ खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने उस अवसर व्रजजनों के साथ अपने दूसरे स्वरूप को नमस्कार किया और गोपवृन्द को कहा—सुनो भैया! देखो बाबा! श्रीगिरिराज महाराज ने स्वयं प्रकट होकर हम पर दया दिखाई, हमारे गिरिराज चाहे जैसा रूप धारण कर सकते हैं ॥ ३६ ॥

एषोऽवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः[1]। हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥
इत्यद्रिगोद्विजमखं वासुदेवप्र[2]णोदिताः। यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[3] दशमस्कन्धे[4] [5]चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः एषः कामरूपी अवजानतः वनौकसः मर्त्यान् हन्ति, हि, आत्मनः गवाम् शर्मणे अस्मै नमस्यामः ॥ ३७ ॥ वासुदेवप्रणोदिताः गोपाः इति अद्रि गोद्विज मखम् यथा विधाय ते सहकृष्णाः व्रजम् ययुः ॥ ३८ ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

कामरूपी सर्पादिरूपः। अस्मै अद्रये शर्मणे क्षेमाय ॥ ३७ ॥

कर्मैवालं प्राक् स्वभावो गुणो वा कर्मांगं वा तद्वशो वा महेशः ॥ वार्त्ता कर्त्री देवतेतीयमुक्ता देवक्षोभे षण्मती न त्वभीष्टा ॥१॥३८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

१. वनेचरः–विज.। २. प्रचो–वीर. विज.। ३. पारमहंस्यां संहितायां–प्रा. पा.। ४. पूर्वार्द्धे इन्द्रमखभङ्गश्च। ५. द्वाविंशो–विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एषः गिरिराजः। अवजानतः स्वार्चापरित्यागिनः वनौकस इति। गृहद्वाराद्यावरणाभावात्तेषां हननं सुकरमेव। यद्वा-हे वनौकस इति। पित्रादीनां नमस्कृतिप्रेरणात्रावतारांतरवद्रूपांतरत्वेन न विरुद्धा तेषां नारायणादिषु तथा व्यवहारदर्शनात्॥ ३७॥ इति इत्थम्। यथा यथावत्। ते नंदादिगोपाः। वासुदेवेन सर्वाधिष्ठात्रा प्रेरिताः कृष्णेन सहैव गोवर्द्धनैशानकोणस्थश्रीराधाकुंडात् क्रोशैकोपरिस्थितं व्रजं ययुरिति तोषिणी। कर्मैवालं सुखदुःखजन्मादिहेतुरिति 'कर्मणा जायते जंतुः' इत्यादिवाक्यैः प्रथमसतम्, कर्मवादः। प्राक्स्वभावः प्राक्त सस्कार एव सर्वहेतुरिति द्वितीयं मतम् स्वभाववादः 'स्वभावतंत्रो हि जनः' इत्यादिनोक्तः। गुणो वा सत्त्वादिगुण एव सर्वहेतुरिति तृतीयं मतम् "सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यंतहेतवः" इत्यादिना गुणवाद उक्तः। कर्मागं महेश ईश इति चतुर्थं मतम्, 'अंजसा येन वर्त्तेत' इत्यादिनोक्तः कर्मांगवादः तद्वशः कर्मवशो महेश इति पंचमं मतम्। 'अस्ति चेदीश्वरः कश्चित्' इत्यादिनोक्तः कर्मवशेशवादः वार्त्ता जीविका तत्कर्त्री देवता मुख्येति षष्ठं मतम्। 'वर्त्तेत ब्रह्मणा विप्रः' इत्यादिश्लोकद्वयेन वृत्तिहेतुदेववाद उक्तः। उक्ता कथिता इयं षण्णां मतानां समाहारः षण्मती षण्मतसमुदायः। देवस्य सर्वद्योतकस्य श्रीकृष्णस्य क्षोभे सर्वेशं मां त्यक्त्वैतेऽन्यानेव भजतं इत्येवं कुपिते। न त्वभीष्टा न त्वभीष्टफलदेत्यर्थः। हस्तिपादसर्वपादप्रवेशन्यायेन श्रीकृष्णार्चनेन सर्वार्चनं तदनर्चनेऽन्येषामर्चनेऽपि न किंचित्फलमिति "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यंति तत्स्कंधभुजोपशाखाः" इत्याद्युक्तेः। इत्थं कर्मवादावतारणेन कर्मणां प्राधान्यं स्थापितं, तच्च संस्कारवशेनैव कर्मप्रवृत्तिरिति संस्कारस्य कर्ममूलत्वेन कर्मनिष्ठतैवाभिप्रेता। अतोंतर्यामिणा यथा प्रेर्य्यंत इति न्यायेन घटमाना कर्मानासक्तिरपि परिहृता। तत्र च सत्त्वादिगुणस्वभावेन जीविकावश्यं सिध्येदिति तदर्थे प्रयासाभावेन कदाचित्कर्मणो लोपश्च निरस्तः। योगक्षेमकृन्निजोपजीव्यावश्यपूज्योक्तेः सर्वथा कर्मणां प्राधान्यमेव दृढीकृतम्। तच्च सर्वमशेषकर्मप्रधाननिजभक्तिपरतार्थमेव, भक्तिपरतायाश्च मुख्यलक्षणं तद्भक्तार्चनमिति हरिदास-गोवर्द्धनपूजनमिति सिद्धांतः। तत्र। निगूढश्रीकृष्णाभिप्रायश्च—योऽहं पूर्णपरमेश्वरः स एव तेषां पुत्रादिरूपः ततः को नामैषामीश्वरः का वाऽन्या देवता प्रवर्त्तकस्तु तत्प्रेममयः स्वभाव एव स्यात् यदि चे नरलीलया देवतास्वीकारस्तदा मन्निकटसंबंधिन्य एव युञ्ज्य-रंस्तथापि नरलीलारक्षार्थं न तत्तद्व्यञ्जयितुमुत्सहे तस्मान्निरीश्वरमीमांसासांख्यवादापदेशेनैव तद्बोधयित्वा तथा प्रवर्त्तयामीति वैष्णवतोषिण्याम्॥ ३८॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अभक्तांश्च निहन्तीत्याह—एष इति। अवजानतः अवज्ञां कुर्वतः सर्वेषां साक्षात्तावदशेषवलेः स्वयमेव भक्षणं दृष्ट्वेति भावः। यद्वा, यागाकरणेनानादरं कुर्वन् इति पुनः पुनस्तद्यागोऽभिप्रेतः मर्त्त्यान् मरणशीलान् तत्रापि वनौकसः गृहद्वाराद्यावरण-शून्यानिति हनने सुकरत्वं दर्शितम् हे वनौकस इति वा चकाराद्व्यादीनां रोगोत्पादनादिना पीडयति चेति पाठान्तरे हि यस्मात् हन्ति अतो वयं नमस्यामः वन्देमहि आत्मनो गवां च शर्मणे। यद्वा, आत्मनो या गावस्तासामिति गवां शर्मणैव तेषां जीवनसिद्धेः अत्र पित्रादिष्वपि नमस्कारप्रेरणेयं तेन रूपेणावतारान्तरेणैव पुत्रत्वाभावान्न विरुद्धा नारायणादिषु तेषां तथा व्यवहारात् एतदनन्तरं साक्षात्तस्य बृहन्मूर्त्तेरादेशश्च श्रीहरिवंशे—

> अद्य प्रभृतिचेज्योऽहं गोषु चेदस्ति वो दया। अहं वः प्रथमो देवः सर्वकामकरः शुभः॥
> मम प्रभावाच्च गवाममृतान्येव भोक्ष्यथ। शिवश्च वो भविष्यामि मद्भक्तानां वने वने॥
> रंस्येऽहं सह युष्माभिर्यथा दिवि गतस्तथा। ये चेमे प्रथिता गोपा नन्दगोपपुरोगमाः॥
> एषां प्रीतः प्रयच्छामि गोपानां विपुलं धनम्। पर्याप्नुवन्तु विप्रा मां गावो वत्ससमाकुलाः॥

एवं मम परा प्रीतिर्भविष्यति न संशयः इति॥३७॥ वासुदेवेन सर्वाधिष्ठात्रा प्रचोदिता इति तेषां तदुपदिष्टविध्यनतिक्रमः तत्र सर्वात्मना सुखसम्मतिविशेषोऽपि दर्शितः यथा यथावत् सहकृष्णा कृष्णेन सहिताः इति प्रीतिविशेषोदयेन त्यक्तुमशक्यात्तेन मिलित्वैव गोवर्द्धनेशानकोणस्य श्रीराधाकुण्डात् क्रोशैकोपरि स्थितं व्रजं ययुरित्यर्थः। इत्थं देवतानिराकरणकर्मवादावतारणेन कर्मणां प्राधान्यं स्थापितं तत्र संस्कारवशेनैव कर्म प्रवृत्तिरिति संस्कारस्य कर्ममूलकत्वेन कर्मनिष्ठतैवाभिप्रेता अतोऽन्तर्यामिणाऽन्यथा प्रेर्य्यंते तथानुष्ठीयत इति न्यायेनाघटमाना कर्मणां शक्तिरपि परिहृता तत्र च सत्त्वादिगुणस्वभावेन जीविकावश्यं सिद्ध्येदिति तदर्थप्रयासाभावेन कदाचित् कर्मलोपश्च निरस्तः योगक्षेमकृन्निजोपजीव्यावश्यपूजोक्तेः इति सर्वथा कर्मणां प्राधान्यमेव दृढीकृतं तच्च सर्वमशेषकर्मप्रधाननिजभक्तिपरतार्थमेव भक्तिपरतायाश्च मुख्यं लक्षणं तद्भक्तार्चनम् इति हरिदासश्रीगोवर्द्धनपूजनमिति सिद्धान्तः अत्र निगूढश्चायं श्रीकृष्णाभिप्रायः योऽहं पूर्णः परमेश्वरः स एव तेषां पुत्रादिरूपः तस्मात् को नामैषामीश्वरः का वान्या देवता प्रवर्त्तकस्तु तत्प्रेममयः स्वभाव एव स्यात् यदि च नरलीलाया देवतास्वीकारस्तदा मन्निकटसम्बन्धिन्य एव युञ्ज्येरन् तथापि

नरलीलारक्षार्थं न तद्व्यञ्जयितुमुत्सहे तस्मान्निरीश्वरमीमांसा साङ्ख्यावादापदेशेनैव तत्तद्बोधयित्वा तथा प्रवर्त्तयामीति एवमन्यत्रापि सर्वत्रोह्यम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कथं नमश्चक्रे ? तदाह—अहो इति सार्द्धेन। रूपी प्रत्यक्षः सन्नित्यर्थः। यद्वा, परमसुन्दरः सन् स्वाभाविकनिजपरमसौन्दर्य्यस्य सम्यगाच्छादनाशक्त्या तथा च गोपानां प्रत्यभिज्ञोदयमाशंक्य तत्संगोपनार्थं तथोक्तमनुग्रहं न्यधात्। रूपित्वेन साक्षाद्वल्यदनादिना च अभक्तांश्च निगृह्णातीत्याह—एष इति। अवजानतोऽवज्ञां कुर्व्वत इति सर्व्वेषां साक्षात्तावदशेषबलेः स्वयमेवक्षणात्, यद्वा, यागाकरणेनादरं कुर्वत इति पुनः पुनस्तद्यागोऽभिप्रेतः। मर्त्यान् मरणधर्म्मशीलान्, तत्रापि वनौकसो गृहद्वाराद्यावरणशून्यानिति हनने सुकरत्वं दर्शितम्। हे वनौकस इति वा, ततश्च तेषां तदेकाश्रयत्वात् तद्वन्दनं सदा युक्तमेवेति भावः। चकारात् गवादीनां रोगोदरादनादिना पीडयति चेति, अतो वयं नमस्यामो वन्देमहि, पूजयिष्याम इति वा। आत्मनो गवाञ्च शर्म्मणे। हीति पाठे निश्चयेन विश्वस्येत्यर्थः। तथापि गवाञ्चेत्येवार्थः। यद्वा, आत्मनो या गावस्तासामिति गवां शर्म्मणैव तेषां जीवनसिद्धेः, ततश्च कस्मैचित् कञ्चिद्वरं साक्षादनुभूतफलं दत्त्वासावन्तर्हित इति ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥ इति अनेन प्रकारेण ईदृशं वा, अद्र्यागवाञ्चादौ निर्द्देशस्तस्य तासाञ्च तद्यागे मुख्यत्वात्, तत्रापि श्रीगोवर्द्धनस्य प्राधान्येन हरिदासवर्य्यत्वेन चादौ ब्राह्मणानां तद्यागोपकरणमात्रत्वेन गौणत्वात्, तत्तत्पूजकत्वेन पूजनत्वाद्वा पश्चान्निर्द्देशः। वासुदेवेन चित्ताधिष्ठात्रा प्रचोदिता इति तेषां तदुपदिष्टविधानतिक्रमः। तत्र सर्व्वात्मना सुखसम्मतिविशेषोऽपि बोधितः। यद्वा, श्रीवसुदेवनन्दनेनेति निजैश्वर्य्यविशेषप्रकटनपरत्वमभिप्रेतम्। अत ऐश्वर्य्यमदमत्तेन्द्रमखभञ्जनेन हरिदासवर्य्यश्रीगोवर्द्धनपूजाप्रवर्त्तनं युक्तमेवेति भावः। यथा यथावत्, सह कृष्णाः कृष्णेन सहिता इति प्रीतिविशेषोदयेन तं त्यक्तुमशक्तास्तेन सह मिलित्वैव व्रजं निजवासं श्रीनन्दीश्वरगिरिनिकटे, श्रीराधाकुण्डोपान्ते वा वर्त्तमानं ययुरित्यर्थः। इत्थं देवतानिराकरणकर्म्मवादावतरणेन कर्मणां प्राधान्यं स्थापितम्, तत्र च संस्कारवशेनैव कर्मप्रवृत्तिरिति संस्कारस्य कर्ममूलकत्वेन कर्मनिष्ठतैवाभिप्रेता। अतोऽन्तर्य्यामिणा यथा प्रेर्य्यते तथानुष्ठीयत इति न्यायेन घटमाना कर्म्मानासक्तिरपि परिहृता। तत्र च सत्त्वादिगुणस्वभावेन जीविका अवश्यं सिध्येदिति तदर्थप्रयासाभावेन कदाचित् कर्मलोपश्च निरस्तः। योगक्षेमकृन्नोपजीव्याचश्य पूजोक्तेः, इति सर्वथा कर्मणां प्राधान्यमेव दृढीकृतम्। तच्च सर्वमशेषकर्मप्रधाननिजभक्तिपरतार्थमेव, भक्तिपरतायाश्च मुख्यलक्षणं तद्भक्तार्च्चनमिति हरिदासवर्य्य श्रीगोवर्द्धनपूजनमिति सिद्धान्तः। एवमन्यत्रापि सर्वत्रोह्यम्। स च कथारसविशेषविघातकत्वेन ग्रन्थबाहुल्य भयेन च न तत्र तत्र विव्रियते ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां
श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एष कामरूपी यथेष्टरूपग्रहणसमर्थो गिरिरवजानतोऽवहेलनं कुर्वाणान् वनौकसो मर्त्यान् हन्ति अत आत्मनोऽस्माकं गवाञ्च शर्मणे क्षेमायास्मै गिरये नमस्यामः नमः करवाम ॥ ३७ ॥ इति इत्थं वासुदेवेन चोदिता गोपाला अद्र्यादीनां मखं यथावद्विधाय कृष्णेन सहिता व्रजं प्रति जग्मुः ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

कामरूपी सर्पादिरूपः हि तस्मात् ॥ ३७ ॥

यन्निरीश्वरमीमांसासांख्ययोरुररीकृतिः। तदिन्द्रमखभङ्गार्थं न तु ते संस्मते सताम् ॥

यथाहुः श्रीस्वामिचरणाः—

कर्मैवालं प्राक् स्वभावोगुणो वा कर्माङ्ग वा तद्वशो वा महेशः वार्त्ता कर्त्री देवतेतीयमुक्ता देवक्षोभे यन्मयी नत्वभीष्टा ॥ ३८ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। चतुर्विंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

एष एव गिरिः कामरूपी यथेष्टग्रहणसमर्थः अवजानतः अवज्ञां कुर्वाणान् अजगरादिरूपेण हन्ति अस्मै कामरूपिणे अद्रये शर्मणे सुखाय नमस्यामः ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे चतुर्विंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २४ ॥

श्रीबलदेवविद्याभूषणकृता वैष्णवानन्दिनी

अहो इत्यादि साद्धपद्यं पठन् रूपी प्रकाशितदेवतारूपः कामरूपी सर्पादिरूपधरः सन् हन्ति हनिष्यति हि तस्मादात्मनो गवाञ्च शर्मणे नमस्यामः ॥ ३७ ॥ सह कृष्णः कृष्णेन सहिताः व्रजं नन्दीश्वराजधानीम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्बलदेवविद्याभूषणकृतवैष्णवानन्दिन्यां चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

एष अवजानतोऽवज्ञां कुर्वतः कामरूपी वनेचरो मर्त्यान्हन्ति घातयति । अतोऽस्मै आत्मनां गवां च शर्मणे सुखाय नमस्याम इत्युक्त्वा नमश्च सञ्चक्रुरित्यतीतेनान्वयः ॥ ३७ ॥ यथावद्वासुदेवप्रचोदिता गोपाला अद्रिगोद्विजमखं । अत्र मोक्तृतयाऽद्रेः प्रथमत उक्तिः विधाय सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥ ३८ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

श्रीसुबोधिनी

एवं तस्य स्वरूपमुक्त्वाग्रेपि भजनसिद्ध्यर्थं प्रार्थयतेत्याहैष इति, अप्रार्थनायां बाधकं वदन्नवज्ञामात्रेपि बाधकमाहावजानतोवज्ञां कुर्वतः किमयं करिष्यतीति मर्त्यान् मरणधर्मयुक्तानिदं महदनिष्टमिष्टानिष्टवार्ता दूरे वस्तुतो हन्त्येव, तस्य हनने सामर्थ्यं प्रकारं चाह कामरूपीति, कामं यथेष्टं रूपवानतः शस्त्री भवति व्याघ्रो भवति सिंहो भवति, पलायनं त्वशक्यं यतः सर्वे वनौकसः, वनमेवौकः स्थानं येषामित्यतस्तान् हन्त्येव, अहनन उपायमाहास्मै नमस्याम इति, अप्रतारणार्थमात्मानुप्रवेशः, हेतुवादोयमितीतरनिषेधे तात्पर्यान् नात्यन्तमाग्रहः कर्तव्यः, आत्मनः शर्मणे गवां च शर्मणे व्याघ्रादीनामुभयोपद्रवजनकत्वात्, नमस्कार एव महतां प्रतिविधिः, तदाह हि शब्दः, एवमग्रेपि तथाकरणसिद्ध्यर्थमेतत्परित्यागे भयं च जनयितुं तथोक्तवान्, ईश्वरवाक्यात् तथैव च भवेत् ॥ ३७ ॥ एवं कारयित्वा च पुनः स्वस्थानं प्रापितवानित्युपसंहरतीति, अद्रिगोद्विजानां मखं वैष्णवमखं कृत्वा वासुदेवेनैव प्रकर्षेण नोदिता विशेषाकारेण तत्र तत्र तथा तथा बोधिता यथा यथावद् विधाय भगवदावेशेनैतत् कृत्वा पुनरत्त एव गोपा भूत्वा फलसहिता व्रजं ययुः स्वस्थानं प्राप्तवन्तः, अन्ते प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा तज्जनितमन्यदेव किञ्चित् फलं स्यादितिशङ्का स्यादतः प्रत्यापत्तिरुक्ता ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे तृतीयस्य स्कन्धादितो एकविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ २१ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

इत्यद्रिगोद्विजमखमित्यत्र, वासुदेवत्वेन शुद्धसत्त्वाकारमन्तःकरणं कृत्वा कर्मोपयोगिश्रद्धासामर्थ्याद्युपयोगित्वेन तत्राविर्भूय सर्वं कारितवानित्याशयेन वासुदेवप्रचोदिता इत्युक्तम् । प्रेरणे प्रकर्षोऽप्ययमेव । अन्यथा न वदेत् । अत्र च गमने गोपानां मुख्यत्वं प्रभोस्तु गौणत्वमुक्तमित्यनावेशस्तदा सूच्यत इति तदुभयतात्पर्यमाहुः भगवदावेशेनैतदित्यादि ॥ ३८ ॥

इत्येकविंशोध्यायः ॥ २१ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

इत्यद्रिगोद्विजेत्यत्र वासुदेवेनैवेत्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ ३८ ॥

इति एकविंशोध्यायः ॥ २१ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

गोवर्धनपूजामुपसंहरति-इताति । इत्येवं वासुदेवेन कृष्णेन प्रणोदिताः प्रेरितास्ते नन्दादयो गोपा अद्र्यादीनां मखं यथाद्विधाय कृष्णेन सहिता व्रजं गताः ॥ ३८ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्यवंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । चतुर्विंशो गतो विप्रभार्यानुग्रहबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इतीति ॥ इत्येवं वासुदेवेन कृष्णेन प्रणोदिताः प्रेरितास्ते नन्दादयो गोपा अद्र्यादीनां मखं यथावद्विधाय कृष्णेन सहिता व्रजं ययुः । यन्निरीश्वरमीमांसासांख्ययोरुररीकृतिः तदिन्द्रमखभङ्गाय न तु ते सम्मते सताम् ॥ ३८ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अवजानतः अवज्ञाकारकान् एषोऽद्रिः कामरूपी सर्पव्याघ्रादियथेष्टरूपाणि कृत्वा हंति अतः स्वस्य गवां च शर्मणे सुखाय अस्मै गोवर्धनाय ॥ ३७ ॥ यथा यथावत् यथा शास्त्रं विधाय कृत्वा ॥ ३८ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने गोगोवर्धनोत्सवनामा चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

इतीति ॥ इतीत्थं, वासुदेवेन सर्वान्तरात्मना श्रीकृष्णेन प्रणोदिताः संप्रेरिताः, ते गोपा गोपालाः, अद्रिगोद्विजमखं, यथा यथावत्, विधाय, सहकृष्णाः कृष्णेन सहिताः, व्रजं ययुः ॥ ३७ ॥ कर्मैवालमिहेति तद्वशगतः प्रोक्तो महेशस्तथा प्राचीनोऽथ निसर्ग एव गदितः कर्माङ्गमन्यत्तथा । वार्त्ता कर्त्र्युदिता गुणश्च कथितः स्पष्टं मतानीति षट् नाभीष्टान्युदितानि सन्ति सुरराट्क्षोभाय तानि ध्रुवम् ॥ १ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एष इति : १०.२४.३७

योऽस्मिन्नरः सरलधीरनुवर्तते मद्वाचं मदुक्तिधृतविश्वसनो विशङ्कम् ।
तत्कर्म लौकिकदृशा कथमप्यमुष्य श्रेयस्करं सुखकरं हरिणेत्यबोधि ॥ ६२ ॥
दाता दापयिता भोक्ता प्रतिग्राह्यभिनन्दकः । सर्वात्मा हरिरेवेति स्पष्टं गोवर्द्धनोत्सवे ॥ ६३ ॥
गोपा गोकुलपत्यहङ्कृतिजुषो नित्यं स्वभद्राय ते कुर्वन्ति स्वयमेव कर्म विविधं तत्रास्मि तद्रोप्यहम् ।
द्रष्टा केवल इत्यलं यदुपते वाचा श्रुतिड्यार्थया यज्ञोऽसौ भवतैव यद्गिरिविरोधशेन संयोजितः ॥ ६४ ॥
त्रेता धर्मस्तद्युगे एव शस्तो न्यस्तोऽन्यस्मिन् जायतेऽनुष्ठितश्चेत् ।
पूर्णः श्रेशश्चेत् प्रसादस्तदाऽसौ सम्पूर्णः स्यात्तादृशोऽपीत्यबोधि ॥ ६५ ॥

व्रजं ययुरिति : १०.२४.३८.

वने वापि गिरौ वापि येषामद्धोपदेशकः । प्रभुरेव क्षमा तेषामानन्दाय व्रजस्थितिः ॥ ६६ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

कृष्णप्रिया

प्यारे गोपजन ! इस बात का ध्यान रखें ? वन निवासी जो, जन इन प्राणी इन गिरिराज महाराज का अनादर करते हैं, स्वेच्छा रूपधारी यह देव उनका विनाश कर देता है। आप सब चलो, हम सब लोग मिलकर, अपने-अपने गोधन धन के एवं सारे व्रज के कल्याण के लिए इन गिरिराज महाराज को प्रणाम करें ॥३७॥ राजन् ! इस प्रकार भगवान वासुदेव की प्रेरणा से सारे वे गोप लोग, भगवान की सूचना एवं आज्ञानुसार ही श्रीगिरिराज महाराज, गौओं और विप्रों के प्रिय वैष्णव याग को यथा-विधि समाप्त कर फलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी के व्रज में पधार गये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां पूर्वार्द्धे हिन्दी भाषान्तरे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

—:०:—

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	मि. उ.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
३३	३१	२	२	१०८८	१२	३२	११३२	३५।	४

श्रीशुक[1] उवाच

इन्द्रस्तदाऽऽत्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप । गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥ १ ॥
गणं [2]संवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् । इन्द्रः [3]प्राणोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत[4] ॥ २ ॥

[5]इन्द्र उवाच

अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् । कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य [6]ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥ ३ ॥
यथादृढैः कर्ममयैः [7]क्रतुभिर्नामनौनिभैः । विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वा तितीर्षन्ति भवार्णवम् ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः —नृप ! तदा इन्द्रः आत्मनः पूजाम् विहताम् विज्ञाय, सः, कृष्णनाथेभ्यः नन्दादिभ्यः गोपेभ्यः चुकोप ॥ १ ॥ क्रुद्धः इन्द्रः अन्तकारिणाम् मेघानाम् सांवर्तकम् गणम् प्राणोदयत् च ईशमानी उत वाक्यम् आह ॥ २ ॥ अहो काननौकसाम् गोपानाम् श्रीमदमाहात्म्यम् ! ये मर्त्यम् कृष्णम् आश्रित्य देवहेलनम् चक्रुः ॥ ३ ॥ यथा (मन्दाः) आन्वीक्षिकीम् विद्याम् हित्वा, नामनौनिभैः कर्ममयैः अदृढैः क्रतुभिः भवार्णवम् तितीर्षन्ति ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

पंचविंशे रुषा शक्रे व्रजनाशाय वर्षति ॥ उद्धृत्य गिरिमासारदरक्षद्गोकुलं प्रभुः ॥ १ ॥

कृष्णो नाथो येषां तेभ्यः ॥ १ ॥ क्रुद्धः सन्निंद्रः सांवर्तकं नाम संवर्त्तः प्रलयस्तत्कर्तारं प्रसिद्धमेघानां गणं प्राचोदयत् प्रेषयामास । ननु कृष्णनाथानां घाते कथं प्रवृत्त इत्याशंक्यात्मसंभावनया निरस्तविवेकत्वादित्याशयेनाह वाक्यं चाहेत्यादि पंचभिः । ईशमान्यहमेवेश्वरः इति गर्ववान् ॥ २ ॥ देवहेलनं देवस्य ममावज्ञाम् ॥ ३ ॥ अदृढैरसमर्थैः कर्ममयैः क्रियानिर्वर्त्यैरत एव नामनौनिभैर्नाम मात्रेण या नौरिति व्यवह्रियते तत्सदृशैः । आन्विक्षिकीमात्मानुस्मृतिरूपाम् ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

आसारात् धारासंपातात् 'धारासंपात आसारः' इत्यमरः । प्रभुः कृष्णः (१) । नाथः स्वामी । गोपेभ्य इति "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः" इति चतुर्थी । सः इंद्रः ॥ १ ॥ आत्मसंभावनया मत्तोऽन्यः कोधिक इति बुद्ध्या "आत्मसंभावनेति स्यान्मत्तोऽन्यः कोऽधिको भुवि" इत्युक्तेः ॥ २ ॥ मर्त्यम् मरणधर्माणम्, मनुष्यमित्यर्थः । उपाश्रित्य अयमेव सर्वेभ्यो बलीति कृत्वा । देवस्य अमरस्य मम । श्रीमदमाहात्म्यानां द्वंद्वैक्यम् । काननौकसाम् गोपानामिति तेषामज्ञत्वनिकृष्टत्वे बोधिते । मर्त्येभ्यो हितं मर्त्यम् । देवस्य ममेष्टस्य हेलनमिति वास्तवोर्थः ॥ ३ ॥ क्रियानिर्वर्त्यैः बहुव्यापारसाध्यैः । अत एव क्रियासाध्यत्वादेव नाम्ना नावो नामनावस्ताभिर्निभास्तुल्यास्तैः "निभस्तु कथितो व्याजे पुँल्लिंगः सदृशे त्रिपु" इति मेदिनी । "प्लवा एते ह्यदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तं ह्यवरं येपु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनंदंति मूढा जरामृत्यू ते नराः प्राप्नुवंति ॥" इति श्रुतेः । "शाब्दस्य हि ब्रह्मण एप पंथा यन्नामभिर्ध्यायति धीरपार्थैः । परिभ्रमंस्तत्र न विंदतेऽर्थान्" इत्युक्तेः कर्ममयैः क्रतुभिस्सहान्वीक्षिकीं त्यक्त्वा कृष्णमाश्रित्यैव कृष्णाश्रयेणैव भवार्णवस्य गोवत्सपदत्वे जाते तत्तरणयत्नानौचित्यात्तेषां तितीर्षामात्रमिति वास्तवोर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

विज्ञाय साक्षादनुभूय विहतां द्रव्याणामप्यन्यत्र व्ययात् कृष्णनाथेभ्यः तत्रापि गोपेभ्यः तादृशश्रीव्रजवासिभ्यः तत्रापि श्रीनन्दादिभ्य इति कोपेन दुर्मदकत्ततो दुर्बुद्धिता च सूचिता ह स्फुटमेव तदनुरूपव्यवहारात् स इति क्वचित्पाठः परमदु-

१. बादरायणि—प्रा. पा. । २. सांव—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. । ३. प्राचो—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व; प्रचो—इति कस्यचित् । ४, मन्युना—विज. । ५. इन्द्र उवाच—श्रीधरादिषु नास्ति । ६, मखभङ्गमचीकरन्—प्रा. पा. । ७. कुप्लवंर्शनमानिनः—विज. ।

बुद्धिरित्यर्थः ॥ १ ॥ अन्तः प्रलयस्तत्कारिणाम् अत एव सम्वर्त्तकं नाम अप्यर्थे च शब्दः यद्वा, चकारादाऽऽवहप्रवहादिवातगणं च प्रकर्षेण गर्वोक्त्या तेषामुत्साहवर्द्धनादिना प्रेरयामास उत अप्यर्थे स च गर्हारूपः देवेन्द्रस्याप्ययोग्ये प्रवृत्तेः ॥ २ ॥ अहो आश्चर्यं काननौकसामिति निकृष्टत्वमज्ञत्वं चाभिप्रेतं पत्युपपतिशब्दवदाश्रयो नाम कुलधर्मादिप्राप्तः उपाश्रयस्ततो विच्युत्य कृतः तद्देवमुक्तमुपाश्रित्येति देवत्वेनात्मनो मर्त्त्यान् माहात्म्यसिद्धेर्देवेत्युक्त न च ममेति तथा अमरत्यागेन मर्त्याश्रयणस्यायोग्यताबोधनार्थं चेति मयि तावद्देवबुद्धिमपि न चक्रुः अस्तुतरां देवदेवबुद्धिरिति भावः। अत्र च वनवासेन गोपत्वेन च परमसात्त्विकत्वादिकं तेषां कृष्णं परब्रह्मादि मनुष्यरूपमिति च भक्तवात्सल्यं अतस्तदर्थं तस्य देवहेलनं युक्तमेवेति सरस्वत्यभिव्यञ्जितस्तत्वार्थः ॥ ३ ॥ अदृढैः क्षयिष्णुफलकैः यतः कर्ममयैः यथा तितीर्षन्ति मूढाः तथा कृष्णमुपाश्रित्य ममाप्रियं गोपाश्चक्रुरित्यविचारेणायोग्याचरणमात्रे दृष्टान्तः। यद्वा, तथा मां हित्वा कृष्णाश्रयेण गोपा भयदुःखादिकं तितीर्षन्तीतीन्द्रस्य क्रोधावेशेनासमाप्त वाक्यं ज्ञेयं तत्वार्थश्चायं यथा वैष्णवाः कर्मभिः सहान्वीक्षिकीं हित्वा केवलकृष्णाश्रयेण भवार्णवं तितीर्षन्तीति ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वृहद्वैष्णवतोषिणी

विज्ञाय साक्षादनुभूय, तन्महोत्सवे तत्र वाकाशे निभृतमागमनात्, किंवा निजयोग्यभोज्यानुपस्थितेर्विदितपणं हृतां तद्द्रव्याणामप्यन्तत्र व्ययात्; कृष्णनाथेभ्य इति अस्थाने कोपेन दुर्म्मदमत्तता दुर्बुद्धिता च सूचिता। हे नृपेति श्रीमदस्यानर्थहेतुत्वं भवता ज्ञायत एवेति भावः। आदिशब्देन उपनन्दादयो गोपास्तत्पुरोहितादयश्च। ह स्फुटमेव, तदनुरूपव्यवहरणात् ॥ १ ॥ अप्यर्थे च शब्दः, अन्तः प्रलयस्तत्कारिणामपि; यद्वा, चकारादावह प्रवहादिवातगणश्च, प्रकर्षेण गर्व्वोक्त्या तेषामुत्साहवर्द्धनादिना प्रेरयामास। उत खेदे विस्मये वा, देवेन्द्रस्याप्ययोग्ये प्रवृत्तेः ॥ २ ॥ अहो आश्चर्य्यम्, काननौकसामिति निकृष्टत्वमज्ञत्वञ्चाभिप्रेतम्। मर्त्त्यं मनुष्यम्, उप निजहितोपाधिनाश्रिता देवस्य हेलनं चक्रुः। श्रीमदमाहात्म्यं विनैतन्न सम्भवतीति भावः। देवत्वेनात्मनो मर्त्त्यान्माहात्म्यसिद्धेर्देवेत्युक्तम्, न च ममेति, तथा अमरत्यागेन मर्त्त्याश्रयणस्यायोग्यताबोधनार्थं चेति दिक्। अत्र च वनवासत्वेन गोपत्वेन च परमसात्त्विकत्वादिकं तेषाम्, कृष्णं परब्रह्मापि मनुष्यरूपमिति तस्य च भक्तवात्सल्यम्, अतस्तदर्थं तस्य देवहेलनं युक्तमेवेति तत्त्वार्थः ॥ ३ ॥ अदृढैः क्षयिष्णुफलकैः, यतः कर्म्ममयैः न तु ध्यानकीर्त्तनादिप्रधानैः, यथा तितीर्षन्ति मूढाः, तथा कृष्णमुपाश्रित्य ममाप्रियं गोपाश्चक्रुरित्यविचारेणायोग्याचरणमात्रे दृष्टान्तः। यद्वा, तथा मां हित्वा कृष्णाश्रयेण गोपा मत्तो भयदुःखादिकं तितीर्षन्तीन्द्रस्य क्रोधावेशेनासमाप्तं वाक्यं ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ततः किं जातं तदाह–इन्द्र इति। हे नृप ! तदा इन्द्रः स्वस्य पूजां कृष्णेन विहितां ज्ञात्वा कृष्णो नाथो रक्षिता येषां तेभ्यः गोपेभ्यः चुकोप क्रुद्धवान् ॥ १ ॥ तदा क्रुद्धः अन्तकारिणं प्रलयकारिणां मेघानां साम्वर्त्तकाख्यं गणं प्राचोदयत् मन्युमानी ईशमानीति पाठान्तरम् इदं वक्ष्यमाणं वाक्यं चाह ॥ २ ॥ तदेवाह–अहो इत्यादिभिः पञ्चभिः, काननौकसां गोपानां श्रीमदस्य धनसम्पत्तिकृतस्य मदस्य माहात्म्यं वैभवमहो आश्चर्यकरं, तदेव दर्शयति। ये गोपाः कृष्णं मर्त्यं मरणशीलम् उपाश्रित्य देवस्य मम हेलनमपराधं चक्रुर्मद्यागं बभञ्जुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ किन्त्वद्यागमात्रेणेत्यत आह–यथेति। आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां हित्वा विहाय केवलं दृढैर्नौकातुल्यैः कर्मात्मकैः क्रतुभिरस्मदाराधनात्मकैरेव साधनैर्भवार्णवं यथा तितीर्षन्ति तर्तुमिच्छन्ति विवेकिन इति शेषः। अहमेव मुक्तिदोऽपि मद्याग एवं तत्साधनमपीति भावः ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

गोवर्धनोद्धरणेन स्वनाथाः सगोधना गोपालाः इन्द्रकृतापदो रक्षिताः एवं भक्तिज्ञानसम्पन्नान्संसारार्त्तान् प्राणिनो रक्षत्ययं अधोक्षज इति प्रतिपादयितुमयमध्याय आरभ्यते; तत्र मुख्यप्राणमेकमन्तरेणान्येषां देवादीनामत्यल्पासुरावेशस्तस्मिन् गते प्रकृतिभावश्चेत्युभयं दर्शयितुमुपक्रमते, इन्द्र इति। विहतां निराकृतां कृष्ण एव नाथो येषां ते तथा तेभ्यः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोप इति चतुर्थी कृष्णं प्रति च कोपं कृतवानिति सूचनायेदं विशेषणम् असुरावेशं प्रकटयतीति ज्ञायतेऽनेन इत्यनेन शक्रकोपेन कृष्णमाहात्म्यमेव प्रकाश्यते ॥ १ ॥ अन्तकारिणां प्रलयं कुर्वतामित्यनेन भगवन्तमन्तरेणान्यानिवर्त्यत्वमाह–सांवर्तकमिति। अमुनैव जगत्क्षयकरत्वे सूचितेऽप्यन्तकारिणामिति तदेव विशेषितं प्राचोदयत् प्रेरितवानित्यर्थः। ईशं कृष्णमुद्दिश्य मन्युना कोपेन अहमेवेशो नान्य इति मन्युना दैन्याभिमानेन वा "मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि" इति यादवः ॥ २ ॥ मर्त्यं मरणधर्मत्वेनानित्यं कृष्णमुपाश्रित्य सर्वस्मादधिकाश्रयोयमिति कृत्वा देवस्य त्रैलोक्याक्षेप्तुः मम हेलनम् अवज्ञां कृतवन्त इति अनेनेशमन्युनेत्येतद्विवृतम् ॥ ३ ॥ देवस्वभावत्वादसुरावेशेऽपि तत्त्वमेव कथ्यत इत्याशयेनाह, यथेति। अदृढैरसारैः अन्यत्र क्षरद्वारुकृतैः कर्ममयैः बहुव्यापारसाध्यैः यन्त्र तक्षणादिबहुकर्मसाधितैः कुत्सितैरल्पप्रयोजनैर्वा प्लवैः "कुः पापेत्यार्थयुत्सयोः" इति यादवः। आन्वीक्षिकीं दानुकूलविवेकदर्शनात्मिकां विद्याम् आत्मज्ञानमित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

उत अप्यर्थे सच गर्हारूपः देवेन्द्रस्याप्ययोग्यप्रवृत्तेः ॥ २-५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ कुपितस्येन्द्रस्य भणितमाह-अहो इत्यादि द्वाभ्याम्। अहो वनौकसामिति साक्षेपपरम् श्रीमदमाहात्म्यं कृष्णमुपाश्रित्य देवहेलनं चक्रुरित्यहो मौग्ध्यमेतेषामिति भावः। देवहेलनं कीदृशम् ? मर्त्यं मरणोपयुक्तम् ॥ १-४ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

कृष्णं सत्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनमिति मर्त्यं मरणार्हम्, देवहेलनमित्यस्य विशेषणम्, येन मरणं भविष्यति, तथा कृतम्। अहो ! श्रीमदमाहात्म्यं कृष्णमुपाश्रित्य कृष्णोपष्टम्भेनेत्यर्थः ॥ १-४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

पञ्चविंशे सकोपोक्ताविन्द्रे नाशाय वर्षति। व्रजस्य रक्षामकरोदुद्धृत्याचलमच्युतः ॥

कृष्णनाथेभ्योपि चुकोपेति इन्द्रस्य मौढ्यं तत्कोपस्य च वैफल्यं प्रथमत एव दर्शितम् ॥ १ ॥ कोपं विवृणोति, गणमिति। सम्वर्त्तः प्रलयस्तत्कर्त्तारं मेघानां गणं चकारादावप्रवाहादिसाम्वर्त्तकवातगणं च प्राचोदयत् प्रेषयामास ईशमानी अहमेवेश्वर इति गर्ववान् ॥ २ ॥ श्रीश्च मदो हर्षश्च माहात्म्यं च तेषां द्वन्द्वैक्यं मर्त्यं मर्त्येभ्यो हित देवस्य मम दुष्टस्य हेलनमिति सरस्वत्युक्तं वास्तवः ॥ ३ ॥ अदृढैः असमर्थैः कर्ममयैः केवलकर्मप्रचुरैरत एव नाम्नैव नौ तुल्यैर्नतु वस्तुतः आन्वीक्षिकीमात्मानुसन्धानरूपां वस्तुतश्च कर्ममयैः क्रतुभिः सह आन्विक्षिकीं हित्वा अवज्ञया त्यक्त्वा कृष्णमाश्रित्यैव वैष्णवा यथा भवार्णवं तितीर्षन्तीति कृष्णाश्रयणमात्रेणैव भवार्णवस्य गोवत्सपदत्वे जाते तत्तरणार्थप्रयत्नानौचित्यात् तेषां तितीर्षामात्रमिति ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

पञ्चविंशे शक्रकृतोपद्रवाद्भगवान् गोवर्द्धनमुद्धृत्य व्रजमरक्षदित्याह-इन्द्र इति। विहितां वर्धितम् कृष्णो नाथः वाच्यो येषां तेभ्योऽतो गोपयाचित्तश्रीकृष्णप्रयत्नकामः स इन्द्र इति सम्बध्यते ॥ १ ॥ नन्वेवमनर्थाचरणे इन्द्रस्य को हेतुरत्राज्ञानविलसितः श्रीमदजनितेश्वरत्वाभिमान एवेति वदन् क्रुद्धेन यत्कृतं तदाह, गणमिति षड्भिः। सांवर्तकं नाम संवर्तः प्रलयस्तत्कर्तारम् अनेन प्रलयकर्तुर्यस्यैव सांवर्तको गणस्तद्रूपकारार्थमिन्द्रेण अज्ञानान्निर्मुक्तः स्वयं चेन्द्रोपदशस्तदपकारं कर्तुं प्रवृत्तः ।त्येवमज्ञानस्य श्रीमदस्य चानर्थहेतुता द्योतिता ॥ २ ॥ देवहेलनं ममापराधं मां हित्वा कृष्णेन सुखमिच्छन्तीति फलितार्थः। अहो श्रीमदमाहात्म्यम् इत्यनेन स्वदोषमन्यत्रारोपयति जनः इति जनस्वभावो ज्ञापितः कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्येत्यनेन "गां पौरुषीं मे शृणुतामराः" इत्यादिब्रह्मवाक्यात् सुज्ञाततत्त्वस्येन्द्रस्य वाक्येन अभिमानिनः क्रोधाधिष्ठस्य पूर्वापरविवेकभ्रंशः पूज्येऽपूज्यबुद्धिश्च भवत्येवेति ज्ञाप्यते ॥३॥ मां हित्वा कृष्णेन सुखमिच्छन्तीत्युक्तं तत्र दृष्टान्तमाह, यथा आन्वीक्षिकीमध्यात्मविद्यां हित्वा अदृढैः असमर्थैः कर्ममयैः कर्ममयैः कर्मनिवृत्यै अत एव नामनौनिभैर्नाममात्रनौकासदृशैः भवार्णवं तितीर्षन्ति मुक्तिं सुखमिच्छन्ति तद्वत् ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ शक्रदर्पजिघांसयेति मूलेन तात्पर्येण चेन्द्रस्य श्रिमदायेति मदः सूचितस्तं विरचय्य तदपनयनं चेत्यमित्थमेव भक्तसामान्यं दयापयोधिरुद्धरतीत्येतदस्मिन्नध्याये प्रतिपाद्यते। तत्रादौ मखविखण्डनं श्रुत्वाऽऽखण्डलः कामारभटीमारेभ इत्यतः शुक आह्वाह श्रीशुक इति इन्द्र आत्मनः पूजां विहिताम्। अनेनारब्धता ध्वन्यते। विज्ञाय तत्तदा कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यो गोपेभ्यश्चुकोप। हेति तदज्ञानमन्यकृतमिति सूचयति। क्रुधद्रुहेति चतुर्थी ॥१॥ अन्तकारिणां लयं कल्पतां मेघानां नाम्ना सांवर्तकं प्रलयकालिकमित्यर्थः। गणं सङ्घं प्रचोदयत्। क्रुद्ध ईशमन्युनेशं प्रति कृतक्रुधा। अनेन तस्य नैष्फल्यं सूचयति। वाक्यं चाह। सांवर्तकमित्युक्त्यैवान्यगणं कारितावगतौ पुनरन्तकारिणामित्यनेन काले तथात्वमरत्वकाले इति नेति ध्वनयतीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥ काननौकसां गोपानां श्रीमद्माहात्म्यमहो आश्चर्यावहम्। किं रूपं तदित्यतो निरूपयति। ये मर्त्यं मरणशीलं कृष्णमुपाश्रित्य देवानाममर्त्यानां हेलनमनादरं चक्रुरिति ॥ ३ ॥ पूर्वमुक्तं न स्वकं किन्तु परप्रेरणकृतं न तन्निरस्थाश्रीरपि सूचयितुं किञ्चित्सतत्त्वभावव्यापारं निदर्शनेन दर्शयति। यथेति। अदृढैरफलपर्यवसायकैरन्यत्रासारभूरुहकृतैः कर्ममयैः प्रवृत्तकर्मप्रवृत्तैरन्यत्रानल्पशिल्पिकर्मभिः कुप्लवैः कुः पृथिवी तस्या मेव सद्भिः प्लवत्वेन प्रतीयमानैः कुत्सितैरन्यत्रापारगामिभिः पापप्रायैः प्लवैर्वा। कुः पापेऽल्पार्थकुत्सयोरिति यादवः। ज्ञानमस्मदीयं ज्ञानमेवेति मानिनोऽभिमानवतः समार्थमिदम्। आन्वीक्षिकीं ब्रह्मतर्कजनितां विद्यां ज्ञानं हित्वाऽन्यत्रार्णवपारमेवं गच्छेदिति परोक्षां हित्वा त्यक्त्वाऽर्णवं तिनीर्षवो यथा तथैते भवार्णवं तिनीर्षन्तीयं मर्त्यमाश्रित्याहो। आन्वीक्षिकीं विद्यां स्वदिशं प्रतिपत्तिं वा ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

हेतुशास्त्रमिदं यस्माद् दृष्टार्थमुपयुज्यते । अदृष्टार्थं तथा चान्यत् तज् ज्ञापयति निश्चितम् ॥ १ ॥
हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह । वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव ह ॥ २ ॥
उभयोर्हैतुकत्वार्थमेवं भगवता कृतम् । निषिद्धभोगिनो बुद्धिर्नष्टा भवति सर्वथा ॥ ३ ॥
इतीन्द्रस्य महामोहवाक्यान्याह विशेषतः । द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण विनिपीडितम् ॥ ४ ॥
व्रजं गोवर्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति ॥ ४½ ॥

पूर्वाध्याये इन्द्रयागभङ्गो निरूपितस्ततः क्रुद्ध इन्द्रो व्रजपीडार्थं वृष्टिं करोतीति निरूप्यते इन्द्र इतिदशभिः,

क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् । पीडाहेतुफलान्युक्ता सन्धिमाहेतरेण हि ॥ १ ॥

आदौ तस्य क्रोधमाहेन्द्र इति, तदा गोकुलगमनसमय एव, आत्मनः पूजां विहतां ज्ञात्वा नृपेतिसम्बोधनं राज्ञा तथात्वज्ञापनाय गोपेभ्यश्च कोप, ननु गोपा अज्ञाः कथं कोपस्तेषु ? तत्राह नन्दादिभ्य इति, नन्दो हि महान्, तर्हि कोप उचित इति चेत् तत्राह, कृष्णनाथेभ्य इति, कृष्ण एव नाथो येषां, नन्विन्द्रः शुद्धसत्वपरिणामरूपः कथमेवं कृतवान् ? तत्राह स इति, निषिद्धभागभोक्ता ॥ १ ॥ न केवलं कोपमात्रं किन्तु प्रयत्नमपि चकारेत्याह गणमिति, गणो हि बहूनां सङ्घातो भवति. संवर्तकः प्रलयकर्ता, नामेति प्रसिद्धौ, अतः प्रसिद्ध एवायं संवर्तको गणः, समुदाय एव नाशशक्तिरितिपक्षनिराकरणार्थं प्रत्येकमपि मेघानां तथात्वमाह मेघानां चान्तकारिणामिति, अन्तकारिणां मेघानां गण सवर्तकं च गणं प्रेषयामास तथा सति प्रत्येकसमुदायाभ्यां सामान्यतो विशेषतश्च नाशो भवति, तस्याज्ञा कर्तव्येतिज्ञापनार्थमिन्द्र इति, 'यदि परमैश्वर्ये', परमैश्वर्यं प्राप्तस्य वाक्यमनुल्लङ्घ्यमतः प्राणोदयत् प्रकर्षेण तद्दैवाविचारं प्रेषितवान्, तत्र हेतुः क्रुद्ध इति, एवं तस्य मानसदोषमुक्त्वा वाचनिकं दोषमाह वाक्यं चाहेति, यतोयमीशमान्यहमेवेशस्त्रैलोक्यस्येति मन्यते, उतापि वाक्यमप्याहेत्यर्थः, एतेनायुक्ततमत्वमुक्तं भवति ॥ २ ॥ वाक्यमाह चतुर्भिः, परम्परया सिद्धो हैतुको न त्याज्य आधुनिकस्त्याज्य इति मन्यते, अहो अत्याश्चर्यं सर्वथा विवेकरहिता गोपाः कथमेवं मर्यादोल्लङ्घनं कृतवन्त इति स्वहृदय एवाह, श्रीमदस्य माहात्म्यमहो आश्चर्यं यतः श्रीमदाद् ये गोपा देवहेलनं चक्रुस्तत्रापि न महान्तः किन्तु गोपा न वा तेषां सत्सङ्गः सम्यग्देशस्थितिर्वा किन्तु काननौकसः, एतादृशानमपि श्रीमदं करोति, ननु न श्रीमदात् तैरेवं कृतं किन्तु भगवद्वाक्यादतस्तेषां को दोष इति चेत् तत्राह कृष्ण मर्त्यमुपाश्रित्येति, देवा अमर्त्या मनुष्या मर्त्याः, भगवान् सदानन्दोपि मनुष्यवेषं कृतवान्, तस्य परिग्रह एव तेषां दोषः, उप समीप आश्रयणं, न केवलं यागान्तरं कृतवन्तः किन्तु देवस्येन्द्रस्यैव हेलनं तद्द्रव्यैरेव कृतमिति ॥ ३ ॥ ननु भगवता कर्ममार्ग एव समीचीन उक्तः कथं दूष्यत इत्याशङ्क्याह यथादृढैरिति अदृढैः क्रतुभिर्भवार्णवं तितीर्षन्ति ते मध्य एव निमग्ना भवन्ति, न हि स्वेन नीयमानया नौकया तरणं सम्भवति सापि स्वकर्मण्येव प्रेर्यत इति द्विगुणः क्लेशः, तदाह कर्ममयैरिति कर्मैव तेषां स्वरूप तदप्यदृढं प्रायश्चित्तबाहुल्यात्, क्रतुभिरिति नाममात्रं यतस्ते नौनिभा नौकासदृशा दर्शनार्थमेव नौकातुल्याः, तान्यपि कर्माणि यदि चित्तशुद्ध्यर्थं कुर्यात् तदा भवतु वारादुपकारकत्वं तदपि नास्तीत्याह विद्यामान्वीक्षिकीं हित्वेति, कर्म त्वविद्या विद्यान्वीक्षिकी, अन्वीक्षणमन्वीक्षा श्रवणानन्तरं पुनरात्मानुसन्धानं, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह' इत्यत्र केवलाविद्यायाः प्रतिषेधात् तदाह हित्वेति, यथा ते तितीर्षन्ति न तु तरन्ति तथैवैत ईश्वरवादं निराकृत्य केवलकर्मवादेन स्वनिर्वाहेच्छामपि न तरन्ति निर्वाहं न प्राप्नुवन्त्यतः कृतस्य कर्मणो वैयर्थ्यात् तेन पालयितुं न शक्यत इति सुखेन तद्विघातः कर्तव्य इतिभावः ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

द्वाविंशाध्यायार्थोक्तिसन्दर्भे, तद् ज्ञापयति निश्चितमिति । दृष्टार्थफलककर्माधिष्ठाता दृष्टानिष्टजननद्वारा स्वत्यागे सति स्वानुभावं ज्ञापयतीत्यर्थः । अदृष्टानेकसाधनवत्त्वेपि गोवर्धनात्मकदृष्टसाधनेनैव रक्षणे तात्पर्यमाहुः उभयोर्हैतुकत्वार्थमिति । एतद्ज्ञापनार्थमित्यर्थः । 'तच्छेषेणोपजीवन्ती'तिवाक्यात् स्वोपजीव्यान्नजनकत्वेनेन्द्रो यष्टव्य इति व्रजराजेनोक्तं यथा, तथा भगवतापि 'वयं गोवृत्तयोऽनिशं' 'वनशैलनिवासिनश्चा'त उपजीव्यत्वाद्धेतो'र्गवादीनां मख आरभ्यता'मित्युक्तमित्युभयोर्हैतुकत्वम् । एवं भगवता कृतमिति । दृष्टमेवानिष्टमन्यप्रतीत्या दृष्टेनैव तद्वारणं चेत्यर्थः । अन्यथा 'गोपाये स्वात्मयोगेने'तिपद विरुध्येत । तेषामुक्तं यद्रूपेणैव रक्षितवानिति तत्त्वम् । दशश्लोक्यां प्रतिवाक्यार्थोक्तौ सर्वनाशनादिति । सर्वपुरुषार्थनाशनादित्यर्थः । विपरितषड्गुणमिति मर्त्यपदव्याख्यानैतत्सङ्ख्यावत्त्वादिति भावः । कृष्णं मर्त्यमित्यस्य द्वितीयार्थोक्तौ अथवा कृष्णमित्यादि । तथा च शङ्खे गृहमागेपि पीतिमारोपवत्स्वधर्मारोपं सदानन्दे नन् । मर्त्यत्वानीश्वरत्वादिधर्मैनैयत्येन विपरीतषड्गुणा लक्ष्यन्ते । तत्त्वेनोपाश्रित्येत्यस्यैव विवरणं भगवत्यपीत्यादिना कृतम् ॥ ३ ॥ कृतवन्त इति मे अप्रियं चक्रुरित्यर्थः ।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इन्द्र इत्यत्र वाक्यानि चतुर्भिरिति पञ्चमश्लोकस्तु चतुर्णामेवोपोद्वलक इति भावः ॥ १ ॥ अहो श्रीमदेत्यत्र तस्य परिग्रह एवेति मर्त्यवाक्यस्य परिग्रह इत्यर्थः ॥ ३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

द्वाविंशाध्यायविवरणे इन्द्रस्तदात्मनः पूजामित्यादिदशश्लोकार्थनिरूपणे क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण हीति कारिका, तत्र 'इन्द्रस्तदे'ति श्लोके क्रोधः, 'गणं सांवर्तकं नामे'ति श्लोके उद्यमः, ततो वाक्यानि चतुर्भिः, तत्रैष क्रमः, "अहो श्रीमदमाहात्म्य"मित्येकं, "यथाद्दढै"रिति द्वितीयं, "वाचालं बालिशा"मिति तृतीयं, "एषां श्रियावलिप्ताना"मिति चतुर्थं, एवं चत्वारि वाक्यानि, ततो मध्ये "अहं चैरावतं नाग"मितिश्लोकः मेघानां व्रजागमनस्य पश्चाद् व्रजनाशार्थं मघवदागमनं हि तदर्थं, अत इन्द्रस्य व्रजनाशार्थमागमनं सन्धौ परिणतत्वात् सन्धिशब्देन व्यवह्रियते, "अहो श्रीमदमाहात्म्य"मित्यादिचतुर्णां वाक्यानां "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यारभ्य "नादृश्यत नतोन्नत"मित्यन्तानां त्रयाणां वाक्यानां सन्धौ पठितत्वात् सन्धिशब्देन व्यवह्रियते, "अहं चैरावतं" इत्यनेन स्वागमनमिन्द्रेण पठितं, अत इन्द्रकर्तृकव्रजागमनस्य सन्धित्वं, अथ वा यद्यपि शक्रेण व्रजनाशार्थं व्रज आगमिष्यामीत्युक्तं तथापीन्द्रकर्तृकव्रजागमनं तु भगवच्चरणसशर्णे जातमिति तदागमनस्य सन्धिरूपत्वमेव जातमिति सन्धित्वमुक्तं, सन्धिशब्दः कलहनिवारककृतिवाचकः, तत "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यनेन पोडोक्ता, ततो "विद्योतमाना" इत्यनेन पीडायां हेतुरुक्तः, ततो "जलौघै"रित्यनेन दृष्टेः फलमुक्तं, एवं दश श्लोकाः, तथा च क्रोधोद्यमयोः श्लोकद्वयं, तत इन्द्रवाक्यनिरूपकाश्चत्वारः "अहो श्रीमदे"त्यारभ्य "पशून् नयत संक्षय"मित्यन्ताः श्लोकाः, एवं षट् श्लोकाः, तदनन्तरम "हं चैरावत"मिति सन्धिश्लोकः, तदनु 'एवं मघवताज्ञप्ता' इति पीडानिरूपणश्लोकः, 'विद्योतमाना' इति हेतुनिरूपकः, "स्थूणास्थूले"ति फलनिरूपकः, एवं दश, तदुक्तं पीडाहेतुफलान्युक्त्वेति, न चैवं सति "पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहे"त्युक्तिर्विरुद्धा सन्धिनिरूपणस्य पीडादिनिरूपणात् पूर्वमुपलभ्यमानत्वादितिवाच्यं, "अहं चैरावतं नाग"मित्यनेन निरूपितात् सन्धिपदार्थात् पूर्वं पीडां कुरुत विद्योतनादि कुरुत स्थूणास्थूलावर्षधाराभिगर्तादि कुरुत जलौघैर्मुर्वं प्लाव्यमानां कुरुतेतीन्द्रेण मेघान् प्रत्याज्ञापनात्, एवं पीडाहेतुफलान्युक्त्वा "अहं चैरावतं नाग"मित्यनेन सन्धिमुक्तवान् इन्द्र इत्यर्थः, युक्तं चैतन्, इन्द्रोक्तिं विना मेघाः कथं कुर्युः, अतः 'पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहे'ति यदुक्तं तत् सम्यगेव, इन्द्रः पीडाहेतुफलान्युक्त्वा "अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रज"मित्यनेन सन्धिमाहेतिकारिकार्थः फलितः, यद्यपि पीडाहेतुफलानि शक्रोक्तौ मूले नोपलभ्यन्ते तथापि "इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघ" इत्यादिशुकोक्तश्लोकत्रये मेघकर्तृकपीडाहेतुफलानामुपलभ्यमानत्वात् पीडाहेतुफलानि व्रजे मेघैः कृतानि, तानि चेन्द्राज्ञां विनानुपपन्नानीतीन्द्रवाक्यानि पीडाहेतुफलबोधकान्याक्षिपन्ति, तथा चेन्द्रः पीडाहेतुफलानि मेघान् प्रत्याज्ञप्तवानिति ज्ञायते, अतः इन्द्रः पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतिकारिकार्थो युक्त एव, "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यत्र पीडा स्पष्टैव "पीडायामासुरोजसे"तिवाक्यात्, पीडा कथं भवेदित्याकाङ्क्षायां "विद्योतमाना विद्युद्भि"रित्यनेन विद्युत्स्तनयित्नुतीव्रमरुज्जलशकरा वृष्टयः पीडायां हेतवो निरूपिताः, अतोऽस्मिन् श्लोके हेतुनिरूपण, "स्थूणास्थूला वर्षधारा" इत्यनेन व्रजभूमेर्जलप्लावनरूपं प्रलयदृष्टिफलमुक्तं, अतोऽस्मिन् श्लोके फलनिरूपणं, एवं पीडाहेतुफलानि मेघकृतानि श्रीशुकेनोक्तानि त्रिभिः, एतानि पूर्वमिन्द्रेण मेघान् प्रत्याज्ञारूपेणोक्तानीति सर्वं सुस्थम् ॥ १ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

द्वाविंशाध्याये हेतुशास्त्रमित्यादि का० २१६६–२१९३ । हेतुशास्त्रमित्यादि तज्ज्ञापयति निश्चितमिति एतच्च टिप्पण्यां व्याख्यातं, तद्यथा, दृष्टार्थफलकर्माधिष्ठाता स्वत्यागे सति दृष्टानिष्टजननद्वारा स्वानुभावं ज्ञापयतीत्यर्थः, दृष्टोर्थः भूतेभ्यो जीवनदानं, तत्फलकं कर्म इन्द्रयागः, दृष्टानिष्ट गोष्ठजिघांसया वृष्टिकरण, उभयोर्हेतुकत्वार्थमिति व्रजराजकृतेन्द्रयागभगवदुक्तगवादियागयो-र्हेतुकत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः, "तच्छेपेणोपजीवन्ती तिवाक्यादिन्द्रयागस्य यथा व्रजराजयुक्तिसिद्धत्वं तथा गवादियागस्य "वयं गोवृत्तयो-निशं" "नित्यं शैलनिवासिन" इत्यादिवचनेन भगवद्युक्तिसिद्धत्वमिति उभयोर्हेतुकत्वं, एवं भगवता कृतमिति वृष्टिरूपं दृष्टमेवानिष्टं लोकप्रतीत्या दृष्टेनैव श्रीगोवर्धनेन वृष्टिवारण चेत्यर्थः, वस्तुतस्तु "गोपाये स्वात्मयोगेने"तिपदात् स्वात्मयोगेनैव रक्षणमितिभावः ॥ ० ॥ इन्द्रस्तदात्मनः पूजामित्यादिदशश्लोकीप्रतिपाद्यानर्थानाहुः क्रोधोद्यमौ, इति का० २२०४ । द्वाभ्यां क्रमेण क्रोधोद्यमौ, चतुर्भिरिन्द्रवाक्यनिरूपणं हेतुमाहुः सर्वनाशनादिति, सर्वपुरुषार्थनाशनादित्यर्थः, पुरुषार्थानां चतुःसङ्ख्याकत्वादितिभावः,पीडेत्यादि "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इत्यनेन पीडा, "विद्योतमाना" इति श्लोकेन पीडाहेतुः, "स्थूणास्थूले"त्यनेन वृष्टिरूपं फलं, "अहं चैरावतं नाग"मितिश्लोकेन सन्धिरूपमिन्द्रागमनं, यद्यपि "नन्दगोष्ठजिघांसये"तिवाक्याद् विग्रहार्थमेव इन्द्रेण स्वागमनमुक्त तथापि "गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव चे"त्युक्तप्रकारेण सन्ध्यर्थमेव इन्द्रागमनं जातमिति सन्धिमाहेतरेण हीत्युक्तं, अत्र यद्यपि सन्धिश्लोकात् पूर्वं पीडाहेतुफलानि इन्द्रेण स्फुटं नोक्तानि तथा च कारिकायां 'पीडाहेतु

फलान्युक्त्वे"ति क्त्वाप्रत्ययान्तप्रयोगानुपपत्तिस्तथापि "पशून् नयत संक्षय"मितिवचनात् "इत्थं मघवताज्ञप्ता" इतिपदाच्च पीडाहेतुफलानामपीन्द्राज्ञप्तत्वं ज्ञेयं, अतो नानुपपत्तिः ॥ १ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

पञ्चविंशे तु शक्रेण जलपाषाणमारुतैः। पीडितं गोकुलं त्रातं कृष्णेनेति निरूप्यते ॥ १ ॥

'राज्ञामपमाने कोपो भवत्येव, तत्तु स्वदृष्टान्तेन ज्ञेयम्' इत्याशयेन सम्बोधयति–नृपेति। स प्रसिद्धो देवराज इन्द्रः आत्मनः पूजां गोपैर्विहितां त्यक्तां विज्ञाय नन्दादिभ्यो गोपेभ्यश्चुकोप। 'तदत्यनुचितं कृतवान्' इत्याह–कृष्णो नाथो रक्षको येषां तेभ्य इति ॥ १ ॥ क्रुद्धश्च सन् इन्द्रः सांवर्तकं संवर्तः प्रलयस्तत्कर्तारं नाम प्रसिद्धम्। तत्र हेतुः–अन्तो विनाशः, तत्कारिणा मेघानां गणं प्राचोदयत् व्रजनाशाय प्रेषयामास। प्रेरणवाक्यं चाह–ननु 'कथं कृष्णनाथानां घाते प्रवृत्त' इत्याशङ्क्य 'आत्मसम्भावनया निरस्तविवेकत्वात्' इत्याशयेनाह–ईशमान्युतेति। उत यस्मात् ईशमानी 'अहमेवेश्वर' इति गर्ववानित्यर्थः ॥२॥ तद्वाक्यं दर्शयति–अहो इत्यादिपञ्चभिः। गोपानां श्रीमदस्य धनसम्पत्तिकृतस्य मदस्य माहात्म्यं वैभवमहो आश्चर्यभूतं 'पश्यत' इति शेषः। 'यदि कश्चित् पुरदेशाधिपतिर्महाराज एवं कुर्यात्तदा तस्मै तच्छोभेतापि, एतेषां तु वासस्थानस्याप्यास्था नास्ति' इत्याशयेनाह–कानौकसामिति। तदाश्चर्यमेव दर्शयति–कृष्णमिति। मर्त्यं मरणशीलमुपाश्रित्य ये गोपा मम देवस्य हेलनमपमानं चक्रुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ विपरिताचरणे दृष्टान्तमाह–यथेति। आन्वीक्षिकीमात्मानुसन्धानरूपां विद्यां हित्वा क्रतुभिरेव केचित् भवार्णवं यथा तितीर्षन्ति तर्तुमिच्छन्त्येव केवलं, नतु तरन्ति, किन्तु तत्रैव निमज्जन्ति। तत्र हेतुमाह–नामनौनिभैरिति। नाममात्रेण 'अक्षय्य चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इत्यर्थवादमात्रेणैव संसारतारकत्वेन श्रुतैः, न तु वस्तुतस्तेषां तारकत्वमित्यर्थः। तत्र हेतुः–अदृढैरिति, असमर्थैर्नश्वरैः। तत्रापि हेतुः–कर्ममयैरिति, क्रियानिवर्त्यैरित्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

पञ्चविंशेतिवर्षेण पीडितं गोकुलं हरिः ॥ जुगोप गोवर्द्धनेन तत्र श्लोकास्त्रिवह्नयः (३) ॥
अनुष्टुभस्तुस्त्रिंशदुवाचेति वचोद्वयम् (२) ॥ २५ ॥

इन्द्र इति ॥ हे नृप! तदा स इन्द्रः आत्मनः पूजां गोपैर्विहितां त्यक्तां विज्ञाय कृष्णो नाथो येषां तेभ्यो नन्दादिभ्यो गोपेभ्यश्चुकोप ॥ १ ॥ गणमिति ॥ क्रुद्धः उत यस्मात् ईशमानी आत्मानम.शं मन्यमान इन्द्रः सावर्तकं संवर्तः प्रलयस्तत्कर्तार नाम प्रसिद्धम्। तत्र हेतुः अन्तो विनाशस्तत्कारिणां मेघानां गणं प्राचोदयत् व्रजनाशाय प्रेषयामास प्रेरणावाक्यं चाह स्म ॥ २ ॥ अहो इति ॥ अहो काननौकसां वनवासिनामपि गोपानां श्रीमदस्य माहात्म्यं पश्यत। ये गोपा मर्त्यं मनुष्यमात्रं मरणधर्माणं कृष्णमुपाश्रित्य देवस्य मम हेलनमवज्ञाञ्चक्रुः। वस्तुतः श्रीश्च मदो हर्षश्च माहात्म्यं च तेषां द्वन्द्वैक्यम्। मर्त्येभ्यो हित मर्त्यं देवत्व मत्तस्य दुष्टस्य मम हेलनमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यथेति द्वयम् ॥ यथा केचित् आन्वीक्षिकीम् आत्मबोधविद्या हित्वा अदृढैर्नश्वरैः कर्ममयैः क्रियासम्पादितैः नाममात्रेण नौनिभैः नौकावत्संसारतारकत्वेनाभिमतैः क्रतुभिरेव भवार्णवं तितीर्षन्ति। तथैव वाचालं बहुभाषिणं बालिशं शिशुं स्तब्धं स्वपितुरग्रेऽपि धाष्ट्र्याद् दुर्विनीतम् अज्ञं तथापि वृथैव पण्डितमानिनं पण्डितमन्यं मर्त्यं कृष्णमुपाश्रित्य गोपा मे देवस्याप्रियमपमानं चक्रुः। वास्तवोऽर्थस्तु वाचा अलं पूर्णं शास्त्रयोनित्वात् बालिशं शिशुमिव निरभिमानिनम्। यद्वा। वाचया सरस्वत्याऽलं पूर्णो बालिशोऽपि यस्मात् तमित्येकं पदं स्तब्धमनम्रमन्यस्य वन्द्यस्याभावात्। अज्ञं नास्ति ज्ञो यस्मात्तं सर्वज्ञं पण्डितैर्ब्रह्मविद्भिः कृतो मानो यस्यास्ति तं पण्डितमानिनं कृष्णं सदानन्दरूपं परं ब्रह्म तथापि भक्तवात्सल्येन मर्त्यं मनुष्यतया प्रतीयमानम् ॥ ४–५ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं पंचविंशेऽध्याये व्रजे नाशाय इंद्रवर्षणं व्रजरक्षणार्थं हरिकृतं गोवर्धनधारण च निगद्यते तदा तस्मिन्काले आत्मनः स्वस्य ॥ १ ॥ अंतकारिणां प्रलयकर्तॄणां मेघानां गणं समुदायं अतः सांवर्त्तकः प्रलयस्तज्जनकं सांवर्त्तकं नामजनावदं तं प्राचोदयत् नोदयामास क्रुद्धः ईशमानी देवानामपि अहमेवेश इत्यभिमानयुक्तः सन्निदं वाक्यमाह ॥ २ ॥ अहो श्रीमदमाहात्म्यं तु पश्यत किं तत् देवस्य ममापि हेलनं अपमानं यत् ॥ ३ ॥ अदृढैः शिथिलैः कर्ममयैः क्रियाप्रचुरत्वेन निष्पन्नैः नामनौनिभैः नाममात्राया नौकासदृशैः यज्ञैः आन्वीक्षिकी आत्मपरमात्मानुस्मृतिरूपां विद्यां हित्वा यथा भवार्णवं तितीर्षंति ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

विंशे पञ्चाधिके शक्रे रुषा नाशाय वर्षति। व्रजस्य गिरिमुद्धृत्यात्रासीद्व्रजमपाद्धरिः ॥ १ ॥

ततः किं जातं तत्राह ॥ इन्द्र इति ॥ हे नृप, तदा यदा स्वयागभङ्गो जातस्तस्मिन् काले इत्यर्थः। आत्मनः स्वस्य, पूजां यागविधेयामर्चां, विहितां कृष्णेन निरा- कृतां, विज्ञाय ज्ञात्वा, कृष्णो नाथो रक्षिता येषां तेभ्यः, नन्दादिभ्यः, गोपेभ्यः, हृ स्फुटं

यथा तथा, चुकोप 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इति चतुर्थी ॥ १ ॥ गणमिति ॥ तदा क्रुद्धः, इन्द्रः, अन्तकारिणां, प्रलयकारिणां, मेघानां सांवर्त्तकं नाम सांवर्त्तकाख्यया प्रसिद्धं, गणं प्राचोदयत् प्रेषयामास। चकारोऽवधारणे। ईशमानी उत अहमेवेश्वर इति गर्ववान् सन्नेवेत्यर्थः। वाक्यं च आह। वक्ष्यमाणं वाक्यमपि प्रोवाचेत्यर्थः॥ २ ॥ यदाह तदाह अहो इत्यादि पञ्चभिः॥ अहो इति॥ काननौकसां वनवासिनां, गोपानां, श्रीमद्माहात्म्यं धनसंपत्तिकृतस्य मदस्य वैभवं, अहो आश्चर्यकरम्। ये गोपाः, मर्त्यं मरणशीलं, कृष्णं उपाश्रित्य, देवहेलनं देवस्य ममापराधं, चक्रुः। मद्यागं यभञ्जुरित्यर्थः॥ ३ ॥ एतद्दैः कीदृशं कृतमेवंविधमिति दृष्टान्तेनाह॥ यथेति॥ आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां, हित्वा विहाय, अदृढैरसमर्थैः, केवलं नामनौनिभैः नाममात्रेण नौकासदृशैः, कर्ममयैः कर्मात्मकैः, क्रतुभिर्यज्ञैः, यथा भवार्णवं संसारसमुद्रं, तितीर्षन्ति तर्तुमिच्छन्ति, याज्ञिका इति शेषः। तद्वदेतेषामेतत् सर्वमिति भावः। अहमेव मुक्तिदोऽपि मद्याग एव तत्साधनमपि भवतीति दृष्टान्तगूढाभिप्रायः॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवं निरूप्य निगमोक्तकृतादिधर्मान् तत्तद्युगोदितजनैरपि यत्नसाध्यान्।
उग्रत्कलिस्थजनजातकृपः स चर्षिस्त्र्यध्यायतः पुनरुवाच कलिस्थधर्मान्॥ १ ॥

प्राधान्यं वसुनोऽतिशायिमदिता तद्वत्सुतप्राप्तिरप्यत्यन्ता विधितश्च गोकुलमहाक्षोभोऽपि तत्प्राप्तितः।
तत्तस्यापगमार्थमेवमचलोद्धारार्थमस्मिन् कलावेकं श्रीपतिपादसेवनमिति व्यक्तिर्विपाकाशयः॥ २ ॥

वानप्रस्थमुखात्तं प्रभुवचोदत्तावधानं नरं किंचित्कर्म कथञ्चिदप्युदितं कर्तव्यमित्याहतम्।
यत् क्रुध्यन्ति विलोक्य तं मखभुजस्तत्रास्य नागो न वा दुर्मार्गाश्रयणं च हेतुरिह तत्स्वार्थच्युतिः किन्त्वसौ॥ ३ ॥

इन्द्र इति : १०.२५.१

इमेऽपि प्राचीना अहमपि तथैव क्रतुरयं ध्रुवं प्राचीनश्चेत्युचितमपहायान्वयविधिम्।
अमन्दं यन्मन्दैरभिनव-मुकुन्दोक्त्यनुसृतैः कृतस्तादृग् गोपैः क्रतुरिति सरोषः स च वृषा॥ ४ ॥

कंसे दुर्नयराशिनाशितमहायज्ञाद्युपक्रिये रुष्टां दृष्टिमपि क्षणं न विदधेऽनिष्टं स्वदिष्टं वदन्।
सोऽन्यत्रैकमखार्पणं विदधति श्रीशाज्ञया गोपतौ क्रुद्धोऽभूत् क्षममेव सिद्धमवनौ यत्तद् बलं दुर्बले॥ ५ ॥

यदेकभगवानयं भुवि भवत्यहं सर्वतः सहस्रभगवानिति प्रथितकीर्तिरस्मि स्फुटम्।
इति स्मयमहातमःस्तिमितदृक् सहस्रेक्षणोऽपि जाल्मपदभागभूद् ध्रुवमलक्षितेशेहितः॥ ६ ॥

गणं सांवर्तकमितिः १०.२५.२

जडार्णवोत्तारणनौस्वरूपभागहं सदाऽस्मीत्यचलाभिमानिनम्।
जलार्णवेऽद्यैव निमज्जयाम्यलमितीव तानेव वृषाऽशिषद् घनान्॥ ७ ॥

ये शास्त्रार्थमलंघ्यमुद्गतरजश्चित्ताः समुल्लङ्घयन्त्यन्तः पथ्यमपथ्यमेतदिति वा पश्यन्ति नान्धावृताः।
ते मज्जन्ति भवार्णवे नियतमित्यज्ञाक्तितः सिद्धमित्यैपीत् स्वीयभवार्णवाकुलगतीन् कर्तुं स तांस्तादृशान्॥ ८ ॥

श्रीकृष्णपादशुचिपूर्णरसावलीढे साधौ क्वचिद्भवति नाङ्ग गिरां प्रवृत्तिः।
इन्द्रोऽघ एवमविदन् स्वत एव मक्तुं मन्ये तदारभत कर्म तमो भवाब्धौ॥ ९ ॥

अहो श्रीमदेति : १०.२५.३.

ऐश्वर्यं मतिमत्त्वमुत्तम-पदावासश्च निश्चिन्तता भूयोऽन्यासुलभान्नवस्त्र—विविधालङ्कारनित्यागमः।
प्रत्येकं मदकारि किं पुनरसौ युक्तोऽखिलैर्देवराट् चित्रं त्वत्र यदेष तान् व्रजजनानूचे प्रमत्तानिति॥ १० ॥

नीतिज्ञत्वमशेषशास्त्रविषयत्वं विधिज्ञत्वमप्यत्र तच्चाखिलं निरर्थकमहो नाज्ञानमज्ञायि चेत्।
स्पष्टं गीष्पतिशिष्यतामुपगतोऽप्यस्पष्टदृक् स्वस्थधीरज्ञानाद्भगवन्तमप्यतिरुषा वाचं वृषोवाच यत्॥ ११ ॥

कृष्णप्रिया

इस अध्याय में ३३ श्लोक हैं। याग दो प्रकार के होते हैं, जिस याग का फल प्रत्यक्ष दिख पड़ता है वह याग प्रत्यक्ष फल याग कहा जाता है। जिसका प्रत्यक्ष फल दिखाई नहीं देता उसको परोक्षफल याग कहा जायगा। इन्द्र याग का फल वृष्टि माना है और वृष्टि का होना प्रत्यक्ष फल है "ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग से यजन करें ऐसे यज्ञों के फल परलोकादि होने से परोक्ष फलयाग कहे जायेंगे। प्रत्यक्ष फल को हेतु शास्त्र कहते हैं। इन्द्र याग का फल भोक्ता इन्द्र था; पर्वतयाग गोवर्धन याग के फल भोक्ता स्वयं भगवान थे। दोनों याग दृष्टफलक है। अभिमानी इन्द्र का मानभङ्ग करने के लिये भगवान् ने गोवर्धन याग कराया। दोनों में अन्तर यह था कि इन्द्र कभी दर्शन नहीं देता था; तब गोवर्धन याग में प्रत्यक्ष गोवर्धन जी का दर्शन हुआ यह प्रसङ्ग इस अध्याय में आयेगा।

श्रीशुकाचार्य जी महाराज ने कहा—राजन्? जब राजा इन्द्र ने देखा अपनी प्रतिवार्षिकी पूजा रोक दी गई है, तब श्रीकृष्ण को अपना नाथ मानने वाले, और श्रीकृष्ण की प्रेरणा से याग को बंद करने वाले गोपों पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ ॥ १ ॥ राजन्! राजा इन्द्र अपने आपको त्रिलोकी नाथ मानता था। उन्होंने कोप से तिलमिलाकर, प्रलय काल में जल वर्षा करने वाले 'सांवर्तक' नाम के मेघों के अध्यक्ष को व्रजमण्डल पर घोर वर्षा करने के लिए आदेश दिया और कहा—राजा इन्द्र ने कहा—देखो तो सही! वन निवासी इन गोपों के धन और ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए अभिमान को देखो ?; उन व्रजवासियों ने एक सामान्य बालक कृष्ण के अवलंबन पर मुझ देवता का अपमान कर डाला, इससे बड़ा आश्चर्य क्या होगा ॥ ३ ॥ जैसे कोई मन्दमति लोग, ब्रह्मविद्या नाम की सुदृढ नाव का अनादर कर, अन्य नाम मात्र की नाव के समान पार लगाने में असमर्थ, ऐसे कर्ममय यज्ञों के द्वारा अपार संसार सागर के पार जाना चाहें वह कितना सुसंगत होगा ॥ ४ ॥

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्[1]। कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥ ५ ॥
एषां श्रियावलिप्तानां[2] कृष्णेनाध्मा[3]यितात्मनाम्। धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम् ॥ ६ ॥
अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे व्रजम्। मरुद्गणैर्महा[4]वीर्यैर्नन्दगो[5]ष्ठजिघांसया ॥ ७ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्थं मघवताऽऽज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः। नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोपाः वाचालम् बालिशम् स्तब्धम् अज्ञम् पण्डितमानिनम् मर्त्यम् कृष्णम् आश्रित्य मे अप्रियम् चक्रुः ॥ ५ ॥ श्रिया अवलिप्तानाम् कृष्णेन आध्मायितानाम् एषाम् श्रीमदस्तम्भम् धुनुत पशून् संक्षयम् नयत ॥ ६ ॥ अहम् नन्द गोष्ठ जिघांसया महावीर्यैः मरुद्गणैः वृतः च ऐरावतम् नागम् आरुह्य व्रजम् अनुव्रजे ॥ ७ ॥ इत्थम् मघवता आज्ञप्ताः निर्मुक्तबन्धनाः मेघाः नन्दगोकुलम् ओजसा आसारैः पीडयामासुः ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तथा वाचालं बहुभाषिणं बालिशं शिशुं पंडितमानिनं पंडितंमन्यमतः स्तब्धविनितमिति निंदायां योजिताऽपींद्रस्य भारती श्रीकृष्णं स्तौति। तथाहि। वाचालं शास्त्रयोनिम्। बालिशमेवमपि शिशुवन्निरभिमानिनम्। स्तब्धमन्यस्य वंद्यस्याभावादनम्रम्। अज्ञं नास्ति ज्ञो यस्मात्तं सर्वज्ञमित्यर्थः। पंडितमानिनां ब्रह्मविदां बहुमाननीयम्। कृष्णं सदानन्दरूपं परं ब्रह्म मर्त्यं तथापि भक्तवात्सल्येन मनुष्यतया प्रतीयमानमिति ॥ ५ ॥ अवलिप्तानां मत्तानाम् आध्मायितात्मनां बृंहितदेहानां धुनुतापनयत। श्रीमदेन यः स्तंभो गर्वस्तम् ॥ ६ ॥ बिभ्यतस्तान्प्रत्याह। अहं चेति। अनु व्रजे अन्वनंतरमेवागमिष्यामि। मरुद्गणैर्देवगणैः सह ॥ ७ ॥ मघवता इंद्रेण निर्मुक्तं बंधनं येषां ते प्रलयाभिप्रायेण बद्धा आसन् तदा निर्मुक्तबंधनाः संतः आसारैर्धारासंपातैः पीडयामासुः ॥ ८ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

बहुभाषिणम् शास्त्रविरुद्धभाषिणमनधीतशास्त्रत्वात् अज्ञम् नित्यगोचारित्वात्। स्तब्धं पितुरप्रेष्यतिधृष्टत्वात्। अतः पंडितंमन्यत्वात्। वाचा वाण्या अलं पूर्णं शास्त्रयोनिम् "ऋचः सामानि जज्ञिरे" इत्यादिश्रुतेः एवमपि शास्त्रयोनित्वेऽपि। 'मूर्खेवालौ तु बालिशौ' इति कोशात्। अनम्रम् सर्वेश्वरम्। "एष सर्वेश्वरः" इति श्रुतेः। इत्यर्थ इति। "स सर्ववेत्ता न हि तस्य वेत्ता" इत्यादिश्रुतेः। पंडितैर्मन्यत इति पंडितमानीनम्। णिनिरत्र प्रत्ययः। कृष्णम् "कृषिर्भूवाचकः शब्दः" इत्यादिश्रुतेः। तथापि परब्रह्मत्वेऽपि ॥ ५ ॥ आधमतीत्याध्माः स इवाचरतीत्याध्मायते ततः कर्मणि कः आध्मायितः बृंहितो वर्द्धित आत्मा देहो मनो वा येषां ते तेषाम्। 'स्तंभः स्थूणाजडत्वयोः। अभिमाने रोधके च' इति शाश्वतः ॥ ६ ॥ बिभ्यतः भीतान्। तान् मेघान्। नागम् गजम् 'नागौ गजभुजगमौ' इति हलायुधः ॥ ७ ॥ प्रलयाभिप्रायेण प्रलय एव तेषां निर्मुक्तिर्न त्वन्यदेत्यभिप्रायेण। निर्मुक्तबंधना विगलितजलस्तंभाः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

वाचालमित्यादिकं सतर्ककर्कशकर्मवादातरणाद्यभिप्रायेण गोपा इति निकृष्टत्वं मे त्रिलोकीश्वरस्येति दुर्मदभरेण सूचितम्। अन्यत्तैः तत्र स्तुतिपक्षे वाचालमिति वाचा हेतुना अलं समर्थ इत्येवार्थः। मत्वर्थीयणिच्प्रत्ययस्य निन्दायामेवाभिधानात्

१. मानिनमत्त—विज.। २. मत्तानां—च. पु. टी.। ३. नाप्या—विज.। ४. वेगै—वीर. विज.। ५. गोप—वीर.।

शिशुवदिति बालिशः शावके मूर्खे इति विश्वप्रकाशात् ब्रह्मविदां माननीयमिति तत्कर्तृको मानो विद्यते यत्रेति ॥५॥ एवं दुर्वृत्त्यतिशयार्थं तेषां दोषं तेनात्मनः तेषु रोषभरं च बोधयित्वा अधुना कृत्यमादिशति, एषामिति। कृष्णेन हेतुना श्रिया पशुवर्गलक्षणलक्ष्म्या मत्तानाम् इत्यनन्तरं बृंहितदेहानां चेति बाह्यं सुखं दर्शितं तत्र च कृष्णेनेति तत्कृतगोपालनादिना क्षीराद्युपभोगसम्पत्तेरिति भावः। अन्यत्तैः तत्र धमनं नाम सतेजस्कीकरणं तच्च बृंहणतात्पर्यकं णिच् प्रयोगस्तु तेषां कर्तृत्वं कृष्णस्य हेतुकर्तृत्वमित्यपेक्षयेति ज्ञेयम्। यद्वा, स्वतः श्रिया सगर्वाणां विशेषतः कृष्णेन सतेजस्कीकृतचित्तानामित्यर्थः भक्तिलक्ष्म्या समृद्धानां तथा तयैवोज्ज्वलितचित्तानामिति तत्त्वार्थः कथं धुनवामेत्यपेक्षायामाह–पशून् सम्यक् क्षयं नयत पशूनामेव श्रीमदहेतुत्वात् तत्त्वार्थे सम्यक् निवासः स्वास्थ्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥ ऐरावतमारुह्येति। युष्माकं जलाभावे सति सोयं साहाय्यं करिष्यतीति भावः। नन्दगोष्ठेति तत्रैव वर्षणीयं नतु मधुपुर्यामिति च सह कंसेनापि मैत्रीचिकीर्षया सूचितं जिघांसया जिगमयिषयेति तात्त्विकोर्थः ॥ ७ ॥ ओजसा बलेन ॥८॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

वाचालं सतर्ककर्कशकर्म्मवादावतारणाद्यभिप्रायेण, गोपा इति निकृष्टत्वम्; मे त्रिलोकीश्वरस्येत्युत्कृष्टतरत्वं दुर्मदभरेण सूचितम्, अतएवात्रोक्तं मे इति ॥ ५ ॥ एवं दुर्वृत्त्यतिशयार्थं तेषां दोषं तेनात्मनस्तेषु रोषभरञ्च बोधयित्वा अधुना कृत्यमादिशति—एषामिति। कृष्णेन हेतुना श्रिया विविधधनादिसम्पदा पशुवर्गलक्षणलक्ष्म्या वा मत्तानामित्यन्तर–बृंहितदेहानाञ्चेति बाह्यं सुखं दर्शितम्। यद्वा, श्रीमत्तानां लक्षणं ध्मापितात्मनामिति; तत्र च कृष्णेनेति तत्कृतगोपालनादिना क्षीराद्युपभोगसम्पत्तेरिति भावः। भक्तिलक्ष्म्या समृद्धानामिति तयाध्मायितस्वभावानां निजप्रेमाग्निदाहितचित्तानां चेति तत्त्वार्थः। 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' इत्यस्मात्, कथं धुनवामेत्यपेक्षायामाह–पशून् सम्यक् क्षयं नयत, पशूनामेव श्रीमदहेतुत्वात् सर्व्वानेव तानतिवृष्ट्या मारयतेत्यर्थः ॥ ६ ॥ ननु तत्रास्माकमल्पानां का शक्तिः ? तत्राह–अहञ्चेति। अनुव्रजे युष्मत्पश्चादेवागच्छामि, ऐरावतमारुह्येति। युष्माकं जलाभावे सति स निजकरेण जलमुद्धृत्य साहाय्यं करिष्यतीति भावः। मरुद्गणैः–एकोनपञ्चाशद्भिर्वर्गैः सह, नन्दः श्रीभगवत्पिता तस्य, यद्वा, नन्दति भगवद्भक्त्या हृष्यति नन्दयति जगत् सन्तोषयतीति वा नन्दं यद्गोष्ठं तस्य जिघांसयेति। गोष्ठ एव वर्षणीयम्, न तु मधुपुर्य्यामिति सूचितम्, अन्यथा महाबलिष्ठकंसतो भयापत्तिः। अतएव दुःसंकल्पेन यात्रायाममंगलमेव वृत्तमिति ज्ञेयम् ॥ ७ ॥ गोकुलं गवां कुलं व्रजं तत्रत्यान् सर्व्वानेवेत्यर्थः। ओजसा वेगेन निजबलेन वा ॥ ८ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं सति केवलं वाचालङ्कुत्सितं बहु च वदन्तं बालिशं मूर्खं स्तब्धमविनीतमज्ञं पण्डितमात्मानम्मन्यमानं मर्त्यं मनिग्रहात् मरिष्यमाणं च कृष्णमाश्रित्य ये गोपाः मम अप्रियं चक्रुः ॥ ५ ॥ श्रिया सम्पदा गर्वितानां कृष्णेनाध्मायिताः वर्द्धिता आत्मानो देहा येषां तेषां गोपानां श्रीमदप्रयुक्तमविनयं धुनुतापाकुरुत तथा पशून् सङ्क्षयं नाशं नयत ॥ ६ ॥ बिभ्यत तान् प्रत्याह–अहमप्यैरावतं गजमारुह्य महावेगैर्मरुद्भिः सह व्रजं प्रत्यनुव्रजे युष्मत्पृष्ठत एवागमिष्यामि किमर्थं नन्दादयो गोपास्तेषां जिघांसया हेत्वर्थे तृतीया सनर्थस्त्वश्वेन जिगमिषतीतिवदविवक्षितः हननार्थमित्यर्थः ॥ ७ ॥ इत्थमिन्द्रेणादिष्टाः मेघा मुक्तानि बन्धनानि शृङ्खलानि येषां तथाभूताः आगत्यासारैर्जलधारासम्पातैर्यावद्बलं नन्दव्रजं पीडयामासुः ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वाचालम् अस्ति चेदीश्वरः कश्चिदित्यादि शास्त्रकुत्सित भाषणम् अत एव वर्तेत ब्रह्मणेत्यादिमानं प्रमाणमस्यास्तीति मानिनं "रजसा चोदिता मेघा" इत्यादिना मत्तत्वमज्ञत्वं च लभ्यते आजीव्यैकतरम्भावमित्यादिना पण्डितमानित्वम् ॥ ५ ॥ अवलिप्तानां दृप्तानाम् आप्यायितात्मनां वर्धितमनसां धुनुत निराकुरुत ॥ ६ ॥ नागं गजम् ॥ ७ ॥ निर्मुक्तबन्धनाः विगलितनिगडास्त्यक्तजलस्तम्भा इत्यर्थः। आसारैर्धारासम्पातैः वेगवद्वर्षैरित्यर्थः। ओजसा स्वशक्तिलक्षणबलेन ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

स्वतः श्रियावलिप्तानां विशेषतः श्रीकृष्णेन सतेजस्कीकृतचित्तानामित्यर्थः ॥ ६–९ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

एवमुत्तरत्रापि, विशेषस्तु वाचा वचसा अलमितिप्रगल्भम्, अलं भूषणं प्रियंवदमिति वा। बालि बलितुं शीलमस्य तथाभूतं शं क्षेमं यस्मात्। स्तब्धं जडं माति चेतयति स्तब्धमा, ज्ञा अवरोधो यस्मात्। अतः पण्डितेभ्योऽपि सर्वज्ञेभ्योऽपि मानिनं सर्वज्ञेश्वरम् ॥ ६–३३ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

एवं परत्रापि विशेषतस्तु तत्र वाचालं वाचा वचनत्वेन अलं भूषणं प्रियम्वदम्, वालिशं वलितुं शीलं यस्य तद् वालि तथाभूतं शं कल्याणं यस्मात्, स्तब्ध ज्ञं स्तब्धं जडं मातीति स्तब्धमं चित् तस्य ज्ञा अवबोधो यस्मात्। अथवा, स्तब्धानां जडानां मा लक्ष्मीर्यस्मात् लक्ष्मीस्तु चेतन-रूपा तत् स्तब्धमं ब्रह्म तत्वेन ज्ञा ज्ञानं यस्य, अत एव पण्डितानां सम्मानमस्यातीति तथा पण्डितान् कृष्णतत्त्वज्ञान् मानयितुं शीलं यस्येति वा ॥ ६-३३ ॥

इति पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

वाचालं मीमांसासाङ्ख्यानभिमतविरुद्धबहुभाषिणं वालिशं मूर्खमनधीततत्तच्छास्त्रत्वादिति भावः। स्तब्धं पितुरप्रेष्यति-धाष्ट्र्यात् दुर्विनीतम् अज्ञं नित्यगोचारणात् किमप्यजानन्तम् अथ च पण्डितम्मन्यं मर्त्यं मनुष्यमाश्रित्य मे देवत्याप्रियं चक्रुः वस्त्वर्थश्च वाचया सरस्वत्या अलङ्कृतो वालिशो मूर्खोऽपि यस्मात्तं वाचाशब्दप्रवृत्तो्ऽयं। स्तब्धं वन्धस्याभावादनम्रं नास्ति ज्ञो यस्मात्तं पण्डितकर्तृको मान आदरो वर्त्तते यस्य तम् ॥ ५ ॥ अवलिप्तानां मत्तानां यतः कृष्णेनाध्मापितः सतेजस्कीकृतः आत्मा मनो येषां वस्त्वर्थश्च श्रिया चन्दनचर्चयेव अवलिप्तानां लिप्ताङ्गानां श्रीमान् यः स्वल्पस्तम्भः जाड्याभावात्तं धुनुत दूरीकुरुत तेन तथा वर्षेथ यथा तेषां शीतजनितस्तम्भः औष्ण्यनिवर्त्तको भवेदित्यर्थः। तथा पशून् धुनुत शीतेन कम्पयत ततश्च कृष्णेन गोवर्द्धने उद्धृते सति सङ्क्षयं सम्यङ्निवासं तत्तलं नयत अतिसुखदगोवर्द्धनतलनिवासं प्रति नयने यूयमेव कारणीभवतेत्यर्थः ॥ ६ ॥ विभ्यतस्तान् प्रत्याह—अहं च अनुव्रजामि जिघांसया जिगमिषयेति वस्त्वर्थः ॥ ७ ॥ निर्मुक्ता वन्धना इति ये खल्वेकार्णवीकरण-पटवः प्रलयकाल एव निर्मुच्यन्ते तेपि मेघाः कोपेन लुप्तविवेकत्वादपरिणामदर्शिनेन्द्रेण मोचिताः ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

कृष्णं मर्त्यमित्यनेन श्रीकृष्णस्य मर्त्यत्वमात्रमुक्तं तत्र मर्त्या अपि प्रायो गुणवन्त एव अयं तु निर्गुण इत्याह वाचाल-मिति। वाचालं बहुभाषिणम् वालिशं मुग्धम् स्तब्धं कर्तव्याकर्त्तव्यचिन्तारहितम् अज्ञमनधीतशास्त्रम् ॥ ५ ॥ श्रिया सम्पदा अवलि-प्तानां मत्तानाम् कृष्णेन ध्मापिता वर्द्धिताः आत्मानः मनांसि येषां तेषाम् श्रीमदेन यः स्तम्भो गर्वस्तं धुनुत अपनयत ॥ ६ ॥ मरुद्गणैः देवगणैः सहाहमपि अनुव्रजे अनन्तरमेवागमिष्यामि सर्वांशैरिदं कार्य्यमवश्यमनुष्ठेयमिति भावः ॥ ७ ॥ प्रलयं करिष्य-न्त्यतो दृढैर्बन्धनैर्बद्धा अनेन तेषामतिप्रचण्डता सूचिता तदानीं तु निर्मुक्तबन्धनाः सन्तः आसारैर्धारासम्पातैः नन्दगोकुलं पीडया-मासुः नतु त्रिलोकीम् ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अनुवाचालं मानिनं स्तब्धमिति श्लोके तथा मर्त्यमित्यतीतग्रन्थे च नन्दनन्दननिन्दनमिन्द्रकृतं प्रतीयते। तच्च हरि-द्विषस्ते यैः तमसि प्रपतनीत्यादेस्तमआद्यन्यतमानर्थदम्। तद्देवानां निरया नास्ति तमश्चापि कथञ्चनेति मानवाधितम् सामान्यता देवानां किमु तत्सम्मान्यस्य शचीशस्येत्यतस्तात्पर्यं मानाननत आह ॥ अत्यल्प इति। तुशब्दस्तत्तारतम्ययोग्यतातारतम्यादिति विशेषसूचकः। देवानां भविष्यति। देवानामिति बहुवचनेन सर्वसुपर्वणामिति प्राप्तौ किञ्चिद्विषयेऽपवादं वदति ॥ प्राणमिति। एकं मुख्यं प्राणं विना व्याख्यातो ब्रह्मणो मरुदितिव्याख्यातो वायुना विधिः। तत्स्वरूपं निरूपयति आसाद्येति। हि यतोऽसौ वायुराखणाश्मसमः स्मृतः स एषोऽश्माखणः। अखन्याश्मानमेवाप्य लोष्टो विध्वंसते यथेति छन्दोगोपनिषद्भाष्योक्तेः। तर्हि बहिर्मुखानामसुरावेशो गच्छत्यागतो न वेत्यत आह ॥ असुरावेश इति तामसन्नसुरावेशो गते प्रकृतिरेव चरत्स्वभाव एवावतिष्ठते। अनर्थश्रुतिस्तु सर्वथा दुरात्माऽसुरपरेति तात्पर्यम्। तुशब्दस्त्वेवमादिमहात्म्यशिक्षया स्वभावाविर्भाव इति विशेषसूचकः। स्मृत इति भागवततन्त्रे स्वस्यापि मूलं लपत्तदाढ्यं सूचयतीति मन्तव्यम् ॥ अथ मूलार्थः ॥ वाचालमालजाटचौ बहुभाषिणीति वाचालो बहुगर्ह्यवागित्यमरः। अस्ति चेदीश्वर इत्यादिबहुभाषिणं मानिनमप्रमाणप्रमाणताज्ञानिनमित्यर्थो निन्दितत्वामत मन्मखविखण्ड-कत्वात्। अज्ञं रजसा चोदिता मेघा इति मत्स्वाम्यज्ञानहीनं पण्डित इति मानी तमार्जान्यैकतरं भावमिति तथात्वनटनम्। मर्त्यं कृष्णमुपाश्रित्य गोपा मेऽप्रियं चक्रुः ॥ ५ ॥ अवलिप्तानामहङ्कृतां कृष्णेनाप्यायित आत्मा मनो येषां ते तथा वर्धित आप्यायितः श्रीमदप्रयुक्तस्तम्भोऽविद्यमानसामर्थ्यप्रकटनं विधुनुत निराकुरुत। पशूंस्तदुपजीव्यान्सङ्क्षयं नाशं नयत ॥ ६ ॥ अहं नागं नाम्नै-रावतमारुह्य व्रजं गोपालस्थलमनुव्रजे व्रजामि। नैकाकीत्याह। महावेगैर्मरुद्गणैर्महावातैः फलमालपतिः ॥ नन्दगोष्ठजिघांसयेति। नन्दघोषहननेच्छया यथोक्त चतुर्थतात्पर्यं। गोष्ठं घोष इति प्रोक्तो व्रजस्तत्पालसंस्थितिरिति ॥ ७ ॥ मघवतेत्यमाज्ञप्ता निर्मुक्तानि बन्धनानि श्रृङ्खला येभ्यस्ते मेघा आसारैर्धारासम्पातैर्नन्दगोकुलमोजसा स्वसामर्थ्येन पीडयामासुः। उच्चैः श्रवसं स्यन्दनं वा विहायैरावणारोहणं तच्छुण्डादण्डसमासारान्मुञ्चतेति सूचयितुं नमुचिपविमुच इति भावो भावस्य इति ज्ञेयम्। धारा वितेरुरुरु नागकरप्रमाणा इति श्रीमदुक्तेः ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

तस्य भगवति दोषवशाद् विपरीता बुद्धिर्जाता षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने षड्दोषवचनात् तत्र भगवत ऐश्वर्यमप्रतिहतं तदनुसारेणैवान्यत्रैश्वर्यं दूरीकर्तुं यथार्थान्येव वाक्यान्युक्तानीन्द्रस्य तु बुद्ध्यानीश्वरस्तथोक्तवानित्यत आह वाचालमिति, बहुभाषी वाचालः, अनीश्वर ईश्वरवद् वक्ता, वैराग्याभावो वानेनोक्तः, स्वार्थे बहूक्तवानिति बालिशो ज्ञानरहितः, यस्तु वीर्यरहितोशक्यं कर्तुं वाञ्छति स तथोच्यते, ज्ञानाभावः स्पष्ट एव, स्तब्धोनम्रस्तादृशस्य कीर्त्यभावः स्पष्टः, विनीतस्यैव तथा, आत्मानमेव पण्डितं मन्यत इति पण्डितमानी, न तस्य श्रीः, विपर्ययो वा, कीर्त्यभाव एवानेनोच्यत इति, अज्ञो ज्ञानरहितः स्पष्ट एव, मर्त्यो मनुष्यः, न स विरक्त ईश्वरो वा कृष्ण इति प्रसिद्धः, एवं विपरिता बुद्धिरिन्द्रस्य, अथ वा कृष्ण सदानन्दमपि विपरितषड्गुणं तत्त्वेनोपाश्रित्य भवत्यपि विपरीतां बुद्धिं सम्पाद्य सर्वे गोपा अल्पबुद्धयो मेप्रियं यागभङ्गं कृतवन्तः, यदि भगवन्तं वा परमेश्वरं जानीयुस्तदापि न खेदः, वस्तुतस्तु वाचा अलं पूर्णं यत्र यत्र वाङ् न प्रवर्तते स पूर्णः सर्ववेदकर्ता सर्वथा नाश्रितः किन्तु समीपेत्यमेवाश्रित इति, किञ्च बालिशोपि शं सुखं यस्मात्, स हि शत्रुपक्षपाती रावणमित्रं तस्यापि मोक्षदाता, बालमस्यास्तीति पुच्छवान् मर्कटः प्रतिपादितः, उत्कर्षस्तु वेदानामप्यगम्यः, कृपालुता तु बालिनमपि मोचयति, स्तब्धो ब्रह्ममूतो 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमितिश्रुतेः, यदि भगवान् नम्रः स्यात् सत्यादिलोकानां नाश एव भवेदतो भगवान् स्वयमनम्रोन्यान् नामितवान्, पण्डितान् मानयतीति पण्डितमानो विद्यावतः पूजयत्यतः पूजनार्थं विद्यामुपदिष्टवान्, न विद्यते ज्ञो यस्मात् सर्वज्ञोयं, यतोयं कृष्णः सदानन्दः, यत्र हि धर्मो तिष्ठति स धर्मसहित एव भवति, अतो गोपा मर्त्यं शरीरमुपाश्रित्य शरीरधारिणो भूत्वा मेप्रियं न विद्यते प्रियं यस्मान् न ह्यन्यस्ततः प्रियोस्ति तं भगवन्तं कृतवन्तः, यथा मम नित्यं प्रियजनको भवति तथोचरोत्तरं कृतवन्तस्तथा तथा धर्मान् सम्पादितवन्त इतिसरस्वती ॥ ५ ॥ अतो विपरितां बुद्धिमाश्रित्य भक्तद्रोहं कर्तुमाज्ञापयत्येषामिति, एषां गोपानां श्रिया धनेनावलिप्तानां गर्विष्ठानां कृष्णेनाध्मायित आत्मा येषां, यथा स्तब्धो वायुरन्तः प्रविष्टो देहिनमाध्मापयति तादृशस्योपवासेषु कृतेषु तदाध्मानं गच्छति, अतः श्रीमदस्तम्भं धुनुत, श्रीमदस्यापि मूल पशवोतो भवन्तो गत्वा पशून् सङ्क्षयं नयतातिवृष्ट्या पाषाणवर्षणेन च सम्यक् क्षयं नयत ॥ ६ ॥ गोपालास्तु कन्दरादिष्वपि स्थातुं शक्ता अतस्तेषां वधार्थे कृष्णेन सह युद्धसम्भवादैरावतमारुह्याहमागमिष्यामीत्याहाहं चैरावतं नागमिति, ऐरावतोक्षयो गजो जले स्थले च युद्धसमर्थोतस्तमारुह्यानुपश्चाद् भवद्गमनानन्तरं व्रज आगमिष्यामि, प्रसङ्गादागमनं निराकरोति व्रजमिति, ननु बहवो गोपाला एकस्त्वं बलभद्रश्च बलवतः कथं युद्धमिति चेत् तत्राह मरुद्गणैरिति; महावीर्यैरतिबलिष्ठैर्मरुद्गणैः सह, तत्र गतस्य प्रयोजनमाह नन्दगोष्ठजिघांसयेति, नन्दगोष्ठस्य घातनेच्छया, इच्छया गतस्तदिच्छां पूरयति, अतो मारयिष्यामीत्यर्थः ॥ ७ ॥ ततो यज् जातं तदाहेत्थमिति, मघवतेन्द्रेणाज्ञप्ता मेघाः पूर्वं शृङ्खलाबद्धास्ते निर्मुबन्धनाः कृतास्ततो नन्दगोकुलमासारैर्धारासम्पातैरोजसा बलेन वायुसहिताः पीडयामासुः ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

अह चैरावतं नागमित्यत्र, अक्षयो गजो जले स्थले चेत्यादि । अमृतमथनप्रस्ताव एवोत्पन्नत्वेनामृतधर्मा अप्यस्मिन्सन्तीत्यक्षयत्वम् । पूर्वं जल एव स्थितत्वादधुना च स्थले सत्त्वात्तथेत्यर्थः ॥ ७ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वाचालमित्यत्र अथ वेतिपक्षे वाचालमित्यादिपदपञ्चकस्यार्थो वक्ष्यमाणरीत्यैव ज्ञेयः, एतादृशं महान्तमपि मर्त्यत्वेन अनीश्वरत्वादिप्रकारेणोपाश्रित्येत्यर्थः, अलं पूर्णमिति अल्धातोः पचाद्यजन्तम् ॥ ५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दार्ष्टान्तिकमाह - वाचालमिति । एवं वाचालं बहुभाषिणं बालिशं शिशुं स्तब्धमनम्रमज्ञं तथापि वृथैव पण्डितमानिनं पण्डितंमन्यं मर्त्यं कृष्णमुपाश्रित्य गोपा मे देवस्याप्रियमपमानं सुखार्थं चक्रुः । परन्तु न तेन सुखं प्राप्स्यन्ति, किन्तु दुःखे एव निमग्ना भविष्यन्तीत्याशयः । एवं भगवन्निन्दायां योजितापीन्द्रस्य भारती तं स्तौति । तथाहि—वाचालं शास्त्रयोनित्वात्, बालिशं शिशुवन्निरभिमानित्वात्, स्तब्धमनममन्यस्य वन्द्यस्याभावात्, अज्ञं नास्ति ज्ञो यस्मात्तं सर्वज्ञं, पण्डितमानिनं ब्रह्मविदां बहु माननीयं, कृष्णं सदानन्दरूपं परं ब्रह्म, मर्त्यं तथापि भक्तवात्सल्येन मनुष्यतया प्रतीयमानमित्यर्थः ॥ ५ ॥ एवं गोपानामपराधं तेषु स्वरोपं च निरूप्य तेषां द्रोहं कर्तुमाज्ञापयति—श्रियेति । श्रिया सम्पदाऽवलिप्तानां गर्वितानां कृष्णेनाध्मायिताः संवर्धिता आत्मानो मनांसि येषां तेषामेषां गोपानां श्रीमदप्रयुक्तं स्तम्भं गर्वं धुनुत अपनयत 'कथम्' इत्यपेक्षायामाह—एषां सम्पदः पशुप्रयुक्तत्वात् पशूनेव सम्यक् क्षयं नयत ॥ ६ ॥ व्रजं गन्तुं बिभ्यत आलक्ष्याह—अहमिति । अहं च ऐरावतं नागं हस्तिनमारुह्य महावीर्यैः असह्यवेगैर्मरुद्भिः सह नन्दगोष्ठस्य जिघांसया हननार्थं व्रजमनुव्रजे युष्मत्पृष्ठत एवागमिष्यामीत्यन्वयः ॥ ७ ॥ इत्थं

मघवता इन्द्रेणाज्ञप्ताः प्रलयकर्तृत्वात्तन्मध्ये ते बद्धा भवन्ति, तदा तु निर्मुक्तं बन्धनं येषां तथाभूता मेघा नन्दगोकुलमासाद्य आसारैः जलधारासम्पातैः ओजसा बलेन पीडयामासुः ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एषामिति ॥ श्रिया सम्पदाऽवलिप्तानां गर्वितानां कृष्णेनाध्मायिताः संवर्धिता आत्मानो मनांसि येषां तेषां पुंयुक्तः साधुः पाठः । पुंक्युक्तस्त्वार्षः । एषां गोपानां श्रीमदप्रयुक्तं स्तम्भं गर्वं धुनुत अपनयत । तद्धेतून् पशून् संक्षयं नयत । वस्तुतः श्रिया शोभया अवलिप्तानां व्याप्तानां श्रीमान् यः अस्तम्भः जाड्याभावः औष्ण्यं तं धुनुत । वृष्ट्या शीतजननेनौष्ण्यं निवर्त्तयत संक्षयं सम्यङ् निवासं नयतेति ॥ ६ ॥ अहमिति ॥ अहं च ऐरावतं नागं हस्तिनमारुह्य महावीर्यैः असह्यवेगैर्मरुद्भिः देवैः वातैर्वा सह नन्दगोष्ठस्य जिघांसया हननार्थं व्रजमनुव्रजे युष्मत् पृष्ठत एवागमिष्यामि । तत्कार्पः ॥ ७ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थं मघवता इन्द्रेणाज्ञप्ताः प्रलयकर्तृत्वात्ततः प्राक् ते बद्धा भवति तदा तु निर्मुक्तं बन्धनं येषां तथाभूता मेघा नन्दगोकुलमासाद्य आसारैः जलधारासम्पातैः ओजसा बलेन पीडयामनासुः ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तथा कृष्णं मर्त्यं मनुष्यमाश्रित्य गोपाः मे ईश्वरस्य अप्रियं हेलनं चक्रुः कथंभूतं तं वाचालं भूरिभाषिणं बालिशं बालकं ॥ अत एवाऽज्ञं पंडितमानिनं पंडितोहमिति मन्यमानं ॥ अत स्तब्धमनम्रं ॥ ५ ॥ श्रिया लक्ष्म्या ॥ अवलिप्ताना गर्विष्ठानां कृष्णेन हेतुकर्त्रा आध्मायितात्मनांवृ हितशरीराणां ॥ आध्मायितात्मनामित्यपि पाठस्तत्रापि स एवार्थः ॥ एषां गोपानां श्रीमदेन प्राप्तांस्तंभं गर्वं ॥ यूयं धुनुत कं यत् ॥ ६ ॥ मरुद्गणैः देवसमूहैः सह ॥ अनु अनतरं व्रजं प्रतिव्रजे अहमपि आगमिष्यामि ॥ ७ ॥ मघवत इंद्रेण आज्ञप्ताः प्रेरिताः प्रलयकालात्पूर्वं बद्धाः तथापि अधुना निर्मुक्तबधनाः त्यक्तबंधनाः आसारैर्जलधारासंपातैः ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

वाचालमिति ॥ एवं सत्यपि केवलं, वाचालं कुत्सितं बहु वदन्तं, बालिशं मूर्खं, स्तब्धमविनीतं, अज्ञं पण्डितमानिनमात्मानमेव पण्डितं मन्यमानं, मर्त्यं मन्निग्रहात् मरिष्यमाणं च, कृष्णं उपाश्रित्य, गोपाः, मे मम, अप्रियमप्रीतिकरं कर्म, चक्रुः ॥ ५ ॥ एषामिति ॥ श्रिया संपदा, अवलिप्तानां गर्वितानां, कृष्णेन आध्मायितात्मनां भ्रामितबुद्धीनां, आप्यायितात्मनामिति पाठे, कृष्णेन आप्यायिता वर्द्धिता आत्मानो देहा येषां तेषां, एषां गोपानां, श्रीमदस्तम्भं श्रीमदप्रयुक्तमविनयमित्यर्थः । धुनुत अपाकुरुत । पशूनेतदीयधेन्वादीन्, संक्षयं नाशं, नयत प्रापयत ॥ ६ ॥ बिभ्यतो मेघान् प्रत्याह ॥ अहमिति ॥ अहं च स्वयमहमपि ऐरावतं नागं गजं आरुह्य, महावीर्यैर्महावेगैः, मरुद्गणैर्मरुद्व्रजैः सह, नन्दगोष्ठजिघांसया, हेत्वर्थे तृतीया । सनर्थस्त्वशेन जिगमिषतीति वदविवक्षितः । हननार्थमित्यर्थः । व्रजं, अनुव्रजे युष्मत्पृष्ठत एवानुगमिष्यामि ॥ ७ ॥ इत्थमिति ॥ इत्थं, मघवतेन्द्रेण, आज्ञप्ता आदिष्टाः, मेघाः पर्जन्याः, निर्मुक्त बन्धनं येषां तथाभूताः सन्तः, प्रलयकाल एवैषां निर्बन्धनार्हत्वात् क्रुधा सांप्रतं तन्निर्बन्धनत्वोक्तिः । आसारैः जलधारासंपातैः, नन्दगोकुल नन्दव्रजं, ओजसा बलेन, पीडयामासुः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

वाचालमिति : १०.२५.५.

यज्ञघ्नर्वसकृतागसां निधिरसौ कंसां नृशंसोऽप्यहो नोक्तो जातुचिदप्यनेन सरुषा जातः प्रमत्तस्त्विति ।
ताद्दग्दुष्टजनार्दनं मखभुगानन्दप्रदं श्रीधरमश्लीलं वदता न किं भुवि कृतघ्नत्वाय दत्तः करः ॥ १२ ॥
वसुदेवजातमहिमावहेलनं मम कृत्यतोऽत्र भवितेत्यचिन्तयन् । यदवोचदाढ्यमदत स्वहेलनं कृतमेभिरत्र मदभाक् सुराधिपः ॥१३॥

यस्यैकघस्रगघटीविभवः शचीशस्तं मर्त्यमित्यजगुरुं निरपायरूपम् ।
उद्दिश्य कृष्णमवदद् यदितः किमास्ते श्रीमन्मदस्फुटनिदर्शनमन्यदस्मिन् ॥ १४ ॥
तथा प्रसारं कुरुताम्बुवाहा यथा हि गोष्ठं तमसाकुलं स्यात् ।
इति ब्रुवन्नैक्षत चित्रमेष स्वगोकुलं भूरितमः प्रविष्टम् ॥ १५ ॥

जडभृत्सहचारतः प्रतिष्ठां वहते यो जडजातसक्तचेताः स्फुटमेव तदस्य धीवरत्वं भुवनेष्वित्यभियुक्तमिन्द्रकृत्यम् ॥ १६ ॥

अहं चैरावतमिति : १०.२५.७.

यत्किंचिदुन्मादकतोऽपि भृत्याः प्रभोः पुरो गन्तुमपत्रपन्ते ।
इन्द्रो धनोन्मादकरोऽपि धृष्टो नागस्थताऽहङ्कृतिरास चित्रम् ॥ १७ ॥

इन्द्रो धनोन्मादकरोऽपि धृष्टो नागस्थताऽहङ्कृतिरास चित्रम् ॥ १७ ॥
यच्छ्रीशो मदनुग्रहाय यतते साक्षात् क्रतुव्याजतः तत्संवर्तककारिणीमतिजडां मेघस्थिति तत्पदे ।
प्रादर्शैव निजां मया विदधता नागस्थितिं तत्पुरोगन्तव्यं भविता ततो मयि महाश्रेष्ठप्रसादोदयः ॥ १८ ॥

इत्यालोच्य सहस्रदृक् सुरपतिर्मन्ये स सांवर्तकान् मेघान् विष्णुपदे विधाय पुरतो नागस्थितः संययौ।
नो चेदेवमिहैकखेटकक्कते तत्प्रेषणं वा स्वतोयानं नागमधिश्रितस्य सुरपस्याज्ञानिता वा कथम्॥ १९॥
तस्माद्विरोधीशभक्तिप्रकारं दर्शयन् बहिः। अन्तरे तु स्वमात्मानं तन्मिषादनघं व्यधात्॥ २०॥ (विशेषकम्)
योऽन्यं मत्त इति ब्रवीति सहसा तेनाप्रमत्तो निजाचारः साधुपदे प्रदर्श्य इति सन्न्यायानुगो वृत्रहा।
मन्ये गोपगणं प्रमत्त इति संजल्पन्ननल्पक्रियश्चक्रे व्यक्तमिहाप्रमत्तघनसंचारं तदा सत्पदे॥ २१॥

कृष्णप्रिया

उन गोपोंका व्यवहार उन मन्द मतियों के समान ही है, देखो! उन लोगोंने १.-वाचालम्-केवल बढाके बातें करने वाले, २. बालिशम्-नादान, ३. स्तब्धम्-अविनीत, ४. अज्ञम्-अनुध, ५. पण्डितमानिनम् अपने को बड़ा विद्वान् मानने वाले ६. मर्त्यम्-मामुली मनुष्य कृष्ण का सहारा लेकर मेरा सर्वथा अप्रिय किया है, उन गोपोंने मेरा अनादर किया है, भगवान् के ऐसा व्यवहार उचित नहीं। इस लिये भगवती अन्तः सरस्वती भिन्नार्थ बता रही हैं। १. वाचा अलम् जहाँ वाणी-सरस्वती की भी गति नहीं ऐसे "पूर्ण" २. बालि-शम् बाली को भी निजपद गति का दान देने वाले ३. स्तब्धम्-ब्रह्मस्वरूप कूटस्थ-निर्विकार ४. पण्डितान् मानयतीति पण्डितमानिनम् विद्वज्जन ऋषिमुनियोंका सन्मान करने वाले, ५. अज्ञम् इनके समान कोई ज्ञानी नहीं ऐसे सर्वज्ञ, ६. मर्त्यम् भक्तों के लिये मनुष्य देह धारण करने वाले कृपालु ऐसे पर ब्रह्म श्रीकृष्ण चन्द्रको मेरे प्रिय बनाये॥ ५॥ वैसे तो ये गोपगण श्रीमद से छके हुए थे; फिर कृष्णने इन्हें और बढावा दे दिया है, इनकी सान ठिकाने लाने के लिये, हे प्रलय कालीन मेघ! आप त्वरित गति से व्रज में जाकर इन ग्वालों के श्रीमद को नष्ट करदो और इनके सारे पशुओंका विनाश कर दो॥ ६॥ हे मेघगण! मैं भी शीघ्र तुम्हारे पीछे नन्दराय के व्रज का विनाश करने के लिये पराक्रमशाली उनचास मरुद्गणों को साथ लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ होकर वहीं आ रहा हूँ॥७॥ श्रीशुकाचार्य जी ने कहा-राजन्! इस प्रकार राजा इन्द्र की आज्ञा को सुनकर बन्धनमुक्त मेघ अत्यंत त्वरित गति से व्रज में जाकर घोर वर्षा करने लगे। उस धारा संपात वृष्टि से "नन्दबाबा" का सारा गोकुल आकुल व्याकुल एवं दुःखित हुआ॥ ८॥

विद्योतमाना विद्युद्भिः [1]नदन्तः स्तनयित्नुभिः। तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुन्ना ववृषुर्जलशर्कराः॥ ९॥
[2]स्थूणास्थूला वर्षधारा [3]मुञ्चत्स्वभ्रेष्वभीक्ष्णशः। जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत [4]नतोन्नतम्॥ १०॥
अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः। गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः॥ ११॥
शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः। वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः॥ १२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—विद्युद्भिः विद्योतमानाः स्तनयित्नुभिः नदन्तः तीव्रैः मरुद्गणैः नुन्नाः जलशर्कराः ववृषुः॥ ९॥ अभीक्ष्णशः स्थूणास्थूलाः वर्षधाराः मुञ्चत् स्वभ्रेषु भूः जलौघैः प्लाव्यमाना नतोन्नतम् न अदृश्यत॥ १०॥ अत्यासारातिवातेन जातवेपनाः शीतार्ताः पशवः गोपाः च गोप्यः गोविन्दम् शरणम् ययुः॥ ११॥ आसारपीडिताः वेपमानाः शिरः च सुतान् कायेन प्रच्छाद्य पादमूलम् उपाययुः॥ १२॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

स्तनयित्नुभिरशनिध्वनिभिः। स्तनंतो गर्जंतः। मरुद्गणैरावहादिवायुसमूहैर्नुन्नाः प्रेरिताः। जलशर्करा जलोपलान्॥ ९॥ स्थूणावत्स्थूलाः अभ्रेषु मुंचत्सु सत्सु। नतोन्नतं नतं नून्नमुन्नतं तद्विपरीतं यथा भवति तथा भूर्नादृश्यत॥ १०॥ जातवेपना जातकंपाः॥ ११॥ तत्र पशूनां यानं विशिनष्टि। शिर इति॥ १२॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

"स्तनयित्नुर्मेघशब्दे मेघे व्रजे तडद्ध्वनौ" इति धरणिः। अशनिभिः वज्रैः 'दंभोलिरशनिर्द्वयोः' इत्यमरः। "प्रवहो निवहश्चैव विवह उद्वहस्तथा। संवहावहपरावहा इत्येते मरुतां गणाः॥" इति। जलोपलाः वायुना घनीभूतजलमयपाषाणाः, करका इत्यर्थः॥ ९॥ 'स्थूणा स्तंभे गृहस्य च' इति मेदिनी। प्लाव्यमाना छाद्यमाना॥ १०॥ शरणम् रक्षकम्॥ ११॥ तत्र तेषु गोपेषु गोपीषु मध्ये। पशूनाम् गवाम्। यानम् धावित्वा भगवत्समीपे गमनम्। कायेन स्वदेहेन। शिरः तिरोविधायाग्रपादयोः कृत्वा, सुतान्वत्सांश्च निजाधोठरभागे कृत्वेत्यर्थः। पादमूलम् चरणसमीपम्, तत्पार्श्वमिति यावत्॥ १२॥

---

१. स्तनन्तः-श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व.; नदन्तः-वीर. विज.। २. स्थाणु-विज.। ३. स्व-श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. शुक. ग. चं. सु.। ४. न्नता-वीर.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

पीडनप्रकारमाह–विद्योतमाना इति द्वाभ्याम्। विशेषेण द्योतमाना इत्यादिना विद्युदादीनामिति बाहुल्यं भीषणत्वं च सूचितं स्तनयित्नुभिर्गर्जद्भिरंशविशेषैः तीव्रैरित्यस्य पूर्वेणाप्यन्वयः। जलानि शर्कराश्च तदीयाः करकाः॥ ९॥ स्थूणा गृहस्तम्भाः तद्वत् स्थूलाः प्लाव्यमाना सती भूर्नोऽदृश्यत अतो नतोन्नतं च स्थूलन्नादृश्यतेत्यर्थः॥ १०॥ जातवेपना इति शीतार्त्ता इति च पश्वादीनां सर्वेषामपि विशेषणम् अत्र पशूनां बहिःस्थत्वेनादौ निर्देशः बहिःस्थप्रायत्वेन तत्पश्चाद्गोपानाम् अन्तःस्थप्रायत्वेन गोपीनामिति विवेचनीयम् इत्यादिकं च सर्वं श्रीभगवतो व्रजजनप्रेमवर्द्धनगोवर्द्धनोद्धरणक्रीडेच्छयैव शक्रादीनां श्रीमदस्य परमानर्थहेतुताप्रदर्शनेच्छया च अन्यथा भगवत्प्रियाणां तेषां तत्तदसम्भवात्॥ ११॥ प्रच्छाद्य प्रयासेन छादयित्वा। ननु, कथं ते तादृशज्ञाना जातास्तत्राह–भगवतः अलौकिकगुणत्वात् तेषामपि तादृशप्रभावदयादिगुणवत्तया स्फुरत इत्यर्थः। अतः पादमूलमुपाययुः अत्यन्तनिकटं प्राप्ताः॥ १२॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

पीड़नप्रकारमाह–विद्योतमाना इति द्वाभ्याम्। विशेषेण द्योतमाना इत्यादिना विद्युदादीनामानन्त्यमुक्तम्। तीव्रैरित्यस्य पूर्वेणाप्यन्वयः। जलानि शर्कराश्च करकाः॥ ९॥ स्थूणा गृहस्तम्भो लोहप्रतिमा स्तम्भो वा तद्वत् स्थूलाः, प्लाव्यमाना भूरभूत्; यद्वा, प्लाव्यमाना सती भूर्नादृश्यत, अतो नतोन्नतञ्च स्थूलं नादृश्यतेत्यर्थः॥ १०॥ जातवेपना इति, शीतार्त्ता इति च, पश्वादीनां सर्वेषामपि विशेषणम्। तत्र पशूनां शीताधिक्येनादौ निर्देशः, अतएव तेषां प्राक्शरणयानप्रकारं विशेषतो वक्ष्यति। इत्यादिकञ्च सर्वं श्रीभगवतो गोवर्द्धनोद्धरणक्रीड़ेच्छयैव; यद्वा, श्रीमदस्य परमानर्थहेतुताप्रदर्शनार्थम्, अन्यथा भगवत्प्रियाणां तेषां तत्तदसम्भवात्। गवामिन्द्रं स्वामिप्रवरम्; यद्वा, गाः स्वामित्वेन पाल्यत्वेन च विन्दतीति तथा तम्, अतस्तं शरणं ययुः॥ ११॥ प्रच्छाद्य प्रयासेन प्रच्छदपटरूपेण वा आच्छाद्य; प्रसाद्येति पाठेऽपि स एवार्थः। भगवतः स्वपालनादिना निजाशेषैश्वर्यं दीनवात्सल्यादिनिजगुणान् वा प्रकटयतः; अतः पादमूलमुपाययुः, अत्यन्तनिकटं प्राप्ताः, स्नेहभरेण तद्रक्षणेच्छयैवेति तत्त्वार्थः। एवञ्च भगवतः परमस्नेहविषयस्येत्यर्थः॥ १२॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

वेपमानाः कम्पमानाः॥ १२-१४॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

पीडामेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्। तडिद्भिर्विद्योतमानाः स्तनयित्नुभिरशनिभिर्गर्जन्तः यद्यपि स्तनयित्नुशब्दो गर्जन्मेघपरः तथाप्यौचित्यादेवं व्याख्यातं चण्डवातसङ्घातैः प्रेरिताः सन्तो जलशर्कराः वर्षोपलान् ववृषुः॥ ९॥ अभीक्ष्णशोऽविच्छेदेन स्तम्भवत् स्थूला वर्षधारा मेघेषु मुञ्चत्सु सत्सु जलप्रवाहैः प्लाव्यमाना सती पृथिवी निम्नोन्नता नादृश्यत नतोन्नतमिति पाठे तद्यथा तथा अदृश्यत॥ १०॥ अत्यासारैः अत्यन्तवातेन च अत्यासारानिपातेनेति पाठे अत्यासारस्यात्यन्तपातेन निष्ठुरपातेन जातकम्पनाः पशवो गोपाः गोप्यश्च शीतेनार्ताः पीडिता भगवन्तं शरणं प्रापुः परीता इति पाठे परितो व्याप्ता इत्यर्थः॥ ११॥ शरणयाचनप्रकारमेवाह द्वाभ्याम्–शिर इति। जातावेकवचनं शिरांसि स्वसुतांश्च देहेनाच्छाद्यासारैः कम्पमानाः भगवतः पादमूलं श्रीभगवतः पादमूलमुपाययुः॥ १२॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

स्तनयित्नुभिर्गर्जितैः "स्तनयित्नुर्हि गर्जितः" इति यादवः। जलान्येव शर्कराः श्वेतपाषाणशिलाः॥ ९॥ स्थाणुवत्स्थूलाः नतोन्नत निम्नोच्चस्थलम्॥ १०-११॥ स्वकायेन शिरश्च सुतांश्च प्रच्छाद्य॥ १२-१३॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृत. क्रमसन्दर्भः

प्लाव्यमाना भूरभूत् अत एव नतोन्नतं स्थलं नादृश्यत॥ १०-११॥ शिर इति अतो व्रजस्थपशूनामपि तादृशज्ञानं सूचितम्॥ १२-१५॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

स्तनयित्नुभिरशनिभिः स्तनन्तः गर्जन्तः मरुद्गणैस्सह आवहप्रवहाद्यैः नुन्नाश्चालिता जलशर्करा जलोपलान् ववृषुः॥ ९॥ "स्थूणास्तम्भेपि वेश्मनः" इत्यमरः स्थूणावत्स्थूला अभ्रेषु वर्षत्सु प्लाव्यमाना भूरभूत् ततश्च नतोन्नतं स्थलं नादृश्यत॥ १०-११॥ शिरांसि च सुता वत्साश्च तान् कायेनैवाच्छाद्य॥ १२॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ते मेघाः विद्युद्भिर्विद्योतमाः केवलं सूर्यादीनामत्यन्तत आवृतत्वात् स्तनयित्नुभिरशनिभिरस्तनन्तो गर्जन्तः मरुतामावहप्रवहादितवायूनां गणैः समूहैः नुन्नाः प्रेरिताः जलशर्कराः जलोपलान् ववृषुः॥ ९॥ तदा अभीक्ष्णशो नैरन्तर्य्येण स्थूणा इव स्थूलाः

वर्षधाराः अभ्रेषु मुञ्चत्सु जलौघैः प्लाव्यमानाः नतोन्नतं यथा भवति तथा भूर्नादृश्यत ॥ १० ॥ अत्यासारेण अत्यन्तधारासम्पातेन अतिवातेन च जातवेपनाः प्राप्तकम्पाः पशवोऽपि शरणं ययुरित्यनेन यो गोविन्दं शरणं न याति स पशुभ्योऽपि हीन इति ज्ञाप्यते ।११। शिरः सुतांश्च कायेन पशवः गोपाः गोप्यश्च यथेष्टं प्राच्छाद्य ॥ १२-१३ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

विद्युद्भिश्चपलाभिर्विद्योतमानाः प्रकाशमानाः स्तनयित्नुभिः । स्तनयित्नुः पयोवाहे तद्ध्वनौ मृत्युरोगयोरिति विश्वः। अत्र ध्वनिमात्रपरः स्तनयित्नुशब्दः । जलशर्कराः कर्कान्ववृषुः ॥ ९ ॥ स्थाणुवत्स्थूला वर्षधारा अभ्रेषु मुञ्चत्सु सत्सु । विरामो नेत्याह । अभीक्ष्णश इति । भूर्जलौघस्तत्प्रवाहैः प्लाव्यमाना नतोन्नतमनुन्नतमुन्नतं च यथा भवति तथा नादृश्यत ॥ १० ॥ अत्यासारसहितो योऽतिवातस्तेन जातं वेपनं कम्पनं येषां ते गोपा गोप्यश्च शीतेनार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥ शिरः स्वकीयं सुतानुदरे निवेश्याच्छाद्य कायेन शरीरेणासारपीडिता वेपमाना भगवतः पादमूलं स्थातुं भूर्नास्तीति तत्प्रसवितृमूलोपसरणं युक्तिमत्कृतमिति मन्तव्यम् ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

पीडायां प्रकारमाह विद्योतमाना इति, विद्युद्भिर्विद्योतमानाः सात्त्विकोत्कर्षः स्तनयित्नुभिश्च नदन्तो गर्जनं कुर्वन्तस्तीव्रैर्वायुगणैर्नुन्ना जलशर्करा ववृषुरिति तामससम्पत्तिः, विद्योतनेनाक्षिप्रतिघातः, स्तनयित्नुभिः श्रोत्रप्रतिघातः, जलेन प्राणप्रतिघातः, शर्कराभिः शरीरस्य, स्वाधीनाश्च तेषां विद्युतः सन्ति ता नात्र विवक्ष्यन्ते, किन्तु या वज्ररूपा विद्युतः ताभिर्विद्योतनं, स्वतोपि शब्दकरणं मेघानां परं स्तनित्नुभिस्तथा स्तनयित्नवो वाद्यरूपा अतिनिष्ठुरा जलमयाः शर्कराः करकास्तत्रापि वायुवेगेन पतन्तः पीडयन्ति ॥ ९ ॥ ततो वृष्टिं कृतवन्त इत्याह स्थूणेति, स्थूणास्तम्भवत् स्थूला वर्षधाराः प्रतिमुञ्चन्ति श्वभ्राणि यैः, एकां धारां प्रत्येको गर्तो मेघेन क्रियते, एवं सर्वेष्वेव मेघेषु सत्सु, अभीक्ष्णशो जलौघैः प्लाव्यमाना भूः, नतोन्नतं नतमुन्नतं वा यथा भवति, नतोन्नता वा, वस्तुतः सर्वत्रैव गर्ता जातास्तथापि निम्ना वोन्नता वा पादस्थापनार्थं विचार्यमाणापि जलौघैः प्लाव्यमाना भूर्नादृश्यत ॥ १० ॥ ततो यज्जातं तदाहात्यासारेति, अत्यन्तं धारासम्पातेनातिवातेन च पशवो जातवेपना जातकम्पा जाताः, अतो गोपा गोप्यश्च त्रिविधा अपि शीतपीडिता गोविन्दं गवां गोपगोपीनां चेन्द्रं लौकिकेन्द्रेण पीड्यमानाः शरणं ययुः ॥ ११॥ एषां शरणगतावागमनप्रकारमाह शिर इति, स्वशिरः सुतांश्च स्वस्यैककायेन प्रच्छाद्यासारेण पीडिताः सन्तो वेपमाना भगवतः पादमूलमुप समीप एवाययुरागताः शिरोऽत्यन्तमुदरे समागतं सुताश्च, शरीरेणोभयोः प्रच्छादनं भगवद्दर्शनार्थं दयार्थं च, आसारेण पीडिता भक्तिमार्गं त्यक्तवन्तोऽन्यथा भगवद्रक्षार्थमेव यत्नं कुर्युर्न तु स्वरक्षार्थं भगवन्तं प्रार्थयेयुः, किञ्च वेपमाना जाता अतो देहस्थितिं सन्दिग्धां मत्वा पादमूलमाययुस्तेषु कृपया भगवान् निकट एवागतस्तत उपेत्युक्तमासर्वतः पादयोर्मूलमन्तर्जातभक्त्या शरीरेण समीपमागता अपि मनसा पादमूले प्रविष्टाः ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

स्थूणेत्यत्र मुञ्चन्तीति स्वात्मानमिति शेषः, मेघैर्भूमिशैथिल्ये प्रतिधारं गर्तो जायत इत्यर्थः ॥ १० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्प्रकारं प्रपञ्चयति-विद्योतमाना इति विद्युद्भिर्विद्योतमानाः, स्तनयित्नुभिः अशनिभिः स्तनन्तः गर्जन्तः, तीव्रैर्महावेगैर्मरुद्गणैः नुन्नाः प्रेरिताः सन्तो मेघा जलशर्करा जलोपलान् ववृषुः ॥ ९ ॥ अभीक्ष्णशः पुनः पुनः स्थूणावत् स्तम्भवत् स्थूला वर्षधाराः अभ्रेषु मेघेषु मुञ्चत्सु सत्सु जलस्य ओघैः प्रवाहैः प्लाव्यमाना सती भूः नतोन्नतं नतं निम्नमुन्नत तद्विपरीत च यथा भवति तथा नादृश्यत ॥ १० ॥ पशवो गोपा गोप्यश्च अत्यन्तासारेण अतिवातेन शीतेन चार्ताः पीडिताः, अत एव जातवेपनाः जातकम्पाः सन्तो गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ११ ॥ शरणगमनप्रकारमाह-शिर इति । जातावेकवचनम् । शिरांसि सुतांश्च कायेनाच्छाद्य भगवतः पादमूलमुपाययुः । तत्र हेतुः-वेपमाना इति । तत्र हेतुः-आसारपीडिता इति ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

विद्योतमाना इति ॥ विद्युद्भिर्विद्योतमानाः स्तनयित्नुभिः अशनिभिः स्तनन्तः गर्जन्तः तीव्रैर्महावेगैर्मरुद्गणैः आवहप्रवहादिवायुसमूहैः नुन्नाः प्रेरिताः सन्तो मेघा जलशर्करा जलोपलान् ववृषुः ॥ ९ ॥ स्थूणेति ॥ अभीक्ष्णशः पुनः पुनः स्थूणाः स्तम्भा इव स्थूला वर्षधाराः अभ्रेषु मुञ्चत्सु सत्सु जलस्य ओघैः प्रवाहैः प्लाव्यमाना सती भूः नतोन्नतं नतं निम्नमुन्नत तद्विपरीतञ्च यथा भवति तथा नादृश्यत ॥ १० ॥ अत्यासारेति ॥ पशवो गोपा गोप्यश्च अत्यन्तासारेणातिवातेन शीतेन चार्त्ताः पीडिता अत एव जातवेपनाः जातकम्पाः सन्तो गोविन्दं शरण ययुः ॥ ११ ॥ शिर इति ॥ आसारैः पीडिताः अतो वेपमानाः ते शिर शिरांसि जात्यामेकत्वं सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्य "नारायणसमो गुणैः । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इति गर्गोक्तिमनुस्मृत्य भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

विद्योतमानाः प्रकाशमानाः स्तनयित्नुभिः वज्रपातैः स्तनंतो गर्जंतः मेघाः मरुद्गणैर्वायुवृंदैर्नुन्ना प्रेरिताः जलशर्कराः जलानि शर्कराः करकाश्च जलपाषाणशकलानि वा ववृषुः ॥ ९ ॥ स्थूलेणेति स्थूणाः स्तभास्तद्वत् स्थूलाः पीनाः वृष्टिधाराः अभीक्ष्णशः प्रतिक्षणं अभ्रेषु मुंचत्सु सत्सु जलानां ओघैः समूहैः प्लाव्यमाना आच्छाद्यमाना नतोन्नतं नतं निम्नमुन्नतं तद्विरुधं यथातथाभूः नादृश्यत ॥ १० ॥ जातवेपना जातकंपा ॥ ११ ॥ शिरांसि सुतांश्च कायेन देहेन आच्छाद्य पादमूल चरणसमिपम् ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

पीडामेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम् ॥ विद्योतमाना इति ॥ विद्युद्भिस्तडिद्भिः, विद्योतमानाः संशोभमानाः, स्तनयित्नुभिर-शनिभिः, स्तनन्तो गर्जन्तो मेघाः, यद्यपि स्तनयित्नुशब्दो गर्जन्मेघपरस्तथाप्यौचित्यादेवं व्याख्यातम् । तीव्रैः मरुद्गणैः, चण्डवात-संघातैरित्यर्थः । नुन्नाः प्रेरिताः सन्तः, जलशर्कराः जलोपलान्, ववृषुः ॥ ९ ॥ स्थूणेति ॥ अभीक्ष्णशोऽविच्छेदेन, स्थूणास्थूलाः स्तम्भवत् स्थूलाः, वर्षधाराः अभ्रेषु मेघेषु, मुञ्चत्सु सत्सु, जलौघैः जलप्रवाहैः, प्लाव्यमाना व्याप्यमाना सती, भूः पृथ्वी, नतोन्नता न अदृश्यत । नतोन्नतमिति पाठे नतं निम्नमुन्नतं तद्विपरीतं यथा भवति तथा नादृश्यत ॥ १० ॥ अतीति ॥ अत्यासारसहितो योऽतिवातश्च तेन, अतिपातेनेति पाठान्तरे अत्यन्तसाराणामतिशायितधाराणां अतिपातस्तेन जातत्रेपना जातकम्पाः, पशवो गवादयः गोप्यः, गोपाश्च, शीतार्त्ताः शीतपीडिताः सन्तः, गोविन्दं श्रीकृष्णं, शरणं ययुः ॥ ११ ॥ शरणयानप्रकारमाह द्वाभ्याम् ॥ शिर इति ॥ शिर इति जातवेकवचनम् । शिरांसीत्यर्थः । सुतांश्च, कायेन देहेन, प्रच्छाद्य आच्छाद्य, आसारपीडिताः धारासंपातार्दिताः, वेपमानाः कम्पमानाः सन्तः, भगवतः श्रीकृष्णस्य, पादमूलं, उपाययुः ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

विद्योतमाना इति : १०.२५.९.

प्रादर्शि लोकोत्तर एव सद्यः स्मयो मघोना घनगर्जितेन ।
श्रीकृष्णपादाम्बुजचेतसां तु चित्रं स एवाजनि विस्मयोऽलम् ॥ २२ ॥
वयमप्रमदाः सदुन्नता अप्यसि रे संभ्रमदस्त्वमल्पकोऽपि ।
तदिहाप्रमदं भगन्तमद्य भुवि कुर्मस्त्विति गर्जनादवोचन् ॥ २३ ॥

कृष्णोऽस्मत्प्रभयैव सुप्रभपदं प्राप्तोऽयमस्मत्प्रभोः कृत्वा यज्ञविघातमर्जयति चेदागस्तदा हन्यताम् ।
इत्युच्चैः कृतगर्जना जलधृतश्चञ्चत्तडिद्दन्तिनो धारायष्टिभिरेकलोष्ठनयतः किं ते प्रसारं व्यधुः ॥ २४ ॥
पूर्वाशोल्लसदन्तरोऽपि मघवा प्रोत्सृज्य तद्यज्ञगां पूर्वाशां व्रजशासनैकविशदामाशां त्वपूर्वां श्रितः ।
तद्युक्तं भुवने सुराधिकरुचिः स्फीतस्मयावेशिनी युक्तोन्मत्तदशापि तद्गततया साध्वप्रवृत्तिर्हि नः ॥ २५ ॥
तद्युक्तं भुवने सुराधिकरुचिः ... इत्यूचुस्ते घनाघनारवतः ॥ २६ ॥ (युग्मम्)
मा धत्स्व रोषमच्युत दृष्ट्वैवारमान्वनाघनारवतः । यद्वयमिह परतंत्रा इत्यूचुस्ते घनाघनारवतः ॥ २६ ॥ (युग्मम्)

इन्द्रोपेन्द्रौ द्वावपि स्वामिनौ नस्तन्नो युक्तस्त्वेक-पक्षावलम्बः ।
आश्रित्यौदासीन्यमब्दाः स्थितास्ते वातैस्तीव्रैः प्रेरिता इत्यवर्षन् ॥ २७ ॥

अत्युल्वणां वृष्टिमकार्षु रब्दाः दृष्ट्वापि कृष्णं निजरूपशोभम् । चित्रं न यत्स्वाम्यनुरागभाजां विशृंखलानां स्थितिरीदृगेव ॥२८॥
कंसेन प्रहितोऽपि हिंस्रमतिना घोषं श्वफल्कात्मजः स्वं श्रेयः परमीशदर्शनभवं निर्व्याजमेवार्जयत् ।
कर्तुं चेतसि तद्वदात्मकुशलं जातोत्सवास्ते घना मन्ये विष्णुपदाश्रयात्स्वमखिलं जाड्यं जहुस्तन्मिषात् ॥ २९ ॥
ये कान्ताभिरलंकृताः प्रतिपदं प्रोत्साहहीनाः स्वतो गर्जन्तस्तरसाऽन्यनुन्नगतयः साध्यो न तेषां जयः ।
सङ्ग्रामे शरवृष्टिमुल्बणतमामातन्वतामप्यलं स्यादित्यध्वनि तादृगम्बुदपरिष्कारेण तत्रर्षिणा ॥ ३० ॥

स्थूणेति : १०.२५.१०.

यत्राप्यागल्भ्यबाहुल्यं यत्र निम्नोन्नतस्थितिः । अतर्कितप्रकारंवात्रासीत्तद्भू र्निदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अत्यासारेति : १०.२५.११.

कृत्स्नं गोकुलमच्युताश्रयमिति प्राचां प्रवादोऽनघः प्राचीनेन जडेन केनचिदलं नीतस्तिरस्कारिताम् ।
प्राचीनैरपरैः कुशाग्रमतिभिः सोढं यदि स्युस्तदा सर्वे तेन जिता इति प्रभुयुतैर्भाव्यं च तैस्तज्जये ॥ ३२ ॥
युक्तमेतद्विभाव्यैव सर्वे ते व्रजवासिनः । तद्वातवर्षशीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥ ३३ ॥ (युग्मम्)
शरणं प्रभुरेक एव हि व्यसने सत्युदितेऽपि कीदृशे । इति निश्चितचेतसो ययुः शरणं तं विधुतापरोद्यमाः ॥ ३४ ॥

यद्यच्चोल्बणमुद्गतं व्रजभुवि प्राक्तच्च सर्वं समुद्दिश्यैनं तदुपारमेप्यलमसौ यत्तत्र तत्राजनि।
इत्थं भूयंवधारितान्वयतया प्राप्तास्तमेवाखिला नो चेत्तैर्विहितस्तदा तदवने साध्ये कथं व्युत्क्रमः ॥ ३५॥
शिरःसुतांश्चेति : १०.२५.१२.

प्रधानरक्षाप्यधिकेलि मुख्या तवास्ति मायामनुगृह्णतो यत्। प्रधानमेतद्भुवि गोकुलं तत् संरक्ष्यमि यावृतकः समीयुः ॥ ३६॥
दीनानामपि नः सुतावनकृते यत्नो हि यावद् बलं यातोपेक्षमुदेति चेतसि विभो श्रीश त्वमस्मत्पिता।
दीनान्नः समुपेक्षसे घनकृपः कस्मात्कथं वेत्यलं श्रीशं बोधयितुं तदा ययुरमी कायावृतस्वात्मजाः ॥ ३७॥

पादमूलमिति : १०.२५.१२.

त्रितापहृत्त्र्म्बुजनिर्यदाऽऽसीत् तदोर्ध्वलोकोदितमित्रभावः। श्रेशः स पादस्तदलं तदुत्थानिष्टोपशान्त्या इति पादमीयुः ॥ ३८॥
दिष्टेन निर्दिष्टमिदं यदि स्यान्निमज्जनं तत्किमिहाभिरद्भिः। त्रितापहारीशपदाम्बुजाते तद्योग्यमित्याशयतस्तमीयुः ॥ ३९॥
यद्दृक्कोणकटाक्षलब्धविभवोल्लासः स्वरीशः स्मयादस्मान्घस्मरवृष्टिभिर्वितनुते क्लिष्टान् वृथाऽनागसः।
तत्साऽर्य्योऽज्जगृहा रमैव यदसौ कृत्वाऽस्य शिक्षां बलाद् रक्षेन्न शरणागतानिति धिया तं तद्गृहं ते ययुः ॥ ४०॥
यदाश्रयतयैव यः क्वचिदसत्कृतावुद्यतस्तदार्जववशात्तदा स खलु दण्डनीयः खलः।
इति प्रथितपद्धतिं हृदि निधाय विष्णोः पदं समंजससुपाययुः शरणमन्ददण्डेच्छवः ॥ ४१॥
आस्येनारण्यवह्निग्रसनमथकरेणासुरध्वंसनं च कृत्वा पीयूषवृष्टिं निजसदयदृशा त्राणमर्वाक् कृतं नः।
पादेनास्मासु नाद्याप्युपकृतमधुना तत्प्रसङ्गोऽखिलाङ्गे ष्वङ्घ्रिः स्वत्राणशिष्टं शरणमगुरिदं योग्यमीशस्य गोपाः ॥ ४२॥

कृष्णप्रिया

आकाश में चारों ओर बारंबार भयानक बिजलियाँ चमकने लगी, घोर बिजलियों के साथ मेघों की गर्जना सबको व्याकुल करने लगी। तेज हवा के झकोरों से प्रचण्ड आँधी से परस्पर टकराते और इधर-उधर दौड़ते हुए मेघ बड़े-बड़े ओले बरसाने लगे ॥ ९ ॥ खम्मे के समान बड़ी-बड़ी जलधाराओं के बरसने से जमीन पर बड़े-बड़े गड्ढे पड़ गये। सारी पृथ्वी जल जलाकार हो गई थी। सर्वत्र जल फैल गया इस कारण कहीं भी ऊँचा-नीचा प्रदेश का पता चलना मुश्किल हो गया ॥१०॥ मूसलाधार वृष्टि और महाप्रचण्ड वायु के मारे सारे पशुगण काँपने लगे। शीत से आर्त गोपजन एवं व्रज की गोपियाँ भगवान गोविन्द की शरण में गए ॥ ११ ॥ बालकों को और अपने मस्तकों को अपनी छाती में छिपाकर और शिलाओं की बौछार से बचाकर काँपते हुए, वृष्टि से संपीडित गोप गोपीजन के समुदाय भगवान श्रीकृष्ण के श्रीचरणों की शरण में आ गये ॥ १२ ॥

कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो। त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद् भक्तवत्सल ॥ १३ ॥
शिलावर्षनिपातेन[1] हन्यमानमचेतनम्। निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥ १४ ॥
[2]आपर्ताबुल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम्। स्वयागे[3] [4]निहतेऽस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥ १५ ॥
तत्र प्रतिविधिं सम्यक् साधये [5]योगमायया। लोकेशमानिनो[6] मौढ्याद्धरिष्ये[7] श्रीमदं तमः ॥ १६ ॥

कर्बमक्षमा

अन्वयः—कृष्ण! कृष्ण! महाभाग! हे प्रभो! गोकुलम् त्वन्नाथम् हे भक्तवत्सल! कुपितात् देवात् नः त्रातुम् अर्हसि ॥ १३ ॥ भगवान् हरिः, शिला वर्ष निपातेन हन्यमानम् अचेतनम् निरीक्ष्य कुपितेन्द्रकृतम् मेने ॥ १४ ॥ अस्माभिः स्वयागे निहिते इन्द्रः अपर्ता उल्बणम् शिलामयम् अतिवातम् वर्षम् नाशाय वर्षति ॥ १५ ॥ तत्र योगमायया सम्यक् प्रतिविधिम् साधये, मौढ्यात् लोकेशमानिनः श्रीमदम् तमः हरिष्ये ॥ १६ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

गोपगोपीनां प्रार्थनामाह। कृष्णकृष्णेति। त्वमेव नाथो यस्य तद्गोकुलं गवां कुलं वंशं नोऽमांश्च देवादिंद्रात्त्रातुं रक्षितुमर्हसि ॥ १३ ॥ विज्ञापनात्पूर्वमेव कुपितेनेंद्रेण कृतं तद्वर्षं मेने ॥ १४ ॥ कथं मेने तदाह। अपर्त्विति। अपगत ऋतुर्यस्य तद्वर्षमति-

१. वर्षातिवा–विज.। २. अपर्त्वत्यु–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व.; अपर्ताबु–विज.। ३. तन्मखे–विज.। ४. विहृ–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व.। ५. गात्मयोगेन साधये–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व.। ६. मानिनां–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व.; मानिनो–विज.। ७. दयनिष्ये–प्रा. पा.।

शयितो वातो यस्मिंस्तदतिवातम्। शिलामयं शिलाप्रचुरम् ॥ १५ ॥ तत्र प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरणमाह। तत्रेति। तत्र प्रतिविधिं प्रतीकारं स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि तेन च मौढ्याल्लोकेशमानिनां श्रीमदलक्षणं तमो हरिष्यामि। बहुवचनेन वरुणादीनभिप्रैति ॥ १६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अस्माकं देवान्न तु तवेत्यर्थः। भक्तवत्सलेति दयोत्पादनार्थो संबुद्धिः तदानीं गोपाः 'अनेन सर्वदुर्गाणि' इत्यादिगर्गोक्तिं स्मृत्वा श्रीकृष्णमेवार्थयामासुरित्याह–कृष्णेति,–सर्वदुःखाकर्षणाभिप्रायेण। वीप्सा त्वार्त्त्या। हे महाभाग अस्माकं परमभाग्यरूप। गोकुलं गवां समूहम्। प्राकृतोपि पुमानेकामपि गां यथाबलं रक्षितुं प्रयतते त्वं तु प्रभुरसि सर्वथा सर्वतः सर्वान्रक्षितुं समर्थः। कालियमर्दनादौ तवालौकिकं प्रभुत्वमस्माभिरनुभूतत्वमित्याहुः–हे प्रभो इति। ननु देवेषु स्वशक्तिदर्शनं नोचितं तथापि मदाधिकारत्वात्तत्राहुः–हे भक्तवत्सल। भक्तजनरक्षणार्थं तव न किमप्यकृत्यमस्तीति। अर्जुनरथसारथित्वस्य वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ॥ १३ ॥ गोपविज्ञापनात्पूर्वमेव तद्वर्षमिंद्रकृतं मेने नित्यभगवत्पार्षदानामप्येतादृशकष्टं लीलाशक्त्या प्रेमानंदरसस्योत्कर्षेणास्वादनार्थमुपस्थापितं लोभवतां बुभुक्षूणां क्षुत्कष्टमिव सुखोदर्कत्वात्सुखात्मकमेवेति ज्ञेयम्। अचेतनम् निःसंज्ञम् ॥ १४ ॥ अत्युल्बणम् भयजनकम् ॥ १५ ॥ तत्र वर्षणे। तेन प्रतीकारेण। लोकेशमानिनाम् लोकेशा वयमित्यभिमानवताम्। तमः अज्ञानम्। अभिप्रैति अभिप्रायविषयं करोति ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

कृष्णेति। सर्वदुःखाकर्षणाभिप्रायेण आर्त्त्या वीप्सा हे महाभाग अस्माकं परमभाग्यरूप! नोस्माकं गोकुलं गवाङ्कुलं व्रज अव वा सर्वं त्रातुमर्हसि। यद्वा, नोऽस्मांश्च देवात् इन्द्रात् तन्नामाग्रहणं द्वेषेण पापबुद्ध्या वा। यद्वा, देवात् तत्रापि कुपितात् इति तत्प्रतीकारासमर्थानस्मान् त्वमेव त्रातुं योग्योऽसीत्यर्थः। ननु, तर्हि ममापि तत्र का शक्तिस्तत्राह–प्रभो! हे सर्वशक्तियुक्तेति। कालियमर्दनादौ तवालौकिकशक्तिदर्शनादिति भावः। ननु, देवेषु निजशक्तीर्दर्शयितुं नो युज्येत तत्राह–हे भक्तवत्सलेति। भक्तार्थं तवाकृत्यं न किञ्चिदपीत्यर्थः ॥ १३ ॥ शिलावर्षयुक्तेनातिवातेन पाठान्तरे शिलावर्षस्य निपातेन हन्यमानम् अत एव अचेतनं मूर्च्छितप्रायं गोकुलमिति प्रकरणात् कृतम् क्रातिम् ॥ १४ ॥ पश्चात् क्रोधावेशेन स्वगतमुवाचेत्याह–अपर्त्वित्यादिपञ्चकेन। इत्युक्त्वेति परेणान्वयात् पृथक् तु व्याख्यायते वर्षं वर्षतीति तपस्तप्यत इतिवद्रूपंकरोतीत्यर्थः। अस्माभिरिति बहुत्वं श्रीनन्दाद्यपेक्षया शक्रमदभञ्जनार्थं निजप्रौढिप्रकटनेन वा नाशाय गोष्ठस्य तत्त्वतस्तु निजमदस्यैव ॥ १५ ॥ सम्यक् सर्वेषां सुखपूर्वकनिजदासवर्यमाहात्म्यप्रदर्शनादिप्रकारेण साधयामि वर्त्तमानसामीप्ये लट् आत्मयोगेन योगमायाख्यया स्वाभाविकशक्त्येत्यर्थः। लोकेशमानिनामिति बहुत्वं तद्दण्डेनान्येषामपि शिक्षाभिप्रायेण ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

कृष्णकृष्णेति वीप्सा शीतार्त्त्या जिह्वाकर्षकतन्नामस्वभावाद्वा, तत्र च कृष्णेति संज्ञामात्रापेक्षया सर्व्वदुःखकर्षणाभिप्रायेण वा, हे महाभागेति–सप्तदशाध्यायान्ते दावाग्निमोक्षणप्रसंगे व्याख्यातमेव। यद्वा, महान् भागो भाग्यं यस्य तच्च तत्, यतस्त्वन्नाथञ्चेति नोऽस्माकं गोकुलं व्रजमेव वा सर्वं त्रातुमर्हसि, तत्त्राणेऽस्माकं स्वत एव त्राणसिद्धेः, यद्वा, नोऽस्मांश्च देवात् इन्द्रात्, तन्नामाग्रहणं द्वेषेण पापबुद्ध्या वा; देवात् तत्रापि कुपितादिति तत्कृतोपद्रवोऽत्र सामान्यमनुष्यैरस्माभिः परिहर्त्तुं न शक्यत इति त्वमेव त्रातुं योग्योऽसीत्यर्थः। ननु, तर्हि तत्र ममापि का शक्तिः? तत्राह–हे प्रभो! सर्व्वशक्तियुक्तेति कालियमर्दनादौ तवालौकिकशक्तिदर्शनादिति भावः। ननु देवेषु निजशक्तिं दर्शयितुं नोपयुज्येत; तत्राह–हे भक्तवत्सलेति। भक्तार्थं तवाकृत्यं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः। दावादिभयेन पूर्वं भगवन्तं बलदेवञ्च प्रति विज्ञापितमस्ति, अधुना च केवलं श्रीभगवन्तं प्रत्येव प्रार्थनमस्या महाविपदस्तेनैव निस्तारसम्भवात्, किंवा तस्मिन्नेवात्यन्तिकस्नेहभरात् ॥ १३ ॥ अचेतनं मूर्च्छितप्रायं यथा स्यात्तथा, हन्यमानं निरीक्ष्य साक्षाद्दृष्ट्वा, मेने ज्ञातवान्, यतो भगवान् सर्व्वज्ञः, हरिः सर्वदुःखदोपहर्त्तेति वक्ष्यमाण गोवर्द्धनधारणेन गोकुलदुःखहरणं शक्रदर्पहरणञ्च सूचितम् ॥ १४ ॥ पश्चात् क्रोधावेशेन स्वस्मिन् स्वयमेव, किंवास्वासनार्थं गोपान् प्रत्युवाच अपर्त्वित्यादिचतुर्भिरिति ज्ञेयम्, इत्युक्त्वेत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। अस्माभिरिति बहुत्वं श्रीनन्दाद्यपेक्षया शक्रमदभञ्जनार्थं निजप्रौढताप्रकटनेन वा, नाशाय गोष्ठस्य तत्त्वतस्तु निजमदस्यैव ॥ १५ ॥ सम्यक् सर्व्वेषां सुखपूर्व्वकनिजदासवर्ण्यमाहात्म्यप्रदर्शनादिप्रकारेण साधयामि, तत्कालिकताभिप्रायेण वर्तमाना। एवमग्रे (१८ श. श्लो.) 'गोपाये इति च मौढ्याल्लोकेशमात्मानं प्रत्येकस्मन्यमानानाम्, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, आत्मनो योगेनोपायेन लीलया श्रीगोवर्द्धनधारणादिना ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

अपर्त्तु, ऋत्वतिक्रमेण ॥ १५–१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे महाभाग अस्मद्रक्षोपययुक्तज्ञानरूपमहाभाग्यशालिन्! त्वमेव नाथो यस्य तद्गोकुलं कुपिताद्देवात्पातुमर्हसि भक्तवत्सलस्याधुनोपेक्षानुचितेति तत्संबोधनाभिप्रायः शिलावर्षस्य निष्ठुरपातेन पीड्यमानमत एव चेतनं तज्जडीभूतं गोकुलमवलोक्याश्रितार्तिहरो भगवान् कुपितेनेन्द्रेण कृतम् एतत्कर्मेति मेने ॥ १३-१४ ॥ मननप्रकारमेवाह—अपगतो वर्षर्त्तुर्यस्यात्यन्तो वातो यस्य तच्छिलामयमत्युल्वणं वर्षमस्माभिः स्वयागे विहते सत्यस्मन्नाशाय वर्षति ॥ १५ ॥ अथ भगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्द्धनोद्धरणमाह—तत्रेति । तत्रैवं सति प्रतिविधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारं स्वसामर्थ्येन साधयिष्यामि मौढ्याल्लोकेशमात्मानं मन्यमानस्य श्रीमदात्मकं तमोज्ञानं तमोगुणकार्यं श्रीमदं वा हरिष्यामि ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अचेतनं निस्सञ्ज्ञम् ॥ १४ ॥ अपर्त्तौ अनृतौ अवृष्टिसमय इत्यर्थः ॥ १५ ॥ प्रतिविधिं परिहारम् आत्मयोगेन आत्मसामर्थ्येन स्वनिर्मितोपायेन वा तमोऽज्ञानम् ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

आत्मयोगेन योगमायाख्यया स्वाभाविकशक्त्येत्यर्थः । लोकेशमानिनामिति बहुत्वं तद्दण्डेनान्येषामपि शिक्षाभिप्रायेण मत्त एव नान्यतः ॥ १६-१७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

"अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ" इति गर्गोक्तिमनुस्मृत्य एतादृशमहाविपत्तौ श्रीनारायण एव कृष्णमाविश्यास्मान् रक्षतीति विश्वस्ता गोपाः प्रार्थयन्ते कृष्णेति देवादिन्द्रात् ॥ १३ ॥ कुपितेनेन्द्रेण कृतं तद्वर्षं विज्ञापनात् पूर्वमेव मेने भगवन्नित्यपार्षदानामपि तत्तत्कष्टं लीलाशक्त्यैव प्रेमानन्दरसस्योत्कर्षेणास्वादनार्थमुपस्थापितं लोभवतां बुभुक्षूणां क्षुत्कष्टमिव सुखोदर्कत्वात् सुखात्मकमेवेति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥ कुपितेन्द्रकृतं मत्वा स्वगतमुवाच—अपर्त्त्विति पञ्चकम् । भगवानेवेत्याह अपगतऋतुर्यस्य तद्वर्षं शिलामयं शिलाप्रचुरम् ॥ १५ ॥ प्रतिविधि प्रतीकारम् आत्मनो योगेन योगमायया लोकेशमानिनां श्रीमदलक्षणं तमो हरिष्यामि बहुवचनं वरुणादीनप्यभिप्रैति ॥ १६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हरिः शरणागतार्तिहरः विज्ञापयन्तं जनं हन्यमानं निरीक्ष्येन्द्रकृतं व्यतिक्रमं मेने पूर्वन्तु शिलावर्षनिपातं सहमानोपि तूष्णीं बभूव स्वविषयेऽकिञ्चित्करत्वादिति भावः ॥ १४ ॥ कथं मेने ? इत्यत आह—अपगतः ऋतुर्यस्य तत् अति अतिशयितो वातो यस्मिन् तत् शिलामयं जलोपलप्रचुरमत्युल्यणमसह्यं वर्षं नाशायास्माकमिति शेषः । वर्षति ॥ १५ ॥ श्रीभगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्द्धनोद्धरणमाह—तत्रेत्यादिना । मौढ्याल्लोकेशमानिनां श्रीमदलक्षणं तमो हरिष्यामि नतु किञ्चिदपि भयकारं करिष्यामि बहुवचनस्येन्द्रविमदत्वविधानालोचने अन्येपि विमदाः भविष्यन्तीत्यर्थः । अतस्तत्र वर्षे एव प्रतिविधिं प्रतिकारं साधये ॥ १६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

त्वन्नाथो यस्य तत्त्वन्नाथं कुपिताद्देवेन्द्रात् । कुतः कोपरतस्त्वेत्यरत्वं देवान्नो देवानामिन्द्रादीनां देयमन्नं यस्य स इति कुपितादिति भावः ॥ १३ ॥ अचेतनं निस्संज्ञं कुपितश्चासाविन्द्रश्च तेन कृतं मेने ॥ १४ ॥ मननप्रकारमेवमालुलोच भगवानित्याह ॥ अपर्त्ताविति । अवर्षर्तौ स्वयागेऽस्माभिर्विहिते नाशिते सति स्वयाग इति स्फुटार्थः गोकुलस्य नाशायेन्द्रोऽतिवातं शिलामयं वर्षं वर्षति करोति ॥ १५ ॥ आत्मयोगेन स्वरूपोपायेन साधये साधयामि मानसिकव्यथावते गोजनाय हितं च साधये इत्यावृत्त्याऽन्वयः । एतदाशयेनैव साधय इत्युक्तिरिति भावः । मौढ्यादेव लोकेशमानिनो लोकेश इति मानिनी तस्य श्रीमदं तज्जनकं तमो हरिष्ये । लोकेऽशमानीति छेदः । लोकेऽवलोके कृते सत्यशमेनाक्षमाया अनिनीति लोकेशमानी ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

तादृशानां विज्ञापनमाह कृष्ण कृष्णेति, सम्भ्रमाद् वीप्सा, गोकुलं त्रातुमर्हसीतिविज्ञापना, ननु स्तोत्रं कृत्वैव सर्वे विज्ञापनं कुर्वन्ति ततः कथमस्माद् विज्ञापनमिति चेत् तत्राहुर्हे महाभागेति, महद् भाग्यं यस्येति, के वयं वराकाः स्तोत्रे ? त्वयासादय एव महान्तो निरन्तरं स्तुवन्त्यतो महाभाग्यवतोल्पैः किं कर्तव्यमिति, अथ वा यथा भवन्तो वेपमानास्थाहमपीति न वक्तव्यं त्वं तु महाभागोलौकिकसर्वभाग्ययुक्तोतोलौकिकेन प्रकारेण त्रातुमर्हसीत्यर्थः, सर्वथा रक्षायां हेतुस्त्वन्नाथमिति, त्वमेव नाथो यस्य, किञ्च गवां कुलं गावः सर्वैरेव पाल्यास्त्वं च प्रभु पालनक्षमः पालनसमर्थोतो बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् त्रातुमर्हसि, ननु लौकिक एवोपायः कर्तव्यः कम्बलवस्त्रादिभिर्गृहैर्गुहादिभिर्वा किं मत्प्रार्थनयेति चेत् तत्राहुर्देवादिति प्राकृतापकारे हि प्राकृतः प्रतिक्रियायां

त्वपकारो दैव इन्द्रेण कृतः, तर्हि स एव प्रार्थ्यतामिति चेत् तत्राहुः कुपितादिति, स हि कोपं प्रापितोपकारकरणादतः कुपितो मारयत्येव, ननु दैन्यं दृष्ट्वा न मारयिष्यतीति चेत् तत्राहुर्हे भक्तवत्सलेति, भवानेव भक्तवत्सलः स तु निर्दय एवातस्त्वयैव वयं पालनीयाः ॥ १३ ॥ एवं विज्ञापितः कर्तव्यं विचारितवान् किमिन्द्रो मारणीयो मेघा वा निवारणीया वृष्टिस्तम्भो वा कर्तव्य एतेभ्यो वालौकिकं सामर्थ्यं देयमन्यत्र वा नेया अन्यद् वा कर्तव्यमिति, तत्र प्रथममुपद्रवनिदाननिर्धारमाह शिलावर्षेति, शिलानां वर्षणरूपो यो निपातो निरन्तरपतनं सर्वतस्तेन हन्यमानं गोकुलं निरीक्ष्य कुपितेन्द्रकृतमेव मेने, यद्यपि तैरुक्तमेव तथापि किं वासनया वदन्त्याहोखित् सत्यमेव, लौकिकास्तु पौर्वापर्यमेव दृष्ट्वाहेतुमपि हेतुं मन्यन्ते तथैव किं यागभङ्गानन्तरमेव वृष्टिर्जातेति वदन्त्याहोस्वित् तथैवेति भवति विचारणा, ज्ञानेप्यर्थनिराकरणार्थमनूद्यतेन्यथाविमृश्यकारित्वं शङ्क्येत ॥ १४ ॥ ततस्तेषामुपद्रव इन्द्रकृत इति निश्चित्य हन्यमानत्वाच् शीघ्रं प्रतीकारं कर्तुं विचारयतीत्याहापर्त्वतिविद्भ्यामचेतनत्वात्र तद्वचनापेक्षा क्षणमात्रविलम्बश्च भगवत्त्वात् सर्वसाधनपरिज्ञानं, वृष्टिरेतादृशी स्वाभाविक्यपि भवतीति तन्निराकरणार्थमपर्तावित्युक्तं मर्यादाकालोयमतः कदाचिद्व न यदा कदाचिद् वृष्टिस्तत्राप्यत्युल्बणमतिभयानकमृतावप्येतादृशं दुर्लभमिति, अत्यन्त वातो यत्र, वायुना हि नीयन्ते मेघाः, तत्रापि शिलामयमल्पं जलं करका बह्व्यः, एवं चतुर्भिर्दोषैरिन्द्र एव वर्षतीति ज्ञायते, आर्षज्ञाने नित्यज्ञाने वा तर्को यदि न सहकारी स्याद् विरुद्धो वा भवेत् तदा लोकानामार्षज्ञानप्रतीतिर्न भवेत् कार्ये जातेपि काकतालीयप्रसङ्गः स्यादतस्तर्को युक्तो ज्ञानसहकारी, तदाह स्वयाग इन्द्रयागे नितरां हते गोकुलनाशार्थमेवेन्द्रो वर्षतीति ॥ १५ ॥ तर्हि किं विधेयमित्याकाङ्क्षायामाह तत्र प्रतिविधिमिति नात्रेन्द्रो दूरीकर्तव्यस्तथा सति क्लिष्टकारित्वं स्यादधिकारस्यैव तथात्वेन स्वतो दोषाभावाद् वृष्टिनिवारणे तु स्वतो युद्धं कुर्यात् तत्र मारणामारणाभ्यां पूर्वदोषानिवृत्तेर्वृष्टिस्तम्भे मेघान् मारयेन् मेघनाशेग्रिमकार्यं न स्यादतः प्रतिविधानमेव कर्तव्यं, तदाह तत्र प्रतिविधिं साधय इति, यद्यन्यत्रैते नीयेरंस्तदा तत्रापि भवेत् स्थानच्युतिर्वा स्यादितराश्रयणं वा भवेदतोनेन गोवर्धनेनोद्धृतो मुक्त इत्ययमेव साधनीकर्तव्यः प्रतिकृत्या तस्य क्लृप्तत्वात्, तदाह सम्यगिति, नन्वेते पाषाणाः समुदायीभूता पर्वतव्यपदेशं लभन्ते नात्रैकोवयव्यत उत्तोलनेपि पाषाणानां पातः स्यादवतीर्णस्य लौकिकन्यायेन प्रवृत्तस्य पुष्टिकार्यपरस्य न प्रशासनन्यायेन पर्वत उपरि स्थापयितुं शक्योतः कथमुद्धरणमिति चेत् तत्राह योगमाययेति, योगमायात्र कार्ये स्वीकृता यथा गर्भसङ्कर्षणे तदत्र पर्वतधारणेपि विनियोज्या यथा न कोप्यंशः पतेत्, तस्या बलसिद्ध्यर्थं स्वक्रियाशक्तिस्तत्र प्रयोजनीया, ननु किमेतावता क्लेशेन पूर्वमेवायमुपद्रवः कथं न विचारितः ? तत्राह लोकेशमानिन इति, अहमेव लोकेश इति स्वात्मानं मन्यते न त्वधिकारिणमिति, ननु वस्तुत एवायं लोकेश इति चेत् तत्राह मौढ्यादिति, ह्यधिकारीशो भवति, एतदुपपादितं "स वै पतिः स्यादि"त्यत्र, स एक एवेतरथा मिथो भयमित्यत इन्द्रो नेश्वरो मौढ्यादेव तथा मन्यते तस्य स मोहः श्रीमदेन जातस्तमोज्ञानमेवातो हरिष्ये ॥ १६ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

शिलावर्षनिपातेनेत्यस्याभासे, अन्यद्वा कर्तव्यमिति। अधुना स्वस्मिन्प्रवेशोऽन्यशब्दार्थो ज्ञेयः ॥ १४ ॥ तत्र प्रतिविधिमित्यत्र योगमायेत्यस्याभासे, न प्रशासनन्यायेनेति। 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठत' इति श्रुत्युक्ततद्धारणवदत्र तन्न सम्भवतीत्यर्थः।

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

शिलावर्षेत्यस्याभासे किमिन्द्र इति इन्द्रमारणमेघनिवारणवृष्टिस्तम्भान्यत्रनयनानां विमर्शे "तत्र प्रतिविधि" मितिश्लोके, अवशिष्टयोर्द्वयो "स्तस्मान् मच्छरण" मितिश्लोके वक्ष्यत इतिविभागः ॥ १४ ॥ तत्र प्रतिविधिमित्यत्र प्रतिविधिपदेन गोवर्धनोद्धरणरूपप्रतिविधिकथने हेतुमाहुः प्रतिकृत्येति, भावप्रधानमिदं, प्रतीकारत्वेन गोवर्द्धनोद्धरणस्यैव भगवता क्लृप्तत्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

गोस्वामीश्रीगिरधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र गोपगोपीनां प्रार्थनामाह—कृष्णकृष्णेति। सम्भ्रमाद्वीप्सा। गोकुलं गवां कुलं वंशं नोऽस्मांश्च देवात् इन्द्रात् त्रातुमर्हसि। 'दैवात्' इत्यनेन त्वत्तोऽन्येन ततो रक्षाऽशक्येति सूचितम्। 'नच तत्प्रार्थनैव युक्ता' इत्याशयेनाहुः कुपितादिति। 'रक्षाकरणं च तवावश्यकम्' इति सूचयन्त आहुः—त्वन्नाथमिति। त्वमेव नाथः स्वामी रक्षको यस्य तत्। 'त्वदुपकारे च वयं न समर्थाः' इत्याशयेन सम्बोधयन्ति—महाभागेति। महान् भागो भक्तानां यस्मात्। 'तव पूर्णतायां किं वक्तव्यम्' इत्याशयः। 'रक्षणे सामर्थ्यं तु तवास्त्येव' इत्याशयेन पुनः सम्बोधयन्ति—प्रभो इति। 'तथापि रक्षार्थं प्रवृत्तौ मम किं प्रयोजनम्' इत्याशङ्क्य पुनः सम्बोधयन्ति—भक्तवत्सलेति। भक्तकृपावशादेव तद्रक्षायां प्रवृत्तिरित्याशयः ॥ १३ ॥ शिलावर्षस्य निष्ठुरपातेन हन्यमानम्, अत एव अचेतनं जडीकृतं गोकुलं निरीक्ष्य हरिः आश्रितदुःखहर्ता भगवान् सर्वज्ञः कृष्णः कुपितेनेन्द्रेण कृतमुपद्रवं मेने ॥ १४ ॥ मननप्रकारमाह—अपर्त्विति। अपगतः ऋतुर्यस्य तत् अपर्तु, अति उल्बणं भयंकरम्, अतिशयितो वातो यस्मिंस्तदतिवातम्,

शिलामयं शिलाप्रचुरं वर्षमस्माभिः स्वयागे निहते सति व्रजनाशायेन्द्रो वर्षति करोतीत्यर्थः ॥ १५ ॥ अथ भगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्धनोद्धरणमाह—तत्रेति । तत्रैवं सति विधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारमात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन सम्यक् साधयिष्यामि, तेन च मौढ्याल्लोकेशमानिनामिन्द्रादीनां श्रीमदरूपं तमस्तमः कार्यं हरिष्यामि । वहुवचनमिन्द्रस्य लोकपालश्रेष्ठत्वात् 'तन्मदनाशद्वारा वरुणादीनामपि मदविनाशो भविष्यति' इति सूचनार्थम् ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कृष्ण कृष्णेति ॥ हे कृष्ण कृष्ण ! हे महाभाग ! हे प्रभो ! हे भक्तवत्सल ! त्वमेव नाथो यस्य तादृशं गोकुलं गोसमूहं नोऽस्मांश्च कुपिताद्देवादिन्द्रात् त्रातुमर्हसि ॥ १३ ॥ शिलेति ॥ शिलावर्षस्य निष्ठुरपातेन हन्यमानमत एवाचेतनं जडीकृतं गोकुलं निरीक्ष्य भगवान् हरिः कुपितेनेन्द्रेण कृतमुपद्रवं विज्ञापनात्पूर्वमेव मेने ॥ १४ ॥ अपर्त्त्विति ॥ अपगत ऋतुर्यस्य तत् अपर्तु अति उल्वणं भयङ्करमतिशयितो वातो यस्मिंस्तदतिवातम् । शिलामयं शिलाप्रचुरं वर्षमस्माभिः स्वयागे निहते सति व्रजनाशायेन्द्रो वर्षति ॥ १५ ॥ तत्रेति ॥ तत्रैवं सति प्रतिविधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारमात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन सम्यक् साधये साधयिष्यामि। तेन च मौढ्याल्लोकेशमानिनामिन्द्रादीनां श्रीमदरूपं तमस्तमःकार्यं हनिष्ये हरिष्यामि । वहुवचनमिन्द्रगर्वनाशे वरुणादीनां गर्वनाशसूचनार्थम् ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

गोपादीनां प्रार्थनमाह कृष्णेति । त्वमेव नाथः स्वामी यस्य तत् गवां कुलं निकरं नोऽस्मांश्च देवात् मघवतः ॥ १३॥ शिलेति शिलानां हिमपाषाणानां वर्षं वृष्टिस्तस्य निपातेन अचेतनं जडतुल्यं एतत् वर्षं कुपितेन इन्द्रेण कृतं मेने ॥ १४ ॥ एवं कुतो मेने इति चेत्तत्राह अपेति । अपगत ऋतुः वर्षाकालो यस्य तत् अपर्तु अत्युल्वणं अतिक्रूरं । अतिवातं अतिशयितो वायुर्यस्मिंस्तत् जलशिलाप्रधानं वर्षं जलवर्षणं अस्माकं नाशाय ॥ १५ ॥ तत्प्रतीकारमाह तत्रेति तत्र तस्य नाशस्य वर्षस्य वा प्रतिविधिं समीचीनं प्रतीकारं आत्मयोगेन स्वैश्वर्येणाऽहं साधयिष्ये मौढ्यात् मूर्खत्वात् । लोकेशमानवतां इन्द्रादीनां श्रीमदरूपं तमः अज्ञानाम् ॥ १६॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचितं भक्तमनोरञ्जनं

कृष्णेति ॥ हे कृष्ण कृष्ण, हे महाभाग महैश्वर्ययुत, हे प्रभो, संबोधनद्वयेन स्वरक्षणोपयुक्तज्ञानरूपमहाभाग्यशालिता स्वपरित्राणस्यानायासेन कर्त्तुं समर्थतापि ज्ञापिता । त्वमेव नाथो यस्य तत्, गोकुलं गवां समूहं, नोऽस्मांश्च, हे भक्तवत्सल, कुपितात् देवात् पर्जन्यात्, त्रातुं पातुं, अर्हसि । भक्तवात्सल्याधुनोपेक्षानुचितेति अन्तिमसंबोधनाभिप्रायः ॥ १३ ॥ शिलेति ॥ शिलानां वर्षस्य यो निपातो निष्ठुरपातस्तेन, शिलानां जलाश्मनां वर्षाणां च नितरां पातेनेति वा । हन्यमानं पीड्यमानं, अत एव अचेतनं जडीभूतं, गोकुलमिति शेषः । निरीक्ष्यावलोक्य, हरिः स्वाश्रितार्त्तिहरः, भगवान् स्वाश्रितपीडाकारकशास्ता भगवान्, कुपितेन्द्रकृतमेमत्कर्मयागभङ्गसञ्जातकोपेनेन्द्रेणैव कृतं, इति मेने ॥ १४ ॥ मननप्रकारमेवाह ॥ अपर्त्त्विति ॥ अपगतः ऋतुर्वर्षाकालो यस्य तत्, अत्यतिशयितो वातो यस्मिंस्तत्, शिलामयं प्रचुरजलशिलापातं, अत एव, अत्युल्वणमतिदारुणं वर्षं, अस्माभिः स्वयागे निहते सति, इन्द्रः, नाशाय अस्मन्नाशं कर्त्तुं, वर्षति ॥ १५ ॥ अथ भगवतः प्रतिज्ञापूर्वकं गोवर्द्धनोद्धरणप्रकारमाह ॥ तत्रेति॥ तत्रैवंविधैतत्कर्मणि सति प्रतिविधिं वर्षप्रयुक्तपीडाप्रतीकारं, मदीयजनपीडाप्रवर्षणपरिहारमिति यावत् । आत्मयोगेन स्वसामर्थ्येन, सम्यक् साधये साधयिष्यामि । तेन मौढ्यात् मूढभावतः, लोकेशमानिनः लोकेशमात्मानं मन्यमानस्येन्द्रस्य, श्रीमदं श्रीमदात्मकं तमोऽज्ञानं, तमोगुणकार्यं श्रीमदं वा हरिष्ये हरिष्यामि ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्णेति : १०.२५.१३.

अस्माभिस्तु पुरैव कृष्ण कलितं नायं क्रतोरन्यथाकारः किन्तु बलाद्बलारिहृदये क्षोभः समुत्पाद्यते ।
नैवाश्रावि तदा मुधा प्रवयसोऽस्मान् ख्यापयित्रा त्वया भूयास्तां गतकीर्तनं विरचितः को वाऽभ्युपायोधुना ॥ ४३॥
हे श्रीकृष्ण जगन्निवास भगवन्नारायण श्रीपते गोपालाः सकलाः सदेकमतयो जल्पन्ति मामेव ते ।
एतद्वक्ष्यनुसारिणो वयममी भूत्वा ह्यनर्थं परं प्राप्तास्तन्निजबुद्धिरेव हितकृन्नान्योदगतेत्यादिकम् ॥ ४४ ॥
तच्छ्रीकृष्ण कमप्युपायमधुना संचिन्तयन् दुर्यशोमालिन्यं मम मार्जयेदमखिलं लोलायित दुर्विधेः ।
अस्मत्तोऽस्तु सुखं सदैव पितुरित्युक्तिस्तवैतद्विना सत्या स्यान्न मनागपीत्यवितथ जानीहि किं भाषितैः ॥ ४५ ॥ (युग्मम्)
विद्मो नैव विधेर्विधानमविधेर्वा केवलं त्वद्वचः श्रद्धालम्बितचेतसस्त्वदनुगाः कर्मैतदाकुर्महि ।
यत्संप्रत्यपि वेद्यते न किमिदं कस्माच्च वेत्यंशतस्तत्संचिन्तय चिन्तयीयमधनोपायं त्वमस्मद्गतिः ॥ ४६ ॥
किं कृष्णेन वृथाभिमानजनितास्मच्छुद्धिदुर्नीतिना किं कृष्णेन विधेयमत्र बलवत्प्रारब्धमीदृग्घि नः ।
तादृग्यज्ञविधित्सितेन भवितोपायोऽपि संचिन्तितः कृष्णेनेति जगुर्मिथो यदवनौ सिद्धो हि लोकस्त्रिधा ॥ ४७ ॥

हितं वाऽहितं वेत्यनालोचयन्तस्त्वदाज्ञां समाज्ञाय यज्ञार्थमज्ञाः।
प्रवृत्ताः प्रवृत्ता कथा वाऽस्तु कीदृक् कृपादृक् त्वमस्मान् हरे पाह्यपायात् ॥ ४८ ॥
न वारिवाहो यदकालगस्ततो न वारिवाहोऽयमुपागतः प्रभो।
अवारितश्चेल्लयकृन्न किं भवेदवारितोऽस्मांस्तव पादसन्नतान् ॥ ४९ ॥
साक्षाद्विषादपि विधाय दयां दयाब्धे त्राताः सुधारसमुचा स्वदृशा तदानीम्।
नाम्ना विषादपि जलादुदिता ह्युपेक्षा पातुं तदा न किमु भाविजनेषु हास्यम् ॥ ५० ॥
न नाशिताः प्राग्यदि पूतनादयो न नाशिताः स्युर्यदि वा ह्यघादयः।
कुतोऽर्थनायाः प्रसरस्तदा वयं त्रातास्तदानीं किमुपेक्षसेऽधुना ॥ ५१ ॥
श्रीकृष्णाखिलदेववन्दितपदद्वन्द्वेन्दिरानन्दद प्राणिप्रेष्ठ धृतावतार करुणाम्भोधे जगत्कृद् गुरो।
त्रातारं समवेक्ष्य कंचिदपरं चेतत्युपेक्षोदिता किं वाऽस्मिञ्जलविप्लवे वयमिवामग्नाऽनुकम्पाऽपि ते ॥ ५२ ॥
प्राप्तान्नरत्वदुपांघ्रि पश्यसि न चेद्धस्ते न वा स्वात्मजानंके वीक्ष्य च वृष्टिकूपपतितान्दत्से न हस्तं यदि।
दूरस्थानधिकारतो यदि विभो नायास्यसंख्यत्वतरत्वन्नेत्रोरुकरांघ्रिगात्किमु फलं का वाक्प्रतिष्ठाऽथवा ॥ ५३ ॥
गोत्रावनं कर्तुमिहोद्यतस्य गोत्रावनं तेऽर्थत एव सिद्धम्। पार्थक्यतस्तेऽर्थनया किमीश त्राणाय नारायण जागृहीति ॥ ५४ ॥
इत्थं जितं घोषजनैर्रवैः स्वाक्रन्दघोषेण तदब्दघोषम्। दृष्ट्वा त्रिभाव्येष्टकुदप्रतोऽभूत् सवारिहृल्लक्षित–वासवारिः ॥ ५५ ॥
कांश्चित्पादगतान्प्रणम्रवपुषः कांश्चित्स्ववक्त्रेक्षणान् कांश्चिद् वृष्टिभिरर्दितानवदशेत्याक्रन्दमानान् परान्।
मस्तन्यस्तसुहस्तकानथ परानावेक्ष्य सर्वास्तथा स्वीयेक्षणलक्षितान्प्रभुरभूत् सद्यः कृपालङ्कृतः ॥ ५६ ॥
आसीत्तेषां वृष्टिपूरो यावन्मज्जनहेतवे। चित्रमुन्मज्जनायेशः कृपापूरस्ततोऽधिकः ॥ ५७ ॥

दृष्ट्वा वृष्टिमपूर्वकालकलितां स्वर्नाथगर्वानलज्वालाजालकरालभूरिचपलां तज्जाड्यखण्डोपलाम्।
दास्यन् दृष्टित एव तेष्वभयदां श्रीशो निजाश्वास्यतामापृच्छत्कुतुकादरं क्रतुरसो प्रेष्ठः किमैन्द्रोऽथवा ॥ ५८ ॥
अचलविहितयज्ञे तृप्तिमद्धाऽऽप यज्ञभुगलमुपगतो वः सत्यमस्मिन् हि गोपाः।
सकलभुवनलाभरतत्फलं युक्तमस्माद् व्रजत किमिति भीताः सुप्रसादाप्तिकाले ॥ ५९ ॥
कर्मैव साङ्गमुदितं यदि तत्प्रसूते सर्वेष्टमस्य मघवा नहि तत्र हेतुः।
उक्तं मया निजधियाऽपि च पश्यतैतन्नो चेदतत्क्रतुविधेः कथमास वृष्टिः ॥ ६० ॥
निरतिशयसमृद्धिः प्रैति नित्यं विशुद्धक्रियमलमपयाति प्राणिनो ह्यप्रगल्भात्।
स्फुटमिदमभवद्यत्तादृशान् वः समागात् सकलवसुसमृद्धिरताद्दगिन्द्रादपेता ॥ ६१ ॥
यः स्वात्मरूपमपरेक्षणदुर्लभं वः सन्दर्श्य चारुबलिभक्षणपूर्वकं हि।
स्वानुग्रहं निरुपमं विदधे स एव त्राता गिरिर्विजयते तदलं भयेन ॥ ६२ ॥
क्षुत्क्षुब्धकुक्षिरखिलोऽपि किलात्र लोकः कुप्यत्यनाप्तविहिताशनभागभोगः।
तत्किं वृषोपरिरुषा मम यज्ञभाजोऽप्रप्राशनस्य भृशमस्य तु युक्तमेव ॥ ६३ ॥
यद्यप्युक्तमयुक्तमेतदमराधीशेन कार्यं तथाप्येतैः कीर्तिकरैः कथं नु सरसेरङ्गीकृतं प्रेमतः।
प्रायो वृद्धदशाऽत्रहेतुरथवा के नाप्प्रगल्भां स्थितिं पृष्ट्वैवोत्पथगामिनीमतिजडात्मानः कृता नीरदाः ॥ ६४ ॥

तत्र प्रतिविधिमिति : १०.२५.१६.

प्रागपि विधिर्न चैतैर्दृष्टो मद्वचनदत्तविश्वासैः। प्रतिविधिचिन्तनकथनं न युक्तमिति स स्वयं ह्यचिन्तयत ॥ ६५ ॥
विध्युत्पादयितुर्मे प्रतिविध्युत्पादनं न यत्नसहम्। भविताऽस्यपरं प्रथमात्स्वः स्थितिरिव भूर्यधरिथतिस्त्वरमात् ॥ ६६ ॥
शान्तः सद्विषणः सदध्वविहृतिर्नित्यं सुधर्माश्रितः पूज्यः श्रीपतिनापि गौरवधिया सभ्यैः सदाभ्यर्हितः।
वीरो वैरिनिकृन्तनोऽपि भुवने निन्दां शचीशोऽप्यगादेकोक्छृङ्खलधीजडाश्रयशशात्तत्रान्यवार्ता तु का ॥ ६७ ॥
आलोच्यवं नाप्रगल्भस्य सङ्गं कुर्याद्धीमान् मत्पदप्राप्तिकामः इत्थं स्वीयान्बोधयन्नब्दवाहे शक्रे चक्री वक्रदृष्टिं स चक्रे ॥६८॥ (युग्मम्)
स्वस्थोऽहमस्मि सदयानुजनुप्रसादाद् विस्मृत्य चैवमतुलस्मयसम्भृतात्मा।
स्वातन्त्र्यमेव मनुते यदसौ स्वसौख्ये तन्मौढ्यमस्य परिहृत्य विवेचनीयम् ॥ ६९ ॥
यत्प्राग्भुक्तमनेन हव्यमृषिभिर्दत्तं रमयान्मामनादृत्यातः कुतुकान्मया प्रतिविधिः क्लृप्तोऽपि यज्ञात्मकः।
एतेनैदृश एव तत्प्रतिविधिः क्लृप्तोऽखिलानिष्टकृत् तन्मौर्ख्यस्य मदस्य पात्रमपरो नातः परः स्यात् क्वचित् ॥ ७० ॥
आस्तां मूर्खकथाऽधुना प्रतिविधिं संसाधयेऽहं तथा स्यात्सौख्यं व्रजवासिनां जडधियोऽस्यापि प्रकामं यथा।
आलोच्यैवमचिन्तयद् गिरिवरोद्धारप्रकारं प्रभुर्नैचेद्धिप्रकृतापकारशमने सम्यक्त्वचिन्ता कुतः ॥ ७१ ॥

गुरुत्वान्नाशार्हो न स भवति मेघोऽप्यविकलो जगज्जीवातुत्वाच्चरणशरणत्वेष हि जनः।
इति ध्यात्वा रवोयाभयदविरुदः सर्वसमदृक् कृपालुस्तत्रैषोऽप्रतिविधिमसौ पर्वतधृतिम् ॥ ७२ ॥
अचलोद्धरणे धृतावतारो यदुदासीनतया स्थितोऽत्र काले प्रतनं सुयशोऽपि मे निमज्जेत्समयेतैरिति तत्प्रभुस्तथैषीत् ॥ ७३ ॥
क्षमागतोहं यदतो करिष्ये क्षमागतो ह्येव जलौघशान्तिम्। स्यात्तेन रक्षा व्रजशक्रयोरित्यात्माशयाददिधृतिं समैपीत् ॥ ७४ ॥

कृष्णप्रिया

हे कृष्ण ? हे कृष्ण ? हे महाभाग ! आपके भाग्य से ही हम हतभागियों की रक्षा होगी, हे नाथ आप ही इस गोकुल के नाथ हो ! हे प्यारे श्रीकृष्ण ? आप भक्तवत्सल हैं, अब आप कोपित वाक पति इन्द्र से हमारी रक्षा करें ॥ १३ ॥ सारे गोकुल को शिलाओं की सतत अविच्छन्न भयानक वृष्टि से दुःखित, दीन और अचेतन से सबको देखकर, समझदार भगवान श्रीहरिने जात लिया कि यह सारा करतूत क्रुद्ध इन्द्र का ही है ॥ १४ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि—हे व्रजजन ! हम सब ने राजा इन्द्र के वार्षिक यज्ञ का अवरोध किया इससे क्रुद्ध इन्द्र प्रचण्ड आँधी के झोंके और विशाल शिलाओं की बौछारों वाली बिना मोसम की घोर वृष्टि से व्रज को नष्ट कर देने के लिये सक्रिय बना है ॥ १५ ॥ आप लोग चिन्ता न करें, मैं अभी मेरी दिव्य शक्ति से उसका पूर्ण प्रतिकार कर रहा हूँ। ये इन्द्रादि देव लोग मोहवश अपने को स्वतन्त्र सर्वेश्वर मानकर व्यर्थ अभिमान कर रहे हैं। मैं अभी इन लोगों का ऐश्वर्य और धन का घमण्ड एवं अज्ञान को चूर चूर कर दूँगा ॥ १६ ॥

न हि सद्भावयुक्तानां सुराणामीशविस्मयः। मत्तोऽसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥ १७ ॥
तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्। गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः ॥ १८ ॥
इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्। दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥ १९ ॥
अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः। यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—सद्भावयुक्तानाम् सुराणाम् ईशविस्मयः न हि, मत्तः असताम् मानभङ्गः प्रशमाय उपकल्पते ॥ १७ ॥ तस्मात् गोष्ठम् मत्शरणम् मन्नाथम् मत्परिग्रहम्, आत्मयोगेन गोपाये, सः अयम् मे व्रत आहितः ॥ १८ ॥ कृष्णः इति उक्त्वा एकेन हस्तेन गोवर्धनाचलम् कृत्वा, बालकः छत्राकम् इव लीलया दधार ॥ १९ ॥ अथ भगवान् गोपान् आह, हे अम्ब ! हे तात ! हे व्रजौकसः सगोधनाः यथा उपजोषम् गिरिगर्तम् विशत ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु देवाः सात्त्विकास्त्वद्भक्ताश्च कतस्तेषां तमस्तत्राह। न हीति। सद्भावः सत्त्वं मद्भक्तिर्वा तद्युक्तानां सुराणामीश वयमिति विस्मयो गर्वो हि यस्मान्न घटतेऽतोऽसंतस्ते। किं च तेषां मानभंगोऽनुग्रह एवेत्याह। मत्त इति ॥ १७ ॥ गोपाये रक्षिष्यामि। किं च सोऽयं मे मया व्रतो नियमः संकल्पो वा आहितो धृत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ कृत्त्वा उत्कृत्य। छत्राकमुच्छिलीन्ध्रम् ॥ १९ ॥ यथोपजोषं यथासुखम् ॥ २०-२१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गोपा आशंकंते -नन्विति। असत्सु दण्डमाह—किञ्चेति। तेषाम् असताम् त्यक्तसत्त्वस्वभावानाम्। मत्तः मत्सकाशात् प्रशमाय गर्वाभावाय ॥ १७ ॥ यस्माद्गोष्ठं मच्छरणं तस्मात् गोपाये इति। आत्मनेपदमार्षम्। अहं शरणं रक्षिता यस्य तत्तथा। मां नाथते 'कृष्णकृष्ण महाभाग' इत्येवं प्रार्थयते रक्षार्थमिति मन्नाथम् 'नाथृ—याञ्चादिषु'। अहं परिग्रहो मूलं यस्य तत्तथा। "पत्नीस्वीकारशपथमूलेष्वपि परिग्रहः" इति यादवः। यद्वा—"महिषी च सुतो भ्राता मातुलः श्यालकस्तथा। मंत्री दूतश्च सेना च सर्व एते परिग्रहाः ॥" इति वररुचिकोशान्मम परिग्रहा मत्परिग्रह इति तत्पुरुषो वा। अत्र "प्रकृतेर्विकृतेर्वापि ह्येकदा प्रतिपादने प्रकृतेर्वाचकः संख्यां गृह्णाति विकृतेर्न तु ॥" इति न्यायस्यानियतावमपि बोध्यते। रक्षणे निजदार्ढ्यमाह-किं चेति। सोऽयम् इदानीमेव व्रजरक्षणरूपः। नियमः अपरित्याज्यधर्मः। नियमत्वे प्राग्वर्षपीडा कुतो न वारितेत्याशंकासंभवादाह—संकल्पो वेति। इदानीमेव संकल्पितः। इत्यर्थ इति। धारितो न तु स्थापित इति। आद्धातेः स्थापनार्थत्वस्याधानादिपदे प्रसिद्धत्वादिति भावः। यद्वा—सः मद्बुद्धिस्थः। अयम् प्रत्यक्षभूतो गोवर्द्धन एव मे व्रतो जयस्तंभ आहितः स्थापित इत्यर्थः। "संकल्पे विजयस्तंभे नियमे च व्रतः स्मृतः" इति धरणिः ॥ १८ ॥ उत्कृत्य उद्धृत्य 'कृती—छेदने'। "शिलींध्र कंदलीपुष्पे करके ना झषांतरे। द्रुभेदे स्त्री तु विद्गी-

१. मद्भा-वीर, विज.। २. मत्तः सतां-विज.। ३. पद्यते-विज.। ४. विष्णुः-विज.।

गंडूपदीमृदोः ॥" इति मेदिनी। इति इत्थम् ॥ १९ ॥ अथ पर्वतधृतेरनु। हेऽम्बेति विकल्पेन प्रकृतिभावः। ननु क्रोशत्रयमात्रस्य गोवर्द्धनस्य तले सर्वव्रजस्थाः कथं मांतु। तत्रेदमवधेयम्—भगवत्पाणिस्पर्शानंदादेव लब्धाचिंत्यौजसा श्रीगोवर्द्धनेन क्रुद्धेंद्रक्षिप्त-कुलिशशतवातमपि स्वपृष्ठे कुसुमहारप्रहारमिवानुभवता तथा सम्यगवबुध्यते यथा योजनचतुष्टयप्रमाणव्रजनगरस्थजनाः पशवश्च स्वतलयथावकाशमेव निवासयामासिरेऽत एवोक्तं हरिवंशे भगवता—"शैलोत्पाटेन भूरेषा महती निर्मिता मया। त्रैलोक्यमप्युत्सहेत रक्षितुं किं पुनर्व्रजम् ॥" इति। किञ्च, गोवर्द्धनोपरिष्टानां मृगवराहादीनां पशूनां पक्षिणाञ्च 'स धृतः संगतो मेघैः' इति हरिवंशोक्तेस्तन्नितंबारूढान्वर्षतो मेघानालक्ष्य तदूर्द्ध्वशृंगाण्यारोहतां न तिलमात्रमपि कष्टमभूदिति ज्ञेयमिति विश्वनाथः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

असतां श्रीमदेन दुश्चेष्टितानाम् अन्यत्तैः। यद्वा, श्रीमदं हरिष्य इत्यत्र हेतुमाह—हि यतः सुराणां ईशोहमिति विशेषेण स्मयो गर्वो नोपकल्पते योग्यो न भवति यतः सद्भावयुक्तानाम् अतः श्रीमदेनासतामपि तेषां हितमेव करिष्यामीत्याह—मत्त इति। नान्यतः मदैश्वर्यस्फूर्त्त्यैव तादृशयोग्यत्वादिति भावः ॥ १७ ॥ यस्मान्ममात्मनिर्विशेषत्वेनास्मच्छन्दक्रोडीकृतानां मत्पित्रादि-गोष्ठवासिनां नाशायेन्द्रो वर्षति तत्र च प्रतिविधिं सम्प्रत्येव साधयिष्यामि तत्र चानुषङ्गितया लोकेशमात्राणां तमो हरिष्ये तच्च युक्तं तस्मात् अहमेव तदिदं गोष्ठं स्वात्मयोगेन असाधारणस्वाभाविकप्रभावेन गोपाये सम्प्रत्येव गोपयिष्यामि न केवलं सम्प्रत्येव किन्तु सः पूर्वपूर्वसिद्धः अयं गोष्ठस्य गोपनरूपो मम व्रतो नियम एवाहितः सम्यक् धृतो विहित इत्यर्थः। कीदृशं गोष्ठं ? तत्राह अहमेव शरणं रक्षिता यस्य तत् यतोऽहमेव नाथ ईश्वरो यस्य तत्। किञ्च, मम परिग्रहं कुटुम्बम् अतोऽकृत्येनापि रक्ष्यमित्यर्थः—

"वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्या मनुरब्रवीत्" ॥ इतिवत्।

यद्वा, मम शरणम् आश्रयं मम नाथं परिपालकं कुतः अहमेव परिग्रहो धनपुत्रदारादिसर्वं यस्य तत् मदेकप्रिय-मित्यर्थः। अतो गोपाये इति वर्त्तमानप्रयोगेन स्वाभाविकत्वं व्यञ्जयति अत आत्मयोगेनेत्युक्तम्। अतः सोऽनादिसिद्धोऽयं सम्प्रत्यपि प्राप्त इति दर्शितं तत्र हेतुः ये मम नित्यनराकृतिलीलस्येश्वरस्येति व्रतः प्रतिज्ञा आहितः सर्वांशेन धृतः तदेवमिन्द्रस्य मच्छरणत्वादिविरुद्धधर्मवन्मच्छरणादिरूपगोष्ठवासिनां विरोधाय प्रवृत्तत्वान्मानभङ्गोऽपि गोष्ठवासिगोपनाय योग्य इति विवक्षितम् ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वेति। महामेघारम्भादेव गोवर्द्धननिकटे सर्वेषामानयनमवगम्यते एकेन वामेन सव्येन पाणिनेति हरिवंशोक्तेः कृत्त्वा छित्त्वेति मूलतोदूर्ध्वतश्च ज्ञेयं मानसगङ्गाया उत्तरतो विच्छिन्नत्वात् तेषां संरक्षणार्थाय धृतो गिरिवरो मया सोऽन्नकूट इति ख्यातः "सर्वतः शक्रपूजितः" इति वाराहप्रसिद्धस्य तस्य भागस्याद्यापि पृथक् प्रसिद्धेः न कथमपि कदाचिदपि चलतीत्यचलपदश्लेषः लीलया अनायासेन—यद्वा, कटितटे दक्षिणश्रीहस्तन्यासादिभङ्गीविशेषेण दधार तथैव प्राचीनश्रीमूर्त्तिदर्शनात् यतो वालकश्छत्राकमिव बाल्यलीलानतिक्रमेणैवेत्यर्थः। एवमनायासोऽपि दर्शितः ननु, वालमूर्त्तेस्तद्धारणादिसंनिवेशः कथं घटते ? तत्राह—विष्णुः अचिन्त्यशक्त्य. तत्तद्रूपत्वेऽपि विभुः कृष्ण इति पाठेऽपि स एवार्थः तथैव हि सहस्रनामस्तोत्रे "अनिर्देश्यवपुः श्रीमानमेयात्मा महाद्रिधृक्" इति। अतो यथेच्छमेव पर्वतादीनामुच्चपदादिस्थितिर्जातेत्यर्थः। ततः श्रीवैशम्पायनोक्तिरपि घटते "स धृतः सङ्गतो मेघैः" इति तथा "आप्लुतोऽयं गिरिः पक्षैरिति विद्याधरोरगाः। गन्धर्वाप्सरसश्चैव वाचो मुञ्चन्त सर्वशः" इति। तच्च श्रीगोवर्द्धनशृङ्गाग्रैर्मेघवर्गोद्घट्टनक्रीडार्थमेवेति ज्ञेयम् तत्र व्रजकर्तृकदर्शनसौकर्याय श्रीकृष्णकर्तृकधारणसौकर्याय शोभा-विशेषाय चेदं कल्पते उत्थापनसमये लीलाशक्त्यानुकूल्येन पर्वतमध्याधोभागात् विच्छिद्य कुट्टिमायमानो महाशिलासमुच्चय एको मध्यगर्त्ते स्थितः यं शिलासमुच्चयमारुह्य यं निम्नं पर्वतमध्यदेशं श्रीहस्तेन विष्टभ्य च सुखं दधारेति अत्र गर्त्तमध्ये बहिर्जलपतना-गमननिवारणादिसमाधानशतमपि लीलाशक्त्यानुकूल्येनैव ज्ञेयम् तथाच श्रीहरिवंशे "स धृतः सङ्गतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना। गृहभावं गतस्तत्र गृहाकारेण वर्चसा" इति एवं वामकरेण लीलया तद्धारणं वस्तुतः निजजीवनानपेक्षया तदेकसुखापेक्षकाणां व्रज-जनानां तेषां स्वीयाश्रमबोधनेन सुखार्थमेव अन्यथा तेषां सर्वनाशतोऽपि महादुःखापत्तेः एवमन्यच्च तस्य सर्वमेवोह्यम् ॥ १९ ॥ हे अम्बेति मातुरादौ सम्बोधन स्नेहविशेषेण पुत्रहेतुकेन्द्रक्रोधवृष्टिदृष्ट्या तया वा पुत्रदुःखशङ्कया चिन्ता दुःखाकुलायाः सान्त्वने-च्छया च। ततश्च हे तातेति स्नेहानुक्रमात् तस्य प्रवेशे सत्येव तस्याः प्रवेशाश्च उपलक्षणञ्चैतत् श्रीरोहिण्यादीनां हे व्रजौकसो यथोपजोषमिति यथा व्रजे वासस्तथैवात्रापि सम्पत्स्यत इति भावः। ननु, "मध्ये योजनविस्तारं तावद्द्विगुणमायतम्" इति श्रीहरिवंशे व्रजविस्तारस्य वर्णितत्वात् कथं गोवर्द्धनगर्ते व्रजो माति ? उच्यते; तस्याचिन्त्यशक्त्या महत्त्वापत्तेरिति तथाच हरिवंशे तेनैवोक्तं "शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्मिता मया। त्रैलोक्यमप्युत्सहते रक्षितुं किं पुनर्व्रजम्" इति। गिरेर्गर्त्तं तन्मूलोत्पाटनभूभागं गर्त्त एव समाह्वानञ्च वाताद्यावरणापेक्षया गावः पशव एव धनानि। यद्वा, गावो धनानि चान्यानि तत् सहिताः तदेवं सर्वव्रज-वासिनां तत्पश्चादेवावगतत्वं तद्वचनस्य च सर्वसुश्रवत्वं ध्वनितम् ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

असतां श्रीमदेन दुश्चेष्टितानाम्, अन्यचैर्न्याख्यातम्। यद्वा, श्रीमदं हरिष्य इत्यत्र हेतुमाह—हि यतः सुराणामीशोऽहमिति विशेषेण स्मयो गर्व्वः, नोपकल्पते योग्यो न भवति, यतः सद्भावयुक्तानामतः श्रीमदेनासतामपि तेषां हितमेव करिष्यामीत्याह—मत्त इति। प्रशमाय प्रकृष्टः शमः शान्तिः सुखं वा, किंवा (भा० ११।१९।३६) 'शमो मन्निष्ठता बुद्धेः' इति श्रीभगवदुक्त्या तन्निष्ठबुद्धिता तस्मै भवति। असतामिति शक्रदुश्चेष्टिताभिप्रायेण ॥ १७ ॥ अहमेव शरणं रक्षिता यस्य तत्, यतोऽहमेव नाथ ईश्वरो यस्य तत्, अन्यथा ममैवैश्वर्य्यहानिः; किञ्च; मम परिग्रहं कुटुम्बम्, अतोऽकृत्येनापि रक्ष्यमित्यर्थः। यद्वा, मम शरणं आश्रयम्, मम नाथं परिपालकम्, कुतः ? अहमेव परिग्रहो न पुत्रदारादिसर्व्वं यस्य तत् मदेकप्रियमित्यर्थः। स्वेषु निमित्तेषु, यद्वा, सुशोभन ऐश्वर्य्यविशेषसम्वलितलौकिकलीलामयो य आत्मयोगो निजशक्तिविशेषस्तेन रक्षामि। ननु तेनात्रैश्वर्य्यविशेषप्रकटः स्यात्, तत्राह—सोऽयमिति। अन्यथा 'सकृदेव प्रपन्नो यः' इत्यादिव्रतभंगापत्तिः; यद्वा, व्रतः प्रतिज्ञा मं मया आहितो दृढं धृत इत्यर्थः; एतच्च गोपादीनामाश्वासनार्थं महावीरदर्पोद्घाटनं ज्ञेयम् ॥ १८ ॥ एकेन वामेन, (विष्णु० प० १८।३१) 'सव्येन पाणिना' इति हरिवंशोक्तेः, तथैव श्रीमूर्त्त्यादिदर्शनाच्च, गोवर्द्धनं स्वनाम्नैव महाद्रिवर्गेषु प्रसिद्धम्; यद्वा, गवां हितकृत्त्वेन विख्यातम्, न कथमपि कदापि चलतीत्यचलः, तच्च तच्च, लीलया अनायासेन; यद्वा, कटितटे दक्षिणश्रीहस्तन्यासादिभंगीविशेषेण दधार, स्रो बालकः कलितबाल्यः श्रीनन्दकुमारो वा यो विष्णुः, स इति तद्धारणेऽपि बाल्यलीलाद्यनतिक्रमः, तेन च बाल्यलीलाविशेष एव दर्शितः। विश्वं व्याप्नोतीति विष्णुरिति प्रयासो निरस्त एव; यद्वा, बालकः कश्चिद्यथा छत्राकमिति तथापि स एवार्थः। तत्र च छत्राकमित्यनेन यथैकहस्तेन छत्राकस्य मूलदण्डधारणेन सर्व्वस्य धारणं स्यात्, तथा श्रीगोवर्द्धनस्य मूलैकभागधारणेन सर्व्वस्यैव तस्य धारणं वृत्तमिति बोधितम्। श्रीवैशम्पायनेन त्वभिप्रेतं जनैरलक्ष्यमाणेन बृहदाकारेण सता तेनाय धृत इति, तथा च हरिवंशे (विष्णु० प० १८।३१)—'स धृतः संगतो मेघैः' इति तथा (विष्णु० प० १८।३७) 'अप्लुतोऽयं गिरिः पक्षैरिति विद्याधरोरगा गन्धर्व्वाप्सरसश्चैव वाचो मुञ्चत सर्व्वशः ॥' इति। अन्यथा सूक्ष्मनिजकरेण धारणे स्वल्पमात्रोच्चताप्राप्तौ तत्तदुक्तसंगतेः; तच्च श्रीगोवर्द्धनशृङ्गाग्रेमेघवद्गोघट्टन-क्रीडार्थमेवेति ज्ञेयम्। एवं वामकरेण लीलया तद्धारणम्, वस्तुतो निजजीवनानपेक्षया तदेक सुखापेक्षकाणां व्रजजनानां तेषां स्वकीयाश्रमबोधनेन सुखार्थमेव, अन्यथा तेषां सर्व्वनाशतोऽपि महादुःखापत्तेः; यद्वा, गोवर्द्धनस्य तथैव तथात्वम्, श्रीविग्रहस्य तु न बृहत्त्वम् एवमन्यच्च तस्य सर्व्वमेवोह्यम् ॥ १९ ॥ अथ गोवर्द्धनधारणानन्तरमाह—किं—स्वस्य सम्यगप्रयास एव द्योतितः, अन्यथा सम्भाषणाशक्तेः। हे अम्बेति मातुरादौ सम्बोधनं स्नेहविशेषात्; यद्वा, पुत्रहेतुकेन्द्रकोपधृष्टिदृष्ट्या, तया वा पुत्रदुःखशंकया चिन्तादुःखाकुलायाः सान्त्वनार्थम्। ततश्च हे तातेति तस्य प्रवेशे सत्येव तस्याः प्रवेशात्; यद्वा, सर्व्वगोष्ठार्त्तिव्यग्रस्य तस्याश्वासनार्थम्; यद्वा, तयोः प्रवेशे सत्येव सर्व्वेषामन्येषां प्रवेशसिद्धेरादौ पृथक् तयोः सम्बोधनम्। हे व्रजौकस इति यथा व्रजे वासोऽत्रापि तथैव सम्पत्स्यत इति भावः। यथोपजोषं स्वस्वप्रीत्यनुसारेणेति तद्गर्त्तस्यासंकीर्णतादिकं बोधितम्; तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु० प० १८।५६) तेनैवोक्तम्—'शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्म्मिता मया। त्रैलोक्यमप्युत्सृष्टे रक्षितुं किं पुनर्व्रजम् ॥' इति गिरेर्गर्त्तं तन्मूलोत्पाटन-भूभागम्। गाव एव धनानि; यद्वा, गावो धनानि धान्यानि रत्नस्वर्णरजतादि-द्रव्याणि तत्सहिताः; गोशब्देन सर्व्व एव पशवो लक्ष्यन्ते ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

मद्भावयुक्तानां मयि भावबन्धयुक्तानाम् ॥ १७-२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु उपेन्द्रादिरूपेण तद्रक्षणशीलः कथं तदनर्थोद्युक्तः ? इत्यपवादशङ्कया स्वयमेव सोपपत्तिकं तत्समाधानमाह—नहीति। मद्भावयुक्तानां मयि भक्त्यात्मकभावबन्धयुक्तानां सुराणां सत्त्वप्रचुराणाम् ईशा वयमिति विस्मयो गर्वो न हि नास्त्येव अथापि प्रकृतिवशात् कदाचिदसज्ज्ञानानामीशविस्मयवतामसतां तेषां मानभङ्गः ईशविस्मयभङ्गः प्रशमायवोकल्पते तद्रक्षैककार्यत्वस्य मम तन्मानभङ्गद्वारा तदुपशान्त्युपयुक्तोद्योग उचित एवेति भावः ॥ १७ ॥ तस्मात् तदुद्योगस्य सूचितत्वात् गोकुलस्य शरणागतत्वाद् मामेव नाथो रक्षिता यस्य अहमेव रक्षणोपायो यस्य अहमेव परिग्रहः शरण्यः प्राप्यो यस्य तद्गोष्ठं स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोपाये रक्षेयं सोयं शरणागतरक्षणमद्भक्तविस्मयभङ्गरूपो व्रतो मया आहितः धृतः ॥ १८ ॥ इति इत्थमुक्त्वा एकेनैव हस्तेन गोवर्द्धनाचलं कृत्वा उत्कृत्य उत्पाट्येति यावत् सम्प्रवर्षः विष्णुः श्रीकृष्णः लीलया शिलीन्ध्रमिव दधार वामकरकनिष्ठिकानखाग्रेण दधारेत्यर्थः ॥१९॥ अथ धारणानन्तरं भगवान् गोपानाह, उक्तिमेवाह—अम्बेत्यादिना तथेत्यतः प्राक्तनेन। हे अम्ब ! हे तात ! हे व्रजौकसः ! यथासुखं सगोधनाः सर्वे यूयं गिरिखातं निर्विशत ॥ २० ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अज्ञानहरणेन किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य संसारबन्धननिमित्ताहङ्कारनाशनार्थमित्याशयेनाह—नहीति। मद्भावयुक्तानां मद्भक्तियुक्तानाम् इत्यमर्थश्चेत्पाठोऽप्येवं किं न स्यादिति चेन्न भक्तिशब्दार्थविवरणार्थत्वात् तथाहि भावो लीलाक्रिया चेष्टाभक्त्या-

दिव्यर्थेषु भावशब्दप्रवृत्तेः भगवल्लीलादिमत्त्वप्रदर्शनेन सर्वकालम्भगवत्येव मनोवृत्तिरिति प्रकाशनेन भक्तेरितिमितत्वमुक्तं स्यादिति ईशोऽहमिति स्मयोऽत्युल्वणदर्पो नहि सतां स्वभावमाह—मत्त इति । प्रशमाय प्रकृष्टमन्निष्ठायै ॥ १७ ॥ ममायं जयस्तम्भ इत्याह—तस्मादिति । अहमेव परिग्रहो मूलं यस्य स तथा पत्नीस्वीकारशपथमूलेष्वपि परिग्रहः इति व्रतो नियमो जयस्तम्भः गोपाये पालयामि ॥ १८ ॥ कृत्वा उन्मूल्य "कृती च्छेदने" छत्राकं शिलीन्ध्र यथोपजोषं यथासुखं गत्तं विलम् ॥ १९–२० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गोपाय इति वर्त्तमानप्रयोगेन स्वाभाविकत्वं व्यञ्जयति ॥ १८–२२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नचैवमिन्द्रायातिक्षुद्राय अतिक्षोदीयसेऽहं स्पर्द्धे किन्तु तस्य मद्भक्तस्योद्भूतं दोपमेव कृपयैव चिकित्सन्नस्मीत्याह नहीति । सद्भावः सत्त्वं मद्भक्तिर्वा तद्युक्तानां सुराणामीशा वयमिति विशिष्टः स्मयो गर्वो हि यस्मान्न घटते तस्मात् सम्प्रति असन्मार्गे स्थितत्वादसतां तेषां मानस्यादरस्य भङ्ग एव प्रशमाय गर्वरोगस्योपशान्त्यै ॥ १७ ॥ किञ्च, यतस्तत्कृतमिदमत्र सङ्कटमुपस्थितं तस्माद्गोपाये मम शरणं गृहरूपं "शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यनेकार्थवर्गः । गृहस्यास्याहमेव नाथ इत्याह—मन्नाथं मम परिग्रहाः पितृभ्रातृप्रेयस्यादयो यत्र तत् न केवलमस्मादेव सङ्कटाद्गोपाये अपि तु सर्वस्मादपि सङ्कटान्महाप्रलयकालादपीत्याह—स प्रसिद्धोऽयं व्रतो नियमो मे मया आहितो गृहीतः ॥ १८ ॥ इति स्वगतमुक्त्वा एकेन हस्तेनेति वामेनैव यदुक्तं हरिवंशे "स धृतस्सङ्गतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना । ग्रहभावं गतस्तत्र गृहाकारेण वर्चसा" इति छत्राकं शिलीन्ध्रमिव दधारेति दिधीर्षासमये योगमायांशभूतया संहारिक्या शक्त्या तावत्यपि वृष्टिराकाश एव तथा सञ्जह्रे यथा स्वगृहालिन्दादतिवेगेन गोवर्द्धनमुद्धर्त्तुमभिद्रुतवतो भगवत उष्णीषादिवासांस्यपि नातिस्तिमितानीति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥ यथोपजोपं यथा सुखम् । ननु, क्रोशत्रयमात्रस्य गोवर्द्धनस्य तले सर्वे-व्रजस्थाः कथं मान्तु ? उच्यते भगवत्पाणिस्पर्शानन्दादेव लब्धाचिन्त्योजसा श्रीगोवर्द्धनेन कुपितेन्द्रप्रक्षिप्तकुलिशशतघातमपि स्वपृष्ठे कुसुमहारमिवानुभवता तथा सम्यगवुद्ध्यत यथा योजनचतुष्टयप्रमाणव्रजनगरस्था जनाः सर्वे एव गवादिपशवश्च स्वतले यथावकाशमेव निवासयामासिरे अत एव हरिवंशे भगवतोक्तम्—

"शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्मिता मया । त्रैलोक्यमप्युत्सहते रक्षितुं किं पुनर्व्रजम्" ॥ इति ।

किञ्च, गोवर्द्धनोपरिस्थानां हरिणवराहादीनां पशूनां पक्षिणां च "सधृतः सङ्गतो मेघैः" इति हरिवंशोक्तेस्तन्नितम्बारूढान् वर्षतो मेघानालक्ष्य तदूर्ध्वशृङ्गाण्यारोहतां न तिलमात्रमपि कष्टमभूदिति ज्ञेयम् ॥ २०–२१ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

"यत्सत्त्वतः सुरगणाः" इति शास्त्रात् सद्भावयुक्तानां सत्त्वगुणयुक्तानामीशा वयमिति विस्मयो गर्वो न घटते हि यदि तत् सहचरयो रजस्तमसोरपि वृद्धिर्दैवात्स्यात्तदा सात्त्विका अपि असन्तो भवन्ति तेषामसतां मत्तो मानभङ्गो युक्त एव स च प्रशमाय पुनः सद्भावाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १७ ॥ शोभनेन आत्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोपाये रक्षिष्यामि सोऽयं शरणागतरक्षणरूपो व्रतः मे मया आहितः धृत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ द्वाभ्यां हस्ताभ्यां कृत्वा उत्कृत्य उत्पाट्य छत्राकं शिलीन्ध्रमिवैकेन हस्तेन दधारेत्यन्वयः—

"दोर्भ्यामुत्पाटयामास कृष्णो गिरिरिवापरः" इति । "दधारैकेन हस्तेन शैलं प्रियमिवातिथिम्" ॥

इति च हरिवंशे ॥ १९ ॥ यथोपजोपं यथावकाशं गिरिगर्त्तं गिरिखातम् ॥ २०–२१ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

स कस्त्वं कः कुतस्तन्मदहरणं हर इत्यत आह ॥ न हीति । मद्भावयुक्तानामिदानीमनङ्कूरणेऽपि भक्तियुक्ताऽनपोहादेव-शुक्तिः । सुराण.मीश इति विस्मयो गर्वो न हि युक्तो न मत्तो मत्सतां मानभङ्गो मानहानिः प्रशमाय । बुद्धिर्मन्निष्ठतायै उपपद्यते ॥ १७ ॥ मच्छरणमहमेव रक्षयिता यस्य तन्मन्नाथं मया परिग्रहो मदीयतया स्वीकारो यस्य तद्गोष्ठमगेन पर्वतेन गोपये रक्षामि । इत्याहिताऽयं स्वात्मने इति नः स्वात्मानं याति गच्छतीत्यात्मयो मयि सर्वदा विद्यमान इत्यर्थः । एतेनाहित इत्यस्यारोपित इत्ययं भ्रमो वारित इति ज्ञेयम् । यमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादिपुण्यकमित्यमरात्पुल्लिङ्गोऽपि व्रतनियम इत्यर्थो वा मे व्रते नियमे सति कृते सोऽयं समय आहितः सम्यगागतोऽव्रते इन्द्रयागेऽननुष्ठिते सोऽयमाहित इति वा ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वा व्रजजनं प्रत्येकेन हस्तेन गोवर्धनाचलं कृत्वोत्कृत्य । ह्रस्वान्तोऽपि धातुस्ततो नुम् । वालकश्छत्राकमुच्छिलीध्रमिव लीलया दधार । गिरिं मद्वचने सति ॥१९॥ अथ गिरिधारणानन्तरं हे अम्ब हे तात हे व्रजौकस इति गोपानाह । यथासुखं सगोधना गतं विशत ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

ननु किं तदज्ञानहरणेनेत्यत आह न हीति, मद्भावः शुद्धसत्त्वं देवत्वं वा पूज्यत्वमैश्वर्यं वा, षण्णां यत्र स्थितिस्तत्राज्ञानं न तिष्ठेदित्यन्यथा स न मद्भावः स्यात्, भक्तिस्तु नात्र विवक्षिता विस्मयसामानाधिकरण्याभावादत ऐश्वर्यसत्त्वादेरज्ञानसहकारित्वं न युक्तमित्युभयोरप्यन्यतरनिराकरणे कृपालुत्वात् तम एव हरिष्ये, ईशा वयमिति विशेषेण स्मयो गर्वो न हि लोकेपि भवति जाते वा सोधिकारी स्थाप्यते, लोकन्यायेन त्वकरणं कृपालुत्वादेवाक्लिष्टार्थं च, ननु मानभङ्गापेक्षयाधिकाराभाव एव श्रेष्ठ इति चेत् तत्राह मत्तोसतामिति, यद्ययं मानभङ्गोन्यतः स्याद्युक्तं स्याल् लज्जाकरश्च भवेन् मत्तः सर्वेश्वरान् मानभङ्ग उचित एव नात्यन्तं लज्जाकरः, यद्यप्येक एवेन्द्रस्तथा भवेत् तदा निराकर्तव्यः स्यात् सर्व एव तथा जाता इति प्रधानशिक्षया सर्वं एव शिक्षणीयाः, तदाहासतामिति, सर्वे एव लोकपाला असन्तो जाता इति, अन्यथान्योप्येतादृश एव स्यात् ततोनवस्था भवेत्, तस्मादसतां मानभङ्ग एकद्वारा कृतः सर्वेषामेव प्रशमाय भवत्युप समीपे च कल्पते शीघ्रं च भवति, प्रत्येककरणे बहु कर्तव्यं स्यात्, एतद् राजमन्त्रणम् ॥ १७ ॥ नन्वेतेभ्य एव आवश्यकत्वाल्लाघवादिदानीमेव कथं न मुक्तिर्दीयते मानभङ्गस्तु प्रकारान्तरेणापि भवति गोवर्धनस्य तूद्धरणमलौकिकं ज्ञानोपदेशो वा कर्तव्योलौकिकं सामर्थ्यं वा देयं बृहस्पतिद्वारेन्द्रो वा निवारणीयोत एतावति प्रकारे सति गोवर्धनोद्धरणमेव कुतः क्रियत इत्याशङ्क्याह तस्मादिति, अहमेव शरणं यस्य नापि ज्ञानं नापि भक्तिरन्यथावतारप्रयोजनं न स्यात्, पुष्टिमार्गश्च न भवेत्, तत्रापि गोष्ठं, न हि गाव उपदेशयोग्याः, इदानीं तु मुक्तिर्भक्तिमार्गविरोधिनी, तदाह मन्नाथमिति, अहमेव नाथः स्वामी यस्यातः स्वामिसेवकभावनाशकत्वात् नेदानीं मुक्तिर्युक्ता, किञ्च मत्परिग्रहमिति, मम परिग्रहो यत्र मया सर्वे सङ्ख्याता एव परिगृहीतास्तत्र यद्येकोप्यंशो गच्छेत् तदा प्रतिज्ञाविरोधः स्यात् तथा सति विशेषाभावात् सर्वनाश एव भवेदतो यथा ते जीवाः परिगृहीता एवं तेषां देहा अप्यतो गोपाये, साधनं तु स्वात्मयोगेनेति, पर्वतधारणे योगमायायाः करणत्वमेतेषां सर्वथा रक्षायां स्वात्मयोग एव, यथा वायुनिरोध इन्द्रियाणि सर्वोपद्रवरहितानि भवन्ति तथैतेष्वहमात्मानं स्थापयिष्यामि, ततो मयि स्थिता मदभ्यन्तरस्थितपूर्वभुक्तान्नभोजिनो भूत्वा सुखिता भविष्यन्तीत्ययमेव पूर्वकृतभोजनोपयोगः, ननु किमेतावत्क्लेशेन ? तत्राह, सोयं मे व्रत आहित इति,

शरणागतसंरक्षा सर्वभावेन सर्वथा । 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' ॥ १ ॥
'सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम' ॥ २ ॥

तस्मात् सर्वथा स्वव्रतं पालनीयमिति, स्वधर्मनिर्वाहार्थमेव गोपाये, नन्वेतद् व्रतमेव किमिति गृह्यते ? तत्राहायं व्रतः पूर्वमेव मयाहितः स्वीकृत आस्थितो वातो गृहीतस्य त्यागाभावात् पालनमेवोचितम् ॥ १८ ॥

प्रथमं क्लेशसम्बन्धः पूर्वपाषण्डधर्मतः । शरणागमने बुद्धिर्योगानुष्ठानतोभवत् ॥ १ ॥
मर्यादास्थापनार्थाय शरणागतिवर्णनम् । अन्यथान्यगृहीतार्थं गृह्णीयाद् भगवान् कथम् ॥ २ ॥
अतो यागोपदेशश्च दूरोपायतया मतः । भक्तिमार्गस्तथाक्लिष्टकर्मत्वं च ततो भवेत् ॥ ३ ॥

अतो भगवानेवं विचार्य तान् प्रति तथोक्त्वा विश्वासार्थं श्रुतिविरोधपरिहारार्थमाधिदैविकसम्पत्त्यर्थं मायागोवर्धनादीनां प्रबोधनार्थं च तथोक्त्वा गोवर्धनोद्धरणं कृतवानित्याहेत्युक्त्वेति, अयं गोवधन उत्तोलितः संश्चलः स्यात् तथा सति स्वरूपनाशो भवेदचलो हि सोत एकेन हस्तेन गोवर्धनमचलं कृत्वा दधारेतिसम्बन्धः, गा वर्धयतीति गोवर्धन आधिदैविकस्य नामेति पूर्वं व्यवस्थापितः, स चलोपि भवेत् तस्याप्यचलता सम्पादिता धारणार्थमेकया क्रियाशक्त्या पालनलक्षणयान्यथा सेवायामपि प्रवृत्तश्चचलं स्यात्, अथ बाल्यो गोवर्धनो लम्बो विकृतश्च तमेकेन हस्तेन यादृश उद्धर्तव्यस्तादृशं कृत्वा पश्चाद् दधार, एवं सति क्लेशो भवेत् किं वा प्रयोजनमित्याशङ्क्याह लीलयेति, लीलायां क्लेशो रसाय भवति, लीलामात्रेण कृतमित्यक्लेशश्च, ननु सर्वेश्वरो भगवान् कथमेवमचलं विधाय स्वतःस्थितमन्यथाकृत्वा पालनं कृतवान् प्रकारान्तरेणापि पालनसम्भवात् ? तत्राह छत्राकमिव बालक इति, यथा बाला लीलायां छत्राकं स्थिरमपि राजलीलां बोधयितुं तत उत्पाट्य मस्तकोपरि स्थापयन्ति तथा सति बाललीला सा भवेदन्यथा मर्यादाभङ्गो दोषाय स्यादत एवेन्द्रो न निवृतः पौरुषस्याप्रकटितत्वादनायासेपि दृष्टान्तः, वस्तुतो रक्षा भगवतैव कृता न तु गोवर्धनेनात्युद्धृतेन न हि छत्राकं क्वचिद् वृष्टिं वारयति वृष्ट्या नाशसम्भवाच्चातोप्रयोजकत्वमपि ज्ञापयितुं दृष्टान्तः, तथोद्धृतवान् यथा मध्ये गर्तो भवति प्रान्तभागश्चोन्नतो गर्ताधिकप्रदेशे तद्गता छाया ॥ १९ ॥ एवं धृत्वा शरणागतानाहाथेति, उपायं कृत्वैव समाधानवचनमुक्तत्वान्न तु पूर्वमित्यानन्तर्यार्थोथशब्दः, भगवानिति पर्यवसानपरिज्ञानं, गोपानिति धर्मपरान्, अन्यथा भगवद्वाक्ये विश्वासो न भवेद् विपरीतक्लेशानुभवात्, अतस्तान् प्रत्याहेति वक्तव्ये गोपानाहेत्युक्त, तेष्ववान्तरभेदं वक्तुं स्थानविशेषनिर्देशार्थं स्नेहेन विशेषतः सम्बोधयति हेम्ब हे तात हे व्रजौकस इति, राजसादित्रैविध्यं च प्रदर्शितं सर्व एव पाल्यन्त इतिज्ञापनार्थं, यथोपजोषं यथासुखं गिरिगर्तं विशत, सर्वेषामेव स्थितो महत् स्थानमस्तीति बोधितं, गोधनसहिता गाव एव धनानि येषां गोभिर्धनैश्च सह वा ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

गोपाये स्वात्मयोगेनेत्यत्र, पर्वतधारण इत्यारभ्य भविष्यन्तीत्यन्तम्। अत्र हि द्वयं कार्यम् आसाराद्रक्षा पर्वतधारणेन, एतेषां जीवदेहादिरक्षा च अन्यथा पर्वतधारणेऽपि प्रलयकालीनमेघानां स्तनितादिभिरेतत्प्राणस्थितिर्न स्यात्। तदेतदुक्तं पर्वतधारण इत्यारभ्य योग एवेत्यन्तेन। तेनात्मयोगेन गोपाये। स्वात्मयोगेन गोपाय इति मूलार्थो विवक्षितः, अन्यथा स्वपदं न वदेत्। अथवा। स्वश्चात्मयोगश्च तयोः समाहारस्तथा। युज्यते फलमनेनेति योगः साधनं सामर्थ्यं शक्तिरिति यावत्। आत्मनः सा योगमायैवेति सैवोक्ता। एव सति स्वेन तत्प्राणादिरक्षा स्वरूपानन्ददानेन। तदुक्तं 'क्षुत्तृड्व्यथा'मित्यनेन मूले। तथाचाद्रिधारणं तेनासाराद्रक्षेति भावः। 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठ'मिति वाक्योक्त्यनन्तरं प्राप्ताशङ्कानिरासायाहुः प्रथमं क्लेशसम्बन्ध इत्यारभ्य ततो भवेदित्यन्तम्। नन्वीदृक्परिग्रहे नन्दादीनामन्यभजनमसम्भवि। कथञ्चित्सम्भवे वा ततो निवर्तनमवोचितम्, न तु यागोपदेशोऽपि, स्वरूपेणैवैतत्परिग्रहात्साधनानन्तरानपेक्षणात्। न चाधुनैवायं परिग्रह इति वाच्यम्, 'स्वगोकुलमनन्यगति'मित्यादिवाक्यैः सार्वदिकत्वात् किञ्च, स्वस्य सर्वज्ञत्वेन व्रजपरिग्रहस्य च पूर्वसिद्धत्वेन शरणागमनप्रार्थनपर्यन्तं तूष्णींभावोऽनुपपन्न इति चेत्तत्राहुः प्रथममित्यादि। अत्रायं भावः। अत्र परिग्रहेणैव सर्वम्, न तु सोऽत्यन्तसाधनसाध्य इति ज्ञाप्यते। एवं सति पूर्वं विपरीतसाधनवत्त्वेऽपि स्वपरिग्रहेणैव तन्निवर्तनोक्तौ तत्सम्पद्यते, न तु पूर्वमेव तदभावोक्तौ। अत एवेतरसाधनासाध्यत्वोक्तिपूर्वकं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इति श्रुतिरप्याह। इदमेवोक्तं प्रथमं क्लेशेत्यर्धेन। यागोपदेशप्रयोजनमाहुः शरणागमन इत्यादि। अन्यथा भगवद्वचनान्निन्द्रियागे त्यक्तेऽस्माभिः क्लेशः प्राप्त इत्यसूयैवोत्पद्यत। तथा सति सर्वो निरोधो व्यर्थः स्यात्। परिग्रहस्य स्वतः प्राबल्यज्ञापनायैतेषां लोकसाधारणो रीतिर्यत उच्यते, अतो नासूयानुत्पत्तिशङ्कापि। पूर्वं देहेन्द्रियादीनामन्यत्र विनियुक्तत्वादपि तत्सम्भवः अत एव तादृशत्वे इन्द्रियादीनां निरोधो न सम्भवतीति स्वकर्मणि विनियुक्तवांस्तानि तद्वस्तूनि च तथा सति पूर्वदोषापगमात्प्रभौ न दोषारोपः, तच्छरणागमने च बुद्धिरभूत्। न च स्वरूपबलेनैव परिग्रहादेतन्नैरर्थ्यमिति वाच्यम्, परिग्रहान्तः पातित्वादस्य। परिग्रहो हि तेषां तदीयस्य च वाच्यः, तेषां च परिग्रहीतृनिष्ठत्वाभावे परिग्रहस्वरूपादम्भवात् न च शरणागमनेन परिग्रहोऽन्यथासिद्ध इति वाच्यम्, तस्यैव रक्षाहेतुत्वात्। शरणागतिवर्णनं तु भगवत्परिगृहीता भगवन्तमेवैहिके पारलौकिके चार्थे प्रार्थयन्ति, नान्यमिति भक्तिमार्गीयमर्यादाज्ञापनार्थम्, परिग्रहोऽप्यनेन सिद्ध इति ज्ञापनार्थं च। अन्यथेन्द्रापराधेऽनिष्टं दृष्ट्वा, अतः परं त्वद्यागमेव करिष्यामोऽस्मान्रक्षेतीन्द्रमेव प्रार्थयेयुः। इदमेवोक्तं मर्यादास्थापनायेत्यनेन। अथवा। मादकार्थमत्तस्येतरागणनवत्परिग्रहस्वभावेनैव को वा वराक इन्द्रोऽस्माकं कस्य वा भयमिति स्मयेन प्रभुमपि चेन्न प्रार्थयेयुस्तदपि रक्षणीया एव स्युः, परन्त्वेतद्भावानुसारेणैव। तथा सति गोवर्धनोद्धरणं न स्यात्। वृष्टिनाश एव कर्तव्यः स्यात्। एवं सति गोवर्धनोद्धरणेऽन्यापेक्षाराहित्यपूर्वकप्रियेक्षणकेवलभगवदीयत्वमाहात्म्यज्ञानगोविन्दनामधारणाभिषेकादिलीला यास्तासामननुभवोऽसम्भवश्च स्यात्, एतज्जनितनिरोधश्च न स्यात्। तथा सत्येतन्निरोधार्थमेव सर्वकरणमिति नियमरूपा या मर्यादा सा भज्येत अतस्तद्रक्षणाय तथेत्यर्थः। किञ्च, अस्य साधनप्रकरणत्वात् साधनमार्गानुसारेण या लीला कृता, सैवात्रोच्यते। अतोऽन्ययागनिषेधस्वयागकारणशरणागमनतदनन्तररक्षणादिकथनं च युक्तमितिभावः। विपक्षे बाधकमाहुः अन्यथेति। यद्येतान्सर्वतः पृथक्कृत्यात्मसात् करिष्यामीतीच्छयैव यागभङ्गादिकं न कृतं स्यात्, तदेन्द्रार्थमुद्दिष्टत्वेन तच्छेषीभूतमन्नं नोरीकृतं स्यात्। अन्येनाप्यन्नेन गोसवसम्भवात्। तथा सति गोकुले तदीयेशः स्थापित एव भवेत्। अत एव प्रभूणोक्तं 'य इन्द्रयागसम्भारास्तैरेवायं मखः साध्यताम्, नान्यै'रिति। अतः केवलात्मसात्करणेनाग्रे केवलस्वरूपानन्ददानार्थमेव यागोपदेश इत्याहुरतो यागोपदेश इत्यादिना। किञ्च, एवमनन्यभक्तिमार्गः सिध्यति, अन्यथान्यसंवलितैव सा स्यात्। यावति कृते भक्ताः कालकर्मादिभ्यो मुक्ताः सन्तः केवलं स्वीया भवन्ति, तावति क्रियमाणे सति यदानुषङ्गिकमिन्द्रमानभङ्गादिकं भवति, तद् भवतु नामेत्यक्लिष्टकर्मत्वं च स्यादित्याहुर्भक्तिमार्गे इति। इत्युक्त्वैकेन हस्तेनेत्यस्याभासे, विश्वासार्थमित्यादि। सार्धेनाद्येन गोपानां रक्षिष्यत्येवेति विश्वास उत्पादितः। स्ववचनकृतिहेतुकत्वज्ञाने सत्यवश्यं तत्प्रतिकृतिर्भवतीति तज्ज्ञापनायापतीवित्याद्युक्तम्। यतो वचनेन यागे कृते प्रत्यक्षं देवो दृष्टः। तदुक्तं 'कृष्णस्त्वन्यतम'मित्यनेन। इन्द्रदमने क्रियमाणे 'त्विन्द्रस्य युज्यः सखे'ति श्रुतिविरोधो भवेत्। तत्र श्रीमदद्दृहरणोक्त्या हितकर्तृत्वेन स परिहृतः। आधिदैविकस्य सर्वत्रैव भगवद्रूपत्वात् तद्युक्तस्य च मदासम्भवादस्य च तद्युक्तत्वात् तद्रहितत्वेन मानभङ्ग आधिदैविकसम्मत एवेति ज्ञापनायोक्तं नहि मद्भावयुक्तानामिति। अन्यथा मद्भावयुक्तानामिति न वदेदिति भावः। गोपाये स्वात्मयोगेनेत्यनोक्तरीत्या तयोः प्रबोधनम्। आदिपदेन गोवर्धनस्थवृक्षपक्ष्यादय उच्यन्ते। तेषामावरणाभावान्नाशस्य चानिष्टत्वात् तेष्वपि स्वयोगो ज्ञाप्यते। अन्यथेत्युक्त्वा दधारेति न वदेत्, वचनं विनापि गोवर्धनोद्धरणेन रक्षासम्भवादिति भावः॥ १८–१९॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः॥ २२॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तस्मान् मच्छरणमित्यस्याभासे अलौकिकं सामर्थ्यमिति "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्य" इतिमते इव जीवानां देहादिकं विनैव लीलाकरणसामर्थ्यमित्यर्थः, एतस्य समाधानं मत्परिग्रहमित्यनेन भविष्यति बृहस्पतिद्वारेत्यस्य समाधानं स्वात्मयोगेनेत्यनेन, एवम्प्रकारेण न तु प्रकारान्तरेणेत्यर्थः, व्याख्याने, नापि भक्तिरिति ज्ञानोपदेशकथनेन "ज्ञानयोगश्चे"त्यादिवाक्ये स्तयोरैकार्थ्याद् भक्तिदानमप्याक्षिप्तमेवेति ज्ञेयं, स्वात्मयोग एवेति स्वात्मनः स्वरूपस्य योग एतेषु स्थापनमित्यर्थः, समाहारपक्षे मूलस्थस्वपदस्यैव विवरणमिदं, अव्यापारस्य करणतासम्भवात्, स्वं स्वात्मनो योगः स्थापनमित्यर्थः, व्यापारवतः करणत्वमते एतादृशप्रयोगेषु लक्षणेत्याद्यन्यत्र विस्तरः, स्वरूपस्थापनेन रक्षणं व्युत्पादयन्ति यथेति, वायोर्निरोधे प्राणायामैरन्तः स्थापने इन्द्रियाणां वाय्वधीनत्वादिन्द्रियाण्युपद्रवरहितानि बहिर्गमनरहितान्यन्तर्निष्ठानि भवन्ति तथा मत्स्वरूपस्यैतदन्तःस्थापने एतेषां मदधीनत्वादेतेन्तर्निष्ठा भविष्यन्तीत्यर्थः, आत्मानं स्थापयिष्यामि तदा एते उपद्रवरहिता अन्तर्निष्ठा भविष्यन्तीतिशेषः, तत इति एतेषामन्तर्निष्ठत्वादन्तश्च मम स्थितत्वान् मयि स्थिता मन्निष्ठा इत्यर्थः, सुखिता इति मद्भुक्तत्वप्रभावरूपसामर्थ्येन स्तनितादिप्रतिघातरहिता इत्यर्थः, इतीति एवं स्वात्मयोगेन रक्षेत्यर्थः ॥ १७ ॥ इत्युक्त्वैकेनेत्यत्र पूर्वं व्यवस्थापित इति "एषोवजानतो मत्र्या" नित्यत्र "गवां शमेण"एतन्नमस्कारकथनेनेत्यर्थः, अन्यथेति अचलत्वसम्पादनाभावे भगवता चालनेन चलनधर्माविर्भावे अन्यार्थं चलनाभावेपि हरिदासवर्यत्वात् सेवाप्रवृत्तौ चलनं स्यादेव, अचलत्वसम्पादने त्वचलत्वाविरोधेन या सेवा "पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूल" प्रकटनरूपा तामेव करिष्यतीत्यर्थः, भगवता अचलत्वं सम्पाद्यैवोत्थापनान् न चलत्वमितिभावः ॥ १९ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

तस्मान् मच्छरणं गोष्ठमित्यत्र शरणागतसंरक्षेत्यादि का० २२१$\frac{3}{4}$-२२२$\frac{3}{4}$। स्फुटं, अत्रैव प्रथममित्यादि का० २२३$\frac{3}{4}$-२२५$\frac{3}{4}$। एतच्च विस्तरेण व्याख्यातं टिप्पण्यां, अक्षरार्थस्तु स्फुट एव, अन्यथेत्यादि अन्यथा विशेषाङ्गीकाराभावे ईन्द्रार्थमुद्दिष्टं भगवान् कथं गृह्णीयात्, अतः केवलात्मसात्करणेनाग्रे स्वरूपानन्ददानार्थमेव यागोपदेश इत्याहुः अंतो यागोपदेशश्चेत्यादिना, किञ्चैवमनन्यभक्तिमार्गः सिध्यति अक्लिष्टकर्मत्वं च स्यादित्याहुः भक्तिमार्ग इति ॥ १८ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'सात्त्विकानां देवानां मानभङ्गः कथं युक्तः ?' तत्राह-नहीति। सद्भावः सत्त्वं 'मद्भाव' इति पाठान्तरम्, तद्युक्तानां सुराणाम् 'ईशा वयम्' इति विस्मयो गर्वो हि यस्मान्न युक्तः, 'अतस्तन्मानभङ्गो युक्त एव' इति शेषः। 'तेन किं स्यात्' इत्यपेक्षायामाह-मत्त इति। असतामीशाभिमानिनां यो मत्तो मानभङ्गः स प्रशमायोपकल्पते सर्वानर्थनिवृत्तये पर्यवस्यति ॥१७॥ तस्मादिन्द्रमानभङ्गकरणस्यावश्यकत्वात् स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोष्ठं व्रजं गोपाये रक्षयेयम्। सोऽयं व्रजरक्षाविषयको व्रतः सङ्कल्पः मे मया आहितः कृतः। तत्र हेतूनाह-मच्छरणमिति। अहमेव शरणं रक्षको यस्य तत् ॥ मन्नाथमिति। अहमेव नाथः स्वामी यस्य तत् ॥ मत्परिग्रहमिति। मया स्वकीयत्वेन परिग्रहो यस्य तत्, मत्क्रीडोपकरणभूतमित्यर्थः ॥ १८ ॥ इति स्वमनस्युक्त्वा कृष्णः लीलया अनायासेनैव एकेनैव हस्तेन गोवर्धनाचलं कृत्वा उत्कृत्य बालको यथा छत्राकं धरति तथा वामेन हस्तेन दधारेत्यन्वयः। वामहस्तेनैव धारणमुक्तं हरिवंशे-"स धृतः सङ्गतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना" इति ॥ १९ ॥ अथ धारणानन्तरं भगवान् "हे अम्ब! हे तात! हे व्रजौकसः! यथोपजोषं यथासुखं सगोधनाः सर्वे यूयं गिरिगर्तं विशत" इति गोपान् प्रत्याहेत्यन्वयः। तत्र "मध्ये योजनविस्तारं तावद्द्विगुणमायतम्" इति हरिवंशे व्रजविस्तारस्य वर्णितत्वात् 'कथं गोवर्धनगर्ते व्रजो माति स्म' इति शङ्कनीयम्, भगवतोऽचिन्त्यशक्त्या तस्य महत्त्वापत्तेः। तदुक्तं हरिवंशे तेनैव-"शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्मिया मया। त्रैलोक्यमुत्सहेऽन्येय रक्षितुं किं पुनर्व्रजम्" इति ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

न हीति ॥ मद्भावः सत्त्वं सद्भाव इति पाठे मद्भक्तिस्तद्युक्तानां सुराणामीशा वयमिति विशिष्टः स्मयो गर्वो हि यस्मान्न युक्तोऽतस्तन्मानभङ्गो युक्त एवेति शेषः। यद्वा। तेषामीशविस्मयो न घटते। अतस्ते असन्त एव अतः तेषाम् असतामीशाभिमानिनां यो मत्तो मानभङ्गः स प्रशमायोपकल्पते सर्वानर्थनिवृत्तये पर्यवस्यति अतस्तेषां मानभङ्गस्तेषामपि श्रेयसे ॥ १७ ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात् मच्छरणम् अहमेव शरणं रक्षको यस्य। यद्वा। मम शरणं गृहरूपम् अहमेव नाथः स्वामी यस्य तं मम परिग्रहं कुटुम्बमिव सर्वतो रक्ष्यं गोष्ठं व्रजं स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन गोपाये रक्षामि। तद्वार्षः। सोऽयं व्रजरक्षाविषयको व्रतः संकल्पः नियमो वा मे मया आहितः गृहीतः। अत्र महामेघारम्भ एव गिरिसमीपे सर्वानयनं गम्यते ॥ १८ ॥ इतीति ॥ इति स्वमनस्युक्त्वा कृष्णः लीलया अनायासेनैवैकेनैव हस्तेन गोवर्धनाचलं कृत्वा उत्कृत्य बालको यथा छत्राकं शिलीन्ध्रमनायासेन धरति तथा वामेन हस्तेन दधार। "गिरिः सव्येन पाणिना" इति हरिवंशोक्तः ॥ १९ ॥ अथेति ॥ अथ धारणानन्तरं भगवान् हे अम्ब! हे तात! हे व्रजौकसः!

यथोपजोषं यथासुखं सगोधनाः सर्वे यूयं गिरिगर्त्तं विशतेति गोपान् प्रत्याह स्म। स्वल्पे गोवर्द्धनगर्त्ते सर्वव्रजस्थितियोग्यता तु भगवत्प्रभावादेव। "शैलोत्पाटनभूरेषा महती निर्मिता मया॥ त्रैलोक्यमुत्सहेऽनेन रक्षितुं किं पुनर्व्रजम्॥" इति हरिवंशोक्तेः।२०।

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ननु सात्त्विकानां देवानां तमः कथमिति चेत्तत्राह न हीति सति परब्रह्मणि मयि भावोभक्तिस्तद्युक्तानां सुराणां देवानां ईश वयमिति विस्मयो गर्वो न स्यात्। मयि भक्तिहीनानां तु सात्त्विकानामपि गर्वः स्यादेव असतां मयि सद्भावहीनानां तेषां प्रशमाय शांतये सुखायेति यावत् भवति।।१७।। मत्परिग्रहं मम कुटंबं स्वस्य आत्मनि स्थितेन योगवलेन अहं गोपाये गोपायिष्ये सोयं मे मया व्रतः संकल्पः आहितः कृत इत्यर्थः।।१८।। हस्तेन कृत्वा उद्धृत्येति शेषः। छत्रकं उच्छिलिन्ध्रं श्वेतं वार्षयामं भूविकारमिव।।१९।। हे अंब यशोदे तात हे नंद हे व्रजौकसः गिरेर्गर्त्तं अधःप्रदेशं यथोपजोषं यथा सुखं यथा व्रजेवासस्तथैवेति भावः॥ २०॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननूपेन्द्रादिरूपेण तद्रक्षणशीलः कथं तदनर्थोद्युक्त इत्यपवादशङ्कया स्वयमेव सोपपत्तिकं तत्समाधातुमाह॥ न हीति॥ मद्भावयुक्तानां मयि भक्त्यात्मकभावबन्धयुक्तानां, सुराणां सत्त्वप्रचुराणां देवानां, ईशविस्मयः ईशा वयमिति गर्वः, हि नास्त्येव। अथापि, प्रकृतिवशात् कदाचिदस्ति शेषः। असतामीशविस्मयवतां सतां, तेषां मत्तः सकाशात्, मानभङ्ग ईशविस्मयभङ्गः, प्रशमायानुग्रहायैव, उपकल्पते उपपद्यते॥ १७॥ तस्मादिति॥ तस्मात्, अहं शरणं रक्षको यस्य तत्, अहमेव नाथः स्वामी यस्य तत्, अहमेव परिग्रहः परिजनः अस्मिन् समये रक्षणमूलं वा यस्य तत्, 'परिग्रहः परिजने पत्न्याः स्वीकारमूलयोः' इति मेदिनी। गोष्ठं व्रजं, स्वात्मयोगेन स्वसामर्थ्येन, गोपाये रक्षेयम्। सोऽयं शरणागतरक्षणमद्भक्तविस्मयभङ्गरूपः, व्रतो नियमः संकल्पो वा, मे मया आहितः धृतः। 'नियमो व्रतमस्त्रियाम्' इत्यमरः॥ १८॥ इतीति॥ इतीत्थं उक्त्वा, एकेन हस्तेन, गोवर्द्धनाचल, छत्त्वोत्कृत्योत्पाट्येति यावत्। बालकः छत्राकं शिलीन्ध्रं इव, कृष्णः सप्तवर्षवयाः श्रीकृष्णः, लीलया दधार। वामकरकनिष्ठिकानखाग्रेण दधारेति वीरराघवाचार्याः॥ १९॥ अथेति॥ अथ गोवर्द्धनधारणानन्तरं, भगवान् श्रीकृष्णः, गोपान् आह। उक्तिमेवाहाम्बेत्यादिना तथेत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। हे अम्ब मातः, हे तात नन्द, हे व्रजौकसः, यथोपजोषं यथासुखं, सगोधनाः गोधनसहिताः, सर्वे यूयं, गिरिगर्त्तं गिरिखातं, विशत प्रविशत॥ २०॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इत्युक्त्वेति : १०.२५.१९.

असत्सदविवेचकः सदवलिप्तचित्तो गुरुर्दृशं यदिह सङ्गतो जडविहाररम्येऽध्वनि।
तदा निपुणबुद्धिनाऽनुजवरेण बोध्यो मुहुर्विधाय पुरतः सुखावहमनन्तगोवर्धनम्॥ ७५॥
इत्यभिप्रायतो मन्ये परित्यज्य नगान्तरम्। तादृगिन्द्रोपदेशार्थमुपेन्द्रस्तत्करोऽजनि॥ ७६॥ (युग्मम्)
स्यां तेष्वचलकरोऽहं ये मय्यचलान्तराः सुधियः। इति बोधयन् स तादृशगोपान्पातुं तथाविधः किमभूत्॥ ७७॥
शूरोऽसि प्रथितात्मधीरसि तथा शिष्योऽसि वाचस्पतेस्तन्मा साहसमेवमाचर सुराधीशातिगर्ह्यं सताम्।
कर्तुं तच्छ्रुतिगं वचो गिरिसमौन्नत्यं चकाराच्युतो मन्ये तन्निपतो यदेष समभिख्यातो हि वृद्धश्रवाः॥ ७८॥
स्यादस्यापि नगस्य मुख्यवितथा गोवर्धनेति प्रथा रक्षा च व्रजवासिनामविकलाऽधिष्ठानभावेऽपि मे।
व्यक्तिः श्रीतगुहागतस्य च परेत्यालोच्य कृष्णस्तथा कर्तुं वा तमधः हि साधुविहिता ह्यर्थो क्रियैकेडिता॥ ७९॥
अत्तुं प्राग्बलिमिष्टमेष विकसद्वक्त्रो बभूवाधुना त्रातुं मौनमुरीकरोत्यवनिभृत्तद्धिकृपदार्हो न किम्।
माभूदित्थमशेषधिक्पदगतेः पात्रं वृथा मत्कृतेरित्यालोच्य विभुस्तदा तदवनं कर्तुं तमग्रे दधौ॥ ८०॥
गिरिवरस्त्वमहं च तदग्रणीस्तदुभयोरपि सांप्रतमावयोः। अनुचिता शठताऽऽश्रजनावनेत्विति स बोधयितुं तमधात्करे॥ ८१॥
गोवर्द्धनोऽप्युद्धरणीय आस्त इत्युद्धृतोऽसावधुना प्रसंगे। सर्वावनं त्वात्मदशैव कुर्यामुक्त्वेति वाचेदमबोधि तत्त्वम्॥ ८२॥
अन्यथा तद्गिरिस्थानामनेकविधजन्मिनाम्। गोत्रानावृतगात्राणां त्राणचिन्ताऽवशिष्यते॥ ८३॥ (युग्मम्)
स्वरीश्वरमशिक्षयन् भृशमवारयन्नम्बुदानपोऽनलमिवापिबन्न च नयन् व्रजं वाऽन्यतः।
प्रभुर्यदकृताचलोद्धरणमेव यत्तत्कृते जडेऽपि मदनुग्रहे सति भवेज्जडोद्धारकः॥ ८४॥
चेतनाः स्युस्तथेत्यर्थाद्गोपास्त्वसव एव मे। त्वानुग्रहमहो व्यक्तिर्वीजमस्येन्द्रसंविदे॥ ८५॥
सम्पत्फलं तदिदमेव यदाप्तवर्गे सौख्यार्पणं तदरिभूरिविडम्बनं च।
आवेदयन्निति सगोत्रवरोत्सवोत्को गोत्रद्रुहं गतमदं चकमे विधातुम्॥ ८६॥

यस्यान्नं येन भुक्तं सकृदपि स यदि प्रोद्धृतस्तेन पुंसा तत्स्यात् कीर्त्यै महत्यै सकलनिजजनश्रेयसे चापि लोके।
एवं गोवर्धनीयं बलिमुपहरता श्रीमताऽन्तर्विचिन्त्य स्वीयश्रेयोऽर्थिनाऽसौ विशदतरयशोलिप्सुना वोद्धारि ॥ ८७ ॥
विधाय स नगोद्धृतिं निजदृशैव मायाजुषा विधातुमलमच्युतोऽवनमथापि दध्रे करे।
करस्त्वकरतां व्रजेज्जडजनुष्मदुद्धारगे जगत्यपि चमत्कृतिः स्फुटतरा न भूयादिति ॥ ८८ ॥
यस्मिन्ननुष्मति हि मूर्तिधरो वसामि येनार्पितं निजमशेषमपीह मह्यम्।
तं नोद्धरामि जडतो यदि तत्प्रतिष्ठा का वा ममेति विभुरद्रिमुतोद्दधार ॥ ८९ ॥
जडोऽजडो वा कोऽप्यस्तु सदयं यो मयेक्षितः। स्वकरेण तदुद्धारं करोम्येवेति बोधितम् ॥ ९० ॥
यो यत्कर्म करोत्यसत्सदपि वा द्राक्तत्फलस्याप्यसौ भोक्ता स्यात्सुमहा लघुर्भवतु वेत्यर्थप्रकाशाय किम्।
वाहाविन्द्रसुदैवतेऽवनिभृतं श्रीनायकः संदधे तस्मादेव ररक्ष मंक्षु सकलान्सत्कर्मणो वल्लवान् ॥ ९१ ॥
दृङ्मात्रेण तदात्त्ववृष्टिविरतिं कर्तुं समर्थोऽप्यसावीशो यद्गिरितश्चकार बहुधा तद्बीजमेवं भवेत्।
संजाता स्वजितारितो यदि पराभूतिस्तदेषाऽखिलोन्मादोत्सादचणा भवत्वनुभवो गोत्रद्रुहश्चेतसि ॥ ९२ ॥
यः स्याद्गोवर्द्धनोऽस्मिञ्जगति निजबलादुन्नतं भूभृतं तं कृत्वा तदुद्धारतोऽहं सकलनिजजनं पालये भूभृदीड्यः।
सिद्धां शापेन राज्यानधिकृतिमिति तां सूचयन्नात्मवंशे श्रीशो मन्ये तदानीमवनिधरपरिष्कारतस्तानरक्षत् ॥ ९३ ॥
अनुचितकर्मारम्भी यदि कश्चिद् गुरुत एव शिष्योऽसौ। इति शासितुं किमिन्द्रं गिरीश्वरं तं गुरुं पुरश्चक्रे ॥ ९४ ॥
युक्तमब्दोन्मुक्तभूरिशरधाराविमुक्तये। निजावनचणः शौरिः पुरश्चक्रेऽद्रिखेटकम् ॥ ९५ ॥
सदाशयेऽहं तिष्ठामि जगद्गुरुरपीह का। गणनाऽस्येति वामत्वात् तमधात्स तदाशये ॥ ९६ ॥
अचलोद्धरण.त्करोमि भारापगमन्ते भुजगेन्द्र माम खिंथाः। इति मे गिरि भग्नताऽत्रमैवास्त्विति तं तादृशमेक एव दध्रे ॥ ९७ ॥
अभयदो वरदश्च करावुभावपि सदा भजतां प्रथितौ मम। अभयदावसरस्त्वधुनेत्यसौ किमु दधार तदेककरेण तम् ॥ ९८ ॥
यः श्रीशस्य पुरा द्विजेन विहितः सर्वाङ्गपृष्ठस्थितेनाङ्केनापि च लीलया तमचलोद्धारं तथा सम्प्रति।
सर्वक्षत्रियवंद्यतापदमहं कुर्यां न चेच्छूरभूः स्यामङ्केष्वखिलेषु हास्यपदमित्यद्धा करस्तं दधौ ॥ ९९ ॥
भभृत्पदव्यवहृतिप्रचुराभिमानाः सन्त्येव नाम बहवोऽपि हि सन्तु किं तैः।
भूभृत्स एव सुजनावनदीक्षितश्रीः श्रीशोऽदिशन्नियतमात्मकरं हि यस्मै ॥ १०० ॥
क्षमां परित्यज्य जडेन येनौन्नत्यं समालम्बि न तत्र दृष्टः।
महीभृति क्व.प्यवनप्रकारः सोऽस्मिन् गिरौ तादृशि चित्रमेतत् ॥ १०१ ॥
अजडोऽपि सुरेशोऽभूज्जडो जडपदाश्रयात्। जडोऽद्रिस्त्वजडः कृष्णकरालम्बादिति क्षमम् ॥ १०२ ॥
निर्जेष्टदः स्वर्नग एव पारिजाताख्य इत्युक्तिरविद्वदर्हा। जातो यदाप्तेशकरप्रसादः स भूनगस्तादृगपारिजातः ॥ १०३ ॥
क्षितेरुद्धृतोऽवस्थितोऽप्यन्तरिक्षे करे श्रीहरे राजितोऽधिष्ठितो यः।
तथाप्यस्य शैलस्य कृष्णप्रसादादनन्ताचलोर्वीस्थितिः प्राग्वदासीत् ॥ १०४ ॥
रे रे स्वर्नाथ मैनाको नास्मि गोवर्द्धनोऽस्म्यहम्। तन्मा कलय मां वारिमग्नमित्युन्नतां दधौ ॥ १०५ ॥
न चेद् बाढमास्मे प्रसङ्गेऽपि कुर्यां गवां वर्द्धनं तर्हि गोवर्द्धनाख्या।
मुधैवात्र भूयादिति प्राप्तरक्षानुकूलः स एवास कृष्णाश्रयेण ॥ १०६ ॥
पुण्येन पापमपहार्यमिति श्रुतार्थं गोवर्द्धनोऽच्युतकराकलितांघ्रिभागः।
ध्यात्वा निजाघमपनेतुमसौ स्वतोऽपि विष्णोः पदे स्थितिमधात् प्रसृताम्बुवाहे ॥ १०७ ॥
निजवैरिमदापनोदनार्थं यदि कश्चित्सबलाश्रयो हि लब्धः। तदरेः स पुरः प्रयात्यशङ्कं स्फुटमद्राविदमच्युताश्रयेऽभूत् ॥ १०८ ॥
स्वभावसिद्धमौन्नत्यमक्षमाशालिनामहम्। क्षमाशालीति साध्वीशो गिर्यधः स्थितिमादधे ॥ १०९ ॥
यस्मै करं दिशति यः स हि तस्य सिद्धः क्षोणीभृतोऽधरपदाधिगतप्रतिष्ठः।
जानन्निमं नृपनयं प्रभुरप्यधस्थाच्चक्रे स्ववासमतिसृष्टिकरोऽस्य मन्ये ॥ ११० ॥ ॥१११॥
अशेषकार्यं क्रियते मयैव स्त्रानामितीशोक्तिविचारदृग्बलः। तूष्णीं तदासीदचलोद्धृतौ स नो चेदशक्यं किमिहास्य भूभृतः ॥ ११२ ॥
कुवलयमहं वहामि प्रभुणा क्रियते च वारिजातधृतिः। इति सबलः स बलोऽपि हि तदास वृष्टावपामुदासीनः ॥ ११२ ॥
अथाहेति : १०.२५.२०.

मदुद्धृतस्याम्ब पितः समग्राऽलघोरपि स्यान्न मनागधोगतिः।
गिरीश्वरस्त्वेष गुरुत्तमोऽस्तीत्यशङ्कचित्तं विशताथ तिष्ठत ॥ ११३ ॥

कृष्णप्रिया

जो देव लोग "हम भगवान के" हैं ऐसे मेरे भाव से युक्त हैं, उन्हें हम ईश्वर हैं ऐसा दुरभिमान कभी नहीं हो सकता। लेकिन जो असज्जन हैं उनके अभिमान का ध्वंस होना उनके लिये परम हितकर होता है, क्योंकि अभिमान के नष्ट होने से वे देव लोग शान्त हो जाते हैं और हम सर्वेश्वर हैं ऐसा भ्रम भी मिट जाता है ॥ १७ ॥ इस गोष्ठ का, सारे व्रज का मैं ही रक्षक और स्वामी हूँ, और ये सब व्रजवासी मेरी शरण में आए हैं। मैं इन व्रजजनों को मेरे आप्तजन एवं आश्रितजन मानता हूँ। मेरी यह प्रतिज्ञा, मेरा यह व्रत है, मेरा यह निश्चय है कि मेरे समर्पित जनों का अपने योग बल से निरंतर रक्षण करता हूँ ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने एक हस्त से श्रीगोवर्धन को अचल करके आसानी से उठा लिया, मान लीजिए कोई नन्हा बालक खेलते खेलते बरसाती छत्ते के पुष्प को धरती के पुष्प को धरती से उखाड ले ॥ १९ ॥ भगवान् श्रीकृष्णने श्रीगिरिवर को धारण करके श्री गोपजन एवं गोपीजन को कहा—हे माताजी, हे पिताजी ? हे प्यारे व्रजवासियों ? आप निर्भय बनकर सब श्रीगिरिवरजी के गह्वर में आइए और सुख पूर्वक बैठिये ॥ २० ॥

न त्रास इह वः कार्यो मद्धस्ताद्रिनिपातनात्[1] । वातवर्षभयेनालं [2]तत्त्राणं विहितं [3]मया ॥ २१ ॥
तथा निर्विविशुर्गर्तं कृष्णाश्वासितमानसाः । यथावकाशं सधनाः [4]सव्रजाः सोपजीविनः[5] ॥ २२ ॥
क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः । वीक्ष्यमाणो दधावद्रिं[6] सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥ २३ ॥
कृष्णयोगानुभावं तं निशाम्येन्द्रोऽतिविस्मितः । निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् संन्यवारयत् ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः मत् हस्त अद्रि निपातनात् इह वः त्रासः न कार्यः वातवर्षभयेन अलम् मया हि तत् त्राणम् विहितम् ॥२१॥ कृष्ण आश्वासित मानसाः सधनाः स प्रजाः सोपजीविनः यथावकाशम् तथा गर्तम् निर्विविशुः ॥ २२ ॥ क्षुत् तृड् व्यथाम् सुखापेक्षाम् हित्वा तैः व्रजवासिभिः वीक्ष्यमाणः सप्ताहम् अद्रिम् दधौ सप्ताहम् पदात् न अचलत् ॥ २३ ॥ तम् कृष्णयोगानुभावम् तम् निशम्य अतिविस्मितः भ्रष्टसंकल्पः निस्तब्धः इन्द्रः स्वान् मेघान् सन्यवारयत् ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सव्रजाः शकटमंडलीसहिताः सोपजीविनो भृत्यपुरोहितादिसहिताः ॥ २२ ॥ पदात्स्थानात् ॥ २३-२५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

इह गर्त्ते । अलम् तद्वारितम् । तदेवाह—वः युष्माकम् । तस्माद्वातवर्षात्त्राणं रक्षणं विहितमस्ति विशेषेण हिनोति स्म वर्द्धते स्मेति विहितं शेषनागशरीरम् 'हि-गतिवृद्धिहिंसासु' इति कर्त्तरि क्तोऽकर्मकत्वात् । तस्य ब्रह्मांडाधारत्वेनातिविस्तृतत्वान्न हि तदावृतगर्त्ते जलं प्रवेष्टुं शक्नोतीत्यर्थः । एतच्च संहितायां स्पष्टम् ॥ २१ ॥ स्वान्स्वान्व्रजान्समायुज्येत्यत्र व्रजशब्दः शकटव्यूहे व्याख्यात इति ध्येयम् । सव्रजा इत्यत्र श्रीहितंडुलाद्युपजीवनम् सहिता या ॥ २२ ॥ सुखस्य शयनासनादिरूपसुखसाधनस्यापेक्षां श्रद्धाम् ॥ २३ ॥ कृष्णयोगस्यानुभावम् प्रभावम् "अनुभावः प्रभावे स्यान्निश्चये भावसूचके" इति यादवः । तम् पर्वतधारणगर्त-जलाप्रवेशरूपम् । महापुरुषान्समीक्ष्यापि स्थाणुवत्प्रावण्यराहित्यं स्तंभस्तद्रहितो निस्तंभः । भ्रष्टोऽधोगतः व्रजनाशरूपः संकल्पो मनोरथो यस्य सः । न्यवारयदिति । न जानेऽद्य मह्यं कृष्णः कं दंडं दास्यतीति भयात् ॥ २४-२५ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

मम हस्तात् अद्रेर्नितरां पातनं पतनं तदाऽऽशङ्क्य स्वार्थेणिच् । यद्वा, इन्द्रादिना केनापि पातनं तस्मात् त्रासः मदनिष्ट शङ्का वो युष्माकं कार्यः कर्त्तुं योग्यो न भवति "कृत्यानां कर्त्तरि वा" (२।३।७१) इति षष्ठी—अतो वो युष्माकं वातवर्षाभ्यां भयेनालं प्रयोजनं नास्ति हि यस्मात् तेनाद्रिधारणेन त्राणं विहितं मयेति शेषः । वो युष्माभिरेव विहितमिति वा श्रीगोवर्द्धनार्चना-दिभिरिति भावः ॥ २१ ॥ तथा तेन प्रकारेण उक्तिचातुर्येण साक्षाद्वामकरे लीलया गिरिधारणेन च कृत्वा कृष्णेन सर्वचित्ताकर्ष-कादद्भुतानन्तलीलेन भगवता आश्वासितानि सान्त्वितानि मानसानि येषां ते धनानि गावोऽन्यानि च विविधद्रव्याणि तत्सहिताः२२ क्षुत्तृड्भ्यां या व्यथा तां सुखं शयनाशनादितदपेक्षां च हित्वा विस्मृत्येत्यर्थः । तैः तदैकजीवनैः तद्वीक्षणैकसुखैः व्रजवासिभिर्गोप-गोपीगवादिभिः विशेषेण महाविस्मयपरमस्नेहादिना ईक्ष्यमाणः इति तत्त्यागे कारणं प्रयोजनं च क्त्वाप्रत्ययश्च वीक्षणारम्भ एव तदपगमात् तद्वीक्षणस्य च तद्धारणे साहाय्यमेव दर्शितं तेन मुहुः स्फीतमनस्त्वात् तथैव विष्णुपुराणेऽपि—

१. निपातनाद्-वीर. विज. ; तने-श्रीधर. जीव. विश्व. । २. भयं ध्वान्तं-विज. । ३. हि वः-श्रीधर. वंशी. जीव. वि. विज. वीर. । ४. सव्रजाः-वीर. विज. । ५. जीवनाः । ६. दधाराद्रि-वीर. विज. ।

"कृष्णोपि तं दधारैव शैलमत्यन्तनिश्चलम्। व्रजैकवासिभिर्हर्षविस्मिताक्षैर्निरीक्षितः ॥
गोपगोपीजनैर्हृष्टैः प्रीतिविस्फारितेक्षणैः। संस्तूयमानचरितः कृष्णः शैलमधारयत्" ॥ इति।

यद्वा, हित्वेति कृष्णकर्तृकं ज्ञेयम् अनेन क्षणेन तमोपि तत्र नासीदिति गम्यते पदादेकस्मादपि पदाक्रमणस्थानान्नाचलदिति धारणेत्यन्तानायास उक्तः ॥ २३ ॥ कृष्णस्य योगः स्वाभाविकशक्तिविशेषः तस्यानुभावं प्रभावं निशम्य दृष्ट्वा तथा च विश्वः "श्रुतौ दृष्टौ निशमनम्" इति निस्तम्भो नष्टमदः कुतः भ्रष्टः अधोपगतः सङ्कल्पो गोष्ठजिघांसालक्षणो यस्य सः स्वान् मरुद्गणान् मेघांश्च अनिवारणे स्वाऽनिष्ठापत्तेरिति भावः। संशब्देन दूरतोऽपि स्थितिर्निवारिता ॥ २४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु वालकस्य तव हस्तादयं कदाचिन्निपतेदिति बिभीमः, तत्राह—नेति। मम हस्तादद्रेर्नितरां पातनम्, स्वार्थे इन्; यद्वा, इन्द्रादिना केनापि पातनं तस्मात्त्रासः, वो युष्माभिः, यद्वा, युष्माकं कार्य्यं कर्त्तुं न योग्यो भवति, अतो वातवर्षाभ्यां भयेनालं प्रयोजनं नास्ति, यद्वा, हि यतो वातवर्षभयेन हेतुना वो युष्माकं तत्त्राणं विहितं मया, वो युष्माभिरेव, विहितमिति वा गोवर्द्धनार्च्चनादिति भावः। यद्वा, युष्मत्पूजितेन परमदयालुनानेन गिरिवर्य्येणैव, अन्यथा मया वालकेनास्य परमगरिष्ठतरस्य धारणासम्भवात्, साक्षात्तदनुक्तिर्गौरवेण श्रद्धाविशेषार्थम् ॥ २१ ॥ तथा तेन प्रकारेण उक्तिचातुर्य्येण साक्षात् वामकरे लीलया गिरिधारणेन च कृत्वा, कृष्णेन सर्व्वचित्ताकर्षणाद्भुतानन्तलीलेन भगवता आश्वासितानि विश्वासं नितानि सान्त्वितानि वा मानसानि येषां ते, 'ततः' इति वा पाठः, तथापि स एवार्थः यथावकाशमसंकीर्णतयेत्यर्थः, श्रीगोवर्द्धनस्यैव योजनायतत्वात् तदनुरूपविस्ताराच्च, अधुना च कलिकाले श्रीभगवानिव श्रीहरिदासवर्य्योऽयमाच्छन्नप्रायोऽभूदिति वोद्धव्यम्। धनानि गावोऽन्यानि च विविधद्रव्याणि तत्सहिताः, तद्गर्त्तं च पार्श्वतो वृष्टिच्छटया गिरिमूर्द्धतो निपतनेन च जनानां प्रवेशो भगवदिच्छया श्रीगोवर्द्धनस्यैव सन्निवेशविशेषसम्पत्तेर्नाभूदिति ज्ञेयम्, तथा च श्रीहरिवंशे (विष्णु० प० १८।२१) 'स धृतः संगतो मेघैर्गिरिः सव्येन पाणिना। गृहभावं गतस्तत्र गृहाकारेण वर्च्चसा ॥' इति वस्तुतस्तु यथा तद्गर्त्तान्तरनन्तानां सर्वेषामेव व्रजवासिनां सपरिच्छदपरिवाराणामसंकीर्णतया सुखनिवासः, यथा चैकेनैव श्रीहस्तेन कदाचित् तदेकांगुल्या च शिलैक भागधारणेन पृथक् पृथक् शिलासमुच्चयबद्धमूलस्य गिरिवरस्य सर्वस्य धारणम्, तथा तत्र जलवाताप्रवेशदिकञ्च श्रीभगवच्छक्तिविशेषेणैव ज्ञेयम्। एवमैश्वर्य्योऽपि वाल्याव्यभिचारेण छत्रवद्गोवर्द्धनधारणादिलौकिकलीलया पूर्ववद्भगवत्ताविशेषप्रकटनमेवोह्यम् ॥ २२ ॥ क्षुत्तृड्भ्यां या व्यथा ताम्, सुखं शयनासनादि तदपेक्षाञ्च हित्वा तैर्गर्त्तान्तर्वर्त्तिभिः, किंवा तदेकजीवनैस्तद्वीक्षणैकसुखैर्वा, व्रजवासिभिर्गोपगोपीगवादिभिः, विशेषेण महाविस्मयपरमस्नेहादिना; ईक्ष्यमाण इति तत्तत्त्यागे कारणं प्रयोजनञ्च। तस्य च तद्धारणे साहाय्यमेव दर्शितम्, तथैव श्रीविष्णुपुराणेऽपि (५।११।२०-२१)—

'कृष्णोऽपि तं दधारैवं शैलमत्यन्तनिश्चलम्। व्रजैकवासिभिर्हर्षविस्मिताक्षैर्निरीक्षितः ॥
गोपगोपीजनैर्हृष्टैः प्रीतिविस्फारितेक्षणैः। संस्तूयमानचरितः कृष्णः शैलमधारयत् ॥' इति।

पदादेकस्मादपि पदाक्रमणस्थानान्नाचलदिति धारणेऽत्यन्तानायास उक्तः, तथा पादाब्जादिति लीलयैकेनैव पादेन भुवमवष्टभ्य दधारेत्यप्युक्तं स्यात् ॥२३॥ कृष्णस्य नराकृतिपरब्रह्मणो व्रजवीरस्य वा योगः शक्तिविशेषो वृष्टिनिवारणोपायो वा, तस्यानुभावं माहात्म्यम्, यद्वा, योगेन योऽनुभावः प्रभावस्तं निशम्य दूतादिमुखेन श्रुत्वेति व्रजमनुव्रज इत्युक्त्वापि पश्चान्महासदैतावेक्षया स्वयमनागमनात्, यद्वा तत्रागतोऽपि दुर्म्मदमत्ततया स्वयमबुध्यमानं मेघादीनां विज्ञापनादेव श्रुत्वा, यद्वा, निशम्य दृष्ट्वा, तथा च विश्वः—श्रुतौ दृष्टौ निशमनम्' इति, निःस्तम्भो नष्टमदः। कुतः? भग्नसंकल्पो गोष्ठजिघांसालक्षणो यस्य सः, स्वांश्च मरुद्गणान्, यद्वा, स्वीयान्, अनिवारणे तेषामनिष्टापत्त्यात्मनोऽप्यनिष्टापत्तेरिति भावः। सम्यक्, भयेन पलायनार्थमिवाकाशपरित्याजनादिपूर्वकं न्यवारयत् ॥ २४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

मद्धस्ताद्योऽद्रेर्निपातनाद्वो युष्माभिरिहाधुना त्रासो भयं न कर्त्तव्यं वातवर्षाभ्यां यद्भयं तेनालं तत्र कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्त्राणं वातवर्षभयात् त्राणं मया विहितम् ॥ २१ ॥ तथा कृष्णेन समाधापितचित्ताः सगोधनाः सपुत्रपौत्राः भृत्यपुरोहितादिवर्गसहिताश्च सर्वे व्रजौकसो यथावकाशम् असङ्कीर्णं यथा तथा गिरिगर्त्तं विविशुः ॥ २२ ॥ स्वावलोकनजानन्दपूर्त्यैव तेषां क्षुत्तृट्कृतपीडां वारयन् सप्ताहं तथा दधारेत्याह-क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां च हित्वा केवलमीक्षमाणो भगवान् सप्ताहमद्रिं दधार पदान्न चचाल यत्रोद्धारसमये पदं विन्यस्तं न ततश्चचालेत्यर्थः ॥ २३ ॥ ततस्तं कृष्णस्य योगानुभावं सामर्थ्यप्रभावं दृष्ट्वेन्द्रोऽतीव विस्मितः भ्रष्टसङ्कल्पोऽत एव विस्तम्भः निर्गर्वः मेघान् न्यवर्त्तयत् ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

वातवर्षनिमित्तं भयन् अलं निवारितम् "अलं तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ विनिवारणे" इति यादवः। तत्त्राणं तस्माद्भयाद्रक्षणम् ॥ २१ ॥ कृष्णेनाश्वासितमानसाः आप्यायितमनोरथाः सोपजीवनाः व्रीहितन्दुलादिशरीरयात्रासाधनैः सहिताः ॥ २२ ॥ सुखापेक्षां शयनासनवसनादिसुखसाधनश्रद्धां हित्वा मुक्त्वा ॥ २३ ॥ योगानुभावं योगैश्वर्यम् "अनुभावः प्रभावे स्यान्निश्चये भावसूचके" इति महापुरुषान्दृष्ट्वा स्थाणुवत्प्रावण्यराहित्यं स्तम्भः तद्रहितो निरस्तम्भः भ्रष्टसङ्कल्पः गलितमनोरथः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

हित्वा विस्मृत्य कृष्णयोगानुभावं तत्स्वभाविकशक्तिप्रभावं निशम्य निशाम्येति पाठः उभयथापि दृष्ट्वेत्यर्थः। स्वयमेवोपारतम् इत्यादि ज्ञापनात् ॥ २३–३१ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सव्रजाः शकटमण्डलीसहिताः सोपजीविनः भृत्यपुरोहितादिसहिताः ॥ २२ ॥ क्षुत्तृड्व्यथां हित्वेति तन्निरन्तरदर्शनानन्दादेव यदुक्तं वैष्णवे—

"व्रजैकावासिभिर्हर्षविस्मिताक्षैर्निरीक्षितः। गोपगोपीजनैर्हृष्टैरतिविस्फारितेक्षणैः।
संस्तूयमानचरितः कृष्णः शैलमधारयत्" ॥

कृष्णोऽत्रसर्वाभिमुखो बभूवेति बोध्यम्। अत्र श्रीकृष्णसौन्दर्यलावण्यपीयूषपानेन व्रजौकसां प्रेयसीसौन्दर्यादितीत्यनेन कृष्णस्य च क्षुधादिविगमोऽभवदिति अत्र सप्ताहव्यापिन्या सांवर्त्तकमेघवृष्ट्यापि यन्मायुरमण्डलं न ममज्ज तत्खलु भगवच्छक्त्यैव सद्यः पयःशोषणादिति ज्ञेयं तथा पष्ठिघटिकस्यैव कालस्य दिवसत्वात् घटीति प्रसिद्धा घटिका गणनेनैव व्रजजनानां सप्तदिवससंज्ञानमभूदित्यपि ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ निस्तम्भो नष्टमदः न्यवारयदिति न जानेऽद्य कृष्णो मह्यं कं दण्डं दास्यतीत्यतिभयात् ॥ २४–२५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

सव्रजाः शकटव्यूहसहिताः निर्विविशुः गर्त्तपरिमाणोक्तिरपि हरिवंशे "पञ्चक्रोशन्तु दैर्घ्येण क्रोशैकम्विस्तरेण तु" इति ॥ २२ ॥ पादात् चरणाधिष्ठितात् स्थानात् ॥ २३ ॥ कृष्णस्य योगाऽनुभावं सामर्थ्यम् ॥ २४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ननु पर्वतोत्कर्तनमुपरि वारिपतनमात्रं जातम्। जातं न च परितः प्रस्रवद्वारिवारणमिति तज्जनमज्जनं भवेदेव। ततश्च मोघो यत्नः कृतः स्यादिति चेन्न। आत्मयोगेनेत्युक्तेस्तेनास्मास्तम्भनसम्भवादिति केचित्। तत्तावन्मन्दं तेनैवापेक्षितसिद्धेः पर्वतोद्धारस्याप्यकर्तव्यत्वात्। अत्र ब्रूमः। अङ्कूरमात्रस्य गोत्रात उत्कर्तने मृन्मण्डलीभूयावतिष्ठते। उरौ गिरौ हरिणोत्कृते परितः स्वातं मृदूर्ध्वं निःसृता भित्तितां धत्त इति तत्प्रतिबद्धं वारि नान्तर्निविवेशेति भगवानमोघसंकल्पस्ते च न निम्नगा इति सम्भवात्। अथवाऽऽत्मयोगेनेत्युक्तयोग एव भवत्वम्भस्तम्भको भरोद्धरणं तद्धरितस्तन्मददमने महान्माननाशमिति न तत्र योगविनियोग इति सम्भवात्। तत्त्राणं विहितं व इत्युक्तेः। मद्धस्तादद्रेर्निपातनं तस्मात्त्रासो भयं वो न माऽस्तु वातवर्षभयं चालं वारितम्। अलं तु भूषणे शक्तौ पर्याप्तौ विनिवारण इति यादवः। तस्मात्त्राणमेवंरूपं वो विहितम् ॥ २१ ॥ कृष्णेनाश्वासितं मानसं येषां ते यथावकाशं सधना गोधनसहिताः सव्रजाः सोपजीवना व्रीह्यादिजीवनोपायसहिता गर्तमवटं निविविशुः ॥ २२ ॥ बहुधा बहुधान्यसङ्ग्रहात्सुखापेक्षां स्वस्थतयाऽवस्थानात्प्राप्तसुखा इति तदपेक्षां हित्वेत्युक्तः। तैर्व्रजवासिभिर्गोपचड्व्यथां क्षुच्च तृट् च ताभ्यां व्यथां हित्वा सुखापेक्षां स्वस्थतयाऽवस्थानात्प्राप्तसुखा इति तदपेक्षां हित्वेत्युक्तः। वीक्ष्यमाणः सप्ताहमद्रिं दधौ पदात्पदं च नाचलच्चचाल। असंमान्यान्युपायं धराधरहरणं हरिः कुर्वन्पर्वतांश्च गोत्रभिच्छात्रव इति तदुद्धृत्या तन्मानहानिः कार्येति काञ्चन वैरी वैरीसहजमित्रमिति किंवदन्तीं लालयामासेत्यवसेयम्। उक्तं च रुक्मिणीशविजये। शतक्रतौ वर्षति वासुदेवो गिरिं समुद्धृत्य बभूव तूष्णीम्। जिहीर्षुभिः स्वात्समशत्रुशौर्यं तदाद्यवैर्युद्धरणं हि कार्यमिति। श्रीधर एवं धरति धरं किमचीकरन्नमुचिसूदन इति परीक्षिन्मानसीं शङ्कां शुकः परिहरतीतरियति ॥ श्रीशुक इति। तं कृष्णयोगानुभावं निशाम्यातिविस्मित इन्द्रो निरस्तम्भो गतगर्वो भ्रष्टः सङ्कल्पो गोकुलनाशविषयो यस्य स सन्स्वान्मेघान्सन्न्यवारयन्निवारयामास ॥२४॥

श्रीसुबोधिनी

उपरि मद्धस्तं दृष्ट्वा त्रासो न कर्तव्य इत्याह न त्रास इति, इहास्मिन् गर्ते प्रविष्टैर्मद्धस्तावद्रिपातनाद्धेतोस्त्रासो न कार्यो न पतिष्यति यतः, ननूभयोर्भययोरेकमङ्गीकर्तव्यं ततो वरं वृष्टिभयमेवास्त्वित्यस्याशङ्कयाह वातवर्षभयेनालमिति, वातवर्षभयं न कर्तव्यमलंशब्दो निवारणेतस्तद्भयं मास्त्वत्र तु शङ्का न कर्तव्या, आगन्तव्यमित्याशङ्काभावमुपपादयति तत्त्राणं विहितं मयेति, तस्य भयस्य त्राणं रक्षणं प्रतीकारस्तन् मया विहितं, न ह्युपायः कदाचिदप्यनुपायतामापद्यते, मयेतिवचनान् न भ्रान्तेन कृत

कृतत्वान् न कर्तव्यम् ॥ २१ ॥ ततस्ते तथैव कृतवन्त इत्याह तथेति, पतनभयाभावार्थमाह कृष्णाश्वासितमानसा इति, यथावकाशमित्युक्तार्थस्थापनं सधना गोसहिताः पुत्रादिसहिता उपजीवी सेवकादिर्विप्रादिश्च तत्सहिताः, ततो वृष्टिः सप्तरात्रं जाता भगवतो गुणानां च मर्यादायां प्रतीक्षार्थं यद्यग्रेपि भवेन् म्रियतैवेन्द्रो मेघाश्च तदुपरिसहनं भगवतो नास्त्यत एव यो भगवदीयेभ्यो विचार्यापकारं करोति सप्तरात्रं प्रतीक्षत एतन्मध्ये चेद् भगवता परिपालितस्तदा न करिष्याम्युपेक्षितश्चेत् करिष्यामीत्यविचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं करोति यदि तावत्कालं जीवितस्तदा निवर्तते स्वनाशभयात्, एवं व्यवस्था सर्वत्र ॥२२॥ ततो भगवान् सप्तरात्रं तथा स्थित इत्याह क्षुत्तृडिति, क्षुत्तृड्भ्यां जायमानं व्यथां सोढ्वा सुखस्य निद्रादेरप्यपेक्षां त्यक्त्वा तैर्व्रजवासिभिर्निरीक्षमाणो भगवानद्रिं दधौ, न दीर्यत इत्यद्रिः सोपि वृष्ट्या मध्ये न दीर्णो भगवानपि पदादपि न चलितः, अत्र हित्वेत्यनेनैव सम्बध्यते क्षुत्तृड्व्यथामिति दर्शनेनान्नभोजनेन वान्यथा गोपानां कथं धैर्यं भवेत् ? एवं सप्तरात्रं धृत्वा तान् व्रजस्थान् सर्वेभ्यः पृथक्कृत्य स्वीयानेव कृतवानिति निरूपितं, सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति देवर्षिपितर आत्मात्मीयावैदिकः पारलौकिकश्चेति, यद्येतेषां मध्ये कश्चिदप्येतान् पालयेत् तदा तेषां वा भवेयुर्यदि ते सर्व एवाशक्ताः प्रतिपक्षा वा तदा नातःपरं तेषां सम्बन्ध इति, अत एव प्राणान्तःकरणधर्मत्याग उक्तस्तेषां शुद्धभगवद्भावे बाधकत्वात्, एतेन प्रभुस्वरूपातिरिक्तं स्मृतवन्तोपि नेत्युक्तं भवति भगवद्रक्षणमेतादृशमिति च ज्ञापितं, सपदि रक्षाग्रे च सुखमेतेन भविष्यतीत्यनुसन्धानेन वीक्षणे वीक्षणस्य तच्छेषत्वं स्यात् तथा सति भक्तिमार्गीया सा रक्षा न भवेदिति सर्वमन्यथा स्यादत एव तैरिति पूर्वोक्तं केवलभगवदधीनत्वमेतादृग् रक्षणे हेतुत्वेन परामृष्टं पारम्पर्यागतस्यापीन्द्रयागस्य भगवद्वचनमात्रेण पूर्वं त्यक्तत्वात्, दधाविति 'डुधाञ् धारणपोषणयो'रित्यस्य रूपं तेनाद्रिं धृतवान् पोषितवांश्च, सप्ताहमित्य'त्यन्तसंयोगे द्वितीया', अहःशब्दो रात्रिदिनवाची, अचलत्वस्थापनार्थं नाचलदिति पदादीपदपि, गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्टः ॥ २३ ॥ तत इन्द्रो युद्धार्थं समागत्यालौकिकं दृष्ट्वा भीतः सन् मेघान् न्यवर्तयदित्याह कृष्णेति, लीलार्थमवतीर्णस्य सर्वयोगाधिपतेरप्रच्युतस्वरूपस्य तं गोवर्धनोद्धरणलक्षणमनुभावं निशम्य श्रुत्वा मेघद्वारेन्द्रोतिविस्मितो जातस्ततो निःस्तम्भो गतगर्वो भ्रष्टसङ्कल्पोपि जातः स्वोत्कर्षमपि त्यक्तवान् मारयिष्यामीतिसङ्कल्पं च त्यक्तवांस्ततः स्वान् मेघान् सम्यङ् न्यवारयत् ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

क्षुत्तृड्व्यथामित्यस्मात् पूर्वं प्रतीक्षार्थमिति सप्तसु मध्ये एकोपि चेदुपेक्षेत तदा सर्वथोपद्रवं करिष्यामीति सप्तानां प्रतीक्षार्थमित्यर्थः, तदुपरीति अतः परं रक्षकाभावान् नष्टा एव भविष्यन्तीत्युपद्रवकर्तारमेव मारयेदित्यर्थः अत्राविचार्योपद्रवकर्ता इन्द्र इति ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ क्षुत्तृडित्यत्र हित्वेत्यस्यैव विवरणं सोढ्वेति न तु पदान्तराध्याहारः अग्रे तथान्वयकथनात् ॥ २३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

क्षुत्तृड्व्यथामित्यत्र सप्तदिवसधारणस्य तात्पर्यनिरूपणे ततो वृष्टिः सप्तरात्रं जाता भगवतो गुणानां च प्रतीक्षार्थमिति, अत्रायमभिप्रायः, शक्तिमान् हि शक्तिभिः सर्वं करोति यथानेकशस्त्रवान् यथासौकर्यमेकैकेन शस्त्रेण मारकान् परिहृत्य दीनान् रक्षति एवमैश्वर्यादिषड्गुणवान् भगवान् प्रत्यहमेकैकेन गुणेन वृष्ट्यादिकृतदुःखं परिहृत्य श्रीगोकुलं रक्षितवान्, एवं षट्सु दिनेषु षड्भिर्गुणैः रक्षा, सर्वगुणवैशिष्ट्येन यद् रक्षणं तद् धर्मिरूपेण रक्षणमेवं सप्त प्रकारा रक्षणे, तत्र प्रथमदिवसे ऐश्वर्येण रक्षणे जायमाने एकस्मिन् दिने रक्षित्वा द्वितीये तृतीये चतुर्थे वा श्रीकृष्णो व्रजस्योपेक्षां करिष्यति तदा व्रजनाशो भवितेत्याशयात् प्रलयकर्त्रीं वृष्टिं शक्रः सम्पादितवान्, सेयं भगवतो गुणानां च प्रतीक्षा नाम, ततोष्टमदिवसे कुतो वृष्टिर्नाभूदित्याशङ्क्य तदाशयं विवृण्वन्ति तदुपरि सहनमित्यादिना, तदुपरीति गुणगुणिकृतरक्षानादरेण सप्तदिवसोपरीत्यर्थः, अयमाशयः, गुणषट्ककृतरक्षामविचार्य सप्तमदिवसे वृष्टिः कारिता, एवं यदि धर्मिरूपेण कृतां रक्षामविगणय्याष्टमदिवसे वर्षेत् तदा धर्मिणोनादरे भगवानिन्द्रं मारयेत्, तदुक्तं यद्यग्रेपि तद् भवेन् म्रियेतैवेन्द्रो मेघाश्चेत्यनेन, एवं सति इन्द्रानुजिघृक्षया न तादृशीं बुद्धिं हरिरुत्पादितवान्, अपि तु सद्बुद्धिं शक्राय दत्तवान्, यया सप्तमीं रक्षामवलोक्य वासवो वृष्टिं वारितवान्, तदग्रे वक्ष्यन्ति 'सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे वारण'मिति, अत एवेत्यारभ्य एव व्यवस्था सर्वत्रेत्यन्तं विचार्येति विचार्यापद्रवकर्ता त्वनेन भगवद्भक्तेनायमपराधः कृत एतस्मै दण्डो देयो न वेतिसन्दिह्य भगवता यस्य रक्षार्थं यत्नः कृतस्तस्मै दण्डो न देय इति निश्चिनोति ततो न दण्डयति, एवं सप्तरात्रं प्रतीक्षणं भगवतो गुणानां च अत्र विचार्योपद्रवकर्ता देवादिर्ज्ञेयो यस्य भगवत्कृतभक्तरक्षाया भक्तोपेक्षायाश्च ज्ञानमस्ति न तु यः कश्चित् साधारण इति ज्ञेयं, तथा च सप्तरात्रमध्ये यदा कदाचिद्रक्षोपाये भगवता कृते भगवद्रक्षितस्य नाशाभावमवगत्य विचारकुशलस्तु भक्तान् नापकरोति, ननु यदा कश्चिद् भक्तानुपद्रावयेत् तदा भगवान् पालयेदतः पूर्वमेव कथं ज्ञायेत यदयं भगवता रक्षित उपेक्षितो वेति चेत्, न, उपद्रवसम्भावनयापि भक्तरक्षार्थं उपायकरणात्, प्राग्दिष्टं भक्तरक्षायामिति नवमस्कन्धे शुकवाक्यात् उपद्रवशङ्कयैव अम्बरीषभूपभक्तरक्षार्थं चक्रस्थापनस्य सिद्धत्वात्, भगवत्कृततादृग्रक्षावबोधो देवादीनामलौकिकप्रकारेण जायत एव, अत एव चेतसा भगवत्स्मरणमनेन कृतमनेन न कृतमिति ज्ञानं यमदूतानामुत्पद्यते, अन्यथा

भगवत्स्मर्तॄन् कथं न नयन्ति, कथं वा भगवत्स्मरणरहितान् नयन्ति, तदुक्तं "जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दं कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्" इति षष्ठस्कन्धे यमेन, तथा च देवादीनां अलौकिकप्रकारेण भगवत्कृतरक्षेऽपेक्षोभयज्ञानं मन्तव्यं, एवं सति विचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं प्रतीक्षत इति यदुक्तं तत्र विचार्योपद्रवकर्ता तु देवादिर्ज्ञेयः अलौकिकद्रष्टृत्वात्, अविचार्योपद्रवकर्ता स्विन्त यथेन्द्रस्तथेत्यर्थः स्पष्टमेतत्, इह विचार्योपद्रवकरणे सप्तरात्रप्रतीक्षोक्ता, अविचार्योपद्रवकरणे सप्तरात्रपर्यन्तं करणमिति यदुक्तं तत्र न सप्तरात्रपर्यन्तमेव प्रतीक्षा सप्तरात्रपर्यन्तमेवोपद्रवकरणमिति नियमोऽस्ति, अपि तु सप्तरात्रपर्यन्तं प्रतीक्षा सप्तरात्रपर्यन्तमुपद्रवश्चेतिपरमावधिरुक्ता इति ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वेत्यत्र व्यथायास्त्यागासम्भवात् पदान्तरेण सम्बन्धः कर्तव्य इत्याहुः क्षुत्तृड्भ्यां जायमानां व्यथां सोढ्वेति सोढ्वेत्यध्याहार्यं, अस्मिन् पक्षे सोढ्वेतिपदाध्याहारदोषशङ्कया प्रकारान्तरेण व्याचक्षते, अत्र हित्वेत्यनेनैव सम्बध्यते क्षुत्तृड्व्यथामितीति, तथा च क्षुत्तृड्व्यथां हित्वेत्यन्वयं विधाय व्यथाया अपि त्यागो वाच्यः, व्यथात्यागः कथं सम्भवतीत्याकाङ्क्षायामाहुः दर्शनेन अन्नभोजनेन वेत, वीक्ष्यमाण इतिपदादासक्तिर्निरूपिता, सा च प्रपञ्चविस्मरणपूर्विकैव वाच्या स्कन्धार्थनिरोधस्य तादृशत्वात्, अतो निखिलप्रपञ्चविस्मरणे क्षुत्तृडादिविस्मरणमर्थोदायातमिति स एव त्यागपदार्थः, अन्नभोजनेन वेति भगवत्कृतेनान्नकूटान्नभोजनेन वेत्यर्थः, भगवद्भुक्तत्य सर्वतृप्तिजनकत्वेन व्रजवासिनां सर्वेषां तृप्तिर्जातेति क्षुत्तृड्व्यथासुखापेक्षात्यागः युक्त एवेतिभावः, अत एव प्रथमस्कन्धे "शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं तृप्तामसंस्त सलिले विनिमग्नसङ्घः" इतिवाक्याद् भगवत्कृतभोजनस्य सगणदुर्वासस्तृप्तिजनकत्वमुपलभ्यते, सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्तीति प्राणिन इति षष्ठी, प्राणिनो जीवस्य हिताचरणे सप्ताङ्गानि भवन्तीत्यर्थः, सप्ताङ्गानि गणयन्ति देवर्षिपितर इत्यादिना, स्वयमपि स्वसामर्थ्येन स्वहितमाचरतीत्यात्मोक्तः, आत्मीयः पुत्रादिः, ऐहिकः स्वदेहसम्बन्धिभिन्नः स्वरचितोपकारः पारलौकिको यागादिधर्मः एतैः सप्तभिर्यदा व्रजवासिनो न रक्षितास्तदा व्रजवासिनां नैतेषु कदाचिदपि प्रीतिसम्भवः, किन्तु स्वरक्षके श्रीगोवर्धनधर एव प्रीतिर्व्रजस्थानां समुद्भूतेति ज्ञेयं सप्ताहं नाचलत् पदादित्यस्य व्याख्याने गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्ट इति यथा व्रजवासिभिः सहजः क्षुत्तृड्रूपो धर्मो भगवदर्थं त्यक्तस्तथा प्रभुणापि स्वाभाविकश्चलनरूपश्चरणधर्मस्त्यक्तः "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" इतिवाक्यादितिभावः ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

इह गिरिगर्ते स्थितैर्वो युष्माभिर्मद्धस्तादद्रिनिपातने अद्रिनिपातनिमित्तं त्रासो न कार्यः। तथा वातवर्षाभ्यां यद्भयं तेनाप्यलं तदपि न कर्तव्यम्। हि यस्मात्तत्तो भयात्त्राणं रक्षणं वो युष्माकं मया विहितं निर्मितम् ॥ २१ ॥ तथोक्तप्रकारेण कृष्णेन आश्वासितं मानसं येषां ते सधनाः सगोधनाः, सव्रजाः शकटारोपितोपकरणसहिताः, सोपजीविनः भृत्यपुरोहितादिवर्गसहिताः सर्वे व्रजौकसो यथावकाशमसङ्कीर्णं यथा भवति तथा गिरिगर्तं निर्विविशुः ॥ २२ ॥ तद्दर्शनानन्देन क्षुत्तृड्व्यथां निद्रादिसुखापेक्षां च हित्वा विस्मृत्य तैर्व्रजवासिभिर्वीक्ष्यमाणो भगवान् सप्ताहमद्रिं दधार। पदात् 'तदुद्धारसमये यत्रैव पादौ न्यस्तौ ततः स्थानात्' नाचलत् ॥ २३ ॥ तं श्रीकृष्णस्य योगानुभावं सामर्थ्यं मेघद्वारा निशम्य श्रुत्वाऽतिविस्मितः, निस्तम्भः गतमदः, भ्रष्टो व्रजविनाशविषयकः सङ्कल्पो यस्य सः, इन्द्रः स्वकीयान् मेघान् वर्षातः संन्यवारयत् ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

नेति ॥ इह गिरिगर्ते स्थितानां युष्माकम्। कर्तरि षष्ठी। मद्धस्तादद्रेर्निपातने निपतने। स्वार्थे णिच्। तन्निपातनिमित्तं त्रासो न कार्यः तथा वातवर्षाभ्यां यद्भयं तेनाप्यलं तदपि न कर्तव्यम्। हि यस्मात् मया वो युष्माकं तत्ततो भयात्त्राणं रक्षणं विहितम् ॥ २१ ॥ तथेति ॥ तथोक्तप्रकारेण कृष्णेन आश्वासितं मानसं येषां ते गावश्च धनानि च गाव एव धनानि वा तत्सहिताः सगोधनाः सव्रजाः शकटारोपितोपकरणसहिताः सोपजीविनः भृत्यपुरोहितादिवर्गसहिताः सर्वे व्रजौकसो यथावकाशमसंकीर्णं यथा भवति तथा गिरिगर्तं निर्विविशुः ॥२२॥ क्षुदिति ॥ तद्दर्शनानन्देन क्षुत्तृड्व्यथां निद्रादिसुखापेक्षां च हित्वा विस्मृत्य तैर्व्रजवासिभिर्वीक्ष्यमाणो भगवान् सप्ताहमद्रिं दधौ दधार। पदात् तदुद्धारसमये यत्रैव पादौ न्यस्तौ ततः स्थानान्नाचलत्। अत्र सप्ताहव्यापिन्या सांवर्तकवृष्ट्या माथुरं मण्डलं न ममज्ज। तद्भगवच्छक्त्यैव जलशोषणात् सप्ताहगणनाऽपि भगवतैव कृता। अन्येषां रात्रिदिनज्ञानस्याभावात् भगवत्प्रभावाद्गोवर्द्धनापरिस्थहरिणादीनामपि कष्टं नाभूदित्यपि ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ कृष्णेति ॥ तं श्रीकृष्णस्य योगानुभावं सामर्थ्यं स्वानुचरमेघद्वारा निशम्यातिविस्मितः निस्तम्भः गतमदः भ्रष्टो व्रजविनाशविषयकः संकल्पो यस्य सः इन्द्रः स्वान् स्वकीयान्मेघान् वर्षातः संन्यवारयत् ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इह पर्वतोत्पाटनभूभागे वो युष्माभिः हि यतः वो युष्माकं तेन अद्रिधारणेन त्राणं रक्षणं मया विहितं कृतं अतो वातवर्षभयेन अलं किमपि न स्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥ सगोधनाः सव्रजाः शकटवृंदसहिता उपजीविनो भृत्यपुरोहिताः तद्युताः ॥२२॥ वीक्ष्यमाणो हरिः पदात्स्थानात् ॥ २३ ॥ निःस्तंभो गर्वहीनः ॥ २४-२५ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नेति ॥ इह विले, मद्धृताद्रिनिपातने मम हस्ततोऽद्रेः पतनत इत्यर्थः । वो युष्माभिः, त्रासो भयं न कार्यः । भीतिर्न कर्त्तव्येत्यर्थः । वातश्च वर्षं च ताभ्यां यद्भयं तेन, अल तन्न कर्त्तव्यमित्यर्थः । मया, तत्त्राणं वा तवर्पभयेभ्यो रक्षणं विहितं संपादितम् ॥ २१ ॥ तथेति ॥ तथा कृष्णाश्वासितमानसाः श्रीकृष्णेन समाधापितचित्ताः, सधना गोधनसहिताः, सव्रजाः शकटमण्डलीसहिताः, सप्रजा इति पाठान्तरे पुत्रपौत्रादिप्रजासहिताः, सोपजीविनः भृत्यपुरोहितादिसहिताश्च, सर्वे व्रजौकस इति शेषः । यथावकाशमसंकोणं यथा भवति तथा, गर्त्तं गिरिखातं, निर्विविशुः ॥ २२ ॥ स्वावलोकनजानन्दपूर्त्त्यैव तेषां क्षुत्तृट्पीडां वारयन् सप्ताहं दधारेत्याह ॥ क्षुदिति ॥ क्षुच्च तृट् च ताभ्यां व्यथा तां, सुखापेक्षां च हित्वा त्यक्त्वा, तैः व्रजवासिभिः, वीक्ष्यमाणः सानन्दं यथा तथा केवलमोक्ष्यमाणः भगवान्, सप्ताहं सप्ताहोरात्रं, अद्रिं भगवत्स्पर्शजानन्दतः परितः प्रवृद्धप्रान्तभागं गोवर्द्धनाचलं, दधौ दधार । पदात् नाचलन्न चचाल । उद्धारसमये यत्र पदं विन्यस्तं न ततश्चचालेत्यर्थः ॥ २३ ॥ कृष्णेति ॥ ततः तं कृष्णयोगानुभावं, श्रीकृष्णस्य सामर्थ्यप्रभावं निशम्य श्रुत्वा, इन्द्रः, अतिविस्मितः, भ्रष्टसंकल्पः विनष्टमनीषितः, अत एव, निस्तम्भः निर्गर्वः सन्, स्वान् मेघान्, संन्यवारयत् ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

न त्रास इहेति : १०.२५.२१.

मदभिहिताऽधरगतिरपि सुखार्थमचलानुयोगतो वलिवत् । भवितेति यात भीतिं त्यक्त्वा पाताऽहमस्मि सन्निहितः ॥ ११४ ॥
मद्गिरिस्थैर्यविश्रब्धा बुद्धिरस्त्येव वः सदा । अलं तत्कल्पनाजालैरलं याताचलान्तरम् ॥ ११५ ॥

तथेति : १०.२५.२२.

यत्किंचित्कालमेवेशेनाशु गर्तान्तरे कृताः । ते तु तत्कृपयाऽऽजन्मैवानुगर्तान्तरे स्थिताः ॥ ११६ ॥

क्षुत्तृडिति : १०.२५.२३.

श्रीशास्येन्दुसुधापानसुतृप्ताक्षिचकोरकैः । त्यक्ता तदा तैरखिलैः क्षुत्तृट् चेति न विस्मयः ॥ ११७ ॥
गिरिवरो गुरुरेष हि सर्वशो लघुरयं च दयानिधिरच्युतः । नगणपालनपाटवमर्थतः कलयतीति सशङ्कमलोकयन् ॥ ११८ ॥
लघुरयं सरलो यदिहाच्युतो नियतवक्रपदो हि गुरुस्त्वसौ । कथमितो भवितेति न बुध्यते त इति वीक्षणतत्परतां दधुः ॥ ११९ ॥
भूभृन्निकरे त्वचलो विज्ञातोऽयं दयावतां निकरे । विद्मो न कीदृगस्तीत्यच्युतमचलं सशङ्कमद्राक्षुः ॥ १२० ॥
यज्ञघ्नस्य कियद्वयस्त्विति सुरैः पृष्टस्य सप्ताहमित्युक्तिं देवपतेर्निशम्य जलदाः प्रश्नोत्तराऽकोविदाः ।
उक्ताहर्गणवृष्टिकार्यममुना निर्दिष्टमस्मानिति स्वान्तर्निर्णयिनः किमत्र ववृषुः सप्ताहमेवानिशम् ॥ १२१ ॥
यद्द्वारास्थितिभिस्त्वदंघ्र्यनुचरैस्तत्कृस्नवारास्थितेर्वृष्टं तत्र वताऽऽप्लुतं त्वजनि तद्रोमापि नात्यल्पकम् ।
आज्ञा का पुरतो विधेयविपर्ययेत्यब्दोक्तिमाकर्ण्य स प्रावाचालमिति स्फुटा किमभवत्तेनैव सप्ताहता ॥ १२२ ॥
सप्ताहमेव मघवा यदवर्षदम्भः तत्तत्स्वभावरचनैव च बीजमस्य ।
गर्भं यदेकमकरोत्स हि सप्तभागमेकैकमप्यथ पुरा किल सप्त सप्त ॥ १२३ ॥
यदि चेदुररीकरोमि सम्प्रत्यहमप्युद्धरणेऽत्र चंचलत्वम् । अचलोद्धरणं तदा न सिद्ध्येदिति तस्थौ स तथैव सत्यसंधः ॥ १२४ ॥
अचलोद्धरण क्वचित्प्रसक्तं न मयैकेन पदेन चेदकारि । उपहासपदं तदा भवेयं भुजगेशस्य सदा धृताचलस्य ॥ १२५ ॥
वयं धारयामो वयं धारयामा वयं धारयामोऽद्रिमेनं समग्राः ।
अतद्भारभाजो व्रजस्यैवमुक्तीर्निशम्य स्वभारं न कृष्णोऽप्यवेदीत् ॥ १२६ ॥

कृष्णेति : १०.२५.२४.

सदयकरे सदयकरे विलोक्य विलसन्तमचलमचलमलम् । तानपि गुप्तान् गुप्तान् हरिणा हरिणा ऽप्यधारि विस्मयता ॥ १२७ ॥
अचले चञ्चलीभावमचलन्तं च चञ्चलम् । वीक्ष्यास्य विस्मयो युक्तो भ्रष्टाभ्रादभ्रसंभ्रमः ॥ १२८ ॥
गोकुलार्थं हि येनास्मिन् कृतः कृत्स्नवसुव्ययः । सिद्ध एवानुतापोऽस्य स्फुटं तन्निर्जरेश्वरे ॥ १२९ ॥
असिद्धिः समारब्धकार्यस्य तद्वद् विपक्षोन्नतिश्चापि सन्तापहेतुः ।
न चित्रं मनागत्र वृत्रद्विषोऽस्य द्वयं चाप्यभूत् तत्सकृत्कृष्णवैरात् ॥ १३० ॥
गुरुगिरिनिश्चलभावो गदितः सद्भिस्तमोभिदरुण इव । तद्युक्तं यन्मघवति स एव तादृक्तया फलितः ॥ १३१ ॥
कृष्णाञ्जनेऽखिलसुदृग्जनसेव्यमाने गोरोगहारिणि विहीनदृशामगम्ये ।
दृष्टिस्थिते सति यदाप तदा सहस्रदृष्टिस्थितिर्विमलभावमलं क्षमं तत् ॥ १३२ ॥

कृष्णप्रिया

आप सर्व मेरे हस्त से इस गिरिवर के गिर जाने का संदेह—एवं भय न करें। अब गिरिवर के गह्वर में हम आश्रित हैं इसलिये इस मूसलधार वर्षा और प्रचण्ड आंधी से भी हमें कुछ भी भय नहीं है क्योंकि उस आपत्ति से सुरक्षित रहने के लिये ही मैंने यह उपाय किया है॥ २१॥ भगवान् श्रीकृष्ण के अभयप्रद विश्वास सभर वाक्यों से विश्वस्त सारे व्रजवासी अपने गोधन, आश्रितों, पुरोहितों पुत्रादि, एवं सेवकों के सहित सुख से श्रीगिरिवर के गह्वर में प्रविष्ट हुए। सबने अपनी अपनी सामग्री भी छकड़ों में भरकर वहीं रख ली। किसी के लिये स्थान की कमी नहीं रही॥ २२॥ भगवान श्रीकृष्ण, क्षुधा-तृषा की व्यथा, सुख विश्राम की अपेक्षा को त्यागकर, सात सात दिन पर्यन्त ठीक इसी तरह श्रीगोवर्धन गिरिवर को उसी हस्त पर धारण करते खड़े रहे। एक पाँव भी इधर उधर नहीं हटे। सारे व्रजजन आश्चर्यचकित दृष्टि से भगवान श्रीकृष्ण की ओर एक टक निर्निमेष नजरों से निहारते रहें॥ २३॥ भगवान् श्रीकृष्ण के इस अद्भुत योग के प्रभाव को देखकर इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। इन्द्र का सारा संकल्प भ्रष्ट हो गया। फिर तो अभिमानशून्य इन्द्र ने मेघों को पानी बरसाने से पूर्णतया रोक दिया॥२४॥

खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम्। निशाम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोऽब्रवीत्॥ २५॥
निर्यात त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः। उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः॥ २६॥
ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम्। [1]शकटाटोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः॥ २७॥
भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः। पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया॥ २८॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः गोवर्धनधरः उदितादित्यम् व्यभ्रम् खम् च दारुणम् वातवर्षम् उपरतम् निशम्य गोपान् अब्रवीत्॥ २५॥ हे गोपाः! त्रासम् त्यजत, वातवर्षम् उपारतम् च निम्नगाः व्युदप्रायाः सस्त्रीधनार्भकाः निर्यात!॥ २६॥ ततः ते स्त्रीबालस्थविराः गोपाः शकटोपकरणं स्वम् स्वम् गोधनम् आदाय शनैः निर्ययुः॥ २७॥ प्रभुः भगवान् अपि, सर्वभूतानाम् पश्यताम् तम् शैलम् स्वस्थाने लीलया पूर्ववत् स्थापयामास॥ २८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

व्युदप्राया विगतोदकप्रायाः स्वल्पजला इत्यर्थः॥२६॥ शकटोढोपकरणं शकटैरूढमुपकरणं यथा भवति तथा॥२७-२८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

त्रासम् उद्वेगम्। वातेन सहितं वर्षमुपारतम्। उ' शिवावतारं दुर्वाससं पाति रक्षत्यंबरीषप्रार्थनयेत्युपं सुदर्शनम्। स्पष्टमतेन्नवमस्कध। तेनारतं दूरीभूतं सुदर्शनेन शोषितं वातवर्षमत एवाह—व्युदप्राया इति। एतदपि गर्गसंहितादौ स्पष्टम्। इत्यर्थ इति। नाममात्रजला इति भावः॥ २६॥ ततः भगवदुक्त्युत्तरम्। ते गर्तस्थाः। ऊढम् धृतम् उपकरणं जीवनसाधनं यथा स्यात्तथा। 'शकटाटोपकरणम्' इति विजयध्वजः। तत्र शकटेष्वटं गतमुपकरणम्। यद्वा—शकटेषु गमनसमये आटोपकरणं संभ्रमविधि यथा स्यात्तथेत्यर्थः॥ २७॥ तम् उत्थापितम्। स्वस्थाने यत उद्धृतस्तत्रैव॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अत एवोदितः दृष्टिपथं गत आदित्यो यस्मिन् तत् दारुणं भीषणम् उपरतं निवृत्तम् अत्र च निशाम्य दृष्ट्वेत्यर्थः। उपारतं वातवर्षमिति स्वयमेव विज्ञापनात् दर्शनं च तिर्यक्कृतहस्तेन गिरिं धृत्वेति ज्ञेयम् गोवर्द्धनधर इति श्रीशुकदेवस्य सोत्साहनिजस्फूर्तिमयं वाक्यम्॥२५॥ हे गोपाः! इति भवद्भिर्दृष्टिोऽधुना गवां रक्षां कृतेति श्लेषः। झटिति निम्नगानां व्युदप्रायत्वं च नाश्चर्यं वृष्टानां जलानां पततामेव श्रीभगवत्प्रतापतपनेन प्रायो विलीनत्वात् अन्यथा प्रलयकारिमेघैः सर्वाप्लावनं स्यात् धनानि गावो गवादीनि वा॥ २६॥ ततस्तादृशगिरिधारणतादृशवचनानन्तरं ते इति तथा तथा भगवदङ्गीकारेण निर्जितमहेन्द्रास्तदेकजीवनाश्च ये तादृशा इत्यर्थः। उपकरणं धनादिकं स्त्र्यादयश्च शनैर्निर्ययुः शैघ्र्येण सम्मर्दापत्तेः॥ २७॥ गोपादयो निर्ययुः भगवानपि तं स्थापयामासेत्यपि शब्दार्थः तत्र स्वस्थान इति। स्थानात्ययो निषिद्धः पूर्ववदिति पर्वत वैपरीत्यादिकं निरस्तं प्रभुरिति तत्र शक्तिदर्शिता अत एव लीलया सर्वेषां मनोहारिण्या अनायासचेष्टया अत एव विस्मयेनानन्देन च सर्वभूतानां व्रजस्थानां दिविष्ठानां च पश्यतामिति सप्तम्यर्थ षष्ठी॥ २८॥

१. शकटोढो—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व. रा. शु. सु.।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अत एवोदितो दृष्टिपथं गत आदित्यो यस्मिन् तत्, दारुणमत्युल्वणम्, उपरतं निवृत्तम्, निशम्य व्रजवासिवीक्षणेन तद्धारणसुखासक्त्या स्वतोऽननुसन्धानात्, केवलं मुग्धगोपादिमुखतः श्रुत्वा दृष्ट्वेति वा, गोवर्द्धनं धरन्नेव गोपानब्रवीदिति तदानीं मध्यप्रयास एव सूचितः। ईदृश सर्वं प्रेमवेगेन श्रीभगवच्छ्रमादिशंकया खिद्यमानस्य श्रीपरीक्षितः समाश्वासनार्थं ज्ञेयम् ॥ २५ ॥ हे गोपा इति भवद्भिर्वृष्टितोऽधुना गवा रक्षा कृतेति श्लेषः। स्त्रीभिर्धनैर्गोभिर्गवादिभिर्वा सर्वैरर्भकैश्च सहिता निर्य्यात, नद्यश्च व्युदप्राया महावृष्टिविवृद्धजलरहितप्राया बभूवुः, अनेन स्थलानां प्रायो जलप्लावापगमोऽपि ध्वनितः ॥ २६ ॥ ततस्तस्माच्चद्भचनादेव, ते गर्त्तान्तर्वर्त्तिनः, यद्वा, गर्त्तान्तरमपि श्रीभगवद्वीक्षणेन सुखस्थिताः, यद्वा, सप्ताहमेकत्र नैश्चिन्त्येन लब्धश्रीमुखसन्दर्शनाः। उपकरणं धनादिकं स्त्र्यादयश्च शनैर्निर्ययुः, तेषां स्वभावेन नन्दगतित्वात् भीरुत्वेन पुनर्वृष्टिशंकया वा, यद्वा, तत्सहचराणामिव वने गन्तुमशक्तानां तेषां तद्वीक्षणत्यागाशक्तः, यद्वा, गोपादयः सर्वेऽपि शनैरेव निर्ययुः, तदानीन्तन तच्छ्रीमुखशोभाविशेषवीक्षणासक्तः ॥ २७ ॥ गोपादयो निर्ययुः, भगवानपि तं स्वस्थाने स्थापयामासेत्यपि शब्दार्थः। पूर्ववद् यथायं पूर्वमासीत्तथैव लीलया स्थापयामास, न स बलेन प्रक्षेपणात्, पूर्वस्थितशिलादिसन्निवेशानतिक्रमणेत्यर्थः, इति शक्तिविशेषो दर्शितः, परयतां लीलया धारणात् यथापूर्वं लीलया स्थापनाच, परमाश्चर्य्येण निरीक्षमाणानां सतामिति तत्र संशयो निरस्तः। ननु गर्त्ते पुनः स्थापनेव महागरिष्ठतरस्य तस्यावश्यमेव भूमौ किञ्चित् प्रवेशहानिः स्यादेव, तत्राह—प्रभुः, तस्य किमशक्यमित्यर्थः। तत्र प्रयोजनविशेषमप्याह—भगवान्, व्रजक्रीडाविशेषेण निजाशेषैश्वर्य्यप्रकटनपरः, पूर्ववर्त्तास्मिन् विचित्रक्रीडार्थमिति भावः, अन्यथा तत्सुखासम्पत्तेः ॥ २८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाः ॥ २६-३३ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धीये श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तत उपरतं वातवर्षात् अतएव विगतान्यभ्राणि यस्मादत एवोदितः प्रकाशमान आदित्यो यस्मिन्। तदाकाशं च दृष्ट्वा गोवर्द्धनधरो भगवान्। गोपानाह ॥ २५ ॥ उक्तिमेवाह—निर्यातेति। हे गोपाः! स्त्रीभिर्धनैरर्भकैश्च सहिताः निर्गच्छत त्रासं भयं त्यजत वातवर्षमुपारतं निवृत्तं निम्नगाः नद्यः व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाश्च स्वल्पजलाश्चेत्यर्थः ॥ २६ ॥ ततो भगवदुक्त्यनन्तरं सर्वे गोपाः स्त्रियो बालाः स्थविरा वृद्धाश्च शनैः शकटैः रूढानि गृहोपकरणानि यस्मिंस्तद्यथा भवति तथा स्वं स्वं गोधनमादाय निर्ययुर्गर्त्तान्निर्जग्मुः ॥ २७ ॥ अथ प्रभुः समर्थो भगवानपि सर्वभूतानां पश्यतां सतां लीलया पर्वतं शैलं गोवर्द्धनं स्वस्थान एव स्थापयामास ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

व्यभ्रं विगतमेघं वातश्च वर्षश्च वातवर्षम् एकवद्भावः ॥ २५ ॥ व्युदप्रायाः विगतजलप्रायाः ॥ २६ ॥ शकटाटोपकरणम् शकटगतमुपकरणं जीवनसाधनं शकटाटोपकरणं चादाय गतौ शकटपरिवर्त्तनेनाटोपकरणं संभ्रम विधिर्यथा भवति तथेति वा ॥ २७-२८ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

व्युदप्रायाः विगतोदकप्राया अल्पजला इत्यर्थः ॥ २६ ॥ शकटेष्वारूढान्युपकरणानि यत्र तद्यथा स्यात्तथा निर्जग्मुः ॥ २७-२८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

वातवर्षमुपरतं निशम्य विगतान्यभ्राणि यस्मात्तत् उदितः आदित्यो यस्मिन् तत् खं च निशम्य ज्ञात्वा ॥ २५ ॥ व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाः समजला इत्यर्थः ॥ २६ ॥ शकटेषु रूढमुपकरणं गृहोपकरणं यथा भवति तथा स्वं स्वं गोधनमादाय निर्ययुर्गिरिगर्त्तात् ॥ २७-२८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

नीलं नैव नभः सुलज्जितशचीभर्तुर्मुखे नीलिमा मेघाः क्वापि न सन्ति सन्ति दिविजभ्राजद्विमानाम्बुदास्तामिवं न हि दिश्यथाऽपि च दृशि त्वां मानुषं मन्वतां चित्तेष्वरित न वेपथुर्निजजने भीतेन्द्रगात्रे परम् ॥ १ ॥ धारा नैव पयोमुचां यदुपते प्रेमाश्रुधारा परं स्वानां नो परिगर्जितं स्तुतिकृतां सिद्धेश्वराणां ध्वनिः। विद्युन्नामरनर्तकी करचयालङ्कारकान्तिः प्रभो नो वायुः

सुखवृष्टपुष्पसहगानाल्पालिपक्ष्मैरुदित्यादिप्रकारेण केनचिदभिहितः स्वयमाहेत्युत्प्रेक्षितम्। वस्तुतस्तु सर्ववित्प्राह ॥ खमिति। व्यभ्रं विगतान्यभ्राणि यस्मात्तत्खमाकाशं उदितादित्यं च दारुणमुल्बणं वातं वर्षं चोपरतं निशम्य गोवर्धनधरो गोपानब्रवीत् ॥२५॥ हे गोपास्त्रासं त्यजत सस्त्रीधनार्भका निर्यात बहिर्वातवर्षं वातेन सहितं च तद्वर्षं च तदुपारतं शान्तं निम्नगा न्युदप्राया विगतान्युदान्युदकानि येषां ते कासारादयस्तत्तुल्या इति। ता नद्यस्तथा। स्वतन्त्रोऽयमुदकवाच्युदशब्दः ॥ २६ ॥ शकटेष्वनस्स्वटन्ति गच्छन्ति तानि तद्गतानीति यावत् उपकरणान्युर्वरितजीवसाधनान्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा भवति तथा निर्ययुः। शकटानामाटोप आरभटी तत्करणं यथा तथेति वा स्त्रीबालस्थविरा गोपाः शनैः स्वं स्वं गतं ॥ २७ ॥ स्वस्थाने पूर्वोक्तस्वस्थले सर्वभूतानां पश्यतां सताम्। अनादरे चैषा षष्ठी। सहाया भवतेत्यनादृत्य स्थापयामास ॥ २८ ॥

श्रीसुबोधिनी

ततो यज् जातं तदाह खमिति, सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे निवारणं तत आकाशो व्यभ्रो जात उदित आदित्यो यस्य, एवमुपरितनवृष्ट्यभावं ज्ञात्वा गोवर्धनं धृत्वैव भगवानब्रवीत्, वातयुक्तं वर्षं चकारात् शिलावर्षं मेघांश्च दारुणमतिमारकमुपरतं निशम्य, गोपानिति पूर्ववद् धर्मपरान् ॥ २५ ॥ भगवद्वाक्यमेवाह निर्यातेति, त्रास च त्यजत वातवर्षकृतं गोपा इतिसम्बोधनं गवां पालनमावश्यकमिति, प्रथमतो बहिर्दृष्ट्वा पश्चात् सामग्री नेयेतिशङ्कां वारयन्नाह सस्त्रीधनार्भका इति, स्त्रियो धनान्यर्भका बालाश्चेति तैः सहिता एव निर्गच्छत यतो वातवर्षमुपारतं निम्नगाः सूक्ष्मनद्यो न्युदप्रायाः क्वचिद् गभीर एवोदकं नान्यत्रेति, तेषां जिज्ञासाभावादेतदुक्तम् ॥ २६ ॥ प्रवेशवदेव निर्गता अपीत्याह ततस्त इति, तत्र सर्वं पृथगेव स्थितमिति ज्ञापयितुं स्वं स्वं गोधनमादाय सर्वे निर्गताः, शकटानामाटोपकरणं यथा भवति तथा यथा निर्भया हृष्टा निर्गमने महान्तं सम्भ्रमं कुर्वन्ति तथा कृत्वा निर्गता इति तेषामानन्दः सूचितः, ततोन्येपि स्त्रीबालस्थविराः शनैरेव निर्गता अव्यग्राः ॥ २७ ॥ सर्वेषु निर्गतेषु भगवत्कृतमाह भगवानपीति, यथा ते स्वस्वकार्यार्थं निर्गता एवं भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने तत्रैव स्थाने पूर्ववदेवानुपूर्वां विधाय स्थापितवान्, अनेन प्रथनेनैकत्रकरणपक्षेपि यथापूर्वं स्थापितवानिति लक्ष्यते, अत्र स्थापने ग्रहणे वा न किञ्चिन् मायिकमिति ज्ञापयितुं पूर्ववदेव स्थापितवान्, तदाह पश्यतां सर्वभूतानामिति, यथा हस्तस्थितं पात्रं यथास्थानं स्थाप्यते तथैव लीलया स्थापयामास ॥ २८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

निर्यातेत्यत्र तेषामिति तेषां गोपानां विचारसामर्थ्याभावात् स्वयमेवोक्तमित्यर्थः, जिज्ञासापदेन विचारः ॥ २६ ॥

गोस्वामीश्रीगिरधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दारुणं वातवर्षमुपरतं निवृत्तं दृष्ट्वा, अत एव विगतानि अभ्राणि यस्मात्, अत एव उदितः प्रकाशमानः आदित्यो यस्मिंस्तथाभूतं खमाकाशं च निशाम्य दृष्ट्वा गोवर्धनधरो भगवान् गोपानब्रवीत् ॥ २५ ॥ तदुक्तमाह–निर्यातेति। हे गोपाः! स्त्रीभिर्धनैरर्भकैश्च सहिता निर्यात गोवर्धनगर्तादितो निर्गच्छत। त्रासं वर्षभयं त्यजत। यतो वातवर्षमुपारतं निवृत्तम्। 'तथापि महावृष्ट्या व्रजभूमिर्जले निमग्ना स्यात्' इत्याशङ्क्याह–न्युदप्राया इति। निमग्ना नद्योऽपि न्युदप्रायाः, निरुदकप्रायाः स्वल्पजलाः सन्तीत्यर्थः। नच "जलशोषेण वृष्टिनिवारणादिना वा रक्षा कुतो न कृता? गोवर्धनोद्धरणस्य किं प्रयोजनम्?" इति शङ्कनीयम्। प्रलयहेतुजलमपि भगवच्चिन्त्यशक्त्यैव शुष्कमिति ज्ञेयम्। "अन्यथा रक्षाकरणे व्रजवासिनां गोवर्धनपूजायां निष्फलत्वबुद्धिः स्यात्तथा च ततोऽग्रे तत्पूजा न स्यात्, तद्द्वारारक्षणे तु 'पूजितेन गोवर्धनेन रक्षिताः, अतोऽयं महान् देवः सर्वदा पूजनीयः' इति बुद्ध्या सर्वदा तत्पूजा स्यात्" इत्याशयेन गोवर्धनोद्धारेणैव व्रजरक्षा कृतेति ज्ञेयम् ॥ २६ ॥ ततो भगवदुक्त्यनन्तरं ते सर्वे गोपाः स्त्रियो बालाः स्थविरा वृद्धाश्च शकटैरूढमुपकरणं यथा भवति तथा स्वं स्वं गोधनमादाय निर्ययुः गिरिगर्तान्निर्जग्मुः ॥२७॥ भगवान् श्रीकृष्णोऽपि सर्वेषां भूतानां जनानां पश्यतामेव लीलया अनायासेनैव तं शैलं पूर्ववत् पूर्वं यथाऽऽसीत्तथैव स्वस्थाने स्थापयामास। आयासाभावे हेतुः–प्रभुः समर्थः ॥ २८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

खमिति ॥ दारुणं वातवर्षमुपरतं निवृत्तं दृष्ट्वा अत एव विगतानि अभ्राणि यस्मात् अत एव उदितः प्रकाशमानः आदित्यो यस्मिंस्तथाभूतं खमाकाशं च निशाम्य दृष्ट्वा गोवर्धनधरो भगवान् गोपानब्रवीत् ॥ २५ ॥ निर्यातेति ॥ हे गोपाः! स्त्रीभिर्धनैरर्भकैश्च सहिता निर्यात गोवर्धनगर्तादितो निर्यात निर्गच्छत त्रासं च वर्षभयं त्यजत। यतो वातवर्षमुपारतं निवृत्तं निम्नगा नद्योऽपि न्युदप्रायाः निरुदकप्रायाः स्वल्पजलाः सन्तीत्यर्थः। एतस्यातिवृष्टिजलस्य सद्यः शोषणमपि हरेः प्रभावादेव ॥ २६ ॥ तत इति ॥ ततस्ते सर्वे गोपाः स्त्रियो बालाः स्थविरा वृद्धाश्च शकटैरूढमुपकरणं यथा भवति तथा स्वं स्वं गोधनमादाय शनैः सुखेन निर्ययुः गिरिगर्त्तान्निर्जग्मुः भगवनिति ॥ प्रभुर्भगवान् अपि सर्वेषां भूतानां जनानां पश्यतामेव लीलया अनायासेनैव तं शैलं पूर्ववत् पूर्वं यथाऽऽसीत्तथैव स्वस्थाने स्थापयामास ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

उपारतं विरतं व्युदप्रायाः विगतोदकप्रायाः अल्पोदका इत्यर्थः निम्नं नीचप्रदे संगच्छंतीति निम्नाः गाः नद्यः ॥ २६ ॥ शकटैरूढं उपकरणं धनादि यथा भवति तथा स्थविराः वृद्धाः पूर्ववत् पूर्वं यथा स्थितास्तद्वत् ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

खमिति ॥ दारुणमतिभयंकरं, वातवर्षं तीव्रवातोपेतजलप्रवर्षणं, उपरतं विरतिं प्राप्तं, निशाम्य दृष्ट्वा, खमाकाशं च विगतान्यभ्राणि यस्मात्तत्, उदितः प्रकाशमान आदित्यो यस्मिंस्तत्तथाभूतं च, निशाम्य, गोवर्द्धनधरः भगवान् गोपान् अब्रवीदाह ॥२५॥ उक्तिमेवाह ॥ निर्यातेति ॥ हे गोपाः, सस्त्रीधनार्भकाः स्त्रीभिर्धनैरर्भकैश्च सहिताः सन्तः, निर्यात गर्त्ताद्बहिर्निर्गच्छत। त्रासं वातवर्षादिजातमुद्वेगं, त्यजत। वातवर्षं, उपारतं, ननु नद्यादेरेतावज्जलानिवृत्तेर्निर्गत्य क्व वा स्थास्याम इत्यत्राह। निम्नगाश्च नद्योऽपि, व्युदप्रायाः निरुदकप्रायाः स्वल्पजला इत्यर्थः। जाताः ॥ २६ ॥ प्रदृष्टकृष्णप्रभावा गोपा नदीनां निरुदकत्वश्रुत्या प्राक्स्यापि जलस्य सद्यो निवृत्तिं तदुपलक्षितां स्थलस्याप्यनार्द्रतां च कृष्णमहिमजां बुद्ध्वा यच्चक्रुस्तदाह ॥ तत इति ॥ ततः भगवद्वाक्यश्रवणानन्तरं, ते भगवत्प्रतापवीक्षकाः, स्त्रियश्च बालाश्च स्थविरा वृद्धाश्च ते, शनैः निर्ययुः। शकटैरनोभिरूढानि उपकरणानि गृहोपकरणानि यैस्तथाविधा यथा भवन्ति तथा स्वं स्वं, गोधनं आदाय गृहीत्वा, गोपाः अपि, निर्ययुर्गर्त्तान्निर्जग्मुः ॥ २७ ॥ भगवानिति अथ प्रभुः समर्थः, भगवान् श्रीकृष्णः अपि, सर्वभूतानां पश्यतां सतां, लीलया तं यमुद्धृत्य सर्वपरित्राण कृतं तथाविधं, शैलं गोवर्द्धनाचलं, स्वस्थाने पूर्ववत् एव, स्थापयामास। पूर्ववदित्यस्यायं भावः। यदा स उत्पाटितस्तदा गर्त्ते जलप्रवेशार्थं पर्वतः प्रवृद्धप्रान्ततां नीतं तं स्थापनावसरे खातपूर्त्तिसंमितं विधाय यथापूर्वमस्थापयदिति ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

खं व्यभ्रमिति : १०.२५.२५.

अचलकरं भक्तानामचलकरं वीक्ष्य निश्चलैकपदम्। अतिचपला अतिचपलायुक्तं च पलायनाशया शरदाः ॥ १३३ ॥
तावद्धरिगिरिगौरवममानयंस्ते प्रकाण्डबलमन्दाः। यावद्धरिगिरिगौरवमदृष्टमासीदकुण्ठमचलपदम् ॥ १३४ ॥
न नष्टं गोकुलं श्रीशाश्रितमस्मच्छरोत्करैः। नष्टं किन्तु तवास्माकं निवृत्तैरित्यबोधि तैः ॥ १३५ ॥
(गोवर्द्धनधर इति)

अतीतकर्मभिर्नामनिर्देशः पारिभाषिकः। अतस्तच्छालिने श्रीशे तन्नामर्षिरुपाददे ॥ १३६ ॥

भगवानपीति : १०.२५.२८.

स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते लोकोक्तिमिति चिन्तयन्। श्रीशः सिद्धस्वात्मकार्यः स्वस्थाने तं न्यधात्पुनः ॥ १३७ ॥
येन स्वीया रक्षिता मे स सर्वस्वीयाधिक्यप्रीतिमान् स्पष्टमेव।
भूतेष्वशीः ख्यापयन्भक्तवत् तं स्वीयस्थानेऽस्थापयद् भक्तिमन्तम् ॥ १३८ ॥
दुष्टानेकदुरध्ववृत्यवनिभृद्भारावनुत्यै विधिं द्वारीकृत्य मयाऽऽर्तया सह सुरैर्योऽयं पुराऽभ्यर्थितः।
प्रारब्धं किमदोऽधुना तु विभुना मद्वर्धनोन्मूलनं मैव गोमनसि प्रयात्विति पुनरस्तं तत्र संन्यस्तवान् ॥ १३९ ॥
यः पूर्वं स्वकरादनुग्रहपदं नीतस्तथोच्चैर्गतिं सत्राणेड्यभिलाभृतं कथमधस्तात्तं पुनर्नीतवान्।
इत्थं माष्टु मतत्त्वविज्जनवचः शङ्काकलङ्कं मुनिः प्रावोचद्धि विचार्य स प्रभुरमुं स्वस्वस्थान एव न्यधात् ॥ १४० ॥

मत्प्रीतये मज्जनरक्षणाय सोढा दृढा येन शिरोऽप्रतिष्ठा।
कर्ता तमत्राप्यचलप्रतिष्ठमित्यद्रिताटङ्कस्थितः प्रदिष्टम् ॥ १४१ ॥
अत्युद्भुतात्मचरितानुभवाय लोकेष्वेनं दधाम्यमितोऽपि यदन्तरिक्षे।
मत्यवीक्ष्यतेरपरतः परतो रसात्मा नार्हत्यसावसरसत्वमिति न्यधात् तम् ॥ १४२ ॥
उन्मूलनं क्षितिभृतां करतो धृतिश्च संस्थापनं पुनरलोलमपि स्ववासे।
लीलायितं भुवि मनेत्यखिलावनीभृद्बोधाय तत्त्रितयमत्र गिरावदर्शि ॥ १४३ ॥
योऽस्मिन्मदच्युतगतिर्भविता गिरीन्द्रः सोऽस्मिन् मदच्युतपदस्थितिमेति यश्च।
नैवंविधः स्फुटमसौ न हि तामुपैति ह्याद्यं गिरौ तदपरं च मघोन्यदर्शि ॥ १४४ ॥
इन्द्रः पुरा स्वरधिकारपदेऽभिषिक्तो यो मेघहेतुरधुना तमवेक्ष्य दृप्तम्।
निष्कास्य तत्र हरिणा गिरिरभ्यषेचि स्वस्थानपूर्ववदिति प्रतिभाति शब्दात् ॥ १४५ ॥
अतएव निजाधिकारमाप्तुं पुनरिन्द्रेण मुहुः स्तुतस्य विष्णोः।
मदभावमपोह्य शक्र नैजे वसराज्य वच इत्यलंकृतार्थम् ॥ १४६ ॥ (युग्मम्)

यः स्याद् गोवर्धनोऽस्मिन् भुवन भयहरो योग्य एकः स एव स्वाराज्ये जातु नान्यः पुरुष इति तदा तादृशं भूभृदिन्द्रम् ।
दृष्ट्वा स्वस्थानराज्ये प्रभुरमलपदेऽस्थापयत् स स्वतन्त्रः प्रेक्ष्यागोवर्द्धनं तं भुवनभयकरं शक्रमोज्झीत् क्षमं तत् ॥१४७॥
भूस्थानां स्वस्थसुखं येनादायीह भुवनभयहर्त्रा । स्थाने तत्फलमस्य स्थितिसुखभोग इत्यधात्स तथा ॥ १४८ ॥
बलिरिवायमपि प्रभुणा गिरिर्भुवनरक्षणवृत्तिरचंचलः । निजपदाच्च्युतिभावमनायियत् तदरिमित्रभिदाह्वदयेऽस्यका ॥१४९॥
इत्यल्पजनताजल्पमार्जनाय तदा प्रभुः । स्वीयं स्वीयावनासक्त न्यस्तवांस्तत्र तं पुनः ॥ १५० ॥ (युग्मम्)
पश्यत्स्वेय समस्तभूतनिवहेष्वप्रज्ञमिन्द्रं प्रभुरस्थाने सुतरामयोझ्यदलं नार्होऽयमस्मिन्पदे ।
तं चाद्रिं सकलाधिकं निजपदे स्वं च स्वयोग्याकृतौ प्राग्वद्बाल्यजुषीत्यधात्त्रिकमिदं स्थाने तदा लीलया ॥ १५१ ॥
कृष्णोऽपि वञ्चक इवोपधिविध्यभिज्ञः सम्पाद्य पूर्णमसुतो गिरितः स्वकार्यम् ।
स्वस्थानमभ्यसुलभं कृतवान् यदस्येतीशो सदुक्तिमपमार्ष्टमधात्पुरेव ॥ १५२ ॥
गोत्रोद्धारं कृत्वा स्वजनावनकृच्च एव स कुलीनः । अहमस्मि तथायमपीत्यालोच्येशो निनाय निजसमताम् ॥ १५३ ॥

कृष्णप्रिया

उसी समय आकाशमें एक भी मेघ नहीं रहा । यह भारी आँधी और घनघोर वर्षा भी रुक गई । भगवान् सूर्य भी निकल आए यह परिस्थिति को निहालते गिरिवरधारी गोविन्द ने गोपों से कहा ॥ २५ ॥ भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे प्यारे गोपजन ! आप निर्भय बन जाये । आकाश की ओर देखो अब एवं वृष्टि का कोई चिन्ह भी नहीं रहा, उमडी नदियाँ उतर गई । आप अपनी अपनी सामग्री सम्पत्ति, संतान, स्त्रियों को लेकर बाहर निकलो ॥ २६ ॥ प्यारे नन्द दुलारे के निर्भय वचन सुनकर सब गोप लोग बालकों, वृद्धों एवं स्त्रियों के साथ निजी गोधन सम्पत्ति को आगे कर और छकडों में सब सामान लाद कर धीरे धीरे श्रीगिरिराज महाराज के गड्ढे से बाहर निकल आए ॥ २७ ॥ सर्व समर्थ भगवान श्रीकृष्णने भी सर्व गोपजनके सामने ही, श्रीगिरिराज महाराज को पूर्ववत् लीला पूर्वक उसी स्थान पर स्थापित कर दिया ॥ २८ ॥

तं [1]प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥ २९ ॥
यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः । कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥ ३० ॥
दिवि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः । तुष्टुवुर्मुमुचुस्तुष्टाः[2] पुष्पवर्षाणि [3]पार्थिव ॥ ३१ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—प्रेमवेगात् निभृताः व्रजौकसः परिरम्भणादिभिः यथा "यथायोग्यम्" तम् समीयुः च गोप्यः दधि अक्षताद्भिः मुदा सस्नेहम् अपूजयन् च सदाशिषः युयुजुः ॥ २९ ॥ स्नेहकातराः यशोदा रोहिणी नन्दः च बलिनाम् वरः रामः, कृष्णम् आलिङ्ग्य आशिषः युयुजुः ॥ ३० ॥ पार्थिव ! दिवि देवगणाः, साध्याः सिद्ध गन्धर्व चारणाः तुष्टाः तुष्टुवुः च पुष्प वर्षाणि मुमुचुः ॥ ३१ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

निभृताः पूर्णाः । यथा यथोचितं परिरंभणादिभिः समीयुरुपजग्मुः । सदाशिषः श्रेष्ठानाशीर्वादान् ॥ २९-३२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तम् श्रीकृष्णम् । प्रेमवेगात्प्रेमोद्रेकात् । तं यथा यथोचितं गुरुसमलघुवर्गभेदैः परिरंभणादिभिस्समीयुर्मिलिताः । आदिपदात् शुभाशीर्वादमस्तकाघ्राणचुंबनवासमबाहुसंमर्दनतदंगुलिस्फोटस्तवनश्रमदुःखाभावप्रश्नादयो गुरुवर्गस्य, हास्यपरिहासादयः समवर्गस्य, पादपतनादयो लघुवर्गस्य ज्ञेयाः । गोप्यो वत्सलाश्चात्पुरोहितादयः दध्यादिभिर्मंगलद्रव्यैरपूजयन् । तदाशिषस्तु दुष्टान्नाश्य शिष्टान्पालय पितरावानंदय धनैश्वर्यसंपन्नो भवेत्याद्याः । ननु परमवात्सल्यवता शेषांशेन पृथ्वीमपि दधता रामेण गोवर्द्धनधारणे स्वानुजस्य कथं साहाय्यं न कृतम्, उच्यते—इंद्रमखभंगगोवर्द्धनमखप्रवर्तनयोर्मयैव कृतत्वादहमेव गोवर्द्धनं धृत्वा व्रजं रक्षिष्यामि सोयं मे व्रत आहित इति तत्संकल्पस्य तदंशेन रामेणान्यथा कर्तुमनौचित्यात् । क्वचित्प्राचीनगोवर्द्धनधरप्रतिकृतौ मातृभ्यां नवनीतादिदानं पित्रा भ्रात्रा च गोवर्द्धनस्य शिरसावष्टंभादि, तच्च स्नेहकातरा इत्यनेनासूचीति तोषिणी ॥ २९ ॥ स्नेहेन कातरा आकुलांतःकरणाः ॥ ३० ॥ तुष्टाः गोरक्षणाद्धर्षिताः । सर्वेषामस्माकं हविर्दानसाधनीभूतगोरक्षणेन हितमाचरितं भगवतेति भावः ॥ ३१ ॥

---

१. प्रेमगर्भोक्ति—प्रा. पा. । २. सर्वे—विज. । ३. प्रचोदिताः—विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अधुना परमहर्षेण श्रीभगवता सह सर्वेषां तत्रत्यानां समागमं वदन् प्रेमोद्रेकेण गायन्निवाह—तमिति। गोष्ठरक्षार्थं धृतगोवर्द्धनम् यद्वा, प्रकटितैश्वर्यमपि व्रजौकसः सर्वे व्रजवासिजनाः परिरम्भणादिभिः समीयुः मिलितवन्तः तत्र हेतुः प्रेम्णो वेगः स्वनिमित्तप्रयासेन उद्रेकस्तस्मात् तेनेत्यर्थः। आदिशब्देन शुभाशीर्वादश्रीमस्तकाघ्राणचुम्बनपादग्रहणवामबाहुसम्मर्दनतदङ्गुलिस्फोटनस्तवनश्रमदुःखाभावप्रश्नादयः यथा यथोचितं गुरुसमलघुवर्गभेदैः सस्नेहं यथा स्यात्तं वा सस्नेहं आशिषः दुष्टान् दमय शिष्टान् पालय सर्वैश्वर्यसेवितो भव निजजनानानन्दयेत्याद्याः ॥ २९ ॥ गोप्यगोप्याद्यपेक्षया पश्चात् स्थितानां परमस्निग्धानां मात्रादीनां सङ्गतिमाह—यशोदेति। श्रीयशोदासाहचर्येण श्रीनन्दस्यादरविशेषेण वा तस्मात् प्राक् श्रीरोहिण्या निर्देशः बलिनां वर इति यद्यपि तस्यापि गोवर्द्धनधारणसामर्थ्यमास्ते शेषरूपेण स्वांशेन मूर्द्धैकदेशे हेलया पृथ्वीधारणात् तथापि तत्राप्रवृत्तिस्तद्विधलीलायास्तदभीष्टत्वादिति भावः। यद्वा, बलिनां वर इति निर्भरगाढालिङ्गनमभिप्रैति स्नेहातिशयेन प्रभावज्ञानेन च सर्वत्र श्रीकृष्णेच्छायां सम्मत्या मौनं गोवर्द्धनोद्धरणादौ तत्कीर्त्यपेक्षया चासाहाय्यमिति पूर्वं तन्नामाश्रवणमिति ज्ञेयम् आशिषः एवं चिरमस्मान् पालय सदासुखी भव नित्यं पूर्णमनोरथ एधस्वेत्याद्याः स्नेहेन कातरा अधीराः सन्तः अत्र प्राचीनश्रीगोवर्द्धनधरप्रतिकृतौ क्वचित् दृश्यते मातृभ्यां नवनीतादिसमर्पणं पिताभ्रातृभ्यां च शिरसा श्रीगोवर्द्धनावष्टम्भनादिकमिति तच्च स्नेहकातरा इत्यनेन सूचितमवगम्यते ॥ ३० ॥ न केवलं व्रजौकसां देवानामपि प्रहर्षो जात इत्याह—दिवीति। द्वाभ्याम्। नन्विन्द्रस्य मदभङ्गदुःखेऽपि तादृशे कथं ते तथाऽकुर्वत तत्राह—तुष्टाः दुर्मदेनाकृत्ये प्रवृत्तस्येन्द्रस्य मानभङ्गेन श्रीकृष्णस्य च मधुरतरक्रीडाप्रदर्शनेन हर्षोदयादित्यर्थः। हे पार्थिव इत्याश्चर्येण सम्बोधनं देवेन्द्रस्य दुःखेऽपि तेषां प्रहर्षात्। यद्वा राज्ञोऽपेक्षया प्रजाना देशाधिकारिणोऽनपेक्षापत्तेषां श्रीभगवदपेक्षया शक्रानपेक्षा युक्तैव तच्च त्वया ज्ञायत एवेति भावः। मदभङ्गेन त्विन्द्रस्यापि तत्र न क्रोध इति ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधुना परमहर्षेण श्रीभगवता सह सर्व्वेषां तत्रत्यानां समागमं वदन् प्रेमोद्रेकेण गायन्निवाह—तमिति। गोष्ठरक्षार्थं धृतगोवर्द्धनम्, यद्वा, प्रकटितैश्वर्य्यमपि व्रजौकसः सर्व्वे व्रजवासिजना गोपा भृत्यपुरोहितादयश्च परिरम्भणादिभिः समीयुः संगत्य मिलितवन्त इत्यर्थः। तत्र हेतुः—प्रेम्णा वेग आवेग उद्रेको वा, श्रीभगवत्कीर्त्तिविशेषसम्पत्त्यादिना तत्कर्ममाधुर्य्येण वा तस्मात्तेनेत्यर्थः; नितरां भृताः पूर्णा रक्षिता वा सन्तः। आदिशब्देन शुभाशीर्व्वादश्रीमस्तकाघ्राणचुम्बनपादग्रहणवामबाहुसम्मर्द्दनतदंगुलिस्फोटनस्तवनाश्रमदुःखप्रश्नादयः। यथा यथोचितमिति, तत्र पुरोहिताः प्रायः शुभाशीर्व्वादादिभिः, वृद्धा मूर्द्धाघ्राणादिभिः, भृत्या बालकाश्च पादग्रहणादिभिः, वयस्याश्च गोपाः परिरम्भणबाहुसम्मर्द्दनादिभिरिति विवेचनीयम्। यद्वा, यथावत् साश्रुपुलकपूर्व्वकबाहुप्रसारणगाढग्रहणायुक्तप्रकारेणेत्यर्थः; तथापि यथोचितमिति स्वतः सिद्धमेव। यद्वा, यथा ते सर्व्वे समीयुस्तथा गोप्योऽपि समीयुः, जनसंसद्यपि प्रेमवशेन धैर्य्यहानेरिति भावः। यद्वा, भावविशेषयुक्ता अपि तास्तथैव समीयुः, न च तदालिंगनादिना निजेच्छानुरूपमित्यर्थः, तदानीं तत्र तस्यायोग्यत्वात्; इयं श्रीवादरायणेर्भावविशेषोदयोक्तिः; 'च' इति पाठे अप्यर्थे चकारः, अन्यश्च तासां कञ्चिद्विशेषमाह; यद्वा, त्वर्थे चकारः पूर्व्वतो विशेषाय; तमेवाह—सस्नेहमिति। स्नेहोऽत्र नवानुरागः, तेन सहितं यथा स्यात्; यद्वा, तैलघृतादि तेन तद्गात्रमर्द्दनपूर्व्वकमित्यर्थः; तत्र प्रेमवेगादिति हेतुरनुवर्त्तत एव, सतीराशिषः 'दुष्टान् दमय, शिष्टान् पालय, सर्व्वैश्वर्य्यसेवितो भव' इति तानानन्दयेत्याद्या युयुजुश्च। तत्र हेतुः—मुदा प्रहर्षविशेषेण स्वयमेव विचित्राशीर्व्वादोदयादित्यर्थः। अथवा व्रजौकसो वृद्धतरुणबालगोपाः पुरोहितादयश्च यथा यथावत् मूर्द्धाघ्राणकण्ठग्रहणपादपतनादिप्रकारेण समीयुः; गोप्यः श्रीभगवत्प्रियतमाः परिरम्भणादिभिः समीयुः, अर्थान्मनसैव; चकाराज्जरत्यश्च सस्नेहं यथा स्यात्, किंवा, स्नेहवन्तं तमपूजयन् सदाशिषश्च युयुजुरित्यर्थः। अन्यत् समानम् ॥ २९ ॥ गोपगोप्याद्यपेक्षया पश्चात् स्थितानां परमस्निग्धानां मात्रादीनां संगतिमाह—यशोदेति, श्रीयशोदासाहचर्य्येण श्रीनन्दस्यादरविशेषेण वा, तस्मात् प्राक् श्रीरोहिण्यनिर्द्देशः। आशिषः—'चिरं जीव, सदा सुखी भव, पूर्णमनोरथो नित्यं भव' इत्याद्याः। बलिनां वर इति तस्यापि गोवर्द्धनधारणसामर्थ्यं सूचयति, शेषरूपेण मूर्द्धैकदेशे हेलया पृथ्वीधारणात्, तथापि मधुरलीलाविशेषेण गिरिधरणं तेनापि दुष्करमिति तत्र तस्यौदास्यात्; यद्वा, श्रीकृष्णैकयोग्यमधुरतरक्रीडाविशेषे तस्मिन् स्वस्यायोग्यत्वमननात्, यद्वा, बलिनां वर इति निर्भरगाढालिंगनमभिप्रैति; स्नेहकातर्य्येणैव सर्व्वत्र श्रीकृष्णेच्छायां सम्मत्या मौनम्, गोवर्द्धनोद्धरणादौ तत्कीर्त्त्यपेक्षया साहाय्यञ्चेति पूर्व्वं तन्नामाश्रवणमिति ज्ञेयम्, यद्वा, स्नेहकातरा इत्यतः प्राक् श्रीगोवर्द्धनधारणसमये मातृभ्यां नवनीतादिविचित्रभोज्यपेयसमर्पणम्, पिताभ्रातृभ्याञ्च शिरसा श्रीगोवर्द्धनावष्टम्भनादिकं ज्ञेयम्, तथैव श्रीमूर्त्तिदर्शनादिति दिक् ॥ ३० ॥ न केवलं व्रजौकसाम्, देवानामपि प्रहर्षो जात इत्याह—दिवीति द्वाभ्याम्। ननु, इन्द्रस्य मदभंगदुःखेऽपि तादृशे कर्म ते तथा अकुर्व्वत? तत्राह—तुष्टा दुर्म्मदेनाकृत्ये प्रवृत्तस्येन्द्रस्य मानभंगेन श्रीकृष्णस्य च मधुरतरक्रीडाप्रदर्शनेन हर्षोदयादित्यर्थः। हे पार्थिवेत्याश्चर्य्येण सम्बोधनम्, देवेन्द्रस्य दुःखेऽपि

तेषां प्रहर्षात्, यद्वा, राज्ञोऽपेक्षया प्रजानां देशाधिकारिणोऽनपेक्षेव तेषां श्रीभगवदपेक्षया शक्रानपेक्षा युक्तैव, तच्च त्वया ज्ञायत एवेति भावः ॥ ३१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तं स्थापितवन्तं भगवन्तं प्रेमातिशयात् परिरम्भणादिभिर्यथार्हं संजग्मुः निभृताः सुखिताश्च बभूवुः तथा गोप्यश्च दध्यादिभिः स स्नेहं यथा भवति तथा मुदा हर्षेणापूजयन् सदाशिषः श्रेष्ठाशीर्वादान् प्रयुयुजुः ॥ २९ ॥ यशोदेति यशोदादयः स्नेहकातराः स्नेहेन व्याकुलचित्ताः ॥ ३० ॥ दिवीति । दिवि देवगणादयः तुष्टास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्ववृषुश्च हे पार्थिव ॥ ३१ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

प्रेमवेगात्प्रेमोद्रेकात् निभृताः निश्चलाः पूर्णानन्दा वा समीयुः समाजं प्राप्ताः ॥ २९ ॥ स्नेहकातराः स्नेहकलिलान्तःकरणाः ॥ ३०-३२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

निभृताः पूर्णाः यथा यथोचितं गुरुसमलघुवर्गभेदैः परिरम्भणादिभिः समीयुर्मिलितवन्त आदिशब्दात् शुभाशीर्वादमस्तका घ्राणचुम्बनवामबाहुसम्मर्दनतदङ्गुलिस्फोटनस्तवनश्रमदुःखाभावप्रश्नादयो गुरुवर्गस्य परिहासादयः समवर्गस्य पादपतनपादसम्मर्दनादयो लघुवर्गस्य ज्ञेयाः गोप्यो वत्सलाः चकारात् पुरोहितपत्न्यः दध्यादिभिर्मङ्गलद्रव्यैः अपूजयन् संमानयामासुः शुभाशिषः दुष्टान् दमय शिष्टान् पालय पितरावानन्दय धनैश्वर्यसम्पन्नो भवेत्याशिषो ययुजुर्योजयामासुः ॥ २९ ॥ निजमात्रादीनां त्वतिविशेषमाह—यशोदेति । रामश्चेति तस्यापि वात्सल्यवद्वर्गे निर्देशो ज्येष्ठत्वादेव नानुपपन्नः । ननु, परमस्नेहवता तेन शेषाख्यस्वांशेन पृथ्वीमपि दधता स्वानुजस्य गोवर्द्धनधारणे कथं माहात्म्यं नाचरितम् ? उच्यते इन्द्रमखभङ्गगोवर्द्धनमखप्रवर्त्तनयोर्मयैव कृतत्वादहमेव गोवर्द्धनं धृत्वा व्रजं रक्षिष्यामि "सोऽयं मे व्रत आहितः" इति तदीयसङ्कल्पस्य तदंशेन रामेणाऽन्यथा कर्त्तुमनौचित्यादशक्यत्वाच्च तस्यैव सर्वशक्तिमत्त्वात् तदिच्छयैव तदंशेषु यथोपयोगि तदीयशक्त्युदयाच्चेत्यग्रिमग्रन्थेऽपि यथास्थानं सिद्धान्तयिष्यते इति अत्र प्राचीनश्रीगोवर्द्धनधरप्रतिकृतौ क्वचिद्दृश्यते मातृभ्यां नवनीतादि समर्पणं पित्रा भ्राता च शिरसा गोवर्द्धनावष्टम्भनादिकमिति तत्स्नेहकातरा इत्यनेन सूचितमवगम्यते इति वैष्णवतोषणी ॥३०॥ व्रजौकसो यथा जहृषुस्तथा देवा अपीत्याह—दिवीति ॥ ३१-३२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

प्रेमवेगान्निभृताः पूर्णाः तं श्रीकृष्णं यथा यथोचितं परिरम्भादिभिः समीयुः गोप्यश्च सस्नेहं यथा तथा दध्यक्षतादिभिर्मुदा अपूजयन् सदाशिवः श्रेष्ठानाशीर्वादान् ययुजुः ॥ २९-३२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

प्रेमवेगात्स्नेहप्रवाहान्निभृता नितरां भृतं भरणं येषां ते पूर्णा इति वा परिरम्भणादिभिर्व्रजौकसः पुमांसो यथा समीयुस्तथा गोप्यश्च सस्नेहं मुदा दध्यक्षताद्भिः । समासान्तविधेरनित्यत्वादुच्यते दध्यक्षताद्भिरिति । अपूजयंस्तथाऽऽशिषश्च युयुजुः ॥ २९ ॥ स्नेहकातराः स्नेहपरवशाः ॥ ३० ॥ सर्वेसिद्धगन्धर्वचारणा इति पदमेकम् । सर्वश्च शर्वश्च इश्च कामश्च सिद्धगन्धर्वचारणाश्च सर्व सिद्धगन्धर्वचारणाः । सर्वो ह्येष रुद्र इति श्रुतिः । सर्वः कालञ्जरः शिव इति नामनिधानम् । अतो न सर्वपदातिरेकः । साध्या इति पाठस्तु नासाध्यार्थः । पुष्पवर्षाणि मुमुचुस्तत्र तन्त्रं तुष्टा इति ॥ ३१ ॥

श्रीसुबोधिनी

एतद् भगवता लीलया कृतमपि लोके चेत् तथात्वेन न प्रसिद्धं स्यात् तदा लीलात्वं न भवेदिति माहात्म्यदर्शनानन्तरमपि गोपानां पूर्ववदेव स्थितिमाह तमिति, यदैव भगवान् गोवर्धनं स्थापयामास तदैव तं भगवन्तं प्रेमवेगात् परिरम्भणादिभिर्यथायथावत् समीयुः, ते हि भगवदालिङ्गनार्थं प्रतीक्षन्त एव स्थिता यतः, यतः प्रेम्णो वेगस्तेषु स्थितो हृदये पूर्णं प्रेम बहिरपि निस्सरतीति प्रेम्णो वेगः, अत एव यथावद् यस्य यथोचितं तथा स कृतवान्, प्रेम्णैव नितरां भृताश्च गोप्योपि, तथा विशेषमप्याह सस्नेहमपूजयन्निति, तैः सर्वैरेवायं देव इति ज्ञातस्तेन लौकिकीमपि क्रियां वैदिकीं कृतवन्तो भावद्वयस्य विद्यमानत्वादतः स्नेहपूर्वकं पूजां कृतवन्तः, मुदेति पूजायामुत्साहस्तेन लौकिकीत्वेनान्यथाबुद्धिर्न बाधिकेति सूचितं, दध्यक्षताद्भिरिति पूजासाधनानि, जलानि चरणक्षालनादौ दध्यक्षता अलङ्कारार्थं, मार्जनार्था वापः, लौकिकी तद्देशप्रसिद्धैवेयं पूजा, दध्ना तिलकं दत्वा तदुपर्यक्षतान् स्थापयित्वाप उपरि भ्रामयित्वा पिबन्तीति, सदाशिषश्च युयुजु"र्जीव पालयेऽ"त्यादिरूपाः सन्तोषादेव न तु स्वाधिकारेण दैवत्वेन ज्ञातत्वात् ॥ २९ ॥ एवं साधारणीं प्रतिपत्तिमुक्त्वा चतुर्भिः कृतां विशेषप्रतिपत्तिमाह यशोदेति आदौ स्त्रीनिर्देशः स्नेहा-

धिक्यात्, अनयैवानुपूर्व्या स्नेहतारतम्यमपि ज्ञातव्यं, चकाराच् छ्रीदामादयोपि, वलिनां मध्ये वर इति बलभद्रविशेषणं तस्याप्याश्चर्यमेतदिति ज्ञापयति कृष्णं सदानन्दं, एते ह्यन्तरङ्गाः ज्येष्ठाश्चात आलिङ्ग्याशिषो युयुजुः स्नेहेन च कातरा जाताः ॥३०॥ माहात्म्यदर्शनाद् देवतानामपि स्वापराधनिवृत्त्यर्थमुत्सवकार्यमाह दिवीति, देवगणा वस्वादय एकः कश्चिद् भक्तो भवतीति गणपदप्रयोगः, साध्या अपि देवभेदास्तथा सिद्धा गन्धर्वा अप्सरसश्च चारणाश्च तुष्टवुः पुष्पवर्षाणि मुमुचुस्तुष्टाश्च जाताः, वाचिककायिकमानसिकव्यापारा निरूपिताः, पार्थिवेतिसम्बोधनं महत्कर्मकरणानन्तरं राज्ञामध्येवं तद्वश्यैः क्रियत इति ज्ञापनार्थम् ॥ ३१ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

दिवीत्यत्र अप्सरसश्चेति "रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसः" इतिश्रुतौ साहचर्याद् गन्धर्वपदेनाप्सरसोप्युक्ता इतिभावः ॥ ३१ ॥

इति द्वाविंशोध्यायः ॥ २२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तं कृतरक्षणं कृष्णं प्रेमवेगात् निभृताः पूर्णाः व्रजौकसः यथा यथोचितं परिरम्भणादिभिः समीयुः सम्यक् मिलिताः, गोप्यश्च सस्नेहं मुदा दध्यादिभिरपूजयन्, तथा वृद्धब्राह्मणादयः सतोः आशिषः आशीर्वादान् युयुजुः । आदिशब्दात् मस्तकाघ्राणचुम्बनवामबाहुसम्मर्दनतदङ्गुलिस्फोटनश्रमदुःस्वाभावप्रश्नादयो गुरुवर्गस्य, परिहासादयः समवर्गस्य, पादपतनपादसम्मर्दनादयो लघुवर्गस्य ज्ञेयाः । दध्ना तिलकं अक्षतानां तदुपरि स्थापनमपां तदुपरि भ्रामणेनाधःपातनं ज्ञेयम् ॥ २९ ॥ एवं सामान्यतः सर्वेषां स्नेहकृत्यमुक्त्वा विशेषतो यशोदादीनां तदाह—यशोदेति । स्नेहेन कातरा व्याकुलचित्ताः यशोदादयः कृष्णमालिङ्ग्य आशिषो युयुजुरित्यन्वयः ॥ ३० ॥ दिवि स्वर्गे देवादयोपीन्द्रनिग्रहेण व्रजसंरक्षणेन च न दुर्मनस्का जाताः; किन्तु तुष्टाः सन्तो भगवन्तं तुष्टुवुः । पुष्पवर्षाणि मुमुचुः । "तुष्टा इति मानसिकः, तुष्टुवुरिति वाचनिकः, मुमुचुरिति कायिकः" इति त्रिविधोऽपि शुभव्यापारो दर्शितः चक्रवर्तिना । 'दुष्टखण्डमण्डलाधिपतिनिग्रहेऽपि प्रजास्तुष्टा एव भवन्तीति तु तव विदितमेव' इत्याशयेन सम्बोधयति—पार्थिवेति ॥ ३१ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तमिति ॥ तं कृतरक्षं कृष्णं प्रेमवेगात् निभृताः पूर्णाः व्रजौकसः यथा यथोचितं परिरम्भणादिभिः समीयुः सम्यक् मिलिताः । आदिना मस्तकाघ्राणादिभिः गोप्यश्च सस्नेहं मुदा दध्यक्षताद्भिः अपूजयन् । समासान्तभाव आर्षः । सतीः आशिषश्च युयुजुः दध्ना तिलकम् अक्षतानां तदुपरिस्थापनमपां तदुपरि भ्रमणेनाधःपातनं ज्ञेयम् ॥ २९ ॥ यशोदेति ॥ स्नेहेन कातराः व्याकुलचित्ता अत एव क्वचित्प्राचोनगिरिधरमूर्तौ मातृभ्यां नवनीतादिदानं पित्राभिर्गिर्यवष्टम्भश्च दृश्यन्ते । यशोदा रोहिणी नन्दो बलिनां वरो रामश्च कृष्णमालिङ्ग्याशिषो युयुजुः ॥ ३० ॥ हे पार्थिव ! दिवि स्वर्गे नष्टमददोषेण प्रसन्नचेतसा इन्द्रेण प्रेरिताः देवगणादयः तुष्टाः सन्तो भगवन्तं तुष्टुवुः पुष्पवर्षाणि च मुमुचुः ॥ ३१ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तं श्रीकृष्णं निभृताः परिपूर्णाः यथा यथायोग्यं परिरंभादिभिरालिंगनादिभिः समीयुः समीपं प्राप्ताः आदिनामूर्धावघ्राणादयः दध्यक्षतजलैः सदाशिषः समीचीनाशीर्वादान् युयुजुः ददुः ॥ २९ ॥ स्नेहेन कातराः व्याकुलाः ॥ ३०–३१ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

॥ तमिति व्रजौकसो गोपाः, तं पूर्ववत् संस्थापितगोवर्द्धनाचलं भगवन्तं, प्रेमवेगात् प्रेमातिशयात्, परिरम्भणादिभिः, यथा यथार्हं, समीयुः यथायोग्यं परिरम्भणादि विधातुं भगवत्समीपमुपजग्मुः । परिरम्भणादि विधाय, निभृताः सुखिताश्च, बभूवुः। तथा गोप्यश्च, दध्यक्षताद्भिः, सस्नेहं यथा तथा, मुदा हर्षेण, अपूजयन् । सदाशिषः श्रेष्ठाशीर्वादान्, युयुजुः । दध्यक्षताद्भिरित्यनेन गर्त्तेऽपि दध्यादिसद्भावः सूचितः ॥ २९ ॥ यशोदेति ॥ यशोदा, रोहिणी, नन्दः, बलिनां वरः रामश्च, कृष्ण आलिङ्ग्य, स्नेहकातराः स्नेहेन व्यकुलचित्ताः सन्तः, आशिषः युयुजुः प्रयुयुजुः ॥ ३० ॥ दिवीति ॥ हे पार्थिव राजन्, दिवि देवगणाः, साध्याः, सिद्धगन्धर्वचारणाः, तुष्टाः सन्तः, तुष्टुवुरस्तुवन् । पुष्पवर्षाणि, मुमुचुः ॥ ३१ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तमिति : १०.२५.२९.

मायातोऽप्यतिशायिमोहजनकः स प्रेमभावो जने मन्ये यत्कलितान्तरा व्रजजना मोहं ययुस्तेऽन्यथा ।
कर्तुः स्वामनमाशिषां फलमलं दातुश्च गोवर्धनं धर्तुर्लोकगुरोरमीयदवदन्नाशीर्गिरस्तत्कथम् ॥ १५४ ॥

यशोदेति : १०.२५.३०.

दृष्ट्वाऽद्भुतं कर्म तद तदीयं भूयो यशोदाप्रमुखा हि दुर्दृशाम् ।
दृक्पातभीता युयुजुः सदाशिषस्तद्युक्तमव्याजहितस्पृहाणाम् ॥ १५५ ॥
शिरोभिर्मयेयं धराधारितेति बलिष्ठप्रतिष्ठः स्थविष्ठः स्मयो मे ।
करेणोद्धार्यप्रयत्नं त्वनेन धराधार्यपीति प्रियाशीर्वचाः सः ॥ १५६ ॥

दिवि देवगणा इति : १०.२५.३१.

यस्योत्कर्षस्तावकास्तस्य लोका नैवं लोके किन्तु नाकेऽपि यस्मात् ।
अर्वागिन्द्रं तुष्टुवुर्ये त एव कृष्णोत्कर्षे तुष्टुवुः कृष्णमेव ॥ १५७ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् ! प्रेम पूर से परिपूर्ण सर्व व्रजजन, भगवान श्रीकृष्ण के समीप आए, यथोचित विधि अनुसार प्रणाम, आशीर्वाद, आलिङ्गन आदि से उसका सत्कार करने लगे। गोपीजन ने भी आनन्द विभोर बनकर स्नेह सभर दहीं, अक्षत, एवं जल से प्यारे श्रीकृष्ण का समर्चन किया और मङ्गल गान के साथ मङ्गलाशीर्वाद दिए ॥ २९ ॥ स्नेह विभोर श्रीनन्दबाबा, श्रीयशोदा जी, श्रीरोहिणी जी, और बलवानों में अग्रसर श्रीबलभद्र जी ने भगवान श्रीकृष्ण को गले में लगा कर शुभाशीर्वाद दिए ॥ ३० ॥ राजन् ! इस अवसर स्वर्ग निवासी देववृन्द, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे और प्रसन्नता को व्यक्त करते हुवे पुष्पों की वृष्टि करने लगे ॥ ३१ ॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्दिवि देवप्रणोदिताः[1] । जगुर्गन्धर्वपतयस्तुम्बुरुप्रमुखा नृप ॥ ३२ ॥
ततोऽनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितो राजन् स गोष्ठं सबलोऽव्रजद्धरिः[2] ।
तथाविधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदिस्पृशः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[3] दशमस्कन्धे[4] पञ्चविंशोऽध्यायः[5] ॥ २५ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः —नृप ! दिवि देवप्रणोदिताः शङ्खदुन्दुभयः नेदुः तुम्बुरुप्रमुखाः गन्धर्वपतयः जगुः ॥ ३२ ॥ राजन् ! ततः सबलः सः हरिः अनुरक्तैः पशुपैः परिश्रितः गोष्ठम् अव्रजत् गोपिकाः तथाविधानि अस्य कृतानि हृदिस्पृशः गायन्त्यः मुदिताः ईयुः ॥ ३३ ॥

इति पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ततो गोवर्धनस्थानात् । अस्य श्रीकृष्णस्य । तथाविधानि गोवर्धनोद्धरणादिरूपाणि तानि कृतानि कर्माणि गायंत्य इयुर्ययुः । कथंभूताः । एवं प्रेम्णा हृदि स्पृशन्तीति हृदिस्पृशस्ताः । यद्वा । कथंभूतस्य । प्रेष्ठत्वेन तासां स्पृशतीति हृदिस्पृक् तस्य ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायां पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गोरक्षणमहोत्सवमाह—शंखेति ॥ ३२ ॥ ततः देवकृतोत्सवोत्तरम् वा एवं प्रेम्णा कृष्णकृतगायनस्नेहेन कृष्णस्य हृदिस्पृशः मनोहराः 'कामश्चाष्टगुणः स्त्रीणाम्' इत्युक्तेः कामाधिक्यात् । यथा स्त्रीणामुपपतो प्रेमास्ति तत उपपतेः स्त्रीषु किञ्चिन्न्यूनोस्ति प्रायेणेत्यस्यारस्यादाह—यद्वेति । गोवर्द्धनधृतौ श्रुतिः—"तमस्य राजा वरुणः स्वमश्विना क्रतुं सचंत मारुतस्य वेधसः दाधार दक्षमुत्तमहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णु ते तेन" अस्या अर्थः—अस्य विष्णोस्तं पवताथ कृतं स्वं स्वन संपादित क्रतु वरुणोऽश्विनौ च सचंत अन्वमोदंत । मारुतस्य वायोरपि वेधसः स्रष्टुः ततश्च स्वमखमंगे कृते इन्द्रे कुपिते विष्णुः कृष्ण उत्तमं श्रेष्ठं दक्षं वृष्टिवारणक्षमम् अहर्विदं क्रतोर्लब्धारं पर्वतं दाधार दधार । यतः सखिवान् व्रजाख्यसखिसमुदायवान् । व्रजमपोर्णु ते तेनाहर्विदा शैलेनाच्छादयतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

१. प्रचोदिताः-विज. । २. ऽविशद्-विज. । ३. पारमहंस्यां संहितायां-प्रा. पा. । ४. पूर्वार्द्धे-प्रा. पा. । ५. त्रयोविंशो-विज. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

देवैः प्रकर्षेण विचित्रतया वादिता इत्यर्थः। यद्वा, स्वयमेव नृत्याचरणादिना प्रेरिता वादकद्वारा प्रवर्त्तिताः सन्तः दिवीति पुनरुक्तिः इन्द्रभयाभावेन दिव्येव तेषां तत्तदाचरणस्य बोधार्थं हे नृपेति प्रहर्षेण। यथा भवद्विधस्य राज्ञो महोत्सव इति वा ॥३२॥ प्रहर्षेणैव तस्य गोष्ठप्रवेशं पूर्ववद्गायन्निवाह—तत इति। परितः श्रितः वृत्तः यतोऽनुरक्तैः सव्रजरक्षार्थं धृतगोवर्द्धनः स्वगोष्ठमिति क्वचित् पाठः मध्ये गोष्ठं श्रीनन्दस्य स्वीयावासपर्यन्तं प्रविवेश इत्यर्थः। प्रहर्षोद्रेकेण सर्वेषामेव तेषां तेन सह तत्रैव गमनात् हरिः शक्रदुर्मदगोष्ठार्त्तिहरणात् तत्क्रीडया सर्वमनोहरणाच्च श्रीगोपीनाञ्च सर्वतोऽधिकं सुखमजनी याह—तथेति। गायन्त्य इति, तत्क्षणमेव गतिकरणशक्तिश्च दर्शिता ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

देवैः प्रकर्षेण विचित्रोत्कृष्टप्रकारादिना चोदिताः वादिता इत्यर्थः, यद्वा स्वयमेव नृत्याचरणादिना प्रेरिताः सन्तः; दिवीति पुनः पुनरुक्तिः, इन्द्रभयाभावेन दित्येव तेषां तत्तदाचरणस्य किंवा तेषां तदानीं व्रजगमनायोग्यतया भूमावनागमनस्य बोधनार्थम्। हे नृपेति—यथा राज्ञो महोत्सवे गायकादीनां मुख्या गानादिकं कुर्व्वन्ति तथेति भावः, यद्वा, प्रहर्षोद्रेकेण पुनः पुनः सम्बोधनम् ॥ ३२ ॥ अतएव तस्य गोष्ठप्रवेशं पूर्व्ववद्गायन्निवाह—तत इति। परिश्रितो वृतः, यतोऽनुरक्तैः पशुपैश्च स्वभावत एव स्नेहार्द्रचित्तैरित्यर्थः। पशुपैरित्युपलक्षणम्, अन्यैश्च सर्व्वैर्व्रजवासिभिरिति ज्ञेयम्, (भा० १०।२५।२२) 'सव्रजाः सोपजीविनः' इति भृत्यपुरोहितादीनामपि तद्गर्त्ते प्रवेशोक्तेः, तत्र च गोपानां मुख्यतया निर्देशोऽनुरागविशेषेणावरणात्। हे राजन्निति प्रहर्षवेगेन विवशीभवन्तं श्रीपरीक्षितमवधापयति; यद्वा, राजमानः सर्व्वैरेव तैरनुरागेण परिवेष्टितत्वात्। स व्रजरक्षार्थं धृतगोवर्द्धनः; यद्वा, सप्ताहमेकत्र निरन्तरं श्रीगोपीसामासादिति-दुर्लभ-श्रीमुखचन्द्रावलोकः, त्वत्प्राणनाथ इति वा। सबलः स्नेहकातर्य्येण तेन परस्परं वा गृहीतहस्त इत्यर्थः। गोष्ठं निजवसतिस्थानमव्रजदिति श्रीगोवर्द्धनोपान्ते श्रीराधाकुण्डान्तिके वृत्तम्; गोष्ठं वृष्टिभयेन व्रजवासिभिर्गोवर्द्धनोद्धरणार्थं तन्मध्यप्रदेशागत-श्रीभगवदन्तिकमागतैस्त्यक्तम्, पुनस्तदेव तैः सह गत इत्यर्थः। 'स्वगोष्ठम्' इति क्वचित् पाठः, ततश्च श्रीगोवर्द्धन-पूर्व्वदिग्भागवर्त्तमानान्यदीयवसतिं परित्यज्य श्रीनन्दस्य स्वकीयवासमेव प्रविवेशेत्यर्थः। ततश्च पशुपैः परिश्रित इति प्रहर्षोद्रेकेण सर्व्वेषामेव तेषां तेन सह तत्रैव गमनादिति ज्ञेयम्। हरिः शक्रदुर्म्मदगोष्ठार्त्तिहरणात्, तत्क्रीड़या सर्व्वमनोहरणाच्च। श्रीगोपीनाञ्च सर्व्वतोऽधिकं सुखमजनीत्याह—तथेति। हृदिस्पृशः—श्रीकृष्णस्य सर्व्वेषामपि वा चित्तमाकर्षत इत्यर्थः। श्रीभगवन्माहात्म्यविशेषक्रीड़ामाधुर्य्याधिक्यदृष्ट्या प्रहर्षभरेण गानात्, तद्गानस्वभावाद्वा। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, तथाविधानि तादृशान्यनिर्व्वचनीयमाहात्म्यानीत्यर्थः। कृतानि श्रीगोवर्द्धनधारणकर्म्माणि, बहुत्वं गौरवात् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

शङ्खेति। शङ्खादयो नेदुर्दध्वनुः हे नृप! ॥ ३२ ॥ ततो हे राजन्! अनुरक्तैः पशुपालैः परिवृतो बलदेवेन सहितो हरिः स्वगोष्ठं जगाम गोपिकाश्च तथाविधानि गोवर्द्धनोद्धरणतुल्यान्यमानुषाण्यन्यान्यप्यस्य भगवतः कृतानि कर्माणि गायत्यः हृदिस्पृक् श्रीकृष्णहृदयङ्गमाः सत्यः हृदिस्पृश इति भगवद्विशेषणं वा मुदिताः सत्यो ईयुः व्रजं जग्मुः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

हृदि स्पृशः मनोहराः "हृद्युभ्यामुपसङ्ख्यानम्" इत्यलुक् ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

(विजयध्वजरीत्या त्रयोविंशोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

शङ्खेति। अन्येषां देवानामपि हर्षकौतुकं दर्शयति ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे पंचविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तत्प्रेयसीनां तु सर्वजनालक्षितं दूरतः कटाक्षैरेव मिलनं वृत्तं गृहगमनसमये सप्रेमगानश्चाह—ततो गोवर्द्धनस्थानात् कृतानि चरित्राणि गायन्त्य इति तत्क्षण एव गीतकरणे सामर्थ्यं हृदि प्रेम्णा स्पृशन्तीति ता इति याः कृष्णं सदा ध्यायन्तीत्यर्थः। यद्वा हृदि वक्षसि मनसि च स्पृशतीति हृदिस्पृक् प्रेष्ठस्तस्येति कृष्णस्य विशेषणम्॥ ३३॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। पंचविंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ २५॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

ततो गोवर्द्धनात् गोष्ठं व्रजं स हरिः सबलो व्रजं जगाम। गोपिका च हृदिस्पृशः श्रीकृष्णहृदयङ्गमाः तथाविधानि गोवर्द्धनोद्धरणादिरूपाणि कृतानि कर्माणि अस्य हृदि स्पृशः हृदयंगमय्यः श्रीकृष्णस्य गायन्त्यः ईयुः व्रजं जग्मुः॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे पञ्चविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः॥ २५॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

दिवीति दुन्दुभिपदेनैव गन्धर्वपतिपदेनाप्यन्वेति॥ ३२॥ हृदिस्पृशो मनोज्ञाः हृद्युभ्यां चेति सप्तम्या अलुक्॥ ३३॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे त्रयोविंशोऽध्यायः॥ २३॥

श्रीसुबोधिनी

समागतानां देवानामेतदुक्तेन्द्रभयात् तत्रत्या न करिष्यन्तीत्याशङ्क्यां परिहरंस्तत्र स्थितानामप्युत्सवमाह शङ्खेति, शङ्खा दुन्दुभयश्च नेदुः शङ्खशब्दा वैदिका दुन्दुभिशब्दा लौकिक इत्युभयार्निर्देशः स्वयमेव नेदुर्देवप्रणोदिताश्च नेदुः, गन्धर्वादाना पतयो विश्वावसुप्रभृतयो जगुर्गानं कृतवन्तः, त्रयो मुख्या विश्वावसुस्तुम्बुरुनारदश्चेति तत्र मध्यमो निरूपितस्तुम्बरुप्रमुखा इति स उभयात्मक इति, पुनर्नृपेतिसम्बोधनं तथादर्शनाद् विश्वासाय॥ ३२॥ एवं भगवल्लीलामुक्त्वोपसंहरति तत इति, देवादीनां शब्दादिश्रवणानन्तरमत्यन्तमनुरक्तैः पशुपैः परिश्रित एव सन् भगवान् गोष्ठमव्रजद् यतो हरिः, पशूनां चारणार्थं गमनं निषिद्धं गवां तेषां चापेक्षाभावात् तदुपपादितुं, अतोनुरागबाहुल्यात् पशुपैः परिश्रित एव गतः, राजन्निति पूर्ववत्, प्रायेण क्लिष्ट इति पुनः पुनः सम्बोधनं स इति तथा समर्थोपि, न हि तादृशो गोष्ठे स्थातुं युक्तो भवति, तत्रापि सबलः बलभद्र-सहितस्तथाप्यव्रजद् यतो हरिः, अथ वैतादृशालौकिकसामर्थ्यवतो द्वारकावदिहाप्युत्कृष्टं स्थानं निर्माय स्थातुमुचितं न तु गोष्ठ इत्यत्र आह स इति, "ते ते धामानी"त्यादिश्रुतिभिर्वैकुण्ठादप्यधिकमस्य सहजं स्थानमस्तीति निरूपितमस्तीति तथा प्रसिद्धो वेद इति तत्रैव गमनमुचितमावश्यकमपीत्यर्थः। यथा राजान्यत्र कार्यं कृत्वा स्वराजधानीमेव गच्छति तथेतिज्ञापनाय सम्बोधनं, गोपीनां गमने भगवत्सङ्गो नास्तीत्याशङ्क्याह तथाविधानीति, गोवर्धनोद्धरणसदृशानि पूतनासुपयःपानादीन्यनेनैव रूपेण कृतानि गोपिका विशेषानभिज्ञा अतः कृतान्येव गायन्त्यो व्रजमीयुः, तत्र गतानां संसारनिवृत्त्यर्थमाह मुदिता हृदिस्पृश इति मुदिता इति पूर्वदुःखनिवृत्तिः, अद्भुतभगवल्लीलादर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहातिशयो गोपानामधुना जात इति प्रियनिकट-गमने प्रतिबन्धं तेन करिष्यन्ति करणे वा सपदीवाद्भुतरीत्याप्यस्मान् पालयिष्यतीति ज्ञात्वापि मुदिताः, भगवतो हृदिस्पृशो जाता हृदि भगवन्तं वा स्पृशन्तीति एतेनेतरेभ्योधिकोन्तरङ्गः सङ्ग एतासामुक्तः, एवं दुःखनिवृत्तिपूर्विका भगवदासक्ति-र्निरूपिता॥ ३३॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे चतुर्थस्य स्कन्धादितो द्वाविंशाध्यायस्य विवरणम्॥ २२॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

दिवि देवैः प्रणोदिताः शङ्खदुन्दुभयो नेदुः, तथा हे नृप! तुम्बुरुप्रभृतयो गन्धर्वपतयो जगुः॥ ३२॥ हे राजन्! तत-स्तदनन्तमनुरक्तैः पशुपैर्गोपैः परिश्रितो बलेन च सहितः स हरिः गोष्टमव्रजत्। गोपिकाश्चास्य कृष्णस्य तथाविधानि गोवर्द्धनोद्धरण-तुल्यानि अन्यान्यपि कृतानि कर्माणि गायन्त्यः मुदिता गोष्ठमीयुः जग्मुः। हृदिस्पृशः प्रेम्णा कृष्णस्य हृदि स्पृशन्तीति, तथाभूताः, प्रेष्ठत्वेन तासां हृदि स्पृशतीति तस्येति कृष्णविशेषणं वा॥ ३३॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा॥ १॥
इति बालप्रबोधिनी॥ २॥ [sic — see below]

अन्वितार्थप्रकाशिका

शङ्खेति ॥ हे नृप! दिवि देवैः प्रणोदिताः शङ्खदुन्दुभयो नेदुः तुम्बुरुप्रमुखा गन्धर्वपतयो जगुः ॥ ३२ ॥ तत इति ॥ हे राजन्! ततः अनुरक्तैः पशुपैर्गोपैः परिश्रितो युक्तः बलेन च सहितः स हरिः गोष्ठमव्रजत्। गोपिकाश्चास्य कृष्णस्य तथाविधानि गोवर्द्धनोद्धरणतुल्यान्यन्यान्यपि कृतानि कर्माणि गायन्त्यः मुदिताः हृदिस्पृशः प्रेम्णा कृष्णस्य हृदि स्पृशंतीति। प्रेष्ठत्वेन तासां हृदि स्पृशतीति। तस्येति कृष्णविशेषणं वा। गोष्ठमीयुः जग्मुः ॥ ३३ ॥

इति श्रीकृष्णसेवार्थमन्वितार्थप्रकाशिकाम्। गङ्गासहायो दशमपञ्चविंशे व्यधादिमाम् ॥

इति श्रीभागवते दशमेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

देवैः प्रणोदिताः वादिताः ॥ ३२ ॥ ततो गोवर्धनसमीपात् हरिः गोष्ठं अव्रजत् हृदि स्पृशतीति हृदि स्पृक्तस्य अस्य श्रीकृष्णस्य यद्वा तानि हृदि स्पृशस्ताः ईयुर्जग्मुः ॥ ३३ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने गोवर्धनधारणे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

शङ्खेति ॥ हे नृप, दिवि देवप्रणोदिताः देवताप्रणोदिताः, शङ्खाश्च दुन्दुभ्यश्च ते नेदुः। तुम्बुरुप्रमुखाः, गन्धर्वपतयः, जगुरगायन् ॥ ३२ ॥ तत इति ॥ हे राजन्, हरिः श्रीकृष्णः, ततो गोवर्द्धनस्थानात्, अनुरक्तैः स्वस्मिन्ननुरागवद्भिः, पशुपैर्गोपैः परिश्रितः परिवृतः, सबलो बलभद्रसहितः सन्, स्वगोष्ठं अव्रजत् जगाम। गोपिकाश्च, हृदिस्पृशः प्रेमातिशयेन श्रीकृष्णहृदयं स्पृशन्त्यः, मुदिताः सत्यः, हृदिस्पृश इति कृष्णविशेषणं वा। अस्य श्रीकृष्णस्य, तथाविधानि गोवर्द्धनोद्धारणादीनि अमानुषाणि, मानुषाधारणानि अन्यान्यपि, कृतानि चरित्राणि, गायन्त्यः सत्यः, ईयुर्व्रजं जग्मुः ॥ ३३ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

सबल इति : १०.२५.३३.

निरतिशयः शरणागतजनगिरिभारो यथा तथा नायम्।
इति बोधयन् स चक्रे गिरिधृतिमबलो व्रजं तु सबलोऽगात् ॥ १५८ ॥
कथं वृष्टिरासीत्कथं वा धृतोऽद्रिः कथं गोप-गोपिकावस्थितिर्वा।
क्व वाऽऽपो गतास्ताः कुतो वा निरभ्रं कथं वा पुनस्ताद्दृगद्रेः प्रतिष्ठा ॥ १५९ ॥
न तद्बीर्विधेरप्यहं त्वल्प एवेत्यनल्पैर्विकल्पैरलं जल्पनैर्वा।
यदीयप्रभावादिदं सर्वमासीत् तमीशानमेवानिशं चिन्तयामि ॥ १६० ॥ (युग्मम्)

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

कृष्णप्रिया

स्वर्ग में उत्सव को मनाते देवगण शंखनाद दुन्दुभिनाद करने लगे, बाजे बजाने लगे और तुम्बुरु आदि श्रेष्ठ गन्धर्वगण और गन्धर्व पति भगवान् का यशोगान करने लगे ॥ ३२ ॥ गोवर्धन के समीप उत्सव मनाकर, प्रेमपूर्ण निजभक्त गोपों के मध्य विराजमान बलदेवजी सहित भगवान श्रीकृष्ण व्रज में पधार गए। इसी प्रकार प्रसङ्ग-प्रसङ्ग पर किए भगवान् श्रीकृष्ण के हृदयहारि चरितों का प्रमोदपूर्वक गान करती व्रजनारियाँ भी व्रजराज को हृदय में पधराकर हृदय से आलिङ्गन कर व्रज में पधार गई ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणे हिन्दी भाषान्तरे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

—:०:—

अथ षड्विंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	शार्दूल	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
२५	२४	१	२	८६०	११	३०	९०१	२८	५

श्रीशुक[1] उवाच

एवंविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वीक्ष्य ते । [2]अतद्वीर्यविदः प्रोचुः [3]समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥ १ ॥
[4]बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै । कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्वात्मजुगुप्सितम् ॥ २ ॥
यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया । कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥ ३ ॥
तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः । पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ते गोपाः कृष्णस्य एवंविधानि कर्माणि वीक्ष्य, अतद् वीर्यविदः सुविस्मिताः समभ्येत्य प्रोचुः ॥ १ ॥ बालकस्य एतानि अद्भुतानि कर्माणि यत् वै असौ ग्राम्येषु आत्मजुगुप्सितम् जन्म कथम् अर्हति ॥ २ ॥ यः सप्तहायनः बालः एकेन करेण लीलया, गजराड् पुष्करम् इव; गिरिवरम् कथम् बिभ्रद् कथम् बालकः भवेत् ॥ ३ ॥ कालेन तनोः वयः इव, तोकेन आमीलिताक्षेण महोजसः पूतनायाः प्राणैः सह स्तनः पीतः ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

षड्विंशे विस्मितान्गोपान्कृष्णस्याद्भुतकर्मभिः । नंदो गर्गोक्तिमाश्राव्य तदैश्वर्यमवर्णयत ॥ १ ॥

समभ्येत्य नंदं समभिगम्य ॥ १ ॥ यदूचुस्तदाह । बालकस्येति । यद्यस्माददद्भुतानि कर्माणि तस्माद् ग्राम्येषु गोपालेषु कथं जन्मार्हति । आत्मजुगुप्सितमात्मानर्हम् ॥ २ ॥ अद्भुतानि कर्माण्याहुः । यः सप्तहायन इति । कथं बिभ्रत्स्थित इति । पुष्करं पद्मं गजराण्महागज इव ॥ ३ ॥ महौजसो महाबलायाः तनोर्वय आयुर्यौवनं वा कालेन यथा पीयते तद्वत् । कथमित्यनुवर्तते ॥४॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तदैश्वर्यम् कृष्णवैभवम् (१) । एवंविधानि गोवर्द्धनधारणादीनि । अतद्वीर्यविदः श्रीकृष्णमाहात्म्यमजानंतः । शुचिस्मिता नंदभाग्यं विमृश्य जातानंदाः । 'सुविस्मिताः' इति विजयध्वजः । इह किल गोवर्द्धनधारणसमये श्रीकृष्णलावण्यामृतरसास्वादनिमग्नानां गोपानां मनसि कोऽपि विचार उद्भवितुमवसरं न प्राप्तः तदनु स्वस्वगृहगतानां सर्वेषां हृदि संदेह उत्पेदे—अहो संप्रति साक्षाद्दृष्टेन गिरिधारणेन पूतनावधादि दावानलोपशमनादिकं चास्यैव कर्म प्रतीमस्तदातदा ब्राह्मणाशीर्वादान्नंदभाग्यातिरेकाद्व नारायणप्रसादप्राप्तेऽस्मिन्बालके नारायणावेशाद्वा तेतेऽभूवन्निति वितर्का वृथैव कृता । वस्तुतस्तु साप्तवर्षिकस्य बालस्य सप्तदिनावधि शैलेंद्रधारणं नरत्वं निषिध्य परमेश्वरत्वमेव कथयति, किं च अस्माकं सांसारिकाणां ग्राम्यगोपानामेतत्पितृपितृव्यमातुलादीनां लालनैः प्रफुल्लत्वमलालनैव क्लैव्यं तथा क्षुत्पिपासादधिपयश्चौर्यदंभानृतप्रलपनवत्सगोचारणादिकं परमेश्वरत्वे सति कथं संभवेदत ईश्वरत्वं निषिध्य नरत्वमेव प्रतिपादयत्यतोऽस्य तत्त्वं निश्चेतुमसमर्था महाबुद्धिमंतं व्रजराजमेव पृष्ट्वा निःसंशया भवाम इति मनसि कृत्वा तस्यैव महास्थानं प्रविश्य तं पप्रच्छुः—एवमिति विश्वनाथः ॥ १ ॥ यत् वचः । तद्वचः शुक आह । न ह्यं तादृगैश्वर्यतां गोपेष्वाविर्भावः अद्भुतानि वक्तुमशक्यानि । ग्राम्येषु विषयाविष्टजनेषु । आत्मनः स्वस्यानर्हनिरूपणायोग्यम् । न ह्यं तादृगैश्वर्यतां गोपेष्वाविर्भावः शोभत इति भावः । तदा कृष्णे वनं गत इति ज्ञेयम् । परोक्ष एव रसापत्तेः परमनिकृष्टोऽपि स्वजुगुप्सायां न प्रवर्त्तते किमुत सर्वेश्वर इति चक्रवर्त्ती ॥ २ ॥ सर्वं बालचरितमनुक्रमंते किञ्चिद्वैपरीत्येन । वैपरीत्यमाह—य इति । धारणानायासे दृष्टांतमाह—पुष्करमिति । 'पुष्करांभोरुहाणि च' इत्यमरः ॥ ३ ॥ तोकेन शिशुना "तोकमल्पशिशौ पुंसि कन्यायां स्त्री तथाल्पके इति धरणिः । तनोः शरीरस्य । बालवार्द्धक्ययोरल्पपराक्रमत्वान्महौजस इत्यनेन दृष्टांतवैषम्यादाह—यौवनं वेति । "वयः पक्षिणि बाल्यादौ यौवने च नपुंसकम्" इति मेदिनी ॥ ४ ॥

---

१. बादरायणि—प्रा. पा. । २. नत—इति गो. प्रे. टी. । ३. नन्दमभ्येत्य विस्मिताः—वीर. ; समुपेत्य—विज. । ४. बालस्य—वीर. ।

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

इत्थं श्रीभगवतः शक्त्यतिशयं दृष्ट्वा ऐश्वर्यज्ञानेन व्रजजनानां तस्मिन् कदाचिद् प्रेमह्रासमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं विशेषतश्च गोपवर्गकृतशङ्कायाः श्रीनन्देन निरसनात् प्रेमविवृद्धमिति बोधनार्थं तत्प्रसङ्गमारभते, एवमित्यादिना यावत्समाप्ति। ईदृशान्यलौकिकानीत्यर्थः। वहुत्वं पूर्वपूर्वापेक्षया न तस्य वीर्यम् ऐश्वर्यं विन्दन्ति अनुसन्दधतीति तथा ते यतः ते इति सदा तत्स्नेह-विवशत्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः। अत एव सुविस्मिताः सन्तः सम्यक् भक्त्या प्रणतिपूर्वकं श्रीगोपराजमभिगम्य यद्वा, मिथः सम्भूय प्रकर्षेण न्यायप्रदर्शनादिना प्रेमपर्यवसानत्वेन वा ऊचुः ॥ १ ॥ वालकस्य चेत्यन्वयः। अप्यर्थे चकारः वै क्वचित् वाल्येवर्त्त-मानस्यापीत्यर्थः। ग्राम्येषु ग्राम्यत्वात् उत्तमताहीनेषु येषु आत्मनो जुगुप्सितं निन्दा यस्मात् तत् असाविति पारोक्ष्यनिदर्शन तथाऽसौ वनं गत इति लक्ष्यते पारोक्ष्य एव रसापत्तेः ॥ २ ॥ वालः तत्र च सप्तहायनः सप्तवर्षमात्रवयाः तत्रापि एकेनैव नच कदाचित्परिवृत्त्य करान्तरेण तत्रापि गिरिषु वरं श्रेष्ठं परमगुरुतरमित्यर्थः। तत्रापि लीलया कथं विभ्रत् स्थित इत्यसम्भाव्यत्वे-नात्यद्भुतत्वं व्यञ्जितं यो वालः स कथमित्यध्याहारेणान्वयः। लीलया धारणे दृष्टान्तः, पुष्करमिति, एतेन सौन्दर्यादिविशेषोऽपि सूचितः अतोऽसौ लौकिकवालको न भवतीति भावः। यत्तु विष्णुपुराणादौ ग्रीष्मकाले श्रीवृन्दावनमागत्य तस्य सप्तमवर्षे गोपालने प्रवृत्तिरिति तथा चोक्तम्—

"कालेन गच्छता तौ तु सप्तवर्षौ महाव्रजे। सर्वस्य जगतः पालौ वत्सपालौ वभूवतुः" ॥ इति

अस्यार्थः श्रीस्वामिपादैरेव तट्टीकायां व्यञ्जितोऽरित एवं वत्सपालौ च संवृत्तौ रामदामोदरौ तत् इति पूर्वमुक्तत्वात् तदनन्तरं च तस्मिन्नेवाब्दे परस्मिन् वा प्रावृट्क्रीडा ततः कालियमर्दनं ततो धेनुकप्रलम्बयोर्वधः ततः शरदि श्रीगोवर्द्धनोद्धरणमिति तस्य च कल्पभेदव्यवस्थया "ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ" इत्यादिना विरोधः परिहार्य इति दिक् ॥ ३ ॥ पूर्वमतिवाल्ये दुरूहत्वेन तत्कृतत्वे सन्दिग्धान्यपि पूतनावधादीन्यधुना साक्षात् श्रीगोवर्द्धनोद्धरणदृष्ट्या तदीयान्येवेति निश्चितवन्तोप्याहुः-तोकेनेति नवभिः। आ सम्यक् मीलिताक्षेण इत्युक्तदिशा तेन चात्यन्तवाल्यं वा वोधितं पानप्रकारश्च दुर्वोध इरि दृष्टान्तेनाहुः—कालेनेति। इति शक्ति-विशेषः सूचितः कथमित्यस्य सर्वत्राप्यनुवृत्तेः सर्वेषामेव तत्तत्कर्मणामाश्चर्यत्वोक्त्या ग्राम्येषु जन्मायोग्यतामेव साधयन्ति यद्वा कथमित्यस्यानुवृत्त्यापि अत्यद्भुतानीत्युक्त्या सोऽर्थः स्वतः पर्यवस्यति तोकेनैवेत्यादिभिश्चाद्भुतकर्माण्येवोक्तानि ॥ ४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इत्थं श्रीभगवतः शक्त्यतिशयदृष्ट्या ऐश्वर्यज्ञानेन व्रजजनानां तस्मिन् प्रेमह्रासमाशंक्य तत्परिहारार्थं विशेषतश्च गोप-वर्गकृतशंकायाः श्रीनन्देन विरसनात् प्रेमभक्तिविवृद्धेति वोधनार्थं तत्प्रसंगमारभते—एवमित्यादिना यावत्समाप्ति। ईदृशान्यलौकिका-नीत्यर्थः। न तस्य वीर्य्यमैश्वर्य्यं सामर्थ्यं वा विदन्ति अनुसन्दधतीति तथा ते; यतस्ते सदा तत्स्नेहविवशा इत्यर्थः। अतएव सुविस्मिताः सन्तः सम्यक् भक्त्या प्रणतिपूर्व्वकं श्रीगोपराजमभिगम्य; यद्वा, मिथः सम्भूय प्रकर्षेण न्यायप्रदर्शनादिना प्रेमपर्य्य-वसानत्वेन वा ऊचुः ॥ १ ॥ वालकस्य चेत्यन्वयः, अप्यर्थे चकारः, वाल्ये वर्त्तमानस्यापीत्यर्थः; ग्राम्येषु नीचेषु, आत्मनो जुगु-प्सितमयोग्यम्, यद्वा, आत्मनो जुगुप्सितं निन्दा यस्मात्तत्; तथा च श्रीविष्णुपुराणे (५।१३।३) 'गोपालत्वं जुगुप्सितम्' इति। असावित्यनेन श्रीभगवतो गोचारणं सहचरैः सह वनं गतस्य असाक्षादयं प्रायो वृद्धानां प्रसंगो ज्ञेयः ॥ २ ॥ वालस्तत्र च सप्तहायनः सप्तवर्षमात्रवयाः, तत्रापि एकेनैव, न च कदाचित् परिवृत्त्या करान्तरेण; तत्रापि गिरिषु वरं श्रेष्ठं परमगुरुतरमित्यर्थः, तत्रापि लीलया स कथं विभ्रत् स्थित इत्यसम्भाव्यत्वेनाद्भूतत्वं व्यञ्जितम्। लीलया धारणे दृष्टान्तः—पुष्करमिति। अतोऽसौ लौकिक-वालको न भवतीति भावः। एतेन सौन्दर्य्यादिविशेषोऽपि सूचितः। यद्यप्यष्टमाब्दारम्भे शरदि श्रीगोवर्द्धनधारणम्, तथापि सप्तहायन इति भाद्रमासि सप्ताब्देषु पूर्णेषु किञ्चिदधिकैकमासस्याल्पकालत्वेनागणनात्। यच्च श्रीविष्णुपुराणादौ ग्रीष्मकाले श्रीवृन्दावनमागतस्य सप्तमवर्षे गोपालने प्रवृत्तिरिति, तथा चोक्तं श्रीपराशरेण (वि. पु. ५।६।३६) 'कालेन गच्छता तौ तु सप्तवर्षौ महाव्रजे। सर्व्वस्य जगतः पालौ वत्सपालौ वभूवतुः ॥' इति। अस्यार्थः श्रीस्वामीपादैरेव तट्टीकायां व्यञ्जितोऽस्ति—'एवं वत्सपालौ कालेन गच्छता सप्तवर्षौ गोपालने समर्थौ वभूवतुः' इति; (वि. पु. ५।६।३२) 'वत्सपालौ च संवृत्तौ रामदामोदरौ ततः' इति पूर्व्वमुक्तत्वात्। तदनन्तरञ्च तस्मिन्नेवाब्दे परस्मिन् वा प्रावृट्क्रीडा, ततः कालियमर्द्दनम्, ततो धेनुकप्रलम्बयोर्वधः, ततः शरदि श्रीगोवर्द्धनोद्धरणमिति, तस्य च कल्पभेदव्यवस्थया (भा. १०।१५।१) 'ततश्च पौगण्डवयःश्रितौ' इत्यादिना विरोधः परिहार्य्य इति ॥ ३ ॥ पूर्व्वमतिवाल्ये दुरूहत्वेन तत्कृतत्वे सन्दिग्धान्यपि पूतनावधादीनि अधुना साक्षाच्छ्रीगोवर्द्धनोद्धरणदृष्ट्या तदीयान्ये-वेति प्रत्यभिज्ञाय तान्यप्याहुः—तोकेनेति नवभिः। आमीलिताक्षेणेति (भा. १०।६।८) 'आस निमीलितेक्षणः' इति पूर्व्वोक्तयानु-वादः, तेन च वाल्यकौतुकमत्यन्तवाल्यं वा वोधितम्; यद्वा, ईषदक्षिनिमीलनमात्रेणैवेत्यर्थः, तेन चातिशीघ्रत्वमनायासत्वं वा दर्शितम्; यद्वा, अमीलिताक्षेण निरीक्षमाणेत्यर्थः, इति निर्भयत्वं दृष्टिमात्रेणैव सप्राणस्तनपानं चाभिप्रेतम्। तत्प्रकारश्च दुर्व्वोध

इति दृष्टान्तेनाहुः—कालेनेति, इति शक्तिविशेषः सूचितः। कथमित्यस्य सर्व्वत्राग्रेऽप्यनुवृत्तेः, सर्व्वेषामेव तत्तत्कर्म्मणामाश्चर्य्यत्वोक्त्या ग्राम्येषु जन्मायोग्यतामेव साधयन्ति; यद्वा, कथमित्यस्यानुवृत्त्यापि अत्यद्भुतानीत्युक्त्या सोऽर्थः स्वतः पर्य्यवस्यत्येव। तोकेनेत्यादिभिश्चाद्भुतकर्म्माण्येवोक्तानि ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथामानुषगोवर्द्धनोद्धरणात्मकचेष्टितस्मारितपूतनाशकटासुरवधादिवृत्तान्तैरतिमानुषैः कृष्णममानुषं शङ्कमानैर्गोपैः पृष्टो नन्दो गर्गगीतानुवादेन साक्षादयं नारायणो न केवलं मर्त्य इत्याहेत्याह मुनिः—षड्विंशेन। एवमिति। ते गोपाः कृष्णस्यैवंविधानि गोवर्द्धनोद्धरणादिवदमानुषाणि पूतनादिवधात्मकानि कर्मोणि वीक्ष्यानुस्मृत्य न तद्वीर्यविदः कृष्णासाधारणजगद्व्यापारादिरूपापारमहिमानमजानन्तः केवलमेतैरेव कर्मभिस्तं विस्मयपूर्वकमाशङ्कमानाः विस्मयप्रयुक्तमुखविकासयुक्ताः नन्दमभिगम्योचुः ॥ १ ॥ उक्तमेवाह—बालकस्येत्यादिभिस्त्रयोदशभिः यद्यस्मादेतानि बालकस्य कर्माण्यत्यद्भुतानि तस्माद्ग्राम्येषु गोपेषु कथमसावात्मनः स्वस्य जिगुप्सितमननुरूपं जन्मार्हति ॥ २ ॥ अद्भूतान्येवास्य कर्माण्याहुः दशभिः। यः कृष्णः कथं बिभ्रत्स्थितः पुष्करं पद्मं महाराज इवेति धारणायोग्यत्वसूचकं बालः सप्तहायन इति च विशेषणद्वयं साधनत्वायोग्यत्वसूचनाय करेणैकेनेत्युक्तम् धार्यत्वानर्हत्वसूचनाय गिरिवरमित्युक्तम् एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥ तोकेनेति। किञ्च महौजसो महाबलायाः पूतनायाः प्राणैः सह स्तनस्तोकेन शिशुना तत्रापि मीलिताक्षेण नेत्रोन्मीलनेप्यसमर्थवयस्केनेति भावः कथं पीतः ? यथा तनोः शरीरस्य वयो यौवनकालेन पीयते तद्वत् ॥ ४ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनुस्मरणार्थमाम्रेडाश्रितवयः सप्तवर्षपर्यन्तं बालचरितमनुक्रम्यतेऽस्मिन्नध्याये तत्र श्रीशुको गोपानां सङ्कथनप्रकारं कथयति—एवंविधानीति। ये गोपाः कृष्णस्यैवंविधानि कर्माणि वीक्ष्य तत्र तत्र साक्षाद्दृष्ट्वापि तस्य कृष्णस्य वीर्यं माहात्म्यं विदन्ति जानन्ति ते तद्वीर्यविदो न भवन्ति ते गोपाः समेत्य सम्भूयः प्रोचुः व्याकुर्वन्नित्यन्वयः ॥ १ ॥ बालस्यैतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वक्तुमशक्यानि वा इति यत्तस्मादसावात्मनः स्वस्य जुगुप्सितं ग्राम्येषु विषयिजनेषु जन्म कथमर्हति निरूप्यमाणे न योग्य इत्यन्वयः ॥ २ ॥ कानि तानि कर्माणीति ? तत्राहुः यत इति। बिभ्रत् अबिभ्रत् पुष्करं पद्मम् ॥ ३ ॥ तोकेन शिशुना आमीलिताक्षेण ईषत्फुल्लनेत्रेण महौजसः महाबलायाः अधृष्यावष्टम्भाया वा "ओजोऽवष्टम्भबलयोः" इति स्तनं पीतं वयमद्राक्ष्मेति शेषः। कालेनान्तकेन ॥ ४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

षड्विंशे तु तदैश्वर्य्यानैश्वर्य्येक्षणशङ्किनः। गोपान् प्रबोधयामास नन्दो गर्गोक्तिगौरवैः ॥

इह किल श्रीगोवर्द्धनधारणसमये श्रीकृष्णलावण्यामृतरसास्वादनिमग्नानां मनसि कोपि विचार उद्भवितुमवसरं न प्राप तदनन्तरं स्वस्वगृहं गतानां तेषां सर्वेषामेव हृदि सन्देह एक उदपद्यत अहो सम्प्रति साक्षाद्दृष्टेन गिरिधारणेन पूतनावधादयो दावानलोपशमनादयोप्यस्यैव कर्माणि प्रतीमस्तदा तदा तु ब्राह्मणाशीर्वादात् नन्दभाग्यातिरेकात् नारायणप्रसादप्राप्तेऽस्मिन् बालके नारायणावेशाद्वा ते तेऽभूवन्निति वितर्को वृथैव कृता वस्तुतस्तु सप्तवार्षिकबालकस्यास्य सप्तदिनावधिशैलेन्द्रधारणं खलु नरत्वं निषिद्ध्य परमेश्वरत्वमेव कथयति किम्वास्माकं सांसारिकाणां ग्राम्यगोपानामेतत् पितृपितृव्यमातुलादीनां लालनैः प्रफुल्लत्वमुपलालनैर्वैक्लव्यं तथा क्षुत्पिपासादधिपयश्चौर्य्यदम्भानृतप्रलपनवत्सगोचारणादिकं परमेश्वरत्वे सति कथं सम्भवेदेतत्तु परमेश्वरत्वं निषिद्ध्य नरत्वमेव प्रतिपादयत्यतोऽस्य तत्त्वं निश्चेतुमसमर्था महाबुद्धिमन्तं व्रजराजमेव पृष्ट्वा निःसंशया भवामेति मनसि कृत्वा तस्यैव महास्थानीं प्रविश्य पप्रच्छुरित्याह, एवमिति ॥ १ ॥ अत्यद्भुतानीत्यतो नायं प्राकृतो बालकः किन्त्वीश्वर एव इति चेदत आह—कथमिति ? असाविति परोक्षनिर्देशेन तःासौ वनङ्गत इति लभ्यते परोक्षत्व एव रसापत्तेः आत्मजुगुप्सितमित्यात्मनो जुगुप्सायां निकृष्टोऽपि न प्रवर्त्तते किमुत सर्वं प्रकृष्ट ईश्वर इति भावः ॥ २ ॥ यदि च नेश्वरस्तर्हि कथमेतानि कर्माणि सम्भवेयुरित्याहुः—द्वादशभिः। य इति, बिभ्रत् स्थित इति शेषः। पुष्करं पद्म कथमित्यस्य विभक्तिविपरिणामेन यच्छब्दस्य चाग्रिमश्लोकेष्वनुवृत्तिर्ज्ञेया ॥ ३ ॥ तोकेन ये न बालेन ईषन्मुद्रिताक्षेण अलक्ष्यमाणत्वे दृष्टान्तः तनोर्वयो यौवनं कालेन यथा पीयते तद्वत् ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अथ श्रीकृष्णचरितदर्शनस्मरणेन विस्मितेभ्यो गोपेभ्यः श्रीनन्देन यत्तत्प्रभुत्वं वर्णितं तद्वर्णयति—एवमिति। ये अतद्वीर्यविदस्ते एव श्रीनन्दं समभ्येत्याभिगम्य प्रोचुः ॥ १ ॥ यत्प्रोचुस्तदाह—बालकस्येति त्रयोदशभिः। यत् यस्य बालकस्यैव एतान्यद्भुतानि कर्माणि स आत्मजुगुप्सितं स्वाननुरूपं जन्म कथमर्हति ? ॥ २-३ ॥ तनोर्देहस्य वयः अवस्था कालेन यथा पीयते तद्वत् महौजसः महाबलायाः ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हरिः ॐ ।। ये डोलालीलामारभ्यैतत्कुत्कीलतोलनादिपर्यन्तमधिकार्यन्तरात्मपरिशुद्धयेऽनन्तस्मरणेन भवितव्यं सङ्गृह्य तत्रापि सर्वचरितताद्रूप्यमावेदयितुं धरोद्धरणमादितस्तथा कथा कथाव्यत्यासश्च सम्भवतः सम्भूय कथयन्ति गोपा इति शुको वक्ति ।। श्रीशुक इति । ते गोपास्तद्वीर्यविदस्तत्पराक्रमज्ञास्ते न भवन्तीति न तद्वीर्यविदः समुपेत्य मिलित्वा सुविस्मिताः सन्तः प्रोचुः ।। १ ।। यस्य बालकस्यैतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै प्रसिद्धानि स्वस्यात्मनो जुगुप्सितं निन्दितं ग्राम्येषु मूर्खेषु मानुषेष्वसौ जन्म कथमर्हतीति परस्परं प्रोचुः ।।२।। सप्तहायनानि वत्सरा यस्य स करेण शुण्डया पुष्करं पद्मं विभ्रद्गजराडिव कथं विभ्रत्स्थित इति शेषः । अडभावे छान्दसे गणकार्यत्यानित्यत्वे विभ्रदविभ्रदिति वा । बालः करेण गिरिवरं विभ्रज्जन्मकथमर्हतीत्यन्वयो वा ।। ३ ।। अमीलिताक्षेण तौकेन महौजसो महाशक्तेः पूतनायाः सह प्राणैः स्तनः पीतस्तनोर्वयो यौवनं कालेनेव यथा ग्रस्यते कालो वार्धकादिर्यथा वयोऽङ्गस्य नाशयति तथा पूतनामघातयदिति ।। ४ ।।

श्रीसुबोधिनी

अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णगं विनिवार्यते । त्रयोविंशे समत्वाय निरुद्धानामशेषतः ।। १ ।।
पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः फलं चेति निरूप्यते । अप्राकृतत्वं सम्बन्धो द्वयं स्पाप्यमिहोक्तिभिः ।। २ ।।
विरोधात् प्राकृतत्वेन सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा । जातस्तादृश एवात्र न सन्देहस्तथापरः ।। ३ ।।
माहात्म्यदर्शनं हेतुः पूर्वपक्षे तथापरे । गर्गवाक्यानि तज्ज्ञानं फलमित्येष निश्चयः ।। ४ ।।

पूर्वाध्यायान्ते गोकुले समागताः सर्व इत्युक्तं, आगतानां सन्देहो वर्ण्यते भगवति पूर्वपक्षरूपः, आदौ पूर्वपक्षनिरूपणार्थं तेषामुद्योगमाहैवंविधानीति, गोवर्धनोद्धरणरूपाणि बहूनि भगवतः कर्माणि दृष्ट्वा धर्मिस्वरूपमज्ञात्वा हेत्वभावेनैवैतत् कार्यमाहोस्वित् धर्मी हेतुः ? तथा सति न स नन्दपुत्र इति निश्चित्यातद्वीर्यविदो भगवतः क्रियाशक्तिमज्ञात्वा सुविस्मिता विकसितवदनाः सर्वे सम्भूय नन्दसमीपमागत्य प्रोचुः ।।१।। कर्माणि तु दृष्टान्यहेतुकानि च न भवन्ति तस्मान्नायं नन्दस्य पुत्रो भवितुमर्हत्यलौकिककार्यकर्तृत्वात्, तदाहुर्यद् यस्मादेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि बालकस्य दृश्यन्ते वै निश्चयेन, किमतो यद्येवम् ? तत्राहुः कथमर्हत्यसौ जन्मेति, ग्राम्येष्वस्मासु कर्मग्रस्त इवात्मनो महतो जुगुप्सितं निन्दितं जन्म कथमर्हति ? कर्मगेन्द्राद्यपेक्षयापि महानिति निश्चीयते तथा सति कथमधमेष्ववतारः ? न हि स्वेच्छया कश्चित् स्वस्य हीनतां सम्पादयति, कर्माधीनता तु नास्त्येव कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यात्, अतो जुगुप्सितं जन्म नार्हति ।। २ ।। अलौकिकानि कर्माण्याह यः सप्तहायन इति, षड्गुणा भगवांश्च तेषां तत्तच्चेष्टाः सर्वा एवात्र समागता अतश्चेष्टारूपः काल एकेन करेण स्वयं सप्तहायनोपि भूत्वा कथं गिरिवरं बिभ्रज् जातः ? तत्रापि लीलया कदाचिदङ्गुलीष्वपि समानयति, वेणुं वादयन्, अडभावो वा छान्दसः, अबिभ्रदिति, एते तु यथादृष्टमनुवदन्तीति नात्र विचारणीयं, गिरिवरं पर्वतश्रेष्ठं, अनायासे दृष्टान्तः पुष्करं गजराडिवेति, न हि मत्तगजस्य कमलधारणे कश्चन प्रयासोस्ति, अथ वा सप्तहायन एकेन करेण गिरिवरं बिभ्रत् कथं बालक इति तस्मान्नायं तव पुत्रो नापि बालकः ।। ३ ।। अबालकत्वे हेत्वन्तरमाह तोकेनेति, आ समन्तान् मीलिताक्षेण तोकेनाति बालकेन पूतनाया महौजसोतिसमर्थायाः प्राणैः सह स्तन्यं पीतं, यद्यपि पूर्वं प्राणाः पीता इति न ज्ञातं तथाप्युत्तरोत्तरं सामर्थ्यदर्शनात् पूर्वकार्याण्यप्येतद्धेतुकानीत्येवावधार्यते, पाने तदापि न ज्ञातमित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह कालेनेव वयस्तनोरिति, यथा तनोः शरीरस्य वयः प्रत्यहं क्षीयमाणमपि कालेन पुरुषो न जानाति तथा भगवता पेपीयमानाः प्राणाः पूतनया न ज्ञाता अन्यथा प्रतिक्रियां कुर्यात् पलायेत वा, तस्मादेवमलौकिकं सामर्थ्यं बाल्येपि ।। ४ ।।

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

त्रयोविंशाध्यायार्थोक्तौ, अज्ञानमिति । निरुद्धानामज्ञानादि कृष्णगं कृष्णविषयकं निवार्यत इत्यर्थः । प्रयोजनमाहुः समत्वायेति । गोवर्धनोद्धारणेन कृतो यो निरोधः स तु सर्वेषां समान इति तज्ज्ञापनाय तथेत्यर्थः । प्राकृतत्वेनेति । स्वनिष्ठो हेतुः । जातस्तादृश एवेति । तादृश एव, अप्राकृत एव, प्रकट इति । अत्र भगवत्यप्राकृतत्वस्वसम्बन्धित्वयोर्विरोधाभावान्न सन्देह इति परः सिद्धान्तस्तथा, उच्यत इत्यर्थः । गर्गवाक्यानि परे सिद्धान्ते । तथा, हेतव इत्यर्थः । तज्ज्ञानमिति । भगवत्स्वरूपज्ञानं फलमित्यर्थः ।। ० ।। एवंविधानीत्यस्य विवरणे, हेत्वभावे नैवेतत्कार्यमिति । अतिप्राकृतबुद्धितुल्यत्वज्ञापनायैवमुक्तमिति ज्ञेयम् । तेन भगवन्माहात्म्यं सूचितं भवति । यद्वा, हेतुत्वेन प्रतीयमानो यः प्रभुस्तदन्योन्याभाववता तदतिरिक्तेनेत्यर्थः ।। १ ।।

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

त्रयोविंशाध्यायार्थोक्तौ अज्ञानमिति एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, समत्वायेत्यस्यापि, विरोधात् प्राकृतत्वेनेति स्वेषु प्राकृतत्वेन प्राकृतैरस्माभिरेतस्य श्रीकृष्णस्य कथं सम्बन्धः स्यात्, गोपैर्भगवता सह दैहिकः सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा पूर्वपक्षे इत्यर्थः,

एतावता श्रीनन्दं प्रति गोपकृतप्रश्नस्याशय उक्तः, सोयं पूर्वपक्षरूपः, श्रीनन्ददत्तोत्तराशयमाहुः जातस्तादृश एवात्रेति, अस्यार्थ-स्टिप्पण्यां स्फुटः, अप्राकृतोपि वस्तुस्वभावात् मत्पुत्र इति अप्राकृतत्वं मत्पुत्रत्वं द्वयमपि वास्तवमिति श्रीनन्ददत्तोत्तराशयः, सोयं सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥ ० ॥

(५) भगवदीयनिर्भयराममनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

त्रयोविंशाध्याये अज्ञानमित्यादि २२६३–२२९३। निरुदधानामज्ञानादि कृष्णगं कृष्णविषयकं निवार्यते इत्यर्थः, प्रयोजनमाहुः समत्वायेति, गोवर्धनोद्धरणेन कृतो यो निरोधः स तु सर्वेषां समान इति समत्वज्ञापनायेत्यर्थः, पूर्वपक्षश्चेत्यादि "ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे" इत्यन्तेन ग्रन्थेन पूर्वपक्षः, "श्रूयतां मे वचो गोपा" इत्यादिना सिद्धान्तः, "मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं विगतविस्मया" इत्याश्चर्याभावः फलं, इह भगवत्यप्राकृतत्वं पुत्रत्वरूपः सम्बन्धश्चेतिद्वयं स्थाप्यं, प्राकृतत्वेनेति अस्मासु गोपेषु प्राकृतत्वेन भगवत्सम्बन्धो विरुद्ध इति हेतोः सम्बन्धस्त्यज्यते न मन्यते इति पुरा पूर्वपक्ष इत्यर्थः, सिद्धान्तमाहुः जातस्तादृश एवेति, तादृश एव अप्राकृत एव प्रकट इतिहेतोर्न सन्देह इति परः सिद्धान्तस्तथोच्यते इत्यर्थः, तथा च गोपानां प्राकृतत्वेनाप्राकृतेन भगवता सह सम्बन्धः कथं सम्भवतीति संशये भगवत्यप्राकृतत्वसम्बन्धित्वयोर्विरोधाभावान्न सन्देह इति सम्बन्धः सिद्धः, एतदुपपादयन्ति माहात्म्यदर्शनं हेतुरित्यादिना, परे सिद्धान्ते गर्गवाक्यानि हेतव इत्यर्थः, तज्ज्ञानमिति भगवत्स्वरूपज्ञानं फलमित्यर्थः ॥ ० ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

षड्विंशे विस्मिता जाता गोपा कृष्णस्य कर्मभिः ॥ नन्देन तत्प्रबोधाय गर्गगीतं निरूप्यते ॥ १ ॥

एवंविधानि गोवर्धनोद्धरणसदृशान्यतिमानुषाणि कृष्णस्य कर्माणि ते गोपा वीक्ष्य अनुस्मृत्य सुविस्मिताः आश्चर्ययुक्ताः सन्तो नन्दं समभ्येत्य समभिगम्य प्रोचुः। ननु 'ईश्वरलीलायाः किमाश्चर्यम् ?' इत्याशङ्क्याह–अतद्वीर्यविद इति। तस्य वीर्यमैश्वरं प्रभावमजानन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥ तदुक्तमेवाह–बालकस्येति 'वै' अवधारणे। यत् यस्मात् बालकस्य सत एतानि कर्माणि अत्यद्भुतान्येव तस्मात् असौ आत्मनः स्वस्य जुगुप्सितमयोग्यं ग्राम्येषु गोपेष्वस्मासु जन्म कथमर्हतीत्यन्वयः ॥ २ ॥ अद्भुतानि कर्माण्येव दर्शयन्ति–यः इति द्वादशभिः। यः सप्तहायनः सप्तवर्षमात्रवयाः बालः सर्वथा असमर्थः स कथमेकेन करेण लीलया अनायासेन गिरिवरमबिभ्रदित्यन्वयः। अडभाव आर्षः, 'विभ्रत्स्थित' इति शेषो वा। अनायासेन धारणे दृष्टान्तमाह–पुष्करं कमलं गजराडिवेति ॥ ३ ॥ आसमन्तात् मीलिताक्षेण तोकेन अतिबालेन महौजसो महाबलायाः पूतनायाः प्राणैः सह स्तनः कथं पीतः ?। अज्ञाततया बलात् पाने दृष्टान्तमाह—कालेनेति। तनोः शरीरस्य वयो यौवनमायुर्वा यथा कालेन पीयते, तथेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

षड्विंशेऽब्रुवन्गोपान् कृष्णाचरितविस्मितान्। नन्दो गर्गोक्तिभिस्तत्र श्लोकाः सार्द्धपुवाहवः (२५॥) ॥
द्वे (२) उवाचेति पादोनाः सप्तहस्ता अनुष्टुभः (२६॥) ॥ २६ ॥

एवमिति ॥ एवंविधानि गोवर्द्धनोद्धरणादीन्यतिमानुषाणि कृष्णस्य कर्माणि ते गोपा वीक्ष्य अनुस्मृत्य सुविस्मिताः आश्चर्ययुक्ताः अतद्वीर्यविदः तस्य वीर्यं प्रभावमजानन्तः नन्दं समभ्येत्य समधिगम्य प्रोचुः ॥ १ ॥ बालकस्येति ॥ वै अवधारणे। यत् यस्मात् बालकस्य सत एतानि कर्माणि अत्यद्भुतान्येव तस्मात् असौ आत्मनः स्वस्य जुगुप्सितमयोग्यं ग्राम्येषु गोपेष्वस्मासु जन्म कथमर्हति। असाविति विप्रकृष्टार्थकादाशब्दप्रयोगात्तदा कृष्णो वनं गतो ज्ञेयः। प्रशंसानां परोक्षे औचित्यात् ॥२॥ य इति ॥ यः सप्तहायनः सप्तवर्षमात्रवयाः बालः सर्वथा असमर्थः स कथमेकेन करेण लीलया अनायासेन पुष्करं कमलं बिभ्रत् गजराडिव गिरिवरं बिभ्रत् स्थितः ॥ ३ ॥ तोकेनेति ॥ तनोः शरीरस्य वयो यौवनमायुर्वा यथा कालेन पीयते तथा आसमन्तात् मीलिताक्षेण तोकेनातिबलेन महौजसो महाबलायाः पूतनायाः प्राणैः सह स्तनः पीतः। अत्र स्तनः कथं पीत इत्यादि सर्वत्र कथंशब्दं स्वामिचरणाद्याः अन्वषञ्जयन् ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीं षडविंशेऽध्याये गोपकृतं श्रीकृष्णचरित्रवर्णनमाह तस्य श्रीकृष्णस्य वीर्याणि पराक्रमान् विदंति तथाभूता न भवंत्यतद्वीर्यविदः ते गोपाः समभ्येत्य नंदं प्राप्य ॥ १ ॥ यद्यस्मात् एतानि अद्भुतानि संति। अतः सोऽसौ ग्राम्येषु अस्मासु वीहीनेषु आत्मनः जुगुप्सितं निंदितं गोपजन्मकथमर्हति योग्यमस्ति ॥ २ ॥ तानि वीर्याण्येवाह द्वादशभिः सप्तहायनानि वयो वर्षाणि यस्य पुष्करं कमलं ॥ ३ ॥ महौजसो महासामर्थ्यवत्याः यथा तनोर्देहस्य वयो बाल्यावस्था कालेन पीयते तथास्तनः पीतः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

अद्‌भुतैः कर्मभिर्गोपान् षड्विंशे विस्मितान् हरेः। नन्द आश्राव्य गर्गोक्तिं वर्णयामास तस्य तद् ॥ १ ॥

अथामानुषगोवर्द्धनोद्धरणात्मकचेष्टितसंस्मारितपूतनाशकटासुरवधादिवृत्तान्तैरतिमानुषैः श्रीकृष्णममानुषं शङ्कमानैर्गोपैः संपृष्टो नन्दो गर्गगीतानुवादेन साक्षादयं नारायणो न केवलं मर्त्य इत्युवाचेत्याह मुनिः ॥ एवमिति ॥ ते पूर्वेक्षितभगवदमानुषचरित्राः, गोपाः, कृष्णस्य, एवंविधानि गोवर्द्धनोद्धरणपूतनादिवधादीन्यदेवमानुषाणि, कर्माणि वीक्ष्य अनुस्मृत्येयर्थः। अतद्वीर्यविदः श्रीकृष्णस्यासाधारणजगद्व्यापारादिरूपापारमहिमानमजानन्तः केवलमेतैरेव कर्मभिस्तं विस्मयपूर्वकमाशङ्कमाना इत्यर्थः। सुविस्मिता विस्मयप्रयुक्तमुखविकासयुक्ताः सन्तः, समभ्येत्य नन्दमभिगम्य, प्रोचुः ॥ १ ॥ उक्तमेवाह त्रयोदशभिः ॥ बालकस्येति यद्यस्मात्, एतानि बालकस्य तव सुतस्य, कर्माणि अत्यद्‌भुतानि अत्याश्चर्यकराणि, सन्ति वै। तस्मात् हे नन्द, असौ कृष्णः ग्राम्येषु गोपेषु, आत्मनः स्वस्य, जुगुप्सितमननुरूपं जन्म, कथ अर्हति ॥ २ ॥ अद्‌भुतान्येवास्य कर्माणि प्राहुर्द्वादशभिः ॥ य इति ॥ यः श्रीकृष्णः सप्तहायनः सप्तवर्षवयाः, अत एव, बालः सन्नपि, गजराट् करीन्द्रः, पुष्करं कमलं इव, लीलया एकेन करेण एव, गिरिवरं पर्वतश्रेष्ठं गोवर्द्धनाचलं कथं बिभ्रत् धारयन् सन्नवस्थितः। बालः सप्तहायन इति च, विशेषणद्वयं धारणायोग्यत्वसूचकम्। धार्यत्वानर्हत्वसूचनाय गिरिवरमित्युक्तम्। साधनत्वायोग्यत्वसूचनाय करेणैकेनेत्युक्तम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥ तोकेनेति ॥ किं च महौजसो महाबलायाः पूतनायाः, स्तनः प्राणैः सह, तोकेन शिशुना, तत्रापि मीलिताक्षेण नेत्रोन्मीलनेऽप्यसमर्थवयस्केन कृष्णेन यथा, तनोः शरीरस्य, वयो यौवनं, कालेन पीयते तद्वत्, कथं पीतः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

श्रीगोविन्दपदाम्बुजातशरणीभावोपलब्धं फलं विज्ञायैवमशेषसंकटभवप्रारब्धदुःखापहम्।
त्यक्त्वा साधनमन्यदच्युतपदप्राप्त्यै सदैवाऽच्युतः श्रेयःकांक्षिभिरादरात् कलिजनैर्गेयस्त्वितीहोच्यते ॥ १ ॥

गिर्युत्तमस्थितिमिहाधिगतेन पुंसा निर्भीतिगोकुलनिवासमवाप्य कामम्।
गेयान्यनन्तचरितान्यवतारभाजो बोध्यं हि तेन परतत्त्वमिति स्फुटार्थम् ॥ २ ॥

एवंविधानीति : १०.२६.१.

वृद्धानामपि दुर्धरेन्द्रियसमुद्धारप्रकारः सतां सोऽस्मिन्कौतुकशालिनैव विहितो बालेन पालेन चेत्।
तत्स्यात्कस्य न विस्मयाय परमाल्हादाय वा संशयोत्पत्त्यै चेत्युचितं त्रयं तदभवद् गोवर्धनोद्धारिणि ॥ ३ ॥

तोकेनेति : १०.२६.४.

नीता नाशमनेन सा बत बकी तद्वद् बकोऽघस्तृणो दुष्टाहिश्च पदप्रहारविगलद्गर्वः सलीलं कृतः।
यत्पीतोऽग्निरपीति सर्वमपरोक्षं पश्यतां नः पुनः शंकोदेति यदद्रिधारणकृतौ तत्का परा मूर्खता ॥ ४ ॥

यत्केनापि कदापि नैव चरितं तत्ते चरित्रं प्रभो पश्यन्तोऽपि दिवानिशि व्रजजनाः सन्तोऽप्यसच्छङ्किनः।
पप्रच्छुर्द्रुमुहुरप्यहो व्रजपतिं का नः कथा तत्र तन्मायावैभवमेव तादृशमिति स्पष्टं चरित्रैस्तव ॥ ५ ॥

नानाविधानि भगवांश्चरितानि भूयोभूयः करोति विशदानुभवास्पदानि।
मोहः पुनस्त्वनुभवे चरिते च शङ्का तत्राप्युदेति तदिदं कलिकेलिलास्यम् ॥ ६ ॥

कृष्णप्रिया

इस अध्याय में २५ श्लोक हैं। तीन बातें इस अध्याय में बताई गई। सन्देह सिद्धान्त और समान इन तीन बातों का समावेश स्पष्ट रूप से किया गया है। श्रीगोवर्धन पर्वत को उठाना और सात दिन पर्यन्त धारण करना एक विशिष्ट कार्य छोटे बालक के लिए संभवित नहीं, यह पूर्वपक्ष माने अथवा गोपजनों का संदेह माने। श्रीगर्गाचार्य महर्षिजी के वाक्यों का सुनाना यह समाधान था, और श्रीकृष्ण का माहात्म्य एवं स्वरूप ज्ञान के बाद भगवान का समर्चन यह फल है। २५ श्लोकों में ये तीन विषय निरूपित किए गए। श्रीशुकाचार्य महाराज ने कहा–राजन् परीक्षित्! व्रजवासी गोपजन पूर्णपुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण के वीर्य और माहात्म्य को नहीं जानते थे, इससे श्रीकृष्ण भगवान के पूतना मोक्ष से लेकर श्रीगिरिवर धारण पर्यन्त अनेक लोकोत्तर चरितों को देखकर अत्यंत विस्मित हो गए। मनः समाधान की भावना से एक दिन सारे गोपजन इकट्ठे होकर श्रीनन्दराय जी के समीप गये और विनय करने लगे ॥ १ ॥ गोपगण कहने लगे बाबा नन्द बाबा! आप के बालक श्रीनन्दलालजी के समस्त चरित्र अतिशय अद्‌भुत है। हम अबुध ग्रामीण गोपजनों के घर में ऐसे समर्थ का जन्म कैसे हो सकता है। अपने घर जन्म लेना तो इनके लिये तो बड़ी निन्दा की बात है ॥ २ ॥ नन्दबाबा! सुनो! जैसे गजराज जलाशय

में से कमल को उखाड़ कर खेलते खेलते उपर उड़ा लेती है उसी प्रकार यह सप्तवर्षीय नन्हें बालक ने आसानी से वाम करकमल से गिरिवर को उठाकर सात रात्री दिवस पर्यन्त अविचल एक पैर से कैसे खड़ा रहा ! ॥ ३ ॥ महाराज ! जैसे काल शरीर की आयु को निगल जाता है, वैसे ही इस नन्हें से बालक ने बचपन में नयन बंदकर भयानक राक्षसी पूतना का स्तन तो पिया ही लेकिन अनेक बालकों के प्राणों के साथ इनका प्राण भी पी डाले ॥ ४ ॥

हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणावुदक् । अपोऽपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥ ५ ॥
एकहायन आसीनो ह्रियमाणो विहायसा । दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥ ६ ॥
क्वचिद्धैयङ्गवस्तैन्ये मात्रा बद्ध उलूखले । गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥ ७ ॥
वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः । हन्तुकामं बकं दोर्भ्यां मुखतोऽरिमपाटयत् ॥ ८ ॥
वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया । हत्वा न्यपातयत्तेन कपित्थानि च लीलया ॥ ९ ॥
हत्वा रासभदैतेयं तद्बन्धूंश्च बलान्वितः । चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम्[१] ॥१०॥
प्रलम्बं घातयित्वोग्रं बलेन बलशालिना । अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितः ॥११॥
[२]आशीविषतमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं ह्रदात् । प्रसह्योद्वास्य यमुनां चक्रेऽसौ निर्विषोदकाम् ॥१२॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—अधः शयानस्य मास्यस्य रुदतः चरणौ उदक् हिन्वतः प्रपदाहतम् अनः विपर्यस्तम् अपतत् ॥ ५ ॥ दैत्येन विहायसा ह्रियमाणः एकहायन आसीनः यः कण्ठग्रहातुरम् तृणावर्त्तम् अहन् ॥ ६ ॥ क्वचित् हैयंगवस्तैन्ये मात्रा उलूखले बद्धः अर्जुनयोः मध्ये गच्छन् तौ बाहुभ्यां अपातयत् ॥ ७ ॥ बालकैः वृतः सरामः वने वत्सान् सञ्चारयन् हन्तुकामम् बकम् अरिम् दोर्भ्याम् मुखतः अपाटयत् ॥ ८ ॥ वत्सेषु वत्सरूपेण जिघांसया प्रविशन्तं हत्वा, तेन च लीलया कपित्थानि न्यपातयत् ॥ ९ ॥ रासभदैतेयम् च तद्बन्धून् बलान्वितः हत्वा परिपक्वफलान्वितम् तालवनम् क्षेमम् चक्रे ॥ १० ॥ बलशालिना बलेन उग्रम् प्रलम्बम् घातयित्वा व्रजपशून् च गोपान् अरण्यवह्निना अमोचयत् ॥ ११ ॥ आशीविषम् तम् आहीन्द्रम् दमित्वा विमदम् तम् प्रसह्य उद्वास्य असौ यमुनाम् निर्विषोदकाम् चक्रे ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अनसोऽधः शयानस्य मास्यस्य मासाख्यः परिच्छेदको यस्य उदगूर्ध्वं चरणौ हिन्वतश्चालयतः प्रपदेन पादाग्रेण हतं विपर्यस्तमनः कथमपतत् ॥ ५ ॥ यः कृष्णो दैत्येन ह्रियमाणः संस्तं तृणावर्तं कथमहान्नित्यर्थः ॥ ६ ॥ हैयंगवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये । बाहुभ्यां गच्छन् रिंगन्नित्यर्थः ॥ ७ ॥ मुखतो हंतुं कामो यस्य तं बकवेषमरिं बाहुभ्यां मुखतः कथमपाटयत् ॥ ८–११ ॥ आशीविषतमोऽतिक्रूरविषश्चासावहींद्रश्च तम् ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अनसः शकटस्य । परिच्छेदकाः वयाज्ञापकाः, "परिमाणे परिच्छेदः सर्वतश्छेदकेऽल्पके" इति नैरुक्तः । हिनोतेः शतृप्रत्यये हिन्वत इति ॥ ५ ॥ एकहायनो वर्षैकायुः । दैत्येन तृणावर्त्तेन । इत्यर्थ इति । हि बालकर्त्तृककंठग्रहणेन महावपुषो हननं संभवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यर्थ इति । बाहुभ्यां केवलाभ्यां नटवन्न किं तु बालवत्स्खलन्निति भावः ॥ ७ ॥ मुखतः मुखभागतः । अपाटयत् व्यदारयत् ॥ ८ ॥ तेन दैत्येन ॥ ९ ॥ तद्बंधून् धेनुकज्ञातीन् । क्षेमं निरुपद्रवम् ॥ १० ॥ उग्रम् भयंकरम् ॥ ११ ॥ दमित्वा निगृह्य । उद्वास्य निष्कास्य । असौ कृष्णः । प्रसह्य हठात् । अश्नुते व्याप्नुतेऽतिवेगेन सर्वांगमित्याशि । अशेरिन् । तादृशं विषं यस्य स तथा । बाहुलकात्पूर्वपदस्य दीर्घः । ततस्तमप् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रपदेन आ ईषत् हतं प्रहृतं रुदत इति पूर्ववत् बाल्यातिशयः सूच्यते तेन चात्यद्भुतत्वहेतुतया शक्तिविशेष एव बोध्यते एवमग्रेऽपि अन्यत्तैः तत्र मास्यस्येति मासमात्रं व्याप्यजातबाल्यस्येत्यर्थः । कालादित्यधिकारे "तमधीष्टो भृतोभूतो भावी" (५।१।८०) वेत्यधिकृत्य "मासाद्वयसि यत् खञौ" (५।१।८१) इत्यनेन यद्विधानात् तत्र द्वितीयसूत्रे तं भृत इति तावन्तं कालं व्याप्य लब्धसत्ताक इत्यर्थं सतीति व्याख्यानात् तृतीयसूत्रे वयसीति विशेषोपादानाच्च किन्तु मासश्च मासश्च मासश्च मासा इति त्रयाणामेकैकशेषत्वकरणात् "त्रैमासिकस्य च पदा शकटोपवृत्तः" इति द्वितीयस्कन्धस्य च सम्वादः कर्त्तव्यः ॥ ५ ॥ आसीन इति अत्यन्त-

१. फलोचितम्–विज । २. आशीविषं महारौद्रं–विज. ।

बाल्यमेवाभिप्रेतं सम्यक् चलितुमपि पदा न शक्नोतीत्यभिप्रायात् कण्ठग्रहणमात्रेणैव आतुरं विह्वलम् ॥ ६ ॥ क्वचित् कदाचित् आस्याऽग्रेपि सर्वत्रवानुवृत्तिः बाहुभ्यां तदग्रभागाभ्यां कराभ्यामित्यर्थः। उलूखलकर्षणाय तयोरेवाधिक्येन प्रणोदनात् ॥ ७ ॥ सरामो बालकैर्वृत इति रामे बालकेषु च तत्रैव सत्सु स एवापाटयदिति सर्वेभ्यः शक्तिविशेषो ध्वनितः मुखतो मुखमारभ्य अरिमिति न तामसयोनित्वात् यदृच्छया हन्तुकाममपि तु अरिं भगिनीवधजातशत्रुभावादाग्रहेणापीत्यर्थः। पूर्वोक्ततत्तद्वधव्युत्क्रमस्तथाद्य व्योमवधातिक्रमश्च परमविस्मयेनाक्रान्तचित्तत्वात् एवमग्रेऽपि ॥ ८ ॥ जिघांसया सरामस्य तस्य लीलया हत्वा पश्चात् पादद्वय-ग्रहणेन भ्रमणात् कपित्थानि चेति महावृक्षाग्रविक्षेपद्योतनेन शक्तिविशेषः सूचितः ॥ ९ ॥ बलान्वित इति धेनुकवधेपि तस्यैव प्राधान्यविवक्षया नूनमेतत्प्रभावेणैव बलस्यापि बलोदयादेतस्यैककर्तृत्वमिति भावः। क्षेमं निर्भयं सर्वोपभोग्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ बलेन घातयित्वेति तत्रापि तस्य मुख्यत्वं सूचितं कुतो बलेनैवाऽघातयत् न त्वन्येन तत्राहुः—बलेति। तत्प्रभावलब्धबलविशेषवता अतस्तस्मिन् विद्यमानेऽन्येन घातना न योग्येति भावः ॥ ११ ॥ विमदं यथा स्यात् तथा दमयित्वा यद्वा विमदं सन्तं ह्रदादुद्वास्य ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रपदेन आ ईषत् हतं प्रहृतम्, रुदत् इति पूर्ववत् बाल्यातिशयकौतुकविशेषो वा सूच्यते, तेन चात्यद्भुतत्वहेतुतया-शक्तिविशेष एव बोध्यते, यद्वा, यथावृत्तं तत्तत्कर्म्मप्रकारमात्रकथनमेतत्; एवमग्रेऽपि ॥ ५ ॥ आसीन इति—अत्यन्तबाल्यमेवाभि-प्रेतम्, कण्ठे ग्रहणमात्रेणैवातुरं विह्वलम्, अनेनापि शक्तिविशेष एव सूचितः ॥ ६ ॥ क्वचित् कदाचित्, अस्याग्रेऽपि सर्व्वत्रैवानुवृत्तिः। बाहुभ्यां तदग्रभागाभ्यां कराभ्यामित्यर्थः, जानुभ्यां सपाणिभ्यां गमनस्यैव रिंगणत्वात्, यद्वा, रिंगणेऽपि बाहुभ्यां गमनेन बलाभावादत्यन्तबाल्यमेवाभिप्रेतम् ॥ ७ ॥ सरामो बालकैर्वृत इति रामे बालकेषु च तत्रैव सत्स्वपि स एवा-पाटयदिति सर्व्वेभ्यस्तेभ्यः शक्तिविशेषो ध्वनितः। मुखतश्चञ्च्वोर्ग्रहणेन मुखद्वारा व्यदारयदित्यर्थः। अरिमात्मनः सर्व्वेषाञ्च देवादीनाम् यद्वा, अरिञ्च सर्ववयस्यादीनां ग्रसनेन परमद्वेष्टारमघासुरमप्यपाटयत् (भा० १०।१२ ३१) 'मूर्द्धन् विनिर्भिद्य' इति पूर्वमुक्तेः, मुखत इत्यस्यात्रैव वान्वयः, मुखद्वारा ग्रसनेन योऽरिस्तम्, किंवा तद्द्वारा प्रविश्यैव तत एव भेदनात्। पूर्व्वोक्ततत्तद्वध-क्रमातिक्रमः परमविस्मयेनाक्रान्तचित्तत्वात्। एवमग्रेऽपि ॥ ८ ॥ जिघांसया सरामस्य तस्य लीलया हत्वा पश्चात् पादद्वयग्रहणेन भ्रमणात्; अप्यर्थे चकारः, कपित्थफलान्यपि, इत्येकेन कर्मणा प्रयोजनद्वयमुक्तम् अनेनापि शक्तिविशेष एव सूचितः एवमन्यत्राप्य-ऽप्युह्यम् ॥ ९ ॥ बलान्वित इति धेनुकवधेऽपि तस्यैव प्राधान्यविपक्षया क्षेमं निर्भयं सर्व्वोपभोग्यमित्यर्थः ॥ १० ॥ बलेन घात-यित्वेति प्रलम्बस्य गोपरूपिणः संख्यानुमोदनादिना वधे तस्यैव प्रयोजकत्वात्, कुतो बलेनैघातयत्, न त्वन्येन ? तत्राहुः बलेनेति बलं प्रदर्शयितुमित्यर्थः ॥ ११ ॥ विमदं यथा स्यात्तथा दमित्वा, यद्वा, विमदं सन्तं ह्रदादुद्वास्य ॥ १२ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हिन्वत इति। शकटस्याधश्शयानस्य बालस्य मास्यस्येति पाठे मासास्त्रयः परिच्छेदका यस्य तस्य उदगूर्ध्वं चरणौ हिन्वतः चालयतः रुदतश्च प्रपदा पादाग्रेण हतमनः शकटं विपर्यस्तं सत्कथमपतत् सर्वत्र कथं शब्दोऽनुवर्तते ॥ ५ ॥ एकहायन इति। यः कृष्ण एकाब्दवयस्को भुवि निषण्णः दैत्येन तृणावर्त्तेनाकाशमार्गेण नीयमानः तं कण्ठग्रहणेनातुरं पीडितं तृणावर्तं कथं महन् हतवान् ॥ ६ ॥ क्वचिदिति। कदाचिन्नवनीतचौर्यं सति क्रुद्धया मात्रा यशोदया उलूखले बद्धो बाहुभ्यामर्जुनयोर्मध्ये गच्छन् रिङ्गन् तावदर्जुनौ कथमपातयत् ॥ ७ ॥ वन इति। रामेण सहितो बालकैश्च वृतो वत्सान् वने सम्यक् चारयन् जिघांसुं बकासुर-मरिं मुखे भुजाभ्यां कथमपाटयद्विदारितवान् ॥ ८ ॥ वत्सेष्विति। हन्तुमिच्छया वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविष्टं वत्सासुरं हत्वा लीलया न्यपातयत् तेन पातितेन दैत्यदेहेन कपित्थानि च न्यपातयत् ॥ ९ ॥ हत्वेति। बलदेवेन सहितो रासभासुरं तद्बन्धूंश्च हत्वा परि-पक्वैः फलैरन्वितं तालवनं क्षेमं चक्रे सर्वैः प्रवेष्टुं क्षेमं चक्रं इत्यर्थः ॥ १० ॥ प्रलम्बमिति। बलशालिनाबलदेवेन उग्रं प्रलम्बमसुरं घातयित्वा स्वयं व्रजपशून् गोपांश्च दवाग्नेरमोचयत् ॥ ११ ॥ आशीविषेत्यादि। आशीविषतम अतिक्रूरविषः स चासावहीन्द्रश्च तं बलाद्दमित्वा विगतमदं ह्रदादुद्वास्य निष्कास्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

चरणावुदक् ऊर्ध्वं हिन्वतः उत्क्षिपतः मास्यस्य मासमात्रवयस्कस्य प्रपदेन पादाग्रेण हतं पीडितम् ॥ ५ ॥ एक एव हायनो वर्षं वत्सरो यस्य स तथा तृणावर्त्तमहन्निति यत्कर्म तदपि ॥ ६ ॥ हैयङ्गत्वं हैयङ्गवीनं सद्यो दधिमन्थने जातं नवनीतं तस्य स्तैन्ये चौर्ये सति बाहुभ्यां गच्छन्निति सम्बन्धः ॥ ७ ॥ मुखतः मुखे ग्रहीत्वेति शेषः। अपाटयत् व्यदारयत् ॥ ८ ॥ तेन दैत्येन कपित्थानि कपित्थबीजानि फले लुक् ॥ ९ ॥ क्षेमं प्राप्तरक्षम् ॥ १०-११ ॥ दमित्वा निगृह्य उद्वास्य उच्चाटयित्वा ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

बाहुभ्यां गच्छन्निति उलूखलाकर्षणाय अरिं शत्रुत्वेनास दाग्रहपरमपि ॥ ७-१२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अनसोऽधः शयानस्य मास्यस्य मासत्रयवयसः मासाद्वयसियत्‌ खत्रविति यत् चरणौ उदक् ऊर्द्ध्वं हिन्वतः चालयतः यस्य प्रपदेन पादाग्रेणाहतं अनः शकटं विपर्यस्तं सन् कथम् पतत् ॥५॥ यो दैत्येन ह्रियमाणः सन् तं तृणावर्तं दैत्यं कथमहन् ॥६॥ हैयङ्गवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये वाहुभ्यां गच्छन् रिङ्गन्नित्यर्थः ॥ ७ ॥ दोर्भ्यां धृत्वा मुखतः मुखमारभ्य कथमपाटयत् ॥ ८–९ ॥ रासभदैतेयं धेनुकं बलान्वित इति तत्रापि कृष्णस्य प्राधान्यं विवक्षितम् ॥ १०–११ ॥ आशीविषतमोऽतिक्रूरविषश्वासावहीन्द्रश्चेति विमदं यथास्यात्तथा दमित्वा ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अधः अनस इति शेषः "त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्तः" इति वचनान्मास्यस्य मासास्त्रयः प्रादुर्भावावधिभूताः यस्य तस्य उदगूर्ध्वं चरणौ हिन्वतः चालयतः प्रपदेन पादाग्रेणाहतं विपर्यस्तम् अनः अपतत् ॥ ५–६ ॥ हैयङ्गवस्य नवनीतस्य स्तैन्ये चौर्ये ॥ ७–११ ॥ आशीविषतमः अतितीव्रविषश्वासावहीन्द्रश्च तम् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

मासस्य मास्येषु चतुर्षु भवो मास्यः । यथोक्तमाचार्यैः । यदाप देवश्चतुरोऽथ मासांस्तदोपनिष्क्रामणमस्य चासीदिति । अधः शयानस्योदगूर्ध्वं चरणौ हिन्यत उत्क्षिपतौ रुदतः प्रपदेन पादाग्रेण हतमनो विपर्यस्तं सदपतत् ॥ ५ ॥ एको हायनः शरद्यस्य स यो बालो दैत्येन विहायसा ह्रियमाणः कण्ठग्रहातुरं कण्ठग्रहेणैवातुरस्तं तृणावर्तमप्रहतवानिति यत्तदपि प्रोचुः ॥ ६ ॥ हैय्यङ्गवं नवनीतं गतं । तस्य स्तैन्ये चौर्ये मात्रोलूखले बद्धो वाहुभ्यामवाहुभ्यां पादाभ्यां च रिङ्गणसमये चतुर्णामुपयोगादिति केचित् । यत्किञ्चिदेतत् । अघृष्टजानुभिः पद्भिरिति पूर्वमुक्तेर्मात्रा वाहुभ्यामुलूखले बद्ध इत्यन्वयः । यद्वा वाहुभ्यां पदभिन्नाभ्यामङ्गुलवत्त्वेन तत्सदृशाभ्यां गच्छंस्तावर्जुनावपातयत् ॥ ७ ॥ अरिं बकमित्यन्वयः ॥ ८ ॥ वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं वत्सासुरं हत्वा तेन तद्दैत्यकायेनेव लीलयेव कपित्थानि तत्फलानि । फले लुक् । न्यपातयत् ॥ ९ ॥ बलान्वितो बलरामसहितो बलवांश्च परिपक्वफलोचितं तालवनं क्षेमं । क्षेममस्यास्तीत्यर्शआद्यचि । वनमवनवच्चक्रे । फले लुगिति लुक् ॥ १० ॥ बलेनान्तर्वर्तिशुक्लबालबलेन शालत इति स तथा तेन बलेन प्रलम्बं घातयित्वा व्रजपशूनमोचयन्मोचयामास । गोपांश्चारण्यवर्तिनो वनानलात् । ल्यब्लोपनिमित्तेयं पञ्चमी । अरण्यवह्निमापीयामोचयत्तस्मादमोचयदिति वा ॥ ११ ॥ विमदं ह्रदात्प्रसह्योद्धास्य निष्कास्य निर्विषोदकां यमुनामसो चकार चक्रे ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्चाधः शयानस्य हिन्वतश्चरणौ चालयतो "हिम् चलन" इति, मास्यस्य मासत्रयपरिमितस्य सङ्ख्यानुक्तिर्वर्षाभावार्था नाद्यापि वपः परिच्छेदको नाप्ययनं किन्तु मासा एव परिच्छेदका अत एव चरणावुद् ऊर्ध्वं हिन्वतः सतः, ननु तदर्थं हिन्वतः, तथापि विपर्यस्तं सदनः शकटमपतत्, पादचालने निमित्तमाहू रुदत इति, अथेनाशक्तिर्दृढीकृता, तत्रापि प्रपदेन पादाग्रेण, आ ईषद्धतं सत् विपर्यस्तं विपरीतं सदपतत् साधनाल्पत्वं कायमहत्त्वं चोक्तम् ॥५॥ क्रमेण भगवच्चरित्रं वदन्तस्तृणावर्तवधमाहुरेकहायन इति, अयमेकहायन एकवार्षिक आसीन उपविष्टो न तु चलितुं समर्थस्तादृशापि दैत्येन विहायसा नीतो निरालम्ब एवाकाशे तमहन् मारितवान्, तत्रापि न युद्धं किन्तु कण्ठग्रहेणैव, यदैव कण्ठे गृहीतस्तदैवातुरो जातः मातुः प्रदर्शनादिकमप्रसिद्धमिति न तद्वर्णनम् ॥ ६ ॥ ततः क्रमाज् जातं यमलार्जुनभङ्गमाहुः क्वचिदिति, हैयङ्गवस्य स्तैन्ये निमित्ते शिक्षार्थं मात्रोलूखले योजितस्तादृशोप्यर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां गच्छन् पश्चादुलूखलस्य भारत्वात् पादद्वयेन सहोलूखलस्याकर्षणमेव गमनं तु बाहुभ्यामेव, बाहुभ्यां वापातयत् यथादृष्टवचना हि ते तेषामेतदेवाश्चर्यमुभयोः पातनमुभाभ्यामिति ॥ ७ ॥ ततो वृन्दावने बलभद्रसहितो वत्सांश्चारयन् बालकैर्वृतो विशेषसामर्थ्यमप्रकाशयन्नपि हन्तुकामं बकमरिं शत्रुभूतं, न तु प्रासङ्गिकं, मुखत एवापाटयत्, एतत् सर्वजनीनं, बालानां पलायनमप्यशक्यं, स तु विपाटितवानेव, वत्सबकयोर्व्यत्यासेन कथनमनवधानात् क्रमाग्रहणात्, नाप्येतेषां क्रमे तात्पर्यं, बाहुभ्यां पातनं बाहुभ्यामुत्पाटनमिति बाह्वोः सामर्थ्यकथनार्थं, यमलार्जुनयोर्भङ्गकथनेनानन्तरं बकनिरूपणमतः पश्चात् ॥ ८ ॥ एकहस्तसाध्यं वत्सासुरवधमाहुर्वत्सेष्विति, वत्सरूपेण जिघांसया वत्सेषु प्रविशन्तं तदानीमेव ज्ञात्वा मारयितुमागतः इति, प्रथमत एव तं परिभ्रामणेन हत्वा तेन कपित्थानि न्यपातयत्, चकारात् तमपि वृक्षशाखां वा, महाबलकायं तत्, तादृशमपि लीलया कृतवान् ॥ ९ ॥ ततो धेनुकवधमाहुर्हत्वा रासभदैतेयमिति, बहवो धेनुकसदृशा हता इति "प्रधानेन व्यपदेश भवन्ती"तिन्यायेन बलभद्रेण सहभावमात्रं वस्तुतो भगवतव हत इति हत्वा रासभदैतेयमित्युक्तं, रासभो भूत्वा दैतेयो धेनुकस्तद्बन्धवोपि रासभास्तानपि हत्वा बलभद्रसहितस्तालवनं क्षेमं चक्र, यो हि तत्र गच्छति स क्षेमं न प्राप्नोतीति, फलं तु स्वभावत एव प्राप्नोतीत्याह परिपक्वफलान्वितमिति परिपक्वैः फलैरन्वितम् ॥ १० ॥ एवं धेनुकवधोपि लोकानां हितार्थमेव न

त्वहितार्थं, मारणक्रमाद् धेनुकवधानन्तरं प्रलम्बवधो निरूप्यते, मध्ये जातं कालीयदमनमग्रे वक्ष्यन्ति, उग्रमपि प्रलम्बं बलभद्रेण घातयित्वा बलभद्रे घातकशक्तिं दत्वा, स्वस्य मारकत्वे प्रयोजनाभावात्, व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्नितोमोचयद् दावानलान् मोचितवान् ॥ ११ ॥ वह्निसाम्याद् विषाग्निमपि निरूपयन्त्याशीविषमिति, आशी नाम विषदंष्ट्रा तत्र विषं यस्य स्वाभाविकविषा-दधिकविषयुक्तो ह्नीन्द्रः सर्पश्रेष्ठस्तं प्रसिद्धं कालियमन्यैः स्मर्तुमपि भीयते तादृशं ह्रदाद् ह्रदं प्राप्य ह्रदमध्ये दमित्वा प्रसह्य बलाद् ह्रदादुद्वास्य दूरीकृत्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे, अनेन यद् गरुडस्यासाध्यं यमादीनां देवानामपि, अन्यथा गरुडः शत्रुं मारयेद् यमुनां वा यमादिः शुद्धां कुर्यात्, दमनं च सुतरामशक्यं निर्विषकरणं च ॥ १२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

त्रयोविंशे हत्वेत्यत्र बहव इति एतद्वधस्य बलदेवकृतस्य भगवत्कृतत्वकथने एतेषामावेशाज्ञानान् न्यायान्तरमाहुः प्रधानेनेति, सैनिककृतं राजकृतमेवेतिभावः, तत्सदृशा बहवो अनेन मारिता इति प्राधान्ये हेतुः ॥ १० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

दमित्वा विमदं ह्रदादित्यस्य विवृतौ ह्रदं प्राप्येति ह्रदादिति ल्यब्लोपे पञ्चमीतिभावः ॥ १२ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

शकटस्याधः शयानस्य मास्यस्य मासास्त्रयः परिच्छेदका यस्य तस्यासमर्थस्य, अत एव रुदतः उदक् ऊर्ध्वं चरणौ हिन्वतः प्रक्षिपतः प्रपदा पादाग्रेण हतम्, अत एव विपर्यस्तं सत् अनः शकटं कथमपतदित्यन्वयः ॥ ५ ॥ य एकहायनः एकवार्षिकः, अत एव आसीनः उपविष्टः चलनेऽप्यसमर्थः, अत एव दैत्येन तृणावर्तेन विहायसा आकाशमार्गेण ह्रियमाणः स कथं तं तृणावर्तं कण्ठग्रहणेनातुरं विवशं कृत्वा अहन्नित्यन्वयः ॥ ६ ॥ कचित् कदाचित् हैयङ्गवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये सति क्रुद्धया मात्रा उलूखले बद्धो बाहुभ्यामर्जुनयोर्मध्ये गच्छन् रिङ्गन् तावर्जुनौ कथमपातयत्? ॥ ७ ॥ रामेण सहितो बालकैश्च वृतो वने वत्सान् सञ्चारयन् आत्मानं हन्तुकामम्, अत एव अरिं शत्रुं बकं बकवेषमसुरं दोर्भ्यां भुजाभ्यां मुखतो मुखं चञ्चुं गृहीत्वा कथमपाटयत् विदारितवान्? ॥ ८ ॥ जिघांसया हन्तुमिच्छया वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविशन्तं प्रविष्टं वत्सासुरं लीलया भ्रामणरूपया हत्वा तेन मृतदैत्यशरीरेण कपित्थानि न्यपातयत् ॥ ९ ॥ बलदेवेनान्वितः सहितः रासभदैतेयं धेनुकासुरं तद्बन्धूंश्च हत्वा परिपक्वैः फलैरन्वितं तालवनं क्षेमं निर्भयत्वेन सर्वैः प्रवेष्टुं योग्यं चक्रे ॥ १० ॥ उग्रमतिभयङ्करं प्रलम्बं बलेन घातयित्वा स्वयं व्रजपशून् गोपांश्च आरण्यवह्नितः अमोचयत्। अत्र यद्यपि धेनुकप्रलम्बयोर्वधो बलेनैव कृतस्तथापि सर्वत्र कृष्णप्रभावस्य दृष्टत्वात्तस्यैव मुख्यता। 'तर्हि बलेनैव कथमघातयत्?' तत्राह—बलशालिनेति ॥ ११ ॥ आशीविषतमः अतिक्रूरविषश्चासावहीन्द्रश्च तं प्रसह्य बलात् दमित्वा ततो विगतमदं तं ह्रदादुद्वास्य निष्कास्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

हिन्वत इति ॥ शकटस्याधःशयानस्य मास्यस्य मासान् भूतो मास्यः त्रिमासवयस्कः। "तमधीष्ट" इत्यधिकारे "मासाद्वयसि यत्खञौ" इति यत्। त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्त इति प्रागुक्तेः। तस्यासमर्थस्य अत एव रुदतः उदक् ऊर्ध्वं चरणौ हिन्वतः प्रक्षिपतः प्रपदेन पादाग्रेण आहतमत एव विपर्यस्तं सत् अनः शकटमपतत्। एकेति ॥ यः एकहायनः एकवार्षिकः अत एव आसीनः उपविष्टः चलनेऽप्यसमर्थः अत एव दैत्येन तृणावर्तेन विहायसा आकाशमार्गेण ह्रियमाणः तृणावर्तं कण्ठग्रहणेनातुरं कृत्वा अहन् ॥ ५-६ ॥ क्वचिदिति ॥ क्वचित् कदाचित् हैयङ्गवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये सति क्रुद्धया मात्रा उलूखले बद्धो बाहुभ्यामर्जुनयोर्मध्ये गच्छन् रिङ्गन् तावर्जुनौ अपातयत् ॥ ७ ॥ वन इति ॥ रामेण सहितो बालकैश्च वृतो वने वत्सान् संचारयन् आत्मानं हन्तुकाममत एवारिं शत्रुं बकं बकवेषमसुरं दोर्भ्यां भुजाभ्यां मुखतो मुखं चञ्चुं प्रगृह्यापाटयत् विदारितवान्, ॥८॥ वत्सेष्विति ॥ जिघांसया हन्तुमिच्छया वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविशन्तं प्रविष्टं वत्सासुरं लीलया भ्रामणरूपया हत्वा तेन मृतदैत्यशरीरेण कपित्थानि न्यपातयत् ॥ ९ ॥ हत्वेति ॥ बलदेवद्वारा रासभदैतेयं धेनुकं हत्वा घातयित्वा। अन्तर्भावितण्यर्थो णिनिः। बलदेवेनान्वितः तस्य धेनुकासुरस्य बन्धूंश्च हत्वा परिपक्वैः फलैरन्वितं तालवनं क्षेमं निर्भयत्वेन सर्वैः प्रवेष्टुं योग्यं चक्रे ॥ १० ॥ प्रलम्बमिति ॥ उग्रमतिभयङ्करं प्रलम्बं बलशालिना बलेन घातयित्वा स्वयं व्रजपशून् गोपांश्च आरण्यवह्नितः अमोचयत् ॥ ११ ॥ आशीविषेति ॥ असौ आशीविषतमः अतिक्रूरविषश्चासावहीन्द्रश्च तं प्रसह्य बलात् दमित्वा ततो विगतमदं तं ह्रदादुद्वास्य निष्कास्य यमुनां निर्विषोदकां चक्रे ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

शकटस्य अधःशयानस्य उदक् ऊर्ध्वं चरणौ हिन्वतः क्षिपतः त्रीन् मासान् भूतः प्राप्तो मास्यस्तस्य मास्यस्य त्रैमासिकस्येत्यर्थः। त्रैमासिकस्य च पदाशकटोऽपवृत इति द्वितीयस्कंधोक्तेः मासश्च मासश्च मासश्चेति कृतैकशेषान्मास शब्दात्तमधीष्ट इत्यधिकारे

मासाद्वयसि यत्खल्वावित्ति प्राप्त्यार्थं यत् एवंभूतय वालस्य प्रपदेन पादतलेन आहतं अनःशकटं विपर्यस्तं विपरीतं अपतत् ॥ ५ ॥ भूमौ आसीनः विहायसा आकाशमार्गेण कृत्वाकंठग्रहणेन आतुरं व्याकुलं अहन् जघान ॥ ६ ॥ हैयंगवं नवनीतं तस्यस्तैन्ये चौर्यं गच्छन् रिंगन् ॥ ७ ॥ अरिं शत्रुं मुखतो मुखे गृहीत्वा विदारयामास ॥ ८ ॥ तेन वत्सासुरेण कृत्वा ॥ ९ ॥ वलान्वित इत्यनेन रामेण धेनुकं घातयित्वात दान्वितः स्वयं तद्वंधून् हत्वा क्षेमं सुखोपभोग्यम् ॥ १० ॥ अरण्यवह्नितो दावानलात् ॥ ११ ॥ आशिषि दंष्ट्रायां अतिशयितं विषं यस्य तथाभूतश्चासौ अहींद्रश्च तं दमित्वा ततो विपदंतं प्रसह्य हठेन उद्वास्य निष्कास्य ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

हिन्वत इति ॥ अधःशयानस्य शकटस्याधः पर्यङ्किकायां सुप्तस्य, रुदतः वालस्य, मास्यस्येति पाठे मासास्त्रयो मासाः परिच्छेदका यस्य तस्येत्यर्थः । 'त्रैमासिकस्य च पदा शकटोऽपवृत्त' इति द्वितीये प्रागुक्तः । उद्गूर्ध्वं, चरणौ हिन्वतश्चालयतोऽस्य कृष्णस्य, प्रपदं पादाग्रं तेनाहतं, अनः शकटं, विपर्यस्तं सत्, कथं अपतत् । सर्वत्र कथं शब्दोऽनुवर्त्तनीयः ॥ ५ ॥ एकेति ॥ यः श्रीकृष्णः, एकेति ॥ यः श्रीकृष्णः एकहायन एकाब्दवयस्कः, आसीनो भुवि निषण्णः, दैत्येन तृणावर्त्तासुरेण, विहायसाऽऽकाशमार्गेण, ह्रियमाणः नीयमानः सन्, कण्ठे ग्रहो ग्रहण तेनातुरं संपीडितं तृणावर्त्तं, कथं अहन् हतवानित्यर्थः ॥ ६ ॥ क्वचिदिति क्वचित्कदाचित्, हैयंगवस्तैन्ये नवनीतचौर्ये सति, मात्रा क्रुद्धया जनन्या यशोदयेति यावत् । उलूखले बद्धः सन्, अर्जुनयोः ककुभतर्वोः । मध्ये गच्छन् संश्च, तावर्जुनौ, बाहुभ्यां कथं अपातयत् ॥ ७ ॥ वन इति ॥ सरामो रामेण सहितः, वालकैश्च, वृतः कृष्णः, वत्सान् वने सम्यक् चारयन् सन्, हन्तुकामं जिघांसु, वकं वकासुरं, अरिं स्वशत्रुं, मुखतः मुखे दोर्भ्यां बाहुभ्यां, कथं अपाटयत् विदारितवान् ॥ ८ ॥ वत्सेति ॥ जिघांसया हन्तुमिच्छया, वत्सरूपेण वत्सेषु प्रविष्टं वत्सासुरं, लीलया हत्वा न्यसु कृत्वा तेन स्वहतदैत्यदेहेन, कपित्थानि दन्तशठतरुफलानि चापि, न्यपातयत् ॥ ९ ॥ हत्वेति ॥ वलान्वितो वलदेवेन सहितः कृष्णः, रासभदैतेयं रासभाकृतिं धेनुकासुरं तद्वन्धूंश्च हत्वा, परिपक्वफलान्वितं परिपक्वैः फलैरन्वितं, तालवनं तृणराजारण्यं, क्षेमं चक्रे सर्वेषां प्रवेशाह चक्रे इत्यर्थः ॥ १० ॥ प्रलम्बमिति ॥ वलशालिना वलातिशयसंशोभमानेन, वलेन वलभद्रेण, उग्र प्रलम्बमसुरं घातयित्वा, स्वयं व्रजपशून् गापांश्च, अरण्यवह्नितो दवानलात्, अमोचयत् ॥ ११ ॥ आशीति ॥ आशीविषतमाऽतिक्रूरविषश्चासावहीन्द्रः कालियश्च तं, प्रसह्य वलात्, दमित्वा, ततः विमद विगतमदं कृत्वा; ह्रदात् उद्वास्य निष्कास्य, असौ कृष्णः, यमुनां निर्विषोदकां, चक्रे ॥ १२ ॥

कृष्णप्रिया

हे नन्दवावा ! यह वाल मुकुन्द जव तीन ही मास के थे, तव एक छकड़े के नीचे सोते समय उसने रुदन करते करते अपने दोनों चरण उपर उछाले तव इनकें सुकोमल प्रपदों के स्पर्श मात्र से भारी छकड़ा उलटकर गिर पडा ॥ ५ ॥ महाराज ! अव आगे सुनिए—यह वालक जव पूरे एक वर्ष का था और माता की गोद से नीचे वैठा था तव तृणावर्त दैत्य ववंडर के स्वरूप में इसको उठाकर नभोदरों में ले उड़ा । परंतु महाराज ! मार्ग में ही इस वाल मुकुन्दने अपने दोनों हाथों से तृणावर्त का गला घोट डाला तव व्यथित होकर वह दैत्य मर गया ॥ ६ ॥ हे नन्दवावा ! नये वर्ष के नये प्रथम दिन जव अम्मा यशोदा जी ने माखन चुराने के अपराध के वहाने वाल लालन को ओखली से वांध लिया, तव घुटनों के वल वकैयाँ खीचते खीचते वड़े वड़े यमलार्जुन तरुओं के वोच जाकर उन्हें गिरा दिया ॥ ७ ॥ हे महाराज ! यह श्रीनन्दनन्दन, वलदाउ भैया और ग्वाल वालों के साथ जव वनमें वछड़े चरा रहे थे तव श्रीकृष्ण को मारने की इच्छा से कोई एक दैत्य वक के स्वरूप में आया और कृष्णको निगलने लगा । उस अवसर उसके गले से वाहर निकल कर उनके दोनों डोर दो चोचको दोनों हस्तों से पकड़ कर तिनके की भांति चीर डाला ॥ ८ ॥ हे नन्दराय ! एक दिन एक दैत्य श्रीनन्द लाल को मारनी की इच्छा से 'वछड़े' का रूप लेकर वछड़ों के भीतर घुस गया था, तव श्रीकृष्णने वत्सासुर को जान लिया । पुनः श्रीकृष्ण खेलते ही खेलते उसके समीप पहुँच गए और उसके पिछले पाँव पकड़ कर उठाकर घुमाकर कैथों वृक्षों पर फेंक दिया, उसी क्षण वह वत्सासुर मर गया और कैथ के अनेक फल पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ९ ॥ एक दिन वन में गधे का रूप को धारण कर आये हुए धेनुकासुर दैत्य और उसके जाति वन्धुओं को श्री वलभद्रजी के माध्यम से मारकर, परिपक्व फलों से परिपूर्ण तालपेड़ों को गिराकर नित्यके लिये तालवन को सर्वोपयोगी एव मङ्गलमय वनाया ॥ १० ॥ महाराज ! प्रलम्वासुर वलशाली दैत्य था श्रीकृष्ण ने वलवीर वलभद्रजी के द्वारा क्रूर प्रलम्वासुरका वध करवा कर उस वन में प्रज्वलित आग से व्रज के पशुओं, गौओं और ग्वालवालकों को वचा लिया ॥ ११ ॥ उस वालक कृष्णने अतिशय उग्र विषवाले कालीय नाग का दमन कर, मदमुक्त वनाकर अपने अधीन वनाया और उस कालिय को वलपूर्वक कालीय दह से निकाल दिया । पुनः श्रीकृष्ण ने श्रीयमुनाजी के जल को निर्विष वनाकर सवं के पीने योग्य वनाया ॥ १२ ॥

दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् । नन्द ते [1]तनयेऽस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥ १३ ॥
क सप्तहायनो बालः क महाद्रिविधारणम् । ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे ॥ १४ ॥

[2]नन्द उवाच

श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्का च वोऽर्भके । एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥ १५ ॥
वर्णास्त्रयः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः । शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १६ ॥
प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः । वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १७ ॥
बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते । गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥ १८ ॥
एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः । अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १९ ॥
पुरामेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः । अराजके रक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे नन्द ! सर्वेषाम् नः व्रजौकसाम् ते तनये दुस्त्यजः अनुरागः कथम् तस्य अपि अस्मासु औत्पत्तिकः अनुरागः कथम् ॥ १३ ॥ सप्तहायनः बालः क ? च महाद्रिविधारणम् क ? हे व्रजनाथ ! ततः नः तव आत्मजे शङ्का जायते ॥१४॥ हे गोपाः ! एनम् कुमारम् उद्दिश्य गर्गः मे यद् उवाच ह तत् वचः श्रूयताम् तेन मे अर्भके शङ्कावचः व्येतु ॥ १५ ॥ अनुयुगम् तनूः गृह्णतः अस्य किल शुक्लः रक्तः तथा पीतः इति त्रयः वर्णाः आसन् इदानीम् कृष्णताम् गतः ॥ १६ ॥ तव अयम् आत्मजः प्राक् वसुदेवस्य क्वचित् जातः, इति अभिज्ञाः श्रीमान् वासुदेवः इति अभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १७ ॥ गुण कर्म अनुरूपाणि ते नामानि च रूपाणि बहूनि सन्ति अहम् तानि वेद नः जनाः ॥ १८ ॥ गोपगोकुलनन्दनः ! एष वः आधास्यत् अनेन यूयम् सर्वदुर्गाणि अञ्जः तरिष्यथ ॥ १९ ॥ हे व्रजपते ! पुरा अराजके अरक्ष्यमाणाः प्रजाः च दस्युपीडिताः साधवः अनेन समेधिताः दस्यून् जिग्युः ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

औत्पत्तिकः स्वाभाविकः । कथमिति । किं सर्वेषामात्माऽयं स्यादिति शंका ॥ १३ ॥ उक्तमप्यतिविस्मयेनाभिनयेन वदंति । सप्तहायन इति ॥ १४ ॥ प्राक्छ्रुतमेव गर्गाचार्यवाक्यं तच्चरितपरिशीलनेन निवृत्तासंभावनस्य नंदस्य कृष्णतत्त्वावबोधकं जातं स इदानीं तेनैव वाक्येन गोपानुपदिशति । श्रूयतामिति ॥ १५-२१ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अनुरागः हृदयंगमः स्नेहः । अस्मिन् तवात्मजे । तस्य तव तनयस्यापि । किमिति वितर्के । आत्मवत्प्रियत्वादात्मावं सर्वेषामित्यर्थः ॥ १३ । उक्तम् अर्थम । अभिनयः प्रदर्शनम् । ततः महाद्रिधारणातः ॥ १४ ॥ तस्य कृष्णस्य चरितस्य परिशीलनेन विलोकनेन विवृत्ता संभावना अयमुक्तसदृशो भविष्यति न वेत्येवरूपः सशयो यस्य तस्य । तत्त्वावबोधकम् याथार्थ्यप्रकाशम् । स नंदः । तेनैव गर्गोक्तेनैव । व्येतु व्यपगता भवतु । वः युष्माकम् । अर्भके बाले । एनमित्यन्वादेशत्वादिदम एनादेशः । इति प्रसक्तकथां प्रत्यंतरंगत्वेन कथांतरारंभसूचनाय "प्रत्यारंभे प्रसिद्धौ ह हा विपादशुगार्त्तिषु" इति यादवः ॥ १५ ॥ पूर्वोक्तमेव स्मारयंति । वर्णाः शुक्लाद्याः ॥ १६-२१ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

किञ्च, दुस्त्यजश्चेति । ते तनये तवैव तनयोऽयं नास्माकमिति विचारितेऽपि त्यक्तुमशक्यः स्वाभाविक इत्यर्थः । तत्रापि सर्वेषाम् अहो भवतु वा सर्वाकृतिप्रकृतिसुन्दरे सर्वचित्ताकर्षकेऽनन्यगतीनामस्माकमनुरागो दुस्त्यजः तस्याप्यस्मास्वयोग्येष्वपि औत्पत्तिकः जन्मदिनमेवारभ्य दृष्टः स्वाभाविक एवेत्यर्थः । अत्रास्मिन्निति तत्तद्वैलक्ष्यण्येन सम्प्रति प्रस्तूयमान इत्यर्थः । अन्यत्तैः तत्र किमित्याद्युत्प्रेक्षायां मिथोदेहदेहिनार्यथा तद्वदित्यर्थः ॥१३॥ क्वेति अयमर्थः सप्तहायनत्वेन जन्मवृद्ध्यादयस्तदवस्था गृहीताः ताभिश्च बालत्वं निश्चितं तच्चात्यन्तं बालान्तरेषु व्याप्तिदर्शनात् तथा महाद्रिविधारणेन पूतनादिवधहेतुप्रभावत्वं स्वाभाविकप्रभ-विषयाश्रयत्व च गृहीतं ताभ्यां बालादन्यत्वं तदन्यत्वेऽपि देवादित्वं तत्रापि परमविलक्षणत्व निश्चितं बालान्तरादौ तत्तददर्शनात्

---

१. ऽह्यस्मिन्–प्रा. पा. । २. नन्दगोप–प्रा. पा. ।

तदेवं सप्तेत्यादित्वे वालादन्यत्वं न सम्भवति महाद्रीत्यादित्वे च वालत्वं च न सम्भवतीत्यर्थः। ततस्तस्मादेकस्मिन् मिथो विरोधिधर्म्मद्वयात् शङ्काविप्रतिपत्तिजः संशयः वालोऽयं वालादन्यः परमविलक्षदेवादिर्वेति ॥ १४ ॥ निजाशेषभगवत्ताप्रकटनार्थम् अवतीर्णोऽयं साक्षात् श्रीभगवानेवेति व्यक्तमुक्ते कदाचिदैश्वर्यज्ञानेन भयगौरवादिना स्नेहभरहानिः स्यादिति शङ्कया श्रीगर्गेण साक्षात् परमैश्वर्य्यमनुक्त्वा व्यपदेशेनैव तद्व्यञ्जयता यान्यक्षराण्युक्तानि तैरेव ईदृश स्वाभाविकगुणवालकता प्रतिपादकतयाऽवधारितैर्गोपान् प्रबोधयन्नाह—श्रूयतामिति। मे मम गर्गद्वारा श्रुतैतत्प्रभावस्य वचः वः शङ्का व्येतु श्रूयतां अर्भक इति स्वस्य वालत्वेनैव निश्चयं वोधयति यद्वा, वो युष्माकं योऽर्भकस्तस्मिन्निति ममैव युष्माकमप्यय वालक इति स्नेहविशेषमेव वर्द्धयति एनं भवतां परमानुरागविषयं परोक्षेऽप्यपरोक्षवदुक्तिः सदा तस्य साक्षादिव हृदि स्फूर्त्तेः मे मम कुमारं पुत्रमिति पूर्ववत् पुनः पुनस्तथैवोक्तिरतिनिश्चयाय यद्वा, मे माम् एकाकिनं यद्वचः व्यक्तमेव न च सङ्केतादि नेत्यर्थः—यद्वा ह हर्षे ॥ १५ ॥ गर्गोक्तिमेवाह—वर्णा इत्यादिना—न विस्मय इत्यन्तेन अत्र प्राचीनप्रकटार्थोऽनुसन्धेयः। किञ्चात्र "तस्मान्नन्द ! कुमारोयम्" इति प्रथमश्चरणः "तत्कर्मसु न विस्मयः" इति चतुर्थः गर्गवाक्ये तु "तस्मान्नन्दात्मजोऽयं ते" इति प्रथमः "गोपायस्व समाहितः" इति चतुर्थः। इत्यद्धा मां समादिश्येति वक्ष्यमाणात् श्रीनन्दवाक्यात् तद्वाक्यमेवानेनानुदितमिति लभ्यते तस्माद्विनयार्थं स्वपुत्रे सर्वेषां स्वसाधारण्येन ममताया गोपायित्वतायाश्च व्यञ्जनार्थमेव च किञ्चिदन्यथा विधायानूदितमपि श्लेषेण यथार्थतया सम्पाद्यते स्म ॥ १६-२१ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवमन्योन्यमुक्त्वा अधुना ईश्वर एवायमिति चेत्तथाप्यैश्वर्य्येण प्रीतभक्तिरेव वर्द्धते, स्वाभाविकनिरन्तरानुरागश्च भयगौरवादिसंकोचेन सम्भवेदेवेति स्नेहविशेषं प्रतिपादयन्तः परमस्निग्धं तत्पितरं सम्बोध्याहुः—दुस्त्यजश्चेति। ऐश्वर्य्ये साक्षादनुभूतेऽपि त्यक्तुमशक्यः, यत औत्पत्तिकः, अग्न्यादेरौष्ण्यादिवत् स्वाभाविकत्वादित्यर्थः, इत्यापद्रक्षणादिनोपाधिना शंकमानोऽनुरागो निरस्तः। तत्रापि सर्व्वेषां वालादिवृद्धपर्य्यन्तानां 'नः' इति तत्रासन्देहार्थं स्वानुभवमभिव्यञ्जयन्ति—अहो भवतु वा सर्व्वथा आकृतिप्रकृतिसुन्दरे सर्व्वचित्ताकर्षकेऽनन्यगतीनामस्माकमनुरागो दुरस्यजः, तस्याप्यस्मासु निकृष्टेषु सेवकेष्वपराधादावपि स दुस्त्यजः कथम् ? अतो नायमवतारी श्रीनारायणः, न च तदवतारः कश्चिदपि भवेत्, किन्तु मधुरैश्वर्य्यविशेषसम्वलितविचित्रवाल्यविशेषेणानेन सर्वतो विलक्षणो दुर्वितर्क्यमाहात्म्यार्णवः कोऽपि पुरुषोत्तमो भविष्यतीति भावः। सिद्धान्तश्चायम्—एक एवावतारी अवतारश्च तथाशेषपरमैश्वर्य्ययुक्तालौकिकवाल्यलीलामयश्चेत्येवं विविधविरोधप्रवाहविलयार्णवपयः परमानिर्वचनीयः श्रीभगवद्विशेषोऽयं स्यादिति। हे नन्द ! तव तनय इत्यहो भाग्यमहिमा तवेति, तत्र च नन्दति सदा हृष्यतीति नन्दस्तथा सम्बोधनम्, ईदृशेन पुत्रेण तव सदानन्दतया नाम्नोऽप्यन्वर्थत्वमेवेति भावः ॥ १३ ॥ अहो लौकिकवाल्यमेव परमैश्वर्य्यसम्वलितमस्माभिरधुना साक्षादेवानुभूतमिति विस्मयं वदन्तः, ततश्च लौकिकवाल्यलीलापरमैश्वर्य्ययोरन्योन्यविरोधेन निजसन्देहोत्पत्तिमाहुः—क्वेति सप्तहायन इत्यनेन लौकिकत्वमेवाभिप्रेतम्, तच्च निजसहजभावानुरूपमेव, महाद्रेर्विशेषेण लीलादिना धारणमिति परमैश्वर्य्यमेव, एवं लौकिकवालस्य महाद्रिविधारणासम्भवात् महाद्रिविधारणे च लौकिकवाल्यासम्भवाद्विरोधो महानेवेत्यर्थः। ततस्तस्माद्वालस्य महाद्रिविधारणाद्धेतोर्नोऽस्माकं वालतया ईश्वरतया चाधुना प्रतीतेः, तयोरन्योन्यं विरुद्धत्वात् शंका आशंका संशय एव जायते, न च निश्चयो भवेदिति अवतारित्वेऽप्यवतारत्वमवतारत्वेऽप्यवतारित्वम्, तथा लौकिकत्वान्यभिचारेणैश्वर्य्यमैश्वर्य्याव्यभिचारेणैव लौकिकत्वमपीत्यन्योन्यं विरुद्धयोस्तयोः कथं सम्भवेदित्यादिविचारादिति सिद्धान्तः। यद्वा, ततस्तस्मात् प्राकट्यं प्राप्तादैश्वर्य्यादपि शका भयं तस्मिन् नो न जायते, इत्यनुरागस्य दुस्त्यजत्वमेव दर्शितम्। हे व्रजनाथेति त्वन्नाथत्वात् सर्वव्रजस्यापि महाभाग्यमिति भावः, यद्वा, सर्वेषां व्रजजनानामस्माकं नाथत्वेन त्वमेवास्माकमेतां शंकां परिहर्त्तुमर्हसीति भावः। यद्वा, प्रभुपुत्रत्वेन तस्मिन् शकाया योग्यतोक्ता, तथापि न जायत एवेत्यर्थः। किञ्च, वारं वारं तत्पुत्रत्वोक्त्या परश्वरत्वेन श्रीवसुदेवपुत्रत्वेन च तज्ज्ञानं तत्तच्छङ्कया असम्भवात्, तादृशानुरागासम्भवाच्च, यद्वा, ते तनय इति तवात्मज इति चानुरागस्य दुस्त्यजतायामेव हेतुः तथाप्यनुरागस्य निरूपाधिकत्वमेव वोद्धव्यम्, तस्यैव नित्यं तत्पुत्रैकलक्षणत्वात्, एवं रूपगुणादिविशेषेणोपाधिना तदनुरागेऽपि निरुपाधिकत्वमेव स्यात्, तस्यैवनित्यतत्तदेकलक्षणत्वादित्येतच्चाग्रे यथास्थानं विरताय्र्यम् ॥ १४ ॥ निजाशेषभगवत्ताप्रकटनार्थमवतीर्णोऽयं साक्षाच्छ्रीभगवानेवेति व्यक्तमुक्ते कदाचिदैश्वर्य्यज्ञानेन भयगौरवादिना स्नेहभरहानिः स्यादिति शंकया श्रीगर्गेण साक्षात् परमैश्वर्य्यमनुक्त्वा व्यपदेशेनैव तद्व्यञ्जयता यान्यक्षरान्युक्तानि, तैरेव परमाचिन्त्यकर्म्मलोकोत्तरमहापुरुषप्रतिपादकतयाऽवधारितैर्गोपान् प्रबोधयन्नाह - श्रूयतामिति। मे तत्त्वज्ञस्य वचः सर्वशंकानिरसनं परमानन्ददञ्च वाक्यं श्रूयताम् हे गोपा इति स्नेहभरव्याप्तचित्तत्वं वोधयति। वः शंका व्येतु क्षीयताम्। अर्भक इति सदैव स्नेहभराक्रान्तत्वात्, यद्वा, तत्त्वेऽपि स्नेहविशेषेण वालतयैव ज्ञानात्, यद्वा, वो युष्माकं योऽर्भकस्तास्मिन्निति ममैव युष्माकमप्ययं वालक इति स्नेहविशेषमेव द्रढयति। एनं भवतां परमानुरागविषयं परोक्षेऽप्यपरोक्षवदुक्तिः, सदा तस्य साक्षादिव हृदि स्फूर्त्तेः, यद्वा, वाल्यक्रीडादिना सर्व्वैरेव वालकत्वेनानुभूयमानं मे माम्, यद्वा, मे मम कुमारं पुत्रमिति पूर्ववत् पुनः पुनस्तथैवोक्तिः, सर्वेषु तस्य वालकभाव-

स्फूर्त्तेः, यद्वा, अतिबाल्यावस्थायां वर्त्तमानं नामकरणकाल इत्यर्थः। 'माम्' इति पाठे रहसि मां केवलमेवोवाचेत्यतो भवद्भिर्न ज्ञातमिति भावः, यद्वच, ह व्यक्तमेव, न च संकेतादिनेत्यर्थः, यद्वा, ह हर्षे ॥ १५ ॥ निजसत्यवाक्यत्वेन तेषां विश्वासार्थं वा श्रीगर्गोक्तिमेवाह—वर्णा इत्यादिना (२२ श० श्लो०) 'न विस्मयः' इत्यन्तेन, (भा० १०।८।१९) 'गोपाय सुसमाहितः' इति सर्वान्त्येनोक्तम्, तत्र माहात्म्यविशेषप्रतिपादनाभावात् विमेषतश्च गोपायस्वेत्यन्यरक्ष्यत्वेन माहात्म्यहान्यापत्तेश्च, गोपानामावे लाभे सुसमाहित इत्यर्थे तेषां कदाचिद्गर्वाद्युदयशंकया, तेन च जगद्धितानाचरणात् नारायणसमत्वासम्भावनाशंकया वा नोक्तमिति अत्युद्भुतत्वेन विस्मयो न कार्य इत्यर्थः। यद्यपि पूर्वं तैः श्रीगर्गवाक्यं ज्ञातमेवास्ते, वकवधानन्तरम् (भा० १०।११।५७) 'अहो ब्रह्मविदां वाचः' इत्यादिवचनात्, तथाप्यधुना तत्तदक्षरेण समप्रतयेति विशेषः ॥ १६ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

अञ्जः अञ्जसीः ॥ १९-२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

दुस्त्यज इति। हे नन्द ! ते तव तनयेस्मिन् कृष्णे नोऽस्माकं सर्वेषां व्रजौकसामनुरागः दुस्त्यजः कथं तस्यैवं विधाति-मानुषचेष्टिनस्य चास्मास्वौत्पत्तिकः जन्मसिद्धोनुरागः कथम् ? अतः सर्वशक्तिः सर्वेपामात्मा च किं तवात्मज इत्याशङ्कामाह इति भावः ॥ १३ ॥ अन्यथैतन्न घटत इत्याशङ्कामेवाविष्कुर्दन्ति–क्वेति। हे व्रजनाथ ! ततोऽद्रिधारणादेस्तवात्मजे शङ्का सर्वशक्ति-परमात्मशङ्का जायते ॥ १४ ॥ एवमापृष्टः प्राकृतश्रीकृष्णजातकात्मकगर्गवाक्यो नित्यं तच्चरित्रपरिशीलननिवृत्तेश्वरत्वासम्भावना नन्दस्तेनैव गर्गवाक्येन गोपानामाशङ्कामपनुदति हे गोपाः एनं कृष्णमुद्दिश्य गर्गो यदुवाच तच्छ्रूयतां तच्छ्रवणेनवारिन्नर्भके विषये भवतां शङ्का व्येतु निवर्त्यताम् ॥ १५ ॥ किं तद्गर्गोक्त येन शंका व्येतोत्यित्र तदेवाह–वर्ण इत्यादिभिः इत्यद्धा इत्यतः प्राक्तनैः इमे श्लोकाः पुरस्तादेव व्याख्याताः ॥ १६-२२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

अनुरागो हृदयङ्गमः स्नेहः औत्पत्तिकः उत्पत्तिसिद्धः कथम् ॥ १३ ॥ ततो नो जायते शङ्केत्यादिना न तद्वीर्यविद इति स्पष्टीकृतम् ॥ १४ ॥ व्येतु विगता भवतु वः युष्माकं प्रसक्तकथां प्रत्यन्तरङ्गत्वेन कथान्तरमारभ्यत इति सूचनाय हकारः "प्रत्या-रम्भप्रसिद्धौ ह हा विषादशुभार्त्तिपु" इति च ॥ १५ ॥ वर्णाः शुक्लाद्याः ॥ १६ ॥ कच्चिन्मथुराया वा वसुदेवस्य सकाशात् अभिज्ञाः वसुदेवस्यापत्यमिति तद्धितप्रत्ययज्ञानपटवः ॥ १७ ॥ न केवलमेतदेव नामरूपत्रयमेव अपि त्वन्यान्यपि सन्तीत्याह-बहूनीति। नारायणदीनि गुणानुरूपाणि मधुसुंदनादीनि कर्मानुरूपाणि ॥ १८ ॥ आधास्यत् आधास्यति। यद्वा, यदि यूयमस्मिन् भक्त्युद्रिक्तं चित्तमकरिष्यन् तर्ह्ययं वः पुरुषार्थलक्षणमाधास्यत "लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ" (३।३।१३९) इति सूत्रात् अयं विधिः ॥ १९-२३ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

किञ्च, दुस्त्यजश्चेति तस्माद्विरुद्धधर्माद्धेतोः ॥ १३ ॥ शङ्का संशयः ॥ १४ ॥ बाल एव वा परमविलक्षणा देवादिर्वेति श्रूयतामित्यादि ॥ १५-२१

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

एवमस्येश्वरत्वे गिरिधारणादय एतन्निष्ठा धर्म्मा एव हेतवो दर्शिताः अस्मदादिसर्वव्रजवासिनिष्ठश्चैको धर्मो दृश्यता-मित्याह–दुस्त्यजश्चेति। ते तनये तवैव तनयो नाऽस्माकमिति सम्यग्विचारिते सत्यपीति भावः। न केवलमस्माक वात्सल्यभाव-वतामेव गोपानाम् अपि तु सर्वेषां बालादीनामपि संख्यादिभाववतां स्त्रीपुंसामपि जात्यन्तराणामपि वनौकसां मृगपक्ष्यादीनामपि अनुरागः प्रतिक्षणं नवनवायमाना वर्द्धमान प्रोतिरनुरागशब्दस्य तथाभूतार्थकत्वात् न तु प्रीतिमात्रम्। किञ्च, दुस्त्यज उत्पत्ति-कत्वात् सम्प्रतीश्वरत्वलक्षणे दृष्टेऽपि त्यक्तुमशक्यः तेन पुत्रवित्तादिदेहजीवात्मभ्यो यथोत्तराधिकप्रेमास्पदेभ्योऽप्यात्यन्तिकं प्रेमास्पदं परमात्मैवायमिति बुध्यते नहि केवलनरत्वे सत्येवं सति सम्भवतीति भावः। सत्यं तर्हि परमात्मैवायं निश्चीयतामिति चेत्तत्राहुः–अस्मासु सर्वेषु व्रजवासिषु वनौकस्सु च तस्याऽपि अनुराग उक्तलक्षणः कथं सम्भवेत् तस्यात्मरामत्वेन सर्वत्रौदासीन्या-दस्मासु संसारिकेष्वौत्पत्तिक्याशक्तिर्न घटत इति भावः ॥१३॥ उक्तमप्यद्रिधारणं प्रस्तुतत्वादतिविस्मयेन पुनराहुः—क्वेति ॥ १४ ॥ अहो मद्बालके ऽस्मिन् प्राक् सिद्धमहाप्रभावे मदिष्टदेवस्य श्रीनारायणस्य मय्यतिकृपया मद्विपदोऽभिहन्तुमावेशमालक्ष्यते संशेरते तदेतान् श्रीगर्गोक्त्यैव प्रबोधयामीत्याशयेनाह श्रूयतामिति ॥ १५-२१ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

औत्पत्तिकः स्वाभाविकः ॥ १३-२२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

परस्परमेवं विचार्य नन्दं प्रति पप्रच्छुः ॥ दुस्त्यज इति । हे नन्द वनौकसां नोऽस्माकं तेऽस्मिंस्तनये दुरत्यजस्त्यक्तुमशक्योऽनुरागः स्नेहः कथं जातस्तथाऽस्मासु तस्य कृष्णस्यापि स कथं न च स यादृच्छिक इत्याहुः ॥ औत्पत्तिक आजनीन इति । नन्दत इत्यत्र त इत्यन्वयः ॥ १३ ॥ क्रमतो व्युत्क्रमतश्च सङ्गृह्योक्त्वा पुनरतिसन्निहितं तद्विहितमुक्त्वा सम्पुटीकुर्वन्ति ॥ क्वेति । क्व सप्तहायनो वालो महाद्रेर्गोवर्धनस्योद्धरणं क्व हे व्रजनाथ तवात्मजे नः शङ्का संशयो जायतेऽतो न तद्वीर्यविद इति प्रागुदीरितमुज्जीवितम् ॥ १४ ॥ एवं गोविन्दविषये सन्दिग्धवुद्धीन्गोपान्प्रति स्वेन यद्गर्गेण श्रुतं तन्नन्द उपदिशतीत्याह ॥ नन्द इति । हे गोपा मे तद्वचः श्रूयतां वोऽर्भके मत्पुत्रविषये शङ्का व्येतु गच्छतु । एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गः पुरोधा यदुवाच । हेत्यनेन तद्वचनान्यथात्वम् सिद्धिं सूचयति । प्रत्यारम्भे प्रसिद्धौ हेति यादवः ॥ १५ ॥ तमेव श्लोकनिकायमनुवदति ॥ वर्णा इति । व्याख्यातचराः श्लोकाः ॥ १६–१८ ॥ यदि यूयमस्मिन्भक्तिमकरिष्यंस्तर्ह्ययं वः श्रेयोऽधास्यत् । लिङ्निमित्ते लङ्क्रियातिपत्ताविति विध्यर्थता ॥ १९ ॥ पृथुत्वदशायाम् ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

एतत् सर्वं वाह्यं निरूप्यान्तरं निरूपयन्ति दुरत्यज इति, अस्मिन् कृष्णे सर्वेषामेव नोऽस्माकनुरागोपि दुस्त्यजः, न ह्यन्योद्भवे सम्वन्धिनि साधारणसम्वन्धमात्रेण वित्तात् पुत्रात् प्राणादप्यधिकः स्नेहो भवितुमर्हति, तर्हि पुत्र एवास्य न भवत्यकस्मादेवागत इति मन्तव्यं तत्राहुर्नन्द ते तनय इति, क्वचिद् गुर्वादिषु कस्यचित् स्नेहोपि भवेन् न तु सर्वेषां, न वा व्रजौकसां ज्ञानमस्ति, अतो वस्तुसामर्थ्यादेवैवं जायत इति किञ्च तस्याप्यस्मास्वौत्पत्तिक एव स्नेहो नान्येषां वालकानां, एतत् कथं भवेत् ? अतो वस्तुसामर्थ्यात् क्रियासामर्थ्याच्च धर्मविचारेण धर्मिविचारेण वा महान् भवतीति कथं तव पुत्रो भवेत् ॥१३॥ आस्तां तावदन्यदिदमधुना जातमत्याश्चर्यमित्याहुः क्व सप्तहायनो वाल इति, सप्तहायनो वालः क्व महाद्रिविधारणं च क्व ? अतः कार्यकारणयोर्लोकन्यायेन विरोधात् तवात्मजे नः शङ्का जायते, अस्माकमेतदतिसन्दिग्धं तव पुत्रो भवति न वेति, विधिपक्षे कृतार्था भविष्यामो विधिपक्षेपराधाः क्रियन्त इति को वेद किं भविष्याम इति भवति विचारणा ॥ १४ ॥ एवं पूर्वपक्षे कृते नन्दः सिद्धान्तमाह श्रूयतामिति, भगवानद्भुतकर्मेति पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यासोन्यथैतद् भगवच्चरित्रं न भवेत्, नन्दस्तु स तादृश एव कश्चिन् महापुरुषो मम गृहे जात इति मन्यते गर्गवाक्यात्, यथा भगवदवताराः क्वचिद् भवन्ति तथायमपि मम गृहेवतीर्ण इति, अतः सम्वन्धोप्यस्ति माहात्म्यं चोपपद्यत इति गर्गवाक्यानि वक्तुमुपक्रमते श्रूयतामिति, हे गोपा भवन्तो न विचारणक्षमा अतो मे वच एव श्रूयतां सर्वैरेव भवद्भिः, ततः किं स्यात् ? अत आह व्येतु शङ्कावचोर्भक इति, अर्भके वालके शङ्कावचनमपगच्छतु मत्पुत्रो भवति न वेति, ननु त्वद्वाक्यं कथं प्रमाणं वादिवाक्यस्याप्रमाणत्वात् तत्राहैनं कुमारमुद्दिश्येति, यदायं कुमारो वालक एव स्थितस्तदैव गर्गो मे मह्यं मां वोधयितुं किञ्चिदुवाच हेत्याश्चर्यं कथमेवं ज्ञातवामिति ॥ १५ ॥ गर्गवाक्यानि पूर्वं व्याख्यातान्यपि पुनरापाततो व्याख्यायन्तेनुवादात्, वर्णास्त्रय इत्यादीनि वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानि, किलेति प्रसिद्धे, अस्य वालस्य पूर्वं त्रयो वर्णा जाताः, वर्णशब्दो रूपविशेषे जातिविशेषे च वर्तते तत आह शुक्लो रक्तस्तथा पीत इति, इदानीं कृष्णः कृष्णवर्णत्वं प्राप्तः, सत्यादिष्वेवं भवति रामो रामो रामो वा, इदानीं त्वद्गृहे वर्तमानसमीपे कलौ वा कृष्णधर्मं कृष्णत्वं प्राप्तः, न तु कृष्णः, मध्यन्दिने सवितरि मण्डलस्थकृष्णत्ववदिति कृष्णनामनिरुक्तिः ॥ १६ ॥ वासुदेवनिरुक्तिमाह प्रागयमिति, क्वचिद् देशविशेषे कालविशेषे वा वसुदेवस्यायं पुत्रो जातः, अतो येभिज्ञा एतन्मर्म जानन्ति ते वासुदेव इति प्रचक्षते, वस्तुतस्तु वसुशब्देन धनं वसुरूपो देवो वसुदेवो लक्ष्मीस्तस्याः पतिर्वासुदेव इति तदाह श्रीमानिति, इतीति तत्रापि सम्वध्यते, इतिशब्दस्तदन्ते वा योजनीयः ॥ १७ ॥ न केवलं नामद्वयमेव भगवतः किन्त्वन्यान्यपि वहूनि सन्तीत्याह वहूनीति, रूपाण्यपि सन्ति, ते सुतस्येति सम्वन्धस्थापनार्थं, रूपनाम्नोर्हेतुमाह गुणकर्मानुरूपाणीति, तावन्तो गुणास्तावन्ति च कर्माणि प्रतिरूपनामभेदेन कर्तव्यान्यतस्तेषानुरूपाणि, तत्र प्रमाणमाह तान्यहं वेदेति, वाधाभावमाह नो जना इति, जनास्तु न जानन्ति ॥ १८ ॥ एवं नामान्युक्त्वा भगवतः कार्याण्याहैष इति एष एव वो युष्माकं श्रेय आधास्यदाधास्यति, "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" इति भविष्यदर्थे लङ्, पूतनादिवधस्य कृतत्वात् भूतार्थताप्यस्ति, किञ्च गोपगोकुलयोर्नन्दन आनन्दजनको भविष्यति, किञ्चानेनैव सर्वदुर्गाणि सङ्कटस्थानानि यूयं तरिष्यथ, परमानायासेनैव ॥ १९ ॥ अत्रार्थे पूर्वसम्मतिमाह पुरानेनेति, पृथुरूपेणान्येन वा, व्रजपत इतिसम्वोधनमज्ञानं नाश्चर्यमितिवोधनार्थं, साधवः सर्व एव दस्युभिः पीडिता दस्यून् जिग्युः, रावणादयोपि दस्यवोराजके चारक्ष्यमाणाः स्थितास्तदानेनैव समेधिता दस्यून् जिग्युः, पृथावेव तत् स्पष्टम् ॥ २० ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

श्रूयतां मे वच इत्यत्र, पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यास इति । नन्दस्यात्मनो देहाज्जातत्वाभावेन तथात्वं सिद्धान्तो भवितुमर्हति यद्यपि, तथाप्येतादृश एव स्वात्मज इति भगवता लीलार्थं तद्वुद्धिः सम्पादितेति तथात्वम् । न चास्या भ्रमरूपत्वेनास्य

सिद्धान्तःभासत्वम्, न तु वस्तुतस्तथात्वमिति वाच्यम्, हेत्वसिद्धेः। भगवता तथैव लीलार्थमङ्गीकारात्। नित्यस्यैवंभावोनुपपन्न इत्याशङ्कानिरासाय तादृशस्य तथात्वे हेतुमाहुरद्भुतकर्मेतीति। लौकिकोपपत्तिरहितं ह्यद्भुतम् तथाचात्र तद्राहित्यं भूषणम्, न तु दूषणम्, अद्भुतकर्मत्वलक्षणत्वरूपसम्पादकत्वात्। अत एव 'तस्मान्नन्दात्मजोऽयं त' इति गर्गोक्तिरपीति भावः ॥ १५ ॥ वर्णास्त्रय इत्यत्र, वाक्यान्यष्टश्लोकैरुक्तानीति नामकरणसमये गर्गेण छन्दोननुरोधेनैव वाक्यान्युक्तानि, तथैव नन्देरपि, तान्येव व्यासेन श्लोकैरुपनिबद्धानीति तथोक्तम्। यद्यप्यासन्नित्यादीनि तानि सप्तैव, तथापि मन्ये नारायणस्यांशमित्यादिकं गर्गवाक्यफलितार्थनिरूपकत्वेन तद्रूपमेवेत्याशयेनाष्टसङ्ख्योक्ता ॥ १६ ॥

इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

वर्णास्त्रय इत्यत्र वर्णशब्दस्य जातिविशेषपक्षे आहुः राम इति परशुरामरघुनाथबलरामा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याः, बले भगवदावेशाद् "व्रजेशसुत"इति व्युत्पादितं पूर्वं, "इदानीं" त्वद्गृहे "कृष्णतां गत,:" दास्यमार्गं प्रकटितवानितिभावः ॥ १६॥ बहूनीत्यत्र रूपनाम्नोरिति बहुत्वे इतिशेषः, प्रमाणमाहेति ब्रह्मविदां ज्ञानमेतत्प्रमाजनकमित्यर्थः, बालाभावमाहेति अन्येषां जनत्वात् तद्ज्ञानेन बाधो न शङ्कनीयः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

श्रूयतां मे वच इत्यत्र पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यास इति अस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥१५॥ शुक्लो रक्तस्तथा पीत इत्यस्य रामो रामो रामो वेति "वर्णास्त्रयः किलास्यास"न्नित्यत्र वर्णशब्दो ब्राह्मणादिवर्णवाचक इत्याश्रित्येदमुक्तं, तथा च रामः परशुरामः ब्राह्मणो रामो दाशरथिः क्षत्रियो रामो बलरामो वैश्यः, बलदेवे श्रीकृष्णावेशात्, श्रीकृष्णस्य नन्दपुत्रत्वान् नन्दस्य वैश्यत्वात्, न तु कृष्ण इति "यत् कृष्णं तदन्नस्ये"तिश्रुत्या पृथिव्याः कृष्णरूपत्वमुक्तं तत्पार्थिवं कृष्णरूपं श्रीकृष्णे नास्तीत्यर्थः, तर्हि कथं श्यामत्वं प्रतीयत इत्याकाङ्क्षायामाहुः मध्यंदिने सवितरि मण्डलस्थकृष्णत्ववदिति, सवितरि तेजोमये प्रतीयमानं श्यामत्वं यथा न पार्थिवं तथेदमपि न पार्थिवं किन्तु वस्तुस्वभावात् प्रतीयत इत्यर्थः, न चौपाधिकमितिवाच्यं "यदादित्यस्य नीलं भा" इति छान्दोग्ये आदित्यस्येतिषष्ठ्या सूर्यसम्बन्धित्वकथनादुपाधिसम्बन्धाकथनाच्च ॥ १६ ॥ प्रागयं वसुदेवस्येत्यत्र वसुरूपो देवः वसुदेवः लक्ष्मीः तस्याः पतिरिति तथा च वसुदेवस्यायं वासुदेवः, तस्येदमित्यण् ॥ १७ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'सर्वथा त्वया महान् आनन्दो दत्तः, कस्त्वां स्तोतुं समर्थ ?' इति सूचयन्तः सम्बोधयन्ति—नन्देति। सर्वेषां पशुपक्ष्यादिसहितानां नोऽस्माकं व्रजौकसामस्मिन् ते तव तनये कृष्णे दुस्त्यजोऽनुरागस्तथाऽस्मासु तस्यौत्पत्तिकः स्वाभाविकोऽनुरागः कथम् ? ॥ १३ ॥ क्व सप्तहायनो बालः, क्व च महाद्रेर्विधारणम् ? ततः तस्मात् सर्वात्मसर्वशक्तिं विना उक्तप्रभावस्यासम्भवात् हे व्रजनाथ ! तवात्मजे नोऽस्माकं परमेश्वरत्वशङ्का जायते ॥ १४ ॥ एवं श्रीकृष्णस्याद्भुतकर्मभिर्विस्मितान् गोपान् नन्दो गर्गोक्तिमाश्रित्य तदैश्वर्यं वर्णयति—श्रूयतामिति। हे गोपाः ! मम वचः श्रूयताम्। तेन वचःश्रवणेन ममार्भके बालके या वो युष्माकं शङ्का सा व्येतु अपगच्छतु। 'अस्मिंश्च वचसि विश्वासः कर्तव्यः, परमात्मोक्तत्वात्' इत्याशयेनाह—एनमिति। 'ह' इति स्फुटमुवाच ॥ १५॥ अयं 'किल' इति निश्चयेन। अनुयुगं तनूः अवतारान् गृह्णतोऽस्य शुक्लादयस्त्रयो वर्णा आसन्। इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १६ ॥ अयं श्रीमांस्तवात्मजः प्राक् कदाचिद्वसुदेवस्य सुतो जातः, अतस्तदभिज्ञा एनं वासुदेव इति सम्प्रचक्षते ॥ १७ ॥ तानि नामरूपाणि सर्वाण्यहमपि नो वेद, अन्ये जनास्तु कुतो विदुः ? स्पष्टमन्यत् ॥१८॥ एष वो युष्माकं श्रेयः पारलौकिकं सुखमाधास्यत् करिष्यति। अस्मिंश्च लोके गोपानां गोकुलस्य चानन्दकरो भविष्यति। सर्वाणि दुर्गाणि अन्येन दुर्निवार्यदुःखानि ॥ १९ ॥ हे व्रजपते ! पुरा अराजके दस्युभिः पीडितः साधवोऽनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताः संवर्धिताश्च सन्तो दस्यून् जिग्युः जितवन्तः ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

दुस्त्यज इति ॥ हे नन्द ! सर्वेषां पशुपक्ष्यादिसहितानां नोऽस्माकं व्रजौकसामस्मिन् ते तव तनये कृष्णे दुस्त्यजोऽनुरागस्तथाऽस्मासु तस्यापि औत्पत्तिकः स्वाभाविकोऽनुरागः कथं किं सर्वेषामयमात्मा स्यात् ॥ १३ ॥ उक्तमध्यतिविस्मयेन पुनः वदन्ति क्वेति ॥ क्व सप्तहायनो बालः क्व च महाद्रेर्विधारणं ततः तस्मात् सर्वात्मसर्वशक्तिं विनोक्तप्रभावस्यासंभवात्। हे व्रजनाथ ! तवात्मजे नोऽस्माकं परमेश्वरत्वशङ्का जायते ॥ १४ ॥ श्रूयतामिति ॥ हे गोपाः ! एनं कुमारं बालमुद्दिश्य गर्गो मह्यं यद्वचः उवाच तद् मे मम वचः श्रूयताम्। तेन वचःश्रवणेन ममार्भके बालके या वो युष्माकं शङ्का सा व्येतु अपगच्छतु ॥ १५ ॥ तान्येव गर्गवाक्यान्यनुवदति—वर्णा इति ॥ अनुयुगं युगे युगे तनुर्मूर्तीर्गृह्णतोऽस्य तव पुत्रस्य शुक्लो रक्तस्तथा पीतश्चेति त्रयो वर्णा आसन्। इदानीं

तु द्वापरस्यान्ते कृष्णतां गतः अतः कृष्णनामा भविष्यति ॥ १६ ॥ प्रागिति ॥ अयं श्रीमांस्तवात्मजः क्वचित् प्राक्समये वसुदेवस्य सुतो जातः। अतः अभिज्ञा ये अभितोऽस्य स्वरूपं जानन्ति त एनं वासुदेव इति संप्रचक्षते कथयन्ति ॥ १७ ॥ बहूनीति गुणानुरूपाणि सर्वेश्वरः सर्वज्ञ इत्यादीनि कर्मानुरूपाणि गोवर्द्धनोद्धरणः कालियदमन इत्यादीनि तव सुतस्य बहूनि नामानि सन्ति तानि च सर्वाणि जना न विदुः। अहमपि नो वेद न जानामि ॥ १८ ॥ एव इति ॥ गोपान् गोकुलं च नन्दयति तथाभूतः एष वो युष्माकं सर्वेषां श्रेयः सुखम् आधास्यत आधास्यति। इलोप आर्षः। अनेनैव रक्षकेण सर्वाणि दुर्गाणि महतोऽप्युपद्रवान् अञ्जः अनायासेनैव यूयं तरिष्यथ अतिक्रमिष्यथ ॥ १९ ॥ पुरेति ॥ हे व्रजपते! पुरा अराजके दस्युभिश्चौरैः पीडिताः साधवः अनेन रक्ष्यमाणाः समेधिताः संवर्धिताश्च सन्तस्तान् दस्यून् जिग्युः निर्जितवन्तः ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अस्मिन् ते तव तनये नोऽस्माकं स्नेहोऽस्ति तस्य तव सुतस्यापि अस्मासु स्नेहः औत्पत्तिकः स्वाभाविकोऽस्ति उभयपक्षेपि स तस्य सर्वजीवानामंतरात्मकत्वात्किमस्ति कथमेतत्पूर्वोक्त सर्वमद्भुतं केन प्रकारेण ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥ श्रीकृष्णस्य चरित्रं कथितमपि तस्य अत्याश्चर्यजनकत्वात् पुनराहुः क्वेति हे व्रजनाथ नंद तवात्मजे नोऽस्माकं शंका वर्त्तते अयं परमेश्वरोऽस्ति वा ब्रह्मादित्रयाणां मध्ये कोऽप्यमरोऽस्तीति संशयो जायते ॥ १४ ॥ नंदस्तेषां शंकां निवारयन्नाह श्रूयतामिति हे गोपाः ततो वो युष्माकं बालके शंकां व्येतु गच्छतु गर्गगीतं निरूपयन्नाह ॥ १५–२२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

दुस्त्यज इति ॥ हे नन्द, ते तव, तनये पुत्रे अस्मिन् कृष्णे, सर्वेषां व्रजौकसां, नोऽस्माकं, अनुरागः स्नेहातिशयश्च, दुस्त्यजः कथम्। तस्यैवंविधाऽमानुषचेष्टितस्यास्य च, अस्मासु विषये अपि, औत्पत्तिकः जन्मसिद्धोऽनुरागः, कथं, अतः सर्वशक्तिः सर्वेषामात्मा च, किं तवात्मज इत्याशङ्कामहे इति भावः ॥ १३ ॥ अन्यथैतन्न घटते इत्याशङ्कामेवाविष्कुर्वन्ति ॥ क्वेति ॥ हे हे व्रजनाथ, सप्तहायनः सप्तवर्षवयाः, बालः क्व। महाद्रिविधारणं, क्व। ततः सम्यगद्रिविधारणादेरेव, नोऽस्माकं, तव आत्मजे सूनौ, शङ्का जायते सर्वशक्तिः सर्वान्तरात्मायं परमात्मैवेत्याशङ्कोत्पद्यते ॥ १४ ॥ एवं गोपैराप्टष्टः प्राक् श्रुतश्रीकृष्णजातकर्मोत्मक-गर्गवाक्यो नित्यं तच्चरितपरिशोलननिवृत्तेश्वरत्वासंभावनो नन्दस्तेनैव गर्गवाक्येन गोपानामाशङ्कामपनुदति ॥ श्रूयतामिति ॥ हे गोपाः, एनं कुमारं श्रीकृष्णं उद्दिश्य, गर्गः, मे मह्यं, यत् ह स्फुटं उवाच, तत् मे वचः, श्रूयताम्। तच्छ्रवणेन, अर्भके बालकेऽस्मिन् श्रीकृष्णे विषये, वो युष्माकं, शङ्का च, व्येतु निवर्त्त्यताम् ॥ १५ ॥ किं तद्येन शङ्का व्येतीत्यत्र तदेवाह ॥ वर्णा इति ॥ अनुयुगं प्रतियुगं, तनूर्देहान्, गृह्णतः अस्य त्वत्पुत्रस्य कृष्णस्य, त्रयः वर्णाः शुक्लादयः, आसन्नभवन्। तत्र शुक्लो वर्णः; कृतयुगे इति शेषः। गतः व्यतीत इत्यर्थः। तथा रक्तः वर्णः, त्रेतायुगे इति शेषः। गतः। अपीतः कृष्णो वर्ण इत्यर्थः। द्वापरे इति शेषः। गतः। इदानीं कलौ युगेऽपीत्यर्थः। कृष्णतां कृष्णवर्णत्वमेवेत्यर्थः। गतः प्राप्तः। अस्मिन्नर्थे एकादशस्कन्धपञ्चमाध्यायस्थं करभाजन-योगीश्वरवचनं प्रमाणम् ॥ १६ ॥ प्रागयमिति ॥ हे नन्द, अयं तव, आत्मजः पुत्रः, प्राक् पूर्वं, क्वचित् कदाचित्, वसुदेवस्य जातः वसुदेवादुत्पन्नोऽस्तीत्यर्थः। अतः अभिज्ञाः एतत्स्वरूपयाथार्थ्यज्ञानिनो जनाः, श्रीमान् सर्वथा श्रीसंपन्नः, वासुदेवः इति, संप्रचक्षते कथयन्ति। सर्वदा श्रीसंपन्न वासुदेवं कथयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ बहूनीति ॥ तथा यानि गुणाश्च कर्माणि च तेषामनुरूपाणि, अस्य ते तव सुतस्य, बहूनि नामानि रूपाणि च सन्ति। तानि अहं, वेद वेद्मि। जनाः तानि नो विदुर्नैव जानन्ति। तत्र गुणानुरूपाणि नामानि भगवान्नारायणः सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादीनि, कर्मानुरूपाणि मधुसूदनः गोपतिः गोवर्द्धनोद्धारक इत्यादीनि ॥१८॥ एष इति ॥ गोपाश्च गोकुलं च तानि नन्दयतीति तथाभूतः, एष कृष्णः, वा युष्माकं, श्रेयः ऐहिकामुष्मिकं मङ्गलं, आधास्यत् आधास्यतीत्यर्थः। अनेन सुतेन हेतुभूतेन, यूयं सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुःखानि, अञ्जः अञ्जसा, तरिष्यथ ॥ १९ ॥ पुरेति ॥ हे व्रजपते नन्द, पुरा पूर्वं, अराजके जगति रक्षकराहित्ये सतीत्यर्थः। दस्युपीडिताः चौरप्रायदुर्जनार्दिताः, साधवो धर्मानुवर्त्तिनो जनाः, अनेन त्वत्पुत्रेण, रक्ष्यमाणाः समेधिताश्च सन्तः, दस्यून् जिग्युर्जितवन्तः ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

श्रूयतामितिः १०.२६.१५.

यो गायेच्छ्रीधरस्य स्वजनभवपरित्राणदीक्षस्य लीलामात्रोपात्ताचलस्योत्पथगजड गतिविद्विट्परिस्पर्धिनोऽस्मिन्।
स्मारं स्मारं चरित्राण्यलघुलघुमहापातकध्वंसकानि सोऽस्मिंस्तत्त्वार्थवित्त्यात् स्फुटमिदमभवद् गर्गगीतप्रकाशात् ॥ ७ ॥
अन्यथा येन तद्गीतश्रवणाय रहःस्थितिः। यदर्थं कल्पिता तेभ्यः स एव कथमब्रवीत् ॥ ८ ॥ (युग्मम्)
अथवाऽत्यद्भुतानन्द–निधाननिहितेन्द्रियः। पूर्वोक्तरानुसन्धानरहितोऽहादंसुक्तवान् ॥ ९ ॥
एतन्नामकृतौ मया च मुनिन याऽकल्प्यषट्कर्णकस्थानार्वास्थितिरश वीजमदयः कंसा न गोपा इमे।
यत्संप्रत्यमरेन्द्रकोपमयमप्यत्तं गतं किं पुनः कंसस्येति जगाद गर्गगदितं निःशङ्कमेष स्वकान् ॥ १० ॥

कृष्णप्रिया

हे नन्दबाबा ! हमें एक बात का अचम्भा होता है कि–आप के लालन् नन्दलालजू पर हम सब व्रज वासियों का ऐसा अवर्ण्य अटल प्रेम क्यों है, और हम लोगों पर जन्म से ही नन्दलाल का सहज स्नेह क्यों है ? ॥ १३ ॥ हे महाराज ! यही बड़ा आश्चर्य है कि कहाँ सात साल की आयु का बालक और कहाँ अति भारी गोवर्धन गिरिवर को उठाना और सात दिन पर्यन्त अपने हस्त में लेकर खड़े रहना । यह सर्व सामर्थ्य देखकर हम सबको संदेह हो रहा है कि ऐसा सामर्थ्य आपके पुत्र नन्दलाल में क्यों ? ॥ १४ ॥ श्रीनन्दराय जी ने कहा कि हे प्यारे गोपजन ? मेरी बात ध्यान देकर सुनो ! मेरी बात सुनने से कृष्ण के विषय की सम्पूर्ण शङ्का निवृत्त हो जायगी कि, यह मेरा पुत्र है या नहीं । मैं आप को श्रीकृष्ण के नामकरण संस्कार के अवसर जो वाक्य सुनाये थे वह मैं आप को कहता हूँ । मुझे भी आश्चर्य है कि गर्गमुनि ने वह कैसे जाना ॥ १५ ॥ श्रीगर्गाचार्यजी ने कहा कि नन्दराय ! यह आप का पुत्र श्रीकृष्ण भगवान है और प्रत्येक युग में अवतार लेते हैं आप के पुत्र के श्वेत-रक्त और पीत ये तीन वर्ण हो चुके हैं । आज यह "श्रीकृष्ण" कृष्ण वर्ण लेकर भूतल पर पधारे हैं ॥ १६ ॥ श्री गर्गाचार्यजी ने कहा— हे नन्दराय ! आप के कुमार श्रीकृष्ण ने पहले कहीं किसी देश में और काल में श्रीवसुदेवजी के यहाँ भी जन्म लिया है । इसी कारण इस रहस्य के मर्मज्ञ ऋषि लोग आप के पुत्र को "श्रीमान्" वासुदेव नाम से याने लक्ष्मीपति के नाम से भी जानते हैं ॥ १७ ॥ हे व्रजजन ! आगे बढ़ते श्री गर्ग जी ने कहा कि बाबा ! आप के पुत्र के, "गुणों के और कर्मों के अनुरूप अनेक नाम है और रूप भी है । भगवदिच्छा से यह मैं जानता हूँ लेकिन सामान्य जन जानते नहीं ॥ १८ ॥ राजन् ! आपके यह कुमार, गायें एवं गोकुल निवासियों आनन्ददायक होंगे । इसके माध्यम से तुम्हारा सर्व प्रकार से कल्याण होगा । इसकी सहाय से आप संसार के सारे संकटों को आसानी से पार कर जायेंगे ॥ १९ ॥ हे व्रजपते नन्दराय ! पूर्वकाल जब साधुजनों को दस्यु लोगों ने सताया था, और राजा न होने से प्रजा का कोई रक्षक नहीं था, तब इसकी कृपा से प्रजा ने आप के कुमार श्रीकृष्णजी की कृपा से उत्कर्ष प्राप्त कर उन दस्युओं पर विजय पाई थी ॥ २० ॥

य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः । नारयोऽभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ २१ ॥
तस्मान्नन्द कुमारोऽयं [1]नारायणसमो गुणैः । श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥ २२ ॥
इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते । मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥ २३ ॥
इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।
[2]दृष्टश्रुतानुभावस्य[3] कृष्णस्य मिततेजसः । मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः ॥ २४ ॥
देवे वर्षति यज्ञविप्लवरुषा[4] वज्राश्मपर्षानिलैः [5]सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्स्मयन्[6] ।
उत्पाट्यैककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा बिभ्रद् गोष्ठमपान्महेन्द्रमदभित् प्रीयान्न इन्द्रो गवाम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[7] दशमस्कन्धे[8] [9]षड्विंशोऽध्यायः[10] ॥ २६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः – एतस्मिन् ये महाभागा मानवाः प्रीतिं कुर्वन्ति एतान् असुराः विष्णुपक्षान् इव अस्य न अभिभवन्ति ॥ २१ ॥ हे ! नन्द ! तस्मात् श्रिया कीर्त्या अनुभावेन गुणैः अयम् कुमारः नारायणसमः "वर्तते" तत् कर्मसु विस्मयः न ॥ २२ ॥ इति अद्धा माम् समादिश्य गर्गे च स्वगृहम् गते, अहमपि अक्लिष्टकारिणम् कृष्णम् भगवन्तम् नारायणस्य अंशं मन्ये ॥ २३ ॥ व्रजौकसः दृष्ट श्रुत अनुभावस्य अमित तेजसः कृष्णस्य "कृते" इति गर्गगीतम् नन्दवचः श्रुत्वा गतविस्मयाः मुदिता कृष्ण "भगवन्तम्" च नन्दम् आनर्चुः ॥ २४ ॥ यज्ञ विप्लव रुषा वज्र अश्म पुरुष अनिलैः देवे वर्षति "सति" सीदत् पाल पशु स्त्रि गोष्ठम् आत्मशरणम् दृष्ट्वा अनुकम्पां उत्स्मयन् यथा अबलः लीला उच्छिलीन्ध्रं तथा एककरेण शैलम् एककरेण उत्पाट्य शैलम् बिभ्रद् महेन्द्रमदभित् गोष्ठम् अपात् सः नः गवाम् इन्द्रः प्रीयात् ॥ २५ ॥

इति षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

---

१. मन्ये नारायणं साक्षाद् वीर. । २. दृष्टश्रुतानु–इदमधिकं भाति वीर. विज. । ३. भावास्ते–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. । ४. वर्षा–वीर. विज. । ५. वालपशुस्त्रिया–वीर. विज. । ६. स्मयः-विज. । ७. पारमहंस्यां संहितायां–गो प्रे. टी. । ८. पूर्वार्द्धे–गो. प्रे. टी. । ९. नन्दगोपसंवादे–गो. प्रे. टी । १०. चतुर्विंशोऽध्यायः–विज. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तस्मात्तस्य कर्मसु विस्मयो नास्तीति नंदस्योक्तिः ॥ २२ ॥ इत्यद्धा साक्षान्मां प्रति समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते सति तदानीं तथा मन्यमानोऽपि इदानीं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये। अत्र हेतुः। अक्लिष्टकारिणमिति ॥ २३-२४ ॥ गोवर्धनोद्धरणं सपरिकरमनुस्मरन्प्रकटितैश्वर्यस्य श्रीकृष्णस्य प्रीतिं प्रार्थयते। देव इति। यज्ञविप्लवेन या रुट् तया देवे इंद्रे वर्षति सति वज्राश्मपर्षानिलैः अशनिजलशर्करातीव्रवायुभिः सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं सीदंतः पालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिंस्तत्तथा आत्मा स्वयमेव शरणं यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकंपी उत्स्मयन् हसन्प्रौढिमाविष्कुर्वन् शैलमुत्पाट्याबलो बालो लीलार्थमुच्छिलीन्ध्रं यथा तथैकेन करेण विभ्रद्धद्गोष्ठत्रपात्पालितवान्। एवं महेंद्रमदभित् गवामिंद्र इत्युत्तराध्यायार्थं च स्मरति। स एवंभूतः श्रीकृष्णो नः प्रीयात्प्रीयतामिति ॥ २५ ॥

षड्विंशे दशमे व्यक्तः षड्विंशो दशमो हरिः ॥ व्यनक्तु पंचविंशं मां चतुर्विंशतितः पृथक् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्भागवते म० दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यस्मान्मदुक्तसदृशास्तस्माद्धेतोः। तस्य बालस्य ॥ २२ ॥ तदानीम् गर्गोपदेशसमये। तथा मन्यमानोपि नारायणसमं मन्यमानोऽपि। इदानीम् तदुपदिष्टस्य शैथिल्यादंशमिति। अत्र नारायणांशत्वे। न क्लिष्टं कर्त्तुमशक्यं यस्माद्दावानलपानगोवर्द्धनोद्धरणादिरूपात्तदक्लिष्टमलौकिकं कर्म, तत्कर्त्तुं शीलमस्येति तथा। यद्वा-क्लिष्टाः क्लेशितास्तद्रहिता अक्लिष्टास्तान्करोति निजसेवकानिति वा तम् ॥ २३ ॥ गतविस्मया अपास्तसंदेहाः। आनर्चुः अर्चयांचक्रुः। यद्वा—आनर्च्चुः वस्त्ररत्नसवर्णमुद्रोपहारैर्वनात्सायं कृष्णेऽप्यागते तं पीतांबरहारकटककुंडलैरलंकृत्य जयजय व्रजभूभूषण चिरं जीवेत्युपलालयामासुः ॥ २४ ॥ भो राजन् इंद्रकोपोत्थिताद्वज्राश्मपर्षादिकमहासं कटाद्गोवर्द्धनमुद्धृत्य तदाश्रितं गोष्ठं रक्षंस्तन्मखप्रवर्त्तनपंडितः कृष्णो यथा सुरलोकगर्वहंता प्रीणाति तथा ब्रह्मकोपोत्थिताद्वाग्वज्रादिदं श्रीभागवतं वेदोदधित उद्धृत्य त्वां रक्षंस्तत्परायणमखप्रवर्त्तनपंडितः कृष्णो भक्तिरहितदार्शनिकभूसुरलोकहंता प्रीणात्वित्याशयेन परीक्षितं स्वांतःपातं मानयन्कृष्णप्रीतिं प्रार्थयते—देव इति। सपरिकरम् सांगोपांगम्। यद्वा—श्रीशुकः स्वेष्टदेवं पूर्वार्द्धप्रथमभागांते स्मरन्स्वरक्षां प्रार्थयते। यज्ञस्य विप्लवेन भंगेन। जलशर्कराः करकाः। सीदंतः कंपमानाः। शरणं रक्षिताः। अनुकंपी हृदयद्रवी भावयुक्तः। प्रौढिम् प्रागल्भ्यम्। "कंदल्यां च शिलींध्रः स्याच्छत्राक तन्निगद्यते" इति शब्दार्णवः। प्रीयताम् प्रीतो भवतु गवामिन्द्रः गोस्वामी 'गोविंदोऽधिकृतो गवाम्' इत्यमरः। अस्य पद्यस्य लक्षंजपात्सप्रतिपक्षनाशः। देवे वर्षतीति मंत्रस्य श्रीवेदव्यासः ऋषिः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, जगती छंदः, सर्वकार्यसिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः। 'करधृतवरशैलं वेणुवाद्ये रसालम्' इत्युक्तरीत्या ध्यानं च कार्यम्, अंते पायसेन होमो ब्राह्मणभोजनश्च तेनाभिलषितसिद्धिः (२५) षड्विंशे इति। दशमे दशमस्कंधे षड्विंशेऽध्याये दशमो लक्ष्यभूत आश्रयशब्दोदितः परमात्मा नंदनंदनो व्यक्तः गोवर्द्धनोद्धृतिपूर्वकव्रजरक्षया यः प्रकटितोऽभूत्, स मां चतुर्विंशतितश्चतुर्विंशतितत्त्वघटितक्षेत्रसंज्ञशरीरात् पंचविंशं जीवात्मानं पृथक् व्यनक्तु प्रकटयतु। मे देहात्मबुद्धिमपाकृत्य निजोपासने योजयत्वित्यर्थः। किंभूतः स षड्विंशः पञ्चविंशतितत्त्वनियामकत्वेनेश्वर इत्यर्थः। एकादशस्कंधे तत्त्ववादाध्याये षड्विंशतितत्त्ववादिमते "अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम्। स्वतो न संभवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥" इत्यनेन पंचविंशो जीवः षड्विंश ईश उक्त इति (१) ॥ अत्र श्रुतयः—"जजान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरोऽभिपौंस्यं रणम्। अवृश्चदद्रिमवसंपदः सृधरतभ्नान्नाकं स्वरमाया पृथुम्" इति। अयमर्थः—वीरः श्रीकृष्णो जजानः जातमात्र एव स्पृधः स्पर्द्धमानान् व्यबाधत विशेषेणैव बबाधे। अभिपौंस्यं रणं प्रापश्यत्। पुंस इदं पौंस्यं स्वयोग्यं रणं प्रापश्यत्। दैत्यैर्नानाविधान्संग्रामांश्चकारेत्यर्थः। किं च, अवसंपदस्संपदः स्वयमेव गोवर्द्धनरूपेण अव अनायासेन संपदः गोपैर्दत्तमन्नादिकं भक्षितवान् किं च, स्पृधत्स्पर्द्धमानं नाकं तत्पतिं नाकस्थं मेघचक्रं चास्तभ्नात्स्तंभयामास। यतः पृथुमद्रिमवृश्चत् उत्पाट्य धृतवान्। स्वरम्यया लीलयैवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

नन्दकुमारोऽयमित्यत्र नन्दस्य तव कुमार इति षष्ठीतत्पुरुषात् तथा तत्कर्मसु न विस्मय इत्यत्र तथापि स्वप्रभावेण पुत्रतया लब्धस्य तस्य नारायणस्येवास्य कर्मसु विस्मयो न कार्य्यः आश्चर्यं मत्वा गोपायनादुदासीनेन न भाव्यमिति तात्पर्य्यावगमात्। किञ्च, तत् कर्मस्वित्युपलक्षणं स्वाभाविकप्रेमविषयाश्रयत्वेऽपि न विस्मयः कार्य इति श्रीनन्दाभिप्रायः वस्तुतस्तु मिथो नित्यस्वाभाविकसम्बन्धो हेतुरिति न ज्ञायते स्म यद्यपि पूर्वं तैः श्रीगर्गवाक्यं ज्ञातमेवास्ति बकवधानन्तरम् अहो ब्रह्मविदां वाच इत्यादिवचनात् तथाप्यधुना तत्तदक्षरेण समग्रतयेति विशेषः इति। सप्तवाक्यानि ॥२२॥ यतोऽहं पितापि ततः प्रभृत्येनं श्रीनारायणोपममेव

मन्ये इत्याह—इतीति। अंशं तच्छक्त्यावेशिनं मन्ये वितर्कयामि ॥ २३ ॥ नन्दस्य वचः तद्द्वारा गर्गगीतं च श्रुत्वा। यद्वा, गर्गस्य गीतं गाथा श्रीभगवद्गीतादिवद्गीता वा यस्मिन् तत् आनर्चुः स्वस्वगृहात् गन्धचन्दनवस्त्रभूषणादिना आदौ श्रीनन्दस्यार्चनं श्रीकृष्णस्य तत एवोत्पन्नत्वात् तस्यापि पितृत्वेन मान्यत्वात् तच्च कृष्णे वनादागते सन्ध्यायामिति ज्ञेयम् यत्तूक्तं श्रीपराशरेण श्रीकृष्णं गोपाः साक्षादेव पप्रच्छुरिति तेन च निजाधिक्यज्ञानाल्लज्जया सप्रणयकोपं प्रत्युक्तं यथा श्रीविष्णुपुराणे श्रीपराशर उवाच—

"गते शक्रे तु गोपालाः कृष्णमक्लिष्टकारिणम्। ऊचुः प्रीत्या धृतं दृष्ट्वा तेन गोवर्द्धनाचलम् ॥
वयमस्मान् महाभाग! भवता महतो भयात्। गावश्च भवता त्राता गिरिधारणकर्मणा ॥
बालक्रीडेयमतुला गोपालत्वं जुगुप्सितम्। दिव्यं च कर्म भवतः किमेतत्तात! कथ्यताम् ॥
कालियो दमितस्तोये प्रलम्बो विनिपातितः। धृतो गोवर्द्धनश्चायं शङ्कितानि मनांसि नः ॥
सत्यं सत्यं हरेः पादौ शपामोऽमितविक्रम! यथा त्वद्वीर्यमालोक्य न त्वां मन्यामहे नरम् ॥
प्रीतिः सस्त्रीकुमारस्य व्रजस्य त्वयि केशव!। कर्म चेदमशक्यं यत् समस्तैस्त्रिदशैरपि ॥
बालत्वं चातिवीर्य्यं च जन्म चास्मास्वशोभनम्। चिन्त्यमानममेयात्मन्! शङ्कां कृष्ण प्रयच्छति ॥
देवो वा दानवो वा त्वं यक्षो गन्धर्व एव वा। किं वाऽस्माकं विचारेण बान्धवोसि नमोस्तु ते ॥

श्रीपराशर उवाच ॥

क्षणं भूत्वा त्वसौ तूष्णीं किञ्चित्प्रणयकोपवान्। इत्येवमुक्तस्तैर्गोपैराह कृष्णो महामुने! ॥
मत्सम्बन्धेन वो गोपाः! लज्जा न जायते। श्लाघ्यो वाहं ततः किं वा विचारेण प्रयोजनम् ॥
यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः श्लाघ्योऽहं भवतां यदि। तदात्मबन्धुसदृशी बुद्धिर्वः क्रियतां मयि ॥
नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो न च दानवः। अहं वो बान्धवो जातो नातश्चिन्त्यमतोन्यथा" ॥ इति।

तथा वैशम्पायनेनोक्त तत्प्रतिवचनम्—

"मन्यन्ते मां यथा सर्वे भवन्तो भीमविक्रमाः। तथाहं नावमन्तव्यः सजातीयोस्मि बान्धवः! ॥
यद्यहं भवतां श्लाघ्यो बान्धवो देवसप्रभः। परिज्ञानेन किं कार्यं यद्येषोऽनुग्रहो मम" इत्यादि।

तच्च श्रीनन्दोत्तरेण हन्त सन्देहा अपि परमौत्सुक्येन साक्षात् श्रीभगवन्मुखादेव श्रोतुं दृढयितुं च तमेवोचुरिति कल्पनया परिहार्यमिति ॥ २४ ॥ एवं समाप्यापि परमानन्देन तदेव गोवर्द्धनोद्धरणं सपरिकमनुस्मरन् तत्र च निजभावाश्रयस्य गोष्ठस्य निजभावविषयेण गवेन्द्रतयानुध्यातेन श्रीभगवता कृतां रक्षां तदर्थमिन्द्रमखभङ्गभङ्गीं चानुस्मृत्य बाढं प्रीयमाणस्तां प्रीतिमेव सर्वं पुरुषाधिकतयाऽनुभवन् तां च पुनः श्रीगवेन्द्रविरचितप्रीत्यनुगृहीतत्वे सति परमास्वादवतीं जानस्तत्प्रीतिमेव प्रार्थयते, देवेति। तत्र देवे वर्षतीत्यप्रतिकार्यत्वं सत्रासमिव दर्शितं तत्रापि यज्ञविप्लवरुषेत्यतिशयः स्वरूपतोप्यतिशयमाह—वज्रे ति। पर्षेतिरेफसंयोगीपाठः क्वचित् वज्रादिभिः सीदन्तः पालाः गोपाः पशवस्त्रियश्च यस्मिन् तत् तत्राप्यतिशयः आत्मशरणमिति तस्मात् मच्छरणमित्यादेः तत्राप्यतिशयः दृष्ट्वा स्वयं चक्षुर्विषयी कृत्येति अत एवानुकम्पीति भूम्नि मत्वर्थीयः एवं कृपाव्यग्रेऽपि तस्मिन् शौर्यं त्वव्यग्रमेवासीदित्याह—उत्स्मयन्नित्यादि। इन्द्रं प्रति सोत्प्रासं स्मयन्नित्यर्थः। तादृश एव सन् शैलमुत्पाट्य तत्राप्येकेन वामेन करेण तत्रापि बालो लीलाप्रयोजनकमुच्छिलीन्ध्र यथा तद्वत् तत्रापि बिभ्रत् सप्ताहोरात्रानेकरीत्या दधत् तदेवं विस्मयहर्षौत्सुक्यधृतिभिराविष्ट आह—गोष्ठमपादिति। सगर्वहर्षमाह—महेन्द्रमदभिदिति। गवामिन्द्रोपि महेन्द्रस्य मदभेत्तेति सोत्प्रासं वस्तुतस्तु गवेन्द्रत्वे तस्मिन् महेन्द्रत्वमपि समुद्रे नदीवत्प्रविशतीति भावः। प्रीयादित्याशीर्लिङ् तत्प्रीतौ जातायां मम गोष्ठजनानुगतत्वमपि सेत्स्यतीति भावः। तथैव श्रीगोष्ठजनभावेनाह—इन्द्रो गवामिति। नोऽस्माकं गोकुलेन्द्रो वा तदेवं तदेव स्वपुरुषार्थत्वेन दर्शितं श्रीब्रह्मवदेवेति ज्ञेयम् अत्र श्रुतिश्च "जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यं रणं अवृश्चदद्रिमवसस्यदः सृजत्स्तभ्नान्नाकं स्ववस्यया पृथुम्" इति अयमर्थः वीरः श्रीकृष्णो जज्ञानो जातमात्र एव स्पृधः स्पर्द्धमानान् दैत्यान् व्यबाधत विशेषेणैव बबाधे अभिपौंस्यं रणं प्रापश्यत् पुंस इदं पौंस्यं त्वयोग्यं रणं प्रापश्यत् दैत्यैर्नानाविधान् सङ्ग्रामांश्चकारेत्यर्थः। किञ्च, अवसस्यदः स्वयमेव गोवर्द्धनरूपेण अव अनायासेन सस्यदः गोपैर्दत्तमन्नादिकं भक्षितवान् किञ्च, स्पर्द्धमानं नाकं तत्पतिं नाकस्थं मेघचक्रं चास्तभ्नात् स्तम्भयामास यतः पृथुमद्रिमवृश्चत् उत्पाट्य धृतवानित्यर्थः। स्ववस्यया लीलयैवेति ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

यतोऽहं पितापि ततः प्रभृति तं नारायणोपममेव मन्ये इत्याह—इतीति; यद्वा, 'तत्कर्म्मसु' इत्यादिकं पूर्वमनुक्तमपि अत्रोक्तबलात् पूर्वमपि श्रीगर्गवाक्यान्ते द्रष्टव्यम्। इति-शब्देन तस्यापि गर्गसमादेशे प्रवेशनात्; यद्वा, गोपायस्वेत्यादिपरिवर्त्तन

'तत्कर्म्मसु' इत्यादिश्लोकैकपादो गर्गेण साक्षादनुक्तोऽपि तात्पर्य्येण प्राप्तः। श्रीनन्देन विरचय्य गर्गसमादिष्टतयोक्तः; तया तेषां श्रद्धोत्पादनेन विस्मयनिरसनार्थमिति दिक्। स्वगृहं गत इति, अन्यथा तदानीमेव तथामनने चापल्यप्रसक्तेः, अतः पूर्व्वं श्रीवादरायणिनापीदृशमेवोक्तम्। इत्यात्मनो गाम्भीर्य्यं विचारपरत्वञ्च तेषां श्रद्धार्थं सूचितम्। नारायणः समो यस्येति नारायणादधिकत्वेऽपि नारायणसाम्येऽपि वा नारायणांशमिति स्नेहभरविवृद्ध्यर्थमेवैश्वर्य्यगोपनम्; यद्वा, नारायणस्यांशं कमपि भागं तत्सममप्युत्तमपुरुषविशेषमित्यर्थः; मन्ये जानामि; यद्वा, निजात्मजमपि नारायणांशं मन्ये, तस्य समादेशादरात्, न च केवलं तदोदेशादरेण स्वानुभवादपीत्याह—अक्लिष्टकारिणमक्लेशेनैवात्यद्भुतकर्म्माचरणशीलमित्यर्थः॥ २३॥ नन्दस्य वचस्तद्द्वारा गर्गगीतञ्च श्रुत्वा; यद्वा, गर्गस्य गीतं गाथा श्रीभगवद्गीतादिवत् गीता वा यस्मिन् तत्; गतविस्मयाः सन्तः श्रीकृष्णस्य नारायणांशत्वेन परमपुरुषोत्तमतया तत्तत्कर्म्मसम्भवात्, अतएव मुदिताश्च सन्तो गतविस्मयाश्च बभूवुरिति वा। आदौ नन्दस्यार्च्चनं तद्वाक्यतो मुदितत्वात् कृष्णस्यापि पितृत्वेन मान्यत्वात्। यद्वा, कृष्णस्य वनादागतस्यैव सताऽर्च्चनात् पश्चान्निर्द्देशो युक्त एव; तथोक्तं पराशरेण—श्रीकृष्णं गोपाः साक्षादेव पप्रच्छुरिति तेन च सप्रणयकोपं प्रत्युक्तम् (वि० पु० ५।१३।१०-११)—

'मत्सम्बन्धेन भो गोपा यदि लज्जा न जायते। श्लाघ्यो वाहं ततः किं वो विचारेण प्रयोजनम्॥
यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः श्लाघ्योऽहं भवतां यदि। तदात्मबन्धुसदृशी बुद्धिर्वः क्रियतां मयि॥' इत्यादि।

तथा वैशम्पायनेनोक्तं तत् प्रतिवचनम् (हरिवंशे विष्णु० प० २०।११,१३)—

मन्यन्ते मां यथा सर्व्वे भवन्तो भीमविक्रमाः। तथाहं नावगन्तव्यः स्वजातीयोऽस्मि बान्धवः॥
यद्यहं भवतां श्लाघ्यो बान्धवो देवसप्रभः। परिज्ञानेन किं कार्य्यं यद्येषोऽनुग्रहो मम॥' इत्यादि,

तच्च कल्पभेदव्यवस्थया, किंवा श्रीनन्दोत्तरेण हृतसन्देहा अपि परमौत्सुक्येन साक्षाच्छ्रीभगवन्मुखादेव श्रोतुं द्रढयितुञ्च साक्षात्तमूचुरिति कल्पनया परिहार्य्यम्, तच्च सुप्रसिद्धत्वादत्र श्रीवादरायणिना नोक्तमिति॥ २४॥ एवं सर्व्वेषां व्रजजनानां प्रीतिविशेषसम्पत्त्या अतृप्त्या प्रीतिमाशास्ते—देव इति। निजव्रजजनत्वाभिमानेन द्वेषतस्तन्नामाग्रहणात् यद्वा, दीव्यति क्रोधेन द्योतते दीप्यत इति; किंवा, श्रीकृष्णं विजिगीषत इति देवस्तस्मिन् यज्ञस्य निजार्च्चनस्य विप्लवो नाशस्तत्परिवर्त्तेन श्रीगोवर्द्धनयज्ञप्रवर्त्तनात्, तेन रुट् तया वर्षति सति इति वृष्टेराधिक्यं सूचितम्। अतएव वज्रादिभिः सीदन्तः पाला गोपाः पशवश्च गवादयः स्त्रियोऽपि यस्मिन् तत्, पश्वादीनां यथोत्तरमवसादस्याधिक्यम्, तेन चानुकम्पाया आधिक्यञ्च तेषु ज्ञेयम्; उत्पाट्य समूलमुद्धृता, अन्यत्तैर्व्याख्यातमेव; यद्वा, अवलो बाल्ये वर्त्तमान इत्यर्थः, किंवा, बलदेवरहित इति तदेकमाहात्म्यार्थं तत्र तस्य साहाय्यादिकं निरस्तम्, यद्वा, अकाराख्यात् विष्णोरपि सकाशाद्बलं शक्तिर्यस्येति तत्र तत्र तत्तच्छक्तिविशेषप्रकटनात्, यथा लीलोच्छिलीन्ध्रमिति दृष्टान्तेन लीलयानायासेन धारणं समर्थितमेव। महेन्द्र-शब्देन मदस्य स्वाभाविकत्वं सर्व्वत आधिक्यञ्च सूचयति, अतएवात्र तन्नामग्रहणम्, यद्वा, महान् भगवत्प्रियगोष्ठविषयकमहाकोपात् य इन्द्रस्य मदः, तं भिनत्तीति तथा सः इति महापराधिनोऽपि परमहितकारित्वमुक्तम्। अतएवानुकम्पी कृपाशीलः, अतएव नोऽस्मान् दीनजनान् तदेकगतीन् वा प्रति प्रीयताम्, एतच्च प्रेमभराकुलश्रीपरीक्षिदाश्वासनार्थम्, अतएव तदेकप्राणैर्व्रजजनैरपि तत् सोढमिति बोधितम्॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां
श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

इत्यद्धेति नन्दोक्तिः। इति नन्दवच इत्यादिस्तु शुकोक्तिः इति इत्यमद्धा स्फुटं मां समादिश्य सम्यग्ज्ञापयित्वा गर्गे स्वगृहं गते सति अहं कृष्णं साक्षात् नारायणं मन्ये तत्र हेतुं वदन् विशिनष्टि अक्लिष्टकारिणम् अक्लिष्टानि क्लेशरहितान्यतिमानुषचेष्टितानि करोतीति तथा तम् अतो नारायणे मन्य इत्यर्थः॥ २३॥ इत्येवंविधं गर्गगीतं नन्दवचः नन्देनोदितं श्रुत्वा सर्वे व्रजौकसो विगताश्चर्या मुदिताश्च नन्दं कृष्णं चानर्चुः कृष्णं प्रति गतविस्मया नन्दमानर्चुर्बह्वमन्यन्तेति वा॥ २४॥ गोवर्द्धनोद्धरणं सपरिकरमनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्य्यस्य भगवतः स्वविषयप्रीतिं प्रार्थयते शुकमुनिः—देव इति। यज्ञविघातेन हेतुना या रुट् तया हेतुभूतया देवेन्द्रे वर्षति सत्यशनिशिलावर्षवातैः सीदन्तः क्लिश्यन्तः बालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तथा स्वयमेव शरणं रक्षिता रक्षणोपायश्च यस्य तदोघं दृष्ट्वा स्त्रियात्मेतीयज्ञार्षः अनुकम्पायुक्तः उत्स्मयन् स्वमाहात्म्यमाविश्चिकीर्षुरेतावद्धसन् अवलः बालोपि शैलं लीलार्थमुत्पाटितं छत्राकमिवैकेन करेण उत्पाट्य बिभ्राणो गोष्ठं यो ररक्ष स महेन्द्रमदभिद्गवामिन्द्रो नोऽस्माकं प्रीयत् प्रसन्नो भवतु यदुत्तराध्यायस्थं प्रीयात् प्रसन्नो भवतु यदुत्तराध्यायस्थं सुरभिवाक्यादि "त्वं न इन्द्रो जगत्पते" इत्यादि तदपि अनुसन्दधता शुकेन विशेषितो गवामिन्द्र इति॥ २५॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

आनर्चुः पूजयामासुः ॥ २४ ॥ श्रीशुकः प्रथमभागसमाप्तिसूचनाय स्वेष्टदेवतां कृष्णमभिष्टुवन् तत आत्मारक्षामाशास्ते–देव इति । यज्ञविप्लवः यज्ञभङ्ग इत्यर्थः । तस्मादुरुत्रया रुषा वज्राश्मवत् वज्रपाषाणवत् कर्कशैर्वर्षैः अनिलैश्च स्त्रिया सह सीदन्तः कम्पमानाः बालाश्च पशवश्च यस्मिंस्तत्सीदद्बालपशु आत्मा शरणं रक्षिता यस्य तत्तथा अनुकम्पी हृदयद्रवीभावयुक्तः उत्स्मयः उद्गतस्मयः निरस्तदर्पः उत्कृष्टमन्दहासो वा महेन्द्रस्य मदं गर्वं भिनत्ति निर्मूलयतीति महेन्द्रमदभित् अवलो स्थूलः अणुर्बालः लीलासाधनमुत्फुल्लं शिलीन्ध्रं यथा तथैकेन हस्तेन शैलं शिलोच्चयं पर्वतमुत्पाट्य बिभ्रत् गवामिन्द्रो गोविन्दोऽस्मभ्यं प्रीयात् प्रीतो भवत्वित्यन्वयः । पायान्न इति पाठे नोऽस्मान् रक्षत्वित्यर्थः । "गोस्वामी गोविन्दोऽधिकृतो गवाम्" इत्यमरः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

(विजयध्वजरीत्या चतुर्विंशोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

तत्कर्मसु न विस्मय इति श्रीगर्गस्यैवाभिप्रायकथनं तदुत्तर इतिशब्दोऽप्यन्वेति "गोपायरव समाहितः" इति त्वनुपयोगान्नोदाहृतम् अंशं शक्त्यावेशिनम् ॥ २२–२३ ॥ गर्गस्य गीतं यत्र तत् आनर्चुः स्वस्वगृहेभ्यो गन्धमाल्यवस्त्रादिना एतच्च सन्ध्यावृत्तं सम्वादस्तु श्रीकृष्णे वनं गतएवेति गम्यते ॥ २४ ॥ पुनस्तामेव लीलां स्मरन् तत्र दर्शितगोकुलकृपातिशयं श्रीकृष्णं स्मरंस्तत्कृपामेव स्वपुरुषार्थत्वेन प्रार्थ्यमानस्तमेव निजेष्टदेवत्वेन व्यञ्जयति–देव इति ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ गोवर्द्धने धृते सति विस्मितैर्गोपैः पृष्टो व्रजराजो गर्गोक्तिमनुस्मृत्योपसंहरति—इत्यद्धा मामित्यादि । हे गोपाः ! किमस्मिन् विस्मयं कुरुथ ? एवमेवं गर्गो यदाह, तत्सन्देहेनालम् । तत्कथनात् प्रभृति कृष्णं नारायणस्याश्चानन्दप्रदम्, तस्मादपि परमित्यर्थः । कीदृशम् ? अशम् उपं विष्णु श सुखं स्वरूपम्; अथवा, अंश्यते विभज्यते अंशसमूहोऽस्मादिति अंशः परिपूर्णभागः, अपादानसाधनः । अथवा, अमिति स्मृतौ गर्गवाक्यस्मरणार्थः । नारायणस्य शं सुखस्वरूपं रूपमिति सरस्वतीसुरसम् । व्रजराजस्तु 'नारायणस्यांशं मन्ये' इत्येवावदत् । अतोऽत्र कोऽपि सन्देहो मा कर्त्तव्यः ॥ २४–२५ ॥

इति श्रीदशमे श्रीवृहत्क्रमसन्दर्भे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमित्यादि । अंश्यते विभज्यतेऽवतार—समूहोऽस्मादनेनेति वा अंशः परिपूर्णभागः, पूर्णस्यैवांशकल्पना,–नारायणस्यापि अंशत्वेन भागकारिणम् । यद्वा, अमिति स्मृतौ पूर्वोक्तगर्गवचनस्मृतौ नारायणस्य शं कल्याणं कल्याणप्रदमीश्वरत्वात् मान्यं जानामीत्यर्थः । अतएव अक्लिष्टकारिणं सर्वानेव नारायणप्रमृतीनक्लिष्टान् कर्तुं शीलं यस्य तम् ॥ २४ ॥ प्रीयान्न इत्यादिः सभाजनं श्रीशुकस्योक्तिः ॥ २५ ॥

इति षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

हे नन्द ! तस्मादयं कुमार इति गर्गोक्तेर्न केवलमयं ममैव कुमारोऽपि तु युष्माकमपीत्यतोऽस्मिन् ऐश्वर्ये दृष्टेऽपि वात्सल्यं प्रतिदिनमाशीःशतश्च न त्याज्यमिति विवक्षयैव "तस्मान्नन्दात्मजोऽयन्ते" इति गर्गोक्तेरनुक्तिः नारायणसम इति नारायणांशेश्वरत्वयं नारायणः यथा सूर्यकान्तशिलापि सूर्यसमेत्युच्यते तस्मादयं नेश्वरः नापि निकृष्टो जीवः किन्तु लोकोत्तरकर्मा कोऽप्ययमस्मत्कुलभूषण एव अत एव तेन गर्गेणैव सर्वान्ते प्रोक्तं "तत्कर्मसु न विस्मय" इति तस्य लोकातीतकर्मसु अत्यद्भुतदृष्ट्या अयमीश्वर इति बुद्धिर्न कर्त्तव्येति तेनैव निषिद्धत्वादस्मिन् युष्मदनुकम्पे चिरं जीवेत्याशीरेव कार्या न त्वौदासीन्यमिति फलतो गोपायस्व समाहित इति गर्गोक्तिरेवोक्ता गोपानां विस्मयनिरसनेन संशयापनोदनञ्च कृतमिति ॥ २२ ॥ अंशं तच्छक्त्यावेशिनं मन्ये वितर्कयामि अस्मान् अक्लिष्टान् कर्त्तुं शीलं यस्य तम् ॥ २३ ॥ आनर्चुः वस्त्ररत्नस्वर्णमुद्रोपहारेण सम्मानयामासुः कृष्णे वनादागते सति सायञ्च तं पीताम्बरहारकटककुण्डलकिरीटैरलङ्कृत्य जय जय व्रजभूमिभूषण ! चिरं जीवेत्युपलालयामासुः ॥ २४ ॥ भोः राजन्निन्द्रकोपोत्थिताद्वज्राश्मवर्षादिकात् महासङ्कटाद्गोवर्द्धनमुद्धृत्य तदाश्रितं गोष्ठं रक्षन् तन्मखप्रवर्त्तनपण्डितः कृष्णो यथा सुरलोकगर्वहन्ता प्रीणाति तथैव ब्रह्मकोपोत्थिताद्वाग्वज्रादिदं श्रीभागवतं वेदोदधिभ्य उद्धृत्य त्वां रक्षन् तत्परायणमखप्रवर्त्तनपण्डितः कृष्णो

भक्तिरहितदार्शनिकभूसुरलोकगर्वहन्ता प्रीणात्वित्याशयेन परीक्षितः स्वान्तःपातं मानयन् कृष्णप्रीतिं प्रार्थयते—देवे इति। यज्ञविप्लवेन या रुट् तया देवे इन्द्रे वर्षति सति वज्रैः रश्मभिश्च पुरुषानिलैश्च सीदत्पालपशुस्त्रिसीदन्तः पालाः पशवस्त्रियश्च यस्मिन् तत्तथा आत्मा स्वयमेव शरणं यस्य तद्गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकम्पी कृपालुरुत्स्मयन् प्रौढिमाविष्कुर्वन् अवलो बालो लीलया यथा उच्छिलीन्ध्रमेकेनैव करेणोत्पाटयति तथैवोत्पाट्य यो गोष्ठमपात् स गवामिन्द्र इति इन्द्र एवेन्द्रस्य मदं भिनत्तीति न्यायः कृष्णो नो मां परीक्षितम् एतान् श्रोतॄंश्च प्रति प्रीयात् प्रीणातु ॥ २५ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। षड्विंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

नारायणस्यांशमिति "जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्" इत्यनेन भगवदवतारः "नारायणोऽङ्गम्" इत्यनेन च कृष्णस्याङ्गभूतः नारायणः इत्युक्तम् "कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्" "एष वै भगवान्साक्षादाद्यो नारायणः पुमान्, स वै किलायं पुरुषः पुरातनो, य एक आसीदविशेष आत्मनि" इत्यादिभिः कृष्णस्य स्वयं भगवत्त्वमुक्तम्। एवं सति गर्गेण सम्भावनादोपानुत्पादनाय नारायणसम इत्युक्तम् श्रीनन्देन तु गोपासम्भावनानुत्पादनाय नारायणांशं मन्ये इत्युक्तम्। अन्ये (पां) च स्वस्वबुद्ध्यनुसारेण मेनिरे देवप्रवरौ क्व गायमानौ" "कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य" "मल्लानामशनिर्नृणां नरवरो स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्" इत्यादिषु देवप्रवरत्वनटतुल्यत्वमर्त्यत्वादयः नानाप्रतीतयः श्रीकृष्णे जाताः श्रीकृष्णस्तु न नारायणतुल्यः न च नारायणांशः न च नटतुल्यो मर्त्यांशन्यादिरूपं किन्तु सर्वशक्तिः सर्वात्मा सर्वकल्याणगुणराशिः निःसमानातिशयः सर्वकारणकारणः ब्रह्मनारायणपरमपुरुषादिनामध्येयः सर्ववेदैकवेद्यः सर्वस्मृतिपुराणेतिहासप्रसिद्धः इह च प्रतिप्रकरणं सुप्रसिद्धस्वरूपगुणादियाथात्म्य इति दिक् ॥ २३-२४ ॥ सर्ववेदार्थवित् भगवत्पुत्रः श्रीशुको महामुनिः दीनानुकम्पी स्वदुर्मदघ्नत्वादिगुणनिधेः स्वोपास्यस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य प्रीतिं प्रार्थयते— देवे इति यज्ञस्य विप्लवेन विघातेन या रुट् रोषस्तया हेतुभूतया देवे वर्षति सति वज्राश्मवर्षानिलैरशनिजलोपलकठिनवातैः सीदन्तः क्लिश्यन्तः पालाः पशवस्त्रियश्च यस्मिन् तत् आत्मा स्वयमेव शरणं रक्षिता यस्मिन् तत् गोष्ठं दृष्ट्वा अनुकम्पी उत्स्मयन् इन्द्रबाल्यदर्शनेन हसन् शैलमुत्पाट्य अबलो बालो लीलार्थमुच्छिलीन्ध्रं यथा तथा एकेन करेण बिभ्रत् दधत् गोष्ठमपात् पालितवान् इत्थं महेन्द्रमदभित् गवामिन्द्रः श्रीगोपालः नोऽस्माकं प्रीयात् प्रीयतां प्रसन्नो भवत्वित्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे षड्विंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

दृष्टान्तमन्यमनार्चक्षाणो गर्ग एवमाहेत्याह ॥ विष्णुपक्षानिति ॥ २१ ॥ तत्कर्मसु कृष्णकृतकर्मचरितेषु विस्मयो न कार्यः ॥ २२ ॥ मन्य इति साक्षान्नन्दवचः। नन्दमेतादृशो नन्दनस्तवेत्यानर्चुः पूजयामासुः। गतविस्मया नारायणश्चेत्सर्वं सम्भावितमिति गतविस्मयाः कृष्णं चानर्चुः ॥ २३-२४ ॥ निरन्तरहरिचरितसमीरणपरवशचेताः शुको बाललीलेदमचधिरिति मङ्गलं तन्वन्सर्वमङ्गलापतित्वांशिसदाशिवः सुतां गृहीत्वोद्दधार धरं किञ्च कैलासगिर्यगारश्चेति किञ्चिदनुवन्वेन सपरिकरमिमं गिर्युद्धरणपराक्रममनुवर्ण्य श्रीकृष्णो गोगोपानिव नः पायादपायादिति प्रार्थयते ॥ देव इति। यज्ञस्य विप्लवो भङ्गस्तज्जनिता च सा रुट् च रोषश्च तया देवे मघोनि वर्षति सति वज्राश्मवददायद्दषद्वद्धिमानं च तद्वर्षं तथाऽनिला वायवश्च तैः सीदन्तश्च सीदन्त्यश्च कम्पमाना पालाः पशवश्च स्त्रियश्च यस्मिंस्तत्। परवल्लिंगं द्वन्द्वतत्पुरुषयोरिति स्मरणात्। विशेषस्तु अधिकारश्च तद्धानिः प्रसङ्गादेव चिन्तितावित्यनुव्याख्यानव्याख्यासुधादितो बोध्यः। स्त्रियात्मेत्यत्राधिकारिवर्जितं च स्त्रियात्मादिकं। त्रियाद्यवयवात्मिकामितिवचणागमः। यद्वा या रमाया आत्मा स्वाम्ययं शरणं यस्य तत्। लक्ष्मीराकर उच्यत इति विश्वः। गोष्ठं दृष्टवाऽनुकम्पी शिखादिः। अनुकम्पा हि हृदयद्रवणं साऽस्यास्तीति सः। भक्तानुकम्पादतिशुद्धसंविद्यात्र इत्यनुव्याख्याव्याख्यासुधायामनुकम्पादनुक्रोशादित्युक्तेरकारान्तोऽनुकम्पशब्दः। ततश्चात इति निठनावितीन्वा। हृदयस्य द्रवीभावस्त्वनुकम्पेति कथ्यते। उपकारं कर्तुमिच्छा कृपेत्याहुर्मनीषिण इति शब्दनिर्णय इति चतुर्थतात्पर्योक्तेः। उत्स्मय उत्कृष्टहास एककरेण शैलं गोवर्धनं यथाऽवलबालो लीलोच्छिलीध्रं लीलासाधनं छत्राकं वा। उत्कृष्टं कदलीपुष्पं वा धरति तथोत्पाट्य। अधिपुरन्ध्रिशिलीन्ध्रसुगन्धिभिरिति माघव्याख्यायां शिलीध्राणां कदलीकुसुमानां कदल्यां तु शिलीध्रं स्यादिति शब्दार्णव इत्युक्तेः। उत्कृत्य बिभ्रदेककरेणेत्यत्रान्वेति। अपादपीपलदिति। महेन्द्रस्य मदोहन्ता तं भिनत्तीति स तथा गवामिन्द्र इदानीं गवां वेदादिवाचामिन्द्रः प्रतिपाद्यतयेति नः पायात्। वेदादिप्रतिपत्तिदोऽपि सन्नः पायादिति भक्तव्याकरणानुगुणं प्रार्थनमिति मन्तव्यम् ॥ २५ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्च य एतस्मिन् महाभागाः परमभाग्यव्यतिरेकेण परं नास्मिन् प्रीतिर्भवत्येतादृशे प्रीतिं कुर्वन्ति ते मानवा अपि भूत्वा शत्रून् जिग्युः, तदाह नास्य इति, अरय एतान् नाभिभवन्ति यतो विष्णुपक्षान् विष्णुः पक्षे येषां वैष्णवानासुरा असुरा-

वेशिनो यथा लोकेपि नाभिभवन्ति, लौकिकी कथेयमिति दृष्टान्तः ॥ २१ ॥ एवं भगवत्सामर्थ्यमुपपाद्योपसंहरति तस्मादिति, अत्र पाठभेदः, अयं कुमारो हे नन्द नारायणसमो गुणैः कृत्वा नारायणतुल्यः श्रिया कीर्त्यानुभावेन च नारायणतुल्यः, एतावद् गर्गवाक्यं, स्वयमाह तत्कर्मसु न विस्मय इति, तस्य भगवतः कर्मसु गोवर्धनोद्धरणादिषु विस्मयो न कर्तव्यः ॥ २२ ॥ एतादृश एवायं मम गृहेवतीर्ण इति ममाप्यत एवात्र न विस्मय इति सम्मत्यर्थं स्ववृत्तान्तमाहेत्यद्धेति, अद्धा साक्षान् मां प्रति सम्यगादिश्य भगवत्स्वरूपमुक्त्वा गर्गे स्वगृहं गते कृष्णं नारायणस्यांशमेवाहं मन्ये, चकारादहमपि गृहे गत्वा, पुरुषोत्र नारायणस्तस्यायमंशावतार इत्येतावज् ज्ञातवान् न त्वधिकं, अधिकमग्रे वक्ष्यति, ब्रह्मांशोयमित्यस्मिन्नर्थे न केवलं वाक्यं प्रमाणं किन्त्वनुभवोप्यस्तीत्याहाक्लिष्टकारिणमिति, न क्लिष्टं कदाचित् कृतवान् करोति वा, यदि जीवः स्यात् क्लिष्टं कुर्यात्, व्यसनैः पीडितो हि तथा करोति न त्वपीडितः, व्यसनाभावस्तु ब्रह्मण्येव यतः कृष्णो ब्रह्मेत्यहं मन्ये ॥ २३ ॥ एवमुपदेशे यज् जातं तदाहेतीति, गर्गेण पूर्वं गीतं वस्तुतो गर्गादपि पूर्वसिद्धं तदिदानीं नन्दवचः, तच् छ्रुत्वा व्रजौकसोत्यन्तासम्भावनारहिता मुदिता जाता इतिसम्बन्धः, न केवलं वाक्यप्रामाण्यं स्वयमपि कृष्णं तथाभूतं दृष्टवन्त इत्याह दृष्टश्चानुभावस्येति, दृष्टः श्रुतश्चानुभावो यस्य; अमितं च तेजो यस्य, स्वरूपतोपि सदानन्दस्य सम्बन्धि गर्गवाक्यं तच् छ्रुत्वा मुदिताः सन्तो नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाश्च जाताः, महान् नन्दो यस्यैतादृशः पुत्र इति नन्दपूजा भगवांस्तु पूजनीय एव, आश्चर्याभावः फलं, एवमध्यायत्रयेण सन्देहाभावपूर्वकमुपधर्मनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्माहात्म्यं भगवद्धर्मश्च स्थापितः ॥ २४ ॥ एतादृशधर्मप्रवर्तकं भगवन्तं शुको नमस्यति देव इति, स भगवान् गवामिन्द्रो नोस्माकं प्रीयात् प्रीतो भवतु, स एव प्रीतो भवति यः कस्यचित् कदाचित् प्रीतो भवति, अतस्तस्य प्रीतिलीलामाह देव इन्द्रे वर्षति सति, वर्षणमपि न यादृच्छिकं किन्तु यज्ञविप्लवरुषेन्द्रयागस्य विप्लवो नाशस्तेन रुड् रोषो न केवलं वृष्टिमात्रं किन्तु वज्राश्मपरुषानिलैः सह वज्रोश्मा परुषानिलश्च सात्त्विकतामसराजसा निरूपिताः, ततः किमत आह सीदत्पालपशुस्त्रीति, सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यत्र व्रजे तत् सीदत्पालपशुस्त्रि तादृशमप्यात्मशरणमात्मैव शरणं रक्षको यस्य तादृशं दृष्ट्वानुकम्पी जातः कृपावान् जातः, ततस्तद्दुःखनिवृत्त्यर्थमुत्स्मयन्नूर्ध्वं स्मितं कुर्वन् गोपानामज्ञानं स्थापयन्नेवैककरेण शैलं गोवर्धनमुत्पाट्याबलो बालो यथा लीलयोच्छिलीन्ध्रमुत्पाट्य बिभर्ति तथा बिभ्रद् गोष्ठमपाद् रक्षितवान्, न केवलं गोष्ठरक्षैव फलं किन्तु महेन्द्रमदभिद् महेन्द्रस्यापि मदं भिनत्ति गवां चेन्द्रो गोविन्द इत्याख्यां बिभर्ति, भाव्यर्थोयं, स प्रीयादितिप्रार्थना ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे पञ्चमस्य स्कन्धादितस्त्रयोविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ २२ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

देवे इत्यत्र सीदत्पालपशुस्त्रि इति गोष्ठमित्यस्य विशेषणं, व्रजे इति त्वर्थकथनम् ॥ २५ ॥

इति त्रयोविंशोध्यायः ॥ २३ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

विष्णुपक्षानिवासुरा इत्यत्र ननु विष्णुपक्षानिवेतिदृष्टान्तोनुचितः, एतस्यैव विष्णुत्वान् न ह्येकस्यैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभाव इत्याशङ्क्याहुः लौकिकी कथेयमिति दृष्टान्त इति, इयं गर्गेणोक्ता लौकिकानां बुद्धिमाश्रित्योक्तेति लौकिकी, अतो दृष्टान्तोक्तौ न दोष इत्यर्थः ॥ २१ ॥ मन्ये नारायणस्यांशमित्यत्र अधिकं अग्रे वक्ष्यतीति 'अक्लिष्टकारिण'मित्यनेन विशेषणेन ब्रह्मत्वं वक्ष्यतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

इति त्रयोविंशोध्यायः ॥ २३ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ये महाभागाः अनेकजन्मानुष्ठितसुकृता मानवा एतस्मिन् प्रीतिं कुर्वंति तानेतान् अरयः शत्रवो नाभिभवन्ति। तत्र दृष्टान्तमाह—विष्णुपक्षानिति। विष्णुना रक्ष्यमाणान् देवान् यथा असुरा नाभिभवन्ति तथेत्यर्थः॥ २१ ॥ यस्मादेवं तस्मात् हे नन्द! अयं कुमारो गुणादिभिर्नारायणसमः। एवं 'वर्णास्त्रय' इत्यारभ्य नन्दो गर्गवाक्यमाश्राव्य स्वयमाह—तत्कर्मस्विति। यस्मात् गर्गो नारायणसमत्वेनोक्तवान् तत् तस्मात् अस्य कर्मसु युष्माभिर्विस्मयो न कार्यः॥ २२ ॥ स्वनिश्चयमाह—इतीति। इत्येवमद्धा साक्षात् मां प्रति समादिश्य कृष्णप्रभावं निरूप्य गर्गे स्वगृहं गते सति अहं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये। साक्षान्नारायणत्वेऽपि तस्य स्वपुत्रत्वासम्भावनया नन्दस्य तदंशत्वाभिमानः। 'न केवलं गर्गवाक्यमेव तत्र प्रमाणम्, किन्तु तत्प्रभावदर्शनमपि' इत्याशयेनाह—अक्लिष्टेति। अक्लिष्टानि भक्तजनक्लेशनिवर्तकानि कर्माणि करोतीति तथा तमित्यर्थः॥ २३ ॥ अमिततेजसः अचिन्त्यप्रभावस्य कृष्णस्य दृष्टाः श्रुताश्चानुभावा यैस्ते व्रजौकसः इत्येवं गर्गगीतं, 'तत्कर्मसु न विस्मयः' इत्यादि नन्दवचश्च श्रुत्वा गतविस्मयाः आश्चर्यरहिता मुदिताश्च सन्तः नारायणबुद्ध्या श्रीकृष्णं तस्य नन्दपुत्रत्वाङ्गीकारात् नन्दमपि तत्पितृबुद्ध्या आनर्चु रिति

सार्धान्वयः ॥ २४ ॥ गोवर्धनोद्धरणं सपरिकरमनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य श्रीकृष्णस्य प्रीतिं प्रार्थयते–देवे इति । स्वयज्ञस्य विप्लवेन प्रतिरोषेण या रुट् क्रोधः, तया देवे इन्द्रे नाशाय वर्षति सति वज्राश्मपरुषानिलैः अशनिजलशर्करातीव्रवायुभिः सीदत्पालपशुस्त्रि सीन्दतः पालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिंस्तथाभूतं गोष्ठं व्रजं दृष्ट्वा अनुकम्पी आतकृप उत्स्मयन् प्रहसन् प्रौढिमाविष्कुर्वन् शैलं गोवर्धन-मुत्पाट्य उत्कृत्य एकेन करेण बिभ्रत् दधत् यो गोष्ठमपात् पालितवान् स इन्द्रमदभित् गवामिन्द्रः श्रीकृष्णो नोऽस्मान् वक्तृ-श्रोत्रादीन् प्रीयात् प्रीयतामित्यन्वयः । अनुकम्पायां हेतुमाह—आत्मशरणमिति । आत्मा स्वयमेव शरणं रक्षको यस्य तत् । 'देवे' इत्यादिपदैरन्यंरपरिहार्यत्वं सूचितम् । अनायासेन गोवर्धनधारणे दृष्टान्तमाह—अबल इति । बालो लीलार्थमुच्छिलीन्ध्रं छत्रं यथा बिभर्ति तथेत्यर्थः । 'इन्द्रमदभित्, इन्द्रो गवाम्' इति पदद्वयेन उत्तराध्यायार्थस्मरणं ज्ञेयम् ॥ २५ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोषवर्णने । षड्विंशो विवृतोऽध्यायो गर्गगीतनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

य इति ये महाभागा मानवाः एतस्मिन् त्वत्पुत्रे प्रीतिं कुर्वन्ति । विष्णुः पक्षे येषां तान् देवान् असुरा इव एतान् अरयः शत्रवो न अभिभवन्ति न तिरस्कुर्वन्ति ॥ २१ ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात् हे नन्द ! अयं ते कुमारो गुणैः श्रिया कीर्त्याऽनुभावेन च नारायणसमः इत्यन्तं गर्गवाक्यमाश्राव्याह । यस्मात् गर्गो नारायणसमत्वेनोक्तवान् तत् तस्मात् तस्य कर्मसु विस्मयो नास्ति । अतो युष्माभिर्विस्मयो न कार्यः यद्यपि गर्गवाक्यं गोपैः पूर्वं ज्ञातमेव बकवधानन्तरं तद्वचनात् तथापीदानीं समग्रतया श्रावितमिति विशेषः ॥ २२ ॥ इतीति ॥ इत्येवमद्धा साक्षात् मां प्रति समादिश्य कृष्णप्रभावं निरूप्य गर्ग स्वगृहं गते सति तदानीं तथा अमन्य-मानोऽपि इदानीम् एष अक्लिष्टानि क्लेशापहानि कर्माणि करोति अस्मान् अक्लिष्टान् क्लेशरहितान् करोति इति वा । तादृशं कृष्णं नारायणस्यांशं मन्ये ॥२६॥ इतीति सार्द्धम् ॥ अमिततेजसः अचिन्त्यप्रभावस्य कृष्णस्य दृष्टाः श्रुताश्चानुभावा यैस्ते व्रजौकसः इत्येवं प्रागुक्तं गर्गगीतं तत्कर्मसु न विस्मय इत्यादि नन्दवचश्च श्रुत्वा गतविस्मयाः आश्चर्यरहिताः मुदिताश्च सन्तः नारायणपितृबुद्ध्या नन्द-मानर्चुः ततो वनादागतं श्रीकृष्णं नारायणबुद्ध्या आनर्चुः ॥ २४ ॥ देव इति ॥ स्वयज्ञस्य विप्लवेन प्रतिरोषेण या रुट् क्रोधस्तया देवे इन्द्रे नाशाय वर्षति सति वज्रादशनिभिः अश्मभिः जलशर्कराभिः परुषानिलैश्च । परुषेति वर्षति च पाठः । सीदत्पालपशुस्त्रि-सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यस्मिन् तत् । कबभाव आर्षः । आत्मा स्वयं शरणं रक्षको यस्य तत् गोष्ठं व्रजं दृष्ट्वा अनुकम्पी भूरिदयः । णिनिप्रत्ययान्तम् । उत्स्मयन् प्रहसन्नेव । आर्षः शता । अबलो बालो लीलार्थमुच्छिलीन्ध्रं छत्राकं यथा बिभर्ति तथा शैलं गोवर्द्धनमुत्पाट्य उत्कृत्य एकेन करेण बिभ्रत् दधत् यो गोष्ठमपात्पालितवान् स इन्द्रमदभित् गवामिन्द्रः इत्युत्तराध्यायार्थं स्मरति । श्रीकृष्णो नोऽस्मान् वक्तृश्रोत्रादीन् प्रति प्रीयात् प्रीयताम् एतान् प्रीणातु वा ॥ २५ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अद्धा साक्षात् । समादिश्य उक्त्वा । अक्लिष्टकारिणं मंगलजनकं ॥ २३–२४ ॥ एवं कृष्णचरित्रकलापस्मरणेन प्रसन्नो जातः शुकः गोवर्धनधरप्रसन्नतां या च ते देव इति । यज्ञस्य विप्लवो भंगस्तज्जनितरोषेण इंद्रे वर्षति सति वज्राश्मपर्षाऽनिलैः वज्रतुल्याः अश्मानो जलमयपाषाणशकलानि च पर्षाऽनिलाः तीव्रवाताश्च तैः सीदंतः पाला गोपाः पशवश्च स्त्रियः गोप्यश्च यस्मिंस्तत् गोष्ठं आत्मशरणं आत्मास्वयं शरणं रक्षिता यस्य एवंभूतं दृष्ट्वा अनुकंपी बहुदयालुः सन् भूमार्थे मत्वर्थी यः उत्स्मयन् शरणागतवत्सलत्वगर्वं आविष्कुर्वन् सन् अबलो निर्बलः बालो लीलया उच्छिलीध्रं छत्राकं यथा तथा एककरेण शैलं उत्पाट्य ऊर्ध्वं कृत्वा बिभ्रत् ससाहोरात्रान् दधत् सन् गोष्ठं अपात् रक्षितवान् महेंद्रमदभित् गवां इन्द्रः सः श्रीकृष्णः नोऽस्मान् प्रीयात् प्रसन्नो भूयात् ॥ २५ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने गोपशंकानिरासो नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

य इति ॥ हे महाभाग, एतस्मिंस्त्वत्पुत्रे, ये मानवाः, प्रीतिं कुर्वन्ति, एतान्मानवान्, विष्णुपक्षान् विष्ण्वाश्रयान् देवान्, असुराः इव, अरयः शत्रवः न अभिभवन्ति ॥ २१ ॥ तस्मादिति ॥ तस्मात् हे नन्द, अयं, ते तव, आत्मजः पुत्रः, श्रिया, कीर्त्या, अनुभावेन, गुणैरन्यैरपि गुणैः, नारायणसमः भविता । अतः, हे गोपाः, तत्कर्मसु, विस्मयः न कार्यः । इति नन्द-स्योक्तिः ॥ २२ ॥ इतीति ॥ इतीत्थं, अद्धा स्फुटं, मां समादिश्य सम्यक् ज्ञापयित्वा, गर्गे स्वगृहं गते सति च, अहं अक्लिष्टानि क्लेशरहितानि अतिमानुषचेष्टितानि करोतीति तथाभूतं, कृष्णं नारायणस्य अंशं, मन्ये 'नारायणं साक्षात्' इति पाठः एव साधीयान् ।

पुरातनमपि तमन्यथा कर्तुरभिप्रायं स एव वेत्ति ॥ २३ ॥ इति नन्दवच इत्यादिका शुकोक्तिः ॥ इतीति ॥ इत्येवंविधं, गर्गगीतं गर्गाचार्योक्तं, नन्दवचः नन्देनानूदितवचनं श्रुत्वा, व्रजौकसः सर्वे व्रजवासिनो जनाः, गतविस्मया विगताश्चर्याः मुदिताः सन्तश्च, नन्दं, कृष्णं च, आनर्चुः पूजयामासुः बह्वमन्यन्त इति वा ॥ २४ ॥ गोवर्द्धनोद्धरणं सपरिकरमनुस्मरन् प्रकटितैश्वर्यस्य भगवतः स्वविषयप्रीतिं प्रार्थयते मुनिः ॥ देव इति ॥ यज्ञविप्लवेन यज्ञविघातेन हेतुना या रुट् तया हेतुभूतया, देवे इन्द्रे, वर्षति सति, वज्राश्मपर्षोनिलैः अशनिजलशर्करातीव्रवायुभिः, परुषशब्दे रकारगतोकारलोप आर्षः । परुषपर्यायस्तीव्रशब्दः । सीदन्तः क्लिश्यन्तः पाला गोपाश्च पशवो गवादयश्च स्त्रियो यशोदा गोप्यश्च यस्मिंस्तत्, आत्मा स्वयमेव शरणं रक्षिता रक्षणोपायश्च यस्य तत् । स्त्रियात्मेतीयङ्कार्पः । एवंविधं गोष्ठ दृष्ट्वा, अनुकम्प्यनुकम्पायुक्तः, उत्स्मयन् स्वमाहात्म्यमाविष्कुर्वंस्तावद्धसन्, अबलो बालः सन्नपि, शैलं गोवर्द्धनं लीलोच्छिलीन्ध्र लीलार्वमुत्पाटितं छत्राकं, यथा एकेनैव करेण, उत्पाट्य, बिभ्रद्विभ्राणः दधदित्यर्थः । एवंभूतो यः कृष्णः, महेन्द्रमदभित्, गवां इन्द्रः सन्, इत्युत्तराध्यायार्थं स्मृत्वोक्तम् । गोष्ठं, अपादरक्षत् । सः नः, प्रीयात् प्रसन्नो भवतु ॥ २५ ॥

षड्विंशे षड्विंशो दशमे दशमः परो हरिर्न्यक्तः । मां तु चतुर्विंशतितः पृथग्व्यङ्क्यात्सपञ्चविंशम् ॥ १ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्ष पुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इति नन्दवच इति : १०.२६.२४.

अनादिसिद्धमेवेशनामरूपनिरूपणम् । नन्देन गर्गवद् गीतं गर्गगीतपदात्स्फुटम् ॥ ११ ॥

नन्दस्त्वेवमिहास्य वक्ति महिमानं सत्प्रमाणाग्रगाद् गर्गादस्तसमस्तसंशयतमा वृद्धः स्वयं सत्यवाक् ।
कृत्यैरप्यनुमापका वयमतः सिद्धोऽयमद्धेश्वरो भूयोऽस्माभिरशेषकेलिषु कथं मूर्खैरकल्प्यल्पकः ॥ १२ ॥

न कस्यां क्रीडायां निगदितमवाच्यं मुहुरहो न कस्यां वा श्रीशो भृशमधरभावेन कलितः ।
न कस्यां वाऽस्माभिः करतलचपेटाभिघटितः कियत्तत्स्मर्तव्यं निखिलमपराधैकसदनम् ॥ १३ ॥

अहो नास्माद्भीतिः क्वचिदपि यदि स्याद्वयमिव तदा नागो लेशो यदिह सहकेलिः स्फुटतरा ।
परात्मा चेत्सत्यस्तदपि न हि भीर्मन्तुजनिता दयालुत्वं तस्मिन् जगति वहु जागर्ति सहजम् ॥ १४ ॥

यथा वाचाऽस्माभिः क्वचिदनुचितं स्यात्कृतमहो तथा भूयो भुक्तं सह निजकरेणार्पितमपि ।
धृतौ पादौ मूर्ध्नि क्वचिदिति कुतः पापमपि नः प्रसिद्ध यद्धर्मो पृथुतिमिरहृद्दीपकलिका ॥ १५ ॥

अहो दीनत्राता स्वजननिखिलागःसह कृत् कृपापारावारोऽनुपधिसुखदः श्रीपतिरयम् ।
इति श्रुत्वा गीतं तदभवदिहाद्यानुभवगं प्रसन्नास्यः पश्यत्यलमकृतमन्तूनिव हि नः ॥ १६ ॥

दिष्टं नष्टमनिष्टमद्यफलिताः पुण्यक्रियाः प्राक्कृता यत्संप्रत्यपि चैतदंघ्रिजरजोलाभैरलं भूषिताः ।
यद्योगीश्वरदुर्लभं सुलभतां प्राप्तं प्रयत्नं विना रूपं श्रीशमचिन्त्यचेष्टितमहो चक्षुश्चरं तत्त्वतः ॥ १७ ॥

निर्णीतमेतदधुनाऽचलयज्ञभोक्ता रूपान्तरेण सदयो भृशमेष एव ।
दृष्टः श्रुतो न हि गिरिर्बलिभुग्वपुष्मान् क्वापीत्ययं तु विशदोऽस्ति चराचरात्मा ॥ १८ ॥

आस्तामशेषदुरितक्षयकारिणाऽस्य गीतेन चारुचरितेन हृदो हि शुद्धिः ।
वाचश्च पादरजसा वपुषोऽखिलस्याप्यन्वर्थचिन्तनवशात्सुफलः प्रसादः ॥ १९ ॥

(नन्दमानर्चुरिति)

विज्ञाय संकटमसह्यमिह प्रयाति सर्वोऽपि मां शरणमार्तिभयाकुलात्मा ।
ऊर्ध्वं भवेन्मदुपकृत्यचलस्मृतिर्यः पूज्यः स चेति विशदं व्यतनोत् स नन्दे ॥ २० ॥

येन येन प्रसंगेन कस्मिंश्चिदपि कर्मणि । मत्कथागीतिसक्तो यस्तत्सखोऽहं सदेष्टकृत् ॥ २१ ॥

जानन् वदन्नपि च गर्गगिरं स नन्दो गोपास्तदुत्तरकृतौ मुमुहुर्मुहुर्यत् ।
प्रायः कलौ किल जनाः परमानुवादमात्रप्रगल्भमतयो बहुशो भवेयुः ॥ २२ ॥

देवे वर्षतीति : १०.२६.२५.

कृत्वा गवामवनमुल्वणवृष्टिपाताद् गोविन्दनामविशदं निजमुच्चकार ।
कारुण्यदुग्धजलधिर्य इतो भविष्यद्गोनिर्भयावसतये भयतः स पायात् ॥ २६ ॥

विगतार्तीन् प्रसन्नास्यान् गोपानालोक्य यः प्रभुः । कृतकृत्यमिवात्मानं मेने तस्मै नमोऽस्तु नः ॥ २४ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

कृष्णप्रिया

जो भाग्य भागजन इस से प्रीति करते हैं वे कभी अपने शत्रुओं से पराजित नहीं होते, जैसे भगवान विष्णुजीके आश्रित एवं पक्षस्थित देवों को दैत्य कभी जीत नहीं सकते ॥ २१ ॥ इसलिये हे नन्दराय ? यह आप के पुत्र श्रीकृष्णजी गुणों में, श्रीलक्ष्मी में कीर्ति में, एवं प्रभाव में साक्षात नारायण के समान है। नन्दजी ने आगे बढते कहा कि हे गोपजन श्री गर्गाचार्य जी के वचनों पर निःसंदेह होकर इन बालक के अद्भुत चरित्रां को सुनकर, देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥ २२ ॥ हे प्यारे गोपजन ! महर्षि गर्गाचार्यजी ऐसे वाक्य कह कर मथुरा की ओर प्रस्थान कर गए। तब से मैं अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्ण को नारायण का स्वरूप मानता हूँ ॥ २३ ॥ श्रीगर्गाचार्य मुनिवर्य ने, अपरिमित तेज बल परिपूर्ण, सदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र भगवान के विषय में कहे हुए वाक्यों को नन्दरायजो के मुखारविन्द से सुनकर भगवान श्रीकृष्णके प्रभाव वीर्य पराक्रम आदि को प्रत्यक्ष देखने और सुनने वाले वे व्रजजन सर्वथा प्रसन्न हुये। उन्होंने नन्दरायजी और श्रीकृष्णकी अर्चना की और उनके सारे संदेह नष्ट हो गए। ॥ २४ ॥ इन्द्रयाग अवरुद्ध होने पर क्रोधाविष्ट राजा इन्द्र, जब व्रज पर घोर वर्षा करने लगा, गोकुल एवं गोकुल वासियों पर व्रजपात एव शिलाओं की बौछार और भयानक आंधी के कारण सारे गोपाल ग्वालबाल वृद्ध नारीवृन्द, और पशुगण व्याकुल हो ऊठे, तब इन सबकी रक्षा के लिये जैसे नन्हें खेलते कूदते बालक आसानी से धरती के फूलको धरती से ऊठा लेता है, वैसे ही जिन्होंने करुणावश होकर लीलापूर्वक हसते हसते गिरिवर गोवर्धन को एक हस्त से उठा लिया और आप ही केवल जिसके एक मात्र रक्षक थे, उस दिव्य व्रज की रक्षा की। वही राजा इन्द्र के गर्व विनाशक श्रीगोविन्द भगवान् नित्य हम पर प्रसन्न हो ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणे हिन्दीभाषान्तरे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

—:०:—

अथ सप्तविंशोऽध्यायः

इलोकाः	अनु.	मि. उ.	इ.वं.	उ.	इलो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. इलो. अ.	सं. इलो.	अ.
२८	२०	७	१	६	१०१०	३६	३८	१०८४	३३॥	४

श्रीशुक[1] उवाच

गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे। गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥ १ ॥
विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः। पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥ २ ॥
दृष्टश्रुतानुभावोऽस्य कृष्णस्यामिततेजसः। नष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम्।
मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—गोवर्धने शैले धृते, व्रजे आसारात् रक्षिते, गोलोकात् सुरभिः च शक्र एव, कृष्णम् आव्रजत् ॥ १ ॥ व्रीडितः कृतहेलनः विविक्ते उपसङ्गम्य अर्कवर्चसा किरीटेन पादयोः एनम् पस्पर्श ॥ २ ॥ नष्टत्रिलोकेशमदः कृताञ्जलिः इन्द्रः दृष्टश्रुत अनुभावस्य अमिततेजसः कृष्णस्य आह ॥ ३ ॥ हे नाथ ! तव धाम, विशुद्धसत्वम् शान्तम् तपोमयम् ध्वस्तरजस्तमस्कम् वर्तते अयम् गुणसम्प्रवाहः मायामयः ते ग्रहणानुबन्धः न विद्यते ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

सप्तविंशे तदालक्ष्य कृष्णस्य प्राभवं परम्। वर्ण्यते सुरभीन्द्राभ्यामभिषेकमहोत्सवः ॥ १ ॥

गोवर्धने धृते शैल इति शक्रस्य भयेनागमने हेतुः आसाराद्रक्षिते व्रज इति सुरभेर्हर्षेणागमने ॥ १ ॥ तत्रेंद्र आगत्य किं कृतवांस्तदाह विविक्त उपसंगम्येत्यादिना अथाह सुरभिरित्यतः प्राक्तनेन ग्रंथेन विविक्ते एकांते। पादयोः पस्पर्श नमश्चकार ॥ २ ॥ अस्य श्रीकृष्णस्य श्रुतश्चासावनुभावश्च श्रुतानुभावः दृष्ट श्रुतानुभावो येन स इंद्रः। नष्टस्त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य सः ॥ ३ ॥ तत्र ममापराधं क्षमस्वेति वक्तुं तव तावदपराधो नास्त्येव त्वयाऽनुग्रह एव कृत इत्याह चतुर्भिः। विशुद्धसत्त्वमिति। तव धाम स्वरूपं शांतमेकरूपमतश्च तपोमयं प्रचुरज्ञानं सर्वज्ञमित्यर्थः। कुतः। ध्वस्तरजस्तमस्कं ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यस्मिन्। अत एवायमस्मदादिषु दृश्यमानो मायाकार्यरूपो गुणसंप्रवाहः गुणैः संप्रोह्यत इति तथा संसार इत्यर्थः। स ते तव न विद्यते यतः अग्रहणेनाज्ञानेनानुबध्यत इति तथा स सर्वज्ञस्य ते नास्तीत्यर्थः। अज्ञानसंबंधो वा ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

तत् गोवर्द्धनोद्धरणादिरूपम्। परम् अत्युत्कृष्टम्। प्राभवम् प्रभोर्भावः प्राभवं प्रभुताम् (१)। येन गोवर्द्धनेन गोव्रजरक्षा मद्दर्पहननपूर्वकं कृता स इंद्रमप्यन्यं करिष्यतीति भीतेरिंद्र आजगामेति। गोलोकात् गवामधिष्ठितस्थानात्। यद्वा—गोलोकात् प्राकृतात्, परमवैकुंठरूपगोलोकसुरभ्या इंद्रसाहित्यानुपपत्तेः। यद्वा—गोलोकं व्रजमुद्दिश्य 'ल्यब्लोपे' इति कर्मणि पंचमी। तथाह श्रुतिः "ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः अत्राहतदुरुगायस्य वृष्णः परमं परमवभाति भूरि" इति। अर्थः—तानि वां युवयोः रामकृष्णयोर्वास्तूनि रम्यस्थानानि गमध्यै गंतुम् उश्मसि उश्मः कामयामहे न तु तत्र गंतुं प्रभवामः। यत्र येषु वास्तुषु भूरिशृंगा महाशृंगवत्यो गावः अयासः संचरंति। अत्र भूलोके अहं निश्चितं तत् गोलोकाख्यं परमं पदं भूरि अत्यंतं मुख्यादपि विशिष्टमवभाति अत्यंतं शोभते। वृष्णः आनंदवपुषस्योरुगायस्य महाकीर्त्तेः श्रीकृष्णस्येत्यर्थः। यद्वा—गोलोकात् स्वर्गात् इंद्रसुरभ्या आव्रजतामित्यर्थः। 'दृग्दृष्टि—'इत्यादिना गोशब्दो हलायुधे स्वर्गवाचकोऽप्यस्तीति ॥ १ ॥ तत्र व्रजे। तदाह इंद्रकृत्यमाह। एकांते

१. बादरायणि—प्रा. पा.। २. इदमाह—वीर. विज.।

जनसंमर्दरहितस्थले, प्रकटस्थले मां दृष्ट्वा लोका हसिष्यंतीति भीतेरिति भावः। विविक्त इति। हंतहंत शक्रहतकस्य वज्रप्रहारैर्मम गोवर्द्धनपृष्ठं कीदृग्जर्जरमभूदिति दिदृक्षया कदाचित्प्रातरेकाकिनैव कृष्णेन तत्र गमनात्तदैवेंद्रेणाप्यागमनादिति बुध्यत। हरिवंशे व्यक्तम् "स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले" इति। शृणु भो शक्र त्वं प्रथममेकैक एव वाहनादिपरिच्छदं परित्यज्य दीनो भूत्वा स्वापराधं क्षमयितुं प्रभोश्चरणांबुजयोर्दंडवन्निपतेति सुरभ्या प्रेरणादुपसंगम्य। हंत भो देवेन्द्र किमिदं ते मत्यपारं वात्सल्यं दृश्यते, यद्बाल्यादज्ञत्वात्त्वन्मखहंतारं मामनुकंपितुमायासीति दृगिंगितेनोक्ते सति व्रीडितः। एनम् श्रीकृष्णम्॥२॥ गोवर्द्धनधारणे स्वाक्षिभ्यामादौ तत्प्रभावं दृष्ट्वा पश्चात्स्वस्यापराधित्वं निश्चित्य स्वात्मरक्षार्थं मेरुपृष्ठस्थब्रह्ममुखाच्छ्रुतोऽयमेवास्माकं परमगुरुरित्येवंलक्षणो यस्य स तथा। स्मिततेजः दुर्ज्ञेयप्रभावस्य॥३॥ तत्र तदा कृष्णपार्श्वे वा। इंद्र गर्वादेव त्वन्मखं विखंड्य त्वत्संप्रदानीयनैवेद्यं भोक्तुं गोवर्द्धनमखं मिषेण करवमिति त्वं वेत्स्येवेति वक्रोक्तिं ज्ञात्वा—भो नाथ त्वन्मायामोहितोप्यहमधुना त्वत्कृपालेशेन त्वत्तत्त्वं किंचिज्जानामीत्याह—विशुद्धेति। विशुद्धं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं सत्त्वं यस्मिंस्तत्तथा। अतश्च शांतत्वाच्च। इत्यर्थ इति। प्राचुर्ये मयट्। सर्वप्रचुरशब्दौ पर्यायौ, प्रगतः चुरः स्तेयं यस्मादिति विग्रहादित्यर्थः। तत्र हेतुमाशंकते—कुत इति। यस्मिन् धाम्नि। अत एव गुणसंबंधराहित्यादेव। संप्रोह्यते सचाल्पते सबध्यते वा। इत्यर्थ इति। गुणसंबंधस्यैव संसारपदार्थत्वादिति तात्पर्यम्। स संसारः। यतो हेतोः। न गृह्यते वस्तुयाथात्म्यमनेनेत्यग्रहणं तेनानुबध्यते सम्बध्यते प्राप्यते इत्यर्थः। इत्यर्थ इति। सर्वज्ञस्येश्वरस्य संसारसत्त्व ईश्वरतैव लोलुप्येतेति भावः। कार्यापेक्षया कार्यिणो मुख्यत्वात् 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति न्यायेनाह—अज्ञानसंबंधो वेति॥४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

गा नित्यं वर्द्धयतीति तथा तस्मिन्निति तत्साहाय्येन महावृष्ट्यापि तया गवां दुःखशङ्का निरस्ता प्रत्युत तृणाद्यधिकसम्पत्त्या समृद्धिरेव सूचिता व्रजशब्देन तत्रत्या मानुषाः पशुपक्ष्यादयश्च गोलोकात् प्राकृतात् नत्वप्राकृतात् श्रीगोकुलप्रकाशविशेषात् इन्द्रस्य तदीयसुरभिसङ्गासम्भवात् अप्राकृतगोलोकस्त्वष्टाविंशत्यध्यायान्ते दर्शयिष्यते इन्द्रस्य तया सहागमनं श्रीकृष्णस्य गोप्रियताज्ञानात् तत्रापि तस्या आद्यत्वात् अत्र इन्द्रोऽपि तदानयनार्थं तत्र गत्वा तस्मादाव्रजदिति सम्बध्यते, ब्रह्मणा चोदिता वयमिति सुरभिवाक्यात्तत्र तु ब्रह्मणा प्रेषितः तेनैव सह चागतस्ततश्च सुरभ्या समं ब्रह्माज्ञामादाय गत इति च अप्यर्थे चकारः महापराधित्वेन तस्यागमनं न सम्भवेत् तथाप्याव्रजदित्यर्थः। अनन्यगतिकत्वात् तत्र हेतुः कृष्णं स्वयं भगवन्तम् अतः शरणागतत्वेनाव्रजदित्यर्थः सुरभिपक्षे कृष्णं स्वसन्तानप्रियतागुणेनाकर्षकम् एवशब्देन शक्रस्य कैवल्यं बोध्यते वाहनादिपरिवारत्यागेनागमनात् ब्रह्मर्षिदेवमातॄणां चातिसङ्कटभिया दूरे स्थितत्वात् अत्र विशेषः श्रीवैशम्पायनेनोक्तः—

"स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले। कृष्णमक्लिष्टकर्माणं पुरुहूतः पुरन्दरः॥
तं वीक्ष्य बालं महता तेजसा दीप्तमव्ययम्। गोपवेषधरं विष्णुं प्रीतिं लेभे पुरन्दरः॥
तं साम्बुजदलच्छायं कृष्णं श्रीवत्सलक्षणम्। पर्याप्तनयनः शक्रः पुनः पुनरुदैक्षत"॥

अतः प्रीतिं लेभ इति पूर्वं श्रीकृष्णस्यैकान्ते दर्शनासम्भावनायासीत् तस्याप्यपगमादिति भावः। किञ्च, तत्रैव—

"तस्योपविष्टस्य सुखं पक्षाभ्यां पक्षिपुङ्गवः। अन्तर्द्धानगतश्छायां चकारोरगभोजनः"॥ इति।

श्रीपराशरेणापि—

"गरुडं च ददर्शोच्चैरन्तर्द्धानगतं द्विजम्। कृतच्छायं हरेर्मूर्द्ध्नि पक्षाभ्यां पक्षिपुङ्गवम्"॥ इति॥१॥

विविक्ते विजन इति गोकुले तेषां प्रकटागमनव्यवहाराभावात् क्षमापणाया एकान्ते व्यवहारसिद्धत्वाच्च श्रीकृष्णस्यैकाकित्वेन तत्र स्थितिश्च नभसि दूरतस्तत्सुरभिसहितं तं दृष्ट्वा केनापि व्याजेनागमनात् विविक्त उपसङ्गम्येति सुरभिं विनेति गम्यते तच्च स्वयमेवासावेकाकितया दीनो भूत्वा प्रथमं मिलत्विति सुरभ्या एव प्रेरणयेति ज्ञेयम्। तत्र हेत्वन्तरं व्रीडितः प्राप्तलज्जः कुतः? कृतं हेलनं दुरुक्त्यादिना भगवदवज्ञा येन किरीटेनेति दण्डवत्प्रणामं बोधयति अर्कवर्चसेति तस्य तत्पादयो रुपयोजितस्य शोभां वर्णयति॥२॥ अस्य बालगोपालरूपस्य कृष्णस्य नराकृतिपरब्रह्मणः दृष्टः श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेन श्रुतः श्रीब्रह्मादिमुखेनानुभावो येन सः अमितम् अनन्तं तेजो यस्य तस्येति अर्कतुल्यकिरीटतेजो युक्तोप्यसावर्ककोट्यधिकतेजः पुञ्जजाज्वल्यमानश्रीपादाब्जनखांशुलहरीकस्य तस्याऽग्रे दिवा खद्योतायमान इव वृत्त इति सूचयति, अत एव च सद्यो नष्टत्रिलोकेशमदः अमिततेजस इति—पञ्चम्यन्तं वा हेतौ। अर्थः स एव॥३॥ तत्र महापराधिन्यपि स्वस्मिन् श्रीभगवतः स्वाभाविकश्रीमुखप्रसक्त्या कोपाभावमवधार्याऽस्वस्थः सन् तं स्तुवन् आदौ निजापराधं क्षमयितुं परमेश्वरस्य तवास्मासु कोपादिकं न घटते वयं तु त्वन्मायामोहिताः संसारिणो बहुधा नित्यापराधिन एवेत्याह—विशुद्धसत्त्वमिति। विशुद्धसत्त्वमत्र प्राकृतसत्त्वानुस्यूतचिच्छक्तिवृत्तिविशेषो ज्ञेयः। यथोक्तं ब्रह्मसंहितायाम् "सत्त्वावलम्बिपरसत्त्वविशुद्धसत्त्वम् गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि" इति अन्यत्तैः। तत्र विशुद्धसत्त्वात्मकं स्वरूपमित्यर्थः यद्वा, तव धाम प्रकाशोयं विशुद्धसत्त्वं तदाख्यं स्वप्रकाशतारूपमित्यर्थः। विशुद्धपदस्य जाड्यांशपरित्यागेऽपि हेतुत्वात् सत्त्वपदस्याविर्भावार्थत्वात् तच्च शान्तं क्षोभरहितं किञ्च, तपोमयं ज्ञानातिशयरूपम्—

"ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः" ॥ इति

श्रीविष्णुपुराणवचनात् । ज्ञानप्रचुरं च शान्तत्वे हेतुः ध्वस्तरजस्तमस्कं विक्षेपावरणशून्यम् "अयमात्माऽपहतपाप्मा" इति श्रुतेः । प्राकृतसत्त्वं तु तत्र निषिद्धं श्रीविष्णुपुराणे—

"सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः । स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु" ॥ इति ।

"ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्व (संस्थितौ) संश्रये । ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते" ॥ इति च,

अतः स्वयं साक्षादनुभूयमानस्ते तव कारुण्यादिगुणाना सम्प्रवाहः परम्परा मायामयो न विद्यते न भवति कुतः ? ग्रहणेन तत्स्वीकारेणैव अग्रहणेन इन्द्रियकरणकपरिच्छेदाभावेनैव वा अनुबध्यते प्राप्यत इति तथा सः ॥ ४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

गाः सुखभोगादिना नित्यं वर्द्धयतीति तथा तस्मिन्निति महावृष्ट्यापि तथा गवां दुःखशंका निरस्ता; प्रत्युत शिलादिक्षालनेन तृणाद्यधिकसम्पत्त्या च समृद्धिरेव जातेति सूचितम् । व्रज-शब्देन तत्रत्या मानुषा पशुपक्ष्यादयश्च सर्व्व एव प्राणिनो लक्षिताः; गोलोको नाम वैकुण्ठलोकोपरि वर्त्तमानो गवां लोकः; तथा च श्रीहरिवंशे शक्रवाक्ये (विष्णु. प. १९।२९-३१)—

'स्वर्गादुर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः । तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनाम् ॥

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि ।

स हि सर्व्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान् । उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी ॥' इत्यादि ।

स्कान्दे श्रीभगवदर्जुनसंवादे—'एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम् । ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम् ॥" इति; तथा श्रीब्रह्मसंहितायां चादिपुरुषस्तोत्रे (५।४८)—आनन्दचिन्मयरस प्रतिभाविताभि,-स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः । गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥' इत्यादि । ब्रह्मलोकः श्रीवैकुण्ठलोक इत्यादिदमेषां व्याख्यानञ्च श्रीभगवतामृतगोलोकमाहात्म्यान्ते कृतमेवास्ति । तस्मात् सुरभिः शक्रश्चाव्रजत् । तत्र च गोलोकस्थ-गोकुलमुख्यां गवां मूलभूतां सुरभिं श्रीभगवता स्ववंशरक्षणात् परमहर्षेण तदन्तिके श्रीगोवर्द्धने समागच्छन्तीं दृष्ट्वा, तस्य प्रीतिपात्रभूतां नत्वा, परमभक्त्या प्रसाद्य, तया सह शक्रः स्वर्गादगच्छदिति ज्ञेयम् । कश्यपपत्नी गवापत्या शक्रविमाता सुरभिस्तु स्वर्ग एव निवसति, अतः साऽन्यैव गोलोके तस्या वसत्यसम्भवात् । अप्यर्थे चकारः, महापराधित्वेन लज्जाभयादिना तस्यागमनं न सम्भवेत्, तथाप्यागाव्रजदित्यर्थः; अनन्यगतिकत्वात् । तत्र हेतुः—कृष्णं साक्षाद्भगवन्तम्, यद्वा, शरणागतवात्सल्यादिनिजाशेषगुणप्रकटनपरमतः शरणागतत्वेनाव्रजदित्यर्थः; यद्वा, तत्प्रियजनसंगबलादाव्रजत्, यतः कृष्णं प्रियजनैकवश्यमित्यर्थः; सुरभिपक्षे निजरूपगुणादिना परमानन्दकरं जगच्चित्ताकर्षकं चेति, एव-शब्देन तस्य कैवल्यं बोध्यते, भयेन दैन्येन च वाहनादिपरिवारपरिच्छदत्यागेन एकांकितया गमनात् । अत्र विशेषः श्रीवैशम्पायनेनोक्तः, (हरिवंशे विष्णु. प. १९।३-५)—

'स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले । कृष्णमक्लिष्टकर्म्माणं पुरुहूतः पुरन्दरः ॥

तं वीक्ष्य बालं महता तेजसा दीप्तमव्ययम् । गोपवेशधरं कृष्णं प्रीतिं लेभे पुरन्दरः ॥

तं सोऽम्बुजदलश्यामं कृष्णं श्रीवत्सलक्षणम् । पर्य्याप्तनयनःशक्रः पुनः पुनरुदैक्षत ॥'

किञ्च, (विष्णु. प. १९।७)—'तस्योपविष्टस्य सुखं पक्षाभ्यां पक्षिपुंगवः । अन्तर्द्धानं गतश्छायां चकारोरगभोजनः ॥' इति । श्रीपराशरेणापि (वि. पु. ५।१२।४)—'गरुडञ्च ददर्शोच्चैरन्तर्द्धानगतं द्विज । कृतच्छायं हरेर्मूर्ध्नि पक्षाभ्यां पक्षिपुंगवम् ॥' इति ॥ १ ॥ विविक्ते विजन इति । कदाचिद्गोपा द्वयेण शपेयुः, अवज्ञया वोपहसेयुरित्याशंकया, पूर्व्वमेव श्रीभगवता कथञ्चित् कुत्रापि तेषां प्रस्थापनात्, निजाभिषेकापेक्षया श्रीबलदेवस्य गौरवेण संगेऽनानयनाच्च, उपसमीपे, सम्यक् मूर्ध्नि बद्धाञ्जल्यवनतमुखत्वादिप्रकारेण गत्वा, यद्यपि सुरभेरनुगतत्वेन पश्चादेव तस्योपसंगतिर्युक्ता, तथाप्यादौ तस्य सा भगवद्रूपेण वा कर्षणाद्वैर्य्यहानेः; यद्वा, भगवता सह प्राक्संगतायाः सुरभेः पश्चादेव तस्य संगतिरुशब्दात् ज्ञेया, यद्वा, उप अनु सुरभेः पश्चात् स्थित्वा संगतेत्यर्थः; तथापि भावः स एव । तत्र हेतुः—व्रीडितः प्राप्तलज्जः; कुतः ? कृतं हेलनं दुरुक्त्यादिना भगवदज्ञानेन, यद्वा, पूजाभङ्गेन भगवता यस्य सः, अर्कस्येव दूरन्यापि वर्चो यस्य तेन, एनं गोपरूपेण वर्त्तमानस्तत्प्रभुं पादयोः पस्पर्शेति लज्जाभयादिना दूरत एवाष्टांगप्रणामं बोधयति ॥ २ ॥ अस्य श्रीबालगोपालरूपेण वर्त्तमानस्य कृष्णस्य नराकारपरब्रह्मणः, अमितमनन्तं तेजो तस्येति अर्कतुल्यकिरीटतेजोयुक्तोऽप्यसौ अर्ककोट्यधिकतेजः पुञ्जजाज्वल्यमानश्रीपादाब्जकनिष्ठनखाग्रांगुलहरीलवेन तदग्रे दिवा खद्योतायमान इव वृत्त इति सूचयति; अतएव सद्यो नष्टत्रिलोकेशमदः, अमिततेजस इति पञ्चम्यन्तं वा, हेतौ अर्थः स एव; किञ्च, दृष्टः साक्षादनुभूतः श्रीगोवर्द्धनधारणादिना अत्रागमनमात्रेण वा, श्रुतोऽनुभावो माहात्म्यविशेषो येन, अतएव कृताञ्जलिरिदं वक्ष्यमाह । यद्वा, तादृशोक्तिस्फूर्त्तौ हेतुः—दृष्टो गोवर्द्धनधारणादि-लीलारूपविशेषानुभावेन, श्रुतश्च शास्त्रादिना अनुभावो यस्य, अतस्तदनुरूपं तुष्टावेत्यर्थः । इति स्तुतेरुत्कृष्टता सूचिता ॥३॥ तत्र महापराधिन्यपि स्वस्मिन् श्रीभगवतः स्वाभाविकश्रीगुरुप्रसक्त्या कोपाभावमवधार्य

आश्वस्तः संस्तं स्तुवन् आदौ निजापराधं क्षमयितुं 'परमेश्वरस्य तवास्मासु कोपावज्ञादिकं न कथञ्चित् कदाचिदपि घटते, वयन्तु त्वन्मायामोहिताः संसारिणो बहुधा नित्यापराधिन एव' इत्याह—विशुद्धमिति । यद्यपि श्रीभगवद्रूपं गुणातीतं सच्चिदानन्दघनमेव, तथापि विशुद्धसत्त्वमिति लोभ-क्रोधादिरहित-सत्त्वगुणस्वभावसादृश्यदार्ढ्यमात्रेणोक्तम्, तत्र यद्यपि देवा अपि सात्त्विकास्तथापि त्वय्येव तेषां लोभादिसम्भवनाद्विशुद्धेत्यादि-विशेषणैरात्मादिदेववर्गस्वभावो व्यवच्छिन्नः । अन्यत्तैर्व्याख्यानम्; यद्वा, विशुद्धसत्त्वं चिच्छक्तिविलासभूतं नित्यानन्दरूपम्, यद्वा, भो विशुद्ध ! सर्व्वदोषरहित । मायागुणस्पृष्टेति वा, तव धाम श्रीमूर्त्तिः सत्त्वं सत्त्व-मात्रं ब्रह्मधामेत्यनेन ब्रह्मघनत्वमायातमेव; कथम्भूतं सत्त्वम् ? तपः चित्तैकाग्र्यं तन्मयं तदेकसाध्यमित्यर्थः । कथम्भूतं धाम ? ध्वस्ते अतिविनष्टे निरस्ते वा रजस्तमसी सेवकानां यस्माद् येन वा तत्, अतोऽयं साक्षादनुभूयमानस्ते तव कारुण्यादिगुणानां सम्प्रवाहः परम्परा मायामयो न भवति; कुतः ? ग्रहणेन त्वत्स्वीकारेणैवानुबध्यते प्राप्यत इति तथा सः, अनन्यसाध्यतया तस्य स्वप्रकाशत्वपर्य्यवसानेन गुणातीतत्वासिद्धेः, यद्वा, ध्वस्तरजस्तमस्कत्वेन त्वत्सेवकानामपि तेषां गुणप्रवाहः संसारो नास्त्येव, यतस्तेऽ ग्रहणेन त्वदज्ञानेनैवानुबध्यत इति; यद्वा, धाम वसतिस्थानं गोष्ठमित्यर्थः । अतोऽत्रापि मायामयो गुणसंप्रवाहो न विद्यते; अस्यापि त्वत्सदृशत्वात्, अतो मयात्र किं कर्त्तुं शक्यते, तथापि यत्तादृशं कृतं तन्महाग एव ममेति भावः । यद्वा, विशुद्धं सत्त्वं प्राण्येव तव धाम निवासस्थानम्; कथम्भूतम् ? शान्तं शान्तियुक्तम्, अतस्तपोमयं तपःप्रचुरम्, अतएव तस्मिन्नयं नास्ति, अन्यत् समानम्; अतो मम तद्वैपरीत्येन हृदि तदभावात् त्वज्ज्ञानं नाभूत्, सदा संसारो महापराधश्च जात इति भावः ॥ ४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

विविक्ते विजनदेशे ॥ २-३ ॥ विशुद्धसत्त्वं रजस्तमोरहितं सत्त्वं धाम स्थानं ते मायामयोयं त्वच्छरीरप्रकृतिपरिणाम-भूतः एवं विभूतिमुक्त गृहणानुबन्धि शरीरगृहणसाधनं कर्म ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ कृतापराधेनेन्द्रेण स्तुतिपूर्वकं क्षमापितस्य तदनुमहप्रकारं सुरभीन्द्रादिकृतक्षीरगङ्गाजलाद्यभिषेकप्रकारं तन्निमित्त गोविन्दनामधेयं तदात्विकं तुम्बुरुनारदहृष्टप्रयुक्तगानादिप्रकारं चाह—सप्तविंशेन, तत्र प्रथम शक्रागमनं तत्कृतश्रीकृष्णस्तवनं चाह गोवर्द्धन इति । सुरभिः कामधेनुः गोवर्द्धनाख्ये शैले पर्वते धृते सति कृष्णेनेति इतीन्द्रस्य समयागमने हेतुः आसाराद्व्रजे रक्षिते सतीति सुरभेः सहर्षागमने हेतुः ॥ १ ॥ तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवांस्तत्राह—विविक्त इत्यादिना अथाह सुरभिरित्यतः प्रोक्तनेन ग्रन्थेन । कृतं हेलनमपराधो येनात एव व्रीडितो लज्जितोऽत एवैकान्ते समीपमेत्याऽर्मस्येव वर्चो यस्य तेन किरीटेनैनं कृष्ण पादयोः पस्पर्श नमश्चकार ॥ २ ॥ दृष्टेति । अमितं तेजः प्रभावो यस्य तस्य कृष्णस्य दृष्टः श्रुतश्चानुभावो येन तथाभूतोऽत एव नष्टोऽपगतः त्रिलोकेशोऽहमिर्तिविमदो यस्य कृत अञ्जलिर्येन तथाभूत इदं वक्ष्यमाण स्तुत्यात्मकं क्षमापणात्मकं च वाक्यमाह ॥ ३ ॥ तत्र स्तुत्यात्मकं वाक्यं तावद्दर्शयति - विशुद्धसत्त्वमित्यादिना । तत्रेतः प्राक् त्रिलोकेशमदाऽऽविष्टोहमधुना यथाश्रुताद् वमानुष-त्वन्माहात्म्यावलोकनाध्यवसितनित्यनिरुपाधिकत्रिलोकेशत्वं त्वदसाधारणमिति मत्वा त्यक्तत्रिलोकेशमदोऽभवमित्यभिप्रायेणाऽ-कर्मोपात्तविभूतिद्वयसम्बन्धविशिष्टं स्तौतीन्द्रः विशुद्धेति । तव धाम स्थानं परमव्योमेति यावत् विशुद्ध रजस्तमोभ्यामननुविद्धं सत्त्वं सत्त्वमयमत एव ध्वस्तरजस्तमस्कं निर्धूतरजस्तमोगन्धमत एव शान्तं रागद्वेषादिरहितं केवलं त्वदुपासनात्मकतपस आगतं ततोऽगम्यमित्यर्थः । तवेति स्वस्वामिभावरूपसम्बन्धे षष्ठी एवं नित्यविभूतिनायकत्वमुक्तम् । अथ तदेव धाम विशिंषन् लीलाविभूति-नायकत्वमाह—ते तवायं मायामयः मायाया आगतः पूर्वत्रात्र च "तत आगतः" (४।३।७४) इत्यधिकारे "मयट्च" (४।३।८२) इति मयट् सङ्कल्पमात्रपरिक्लृप्त इत्यर्थः । सत्त्वादिगुणकार्यरूपः संसारस्तन्मूलकः ग्रहणानुबन्धः शरीरग्रहणकारणभूतः कर्मानु-बन्धश्च न विद्यते यत्रेति शेषः । यत्र गुणसंप्रवाहः ग्रहणानुबन्धश्च न विद्यते तथाभूतं त्वद्धामेत्यर्थः । तव मायामय इति गुणसं-प्रवाहस्य भगवत्सङ्कल्पायत्तत्वोक्त्या तस्य तावदधीन्यलाभाल्लीलाविभूतिनायकत्वमुक्तं भवति ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

"तस्मिन्नप्यसुरावेशे गते प्रकृतिरेव तु" इति वचनात् देवस्वभावप्रकटनपूर्वकं सुरभिक्षीराभिषेकेण शक्रस्तुत्या च हरि-माहात्म्यस्यातिसिद्धत्वान्मुमुक्षुभिस्तस्मिन्नतिशयितं प्रेम विधेयमित्यस्याध्यायस्यारम्भः । तत्र सुरभीन्द्रयोरागमनं कथयति, गोवर्द्धन इति, गोलोकाद्गवामधिकृतस्था नासुरभिः इन्द्रस्तु स्वर्गलोकात्—

"दिग्दृष्टिदीधितिस्वर्गवज्रवाग्बाणवारिषु । भूमौ पशौ च विद्वद्भिर्गोशब्दो दशसु स्मृतः" ॥ इति हलायुधः ।

यो हरेर्विरोधमाचरत्स एवाव्रजदित्यन्वयः ॥ १ ॥ विविक्तं एकान्ते "विजिर् पृथग्भावे" इति धातुः जन-सम्मर्दराहित्यस्थल इत्यर्थः ॥ २ ॥ इदानीं दृष्टः पूर्वं श्रुतोऽनुभावो येन स तथा इन्द्र इदमाह ॥ ३ ॥ कीदृशं तत्राह—विशुद्धेति । अहं तव धाम गृहस्थानीयं स्वरूपं शरणं प्रपद्य इति शेषः । अनन्तपदार्थराशि गृह्णातीति गृहम् । ननु, गृहवत्सत्त्वादिगुणदारुमी

रचितं चेत्कालान्तरे जीर्णं स्यादित्यत्राह—विशुद्धेति । विगतं शुद्धसत्त्वं रजस्तमोमिश्ररहितं केवलसत्त्वगुणो यस्मात्तथा चारुतरपदार्थैः कुशलपुरुषेण रचितं न चेन्नयनशुभगं न स्यादित्यत्राह–शान्तमिति । शान्ते मङ्गलम् । "शान्तिः प्रशममङ्गले" इति अत एव सुखनिष्ठ वा क्षोभरहितं वा नन्वेवं चेत्पाषाणकल्पमित्यत्राह–तपोमयमिति, ज्ञानात्मकं यदासत्त्वमपि न सम्बध्यते तदा रजःसम्बन्धो नास्तीति किं वक्तव्यमितिभावेनाह—ध्वस्तेति । अत्र लिङ्गमाह, मायामय इति यत्र त्वयि अयं मायामयः भगवदिच्छानिमित्तगुणसम्प्रवाहः त्रिगुणसम्बन्धो न विद्यते यस्मात्तस्मादिति शेषः "विद सत्तायाम्" इति धातोः जीववत्सम्बन्धो नास्ति किन्तु सृष्ट्यादौ प्रेरकत्वसम्बन्धोऽस्तीति कृत्वा न विद्यते इति कीदृशः अग्रहणाऽनुबन्धः अग्रहणमाग्रहः स एकानुबन्धो गुणभूतो यस्य स तथा। यद्वा, यत्र गुणसम्प्रवाहे अग्रहणम् अज्ञानमनुबध्नातीत्यग्रहणाऽनुबन्धः अनेन कार्याभावे कारणाभावोऽनुमीयते इति सूचितम्॥४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

गोलोकात् प्राकृतादेव नत्वप्राकृतात् इन्द्रस्य तदीयसङ्गो न सम्भवतीति "इन्द्रं नरत्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा चोदिता वयम्" इति सुरभिवाक्याच्चेदं लभ्यते श्रीब्रह्मपार्श्वे भयाद्गतः शक्रस्तदाज्ञया गोलोकात् सुरभिमानीय पुनस्तथा तदाज्ञयागत इति ॥ १॥ विविक्तं विजने श्रीवैशम्पायनेन स्थानं चोक्तम् "स ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले" इति विविक्तत्वञ्च दूरतस्तं दृष्ट्वा बहुलपुष्पहरणादिकमिषेण सखीनां दूरतः प्रस्थापनात् श्रीरामस्य च तद्दिने कथञ्चित् अनागमनादिति ज्ञेयम् ॥ २-३ ॥ विशुद्धं सत्त्वमिति व्याख्या ॥ ४-६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतो बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ गवां रक्षणतः परमसन्तुष्टो सुरभिर्गोलोकात् सुरभिलोकादागता स्वक्षीरैः कृष्णमभिषेक्ष्यतीत्युपक्रामति गोवर्द्धने धृत इत्यादि । कृष्णमाव्रजत् कृष्णमाससाद ततः शक्रश्च स्वलोकादात्रजदित्यर्थः ॥१॥ उभयोः समागमे शक्रस्य प्रथमचेष्टितमाह–विविक्तमित्यादि । अभिमानातिरेकात् कदाचिच्चरणपतितं मां गोपाः पश्येयुरिति लज्जया विविक्तं यथा भवति तथा उप निकटे सङ्क्रम्य लोकेऽधायि, अपराद्धो जनस्तथैवाचरति । किरीटेनैव पस्पर्श, न तु शिरसा सङ्कोचातिशयात् साक्षात् स्पर्शाक्षमः । अत्र हेतुः व्रीडितः । कुतः ? कृतहेलनः ॥ २ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

गोलोकात् सुरभिलोकात्, न तु गोलोकाख्यवैकुण्ठात् ॥ १ ॥ विविक्त इति लोकलज्जाभयात् सर्वात्मनि तस्मिन् पुनर्लज्जा नास्त्येव, पादस्पर्शनमिन्द्राभिमानित्वाल्लोकदृष्ट्या लज्जाकरं भवति ॥ २ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सप्तविंशे मयादिन्द्रस्तुतिस्तत्र कृपा हरेः । सुरभ्या चाभिषेको यद्गोविन्देत्यभिधाऽभवत् ॥

आसारद्रक्षिते व्रजे इति शक्रस्य भयेनागमने हेतुः सुरभेस्तु ब्रह्माज्ञया भगवदभिषेकः शक्रसाहाय्यञ्च ब्रह्मणा चोदिता वयमिति तदुक्तेः गोलोकात् प्राकृतादेव नत्वप्राकृताद्वैकुण्ठविशेषात् तदीयसुरभेरिन्द्रसाहित्याऽनुपपत्तेः ॥ १ ॥ विविक्त इति हन्त हन्तः शक्रहतकस्य वज्रप्रहारैर्मम गोवर्द्धनपृष्ठ कीदृशं जर्जरमभूदिति दिदृक्षया कदाचित् प्रातरेकाकिनैव कृष्णेन तत्र गमनाद्दैवेन्द्रेणाप्यागमनादिति बुद्ध्यते दर्शनं न स्थानं च हरिवंशे व्यक्तम् । "ददर्शोपविष्टं वै गोवर्द्धनशिलातले" इति । शृणु भो ! शक्र त्वं प्रथममेक एव वाहनादिस्वपरिच्छदं परित्यज्य दीनो भूत्वा स्वापराधं क्षमापयितुं प्रभोश्चरणाम्बुजयोर्दण्डवन्निपतेति सुरभ्या प्रेरणादुपसङ्क्रम्य हन्त भो देवेन्द्र ! किमिदं ते मय्यपारं वात्सल्यं दृश्यते यद्बाल्यादज्ञत्वात् त्वन्मखहन्तारं सागसमपि मामनुकम्पितुमायासीति दृगिङ्गितेनोक्ते सति व्रीडितः ॥ २ ॥ आदौ दृष्टः स्वनेत्राभ्यामेव पश्चादपराधित्वं स्वस्य निश्चित्य परित्राणोपायजिज्ञासया मेरुपृष्ठं गत्वा श्रुतो ब्रह्ममुखादनुभावः प्रभावो येन सः ॥३॥ गर्वादेव त्वन्मखं विखण्ड्य लोभादेव त्वत् सम्प्रदानीयनैवेद्यं भोक्तुं गोवर्द्धनमखमिषमेवाकरवमहमिति तत्तत्त्वं त्वं जानास्येवेति स्वस्मिन् वक्रोक्तिमाशङ्क्य भो नाथ त्वन्मायामोहितोऽप्यहं त्वत्कृपालेशेनाधुना त्वत्तत्त्वमेतन्मात्रं त्वहं जानामीत्याह–विशुद्धमिति, द्वाभ्याम् । तव धाम स्वरूपं शान्तमनुग्रं तपोमयं ज्ञानस्वरूपं तर्हि किं सत्त्वगुणोत्थं विशुद्धसत्त्वम् अप्राकृते चिदानन्दमयमित्यर्थः । अतो रजस्तमसोस्त्वयि सम्भावनैव नास्ति प्रत्युतान्यगतयोरपि तयोस्त्वत्तो ध्वंस एवेत्याह—ध्वस्तं रजस्तमश्च यस्मात् यत् स्मरणादिकर्त्तुरपि रजस्तमसी नश्यत इत्यर्थः । अतोऽस्मिन् जगत्यसदा दिपु यो गुणानां सम्यक् प्रवाहः संसाररूपमायामयः अयं ते तव नैव विद्यते । ननु, जीववन्मास्तु किन्तु मायामधीनीकृत्य कदाचित् कौतुकवशादस्तु नात्र कापि दोषस्तत्राह–अग्रहणानुबन्धः न विद्यते ग्रहणस्यानुबन्ध आकाङ्क्षापि यत्र सः ॥ ४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृता सिद्धान्तप्रदीपः

सप्तविंशेऽध्याये भगवत्प्रभावदर्शनेन भगवन्तं शरणं गतेनेन्द्रेण कृता स्तुतिः सुरभीन्द्रकृतो भगवदभिषेकमहोत्सवश्च वर्ण्यते—गोवर्द्धने इति । गोवर्द्धने धृते शैले इतीन्द्रस्य भयेनागमने हेतुः "आसाराद्रक्षिते व्रजे" इति सुरभेर्हर्षेणागमने हेतुः इन्द्रलोकादव्रजत् सुरभिः गोलोकादव्रजत् गोलोकः सर्वलोकोपरि नित्य एव भगवल्लोकः तदुक्तं हरिवंशे ।

"अपामधस्ताल्लोको वै तस्योपरि महीधराः।
नगानामुपरिष्टाद्भूः पृथिव्युपरि मानुषाः। मनुष्यलोकादूर्ध्वन्तु खगानां गतिरुच्यते॥
आकाशस्योपरि रविर्द्वारं स्वर्गस्य भानुमान्। देवलोकः परस्तस्माद्विमानगमनो महान्॥
यत्राहं कृष्ण देवानामिन्द्र विनिहितः पदे।
स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः। तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषां च महात्मनाम्॥
तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयेति हि। स हि सर्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान्"॥

महाकाशगतः परमव्योमादिशब्दवाच्यपरमधामाभिन्नः। यद्वा, महाकाशशब्दोऽत्र परब्रह्मपरः परब्रह्मणो निःसमानातिशयव्यापकत्वसूचनार्थः॥ १॥ तत्र प्रथममिन्द्रेण कृतं प्रणामादिकं दर्शयति—विविक्त इत्यादिना। एवं श्रीकृष्ण पादयोः किरीटेन पस्पर्श नमश्चकार॥ २-३॥ नित्यलोकवासी अनित्ये प्राकृते लोकेऽवतीर्य्य तद्दोषगन्धास्पृष्ट एव जननिग्रहानुग्रहौ तत्तत्प्राण्यधिकारानुसारेण करोषि ननु रागद्वेषाभ्यां संसारीव तव संसारित्वाभावादित्याह, विशुद्धसत्त्वमिति द्वाभ्याम्। तव धाम स्थानं विशुद्धसत्त्वम् त्रिगुणप्रकृतिकालभिन्नम् अनावरकस्वभावमचेतनं द्रव्यम् "तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतेः। शान्तं निरुपद्रवम तपोमयं ज्योतिर्मयं प्रकाशात्मकमित्यर्थः। "आदित्यवर्णनम्" इति श्रुतेः। ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यस्मिन् तत् अयं मायामयः स्वच्छक्तिविकाररूपः गुणैः सम्प्रोह्यते इति गुणसम्प्रवाहः संसारः तं तव न विद्यते भगवान् संसार नियन्तेत्यर्थः। यतः ग्रहणेन ममेदं देहगेहादिद्वारा प्राप्यं भवत्येवंभूतेन ग्रहणेनानुबद्ध्यते इति ग्रहणानुबन्धः बद्धजीवविषय इत्यर्थः॥ ४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

॥ हरिः ॐ॥ अत्यल्पसत्त्वसुरावेश इत्युक्तासुरावेशवशकार्यं शचीशस्य निरूप्याधुना तस्मिन्नप्यसुरावेशे गते प्रकृतिरेव स्थित्यन्तशः शंसितसुत्रामा किं तवाकरोदनन्तरं वारिदवारणं कृत्वा वारणेन्द्रग इति परीक्षकपरीक्षिन्मानसीं शङ्कामपाकुर्वन्हरौ निरन्तररतिर्मुक्तिसाधनमिति बोधयत्यध्याये। तत्रादौ सुरभ्याः सुरर्षभस्यागमनादागमनमवगमयति शुक इति कथयति॥ श्रीशुक इति। गोवर्धने शैले धृते सति। आसारात्स्वाज्ञया पयोमुङ्मुक्ताद्धारासम्पाताद्व्रजे येन रक्षिते सति गोलोकात्स्वर्गलोकात्। गोः स्वर्गवज्राम्बुभूमिष्विति विश्वः। गोरित्येतेन पूर्वयद्गोलोकादित्यूचे तेन को बाऽवादीदासारासारत्वामिव व्रजरक्षण चेत्यतः स्वस्य गोभिः सर्वनेत्रैर्लोकोऽवलोकस्तस्मादित्यबोधयदर्थमिति तात्पर्यमवधेयं। दृष्टानुभाव इत्युरस्वारस्यं चैवं सति भविष्यतीति ज्ञेयं। आचार्या अपि सहस्रगुरगाधगुमध्यमस्थ्यादिति सूचितवन्तः। सुरभिः कामधेनुः शक्रः पृथक् पृथगन्वयः। इन्द्रादपि सुरभिपुरःस्कृतिरधुना मघुनाथस्य तत्पतित्वं निमित्तीकृत्येति ज्ञेयं। गवां लोको हि गोलोको गोनिवासस्थानं तस्मात्सुरभिरित्यप्यर्थः। स च स्वर्गोपरितनः। यथोक्तं भारत आनुशासनिके। सुरभिरुवाच। वरेण भगवन्मह्यं कृतो लोकः पितामह। एष एव वरो मेऽद्य यत्प्रीतोऽस्मि तवानघ। ब्रह्मोवाच। त्रयाणामपि लोकानामुपरिष्टान्न वत्स्यसि। मत्प्रसादाच्च गोलोको विख्यातः स भविष्यति। न च स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मनिवत्स्यन्ति महाभागे सर्वा दुहितरश्च त इत्यारभ्याष्टाशीतितमाध्यायसमाप्तिपर्यन्तमिन्द्रं प्रति ब्रह्मवाण्यां। न च स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः। तस्योपरि गवां लोक इति हरिवंशवचनविरोधः। त्रयाणामपि लोकानामिति सामान्यवचनस्य विशेषपर्यवसानसम्भवात्। दृग्दृष्टिदीधितिस्वर्गवज्रवाग्बाणवारिपु। भूमौ पशौ च गोशब्दो विद्वद्भिर्दशसु स्मृत इति यादवो हलायुधोऽप्येवं। इत्यमाधेनुनागतासुरावेश आव्रजदिति द्योतयति॥ १॥ कृतहेलनः एवंकारेण च योऽसुरावेशत आसारैर्बबाधे समाधेयोऽयं माधव इत्यमाधेनुनागतासुरावेश आव्रजदिति द्योतयति॥ १॥ कृतहेलनः एवंकारेण च योऽसुरावेशत आसारैर्बबाधे समाधेयोऽयं माधव विजिर् पृथग्भावे क्तः। विचिर् विवेचन इत्यतो वा क्तः। कृतं हेलनमनादरो येन स तयेति व्रीडितो लज्जितो विविक्ते एकान्ते। विजिर् पृथग्भावे क्तः। विचिर् विवेचन इत्यतो वा क्तः। विविक्तौ पूतविजनाविस्यमरः। विविक्तं त्रिष्वसम्पृक्तरहःपूर्जाविवेकिष्विति मानुः। एनं कृष्णमुपसङ्गम्यार्कवर्चसा किरीटेन पादयोः स्पर्श॥ २॥ अमिततेजसः कृष्णस्येदानीं दृष्टः प्राक् श्रुतश्चानुभावो येन सः। नष्टः त्रिलोकेश इति मदोहन्ता यस्य सः। तस्मिन्नप्यसुरावेशे गते सति तात्पर्यभूमिकेदं विशेषणमिति मन्तव्यं। कृताञ्जलिर्बलाहकशृङ्खलामोचनस्य करकार्यत्वाद्वाऽऽज्ञायाश्च जिह्वाकार्यत्वात्कृताञ्जलिरिदमाहेत्युक्तिरिव नष्टत्रिलोकेशमद इत्यहङ्कारस्य मनः प्रभेदत्वात्तच्छुद्ध्युक्तिरिति मन्तव्यं॥ ३॥ विशुद्धसत्त्वमिति श्लोके धाम भगवद्गृहं शुद्धसत्त्वात्मकमत एव प्रकृतिविकृतं तथा तपोमयं कृच्छ्रचान्द्रायणादिप्राप्यमिति च प्रतीयते। तथा गुणसम्प्रवाहः सत्त्वगुणकार्यप्रवाहो न पारमार्थिको मायामय इति ग्रहणानुबन्धः। ज्ञानं ग्रहणं तेनानुबद्धयते सम्बध्यते विषयीक्रियत इति यावत् ततः प्रपञ्चः प्रातीतिको मिथ्याभूत एवेति प्रतीयत इत्यतस्तत्तात्पर्यार्थमाह॥ विशुद्धसत्त्वमित्यादिना। यस्मात्त्रिगुणसम्बन्ध इत्यत्रत्यत्रिगुणपदयोर्विशेषणसमासद्वयञ्च ते गुणाश्च तेषां सम्बन्धस्त्वयि न विद्यते विगतं शुद्ध रजस्तमोसंवलितं सत्त्वगुणो यस्मिन्निति विग्रहः सूचितः। मूले त इति षष्ठी सप्तम्यर्थ इति सूचितं त्वपीति। सम्बन्धेति सम्प्रवाहपदार्थात्तरूपं ते ग्रहणानुबन्ध इत्यत्र न ग्रहणमिति पदमपि त्वकारप्रश्लेषेणेत्याह॥ यत्राग्रहणमनुबद्धमिति। अग्रहणमज्ञानं यत्र मायामये गुणसम्प्रवाहेऽनुबद्धं सम्बद्धं तपोमयं ज्ञानात्मकं। तप आलोचन इति स्मृतेः॥ ततश्चायं श्लोकार्थः॥ हे देव तव धाम स्वरूपं देहो वा। तेजः शक्तिः स्वरूपं च गृहं धामेति चोच्यत इति चतुर्थतात्पर्योक्तिः। धाम देहे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोरिति

विश्वः । विशुद्धसत्त्वं शुद्धं रजस्तमोऽमिश्रं सत्त्वं गुणस्तद्रहितं । आन्तरङ्गिको भावश्च सत्त्वं सद्गुणरूपत इति बृहद्भाष्ये सदा सर्वगुणाढ्यत्वात्सत्त्वो हरिरुदीर्यत इति कापिलेय इति तृतीयतात्पर्येचोक्तेः सकलगुणमित्यपि ज्ञेयः । शान्तं बहिः कृतस्वापराधः क्षन्तव्य इति समाधाननिधानमित्यन्तस्त्वस्मदादिसुखनिर्णायकं मङ्गलरूपं वा । शान्तिः प्रशममङ्गल इत्यभिधानं । तपोमयं ज्ञानात्मकं यद्यपि सत्त्वस्यैव यदा नावकाशः काऽऽशा रजस्तमसोः सत्ताशङ्कायामिति तन्न वक्तव्यं । तथाऽपि मन्दानुजिघृक्षयाऽऽह ॥ ध्वस्तरजस्तमस्कमिति । ध्वस्तेऽत्यन्तासती रजस्तमसी येन तत् । यद्वा ध्वस्ते रजस्तमसी प्रचुरस्वकार्योजनके यस्य स को ब्रह्मा येन तदिति । शुद्धसत्त्वश्चतुर्मुख इत्युक्तेः । प्रथमेऽसौ पदादाविति सत्त्वं द्वितीये करकादिः । मायामयो माया स्वरूपज्ञा सैव मयं प्रधानं निमित्तमिति यावत् यस्य सः । मायेति ज्ञप्तिरुद्दिष्टा मयं प्रधानमुद्दिष्टमिति बृहद्भाष्योक्तेः । गुणसम्प्रवाहस्तत्सम्बन्धोऽयं ते त्वयि न विद्यते सन्नेत्यर्थः । यस्मात्तस्मात्तव धाम तथागुणसम्प्रवाहः । अग्रहणानुबन्धोऽग्रहणमज्ञानं तस्यानुबन्धः सम्बन्धो जनकतारूपो यस्य सः । एतेन कार्यमज्ञानं नास्ति ततो नियमेन तज्जनको गुणसम्प्रवाहो नास्तीत्युच्यत इति सूचयति ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

चतुर्विंशे भगवतो अभिषेको निरूप्यते । स्तुतिः शिक्षा तथेन्द्रस्य कामधेन्वादिभिः कृता ॥ १ ॥
यथा रक्षा सुसंसिद्धा मदाभावस्तथा यदि । तदैव भगवत्कार्यं सर्वं सफलतां व्रजेत् ॥ २ ॥
गोरक्षा चेद्धरिकृता नाधिदैविकगामिनी । तया वा दासभावश्चेन्न चाप्यङ्गीकृतः क्वचित् ॥ ३ ॥
स्वयं वा स्वामिभावेन न स्वीकुर्यान् मुरद्विषम् । तदैव भगवल्लीला प्रमाणं नैव जायते ॥ ४ ॥
अतो हेतूक्तिरप्येषा सफला वर्ण्यते स्फुटा । इन्द्रयागश्च भविता यस्मादिन्द्रो हरिः स्वयम् ॥ ५ ॥

पूर्वाध्याये सन्देहाभावो निरूपितोतो भगवदुक्तमेव कर्तव्यमिति स्थापितं, तद् यदि परम्परयेन्द्रयागत्वेन प्रसिद्धं कर्म नेन्द्रयागत्वमापद्यत तदा प्रसिद्धिविरोधः स्यादिति भगवत इन्द्राभिषेको निरूप्यते, न केवलं भगवानेव स्वयमिन्द्रो जातः किन्तु सर्वैरेवेन्द्राभिषेककर्तृभिरिन्द्रः कृत इति वक्तव्यं तदर्थमिन्द्रस्य कामधेनोश्चागमनमाह गोवर्धने इति गोवर्धने शैले धृत इन्द्रमानभङ्गादिन्द्रः समागतोन्यथा भगवान् गोवर्धनधारणेन क्लिष्ट इव तत् स्मृत्वेन्द्रं मारयेदतः क्षमापनीय इति, आसाराद् धारासम्पाताच रक्षिते गोकुले स्ववंशो रक्षित इति सुरभिः समागता, न प्राकृतैः हि स्ववंशीयैर्भगवत्पूजा कर्तुं शक्यातः स्वयमागता चकारादन्येपि तदीया देवा उत्सवार्थं समागता इति ज्ञातव्यम् ॥ १ ॥ तत्र प्रथममपराधनिवृत्तिः कारणीयेतीन्द्रस्योपाख्यानमुच्यते तत्र समागत इन्द्रो भगवन्तं प्रार्थितवानित्याह विविक्त इति, एकान्ते भगवत्समीपं गतो भक्ता अपकृता इति कदाचित् तेनिष्टं चक्रुः, लज्जां च हेतुत्वेन वक्ष्यति, अप्रार्थिते सर्वनाशो भविष्यतीति प्रार्थनावश्यकी, अत एकान्ते निकटे गतः, तत्रापि व्रीडितो लज्जितः, कृतं हेलन येनेति भीतश्च, अत एनं भगवन्तं पादयोः पस्पर्श, अर्कवर्चसा किरीटेन भुग्नपृष्ठः शिरो भगवत्पादयोः स्थापितवान्, महत एतत् सर्वापराधक्षमापकम् ॥ २ ॥ एवं नमस्कारं कृत्वा स्तोत्रं कर्तुमारेभे दृष्ट इति, ननु देवा नानृतं वदन्ति नाप्यारोपेणायं च भगवतो नोत्कर्षं जानात्यथापराधं न कुर्याद् विपरीतबुद्धिश्चातः कथं स्तोत्रमिति चेत् तत्राह दृष्टश्रुतानुभावस्येति, दृष्टो गोवर्धनोद्धरणलक्षणः श्रुतः पूतनास्तनपयःपानादिरनुभावो यस्य, किञ्च न केवलं दृष्टश्रुतानुभावमात्रत्वमन्यदप्यधिकमस्तीति ज्ञापयति, यथा जाज्वल्यमानोग्निः सर्वमेव धक्ष्यतीति ज्ञायते तथा भगवत्तेजोपि परिदृश्यमानं सर्वं कर्तुं समर्थमित्यवसीयते, तदाहामिततेजस इति, अत एव नष्टस्त्रिलोकेशोहमितिमदो यस्यात इन्द्र इति नाममात्रं भगवदधिकारी कृताञ्जलिः सन्नाहमे वक्ष्यमाणम् ॥ ३ ॥

भगवन्तं स्तौति दशभिः प्राणश्लोकैः,

क्रियाशक्तिप्रधानोयं बाह्यश्चायं तथाविधः । पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थं षड्गुणं स्तौति माधवम् ॥ १ ॥

निर्दुष्टा भगवद्गुणा इति वक्तुं प्रथमं दण्डकरणेन प्राप्तं क्रोधं निवारयति द्वाभ्यां हेतुफलाभ्यां, तत्र प्रथमं भगवतः क्रोधे हेतुर्नास्तीत्याह विशुद्धसत्त्वमिति, परमार्थतस्तु सर्वात्मा सर्वकर्ता सर्वप्रेरकोतः क्रोधः सम्भावित एव न, आविर्भावप्रकारेणापि लीलापि क्रोधे हेतुर्नास्तीत्युच्यते, तत्र क्रोधे रजस्तमसी हेतू ते त्वयि न स्त इत्याह विशुद्धसत्त्वं तत्त्वं धामेति, शुद्धं रजस्तमोभ्यामसम्पृक्तं विशेषेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तं तत् तव धाम स्थानं "सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्"मिति, तत्र भगवानाविर्भवतीति वासुदेवः, किञ्च धाम तेजोपि सात्त्विकमेव भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा, किञ्चेदं सत्त्वं शुद्धसत्त्वान्तरेणाप्यमिश्रितं तत् जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवत्यत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह शान्तमिति, परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षा ज्ञानादयोवान्तरभेदा अल्पविक्षेपरूपाः, अन्यथा कथं बोधयेत् कथं वा भजेत् ? अतः शान्तिरेव परमकाष्ठा, नन्वज्ञानस्यापि शान्तिः परमकाष्ठा भवति वृक्षादिषु सुषुप्तौ च तथोपलम्भादतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तपोमयमिति, तपस्तु विहितज्ञानात्मकं तेजोरूपमत एव तेजोव्यतिरिक्तं सन्तापयति, सुतरां भगवत्तपस्तु ज्ञानमयं "यस्य ज्ञानमयं तपः" इति श्रुतेरतो मौढ्याद् या शान्तिरुपरतिरूपा सा नात्र ग्राह्यात एव 'शम उपशमः' इति, आत्मसमीपे यः शान्तस्तिष्ठति स उक्तो न तु शान्तिमात्रे निरोधेनाज्ञानसमीपे वातस्तपोमयमित्युक्तं, ननु

"रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारते"ति यथा सत्त्वं प्रबलमेवं "रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथे"त्यपि, "न तदस्ति पृथिव्यां वे"ति च केवलसत्त्वस्य बाधः, तत्राह ध्वस्तरजस्तमस्कमिति, ध्वस्ते रजस्तमसी येन लोकानामपि रजस्तमसी यो नाशयति तं को वा नाशयेत् ? आधिदैविक एव तादृशस्य नाशको भवति, स च व्यवस्थया स्थापितस्ते गुणाश्चाप्राकृताः सच्चिदानन्दधर्मरूपाः प्राकृतेभ्यो भिन्ना अन्यथा "प्रकृतिजैस्त्रिभिर्मुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्ती"ति न वदेत् तस्यैवाप्रसिद्धत्वाद् गुणावताराश्च भगवतोप्राकृता न भवेयुः, किञ्च सत्त्वस्य सत्त्वसम्बन्धः कथं भवेद् भेदाभावेतस्ते त्रयो गुणा ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिता अतः सच्चिदानन्दधर्मत्वाद् यदा ब्रह्मादिष्वितरापेक्षा तदेतरभजनं सति सत्त्वं चिति रज आनन्दस्तमसीति भगवांस्तु कदाचिद् विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेन गृह्णाति यदि न केवलः समायाति, प्रकृते तु केवलोपीन्द्रेण भ्रमात् तथा ज्ञायतेन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात" इति न वदेत् सर्वदैव वसुदेव एव जायमानत्वादत इदानीं केवलोपि सत्त्वाश्रित उच्यते, पूर्वभ्रमापेक्षयायं भ्रम उत्तम इति स्तुतित्वमन्यथा व्यापिवैकुण्ठे सर्वान् नेतुं न शक्नुयात्, सत्त्वं त्वाधारत्वेनैव गृहीतमिति विष्णोरपि तथा सामर्थ्यं क्वचिदुच्यते "ब्रह्मेव सगुणं बभा"वित्यत्रापि विष्णुरेव गृह्यतां तदवतारा भगवान् वा क्वचिदन्यथा कृष्णवद् बभावित्येन वदेदत इन्द्रो विष्णुं भगवन्तं जानातीति स्वज्ञानानुसारेणाह, यदा भगवत्सत्त्वं सर्वरजस्तमोनाशकं तदा तदाश्रित्य स्थिता माया तत्र दुरापास्तेत्याह मायामयोयमिति, अयं सर्वोपि गुणानां सम्यक् प्रवाहो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपो मायामयो मायाप्रचुरो गुणानां कारणभूतत्वान् मायायाः, तत्र प्रमाणमाह्रायमिति, अन्यथा कथं दृश्यः स्यात् ? तस्मात् प्राकृतमेवैतत् सर्वमप्राकृतं तु न दृश्यत इति तस्मादयं प्राकृतोपि प्रपञ्चस्ते ग्रहणस्य ज्ञानस्यानुबन्धरूपो न भवत्यतः प्राकृतदृष्ट्यायमपकारं कृतवानयमुपकारं कृतवानिति तव न सम्भवति ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

चतुर्विंशाध्यायतात्पर्योक्तौ, गोरक्षा चेदित्यारभ्य जायत इत्यन्तस्यायं भावः । साजात्यमात्रेणाप्यखिललौकिकगवाधिदैविकगामिनी पालनलीला पुरुषोत्तमातिरिक्तस्य न सम्भवतीति तत्त्वप्रमापिका तादृग्रूपसुरभिप्रपत्तिः । तदुक्तं 'भवताऽलोकनाथेन सनाथा वयमच्युत' इति सुरभ्या । लोकभिन्ना अलोका अलौकिक्य इति यावत् । तासां नाथेन पालनकर्त्रा त्वया वयमपि सनाथाः पालिता भवाम इत्यर्थः । लीलास्थपदार्थमात्र इयं व्यवस्थेति ज्ञापनायालोकेति सामान्योक्तिः, अन्यथोक्तरीत्या लोकनाथेति वदेत् । तत्र हेतुरच्युतेति । धर्मतोऽपि च्युतिराहित्येन पालनलक्षणो धर्मो यथास्मद्गामी न स्याद्गोत्वाविशेषात् तदास्मदंशे स च्युतः स्यादित्यर्थः । तदेयमिति । लीलापदं भावप्रधानम् । भगवल्लीलाप्रमाणमिति समस्तं पदम् । तथा चेयमुच्यमाना लीला भगवल्लीलात्वे प्रमाणं तथेत्यर्थः । ननु हेतुवादसिद्धत्वेनेन्द्रयागश्चेद् भग्नः, तदा प्रकृतेपि 'भवता लोकनाथेने'त्यादिना रक्षकत्वादिहेतूक्तिपूर्वक एवेन्द्राभिषेकः कृत इति को विशेष इत्यत आहुः अतो हेतूक्तिरपीति । यतो यागभङ्गकरणप्राप्तसदोषत्वशङ्कापरिहाराय तद्भङ्गवदपूर्वकारणपालनानां केवललीलात्वं ज्ञापनीयम् । तथाधिदैविकगामित्वनिरूपणेन भवतीति तद्रूपमेव । अतोऽत्र हेतूक्तिरपि । एषा लीलारूपैवेत्यर्थः । अत एव 'भवाय भवे'ति 'कृष्णेऽभिषिक्त एतानी'त्यादिना सत्फला वर्ण्यत इत्याहुः सत्फलेति । किञ्च, पारम्पर्यागतमर्यादाभङ्गोऽप्येवं न जात इत्याहुरिन्द्रयागश्चेति । अग्रेपि प्रतिवर्षं गोसवं करिष्यन्तीति भवितेत्युक्तम् । एतेन लीलासम्बन्धिलोकपालादयोपि न भगवदतिरिक्ता इति ज्ञापित मति दिक् ॥०॥ गोलोकादावव्रजदित्यत्र, न हि प्राकृतैः स्वबंशीयैरिति । प्रकृतं लीलाकरणं तत्सम्बन्धिभिरित्यर्थः । तथा सति लीलारसविरोधः स्यादिति भावः ॥ १ ॥ इन्द्रस्तुत्याभासे, दशभिः प्राणश्लोकैरिति । भगवदपराधैराधिदैविकसर्वतिरोधाने तादृशाः प्राणा अपि तिरोहिता इत्ययं मृत इवाधुनेत्याधिदैविकतत्प्राप्त्या स्वजीवनसिद्ध्यर्थं तत्समानसंख्याकैः श्लोकैः स्तुतिमाहेति संख्यातात्पर्यमुक्तम् । ननु 'गोवर्धने धृते शैल' इतिवाक्यात् क्रियाशक्त्याविर्भावं कृत्वा यथायं बोधितस्तथा पूर्वमेव ज्ञानशक्तिमेवाविर्भाव्य कुतस्तथा न कृतवान्, तदा प्रभुमाहात्म्यज्ञानान्नापराधं कुर्यात्, अधुनाग्रेऽपि चेत्यत आहुः क्रियाशक्तीति । इन्द्रादीनां बाहुरूपत्वादिति भावः । ननु प्रयोजनमस्तीति कुतस्तथा नाकरोदित्यशङ्क्य तदनधिकारमाहुः बाह्यश्चायमिति । हेतुककर्मसम्बन्धित्वेन वेदबाह्य इत्यर्थः । अत एव गवादिद्रोहार्थमाज्ञप्तवानिति भावः । एतदेवाहुस्तथाविध इति । अतःपरं क्रियाशक्तिर्यावत्प्रयोजनार्थं स्वस्मिन्यावती च दत्तास्ति तदुपयोगिज्ञानमपि दत्तमस्तीति भगवदपरावेन चतुर्विधपुरुषार्थानां भगवद्दत्तगुणानां च तिरोधानं ज्ञात्वा तत्सिद्ध्यर्थं स्तौतीति तावत्सङ्ख्याकैः श्लोकैः स्तुत्या ज्ञाप्यत इत्याहुः पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमिति ॥ ३ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

चतुर्विंशे गोरक्षेतिसार्धेन सुरभिस्तुतिश्लोकत्रयार्थः क्रमेणोक्तः, तदेयमिति गोरक्षाया भगवल्लीलात्वे प्रमाणभूता सुरभिप्रपत्तिर्न जायते न स्यादित्यर्थः, अत इति प्रपत्तेः प्रमाणत्वादित्यर्थः ॥ ० ॥ विविक्त इत्यस्याभासे तत्रेत्यारभ्येत्याहेतिश्लोकद्वयेनेतिशेषः, समागमनं तु पूर्वानुवादः, प्रार्थनाङ्गं नमस्कारो "विविक्त" इत्यस्यार्थः, प्रार्थनाकरण "दृष्टे"त्यस्यार्थः, तथा च साङ्गप्रार्थनाकरणं श्लोकद्वयार्थः ॥ २ ॥ दृष्टेत्यस्याभासे आरेभे इति इत्याहेति शेषः, व्याख्याने, एतादृशस्य कृष्णस्येन्द्र इत्यन्वयमभि-

प्रेत्याहुः भगवदधिकारीति ॥ ३ ॥ विशुद्धसत्त्वमित्यत्र ननु शुद्धसत्त्वं धाम त्ववतारे अतो मूलरूपे क्रोधाभावः केन साध्य इत्याशङ्क्याहुः परमार्थतस्त्विति, सत्त्वेनापि असम्पृक्तमिति तरतमभावापन्नेनेतिशेषः, तपोमयमित्यत्र सामीप्यस्य भेदसहिष्णुत्वादात्मसामीप्यं न सम्भवतीति पक्षान्तरमाहुः निरोधेनेति, सर्वेन्द्रियनिरोधेनेत्यर्थः, तेन सुषुप्तिनिषेधः, तथा च परमात्मसामीप्यमुक्तं, परमात्मा तु "ज्ञाज्ञौ द्वावजा"विति वाक्यात् ज्ञ एवेत्यज्ञानसामीप्यनिषेधः, सुषुप्तौ परमात्मनि लय एव न तु तत्सामीप्यमिति भावः, अत इति मौढ्यकृतशान्ते रूढाया अग्राह्यत्वादित्यर्थः, इयं तु यौगिकीज्ञेयं, लोकानामिति "सत्त्वं न चेद् धातरिदं निज"मित्यादौ साधित्वात् पूर्वोक्तवाक्यानि प्राकृतसत्त्वपराणीति व्यवस्थया न बाध इतिभावः, आधिदैविक एवेति गुण इति शेषः, सतीति सह्वितोः सत्त्वरजसी तिष्ठतः अतस्तत्तद्धर्मावित्यर्थः, तमस आनन्दधर्मत्वं सन्दिग्धमिति व्युत्पादनपूर्वकमाहुः आनन्द इति, तमसि सति तेन सर्वविस्मृतौ सत्यामानन्दोनुभूयते, तत्स्वरूपस्य विगलितवेद्यान्तरत्वात्, इतिहेतोस्तम आनन्दधर्म इति शेषः, भगवांस्त्वित्रति गुणावताराणां त्रयाणां नैवं सामर्थ्यमिति तुशब्दः, आधारत्वेनेति देहत्वेनेत्यर्थः, अप्राकृता गुणास्त्रयाणां स्वरूपं, प्राकृता गुणास्त्रयाणां गुणा इतिविभागः, आधारत्वेनैवेति आवेशिदेहत्वेन न तु भेदेनेत्येवकारः विष्णोः सत्त्वात्मकत्वेन गुणत्वमेव न तु सगुणत्वमित्यत आहुः तदवतारा इति, गृहीतसत्त्वदेहा अवतारा मत्स्यादयोंशावतरणे भगवान् कृष्णश्च, एते वा गृह्यतामित्यन्वयः, नन्वत्र तु तथा नास्तीत्यत आहुः अत इन्द्र इति, इन्द्रबुद्धिमनुसृत्येदमुक्तं, तदाश्रित्य स्थितेति रजस्तमश्चाश्रित्य स्थितेत्यर्थः, अत्र प्रमाणमिति मायामयत्वे इत्यर्थः, अन्यथेति मायाप्राचुर्याभावेन केवलब्रह्मत्वे इत्यर्थः, अत्र मायाशब्देन प्रकृतिः, तस्मादिति दृश्यत्वाद्धेतोरयं प्राकृतो बन्धकस्वभावापि प्रपञ्चस्ते ज्ञानस्यानुबध्नातीत्यनुबन्धस्तादृशरूपो न विद्यते त्वद्ज्ञानं स्वविषयकं कर्तुं न शक्नोति प्राकृतवत् तत्र क्रोधादिकं न भवतीत्यर्थः, न हि त्वद्ज्ञानं प्राकृतवद् वैषम्यरीत्या तद्विपयकं भवति, तत्र हेतुमाहुरन्येषामपीति ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

चतुर्विंशाध्यायोक्तौ कामधेन्वादिभिः कृत इति अभिषेकविशेषणमेतत्, गोरक्षा चेद्धरिकृतेत्यारभ्य जायत इत्यन्तस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, अतो हेतूक्तिरप्येषेत्यस्यार्थः सत्फलेत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः ॥ ० ॥ इन्द्रस्तुतिश्लोकसङ्ख्यातात्पर्योक्तौ दशभिः प्राणश्लोकैरित्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, क्रियाशक्तिप्रधान इत्यस्य बाह्यश्चायमित्यस्य तथाविध इत्यस्य चार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थमित्यस्य षड्गुणं स्तौतीत्यस्य चार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, पुरुषार्थानां धर्मादीनां प्रकर्षेण सिद्ध्यर्थं ऐश्वर्यादिषड्गुणयुक्तं भगवन्तं स्तौतीत्यर्थः, तथा च पुरुषार्थसिद्धिसूचनार्थं चत्वारः श्लोकाः, षड्गुणसिद्धिसूचनार्थं षट् श्लोकाः, एवं दश श्लोका भवन्तीति ज्ञेयम्, विशुद्धसत्त्वमित्यत्र ज्ञानादय इत्यारभ्य भजतेत्यन्तं ननु परमशान्तिरेव सत्त्वोत्कर्षत्वमुक्तं तन्न युक्तं ज्ञानादीनामेव सत्त्वोत्कर्षरूपत्वस्योचितत्वादित्याशङ्क्याहुः ज्ञानादयस्त्वित्यादि, ज्ञानादय इति आदिशब्देन "मुक्तसङ्गोनहंवादी"तिगीतोक्ताः सङ्गत्यागानहङ्कारधैर्योत्साहनिर्विकारत्वादयो ग्राह्याः, तेपि सत्त्वस्यावान्तरभेदा न तु सत्त्वोकर्षरूपाः किन्तु परमशान्तिरेव सत्त्वोत्कर्षरूपा अतो यस्य शान्तिर्नास्ति तस्य ज्ञानाद्योपि विक्षेपरूपाः, अत इन्द्रस्य सात्त्विकत्वेन 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञान'मितिवाक्याज् जायमानं विक्षेपरूपं ज्ञानं शान्त्यभावान् न कार्यक्षमं भवतीत्याहुः अन्यथेति, इन्द्रो भगवत्स्वरूपं बोधयति क्वचिद् भगवन्तं त्यजति अन्यथा वृष्ट्याद्युपद्रवं न कुर्यात्, क्वचिद् भगवन्तं भजति अन्यथा "विशुद्धसत्त्वं तव धामे"त्यादिना स्तोत्रं न कुर्यात्, अत इन्द्रकृतं बोधनं भगवत्त्यागो भजनं च विक्षेपरूपमेव, अस्थिरत्वात्, तदेतदाहुः अन्यथा कथं बोधयेत् कथं वा त्यजेत् कथं वा भजेदिति, अतः शान्त्यभावाद् विज्ञानादिकं विक्षेपरूपं अस्थिरमेव, अत एव पुनः पारिजातप्रसङ्गे शक्रस्य मोहो भविष्यतीति बोध्यं, तपोमयमित्यस्य विवरणे न तु शान्तिमात्रे निरोधेनेति इन्द्रियनिरोधेन शान्तिमात्रे सति अयं पुरुषः शान्त इति न शास्त्राभिप्रायः किन्तु 'शम् उपशम' इति धातुपाठात् उप समीपे आत्मनः समीपे अवस्थितौ सत्यां अयं शान्त इति शास्त्रव्यवहारः आत्मसमीपेवस्थितिस्तु ज्ञानेन भवति, अतस्तपोमयमितिविशेषणेन अज्ञानशान्तिर्व्यावर्तिता, अज्ञानसमीपे वेति शम् उपशमे इत्यत्र सामीप्यमात्रं न ग्राह्यं किन्त्वात्मसामीप्यमतो नाज्ञानसामीप्यं शान्तिशब्दवाच्यमित्यर्थः, न चात्र मानाभावः, "तपोमय"मितिविशेषणस्य मानत्वात्, "यस्य ज्ञानमयं तपः" इतिश्रुतेस्तपसो ज्ञानरूपत्वात्, तथा च लोके शान्तिशब्देन शान्तिमात्रग्रहणेपि प्रकृते ज्ञानशान्तिरेव ग्राह्येति भावः, यदा ब्रह्मादिषु इतरापेक्षेति ब्रह्मणः सत्त्वापेक्षा यदा तदा विष्णुं भजते तमोपेक्षा यदा तदा शिवं भजते, एवं विष्णुशिवावपि, अत एव 'शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिव' इत्यादिवाक्यानि पुराणेषु दृश्यन्ते, सेयं गुणावतारयोर्विष्णुशिवयोः परस्परं भजनव्यवस्था, पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णस्तु गुणावताराणां ब्रह्मविष्णुशिवानां त्रयाणामप्यवतारीति परब्रह्मरूपः परमकाष्ठापन्न एव, तदेतदाहुः भगवां तु कदाचिदित्यादि, प्रकृते तु केवलोपीति निरावरणपरब्रह्मपूर्णपुरुषोत्तमत्वेन आधाररूपशुद्धसत्त्वरहितोपीत्यर्थः, नन्वत्र विशुद्धसत्त्वसाहित्यं कुतो नाङ्गीक्रियत इति चेत् तत्राहुः अन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जात" इति न वदेत् इति, "वसुदेवस्य क्वचिज् जात" इत्युक्त्या क्वचिज् जातः क्वचिन् नेति सिध्यति, यदि सर्वदैव शुद्धसाहित्यं स्यात् तदा "क्वचि"दिति न वदेत्, वसुदेवशब्दस्य विशुद्धसत्त्ववाचित्वात् "विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दित"मितिवाक्यात्, ननु वसुदेवशब्दोत्र शूरपुत्रवसुदेववाचको न विशुद्धसत्त्ववाचकस्तथा च वसुदेवस्य

क्वचिदेव पुत्रो जात इति लापनं युक्तमिति चेन् न, वसुदेवस्याधिदैविकविशुद्धसत्त्वात्मकत्वेन तत्र च सर्वदैविर्भावाङ्गीकारे क्वचिदितिपदस्य वैयर्थ्यात्, अतोत्र "विशुद्धसत्त्वं वसुदेवशब्दित"मितिवाक्यसिद्धं विशुद्धसत्त्वमेव वसुदेवशब्देन ग्राह्यं, तथा च कदाचिद् विशुद्धसत्त्वे आविर्भवति, यदा तु पूर्णावतारस्तदा विशुद्धसत्त्वे नाविर्भवतीत्यर्थो भवति, एवं च प्रकृते पूर्णावतारत्वान् न सत्त्वे आविर्भावस्तथापीन्द्रस्योक्तिस्तु भ्रमादितिहार्दं, भगवान् क्वचिदिति यदा कृष्णावतारो न पूर्णस्तदा सत्त्वव्यवधानात् सत्त्वाधारत्वाद् वा सगुणपदेन कृष्णो ग्राह्य इत्यर्थः, अन्यथा कृष्णवद् बभावित्येवेति "ब्रह्मेव सगुणं बभौ" इत्यत्र "सगुणं" विशुद्धसत्त्वसहितं "ब्रह्म" विष्णुरूपं यथा तथा "बभा"वित्यर्थो ग्राह्यः, अन्यथा यदि विष्णुर्न गृह्येत तदा "कृष्णवद् बभौ" इत्येव वदेत् 'सगुण'पदं न घटेत्, अतः 'सगुण'पदाद् विष्णुर्गुणावतारो गृह्यतां तदवतारा इति, प्राकृतमेवैतत् सर्वमिति एतत् परिदृश्यमानं प्रकृतिसम्बन्धयुक्तं न तु प्रकृतिसमवायिकारणकं, अत एव प्राकृतैरिन्द्रियैर्दृश्यते, तथा च दृश्यस्य प्रपञ्चस्य प्रकृतिसम्बन्धित्वेन द्रष्टुरिन्द्रियाणामपि प्रकृतिसम्बन्धसत्त्वाद् यक्षबलिन्यायः, न तु परिदृश्यमानस्य मायिकत्वमितिसारं, यत्र लीलाप्रपञ्चे प्रकृतिसम्बन्धो नास्ति तत्र इन्द्रियग्राह्यतापि नास्तीत्याहुः अ: कृतं तु न दृश्यत इतीति, प्राकृतैश्चक्षुर्भिर्न दृश्यत इत्यर्थः, प्राकृतमेवैतत् सर्वमितिसुबोधिन्यां प्राकृतशब्दः शैषिकेण अण्प्रत्ययेन सिद्धः, उपनिषदा ज्ञायते, औपनिषदः पुरुषः चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपमितिवत् प्रकृत्या सम्बध्यत इति प्राकृतमितिबोध्यम् ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

चतुर्विंशाध्याये चतुर्विंश इत्यादि का० २३०३–२३४३। चतुर्विंशाध्याये कामधेन्वादिभिः कृतोभिषेकः, इन्द्रकृता स्तुतिः, भगवत्कृतेन्द्रस्य शिक्षा निरूप्यत इत्यर्थः, गोरक्षेत्यादि गोरक्षेतिसार्द्धेन सुरभिस्तुतिश्लोकत्रयार्थः क्रमेणोक्तः, तदेयमिति लीलापदं भावप्रधानं, भगवल्लीलाप्रमाणमितिसमस्तं पदं, तथा चेयमुच्यमाना लीला भगवल्लीलात्वे प्रमाणं न स्यादित्यर्थः। अतो हेतूक्तिरपीति अत इन्द्रयागभङ्गगोसवकरणगवादिपालनानां गोरक्षाया आधिदैविकगामित्वादिनिरूपणेन केवललीलात्वज्ञापनादेव "भवता लोकनाथेने"त्यादिना सुरभिकृतभगवदभिषेके रक्षकत्वादिहेतूक्तिरप्येषा लीलारूपैवेत्यर्थः, अन्यथा हेतुवादसिद्धेन्द्रयागाद् विशेषो न स्यात्, अत एव 'कृष्णोभिषिक्त एतानी'त्यादिना सत्फला वर्ण्यत इत्याहुः सत्फलेति। विशुद्धसत्त्वमित्यास्याभासे क्रियाशक्तीति का० २३५३। "ननु गोवर्धने धृते शैले" इति वाक्यात् क्रियाशक्त्याविर्भावं कृत्वा यथायमिन्द्रो बोधितस्तथा पूर्वमेव ज्ञानशक्तिमेवाविर्भाव्य कुतो न बोधितः तदा प्रभुमाहात्म्यज्ञानान् नापराधं कुर्यादित्यत आहुः क्रियाशक्तिप्रधानोयमिति, इन्द्रादीनां बाहुरूपत्वादिति भावः, बाह्यश्चायमिति हैतुककर्मसम्बन्धित्वेन वेदबाह्य इत्यर्थः, दशभिः श्लोकैः स्तुतौ तात्पर्यमाहुः पुरुषार्थप्रसिद्ध्यर्थं षड्गुणं स्तौतीति भगवदपराधेन चतुर्विधपुरुषार्थानां भगवद्दत्तगुणानां च तिरोधानं ज्ञात्वा तत्सिद्ध्यर्थं तावत्सङ्ख्याकैः श्लोकैः स्तौतीत्यर्थः, पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चत्वारः, ऐश्वर्यादिगुणसिद्ध्यर्थं च षट् ॥ ४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

सप्तविंशे तु भीतेन शक्रेण संस्तुतिर्हरेः। तथा च सुरभीन्द्राभ्यामभिषेको निरूप्यते ॥ १ ॥

गोवर्धने शैले कृष्णेन धृते सति तस्य परिश्रममाशङ्क्य भयाच्चं क्षमापयितुं शक्रः आव्रजत्। आसारात् धारापातात् व्रजे गोकुले रक्षिते सति हर्षाच्छ्रीकृष्णाभिषेकार्थं सुरभिः कामधेनुश्च गोलोकादाव्रजत् एवकारः पादपूरणार्थः ॥ १ ॥ 'तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवान्?' तत्राह—विविक्त इत्यादिना 'अथाह सुरभिः' इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन। इन्द्रो विविक्त उपसङ्गम्य एकान्ते श्रीकृष्णसमीपं गत्वा अर्कः सूर्यस्तद्वद्वर्चो यस्य तेन किरीटेनैनं कृष्णं पादयोः पस्पर्श नमश्चकार। ततश्च कृताञ्जलिः सन् वक्ष्यमाणमाहेति द्वयोरन्वयः। विविक्तसङ्गमे हेतुमाह–व्रीडित इति। लज्जया पादस्पर्शे हेतुमाह–कृतहेलन इति' वर्षादिना कृतापराध इत्यर्थः ॥ २ ॥ त्रिलोकेशमदव्याप्तस्य स्वापराधाङ्गीकार एव कथम्?' तत्राह–नष्टः 'त्रिलोकेशोऽहम्' इति मदो यस्य सः। तत्र हेतुमाह–दृष्टेति। अमितं तेजः प्रभावो यस्य तस्य अस्य कृष्णस्य दृष्टः गोवर्धनोद्धरणव्रजरक्षादिरूपः, श्रुतश्च पूतनानिधनादिरूपोऽनुभावो येन सः ॥ ३ ॥ तत्कृतां स्तुतिमेव दर्शयति–विशुद्धसत्त्वमित्यादिदशभिः। तव धाम स्वरूपं शान्तं रागलोभादिविकाररहितम्। तत्र हेतुमाह—तपोमयमिति। 'यस्य ज्ञानमयं तप' इति श्रुतेः। ज्ञानप्रचुरमित्यर्थः॥ तत्र हेतुमाह–विशुद्धसत्त्वमिति, 'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्' इति वचनात् ॥ विशुद्धमेव स्पष्टयति—ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यस्मिंस्तत्, अत एव अयमस्मदादिषु दृश्यमानो मायामयः प्राकृतः गुणसम्प्रवाहो गुणैः सम्प्रोह्यते इति स संसारस्ते तव न विद्यते। तत्र हेत्वन्तरमप्याह –ग्रहणानुबन्ध इति। ग्रहणेन प्राकृतदेहाद्यात्माध्यासेनैवानुबद्ध्यते इति तथा। तव सर्वज्ञस्य तथाध्यासाभावादित्याशयः॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

सप्तविंशे स्तुतिः शक्रसुरभिभ्यां हरेः कृता ॥ अभिषेकोत्सवश्चास्य श्लोकास्तत्राष्टबाहवः (२८) ॥

षड्वाचेत्यसंयुक्ता एकत्रिंशदनुष्टुभः (३१) ॥ २७ ॥

गोवर्द्धन इति ॥ गोवर्द्धने शैले कृष्णेन धृते सति तस्य परिश्रममाशङ्क्य भयात्तं क्षमयितुं शक्रः आव्रजत्। आसारात् धारापातात् व्रजे गोकुले रक्षिते सति हर्षाच्छ्रीकृष्णाभिषेकार्थं सुरभिः कामधेनुश्च गोलोकादाव्रजत्। एव पादपूर्तौ। गोलोकश्चायं

स्वर्गविशेषो ननु वैकुण्ठविशेषः। तत्सुरभेरिन्द्रसाहित्यानुपपत्तेः। ब्रह्ममन्त्रितः शक्रो ब्रह्माज्ञया गोलोकं गत्वा गवा सहागत इति ज्ञेयम् ॥ १ ॥ विविक्त इति ॥ कृतहेलनः अतो व्रीडित इन्द्रो विविक्ते उपसंगम्य एकान्ते श्रीकृष्णसमीपं गत्वा व्रजे प्रकटगमनव्यवहाराभावात् एकान्ते क्षमापनौचित्याच्च भगवानपि नभस्यागच्छन्तं शक्रं दृष्ट्वा केनापि व्याजेन रहस्यागत इति। अर्कः सूर्यस्तद्वद्वर्चो यस्य तेन किरीटेनेनं कृष्णं पादयोः पस्पर्श नमश्चकार ॥ २ ॥ दृष्टेति ॥ अमितं तेजः प्रभावो यस्य तस्य अस्य कृष्णस्य दृष्टः गोवर्धनोद्धरणव्रजरक्षादिरूपः श्रुतश्च पूतनानिधनादिरूपोऽनुभावो येन सः। श्रुतश्चासावनुभावश्च दृष्टः श्रुतानुभावो येनेति स्वामिपादाः। नष्टस्त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य स इन्द्रः कृताञ्जलिः सन्नाह स्म ॥ ३ ॥ विशुद्धेति ॥ तव धाम स्वरूपं विशुद्धसत्त्वं शान्तं निर्विकारं तपोमयं ज्ञानप्रचुरं सर्वज्ञं ध्वस्ते अविद्यमाने रजस्तमसी यत्र तत् अत एव ग्रहणेन देहादावात्माध्यासेनैवानुबध्यते इति अग्रहणेन अज्ञानेनेति वा। तथा अयं दृश्यमानः मायामयः गुणसंप्रवाहो गुणैः संप्रोह्यते इति। स संसारस्ते सर्वज्ञस्य तव न विद्यते ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अधुना सप्तविंशेऽध्याये सुरभीन्द्रयोर्हरिसमीपागमनं ताभ्यां कृतं स्तवनं च पूजनं च वर्ण्यते ॥ वर्धयतीति गाः गोवर्द्धनस्तस्मिन् ॥ गोलोकात्सुरभिः कामधेनुः स्वर्गात् शक्र इन्द्रश्च। कृष्णं प्रति आव्रजत् आजगाम ॥ १ ॥ कृष्णे कृतं हेलनं येन सः॥ अतो व्रीडितः विविक्ते विजने उपसंगम्य पादयोः अर्कवर्चसा सूर्यकांतिना मुकुटेन एवं कृष्णं यस्यस्पर्श अस्पृशत् ॥ २ ॥ दृष्टेति दृष्टश्च श्रुतानु भावो महिमा येन सः अत एव नष्टः त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य सः ॥ ३ ॥ विगतं शुद्धसत्त्वमपि यस्मात्तत् विशुद्धसत्त्वं ध्वस्ते नष्टे रजस्तमसी यस्मिंस्तत् ध्वस्तरजस्तमस्कंध तव धाम ब्रह्म पुरस्थानं यद्वा तव धाम वपुः त्रिगुणातीतमस्तीत्यर्थः पुनः कथंभूतं शांतं सर्वेषां भक्तानामनवधिकातिशयशांतिकरं तपोमयं विषयेच्छाविवर्जितं एवंभूतस्य ते तव अयं अस्मदादिषु वर्त्तमानो मायामयः प्रकृतिविकारः गुणानां सत्त्वादीनां संप्रवाहः सात्त्विराजसतामसंदेहपरंपरा न विद्यते नास्ति स च कथभूतः अग्रहणेन ग्रहणं विना अनुबध्यते जीवेषु स्वभावेनैवं संबध्यते त्वयि तु न कदाचिदित्यर्थः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

प्रभावं परम कार्ष्णमालक्ष्य सप्तविंशके। सुरभीन्द्रकृतः प्रोक्तो महः कृष्णाभिषेकजः ॥ १ ॥

अथ कृतापराधेनेन्द्रेण स्तुत्याचरणपूर्वकं क्षमापितस्य कृष्णस्य तदनुग्रहप्रकारं सुरभीन्द्रादिकृतक्षीरगङ्गाजलाद्यभिषेकप्रकारं तन्निमित्तकं गोविन्दनामधेयं तादात्विकहर्षप्रयुक्तगन्धर्वादिकृतगानादिप्रकारं चाह, तत्र प्रथमं शक्रागमनं तत्कृतश्रीकृष्णस्तवनं चाह ॥ गोवर्द्धन इति ॥ गोवर्द्धने गोवर्द्धनाख्ये, शैले पर्वते, धृते सति, श्रीकृष्णेनेति शेषः। व्रजे गोष्ठे, आसारात् रक्षिते सति, शक्र इन्द्रः, स्वर्गात् इति शेषः। सुरभिः कामदुघा च गोलोकात् एवं कृष्णं आव्रजत्। तत्र 'गोवर्द्धने धृते शैले' इति शक्रस्य भयेनागमने हेतुः। 'आसाराद्रक्षिते व्रजे' इति सुरभेर्हर्षेण आगमने हेतुः ॥ १ ॥ तत्रेन्द्र आगत्य किं कृतवांस्तत्राह विविक्त इत्यादिनाऽथाह सुरभिरित्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन ॥ विविक्त इति ॥ कृतं हेलनमपराधो येन सः, अत एव व्रीडितो लज्जितः, अत एव विविक्ते एकान्ते, उपसंगम्य समीपमेत्य, अर्कस्य सूर्यस्येव वर्चो यस्य तेन, किरीटेनैव, एनं श्रीकृष्णं, पादयोः पस्पर्श नमश्चकार ॥ २ ॥ दृष्टेति ॥ अमितं निरवधिकातिशयं तेजः प्रभावो यस्य तस्य, कृष्णस्य, दृष्टः स्वनयनविलोकितः श्रुतः पूर्वमाकर्णितश्च अनुभावो येन तथाभूतः, अत एव नष्टोऽपगतः त्रिलोकेशोऽहमिति मदो यस्य सः, कृतोऽञ्जलिर्येन तथाभूतः, शक्रः, इदं वक्ष्यमाणस्तुत्यात्मकं क्षमापणात्मकं च वाक्यं, आहोवाच ॥ ३ ॥ तव स्तुत्यात्मकं वाक्यं तावद्दर्शयति विशुद्धेत्यादिना तत्रेत्यतः प्राक्। त्रिलोकेशमदाविष्टोऽहमधुना यथाश्रुतदैवमानुषत्वन्माहात्म्यावलोकनाध्यवसितनित्यनिरुपाधिकत्रिलोकेशत्वं त्वदसाधारणमिति मत्वा त्यक्त-त्रिलोकेशमदोऽभूवमित्यभिप्रायेण सर्वकारणकारणं मत्वा स्तौतीन्द्रः ॥ विशुद्धेति ॥ हे कृष्ण, तव स्वस्वामिभावसंबन्धे षष्ठी। धाम स्थानं परमव्योमेति यावत्। विशुद्धसत्त्वं रजःसत्त्वतमोभिरननुविद्धशुद्धसत्त्वमयं, अत एव ध्वस्तरजस्तमस्कं निर्धूतरजस्तमोगन्धं, एतत्सत्त्वस्याप्युपलक्षणम्। अत एव शान्तं रागद्वेषादिरहितं, तपस आगतं तपोमयं, त्वदुपासनात्मकतपोऽवगम्यमित्यर्थः। ते तव, अयं मायामयः मायाया आगतः, पूर्वत्राऽत्र च 'तत आगतः' इत्यधिकारे 'मयट् च' इति मयट्। संकल्पमात्रपरिक्लृप्त इत्यर्थः गुणसंप्रवाहः सत्त्वादिगुणकार्यभूतं संसारः, ग्रहणानुबन्धः संसारमूलकः शरीरग्रहणकारणभूतः कर्मानुबन्धश्च, न विद्यते। यत्रेति शेषः। गुणसंप्रवाहो ग्रहणानुबन्धश्च न विद्यते तथाभूतं त्वद्धामेत्यर्थः ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवंविधं सकलगोकुलपालनार्थं लीलाविलासमचलोद्धरणप्रधानम्।
आलोच्य विच्युतविकल्पनमच्युतस्य नामार्तिहारि सततं मनुजेन गेयम् ॥ १ ॥

गोवर्धन इति : १०.२७.१.

गोव्रजत्राणमालक्ष्य कृपया प्रभुणा कृतम्। तौ युक्तमागतौ तत्र यत्सर्वोऽपि निजेष्टदृक् ॥ २ ॥

मत्स्तुत्य फलमिन्द्र किं मम कृतः को वाऽपराधस्त्वया वृष्ट्या क्षोभमवापितोऽतिशयितं यो गोत्रजः सम्प्रति ।
त्वं तत्सांत्वनमाचराशु यदिह प्रीते त्वहं प्रीतिमानेवं कृष्णवचो विभाव्य मतिमान् सोऽगात् सुरभ्या समम् ॥ ३ ॥
गोयोगाद् गोत्रजः क्षोभं प्राप्तः सम्प्रति तत्प्रभुः । तद्योगादेव तच्छान्तिं कर्तुमागत् तया सह ॥ ४ ॥

विविक्तः इति : १०.२७.२.

स्वस्वामी द्रष्टव्यो निरागसाऽपि स्पर्शेन रहसि सदा । युक्तं कृतापराधौ मघवा कृष्णं विविक्त एवागात् ॥ ५ ॥
सोऽस्पृशंच्छ्रीशपादाब्जे किरीटेनार्कवर्चसा । तन्मैत्र्यं वीक्ष्य तल्लिप्सुस्तं मध्यस्थं व्यधात् क्षमम् ॥ ६ ॥
वराभयकरौ कराविव हरेर्निरीक्ष्याचलस्थिती गिरिसमुद्धतौ सुरपतिः स पादौ तदा ।
स्वमन्तुकृतचिन्तनस्तदभयार्थनाकामुको ह्रिया स्वमुकुटेन तौ भृशनतोऽस्पृशम् तत्क्षमम् ॥ ७ ॥

विशुद्धसत्त्वमिति १०.२७.४.

नित्यं कैतववर्जितेन मनसा यः स्वामिनं सेवते मन्तुर्नामपदार्थ एव सहसा नाज्ञायि येन क्वचित् ।
सोऽपि श्रीशनिजाधिपस्य पुरतो वक्तुं सभीतिर्भवत्यत्यागः स्थितचेतसो मम तु का वाच्या वचःप्रक्रिया ॥ ८ ॥

कृष्णप्रिया

इस अध्याय में २८ श्लोक हैं । तामस प्रकरण के तृतीय साधन प्रकरण का वैराग्यधर्म निरूपक यह षष्ठ अध्याय है । इस अध्याय में कामधेनु और देवों के द्वारा भगवान का अभिषेक, इन्द्र ने की हुई भगवान की स्तुति एवं भगवान ने की हुई शिक्षा का वर्णन है ।

श्रीशुकदेवजी ने कहा —राजन परीक्षित् ! भगवान् श्रीकृष्ण ने वाम करकमल से श्रीगोवर्धन गिरिवर को धारण कर धारासंपात वर्षा से समस्त व्रज का संरक्षण किया, उस अवसर गोलोक से कृतज्ञ कामधेनु लज्जित इन्द्र एवं देववृन्द भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीचरणों की सेवा में उपस्थित हुए ॥ १ ॥ भगवान श्रीकृष्ण का अवहेलन-अनादर करने के अपराध से अपराधी एवं सुलज्जित इन्द्र ने प्रभु के समीप में आकर, अपने अपराध की क्षमा कराने के लिए, सूर्य तुल्य तेजस्वी मुकुट से सुशोभित मस्तक से, प्रणाम करते हुए एकान्त में प्रभुजी के श्रीचरणों का स्पर्श करते हुए प्रपत्ति ली ॥ २ ॥ अपार पराक्रमी और अमित तेजस्वी भगवान श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रभाव का अनुभव कर और श्रवण कर "मैं त्रिलोकीनाथ हूँ" ऐसा इन्द्र का भ्रान्त अभिमान टल गया और अञ्जलि बद्ध भगवान के श्री चरणों में निवेदन करने लगा ॥ ३ ॥ राजा इन्द्र ने कहा—नाथ ! आप की महिमा, आप का तेज, आप का धाम विशुद्ध सत्व स्वरूप है, शान्त है और तपोमय है । आप के दिव्य तेज ने तमोगुण और तमोगुण का मोह का नाश किया है । तीन गुणों से सक्रिय बनता माया का यह व्यवहार आप के दिव्य तेज को छु नहीं सकता आप तक नहीं आ सकता ॥ ४ ॥

कुतो न तद्धेतव ईश [1]मन्युलोभादयो येऽबुधलिङ्गभावाः ।
[2]तथापि दण्डं भगवान् बिभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥ ५ ॥
पिता गुरुस्त्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तदण्डः ।
हिताय [3]चेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वञ्जगदीशमानिनाम् ॥ ६ ॥
ये [4]मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य कालेऽभयमाशु तन्मदम् ।
हित्वाऽऽर्यमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेऽनुशासनम् ॥ ७ ॥
स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य [5]कृतांहसस्तेऽविदुषः प्रभावम् ।
क्षन्तुं प्रभोऽथार्हसि मूढचेतसो मैवं पुनर्भून्मतिरीश [6]मेऽसती ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे ईश ! ये अबुध लिङ्ग भावाः तद् हेतवः मन्यु लोभादयः न कुतः ? तथा अपि, भगवान् धर्मस्य गुप्त्यै, च, खलनिग्रहाय दण्डम् बिभर्ति ॥ ५ ॥ हे नाथ ! त्वम् जगताम् पिता, गुरुः, अधीशः, च उपात्तदण्डः दुरत्ययः कालः, जगदीश-

१. तद कृता—श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. शु. सु. ; ईश मन्यु—विज. चित्सुख. । २. यथापि—इति कस्यचित् । ३. स्वेच्छा—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर विश्व. शुक. सु. ; चेच्छा विज. । ४. माद्दशाज्ञा—वीर. ; ये मद्विधाः स्युः—विज. । ५. कृतागस—श्रीधर. वंशी. वीर. विज. जीव. विश्व. शुक. सु । ६. मे मतिः—म. पु. मूले ।

मानिनां हिताय मानम् विधुन्वन्, इच्छातनुभिः समीहसे॥६॥जगदीश मानिनाम् मद्विधाः ये अज्ञाः, ते काले 'स्वान्तकाले' भयम् त्वाम् वीक्ष्य, आशु तन्मदम् हित्वा अपस्मयाः आर्यमार्गम् प्रभजन्ति, ते ईहा, खलानाम् अपि अनुशासनम् हे प्रभो ? सः त्वम् ऐश्वर्यमदप्लुतस्य, ते प्रभावम् अविदुषः, मूढचेतसः कृतांहसः क्षन्तुम् अर्हसि हे ईश ? मे पुनः एवम् असती, मतिः मा भूत्॥८॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

यदा अज्ञानतत्कृतदेहसंबंधौ न स्तस्तदा तत्कृतानां लोभादीनां का वार्तेत्याह। अतो न्विति। तत्कृता देहसंबंधकृताः तद्धेतवः पुनरन्यस्य देहस्य हेतवः। ननु ज्ञानिनामपि ते दृश्यंतेऽत आह अबुधलिंगभावा अज्ञानिनां गमकाः। यावद्रागादिमत्त्वं तावदज्ञानित्वमेव न सिद्धमित्यर्थः। लोभाद्यभावेऽपि मन्मानभंगो दंडार्थमित्याह। तथापीति॥ ननु त्वद्दंडे च मम गोपपुत्रस्य का शक्तिः किं वा कारणं को वा दंडो मया कृत इत्यत आह। पितेति त्वं पिता जगतां जनकः गुरुरुपदेष्टा अधीशो नियंता इति दंडधारणे हेतुत्रयम्। कालत्वात्समर्थः तस्मादुपात्तदंडो हिताय कल्याणाय स्वेच्छातनुभिर्लीलावतारैः समीहसे। तव समीहा लीलैव जगदीशमानिनाम्माकं मानविधूननमित्यर्थः॥ ६॥ कथमेतदित्यत आह। य इति मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च ते अतो जगदीशमानिनः काले भयकालेऽपि यथाऽधुनैवातिवृष्टौ त्वामभयं भयमगणयंतं वीक्ष्याशु तन्मदं जगदीशा इति मद्विधाश्च ते अतो जगदीशा इति मदं हित्वा विगतगर्वाः संतः आर्यमार्गं त्वद्भक्तिलक्षणं भजंति। अतस्तवेहैव खलानामनुशासनं दंड इत्यर्थः॥ ७॥ एवं भगवत्स्वरूपमभिप्रायं चातुर्वर्ण्यं क्षमापयति। स त्वमिति। एवंभूता असती मतिर्मे पुनर्मा भूदिति प्रार्थनांतरम्॥ ८॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

कारणाभावे कार्याभावमाह—यदेति। तत्कृतानाम् अज्ञानकृतानाम्। ज्ञानिष्वपि लोभादीनाशंकते—नन्विति। ते लोभादयः। अतः अत्र। अबुधानां लिंगं स्वरूपं भावयंति बोधयंतीत्यबुधलिंगभावाः। इत्यर्थ इति रागादय एवाज्ञानित्वापादका इत्यर्थः। भगवतः स्वहितैषित्वमाह—लोभाद्येति। तथापि लोभाद्यभावेपि। दंडम् शासनम्। यद्वा—दंडं संन्यासचिह्नीभूतं वेणुलकुटम्। धर्मस्य प्रव्रज्याधर्मस्य। गुप्त्यै खलस्याज्ञानस्य निग्रहाय "त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्" इत्युक्तेः। इत्यभिप्रेत्यैव देवलेनोक्तम्—"मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिंगधारणम्" इति। विष्णुलिंगम् दंडः "दंडोऽस्त्री शासने राज्ञा हिंसने लकुटे गुणे। दमने वेणुलकुटे" इति यादवः॥ ५॥ भगवांस्तस्य महत्त्वं द्योतयन्दंडे कारणमाशंकते—नन्विति। जनको ब्रह्मादिद्वारा, उपदेष्टा मन्वादिरूपेण, नियंता यमराजादिरूपेण। मानधूननं माननाशनम्। इत्यर्थ इति। माननिवृत्त्या साधुमार्ग प्रवृत्तिः स्यात्तदेव भगवल्लीलाप्रयोजनमिति भावः॥ ६॥ एतत् जगदीशमानिनां दंडेन मानहननम्। मल्लीलेति यत् तत्कथमित्यर्थः। अतः अत्र। मद्विधाः मत्तुल्याः। अतः अज्ञत्वात्। तन्मदं येन मदेन त्वदपराधमकार्ष्मेत्यर्थः। स च जगदीशा वयमित्येवंरूपः अपगतः स्मयो गर्वो येषां ते तथा 'स्मयः स्याद्विस्मितगर्वयोः' इति धरणिः। आर्याणां महतां मार्गम्। "वेदोक्तिं योऽनतिक्रम्य कर्माणि कुरुतेऽनिशम्। स आर्यः प्रोच्यते सद्भिरनार्यस्तु ततोन्यथा॥" इति कौशिकोक्तेः। "चतुर्ष्वाश्रमवर्णेषु पूज्येषु वणिजां गणे। शिष्टाचाररते पुंसि स्यादार्यो गम्यपद्धतौ॥" इति माकंडेयादौ। यतस्त्वं सर्वदाऽभयोऽतो हेतोः। ईहा लीलैव। इत्यर्थ इति। खलानुशासनार्थमेव लीलां बिभर्षीति भावः। "ईह स्यादुद्यमे चेष्टावाञ्छालीलासु च स्त्रियाम्" इति नैरुक्तः॥ ७॥ एवम् उत्करीत्या। 'विशुद्धसत्त्वम्' इत्यादिना भगवत्स्वरूपं गर्वपरित्यागेनार्यमार्गे प्रवृत्तिरस्त्वस्येत्यर्थाभिप्रायश्च। यस्सर्वेश्वरः सः त्वम्। "प्लुतो न्यापे त्रिमात्रे च स्वरे कूर्दननृत्ययोः" इति धरणिः। एवंभूता महदवज्ञानप्रवृत्ता॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अतः कैमुतिकन्यायेनाह—कुतोन्विति। यदि ते गुणाः मायामया न भवन्ति तर्हि तद्धेतवो मायाहेतुका दोषाः कुत इत्यर्थः। तत्र हेतुः ईश, हे मायानियन्तः! नवनक्रूटभोजनत्वन्मदासहनादिना मयि ते भवद्भिरवगता एव कथमधुना भयेनाऽपलप्यन्ते तत्राह—तत्कृता लोभादयो ये बुधलिङ्गभावा इति। ये बुधलिङ्गभावा भक्तभक्तिमाहात्म्यगमकाः भक्तदत्तभोजनसमास्वादात्मका लोभादयस्ते तु तत्कृताः कुत इति न मायाकृताः किन्तु कृपामात्रकृता इत्यर्थः "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" इत्यादेः ननु, भवतु तादृशो लोभः भक्तसुखकरत्वादन्येषामदुःखकरत्वाच्च क्रोधस्तु स्वविषयदुःखकर एव दण्डात्मकत्वात् कथं तर्हि तत्र च न कृपा तत्राह—अथापीति। धर्मस्य गुप्त्यै यः खलस्य निग्रहः तस्मा इति खलानामपि धार्मिकत्वापत्त्या सुखमेव स्यादिति सोऽपि कृपामात्रकृत एवेति भावः। तथापीति पाठः क्वचिद्भगवान् बिभर्तीत्यपरोक्षेऽपि परोक्षवदुक्तिर्भयगौरवादिना ईश मन्युलोभादय इति चित्सुखादीनां पाठे मन्युलोभादीनां च कुतोन्वित्यनेनैवान्वयात्॥ ५॥ अतो मम हितमेवाकरोदित्याह—पिता च गुरुश्चेत्यादिरन्वयः। सम्यक् ईहसे विचित्रलीलां तनुषे अन्यत्तैः तत्र मानधूननमित्यतिशयविवक्षयैव भेदानिर्देशः॥ ६॥ मानभञ्जनपूर्वकं हितप्रवर्तनप्रकारमेवाह—य इति। हितमाह, आर्येति यद्यपि भक्तानन्दनार्थमेव तथापि तवेहा लीला मद्विधानां खलानामपि अनुशासनं शिक्षाकारणं भवतीत्यर्थः॥ ७॥ प्रभो, भो मदादिसर्वदेवेश्वर! हे क्षमासमर्थेति वा, अथ अरमादुक्ताद्धेतोः स जगद्धितकारी कृतागसोऽपि मम क्षन्तुमर्हसि योग्योसि कृतागस्त्वे हेतुः तव प्रभावं माहात्म्यमविदुषः अज्ञानतः तत्कुतः ? मूढचेतसः विचाराद्धतरचेदसर्थः तदपि

कुतः ? ऐश्वर्यमदव्याप्तस्य । यद्वा, तव प्रभावं विदुषोऽपि कृतागस इत्यधिकमागोऽभिप्रेतं तथापि क्षन्तुमर्हसि कुतः ? मूढचेतसः विस्मृतप्रभावस्य अज्ञत्वेनाऽग्राह्यापराधत्वादिति भावः । किञ्च सकलजगद्धितार्थावतीर्णस्य परमदयालोरुदारशिरोमणेस्तव मदीय-तत्सकृदपराधक्षमापणं कियन्नाम किन्तु तथा कुरु यथा पुनस्त्वयि त्वदीयेषु च कोप्यपराधो न स्यादित्याह—मैवमिति । एतादृशी त्वयि तावकेषु च महाऽऽगसाञ्जननी अत एवासती मूढचेतसः इत्यस्यात्रैव वान्वयः यत् किञ्चित् ज्ञानरहितस्यापि सतो मे न त्वैश्वर्ये सति कथं नाम न भवेत् तत्राह—हे ईश ! तत्रापि त्वया तथा कर्त्तुं शक्यत इत्यर्थः । एतच्च नातिशुद्धेन चेतसा प्रार्थितमिति ज्ञेयम् "त्वां वीक्ष्य काले भयम्" इत्युक्तेरक्षमतयैव तदनुगतेः अत एव पुनः पारिजातापरणादावपि विस्मरिष्यते ॥ ८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एवं सद्गुणनिधित्वात् दोषाणामभावात्त्वयि भावकेषु च लोभादयो न सन्तीति कैमुतिकन्यायेनाह—कुतोऽन्विति । ईश हे मायानियन्तः ! आदिशब्देन क्रोधादयः, लोभस्यादावुक्तिः श्रीगोवर्द्धनयागे (एतादृशलोभस्य भक्तसुखकरत्वादन्येषामदुःख-करत्वात् ईश मन्युलोभादयः इति पाठः श्रीचित्सुखादीनां सम्मतः, अतस्तावकत्वरहितानामबुधानामस्माकमेव लोभादयो युक्ता एवेति भावः । अथापि यद्यपि तव त्वदीयानाञ्च लोभादयो न सन्ति, तथापीत्यर्थः, बिभर्त्ति भवान्, यतो भगवान्, सर्वलोक-हितार्थमवतीर्णः साक्षात् परमेश्वर इत्यर्थः, यद्वा, भगवान् बिभर्त्तीत्यपरोक्षेऽपि परोक्षवदुक्तिर्भयगौरवादिना ॥ ५ ॥ अतो मम हितमेवाकरोरित्याह, चकारात् स्वयञ्च, यद्वा, च एव, जगतां हितायैव, सम्यक् ईहसे चेष्टसे, विचित्रलीलां तनुषे; किं कुर्वन् ? जगदीशमानिनां जगदीशा वयमिति मानवताम्, यद्वा, हे जगदीशेति । तत्र तत्र हेतुः—मानिनामभिमानवतामस्मादृशामभिमानं निरस्यन्, अन्यथा लोकपालानामभिमानदृष्ट्या लोकानामप्यभिमानेन हितासम्पत्तेः, यद्वा, अप्यर्थे चकारः, मानं विधुत्वन्नपि तेषामपि हिताय समीहसे । अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, दण्डं बिभ्रतोऽपि हितकारित्वं समर्थयति—पितेति, उपात्तदण्डो दण्डं बिभ्रदपि त्वं जगतां पित्रादय एव, यथा पुत्रादिहिताथ तेऽपि दण्डं धारयन्तीत्यर्थः । तत्र गुरुः शिष्यहितार्थम्, अर्थांशः स्वामी भृत्यस्य, कालो यमस्य सर्वजीवानाम्, नरकोपभोजनादिना पापादिक्षपणात्, तच्चाजामिलोपाख्यानादौ व्यक्तमेव, यद्वा, परमा-ख्यादिलक्षणः कालः सोऽपि जन्ममरणादिना दण्डं कुर्वन् वैराग्योत्पादनादिनाहितं करोत्येव, तत्र कथञ्चित् पित्रादयो वञ्चयितुं शक्यन्ते, न च काल इत्याह—दुरत्ययो दुर्लङ्घ्यः, अतः स्वस्य भक्तानां चेच्छया यास्तनवोऽवतारास्ताभिः ॥ ६ ॥ ननु मया स्वभक्तविनोदार्थं विविधाश्चेष्टाः क्रियन्ते, न तु त्वादृशानां मानभञ्जनाय, सत्यम्, तत एवास्मादृशानां स्वत एव मानभंगः स्यादि-त्याह—ये इति, तैर्व्यञ्जितमेव, यद्वा, काले कस्मिंश्चिद्योग्यसमये भयं साक्षाद्भयरूपं त्वां वीक्ष्य, किंवा, अभयमार्ग्यमार्गं प्रकम्पन प्रेमविस्तारणादिना प्रभजन्ति, इति हितमभिव्यञ्जितम् । एवमीहया चेष्टयापि, न केवलं वाचा, ये खलास्तेषामप्यनुशासनं शिक्षा बभूव, 'ते' इत्यस्य 'ये' इति पूर्वेणैव सम्बन्धः, यद्वा, तव ईहायां श्रीगोवर्द्धनार्च्चनगोष्ठावनादि-चेष्टायां ये खला दुष्टास्तेषामपि, एतच्चात्मोद्देशेनोक्तम्; अन्यत् समानम् ॥ ७ ॥ प्रभो भो मदादि सर्वदेवेश्वर हे क्षमासमर्थेति वा, अतोऽस्मादुक्ताद्धेतोः, स जगद्धितकारी, कृतागसोऽपि मम क्षन्तुमर्हसि योग्योऽसि । कृतागस्त्वे हेतुः—तव प्रभावं माहात्म्यमविदुषोऽजानतः, तत् कुतः ? मूढचेतसो विचाररहितस्येत्यर्थः । तदपि कुतः ? ऐश्वर्य्यमदव्याप्तस्य, यद्वा, तव प्रभावं विदुषोऽपि कृतागस इत्यधिकमागोऽभि-प्रेतम्; तथापि क्षन्तुमर्हसि, कुतः ? मूढचेतसः अज्ञत्वेनाग्राह्यापराधत्वादित्यर्थः, किञ्च, सकलजगद्धितार्थावतीर्णस्य परमदयालो-रुदारशिरोमणेस्तव मदीयैतत् सकृदपराधक्षमापनं कियन्नाम, किन्तु तथा कुरु यथा पुनस्त्वयि त्वदीयेषु च कदाचिदपि कोऽप्य-पराधो न स्यादित्याह—मैवमिति, एतादृशी त्वयि तावकेषु च महागसां जननी, अत एवासती, 'मूढचेतसः' इत्यस्यात्रैव वान्वयः, कथञ्चिज् ज्ञानरहितस्यापि सतो मे । ननु ऐश्वर्य्ये सति कथं नाम न भवेत् ? तत्राह—हे ईश ! तत्रापि त्वया तथा कर्त्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

तद्धेतवः शरीरग्रहणहेतुकाः अबुधलिङ्गभावाः अज्ञानचिह्नभूतपदार्थाः ॥ ५ ॥ काल इति सप्तमी ॥ ६ ॥ मद्विधा अज्ञाः खलानामनुशासनम् ईहा तव चेष्टा ॥ ७–१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

नन्वहमेवंविधश्चेत्कथं रागादयः कथं तन्मूला दण्डादिप्रवृत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति–कुत इति । यद्यपि तव धामैव गुणसंप्र-वाहग्रहणानुबन्धादिरहितमतो हे ईश्वर ! निरुपाधिकसर्वेश्वर ! तत्कृतास्तेन शरीरग्रहणेन कृतास्तत्प्रयुक्ता इत्यर्थः । तद्धेतवः पुनरन्यस्य शरीरग्रहणस्य हेतवो ये रागादयः ते कुतोनु तव न सन्त्येवेत्यर्थः । अत्यन्तासम्भावनायां हेतुं वदन् रागादीन् विशिनष्टि–अबुधलिङ्ग-भावाः अबुधानां देहात्मभ्रमवतां लिङ्गभावाः चिह्नभूतपदार्थभूताः रागादिभिरेवह्यबुधत्वं व्यज्यते नित्यं स्वयाथात्म्यानुभवस्वरूपस्य तव कथं रागादिसम्भावनापीति भावः । तथापि हे भगवन् ! पूर्णषाड्गुण्य ! भगवान् धर्मसंस्थापनाय खलानां निग्रहाय च दण्डं बिभर्ति भगवानिति पाठे षाड्गुण्यपूर्णो भगवानित्यर्थः ॥ ५ ॥ न च खलनिग्रहेण तव वैषम्यप्रसङ्गः तन्निग्रहस्यापि तद्दमनद्वारा तदनु-

ग्रहहेतुत्वादित्यभिप्रायेण खलनिग्रहस्यौचित्यं द्योतयितुं विशिंषन् वैषम्याभावमाह-पितेति। सर्वजगतां पिता जनकः गुरुर्हितोपदेष्टा अधीशो नियन्ता दुरत्ययः न तु लौकिकनियन्तृवत्कथञ्चिदत्येतुं शक्यः अतः काले उचितकाले उपात्तो दण्डो येन तथाभूतः नहि लोके पित्रादयः उत्पथगामिनः पुत्रादीन् शिक्षया सन्मार्गं प्रवर्तयितुं प्रभवोऽप्युपेक्षन्ते नचैतावता तेषां वैषम्यञ्चेति भावः। अतः सर्वजगत्पितृत्वाद्यादिसम्बन्धचिविशिष्टस्य प्रभोरतवोचित एव खलनिग्रहार्थो दण्ड इत्यर्थः। अतस्त्वं जगदीशमात्मानं मन्यमानानां मादृशां मानं गर्वं विधुन्वन्नस्माकं हितार्थमेव स्वेच्छोपात्ताप्राकृतदिव्यतनुभिरुपलक्षितः ईहसे चेष्टसेऽतो न वैषम्यमिति भावः॥ ६॥ दण्डस्य हितार्थत्वमेव उपपादयति-य इति। ये मादृशाश्च ते अज्ञाश्च जगदीशमात्मानं मन्यमानास्ते उचितकाले भयं भयङ्करं दण्डधरं त्वां वीक्ष्य तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मदमाशु हित्वा अपस्मया अपगतगर्वाः आर्यमार्गं सतां वर्त्म प्रभजन्त्यनुवर्त्तन्ते अतस्तवेहा चेष्टाऽपि खलानामनुशासनं शिक्षैव॥ ७॥ तदेवं भगवतः केवलं लोकहितार्थैकप्रवृत्तत्वमभिधायाथ क्षमापयति-स त्वमिति। मदैश्वर्यमेणेन्द्राधित्येन यो मदस्तेन प्लुतस्य व्याप्तस्य उत्पथं प्रतिपन्नस्येति वा ममैश्वर्येति पाठान्तरं तदैश्वर्येणेन्द्राधिपत्येनेत्येवार्थः। अत एव ते तव प्रभावमविदुषः अत एव कृतमागोऽपराधो येन तस्य ममापराधमिति शेषः। स एवम्भूतस्त्वं क्षन्तुमर्हसि हे प्रभो! निग्रहीतुम् अनुग्रहीतुं च समर्थः अथ पुनर्मूढचेतसो ममासती दुष्टा एवंविधा मतिः माभूत्तथा अनुगृहाणेति प्रार्थना॥८॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ननु, "खलेन पर्वान्प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोनिन्द्राः" इति श्रुतेः हरे कामक्रोधादिदर्शनाल्लोभाद्यभावः कथं कथ्यत इत्यत्राह-कुत इति। ते गुणा हेतवो निमित्तानि येषा ते तद्धेतवः न विद्यन्त इति कुतो नु किं वक्तव्यमित्यर्थः। यद्वा, तस्य संसारहेतवः कुतः कल्प्यन्त इति शेषः। अबुधस्याज्ञानिनः लिङ्गभावाः लक्षणभूताः अत्र कारणाभावात्कार्याभावानुमानं च द्रष्टव्यमित्यर्थः। यद्यपि तव गुणनिमित्ताः कामादयो न सन्ति तथापि शास्त्रविहिता अदोषकरत्वात्सन्तीत्याशयेनाह-अथापीति, दण्डं शासनं हिंसां वा "दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे गुग" इति यादवः विशुद्धसत्त्वं निर्मलसत्त्वगुणयुक्तं इत्याद्यपव्याख्यानप्रत्याख्यानाय विगतशुद्धसत्त्वमित्यादिव्याख्यातमाचार्यैः सत्त्वगुणाङ्गीकारे मायामयोयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यत इत्येतद्व्याहतं न स्यादिति पर्यवर्द्धरिति। असच्छासनेन धर्मस्थापनं प्रयोजनं सच्छिक्षणेन किं फलं स्यात्। किञ्च, उभयेषां शासका उभयो तौ नैक इतीय शङ्का—

"असतां च सतां चैव हरिरेवानुशासकः। सतां तु श्रेयसे सैव ह्यनुशास्तिर्भविष्यति"॥

इत्याग्नेयवचनेन परिहर्त्तव्येति॥ ५॥ पितृत्वाद्गुरुत्वात्स्वामित्वाच्च हरेरेकस्यैवानुशासकत्वं नान्यस्येत्याशयेनाह-पितेति। पुण्यपापफलपाचकत्वेन उपात्तदण्डः गृहीतशासनः हिताय सतामिति शेषः। "गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः" इत्येतन्निरस्तमिति ज्ञातव्यम्॥६॥ सतामनुशासनं श्रेयस इत्यभिप्रेतं तदिदानीं व्यक्तमाह, य इति। हे जगदीश! मद्विधा मानिनः स्युः ते काले असुरावेश निर्मोकसमये प्राप्ते अभयं त्वां वीक्ष्य अस्मन्मदनिर्मूलनवीर्यं त्वां दृष्ट्वा येन मदेन त्वदपराधमकार्ष्म तं मदं हित्वा अपस्मयाः निरस्तगर्वाः आर्यमार्गं विद्वज्जनसिद्धान्तं प्रभजन्ति न केवलमस्माकं तवेहानुशासनं खलानामपीत्याह, ईहेति॥ ७॥ तत्र कर्त्तव्यं प्रार्थ्यते सत्त्वमिति अविदुषः अज्ञस्य॥ ८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

मानभञ्जनपूर्वकं हितप्रवर्त्तने प्रकारमेवाह—य इति हितमाह-आर्येति। अनुशासनं शिक्षाकारणम्॥ ७॥ मैवं पुनर्भूदिति प्रार्थना नातिशुद्धचेतसा विहितेति ज्ञेयं पुनरपि पारिजातहरणेऽपराधापातदर्शनात्॥ ८-१०॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अतः कैमुतिकन्यायेनाह—कुत इति। नु भो ईश! यदि तव गुणप्रवाहे जिघृक्षापि नास्ति तर्हि कुतस्तस्य गुणप्रवाहस्य हेतवो गुणाः स्युः तत्कृता गुणप्रवाहकार्यभूताः लोभादयश्च येऽबुधस्य लिङ्गं चिह्नं भावयन्त्युत्पादयन्तीति ते। ननु, तर्हि कथं त्वन्मखभङ्गमकरवं तत्राह—अथापीति। लोभकोपाद्यभावेऽपि॥ ५॥ धर्मगोपनखलनिग्रहाभ्यां पूर्णस्य परमेश्वरस्य मम किं फलमिति चेत् जगतां मङ्गलमेवेत्याह—पितेति। तव साहजिककारुण्यात् जगतां मध्ये ये धार्मिकास्तेषु त्वं पिता यथा पुत्रस्य देहद्वये वत्सलः गुरुर्यथा शिष्यस्य जीवात्मनि वत्सलः अधीशस्तत्तद्दुःखत्राणसुखप्रदानसमर्थः ये तु खलास्तेषु त्वं दुरत्ययो दुर्वारः कालः स इव उपात्तदण्डः दण्डप्रदानेनैव तच्छोधक इत्यर्थः। अत उभयेषां हितायैव इच्छातनुभिः स्वेच्छामयावतारैः समीहसे चेष्टसे तव समीहा लीलैव पूतनावधादिका दुष्टसंहारिका शिष्टपालिका चेत्यर्थः। ये त्वधिकृतभक्ता ब्रह्माद्यास्त्वद्दत्तयत्किञ्चिदैश्वर्येणैव मत्ता भवन्ति तेषामपि मदनिरसिनी त्वल्लीलैवेत्याह—मानमिति॥ ६॥ तेषु जगदीशमानिष्वपि मध्येऽहमत्यधम इत्याह—मद्विधाश्च ते अज्ञानादप्युपगानत्वादहमत्यज्ञ इति भावः। काले भयकालेऽपि यथा अशुनैवाविष्टो अभयं भयमगणयन्तं वीक्ष्य यद्वा, न जाने प्रभुरयं मां कीदृशं दण्डयिष्यतीति स्वस्य भयं भयहेतुं वीक्ष्य तन्मदं

जगदीश्वरत्वमदं त्यक्त्वा आर्याणां त्वद्भक्तानां मार्गं भजन्ति गतस्मया नष्टगर्वा अतस्तवेयं गोवर्द्धनधारणलीलैव खलानामरमाक-मनुशासनं दण्डः ॥ ७ ॥ ननु, गोवर्द्धनधारणेन व्रजस्य रक्षामेवाऽकरवं नतु तव दण्डं तव दण्डं तु साम्प्रतं वैवस्वतमाहूय समी-चीनतयैव कारयिष्यामीत्याशङ्क्य महाभयविह्वल आह–संप्रसिद्धः पिता च गुरुश्चातः कृपालुत्वात् क्षमासिन्धुत्वाच्च ऐश्वर्य्यमद-सिन्धौ प्लुतस्य निमग्नस्य अत एव तव प्रभावम् अविदुषोऽजानतः ममापराधं क्षन्तुमर्हसि यतो मूढचेतसः पशुस्वभावस्य पशुर्हि स्वामिना दत्तदण्डप्रहारोपि क्षणान्तरे तमेवापराधं करोत्यतोहं दण्डप्रदानेन न शोधनमर्हामि किन्तु कृपया तथा मां शोधय यथा मे मूढचेतस्त्वं नश्यतीत्याह—मैवमिति। एतच्च नातिशुद्धेन चेतसा प्रार्थितमिति ज्ञेयम्। त्वां वीक्ष्य काले भयमित्युक्तेरक्षमतयैव तदनुगतेः अतः पुनः पारिजातहरणादावपि विस्मरिष्यत इति श्रीवैष्णवतोषिणी ॥ ८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यदि संसार एव तव न तर्हि तद्धेतवः संसारप्रापकाः तत्कृताः संसारकृताः लोभ आदिर्येषां ते रागद्वेषादयः कुतस्तव स्युः तथापि संसारतत्कृतलोभादिरहितोऽपि धर्मस्य गुप्त्यै खलानामस्मदादीनां निग्रहाय दण्डं बिभर्त्ति ॥ ५ ॥ तच्च योग्यमेवेत्याह— पितेति द्वाभ्याम्। सर्वजगतां त्वं पिता जन्मदः गुरुर्ज्ञानप्रदः दुरत्ययो निरतिशयोऽधीशः अधिष्ठाता अतः काले उचितकाले उपात्त-दण्डः स्वेच्छात्तनुभिः नानालीलावतारैः जगदीशमानिनां मानं गर्वं विधुन्वन् अपनयन् हितायैव ईहसे चेष्टसे इत्यन्वयः ॥ ६ ॥ मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च मद्विधाज्ञाः जगत ईशा त्रयमिति मानवन्तः काले भयकालेपि त्वां यथेहैवातिवर्षनिपातेऽभयं वीक्ष्य आशु तन्मदं जगदीशा वयमिति मदं हित्वा अपस्मया गतगर्वाः सन्तः आर्याणां शिष्टानां मार्गं त्वज्ज्ञानभक्तिमार्गं प्रभजन्ति अनुवर्तन्ते अतस्तव ईहापि निश्चितं खलानामनुशासनं दण्ड इत्यर्थः। गोवर्द्धनोद्धरणेहयैव मदनुशासनं त्वया कृतमिति भावः ॥ ७ ॥ तदेवं भगवतो धर्मरक्षणायैव निग्रहादिकर्तृत्वमुक्त्वाथ क्षमापयन् एवमसती मतिः पुनर्मे माभूदिति प्रार्थयते स त्वमिति ॥ ८ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

कुतो नु तद्धेतव इति श्लोके तत्पदार्थो गुणसम्प्रवाहश्चेन्मन्व्यादीनां तं प्रत्यहेतुत्वात्तथा स गुणसम्प्रवाह एव हेतुः साक्षान्न तान्प्रतीति तच्छब्दार्थानुसङ्कष्टये स्वयं तदर्थमाह ॥ पुनर्गुणसम्प्रवाहस्य कारणत्वात्तद्धेतव इति। गुणसम्प्रवाहो हि द्वयीं गति-मवलम्बते महत्तत्त्वादिकारणीभूतमूलसत्त्वादिगुणसम्प्रवाह एकोऽवान्तरश्चापर इति। पुनः प्रथमे प्रश्ने व्यावृत्तावधारण इत्युक्तेः। पुनर्गुणसम्प्रवाह इति पदमेकं। पुनर्गुणसम्प्रवाहोऽप्रथमो द्वितीयोऽवान्तर इति। तस्य कारणत्वान्मन्व्यादीन्प्रतीति शेषः। तथा च सोऽवान्तरगुणसम्प्रवाहो हेतुर्येषामिति विग्रहः सूचितो भवति ॥ ततश्चायं मूलार्थः ॥ ननु गुणसम्प्रवाहो मयि नास्तीति शक्यते वक्तुं। तत्कार्यकोपादेस्त्वदनुभवसिद्धस्यापलपितुमशक्यत्वातित्यतो न ते तत्कृताः किन्तु धर्मादिरक्षणायैव शिक्षणाय दुरात्मनां स्वेच्छा प्रदर्शिता इत्याह ॥ कुत इति। हे ईश तद्धेतवोऽवान्तरगुणसम्प्रवाहकारणका येऽवुधलिङ्गभावा अवुधानामज्ञानां लिङ्गभावो लिङ्गत्वं येषां तेऽज्ञानिचिह्नभूता मन्युलोभादयः स्वकारणगुणसम्प्रवाहस्याभावादेव कुतस्तद्धेतवः स्युर्नुनिश्चयः। सोऽवान्तरगुण-सम्प्रवाहो हेतुर्येषां त इति विग्रहान्वयौ ज्ञेयौ। अथाऽपि शास्त्रविहितस्यादापावहत्वाद्भवान्भगवान्दण्डं वाचोपदेशरूपं सतां मध्यमानां तर्ज्जनादिरूपमधमानां हिंसारूपं विभर्ति। दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लकुटे गुण इति यादवः। धर्मस्य गुप्त्यै रक्षायै मध्यमानामुभयरूपाणां धर्मस्य गुप्त्यै उत्तमेष्विवाप्रकाश्यत्वाद्रोपनाय खलानां निग्रहाय संहाराय। वस्तुतस्तु पुनर्गुणसम्प्रवाहस्येति कर्मणि षष्ठी। मन्व्यादीनामिति शेषः। आदौ गुणसम्प्रवाहस्तेन मन्व्यादयस्तैश्च पुनर्गुणसम्प्रवाह इति तेषां पुनर्गुणसम्प्रवाह-कारणत्वसम्भवात्। पक्षममुं पुनः शब्दन्यासनिर्देशावुपोद्बलयत इति ज्ञेयं मूले तु तद्धेतव इत्यत्र तस्य हेतव इति विग्रहो ज्ञेयः ॥ ५ ॥ हिताय चेच्छातनुर्भिर्जगदीशमानिनामिति तत्सामान्यविहितता तथा मानविधूननं च प्रतीयते। ते च मानिनः सन्तोऽसन्तः सदसन्तश्चेति भिन्नाः। तेषां ते कथं युक्ते इत्यतोमानेनाधिकारिणो विविच्य तद्योग्यं फलं लपति ॥ असतां चेति। यद्यपि भावप्रतीत्यधीनाऽभावप्रतीर्नियमेनेत्युक्तेः सतामसतामिति वक्तव्यं। तथाऽपि तेषां भूयस्त्वात्किञ्च सतामपि तदावेशवशा-शुभशासनीयताघटककार्यकारितायास्तत्पुरस्कृतिरिति मन्तव्यं। असतां सतामसतां सतां चेति मध्यमानां च। नित्यानित्यं त्रिधा प्रोक्तमित्यादिवद्धरिरेवानुशासकः। हरेरनुशास्तिः सतां श्रेयसे भाविमङ्गलाय चान्मध्यमानामनुवंधनाय च भविष्यति। अन्वाश्रये वन्धने मोक्ष इति विश्वः। असतां विपरीताय तमआद्यनर्थाय। तत्र तन्त्रं ॥ अनुशासनं लङ्घयित्वा स्थितानामिति। लङ्घयित्वा तत्तत्कर्मानुसारेण लङ्घनं कारयित्वा सैव शास्तिर्विपरीताय भविष्यतीति वा ॥ अथ मूलार्थः ॥ सर्वोपाधिभिः सर्वानुशासिता त्वमेव तत्त्वत इति विज्ञापयति ॥ पितेति। पिता जनको गुरुः शास्त्रोपदेष्टा जगतामधीशो निरवधिकमधिक इति दुरत्ययो दुःसाधस्वातिक्रमः कालः पुण्यपापफलवाचक इति तद्रूप्युपात्तदण्डो गृहीतशासनो हिताय सतां चात्सदसतां हिताहितफलायेच्छा-तनुभिः स्वेच्छोपात्तशरीरैर्जगदीशा वयं तदात्मका इति मानिनामसतां मानं मदं विधुन्वंस्तमसि तान्क्षिपंश्च समीहसे चेष्टसे। अमानं यथा तथा हिताय जगदीशमानिनां तान्विधुन्वन्निति वा गतम्। गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्। इह प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवत्वतो यम इत्यादिकं त्ववान्तरत्वदाज्ञाकारिशासयितृविषयमिति न विरुणद्धीति हृदयम् ॥ ६ ॥ त्वं

किमन्यस्य इत्यत आह ॥ येऽस्मद्विधा इति । जगदीशमानिन इति वा खण्डं वा पदम् । कालेऽसुरावेशकाले काले तदनाविर्भावसमये च जगदीशमानिनोऽभयं त्वां वीक्ष्येति यथाक्रममन्वयो ज्ञेयः । तं मदं हित्वाऽऽर्यमार्गमपस्मया गतगर्वाः प्रभजन्ति खलानामसतामपि तवेहा चेष्टानुशासनं शिक्षात्मिकेव नास्मद्वदार्यमार्गभजनं तेषामिति भावः ॥ ७ ॥ इतः परं परमपुरुष त्वया विधेयं विनेयोपरि दयेदमिति प्रार्थयते ॥ स इति । ऐश्वर्यमदप्लुतस्यात्मदपारगस्याद्भिः प्लुतोऽप्लुतो ममाप्लुतो मदप्लुत ऐश्वर्येणाभिमानिकेन मदप्लुतस्तस्य ते कृतागसो मम ते प्रभावं चाविदुषोऽज्ञस्य कृतागसोऽनुष्ठितापराधस्य क्षन्तुमाग इति शेषः । अर्हसि । अथ हे प्रभो ईश श्रीश देव इह मूढचेतसो मेऽसत्वमङ्गला मतिः पुनर्मैवं भूत् न माङ्योग इति नाडागमः । पृथक् प्रार्थनाविषयत्वान्न मम मेऽविदुषो मूढचेतस इति पुनरुक्तेति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

यद्येषा वैषम्यबुद्धिरेव नास्त्यन्येषामपि तादृशबुद्धिनाशकत्वात् तदा वैषम्यबुद्धिकृतानि कार्याणि क्रोधादीनि न भवन्तीति किं वक्तव्यमित्याह कुत इति, न्विति वितर्के तद्धेतवो ग्रहणहेतवो मायाहेतवो वा कुतो भवेयुः ? किञ्च हे ईश यदि तवापि ते स्युस्तदा तत्पारवश्यादीशत्वं नोपपद्येत यद्यपि बहव एव दोषा निराकर्तव्यास्तथापि प्रकृते द्वयं प्रतिभात्यपकारिणी कोपो द्रव्ये लोभश्चेत्यतः आह मन्युलोभावय इति, मन्यू राजसो लोभस्तामस इति वा, नन्वेते दृष्टाः कथं निराक्रियन्ते ? तत्राहाबुधलिङ्गभावा इति, अबुधानामज्ञानां लिङ्गभावो लिङ्गत्वं येषां ते ह्यज्ञानिनं ज्ञापयन्ति न तु सर्वज्ञा धीरास्तज्ज्ञापका वातः श्रुतिविरोधान् न तेऽङ्गीकर्तव्याः, न हि क्रोधादयो भगवति कैश्चिदनुभूताः कार्येण कल्पनं त्वन्यथाप्युपपद्यते ये प्राकृतेषु क्रोधादिभिर्जायन्ते ते भगवतीति स्वत एव न हि दोषेणैव काय भवति गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यं दुःखादप्यश्रूण्यानन्दादप्यश्रूणि तथा प्रकृतेपि क्रोधादपि निग्रहोनुग्रहादपि निग्रह इत्यतः प्रमाणयुक्तिबाधान् न भगवति क्रोधादयः, एवमपि सति भगवान् दण्डं बिभर्त्यतो ज्ञायते धर्मरक्षार्थं खलानां निग्रहार्थं च तत् करोतीति लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः एकत्र फलाभावोपरत्र लौकिकसाधनाभाव इति साधनं भगवानेव तत्र साधनं स्वरूपमेवेतिसिद्धान्तः, फलं भ्रमप्रतिपन्नमन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यात्' यदि भगवानेवं न कुर्यात् पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यात्, स च सर्वेषां श्रेयोरूपः, किञ्च यदि स्वानुभावं न प्रकाशयेद् गोवर्धनोद्धरणादिना तदा खला न निगृहीताः स्युः, अत्र दण्डद्वयं पूर्वस्थितस्य नाशोधिकताडनं च, एकस्तु दण्डत्वेन न व्यवह्रियत इत्येकवचनं, एवं कृत एवैतद् भवतीति तवैव ज्ञानं नान्यस्येति भगवानित्युक्तं, अतस्तस्य फलसाधकत्वेन प्रमाणान्तरं न मृग्यम् ॥ ५ ॥ एवं श्लोकद्वयेन दण्डः कृतः परं प्रयोजनार्थमिति निरूपितमिदानीं शिक्षैवैषा न तु दण्ड इत्याह पितेति पुत्रा हि पितृभिस्ताडयन्ते गुरुभिश्च शिष्या राजभिश्च प्रजाः कालादिभिश्च पुरुषा न चैते दण्डं कुर्वन्ति किन्तु शिक्षामेव, त्वं तु सर्वेषां सर्वरूपो जनकत्वात् पिता वेदकर्तृत्वाद् गुरुः सर्वेषामेव जगतामधीशः स्वामी ब्रह्मादीनामप्यधिकारसम्पादकोतोधीशो दुरत्ययः कालो मृत्युः कालमृत्युर्हि न केनाप्यतिक्रान्तो भवति, उपात्तो दण्डो येन स यमः, परलोकेपि दुःखदाता तवैवाधिकारिणस्त इति कर्मकारणात् प्रेरणाद्वातः सर्वत्राधिकृतो भवानेवेतीच्छातनुभी राजादिशरीरैर्लोकानां हितायैव दण्डं समीहसे जगदीशमानिनां मानं च विधुन्वन्, इच्छातनवो मत्स्यादयोपि, पुरुषः पिता मत्स्यो गुरुरधीशः कूर्मो वराहश्च मृत्युदण्डधारिणौ नृसिंहवामनौ तथान्यत्रापि ज्ञेयं, चकारान् मोक्षाय च तेषां जगतश्च ॥ ६ ॥ तत्र हितं सन्दिग्धमिति स्वदृष्टान्तेन विवृणोति ये मद्विधा इति, अहमिन्द्रो यथैवमेव वरुणादयोज्ञा मूर्खा अन्यथा कथं नन्दं नयेयुः ? तेषामज्ञानस्थानमाह जगदीशमानिन इति, यद्यपि भगवदाज्ञा क्रियत इतिबुद्ध्यभावे सर्वमेव मौढ्यकृतं तथापि जगदीशा वयमित्यभिमानः स्पष्टः, मोहकार्यत्वेन तादृशा, स्वावसरेन्तकाले भयरूपं त्वां वीक्ष्याशु शीघ्रं वयमीश्वरा इति तन्मदं परित्यज्यार्यमार्गं नामस्मरणादिकं तुलसीगोपीचन्दनादिधारणं प्रपद्यन्ते, यथेदानीमहं नमस्कारे प्रवृत्त एवमपि केचित् प्रपद्यन्ते, यावत् पुनर्भयात्मकमपि त्वां न प्रपश्यति तावन्नार्यमार्गं प्रपद्यन्त इति धर्मरक्षार्थं दण्ड उपपादितः, प्रकर्षेण भजन पुनः पूर्वावस्थानं न गृह्णन्ति, अपगतः स्मयो गर्वो येषां, आर्यमार्गस्य गर्व एव बाधकः, अतो यद्यपि कौतुकार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं कृतं तथापि खलानामनुशासनरूपं जातमतस्तव चेष्टामात्रमपि सफलमेव ॥ ७ ॥ एवं शिक्षार्थतामुपपाद्य कदाचिज् ज्ञानवत्त्वेन कृतं कर्म चित्तपराधत्वेनैव भासेतातस्तन्निषेधार्थं प्रार्थयति स त्वमिति, ऐश्वर्यमदेन प्लुतस्यात एव कृतांहसः कृतापराधस्य, उभयत्रापि हेतुस्ते प्रभावमविदुषः क्षन्तुमर्हसि, अथ भिन्नप्रक्रमेण मदीयानधर्मानविचार्य केवलोयं दीन इति भ्रान्त इति, यतस्त्वं प्रभुः, न हि प्रभोश्चेतसि क्षन्तव्यकृता भासन्ते मूढचेतसो म इति वचनान् मौढ्यं सिद्धमेव, नन्वज्ञानं निवर्तितं शिक्षा च कृता कातः परं क्षमा या कर्तव्येति चेत् तत्राह मैवं पुनर्भूदिति, एतादृशी मतिः पुनर्माभूदिति, यदि भगवान् क्षमां न कुर्यात् मदपराधं स्मरेत् तदा सत्यसङ्कल्प इति नित्यविषयज्ञान इति मदाश्रयोप्यपराध उत्पद्यते स्मरणे तु नोत्पद्यते साधनाभावात् पूर्वसाधनस्य निवृत्तत्वाच्च, यत इयं मतिरसती सम्बन्धिनमप्यसति योजयत्यतस्तन्निवृत्तिप्रार्थनोचितैव ॥ ८ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

कुतो न्वित्यत्र ग्रहणेति मायेति ग्रहणं हेतुर्येषां मायाहेतुर्येषामितिसमासो ज्ञेयः, फलाभाव इति दण्डफलं धर्मरक्षा तदभाव इत्यर्थः, लौकिकेपि दण्डे लौकिकं साधनं कोपस्तदभाव इत्यर्थः, राजदण्डादिनापि धर्मरक्षा जायते तदर्थमाहुः फलमिति,

परं न नियतमितिभावः, अन्यथेति कदाचिदपि फलाभावे प्रवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः, यदीति यागभङ्गो धर्मरक्षार्थं गोवर्धनोद्धरणं खलनिग्रहार्थमित्यर्थः, एवमिति यागभङ्गमित्यर्थः, पूर्वेति यागस्वामित्वनाश इत्यर्थः, अधिकेति गोवर्धनोद्धरणेन मानभङ्ग इत्यर्थः, एकस्मिन्नवति पूर्व इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

कुतो नु तद्धेतव इत्यत्र अनुग्रहादपि निग्रह इतीति "क्रोधोपि देवस्य वरेण तुल्य"इत्यादिवाक्यात्, लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः एकत्र फलाभावोपरत्र लौकिकसाधनाभाव इतीति एकत्र लौकिके फलाभावः, क्रोधे जातेपि दण्डरूपं फलं कर्तुं न शक्यते दण्डकरणेप्सोरसमर्थत्वादित्यर्थः, अपरत्र भगवति लौकिकस्य दण्डसाधनस्य क्रोधस्याभावः, क्रोधं विनैव अनुग्रहेण दण्डदानादित्यर्थः, ननु यस्मै भगवता दण्डो दीयते तस्य सम्पत्त्यादिनाशो मरणं वा जायते कंसादौ तथादृष्टत्वात्, अतः फलेन साधनेनुमीयमानेनिष्टफलस्य क्रोध एव साधनमित्याशङ्क्याहुः फलं भ्रमप्रतिपन्नमिति, सम्पत्त्यादिनाशो मरणं वा दण्डस्य न फलं किन्त्वग्रे दास्यमानं मुक्तिरूपमेव फलं फलत्वेन बोद्धव्यं, अतो मरणादिकं भ्रमेण फलत्वेन प्रतिपन्नं ज्ञातमित्यर्थः, ननु यदि मुक्तिफलं दित्सितं तदा भक्तेभ्य इव कुतो न दीयते मारयित्वा कुतो दीयत इत्याशङ्क्याहुः अन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यादिति, यदि निषिद्धकर्मकर्तृभ्योपि भक्तेभ्य इव मुक्तिं दद्यात् मारणादि न कुर्यात् तदा सन्मार्गे प्रवृत्तिरेव न स्यात्, आर्याणां दुष्कृतीनां तुल्यत्वादित्यर्थः, य द भगवानेवं न कुर्यादित्यादि भक्तानामिव सुखेनैव मुक्तिं दद्यात् दुष्कृतीनां सम्पद्भ्रंशं मारणं वा न कुर्यात् तदानिष्टफलाशङ्काभावात् सर्वे निषिद्धकर्माणि कुर्युस्तदा पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यादित्यर्थः, स च सर्वेषां श्रेयोरूप इति स च धर्मः सर्वेषां श्रेयोरूप इत्यर्थः, इह "स चे"त्यनेन धर्मनाशशब्दान्तर्गतो धर्मः परामृश्यते "पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहे"त्यत्र 'तस्ये'त्यनेन पटोलवत् ॥ ५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

यद्येवं तदा तत्कृता देहाद्यात्माध्यासकृतास्तद्धेतवः पुनरन्यदेहग्रहणस्य हेतवो लोभादयस्तु कुतः स्युः ? । तत्रैव हेत्वन्तरं सूचयन् सम्बोधयति–ईशेति । ननु 'ज्ञानिनामपि ते दृश्यन्ते ?' तत्रा–अबुधलिङ्गभावा इति, अज्ञानिनां गमकाः । रागलोभादिसत्त्वे ज्ञानित्वमेव न सिद्ध्यतीति भावः ॥ ननु 'रागलोभाद्यभावे कथं त्वन्मभङ्गं न स्वमखसाधने प्रवृत्तिः ?' इत्याशङ्क्याह–तथापीति । लोभाद्यभावेऽपि भगवान् ऐश्वर्यादिपूर्णोऽपि भवान् खलानां परीद्धजकानामस्मदादीनां निग्रहाय वशीकरणार्थं मानभङ्गादिरूपं दण्डं बिभर्ति करोति । तत्प्रयोजनमाह–धर्मस्य गुप्त्या इति । दण्डाभावे प्रमादेन त्वदाराधनरूपस्य धर्मस्य विलोपादित्याशयः ॥ ५ ॥ 'उचितं च तव एतत्' इत्याह–पितेति । जगतां प्राणिनां त्वं पिता जनकः, गुरुरुपदेष्टा, अधीशः नियन्ता चेति दण्डस्योचितत्वे हेतुत्रयम् । तत्र सामर्थ्यमाह–दुरत्यय इति । तत्र हेतुमाह–काल इति । तस्मादुपात्तदण्डः सङ्कल्पितदण्डः सन् जगदीशमानिनामस्माकं मानं विधुन्वन् दूरीकुर्वन् स्वेच्छातनुभिः लीलावतारैः समीहसे चेष्टसे । 'मानदूरीकरणं तु शिक्षाद्वारा कल्याणार्थमेव' इत्याह–हितायेति ॥ ६ ॥ 'तेन हितं भवत्येव' इत्याह–ये इति । ये मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च, अत एवात्मानं जगदीशं मन्यमानास्ते भयकालेऽपि त्वामभयं भयरहितं दण्डधरं वीक्ष्य तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मदमाशु हित्वा अपस्मयाः अपगतगर्वाः सन्तः आर्यमार्गं सतां वर्त्म त्वद्भक्तिं प्रभजन्ति अनुवर्तन्ते । अतस्तवेहा लीला खलानामनुशासनं शिक्षैव ॥ ७ ॥ एवं स्वयागभङ्गगोवर्धनपूजादिभगवल्लीलायाः स्वशिक्षार्थत्वमभिधाय तं क्षमापयति–स इति । 'समर्थस्य स्वामिनः क्षमैव युक्ता' इत्याशनेन सम्बोधयति–प्रभो इति । स सर्वेश्वरस्त्वं कृतागसः वर्षादिना कृतापराधस्य ममापराधं क्षन्तुमर्हसीत्यन्वयः । 'अपराधः कुतः कृतः ?' इत्यत आह–ते इति । मदेऽपि तव प्रभावमविदुषः अजानतः ॥ प्रभावा ज्ञाने हेतुमाह–ऐश्वर्येति । इन्द्राधिपत्येन यो मदस्तेन प्लुतस्य व्याप्तस्येत्यर्थः । मदेऽपि हेतुमाह–मूढचेतस इति । मूढमविद्यया विवेकहीनं चेतो यस्य तस्येत्यर्थः । हे ईश सर्वान्तर्यामित्वेन सर्वकरणसमर्थ ! अथ इतोऽनन्तरमपि मे ममासतो दुष्टा त्रिलोकेशत्वाभिमानरूपा मतिर्मा भूदिति प्रार्थनान्तरम् ॥ ८ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

कुत इति ॥ हे ईश ! गुणसम्प्रवाहाभावे तद्धेतवः जन्ममरणहेतवः देहान्तरहेतवश्च तत्कृता देहाध्यासकृताः अबुधानाम् अज्ञानिनां लिङ्गभूताः यावल्लोभादिमत्त्वं तावदज्ञानित्वमसिद्धम् । अतो अज्ञानिनां लक्षणभूता भावाः लोभादयस्तव कुतः स्युः । तथापि लोभाद्यभावेऽपि भगवान् धर्मस्य गुप्त्यै खलानामस्मादृशां निग्रहाय च दण्डं बिभर्ति ॥ ५ ॥ पितेति ॥ जगतां प्राणिनां त्वं पिता जनकः गुरुरुपदेष्टा अधीशः नियन्ता चेति दण्डधारणे हेतुत्रयम् । दुरत्ययः प्रबलः कालः तस्मादुपात्तदण्डः संकल्पितदण्डः सन् जगदीशमानिनामस्माकं हिताय मानं विधुन्वन् दूरीकुर्वन् स्वेच्छा तनुभिः लीलावतारैः समीहसे चेष्टसे । तव समीहा लीलैव जगदीशमानिनामस्माकं मानविधूननमित्यर्थः ॥ ६ ॥ य इति ॥ ये मद्विधाश्च ते अज्ञाश्च अत एवात्मानं जगदीशं मन्यमानास्ते भयकालेऽपि यथाऽधुनैवातिवृष्टौ त्वामभयं भयमगणयन्तं दण्डधरं वीक्ष्य तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मदमाशु हित्वा अपस्मयाः अपगतगर्वाः सन्तः आर्यमार्गं सतां वर्त्म त्वद्भक्तिं प्रभजन्ति अनुवर्तन्ते । अतस्ते तवेहा लीला एव खलानामनुशासनं

शिक्षा दण्डो वा ॥ ७ ॥ स इति ॥ हे प्रभो ! हे ईश ! स सर्वेश्वरस्त्वम् ऐश्वर्यं देवस्वामित्वं तेन यो मदस्तेन प्लुतस्य व्याप्तस्य कृतागसः ते तव प्रभावम् अविदुषः मूढचेतसो मम क्षन्तुमर्हसि । अथ इतोऽनन्तरमपि एवं मे ममासती दुष्टा त्रिलोकेशत्वाभिमानरूपा मतिर्माभूत् । इदं च नातिशुद्धेन चेतसा प्रार्थितम् अत एव पारिजातहरणादौ विस्मरिष्यते ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नन्वेवं चेत्तर्हि जनानां निग्रहत्वमनुग्रहत्वं च मयि कथं संघटेत तत्राह कुत इति तर्हि ये अवुधलिंगभावाः अवुधानामज्ञानालिंगे शरीरे भवंतीति तथाभूताः तस्य शरीरस्य हेतव उत्पादकाः तत्कृतोस्तेन गुणप्रवाहेण कृतास्ते लोभादयः त्वयि कुतो भवेयुर्न स्युः हे ईश तथापि धर्मस्य गुप्त्यै खलानां निग्रहाय तेषु भगवान् अनेकविधैश्वर्यः षट्कयुक्तो भवान् दंडं बिभर्त्ति ॥ ५ ॥ ननु त्रिलोकाधिपे त्वयि गोपेन मया कथं दंडधारणं स्यात् तत्राह पितेति जगतां त्वं पिता उत्पादकः गुरुर्बोधकर्त्ता अधीशो नियामकः दुरत्ययः अनिवार्यः कालो नाशकः उपात्तदंडः कालप्रकृतिपुरुषादीनां नियमनाय उपात्तो गृहीतो दंडो येन सः त्वं जगदीशमानिनां मानं विधुन्वन् कंपयन्सन् जनानां हिताय कल्याणाय मोक्षायेति यावत् इच्छातनुभिः इच्छया स्वेच्छया आविर्भूतास्तनुभिः मनोहरमूर्त्तिभिः समीहसे रमणं करोषि तव रमणेनैवास्माकं मानहानिः स्यादिति देवेन्द्राभिप्रायः ॥ ६ ॥ पुनस्तदेव विस्तारयति त्वं जगत ईशं मानयंतीत्येवंशीलाः जगदीशमानिनः काले भीत्तिकालेपि यथा इदानीं वर्षासु अभयं निर्भयं त्वां वीक्ष्य आश्वुतन्मदंतस्य ईशत्वस्य मदं गर्वं हित्वा आर्याणां साधूनां मार्गं अपस्मया विधूतगतगर्वाः संतः प्रकर्षेण भजंतीति ते तव ईहा चेष्टा खलानामपि अनुशासनं भवति ॥ ७ ॥ एवं भगवत्स्वरूपनिरूपणपूर्वकं स्वाभिप्रायं निरूप्येदानीं स्वापराधं क्षमापयन्नाह स इति ऐश्वर्यमदेन प्लुतस्य व्याप्तस्य ते तव प्रभावं माहात्म्यं अविदुषोऽजानतः अतएव मूढचेतसो मम अपराधं सः परमेश्वरस्त्वं क्षंतुमर्हसि यद्वा ते प्रभावं विदुषो ज्ञात्वाऽपि कृतागसः कुतो मूढचेतसो विस्मृतप्रभावस्येति तोषणीकारः हे ईश एवं मेऽसती मतिर्माभूत् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्वहमेवंविधधामाधिपः स्यां चेत्तथाविधधामाधिपे मयि कथं रागादयः कथं वा तन्मूलादण्डादिप्रवृत्तिश्चेत्याशङ्क्य परिहरति ॥ कुत इति यतस्तवधामैव गुणसंप्रवाहग्रहणानुवन्धाभ्यां रहितं, अतः हे ईशेश्वर निरुपाधकसर्वेश्वरेत्यर्थः । तत्कृतास्तेन शरीरग्रहणेन कृतास्तत्प्रयुक्ता इत्यर्थः । तद्धेतवः पुनरन्यस्य शरीरग्रहणस्य निमित्तभूताः, रागादयः, लोभादय इति पाठे लोभप्रभृतयः ते कुतो नु । तव न सन्त्येवेत्यर्थः । अत्यन्तासंभावनायां हेतुं वदन् रागादीन्विशिनष्टि । ये अबुधलिङ्गभावाः अबुधानां देहात्मभ्रमवतां लिङ्गभावाश्चिह्नीभूताः, रागादिरेवाबुधत्वं व्यज्यते । नित्यं स्वयाथात्म्यानुभवरूपस्य तव कथं रागादिसंभावनापीति भावः । यद्यपि त्वं त्वेवंभूतो भवसि तथापि, भगवान् पूर्णषाड्गुण्यः भवान्, धर्मस्य गुप्त्यै धर्मसंस्थापनाय खलानां निग्रहाय च, दण्डं बिभर्त्ति । तथैवैतद्वचनं 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इति ॥ ५ ॥ न च खलनिग्रहेण तव वैषम्यप्रसङ्गः तन्निग्रहस्यापि तद्दमनद्वारा तदनुग्रहहेतुत्वादित्यभिप्रियन् खलनिग्रहस्यौचित्यं द्योतयितुं विशिंषन् वैषम्याभावमाह ॥ पितेति ॥ जगतां सर्वजगतां, त्वं पिता जनकः, गुरुर्हितोपदेष्टा, अधीशो नियन्ता, इति दण्डधारणे हेतुत्रयम् । दुरत्ययः न तु लौकिकनियन्तृवत् कथंचिदत्येतुं शक्यः । अतः, काले उचितकाले, उपात्तो दण्डो येन तथाभूतः त्वं, जगदीशमानिनां स्वात्मानं जगदीशं मन्यमानानां मादृशां, मानं विधुन्वन् सन्, हितायास्माकं हितार्थमेव । स्वेच्छातनुभिः स्वेच्छोपात्ताप्राकृतदिव्यतनुभिरुपलक्षितः संश्च, समीहसे चेष्टसे । नातो वैषम्यमिति भावः ॥ ६ ॥ दण्डस्य हितार्थत्वमेवोपपादयति ॥ ये इति ॥ ये इति ॥ ये मद्विधा मादृशाश्च तेऽज्ञाश्च ते, जगदीशमानिनः सर्वथा जगदीशमात्मानं मन्यमानाः ते, काले उचितकाले, भयं भयंकरदण्डधरं, यद्वा काले भयकालेऽपि, अभयं भयमगणयन्तं, त्वां वीक्ष्य, तन्मदं जगदीशाभिमानप्रयुक्तं मदं, आशु हित्वा, अपस्मयाः अपगतगर्वाः सन्तः, आर्यमार्गं त्वद्भक्तिलक्षणं वर्त्म, यद्वा । सतां वर्त्म, प्रभजन्ति अनुवर्त्तन्ते । अतः ते तव, ईहा चेष्टापि, खलानां अनुशासनं शिक्षैव ॥ ७ ॥ तदेवं भगवतः केवलं लोकहितार्थैकप्रवृत्तत्वमभिधायाथ क्षमापयति ॥ स त्वमिति ॥ ऐश्वर्येणेन्द्राधिपत्येन मदस्तेन प्लुतो व्याप्तस्तस्य, उत्पथं प्रतिपन्नस्येति वा । अत एव, ते तव प्रभावं महिमानं, अविदुषो न जानतः, अत एव, कृतमागोऽपराधो येन तस्य, मम, अपराधमिति शेषः । स एवंभूतस्त्वं, क्षन्तुं अर्हसि । हे प्रभो निग्रहीतुमनुग्रहीतुं च समर्थ, अथ पुनः, दृढचेतसस्त्वदाज्ञायां वर्त्तने सुदृढमानसस्य, अस्मिन् पाठे छन्दोभङ्ग आर्षः । मूढचेतस इति पाठे प्रसिद्धोऽर्थः । मे मम, असती दुष्टा, एवमेवं विधा, मतिः हे ईश, मा भूत् । तथानुगृह्णाणेति प्रार्थनान्तरम् ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कुत इति : १०.२७.५.

रुण्मोहकामलोभाः स्युर्भ्रंशमस्मासु दुर्गुणावृतिषु । त्यज रुषमिति वागेषा भगवंस्त्वयि मेऽन्यजनकृताभ्यासा ॥ ९ ॥

पिता गुरुरिति : १०.२७.६.

पित्रा वा गुरुणा वा कृतोऽपमानः स मानशतवर्यः । यस्मात्परिणतिसुखदो भवतीत्यधुना तु मे हृयं ह्यमास ॥ १० ॥

ये मद्विधाज्ञा इति : १०.२७.७.

अज्ञत्वान्मम निग्रहाय यतसे चेन्मद्विधाज्ञाः कति सन्त्यस्यां जगदीश पश्य भुवि तेऽज्ञत्वं न सार्वज्ञतः।
अन्याय्याचरणं प्रधानमिति चेदज्ञानकार्यं तथाऽस्ति स्पष्टं त्वमधोक्षजाभयकरस्तत्त्वाकृतिं दर्शय ॥ ११ ॥
स्वीयावनार्थं दधता स्वहस्ते मयाऽवतं ते किमकारि शासनम्।
मैवं वदेशाच्युत यत्खलानामीहैव तेऽनुग्रहनिग्रहप्रसूः ॥ १२ ॥

स त्वं ममेति : १०.२७.८.

अयं त्रिदशनायकः सकललोकनाथस्त्वहं सुराभिरुचिरेष भूर्यमृतदानदीक्षस्त्वहम्।
सनाथमिति मन्यते गृहमहं श्रियाऽलंकृतस्तदुन्नतिमतः सहे कथमितीश धीस्ते सती ॥ १३ ॥
आसीदेव पुरा सुराधिकरुचिर्मत्तत्त्वहेतुर्मम श्रीमत्तत्त्वमपि स्फुटं समभवद् गोवर्धनोद्धारतः।
एवं सत्य इहावयोरपि समो हार्दाशयो दृश्यतां स्वामी त्वं नितरां स्पशोऽहमिति वा वाच्योऽपराधो न ते ॥ १४ ॥

कृष्णप्रिया

हे भगवन्, हे नाथ! यदि आप में अज्ञान एवं अज्ञानजन्य देहसम्बन्ध सम्भवित नहीं है, तब अज्ञान से और देह सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दूसरे शरीर के बन्धन में डाल देने वाले और अज्ञान के कारणभूत अथवा अज्ञान से उत्पन्न होनेवाले क्रोध लोभ आदि विकार भाव, नाथ! आप में कैसे सम्भवित हैं। फिर भी जो आप के दण्डादि प्रदानादि से क्रोधादि का दर्शन होता है वह तो आप की लीला एवं जगत् संचालन के अङ्ग है। आप को जगदीश्वर होने के नाते धर्मकी रक्षा और खलों का निग्रह करने के लिये दण्ड-शिक्षा के लिये क्रोध का प्रयोग करना पड़ता है। हे नाथ! आप तो नियामक-भगवान है इस से क्या करना और क्या नहीं करना इसका पूर्णतया आप को ज्ञान है और आप वही करते हो ॥ ५ ॥ नाथ? आप केवल नियामक नहीं है किन्तु जगत् के पिता, गुरु, त्रिजगत् के अधीश्वर, और दण्ड देने वाले अनिवार्य काल रूप आप ही है। अपने आप को जगदीश्वर मान बैठे मुझ जैसे वालिशों के दुरभिमान को दूर करने के लिए और उनका कल्याण मङ्गल करने के लिए समय समय पर निजेच्छा से अवतार लेते हो और नियमन करते हो ॥ ६ ॥ हे भगवन्! जो मुझ जैसे अज्ञानी लोग अपने को जगदीश्वर मान बैठे हैं उनका वह मद उन जनों का वह अधिकार नशा, अन्तकाल में आप का अत्युग्र स्वरूप का दर्शन करते चकाचौंध ही उतर जाता है। या नष्ट हो जाता है। वे लोग क्षण में गर्व मुक्त बनकर सन्मार्ग सत्य पर प्रस्थान करते हैं और आप का निरन्तर भजन करते हैं। नाथ? कालीय दमन, दावानल पान, गिरिवर धारण आदि लीलाओं खलों के अनुशासन के लिए होती है ॥७॥ हे नाथ? ऐश्वर्य के नशे में चकाचौंध बना हुआ मैं आप के प्रभाव को सामर्थ्य को विसर गया इसके परिणाम में मैंने यह वृष्टि बरसाने का अपराध किया। हे जगदीश्वर, मुझ मूढ मति के इस अपराध को क्षमा करें और आप ऐसी करुणा करें की हे करुणाकर मैं ऐसी भूल कभी न करूँ और न तो मेरी ऐसी पुनः कुमति हो ॥ ८ ॥

तवावतारोऽयमधोक्षजेह [1]भुवो भराणा मुरुभारजन्मनाम्।
चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥ ९ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते पुरुपाय महात्मने। वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥ १० ॥
[2]स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये। सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ११ ॥
मयेदं भगवन् गोष्ठनाशायासारवायुभिः। चेष्टितं [4]विहिते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥ १२ ॥

कर्वमक्षमा

अन्वयः—अधोक्षज! अयम् तव अवतारः, इह, भुवः भराणाम् उरुभारजन्मनाम् चमूपतीनाम् अभवाय, हे देव! युष्मत्चरणानुवर्तिनाम् भवाय, "भवति" ॥ ९ ॥ भगवते पुरुषाय महात्मने वासुदेवाय सात्वतां पतये कृष्णाय तुभ्यम् नमः ॥ १० ॥ स्वच्छन्द उपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ११ ॥ हे भगवन् यज्ञे विहिते तीव्रमन्युना मानिना मया गोष्ठनाशाय आसारवायुभिः इदम् चेष्टितम् तत् भगवान् क्षन्तुम् अर्हति ॥ १२ ॥

१. स्वयं-श्रीधर. वंशी. जीव. विश्व. शुक. सु.; भुवो-वीर. विज. । २. बहु-प्रा. पा. । ३. स्वच्छतप्त-विज. । ४. विहते-श्रीधर. वंशी वीर. विज. विश्व. शुक. सु. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

महानयमपराधः कथं क्षंतव्य इति चेदत आह । तवेति । स्वयंभराणां पुनश्चोरुभारजन्मनां बहूनां भाराणां जन्म येभ्यस्तेषामभवाय नाशाय युष्मच्चरणसेविनां तु भवाय । अतो मम त्वत्सेवकत्वादत्यंतापराधिनोऽपि क्षंतव्यमिति भावः ॥ ९ ॥ क्षमापयन्नमस्करोति नम इति । तुभ्यं भगवते कृष्णाय नमः । पुरुषाय सर्वांतर्यामिणे । महात्मनेऽनंतस्थत्वेऽप्यपरिच्छिन्नाय । कुतः । वासुदेवाय सर्वनिवासाय । सात्वतां यादवानां पतये नमः ॥ १० ॥ तर्हि किमहं यादवः । न । स्वच्छंदोपात्तदेहाय स्वेषां भक्तानां छंदेनेच्छया यादवादिषु स्वीकृतदेहाय । तत्रापि विशुद्धं ज्ञानमेव मूर्तिर्यस्य तस्मै मायया सर्वरूपाय । कुतः । सर्वस्य बीजाय कारणाय अत एव सर्वभूतात्मने नम इति ॥ ११ ॥ कृतागस इत्यनेनोक्तमपराधं निवेदयति । मयेदमिति । आसारैर्वायुभिश्च गोष्ठनाशाय मयेदमकृत्यं चेष्टितं कृतम् ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

अयम् मदवज्ञालक्षणः । अतः अत्र । भाराणाम् भारभूतानामुत्पथगामिनामित्यर्थः । इह भूमौ यदुकुले वा । यतः सेविनां भवायातो हेतोः । इति भाव इति । 'अपराधः सकृद्भर्त्रा सोढव्यः' इति न्यायेनेति तात्पर्यम् । अहन्तूभयेषां मध्ये न कोपि मम तु न भवो नाभवो मयि तूदासीन एव वर्त्तसेऽतो धिङ् मामित्यर्थः ॥ ९ ॥ अपरिच्छिन्नत्वे शंकते—कुत इति ॥ १० ॥ भगवानाशंकते—तर्हीति । तर्हीति वाक्यालंकाराक्षेपयोः । परिहरति—नेति । तत्रापि स्वच्छंददेहत्वेपि । विशुद्धम् केवलम् । मायया अघटनघटनापटीयस्या शक्त्या । सर्वरूपत्वे हेतुमाशंकते—कुत इति । अतः एव सर्वकारणत्वादेव । सर्वेषां भूतानामात्मने स्वरूपाय ॥ ११ ॥ मो शक्र त्वं मद्भक्त इत्यनया स्तुत्यैव ज्ञायसे । किं तु, विनैव त्वदाज्ञां दुष्टा मेघा मद्व्रजं यत्कदर्थयंति स्म तदिमे त्वया दंडनीया इति पवित्रभर्त्सनमाशंक्य हन्तहंतामिन्नंतर्यामिणि कपटं न घटेतेति विमृश्य स्वचेष्टितं यथार्थमेवाह—मयेति । ननु मद्भक्ते त्वयि कथं संभवेत्तत्राह—विहते यज्ञ इति । ननु त्वत्प्रभुणा मयैव विहतेपि दासस्य तवैतावदकृत्यं न प्रत्येमि तत्राह—मानिना ऐश्वर्यगर्वस्य किमशक्यमिति भावः । ननु दैवादुत्थिता गर्वादयो मद्भक्तैर्विवेकेनैव तिरोधाप्यास्तत्राह तीव्रमन्युना । तीव्रः क्रोधो हि विवेकमपि बलाद्ग्रसतीति भावः । आसारेण धारासंपातेन सहिता वायव आसारवायवस्तैः । मध्यमपदलोपी समासः ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

अधोक्षज ! हे इन्द्रियज्ञानागोचरेति परमादृश्यतोक्ता तथापि इह पृथ्वीतले तवावतारः प्राकट्यं भवाय मङ्गलाय देव ! हे पूज्य इति स्वस्य सेवकतां साधयति—युष्मदिति । बहुत्वेन तदीयान् श्रीव्रजजनादीनपि सङ्गृह्णाति अन्यत्तैः । यद्वा, स्वस्य तत्प्रभावविद्धत्तामेवाभिव्यञ्जयन् मूढचेतस्त्वमेव च दर्शयन् सानुतापमाह—तवेति । अस्माकं प्रार्थनयाऽस्माकमेव हितार्थं त्वमवतीर्णोसीत्यस्माभिर्ज्ञायत एव तथाप्येतादृशोऽपराधः कृतः अहो बत मूढचेतसस्त्वम् अतः क्षन्तुमर्हस्येवेति भावः ॥ ९ ॥ भगवते साक्षात् परमेश्वराय तत्रापि कृष्णाय अशेषैश्वर्यप्रकटनेन सर्वचित्ताकर्षकाय तुभ्यं नमः एवं बहिरैश्वर्यमुक्त्वाऽऽन्तरमप्याह—पुरुषायेति । लीलया तु सात्वतां पतये अन्यत्तैः । यद्वा, सर्वावतारेष्वप्येवमेव त्वं यद्यपि करोषि तथाप्यत्र सर्वतो महाविशेष इत्याह—नम इति । तुभ्यं कृष्णाय सर्वचित्ताकर्षकाय नमः कृष्णत्वमेव सूचयति, भगवते सर्वैश्वर्यपरिपूर्णाय कुतः पुरुषाय निजाशेषपुरुषार्थव्यञ्जकायेत्यर्थः । अत एव महात्मने अपरिच्छिन्नमाहात्म्यायेत्यर्थः । कृष्णत्वमेव स्पष्टयति वसुदेवसुतायेति अतः सात्वतां यादवानां सर्वेषां परिपालकाय ॥ १० ॥ अतस्त्वमेव सर्वमित्याह—स्वच्छन्देति स्वैर्भक्तैः कर्तृभिश्छन्देनेच्छया करणभूतया उप समीपे आप्ता आकृष्टा देहाः श्रीमत्स्यकूर्मादयोऽपि विग्रहा येन तस्मै तेषां देहादीनां स्वरूपज्ञानार्थं पुनराह, विशुद्धज्ञानमूर्त्तये विशुद्धा मायातीता स्वप्रकाशतया ज्ञानरूपाश्च मूर्त्तयो देहा यस्य तस्मा इति, अन्यत्तैः । तत्र सर्वस्मै जगद्रूपाय सर्वस्य बीजाय कारणाय महापुरुषरूपाय सर्वभूतात्मने तदन्तर्यामिणे इति । यद्वा, स्वच्छन्दं यथा स्यात् तथा उपाता अन्तर्यामित्वेन स्वीकृता देहाः समष्टिव्यष्टिरूपा येन स्वयं तु विशुद्धज्ञानमूर्त्तय इति पूर्ववत् ॥ ११ ॥ किञ्च, महापराधिन्यपि परमानुग्रहोऽयं सर्वतो महाविशेष इत्याह—मयेति सार्द्धेन । मया स्वयमेव इदं साक्षादिदानीमेवेत्यर्थः । गोष्ठस्य नाशायेति । परमाऽकृत्यमुक्त यतः मानिना अत एव तत्रानन्युना भगवन्, हे सर्वज्ञ ! तन्मम दुष्टतावृत्तं त्वया ज्ञायत एव किं मया धृष्टेन विस्तार्यमिति भावः । यद्वा, हे भगवन्निति सर्वैश्वर्यपरिपूर्णे त्वयि साक्षाद्वर्त्तमानेऽपि त्वद्गोष्ठनाशायेत्यपराधाधिक्यं सूचितम् ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

अधोक्षज ! हे इन्द्रियज्ञानागोचरेति परमादृश्यतोक्ता, तथापि इह पृथ्वीतले तवावतारः प्राकट्यं श्रीवैकुण्ठलोकादवतरणं वा, भवाय मंगलाय, देव हे पूज्य इति स्वस्य सेवकतां साधयति, युष्मदिति बहुत्वेन तदीयानपि सर्वान् श्रीनन्दादीन् संगृह्णाति, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, निजप्रभावविद्धत्तामेवाभिव्यञ्जयन् स्वस्य मूढचेतस्त्वमेव दर्शयन् सविक्रोशमाह—तवेति; अस्माकं प्रार्थनयास्माकमेव हितार्थं त्वमवतीर्णोऽसीत्यस्माभिर्ज्ञायत एव, तथाप्येतादृशोऽपराधः कृतः, अहो बत मूढचेतस्त्वम्,

अतः क्षन्तुमर्हस्येवेति भावः। यद्वा, आगः क्षमा पुनरसम्मत्यभावश्च त्वत्स्वभावात् सुघटैवेत्याह—तवेति। हे अधोक्षजेति शकटाक्षाधःशयनादिसूचनेन परमभक्तवात्सल्यादि स्मारितम्; चमुपतीनां दुष्टानामप्यभवाय मोक्षाय, अत आगः क्षमा युक्तैवेति भावः। दीव्यति द्योतत इति देवो यो भवः समृद्धिः प्रेमभक्तिसम्पल्लक्षणा तस्मै, अतोऽसम्मतेरपुनर्भवोऽपि त्वत्तो युक्त एवेति भावः॥१०॥ भगवते साक्षात्परमेश्वराय, तत्रापि कृष्णायाशेषैश्वर्य्यप्रकटनेन सर्वचित्ताकर्षकाय तुभ्यं नमः। एवं बहिरैश्वर्य्यमुक्त्वान्तरमप्याह—पुरुषायेति। तथापि सात्वतां पतये कृपयावतीर्य्य यादवश्रेष्ठतां प्राप्तायेत्यर्थः, अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। यद्वा, सर्वावतारेष्वप्यंचमेव त्वं यद्यपि करोपि, तथाप्यत्र सर्वतो महाविशेष इत्याह—नम इति द्वाभ्याम्। तुभ्यं कृष्णाय सर्वचित्ताकर्षकाय सर्वतोऽसाधारणाय नमः, कृष्णत्वमेव दर्शयति—भगवते सर्वैश्वर्य्यपरिपूर्णाय; कुतः? पुरुषाय निजाशेषपौरुषाभिव्यञ्जकायेत्यर्थः। अत एव महात्मने अपरिच्छिन्नमाहात्म्यायेत्यर्थः। यतो वसुदेवनन्दनाय, अतो यादवानां सर्वेषां परिपालकाय, सर्वेषां भूतानां जीवानामात्मने कार्य्यकारणभेदन्यायेन तत्तत्स्वरूपाय व्यापकाय वा, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, यादवपतित्वादेव भक्तेच्छापरिपूरणायाविष्कृतपरममनोहरमूर्त्तये, यद्वा, सात्वतां सर्वेषां भक्तानां पतये पत्ये, अतो भक्तेच्छाप्रकटितविविधमूर्त्तये, अत एव विशुद्धं भक्तिरहितं ज्ञानं येषां तेषु केवलात्मबोधपरेषु मूर्त्तिः काठिन्यं यस्य तस्मै, 'मूर्त्तिः काठिन्यकाययोः' इत्यभिधानात्, तत्र सर्वस्मा इति कार्य्यकारणयोरभेदविवक्षया, यद्यपि सर्वस्मै, तथापि केवलात्मबोधपरेषु कठिनायेत्यर्थः। अतोऽद्भुतस्वभावत्वादसाधारणमाहात्म्यत्वाच्च नमः, यद्वा, विशुद्धं भगवदेकविषयकं ज्ञानं येषां तेषु मूर्त्तिः श्रीविग्रहप्राकट्यं यस्य, किमर्थम् सर्वेषां साध्यसाधनानां बीजाय भक्तियोगाय प्रेम्णे वेत्यर्थः, सर्व्वस्मै अखण्डाय परिपूर्णायेत्यर्थः, सर्वभूतानामात्मने प्रियाय व्यापकायेति वा, तेष्वपि तद्विस्तारणायेत्यर्थः॥ ११॥ किञ्च, महापराधिन्यपि परमानुग्रहः सर्वतो महाविशेष एवायमित्याह—मयेति सार्द्धेन। मया स्वयमेवेदं साक्षादिदानीमेवेत्यर्थः; गोष्ठस्य नाशायेति परमाकृत्यत्यमुक्तम्, यतो मानिना, अत एव तीव्रमन्युना, भगवान् हे सर्वज्ञ! तन्मम दुष्टतावृत्तं त्वया ज्ञायत एव किं मया धृष्टेन विस्तार्य्यमिति भावः, यद्वा, हे भगवन्निति सर्वैश्वर्य्यपरिपूर्णे त्वयि-साक्षाद्वर्त्तमानेऽपि त्वद्गोष्ठनाशायेत्यपराधाधिक्यं सूचितम्॥ १२॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

एवं प्रार्थनां कृत्वा भगवतो भूभारावतरणाय कृतावतारस्य लोकहितार्थैकप्रवृत्तत्वमेवोपपादयति—तवेति। हे अधोक्षज! भुवः उरुभारस्य जन्म येभ्यस्तेषां भुवो भराणां भूभृतां चमूपतीनामभवाय संसाराभावाय दण्डद्वारा मुक्तिप्रदानायेति भावः। हे देव! युष्मच्चरणानुवर्त्तिनां भवाय विभवाय उत्तरोत्तरमनुवृत्त्यभिवृद्धये चेह लोके तवावतारः॥ ९॥ क्षन्तुमर्हसीत्युक्तं तत्र "अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी" इत्युक्तरीत्याऽञ्जलिबन्धनमभस्कृतिपूर्वकतच्चरणागतिमन्तरेण नान्यो ऽस्ति क्षमाहेतुरित्यभिप्रयन् शरण्यगुणानाविष्कुर्वन्नञ्जलिबन्धेन नमस्कुर्वन् स्वापराधमावेदयन् कार्पण्यं च प्रकाशयन् शरणं व्रजति—नम इति चतुर्भिः। भगवत इत्यादिभिः शरण्यगुणाविष्कारः पूर्णषाड्गुण्यमूर्त्तये महात्मने शरणागतशब्दभाजमवलंक्याप राधविस्मरणेन केवलमनुजिघृक्षैकप्रवणचित्ताय वासुदेवाय वसुदेवपुत्रायानेन सौलभ्यं सौशील्यं चाभिप्रेतं कृष्णायेत्यनेन केवल क्षेमकरत्वं सात्वतां भक्तानां पतये इत्यनेन कृतागसामपि भक्तानां मादृशां पुनः शिक्षया पालकायेति पुरुषाय महात्मने इति पदद्वयेन "महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्त्तकः" इत्युक्तसत्त्वप्रवर्त्तकत्वम्॥ १०॥ स्वच्छन्देन स्वेच्छयैव न तु कर्मणापात्तः परिगृहीतो देहो यस्य तस्मा इत्यनेन कर्मोपात्तदेहानां ब्रह्मादीनां प्रपित्सुतुल्यत्वं भगवत एवाश्रितकार्यावहक्षमत्वं च विशुद्धं नित्यं सङ्कोचविकासादिविकाररहितं ज्ञानं मूर्तिराकारः प्रकार इति यावत् सा यस्य तस्मै अनेन "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रक्रम्य "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्युक्तज्ञानशब्दार्थप्रत्यभिज्ञानात्परत्वमुक्तं भवति तदेव प्रपञ्चयति—सर्वस्मै सर्वपदार्थानन्यस्मै अनन्यत्वं च मृदनन्यो घट इतिवत् स्वरूपाभेदनिबन्धनमपितु कारणात्वान्तरात्मत्वनिबन्धनमित्यभिप्रायेणोक्तं सर्वबीजाय सर्वकारणाय सर्वभूतानामात्मन इति॥११॥ स्वापराधमावेदयति—मयेति। यज्ञे विहते सति तन्निमित्तस्तीव्रो मन्युर्यस्य तेन देहात्माभिमानिना मया हे भगवन्! पूर्णषाड्गुण्यन त्वयाऽनुगृहीतस्य गोष्ठस्य नाशायासारवायुभिरिदमकृत्यं चेष्टितं कृतम्॥ १२॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सतां भवाय पुण्यलक्षणभद्राय देवदत्तवज्जननं भजतो हरेरवतारः कथं भवाय स्यादितीदं "आवेशो वसुदेवादौ देहादानं हरेः स्मृतम्" इत्यादिपाद्मवचनेन परिहर्त्तव्यम्॥ ९-१०॥ न केवलं ग्रन्थान्तरसिद्धमिदम् अत्रापीत्याशयेनाह—स्वच्छन्देनेति। स्वच्छन्देन स्वेच्छया सर्वस्मै सर्वव्यापिने सर्वबीजाय सर्वस्य मूलकारणाय॥ ११॥ आसारसहितवायुभिः॥ १२॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

त्वां वीक्ष्य काले भयमित्यगत्यैवानुगतेश्च स्वेषां भक्तानां छन्देनाभिलापेण उपात्तः तत्समीपे गृहीत आनीतः प्रकटीकृतो देहो येन तस्मै॥ ११-१७॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

न केवलं चरणावेव पस्पर्श, तुष्टाव चेत्याह—स्वच्छन्दोपात्तेत्यादि । स्वेषां भक्तानां छन्देनेच्छयोपात्तो देहो मनुष्यलोको यन । दिह उपचये, दिह्यते उपचीयते ज्ञानेनेति मनुष्यलोकस्य ज्ञानाधिक्यात् । यद्वा, स्वच्छन्दं यथा स्यात्तथा उपात्त देहे येन, दैप् शोधने, दा शुद्धिः, ईहा लीला । यद्वा, स्वच्छन्दैर्मुक्तैरपि सेवार्थमुपात्तो गृहीत उपास्यत्वेनादृतो देहो यस्मै । यद्वा, स्वैः स्वरूपैश्छन्दोभिः श्रुतिभिरपि अप्राप्तोऽप्राप्तो देहः श्रीविग्रहो यस्य, (भा० १०।१४।३४) "अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव" इत्यर्थः । अथवा, स्वच्छन्दं प्रारब्धानधीनं यथा स्यात्तथा, उपात्तः स्वीकृतो देहो मत्स्यादिदेहो येन, स्वयं तु विशुद्ध ज्ञानमूर्त्तिर्यस्य स तथा तस्मै परस्मै, परस्मै, भक्तानां सर्वबीजाय सर्वेषां नारायणादीनामपि बीजाय । अतः सर्वभूतात्मने सर्वेषां भूः सत्ता, तया उत, आत्मा श्रीविग्रहो यस्य तस्मै । उक्तञ्च–(भा० १०।१४।५७) "सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः" इति ॥ १२ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यादि । स्वेषां भक्तानां छन्देनेच्छया उपात्तो देहो मनुष्यलोको येन, दिह उपचये देह ऐश्वर्यं वा । यद्वा, स्वच्छन्दैरात्मारामैरप्युपात्तः सेवार्थं गृहीतो देहः श्रीविग्रहो यस्य, । स्वच्छन्दैर्मुक्तै रपि सेवार्थमुपात्तो देहो यदर्थम् । यद्वा, स्वस्वरूपैश्छन्दोभिः श्रुतिभिरप्युपात्तोऽनुलब्धो देहः श्रीविग्रहो यस्य,—(भा. १०।१४।३४) "अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव" इत्यादि-वचनात्, यद्वा, स्वच्छन्दं प्रारब्धानधीनं यथा भवति, तथा उपात्तो मत्स्यादिदेहो येन । अतो विशुद्धज्ञान-मूर्तये विशुद्धं केवलं ज्ञानं येषां तेषु मूर्त्तिः काठिन्यं यस्य, केवल-ज्ञानिषु प्रसादसुमुखत्वादि-व्यतिरिक्तये । यद्वा, विशेषेण भक्तियोगतः शुद्धं ज्ञानं येषु तेषु मूर्तिः श्रीविग्रहो यस्य । सर्वस्मै भक्तानां सर्वस्व रूपाय सर्वबीजाय सर्वेषां नारायणादीनामपि बीजाय कारणाय सर्व-कारणकारणत्वात् । अतः सर्वभूतात्मने सर्वेषां भूः सत्ता तया उत आत्मा श्रीविग्रहो यस्य,—(भा० १०।१४।५७) "सर्वेषामेव वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवान् कृष्णः" इत्याद्युक्तेः ॥ १२ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अहो मे मूढचेतस्त्वं यदस्माकं प्रार्थनयाऽस्माकमेव हितार्थमवतीर्णोसीति पश्यन्नप्यन्धोऽहमभवं सम्प्रति लब्धदण्डः प्राप्त चक्षुरेवं तत्त्वं ते जानामीत्याह—तवेति । स्वयमेव भराणां भाररूपाणां पुनश्च उरुभारजन्मनां बहूनां भाराणां जन्म येभ्यस्तेषां चमूपतीनाम् अभवाय नाशाय युष्मच्चरणसेविनां तु भवाय मङ्गलाय अहन्तु उभयेषां मध्ये न कोऽपीति मम नाभवो नापि भव इति मय्युदासीन एव त्वं वर्त्तसे इति धिङ् मामिति भावः ॥ ९ ॥ तस्मात् युष्मच्चरणानुवर्त्तित्वं ममाप्यस्त्विति प्रणमन्नाशास्ते-नमस्तुभ्यमिति द्वाभ्याम् । "परावरेशो महदंशयुक्तः" इत्युद्धवोक्तेः । सर्वांशसाहित्येनैवावतीर्णस्य तस्य प्रथममंशान् प्रणमति भगवते महावैकुण्ठनाथाय पुरुषाय महत्स्रष्ट्रे महात्मने समष्टयन्तर्यामिणे अंशान् प्रणम्य साक्षात्तमंशिनं प्रणमति—वासुदेवायेति, पितृनामोल्लेखेन कृष्णायेति तन्नामोल्लेखेन सात्वतां पतय इति पार्षदनामोल्लेखेन ॥ १० ॥ अनेकविधप्रेमविषयत्वात् स्वैर्भक्तै-रछन्देन प्रतिस्वेच्छया दास्येन सख्येन वात्सल्येन रमणेन च सुखप्रदानार्थम् उपात्तो गृहीतो देहो यस्येति तस्मै देहस्याप्राकृतत्वात् विशुद्धं मायातीतं ज्ञानमेव मूर्त्तिर्यस्य तस्मै मायादिशक्तिमत्त्वात् सर्वस्मै अत एव सर्वस्य बीजाय कारणाय अत एव सर्व-भूतात्मने ॥ ११ ॥ भोः शक्र ! त्वं मद्भक्त इत्यनया स्तुत्यैव ज्ञायसे किन्तु विनैव त्वदाज्ञां दुष्टा मेघाः तद्व्रजमधिकं यत्कदर्थ-यन्तिस्म तदिमे त्वया दण्डनीया इति पवित्रभर्त्सनमाशङ्क्य हन्त हन्तास्मिन् अन्तर्यामिणि कपटं न घटत इति विमृश्य स्वचेष्टितं यथार्थमेवाह—मयेति । मन्वेतन्मद्भक्ते त्वयि कथं सम्भवेत्तत्राह—विहते यज्ञे इति । ननु, त्वत्प्रभुणा मयैव विहतेऽपि दासस्य तवैतावदकृत्यं न प्रत्येमि तत्राह—मानिना ऐश्वर्यगर्वस्य किमशक्यमिति भावः । ननु, दैवादुत्थिता अपि गर्वादयो भावा मद्भक्तैर्-विवेकेनैव तिरोधाप्यन्ते इति तत्राह—तीव्रमन्युना तीव्रः क्रोधो हि विवेकमपि बलाद्ग्रसतीति भावः ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

निग्रहविषयाः असुराः अहं तु अनुग्रहविषयेषु तव चरणानुवर्तिषु सुरेषु त्वया स्थापितोऽतोऽनुग्रहं कुर्वित्याशयेनाह तवेति । स्वयम्भुवो भराणां भारभूतानां पुनश्चोरुभाराणां जन्मयेभ्यस्तेषां राजन्यव्याजेन वर्त्तमानानामसुराणामभवायाऽस-मृद्ध्यै ॥ ९ ॥ अथ नमस्कुर्वन् स्वपराधं वदन् भगवन्तं शरणं व्रजति, नम इति चतुर्भिः । भगवते स्वाभाविकषड्गुणयुक्ताय पुरुषाय सर्वान्तर्यामिणे महात्मने भूम्ने वासुदेवाय सर्वनिवासाय सात्वतां भागवतानां पतये कृष्णाय नमः ॥ १० ॥ स्वच्छन्देन स्वेच्छयैवोपात्तदेहाय परिग्रहीतदेहाय विशुद्धज्ञानवत् जन्ममरणादिसर्वदोषवर्जितस्वरूपवत् मूर्त्तिरप्राकृतदेहो यस्य तस्मै "यदात्मको भगवांस्तदात्मिका व्यक्तिः" इति श्रुतेः—

"यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः । स सर्वस्माद्बहिः कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः ॥
मुखं तस्यावलोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत्" ।

इति स्मृतेश्च "अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोपि" इति ब्रह्मवचनाच्च चेतनाचेतनशक्तीनां महदादितृणान्तस्य विश्वस्य स्वशक्तिमयस्य च पुरुषात्क्लेशलोमादीनामिव पृथिव्याः औषधीनामिव पृथक् स्थितिप्रवृत्त्याद्यभावात् अन्यस्याकृष्णात्मकस्य तत्सजातीयस्याऽभावात्सर्वस्मै कृष्णाय नमः "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः "तदनन्यत्वयारम्भणशब्दादिभ्यः" (२।१।१५) इति न्यायाच्च नित्यस्वरूपयोरणुविभुपरिमाणयोः चेतनाचेतनपदार्थानां च स्वरूपैक्यसम्भवाद्भेदाऽभेदः सम्बन्धोऽत्र विदुषामभिमतः तथाऽऽह भगवान् सूत्रकारः "उभयव्यपदेशात्वहिकुण्डलवत्" (३।२।२६) इति एतदेवोपपादयितुमाह, सर्वबीजायेति । सर्वभूतात्मने इति च क्लेशलोमादीनां कार्याणां पुरुषः कारणं तत्सात्त्वरूपतो हि क्लेशादयो भिन्नाः अप्यभिन्ना एव यथा पृथिव्याः ओषधयः यथा च अहेः कुण्डलानि तत्तुल्यायेत्यर्थः ॥ ११ ॥ आसारवायुः गोष्ठस्य नाशाय मानिना लोकेशमानिना तीव्रः स्वात्मपरमात्मविवेकाखको मन्युर्यस्य तेन मयेदं चेष्टितं कृतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे अधोक्षज इह तवायमवतारो भुवो भूमेर्गुरुभारजन्मनां बहुभाररूपं जन्म येषां ते तेषां चमूपतीनां सेनानायकानामभवायासत्तायै नाशायेति यावत् तथा भुवोऽभराणामभाररूपाणामतो न भराणामुरुभारजन्मनामित्यनयोरार्थिकी पुनरुक्तता । युष्मच्चरणानुवर्तिना सतां चमूपतीनामित्यत्राप्यन्वेति । तदादीनां भवाय क्षेमायेति यावत् भवति ॥ ९ ॥ वासुदेवाय गतम् । शाश्वत भक्तानामधुना यादवानां वा पतये गतम् ॥ १० ॥ वासुदेवाय स्वच्छन्दोपात्तदेहायेति वसुदेवरेतोविकृतदेहवत्त्वं तथा स्वेच्छोपात्रदेहवत्वं चेति विरुद्धं कथमुच्यत इत्यतः प्रमाणेनाविरोधमभिधत्ते ॥ आवेश इति । वसुदेवादौ हरेरावेशः प्रवेशमात्रं देहादानं जन्मेत्युच्यते तदन्येषां देहादानं नाम जन्म नूतनकर्माधीनतनुप्राप्तिरिति कत्रयो ज्ञानिनो विदुः । अनेन बहुमाहात्म्यसम्मतोऽयमर्थ इति न सन्देहः कार्य इति बहुवचनकविशब्दाभ्यां सूचयति । ननु वसुदेवादजायत राज्ञां दशरथादित्यादिवचसां का च गतिरित्यत आह ॥ तथाऽपीति । असुरमोहाय तान्वञ्चयितुं ग्रन्थेषु बहुधेयते । तदर्थस्तु नायं गर्भेऽवसद्देव्या नायं दशरथाज्जातो न चापि जमदग्नितः । यथा नृसिंहाकृतिराविरासीत् । प्रादुर्भावो हरेर्जनिरित्यादिना ज्ञातव्यः ॥ ततश्चायं मूलार्थः ॥ स्वच्छन्दोपात्तदेहाय । स्वच्छन्देनात्तदेहायेति पाठावेकार्थवीति स्वच्छन्दतः पठनीयौ । स्वच्छन्देनैवोपात्तो देहो यस्य स आत्तो देहो येन कथमित्यतः स्वच्छन्देन स्वेच्छयेति । एतत्सम्भावकमाह ॥ ज्ञानमूर्त्तय इति । सर्वस्मै सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व इत्युक्तंर्व्याप्तस्तस्मै सर्वबीजाय सर्वकारणाय । व्यञ्जनाद्बीजमित्युक्त इत्युक्तेः । सर्वव्यञ्जकाय वा सर्वभूतात्मने सर्वभूतस्वामिने ॥ ११ ॥ आसारैः सहिताश्च ते वायवश्च तैर्यज्ञे विहते सति तीव्रमन्युना मानिना गोष्ठनाशायेदं कर्म चेष्टितं कृतम् ॥ १२ ॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्चैतदर्थमेव तवावतारो दुष्टा निराकर्तव्या अशक्यनिराकरणदोषाः स्वरूपतोन्ये तु दोषसम्बन्धादतो वयं निवार्यदोषा इत्यस्मद्दोषा एव निराकार्या न तु वयमित्यभिप्रायेणाह तवावतारोयमिति, विशेषेणायमवतारो भुवो भाररूपाणां चमूपतीनामभवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय, अन्ये त्ववतारा एकमेव कार्यं साधयन्ति भारनिराकरणं वा सद्रक्षां वा, कालभेदेन यद्येक एवोभयात्मकः स्यात् तदा द्वयमपि कर्तव्यं, इदानीमहं प्रपन्न इत्युद्धवोपि कर्तव्यो निग्रहस्तु कृत एवान्यथोभयार्थमवतारो न भवेत्, उभयार्थत्वे हेतुरधोक्षजेति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादेतादृशो यः प्रकटो जातः स उभयसम्पादनार्थमेव हेतुरधोक्षजेति अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादेतादृशो यः प्रकटो जातः स उभयसम्पादनार्थमेव, एकैकं तु पूर्वमपि क्रियत इति, तत्रापीह गोकुले भुव उरुभारार्थमेव जन्म येषां जन्मकारणेपु भुवो दुःखार्थं जन्म स्वस्य तु नाशार्थं स्वयमेव भारभूता अधिकं च भारं जनयन्ति नौकारूढेष्वेतद्द्वयं पृथक् प्रसिद्धं, उरुभारस्य वा जन्म येषु, एतेन दोषत्रयमुपपादितं, भाररूपा उच्छृङ्खला भारजनका इति तादृशा अपि सेनापतयः, जननमात्रेणैव तन्नाश इत्यभवायेत्युक्तं यथान्धकारस्य सूर्योदये, देवेतिसम्बोधनमतः परं पूजार्थं, युष्मच्चरणमेवानुवर्तितुं शीलं येषां तेषामुद्भवाय मुक्तये वा संसाराभावाय वा संसाराय वा भवानेव तथा भवतीति ॥ ९ ॥ एवं प्रार्थनामुक्त्वा क्षमापनार्थमेव नमस्यति नम इति, भगवदीयत्वाय वा, भक्तिमार्गं प्रकटीकुर्वन् सामान्यतो दशविधलीलायुक्तमाह नमो भगवत इति, आवेशादिपक्षव्यावृत्त्यर्थं तुभ्यमिति, योऽयं दृश्यते स एव भगवानिति, अनेनैव षड्विधा लीला निरूपिता स्थानादिनिरोधान्ता, पुरुषाय महात्मन इति कार्यकारणरूपाय, पुरुषः प्रथमतो महान् महत्तत्वं, अन्तर्बहिर्वा साधकाय, वासुदेवायेति मोक्षदाता, कृष्णायेति फलं सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्च, किञ्च न केवलं दशविधामेव लीलां करोत्यवतीर्णस्त्वधिकमपि करोतीत्याह सात्वतां पतये नम इति, यादवानामयं स्वामी, दशविधलीलावद्भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कारः ॥ १० ॥ एवं परमार्थतो नमस्कारं कृत्वा मोहकलीलासहितमपि भगवन्तं लौकिकरसार्थं नमस्यति स्वच्छन्देति, स्वा भक्तास्तेषां छन्द इच्छा तदर्थं तेषामिच्छापूर्त्यर्थमुपात्तो देहो येन, ते हि यथा भावयन्ति तथा रूपं करोति नटवदेव, रूपं तु विशेषेण शुद्धं चिद्रूपमेव तदाह विशुद्धज्ञानमूर्त्तय इति, ननु विशुद्धस्याभिलषितरूपत्वं कथं ? तत्राह सर्वस्मा इति, सर्वरूप एव जातस्तत्राभिलपितरूपभवने कः प्रयास इत्यर्थः, किञ्च सर्वबीजाय सर्वेषां कारणभूताय, अतोनन्तप्रकारेण भवति, अनेन सद्रूपतानन्दरूपताप्युक्ता, सत् सर्वमानन्दो बीजमिति, सर्वभूतानामात्मने चिद्रूपाय नमः, अतः ।

सच्चिदानन्दरूपाय भक्तेच्छापूरकाय हि। शुद्धज्ञानस्वरूपाय फलसाधनरूपिणे ॥ १ ॥

नम इत्युक्तं भवति ॥ ११ ॥ स्वापराधं प्रकटीकरोति मयेदमिति, को वेद भगवान् न विचारयतीत्यन्यथा कालान्तरे विशेषपर्यालोचनायामपराधं भावयेदतः कथयति, इदं वृष्ट्यादिरूप गोष्ठनाशायासारवायुभिर्मया चेष्टितं यज्ञे विहित इति निमित्तं वस्तुतस्त्वस्मिन्नेव यज्ञे मया भुक्तं न पूर्वं कदापि भगवता भुक्तमिति हस्तेन भुक्तमित्यतो यज्ञे विहित एव, तथाप्यभिमानादन्यथाङ्गीकृतं तदाह मानिनेति, ननु तृप्तिः कथं न प्रतिबन्धिका जाता? तत्राह तीव्रमन्युनेति, शीघ्रमेव क्रोध उत्पन्नोतो जातापि तृप्तिर्विस्मृतेति, अन्यथा गोष्ठनाशे कश्चित् किं प्रवर्तेत ? गवामुपजीव्यत्वात् सुतरां ममोपजीव्याः, भगवन्निति सम्बोधनं स्वस्य दासत्वख्यापकं, इदानीं निर्दुष्टत्वख्यापकं वा ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यत्र, नटवदेव रूपमित्यादिग्रन्थः पूर्वोक्तरूपेन्द्रस्तुत्यभिप्रायेणेति ज्ञेयम् ॥ ११ ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

तवावतारोयमित्यत्र कालभेदेनेति एक एव पुरुषः पूर्वं दुष्टः पश्चाच्च् चरणानुवर्ती चेत् स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥ नमो भगवत इत्यत्र अनेनैवेति भगवत्पदेनेत्यर्थः, 'पुरुषाय' 'महात्मने' इतिपदद्वयेन सर्गविसर्गयुक्तत्वं, इदं पूर्वं नागपत्नीस्तुतौ विवृतमिति नात्र विव्रियत इतिभावः, द्वितीयं व्युत्पादयन्ति महानिति; महत्तत्त्वरूपत्वेन चतुर्मुखत्वाद् विसर्गतेति भावः ॥ १० ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नमो भगवते तुभ्यमित्यस्याभासे भगवदीयत्वाय वेति क्षमापनार्थं नमस्यतीति पूर्वमुक्तं, पक्षान्तरेण नमनप्रयोजनमाहुः भगवदीयत्वाय वेति, भगवदीयत्वसिद्धये नमस्यतीत्यर्थः, नम्रत्वेनैव भगवदीयत्वसिद्धिः, दैन्यबोधकत्वान् नमनस्य, अनेनैव षड्विधा लीला निरूपितेति अनेन भगवत इतिचतुर्थ्यन्तेन, षड्विधा लीला निरूपिता भगवत्पदेनैश्वर्यादिषड्गुणाभिधानादित्यर्थः, कास्ताः षड्विधा इत्याकाङ्क्षायामाहुः स्थानादिनिरोधान्ता इति, कार्यकारणरूपायेति "पुरुष"शब्देन कार्यं पुरुपशरीरमुच्यते तच्च महत्तत्त्वादीनां कार्यं अतो महत्तत्त्वादिकार्यरूपाय विराड्विग्रहायेत्यर्थो भवति, अनेन सर्गलीला उक्ता, अशरीरस्य विष्णोः पुरुषशरीरस्वीकारः सर्ग इति टिप्पण्यां लक्षणस्योक्तत्वात्, "महात्मने"इत्यनेन कारणरूपमहत्तत्त्वादि गृह्यते तद्रूपायेत्यर्थः, अनेन विसर्गलीलोक्ता महत्तत्त्वस्य चतुर्मुखरूपत्वात् चतुर्मुखस्य विसर्गरूपत्वात् पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिः विसर्ग इतिलक्षणाङ्गीकारात्, पुरुषाय महात्मने इतिपदद्वयस्यार्थान्तरमाहुः अन्तर्बहिर्वा सर्वसाधकायेति, पुरि शेते इति पुरुष इति व्युत्पत्त्या पुरुषस्यान्तरत्वादन्तःसर्वसाधकत्वं, 'महात्मने' इत्यनेन बहिःसर्वसाधकत्वं, महांश्चासौ आत्मेत्यर्थाद् व्यापकत्वेन बहिरपि सत्त्वात्, एवं पदद्वयेन सर्गविसर्गलीले उक्ते, 'भगवत्'पदेन पडित्येवमष्टलीला उक्ताः, 'वासुदेवाय'इत्यनेन मुक्तिलीलोच्यत इत्याहुः वासुदेवायेति मोक्षदातेति, 'कृष्णाय'इत्यनेन आश्रयलीलोक्तेत्याहुः सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्चेति, भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कार इति "नमो भगवते" इतिपूर्वमुक्तेन "नमः"शब्देन निर्वाहेपि पुनः सात्वतां पतये नम इति यदुक्तं तेन भक्तेः दशविधलीलावत् उद्धारकरणे स्वातन्त्र्यं बोधितं, यद्यपि भगवत्पदेन निरोधान्ताः षड् लीला उक्तास्तन्मध्ये ईशानुकथाशब्दवाच्यभक्तिरप्यागता तथापि सर्वलीलातुल्यत्वपरिहारपूर्वकं स्वातन्त्र्यसूचनाय पुनर्भक्तिर्वर्णिता; प्रथमस्कन्धे तृतीयाध्याये सर्वेष्ववतारेषु कृष्णावतारमप्युक्त्वा अंशित्वेन पूर्णत्वसूचनार्थं "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"मिति पृथङ्निर्देशः कृतस्तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥ १० ॥ स्वच्छन्दोपात्तदेहायेत्यत्र ते हि यथा भावयन्ति तथारूपं करोति नटवदेवेत्यादिग्रन्थस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटमुक्तः, अनेन सद्रूपता आनन्दरूपताप्युक्ते हि 'सर्वस्मै' इत्यनेन सद्रूपतोक्ता, सद्रूपेणांशेन सर्वरूपत्वात्, 'सर्वबीजाय'इत्यनेनानन्दरूपतोक्ता आनन्दस्य सर्वबीजत्वात्, "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इतिश्रुतेः, 'सर्वभूतात्मने' इत्यनेन चिद्रूपतोक्ता, तदेतत् सङ्गृह्णन्ति कारिकया सच्चिदानन्दरूपायेत्यारभ्य फलसाधनरूपिण इत्यन्तया ॥ ११ ॥ मयेदं भगवन्नित्यत्र न पूर्वं कदापि भवता भुक्तमिति हस्तेन भुक्तमितीति श्रीनन्देन युक्त्यैवेन्द्रयागस्य कृतत्वाद् वेदविहितत्वाभावाद् व्रजराजकृतेन्द्रयागे भगवता न भुक्तं, अतो हस्तरूपेणेन्द्रेणापि न भुक्तं, अस्मिन्नेव अन्नकूटोत्सवे भगवतोक्तत्वेन वेदविहितत्वाद् भगवता भुक्तं भोजनं तु हस्तकार्यं, अतो हस्तरूपेण मया इन्द्रेण भुक्तं, तथा चास्मिन्नेव यागे मया भुक्तमित्युपपन्नं, अतो यज्ञ अविहत एवेति यद्यपि भगवतेन्द्रयागभङ्गः कृतस्तथापि तस्यावैदिकत्वात् यज्ञत्वाभावेन तद्विघाते यज्ञस्याविहतत्वमेवेत्यर्थः, तर्हि "चेष्टितं विहिते यज्ञे" इति कथमुक्तमिति चेत् तत्राहुः अभिमानादन्यथाङ्गीकृतमिति इन्द्रस्य युक्तिकल्पितेपि स्वयागे यागत्वाभिमानात् तादृशयागविघाते अन्यथाङ्गीकृतं यज्ञनाशनभङ्गीकृतमिति यज्ञविघातोक्तिरितिभावः ॥ १२ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

"स्वच्छन्दोपात्तदेहाये"त्यत्र सच्चिदानन्देति का० २३६३। "सर्वस्मै" इतिपदेन सद्रूपता, "सर्वबीजाये"त्यानन्द-रूपता, "सर्वभूतात्मन" इतिचिद्रूपता, भक्तेच्छापूरकायेति "स्वच्छन्दोपात्तदेहाये"त्यस्यार्थः, शुद्धज्ञानस्वरूपायेति मूलस्थ-द्वितीयपादार्थः स्वष्ट एव फलसाधनरूपिणे इति आनन्दः फलं, चित् साधनं, एतादृशाय नम इत्युक्तं भवति ॥ ११ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एतदवतारप्रयोजनमाह—तवेति। अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्तत्सम्बोधनं हे अधोक्षज! एवंविधस्यापि तवेह भूमाव-यमवतारः स्वयंभराणां स्वप्राणमात्रपोषकाणाम्, अत एव उरुभारजन्मनां बहूनां भाराणां जन्म येभ्यस्तेषां चमूपतीनां राज्ञामभवाय विनाशाय, युष्मच्चरणसेविनां तु भवाय यथोचितं धर्मादिपुरुषार्थलाभाय। तथा च पूर्वं मम दुर्मदत्वेन मानभङ्गस्य कृतत्वादिदानीं तु त्वच्छरणागते मय्यनुग्रह एव युक्त इत्याशयः। 'एवं विधानानाक्रीडा अपि तवावतारप्रयोजनम्' इति सूचयन् सम्बोधयति—देवेति ॥ ९ ॥ एवं क्षमां प्रार्थ्य तदर्थं नमस्करोति—नम इति द्वयेन। तुभ्यं भगवते ऐश्वर्यादिषड्गुणपूर्णाय, पुरुषाय सर्वान्तर्यामिणे, अन्तस्थत्वेऽपि महात्मने अपरिच्छिन्नाय, वासुदेवाय वसुदेवनन्दनाय, कृष्णाय सदानन्दरूपाय, सात्वतां यादवानां पतये। 'नम' इत्यस्य सर्वत्रान्वयः ॥ १० ॥ कर्माधीनत्वशङ्कां वारयन्नाह—स्वच्छन्दोपात्तदेहाय स्वेच्छया स्वीकृतदेहाय। तथा देहस्य प्राकृतत्वशङ्कां वारयन्नाह—विशुद्धं ज्ञानमेव मूर्तिर्यस्य तस्मै। सर्वस्मै विश्वरूपाय। तत्र हेतुमाह—सर्वबीजायेति, सर्वोपादानायेत्यर्थः ॥ सर्वेषां भूतानामात्मने साक्षिणे नमः ॥ ११ ॥ 'कृतागस' इति यदुक्तं तं स्वापराधं निवेदयति—मयेति। स्वस्यातितुच्छत्वं सूचयन् सम्बोधयति—भगवन्निति। आसारवायुभिर्गोष्ठनाशाय मयेदं चेष्टितमकृत्यं कृतमित्यन्वयः। तत्करणे हेतुमाह—तीव्रमन्युनेति। क्रोधे हेतुमाह—यज्ञे विहते सतीति। 'मया परमेश्वरेण यज्ञे विहतेऽपि तव क्रोधः कथमुचितः?' तत्राह—मानिनेति। त्रिलोकेशत्वाभिमानिनेत्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तवेति ॥ हे अधोक्षज! हे देव! एवंविधस्य तवेह भूमावयमवतारः स्वयंभराणां स्वप्राणमात्रपोषकाणां स्वयंभाररूपाणां वा। अत एव उरुभारजन्मनां बहूनां भाराणां जन्म येभ्यस्तेषां चमूपतीनां राज्ञामभवाय विनाशाय युष्मच्चरणसेविनां तु भवाय पुरुषार्थलाभाय अस्ति ॥ ९ ॥ नम इति ॥ स्पष्टम् ॥ १० ॥ स्वच्छन्देति ॥ स्वछन्देन स्वेच्छया गृहीतदेहायेत्यादि स्पष्टम् ॥ ११ ॥ मयेति ॥ हे भगवन्! यज्ञे विहते सति मानिना तीव्रमन्युना च मया आसारवायुभिः गोष्ठनाशायेदमकृत्यं चेष्टितं कृतम् ॥ १२ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

भुवो भराणां भूमेर्भारभूतानां स्वयं भराणामिति पाठे तु इह भूमौ स्वयमेव भारभूतानां पुनश्च ऊरुभाराय जन्म येषां तेषां सेनापतीनां अभवाय नाशाय हे देव भवाय सुखाय ममत्वद्भक्तत्वाद्रक्षणं कार्यमित्यर्थः ॥९॥ पुरुषाय अनादिसिद्धदिव्या प्राकृतपुरुषाकार विघ्नहराय महान् क्षराक्षरेभ्य उत्कृष्टः आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै अतः चेतनाचेतनेषु वासुर्व्यापकश्चासौ देवोद्योतकश्च तस्मै प्रत्यक्ष श्रीकृष्णाय नमः ॥ १० ॥ स्वच्छंदेन स्वेच्छया उपात्तो गृहीतो देहोऽवतारो येन तस्मै विशुद्धं मायादिदोषरहितं ज्ञानं मूर्तौ विग्रहे यस्य तस्मै सर्वस्मै यथादेहवाचकाः शब्दाः देहिषु पर्यवस्यंति तथा चेतनाचेतनवाचकाः शब्दाः सर्वात्मनिहारौ पर्यवस्यंतीति सर्वभूतात्मकत्वात् सर्वरूपाय सर्वेषां बीजाय कारणाय ॥ ११ ॥ मानिना मया इदं चेष्टितकृतं ॥ १२ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

उक्तरीत्या प्रार्थनां कृत्वा भूभारहरणाय कृतावतारस्य भगवतो लोकहितार्थैकप्रवृत्त्वमेवोपपादयति ॥ तवेति ॥ हे अधोक्षज, उरूणां बहूनां भाराणां जन्म प्रादुर्भावो येभ्यस्तेषां, भुवः पृथिव्याः, भराणां भारभूतानां, स्वयंभराणामिति पाठेऽपि स्वत एव भारभूतानामित्यर्थः। उभयथाप्यर्थत एकत्ववत्प्रतीयमानत्वाद्भुवो भराणां भूभृतामित्यर्थः साधुः। चमूपतीनां प्रचुरसेनाधिपतीनां अभवाय नाशाय, यद्वा। दण्डद्वारा मुक्तिप्रदानाय, हे देव, युष्मच्चरणानुवर्तिनां युष्मच्चरणसेविनां तु, भवाय विभवाय उत्तरोत्तरमनुवृत्तिवृद्धये च, इह लोके, तव अयं अवतारः ॥ ९ ॥ क्षन्तुमर्हसीति यत् प्रागुक्तं तत्र 'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी' इत्युक्तरीत्याञ्जलिबन्धनमस्कृतिपूर्वकच्छरणागतिमन्तरेण नान्योऽस्ति क्षमापनहेतुरित्यभिप्रयन् शरण्यगुणानाविष्कुर्वन्नञ्जलिबन्धेन नमस्कुर्वन् स्वापराधमावेदयन् कार्पण्यं प्रकाशयन् शरणं व्रजति नम इति चतुर्भिः ॥ नम इति ॥ भगवते पूर्णषाड्गुण्यमूर्त्तये, पुरुषाय सर्वदा पुरुषकाराय, तुभ्यं नमः। महात्मने शरणागतशब्दभाजं जनमवलोक्यापराधविस्मरणेन केवलमनुजिघृक्षैकप्रवणचित्ताय, वासुदेवाय वसुदेवपुत्राय, अनेन सौलभ्यं सौशील्यं चाभिप्रेतम्। कृष्णाय, अनेन केवलं क्षेमंकरत्वमुक्तम्। सात्वतां भक्तानां पतये, तुभ्यं नमः। अनेन कृतागसामपि मादृशां भक्तानां पुनः शिक्षया पालकायेति सूचितम्। यद्वा। पुरुषाय महात्मने

इति पदद्वयेन 'महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैव प्रवर्त्तकः'' इत्युक्तसत्त्वप्रवर्त्तकत्वमुक्तम् ॥ १० ॥ स्वच्छन्देति ॥ स्वच्छन्देन स्वेच्छयैव न तु कर्मणोपात्तः परिगृहीतो देहो येन तस्मै, अनेन सर्वदा दिव्यदेहवत्त्वेऽपि मानुषभावोपेतदेहप्रदर्शकत्वमसुरप्रतारणार्थमेवेति सूचितम्। विशुद्धं नित्यं संकोचविकाशरहितं ज्ञानं मूर्त्तौ यस्य तस्मै, सर्वस्मै सर्वव्यापिने, सर्वबीजाय सर्वेषां मूलकारणाय, सर्वभूतानामात्मा तस्मै, तुभ्यं नमः ॥ ११ ॥ स्वापराधमावेदयति ॥ मयेति ॥ हे भगवन्, यज्ञे म यागे, विहिते त्वया खण्डिते सति, तीव्रस्तन्निमित्तं तीव्रतां प्राप्तो मन्युः क्रोधो यस्य तेन, मानिना देहात्माभिमानवता, मया गोष्ठस्य त्वयाऽनुगृहीतस्य व्रजस्य नाशस्तस्मै, गोष्ठनाशं कर्त्तु मित्यर्थः। आसारवायुभिः, इदं चेष्टितं कृतम् ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

तवावतारोऽयमिति : १०.२७.९.

भूभारक्षपणार्थमेव विधिना सम्प्रार्थितस्त्वं त्वयाप्यंगीकृत्य समुक्तमच्युतविधे देवांस्त्वमाश्वासय।
सत्येवं यदिहाऽधुनोऽतिमहीभारं त्वनालोकयन् स्वभारापनयात्तधीरसि तदा किं वच्म्यसि त्वं प्रभुः ॥ १५ ॥
जातं शासनमेतदेव परमित्यालोच्य दीनं पदे प्राप्तं नावसि चेत्तदस्तु भगवन्नेकं तु पृच्छामि ते।
नूनं चेन्द्रशतं विधातुमिह तेऽशक्यं न सर्वेशितुः पादोऽत्राणकृदेष चेत्तद्वने कः स्यात्पुरस्तद्वद ॥ १६ ॥
कृतमिदं भुवनं जनजीवनमपि सदा मदधीनमिति स्मयात्। किमनया कथया कथयामि ते शरणमेत्कमिदं विशदं पदम् ॥ १७ ॥
यत्कृत्यं सुहृदा कृतं प्रियतरेणास्मिंस्तदागःशताकीर्णं पूर्णमपि प्रियस्य भवति क्रोधाय नो जात्वपि।
सिद्धे सत्यवनावितीश भगवंस्त्वन्मुख्यभूतेन मे प्राक्प्रादायि धनं जयेन हविरित्येतत्कथं त्वद्रुषे ॥ १८ ॥
गोत्रोद्धारविधावनालसमना भूयोऽस्मि भूमाविति गोत्रोद्धारमहो विधाय भगवंस्त्वं दर्शयन्स्वाशयम्।
यच्छ्रायस्यपि पूर्वजे रचयसि श्रीशापगोत्रा गिरस्तत्स्यादङ्कपदं न ते किमवनौ पश्य त्वमेवान्ततः ॥ १९ ॥
भूभृच्छ्रतदुद्धृतित्रजजनत्राणत्रिकर्म क्रमात् प्राप्तं सम्प्रति नाम वामनतनोस्त्रैविक्रमं बिभ्रतः।
स्वाम्येन्द्रस्थितितोऽप्युपेन्द्र कलिताभिख्यस्य सौख्यावधेः प्राप्तं प्राग्वदिहाप्यनन्त मघवत्त्राणं तवावश्यकम् ॥ २० ॥

तवांगगन्धः सुमनोविमोहकृद्गिरः श्रुतिस्थाः सुमनोविमोहिकाः।
अदृष्टमेतच्च निरीक्ष्य चेष्टितं न चित्रमासीन्मनसो विमुग्धता ॥ २१ ॥
यदाशयागस्थितिरास कामं तदाशयागःस्थितिरित्यगूढम्।
यत्संशयागः प्रकृते तु नास्ति तत्संशयागोऽस्ति न ते मयीश ॥ २२ ॥

जित्वाऽनन्तदुरन्तदैत्यनिवहान् यस्य प्रसादात्सुरश्लाघ्यं राज्यमकण्टकाङ्कुरमहो स्वस्थो भुनज्म्यञ्जसा।
तस्यापीश तव च्छलं विदधता दुष्कीर्तिरूपं मया यत्संप्रत्यनुभूयते फलमिदं नैवानुमन्येत कः ॥ २३ ॥
नालोच्यद्भुतरूपमेतदनघं नालोकि विक्रीडितं वृन्दारण्यभुवि व्रजस्थविलसद्भाग्योपलब्धं प्रभो।
नैवाचिन्ति दुरन्तदैत्यहननं यत्त्वच्छलं कुर्वता जात्यंधादधमः सहस्रदृगपि प्रायस्तदात्मा कृतः ॥ २४ ॥
कोट्यंडौघतनूरुहेण भवता विश्वेश विश्वात्मना सप्ताहं स्वकरे गिरिं विदधता विश्वेऽपि विस्मापिताः।
मच्चित्तेन हरेऽणुनापि विधृतः कोट्यद्रिसारक्षपागोत्रस्तत्र न विस्मयस्तव ततस्तद्विस्मयत्वं गतम् ॥ २५ ॥
प्राचीनादधिकोल्लसद्गुरुपदान्नित्यं सुधर्मोच्छ्रयाज्ज्ञाताशेषसुपर्वतत्त्वमनसो निष्पातकार्योदतात्।
मत्तोऽनारतसर्वतोमुखदृशोऽस्वप्नादपीदृक्कथं प्रादुर्भूतमिति त्रपैव भगवन्भूर्यन्तरं कृन्तति ॥ २६ ॥

मयेदमिति : १०.२७.१२.

निगृह्य प्राग्यज्ञे बलिमपहृतं तस्य भुवनमिदानीं देयं स्यात्पुनरनुगृहीतोऽद्य यदसौ।
विचिन्त्यैवं तर्कात्कृतमखिलमेतत्पदगतं नियोगात्प्राग्यस्मादभयवरदाने प्रभुरसि ॥ २७ ॥
वनमालिनो वनविहारजुषस्ते प्रियकृद्भवेदपि वनप्रसरोऽयम्। इति जानतावनमिदं स्ववनेन रचितं मयाऽधिकमतो न मदागः ॥२८॥
न श्रुतमस्ति क्वचिदपि रसनार्दनदशनशिक्षणं लोके। सदय त्वद्व्रजरूपे मयि ते विहितं तु भाति नूत्नमिव ॥ २९ ॥
यस्त्वयाऽपहृतः श्रीश मद्विपक्षेण मन्मदः। मानापनोदः किमितो निग्रहोऽनुग्रहोऽपि वा ॥ ३० ॥
सर्वतोमुखजातस्य नारदस्य समागमात्। अनुग्रहस्ते प्राक्सिद्धोऽधुनाऽपीश तथास्तु सः ॥ ३१ ॥
सपक्षात् सुस्वस्थान्निजजनविनाशोद्यतमते विपक्षोऽपि ज्यायान् यदि निजजनत्राणकुशलः।
स्फुटोऽयं नीत्यर्थोऽजनि मयि च नीत्याहितमतौ तदेतत्क्षन्तव्यं नहि पुनरितः स्यात्क्वचिदपि ॥ ३२ ॥
त्वया करेणोद्धरणीय एष इति प्रभो नैव मया विबुद्धम्।
बुद्धे कृता स्यान्न विपक्षताऽस्मिन् गिरौ मयापीत्यविषह्यमेतत् ॥ ३३ ॥

यद्वा विपक्षत्वमवापितो मयेत्युद्धारयोग्योऽभवदेष ते प्रभो।
तस्माच्छ्रमेवास्य मया कृतं गिरेर्विपक्षभावेऽपि विलोकयान्ततः ॥ ३४ ॥
त्वया विपक्षोऽपि गिरिर्गरीयान् ममावलंवाच्छ्रयणीय एषः।
ततः प्रियस्त्वं मम चेति वाचः पुरैव जातोऽस्मि सुपर्वतास्थः ॥ ३५ ॥
इयमधिकवन्धमुक्तिरनेन रचिता मयीति यदि मनसि। भृशमधिकवन्धमुक्तिं त्वमपि कृपाधन कुरुष्व तदिह मयि ॥ ३६ ॥
मयोदासीनरत्वं कृतविविधयत्नेन रचितोप्युदासीनः स्वीये क्षणमपि न जातोऽसि भगवन्।
तव स्वात्मत्राणोदितसदयवृत्तावधिकता ततः सिद्धासिद्धाप्यधिकवति मेघे त्वधिकता ॥ ३७ ॥
प्राचीनो हि विभो जडोन्मदमना उच्चैःश्रवो वाहकः कामं पाकवलानुशिक्षणचणोऽहल्यैकसख्यप्रियः।
प्राप्तात्रजवैरितां च कलयन्नाशाविशेषाश्रितः सिद्धोऽस्मीति विडम्बनाभिरधुना श्रीशाल्मेषा नतिः ॥ ३८ ॥
रुष्टे त्वय्यथवा तुष्टे स्वः पुरन्दरभावहेत्। स्वतन्त्रोऽसि यतस्तत्र तद्वामां वा निवेहि भोः ॥ ३९ ॥
नाप्रतिष्ठात्वपूर्वेयं सर्वदोशाश्रिते मयि। दाशार्होऽहमिति ज्ञात्वा यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ४० ॥
त्वमन्नेन प्रभो तोषं प्रापितो व्रजवासिभिः। मयोदकेन तत्तुल्यस्तैरहं त्वदनुग्रहे ॥ ४१ ॥
मया न लब्धो भगवन् पुरा यः शतेन सांगैरपि मन्युवर्यैः।
स मन्युनैकेन तव प्रसादो लब्धो ध्रुवे तद्वरसेनमेव ॥ ४२ ॥
नित्याभ्यस्तसमस्तवेदनिवहः स्रष्टाऽण्डसृष्टेरपि स्पष्टं ज्येष्ठतमोऽखिलेष्वपि जनेष्वद्धा त्वदात्मैव यः।
तस्याऽप्यच्युत भूरिदुर्लभमिदं गोगोपगोपीष्टदं रूपं दृष्टमतस्त्रिविष्टपतटे धन्यो मदन्योऽस्ति कः ॥ ४३ ॥
स्वस्थोऽहमप्रवासात्यासीन्मदहेतुरेतदेव मम। तद्द्वयमत्रागमनाद् गतमिति विमदत्वमर्थसिद्धमहो ॥ ४४ ॥
सदाखण्डलसत्प्रीतिस्त्वयि मेऽस्तीति नौ वचः। सत्कृता तु मया मद्वाक्प्रमाणं परतो भवान् ॥ ४५ ॥
यत्नेनोद्धृत्य वेगाद् विषयनिगडितं स्वेन्द्रियग्राममन्यत्राणायाऽसौ हि येनाऽचलपदर्गातनाऽऽयोजितः शत्रुजेत्रा।
के वा देवा न सेवाचरणकृतधियस्तस्य वश्येन्द्रियस्य स्युर्लोकेष्वित्यबोधि प्रपदनतसुरेशेन तादृक् परस्य ॥ ४६ ॥

कृष्णप्रिया

हे अधोक्षज ! हे इन्द्रियातीत कृष्ण ? भूमि के भाररूप, भूमि के पापों के बोझा को लादने वाले आसुरिवृत्ति वाले खल सेनाधिपतिओं के विनाश के लिये, और आपके श्रीचरणों के अनन्य सेवक भक्तजनों के कल्याण के लिये ही आपने अवतार लिया है। आपका अवतरण विश्व के लिये वरदान ही है ॥ ९ ॥ पुरुषोत्तम; महत् स्वरूप अथवा कार्य कारणस्वरूप वासुदेव, यादवपति, भगवान श्रीकृष्ण के चरण कमलो में बार बार प्रणाम ॥ १० ॥ निजजनों की इच्छा के अनुकूल-अनुरूप अवतार लेने वाले, विशुद्ध चिद्रूप स्वरूप धारण करने वाले, सर्व स्वरूप, सर्व के बीजरुपरूप प्राणीमात्र की आस्था वंसे चैतन्य-मय आपके चरणां में प्रणाम ॥ ११ ॥ हे भगवन्! हे महाराज! यज्ञ के अवरोध के कारण, मिथ्याभिमानी मुझे उग्रभर क्रोध उत्पन्न हुआ, और मैंने पागलपने में धारासम्पात वृष्टि, तीव्रवर वायु, बौछारों से व्रज को नष्ट करने की खल चेष्टा की॥१२॥

त्वयेशानुगृहीतोऽस्मि ध्वस्तस्तम्भो वृथोद्यमः[1]। ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

श्रीशुक उवाच

[2]एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम्। मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया तेऽकारि मघवन् मखभङ्गोऽनुगृह्णता। मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥ १५ ॥
मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति। तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य [3]चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥ १६ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे ईश ! त्वया ध्वस्त स्तम्भः हतोद्यमः अनुगृहीतः अस्मि, ईश्वरम् गुरुम् आत्मानम् त्वाम् अहम् शरणम् गतः ॥ १३ ॥ मघोना एवम् संकीर्तितः कृष्णः भगवान्, मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन् अमुम् इदम् अब्रवीत् ॥ १४ ॥ मघवन् ! इन्द्रश्रिया भृशम् मत्तस्य, नित्यम् मदनुस्मृतये अनुगृह्णता मया ते मखभङ्गः अकारि ॥ १५ ॥ ऐश्वर्य श्रीमदान्धः दण्डपाणिम् माम् न पश्यति, यस्य च अनुग्रहम् इच्छामि तम् सम्पद्भ्यः भ्रंशयामि ॥ १६ ॥

१. हतोद्यमः—वीर. । २. इत्थं—वीर. । ३. वाञ्छा—प्रा. पा. ।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

तथापि भो ईश त्वयाऽनुगृहीतोऽस्मि । अनुग्रहं दर्शयति । ध्वस्तस्तंभ इति वृथोद्यम इति च ॥ १३-१४ ॥ इंद्रेण स्वाभिप्राये निवेदिते भगवानपि तथैवाह । मयेति । इंद्रश्रिया देवराज्येन ॥ १५-१६ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

यद्यपि मयानुचितं कृतं तथापि ध्वस्तोऽपास्तः स्तंभो गर्वो यस्य स तथा । 'दम्भो धर्मं न पश्यति' इत्युक्तेर्धर्मांकरणेन गर्वितस्य नरकावाप्तिर्दर्पापहारेण धर्मप्रवृत्तौ स चानुग्रह एवाद्वितीयमनुग्रहं दर्शयति-वृथोद्यम इति । उद्यमसाफल्ये तु गवादिनाशान्नरकावाप्तिरतस्तद्वृथाकरणमप्यनुग्रह एवेति तिरस्कृते नापि भिषजा कृपालुना चिकित्सितो रोगीव त्वयाहमनुगृहीत एवातः ध्वस्तस्तम्भरोगः । हता उद्यमा वज्रनिक्षेपादयो यस्य सः । नियंतृत्वादीश्वरं, हितकारित्वाद्गुरुं प्रेमास्पदत्वादात्मानम् ॥१३॥ एवम् त्वयेशानुगृहीतोस्मीत्येवंप्रकारेण । अमुम् मघवानम् । इदम् वक्ष्यमाणम् ॥ १४ ॥ तथैव स्वाभिप्रायमाह—हे मघवन्निति । त्वत्पूज्यताधिकारमिद्रत्वमहं न नाशयामीति भावः । संपद्भ्यो धनादिभ्यः, तव तत्रासहिष्णुतां दृष्ट्वा यज्ञमेवाहरमिति भावः । अनुग्रहमाह-मदनुस्मृतय इति ॥ १५ ॥ ऐश्वर्यमीश्वरत्वम् श्रीः समृद्धिस्ताभ्यां मदेनांधो नष्टज्ञानचक्षुः । पणते व्यवहरते दानादानादिष्विति पाणिः । पणेरिञ्, हस्तः । दंडः पाणौ यस्य तं तथा । संपन्नाशे मदनुस्मृतिर्नान्यथाऽतस्तां दातुं श्रीभ्रंशं करोमीति भावः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

हे ईश, हे सर्वनियन्तः ! यद्यपि सद्य एव मयि दण्डं कर्त्तुं समर्थस्त्वं तथापि त्वयाऽनुगृहीतोस्म्येवेत्यर्थः । न च बाह्यानुग्रह इत्याह—ध्वस्तस्तम्भः नष्टमदोऽस्मि यतो हतोद्यमः ध्वंसिरत्रान्तर्भूतण्यर्थः । यतस्त्वयैव स्तम्भो नाशित उद्यमश्च हत इत्यर्थः । अतो गुरुः त्वामेव महापराध्यप्यहं शरणङ्गतः तत्रैवान्यदपि हेतुद्वयम् ईश्वरं नियन्ताम् आत्मानं रश्मीनां सूर्य्यमिव सर्वेषां मूलस्वरूपं त्रिधाप्यनन्यगतिकत्वादिति भावः ॥ १३ ॥ सङ्कीर्त्तितः स्तुतः भगवानिति परमप्रभुत्वं बोधयन् अपराधिन्यपि तादृशे क्षुद्रेऽनभिनिवेशं बोधयति, अत एव मेघेति मेघगर्जितं लक्ष्यति अनेन तस्य महासत्त्वतां प्रहसन्निति महाशयतां च व्यनक्ति अमुमित्येकवचननिर्दिष्टाऽदःशब्देन लौकिकरीत्या मघोनस्तु क्षुद्रतामिति ॥ १४ ॥ मयेदमित्यादितद्वाक्यानुरूपप्रभुत्वोचितमेवाह—अनुगृह्णतैव नतु क्रुध्यतेत्यर्थः । तत्र क्रोधविषयत्वेऽपि त्वद्विधस्यायोग्यत्वादिति भावः । नित्यं मम अनु वारम्वारं या स्मृतिस्तदर्थम् अन्यथा विपथगामी स्या इति हि यतः ऐश्वर्येण प्रभुत्वेन श्रिया धनादिसम्पदा च मदस्तेनान्धः गताशेषज्ञानस्सन्नित्यर्थः । दण्डपाणिं मदीयोपासकान् प्रति गोपवेषोचितसुभगयष्टिपाणित्वेन भासमानतयैव त्वद्विधान् प्रति तु व्यञ्जितदण्डपाणित्वमपि न पश्यति नावगच्छ त इति गोपलीलायां निजप्रभुत्वविशेषमुक्त्वा तदन्तरङ्गपरिकरेषु श्रीगोपराजादिष्वपि भक्तिरनुशिष्टा यतो न पश्यति अत एव यस्यानुग्रहमिच्छामि यमनुग्रहीतुमिच्छामीत्यर्थः । तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि तस्यैश्वर्यहेतुकधनादिसम्पत्तीर्हरामीत्यर्थः । भवतस्तु तत्रासहिष्णुतां दृष्ट्वा न तादृशमप्यकरवं किन्तु यत्किञ्चिन्मखभङ्गमेवेति भावः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ईश ! हे सर्व्वनियन्तः ! यद्यपि सद्य एवमपि दण्डं कर्त्तुं समर्थोऽसि, तथाप्यनुग्रहीतोऽस्म्येवेत्यर्थः । न च बाह्यानुग्रह इत्याह-ध्वस्तस्तम्भो नष्टमदोऽस्मि, यतो हतोद्यमः, ध्वस्तेति सकर्म्मकं वा, यतस्त्वयैव स्तम्भो नाशित उद्यमश्च हत इत्यर्थः, अतो महापराध्यप्यहं त्वामेव शरण गतः । तत्रैव हेतवः—ईश्वरमित्यादित्रयम् । आत्मानं प्रियं परमसुहृत्तममित्यर्थः; एषां यथोत्तरश्रैष्ठ्यमुह्यम् । ईश्वरत्वादिकं स्वभावादेव, किंवा कृतानुग्रहविशेषात्; यद्वा, कथम् ? तदाह—ईश्वरमिति ईश्वरादिरूपेणेत्यर्थः । अतोऽधुना समैश्वर्य्यणालम्, अत्रैव त्वत्पादाब्जान्तिके स्थास्यामीति भावः ॥ १३ ॥ संकीर्त्तितः स्तुतः । भगवानिति परमदयालुत्वं बोधयति, अन्यथा त प्रति तादृशोक्तेरयोग्यत्वात्, यद्वा, भगवान् परमकारुण्य-शरणागतवात्सल्यादिगुणप्रकटनपरोऽपि इदं वक्ष्यमाणमन्तःप्रसादरहितमब्रवीत्, यतः कृष्णः श्रीनन्दव्रजजनैकप्रियः, तत्र महापराधेन तादृशोक्तेरेव योग्यत्वादिति भावः । आद्ये पक्षे मेघगम्भीरयेति निजस्वाभावाभिव्यञ्जनेन वञ्चनं निरस्तम्; अतएव प्रहसन् स्मयमानः; यद्वा, तस्य दुर्म्मदतामनुसन्धाय हसन्, द्वितीये च गोष्ठनाशायेति तत्तत्स्मारणादन्तः कोपेन मेघगर्ज्जितगम्भीरस्वरया वाचा, अतएव अकारप्रश्लेषेण स्वाभाविकमपि निजश्रीमुखप्रसत्तिमप्रकाशयन्नित्यर्थः । यद्वा, 'हासो जनोन्मादकरी हि माया' इत्यादिन्यायेनोक्तिचातुर्य्यावञ्चनं कुर्व्वन्नेवेत्यर्थः । एवं पक्षद्वयापेक्षया विकल्पोऽग्रेऽप्यूह्यः ॥ १४ ॥ अनुगृह्णतैव, न तु क्रुध्यतेत्यर्थः । एतच्च शुद्धकृपयान्तःकोपेनैव वा, नित्यं मम अनु वारं वारं या स्मृतिस्तदर्थम्, अन्यथैश्वर्य्यस्वभावेन कदाचिदेव स्मरणासम्भवात्; यद्वा, नित्यं मत्तस्य मम अनुषंगेणासकृत् स्मरणार्थमित्यर्थः; एतमपि तथैव, हि यतः, ऐश्वर्य्येण मदस्तेनान्धो गताशेषज्ञानः सन्नित्यर्थः । दण्डपाणिं कालादिरूपेण साक्षाच्छासितारमपि न पश्यति, न जानाति, 'ऐश्वर्य्यश्रीमदान्धः' इति पाठे ऐश्वर्य्येण याः श्रियः सम्पदस्ताभ्यो मदस्तेनान्धः, अतएव यस्यानुग्रहमिच्छामि यमनुग्रहीतुमिच्छामीत्यर्थः, तं सम्पद्यो भ्रंशयामि, तस्यैश्वर्य्यहेतुकधनादिसम्पत्तीर्हरामीत्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तथाप्यहं हे ईश ! त्वया ध्वस्तः अविनयो यस्य सः मदापनयनद्वाराऽनुगृहीत एवास्मि सम्प्रति हतः उद्यमः अपचिकीर्षात्मको यस्य स अनेनाधुनाऽपराधचिकीर्षाभिसन्धिराहित्यमावेदितमनेनैव कार्पण्यं च प्रकाशितम् एवम्भूतोऽहमधुना त्वां शरणं गतः शरणागतावपि त्वमेव प्रयोजककर्त्तेत्यभिप्रायेण विशिनष्टि–ईश्वरमिति । शरणागतये मां नियमयन्तमित्यर्थः । आचार्यसान्निध्याभावशङ्काप्रयुक्तशरणागतिवैयर्थ्याशङ्कापरिहाराय विशिनष्टि—गुरुमिति । देहात्माभिमानक्रोधादिदुर्गुणापनयनद्वारा हितप्रवर्त्तकत्वेनाचार्यकृत्यमपि प्राप्तमित्यर्थः । ननु, न तदेवं शरणङ्गतोस्मीति वचो निर्व्यलीकमिति शङ्कां निराचिकीर्षुर्विशिनष्टि—आत्मानमिति । अन्तरात्मनः तवाविदितं किमस्तीति भावः ॥ १३ ॥ इत्थमिति । इत्थं मघोनेन्द्रेण सङ्कीर्त्तितः कृष्णोऽमुं मघवानमुवाच ॥ १४ ॥ तदेवाह—मयेति त्रिभिः । हे मघवन् ! अनुजिघृक्षता मया त्वद्यज्ञभङ्गः कृतः, कोसावनुग्रहः ? इत्यत्र तं दर्शयति इन्द्रश्रियेन्द्राधिपत्येन इन्द्रेति सम्बोधनं वा नितरां मत्तस्य तव नित्यं मद्विषयकानुस्मृतये मखभङ्गोऽकारीत्यन्वयः । मदनुस्मृत्यापादकमेवानुग्रहमिति भावः ॥ १५ ॥ मत्तस्य मदनुस्मृतय इत्यनेन मदन्यस्य स्वानुस्मृतिप्रतिबन्धकत्वमत एव तदपनयनस्य हि तत्वं च सूचितम् । तदेव व्यनक्ति, मामिति । ऐश्वर्यश्रीमदाभ्यामाधिपत्यसम्पद्भ्यामन्धो विवेकशून्यः जनः दण्डधरं मां न पश्यत्यतो "यस्यानुग्रहमिच्छामि" तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि तस्य सम्पदभिलाषं निवर्त्तयामीत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

ध्वस्तस्तम्भः निरस्तस्थूणस्वभावः ॥ १३ ॥ मघोना इन्द्रेण ॥ १४ ॥ अकारि कृतः हे मघवन्, इन्द्र ! ॥ १५ ॥ "पण व्यवहारे" इति धातोः ह्यानादिव्यवहारसाधनत्वात् पाणिः हस्तः दण्डपाणि यमं माम् । भ्रंशयामि विच्युतं करोमि च शब्द एवार्थे अनुग्रहमेव नान्यद्वित्तादिकम् अनुग्रहानन्तरमविनश्वरसम्पदश्चेति समुच्चये वा ऐश्वर्यमीश्वरत्वं गवादिसमृद्धिः श्रीराभ्यामुद्धृतेन मदेनान्धः ज्ञानलक्षणचक्षुरहितः ॥ १६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

त्वत्कृतो दण्डोऽपि मे अनुग्रह एव, इत्याह—त्वयेत्यादि । ईश्वर ! त्वयानुगृहीतोऽस्मि । तथाहि यदहं ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यम, अतस्त्वं मे गुरुरसि । अतः परं शिक्षितोऽस्मीत्याह—ईश्वरं गुरुमात्मानमात्मवत् प्रियं त्वां शरणं गतोऽहमिति ॥ १४-१८ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

ईश्वरं न केवलमीश्वरं गुरुश्चोपदेष्टारम्, अन्यदैवं न कर्त्तव्यमिति यत् शिक्षा च कारिता, न केवलं गुरुरात्मा च, सर्वेषामस्मदादीनां त्वमेवात्मा अतस्त्वयि का त्रपेति भावः ॥ १४-१९ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

तदपि तिरस्कृतेनापि भिषजा कृपालुना चिकित्सतो रोगीवत्वयाऽहम् अनुगृहीतः अत एव सम्प्रति ध्वस्तस्तम्भरोगः यतो हता उद्यमाः वज्रनिक्षेपादयो यस्य सः अतो नियन्तृत्वादीश्वरं हितकारित्वाद्गुरुं प्रेमास्पदत्वादात्मानम् ॥ १३-१४ ॥ इन्द्रेण निष्कपटमुक्ते भगवानपि तथैवाह—मया ते इति ॥ १५-१६ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

तथापि हे ईश ! सर्वनियन्तः मखभङ्गद्वारा त्वया अनुग्रहीतोऽस्मि अतो हतोद्यमः ध्वस्तस्तम्भः ईश्वरं नियन्तारं गुरुम् इहैव सन्मार्गोपदेष्टारम् आत्मानं सर्वेषां जीवानामाश्रयम् "कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्" इत्युक्तेश्च एवम्भूतं त्वां शरणं गतोस्मि ॥ १३ ॥ अमुं मघवानम् ॥ १४ ॥ इन्द्रश्रिया देवराज्येन ॥ १५-१६ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

ध्वस्तः स्तम्भो यस्य स वृथोद्यमो वृथाभूत उद्यमो मेघौघादिप्रेषणादिर्यस्य स त्वयाऽनुगृहीतोऽस्मि । अधुनाऽपि मधुनाथेन सुष्ठु तथाऽप्रष्टुर्वा नोक्तं कथयदनुगृहीत इति शक्र इति चेन्न । न मनोपवेशोपश्रवणादिकं नानुग्रहं विना घटेतेति मघवान्भगवाननुगृहीत इत्युक्तवानिति सम्भवात् । अहमीश्वर गुरुमात्मानं शरणं गतः ॥ १३ ॥ असुमिन्द्रं मघोनेन्द्रेण ॥ १४ ॥ हे मघवन् इन्द्रः स्वर्गाधिपतिरिति श्रीस्तथा भृशं मत्तस्य नित्यं मदनुस्मृतयेऽनुगृह्णता मया मखभङ्गोऽकारि कृतः ॥ १५ ॥ ऐश्वर्यं स्वामित्व श्रीः सम्पद्भ्यां जातो यो मदस्तेनान्धोऽधिकारी दण्डपाणिं शासितृत्वेन यमसमम् । अदण्डपाणिरस्वतन्त्रयमभिन्नं शिक्षकं न पश्यति चक्षुरहितवत् । यो यस्य चोपर्यनुग्रहं कर्तुमिच्छामि तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि च्यावयामि ॥ १६ ॥

श्रीसुबोधिनी

तथापि स्वामिनानुग्रहः कृत एवेत्याह त्वयेति, ईशत्वादनुग्रहकरणं, न ह्युपजीवकेषु क्रुद्धेषूपजीव्योपि क्रुध्यति तथा सति तेषां नाशएव स्यादत एवानुगृहीतोस्मि, गोवर्धनधारणेन मान एव हतो न त्वहं हत इति मानहतिमेवाह ध्वस्तस्तम्भ इति, स्तम्भो गर्वोनम्रता ध्वस्तो यस्य, तत्र हेतुर्हतोद्यम इति, तथापि न मम लज्जा यतस्त्वमीश्वरो गुरुरात्मा च लोकतो वेदतोनुभवतश्च त्वच्छिक्षायां नापमानं भवतीत्यतस्त्वां शरणं गतः, यथोचितं विधेयमिति भावः ॥ १३ ॥ तदा प्रसन्नो भगवांस्तस्य मनःपीडां दूरीकृतवानित्याहैवमिति चतुर्भिः ।

उपक्रमः कृतं चैव हेतुश्चापि तथाकृतौ । प्रसादश्चेति भृत्याय भगवान् स्वयमुक्तवान् ॥ १ ॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सङ्कीर्तितः कृष्णः फलात्मा मघोनेन्द्रेण पूर्णः सर्वतो भगवान् मेघगम्भीरया वाचा तस्य तापं शमयन् प्रहसन् माहत्यन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवात्, अत एवाग्रेपि तस्य मोहः ॥ १४ ॥ स्वकृतमाह मयेति, काकतालीयव्यावृत्त्यर्थं स्वकृतं ज्ञापयति हे मघवन्ननुगृह्णता मया मखभङ्गोकारि, अनुग्रहमेवाह मदनुस्मृतय इति, ममानुस्मृतिरेवानुग्रहः, यागभङ्गाभावेनुस्मृतिर्न स्यादिति, हेतुमाह नित्यमिन्द्रश्रिया मत्तस्येति ॥ १५ ॥ नाप्येतत् त्वया प्रार्थनीयं ममैवायं सहजो धर्म इत्याह मामश्वर्यति, ऐश्वर्यं श्रीश्चान्यतराभावे न मदः पुष्टो भवतीतरसापेक्षत्वात्, न ह्येकाक्षिविकलोन्धो भवत्यत ऐश्वर्येण श्रिया च यो मदस्तेनान्धः, दण्डपाणिं घातकमपि मां न पश्यति, अतस्तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि शिक्षार्थमवश्यं मारणीयः, तदैव मारणे शिक्षा भवति यदि जानीयादतो ज्ञानार्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयाम्यन्यथानुग्रहो न भवेत्, इयं साधारणी व्यवस्था, विशेषमप्याह यस्य चेच्छाम्यनुग्रहमिति, यस्य चानुग्रहमिच्छामि, अयमनुग्रहं प्राप्नोत्विति विषयैर्बुद्धिभ्रंशो भवतीतिवाते दीपवद् विषयैरनुग्रहोपि न स्थिरो भवति, अल्पेनैव कार्यसिद्धौ महाननुग्रहो न कर्तव्योतो यथाल्पेनैव कार्यं भवति तदर्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि, तदनन्तरमनुग्रह इति पूर्वमिच्छैवोक्ता, अत्रत्यः क्रमोग्रे वक्तव्यो "यस्यानुग्रहमिच्छामी"त्यत्र, अतः शिक्षार्थं प्रसादार्थं चैश्वर्यभ्रंशः कार्यते, अत एकदेश एव स कृतो यागमात्रैश्वर्यनिराकरणात् ॥ १६ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

एवमित्यत्र उपक्रम इति शुकेनोक्त इतिशेषः, अग्रिमत्रयं भगवानुक्तवानित्यन्वयः ॥ १४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

एवं सङ्कीर्तितः इत्यादीनां चतुर्णां श्लोकनामर्थमाहुः उपक्रमः कृतं चैवेतिकारिकया, "एवं सङ्कीर्तित" इत्यनेन प्रसादोपक्रमः, "मया तेकारि मघव"न्नित्यनेन कृतं भगवत्कृतं मखभङ्गादिरूपं निरूपितं, "मामैश्वर्यश्रीमदान्ध" इत्यनेन तथाकृतौ मखभङ्गकृतौ हेतुरुक्तः, "गम्यतां शक्र भद्रं व" इत्यनेन प्रसाद इति बोद्धव्यम् ॥ १४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

एवं सङ्कीर्तितः कृष्ण इत्यादिश्लोकचतुष्टयार्थानाहुः उपक्रम इत्यादि; का० २३७३ । "एवं सङ्कीर्तित" इत्यनेन स्तोत्रोपक्रमः, "मयातेकारि मघव"न्नितिश्लोकेन भगवता कृतं इन्द्रयागभङ्गात्मकं कार्यमुक्तं, "मामैश्वर्यश्रीमदान्धो य" इत्यनेन वितथाकृतौ इन्द्रयागभङ्गकरणे ऐश्वर्यश्रीमदरूपो हेतुरुक्तः, "गम्यतां शक्र भद्रं ते"इत्यनेन भृत्याय इन्द्राय भगवता स्वप्रसाद उक्तः ॥१४॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

'मयैवमपराधे कृतेऽपि त्वया तु स्वोचितमेव कृतम्' इत्याशयेन सम्बोधयति—ईशेति । 'त्वयाऽनुगृहीतोऽस्मीति कथं' तत्राह्ध्वस्तस्तम्भ इति । ध्वस्तः स्तम्भः अविनयो यस्य सः । तत्र हेतुमाह—हतोद्यम इति । हतः उद्यमो व्रजविनाशविषयको यस्य सः ॥ "अत इदानीं त्वामहं शरणं गतोस्मीति, शरणागमनयोग्यश्च त्वम्" इत्याशयेनाह—ईश्वरमिति । गुरुं शास्त्रप्रवर्तकमात्मानं परमात्मानं सर्वान्तर्यामिणमित्यर्थः ॥ १३ ॥ मघोना इन्द्रेण एवं सङ्कीर्तितः संस्तुतः कृष्णो मेघवत् गम्भीरया मधुरया वाचा अमुं इन्द्रं हर्षयन् स्वयमपि प्रहसन् इदं वक्ष्यमाणमब्रवीदित्यन्वयः । 'तस्य तस्मिन्नपराधवत्यपि क्रोधो न जातः, वैराग्यादिगुणपूर्णत्वात्' इत्याशयेनाह—भगवानिति ॥ १४ ॥ भगवद्वाक्यमाह—मयेति त्रिभिः । हे मघवन्! अनुगृह्णता अनुजिघृक्षता मया ते तव मखभङ्गः अकारि कृतः । 'मखभङ्गेन कथमनुग्रहः ?' इत्यपेक्षायामाह—मदनुस्मृतय इति । इन्द्राधिपत्येन भृशमत्यन्तं नित्यं प्रमत्तस्य कर्तव्यमदनुसन्धानशून्यस्य मदनुस्मृतये मखभङ्गः कृतः । तेन मदनाशद्वारा मदनुस्मृत्यापादनमेवानुग्रह इति भावः ॥१५॥ एवं यस्य चानुग्रहमिच्छामि तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि, यस्मात् ऐश्वर्यश्रीभ्यामाधिपत्यसम्पद्भ्यां यो मदस्तेनान्धो विवेकशून्यो जनः दण्डपाणिं दण्डधरं कालयमादिरूपं मां न पश्यति । अत्रेदं बोध्यम् —यत्र ऐश्वर्यादिसत्त्वे मदस्तद्भ्रंशदशायां धर्मार्थकामसाधनप्रवृत्त्यभावपूर्वककेवलभगवद्भजनपरत्वं तत्रैव भगवदनुग्रहः । यत्र चैश्वर्यादिसत्त्वेपि उक्तप्रकारेण भगवद्भजनपरत्वं तत्रैव भगवदनुग्रहः, अम्बरीषादौ तथादर्शनात् ॥ यत्र त्वैश्वर्यादिसत्त्वे तदभावे वा त्रिवर्गसाधने प्रवृत्तिरेव, तत्र तु स्वकर्मभोग एव तदनुग्रहः ।

"त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पत्तिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र॥ ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादः" इति वृत्रवचनात्॥ इन्द्रे तु पूर्णानुग्रहाभावान्न स ऐश्वर्याद् भ्रंशितः, अत एव वक्ष्यमाणं पारिजातापहरणे मदेन पुनर्भगवता सह युद्धं सङ्गच्छते ॥ १६ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

त्वयेति ॥ हे ईश ! ध्वस्तः स्तम्भः अविनयो यस्य हतो निष्फल उद्यमो वृजनाशार्थो यस्य सोऽहं स्तम्भादिध्वंसात् त्वयाऽनुगृहीतोऽस्मि । अतः ईश्वरं गुरुमात्मानं च त्वां शरणं गतः ॥ १३ ॥ एवमिति ॥ मघोना इन्द्रेण एवं संकीर्तितः संस्तुतो भगवान् कृष्णो मेघवत् मेघस्येव गम्भीरया मधुरया वाचा अमुम् इन्द्रं हर्षयन् स्वयमपि प्रहसन् इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ १४ ॥ मयेति ॥ हे मघवन् ! इन्द्रश्रिया देवेन्द्रत्वसम्पदा भृशं मत्तस्य ते तव नित्यं मम अनुस्मृतये अनुगृह्णता अनुजिघृक्षता मया तव मखभङ्गः अकारि कृतः ॥ १५ ॥ मामिति ॥ ऐश्वर्यश्रीभ्यामाधिपत्यसंपद्भ्यां यो मदस्तेनान्धो विवेकहीनो जनः दण्डपाणिं दण्डधरं कालयमादिरूपं मां न पश्यति । अतः यस्य चानुग्रहमिच्छामि तं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि । अत्रेदं बोध्यम् । यत्रैश्वर्यसत्त्वे मदस्तद्भ्रंशदशायां च भगवद्भजनपरता तत्र सम्पद्भ्रंशो भगवदनुग्रहः । यत्र त्वैश्वर्यसत्त्वेऽपि मदत्यागपूर्वकं भगवद्भजनपरता तत्राम्बरीपादाविव सम्पद्भ्रंशो न क्रियते । यत्र त्वैश्वर्यसत्त्वे तदभावे वा त्रिवर्गसाधने प्रवृत्तिरेव तत्र स्वकर्मभोग एव भगवदनुग्रहः । इन्द्रे तु पूर्णानुग्रहाभावान्न त ऐश्वर्याद् भ्रंशितः । अत एव वक्ष्यमाणं पारिजातापहरणे मदेन पुनर्भगवता सह युद्धं संगच्छते ॥ १६ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

ध्वस्तौ गतः स्तंभ ईशत्वमदो यस्य ॥ १३ ॥ मघोना इन्द्रेण अमुमिदं ॥ १४ ॥ अनुगृह्णता मया ते मखभंगो कारि कृतः कथंभूतं यस्य तव इंद्रश्रिया देवेंद्रं राजलक्ष्म्या ॥ १५ ॥ ऐश्वर्येण श्रिया संपत्त्याचमदस्तेनांधोमतः तं मत्तं यस्यानुग्रहं ॥ १६ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

त्वयेति ॥ तथापि, हे ईश, त्वया ध्वस्तो निवर्तितः स्तम्भोऽनम्रत्वरूपः कुविनयो यस्य सः, हतो नष्ट उद्यमो यस्य स एवंभूतः, अहं अनुगृहीतः एव अस्मि । अत एवंविधः अहं, ईश्वरं, गुरुं, आत्मानं, त्वां शरणं, गतः ॥ १३ ॥ एवमिति ॥ एवमित्थं मघोना इन्द्रेण, संकीर्त्तितः भगवान् कृष्णः, अमुमिद्रं, मेघगम्भीरया मेघध्वनितुल्यया, वाचा वाण्या, प्रहसन् सन्, इदं वक्ष्यमाणं, अब्रवीत् । मघवानं प्रत्यचकथत् ॥ १४ ॥ तदेवाह मयेति त्रिभिः ॥ मयेति ॥ हे मघवन्, अनुगृह्णता अनुजिघृक्षता, त्वदनुग्रहं कर्त्तु मिच्छतेत्यर्थः । मया ते तव, मखभङ्गः यज्ञखण्डनं अकारि कारितः । कोऽसावनुग्रह इत्यत्र तं दर्शयति । इन्द्रश्रिया एन्द्राधिपत्येन, इन्द्रेति संबोधनं वा । नित्यं मत्तस्य तव, भृशं मदनुस्मृतये मद्विषयकानुस्मृतिसिद्धयर्थं, मखभङ्गोऽकारीत्यन्वयः । मदनुस्मृत्यापादनमेवानुग्रहः ॥ १२ ॥ मत्तस्य मदनुस्मृतये इत्यनेन मदस्य स्वानुस्मृतिप्रतिबन्धकत्वमत एव तदपनयनस्य हितत्वं सूचितं तदेव व्यनक्ति ॥ मामिति ॥ ऐश्वर्यं च श्रीमदश्च ताभ्यामाधिपत्यसंपद्भ्यामन्धो विवेकशून्यो जनः, दण्डपाणिं दण्डधरं मां, न पश्यति । अतः, यस्य अनुग्रहं इच्छामि, तं संपद्भ्यः भ्रंशयामि । चोऽवधारणे । संपद[illegible]लाषं निवर्त्तयामीत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

प्रहसन्निति : १०.२७.१४.

लब्धप्रतिष्ठस्य सतोऽप्रशस्तं कर्म ह्रिये स्यात् खलु नेतरस्य ।
सदाऽप्रतिष्ठस्तदयं विविक्ते कुतः समागादिति वा जहास ॥ ४७ ॥
जडवृत्त्यनुसृत्य पाकृतिभ्यां मदभावासदभावयोर्विशेषः । निरणायि सुरेश मे पुरैव त्वमिहागाः किमितीति वा जहास ॥ ४८ ॥
कनीयांस्तु गरीयांसं नमति स्तौति याचते । अद्याऽन्यथा प्रसङ्गेन प्राप्तमित्यास हास्यकृत् ॥ ४९ ॥
भक्तानुग्रहकर्तुर्मे दृष्टिरागन्तुकी सरुट् । प्रसन्ना तु सदैवाऽस्तीत्यबोधीशेन हास्यतः ॥ ५० ॥

मया तेऽकारीति : १०.२७.१५.

यः स्यादनुग्रहपदं मम तं सदैव रक्षन् क्वचित् समुदितं मदभावमस्मिन् ।
सद्यो हरामि मदनुस्मृतये परस्तु शिक्ष्यो ममेति न हि तत्र तथाऽऽचरामि ॥ ५१ ॥

कृष्णप्रिया

हे सर्व समर्थ नाथ ! आपने मेरे घोर अभिमान का विध्वंस किया, यह तो आपने मुझ पर अपार अनुग्रह किया है। मेरे सारे प्रयत्न आपने निरर्थक किए। अब मुझको सर्वेसर्वा मानने वाले को मान आया, हे भगवन् ! आप ही गुरु, ईश्वर, आत्मा और सर्व हो मैं आपका शरणागत हूँ ॥ १३ ॥ श्रीशुकाचार्य महाराज ने कहा—राजन् ! राजा इन्द्र ने जब पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की इस प्रकार की स्तुति की तब मधुरस्मित-मन्दहास्य करते हुए मेघ गर्जना के गम्भीर वाणी से इन्द्र को यों

कहा ॥ १४ ॥ भगवान श्रीकृष्ण कहने लगे—मघवन् ? हे इन्द्र ? इन्द्र पद के अधिकार मद से चकचूर बन गये थे इसलिये मैंने तुम्हारे यज्ञ का अवरोध किया, इससे तुम्हे निरंतर मेरा अनुसंधान रहेगा ॥ १५ ॥ राजन् ! सुनो ! ऐश्वर्य मद और सम्पत्ति मद से अन्ध बने हुए वे दण्ड हाथ में ग्रहण कर बैठे हुए नियन्ता को देखते नहीं है। उन मदान्धों में जिस जन पर में अनुग्रह करना चाहता हूँ उनका पद मद और सम्पत्ति पद को नष्ट कर देता हूँ ॥ १६ ॥

गम्यतां शक्र भद्रं वः[1] क्रियतां मेऽनुशासनम् । स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः [2]स्तम्भवर्जितैः ॥ १७ ॥
अथाह सुरभिः कृष्णमभिनन्द्य[3] मनस्विनी । स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य[4] गोपरूपिणमीश्वरम् ॥ १८ ॥

सुरभिरुवाच

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव[5] । भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥ १९ ॥
त्वं नः परमकं दैवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते । भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥ २० ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे शक्र ! गम्यताम् ! वः भद्रम्, "अस्तु", मे अनुशासनम् क्रियताम्, युक्तैः स्तम्भवर्जितैः वः स्व अधिकारेषु, स्थीयताम् ॥ १७ ॥ अथ मनस्विनी सुरभिः स्वसन्तानैः उपामन्त्र्य गोपरूपिणम् ईश्वरम् कृष्णम् अभिनन्द्य आह ॥ १८ ॥ हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्वसम्भव ! हे अच्युत ! लोकनाथेन भवता वयम् सनाथाः ॥ १९ ॥ त्वम् नः परम् अकम्, परं दैवम्, त्वम् नः इन्द्रः, हे जगत्पते ! गो विप्र देवानाम् भवाय भव ये च साधवः तेषाम् भवाय भव ॥ २० ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

वो युष्माभिः। वहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायेण। क्व गंतव्यं स्वर्गेपि तवैवेश्वरत्वादिति चेत्तत्राह। क्रियतामिति। मदनुशासनेन यथापूर्वं तत्र स्थीयतामित्यर्थः। युक्तैरप्रमत्तैः। स्तंभवर्जितैर्निरहंकारैः ॥१७॥ स्वसंतानैर्गोभिः सहोपामंत्र्य कृष्ण कृष्णेत्यादि संबोध्य ॥ १८ ॥ इंद्रेण हता अपि भवता वयं सनाथाः कृताः रक्षिता इत्यर्थः ॥ १९ ॥ त्वं नः परमं दैवं देवताऽतो हे जगत्पते गोविप्रदेवानां येऽन्ये च साधवस्तेषां भवाभ्युदयायाद्य त्वमेव नोऽस्माकमिंद्रो भव ॥ २० ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

गम्यस्थानाभावमाह—क्वेति। सर्वत्र मत्स्वाम्येपि स्थितौ प्रकारमाह—क्रियतामिति। अत्र क्रियतां मेऽनुशासनमित्युक्तेरनुशासनानंगीकारे पुनर्दंडो भविष्यति परिजातहरणे तथात्वप्रसिद्धेः ॥ १७ ॥ अथ इंद्रानुज्ञानोत्तरम्। स्वसंतानैः व्रजगोभिः, प्राकृताया अपि तस्या अप्राकृतासु कृष्णपरिकरभूतासु स्वसंतानाभिमानस्तासां सुरभिवंशोद्भूतत्वात्। यथा प्राकृतस्य चंद्रस्य चंद्रवंशोद्भूतेऽप्राकृते श्रीकृष्णे स्वसन्तानाभिमान इति। गोपरूपिणम् नंदनंदनम् ॥ १८ ॥ इत्यर्थ इति। रक्षकस्यैव नाथपदार्थत्वादिति भावः। कृष्णकृष्णेति वीप्सा परमादरे। हे निजक्लेशकर्षक युक्तं गोकुलरक्षणमिति भावः। हे महायोगिन्निति। योगिनोऽपि सर्वं कर्तुं समर्थाः संति त्वं तु महायोग्यसि ततो गोवर्द्धनधारणादि ते नाद्भुतमिति भावः। किमहं व्रजत्रातैवास्मीति—तत्राह हे विश्वात्मन्निति। सर्वेषामात्मत्वादात्मानं सर्वत्रातुमीहते सर्वं त्रातुमीहस तदेवाह—विश्वसंभवेति। "जातो नारायणादिंद्रः" इत्यर्थवरहस्योक्तेरिंद्रोपि त्वया त्रात इति भावः। हे अच्युतेति। न हींद्रादयस्तव च्युतिं कर्तुमलमिति भावः ॥ १९ ॥ नः अस्माकं गवानाम्। परमकम् अत्युत्कृष्टम्। दैवम् अभीष्टदेवता। यतो नः परमं दैवमतो हेतोः। साधवः सदाचाराः। इंद्र ईश्वरो भव। हे जगत्पते जगदंतःपातित्वादस्माकं पतिरपि विशेषतोऽतो रक्षको भवेत्यभिप्रायः। गवेंद्रत्वेऽपि विप्रादीनामभ्युदयः "गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्तते गोभ्यो देवाः समुत्थिताः। गोभिर्वेदाः समुद्गीर्णाः सषडंगपदक्रमाः ॥" इति श्रुतेः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तर्हि ममापि तादृशमेवानुग्रहं कुरु मयात्रव स्थीयतां तत्राह—गम्यतामिति। वो युष्माकं यत् भद्रं क्षेमं तदस्त्वित्यभयदानं वस्तुतस्तु न मदेकान्तभक्तानां तद्भद्रमित्युक्तिपरिपाट्या तदक्षेममेवाभिप्रेतम् अजिगमिषन्तं प्रत्याह—क्रियतामिति गत्वा च मदाज्ञा परिपाल्यतामित्यर्थः। अनधिकारिणस्ते अत्रावस्थित्याऽपराध एव भावीति गमनमेव युक्तमिति भावः। यद्वा, ननु भगवन् ! तत्र गतस्याप्यैश्वर्यस्वभावेनावश्यमपराधो भवितैव तत्राह—क्रितामिति। मदनुशासनं मच्छिक्षितमित्यर्थः। तदेवाह स्थीयतामिति। स्वस्यैव ननु परस्याधिकारेषु किं पुनर्मदन्तरङ्गपरिकरश्रीव्रजवास्यादिष्वित्यर्थः। तत्रापि युक्तैरप्रमत्तैः भक्तियोग-

१. ते-विज.। २. युक्तोविस्त-विज.। ३ वन्द्य-श्रीधर. वंशी. जीव. विज. विश्व. शु. सु.; वाद्य-वीर.। ४. गत्य-वीर.। ५. भावने-प्रा. पा.।

वद्भिर्वा तत्रापि निर्मदैश्च सद्भिर्वो युष्माभिः स्थीयताम् इत्थं वरप्रदानरूपोऽनुग्रहो न कृतः किन्तु केवलसमर्थनेनैव युक्तिपूर्वकशिक्षारूप एव कृतः सम्यक् प्रसादाप्रवृत्तेः अत एव तदनुशासनापालनेन पश्चादपराधान्तरमपि जातं तच्च पारिजातहरणादौ व्यक्तं भावि ॥ १७ ॥ अथानन्तरमित्यस्याभिप्रायस्तु विविक्त इत्यत्र पूर्वमेव व्याख्यातः स्वसन्तानैः चन्द्रवंशे श्रीकृष्णवत् स्वस्य वंशो प्रादुर्भूतैर्नित्यतदीयगोधनरूपैस्तैरुपलक्षिताभितो वन्दित्वाऽऽह स्तुतिपूर्वकं निवेदितवती अभिनन्द्येति पाठेपि स एवार्थः। न केवलमभिवन्द्याह, किन्तूपामन्त्र्य वक्ष्यमाणसम्बोधनैरात्मन्यवधानं प्रार्थ्यं चाह स्वाभीष्टनिवेदने हेतुः गोपरूपिणमीश्वरमिति, अभिवन्दने हेतुः ईश्वरमिति। ननु, इन्द्रमानीय प्रथमं स्वयं कथं तत्साहाय्यार्थमपि न किञ्चिन्निवेदतवती तत्राह, मनस्विनी धीरचित्ता ततो भगवतः सर्वज्ञत्वसर्वहितकारित्वे इन्द्रस्य चोत्तानचित्तत्वे स्वयमेव विविदिपुतां स्वस्य च निवेदनीयविशेषं विचार्य्य प्रथमं तु नोक्तवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ अथ गोपरूपत्वेनेश्वरत्वेन च सम्बोध्य तदुभयथा प्रकाशमानेन त्वया स्वेपामसाधारणेन नाथेन सर्वतोऽपि वयं पूर्णा इति व्यञ्जयति, तत्र कृष्णकृष्णेति। गोपरूपत्वव्यञ्जकम् अत्रैव वीप्सा च निजरुच्यतिशयेन ईश्वरत्वेन सम्बोधयति महायोगिन् सर्वोत्तमाणिमादियोगैश्वर्यनित्यप्रकाशविश्वेषामप्राकृतप्राकृतयत्किचित् पदार्थानां मूलरूप! तत एव हे विश्वसम्भव, तत्कारणरूप विश्वभावनेति पाठे तथैवार्थः। तथैव स्वकृतकृत्यता सुखं निवेदयति लोकनाथेनापि भवता वयमेव सनाथा इत्यर्थः। पुनरुक्त्या वैशिष्ट्यापत्तेः लोकैर्नाथ्यमानमात्रेणेति वा अत्राच्युतेति सम्बोध्य तथैव नित्यत्वं च दर्शयति ॥ १९ ॥ वैशिष्ट्ये हेतुः त्वं नः परमकं दैवमिति "नीतौ च तद्युक्तात्" (५।३।७७) इति कन् जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योयं "योसौ सौर्य्ये तिष्ठति योऽसौ गोषु तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ गोपेषु तिष्ठति योऽसौ सर्वेषु देवेषु तिष्ठति योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति" इत्यादि तापनी श्रुतेः। अतो नोऽस्माकमिन्द्रस्त्वमेव भव जगत्पते इति यद्यपि जगतामेव पतिस्त्वं तथापीति पूर्ववत् गवेन्द्रत्वेपि विप्रादीनामभ्युदयः "गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते गोभ्यो देवाः समुत्थिताः। गोभिर्वेदाः समुद्गीर्णाः सषडङ्गपदक्रमाः" इति गासूक्तात् ॥ २० ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

ननु तर्हि ममापि तादृशमेवानुग्रहं कुरु, मयात्रैव स्थीयताम्, तत्राह—गम्यतामिति। वो युष्माकं भद्रं क्षेममस्त्विति सान्त्वनम्, वस्तुतस्तु तादृशैश्वर्ये तदसम्भवादुक्तिपरिपाट्या अक्षेममेवाभिप्रैति। आजिगमियन्तं प्रत्याह—क्रियतामिति; गत्वा च मदाज्ञा परिपाल्यतामित्यर्थः। अनधिकारिणस्तेऽत्रावस्थित्यापराध एव भावीति गमनमेव युक्तमिति भावः। यद्वा, ननु भगवन् तत्र गतस्याप्यैश्वर्यस्वभावेनावश्यमपराधो भवितैव, तत्राह—क्रियतामिति। तदेवाह—स्वीयतामिति, स्वस्यैव, न तु परस्याधिकारेषु, इति लोकपालत्वेन हिंसादिकं त्याजितम्, तत्रापि युक्तैरप्रमत्तैर्भक्तियोगवद्भिरिति वा, तत्रापि निस्मर्दैश्च सद्भिर्वो युष्माभिः स्थीयताम्। इत्थं वरप्रदानरूपोऽनुग्रहो न कृतः, केवलमसमर्थनेनैव युक्तिपूर्वकशिक्षारूप एव कृतः, महापराधेनान्तः कोपानपगमात्, सम्यक् प्रसादावृत्तेः अतएव तदनुशासनापालनेन पश्चादपराधान्तरमपि जातम्। तच्च परिजातहरणादौ व्यक्तं भावि ॥ १७ ॥ अथ श्रभगवतः कृपावाक्यात् चातुर्य्योक्तेर्वानन्तरम्; मनस्विनीति—स्वसंगागतेन्द्रसम्माननार्थं निजकृत्यविशेषार्थं वा धैर्य्येणादावनुक्तेः, यद्वा, महापराधी मत्संगागतोऽयं यदि श्रीभगवतानुगृह्येत, तदैव मया निशंकं निवेदनं कार्य्यमिति विचारणात्; यद्वा, दुरुक्तिजालप्रलापिनं गोकुलद्रोहिणं महापराधिनं तं प्रति श्रीभगवतः सम्यक् प्रसादो न वृत्त इति वुद्धवतीत्यर्थः; अतएव प्रहर्षेणाभितो वन्दित्वा उपामन्त्र्य च, 'हे भक्तवत्सल! भो गोपालचूडामणे! गोकुलपरिपालक! श्रीनन्दकुमार! श्रीयशोदानन्दन'! इत्यादिना सम्बोध्येत्यर्थः, यद्वा, अभिषेकोत्सवेऽस्मिन् मम दुग्धपानादिकं कार्यमिति निमन्त्र्य। तत्र हेतुः—जगदीश्वरमपि गोपरूपिणं निजप्रभुमिति प्रार्थनायोग्यतापि ध्वनिता ॥ १८ ॥ कृष्ण हे साक्षाद्भगवन्! वीप्सा तद्दाढ्याय प्रहर्षेण वा; यद्वा, हे नराकारपरब्रह्मन्निति द्वितीयकृष्णपदार्थः। तेनाशेषगुणरूपादिप्रकटनाभिप्रेतम्, अतो महायोगिन् हे अचिन्त्यानन्तशक्तियुक्त! यतो विश्वस्य आत्मन् हे अन्तर्य्यामिन्! यद्वा, महायोगो भक्तियोगस्तद्युक्त! हे सदा तत्प्रवर्त्तकेत्यर्थः। अतो विश्वस्यात्मन् परमप्रियेत्यर्थः, किञ्च, विश्वस्य सम्यक् भवोऽभ्युदयो यस्मात्तथाभूत एव, लोकानां नाथेन स्वामिना किंवा प्रासुमिष्यमाणेन, नाथतेराशीरर्थात्, सनाथत्वे च कदाचित् कथञ्चिद्विच्युतिर्नास्तीत्यभिप्रायेण। अच्युत हे भक्तवात्सल्याद्यशेषगुणपरिपूर्णित! ईदृशेन भवता वयमेव सनाथाः, बहुत्वं निजसन्तानानां गोपोपादीनां वापेक्षया, अन्यत्तैर्व्याख्यातम्; यद्वा, भवतैव वयं सनाथाः स्मः, न त्वन्येन ब्रह्मादिना केनापीत्यर्थः। कुतः? लोकानां सर्वेषां जीवानां भुवनानां वा नाथेन, यद्वा, गोलोकनाथेन तदैव परमेश्वरत्वादित्यर्थः, यद्वा, अकारप्रश्लेषेण हे सर्वलोकातीत! भवता नाथेनैव सनाथाः, तद्धेतुत्वेन सम्बोधनानि। अच्युत हे सदा सर्वत्र वर्त्तमान! अन्येषां नश्वरत्वेन तैः सनाथत्वासिद्धेः, किञ्च, सर्वथा सर्वतत्त्वैर्वोत्कर्षभरादित्याशयेनाह—कृष्ण कृष्णेत्यादि; अन्यत् समानम् ॥ १९ ॥ अतोस्माकं कञ्चित् कामं परिपूरयेत्याह—त्वमिति, नो गवादीनामस्माकं परमं कं सुखं यस्मात्तत् यद्वा, स्वार्थे कः, नोऽस्माकमिन्द्रस्त्वमेव भव, तत्र च समर्थस्त्वमेवेत्याशयेनाह—जगत्पते हे जगदीशेति, अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, नो गवामस्माकमिन्द्रोऽपि त्वमेव, तत्र हेतुः—हे जगत्पते वृष्ट्यादिना तत्रैव जगत्पालकत्वादिति भावः; अतो भवाय सर्वदा क्षेमाय भव ॥ २० ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

विश्रम्भवर्जितैः विश्वासवर्जितैः ॥ १७-२१ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

हे शक्र! वो युष्माकमितःपरं मदनुस्मृत्यात्मकं भद्रमेव भवेत् वहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायकं किन्तु ममानुशासनं क्रियतां किं तदनुशासनं यदस्माभिः कर्त्तव्यम्? तत्राह—स्तम्भवर्जितैरिति। अविनयरहितैर्युक्तैः सावधानैर्वो युष्माभिः विभक्तिव्यत्यय आर्षः स्वाधिकारेष्वेव स्थीयताम् ॥१७॥ सुरभिरप्याव्रजदित्युक्तं साऽऽगता किं चकारेत्यत्राह—अथेति। मनस्विनी तत्तद्वाञ्छितार्थ-प्रदानप्रवणरूपप्रशस्तमनस्का पयस्विनीति पाठे तदा प्रभूतपयस्का सुरभिः स्वसन्तानैः स्वापत्यैः सहागत्य गोपस्येव रूपमस्यास्तीति तथा तं साक्षादीश्वरं कृष्णमभिवाद्योवाच ॥ १८ ॥ तदेवाह—कृष्णकृष्णेति त्रिभिः। हे विश्वस्यान्तरात्मन्! विश्वस्य सम्भवो यस्मात्तथाभूत! हे महायोगिन्! युज्यते इति योगो धर्मः सोऽस्यास्तीति तथा स्वासाधारणकल्याणगुणशालिन्! वयं लोकनाथेन साक्षाद्भवतैव सनाथाः कृताः नाथाभासेनेन्द्रेण हता अपि त्वया रक्षितत्वात्त्वमेव नो नाथ इत्यर्थः ॥ १९ ॥ त्वमेवास्माकं परो मा न विद्यते यस्मात्तथाभूतं दैवतं हे जगत्पालक! गवां विप्राणां देवानां ये च साधवस्तेषां च नोऽस्माकं चाभ्युदयाय त्वमेवेन्द्रो भवेति ॥ २० ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मयि मनसा युक्तैः अनित्यैश्वर्यादौ विस्रम्भवर्जितैः भवद्भिः स्वाधिकारेषु त्रैलोक्यरक्षणादिषु स्थीयताम् ॥ १७ ॥ अथ शब्दः कथारम्भे मनस्विनी शुद्धमनाः स्वसन्तानैः स्ववंशजातगोभिः सहेति शेषः ॥१८॥ विश्वात्मन्! विश्वव्यापिन्! सनाथाः कृताः स्म इति ॥ १९ ॥ नोऽस्माकं परमकम् अत्युत्तममष्टिदैवम् इन्द्रः ईश्वरः देवानां देवजातीनां ये च साधवः ऋष्यादयः तेषां भवाय भद्रलक्षणाय श्रेयसे ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

अथानन्तरं स्वसन्तानैः सह तदीयगोधनरूपैस्तैः सहाभिवन्दित्वा तथोपामन्त्र्य वक्ष्यमाणसम्बोधनैरात्मन्यवधानं प्रार्थ्येत्यर्थः ॥ १८ ॥ एवं श्रीकृष्णव्रजगवीनामपि तादृशत्वं दर्शितं लोकनाथेनाऽपि भवता वयमपि सनाथा इत्यर्थः। पुनरुक्त्या वैशिष्ट्यप्राप्तेः अच्युतेति तत्रापि नित्यत्वं निश्चिनोति वैशिष्ट्ये हेतुः ॥१९॥ त्वं नः परमकं दैवमिति जगत्पतेरिति यद्यपि जगत्पतित्वं तथापीति पूर्ववत् गवेन्द्रत्वेऽपि विप्रादीनामभ्युदयः "गोभ्यो यज्ञाः प्रवर्त्तन्ते गोभ्यो देवाः समुत्थिताः। गोभिर्वेदाः समुद्गीर्णाः स पडङ्गवदक्रमाः" इति श्रुतेः ॥ २० ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

सुरभिर्वदति—कृष्ण कृष्णेत्यादि; हर्षोत्कर्षेण वीप्सा। विश्वेषामात्मन्! विश्वस्य विष्णोरपि सम्भव! 'विश्वं विष्णुः' इत्युक्तेः। हे अच्युत अव्यय! भवता वयं सनाथाः। कीदृशेन? लोको ज्ञानम्, सर्वे दर्शनार्था ज्ञानार्थाः, ज्ञानस्य नाथेन ज्ञानप्रदत्वात् ॥ १९ ॥ अपि च त्वं नः परमकं परमानन्दः, त्वं नो दैवम्, त्वं न इन्द्रः परमेश्वरः, इति परमैश्वर्ये। हे जगत्पते! गोविप्रदेवानां भवाय स्वस्तये भव; न केवलं तेषामेव ये च साधवस्तेषामपि ॥ २० ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

त्वं नः परमकं दैवमित्यादि। परमं कं सुखं यस्मात् तत् परमकमित्याह—(भा० १०।२८।७) "ब्रह्मणे परमात्मने" तयोरपि तद्वैभवत्वात् ॥ (२०-२८)

इति सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

व इति वरुणाद्यभिप्रायेण युक्तैरप्रमत्तैः स्तम्भवर्जितैर्निरहङ्कारैः स्थीयतामन्यथा पुनरपि दण्डं प्राप्स्यतीति भावः। अत्र पुनस्ते स्तम्भो न भविष्यतीति भगवता नोक्तमत एव परिजातहरणेन पुनस्तम्भोऽस्य भविष्यतीति तादृशलीलासिद्ध्यर्थमिति ज्ञेयम् ॥ १७ ॥ स्वसन्तानैर्व्रजस्थैर्गोभिः सहेति प्रकृत्या अपि तस्या अप्राकृतासु तासु कृष्णपरिकरभूतासु स्वसन्तानाभिमानस्तासां सुरभिवंशोद्भूतत्वात् यथा चन्द्रवंशोद्भूते कृष्णे प्राकृतस्यापि चन्द्रस्य स्वसन्तानाभिमानः उपामन्त्र्य सम्बोध्य ॥ १८ ॥ कृष्ण-कृष्णेति हर्षेण द्वित्वं महायोगिन्निति योगबलेनैव गोवर्द्धमुद्धृत्य मत्सन्तानानित्वमरक्ष इति भावः। भवता सनाथा इति मत्सन्तानात् जिघांसुना इन्द्रेण नाथेनालमिति भावः ॥ १९ ॥ परमं कं सुखं यस्माचत् अतस्त्वमेवास्माकमिन्द्रो भव जगत्पते! इति तव जगत्पति-त्वेऽपि सम्प्रति गोपजातित्वात् गोपत्वेऽपि इन्द्र मखमर्हित्वादिन्द्रपराभावकत्वाच्च त्वेन्द्रत्वमुपयुक्तमेवेति भावः। ये चान्ये साधव-स्तेषाञ्च ॥ २० ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे शक्र ! वः युष्माकं भद्रमेवातः परं भवतु बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायेण अतः गम्यताम् युक्तैः सावधानैः स्तम्भवर्जितैः निर्गर्वैः वो युष्माभिः स्वाधिकारेषु स्थीयताम् हे भगवन् । त्वत्सेवार्थमिहैव वासो युक्तः अतः आह क्रियतां मदनुशासनमिति । यस्मिन्नधिकारे मया नियुक्तस्तत्पालनमपि मत्सेवैवेति भावः ॥ १७ ॥ स्वसन्तानैः स्वापत्यैः सह अभिवन्द्य कृष्णकृष्ण महायोगिन्नित्याद्युपामन्त्र्य अभिषेकार्थमाह ॥ १८ ॥ सनाथाः कृताः इन्द्र क्रोधाद्रक्षिता इत्यर्थः ॥१९॥ नोऽस्माकं गवादीनां भवायाभ्युदयाय हे जगत्पते ! त्वमिन्द्रो भव यतस्त्वमेव नः परमं दैवम् ॥ २० ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

हे शक्र गम्यतां ते भद्रमस्तु मेऽनुशासनं क्रियताम् । सर्वान्सुपर्वण एतद्द्वाराऽनुशास्ति स्वाधिकारे स्वस्वाधिकारेषु युक्तैर्मन्मानससमेतैः स्वर्गोदयः स्थिरा इति विश्वासवर्जितैः स्थीयतां विश्रम्भो वर्जितो मह्यं दत्तो मयि स्थापित इति यावत् यैस्तैरिति वा । यथोक्तम् । परमावर्जते न इत्यग्रभाष्यटीकादिषु । परमावर्जते नः । ददाति त्यागार्थत्वाइदातीति । वृजलीत्याग इति कविकल्पद्रुमे पठितत्वेन वृजेरत्यागार्थत्वादिति ॥ १७ ॥ अथ वासववासुदेवसंवादानन्तरं सुरभिरागता सा किमकरोदित्यतस्तदारम्भो वाऽथशब्दः । मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नेत्यमरः । मनस्विनी प्रशस्तचित्ता । सुरभिरभिवन्द्य कृष्णं स्वसन्तानैर्गोभिः सहोपामन्त्र्यालोच्य गोपरूपिणमीश्वरं प्रत्याह ॥ १८ ॥ विश्वात्मन् जगत्स्वामिन् महान्योगोऽस्यास्तीति महायोगिन्नणिमादिसिद्धिसम्पन्न विश्वसम्भव जगदुत्पादक वायुजनक वा हे अच्युत लोकनाथेन भगवता वयं सनाथास्त्वद्भिन्ननाथसहिता इत्यर्थः ॥ १९ ॥ त्वं नः परमकं पूर्णसुखमत्युत्तमं वा दैवमिष्टं हि जगत्पते त्वं न इन्द्रः स्वामी ये च साधवस्तेषामृत्यादीनां गावश्च विप्राश्च तेषां भवाय श्रेयसे भव ॥ २० ॥

श्रीसुबोधिनी

अतस्त्रैलोक्यमवशिष्टमरतीति तदर्थं गच्छेत्याह गम्यतामिति, अत्र शिक्षामात्रमेव ज्ञापनीयं, तदल्पेनापि भवतीति न सर्वैश्वर्यभङ्गः, तदाह शक्र भद्रं व इति, इन्द्रत्वमग्रे स्वास्थ्यं च प्रयच्छति, अन्यथा भक्तिर्वा तन्नाशयेत् भक्तापक रित्वात् भगवद्वाक्यात् तु न नाशः, अग्रे मोहाभावायाह क्रियतां मेनुशासनमिति, मदाज्ञाकरणे न मोहः स्यादिति, इन्द्रद्वारा सर्वानेवाज्ञापयति प्रधानत्वात् स्वाधिकारेषु स्थीयतां वो युष्माकमेव सम्बन्धिषु, यत्र यस्याधिकारः स तत्र तिष्ठत्वित्यर्थः, युक्तैरित्याज्ञायां योजितैः परं तत्रापि स्तम्भो मास्तु, अनम्रतयाज्ञापि न कर्तव्या, न हि कृतिमात्रेण भगवांस्तुष्यत्यपि तु नम्रत्वसहितया, एवमाज्ञापितोपि पूजां कर्तुं विलम्बमानो जातः ॥ १७ ॥ एवमिन्द्रप्रसादमुक्त्वा कामधेन्वाः प्रसादार्थं तदभिषेकः प्रस्तूयतेथेति, अयमभिषेको नेन्द्राद्यभिषेकवत् स्वतन्त्रतया कर्तुं शक्यते भगवतो हीनभावात् प्रार्थनया तु कर्तुं शक्यो हीनभावेनैव लीलायाः क्रियमाणत्वादतः प्रार्थनार्थमादौ स्तोत्रं कृतवतीत्याहाथेति, अथेन्द्रवाक्यानन्तरं सुरभिः कामधेनुः कृष्णमभिनन्द्य साधु गोरक्षा कृतेन्द्रश्च साध्वनुगृहीतोयमप्यस्मत्पुत्रप्राय इति, स्वयमपि मनस्विनी महामानवती सम्माननपात्रमतो भगवांश्चेत्र मानयेत् मत्क्रियमाणमभिषेकं नाङ्गीकुर्यात् तदा न जीविष्यामीतिनिर्बन्धयुक्ता सर्वैरत्रार्थे निर्बन्धः कारणीय इति स्वसन्तानैर्गोभिः सहोपामन्त्र्य निकटे सम्मन्त्रणं कृत्वाह य इन्द्रोपकरोति सोस्माकमिन्द्रो मा भवतु न हि वयं भवानिव निरभिमाना यतो वयं मनस्विन्यः, ननु कथमेवं धाष्ट्र्यं कर्तुमिच्छसि न हि सर्वेश्वर इन्द्रो भवितुमर्हसि, तत्राह गोपरूपिणमिति, स ह्यस्मान् पाति लोकवत् पालकास्तूपसर्जनाभूताः यत्र स्वत एतावदवलम्बते तत्रास्मदुक्तमैश्वर्यं कथं न स्वीकरिष्यति ॥ १८ ॥ किञ्च पूर्वमप्ययं इन्द्र ईश्वरो यज्ञ इन्द्रो जात इत्यैश्वर्यमेतदीयमेवेत्यतो नास्माभिरलौकिकं किञ्चित् सम्पाद्यते किन्तु विद्यमानमेव लोके प्रकटीक्रियतेतो युक्तमेवाभिषेचनमिति विज्ञापयितुं स्तुतिमाह कृष्ण कृष्णेति द्वाभ्यां, आदरे वीप्सा, योग्युपायविन् महायोग्यलौकिकोपायकर्तान्यदेव करोत्यन्यत् सम्पद्यत इन्द्रेण क्लेशं प्रापित एवं ज्ञातोपीन्द्रमेव क्लेशं प्रापितवान्, अथ वा महायोगिनो लीलार्थं प्रवृत्तस्य न किञ्चिदनुचितमुचितं वात इन्द्रस्वमपि गृह्यतामित्यभिप्रायः, किञ्च विश्वात्मा त्वं, अनेन प्रमेयोत्कर्ष उक्तः, पूर्वेणैव साधनोत्कर्षः, विश्वस्यापि सम्भवो यत्रेतिप्रमाणोत्कर्षः, फलोत्कर्षं वक्तुं तस्य स्वस्मिन् पर्यवसानमाह, भवतैव लोकनाथेन सर्वलोकरक्षकेण वयं सनाथा न त्विन्द्रेण घातकत्वात्, किञ्च प्रतिमन्वन्तरं भिन्न एवेन्द्रोतोऽव्यवस्थितत्वात् कालपरिच्छेदात् स्वभावतस्तस्य जीवस्यापि नियम्यत्वात् भवानेव लोकनाथः, अत एव वयं सनाथाः, यो हि जीवयति स एव नाथः "स वै पतिः स्यादि"गतिन्यायेन, भवानच्युतश्च ॥ १९ ॥ एवं नाथत्वमुपपाद्य देवत्वमुपपादयति त्वं न इति, त्वमेव नोस्माकं गवां परमसुत्कृष्टं दैवमस्माकं भाग्यरूपोपि त्वमेवास्माकं नियमाकश्च, अस्मासु क्रीडतीन्द्रात् पृथक्कृत्यास्मान् विजयतेस्माभिर्व्यवहरत्यस्माकं कान्तिरतत एवास्माभिः स्तूयते चास्माकं च तत एव सौन्दर्यं गतिरपि सर्वतो भवानेव देवः, किञ्च न केवलं देवमात्रं किन्तु देवेन्द्रोपि भवानेव त्वं न इन्द्र इति, परमैश्वर्यं नान्यास्यास्ति जगत्पतित्वाभावात्, यो ह्यन्तर्बहिर्नियामकः स पतिरतो जगत्पतित्वात् त्वमेन्द्रोतो गोविप्रदेवानां हविर्मन्त्रहविर्भुजां भवायोद्भवाय भव

यज्ञपरिपालको भव, एवं पूर्वकाण्डानुवर्तिनां तत्प्रतिपाद्यधर्मस्योद्भवजनकत्वं प्रार्थयित्वा निवृत्तिपराणां भगवद्भक्तानां चोद्भवाय भवेति प्रार्थयति ये च साधव इति, तेषामपि भवाय भवेतियोजना ॥ २० ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

गम्यतामित्यत्र भक्तिर्वेति भक्तनिष्ठा भक्तिस्तदपकारिणस्तन्नाशयेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ गोपरूपिणमित्यत्र पालकानां पाल्योपसर्जनत्वे दृष्टान्तमाहुः लोकवदिति, सप्तम्यर्थे वतिः, यथा लोके पालकाः पाल्यानुगास्तथा लीलायामपीत्यर्थः, एतावदिति उपसर्जनीभूतं पालकत्वमित्यर्थः, ऐश्वर्यमिति स्वामित्वमित्यर्थः ॥ १८ ॥ कृष्ण कृष्णेत्यस्याभासे इति विज्ञापयितुमिति इतिहेतो-र्विज्ञापयितुमित्यर्थः, व्याख्याने प्रमाणोत्कर्ष इति विश्वाधारस्य श्रुतिप्रतिपाद्यत्वादितिभावः, न त्विन्द्रेणेति लोकनाथेनेतिशेषः, भवत्पदं लोकनाथविशेषणं, भवता लोकनाथेन न त्विन्द्रेण लोकनाथेनेत्यर्थः, लोकनाथपदस्य भवत्पदविशेषणत्वेन व्याख्यानमपि सम्भवतीत्याहुः किञ्चेति, यतो भवानेव लोकनाथो न त्विन्द्रादिरतो भवतैव सनाथा इति हेतुगर्भं विशेषणं ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

गम्यतां शक्रेत्यत्र भक्तिर्वा तन् नाशयेत् इति गोपानां भगवद्भक्तिः सा भक्तापकारिण इन्द्रस्य ऐश्वर्यादि नाशयेदि-त्यर्थः ॥१७॥ अथाह सुरभिरित्यस्य विवृतौ मनस्विनीपदतात्पर्यमाहुः मत्क्रियमाणमभिषेकमित्यारभ्य निर्बन्धयुक्तेत्यनेन ॥१८॥ कृष्ण कृष्ण महायोगिन्नित्यस्य विवृतौ अनेन प्रमेयोत्कर्ष इति 'विश्वात्मन्'पदेन प्रमेयोत्कर्ष उक्त इत्यर्थः, पूर्वेणैवेत्यादि 'महायोगि-न्नित्यनेन साधनोत्कर्षः साधनेषु योगस्य मुख्यत्वात्, विश्वस्यापि सम्भव इत्यादि 'विश्वसम्भवे'त्यनेन प्रमाणोत्कर्षः, विश्वमध्ये वेदस्यापि सत्त्वाद् विश्वोत्पादकत्वेनैव वेदोत्पादकत्वेन प्रमाणोत्कर्ष इत्यर्थः, फलोत्कर्षमित्यादि "भवता लोकनाथेन वयं सनाथा" इत्यनेन फलोत्कर्ष उक्तः ॥ १९ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

त्वं नः परमकं दैवमित्यत्र अतो गोविप्रदेवानां हविर्मन्त्रहविर्भजामितिकारिकार्धं, "भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः" इतिमूले गवां हविर्योनीत्वात् विप्राणां मन्त्राधारत्वात् देवानां हविर्भोक्तृत्वात् तेषामेव कुशलप्रार्थना कृतेतिभावः ॥२०॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

हे शक्र! स्वर्गं गम्यताम्, गत्वा च मे अनुशासनं क्रियताम्। तेन वो युष्माकं भद्रमेव भविष्यति। 'किं तदनुशासनम्?' इति तत्राह—स्थीयतामिति। स्तम्भवर्जितैः गर्वरहितैः युक्तैः स्वकर्तव्ये सावधानैर्वो युष्माभिः स्वाधिकारेषु स्थीयतामित्यन्वयः। वहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायेण ॥ १७ ॥ एवमिन्द्रकृतस्तुत्यादिकं निरूप्य सुरभिकृत्यमाह—अथेति। इन्द्रं प्रति भगवदाज्ञानन्तरं स्वसन्तानैः स्वापत्यैर्गोभिः सह सुरभिः कृष्णमामन्त्र्य सम्बोध्य साधुरक्षा कृतेत्यभिनन्द्य चाहेत्यन्वयः। तस्य स्तुतियोग्यत्वं सूचयन् विशिनष्टि—गोपरूपिणमीश्वरमिति। सुरभेरपि तत्स्तुतिकर्तृत्वयोग्यतामाह—मनस्विनीति। प्रशस्तमनस्का ॥ १८ ॥ सुरभिवाक्यमाह। सम्बोधनान्याह - कृष्ण कृष्णेति। वीप्सा आदरार्था। जगदुपादानत्वं सूचयन्त्याह—विश्वात्मन्निति। निमित्त-कारणतां सूचयन्ती सम्बोधयति—विश्वसम्भवेति। एवं सति विकारित्वमाशङ्क्य सम्बोधयति—अच्युतेति। 'एतत् कथं सम्भ-वति?' इत्याशङ्क्य सम्बोधयति—महायोगिन्निति। अचिन्त्यशक्तियुक्त इत्यर्थः। भवता वयं सनाथा रक्षिताः। 'युक्तं च तवैतत्' इत्याशयेनाह—लोकनाथेनेति ॥ १९ ॥ हे जगत्पते! यतस्त्वं नोऽस्माकं परमकं सर्वोत्कृष्टं दैवम्, अतस्त्वं गवां विप्राणां देवानां ये चान्ये साधवस्तेषां च नोऽस्माकं भवाय अभ्युदयायेन्द्रो भवेत्यन्वयः ॥ २० ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

गम्यतामिति ॥ हे शक्र! स्वर्गं गम्यतां गत्वा च मे अनुशासनं क्रियतां तेन वो युष्माकं भद्रमेव भविष्यति। अतः स्तम्भवर्जितैः गर्वरहितैः युक्तैः स्वकर्तव्ये सावधानैर्वो युष्माभिः स्वाधिकारेषु स्थीयताम् ॥ १७ ॥ अथेति ॥ अथ मनस्विनी प्रशस्तमनस्का सुरभिः स्वसन्तानैर्गोभिः सह गोपरूपिणमीश्वरं कृष्णमुपामन्त्र्य संबोध्य साधु रक्षा कृतेत्यभिनन्द्य चाह स्म। अभिवाद्येत्यपि पाठः ॥ १८ ॥ हे कृष्ण कृष्णेति सम्बुद्धयः। इन्द्रेण हता अपि लोकनाथेन भवता वयं सनाथाः रक्षिताः ॥ १९ ॥ त्वमिति ॥ हे जगत्पते! यतस्त्वं नोऽस्माकं परमकं सर्वोत्कृष्टं दैवमतस्त्वं गवां विप्राणां देवानां ये चान्ये साधवस्तेषां च नोऽस्माकं भवाय अभ्युदयायेन्द्रो भव ॥ २० ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

वो युष्माभिः अत्र बहुवचनं तु वरुणाद्यभिप्रायेण ममानुशासनं शिक्षाक्रियतां युक्तैः मयायोजितैः गर्ववर्जितैः स्वाधि-कारेषु इंद्रत्ववरुणत्वादिमात्वेपुस्थीयतां ॥ १७ ॥ अथेदानीं मनस्विनी धैर्यचिता ॥ स्वसंतानैः अन्यगोभिः सह उपामंत्र्य विचार्य ईश्वरमाह ॥१८॥ विश्वस्य संभवः कारणं तत्संबुद्धिः ॥ १९ ॥ नोऽस्माकं विप्रादीनां ये साधवः संतस्तेषां च भवाय वृद्धये। त्वमेव इंद्रो भव ॥ २० ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

गम्यतामिति ॥ हे शक्र, वो युष्माकं, भद्रं मदनुस्मृत्यात्मकं मङ्गलमेव, भवेत्। गम्यतां स्वपदं प्रति गमनं क्रियताम्। बहुवचनं वरुणाद्यभिप्रायकम्। किं तु मे मम, अनुशासनं क्रियताम्। यदस्माभिः कर्त्तव्यं किं तत्त्वदनुशासनं तत्राह। स्तम्भवर्जितैरविनयरहितैः निरहंकारैरित्यर्थः। युक्तैः सावधानैः, वो युष्माभिः, विभक्तिव्यत्यय आर्षः। स्वाधिकारेषु, स्थीयताम् ॥ १७ ॥ सुरिभरप्याव्रजदित्युक्तं साऽऽगता किं चकारेत्यत्राह ॥ अथेति ॥ अथ, मनस्विनी तत्तद्वाञ्छितप्रदानप्रवणतारूपप्रशस्तमनस्का, यशस्विनीति पाठे प्रभूतयशस्का, सुरभिः स्वसंतानैः स्वापत्यैः सह, आगत्य, गोपस्येव रूपमस्यास्तीति तथा तं, ईश्वरं साक्षात्परमेश्वरं, कृष्णं अभिवन्द्य, उपामन्त्र्य हे कृष्णेति संबोध्य, आह ॥ १८ ॥ तदेवाह कृष्णेति त्रिभिः ॥ कृष्णेति ॥ हे कृष्ण हे कृष्ण हे विश्वात्मन् विश्वस्यान्तरात्मभूत, विश्वस्य संभव उत्पत्तिर्यस्मात्तथाभूत, युज्यते इति योगो धर्मः सोऽस्यास्तीति योगी महांश्चासौ योगी च महायोगी तत्संबोधनम्। स्वासाधारणकल्याणगुणशालिन्नित्यर्थः। हे अच्युत, वयं लोकनाथेन, भवता, साक्षात् परमेश्वरेण त्वयैव, सनाथाः कृताः। नाथाभासेनेन्द्रेण हता अपि त्वया रक्षितत्वात्त्वमेवास्माकं नाथ इत्यर्थः ॥ १९ ॥ त्वमिति ॥ हे जगत्पते, त्वं एव नोऽस्माकं, परः मा न विद्यते यस्मादिति परमं परममेव परमकं, दैवं दैवतं, भवसि। अतः, गावश्च विप्राश्च देवाश्च तेषां ये साधवस्तेषां च, नोऽस्माकं, भवायाभ्युदयाय, त्वमेव इन्द्रः भव ॥ २० ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

गम्यतामिति : १०.२७.१७.

अनुशासनमादधाति यो मे सुखसन्तानसमृद्धिमान् स एव। भवितेह परत्र लब्धवर्णो मघवन् जात्वपि नाऽघवांश्च भूयात् ॥५२॥
आस्तामेतन्मद्गिरीन्द्रस्त्वमेवासीति स्वस्थः स्वाधिकारं भजस्व। गोपत्राता मद्गिरीन्द्रोऽयमन्यो मत्संकल्पाद् भूभृदीड्यत्वमेतु॥५३॥

प्रसन्नगम्भीरगिरोल्लसन्तं वासस्तडिद्वन्तमगाधसारम्।
सुखे स्थितं वीक्ष्य स कृष्णमेघं सहस्रनेत्रो मुमुदे क्षमं तत् ॥ ५४ ॥

अथाह सुरभिरिति : १०.२७.१८.

यदिहागोनिवासेऽस्मिन् गोपत्वं प्रभुणाऽर्पितम्। वीक्ष्य गौस्तद् दृढीकर्तुं सुरभिस्तत्पुरोऽभवत् ॥ ५५ ॥
यन्नाम्ना व्यवहारभागहमिहास्येनं वसन्तं पुरः सन्तं माधवमुच्छ्रितागमफलं सामोदगर्भाशयम्।
भूयो मन्दमरुद्वरं यदि परं नार्चामि तद्धिक् पदं लोके स्यामिति सा विचिन्त्य सुरभिस्तत्स्तोत्रजातादरा॥ ५६ ॥

कृष्णेति : १०.२७.१९.

हस्ताब्जैर्मृदुलैः शरीरकषणं पृष्ठेषु संमार्जनं यद्वस्वारवतः प्रतिक्षणमुपान्ते स्वैरमाकारणम्।
स्वग्रीवोपरि यद्गलानुवहनं लब्धं यया सैव गौः सौभाग्यस्य पदं सुरभ्यपि दरिद्राऽस्मिन् प्रभो कर्मणि ॥ ५७ ॥

तदा तु सुरभीभवाभ्यनघ सार्थनाम्नी यदि मयीश सुरभीभवेत्तव कराब्जसंलालनम्।
भवामि सुरसालताधिकपदा तदा ते प्रभो भवामि तरसालसत्सदयवीक्षणैर्लक्षिता ॥ ५८ ॥

स्वतश्चरित्रं तव विस्मयावहं युक्तं भवत्यन्यजनस्य यापहम्। मुदापरागस्थितिना त्वयेश चित्रं तु यन्नाद्रियते परागः ॥ ५९ ॥

गोगोरक्षकरक्षणाय भगवाञ्जातोऽस्त्यजोऽपि व्रजे श्रीशैवं विशदं वचो विधिमुखादश्रावि विश्रम्भतः।
तत्संप्रत्यनुभूतमेव सकलं गोवर्द्धनोद्धारतस्तन्मामिन्द्रममुं च पाहि यदहं गौरेष गोपः प्रभो ॥ ६० ॥

त्वं न इन्द्र इति : १०.२७.२०.

एकखेटकपतावखिलोर्वीनेतृशौर्यविधिरीश न योग्यः। एवमाशयहृदित्यवदत् सा त्वं गवामसि सदैव महेन्द्रः ॥ ६१ ॥

कृष्णप्रिया

राजन् इन्द्र ! अब निश्चिंत बनकर इन्द्रलोक में जाइए। तुम्हारा कल्याण हो। आप सब दिक्पाल एवं लोकपाल पद मद का एवं सम्पट् मद् का त्यागकर, मेरी आज्ञा का अनुशीलन करते करते निज निज कार्य करते रहो ॥१७॥ श्री शुकाचार्य जी ने कहा—राजन् ! इन्द्र स्तवन एवं भगवदादेश के अनन्तर मनस्विनी कामधेनु ने अपने सन्तान परिवार के साथ गोपाल कृष्ण भगवान के समीप आकर, प्रभुजी का आदर एवं अभिनन्दन करके कहा ॥ १८ ॥ श्री कामधेनु ने कहा—हे श्रीकृष्ण हे प्यारे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे विश्वात्मन् ! हे विश्व के सर्जक ! हे विश्वनाथ ! हे अच्युत ! आप से ही हम सब सनाथ हैं ॥ १९ ॥ हे भगवन् ! आप ही हमारे परम सौभाग्य हो, आप ही हमारे परम दैवत हो ! हे जगन्नाथ ! आप ही हमारे इन्द्र हो। आप ही हमारे सर्वस्व हो इसलिये, आपने गौओं, विप्रों, देवों और भक्तजनों की रक्षा किया एवं अभ्युदय कर रहे हो ॥ २० ॥

इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा [1]नोदिता वयम् । अवतीर्णोऽसि विश्वात्मन् भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिः पयसाऽऽत्मनः । [2]जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धृतैः ॥ २२ ॥

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं [3]प्रहितो देवमातृभिः । अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाभ्यधात् [4] ॥ २३ ॥

तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।
जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः संननृतुर्मुदान्विताः ॥ २४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे विश्वात्मन्! ब्रह्मणा नोदिता वयम् त्वाम् इन्द्रम् अभिषेक्ष्यामः, हे विश्वात्मन्! भूमेः भारापनुत्तये, अवतीर्णः असि ॥ २१ ॥ सुरभिः एवम् कृष्णम् उपामन्त्र्य, आत्मनः पयसा, ऐरावत करउद्धृतैः आकाशगङ्गाया जलैः अभिषेचयामासौ ॥ २२ ॥ देवमातृभिः सुरर्षिभिः साकम् प्रहितः इन्द्रः दाशार्हं अभ्यषिञ्चत, च गोविन्दः इति अभ्यधात् ॥ २३ ॥ तुम्बुरुनारदादयः गन्धर्व-विद्याधर-सिद्ध-चारणाः, तत्र आगताः, हरेः लोकमलापहम् यशः जगुः मुदान्विताः सुराङ्गनाः सन्ननृतुः ॥ २४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

ननु भवतामिंद्रोऽस्तीति चेदत आह । इंद्रमिति । अलं पुरंदरस्येंद्रतयेत्यर्थः । ननु देव एवेंद्रो भवति कथमहं भवेयमिति चेदत आह । अवतीर्णोऽसीति ॥ २१ ॥ सुरभिरात्मनः पयसाऽभ्यषिंचदिंद्रश्चाकाशगंगाया मंदाकिन्या जलैरभ्यषिञ्चत् ॥ २२ ॥ देवमातृभिरदित्यादिभिर्देवैर्मातृभिश्चेति वा । गाः पशून् गां स्वर्गं वा इंद्रत्वेन विंदतीति कृत्वा गोविंद इत्यभ्यधात् नाम कृतवानित्यर्थः ॥ २३-२४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

नन्वेकेंद्र सत्त्व इन्द्रान्तरकरणमनुचितमिति शंकते—नन्विति । अतः अत्र । इत्यर्थ इति । पुरमत्र गोकुलग्रामादि गोसमूहो वा, तद्दारकस्य नाशकत्वेंद्रत्व न शोभते परमैश्वर्ययुक्तस्यैवेंद्रत्वादिति भावः । इंद्रमखविमर्दित्वादिंद्रपराभवकर्तृत्वात्तवैवेंद्रत्वमुचितमिति भावांतरम् । ननु स्वातंत्र्येणैव कस्यचिदाज्ञया वेत्याह—ब्रह्मणेति । स्वापराधभीतेंद्रेण ब्रह्मा स्वरक्षार्थं निवेदितस्तेनाहं हे सुरभे त्वत्संतानपालकस्य त्वमतिप्रीतिपात्र्यस्यतस्त्वमिंद्रापराधं क्षमापयस्वेंद्रत्वे चाभिषिंचेत्युक्ता । किं च ब्रह्मांडकोटींद्रस्य ब्रह्मरुद्रादिदुर्लभांघ्रिसेवस्य तव गवेंद्रत्वेनाभिषेके न कश्चिदुत्कर्षः किं त्वस्माकमभिषेक एव स भावीत्याह—अवतीर्णेति यदि त्वं नावतरिष्यस्तर्ह्यस्माकमिदं भाग्यं कथमभविष्यदिति भावः । स्वस्य मानुष्यं संभावयन्नाशंकते—नन्विति । हे विश्वात्मन् सर्वनियंतः ॥ २१ ॥ एवम् उक्तरीत्या । उपामंत्र्य संप्रार्थ्य । पयसा क्षीरेण । इंद्रश्चाभ्यषिंचतेति द्वयोरन्वयः । दाशार्हम् दशार्हकुलमुख्यम् । यद्वा—दाशं सुखादिदानमर्हतीति तथा तम् । तथा च श्रुतिः—"ऋषभं मासमानानां सपत्नानां विषासहिम् हंतारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम् ॥" इति । विषासहिं सहनसमर्थम् ॥ २२ ॥ ननु देवान् विहाय मातर एवागतास्ते कथं नागता इत्याशंकापनुत्तये आह—देवैर्मातृभिश्चेति । विंदति लभते । 'विद्लृ-लाभे' इति शब्देनोक्तत्वात् । 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि' इतिवद्गोविंद इति । इत्यर्थ इति । 'अभिपूर्वस्तु भाषणे' इति व्याड्युक्तेः । अभ्यधात् कथितवान् । कथनं च नाम्न एवेति भावः ॥ २३ ॥ तत्र अभिषेकस्थले गोवर्द्धनप्रदेशे तत्र शक्रकुंडमिति वाराहे गोविंदकुंडमिति प्रसिद्धेः । आगता न तु तैरिंद्राज्ञापेक्षितेति भावः । तुंबुरोर्नारदपिनिर्देशस्तु नारदादपि तस्य गाने ज्येष्ठत्वात्, तल्लिंगपुराणे व्यक्तम् । नारदश्चायं नित्यपार्षदः गरुडादीनां वैनतेयादिरिव भगवदवतारतत्पार्षदप्रवरश्रीनारदस्यैवावतारो गीतादिकौतुकेन गंधर्वादिषु वर्त्तते । आदिपदाच्चित्ररथादयः । यद्वा—तुंबुरुनारदावादावग्रतो येषां ते इति ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

तत्प्रकारमेव भक्तिविशेषेण सनिश्चयं विज्ञापयति—इन्द्रमिति, स्वभावत एव नोऽस्माकम् इन्द्रं त्वामधुना मनुष्यलोके प्रचाराय केवलमभिषेक्ष्यामः । ननु, तर्हि इन्द्राद्याधिकारदातुर्ब्रह्मणोऽवमानः स्यात्तत्राह—ब्रह्मणेति । अतो ब्रह्मवाक्यापेक्ष्यापि

१. चोदिता—वीर विज. । २. जलैर्वा—विज. । ३. नोदितो—श्रीधर. वंशी. जीव ; प्रेरितः—विश्व. ; चोदितः—वीर. विज. ।
४. अहमिन्द्रो हि देवानां त्वं गवामिन्द्रतां गतः । गोविन्द इति लोके त्वां गास्यन्ति भुवि मानवाः ॥
म. पु. मुले क्षेपिकः ।

त्वया सम्मतिः कार्य्येति भावः। ननु, तर्हि स एव कथं नागतः तत्राह—वयमिति। अत्रास्माकमेवाधिकारः त्वदीयगोवंशस्यादि-मातृत्वेन तत्रान्तरङ्गत्वात् तस्य तु प्रपञ्चाधिकारित्वेन वहिरङ्गत्वादिति भावः। अतो वहुत्वमप्यात्मनो वहुमानेन। यद्वा, वत्सलतया स्वसङ्गागतमिन्द्रं तदीयांश्च कृतार्थयितुं वहुत्वेन तान् सर्वान् सङ्गृह्णाति ततश्च कृतापराधेन स्वेन महापराधिन इन्द्रस्याप्यपराध-क्षमापणे पूर्ववदपराधशङ्कया ब्रह्मा नागमदिति ज्ञेयम् अवतीर्णोऽसि इति तैर्व्यञ्जितम्। यद्वा, नन्वहं श्रीगोपनन्दनः कथं युष्मदैवम्? ततो यूयं ब्रह्माद्यसमीक्ष्यकारिण एवेत्याशङ्क्य न मुहुरस्मान् प्रतारयेत्याह—अवेति। श्रीमति परमगोलोके विराजमानो नित्यमस्म-त्परमदैवतरूप एव त्वम् अवतीर्णोऽसि श्रीनन्दादिनिजपरिकरैः सह केवलं भूम्यां प्रकटोऽसि न तु जीववज्जातोऽसीत्यर्थः। ननु, भूभारापनोदेन मम किन्तत्राह—विश्वात्मन्निति। अतो विश्वस्यापि स्थितिस्त्वत्त एव युज्यत इति भावः। तत्रैव "यथा तरोर्मूलनि-षेचनेन" इत्यादिन्यायेन सर्वेषामेवात्र तवाभिषेके जायमानं सुखं तदर्थमवतीर्णेन भवताऽनुमोदनीयमेवेति व्यञ्जितम्॥ २१॥ एवमिति युग्मकम् उपामन्त्र्य निजेन्द्रत्वस्वीकाराय प्राथ्येत्यर्थः। लज्जादिना श्रीभगवता साक्षादकृतेपि स्वीकारे "मौनं सम्मति-लक्षणम्" इति न्यायेन सुरभिः स्वयमेवाभ्यषिञ्चत्॥ इन्द्रः स्वयमप्रवृत्तः किन्तु तदभिषेकार्थमेव सुरर्षिभिः साकं तत्र साक्षादा-गताभिर्देवमातृभिः प्रेषितः यथा श्रीकृष्णोऽयं भगवान् कृपार्द्रचित्तः शरणागतवत्सलः विशेषतश्च तत्प्रियजनसङ्गत्या त्वमागतोऽसि समयोऽयमप्यतिप्रशस्तस्तस्मान्मा भयं कार्षीः महोत्सवं भक्त्या विधत्स्वेति अतस्तैरेव सहितोऽभ्यषिञ्चदित्यर्थः। ऐरावतस्य करेण कृत्वा रत्नकुम्भादिद्वारा उद्धृतैरानीतैः तदीयरत्नमयघण्टयेति विष्णुपुराणे तत्र गजेन्द्रद्वारा तद्विधानात् सद्यो वाञ्छिततीर्थज-लाभाच्च गवामिन्द्रो गोविन्द्रः तत्पदेनैव गवेन्द्रताया वाच्यत्वात् "प्रीयात्र इन्द्रो गवाम्" इति तदर्थनिर्देशेन तन्नाम्नः सूचितत्वात् "इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः" इति वक्ष्यमाणाच्च पृषोदरादिपाठ इति दाशार्हमिति दाशार्हत्वेऽपि गोविन्दत्वमुत्कृष्टमि-त्यभिप्रेतम्॥ २२-२३॥ ततश्च महोत्सवो जगदानन्दकरो वृत्त इत्याह—तत्रेति त्रिभिः। तस्मिन् शक्रकुण्डमिति श्रीवाराहतः गोविंदकुण्डमिति स्कान्दतः प्रसिद्धे श्रीगोवर्द्धनप्रदेशे आगताः सर्वत्र हेतुः मुदान्विताः अत इन्द्राज्ञापेक्षापि तैर्न कृतेति भावः। तुम्बुरोरादौ निर्देशः पूर्वं नारदोपि तस्य गाने श्रैष्ठ्यात् तच्च लिङ्गपुराणे व्यक्तं श्रीनारदाश्चायं नित्यपार्षदप्रवरश्रीगरुडादीनां श्रीवैनतेयादिभिरिव भगवदवतारतत्पार्षदप्रवरश्रीनारदस्यैवावतारो गीतादिकौतुकेन गन्धर्वादिपु वर्त्तत इति आदिशब्दात् चित्ररथादयः यद्वा, तुम्बुरुनारदावादावग्रतो येषां ते गन्धर्वादयः लोकानां सर्वेषां मङ्गलं तद्रूक्षौ दोषं मोक्षाभिसन्धिपर्यन्तम्॥ २४॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तत्प्रकारमेव भक्तिविशेषेण सनिश्चयं विज्ञापयति-इन्द्रमिति। त्वदिन्द्रत्वेनास्माकं परमहितसम्पत्त्या स्वत एव विप्रादीनां दृष्टादृष्टहिवसिद्धेः, धर्म्मादीनामस्मन्मूलकत्वात्, सर्वोपरिस्थितानामस्माकमिन्द्रत्वेन तव स्वत एव ऋषिदेवादीन्द्रत्वं सिध्यति, तेषां स्वत एव क्षेमसम्पत्तेः। ननु तर्हि इन्द्राद्यधिकारदातुः श्रीब्रह्मणोऽवमानः स्यात्तत्राह—ब्रह्मणेति। अतो ब्रह्मवाक्या-पेक्षयापि त्वयात्र सम्मतिरेव कार्य्येति भावः। ननु तर्हि स एव कथं नागतः? तत्राह—वयमिति। अत्रास्माकमेवाधिकारः, अन्तरं-गत्वात्, न तु तस्य, वाह्यत्वादिति भावः। वहुत्वं श्रीभगवदभिषेकादात्मनो वहुमानेन निजसन्तानापेक्षया वा, यद्वा, वत्सलतया स्वसंगागतमिन्द्रं तदीयांश्च कृतार्थयितुम्, वहुत्वेन तान् सर्वान् संगृह्णाति, ततश्च पूर्ववदपराधशंकया ब्रह्मा नागमदिति ज्ञेयम्; अवतीर्णोऽसीति तैर्व्यञ्जितमेव, यद्वा, ननु मदिच्छयैव भवति, न तु ब्रह्मप्रेरणया, तत्राह—अवेति। त्वदभिषेके सति जगतां पापनाशेन पुण्यसम्पत्त्या च स्वत एव भूभारनाशः स्यादिति भावः, कुतः? हे विश्वात्मन् (भा० ४।३१।१४) 'यथा तरोर्मूल-निषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः' इत्यादिन्यायेन तवाभिषेकोत्सवेन सर्वेषामेव स्वतो महोत्सवसम्पत्तेः, अतस्तवावतार-प्रयोजनसुखसिद्ध्या सम्मतिरनुमीयत एवेति भावः॥ २१॥ उपामन्त्र्य अनुज्ञाप्येत्यर्थः, लज्जादिना श्रीभगवता साक्षादकृतेऽपि स्वीकारे 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' इति-न्यायेन, किंवा ब्रह्मप्रेरणवलेन निजभक्तिविशेषवलेनैव वा सुरभिः स्वयमेवाभ्यषिञ्चत्, इन्द्रस्तु महापराधेनान्तर्भयादिना श्रीभगवदन्तःप्रसादाक्षणेन च स्वयमप्रवृत्तः, केवलमिन्द्रस्नेहेनागताभिरन्तर्धानेन स्थिताभिः, किंवा, गोपीश्वरतीर्थे शकटभञ्जनानन्तरमिवाभिषेकार्थमेव तत्र साक्षादागताभिर्देवमातृभिरेव 'श्रीकृष्णोऽयं भगवान् कृपार्द्रचित्तः शरणागतवत्सलो विशेषतश्च तत्प्रियजनसंगत्या अत्र तत्प्रियस्थाने त्वमागतोऽपि। समयाऽयमप्यतिप्रशस्तस्तन्मा भयं कार्षीः, महोत्सवं भक्त्या विधत्स्व' इत्येवं प्रेरितः सन् सुरैर्ऋषिभिश्च सहितोऽभ्यषिञ्चदिति ज्ञेयम्। ततश्चागतस्यैरावतस्य करेण कृत्वा-रत्नकुम्भादिद्वारा उद्धृतैरानीतैः अन्यथा सद्यः परमपवित्रबहुलजलाप्राप्तेः, निजभक्तिविशेषप्रदर्शनासिद्धेर्वा। दाशार्ह यदुकुलेऽ-वतीर्णमपि, गोविन्द इति गोकुललीलासम्बन्धेनैव नाम चक्रे सुरभिरिन्द्रश्चेत्यर्थः। तथैव माहात्म्यविशेषस्य श्रीभगवत्प्रीतिविशेषस्य च सम्पत्तेः। हे देवेति श्रीपरीक्षित्सम्बोधनं वा, नरदेवत्वेन तत्त्वया बुध्यत एवेति, यद्वा, तत्प्रकारो ज्ञायत एवेति, किन्तद्विस्तारणे-नेति भावः, यद्वा, श्रीभगवदभिषेकश्रवणात् प्रहर्षेण द्योतमानं तं दृष्ट्वा तथैव सम्बोधयतीति॥ २२-२३॥ ततश्च महोत्सवो जगदानन्दकरो वृत्त इत्याह—तत्रेति त्रिभिः। तस्मिन् अभिषेके, किंवा श्रीगोवर्द्धने 'शक्रकुण्डम्' इति स्कान्दतः प्रसिद्धे स्थाने आगताः। तत्र हेतुः—मुदान्विताः, अत इन्द्राज्ञापेक्षापि तैर्न कृतेति भावः। तुम्बुरोनारदादौ निर्देशः पूर्वं नारदादपि तस्य गाने श्रैष्ठ्यात्, नारदस्य तु द्वारकायां श्रीरुक्मिण्याद्यनुग्रहत एव, तच्च लिंगपुराणे व्यक्तमेव। यद्वा, नारदोऽयं नित्यपार्षद श्रीगरुडा-

दीनां श्रीवैनतेयादिरिव भगवदवतारतत्पार्षदप्रवरश्रीनारदस्यैवावतारो गीतादिकौतुकेन गन्धर्वेषु वर्त्तत इति। एवं तुम्बुरुप्रमुखानां यथापूर्वं गाने श्रेष्ठ्यम्, आदिशब्दाच्चित्ररथादयः, यद्वा, तुम्बुरुनारदौ अग्रतो येषां ते गन्धर्वादयो लोकानां सर्वेषामलं कामक्रोधादिकमद्वैतवासनात्मकं वा, अत एव हरेर्मनोहरस्य सर्वदोषहरस्येति वा, सम्यक् ननृतुरिति विद्याधराः सुवाद्यं चक्रुरित्यायातमेव ॥ २४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

ऐरावतकरोद्धृतैः ऐरावतकरगतघटसमाहृतैः प्रमाणान्तराविरोधात् ॥ २२-२५ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

ननु, गवादीनामयमिन्द्रोऽस्त्येवेत्यत्राह—इन्द्रमिति। तत्तदधिकारप्रदेन ब्रह्मणा चोदिता वयं त्वामेवेन्द्रमभिषेक्ष्यामः पुरन्दरस्यालमिन्द्रतयेति भावः। ननु, देव इन्द्रो भवितुमर्हति नत्वहं मर्त्यः तत्राह—अवतीर्ण इति। भारावतरणाय देवानामपि देवस्त्वम् इति भावः ॥ २१ ॥ इत्थं सुरभिः कृष्णं सम्प्रार्थ्यात्मनः पयोभिः क्षीरैरभ्यषिञ्चत् तथेन्द्रोऽपि देवमातृभिरित्यादिभिश्चोदितः देवैर्मातृभिश्चेति वा सुरैः ऋषिभिश्च सहितः ऐरावतकरोद्धृतैरैरावतकरगतघटसमाहृतैः प्रमाणान्तराविरोधादेवं व्याख्यातम् आकाशगङ्गायाः जलैर्दाशार्हं श्रीकृष्णमभिषिक्तवान् गोविन्द इत्यभ्यधात् अभिधां चकार गाः पशुः धनं विन्दते लभते इति वा गां स्वर्गमिन्द्रत्वेन विन्दतीति वा उभयविधशब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वादन्वथसञ्ज्ञामकरोदित्यर्थः। गाम्भुवं विन्दतीति संज्ञातु स्वाभाविकीत्यभिप्रायः ॥ २२-२३ ॥ तत्रेति। तत्रेत्यादिग्रन्थस्य कृष्णेऽभिषिक्ते एतानि इत्यादिः तुम्बुरुप्रभृतयो हरेर्लोकस्य शृण्वतः संस्मरतश्च मलमपहन्तीति तथा तद्यशो जगुः सुराणामङ्गना रम्भादयः सम्यङ्ननृतुः ॥ २४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

नः इन्द्रं स्वामिनं त्वाम् ॥ २१ ॥ सुरभिः आत्मनः पयसा ॥ २२ ॥ दाशार्हं दशार्हकुलतिलकं दाशं सुखादिदानमर्हतीति वा अभ्यपिञ्चत् देवमातृभिश्चोदित इन्द्रश्च सुरर्षिभिः सार्द्धमाकाशगङ्गाया जलैः कृष्णमभ्यषिञ्चदित्यन्वयः। गोविन्दः गोविंदो लाभो यस्य सः आलभत इति वा गोविन्द इत्यभ्यधात् अभिधानं कृतवांश्च ॥ २३ ॥ संननृतुः समीचीनं नृत्यं चक्रुः ॥ २४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

परमगोलोके स्वभावत एव नोऽस्माकमिन्द्रं त्वामधुना मनुष्यलोके प्रचाराय केवलम् अभिषेक्ष्यामः ॥ २१ ॥ उपामन्त्र्य निजेन्द्रस्वीकाराय प्रार्थ्येत्यर्थः। प्रचोदितः प्रेरितः भयात् स्वयमप्रवृत्तैः ऐरावत इति गजेन्द्रद्वारा तद्विधानात् ॥ २२ ॥ गवामिन्द्रो गोविन्दः तत्पदेनैव गवेन्द्रताया वाच्यत्वात् प्रीयान्न इन्द्रो गवामित्युक्तत्वात् त्वन्न इन्द्रो जगत्पतेरिति इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः इति वक्ष्यमाणात् ॥ २३-२६ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अन्यदपि निवेदनमस्तीत्याह—इन्द्रं नस्त्वेत्यादि। त्वा त्वां नोऽस्माकमिन्द्रं कृत्वा अभिषेक्ष्यामः। ननु किं ममेन्द्रत्वेन, तदेवं नैव कार्यमित्याह—ब्रह्मणा चोदिताः प्रेरिताः। तस्याज्ञा अस्माकमखण्डनीयैव। नन्वहं गोपबालकः, ब्रह्मणा कथं मदभिषेकाय यूयं नियोक्तव्याः? नैवम्, इह हे विश्वात्मन्! त्वं विश्वात्मैवासि। तर्हि कथं भूमौ? इत्याह—अवतीर्णोऽसि। किमर्थम्? भूमेर्भारापनुत्तये ॥ २१-२८ ॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नोऽस्माकं त्वा त्वाम् इन्द्रं ननु कस्याप्यादेशेन स्वातन्त्र्येणैव वा तत्राह—ब्रह्मणेति। यदा महाभयविह्वलेनेन्द्रेण स्वसाहाय्यार्थं गत्वा ब्रह्मानिवेदिनस्तदा ऽनेनापि भूतपूर्वं स्वापराधस्मृत्या भीतेन विमृश्याहमादिष्टा सुरभे त्वत्सन्तानपालकस्य प्रभोस्त्वमतिप्रीतिपात्री भवसि तत् त्वमेव गत्वा कृपासिन्धो तत्रेन्द्रापराधं क्षमय गवेन्द्रत्वेन तमभिषिञ्च चेति किञ्च ब्रह्माण्डकोटीन्द्रस्य ब्रह्मरुद्रादिदुर्लभचरणपरिचरणस्य तव गवेन्द्रत्वेनाऽभिषेको नामकः खलूत्कर्षः? किन्त्वभिषिञ्चतामस्माकमेवोत्कर्षार्थमस्माकमयं प्रयत्न इत्याह—अवतीर्णोसीति। विश्वात्मन्निति विश्वात्मत्वेन सर्वथैवादृश्य एव त्वं यदि नावातरिष्यस्तदा अस्माकमेतावद्भाग्यं कथमभविष्यदिति भावः ॥ २१ ॥ पयसा दुग्धेन देवमातृभिरित्यादिभिः प्रेरित इन्द्रश्चाभ्यषिञ्चत् आत्मनो भगवन्निकृष्टदासत्वमननेनाभिषेककर्मण्यभ्यर्हिते स्वयमप्रवृत्तः प्रथमं स्थगित एवेन्द्र आसीत् पश्चाद्दित्यादिभिः प्रेरितस्तदाज्ञावशाल्लब्धतदधिकारसम्भावन एव अभ्यषिञ्चदित्यर्थः। दाशार्हमिति दाशार्हवंशत्वेन जातस्यापि तस्य गोपत्वस्यैव स्पृहणीयत्वाधिक्यात् गाः पशून् विन्दति गां स्वर्गं वा इन्द्रत्वेन विन्दति गाः सर्वभक्तेन्द्रियाण्याकर्षकत्वेन विदन्तीति वा गोविन्द इत्यभ्यधात् नाम कृतवानि-

त्यर्थः ॥ २२–२३ ॥ देवनिकायेषु केतव इव मुख्या वरुणादयः अद्भुतपुष्पवृष्टिभिर्विशेषेण अवाकिरन् आवव्रुरित्यर्थः। गां पृथ्वीं पयोभिर्द्रुताम् आर्द्राम् अनयन् अकुर्वन्नित्यर्थः ॥ २४–२५ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

हे विश्वात्मन्! त्वा त्वां नः इन्द्रमभिषेक्ष्यामः ॥ २१ ॥ सुरभिः स्वसन्तानैः स आत्मनः पयसा अभ्यषिञ्चदिन्द्रः नोदितः ब्रह्मणेति ज्ञेयं सुरर्षिभिः देवैर्मातृभिरित्यादिभिश्च सह आकाशगङ्गायाः जलैरभ्यषिञ्चदित्यन्वयः। गां वेदलक्षणां वाणीं वेदयते इति गोविन्दपदवाच्यः प्रथमत एव "गौरेषा भवतो वाणी तां च वेदयते भवान्। गोविन्दस्तु ततो देवमुनिभिः कथ्यते भवान्। इति हरिवंशस्थवचनात् पृषोदरादित्वात्साधुः सुरभिरिन्द्रश्च गाः धनभूताः गोपालतया गां स्वर्गं वेन्द्रत्वेन विन्दतीति कृत्वा गोविन्द इत्यभ्यधात् अभिधां चकार सुरभ्या गवां स्वामी त्वमतो गोविन्दोसीत्युक्तः इन्द्रेण स्वर्गस्य गोपदवाच्यस्य स्वामी त्वमतो गोविन्दोऽसीत्युक्त इति फलितोर्थः ॥ २२–२४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

ब्रह्मणा चोदिता वयं न इन्द्रं त्वामभिषेक्ष्यामो भूमेर्भारापनुत्तये त्वमवतीर्णश्चासि यतोऽतोभिषेक्ष्याम इत्यन्वयः ॥ २१ ॥ सुरभिरेवं कृष्णमुपामन्त्र्य सुरभिरात्मना पयसा क्षीरेणैरावतकरोद्धृतैराकाशगङ्गाया भागीरथ्या जलैः सुरर्षिभिः साकं देवमातृभिर्देवैर्मातृभिर्ब्रह्मादिभिरदियादिदेवमातृभिर्वा दाशार्हमभ्यषिञ्चत ॥ गोविन्द इति। मम स्वातन्त्र्यं नास्ति गौः स्वर्गस्थं विन्दते लभत इति गोविन्द इति सुरवरसुरभिपक्षे निरुक्तिर्ज्ञेया। अभ्यधोदुपचार तन्नाम स्थापितवानिति यावत् ॥ २२–२३ ॥ हरेर्लोकमलापहं गतम्। यशस्तत्रागतास्तुम्बुरुश्च नारदाश्चादी येषां ते त्यन्तास्पचत्वापेक्षयाऽभ्यर्हितत्वान्नारदपर्वताभ्यां वासुदेवाजुनाभ्यामित्यादिवन्नारदशब्दः प्राक् प्रयोज्यस्तथाऽपि रामावतारे विरोधः सन्विरोधं कृत्वा शिक्षां प्राप्तो जाग्रत्सन्नग्रत एवायात इति विशेषं द्योतयितुं तुम्बुरु शब्दः प्राक् प्रयुक्त इति ज्ञेयम्। रामोऽपि तत्र ददृशे धनदस्य शापाद्गन्धर्वमुर्वंशिरतेरथ यातुधानीम्। प्राप्तं दशां सपदि तुम्बरुनामधेयं नाम्ना विराधमपि शर्ववरादवध्यम्। भङ्क्त्वाऽस्य बाहुयुगलं विलगं चकार सम्मानयन्वचनमम्बुजजन्मनोऽसौ। प्रादाच्च तस्य सुगतिं निजगायकस्येत्याचार्योक्तेः। गन्धर्वविद्याधरचारणा जगुः सुराङ्गना अप्सरसो मुदान्विताः सन्ननृतुः ॥ २४ ॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्चानभिषिक्तः शाश्वत इन्द्रो न भवत्यभिषेकस्य संकाररूपत्वात्, अभिषेके तु कृते नान्यः पतित्वं मन्यतेन्यथा मोहाद् यः कश्चिन् मन्येत, नन्विन्द्राधिकाराभिषेके ब्रह्माधिकृतः कथमन्यंनाभिषेक इति चेत् तत्राह ब्रह्मणेति, ब्रह्मा स्वयं लज्जते कथं स्वस्वामिनं गवामिन्द्रपदेभिषेक्ष्यामीति, अयुक्तश्च भवत्यस्माकं तु युक्तं, हीनोपि महान्तं पतित्वेन वृणुते, सम्मत्यर्थं ब्रह्मप्रार्थना तेन च प्रेरिता वयं, भगवदधिष्ठितासु गोषु सर्वोत्कृष्टं हविर्भवेदित्यतः शीघ्रं प्रेरितवान्, शीघ्रप्रेरणायां हेतुरवतीर्णोसीति, भूभारहरणार्थमवतीर्णः शीघ्रं भूभारं हृत्वा तिरोभवेदतः शीघ्रं गवामिन्द्रः कर्तव्य इति, हीनतादूषणं तु नास्ति विश्वात्मकत्वाद् व्यापिवैकुण्ठादधः समागतः पदान्तरं च प्राप्नोत्यत इन्द्रत्वमुचितम् ॥ २१ ॥ एवं प्रार्थनां कृत्वाभिषेकं कृतवतीत्याहैवमिति, फलरूपमपि देवतात्वनोपामन्त्र्याङ्गीकृते भगवत्यभ्यषिञ्चदितिसम्बन्धः, भगवतोङ्गीकारे दया हेतुरिति वदंस्तस्या अभिषेकावश्यतामाह सुरभिरिति, सुराद् बिभेतीति सुरभिः, देवा एव तां भक्षयन्ति किं पुनर्देवेन्द्रोतो भगवन्तं शरणं गच्छन्ती व्यागेनेन्द्राभिषेकं कृतवत्यत एव ततः प्रभृति सर्ववेदसिद्धोपि गोवधो निवृत्त उपपातकत्वं तद्वधे महापातकादप्यधिकविगानं च, प्रथमत आत्मनः पयसा दुग्धेनाभ्यषिञ्चदत एव तदिन्द्रियं जातमिन्द्रं यातीति, ततो जलाभिषेकोपि जात इत्याह जलैरिति, आकाशगङ्गा नित्या या शिशुमारे प्रसिद्धा, तन् नित्यं जलं तत्तरणादेव तारकात्वं, आकाशगङ्गा वोदरत इत्युपपादितं, ऐरावतो गजस्तस्य करोभिषेके प्रशस्तः, तथा सति पुष्करजलत्वमापद्यते, तत्सम्बन्धेपि जलं नोपहतं भवति प्रत्युत पवित्रमेव, अन्यस्य तत उद्धारोशक्य इति तथोक्तम् ॥ २२ ॥ एवं तस्याभिषेकसमय एकदेशभूतास्ते देवा ब्राह्मणा अप्यभिषेकं कृतवन्तः इत्याहेन्द्र इति, सुरभिर्मिनारदादिभिः सहित इन्द्रस्तैर्वा यथेष्टं प्रेरितो देवमातृभिः सहितोदित्यादिभिः श्रद्धादिभिर्वा, सर्वसम्मत्या सर्वैरेव सहित सुरभिरिन्द्रश्च दाशार्हं सेवकरक्षणक्षमं रक्षणपरं वाभ्यषिञ्चत्, नामान्तरं च धारितवतीत्याह गोविन्द इति चाभ्यधादिति, गवामिन्द्रः, अत्रामृतबीजस्य वकारस्य मध्य उपादानं "भूवादयः" इतिवत्, रन्प्रत्ययो नात्रोपात्तः, रूढिजनकत्वेन धात्वर्थस्य गौणत्वापादकत्वादतोच्प्रत्ययान्त एव निर्दिष्टः, स तु धात्वर्थपर एव भवतीति गोविन्द इत्येव शब्दः साधुर्न तु गवेन्द्र इति, चकारादिन्द्रेन्द्रो देवेन्द्रः सुरभीन्द्र इत्यादिनामान्यपि स्वस्वनामपुरःसरं सर्वैर्धृतानि, तेन ब्रजेन्द्रो गोपेन्द्र इत्याद्यपि भवति ॥ २३ ॥ एवं भगवतोभिषेक उत्सववाद्यानि जातानीत्याह तत्रागता इति, तुम्बुरुर्मध्यमः पूर्वसुभयात्मको निरूपित इति तुम्बुरुर्नारदश्चादिर्येषां, गन्धर्वा गायका विद्याधरा वादकाः सिद्धा अद्भुतप्रदर्शकाश्चारणाः पुरुषनर्तका एते सर्व एव भगवतो यशो जगुः ननूत्सवे सर्वेभ्योभीष्टं देयं किं गानमात्रेणेति चेत् तत्राह लोकमलापहमिति, सर्वेषां सर्वदुःखे निदाभूतं मलमेव दूरीकरोति, सुराङ्गनाश्च हर्षेणान्विताः सम्यङ्नन्तुस्ता हि कृष्णेन सह रमणोत्सु-

क्यो देवादिन्द्राच्च भीताः स्थिता अधुनेन्द्रत्वे सम्पन्ने भयान्निवृत्ता आगमनं चावश्यकं जातमिति मुदान्विता जाता भावपूर्वकं च नृत्यं कृतवत्यो यथा च भगवान् वशो भवति ॥ २४ ॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

इन्द्रं न इत्यस्याभासे किञ्चेति स्वभावत इन्द्रोसीति पूर्वमुक्तं, अभिषेकेणापि तथा सम्पादयिष्याम इतिसमुच्चयः, पुष्करं तीर्थविशेषः, करिहस्तोपि, तथा च श्लेषेण तीर्थजलत्वमित्यर्थः, करपदतात्पर्यमाहुः तत्सम्बन्धेपीति, अन्यान् विहायैरावतकथने हेतुमाहुः अन्यस्येति ॥ २१ ॥ इन्द्र इत्यत्र यथेष्टमिति "सुरभीन्द्रं देवेन्द्र" इत्याग्रे वक्ष्यमाणं यथा यस्येष्टं तथा स प्रेरितवानित्यर्थः, आदित्यतिरिक्तानां देवमातृत्वाभावादरुच्या पक्षान्तरमाहुः श्रद्धादिभिरिति, तथा च शुभादयो धर्मपुत्रत्वेन सत्त्वपरिणामत्वाद् देवा इत्यर्थः ॥ २३ ॥ मुदान्विता इत्यत्र 'मुदे'त्यस्यानन्दवाचकत्वेन कृष्णपरत्वमभिप्रेत्याहुः ता इति, तथा च पूर्वमपि कृष्णेन सह स्थिताः, अतोधुना भयस्य निवृत्तत्वात् सन्ननृतुरित्यर्थः, कृष्णसाहित्यं विवृण्वन्ति कृष्णरमणौत्सुक्य इति, तथा च मनसि कृष्णसाहित्यं स्थितमेवेत्यर्थः, तथा च मुदेत्यस्यावृत्तिरभिप्रेतेति ज्ञायते, सन्ननृतुरित्यत्र समित्यस्यार्थद्वयमाहुः भावेति, यथेति ॥ २४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

ननु 'भवतामिन्द्रोऽस्त्येव' तत्राह–इन्द्रमिति । ब्रह्मणा तदधिकारप्रदेन नोदिता वयं त्वा त्वामेव नोऽस्माकमिन्द्रमभिषेक्ष्यामः । अस्मत्कुलनाशाय प्रवृत्तस्य पुरन्दरस्य इन्द्रत्वेनालमित्याशयः ॥ ननु 'देव इन्द्रो भवितुमर्हति, मर्त्योऽहं कथमिन्द्रः स्याम् ?' इत्याशङ्क्याह–अवतीर्णोऽसीति । हे विश्वात्मन् सर्वेश्वर ! त्वं भूमेर्भारापनुत्तयेऽवतीर्णोऽसीति ॥ २१ ॥ एवं सुरभिः कृष्णमुपामन्त्र्य सम्प्रार्थ्य तस्य मौनभावेऽपि मौनत्वस्य सम्मतिज्ञापकत्वात् तेन तत्सम्मतिं ज्ञात्वा आत्मनः पयसाऽभ्यषिञ्चत । तथेन्द्रोऽपि देवैः, मातृभिरदित्यादिभिश्च नोदितः प्रेरितः सुरैः ऋषिभिश्च सहितः ऐरावतस्य हस्तिनः करेण शुण्डेन उद्भूतैराकाशगङ्गाया जलैर्दाशार्हं कृष्णमभिषिक्तवान् । 'गोविन्द' इति चाभ्यधात् अभिधां चकार ॥ २२-२३ ॥ तद्दर्शयति–अहमिति । हिशब्दः प्रसिद्धौ । अत्र 'गा इन्द्रत्वेन विन्दति गोविन्द' इति नामनिरुक्तिर्बोध्या ॥ २४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

इन्द्रमिति ॥ ब्रह्मणा तदधिकारप्रदेन नोदिता वयं त्वा त्वामेव नोऽस्माकमिन्द्रमभिषेक्ष्यामः । अलं पुरन्दरस्यास्मद्गोत्रदुःखदस्येन्द्रतया हे विश्वात्मन् सर्वेश्वर ! त्वं भूमेर्भारापनुत्तयेऽवतीर्णोऽसीति ॥ २१ ॥ एवमिति द्वयम् ॥ एवं सुरभिः कृष्णमुपामुपामन्त्र्य संप्रार्थ्य आत्मनः पयसाऽभ्यषिञ्चत् तथेन्द्रोऽपि देवैर्मातृभिरदित्यादिभिश्च नोदितः प्रेरितः सुरैः ऋषिभिश्च सहितः ऐरावतस्य हस्तिनः करेण शुण्डयोद्धृतैराकाशगङ्गाया जलैर्दाशार्हं कृष्णमभिषिक्तवान् गोविन्द इति चाभ्यधात् अभिधां चकार । गवामिन्द्रो गोविन्दः पृषोदरादिः । गाः विन्दतीति गवादिषु विन्देरिति शो वा ॥ २२-२३ ॥ अहमिति ॥ क्वाचित्कः श्लोकः ॥ २४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इंद्रत्वाभिषेकं कुर्वतीसत्याहनः इंद्रं त्वा त्वां वयमभिषेक्ष्यामः अभिषेचनं च पूजनसूचकं भारापनुत्तये भारनाशाय विश्वस्य चेतनाचेतनामकस्य आत्मा अंतर्यामितत्संबुद्धिः ॥ २१ ॥ एवं उपामंत्र्य गदित्वा आत्मनः स्वस्य पयसा दुग्धेन सुरभिः अभ्यषिंचत इंद्रश्च ऐरावतस्य गजस्य करेणोः धृतैर्जलैः अभ्यषिंचतेत्युत्तरेणान्वयः ॥ २२ ॥ देवस्य मातृभिः अदिति प्रभृतिभिः देवैः मातृभिश्चेति वागाः पश्वनूगां नाकं वा विंदति तेषामहं स्वामिति स्वकीयत्वेन जानातीति गोविंद इत्यभ्यधात् अभिधानं कृतवान् गवादिषु विंदेः संज्ञायामित्यनेन कर्मण्युपपदे विंदेः कर्त्तरिश प्रत्ययः ॥ २३-२४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

ननु गवादीनामयमिन्द्रोऽस्त्येवेत्यत्राह ॥ इन्द्रमिति ॥ ब्रह्मणा तत्तदधिकारप्रदात्रा विधिना, नोदिताः प्रेरिताः, वयं, नोऽस्माकं, इन्द्र, त्वा त्वामेव, अभिषेक्ष्यामः । पुरन्दरस्येन्द्रतयाऽलमित्यर्थः । ननु देव एवेन्द्रो भवितुमर्हति नाहं मनुष्यस्तत्राह । अवतीर्ण इति । हे विश्वात्मन्, भूमेः भारापनुत्तये भारापकरणाय, देवानामपि देव इति शेषः । त्वं एव अवतीर्णः असि । न त्वं मनुष्य इति भावः ॥ २१ ॥ एवमिति ॥ इन्द्र इति च ॥ एवमित्थं, सुरभिः कृष्णं उपामन्त्र्य संप्रार्थ्य, आत्मनः पयसा क्षीरेण, अभ्यषिञ्चत । तथा इन्द्रः अपि, देवमातृभिरदित्यादिभिः, देवैर्मातृभिश्चेति वा । नोदितः सन्, सुराश्च ऋषयश्च तैः साकं, ऐरावतकरोद्धृतैरैरावतकरगतघटसमाहृतैः, प्रमाणाविरोधादेवं व्याख्यातम् । आकाशगङ्गायाः जलैः, दाशार्हं श्रीकृष्णं, अभ्यषिञ्चत अभिषिक्तवान् । गोविन्दः इति च, अभ्यधात् । अभिधां चकार । गाः पशुधनं विन्दते लभते इति गां स्वर्गमिन्द्रत्वेन विन्दतीति वा । उभयथा शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयत्वादन्वर्थसंज्ञामकरोदित्यर्थः । गां भुवं विन्दतीति संज्ञा तु स्वाभाविकीत्यभिप्रायः । इति

द्वयोरेकान्वयः ॥ २२–२३ ॥ तत्रेति ॥ तत्र आगताः तुम्बुरुश्च नारदश्च तावादी येषां ते गन्धर्वाश्च विद्याधराश्च चारणाश्च ते, हरेः, लोकस्य शृण्वतः स्मरतश्च जनस्य मलमपहन्तीति तथाभूतं, यशः जगुः। सुराणां देवानामङ्गनारम्भदयोऽप्सरसश्च, मुदाऽत्यानन्देनान्विताः सत्यः, संननृतुः सम्यक् नृत्यं चक्रुः ॥ २४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

इन्द्रमिति : १०.२७.२१.

अस्माभिर्यदसाधुबुद्धिभिरहन्ताऽखर्वरोगास्पदैर्जाल्मैर्गोपलयेहृया भगवतश्चित्ते रुडुत्पादिता ।
सर्वस्वार्पणमन्तरा न हि परस्तत्क्षान्त्युपायोऽधुनेत्यालोच्याखिलशङ्करं व्यधित सा तत्राभिषेकोद्यमम् ॥ ६२ ॥

स्वामिप्रमोददमपि प्रकटाखिलेष्टमभ्यर्हणीयमखिलैरपि कर्म सद्भिः ।
कार्यं निवेद्य विनयेन निजाधिपायेत्येषाऽभिषेकविधिमप्यनघाप्यपृच्छत् ॥ ६३ ॥

उद्दिश्य गोवर्धनमच्युताय वस्त्वर्पणं त्विन्द्रकृतं तदीड्यम् ।
तद्रुट् ततोऽभूदनिवेद्यजातादिति स्वकर्तव्यमपृच्छदग्रे ॥ ६४ ॥

सदसदपि कर्म जातं विना न विधिचोदनां जनः कुरुते। तत्क्षममेव तदा तौ प्रहितौ विधिनैव कृष्णमभिषेक्तुम् ॥ ६५ ॥

गोवर्धनं निजकराकलितं विधाय भूभृद्वरं यदवनं हि गवामकारि ।
तत्त्वं सदाऽस्मदवनप्रगृहीतदीक्षस्तस्मादयं त्वधभिषेकविधिर्न नूत्नः ॥ ६६ ॥

इत्युक्त्वा सुरभिश्चैनं गोकुलत्राणदीक्षितम्। स्वजातिसुखसन्तोषदार्ढ्यायैवाभ्यषिञ्चत ॥ ६७ ॥ (युग्मम्)

एवमिति : १०.२७.२२.

आकाशनद्यम्बु तु तत्पदस्थमेवेति किं तत्र मयार्पितं स्यात् ।
एवं विचिन्त्य स्वपयोभिरादौ चक्रेऽभिषेकं सुरभिः सहर्षम् ॥ ६८ ॥

इन्द्र इति : १०.२७.२३.

आदाय पुष्करवरं निजपुष्करेण सत्पुष्कराज्जगधीश समर्पितं यत् ।
सद्योऽभवत् कलिभयावहमेवमिन्द्रो ज्ञात्वा तथैव कृतवान् कलिदोषशान्त्यै ॥६९॥

मन्दाक्षभावस्थमवेत्य भर्तुः सहस्रमक्ष्णामपि निर्निमेषम् ।
सा गौः शुभाक्षी रचिताभिषेका गोविन्दसंज्ञामकृतेति युक्तम् ॥ ७० ॥

सच्छृंगारोचिताभां शुभफलदपदाकामपूर्णाभिधानां स्वस्थप्रत्यक्षलभ्यां सुखकरसुरवां गोष्ठपावित्र्यहेतुम् ।
दृष्ट्वैवं स्वामिवंशीमपि तनुममलोद्दीप्तवालप्रतिष्ठां युक्तं गोविन्दसंज्ञां यदकृत सुरभिर्गोपतेर्गोपतिश्च ॥ ७१ ॥

अन्येषु नामसु चिरं विवदन्तु केचिद् गोविन्दनाम तु जगत्यविवादमेव ।
यत् सर्वदेव मुनिदैवतदेवताभिरुक्तं तदा तदभिधानमधान्महेन्द्रः ॥ ७२ ॥

नानापराधदहनप्रतिरोधिरत्नं प्रत्तर्षिगेयमभतूललयानलार्चिः ।
सद्यागयनल्पफलकल्पतरुस्वरूपं गोविन्दनाम जगतिदिगिति व्यबोधि ॥ ७३ ॥
सद्यागयनल्पफलकल्पतरुस्वरूपं गोविन्दनामपीयूषमाधुर्यं त्वन्यदेव हि ॥ ७४ ॥

सन्त्वनन्तान्यनन्तस्य नामान्यघहराण्यलम्। गोविन्दनामपीयूषमाधुर्यं त्वन्यदेव हि ॥ ७४ ॥

सद्वृन्दावनवर्त्मवर्तनमनायासेन कंसारिणा यच्चोरीकृतमेतदग्रिमयुगे स्याद् भव्यकृत् प्राणिनाम् ।
सद्वृन्दावनवर्त्मवर्तनमनायासेन कंसारिणा यच्चोरीकृतमेतदग्रिमयुगे स्याद् भव्यकृत् प्राणिनाम् । सद्वृन्दावनवर्त्मलम्बनदीक्षितं समकरोन्नामाभिषेकाद् भुवि ॥ ७५ ॥

आलोच्यैवमथाच्युतं हितमतिः सा गौः सत्वाक्षुण्णतद्वर्त्मालम्बनदीक्षितं समकरोन्नामाभिषेकाद् भुवि ॥ ७५ ॥

साधारणैव जलैर्द्विजैश्च साधारणश्चेत् पुरुषोऽभिषिक्तः ।
तेजस्वितां यात्यलमिन्द्रधेनूतं स्वर्वयः स्वर्जलतोऽभ्यषिंचन् ॥ ७६ ॥

तत्रागता इति : १०.२७.२४.

भूताहुरास्रपपिशाचतमःप्रणाशे गोविन्दनाममिहिरे सति सुप्रकाशे ।
का नाम भीतिरिति निर्भयमागतास्ते गोविन्दनामकथनाद् विशदोऽर्थ एषः ॥ ७७ ॥

कृष्णप्रिया

हे श्री विश्वात्मन्! आप तो भूमि भार निवारण के लिये ही भूतल पर पधारे हैं। ब्रह्माजी की प्रेरणा से हमारे इन्द्र स्वरूप से आपका अभिषेक करना चाहती हूँ ॥ २१ ॥ श्रीशुकदेवजी ने कहा—राजन्! श्रीकामधेनुजी ने इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण का अनुमोदन प्राप्त कर लिया, पुनः अपने दूध से, और ऐरावत हाथी की शूड से लाये हुए आकाश गङ्गाजी के पावन

जल से अभिषेक किया ॥ २२ ॥ हे राजन् ! श्री नारद तुम्बुरु आदि देवर्षियों श्रद्धा आदि अथवा अदिति आदि देवमाताओं की आज्ञा से देवराज इन्द्र ने भक्त रक्षणक्षम भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक किया और गोविन्द नाम रखा ॥ २३ ॥ वहाँ पधारे हुए तुम्बुरु, नारद आदि देवर्षिवर्य, एवं गन्धर्व, विद्याधर; सिद्ध और चारण लोग, समस्त लोकों के पापों के निवारक श्रीहरि के यश का गान करने लगे, और अप्सरावृन्द ने आनन्द निमग्न होकर नृत्य और गान किया ॥ २४ ॥

तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो ह्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।
लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥ २५ ॥

नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः । अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो [1]ऽबिभ्रदुन्मणीन् ॥ २६ ॥
कृष्णेऽभिषिक्त एतानि [2]सर्वाणि कुरुनन्दन । निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥ २७ ॥
इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्य सः । अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[3] दशमस्कन्धे[4] इन्द्रस्तुतिर्नाम [5]सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—देवनिकाय केतवः तम् तुष्टुवुः, च, अद्भुत पुष्पवृष्टिभिः, व्यवाकिरन्, त्रयो लोकाः पराम् निर्वृतिम् आप्नुवन्, तदा गावः पयोद्रुताम् गाम् अनयन् ॥२५॥ सरितः नानारसौघाः आसन्, वृक्षाः मधुस्रवा आसन्, आकृष्टपच्यौषधयः आसन् गिरयः मणीन् वि-असृजन् ॥ २६ ॥ हे कुरुनन्दन ! हे तात ! कृष्णे अभिषिक्ते, सर्वाणि एतानि, निसर्गतः क्रूराणि अपि, निर्वैराणि अभवन् ॥ २७ ॥ सः गो गोकुलपतिम् गोविन्दम् इति अभिषिच्य अनुज्ञातः देवादिभिः वृतः शक्रः ययौ ॥ २८ ॥

अन्वयेषु सप्तविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २७ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देवनिकायेषु केतव इव दर्शनीया मुख्या इत्यर्थः । गावो गां पृथ्वीं पयोभिर्द्रुतामार्द्रामनयन् अकुर्वन्नित्यर्थः ॥ २५ ॥ नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यः । अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा औषधयो व्रीह्यादय आसन् । संधिरार्षः । यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते गिरय उन्मणीन्गर्भगतान्मणीन् उत् उद्गतान्बहिः प्रकटानबिभ्रदबिभरुः ॥ २६-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे टीकायामिन्द्रस्तुतिगोविंदाभिषेको नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

देवानां निकायेषु समूहेषु "निकायस्तु पुमाँल्लक्ष्ये सुधर्मिप्राणिसंहतौ । समुच्चये संहतानां निलये परमात्मनि ॥" इति मेदिनी । इत्यर्थ इति । मुख्यानामेव मंगलकर्मसु प्राधान्यादिति तात्पर्यम् । इत्यर्थ इति । सर्वधातुषु कृञ्व्यर्थस्य व्याप्तत्वादित्यर्थः ॥२६॥ पूर्वव्याख्यान आर्षत्वाश्रयणेनाधिकरणानुक्त्या वारुच्याह-यद्वेति ॥ २६ ॥ एतानि गोव्याघ्राहिनकुलादीनि । सत्त्वानि जीवाः । निसर्गतः स्वभावत एव क्रूराणि क्रूरस्वभावानि । निर्वैराणीति कृतयुगतुल्यता ध्वनिता । हे कुरुनन्दनेति । अत्युत्तमकुरुराजवंशोद्भूतत्वात्त्वां मयेदं श्रावितमिति । हे तातेति । तस्य श्रवणे श्रद्धां वीक्ष्य प्रीत आहेति भावः ॥ २७ ॥ इति उक्तरीत्या । सः शक्रः ॥ २८ ॥

इतिश्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

देवनिकायकेतवः वरुणाद्याः पुष्पाणां स्वरूपेण वृष्टीनामपारमित्यनेन च अद्भुताभिः पुष्पाणां वृष्टिभिर्व्यापयामासुः परां यतोऽतिशयिता नान्यास्ति ताम् ॥ २५ ॥ नानारसेत्यादावेवं ज्ञेयं पूर्वं वृन्दावने यद्यद्वैशिष्ट्यमासीत् तत्तदप्यधुनाऽधिकतया तत्र भूत्वा त्रैलोक्यमपि व्याप्नोदिति अकृष्टपच्यौषधय इति मध्ये सुपलुक् छान्दसः सन्धिर्वा ॥ २६ ॥ नच केवलं गुणा एव सम्पन्नाः स्वाभाविकदोषा अपि विनष्टा इत्याह—कृष्ण इति । एतानि प्रसिद्धानि सत्त्वानि निसर्गतः जातिस्वभावेन क्रूराणि परस्परं हिंसापराण्यपि अहिनकुलादीनि सर्वाणि सर्वभूतान्येव निर्वैराणि मित्राणीवाभवन् "जायमाने जनार्दने" इतिवत्तदानीमिति ज्ञेयं वृन्दावने तु सर्वदैवेति विशेषः । हे कुरुनन्देनेति तस्य तवानुमोदनेन हे तातेति परमाश्चर्येण प्रेमवैवश्येन वा पुनः पुनः सम्बोधनम् ॥ २७ ॥ सः अपराध्यपि श्रीभगवता स्वीकृतोपचारः गोगोकुलपतित्वेन स्वत एव तं गोविन्दमभिषिच्येति तेन तस्य नातिशयः

---

१. योऽबिभ्र–श्रीधर. वंशी. जी. वीर. विज. विश्व. शुक. मु. । २. सत्वानि–श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व. शुक. मु. ; सर्वाणि–विज. । ३. पारमहंस्यां संहितायां–प्रा. पा. । ४. पूर्वार्द्धे–प्रा. पा. । ५. पञ्चविंशोऽध्यायः–विज. ।

किन्तु तेन कर्मणा लोकस्यैव स्वस्यैव हितं चकारेति भावः तस्य हितमेव दर्शयति—ततः श्रीगोविन्देनानुज्ञातः सन् पूर्वं तदपराधित्वात् प्रायस्त्यक्तोऽपि पुनर्देवादिभिर्वृतः स्वीकृतो भूत्वा दिवं ययाविति लीलेयं सखिभिः स्थानवेपादिवैशिष्ट्येन नैव ज्ञातत्वात् दूरतो वा निह्नुत्य दृष्टत्वात् पश्चादेव व्रजे कथितेति ज्ञेयम् इति गोगोकुलपतिं गोविन्दमभिषिच्येति गोगोकुलयोस्तदीशितव्ययोर्निजेशितृत्वेन तस्य ज्ञान एव सुखचमत्कारात्। पाद्मोत्तरखण्डे तु—

"गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च दृष्ट्वा तत्र शतक्रतुम्। तेन सम्पूजिताश्चैव प्रहर्षमतुलं ययुः" ॥ इति श्रीनन्दयशोदादीनामपि तत्रागमनं वर्णितं तत्तु विविक्त उपसङ्गम्येति विरोधात् कल्पान्तरे ज्ञेयम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

देवनिकायकेतवो वरुणाद्याः श्रीगरुडनारदाद्या वा पार्षदप्रवराः, हि निश्चितम्, अद्भुतानामपूर्ववृत्तानां किंवा अद्भुताभिः सर्वतो बहुधा व्याप्या पतन्तीभिः पुष्पाणां वृष्टिभिर्व्यापयामासुः, परां मोक्षादप्युत्कृष्टामित्यर्थः। अतो भगवदभिषेकमहोत्सवस्वभावेनेन्द्रस्यापि प्रहर्षोऽभूदिति ज्ञेयम्। तदा तदानीम्, यद्वा, ततः प्रभृतीत्यर्थः, अस्य पूर्वापराभ्यां वाक्याभ्यां तथा परपद्येनाप्यन्वयः। पूर्वं श्रीवृन्दावन एव वृक्षा मधुस्रवा आसन्, इदानीञ्च सर्वभूगता एवेति विशेषः। एवमग्रेऽपि ॥ २५-२६ ॥ न च केवलं गुणा एव सम्पन्नाः, स्वाभाविकदोषा अपि विनष्टा इत्याह—कृष्ण इति, निजभगवत्तासारसर्वस्वप्रकटनपर इत्यर्थः, एतानि साक्षाद्दृश्यमानानि सत्त्वानि निसर्गतो जातिस्वभावेन क्रूराणि परस्परं हिंसापराण्यपि अहिनकुलादीनि सर्वाणि सर्वभूगतान्येव निर्वैराणि मित्राण्यभवन्। हे कुरुनन्दनेति हे तातेति परमाश्चर्येण प्रेमवंवश्येन वा पुनः पुनः सम्बोधनम्, यद्वा, ननु तदानीं श्रीभगवता गुप्तमधुरक्रीडापरेणापि कथमीदृशमैश्वर्यं प्रकटितम्? तत्राह—एतानि सर्वलोकपरमनिर्वृतिप्राप्त्यादीनि तदभिषेकोत्सवस्वभावादेव जायमानानि तस्यापि दुर्निवाराणीत्यर्थः। श्रीवृन्दावने च सदैव तद्दृष्टत्वात् मधुरक्रीडा सम्पद्यत एवेति दिक्। हे कुरुनन्दनेति तव जन्मना यथा कुलक्षयशोककालेऽपि त्वत्पितामहादीनामानन्दो वृत्त इति भावः, किञ्च, निर्वैराणीति, अन्यत् समानम् ॥ २७ ॥ इति—अनेनोक्तप्रकारेण, गवां गोकुलस्य च तत्रत्यानामपि सर्वेषां पतिं श्रीकृष्णं गोविन्दमित्यभिषिच्य, यद्वा, गोकुलपतिमित्यन्वर्थतया गोविन्दत्वेनाभिषेके हेतुः तत्र यद्यपि गोकुलशब्देन गावोऽपि गृह्यन्ते, तथापि तत्र तासां मुख्यत्वात् पृथगादौ निर्देशः, यद्वा, गोकुलपतित्वेन स्वत एव गाः स्वाम्यादिना विन्दतीति गोविन्दो भवत्येव, तस्य हि गोविन्दत्वेनाभिषेको नाम विशेष इतीन्द्रं प्रति कटाक्षः। स अपराध्यपि श्रीभगवता स्वीकृताभिषेकोपकरणगोपादिभ्यां लज्जया शीघ्रं यियासुत्वादनुज्ञातः, ततश्च देवादिभिर्वृतः परिवेष्टितः सन् स्वर्गं ययौ, आदिशब्देन पूर्वोक्ताः सुरर्ष्यादयः, सुरभिस्तु श्रीगोलोकेन सह श्रीमाथुरव्रजभूमेरैक्यादत्रैव निजसन्तानसंगे स्थितेति ज्ञेयम्, द्वयोरभेदश्च श्रीभागवतामृतोत्तरखण्डे विवृतोऽस्त्येव। यद्वा, आदिशब्देन सापि गृहीता, यानेऽनिच्छया तस्या गौणत्वेन पृथक् स्पष्टमनुक्तिः, एवं श्रीभगवत्सहचरा गोपास्तदानीं तत्र नासन्निति बोद्धव्यम्। पूर्वं (द्वितीय श्लो०) 'विविक्तः' इत्युक्तेः, अतस्तैस्तद्वृत्तं न ज्ञातम्। अत एव तैरकथनाद्व्रजे च न प्रचारितमित्यूह्यम् कुत्रापि तत्प्रसंगाभावात्; यद्वा, (१८ श० श्लो०) 'स्वसन्तानैः' इति गवां साहचर्येण (१९ श० श्लो०) 'वयम्' इत्यनेन च ते गृहीता एव, ततश्च तन्महोत्सवे समागतास्ते दृष्ट्वापि साक्षाच्छ्रीभगवद्विचित्रानन्तमाहात्म्यानुभवेनाश्चर्यं मत्वा, यद्वा, 'गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च दृष्ट्वा तत्र शतक्रतुम्। तेन सम्पूजिताश्चैव प्रहर्षमतुलं ययुः ॥' इति पाद्मोत्तरखण्डोक्तानुसारेण श्रीनन्दयशोदादीनामपि तत्रागमनात् व्रजे नैव कथयामासुरिति ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीवृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

उन्मणीन् उद्भूतान् मणीन् ॥ २६-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धीये श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

त्रयो लोकाः परां तमिति। देवसङ्घेषु केतव इव दर्शनीयाः मुख्या इत्यर्थः। अद्भुताभिः पुष्पवृष्टिभिरभितोऽवाकिरन्। सरितो नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यो निर्वृतिमानन्दं प्रापुः गावो गां पृथ्वीं पयोभिः क्षीरैर्द्रुतां सिक्तामनयन् चक्रुः ॥ २५ ॥ सन्धिरार्षः। बभूवुः वृक्षास्तु मधूनि स्रवन्तीति तथाभूता ओषधयस्त्वकृष्टपच्याः कृषिं विनैव व्रीह्यादयः फलिता आसन् इत्यर्थः। गिरयः उन्मणीन् उद्गतान् बहिः प्रकाशमानान् मणीन् यद्वा, अकृष्टपच्याश्चौषधयश्चेति कर्मधारयः यद्वा अकृष्टपच्या ओषधयो येषु ते विभ्रदविभरुः ॥ २६ ॥ तदा हे कुरुनन्दन! कृष्णेऽभिषिक्ते सतीन्द्रे कृते सतीति भावः। एतानि स्वभावतः क्रूराण्यपि सर्वाणि

भूतानि सर्पव्याघ्रादीनि हे तात ! वैररहितान्यभवन् ॥ २७ ॥ स इन्द्र इत्थं गवां गोकुलस्य नन्दव्रजस्य पतिं गोविन्दमभिषिच्येत्युक्तार्थोपसंहारः तेनाभ्यनुज्ञातः कृष्णाधीनस्वाधिकारो भूत्वेति तात्पर्यं देवादिभिः परिवृतो दिवं स्वर्गलोकं प्रति ययौ ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

देवनिकायानां केतवः श्रेष्ठाः गां भूमिं पयसा द्रुतां परिप्लुताम् अनयन् प्रापयामासुः ॥ २५ ॥ मधु मधुररसं स्रवन्त्यः उन्मणीन् अविभ्रन् भृतवन्तः ॥ २६-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

(विजयध्वजरीत्या पञ्चविंशोऽध्यायः)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

निर्वैराणीति सर्वभूतान्येव तदानीमिति शेषः ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यः अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा ओषधयो यत्र ते गिरयः उन्मणीन् उत्कृष्टान् अविभ्रन् अबिभरुः ॥ २६ ॥ एतानि भूतानीति शेषः ॥ २७-२८ ॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम् । सप्तविंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम् ॥ २७ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

देवनिकायेषु केतव इव दर्शनीयाः मुख्याः ब्रह्मशिवादयः तं श्रीगोविन्दं तुष्टुवुः अद्भुतपुष्पवृष्टिभिः व्यवाकिरन् विविधैः प्रकारैः अवाकिरन् त्रयो लोका परामुत्कृष्टां निर्वृतिमानन्दमवाप्नुवन् प्रापुः गां पृथ्वीं पयोभिर्द्रुतामाद्रामनयन् चक्रुरित्यर्थः ॥ २५ ॥ सरितः नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यः आसन् मधूनि स्रवन्तीति ते तथा वृक्षा आसन् अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वाः ओषधयो व्रीह्यादयो येषु ते गिरयः गर्भस्थानपि उत् उद्गतान् बहिः प्रकटान् मणीन् अविभ्रन् अबिभरुः ॥ २६ ॥ एतानि भूतानि ॥२७-२८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे सप्तविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः ॥ २७ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

देवनिकायकेतवः सुरसमूहमहान्तोऽद्भुता आश्चर्यवहाः पुष्पवृष्टयस्ताभिः पुष्पवृष्टिभिर्व्यवाकिरन् । वृष्टं वर्षं भावे क्तः । तदेषामस्ति तानि वृष्टीन्यद्भुतानि च तानि वृष्टीनि च तैराश्चर्यावहवर्षणवत्पुष्पैर्व्यवाकिरन् । किरणं चक्रुरिति वा वर्षंत आभिरिति वृष्टयः करणे क्तिन् । पुष्पाण्येव वृष्टयस्ताभिरवाकिरंश्चिक्षिपुरित्यर्थः । यविष्टमन्मभिरित्यृग्भाष्ये मन्मभिर्मतिभिः । तट्टीकायां मतिभिर्बुद्धिवृत्तिभिः सह । तट्टिप्पणेऽत्र क्तिन्प्रत्ययः करणार्थ इत्युक्तेरिति वा । यत्रापि लोकाः परामुत्कृष्टां निर्वृतिं मुदं तदा गावो गां भूमिं पयोद्रुतं पयोभिः स्वक्षीरैः संक्षरणैर्द्रुतां परिप्लुतामनयंश्चक्रुः । यद्वा पयसा सिक्ता द्रवो द्रुमा यस्याः पयोद्रुस्तस्या भावः पयोद्रुता तां पयः सिक्ततरुकत्वमनयन्प्रापयामासुः ॥ २५ ॥ स्वतः पतन्नानावृक्षादिरसवत्यो मधुस्रवा मधुरं स्रवन्ति ते मधुस्रवास्तरवोऽकृष्टपच्यौषधयः कर्षणं विनैव पाकं प्राप्ता अकृष्टपच्यास्ताश्च ता ओषधयश्च । कर्मधारयेऽपि बुद्ध्या विवेकेनौषधीरुद्दिश्याकृष्टपच्यत्वं विधीयते । कृष्णाभिषेकसमय एवंवमभवदिति भावः । राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकृष्टपच्याव्यथ्या इति क्यवन्ततया निपातितः कृष्टपच्यशब्दः । गिरयः पर्वता उन्मणीनुत्कृष्टान्मणीनबिभ्रत् । अगाः प्रत्यन्तपर्वताः सन्त्यस्येति मत्वर्थं इकारप्रत्ययः । अथवा गोऽगिः । तृतीयोऽतिशय इति महामहीध्र इति महापर्वतः प्राग्यत्रायः कृष्णायस्तत्रेदानीमुन्मणीनबिभ्रदिति वा । बहुवचनमेकवचनार्थे । अकृष्टपच्यौषधय इति प्रथमपक्षे गिरिविशेषणं वा ॥ २६ ॥ हे कुरुनन्दन तात परीक्षित् निसर्गतः स्वभावतः क्रूराण्यप्येतानि सम्यगेकस्थानं प्राप्तानि सत्त्वानि गोव्याघ्रादीनि निर्वैराणि वैररहितान्यभवन् । बुद्धिसन्निहितत्वादेतानीत्युक्तिर्वा ॥ २७ ॥ स शक्रो गोगोकुलपतिं गोविन्द इत्युक्तरीत्याऽभिषिच्यानुज्ञातः । प्रथमात्वे तसिलन्तत्वे वाऽर्थः समः । देव्यश्च सुरभ्यादयश्च सुरस्त्रियश्चैकशेषे देवाश्चादयो येषां सिद्धादीनां तैर्वृतो दिवं स्वर्गं ययौ ॥ २८ ॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

श्रीसुबोधिनी

इन्द्रत्वे जाते सर्व एव स्वर्गलोकः समागतस्तदा देवसमूहे ये केतव इवोन्नता देवोत्तमा ब्रह्मादयो मन्त्रा वेदा वा तं भगवन्तमिन्द्रं तुष्टुवुः, अत एव वेद इन्द्रो महान् स्तूयते भगवानिन्द्रो जात इति, ननु प्राकृतानामिन्द्रत्व आधिदैविके "त्वयैन्द्राणि जुहोमी"ति नोपपद्यत इन्द्रत्वेनार्धता भगवत्त्वेन तु सर्वत्वं, अद्भुतपुष्पवृष्टिभिश्च विशेषेणावाकिरन् पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, एवं दिविष्ठानां वाचनिकं कायिकं चोक्तं, मानसिकमाह सर्वे लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवन्निति, त्रयोपि लोकाः परमानन्दं प्राप्ताः,

तदा गावोन्ता रसपूर्णा वहिरपि रसं त्यक्तवत्य इत्याह गावस्तदा गां पृथिवीं पयोद्रुतां पयसा पिच्छिलामनयन् कृतवत्यः ॥२५॥ सरितश्च नानारसानां घृतक्षीरादीनामोघो यासां तादृश्यो जाता वृक्षाश्च मधुच्युत औषधयो व्रीह्यादयः कर्षणव्यतिरेकेणैव पक्वा जाताः, अकृष्टपच्यश्च ता औषधयश्च गिरयः पर्वताश्च स्वाभ्यन्तःस्थितान् मणीन् व्यसृजन्, एवं स्थावरजङ्गमानां सर्वेषामेवोत्सवो निरूपितः ॥ २६ ॥ तमुपसंहरन् पूर्वेन्द्रेभ्यो भगवतीन्द्रे वैलक्षण्यमाह कृष्णेभिषिक्त इति, सदानन्देभिषिक्ते सहि स हि सर्वानभिषिञ्चति स्वानन्देन यदि सोप्यभिषिक्तः सर्वैस्तदा महदाश्चर्यं जातमिति, एतानि परिदृश्यमानानि सर्वाण्येव निसर्गतोपि क्रूराणि शाश्वतिकविरोधयुक्तान्यपि निर्वैराण्यभवन्, तदा शुकस्तामवस्थां प्राप्तः पशून् पश्यन्नाहैतानीति, कुरुनन्दनेतिसम्बोधनं विश्वासार्थं सद्वंशोत्पन्नस्यैव विश्वासो भवतीति, तातेतिसम्बोधनं स्नेहसूचकं तेनाप्रतारणापि सूचिता ॥२७॥ एवमभिषेकमहोत्सवमुक्त्वाभिषेककर्तुः स्वर्गप्राप्तिमाहेतीति, पूर्वं गोगोकुलपतिमित्यमुना प्रकारेण गोविन्दं कृत्वाभिषिच्य स प्रसिद्धो भगवदनुगृहीतो वा भगवतैवानुज्ञातो देवादयोत्र स्थास्यन्तीति सन्दिह्य वैर्वृतः सन् दिवं ययौ, भगवांस्तु स्वस्थान एव वर्तत इति नात्र प्रत्यापत्तिः कर्तव्या ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे षष्ठस्य स्कन्धादितश्चतुर्विंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ २४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

तं तुष्टुवुरित्यस्य विवरणे आधिदैविकेपि अर्धैन्द्राणि जुहोतीति नोपपद्यत इति आधिदैविकेपि इन्द्रे अर्धैन्द्राणीति नोपपद्यते, अर्धैन्द्राणि जुहोतीत्यत्र इन्द्रस्य सर्वदेवतापेक्षयाधिको भागो निरूपितः, हविषः अर्धभागे मध्ये अन्ये बहवो देवाः अर्धमध्ये एक इन्द्र इति, सोयं विभागाधिक्यज उत्कर्षो भगवन्तं श्रीकृष्णं इन्द्रमवगत्य श्रुत्या कृतस्तत्रैव श्रुतितात्पर्यात् न तु इन्द्रं (अवगत्य) तदाहुः इन्द्रत्वे नार्धतेति इन्द्रत्वे इति सप्तमी, इन्द्रस्य इन्द्रत्वे भागस्य अर्धता नास्तीत्यर्थः, अर्धो भागो नास्तीति फलितं, तथा च इन्द्रस्य इन्द्रत्वे अर्धैन्द्राणि जुहोतीति न सङ्गच्छत इत्यर्थः, भगवत्त्वेन तु सर्वस्वमिति यदि भगवानेवेन्द्रो जातस्तदा तु सर्वमेवोपपन्नं अर्धेन्द्रत्वं पूर्णेन्द्रत्वं च, सर्वरूपत्वात् सर्वसामर्थ्ययुक्तत्वात् विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वाच्च ॥ २५ ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

गोस्वामीश्रीगिरधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तत्र भगवतोऽभिषेकस्थाने आगताः तुम्बुर्वादयो हरेर्यशो जगुः। गाने हेतुमाह—लोकमलापहमिति। लोकस्य वक्तृश्रोतृसर्वजनस्य मलानि पापादीनि हन्तीति तत्। तथा सुराङ्गना रम्भादयः अप्सरसो मुदान्विता ननृतुः ॥ २५ ॥ तं श्रीकृष्णं देवानां निकायेषु समूहेषु ये केतव इव दर्शनीया मुख्यास्ते तुष्टुवुः, तथाऽद्भुतानां पुष्पाणां वृष्टिभिः हि प्रसिद्धं यथा तथा अवाकिरन् आच्छादितवन्तश्च। तथा त्रयो लोकाः त्रिलोकस्था जनाः परां निर्वृतिं परमानन्दमाप्नुवन्। तदा गावो गां पृथ्वीं पयोभिर्द्रुतां सिक्तामनयंश्चक्रुः ॥ २६ ॥ सरितो नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यो जाताः। वृक्षाश्च मधूनि स्रवन्तीति तथाभूता आसन्। अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा ओषधयो व्रीह्यादयः आसन्। अत्र समासः कर्मधारयः। तथा गिरयः उन्मणीन् उद्गतान् बहिःप्रकटान् मणीन् अबिभ्रत् अबिभरुः ॥ २७ ॥ 'तव राज्याभिषेकेऽपि कुलस्य महानानन्दो जात' इति सूचयन् सम्बोधयति—कुरुनन्दनेति। तत्रापि स्नेहातिशयेन पुनः सम्बोधयति—तातेति। कृष्णे इन्द्रतयाऽभिषिक्ते सति निसर्गतः स्वभावतः क्रूराण्यप्येतानि सर्पव्याघ्रादीनि भूतानि निर्वैराण्यभवन् ॥ २८ ॥ उपसंहरति—इतीति। इत्येवं गवां गोकुलस्य व्रजस्य च पतिं कृष्णं गोविन्दनामधारपूर्वकमभिषिच्य कृष्णेनानुज्ञातः स शक्रो देवादिभिर्वृतो दिवं स्वर्गं ययौ ॥ २९ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना। श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये। श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने। सप्तविंशो गतो वृत्तिर्मभिषेकनिरूपकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

तत्रेति ॥ तत्राभिषेकस्थाने शक्रकुण्डं गोविन्दकुण्डमिति च प्रसिद्धे आगताः तुम्बुरुनारदादयः गन्धर्वाश्च लोकानां मलस्यापहं हरेर्यशो जगुः तथा सुराङ्गना रम्भादयः अप्सरसो मुदान्विता ननृतुः। नारदश्चायं गन्धर्वविशेषः। पार्षदभूतस्य देवर्षेर्नारदस्यावतारभूतः। यथा नित्यपार्षदगरुडस्य विनतासुतः ॥ २५ ॥ तमिति ॥ तं श्रीकृष्णं देवानां निकायेषु समूहेषु ये केतव इव दर्शनीया मुख्यास्ते तुष्टुवुः तथाऽद्भुतानां पुष्पाणां वृष्टिभिः हि प्रसिद्धं यथा तथा अवाकिरन् आच्छादितवन्तश्च। तथा त्रयो लोकाः त्रिलोकस्था जनाः परां निर्वृतिं परमानन्दमाप्नुवन्। तदा गावो गां पृथ्वीं पयोभिर्द्रुतां सिक्तामार्द्रामनयंश्चक्रुः ॥ २६ ॥ नानेति ॥ सरितो नानारसौघाः क्षीरादिवाहिन्यो जाताः। वृक्षाश्च मधूनि स्रवन्तीति तथाभूता आसन्। अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वा ओषधयो व्रीह्याद्याः आसन्। तथा गिरयः उन्मणीन् गर्भगतान्मणीन् उत् उद्गतान् बहिः प्रकटान् अबिभ्रत् अबिभरुः। आर्षः प्रयोगः। अकृष्टपच्योषधय इति समासः सन्धिर्वाऽऽर्षः। यद्वा। अकृष्टपच्या ओषधयो येष्विति गिरिविशेषणम् ॥ २७ ॥ कृष्ण

इति हे कुरुनन्दन ! हे तात ! कृष्णे इन्द्रतयाऽभिषिक्ते सति निसर्गतः स्वभावतः क्रूराण्यप्येतानि सर्पव्याघ्रादीनि सत्त्वानि भूतानि निर्वैराण्यभवन् ॥ २५ ॥ इतीति ॥ इत्येवं गवां कुलस्य व्रजस्य च पतिं कृष्णं गोविन्दनामधारणपूर्वकमभिषिच्य कृष्णेनानुज्ञातः स शक्रो देवादिभिर्वृतो दिवं स्वर्गं ययौ ॥ २९ ॥

इति श्रीभागवते महापुराणेऽन्वितार्थप्रकाशिकायां दशमस्कन्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

तमिति देवानां निकायेषु समूहेषु केतव लोकनीया अग्रेसरा इत्यर्थः । व्यवाकिरन् विशेषेण ववृषुः निर्वृतिं सुखं गावः गां भूमिं स्वपयोभिर्दुग्धैः द्रुतां आर्द्रां अनयन्नकुर्वन्नित्यर्थः ॥ २५ ॥ नानारसौघाः नानाविधरसवाहिन्यः सरितः आसन् अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव वक्तुमर्हाः शाल्यादयः अत्र संधिरार्षः यद्वा अकृष्ट पच्या उ ँषधयो येषु ते गिरयः उन्मणीन् आदौ आभ्यंतरस्थितान् पश्चाच्च उद्गतान् बहिः प्रत्यक्षान् मणीन् अविभ्रत् अविभरुः ॥ २६ ॥ निसर्गतः स्वभावेन ॥ २७-२८ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने इंद्रस्तुतिनामा सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तमिति ॥ देवानां निकायाः संघास्तेषु केतवः केतुवद्दर्शनीया मुख्यास्ते इत्यर्थः । तं श्रीकृष्णं, तुष्टुवुरस्तुवन् ! अद्रुताश्च ताः पुष्पवृष्टयश्च ताभिः, अवाकिरंश्च हि । त्रयः लोकाः, परामतिशयितां, निर्वृतिमानन्दं, आप्नुवन् संप्रापुः । तदा गावः, गां पृथिवीं, पयोभिः द्रुतां सिक्तां, अनयन् संचक्रुः ॥ २५ ॥ नानेति ॥ सरितो नद्यः, नानारसौघाः क्षीरादिनानारसवाहिन्यः, बभूवुः । वृक्षास्तरवः, मधूनि स्रवन्तीति मधुस्रवाः, आसन् । अकृष्टपच्याः कर्षणं विनैव पक्वाश्च ता औषधयो व्रीह्यादयः, आसन् । यद्वा अकृष्टपच्याः औषधयः, पृथक्पदे संधिरार्षः । यद्वा, अकृष्टपच्या औषधयो येषु ते गिरयः पर्वताः, उन्मणीन् बहिः प्रकाशितान्मणीन्, अविभ्रन् ॥ २६ ॥ कृष्णे इति हे तातानुकम्प्य, हे कुरुनन्दन, कृष्णे श्रीकृष्णभगवति, अभिषिक्ते सति, इन्द्रे कृते सतीत्यर्थः । एतानि सत्त्वानि, निसर्गतः स्वभावतः, क्रूराणि सन्त्यपि, निर्वैराणि अभवन् । व्याघ्रादीनि सर्वाणि भूतानि साहजिकमपि वैरमत्यजन्नित्यर्थः ॥ २७ ॥ इतीति ॥ सः शक्रः इन्द्रः, इति गावश्च गोकुलं च तेषां पतिस्तं, गोविन्दं, अभिषिच्य, अनुज्ञातस्तेन कृष्णेन कृताभ्यनुज्ञः, श्रीकृष्णाधीनस्वाधिकारो भूत्वेति तात्पर्यम् । देवादिभिः वृतः परिवृतः सन्, दिवं स्वर्गलोकं प्रति, ययौ ।

देवानामस्म्यहं हीन्द्रो गवां त्वमिन्द्रतां गतः । लोके गोविन्द इत्येवं गास्यन्ति त्वां नरा भुवि ॥ १ ॥ २८ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्षपुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचितायामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

कृष्णेऽभिषिक्त इति : १०.२७.२७.

सामान्येऽप्यभिषिक्ते भूभृति सुखशालि भवति जनजातम् । तद्युक्तमेव तादृग् भूभृद्धरधरकराभिषेचनतः ॥ ७८ ॥
कृत्वा कृपानुग्रहमर्पितं मे यज्ज्ञानचक्षुर्मलमात्रहारि । धन्योऽस्मि पश्यामि च नित्यमक्ष्णां सहस्रमात्मीयमदुष्टमेव ॥ ७९ ॥
स्वरूपशोभः सुरताधिवासस्तथा सुधर्मोवनजागरूकः । स्वराढ्यवाद्यः कलितापमेघः कृपावलात्ते त्वमिवाहमासम् ॥ ८० ॥
इत्युक्त्वा तदनुज्ञातः सहस्राक्षः प्रभोगिरा । स्वस्थोऽप्यभूत् पुनः स्वस्थः सुखेनानुचरैः सह ॥ ८१ ॥
इन्द्रादप्यधिकस्तव प्रियतरो गोगोपसंघोऽभवत् यत्तत्त्राणकृते स देवपतिरप्यभ्योऽप्यधस्तात् कृतः ।
तस्मादेतदशङ्कमच्युत मया निर्णीतमस्मिञ्जने यस्त्वत्सेवनधीः स ते प्रियतरः स्वल्पोऽस्त्वनल्पोऽस्तु वा ॥ ८२ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

कृष्णप्रिया

ब्रह्मादि देववर्य, एवं देवोत्तम स्वरूप मन्त्रात्मक वेदों ने भगवान् श्रीकृष्ण पर दिव्य पुष्पों की वृष्टि की और भगवान का यशोगान करने लगे । भगवान के अभिषेक से तीनों लोक में परमानन्द छा गया । भावाविष्ट गौओं के उधस् थनों से दुध की धाराएँ वह चली, जिससे धरणी भींग गई ॥ २५ ॥ भाँति भाँति के रसों से भरपूर नदियाँ बहने लगी और रसों के पूर आ गए । तरुवरों के कोटरों में से मधुधाराओं बहने लगी ॥ २६ ॥ हे तात ! हे कुरुनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्ण का अभिषेक होने के समय जन्म से और स्वभाव से वैर वाले कूर-निर्दय जीवों ने भी परस्पर का साहजिक वैर को छोड़ दिया ॥ २७ ॥ इस प्रकार गोपों के एवं गौओं के नाथ श्री गोविन्द प्रभुजी का अभिषेक करके भगवान की आज्ञा लेकर नारदादि देवर्षियों के साथ देवराज इन्द्र ने अपने लोक स्वर्ग की और प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां तामसप्रकरणे हिन्दीभाषान्तरे सप्तविंशोध्यायः सम्पूर्णः ॥ २६ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

श्लोकाः	अनु.	उ.	श्लो. अ.	उ. अ.	अ. अ.	सं. श्लो. अ.	सं. श्लो.	अक्ष.
१६	१६	३	५२८	१८	४३	५८९	१८।	५

श्रीशुक[1] उवाच

एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम्। स्नातुं नन्दस्तु कालिन्द्या द्वादश्यां जलमाविशत् ॥ १ ॥
तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरोऽन्तिकम्। अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥ २ ॥
[2]चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्ण रामेति गोपकाः।
भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम्। [3]तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः[4] ॥ ३ ॥
प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया। महत्या पूजयित्वाऽऽह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥ ४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—नन्दः तु एकादश्याम् निराहारः जनार्दनम् समभ्यर्च्य द्वादश्याम् स्नातुम् कालिन्द्याः जलम् आविशत् ॥ १ ॥ आसुरीम् वेलाम् अविज्ञाय निशि उदकम् प्रविष्टम् तम् गृहीत्वा, वरुणस्य भृत्यः असुरान्तिकम् अनयत् ॥ २ ॥ गोपकाः तत्र तम् अपश्यन्तः हे कृष्ण! हे राम! इति चुक्रुशुः, भगवान् तत् वरुणाहृतम् पितरम् उपाश्रुत्य हे राजन् स्वानाम् अभयदः "भगवान्" विभुः तदन्तिकः ययौ ॥ ३ ॥ हृषीकेशम् प्राप्तम् वीक्ष्य तद् दर्शनमहोत्सवः लोकपालः महत्या सपर्यया पूजयित्वा आह ॥ ४ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अष्टाविंशे ततो नंदानयनं वरुणालयात् ॥ वैकुंठदर्शनं चाथ गोपानामनुवर्ण्यते ॥ १ ॥
गोवर्धनं समुद्धृत्य वंशे कृत्वाऽमरेश्वरम् ॥ नंदानयनतः कृष्णो वरुणं च वशेऽनयत् ॥ २ ॥ १ ॥

कलामात्रायां द्वादश्यां पारणादराभिनिवेशेनासुरीं वेलामविज्ञायारुणोदयात्पूर्वमेव शास्त्रबलेन निश्युदकं प्रविष्टं तदनभिज्ञो वरुणस्य भृत्योऽनयदिति। तथा च शास्त्रम् "कलार्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्ध्वमेव हि आमध्याह्नाः क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शंभुशासनात् ॥" इत्यादि। वक्ष्यति च वरुणः 'अजानता मामकेन' इति भगवद्धर्ममजानतेत्यर्थः ॥ २ ॥ स्वानां भगवद्धर्मपराणामभयदो मा भैष्टेत्यभयं ददत् ॥ ३ ॥ सपर्ययाऽर्हणेन ॥ ४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

ततः सप्तविंशाध्यायोत्तरम् (१)। अनयत् अकरोत् (२)। निराहारः व्रतघ्नाहाररहित उपोषितो वा। "अष्टैतान्यव्रतघ्नानि ह्यापो मूलं पयो दधि। हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥" इति हेमाद्रिः ॥ १ ॥ तम् नन्दम्। तदनभिज्ञः भगवद्धर्मानभिज्ञः। निशीथात् अर्द्धरात्रात्। कलार्द्धाम् त्रिंशत्पलीमताम्। शंभुः शंकरः ऋषिर्वा। "यामौ द्वौ मध्यमौ रात्रेरासुरः समयो मतः" इत्युक्तेरर्द्धरात्रात्परयामावशेषनिशातः परं प्रविष्ट इत्यवधेयम्। इत्यर्थ इति। सर्वज्ञोऽपि भगवद्धर्मानभिज्ञोऽज्ञ एवेति भावः। असुर एवासुरवेलायां जलारक्षायां नियुक्त इत्युक्तमसुर इति। यद्वा—सुरभिन्नोऽसुरो यक्ष एवेत्यर्थः ॥ २ ॥ तं नंदम्। गोपका रात्रौ स्नानार्थं गतस्य रक्षकाः। तद्रोपाक्रोशं पितरमानेतुमिति। तदंतिकम् वरुणसमीपम्। विभः सर्वतो दीप्तिमान् ॥ ३ ॥ लोकपालो वरुणः। तद्दर्शनेन कृष्णदर्शनेन महानुत्सवो यस्य स तथा ॥ ४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रसङ्गादद्भुतचरितमेवानुवर्णयन् आदौ ऐश्वर्यमदानर्थतामेव दर्शयन् इन्द्रस्येव वरुणस्यापराधं वक्तुं तत्प्रसङ्गमारभते—एकादश्यामित्यादिना मुदमिन्त्यंतेन। एकादश्यां वृद्ध्या ह्रासेन वा किञ्चिन्मात्रनिष्क्रान्तायां तस्यां षट्प्रहरावेव तद्यतनकालं व्याप्येत्यर्थः। द्वादश्यां पारणाह निःक्रान्ते किञ्चित् द्वादश्यादिप्रहरद्वयावसरतद्यतनकाल इत्यर्थः। किञ्च सम्यक् अभितोऽर्चयित्वा परमभागवताग्र्यत्वेन यथाविधि सजागरणपूजाविशेषं कृत्वेत्यर्थः। जनैः भक्तैरर्च्यते अतृप्ततया नित्यं भक्त्यर्थं याच्यत इति तथा तम् इति परमकृतार्थस्यापि तस्य निराहारत्वेन समभ्यर्चने हेतुः अत एव कालिन्द्यां भगवद्भक्तिविवर्द्धन्यां स्नातुं जलमाविशत्

१. श्री बादरायणिः—प्रा. पा.। २. गोपाश्चुक्रुशुः कृष्ण रामेति दृष्ट्वा शुः—वि ज.। ३. नन्दान्तिक—प्रा. पा.। ४. हरिः—प्रा. पा.।

तुशब्देनान्यो नाविशत् किन्तु गृह एव सस्नाविति व्यञ्जयित्वा तस्य यमुनास्नानाग्रहं बोधयति ॥ १ ॥ असुर इति जात्यैव वैष्णवधर्माज्ञत्वमुक्तं तथाऽऽसुर्य्यां वेलायां जलरक्षणे बलिष्ठस्य तस्यैव योग्यत्वं च दर्शितं वरुणस्य भृत्य इति तस्यापि दोषापत्तिः अवज्ञाय अनादृत्य ॥ २ ॥ चुक्रुशुरित्यर्द्धकम् । गोपकाः महाराजस्य तस्य चतुर्दिक् रक्षका जनाः ॥ तत्क्रोशनं दूरगोपि उप समीप एव श्रुत्वा पितरं वरुणाहृतं च ज्ञात्वेति शेषः तदन्तिकं गतः तत्र कैमुत्येन हेतुः विभुर्व्यापक इति स्वानां गोपज्ञातिमात्राणामभयदः किम्पुनः पितुरित्यर्थः ॥ ३ ॥ हृषीकेशं सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकम् इतीन्द्रियवृत्त्यगोचरमपि प्राप्तं वीक्ष्य निकटमागतं ज्ञात्वेत्यर्थः । ततश्चोपव्रज्येति ज्ञेयं लोकपाल इति महासपर्य्यया सामर्थ्यं द्योतितं ततस्तदैव लोकपालत्वं सफलं वृत्तमिति च तद्दर्शनेन महानुत्सव आनन्दो यस्येति तादृशपूजने हेतुः, एतदुक्तं भवति; पूर्वं श्रीभगवतो दुर्जनानुचरे तस्मिन् क्रोध एव जातः सङ्गत्य तु तं सभयतायामपि नातिव्यग्रं सदण्डवन्नतितयोपव्रजन्तं च दृष्ट्वा निश्चितस्वाभीष्टलब्धितया तस्य तत्र क्षमावलितवृष्टिर्जाता ततश्च तस्य तद्दर्शनमहोत्सवो जातः ततश्च स्तुतिपूजादिकं तेनारब्धमिति ॥ ४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

प्रसंगादद्भुतचरितमेवानुवर्णयन्नादौ ऐश्वर्य्यमदानर्थतामेव दर्शयन् इन्द्रस्येव वरुणस्याप्यपराधं वक्तुं तत्प्रसंगमारभते—एकादश्यामित्यादिना मुदमित्यन्तेन । एकादश्याः वृद्ध्या ह्रासेन किञ्चिन्मात्रनिष्क्रान्तायां तस्यामिति ज्ञेयम्; पारणाहे किञ्चिन्निष्क्रान्तद्वादश्यपेक्षयारात्रौ स्नानार्थं जलप्रवेशात्; किञ्च, सम्यगभितोऽर्चयित्वा परमभागवताग्र्यत्वेन यथाविधि सजागरणपूजाविशेषं कृत्वेत्यर्थः । जनैर्भक्तैरर्द्दयं ते अतृप्ततया नित्यं भक्त्यर्थं याच्यत इति तथा तम्, इति परमकृतार्थस्यापि तस्य निराहारत्वेन समभ्यर्च्चने हेतुः, अतएव कालिन्द्यात् भगवद्भक्तिविवर्द्धिन्यां स्नातुं जलमाविशत्, भक्त्या जले निममञ्जेत्यर्थः । इन्द्रोऽसौ कृष्णं त्यक्त्वा स्वाराज्यमुपभोक्तुं ययौ, नन्दस्तु पुत्रत्वेन प्राप्तकृष्णोऽपि भगवद्धर्म्ममपि न त्यजतीति तु-शब्दार्थः; यद्वा, परवाक्यापेक्षया तु-शब्दः, स्नानन्तु भक्त्यर्थमेव चक्रे ॥ १ ॥ देवप्रवरस्य लोकपालस्य वरुणस्य भृत्यस्तु तं धृत्वा अनयदित्यहो ऐश्वर्य्यमदान्धतेति भावः । असुर इति जात्यैव वैष्णवधर्म्माज्ञत्वमुक्तम्, तथासुर्य्यां वेलायां जलरक्षणे बलिष्ठस्य तस्यैव योग्यत्वं च दर्शितम् । ननु तर्हि वरुणस्य को नाम दोषः ? तत्राह—वरुणस्येति, भृत्यस्य दोषेण स्वामिनोऽपि दोषापत्तेः; श्रीनन्दानयनार्थं भगवदिच्छयैव तेन तन्नयनं बोद्धव्यम्, अन्यथा कथमपि तदसम्भवात्, तच्चाग्रे व्यक्तं भावि । अवज्ञाय अनादृत्य ॥ २ ॥ कृष्ण रामेत्येवं चक्रुशुः उच्चैरकीर्त्तयन्, परमार्त्तौ भगवन्नाममात्रैकस्फूर्त्तेः, तत्र कृष्णनाम्न आदौ क्रोशनं स्वभावतस्तस्मिन् प्रीतिविशेषात्, तस्य माहात्म्यविशेषाच्च । यद्वा, हे कृष्ण हे रामेति द्वावेव भ्रातरावुच्चैराह्वयामासुः, गोपकास्तत्संगे स्नानार्थं गता गोपा एवेत्यर्थः; यद्वा, महाराजस्य तस्य चतुर्दिग्रक्षका जनाः ॥ ३ ॥ तत्क्रोशनं पितरं च वरुणाहृतमुप समीप एव श्रुत्वा, इति श्रीभगवन्तमपि तत्पश्चात्तत्रैव गच्छन्तं बोधयति; यद्वा, तत्तस्मात् क्रोशनात्, अतो दूरेऽपि समीपवच्छ्रवणात् क्रोशनस्याविष्टत्वं सूचितम् । हे राजन्निति—यथा अश्वत्थाम्नोऽस्त्रात् क्रोशतां त्वत्पितामहानामभयं दत्तवांस्तथेति भावः; यद्वा, राजमानः कोपेनाविर्भूततेजोविशेषात्; यतो विभुर्व्रजजनैकप्रभुः; यद्वा, व्यापकस्तत्रैव वर्त्तमानोऽपि स्नेहार्दतित्वरया सद्य एव तत्र गत एवेत्यर्थः । भगवानिति जगद्धितार्थं निजकारुण्याद्यशेषगुणप्रकटनपर इत्यर्थः । अयं भावः—यद्यपीच्छामात्रेण सद्य एवासुरात् नन्दं मोचयितुं शक्तस्तथापि परमकृपया वरुणस्य हितार्थं नन्दानयनच्छलेन तत्र गत इति ॥ ४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

अथ वरुणदूताहृतनन्दनयनस्वलोकप्रदर्शनात्मकं कर्मानुवर्णयत्यष्टाविंशेन—एकादश्यामिति । कदाचिन्नन्द एकादश्यां निराहारो जनार्दनं सम्यगभ्यर्च्य कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाभिनिवेशेनासुरीमसुरसञ्चारसहचरितां वेलामर्द्धरात्ररूपामविज्ञायैव तदा स्नातुं कालिन्द्याः यमुनायाः जलम् विवेश प्रविष्टः ॥ १ ॥ तं निश्युदकं प्रविष्टं नन्दं वरुणस्य भृत्यः असुरो गृहीत्वा वरुणस्य समीपमनयत् ॥ २ ॥ ततः प्रभाते तं नन्दमपश्यन्तो गोपाः हे कृष्ण राम ! इति चुक्रुशुः रुरुदुःआजुहुवुर्वा तदा भगवांस्तदाक्रोशनं वरुणाहृतं नन्दं च श्रुत्वा ज्ञात्वा चेतिशेषः हे राजन् ! स्वानाममभयदः विभुः समर्थः । हेतुगर्भमिदम् एवंविधत्वात्तस्य वरुणस्यान्तिकं गतः ॥ ३ ॥ तदा लोकपालो वरुणः स्वान्तिकं प्राप्तं कृष्णमवलोक्य तस्य दर्शनमेव महानुत्सवो यस्य तथाभूतो महत्या सपर्य्यया पूजयासाधने पूजयित्वा ऽब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

भक्तजनानुकम्पार्थो ऽयमवतारो नात्मार्थम् इति दर्शयितुं वरुणपाशान्नन्दगोपमोचनं नन्दादीनां स्वलोकप्रदर्शनञ्च कथयत्यस्मिन्नध्याये, शुक इति । तत्र वरुणपाशग्रहणं कथं नन्दस्याऽभूदितीदं वक्तुमारभते—एकादश्यामिति । व्रतघ्नाहारो नास्तीति निराहारः ॥ १ ॥ आसुरीं वेलां निशीथकालम् ॥ २ ॥ वरुणभृत्येनाहृतमपि वरुणाहृतमिति वचनं वरुणस्य स्वामित्वात् भृत्यापराधे स्वामिनो दण्ड इति यथा तथा युज्यत इत्यर्थः ॥ ३-४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

एकादश्यां स्वल्पमात्रैकादश्युपलक्षितषट्प्रहरतदुत्तरतद्यतनकालं व्याप्येत्यर्थः। द्वादश्यां पारणाऽनिष्क्रान्तकिञ्चिद्द्वादश्यादिप्रहरद्वयारब्धतद्यतनकाल इत्यर्थः। तुशब्देनान्यो नाविशदिति व्यज्य तस्य तादृशभगवद्धर्मतत्त्वज्ञतां बोधयति अवज्ञाय अनादृत्य तत्क्रोशनमुपश्रुत्य पितरञ्च वरुणाहृतं विज्ञायेति शेषः ॥ १–४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अष्टाविंशेऽभवन्नन्दाहरणं वरुणस्तुतिः। गोपानां विस्मयोत्सुक्यं ब्रह्मवैकुण्ठदर्शनम् ॥
इन्द्रस्यागद्य तत्क्षतिमुक्त्वा स्वस्मृतिमागते। वरुणस्यापि ते वक्तुमाह लीलान्तरं मुनिः ॥

जलमाविशदित्यरुणोदयादपि पूर्वं कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाप्राप्त्यर्थं शास्त्राज्ञावलेनैवेति ज्ञेयं, तथा च शास्त्रम्—कलार्द्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्द्ध्वमेव हि। आमन्याह्णः क्रियास्सर्वाः कर्त्तव्याः शम्भुशासनात् ॥ इति ॥ १ ॥ वरुणस्य भृत्योऽसुरः वरुणस्यान्तिकम् अनयत् तत्र हेतुः आसुरीं वेलामविज्ञाय उदकं प्रविष्टमित्यज्ञानेनैव तस्मिन् दोषकल्पनं श्रीनन्देन तु शास्त्राज्ञावलेनैवोदके प्रविष्टत्वात् अत एवाग्रे वक्ष्यते "अजानता मामकेन मूढेन" इति ॥ २ ॥ गोपकाः स्नानार्थं रात्रौ गतस्य तस्य रक्षकाः तत् क्रोशनम् उपश्रुत्य तदानीं दूरतः पुष्पशय्यायां शयानोपि निकट एव श्रुत्वेति तस्य सर्वदेशवर्त्तित्वात् पितरं वरुणाहृतं ज्ञात्वेति शेषः तदानीमेव रक्षकगोपानां निकटमेत्य क मे तातो निममज्जेति (पृ) दृष्ट्वा तत्रैव तटात् सझपं निमज्य तदन्तिकं वरुणान्तिकं गतः स्वानामभयदः ततः सकाशान्नन्दमानीय ज्ञातीनामभयं दास्यन्नित्यर्थः ॥ ३–४ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अष्टाविंशेऽध्याये वरुणलोकाच्छ्रीनन्दानयनं ब्रह्महृदे गोपानां परमधामदर्शनं च वर्णयति–एकादश्यामिति—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्याशतानि च। अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति सम्प्राप्ते हरिवासरे ॥
रटन्तीह पुराणानि भूयो भूयो वरानने। न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं संप्राप्ते हरिवासरे ॥
एकादशीव्रतं यस्तु भक्तिमान् कुरुते नरः। स याति परमं स्थानं यत्र देवो हरिः स्वयम् ॥

इत्यादिशास्त्राज्ञया एकादश्यां नन्दो निराहारः जनार्दनमभ्यर्च्य द्वादश्यां यदा व्रतं तत्पारणं त्रयोदश्यां भवति "त्रयोदश्यां तु पारणम्" इत्यादिवचनात् एकादशीव्रतपारणं तु द्वादश्यामेव "न द्वादशीमतिक्रमेत्" इत्यादिवाक्यात् इत्येवं निर्णयवित् कदाचिदल्पायां द्वादश्यां पारणार्थं—

"कलार्द्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्द्ध्वमेव हि। आमध्याह्नः क्रियाः सर्वाः कर्त्तव्याः शम्भुशासनात्" ॥ इति

शास्त्रबलेन निशीथात्कलार्द्धादित्योदयपर्यन्तकाले एव आमध्याह्नक्रियासमाप्तिकाम आसुरीं वेलामविज्ञाय निशीथादुपरि द्वादश्यां स्नातुं कालिन्द्याः जलमाविशदित्यर्थः ॥ १ ॥ एवमासुरीं वेलामविज्ञाय निशि उदकं प्रविष्टं श्रीनन्दं गृहीत्वा वैष्णवधर्मानभिज्ञो वरुणस्य भृत्योऽसुरः वरुणान्तिकमनयत् ॥ २–३ ॥ लोकपालो वरुणः सपर्ययाऽर्हणेन ॥ ४ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

॥ हरिः ॐ ॥ संसारसागरात्कंसारिरहमेवोत्कृष्टानुत्कृष्टमीश इति भावमाविष्कुर्वन् जलचरनीतं तातममूमुचत्स्वलोकं चैतदादीनामदर्शयदिति कथयत्यस्मिन्नध्याये। तत्रादौ नन्दः क क स नीरचरः कथं नयनमित्यतस्तत्पूर्वरङ्गं सङ्गमयति शुक इत्याह। श्रीशुक इत्यादि। एकादश्यां निर्गत आहारो यस्य स जनार्दनमभ्यर्च्य द्वादश्यामल्पीयस्यां स्नातुं नन्दः कालिन्द्या यमुनाया जलमाविशत्प्रविवेश। तुः साधनादिसद्भावसूचकः ॥ १ ॥ वरुणस्य भृत्यस्तं नन्दं गृहीत्वा वरुणस्यान्तिकं समीपमनयत्। तत्र तन्त्रमाह। अविज्ञायेति। वरुणभृत्यः स्वयमविज्ञाय कलार्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्ध्वमेव हि। आमध्याह्नः क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुशासनादित्यादिशास्त्रमज्ञात्वा निश्यल्पीयस्यां सत्यामप्यासुरी वेलां मत्वेति शेषः। अवज्ञायेति पाठेऽसुरवेलामविज्ञायानालक्ष्य प्रविष्टमित्यन्वयः। शास्त्रसम्मत्या तदवज्ञानमिति ज्ञेयं। यद्वक्ष्यति च वरुणोऽजानता मामकेनेति ॥ २ ॥ गोपालास्तं नन्दमपश्यन्तः कृष्णरामेति चुक्रुशुः। तत्प्रदाननिदानं दानवारिः कृष्ण एवेति तत्पुरस्कृतिः। चुकूजुः। भगवांस्तत्जनकूजनमुपसृत्य वरुणाहृतं नैपुणेनत्वाद्वरुणाहृतमित्युदाहृतं निशम्य ॥३॥ तदन्तिकं वरुणसमीपं गतः स्वानामभयदः। न नास्ति सामर्थ्यमित्याह। विभुरिति। लोकपालो वरुणः। न च वञ्चनरचनमत्र सम्भवीत्याह। हृषीकेशमिति। महत्या सपर्यया तत्साधनेन पूजयित्वा तद्दर्शनमहोत्सव आह ॥ ४ ॥

श्रीसुबोधिनी

पञ्चविंशे तु वरुणान् नन्दं मोचयिता हरिः। ततः सर्वान् स्ववैकुण्ठे नेष्यतीत्युच्यते फलम् ॥ १ ॥
अभिषेकश्च तद्दृष्टो देवस्तोत्रादिकं श्रुतम्। ज्ञाते देवोत्तमत्वे तु द्रष्टव्यं पौरुषं परम् ॥ २ ॥
अन्यथा नन्दविज्ञानं भवेत् पर्यवसायि तत्। अतस्तन्निग्रहो वाच्यो वरुणस्तेन सेवकः ॥ ३ ॥
कालाद्युपासकश्चेत् स्याद् भगवत्सेवकः क्वचित्। ततः क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते ॥ ४ ॥
ततो माहात्म्यविज्ञानं पूर्णं तस्य भविष्यति। ततश्चिन्तनमात्रेण भगवान् स्वपदं नयेत् ॥ ५ ॥

भगवतः सम्पूर्णमाहात्म्यज्ञानार्थं निरुद्धानां वैकुण्ठे गमनमुच्यते तदर्थं प्रथमं धर्मबुद्ध्या मर्यादायां प्रवृत्तस्य सर्वथा भगवन्तमभजतो नन्दस्यानर्थसम्बन्धमाहैकादश्यामिति, स हि विष्णुव्रतपरायणो धर्मनिष्ठश्चान्यस्य माहात्म्यज्ञानं न स्यादिति तथोच्यते माहात्म्यज्ञापनार्थमेव नयनमतो न वरुणो निगृहीतः, एकादश्यां निराहारः सन् जनार्दनं मोक्षदातारं सम्यगभ्यर्च्य नन्दो व्रते स्वधर्ममपि कर्तुं वैष्णवं पक्षमाश्रित्य वैदिकपक्षं त्यक्त्वार्धरात्रसमये द्वादश्यां जातायां कालिन्द्यां प्रवाहमध्ये जलमाविशत्, "मुहूर्तार्धावशिष्टायां पारणं प्रति निशीथात् सम्यगुत्थाय क्रियाः कुर्याद् यथोचितम् अग्निहोत्रादिकर्माणि तथा नैमित्तिकानि च आ मध्याह्नात् क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुचोदनाऽऽदिति वैष्णवधर्मविश्वासात् स्नातुं प्रवृत्तः ॥ १ ॥ तद्रक्षको वरुणस्य सेवकोन्यायं करोतीति मत्वा वैष्णवधर्मापरिज्ञानात् तं बद्ध्वा नीतवानित्याह तं गृहीत्वेति, वरुणस्यैव भृत्यो वरुणस्यान्तिकमनयत्, तस्य नयनेभिप्रायमाहाविज्ञायेति, सासुरी वेला यस्तत्र धर्मं करोति तदसुरगामि भवतीममर्थं नन्दोऽज्ञात्वा जलं प्रविष्ट इति विज्ञायानयत्, वस्तुतोयमपि न जानाति तदग्रे वक्ष्यति वरुणोजानतेति ॥ २ ॥ ततस्तं मोचयितुं सर्वे गोपालाश्चुक्रुशुः कृष्णरामेति, अकस्माज्जले प्रविष्टः पश्चान्न दृष्ट इति तं नन्दमपश्यन्तः सर्वावस्थासु सर्वकार्येषु चोपायान्तरमलभमाना भगवन्तमेव विज्ञापयन्ति यतो गोपका अल्पा गोपास्तदा भगवान् गृह एव स्थितः शयनो दूरादेव कृष्णरामेतिवचनमाकर्ण्य पिता वरुणेन हृत इति ज्ञात्वेत एव वरुणान्तिकं गतः प्रायेणोक्त्वा गतोन्यथा महद् भयं स्यात्, भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयत्यन्यथैवं न कुर्यात् तत् साधनदशायां च वक्तव्यं, आवश्यकफले पूर्वं कृते कर्मणि सति कर्मणोनिवृत्तत्वान्न प्रवेशः सम्भवतीत्यतो वरुणस्यान्तिकं स्वयमपि गतः, अन्यथा वरुणमेवाकारयेन् नन्दं वा कर्षेत्, माहात्म्यं च ज्ञापनीयमतः स्वयमेव गतः, राजन्निति सम्बोधनं राजधर्म एतादृश इति ज्ञापयितुमनुपेक्षणीयाः सेवका इति, किञ्च स्वानामभयदो यदि शीघ्रं न गच्छेदिदानीं भक्तानां भयं न निवर्तेत, विभुरिति सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थः, न हि भूमावतीर्णोत्रैव किञ्चित् करोति नान्यत्रेति, अन्यथा लीलाया अन्ते तान् वैकुण्ठे न नयेदवतारान्तरवदतः कृष्णः सर्वत्र सर्वसामर्थ्ययुक्तः ॥ ३ ॥ ततो यज् जातं तदाह प्राप्तं वीक्ष्येति, ननु पूजात्र न वक्तव्या मोचयितुमेव गतोपकारिगृहे च पूजा न ग्राह्यातः कथं पूजां कृतवानित्यशङ्क्याह प्रकर्षेप्राप्तं समागतं भगवन्तं वीक्ष्य पूजयामास तत्र हेतुर्हृषीकेशमिति, इन्द्रियाधिपतिरयं, यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगः पश्चात् तस्य न स्यात्, अनिवेदितभोगे दोषश्च स्यात्, यथा देवेष्विन्द्र एवं दैत्येषु वरुणः, यद्यत्रैव तां श्रियं गृह्णीयाद् दैत्या न हता भवेयुरतस्तत्रैव गत्वा गृहीतवानन्यथा भिन्नसत्ताके जाताः पदार्था भगवद्भक्तानां शुद्धिहेतवो न भवेयुः, जीवास्तु त्रिविधा एव "देवमानुषदानवा" इति, तत्र मानुष्याकृत्या देवोभिषेकेण दैत्येश्वरपूजां च गृहीतवानतस्तस्मिन् समये सर्वमेव पुष्ट्युपयोगि फलसाधकं च भवति, तस्य सर्वस्वनिवेदनपूर्विकां पूजामाह लोकपालः सपर्ययेति, स हि सर्वेषामेव दैत्यानां लोकान् पात्यतः स्वस्य यावती सपर्या पूजासामग्री ततोप्यधिका कृताग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य पूजां कृतवान्, तदाह महत्येति, न केवलं कायिकीमेव सेवां कृतवान् किन्तु वाचनिकीमपि, 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपऽमिति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति, वक्ष्यमाणमाह किञ्च तस्य दर्शनेनैव महानुत्सवो यस्य, समागते महानाह्लादो मानसिकी पूजा, स्तुतियोग्यः स्तुतिं कुर्याद् भगवद्गुणवर्णनम् ॥ ४ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

पञ्चविंशेध्याये तात्पर्योक्तौ, अन्यथा नन्दविज्ञानमिति। यदि वरुणैश्वर्यतदास्यस्वानयलक्षणं पुरुषसम्बन्धि यत्परं माहात्म्यं पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानजनकमिति यावत् तद्दर्शनं न स्यात्तदा तत्तदेव पूर्वोक्तं नारायणांशत्वेन देवोत्तमत्वेन यज्ज्ञानम्, वस्तुतस्तु पुरुषोत्तमविषयकमेवं ज्ञानं भक्तिमार्गविरुद्धं, पर्यवसायि पर्यवसानशीलं स्यादित्यर्थः। तथा सत्यग्रे भजनानन्दानुभवो न स्यात्, तद्विरुद्धज्ञानवत्त्वाद्, अतो निरवधिमाहात्म्यवत्त्वेन पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानं जननीयम् भक्तिमार्गविरुद्धज्ञानवत्त्वेन निग्रहश्च कार्यः। वरुणद्वारा भगवानुभयं कारितवानिति वरुणं सेवकत्वेन प्रभुर्मनुत इत्यर्थः।

(२) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

पञ्चविंशाध्यायप्रथमकारिकायां मोचयितेति तृजन्तं, स्ववैकुण्ठे नेष्यतीति अधुनापि व्यापिवैकुण्ठ एव लीला, "रमाक्रीडमभूऽऽदिति पूर्वमेवोक्तेस्तथापि भगवतो मानुषभावस्वीकारे व्यापिवैकुण्ठस्यापि प्राकृतभावस्वीकारः, अधुना अर्जुनस्य मानुष-

भावरहितं स्वरूपमिवैतेषां प्राकृतभावरहितं वैकुण्ठं प्रदर्शयिष्यतीत्यर्थः, देवा इति दृष्ट्वा इतिवचनविपरिणामेन पूर्वेणान्वयः, पर्यवसायीति अंशत्वे एव पर्यवसन्नं भवेत् न तु पुरुषोत्तमत्वे इत्यर्थः ॥ ० ॥ एकादश्यामित्यस्याभासे अनर्थसम्बन्धमिति नन्दे अनर्थं सम्बध्नाति तादृशं जलप्रवेशमाहेत्यर्थः ॥ १ ॥ तदन्तिकमित्यत्र निरोधलीलामिति अनुशयनलीलामित्यर्थः, साधनेति यागदशायामित्यर्थः, फलेति वृष्टिदशायामित्यर्थः, अत्र साधनदशायामप्रवेशने हेतुमाहुः आवश्यकेति, पूर्वं तु प्रयोजनाभावान् न प्रवेशः, पश्चात् तु कर्म निवृत्तमेव, अतो वरुणहरणरूपफलदशायामेव प्रवेश इत्यर्थः, लीलाया अन्ते इति वरुणनिग्रहलीलान्ते इत्यर्थः ॥ २ ॥ प्राप्तं वीक्ष्येत्यत्र दैत्या न हता इति अत्रागमने प्रपन्ना एव भवेयुरित्यर्थः, अन्यथेति तत्र गमनाभावे तद्देशस्य शुद्ध्यभावादितिभावः ॥ ४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

पञ्चविंशाध्यायार्थोक्तौ नेष्यतीत्युच्यते फलमिति वैकुण्ठे गोपान् नेष्यतीति फलमवान्तरफलमित्यर्थः, पर्यवसायीति स्तुतीन्द्रकृताभिषेकदेवदर्शनादिना श्रीकृष्णो देवोत्तम इति ज्ञाते सति परं पौरुषं द्रष्टव्यं अन्यथा इन्द्रदमनादिमात्रं पौरुषं श्रीकृष्णेऽस्तीति ज्ञाते तावन्मात्रत्वे ज्ञानस्य पर्यवसानं स्यादित्यर्थः, अतः श्रीनन्दस्य निग्रहो वाच्यः, तथा सति वरुणलोके वरुण-वैभवं दृष्ट्वा भूमौ तादृग्वैभवस्य कदाप्यदृष्टत्वात् तादृग्वैभववतो वरुणस्य भगवति प्रपत्तिं दृष्ट्वा अयं भगवान् सर्वश्रेष्ठ इतिज्ञानम-भूदित्यर्थः, तेन सेवक इति यतो वरुणेन श्रीनन्देऽपहृते श्रीनन्दस्य वरुणवैभवदर्शनेन भगवत्परमवैभवदिदृक्षाभूत्, ततो भगवान् वैकुण्ठं प्रदर्शितवान्, एतावानुपकारो वरुणकृतनिग्रहेण जात इति भक्तोपकारकरणं वरुणस्येति, तेन हेतुना नन्दनिग्रहरूपेण वरुणस्य सेवकत्वमित्यर्थः, ननु श्रीनन्दस्य परमभक्तस्य क्लेशप्राप्तिः कथमित्याशङ्क्याहुः कालाद्युपासकश्चेदित्यारभ्य क्लेशमवा-प्नोतीत्यन्तेन, भगवत्सेवकः श्रीनन्दो द्वादशीरूपकालविशेषोपासको जातस्ततो दुःखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ० ॥ तदन्तिकं गत इत्यत्र ननु व्रजपतेरानयनार्थं भगवता वरुणसमीपे गतं तन् न कर्तव्यं वरुणस्य सेवकत्वात् सेवकगृहे स्वामिगमनस्यानुचितत्वादित्या-शङ्क्याहुः भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्ट इति, एतदर्थं नन्दादीनां प्रयोजनसिद्ध्यर्थं निरोधलीलां प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वकस्वासक्तिसम्पादकलीलां भक्तानामर्थे स्वसेवकवरुणगृहगमनलीलां स्वयं कृतवान् यया वरुणगृह-गमनलीलया श्रीनन्दादीनामेतादृशं ज्ञानमभूद् यदयं श्रीकृष्णोऽस्मदर्थे स्वायोग्यमपि कार्यं श्रमबहुलं करोति, ततश्च तादृशज्ञानात् श्रीकृष्ण एव तेषां परमासक्तिरभूदितिभावः, नन्वेतेषां निरोधसिद्ध्यर्थं वरुणगृहे गतमिति कुतो ज्ञायते इत्याकाङ्क्षायामाहुः यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयतीति, यद् यस्माद्धेतोः सर्वकर्मसु कुमारिकाकर्तृ-कव्रतकर्मयजमानकृतयागकर्मश्रीव्रजेन्द्रकृतेन्द्रयागकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तत्र तत्र तदीयपदार्थानां स्वस्मिन् विनियोगं कारितवानतो निरोध्यानां भक्तानां कर्मसु स्वयं पूज्यत्वेन प्रविष्ट इत्यर्थः, तथा चान्यत्र विनियुक्तान् स्वकीयान् कर्तुं एतावत्ताग्रहेण स्वयं पूज्यो भवत्यतो ज्ञायते प्रकृतेपि वरुणगृहगमनं निरोध्यानां निरोधसिद्ध्यर्थमेवेति, तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वेति अन्यार्थं क्रिय-माणानि कर्माणि भगवत्कर्माणि कृत्वेत्यर्थः, तद् यथा कुमारिकाप्रसङ्गे कात्यायनीपूजने कात्यायनीस्वरूपेण स्वयं प्रविष्टः स्वपूजां कारितवान्, तदुक्तं "भगवानेव वा गुणातीत" इति तत्रत्यसुबोधिन्यां, यजमानयज्ञप्रसङ्गे यजमानपत्नीद्वारा तदीयपदार्थानां स्वस्मिन् विनियोगं कारितवान्, इन्द्रमखभङ्गप्रसङ्गे श्रीगोवर्धनस्वरूपेण सर्वसामग्रीस्वीकारं कृतवान्, यतः सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः, अतः प्रकृतेपि श्रीनन्दानयनार्थं स्वयं गत इति ज्ञेयं, तेभ्यस्तान् मोचयतीति तेभ्यः अन्योद्देश्यककर्मभ्यस्तान् भक्तान् मोचयती-त्यर्थः, अन्यथा यदि स्वकीयकरणरूपं प्रयोजनं न स्यात् तदा अन्योद्देश्यककर्मसु विघ्नमेव कुर्यान् न तु पूज्यत्वेन स्वप्रवेशं, तदाहुः अन्यथा एवं न कुर्यादिति, अर्थस्तु एवं स्वप्रवेशेन कर्मभ्यो मोचनं न कुर्यादित्यर्थः, विघ्नमात्रकरणे तु कालान्तरे पुनरपि कुर्युः, अन्यदेवस्थाने स्वप्रवेशे तु तदेव भगवत्कर्म सर्वदा कुर्युर्यथान्नकूटोत्सवमितिभावः, तत्साधनदशायां फलदशायां च वक्तव्यमिति तत् कर्मभ्यो मोचनं साधनदशायां फलदशायां च श्रीनन्दस्य वक्तव्यं मुख्यद्वारा सर्वेषां बोधसम्भवादित्यर्थः, साधनदशायां द्वादशीव्रते वरुणकृतोपद्रवं निवर्त्य तत्कर्मतो नन्दस्य मोचनं फलप्रकरणे अम्बिकावनगमनप्रसङ्गे सुदर्शनसर्पतो नन्दं मोचयित्वा अन्यदेवतोद्देश्यककर्मभ्यो मोचितवान्, एतादृशसुदर्शनसर्पजन्यदुःखस्यानुभूतत्वात् तत्प्रभृति देवतान्तरभजनं न कृतं भगवता मोचितत्वाद् भगवत्तोषजनकमेव कर्म कृतमितिभावः, ननु शक्रयागभङ्ग इव प्रकृतेपि पूज्यत्वेन स्वयमेव कुतो न प्रविष्टस्तत्राहुः आवश्यकफले इत्यारभ्य सम्भवतीत्यन्तं, द्वादशीव्रतलक्षणं कालप्रधानं कर्म पूर्वमेव जातं, ततो निवृत्तं कर्मेति कर्मणि न भगवतः प्रवेशः सम्भवतीत्यर्थः, एवं सति भगवत्प्रवेशाभावादस्मात् कालप्रधानकर्मणो निवृत्तिर्न भविष्यत्यतः कर्मतो निवर्तयितुं तत्कर्मणि वरुणकृते उपद्रवे श्रीनन्दं मोचयितुं स्वयं गतस्तथा च कर्मण्यनादरो भविष्यति दुःखानुभवस्य जातत्वात्, भगवत्यादरो भविष्यति दुःखमोचकत्वात्, ततश्च भगवत्तोषजनकं भक्तिमार्गसरणिसिद्धं कर्मैव करिष्यन्तीत्यन्यकर्मभ्यो मोचनमेवम्प्रकारेण सिद्धमिति-भावः ॥ ३ ॥ प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशमित्यत्र हृषीकेशपदतात्पर्यमाहुः इन्द्रियाधिपतिरयं यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगः पश्चात् तस्य न स्यादिति भोगमात्रस्य चेन्द्रियसाध्यत्वादिन्द्रियाणां च हृषीकेशनियम्यत्वात् हृषीकेशपूजनाभावे हृषीकाणां भोगो न

स्यादितिहार्दं, यद्यत्रैव तां गृह्णीयाद् दैत्या न हताभवेयुरिति अत्रैव व्रज एव स्थित्वा सपर्यां श्रियं गृह्णीयात् तदा दैत्यानामत्रागमने पूजादर्शने सत्सङ्गेन प्रपत्तिरेवोदियात् ततश्च न हता भवेयुरितिभावः, अन्यथा भिन्नसत्ताक इति यदि वरुणपूजां न गृह्णीयात् तदा वरुणदेशे भगवत्सम्बन्धाभावजन्याशुद्धया तत्रोत्पन्नाः पदार्था भगवद्भक्तानां वरुणादीनां शुद्धिहेतवो न भवन्तीत्यर्थः, तत्र मानुषा आकृत्येति अङ्गीकृता इतिशेषः, मानुषा आकृत्या स्वरूपसौन्दर्येणाङ्गीकृता इतिभावः, देवौभिषेकेणेति देव इन्द्रः अभिषेकेण हेतुना इन्द्रकर्तृकेन भगवता अङ्गीकृतः, देवपदेन इन्द्रं गृहीत्वा मुख्यत्वात् सर्वे देवा गृहीता इति बोध्यं, दैत्येश्वरपूजामिति दैत्येश्वरस्य वरुणस्य पूजां गृहीतवान् पूजाग्रहणेन सोप्यङ्गीकृतः, तदङ्गीकृत्यैव ये भक्ता दैत्येषु ते सर्व एव, एवं मानुषदैवदैत्या ये भक्तास्ते सर्वे निरुद्धा इति बोधितं, महत्या पूजयित्वाहेत्यस्याभासे अग्रे जानमानभोगमपि मध्ये निवेश्येति सर्वेषां स्वकीयपदार्थानां शुद्ध्यर्थं पूजा, यतः पूजया सर्वं भगवदुच्छिष्टं विधाय उच्छिष्टेन भोगः कर्तव्य इति मार्गमर्यादा, एवं सति जनिष्यमाणभोगान् पदार्थान् पूर्वं समर्प्य सर्वैर्भगवदीयैर्भुज्यन्ते, वरुणेन तु जायमानभोगा अपि पदार्थास्तद्भोगं निवार्य भगवते समर्प्यन्ते भगवदुच्छिष्टाः पुनर्भोक्ष्यन्ते इत्याशयेन, तदेतदाहुः मूले महत्येत्यनेन, किन्तु वाचनिकीमपीति वाचनिकीमपि पूजां स्तुतिरूपां कृतवानित्यर्थः, तदुक्तं मूले महत्या पूजयित्वाहेत्यनेन, मानसिकी पूजा कुतो नोक्तेत्याकाङ्क्षायां मानसिक्याः पूजाया वाचनिक्यां पूजायामन्तर्भावमाहुः मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमिति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीत्यनेन, वाचः उत्तररूपत्वादुत्तररूपस्य पूर्वरूपं विनाऽसम्भवादुत्तररूपेण वाचनिकेन तत्पूर्वरूपं मानसिकं आक्षिप्यत इति वाचनिकेन पूजनेन मानसिकं उक्तमेव, तदेतदाहुः मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति, मानसिकं पूजनं तत्रैव वाचनिके पूजने एव प्रवेक्ष्यतीत्यर्थः, प्रकारान्तरेण मानसिकीपूजामाहुः किञ्चेत्यारभ्य मानसिकी पूजेत्यन्तेन, तथा च तद्दर्शनमहोत्सव इत्यनेनोक्तो महोत्सवो मानसिकी पूजेत्यर्थः ॥ ४ ॥

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

पञ्चविंशेऽध्याये पञ्चविंशे त्वित्यादि का० २३८३–२४२३। पञ्चविंशे त्वित्यादि अत्राध्याये वैकुण्ठनयनात्मकमवान्तरफलमुच्यत इत्यर्थः, अभिषेक इत्यादि देवा इन्द्रादयः, स्तोत्रं तत्कृतं, आदिपदेन भगवत्कृतेन्द्रशिक्षा, एवमिन्द्रदमनादिना देवोत्तमत्वे ज्ञाते सति वरुणेश्वरं तद्दास्यनन्दानयनलक्षणं परं पौरुषं पुरुषोत्तमत्वेन ज्ञानजनकं द्रष्टव्यं, अन्यथा नन्दविज्ञानमिति यदि वरुणकृतस्तुत्यादिकं नन्देन दृष्टं न स्यात् तदा नन्दविज्ञानं तदेव नारायणांशत्वपर्यवसायि पर्यवसानशीलं स्यान् न तु पुरुषोत्तमत्वपर्यवसायीत्यर्थः, अत इति "मन्ये नारायणस्यांश"मितिवाक्योक्तं नारायणांशत्वेन ज्ञानं हि भक्तिमार्गविरुद्धमतः कारणात् तन्निग्रहो नन्दनिग्रहो वाच्यः, वरुणस्तेन सेवक इति भगवानुभयं कारितवान् निरवधिमाहात्म्यज्ञानं भक्तिमार्गविरुद्धनारायणांशत्वज्ञानहेतुकनिग्रहं च, तेन वरुणं सेवकत्वेन मनुते इत्यर्थः, कालाद्युपासक इत्यादि भगवत्सेवकश्चेद् द्वादश्यादिकालसाधनपरो भवेत् तदा नन्दवत् क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते, तत इति ततो मोचनान् माहात्म्यज्ञानं ततश्चिन्तनमात्रेण मनोरथमात्रेण स्वपदं वैकुण्ठं नयेदित्यर्थः ॥ ० ॥ एकादश्यां निराहार इत्यत्र मुहूर्तार्धावशिष्टायामिति का० २४२३, २४४३। इति। एतच्च स्मृत्यन्तरे द्वादशीव्रतप्रकरणस्थवचनं स्पष्टार्थकम् ॥ १ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

नन्दस्यानयनं कृत्वा श्रीकृष्णो वरुणालयात्। स्वलोकं दर्शयामासेत्यष्टाविंशे निरूप्यते ॥ १ ॥

एवं गोवर्धनपूजनेन इन्द्रमानं विमर्द्य तद्वशीकरणं निरूपितम्, अथ नन्दानयनेन वरुणवशीकरणं सप्रसङ्गं निरूपयति—एकादश्यामित्यादिना। नन्दस्तु कदाचिदेकादश्यां निराहारः सन् जनार्दनं सम्यगभ्यर्च्य कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाभिनिवेशेन कालिन्द्यां स्नातुं जलमाविशत् ॥ १ ॥ तमासुरीमसुरसञ्चारविशिष्टां वेलामविज्ञाय अननुसन्धाय "मुहूर्तार्धावशिष्टायां द्वादश्यां पारणं प्रति। निशीथात् सम्यगुत्थाय क्रियाः कुर्याद्यथोचितम् ॥ अग्निहोत्रादिकर्माणि तथा नैमित्तिकानि च। आमध्याह्नाः क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुशासनात्" इत्यादिशास्त्रानुसारेण निशि अर्धरात्रिसमये उदकं प्रविष्टं नन्दं गृहीत्वा वरुणस्य भृत्यो रात्रौ जलरक्षापरः वरुणस्यान्तिकं समीपमनयत्। ननु 'नन्दस्तु शास्त्रानुसारेण रात्रौ स्नातुं प्रवृत्तः, तस्य कोऽपराधो येन स गृहीतवान्?' इत्याशङ्क्याह—असुर इति। भगवद्धर्मानभिज्ञत्वादित्याशयः। अत एव वरुणो वक्ष्यति—अजानता मामकेनेति ॥ २ ॥ ततः प्रभाते तं नन्दमपश्यन्तो गोपकाः 'हे कृष्ण! हे राम! स्नातुं गतो नन्दो न मिलति' इति चुक्रुशुः। भगवान् सर्वज्ञः कृष्णस्तदाक्रोशमुपश्रुत्य पितरं नन्दं च वरुणेनाहृतं ज्ञात्वा तस्य वरुणस्यान्तिकं गतः। तस्य तत्र गमने हेतुमाह—स्वानां स्वभक्तानामभयद इति। तत्र सामर्थ्यमाह—विभुरिति। राजधर्म ईदृश एव, यत्स्वसेवका अनुपेक्षणीया' इति सूचयन् सम्बोधयति—राजन्निति ॥ ३ ॥ स्वान्तिकं प्राप्तं हृषीकाणामीशं नियन्तारं कृष्णं वीक्ष्य तस्य दर्शनेन महानुत्सवो यस्य स लोकपालो वरुणो महत्या सपर्यया पूजासाधनेन पूजयित्वा आहेत्यन्वयः ॥ ४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अष्टाविंशे तु नन्दस्यानयनं वरुणालयात् ॥ वैकुण्ठेक्षा च गोपानां श्लोकाः सार्द्धा गिरिक्षमाः (१७॥) ॥
तावत्योऽनुष्टुभः (१७॥) प्रोक्तास्तत्रोवाचेति च त्रयम् ॥ २८ ॥

एकादश्यामिति ॥ नन्दस्तु कदाचिदेकादश्यां निराहारः सन् जनार्दनं सम्यगभ्यर्च्य कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणादरेण अरुणोदयात्पूर्वमेव कालिन्द्यां स्नातुं जलमाविशत् ॥ १ ॥ तमिति ॥ तमासुरीमसुरसंचारविशिष्टां वेलामविज्ञाय अनादृत्य "कलार्द्धां द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्ध्वमेव हि ॥ आमध्याह्नाः क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुशासनात् ॥" इति शास्त्रमनुसृत्य निशि उदकं प्रविष्टं नन्दं गृहीत्वा असुरः भगवद्धर्मानभिज्ञः वरुणस्य भृत्यो रात्रौ जलरक्षापरः वरुणस्यान्तिकं समीपमनयत् ॥ २ ॥ चुक्रुशुरिति सार्द्धम् ॥ ततः प्रभाते तं नन्दमपश्यन्तो गोपका स्नानार्थं गतस्य नन्दस्य रक्षकाः हे कृष्ण ! हे राम ! स्नातुं गतो नन्दो न मिलतीति चुक्रुशुः । भगवानिति । हे राजन् ! स्वानामभयदो ज्ञातीनामभयं दास्यन् विभुः भगवानपि तदाक्रोशनमुपश्रुत्य पितरं नन्दं च वरुणेनाहृतं ज्ञात्वा तस्य वरुणस्यान्तिकं गतः ॥ ३ ॥ प्राप्तमिति । स्वान्तिकं प्राप्तं हृषीकेशं कृष्णं वीक्ष्य तस्य दर्शनेन महानुत्सवो यस्य स लोकपालो वरुणो महत्त्या सपर्यया पूजासाधनेन पूजयित्वा आह स्म ॥ ४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इदानीमष्टाविंशेऽध्याये वरुणानुचरेण कृतनंदानयनं गोपानां हरिलोकदर्शनं च निरूप्यते एकादश्यामिति जनैर्भक्तैरर्च्यते अत्यन्तयाभक्त्यर्थं नित्यं याच्यते इति जनार्दनस्तं ॥ १ ॥ असुरः आसुरसंपद्युक्तः भृत्यो वरुण सेवकः वरुणस्यांतिकं समीपं तं नंदमनयत् कथंभूतं तं आसुरीवेलां अरुणोदयात् पूर्वीयः कालः स आसुरस्तं अविज्ञाय द्वादश्यां कर्त्तव्यपारणावेगेन निशि जलं प्रविष्टं ॥ २ ॥ तस्य वरुणस्यांतिकं समीपं स्वानां स्वकीयानां ॥ ३ ॥ लोकपालो वरुणः सपर्यया सामग्र्या तस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनेन महोत्सवः महोत्साहः ॥ ४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

नन्दस्यानयनं त्वष्टाविंशे वरुणलोकतः । गोपानां निजलोकस्य प्रोच्यतेऽत्र प्रदर्शनम् ॥ १ ॥
समुद्धृत्य गिरिं कृष्णो वशे कृत्वा दिवस्पतिम् । वरुणं चाकरोन्नन्दानयनेन वशे हरिः ॥ २ ॥

एकादश्यामिति ॥ तमिति ॥ कदाचिदिति शेषः नन्दः तु, एकादश्यां निराहारः सन्, जनार्दनं समभ्यर्च्य, द्वादश्यां कलामात्रावशिष्टायां द्वादश्यां पारणाभिनिवेशेनेत्यर्थः । आसुरीमसुरसंचरसहचरितां वेलामर्द्धरात्ररूपां, अविज्ञाय, कालिन्द्यां यमुनायां, स्नातुं स्नानं कर्त्तुमेवेत्यर्थः । जलं आविशत् । तं नन्दं, निशि रात्रौ, उदकं प्रविष्टं सन्तमेव, वरुणस्य भृत्यः, असुरः गृहीत्वा, अन्तिकं वरुणसमीपं, अनयत् । ततः प्रभाते इति शेषः । तं नन्दं, अपश्यन्तः गोपकाः, हे कृष्ण, हे राम, इति चुक्रुशुः । इति सार्द्धद्वयस्यैकान्वयः ॥ १-२ ॥ भगवानिति ॥ तदा भगवान्, तत् गोपकृतमाक्रोशनं, उपश्रुत्य, वरुणाहृतं पितरं, ज्ञात्वा चेति शेषः । हे राजन्, स्वानामात्मीयजनानां, अभयदः विभुः समर्थः, हेतुगर्भमिदम् । समर्थत्वादित्यर्थः । तदन्तिकं वरुणस्यान्तिकं, गतः ॥ ३ ॥ प्राप्तमिति ॥ तदा लोकपालः वरुणः, प्राप्तं स्वान्तिकागतं हृषीकेशं श्रीकृष्णं वीक्ष्यावलोक्य, तस्य श्रीकृष्णस्य दर्शनेनैव महानुत्सवो यस्य तथाभूतः सन्, महत्या सपर्यया पूजया पूजयित्वा, आह अब्रवीत् ॥ ४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवं भक्तिप्रकारं निखिलसुखकरं दर्शयित्वा चतुर्भिरध्यायैः कल्मषघ्नैः कलिजनसुलभश्रीधरप्राप्त्युपायैः ।
भीतिर्लोकद्वयादप्यविधिविधिकृतानुष्ठितेर्भक्तिभाजो नास्त्येवात्मा परोक्षोदय इह सुलभश्चार्थ एषोऽत्र बोध्यः ॥ १ ॥

एकादश्यामिति : १०.२८.१.

कृतार्थस्य कर्तव्यमस्मिन्न यद्यप्यथाप्यन्यवत्कार्यमालक्ष्य कार्यम् ।
न चेदप्रचारी प्रगल्भोऽपि भूयात् स वा इत्यमिव्यक्तमासीद् व्रजेशे ॥ २ ॥

भगवानिति : १०.२८.३.

मच्छासनादेव करोति वासं वार्धावसावित्यसमञ्जसा मे ।
या चान्धितोऽद्यास्य बहिष्कृतिः स इत्येनमागात् सदयोऽम्बुधिस्थम् ॥ ३ ॥
यन्मद्भक्तेन कृतं सदसद्वा कर्म तन्मयैव कृतम् । इति बोधयन् प्रभुरगात्तत्र तदैवान्यथास्य किमशक्यम् ॥ ४ ॥
जानात्येष मदुक्तशासनवचः प्रोक्तौ प्रचेताः स्वतो यस्माद् विध्यविधी न चार्हति ततः शिक्षामसाविन्द्रवत् ।
एतौ दुष्टपरौ न भक्तिविषयौ ते सर्वतो निर्भया इत्यात्मोदिततद्यथार्थकथनायाऽगात् तमीशः स्वयम् ॥ ५ ॥

ज्ञात्वैवैवं वर्ततां मद्वचोऽर्थं भूयोऽप्येवं मा करोतु प्रमादम् ।
आलोच्यैवं नानयन्नन्दमस्मात् तं वा नित्यं भक्तकल्याणकामः ॥ ६ ॥ (युग्मम्)
पितृधर्मानुगेनैव कर्तव्यः कुलजन्मना । पित्रुद्धार इतीशोऽर्थं वोधयंस्तादृगाचरत् ॥ ७ ॥
नीतिज्ञो निजसेवको विधिवशात् प्राप्तोऽप्रतिष्ठापदं गत्वा तद्गृहमुत्तमोक्तिभिरलं नेयः प्रतिष्ठापदम् ।
इत्यालोच्य तदन्तिकं प्रभुरगात् तं नानयत् स्वान्तिकं तद्बीजं स्फुटमप्रतिष्ठितगतेः स्यादप्रतिष्ठाऽधिका॥ ८ ॥
ये मद्भक्ता मत्पदन्यस्तचित्ताः स्वप्नेऽपि स्यान्नैव तेषां कदापि ।
पाश्यालोको जागृतौ त्वस्तवार्त इत्यर्थज्ञोऽगात् स्वयं नानयत् तम्॥ ९ ॥
तस्यात्रानयने कृते स हि सदानन्देन यातो भवेत् तस्मान्मत्कृतमीड्यमित्यनुपदं मत्वा प्रमत्तो भवेत् ।
तस्मादग्रिमभक्तभीर्विगलिता न स्यादमुष्मादिति प्रागात् तं स दयाम्बुधिस्त्रिसमयस्वीयाभयात्तव्रतः ॥ १० ॥

कृष्णप्रिया

इस अध्याय में १६ श्लोक हैं। पूर्वाध्याय पर्यन्त की भगवल्लीलाओं के दर्शन से श्रीनन्दरायजी के मनमें भगवान् नारायण के अंश हैं ऐसा ज्ञान था अब इस अध्याय की वरणलोक की लीलासे श्रीकृष्णजी परब्रह्म हैं ऐसा ज्ञान होगा।

श्रीशुकाचार्यजीने कहा राजन्! श्रीनन्दरायजी ने एकादशी के दिन निराहार उपवास व्रत किया मोक्षदाता श्रीजनार्दन भगवान का अर्चन किया, पुनः द्वादशी के दिन अल्पकाल द्वादशी तिथि होने के कारण; पारणाव्रतान्त भोजन द्वादशी तिथि में करना चाहिए ऐसा विधान होने के कारण अरुणोदय से पूर्ण आसुरी वेलामें स्नान करने के लिये श्रीयमुना जल में प्रवेश किया ॥ १ ॥ श्रीनन्दरायजी को आसुरी वेलामें स्नान नहीं करना चाहिए यह ज्ञान न होने के कारण रात्री के समय आसुरी वेलामें स्नानार्थ प्रवेश किया होगा ऐसा समझ कर वरुणका सेवक श्रीनन्दबाबा को वरुण के समीप ले गया ॥ २ ॥ स्नानार्थ प्रविष्ट नन्दरायजी को श्रीयमुनाजी के जल से बाहर निकलते न देखकर सचिन्त होकर हे कृष्ण! हे बलराम! ऐसे उच्च स्वरसे पुकारने लगे। गोपलोगों का करुण रुदन को सुनकर और पितृचरण को वरुण के समीप ले जाए जानकर निज भक्तजनों के अभय दाता एवं सर्वसमर्थ भगवान् श्रीकृष्ण वरुण के समीप गए ॥ ३ ॥ वरुण ने निज आङ्गन में पधारे हुए पुरुषोत्तम प्रभु का दर्शन किया और अत्यन्त प्रसन्न हो गये, पुनः श्रीहृषीकेश भगवान की सर्वोच्च प्रकार एवं सर्वश्रेष्ठ सामग्रीं से समर्चना की ॥ ४ ॥

वरुण उवाच

अद्य मे [1]विधृतो देहोऽद्यैवार्थोऽधिगतः प्रभो ।[2] [3]यत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥ ५ ॥
नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने । न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥ ६ ॥
अजानता [9]मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना । [6]आनीतोऽयं तव पिता तद् भवान्[7] क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥
[[8]ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्तुमर्हस्यशेषदृक् । गोविन्द नीयतामेष पिता ते [4]पितृवत्सल ॥]

श्रीशुक उवाच

एवं प्रसादितः कृष्णो [10]भगवानीश्वरेश्वरः । आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम् ॥ ८ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—हे प्रभो! अद्य मे देहः विधृतः, अद्य एव अर्थः अधिगतः, हे भगवन् यत् पादभाजः अध्वनः पारम् अवापुः ॥ ५ ॥ तुभ्यम् ब्रह्मणे परमात्मने भगवते नमः लोक सृष्टि विकल्पना माया, यत्र न श्रूयते ॥ ६ ॥ मूढेन अकार्यकोविदा

---

१. निभृतो—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व. शुक. सुदर्शन. ; विधृतो देह अद्यार्थो—विज. । २. अक्ष्णोर्वाचश्च साफल्यं तव मे दर्शनाद्विभो—वीर. । ३. त्वत्—श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विश्व. शुक. सुदर्शन ; यत्पाद-विज. । ४. त्वत्पितरं—वीर. । ५. त्वत्प्रभावं जगद्गुरो-इति कस्यचित् । ६. पितेव ते मया नीतो यन्नस्स्वत्पाददर्शनम्—वीर. । ७. तत्प्रभो—वीर. विज. ।

८. ममाप्यनुग्रहं कृष्ण कर्त्तुमर्हस्यशेषदृक् । गोविन्द नीयतामेष पिता ते पितृवत्सल ॥

श्रीधर. वंशी. जीव. वीर. विज. विश्व. शुक. सु. आदिभिर्गृहीतः । किन्तु विसंवादिनमेन मन्वते श्रीमद्वल्लभाचार्यः । विजयमते तु अस्य श्लोकस्य पूर्वोत्तरार्द्धौ विपर्यस्तौ वर्तेते । वीर. मते अस्मिन् श्लोके "प्रजावयमनुग्राह्यासापराधा अपि प्रभो" इत्यधिकं चरणं तथा च ममाप्यनुग्रहं पदस्य स्थाने पितेव ते मया नीतो यन्नस्स्वत्पाददर्शनम् ॥

९. मामकाहृतः—विज. । १०. वानखिलेश्वरः—प्रा. पा. ।

मामकेन अजानता अयम् तव पिता आनीतः भवान् तत् क्षन्तुम् अर्हति ॥ ७ ॥ इति ईश्वरेश्वरः भगवान् कृष्णः एवम् प्रसादितः स्वपितरम् आदाय आगात् च बन्धूनाम् मुदम् आवहत् ॥ ८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अद्येदानीं मे मया देहो निभृतो धृतः यदा त्वद्दर्शनं जातं तदैव देहसाफल्यं प्राप्तमित्यर्थः । यद्वा । निभृतः पूर्णमनोरथ इत्यर्थः । किं च अद्यैवार्थोऽधिगतः सर्वरत्नाकरपतिनापीतः पूर्वं नैवंविधोर्थः प्राप्त इत्यर्थः । किं च संसारोऽपि निवृत्त एवेत्याशयेनाह । त्वत्पादभाज इति । अध्वनः पारं मोक्षम् ॥ ५ ॥ भगवते निरतिशयैश्वर्याय । ब्रह्मणे पूर्णाय । परमात्मने सर्वजीवनियंत्रे । तत्र हेतुः । न यत्रेति । लोकसृष्टिं विकल्पयति या माया सा यत्र न श्रूयते । अविद्यमानेव तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ अजानता मद्भृत्येन त्वत्पित्राहरणं यत्कृतं तदिति ॥ ७ ॥ नंदं विमुच्य समर्पयति । गोविंदेति ॥ ८-९ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

इत्यर्थ इति । "अद्य मे सफलो देहस्त्वत्पादांबुजदर्शनात्" इत्यादिना वल्यादिभिरुक्तत्वादिति भावः : जन्मसाफल्येऽपि मनोरथानाप्तौ किञ्चिद्वैकल्यमेवेत्यरुच्याह—यद्वेति । इत्यर्थ इति । 'निश्चले निभृतो मतः' इत्युक्तेरपूर्णमनोरथस्य नैश्चल्यं न संभवतीति भावः । मनोरथपूर्त्तेरप्यधिकलाभमाह—किञ्चेति । सर्वेषां रत्नानां वज्रमुक्तादीनामाकरः समुद्रस्तत्पतिनापि । इतः त्वद्दर्शनात् । एवंविधः त्वद्दर्शनसदृशः । इत्यर्थ इति । दुःखप्रदप्रायवज्राद्यपेक्षया परमानंदावाप्तिरूपनित्यसमृद्धिप्रदं त्वद्दर्शनमेव भावः । तदेवाह—किञ्चेति । अध्वनः भवाटव्याः ॥ ५ ॥ तत्र परमात्मत्वे । यत्र त्वयि । लोकसृष्टिम् विश्वरचनाम् । विकल्पयति विविधं करोति । माया बंधकशक्तिः । इत्यर्थ इति । स्वकार्याकरणमेवाविद्यमानत्वम् । "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया" इत्याद्युक्तेः ॥६॥ अयम् नंदः । कार्यं कर्तुमुचितं न वेत्तीत्यकार्यवेदी तेन अजानतेति । त्वत्पितायमित्यजानता । द्वादश्या अल्पत्वेऽरुणोदयात्प्रागपि जले प्रवेष्टव्यमिति भक्तिशास्त्रमजानता वेति । भृत्यापराधेन ममैवापराधः "तन्नामानि च गृह्णाति लोको भृत्ये कृतागसि" इत्युक्तेः । अत एव मूढेन । मम भृत्योऽपि मत्कार्यं न जानातीत्याह—अकार्यवेदिना तव पितानीतः । अयमिति रत्नचतुष्किकामध्य आसीनं स्वेनार्चितं स्वेष्टदेवस्मरणरतं श्रीनंदं स्वांजलिना दर्शयति । क्षंतुमर्हसीति । तव क्षमासिन्धुत्वान्मम त्वपराधसिंधुत्वाद्दंडयिष्यसि चेद्यथेष्टं दंड्यतामिति भाव इति विश्वनाथः । यच्च 'नंदं च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशात्' इति, तत्र च पाशाद्यद्भयं तस्माद्विमोक्ष्यति न तु पाशादिति पाशसंबंधो निरस्त इति तोषिणी ॥ ७ ॥ गोविंदेति । महापराधिनापींद्रेण कृतस्य गोविंदतयाभिषेकस्य स्वीकारेण परमकारुण्यं सूचितवान् । पितृशब्दोऽत्र पूज्यपरः । त्वदतपूज्यत्वाधिकारस्य ममापर्यपि वत्सलतैवोचितेति संबुद्ध्यभिप्रायः । तदेवाह—ममापीति । अशेषदृगित्युक्त्या निजापराधाभावं ध्वनयतीति भावः ॥ ८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

प्रभो, हे जगदीश्वर ! इति परमदौर्लभ्यादिकमुक्तं अवापुः अवहेलनेन लेभिरे अन्यत्तैः तत्र पूर्णमनोरथ इति पक्षे मे ममेति पूर्णो मनोरथो यत्रेति च व्याख्येयम् । यद्यपि पूर्वस्य हेतुवाक्यमुत्तरार्द्धं तथापि अस्यार्थस्यापि लाभादित्यभिप्रायेणाह-किञ्च, संसारोपीति । यद्वा; नितरां भृतः मुहुर्देहधारणस्य फलमद्यैव सम्यक् लब्धमित्यर्थः । कुतः ? अर्थः परमविचारेणात्रों नाम यः सोऽद्यैव मया प्राप्तः तत्र हेतुः त्वत्पादभाजस्त्वच्चरणकमलं प्राप्तवन्त एवाध्वनः प्राप्य परम्पराया अन्तं अव समन्तादापुरिति तदेव स्वयं भगवत्त्वादिति भावः ॥ ५ ॥ अतस्तन्माहात्म्यं वर्णयन् भक्त्या प्रणमति-नम इति । भगवते पूर्णषड्गुणैश्वर्येण स्वलोकादौ विराजमानाय परमात्मने सर्वान्तर्यामिरूपाय ब्रह्मणे क्वचिदधिकारिणि अप्रकाशिततत्तच्छक्तये "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्येवं केवलं प्रकाशमानाय न च मायया तत्तद्रूपत्वमित्याह-न यत्रेति । तत्र हेतुमाह-लोकेति । जीवानामेव सृष्टिं विविधतया कल्पयितुं शक्नोति नत्वेश्वरे त्वयि प्रभवतीत्यर्थः । एवं चैश्वर्यरूपगुणादिभेदविकल्पिका स्वरूपशक्तिरन्यास्तीति दर्शितम् अत एव तादृशस्य तव निजगृहाभ्यन्तर एव सन्दर्शनेनाद्य परमकृतार्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥ अतो महापराधोऽपि मे त्वया क्षन्तुं युज्यत एवेत्याह अजानतेति । यतो मूढेन मूर्खेण । ननु, कथं तर्हि रात्रिस्नानदोषं ज्ञात्वा मत्पिता नीतः ? तत्राह, अकार्यं कर्त्तुमयोग्यमेव वेदितुं शीलमस्येति तथा तेन । यद्वा, त्वत्पितेत्यजानता । किञ्च, मूढेन भगवद्धर्मज्ञानहीनेन चेत्यर्थः । न केवलं मूढेन परमदुर्बुद्धिना चेत्याह-अकार्येति । अकार्य्यमसत्कार्यम् अयमिति स्वगृहे रक्षितं तमञ्जलिप्रसारणया निकट (मे) मिव तं निर्दिशति—स्वगृहे एव रक्षितत्वे हेतुः तव पितेति यत्तूक्तं द्वितीये "नन्दं च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशात्" इति तत्र च पाशात् यद्भयं तस्मात् विमोक्ष्यति नतु पाशात्" इति पाशसम्बन्धो निरस्तः तत् आनयनागः । ननु, महापराधोऽयं क्षन्तव्यो न स्यात् ? तत्राह-प्रभो, हे परमसमर्थ ! त्वया सोऽपि क्षन्तुं शक्यत इति भावः । यद्वा, हे अस्मत्स्वामिन् ! अतो दासानामस्माकम् अपराधः सर्व एव त्वया क्षन्तुं युज्यते एवेति भावः । तद्भवान् क्षन्तुमर्हतीति क्वचित् पाठः ॥ ७ ॥ ततश्च तदेव गृहमानीय तं दर्शयन्नाह—गोविन्देत्यर्द्धकेन । तत्र गोविन्देति महापराधिनापीन्द्रेण कृतस्य गोविन्दतयाभिषेकस्य स्वीकारेण परमकारुण्यादिकं सूचितम् हे पितृवत्सलेति पितृपुत्रौ तोषयति-तथा वयमेतज्जानीम एव स्वगृहे परमोदशभागधेयाकाङ्क्षयैवैतावन्तं क्षणं रक्षित आसीदिति व्यञ्जयन्ति ॥ ८ ॥

श्रीसनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

हृषीकेशं सर्व्वेन्द्रियवृत्त्यगोचरमपि प्राप्तं पार्श्वागतं वीक्ष्य साक्षात् दृष्ट्वा, लोकपाल इति महासपर्य्या-सामर्थ्यं द्योतितम्; यद्वा, तदैव लोकपालत्वं सफलं वृत्तमित्यर्थः, महासपर्य्यया तत्पूजनात्; किंवा, तल्लोकवर्त्तिनां भगवद्दर्शनादिना चक्षुःसाफल्यादि-सिद्ध्या परमकृतार्थतासम्पत्तेः; तद्दर्शनेन महान् उत्सव आनन्दो यस्य, अयं महासपर्य्यया पूजने हेतुः; यद्वा, तद्दर्शनमेव महोत्सवो यस्य स इति परमभक्तत्वमुक्तम्। अतस्तद्दर्शनार्थमेव श्रीनन्द आनायित इति भावः। व्रजे तदर्थं तन्निकटगमने अयोग्यत्वान्महा-पूजनसम्पत्तेश्च विशेपतो निजगृहान्तस्तत्सन्दर्शने सुखविशेषाच्चेति; वक्ष्यमाणस्य तद्वचनस्याप्युत्तमत्वं ध्वनितम् ॥ ५ ॥ प्रभो! हे जगदीश्वर! इति परमदौर्लभ्यादिकमुक्तम्' अवापुः—अवहेलयैव लेभिरे। अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, नितरां भृतं मुहुर्देहधारणस्य फलमद्येव सम्यक् लब्धमित्यर्थः। कुतः? अर्थो मोक्षलक्षणः, अधिगतोऽधिकं प्राप्तः; तत्र हेतुमाह—त्वदिति; यद्वा, भक्तिलक्षणोऽधि-कारितया प्राप्तः, किंवा अर्थो निजप्रयोजनं त्वद्भक्तिलक्षणमद्यैव ज्ञातम्। ततः किमित्यपेक्षायां तत्फलं दर्शयन् भक्तिमाहात्म्यमाह—त्वदिति, त्वत्पादौ यथाकथञ्चिदपि ये भजन्ति तेऽपीत्यर्थः। अध्वनः पारं सर्व्वोपरिस्थितं वैकुण्ठलोकम्, तच्च युक्तमेवेत्याह-भगवन् हे निजमाहात्म्यविस्तारकेति; यद्वा, अहो किमपरं वक्तव्यम्? मया त्वद्य परमदुर्लभमेव प्राप्तमित्याशयेनाह—त्वद्भक्ता वैकुण्ठमेव प्राप्नुवन्ति, मया तु भगवतः श्रीनन्दनन्दस्य तव साक्षाद्दर्शनं स्वगृहान्तरेव प्राप्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥ अतस्तन्माहात्म्यं वर्णयन् भक्त्या प्रणमति—नम इति। भगवत्त्वादीनां यथोत्तरं हेतुहेतुमत्त्वोह्या; अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्; यद्वा, ननु परमेश्वरस्य परब्रह्मणः परमात्मनो गोपासकानां वैकुण्ठप्राप्तिस्तत्साक्षात्कारेणालभ्यलाभश्च सत्यं सम्पद्यत एव, अहन्तु ततोऽन्यो गोपकुमार एव; तत्राह—नमस्तुभ्य-मिति। त्वमेव भगवदादिरूप इत्यर्थः। तत्र भगवत्त्वेऽपि परमात्मत्वेऽपि च ब्रह्मत्वविवक्षया (भा. १।२।११) 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इत्युक्तक्रमानपेक्षया ब्रह्मण इत्यस्य मध्य निर्देशः। न च मायया तत्तद्रूपत्वमित्याह—न यत्रेति। तत्र हेतुमाह-लोकेति; जीवानामेव सृष्टिं सा विवतया कल्पयितुं शक्नोति, न चेश्वरे त्वयि सा प्रभवतीत्यर्थः। एवञ्च ऐश्वर्य्य-रूप-गुणादिभेद-विकल्पिका सच्चिदानन्दशक्तिर्व्यवच्छिन्ना; अतः परमात्मत्वे परमेश्वरत्वेऽपि मायासम्बन्धराहित्येन परब्रह्मत्वमेव घटते, तथा निजशक्तिविशेषेणैकस्यापि तत्तद्रूपता घटेतैवेति भावः। अत एतादृशस्य तव निजगृहाभ्यन्तर एव सन्दर्शनेनाद्य परमकृतार्थोऽस्मीति तात्पर्य्यम् ॥ ७ ॥ अतो महापराधोऽपि मे त्वया क्षन्तुं युज्यत एवेत्याह—अजानतेति, यतो मूढेन मूर्खेण। ननु तर्हि कथं रात्रि-स्नानदोषं ज्ञात्वा मत्पिता नीतः? तत्राह—अकार्य्यं कर्त्तुमयोग्यमेव वेदितुं शीलमस्येति तथा तेन; यद्वा, तत्पितेत्यजानता। ननु अन्योऽपि तदानीं स्नानादानेतुं न युज्यते, तत्राह—मूढेन भगवद्धर्म्मज्ञानहीनेनेत्यर्थः। न केवलं मूढेन, परमदुर्बुद्धिना चेत्याह—अकार्य्येति। अयं पूज्यवन्मदग्रे वर्त्तमान इति तद्बन्धनानयादिकं निरस्तम्, यतस्तव पिता; यच्चोक्तं श्रीब्रह्मणा द्वितीयस्कन्धे (भा. २।७।३१)—'नन्दञ्च मोक्ष्यति भयाद्वरुणस्य पाशात्' इति तस्य वरुणान्तिकनयनेन वरुणपाशाद् यद्भयं तस्माद्विमोक्ष्यतीत्यर्थः। अतस्तद्भयमपि तेन न प्राप्तमिति सिद्धमेव। 'तत्' आनयनागः, आगोऽपराधः, तत्तस्मादिति वा, क्षन्तुं महापराधम्। ननु महापराधोऽयं क्षन्तव्यो न स्यात्; तत्राह—हे प्रभो! परमसमर्थ! त्वया सोऽपि क्षन्तुं शक्यत इति भावः; यद्वा, हे अस्मत्स्वामिन्! अतो दासानामस्माकमपराधः सर्व्व एव त्वया क्षन्तुं युज्यत एवेति भावः ॥ ८ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

लोकानां सृष्टिं चिदचितां सृष्टिं विकल्पयति, या माया प्रकृतिः यत्र न स्वकार्यकारिणीत्यर्थः ॥ ६ १३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

तदेवाह—अद्येति पञ्चभिः। हे प्रभो! अद्याधुना मे मया देहो निभृतः धृतः यदा त्वद्दर्शनं जातं तदैव देहसाफल्यं प्राप्त इत्यर्थः। यद्वा, निभृतः पूर्णमनोरथ इत्यर्थः। किञ्च, अर्थोऽद्यैवाधिगतः सकलरत्नाकरपतिनापीतः पूर्वं नैवंविधः पुरुषार्थः प्राप्त इत्यर्थः। तथाममाक्ष्णोः साकल्यं दर्शनाज्जातं त्वद्दर्शनान्मम मुक्तिरपि करस्थेत्यभिप्रायेणाह—हे भगवंस्त्वत्पादं भजन्तीति तथा तेपि संसाराध्वनः पारं त्वामापुः किमुत त्वद्दर्शनभागहमिति भावः ॥ ५ ॥ एवं स्वकृतार्थतामाविष्कृत्याथ क्षमापयितुकामः क्षमाहेतुः केवलमञ्जलिमुद्रैवेत्यभिप्रयन्नसाधारणगुणैर्विशिंपन्नमस्करोति-नम इति। पूर्णषाड्गुण्याय स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते लोक-त्रयान्तः प्रविश्य व्याप्यगतधर्मास्पर्शाभ्यां नियन्त्रेभर्त्रे च तुभ्यं नमः यत्र त्वयि लोकस्य जीवलोकस्य दृष्टि ज्ञानं विकल्पयति विविधं कल्पयति गुणत्रयोन्मेपानुगुणकर्मरुचिजननद्वारा ज्ञानसङ्कोचविकासादिहेतुर्माया न श्रूयते नाम्नापि न श्रूयते न सुतरां स्वकार्य-क्षमेति भावः। लोकसृष्टीति पाठे लोकसृष्टि देवमनुष्यादिशरीरसृष्टिं नानाविधां कल्पयतीति तथा देवमनुष्यादिशरीररूपेण विक्रियमाणा यत्र त्वयि न श्रूयते तस्मै अप्राकृतस्वेच्छोपात्तदेहाय तुभ्यमित्यन्वयः ॥ ६ ॥ अथ स्वापराधं निवेदयन् क्षमापयति अजानतेति। अकार्यवेदिना कार्यावेदिना विवेकशून्येनेति यावत् मूढेनाज्ञेन त्वत् पितरमजानेन! त्वत्प्रभावानभिज्ञेन मामकेन मद्भृत्येन तव पिता आनीत इति यत्तदिदं त्वं क्षन्तुमर्हसि हे प्रभो निग्रहानुग्रहसमर्थ! ॥ ७ ॥ यद्यस्मादेष तव पिता मया आनीतोऽत एव हि दुर्लभमपि त्वद्दर्शनं नोऽस्माकं जातं भृत्यकृतापराधोपि महाफलाय बभूव हेति भावः। इत्युक्त्वा नन्दं समर्पयति। गोविन्देति हे गोविन्द हे पितृवत्सल एप तव पिता नीयताम् ॥ ८ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

मे मया विधृतो देहोऽद्य सफलो जातः इति शेषः। अर्थः पुरुषार्थः कथं तदिति तत्राह—यत्पादेति। अध्वनः पारं संसारसमुद्रस्य मार्गस्य तीरान्तरम् अद्धा वात्यनेनेत्यद्धवा ॥ ५ ॥ ब्रह्मणे देशादितोऽपरिच्छिन्नाय लोकदृष्टि विकल्पयतीति लोकदृष्टिविकल्पना विपरीतज्ञानापादिकेत्यर्थः माया बन्धकशक्तिः परमात्मने उत्कृष्टानन्दस्य दात्रे ॥ ६ ॥ अकार्यवेदिना कार्यज्ञानी न भवतीति ॥ ७-८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

नितरां भृतः अत्रैव सम्यक् साफल्यात् कुतः अर्थः परमविचार्येणार्थो नामः य सोऽद्यैव मया प्राप्तः तत्र हेतुः त्वत्पादभाजः त्वच्चरणकमलं प्राप्तवन्तः एताध्वनः पारं प्राप्य परम्परया अन्तम् अव समन्तात् आपुरिति तवैव स्वयं भगवत्त्वादिति भावः ॥ ५-६ ॥ अयमादरणीयत्वेन निजाग्रत एव वक्ष्यमाणः "नन्दश्च मोक्ष्यति भयात् वरुणस्य पाशात्" इति पाशात् भयं यस्मात् नतु पाशादित्यर्थः ॥ ७-८ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अथ गोवर्द्धनोद्धरणावलोकनेन परमविस्मितानां गोकुलवासिनां पुनरपि अतिविस्मयं दर्शयितुं वरुणस्य भगवत्स्तवमाह—नमस्तुभ्यमित्यादि। भगवते ब्रह्मणे नमः। सविशेषत्वं दर्शयति—अनन्तशक्तये अनन्ता अपरिमिता शक्तिर्यस्य, यत्र त्वयि माया न श्रूयते। सा कीदृशी ? लोकसृष्टेर्विकल्पनं यया सा तथा ॥ ८-११ ॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

न यत्र इत्यादि। यत्र त्वयि माया न श्रूयते, तद्दर्शनन्तु दूरादास्ताम् ॥ ८-१४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

अद्य नितरां भृतो धृतः एतावद्दिनपर्य्यन्तं सहस्रशो देहा वृथैव धृतास्त्वद्दर्शनलाभाभावादिति भावः। अर्थोऽद्यैवाधिगतः सर्वं रत्नाकरपतिनापि इतःपूर्वं नैवंविधोऽर्थः प्राप्त इति भावः। त्वत्पादौ भजन्त एवाध्वानः संसारस्य पारमवापुः अहन्त्वेतादृशं दर्शनमपि प्राप्त इत्यहो मद्भाग्यस्य परा काष्ठेति भावः ॥ ५ ॥ भक्त्या ज्ञानेन योगेन च त्वमेवोपास्य इत्याह—नम इति। मायाशावल्यादेव तव भगवत्त्वादीत्याचक्षाणा भ्रान्ता एवेत्याह न यत्रेति। लोकसृष्टेर्विविधकल्पनं यतः सा ॥ ६ ॥ किं भो मामेवं स्तुवन् लज्जसे ? सत्यं महापराधो मे जात एवेत्याह—अजानता द्वादश्या अल्पत्वे अरुणोदयात् पूर्वमपि जले प्रवेष्टव्यमिति भक्तिशास्त्रानभिज्ञेन मामकेनेति भृत्यापराधेन ममैवापराध इति भावः। अतः मूढेन अकार्य्यवेदिना मम भृत्योपि मत्कार्य्यं न जानातीत्यर्थः। तव पिता आनीत अयमिति रत्नचतुष्किकामध्यासीनं स्वेन पूजितं स्वेष्टदेवस्मरणरतं श्रीनन्दं स्वाञ्जलिना दर्शयति—क्षन्तुमर्हसीति। तव क्षमासिन्धुत्वात् मम त्वपराधसिन्धुत्वात् दण्डयिष्यसि चेत् यथेष्टं दण्डयेति भावः ॥ ७-८ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

देहश्चरणस्पर्शादिना निभृतः पूर्णमनोरथः अर्थः अर्पणेन किञ्च मोक्षभागप्यद्यास्मीत्याशयेनाह—त्वत्पादभाज इति। त्वत्पादौ भजन्ति सेवन्ते ये ते तथा अध्वनः पारं मोक्षम् ॥ ५ ॥ एवं देहधनयोः सफलत्वमात्मनो मोक्षभाक्त्वं चाविष्कृत्याथ क्षमापयितुं नमस्करोति—नम इति। भगवते स्वाभाविकषड्गुणसम्पन्नाय ब्रह्मणे बृहत्स्वरूपगुणाय यत्र भगवति लोकेषु देवलोकमनुष्यलोकादिषु सृष्टीः देवमनुष्यादिरूपाः प्रजाः विकल्पयति स्वार्थाद्भ्रंशयतीत्यर्थः। सा दम्भरूपा माया न श्रूयते त्वदन्ये वयं दम्भिनः स्वस्थाने स्थिता एव भृत्यानाज्ञापयामः न त्वमिव तत्तद्गृहे गच्छाम इति भावः ॥ ६ ॥ मामकेन मद्भृत्येन ॥ ७-९ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

अद्य मे देहो विभृतः। विधृत इति पाठे स एवार्थः। देहसाफल्यमायातमिति यावत्। न केवलमेतत्कलेवरमात्रसाफल्यं किन्त्वर्थः शुद्धचिद्देहभोग्यो मोक्षसुखादिरप्यधिगतं। एप्यन्नयेन प्राप्तः। यस्य तव पादभाजश्चरणपरिचारका अध्वनः संसृतिसृतेः पारमवापुः ॥ ६ ॥ अतोऽहमपि तत्कूटघटित इति नमति। भगवते ऐश्वर्यादिषड्गुणवते ब्रह्मणे गुणपूर्णतया तच्छब्दवाच्याय परमात्मने सकलोत्तमरमास्वामिने यत्र त्वयि लोकदृष्टं विकल्पयत्यसमर्थतां नयतीति सा माया प्रकृतिस्तद्बन्ध इति यावन्न श्रूयते। तस्मै तुभ्यं नमः। यद्वा हे नयत्र सकलनीतिरक्षक स्वयि लोकदृष्टिविकल्पना लोका ज्ञानिनो विष्यादयस्तेषां दृष्टेर्ज्ञानस्य विकल्पनमेवमिति निर्धारणाभावो यया सा माया महिमा श्रूयत इति वा। माया तु महिमा प्रोक्ता प्राचुर्ये तु मयडयत इति पाद्म इति तृतीयतात्पर्योक्तेः। भो लोकदृष्टिविकल्प लोकानां दृष्टिर्ज्ञानं तया विकल्पो युक्तागुणत्वमहत्त्वादिविकल्पो यस्य तत्सम्बुद्धिः। या मा तस्या वा माया लक्ष्म्या वा ना परमपुरुष इति पातिरति यावत्। भवान्कृत इति तुभ्य नम इति वा। हे नयत्र लोकदृष्टिविकल्पन

लोकदृष्ट्या विकल्पनं स्थाम्यत्यत्र न वेति यस्याः सा तयाऽमा सह तुभ्यं नम इति वा योजना ॥ ७ ॥ स्तुत्यैव किं पर्यवसानं प्रस्तुतकार्यस्य किमुत्तरमित्यत आह ॥ अजानतेति । अजानता मूढेनाकार्यवेदिनेति भूयो भूयो यमज्ञ इति द्योतयितुं पर्यायेण वचनत्रिकमिति ज्ञेयं । हे अ अगेनाजया ब्रह्मणा रमया वा नत । अशब्दवाच्यमामकेन दूतेनावेदिनाऽजानता मया तव पिताऽऽनीत इति यदकारि स्वशिष्यदासवर्गकैः समर्थयन्ति भूभुज इत्यादेस्तत् हे प्रभो क्षन्तुमर्हसि । मामकाह्वतस्तव पितैषो नीयतां । गोविन्देति सम्बोधयन्स्वस्येन्द्रस्थापितैकान्तिकाभिधावोधोऽस्तीति ध्वनयामास वारीश इति ज्ञेयं । ते पितेत्यनेन लोकपितुस्तवाप्येकः पिता किमापणश्रेणीमिलित इति ममापि नन्दानयनं सम्मतमन्तरङ्ग इति तव पिता पितेति पुनः पुनरुच्चरन्सरिदुच्चोपाहसद्धरिपितृत्वं नन्दस्येति तात्पर्यं ध्येयं । एष इत्यनेन न चाङ्गभंङ्गोऽस्येति ध्वनयति ॥ ८ ॥

श्रीसुबोधिनी

अशक्तौ स्वोपकारमात्रं वक्तव्यमतस्तदेवाहाद्य मे विघृतो देह इति, यद्यपि देवयोनिः प्राप्ता तथाप्यधिपत्यं दैत्येष्वतस्तत्सङ्गान्न भगवत्परता भवत्यतः प्राप्ताप्युत्तमा योनिरप्राप्तप्राया तदिदानीं स्वामिदर्शनाज् जाते फले साधनाभावेपि सफलजन्मत्वं, तदाहाद्यव मे मया विशेषेण धृतो देह इति, साधनपरत्वं निराकुर्वन् हेतुमाहाद्यैवार्थः पुरुषार्थः प्राप्त इति, ननु साधनाभावेन कथं फलं भवेत् साधने च पुनरङ्गीक्रियमाणेद्यैवेतिवचनं वाधितं स्यात् ? तत्राह प्रभो इति, समर्थो भवान् साधनाभावे फलं दातुं साधनतापि स्वकृतैवेति, ननु कथमेवमलौकिकं भवेत् ? तत्राह-यत्पादभाज इति, त्वत्सेवकानामेवालौकिककर्तृत्वं यत्र त्वयि तत्र किं वक्तव्यमिति, यस्य भगवतश्चरणारविन्दं ये भजन्ति तेध्वनः पारमवापुर्नातः परं गन्तव्यमस्ति, लोके चरणसमागता गच्छन्ति यथा पादुकादयः, अन्यथा तांश्चरणे नानयेदतो यथैतद् विपरीतमेवं फलमपि, अत एव स्वामिदर्शनं भक्तिः पूजेत्यपि साधनं भवतीति निराकृतमानन्दनिधेरन्यस्य प्राप्तव्यत्वाभावात् ॥ ५ ॥ अतः सफलजन्मवता प्राप्तफलेन भगवति यत् कर्तव्यं तदाह नमस्तुभ्यमिति, नमस्कारो न जीवानां कर्तव्यस्तुल्यत्वाद् देहादेरागन्तुकत्वादतो भगवानेव नमस्कर्तव्यः, सोपि सर्वसिद्धान्तसिद्धश्चेत्, विवादे सत्सु विषयदौर्बल्यमेव कल्पनीयमतः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यत्र कवाक्यता स नमस्कर्तव्यः, तत्रापि यदि तथानुभवो न भवेत् तदा महताम् 'ध्यन्तःकरणं प्रमाणं'मिति नमस्कर्तव्यो न भवेदतश्चतुष्टयमाह तुभ्यमिति साक्षात्कृताय भगवत इति वैष्णवसिद्धान्तसिद्धाय ब्रह्मण इति श्रौताय परमात्मन इति स्मार्ताय, श्रुतिव्यतिरिक्तपक्षेषु मायायाः सृष्ट्युपयोगः करणत्वेन प्रधानत्वेन वा पाषण्डेषु निमितत्वेनापि, सा चेद् भगवति नास्ति तदा तत्कृता दोषाः कामादयः सुतरामेव न भवन्ति तत आत्मन आत्मत्वस्य सिद्धत्वाद् दोषाणामभावाच्च ते न किञ्चिद् विज्ञाप्यनित्यभिप्रायेणाह न यत्र श्रूयते मायेति, लोकानां सृष्टयर्थं सृष्टिरूपेण वा विशेषेण कल्पना यया सा कार्यकारणरूपिणी सर्वा चेन्निषिद्धा तदा न किञ्चिद् विज्ञाप्यम् ॥ ६ ॥ तथापि स्वापराधो निवेदनीयोन्यथा स्वकृतादेव नश्येदत आहाजानतेति, मामकेन सेवकेन धर्मतत्त्वमजानता भवत्सम्बन्धं चाजानतायं तव पिता लीलायां पितृत्वेन कृतः समानीतः, यदि स्वरूपतोस्मिन्नुत्कर्षः स्यात् तदाज्ञोपि नानयेत् सम्बन्धस्तु न ज्ञातस्तदज्ञानादेव वैष्णवधर्मोप्यज्ञातः, अज्ञापने हेतुर्मामकेनेति, अयं दैत्यो यदि भगवद्धर्मांश्च् जानीयात् तदा दैत्यत्वमेव गच्छेत् ततः कोपि सेवको न भवेत्, स्वतस्त्वस्य न ज्ञानं तदाह मूढेनेति, ननु तथापि सेवकेन स्वाम्युक्तमेव कर्तव्यं ततः कथमानीतवान् ? तत्राहाकार्यवेदिनेति, नास्य कार्यवेदनं कार्यज्ञानमस्ति किं कार्यं किमकार्यमित्यतः सामान्यत उक्तमपि कर्त्रा विशेषाकारेण कर्तव्यमतोस्य स्वाभाविक एवं दोषः, अयं च तव पिता वेपमानः पुरो वर्ततेतः स्वामिन् लीलायामपराधः कृतो वर्तते तद् भवान् क्षन्तुमर्हति, तव पितेतिवचनादपराधः सोढव्यो लीलायां प्रविष्ट इति, न हि लीलाप्रविष्टानामपराधो भवति, अतो भवानित्यप्युक्तं, भवानेव क्षन्तुमर्हति न त्वहं क्षमापयितुं योग्यः, 'गोविन्द नीयतां'मिति विगीतं, तथा चेद् वदेदपराधी स्यात् ॥ ७ ॥ एवं प्रार्थनायां कृतायां तस्सिंहासन उपविष्टस्तं कृतार्थीकृत्य तत आगत इत्याहैवमिति, प्रसादितो भृत्यापराधेनातो दण्डमकृत्वैव कृष्णः सदानन्दस्तस्याप्यानन्दमुत्पाद्य ततः समागमने समानयने वा प्रार्थनीयरहितो भगवान् सर्वशक्तिः स्वपितरमादायागात्, भगवत्स्पर्शेन दैत्यसम्बन्धकृतो दोषो निवर्तितः, ननु तथापि वरुणेनागन्तव्यमनुवृत्तिश्च कर्तव्या तत् कथं नागत इति चेत् तत्राहेश्वरेश्वर इति, ईश्वराणामपि वरुणादीनामीश्वरो नियन्तातोनुल्लङ्घ्यशासनत्वात् स्वामिलीलास्थाने न गन्तव्यमितिनीतिशास्त्रान् नागतः, साधनादिकं तु नापेक्षते एवं स्मरणमात्रेणैव गोकुलप्राप्तेः, आगतय बन्धूनां मुदं चावहत् आवहन् वा समागतः ॥ ८ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नमस्तुभ्यं भगवत इत्यत्र । विवादे सत्स्वित्यादि । ननु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुया'दित्यादिकर्मकाण्डेन । यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' 'यामिमां पुष्पितां वाच'मित्यादिना च विरोधात् कथं तत्तदुपास्यानां न नमस्यतेत्याशङ्क्य तत्र विषयव्यवस्थामाहुः विवाद इति । विषयस्य विवादविषयस्येत्यर्थः । देहाद्यध्यासकृताधिकारकत्वेनाज्ञानमूलकत्वेन कर्मणो जघन्यत्वात् 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह'ेति प्रभुवचनाद्भक्तिमार्गान्मार्गान्तरस्य दौर्बल्यम् । तत्रोपास्यरूपाणां भक्तिमार्गसेव्यपुरुषोत्तमरूपाद् दौर्बल्यमिति भावः भक्तिमार्गाज्ञानदशायामेव कार्यता तेषां दौर्बल्यम्

अत एव 'मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते' इति भगवतोक्तम्। ननु चार्वाकादिभिरीश्वरो नाङ्गीक्रियत इतीश्वरोऽपि न सर्वसिद्धान्तसिद्धः। किञ्च, ईश्वरवादिनामपीदं स्वरूपं शुद्धं ब्रह्मरूपमिति न सर्वेषां सम्मतमित्यत आहुः सन्त्विति। मोहकशास्त्रज-मोहरहिताः सन्तः, तेषु परस्परं यस्मिन्विषये विवादस्तत्र तथेत्यर्थः। अत एवाग्रे श्रुत्यादिकमेवोक्तम्। न यत्र श्रूयते मायेत्यत्र, लोकानामित्यादि। मायया मोहिता एव तथा कल्पयन्तीति तथा। कार्यो मोहः; कारणं सा। एतदेवाहुः कार्यकारणरूपिणीति। आनीतोऽयं तव पितेत्यत्रेदंप्रयोगं विनापि चारिताथ्र्ये तत्प्रयोगात् तत्तात्पर्यमुक्तं वेपमानः पुरो वर्तत इत्यनेन। तत्र भगवदैश्वर्य-दर्शनजसात्त्विकभावात्तथेति ज्ञेयम्॥ ७॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नमस्तुभ्यमित्यत्र प्रधानत्वेनेति प्रकृतित्वेनेत्यर्थः, निमित्तत्वेनेति कर्तृत्वेनेत्यर्थः॥ ६॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

त्वत्पादभाज इत्यत्र लोके चरणसमागता गच्छन्तीति चरणस्य गतिमत्त्वात् चरणे ये समागताः पादुकादयो गतिमन्तो भवन्तीत्यर्थः, अत। यथैतद्विपरीतं एवं फलमपीति भगवच्चरणे समागतस्य तु परिभ्रमणशीलस्यापि सर्वगतिराहित्यं भवतीति विपरीतत्वं, एवं फलमपि विपरीतं यद्गतिरहितस्याध्वपारप्राप्तिरिति॥ ५॥ नमस्तुभ्यं भगवत इत्यत्र चतुष्टयमाहेति श्रुतिस्मृति-पुराणानुभवानां चतुष्टयमित्यर्थः, तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने इतिविशेषणचतुष्टयेन, तदेतदाहुः तुभ्यमिति साक्षात्कृताये-त्यारभ्य स्मार्तायेत्यन्तेन, साक्षात्कृताय अनुभवसिद्धायेत्यर्थः, वैष्णवसिद्धान्तसिद्धायेति पुराणसिद्धायेत्यर्थः, ब्रह्मण इति श्रौतायेति श्रुतिसिद्धायेत्यर्थः, स्मार्तायेति स्मृतिसिद्धायेत्यर्थः, प्रधानत्वेन वेति प्रकृतित्वेनेत्यर्थः, पाषण्डेष्विति मायावादादि-मार्गेष्वित्यर्थः, निमित्तत्वेनापीति कर्तृत्वेनेत्यर्थः, मायावादिमते मायाया एव कर्तृत्वस्वीकारात्॥ ६॥ आनीतोयं तव पितेत्यत्र वेपमानः पुरतो वर्तत इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, आनीतोयं तव पितेत्यस्य विवरणे तव पितेतिवचनादपराधः सोढ इति वरुणेन लीलाया एव मुख्यत्वं स्वीकृतं, लीलायामेव नन्दे पितृत्वं तव पितेत्यनेनोक्तं केवलब्रह्मधर्माङ्गीकारे तु भगवतो जन्म-राहित्यान् न पितृत्वं व्रजपतौ सम्भवति, लीलायां पितृत्वेनाङ्गीकारात् तस्य भगवदङ्गीकृतपितृत्वस्यैव वरुणेनोक्तत्वात् सन्तुष्टो भगवानतोपराधः सोढ इतिहार्दम्॥ ७॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

वरुणकृतां स्तुतिमाह—अद्येति चतुर्भिः। प्रभो हे स्वामिन्! अद्य अधुना मे मया देहो निभृतः धृतः, त्वद्दर्शनादिना मम जन्मसाफल्यं जातमित्यर्थः। अद्यैवार्थः परमं फलमधिगतः प्राप्तः, सर्वरत्नाकरपतिनापि मयेतः पूर्वं नैवंविधोऽर्थः प्राप्तः, तवैव परमार्थत्वादित्यर्थः। संसारोऽपि त्वद्दर्शनादिना निवृत्तप्राय एव' इत्याशयेनाह—त्वत्पादेति। त्वच्चरणभक्ता अध्वनः जन्ममरणादि-लक्षणस्य संसारमार्गस्य पारं त्वामवापुः प्रापुः॥ ५॥ एवं स्वकृतार्थतामाविष्कृत्य, अथ स्वापराधं क्षमापयितुकामो भगवतः सर्व-शास्त्रसिद्धान्तसिद्धफलरूपत्वं वर्णयन् नमस्करोति—नम इति। भगवते वैष्णवे सिद्धान्तसिद्धाय, ब्रह्मणे श्रुतिसिद्धान्तसिद्धाय, परमात्मने स्मृतिसिद्धान्तसिद्धाय, तुभ्यं प्रत्यक्षप्रमासिद्धाय नमः। ननु 'ममापि सर्वजनसाधारणतया प्रत्यक्षत्वात् कथं सर्वशास्त्र-सिद्धफलरूपत्वम् ?' इत्याशङ्क्याह—नेति। यत्र भवद्विग्रहे लोकानां जनानां सृष्टिं देवमनुष्यादिशरीरं विकल्पयति या माया प्रकृतिः सा नियामकतया कस्मिन्नपि शास्त्रे न श्रूयते, अतो न सर्वजनसाधारणत्वशङ्का युक्ता॥ ६॥ अथ स्वापराधं निवेदयन् क्षमापयति—अजानतेति। मामकेन मद्भृत्येन अयं तव पिता आनीत इति यत् तत् मद्भृत्यकृतत्वान्मदपराधं क्षन्तुमर्हसि। 'तर्हि किमित्यानीत' इत्याशङ्क्याह—अकार्यवेदिनेति। कार्यं कर्तव्यमजानता। तत्र हेतुमाह—अजानतेति। त्वद्धर्मं त्वत्प्रभावं चाजानतेत्यर्थः॥ तदज्ञाने हेतुमाह—मूढेनेति, अविद्यामोहितेनेत्यर्थः॥ ७॥ 'प्राप्तकामधेन्वाद्यैश्वर्यस्य तव न काचिदपेक्षा' इत्याशयेन सम्बोधयति—गोविन्देति। एष ते पिता त्वया नीयताम्। 'महांश्चायमपराध' इति सूचयन् सम्बोधयति—पितृवत्सल इति। 'तथापि सदानन्दरूपस्य तव अनुग्रह एव युक्त' इत्याशयेन सम्बोधयति—कृष्णेति। ममाप्यनुग्रहं कर्तुमर्हसि। कोऽसावनु-ग्रहोऽपेक्षित' इत्यपेक्षायां 'तं त्वमेव जानासि, सर्वसाक्षित्वात्' इत्याशयेनाह—अशेषदृगिति॥ ८॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

अद्येति॥ हे प्रभो! हे भगवन्! अद्य अधुना मे मया देहो निभृतः धृतः। त्वद्दर्शनात् देहधारणसाफल्यं जातमित्यर्थः। यद्वा। निभृतः पूर्णमनोरथः जातः। अद्यैवार्थः परमं फलमधिगतः प्राप्तः। सर्वरत्नाकरपतिनापि एवंविधोऽर्थः पूर्वं न प्राप्तः। त्वत्पादभाजः त्वत्पादयोर्भक्ताः अध्वनः संसारमार्गस्य पारं त्वामवापुः प्रापुः॥ ५॥ नम इति॥ भगवते ब्रह्मणे परमात्मने तुभ्यं नमः। यत्र भवति लोकानां सृष्टेः कल्पना यस्याः सा माया न श्रूयते अविद्यमानेव तिष्ठति॥ ६॥ अजानतेति॥ अजानता पूर्वोक्तं शास्त्रवचनं तव पितेति वा अजानता मूढेन अकार्यवेदिना कर्तव्यमजानता मामकेन मद्भृत्येनायं तव पिता आनीत इति

यत् तत् मद्भृत्यकृतत्वान्मदपराधं भवान् क्षन्तुमर्हति ॥ ७ ॥ गोविन्देति अर्द्धम्। हे गोविन्द ! हे पितृवत्सल ! एष ते पिता त्वया नीयताम्। ममेत्यर्द्धमसार्वत्रिकं स्पष्टं च ॥ ८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

हे प्रभो अद्यैव मे मया देहो निभृतः धृतः यदा त्वत्समागमः प्राप्तस्त दैवदेहधारणस्य सफलत्वं जातमित्यर्थः अर्थः सकलधनसंघः अद्यैवाधिकृतः सर्वधनप्राप्तिभ्योप्याधिक्येन प्राप्तः यतः त्वत्पादभाजो जनाः अध्वनः संसारमार्गस्य पारमंतं मुक्तिमवापुः ॥ ५ ॥ नम इति भगवते सर्वैश्वर्यसंपन्नाय ब्रह्मणे बृहत्त्वाद्यसंख्येय गुणैर्महते परमात्मने बद्धमुक्तेभ्यः श्रेष्ठमूर्त्तये तत्र हेतुः यत्र तव मूर्त्तौ लोकानां सृष्टिं त्रिगुणात्मकसर्गं विकल्पयतीति तथा भूताया माया प्रकृतिः सा नं श्रूयते श्रुतिभिर्नोच्यते तव विग्रहे मायानास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ इदानीं वक्तव्यमाह अजानतेति तव पितरमजानता ज्ञातृत्वेऽपि अकार्यं वेदिनाकार्या कार्यविवेकशून्येमत्ननुचारेण हे पितृवत्सलपितरिदयालो ॥ ७ ॥ बंधूनां गोपगोपीनां गोकुलमगात् ॥ ८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

तदेवाह पञ्चभिः ॥ अद्येति ॥ हे प्रभो, अद्याधुना, मे मया, देहः निभृतो धृतः। यदा त्वद्दर्शनं जातं तदैव देहसाफल्यं जातमित्यर्थः। यद्वा मे मम, देह आत्मा निभृतः पूर्णमनोरथो जात इत्यर्थः। किं च अद्य एव, अर्थः अधिगतः। सर्वरत्नाकरपतिनापीतः पूर्वं नैवंविधोऽर्थः प्राप्त इत्यर्थः। त्वद्दर्शनान्मम मुक्तिरपि करस्था जातेत्यभिप्रायेणाह। हे भगवन्, त्वत्पादं भजन्तीति त्वत्पादभाजः, ये तेऽपि, अध्वनः संसाराध्वनः, पारं पारभूतं त्वां, अवापुः। किमु त्वद्दर्शनभागहमिति भावः ॥ ५ ॥ एवं स्वकृतार्थतामाविष्कृत्याथ क्षमापयितुकामः क्षमाहेतुः केवलाञ्जलिमुद्रैवेत्यभिप्रयन्नसाधारणगुणैर्विशिंषन्नमस्करोति ॥ नम इति ॥ भगवते पूर्णषाड्गुण्याय, ब्रह्मणे स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहते, परमात्मने लोकत्रयस्यान्तः प्रवेशव्याप्यगतधर्मास्पर्शाभ्यां नियन्त्रे, तुभ्यं नमः। यत्र त्वयि, लोकस्यं जीवलोकस्य दृष्टिं ज्ञानं विकल्पयतीति तथाभूता, गुणत्रयोन्मेषानुगुणकर्मरुचिजननद्वारा ज्ञानसंकोचविकाशादिजननहेतुरित्यर्थः। सृष्टिमिति पाठान्तरे लोकसृष्टिं विकल्पयति विविधतया रचयति तथाभूता माया, न श्रूयते। अप्राकृतस्वेच्छोपात्तदेहाय तुभ्यं नम इत्यन्वयः ॥ ६ ॥ अथ स्वापराधं निवेदयन् क्षमापयति ॥ अजानतेति ॥ कार्यवेदि न भवतीत्यकार्यवेदी तेनाकार्यवेदिना विवेकशून्येनेति यावत्। मूढेन, नन्दं भगवतस्तव पितरमित्यजानता, अजानता तव प्रभावानभिज्ञेन, यद्वा भगवच्छास्त्रमजानता, तच्छास्त्रं तु 'कलाढ्या द्वादशीं दृष्ट्वा निशीथादूर्ध्वमेव हि ॥ आमध्याह्नाः क्रियाः सर्वाः कर्त्तव्याः शंभुशासनात्' इति। मामकेन मद्भृत्येन, अयं तव पिता, आनीत इति यत्, तदिदं हे प्रभो, क्षन्तुं, अर्हसि। यद्यस्मात्तव पिताऽनेन आनीतः, अत एव हि दुर्लभमपि त्वद्दर्शनं नोऽस्माकं जातं ततो भृत्यकृतापराधोऽपि मम तु महाफलाय बभूवैवं महाफलप्रदो भवानेतदपराधं क्षन्तुमर्हसीति भावः ॥ ७ ॥ इत्युक्त्वा नन्दं समर्पयति ॥ गोविन्देति ॥ हे गाविन्द, हे पितृवत्सल, एषः ते तव, पिता नीयताम्। कृतापराधे स्वस्मिन्ननुग्रहं प्रार्थयते। प्रजा इति। हे प्रभो, सापराधाः अपि, वयं प्रजास्त्वत्प्रजाभूताः, अतः, त्वया, अनुग्राह्याः ॥ ८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

अद्य मे इति : १०.२८.५.

यत्रोरगेन्द्ररसना श्रुतिवासनाऽपि श्रुत्यास्यवागपि च पञ्चमुखस्य दृष्टिः।
आसीद् विकुण्ठगतिरेष जडप्रवृत्तिस्तत्राहमच्युत कियानिह ते महिम्नि ॥ ११ ॥
सर्वाप्रतिष्ठितपदादिमभूमिरासमेतावदीश पदयोस्तव दर्शनेन।
सद्योगिमानसमिवामृतसिन्धुपूर्णलीलाविहाररसिकोऽभवमद्य सत्यम् ॥ १२ ॥
प्रभुः प्रगल्भोऽस्म्यहमप्रगल्भः प्रभुः प्रकृष्टोऽस्म्यहमप्रकृष्टः।
ततश्च सर्वेश्वर किं न सिद्धं सेव्यस्त्वमद्धा लघुसेवकोऽहम् ॥ १२ ॥
हृदयं यस्य यासीश सोऽनन्तं सुखमश्नुते। सदनेऽद्य ममायातस्तम्ने भाग्यं वदामि किम् ॥ १४ ॥
मात्स्यन्यायः सदन्यायस्थितिं बोधयतीह न। तदस्तु साम्प्रतं स्वेष्टसाधको विनयो हि मे ॥ १५ ॥

अजानतेति : १०.२८.७.

सर्वेश्वरस्य जनकः सकलाधिकश्रीर्मान्यो न चान्यवदनादरणीय एषः।
एवं प्रभो यदि विविक्तमतिश्चरश्चेत् तद्वारुणीस्थितिफलं भविता किमस्य ॥ १६ ॥
अस्माभिरध्धितनयाश्वशुरोऽरति कीदृगत्रस्थितैरपि न जातुचिदप्यलोकि।
एवं मयाऽनुचरसंसदि कौतुकेन प्रोक्तं ततस्तमयमानयदन्तिकं मे ॥ १७ ॥

यत् सर्वतोमुखगतिर्भुवनाधिकश्रीरस्त्यम्बुजातवसतिर्विधिवत् तदस्मिन् ।
भान्त्या पितामहपदाग्रिरपीति लोकताताहृतस्तव पितेति न धत्स्व रोषम् ॥ १८ ॥
मदीयोऽयमिति श्रीश यं त्वमङ्गीकरोष्यहो । तस्य भीतिर्न कुत्रापि भवत्यस्य तु का पुनः ॥ १९ ॥
नन्दद्वारानन्दलाभो भवेत् त्वद्दर्शनोद्भवः । अपूर्वैव ममाशेयमपूर्वाशा विलासिनः ॥ २० ॥
न चित्रं किमिदं देव प्रमादाशाविलासिना । त्वया मुदा मदाशेयं न मदाशेति लक्षिता ॥ २१ ॥
एवं ममेश हृदि या तव दर्शनाशा सा पूर्णतां करुणया भवताऽद्य नीता ।
तत् किं ब्रवीम्यहमितो भुवनेषु धन्यो भक्तेष्वपाशपदभाक् च सदाप्रतिष्ठः ॥ २२ ॥
एतद्दराशयेनैव ज्ञात्वापि पितरं तव । नाहं प्रेषितवान् शीघ्रमिति मन्तुं क्षमस्व मे ॥ २३ ॥

गोविन्द नीयतामिति : १०.२८.८.

गृहीत्वा स्वजनानन्दं नन्दमेनमनेनसम् । गोकुलालङ्कृतो भूत्वाऽऽनन्दगोपं सुखं दिश ॥ २४ ॥
भूयो नातिशतं कृत्वा प्रार्थये त्वामिदं हरे । नेतः कदापि भूयान्मेऽपूर्वाशा पतिता मतिः ॥ २५ ॥

कृष्णप्रिया

श्री वरुण देव कहने लगे, हे नाथ हे भगवन् ? वास्तविक रूप से मैंने आज शरीर धारण किया ऐसा लगता है। सचमुच आज ही मेरा जन्म हुआ ऐसा मानता हूँ। परम पुरुषार्थ आज ही पाया यह निश्चय है, क्योंकि आपके पादारविन्द आज इस दास के द्वार पर पधारें। हे भगवन् ? आपके श्रीचरणों की सेवा करने वाले लोग ही भवसागर से पार हो जाते हैं ॥ ५ ॥ हे दयानिधि ? आप ही परमात्मा है, आप ही परब्रह्म है, आपका ऐश्वर्य सर्वश्रेष्ठ है। जन जीवन में भ्रम पैदा करने वाली और लोकसृष्टि का कारण माया आप में नहीं, आप को छु सकती नहीं। माया पर आपका प्रभाव है आप पर माया का प्रभाव नहीं। अन्त में आपके श्रीचरणों में प्रणाम ॥ ६ ॥ नाथ ? धर्म का सिद्धान्त को न समझने वाले और आपके पितृचरण श्रीनन्द बाबा को न जानने वाले और कार्याकार्य का तत्व के अनभिज्ञ मेरे सेवक ने मोहवश यह अपराध किया। पूज्य पितृचरणों को यहाँ ले आया और कष्ट पहुँचाया। हे नाथ इस अपराध को क्षमा करें ॥ ७ ॥ श्रीशुकाचार्यजी ने कहा— राजन् ? जलाधिपति वरुण देव ने विनय पूर्ण भक्ति सभर व्यवहार से, सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण को प्रसन्न किया। भगवान् श्रीकृष्ण भी वरुण लोक से अपने पितृचरण श्रीनन्दराय जी को साथ लेकर व्रज में पधारे और निज जन निज बन्धुजन को सपरिवार पारावार सुख दिया ॥ ८ ॥

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालमहोदयम् । कृष्णे च सन्नतिं तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितोऽब्रवीत् ॥ ९ ॥
ते[1] त्वौत्सुक्यधियो राजन् मत्वा [2]गोपास्तमीश्वरम् । अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः ॥ १० ॥
इति स्वानां स भगवान् [3]विज्ञाया[3]खिलदृक् स्वयम् । सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयैतदचिन्तयत् ॥ ११ ॥
जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः । उच्चावचासु गतिषु न वेद [4]स्वां गतिं भ्रमन् ॥ १२ ॥

कर्वमक्षमा

अन्वयः—नन्दः तु महोदयम् अतीन्द्रियम् लोकपालम् दृष्ट्वा च तेषाम् कृष्णे सन्नतिम् दृष्ट्वा विस्मितः ज्ञातिभ्यः अब्रवीत् ॥ ९ ॥ राजन् ! औत्सुक्यधियः ते गोपाः तम् ईश्वरम् मत्वा, अधीश्वरः अपि नः सूक्ष्माम् स्वगतिं उपाधास्यत् ॥ १० ॥ अखिलदृक् सः भगवान् इति, स्वानाम् तेषाम् संकल्पसिद्धये स्वयम् कृपया एतत् अचिन्तयत् ॥ ११ ॥ एतस्मिन् लोके अविद्या कामकर्मभिः उच्चावचासु गतिषु भ्रमन् जनः स्वाम् गतिम् न वेद ॥ १२ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अतींद्रियमदृष्टपूर्वं लोकपालस्य महोदयमैश्वर्यम् ॥ १० ॥ अत्यौत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां ते। अपि किं स्वगतिं स्वस्थानं सूक्ष्मां ब्रह्माख्यां चोपाधास्यदुपाधास्यति। नोऽस्मान्प्रापयिष्यतीति संकल्पितवंत इत्यर्थः ॥ ११ ॥ इत्येवंभूतं स्वानां तेषां संकल्पमखिलदृक् सर्वज्ञः स्वयमेव विज्ञाय तेषां संकल्पसिद्धये कृपयैतद्वक्ष्यमाणमचिंतयत् ॥ १२ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एवमुक्तविधया। ईश्वराणां हिरण्यगर्भादीनामपीश्वरो नंदनंदनः। बंधूनां गोपानाम्। अवहत्प्रापयामास। ईश्वरेश्वरत्वं दर्शयति—तथाहि—बीजांकुरतरूपमेष्वीशसूत्रविराट्स्वनंतबीजगर्भफलोपमः श्रीकृष्णोऽनंतकोटिब्रह्मांडनायक इति प्रसिद्धम्।

१. ते चो-वीर. । २. स्वधी-विज । ३. य स्थिरनिश्चयम्-प्रा. पा. । ४. स्वगतिं-विज. ।

अयमेवार्थः श्रीशंकरभगवत्पादैर्वेदांतसारे वनवृक्षदृष्टांतेन समष्टिव्यष्टिरूपेण स्थूलसूक्ष्मकारणानि प्रतिपाद्य समष्टिवनदृष्टांतेन प्रतिपादितः। "शास्त्रेऽप्यंतस्तद्धर्मोपदेशात्" इत्यत्र "य एषोंत्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवाक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदेति ह्वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" इति नामरूपवंतमादित्यमंडलांतर्वर्त्तिनं नारायणमुदाहृत्य तस्य च ऋक्सामचगेष्णाविति नारायणस्य कृत्स्नप्रपंचात्मके ऋक्सामे अंगुलिपर्वणी इत्युक्तं ततोनंतकोटिब्रह्मांडाश्रयत्वं सर्याकृतेर्ब्रह्मणो युज्यते । अयमेव नंदनंदनो महामायावी सुप्तिप्रलयकैवल्येषु कर्मोपरमे सति जगदिंद्रजालं स्वमूर्त्त्यां सह तिरोधायापास्तसमस्तविशेषं ब्रह्मात्मानं प्रापयति कर्मशेषसत्त्वे पुनरुद्भावयति च ततश्चास्य स्वाविद्याभावादसंगत्वं पराविद्याकल्पितोपाधिसंबंधात्प्रतिमायाभोजकत्ववन्नियंतृत्वमविद्यायाश्चाद्यंतशून्यत्वात्तन्नित्यत्वं चेति सिद्धम्। नन्वसंगस्य "अस्थूलमनणु निष्क्रियं शांतम्" इत्यादिश्रुतेः सर्वविशेषशून्यस्य नामरूपनियंतृत्वादिकं च कथं घटेतेति चेत्। अत्र ब्रूमः। "कौलिके प्रतिमाद्वारा चैत्रे भोग इवेशता। असंगे भूम्नि जीवौघकल्पितोपाधियोगतः ॥" अनादौ संसारे जीवेश्वरविभागस्याप्यनादित्वाद्रज्ज्वां भुजङ्ग इव जीवौघस्याविद्यया शुद्धेपि चिदात्मनीशसूत्रादिकं कल्पितमिदमेव ब्रह्मणः शरीरम्। यथा कौलिकः प्रतिमां कृत्वेदमेव चैत्रशरीरमिति भावयति तद्वत्। यथा च प्रतिमाद्वारा चैत्रस्य सुखदुःखादिभोगो भवति तस्या हस्तवेधे चैत्रस्यापि हस्तवेधो जायते तस्यै पायसे समर्पिते चैत्रस्यापि पायसभोगो जायते एवं शुद्धयामपि चिति जीवौघकल्पितो पाधिद्वारा ईशनादिकं भवति। इयांस्तु विशेषः—जीवस्य स्वाविद्यया कल्पितं शरीरांतरमस्तीति प्रतिमानिमित्तकोऽपि भोगः स्वदेहावच्छेदेनैव जायते न प्रतिमावच्छेदेन। चितस्तु तदभावाद्विभुत्वाच्च परकल्पितोपाध्यवच्छेदेनैव नियंतृत्वादिकं भवति। तच्चाकर्मजत्वाच्चितौ न संसृज्यते यथा जीवे भोगः यथा वा कल्पितसर्पगतं भीषणत्वं रज्ज्वाम्। एवं च व्यवहारतः संसारस्याद्यंतशून्यत्वात्तत्कारणीभूतस्येशादेरपि तथात्वं वक्तव्यं किमुतेशादिकारणीभूतायाः श्रीकृष्णमूर्त्तेः। ईशः समष्टिकारणोपाधिः सूत्रात्मा समष्टिसूक्ष्मशरीरोपाधिः विराट् समष्टिस्थूलोपाधिः। ते च बीजोपमे ईशः अकुरोपमः सूत्रात्मा वृक्षोपमो विराडित्येवं ज्ञेयाः। श्रीकृष्णस्तु परिपक्वानंतबीजगर्भफलोपमोस्त्यत एव सर्वकारणकारणेश्वरेश्वरसर्वेश्वरपुरुषोत्तमोत्तमादिशब्दैन्तन्नामोदाह्रियते। निरूपितं चैतद्विस्तरेण नीलकंठाचार्यैश्श्रीमहाभारतसभापर्वभावदीपे इत्यलं प्रपंचेन। आगात् सूर्योदयात्पूर्वमेवेति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥ अतिचमत्कारवन्ति इन्द्रियाणि यतस्तम्। महोदयं महैश्वर्यम्। तेषां लोकपालानाम्। अब्रवीदिति द्वादशीमध्य एव पारणं कृत्वा आस्थान्यामुपवेश्यैवेति ज्ञेयम् ॥ १० ॥ स्वगतिं स्वोपासकानाम्। सूक्ष्मां ब्रह्मानन्दरूपां वैकुण्ठाप्तिरूपां वा। उपधास्यति नोऽस्मान् प्रापयिष्यते। भो व्रजराज त्वयैव पूर्वं गर्गोक्त्याऽस्य नारायणसाम्यमुक्तं न तु नारायणत्वम्, संप्रति तु वरुणस्तुत्या साक्षाद्दृष्ट्वा यदि नारायणत्वमेव निर्द्धारयसि तदा बन्धूनामस्माकं सांसारिकाणामप्यवश्यमेव मनोरथमयं पूरयिष्यत्येव। यतस्तव पुत्र एव मम भ्रातुः पुत्रोऽस्य भगिनीपुत्रोऽस्य दौहित्रः परमेश्वरोऽयमस्मिन्नेते वयं स्निह्याम एव, अयमप्यस्मास्वासज्जत्येव। तद्भो गोपाः परमेश्वरत्वादस्मात्स्वस्ववांछनीयं यथेष्टं गृह्णीतेत्युक्ते केचिदाहुर्वयं मुक्ता एव बुभूषाम इति, अन्ये वयं वैकुण्ठवासिन एव बुभूषामेति पृथक्पृथग्विविधमतयो विविधसंकल्पवंतो बभूवुर्न तु "युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ" इति, 'तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविंदम्' इति, 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्' इत्याद्युक्तिमंतो वसुदेवार्जुनादय इव ऐश्वर्यज्ञानो परागात्स्वसंबंधशैथिल्यवन्तो बभूवुरित्यर्थः ॥ ११ ॥ स्वानां स्वेषां ज्ञातीनाम् 'स्वोऽर्थज्ञात्यन्यवाच्यपि' इत्युक्तेः। अज्ञातिथनाख्यायमित्युक्तेः अज्ञातिधनाख्यायमित्युक्तेः सर्वनामकार्याभावः ॥ इतो वस्तुतः स्वानां ज्ञातीनां संकल्पं विज्ञाय तु स्वयं अखिलं ब्रह्मानुभवं सुखं वैकुण्ठवाससुखं च पश्यति जानातीत्यखिलदृक्। स्वपरिकप्रेमतारतम्येन तत्सान्निध्य ऐश्वर्यावरणतारतम्यत्वेऽपि तदानीं लीलाशक्तिप्रेरणवशादेव सम्पूर्णसर्वज्ञत्वोदयात् गोपीनाम्, तेषां तु तत्प्रेममाधुर्यकणिकयाऽपि ब्रह्मसुखवैकुण्ठसुखयोर्नीचीनीकृतत्वेपि तेषां नरलीलत्वेन मुग्धानां संकल्पसिद्धये तत्संकल्पितं ब्रह्मसुखं वैकुण्ठसुखं चताननुभावयिष्यन्निदमचिंतयत् ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

एवमुक्तप्रकारेण व्यवहारेण वचनेन व्यवसायेन च। ननु, एतावन्महापराधे तावन्मात्रेणैव कथं प्रसन्नोऽभूत्? तत्राह, भगवान् सर्वज्ञः तत्त्वतस्तद्दोषो नास्तीति विज्ञानादवित भावः भगवत्त्वे हेतुः अखिलानामीश्वरः प्रवर्त्तकः ईश्वरेश्वर इति पाठः क्वचित् ॥ ९ ॥ एवं यद्गोविन्दत्वं दर्शितं तस्यैव महिमदर्शनाय तदास्पदस्य महिमानं दर्शयति—नन्दस्त्वित्यादिना। तुशब्दो भिन्नोपक्रमे तेषां वरुणस्य तल्लोकवासिनां च विस्मित इति केवलमधुरनरलीलावेशादिति सिद्धान्तितमेव श्रीकृष्णप्रेमैव हि सर्वोत्कर्षहेतुर्न सम्पदादय इति तदपेक्षा चेत्तेऽपि हि दर्शयिष्यन्त इति भावः ॥ १० ॥ ते तादृशतन्नित्यपरिकरा अपि प्रेमविशेषेण गोपाः केवलतद्बान्धवगोपत्वाभिमानिनः अत औत्सुक्यधियः लोकपालमात्रस्य तादृशं लोकादिवैभवम् अस्य वाऽस्मदीयरूपस्याप्यधीश्वरस्य कीदृशं स्यादित्युत्कण्ठितधियः अतः स्वगतिशब्देनात्र स्वस्थानमित्येव लभ्यते न तु ब्रह्माख्या सूक्ष्मामित्यनेन च न सा प्रोच्यते स्वगतिमित्यस्यैव विशेषणत्वेन प्रतीतेः शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति न्यायविरोधादस्यैव पुनरावृत्तिश्च न स्यादिति सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयां तदेवमेषां तादृशस्वगति दिदृक्षा च तत्प्रेम्णैव अधीश्वरताज्ञानेपि स्वाभाविकपुत्रतादिविज्ञानानुपमर्दात् ॥११॥ स्वानां

ज्ञातीनां "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्" इति शब्दस्मृतेः इति कृष्णस्य तथैव तत्प्रेममयाभिमानं दर्शयति स व्रजजनाखिलमनोरथपरिपूर्णव्यग्रः स्वयमिति तैर्लज्जादिना साक्षादविज्ञापितमपि स्वयमेव विज्ञाय ॥ १२ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

तथाप्यन्तः क्रोधं श्रीभगवन्तं दृष्ट्वा भीतः श्रीनन्दप्रदर्शनादिना प्रशमयन्नाह—गोविन्देति; गां स्वर्गमिन्द्रत्वेन विन्दतीत्येवं निजप्रभुत्वमेव साधितम्। यद्वा, महापराधीनापीन्द्रेण कृतस्य गोविन्दतयाभिषेकस्य स्वीकारेण परमकारुण्यादिकं सूचितम्। तव पिता एष साक्षाद्वर्त्तते, अत एतदग्रेऽपि पितृभक्तस्य तव क्रोधो न युज्यत इति भावः; अतो नीयतां गृहीत्वा गम्यतामित्यर्थः। यद्वा, गोविन्दत्वेन तव एष एव पिता पितृत्वयोग्य इत्यर्थः। अतएव हे पितृवत्सल! नीयताम्; यद्वा, एष नीयतां सत्वरं निजस्थानं प्राप्यताम्, द्वादश्यन्तरेवास्य पारणापेक्षणात्। पितृवत्सलेत्यत्र गूढोऽयं भावः—पितृवत्सलत्वात् पित्रर्थमेव श्रीभगवानत्रागच्छेत्, तत एव निजगृहान्तः स्वच्छन्देन तत्सन्दर्शनं महार्च्चनं च सम्पद्यत, न चान्यथेति मन्त्रणयायमत्रानीतः पूज्यतया भक्त्या निजान्तिक एव स्थापितः, तदभिप्रेतमस्माकं सिद्धम्, अतोऽधुनानीयतामिति ॥९॥ एवमुक्तप्रकारेण व्यवहारेण वचनेन व्यवसायेन च। ननु एतावन्महापराधे तावन्मात्रेणैव कथं प्रसन्नोऽभूत्? तत्राह—भगवान् सर्व्वज्ञः, तत्त्वतस्तद्दोषो नास्ति, विशेषतश्च मत्सन्दिदृक्षयैव तथा कृतम्, पितुरपि भयदुःखादिकं विचारयन्नित्यर्थः; भगवत्त्वे हेतुः—अखिलानामिन्द्रादीनामीश्वरः प्रवर्त्तकः; यद्वा, जगतां बहिरन्तः प्रभुः; यद्वा, जगदीश्वरोऽपि स्वस्य पितरमिति तस्मिन् भक्तिविशेषः; तस्य च तत्-पितृत्वे स्वत एव भयविकाराद्यभावो दर्शितः, अत आदाय हस्ते धृत्वा स्वस्थानमागतः; अतएव बन्धूनां व्रजजनानां मुदं प्रवाहरूपेण निरन्तरं प्रापयामासेत्यर्थः; च-शब्दात् श्रीनन्दस्य द्वादश्यन्तः पारणामहोत्सवश्च सूचितः। प्रसादित इति स्वल्पापराधतया भगवद्दिदृक्षया महापूजया वरुणस्येन्द्रान्महाविशेषं बोधयति; अतएव तेन संकीर्त्तित एवेत्युक्तम्, न च प्रसादित इति महापराधेनान्तः प्रसादनाशक्तेः, अतएव वरुणस्य भक्त्यपेक्षया तद्गृहे भगवतो गमनमिति ॥ १० ॥ एवं निजभक्तानां देवानां मनोरथपूरणमुक्त्वा परमप्रियाणां व्रजजनानां तद्वदन् तत्राग्रे श्रीगोपिकानां वक्ष्यन् सूचीकटाह—न्यायेनादौ गोपानामाह—नन्दस्त्वित्यादिना। तु-शब्दो भिन्नोपक्रमे। तत्तदुक्त्या ज्ञातीनामौत्सुक्यार्त्तिविवर्द्धनात् लोकपालानामपि महान्तमुदयं वैभवं दृष्ट्वा, तेषामपि कृष्णे सन्नतिं परमभक्तिञ्च दृष्ट्वा, इति वरुणलोकादागच्छन् पथीन्द्रादीनामपि महोदयं सन्नतिं चापश्यदिति बहुत्वेन बोध्यते। यद्वा, तेषां वरुणादीनां वरुणलोकेऽन्येषां च सुरश्रेष्ठानां वृत्तेस्तदपेक्षया बहुत्वम्; यद्वा, महोदयादिदृष्ट्या महत्त्वेन बहुत्वेन बहुत्वम्, अतीन्द्रियमिन्द्रियाग्राह्यं विचित्रानन्तरूपमित्यर्थः। विस्मितः, तेषां तादृशसन्नत्यसम्भवात्; अतो ज्ञातिभ्य उपनन्दादिभ्यस्तं तां चाब्रवीत्; यद्वा, अव्ययानामनेकार्थत्वादप्यर्थे तु-शब्दः। अकारप्रश्लेषश्च तादृशं तं तांश्च दृष्ट्वापि अविस्मितः, केवलं ज्ञातीनां सन्तोषार्थं तान् प्रत्यब्रवीत् ॥ ११ ॥ गोपाः स्वभावतः प्रेमविवशा अपि, हे राजन्निति स्नेहभराक्रान्तचित्तानामपि तेषां तथामननेन कौतुकात् सम्बोधनम्, अन्यत्तैर्व्यञ्जितम्। यद्वा, औत्सुक्यधियः कौतुकाक्रान्तचित्ता बभूवुः, यतो गोपाः कृष्णवत् विचित्रविनोदपराः; कथम्? तदाह—अपीति, स्वगतिमात्मतत्त्वं सूक्ष्मां तद्दर्शनाद्यपेक्षया स्वल्पतरामपि नोऽस्मानपि किमुपायत्वेन भक्त्युपकरणत्वेन वाधास्यदर्पयिष्यति। ननु परमपददातासौ स्वल्पद्रव्यमेतत् कुतो दास्यति? तत्राहुः—अधीश्वरो भक्तानामस्माकं परमप्रभुः। यथानेकामूल्यरत्नादिविभूषितेनापि बालकेन कदाचित् क्रीडाकौतुकेन प्रार्थ्यमानं काचखण्डमपि पिता स्नेहेन दद्यात्तद्वदिति भावः। यद्वा, स्वस्य तस्य गतिं गम्यं स्थानं सूक्ष्मव्यक्तं प्रपञ्चातीतं वास्मान् प्रापयिष्यति किम्? न तु तस्य स्थानमिदमेव, तत्राहुः—अधीश्वरो ब्रह्मादीनां सर्व्वेषां लोकपालानामपीश्वरः, अतो ब्रह्मादीनामिव तस्याप्यैश्वर्य्यानुरूपमसदगम्यं स्थानान्तरं भविष्यतीति भावः। इति कौतुकविशेषेणैव तद्दिदृक्षेपामिति; यद्वा, सूक्ष्मामस्मद्दुर्वितर्कां स्वेषां निजप्रियजनानां गतिं गम्यं पदं वैकुण्ठम्, यद्वा, वैकुण्ठस्योपरितनप्रदेशस्थं गोलोकाख्यमस्मान् न प्रापयिष्यति किम्? स व्रजजनाखिलमनोरथपरिपूरणव्यग्रः, स्वयमिति तैर्लज्जादिना साक्षादविज्ञापितमपि स्वयमेव विज्ञाय कृपयैव केवलं पितृस्नेहाक्रान्तपुत्रन्यायेन एतद्वक्ष्यमाणमचिन्तयत्, अन्यथा स्वत एव तेषां तदशेषसम्पत्त्या संकल्पसिद्धस्यार्थचिन्तनानुपपत्तेः। अन्यत्तैर्व्याख्यातम्, यद्वा, इति उक्त प्रकारमौत्सुक्यधीत्वं स्वानां व्रजजनानामशेषदृक् सर्व्वतत्त्वं जानन्नपीत्यर्थः। विज्ञाय तेषामौत्सुक्यभरेण साक्षादिवानुभूय, यतो भगवान् सर्व्वैश्वर्य्ययुक्तः, अन्यत् समानम् ॥ १२-१३ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

कृतापराधे स्वस्मिन्ननुग्रहं प्रार्थयते-प्रजा इति। प्रजाः पुत्रप्रायाः वयमत एव हे प्रभो! सापराधा अप्यनुग्राह्या एव त्वयेति शेषः ॥ ९ ॥ इत्थं वरुणेनेति शेषः प्रसादितः प्रसन्नीकृतः कृष्णः पित्तरमादाय बन्धूनां मुदं हर्षमावहन् जगाम ॥ ९ ॥ नन्दस्त्वतीन्द्रियमदृष्टपूर्वं वरुणस्य महोदयमैश्वर्यं तेषां वरुणादीनां कृष्णे सन्नतिं नम्रतां भृत्यतामितियावत् दृष्ट्वा अतीव विस्मितः तत् ज्ञातिभ्योऽन्ववर्णयत् ॥ १० ॥ ततस्ते नन्दस्य ज्ञातयो गोपाः हे राजन्! त्वं कृष्णं साक्षात् जगदीश्वरं परमपुरुषं मत्वौत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां तथाभूताः अयमीश्वरः कृष्णः सूक्ष्मामतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्वरूपरूपगुणविभूतिप्रकारं नोऽस्माकमुपाधास्यत्यपि दर्शयिष्यति किमिति सङ्कल्पितवन्तः उपाधानमत्र दर्शनं धातूनामनेकार्थत्वादुत्तरानुगुण्याच्च ॥ ११ ॥ इत्थं स्वानामभिप्रायमिति शेषः। अखिलदृक् हेतुगर्भमिदं तत्त्वात् स्वयमेव विज्ञाय तेषां मनोरथसिद्धये कृपयैतद्वक्ष्यमाणमचिन्तयत् ॥ १२ ॥

श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

बन्धूनां च मुदमवहत् ॥ ९ ॥ अतीन्द्रियम् इन्द्रियाविषयम् ॥ १० ॥ नन्दवर्णितकृष्णमाहात्म्यं श्रुत्वा गोपानां बुद्धौ किमन्वर्त्तत ? तत्राह-त इति। तुशब्दोऽवधारणार्थो विशेषार्थो वा औत्सुक्यधियः पूर्वस्माद्विशिष्टभक्त्या हृतबुद्धयः ते गोपाः तं कृष्णमधीश्वरं ब्रह्मादेरप्यधिकम् ईश्वरमेवं मत्वा ज्ञात्वा एषोऽधीश्वरो नोऽस्माकम् इष्टमकरिष्यत् तर्हि सूक्ष्मामतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्थानमप्युपाधास्यददर्शयिष्यदिति ॥११॥ बुद्ध्या मनीषितम् एवं कथमवगतमित्यतः कृष्णचिन्तिनेनावसीयत इत्याशयेनाह-इतीति। स्वानामिति सर्वनामसंज्ञामन्तरेण प्रयोगो ज्ञानित्वविशेषद्योतनाय स्वानां ज्ञातिनां हार्दं विज्ञाय तत्र हेतुरखिलदृगिति ॥ १२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

विस्मित इति केवलमधुरनरलीलावेशादिति सिद्धान्तितं नन्दस्त्वित्यादिना ॥ १०-१२ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

अतोऽनुपहित शुद्धचैतन्यं भगवान्। एवं स्तुत्वा ब्रह्माख्यां सूक्ष्मां शक्तिं दिदृक्षवस्ते मनोरथं चक्रुरित्याह-अपि न इत्यादिः। अपिः सम्भावनायान्, अधीश्वरः सर्वेश्वरः, सूक्ष्मां स्वगतिं स्वयदवीमपि उपाधास्यद्दर्शयेदिति स्वानां ज्ञातीनां स स्वयं भगवान् श्रीकृष्णः सर्वज्ञो विज्ञाय विशेषेण ज्ञात्वा कृपयैतदचिन्तयदिति परेणान्वयः ॥ १४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

आगादिति सूर्य्योदयात् पूर्वमेवेति ज्ञेयम् ॥ ९ ॥ अतीन्द्रियं अतिचमत्कारवन्ति इन्द्रियाणि यतस्तं महोदयं महैश्वर्य्यं तेषां लोकपालानां अब्रवीदिति द्वादशीमध्य एव पारणं कृत्वा आस्थान्यामुपवेश्यैवेति ज्ञेयम् ॥ १० ॥ औत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां ते स्वगतिं स्वोपासकानां गतिं सूक्ष्मां मायातीतां ब्रह्मानन्दरूपां वैकुण्ठप्राप्तिरूपां च उपाधास्यत् उपधास्यति नोपधास्यति नोऽस्मान् प्रापयिष्यते भो व्रजराज ! त्वयैव पूर्वं गर्गोक्त्या अस्य नारायणसाम्यमुक्तं नतु नारायणत्वं संप्रति तु वरुणस्तुत्या साक्षाद्दृष्ट्या यदि नारायणत्वमेव निधारयसि तदा बन्धूनामस्माकं संसारिकाणामप्यवश्यमेव मनोरथमयं पूरयिष्यत्येव यतस्तव पुत्र एव मम भ्रातुः पुत्रः अस्य भगिनीपुत्रो अस्य दौहित्रः परमेश्वरोऽयमस्मिन्नेते वयं स्निह्याम एवायप्यस्मास्वासज्जति तद्भो गोपाः ! परमेश्वरादस्मात् स्वस्ववाञ्छनीयं यथेष्टं गृह्णीतेत्युक्ते केचिदाहुर्वयं मुक्ता एव बुभूयामेत्यन्ये वयं वैकुण्ठवासिन एवं बुभूयामेति पृथक् पृथग्विविधमतयो विविधसङ्कल्पवन्तो बभूवुर्नतु युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वराविति"तत्त गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्दम्" इति सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तमित्याद्युक्तिमन्तो वसुदेवार्जुनादय इव ऐश्वर्यज्ञानोपरागात् स्वसम्बन्धशैथिल्यवन्तो बभूवुरित्यर्थः ॥ ११ ॥ इति एवंभूतं स्वानां ज्ञातीनां सङ्कल्पं विज्ञाय स्वयन्तु अखिलं ब्रह्मानुभवसुखं वैकुण्ठवाससुखं व्रजभूमिप्रेमसुखं च पश्यति जानातीत्यखिलदृक् स्वपरिकरतारतम्येन तत्सान्निध्ये ऐश्वर्य्यावरणतारतम्यवत्त्वेपि तदानीं लीलाशक्तिप्रेरणवशादेव सम्पूर्णसर्वज्ञत्वोदयात् गोपानां तेषान्तु तत्प्रेममाधुर्य्यकणिकयापि ब्रह्मसुखवैकुण्ठसुखयोर्नीचीनीकृतत्वेऽपि तेषां नरलीलत्वेन मुग्धानां सङ्कल्पसिद्धये तत्सङ्कल्पितं ब्रह्मसुखं वैकुण्ठसुखं च ताननुभावयिष्यन्निदमचिन्तयत् ॥ १२ ॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

अतीन्द्रियमदृष्टपूर्वं लोकपालस्य वरुणस्य महोदयमैश्वर्यं तेषां वरुणादीनामनेन वरुणपुत्रकलत्रादिभिरपि भगवान् सन्नत्यादिना पूजित इति गम्यते ॥ १० ॥ तं श्रीकृष्णमीश्वरं साक्षात्परमपुरुषं मत्वा औत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां ते अपि स्वगतिं गम्यते इति गतिर्नित्यविभूतिरूपा तामुपाधास्यत् उपाधास्यति न अस्मान् प्रापयिष्यतीति सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः ॥ ११ ॥ इतीत्थम्भूतं स्वानां सङ्कल्पम् अखिलदृक् सर्वज्ञः स्वयमेव विज्ञाय तेषां सङ्कल्पसिद्धये कृपयैतद्वक्ष्यमाणमचिन्तयत् ॥ १२ ॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

प्रसादितो वरुणेन बन्धूनां मुदमावहन्सन्स्वपितरमादायागात्। कीदृशीं गोशालां प्रत्यतोऽप्याह। बन्धुना नन्दरूपेणोना न्यूना तां प्रतीति। मुदं च बन्धूनामावहन्निति वा ॥ ९ ॥ अतीन्द्रियं साधारणमानवगोचरं लोकपालस्य वरुणस्य यो महानुदयस्तं नन्दस्तेषां वरुणादीनां कृष्णे सन्नतिं प्रणवतां च दृष्ट्वा ज्ञातिभ्यो ग्रामगतगोपेभ्यो विस्मितः सन्नब्रवीत् ॥ १० ॥ नन्दस्तन्नन्दनमहिमानमाकलय्य गोपा एवं स्वमनसि दध्युरित्याह ॥ ते त्विति। औत्सुक्येन सहिता धीर्येषां प्रोक्तोऽपि विशेषतोऽशेषाणां, भक्तिरुद्भूदिति विशेषद्योतकस्तुः। स्वौत्सुक्यधीरिति पदमेकं। बह्वौत्सुक्यसहितचेतस्काः प्राक्। इदं च स्वं स्वानुभूतविलक्षणमन्यदौत्सुक्यं यस्यां सा त्वौत्सुक्यां सा च धीर्येषां त इति वा। अन्यथा तोरेकस्यातिरेकः स्यात्स्याच्चान्वयः क्लेशेन। अधीश्वरं त्वधीश्वरमेव मत्वा ज्ञात्वा नोऽस्माकमधीश्वरो यद्यन्वग्रहिष्यत्तर्हि सूक्ष्मां स्वगतिं वैकुण्ठाख्यामुपाधास्यत्। दर्शयामासेत्युत्तरस्वारस्याददर्शयिष्यत् लङ् ॥ ११ ॥ स्वानां ज्ञातीनां गोपानामिति चिन्तितं स च भगवान्विज्ञाय तत्सम्भावकं स्वयमखिलदृक् अखिलं पश्यतीति तदखिलदृक् तं न रमादिवदन्याधीनमिति स्वयमित्यनेन सूचयति। तेषां गोपानां सङ्कल्पसिद्धये सङ्कल्पितार्थसिद्ध्यर्थं कृपयेदं चिन्तयत्॥१२॥

श्रीसुबोधिनी

यथैकं वचनं वहु कार्यं करोति तथेवं कृतिरपि वहु कार्यं कृतवतीत्यग्रिमं वृत्तान्तमाह नन्दस्त्विति, नीतोपि नन्दः पूर्वं तत्रैव स्थापितोपि न किञ्चित् दृष्टवान् पश्चाद् भगवदागमनानन्तरं सर्वं दृष्टवानतोतीन्द्रियदर्शनोतीन्द्रियत्वे हेतुं वदन् सर्वमेवातीन्द्रियमित्याह लोकपालस्य महान् उदयो यत्रेति, किञ्च योस्माभिः कृष्णो यथाकथञ्चिद् व्यवह्रियते तादृशे ते सम्यङ् नतास्तद्गर्भदासा इव, इदं च तत्रत्यानां स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषामेव सेवनं दृष्ट्वा ज्ञातिभ्य उपनन्दादिगोपेभ्योब्रवीत्, नन्वतीन्द्रियं भगवता स्वार्थमेव प्रदर्शितं नान्येभ्यो वक्तव्यं तत् कथमुक्तवानिति चेत् तत्राह विस्मित इति, तस्याश्चर्यरस एवोत्पन्नोतो भगवन्तं पुत्रत्वेन नाङ्गीकृतवान् नायं सर्वथा पुत्रो गर्गश्छलवादी भ्रान्तो वात एवं सति किं कर्तव्यमिति विचारणीयं किञ्चित् प्रार्थनीयमाहोस्विदधिका प्रतिपत्तिः कर्तव्येति, तत्र प्रतिपत्त्यर्थं फलार्थं वादौ भगवतो निर्णीतं स्वरूपं ज्ञातव्यमवान्तरभेदा एवैत उत्कर्षा अतः परमोत्कर्षो ज्ञातव्यस्ततः फलप्रार्थना प्रतिपत्तिर्वा कर्तव्येति निश्चित्य प्रथमतो भगवदुत्कर्षदर्शनार्थमुत्सुका जाताः ॥ ९ ॥ ततो निःसन्दिग्धं तं परमेश्वरं ज्ञात्वा यावन्न दृश्यते तावत् सम्यक् प्रतीतिर्न भवतीति, गोपा विशेषज्ञानरहिताः किञ्चित् प्रार्थितवन्त इत्याह ते त्विति, तुशब्देन न तेषामन्यः पक्ष उद्गतो नाप्यसम्भावना किन्त्वौत्सुक्यधिय एव दर्शनार्थं जाताः, राजन्निति तथोत्सुका राजानोपि भवन्तीति ज्ञापयितुं, अयमीश्वरो भवतीति निश्चितं तथा सति, अप्रीतिसम्भावनायामीश्वरे मित्रे जाते स्वकीयं प्रदर्शयिष्यत्यथ यद्यस्मान् न मन्यते तदा दण्डं करिष्यतीति निश्चित्य सूक्ष्मां स्वगतिं वैकुण्ठाख्यामधीश्वरः स्वामी नोस्मभ्यमुप समीप एवाधास्यद् धास्यति किम् ? अस्मन्निकट एव तं किं प्रकटीकरिष्यतीतिमनोरथं कृतवन्त स्वस्य तथासाधनाभावेपि फलं भविष्यतीत्यत्र भगवदैश्वर्यमेव हेतुः ॥१०॥ एवं तेषां चिन्तनानन्तरं यद् भगवांश्चकार तदाहेतीति स्वा भक्ताः भक्तेष्टं पूरणीय यतः स तेषामेवार्थे समागतो नापि तस्याशक्यं किञ्चिद् यतो भगवान्, ते तु स्वमध्य एव सङ्कल्पं कृतवन्तो न तु प्रार्थितवन्तस्तथापि भक्तकामनापूरक इति तद् विज्ञायैतद् वक्ष्यमाणमचिन्तयदितिसम्बन्धः, ज्ञाने उपायान्वेषणादौ च सामर्थ्यमखिल-दृगिति, सर्वमेव सर्वदैव स्वयमेव पश्यति न तु करणाद्यपेक्षाप्यतस्तेषां सङ्कल्पसिद्धये सङ्कल्पनिर्वाहार्थमेतद् वक्ष्यमाणमचिन्तयत् किमेते साधने योजनीया आहोस्विन् मर्यादामुल्लङ्घ्य फलमेव देयमिति, तत्र साधनप्रवृत्तौ तेषां क्लेशः स्यादिति कृपया द्वितीयमेव पक्षं कर्तव्यत्वेनाचिन्तयदित्यर्थः ॥ ११ ॥ चिन्तामेवाह जन इति, एतस्मिल्लोके यो जायते स सामान्यत एव न स्वगतिं जानाति, स्वगतिज्ञानानन्तरं दोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं ततः क्रमेण यथाशास्त्रं साधनानुष्ठानं तत आत्मप्राप्तिस्ततो ब्रह्मात्मभावस्ततो भक्तिस्ततो भगवज्ज्ञानं ततो मत्स्थानदर्शनमित्येतावदेतेषां जन्मकोटिभिरपि न भवति यतः प्रथम एव पक्षे एतेनधिकृता इति, तदेवाह वै निश्चयेनास्मिल्लोकेतितामसे जातोमेष्यपर्यवसायी न स्वां गतिं जानाति, तत्र हेतुरविद्याकामकर्मभिः, प्रथमतः पञ्चपर्वाविद्या जीवमावृत्य तिष्ठति ततस्तत्सम्बन्धात् कामस्ततो नानाविधानि कर्माणि तैरयं जायते तेन मूलाशुद्धः कथमुत्कृष्टां गतिं गच्छेत् ॥ १२ ॥

यद्वा ननु स्वरूपानन्दमनुभवतो व्रजजनस्यानुभूयमानवस्तुस्वरूपज्ञाने कथमन्यविषयकोऽभिलाषः सङ्गच्छते ? गृहादिस्थितिरिव चेत् सापि कथं सङ्गच्छते ? अनुभूयमानवस्तुनः सर्वाधिकत्वात्, किञ्च यदि तस्य तथाभिलाषस्तर्हि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इतिवाक्याद् भगवतापि स एव पूरणीयः किं तत उद्धृत्य स्वतो दीयमानेन भजनानन्देनेत्याशङ्कामपनेतुं मनोरथस्य प्रासङ्गिकत्वेन व्रजस्थस्य सर्वस्यापि स्वातिरिक्त गत्यभाव प्रभुः प्रतिजानीते जन इति, एतस्मिन् काले व्रजे स्थितो जनः स्वां स्वकीयां गतिमैहिकीमामुष्मिकीं वा मत्तोन्यां वै निश्चयेन न वेदापि तु मामेव तथात्वेन जानातीत्यर्थः, "नन्वपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्य"दितिगत्यन्तराभिलाषस्योक्तत्वात् कथमेवमुच्यत इत्यत आहोच्चावचासु गतिषु भ्रमन्निति, उच्चा गतिर्वैकुण्ठाख्या मनोरथरूपावचास्तु लीलानवसरे निर्वाहार्थं गृहादिसम्बन्धिन्यः; उच्चत्वं मनोरथाभिप्रायेण न तु वस्तुत इति ज्ञेयं, अथ वोच्चः पुरुषोत्तमोवचमक्षरं क्षरं च "यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तम" इतिवाक्यात्, तस्मादुच्चात् पुरुषोत्तमादवचाः सर्वा एव वैकुण्ठाद्या गतयः वैकुण्ठस्याप्यक्षरात्मकत्वात् तासु भ्रमन् वैकुण्ठे मानसिकं गृहादिषु कायिकं भ्रमणं कुर्वन्नपि पुष्करपलाशवन्निर्लेपतया तत्र तत्र स्वां गतिं न वेदेतिभावः, ननु हेत्वभावात् कथं भ्रमणमित्याशङ्क्याहाविद्याकामकर्मभिरिति, अविद्याशब्देनात्र माहात्म्यज्ञानाभावो निरूप्यते न तु शक्तिरज्ञानं वा स्वरूपसम्बन्धि, अविद्याशक्तिस्तु मायया निर्मिता, माया च भगवच्छक्तिरतोपि "विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेमुये"तिवाक्याद् यत्र मायया भगवदीक्षापथेपि स्थातुं न शक्यते तत्र तत्सम्बन्धिनमविद्या कथं व्यामोहयेत् ? तथा सति तत्कार्यमज्ञानं तु नोपपद्यत एव, माहात्म्यज्ञानाभावस्य तु स्वेच्छया कृतत्वाल्लीलोपयोगित्वाच्च नाज्ञानता; वस्तुतस्तु यथा ब्रह्मज्ञाने तदितरज्ञानाभावोपि ज्ञानस्वरूपमेवमत्रापि स्वरूपभजने माहात्म्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वात् तदभावोपि स्वरूपज्ञानांश एवेति मन्तव्यं, तस्मादविद्यया माहात्म्यज्ञानाभावेन कामो लोकान्तराभिलाषः कर्माणि लोकजात्यादिविहितानि गृहसम्बन्धीनि तैः प्रत्येकमुक्तरीत्योभयत्र भ्रमणमित्यर्थः, माहात्म्यज्ञाने तु न लोकान्तरकामो न वा लौकिककर्माणि न वा लीलारसानुभवः किन्तु मुक्तिरेव स्यादतस्तदज्ञानं विधाय सर्वमेतावत् प्रभुरेव कृतवानिति निर्धार्यतेन्यथा स्वातिरिक्ताभिलाषपूरणे स्वय यत्नं न कुर्यात् प्रत्युत दीयमानस्वरूपानन्दमपि न प्रयच्छेदग्रे भजनानन्दाय का वार्ता ? अतो भ्रमणे न व्रजजनस्य दोषः किन्तु स्वकृतामति मत्वा तत्कामितप्रदर्शने तत उद्धरणे च करुणातिशययुक्तो जात इति वक्तुं श्रीशुकोनेन श्लोकेन भगवदभिप्रायमुक्तवानिति सर्वमुपपद्यते ॥ १२ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

नन्दस्त्वतीन्द्रियमित्यस्याभासे; यथैकं वचनमिति। गोसवकर्तव्यताबोधकं वचनं व्रजानन्यतेन्द्रमानभङ्गगोवर्धनोद्धरणजनाप्यायनतन्माहात्म्यज्ञानेन्द्रप्रणतिगोविन्दनामधारणाद्यनेककार्यं करोति तथेत्यर्थः॥ ९॥

(३) श्रीमद्वल्लभमहाराजकृतः श्रीसुबोधिनीलेखः

नन्दस्त्वित्यत्र तल्लोके स्थितस्य पूर्वं दर्शने लौकिकसन्निकर्षेणैव दर्शनं भवेत् तथा चातीन्द्रियत्वं न स्यादतो भगवदागमनानन्तरं भगवद्दृष्ट्या दर्शनमित्याशयेनाहुः नीतोपीति॥ ९॥ ते त्वौत्सुक्येत्यस्याभासे प्रार्थितवन्त इति मनसीति शेषः, अपीति सम्भावनोक्तेस्तात्पर्यमाहुरथ यदीति॥१०॥ जनो वै इत्यत्र "ते तु ब्रह्महृद"मित्यत्र टिप्पण्यां द्वितीयव्याख्याने साधारणरीतिप्राकट्यमुक्तमत एवं कथनम्॥ १२॥

इति पञ्चविंशाऽध्यायव्याख्या॥ २५॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वेत्यस्याभासे यथैकं वचनमित्यादेरर्थष्टिप्पण्यां स्फुटः॥ ९॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

एवं वरुणेन प्रसादितः प्रसन्नीकृतो भगवान् कृष्णः स्वपितरं नन्दमादाय बन्धूनां व्रजवासिनां मुदं हर्षमावहन् व्रजमगात् 'वरुणेऽपि तत्प्रार्थितमनुग्रहं कृतवान्' इति सूचयन्नाह—ईश्वरेश्वर इति। ईश्वराणां वरुणादीनामपीश्वर इत्यर्थः॥ ९॥ नन्दस्त्वतीन्द्रियमदृष्टपूर्वं लोकपालस्य वरुणस्य महोदयमैश्वर्यं दृष्ट्वा तेषां वरुणादीनां कृष्णे सन्नतिं नम्रतां भृत्यतां च दृष्ट्वा अतीव विस्मितः सन् ज्ञातिभ्यः उपनन्दादिभ्यस्तदब्रवीत् अवर्णयत्॥ १०॥ ततस्ते तु गोपाः कृष्णमीश्वरं मत्वा तद्वैभवदर्शनाय औत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां तथाभूताः सन्तः अयमधीश्वर अपि किं सूक्ष्मामदृष्टपूर्वां स्वगतिं स्वविभूतिं नोऽस्माकमुपाधास्यत् दर्शयिष्यतीति मनोरथं कृतवन्तः॥ ११॥ इत्येवं स्वानां भक्तानामभिप्रायं स्वयमेव विज्ञाय तेषां सङ्कल्पस्य मनोरथस्य सिद्धये वक्ष्यमाणमचिन्तयदित्यन्वयः। 'कथं तैरकथितं ज्ञातवान्?' तत्राह—अखिलदृगिति। सर्वसाक्षीत्यर्थः। 'तन्मनोरथपूरणचिन्तया तस्य किं प्रयोजनम्?' इत्याशङ्क्याह—कृपयेति॥ १२॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

एवमिति॥ एवं वरुणेन प्रसादित ईश्वरेश्वरो भगवान् कृष्णः स्वपितरं नन्दमादाय बन्धूनां व्रजवासिनां मुदं हर्षमावहन् व्रजमगात्। सूर्योदयात् पूर्वमेवेति ज्ञेयम्॥ ९॥ नन्द इति॥ नन्दस्त्वतीन्द्रियमदृष्टपूर्वं लोकपालस्य वरुणस्य महोदयमैश्वर्यं दृष्ट्वा तेषां वरुणादीनां कृष्णे संनतिं नम्रतां भृत्यतां च दृष्ट्वाऽतीव विस्मितः सन् आस्थान्यामुपविश्य ज्ञातिभ्यः उपनन्दादिभ्यस्तदब्रवीत् अवर्णयत्॥ १०॥ ते इति॥ ततस्ते तु गोपाः कृष्णमीश्वरं मत्वा तद्वैभवदर्शनाय औत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां तथाभूताः सन्तः अयमधीश्वरः अपि किं सूक्ष्मामदृष्टपूर्वां स्वगतिं स्वस्थानं सूक्ष्मां ब्रह्माख्यां च नोऽस्माकमुपाधास्यत् दर्शयिष्यतीति मनोरथं कृतवन्तः। दिदृक्षा चेयं प्रेम्णैव न तु मुमुक्षया। ऐश्वर्यज्ञानेऽपि पुत्रज्ञानानुपमर्दात्॥ ११॥ इतीति॥ अखिलदृक् हरिः इत्येवं स्वानां तेषां ज्ञातीनामभिप्रायं स्वयमेव विज्ञाय तेषां सङ्कल्पस्य मनोरथस्य सिद्धये कृपया एतद् वक्ष्यमाणमचिन्तयत्॥ १२॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

अतीन्द्रियं मनुष्येद्रिया गोचरं वरुणस्य महोदयं समृद्धिं तेषां वरुणादीनां तल्लोकस्थानां च सन्नतिं सनमानं॥ ९॥ औसुक्यं आनंद भरस्तद्युक्ताधीर्येषां ते सूक्ष्मां प्रकृतेः परांस्वगतिं स्वगमनस्थानंरमणस्थानं ब्रह्मपुरं उपाधास्यत् उपाधास्यति नोस्मान् दर्शयिष्यतीति संकल्पितवंत इत्यर्थः॥ १०॥ इतोति इतीत्थं भूतं स्वानां स्वकीयानां संकल्पं अखिलद्रष्टित्वात् स्वयमेव विज्ञाय तेषां संकल्पसिद्धये कृपया हेतुना यतत्करिष्यमाणं अचिंतयत स्वानामिति सर्वनामसंज्ञात्वाभावस्तुस्वमज्ञातिधनाख्यायमिति पर्युदासाद्बोध्याः॥ ११॥ तदेवाह जनोगोपजनसमूहः अविद्या आत्मा परमात्मस्वरूपाज्ञानं तयाकामोनानाविधप्राकृतविषयाभिलाषस्तदर्थं कृतैः कर्मभिः उच्चाव चासु श्रेष्ठकनिष्ठासुदेव मनुष्यादिगतिषु भ्रमन् सन् स्वां मदीयां गतिममगमनस्थानं रमणस्थानमिति यावत् स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्य तेनम इति शुकोक्तेः तां न वेद॥ १२॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

एवमिति॥ एवमित्थं, वरुणेनेति शेषः। प्रसादितः सम्यक् प्रसन्नीकृतः, ईश्वरेश्वरः, भगवान् कृष्णः, स्वपितरं आदाय, बन्धूनां, मुदं हर्षं, च आवहन्, अगात् स्वभवनं प्रति इति शेषः॥ ९॥ नन्द इति॥ नन्दः तु, अतीन्द्रियमदृष्टपूर्वं लोकपालमहोदय वरुणस्यैश्वर्यं, तेषां वरुणादीनां कृष्णे संनतिः नम्रतां भृत्यतां चेति यावत्। दृष्ट्वा, विस्मितः अतीव विस्मययुक्तः सन्, ज्ञातिभ्यः अब्रवीत्तन्न्यवर्णयत्॥ १०॥ त इति॥ ततः, ते नन्दस्य ज्ञातयः, गोपाः तु, हे राजन्, तं श्रीकृष्णं, ईश्वरं साक्षाज्जग-

दीश्वरं परमपुरुषमित्यर्थः। मत्वा, औत्सुक्ययुक्ता धीर्येषां तथाभूताः सन्तः, अधीश्वरः, अयं श्रीकृष्णः, सूक्ष्मामतीन्द्रियां स्वगतिं स्वस्वरूपगुणविभूतिप्रकारं, नोऽस्माकं अपि, उपाधास्यत् उपाधास्यति। दर्शयिष्यति किमिति संकल्पितवन्तः। उपाधावनमत्र दर्शनं धातूनामनेकार्थत्वादुत्तरानुगुण्याच्च ॥ ११ ॥ इतीति ॥ इतीत्थंभूतं, स्वानां स्वेषां, स्वकीयानामित्यर्थः। अभिप्रायमिति शेषः। यद्वा संकल्पसिद्धये इत्युक्तेः संकल्पमिति शेषः। अखिलदृक्त्वादित्यर्थः हेतुगर्भमिदम् अखिलदृक्त्वादित्यर्थः। सः भगवान् कृष्णः, स्वयमेव विज्ञाय, तेषां संकल्पसिद्धये मनोरथसिद्ध्यर्थं, कृपया एतद्वक्ष्यमाणं, अचिन्तयत् ॥ १२ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

एवमिति : १०.२८.९.

यदानन्दः समानीतः प्रभुणा करुणाब्धिना। युक्तं तदानन्दमयमासीन्निखिलगोकुलम् ॥ २६ ॥
नन्दो वारुणलोकपाशकलितो यातोऽपि तस्यालयं यत्तस्मात्पुनरागमन्निजगृहं तत्प्रार्थनापूर्वकम्।
योगिध्येयपदेशदर्शनमपि प्रेम्णाऽभवत् तत्र तत् किं वा दुर्घटमत्र जाग्रति हरौ संरक्षके सर्वतः ॥ २७ ॥
निजाधीने भक्त्या भुवि मयि कृते क्वापि विधितो जडे मग्नः स्याद् यद्यनुपदमिहास्योद्धरणकृत्।
सदैवास्म्यालस्यं विजहदिति स व्यक्तमकरोदभिप्रायं स्वीयं वरुणगृहनन्दानयनतः ॥ २८ ॥

नन्द इति : १०.२८.१०.

कदाचित्कचित्केनचित्किंचिदेव व्यलोक्यद्भुतं चेत्तदैवास्य चित्तम्।
स्वमित्रश्रुतिस्थं विधातुं समुत्कं भवत्यत्र युक्तं स तत्तान् जगौ यत् ॥ २९ ॥
व्यक्तीकृते प्रसंगेन गर्गगीतेऽद्रिधारिणः। दृष्ट्वाऽद्भुतं तत्कथनं युक्तमित्यब्रवीत् स तान् ॥ ३० ॥

ते त्वौत्सुक्यधिय इति : १०.२८.११.

इत्यर्थलाभविषयातिशयार्थयुक्ता तृष्णोत्तरोत्तरसृतिमिवर्धिमेति।
ज्ञात्वा तमीश्वरसृषेर्वचसा पुनस्ते तत्सूक्ष्मगत्यवगतिस्पृहयालवो यत् ॥ ३१ ॥

इति स्वानामिति : १०.२८.१२.

मात्राऽलोकि पुराऽधुना विधिवशात्पित्रापि चैतत् पुरो मद्रूपामृतमग्नधीरनुभविष्यत्येव गोपीजनः।
शिष्टेभ्योऽपि जनेभ्य एभ्य इह तन्मद्रूपवीक्षासुखं देयं श्रौतमितीव भक्तसदयस्तद्दातुमैषीत् प्रभुः ॥ ३२ ॥

कृष्णप्रिया

श्री नन्द बाबाजीने अपने नयनों से 'अतीन्द्रिय वरुणलोक, वरुणके लोकोत्तरवैभव, लोकपाल वरुणदेव, का दर्शन किया और श्रीवरुणदेवने किए हुए भगवान का आदर सत्कार बहुमान अर्चन, प्रणाम आदि का दर्शन किया' यह सब देखकर नन्दबाबा विस्मित हुए। श्रीनन्दरायजी व्रजमें पधारे और अपने ज्ञाति बन्धुजनों और स्वजनों से सब समाचार दिए ॥९॥ राजन् परीक्षित्! जब श्रीनन्दरायजी के मुख कमल से सुना और अपने अनुभव से जाना कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पुरुषोत्तम हैं-तब उन सब के मन में यह उत्कण्ठा उत्पन्न हुई कि कभी कृपानिधि प्रभु हमें भी वैकुण्ठका दर्शन करायेंगे और वैकुण्ठ ले जायँगे जो वैकुण्ठ भगवान की सूक्ष्म गति है ॥ १० ॥ पूर्ण पुरुषोत्तम सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं निजभक्तजनों के मनोरथ को जान लिया पुनः उन जनों की पुण्य अभिलाषा की पूर्ति या पुष्टि के लिये कृपायूर्वक ऐसा सोचने लगे ॥ ११ ॥ भगवानने विचार किया कि इस जगतमें अविधा अज्ञात जनित विभिन्न कामनायें एवं कामनाजन्य कर्मों से होने वाली विविध प्रकार की ऊँची नीची गतियों से घूमने वाला जीव अपने वास्तविक स्वरुप को जानता नहीं है ॥ १२ ॥

इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको [1]विभुः। दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥ १३ ॥
[2]सत्यं ज्ञानमनन्तं [3]यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्। यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥ १४ ॥

कर्दमक्षमा

अन्वयः—महाकारुणिकः विभुः भगवान् इति सञ्चिन्त्य गोपानाम् तमसः परम् स्वम् लोकम् दर्शयामास ॥ १३ ॥ गुणापाये समाहिताः मुनयः यत् सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् यत् हि पश्यन्ति ॥ १४ ॥

१. हरिः—श्रीधर. वीर. विश्व. शुक. सु. ध.। २. "सत्यं" तथा "ते तु ब्रह्म" इति द्वौ श्लोकौ विपर्यस्तौ वर्तेते विज.। ३. तं— प्रा. पा.।

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

अविद्या देहाद्यहंबुद्धिस्ततः कामस्ततः कर्म तैरुच्चावचासु देवतिर्यगादिषु योनिषु भ्रमन् स्वीयां गतिं न वेद ॥ १३ ॥ स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं वैकुंठाख्यं च । तमसः प्रकृतेः परम् ॥ १४ ॥

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

एतस्मिन् लोके सांसारिकसंचारस्थाने स्वां स्वबिंवभूतनारायणावाप्तिरूपाम् ॥ जनः प्रस्तुतत्वान्मत्पित्रादिव्रजवासी एतस्मिन् भूर्लोके । अविद्या आत्मस्वरूपाज्ञानम्, ततः कर्म तत उच्चावचासु गतिषु वरुणादिलोकगत सुखैश्वर्यमयीषु भूर्लोकगतमनुष्यतिर्यगादिदुःखानैश्वर्यमयीषु च दृष्टासु भ्रमन् नरलीलत्वादेव स्वेषां सांसारिकत्वबुद्ध्या भ्रमं प्राप्नुवन्, स्वां गतिं सर्वैरपि दुर्लभां वर्तमानां स्वपदवीं न वेद । यदयं मत्पिता वरुणलोकगततत्रत्यां मायिकीमेव संपदं दृष्ट्वा निखिलवैकुण्ठसारमपि वृन्दावनं तस्मादपि न्यूनं मन्यते, यथा मुग्धः कश्चित्कृत्रिममुक्ताया आकारतेजः सौष्ठवं दृष्ट्वा लब्धचमत्कारो वास्तवानर्घ्यमुक्तां ततो न्यूनां वेत्ति, तथैव ब्रह्मादिदुर्लभचरणरेणूनप्यात्मनो वराकाद्वरुणादपि निकृष्टानेव मन्यते, तथैव नित्यमास्वाद्यमानमहामाधुर्य्योन्मद्विषयकपुत्रादिभावमयप्रेमवतोऽपि मुक्तिवैकुण्ठावधिकौ मन्यते, न तु तयोरहमधीनः केनचित्कचिद्दृष्टः प्रेम्णस्त्वहमधीन एव सर्वैर्दृश्यमान एवासीति विवेकं न भजते । किञ्च, मुक्तौ खलु ब्रह्मैवास्वाद्यते, तच्च ब्रह्म 'यस्य प्रभा प्रभवतः' इत्यत्र 'तद्ब्रह्म निष्कलमनंतम्' इति ब्रह्मसंहितोक्तेः, 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' इति मदुक्तेः, "मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्" इति मदंशमत्स्यदेवोक्तेश्च मदीयं निर्विशेषं व्यापकमतीन्द्रियं ज्योतिरेव । सोऽहमेव यस्य प्रेमकरणकास्वादविषयीभूतमाधुर्यः पुत्रादिरूपतया सदा वर्त्त एव । तथा "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी" इति पाद्मोक्तेर्मथुरामण्डलमध्यवर्तीदं वृंदावनं वैकुण्ठादपि श्रेष्ठं यस्य निवासतया सदा वर्त्तत एव । न च महाप्रलयेऽप्यस्य काचित् क्षतिः "भूगोलचक्रे सप्तपुर्यो भवन्ति तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी हीति । यथा पयसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्याम्" इति गोपालतापिनीश्रुतेः ! "प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्तेऽव्यक्तं गते पुरा । शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे ॥ ब्रह्मानदमयो लोको व्यापी वैकुण्ठसंस्थितः । निर्गुणोनाद्यनंतश्च वर्तते केवलेऽक्षरे ॥" इति बृहद्वामनवाक्याच्च मुक्तिवैकुण्ठलोकादृष्टचरत्वादेव यल्लब्धं स्पृहयति तदेनं तौ साक्षादुपलंभयामीति भावः । अत्र जनोयं व्रजवासी अविद्याकामकर्मभिरुच्चावचसु देवतिर्यगादिषु भ्रमन्पुनःपुनः पर्यटन् स्वां इति मया दास्यमानां मुक्तिं वैकुण्ठस्थितिञ्च न वेद इति कुव्याख्यानं न घटेत । व्रजवासिनो नंदादेः कृष्णे पुत्रादिभावततो नित्यसिद्धत्वादेवाविद्याकामकर्मघटितः संसारो न संभवेत् । यदुक्तम् "तासाम- "तासमविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् । न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसंभवः ॥" इति । न च मुक्तिवैकुण्ठस्थित्योरपि दास्यमानत्वम् 'एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रात—' इत्यादिब्रह्मोक्तेरेवेत्यखिलं पूतनावधान्ते सयुक्तिकं व्याख्यातं द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥ इति उक्तविधया । प्रकृतेः परम् अप्राकृतमित्यर्थः ॥ इति संचिन्त्य स नित्यास्पदस्य श्रीवृंदावनस्य सर्वोत्कर्षं ब्रह्मवैकुण्ठसुखानुभावनयैव सांप्रतं ज्ञापयामीति विचार्य स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं वैकुंठ च दर्शयामास । वृन्दावनाद्वियद्व्यं पंचपान् क्षणान् ते एव प्रापयामासेति भावः । यतो महाकारुणिकः व्यतिरेकेणैवं वृन्दावनस्य माधुर्यं ताभ्यामप्युत्कृष्टं ज्ञापयितुमिति भावः । ननु ब्रह्मदर्शनैव ब्रह्मप्रापणा सैव सायुज्यमुक्तिस्तेषां ततो निष्क्रमणासंभवात् कथं तेषां पुनर्वृन्दावनमाधुर्येऽनुभावनेत्यत आह विभुः । सायुज्यमोक्षाद्वैकुण्ठाच्च निष्क्रमयितुमपि समर्थ इत्यर्थः ॥ १४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

जन इति । अत्र स्वां स्वीयां गतिं स्वरूपमित्युच्यते चेत्पूर्वोक्तस्वगतिमित्यस्यानुवादो न स्यात् स्वस्वरूपं ज्ञानमिति पक्षे च स्वशब्देनात्र नात्मोच्यते तत्र तस्य नपुंसकत्वात् गति शब्देन ज्ञानं नोच्यते वेदेत्यनेन पौनरुक्त्यात् तद्वाचकत्वे हि स्वं न वेदेत्येवावक्ष्यत सङ्कल्पसिद्धये तेषामित्युक्तत्वाच्च न तदर्थताघटते नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वेत्यत्र हि तेषां लोकपालस्य लोकादिमहोदयस्य तथापि कृष्णे सन्नतेश्च श्रवणेन तल्लोकादिमहोदयदर्शनस्य विवक्षितत्वात् स्वगतिं सूक्ष्मामित्यत्र च द्वयोः सामानाधिकरण्यमेवावगम्यते सूक्ष्मां दुर्ज्ञेयाम् तस्मात् जनशब्देनापि न प्राकृतो जन उच्यते तेषां संसार एव गतिर्नतु तल्लोकादिरिति । यदि च स एवोच्यते तर्हि सर्वस्यापि तस्य तथा कृपाप्राप्तिप्रसङ्गः स्यात् किन्तु तच्छब्देन तदीयस्वजन एवोच्यते तर्हि सर्वस्यापि तस्य तथा कृपाप्राप्तिप्रसङ्गस्स्यात् सालोक्यसार्ष्टीत्यादिपद्ये जना इति वत् अत्र तु प्रस्तावबलात् व्रजवासिजन एवोच्यते तस्य हि तदीयपरमस्वजनत्वं स्वयमेव श्रीभगवता भावितम्—

"तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम् । गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः" ॥ इति ।

उक्ते च तदीयस्वजने तस्याविद्यादिमयोच्चावचगतेः सिद्धान्तासिद्धत्वात् प्रस्तुतस्वयमेवार्थः जनो व्रजवासिलक्षणो मदीयस्वजनसमूहो यमविद्यादिभिर्हेतुभिर्या उच्चावचा गतयो देवतिर्यगादयः तास्वभिव्यक्तत्वेन स्वां गतिं भ्रमन् तन्निर्विशेषतया जानन् तामेव स्वां गतिं न वेद न जानात्यहो कष्टमिति यन्माधुर्यावेशेन ज्ञानांशावरणात् इति भावः । यद्वा, जनो व्रजवासी मदीयस्वजनोऽयम् एतस्मिन् सम्प्रति स्वावताराङ्गीकृते लोके प्रापञ्चिके अविद्यामल्लीलावेशादन्यानुसन्धानं कामः मद्विषयक-

विचित्रमनोरथः कर्म मदीयानुकूल्यमयक्रिया "नाविदन् भववेदनाम्" "यद्धामार्थसुहृत्" इत्यादिदर्शनात् तैरुच्चावचासुनानाविधासु गतिषु प्रेमजनेषु स्वां गतिं अनादिसिद्धां परमगोलोकादिवैभवरूपां भ्रमन् विस्मरन् तामेव स्वां गतिं न वेद न जानातीत्यर्थः। अविद्यादिशब्देनोपादानं च कारुण्यकृतानुतापेनाधिक्षेपादेव ॥ १३ ॥ गोपानां सम्बन्धि स्वं लोके श्रीगोलोकमित्यर्थः। तस्य प्रकृतिविकारेऽभिव्यक्तत्वमपि निषेधति-तमसः परमिति। क्वाहं तम इत्यादौ तमः शब्देन प्रकृतिनिर्देशात् विभुरिति तस्य तादृशवैभवस्य सदा सर्वत्र सिद्धत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

एतस्मिन् लोके मर्त्त्यलोके, किंवा प्रपञ्चे वर्त्तमानः सर्वोऽपि, वै प्रसिद्धौ, अन्यच्चैर्व्यञ्जितम्। तत्रायं भावः-अन्यो जनो न वेदैव, एते च योगीन्द्रपूज्यपादाः सर्वज्ञानसेविता वैकुण्ठनित्यपार्षदेभ्योऽपि मत्प्रियप्रियतमास्तिलमात्रमद्विरहासहिष्णवो मया कदाचित् कथञ्चित् क्षणमपि त्यक्तुमशक्याः परमपरिपूर्णार्था एव, तथापि प्रेमभरातृप्त्या कौतुकस्वभावेनैव वा यामिच्छां कुर्य्युस्तमप्यवश्यं पुरयिष्याम्येवेति, यद्वा, जनो मत्सेवको गोपवर्गलक्षणो वा अयम्, विद्या मद्भक्तितत्त्वादिज्ञानम्, ततः कामो मद्विषयकविचित्रमनोरथः ततः कर्म मत्परिचर्य्यालक्षणम्, तैरुच्चावचासु गतिषु प्रेमविलासेषु मया सह नृत्यादिविहारेषु वा भ्रमन्, सदा परिवर्त्तमानोऽपि स्वां गतिमात्मतत्त्वं स्वगम्यवैकुण्ठलोकं न न वेद, नञ्-द्वयेन वेदैवेत्यर्थः। मत्प्रियतां सर्वेषामेव ज्ञानज्ञेयानामन्तर्भावात् तथाप्येषामौत्सुक्यं सफलं करिष्याम्येवेति भावः ॥ १४ ॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीयम्

स्वं वैकुण्ठम् ॥ १४ ॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

चिन्तितमेवाह-जन इति। जनोऽयं गोपजन्मभृज्जीवलोकोऽस्मिन् लोकेऽविद्यादिभिरुत्तममध्यमाधमासु देवतिर्यङ्मनुष्यादि देह प्रवेशन रूपासु गतिषु भ्रमन् स्वां मदसाधारणां गतिं न वेदयत् तत्राविद्या देहात्मभिमानस्वतन्त्रात्माभिमानमूलमज्ञानं कामः शब्दादिविषयाभिलाषः कर्म तदनुगुणचेष्टा ॥ १३ ॥ इत्थं सञ्चिन्त्य महाकारुणिको विभुः हेतुगर्भमिदं तत्त्वात् गोपानां स्वलोकं दर्शयामास स्वं स्वरूपं लोकं स्वनित्यविभूतिं च दर्शयामासेत्यर्थः। तत्र सत्यं ज्ञानमित्यर्द्धेन स्वं विशिनष्टि-तमसः परमित्यनेन यद्धीत्यर्द्धेन च लोकमिति विवेकः तमसः परं प्रकृतिमण्डलाद्बहिर्भूतं "क्षयं तमस्य रजसः पराके "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादि श्रुतेः। लोका रजांस्युच्यन्ते क्षयन्तं निवसवन्तमित्यर्थः ॥ १४ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

सन्निहितत्वादिदमित्युक्तं विविृणोति-जन इति। एतस्मिन् लोके सांसारिकसञ्चारस्थाने अविद्याकामकर्मादिभिर्भ्रमन् परिवर्त्तमानोऽत एव उच्चावचासु उत्कृष्टापकृष्टासु गतिषु पतितो जनः स्वं गतिं गम्यत इति गतिः स्वबिम्बभूतो नारायणस्तं स्वस्वरूपं च न वेद न जानातीति ॥ १३ ॥ सञ्चिन्त्य गोपानुद्दिश्य लोकं वैकुण्ठं कीदृशम्? तमसः प्रकृतेः परं व्यतिरिक्तम् अप्राकृतमित्यर्थः ॥ १४ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

यद्वा जनो व्रजवासी मदीयस्वजनोऽयम् एतस्मिन् सम्प्रति स्वावताराङ्गीकृते लोके प्रापञ्चिके अविद्या मल्लीलावेशेनान्यानुसन्धानं कामः मद्विषयकविचित्रमनोरथः कर्म मदीयानुकूला क्रिया 'नाविन्दन् भववेदनाम्' यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्म" इत्यादिदर्शनात् तैरुच्चावचासु नानाविधासु गतिषु प्रेमजनेषु स्वां गतिं अनादिसिद्धां परमगोलोकादिवैभवरूपां भ्रमन् विस्मरन् तामेव स्वतगतिं न वेद न जानातीत्यर्थः। अत्रेदं विवेचनीयम् अत्र स्वशब्देन स्वरूपं नोच्यते तत्र तस्य नपुंसकत्वात् गति शब्देन च ज्ञानं नोच्यते वेदेत्यनेन पौनरुक्त्यात् तद्वाचकत्वे हि स्वं न वेदेत्येव वक्ष्यते सङ्कल्पसिद्धये तेषामित्युक्तत्वाच्च न तदर्थता घटते नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वेत्यत्र हि तेषां लोकपालस्य लोकपालादिमहोदयस्य तथापि कृष्णे सन्नतेश्च श्रवणेन तल्लोकादिमहोदयदर्शनस्य विवक्षितत्वात् स्वगतिं सुक्ष्मामित्यत्र च द्वयोः सामानाधिकरण्यमेवावगम्यते सुक्ष्मां दुर्ज्ञेयां तस्माज्जनशब्देनापि न प्राकृतो जन एव उच्यते तेषां संसार एव गतिः नतु तल्लोकादिरिति किन्तु तच्छब्देन भागवतो जन उच्यते सालोक्यसार्ष्टीत्यादिपद्ये जना इतिवत् उक्तञ्च भागवते जने रस्याविद्यादिमयोच्चावचगतेरसिद्धान्तत्वादुक्त एवार्थः समञ्जसः ॥ १३ ॥ अत्राविद्यादिशब्दप्रयोगस्तु कारुण्यतो निर्वेदादेवेति ज्ञेयम् गोपानां सम्बन्धिस्वलोकं तस्य प्रकृतिमयत्वं निषेधति तमस इति ॥ १४ ॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

जनः प्रस्तुतत्वान्मत् पित्रादिर्व्रजवासी एतस्मिन् भूर्लोके अविद्या आत्मस्वरूपाज्ञानं ततः कामस्ततः कर्म तत उच्चावचासु गतिषु वरुणादिदेवलोकगतसुखैश्वर्यमयीषु भूर्लोकगतमनुष्यतिर्य्यगादिदुःखानैश्वर्यमयीषु च दृष्टासु भ्रमन् नरलीलत्वादेव स्वेषां

सांसारिकत्वबुद्ध्या भ्रमं प्राप्नुवन् स्वाङ्गतिं सर्वैरपि दुर्ल्लभां वर्तमानां स्वपदवीं न वेद यदयं मत्पिता वरुणलोकं गतस्तत्रत्यां मायिकीमेव सम्पदं दृष्ट्वा निखिलवैकुण्ठसारवृन्दावनं तस्मादपि न्यूनं मन्यते यथा मुग्धः कश्चित् कृत्रिममुक्ताया आकारतेजः सौष्ठवदृष्ट्या लब्धचमत्कारो वास्तवानर्घ्यमुक्तां ततो न्यूनां वेत्ति तथैव ब्रह्मादिदुर्लभचरणरेणूनप्यात्मनो वराकाद्वरुणदपि निकृष्टानेव मन्यते तथैव नित्यमास्वाद्यमानमहामाधुर्य्यान्मद्विषयकपुत्रादिभावमयप्रेमतोपि मुक्तिवैकुण्ठलोकावधिकौ मन्यते तौ खलु मदधीनावेव नतु तयोरहमधीनः केनचित् क्वचित् दृष्टः प्रेम्णस्त्वहमधीन एव सर्वैर्दृश्यमान एवास्मीत्यपि विवेकं न भजते किञ्च, मुक्तौ खलु ब्रह्मैवास्वाद्यते तच्च ब्रह्म यस्य प्रभा प्रभवत इत्यत्र "तदुब्रह्मनिष्कलमनन्तम्" इति ब्रह्मसंहितोक्तेः "ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्" इति मदुक्तेः "मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम्" इति मदंशमत्स्यदेवोक्तेश्च यदीयं निर्विशेषं व्यापकमतीन्द्रियं ज्योतिरेव सोहमेव यस्य प्रेमकरणकास्वादविषयीभूतमाधुर्य्यः पुत्रादिरूपतया सदा वर्ते एव तथा "अहो मधुपुरी धन्या वैकुण्ठाच्च गरीयसी" इति पाद्मोक्तेर्मथुरामण्डलमध्यवर्त्तीदं वृदावनं वैकुण्ठादपि श्रेष्ठं यस्य निवासतया सदा वर्त्तत एव नच महाप्रलयेप्यस्य "काचित् क्षितिभूर्गोलचक्रे सप्तपुर्यो भवन्ति तासां साक्षाद्ब्रह्मगोपालपुरीहीति यथा सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्याम्" इति गोपालतापनीश्रुतेः—

"प्राकृते प्रलये प्राप्ते व्यक्ते व्यक्तं गते पुरा। शिष्टे ब्रह्मणि चिन्मात्रे कालमायातिगेऽक्षरे॥
ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसंज्ञितः। निर्गुणोऽनाद्यनन्तश्च वर्त्तते केवलेऽक्षरे" ॥ इति।

वृहद्वामनवाक्याच्च तदपि मुक्तिवैकुण्ठलोकावदृष्टचरत्वादेव यल्लब्धुं स्पृहयति तदेनं तौ सम्प्रति साक्षादुपलम्भयामीति भावः। अत्र जनोऽयं व्रजवासी अविद्याकामकर्मभिरुच्चावचासु देवतिर्य्यगदिषु च भ्रमन् पुनः पुनः पर्य्यटन् स्वां गतिं मया दास्यमानां मुक्तिं वैकुण्ठस्थितिं च न वेदेति कुव्याख्यानं न घटते व्रजवासिनो नन्दादेः कृष्णे पुत्रादिभागवतो नित्यसिद्धत्वादेवाविद्याकामकर्मघटितः संसारो न सम्भवेत्। यदुक्तम्—

"तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम्। न पुनः कल्पते राजन्! संसारोऽज्ञानसम्भवः" ॥ इति

नच मुक्तिवैकुण्ठस्थित्योरपि दास्यमानत्वं "एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरात" इति ब्रह्मोक्तेरेवेत्यखिलं पूतनावधान्ते सयुक्तिकं व्याख्यातं द्रष्टव्यम्॥ १३॥ इति सञ्चिन्त्य नित्यास्पदस्य श्रीवृन्दावनस्य सर्वोत्कर्षं ब्रह्मवैकुण्ठसुखानुभावनयैव साम्प्रतं ज्ञापयामिति विचार्य्य स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं च वैकुण्ठाख्यं दर्शयामास वृन्दावनाद्द्वियोज्य पञ्चषा क्षणात् ते एव प्रापयामासेति भावः। यतो महाकारुणिकः व्यतिरेकेणैव वृन्दावनस्य माधुर्य्यं ताभ्यामुत्कृष्टं ज्ञापयितुमिति भावः। ननु ब्रह्मदर्शनेन ब्रह्मप्रापण सैव सायुज्यमुक्तिस्तेषां ततो निष्क्रमणासम्भवात् कथन्तेषां पुनर्वृन्दावनीयमाधुर्य्येऽनुभावनेत्यत आह—विभुः सायुज्यमोक्षात् वैकुण्ठाच्च निष्क्रमयितुमपि समर्थ इत्यर्थः। स्वं लोकं च विशिनष्टि तमसः प्रकृतेः परम्॥ १४॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

जनः सर्वोपि जन अस्मिन् लोके अनित्यविभूतिरूपे अविद्या आत्मानात्मपरमात्मापरिज्ञानं ततः कामः ततः कर्म तैरुच्चावचासूत्तमाधमासु गतिषु देवतीर्य्यगादियोनिषु भ्रमन् स्वां स्वप्राप्यां नित्यविभूत्याख्यां न वेद नैव जानाति तत्प्राप्तीच्छायास्तु का कथा एते तु तां प्राप्तुमिच्छन्त्यतस्तत्प्राप्त्यधिकारिण एवातः एतेषां तत्प्राप्तिस्तु यथा यथं तत्तदवसरे भविष्यत्येव तद्दर्शनं त्विदानीं भवत्वित्यचिन्तयदिति फलितोर्थः॥ १३॥ विभुः स्वयं व्यापकः साक्षात्परमपुरुषः तल्लोकाधिपति रित्यर्थः। स्वं लोकं स्वासाधारणं लोकं तमसः प्रकृतेः परम् "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं लोकं दर्शयामास॥ १४॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणि

इदमित्युक्तमिदमिति वदति॥ जन इति। एतस्मिंल्लोकेऽविद्याकामकर्मभिरस्तदादिभिरुच्चावचासु गतिष्वनेकभेदकगतिपूदक् चावाक् चेति द्वयोरुच्चावचेत्यादेशौ। मयूरव्यंसकादिरिति साधुः। उच्चावचं नैकभेदमित्यमरः। भ्रमन्स्वगतिं न वेद स्वप्राप्यं न वेद॥ १३॥ एवं स्वयं सञ्चिन्त्य महाकारुणिक इति कृपया गोपानां तमसः प्रकृतेः परं विलक्षणमप्राकृतं स्वलोकं वैकुण्ठं दर्शयामास। अयमप्येको गोपालश्चेत्कथमेतादृशं सामर्थ्यमित्यप्याह॥ आस इति। लोक इत्यादि तं परं दर्शयामासेत्यन्वयः॥१४॥

श्रीसुबोधिनी

किञ्चोच्चावचासु गतिषु परिभ्रमन्नपि वर्तते न तूत्तमं प्राप्य ततोप्यग्रे गच्छति किन्त्वधमतामेव प्राप्नोत्यतः कारणविचारेण कार्यविचारेण वा न कोप्यस्याधिकार आत्मज्ञाने तस्माद् यदेते वाञ्छन्ति तदेतेषामयोग्यमेवेति निश्चित्यापि प्रमेयबलमाश्रित्यापि किञ्चित् प्रदर्शितवानित्याहेतोति, एवमनधिकारं सञ्चिन्त्य भगवान् सर्वकरणसमर्थोपि मर्यादारक्षकस्ततो महाकारुणिकश्च, करुणायां परमकाष्ठामापन्न उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्योभयमपि कर्तुं समर्थो विभुः स्वलोकं दर्शयामास, एतादृशं वैभवं ममास्तीति ज्ञापयितुं तत्रैव स्थित्वा न तु क्वचिद् गत्वा यतस्ते गोपा मित्राणि धर्मपराश्च, यत्र ते भगवन्तमेव पश्यन्ति तत्र किमाश्चर्यं तस्य

लोकं द्रक्ष्यन्तीति, भगवतो बहवो लोकाः सन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तमसः परमिति प्रकृतेरप्युपरि 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेत'मितिश्रुतेः, तस्यापि तमसो वस्तुविचारेण भगवत्त्वमुक्तं, ततोऽप्यग्रे व्यापिवैकुण्ठाख्यं, तत् प्रदर्शितवान् ॥ १३ ॥ मायोद्घाटनेन तस्य स्वरूपमाह सत्यमिति, अक्षररूपं तत्, यदा भगवानीश्वरत्वेन तेषां हृदये जातस्तदाक्षरमपि लोकत्वेनाविर्भूतमन्यथा तस्य कृत्रिमत्वं स्यात् स्वरूपं च तस्य सत्यं ज्ञानमनन्तं देशकालापरिच्छिन्नमबाधितज्ञानरूपतापरिच्छिन्नता चोक्ता, अन्यानपि तत्रत्यान् गुणान् वक्तुं प्रमाणमेवातिदिशति यद् ब्रह्मेति; यद् वैकुण्ठाख्यं 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं' यद् ब्रह्म च, अनेन बृहत्त्वं बृंहणत्वं चोक्तं प्रामाणिकत्वं च गुणोपसंहारन्यायेन सर्वे गुणाश्च, दोषाभावार्थमाह ज्योतिरिति, तत् स्वप्रकाशं कोटिसूर्याधिकप्रकाशरूपं, न चैतदिदानीमेवैवं जातमिति शङ्कनीयं, यतः सनातनमनादिसिद्धमिदमेतादृशमेव, ननु तर्हि सगुणं भवतु वैलक्षण्यप्रतीतेरविकृतेनुच्चावच एकरसे ब्रह्मणि लोकत्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याह यद्धि पश्यन्तीति, तत् तादृशं स्वभावत एवेति मन्तव्यं, गुणेष्वागतेषु यत् सामर्थ्यं यानुपपत्तिश्च परिहृता भवति सा स्वरूपेणैव परिहर्तव्या सर्वभवनसमर्थं स्वरूपमेवेति, ननु कोयं निर्बन्धो गुणेन वा तथास्तु विनिगमनाभावादिति चेत् तत्राहुर्यद् वैकुण्ठाख्यं भगवत्स्थानं मुनयो मननशीला अपि गुणापाय एव पश्यन्ति, मनने क्रियमाणे यदावस्थात्रयं गुणकार्यं बुद्ध्यादयोपि स्वभावगुणा अपि यदा विलीना भवन्ति तदा निर्गुणावस्थायां प्राप्तायां पश्चादाविर्भूतं तत् पश्यन्ति, तत्रापि सावधाना अतस्तद्द्रष्टारोपि यदा गुणातीतास्तदा का वार्ता तस्य सगुणत्वे ? ॥ १४ ॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

इति सञ्चिन्त्येत्यत्र उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्येति मर्यादारक्षकत्वमहाकारुणिकत्वयोरन्यतरस्य नाशमाशङ्क्येत्यर्थः, यदि साधनराहित्येपि फलं स्यात् तदा मर्यादारक्षकत्वं भज्येत यदि साधनाभावे फलं न दद्यात् तदा महाकारुणिकत्वं भज्येतेतिशङ्का ॥ १३ ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्मेत्यस्य विवृतौ यद् वैकुण्ठाख्यं सर्ववेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्म चेति "अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिं यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम"ेति भगवद्गीतासु अक्षरब्रह्मणः धामत्वोक्तेः, "तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मन" इत्यत्राप्यक्षरब्रह्मणः धामत्वोक्तेः, "ब्रह्मानन्दमयो लोको व्यापिवैकुण्ठसञ्ज्ञकः" इतिवृहद्वामनपुराणे वैकुण्ठस्य ब्रह्मानन्दमयत्वोक्तेश्च ॥ १४ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

तच्चिन्तामेवाह—जन इति । 'वै' इति निश्चयेन । एतस्मिँल्लोके संसारे जनः अविद्या स्वरूपाज्ञानं, ततः कामः शब्दादिविषयभोगाभिलाषः, ततश्च तत्प्राप्त्यनुगुणकर्माणि । तैरुच्चावचासु उत्कृष्टापकृष्टासु गतिषु देवतिर्यङ्मनुष्यादियोनिषु भ्रमन् गच्छन्नपि स्वां गतिं स्वपरमार्थभूतं मत्स्वरूपं न वेद न जानाति, अतः एतेषां व्रजवासिनां स्वसाधनवशात् ममालौकिकस्वरूपवैभवदर्शनं सुदुर्लभमेव । तथापि परमभक्तत्वादेतेषां मनोरथानुरोधेन मया प्रदर्शनीयमिति शेषः ॥ १३ ॥ इत्येवं सञ्चिन्त्य भगवान् सर्वथा सर्वकरणे समर्थः श्रीकृष्णः गोपानां लोकव्यापिवैकुण्ठाख्यं तथा स्वं स्वरूपं च दर्शयामासेत्यन्वयः । तदुभयं विशिनष्टि—तमसः परमिति । प्राकृतप्रपञ्चातीतमित्यर्थः । 'तत्प्रदर्शने केवलं कृपैव हेतुः, न तेषां तद्दर्शनानुरूपं साधनमस्ति' इत्याह—महाकारुणिक इति । कृपायामपि तच्छीलमेव हेतुमाह—हरिरिति । आश्रितजनदुःखहरणशील इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

जन इति ॥ अविद्या देहाद्यहंबुद्धिः ततः कामः ततः कर्माणि तैः एतस्मिन् लोके उच्चावचासूत्तमाधमासु गतिषु देवतिर्यगादियोनिषु भ्रमन् जनः व्रजवासी स्वां स्वीयां गतिं न वेद । अत एषां सा दर्शनीयेति शेषः ॥ १३ ॥ इतीति ॥ इत्येवं संचिन्त्य महाकारुणिको भगवान् हरिः गोपानां तमसः प्रकृतेः परं स्वं ब्रह्मस्वरूपं लोकं वैकुण्ठाख्यं च दर्शयामास ॥ १४ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

इतीति तमसः प्रकृतेः परं स्वं स्वकीयं लोकं ब्रह्मपुराख्यं स्वभक्तैः सह स्वनिवासस्थानं वैकुंठसंज्ञस्य हरेर्निवासस्थानात् वैकुंठ इति केचिद्वदंति तं दर्शयामास ॥ १३ ॥ तदेवस्थानं निरूपयन्नाह सत्यमिति सत्यं सर्वदा अविनाशित्वेन वर्त्तमानं ज्ञानं ज्ञानधर्म न तु जडं अनंतमपारं ज्योतिः अनवधिकातिशयप्रकाशमयं सनातनं अनादिसिद्धं ब्रह्मसंज्ञं ब्रह्मपुरसंज्ञं च अक्षरसंज्ञं च श्रुतिस्मृतयो यद्वदंति यच्च ब्रह्मपुरं गुणांपाये त्रिगुणानाशे सति सावधाना मुनयः पश्यंति उक्तेष्वर्थेषु प्रमाणानि एतैरुपायैर्य्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामेति एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमिति दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष इति न तत्र चंद्रार्कवपुः प्रकाशतेन वांति वाता न च यांति देवता इति दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्फलमिति तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यंति सूरय इति स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम इति तद्वैपदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्मेति यद्विदुरिति तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणं विष्णोर्धाम परमिति यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं ममेति गछंत्यमूढाः पदमव्ययं वदंति ब्रह्माख्यं धाम तेयांतीत्यादि श्रुतिस्मृतयः ॥ १४ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

चिन्तितमेवाह ॥ जन इति जनः अयं गोपजातिजन्मभृज्जीवलोकः, एतस्मिन् लोके, अविद्याकामकर्मभिः, उच्चावचासु उत्तमाधमासु, गतिषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिदेहप्रवेशरूपासु गतिषु, भ्रमन् सन्, स्वां मदसाधारणां, गति न वेद वै। मद्धाम मदैश्वर्यं मद्वैभवं न जानातीत्यर्थः। तत्राविद्या देहात्माभिमानस्वतन्त्राभिमानमूलमज्ञानं, कामः शब्दादिविषयाभिलाषः। कर्म तदनुगुणचेष्टा ॥१३॥ इतीति ॥ इतीत्थं, सचिन्त्य, महाकारुणिकः, विभुः हेतुगर्भं तत्त्वात्, भगवान् श्रीकृष्णः, गोपानां, तमसः परं प्रकृतिमण्डलाद्बहिर्भूतमित्यर्थः स्वमात्मीयं, लोकं दर्शयामास। अत्र लोको ब्रह्मपुराख्यः। केचित्तु वैकुण्ठमित्याहुः। क्वचिन्महाकारुणिको हरिरित्यपि पाठस्तत्र हरिः श्रीकृष्णः ॥ १४ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

दर्शयामासेति : १०.२८.१४.

अस्योद्बुद्धापरोक्षानुभवरसजुषो मत्स्वरूपार्थिका वाक् श्लाघ्यान्तेवासिनोऽभून्मदनुगतमतींश्चेत्कृतार्थान्न कुर्यात्।
नैवास्यात्रह्मवित्स्यात् क्वचिदपि हि कुले स्याच्छ्रुतिर्नैयमर्थोल्लासिन्येवं विचिन्त्य प्रभुरखिलगुरुर्दर्शयामास किं तत् ॥ ३३ ॥

जीवन्मुक्तिमहानन्दो यः सदा सगुणाश्रितः। जडाशयेऽपि तस्याऽस्मिन् युक्तमेवात्मदर्शनम् ॥ ३४ ॥
सत्यं स्वजनसंकल्पं करोमीति प्रबोधयन्। स्वलोकमृषिदुष्प्रापमीशो गोपानदर्शयत् ॥ ३५ ॥

कृष्णप्रिया

परम कारुणिक सर्व समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ने कृपावश होकर अपने भक्त गोपजनों को माया से पर अपने दिव्य गोलोक का दर्शन कराया ॥ १३ ॥ राजन् ! सुनो यह दिव्य लोक कैसा था वह सुनो ! सत्य, ज्ञान, अनन्त, स्वयं प्रकाश, नित्य, सनातन यह ब्रह्म लोक है। मुनिजन भी, निर्गुण एवं एकाग्रचित्त वनकर मनन पूर्ण मन से इस लोक का दर्शन कर सकते हैं ॥ १४ ॥

ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन[1] चोद्धृताः। ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा ॥ १५ ॥
नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः। [2]कृष्णं च तत्रच्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे[3] दशमस्कन्धे[4] [5]अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

समाप्तं तामससाधनप्रकरणम्

कर्दमक्षमा

अन्वयः—ते तु ब्रह्महृदम् नीताः तत्र मग्नाः च कृष्णेन उदधृता ब्रह्मणः लोकम् ददृशुः यत्र अक्रूरः पुरा अध्यगात् ॥ १५ ॥ नन्दादयः तत्र छन्दोभिः स्तूयमानम् च तम् कृष्णम् दृष्ट्वा सुविस्मिता परमानन्द निर्वृताः ॥ १६ ॥

अन्वयेषु अष्टाविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २८ ॥

श्रीधरस्वामिविरचिता भावार्थदीपिका

देहादिपिहितानां तद्दर्शनमशक्यमिति प्रथमं देहादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयामासेत्याह। सत्यमिति। सत्यमबाध्यं ज्ञानमजडमनंतमपरिच्छिन्नं ज्योतिः स्वप्रकाशं सनातनं शश्वत्सिद्धं ब्रह्म गुणापाये गुणापोहे ज्ञानिनो यत्पश्यंति तत्कृपयैव दर्शयामास ॥ १५ ॥ एवं ब्रह्महृदं ब्रह्मैव ह्रदवद्ह्रदः तत्र निमग्नस्य विशेषविज्ञानाभावात्तं ब्रह्महृदं ते तु नीताः प्रापिता अथास्मिन्मग्नाश्च। तु शब्दोक्तं विशेषमाह। पुनः कृष्णेनोद्धृताः समाधेरिवोत्थापिताः संतो ब्रह्मणस्तस्यैव लोकं वैकुंठाख्यं ददृशुरिति। ननु ब्रह्मनिमग्नानां पुनर्लोकदर्शनमघटिमेवेत्याशंक्याह। यत्रेति। यत्र यस्मिन्कृष्णे निमित्ते सति पूर्वमक्रूरोऽध्यगात् दृष्टवान्। शुकपरीक्षित्संवादात्संवादात्प्राक्तनत्वात्पुरेति भूतनिर्देशः। न ह्येतदैश्वर्ये भगवति किंचिदप्यसंभावितमिति भावः। अथ वा अक्रूरो यत्र दृष्टवांस्तस्य यमुनाह्रदस्य ब्रह्महृद इति नाम तं ह्रदं नीताः संतो ब्रह्मणो लोकं ददृशुः पुनश्च कृष्णेनोद्धृताः पूर्ववत्तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुरिति व्यवहितान्वयोऽप्रसिद्धकल्पना च सोढव्येति ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते म० दशमस्कंधे पूर्वार्धे टीकायामष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

---

१. कृष्णमचक्षत-विज.। २. कृष्णं च समभिष्टूय मानयन्तः-वीर.। ३. पारमहंस्यां संहितायां-प्रा. पा.। ४. पूर्वार्धे नन्दविमोक्षणमष्टा। ५. षड्विंशः-विज.।

श्रीवंशीधरकृतो भावार्थदीपिकाप्रकाशः

देहादिपिहितानाम् देहादिष्वात्मदृष्टीनाम्। यद्गुणापाये तदावरणसंक्षये मुनयः पश्यन्ति तदिति द्वयोरन्वयः। अबाध्यम् ज्ञानांतरेण विषयासत्त्वप्रतीतिर्बाधः तद्योग्यं बाध्यम्, तद्धीनमबाध्यमित्यर्थः। अंत इयत्ता, तद्रहितमनंतम्! "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादिबहुश्रुतिप्रतिपादितं दर्शयामासेति पूर्वेणान्वयः॥ स्वं लोकं विशिनष्टि—तमसः प्रकृतेः परम्। सत्यमबाध्यं ज्ञानमज-मनंतमपरिच्छिन्नं सनातनं शश्वत्सिद्धम्। यन्मुनयो ज्ञानिनः गुणापाये गुणातीतत्वे सति पश्यंति वृंदावनस्यापि ब्रह्मानंदस्वरूपत्वेन तादृशत्वेऽपि मायाविभूतिमध्यवर्त्तित्वेनैव माधुर्याधिक्यं, यथा दीपज्योतिषस्तमोमध्यवर्त्तित्वेन। अत एव तमसः परं न तु तमोमध्य-वर्त्तिसत्यज्ञानादिरूपं ज्योतिर्दर्शयामास। किञ्च, ब्रह्मस्वरूपतोऽपि विचित्रलीलामयं भगवत्स्वरूपमतिमधुरं शुकदेवादिभक्तात्मारा-मानुभवादवसीयते। तच्च भगवद्वपुः सर्वव्यापकमपि परिच्छिन्नम्, षड्विकाररहितमप्यप्राकृतजन्मादित्वबृद्धय्यादिसहितम्, तरंगादिदोषशून्यमपि क्षुत्पिपासाप्रस्वेदमयमोहसांग्रामिकशस्त्रघातादिसहितम्। अतर्क्यानन्तशक्तित्वादेव यथा तथैव। "पञ्चयोजन-मेवास्ति वनं मे देहरूपकम्" इति भगवदुक्तेर्वृंदावनमपि ब्रह्मदृष्टान्तकोटिब्रह्माण्डव्यापकमपि परिच्छिन्नम्। "स्मरेत्पुनरतन्द्रितो विगतषट्तरङ्गम्बुधः" इत्यागमादि वाक्यात्तरङ्गादिदोषरहितमपि क्षुत्पिपासाजन्मजराछेदभेदादिमन्मनुष्यपशुखगनगादिकमपि नित्यमेवेत्यनन्तचमत्काराश्रयमिति॥ १५॥ लोकदर्शनमाक्षिपति—नन्विति। तत्रोत्तरम्—यत्रेति। शास्त्रस्यानादित्वाद्व्यासादीनां प्राकट्यकर्तृत्वेन भूतनिर्देशो नानुचित इति समाधेयम्। इति भाव इति। न ह्यचिन्त्याद्भुतवैभवस्य किमप्यघटितमिति तात्पर्यम्। ब्रह्मणि ह्रदत्वकल्पनातः कालिन्द्यां ह्रदत्वकल्पनावरीयसी प्रसिद्धा च, ब्रह्मणि चाप्रसिद्धाऽप्रसिद्धेः। प्रसिद्धिरेव वरेत्याशयेनाह—अथ चेति। अत्रेतिहासकल्पनापि विजयध्वजकृतास्ति, तथाहि—हे कृष्ण यदि त्वं परं ब्रह्म तर्हि नः स्वलोकं दर्शयेति गोपैः प्रार्थितेन श्रीकृष्णेनोक्तम्—यदि मल्लोकदिदृक्षा तर्हि शुद्धेन चक्षुषा भाव्यम्। अतोऽस्याः कालिन्द्या ह्रदे मज्जनानन्तरं द्रक्ष्यथेत्युक्तास्तथा कृत्वा शुद्धचक्षुषा तत्र स्थितं ब्रह्माऽभिन्नं कृष्णमपश्यन्निति। उद्धृताश्च—ब्रह्मलोकात्पुनस्तदभि-प्रायेण व्रजमेवापिता इत्यर्थश्चादनुक्तसमुच्चायकाज्ज्ञेयः। तदभिप्रायश्च "कालिन्दी न तथैव नस्ति पुलिनं गोवर्द्धनो नो गिरिर्वेणु-र्नास्ति न चास्ति गोपसुखदो वंशीवटाख्यो वटः। अस्मिन्नास्ति च कृष्णकेलिविपिनं नो वा गवां चारणं किं कुर्मो मधुसूदनस्य नगरे सर्वेऽपि तूष्णीं स्थिताः॥" इत्यभियुक्तोक्तिबोधितलक्षणो बोध्यः॥ एवं ब्रह्मह्रदं ब्रह्मैव ह्रद इव ह्रदस्तत्र निमग्नस्य विशेष-ज्ञानाभावात्, तं ब्रह्मह्रदं ते व्रजवासिनो नीताः प्रापितास्तदा ते तस्मिन्मग्नाः कृष्णेनोद्धृताः स्वातन्त्र्यशक्त्या ब्रह्मसायुज्यादपि उद्धृतास्तस्मादुत्थापिताः सन्तस्तस्यैव ब्रह्मणो लोकं वैकुण्ठं ददृशुः। 'विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म' इति द्वितीयोक्तेः। उद्धृता इति। यथान्ये संसारह्रदादुद्धृताः सन्तो ब्रह्मानुभवन्ति तथैवामी प्रेमवन्तो गोपाः ब्रह्महृदादुद्धृता वैकुण्ठलोकं ददृशुरिति। सर्व-स्वनाशवत्याः सायुज्यविपदः सकाशाद्वैकुंठो निवृतिकर इति भावः। प्रेमरहिताद्ब्रह्मसुखानुभवात्प्रेमसहितो वैकुंठसुखानुभवः श्रेष्ठस्ततोऽपि प्रेममयो गोकुल सुखानुभवः श्रेष्ठ इति सिद्धांतो ज्ञापितः। यत्र वैकुंठे पुराऽक्रूरोऽध्यगात् गतवान् स्वाभीष्टदेवं दृष्टवान् इति वा। शुकपरीक्षित्संवादतः प्राक्तनत्वाद्भूतनिर्देशः॥ १६॥ तम् कृष्णम्। तत्र ब्रह्मलोके। छंदोभिः मूर्तिमद्भिर्वेदैः स्तूयमानं दृष्ट्वा परमानंदनिर्वृता अत्याह्लादमग्ना अपि पुनः पूर्ववत् यादृक्पूर्ववेषस्वभावं गोपरूपं दृष्ट्वा सुविस्मिताः अत्यद्भुताकुला बभूवुः—अहो अस्य वैभवं; क्षणे परमैश्वर्यं प्रदर्श्य क्षणेन पुनस्तत्तिरोदधाविति। व्यवहितान्वयस्त्वाद्यपादांतस्थेन तं दृष्ट्वे त्यनेन सुविस्मिता इत्यंतापादांतस्थेन संबंधात्। स च काव्यदोषोस्ति। अप्रसिद्धकल्पना तु कालिंदीह्रदस्य ब्रह्महृदेति नामकल्पनेति॥ तं वैकुंठं दृष्ट्वा परमानंदपूरिता वैकुंठीयगोलोकस्थवृंदावनस्य वृंदावनसाधर्म्यदर्शनादिति भावः। यथा कोटीश्वराः कदाचिन्नष्टसर्वधनाः सन्तो दैवात् क्वचिद्दृष्टधनचिह्नाः परमानंदनिर्वृता भवन्ति तथेत्यर्थः। ततश्चासमप्राणकोटिनिर्मञ्छनीयमुखारविंदप्रस्वेदबिन्दुः कृष्णः क्वेति तदन्वेषणानुसंधानवत्त्वे सति तञ्च ददृशुरित्याह—कृष्णं तत्रत्यैः छंदोभिर्मूर्तिमद्भिर्गोपालतापिन्यादिभिः स्तूयमानं दृष्ट्वा सुविस्मिताः हंहो क्वागच्छामस्तावदेते ज्योतिर्मयास्तावका अत्र वृंदावने खल्वपरिचीयमानाः प्रष्टुमस्माभिरशक्याः के, तन्मध्यवर्ती कृष्णश्चा-यमस्माननेकान्पित्रादीन् दृष्ट्वापि बाल्यविलासं प्रपञ्चयन्न सन्निधत्ते नापि भुजाभ्यां नः कण्ठं धत्ते, वयमपि सन्निधातुमेनमुत्सङ्ग-मारोहयितुं च संकुचामः, किमनेन क्षुत्पिपासा वैक्लव्यं विस्मृतं मातास्य कथमेनमभोजयंती जीविष्यतीत्येवंविधान्विस्मयान् दधानास्ते लीलाशक्तिप्रेरितया योगमाययैव पुनर्वृन्दावनमानिन्यिरे इति शेषः। एतत्प्रकरणस्यायमेवार्थः श्रीमत्प्रभुवरै रूपगोस्वामि-चरणैः स्तवमालायामुपश्लोकितः। स च श्लोको यथा—"लोको रम्यः कोऽपि वृंदाटवीतो नास्ति क्वापीत्यंजसा बंधुवर्गम्। वैकुंठं यः सुष्ठु संदर्श्य भूयो गोष्ठं निन्ये पातु स त्वां मुकुंदः॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवतभावार्थदीपिकाप्रकाशे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धेऽष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृता वैष्णवतोषिणी

ननु, तमसः परं किं नाम वरित्वित्यपेक्षायां तत्तावत्सामान्यतो निरूपयति—सत्यमिति॥ १५॥ अथ विशेषतोऽपि तन्निरूपयंस्तादृशं तद्दर्शनमाह—तेत्विति। ब्रह्म पूर्वोक्तप्रकृत्यनभिव्यक्तप्रकाशं यत् तदेव दुरवगाहत्वादिना ह्रद इव ह्रदः ते नीताः

स्वशक्त्या तदनुसन्धानं गमितास्तत एव ते मग्नाः तन्मात्रानुभवावस्थामपि प्राप्ताः पुनरतस्मादपि तेनोद्धृताः प्रथमजां सामान्याकारतत्स्फूर्त्तिमतिक्रम्य स्वरूपशक्त्याभिव्यक्तविशेषाकारतत्स्फूर्त्त्यापि उत्कर्षिताः सन्तो ब्रह्मणो नराकृतिपरब्रह्मणस्तस्यैव लोकं ददृशुः चक्षुषापि साक्षात् कृतवन्तः नचाश्रुतचरमेतदित्याह—यत्र प्रकाशे अक्रूरोपि अध्यगात् वैकुण्ठलोकं दृष्टवान् तं स्तुतवान् वा द्वितीये च—

> तस्मै स्वलोकं भगवान् समाजितः स दर्शयामास परं न यत्परम्।
> व्यपेतसंक्लेशविमोहसाध्वसम् स्वदृष्टवद्भिः पुरुषैरभिष्टुतम्॥
> प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः।
> न यत्र माया किमुतापरे हरेः"।

इत्यादि तयोर्मिश्रं रजस्तमः सहचरं प्राकृतसत्वमित्यर्थः। इतिहाससमुच्चये मुद्गलोपाख्याने—

"ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम्। शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति तद्विदुः॥ इति

तस्मादूर्ध्वम् आवृत्तिरहितदेश इत्यर्थः। श्रीनारदपञ्चरात्रे जितन्तेस्तोत्र—

"लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्य षाड्गुण्यसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्जितम्॥ इति

ब्रह्माण्डपुराणे—

"तमनन्तगुणावासं महत्तेजो दुरासदम्। अप्रत्यक्षं निरुपमं परानन्दमतीन्द्रियम्"॥ इति

श्रुतयश्च "परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति" इत्याद्याः। अथवा। ब्रह्महृदमक्रूरतीर्थं नीताः तत्तीर्थमहिमज्ञापनाय कौतुकाय वा प्रापिताः ततस्तत्प्रेरणया मग्नाः पुनस्तेनैव तस्मादुद्धृताः उत्थापिताः ददृशुः श्रीवृन्दावनमेव विलक्षणत्वेनापश्यन्नित्यादि यत्र तीर्थे तत्रैव सर्वप्रमाणचूडामणिना श्रीमद्भागवतेन प्रोक्तेनात्र प्रसिद्ध्यनादरमपेक्ष्यं क्रमव्याख्यानाच्च न परत्र व्यवहितयोजना चापतदिति गम्यम्॥ १६॥ तथाप्यक्रूरतः श्रीमन्नन्दादीनां दर्शनवैशिष्ट्यवदानन्दवैशिष्ट्यमपि जातमित्याह-नन्देति। तं तेषामेव सम्बन्धिनं श्रीकृष्णलोकम् अतः स्वभावत एव परमानन्दनिर्वृता बभूवुः कृष्णं चेति तथाप्यव्यभिचारिपुत्रभावतो विस्मिताश्च बभूवुरिति छन्दोभिः कर्तृभूतैः करणभूतैर्वा उभयभूतैरेव वा श्रीगोपालतापन्यादिभिः अत्र स्वगतिमिति तैः स्वशब्दस्य श्रीकृष्णैकाभिप्रायेणैवोक्तिः गतिशब्दस्य च वरुणलोकदर्शनेन तल्लोकदर्शनाभिप्रायेणोक्तिः तथा श्रीकृष्णेन च स्वां गतिमिति श्रीगोपसम्बन्धितानिर्देशः श्रीमुनीन्द्रेण च गोपानामिति षष्ठ्या साक्षादेव तत्सम्बन्धनिर्देशः कृष्णं चेति साक्षात् श्रीकृष्णनिर्देशश्च वैकुण्ठान्तरं व्यवच्छिद्य परमगोलोकमेव स्थापयति अत एव "अह्न्याप्तं निशि शयानमतिश्रमेण लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म" इति श्रीब्रह्मवाक्येऽपि ब्रह्महृदस्याक्रूरतीर्थत्वपक्षे "यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते" इति न्यायेन दिवसे तदेकार्थव्यापारयुक्तं तत्परिश्रमेण रात्रौ च तदेकसमाधिरूपनिद्रापन्नं ब्रह्मानुभवपक्षे श्रीव्रजेश्वरान्वेषणार्थं तस्मिन्नह्नि नानाव्यापारयुक्तं तत्परिश्रमेण रात्रौ शयानं सत् गोकुलं तद्वासिजनं विकुण्ठं गोलोकाख्यम् उप समीपे तत्रैव दर्शयिष्यतीत्यर्थः। स यथा ब्रह्मसंहितायाम्—

> "ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥
> सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत्पदम्। तत्कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्"॥ इत्यादि।

तथाग्रे ब्रह्मस्तवे—

> चिन्तामणिप्रकरसद्मसु कल्पवृक्षलक्षावृतेषु सुरभीरपि पालयन्तम्।
> लक्ष्मीसहस्रशतसम्भ्रमसेव्यमानं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥
> गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
> ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥ इत्यादि।

"गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः" च इत्यादि अन्ते च—

> श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
> कथागानं नाट्यं गमनमपि वंशीप्रियसखी चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥
> स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहान् निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समयः।
> भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यम् विदन्तस्तेसन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपयाः॥ इति।

एवं स्कान्दे मोक्षधर्मस्य नारायणीयोपाख्याने च—

"एवं बहुविधैरूपैश्चरामीह वसुन्धराम्। ब्रह्मलोकं च कौन्तेय! गोलोकं च सनातनम्"॥ इति।

तथा हरिवंशे यथाह शक्रः—

"स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः। तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषां च महात्मनाम् ॥
तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि। स हि सर्वगतः कृष्णमहाकाशगतो महान् ॥
उपर्य्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी। यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम् ॥
गतिः शमदमाद्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणाम्। ब्राह्म्ये तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परा गतिः ॥
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः। स तु लोकस्त्वया कृष्ण! सीदमानः कृतात्मना ॥
धृतो धृतिमता वीर! निघ्नतोपद्रवान् गवाम्" ॥ इति।

अस्यार्थः स्वर्गशब्देन स्वर्लोकमारभ्य सत्यलोकपर्यन्तं लोकपञ्चकमुच्यते—

"भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। स्वर्लोकः कल्पितो मूर्द्ध्नो इति वा लोककल्पना" ॥ इति द्वितीयात्। तस्मादूर्ध्वमुपरि ब्रह्मलोकः परब्रह्मणो भगवतो लोकः ददृशुर्ब्रह्मणो लोकमित्युक्तत्वात् एवं द्वितीये "मूर्द्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः" इति व्याख्यातं च तैः ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यः सनातनोऽपि नित्यो ननु सृज्यप्रपञ्चान्तर्वर्त्तीत्यर्थः। इति ब्रह्माणि मूर्तिमन्तो वेदाः ऋषयश्च श्रीनारदादयः गणाश्च श्रीगरुडविष्वक्सेनादयः तैर्निषेवितः एवं नित्याश्रितानुक्त्वा तद्गमनाधिकारिण आह, तत्र ब्रह्मलोके उमया सह वर्त्तते इति सोमः श्रीशिवः तस्य गतिः "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" (१।१।२५) इति न्यायेन ज्योतिर्ब्रह्म तदैकात्म्यभावानां ज्ञानिजीवन्मुक्तानामित्यर्थः। अत्र समासप्रविष्टस्यापि गतिपदस्याकर्ष आर्षः सोमेति छान्दस एव वा षष्ठ्या लुक् ननु तादृशानामपि सर्वेषामेवेत्याह—महात्मनां महाशयानां मोक्षनिरादरतया भजतां श्रीसनकादितुल्यानामित्यर्थः—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" ॥

इत्यादौ तेष्वेव महत्तापर्यवसानात् तस्य च ब्रह्मलोकस्योपरि सर्वोर्द्ध्वप्रदेशे गवां लोक इत्यर्थः। तं श्रीगोलोकं साध्या अस्माकं प्रापञ्चिकदेवानां प्रसाद्यसायुज्यमूलरूपा नित्यतदीयदेवगणाः पालयन्ति तत्र दिक्पालत्वेनावरणरूपा वर्त्तन्ते "ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" इति श्रुतेः "तत्र पूर्वे ये च साध्या विश्वेदेवाः सनातनाः। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते शुभदर्शनाः" इति वैकुण्ठवर्णने पाद्मोत्तरखण्डाच्च हि प्रसिद्धौ स श्रीगोलोकः सर्वगतः श्रीकृष्णवत् सर्वप्रापञ्चिकवस्तुव्यापकः अत एव महान् भगवद्रूप एव "महान्तं विभुमात्मानम्" इति श्रुतेः। तत्र हेतुः महाकाशः परमव्योमाख्यं ब्रह्मविशेषणलाभात् "आकाशस्तल्लिङ्गात्" (१।१।२२) इतिन्यायप्रसिद्धेश्च तद्गतः ब्रह्माकारतयोदयानन्तरं तत्प्राप्तेः। यद्वा, महाकाशः परमव्योमाख्यो महावैकुण्ठः तद्गतः तदूर्ध्वभागस्थितः "गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवीमहेशहरिधामसु" इति ब्रह्मसंहितायां तद्वर्णने व्युत्क्रमोक्तेः एवमुपर्य्युपरि सर्वोपर्य्यपि विराजमाने श्रीगोलोकेऽपि तव गतिः नानारूपेण वैकुण्ठादौ क्रीडतस्तव तत्रापि श्रीगोविन्दरूपेण क्रीडा विद्यत इत्यर्थः सा कीदृशी तपोमयी अनवच्छिन्नैश्वर्य्यमयी "परमं यो महत्तपः" इति वत् अत एव ब्रह्मादिदुर्वितर्कत्वमप्याह—यामिति। अधुना तस्य गोलोक इत्याख्याबाजमभिव्यञ्जयति, गतिरिति। ब्राह्म्ये ब्रह्मलोकप्रापके तपसि विष्णुविषयकमनःप्रणिधाने युक्तानां रतचित्तानां प्रेमभक्तानामित्यर्थः। ब्रह्मलोको वैकुण्ठलोकः परा प्रकृत्यतीता गवामिति "मोचयन् व्रजगवां दिनतापम्" इत्युक्तानुसारेण गोकुलवासिमात्राणां स्वतः तद्भावानां च साधनवशेनेत्यर्थः। अत एव तद्भावस्यासुलभत्वात् दुरारोहा धृतो रक्षितः श्रीगोवर्द्धनोद्धरणेनेति अत्रार्थान्तरे सप्तलोकता चेत्तर्हि स्वर्गादेवोर्ध्वं सत्यलोको न भवति महर्लोकादिव्यवधानात् तथा सोमगतिरित्यादिकं न सम्भवति ध्रुवलोकाधस्तादेव तद्गतेः अवरसाध्यगणानां तुच्छत्वात् सत्यलोकपालनेऽप्यनर्हात् तथा प्राकृतगोलोकस्य सर्वगतत्वं चासम्भाव्यम् अत एव तत्रापि तव गतिरित्यपिशब्दो विस्मये प्रयुक्तः यां न विद्म इत्यादिकञ्च तस्मात् प्राकृतादन्य एवासौ गोलोकः य एव पूतनामोक्षादौ निरूपितः य एव च प्रापञ्चिकजीवकृपया वृन्दवनादिरूपेण प्रपञ्चेप्यभिव्यक्तः सदा विराजते "सतु लोकस्त्वया वीर! निघ्नतोपद्रवान् गवां धृत" इत्यभेदेनोक्तत्वात् भगवद्वदचिन्त्यशक्तिमयत्वेन तस्यैकस्याप्येकत्राप्यनन्तधा प्रकाशसामर्थ्याच्च योगमायाविभूतिवर्णने युगपत् प्रातरादिनानासमयादिवर्णनमयत्वेन तथैव द्वारकाया अपि दर्शितमिति गोलोकस्योदूर्ध्वलोकोपरितनत्वं च महिमदृष्ट्यपेक्षयाविर्भावात् वस्तुतस्तु सहि सर्वगत इत्येवोक्तम् अतो वाराहेप्यस्यामेव वृन्दाटव्यां प्रापञ्चिकेन्द्रियमात्रैस्तद्वस्तुमात्रैश्चास्पृष्टा नित्यसिद्धाः पृथिव्याप्यज्ञाताः कदम्बादयो वर्ण्यन्ते, यथा—

तत्रापि महदाश्चर्यं पश्यन्ते पण्डिता नराः। कालियह्रदपूर्वेण कदम्बो महितो द्रुमः ॥
शतशाखं विशालाक्षि! पुण्यं सुरभिगन्धि च। स च द्वादशमासानि मनोज्ञः सुखशीतलः ॥
पुष्पायति विशालाक्षि! प्रभासन्तो दिशो दश" ॥ इति।

शतशाखमिति द्विगुः तद्यत्र वर्त्तते इत्यर्थः । प्रभासन्तः प्रभासयन्नित्यर्थः । तत्रैव ब्रह्मकुण्डलमाहात्म्ये—

"तत्राश्चर्यं प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वं वसुन्धरे ! । लभन्ते मनुजाः सिद्धिं मम कर्मपरायणाः ॥
तस्य तत्रोत्तरे पार्श्वेऽशोकवृक्षः सितप्रभः । वैशाखस्य तु मासस्य शुक्लपक्षस्य द्वादशी ॥
स पुष्पति च मध्याह्ने मम भक्तसुखावहः । न कश्चिदपि जानाति विना भागवतं शुचिम् ॥ इत्यादि

आदिवाराहे च ।

"कृष्णक्रीडा सेतुबन्धं महापातकनाशनम् । वलभीं तत्र क्रीडार्थं कृत्वा देवो गदाधरः ॥
गोपकैः सहितस्तत्र क्षणमेकं दिने दिने । तत्रैव रमणार्थं हि नित्यकालं स गच्छति ॥ इति ।

तथैव "गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः" इति नियमः श्रूयते । स्कान्दे मथुरामाहात्म्ये—

"ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवीसमाश्रितम् । हरिणाधिष्ठितं तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम् ॥

इति च श्रूयते । बृहद्गौतमीये च श्रीकृष्णवाक्यम्—

"इदं वृन्दावनं रम्यं मम धामैव केवलम् । अत्र मे पशवः पक्षिमृगाः कीटा नरामराः ॥
ये वसन्ति ममाधिष्ठे मृता यान्ति ममालयम् । अत्र या गोपकन्याश्च निवसन्ति ममालये ॥
योगिन्यस्ता मया नित्यं मम सेवापरायणः ।
पञ्च योजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम् । कालिन्दीयं सुषुम्णाख्या परमाऽमृतवाहिनी ॥
अत्र देवाश्च भूतानि वर्त्तन्ते सूक्ष्मरूपतः । सर्वदेवमयश्चाहं न त्यजामि वनं क्वचित् ॥
आविर्भावस्तिरोभावो भवेन्मेऽत्र युगे युगे । तेजोमयमिदं रम्यमदृश्यं चर्मचक्षुषा" ॥ इति ।

तस्मात् सदा प्रकृवावनाभिव्यक्ते श्रीवृन्दावनस्यैवास्य प्रकाशविशेषे गोलोकाख्ये यो नित्यं तैरेव नित्यपरिकरैः सह विहरति, स एव श्रीकृष्णः प्रापञ्चिकनिजभक्तकृपया प्रकृतावभिव्यक्तेऽस्मिंस्तत्प्रकाशे तैरेव सं कदाचित् व्यक्ती भवति तस्य तत्परिकरत्वनियमश्च तत्परिकरत्वेनैवोपासनाशास्त्रादि दर्शनात् एवं षोडशसहस्रविवाहे श्रीवसुदेवादिवद्यदा ते प्रपञ्चाभिव्यक्तप्रकाशे प्रकाशान्तरेण व्यक्तीभवन्ति तदा लीलारसपोषाय लीलाशक्तिरेव प्रेमवैवश्यादिद्वारा तत्र तत्र प्रकाशे पृथगभिमानं परस्परमननुसन्धानं च सम्पादयति यतो नित्यसिद्धमपि तं निजवैभवादिकं तदा ते नानुसन्दधिरे तदेवमत्रैव स्थितस्यैव श्रीवृन्दावनस्य प्रकाशविशेषं श्रीगोलोकं दर्शयामास प्रकाशभेदे कन्दर्प्यजेतृत्वे इति जीवानां कामनिवृत्त्यर्थः । न तान् विना नान्यांश्चान्तरङ्गपरिकरान् दर्शयामास छन्दसां तु बहिरङ्गत्वमेव वन्दिजनसाधर्म्यात् छन्दोभिः स्तुतेर्दर्शनं चेदं प्रामाण्यार्थमेवेति सर्वं शान्तम् ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतवैष्णवतोषिण्यां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीमत्सनातनगोस्वामिकृता बृहद्वैष्णवतोषिणी

इति उक्तं सञ्चिन्त्य विचार्य संकल्प्य वा । तत्र हेतुः महाकारुणिक इति, कृपयेतिवदुक्तार्थमेव, पुनरपि स एव हेतुः, कृपातिरेकव्यतिरेकेण हेत्वन्तरासम्भवात्, स्वं स्वकीयं लोकं स्वरूपं गोपानां गोपान् प्रति दर्शयामास साक्षात्कारयामास । तमेव विशिनष्टि—तमसः परमित्यादिना, भगवान् सर्वैश्वर्यपरिपूर्ण इति, तद्दर्शने अनायासोऽभिप्रेतः, यतो विभुर्व्यापकः, विभूतित्वेन ब्रह्मणोऽपि तदधीनत्वादित्यर्थः, यद्वा, दर्शयामास इत्यत्र हेतुः—भगवान् साक्षात् परमेश्वरस्तत्रापि महाकारुणिको विशेषतः कृपाभरप्रकटनपर इत्यर्थः, तत्रापि गोपानां विभुः प्रभुः, तेषां प्रेमपरवश इत्यर्थः, तादृशसञ्चिन्तने हेतुश्च पूर्वमुक्त एव । कृपयेति सत्यमित्यादिना ब्रह्मणः प्रपञ्चाद्वैलण्यमुक्तम् । तत्र यथोत्तरं हेतु हेतुमत्तोह्याः हि यत एवेति वा; यदेवेति तद्दर्शनं निरस्तम्, अप्यर्थे चकारः, कृष्णेनोद्धृता अपि ब्रह्मणो लोकं स्वस्वरूपमेव ददृशुः, तत्र मग्नतया परमाभिनिविष्टत्वात्, यत्र यस्मिन् कृष्णे विषये ब्रह्मणो लोकमक्रूरोऽध्यगात्, अंशत्वेन कृष्णान्तर्भूतमेव ज्ञातवान् । इति भक्तेषु परमकारुणिकत्वं तथा भगवत्त्वं विभुत्वं त्वभिव्यञ्जितम् । एव तत्र ब्रह्मणो लोके कृष्णं सच्चिदानन्दघनमूर्त्तिं भगवन्तं रश्मिजाले तेजोघनसूर्य्यामिव दृष्ट्वा न चात्र सन्देह इत्याह—छन्दोभिः स्तूयमानं तथैव संकीर्त्यमानमाहात्म्यमित्यर्थः । ब्रह्मस्वस्थानञ्चेति द्वयसंकल्पनपक्षे द्वयमिव दर्शयामासेति तैर्व्यञ्जितमेव । वैकुण्ठस्थ गोलोकस्य वा प्राप्तिसंकल्पपक्षे चायमर्थः—स्वं स्वकीयं लोकं वैकुण्ठाख्यम्, यद्वा, गोपानां स्वं स्वाधीनं गोलोकमित्यर्थः । प्रकृतेः परमित्यादि-विशेषणवलाद् वैकुण्ठम्, किंवा गोलोकम्, प्रसंगवलात् गोपान् प्रत्येवेति प्राप्तं स्यादेव ॥ १५ ॥ लोकत्वेऽपि सच्चिदानन्दरूपतां वदन् तमेव विशिनष्टि सत्यमिति । ब्रह्मत्वमेव साधयति—यदिति, एवार्थे हि शब्दः, यद् यस्मात् मुनयो योगेश्वरा अपि गुणापाये मायागुणातिक्रमे सत्येव तत्रापि समाहिताः समाधिपराः सन्त एव पश्यन्ति, यत् यमिति वा, अतो गुणातीततया तस्यापि सच्चिदानन्दरूपत्वेन ब्रह्मत्वं सिद्धमेव, यद्वा, अकारप्रश्लेषेण अगुणो मोक्षस्तस्यापोहे त्यागे सत्येव आत्मारामा अपि भक्तौ सावधानाः सन्तो यत् पश्यन्ति, तथा चोक्तं द्वितीयस्कन्धे (भा० २।९।९-१०)

'तस्मै स्वलोकं भगवान् समाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम्।
व्यपेत-संक्लेश-विमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम्॥
प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः।
न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः॥ इति।

इति हाससमुच्चये श्रीमद्गलोपाख्याने—'ब्रह्मणः सदनादूर्ध्वं तद्विष्णोः परमं पदम्। शुद्धं सनातनं ज्योतिः परं ब्रह्मेति तद्विदुः॥' इति। ब्रह्मणः सदनं ब्रह्मरूप सदनम्, राहोः शिर इति वदभेदेऽपि षष्ठी, विरजापरमव्योम्नोर्मध्यस्थमुक्तिपदमित्यर्थः। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे—

'प्रधान-परमव्योम्नोरन्तरे विरजा नदी। तस्याः पारे परव्योम त्रिपाद्भूतं सनातनम्॥
विरजा परमव्योम्नोरन्तरे केवलं स्मृतम्। तत्स्थानमुपभोक्तव्यमन्यक्तब्रह्मसेविना॥'

तस्मात् श्रीनारदपञ्चरात्रे श्रीब्रह्मनारदसंवादे जितन्तेस्तोत्रे—

'लोकं वैकुण्ठनामानं दिव्यषड्गुणसंयुतम्। अवैष्णवानामप्राप्यं गुणत्रयविवर्ज्जितम्॥
नित्यसिद्धैः सम्यकीर्णं तन्मयैः पाञ्चकालिकैः। सभाप्रासादसंयुक्तं वनैश्चोपवनैः शुभम्॥
वापीकूपतडागैश्च वृक्षषण्डैः सुमण्डितम्। अप्राकृतं सुरैर्वन्द्यमयुतार्कसमप्रभम्॥' इति।

दिव्यैर्लोकातीतैरप्राकृतैः षड्गुणैरश्वर्य्यादिभिः संयुतं श्रीभगवत्तुल्यत्वात्, नित्यसिद्धैः श्रीगरुडादिनित्यपार्षदैः, पाञ्चकालिकैः पञ्चसु प्रातरादिषु कालेषु सेवापरैः। ब्रह्माण्डपुराणे श्रीमज्जन्माष्टमीमाहात्म्ये श्रीवैकुण्ठलोक वर्णने—'तमनन्तगुणावासं महत्तेजो दुरासदम्। अप्रत्यक्षं निरूपमं परानन्दमतीन्द्रियम्॥' इति। अनन्तानामपरिच्छिन्नानामनन्तस्य वा श्रीभगवतो गुणानामावासं वसति स्थानम्, महतां श्रीब्रह्मादीनां तेजसा प्रभावेणापि दुरासदमलभ्यम्, यद्वा महदपरिच्छिन्नं यत्तेजः परमब्रह्म तत्स्वरूपं सच्चिदानन्दघनमित्यर्थः, अत एव दुरासदम्, यतोऽप्रत्यक्षं चक्षुरग्राह्यमतीन्द्रियं मन आदिवृत्त्यतीतम्॥ १६॥ ब्रह्मणो ह्रदं महानिधानं ब्रह्मघनरूपं वकुण्ठमित्यर्थः, नीता दर्शनद्वारा साक्षादिव प्रापिताः अत एव मग्नाः, तद्दर्शनाशक्ताः कृष्णेन तत उद्धृताः; आत्मना सह श्रीवृन्दावनक्रीडारसविघातकतया नात्यभीष्टादिव तद्दर्शनादुत्थापिता अपि ब्रह्मणो लोकं विवर्त्तं विना ब्रह्मोपादानकं सच्चिदानन्दरूपं वैकुण्ठलोकमेव दद्दृशुः। तदावेशेन कृष्णस्यैव सर्वतः परिस्फूर्त्तेः, साक्षात् श्रीकृष्णं पश्यतां तेन सह विक्रीडतां तेषां वैकुण्ठदर्शनं नाम कियदेतदित्याह—व्रजजनविरहदुःखहेतुरक्रूरोऽप्यध्यगात्, अन्यत्तैर्व्यञ्जितमेव। यत्रेत्यव्ययत्वेन यमिति वा, अध्यगादित्यनेन ज्ञानद्वारासौ ददर्श, एते च साक्षादेवाक्षिभिर्दद्दृशुरिति तस्मादप्येषां महात्म्यं दर्शितम्। यद्वा, कस्मिंश्चित् स्थाने कथमपश्यन्नित्यपेक्षायामाह—ते त्विति। मग्नाः स्नाता इत्यर्थः, पश्चात् तस्मात् कृष्णेनोद्धृताः, वैकुण्ठलोकदर्शनासक्त्या श्रीयमुनाप्रवाहेण नयनशंकातः, ब्रह्मह्रदे नयनञ्च रसविशेषमयव्रजभूमेर्वहिरेव तद्दर्शनोपपत्तेः, अन्यत् समानम्, यद्वा ब्रह्मह्रदं नीताः सन्तो वैकुण्ठलोकं ददृशुः, तद्दर्शने निमग्नाश्च सन्तः कृष्णेनोद्धृतास्तस्माद्धिरमय्य क्रीडार्थं निजस्थानं नीता इत्यर्थः एवं व्यवहितान्वयादिकं तैरेव व्यञ्जितमस्ति॥ १७॥ एवं गोपानामिष्टसिद्ध्या परमानन्दो जात इत्याह—नन्दादय इति। तं वैकुण्ठलोकं गोलोकं वा, परमानन्देन निवृता निःशेषेण व्याप्ता बभूवुः, स्वदिदृक्षित-तदीयस्थानविशेषदर्शनात्, तत्रापि स्वलोकत्वेन स्वाधीनताज्ञानोत्पत्तेः। अप्यर्थे चकारः। तत्र ब्रह्मलोकेऽपि कृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता बभूवुः, यद्वा, तत्र छन्दोभि स्तूयमानं कृष्णं निजपार्श्वेऽपि स्तूयमानं पूर्ववत् दृष्ट्वा परमविस्मयं प्राप्ता इति तैर्व्याख्यातमेव। यद्वा, तु शब्दो भिन्नोपक्रमे, सर्वे गोपा औत्सुक्यधीरत्वेन वैकुण्ठलोकं दृष्ट्वा सुखं प्रापुरेव, श्रीनन्दादयः प्रियतमजनास्तु तत्र ब्रह्मलोके छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता अपि तं निजपार्श्वे पूर्ववद्वर्त्तमानं परमबन्धुं जीवनप्रभुं दृष्ट्वैव परमानन्दनिर्वृता न तु ब्रह्मलोकमित्यर्थः, आदि-शब्देन श्रीयशोदा श्रीदामादिसहचराः श्रीराधादिगोप्यश्च, यद्वा, तत्र तैः स्तूयमानमपि कृष्णं तं पूर्ववन्निजपार्श्वे वर्त्तमानं दृष्ट्वैव परमानन्दनिर्वृताः सन्तः, अत एव सुशोभनं विशेषतः स्मितं येषां तथाभूता बभूवुः, यद्वा, तं निजप्रियतमं कृष्णं तत्र छन्दोभिरपि स्तूयमानं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः, यद्वा, तं गोलोकं भूर्लोकस्थगोकुलसदृशमेव दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृता बभूवुः॥ १८॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्द्धे श्रीश्रीलसनातन-गोस्वामिपाद-कृतायां श्रीबृहद्वैष्णवतोषिण्यां श्रीदशम-टिप्पण्यामष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

श्रीसुदर्शनसूरिकृतं शुकपक्षीयम्

सत्यं निर्विकारं ज्ञानप्रकाशबहुलमिति॥ १५॥ स्थानविशेषं ब्रह्मह्रदो नाम यमुनायां कश्चिद्ध्रदः॥ १६-१७॥

इति श्रीमद्भागवतव्याख्याने दशमस्कन्धीये श्रीसुदर्शनसूरिकृतशुकपक्षीये अष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रचन्द्रिका

सत्यं निर्विकारं नित्यासङ्कुचितापरिच्छिन्नज्ञानश्रयं ज्ञानात्मकं च त्रिविधपरिच्छेदरहितं स्वरूपेण गुणैश्च निरतिशयबृहत् स्वयं प्रकाशमनादिनिधनं समाधिनिष्ठा मुनयो गुणापाये त्रिगुणात्मकप्रकृतिसम्बन्धनिवृत्तौ सत्यां यत्पश्यन्ति तदति स्थानकटाक्षेण नपुंसकनिर्देशः ॥ १५ ॥ स्वलोकयोरतीन्द्रियत्वमालोच्य भगवता प्रकारान्तरेण दर्शितौ ददृशुरित्याह–त इति । ते गोपा ब्रह्महृदं प्रति भगवता प्रापिता तदाज्ञया तत्र मग्ना उद्धृताः समाधियुक्ताः ब्रह्मणो लोकं ददृशुः कोसौ ब्रह्महृदस्तत्राह—यत्रेति यत्र यस्मिन्यमुना-ह्रदेऽक्रूरः पुराऽध्यगात् ब्रह्मलोकमित्यनुवर्त्तते दृष्टवान् स एव ब्रह्महृदाख्यः पुरेति कथावृत्तेः पूर्वकालो विवक्षितः ॥ १६ ॥ नन्दाद-यस्तं लोकं दृष्ट्वा परमानन्दभरिताः कृष्णं सम्यगभिष्टूय बहुमन्वानाः सुतरां विस्मिताश्चाभवन् ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृतभागवतचन्द्रचन्द्रिकायां अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली

किं विशिष्टं–कृष्णमिति तत्राह । सत्यमिति सत्यमबाधितं जानातीति ज्ञानं सर्वज्ञम् अन्तत्रयशून्यम् अविनाशि वा यत् ब्रह्मैवं विशिष्टं "सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म" इति श्रुतिसिद्धं यच्च ज्योतिः स्वयं प्रकाशमानम् "परंज्योतीरुपंसम्पद्य" इतिश्रुतिवेदितं यच्च सनातनं सदैकप्रकारम् "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" इति श्रौतं यच्च समाहिताः मुनयो गुणापाये सत्त्वादिगुणनिवृत्तौ आवरणाभावात्पश्यन्ति "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः" इत्यादि श्रुतिशतं हिशब्देन गृहीतम् एवंविधगुणविशिष्टं ब्रह्मशब्दवाच्यं कृष्णमचक्षतेति सम्बन्धः ! किंविशिष्टा गोपाः ? पुरा अक्रूरो यत्र ह्रदे मग्नः ब्रह्मकृष्णात्मकम् अध्यागात् अधिगतवान् चक्षुषाऽपश्यत् द्रक्ष्यतीति भूतपूर्वत्वेन व्यपदेशः कथायाश्चक्रवद्वर्त्तमानार्थरतस्माद्ब्रह्म-सन्निधानात् ह्रदान्मग्नाः स्नाताऽनीताः अत्रेतिहासमाचक्षते यदि परब्रह्मत्वं तर्हि नः स्वलोकं दर्शयेति गोपैः प्रार्थितेन कृष्णेन च उक्ते यदि युष्माकं मल्लोकदिदृक्षा तर्हि शुद्धेन चक्षुषा भाव्यं तदर्थमस्याः कालिन्द्याः ह्रदेमज्जनानन्तरं द्रक्ष्यथेत्युदितास्ते तथा कृत्वा शुद्धचक्षुषा तल्लोकं तत्र स्थितं सत्यादिगुणविशिष्टं ब्रह्माभिन्नं कृष्णमपश्यन्निति ॥ १५ ॥ ते गोपाः तं लोकं ददृशुः कस्येत्यतउक्त ब्रह्मण इति । अनेन कृष्णब्रह्मणोरैक्यं सूचितं शून्यागारमिव पश्यन्निति तत्राह—कृष्णमिति । तस्मिन् लोके कृष्णं चापश्य-न्नित्यर्थः ॥ १६ ॥ ते गोपास्तं लोकं ददृशुः कृष्णस्येरयत उक्तम्, ब्रह्मण इति । अनेन कृष्णब्रह्मणोरैक्यं सूचितं शून्यागारमिवापश्य-न्निति तत्राह—कृष्णमिति । तस्मिन् लोके कृष्णं चापश्यन्नित्यर्थः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीमद्विजयध्वजतीर्थकृतपदरत्नावल्यां अष्टविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

(विजयध्वजरीत्या षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥)

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः क्रमसन्दर्भः

ननु तमसः परः किं नाम वस्त्वित्यपेक्षायां तत्तावत् सामान्यतो निरूपयति–सत्यमिति ॥ १५ ॥ अथ विशेषतोऽपि तन्नि-रूपमं तादृशं तद्दर्शनमाह–ते त्विति । ब्रह्म पूर्वोक्तसामान्याकारात् नीता अनुसन्धापिता मग्नास्तन्मात्रानुभवं गताः अनन्तरमुद्धृताः विशेषाकारतत्स्फूर्त्याप्युत्कर्षिताः सन्तो ददृशुः ब्रह्मण इत्यादि यत्र प्रकृतेः परोऽत्र अक्रूरोऽध्यगात् ॥ १६ ॥ वैकुण्ठं दृष्टवान् छन्दोभिः श्रीगोपालतपन्यादिभिः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतक्रमसन्दर्भे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

श्रीमज्जीवगोस्वामिकृतः बृहत्क्रमसन्दर्भः

दर्शयामि न वेति चिन्तयन् यदकरोत्तदाह–इति सञ्चिन्त्येति । इति सन्देहतः सञ्चिन्त्य स्वलोकं दर्शयामास । कुतः ? तत्राह—महाकारुणिकः । तत्सामर्थ्यमाह—विभुः सर्वशक्तिसम्पन्नः कीदृसम् ? तमसः परं निर्गुणम्; तमः शब्दोऽत्र गुण-मात्रपरः ॥ १५ ॥ तदेव विशिष्य वर्णयति—सत्यं ज्ञानमित्यादि । सत्यम्, ज्ञानमवबोधस्वरूपम्, अनन्तमपरिच्छिन्नम्, ब्रह्म चैतन्यरूपम्, ज्योतिः स्वप्रकाशकम्, सनातनं नित्यं सत्स्वरूपम् । यद्धि गुणापाये मुनयः पश्यन्ति (ऋक् १।२२।२०) 'तद् विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' (भा० ११।२०।३७) "क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः" इति च । ब्रह्माख्यं किमपि वस्तु तदेव तस्य स्वलोकः । उक्तञ्च–कैवल्यमिव मूर्त्तिमत्' इति वैष्णव सिद्धान्तमतानुवादः । उक्तश्च भगवतैव–(भा० २।५।२१) मनीपितानुभावोऽयं मम लोकावलोकनम्" इत्यत्र मनीषिता तस्यैवेच्छा । एवं सति वृन्दावनमेव तथैव ददृशुः । भौमाभौमवैकुण्ठं यत् प्रागुक्तं तत्र भौमत्वं तिरोधाप्याभौमत्वं दर्शयामासेत्येषैव सूक्ष्मा दुर्बोधा गतिः पदवी । तस्यान्यथा (१२ श-श्लोक०) "अपि नः स्वगतिं सूक्ष्माम्" इत्यादिना कृतमनोरथेभ्यस्तेभ्यः स्वलोकं दर्शयामासेति वृन्दावनस्य स्वलोकाभावाद् विपरीतत्वमा-पद्यते ॥ १६ ॥ अथ तेऽपि तत्रैव ब्रह्माख्ये लोके मग्नास्तद्वासि-पार्षदवत् प्राणमनोवृत्ति–रहितत्वेन केवलानन्द स्वरूपा यदाभवन्,

तदा कृष्णेनैव पुनरुद्धृताः प्राप्तेन्द्रियवृत्तयः कृताः सन्तः पुनरन्यदेव ददृशुरित्याह—ते त्वित्यादि। ते गोपाः प्राङ्मग्नास्तत्रैव ब्रह्मानन्दे मग्नाः पश्चात् कृष्णेन त उद्धृत्य ब्रह्मह्रदस्थ नीता ब्रह्मणो लोकं नारायणलोकं ददृशुः। कोऽसौ ब्रह्मद्रुमः ? तत्राह—यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरा। शक परीक्षित कथनकालात् पूर्वमिति पुरा अक्रूरो यत्र यमुना ह्रदे मग्नः सन् यथा शेषपर्यङ्कशायिनं नारायणं ददर्श, पश्चात् श्रीकृष्णमणि ददर्श, तथैवामी इति। अथवा, यत्राक्रूरो द्रक्ष्यतीति कथयिष्यते तत्रैव पुरा पूर्वं ते ददृशुः॥ १७॥ तत् पुनर्विशिष्य वदति—नन्दादय इत्यादि। तं नारायणलोकम्, तत्रैव छन्दोभिः स्तूयमानं नारायणरूपग्रहीतार श्रीकृष्णं दृष्ट्वा सुविस्मिता बभूवुः॥॥ १८॥

इति श्रीदशमे श्रीबृहत्क्रमसन्दर्भे अष्टविंशोऽध्यायः॥ २८॥

श्रीनाथचक्रवर्तिपादविरचिता चैतन्यमतमञ्जूषा

इति सञ्चिन्त्य भगवानित्यस्यायं भावः (१२ श० श्लो०) "अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः" इत्यत्र स्वगतिं स्वस्थानं सूक्ष्मां प्राकृतैरदृश्यां ब्रह्मभूतां वा, स्वस्थानमेव तस्य ब्रह्म, (भा० ११।२०।३७) "क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्मपरमं विदुः" इति वक्ष्यमाणत्वात् इति तेषां संकल्पं विदित्वा 'अहो ! भ्रमः मां दृष्ट्वापि द्रष्टव्यान्तराय स्पृहयति' इति तेषां मोहे करुणावान् सन् स्वं लोकं दर्शयामास। कीदृश ? तमसः परम्॥ १५॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं सनातनं ज्योतिर्यद्ब्रह्म यद्धि ब्रह्म गुणापाये मुनयः पश्यन्ति, स एव तस्य लोकः॥ १६॥ ते त्वित्यादि। ब्रह्म च ह्रदः पुनरुत्थानाभावात् कृष्णेन ब्रह्मह्रदं नीतास्ते अस्मिन् ह्रदे मग्नाः पश्चात् सुहृदो मे विपन्नाः कैः सह क्रीडितव्यमिति कृत्वा पुनस्तेनैवोद्धृता उत्तारिताः, ब्रह्मणि मग्नानां कुतः पुनरुत्थानमिति नाशङ्कनीयम् उभयोरपि तत्कर्तृकत्वात्, तस्य चाचिन्त्यशक्तित्वात्। एवम्भूताः शान्तास्ते पुनः किं कृतवन्त इत्याह—ददृशुरित्यादि। लोकं वैकुण्ठं ब्रह्मभूतं लोकं ददृशुरेव, न तु परमानन्दमवापुः यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरेति स्वामिचरणैरेवव्याख्यातम्। न विद्यते क्रूरा माया यस्य स तथा अक्रूरो नित्यपार्षदवर्गः, पुरा पूः शरीरं तया नित्य विग्रहः सन् अध्यगात् सेवितवान्॥ १७॥ इदानीं तेऽप्यवतीर्णा इत्यतीत–कालविशेषः, अतो महाकारुणिकत्वं पूर्वोक्तं (१५ श० श्लो०) यत्तदेव स्फुटीकृतम्, अस्य दर्शनन्तु ब्रह्मसाक्षात्कारादपि परमानन्दकरमिति कृत्वा तथा कृतम्॥ १८॥

इत्यष्टाविंशोऽध्यायः॥ २८॥

श्रीमद्विश्वनाथचक्रवर्तिकृता सारार्थदर्शिनी

सत्यमबाध्यं ज्ञानमजडम् अनन्तमपरिच्छिन्नं सनातनं शश्वत् सिद्धं यत् मुनयो ज्ञानिनः गुणापाये गुणातीतत्वे सति पश्यन्ति वृन्दावनस्यापि ब्रह्मानन्दस्वरूपत्वेनैतादृशत्वेति मायाविभूतिमध्यवर्त्तित्वेनैव माधुर्य्याधिक्यं यथा दीपज्योतिषस्तमोमध्यवर्त्तित्वेन अत एव तमसः परं नतु तमोमध्यवर्ति सत्यज्ञानादिरूपं ज्योतिर्दर्शयामास किञ्च ब्रह्मस्वरूपतोपि विचित्रलीलामयं भगवत्स्वरूपमतिमधुरं शुकदेवादिभक्तात्मारामानुभवादत्यसीयते तच्च भगवद्वपुः सर्वव्यापकमपि परिच्छिन्नं षड्विकाररहितमप्यप्राकृतजन्मास्तित्ववृद्ध्यादिसहितं तरङ्गादिदोषशून्यमपि क्षुत्पिपासाप्रस्वेदभयमोहसांग्रामिकशस्त्रघातादिसहितमतर्क्यानन्तशक्तित्वादेव यथा तथैव "पञ्चप्रयोजनमेवास्ति वनं मे देहरूपकम्" इति भगवदुक्तेः वृन्दावनमपि ब्रह्मदृष्टानन्तकोटिब्रह्माण्डव्यापकमपि परिच्छिन्नं स्मरेत् पुनरतन्त्रितो विगतषट्तरङ्गाद्युध इत्यागमादिवाक्यात् तरङ्गादिदोषरहितमपि क्षुत्पिपासाजन्मजराच्छेदभेदादिमन्मनुष्यपशुखगनगादिकमपि नित्यमेवेत्यनन्तचमत्काराश्रयमिति॥ १५॥ एवं ब्रह्मह्रदं ब्रह्मैव ह्रद इव ह्रदस्तत्र निमग्नस्य विशेष ज्ञानाभावात् तं ब्रह्मह्रदं ते व्रजवासिनो नीताः प्रापिताः तदा ते तस्मिन् मग्नाः कृष्णेन तु उद्धृताः स्वातन्त्र्यशक्त्या ब्रह्मसायुज्यादपि उद्धृताः तस्मादुत्थापिताः सन्तस्तस्यैव ब्रह्मणो लोकं वैकुण्ठं च ददृशुः "लोकं विकुण्ठमुपनेष्यति गोकुलं स्म" इति द्वितीयोक्तेः। उद्धृता इति यथान्ये संसारह्रदादुद्धृताः सन्तो ब्रह्मानुभवन्ति तथैवामी प्रेमवन्तो गोपाः ब्रह्मह्रदादुद्धृता वैकुण्ठ लोकं ददृशुरिति सर्वस्वनाशवत्याः सायुज्यविपदः सकाशात् वैकुण्ठो निर्वृतिकर इति भावः प्रेमरहिताद्ब्रह्मसुखानुभवात् प्रेमसहितो वैकुण्ठसुखानुभवः श्रेष्ठस्ततोऽपिप्रेममयो गोकुलसुखानुभवः श्रेष्ठ इति सिद्धान्तो ज्ञापितः यत्र वैकुण्ठे पुरा अक्रूरोऽध्यगात् गतवान् स्वाभीष्टदेवं दृष्टवानिति वा शुकपरीक्षित् सम्वादात् प्राक्तनत्वाद्भूतनिर्देशः॥ १६॥ तं वैकुण्ठलोकं दृष्ट्वा तु परमानन्दनिर्वृताः वैकुण्ठीयगोलोकस्थ वृन्दावनस्य वृन्दावनसाधर्म्यदर्शनादिति भावः। यथा हि कोटीश्वराः कदाचिन्नष्टसर्वधनाः सन्तो दैवात् क्वचिद्दृष्टस्वधनचिह्नाः परमानन्दनिर्वृता भवन्ति तथेत्यर्थः ततश्चास्मत्प्राणकोटिनिर्मन्थनीय मुखारविन्दप्रस्वेदबिन्दुः कृष्ण क्वेति तदन्वेषणानुसन्धानवत्त्वे सति तं च ददृशुरित्याह, कृष्णं तत्रत्यैश्छन्दोभिर्मूर्त्तिमद्भिस्तूयमानं दृष्ट्वा सविस्मिताः हंहो कागच्छाम तावदेते ज्योतिर्मयाः स्तावका अत्र वृन्दावने खल्वपरिचीयमानाः प्रष्टुमस्माभिरशक्याः के। तन्मध्यवर्त्ती कृष्णश्चायमास्मान् अनेकान् पित्रादीन् दृष्ट्वापि बाल्यविलासं प्रपञ्चयन्न सन्निधत्ते नापि भुजाभ्यां नः कण्ठं धत्ते वयमपि सन्निधातुमेनमुत्सङ्ग मारोहयितुं च सङ्कुचाम किमनेनाद्य क्षुत् पिपासादैक्लव्यं विस्मृतं मातास्य कथमेनमभोजयन्ती जीविष्यतीत्येवं विविधान्

विस्मयान् दधानास्ते लीलाशक्तिप्रेरितया योगमाययैवपुनर्वृन्दावनमानिन्यिरे इति शेषः। एतत् प्रकरणस्यायमेवार्थः श्रीमत्प्रभुवरैः रूपगोस्वामिचरणैः स्तवमालायामुपश्लोकितः सच श्लोको यथा—

"लोको रम्यः कोऽपि वृन्दाटवीतोनास्ति कापीत्यञ्जसा वन्धुवर्गम्॥
वैकुण्ठं यः सुष्ठु सन्दर्श्य भूयोगोष्ठं निन्ये पातु स त्वां मुकुन्दः" ॥ इति।

गोस्वामिव्याख्यानुसारेण व्याख्यातं व्याख्यानान्तरं तु वैष्णवतोषिण्यां द्रष्टव्यम्॥ १७॥

इति सारार्थदर्शिन्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्। अष्टाविंशोऽत्र दशमे सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥ २८॥

श्रीमच्छुकदेवकृतः सिद्धान्तप्रदीपः

यस्य दर्शनं कार्यकारणरूपप्रकृत्यतिक्रमानन्तरं मुमुक्षूणां भवति तमिहैव दर्शयामासेति विरिमतः श्रीशुकः श्रीकृष्णाख्यं ब्रह्म वर्णयति, यो भवान् स्वं लोकं दर्शयामास कथंभूतः सत्यं यद्ब्रह्म किं प्रधानम्? नेत्याह, ज्ञानं किं जीवतत्त्वम्? नेत्याह, अनन्तम् ज्योतिः स्वप्रकाशम् सनातनं शश्वत्सिद्धं यत् गुणापाये गुणव्यत्यये हे समाहिताः! पुनस्तदभ्युत्थाननिवारणे युक्ताः यद्ध्याने पश्यन्ति गुणापाये त्रिगुणाप्रपञ्चातिक्रमे वा यत्पश्यन्ति तद्ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णः स्वं लोकं दर्शयामासेति पूर्वेणैवान्वयः॥ १५॥ कथं दर्शयामासेत्यत आह—तेत्विति। यत्रावयोः सम्वादात् पुराऽक्रूरः अध्यगात् दृष्टवान् तं ते तु नीताः तत्र मग्नाश्च तु शब्दः स्वयं बहिःस्थित एव ह्रदेऽपि तल्लोकाधिपतित्वेन तैर्दृष्टः इति सूचयति अत एवानन्तर श्लोके कृष्णं च दृष्ट्वेत्युक्तिः सङ्गताः मग्नाः सन्तः ब्राह्मणः श्रीकृष्णस्य लोकं ददृशुः चकाराद्बहिःस्थितमपि श्रीकृष्णं तत्रापि ददृशुः पुनः उद्धृताः॥ १६॥ सन्तो विस्मिता बभूवुरित्याह—नन्दादय इति॥ १७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धीये श्रीमच्छुकदेवकृतसिद्धान्तप्रदीपे अष्टाविंशोऽध्यायार्थप्रकाशः॥ २८॥

श्रीसत्यधर्मकृता श्रीभागवतटिप्पणी

गोपा ब्रह्मणो लोकं ददृशुः। तच्च कृष्णादनन्यदित्याह॥ सत्यमिति। सकलसद्भावप्रापकमबाधितमिति वा ज्ञानं संविदात्मकमनन्तमन्तत्रयशून्यं नित्यमबद्धं वा ब्रह्म गुणपरिपूर्णं ज्योतिः प्रकाशरूपं ज्योतिर्जातं जगदूतिरूपं यस्मिंस्तदिति वा सनातनं पुराणं वेदवेद्यं वा गतं। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। परं ज्योतिः शाश्वतोऽयं पुराण इत्यादेः। यत्सर्वत्र यातीति व्याप्तमिति यत् बाह्यं यथा तथाऽन्तरपीति यद्वा। यथोक्तं बृहद्भाष्ये। यथा बाह्ये तथैवान्तस्ततो यदिति चोच्यत इति। ततत्वादन्यथाज्ञानं तीत्येवं समुदीर्यते। तस्याधस्तात्सदात्मा तु सादयन्ननृतं हरिः। उपरिष्टाच्च यन्नामा ह्यनृतं नाशयन्स्थित इति बृहद्भाष्यात्सत्यशब्दार्थो ज्ञेयः। भावेऽप्यभावे सूर्यादेर्जीवानां विष्णुरेव हि। ज्योतिस्तथाऽप्यभावे तु तज्ज्ञेयं हि विशेषत इति बृहद्भाष्याज्ज्योतिरर्थोऽनुसन्धेयः। गुणापाये गुणनिवृत्तावावरणापसरण इति यावत् यन्मुनयः गतं। न दूरे तदित्याह। समाहितं हृदयगुहानिहितं पश्यन्ति हीतीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यदिति। तथा हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलं। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुरित्यादिमानान्यत्र भवन्तीति सूचयति॥ १५॥ कथं तं लोकं ददृशुरित्यत आह॥ त इति। ते गोपाः नीताः कृष्णेन स्वस्थलाद्ब्रह्मह्रदात्तं प्राप्य तत्र मग्ना आदौ सत्यादिपदवाच्यब्रह्माभिन्नं कृष्णमाचक्षतापश्यन्। अनन्तरं ब्रह्मणः कृष्णस्य लोकं ददृशुः। पुरा यत्र ब्रह्मह्रदः कृष्णमध्यगात्। कथायाः प्राक्तनत्वाद्ग्रथनस्य शुकपरीक्षित्संवादेनानन्तरिकत्वात्पुरेति सम्भवतीत्येके। चक्रवद्वर्तमानत्वाद्भूतपूर्वगत्येत्यपरे। यत्र ते गोपदा ददृशुस्तत्राक्रूरः श्वफल्कजः पुरोत्तरत्र। अध्यगादधिगमिष्यति। अतिनिश्चितत्वाल्लङुपपद्यते। यथोक्तमेतायामोपगव्यन्तमित्युग्भाष्यटीकयोः। अतिनिश्चितेऽर्थे भूते शब्दश्चेत्याह सूत्रं परेशः। नन्वयामेति कोऽयं शब्दः। यातेर्लङि रूपमेतत्। लङ् भूते वर्तते। न चात्र तत्सम्भवतीत्यत आह॥ अतीति। अतिनिश्चितेऽपि धात्वर्थे भूतत्ववाची शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादकं सूत्रमाहेत्यर्थः। अन्यत्रैध्यत्तु निश्चितं यत्तदतीतत्वेन भण्यत इतीति। पुरा पुराणे निकटे प्रबन्धातीति भविष्यतीति विश्वः। तत्र स्नापयित्वा दिव्यं चक्षुश्च दत्वाऽनन्तरं स्वं दर्शयित्वा तद्योग्यतां वितार्य ब्रह्मणः स्वस्य लोकं दर्शयामास तान्प्रतीति भावोऽवसेयः। ब्रह्मह्रदं नीता इति पाठस्तु स्फुटार्थो युक्तश्चेति। तुर्विशेषद्योतकः॥ १६॥ नन्दादयो गोपाः। तुशब्दस्तद्दर्शनतरतमभावो योग्यतातारतम्येनेति विशेषसूचकः। तं लोकं दृष्ट्वा तत्र छन्दोभिर्वेदैः स्तूयमानं कृष्णं च दृष्ट्वा सविस्मिताः सन्तः परमानन्दनिर्वृताः केचन परमानन्दाश्च केचन निर्वृता आनन्दिनश्चाभवन्नित्यन्वयो ज्ञेयः। यः परं स्वान्यज्जगद्दर्शनं कृत्वोपर्यागमनात्परमानन्दाः पुनर्मायया बन्धनं कृष्णं दृष्ट्वा निर्वृताः सुखिता विस्मिताश्च बभूवुरिति शेषः। परमानन्देन निर्वृता निश्वृताः परमानन्दो नितरां वृत्तो यैरिति वा॥ १७॥

इति श्रीभागवतटिप्पण्यां सत्यधर्मकृतायां दशमपूर्वार्धे षड्विंशोऽध्यायः॥ २६॥

श्रीसुबोधिनी

ततो दर्शनानन्तरं सर्वत्रैव तत् प्रकटं जातमिति गोकुलस्य सर्वस्यापि विलय एवाभूदतोग्रे लीला बाधिता स्यादिति पुनस्तेषां प्रत्यापत्त्यर्थं यत्नमाह ते त्विति, लोकस्य 'तिरोभावेपि तदात्मकांशस्य लोकस्य न तिरोभावः काष्ठाग्निवत्, तेषां पुनः

काष्ठतार्धज्वलितानामपि सम्पादनीयान्यथाग्रे लीला नोपपद्येत, तच्च वेदात्मके ब्रह्मणि योजिते भवति, तद्धि तस्य जलात्मकं, अत एव शब्दब्रह्मणो जलरूपता कचित् प्रकटीकृता तत्कार्यमिदमग्रे च वक्ष्यति, अतोक्षरात्मकानेतान् ब्रह्मह्रदे नीत्वा स्नानं कारितवान्, तदैतेषु स्थितोपि लोकस्तिरोहितस्तत्रापि नीताः पुनर्मग्ना जाताः, उत्तमाधिकारिणो हि ते शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः, क्रमश्चायं परब्रह्म तदुत्थं शब्दब्रह्म तदुत्थं जगदिति, अत एवादूरविप्रकर्षण ज्ञापकं, ततोपि भगवतात उद्धृताः, चकाराद् वेदैरपि भगवदाज्ञया अन्यथा प्रमाणगृहीता लोलायां नोपयुक्ता भवेयुः, तर्ह्ये तावत् कृतं व्यर्थमेवासीदित्याशङ्क्य प्रयोजनार्थं जातमित्याह ददृशुरिति, शब्दब्रह्मणो लोकं ददृशुर्यस्तदार्द्रनयनास्तस्य न तावन्मात्रपरत्वमिति ज्ञापयितुं राजानं प्रति शुक आह यत्रैव स्थानेऽक्रूरः पुरा पूर्वमध्यगाद्, भगवत्स्वरूपमधीतवान् ज्ञातवानित्यर्थः, प्रमाणतस्तत्रैव परिज्ञातवानत एतेषामपि प्रमाणतो ज्ञानं कारणीयमिति तथा कृतवान्,

ब्रह्मानन्दान् महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः। तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्श्योद्धृतवांस्ततः ॥ १५ ॥

ततो यज् जातं तत्पर्यवसितमाह नन्दादय इति तं ब्रह्मलोकं दृष्ट्वा नन्दादयः प्राप्तस्वरूपाः परमानन्देन निवृता जाताः तद्धि सर्वाविद्यानाशकमावरणनिवारकमतः प्रमाणेन तदनुभूय निर्वृताः, पूर्वं त्वेकरसतामापन्नाः, किञ्च तत्रापि मध्ये कृष्णस्तं च वेदाः स्तुवन्ति, अत आह च्छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा परमाश्चर्यं प्राप्ताः, तस्याप्येतत् फलं वैकुण्ठस्याप्येतत् फलमिति ज्ञात्वेतराभिलाषं परित्यज्य परमाश्चर्यरसे निमग्ना जाताः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेवान्तरसाधनप्रकरणे सप्तमस्य स्कन्धादितः पञ्चविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥ २५ ॥

(१) श्रीप्रभुचरणविरचिता श्रीटिप्पणी

ते तु ब्रह्मह्रदमित्यस्याभासे विलय एवाभूदिति। अयमर्थः। लोकस्याक्षरात्मकत्वेनानन्दरूपस्य सर्वत्राविर्भावेन सर्वेषां देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मस्वप्याविर्भावे प्रकटाग्निसम्बन्धात् काष्ठान्तर्गताग्निप्रादुर्भावे तस्याप्यग्निरूपतापत्त्या काष्ठता-विलयवदेतद् देहादीनामप्यानन्दतापत्त्या देहादिभावविलयोऽभूदिति। प्रत्यापत्त्यर्थमिति। पूर्वभावसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः। तदात्म-कांशस्येति। सर्वत्राविर्भावात् तत्तद् देहादिष्वप्याविर्भूतांस्येत्यर्थः। काष्ठाग्निवदिति काष्ठान्तर्गताग्निप्राकट्यार्थं योऽन्योऽग्निस्तत्र प्रविष्टस्तस्यापि तदतिरोधाने तिरोधानं न यथा, तथेत्यर्थः। अर्धज्वलितानामिति। अत्रैवं ज्ञेयम्। व्रतवासिमनोरथपूर्त्यर्थं ब्रह्मा-नन्दाद् भजनानन्दे तारतम्यज्ञापनार्थं च स्वलोकस्य हि प्रदर्शनम्। तारतम्यज्ञानं चाग्रे नैतत्स्मृतिं विना संभवति। सा चाधुनै-तदनुभवं विना तथेत्यधुनैतदानन्दानुभवोऽपि वाच्यः। स च स्वस्मिंस्तद्भिन्नत्वाज्ञानं विनानुपपन्नः। एवं सत्यानन्दात्मकत्वं स्वस्य भेदज्ञानपूर्वकमक्षरानन्दानुभवश्चेत्यर्धज्वलितत्वम्। पुनः काष्ठता तु पूर्वोक्तदेहादिष्वाविर्भूतलोकस्य तिरोधानेन तत्सम्बन्ध-जनितानन्दात्मकत्वभानतिरोधानेन च यथापूर्वं स्थितिः। एवं करणस्यावश्यकतामाहुः अन्यथेति। तद्धेतुमाहुस्तच्चेति। अत्रायं भावः। ज्वलितांशस्य पुनः काष्ठतावदानन्दात्मकतामापन्नस्य देहादेः पुनर्जडभावो ह्यशक्यः। प्रकृते तु लीलोपयोगित्वात्सर्वेषां देहादिभावे सत्येव च तथात्वसम्भवाद् देहादिभाव प्रकृतिः, मुक्त्यवस्था विकृतिरेव। एवं सति विकृतिमपास्य प्रकृतिसम्पादकमे-तादृशानां वेदब्रह्मैव भवितुमर्हति। कार्यस्यामर्यादत्वादेतदपि न मर्यादामध्यपाति तथा भवितुमर्हत्यतो यथा ह्रदो नद्यन्तर्गत एव प्रवाहाद् भिन्नः सन् सदातिनिर्मलः स्रवन्मकरन्दारविन्दोदयहेतुः सततमतिगभीरतया स्वान्तःपतितपदार्थपूरणपटुः तथा वेदान्तः-पात्येव मर्यादामार्गीयाद् भिन्नं सद्ब्रह्मत्वेन निर्दोषभजनानन्दानुभवहेतुविचित्रभावजनकं पुष्टिमार्गीयमेवेति ज्ञापनाय मूले वेदस्य ब्रह्मत्वं ह्रदत्वं चोक्तम्। एतदेवोक्तं तद्धितस्य जलात्मकमित्यनेन। न चाक्षरात्मकत्वेन लोकस्य तदानन्दवाचकं ब्रह्मह्रदपदमिति वाच्यम्, ब्रह्मानन्दस्य महत्त्वेन ह्रदस्याल्पत्वेन तत्त्वोक्त्यनुपपत्तेः। आनन्दपदं हित्वा ह्रदपदोक्तावश्यं तात्पर्यं वाच्यम्। तत्तूक्त-रूपमेव संभवति। एतेनैवाक्षरपरत्वं ब्रह्मपदस्य निरस्तम्। तत्त्वस्य पूर्वमेवोक्तेश्च। मध्ये शब्दब्रह्म याजनायां हेतुमग्रे वक्ष्यन्ति प्रमाणतो ज्ञानमित्यादिना। एवं सत्यत्र ह्रदत्वमज्जनोक्तिभ्यां जलरूपतापि शब्दब्रह्मणोस्तीति मन्तव्यम्। तदाहु रत एवेति। एतस्यापि व्यापकत्वात् क्वचिद् गोकुलनिकटे प्रकटीकृत्येत्यर्थः। एवं कृतेरावश्यकतामाहुः तत्कार्यमिदमिति। एतादृशानां पूर्व-भावसम्पादनलक्षणं कार्यं प्रमाणतो ज्ञानं च तदेकसाध्यमित्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाहुरग्रे चेति। 'यत्राक्रूरोऽध्यगात् पुरे'त्यनेन। तत्र हि शब्दब्रह्मात्मके जले भगवत्स्वरूपं स ज्ञातवानिति। मज्जनपदार्थमाहुः शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः। तत्र हेतुरुत्तमाधिकारिण इति। नन्वस्मादप्युद्धरणस्यावश्यकत्वे पूर्वस्मादेव किमिति नोद्धृत्य प्रकृतिभावं सम्पादितवानित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाहुः क्रमश्चाय-मित्यादिना। स्वकृतमर्यादास्थापनार्थं तथाकृतिरित्यर्थः। तमेवाहुः परब्रह्मेति। परब्रह्मणा पूर्वं स्वस्मिन् स्थितं पश्चात् स्वस्माद्धि-र्भक्तं यद्वस्तु तच्छब्दब्रह्मात्मकं भवति। ततस्तेन तथा कृतं जगद्रूपं भवतीत्यर्थः। इदमत्राकूतम्। साक्षाल्लीलोपयोगि जगद्धि सच्चिदानन्दात्मकं स्वस्मिन् स्थितं क्रीडेच्छया स्वस्माद्विभक्तं करोति प्रभुः। यतोन्तःस्थितं न बहिःकार्यक्षमम्। तच्चानन्दस्वरूपा-द्वियुक्तं सत् स्वरूपमलभमानमिव न किञ्चित्कार्यक्षमं भवति। तदा प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यामलौकिकीभ्यामलौकिकार्यसम्पादनक्षमं शब्द-ब्रह्मेति तदात्मकतायां लीलोपयोगि प्रवृत्तिनिवृत्तिक्षमं भविष्यतीति ज्ञात्वा तथा सम्पाद्योक्तसामर्थ्ये सम्पन्ने तस्य प्रमाणरूप-

त्वाल्लीलायां प्रवृत्तिनिवृती स्नेहाधीने इति न तदुपयोग इति तस्मादप्युद्धृता इति। एतदेवोक्तमन्यथा प्रमाणगृहीता इत्यादिना। लीला हि स्वतन्त्रा। एते प्रमाणाधीनत्वे विहितमेव कर्म कुर्युर्नेतरदपीति तत्रानुपयुक्ता भवेयुरित्यर्थः। यद्वा। प्रमाणमार्गगृहीतत्वं प्रमाणैकवशचित्तत्वम्। तच्च पुष्टिलीलाप्रवेशानधिकाररूपमेवेति तथेत्यर्थः। तदार्द्रनयना इति। जले निमग्नानामार्द्रे ते भवत एव। प्रकृते च तस्य शब्दब्रह्मात्मकत्वेन यादृशं श्रुतिसिद्धं भगवत्स्वरूपं तादृशमेव दृष्ट्वापि पश्यन्तीत्येतदेवार्द्रत्वम्। तदानन्दाश्रुभिरपि तथात्वं ज्ञेयम्। सर्वस्यापि प्रघट्टकस्य तात्पर्यरूपं गूढाभिसन्धिमुद्घाटयन्ति ब्रह्मानन्दादिति।

यद्वा। ते तु ब्रह्महृदं नीता इत्यस्याभासः। ततो दर्शनानन्तरमित्यादि। अत्रायं भावः। अक्षरानन्दाल्लीलात्मकानन्दस्याधिकत्वेप्येतेषां तद्रूपत्वेन तन्मध्यपातित्वेप्यक्षरानन्दस्येयदवध्यननुभवेन तारतम्याज्ञानाद् भगवता च लोकमध्य एव लीलाकरणात् स्वस्येतरलोकसाधारण्यं मन्यमानानां स मनोरथोभूत्। तत्पूर्त्यर्थं स्वलीलात्मकत्वांशं हस्तपिहितमिव कृत्वा साधारणीं रीतिं प्रकटितवान्। तस्यां तु सच्चित्प्राकट्यमेव जीवेषु, नानन्दांशस्य। तत्प्राकट्ये च ब्रह्मभावः सम्पद्यते। स चाक्षरानन्दांशभूतः। अक्षरानन्दाविर्भावे च जीवस्वरूपात्मकानन्दोपि तथाभूत्। बाह्याग्निसम्बन्धे दार्वन्तःस्थवह्निरिव। इदमेव विलयशब्देनोच्यते। अन्तरार्द्रदारुणो यथा बाह्यांश एवाग्नित्वम्, तथैतेष्वग्रे लीलायाश्चिकीर्षितत्वेन तदात्मकत्वमार्द्रतास्थानीयमतो नाक्षरानन्दात्मकत्वसम्पत्तिः। बाह्यांशस्थानीयो जीवत्वांश एव। इदमेवार्धज्वलितत्वम्। अक्षरानन्दानुभवार्थं लीलात्मकत्वं यल्लीलात्मककार्यानुन्मुखं कृतवानासीत् साधारणीं च रीतिमप्रकट्यत्तद्दूरीकृत्य पुनर्लीलाकार्योन्मुखत्वसम्पादनमेव काष्ठतासम्पादनम्। लोके ज्वलितांशस्य काष्ठता त्वशक्या कर्तुम्, अतस्तादृशमग्नितिरोधायकमपेक्षितं येन तत्तिरोधानं पुनः पूर्वरूपता च सम्पद्यते। तादृशं शब्दब्रह्मैव। अतो देहाद्यध्यासवत एव विषयीकृत्य देहधर्मरूपवर्णाश्रमधर्मान् कर्मज्ञानोपासनारूपान्निरूपयति। तत्सम्बन्धेऽक्षरानन्दाविर्भावाविभूतजीवस्वरूपात्मकानन्दतिरोभावेन जीवभावः सम्पद्यते। स चात्र पूर्वल्लीलोपयोगित्वमेव। मूले ब्रह्मणो ह्रदत्वोक्त्या तस्य च जलरूपत्वेनैतस्य जलात्मकत्वमुच्यते। जलनिर्वाप्योऽग्निरिति तदपनेयस्याक्षरात्मकत्वस्याग्नित्वनुच्यते। अतः क्वचिद् गोकुलनिकट एव शब्दब्रह्म जलात्मकं प्रकटितवान्। अक्षरात्मकतातिरोधानमेव तत्कार्यम्। उक्तेऽर्थे प्रमाणमाहुरग्रे च वक्ष्यतीति। 'यत्राक्रूरोऽध्यगात्पुरे'ति शेषः। तस्य जलमध्य एव तदवगमादेतद्वचनेन तदभेदोक्त्या ह्रदत्वोक्त्या च जलरूपत्वं शब्दब्रह्मणो निष्प्रत्यूहं गन्तव्यमिति भावः। सर्वांशेन तत्सम्बन्धज्ञापनार्था स्नानोक्तिः। शब्दात्मका एव जाता इति। ह्रदनयनोक्त्यैव तत्सम्बन्धप्राप्तावपि मज्जनोक्तेस्तदात्मकत्वमेव तस्यार्थ इति भावः। एवं करणे हेतुमाहुः क्रमश्चायमिति। पुष्टिमार्गप्रवेशनक्रम इत्यर्थः। शब्दब्रह्मणः सकाशात्परत्वेनाक्षरब्रह्मैव परब्रह्मशब्देनोच्यते। तथा च 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशा'दादौ ब्रह्मभावाद्वैकुण्ठाद्वा पृथक्कृत्वा 'न स पुनरावर्तत' इत्यादिवाक्यैस्तादृशानां पुनर्देहादिसम्बन्धस्य मर्यादाश्रुतिविरुद्धत्वात्, ततोपि पृथक्कृत्वा पुष्टिलीलात्मकजगत्त्वसम्पादनमित्यर्थः। अत एवेति। पुरुषोत्तमस्वरूपं साक्षाद्वक्तुमशक्तं कार्यद्वारा स्वानुभवज्ञापनद्वारा वा शक्यमित्यर्थः। यथा चैतत्तथा 'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययु'रिति दृष्टान्तव्याख्यानविवरणे प्रपञ्चयिष्यते। चकारादित्यादि। वेदास्तु मर्यादानिरूपकाः। ब्रह्मानन्दनिमग्नानां ततः पृथक्करणं न तत्सम्मतम्। अतः श्रीकृष्णाज्ञारूपपुष्टिश्रुतिसम्मत्या पुष्टिलीलापरिगृहीता नास्मद्विषयाः, किन्तु मर्यादामार्गीया एवेति स्वस्माद् भिन्नाः कृताः। तदेतदुक्तं वेदैरपि भगवदाज्ञयोद्धृता इति। एतस्यावश्यकत्वायाहुरन्यथेति। मर्यादामार्गीयत्वे पुष्टावप्रवेशः स्यादित्यर्थः। यतस्तदार्द्रनयना इति। 'नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृता' इत्यनुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात्तदानन्दाश्रुभिस्तथेत्यर्थः। अथवा। अग्रिमपदेनैतेषां प्रमाणतो ज्ञानकरणार्थं लोकं प्रदर्शितवानिति वक्ष्यमाणत्वाल्लोकदर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः स्नेह आर्द्रनयनत्वोक्त्या सूच्यते।

नन्वेवं व्याकृतौ को हेतुः? यथाश्रतव्याकृतेरपि साधीयसीत्वेन प्रतीयमानत्वात्। तथाहि। अतिगभीरत्वेन शुद्धत्वेन तापहारकत्वेन ब्रह्मानन्द एव ब्रह्मह्रदपदेनोच्यते। यथा ह्रदे मग्नो बाह्यमर्थं न जानाति, तथा तदानन्दभरेण देहाद्यनुसन्धानरहिता जाता इति ज्ञापनाय मज्जनोक्तिः। ततः कृष्णेन पूर्णानन्देन ततो गणितानन्दात्पृथक्कृताः देहाद्यनुसन्धानयुताः कृताः। तदा तल्लोकं ददृशुः। अत एव ब्रह्मण इति व्यस्तं पदमुक्तम्, दर्शनक्रियायाः पूर्वमसम्भवात्। एवं साधारणानां व्यवस्थामुक्त्वा श्रीनन्दादीनां विशेषत आह नन्दादय इति। किञ्च, 'दर्शयामासे'ति पूर्वं भगवत्कार्यमुक्त्वैतत्कर्तृकदर्शनं 'ददृशु'रित्यनेनोक्तम्। एवं सति तावत्पर्यन्तमेकवाक्यतैवोचिता, न तु वाक्यभेद इति चेत्। स्यादेतदेवं यदि दर्शयामासेत्युक्त्वा विषयस्वरूपं चोक्त्वानुपदमेव ददृशुरित्युक्तं स्यात्। उच्यते च ब्रह्मह्रदप्रापणं तत्र मज्जनं तत उद्धृतिश्चेति क्रियान्तरसमुदायः। तत्रापि तुशब्देन पूर्वार्थव्यवच्छेदपूर्वकम्। त्वदुक्तरीत्या तु दर्शनात्पूर्वमेव तदानन्दे मज्जनमुक्तं भवति, तच्च नोपपद्यते, हेत्वभावात्। किञ्च, दर्शयामासेत्यनेनैवैतद्दर्शनस्य प्राप्तेस्त्वदुक्तरीत्या पुनस्तस्यैव दर्शनं ददृशुरित्यनेन न वदेत्। तस्मादाचार्योक्त एव ग्रन्थार्थ इति ज्ञेयम्॥

पञ्चविंशत्यध्यायविवरणं समाप्तम्॥

इति साधनप्रकरणम्॥

(४) श्रीमद्दीक्षितलालुभट्टयोजिता श्रीसुबोधिनीयोजना

ते तु ब्रह्महृदं नीता इत्यस्याभासे गोकुलस्य सर्वस्य विलय एवाभूदित्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, पुनः प्रत्यापत्त्यर्थमित्यस्याप्यर्थः स्फुटः, ते तु ब्रह्महृदमित्यस्य विवृतौ तदात्मकांशस्य लोकस्येत्यस्यार्थः, काष्ठाग्निवदित्यस्यार्थः, तेषां पुनः

काष्ठता अर्धज्वलितानामपि सम्पादनीयेत्यस्यार्थः, अन्यथाग्रे लीलेत्यस्यार्थः, तच्च वेदात्मकब्रह्मणेत्यस्यार्थः, तद्धि तस्य जलात्मकमित्यस्यार्थः अत एव शब्दब्रह्मणः जलरूपतेत्यस्यार्थस्तत्कार्यमिदमेतस्यार्थः, अग्रे वेत्यस्यार्थः, उत्तमाधिकारिणो हि हि ते शब्दात्मका एवेत्यस्यार्थः क्रमश्चायमित्यादेरर्थः, अन्यथा प्रमाणगहोता एतस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, ददृशुर्ब्रह्मणो लोकमित्यस्य विवृतौ तदार्द्रनयना इत्यस्यार्थष्टिप्पण्यां स्फुटः, सुबोधिन्यां शब्दब्रह्मणो जलरुपतोक्ता सा तु युक्तव, जलस्य शब्दात्मकतयाः स्फुटमभिधानात्, तथा चोक्तं पद्मपुराणे प्रयागमाहात्म्ये श्रीयमुनायास्त्रिंशन्नामात्मकस्तोत्रे "त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्मविद्या सुधावहे"ति, अनेन श्रीयमुनाजलस्य वेदत्रयीरूपतोक्तेति जलशब्दब्रह्मणोरभेदो ज्ञातव्यः ॥ १५ ॥

इतिश्रीमद्गोवर्धनधरश्रीवल्लभाचार्यवरश्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवकेन लालूभट्टोपनामदीक्षितबालकृष्णेन विरचिता दशमस्कन्धपञ्चविंशाध्यायसुबोधिनीयोजना सम्पूर्णा ।

(५) भगवदीयनिर्भयरामनिर्मिता श्रीसुबोधिनीकारिकाव्याख्या

ते तु ब्रह्महृदं नीता इत्यत्र ब्रह्मानन्दादिति का० २४५३ ।स्फुटार्थकम् ॥

इति पञ्चविंशोध्यायः ॥ २५ ॥

गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृता बालप्रबोधिनी

प्रकृतेः परं वेदप्रतिपाद्यं स्वरूपमेव वर्णयति—सत्यमिति । सत्यं परमार्थभूतम्, ज्ञानं चैतन्यरूपम्, अनन्तं देशकालपरिच्छेदरदितम्, ज्योतिः स्वप्रकाशम्, सनातनं शश्वत्सिद्धं गुणापाये गुणानां निरासे सति समाहिताः सावधाना मुनयः मननशीला ज्ञानिनो यत् पश्यन्ति यच्च वेदप्रसिद्धं ब्रह्म तत्स्वरूपं दर्शयामासेत्यन्वयः ॥ १५ ॥ प्रदर्शनप्रकारं प्रदर्शयन्नुक्तमेव स्पष्टयति ते त्विति द्वयेन । ते तु गोपा ब्रह्महृदं नीताः प्रापितास्तस्मिन्निमग्नाश्च सन्तो ब्रह्मणस्तस्यैव लोकं वैकुण्ठाख्यं ददृशुरित्यन्वयः । 'कोऽसौ ब्रह्महृद' इत्यपेक्षायामाह-यत्रेति । यत्र यमुनाह्रदे अक्रूरोऽध्यगात् वैकुण्ठादिकं दृष्टवांस्तस्यैव ब्रह्महृद इति नाम । शुकपरीक्षित्संवादात् प्राक्तनत्वात् पुरेति भूतनिर्देशः ॥ १६ ॥ नन्दादयो गोपास्तु तं लोकं दृष्ट्वा तथा तत्र लोके छन्दोभिः मूर्तिमद्भिर्वेदैः स्तूयमानं श्रीकृष्णं च दृष्ट्वा परमानन्देन निर्वृतः पूर्णा अभवन् । ततश्च पुनः श्रीकृष्णेन उद्धृताः समाधेरिवोत्थापिताः पूर्ववत्त दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुरिति व्यवहितेनान्वयः ॥ १७ ॥

इति श्रीवल्लभाचार्य-वंश्यगोपालसूनुना । श्रीमन्मुकुन्दरायाणां पादसेवाधिकारिणा ॥ १ ॥
श्रीमद्गिरिधराख्येन भजनानन्दसिद्धये । श्रीमद्भागवतस्येयं टीका बालप्रबोधिनी ॥ २ ॥
रचिता दशमे तत्र तामसरोधवर्णने । अष्टाविंशो गतो वृत्ति लोकदर्शनबोधकः ॥ ३ ॥

अन्वितार्थप्रकाशिका

देहादिविहितानां दर्शनमशक्यमिति प्रथमं देहादिव्यतिरिक्तं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयामास । तदाह—सत्यमिति ॥ यत् सत्यमबाध्यं ज्ञानमजडमनन्तमपरिच्छिन्नं ज्योतिः स्वप्रकाशं सनातनं शश्वत्सिद्धं ब्रह्मगुणापाये गुसापोहे समाधिनिष्ठा मुनयो ज्ञानिनो यत्पश्यन्ति तत्कृपयैव दर्शयामास ॥ १५ ॥ त इति ॥ एवं ब्रह्महृदं ब्रह्मैव ह्रदवत् ह्रदः तत्र निमग्नस्य विशेषविज्ञानाभावात् तं ब्रह्महृदं ते तु नीताः प्रापितास्तस्मिन्मग्नाश्च कृष्णेनोद्धृताः समाधेरिवोत्थापिताः सन्तः ब्रह्मणस्तस्यैव लोकं वैकुण्ठाख्यं ददृशुः । यत्र यस्मिन् कृष्णे निमित्ते सति पूर्वमक्रूरोऽध्यगात् दृष्टवान् । शुकपरीक्षित्संवादात्प्राक्तनत्वाद्भूतनिर्देशः अथवा अक्रूरो यत्र दृष्टवान् तस्य यमुनाह्रदस्य ब्रह्महृद इति नाम । तं ह्रदं नीताः सन्तो ब्रह्मणो लोकं ददृशुः । पुनश्च कृष्णेनोद्धृताः पूर्ववत्तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः । व्यवहितान्वयोऽप्रसिद्धकल्पना च सोढव्येति ॥ १६ ॥ नन्दादय इति ॥ नन्दादयो गोपास्तु तं लोकं दृष्ट्वा तथा तत्र लोके छन्दोभिः मूर्तिमद्भिर्वेदैः स्तूयमानं श्रीकृष्णं च दृष्ट्वा परमानन्देन निर्वृताः पूर्णा अभवन् । पुनश्च पूर्ववत्तं दृष्ट्वा विस्मिता बभूवुः ॥१७॥

इति श्रीभागवते दशमस्कन्धेऽन्वितार्थप्रकाशिकायामष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीगोपालानन्दमुनिविरचितं निगूढार्थप्रकाशव्याख्यानम्

नंदादयः तत्र पूर्वोक्ते ब्रह्मपुरे स्थितं व्रजवासिनं कृष्णं तत्रस्थितैः छंदोभिः चतुर्वेदाद्यसंख्यातश्रुतिगणैः सूयमानं दृष्ट्वा परमानंदेननिर्वृताः संतः सुविस्मिता बभूवुः हरेर्ब्रह्मपुरनिवासे प्रमाणणकारणं विष्मोर्धामपरमिति यद्गत्वाननिवर्त्तते तद्धामपरमं ममेति गच्छंत्यमूढाः नवांतिवातान च यांति देवताः यत्र देवक्रतुभिर्भूतभावनः स्वयं विभूत्या विरजः प्रकाशतनियः सर्वज्ञः सर्वविधस्यैर्षं महिमाभुविदिव्ये ब्रह्मपुरेत्स्येष सन्योम्पात्मा प्रतिष्ठित इति न तत्र चंद्रार्कवपुः प्रकाशते इति मुंडकोपनिषद्वचनानि योऽक्षरे संचरतीति दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्फलं शुभ्रंयद्ब्रह्मविमातीति श्रुत्यंतरवचनानि निरस्तसाम्यातिशयेनराधसास्वधामनिब्रह्मणि रंस्यते नम इति ददर्शतत्राखिला सत्वतां पतिं स्वपार्षदमुख्यैः परिसेवितं विभुं किरीटिनं कुंडलिनमिति स्कांदवचनं सहोदितोर्कायुत वद्भास्वरे तत्र तेजसि वासुदेवं ददर्शासौरम्य दिव्यासिताकृतिमिति ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखंड वचनं ददर्शकृष्णं ग्रीष्मस्य कोटि सूर्यसमप्रभं द्विभुजं मुरलीहस्तं किशोरंगोववेशमित्यादि श्रुतिस्मृतयः ॥ १५ ॥ ब्रह्मपुरदर्शनप्रकार माहतेत्विति ते नंदादय

आदौ ब्रह्मरुदं ब्रह्मैव रुदवत् इदस्तं नीतैः प्रापिताः अत एव मग्नाः ब्रह्मतेज सिलीनतयास्थिताः पुनः कृष्णेन उधृताः अप्राकृत-दिव्यदेहैः प्रकटीकृताः संतः ब्रह्मणः परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य लोकं ब्रह्मपुर स्वपार्षदैः सहस्वनिवासस्थानंददृशुः यत्रलोकेकृष्णानु-भावेनपुरापूवं अक्रूरोऽध्यगात् गतवान् शुकपरीक्षित्संवादेन ब्रह्मपुर दर्शनस्य प्राचीनत्वाद्भूतनिर्दे शकावकाशो नास्ति ॥ १६ ॥

इति श्रीशुद्धकांतधर्मप्रवर्त्तकगुरुराजेन्द्रश्रीसहजानंदस्वामिशिष्यगोपालानंदमुनिविरचिते निगूढार्थप्रकाशके श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धव्याख्याने ब्रह्मपुरदर्शननामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

भगवत्प्रसादाचार्यविरचिता भक्तमनोरञ्जनी

लोकशब्दव्यवहृतं ब्रह्मपुरं विशिनष्टि ॥ सत्यमिति ॥ सत्यं सर्वदा अविनाशित्वेन वर्त्तमानं, ज्ञानं ज्ञानधर्मयुक्तं न तु जडम् । अनन्तमपारं, ज्योतिरनवधिकातिशयप्रकाशमयं, सनातनमनादिसिद्धं, यत् ब्रह्म ब्रह्मपुरसंज्ञं, श्रुतिस्मृतयो वदन्तीति शेषः । यद् ब्रह्मपुरं, गुणापाये प्राकृतगुणत्रयविनाशे सति, समाहिताः सावधाना मुनयः, विपश्यन्ति । अत्र प्रमाणानि 'एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशतं ब्रह्मधाम्, । 'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्' 'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येषः' । 'न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाता न च यान्ति देवताः । दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलम्' 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' 'स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः । तद्वै पदं भगवतः परमस्य पुंसो ब्रह्म' इति । तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् । विष्णोर्धाम परं साक्षात्पुरुषस्य महात्मनः' । 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' । 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्' । 'ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति' । इत्याद्याः श्रुतिस्मृतयः ॥१५॥ ॥ ते त्विति ॥ ते गोपाः । तु, ब्रह्महृदं चिदानन्दसिन्धुह्रदं, नीताः भगवता प्रापिताः तदाज्ञया तत्र प्रविष्टा इति शेषः । मग्नास्तत्रैव निमज्जनतां प्राप्ताः ब्रह्मनिमग्नानां स्वतस्ततो निष्कमितुमशक्यतामालोच्येति शेषः । कृष्णेन च श्रीकृष्णेनैव उद्धृताः । कथंभूतो ह्रदः । यत्र ब्रह्महृदे, पुरा अक्रूरः अध्यगात् गतवान् । शुकपरीक्षित्संवादात् प्राक्तनत्वाद्भूतवन्निर्देशः । यदा ते कृष्णेनोद्धृतास्तदन्त-रमिति शेषः । ब्रह्मणा गुणविभूत्यैश्वर्यादिभिः सर्वेभ्यो बृहतः श्रीकृष्णस्य, लोकं, ददृशुः ॥ १६ ॥ नन्दादय इति नन्दादयस्तु नन्दादयोऽपीत्यर्थः । तं भगवल्लोकं दृष्ट्वा, परमानन्दनिर्वृताः परमानन्दनिर्भरिताः आसन् । ततश्च तत्र ब्रह्मपुराख्यभगवतो लोके, कृष्णं च श्रीकृष्णमपि, छन्दोभिः मूर्त्तिमद्भिर्वेदैः, स्तूयमानं दृष्ट्वा, सुविस्मिताः सुतरां विस्मययुक्ताश्चाभवन् । ब्रह्मपुराख्यभगवल्लोक-संसिद्धौ भगवतस्तत्र निवासित्वे च प्रमाणानि, 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्तस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष स व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः । न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाता न च यान्ति देवताः । यत्र देवः क्रतुभिर्भूतभावनः स्वयं विभूत्या विरजः प्रकाशते' इति मुण्डके 'योऽक्षरे सचरति' इति सुबालोपनिषदि । 'दिव्ये ब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रं यद्ब्रह्म विभाति' इति ब्रह्मोपनिषदि । 'स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः । ददर्श तत्राखिलसात्वतां पतिम्' इति । अत्र ग्रन्थ एव । 'सहोदितार्कायुतवद्भास्वरे तत्र तेजसि । वासुदेवं ददर्शासौ रम्यदिव्यसिताकृतिम्' इति स्कान्दे 'ददर्श कृष्णं श्रीष्मस्य कोटिसूर्यसमप्रभम् । द्विभुजं मुरलीहस्तं किशोरं गोपवेशकम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतयः ॥ १७ ॥

इति श्रीधर्मधुरंधरश्रीधर्मात्मजप्रत्यक्ष पुरुषोत्तमश्रीसहजानन्दस्वामिसुतश्रीरघुवीराचार्यसूनुभगवत्प्रसादाचार्यविरचिता यामन्वयार्थावबोधिन्यां भक्तमनोरञ्जन्याख्यायां श्रीमद्भागवतटीकायां दशमस्कन्धपूर्वार्द्धे अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

श्रीहरिसूरिविरचितं श्रीभक्तिरसायनम्

ते तु ब्रह्महृदमिति : १०.२८.१६.

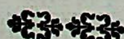
अस्मिन्नेव जडे ममास्ति वसतिर्गूढा नभोवद्विभोः प्रत्यक्षीक्रियतेऽत्र तैश्च भुवने ये मत्कृपागोचराः ।
इत्थं श्रुत्युपपाद्यर्थमखिलप्रत्यक्षतां प्रापयंश्चक्रे तज्जल एव तान् प्रति तदा लोकं स्वमीशः स्फुटम् ॥ ३६ ॥
यद्यप्यखिले व्याप्तिस्तदपि ब्राह्माशयेष्वलं व्यक्ता । शंभोरिव तल्लिङ्गेष्विति तद्धदतत्प्रदर्शनाद् ध्वनितम् ॥ ३७ ॥
तद्दर्शितात्मरूपेक्षासुखदं सुकृतं मम । नास्ति चेन्मास्तु तत्केलियोग्यमेवेश दर्शय ॥ ३८ ॥

इति श्रीमन्नासिकनिवासि-कविवर-हरिसूरिविरचिते भक्तिरसायने अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

कृष्णप्रिया

भगवान श्रीकृष्ण, उन ब्रजवासियों को ब्रह्महृद में ले गए । सारे ब्रजजन उस ब्रह्महृद में निमग्न हो गये ॥ भगवानने कृपया उनका उद्धरण किया । उस निमज्जित भूमिसे उनको बाहर निकाला । यह ह्रद वह स्थान था कि जिस स्थानमें पहले श्री अक्रूरजीने भी श्रीयमुनाजलके भीतर भगवत्स्वरूप के दर्शन किए थे ॥ १५ ॥ राजन् परीक्षित् ! श्रीनन्दरायजी एवं गोपजन इस दिव्य ब्रह्मलोक का दर्शन पा कर अत्यन्त प्रमुदित हुए । यह लोक ऐसा दिव्य था कि दिव्य देह धारी सर्ववेद भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे थे यह देखकर उन लोगों की आश्चर्य की सीमा न रही ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे तामसप्रकरणे हिन्दीभाषान्तरे अष्टाविंशोऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ २८ ॥



[अकारादिक्रमेण]

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धीय द्वादशतः अष्टाविंशाध्यायश्लोकपर्यन्तानुक्रमणिका

द–२३

क्रमाङ्कः	श्लोकः	अध्यायः	श्लोकाङ्काः	पृष्ठाङ्काः
६३३	स्थूणास्थूला वर्षधारा	२५	१०	९९८
६३४	स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः	२४	२९	९७१
६३५	स्वभावतन्त्रो हि जनः	२४	१६	९४८
६३६	स्वगतं वो महाभागा	२२	२५	८८५
६३७	स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति	१७	३	४९९
६३८	स्वयमास्ताऽऽत्मगोवत्सान्	१३	२०	७५
६३९	सान्द्रनीलाम्बुदैर्व्योम	२०	४	५९५
६४०	साकं भेकैर्विलङ्घन्तः	१२	१०	१२
६४१	साधु पृष्टं महाभाग	१३	१	५५
६४२	सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि	१४	२०	१९५
६४३	सुदुस्तरान्न स्वान् पाहि	१७	२४	५२२
६४४	सुपर्णं पक्षाभिहतः	१७	८	५०४
६४५	सोऽतिवीर्योऽसुरो राम	१५	२३	३४५
६४६	संकल्पो विदितः साध्व्यो	२२	२५	८२३
	ह–६			
६४७	हत्वा रासभदैतेयं	२६	१०	१०४१
६४८	हरिता हरिभिः शष्पै-	२०	११	६११
६४९	हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो	२१	१८	७५४
६५०	हिन्वतोऽग्नः शयानस्य	२६	५	१०४१
६५१	हित्वान्यान् भजते य श्रीः	२३	४६	९२०
६५२	हूयन्तामग्नयः सम्यग्	२४	२७	९६५
६५३	हे भूमिदेवाः शृणुत	२३	६	८५४
६५४	हे कृष्ण स्तोक हे अंसो	२२	३१	८३२
६५५	हेमन्ते प्रथमे मासि	२२	१	७६८
	क्ष–२			
६५६	क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां	२५	२३	१०१७
६५७	क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः	२०	१२	६११
	ज्ञ–३			
६५८	ज्ञानविज्ञान निधये	१६	४०	४४७
६५९	ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव	१४	३	१४४
६६०	ज्ञात्वाज्ञात्वा च कर्माणि	२४	६	९३८



"મન શાંતિનું મહાન ઔષધ
મંત્રલેખન"

